महाभारतम्

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

भगवतीभाष्यसमलंकृतम्

॥ ओ३म् ॥

महाभारतम्

अनुवादक, सम्पादक व टिप्पणिकर्ता

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

आर्य साहित्य भवन

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती—एक परिचय

इस ग्रन्थ के सम्पादक, अनुवादक एवं टिप्पणीकार परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती एम० ए० वैदिक वाङ्मय के सुप्रसिद्ध विद्वान्, लेखक, चिन्तक और विचारक हैं।

आपका जन्म २० जनवरी सन् १९३१ को अलावलपुर तहसील नूह, जिला गुड़गांव (हरियाणा) में हुआ। आपकी माताजी का नाम भगवती और पिताजी का नाम ला० ग्यासीराम था। आप छह भाई हैं। आपका परिवार एक प्रसिद्ध व्यवसायी परिवार है। भारत में सुप्रसिद्ध 'भीमसेनी काजल' का निर्माण आपके ज्येष्ठ भ्राता श्री मुरारीलाल वैद्य जी ही करते हैं।

स्वामीजी की आरम्भिक शिक्षा गांव में ही प्रारम्भ हुई। इनकी शिक्षा की कहानी लम्बी है। अनेक स्थानों पर पढ़ते हुए पाकिस्तान बनने पर ये भी अपने परिवार के साथ देहली आ गये और रामजस हायर सैकण्ड्री स्कूल नं० ५ में अध्ययन करने लगे। नवम श्रेणी तक आप उर्दू ही पढ़ते रहे। दशम श्रेणी में आपने एकदम हिन्दी ले ली। सन् १९५० में आपने दिल्ली बोर्ड से हायर सैकण्ड्री की। तत्पश्चात् आप बी० काम० में प्रविष्ट हो गये। आर्यकुमार-सभा, आर्यवीर-दल और आर्यसमाज की गतिविधियों में बहुत अधिक भाग लेने से तथा कुछ पारिवारिक परिस्थितियों के कारण आप बी० काम० में अनुत्तीर्ण हो गये। बस, आपने परीक्षाओं को तिलाञ्जलि देकर वैदिक साहित्य का गम्भीर अध्ययन, मनन और चिन्तन आरम्भ कर दिया। इसी स्वाध्याय के फलस्वरूप आपने छोटे-छोटे ट्रैक्ट लिखना आरम्भ कर दिया।

आपके एक ट्रैक्ट 'आगे बढ़ो' को पढ़कर आचार्य राजेन्द्रनाथजी शास्त्री ने आपको किसी भी प्रकार एम० ए० करने की प्रेरणा दी। उन्होंने कहा कि यदि आप आर्यसमाज का प्रचार करना चाहते हो तो उसके लिए भी कोई पूंछ (उपाधि) होना आवश्यक है। उनका एक वाक्य ही स्वामीजी के लिए प्रेरणा-प्रदीप बन गया और आपने पञ्जाब विश्वविद्यालय से 'प्रभाकर' तथा बी० ए० परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। तत्पश्चात् दिल्ली विश्वविद्यालय से १९६६ में संस्कृत में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की।

सम्प्रति आप निरन्तर स्वाध्याय एवं वैदिक अनुसन्धान में संलग्न रहते हैं। अपने स्वाध्याय का रस औरों को भी पिलाते रहते हैं। आप अबतक सत्तर ग्रन्थ लिख चुके है जिनकी विद्वानों और पाठकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

आपका व्यक्तिगत पुस्तकालय बहुत विशाल है। इतना बड़ा धार्मिक पुस्तकालय देहली में शायद ही कोई हो।

लेखक होने के साथ-साथ आप प्रभावशाली वक्ता भी हैं।

आप पार्टी-बाजी से दूर हैं। वेद के विद्वान् हैं, उपनिषदों का आपने मन्थन किया है, रामायण और महाभारत के समालोचक हैं। मत-मतान्तरों पर आपका गम्भीर अध्ययन है। सिद्धान्तों के आप मर्मज्ञ हैं, वैदिक कर्मकाण्ड के विशेषज्ञ हैं। इस सबके साथ आप योगाभ्यासी भी हैं।

स्वभाव के बड़े मधुर है, सादगी के पुञ्ज हैं, सच्चरित्र और ईमानदार हैं, बड़े मिलनसार और विनोदी हैं।

आप नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। आपने अपना सारा जीवन वैदिकधर्म के प्रचार के लिए अर्पित किया हुआ है।

१६ फरवरी १९७५ को वसन्त पञ्चमी के ऐतिहासिक एवं पावन पर्व पर आप संन्यासाश्रम में दीक्षित हो गये। तत्पश्चात् आपने सूरिनाम, ट्रीनिडाड, हालैण्ड, फिजी, श्रीलंका आदि विदेशों में भी जाकर वैदिक धर्म की दुन्दुभि बजायी। विदेशों से अनेक छात्र और छात्रों को भारत में लाये जो यहां व्याकरण और वेदादि का अध्ययन कर रहे हैं।

प्रकाशकीय

पूज्य पिताजी श्री गोविन्दराम हासानन्दजी विघ्न-बाधाओं, आपत्तियों और संकटों से जूझते हुए वैदिक साहित्य के प्रकाशन, प्रचार और प्रसार में लगे रहे। अपने जीवन में उन्होंने वैदिक साहित्य की अपने सामर्थ्य से भी अधिक अभिवृद्धि की। वैदिक साहित्य के प्रचार और प्रसार के लिए ही उन्होंने 'वेदप्रकाश' मासिक निकालना आरम्भ किया। यह पत्र ३२ वर्ष से निरन्तर निकल रहा है। अनेक छोटे और बड़े उपयोगी ग्रन्थ 'वेदप्रकाश' के माध्यम से जनता की भेंट किये जा चुके हैं।

लगभग २३ वर्ष पूर्व पिताजी का स्वर्गवास हो गया। पिताजी का उत्तरदायित्व मेरे कन्धों पर आ पड़ा। यथाशक्ति मैं उस उत्तरदायित्व का निर्वहन कर रहा हूँ।

पिताजी वेदप्रकाश के विशेषांक के रूप में 'रामायण' और 'महाभारत' दो ग्रन्थों को शुद्ध रूप में देना चाहते थे। रामायण उनके जीवन-काल में पूर्ण हो गया और पाठकों के हाथ में पहुंच गया।

पिताजी के निधन के पश्चात् 'वेदप्रकाश' के सम्पादन का भार मैंने स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती पर डाल दिया। स्वामीजी ने अनेक महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ वेदप्रकाश के विशेषांक के रूप में दिये।

एक दिन मैंने पिताजी की अपूर्ण रही आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए स्वामीजी से महाभारतांक देने की चर्चा की। स्वामीजी ने अथक परिश्रम करके महाभारत का यह संस्करण तैयार किया है। श्लोकों का तारतम्यपूर्वक चयन, अनुवाद और टिप्पणियाँ—सर्वत्र स्वामीजी की सूक्ष्म बुद्धि का परिचय पाठकों को प्राप्त होगा। स्वामीजी की इस महती कृपा के लिए मैं हार्दिक आभारी हूँ।

अब शीघ्र ही स्वामीजी द्वारा सम्पादित एवं अनूदित मनुस्मृति तथा उपनिषदें भी पाठकों को प्राप्त होंगी।

मुझे आशा और विश्वास है कि आर्य जनता अपना हार्दिक सहयोग मुझे प्रदान करेगी जिससे अपने पिताजी के पद-चिह्नों पर चलते हुए मैं भी वैदिक साहित्य की अभिवृद्धि कर सकूं।

—विजयकुमार

भूमिका

महाभारत ज्ञान का सबसे बड़ा कोश है। इसके सम्बन्ध में ठीक ही कहा है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥

—महा० आदि० २।२०

हे भरतश्रेष्ठ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में जो बात इस ग्रन्थ में है, वही अन्यत्र भी है, जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है।

महाभारत महर्षि व्यास द्वारा प्रज्वलित ज्ञान-प्रदीप है। यह धर्म का विश्वकोश है। इस ग्रन्थ में जहाँ आत्मा की अमरता का सन्देश [गीता] है, वहाँ राजनीति के सम्बन्ध में 'कणिकनीति', 'नारदनीति' और 'विदुरनीति' जैसे दिव्य-उपदेश हैं जिनमें राजनीति के साथ-साथ आचार और लोक-व्यवहार का भी सुन्दर निरूपण है। सभी वर्णों और आश्रमों के कर्तव्य कर्मों का इसमें विवेचन है। सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि अनेक दृष्टियों से महाभारत एक गौरवमय ग्रन्थ है। इन्हीं गुणों के कारण इसे पाँचवाँ वेद कहा जाता है।

रचयिता

महाभारत के मूल रचयिता महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास माने जाते हैं। इनकी माता का नाम सत्यवती था। यमुना के किसी द्वीप में जन्म लेने के कारण ये द्वैपायन कहलाते थे। इनके शरीर का रंग काला होने के कारण इन्हें 'कृष्णमुनि' कहकर पुकारते थे और वेदों का व्यास=विस्तार [प्रचार] करने के कारण ये 'वेदव्यास' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने तीन वर्ष के घोर परिश्रम से इस ग्रन्थ की रचना की।

महाभारत का विस्तार और प्रक्षेप

महर्षि व्यास ने महाभारत की यह कथा अपने शिष्य वैशम्पायन को सुनाई। वैशम्पायन ने यह कथा अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय को 'सर्पसत्र' के अवसर पर सुनाई थी। तत्पश्चात् लोमहर्षण के पुत्र सौति ने इस कथा को शौनक आदि ऋषियों को तीसरी बार सुनाया। इस प्रकार 'महाभारत' के तीन वक्ताओं ने तीन श्रोताओं को इसे तीन बार सुनाया। इस कथा को सुनाते हुए जनमेजय और वैशम्पायन के बीच में जो प्रश्नोत्तर हुए होंगे उनके कारण मूल ग्रन्थ कुछ-न-कुछ परिवर्धित हो गया होगा। इसी प्रकार सौति और शौनक आदि ऋषियों के मध्य जो संवाद हुए होंगे, उनसे वैशम्पायन के ग्रन्थ की कलेवर-वृद्धि अवश्य हुई होगी। इतना ही नहीं, समय-समय पर इसमें अन्य लोग भी वृद्धि करते रहे हैं। इस विषय में भोजरचित 'संजीवनी' नामक ग्रन्थ का संकेत करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं—

"व्यासजी ने चार सहस्र चारसौ और उनके शिष्यों ने पाँच सहस्र छःसौ श्लोकयुक्त अर्थात् सब दश सहस्र श्लोकों के प्रमाण भारत बनाया था। वह महाराजा विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र, महाराजा भोज कहते हैं कि मेरे पिताजी के समय में पच्चीस और अब मेरी आधी उमर में तीस सहस्र श्लोकयुक्त महाभारत का पुस्तक मिलता है। जो ऐसे ही बढ़ता चला तो महाभारत का पुस्तक एक ऊँट का बोझा हो जायेगा।" —सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास

महाभारत में समय-समय पर प्रक्षेप हुए हैं, इस विषय में काशीनाथ राजवाड़े लिखते हैं—

१. "The Present महाभारत is a corrupt and enlarged edition of the ancient महाभारत, this ancient work has been diluted from time to time with all sorts of additions and has grown in proportion on that account.

—Yaska's Nirukta Volume I Edited by V. K. Rajvade, M. A., Introduction. LIX

अर्थात् वर्तमान महाभारत प्राचीन महाभारत का विकृत और परिवर्द्धित संस्करण है। प्राचीन महाभारत के मूल

स्वरूप में समय-समय पर अतिरिक्त संयोजन होते रहने के कारण ही आकार की दृष्टि से उसका इतना विस्तार हो गया है।

जय, भारत और महाभारत

महाभारत के तीन रूपान्तर हुए। आरम्भ में व्यासजी ने जिस ग्रन्थ की रचना की, उसका नाम 'जय' था।

जयो नामेतिहासोऽयम्।

—महा० आदि० २।१३

वैशम्पायन ने इसे बढ़ाकर 'भारत' और सौति ने पूर्ण परिवर्धन करके इसे महाभारत बना दिया। वर्तमान समय में महाभारत में लगभग एक लाख श्लोक हैं।

महाभारत का समय

महाभारत का युद्ध कब हुआ, इस विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद हैं। पाश्चात्य अन्वेषक सृष्टि की आयु लगभग पाँच सहस्र वर्ष मानते हैं [अब इस मान्यता में बहुत अन्तर आ गया है], अतः वे सारे इतिहास को पाँच सहस्र वर्ष से पीछे नहीं ले जाना चाहते। उनके अनुसार महाभारत का काल ईसा से ३००-४०० वर्ष पूर्व है।

हमारे मत में महाभारत का समय पाँच सहस्र वर्ष पूर्व है। यह निश्चित है कि महाभारत का युद्ध कलियुग के आरम्भ में हुआ था। जब भीमसेन ने गदा के प्रहार से दुर्योधन की जाँघ तोड़ डाली तब बलरामजी अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। उन्हें समझाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

प्राप्तं कलियुगं विद्धि।

समझ लो कि कलियुग आरम्भ हो चुका है।

भारत के समस्त ज्योतिषियों के अनुसार कलियुग का आरम्भ ईसवी सन् से ३१०१ वर्ष पूर्व हुआ था। अतः महाभारत का युद्ध ३१०१+१९८३=५०८४ वर्ष पूर्व हुआ था।

आर्यभट्ट ने कलियुग का आरम्भ अपनी तेइस वर्ष की अवस्था में संवत् ५४६ से ३६०० वर्ष पूर्व माना है। इस मत से महाभारत का समय आज [सन् १९८३ में] से २०४०+३६००=५६४०। अब इसमें से विक्रम संवत् के ५४६ वर्ष घटाने पर ५६४०—५४६=५०९४ वर्ष पूर्व का निश्चित होता है।

नारायण शास्त्री की पुस्तक The Age of Shanker [शंकर का समय] के अनुसार भीष्म की मृत्यु माघ मास, उत्तरायण सूर्य, शुक्लपक्ष, अष्टमी तिथि को रोहिणी नक्षत्र में हुई थी। यह समय ईसा से ३१३९ वर्ष पूर्व है, अतः आज [१९८३] से महाभारत का युद्ध ३१३९+१९८३=५१२२ वर्ष पूर्व हुआ था।

महाभारत : इतिहास या कल्पना

भारतीय संस्कृति को विकृत और दूषित करनेवाले पाश्चात्य इतिहास-लेखकों का कहना है कि 'महाभारत' ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है; न श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए और न कौरव-पाण्डव। 'महाभारत' कोरी कल्पना है। पाश्चात्यों का अन्धानुकरण करनेवाले अनेक भारतीय भी महाभारत और उसके पात्र कौरव-पाण्डवों को काल्पनिक मानते हैं। डॉ० राधाकृष्णन् और गांधी भी महाभारत और उसके पात्रों को काल्पनिक मानते हैं।

गांधीजी ने 'गीता माता' के नाम से गीता पर टीका लिखी है। इसी की प्रस्तावना में वे लिखते हैं—

"यह ग्रन्थ ऐतिहासिक नहीं, वरन् इसमें भौतिक युद्ध का वर्णन करने के बहाने, प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निरन्तर रहनेवाले द्वन्द्व युद्ध का वर्णन है।"

आइए, महाभारत की ऐतिहासिकता पर विचार करें। इतिहास क्या है? क्या केवल शुष्क घटनाओं का संकलन? भारतीय परम्परा के अनुसार इतिहास की परिभाषा है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥

जिसमें पूर्ववृत्त=प्राचीनकाल में घटित घटनाओं का वर्णन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उपदेश-सहित कथन किया गया हो, उसे इतिहास कहते हैं।

इस दृष्टि से रामायण और महाभारत दोनों इतिहास ग्रन्थ हैं। यह सत्य है कि महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जो अश्लील, भारतीय संस्कृति को कलंकित करनेवाली, असत्य, असम्भव और अनैतिहासिक हैं, परन्तु इतने मात्र से सारा महाभारत अनैतिहासिक कैसे हो गया? हाँ, अनर्गल कथाओं को छोड़ा जा सकता है।

महर्षि पाणिनि का सूत्र है—

महान् व्रीह्यपराह्णगृष्टीष्वासजाबालभारभारतहैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु।—अष्टा० ६।२।३८

अर्थात् व्रीहि इत्यादि शब्दों से पूर्व महत् शब्द प्रयुक्त होता है। इन शब्दों में एक शब्द 'भारत' भी है, अतः पाणिनि के समय में महाभारत शब्द का होना सिद्ध हुआ।

प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ के अतिरिक्त और किसी वस्तु का नाम महाभारत था, इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

पाणिनि का सूत्र है—

गवियुधिभ्यां स्थिरः।—अष्टा० ८।३।९५

गवि और युधि शब्द के परे 'स्थिर' शब्द के 'स्' को 'ष' होता है। जैसे—गविष्ठिरः, युधिष्ठिरः।

एक और सूत्र है—

स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च।
—अष्टा० ४।१।१७६

इस सूत्र में कुन्ती शब्द विद्यमान है।

वासुदेवार्ज्जुनाभ्यां वुन्।
—अष्टा० ४।३।९८

वासुदेव और अर्जुन शब्दों के परे षष्ठी अर्थ में 'वुन्' होता है।

एक और सूत्र है—

द्रोणपर्वतजीवन्तादन्यतरस्याम्।
—अष्टा० ४।१।१०३

द्रोण आदि से गोत्रापत्य में 'फक्' प्रत्यय विकल्प से होता है—द्रोणायनः, द्रोणिः।

द्रोणायनः से अश्वत्थामा के अतिरिक्त और किसी का बोध नहीं होता।

इस प्रकार महाभारत, वासुदेव, पाण्डवों के नाम, कुन्ती, द्रोण और अश्वत्थामा आदि के नाम पाणिनि-सूत्रों में उपलब्ध होते हैं। इससे यह सिद्ध है कि उस समय भी महाभारत पाण्डवों का इतिहास था।

अब यह देखना है कि पाणिनि का काल कौन-सा है? जर्मन विद्वान् गोल्डस्ट्कर ने पाणिनि का समय ईसा से १०००-११०० वर्ष पूर्व माना है। हमारे विचार में यह समय और भी प्राचीन है।

उपनिषदों का काल पाणिनि से भी प्राचीन है। छान्दोग्य-उपनिषद् में देवकीपुत्र कृष्ण का वर्णन है। 'कौषतकी' ब्राह्मण में भी देवकीपुत्र कृष्ण का उल्लेख है। यह देवकीपुत्र कृष्ण महाभारतकालीन यादव कृष्ण ही हैं। इस प्रकार प्राचीन आर्ष साहित्य में श्रीकृष्ण का अनेक स्थानों पर उल्लेख होने से उनकी ऐतिहासिकता सिद्ध है।

महाभारत और रामायण की तुलना

रामायण और महाभारत भारत के दो गौरवपूर्ण ग्रन्थ हैं। दोनों ग्रन्थों को तुलनात्मक रीति से देखें तो जहाँ रामायण आत्मा है वहाँ महाभारत शरीर है। दोनों ग्रन्थों में अनेक समानताएँ होने पर भी अनेक विषमताएँ हैं। रामायण के पात्र आदर्श हैं, उसमें नायक का पक्ष सर्वथा निर्दोष और खलनायक का चरित्र सदोष चित्रित किया है, परन्तु महाभारत का चरित्र-चित्रण ऐसा नहीं है। महाभारत में कौरव और पाण्डव दोनों पक्षों में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के पात्र हैं। अच्छे-से-अच्छे पात्र युधिष्ठिर में भी दोष हैं और बुरे-से-बुरे पात्र दुर्योधन एवं कर्ण में भी कुछ अच्छाइयाँ हैं। रामायण में आदर्श भ्रातृप्रेम का चित्रण है तो महाभारत की भित्ति ही भ्रातृद्रोह पर है। रामायण का अर्थ है—राम+अयन=राम का मार्ग, अतः, उसमें श्रीराम के चरित्र की ही प्रधानता है परन्तु महाभारत उज्ज्वल चरित्रों का महाकानन है।

रामायण और महाभारत में सबसे बड़ा भेद संस्कृति का है। धर्म रामायणकालीन संस्कृति का प्राण था, परन्तु महाभारत का युग कर्मप्रधान था। रामायण में करुणा, भावुकता, संयम और सरलता की छाप है; महाभारत में दर्प, औद्धत्य, तेज और उग्रता का ताण्डव नृत्य है। रामायण में पद-पद पर धर्म की दुहाई दी गई है, परन्तु महाभारत में स्वाभिमान का दर्प उसके पात्रों की रग-रग में भरा है। रामायण का अध्ययन करते हुए पाठक शान्तरस में सराबोर हो जाते हैं, परन्तु महाभारत पढ़ते समय वह वीरत्व से उद्वेलित हो जाता है। यदि महाभारत में राम जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम, भरत जैसे आदर्श भाई, हनुमान् जैसे आदर्श सेवक तथा भक्त और सीता जैसी पतिव्रता नारी नहीं है, तो रामायण में भी भीष्म जैसे तेजस्वी और ज्ञानी, बलराम जैसे फक्कड़, विदुर जैसे नीतिज्ञ, कुन्ती और द्रौपदी जैसी तेजोदृप्त नारियाँ और श्रीकृष्ण जैसे प्रत्युत्पन्नमति, महान् कूटनीतिज्ञ और गम्भीर तत्त्वदर्शी पात्र दुर्लभ हैं।

महाभारत की संस्कृति रामायणकालीन संस्कृति के समान समुन्नत एवं समुज्ज्वल नहीं थी। कहाँ श्रीराम का परम-पावन और आदर्श आचरण और कहाँ युधिष्ठिर की द्यूत आदि कुकर्मों में प्रवृत्ति! कहाँ लक्ष्मण और भरत आदि का आदर्श भ्रातृस्नेह और कहाँ युधिष्ठिर के प्रति भीम और अर्जुन द्वारा अपमान-सूचक शब्दों का प्रयोग! कहाँ श्रीराम और भरत की राज्य के प्रति अनिच्छा और कहाँ दुर्योधन की यह राज्यलिप्सा—

सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।[1]

---

१. तुलना करें— यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति॥—महा० उद्यो० २५।२६

इस प्रकार दोनों के सांस्कृतिक आदर्शों में महान् अन्तर है।

रामायण की प्रजा राजकार्य में अधिक रुचि लेती थी और अन्याय का विरोध करने में नहीं हिचकती थी। कैकेयी द्वारा सीता को वल्कल वस्त्र दिये जाने पर प्रजा एक साथ चिल्ला उठती है—**'धिक् त्वां दशरथम्'**; किन्तु धृतराष्ट्र की राजसभा में द्रौपदी की दुर्दशा होने पर प्रजा की तो बात ही क्या, भीष्म और द्रोण जैसे वयोवृद्ध भी कुछ नहीं बोलते।

युद्ध के आदर्शों में भी परिवर्तन पाया जाता है। युद्ध-क्षेत्र में रावण के घायल और रथहीन हो जाने पर राम उसे यह कहकर छोड़ देते हैं कि 'घायल का वध करना धर्मविरुद्ध है' परन्तु महाभारत में शस्त्र छोड़े हुए भीष्म और द्रोण का वध, रथ से उतरे कर्ण का वध, अपितु सोते हुए धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को मौत के घाट उतार दिया जाता है। राम-रावण अथवा लक्ष्मण-मेघनाद के युद्ध में वह क्रोधोन्मत्त और घृणा-सूचक प्रलाप नहीं पाया जाता जो भीम-दुर्योधन तथा कर्ण और अर्जुन के मध्य होता है।

रामायण की सभ्यता अधिक शिष्ट, सुसंस्कृत, मर्यादित और आदर्श है; महाभारत में वर्णित सभ्यता अशान्तिमय और अव्यवस्थित है।

महाभारत का परिचय

महाभारत के खण्डों को पर्व कहते हैं। महाभारत में अठारह पर्व हैं—(१) आदि, (२) सभा, (३) वन, (४) विराट्, (५) उद्योग, (६) भीष्म, (७) द्रोण, (८) कर्ण, (९) शल्य, (१०) सौप्तिक, (११) स्त्री, (१२) शान्ति, (१३) अनुशासन, (१४) अश्वमेध, (१५) आश्रमवासी, (१६) मौसल, (१७) महाप्रस्थानिक, और (१८) स्वर्गारोहण। आदिपर्व में कौरव-पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन है। सभापर्व में जुआ खेलने, वनपर्व में पाण्डवों का वनवास, विराट्पर्व में पाण्डवों का अज्ञातवास=छिपकर रहने का वर्णन है। उद्योगपर्व में कौरव-पाण्डवों द्वारा सैन्य-संग्रह और श्रीकृष्ण का दूत बनकर कौरवसभा में जाने तथा शान्ति-स्थापना के लिए उद्योग का निरूपण है। भीष्मपर्व में दस दिन तक भीष्म के युद्ध करने और अन्त में शरशय्या पर पड़ने, द्रोणपर्व में अभिमन्यु तथा जयद्रथ का वध, द्रोणाचार्य के युद्ध और वध का वर्णन है। कर्णपर्व में कर्ण द्वारा अर्जुन के साथ युद्ध और वध, शल्यपर्व में शल्य और दुर्योधन के वध का सविस्तर वर्णन है। सौप्तिक पर्व में अश्वत्थामा द्वारा धृष्टद्युम्न और पाण्डवों के सोये हुए पुत्रों का वध, स्त्रीपर्व में स्त्रियों के विलाप, शान्तिपर्व में भीष्म पितामह द्वारा युधिष्ठिर को मोक्षधर्म का उपदेश, अनुशासनपर्व में धर्म तथा नीति और सदाचार का वर्णन, अश्वमेधपर्व में युधिष्ठिर का अश्वमेध-यज्ञ करना, आश्रमवासीपर्व में धृतराष्ट्र, गान्धारी आदि का वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना, मौसलपर्व में यादवों का नाश, महाप्रस्थानिकपर्व में पाण्डवों की हिमालय-यात्रा और स्वर्गारोहणपर्व में पाण्डवों का स्वर्ग=त्रिविष्टप में जाना वर्णित है।

महाभारत के टीकाकार

महाभारत के अनेक टीकाकार हुए हैं जिनमें सर्वप्रसिद्ध नीलकण्ठ चतुर्धर [चौधरी] हैं।

महाभारत के उद्घोष

महाभारत धर्म और तत्त्व-ज्ञान का विश्वकोश है। व्यासजी की स्पष्ट उक्ति है कि धर्म को किसी भी अवस्था में नहीं त्यागना चाहिए—न कामना से, न भय से और न लोभ से, न जीवन के लिए। धर्म शाश्वत है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

मानव-जीवन की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में व्यासजी का कथन है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि
न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।

हे संसार के लोगो! तुम्हें एक रहस्यपूर्ण बात बताता हूँ—इस संसार में मनुष्ययोनि से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।

भारत कृषिप्रधान देश है, अतः व्यासजी का आग्रह है कि जो नेता अपने हाथों से कृषि नहीं करता, उसे नेता बनकर संसद् में जाने का अधिकार नहीं है—

न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् कृषिम्।

शान्ति और अनुशासन पर्व तो दिव्य रत्नों से भरे पड़े हैं, पढ़िए और आनन्द लूटिये।

इस संस्करण की विशेषताएँ

महाभारत इतना बड़ा ग्रन्थ है कि साधारण पाठक के लिए उसका पढ़ना कठिन ही है। हमने अत्यन्त परिश्रम से यह संक्षिप्त संकलन तैयार किया है। इसमें अश्लील, असम्भव गप्पों, असत्य और अनैतिहासिक घटनाओं को छोड़ दिया है। महाभारत का सार-सर्वस्व इसमें दे दिया गया है।

यह ग्रन्थ तीन खण्डों में प्रकाशित होगा। पहले खण्ड में

आदिपर्व से उद्योगपर्व तक पाँच पर्व हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में १५-१६ सहस्र श्लोक होंगे।

शुद्ध मुद्रण पर विशेष ध्यान दिया गया है।

इसमें पाठभेद मिलेंगे। कालक्रम से जो पाठ उलटे हो गये थे, उन्हें हमने सीधा कर दिया है। पाठों के निर्धारण में पूना के संस्करण से सहायता ली है परन्तु सर्वत्र उसका पाठ नहीं दिया है।

जो बहुत महत्त्वपूर्ण श्लोक हैं उन पर ऐसा [□] चिह्न दे दिया है।

अनुवाद सरल और मुहावरेदार रखा गया है।

अनेक स्थानों पर महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ दी गई हैं, जिनसे महाभारत के सम्बन्ध में फैली हुई भ्रान्तियाँ दूर होंगी।

एक भ्रान्ति

लोगों में एक ऐसी धारणा प्रचलित है कि जिस घर में महाभारत का पाठ होता है, वहाँ गृहकलह, लड़ाई-झगड़ा आरम्भ हो जाता है, अतः घर में महाभारत नहीं पढ़नी चाहिए। यह धारणा सर्वथा मिथ्या और भ्रान्त है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि जहाँ महाभारत का पाठ होगा, वहाँ घर के निवासियों के चरित्रों का उत्थान और मानव-जीवन का कल्याण होगा। हिचकिये नहीं, महाभारत का पाठ कीजिए और उसकी शिक्षाओं को जीवन में अपनाइए।

धन्यवाद और आभारप्रदर्शन

आचार्य पं० रविदत्तजी गौतम शास्त्री, एम० ए० को पाण्डुलिपि को पढ़ने और अनेक स्थानों पर बहुमूल्य सुझाव देने, श्री ओम्प्रकाशजी शास्त्री और श्री सुशीलजी शर्मा को प्रूफ़-संशोधन करने तथा पं० रामसेवक मिश्र और दुर्गा मुद्रणालय सुभाषपार्क, शाहदरा, दिल्ली-३२ के कर्मचारियों को ग्रन्थ को शुद्ध मुद्रित करने तथा गोविन्दराम हासानन्द के सञ्चालक श्री विजयकुमार को इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने के लिए हार्दिक धन्यवाद एवं साधुवाद देता हूँ।

मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि पाठकगण इसे 'वाल्मीकि रामायण' की भाँति ही अपनाएँगे।

जगदीश्वरानन्द

वेद सदन
एच १/२ माडल टाउन, दिल्ली-९

विषय-सूची

सभापर्व

वनपर्व

विराटपर्व

उद्योगपर्व

भीष्मपर्व

द्रोणपर्व

कर्णपर्व

शल्यपर्व

सौप्तिकपर्व

स्त्रीपर्व

शान्तिपर्व

अनुशासनपर्व

आश्वमेधिकपर्व

आश्रमवासिकपर्व

मौसलपर्व

महाप्रस्थानिकपर्व

स्वर्गारोहणपर्व

॥ ओ३म् ॥

महाभारतम्

आदिपर्व

प्रथमोऽध्यायः

अवतरणिका

इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम् ॥१॥

इस ग्रन्थ में इतिहास और पुराणों का मन्थन करके उनका प्रशस्त रूप प्रकट किया गया है । भूत, वर्तमान और भविष्य काल की तीनों संज्ञाओं का भी वर्णन हुआ है ।

जरामृत्युभयव्याधिभावाभावविनिश्चयः ।
विविधस्य च धर्मस्य ह्याश्रमाणां च लक्षणम् ॥२॥

इस ग्रन्थ में बुढ़ापा, मृत्यु, भय, रोग और पदार्थों के सत्यत्व तथा मिथ्यात्व का विशेष रूप से निश्चय किया गया है और अधिकारी-भेद से विभिन्न धर्मों एवं आश्रमों का भी लक्षण बताया गया है ।

चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च कृत्स्नशः ।
तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चन्द्रसूर्ययोः ॥३॥
ग्रहनक्षत्रताराणां प्रमाणं च युगैः सह ।
ऋचो यजूंषि सामानि वेदाध्यात्म तथैव च ॥४॥

इस ग्रन्थ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णों के कर्तव्य का विधान तथा पुराणों=ब्राह्मण-ग्रन्थों का सम्पूर्ण मूल तत्त्व भी प्रकट हुआ है । तपस्या एवं ब्रह्मचर्य के स्वरूप, अनुष्ठान एवं फलों का विवरण; पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा; सत्ययुग, त्रेता, द्वापुर, कलियुग—इन सबके परिमाण और प्रमाण तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद के आध्यात्मिक अभिप्राय और अध्यात्मशास्त्र का भी विस्तार से वर्णन किया गया है ।

न्यायशिक्षाचिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा ।
हेतुनैव समं जन्म दिव्यमानुषसंज्ञितम् ॥५॥

न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान तथा पाशुपत=सर्वान्तिर्यामी परमेश्वर का भी इसमें विशद वर्णन है । इसमें यह भी बताया गया है कि श्रेष्ठ और साधारण मनुष्य आदि शरीरों में जन्म का कारण क्या है ।

अज्ञानतिमिरान्धस्य लोकस्य तु विचेष्टतः ।
ज्ञानाञ्जनशलाकाभिर्नेत्रोन्मीलनकारकम् ॥६॥
धर्मार्थकाममोक्षार्थैः समासव्यासकीर्तनैः ।
तथा भारतसूर्येण नृणां विनिहतं तमः ॥७॥

संसार के जीव अज्ञान-अन्धकार से अन्धे होकर छटपटा रहे हैं । यह महाभारत ज्ञानाञ्जन की शलाका लगाकर उनकी आँखें खोल देता है । वह शलाका क्या है ? धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थों का संक्षेप और विस्तार से वर्णन । यह न केवल अज्ञान की रतौंधी को दूर करता है, प्रत्युत सूर्य के समान उदित होकर मनुष्यों की आँखों के सामने के सम्पूर्ण अन्धकार को ही नष्ट कर देता है ।

पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्नाः प्रकाशिताः ।
नृबुद्धिकैरवाणां च कृतमेतत् प्रकाशनम् ॥८॥

यह महाभारत-पुराण पूर्ण चन्द्रमा के समान है, जिससे श्रुतियों की चाँदनी छिटकती है और मनुष्यों की बुद्धिरूपी कुमुदिनी सदा के लिए खिल जाती है ।

इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना ।
लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत्सम्प्रकाशितम् ॥९॥

यह भारत-इतिहास एक जाज्वल्यमान दीपक है। यह मोह-अन्धकार को मिटाकर लोगों के अन्तःकरण-रूप सम्पूर्ण अन्तरङ्ग गृह को भली-भाँति ज्ञानालोक से आलोकित कर देता है।

सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः ॥१०॥

संसार में जितने भी श्रेष्ठ कवि होंगे, उनके काव्य के लिए यह मूल आश्रय होगा। जैसे मेघ सम्पूर्ण प्राणियों के लिए जीवन-दाता है, वैसे ही यह अक्षय भारत-वृक्ष है।

तस्य वृक्षस्य वक्ष्यामि शाश्वत्पुष्पफलोदयम्।
स्वादुमेध्यरसोपेतमच्छेद्यममरैरपि ॥११॥

यह महाभारत एक वृक्ष है। मैं इस वृक्ष के फलों का वर्णन करूँगा। इस वृक्ष के स्वादु, पवित्र, सरस एवं अविनाशी पुष्प तथा फल हैं—धर्म और मोक्ष। उन्हें देवता भी इस वृक्ष से अलग नहीं कर सकते।

नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्मणो यथा।
आरण्यकं च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृतं यथा ॥१२॥
ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम्।
यथैतानीतिहासानां तथा भारतमुच्यते।
महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ॥१३॥

जैसे दही में नवनीत, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों में उपनिषद्, ओषधियों में अमृत, सरोवरों में समुद्र और पशुओं में गाय सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही (उन्हीं के समान) इतिहासों में यह महाभारत भी सर्वश्रेष्ठ है। महत्ता, भार अथवा गम्भीरता की विशेषता से ही इसे महाभारत कहते हैं।

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥१४॥

इतिहास और पुराणों=ब्राह्मण-ग्रन्थों की सहायता से ही वेदों का अर्थ, विस्तार एवं समर्थन करना चाहिए। जो इतिहास एवं पुराण से अनभिज्ञ है, उससे वेद डरते हैं कि यह मुझपर प्रहार करेगा, अर्थ का अनर्थ कर देगा।

यश्चैनं शृणुयान्नित्यमार्षं श्रद्धासमन्वितः।
स दीर्घमायुः कीर्तिं च स्वर्गतिं चाप्नुयान्नरः ॥१५॥

जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन इस आर्ष ग्रन्थ का श्रवण करता है, उसे दीर्घायु, कीर्ति और स्वर्ग=सुख की प्राप्ति होती है।

विचित्रार्थपदाख्यानमनेकसमयान्वितम्।
प्रतिपन्नं नरैः प्राज्ञैर्वैराग्यमिव मोक्षिभिः ॥१६॥

जैसे मोक्ष के इच्छुक पुरुष वैराग्य की शरण ग्रहण करते हैं, वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्य अलौकिक अर्थ, विचित्र पद, अद्‌भुत आख्यान तथा भाँति-भाँति की परस्पर विलक्षण मर्यादाओं से युक्त इस महाभारत का आश्रय ग्रहण करते हैं।

आत्मेव वेदितव्येषु प्रियेष्विव हि जीवितम्।
इतिहासः प्रधानार्थः श्रेष्ठः सर्वागमेष्वयम् ॥१७॥

जैसे जानने योग्य पदार्थों में आत्मा तथा प्रिय पदार्थों में अपना जीवन सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही सम्पूर्ण शास्त्रों में परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्तिरूप प्रयोजन को पूर्ण करनेवाला यह इतिहास सर्वोत्तम है।

अनाश्रित्यैदमाख्यानं कथा भुवि न विद्यते।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥१८॥

जैसे भोजन किये बिना शरीर-धारण सम्भव नहीं है, वैसे ही इस इतिहास का आश्रय लिये बिना भूमण्डल पर कोई भी कथा नहीं है।

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥१९॥

असीम बुद्धिवाले महात्मा व्यास ने यह अर्थ-शास्त्र कहा है। यह महान् धर्मशास्त्र भी है, इसे कामशास्त्र भी कहा गया है [और मोक्षशास्त्र तो यह है ही]।

श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्रव्यमन्यन्न रोचते।
पुंस्कोकिलरुतं श्रुत्वा रूक्षा ध्वांक्षस्य वागिव ॥२०॥

इस उपाख्यान को सुन लेने पर और कुछ सुनना अच्छा नहीं लगता। भला कोकिल का कलरव सुनकर कौओं की कठोर 'कांव-कांव' किसे पसन्द आएगी ?

इति महाभारते आदिपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्याय:

कथा-प्रवेश, महाभारत का महत्त्व

सौतिरुवाच

श्रुत्वा तु सर्पसत्राय दीक्षितं जनमेजयम् ।
अभ्यगच्छदृषिर्विद्वान् कृष्णद्वैपायनस्तदा ।।१।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—शौनक ! जब विद्वान् महर्षि कृष्णद्वैपायन ने यह सुना कि राजा जनमेजय सर्पयज्ञ की दीक्षा ले चुके हैं, तब वे वहाँ आये ।

जनमेजयस्तु राजर्षिर्दृष्ट्वा तमृषिमागतम् ।
सगणोऽभ्युद्ययौ तूर्णं प्रीत्या भरतसत्तमः ।।२।।

भरतश्रेष्ठ राजर्षि जनमेजय महर्षि व्यासजी को आया देख अति हर्ष के साथ उठकर खड़े हो गये और अपने सेवकों के साथ तुरन्त ही उनके स्वागत के लिए चल दिये ।

काञ्चनं विष्टरं तस्मै सदस्यानुमतः प्रभुः ।
आसनं कल्पयामास यथा शक्रो बृहस्पतेः ।।३।।

जैसे इन्द्र बृहस्पतिजी को आसन प्रदान करते हैं, उसी प्रकार राजा जनमेजय ने सदस्यों की अनुमति लेकर व्यासजी के लिए स्वर्ण-आसन की व्यवस्था की ।

तत्रोपविष्टं वरदं देवर्षिगणपूजितम् ।
पूजयामास राजेन्द्रः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।।४।।

देवर्षियों द्वारा पूजित, वरदायक व्यासजी जब वहां बैठ गये, तब राजेन्द्र जनमेजय ने शास्त्रीय विधि के अनुसार उनका पूजन किया ।

ततस्तु सहितः सर्वैः सदस्यैर्जनमेजयः ।
इदं पश्चात् द्विजश्रेष्ठं पर्यपृच्छत् कृताञ्जलिः ।।५।।

उनका पाद्य, आचमनीय, अर्घ्य द्वारा विधिवत् सत्कार करके सब सदस्यों सहित राजा जनमेजय ने हाथ जोड़कर द्विजश्रेष्ठ व्यासजी से इस प्रकार प्रश्न किया—

जनमेजय उवाच

कुरूणां पाण्डवानां च भवान् प्रत्यक्षदर्शिवान् ।
तेषां चरितमिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज ।।६।।

जनमेजय ने पूछा—ब्रह्मन् ! आप कौरवों और पाण्डवों को प्रत्यक्ष देख चुके हैं, अतः मैं आपके द्वारा वर्णित उनके चरित्र को सुनना चाहता हूँ ।

कथं समभवद् भेदस्तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तच्च युद्धं कथं वृत्तं भूतान्तकरणं महत् ।।७।।

वे तो राग-द्वेष आदि दोषों से रहित सत्कर्म करनेवाले थे, उनमें भेद-बुद्धि कैसे उत्पन्न हुई ? और प्राणियों का अन्त करनेवाला उनका वह महायुद्ध किस प्रकार हुआ ?

पितामहानां सर्वेषां दैवेनानिष्टचेतसाम् ।
कार्त्स्न्येनैतन्ममाचक्ष्व यथावृत्तं द्विजोत्तम ।।८।।

हे द्विजश्रेष्ठ ! प्रतीत होता है कि प्रारब्ध ने ही प्रेरणा करके मेरे उन सब पितामहों के मन को युद्धरूपी अनिष्ट में लगा दिया था । उनके उस सम्पूर्ण वृत्तान्त का आप यथावत् रूप से वर्णन करें ।

सौतिरुवाच

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनस्तदा ।
शशास शिष्यमासीनं वैशम्पायनमन्तिके ।।९।।

उग्रश्रवाजी कहते हैं—जनमेजय का यह वचन सुनकर कृष्ण द्वैपायन व्यास ने निकट में ही बैठे हुए अपने शिष्य वैशम्पायन को यह आदेश दिया—

व्यास उवाच

कुरूणां पाण्डवानां च यथा भेदोऽभवत् पुरा ।
तदस्मै सर्वमाचक्ष्व यन्मत्तः श्रुतवानसि ।।१०।।

व्यासजी बोले—वैशम्पायन ! पूर्वकाल में कौरव और पाण्डवों में जिस प्रकार फूट पड़ी थी, जिसे तुम मुझसे पहले सुन चुके हो, वह समस्त वृत्तान्त राजा जनमेजय को सुनाओ ।

वैशम्पायन उवाच

क्षणं कुरु महाराज विपुलोऽयमनुक्रमः ।
पुण्याख्यानस्य वक्तव्यः कृष्णद्वैपायनेरितः ।।११।।

वैशम्पायनजी बोले—महाराज ! इसके लिए कुछ समय निर्धारित कीजिए, क्योंकि व्यासजी द्वारा क्रमानुसार वर्णित यह पवित्र आख्यान बहुत विस्तृत है और वह सब आपके समक्ष कहकर सुनाना है ।

अस्मिन्नर्थश्च धर्मश्च निखिलेनोपदिश्यते ।
इतिहासे महापुण्ये बुद्धिश्च परिनैष्ठिकी ।।१२।।

इसमें अर्थ और धर्म का पूर्णरूप से उपदेश दिया गया है। इस परम पावन इतिहास के श्रवण और अध्ययन से मोक्ष-बुद्धि प्राप्त होती है।

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा।
महीं विजयते राजा शत्रूंश्चापि पराजयेत् ॥१३॥

यह 'जय' नामक इतिहास विजय-प्राप्ति की इच्छावाले पुरुष को अवश्य सुनना चाहिए। इसका श्रवण करनेवाला राजा भूमि पर विजय पाता और शत्रुओं को परास्त करता है।

महिषीयुवराजाभ्यां श्रोतव्यं बहुशस्तथा।
वीरं जनयते पुत्रं कन्यां वा राज्यभागिनीम् ॥१४॥

युवराज तथा रानी को बारम्बार इसका श्रवण करते रहना चाहिए, इससे वह वीर पुत्र को अथवा राज्य-सिंहासन पर बैठनेवाली श्रेष्ठ कन्या को जन्म देती है।

धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥१५॥

महा बुद्धिमान् व्यासजी ने इसे पुण्यमय धर्म-शास्त्र, उत्तम अर्थशास्त्र तथा सर्वोत्तम मोक्षशास्त्र भी कहा है।

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वर्ग्यं तथैव च।
भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते ॥१६॥

इस ग्रन्थ का श्रवण एवं अध्ययन धन, यश, आयु पुण्य तथा स्वर्ग=सुख की प्राप्ति करानेवाला है। इसमें भरतवंशियों के महान् जन्म-वृत्तान्त का वर्णन है, अतः इसे 'महाभारत' कहते हैं।

नरेण धर्मकामेन सर्वः श्रोतव्य इत्यपि।
निखिलेनेतिहासोऽयं ततः सिद्धिमवाप्नुयात् ॥१७॥

धर्म की इच्छा रखनेवाले मनुष्य को यह सारा महाभारत इतिहास पूर्णरूप से श्रवण करने योग्य है। इसके श्रवण से मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

न तां स्वर्गगतिं प्राप्य तुष्टिं प्राप्नोति मानवः।
यां श्रुत्वैव महापुण्यमितिहासमुपाश्नुते ॥१८॥

इस महान् पुण्यदायक इतिहास को सुनने मात्र से ही मनुष्य को जो सन्तोष और आनन्द प्राप्त होता है, वह स्वर्गलोक प्राप्त कर लेने से भी नहीं मिलता।

यथा समुद्रो भगवान् यथा मेरुर्महागिरिः।
उभौ ख्यातौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते ॥१९॥

जैसे ऐश्वर्यपूर्ण समुद्र और महान् पर्वत मेरु दोनों रत्नों की खान कहे गये हैं, वैसे ही महाभारत रत्न-स्वरूप कथाओं और उपदेशों का भण्डार कहा जाता है।

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमद्भुतम् ॥२०॥

इस ग्रन्थ का निर्माण करनेवाले महामुनि कृष्णद्वैपायन ने प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर महाभारत नामक इस अद्भुत इतिहास को तीन वर्षों में पूर्ण किया है।

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥२१॥

हे भरतश्रेष्ठ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में जो बात इस ग्रन्थ में है, वही अन्यत्र भी है; जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है।

इति महाभारते आदिपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्याय।

महाराज दुष्यन्त का चरित्र

वैशम्पायन उवाच

पौरवाणां वंशकरो दुष्यन्तो नाम वीर्यवान्।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता भरतसत्तम ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतकुलभूषण जनमेजय! पूरुवंश का विस्तार करनेवाले दुष्यन्त नाम के एक राजा हो गये हैं। वे महापराक्रमी तथा चारों समुद्रों से घिरे हुए समस्त भूमण्डल के पालक थे।

नासीच्चौरभयं तात न क्षुधाभयमण्वपि।
नासीद् व्याधिभयं चापि तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥२॥

महाराज दुष्यन्त के शासन-काल में चोरों का भय नहीं था। भूख का भय तो नाम को भी न था तथा रोग और व्याधि का डर भी नहीं रह गया था।

कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि रसवन्ति च।
सर्वरत्नसमृद्धा च मही पशुमती तथा ॥३॥

उनके राज्य में समय पर वर्षा होती थी तथा अन्न रसयुक्त होते थे। पृथिवी सब प्रकार के रत्नों से सम्पन्न तथा पशुधन से परिपूर्ण थी।

स चाद्भुतमहावीर्यो वज्रसंहननो युवा।
उद्यम्य मन्दरं दोर्भ्यां वहेत् सवनकाननम्॥४॥

राजा दुष्यन्त स्वयं भी युवक थे। उनका शरीर वज्र के समान दृढ़ था। वे अद्भुत एवं महान् पराक्रम से सम्पन्न थे। वे अपने दोनों हाथों से उपवनों और काननों सहित मन्दराचल को उठाकर ले जाने की शक्ति रखते थे।

चतुष्पथगदायुद्धे बभूव परिनिष्ठितः।
बले विष्णुसमश्चासीत् तेजसा भास्करोपमः॥५॥

वे गदायुद्ध के प्रक्षेप, विक्षेप, परिक्षेप और अभिक्षेप—इन चारों प्रकारों में अत्यन्त कुशल थे। वे बल में विष्णु के समान और तेज में सूर्य के समान थे।

अक्षोभ्यत्वेऽर्णवसमः सहिष्णुत्वे धरासमः।
सम्मतः स महीपालः प्रसन्नपुरराष्ट्रवान्॥६॥

वे समुद्र के समान अक्षोभ्य एवं गम्भीर और पृथिवी के समान सहनशील थे। महाराज दुष्यन्त का सर्वत्र सम्मान था। उनके नगर तथा राष्ट्र के लोग सदा प्रसन्न रहते थे।

स कदाचिन्महाबाहुः प्रभूतबलवाहनः।
निर्ययौ परमप्रीत्या वनं मृगजिघांसया॥७॥

एक समय की बात है, महाबाहु राजा दुष्यन्त बहुत-से सैनिक और सवारियों को साथ लिये वन में हिंसक पशुओं का शिकार[1] करने के लिए अति प्रसन्नता के साथ नगर से बाहर निकले।

तत्र मृगसहस्राणि[2] हत्वा सबलवाहनः।
राजा मृगप्रसङ्गेन वनमन्यद् विवेश ह॥८॥

उस वन में सेना और सवारियों के साथ राजा दुष्यन्त ने अनेक हिंसक पशुओं का वध करके एक मृग का पीछा करते हुए दूसरे वन में प्रवेश किया।

प्रेक्षमाणो वनं तत् तु सुप्रहृष्टविहङ्गमम्।
आश्रमप्रवरं रम्यं ददर्श च मनोरमम्॥९॥

उस वन की शोभा देखते हुए उनकी दृष्टि एक उत्तम आश्रम पर पड़ी जो अत्यन्त रमणीय और मनोरम था। वहाँ बहुत-से पक्षी हर्षोल्लास में भरकर चहक रहे थे।

दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं तत्र काश्यपस्य महात्मनः।
चकाराभिप्रवेशाय मतिं स नृपतिस्तदा॥१०॥

कश्यप गोत्रीय महात्मा कण्व के उस मनोहर एवं रमणीय आश्रम को देखकर राजा दुष्यन्त ने उसमें प्रवेश करने का विचार किया।

ततोऽगच्छन्महाबाहुरेकोऽमात्यान्विसृज्य तान्।
नापश्यच्चाश्रमे तस्मिंस्तमृषिं संशितव्रतम्॥११॥

उस आश्रम में प्रवेश का निश्चय कर महाबाहु राजा दुष्यन्त साथ आये हुए अपने मन्त्रियों को भी बाहर छोड़कर अकेले ही उस आश्रम में गये, परन्तु वहाँ कठोर व्रत का पालन करनेवाले महर्षि दिखाई नहीं दिये।

सोऽपश्यमानस्तमृषिं शून्यं दृष्ट्वा तथाऽऽश्रमम्।
उवाच क इहेत्युच्चैर्वनं सन्नादयन्निव॥१२॥

महर्षि कण्व को न देखकर तथा आश्रम को सूना पाकर राजा ने सम्पूर्ण वन को प्रतिध्वनित-सा करते हुए पूछा—"यहाँ कौन है?"

श्रुत्वाथ तस्य तं शब्दं कन्या श्रीरिव रूपिणी।
निश्चक्रामाश्रमात्तस्मात्तापसी वेषधारिणी॥१३॥

दुष्यन्त के उस शब्द को सुनकर एक मूर्तिमती लक्ष्मी-सी सुन्दरी कन्या तापसी का वेष धारण किये आश्रम से बाहर निकली।

---

1. मनोविनोद के लिए शिकार खेलना—निरीह पशुओं के वध को राजर्षि मनु आदि शास्त्रकारों ने व्यसनों में गिनाया है, परन्तु प्रजा के कल्याण के लिए हिंसक पशुओं और खेती को हानि पहुँचानेवाले सेही आदि जन्तुओं का शिकार करना सर्वथा उचित है।

   एक बात सदा स्मरण रखनी चाहिए कि मारे हुए पशुओं को खाने का कहीं विधान नहीं है।

2. सहस्र शब्द का अर्थ हज़ार भी होता है परन्तु सर्वत्र यही अर्थ करना उचित नहीं है। निघण्टु में 'सहस्र' शब्द बहु के अर्थ में पठित है—**सहस्रं बहुनामसु पठितम्।** [निघ० ३।१], अतः हमने अर्थ किया है—'अनेक'। इस प्रसङ्ग में यही अर्थ समीचीन है।

सा तं दृष्ट्वैव राजानं दुष्यन्तमसितेक्षणा ।
स्वागतं त इति क्षिप्रमुवाच प्रतिपूज्य च ॥१४॥

कजरारे नेत्रोंवाली उस शुभलक्षणा कन्या ने राजा दुष्यन्त को देखते ही उनके प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित करते हुए शीघ्रतापूर्वक कहा—"अतिथि देव ! आपका स्वागत है।"

आसनेनार्चयित्वा च पाद्येनार्घ्येण चैव हि ।
पप्रच्छानामयं राजन् कुशलं च नराधिपम् ॥१५॥

"हे राजन् !" फिर आसन, पाद्य और अर्घ्य अर्पण करके उनका सत्कार करने के पश्चात् उसने राजा से पूछा—"अतिथि देव ! आपका शरीर तो नीरोग है ? घर पर कुशल तो है ?"

यथावदर्चयित्वाथ पृष्ट्वा चानामयं तदा ।
उवाच स्मयमानेव किं कार्यं क्रियतामिति ॥१६॥

राजा दुष्यन्त का विधिपूर्वक आदर-सत्कार करके और उनका आरोग्य एवं कुशल पूछकर वह तपस्विनी कन्या मुस्कुराती हुई-सी बोली—"कहिए, आपकी क्या सेवा की जाए ?"

दुष्यन्त उवाच

आगतोऽहं महाभागमृषिं कण्वमुपासितुम् ।
क्व गतो भगवान् भद्रे तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥१७॥

दुष्यन्त बोले—भद्रे ! मैं परम भाग्यशाली महर्षि कण्व का सत्सङ्ग-लाभ करने के लिए आया हूँ। शोभने ! कृपया बताओ, भगवान् कण्व कहाँ गये हैं ?"

शकुन्तलोवाच

गतः पिता मे भगवान् फलान्याहर्तुमाश्रमात् ।
मुहूर्तं सम्प्रतीक्षस्व द्रष्टास्येनमुपागतम् ॥१८॥

शकुन्तला बोली—अतिथिदेव ! मेरे पूज्य पिता-जी फल लाने के लिए आश्रम से बाहर गये हैं। अतः दो घड़ी प्रतीक्षा कीजिए, लौटने पर उनसे मिलिएगा।

वैशम्पायन उवाच

अपश्यमानस्तमृषिं तथा चोक्तस्तया च सः ।
तां दृष्ट्वा च वरारोहामित्युवाच महीपतिः ॥१९॥

वैशम्पायन जी कहते हैं—जनमेजय ! महर्षि कण्व को आश्रम में न देखकर और उस तापसी कन्या के वहाँ ठहरने के लिए आग्रह करने पर, उस सर्वाङ्ग-सुन्दरी कन्या को देखकर राजा बोले।

दुष्यन्त उवाच

का त्वं कस्यासि सुश्रोणि किमर्थं चागता वनम् ।
एवं रूपगुणोपेता कुतस्त्वमसि शोभने ॥२०॥

दुष्यन्त बोले—मनोहर कटि-प्रदेश से सुशोभित हे सुन्दरी ! तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? और इस वन में किस लिए आई हो ? शोभने ! तुममें ऐसे अद्भुत रूप और गुणों का विकास कैसे हुआ ?

दर्शनादेव वै शुभे त्वया मेऽपहृतं मनः ।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥२१॥

शुभे ! तुमने दर्शनमात्र से ही मेरे मन को हर लिया है। कल्याणि ! मैं तुम्हारा परिचय जानना चाहता हूँ, अतः मुझे सब-कुछ ठीक-ठीक बताओ।

शकुन्तलोवाच

कण्वस्याहं भगवतो दुष्यन्त दुहिता मता ।
तपस्विनो धृतिमतो धर्मज्ञस्य महात्मनः ॥२२॥

शकुन्तला ने कहा—महाराज दुष्यन्त ! मैं तपस्वी, धृतिमान्, धर्मज्ञ तथा महात्मा भगवान् कण्व की पुत्री मानी जाती हूँ।

दुष्यन्त उवाच

ऊर्ध्वरेता महाभागे भगवाँल्लोकपूजितः ।
कथं त्वं तस्य दुहिता सम्भूता वरवर्णिनी ॥२३॥

दुष्यन्त बोले—महाभागे ! विश्ववन्द्य कण्व तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं, ऐसी अवस्था में तुम जैसी सुन्दरी कुमारी उनकी पुत्री कैसे हो सकती है ?

शकुन्तलोवाच

यथायमागमो मह्यं यथा चेदमभूत् पुरा ।
शृणु राजन् यथातत्त्वं यथास्मि दुहिता मुनेः ॥२४॥

शकुन्तला ने कहा—राजन् ! ये सब बातें मुझे जिस प्रकार ज्ञात हुई हैं, मेरा यह जन्म-आदि पूर्व-काल में जिस प्रकार हुआ है तथा मैं जिस प्रकार कण्व मुनि की पुत्री हूँ, वह सम्पूर्ण वृत्तान्त ठीक-ठीक बता रही हूँ, सुनिए।

ऋषिः कश्चिदिहागम्य मम जन्माभ्यनोदयत् ।
तस्मै प्रोवाच भगवान् यथा तच्छृणु पार्थिव ॥२५॥

पृथिवीपते ! एक दिन किसी ऋषि ने यहाँ

आकर मेरे जन्म के सम्बन्ध में मुनि से पूछा। उस समय भगवान् कण्व ने जो बात बताई, वही कहती हूँ, सुनिए।

कण्व उवाच

तप्यमानः किल पुरा विश्वामित्रो महत् तपः।
सुभृशं तापयामास शक्रं सुरगणेश्वरम् ॥२६॥

कण्व बोले—प्राचीन समय की बात है,[1] महर्षि विश्वामित्र बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे। उन्होंने अपनी तपस्या से देवताओं के राजा इन्द्र को अत्यन्त सन्ताप में डाल दिया।

तपसा दीप्तवीर्योऽयं स्थानान्मां च्यावयेदिति।
भीतः पुरन्दरस्तस्मान्मेनकामिदमब्रवीत् ॥२७॥

इन्द्र को यह भय हो गया कि तपस्या से अधिक शक्तिशाली होकर ये विश्वामित्र मुझे अपने स्थान से भ्रष्ट कर देंगे, अतः उन्होंने मेनका से इस प्रकार कहा—

गुणैरप्सरसां दिव्यैर्मेनके त्वं विशिष्यसे।
श्रेयो मे कुरु कल्याणि यत्त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ॥२८

मेनके! अप्सराओं के जो दिव्य गुण हैं, वे तुममें सबसे अधिक हैं। कल्याणि! तुम मेरा भला करो और मैं तुमसे जो बात कहता हूँ, उसे सुनो।

रूप-यौवन-माधुर्य-चेष्टित-स्मित-भाषणैः।
लोभयित्वा वरारोहे तपसस्तं निवर्तय ॥२९॥

वरारोहे! तुम अपने रूप, यौवन, मधुर स्वभाव, हाव-भाव, मन्द मुस्कान और सरस वार्तालाप आदि के द्वारा मुनि विश्वामित्र को लुभाकर उन्हें तपस्या से निवृत्त (विरत) कर दो।

सागच्छत् त्वरिता भूमिं यत्रासीन्मुनिसत्तमः।
तस्या रूपगुणान् दृष्ट्वा स तु विप्रर्षभस्तदा ॥३०॥
चकार भावं संसर्गात् तया कामवशं गतः।
न्यमन्त्रयत चाप्येनां सा चाप्यैच्छदनिन्दिता ॥३१॥

देवराज इन्द्र का आदेश पाकर मेनका उस स्थान पर गई जहाँ मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र विराजमान थे। उसके रूप और गुणों को देखते ही मुनिवर विश्वामित्र काम के अधीन हो गये। सम्पर्क में आने के कारण मेनका में उनका अनुराग हो गया। उन्होंने मेनका को अपने निकट आने का निमन्त्रण दिया। अनिन्द्य सुन्दरी मेनका तो यह चाहती ही थी, अतः वह उनसे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए राजी हो गई।

तौ तत्र सुचिरं कालमुभौ व्यहरतां तदा।
जनयामास स मुनिर्मेनकायां शकुन्तलाम् ॥३२॥

तत्पश्चात् वे दोनों वहाँ दीर्घकाल तक इच्छा-अनुसार विहार तथा रमण करते रहे। फिर मुनि ने मेनका के गर्भ से शकुन्तला को जन्म दिया।

जातमुत्सृज्य तं गर्भं मेनका मालिनीमनु।
कृतकार्या ततस्तूर्णमगच्छच्छक्रसंसदम् ॥३३॥

मेनका का कार्य पूरा हो चुका था, अतः वह उस नवजात गर्भ को मालिनी के तट पर छोड़कर तुरन्त इन्द्रलोक को चली गई।

तं वने विजने गर्भं सिंहव्याघ्रसमाकुले।
दृष्ट्वा शयानं शकुनाः समन्तात् पर्यवारयन् ॥३४॥

सिंह और व्याघ्रों से भरे हुए निर्जन वन में उस शिशु को सोते देख शकुन्तों (पक्षियों) ने उसे सब ओर से घेर लिया।

पर्यरक्षन्त तां तत्र शकुन्ता मेनकात्मजाम्।
उपस्प्रष्टुं गतश्चाहमपश्यं शयितामिमाम् ॥३५॥
निर्जने विपिने रम्ये शकुन्तैः परिवारिताम्।
आनयित्वा ततश्चैनां दुहितृत्वे न्यवेशयम् ॥३६॥

इस प्रकार वहाँ शकुन्त ही मेनका कुमारी की रक्षा कर रहे थे। उसी समय स्नान करने के लिए जब मैं मालिनी के तट पर गया, तो देखा—यह रमणीय निर्जन वन में पक्षियों से घिरी हुई सो रही है। इस कन्या को वहाँ से लाकर मैंने इसे अपनी पुत्री के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

शरीरकृत् प्राणदाता यस्य चान्नानि भुञ्जते।
क्रमेणैते त्रयोऽप्युक्ताः पितरो धर्मशासने ॥३७॥

जो गर्भाधान के द्वारा शरीर का निर्माण करता है, जो अभयदान देकर प्राणों की रक्षा करता है तथा

---

१. यह इतिहास कितना सत्य है, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। रोचकता लाने के लिए कभी-कभी कल्पना का सहारा लिया जाता है। हो सकता है, यहाँ भी कवि-कल्पना ही हो। प्रसङ्ग को दृष्टि में रखते हुए हमने इसे यहाँ समाविष्ट कर दिया है।

जिसका अन्न भोजन किया जाता है, धर्मशास्त्र में क्रमशः ये तीनों पुरुष पिता कहे गये हैं।

निर्जने तु वने यस्माच्छकुन्तैः परिवारिता।
शकुन्तलेति नामास्याः कृतं चापि ततो मया ॥३८॥

निर्जन वन में इसे शकुन्तों ने घेर रखा था, इसलिए 'शकुन्तान् लाति रक्षकत्वेन गृह्णाति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस कन्या का नाम मैंने शकुन्तला रख दिया।

शकुन्तलोवाच

एतदाचष्ट पृष्टः सन् मम जन्म महर्षये।
सुतां कण्वस्य मामेवं विद्धि त्वं मनुजाधिप ॥३९॥

शकुन्तला बोली—राजन्! उन महर्षि के पूछने पर पिता कण्व ने मेरे जन्म का यह वृत्तान्त उन्हें बताया था। इस प्रकार आप मुझे कण्व की ही पुत्री समझिए।

दुष्यन्त उवाच

सुव्यक्तं राजपुत्री त्वं यथा कल्याणि भाषसे।
भार्या मे भव सुश्रोणि ब्रूहि किं करवाणि ते ॥४०॥

दुष्यन्त बोले—कल्याणि! तुमने जो कुछ कहा है, उससे भली-भाँति स्पष्ट हो गया कि तुम क्षत्रिय कन्या हो। सुश्रोणि! तुम मेरी पत्नी बन जाओ। बोलो, मैं तुम्हारी प्रसन्नता के लिए क्या करूँ?

इच्छामि त्वां वरारोहे भजमानामनिन्दिते।
त्वदर्थं मां स्थितं विद्धि त्वद्गतं हि मनो मम ॥४१॥

वरारोहे! तुम्हारा शील और स्वभाव प्रशंसा के योग्य है। मैं चाहता हूँ, तुम मुझे स्वेच्छा से स्वीकार करो। मैं तुम्हारे लिए ही यहाँ ठहरा हूँ। मेरा मन तुममें ही लगा हुआ है।

सा त्वं मम सकामस्य सकामा वरवर्णिनि।
गान्धर्वेण विवाहेन भार्या भवितुमर्हसि ॥४२॥

सुन्दरि! मैं तुम्हें पाने के लिए इच्छुक (उत्सुक) हूँ। तुम भी मुझे पाने की इच्छा रखकर गन्धर्व विवाह के द्वारा मेरी पत्नी बन जाओ।

आत्मनो बन्धुरात्मैव गतिरात्मैव चात्मनः।
आत्मनैवात्मनो दानं कर्तुमर्हसि धर्मतः ॥४३॥

आत्मा ही अपना बन्धु है। आत्मा ही अपना आश्रय है, अतः तुम स्वयं ही धर्मपूर्वक आत्मसमर्पण करने योग्य हो।

शकुन्तलोवाच

यदि धर्मपथस्त्वेष यदि चात्मा प्रभुर्मम।
प्रदाने पौरवश्रेष्ठ शृणु मे समयं प्रभो ॥४४॥

शकुन्तला ने कहा—पौरवश्रेष्ठ! यदि यह गन्धर्व विवाह धर्म का मार्ग है, यदि आत्मा स्वयं ही अपना दान करने में समर्थ है तो इसके लिए मैं तैयार हूँ, किन्तु प्रभो! मेरी एक शर्त है, उसे सुन लीजिए।

मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत् त्वदनन्तरः।
यद्येतदेवं दुष्यन्त अस्तु मे सङ्गमस्त्वया ॥४५॥

महाराज दुष्यन्त! मेरे गर्भ से आपके द्वारा जो पुत्र उत्पन्न हो, वही आपके बाद युवराज हो। यदि आपको यह शर्त स्वीकार हो, तो आपके साथ मेरा समागम हो सकता है।

वैशम्पायन उवाच

एवमस्त्विति तां राजा प्रत्युवाचाविचारयन्।
जग्राह विधिवत् पाणावुवास च तया सह ॥४६॥
विश्वास्य चैनां स प्रायादब्रवीच्च पुनः पुनः।
प्रेषयिष्ये तवार्थाय वाहिनीं चतुरङ्गिणीम् ॥४७॥

वैशम्पायन जी कहते हैं—जनमेजय! शकुन्तला की यह बात सुनकर राजा दुष्यन्त ने बिना कुछ सोचे-विचारे यह उत्तर दे दिया—'ऐसा ही होगा।' ऐसा कहकर दुष्यन्त ने शकुन्तला का विधिवत् पाणिग्रहण किया और उसके साथ एकान्तवास किया, फिर उसे विश्वास दिलाकर विदा हुए। जाते समय उन्होंने बार-बार कहा—"तुम्हें राजमहल में लिवा ले जाने के लिए मैं चतुरङ्गिणी सेना भेजूँगा।"

मुहूर्तयाते तस्मिंस्तु कण्वोऽप्याश्रममागमत्।
शकुन्तला च पितरं ह्रिया नोपजगाम तम् ॥४८॥

राजा दुष्यन्त को गये दो ही घड़ी बीती थीं कि महर्षि कण्व भी आश्रम में आ गये, परन्तु शकुन्तला लज्जावश पहले के समान पिता के समीप नहीं गई।

विज्ञायाथ च तां कण्वो दिव्यज्ञानो महातपाः।
उवाच भगवान् प्रीतः पश्यन् दिव्येन चक्षुषा ॥४९॥

महातपस्वी भगवान् कण्व दिव्यज्ञान से सम्पन्न थे। उन्होंने दिव्य दृष्टि से देखकर शकुन्तला की तात्कालिक अवस्था को जान लिया, अतः वे प्रसन्न होकर बोले—

त्वयाद्य भद्रे रहसि मामनावृत्य यः कृतः ।
पुंसा सह समायोगो न स धर्मोपघातकः ।।५०।।

भद्रे ! आज तुमने मेरी अवहेलना करके जो एकान्त में किसी पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है, वह तुम्हारे धर्म का नाशक नहीं है ।

धर्मात्मा च महात्मा च दुष्यन्तः पुरुषोत्तमः ।
अभ्यगच्छः पतिं यत् त्वं भजमानं शकुन्तले ।।५१।।
महात्मा जनिता लोके पुत्रस्तव महाबलः ।
य इमां सागरापाङ्गीं कृत्स्नां भोक्ष्यति मेदिनीम् ।।५२।।

शकुन्तले ! महामना दुष्यन्त धर्मात्मा और श्रेष्ठ पुरुष हैं । वे तुम्हें चाहते थे । तुमने योग्य पति के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है, अतः लोक में तुम्हारे गर्भ से एक महाबली और महात्मा पुत्र उत्पन्न होगा जो समुद्र से घिरी हुई इस सम्पूर्ण पृथिवी का उपभोग करेगा । (समुद्र-पर्यन्त पृथिवी का चक्रवर्ती शासक होगा)

प्रतिज्ञाय तु दुष्यन्ते प्रतियाते शकुन्तलाम् ।
गर्भं सुषाव वामोरूः कुमारममितौजसम् ।।५३।।

उधर राजा दुष्यन्त शकुन्तला से पूर्वोक्त प्रतिज्ञा करके चले गये (और शकुन्तला को भूल गये अथवा जान-बूझकर नहीं बुलाया) इधर आश्रम में समय आने पर शकुन्तला ने एक अमित पराक्रमी कुमार को जन्म दिया ।

जातकर्मादिसंस्कारं कण्वः पुण्यकृतां वरः ।
विधिवत् कारयामास वर्धमानस्य धीमतः ।।५४।।

पुण्यवानों में श्रेष्ठ महायशस्वी कण्व ने उस प्रतिदिन बढ़ते हुए बुद्धिमान् बालक के जातकर्म आदि सभी संस्कार विधि-विधान से कराये ।

सिंहव्याघ्रान् वराहांश्च षड्वर्ष एव बालकः ।
बबन्ध वृक्षे बलवानाश्रमस्य समीपतः ।।५५।।

छह वर्ष की अवस्था में ही वह बलवान् बालक सिंहों, व्याघ्रों, वराहों को पकड़कर खींच लाता और आश्रम के समीपवर्ती वृक्षों से बांध देता था ।

आरोहन् दमयंश्चैव क्रीडंश्च परिधावति ।
ततोऽस्य नाम चक्रुस्ते कण्वाश्रमनिवासिनः ।।५६।।

फिर वह सबका दमन करते हुए उनकी पीठ पर चढ़ जाता और क्रीड़ा करते हुए उन्हें सब ओर दौड़ाता हुआ दौड़ता था । यह देख कण्व-आश्रम में रहनेवाले ऋषियों ने उसका नामकरण किया—

अस्त्वयं सर्वदमनः सर्वं हि दमयत्यसौ ।
स सर्वदमनो नाम कुमारः समपद्यत ।।५७।।

"यह सब जीवों का दमन करता है, अतः यह 'सर्वदमन' नाम से प्रसिद्ध हो"—तबसे उस कुमार का नाम सर्वदमन हो गया ।

तस्य तद्बलमाज्ञाय कण्वः शिष्यानुवाच ह ।
भर्तुः प्रापयतागारं सहपुत्रां शकुन्तलाम् ।।५८।।

उस बालक के बल को समझकर कण्व ने अपने शिष्यों से कहा—"तुम लोग शकुन्तला को पुत्रसहित इसके पति के घर में पहुँचा दो—

नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते ।
कीर्तिचारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम् ।।५९।।

"स्त्रियों का अपने भाई-बन्धुओं के यहाँ अधिक समय तक रहना अच्छा नहीं होता । वह उनकी कीर्ति, शील तथा पातिव्रत धर्म का नाश करनेवाला होता है, अतः इसे शीघ्र पति के घर में पहुँचा दो ।"

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे प्रातिष्ठन्त महौजसः ।
शकुन्तलां पुरस्कृत्य दुष्यन्तस्य पुरं प्रति ।।६०।।

"बहुत अच्छा" कहकर वे सभी महातेजस्वी शिष्य (पुत्रसहित) शकुन्तला को आगे करके दुष्यन्त के नगर की ओर चले ।

निवेदयित्वा ते सर्वे आश्रमं पुनरागताः ।
पूजयित्वा यथान्यायमब्रवीच्च शकुन्तला ।।६१।।

सब शिष्यगण शकुन्तला को राजसभा में छोड़ और राजा को महर्षि का संदेश सुनाकर पुनः आश्रम को लौट आये । शकुन्तला न्यायपूर्वक महाराज के प्रति सम्मान का भाव प्रकट करते हुए बोली—

अयं पुत्रस्त्वया राजन् मय्युत्पन्नः सुरोपमः ।
यथासमयमेतस्मिन् वर्तस्व पुरुषोत्तम ।।६२।।

"राजन् ! यह आपका पुत्र है । यह देवोपम कुमार आपके द्वारा मेरे गर्भ से उत्पन्न हुआ है । पुरुषोत्तम ! इसके लिए आपने मेरे साथ जो शर्त रखी है, उसका पालन कीजिए अर्थात् इसे युवराज-पद पर अभिषिक्त कीजिए ।

सोऽथ श्रुत्वैव तद् वाक्यं तस्या राजा स्मरन्नपि ।
अब्रवीन्न स्मरामीति कस्य त्वं दुष्टतापसि ॥६३॥

राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का वह वचन सुनकर सब बातों का स्मरण रखते हुए भी उससे यह कहा—"दुष्ट तपस्विनि ! मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है । तुम किसकी स्त्री हो ?"

धर्मकामार्थसम्बन्धं न स्मरामि त्वया सह ।
गच्छ वा तिष्ठ वा कामं यद् वापीच्छसि तत्कुरु ॥६४॥

"तुम्हारे साथ मेरा धर्म, काम अथवा अर्थ को लेकर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ है, इस बात का मुझे तनिक भी स्मरण नहीं है । तुम इच्छानुसार जाओ या रहो अथवा जैसी तुम्हारी रुचि हो, वैसा करो ।"

सैवमुक्ता वरारोहा व्रीडितेव तपस्विनी ।
निःसंज्ञेवद्दुःखेन तस्थौ स्थूणेव निश्चला ॥६५॥

सुन्दर अङ्गोंवाली तपस्विनी शकुन्तला दुष्यन्त के ऐसा कहने पर लज्जित हो, दुःख से बेहोश-सी हो गई और खंभे की भाँति निश्चल-भाव से खड़ी रह गई ।

सा मुहूर्तमिव ध्यात्वा क्रुद्धा वचनमब्रवीत् ।
जानन्नपि महाराज कस्मादेवं प्रभाषसे ॥६६॥

दो घड़ी तक कुछ सोचकर फिर क्रुद्ध होकर वह बोली—"महाराज ! आप सब-कुछ जान-बूझकर भी ऐसी बात क्यों कहते हैं ?

अत्र ते हृदयं वेद सत्यस्यैवानृतस्य च ।
कल्याणं वद साक्ष्येण माऽऽत्मानमवमन्यथाः ॥६७॥

"इस विषय में क्या सत्य है और क्या असत्य—आपका हृदय जानता है । उसी को साक्षी बनाकर, हृदय पर हाथ रखकर सच्ची बात कहिए, जिससे आपका कल्याण हो । आप अपने आत्मा की अवहेलना मत कीजिए ।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥६८॥

"जो अपने वास्तविक रूप को छिपाकर अपने आपको और ही कुछ दिखाता है, अपनी आत्मा का अपहरण करनेवाले उस चोर ने कौन-सा पाप नहीं किया ?

एकोऽहमस्मीति च मन्यसे त्वं
न हृच्छयं वेत्सि मुनिं पुराणम् ।
यो वेदिता कर्मणः पापकस्य
तस्यान्तिके त्वं वृजिनं करोषि ॥६९॥

"आप समझते हैं कि उस समय मैं अकेला था (कोई देखनेवाला नहीं था) परन्तु आपको पता नहीं कि वह सनातन मुनि (परमात्मा) सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान है । वह सबके पाप-पुण्य को जानता है और आप उसी के निकट रहकर पाप कर रहे हैं ।

स्वयं प्राप्तेति मामेवं मावमंस्था पतिव्रताम् ।
अर्चार्हां नार्चयसि मां स्वयं भार्यामुपस्थिताम् ॥७०॥

"मैं स्वयं आपके पाप आई हूँ, ऐसा समझकर मुझ पतिव्रता पत्नी का अनादर मत करो । मैं आपके द्वारा आदर पाने योग्य हूँ और स्वयं आपके निकट आयी हुई आपकी पत्नी हूँ, तथापि आप मेरा आदर नहीं करते हैं ?

किमर्थं मां प्राकृतवदुपप्रेक्षसि संसदि ।
न खल्वहमिदं शून्ये रौमि किं न शृणोषि मे ॥७१॥

"आप किस लिए गँवार पुरुषों की भाँति भरी सभा में मुझे अपमानित कर रहे हैं ? मैं अरण्य-रोदन (सूने जंगल में रोना) तो नहीं कर रही हूँ ? फिर आप मेरी बात क्यों नहीं सुनते ?

यदि मे याचमानाया वचनं न करिष्यसि ।
दुष्यन्त शतधा मूर्धा ततस्तेऽद्य स्फुटिष्यति ॥७२॥

"महाराज दुष्यन्त ! यदि मेरे उचित याचना करने पर भी आप मेरी बात नहीं मानेंगे, तो आज ही आपके सिर के सैकड़ों टुकड़े हो जाएँगे ।

भार्यां पतिः सम्प्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः ।
जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाः कवयो विदुः ॥७३॥

"पति ही पत्नी के भीतर गर्भरूप से प्रवेश करके पुत्र के रूप में जन्म लेता है । यही जाया (जन्म देनेवाली स्त्री) का जायात्व है, जिसे पुराणवेत्ता विद्वान् जानते हैं ।

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥७४॥

"पुत्र 'पुत्'=दुःख नामक नरक से पिता का

त्राण करता है, अतः साक्षात् ब्रह्माजी ने उसे पुत्र कहा है।

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती ।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥७५

"वही भार्या है, जो गृह-कार्य में कुशल हो। वही भार्या है जो सन्तानवती हो। वही भार्या है, जो अपने पति को प्राणों के समान प्रिय मानती हो और वही भार्या है, जो पतिव्रता हो।

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा ।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥७६॥

"भार्या पुरुष का आधा अङ्ग है। भार्या उसका सबसे उत्तम मित्र है। भार्या धर्म, अर्थ और काम का मूल है तथा संसार-सागर से पार उतरने की इच्छावाले पुरुष के लिए भार्या ही प्रमुख साधन है।

भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्या गृहमेधिनः ।
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रियायुताः ॥७७॥

"पत्नीवाले ही यज्ञादि कर्म कर सकते हैं, सपत्नीक पुरुष ही सच्चे गृहस्थ हैं। पत्नीवाले पुरुष सुखी एवं प्रसन्न रहते हैं और जो पत्नी से युक्त हैं, वे ही लक्ष्मी से सम्पन्न हैं (क्योंकि पत्नी ही गृह-लक्ष्मी है।)

सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः ।
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्तस्य मातरः ॥७८॥

"पत्नी ही एकान्त में प्रिय वचन बोलनेवाली सङ्गिनी या मित्र है। धर्मकार्यों में स्त्रियाँ पिता की भाँति पति की हितैषिणी होती हैं और संकट के समय माता की भाँति दुःख में हाथ बँटातीं तथा कष्ट-निवारण करती हैं।

कान्तारेष्वपि विश्रामो जनस्याध्वनिकस्य वै ।
यः सदारः स विश्वास्यस्तस्माद्दाराः परा गतिः ॥७९

"परदेश में यात्रा करनेवाले पुरुष के साथ यदि उसकी पत्नी हो तो वह घोर घने जंगल में भी विश्राम पा सकता है—सुख से रह सकता है। लोक-व्यवहार में भी जिसके साथ स्त्री है, उसी पर सब विश्वास करते हैं, अतः स्त्री ही पुरुष की श्रेष्ठ गति है।

सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः ।
रतिं प्रीतिं च धर्मं च तास्वायत्तमवेक्ष्य हि ॥८०॥

"रति, प्रीति तथा धर्म—पत्नी के ही अधीन हैं, ऐसा सोचकर पुरुष को चाहिए कि वह कुपित होने पर भी पत्नी के साथ कोई अप्रिय व्यवहार न करे।

आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम् ।
ऋषीणामपि का शक्तिः स्रष्टुं रामामृते प्रजाम् ॥८१॥

"स्त्रियाँ पति के आत्मा के जन्म लेने का सनातन पुण्यक्षेत्र हैं। ऋषियों में भी क्या शक्ति है कि बिना स्त्री के सन्तान उत्पन्न कर सकें!

प्रतिपद्य यदा सूनुर्धरणीरेणुगुण्ठितः ।
पितुराश्लिष्यतेऽङ्गानि किमस्त्यभ्यधिकं ततः ॥८२॥

"जब पुत्र धरती की धूल में सना हुआ पास आता है और पिता के अङ्गों से लिपट जाता है, उस समय जो सुख मिलता है, उससे बढ़कर और क्या सुख हो सकता है?

स त्वं स्वयमभिप्राप्तं साभिलाषमिमं सुतम् ।
प्रेक्षमाणं कटाक्षेण किमर्थमवमन्यसे ॥८३॥

"आपका यह पुत्र स्वयं आपके पास आया है और प्रेमपूर्ण तिरछी चितवन से आपकी ओर देखता हुआ आपकी गोद में बैठने के लिए उत्सुक है, फिर आप इसका तिरस्कार क्यों कर रहे हैं?

ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ।
गुरुर्गरीयसां श्रेष्ठः पुत्रः स्पर्शवतां वरः ॥८४॥

"मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है, चौपायों में गौ सर्वश्रेष्ठ है, गौरवशाली व्यक्तियों में गुरु श्रेष्ठ है और स्पर्श करने योग्य वस्तुओं में पुत्र ही सबसे श्रेष्ठ है।

ननु नामाङ्कमारोप्य स्नेहाद् ग्रामान्तरं गताः ।
मूर्ध्नि पुत्रानुपाघ्राय प्रतिनन्दन्ति मानवाः ॥८५॥

"प्रायः देखा जाता है कि दूसरे ग्राम की यात्रा करके लौटे हुए मनुष्य घर आने पर बड़े स्नेह से पुत्रों को गोद में उठा लेते हैं तथा उनके मस्तक सूँघकर आनन्दित होते हैं।

वेदेष्वपि वदन्तीमं मन्त्रग्रामं द्विजातयः ।
जातकर्मणि पुत्राणां तवापि विदितं तथा ॥८६॥

"पुत्रों के जातकर्म-संस्कार के समय वेदज्ञ ब्राह्मण जिस वैदिक मन्त्रसमूह का उच्चारण करते हैं, उसे आप भी जानते हैं। (वह मन्त्रसमुदाय निम्न है—)

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥८७॥

"हे वालक ! तुम मेरे अङ्ग-अङ्ग से प्रकट हुए हो, हृदय से उत्पन्न हुए हो। तुम पुत्र नाम से प्रसिद्ध मेरे आत्मा ही हो, अतः वत्स ! तुम सौ वर्षों तक जीवित रहो।

कामं त्वया परित्यक्ता गमिष्यामि स्वमाश्रमम् ।
इमं तु वालं संत्यक्तुं नार्हस्यात्मजमात्मनः ।।८८।।

"महाराज ! आपके द्वारा स्वेच्छा से त्याग दी जाने पर मैं पुनः अपने आश्रम को लौट जाऊँगी, परन्तु आपको अपने इस नन्हें-से पुत्र का त्याग नहीं करना चाहिए।"

दुष्यन्त उवाच

न पुत्रमभिजानामि त्वयि जातं शकुन्तले ।
असत्यवचना नार्यः कस्ते श्रद्धास्यते वचः ।।८९।।

दुष्यन्त बोले—शकुन्तले ! मैं तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न इस पुत्र को नहीं जानता। स्त्रियाँ प्रायः झूठ वोलनेवाली होती हैं[1], अतः तुम्हारी वात पर कौन विश्वास करेगा ?

सर्वमेतत् परोक्षं मे यत् त्वं वदसि तापसि ।
नाहं त्वामभिजानामि यथेष्टं गम्यतां त्वया ।।९०।।

तुम जो कुछ कहती हो, वह सव मेरी आँखों के सामने नहीं हुआ। हे तापसी ! मैं तुम्हें नहीं पहचानता। तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहाँ चली जाओ।

शकुन्तलोवाच

राजन् सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि ।।९१।।

शकुन्तला ने कहा—राजन् ! आप दूसरों के सरसों के वरावर दोषों को तो देखते हैं किन्तु अपने बेल के समान बड़े-वड़े दोषों को देखकर भी नहीं देखते।

मूर्खो हि जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
अशुभं वाक्यमादत्ते पुरीषमिव सूकरः ।।९२।।

मूर्ख मनुष्य परस्पर वार्तालाप करनेवाले दूसरे लोगों की भली-वुरी वातें सुनकर उनमें से बुरी वातों का ही ग्रहण करता है, ठीक वैसे ही, जैसे सूअर अन्य वस्तुओं के रहते हुए भी विष्ठा को ही अपना भोजन वनाता है।

प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
गुणवद् वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाम्भसः ।।९३।।

परन्तु विद्वान् मनुष्य दूसरे वक्ताओं के शुभाशुभ वचनों को सुनकर उनमें से गुणयुक्त वातों को ही अपनाता है, ठीक उसी प्रकार, जैसे हंस पानी को छोड़कर केवल दूध को ग्रहण कर लेता है।

अन्यान् परिवदन् साधुर्यथा हि परितप्यते ।
तथा परिवदन्नन्यांस्तुष्टो भवति दुर्जनः ।।९४।।

साधु पुरुष दूसरों की निन्दा का अवसर आने पर जैसे अत्यन्त सन्तप्त हो उठता है, ठीक उसी प्रकार दुष्ट पुरुष दूसरों की निन्दा का अवसर मिलने पर वहुत सन्तुष्ट होता है।

सत्यधर्मच्युतात् पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव ।
अनास्तिकोऽप्युद्विजते जनः किं पुनरास्तिकः ।।९५।।

जो सत्यरूपी धर्म से भ्रष्ट है, वह पुरुष क्रोध में भरे हुए विषधर सर्प के समान भयंकर है। उससे नास्तिक भी डरता है, फिर आस्तिक की तो वात ही क्या है ?

स्वयमुत्पाद्य वै पुत्रं सदृशं यो न मन्यते ।
तस्य देवाः श्रियं घ्नन्ति न च लोकानुपाश्नुते ।।९६।।

जो स्वयं हि अपने सदृश पुत्र को उत्पन्न करके उसका सम्मान नहीं करता, उसकी सम्पत्ति को देवता नष्ट कर देते हैं तथा वह उत्तम लोकों में नहीं जाता।

स त्वं नृपतिशार्दूल पुत्रं न त्यक्तुमर्हसि ।
आत्मानं सत्यधर्मौ च पालयन् पृथिवीपते ।।९७।।

नृपश्रेष्ठ ! प्रजानाथ ! आप अपने आत्मा, सत्य और धर्म का पालन करते हुए अपने सिर पर कपट का वोझ न उठाएँ और अपने पुत्र को त्यागने का (पुत्र-त्याग का) पाप न करें।

वरं कूपशताद् वापी वरं वापीशतात् क्रतुः ।
वरं क्रतुशतात् पुत्रः सत्यं पुत्रशताद् वरम् ।।९८।।

सौ कुएँ खुदवाने की अपेक्षा एक वावड़ी वनवाना उत्तम है। सौ वावड़ी खुदवाने की अपेक्षा एक यज्ञ कर लेना उत्तम है। सौ यज्ञ करने की अपेक्षा एक पुत्र को जन्म देना उत्तम है और सौ पुत्रों को उत्पन्न करने की अपेक्षा भी सत्य का पालन श्रेष्ठ है।

---

१. झूठ महाराज दुष्यन्त स्वयं वोल रहे हैं और दोष नारी जाति पर लगा रहे हैं। आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥९९॥

एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ एक ओर तथा सत्य-भाषण का पुण्य दूसरी ओर यदि तराजू पर रखा जाए तो हजार अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा सत्य का पलड़ा ही भारी होता है ।

नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद् विद्यते परम् ।
न हि तीव्रतरं किंचिदनृतादिह विद्यते ॥१००॥

सत्य के समान कोई धर्म नहीं है । सत्य से बढ़कर कुछ भी नहीं है और असत्य से बढ़कर तीव्रतर पाप इस संसार में और कोई नहीं है ।

राजन् सत्यं परं ब्रह्म सत्यं च समयः परः ।
मा त्याक्षीः समयं राजन् सत्यं संगतमस्तु ते ॥१०१॥

राजन् ! सत्य परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप है । सत्य सबसे बड़ा नियम है, अतः महाराज ! आप अपनी सत्य प्रतिज्ञा को न छोड़िए । सत्य आपका जीवन-सङ्गी हो ।

त्वामृतेऽपि हि दुष्यन्त शैलराजावतंसकाम् ।
चतुरन्तामिमामुर्वीं पुत्रो मे पालयिष्यति ॥१०२॥

महाराज दुष्यन्त ! मैं एक बात कहे देती हूँ—आपके सहयोग के बिना भी मेरा यह पुत्र चारों समुद्रों से घिरी हुई गिरिराज हिमालयरूपी मुकुट से सुशोभित इस सम्पूर्ण वसुन्धरा का शासन करेगा !

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा राजानं प्रातिष्ठत शकुन्तला ।
अथान्तरिक्षाद् दुष्यन्तं वागुवाचाशरीरिणी ॥१०३॥

वैशम्पायन जी कहते हैं—जनमेजय! राजा दुष्यन्त से ऐसा कहकर शकुन्तला वहाँ से चलने को उद्यत हुई । इतने में ही दुष्यन्त को सम्बोधित करते हुए आकाशवाणी[1] हुई—

भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥१०४॥

दुष्यन्त ! तुम अपने पुत्र का पालन करो । शकुन्तला का अनादर मत करो । तुमने ही इस गर्भ का आधान किया था । शकुन्तला सत्य कहती है ।

दुष्यन्त उवाच

शृण्वन्त्वेतद् भवन्तोऽस्य देवदूतस्य भाषितम् ।
अहं चाप्येवमेवैनं जानामि स्वयमात्मजम् ॥१०५॥
यद्यहं वचनादस्या गृह्णीयामिममात्मजम् ।
भवेद्धि शंक्यो लोकस्य नैव शुद्धो भवेदयम् ॥१०६॥

दुष्यन्त ने कहा—राजसभा में उपस्थित आप लोग इस देवदूत के कथन को भली भाँति सुन लें । मैं भी अपने इस पुत्र को इसी रूप में जानता हूँ । परन्तु यदि केवल शकुन्तला के कहने से मैं इसे ग्रहण कर लेता, तो सब लोग इसपर सन्देह करते और यह बालक विशुद्ध नहीं माना जाता ।"

वैशम्पायन उवाच

तं विशोध्य तदा राजा देवदूतेन भारत ।
हृष्टः प्रमुदितश्चापि प्रतिजग्राह तं सुतम् ॥१०७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे भारत ! इस प्रकार देवदूत के वचन से उस बालक की शुद्धता प्रमाणित करके राजा दुष्यन्त ने हर्ष और आनन्द में मग्न हो अपने उस पुत्र को ग्रहण किया ।

तां चैव भार्यां दुष्यन्तः पूजयामास धर्मतः ।
अब्रवीच्चैव तां राजा सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥१०८॥

दुष्यन्त ने अपनी पत्नी शकुन्तला का भी धर्म-पूर्वक आदर-सत्कार किया और उसे सान्त्वना प्रदान करते हुए कहा—

कृतो लोकपरोक्षोऽयं सम्बन्धो वै त्वया सह ।
तस्मादेतन्मया देवि त्वच्छुद्धयर्थं विचारितम् ॥१०९॥

"देवि ! मैंने तुम्हारे साथ जो विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया था, उसे साधारण जनता नहीं जानती थी, अतः तुम्हारी शुद्धि के लिए ही मैंने यह उपाय सोचा था ।

यच्च कोपितयात्यर्थं त्वयोक्तोऽस्म्यप्रियं प्रिये ।
प्रणयिन्या विशालाक्षि तत्क्षान्तं ते मया शुभे ॥११०॥

"हे प्रिये ! विशाल-लोचने ! तुमने भी क्रुद्ध होकर जो मेरे लिए अत्यन्त अप्रिय वचन कहे हैं, वे सब मेरे प्रति अत्यन्त प्रेम होने के कारण ही कहे हैं, अतः शुभे ! मैंने तुम्हारा वह सब अपराध क्षमा कर दिया है ।"

---

१. आकाशवाणी केवल कविकल्पना है । महाभारत इतिहास के साथ-साथ काव्य भी है । काव्य में रोचकता लाने के लिए कवि-कल्पना आवश्यक है । एक श्लोक आगे ही आकाशवाणी को 'देवदूतस्य भाषितम्' कह दिया है ।

तामेवमुक्त्वा राजर्षिर्दुष्यन्तो महिषीं प्रियाम् ।
वासोभिरन्नपानैश्च पूजयामास भारत ॥१११॥

हे जनमेजय ! अपनी प्यारी रानी से ऐसी बात कहकर राजर्षि दुष्यन्त ने अन्न-पान और वस्त्र आदि द्वारा उसका आदर-सत्कार किया ।

दुष्यन्तस्तु तदा राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा ।
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥११२॥

तत्पश्चात् महाराज दुष्यन्त ने शकुन्तला-कुमार का नाम 'भरत' रखकर उसे युवराज के पद पर अभिषिक्त कर दिया ।

स राजा चक्रवर्त्यासीत् सार्वभौमः प्रतापवान् ।
ईजे च बहुभिर्यज्ञैर्यथा शक्रो मरुत्पतिः ॥११३॥

महाराज भरत सम्पूर्ण भूमण्डल में विख्यात, प्रतापी एवं चक्रवर्ती सम्राट् थे । उन्होंने देवराज इन्द्र की भाँति बहुत-से यज्ञों का अनुष्ठान किया ।

भरताद् भारती कीर्तिर्येनेदं भारतं कुलम् ।
अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः ॥११४॥

भरत से ही इस भूखण्ड का नाम भारत (अथवा भूमि का नाम भारती) हुआ । उन्हीं से यह कौरव-वंश भरतवंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ । उनके पश्चात् उस कुल में पहले तथा आज भी जो राजा हो गये हैं, वे भारत (भरतवंशी) कहे जाते हैं ।

इति महाभारते आदिपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

शान्तनु का जन्म, गङ्गा के साथ उनका विवाह और भीष्म का जन्म

वैशम्पायन उवाच

भरतस्यान्वये जाताः सत्त्ववन्तो नराधिपाः ।
देवर्षिकल्पा नृपते बहवो राजसत्तमाः ॥१॥
येषामपरिमेयानि नामधेयानि सर्वशः ।
तेषां प्रतीपो राजाऽऽसीत् सर्वभूतहितः सदा ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भरत के वंश में सभी नरेश धैर्यवान् एवं शक्तिशाली थे । उस वंश में बहुत-से श्रेष्ठ नृपति देवर्षियों के समान थे जिनके सम्पूर्ण नामों की गणना असम्भव है । उन्हीं राजाओं में एक राजा थे प्रतीप । वे सदा सम्पूर्ण प्राणियों के हित में संलग्न रहते थे ।

तपस्तेपे सुतस्यार्थे सभार्यः कुरुनन्दन ।
शान्तस्य जज्ञे सन्तानस्तस्मादासीत् स शान्तनुः ॥३॥

कुरुनन्दन ! राजा प्रतीप अपनी पत्नी को साथ लेकर पुत्र के लिए तपस्या करने लगे । तप के फल-स्वरूप उन्हें एक पुत्र की प्राप्ति हुई । शान्त पिता की सन्तान होने से वे शान्तनु कहलाए ।

स्वे च राज्येऽभिषिच्यैनं वनं राजा विवेश ह ।
बभूव मृगयाशीलः शान्तनुर्वनगोचरः ॥४॥

[युवा होने पर] महाराज प्रतीप ने शान्तनु को अपने राज्य पर अभिषिक्त कर दिया तथा स्वयं वन में प्रवेश किया । शान्तनु हिंसक पशुओं को मारने के उद्देश्य से वन में घूमते रहते थे ।

स कदाचिन्महाराज ददर्श परमां स्त्रियम् ।
जाज्वल्यमानां वपुषा साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ॥५॥

महाराज जनमेजय ! एक दिन उन्होंने एक परम सुन्दरी नारी देखी, जो अपने तेजस्वी शरीर से ऐसे प्रकाशित हो रही थी, मानो साक्षात् लक्ष्मी ही दूसरा शरीर धारण करके आ गई हो ।

तां दृष्ट्वा हृष्टरोमाभूद् विस्मितो रूपसम्पदा ।
पिबन्निव च नेत्राभ्यां नातृप्यत नराधिपः ॥६॥

उसे देखते ही राजा शान्तनु के शरीर में रोमाञ्च हो आया । वे उसके सौन्दर्य से आश्चर्यचकित हो उठे और दोनों नेत्रों द्वारा उसकी सौन्दर्य-सुधा का पान करते हुए भी तृप्त नहीं हो रहे थे ।

सा च दृष्ट्वैव राजानं विचरन्तं महाद्युतिम् ।
स्नेहादागतसौहार्दा नातृप्यत विलासिनी ॥७॥

वह भी वहाँ विचरते उस महातेजस्वी राजा शान्तनु को देखते ही मुग्ध हो गई । स्नेहवश उसके हृदय में सौहार्द का उदय हो आया । वह विलासिनी राजा को देखते-देखते तृप्त नहीं होती थी ।

तामुवाच ततो राजा सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा।
देवी[1] वा दानवी वा त्वं भार्या मे भव शोभने ॥८॥

तब राजा शान्तनु ने उसे सान्त्वना देते हुए मधुर वाणी में कहा—"शोभने! तुम देवी[1] हो अथवा दानवी, मैं तुमसे याचना करता हूँ कि तुम मेरी पत्नी बन जाओ।"

उवाच चैव राज्ञः सा ह्लादयन्ती मनो गिरा।
भविष्यामि महीपाल महिषी ते वशानुगा ॥९॥

[महाराज के ऐसा करने पर] वह देवी अपनी मधुर वाणी से महाराज के मन को आनन्द प्रदान करती हुई बोली—"भूपाल! मैं आपकी महारानी बनूँगी एवं आपके अधीन रहूँगी।

यत्तु कुर्यामहं राजञ्छुभं वा यदि वाशुभम्।
न तद् वारयितव्यास्मि न वक्तव्या तथाप्रियम् ॥१०॥

"[परन्तु एक शर्त है—] राजन्! मैं भला या बुरा जो कुछ भी करूँ, उसके लिए आप मुझे रोक नहीं सकेंगे तथा मुझसे कभी अप्रिय वचन भी नहीं कहेंगे।

एवं हि वर्तमानेऽहं त्वयि वत्स्यामि पार्थिव।
वारिता विप्रियं चोक्ता त्यजेयं त्वामसंशयम् ॥११॥

"पृथिवीपते! ऐसा बर्ताव करने पर ही मैं आपके समीप रहूँगी। यदि आपने कभी मुझे किसी कार्य से रोका अथवा अप्रिय वचन कहे, तो मैं निश्चय ही आपका साथ छोड़ दूँगी।"

तथेति सा यदा तूक्ता तदा भरतसत्तम।
प्रहर्षमतुलं लेभे प्राप्य तं पार्थिवोत्तमम् ॥१२॥

हे भरतश्रेष्ठ! उस समय "बहुत अच्छा" कहकर राजा ने जब उसकी शर्त स्वीकार कर ली, तब उस नृपश्रेष्ठ को पति-रूप में प्राप्त करके उस देवी को अनुपम आनन्द मिला।

रममाणस्तया सार्धं यथाकामं नरेश्वरः।
अष्टावजनयत् पुत्रांस्तस्याममरसंनिभान् ॥१३॥

उसके साथ इच्छानुसार रमण करते हुए महाराज शान्तनु ने उसके गर्भ से देवताओं के समान तेजस्वी आठ पुत्र उत्पन्न किये।

जातं जातं च सा पुत्रं क्षिपत्यम्भसि भारत।
न च तां किंचनोवाच त्यागाद् भीतो महीपतिः[2] ॥१४

हे भारत! जो-जो पुत्र उत्पन्न होता, उसे वह जल में डुबा देती। राजा उससे कुछ नहीं कहते थे, उन्हें यह डर था कि कहीं यह मुझे छोड़कर न चली जाए।

अथैनामष्टमे पुत्रे जाते प्रहसन्तीमिव।
उवाच राजा दुःखार्तः परीप्सन् पुत्रमात्मनः ॥१५॥

तत्पश्चात् जब आठवाँ पुत्र उत्पन्न हुआ, तब मुस्कराती हुई-सी अपनी पत्नी से राजा ने अपने पुत्र के प्राण बचाने की इच्छा से दुःखातुर होकर कहा—

मा वधीः कस्य कासीति किं हिनत्सि सुतानिति।
पुत्रघ्नि सुमहत्पापं सम्प्राप्तं ते सुगर्हितम् ॥१६॥

"अरी! इस बालक का तो वध मत कर। तू किसकी कन्या है? कौन है? क्यों अपने ही पुत्रों को मारे डालती है? पुत्रघातिनि! तुझे पुत्रहत्या का यह अत्यन्त निन्दित और भारी पाप लगा है।

स्त्र्युवाच

पुत्रकाम न ते हन्मि पुत्रं पुत्रवतां वर।
जीर्णस्तु मम वासोऽयं यथा स समयः कृतः ॥१७॥

स्त्री बोली—पुत्र की इच्छा रखनेवाले नरेश! तुम पुत्रवानों में श्रेष्ठ हो। मैं तुम्हारे इस पुत्र को नहीं मारूँगी, परन्तु मेरे यहाँ रहने का समय अब समाप्त हो गया, जैसी कि पहले ही शर्त हो चुकी है।

---

१. यह स्त्री गङ्गा थी। लोक में ऐसा प्रसिद्ध है कि गङ्गानदी स्त्री का रूप धारण करके तथा शान्तनु की पत्नी बनकर उनके घर में रही थी। यह मिथ्या भ्रान्ति और प्रमत्त प्रलाप है। नदी स्त्री नहीं बन सकती। इस देवी का नाम गङ्गा था। आज भी गङ्गा नामवाली अनेक स्त्रियाँ मिल जाएँगी।

२. मनुष्य को पत्नी का ऐसा दास नहीं बनना चहिए कि पत्नी जो चाहे करती रहे और पति विवश होकर चुपचाप देखता रहे। इतिहास में सदुपदेश भी स्थान-स्थान पर समाविष्ट रहता है। सम्भवतः पत्नी का दास न बनने की प्रेरणा देने के लिए ही व्यासजी ने इस कथानक का समावेश किया हो।

वैशम्पायन उवाच

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि देवी तमभ्यभाषत ।
आदाय च कुमारं तं जगामथ यथेप्सितम् ॥१८॥

वैशम्पायन जी कहते हैं—जनमेजय ! आपका कल्याण हो, अब मैं जाऊँगी"—ऐसा कहकर गङ्गा देवी उस नवजात शिशु को साथ लेकर अपने अभीष्ट स्थान को चली गई ।

स तु देवव्रतो नाम गाङ्गेय इति चाभवत् ॥१९॥

उस बालक का नाम देवव्रत हुआ । कुछ लोग उसे गाङ्गेय भी कहते थे ।

इति महाभारते आदिपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

शान्तनु के गुणों का वर्णन, गङ्गा द्वारा सुशिक्षित पुत्र की प्राप्ति और देवव्रत की भीष्म प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

स राजा शान्तनुर्धीमान् देवराजर्षि-सत्कृतः ।
धर्मात्मा सर्वलोकेषु सत्यवागिति विश्रुतः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! राजा शान्तनु अति बुद्धिमान् थे, देवता और राजर्षि भी उनका सत्कार करते थे । वे धर्मात्मा नरेश सम्पूर्ण भूमण्डल में सत्यवादी के रूप में विख्यात थे ।

दमो दानं क्षमा बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम् ।
नित्यान्यासन् महासत्त्वे शान्तनौ पुरुषर्षभे ॥२॥

उन महाबली नरश्रेष्ठ शान्तनु में इन्द्रिय-संयम, दान, क्षमा, बुद्धि, लज्जा, धैर्य तथा उत्तम तेज आदि सद्‌गुण सदा विद्यमान थे ।

अरागद्वेषसंयुक्तः सोमवत् प्रियदर्शनः ।
तेजसा सूर्यकल्पोऽभूत् क्षमया पृथिवीसमः ॥३॥

उनमें न राग था, न द्वेष । वे चन्द्रमा की भाँति प्रियदर्शी थे । वे तेज में सूर्य के समान और क्षमा में पृथिवी के समान थे ।

सर्वास्त्रेषु स निष्णातः पार्थिवेष्वितरेषु च ।
महाबलो महासत्त्वो महावीर्यो महारथः ॥४॥

लौकिक और अलौकिक सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों की कला में वे पारङ्गत थे । उनके बल, सत्त्व=धैर्य तथा वीर्य=पराक्रम महान् थे । वे महारथी वीर थे ।

स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा गङ्गामनुसरन् नदीम् ।
भागीरथीमल्पजलां शान्तनुर्दृष्टवान् नृपः ॥५॥

एक समय किसी हिंसक पशु को बाण से बींधकर राजा शान्तनु उसका पीछा करते हुए भागीरथी गङ्गा के तट पर आये । उन्होंने देखा कि गंगा में बहुत थोड़ा जल रह गया है ।

तां दृष्ट्वा चिन्तयामास शान्तनुः पुरुषर्षभः ।
स्यन्दते किं त्वियं नाद्य सरिच्छ्रेष्ठा यथा पुरा ॥६॥

उसे देखकर पुरुषों में श्रेष्ठ महाराज शान्तनु इस चिन्ता में पड़ गये कि नदियों में श्रेष्ठ यह गङ्गा आज पहले की भाँति क्यों नहीं बह रही है ?

ततो निमित्तमन्विच्छन् ददर्श स महामनाः ।
कुमारं रूपसम्पन्नं बृहन्तं चारुदर्शनम् ॥७॥
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणं यथा देवं पुरन्दरम् ।
कृत्स्नां गङ्गां समावृत्य शरैस्तीक्ष्णैरवस्थितम् ॥८॥

जब उन महामना नरेश ने इसके कारण का पता लगाते हुए आगे बढ़कर देखा, तब उन्हें पता चला कि एक अत्यन्त सुन्दर, मनोहर रूप से सम्पन्न विशालकाय कुमार देवराज इन्द्र के समान दिव्यास्त्र का अभ्यास कर रहा है और अपने तीखे बाणों से सारी गङ्गा की धारा को रोककर खड़ा है ।

स तु तं पितरं दृष्ट्वा मोहयामास मायया ।
सम्मोह्य तु ततः क्षिप्रं तत्रैवान्तरधीयत ॥९॥

उधर बालक ने अपने पिता को देखकर माया से मोहित कर दिया और उन्हें मोहित करके वहीं अन्तर्धान हो (छुप) गया ।

दर्शयामास तं गङ्गा बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ तं कुमारमलंकृतम् ॥१०॥

तब परम सुन्दर रूप धारण किये हुए तथा अपने पुत्र का दाहिना हाथ पकड़े हुए गङ्गादेवी सामने आईं और वस्त्राभूषणों से अलंकृत कुमार देवव्रत को दिखाया ।

गङ्गोवाच

यं पुत्रमष्टमं राजंस्त्वं पुरा मय्यविन्दथाः ।
स चायं पुरुषव्याघ्र सर्वास्त्रविदनुत्तमः ॥११॥

गङ्गादेवी ने कहा—राजन् ! पूर्वकाल में आपने अपने जिस आठवें पुत्र को मेरे गर्भ से प्राप्त किया था, यह वही है। पुरुषसिंह ! यह सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ है।

गृहाणेमं महाराज मया संवर्धितं सुतम् ।
आदाय पुरुषव्याघ्र नयस्वैनं गृहं विभो ॥१२॥

राजन् ! मैंने इसे पाल-पोसकर बड़ा कर दिया है। अब आप अपने इस पुत्र को ग्रहण कीजिए। हे नरश्रेष्ठ ! स्वामिन् ! इसे घर ले जाइए।

वेदानधिजगे साङ्गान् वसिष्ठादेष वीर्यवान् ।
कृतास्त्रः परमेष्वासो देवराजसमो युधि ॥१३॥

आपका यह पराक्रमी पुत्र महर्षि वसिष्ठ से छहों अङ्गों सहित समस्त वेदों का अध्ययन कर चुका है। यह अस्त्र-विद्या का पण्डित है, महान् धनुर्धर है और युद्ध में देवराज इन्द्र के समान पराक्रमी है।

वैशम्पायन उवाच

तयैवं समनुज्ञातः पुत्रमादाय शान्तनुः ।
भ्राजमानं यथादित्यमाययौ स्वपुरं प्रति ॥१४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—गङ्गादेवी के इस प्रकार आदेश देने पर महाराज शान्तनु सूर्य के समान तेजस्वी अपने पुत्र को लेकर राजधानी में आये।

पौरवेषु ततः पुत्रं राज्यार्थमभयप्रदम् ।
गुणवन्तं महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥१५॥

कुछ समय पश्चात् उन्होंने सबको अभय देनेवाले महात्मा एवं गुणवान् पुत्र को राजकाज में सहयोग करने के लिए समस्त पौरवों के बीच में युवराज-पद पर अभिषिक्त कर दिया।

पौरवाञ्छान्तनोः पुत्रः पितरं च महायशाः ।
राष्ट्रं च रञ्जयामास वृत्तेन भरतर्षभ ॥१६॥

भरतकुलभूषण जनमेजय ! शान्तनु के उस महायशस्वी पुत्र ने अपने आचार-व्यवहार से अपने पिता को, पौरव समाज को तथा समस्त राष्ट्र को प्रसन्न कर लिया।

स तथा सह पुत्रेण रममाणो महीपतिः ।
वर्तयामास वर्षाणि चत्वार्यमितविक्रमः ॥ ७॥

अमित पराक्रमशाली महाराज शान्तनु ने वैसे गुणवान् पुत्र के साथ आनन्दपूर्वक रहते हुए चार वर्ष व्यतीत किये।

स कदाचिद् वनं यातो यमुनामभितो नदीम् ।
महीपतिरनिर्देश्यमाजिघ्रद् गन्धमुत्तमम् ॥१८॥
तस्य प्रभवमन्विच्छन् विचचार समन्ततः ।
स ददर्श तदा कन्यां दाशानां देवरूपिणीम् ॥१९॥

एक दिन वे यमुना नदी के निकटवर्ती वन में गये। वहाँ राजा को अवर्णनीय एवं परम उत्तम सुगन्ध का अनुभव हुआ। तब वे उसके उद्गमस्थान का पता लगाते हुए सब ओर विचरने लगे। घूमते-घूमते उन्होंने मल्लाहों की एक कन्या देखी, जो देवाङ्गनाओं के समान रूपवती थी।

तामपृच्छत् स दृष्ट्वैव कन्यामसितलोचनाम् ।
कस्य त्वमसि का चासि किं च भीरु चिकीर्षसि ॥२०॥

श्याम नेत्रोंवाली उस कन्या को देखते ही राजा ने पूछा—"भीरु ! तू कौन है ? किसकी पुत्री है और क्या करना चाहती है ?"

साब्रवीद् दाशकन्यास्मि धर्मार्थं वाहये तरीम् ।
पितुर्नियोगाद् भद्रं ते दाशराज्ञो महात्मनः ॥२१॥

वह बोली—"राजन् ! आपका कल्याण हो। मैं निषाद-कन्या हूँ और अपने पिता महामना निषाद-राज की आज्ञा से धर्मार्थ नौका चलाती हूँ।"

समीक्ष्य राजा दाशेयीं कामयामास शान्तनुः ।
स गत्वा पितरं तस्या वरयामास तां तदा ॥२२॥

[रूप और यौवन से सम्पन्न] उस निषाद-कन्या को देखकर राजा शान्तनु ने उसे प्राप्त करने की इच्छा की। फिर उसके पिता के पास जाकर उन्होंने उसका वरण किया :

पर्यपृच्छत् ततस्तस्याः पितरं चात्मकारणात् ।
स च तं प्रत्युवाचेदं दाशराजो महीपतिम् ॥२३॥

उन्होंने उसके पिता से पूछा—"मैं अपने लिए तुम्हारी कन्या चाहता हूँ।" यह सुनकर निषादराज ने राजा शान्तनु को यह उत्तर दिया—

दाश उवाच

जातमात्रैव मे देया वराय वरवर्णिनी ।
हृदि कामस्तु मे कश्चित् तं निबोध जनेश्वर ॥२४॥

निषाद बोला—जनेश्वर ! जब से इस सुन्दरी कन्या का जन्म हुआ है, तभी से मेरे मन में यह चिन्ता है कि इसका किसी श्रेष्ठ वर से विवाह करूँ, परन्तु मेरे हृदय में एक अभिलाषा है, उसे सुन लीजिए।

अस्यां जायेत यः पुत्रः स राजा पृथिवीपते ।
त्वदूर्ध्वमभिषेक्तव्यो नान्यः कश्चन पार्थिव ॥२५॥

पृथिवीपते ! इसके गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हो, आपके पश्चात् उसी का राजा के पद पर अभिषेक किया जाए, अन्य किसी राजकुमार का नहीं।

वैशम्पायन उवाच

नाकामयत तं दातुं वरं दाशाय शान्तनुः ।
मनसिजेन तीव्रेण दह्यमानोऽपि भारत ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! राजा शान्तनु प्रचण्ड कामाग्नि से जल रहे थे, तो भी उनके मन में निषाद को वह वर देने की इच्छा नहीं हुई।

स चिन्तयन्नेव तदा दाशकन्यां महीपतिः ।
प्रत्ययाद्धास्तिनपुरं कामोपहतचेतनः ॥२७॥

काम की वेदना से चञ्चल चित्तवाले वे उस निषाद-कन्या का ही चिन्तन करते हुए उस समय हस्तिनापुर को लौट गये।

ततः कदाचिच्छोचन्तं शान्तनुं ध्यानमास्थितम् ।
पुत्रो देवव्रतोऽभ्येत्य पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥२८॥

तत्पश्चात् एक दिन जब राजा शान्तनु ध्यानस्थ होकर कुछ सोच रहे थे—चिन्ता में पड़े थे, तब उनके पुत्र देवव्रत अपने पिता के पास आये और इस प्रकार बोले—

सर्वतो भवतः क्षेमं विधेयाः सर्वपार्थिवाः ।
तत् किमर्थमिहाभीक्ष्णं परिशोचसि दुःखितः ॥२९॥

"पिताजी ! आपका तो सब प्रकार से कुशल-मङ्गल है। भूमण्डल के सभी नरेश आपकी आज्ञा के अधीन हैं, फिर आप दुःखी होकर शोक और चिन्ता में क्यों डूबे रहते हैं ?

ध्यायन्निव च मां राजन्नाभिभाषसि किंचन ।
व्याधिमिच्छामि ते ज्ञातुं प्रतिकुर्यां हि तत्र वै ॥३०॥

"राजन् ! आप किसी का ध्यान-सा करते हुए मुझसे कोई बात तक नहीं करते। आपको कौन-सा रोग लग गया है, यह मैं जानना चाहता हूँ, जिससे मैं उसका प्रतिकार कर सकूँ।"

शान्तनुरुवाच

असंशयं ध्यानपरो यथा वत्स तथा शृणु ।
अपत्यं नस्त्वमेवैकः कुले महति भारत ॥३१॥

शान्तनु बोले—वत्स ! इसमें सन्देह नहीं कि मैं चिन्ता में डूबा रहता हूँ। वह चिन्ता कैसी है, सो बताता हूँ—सुनो ! भारत ! तुम इस विशाल वंश में मेरे एक ही पुत्र हो।

कथंचित् तव गाङ्गेय विपत्तौ नास्ति नः कुलम् ।
असंशयं त्वमेवैकः शतादपि वरः सुतः ॥३२॥

गङ्गानन्दन ! यदि किसी प्रकार तुम पर कोई विपत्ति आई तो उस दिन हमारा यह वंश समाप्त हो जाएगा। इसमें सन्देह नहीं कि तुम अकेले ही मेरे लिए सौ पुत्रों से भी बढ़कर हो।

शस्त्रनित्यश्च सततं पौरुषे पर्यवस्थितः ।
अनित्यतां च लोकानामनुशोचामि पुत्रक ॥३३॥

तुम भी सदा अस्त्र-शस्त्रों के अभ्यास में लगे रहते हो और सदा पुरुषार्थ=युद्ध के लिए तत्पर रहते हो। वत्स ! मैं इस जगत् की अनित्यता को लेकर निरन्तर शोकग्रस्त एवं चिन्तित रहता हूँ।

न चाप्यहं वृथा भूयो दारान् कर्तुमिहोत्सहे ।
सन्तानस्याविनाशाय कामये भद्रमस्तु ते ॥३४॥

मैं पुनः व्यर्थ विवाह नहीं करना चाहता किन्तु हमारी वंश-परम्परा का लोप न हो, इसी के लिए मुझे पुनः पत्नी की कामना हुई है। तुम्हारा कल्याण हो।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्कारणं राज्ञो ज्ञात्वा सर्वमशेषतः ।
देवव्रतो महाबुद्धिः प्रज्ञया चान्वचिन्तयत् ॥३५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा के दुःख का वह सारा कारण जानकर परम बुद्धिमान

देवव्रत ने अपनी बुद्धि से भी उसपर विचार-विमर्श किया।

अभ्यगच्छत्तदैवाशु वृद्धामात्यं पितुर्हितम्।
तमपृच्छत्तदाभ्येत्य पितुस्तच्छोककारणम् ॥३६॥

फिर वे उसी समय तुरन्त अपने पिता के हितैषी वृद्ध मन्त्री के पास गये और पिता के वास्तविक शोक के कारण के विषय में उनसे पूछ-ताछ की।

तस्मै स कुरुमुख्याय यथावत् परिपृच्छते।
वरं शशंस कन्यां तामुद्दिश्य भरतर्षभ ॥३७॥

भरतभूषण ! कुरुवंश के श्रेष्ठ पुरुष देवव्रत के यथावत् पूछने पर उस गन्धवती कन्या के लिए दाशराज ने जो वर माँगा था, मन्त्री ने वह कह सुनाया।

ततो देवव्रतो वृद्धैः क्षत्रियैः सहितस्तदा।
अभिगम्य दाशराजं कन्यां वव्रे पितुः स्वयम् ॥३८॥

यह सुनकर कुमार देवव्रत ने उसी समय वृद्ध क्षत्रियों के साथ निषादराज के पास जाकर स्वयं अपने पिता के लिए उसकी कन्या माँगी।

तं दाशः प्रतिजग्राह विधिवत् प्रतिपूज्य च।
अब्रवीच्चैनमासीनं राजसंसदि भारत ॥३९॥

हे भारत ! निषाद ने उनका सम्मान और विधिवत् पूजा करके तथा आसन पर बैठने के पश्चात् साथ आये हुए क्षत्रियों की मण्डली में दाशराज ने उनसे कहा—

दाश उवाच

अर्थितश्चापि राजर्षिः प्रत्याख्यातः पुरा मया।
स चाप्यासीत्सत्यवत्या भृशमर्थी महायशाः ॥४०
कन्यापितृत्वात्किंचित्तु वक्ष्यामि त्वां नराधिप।
बलवत्सपत्नतामत्र दोषं पश्यामि केवलम् ॥४१

दाशराज बोला—महान् कीर्तिवाले राजर्षि शान्तनु सत्यवती को पहले भी बहुत आग्रहपूर्वक माँग चुके हैं परन्तु उनके माँगने पर भी मैंने उनकी बात अस्वीकार कर दी थी। युवराज ! मैं कन्या का पिता होने के कारण आपसे भी कुछ कहना चाहूँगा। आपके यहाँ जो सम्बन्ध हो रहा है, उसमें मुझे केवल एक ही दोष दिखाई देता है, वह है बलवान् के साथ शत्रुता।

यस्य हि त्वं सपत्नः स्या गन्धर्वस्यासुरस्य वा।
न स जातु चिरं जीवेत् त्वयि क्रुद्धे परंतप ॥४२॥

शत्रुसंतापक ! आप जिसके शत्रु होंगे, वह गन्धर्व हो या असुर, आपके क्रुद्ध होने पर कभी चिरजीवी नहीं हो सकता।

देवव्रत उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा त्वमनुभाषसे।
योऽस्यां जनिष्यते पुत्रः स नो राजा भविष्यति ॥४३

देवव्रत ने कहा—लो, तुम जो कुछ चाहते या कहते हो, मैं वैसा ही करूँगा। इस सत्यवती के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही हमारा राजा बनेगा।

दाश उवाच

यत् त्वया सत्यवत्यर्थे सत्यधर्मपरायण।
राजमध्ये प्रतिज्ञातमनुरूपं तवैव तत् ॥४४॥

दाशराज बोला—सत्यधर्मपरायण राजकुमार ! आपने सत्यवती के हित के लिए इन राजाओं के बीच में जो प्रतिज्ञा की है, वह आपके ही योग्य है।

नान्यथा तन्महाबाहो संशयोऽत्र न कश्चन।
तवापत्यं भवेद् यत्तु तत्र नः संशयो महान् ॥४५॥

हे महाबाहो ! आपकी प्रतिज्ञा टल नहीं सकती, उसके विषय में मुझे कोई सन्देह नहीं है। परन्तु आपका जो पुत्र होगा, वह शायद इस प्रतिज्ञा पर दृढ़ न रहे, यही हमारे मन में बड़ा भारी संशय है।

वैशम्पायन उवाच

तस्यैतन्मतमाज्ञाय सत्यधर्मपरायणः।
प्रत्यजानात्तदा राजन्पितुः प्रियचिकीर्षया ॥४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! निषादराज के अभिप्राय को जानकर सत्यधर्म में तत्पर रहनेवाले कुमार देवव्रत ने उस समय पिता का प्रिय करने की इच्छा से यह कठोर प्रतिज्ञा की—

देवव्रत उवाच

अद्य प्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति।
अपुत्रस्यापि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया दिवि ॥४७॥

देवव्रत ने कहा—निषादराज ! आज से मेरा आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत चलता रहेगा। मेरे

पुत्र न होने पर भी स्वर्ग में मुझे अक्षय लोक प्राप्त होंगे।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सम्प्रहृष्टतनूरुहः।
ददामीत्येव तं दाशो धर्मात्मा प्रत्यभाषत ॥४८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—देवव्रत का यह वचन सुनकर धर्मात्मा निषादराज के रोंगटे खड़े हो गये। उसने तुरन्त उत्तर दिया—"मैं यह कन्या आपके पिता के लिए प्रदान करता हूँ।"

ततः स पितुरर्थाय तामुवाच यशस्विनीम्।
अधिरोह रथं मातर्गच्छावः स्वगृहानिति ॥४९॥

तत्पश्चात् देवव्रत पिता के मनोरथ की सिद्धि के लिए उस यशस्विनी निषाद-कन्या से बोले—"हे माता! इस रथ पर बैठिए। अब हम लोग अपने घर चलें।"

एवमुक्त्वा तु भीष्मस्तां रथमारोप्य भामिनीम्।
आगम्य हास्तिनपुरं शान्तनोः संन्यवेदयत् ॥५०॥

ऐसा कहकर देवव्रत ने उस भामिनी को रथ पर बैठा लिया और हस्तिनापुर आकर उसे महाराज शान्तनु को सौंप दिया।

तस्य तद्दुष्करं कर्म प्रशशंसुर्नराधिपाः।
समेताश्च पृथक् चैव भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ॥५१॥

उनके उस दुष्कर कर्म की सब राजा लोग एकत्र होकर और अलग-अलग भी प्रशंसा करने लगे। सबने एकस्वर से कहा—"यह राजकुमार वास्तव में 'भीष्म' है।"

इति महाभारते आदिपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य की उत्पत्ति, चित्राङ्गद का निधन, भीष्म द्वारा काशिराज की कन्याओं का अपहरण, अम्बिका और अम्बालिका के साथ विचित्रवीर्य का विवाह और निधन

वैशम्पायन उवाच

ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा शान्तनुर्नृपः।
तां कन्यां रूपसम्पन्नां स्वगृहे संन्यवेशयत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तत्पश्चात् विवाह सम्पन्न हो जाने पर प्रजापालक राजा शान्तनु ने उस रूपवती कन्या को अपने राजप्रासाद में रखा।

ततः शान्तनवो धीमान् सत्यवत्यामजायत।
वीरश्चित्राङ्गदो नाम वीर्यवान् पुरुषेश्वरः ॥२॥

कुछ काल के पश्चात् सत्यवती के गर्भ से शान्तनु का बुद्धिमान् पुत्र वीर चित्राङ्गद उत्पन्न हुआ, जो अत्यन्त पराक्रमी तथा समस्त पुरुषों में श्रेष्ठ था।

अथापरं महेष्वासं सत्यवत्यां सुतं प्रभुः।
विचित्रवीर्यं राजानं जनयामास वीर्यवान् ॥३॥

तत्पश्चात् महापराक्रमी और शक्तिशाली राजा शान्तनु ने दूसरे पुत्र महान् धनुर्धर राजा विचित्रवीर्य को जन्म दिया।

अप्राप्तवति तस्मिंस्तु यौवनं पुरुषर्षभे।
स राजा शान्तनुर्धीमान् कालधर्ममुपेयिवान् ॥४॥

नरश्रेष्ठ विचित्रवीर्य अभी यौवन को प्राप्त भी नहीं हुए थे कि बुद्धिमान् महाराज शान्तनु की मृत्यु हो गई।

स्वर्गते शान्तनौ भीष्मश्चित्राङ्गदमरिंदमम्।
स्थापयामास वै राज्ये सत्यवत्या मते स्थितः ॥५॥

शान्तनु के स्वर्गवासी हो जाने पर भीष्म ने सत्यवती के परामर्श से शत्रुओं का दमन करनेवाले वीर चित्राङ्गद को राजगद्दी पर बैठा दिया।

स तु चित्राङ्गदः शौर्यात् सर्वांश्चिक्षेप पार्थिवान्।
मनुष्यं न हि मेने स कंचित् सदृशमात्मनः ॥६॥

चित्राङ्गद अपने शौर्य के घमण्ड में आकर सब राजाओं का तिरस्कार करने लगे। वे किसी भी मनुष्य को अपने समान नहीं मानते थे।

तं क्षिपन्तं सुरांश्चैव मनुष्यानसुरांस्तथा।
गन्धर्वराजो बलवांस्तुल्यनामाभ्ययात् तदा ॥७॥

मनुष्यों पर ही नहीं वे देवताओं और असुरों पर भी आक्षेप करते थे। एक दिन उन्हीं के समान नाम-वाला गन्धर्वराज चित्राङ्गद उनके पास आया।

तेनास्य सुमहद् युद्धं कुरुक्षेत्रे बभूव ह।
मायाधिकोऽवधीद् वीरं गन्धर्वः कुरुसत्तमम् ॥८॥

उसके साथ कुरुक्षेत्र में राजा चित्राङ्गद का बड़ा भारी युद्ध हुआ। उस युद्ध में मायाविशारद गन्धर्व ने कुरुश्रेष्ठ वीर चित्राङ्गद का वध कर डाला।

विचित्रवीर्यं च तदा बालमप्राप्तयौवनम्।
कुरुराज्ये महाबाहुरभ्यषिञ्चदनन्तरम् ॥९॥

चित्राङ्गद के मारे जाने पर महाबाहु भीष्म ने विचित्रवीर्य को जो अभी बालक ही थे, युवावस्था में नहीं पहुँचे थे, कुरुदेश राज्य पर अभिषिक्त कर दिया।

विचित्रवीर्यः स तदा भीष्मस्य वचने स्थितः।
अन्वशासन्महाराज पितृपैतामहं पदम् ॥१०॥

महाराज जनमेजय! तब विचित्रवीर्य भीष्मजी की आज्ञा के अधीन रहकर अपने बाप-दादों के राज्य का शासन करने लगे।

सम्प्राप्तयौवनं दृष्ट्वा भ्रातरं धीमतां वरः।
भीष्मो विचित्रवीर्यस्य विवाहायाकरोन्मतिम् ॥११

जब विचित्रवीर्य धीरे-धीरे युवावस्था में पहुँचे, तब बुद्धिमानों में श्रेष्ठ भीष्मजी ने उनकी अवस्था देख उनके विवाह का विचार किया।

अथ काशिपतेर्भीष्मः कन्यास्तिस्रोऽप्सरोपमाः।
शुश्राव सहिता राजन् वृण्वाना वै स्वयंवरम् ॥१२॥

राजन्! उन दिनों काशिराज की अप्सराओं के समान सुन्दर तीन कन्याएँ थीं। भीष्मजी ने सुना कि वे तीनों कन्याएं एक ही साथ स्वयंवर-सभा में पति का वरण करनेवाली हैं।

ततः स रथिनां श्रेष्ठो रथेनैकेन शत्रुजित्।
जगामानुमते मातुः पुरीं वाराणसीं प्रभुः ॥१३॥

तब माता सत्यवती की आज्ञा ले रथियों में श्रेष्ठ शत्रुविजयी भीष्म एकमात्र रथ के साथ वाराणसी पुरी को गये।

तत्र राज्ञः समुदितान् सर्वतः समुपागतान्।
ददर्श कन्यास्ताश्चैव भीष्मः शान्तनुनन्दनः ॥१४॥

वहाँ शान्तनुनन्दन भीष्म ने देखा कि सब ओर से आये हुए नरेशों का समुदाय स्वयंवर सभा में उपस्थित है तथा वे कन्याएँ भी स्वयंवर-मञ्च पर विद्यमान हैं।

कीर्त्यमानेषु राज्ञां तु तदा नामसु सर्वशः।
एकाकिनं तदा भीष्मं वृद्धं शान्तनुनन्दनम् ॥१५॥
सोद्वेगा इव तं दृष्ट्वा कन्याः परमशोभनाः।
अपाक्रामन्त ताः सर्वा वृद्ध इत्येव चिन्तया ॥१६॥

उस समय सब ओर राजाओं का नाम ले-लेकर उन सबका परिचय दिया जा रहा था। इतने में ही शान्तनुनन्दन भीष्म, जो अब वृद्ध हो चले थे, वहाँ अकेले ही पहुँचे। उन्हें देखकर वे सब परम सुन्दरी कन्याएँ उद्विग्न-सी होकर तथा 'ये बूढ़े हैं'—ऐसा सोचती हुई वहाँ से दूर भाग गईं।

वृद्धः परमधर्मात्मा वलीपलितधारणः।
किं कारणमिहायातो निर्लज्जो भरतर्षभः ॥१७॥
मिथ्याप्रतिज्ञो लोकेषु किं वदिष्यति भारत।
ब्रह्मचारीति भीष्मो हि वृथैव प्रथितो भुवि।
इत्येवं प्रब्रुवन्तस्ते हसन्ति स्म नृपाधमाः ॥१८॥

भरतकुल-भूषण! वहाँ जो नीच स्वभाव के नरेश एकत्र थे, वे परस्पर निम्न बातें कहते हुए उनकी हँसी उड़ाने लगे—"भरतवंशियों में श्रेष्ठ भीष्म तो बड़े धर्मात्मा सुने जाते थे। ये वृद्ध हो गये हैं, शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई हैं, सिर के बाल श्वेत हो गये हैं, फिर क्या कारण है कि ये यहाँ आये हैं? ये तो बड़े निर्लज्ज जान पड़ते हैं। अपनी प्रतिज्ञा को झूठी करके ये लोगों को क्या मुँह दिखाएँगे? भूमण्डल में व्यर्थ ही यह बात फैल गई है कि भीष्मजी ब्रह्मचारी हैं।"

क्षत्रियाणां वचः श्रुत्वा भीष्मश्चुक्रोध भारत।
उवाच च महीपालान् राजञ्जलदनिःस्वनः ॥१९॥

भरतकुलश्रेष्ठ राजन्! क्षत्रियों की ये बातें सुनकर भीष्मजी क्रुद्ध हो उठे और उन समस्त राजाओं को ललकारते हुए मेघ के समान गम्भीर वाणी में बोले—

ता इमाः पृथिवीपाला जिहीर्षामि बलादितः।
ते यतध्वं परं शक्त्या विजयायेतराय वा ॥२०॥

भूमिपालो! मैं इन कन्याओं को यहाँ से बलपूर्वक अपहरण करके ले जाना चाहता हूँ। तुम लोग अपनी सारी शक्ति लगाकर विजय अथवा पराजय के लिए मुझे रोकने का यत्न करो।

एवमुक्त्वा महीपालान् काशिराजं च वीर्यवान् ।
आमन्त्र्य चैव तान्प्रायाच्छीघ्रं कन्याः प्रगृह्य ताः ।।२१

उन सब राजाओं और काशिराज से उपर्युक्त बातें कहकर और उन सब कन्याओं को अपने रथ में बिठाकर पराक्रमी भीष्मजी सबको ललकारते हुए वहाँ से शीघ्रतापूर्वक चल दिये ।

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे समुत्पेतुरमर्षिताः ।
संस्पृशन्तः स्वकान्बाहून्दशन्तो दशनच्छदान् ।।२२

फिर तो वे समस्त नरेश इस अपमान को न सह सके, वे अपनी भुजाओं को ठोकते और दाँतों से ओठ चबाते हुए अपने स्थान से उछल पड़े ।

ततः समभवद् युद्धं तेषां तस्य च भारत ।
एकस्य च बहूनां च तुमुलं लोमहर्षणम् ।।२३।।

हे जनमेजय ! तत्पश्चात् उन राजाओं और भीष्मजी का घोर युद्ध हुआ । भीष्मजी अकेले थे और राजा लोग बहुत । उनमें रोंगटे खड़े कर देनेवाला भयंकर संग्राम छिड़ गया ।

तान् विनिर्जित्य तु रणे सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
कन्याभिः सहितःप्रायाद् भारतो भारतान्प्रति ।।२४।।

अन्त में, सम्पूर्ण शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ भरत-कुलतिलक भीष्मजी ने उन सब योद्धाओं को जीत-कर कन्याओं को साथ ले भरतवंशियों की राजधानी हस्तिनापुर को प्रस्थान किया ।

ताः सर्वगुणसम्पन्ना भ्राता भ्रात्रे यवीयसे ।
भीष्मो विचित्रवीर्याय प्रददौ विक्रमाहृताः ।।२५।।

भाई भीष्म ने अपने पराक्रम द्वारा हर कर लाई हुई उन सर्वगुणसम्पन्न कन्याओं को अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य को सौंप दिया ।

एवं धर्मेण धर्मज्ञः कृत्वा कर्मातिमानुषम् ।
भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य विवाहायोपचक्रमे ।।२६।।
विवाहं कारयिष्यन्तं भीष्मं काशिपतेः सुता ।
ज्येष्ठा तासामिदं वाक्यमब्रवीद्ध सती तदा ।।२७।।

धर्मज्ञ भीष्मजी इस प्रकार धर्मपूर्वक अलौकिक पराक्रम करके भाई विचित्रवीर्य के विवाह की तैयारी करने लगे । काशिराज की उन कन्याओं में जो सबसे बड़ी थी, वह बड़ी सती-साध्वी थी । उसने जब सुना कि भीष्मजी मेरा विवाह अपने छोटे भाई के साथ करेंगे, तब वह उनसे इस प्रकार बोली—

मया सौभपतिः पूर्वं मनसा हि वृतः पतिः ।
एतद् विज्ञाय धर्मज्ञ धर्मतत्त्वं समाचर ।।२८।।

"धर्मात्मन् ! मैंने पहले से ही मन-ही-मन सौभ नामक विमान के अधिपति राजा शाल्व को पतिरूप में वरण कर लिया था । इस बात को सोच-समझकर जो धर्म का सार प्रतीत हो, वही कार्य कीजिए ।"

विनिश्चित्य स धर्मज्ञो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
अनुजज्ञे तदा ज्येष्ठामम्बां काशिपतेः सुताम् ।।२९।।

[उसके ऐसा कहने पर] धर्मज्ञ भीष्म ने वेदों के पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणों के साथ भली-भाँति विचार करके काशिराज की ज्येष्ठ पुत्री अम्बा को उसी समय शाल्व के यहाँ जाने की आज्ञा प्रदान कर दी ।

अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद् भ्रात्रे यवीयसे ।
भीष्मो विचित्रवीर्याय विधिदृष्टेन कर्मणा ।।३०।।

अम्बिका और अम्बालिका नाम की शेष दो कन्याओं को भीष्मजी ने शास्त्रोक्त विधि के अनुसार अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य को पत्नी के रूप में प्रदान कर दिया ।

तयोः पाणी गृहीत्वा तु रूपयौवनदर्पितः ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा कामात्मा समपद्यत ।।३१।।

उन दोनों सुन्दरी कन्याओं का पाणिग्रहण करके रूप और यौवन के मद से भरे धर्मात्मा विचित्रवीर्य कामात्मा बन गये ।

ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन् पृथिवीपतिः ।
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत ।।३२।।

राजा विचित्रवीर्य ने उन दोनों पत्नियों के साथ सात वर्ष तक निरन्तर विहार किया, उस असंयम के परिणामस्वरूप वे यौवन में ही राजयक्ष्मा के शिकार हो गये ।

सुहृदां यतमानानामाप्तैः सह चिकित्सकैः ।
जगामास्तमिवादित्यः कौरव्यो यमसादनम् ।।३३।।

उनके हितैषी मित्रों ने नामी और विश्वसनीय चिकित्सकों द्वारा उनके रोग-निवारण की पूरी चेष्टा की, तो भी जैसे सूर्य अस्ताचल को चले जाते हैं, उसी प्रकार वे कौरव-नरेश यमलोक को चले गये ।

इति महाभारते आदिपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ।।

सप्तमोऽध्यायः

भीष्मजी द्वारा राज्यग्रहण की अस्वीकृति, व्यासजी द्वारा विचित्रवीर्य के क्षेत्र से धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर की उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती दीना कृपणा पुत्रगृद्धिनी।
पुत्रस्य कृत्वा कार्याणि गाङ्गेयं वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पुत्र की इच्छा रखनेवाली सत्यवती अपने पुत्र के वियोग से अत्यन्त दीन और कृपण हो गई। अपने पुत्र के प्रेतकार्य करके उसने गङ्गानन्दन भीष्म से कहा—

यथा कर्म शुभं कृत्वा स्वर्गोपगमनं ध्रुवम् ।
यथा चायुर्ध्रुवं सत्ये त्वयि धर्मस्तथा ध्रुवः ॥२॥

"जैसे शुभकर्म करके स्वर्गलोक में जाना निश्चित है, जैसे सत्य-भाषण से आयु का बढ़ना अवश्यम्भावी है, वैसे ही तुममें धर्मपालन का होना भी निश्चित है।

वेत्थ धर्मांश्च धर्मज्ञ समासेनेतरेण च।
विविधास्त्वं श्रुतीर्वेत्थ वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥३॥

"धर्मज्ञ ! तुम सब धर्मों को संक्षेप और विस्तार से जानते हो। नाना प्रकार की श्रुतियों और समस्त वेदाङ्गों का भी तुम्हें पूर्ण ज्ञान है।

व्यवस्थानं च ते धर्मे कुलाचारं च लक्षये।
प्रतिपत्तिं च कृच्छ्रेषु शुक्राङ्गिरसयोरिव ॥४॥

"मैं तुम्हारी धर्मनिष्ठा और कुलोचित सदाचार को भी देखती हूँ। संकट के समय शुक्राचार्य और बृहस्पति की भाँति तुम्हारी बुद्धि उपयुक्त कर्तव्य का निर्णय करने में समर्थ है।

तस्मात् सुभृशमाश्वस्य त्वयि धर्मभृतां वर।
कार्ये त्वां विनियोक्ष्यामि तत् श्रुत्वा कर्तुमर्हसि ॥५॥

"इसलिए धर्मात्माओं में श्रेष्ठ भीष्म ! तुमपर अत्यन्त विश्वास रखकर ही मैं तुम्हें एक आवश्यक कार्य में लगाना चाहती हूँ। तुम उसे सुनो और उसका पालन करने की चेष्टा करो।

मम पुत्रस्तव भ्राता वीर्यवान् सुप्रियश्च ते।
बाल[1] एव गतः स्वर्गमपुत्रः पुरुषर्षभ ॥६॥
इमे महिष्यौ भ्रातुस्ते काशिराजसुते शुभे।
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च भारत ॥७॥
तयोरुत्पादयापत्यं सन्तानाय कुलस्य नः।
मन्नियोगान्महाबाहो धर्मं कर्तुमिहार्हसि ॥८॥

"मेरा पुत्र और तुम्हारा भाई विचित्रवीर्य जो पराक्रमी होने के साथ ही तुम्हें अतिप्रिय था, छोटी अवस्था में ही स्वर्गवासी हो गया। नरश्रेष्ठ ! उसके कोई पुत्र भी उत्पन्न नहीं हुआ। तुम्हारे भाई की ये दोनों सुन्दरी रानियाँ—काशिराज की कन्याएँ—मनोहर रूप और यौवन से सम्पन्न हैं। इनके हृदय में पुत्र पाने की अभिलाषा है। हे भारत ! तुम हमारे कुल की सन्तान-परम्परा की रक्षा के लिए स्वयं ही इन दोनों के गर्भ से पुत्र उत्पन्न करो। महाबाहो ! मेरी आज्ञा से यह धर्मकार्य तुम अवश्य करो !"

भीष्म उवाच

असंशयं परो धर्मस्त्वया मातरुदाहृतः।
राज्यार्थे नाभिषिञ्चेयं नोपेयां जातु मैथुनम् ॥९॥

भीष्म ने कहा—माता ! तुमने जो कुछ कहा है, वह धर्मयुक्त है, इसमें संशय नहीं, परन्तु मैं राज्य के लोभ से न तो अपना अभिषेक कराऊँगा और न स्त्री-सहवास ही करूँगा।

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद् वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन ॥१०॥

मैं तीनों लोकों का राज्य, देवताओं का साम्राज्य अथवा इन दोनों से भी अधिक महत्त्व की वस्तु भी एकदम त्याग सकता हूँ, परन्तु सत्य को किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता।

त्यजेच्च पृथिवी गन्धमापश्च रसमात्मनः।
ज्योतिस्तथा त्यजेद् रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत् ॥११
प्रभां समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्मताम् ।
त्यजेच्छब्दं तथाऽऽकाशः सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ॥१२

---

१. 'बाल' से तात्पर्य यहाँ थोड़ी अवस्था से है। पिछले अध्याय [६।११] में इन्हें 'सम्प्राप्तयौवनम्' कहा है।

विक्रमं वृत्रहा जह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट्।
न त्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथंचन ॥१३

हो सकता है पृथिवी अपनी गन्ध को छोड़ दे, जल अपने रस का परित्याग कर दे, तेज रूप का और वायु स्पर्श नामक स्वाभाविक गुण का त्याग कर दे, सूर्य अपनी प्रभा और अग्नि अपनी उष्णता को छोड़ दे, आकाश अपने शब्द गुण का और चन्द्रमा अपनी शीतलता का परित्याग कर दे, इन्द्र अपने पराक्रम को छोड़ दे और धर्मराज धर्म की उपेक्षा कर दें परन्तु मैं किसी प्रकार सत्य को छोड़ने का विचार भी नहीं कर सकता।

सत्यवत्युवाच

जानामि ते स्थितिं सत्ये परां सत्यपराक्रम।
इच्छन्सृजेथास्त्रींल्लोकानन्यांस्त्वं स्वेन तेजसा ॥१४
जानामि चैव सत्यं तन्मदर्थे यच्च भाषितम्।
आपद्धर्मं त्वमावेक्ष्य वह पैतामहीं धुरम् ॥१५॥

सत्यवती बोली—सत्यपराक्रम! मैं जानती हूँ सत्य में तुम्हारी दृढ़ निष्ठा है। तुम चाहो तो अपने ही तेज से नई त्रिलोकी की रचना कर सकते हो। मैं उस सत्य को भी जानती हूँ जिसकी तुमने मेरे लिए घोषणा की थी। फिर भी मेरा आग्रह है कि तुम आपद्धर्म का विचार करके बाप-दादों के दिये हुए इस राज्य-भार को वहन करो।

यथा ते कुलतन्तुश्च धर्मश्च न पराभवेत्।
सुहृदश्च प्रहृष्येरंस्तथा कुरु परन्तप ॥१६॥

अतः परंतप! जिस उपाय से तुम्हारे वंश की परम्परा नष्ट न हो, धर्म की भी अवहेलना न होने पाये तथा प्रेमी सुहृद् भी सन्तुष्ट हो जाएँ, तुम वही करो।

भीष्म उवाच

राज्ञि धर्मानवेक्षस्व मा नः सर्वान् व्यनीनशः।
सत्याच्च्युतिः क्षत्रियस्य न धर्मेषु प्रशस्यते ॥१७॥

भीष्म बोले—राजमाता! धर्म की ओर दृष्टि-पात करो। हम सबका नाश मत करो। क्षत्रिय का सत्य से विचलित होना किसी भी धर्म में अच्छा नहीं माना गया है।

पुनर्भरतवंशस्य हेतुं सन्तानवृद्धये।
वक्ष्यामि नियतं मातस्तन्मे निगदतः शृणु ॥१८॥
ब्राह्मणो गुणवान् कश्चिद् धनेनोपनिमन्त्र्यताम्।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु यः समुत्पादयेत् प्रजाः ॥१९

मातः! भरतवंश की सन्तान-परम्परा को बढ़ाने और सुरक्षित रखने के लिए जो निश्चित उपाय है, उसे बताता हूँ—सुनो! किसी गुणवान् ब्राह्मण को धन देकर बुलाओ, जो विचित्रवीर्य की स्त्रियों के गर्भ से सन्तान उत्पन्न कर सके।

सत्यवत्युवाच

कन्यापुत्रो मम पुरा द्वैपायन इति श्रुतः।
सत्यवादी शमपरस्तपस्वी दग्धकिल्बिषः ॥२०॥

सत्यवती ने कहा—पहले कन्या-अवस्था में मेरे गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, जो द्वैपायन के नाम से विख्यात है। वे सत्यवादी, शान्त, तपस्वी तथा पाप से शून्य हैं।

स नियुक्तो मया व्यक्तं त्वया चाप्रतिमद्युतिः।
भ्रातुः क्षेत्रेषु कल्याणमपत्यं जनयिष्यति ॥२१॥

मेरे और तुम्हारे आग्रह करने पर वे अनुपम तेजस्वी व्यास अवश्य ही अपने भाई के क्षेत्र में कल्याणकारी सन्तान उत्पन्न करेंगे।

वैशम्पायन उवाच

महर्षेः कीर्तने तस्य भीष्मः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
तदिदं धर्मयुक्तं च हितं चैव कुलस्य नः ॥२२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महर्षि व्यास का नाम लेते ही भीष्मजी हाथ जोड़कर बोले—"माताजी! आपने जो बात कही है, वह धर्मयुक्त तो है ही, हमारे कुल के लिए भी हितकर है।"

ततस्तस्मिन् प्रतिज्ञाते चिन्तयामास वै मुनिम्।
प्रादुर्बभूवाविदितः वचनं चेदमब्रवीत् ॥२३॥

उस समय भीष्मजी द्वारा इस प्रकार अपनी सम्मति देने पर सत्यवती ने मुनिवर कृष्णद्वैपायन का चिन्तन किया। तब वे सहसा वहाँ आ पहुँचे और अपनी माता से इस प्रकार बोले—

भवत्या यदभिप्रेतं तदहं कर्तुमागतः।
शाधि मां धर्मतत्त्वज्ञे करवाणि प्रियं तव ॥२४॥

"धर्म के तत्त्व को जाननेवाली माताजी! आपकी

जो हार्दिक इच्छा हो, उसके अनुसार कार्य करने के लिए मैं आया हूँ। आज्ञा दीजिए, मैं आपकी कौन-सी प्रिय सेवा करूँ।

सत्यवत्युवाच

यवीयसस्तव भ्रातुर्भार्ये सुरसुतोपमे।
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च धर्मतः ॥२५॥
तयोरुत्पादयापत्यं समर्थो ह्यसि पुत्रक।
अनुरूपं कुलस्यास्य संतत्याः प्रसवस्य च ॥२६॥

सत्यवती बोली—तुम्हारे छोटे भाई की पत्नियाँ देवकन्याओं के समान सुन्दर, रूप और युवावस्था से सम्पन्न हैं। उनके मन में धर्मतः पुत्र पाने की अभिलाषा है। पुत्र ! तुम इसके लिए समर्थ हो, अतः इन दोनों के गर्भ से ऐसी सन्तानों को जन्म दो, जो इस कुल-परम्परा की रक्षा तथा वृद्धि के लिए सर्वथा सुयोग्य हों।

व्यास उवाच

ईप्सितं ते करिष्यामि दृष्टं ह्येतत् सनातनम्।
भ्रातुः पुत्रान् प्रदास्यामि मित्रावरुणयोः समान् ॥२७

व्यासजी ने कहा—मैं आपकी इच्छा के अनुरूप कार्य करूँगा। नियोगरूपी सनातनमार्ग शास्त्रों में देखा गया है। मैं उसी के अनुसार अपने भाई के लिए मित्र और वरुण के समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न करूँगा।

वैशम्पायन उवाच

ततोऽभिगम्य सा देवी स्नुषां रहसि संगताम्।
धर्म्यमर्थसमायुक्तमुवाच वचनं हितम् ॥२८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तत्पश्चात् देवी सत्यवती ने एकान्त में बैठी हुई अपनी पुत्रवधू अम्बिका के पास जाकर उससे [आपद्] धर्म और अर्थ से युक्त हितकारक वचन कहा—

नष्टं च भारतं वंशं पुनरेव समुद्धर।
पुत्रं जनय सुश्रोणि देवराजसमप्रभम्।
स हि राज्यधुरं गुर्वीमुद्वक्ष्यति कुलस्य नः ॥२९॥

"सुश्रोणि ! तुम नष्ट होते हुए भरतवंश का पुनः उद्धार करो। तुम देवराज इन्द्र के समान तेजस्वी पुत्र को जन्म दो, वही हमारे कुल के इस महान् राज्य-भार को वहन करेगा।"

ततः सत्यवती काले वधूं स्नातामृतौ तदा।
संवेशयन्ती शयने शनैर्वचनमब्रवीत् ॥३०॥

तत्पश्चात् सत्यवती ठीक समय पर अपनी ऋतु-स्नाता पुत्र-वधू को शय्या पर बैठाती हुई धीरे से बोली—

कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वानुप्रवेक्ष्यति।
अप्रमत्ता प्रतीक्षैनं निशीथे ह्यागमिष्यति ॥३१॥

"कौसल्ये ! तुम्हारे एक देवर हैं, वे ही आज तुम्हारे पास गर्भाधान के लिए आएँगे। तुम सावधान होकर उनकी प्रतीक्षा करो। वे ठीक आधी रात के समय यहाँ पधारेंगे।"

श्वश्र्वास्तद् वचनं श्रुत्वा शयाना शयने शुभे।
सा चिन्तयत् तदा भीष्ममन्यांश्च कुरुपुङ्गवान् ॥३२

सास की बात सुनकर कौसल्या पवित्र शय्या पर शयन करके उस समय मन-ही-मन भीष्म तथा अन्य श्रेष्ठ कुरुवंशियों का चिन्तन करने लगी।

ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः।
दीप्यमानेषु दीपेषु शरणं प्रविवेश ह ॥३३॥

उधर नियोगविधि के अनुसार [शरीर पर घी चुपड़े, संयतचित्त, कुत्सित रूप में] सत्यवादी महर्षि व्यास ने अम्बिका के महल में प्रवेश किया। उस समय बहुत-से दीपक वहाँ प्रकाशित हो रहे थे।

तस्य कृष्णस्य कपिलां जटां दीप्ते च लोचने।
बभ्रूणि चैव श्मश्रूणि दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत् ॥३४

व्यासजी के शरीर का रंग काला था, उनकी जटाएँ पिंगल वर्ण की और आँखें चमक रही थीं तथा दाढ़ी-मूँछ भूरे रंग की दिखाई देती थीं। उन्हें देखकर देवी कौसल्या ने [भय के मारे] अपनी आँखें मूँद लीं।

सम्बभूव तया सार्धं मातुः प्रियचिकीर्षया।
भयात् काशिसुता तं तु नाशक्नोदभिवीक्षितुम् ॥३५

माता का प्रिय करने की इच्छा से व्यासजी ने उसके साथ समागम[1] किया, परन्तु काशिराज की

१. लोक में ऐसी भ्रान्त धारणा फैली हुई है कि विचित्रवीर्य की दोनों पत्नियाँ व्यासजी के सामने से निकल गईं और उन्हें गर्भ रह गया। ऐसा होना सर्वथा असम्भव है। वस्तुतः धृतराष्ट्र आदि सभी नियोग के द्वारा उत्पन्न हुए थे।

कन्या भय के मारे उनकी ओर अच्छी प्रकार से देख न सकी।

ततो निष्क्रान्तमागम्य माता पुत्रमुवाच ह।
अप्यस्या गुणवान् पुत्र राजपुत्रो भविष्यति ॥३६॥

जब व्यासजी अम्बिका के महल से बाहर निकले, तब माता सत्यवती ने आकर उनसे पूछा—"वत्स! क्या अम्बिका के गर्भ से कोई गुणवान् राजकुमार उत्पन्न होगा?"

व्यास उवाच

नागायुतसमप्राणो महाबुद्धिर्भविष्यति।
किं तु मातुः स वैगुण्यादन्ध एव भविष्यति ॥३७॥

व्यासजी बोले—माँ! गर्भ-स्थित यह पुत्र दस सहस्र हाथियों के समान बलवान् और अत्यन्त बुद्धिमान् होगा, परन्तु माता के दोष से वह अन्धा ही होगा।

सत्यवत्युवाच

नान्धः कुरूणां नृपतिरनुरूपस्तपोधन।
ज्ञातिवंशस्य गोप्तारं पितृणां वंशवर्धनम्।
द्वितीयं कुरुवंशस्य राजानं दातुमर्हसि ॥३८॥

सत्यवती बोली—तपोधन! कुरुवंश का राजा अन्धा हो, यह उचित नहीं है, अतः कुरुवंश के लिए दूसरा राजा दो, जो ज्ञाति-भाइयों तथा समस्त कुल का संरक्षक एवं पिता के वंश को बढ़ानेवाला हो।

वैशम्पायन उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय निश्चक्राम महायशाः।
सापि कालेन कौसल्या सुषुवेऽन्धं तमात्मजम् ॥३९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महायशस्वी व्यासजी 'तथाऽस्तु' कहकर वहाँ से निकल गये। प्रसव का समय आने पर कौसल्या ने उस अन्धे पुत्र को जन्म दिया।

पुनरेव तु सा देवी परिभाष्य स्नुषां ततः।
ऋषिमावाहयत् सत्या यथापूर्वमरिन्दम ॥४०॥

शत्रुदमन! तत्पश्चात् देवी सत्यवती ने अपनी दूसरी पुत्र-वधू को समझा-बुझाकर गर्भाधान के लिए तैयार किया और इसके लिए पूर्ववत् महर्षि व्यास का आवाहन किया।

ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत।
अम्बालिकामथाभ्यागादृषिं दृष्ट्वा च सापि तम्।
विवर्णा पाण्डुसंकाशा समपद्यत भारत ॥४१॥

महर्षि व्यास ने उसी [नियोग की संयमपूर्ण] विधि से देवी अम्बालिका के साथ समागम किया। भारत! महर्षि व्यास को देखकर वह कान्तिहीन तथा पाण्डुवर्ण की-सी हो गई।

ततो निष्क्रान्तमालोक्य सत्या पुत्रमथाब्रवीत्।
शशंस स पुनर्मात्रे तस्य बालस्य पाण्डुताम् ॥४२॥

उस महल से निकलने पर सत्यवती ने अपने पुत्र से उसके विषय में पूछा। तब व्यासजी ने भी माता से उस बालक के पाण्डुवर्ण होने की बात बता दी।

तं माता पुनरेवान्यमेकं पुत्रमयाचत।
तथेति च महर्षिस्तां मातरं प्रत्यभाषत ॥४३॥

तब फिर सत्यवती ने पुनः एक दूसरे पुत्र के लिए उनसे याचना की। महर्षि ने 'बहुत अच्छा' कहकर माता की आज्ञा स्वीकार कर ली।

ततः कुमारं सा देवी प्राप्तकालमजीजनत्।
पाण्डुं लक्षणसम्पन्नं दीप्यमानमिव श्रिया।
यस्य पुत्रा महेष्वासा जज्ञिरे पञ्च पाण्डवाः ॥४४॥

तत्पश्चात् देवी अम्बालिका ने समय आने पर एक पाण्डुवर्ण के पुत्र को जन्म दिया, जो अपनी दिव्य कान्ति से उद्भासित हो रहा था। यह वही बालक था, जिसके पुत्र महाधनुर्धारी पाँच पाण्डव हुए।

ऋतुकाले ततो ज्येष्ठां वधूं तस्मै न्ययोजयत्।
सा तु रूपं च गन्धं च महर्षेः प्रविचिन्त्य तम्।
नाकरोद् वचनं देव्या भयात् सुरसुतोपमा ॥४५॥

तत्पश्चात् ऋतुकाल आने पर सत्यवती ने अपनी बड़ी बहू अम्बिका को पुनः व्यासजी से मिलने के लिए नियुक्त किया। परन्तु देवकन्या के समान सुन्दरी अम्बिका ने महर्षि के उस कुत्सित रूप और गन्ध का चिन्तन करके भय के कारण देवी सत्यवती की आज्ञा नहीं मानी।

ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम्।
प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता ॥४६॥

काशिराज की पुत्री अम्बिका ने अप्सरा के समान सुन्दरी अपनी एक दासी को अपने ही वस्त्र-आभूषणों से विभूषित करके उन काले-कलूटे महर्षि व्यास के पास भेज दिया।

कामोपभोगेन रहस्तस्यां तुष्टिमगादृषिः।
उत्तिष्ठन्नब्रवीदेनामभुजिष्या भविष्यसि ॥४७॥
अयं च ते शुभे गर्भः श्रेयानुदरमागतः।
धर्मात्मा भविता लोके सर्वबुद्धिमतां वरः ॥४८॥

एकान्त में मिलकर महर्षि व्यास उसपर बहुत सन्तुष्ट हुए। जब वे सहवास करके उठे, तब उससे बोले—"शुभे ! अब तू दासी नहीं रहेगी। तेरे उदर में एक अत्यन्त श्रेष्ठ बालक आया है। वह लोक में धर्मात्मा तथा समस्त बुद्धिमानों में श्रेष्ठ होगा।

स जज्ञे विदुरो नाम कृष्णद्वैपायनात्मजः।
धृतराष्ट्रस्य वै भ्राता पाण्डोश्चैव महात्मनः ॥४९॥

वही बालक विदुर हुआ, जो कृष्णद्वैपायन व्यास का पुत्र था। एक पिता का होने के कारण वह राजा धृतराष्ट्र और महात्मा पाण्डु का भाई था।

कृष्णद्वैपायनोऽप्येतत् सत्यवत्यै न्यवेदयत्।
प्रलम्भमात्मनश्चैव शूद्रायाः पुत्रजन्म च ॥५०॥

कृष्णद्वैपायन व्यास ने सत्यवती को भी सब बातें बता दीं। उन्होंने यह रहस्य प्रकट कर दिया कि अम्बिका ने अपनी दासी भेजकर मेरे साथ छल किया है, अतः शूद्रा दासी के गर्भ से ही पुत्र उत्पन्न होगा।

एते विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रे द्वैपायनादपि।
जज्ञिरे देवगर्भाभाः कुरुवंशविवर्धनाः ॥५१॥

विचित्रवीर्य के क्षेत्र में व्यासजी से ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए, जो देवकुमारों के समान तेजस्वी तथा कुरुवंश की वृद्धि करनेवाले थे।

इति महाभारते आदिपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

कुरुदेश की सर्वाङ्गीण उन्नति का दिग्दर्शन, राजा धृतराष्ट्र का विवाह

वैशम्पायन उवाच

तेषु त्रिषु कुमारेषु जातेषु कुरुजाङ्गलम्।
कुरवोऽथ कुरुक्षेत्रं त्रयमेतदवर्धत ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन तीनों कुमारों [धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर] के जन्म से कुरुवंश, कुरुजाङ्गल देश और कुरुक्षेत्र—इन तीनों की बड़ी भारी उन्नति एवं समृद्धि हुई।

ऊर्ध्वसस्याभवद् भूमिः सस्यानि रसवन्ति च।
यथर्तुवर्षी पर्जन्यो बहुपुष्पफला द्रुमाः ॥२॥

पृथिवी पर खेती की उपज बहुत बढ़ गई, सभी अन्न रस से भरपूर होते थे, बादल ठीक समय पर वर्षा करते थे, वृक्षों में प्रभूत फल और फूल लगने लगे।

नाभवन् दस्यवः केचिन्नाधर्मरुचयो जनाः।
प्रदेशेष्वपि राष्ट्राणां कृतं युगमवर्तत ॥३॥

कोई भी मनुष्य डाकू नहीं था। पाप में रुचि रखनेवाले लोगों का सर्वथा अभाव था। राष्ट्र के विभिन्न प्रान्तों में सतयुग छा रहा था।

मानक्रोधविहीनाश्च नरा लोभविवर्जिताः।
अन्योऽन्यमभ्यनन्दन्त धर्मोत्तरमवर्तत ॥४॥

सब लोग अभिमान और क्रोध से रहित तथा लोभ से दूर रहनेवाले थे, सभी एक-दूसरे को प्रसन्न रखने की चेष्टा करते थे। लोगों के आचार-व्यवहार में धर्म की ही प्रधानता थी।

नाभवत्कृपणः कश्चिन्नाभवन्विधवा स्त्रियः।
तस्मिञ्जनपदे रम्ये कुरुभिर्बहुलीकृते ॥५॥

कौरवों द्वारा बढ़ाये हुए उस रमणीय जनपद में न तो कोई कंजूस था और न ही विधवा स्त्रियाँ देखी जाती थीं।

गृहेषु कुरुमुख्यानां पौराणां च नराधिप।
दीयतां भुज्यतां चेति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ॥६॥

हे जनमेजय ! कुरुकुल के प्रधान पुरुषों तथा अन्य नगरनिवासियों के घरों में सदा सब ओर यही बात सुनाई देती थी कि—'दान दो और अतिथियों को भोजन कराओ।'

धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च विदुरश्च महामतिः ।
जन्मप्रभृति भीष्मेण पुत्रवत् परिपालिताः ॥७॥

धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा परम बुद्धिमान् विदुर—इन तीनों भाइयों का भीष्मजी ने जन्म से ही पुत्र की भाँति पालन किया।

संस्कारैः संस्कृतास्ते तु व्रताध्ययनसंयुताः ।
श्रमव्यायामकुशलाः समपद्यन्त यौवनम् ॥८॥

उन्होंने ही सबके संस्कार कराये। तब वे ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन तथा वेदों के स्वाध्याय में तत्पर हो गये। परिश्रम और व्यायाम में भी उन्होंने विशेष कुशलता प्राप्त की। फिर धीरे-धीरे वे युवावस्था को प्राप्त हुए।

धनुर्वेदेऽश्वपृष्ठे च गदायुद्धेऽसिचर्मणि ।
तथैव गजशिक्षायां नीतिशास्त्रेषु पारगाः ॥६॥

धनुर्वेद, घोड़े की सवारी, गदायुद्ध, ढाल-तलवार के प्रयोग, गजशिक्षा और नीतिशास्त्र में वे तीन भाई पारंगत हो गये।

इतिहासपुराणेषु नानाशिक्षासु बोधिताः ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञाः सर्वत्र कृतनिश्चयाः ॥१०॥

उन्हें इतिहास, पुराण=ब्राह्मणग्रन्थ तथा नाना प्रकार के शिष्टाचारों का भी ज्ञान कराया गया। वे वेद-वेदाङ्गों के तत्त्वज्ञ तथा सर्वत्र एक निश्चित सिद्धान्त के माननेवाले थे।

पाण्डुर्धनुषि विक्रान्तो नरेष्वभ्यधिकोऽभवत् ।
अन्येभ्यो बलवानासीद् धृतराष्ट्रो महीपतिः ॥११॥

पाण्डु धनुर्विद्या में उस समय के मनुष्यों में सबसे बढ़कर पराक्रमी थे। इसी प्रकार राजा धृतराष्ट्र दूसरे लोगों की अपेक्षा शारीरिक बल में बहुत बढ़-कर थे।

त्रिषु लोकेषु न त्वासीत्कश्चिद्विदुरसम्मितः ।
धर्मनित्यस्तथा राजन् धर्मे च परमं गतः ॥१२॥

राजन्! तीनों लोकों में विदुरजी के समान दूसरा कोई भी मनुष्य धर्मपरायण तथा धर्म में ऊँची अवस्था को प्राप्त [आत्मद्रष्टा] नहीं था।

धृतराष्ट्रस्त्वचक्षुष्ट्वाद् राज्यं न प्रत्यपद्यत ।
पारशवत्वाद् विदुरो राजा पाण्डुर्बभूव ह ॥१३॥

धृतराष्ट्र अन्धे होने के कारण और विदुरजी पारशव [शूद्रा के गर्भ से ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न] होने से राज्य न पा सके, अतः सबसे छोटे पाण्डु ही राजा हुए।

कदाचिदथ गाङ्गेयः सर्वनीतिमतां वरः ।
विदुरं धर्मतत्त्वज्ञं वाक्यमाह यथोचितम् ॥१४॥

एक समय की बात है, सम्पूर्ण नीतिज्ञों में श्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मजी धर्म के तत्त्व को जाननेवाले विदुरजी से यह न्यायोचित वचन बोले—

भीष्म उवाच

गुणैः समुदितं सम्यगिदं नः प्रथितं कुलम् ।
अत्यन्यान्पृथिवीपालान्पृथिव्यामधिराज्यभाक् ॥१५

भीष्मजी बोले—पुत्र विदुर! हमारा यह कुल अनेक सद्गुणों से सम्पन्न होकर संसार में विख्यात हो रहा है। यह अन्य भूपालों को जीतकर इस भूमण्डल के साम्राज्य का अधिकारी हुआ है।

तच्चैतद् वर्धते भूयः कुलं सागरवद् तथा ।
तथा मया विधातव्यं त्वया चैव न संशयः ॥१६॥

वत्स! हमारा यह कुल भविष्य में भी समुद्र की भाँति बढ़ता रहे, निःसन्देह वही उपाय मुझे और तुम्हें भी करना चाहिए।

श्रूयते यादवी कन्या स्वनुरूपा कुलस्य नः ।
सुबलस्यात्मजा चैव तथा मद्रेश्वरस्य च ॥१७॥

सुना जाता है कि यदुवंशी शूरसेन की कन्या पृथा [जो इस समय राजा कुन्तिभोज की गोद ली हुई पुत्री है] सर्वथा हमारे कुल के अनुरूप है। इसी प्रकार गान्धारराज सुबल और मद्रनरेश के यहाँ भी एक-एक कन्या सुनी जाती है।

कुलीना रूपवत्यश्च ताः कन्याः पुत्र सर्वशः ।
उचिताश्चैव सम्बन्धे तेऽस्माकं क्षत्रियर्षभाः ॥१८

वत्स! वे सब कन्याएँ बड़ी सुन्दरी तथा उत्तम कुल में उत्पन्न हैं। वे श्रेष्ठ क्षत्रियगण हमारे साथ विवाह-सम्बन्ध करने के सर्वथा योग्य हैं।

मन्ये वरयितव्यास्ता इत्यहं धीमतां वर ।
सन्तानार्थं कुलस्यास्य यद् वा विदुर मन्यसे ॥१६॥

बुद्धिमानों में श्रेष्ठ विदुर! मेरी सम्मति से इस कुल की सन्तान-परम्परा को बढ़ाने के लिए उक्त

कन्याओं का वरण करना चाहिए, अथवा जैसी तुहारी सम्मति हो, वैसा किया जाए।

विदुर उवाच

भवान्पिता भवान्माता भवान्नः परमो गुरुः।
तस्मात्स्वयं कुलस्यास्य विचार्य कुरु यद्धितम् ॥२०॥

विदुर बोले—प्रभो! आप हमारे पिता हैं, आप ही माता हैं और आप ही परम गुरु हैं, अतः स्वयं सोच-विचारकर जिस बात में इस कुल का हित हो, वही कीजिए।

वैशम्पायन उवाच

दूतं गान्धारराजस्य प्रेषयामास भारत।
अचक्षुरिति तत्रासीत् सुबलस्य विचारणा ॥२१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! विदुर से विचार-विमर्श कर भीष्मजी ने गान्धारराज के पास अपना दूत भेजा। धृतराष्ट्र अन्धे हैं, इस बात को लेकर सुबल के मन में बड़ी उथल-पुथल हुई।

कुलं ख्यातिं च वृत्तं च बुद्ध्या तु प्रसमीक्ष्य सः।
ददौ तां धृतराष्ट्राय गान्धारीं धर्मचारिणीम् ॥२२॥

परन्तु उनके कुल, प्रसिद्धि और आचार आदि के विषय में बुद्धिपूर्वक विचार करके उसने धर्म-परायणा गान्धारी धृतराष्ट्र के लिए प्रदान कर दी।

तस्याः सहोदराः कन्याः पुनरेव ददौ दश।
गान्धारराजः सुबलो भीष्मेण वरितस्तदा ॥२३॥
सत्यव्रतां सत्यसेनां सुदेष्णां च सुसंहिताम्।
तेजःश्रवां सुश्रवां च तथैव निकृतिं शुभाम् ॥२४॥
शंभुवां च दशार्णां च गान्धारीर्दश विश्रुताः।
एकाह्णा प्रतिजग्राह धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ॥२५॥

गान्धारराज सुबल ने भीष्मजी द्वारा वरण करने पर गान्धारी की दस सहोदरा बहिनें भी धृतराष्ट्र को विवाह दीं। उनके नाम इस प्रकार हैं—सत्यव्रता, सत्यसेना, सुदेष्णा, सुसंहिता, तेजःश्रवा, सुश्रवा, निकृति, शुभा, शंभुवा, दशार्णा और विश्वप्रसिद्ध गान्धारी। महाराज धृतराष्ट्र ने इन सबके साथ एक ही दिन विवाह किया।[1]

गान्धारी त्वथ शुश्राव धृतराष्ट्रमचक्षुषम्।
ततः सा पट्टमादाय कृत्वा बहुगुणं तदा ॥२६॥
बबन्ध नेत्रे स्वे राजन् पतिव्रतपरायणा।
नाभ्यसूयां पतिमहमित्येवं कृतनिश्चया ॥२७॥

उधर जब गान्धारी ने सुना कि धृतराष्ट्र अन्धे हैं तब उन्होंने रेशमी वस्त्र लेकर और उसकी कई तह करके उससे अपनी आँखें बाँध लीं। राजन्! गान्धारी बड़ी पतिव्रता थी। उन्होंने निश्चय कर लिया कि मैं [सदा पति के अनुकूल रहूँगी] उनके दोष नहीं देखूंगी।

गान्धारी तु वरारोहा: शीलाचारविचेष्टितैः।
तुष्टिं कुरूणां सर्वेषां जनयामास भारत ॥२८॥

हे भारत! सुन्दर शरीरवाली गान्धारी ने अपने उत्तम स्वभाव, सदाचार तथा सद्व्यवहारों से समस्त कौरवों को प्रसन्न कर लिया।

इति महाभारते आदिपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

पाण्डु और विदुर का विवाह

वैशम्पायन उवाच

शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताऽभवत्।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणाऽप्रतिमा भुवि ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यदुवंशियों में श्रेष्ठ शूरसेन हो गये हैं, जो वसुदेवजी के पिता थे। उनके एक पुत्री उत्पन्न हुई जिसका नाम पृथा रखा

---

१. धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे। यह संख्या असम्भव-सी लगती है। परन्तु पाठक इस स्थल को ध्यानपूर्वक पढ़ें। गान्धारी की दस बहिनों का विवाह भी धृतराष्ट्र के साथ एक ही दिन हुआ है। ग्यारह पत्नियों से सौ सन्तानों का उत्पन्न होना असम्भव नहीं है। इन ग्यारह के अतिरिक्त एक वैश्य कन्या से भी इनका विवाह हुआ था।

गान्धारी के पेट-से तूंबी का उत्पन्न होना, उस तूंबी में से छोटे-छोटे बच्चों का निकलना, उन्हें घी के बर्तनों में रखना आदि असम्भव गप्प है जो तर्क की तुला पर खरी नहीं उतरती।

गया। इस भूमण्डल में उसके रूप की तुलना में कोई अन्य कुमारी नहीं थी।

पितृष्वस्रीयाय स तामनपत्याय भारत।
अग्र्यमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यं स सत्यवाक् ॥२॥

हे भारत! सत्यवादी शूरसेन ने अपने फुफेरे भाई सन्तानहीन कुन्तिभोज से पहले ही यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि मैं तुम्हें अपनी प्रथम सन्तान भेंट कर दूंगा।

अग्रजामथ तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकांक्षिणे।
प्रददौ कुन्तिभोजाय सखा सख्ये महात्मने ॥३॥

उन्हें पहले कन्या ही उत्पन्न हुई, अतः कृपाकांक्षी महात्मा सखा राजा कुन्तिभोज को उनके मित्र शूरसेन ने वह कन्या दे दी।

सत्त्वरूपगुणोपेता धर्मारामा महाव्रता।
दुहिता कुन्तिभोजस्य पृथा पृथुललोचना ॥४॥

हे जनमेजय! महाराज कुन्तिभोज की वह पुत्री विशाल नेत्रोंवाली पृथा धर्म, सुन्दर रूप तथा उत्तम गुणों से सम्पन्न थी। वह एकमात्र धर्म में ही रत रहनेवाली तथा महान् व्रतों का पालन करनेवाली थी।

तां तु तेजस्विनीं कन्यां रूपयौवनशालिनम्।
व्यवृण्वन् पार्थिवाः केचिदतीव स्त्रीगुणैर्युताम् ॥५॥

स्त्रीजनोचित्त सर्वोत्तम गुण प्रभूत मात्रा में प्रकट होकर उस कन्या की शोभा बढ़ा रहे थे, फलतः सुन्दर रूप और युवावस्था से सुशोभित उस तेजस्विनी राजकन्या के लिए कई राजाओं ने महाराज कुन्तिभोज से याचना की।

ततः सा कुन्तिभोजेन राज्ञाऽऽहूय नराधिपान्।
पित्रा स्वयंवरे दत्ता दुहिता राजसत्तम ॥६॥

राजेन्द्र! तब कन्या के पिता कुन्तिभोज ने उन सब राजाओं को बुलाकर अपनी पुत्री पृथा को स्वयंवर में उपस्थित किया।

ततः सा रङ्गमध्यस्थं तेषां राज्ञां मनस्विनी।
ददर्श राजशार्दूलं पाण्डुं भरतसत्तमम् ॥७॥

उस स्वयंवर में मनस्विनी कुन्ती ने सब राजाओं के बीच में रङ्गमञ्च पर बैठे हुए भरतवंशशिरोमणि नृपश्रेष्ठ पाण्डु को देखा।

सिंहदर्पं महोरस्कं वृषभाक्षं महाबलम्।
आदित्यमिव सर्वेषां राज्ञां प्रच्छाद्य वै प्रभाः ॥८॥

उनमें सिंह के समान बल-दर्प जाग रहा था। उनकी छाती बहुत चौड़ी थी। उनके नेत्र बैल की आँखों के समान बड़े-बड़े थे। वे महाबली थे। वे सब राजाओं की प्रभा को अपने तेज से आच्छादित करके सूर्य की भाँति प्रदीप्त हो रहे थे।

तं दृष्ट्वा सानवद्याङ्गी कुन्तिभोजसुता शुभा।
पाण्डुं नरवरं रङ्गे हृदयेनाकुलाभवत् ॥९॥

निर्दोष अङ्गोंवाली कुन्तिभोजकुमारी शुभलक्षणा कुन्ती स्वयंवर की रङ्गभूमि में नरश्रेष्ठ पाण्डु को देख कर मन-ही-मन उन्हें पाने के लिए व्याकुल हो उठी।

व्रीडमाना स्रजं कुन्ती राज्ञः स्कन्धे समासजत्।
ततस्तस्याः पिता राजन् विवाहमकरोत् प्रभुः ॥१०

फिर कुन्ती ने लजाते-लजाते राजा पाण्डु के गले में जयमाला डाल दी। तब उसके पिता कुन्तिभोज ने [शास्त्रविधि के अनुसार पाण्डु के साथ] कुन्ती का विवाह कर दिया।

कृत्वोद्वाहं तदा तं तु नानावसुभिरर्चितम्।
स्वपुरं प्रेषयामास स राजा कुरुसत्तम ॥११॥

हे राजेन्द्र! महाराज कुन्तिभोज ने विवाह-संस्कार सम्पन्न करके उस समय उन्हें नाना प्रकार के धन और रत्नों से सम्मानित किया। फिर पाण्डु को उनकी राजधानी में भेज दिया।

सम्प्राप्य नगरं राजा पाण्डुः कौरवनन्दनः।
न्यवेशयत तां भार्यां कुन्तीं स्वभवने प्रभुः ॥१२॥

हस्तिनापुर में पहुँचकर शक्तिशाली कौरवनन्दन राजा पाण्डु ने अपनी प्रिय पत्नी कुन्ती को राजमहल में पहुँचा दिया।

ततः शान्तनवो भीष्मो राज्ञः पाण्डोर्यशस्विनः।
विवाहस्यापरस्यार्थे चकार मतिमान् मतिम् ॥१३॥

तत्पश्चात् शान्तनुनन्दन परम बुद्धिमान् भीष्मजी ने यशस्वी राजा पाण्डु के द्वितीय विवाह के लिए विचार किया।

सोऽमात्यैः स्थविरैः सार्धं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
बलेन चतुरङ्गेण ययौ मद्रपतेः पुरम् ॥१४॥

वे वृद्ध मन्त्रियों, ब्राह्मणों, महर्षियों और चतु-

रङ्गिणी [रथ, हाथी, घोड़े और पैदल] सेना के साथ मद्रराज की राजधानी में गये।

तमागतमभिश्रुत्य भीष्मं वाहीकपुङ्गवः।
प्रत्युद्गम्यार्चयित्वा च पुरं प्रावेशयन्नृपः ॥१५॥

वाहीकशिरोमणि राजा शल्य भीष्मजी का आगमन सुनकर उनकी अगवानी के लिए नगर से बाहर आये तथा उनका यथोचित स्वागत-सत्कार करके उन्हें राजधानी में ले गये।

दत्त्वा तस्यासनं शुभ्रं पाद्यमर्घ्यं तथैव च।
मधुपर्कं च मद्रेशः पप्रच्छागमनेऽर्थिताम् ॥१६॥

वहाँ उनके लिए सुन्दर आसन, पाद्य, अर्घ्य तथा मधुपर्क अर्पित करके मद्रराज शल्य ने भीष्मजी से उनके आने का प्रयोजन पूछा।

तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं कुरूद्वहः।
आगतं मां विजानीहि कन्यार्थिनमरिन्दम ॥१७॥

तब कुरुकुल का भार वहन करनेवाले भीष्मजी ने मद्रराज से इस प्रकार कहा—"शत्रुदमन ! तुम मुझे कन्या के लिए आया हुआ समझो।"

श्रूयते भवतः साध्वी स्वसा माद्री यशस्विनी।
तामहं वरयिष्यामि पाण्डोरर्थे यशस्विनीम् ॥१८॥

सुना है, तुम्हारी माद्री नामवाली एक यशस्विनी बहिन है, जो बड़े साधु स्वभाव की है। मैं उस यशस्विनी माद्री का अपने पाण्डु के लिए वरण करता हूँ।

तमेवंवादिनं भीष्मं शल्यः सम्प्रीतमानसः।
ददौ तां समलंकृत्य स्वसारं कौरवर्षभ ॥१९॥

भीष्म के ऐसा कहने पर शल्य का चित्त प्रसन्न हो गया। उन्होंने अपनी बहिन को वस्त्राभूषणों से समलंकृत करके राजा पाण्डु के लिए कुरुश्रेष्ठ भीष्मजी को सौंप दिया।

स तां माद्रीमुपादाय प्रविष्टो गजसाह्वयम्।
जग्राह विधिवत् पाणिं माद्रयाः पाण्डुर्नराधिपः ॥२०

भीष्मजी माद्री को लेकर हस्तिनापुर में आये। वहाँ पहुँचने पर राजा पाण्डु ने माद्री का विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया।

स ताभ्यां व्यहरत् सार्धं भार्याभ्यां राजसत्तमः।
कुन्त्या माद्रया च राजेन्द्रो यथाकामं यथासुखम् ॥२१

राजाओं में श्रेष्ठ महाराज पाण्डु अपनी दोनों पत्नियों—कुन्ती और माद्री—के साथ आनन्दपूर्वक यथेष्ट विहार करने लगे।

ततः स कौरवो राजा विहृत्य त्रिदशा निशाः।
जिगीषया महीं पाण्डुर्निरक्रामत् पुरात् प्रभो ॥२२

हे जनमेजय ! कुरुवंशी राजा पाण्डु तीस रात्रियों तक विहार करके समस्त भूमण्डल पर विजय प्राप्त करने की इच्छा लेकर राजधानी से बाहर निकले।

स राजा देवगर्भाभो विजिगीषुर्वसुन्धराम्।
हृष्टपुष्टबलैः प्रायात् पाण्डुः शत्रूननेकशः ॥२३॥

राजा पाण्डु देवकुमार के समान तेजस्वी थे। उन्होंने इस भूमण्डल पर विजय पाने की इच्छा से हृष्ट-पुष्ट सैनिकों के साथ अनेक शत्रुओं पर आक्रमण किया।

तं कृताञ्जलयः सर्वे प्रणता वसुधाधिपाः।
उपाजग्मुर्धनं गृह्य रत्नानि विविधानि च ॥२४॥

भूमण्डल के समस्त राजाओं ने उनके सामने हाथ जोड़कर मस्तक झुका दिये तथा अनेक प्रकार के रत्न एवं धन लेकर उनके पास आये।

तेन ते निर्जिताः सर्वे पृथिव्यां शूरपार्थिवाः।
तमेकं मेनिरे शूरं देवेष्विव पुरन्दरम् ॥२५॥

पाण्डु के द्वारा परास्त हुए सभी शूरवीर नरेश देवताओं में इन्द्र की भाँति इस पृथिवी पर सब मनुष्यों में एकमात्र उन्हीं को अद्वितीय शूरवीर मानने लगे।

तदादाय ययौ पाण्डुः पुनर्मुदितवाहनः।
हर्षयिष्यन् स्वराष्ट्राणि पुरं च गजसाह्वयम् ॥२६॥

उधर उन सब रत्नों और उस धन को लेकर महारजा पाण्डु अपने राष्ट्र के लोगों का हर्ष बढ़ाते हुए पुनः हस्तिनापुर की ओर चले आये। उस समय उनकी सवारी के अश्व आदि भी बहुत प्रसन्न थे।

शान्तनो राजसिंहस्य भरतस्य च धीमतः।
प्रणष्टः कीर्तिजः शब्दः पाण्डुना पुनराहृतः ॥२७॥

भूपालों में सिंह के समान पराक्रमी शान्तनु तथा परम बुद्धिमान् भरत की कीर्ति-कथा, जो नष्ट-सी हो गई थी, उसे महाराज पाण्डु ने पुनर्जीवित कर दिया।

ये पुरा कुरुराष्ट्राणि जहरुः कुरुधनानि च।
ते नागपुरसिंहेन पाण्डुना करदीकृताः ॥२८॥

जिन राजाओं ने पहले कुरुदेश के धन तथा कुरुराष्ट्र का अपहरण किया था, उनको हस्तिनापुर के सिंह पाण्डु ने अपना करद बना लिया।

तस्य वीरस्य विक्रान्तैः सहस्रशतदक्षिणैः।
अश्वमेधशतैरीजे धृतराष्ट्रो महामखैः ॥२९॥

वीरवर पाण्डु के पराक्रम से धृतराष्ट्र ने बड़े-बड़े सौ अश्वमेध यज्ञ किये तथा प्रत्येक यज्ञ में एक-एक लाख स्वर्णमुद्राओं की दक्षिणा दी।

अथ पारशवीं कन्यां देवकस्य महीपतेः।
रूपयौवनसम्पन्नां स शुश्रावापगासुतः ॥३०॥

एक समय गङ्गानन्दन भीष्म ने सुना कि राजा देवक के यहाँ एक कन्या है, जो शूद्रजातीय स्त्री के गर्भ से एक ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न की गई है। वह मनोहर रूप और युवावस्था से सम्पन्न है।

ततस्तु वरयित्वा तामानीय भरतर्षभः।
विवाहं कारयामास विदुरस्य महामतेः ॥३१॥

तब भरतकुलतिलक भीष्म ने उसका वरण किया और उसे अपने यहाँ लाकर उसके साथ परम बुद्धिमान् विदुरजी का विवाह कर दिया।

तस्यां चोत्पादयामास विदुरः कुरुनन्दनः।
पुत्रान् विनयसम्पन्नानात्मनः सदृशान् गुणैः ॥३२॥

कुरुनन्दन विदुर ने उसके गर्भ से अपने ही समान गुणवान् और विनयशील अनेक पुत्र उत्पन्न किये।

इति महाभारते आदिपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥

दशमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र के पुत्रों का जन्म

वैशम्पायन उवाच

ततः पुत्रशतं जज्ञे धृतराष्ट्रस्य पार्थिव।
महारथानां वीराणां कन्या चैका शताधिका ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महाराज धृतराष्ट्र की दस स्त्रियाँ थीं। उनसे धृतराष्ट्र के एक सौ वीर महारथी पुत्र उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् एक कन्या हुई जो सौ पुत्रों के अतिरिक्त थी।

धृतराष्ट्रस्य वैश्यायामेकश्चापि शतात् परः।
जन्मतस्तु प्रमाणेन ज्येष्ठो राजा युधिष्ठिरः ॥२॥

दस क्षत्राणी पत्नियों के अतिरिक्त धृतराष्ट्र की एक पत्नी वैश्य जाति की कन्या थी। उससे भी एक पुत्र का जन्म हुआ [इसका नाम युयुत्सु था]। यह पूर्वोक्त सौ पुत्रों से अतिरिक्त था। जन्मकाल के प्रमाण से राजा युधिष्ठिर सबसे बड़े थे।

स जातमात्र एवाथ धृतराष्ट्रसुतो नृप।
रासभारावसदृशं रुराव च ननाद च ॥३॥

राजन्! धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन जन्म लेते ही गधे के रेंकने की-सी आवाज में रोने-चिल्लाने लगा। [उस समय—]

विदुर उवाच

राजन् कुलान्तकरणो भवितैष सुतस्तव।
त्यजैनमेकं शान्ति चेत् कुलस्येच्छसि भारत ॥४॥

विदुर ने कहा—राजन्! आपका यह पुत्र समस्त कुल का नाश करनेवाला होगा। भारत! यदि आप अपने कुल का कल्याण चाहते हैं तो इस एक पुत्र को त्याग दें।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। □
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥५॥

नीति का वचन है कि सम्पूर्ण कुल के हित के लिए एक व्यक्ति को त्याग दे, गाँव के हित के लिए एक कुल को छोड़ दे, देश के कल्याण के लिए एक गाँव का परित्याग कर दे और आत्मा के कल्याण के लिए सम्पूर्ण भूमण्डल को भी त्याग दे।

न चकार तथा राजा पुत्रस्नेहसमन्वितः ॥६॥

परन्तु पुत्रस्नेह के बन्धन में बँधे हुए राजा धृतराष्ट्र ने वैसा नहीं किया।

जनमेजय उवाच

ज्येष्ठानुज्येष्ठतां तेषां नामानि च पृथक् पृथक् ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामानुपूर्व्यात् प्रकीर्तय ॥७॥

जनमेजय ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! धृतराष्ट्र के पुत्रों में सबसे बड़ा कौन था ? फिर उससे छोटा और उससे भी छोटा कौन था ? उन सबके अलग-अलग नाम क्या थे ? सब बातों का क्रमशः वर्णन कीजिए।

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजन् दुःशासनस्तथा ।
दुःसहो दुःशलश्चैव जलसन्धः समः सहः ॥८॥
विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः ।
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च ॥९॥
विविंशतिर्विकर्णश्च शलः सत्त्वः सुलोचनः ।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुचित्रः शरासनः ॥१०॥
दुर्मदो दुर्विगाहश्च विवित्सुर्विकटाननः ।
ऊर्णनाभः सुनाभश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ॥११॥
चित्रबाणश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विरोचनः ।
अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्राङ्गश्चित्रकुण्डलः ॥१२॥
भीमवेगो भीमबलो बलाकी बलवर्धनः ।
उग्रायुधः सुषेणश्च कुण्डोदरमहोदरौ ॥१३॥
चित्रायुधो निषङ्गी च पाशी वृन्दारकस्तथा ।
दृढवर्मा दृढक्षत्रः सोमकीर्तिरनूदरः ॥१४॥
दृढसन्धो जरासन्धः सत्यसन्धः सदःसुवाक् ।
उग्रश्रवा उग्रसेनः सेनानीर्दुष्पराजयः ॥१५॥
अपराजितः पण्डितको विशालाक्षो दुराधरः ।
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ ॥१६॥
आदित्यकेतुर्बह्वाशी नागदत्तोऽग्रयाय्यपि ।
कवची क्रथनः दण्डी दण्डधारो धनुर्ग्रहः ॥१७॥
उग्रभीमरथौ वीरौ वीरबाहुरलोलुपः ।
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथाश्रयः ॥१८॥
अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी चित्रकुण्डलः ।
प्रमथश्च प्रमाथी च दीर्घरोमश्च वीर्यवान् ॥१९॥
दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरुः कनकध्वजः ।
कुण्डाशी विरजाश्चैव दुःशला च शताधिका ॥२०॥

वैशम्पायनजी बोले—[जनमेजय ! धृतराष्ट्र के पुत्रों के नाम क्रमशः ये हैं—] १. दुर्योधन, २. युयुत्सु, ३. दुश्शासन, ४. दुस्सह, ५. दुश्शल, ६. जलसन्ध, ७. सम, ८. सह, ९. विन्द, १०. अनुविन्द, ११. दुर्धर्ष, १२. सुबाहु, १३. दुष्प्रधर्षण, १४. दुर्मर्षण, १५. दुर्मुख, १६. दुष्कर्ण, १७. कर्ण, १८. विविंशति, १९. विकर्ण, २०. शल, २१. सत्त्व, २२. सुलोचन, २३. चित्र, २४. उपचित्र, २५. चित्राक्ष, २६. चारुचित्र शरासन, २७. दुर्मद, २८. दुर्विगाह, २९. विवित्सु, ३०. विकटानन, ३१. ऊर्णनाभ, ३२. सुनाम, ३३. नन्द, ३४. उपनन्द, ३५. चित्रबाण, ३६. चित्रवर्मा, ३७. सुवर्मा, ३८. दुर्विरोचन, ३९. अयोबाहु, ४०. महाबाहु चित्राङ्ग, ४१. चित्रकुण्डल, ४२. भीमवेग, ४३. भीमबल, ४४. बलाकी, ४५. बलवर्धन, ४६. उग्रायुध, ४७. सुषेण, ४८. कुण्डोदर, ४९. महोदर, ५०. चित्रायुध, ५१. निषङ्गी, ५२. पाशी, ५३. वृन्दारक, ५४. दृढवर्मा, ५५. दृढक्षत्र, ५६. सोमकीर्ति, ५७. अनूदर, ५८. दृढसन्ध, ५९. जरासन्ध, ६०. सत्यसन्ध ६१. सदःसुवाक्, ६२. उग्रश्रवा, ६३. उग्रसेन, ६४. सेनानी, ६५. दुष्पराजय, ६६. अपराजित ६७. पण्डितक, ६८. विशालाक्ष, ६९. दुराधर, ७०. दृढहस्त, ७१. सुहस्त, ७२. वातवेग, ७३. सुवर्चा, ७४. आदित्यकेतु, ७५. बह्वाशी, ७६. नागदत्त, ७७. अग्रयायी, ७८. कवची, ७९. क्रथन, ८०. दण्डी, ८१. दण्डधार, ८२, धनुर्ग्रह, ८३. उग्र, ८४. भीमरथ, ८५. वीरबाहु, ८६. अलोलुप, ८७. अभय, ८८. रौद्रकर्मा, ८९. दृढरथाश्रय, ९०. अनाधृष्य, ९१. कुण्डभेदी, ९२. विरावी, ९३. विचित्र कुण्डलों से सुशोभित प्रमथ, ९४. प्रमाथी, ९५. शक्तिशाली दीर्घरोमा, ९६. दीर्घबाहु, ९७. महाबाहु व्यूढोरु, ९८. कनकध्वज, ९९. कुण्डाशी तथा १००. विरजा—धृतराष्ट्र के ये सौ पुत्र थे। इनके अतिरिक्त दुःशला नाम की एक कन्या थी, जो सौ पुत्रों से अतिरिक्त थी।

सर्वे त्वतिरथाः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः ।
सर्वे वेदविदश्चैव सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः ॥२१॥

ये सभी अतिरथी शूरवीर थे। इन सबने युद्धविद्या में निपुणता प्राप्त कर ली थी। ये सभी वेदों के विद्वान् तथा सम्पूर्ण अस्त्रविद्या के मर्मज्ञ थे।

सर्वेषामनुरूपाश्च कृता दारा महीपते ।
धृतराष्ट्रेण समये परीक्ष्य विधिवन्नृप ॥२२॥

दुःशलां चापि समये धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
जयद्रथाय प्रददौ विधिना भरतर्षभ ॥२३॥

जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्र ने समय पर भली-भाँति जाँच-पड़ताल करके अपने सभी पुत्रों का उनके योग्य कुमारियों के साथ विवाह कर दिया। भरत-श्रेष्ठ ! महाराज धृतराष्ट्र ने विवाह के योग्य समय आने पर अपनी पुत्री दुःशला का भी राजा जयद्रथ के साथ विधिपूर्वक विवाह रचाया।

इति महाभारते आदिपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डवों का जन्म

वैशम्पायन उवाच

सम्प्रयुक्तस्तु कुन्त्या च माद्र्या च भरतर्षभ ।
जिततन्द्रस्तदा पाण्डुर्बभूव वनगोचरः ॥१॥
हित्वा प्रासादनिलयं शुभानि शयनानि च ।
अरण्यनित्यः सततं बभूव मृगयापरः ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! राजा पाण्डु ने आलस्य को जीत लिया था। वे कुन्ती और माद्री की प्रेरणा से राजमहलों का निवास तथा सुन्दर शय्याएँ छोड़कर वन में रहने लगे। पाण्डु सदा वन में रहकर शिकार खेला करते थे।

सोऽब्रवीद् विजने कुन्तीं धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ।
अपत्योत्पादने यत्नमापदि त्वं समर्थय ॥३॥

एक दिन वे यशस्विनी धर्मपत्नी कुन्ती से एकान्त में इस प्रकार बोले—"हे देवि ! यह हमारे लिए आपत्ति-काल है, इस समय सन्तानोत्पत्ति के लिए जो आवश्यक प्रयत्न हो, उसका तुम समर्थन करो।

मन्नियोगात् सुकेशान्ते द्विजातेस्तपसाधिकात् ।
पुत्रान् गुणसमायुक्तानुत्पादयितुमर्हसि ॥४॥

"हे सुन्दर केशोंवाली प्रिये ! तुम मेरे आदेश से तपस्या में बढ़े-चढ़े किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण के साथ समागम करके गुणवान् पुत्र उत्पन्न करो।

अद्यैव त्वं वरारोहे प्रयतस्व यथाविधि ।
धर्ममावाहय शुभे स हि लोकेषु पुण्यभाक् ॥५॥

"वरारोहे ! तुम आज ही विधिपूर्वक इसके लिए प्रयत्न करो। शुभे ! तुम सबसे पहले धर्म का आवाहन करो, क्योंकि वे ही सम्पूर्ण लोकों में धर्मात्मा हैं।"

सा तथोक्ता तथेत्युक्त्वा तेन भर्त्रा वराङ्गना ।
अभिवाद्याभ्यनुज्ञाता प्रदक्षिणमवर्तत ॥६॥

हे राजन् ! अपने पतिदेव पाण्डु के ऐसा कहने पर नारियों में श्रेष्ठ कुन्ती ने 'तथास्तु' कहकर उन्हें प्रणाम किया और आज्ञा लेकर उनकी परिक्रमा की।

संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण ह ।
लेभे पुत्रं वरारोहा सर्वप्राणभृतां हितम् ॥७॥

तत्पश्चात् योगमूर्ति धारण किये हुए धर्म के साथ समागम करके सुन्दराङ्गी कुन्ती ने एक ऐसा पुत्र प्राप्त किया जो समस्त प्राणियों का हित करनेवाला था।

धार्मिकं तं सुतं लब्ध्वा पाण्डुस्तां पुनरब्रवीत् ।
प्राहुः क्षत्रं बलज्येष्ठं बलज्येष्ठं सुतं वृणु ॥८॥

उस धर्मात्मा पुत्र [युधिष्ठिर] को पाकर राजा पाण्डु ने पुनः कुन्ती से कहा—"हे प्रिये ! क्षत्रिय को बल से ही बड़ा कहा गया है, अतः तुम एक ऐसा पुत्र प्राप्त करो, जो बल में सबसे श्रेष्ठ हो।

ततस्तथोक्ता भर्त्रा तु वायुमेवाजुहाव सा ।
तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ॥९॥

पतिदेव के इस प्रकार कहने पर कुन्ती ने वायु-देव का आवाहन किया। वायुदेव से संसर्ग करने पर महापराक्रमी महाबाहु भीम का जन्म हुआ।

इदमत्यद्भुतं चासीज्जातमात्रे वृकोदरे ।
यदङ्कात् पतितो मातुः शिलां गात्रैर्व्यचूर्णयत् ॥१०॥

भीमसेन के जन्म लेते ही एक अद्भुत घटना यह हुई कि अपनी माता की गोद से गिरने पर उन्होंने अपने अङ्गों से एक शिला को चूर-चूर कर दिया।

यस्मिन्नहनि भीमस्तु जज्ञे भरतसत्तम ।
दुर्योधनोऽपि तत्रैव प्रजज्ञे वसुधाधिप ॥११॥

हे भरतश्रेष्ठ भूपाल ! जिस दिन भीमसेन का

जन्म हुआ था, उसी दिन हस्तिनापुर में दुर्योधन का भी जन्म हुआ था।

जाते वृकोदरे पाण्डुः कुन्तीमाह महाबलः।
पुत्रं जनय सुश्रोणि धाम क्षत्रियतेजसाम् ॥१२॥

भीमसेन के उत्पन्न होने पर महाबली पाण्डु ने कुन्ती से कहा—"सुश्रोणि ! अब तुम एक ऐसे पुत्र को जन्म दो, जो क्षत्रियोचित तेज का भण्डार हो।"

एवमुक्ता ततः शक्रमाजुहाव यशस्विनी।
अथाजगाम देवेन्द्रो जनयामास चार्जुनम् ॥१३॥

महाराजा पाण्डु के ऐसा कहने पर यशस्विनी कुन्ती ने इन्द्र का आवाहन किया। तब देवराज इन्द्र आये तथा उन्होंने अर्जुन को उत्पन्न किया।

कुन्तीपुत्रेषु जातेषु धृतराष्टात्मजेषु च।
मद्रराजसुता पाण्डुं रहो वचनमब्रवीत् ॥१४॥

जनमेजय ! जब कुन्ती के तीन पुत्र उत्पन्न हो गये तथा धृतराष्ट्र के भी सौ पुत्र हो गये, तब माद्री ने पाण्डु से एकान्त में कहा—

यदि त्वपत्यसन्तानं कुन्तिराजसुता मयि।
कुर्यादनुग्रहो मे स्यात् तव चापि हितं भवेत् ॥१५॥

"यदि कुन्ती देवी मेरे गर्भ से भी कोई सन्तान उत्पन्न करा सकें, तो यह उनका मेरे ऊपर महान् अनुग्रह होगा तथा इससे आपका भी हित होगा।

संरम्भो हि सपत्नीत्वाद् वक्तुं कुन्तिसुतां प्रति।
यदि तु त्वं प्रसन्नो मे स्वयमेनां प्रचोदय ॥१६॥

"सौत होने के नाते मेरे मन में एक अभिमान है जो कुन्ती देवी से निवेदन करने में बाधक हो रहा है, अतः यदि आप मुझपर प्रसन्न हों तो आप स्वयं ही कुन्ती देवी को प्रेरित कीजिए।"

पाण्डुरुवाच

ममाप्येष सदा माद्रि हृद्यर्थः परिवर्तते।
न तु त्वां प्रसहे वक्तुमिष्टानिष्टविवक्षया ॥१७॥

पाण्डु बोले—माद्रि ! यह बात मेरे मन में भी निरन्तर घूमती रहती थी, परन्तु इस विषय में तुमसे कुछ कहने का साहस नहीं होता था, क्योंकि पता नहीं, तुम इस प्रस्ताव को सुनकर प्रसन्न होओगी वा बुरा मनोगी, यह सन्देह निरन्तर बना रहता था।

तव त्विदं मतं मत्वा प्रयतिष्याम्यतः परम्।
मन्ये ध्रुवं मयोक्ता सा वचनं प्रतिपत्स्यते ॥१८॥

परन्तु आज इस विषय में तुम्हारी सम्मति जानकर अब मैं इसके लिए प्रयत्न करूँगा। मुझे विश्वास है, मेरे कहने पर कुन्ती देवी निश्चय ही मेरी बात मान लेंगी।

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्तीं पुनः पाण्डुर्विविक्त इदमब्रवीत्।
मत्प्रियार्थं च कल्याणि कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥१९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! एक दिन राजा पाण्डु ने कुन्ती से यह बात कही—'कल्याणि ! मेरा प्रिय करने के लिए तुम एक और परमोत्तम कल्याणमय कार्य करो।

सा त्वं माद्रीं प्लवेनैव तारयैनामनिन्दिते।
अपत्यसंविभागेन परां कीर्तिमवाप्नुहि ॥२०॥

"अनिन्दिते ! तुम अपनी ही भाँति इस माद्री को भी नौका पर बिठाकर पार लगा दो, इसे भी सन्तति प्रदान कर उत्तम यश प्राप्त करो।"

एवमुक्ताब्रवीन्माद्रीं सकृच्चिन्तय दैवतम्।
तस्मात्ते भवितापत्यमनुरूपमसंशयम् ॥२१॥

हे जनमेजय ! महाराज पाण्डु के ऐसा कहने पर कुन्ती ने माद्री से कहा—"तुम एक बार किसी दिव्य पुरुष का चिन्तन करो, उससे तुम्हें निश्चय ही योग्य सन्तान की प्राप्ति होगी।"

ततो माद्री विचार्यैवं जगाम मनसाश्विनौ।
तावागम्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ ॥२२॥

तब माद्री ने मन-ही-मन कुछ विचार करके अश्विनीकुमारों[1] का स्मरण किया। तब उन महात्मा

---

१. संस्कृत भाषा की अपनी विशेषताएँ हैं। संस्कृत में सभी शब्दों के लिङ्ग और वचन निश्चित हैं। कुछ शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हुए भी पुल्लिग अथवा नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं—जैसे दाराः और कलत्रम्। इनके वचन भी निश्चित हैं—जैसे 'दाराः' शब्द एक स्त्री का वाचक होने पर भी सदा बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है। 'राम की पत्नी सीता को देखो' इस वाक्य का संस्कृत अनुवाद होगा 'रामस्य दारान् सीतां पश्य'।

संस्कृत में **'अश्विनौ'** सदा द्विवचन में प्रयुक्त होगा, न एकवचन में और न बहुवचन में। एक साथ दो पुरुषों से नियोग होना सम्भव नहीं। माद्री को एक ही पुरुष के साथ नियोग से जुड़वाँ पुत्र प्राप्त हुए थे।

ने आकर माद्री के गर्भ से दो जुड़वाँ पुत्र उत्पन्न किये।

नामानि चक्रिरे तेषां शतशृङ्गनिवासिनः।
भक्त्या च कर्मणा चैव तथाशीर्भिर्विशाम्पते ॥२३॥

तत्पश्चात् शतशृङ्गनिवासी ऋषियों ने उन सब-के नामकरण-संस्कार किये। उन्हें आशीर्वाद देते हुए उनकी भक्ति और कर्म के अनुसार उनके नाम रखे।

ज्येष्ठं युधिष्ठिरेत्येवं भीमसेनेति मध्यमम्।
अर्जुनेति तृतीयं च कुन्तीपुत्रानकल्पयन् ॥२४॥

कुन्ती के ज्येष्ठ पुत्र का नाम युधिष्ठिर, मँझले का नाम भीमसेन तथा तीसरे का नाम अर्जुन रखा गया।

पूर्वजं नकुलेत्येवं सहदेवेति चापरम्।
माद्रीपुत्रावकथयंस्ते विप्राः प्रीतमानसाः ॥२५॥

उन प्रसन्नचित्त ब्राह्मणों ने माद्री-पुत्रों में से जो पहले उत्पन्न हुआ, उसका नाम नकुल तथा दूसरे का नाम सहदेव निश्चित किया।

पाण्डुर्दृष्ट्वा सुतांस्तांस्तु देवरूपान् महौजसः।
मुदं परमिकां लेभे ननन्द च नराधिपः ॥२६॥

उन देवस्वरूप महान् तेजस्वी पुत्रों को देखकर महाराज पाण्डु को बड़ी प्रसन्नता हुई। वे आनन्द में मग्न हो गये।

सिंहदर्पा महेष्वासाः सिंहविक्रान्तगामिनः।
सिंहग्रीवा मनुष्येन्द्रा ववृधुर्देवविक्रमाः ॥२७॥

उन बालकों का बल-दर्प सिंह के समान था, वे बड़े-बड़े धनुष धारण करते थे। उनकी चाल-ढाल भी सिंह के ही समान थी। देवताओं के समान पराक्रमी तथा सिंह की-सी गर्दनवाले वे नरश्रेष्ठ चन्द्र-किरणों के समान बढ़ने लगे।

ते च पञ्च शतं चैव कुरुवंशविवर्धनाः।
सर्वे ववृधुरल्पेन कालेनाप्स्विव नीरजाः ॥२८॥

जैसे जल में कमल बढ़ते हैं, उस प्रकार कुरुवंश की वृद्धि करनेवाले जो एक सौ पाँच बालक हुए थे, वे सब थोड़े ही समय में बढ़कर सयाने हो गये।

इति महाभारते आदिपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

राजा पाण्डु की मृत्यु, माद्री का उनके साथ चितारोहण, ऋषियों का कुन्ती और पाण्डवों को हस्तिनापुर ले जाकर भीष्म को सौंपना

वैशम्पायन उवाच

सुपुष्पितवने काले कदाचिन्मधुमाधवे।
भूतसम्मोहने पाण्डुः सभार्यो व्यचरद् वनम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—एक दिन की बात है, चैत्र और वैशाख के महीनों की सन्धि के समय में सम्पूर्ण वन अनेक प्रकार के सुन्दर पुष्पों से अलंकृत हो अपनी अनुपम शोभा से समस्त प्राणियों को मोहित कर रहा था, उस समय राजा पाण्डु अपनी छोटी रानी के साथ वन में विचरने लगे।

जलस्थानैश्च विविधैः पद्मिनीभिश्च शोभितम्।
पाण्डोर्वनं तत् सम्प्रेक्ष्य प्रजज्ञे हृदि मन्मथः ॥२॥

नाना प्रकार के जलाशयों तथा कमलों से सुशोभित उस वन की मनोहर छटा देखकर राजा पाण्डु के मन में काम का संचार हो गया।

प्रहृष्टमानसं तत्र विचरन्तं यथामरम्।
तं माद्र्यनुजगामैका वसनं बिभ्रती शुभम् ॥३॥

वे मन में अत्यन्त हर्षित होकर देवता की भाँति वहाँ विचर रहे थे। उस समय माद्री सुन्दर वस्त्र पहिने अकेली उनके पीछे-पीछे जा रही थी।

तत एनां बलाद् राजा निजग्राह रहो गताम्।
वार्यमाणस्तया देव्या विस्फुरन्त्या यथाबलम् ॥४॥

तब एकान्त में मिली हुई माद्री को महाराज पाण्डु ने बलपूर्वक पकड़ लिया। देवी माद्री राजा की पकड़ से छूटने के लिए यथाशक्ति चेष्टा करती हुई उन्हें बार-बार रोक रही थी।

स तया सह संगम्य भार्यया कुरुनन्दनः।
पाण्डुः परमधर्मात्मा युयुजे कालधर्मणा ॥५॥

कुरुकुल को आनन्दित करनेवाले परम धर्मात्मा महाराज पाण्डु इस प्रकार अपनी धर्मपत्नी माद्री से समागम करके काल के ग्रास बन गये।

ततो माद्री समालिङ्ग्य राजानं गतचेतनम् ।
मुमोच दुःखजं शब्दं पुनः पुनरतीव हि ।।६।।

तब माद्री राजा के शव से लिपटकर बार-बार अत्यन्त करुणाजनक शब्दों में विलाप करने लगी।

सह पुत्रैस्ततः कुन्ती माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
आजग्मुः सहितास्तत्र यत्र राजा तथागतः ।।७।।

इतने में ही पुत्रों-सहित कुन्ती और दोनों पाण्डु-नन्दन माद्रीकुमार एक साथ उस स्थान पर आ पहुँचे, जहाँ राजा पाण्डु मृत-अवस्था में पड़े थे।

दृष्ट्वा पाण्डुं च माद्रीं च शयानौ धरणीतले ।
कुन्ती शोकपरीताङ्गी विललाप सुदुःखिता ।।८।।

पाण्डु और माद्री को धरती पर पड़े हुए देख कुन्ती के सम्पूर्ण शरीर में शोकाग्नि व्याप्त हो गई और वह अत्यन्त दुःखी होकर विलाप करने लगी।

कुन्त्युवाच

अन्विष्यामीह भर्तारमहं प्रेतवशं गतम् ।
उत्तिष्ठ त्वं विसृज्यैनमिमान् पालय दारकान् ।।९।।

कुन्ती बोली—मैं मृत्यु के पाश में पड़े हुए अपने स्वामी का अनुगमन करूँगी। अब तुम इन्हें छोड़कर उठो तथा इन बच्चों का पालन करो।

माद्र्युवाच

न चाप्यहं वर्तयन्ती निर्विशेषं सुतेषु ते ।
वृत्तिमार्ये चरिष्यामि स्पृशेदेनस्तथा च माम् ।।१०।।

माद्री ने कहा—आर्ये ! मैं आपके पुत्रों के साथ अपने सगे पुत्रों की भाँति व्यवहार नहीं कर सकूँगी। उस अवस्था में मुझे पाप लगेगा।

तस्मान्मे सुतयोः कुन्ति वर्तितव्यं स्वपुत्रवत् ।
मां च कामयमानोऽयं राजा प्रेतवशं गतः ।।११।।

अतः आप ही जीवित रहकर मेरे पुत्रों का भी अपने पुत्रों के समान ही पालन कीजिएगा। इसके सिवा, ये महाराज मेरी ही कामना रखकर मृत्यु के अधीन हुए हैं।

राज्ञः शरीरेण सह ममापीदं कलेवरम् ।
दग्धव्यं सुप्रतिच्छन्नमेतदार्ये प्रियं कुरु ।।१२।।

मेरे इस शरीर को महाराज के शरीर के साथ ही भली-भाँति ढँककर दग्ध कर दें। आर्ये ! आप मेरा यह प्रिय कार्य करें।

दारकेष्वप्रमत्ता च भवेथाश्च हिता मम ।
अतोऽन्यन्न प्रपश्यामि संदेष्टव्यं हि किञ्चन ।।१३।।

मेरे पुत्रों का हित चाहती हुई आप सावधान रहकर उनका पालन-पोषण करती रहें। इसके सिवा दूसरी कोई बात मुझे आपसे कहने योग्य नहीं जान पड़ती।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं चिताग्निस्थं धर्मपत्नी नरर्षभम् ।
मद्रराजसुता तूर्णमन्वारोहद् यशस्विनी ।।१४।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! कुन्ती से यह कहकर पाण्डु की यशस्विनी धर्मपत्नी माद्री चिता-अग्नि पर रखे हुए अपने पति नरश्रेष्ठ पाण्डु के शव के साथ स्वयं भी चिता पर जा बैठी।[1]

पाण्डुमुपरतं दृष्ट्वा देवकल्पा महर्षयः ।
ततो मन्त्रविदः सर्वे मन्त्रयाञ्चक्रिरे मिथः ।।१५।।

उधर राजा पाण्डु की मृत्यु हुई देख, वहाँ रहने-वाले देवताओं के समान तेजस्वी सभी मन्त्रज्ञ महर्षियों ने आपस में विचार-विमर्श किया।

तापसा ऊचुः

हित्वा राज्यं च राष्ट्रं च स महात्मा महायशाः ।
अस्मिन् स्थाने तपस्तप्त्वा मुनीनां शरणं गतः ।।१६।।

तपस्वी बोले—महान् यशस्वी महात्मा राजा पाण्डु अपना राज्य तथा राष्ट्र छोड़कर इस स्थान पर तपस्या करते हुए तपस्वी मुनियों की शरण में रहते थे।

स जातमात्रान् पुत्रांश्च दारांश्च भवतामिह ।
प्रादायोपनिधिं राजा पाण्डुः स्वर्गमितो गतः ।।१७।।

वे राजा पाण्डु अपनी पत्नी और नवजात पुत्रों को आप लोगों के पास धरोहर रखकर यहाँ से स्वर्ग-लोक चले गये।

तस्येमानात्मजान् देहं भार्यां च सुमहात्मनः ।
स्वराष्ट्रं गृह्य गच्छामो धर्म एष हि नः स्मृतः ।।१८।।

उनके इन पुत्रों को, पाण्डु एवं माद्री के शरीर की अस्थियों को तथा उन महामना नरेश की महारानी

---

१. सती-प्रथा वेद-विरुद्ध है। चारों वेदों में एक भी मन्त्र सती-प्रथा का समर्थक नहीं है।

कुन्ती को लेकर हम लोग उनकी राजधानी में चलें। इस समय हमारे लिए यही धर्म प्रतीत होता है।

वैशम्पायन उवाच

ते परस्परमामन्त्र्य देवकल्पा महर्षयः।
तस्मिन्नेव क्षणे सर्वे तानादाय प्रतस्थिरे ॥१९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन्! इस प्रकार परस्पर विचार-विमर्श करके उन देवतुल्य महर्षियों ने उन सबको [कुन्ती, पाँचों पाण्डवों तथा पाण्डु और माद्री के शरीर की अस्थियों] साथ लेकर उसी क्षण वहाँ से प्रस्थान कर दिया।

द्वारिणं तापसा ऊचू राजानं च प्रकाशय।
ते तु गत्वा क्षणेनैव सभायां विनिवेदिताः ॥२०॥

नगर में पहुँचकर तपस्वी मुनियों ने द्वारपाल से कहा—"राजा को हमारे आने की सूचना दो!" द्वारपाल ने सभा में जाकर क्षणभर में उनके आगमन का समाचार दे दिया।

पूजयित्वा यथान्यायं पाद्येनार्घ्येण च प्रभो।
भीष्मो राज्यं च राष्ट्रं च महर्षिभ्यो न्यवेदयत् ॥२१॥
तेषामथो वृद्धतमः प्रत्युत्थाय जटाजिनी।
ऋषीणां मतमाज्ञाय महर्षिरिदमब्रवीत् ॥२२॥

राजन्! भीष्मजी ने पाद्य-अर्घ्यादि द्वारा उन सब महर्षियों का यथोचित आदर-सत्कार करके उन्हें अपने राज्य तथा राष्ट्र का कुशल-समाचार निवेदन किया। तब उन महर्षियों में जो सबसे अधिक वृद्ध थे, वे जटा और मृगचर्म धारण करनेवाले मुनि अन्य सब ऋषियों की अनुमति लेकर इस प्रकार बोले—

यः स कौरव्यदायाद पाण्डुर्नाम नराधिपः।
कामभोगान् परित्यज्य शतशृङ्गमितो गतः ॥२३॥
वर्तमानः सतां वृत्ते पुत्रलाभमवाप्य च।
पितृलोकं गतः पाण्डुरितः सप्तदशेऽहनि ॥२४॥

"हे कुरुनन्दन भीष्म! जो आपके पुत्र महाराज पाण्डु विषय-भोगों का परित्याग करके यहाँ से शतशृङ्ग पर्वत पर चले गये थे, साधु पुरुषों के आचार-व्यवहार का पालन करते हुए वे ही राजा पाण्डु उत्तम पुत्रों की उपलब्धि करके आज से सत्रह दिन पूर्व स्वर्गवासी हो गये।

तं चितागतमाज्ञाय वैश्वानरमुखे हुतम्।
प्रविष्टा पावकं माद्री हित्वा जीवितमात्मनः ॥२५॥

"जब वे चिता पर सुलाये गये तथा उन्हें अग्नि के मुख में होम दिया गया, उस समय देवी माद्री अपने जीवन का मोह छोड़कर उसी अग्नि में प्रविष्ट हो गईं।

इमे तयोः शरीरे द्वे पुत्राश्चेमे तयोर्वराः।
यथावदनुगृह्णन्तु धर्मो ह्येष सनातनः ॥२६॥

"ये पाण्डु व माद्री दोनों के शरीरों की अस्थियाँ हैं तथा ये उनके श्रेष्ठ पुत्र हैं। आप लोग इन्हें यथोचित रूप से अपनाकर अनुगृहीत करें, क्योंकि यही सनातन धर्म है।"

एवमुक्त्वा कुरून् सर्वान् कुरूणामेव पश्यताम्।
क्षणेनान्तर्हिताः सर्वे तापसा गुह्यकैः सह ॥२७॥

हे जनमेजय! समस्त कौरवों से ऐसी बात कहकर उनके देखते-देखते वे सभी तपस्वी मुनि गुह्यकों (यक्षों) के साथ क्षणभर में वहाँ से अन्तर्धान [आँखों से ओझल] हो गये।

इति महाभारते आदिपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

पाण्डवों तथा धृतराष्ट्र-पुत्रों की बाल-क्रीड़ा, दुर्योधन का भीम को विष खिलाकर जल में धकेलना, भीम का वापस से लौटना

वैशम्पायन उवाच

अवाप्तवन्तो वेदोक्तान् संस्कारान् पाण्डवास्तदा।
संव्यवर्धन्त भोगाँस्ते भुञ्जानाः पितृवेश्मनि ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन्! उस समय पाँचों पाण्डवों के वेदोक्त [वेदारम्भ आदि] संस्कार हुए। वे पिता के घर में नाना प्रकार के भोग भोगते हुए पलने और पुष्ट होने लगे।

धार्तराष्ट्रैश्च सहिताः क्रीडन्तो मुदिताः सुखम् ।
बालक्रीडासु सर्वासु विशिष्टास्तेजसाभवन् ।।२।।

धृतराष्ट्र के पुत्रों के साथ सुखपूर्वक खेलते हुए वे सदा प्रसन्न रहते थे। सब प्रकार की बाल-क्रीड़ाओं में अपने तेज से वे बढ़-चढ़कर सिद्ध होते थे।

जवे लक्ष्याभिहरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे ।
धार्तराष्ट्रान् भीमसेनः सर्वान् स परिमर्दति ।।३।।

दौड़ने में, दूर रखी हुई किसी प्रत्यक्ष वस्तु को सबसे पहले पहुँचकर उठा लेने में, खान-पान में तथा धूल उछालने के खेल में भीमसेन धृतराष्ट्र के सभी पुत्रों का मान-मर्दन कर देते थे।

हर्षात् प्रक्रीडमानांस्तान् गृह्य राजन् निलीयते ।
शिरःसु विनिगृह्यैतान् योधयामास पाण्डवैः ।।४।।

राजन् ! हर्ष से खेल-कूद में लगे हुए कौरवों को पकड़कर भीमसेन कहीं छिप जाते थे और कभी उनके सिर पकड़कर पाण्डवों से लड़ा देते थे।

शतमेकोत्तरं तेषां कुमाराणां महौजसाम् ।
एक एव निगृह्णाति नातिकृच्छ्राद् वृकोदरः ।।५।।

धृतराष्ट्र के एक सौ एक कुमार बड़े बलवान् थे, किन्तु भीमसेन बिना अधिक कष्ट उठाये अकेले ही उन सबको अपने वश में कर लेते थे।

दश बालाञ्जले क्रीडन् भुजाभ्यां परिगृह्य सः ।
आस्ते स्म सलिले मग्नो मृतकल्पान् विमुञ्चति ।।६।।

वे (भीम) जल में क्रीड़ा करते समय अपनी दोनों भुजाओं से धृतराष्ट्र के दस बालकों को पकड़ लेते तथा देर तक पानी में डुबकी लगाये रहते थे। जब वे अधमरे-से हो जाते थे, तब उन्हें छोड़ते थे।

फलानि वृक्षमारुह्य विचिन्वन्ति च ते यदा ।
तदा पादप्रहारेण भीमः कम्पयते द्रुमान् ।।७।।

जब कौरव वृक्ष पर चढ़कर फल तोड़ने लगते, तब भीमसेन पैर से ठोकर मारकर उन वृक्षों को हिला देते थे।

प्रहारवेगाभिहता द्रुमा व्याघूर्णितास्ततः ।
सफलाःप्रपतन्ति स्म द्रुतं त्रस्ताः कुमारकाः ।।८।।

उनके वेगपूर्वक प्रहार से आहत हो वे वृक्ष हिलने लगते और उनपर चढ़े हुए धृतराष्ट्र के पुत्र भयभीत हो फलों के सहित नीचे गिर पड़ते थे।

न ते नियुद्धे न जवे न योग्यासु कदाचन ।
कुमारा उत्तरं चक्रुः स्पर्धमाना वृकोदरम् ।।९।।

मल्लयुद्ध [कुश्ती] में, दौड़ लगाने में तथा शिक्षा के अभ्यास में धृतराष्ट्र के पुत्र सदा स्पर्धा करते हुए भी (लाग-डाँट रखते हुए भी) कभी भीमसेन की बराबरी नहीं कर पाते थे।

एवं स धार्तराष्ट्रांश्च स्पर्धमानो वृकोदरः ।
अप्रियेऽतिष्ठदत्यन्तं बाल्यान्न द्रोहचेतसा ।।१०।।

इस प्रकार भीमसेन धृतराष्ट्र-पुत्रों से स्पर्धा रखते हुए उनके अत्यन्त अप्रीतिपात्र बन गये। परन्तु उनके मन में कौरवों के प्रति द्वेष नहीं था, वे केवल बाल-स्वभाव के कारण ही वैसा करते थे।

ततो बलमतिख्यातं धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
भीमसेनस्य तज्ज्ञात्वा दुष्टभावमदर्शयत् ।।११।।

उधर धृतराष्ट्र का प्रतापी पुत्र दुर्योधन यह जानकर कि भीमसेन में अत्यन्त विख्यात बल है, उनके प्रति दुष्टभाव प्रदर्शित करने लगा।

अयं बलवतां श्रेष्ठः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।
मध्यमः पाण्डुपुत्राणां निकृत्या संनिगृह्यताम् ।।१२।।

वह अपने भाइयों के साथ विचार करने लगा कि "यह मध्यम पाण्डुपुत्र कुन्तीनन्दन भीम बलवानों में सबसे बढ़कर है। इसे धोखा देकर बन्दी बना लेना चाहिए।

प्राणवान् विक्रमी चैव शौर्येण महतान्वितः ।
तं तु सुप्तं पुरोद्याने गङ्गायां प्रक्षिपामहे ।।१३।।
अथ तस्मादवरजं श्रेष्ठं चैव युधिष्ठिरम् ।
प्रसह्य बन्धने बद्ध्वा प्रशासिष्ये वसुन्धराम् ।।१४।।

"यह बलवान् और पराक्रमी तो है ही, महान् शौर्य से भी सम्पन्न है, अतः जब यह नगरोद्यान में सो जाए, तब इसे उठाकर हम लोग गङ्गा नदी में फेंक दें। तत्पश्चात् उसके छोटे भाई अर्जुन और बड़े भाई युधिष्ठिर को बलपूर्वक बन्दी बनाकर मैं अकेला ही पृथिवी का शासन करूँगा।"

एवं स निश्चयं कृत्वा पापः दुर्योधनस्तदा ।
नित्यमेवान्तरप्रेक्षी भीमस्यासीन्महात्मनः ।।१५।।

ऐसा निश्चय करके पापी दुर्योधन महात्मा भीम-

सेन का अनिष्ट करने के लिए सदा अवसर ढूँढ़ता रहता था।

ततो जलविहारार्थं कारयामास भारत।
चैलकम्बलवेश्मानि विचित्राणि महान्ति च ॥१६॥

हे जनमेजय ! तदनन्तर दुर्योधन ने गङ्गा-तट पर जल-विहार के लिए ऊनी और सूती कपड़ों के विचित्र एवं विशाल गृह तैयार कराये।

भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च चोष्यं लेह्यमथापि च।
उपपादितं नरैस्तत्र कुशलैः सूदकर्मणि ॥१७॥

वहाँ रसोई के काम में कुशल कितने ही मनुष्यों ने जुटकर खाने-पीने के बहुत-से भक्ष्य, भोज्य, पेय, चोष्य और लेह्य पदार्थ तैयार किये।

न्यवेदयंस्तत् पुरुषा धार्तराष्ट्राय वै तदा।
ततो दुर्योधनस्तत्र पाण्डवानाह दुर्मतिः ॥१८॥

तत्पश्चात् राजपुरुषों ने दुर्योधन को सूचना दी कि—'सब तैयारी पूर्ण हो गई है।' तब दुष्ट-बुद्धि दुर्योधन ने पाण्डवों से कहा—

गङ्गां चैवानुयास्याम उद्यानवनशोभिताम्।
सहिता भ्रातरः सर्वे जलक्रीडामवाप्नुमः ॥१९॥

"आज हम लोग भाँति-भाँति के उद्यान[1] और वनों[2] से सुशोभित गङ्गा के तट पर चलें। वहाँ हम सब भाई एक साथ जल-विहार करेंगे।"

एवमस्त्विति तं चापि प्रत्युवाच युधिष्ठिरः।
निर्ययुर्नगराच्छूराः कौरवाः पाण्डवैः सह ॥२०॥

'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर युधिष्ठिर ने दुर्योधन की बात मान ली। फिर वे सभी शूरवीर कौरव पाण्डवों के साथ नगर से बाहर निकले।

तत्रोपविष्टास्ते सर्वे पाण्डवाः कौरवाश्च ह।
उपपन्नान् बहून् कामांस्ते भुञ्जन्ति ततस्ततः ॥२१॥

वहाँ पहुँचकर समस्त कौरव और पाण्डव यथा-योग्य स्थानों पर बैठ गये और स्वतः प्राप्त हुए नाना प्रकार के भोगों को भोगने लगे।

अथोद्यानवरे तस्मिंस्तथा क्रीडागताश्च ते।
परस्परस्य वक्त्रेभ्यो ददुर्भक्ष्यांस्ततस्ततः ॥२२॥
ततो दुर्योधनः पापस्तद्भक्ष्ये कालकूटकम्।
विषं प्रक्षेपयामास भीमसेनजिघांसया ॥२३॥

उस सुन्दर उद्यान में क्रीड़ा के लिए आये हुए कौरव और पाण्डव एक-दूसरे के मुख में खाने की वस्तुएँ डालने लगे। उस समय पापी दुर्योधन ने भीमसेन को मार डालने की इच्छा से उनके भोजन में कालकूट नामक विष मिला दिया।

स्वयमुत्थाय चैवाथ हृदयेन क्षुरोपमः।
स वाचामृतकल्पश्च भ्रातृवच्च सुहृद् यथा ॥२४॥
स्वयं प्रक्षिपते भक्ष्यं बहु भीमस्य पापकृत्।
प्रतीच्छितं स्म भीमेन तं वै दोषमजानता ॥२५॥
ततो दुर्योधनस्तत्र हृदयेन हसन्निव।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यते पुरुषाधमः ॥२६॥

पापात्मा दुर्योधन का हृदय छुरे के समान तीखा था, परन्तु बातें वह ऐसी करता था, मानो उनसे अमृत झर रहा हो। वह सगे भाई और हितैषी सुहृद् की भाँति स्वयं भीमसेन के लिए अनेक प्रकार के भक्ष्य पदार्थ परोसने लगा। भीमसेन भोजन के दोष से अपरिचित थे, अतः दुर्योधन ने जितना परोसा, वह सब-का-सब खा गये। यह देख नीच दुर्योधन मन-ही-मन हँसता हुआ-सा अपने आपको कृतार्थ मानने लगा।

ततस्ते सहिताः सर्वे जलक्रीडामकुर्वत।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च तदा मुदितमानसाः ॥२७॥

भोजन के पश्चात् पाण्डव तथा धृतराष्ट्र के पुत्र सभी प्रसन्नचित्त हो एक साथ जल-क्रीड़ा करने लगे।

दिवसान्ते परिश्रान्ता विहृत्य च कुरूद्वहाः।
विहारावसथेष्वेव वीरा वासमरोचयन् ॥२८॥
खिन्नस्तु बलवान् भीमो व्यायम्याभ्यधिकं तदा।
प्रमाणकोट्यां वासार्थी सुष्वापावाप्य तत्स्थलम् ॥२९

दिन के अन्त में विहार से थके हुए वे समस्त कौरवश्रेष्ठ वीर उन क्रीड़ाभवनों में ही रात बिताने का विचार करने लगे। बलवान् भीम उस समय अधिक परिश्रम करने के कारण बहुत थक गये थे, अतः विश्राम करने की इच्छा से वे प्रमाणकोटि के एक गृह में आये और वहीं एक स्थान में सो गये।

शीतं वातं समासाद्य श्रान्तो मदविमोहितः।
विषेण च परीताङ्गो निश्चेष्टः पाण्डुनन्दनः ॥३०॥

---

१. उद्यान=फल-प्रधान बाग।

२. वन=पुष्प-प्रधान वाटिका।

पाण्डु-पुत्र भीम थके तो थे ही, विष के मद से भी अचेत हो रहे थे। उनके अङ्ग-अङ्ग में विष का प्रभाव फैल गया था, अतः वहाँ ठण्डी हवा पाकर वे ऐसे सोये कि जड़ के समान निश्चेष्ट प्रतीत होने लगे।

ततो बद्ध्वा लतापाशैर्भीमं दुर्योधनः स्वयम्।
मृतकल्पं तदा वीरं स्थलाज्जलमपातयत्॥३१॥

तब दुर्योधन ने स्वयं वीरवर भीमसेन को लताओं के पाश में कसकर बाँधा। वे मुर्दे के समान हो रहे थे। ऐसी अवस्था में दुर्योधन ने उन्हें गङ्गा के ऊँचे तट से जल में धकेल दिया।

ततस्ते कौरवाः सर्वे विना भीमं च पाण्डवाः।
वृत्तक्रीडाविहारास्तु प्रतस्थुर्गजसाह्वयम्॥३२॥

हे जनमेजय! उधर समस्त कौरव और पाण्डव क्रीड़ा और विहार समाप्त करके भीमसेन के बिना ही हस्तिनापुर की ओर चल पड़े।

रथैर्गजैस्तथा चाश्वैर्यानैश्चान्यैरनेकशः।
ब्रुवन्तो भीमसेनस्तु यातो ह्यग्रत एव नः॥३३॥
ततो दुर्योधनः पापस्तत्रापश्यन् वृकोदरम्।
भ्रातृभिः सहितो हृष्टो नगरं प्रविवेश ह॥३४॥

रथ, हाथी, घोड़े तथा अन्य अनेक प्रकार की सवारियों द्वारा वे वहाँ से चले। भीम को वहाँ न देखकर वे आपस में कह रहे थे कि भीमसेन तो हम लोगों से आगे ही चले गये हैं। पापी दुर्योधन ने भीमसेन को वहाँ न देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो भाइयों के साथ नगर में प्रवेश किया।

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा ह्यविदन् पापमात्मनि।
स्वेनानुमानेन परं साधुं समनुपश्यति॥३५॥

राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा थे, उनके पवित्र हृदय में दुर्योधन के पापपूर्ण विचार का भान तक न हुआ। वे अपने ही अनुमान से दूसरे को भी साधु ही देखते और समझते थे।

सोऽभ्युपेत्य तदा पार्थो मातरं भ्रातृवत्सलः।
अभिवाद्याब्रवीत् कुन्तीमम्ब भीम इहागतः॥३६॥

भाई पर असीम स्नेह रखनेवाले कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर माता के पास पहुँचकर और उन्हें प्रणाम करके बोले—"माँ! भीमसेन यहाँ आया है क्या?"

क्व गतो भविता मातर्नेह पश्यामि तं शुभे।
उद्यानानि वनं चैव विचितानि समन्ततः॥३७॥
तदर्थं न च तं वीरं दृष्टवन्तो वृकोदरम्।
मन्यमानास्ततः सर्वे यातो नः पूर्वमेव सः॥३८॥

"मातः! वह कहाँ गया होगा? शुभे! मैं उसे यहाँ भी नहीं देख रहा हूँ। वहाँ हम लोगों ने भीमसेन के लिए उद्यान और वन का कोना-कोना छान डाला। फिर भी जब हमें वीरवर भीम दिखाई नहीं दिये, तब हमने यही समझा कि वह हम लोगों से पहले चले आये होंगे?

आगताः स्म महाभागे व्याकुलेनान्तरात्मना।
इहागम्य क्व नु गतस्त्वया वा प्रेषितः क्व नु॥३९॥

"महाभागे! हम उसके लिए अत्यन्त व्याकुल हृदय से यहाँ आये हैं। यहाँ आकर वह कहीं चला गया है? अथवा तुमने उसे कहीं भेजा है?

कथयस्व महाबाहुं भीमसेनं यशस्विनि।
न हि मे शुध्यते भावस्तं वीरं प्रति शोभने॥४०॥

"यशस्विनि! महाबाहु भीमसेन का पता बताओ। शोभने! वीर भीमसेन के विषय में मेरा हृदय शंकित हो गया है।"

इत्युक्ता च ततः कुन्ती धर्मराजेन धीमता।
हा-हेति कृत्वा सम्भ्रान्ता प्रत्युवाच युधिष्ठिरम्॥४१

बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर के इस प्रकार पूछने पर कुन्ती देवी 'हाय-हाय' करके घबरा उठीं और युधिष्ठिर से बोलीं—

न पुत्र भीमं पश्यामि न मामभ्येत्यसाविति।
शीघ्रमन्वेषणे यत्नं कुरु तस्यानुजैः सह॥४२॥

"वत्स! मैंने भीम को नहीं देखा है। वह मेरे पास आया ही नहीं। तुम अपने छोटे भाइयों के साथ शीघ्र उसे ढूंढ़ने का प्रयत्न करो।"

इत्युक्त्वा तनयं ज्येष्ठं हृदयेन विदूयता।
क्षत्तारमानाय्य तदा कुन्ती वचनमब्रवीत्॥४३॥

कुन्ती का हृदय पुत्र की चिन्ता से व्यथित हो रहा था, उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर से उपर्युक्त बात कहकर विदुरजी को बुलवाया और उनसे इस प्रकार कहा—

क्व गतो भगवन् क्षत्तर्भीमसेनो न दृश्यते ।
उद्यानान्निर्गताः सर्वे भीमो नाभ्येति मामिह ॥४४॥

"भगवन् ! भीमसेन कहीं दिखाई नहीं देता, वहाँ से कहाँ चला गया ? उद्यान से सब लोग लौट आये, परन्तु भीम अभी तक लौटकर मेरे पास नहीं आया ।

न च प्रणीयते चक्षुः सदा दुर्योधनस्य सः ।
क्रूरोऽसौ दुर्मतिः क्षुद्रो राज्यलुब्धोऽनपत्रपः ॥४५॥

"वह सदा दुर्योधन की आँखों में खटकता रहता है । दुर्योधन क्रूर, दुर्बुद्धि, क्षुद्र, राज्य का लोभी तथा निर्लज्ज है ।

निहन्यादपि तं वीरं जातमन्युः सुयोधनः ।
तेन मे व्याकुलं चित्तं हृदयं दह्यतीव च ॥४६॥

"अतः सम्भव है, वह क्रोध में वीर भीमसेन को धोखा देकर मार भी डाले । इसी चिन्ता से मेरा चित्त व्याकुल हो उठा है और हृदय दग्ध-सा हो रहा है ।"

विदुर उवाच

मैवं वदस्व कल्याणि शेषसंरक्षणं कुरु ।
प्रत्यादिष्टो हि दुष्टात्मा शेषेऽपि प्रहरेत् तव ॥४७॥

विदुरजी बोले—कल्याणि ! ऐसी बात मुंह से न निकालो । अपने शेष पुत्रों की रक्षा करो । यदि दुर्योधन को उलाहना देकर इस विषय में पूछ-ताछ की जाएगी तो वह दुष्टात्मा तुम्हारे शेष पुत्रों पर भी प्रहार कर सकता है ।

दीर्घायुषस्तव सुता यथोवाच महामुनिः ।
आगमिष्यति ते पुत्रः प्रीतिं चोत्पादयिष्यति ॥४८॥

महामुनि व्यासजी के कथनानुसार तुम्हारे सभी पुत्र दीर्घजीवी हैं, अतः तुम्हारा पुत्र भीमसेन कहीं भी क्यों न गया हो, अवश्य लौटेगा और तुम्हें आनन्द प्रदान करेगा ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ विद्वान् विदुरः स्वं निवेशनम् ।
कुन्ती चिन्तापरा भूत्वा सहासीना सुतैर्गृहे ॥४९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! विद्वान् विदुर ऐसा कहकर अपने घर चले गये । इधर कुन्ती चिन्तामग्न होकर अपने चारों पुत्रों के साथ चुप-चाप घर में बैठ रही ।

स निःसङ्गो जलस्यान्तमथ वै पाण्डवोऽविशत् ।
तत्रादशयत नागैः स महादंष्ट्रैर्विषोल्वणैः ॥५०॥

भीमसेन बेहोशी की अवस्था में जल के भीतर डूबकर धीरे- -धीरे नीचे जा पहुँचे । वहाँ नागों ने अपनी भयंकर विषवाली बड़ी-बड़ी दाढ़ों से भीमसेन को खूब डँसा ।

ततोऽस्य दश्यमानस्य तद् विषं कालकूटकम् ।
हतं सर्पविषेणैव स्थावरं जङ्गमेन तु ॥५१॥

उनके द्वारा डँसे जाने से कालकूट विष का प्रभाव नष्ट हो गया । सर्पों के जंगम विष ने खाये हुए स्थावर विष को हर लिया ।

ततः प्रबुद्धः कौन्तेयः सर्वं संछिद्य बन्धनम् ।
आगजाम महाबाहुर्मातुरन्तिकमञ्जसा ॥५२॥

तत्पश्चात् कुन्तीनन्दन जाग उठे और अपने सारे बन्धनों को तोड़कर महाबाहु भीमसेन शीघ्र ही अपनी माता के पास आ गये ।

ततोऽभिवाद्य जननीं ज्येष्ठं भ्रातरमेव च ।
कनीयसः समाघ्राय शिरःस्वरिविमर्दनः ॥५३॥

तदनन्तर शत्रुमर्दन भीमसेन ने माता और बड़े भाई को प्रणाम करके छोटे भाइयों का स्नेहपूर्वक सिर सूँघा ।

तैश्चापि सम्परिष्वक्तः सह मात्रा नरर्षभैः ।
अन्योन्यगतसौहार्दाद् दिष्टचा दिष्ट्येति चाब्रुवन् ॥५४

माता तथा उन नरश्रेष्ठ भाइयों ने भी उन्हें हृदय से लगाया तथा एक-दूसरे के प्रति स्नेहाधिक्य के कारण सबने भीम के आगमन से अपने सौभाग्य की सराहना करते हुए—"अहोभाग्य ! अहोभाग्य !" ऐसा कहा ।

ततस्तत् सर्वमाचष्ट दुर्योधनविचेष्टितम् ।
भ्रातृणां भीमसेनश्च महाबलपराक्रमः ॥५५॥

पत्पश्चात् महान् बल और पराक्रम से सम्पन्न भीमसेन ने दुर्योधन की वे सारी कुचेष्टाएँ अपने भाइयों को बतायीं ।

ततो युधिष्ठिरो राजा भीममाह वचोऽर्थवत् ।
तूष्णीं भव न ते जल्प्यमिदं कार्यं कथंचन ॥५६॥

तब राजा युधिष्ठिर ने भीमसेन से यह अर्थयुक्त बात कही —"भैया भीम ! तुम अभी सर्वथा चुप हो

जाओ। तुम्हारे साथ जो कुछ हुआ, उसे कहीं किसी प्रकार भी न कहना।"

एवमुक्त्वा महाबाहुर्धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरप्रमत्तोऽभवत् तदा ॥५७॥

यों कहकर महाबाहु धर्मराज युधिष्ठिर अपने सब भाइयों के साथ उस समय से अति सावधान रहने लगे।

कुमारान् क्रीडमानांस्तान् दृष्ट्वा राजातिदुर्मदान्।
गुरुं शिक्षार्थमन्विष्य गौतमं तान् न्यवेदयत् ॥५८॥

उधर राजा धृतराष्ट्र ने उन कुमारों को खेल-कूद में लगे रहने से अत्यन्त उद्दण्ड होते देख उन्हें शिक्षा देने के लिए गौतमगोत्रीय कृपाचार्य की खोज कराकर तथा उन्हें गुरु बनाकर कुरुकुल के उन सभी कुमारों को उन्हें सौंप दिया।

इति महाभारते आदिपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

द्रोणाचार्य का जीवन-वृत्तान्त, द्रोण की कौरव-पाण्डवों को पढ़ाने के लिए नियुक्ति

वैशम्पायन उवाच

विशेषार्थी ततो भीष्मो भारद्वाजाय धीमते।
पाण्डवान् कौरवांश्चैव ददौ शिष्यान् नरर्षभ ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ जनमेजय! कृपाचार्य के द्वारा पूर्ण शिक्षा मिल जाने पर पितामह भीष्म ने अपने पौत्रों में विशिष्ट योग्यता लाने के लिए वेदवेत्ता तथा बुद्धिमान् द्रोणाचार्य को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके समस्त कौरव और पाण्डवों को शिष्यरूप में उन्हें समर्पित कर दिया।

प्रतिजग्राह तान् सर्वान् शिष्यत्वेन महायशाः।
शिक्षयामास च द्रोणो धनुर्वेदमशेषतः ॥२॥

महायशस्वी आचार्य द्रोण ने भी उन सबको शिष्य-रूप में स्वीकार किया तथा उन्हें सम्पूर्ण धनुर्वेद की शिक्षा प्रदान की।

तेऽचिरेणैव कालेन सर्वशास्त्रविशारदाः।
बभूव कौरवा राजन् पाण्डवाश्चामितौजसः ॥३॥

राजन्! अमित तेजस्वी पाण्डव और कौरव—सभी थोड़े ही समय में सम्पूर्ण शस्त्र-विद्या में अत्यन्त प्रवीण हो गये।

जनमेजय उवाच

कथं चागात् कुरून् द्रोणः कस्य पुत्रः स वीर्यवान्।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण प्रकीर्तय ॥४॥

जनमेजय ने पूछा—ब्रह्मन्! द्रोणाचार्य कुरुदेश में कैसे आये? वे महापराक्रमी द्रोण किसके पुत्र थे? यह सब मैं सुनना चाहता हूँ। आप विस्तारपूर्वक बताइए।

वैशम्पायन उवाच

गङ्गाद्वारं प्रति महान् बभूव भगवानृषिः।
भरद्वाज इति ख्यातो द्रोणस्तस्य सुतोऽभवत्।
अध्यगीष्ट स वेदांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! गङ्गाद्वार में भगवान् भरद्वाज नाम से प्रसिद्ध एक महर्षि रहते थे। द्रोण उन्हीं के पुत्र थे। उन्होंने सम्पूर्ण वेद और वेदाङ्गों का अध्ययन किया था।

भरद्वाजसखा चासीत् पृषतो नाम पार्थिवः।
तस्यापि द्रुपदो नाम तदा समभवत् सुतः ॥६॥

उन दिनों पृषत नाम से प्रसिद्ध एक नरेश महर्षि भरद्वाज के मित्र थे। उन्हें भी उसी समय एक पुत्र हुआ, जिसका नाम द्रुपद था।

स नित्यमाश्रमं गत्वा द्रोणेन सह पार्थिवः।
चिक्रीडाध्ययनं चैव चकार क्षत्रियर्षभः ॥७॥

वह राजकुमार क्षत्रियों में श्रेष्ठ था। वह प्रति-दिन भरद्वाज मुनि के आश्रम में जाकर द्रोण के साथ खेलता और अध्ययन करता था।

ततो व्यतीते पृषते स राजा द्रुपदोऽभवत्।
पाञ्चालेषु महाबाहुरुत्तरेषु नरेश्वर ॥८॥

नरेश्वर जनमेजय! पृषत की मृत्यु हो जाने पर महाबाहु द्रुपद उत्तर-पाञ्चाल देश का राजा हुआ।

भरद्वाजोऽपि भगवानारुरोह दिवं तदा।
तत्रैव च वसन् द्रोणः धनुर्वेदपरोऽभवत् ॥९॥

कुछ दिन पश्चात् भगवान् भरद्वाज भी परलोकवासी हो गये और बुद्धिमान् द्रोण उसी आश्रम में रहकर धनुर्वेद का अभ्यास करने लगे।

स शुश्राव महात्मानं जामदग्न्यं परंतपम्।
ब्राह्मणेभ्यस्तदा राजन् दित्सन्तं वसु सर्वशः ॥१०॥

राजन्! किसी समय उन्होंने सुना कि 'शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामजी ब्राह्मणों को अपना सर्वस्व दान करना चाहते हैं।

स रामस्य धनुर्वेदं दिव्यान्यस्त्राणि चैव ह।
श्रुत्वा तेषु मनश्चक्रे नीतिशास्त्रे तथैव च ॥११॥

द्रोण ने यह सुनकर कि परशुरामजी के पास सम्पूर्ण धनुर्वेद तथा दिव्यास्त्रों का ज्ञान है, उन्हें प्राप्त करने की इच्छा और साथ ही उनसे नीति-शास्त्र पढ़ने का भी विचार किया।

ततः स व्रतिभिः शिष्यैस्तपोयुक्तैर्महातपाः।
वृतः प्रायान् महाबाहुर्महेन्द्रं पर्वतोत्तमम् ॥१२॥

तब ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करनेवाले तपस्वी शिष्यों से घिरे हुए महातपस्वी महाबाहु द्रोण परम उत्तम महेन्द्र पर्वत पर गये।'

निवेद्य शिरसा भूमौ भारद्वाजोऽब्रवीद् वचः।
अहं धनमनन्तं हि प्रार्थये विपुलव्रत ॥१३॥

पृथिवी पर मस्तक टेक [परशुरामजी के चरणों में प्रणाम कर] भरद्वाजकुमार द्रोण ने परशुरामजी से कहा—"महान् व्रत का पालन करनेवाले महर्षे! मैं आपसे ऐसे धन की याचना करता हूँ, जिसका कभी अन्त न हो।"

राम उवाच

हिरण्यं मम यच्चान्यद्वसु किञ्चिदिह स्थितम्।
ब्राह्मणेभ्यो मया दत्तं सर्वमेतत् तपोधन ॥१४॥

परशुरामजी बोले—हे तपोधन! मेरे पास जो कुछ सुवर्ण तथा अन्य प्रकार का धन था, वह सब मैंने ब्राह्मणों को प्रदान कर दिया।

शरीरमात्रमेवाद्य ममेदमवशेषितम्।
अस्त्राणि च महार्हाणि शस्त्राणि विविधानि च ॥१५

अब तो केवल मेरा यह शरीर ही बचा है, साथ ही नाना प्रकार के बहुमूल्य अस्त्र-शस्त्रों का कोप अवशिष्ट है।

अस्त्राणि वा शरीरं वा वरयैतन्मयोद्यतम्।
वृणीष्व किं प्रयच्छामि तुभ्यं द्रोण वदाशु तत् ॥१६॥

अतः हे द्रोण! तुम अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान या मेरा शरीर माँग लो। इन्हें देने के लिए मैं उद्यत हूँ। शीघ्र बोलो, मैं तुम्हें क्या दूँ?

द्रोण उवाच

अस्त्राणि मे समग्राणि ससंहाराणि भार्गव।
सप्रयोगरहस्यानि दातुमर्हस्यशेषतः ॥१७॥

द्रोण ने कहा—हे भृगुनन्दन! आप मुझे प्रयोग, रहस्य तथा संहार-विधि सहित सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान प्रदान करें।

तथेत्युक्त्वा ततस्तस्मै प्रादादस्त्राणि भार्गवः।
सरहस्यव्रतं चैव धनुर्वेदमशेषतः ॥१८॥

तब 'तथाऽस्तु' कहकर भृगुवंशी परशुरामजी ने द्रोण को सम्पूर्ण अस्त्र प्रदान किये तथा रहस्य और व्रतसहित सम्पूर्ण धनुर्वेद का भी उपदेश किया।

वैशम्पायन उवाच

प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं कृतास्त्रो द्विजसत्तमः।
प्रियं सखायं सुप्रीतो जगाम द्रुपदं प्रति ॥१९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर द्विजश्रेष्ठ द्रोण अस्त्र-विद्या के पूरे पण्डित हो गये। फिर वे अत्यन्त प्रसन्न हो अपने प्रिय सखा राजा द्रुपद के पास गये।

ततो द्रुपदमासाद्य भारद्वाजः प्रतापवान्।
अब्रवीत् पार्थिवं राजन् सखायं विद्धि मामिह ॥२०॥

जनमेजय! प्रतापी द्रोण राजा द्रुपद के यहाँ पहुँचकर उनसे इस प्रकार बोले—"राजन्! तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि मैं तुम्हारा मित्र द्रोण तुमसे मिलने के लिए यहाँ आया हूँ।"

इत्येवमुक्तः सुहृदा सक्रोधामर्षलोचनः।
ऐश्वर्यमदसम्पन्नो द्रोणं राजाब्रवीदिदम् ॥२१॥

मित्र द्रोण के ऐसा कहने पर क्रोध और अमर्ष से उसकी आँखें लाल हो गयीं। धन और ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त वह राजा द्रुपद द्रोण से यों बोला—

द्रुपद उवाच

न हि राज्ञामुदीर्णानामेवम्भूतैर्नरैः क्वचित्।
सख्यं भवति मन्दात्मन् श्रियाहीनैर्धनच्युतैः ॥२२॥

द्रुपद बोला—अरे मूढ़ ! बड़े-बड़े राजाओं की तुम्हारे जैसे श्रीहीन और निर्धन मनुष्यों के साथ कभी मित्रता नहीं हो सकती।

न दरिद्रो वसुमतो नाविद्वान् विदुषः सखा।
न शूरस्य सखा क्लीबः सखिपूर्वं किमिष्यते ॥२३॥

सच्ची बात यह है कि दरिद्र मनुष्य धनवान् का, मूर्ख विद्वान् का और कायर शूरवीर का मित्र नहीं हो सकता, अतः तुम पहले की मित्रता का क्या भरोसा करते हो ?

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम्।
तयोर्विवाहः सख्यं च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥२४॥

जिनका धन समान है, जिनकी विद्या एक-सी है, उन्हीं में विवाह और मैत्री का सम्बन्ध हो सकता है। हृष्ट-पुष्ट और दुर्बल में [धनवान् और निर्धन में] कभी मित्रता नहीं हो सकती।

नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा।
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ॥२५॥

अश्रोत्रिय श्रोत्रिय [वेदज्ञ] का मित्र नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो रथी नहीं है, वह रथी का, जो राजा नहीं है, वह किसी राजा का मित्र कदापि नहीं हो सकता। फिर तुम पुरानी मित्रता का स्मरण क्यों करते हो ?

वैशम्पायन उवाच

द्रुपदेनैवमुक्तस्तु भारद्वाजः प्रतापवान्।
मुहूर्तं चिन्तयित्वा तु मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥२६॥
स विनिश्चित्य मनसा पाञ्चालं प्रति बुद्धिमान्।
जगाम कुरुमुख्यानां नगरं नागसाह्वयम् ॥२७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा द्रुपद के यों कहने पर प्रतापी द्रोण क्रोध से जल उठे और दो घड़ी तक गहरी चिन्ता में डूबे रहे। फिर वे बुद्धिमान् पाञ्चाल नरेश से बदला लेने के विषय में मन-ही-मन कुछ निश्चय करके कौरवों की राजधानी हस्तिनापुर नगर में चले गये।

स नागपुरमागम्य गौतमस्य निवेशने।
भारद्वाजोऽवसत् तत्र प्रच्छन्नं द्विजसत्तमः ॥२८॥

हस्तिनापुर में पहुँचकर द्विजश्रेष्ठ द्रोण गौतम-गोत्रीय कृपाचार्य के घर में गुप्तरूप से निवास करने लगे।

एवं स तत्र गूढात्मा कञ्चित् कालमुवास ह।
कुमारास्त्वथ निष्क्रम्य समेता गजसाह्वयात् ॥२९॥
क्रीडन्तो वीटया तत्र वीराः पर्यचरन् मुदा।
पपात कूपे सा वीटा तेषां वै क्रीडतां तदा ॥३०॥

इस प्रकार द्रोण ने वहाँ अपने आपको छिपाये रखकर कुछ समय तक निवास किया। तदनन्तर एक दिन कौरव-पाण्डव सभी वीर कुमार हस्तिनापुर से बाहर निकलकर बड़ी प्रसन्नता के साथ मिल-जुलकर वहाँ गुल्ली-डंडा खेलने लगे। उस समय खेल में लगे हुए उन कुमारों की वह वीटा [गुल्ली] कुएँ में गिर पड़ी।

ततस्ते यत्नमातिष्ठन् वीटामुद्धर्तुमादृताः।
न च ते प्रत्यपद्यन्त कर्म वीटोपलब्धये ॥३१॥

तब वे उस वीटा (गुल्ली) को निकालने के लिए बड़ी तत्परता के साथ प्रयत्न में लग गये, परन्तु उसे प्राप्त करने का कोई भी उपाय उनके ध्यान में नहीं आया।

तेऽपश्यन् ब्राह्मणं श्याममापन्नं पलितं कृशम्।
कृत्यवन्तमदूरस्थमग्निहोत्रपुरस्कृतम् ॥३२॥

उस समय उन्होंने एक श्याम वर्ण के ब्राह्मण को थोड़ी ही दूर पर बैठे देखा, जो यज्ञ करके किसी प्रयोजन से वहाँ ठहरे हुए थे। वे आपत्तिग्रस्त प्रतीत होते थे। उनके सिर के बाल श्वेत हो गये थे तथा शरीर अत्यन्त दुर्बल था।

ते तं दृष्ट्वा महात्मानमुपगम्य कुमारकाः।
भग्नोत्साहक्रियात्मानो ब्राह्मणं पर्यवारयन् ॥३३॥

उन महात्मा ब्राह्मण को देखकर वे सभी कुमार उनके पास पहुँच, उन्हें घेरकर खड़े हो गये। उनका उत्साह भंग हो गया था, कोई कार्य करने की इच्छा नहीं होती थी तथा मन में भारी निराशा भर गई थी।

अथ द्रोणः कुमारांस्तान्दृष्ट्वा कृत्यवतस्तदा।
प्रहस्य मन्दं पैशल्यादभ्यभाषत वीर्यवान् ॥३४॥

तब पराक्रमी द्रोण यह देखकर कि इन कुमारों का अभीष्ट कार्य पूर्ण नहीं हुआ है—ये उसी प्रयोजन से मेरे पास आये हैं, उस समय मन्द मुस्कराहट के साथ बड़े कौशल से बोले—

अहो वो धिग्बलं क्षात्रं धिगेतां वः कृतास्त्रताम् ।
भरतस्यान्वये जाता ये वीटां नाधिगच्छत ।।३५।।

"अहो ! तुम लोगों के क्षात्रबल को धिक्कार है, तुम्हारी अस्त्र-विद्या विषयक निपुणता को भी धिक्कार है, क्योंकि तुम लोग भरतवंश में उत्पन्न होकर भी कुएँ में गिरी हुई गुल्ली को न निकाल सके ।

वीटां च मुद्रिकां चैव ह्यहमेतदपि द्वयम् ।
उद्धरेयमिषीकाभिर्भोजनं मे प्रदीयताम् ।।३६।।

"देखो ! मैं तुम्हारी गुल्ली और अपनी इस अँगूठी दोनों को सींकों से निकाल सकता हूँ । तुम लोग मेरे भोजन की व्यवस्था करो ।"

एवमुक्त्वा कुमारांस्तान् द्रोणः स्वाङ्गुलिवेष्टनम् ।
कूपे निरुदके तस्मिन्नपातयदरिन्दमः ।।३७

उन कुमारों से ऐसा कहकर शत्रुओं का दमन करनेवाले द्रोण ने उस निर्जल कुएँ में अपनी अँगूठी डाल दी ।

ततोऽब्रवीत् तदा द्रोणः प्रहस्य भरतानिदम् ।
एषा मुष्टिरिषीकाणां मयास्त्रेणाभिमन्त्रिता ।।३८।।

उस मुद्रिका को कुएँ में डालकर द्रोण ने हँसकर उन भरतवंशी राजकुमारों से कहा—"ये मुट्ठी-भर सींकें हैं, जिन्हें मैंने अस्त्र-मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित किया है ।

अस्या वीर्यं निरीक्षध्वं यदन्यस्य न विद्यते ।
भेत्स्यामीषीकया वीटां तामिषीकां तथान्यया ।।३९।।

"तुम लोग इसका बल देखो, जो दूसरे में नहीं है । मैं पहले एक सींक से उस गुल्ली को बींध दूंगा, फिर दूसरी सींक से उस पहली सींक को बींधूँगा ।

न्यया समायोगे वीटाया ग्रहणं मम ।
ततो यथोक्तं द्रोणेन तत् सर्वं कृतमञ्जसा ।।४०।।

"इसी प्रकार दूसरी सींक को तीसरी से बींधते हुए अनेक सींकों का संयोग होने पर मुझे गुल्ली मिल जाएगी ।" तत्पश्चात् द्रोण ने जैसा कहा था, वह सब-कुछ अनायास ही कर दिखाया ।

तदवेक्ष्य कुमारास्ते विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ।
आश्चर्यमिदमत्यन्तमिति मत्वा वचोऽब्रुवन् ।
मुद्रिकामपि विप्रर्षे शीघ्रमेतां समुद्धर ।।४१।।

यह अद्भुत कार्य देखकर उन कुमारों के नेत्र आश्चर्य से खिल उठे । इसे अत्यन्त आश्चर्य मानकर वे इस प्रकार बोले—"ब्रह्मर्षे ! अब आप शीघ्र ही इस अँगूठी को भी निकाल दीजिए ।"

ततः शरं समादाय धनुर्द्रोणो महायशाः ।
शरेण विद्ध्वा मुद्रां तामूर्ध्वमावाहयत् प्रभुः ।।४२।।
सशरं समुपादाय कूपादङ्गुलिवेष्टनम् ।
ददौ ततः कुमाराणां विस्मितानामविस्मितः ।।४३।।

तब महायशस्वी द्रोण ने धनुष-बाण लेकर बाण से उस अँगूठी को बींध दिया और उसे ऊपर निकाल लिया । शक्तिशाली द्रोण ने इस प्रकार कुएँ से बाण सहित वह अँगूठी निकालकर उन आश्चर्यचकित कुमारों के हाथ में दे दी, परन्तु वे स्वयं तनिक भी विस्मित नहीं थे ।

कुमारा ऊचुः

अभिवादयामहे ब्रह्मन् नैतदन्येषु विद्यते ।
कोऽसि कस्यासि जानीमो वयं किं करवामहे ।।४४।।

कुमार बोले—हे ब्रह्मन् ! हम सब आपको प्रणाम करते हैं । यह अद्भुत अस्त्र-कौशल आपके सिवा और किसी में नहीं है । आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं, यह हम जानना चाहते हैं । बताइए, हम लोग आपकी क्या सेवा करें ?

द्रोण उवाच

आचक्षध्वं च भीष्माय रूपेण च गुणैश्च माम् ।
स एव सुमहातेजाः साम्प्रतं प्रतिपत्स्यते ।।४५।।

द्रोण बोले—तुम सब लोग भीष्मजी के पास जाकर मेरे रूप और गुणों का परिचय दो । वे महातेजस्वी भीष्मजी ही मुझे इस समय पहचान सकते हैं ।

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्त्वा च गत्वा च भीष्ममूचुः कुमारकाः ।
भीष्मः श्रुत्वा कुमाराणां द्रोणं तं प्रत्यजानत ।।४६।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—वे कुमार 'बहुत अच्छा' कहकर भीष्मजी के पास गये और उन्हें सारा वृत्तान्त कह सुनाया । कुमारों की बातें सुनकर भीष्मजी समझ गये कि वे आचार्य द्रोण हैं ।

युक्तरूपः स हि गुरुरित्येवमनुचिन्त्य च ।
अथैनमानीय तदा स्वयमेव सुसत्कृतम् ।।४७।।

परिपप्रच्छ निपुणं भीष्मः शस्त्रभृतां वरः।
हेतुमागमने तच्च द्रोणः सर्वं न्यवेदयत् ॥४८॥

फिर यह सोचकर कि द्रोणाचार्य ही इन कुमारों के उपयुक्त गुरु हो सकते हैं, भीष्मजी स्वयं ही आकर उन्हें सत्कारपूर्वक घर ले गये। वहाँ शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ भीष्म ने बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ द्रोणाचार्य से उनके आगमन का कारण पूछा और द्रोण ने सब-कुछ बतला दिया।

भीष्म उवाच

अपज्यं क्रियतां चापं साध्वस्त्रं प्रतिपादय।
भुङ्क्ष्व भोगान् भृशं प्रीतः पूज्यमानः कुरुक्षये ॥४९॥

भीष्मजी बोले—हे विप्रवर! अब आप अपने धनुष की डोरी उतार दीजिए तथा यहाँ रहकर राजकुमारों को धनुर्वेद एवं अस्त्र-शस्त्रों की अच्छी शिक्षा दीजिए। कौरवों के घर में सदा सम्मानित रहकर अत्यन्त प्रसन्नता के साथ मनोवाञ्छित भोगों का उपभोग कीजिए।

कुरूणामस्ति यद्वित्तं राज्यं चेदं सराष्ट्रकम्।
त्वमेव परमो राजा सर्वे च कुरवस्तव ॥५०॥

कौरवों के पास जो धन, राज्य-वैभव तथा राष्ट्र है, उसके आप ही सबसे बड़े राजा हैं। समस्त कौरव आपके अधीन हैं।

इति महाभारते आदिपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

द्रोणाचार्य द्वारा राजकुमारों की शिक्षा और परीक्षा

वैशम्पायन उवाच

ततः सम्पूजितो द्रोणो भीष्मेण द्विपदां वरः।
विशश्राम महातेजाः पूजितः कुरुवेश्मनि ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब मनुष्यों में श्रेष्ठ महातेजस्वी द्रोणाचार्य ने भीष्मजी के द्वारा सम्मानित हो कौरवों के महलों में निवास किया। वहाँ उनका बहुत आदर-सम्मान किया गया।

विश्रान्तेऽथ गुरौ तस्मिन्पौत्रानादाय कौरवान्।
शिष्यत्वेन ददौ भीष्मो वसूनि विविधानि च ॥२॥
गृहं च सुपरिच्छन्नं धनधान्यसमाकुलम्।
भारद्वाजाय सुप्रीतः प्रत्यपादयत प्रभुः ॥३॥

गुरु द्रोणाचार्य जब विश्राम कर चुके तब सामर्थ्य-शाली भीष्मजी ने अपने कुरु-वंशी पौत्रों को लाकर उन्हें शिष्यरूप में समर्पित किया। साथ ही अत्यन्त प्रसन्न होकर भरद्वाजनन्दन द्रोण को नाना प्रकार के धन-रत्न तथा सुन्दर सामग्रियों से सुसज्जित एवं धन-धान्य से सम्पन्न भवन प्रदान किया।

स तान् शिष्यान् महेष्वासः प्रतिजग्राह कौरवान्।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्रांश्च द्रोणो मुदितमानसः ॥४॥

महाधनुर्धर आचार्य द्रोण ने प्रसन्नचित्त होकर उन धृतराष्ट्र के पुत्रों तथा पाण्डवों को शिष्य रूप में ग्रहण किया।

प्रतिगृह्य च तान् सर्वान् द्रोणो वचनमब्रवीत्।
रहस्येकः प्रतीतात्मा कृतोपसदनांस्तथा ॥५॥

उन सबको शिष्यरूप में ग्रहण कर लेने पर एक दिन एकान्त में जब द्रोणाचार्य पूर्ण विश्वासयुक्त मन से अकेले बैठे थे, तब उन्होंने अपने पास बैठे हुए सब शिष्यों से यह बात कही—

द्रोण उवाच

कार्यं मे कांक्षितं किंचिद्धृदि सम्परिवर्तते।
कृतास्त्रैस्तत् प्रदेयं मे तदेतद् वदतानघाः ॥६॥

द्रोणाचार्य ने कहा—निष्पाप राजकुमारो! मेरे मन में एक कार्य करने की इच्छा है। अस्त्र-विद्या प्राप्त कर लेने के पश्चात् तुम लोगों को मेरी वह इच्छा पूर्ण करनी होगी। इस विषय में तुम्हारे क्या विचार हैं, बताओ।

वैशम्पायन उवाच

तत् श्रुत्वा कौरवेयास्ते तूष्णीमासन् विशाम्पते।
अर्जुनस्तु ततः सर्वं प्रतिजज्ञे परंतप ॥७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुसंतापक जनमेजय! आचार्य की वह बात सुनकर सब कौरव चुप रह गये,

परन्तु अर्जुन ने वह सब कार्य पूर्ण करने की प्रतिज्ञा कर ली।

ततोऽर्जुनं तदा मूर्ध्नि समाघ्राय पुनः पुनः।
प्रीतिपूर्वं परिष्वज्य प्ररुरोद मुदा तदा ॥८॥

तब आचार्य ने बारम्बार अर्जुन का मस्तक सूंघा तथा उन्हें प्रेमपूर्वक हृदय से लगाकर वे हर्ष के आवेश में रो पड़े।

ततो द्रोणः पाण्डुपुत्रानस्त्राणि विविधानि च।
ग्राहयामास दिव्यानि मानुषाणि च वीर्यवान् ॥९॥

तत्पश्चात् पराक्रमी द्रोणाचार्य पाण्डवों [तथा अन्य शिष्यों] को और भी अधिक उत्साह से नाना प्रकार के दिव्य एवं मानवीय अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा देने लगे।[1]

राजपुत्रास्तथा चान्ये समेत्य भरतर्षभ।
अभिजग्मुस्ततो द्रोणमस्त्रार्थे द्विजसत्तमम् ॥१०॥

हे भरतश्रेष्ठ! उस समय दूसरे-दूसरे राजकुमार भी अस्त्र-विद्या की शिक्षा लेने के लिए द्विजश्रेष्ठ द्रोण के पास आने लगे।

वृष्णयश्चान्धकाश्चैव नानादेश्याश्च पार्थिवाः।
सूतपुत्रश्च राधेयो गुरुं द्रोणमियात् तदा ॥११॥

वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी क्षत्रिय, नानादेशीय राजकुमार तथा राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण[2]—ये सभी आचार्य द्रोण के पास [अस्त्रविद्या प्राप्ति के लिए] आये।

अस्त्रविद्यानुरागात् स लाघवे सौष्ठवेषु च।
सर्वेषामेव शिष्याणां बभूवाभ्याधिकोऽर्जुनः ॥१२॥

अस्त्र-विद्या में अत्यन्त अनुराग होने के कारण अर्जुन फुर्ती और सफाई में सभी शिष्यों से बढ़-चढ़ कर निकले।

ऐन्द्रिमप्रतिमं द्रोण उपदेशेष्वमन्यत।
एवं सर्वकुमाराणामिष्वस्त्रं प्रत्यपादयत् ॥१३॥

आचार्य द्रोण उपदेश ग्रहण करने में अर्जुन को अनुपम प्रतिभाशाली मानते थे। इस प्रकार आचार्य सब कुमारों को अस्त्रविद्या की शिक्षा देते रहे।

कमण्डलुं च सर्वेषां प्रायच्छच्चिरकारणात्।
पुत्राय च ददौ कुम्भमविलम्बनकारणात् ॥१४॥
यावत् ते नोपगच्छन्ति तावदस्मै परां क्रियाम्।
द्रोण आचष्ट पुत्राय तत् कर्म जिष्णुरौहत ॥१५॥

वे अन्य सब शिष्यों को तो पानी लाने के कमण्डलु देते, जिससे उन्हें लौटने में कुछ विलम्ब हो जाए

---

१. लोक में ऐसा प्रसिद्ध है कि एक दिन आचार्य द्रोण ने **'सत्यं वद, क्रोधं मा कुरु'** (सत्य बोलो, क्रोध मत करो) ऐसा उपदेश किया। अगले दिन युधिष्ठिर को छोड़कर सभी कौरव-पाण्डवों ने पाठ सुना दिया। युधिष्ठिर कई दिन तक कहते रहे कि मुझे पाठ याद नहीं हुआ। तब गुरुजी ने उनकी पिटाई कर दी। मार खाकर वे बोले—"अब मुझे पाठ याद हो गया" इत्यादि। यह सारी कहानी महाभारत में कहीं भी नहीं है।

२. इस वर्णन से, जैसा यहाँ दिया गया है, यह स्पष्ट है कि शूद्र-कुलोत्पन्न बालक भी द्रोणाचार्य से शिक्षा ग्रहण करने के लिए उनके पास आये और आचार्य ने उन्हें शिष्यरूप में स्वीकार किया, तब एकलव्य को निषाद-कुलोत्पन्न जानकर उसे शिक्षा न देने की बात असत्य हो गई। यदि यह कहा जाए कि कर्ण सूतपुत्र नहीं था [हम भी इससे सहमत हैं] वह सूत द्वारा केवल पालित हुआ था तो हम कहेंगे कि एकलव्य भी निषाद नहीं था वह निषादों द्वारा पालित था। ब्रह्मपुराण [१४।२८] में कहा है—**निषादैः परिवर्द्धितः**। पुराणों के अवलोकन से यह सिद्ध होता है कि जिस यदुवंश में श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था, उसी वंश में एकलव्य भी जन्मा था। वृष्णिवंशीय शूर के दश पुत्र और पाँच कन्याएँ थी। वसुदेव नामक उनके पुत्र से जैसे वासुदेव (कृष्ण) पैदा हुए वैसे ही देवश्रवा से शत्रुघ्न [एकलव्य] उत्पन्न हुआ। इस प्रकार वह कृष्ण का चचेरा भाई था। अर्जुन की माता शूर की कन्या थी और देवश्रवा उसका भाई था, अतः एकलव्य अर्जुन की बुआ का पुत्र हुआ। [द्रष्टव्य ब्रह्मपुराण १४।१४-२८] हमारा ऐसा दृढ़ विश्वास और निश्चित मत है कि एकलव्य का सारा आख्यान ब्राह्मणों को बदनाम करने, उनकी अमानुषिक क्रूरता दिखाने के लिए महाभारत में प्रक्षिप्त किया गया है। यह भी सम्भव है कि मूर्तिपूजकों ने इस कथानक का प्रक्षेप किया हो। कोई गुरु अपने शिष्य को न तो कोई हानि पहुँचा सकता है और न ही उसका अँगूठा कटवा सकता है।

परन्तु अपने पुत्र अश्वत्थामा को बड़े मुंह का घड़ा देते, जिससे वह शीघ्र लौट आये। जबतक दूसरे शिष्य लौटकर आते, तबतक द्रोणाचार्य अपने पुत्र को अस्त्र-संचालन की कोई उत्तम विधि बता देते। अर्जुन ने उनके इस रहस्य को जान लिया।

ततः स वारुणास्त्रेण पूरयित्वा कमण्डलुम्।
सममाचार्यपुत्रेण गुरुमभ्येति फाल्गुनः ॥१६॥
आचार्यपुत्रात् तस्मात् तु विशेषोपचयेऽपृथक्।
न व्यहीयत मेधावी पार्थोऽप्यस्त्रविदां वरः ॥१७॥
अर्जुनः परमं यत्नमातिष्ठद् गुरुपूजने।
अस्त्रे च परमं योगं प्रियो द्रोणस्य चाभवत् ॥१८॥

तब वे वारुणास्त्र से तुरन्त ही अपना कमण्डलु भरकर आचार्य-पुत्र के साथ ही गुरु के समीप आ जाते थे, अतः वे आचार्य-पुत्र से किसी भी गुण की वृद्धि में अलग या पीछे नहीं रहे। यही कारण था कि मेधावी अर्जुन अश्वत्थामा से किसी बात में कम न रहे। वे अस्त्रवेत्ताओं में सबसे श्रेष्ठ थे। अर्जुन अपने गुरु की सेवा-शुश्रूषा के लिए भी प्रभूत प्रयत्न करते थे। अस्त्रों के अभ्यास में भी उनकी अच्छी लगन थी, अतः वे द्रोणाचार्य के अत्यन्त प्रिय हो गये।

तं दृष्ट्वा नित्यमुद्युक्तमिष्वस्त्रं प्रतिफाल्गुनम्।
आहूय वचनं द्रोणो रहः सूदमभाषत ॥१९॥
अन्धकारेऽर्जुनायान्नं न देयं ते कदाचन।
न चाख्येयमिदं चापि मद्वाक्यं विजये त्वया ॥२०॥

अर्जुन को धनुष-वाण के अभ्यास में निरन्तर लगा हुआ देखकर एक दिन द्रोणाचार्य ने रसोइये को एकान्त में बुलाकर कहा—"तुम अर्जुन को कभी अँधेरे में भोजन न परोसना और मेरी यह बात भी अर्जुन से कभी न कहना।"

ततः कदाचिद् भुञ्जाने प्रववौ वायुरर्जुने।
तेन तत्र प्रदीपः स दीप्यमानो विलोपितः ॥२१॥

तत्पश्चात् एक दिन जब अर्जुन भोजन कर रहे थे, उस समय अति वेग से हवा चलने लगी, जिससे वहाँ प्रज्वलित दीपक बुझ गया।

भुङ्क्त एव तु कौन्तेयो नास्यादन्यत्र वर्तते।
हस्तस्तेजस्विनस्तस्य अनुग्रहणकारणात ॥२२॥

उस समय भी कुन्तीनन्दन भोजन करते ही रहे। उन तेजस्वी अर्जुन का हाथ अभ्यासवश उस अँधेरे में भी मुँह से अन्यत्र कहीं नहीं जाता था।

तदभ्यासकृतं मत्वा रात्रावपि स पाण्डवः।
योग्यां चक्रे महाबाहुर्धनुषा पाण्डुनन्दनः ॥२३॥

उसे अभ्यास का ही चमत्कार मानकर महाबाहु पाण्डुनन्दन अर्जुन रात्रि में भी धनुर्विद्या का अभ्यास करने लगे।

तस्य ज्यातलनिर्घोषं द्रोणः शुश्राव भारत।
उपेत्य चैनमुत्थाय परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥२४॥

भरतकुलभूषण! उनके धनुष की प्रत्यञ्चा की टंकार द्रोणाचार्य ने सोते समय सुनी। तब वे उठकर उनके पास गये और उन्हें हृदय से लगाकर बोले—

द्रोण उवाच

प्रयतिष्ये तथा कर्तुं यथा नान्यो धनुर्धरः।
त्वत्समो भविता लोके सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥२५॥

द्रोणाचार्य बोले—अर्जुन! मैं ऐसा करने का प्रयत्न करूँगा, जिससे इस संसार में दूसरा कोई धनुर्धर तुम्हारे समान न हो। यह मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणोऽर्जुनं भूयो हयेषु च गजेषु च।
भूमावपि रथेषु च रणशिक्षामशिक्षयत् ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन्! तदनन्तर द्रोणाचार्य अर्जुन को पुनः घोड़ों, हाथियों, रथों तथा भूमि पर रहकर युद्ध करने की शिक्षा देने लगे।

गदायुद्धेऽसिचर्यायां तोमरप्रासशक्तिषु।
द्रोणः संकीर्णयुद्धे च शिक्षयामास कौरवान् ॥२७॥

उन्होंने कौरवों को गदायुद्ध, खड्ग चलाने तथा तोमर, प्रास और शक्तियों के प्रयोग की कला और एक ही साथ अनेक शस्त्रों का प्रयोग अथवा अकेले ही अनेक शत्रुओं से युद्ध करने की शिक्षा प्रदान की।

द्रोणस्य तु तदा शिष्यौ गदायोग्यौ बभूवतुः।
दुर्योधनश्च भीमश्च सदा संरब्धमानसौ ॥२८॥

उस समय द्रोणाचार्य के दो शिष्य—दुर्योधन और भीम—गदायुद्ध में सुयोग्य निकले। वे दोनों सदा एक-दूसरे के प्रति मन में क्रोध (स्पर्धा) से भरे रहते थे।

अश्वत्थामा रहस्येषु सर्वेष्वभ्यधिकोऽभवत् ।
तथाति पुरुषानन्यान्त्सारुकौ यमजावुभौ ॥२९॥

अश्वत्थामा धनुर्वेद के रहस्यों की जानकारी में सबसे बढ़-चढ़कर हुआ । नकुल और सहदेव दोनों भाई तलवार की मूठ पकड़कर युद्ध करने में अत्यन्त कुशल हुए । वे इस कला में अन्य सब मनुष्यों से बढ़े-चढ़े थे ।

युधिष्ठिरो रथश्रेष्ठः सर्वत्र तु धनञ्जयः ।
प्रथितः सागरान्तायां रथयूथपयूथपः ॥३०॥

युधिष्ठिर रथ पर बैठकर युद्ध करने में श्रेष्ठ थे, परन्तु अर्जुन सभी प्रकार की युद्ध-कलाओं में सबसे बढ़कर थे । वे समुद्रपर्यन्त सारी पृथिवी में रथयूथ-पतियों के भी यूथपति के रूप में प्रसिद्ध थे ।

बुद्धियोगबलोत्साहैः सर्वास्त्रेषु च निष्ठितः ।
अस्त्रे गुर्वनुरागे च विशिष्टोऽभवदर्जुनः ॥३१॥

बुद्धि [मन] की एकाग्रता, बल और उत्साह के कारण वे (अर्जुन) सम्पूर्ण अस्त्रविद्या में प्रवीण हुए । अस्त्रों के अभ्यास तथा गुरु के प्रति अनुराग में भी अर्जुन का स्थान सबसे ऊँचा था ।

तांस्तु सर्वान् समानीय सर्वविद्यास्त्रशिक्षितान् ।
द्रोणः प्रहरणज्ञाने जिज्ञासुः पुरुषर्षभः ॥३२॥

जब सभी कुमार सम्पूर्ण धनुर्विद्या तथा अस्त्र-संचालन की कला में सुशिक्षित हो गये, तब नरश्रेष्ठ द्रोण ने उन सबको एकत्र करके उनके अस्त्रज्ञान की परीक्षा लेने का विचार किया ।

कृत्रिमं भासमारोप्य वृक्षाग्रे शिल्पिभिः कृतम् ।
अविज्ञातं कुमाराणां लक्ष्यभूतमुपादिशत् ॥३३॥

उन्होंने कारीगरों से एक नकली गीध बनवाकर वृक्ष के अग्र भाग पर रखवा दिया । राजकुमारों को इसका पता नहीं था । आचार्य ने उसी गीध को बींधने के योग्य लक्ष्य बताया ।

द्रोण उवाच

शीघ्रं भवन्तः सर्वेऽपि धनूंष्यादाय सर्वशः ।
भासमेतं समुद्दिश्य तिष्ठन्तां संधितेषवः ॥३४॥

द्रोण बोले—तुम सब लोग इस गीध को बींधने के लिए शीघ्र ही धनुष लेकर तथा उसपर बाण चढ़ाकर तैयार हो जाओ !

मद्वाक्यसमकालं तु शिरोऽस्य विनिपात्यताम् ।
एकैकशो नियोक्ष्यामि तथा कुरुत पुत्रकाः ॥३५॥

फिर मेरी आज्ञा मिलने के साथ ही इसका सिर काट गिराओ । पुत्रो ! मैं एक-एक को क्रमशः इस कार्य में नियुक्त करूँगा, तुम लोग मेरे बताये अनुसार कार्य करो ।

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरं पूर्वमुवाचाङ्गिरसां वरः ।
संधत्स्व बाणं दुर्धर्ष मद्वाक्यान्ते विमुञ्च तम् ॥३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् अङ्गिरागोत्रवाले ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ आचार्य द्रोण ने सबसे पहले युधिष्ठिर से कहा—"दुर्धर्ष वीर ! तुम धनुष पर बाण चढ़ाओ और मेरी आज्ञा मिलते ही छोड़ दो ।"

ततो युधिष्ठिरः पूर्वं धनुर्गृह्य परंतपः ।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्यप्रचोदितः ॥३७॥

तब शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले युधिष्ठिर गुरु की आज्ञा से प्रेरित हो सबसे पूर्व धनुष लेकर गीध को बींधने के लिए लक्ष्य बनाकर खड़े हो गये ।

ततो विततधन्वानं द्रोणस्तं कुरुनन्दनम् ।
स मुहूर्तादुवाचेदं वचनं भरतर्षभ ॥३८॥

भरतश्रेष्ठ ! तब धनुष तानकर खड़े हुए कुरु-नन्दन युधिष्ठिर से थोड़ी देर पश्चात् आचार्य द्रोण ने इस प्रकार कहा—

पश्यैनं तं द्रुमाग्रस्थं भासं नृपवरात्मज ।
पश्यामीत्येवमाचार्यं प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ॥३९॥

"राजकुमार ! तुम वृक्ष की शिखा पर बैठे हुए इस गीध को देखो ?" तब युधिष्ठिर ने आचार्य को उत्तर दिया—"भगवन् ! मैं देख रहा हूँ ।"

स मुहूर्तादिव पुनर्द्रोणस्तं प्रत्यभाषत ।
अथ वृक्षमिमं मां वा भ्रातॄन् वापि प्रपश्यसि ॥४०॥

थोड़ा समय व्यतीत होने पर द्रोणाचार्य फिर उनसे बोले—"क्या तुम इस वृक्ष को, मुझे अथवा अपने भाइयों को भी देखते हो ?"

तमुवाच स कौन्तेयः पश्याम्येनं वनस्पतिम् ।
भवन्तं च तथा भ्रातॄन् भासं चेति पुनः पुनः ॥४१॥

यह सुनकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर उनसे इस

प्रकार बोले—"हाँ, मैं इस वृक्ष को, आपको, अपने भाइयों को तथा गीध को भी बारम्बार देख रहा हूँ।"

तमुवाचापसर्पेति द्रोणोऽप्रीतमना इव।
नैतच्छक्यं त्वया वेद्धुं लक्ष्यमित्येव कुत्सयन् ॥४२॥

उनका उत्तर सुनकर द्रोणाचार्य मन-ही-मन कुछ अप्रसन्न-से हो गये और उन्हें झिड़कते हुए बोले—"हटो यहाँ से, तुम इस लक्ष्य को नहीं बींध सकते।"

ततो दुर्योधनादींस्तान् धार्तराष्ट्रान् महायशाः।
तेनैव क्रमयोगेन जिज्ञासुः पर्यपृच्छत ॥४३॥

तत्पश्चात् महायशस्वी आचार्य ने उसी क्रम से दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र-पुत्रों को भी उनकी परीक्षा लेने के लिए बुलाया तथा उन सबसे भी उपर्युक्त बातें पूछीं।

अन्यांश्च शिष्यान्भीमादीन् राज्ञश्चैवान्यदेशजान्।
तथा च सर्वे तत् सर्वं पश्याम इति कुत्सिताः ॥४४॥

फिर उन्होंने भीम आदि अन्य शिष्यों तथा अन्य देश के राजाओं से भी, जो वहाँ शिक्षा पा रहे थे, वैसा ही प्रश्न किया। प्रश्न के उत्तर में सभी ने [युधिष्ठिर की भाँति ही] कहा—"हम सब-कुछ देख रहे हैं।" यह सुनकर आचार्य ने उन सबको झिड़ककर हटा दिया।

ततो धनंजयं द्रोणः स्मयमानोऽभ्यभाषत।
त्वयेदानीं प्रहर्तव्यमेतल्लक्ष्यं विलोक्यताम् ॥४५॥

तत्पश्चात् द्रोणाचार्य ने अर्जुन से मुस्कराते हुए कहा—"अब तुम्हें इस लक्ष्य का वेध करना है, इसे अच्छी प्रकार देख लो।

मद्वाक्यसमकालं ते मोक्तव्योऽत्र भवेच्छरः।
वितत्य कार्मुकं पुत्र तिष्ठ तावन्मुहूर्तकम् ॥४६॥

मेरी आज्ञा मिलते ही तुम्हें इसपर बाण छोड़ना होगा। वत्स! धनुष तानकर खड़े हो जाओ और थोड़ी देर मेरे आदेश की प्रतीक्षा करो।"

एवमुक्तः सव्यसाची मण्डलीकृतकार्मुकः।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्यप्रचोदितः ॥४७॥

उनके ऐसा कहने पर अर्जुन ने अपने धनुष को इस प्रकार खींचा कि वह मण्डलाकार [गोल] प्रतीत होने लगा। तत्पश्चात् वे गुरु की आज्ञा से प्रेरित हो गीध को लक्ष्य करके खड़े हो गये।

मुहूर्तादिव तं द्रोणस्तथैव समभाषत।
पश्यस्येनं स्थितं भासं द्रुमं मामपि चार्जुन ॥४८॥

थोड़ी देर पश्चात् द्रोणाचार्य ने उनसे भी उसी प्रकार प्रश्न किया—"अर्जुन! क्या तुम उस वृक्ष पर बैठे हुए गीध को, वृक्ष को और मुझे भी देखते हो?"

पश्याम्येकं भासमिति द्रोणं पार्थोऽभ्यभाषत।
न तु वृक्षं भवन्तं वा पश्यामीति च भारत ॥४९॥

जनमेजय! यह प्रश्न सुनकर अर्जुन ने द्रोणाचार्य से कहा—"मैं केवल गीध को देखता हूँ, वृक्ष को अथवा आपको नहीं देखता।"

ततः प्रीतमना द्रोणो मुहूर्तादिव तं पुनः।
प्रत्यभाषत दुर्धर्षः पाण्डवानां महारथम् ॥५०॥

इस उत्तर से द्रोणाचार्य का मन प्रसन्न हो गया। थोड़ी देर पश्चात् दुर्धर्ष द्रोणाचार्य ने पाण्डव महारथी अर्जुन से फिर पूछा—

भासं पश्यसि यद्येनं तथा ब्रूहि पुनर्वचः।
शिरः पश्यामि भासस्य न गात्रमिति सोऽब्रवीत् ॥५१॥

"वत्स! यदि तुम इस गीध को देखते हो तो बताओ, इसके अङ्ग कैसे हैं?" अर्जुन बोले—"मैं केवल गीध का मस्तक देख रहा हूँ, उसके सम्पूर्ण शरीर को नहीं।"

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु द्रोणो हृष्टतनूरुहः।
मुञ्चस्वेत्यब्रवीत् पार्थं स मुमोचाविचारयन् ॥५२॥

अर्जुन के ऐसा कहने पर हर्षातिरेक से द्रोणाचार्य के शरीर में रोमांच हो आया और वे अर्जुन से बोले—"चलाओ बाण!" अर्जुन ने भी बिना सोचे-विचारे बाण छोड़ दिया।

ततस्तस्य नगस्थस्य क्षुरेण निशितेन च।
शिर उत्कृत्य तरसा पातयामास पाण्डवः ॥५३॥

फिर तो पाण्डुनन्दन अर्जुन ने अपने चलाये हुए तीखे क्षुर नामक बाण से वृक्ष पर बैठे हुए उस गीध का मस्तक वेगपूर्वक काट गिराया।

तस्मिन् कर्मणि संसिद्धे पर्यष्वजत पाण्डवम्।
मेने च द्रुपदं संख्ये सानुबन्धं पराजितम् ॥५४॥

इस कार्य में सफल होने पर आचार्य ने अर्जुन को हृदय से लगा लिया तथा उन्हें यह विश्वास हो

गया कि राजा द्रुपद युद्ध में अर्जुन द्वारा अपने बन्धु-वान्धवों सहित अवश्य पराजित हो जाएँगे।

कस्यचित् त्वथ कालस्य स शिष्योऽङ्गिरसां वरः।
जगाम गङ्गामभितो मज्जितुं भरतर्षभ ॥५५॥

भरतकुलभूषण ! तत्पश्चात् किसी समय अङ्गिरसवंशियों में श्रेष्ठ आचार्य द्रोण अपने शिष्यों के साथ गङ्गा में स्नान करने के लिए गये।

अवगाढमथो द्रोणं सलिले सलिलेचरः।
ग्राहो जग्राह बलवाञ्जङ्घान्ते कालप्रेरितः ॥५६॥

वहाँ जल में डुबकी लगाते समय काल से प्रेरित हो एक बलवान् जलजन्तु ग्राह ने द्रोणाचार्य की पिंडली पकड़ ली।

स समर्थोऽपि मोक्षाय शिष्यान् सर्वानचोदयत्।
ग्राहं हत्वा मोक्षयध्वं मामिति त्वरयन्निव ॥५७॥

वे अपने को छुड़ाने में समर्थ होते हुए भी मानो हड़बड़ाये हुए अपने सभी शिष्यों से बोले—"इस ग्राह को मारकर मुझे बचाओ !"

तद्वाक्यसमकालं तु बीभत्सुर्निशितैः शरैः।
अवार्यैः पञ्चभिर्ग्राहं मग्नमम्भस्यताडयत् ॥५८॥

उनके इस आदेश के साथ ही बीभत्सु [अर्जुन] ने पाँच अमोघ एवं तीखे बाणों द्वारा पानी में डूबे हुए उस ग्राह पर प्रहार किया।

इतरे त्वथ सम्मूढास्तत्र तत्र प्रपेदिरे।
तं तु दृष्ट्वा क्रियोपेतं द्रोणोऽमन्यत पाण्डवम् ॥५९॥
विशिष्टं सर्वशिष्येभ्यः प्रीतिमांश्चाभवत् तदा।
स पार्थबाणैर्बहुधा खण्डशः परिकल्पितः ॥६०॥
ग्राहः पञ्चत्वमापेदे जङ्घां त्यक्त्वा महात्मनः।
अथाब्रवीन्महात्मानं भारद्वाजो महारथम् ॥६१॥

दूसरे राजकुमार किंकर्तव्य-विमूढ से होकर अपने-अपने स्थान पर ही खड़े रह गये। अर्जुन को तत्काल कार्य में तत्पर देख द्रोणाचार्य ने उन्हें अपने सब शिष्यों से बढ़कर माना और उस समय वे उनपर बहुत प्रसन्न हुए। अर्जुन के बाणों से ग्राह के टुकड़े-टुकड़े हो गये और वह महात्मा द्रोण की पिंडली छोड़कर मर गया। तब द्रोणाचार्य ने महारथी महात्मा अर्जुन से कहा—

गृहाणेदं महाबाहो विशिष्टमतिदुर्धरम्।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम सप्रयोगनिवर्तनम् ॥६२॥

"महाबाहो ! यह ब्रह्मशिर नामक अस्त्र मैं तुम्हें प्रयोग और उपसंहार के साथ बता रहा हूँ। यह सब अस्त्रों से बढ़कर है, तथा इसे धारण करना भी अत्यन्त कठिन है। तुम इसे ग्रहण करो।

न च ते मानुषेष्वेतत् प्रयोक्तव्यं कथञ्चन।
जगद् विनिर्दहेदेतदल्पतेजसि पातितम् ॥६३॥

"मनुष्यों पर तुम्हें इस अस्त्र का प्रयोग किसी भी अवस्था में नहीं करना चाहिए। यदि किसी अल्प तेजवाले पुरुष पर इसे चलाया गया, तो यह उसके साथ ही समस्त संसार को भस्म कर सकता है।

असामान्यमिदं तात लोकेष्वस्त्रं निगद्यते।
तद् धारयेथाः प्रयतः शृणु चेदं वचो मम ॥६४॥

"तात ! यह अस्त्र तीनों लोकों में असाधारण बताया गया है। तुम मन और इन्द्रियों को संयम में रखकर इस अस्त्र को धारण करो और मेरी यह बात सुनो !

बाधेतामानुषः शत्रुर्यदि त्वां वीर कश्चन।
तद्वधाय प्रयुञ्जीथास्तदस्त्रमिदमाहवे ॥६५॥

'वीर ! यदि कोई अमानव शत्रु तुम्हें युद्ध में पीड़ा देने लगे तो तुम उसका वध करने के लिए इस अस्त्र का प्रयोग कर सकते हो।"

तथेति सम्प्रतिश्रुत्य बीभत्सुः स कृताञ्जलिः।
जग्राह परमास्त्रं तदाह चैनं पुनर्गुरुः।
भविता त्वत्समो नान्यः पुमाँल्लोके धनुर्धरः ॥६६॥

तब अर्जुन ने 'बहुत अच्छा' कहकर वैसा ही करने की प्रतिज्ञा की और हाथ जोड़कर उस उत्तम अस्त्र को ग्रहण किया। उस समय गुरु द्रोणाचार्य ने अर्जुन से पुनः यह बात कही—"संसार में दूसरा कोई पुरुष तुम्हारे समान धनुर्धर नहीं होगा।"

– इति महाभारते आदिपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

राजकुमारों का रङ्गभूमि में अस्त्र-कौशल दिखलाना

वैशम्पायन उवाच

कृतास्त्रान् धार्तराष्ट्रांश्च पाण्डुपुत्रांश्च भारत ।
दृष्ट्वा द्रोणोऽब्रवीद् राजन् धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतकुलभूषण राजन् ! जब द्रोण ने देखा कि धृतराष्ट्र के पुत्र तथा पाण्डव अस्त्र-विद्या की शिक्षा समाप्त कर चुके, तब उन्होंने धृतराष्ट्र से कहा—

राजन् सम्प्राप्तविद्यास्ते कुमाराः कुरुसत्तम ।
ते दर्शयेयुः स्वां शिक्षां राजन्ननुमते तव ॥२॥

"राजन् ! आपके कुमार अस्त्र-विद्या की शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं, कुरुश्रेष्ठ ! यदि आपकी अनुमति हो तो वे अपनी सीखी हुई अस्त्र-संचालन की कला का प्रदर्शन करें।"

ततोऽब्रवीन्महाराजः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
भारद्वाज महत् कर्म कृतं ते द्विजसत्तम ॥३॥

यह सुनकर महाराज धृतराष्ट्र अत्यन्त प्रसन्न-चित्त से बोले—"द्विजश्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन ! आपने [राजकुमारों को शिक्षा प्रदान कर] बहुत बड़ा कार्य किया है।

यदानुमन्यसे कालं यस्मिन् देशे यथा यथा ।
तथा तथा विधानाय स्वयमाज्ञापयस्व माम् ॥४॥

"आप कुमारों की अस्त्र-शिक्षा प्रदर्शन के लिए जब जो समय ठीक समझें, जिस स्थान पर और जिस प्रकार का प्रबन्ध आवश्यक मानें, वैसी ही तैयारी करने के लिए स्वयं ही मुझे आज्ञा दें।

स्पृहयाम्यद्य निर्वेदात् पुरुषाणां सचक्षुषाम् ।
अस्त्रहेतोः पराक्रान्तान् ये मे द्रक्ष्यन्ति पुत्रकान् ॥५॥

"आज मैं नेत्रहीन होने के कारण दुःखी होकर उन मनुष्यों का सुख और सौभाग्य पाने के लिए तरस रहा हूँ, जिनके पास आँखें हैं, क्योंकि वे अस्त्र-कौशल का प्रदर्शन करने के लिए भाँति-भाँति के पराक्रम करनेवाले मेरे पुत्रों को देखेंगे।

क्षत्तर्यद् गुरुराचार्यो ब्रवीति कुरु तत् तथा ।
न हीदृशं प्रियं मन्ये भविता धर्मवत्सल ॥६॥

[आचार्य से ऐसा कहकर उन्होंने विदुरजी से कहा—] "धर्मवत्सल ! विदुर ! गुरु द्रोणाचार्य जो काम जैसे कहते हैं, उसे उसी प्रकार करो। मेरी सम्मति में इसके समान प्रिय कार्य दूसरा नहीं होगा।"

ततो राजानमामन्त्र्य निर्गतो विदुरो बहिः ।
भारद्वाजो महाप्राज्ञो मापयामास मेदिनीम् ॥७॥

तब राजा की आज्ञा लेकर विदुरजी [द्रोणाचार्य के साथ] बाहर आये। महाबुद्धिमान् भरद्वाजनन्दन द्रोण ने रङ्गमण्डप के लिए एक भूमि पसन्द की और उसे नपवाया।

मञ्चांश्च कारयामासुस्तत्र जानपदा जनाः ।
विपुलानुच्छ्रयोपेतान् शिबिकाश्च महाधनाः ॥८॥

जनपद के लोगों ने अपने बैठने के लिए वहाँ ऊँचे और विशाल मञ्च बनवाये तथा [स्त्रियों को लाने के लिए] बहुमूल्य शिविकाएँ तैयार कराईं।

तस्मिंस्ततोऽहनि प्राप्ते राजा ससचिवस्तदा ।
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा प्रेक्षागारमुपागमत् ॥९॥

तदनन्तर जब निश्चित दिन आया तब मन्त्रियों-सहित राजा धृतराष्ट्र भीष्मजी को आगे करके उस प्रेक्षागृह[1] [रङ्गभूमि] में आये।

गान्धारी च महाभागा कुन्ती च जयतां वर ।
स्त्रियश्च राज्ञः सर्वास्ताः सप्रेष्याः सपरिच्छदाः ॥१०
ब्राह्मणक्षत्रियाद्यं च चातुर्वर्ण्यं पुराद्द्रुतम् ।
दर्शनेप्सु समभ्यागात् कुमाराणां कृतास्त्रताम् ॥११॥

विजयी वीरों में श्रेष्ठ जनमेजय ! परम सौभाग्य-शालिनी गान्धारी, कुन्ती तथा राजभवन की सभी स्त्रियाँ वस्त्राभूषणों से विभूषित होकर दास-दासियों और आवश्यक सामग्रियों के साथ उस रङ्गभूमि में आईं। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णों के लोग भी कुमारों का अस्त्र-कौशल देखने की इच्छा से तुरन्त नगर से निकलकर आ गये।

---

१. उत्सव अथवा नाटक आदि को सुविधापूर्वक देखने के उद्देश्य से बनाये गये स्थान को प्रेक्षागृह कहते हैं।

प्रवादितैश्च वादित्रैर्जनकौतूहलेन च।
महार्णव इव क्षुब्धः समाजः सोऽभवत् तदा ॥१२॥

अनेक प्रकार के बाजों के बजने से तथा मनुष्यों के बढ़ते हुए कौतूहल से वह जनसमूह उस समय क्षुब्ध महासागर के समान जान पड़ता था।

ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान्।
शुक्लकेशः सितश्मश्रुः शुक्लमाल्यानुलेपनः ॥१३॥
रङ्गमध्यं तदाचार्यः सपुत्रः प्रविवेश ह।
नभो जलधरैर्हीनं साङ्गारक इवांशुमान् ॥१४॥

तत्पश्चात् श्वेतवस्त्र और श्वेत यज्ञोपवीत धारण किये आचार्य द्रोण ने अपने पुत्र अश्वत्थामा के साथ रङ्गभूमि में प्रवेश किया, मानो मेघ-रहित आकाश में चन्द्रमा ने मङ्गल के साथ पदार्पण किया हो। आचार्य के सिर और दाढ़ी-मूंछ के बाल सफेद हो गये थे। वे श्वेत पुष्पों की माला और श्वेत चन्दन से सुशोभित हो रहे थे।

ततो बद्धाङ्गुलित्राणा बद्धकक्षा महारथाः।
बद्धतूणाः सधनुषो विविशुर्भरतर्षभाः ॥१५॥

द्रोणाचार्य के आगमन के पश्चात् भरतवंशियों में श्रेष्ठ वे वीर राजकुमार बड़े-बड़े रथों के साथ दस्ताने पहने, कमर कसे, पीठ पर तूणीर बाँधे और धनुष लिये हुए उस रङ्गभूमि में आये।

अनुज्येष्ठं तु ते तत्र युधिष्ठिरपुरोगमाः।
चक्रुरस्त्रं महावीर्याः कुमाराः परमाद्भुतम् ॥१६॥

नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर आदि वे राजकुमार बड़े-छोटे के क्रम से स्थित हो गये। तत्पश्चात् वे महापराक्रमी राजकुमार वहाँ परम अद्भुत अस्त्र-कौशल प्रकट करने लगे।

केचिच्छराक्षेपभयाच्छिरांस्यवननामिरे।
मनुजा धृष्टमपरे वीक्षाञ्चक्रुः सुविस्मिताः ॥१७॥

कितने ही मनुष्य वाण लग जाने के भय से अपना मस्तक झुका देते थे। दूसरे लोग अत्यन्त विस्मित होकर बिना किसी घबराहट के सब-कुछ देखते थे।

ते स्म लक्ष्याणि विभिदुर्बाणैर्नामाङ्कशोभितैः।
विविधैर्लाघवोत्सृष्टैरुह्यन्तो वाजिभिर्द्रुतम् ॥१८॥

वे राजकुमार घोड़ों पर सवार हो अपने नाम के अक्षरों से सुशोभित और बड़ी फुर्ती के साथ छोड़े हुए नाना प्रकार के बाणों द्वारा शीघ्रतापूर्वक लक्ष्य-वेध करने लगे।

तत् कुमारबलं तत्र गृहीतशरकार्मुकम्।
गन्धर्वनगराकारं प्रेक्ष्य ते विस्मिताभवन् ॥१९॥

धनुष-बाण लिये हुए राजकुमारों के उस समुदाय को गन्धर्वनगर के समान उपस्थित देख वहाँ आये हुए समस्त दर्शक आश्चर्यचकित हो गये।

सहसा चुक्रुशुश्चान्ये नराः शतसहस्रशः।
विस्मयोत्फुल्लनयनाः साधु साध्विति भारत ॥२०॥

हे जनमेजय! सैकड़ों और सहस्रों की संख्या में एक-एक स्थान पर बैठे हुए लोग आश्चर्यचकित नेत्रों से देखते हुए सहसा 'साधु-साधु' [वाह-वाह] कहकर कोलाहल मचा देते थे।

कृत्वा धनुषि ते मार्गान् रथचर्यासु चासकृत्।
गजपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च नियुद्धे च महाबलाः ॥२१॥

उन महाबली राजकुमारों ने पहले धनुष-बाण के पैंतरे दिखाये। तत्पश्चात् रथ-संचालन के विविध मार्गों [शीघ्र ले जाना, लौटा लाना, दाएँ, बाएँ और मण्डलाकार चलाना आदि] का अवलोकन कराया। फिर कुश्ती लड़ने तथा हाथी और घोड़े की पीठ पर बैठकर युद्ध करने की चातुरी का परिचय दिया।

गृहीतखड्गचर्माणस्ततो भूयः प्रहारिणः।
त्सरुमार्गान् यथोद्दिष्टांश्चेरुः सर्वासु भूमिषु ॥२२॥

तदनन्तर वे ढाल और तलवार लेकर एक-दूसरे पर प्रहार करते हुए खड्ग चलाने के शास्त्रोक्त मार्ग [ऊपर-नीचे और अगल-बगल में घुमाने की कला] का प्रदर्शन करने लगे। उन्होंने रथ, हाथी, घोड़े और भूमि—इन सभी आधार-भूमियों पर यह युद्ध-कौशल दिखाया।

अथ तौ नित्यसंहृष्टौ सुयोधनवृकोदरौ।
अवतीर्णौ गदाहस्तावेकशृङ्गाविवाचलौ ॥२३॥

तत्पश्चात् एक-दूसरे को जीतने का उत्साह रखने-वाले दुर्योधन और भीम हाथ में गदा लिये रङ्गभूमि में उतरे। उस समय वे एक-एक शिखरवाले दो पर्वतों की भाँति शोभा पा रहे थे।

तौ प्रदक्षिणसव्यानि मण्डलानि महाबलौ।
चेरतुर्मण्डलगतौ समदाविव कुञ्जरौ ॥२४॥

वे दोनों महाबली योद्धा अपनी-अपनी गदाओं को दाएँ-बाएँ मण्डलाकार घुमाते हुए दो मदोन्मत्त हाथियों की भाँति मण्डल के भीतर विचरने लगे।

विदुरो धृतराष्ट्राय गान्धार्यैः पाण्डवारणिः।
न्यवेदयेतां तत् सर्वं कुमाराणां विचेष्टितम् ॥२५॥

विदुर धृतराष्ट्र को और पाण्डव-जननी कुन्ती गान्धारी को उन राजकुमारों की सारी चेष्टाएँ बताते जाते थे।

कुरुराजे हि रङ्गस्थे भीमे च बलिनां वरे।
पक्षपातकृतस्नेहः स द्विधेवाभवज्जनः ॥२६॥

जब कुरुराज दुर्योधन और बलवानों में श्रेष्ठ भीमसेन रङ्गभूमि में उतरकर गदा-युद्ध कर रहे थे, उस समय दर्शक जनता उनके प्रति पक्षपातपूर्ण स्नेह करने के कारण मानो दो दलों में बँट गई।

हा वीर कुरुराजेति हा भीम इति जल्पताम्।
पुरुषाणां सुविपुलाः प्रणादाः सहसोत्थिताः ॥२७॥

कुछ कहते—"अहो! वीर कुरुराज कैसा अद्भुत पराक्रम दिखा रहे हैं।" तभी दूसरे चिल्ला पड़ते—"वाह! भीमसेन तो गजब का हाथ मारते हैं।" इस प्रकार की बातें करनेवाले लोगों की भारी आवाजें वहाँ सहसा सब ओर गूंजने लगीं।

ततः क्षुब्धार्णवनिभं रङ्गमालोक्य बुद्धिमान्।
भारद्वाजः प्रियं पुत्रमश्वत्थामानमब्रवीत् ॥२८॥

फिर तो सारी रङ्गभूमि में क्षुब्ध महासागर के समान हलचल मच गई। यह देख बुद्धिमान् द्रोणाचार्य ने अपने प्रिय पुत्र अश्वत्थामा से कहा—

द्रोण उवाच

वारयैतौ महावीर्यौ कृतयोग्यावुभावपि।
माभूद् रङ्गप्रकोपोऽयं भीमदुर्योधनोद्भवः ॥२९॥

द्रोणाचार्य बोले—वत्स! ये दोनों पराक्रमी वीर अस्त्र-विद्या में अत्यन्त अभ्यस्त हैं। तुम इन दोनों को युद्ध से रोको, जिससे भीमसेन और दुर्योधन को लेकर रङ्गभूमि में सर्वत्र क्रोध न फैल जाए।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तावुद्यतगदौ गुरुपुत्रेण वारितौ।
युगान्तानिलसंक्षुब्धौ महावेलाविवार्णवौ ॥३०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब गुरु-पुत्र अश्वत्थामा ने प्रलयकालीन वायु से विक्षुब्ध उत्ताल तरङ्गोंवाले दो समुद्रों की भाँति गदा उठाये हुए दुर्योधन और भीम को युद्ध करने से रोक दिया।

ततो रङ्गाङ्गणगतो द्रोणो वचनमब्रवीत्।
निवार्य वादित्रगणं महामेघनिभस्वनम् ॥३१॥

उनका युद्ध बन्द होने पर द्रोणाचार्य ने महान् मेघों के समान कोलाहल करनेवाले बाजों को बन्द कराकर रङ्गभूमि में उपस्थित होकर यह बात कही—

यो मे पुत्रात् प्रियतरः सर्वशस्त्रविशारदः।
ऐन्द्रिरिन्द्रानुजसमः स पार्थो दृश्यतामिति ॥३२॥

"दर्शकगण! जो मुझे पुत्र से भी अधिक प्रिय है, जिसने सम्पूर्ण शस्त्रों में निपुणता प्राप्त की है, जो विष्णु के समान पराक्रमी है, उस इन्द्रकुमार कुन्तीपुत्र अर्जुन का कौशल अब आप लोग देखें।"

आचार्यवचनेनाथ कृतस्वस्त्ययनो युवा।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणः प्रत्यदृश्यत फाल्गुनः ॥३३॥

तब आचार्य के आदेश से स्वस्तिवाचन कराकर तरुण वीर अर्जुन हाथों में गोह के चमड़े के बने दस्ताने पहने हुए [धनुष हाथ में लिये] रङ्गभूमि में दिखाई दिये।

ततः सर्वस्य रङ्गस्य समुत्पिञ्जलकोऽभवत्।
प्रावाद्यन्त च वाद्यानि सशंखानि समन्ततः ॥३४॥

फिर तो सम्पूर्ण रङ्गमण्डप में हर्षोल्लास छा गया और सब ओर भाँति-भाँति के बाजे और शंख बजने लगे।

तस्मिन् प्रमुदिते रङ्गे कथंचित् प्रत्युपस्थिते।
दर्शयामास बीभत्सुराचार्यायास्त्रलाघवम् ॥३५॥
आग्नेयेनासृजद् वह्निं वारुणेनासृजत् पयः।
वायव्येनासृजद्वायुं पार्जन्येनासृजद् घनान् ॥३६॥

आनन्दातिरेक से मुखरित हुआ वह रङ्गमण्डप जब किसी प्रकार कुछ शान्त हुआ, तब अर्जुन ने आचार्य को अपनी अस्त्र-संचालन की फुर्ती दिखानी आरम्भ की। उन्होंने पहले आग्नेयास्त्र से अग्नि उत्पन्न की, फिर वारुणास्त्र से जल उत्पन्न करके उसे बुझा दिया। वायव्यास्त्र से आँधी चला दी और पर्जन्यास्त्र से बादल प्रकट कर दिये।

भौमेन प्राविशद् भूमिं पार्वतेनासृजद् गिरीन् ।
अन्तर्धानेन चास्त्रेण पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥३७॥

उन्होंने भौमास्त्र से पृथिवी में प्रवेश किया। और पर्वतास्त्र से पर्वतों को उत्पन्न कर दिया, फिर अन्तर्धानास्त्र द्वारा वे स्वयं अदृश्य हो गये ।

क्षणात्प्रांशुः क्षणाद्ध्रस्वः क्षणाच्च रथधूर्गतः ।
क्षणेन रथमध्यस्थः क्षणेनावतरन्महीम् ॥३८॥

वे क्षणभर में बहुत लम्बे हो जाते तथा क्षणभर में ही बहुत छोटे बन जाते थे। एक क्षण में रथ के धुरे पर खड़े होते तो दूसरे ही क्षण रथ के बीच में दिखाई देते थे। फिर पलक मारते-मारते पृथिवी पर उतर कर अस्त्र-कौशल दिखाने लगते थे।

भ्रमतश्च वराहस्य लोहस्य प्रमुखे समम् ।
पञ्च बाणानसंयुक्तान् सम्मुमोचैकबाणवत् ॥३९॥

तत्पश्चात् वीर अर्जुन ने चक्कर लगाते हुए लोहनिर्मित सूअर के मुख में एक ही साथ एक बाण की भाँति मिलाकर पांच बाण मारे। किन्तु वे पाँचों बाण एक-दूसरे से सटे हुए नहीं थे ।

गव्ये विषाणकोषे च चले रज्ज्ववलम्बिनि ।
निचखान महावीर्यः सायकानेकविंशतिम् ॥४०॥

एक स्थान पर गाय का एक सींग रस्सी में लटकाया गया था, जो हिल रहा था। महापराक्रमी अर्जुन ने उस सींग के छेद में लगातार इक्कीस बाण गड़ा दिये ।

इत्येवमादि सुमहत् खड्गे धनुषि चानघ ।
गदायां शस्त्रकुशलो मण्डलानि ह्यदर्शयत् ॥४१॥

निष्पाप जनमेजय ! इस प्रकार उन्होंने बड़ा भारी अस्त्र-कौशल दिखलाया। खड्ग, धनुष और गदा आदि के भी शस्त्र-कुशल अर्जुन ने अनेक पैंतरे और हाथ दिखलाये ।

इति महाभारते आदिपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

कर्ण का रङ्गभूमि में प्रवेश, दुर्योधन द्वारा उसका राज्याभिषेक, भीम द्वारा कर्ण का तिरस्कार और दुर्योधन द्वारा उसका सम्मान

वैशम्पायन उवाच

ततः समाप्त भूयिष्ठे तस्मिन् कर्मणि भारत ।
मन्दीभूते समाजे च वादित्रस्य च निःस्वने ॥१॥
द्वारदेशात् समुद्भूतो माहात्म्यबलसूचकः ।
वज्रनिष्पेषसदृशः शुश्रुवे भुजनिःस्वनः ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार अस्त्र-कौशल दिखाने का अधिकांश कार्य जब समाप्त हो चला, मनुष्यों का कोलाहल और बाजे-गाजे का शब्द भी जब शान्त होने लगा, उसी समय द्वार की ओर से किसी का अपनी भुजाओं पर ताल ठोंकने का भारी शब्द सुनाई पड़ा, मानो वज्र आकाश में टकरा रहे हों। यह शब्द किसी वीर के माहात्म्य तथा बल का सूचक था ।

दीर्यन्ते किं नु गिरयः किंस्विद् भूमिर्विदीर्यते ।
किंस्विदापूर्यते व्योम जलधाराघनैर्घनैः ॥३॥

[उस शब्द को सुनकर लोग कहने लगे—] "कहीं पहाड़ तो नहीं फट गये, पृथिवी तो विदीर्ण नहीं हो गई ? अथवा जल की धारा से परिपूर्ण घनीभूत बादलों की गम्भीर गर्जना से आकाशमण्डल तो नहीं गूंज रहा है ?"

रङ्गस्यैवं मतिरभूत् क्षणेन वसुधाधिप ।
द्वारं चाभिमुखाः सर्वे बभूवुः प्रेक्षकास्तदा ॥४॥

हे राजन् ! उस रङ्गमण्डप में बैठे हुए लोगों के मन में क्षणभर में उपर्युक्त विचार आने लगे। उस समय सभी दर्शक द्वार की ओर मुंह घुमाकर देखने लगे ।

दत्तावकाशः पुरुषैर्विस्मयोत्फुल्ललोचनैः ।
विवेश रङ्गं विस्तीर्णं कर्णः परपुरंजयः ॥५॥

आश्चर्य से आँखें फाड़-फाड़कर देखनेवाले दर्शकों ने जब भीतर जाने का मार्ग दे दिया, तब शत्रुओं की

राजधानी पर विजय पानेवाले कर्ण[1] ने उस विशाल रङ्गमण्डप में प्रवेश किया ।

सहजं कवचं बिभ्रत् कुण्डलोद्द्योतिताननः ।
सधनुर्बद्धनिस्त्रिंशः पादचारीव पर्वतः ॥६॥

उसने सहज स्वभाव से कवच धारण किया हुआ था । दोनों कानों के कुण्डल उसके मुख को उद्भासित कर रहे थे । हाथ में धनुष लिये और कमर में तलवार बाँधे वह वीर पैरों से चलनेवाले पर्वत की भाँति सुशोभित हो रहा था ।

सिंहर्षभगजेन्द्राणां बलवीर्यपराक्रमः ।
दीप्तिकान्तिद्युतिगुणैः सूर्येन्दुज्वलनोपमः ॥७॥

उसमें सिंह के समान बल, साँड के समान वीर्य और गजराज के समान पराक्रम था, वह दीप्ति से सूर्य, कान्ति से चन्द्रमा तथा तेजरूपी गुण से अग्नि के समान जान पड़ता था ।

स निरीक्ष्य महाबाहुः सर्वतो रङ्गमण्डलम् ।
प्रणामं द्रोणकृपयोर्नात्यादृतमिवाकरोत् ॥८॥

उस समय महाबाहु कर्ण ने रङ्गमण्डप में सब ओर दृष्टि दौड़ाकर द्रोणाचार्य और कृपाचार्य को इस प्रकार प्रणाम किया, मानो उनके प्रति उसके मन में अधिक आदर का भाव न हो ।

स समाजजनः सर्वो निश्चलः स्थिरलोचनः ।
कोऽयमित्यागतक्षोभः कौतूहलपरोऽभवत् ॥९॥

रङ्गभूमि में जितने लोग थे, वे सब निश्चल होकर एकटक दृष्टि से देखने लगे । यह कौन है, यह जानने के लिए उनका चित्त चञ्चल हो उठा । वे सब-के-सब उत्कण्ठित हो गये ।

कर्ण उवाच

पार्थ यत् ते कृतं कर्म विशेषवदहं ततः ।
करिष्ये पश्यतां नृणां माऽऽत्मना विस्मयं गमः ॥१०॥

कर्ण बोला—कुन्तीनन्दन ! तुमने इन दर्शकों के समक्ष जो कार्य किया है, मैं उससे भी अधिक आश्चर्यजनक कर्म कर दिखाऊँगा, अतः तुम अपने पराक्रम पर गर्व मत करो ।

वैशम्पायन उवाच

प्रीतिश्च मनुजव्याघ्र दुर्योधनमुपाविशत् ।
ह्रीश्च क्रोधश्च बीभत्सुं क्षणेनान्वाविवेश ह ॥११॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे नरश्रेष्ठ ! उस समय [कर्ण की बात सुनकर] दुर्योधन के मन में बड़ी प्रसन्नता हुई और अर्जुन के चित्त में क्षणभर में लज्जा तथा क्रोध का संचार हो आया ।

ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः कर्णः प्रियरणः सदा ।
यत् कृतं तत्र पार्थेन तच्चकार महाबलः ॥१२॥

तब सदा युद्ध से ही प्रेम करनेवाले महाबली कर्ण ने द्रोणाचार्य की आज्ञा लेकर, अर्जुन ने वहाँ जो-जो अस्त्र-कौशल प्रकट किया था, वह सब कर दिखाया ।

अथ दुर्योधनस्तत्र भ्रातृभिः सह भारत ।
कर्णं परिष्वज्य मुदा ततो वचनमब्रवीत् ॥१३॥

भरतश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् भाइयों के सहित दुर्योधन ने वहाँ अत्यन्त प्रसन्नता के साथ कर्ण को हृदय से लगाकर कहा—

---

१. महाभारत में अनेक स्थानों पर कर्ण का कुमारी-अवस्था में कुन्ती से उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है। यह सब महाभारत में समय-समय पर हुए प्रक्षेपों के कारण है। हमारे विचार में कर्ण कुन्ती का पुत्र नहीं था। श्रीकृष्णजी द्वारा कर्ण को कुन्ती का पुत्र बनाया गया था। पीछे यह धारणा बद्धमूल हो गई कि कर्ण कुन्ती का पुत्र था। महाभारत में इतने प्रक्षेप हुए हैं कि वास्तविक तथ्यों को खोज निकालना कठिन है। वायुपुराण में चन्द्रवंशी राजा अनु की वंशावली का वर्णन करते हुए कहा गया है—

आसीद्दृढरथस्यापि विश्वजिज्जनमेजयः ।
दायादस्तस्य चाङ्गेभ्यो यस्मात्कर्णोऽभवन्नृपः ॥

—वायु पु० ९९।१११, ११२

राजा दृढरथ का पुत्र विश्वविजयी राजा जनमेजय हुआ। उसके अङ्गों से राजा कर्ण हुआ, जो उसका उत्तराधिकारी था।

यह अधिरथ के पास कैसे पहुँच गया, इस सब की कड़ी जोड़ना कठिन है। इतना तो निश्चित ही है कि यह सूतपुत्र नहीं था। हाँ, हो सकता है, एकलव्य की भाँति सूत द्वारा इसका भी लालन-पालन किया गया हो।

दुर्योधन उवाच

स्वागतं ते महाबाहो दिष्टया प्राप्तोऽसि मानद ।
मामपि कुरुराज्यं च यथेष्टमुपभुज्यताम् ॥१४॥

दुर्योधन बोला—हे महाबाहो ! आपका स्वागत है । मानद ! तुम यहाँ पधारे, यह हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात है । मैं तथा कौरवों का यह राज्य सब तुम्हारे हैं । तुम इनका यथेष्ट उपभोग करो ।

कर्ण उवाच

कृतं सर्वमहं मन्ये सखित्वं च त्वया वृणे ।
द्वन्द्वयुद्धं च पार्थेन कर्तुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥१५॥

कर्ण ने कहा—प्रभो ! आपने जो कुछ कहा है, वह सब पूरा कर दिया, ऐसा मेरा विश्वास है । मैं आपके साथ मित्रता चाहता हूँ और अर्जुन के साथ मेरी द्वन्द्वयुद्ध करने की इच्छा है ।

दुर्योधन उवाच

भुंक्ष्व भोगान् मया सार्धं बन्धूनां प्रियकृद् भव ।
दुर्हृदां कुरु सर्वेषां मूर्ध्नि पादमरिन्दम ॥१६॥

दुर्योधन बोला—शत्रुदमन ! तुम मेरे साथ उत्तम भोग भोगो । अपने भाई-बन्धुओं का प्रिय करो और समस्त शत्रुओं के मस्तक पर पैर रखो ।

वैशम्पायन उवाच

ततः क्षिप्तमिवात्मानं मत्वा पार्थोऽभ्यभाषत ।
कर्णं भ्रातृसमूहस्य मध्येऽचलमिव स्थितम् ॥१७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय अर्जुन ने अपने आपको कर्ण द्वारा तिरस्कृत-सा मानकर दुर्योधन आदि सौ भाइयों के बीच में अचल (पर्वत) से खड़े हुए कर्ण को सम्बोधित करके कहा—

अर्जुन उवाच

अनाहूतोपसृष्टानामनाहूतोपजल्पिनाम् ।
ये लोकास्तान् हतः कर्ण मया त्वं प्रतिपत्स्यसे ॥१८॥

अर्जुन ने कहा—कर्ण ! बिना बुलाये आनेवालों और बिना बुलाये बोलनेवालों को जो [निन्दनीय] लोक प्राप्त होते हैं, मेरे द्वारा मारे जाने पर तुम उन्हीं लोकों में जाओगे ।

कर्ण उवाच

रङ्गोऽयं सर्वसामान्यः किमत्र तव फाल्गुन ।
वीर्यश्रेष्ठाश्च राजानो बलं धर्मोऽनुवर्तते ॥१९॥

कर्ण बोला—अर्जुन ! यह रङ्गमण्डप तो सबके लिए सामान्य है, इसमें तुम्हारा क्या लगा है ? जो बल और पराक्रम में श्रेष्ठ होते हैं, वे ही राजा कहलाने योग्य हैं । धर्म भी बल का ही अनुसरण करता है ।

किं क्षेपैर्दुर्बलायासैः शरैः कथय भारत ।
गुरोः समक्षं यावत् ते हराम्यद्य शिरः शरैः ॥२०॥

भारत ! आक्षेप करना तो दुर्बलों का कार्य है । इससे क्या लाभ है ? साहस हो तो बाणों से बातचीत करो । मैं आज तुम्हारे गुरु के सामने ही बाणों द्वारा तुम्हारे सिर को धड़ से अलग किये देता हूँ ।

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः पार्थः परपुरञ्जयः ।
भ्रातृभिस्त्वरयाऽऽश्लिष्टो रणायोपजगाम तम् ॥२१

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तब शत्रुओं के नगर को जीतनेवाले कुन्तीनन्दन अर्जुन आचार्य द्रोण की आज्ञा ले तुरन्त अपने भाइयों से गले मिलकर युद्ध के लिए कर्ण की ओर बढ़े ।

ततो दुर्योधनेनापि सभ्रात्रा समरोद्यतः ।
परिष्वक्तः स्थितः कर्णः प्रगृह्य सशरं धनुः ॥२२॥

तब भाइयों-सहित दुर्योधन ने भी धनुष-बाण ले युद्ध के लिए तैयार खड़े हुए कर्ण का आलिङ्गन किया ।

धार्तराष्ट्रा यतः कर्णस्तस्मिन् देशे व्यवस्थिताः ।
भारद्वाजः कृपो भीष्मो यतः पार्थस्ततोऽभवन् ॥२३॥

धृतराष्ट्र के पुत्र जिस ओर कर्ण था, उसी ओर खड़े हुए तथा द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और भीष्म जिधर अर्जुन थे, उस ओर खड़े थे ।

तावुद्यतमहाचापौ कृपः शारद्वतोऽब्रवीत् ।
द्वन्द्वयुद्धसमाचारे कुशलः सर्वधर्मवित् ॥२४॥

उन दोनों को विशाल धनुष उठाये देख द्वन्द्वयुद्ध की नीति-रीति में कुशल और समस्त धर्मों के ज्ञाता शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य ने इस प्रकार कहा—

कृप उवाच

अयं पृथायास्तनयः कनीयान् पाण्डुनन्दनः ।
कौरवो भवता सार्धं द्वन्द्वयुद्धं करिष्यति ॥२५॥
त्वमप्येवं महाबाहो मातरं पितरं कुलम् ।
कथयस्व नरेन्द्राणां येषां त्वं कुलभूषणम् ॥२६॥

कृपाचार्य बोले—हे कर्ण ! ये कुन्तदेवी के सबसे छोटे पुत्र पाण्डुनन्दन अर्जुन कुरुवंश के रत्न हैं, जो तुम्हारे साथ द्वन्द्वयुद्ध करेंगे। महाबाहो ! इसी प्रकार तुम भी अपने माता-पिता तथा कुल का परिचय दो और उस नरेश का नाम बताओ, जिनका वंश तुमसे विभूषित हुआ है।

ततो विदित्वा पार्थस्त्वां प्रतियोत्स्यति वा न वा।
वृथाकुलसमाचारैर्न युध्यन्ते नृपात्मजाः ॥२७॥

यह जान लेने के पश्चात् यह निश्चय होगा कि अर्जुन तुम्हारे साथ युद्ध करेंगे अथवा नहीं, क्योंकि राजकुमार नीच कुल और हीन आचार-विचारवाले लोगों के साथ युद्ध नहीं करते।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्य कर्णस्य व्रीडावनतमाननम्।
बभौ वर्षाम्बुविक्लिन्नं पद्ममागलितं यथा ॥२८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कृपाचार्य के ऐसा कहने पर कर्ण का मुख लज्जा से नीचे झुक गया। जैसे वर्षा के पानी से भीगकर कमल मुर्झा जाता है, वैसे ही कर्ण का मुख कान्तिहीन हो गया। तब—

दुर्योधन उवाच

आचार्य त्रिविधा योनी राज्ञां शास्त्रविनिश्चये।
सत्कुलीनश्च शूरश्च यश्च सेनां प्रकर्षति ॥२९॥

दुर्योधन बोला—आचार्य ! शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार राजाओं की तीन योनियाँ हैं—उत्तम कुल में उत्पन्न पुरुष, शूरवीर तथा सेनापति [अतः शूरवीर होने के कारण कर्ण भी राजा ही हैं]।

यद्ययं फाल्गुनो युद्धे नाराज्ञा योद्धुमिच्छति।
तस्मादेषोऽङ्गविषये मया राज्येऽभिषिच्यते ॥३०॥

यदि ये अर्जुन राजा से भिन्न पुरुष के साथ रणभूमि में लड़ना नहीं चाहते, तो मैं कर्ण को इसी समय अङ्गदेश के राज्य पर अभिषिक्त करता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तस्मिन् क्षणे कर्णः सलाजकुसुमैर्घटैः।
काञ्चनैः काञ्चने पीठे मन्त्रविद्भिर्महारथः ॥३१॥
अभिषिक्तोऽङ्गराज्ये स श्रिया युक्तो महाबलः।
सच्छत्रबालव्यजनो जयशब्दोत्तरेण च ॥३२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब दुर्योधन की आज्ञा से उसी समय महाबली एवं महारथी कर्ण को सोने के सिंहासन पर बिठाकर मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणों ने लाजाओं [धान की खीलों] और फूलों से युक्त सुवर्णमय कलशों के जल से अङ्गदेश के राज-पद पर अभिषिक्त किया। तब वह छत्र, चँवर तथा जय-जयकार के साथ राज्यश्री से सुशोभित होने लगा।

उवाच कौरवं राजन् वचनं स वृषस्तदा।
अस्य राज्यप्रदानस्य सदृशं किं ददानि ते ॥३३॥
प्रब्रूहि राजशार्दूल कर्ता ह्यस्मि तथा नृप।
अत्यन्तं सख्यमिच्छामीत्याह तं स सुयोधनः ॥३४॥

राजन् ! उस समय कर्ण ने कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन से कहा—"नृपतिशिरोमणे ! आपने मुझे जो यह राज्य प्रदान किया है, इसके अनुरूप मैं आपको क्या भेंट दूं ? बताइए, आप जैसा कहेंगे मैं वैसा ही करूँगा।" यह सुनकर दुर्योधन ने कहा—"अङ्गराज ! मैं तुम्हारे साथ ऐसी मित्रता चाहता हूँ जिसका कभी अन्त न हो।"

एवमुक्तस्ततः कर्णस्तथेति प्रत्युवाच तम्।
हर्षाच्चोभौ समाश्लिष्य परां मुदमवापतुः ॥३५॥

दुर्योधन के ऐसा कहने पर कर्ण ने 'बहुत अच्छा' कहकर उसके साथ मित्रता कर ली। फिर वे दोनों अति हर्ष के साथ एक-दूसरे को हृदय से लगाकर आनन्द-मग्न हो गये।

ततः स्रस्तोत्तरपटः सप्रस्वेदः सवेपथुः।
विवेशाधिरथो रङ्गं यष्टिप्राणो ह्वयन्निव ॥३६॥

उधर लाठी का सहारा लिये अधिरथ कर्ण को पुकारता हुआ-सा कांपता-कांपता रङ्गभूमि में आया। उसकी चादर खिसककर गिर पड़ी थी और वह पसीने से लथपथ हो रहा था।

तमालोक्य धनुस्त्यक्त्वा पितृगौरवयन्त्रितः।
कर्णोऽभिषेकार्द्रशिराः शिरसा समवन्दत ॥३७॥

पिता के गौरव से प्रेरित हुआ कर्ण अधिरथ को देखते ही धनुष त्यागकर सिंहासन से नीचे उतर आया। उसका मस्तक अभिषेक के जल से भीगा हुआ था। उसी अवस्था में उसने अधिरथ के चरणों में सिर रखकर उन्हें प्रणाम किया।

ततः पादाववच्छाद्य पटान्तेनससम्भ्रमः ।
पुत्रेति परिपूर्णार्थमब्रवीद् रथसारथिः ॥३८॥

घबराये हुए अधिरथ ने अपने दोनों पैरों को कपड़े के छोर से छिपा लिया और 'बेटा ! बेटा !' पुकारते हुए अपने को कृतार्थ माना।

परिष्वज्य च तस्याथ मूर्धानं स्नेहविक्लवः ।
अङ्गराज्याभिषेकार्द्रमश्रुभिः सिषिचे पुनः ॥३९॥

उसने स्नेह से विह्वल होकर कर्ण को हृदय से लगा लिया और अङ्गदेश के राज्य पर अभिषिक्त होने से भीगे हुए उसके मस्तक को अपने आँसुओं से पुनः अभिषिक्त कर दिया।

तं दृष्ट्वा सूतपुत्रोऽयमिति संचिन्त्य पाण्डवः ।
भीमसेनस्तदा वाक्यमब्रवीत् प्रहसन्निव ॥४०॥

अधिरथ को देखकर पाण्डुकुमार भीमसेन यह समझ गये कि कर्ण सूतपुत्र है। फिर तो वे हँसते हुए-से बोले—

भीम उवाच

न त्वमर्हसि पार्थेन सूतपुत्र रणे वधम् ।
कुलस्य सदृशस्तूर्णं प्रतोदो गृह्यतां त्वया ॥४१॥

भीमसेन बोले—अरे ओ सूतपुत्र ! तू तो अर्जुन के हाथ से मरने योग्य भी नहीं है। तुझे तो शीघ्र ही चाबुक हाथ में लेना चाहिए, क्योंकि यही कर्म तेरे कुल के अनुरूप है।

अङ्गराज्यं च नार्हस्त्वमुपभोक्तुं नराधम ।
श्वा हुताशसमीपस्थं पुरोडाशमिवाध्वरे ॥४२॥

नराधम ! जैसे यज्ञ में अग्नि के समीप रखे हुए पुरोडाश को कुत्ता नहीं खा सकता, उसी प्रकार तू भी अङ्गदेश का राज्य भोगने योग्य नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततः कर्णः किंचित्प्रस्फुरिताधरः ।
गगनस्थं विनिश्वस्य दिवाकरमुदैक्षत ॥४३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भीमसेन के ऐसा कहने पर क्रोध के मारे कर्ण के होठ कुछ काँपने लगे और उसने लम्बी साँस लेकर आकाशमण्डल में स्थित सूर्य की ओर देखा।

ततो दुर्योधनः कोपादुत्पपात महाबलः ।
भ्रातृपद्मवनात् तस्मान्मदोत्कट इव द्विपः ॥४४॥

इसी समय महाबली दुर्योधन क्रुद्ध हो मदोन्मत्त गजराज की भाँति भ्रातृ-समूहरूपी कमलवन से उछलकर बाहर निकल आया।

सोऽब्रवीद् भीमकर्माणं भीमसेनमवस्थितम् ।
वृकोदर न युक्तं ते वचनं वक्तुमीदृशम् ॥४५॥

उसने वहाँ खड़े हुए भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेन से कहा—"वृकोदर ! तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए—

क्षत्रियाणां बलं ज्येष्ठं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना ।
शूराणां च नदीनां च दुर्विदाः प्रभवाः किल ॥४६॥

"क्षत्रियों में बल की ही प्रधानता है। बलवान् होने पर क्षत्रबन्धु=हीनक्षत्रिय से भी युद्ध करना चाहिए। शूरवीरों और नदियों की उत्पत्ति के वास्तविक कारण को जान लेना बहुत कठिन है।

पृथिवीराज्यमर्होऽयं नाङ्गराज्यं नरेश्वरः ।
अनेन बाहुवीर्येण मया चाज्ञानुवर्तिना ॥४७॥

"राजा कर्ण अपने बाहुबल से तथा मुझ जैसे आज्ञापालक मित्र की सहायता से अङ्गदेश का ही नहीं समस्त भूमण्डल का राज्य पाने के अधिकारी हैं।

यस्य वा मनुजस्येदं न क्षान्तं मद्विचेष्टितम् ।
रथमारुह्य पद्भ्यां स विनामयतु कार्मुकम् ॥४८॥

"जिस मनुष्य से मेरा यह व्यवहार नहीं सहा जाता हो, वह रथ पर चढ़कर पैरों से अपने धनुष को झुकाए (हमारे सामने युद्ध के लिए तैयार हो जाए)।"

ततः सर्वस्य रङ्गस्य हाहाकारो महानभूत् ।
साधुवादानुसम्बद्धः सूर्यश्चास्तमुपागमत् ॥४९॥

यह सुनकर समस्त रङ्गमण्डप में दुर्योधन को मिलनेवाले साधुवाद के साथ ही [युद्ध की सम्भावना से] महान् हाहाकार मच गया। उधर सूर्यदेव अस्ताचल को चले गये।

ततो दुर्योधनः कर्णमालम्ब्याग्रकरे नृपः ।
दीपिकाग्निकृतालोकस्तस्माद् रङ्गाद्विनिर्ययौ ॥५०॥

तब दुर्योधन कर्ण के हाथ की अंगुलियाँ पकड़कर मशाल का प्रकाश करा उस रङ्गभूमि से बाहर निकल गया।

पाण्डवाश्च सहद्रोणाः सकृपाश्च विशाम्पते ।
भीष्मेण सहिताः सर्वे ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥५१॥

प्रजानाथ ! समस्त पाण्डव भी द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और पितामह भीष्मजी के साथ अपने-अपने निवासस्थान को चल दिये ।

अर्जुनेति जनः कश्चित् कश्चित् कर्णेति भारत ।
कश्चित् दुर्योधनेत्येवं ब्रुवन्तः प्रस्थितास्तदा ॥५२॥

हे भारत ! उस समय दर्शकों में कोई अर्जुन की, कोई कर्ण की और कोई दुर्योधन की प्रशंसा करते हुए चले गये ।

दुर्योधनस्यापि तदा कर्णमासाद्य पार्थिव ।
भयमर्जुनसंजातं क्षिप्रमन्तरधीयत ॥५३॥

हे जनमेजय ! उस समय कर्ण को मित्र के रूप में पाकर अर्जुन से प्राप्त होनेवाला दुर्योधन का भय भी शीघ्र दूर हो गया ।

इति महाभारते आदिपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

द्रोण का शिष्यों द्वारा द्रुपद पर आक्रमण करवाना, अर्जुन का उसे बन्दी बनाकर लाना और द्रोण का उसे आधा राज्य देकर मुक्त कर देना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवान्धार्तराष्ट्रांश्च कृतास्त्रान्प्रसमीक्ष्य सः ।
गुर्वर्थं दक्षिणाकाले प्राप्तेऽमन्यत वै गुरुः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! पाण्डवों तथा धृतराष्ट्र के पुत्रों को अस्त्र-विद्या में निपुण देख द्रोणाचार्य ने गुरु-दक्षिणा लेने का समय आया जान मन-ही-मन कुछ निश्चय किया ।

ततः शिष्यान् समानीय आचार्योऽर्थमचोदयत् ।
द्रोणः सर्वानशेषेण दक्षिणार्थं महीपते ॥२॥

जनमेजय ! तब आचार्य द्रोण ने अपने शिष्यों को बुलाकर उन सबसे गुरु-दक्षिणा के लिए इस प्रकार कहा—

पाञ्चालराजं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि ।
पर्यानयत भद्रं वः सा स्यात् परमदक्षिणा ॥३॥

"शिष्यो ! पाञ्चालराज द्रुपद को युद्ध में कैद करके मेरे पास ले आओ । तुम्हारा कल्याण हो । यही मेरे लिए सर्वोत्तम गुरुदक्षिणा होगी ।"

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे रथैस्तूर्णं प्रहारिणः ।
आचार्यधनदानार्थं द्रोणेन सहिता ययुः ॥४॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर, शीघ्रतापूर्वक प्रहार करनेवाले वे सब राजकुमार [युद्ध के लिए उद्यत हो] रथों में बैठकर गुरुदक्षिणा चुकाने के लिए आचार्य द्रोण के साथ ही वहां से प्रस्थित हुए।

ततोऽभिजग्मुः पाञ्चालान् निघ्नन्तस्ते नरर्षभाः ।
ममृदुस्तस्य नगरं द्रुपदस्य महौजसः ॥५॥

फिर वे महापराक्रमी नरश्रेष्ठ राजकुमार पाञ्चाल देश में जा पहुँचे और वहाँ के निवासियों को मारते-पीटते हुए महाबली राजा द्रुपद की राजधानी को भी रौंदने लगे ।

तस्मिन्काले तु पाञ्चालः श्रुत्वा दृष्ट्वा महद् बलम् ।
भ्रातृभिः सहितो राजंस्त्वरया निर्ययौ गृहात् ॥६॥

हे जनमेजय ! उस समय पाञ्चालराज द्रुपद कौरवों का आक्रमण सुनकर और उनकी विशाल सेना को अपनी आँखों से देखकर बड़ी उतावली के साथ भाइयों के सहित राजभवन से बाहर निकला ।

ततो रथेन शुभ्रेण समासाद्य तु कौरवान् ।
यज्ञसेनः शरान् घोरान् ववर्ष युधि दुर्जयः ॥७॥

महाराज यज्ञसेन [द्रुपद] को युद्ध में जीतना बहुत कठिन था । वे एक देदीप्यमान रथ पर आरुढ़ हो कौरवों के सामने जा पहुँचे और भीषण बाण-वृष्टि करने लगे ।

पूर्वमेव तु सम्मन्त्र्य पार्थो द्रोणमथाब्रवीत् ।
दर्पोद्रेकात् कुमाराणामाचार्यं द्विजसत्तमम् ॥८॥

उधर कौरवों तथा अन्य राजकुमारों को अपने पराक्रम का बड़ा अभिमान था, अतः अर्जुन ने पहले ही विचार-विमर्श करके विप्रवर द्रोणाचार्य से कहा—

एषां पराक्रमस्यान्ते वयं कुर्याम साहसम् ।
एतैरशक्यः पाञ्चालो गृहीतुं रणमूर्धनि ॥९॥

"गुरुदेव ! इनके पराक्रम दिखाने के पश्चात् हम लोग युद्ध करेंगे । हमारा विश्वास है ये लोग युद्ध में पाञ्चालराज को बन्दी नहीं बना सकते ।"

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयो भ्रातृभिः सहितोऽनघः ।
अर्धक्रोशे तु नगरादतिष्ठद् बहिरेव सः ॥१०॥

ऐसा कहकर निष्पाप कुन्तीनन्दन अर्जुन अपने भाइयों के साथ नगर से बाहर ही आधे कोस की दूरी पर ठहर गये ।

द्रुपदः कौरवान् दृष्ट्वा प्राधावत समन्ततः ।
शरजालेन महता मोहयन् कौरवीं चमूम् ॥११॥
तमुद्यतं रथेनैकमाशुकारिणमाहवे ।
अनेकमिव संत्रासान्मेनिरे तत्र कौरवाः ॥१२॥

उधर राजा द्रुपद ने कौरवों को देखकर उनपर सब ओर से आक्रमण किया तथा बाणों का बड़ा भारी जाल-सा बिछाकर कौरव-सेना को मूर्च्छित कर दिया । युद्ध में फुर्ती दिखानेवाले राजा द्रुपद रथ पर बैठकर यद्यपि अकेले ही बाणवर्षा कर रहे थे, तो भी अत्यन्त भय के कारण कौरव उन्हें अनेक-सा मानने लगे ।

श्रुत्वा सुतुमुलं युद्धं कौरवा नेव भारत ।
द्रवन्ति स्म नदन्ति स्म क्रोशन्तः पाण्डवान् प्रति ॥१३
पाण्डवास्तु स्वनं श्रुत्वा आर्तानां लोमहर्षणम् ।
अभिवाद्य ततो द्रोणं रथानारुरुहुस्तदा ॥१४॥

हे जनमेजय ! इधर गुप्तचरों के मुख से यह समाचार सुनकर कि वहाँ तुमुल युद्ध हो रहा है और कौरव वहाँ नहीं के बराबर हो गये हैं तथा कौरव सैनिक चीखते-चिल्लाते और कराहते हुए हम पाण्डवों की ओर भागते आ रहे हैं, पाण्डव लोग उन पीड़ित सैनिकों का रोमाञ्चकारी आर्तनाद कान में पड़ते ही आचार्य द्रोण को प्रणाम करके रथों पर जा बैठे और शीघ्र वहाँ से चल दिये ।

भीमसेनो महाबाहुर्दण्डपाणिरिवान्तकः ।
प्रविवेश महासेनां मकरः सागरं यथा ॥१५॥

[वहाँ पहुँचकर] महाबाहु भीमसेन दण्डपाणि यमराज की भाँति पाञ्चालों की उस विशाल सेना में घुस गये, ठीक उसी प्रकार, जैसे समुद्र में मगर प्रवेश करता है ।

स यद्धकुशलः पार्थो बाहुवीर्येण चातुलः ।
अहनत् कुञ्जरानीकं गदया कालरूपधृत् ॥१६॥

कुन्तीकुमार भीम युद्ध में कुशल तो थे ही, बाहुबल में भी उनकी समानता करनेवाला कोई नहीं था । उन्होंने कालरूप धारण कर गदा की मार से गजसेना का संहार आरम्भ किया ।

गजानश्वान् रथांश्चैव पातयामास पाण्डवः ।
पदातींश्च रथांश्चैव न्यवधीदर्जुनाग्रजः ॥१७॥

अर्जुन के बड़े भाई पाण्डुनन्दन भीम ने हाथियों घोड़ों एवं रथों को धराशायी कर दिया, पैदलों तथा रथियों का संहार कर डाला ।

गोपाल इव दण्डेन यथा पशुगणान् वने ।
चालयन् रथनागांश्च संचचाल वृकोदरः ॥१८॥

जैसे ग्वाला वन में दण्ड से पशुओं को हाँकता है, उसी प्रकार भीमसेन रथियों और हाथियों को खदेड़ते हुए उनका पीछा करने लगे ।

भारद्वाजप्रियं कर्तुमुद्यतः फाल्गुनस्तदा ।
पार्षतं शरजालेन क्षिपन्नागात् स पाण्डवः ॥१९॥
हयौघांश्च रथौघांश्च गजौघांश्च समन्ततः ।
पातयन् समरे राजन् युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ॥२०॥

राजन् ! उसी समय द्रोणाचार्य का प्रिय करने के लिए उद्यत हुए पाण्डुनन्दन अर्जुन बाणसमूहों की वर्षा करते हुए द्रुपद पर चढ़ आये । वे रणभूमि में घोड़ों, रथों और हाथियों के झुण्डों का सब ओर से संहार करते हुए प्रलयकालीन अग्नि के समान प्रकाशित हो रहे थे ।

तद् युद्धमभवद् घोरं सुमहाद्भुतदर्शनम् ।
सिंहनादश्च संजज्ञे साधुशब्देन मिश्रितः ॥२१॥

वह युद्ध अत्यन्त भयानक और देखने में बड़ा ही अद्भुत था । उस समय पाण्डव-दल में साधुवाद के साथ-साथ सिंहनाद हो रहा था ।

ततो हलहलाशब्द आसीत् पाञ्चालके बले ।
जिघृक्षति महासिंहो गजानामिव यूथपम् ॥२२॥

जैसे महासिंह हाथियों के यूथपति को पकड़ने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार अर्जुन द्रुपद को पकड़ना

ही चाहते थे कि पाञ्चालों की सेना में हाहाकार मच गया।

दृष्ट्वा पार्थं तदाऽऽयान्तं सत्यजित् सत्यविक्रमः।
पाञ्चालं वै परिप्रेप्सुर्धनञ्जयमुपाद्रवत् ॥२३॥
ततस्त्वर्जुनपाञ्चालौ युद्धाय समुपागतौ।
व्यक्षोभयेतां तौ सैन्यमिन्द्रवैरोचनाविव ॥२४॥

जब [द्रुपद के भाई] सत्यपराक्रमी सत्यजित् ने देखा कि कुन्तीपुत्र धनंजय पाञ्चाल नरेश को पकड़ने के लिए आगे बढ़े आ रहे हैं, तब वे उनकी रक्षा के लिए अर्जुन पर टूट पड़े। फिर तो इन्द्र और बलि की भाँति अर्जुन और पाञ्चाल सत्यजित् ने युद्ध के लिए आमने-सामने आकर सारी सेनाओं को क्षोभ में डाल दिया।

ततः सत्यजितं पार्थो दशभिर्मर्मभेदिभिः।
विव्याध बलवद् गाढं तदद्भुतमिवाभवत् ॥२५॥

तब अर्जुन ने दस मर्मभेदी बाणों द्वारा सत्यजित् पर बलपूर्वक गहरा आघात करके उन्हें घायल कर दिया। यह अद्भुत-सी बात हुई।

ततस्तस्य विनाशार्थं सत्वरं व्यसृजच्छरान्।
हयान् ध्वजं धनुर्मुष्टिमुभौ तौ पार्ष्णिसारथी।
स तथा भिद्यमानेषु कार्मुकेषु पुनः पुनः ॥२६॥
हयेषु विनियुक्तेषु विमुखोऽभवदाहवे।
स सत्यजितमालोक्य तथा विमुखमाहवे ॥२७॥
वेगेन महता राजन्नभ्यवर्षत पाण्डवम्।
तदा चक्रे महद् युद्धमर्जुनो जयतां वरः ॥२८॥

फिर उनके विनाश के लिए उन्होंने शीघ्र ही बाणों की झड़ी लगा दी। सत्यजित् के घोड़े, ध्वजा, धनुष, मुट्ठी तथा पार्श्वरक्षक एवं सारथि दोनों को अर्जुन ने क्षतविक्षत कर दिया। इस प्रकार बार-बार धनुष के छिन्न-भिन्न होने और घोड़ों के मारे जाने पर सत्यजित् युद्धभूमि से भाग गये। राजन्! उन्हें इस प्रकार युद्ध से विमुख हुआ देख पाञ्चाल-नरेश द्रुपद ने पाण्डुनन्दन अर्जुन पर बड़े वेग से बाण-वृष्टि आरम्भ की। तब विजयी वीरों में श्रेष्ठ अर्जुन ने उनसे बड़ा भारी युद्ध आरम्भ किया।

तस्य पार्थो धनुश्छित्वा ध्वजं चोर्व्यामपातयत्।
पञ्चभिस्तस्य विव्याध हयान् सूतं च सायकैः ॥२९॥

उन्होंने पाञ्चालराज के धनुष को काट उनकी ध्वजा को भी काटकर धरती पर गिरा दिया। फिर पाँच बाणों से उनके घोड़ों और सारथि को भी घायल कर दिया।

तत उत्सृज्य तच्चापमाददानं शरावरम्।
खड्गमुद्धृत्य कौन्तेयः सिंहनादमथाकरोत् ॥३०॥

तत्पश्चात् उस कटे हुए धनुष को त्यागकर जब राजा द्रुपद दूसरा धनुष और तूणीर लेने लगे, उस समय अर्जुन ने म्यान से तलवार निकालकर सिंह के समान गर्जना करते हुए—

पाञ्चालस्य रथस्येषामाप्लुत्य सहसापतत्।
पाञ्चालरथमास्थाय अवित्रस्तो धनंजयः ॥३१॥
विक्षोभ्याम्भोनिधिं पार्थस्तं नागमिव सोऽग्रहीत्।
ततस्तु सर्वपाञ्चाला विद्रवन्ति दिशो दश ॥३२॥

वे सहसा पाञ्चाल-नरेश के रथ के जुए पर ही कूद पड़े। इस प्रकार द्रुपद के रथ पर चढ़कर निर्भीक अर्जुन ने जैसे गरुड़ समुद्र को क्षुब्ध करके सर्प को पकड़ लेता है, उसी प्रकार उन्हें अपने काबू में कर लिया। तब समस्त पाञ्चाल सैनिक [भयभीत हो] दशों दिशाओं में भागने लगे।

दर्शयन् सर्वसैन्यानां स बाह्वोर्बलमात्मनः।
सिंहनादस्वनं कृत्वा निर्जगाम धनञ्जयः ॥३३॥

समस्त सैनिकों को अपना बाहु-बल दिखाते हुए अर्जुन सिंहनाद करके वहाँ से लौटे।

ते यज्ञसेनं द्रुपदं गृहीत्वा रणमूर्धनि।
उपाजह्रुः सहामात्यं द्रोणाय भरतर्षभ ॥३४॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! उन पाण्डवों ने यज्ञसेन द्रुपद को मन्त्रियों सहित युद्धभूमि में बन्दी बनाकर द्रोणाचार्य को उपहार के रूप में दे दिया।

भग्नदर्पं हृतधनं तं तथा वशमागतम्।
स वैरं मनसा ध्यात्वा द्रोणो द्रुपदमब्रवीत् ॥३५॥

उनका अभिमान चूर्ण हो गया था, धन छीन लिया गया था और वे पूर्णरूप से वश में आ चुके थे, उस समय द्रोणाचार्य ने मन-ही-मन पिछले वैर का स्मरण करके राजा द्रुपद से कहा—

विमृद्य तरसा राष्ट्रं पुरं ते मृदितं मया।
प्राप्य जीवं रिपुवशं सखिपूर्वं किमिष्यते ॥३६॥

"राजन् ! मैंने बलपूर्वक तुम्हारे राष्ट्र को रौंद डाला। तुम्हारी राजधानी मिट्टी में मिला दी। अब तुम शत्रु के वश में पड़े हुए जीवन को लेकर यहाँ आये हो। बोलो, तुम अब भी पुरानी मित्रता चाहते हो क्या ?"

एवमुक्त्वा प्रहस्यैनं किञ्चित् स पुनरब्रवीत्।
मा भैः प्राणभयाद् वीर क्षमिणो ब्राह्मणा वयम् ॥३७

ऐसा कहकर द्रोणाचार्य कुछ हँसे। फिर उनसे इस प्रकार बोले—"वीर ! प्राणों पर संकट आया जानकर भयभीत मत होओ। हम ब्राह्मण क्षमाशील होते हैं।"

आश्रमे क्रीडितं यत्तु त्वया बाल्ये मया सह।
तेन संवर्द्धितः स्नेहः प्रीतिश्च क्षत्रियर्षभ ॥३८॥

"क्षत्रियशिरोमणे ! तुम बाल्यकाल में मेरे साथ आश्रम में जो खेले-कूदे हो, उससे तुम्हारे ऊपर मेरा प्रेम बहुत बढ़ गया है।

प्रार्थयेयं त्वया सख्यं पुनरेव जनाधिप।
वरं ददामि ते राजन् राज्यस्यार्धमवाप्नुहि ॥३९॥

"नरेश्वर ! मैं पुनः तुमसे मैत्री के लिए प्रार्थना करता हूँ। राजन् ! मैं तुम्हें वर देता हूँ, तुम इस राज्य का आधा भाग मुझसे ले लो।

अराजा किल नो राज्ञः सखा भवितुमर्हति।
अतः प्रयतितं राज्ये यज्ञसेन मया तव ॥४०॥

"यज्ञसेन ! तुमने कहा था—जो राजा नहीं है, वह राजा का मित्र नहीं हो सकता, इसीलिए मैंने तुम्हारा राज्य लेने का प्रयत्न किया है—

राजासि दक्षिणे कूले भागीरथ्याहमुत्तरे।
सखायं मां विजानीहि पाञ्चाल यदि मन्यसे ॥४१॥

"गङ्गा के दक्षिण प्रदेश के तुम राजा बनो और उत्तर के भूभाग का मैं राजा बनूँ। पाञ्चाल ! अब यदि उचित समझो, तो मुझे अपना मित्र मान लो।"

द्रुपद उवाच

अनाश्चर्यमिदं ब्रह्मन् विक्रान्तेषु महात्मसु।
प्रीये त्वयाहं त्वत्तश्च प्रीतिमिच्छामि शाश्वतीम् ॥४२

द्रुपद बोला—हे ब्रह्मन् ! आप जैसे पराक्रमी महात्माओं में ऐसी उदारता का होना आश्चर्य की बात नहीं है। मैं आपसे अति प्रसन्न हूँ तथा आपके साथ सदा बनी रहनेवाली मैत्री एवं प्रेम चाहता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स तं द्रोणो मोक्षयामास भारत।
सत्कृत्य चैनं प्रीतात्मा राज्यार्धं प्रत्यपादयत् ॥४३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे भारत ! द्रुपदराज के ऐसा कहने पर द्रोणाचार्य ने उन्हें बन्धन-मुक्त कर दिया और प्रसन्नचित्त हो उनका आदर-सत्कार करके उन्हें आधा राज्य दे दिया।

इति महाभारते आदिपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिर का युवराजपद पर अभिषेक, पाण्डवों के शौर्य और कीर्ति से धृतराष्ट्र की चिन्ता

वैशम्पायन उवाच

ततः संवत्सरस्यान्ते यौवराज्याय पार्थिव।
स्थापितो धृतराष्ट्रेण पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ॥१॥
धृतिस्थैर्यसहिष्णुत्वादानृशंस्यात् तथार्जवात्।
भृत्यानामनुकम्पार्थं तथैव स्थिरसौहृदात् ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्, तत्पश्चात् एक वर्ष व्यतीत हो जाने पर धृतराष्ट्र ने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को धृति, स्थिरता, सहिष्णुता, दयालुता, सरलता और अविचल सौहार्द आदि गुणों के कारण पालन करने योग्य प्रजा पर अनुग्रह करने के लिए युवराज के पद पर अभिषिक्त कर दिया।

ततोऽदीर्घेण कालेन कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
पितुरन्तर्दधे कीर्तिं शीलवृत्तसमाधिभिः ॥३॥

तब थोड़े ही दिनों में कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने अपने शील=उत्तम स्वभाव, वृत्त=सदाचार एवं सद्व्यवहार तथा समाधि [मनोयोगपूर्वक प्रजा-पालन की प्रवृत्ति] के द्वारा अपने पिता महाराज पाण्डु की कीर्ति को भी ढक दिया।

असियुद्धे गदायुद्धे रथयुद्धे च पाण्डवः ।
संकर्षणादशिक्षद् वै शश्वच्छिक्षां वृकोदरः ॥४॥

पाण्डुनन्दन भीमसेन बलरामजी से नित्य-प्रति खड्गयुद्ध, गदायुद्ध और रथयुद्ध की शिक्षा लेने लगे।

समाप्तशिक्षो भीमस्तु द्युमत्सेनसमो बले ।
पराक्रमेण सम्पन्नो भ्रातृणामचरद् वशे ॥५॥

शिक्षा समाप्त होने पर भीमसेन बल में राजा द्युमत्सेन के समान हो गये। इस प्रकार पराक्रम से सम्पन्न हो वे अपने भाइयों के अनुकूल रहने लगे।

प्रगाढदृढमुष्टित्वे लाघवे वेधने तथा ।
क्षुरनाराचभल्लानां प्रयोक्ता फाल्गुनोऽभवत् ॥६॥

अर्जुन अत्यन्त दृढ़तापूर्वक मुट्ठी से धनुष को पकड़ने में, हाथों की फुर्ती में और लक्ष्य बींधने में अतिचतुर निकले। वे क्षुर, नाराच और भल्ल आदि अस्त्रों का सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकते थे।

लाघवे सौष्ठवे चैव नान्यः कश्चन विद्यते ।
बीभत्सुसदृशो लोके इति द्रोणो व्यवस्थितः ॥७॥

इसलिए द्रोणाचार्य का यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि फुर्ती और सफाई में अर्जुन के समान दूसरा कोई योद्धा इस संसार में नहीं है।

ततोऽब्रवीत् गुडाकेशं द्रोणः कौरवसंसदि ।
आचार्यदक्षिणां देहि ज्ञातिग्रामस्य पश्यतः ॥८॥

तब एक दिन द्रोणाचार्य ने कौरवों की भरी सभा में निद्रा-विजेता अर्जुन से कहा—"तुम भाई-बन्धुओं के सामने ही मुझे एक गुरु-दक्षिणा दो।"

दास्यामीति प्रतिज्ञाते फाल्गुनेनाब्रवीत् गुरुः ।
युद्धेऽहं प्रतियोद्धव्यो युध्यमानस्त्वयानघ ॥९॥

"अवश्य दूंगा।" अर्जुन द्वारा ऐसी प्रतिज्ञा करने पर गुरु द्रोण बोले—"निष्पाप अर्जुन ! यदि युद्ध-भूमि में मैं भी तुम्हारे विरुद्ध लड़ने को आऊँ तो तुम मेरा भी सामना करना।"

तथेति च प्रतिज्ञाय द्रोणाय कुरुपुङ्गवः ।
उपसंगृह्य चरणौ स प्रायादुत्तरां दिशम् ॥१०॥

यह सुनकर कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ने 'बहुत अच्छा' कहते हुए उनकी इस आज्ञा का पालन करने की प्रतिज्ञा की तथा गुरु के दोनों चरण पकड़कर उन्होंने सर्वोत्तम उपदेश प्राप्त कर लिया।

स्वभावादगमच्छब्दो महीं सागरमेखलाम् ।
अर्जुनस्य समो लोके नास्ति कश्चिद् धनुर्धरः ॥११॥

कुछ ही समय में समुद्र-पर्यन्त पृथिवी पर सब ओर अपने-आप ही यह बात फैल गई कि संसार में अर्जुन के समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है।

नीतिमान् सकलां नीतिं विबुधाधिपतेस्तदा ।
अवाप्य सहदेवोऽपि भ्रातृणां ववृते वशे ॥१२॥
द्रोणेनैव विनीतश्च भ्रातृणां नकुलः प्रियः ।
चित्रयोधी समाख्यातो बभूवातिरथोदितः ॥१३॥

सहदेव भी उस समय द्रोण के रूप में अवतीर्ण देवताओं के आचार्य बृहस्पति से सम्पूर्ण नीतिशास्त्र की शिक्षा पाकर नीतिमान् हो अपने भाइयों के अनुकूल होकर रहते थे। नकुल ने भी द्रोणाचार्य से ही अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा पायी थी। वे अपने भाइयों को अति प्रिय थे और विचित्र प्रकार से युद्ध करने में उनकी बड़ी ख्याति थी। वे अतिरथी वीर कहे जाते थे।

न शशाक वशे कर्तुं यं पाण्डुरपि वीर्यवान् ।
सोऽर्जुनेन वशं नीतो राजाऽऽसीद् यवनाधिपः ॥१४॥

पराक्रमी राजा पाण्डु भी जिसे वश में नहीं ला सके थे, उस यवनदेश [यूनान] के राजा को भी जीतकर अर्जुन ने अपने वश में कर लिया।

भीमसेनसहायश्च रथानामयुतं च सः ।
अर्जुनः समरे प्राच्यान् सर्वानेकरथोऽजयत् ॥१५॥

इतना ही नहीं, अर्जुन ने केवल भीमसेन की सहायता से एकमात्र रथ पर आरूढ हो युद्ध में पूर्व दिशा के सम्पूर्ण योद्धाओं तथा दस सहस्र रथियों को जीत लिया।

तथैवैकरथो गत्वा दक्षिणमजयद् दिशम् ।
धनौघं प्रापयामास कुरुराष्ट्रं धनञ्जयः ॥१६॥

इसी प्रकार केवल एक रथ से यात्रा करके धनंजय ने दक्षिण दिशा पर भी विजय पायी और अपने 'धनंजय' नाम को सार्थक करते हुए कुरुदेश की राजधानी में धन की राशि पहुँचायी।

ततो बलमतिख्यातं विज्ञाय दृढधन्विनाम् ।
दूषितः सहसा भावो धृतराष्ट्रस्य पाण्डुषु ।
सचिन्तापरमो राजा न निद्रामलभन्निशि ॥१७॥

तब दृढ़तापूर्वक धनुष धारण करनेवाले पाण्डवों के अत्यन्त विख्यात बल-पराक्रम की बात जानकर उनके प्रति राजा धृतराष्ट्र का भाव मानो सहसा ही दूषित हो गया। अत्यन्त चिन्ता में निमग्न हो जाने के कारण उन्हें रात में नींद भी नहीं आती थी।

इति महाभारते आदिपर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशोऽध्यायः

कणिक-नीति—कणिक का धृतराष्ट्र को कूटनीति का उपदेश

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा पाण्डुसुतान्वीरान्बलोद्रिक्तान्महौजसः।
धृतराष्ट्रो महीपालश्चिन्तामगमदातुरः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! पाण्डु के वीर पुत्रों को महान् तेजस्वी और बल में बढ़े-चढ़े सुनकर महाराज धृतराष्ट्र व्याकुल हो बड़ी चिन्ता में पड़ गये।

तत आहूय मन्त्रज्ञं राजशास्त्रार्थवित्तमम्।
कणिकं मन्त्रिणां श्रेष्ठं धृतराष्ट्रोऽब्रवीद् वचः ॥२॥

तब राजनीति और अर्थ-शास्त्र के पण्डित एवं उत्तम मन्त्र के ज्ञाता मन्त्रिप्रवर कणिक को बुलाकर धृतराष्ट्र ने इस प्रकार कहा—

धृतराष्ट्र उवाच

उत्सिक्ताः पाण्डवा नित्यं तेभ्योऽसूये द्विजोत्तम।
तत्र मे निश्चितं यत्तु सन्धिविग्रहकारणम् ॥
कणिक त्वं ममाचक्ष्व करिष्ये वचनं तव ॥३॥

धृतराष्ट्र बोले—द्विजश्रेष्ठ! पाण्डवों की दिनों-दिन उन्नति और सर्वत्र ख्याति हो रही है, अतः मैं उनसे डाह रखने लगा हूँ। कणिक! तुम भली-भाँति निश्चय करके बतलाओ कि मुझे उनके साथ सन्धि करनी चाहिए या विग्रह? मैं तुम्हारी बात मानूँगा।

कणिक उवाच

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी स्यात् परेषां विवरानुगः ॥४॥

कणिक बोले—राजा को सर्वदा दण्ड देने के लिए उद्यत रहना चाहिए तथा सदा ही पुरुषार्थ प्रकट करते रहना चाहिए। राजा अपना छिद्र=दुर्बलता प्रकट न होने दे, परन्तु दूसरों के छिद्र या दुर्बलता पर सदा दृष्टि रखे। और यदि शत्रुओं की निर्बलता का पता लग जाए, तो उन पर आक्रमण कर दे।

नित्यमुद्यतदण्डाद्धि भृशमुद्विजते जनः।
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि दण्डेनैव विधारयेत् ॥५॥

जो सदा दण्ड देने के लिए उद्यत रहता है, उससे प्रजाजन बहुत डरते हैं, अतः सब कार्य दण्ड के द्वारा ही सिद्ध करे।

नास्यच्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेण परमन्वियात्।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः ॥६॥
नासम्यक्कृतकारी स्यादुपक्रम्य कदाचन।
कण्टको ह्यपि दुश्छिन्न आस्रावं जनयेच्चिरम् ॥७॥

राजा को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि शत्रु उसकी दुर्बलता को न जान सके और यदि शत्रु की दुर्बलता प्रकट हो जाए तो उसपर आक्रमण कर दे। जैसे कछुआ अपने अङ्गों की रक्षा करता है, वैसे ही राजा अपने सब अङ्गों—राजा, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, बल और सुहृत्—की रक्षा करे तथा अपनी दुर्बलता को छिपाये रखे। यदि कोई कार्य आरम्भ कर दे तो उसे पूर्ण किये बिना कभी न छोड़े, क्योंकि शरीर में गड़ा हुआ काँटा यदि आधा टूटकर भीतर रह जाए, तो वह बहुत दिनों तक मवाद देता रहता है।

वधमेव प्रशंसन्ति शत्रूणामपकारिणाम्।
सुविदीर्णं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ॥८॥
आपद्यापदि काले च कुर्वीत न विचारयेत्।
नावज्ञेयो रिपुस्तात दुर्बलोऽपि कथञ्चन ॥९॥

'अपना अनिष्ट करनेवाले शत्रुओं का वध कर दिया जाए'—इसी की नीतिज्ञ पुरुष प्रशंसा करते हैं। अत्यन्त पराक्रमी पुरुष को भी आपत्ति में पड़ा देख उसे सुगमतापूर्वक नष्ट कर दे। इसी प्रकार जो

अच्छी प्रकार युद्ध करनेवाला शत्रु है, उसे भी आपत्ति काल में ही अनायास मार भगाये। आपत्ति के समय शत्रु का संहार अवश्य ही करे। उस समय उसके सम्बन्ध या सौहार्द आदि का विचार कदापि न करे। तात! शत्रु दुर्बल हो, तो भी किसी प्रकार उसकी उपेक्षा न करे।

अल्पोऽप्यग्निर्वनं कृत्स्नं दहत्याश्रयसंश्रयात्।
अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि चाश्रयेत् ॥१०॥

क्योंकि जैसे थोड़ी-सी भी आग ईंधन का सहारा पाकर समस्त वन को जला डालती है, वैसे ही छोटा-सा शत्रु भी दुर्गादि प्रबल आश्रय का सहारा लेकर विनाशकारी बन जाता है। अन्धा बनने का अवसर आने पर अन्धा बन जाए—अर्थात् अपने असामर्थ्य के समय शत्रु के दोषों को न देखे। उस समय सब ओर से धिक्कार और निन्दा मिलने पर भी उसे अनसुनी कर दे अर्थात् उसकी ओर से कान बन्द करके बहरा बन जाए।

कुर्यात् तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम्।
सामादिभिरुपायैस्तु हन्याच्छत्रुं वशे स्थितम् ॥११॥

ऐसे समय में अपने धनुष को तिनके के समान बना दे अर्थात् शत्रु की दृष्टि में सर्वथा दीन-हीन एवं असमर्थ बन जाए, परन्तु व्याध की भाँति सोये अर्थात् जैसे व्याध झूठे ही नींद का बहाना करके सो जाता है और जब मृग आश्वस्त होकर उसके आस-पास चरने लगते हैं, तब उठकर उन्हें बाण से बींध देता है। इसी प्रकार शत्रु को मारने का अवसर देखते हुए ही अपने स्वरूप और मनोभाव को छिपाकर असमर्थों का-सा व्यवहार करे। इस प्रकार कपटपूर्ण व्यवहार से वश में आये हुए शत्रु को साम आदि उपायों से विश्वास उत्पन्न करके मार डाले।

दया न तस्मिन् कर्तव्या शरणागत इत्युत।
निरुद्विग्नो हि भवति नहताज्जायते भयम् ॥१२॥

'यह मेरी शरण में आया है' ऐसा सोचकर उसके प्रति दया नहीं दिखानी चाहिए। शत्रु को मार देने से ही राजा निर्भय हो सकता है। यदि शत्रु मारा न गया तो उससे सदा ही भय बना रहता है।

हन्यादमित्रं दानेन तथा पूर्वापकारिणम्।
हन्यात् त्रीन् पञ्च सप्तेति परपक्षस्य सर्वशः ॥१३॥

जो सहज शत्रु है, उसको मुँहमाँगी वस्तु देकर—दान द्वारा विश्वास उत्पन्न करके मार डाले। इसी प्रकार जो पहले का अपकारी शत्रु हो तथा पीछे सेवक बन गया हो, उसे भी जीवित न छोड़े। शत्रु के त्रिवर्ग[1], पञ्चवर्ग[2] और सप्तवर्ग[3] का सर्वथा नाश कर डाले।

मूलमेवादितश्छिन्द्यात् परपक्षस्य नित्यशः।
ततः सहायांस्तत्पक्षान् सर्वांश्च तदनन्तरम् ॥१४॥

पहले तो सदा शत्रुपक्ष के मूल का ही उच्छेद कर डाले। तत्पश्चात् उसके सहायकों और शत्रुपक्ष से सम्बन्ध रखनेवाले सभी लोगों का संहार कर दे।

छिन्नमूले ह्यधिष्ठाने सर्वे तज्जीविनो हताः।
कथं नु शाखास्तिष्ठेरंश्छिन्नमूले वनस्पतौ ॥१५॥

यदि मूल आधार नष्ट हो जाए तो उसके आश्रय से जीवन धारण करनेवाले सभी शत्रु स्वतः नष्ट हो जाते हैं। यदि वृक्ष की जड़ काट दी जाए तो उसकी शाखाएँ कैसे रह सकती हैं?

एकाग्रः स्यादविवृतो नित्यं विवरदर्शकः।
राजन् नित्यं सपत्नेषु नित्योद्विग्नः समाचरेत् ॥१६॥

राजा सदा शत्रु की गतिविधि को जानने के लिए एकाग्र रहे। अपने राज्य के सभी अङ्गों को गुप्त रखे।

---

१. यहाँ त्रिवर्ग का तात्पर्य है तीन प्रकार की शक्तियाँ—(१) ऐश्वर्यशक्ति (२) उत्साहशक्ति और (३) मन्त्रशक्ति। दुर्गादि पर आक्रमण करके शत्रु की ऐश्वर्यशक्ति नष्ट करनी चाहिए। विश्वसनीय व्यक्तियों द्वारा अपने उत्कर्ष का बखान कराकर शत्रु को तेजहीन करते हुए उसके उत्साह को मन्द करना उत्साहशक्ति का नाश करना है। गुप्तचरों द्वारा उसकी गुप्तमन्त्रणा को प्रकट कर देना ही मन्त्रशक्ति का नाश करना है।

२. अमात्य—मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग (किला), कोष और सेना—ये पांच प्रकृतियाँ ही पञ्चवर्ग हैं।

३. साम, दान, भेद, दण्ड, उद्बन्धन, विशेपयोग और आग लगाना—शत्रु को दबाने या वश में करने के ये सात साधन ही सप्तवर्ग हैं।

राजन् ! सदा अपने शत्रुओं की दुर्बलता पर दृष्टि रखो और उनसे सदा सावधान रहो ।

अग्न्याधानेन यज्ञेन काषायेण जटाजिनैः ।
लोकान्विश्वासयित्वैव ततो लुम्पेद्यथा वृकः ॥१७॥

अग्निहोत्र और यज्ञ करके, गेरुए वस्त्र, जटा और मृगचर्म धारण करके पहले लोगों में विश्वास उत्पन्न करे, फिर अवसर देखकर भेड़िये की भाँति शत्रु पर टूट पड़े और उसे नष्ट कर दे।

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत् कालविपर्ययः ।
ततः प्रत्यागते काले भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि ॥१८॥

जबतक समय बदलकर अपने अनुकूल न हो जाए, तबतक शत्रु को कन्धे पर बिठाकर ढोना पड़े तो ढोये । परन्तु जब अपने अनुकूल समय आ जाए तब उसे उसी प्रकार नष्ट कर दे जैसे घड़े को पत्थर पर पटककर फोड़ डालते हैं।

अमित्रो न विमोक्तव्यः कृपणं बह्वपि ब्रुवन् ।
कृपा न तस्मिन् कर्तव्या हन्यादेवापकारिणम् ॥१९॥

शत्रु बहुत दीनतापूर्वक वचन बोले, तो भी उसे जीवित नहीं छोड़ना चाहिए। उसपर दया नहीं करनी चाहिए। अपकारी शत्रु को मार ही डालना चाहिए।

हन्यादमित्रं सान्त्वेन तथा दानेन वा पुनः ।
तथैव भेदवण्डाभ्यां सर्वोपायैः प्रशान्तयेत् ॥२०॥

साम अथवा दान तथा भेद एवं दण्ड—सभी उपायों द्वारा शत्रु को मार डाले—उसे मिटा दे ।

भयेन भेदयेद् भीरुं शूरमञ्जलिकर्मणा ।
लुब्धमर्थप्रदानेन समं न्यूनं तथौजसा ॥२१॥

कायर को भय दिखाकर फोड़ ले । जो शूरवीर हो, उसे हाथ जोड़कर वश में करे। लोभी को धन देकर तथा बराबर और निर्बल को पराक्रम से वश में करे ।

पुत्रः सखा वा भ्राता वा पिता वा यदि वा गुरुः ।
रिपुस्थानेषु वर्तन्तो हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥२२॥

पुत्र, मित्र, भाई, पिता अथवा गुरु कोई भी क्यों न हो, जो शत्रु के स्थान पर आये—शत्रुवत् व्यवहार करने लगे—तो उसे ऐश्वर्य चाहनेवाला राजा अवश्य मार डाले ।

शपथेनाप्यरिं हन्यादर्थदानेन वा पुनः ।
विषेण मायया वापि नोपेक्षेत कथञ्चन ॥२३॥

सौगन्ध खाकर, धन अथवा विष देकर या धोखे से भी शत्रु को मार डाले। किसी प्रकार भी उसकी उपेक्षा न करे।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम् ॥२४॥

यदि गुरु भी अभिमान के वशीभूत होकर कर्तव्य और अकर्तव्य को न जानता हो तथा कुमार्ग पर चलता हो तो उसे भी दण्ड देना उचित माना जाता है।

क्रुद्धोऽप्यक्रुद्धरूपः स्यात् स्मितपूर्वाभिभाषिता ।
न चाप्यन्यमपध्वंसेत् कदाचित् कोपसंयुतः ॥२५॥
प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहरन्नपि भारत ।
प्रहृत्य च कृपायीत शोचेत च रुदेत च ॥२६॥

मन में क्रोध भरा हो, तो भी ऊपर से क्रोधशून्य बना रहे और मुस्कराकर बात-चीत करे। कभी क्रोध में आकर किसी दूसरे का तिरस्कार न करे। भारत ! शत्रु पर प्रहार करने से पूर्व और प्रहार करते समय भी उससे मीठे वचन ही बोले। शत्रु को मारकर भी उसके प्रति दया दिखाये। उसके लिए शोक करे रोये तथा आँसू बहाये ।

आश्वासयेच्चापि परं सान्त्वधर्मार्थवृत्तिभिः ।
अथास्य प्रहरेत् काले यदा विचलिते पथि ॥२७॥

शत्रु को समझा-बुझाकर, धर्म बताकर, धन देकर और सद्व्यवहार करके आश्वासन दे—अपने प्रति उसके मन में विश्वास उत्पन्न करे, फिर समय आने पर ज्यों ही वह मार्ग से विचलित हो, त्यों ही उसपर प्रहार करे।

अपि घोरापराधस्य धर्ममाश्रित्य तिष्ठतः ।
स हि प्रच्छाद्यते दोषः शैलो मेघैरिवासितैः ॥२८॥

धर्म के आचरण का ढोंग करने से घोर अपराध करनेवाले का दोष भी उसी प्रकार ढक जाता है, जैसे काले मेघों की घटा से पर्वत ढक जाता है ।

यः स्यादनुप्राप्तवधस्तस्यागारं प्रदीपयेत् ।
अधनान् नास्तिकांश्चौरान् विषये स्वे न वासयेत् ॥२९

जिसे शीघ्र ही मार डालने की इच्छा हो, उसके

घर में आग लगा दे। धनहीनों, नास्तिकों और चोरों को अपने राज्य में न बसने दे।

प्रत्युत्थानासनाद्येन सम्प्रदानेन केनचित्।
प्रतिविश्रब्धघाती स्यात् तीक्ष्णदंष्ट्रो निमग्नकः ॥३०॥

शत्रु के आने पर उठकर उसका स्वागत करे, आसन और भोजन दे तथा कोई प्रिय वस्तु भेंट करे। ऐसे व्यवहार से जिसका अपने प्रति पूर्ण विश्वास हो गया हो, उसे भी [अपने लाभ के लिए] मारने में संकोच न करे। सर्प की भाँति तीखे दाँतों से काटे, जिससे शत्रु फिर उठकर न बैठ सके।

अशंकितेभ्यः शङ्केत शंकितेभ्यश्च सर्वशः।
अशङ्क्याद् भयमुत्पन्नमपि मूलं निकृन्तति ॥३१॥

जिनसे भय प्राप्त होने का सन्देह न हो, उनसे भी सशंक (सावधान) रहे तथा जिनसे भय की आशंका हो उनसे तो सब प्रकार से सतर्क रहे ही। जिनसे भय की शंका नहीं है, ऐसे लोगों से यदि भय उत्पन्न होता है तो वह मूलोच्छेद कर डालता है।

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥३२॥

जो विश्वासपात्र नहीं हैं, उसपर कभी विश्वास न करे; परन्तु जो विश्वासपात्र है, उसपर भी अति विश्वास न करे, क्योंकि अतिविश्वास से उत्पन्न होनेवाला भय राजा का समूलोच्छेद कर डालता है।

चारः सुविहितः कार्य आत्मनश्च परस्य वा।
पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रेषु योजयेत् ॥३३॥

अच्छी प्रकार से परीक्षा करके अपने तथा शत्रु के राज्य में गुप्तचर नियुक्त करे। शत्रु के राज्य में ऐसे गुप्तचर रखे जो पाखण्ड-वेशधारी अथवा तपस्वी आदि हों।

उद्यानेषु विहारेषु पानागारेषु चाप्यथ।
चत्वरेषु च कूपेषु पर्वतेषु वनेषु च।
समवायेषु सर्वेषु सरित्सु च विचारयेत् ॥३४॥

उद्यान, घूमने-फिरने के स्थान, मद्यपान के अड्डे, चौराहे, कुएँ, पर्वत, वन तथा जहाँ मनुष्यों की भीड़ इकट्ठी होती हो, उन सभी स्थानों में अपने गुप्तचरों को घुमाता रहे।

वाचा भृशं विनीतः स्याद् हृदयेन तथा क्षुरः।
स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात् सृष्टो रौद्राय कर्मणे ॥३५॥

राजा वार्तालाप में अत्यन्त विनयशील हो, परन्तु हृदय को छुरे के समान तीखा बनाये रखे। अत्यन्त भयानक कर्म करने के लिए उद्यत हो तो भी मुस्करा कर ही वार्तालाप करे।

अञ्जलिः शपथः सान्त्वं शिरसा पादवन्दनम्।
आशाकरणमित्येवं कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥३६॥

अवसर देखकर हाथ जोड़ना, शपथ खाना, आश्वासन देना, पैरों पर मस्तक रखकर प्रणाम करना और आशा बँधाना—ये सब ऐश्वर्य-प्राप्ति के इच्छुक राजा के कर्त्तव्य हैं।

सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान् स्याद् दुरारुहः।
आमः स्यात्पक्वसङ्काशो न च जीर्येत कर्हिचित् ॥३७॥

नीतिज्ञ राजा ऐसे वृक्ष के समान रहे, जिसमें फूल तो खूब लगे हों परन्तु फल न हों [वह बातों से लोगों को फल की आशा दिलाये, परन्तु उसकी पूर्ति न करे], फल लगने पर भी उसपर चढ़ना अतिकठिन हो [लोगों की स्वार्थ-सिद्धि में वह विघ्न डाले] वह रहे तो कच्चा, पर दीखे पके के समान [स्वार्थ-साधकों की दुराशा को पूर्ण न होने दे]। कभी स्वयं जीर्ण न हो अर्थात् अपना धन व्यय करके शत्रुओं का पोषण करते हुए अपने-आपको निर्धन न बना दे।

अगर्वितात्मा युक्तश्च सान्त्वयुक्तोऽनसूयिता।
अवेक्षितार्थः शुद्धात्मा मन्त्रयीत द्विजैः सह ॥३८॥

राजा अपने हृदय से अहंकार को निकाल दे। चित्त को एकाग्र रखे। सबसे मधुर बोले। दूसरों के दोष प्रकाशित न करे। सब विषयों पर दृष्टि रखे और शुद्धचित्त हो द्विजों के साथ बैठकर मन्त्रणा करे।

कर्मणा येन केनैव मृदुना दारुणेन च।
उद्धरेद् दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥३९॥

राजा यदि संकट में हो तो कोमल या कठोर—जिस किसी भी कर्म द्वारा उस दुरवस्था से अपना उद्धार करे, समर्थ हो जाने पर पुनः धर्म का आचरण करे।

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥४०॥

कष्ट सहे बिना मनुष्य कल्याण का दर्शन नहीं करता। प्राण-संकट में पड़कर भी यदि वह जीवित रह जाता है तो अपना कल्याण (भला) देखता है।

योऽरिणा सह संधाय शयीत कृतकृत्यवत्।
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते ॥४१॥

जैसे वृक्ष के ऊपर की शाखा पर सोया हुआ मनुष्य जब गिरता है, तब होश में आता है। उसी प्रकार जो अपने शत्रु के साथ सन्धि करके निश्चिंत हो जाता है, वह शत्रु से धोखा खाने पर सचेत होता है।

नाच्छित्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥४२॥

राजा मछलीमारों की भाँति दूसरों के मर्म विदीर्ण किये बिना—अत्यन्त क्रूर कर्म किये बिना—और बहुतों के प्राण लिये बिना बड़ी भारी सम्पत्ति नहीं प्राप्त कर पाता।

कर्शितं व्याधितं क्लिन्नमपानीयमघासकम्।
परिविश्वस्तमन्दं च प्रहर्तव्यमरेर्बलम् ॥४३॥

जब शत्रु की सेना दुर्बल, रोगग्रस्त, जल या कीचड़ में फँसी, भूख-प्यास से पीड़ित और सब ओर से विश्वस्त होकर निश्चेष्ट पड़ी हो, उस समय उस पर आक्रमण करना चाहिए।

नास्य कृत्यानि बुध्येरन् मित्राणि रिपवस्तथा।
आरब्धान्येव पश्येरन् सुपर्यवसितान्यपि ॥४४॥

मित्र और शत्रु—किसी को भी यह पता न चले कि राजा कब क्या कर्म करना चाहता है। कार्य के आरम्भ या समाप्त हो जाने पर ही सब लोग उसे देखें (जानें)।

भीतवत् संविधातव्यं यावद् भयमनागतम्।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥४५॥

जबतक अपने ऊपर भय आया न हो, तबतक डरे हुए की भाँति उसे टालने का प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु जब भय को सामने उपस्थित देखे, तब निडर होकर शत्रु पर प्रहार करना चाहिए।

दण्डेनोपनतं शत्रुमनुगृह्णाति यो नरः।
स मृत्युमुपगृह्णीयाद् गर्भमश्वतरी यथा ॥४६॥

जो मनुष्य दण्ड के द्वारा वश में किये हुए शत्रु पर दया करता है, वह मृत्यु को ही अपनाता है, ठीक वैसे ही जैसे खच्चरी गर्भ के रूप में अपनी मृत्यु को ही उदर में धारण करती है।

अनागतं हि बुध्येत यच्च कार्यं पुरःस्थितम्।
न तु बुद्धिक्षयात्किञ्चिदतिक्रामेत्प्रयोजनम् ॥४७॥

जो कार्य भविष्य में करना हो, उसपर बुद्धिपूर्वक विचारे और सम्यक् विचारकर तदनुकूल व्यवस्था करे। इसी प्रकार जो कार्य सामने उपस्थित हो, उसे भी बुद्धि से विचारकर ही करे। बुद्धि से निश्चय किये बिना किसी भी कार्य या प्रयोजन का परित्याग न करे।

आशां कालवतीं कुर्यात्कालं विघ्नेन योजयेत्।
विघ्नं निमित्ततो ब्रूयान्निमित्तं वापि हेतुतः ॥४८॥

यदि किसी को किसी बात की आशा दे तो उसे शीघ्र पूरी न करके दीर्घकाल तक लटकाये रखे। जब उसे पूर्ण करने का समय आये, तब उसमें कोई विघ्न डाल दे और इस प्रकार समय की अवधि को बढ़ा दे। उस विघ्न के पड़ने में कोई कारण बता दे तथा उस कारण को युक्तियों से सिद्ध कर दे।

तालवत् कुरुते मूलं बालः शत्रुरुपेक्षितः।
गहनेऽग्निरिवोत्सृष्टः क्षिप्रं संजायते महान् ॥४९॥

छोटे शत्रु की भी उपेक्षा कर दी जाए, तो वह ताड़ के वृक्ष की भाँति जड़ जमा लेता है तथा घने वन में छोड़ी हुई अग्नि की भाँति शीघ्र ही महान् विनाशकारी बन जाता है।

भ्रातृव्या बलिनो यस्मात् पाण्डुपुत्रा नराधिप।
पश्चात्तापो यथा न स्यात्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥५०॥

राजन्! आपके भतीजे पाण्डव बहुत बलवान् हैं, अतः आप ऐसी नीति काम में लाइए, जिससे आगे चलकर आपको पछताना न पड़े।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सम्प्रतस्थे कणिकः स्वगृहं ततः।
धृतराष्ट्रोऽपि कौरव्यः शोकार्तः समपद्यत ॥५१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर कणिक अपने घर को चले गये। इधर कुरुवंशी धृतराष्ट्र शोक से व्याकुल हो गये।

इति महाभारते आदिपर्वणि विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशोऽध्यायः

पाण्डवों की बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखकर दुर्योधन की चिन्ता और धृतराष्ट्र से उन्हें वारणावत भेज देने का प्रस्ताव

वैशम्पायन उवाच

गुणैः समुदितान् दृष्ट्वा पौराः पाण्डुसुतांस्तदा ।
कथयाञ्चक्रिरे तेषां गुणान् संसत्सु भारत ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे भारत ! उन दिनों पाण्डवों को सर्वगुण-सम्पन्न देख नगर-निवासी भरी सभाओं में उनके सद्गुणों की प्रशंसा करते थे ।

राज्यप्राप्तिं च सम्प्राप्तं ज्येष्ठं पाण्डुसुतं तदा ।
कथयन्ति स्म सम्भूय चत्वरेषु सभासु च ॥२॥

वे जहाँ कहीं चौराहों पर और सभाओं में इकट्ठे होते, वहीं पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को राज्य-प्राप्ति के योग्य बताते थे ।

प्रज्ञाचक्षुरचक्षुष्ट्वाद् धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
राज्यं न प्राप्तवान् पूर्वं स कथं नृपतिर्भवेत् ॥३॥

वे कहते—"प्रज्ञाचक्षु महाराज धृतराष्ट्र नेत्रहीन होने के कारण जब पहले ही राज्य न पा सके तो अब वे राजा कैसे हो सकते हैं ?

तथा शान्तनवो भीष्मः सत्यसन्धो महाव्रतः ।
प्रत्याख्याय पुरा राज्यं न स जातु ग्रहीष्यति ॥४॥

"महान् व्रत का पालन करनेवाले शान्तनुनन्दन भीष्म तो सत्यप्रतिज्ञ हैं । वे पहले ही राज्य ठुकरा चुके हैं, अतः अब उसे कदापि ग्रहण नहीं करेंगे ।

ते वयं पाण्डवज्येष्ठं तरुणं वृद्धशीलिनम् ।
अभिषिञ्चाम साध्वद्य सत्यकारुण्यवेदिनम् ॥५॥

"पाण्डवों के बड़े भाई युधिष्ठिर यद्यपि अभी तरुण हैं तो भी शील-स्वभाव में वृद्धों के समान हैं । वे सत्यवादी, दयालु और वेदवेत्ता हैं, अतः हम लोग उन्हीं का विधिपूर्वक राज्याभिषेक करें ।

स हि भीष्मं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च धर्मवित् ।
सपुत्रं विविधैर्भोगैर्योजयिष्यति पूजयन् ॥६॥

"महाराजा युधिष्ठर बड़े धर्मज्ञ हैं । वे शान्तनु-नन्दन भीष्म और पुत्रोंसहित धृतराष्ट्र का आदर करते हुए उन्हें नाना प्रकार के भोगों से सम्पन्न रखेंगे ।"

तेषां दुर्योधनः श्रुत्वा तानि वाक्यानि जल्पताम् ।
युधिष्ठिरानुरक्तानां पर्यतप्यत दुर्मतिः ॥७॥

युधिष्ठिर में अनुरक्त उन लोगों की वैसी बातें सुनकर खोटी बुद्धिवाला दुर्योधन भीतर-ही-भीतर जलने लगा ।

स तप्यमानो दुष्टात्मा धृतराष्ट्रमुपागमत् ।
ततो विरहितं दृष्ट्वा पितरमब्रवीद् वचः ॥८॥

ईर्ष्या की अग्नि से जलता हुआ वह दुष्टात्मा धृतराष्ट्र के पास आया और वहाँ अपने पिता को अकेला पाकर उनसे इस प्रकार बोला—

दुर्योधन उवाच

श्रुता मे जल्पतां तात पौराणामशिवा गिरः ।
त्वामनादृत्य भीष्मं च पतिमिच्छन्ति पाण्डवम् ॥९॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! मैंने परस्पर वार्तालाप करते हुए नगर-निवासियों के मुख से बड़ी अशुभ बातें सुनी हैं । वे आपका और भीष्मजी का अनादर करके पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर को राजा बनाना चाहते हैं ।

मतमेतच्च भीष्मस्य न स राज्यं बुभुक्षति ।
अस्माकं तु परां पीडां चिकीर्षन्ति पुरे जनाः ॥१०॥

भीष्मजी तो इस बात को मान लेंगे, क्योंकि वे स्वयं राज्य भोगना नहीं चाहते, परन्तु नगर के लोग हमारे लिए बहुत बड़े कष्ट का आयोजन करना चाहते हैं ।

पितृतः प्राप्तवान् राज्यं पाण्डुरात्मगुणैः पुरा ।
त्वमन्धगुणसंयोगात् प्राप्तं राज्यं न लब्धवान् ॥११॥

पाण्डु ने अपने सद्गुणों के कारण पिता से राज्य प्राप्त कर लिया, परन्तु आप अन्धे होने के कारण अधिकार-प्राप्त राज्य को भी नहीं पा सके ।

स एष पाण्डोर्दायाद्यं यदि प्राप्नोति पाण्डवः ।
तस्य पुत्रो ध्रुवं प्राप्तस्तस्य तस्यापि चापरः ॥१२॥

यदि ये पाण्डुकुमार युधिष्ठिर पाण्डु के राज्य को, जिसका उत्तराधिकारी पुत्र ही होता है, प्राप्त

कर लेते हैं तो निश्चय ही उनके पश्चात् उनका पुत्र ही इस राज्य का अधिकारी होगा, फिर उसी की पुत्र-परम्परा में दूसरे-दूसरे लोग इसके अधिकारी होते जाएँगे।

ते वयं राजवंशेन हीनाः सह सुतैरपि।
अवज्ञाता भविष्यामो लोकस्य जगतीपते ॥१३॥

महाराज ! ऐसी अवस्था में हम लोग अपने पुत्रों-सहित राजपरम्परा से वञ्चित होने के कारण सब लोगों की अवहेलना के पात्र बन जाएँगे।

सततं निरयं प्राप्ताः [1]परपिण्डोपजीविनः।
न भवेम यथा राजंस्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥१४॥

राजन् ! आप कोई ऐसी नीति काम में लाइए जिससे हमें दूसरों के दिये हुए अन्न से निर्वाह करके सदा नरक-तुल्य कष्ट न भोगना पड़े।

पाण्डवेभ्यो भयं न स्यात्तान्विवासयतां भवान्।
निपुणेनाभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ॥१५॥

पिताजी ! हमें पाण्डवों से भय न हो, अतः आप किसी उत्तम उपाय से उन्हें यहाँ से हटाकर वारणावत नगर में भेज दीजिए।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मनित्यः सदा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः।
सर्वेषु ज्ञातिषु तथा मयि त्वासीद् विशेषतः ॥१६॥

धृतराष्ट्र ने कहा—वत्स ! पाण्डु अपने जीवन-भर धर्म को नित्य मानकर सम्पूर्ण ज्ञातिजनों के साथ धर्मानुकूल व्यवहार करते थे, मेरे प्रति तो और भी विशेषरूप से धर्मशील थे।

तस्य पुत्रो यथा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः।
गुणवाँल्लोकविख्यातः पौरवाणां सुसम्मतः ॥१७॥

उनके पुत्र युधिष्ठिर भी वैसे ही धर्मपरायण हैं, जैसे स्वयं पाण्डु थे। वे उत्तम गुणों से सम्पन्न, सारे संसार में विख्यात तथा पुरुवंशियों के अत्यन्त प्रिय हैं।

स कथं शक्यतेऽस्माभिरपाकर्तुं बलादितः।
पितृपैतामहाद् राज्यात् ससहायो विशेषतः ॥१८॥

फिर उन्हें उनके बाप-दादों के राज्य से बलपूर्वक कैसे हटाया जा सकता है ? विशेषतः ऐसे समय में, जबकि उनके सहायक अधिक हैं।

भृता हि पाण्डुनामात्या बलं च सततं भृतम्।
भृताः पुत्राश्च पौत्राश्च तेषामपि विशेषतः ॥१९॥

पाण्डु ने सभी मन्त्रियों तथा सैनिकों का सदा पालन-पोषण किया था। उनका ही नहीं, उनके पुत्र-पौत्रों के भी भरण-पोषण का विशेष ध्यान रखा था।

ते पुरा सत्कृतास्तात पाण्डुना नागरा जनाः।
कथं युधिष्ठिरस्यार्थे न नो हन्युः सबान्धवान् ॥२०॥

तात ! पाण्डु ने पहले नागरिकों के साथ भी अत्यन्त सद्भावनापूर्ण व्यवहार किया है। अब वे विद्रोही होकर युधिष्ठिर के हित के लिए भाई-बन्धुओं के साथ हम सब लोगों की हत्या क्यों न कर डालेंगे ?

दुर्योधन उवाच

एवमेतन्मया तात भावितं दोषमात्मनि।
दृष्ट्वा प्रकृतयः सर्वा अर्थमानेन पूजिताः ॥२१॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! मैंने भी अपने हृदय में इस दोष [प्रजा के विरोधी होने] की सम्भावना की थी तथा इसी पर दृष्टि रखकर पहले ही अर्थ और सम्मान के द्वारा समस्त प्रजा का आदर-सत्कार किया है।

ध्रुवमस्मत्सहायास्ते भविष्यन्ति प्रधानतः।
अर्थवर्गः सहामात्यो मत्संस्थोऽद्य महीपते ॥२२॥

अब निश्चय ही वे लोग मुख्यरूप से हमारे सहायक होंगे। राजन् ! इस समय मन्त्रिमण्डल और कोष भी हमारे ही अधीन हैं।

स भवान् पाण्डवानाशु विवासयितुमर्हति।
मृदुनैवाभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ॥२३॥

अतः आप किसी मृदु (सरल) उपाय से जितना शीघ्र सम्भव हो सके, पाण्डवों को वारणावत नगर में भेज दें।

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन ममाप्येतद् हृदि सम्परिवर्तते।
अभिप्रायस्य पापत्वान्नैवं तु विवृणोम्यहम् ॥२४॥

---

१. पौराणिक लोग 'पिण्ड' का अर्थ करते हैं, श्राद्ध में ब्राह्मणों को खिलाया जानेवाला भोजन अथवा पितरों को दिया जानेवाला चावलों का पिण्ड। ऐसे लोग इस स्थल को ध्यानपूर्वक पढ़ें। यहाँ पिण्ड का अर्थ है अन्न या भोजन। इसका मृतक के साथ निश्चित रूप से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

धृतराष्ट्र बोले—दुर्योधन ! मेरे हृदय में भी यही बात घूम रही है, परन्तु हम लोगों का यह अभिप्राय पापपूर्ण है, अतः मैं इसे खोलकर कह नहीं पाता।

न च भीष्मो न च द्रोणो न च क्षत्ता न गौतमः।
विवास्यमानान् कौन्तेयाननुमंस्यन्ति कर्हिचित् ॥२५॥

मुझे यह भी विश्वास है कि भीष्म, द्रोण, विदुर और कृपाचार्य—इनमें से कोई भी कुन्तीपुत्रों को यहाँ से अन्यत्र भेजे जाने की कदापि अनुमति नहीं देंगे।

समा हि कौरवेयाणां वयं ते चैव पुत्रक।
नैते विषममिच्छेयुर्धर्मयुक्ता मनस्विनः ॥२६॥

पुत्र ! इन सभी कुरुवंशियों के लिए हम लोग और पाण्डव समान हैं। ये धर्मपरायण मनस्वी महापुरुष उनके प्रति विषम व्यवहार करना नहीं चाहेंगे।

दुर्योधन उवाच

मध्यस्थः सततं भीष्मो द्रोणपुत्रो मयि स्थितः।
यतः पुत्रस्ततो द्रोणो भविता नात्र संशयः ॥२७॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! भीष्म तो सदा ही मध्यस्थ हैं, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा मेरे पक्ष में हैं, अतः द्रोणाचार्य भी उधर ही रहेंगे, जिधर उनका पुत्र होगा—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

कृपः शारद्वतश्चैव यत एतौ ततो भवेत्।
द्रोणं च भागिनेयं च न स त्यक्ष्यति कर्हिचित् ॥२८॥

जिस पक्ष में ये दोनों रहेंगे, उसी ओर शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य भी रहेंगे। वे अपने बहनोई द्रोण और भानजे अश्वत्थामा को कभी नहीं त्याग सकेंगे।

क्षत्तार्थबद्धस्त्वस्माकं प्रच्छन्नं संयतः परैः।
न चैकः स समर्थोऽस्मान्पाण्डवार्थेऽधिबाधितुम् ॥२९॥

विदुर भी हमारे आर्थिक बन्धन में हैं, यद्यपि वे छिपे-छिपे हमारे शत्रुओं के स्नेहपाश में बँधे हैं परन्तु वे अकेले पाण्डवों के हित के लिए हमें बाधा पहुँचाने में समर्थ नहीं हो सकेंगे।

स विस्रब्धः पाण्डुपुत्रान् सह मात्रा प्रवासय।
वारणावतमद्यैव यथा यान्ति तथा कुरु ॥३०॥

अतः आप पूर्ण निश्चिन्त होकर पाण्डवों को उनकी माता के साथ वारणावत भेज दीजिए और ऐसी व्यवस्था कीजिए जिससे वे आज ही चले जाएँ।

विनिद्रकरणं घोरं हृदि शल्यमिवार्पितम्।
शोकपावकमुद्भूतं कर्मणैतेन शामय ॥३१॥

मेरे हृदय में भयंकर काँटा-सा चुभ रहा है, जो मुझे नींद नहीं लेने देता। शोक की अग्नि प्रज्वलित हो उठी है, आप [मेरे प्रस्तावित] इस कार्य को पूर्ण करके मेरे हृदय की शोकाग्नि को बुझा दीजिए।

इति महाभारते आदिपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्र के आदेश से पाण्डवों की वारणावत-यात्रा, दुर्योधन के आदेश से पुरोचन का वहाँ लाक्षागृह बनाना, विदुर का उन्हें गुप्त उपदेश

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा सर्वास्ताः प्रकृतीः शनैः।
अर्थमानप्रदानाभ्यां संजहार सहानुजः ॥१॥
धृतराष्ट्रप्रयुक्तास्ते केचित् कुशलमन्त्रिणः।
कथयाञ्चक्रिरे रम्यं नगरं वारणावतम् ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् राजा दुर्योधन और उसके छोटे भाइयों ने धन देकर तथा आदर-सत्कार करके सम्पूर्ण अमात्यादि प्रकृतियों को धीरे-धीरे अपने वश में कर लिया। कुछ चतुर मन्त्री धृतराष्ट्र की आज्ञा से [चारों ओर] इस बात की चर्चा करने लगे कि "वारणावत नगर बहुत सुन्दर है।"

सर्वरत्नसमाकीर्णे पुंसां देशे मनोरमे।
इत्येवं धृतराष्ट्रस्य वचनाच्चक्रिरे कथाः ॥३॥

"वह पवित्र नगर समस्त रत्नों से भरा-पूरा तथा मनुष्यों के मन को मोहित करनेवाला है।" धृतराष्ट्र के कहने से वे इस प्रकार की बातें कहने लगे।

कथ्यमाने तथा रम्ये नगरे वारणावते।
गमने पाण्डुपुत्राणां जज्ञे तत्र मतिर्नृप ॥४॥

राजन् ! वारणावत नगर की रमणीयता का जब

इस प्रकार [यत्र-तत्र-सर्वत्र] वर्णन होने लगा, तब पाण्डवों के मन में वहाँ जाने का विचार उत्पन्न हुआ।

यदा त्वमन्यत नृपो जातकौतूहला इति।
उवाचैतानेत्य तदा पाण्डवानम्बिकासुतः ॥५॥

जब अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र को यह विश्वास हो गया कि पाण्डव वहाँ जाने के लिए उत्सुक हैं, तब वे उनके पास जाकर इस प्रकार बोले—

ते तात यदि मन्यध्वमुत्सवं वारणावते।
सगणाः सान्वयाश्चैव विहरध्वं यथामराः ॥६॥

"पुत्रो! यदि तुम लोग वारणावत नगर में उत्सव देखने के लिए जाना चाहो तो अपने कुटुम्बियों और सेवकवर्ग के साथ वहाँ जाकर देवताओं की भाँति विहार करो।"

धृतराष्ट्रस्य तं काममनुबुध्य युधिष्ठिरः।
आत्मनश्चासहायत्वं तथेति प्रत्युवाच तम् ॥७॥

जनमेजय! युधिष्ठिर धृतराष्ट्र की उस इच्छा का रहस्य जान गये, परन्तु अपने को असहाय जानकर उन्होंने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी बात मान ली।

ततो भीष्मं कृपाचार्यं विदुरं च महामतिम्।
द्रोणं च बाह्लिकं चैव ब्राह्मणांश्च तपोधनान् ॥८॥
पुरोहितांश्च पौरांश्च गान्धारीं च यशस्विनीम्।
युधिष्ठिरः शनैर्दीन उवाचेदं वचस्तदा ॥९॥

तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने भीष्म, कृपाचार्य, परम बुद्धिमान् विदुर, द्रोण, बाह्लिक, तपस्वी ब्राह्मणों, पुरोहितों, पुरवासियों तथा यशस्विनी गान्धारी देवी से मिलकर धीरे-धीरे दीनभाव से इस प्रकार कहा—

रमणीये जनाकीर्णे नगरे वारणावते।
सगणास्तत्र यास्यामो धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥१०॥

"हम महाराज धृतराष्ट्र की आज्ञा से रमणीय वारणावत नगर में, जहाँ बड़ा भारी मेला लग रहा है, परिवार-सहित जानेवाले हैं।

प्रसन्नमनसा सर्वे पुण्या वाचो विमुञ्चत।
आशीर्भिर्बृंहितानस्मान् न पापं प्रसहिष्यते ॥११॥

"आप सब लोग प्रसन्नचित्त होकर हमें अपने पुण्यमय आशीर्वाद दीजिए। आपके आशीर्वाद से हमारी वृद्धि होगी तथा पाप का हमपर वश नहीं चल सकेगा।"

एवमुक्तास्तु ते सर्वे पाण्डुपुत्रेण कौरवाः।
प्रसन्नवदना भूत्वा तेऽन्ववर्तन्त पाण्डवान् ॥१२॥
स्वस्त्यस्तु वः पथि सदा भूतेभ्यश्चैव सर्वशः।
मा च वोऽस्त्वशुभं किंचित्सर्वशः पाण्डुनन्दनाः ॥१३॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर के इस प्रकार कहने पर वे समस्त कुरुवंशी प्रसन्नवदन होकर पाण्डवों के अनुकूल हो कहने लगे—"पाण्डुकुमारो! मार्ग में सदा सब प्राणियों से तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हें कहीं से किसी प्रकार का अशुभ प्राप्त न हो।"

एवमुक्तेषु राज्ञा तु पाण्डुपुत्रेषु भारत।
दुर्योधनः परं हर्षमगच्छत् स दुरात्मवान् ॥१४॥

भारत! जब राजा धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को इस प्रकार जाने की आज्ञा दे दी, तब दुरात्मा दुर्योधन को बड़ी प्रसन्नता हुई।

स पुरोचनमेकान्तमानीय भरतर्षभ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ सचिवं वाक्यमब्रवीत् ॥१५॥

भरतकुलतिलक! उसने अपने मन्त्री पुरोचन को एकान्त में बुलाया और उसका दाहिना हाथ पकड़कर कहा—

दुर्योधन उवाच

संरक्ष तात मन्त्रं च सपत्नांश्च ममोद्धर।
निपुणेनाभ्युपायेन यद् ब्रवीमि तथा कुरु ॥१६॥

दुर्योधन बोला—तात! तुम मेरी इस गुप्त मन्त्रणा की रक्षा करो—इसे दूसरों पर प्रकट न होने दो और अच्छे उपायों द्वारा मेरे शत्रुओं को उखाड़ फेंको। मैं तुमसे जो कहता हूँ, वही करो।

पाण्डवा धृतराष्ट्रेण प्रेषिता वारणावतम्।
उत्सवे विहरिष्यन्ति धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥१७॥

पिताजी ने पाण्डवों को वारणावत जाने की आज्ञा दी है। वे उनके आदेश से [कुछ दिनों तक] वहाँ रहकर उत्सव में भाग लेंगे, घूमेंगे, फिरेंगे।

स त्वं रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना।
वारणावतमद्यैव यथा यासि तथा कुरु ॥१८॥

अतः तुम खच्चर जुते हुए शीघ्रगामी रथ पर बैठकर आज ही वहाँ पहुँच जाओ, ऐसी चेष्टा करो।

तत्र गत्वा चतुःशालं गृहं परमसंवृतम्।
नगरोपान्तमाश्रित्य कारयेथा महाधनम् ॥१९॥

वहाँ जाकर नगर के निकट ही एक ऐसा भवन तैयार कराओ, जिसमें चारों ओर कमरे हों तथा जो सब ओर से सुरक्षित हो। वह भवन बहुत धन व्यय करके सुन्दर-से-सुन्दर बनवाना चाहिए।

शणसर्जरसादीनि यानि द्रव्याणि कानिचित्।
आग्नेयान्युत सन्तीह तानि तत्र प्रदापय ॥२०॥

सन तथा राल आदि, जो कोई भी आग भड़कानेवाले द्रव्य संसार में हैं, उन सबको उस भवन की दीवारों में लगवाना।

सर्पिस्तैलवसाभिश्च लाक्षया चाप्यनल्पया।
मृत्तिकां मिश्रयित्वा त्वं लेपं कुड्येषु दापय ॥२१॥

घी, तेल, चर्बी तथा बहुत-सी लाख मिट्टी में मिलवाकर उसी से दीवारों को लिपवाना।

शणं तैलं घृतं चैव जतु दारूणि चैव हि।
तस्मिन् वेश्मनि सर्वाणि निक्षिपेथाः समन्ततः ॥२२॥
यथा च त्वां न शंकेरन् परीक्षन्तोऽपि पाण्डवाः।
आग्नेयमिति तत्कार्यमपि चान्येऽपि मानवाः ॥२३॥
वेश्मन्येवं कृते तत्र गत्वा तान् परमार्चितान्।
वासयेथाः पाण्डवेयान् कुन्तीं च ससुहृज्जनाम् ॥२४॥

उस घर के चारों ओर सन, तेल, घी, लाख और लकड़ी आदि सब वस्तुएँ संग्रह करके रखना। अच्छी प्रकार देख-भाल करने पर भी पाण्डवों तथा दूसरे लोगों को तुम्हारे इस कार्य पर शंका न हो कि यह भवन आग भड़कानेवाले पदर्थों से बना है। इस प्रकार पूर्ण सावधानी के साथ उस राजभवन का निर्माण कराना चाहिए। इस प्रकार महल बन जाने पर जब पाण्डव वहाँ जाएँ, तब उन्हें तथा सुहृदोंसहित कुन्तीदेवी को भी बड़े आदर-सत्कार के साथ वहीं ठहराना।

आसनानि च दिव्यानि यानानि शयनानि च।
विधातव्यानि पाण्डूनां यथा तुष्येत वै पिता ॥२५॥
यथा च तन्न जानन्ति नगरे वारणावते।
तथा सर्वं विधातव्यं यावत् कालस्य पर्ययः ॥२६॥

वहाँ पाण्डवों के लिए दिव्य आसन, सवारी और शय्या आदि की ऐसी [सुन्दर] व्यवस्था कर देना, जिसे सुनकर मेरे पिताजी सन्तुष्ट हों। जबतक समय बदलने के साथ ही अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि न हो जाए, तबतक सब काम इस प्रकार करना चाहिए कि वारणावत नगर के लोगों को इसके विषय में कुछ भी ज्ञात न हो सके।

ज्ञात्वा च तान् सुविश्वस्ताञ्शयानानकुतोभयान्।
अग्निस्त्वया ततो देयो द्वारतस्तस्य वेश्मनः ॥२७॥

जब तुम्हें यह भली-भाँति ज्ञात हो जाए कि पाण्डव लोग यहाँ आश्वस्त होकर रहने लगे हैं, इनके मन में कहीं से कोई भय नहीं है, तब उनके सो जाने पर घर के द्वार की ओर से आग लगा देना।

दह्यमाने स्वके गेहे दग्धा इति ततो जनाः।
न गर्हयेयुरस्मान् वै पाण्डवार्थाय कर्हिचित् ॥२८॥

उस समय लोग यही समझेंगे कि अपने आप ही घर में आग लगी थी, उसी में पाण्डव जल गये, अतः वे पाण्डवों की मृत्यु के लिए कभी हमारी निन्दा नहीं करेंगे।

वैशम्पायन उवाच

स तथेति प्रतिज्ञाय कौरवाय पुरोचनः।
प्रायाद् रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना ॥२९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पुरोचन ने दुर्योधन के सामने वैसा ही करने की प्रतिज्ञा की और खच्चर जुते हुए शीघ्रगामी रथ पर सवार हो वहाँ से वारणावत नगर को चल दिया।

स गत्वा त्वरितं राजन् दुर्योधनमते स्थितः।
यथोक्तं राजपुत्रेण सर्वं चक्रे पुरोचनः ॥३०॥

राजन्! पुरोचन दुर्योधन की सम्मति के अनुसार चलता था। उसने शीघ्र ही वारणावत में पहुँचकर राजकुमार दुर्योधन के मतानुसार सब काम पूरा कर लिया।

पाण्डवास्तु रथान् युक्तान् सदश्वैरनिलोपमैः।
आरोहमाणा भीष्मस्य पदौ जगृहुरार्तवत् ॥३१॥
राज्ञश्च धृतराष्ट्रस्य द्रोणस्य च महात्मनः।
अन्येषां चैव वृद्धानां कृपस्य विदुरस्य च ॥३२॥

उधर वायु के समान वेगवाले उत्तम घोड़ों से जुते हुए रथों पर चढ़ने के लिए उद्यत हो पाण्डवों ने अत्यन्त दुःखी-से होकर पितामह भीष्म के दोनों चरणों का स्पर्श किया। तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्र, महात्मा द्रोण, कृपाचार्य, विदुर तथा अन्य बड़े-बूढ़ों को प्रणाम किया।

सर्वा मातृस्तथाऽऽपृच्छ्य कृत्वा चैव प्रदक्षिणम् ।
सर्वा हि प्रकृतीश्चैव प्रययुर्वारणावतम् ॥३३॥

तत्पश्चात् सब माताओं से आज्ञा लेकर उनकी प्रदक्षिणा—परिक्रमा करके तथा समस्त प्रजाओं से भी विदा लेकर वे वारणावत नगर की ओर चले।

विदुरश्च महाप्राज्ञस्तथाऽन्ये कुरुपुङ्गवाः ।
पौराश्च पुरुषव्याघ्रानन्वयुः शोककर्षिताः ॥३४॥
तत्र केचिद् ब्रुवन्ति स्म ब्राह्मणा निर्भयास्तदा ।
दीनान् दृष्ट्वा पाण्डुसुतानतीव भृशदुःखिताः ॥३५॥

उस समय महाज्ञानी विदुर तथा कुरुकुल के अन्य श्रेष्ठपुरुष एवं पुरवासी मनुष्य शोक से कातर हो नर-सिंह पाण्डवों के पीछे-पीछे चलने लगे। उस समय कुछ निर्भय ब्राह्मण पाण्डवों को अत्यन्त दीन दशा में देखकर बहुत दुःखी हो इस प्रकार कहने लगे—

विषमं पश्यते राजा सर्वथा स सुमन्दधीः ।
कौरव्यो धृतराष्ट्रस्तु न च धर्मं प्रपश्यति ॥३६॥

"अत्यन्त मन्दबुद्धि कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र पाण्डवों को सदा विषम दृष्टि से देखते हैं। उनकी दृष्टि धर्म की ओर नहीं है।

स पाण्डौ पुरुषव्याघ्रे देवभावं गते सति ।
राजपुत्रानिमान् बालान् धृतराष्ट्रो न मृष्यते ॥३७॥

"नरश्रेष्ठ पाण्डु के देवभाव [मृत्यु] को प्राप्त हो जाने पर ये धृतराष्ट्र उनके छोटे-छोटे राजकुमारों का भार सहन नहीं कर पा रहे हैं।

वयमेतदनिच्छन्तः सर्व एव पुरोत्तमात् ।
गृहान् विहाय गच्छामो यत्र गन्ता युधिष्ठिरः ॥३८॥

"हम लोग यह नहीं चाहते, अतः हम सब घर-द्वार छोड़कर इस उत्तम नगरी से वहीं चलेंगे, जहाँ युधिष्ठिर जा रहे हैं।"

तांस्तथावादिनः पौरान् दुःखितान् दुःखकर्षितः ।
उवाच मनसा ध्यात्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥३९॥

शोक से दुर्बल धर्मराज युधिष्ठिर अपने लिए दुःखी उन नगर-वासियों को ऐसी बातें करते देख मन-ही-मन कुछ सोचकर उनसे बोले—

पिता मान्यो गुरुः श्रेष्ठो यदाह पृथिवीपतिः ।
अशङ्कमानैस्तत् कार्यमस्माभिरिति नो व्रतम् ॥४०॥

"बन्धुओ! राजा धृतराष्ट्र मेरे माननीय पिता, गुरु एवं श्रेष्ठ पुरुष हैं। वे जो आज्ञा दें, उसका हमें निःशङ्क होकर पालन करना चाहिए, यही हमारा व्रत है।

भवन्तः सुहृदोऽस्माकमस्मान् कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
प्रतिनन्द्य तथाशीर्भिर्निवर्तध्वं यथागृहम् ॥४१॥

"आप सब लोग हमारे हितचिन्तक हैं, अतः हमें अपने आशीर्वादों से सन्तुष्ट करें तथा हमें दाहिने करते हुए जैसे आये थे, वैसे ही अपने घरों को लौट जाएँ।"

एवमुक्तास्तदा पौराः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
आशीर्भिश्चाभिनन्द्यैताञ्जग्मुर्नगरमेव हि ॥४२॥

उनके ऐसा कहने पर पुरवासी उन्हें आशीर्वाद से प्रसन्न करते हुए तथा उन्हें दाहिने करके नगर को लौट गये।

पौरेषु विनिवृत्तेषु विदुरः सत्यधर्मवित् ।
बोधयन् पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥४३॥

नगर-निवासियों के लौट जाने पर सत्यधर्म के ज्ञाता विदुरजी पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर को दुर्योधन के कपट का बोध कराते हुए इस प्रकार बोले—

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः ।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत् ॥४४॥

विदुरजी बुद्धिमान् तथा मूढ़ म्लेच्छों की निरर्थक-सी प्रतीत होनेवाली भाषा के भी ज्ञाता थे। इसी प्रकार युधिष्ठिर भी उस म्लेच्छ भाषा को समझने-वाले और बुद्धिमान् थे, अतः उन्होंने युधिष्ठिर से ऐसी कहने योग्य बात कही, जो म्लेच्छ भाषा के जानकार एवं बुद्धिमान् पुरुष को उस भाषा में कहे हुए रहस्य का ज्ञान करा देनेवाली थी, परन्तु उस भाषा से अनभिज्ञ पुरुष को वास्तविक अर्थ का बोध नहीं कराती थी।

यो जानाति परप्रज्ञां नीतिशास्त्रानुसारिणीम् ।
विज्ञायेह तथा कुर्यादापदं निस्तरेद् यथा ॥४५॥

"जो नीति-शास्त्र का अनुसरण करनेवाली शत्रु की बुद्धि को समझ लेता है, वह उसे समझ लेने पर कोई ऐसा उपाय करे, जिससे वह शत्रुजनित संकट से बच सके।

**अलोहं निशितं शस्त्रं शरीरपरिकर्तनम् ।
यो वेत्ति न तु तं घ्नन्ति प्रतिघातविदं द्विषः ॥४६॥**

"एक ऐसा तीखा अस्त्र है, जो लोहे का बना तो नहीं है, परन्तु शरीर को नष्ट कर देता है। जो उसे जानता है, ऐसे उस शस्त्र के आघात से बचने का उपाय जाननेवाले पुरुष को शत्रु नहीं मार सकते ।

**कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः ।
न दहेदिति चात्मानं यो रक्षति स जीवति ॥४७॥**

"घास-फूस तथा सूखे वृक्षोंवाले जंगल को जलाने और सरदी को नष्ट कर देनेवाली आग विशाल वन में फैल जाने पर भी बिल में रहनेवाले चूहे आदि जीव-जन्तुओं को नहीं जला सकती—जो ऐसा समझकर अपनी रक्षा का उपाय करता है, वही जीवित रहता है ।

**नाचक्षुर्वेत्ति पन्थानं नाचक्षुर्विन्दते दिशः ।
नाधृतिर्बुद्धिमाप्नोति बुध्यस्वैवं प्रबोधितः ॥४८॥**

"जिसकी आँखें नहीं है, वह मार्ग नहीं देख पाता, अन्धे को दिशाओं का ज्ञान नहीं होता और जो धैर्य खो देता है, उसे सद्‌बुद्धि प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार मेरे समझाने पर तुम मेरी बात को भली भाँति समझ लो ।

**अनाप्तैर्दत्तमादत्ते नरः शास्त्रमलोहजम् ।
श्वाविच्छरणमासाद्य प्रमुच्येत हुताशनात् ॥४९॥**

"शत्रु के दिये हुए बिना लोहे के बने शस्त्र को जो मनुष्य ग्रहण कर लेता है, वह साही के बिल में घुसकर आग से बच जाता है ।

**चरन् मार्गान् विजानाति नक्षत्रैर्विन्दते दिशः ।
आत्मना चात्मनः पञ्च पीडयन् नानुपीड्यते ॥५०॥**

"मनुष्य घूम-फिर कर मार्ग का पता लगा लेता है, नक्षत्रों से दिशाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और जो अपनी पाँचों इन्द्रियों को वश में रखता है, वह शत्रुओं से पीड़ित नहीं होता ।"

**एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
विदुरं विदुषां श्रेष्ठं ज्ञातमित्येव पाण्डवः ॥५१॥**

इस प्रकार कहे जाने पर पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर ने विद्वानों में श्रेष्ठ विदुरजी से कहा— "मैंने आपकी बात अच्छी प्रकार समझ ली है ।"

**अनुशिक्ष्यानुगम्यैतान् कृत्वा चैव प्रदक्षिणम् ।
पाण्डवानभ्यनुज्ञाय विदुरः प्रययौ गृहान् ॥५२॥**

इस प्रकार पाण्डवों को वारम्बार कर्तव्य की शिक्षा देते हुए कुछ दूर तक उनके पीछे-पीछे जाकर विदुरजी उनको जाने की आज्ञा दे उन्हें अपने दाहिने करके अपने घर को लौट गये ।

**निवृत्ते विदुरे चापि भीष्मे पौरजने तथा ।
अजातशत्रुमासाद्य कुन्ती वचनमब्रवीत् ॥५३॥**

विदुर, भीष्मजी और नगर-वासियों के लौट जाने पर कुन्ती अजातशत्रु युधिष्ठिर के पास जाकर यह वचन बोली—

**क्षत्ता यदब्रवीद् वाक्यं जनमध्येऽब्रुवन्निव ।
त्वया च स तथेत्युक्तो जानीमो न च तद्वयम् ॥५४॥**

"पुत्र ! विदुरजी ने सब लोगों के मध्य में जो अस्पष्ट-सी बात कही थी, उसे सुनकर तुमने 'बहुत अच्छा' कहकर स्वीकार किया था, परन्तु हम लोग वह बात अबतक नहीं समझ पा रहे हैं।

**यदीदं शक्यमस्माभिर्ज्ञातुं न च सदोषवत् ।
श्रोतुमिच्छामि तत्सर्वं संवादं तव तस्य च ॥५५॥**

"यदि उसे हम भी समझ सकें और हमारे जानने से कोई दोष न आता हो, तो तुम्हारी और उनकी सारी बात-चीत का रहस्य मैं जानना चाहती हूँ ।

युधिष्ठिर उवाच

**गृहादग्निश्च बोद्धव्य इति मां विदुरोऽब्रवीत् ।
पन्थाश्च वो नाविदितः कश्चित्स्यादिति धर्मधीः ॥५६**

युधिष्ठिर बोले—माँ ! जिनकी बुद्धि सदा धर्म में लगी रहती है, उन विदुरजी ने [सांकेतिक भाषा में] मुझसे कहा था, "तुम जिस घर में ठहरोगे, वहाँ आग का भय है, यह बात अच्छी प्रकार जान लेनी चाहिए। साथ ही वहाँ का कोई भी मार्ग ऐसा न हो, जो तुमसे अपरिचित रहे ।

**जितेन्द्रियश्च वसुधां प्राप्स्यतीति च मेऽब्रवीत् ।
विज्ञातमिति तत्सर्वं प्रत्युक्तो विदुरो मया ॥५७॥**

"यदि तुम अपनी इन्द्रियों को वश में रखोगे तो सारी पृथिवी का राज्य प्राप्त कर लोगे, यह बात भी उन्होंने मुझे बताई थी और इन्हीं बातों के लिए मैंने विदुरजी को उत्तर दिया था कि "मैं सब समझ गया !"

वैशम्पायन उवाच

अष्टमेऽहनि रोहिण्यां प्रयाताः फाल्गुनस्य ते ।
वारणावतमासाद्य ददृशुर्नगरं जनम् ।।५८।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! पाण्डवों ने फाल्गुन शुक्ल अष्टमी के दिन रोहिणी में यात्रा की थी। वे यथासमय वारणावत में पहुँचकर वहाँ के निवासियों से मिले।

इति महाभारते आदिपर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः ।।२२।।

त्रयोविंशोऽध्यायः

पाण्डवों का लाक्षागृह में निवास, लाक्षागृह का दाह और पाण्डवों का सुरंग से बच निकलना, धृतराष्ट्र आदि द्वारा पाण्डवों के लिए शोक-प्रकाश

वैशम्पायन उवाच

ततः सर्वाः प्रकृतयो नगराद् वारणावतात् ।
सर्वमङ्गलसंयुक्ता यथाशास्त्रमतन्द्रिताः ।।१।।
श्रुत्वाऽऽगतान् पाण्डुपुत्रान् नानायानैः सहस्रशः ।
अभिजग्मुर्नरश्रेष्ठान् श्रुत्वैव परया मुदा ।।२।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! नरश्रेष्ठ पाण्डवों के आगमन का समाचार सुनकर वारणावत नगर से वहाँ के सभी नागरिक अत्यन्त प्रसन्न हो आलस्य छोड़कर शास्त्रविधि के अनुसार सब प्रकार की माङ्गलिक वस्तुओं की भेंट ले-लेकर सहस्रों की संख्या में नाना प्रकार की सवारियों द्वारा उनके स्वागत के लिए आये।

अर्चिताश्च नरैः पौरैः पाण्डवा भरतर्षभ ।
जग्मुरावस्थं पश्चात् पुरोचनपुरस्सराः ।।३।।

भरतश्रेष्ठ ! नगर-निवासी मनुष्यों द्वारा पूजित एवं सम्मानित हो पाण्डव लोग पुरोचन को आगे करके डेरे पर गये।

तेभ्यो भक्ष्याणि पानानि शयनानि शुभानि च ।
आसनानि च मुख्यानि प्रददौ स पुरोचनः ।।४।।

वहाँ पुरोचन ने उनके लिए खाने-पीने की उत्तम वस्तुएँ, सुन्दर शय्याएँ तथा श्रेष्ठ आसन प्रस्तुत किये।

तत्र ते सत्कृतास्तेन सुमहार्हपरिच्छदाः ।
उपास्यमानाः पुरुषैरूषुः पुरनिवासिभिः ।।५।।

उस भवन में पुरोचन द्वारा उनका बड़ा सत्कार हुआ। वे बहुमूल्य सामग्रियों का उपभोग करते थे और बहुत-से नगर-निवासी उनकी सेवा में उपस्थित रहते थे। इस प्रकार वे [अत्यन्त आनन्द] से वहाँ रहने लगे।

दशरात्रोषितानां तु तत्र तेषां पुरोचनः ।
निवेदयामास गृहं शिवाख्यमशिवं तदा ।।६।।

दस दिन तक वहाँ रहने के पश्चात् पुरोचन ने पाण्डवों से उस नूतन गृह के सम्बन्ध में चर्चा की, जो कहने को तो 'शिवभवन' था, परन्तु वास्तव में अशिव [अमङ्गलकारी] था।

तत्र ते पुरुषव्याघ्रा विविशुः सपरिच्छदाः ।
पुरोचनस्य वचनात् कैलासमिव गुह्यकाः ।।७।।

पुरोचन के कहने से पुरुषसिंह पाण्डव अपनी सभी सामग्रियों और सेवकों के साथ उस नये भवन में गये, मानो गुह्यकगण (यक्ष-गण) कैलास पर्वत पर जा रहे हों।

उच्चागारमभिप्रेक्ष्य सर्वधर्मभृतां वरः ।
उवाचाग्नेयमित्येवं भीमसेनं युधिष्ठिरः ।।८।।

उस भवन को अच्छी प्रकार देखकर समस्त धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा—"भाई ! यह गृह तो आग भड़कानेवाली वस्तुओं से बना जान पड़ता है।

जिघ्राणोऽस्य वसागन्धं सर्पिर्जतुविमिश्रितम् ।
कृतं हि व्यक्तमाग्नेयमिदं वेश्म परन्तप ।।९।।

"शत्रुसन्तापक भीमसेन ! मुझे इस घर की दीवारों से घी और लाख मिली हुई चर्वी की गन्ध आ रही है, अतः स्पष्ट जान पड़ता है कि इस घर का निर्माण अग्निदीपक पदार्थों से ही हुआ है।"

भीमसेन उवाच

यदीदं गृहमाग्नेयं विहितं मन्यते भवान् ।
तत्रैव साधु गच्छामो यत्र पूर्वोषिता वयम् ॥१०॥

भीमसेन ने कहा—भैया ! यदि आप यह मानते हैं कि इस भवन का निर्माण ज्वलनशील वस्तुओं से हुआ है तो हम लोग जहाँ पहले रहते थे, कुशलपूर्वक पुनः उसी घर में क्यों न लौट चलें ?

युधिष्ठिर उवाच

इह यत्तैर्निराकारैर्वस्तव्यमिति रोचये ।
अप्रमत्तैर्विचिन्वद्भिर्गतिमिष्टां ध्रुवामितः ॥११॥

युधिष्ठिर बोले—भाई ! हम लोगों को यहाँ अपनी बाह्य चेष्टाओं से मन की बात प्रकट न करते हुए तथा यहाँ से बच निकलने के लिए मनोऽनुकूल निश्चित मार्ग का पता लगाते हुए पूरी सावधानी के साथ यहीं रहना चाहिए । मुझे ऐसा करना ही उचित प्रतीत होता है ।

वयं तु यदि दाहस्य बिभ्यतः प्रद्रवेमहि ।
स्पशैर्निर्घातयेत् सर्वान् राज्यलुब्धः सुयोधनः ॥१२॥

यदि हम भस्म होने के भय से भाग निकलें तो भी राज्यलोभी दुर्योधन हम सबको अपने गुप्तचरों द्वारा मरवा सकता है ।

अपदस्थान् पदे तिष्ठन्नपक्षान् पक्षसंस्थितः ।
हीनकोशान् महाकोशः प्रयोगैर्घातयेद् ध्रुवम् ॥१३॥

इस समय वह अधिकार-पद पर प्रतिष्ठित है और हम उससे वञ्चित हैं । वह सहायकों के साथ है और हम असहाय हैं । उसके पास बहुत बड़ा कोष है और हमारे पास उसका सर्वथा अभाव है, अतः निश्चय ही वह अनेक प्रकार के उपायों द्वारा हमारी हत्या करा सकता है ।

तदस्माभिरिमं पापं तं च पापं सुयोधनम् ।
वञ्चयद्भिर्निवस्तव्यं छन्नावासं क्वचित्क्वचित् ॥१४

अतः इस पापात्मा पुरोचन तथा पापी दुर्योधन को भी धोखे में रखते हुए हमें यहीं कहीं किसी गुप्त स्थान में निवास करना चाहिए ।

ते वयं मृगयाशीलाश्चराम वसुधामिमाम् ।
यथा नो विदिता मार्गा भविष्यन्ति पलायताम् ॥१५॥

हम सब शिकार खेलने में रत रहकर यहाँ की भूमि पर सब ओर विचरें, इससे भाग निकलने के लिए हमें बहुत-से मार्ग ज्ञात हो जाएँगे ।

भौमं च बिलमद्यैव करवाम सुसंवृतम् ।
गूढश्वासान्न नस्तत्र हुताशः सम्प्रधक्ष्यति ॥१६॥

इसके अतिरिक्त हम आज ही से भूमि में एक सुरंग तैयार करें जो ऊपर से अच्छी प्रकार ढकी हो । वहाँ हमारी साँस तक छिपी रहेगी [हमारे अन्य कार्यों की तो बात ही क्या है] उस सुरंग में घुस जाने पर आग हमें नहीं जला सकेगी ।

वसतोऽत्र यथा चास्मान्न बुध्येत पुरोचनः ।
पौरो वापि जनः कश्चित् तथा कार्यमतन्द्रितैः ॥१७॥

हमें आलस्य छोड़कर इस प्रकार कार्य करना चाहिए, जिससे यहाँ रहते हुए भी पुरोचन को हमारे सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात न हो सके और किसी पुरवासी को भी हमारी कानों-कान खबर न हो ।

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य सुहृत् कश्चित् खनकः कुशलो नरः ।
विविक्ते पाण्डवान् राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इधर ऐसा निश्चय हुआ, उधर एक सुरंग खोदनेवाला मनुष्य जो विदुरजी का हितैषी और विश्वासपात्र तथा अपने कार्य में अति चतुर था, एक दिन एकान्त में पाण्डवों से मिला और इस प्रकार कहने लगा—

प्रहितो विदुरेणास्मि खनकः कुशलो ह्यहम् ।
पाण्डवानां प्रियं कार्यमिति किं करवाणि वः ॥१९॥
प्रच्छन्नं विदुरेणोक्तः श्रेयस्त्वमिति पाण्डवान् ।
प्रतिपादय विश्वासादिति किं करवाणि वः ॥२०॥

"मुझे विदुरजी ने भेजा है । मैं सुरंग खोदने की कला में निपुण हूँ । मुझे आप पाण्डवों का प्रिय कार्य करना है, अतः आप लोग बताएँ, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? विदुरजी ने गुप्त रूप से मुझसे यह कहा है कि तुम वारणावत में जाकर विश्वासपूर्वक पाण्डवों का हित सम्पादन करो, अतः आप आज्ञा दीजिए, मैं क्या करूँ ?

किञ्चिच्च विदुरेणोक्तो म्लेच्छवाचासि पाण्डव ।
त्वया च तत् तथेत्युक्तमेतद् विश्वासकारणम् ॥२१॥

"पाण्डुनन्दन ! विदुरजी ने म्लेच्छ भाषा में

आपको कुछ संकेत किया था और आपने 'तथास्तु' कहकर उसे स्वीकार किया था। यह बात मैं विश्वास दिलाने के लिए कहता हूँ।"

युधिष्ठिर उवाच

अभिजानामि सौम्य त्वां सुहृदं विदुरस्य वै।
शुचिमाप्तं प्रियं चैव सदा च दृढभक्तिकम् ॥२२॥

युधिष्ठिर बोले—सौम्य! मैं तुम्हें पहचानता हूँ। तुम विदुरजी के हितैषी, ईमानदार, विश्वसनीय, प्रिय तथा उनके प्रति सदा अविचल भक्ति रखनेवाले हो।

इदं शरणमाग्नेयं मदर्थमिति मे मतिः।
पुरोचनेन विहितं धार्तराष्ट्रस्य शासनात् ॥२३॥

यह घर अग्नि-दीपक पदार्थों से बना है। हमारा विश्वास है कि दुर्योधन के आदेश से पुरोचन ने हमारे लिए ही इसे बनवाया है।

स भवान्मोक्षयत्वस्मान्यत्नेनास्माद्धुताशनात्।
अस्मास्विह हि दग्धेषु सकामः स्यात् सुयोधनः ॥२४॥

तुम प्रयत्न करके हम लोगों को इस आग से बचा लो, अन्यथा हम लोगों के यहाँ दग्ध हो जाने पर दुर्योधन का मनोरथ सफल हो जाएगा।

वैशम्पायन उवाच

स तथेति प्रतिश्रुत्य खनको यत्नमास्थितः।
परिखामुत्किरन्नाम चकार च महाबिलम् ॥२५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब उस सुरंग खोदनेवाले ने 'बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा'—यह प्रतिज्ञा की और कार्य-सिद्धि के प्रयत्न में लग गया। खाई की सफाई करने के बहाने से उसने एक बहुत बड़ी सुरंग तैयार कर दी।

चक्रे स वेश्मनस्तस्य मध्येनातिमहद् बिलम्।
कपाटयुक्तमज्ञातं समं भूम्याश्च भारत ॥२६॥

हे भारत! उसने उस भवन के ठीक मध्य से वह महान् सुरंग निकाली। उसके मुहाने पर किवाड़ लगे थे। वह भूमि के समान स्तर पर ही बनी थी, अतः किसी को भी ज्ञात नहीं होती थी।

पुरोचनभयादेव व्यदधात् संवृतं मुखम्।
स तस्य तु गृहद्वारि वसत्यशुभधीः सदा ॥२७॥
तत्र ते सायुधाः सर्वे वसन्ति स्म क्षपां नृप।
दिवा चरन्ति मृगयां पाण्डवेया वनाद् वनम् ॥२८॥
विश्वसन्तोऽप्यविश्वस्ता वञ्चयन्तः पुरोचनम्।
अतुष्टास्तुष्टवद् राजन्नूषुः परमविस्मिताः ॥२९॥

पुरोचन के भय से उस सुरंग खोदनेवाले ने उसके मुख को बन्द कर दिया था, क्योंकि दुष्टबुद्धि पुरोचन सदा भवन के द्वार पर ही निवास करता था तथा पाण्डवगण भी रात्रि के समय शस्त्र सँभाले अति सावधानी के साथ उस द्वार पर ही रहा करते थे। [अतः पुरोचन को आग लगाने का अवसर नहीं मिलता था।] वे दिन में शिकार के बहाने एक वन से दूसरे वन में घूमते रहते थे। पाण्डव भीतर से तो विश्वास न करने के कारण सदा चौकन्ने रहते थे, परन्तु ऊपर से पुरोचन को ठगने के लिए विश्वस्त की भाँति व्यवहार करते थे। राजन्! वे असन्तुष्ट होते हुए भी सन्तुष्ट की भाँति निवास करते एवं अत्यन्त विस्मययुक्त-से रहते थे।

तांस्तु दृष्ट्वा सुमनसः परिसंवत्सरोषितान्।
विश्वस्तानिव संलक्ष्य हर्षं चक्रे पुरोचनः ॥३०॥
पुरोचने तथा हृष्टे कौन्तेयोऽथ युधिष्ठिरः।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ यमौ प्रोवाच धर्मवित् ॥३१॥

हे जनमेजय! पाण्डवों को एक वर्ष से वहाँ प्रसन्नचित्त हो विश्वस्त की भाँति रहते हुए देख पुरोचन अति हर्षित हुआ। उसके इस प्रकार प्रसन्न होने पर धर्म के ज्ञाता कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव से इस प्रकार कहा—

अस्मानयं सुविश्वस्तान् वेत्ति पापः पुरोचनः।
वञ्चितोऽयं नृशंसात्मा कालं मन्ये पलायने ॥३२॥

"पापी पुरोचन हम लोगों को पूर्ण विश्वस्त समझ रहा है। इस निर्दयी को अबतक हम लोगों ने धोखा दिया है। अब मेरे विचार में हमारे भाग निकलने का उपयुक्त अवसर आ गया है।"

चक्रे दानापदेशेन कुन्ती ब्राह्मणभोजनम्।
निषादी पञ्चपुत्रा तु तस्मिन्भोज्ये यदृच्छया ॥३३॥
अन्नार्थिनी समभ्यागात् सपुत्रा कालचोदिता।
भुक्त्वा सर्वैः सुतैः राजंस्तस्मिन्नेव निवेशने।
सुष्वाप विगतज्ञाना मृतकल्पा नराधिप ॥३४॥

महाराज! एक दिन [रात्रि के समय] कुन्ती

ने दान देने के निमित्त ब्राह्मणों को भोजन कराया। दैवेच्छा से उस भोजन के समय एक भीलनी भी अपने पाँच पुत्रों के साथ उस भोज में आई, मानो काल ने ही उसे प्रेरित करके वहाँ भेजा था। भोजन करके वह अपने सभी पुत्रों के साथ उसी घर में सो गई। उस समय वह अपनी सुध-बुध खोकर मृतक-सी हो रही थी।

अथ प्रवाते तुमुले निशि सुप्ते जने तदा।
तदुपादीपयद् भीमः शेते यत्र पुरोचनः ॥३५॥

रात्रि में जब सब सो गये, उस समय सहसा बड़े जोर की आँधी चली। तब भीमसेन ने उस जगह आग लगा दी, जहाँ पुरोचन सो रहा था।

समन्ततो ददौ पश्चादग्निं तत्र निवेशने।
ज्ञात्वा तु तद् गृहं सर्वमादीप्तं पाण्डुनन्दनाः ॥३६॥
सुरङ्गां विविशुस्तूर्णं मात्रा सार्धमरिन्दमाः।
ततः प्रतापः सुमहाञ्छब्दश्चैव विभावसोः ॥३७॥
प्रादुरासीत् तदा तेन बुबुधे स जनव्रजः।
तदवेक्ष्य गृहं दीप्तमाहुः पौराः कृशाननाः ॥३८॥

तत्पश्चात् पाण्डवों ने उस भवन के चारों ओर आग लगा दी। जब वह सारा घर आग की लपेट में आ गया, तब शत्रुओं का दमन करनेवाले पाण्डव अपनी माता के साथ सुरंग में घुस गये। उधर वहाँ आग की भीषण ज्वालाएँ उठने लगीं, महान् ताप फैल गया। घर को जलानेवाली उस अग्नि का महान् चट-चट शब्द सुनाई देने लगा। इससे उस नगर का जन-समूह जाग उठा। उस घर को जलता देखकर पुरवासियों के मुख पर दीनता छा गई। वे व्याकुल होकर कहने लगे—

पौरा ऊचुः

दुर्योधनप्रयुक्तेन पापेनाकृतबुद्धिना।
गृहमात्मविनाशाय कारितं दाहितं च तत् ॥३९॥
अहो धिक् धृतराष्ट्रस्य बुद्धिर्नातिसमञ्जसा।
यः शुचीन् पाण्डुदायादान् दाहयामास शत्रुवत् ॥४०॥

पुरवासी बोले—अहो! पुरोचन का अन्तःकरण उसके वश में नहीं था। उस पापी ने दुर्योधन की आज्ञा से अपने ही विनाश के लिए इस घर को बनवाया और जला भी दिया! अहो! धिक्कार है, धृतराष्ट्र की बुद्धि बहुत बिगड़ गई है, जिसने शुद्ध हृदयवाले पाण्डुपुत्रों को शत्रुओं की भाँति आग में जलवा दिया।

दिष्ट्या त्विदानीं पापात्मा दग्धोऽयमतिदुर्मतिः।
अनागसः सुविश्वस्तान् यो ददाह नरोत्तमान् ॥४१॥

यह सौभाग्य की बात है कि दुर्बुद्धि पापी पुरोचन स्वयं भी इसी अग्नि में दग्ध हो गया है, जिसने निरपराध और अपने ऊपर पूर्ण विश्वास करनेवाले नरश्रेष्ठ पाण्डवों को जला दिया है।

वैशम्पायन उवाच

एवं ते विलपन्ति स्म वारणावतका जनाः।
परिवार्य गृहं तच्च तस्थू रात्रौ समन्ततः ॥४२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार वारणावत के लोग विलाप करने लगे। वे रात-भर उस घर को चारों ओर से घेरकर खड़े रहे।

पाण्डवाश्चापि ते सर्वे सह मात्रा सुदुःखिताः।
बिलेन तेन निर्गत्य जग्मुर्द्रुतमलक्षिताः ॥४३॥

उधर समस्त पाण्डव भी अत्यन्त दुःखी हो अपनी माता के साथ सुरंग के मार्ग से निकलकर तुरन्त ही दूर चले गये। उन्हें कोई भी देख न सका।

तेन निद्रोपरोधेन साध्वसेन च पाण्डवाः।
न शेकुः सहसा गन्तुं सह मात्रा परन्तपाः ॥४४॥

नींद न ले सकने के कारण आलस्य और भय से युक्त परन्तप पाण्डव अपनी माता के साथ जल्दी-जल्दी चल नहीं पाते थे।

भीमसेनस्तु राजेन्द्र भीमवेगपराक्रमः।
जगाम भ्रातॄनादाय सर्वान् मातरमेव च ॥४५॥
स्कन्धमारोप्य जननीं यमावङ्केन वीर्यवान्।
पार्थौ गृहीत्वा पाणिभ्यां भ्रातरौ सुमहाबलः ॥४६॥

हे राजेन्द्र! प्रबल वेग और पराक्रमवाले भीमसेन अपने सब भाइयों तथा माता को भी साथ लिये चल रहे थे। वे महान् बल और पराक्रम से सम्पन्न थे। उन्होंने माता को तो कंधे पर चढ़ा लिया, नकुल और सहदेव को गोद में उठा लिया तथा शेष दोनों भाइयों को दोनों हाथों से पकड़कर उन्हें सहारा देते हुए चलने लगे।

उरसा पादपान् भञ्जन् महीं पद्भ्यां विदारयन् ।
स जगामाशु तेजस्वी वातरंहा वृकोदरः ।।४७।।

तेजस्वी भीम वायु के समान वेगशाली थे । वे अपनी छाती के धक्के से वृक्षों को तोड़ते और पैरों की ठोकर से पृथिवी को विदीर्ण करते हुए तीव्र गति से आगे बढ़े जा रहे थे ।

एतस्मिन्नेव काले तु यथासम्प्रत्ययं कविः ।
विदुरः प्रेषयामास तद् वनं पुरुषं शुचिम् ।।४८।।

जनमेजय ! इसी समय परम ज्ञानी विदुरजी ने अपने विश्वास के अनुसार एक शुद्ध विचारवाले पुरुष को उस वन में भेजा ।

स गत्वा तु यथोद्देशं पाण्डवान् ददृशे वने ।
जनन्या सह कौरव्य मापयानान् नदीजलम् ।।४९।।

हे कुरुनन्दन ! उसने विदुरजी के बताये अनुसार ठीक स्थान पर पहुँचकर वन में मातासहित जाते हुए पाण्डवों को देखा, जो नदी के जल की गहराई माप रहे थे ।

विदितं तन्महाबुद्धेर्विदुरस्य महात्मनः ।
ततस्तस्यापि चारेण चेष्टितं पापचेतसः ।।५०।।
ततः प्रवासितो विद्वान् विदुरेण नरस्तदा ।
पार्थानां दर्शयामास मनोमारुतगामिनीम् ।
सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम् ।।५१।।

परम बुद्धिमान् महात्मा विदुर को गुप्तचर द्वारा उस पापासक्त पुरोचन की चेष्टाओं का पता चल गया था, इसलिए उन्होंने उस समय उस बुद्धिमान् मनुष्य को वहाँ भेजा था । उसने मन और वायु के समान वेग से चलनेवाली एक नौका पाण्डवों को दिखाई, जो सब प्रकार से वायु का वेग सहने में समर्थ तथा ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित थी । उस नौका को चलाने के लिए यन्त्र लगाया गया था ।

ततः पुनरथोवाच ज्ञापकं पूर्वचोदितम् ।
युधिष्ठिर निबोधेदं संज्ञार्थं वचनं कवेः ।।५२।।

तत्पश्चात् उस मनुष्य ने कहा—"युधिष्ठिरजी ! ज्ञानी विदुरजी द्वारा पहले कही हुई यह बात, जो मेरी विश्वसनीयता को सूचित करनेवाली है, पुनः सुनिए ! मैं आपको संकेत के रूप में स्मरण कराने के लिए इसे कहता हूँ ।

कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः ।
न हन्तीत्येवमात्मानं यो रक्षति स जीवति ।।५३।।

"[आपसे विदुर ने कहा था—]घास-फूंस तथा सूखे वृक्षों के जंगल को जलानेवाली तथा सरदी को नष्ट कर देनेवाली आग विशाल वन में फैल जाने पर भी बिल में रहनेवाले चूहे आदि जन्तुओं को नहीं जला सकती । ऐसा समझकर जो अपनी रक्षा का उपाय करता है, वही जीवित रहता है ।"

तेन मां प्रेषितं विद्धि विश्वस्तं संज्ञयानया ।
भूयश्चैवाह मां क्षत्ता विदुरः सर्वतोऽर्थवित् ।।५४।।
कर्णं दुर्योधनं चैव भ्रातृभिः सहितं रणे ।
शकुनिं चैव कौन्तेय विजेतासि न संशयः ।।५५।।

"इस संकेत से आप यह जान लें कि "मैं विश्वासपात्र हूँ तथा विदुरजी ने ही मुझे भेजा है ।" इसके सिवा, सब प्रकार से अर्थसिद्धि का ज्ञान रखनेवाले विदुरजी ने पुनः मुझे आपके लिए यह सन्देश दिया है कि—"कुन्तीनन्दन ! तुम युद्ध में भाइयों सहित दुर्योधन, कर्ण और शकुनि को अवश्य परास्त करोगे, इसमें संशय नहीं है ।"

इयं वारिपथे युक्ता नौरप्सु सुखगामिनी ।
मोचयिष्यति वः सर्वानस्माद् देशान्न संशयः ।।५६।।

"यह नौका जलमार्ग के लिए पूर्ण उपयुक्त है । जल में यह अति सुगमता से चलनेवाली है । यह नौका आप सब लोगों को इस देश से दूर छोड़ देगी, इसमें सन्देह नहीं है ।"

अथ तान्व्यथितान्दृष्ट्वा सह मात्रा नरोत्तमान् ।
नावमारोप्य गङ्गायां प्रस्थितानब्रवीत् पुनः ।।५७।।

तत्पश्चात् माता-सहित नरश्रेष्ठ पाण्डवों को अत्यन्त दुःखी देख नाविक ने उन सबको नाव पर चढ़ाया और जब वे गङ्गा के मार्ग से प्रस्थान करने लगे, तब पुनः इस प्रकार कहा—

विदुरो मूर्ध्न्युपाघ्राय परिष्वज्य वचो मुहुः ।
अरिष्टं गच्छताव्यग्राः पन्थानमिति चाब्रवीत् ।।५८।।

विदुरजी ने आप सभी पाण्डुपुत्रों को भावना द्वारा हृदय से लगाकर और मस्तक सूंघकर यह आशीर्वाद फिर कहलाया है कि—"तुम शान्तचित्त रहकर कुशलपूर्वक मार्ग पर बढ़ते जाओ !"

इत्युक्त्वा स तु तान्वीरान्पुमान्विदुरप्रेरितः ।
तारयामास राजेन्द्र गङ्गां नावा नरर्षभान् ॥५९॥

हे राजेन्द्र ! विदुरजी के भेजे हुए उस नाविक ने उन शूरवीर नरश्रेष्ठ पाण्डवों से ऐसी बात कहकर उसी नाव से उन्हें गङ्गा के पार उतार दिया ।

अथ रात्र्यां व्यतीतायामशेषो नागरो जनः ।
तत्राजगाम त्वरितो दिदृक्षुः पाण्डुनन्दनान् ॥६०॥

हे जनमेजय ! उधर रात्रि के व्यतीत होने पर वारणावत के समस्त नागरिक बड़ी उतावली के साथ पाण्डुकुमारों की दशा देखने के लिए उस लाक्षागृह के समीप आये ।

निर्वापयन्तो ज्वलनं ते जना ददृशुस्ततः ।
जातुषं तद् गृहं दग्धममात्यं च पुरोचनम् ॥६१॥

आते ही वे सब लोग आग बुझाने में लग गये । उस समय उन्होंने देखा कि सारा घर लाख का बना था, जो जलकर भस्म हो गया है और उसी में मन्त्री पुरोचन भी जल गया है ।

नूनं दुर्योधनेनेदं विहितं पापकर्मणा ।
पाण्डवानां विनाशायेत्येवं ते चुक्रुशुर्जनाः ॥६२॥

यह देख वे सभी नागरिक चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे कि—"निश्चय ही पापाचारी दुर्योधन ने पाण्डवों का विनाश करने के लिए इस भवन का निर्माण करवाया था ।

ते वयं धृतराष्ट्रस्य प्रेषयामो दुरात्मनः ।
संवृत्तस्ते परः कामः पाण्डवान् दग्धवानसि ॥६३॥

"अब हम लोग दुरात्मा धृतराष्ट्र के पास यह सन्देश भेज दें कि तुम्हारी सबसे बड़ी कामना पूर्ण हो गई । तुम पाण्डवों के जलाने में सफल हो गये ।"

ततो व्यपोहमानास्ते पाण्डवार्थे हुताशनम् ।
निषादीं ददृशुर्दग्धां पञ्चपुत्रामनागसाम् ॥६४॥

तत्पश्चात् जब उन्होंने पाण्डवों को ढूंढ़ने के लिए आग को इधर-उधर हटाया, तब पांच पुत्रों के साथ भीलनी की जली हुई लाश देखी ।

खनकेन तु तेनैव वेश्म शोधयता बिलम् ।
पांसुभिः पिहितं तच्च पुरुषैस्तैर्न लक्षितम् ॥६५॥

उधर उसी सुरंग खोदनेवाले पुरुष ने घर को साफ करते समय सुरंग के छेद को धूल से ढक दिया था, अतः दूसरे लोगों की दृष्टि उसपर नहीं पड़ी ।

ततस्ते ज्ञापयामासुर्धृतराष्ट्रस्य नागराः ।
पाण्डवानग्निना दग्धानमात्यं च पुरोचनम् ॥६६॥

तदनन्तर वारणावत के नागरिकों ने धृतराष्ट्र को यह सूचित कर दिया कि पाण्डव तथा मन्त्री पुरोचन अग्नि में जल गये ।

श्रुत्वा तु धृतराष्ट्रस्तद् राजा सुमहदप्रियम् ।
विनाशं पाण्डुपुत्राणां विललाप सुदुःखितः ॥६७॥

महाराज धृतराष्ट्र ने पाण्डुपुत्रों के विनाश का यह अत्यन्त अप्रिय समाचार सुनकर अत्यन्त दुःखी हो विलाप किया ।

इति महाभारते आदिपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

भीम का विषाद और दुर्योधन के प्रति उनका क्रोध

वैशम्पायन उवाच

ततो नावं परित्यज्य प्रययुर्दक्षिणां दिशम् ।
विज्ञाय निशि पन्थानं नक्षत्रगणसूचितम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उधर पाण्डव उस नौका को छोड़ रात्रि में नक्षत्रों द्वारा सूचित मार्ग को पहचानकर दक्षिण दिशा की ओर चल दिये ।

अगमच्च वनोद्देशमल्पमूलफलोदकम् ।
क्रूरपक्षिमृगं घोरं सायाह्ने भरतर्षभ ॥२॥

भरतश्रेष्ठ ! सायंकाल होते-होते वे वन के एक ऐसे भयंकर प्रदेश में जा पहुँचे, जहाँ फल-मूल और जल की बहुत कमी थी और वहाँ क्रूर स्वभाववाले पक्षी और हिंसक पशु रहते थे ।

ते श्रमेण च कौरव्यास्तृष्णया च प्रपीडिताः ।
नाशक्नुवंस्तदा गन्तुं निद्रया च प्रवृद्धया ॥३॥

वे कुरुकुल-भूषण पाण्डव उस समय अधिक परिश्रम एवं प्यास के कारण अति कष्ट पा रहे थे ।

थकावट से उनकी नींद भी बढ़ गई थी, जिससे पीड़ित होकर वे आगे जाने में असमर्थ हो गये।

न्यविशन्त हि ते सर्वे निरास्वादे महावने।
ततस्तृषापरिक्लान्ता कुन्ती पुत्रानथाब्रवीत् ॥४॥

तब उन सबने उस उजाड़ महावन में डेरा डाल दिया। तदनन्तर प्यास से व्याकुल कुन्तीदेवी अपने पुत्रों से बोली—

माता सती पाण्डवानां पञ्चानां मध्यतः स्थिता।
तृष्णया हि परीतास्मि पुत्रान् भृशमथाब्रवीत् ॥५॥

"मैं पाँच पाण्डुपुत्रों की माता हूँ तथा उन्हीं के बीच में बैठी हुई हूँ तो भी प्यास से व्याकुल हूँ"—इस प्रकार कुन्ती देवी ने अपने पुत्रों के समक्ष यह बात बार-बार दुहराई।

तत् श्रुत्वा भीमसेनस्य मातृस्नेहात् प्रजल्पितम्।
कारुण्येन मनस्तप्तं गमनायोपचक्रमे ॥६॥

माता का वात्सल्य से कहा हुआ वह वचन सुनकर भीमसेन का हृदय करुणा से भर आया। वे मन-ही-मन सन्तप्त हो उठे और स्वयं ही [पानी लाने के लिए] जाने की तैयारी करने लगे।

ततो भीमो वनं घोरं प्रविश्य विजनं महत्।
न्यग्रोधं विपुलच्छायं रमणीयं ददर्श ह ॥७॥

उस समय भीम ने उस विशाल, निर्जन एवं भयंकर वन में प्रवेश करके एक अति सुन्दर तथा विस्तृत छायावाला बरगद का वृक्ष देखा।

तत्र निक्षिप्य तान् सर्वानुवाच भरतर्षभः।
पानीयं मृगयामीह विश्रमध्वमिति प्रभो ॥८॥

राजन्! भरत-कुलभूषण भीमसेन ने उन सबको वहीं बिठाकर कहा—"आप सब लोग यहीं विश्राम करें, तबतक मैं पानी का पता लगाता हूँ।

एते रुवन्ति मधुरं सारसा जलचारिणः।
ध्रुवमत्र जलस्थानं महच्चेति मतिर्मम ॥९॥

"ये जलचर सारस पक्षी बहुत मीठी बोली बोल रहे हैं, अतः यहाँ निकट ही अवश्य कोई महान् जलाशय होगा—ऐसा मेरा विश्वास है।"

अनुज्ञातः स गच्छेति भ्रात्रा ज्येष्ठेन भारत।
जगाम तत्र यत्र स्म सारसा जलचारिणः ॥१०॥

हे भारत! जब बड़े भाई युधिष्ठिर ने 'जाओ' ऐसा कहकर उन्हें आज्ञा प्रदान कर दी, तब भीमसेन वहीं गये, जहाँ वे जलचर सारस पक्षी कलरव कर रहे थे।

स तत्र पीत्वा पानीयं स्नात्वा च भरतर्षभ।
तेषामर्थे च जग्राह भ्रातृणां भ्रातृवत्सलः।
उत्तरीयेण पानीयमानयामास भारत ॥११॥

भरतश्रेष्ठ! वहाँ पानी पीकर तथा स्नान करके भाइयों पर स्नेह रखनेवाले भीमसेन उनके लिए भी चादर में पानी ले आये।

स सुप्तां मातरं दृष्ट्वा भ्रातृंश्च वसुधातले।
भृशं शोकपरीतात्मा विललाप वृकोदरः ॥१२॥

वहाँ अपनी माता और भाइयों को भूमि पर सोया देख भीमसेन मन-ही-मन शोक से सन्तप्त हो उठे और इस प्रकार विलाप करने लगे—

अतः कष्टतरं किं नु द्रष्टव्यं हि भविष्यति।
यत् पश्यामि महीसुप्तान् भ्रातॄनद्य सुमन्दभाक् ॥१३॥

"हाय! मैं कितना भाग्यहीन हूँ कि आज अपने भाइयों को भूमि पर सोया हुआ देख रहा हूँ। इससे महान् कष्ट की और क्या बात देखने में आएगी!

शयनेषु परार्ध्येषु ये पुरा वारणावते।
नाधिजग्मुस्तदा निद्रां तेऽद्य सुप्ता महीतले ॥१४॥

"आज से पहले जब हम लोग वारणावत में थे, उस समय जिन्हें बहुमूल्य शय्याओं पर भी नींद नहीं आती थी, वे ही आज धरती पर सो रहे हैं।

त्रिषु लोकेषु यो राज्यं धर्मनित्योऽर्हते नृपः।
सोऽयं भूमौ परिश्रान्तः शेते प्राकृतवत् कथम् ॥१५॥

"जो नित्यधर्मपरायण नरेश तीनों लोकों का राज्य पाने के अधिकारी हैं, वे ही आज साधारण मनुष्यों की भाँति थके-माँदे पृथिवी पर कैसे पड़े हैं!

ज्ञातयो यस्य नैव स्युर्विषमाः कुलपांसनाः।
स जीवेत्ससुखं लोके ग्रामद्रुम इवैकजः ॥१६॥

"जिसके कुटुम्बी पक्षपातयुक्त और कुल को कलंक लगानेवाले नहीं होते, वह पुरुष ग्राम के अकेले वृक्ष की भाँति संसार में सुखपूर्वक जीवन धारण करता है।

येषां च बहवः शूरा ज्ञातयो धर्ममाश्रिताः।
ते जीवन्ति सुखं लोके भवन्ति च निरामयाः ॥१७॥

"जिनके पक्ष में बहुत-से शूरवीर होते हैं और जिनके भाई-बन्धु धर्मपरायण होते हैं, वे संसार में सुख से जीते और नीरोग रहते हैं।

बलवन्तः समृद्धार्था मित्रबान्धवनन्दनाः।
जीवन्त्यन्योन्यमाश्रित्य द्रुमाः काननजा इव ॥१८॥

"जो बलवान् हैं, धनसम्पन्न तथा मित्रों और भाई-बन्धुओं को आनन्दित करनेवाले हैं, वे जंगल के वृक्षों की भाँति एक-दूसरे के सहारे जीवन धारण करते हैं।

वयं तु धृतराष्ट्रेण सपुत्रेण दुरात्मना।
विवासिता न दग्धाश्च कथञ्चिद् दैवसंश्रयात् ॥१९॥

"दुरात्मा धृतराष्ट्र और उसके पुत्र ने तो हमें घर से निकाल दिया तथा जलाने की भी चेष्टा की, परन्तु किसी प्रकार भाग्य के भरोसे हम बच गये हैं।

सकामो भव दुर्बुद्धे नानुज्ञां मे युधिष्ठिरः।
प्रयच्छति वधे तुभ्यं तेन जीवसि दुर्मते ॥२०॥
नन्वद्य त्वां सहामात्यं सकर्णानुजसौबलम्।
गत्वा क्रोधसमाविष्टः प्रेषयिष्ये यमक्षयम् ॥२१॥

"ओ दुर्बुद्धि दुर्योधन! आज तेरी कामना पूरी हुई। क्या करूँ! राजा युधिष्ठिर मुझे तेरा वध करने की आज्ञा नहीं दे रहे हैं, दुर्मते! इसीलिए तू अबतक जी रहा है। अन्यथा ओ पापाचारी! मैं आज ही जाकर कुपित हो मन्त्रियों, कर्ण, छोटे भाई और शकुनिसहित तुझे यमलोक भेज सकता हूँ।"

एवमुक्त्वा महाबाहुर्निश्वसन् दीनमानसः।
भ्रातॄन् महीतले सुप्तानवैक्षत वृकोदरः ॥२२॥

ऐसा कहकर महाबाहु भीमसेन लम्बी साँस खींचते हुए भूमि पर सोये हुए भाइयों की ओर देखने लगे।

पास्यन्तीमे जलं पश्चात् प्रतिबुद्धा जितक्लमाः।
इति भीमो व्यवस्यैव जजागार स्वयं तदा ॥२३॥

"ये मेरे भाई जब नींद से उठेंगे, तभी जल पीएँगे"—ऐसा निश्चय करके भीमसेन उस समय स्वयं जागरण करने लगे।

इति महाभारते आदिपर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

हिडिम्बा राक्षसी का पाण्डवों के पास आगमन और भीम से वार्तालाप, हिडिम्ब का आना, भीम के साथ उसका युद्ध और भीम द्वारा उसका वध

वैशम्पायन उवाच

तत्र तेषु शयानेषु हिडिम्बो नाम राक्षसः।
अविदूरे वनात् तस्माच्छालवृक्षं समाश्रितः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जहाँ पाण्डव कुन्ती-सहित सो रहे थे, उस वन से थोड़ी ही दूर पर एक शालवृक्ष का आश्रय ले हिडिम्ब नाम का राक्षस रहता था।

क्रूरो मानुषमांसादो महावीर्यपराक्रमः।
यदृच्छया तानपश्यत् पाण्डुपुत्रान् महारथान् ॥२॥

वह अत्यन्त क्रूर और मनुष्य-मांसभक्षी था। उसका बल और पराक्रम महान् था। दैवयोग से उसकी दृष्टि उन महारथी पाण्डवों पर पड़ी।

हृष्टो मानुषमांसस्य महाकायो महाबलः।
आघ्राय मानुषं गन्धं भगिनीमिदमब्रवीत् ॥३॥

मनुष्य का मांस मिलने की सम्भावना से वह बहुत प्रसन्न हुआ। उस महाबली, विशालकाय राक्षस ने मनुष्य की गन्ध पाकर अपनी बहिन से कहा—

उपपन्नश्चिरस्याद्य भक्ष्योऽयं मम सुप्रियः।
स्नेहस्रवान् प्रस्रवति जिह्वा पर्येति मे मुखम् ॥४॥

"आज बहुत समय पश्चात् ऐसा भोजन मिला है, जो मुझे बहुत प्रिय है। इस समय मांस खाने के आनन्द से मेरी जीभ लार टपका रही है, और मुख में चारों ओर घूम रही है।

गच्छ जानीहि के त्वेते शेरते वनमाश्रिताः।
मानुषो बलवान् गन्धो घ्राणं तर्पयतीव मे ॥५॥

"अतः बहिन! तुम जाओ, और पता लगाओ कि ये कौन हैं जो इस वन में आकर सो रहे हैं।

मनुष्य की तीव्र गन्ध आज मेरी नासिका को मानो तृप्त कर रही है।

हत्वैतान् मानुषान् सर्वानानयस्व ममान्तिकम्।
अस्मद्विषयसुप्तेभ्यो नैतेभ्यो भयमस्ति ते ॥६॥

"तुम इन सब मनुष्यों को मारकर मेरे पास ले आओ। ये हमारी सीमा में सो रहे हैं, अतः इनसे तुम्हें तनिक भी भय नहीं होना चाहिए।

एषामुत्कृत्य मांसानि मानुषाणां यथेष्टतः।
भक्षयिष्याव सहितौ कुरु तूर्णं वचो मम ॥७॥

"फिर हम दोनों एक साथ बैठकर इन मनुष्यों के मांस को नोच-नोचकर जी-भरकर खाएँगे। तुम मेरी इस आज्ञा का तुरन्त पालन करो।"

एवमुक्ता हिडिम्बा तु हिडिम्बेन तदा वने।
जगाम तत्र यत्र स्म पाण्डवा भरतर्षभ ॥८॥
ददर्श तत्र सा गत्वा पाण्डवान् पृथया सह।
शयानान् भीमसेनं च जाग्रतं त्वपराजितम् ॥९॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय वन में हिडिम्ब के ऐसा कहने पर हिडिम्बा उस स्थान पर गई, जहाँ पाण्डव सो रहे थे। वहाँ पहुँचकर उसने कुन्ती के साथ पाण्डवों को सोते और किसी से परास्त न होनेवाले भीमसेन को जागते हुए देखा।

दृष्ट्वैव भीमसेनं सा शालपोतमिवोद्गतम्।
राक्षसी कामयामास रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥१०॥

धरती पर उगे हुए शाल वृक्ष की भाँति मनोहर तथा पृथिवी पर अनुपम रूपवान् भीमसेन को देखते ही वह राक्षसी [मुग्ध हो] उन्हें चाहने लगी।

अयं श्यामो महाबाहुः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः।
कम्बुग्रीवः पुष्कराक्षो भर्ता युक्तो भवेन्मम ॥११॥

[उसने मन-ही-मन सोचा—] इस श्यामसुन्दर तरुण वीर की भुजाएँ विशाल हैं, कन्धे सिंह के-से हैं। ये महान् तेजस्वी हैं। इनकी गर्दन शंख के समान सुन्दर और नेत्र कमल के सदृश विशाल हैं। ये मेरे लिए उपयुक्त पति हो सकते हैं।

नाहं भ्रातृवचो जातु कुर्यां क्रूरोपसंहितम्।
पतिस्नेहोऽतिबलवान् न तथा भ्रातृसौहृदम् ॥१२॥
मुहूर्तमेव तृप्तिश्च भवेद् भ्रातुर्ममैव च।
हतैरेतैरहत्वा तु मोदिष्ये शाश्वतीः समाः ॥१३॥

"मेरे भाई की आज्ञा क्रूरता से भरी है, अतः मैं कदापि उसका पालन नहीं करूँगी। [नारी के हृदय में] पति का प्रेम जितना प्रबल होता है, भाई का सौहार्द उतना नहीं। इन सबको मार देने पर इनके मांस से मुझे और मेरे भाई को केवल दो घड़ी के लिए तृप्ति मिल सकती है और यदि इन्हें न मारूँ तो बहुत वर्षों तक इनके साथ आनन्द भोगूँगी।"

उपतस्थे महाबाहुं भीमसेनं शनैः शनैः।
लज्जमानेव ललना दिव्याभरणभूषिता ॥१४॥

[ऐसा सोचकर] दिव्य आभूषणों से विभूषित वह राक्षसी लजीली ललना की भाँति धीरे-धीरे महाबाहु भीमसेन के पास गई। [भीमसेन के पास पहुँचकर—]

राक्षस्युवाच

कुतस्त्वमसि सम्प्राप्तः कश्चासि पुरुषर्षभ।
क इमे शेरते चेह पुरुषा देवरूपिणः ॥१५॥

राक्षसी ने पूछा—हे पुरुषश्रेष्ठ ! आप कौन हैं और कहाँ से आये हैं ? ये देवताओं के समान सुन्दर रूपवाले पुरुष कौन हैं, जो यहाँ सो रहे हैं ?

केयं वै बृहती श्यामा सुकुमारी तवानघ।
शेते वनमिदं प्राप्य विश्वस्ता स्वे गृहे यथा ॥१६॥

निष्पाप ! ये सबसे अधिक अवस्थावाली, श्यामा[1], सुकुमारी देवी आपकी कौन लगती हैं, जो इस वन में आकर भी ऐसी निःशङ्क होकर सो रही हैं, मानो अपने घर में ही हों।

नेदं जानाति गहनं वनं राक्षससेवितम्।
वसति ह्यत्र पापात्मा हिडिम्बो नाम राक्षसः ॥१७॥

आपको यह पता नहीं है कि यह गहन वन राक्षसों का निवास-स्थान है। यहाँ हिडिम्ब नामक पापात्मा राक्षस रहता है।

---

१. श्यामा का अर्थ प्रायः काली स्त्री समझा जाता है। परन्तु इसका केवल यही अर्थ नहीं है। मल्लिनाथ ने 'शिशुपाल-वध' और 'मेघदूत' की टीका में श्यामा का अर्थ 'यौवन-मध्यस्था' किया है। भट्टिकाव्य के एक टीकाकार के अनुसार—

तप्तकाञ्चनवर्णाभा स्त्री श्यामेति कथ्यते।

तपाये हुए सोने के समान वर्णवाली स्त्री को श्यामा कहते हैं।

तेनाहं प्रेषिता भ्रात्रा दुष्टभावेन रक्षसा।
बिभक्षयिषता मांसं युष्माकममरोपम ॥१८॥

वह मेरा भाई है। उस राक्षस ने दुष्टभाव से मुझे यहाँ भेजा है। देवोपम वीर ! वह आप लोगों का मांस खाना चाहता है।

साहं त्वामभिसम्प्रेक्ष्य देवगर्भसमप्रभम्।
नान्यं भर्तारमिच्छामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥१९॥

आपका तेज देवकुमारों जैसा है, मैं आपको देखकर अब किसी अन्य को अपना पति नहीं बनाना चाहती। मैं यह सच्ची बात आपसे कह रही हूँ।

एतद् विज्ञाय धर्मज्ञ युक्तं मयि समाचर।
कामोपहतचित्ताङ्गीं भजमानां भजस्व माम् ॥२०॥

हे धर्मज्ञ ! इस बात को समझकर आप मेरे साथ उचित बर्ताव कीजिए। मेरे तन-मन को काम ने मथ डाला है। मैं आपकी सेविका हूँ, आप मुझे स्वीकार कीजिए।

त्रास्यामि त्वां महाबाहो राक्षसात्पुरुषादकात्।
वत्स्यावो गिरिदुर्गेषु भर्ता भव ममानघ ॥२१॥

हे महाबाहो ! मैं इस नरभक्षी राक्षस से आपकी रक्षा करूँगी। हम दोनों पर्वतों की दुर्गम कन्दराओं में निवास करेंगे। अनघ ! आप मेरे पति हो जाइए।

अन्तरिक्षचरी ह्यस्मि कामतो विचरामि च।
अतुलामाप्नुहि प्रीतिं तत्र तत्र मया सह ॥२२॥

मैं आकाश में विचरनेवाली हूँ तथा जहाँ इच्छा हो वहाँ भी विचरण कर सकती हूँ। आप मेरे साथ विभिन्न लोकों और प्रदेशों में विहार करके अनुपम प्रसन्नता प्राप्त कीजिए।

भीमसेन उवाच

मातरं भ्रातरं ज्येष्ठं सुखसुप्तान् कथं त्विमान्।
परित्यजेत को न्वद्य प्रभवन्निह राक्षसि ॥२३॥

भीमसेन बोले—राक्षसी ! कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो इस जगत् में सामर्थ्यवान् होते हुए भी, सुखपूर्वक सोते हुए इन बन्धुओं को, माता को तथा ज्येष्ठ भ्राता को किसी प्रकार अरक्षित छोड़कर जा सके ?

को हि सुप्तानिमान्भ्रातॄन्दत्त्वा राक्षसभोजनम्।
मातरं च नरो गच्छेत् कामार्त इव मद्विधः ॥२४॥

मुझ जैसा कौन पुरुष कामपीड़ित की भाँति इन सोये हुए भाइयों और माता को राक्षस का भोजन बनाकर [अन्यत्र] जा सकता है ?

राक्षस्युवाच

यत्ते प्रियं तत् करिष्ये सर्वानेतान् प्रबोधय।
मोक्षयिष्याम्यहं कामं राक्षसात् पुरुषादकात् ॥२५॥

राक्षसी बोली—आपको जो प्रिय लगे मैं वहीं करूँगी। आप इन सब लोगों को जगा दीजिए। मैं इच्छानुसार उस नर-भक्षी राक्षस से इन सबको छुड़ा लूंगी।

भीमसेन उवाच

सुखसुप्तान् वने भ्रातॄन् मातरं चैव राक्षसि।
न भयाद् बोधयिष्यामि भ्रातुस्तव दुरात्मनः ॥२६॥

भीमसेन ने कहा—राक्षसी ! मेरे भाई और माता इस वन में सुखपूर्वक सो रहे हैं, तुम्हारे दुरात्मा भाई के भय से मैं इन्हें नहीं जगाऊँगा।

न हि मे राक्षसा भीरु सोढुं शक्ताः पराक्रमम्।
न मनुष्या न गन्धर्वा न यक्षाश्चारुलोचने ॥२७॥

हे भीरु ! सुलोचने ! मेरे पराक्रम को राक्षस, मनुष्य, गन्धर्व तथा यक्ष—कोई भी नहीं सह सकता।

गच्छ वा तिष्ठ वा भद्रे यद्वापीच्छसि तत्कुरु।
तं वा प्रेषय तन्वङ्गि भ्रातरं पुरुषादकम् ॥२८॥

अतः भद्रे ! तुम जाओ या रहो, अथवा जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वही करो। तन्वङ्गि ! यदि तुम चाहो तो अपने नरमांसभक्षी भाई को ही भेज दो।

वैशम्पायन उवाच

तां विदित्वा चिरगतां हिडिम्बो राक्षसेश्वरः।
अवतीर्य द्रुमात् तस्मादाजगामाशु पाण्डवान् ॥२९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! उधर राक्षसराज हिडिम्ब यह सोचकर कि मेरी बहन को गये बहुत देर हो गई, उस वृक्ष से नीचे उतरा और शीघ्र ही पाण्डवों के पास आ गया।

तमापतन्तं दृष्ट्वैव तथा विकृतदर्शनम्।
हिडिम्बोवाच वित्रस्ता भीमसेनमिदं वचः ॥३०॥

देखने में विकराल उस राक्षस हिडिम्ब को आते देखकर ही हिडिम्बा भय से थर्रा उठी और भीमसेन से इस प्रकार बोली—

अहं कामगमा वीर रक्षोबलसमन्विता ।
आरोहेमां मम श्रोणिं नेष्यामि त्वां विहायसा ॥३१॥

"हे वीर ! मैं इच्छानुसार चल सकती हूँ, मुझमें राक्षसों का सम्पूर्ण बल है । आप मेरी पीठ पर बैठ जाइए । मैं आपको आकाश-मार्ग से ले चलूंगी ।

प्रबोधयैतान् संसुप्तान् मातरं च परन्तप ।
सर्वानेव गमिष्यामि गृहीत्वा वो विहायसा ॥३२॥

"हे परन्तप ! आप इन सोये हुए भाइयों और माताजी को भी जगा दीजिए । मैं आप सब लोगों को लेकर आकाश-मार्ग से उड़ चलूंगी ।"

भीम उवाच

मा भैस्त्वं पृथुसुश्रोणि नैष कश्चिन्मयि स्थिते ।
अहमेनं हनिष्यामि प्रेक्षन्त्यास्ते सुमध्यमे ॥३३॥

भीमसेन ने कहा—सुन्दरी ! तुम डरो मत । मेरे सामने यह राक्षस कुछ भी नहीं है । सुमध्यमे ! मैं तुम्हारे देखते-देखते इसे मार डालूंगा ।

नायं प्रतिबलो भीरु राक्षसापसदो मम ।
सोढुं युधि परिस्पन्दमथवा सर्वराक्षसाः ॥३४॥

भीरु ! यह नीच राक्षस युद्ध में मेरे आक्रमण का वेग सह सके, ऐसा बलवान् नहीं है । यह अथवा सम्पूर्ण राक्षस भी मेरा सामना नहीं कर सकते ।

हिडिम्बोवाच

नावमन्ये नरव्याघ्र त्वामहं देवरूपिणम् ।
दृष्टप्रभावस्तु मया मानुषेष्वेव राक्षसः ॥३५॥

हिडिम्बा बोली—नरश्रेष्ठ ! आपका स्वरूप तो देवताओं के समान है । मैं आपका तिरस्कार नहीं करती । मैं तो इसलिए कहती थी कि मनुष्यों पर ही इस राक्षस का प्रभाव मैं [कई बार] देख चुकी हूँ ।

वैशम्पायन उवाच

तथा संजल्पतस्तस्य भीमसेनस्य भारत ।
वाचः शुश्राव ताः क्रुद्धो राक्षसः पुरुषादकः ॥३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! उस नर-भक्षी राक्षस हिडिम्ब ने क्रोधपूर्वक वहाँ आकर भीमसेन की कही हुई उपर्युक्त बातें सुनीं ।

तां तथा मानुषं रूपं बिभ्रतीं सुमनोहरम् ।
पुंस्कामां शङ्कमानश्च चुक्रोध पुरुषादकः ॥३७॥

उधर अपनी बहिन को सुन्दर एवं मनोहर मानव-रूप धारण किये देखकर राक्षस के मन में यह सन्देह हुआ कि हो-न-हो, यह पतिरूप में किसी पुरुष का वरण करना चाहती है । यह विचार मन में आते ही वह कुपित हो उठा ।

संक्रुद्धो राक्षसस्तस्या भगिन्याः कुरुसत्तम ।
उत्फाल्य विपुले नेत्रे ततस्तामिदमब्रवीत् ॥३८॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! अपनी बहिन पर उस राक्षस का क्रोध बहुत बढ़ गया था । फिर तो उसने बड़ी-बड़ी आँखें फाड़कर उसकी ओर देखते हुए कहा—

को हि मे भोक्तुकामस्य विघ्नं चरति दुर्मतिः ।
न बिभेषि हिडिम्बे किं मत्कोपाद्विप्रमोहिता ॥३९॥

"हिडिम्बे ! मैं [भूखा हूँ और] भोजन चाहता हूँ । कौन मूर्ख मनुष्य मेरे इस अभीष्ट की सिद्धि में विघ्न डाल रहा है ? तू अत्यन्त मोह के वशीभूत होकर क्या मेरे क्रोध से नहीं डरती है ?

धिक् त्वामसति पुंस्कामे मम विप्रियकारिणि ।
पूर्वेषां राक्षसेन्द्राणां सर्वेषामयशस्करि ॥४०॥

"मनुष्य को पति बनाने की इच्छा रखकर मेरा अप्रिय करनेवाली दुराचारिणि ! तुझे धिक्कार है । तू पूर्ववर्ती सम्पूर्ण राक्षसराजों के कुल में कलंक लगानेवाली है ।

यानिमानाश्रिताकार्षीर्विप्रियं सुमहन्मम ।
एष तानद्य वै सर्वान् हनिष्यामि त्वया सह ॥४१॥

"जिन लोगों का आश्रय लेकर तूने मेरा महान् अप्रिय कार्य किया है, यह देख, मैं उन सबको आज तेरे साथ ही मार डालता हूँ ।"

एवमुक्त्वा हिडिम्बां स हिडिम्बो लोहितेक्षणः ।
वधायाभिपपातैतान् दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ॥४२॥

हिडिम्बा से ऐसा कहकर लाल-लाल आँखें किये हिडिम्ब दाँत-से-दाँत पीसता हुआ हिडिम्बा और पाण्डवों का वध करने की इच्छा से उनकी ओर झपटा ।

भीमसेनस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं प्रहसन्निव ।
भगिनीं प्रति संक्रुद्धमिदं वचनमब्रवीत् ॥४३॥

अपनी बहिन पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए [और उसपर झपटते हुए] राक्षस की ओर देखकर भीमसेन हँसते हुए से इस प्रकार बोले—

मयि तिष्ठति दुष्टात्मन् न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
अहमेकश्च नेष्यामि त्वामद्य यमसादनम् ॥४४॥

"दुष्टात्मन्! तू मेरे रहते [किसी] स्त्री को नहीं मार सकता। आज मैं अकेला ही [तुझसे लड़कर] तुझे यमलोक पठा दूंगा।

निराबाधास्त्वयि हते मया राक्षसपांसन ।
वनमेतच्चरिष्यन्ति पुरुषा वनचारिणः ॥४५॥

"राक्षसकुलाङ्गार! मेरे हाथों से तेरे मारे जाने पर वनवासी लोग बिना किसी विघ्न-बाधा के इस वन में विचरण करेंगे।"

हिडिम्ब उवाच

गर्जितेन वृथा किं ते कत्थितेन च मानुष ।
कृत्वैतत् कर्मणा सर्वं कत्थेथा मा चिरं कृथाः ॥४६॥

हिडिम्ब बोला—अरे ओ मनुष्य! व्यर्थ गर्जना करने और बढ़-बढ़कर बातें बनाने से क्या लाभ? यह सब-कुछ पहले करके दिखा, फिर डींग हांकना, अब देर न कर।"

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततो बाहुं प्रगृह्य पुरुषादकः ।
अभ्यद्रवत संक्रुद्धो भीमसेनमरिन्दमम् ॥४७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं जनमेजय! ऐसा कहकर क्रोध में भरा हुआ वह नरभक्षी राक्षस अपनी एक बाँह ऊपर को उठाये शत्रुदमन भीमसेन पर टूट पड़ा।

अन्योन्यं तौ समासाद्य विचकर्षतुरोजसा ।
हिडिम्बो भीमसेनश्च विक्रमं चक्रतुः परम् ॥४८॥

फिर तो वे दोनों एक-दूसरे से गुंथ गये, और बलपूर्वक एक-दूसरे को अपनी-अपनी ओर खींचने लगे। हिडिम्ब और भीमसेन दोनों ने बड़ा भारी पराक्रम प्रकट किया।

तयोः शब्देन महता विबुद्धास्ते नरर्षभाः ।
सह मात्रा च ददृशुर्हिडिम्बामग्रतः स्थिताम् ॥४९॥

उन दोनों की भारी गर्जना से वे नरश्रेष्ठ पाण्डव माता-सहित जाग उठे और उन्होंने अपने सामने खड़ी हुई हिडिम्बा को देखा।

प्रबुद्धास्ते हिडिम्बाया रूपं दृष्ट्वातिमानुषम् ।
विस्मिताः पुरुषव्याघ्रा बभूवुः पृथया सह ॥५०॥

जागने पर हिडिम्बा का अलौकिक रूप देख वे पुरुषसिंह पाण्डव माता कुन्ती-सहित अति विस्मित हो गये। तब—

कुन्त्युवाच

कस्य त्वं सुरगर्भाभे का वासि वरवर्णिनि ।
केन कार्येण सम्प्राप्ता कुतश्चागमनं तव ॥५१॥

कुन्ती ने पूछा—देवकन्याओं की-सी कान्तिवाली सुन्दरि! तुम कौन हो और किसकी कन्या हो? तुम किस कार्य के लिए आई हो और कहाँ से आई हो?

हिडिम्बोवाच

यदेतत् पश्यसि वनं नीलमेघनिभं महत् ।
निवासो राक्षसस्यैष हिडिम्बस्य ममैव च ॥५२॥

हिडिम्बा बोली—देवि! यह जो नील मेघ के समान विशाल वन आप देख रही हैं, यही राक्षस हिडिम्ब का और मेरा निवास-स्थान है।

तस्य मां राक्षसेन्द्रस्य भगिनीं विद्धि भामिनि ।
भ्रात्रा सम्प्रेषितामार्ये त्वां सपुत्रां जिघांसता ॥५३॥

महाभागे! आप मुझे उस राक्षसराज हिडिम्ब की बहिन समझें। आर्ये! मेरे भाई ने मुझे आपकी और आपके पुत्रों की हत्या करने की इच्छा से भेजा था।

क्रूरबुद्धेरहं तस्य वचनादागता त्विह ।
अद्राक्षं नवहेमाभं तव पुत्रं महाबलम् ॥५४॥

उस क्रूरबुद्धि के कहने से मैं यहाँ आई। यहाँ नूतन स्वर्ण की-सी आभावाले आपके महाबली पुत्र पर मेरी दृष्टि पड़ी।

ततोऽहं सर्वभूतानां भावे विचरता शुभे ।
प्रेरिता तव पुत्रस्य मन्मथेन वशानुगा ॥५५॥

शुभे! उन्हें देखते ही समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में विचरनेवाले कामदेव से प्रेरित होकर मैं आपके पुत्र की वशवर्तिनी हो गई।

ततो वृतो मया भर्ता तव पुत्रो महाबलः ।
अपनेतुं च यतितो न चैव शकितो मया ॥५६॥

तब मैंने आपके महाबली पुत्र को पति-रूप में वरण कर लिया और इस बात के लिए प्रयत्न किया कि उन्हें [और आप सबको] लेकर यहाँ से अन्यत्र

भाग चलूँ, परन्तु आपके पुत्र की स्वीकृति न मिलने से मैं इस कार्य में सफल न हो सकी।

चिरायमाणां मां ज्ञात्वा ततः स पुरुषादकः।
स्वयमेवागतो हन्तुमिमान् सर्वांस्तवात्मजान् ॥५७॥

मेरे लौटने में देर होती जान वह नरभक्षी राक्षस स्वयं ही आपके इन सब पुत्रों को मार डालने के लिए यहाँ आया।

स तेन मम कान्तेन तव पुत्रेण धीमता।
बलाद्वितो विनिष्पिष्य व्यपनीतो महात्मना ॥५८॥

परन्तु मेरे प्राणवल्लभ तथा आपके बुद्धिमान् पुत्र महात्मा भीम उसे बलपूर्वक यहाँ से रगड़ते हुए हटा ले गये हैं।

विकर्षन्तौ महावेगौ गर्जमानौ परस्परम्।
पश्यैवं युधि विक्रान्तावेतौ च नरराक्षसौ ॥५९॥

देखिए, युद्ध में पराक्रम दिखानेवाले वे दोनों मनुष्य और राक्षस जोर-जोर से गर्ज रहे हैं तथा बड़े वेग से गुत्थमगुत्था होकर एक-दूसरे को अपनी ओर खींच रहे हैं।

वैशम्पायन उवाच

तस्याः श्रुत्वैव वचनमुत्पपात युधिष्ठिरः।
अर्जुनो नकुलश्चैव सहदेवश्च वीर्यवान् ॥६०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! हिडिम्बा की यह बात सुनते ही युधिष्ठिर उछलकर खड़े हो गये। तब अर्जुन, नकुल और पराक्रमी सहदेव ने भी ऐसा ही किया।

तौ ते ददृशुरासक्तौ विकर्षन्तौ परस्परम्।
काङ्क्षमाणौ जयं चैव सिंहाविव बलोत्कटौ ॥६१॥

तदनन्तर उन्होंने देखा कि वे दोनों प्रचण्ड बलशाली सिंहों की भाँति आपस में गुँथे हुए हैं तथा अपनी-अपनी विजय चाहते हुए एक-दूसरे को घसीट रहे हैं।

राक्षसेन तदा भीमं क्लिश्यमानं निरीक्ष्य च।
उवाचेदं वचः पार्थः प्रहसञ्छनकैरिव ॥६२॥

उस समय भीमसेन को राक्षस द्वारा पीड़ित होते देख अर्जुन धीरे-धीरे हँसते हुए-से बोले—

भीम मा भैर्महाबाहो न त्वां बुध्यामहे वयम्।
समेतं भीमरूपेण रक्षसा श्रमकर्शितम् ॥६३॥

महाबाहु भैया भीम ! डरना मत। अबतक हम लोग नहीं जानते थे कि तुम भयंकर राक्षस से भिड़कर अत्यन्त परिश्रम के कारण कष्ट पा रहे हो।

साहाय्येऽस्मि स्थितः पार्थ पातयिष्यामि राक्षसम्।
नकुलः सहदेवश्च मातरं गोपयिष्यतः ॥६४॥

कुन्तीनन्दन ! अब मैं तुम्हारी सहायता के लिए उपस्थित हूँ। नकुल और सहदेव माताजी की रक्षा करेंगे।

भीम उवाच

उदासीनो निरीक्षस्व न कार्यः सम्भ्रमस्त्वया।
न जात्वयं पुनर्जीवेन्मद्बाह्वन्तरमागतः ॥६५॥

भीम बोले—अर्जुन ! तुम तटस्थ होकर चुपचाप देखते रहो। तुम्हें घबराने की आवश्यकता नहीं। मेरी दोनों भुजाओं के बीच में आकर अब यह राक्षस कदापि जीवित नहीं रह सकता।

अर्जुन उवाच

किमनेन चिरं भीम जीवता पापरक्षसा।
गन्तव्यं न चिरं स्थातुमिह शक्यमरिन्दम ॥६६॥

अर्जुन ने कहा—हे शत्रुदमन भीम ! इस पापी राक्षस को देर तक जीवित रखने से क्या लाभ ? हम लोगों को आगे चलना है, अतः यहाँ अधिक समय तक ठहरना सम्भव नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु भीमो रोषात् तु रक्षसः।
उत्क्षिप्याभ्रामयद् देहं तूर्णं शतगुणं तदा।
निष्पिष्यैनं बलाद् भूमौ पशुमारममारयत् ॥६७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुन के ऐसा कहने पर भीम ने क्रोधपूर्वक उस राक्षस को तुरन्त ऊपर उठा लिया और उसे सौ बार घुमाया। फिर उसे बलपूर्वक भूमि पर दे मारा तथा उसे रगड़ते हुए पशु को मारने की भाँति मारना आरम्भ किया।

स मार्यमाणो भीमेन ननाद विपुलं स्वनम्।
पूरयंस्तद् वनं सर्वं जलार्द्र इव दुन्दुभिः ॥६८॥

इस प्रकार भीमसेन की मार पड़ने पर वह राक्षस जल से भीगे हुए नगारे की-सी ध्वनि से सम्पूर्ण वन को गुंजाता हुआ जोर-जोर से चीखने लगा।

बाहुभ्यां योक्त्रयित्वा तं बलवान् पाण्डुनन्दनः ।
मध्ये भङ्क्त्वा महाबाहुर्हर्षयामास पाण्डवान् ॥६९॥

तब महाबाहु बलवान् पाण्डुनन्दन भीमसेन ने उसे दोनों भुजाओं से बाँधकर उलटा मोड़ दिया और उसकी कमर तोड़कर पाण्डवों का हर्ष बढ़ाया।

हिडिम्बं निहतं दृष्ट्वा संहृष्टास्ते तरस्विनः ।
अपूजयन् नरव्याघ्रं भीमसेनमरिन्दमम् ॥७०॥

हिडिम्ब को मारा गया देख वे महान् वेगशाली पाण्डव अत्यन्त हर्ष से उल्लसित हो उठे और उन्होंने शत्रुओं का दमन करनेवाले नरश्रेष्ठ भीमसेन की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

अभिपूज्य महात्मानं भीमं भीमपराक्रमम् ।
पुनरेवार्जुनो वाक्यमुवाचेदं वृकोदरम् ॥७१॥

इस प्रकार भयंकर पराक्रमी महात्मा भीम की प्रशंसा करके अर्जुन ने पुनः उनसे यह बात कही—

न दूरं नगरं मन्ये वनादस्मादहं विभो ।
शीघ्रं गच्छाम भद्रं ते न नो विद्यात् सुयोधनः ॥७२॥

"प्रभो ! मैं समझता हूँ, इस वन से नगर बहुत दूर नहीं है। तुम्हारा कल्याण हो। अब हम लोग शीघ्र चलें, जिससे दुर्योधन को हमारा पता न लग सके।"

ततः सर्वे तथेत्युक्त्वा सह मात्रा महारथाः ।
प्रययुः पुरुषव्याघ्रा हिडिम्बा चैव राक्षसी ॥७३॥

तब वे सभी पुरुषसिंह महारथी पाण्डव 'बहुत अच्छा, ऐसा ही करें' यों कहकर माता के साथ वहाँ से चल दिये। हिडिम्बा राक्षसी भी उनके साथ हो ली।

इति महाभारते आदिपर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

षड्‌विंशोऽध्यायः

भीमसेन और हिडिम्बा का मिलन तथा घटोत्कच की उत्पत्ति, पाण्डवों की व्यासजी से भेंट और उनका एकचक्रा नगरी में प्रवेश

भीमसेन उवाच

स्मरन्ति वैरं रक्षांसि मायामाश्रित्य मोहिनीम् ।
हिडिम्बे व्रज पन्थानं त्वमिमं भ्रातृसेवितम् ॥१॥

[हिडिम्बा को अपने पीछे-पीछे आते देखकर] **भीमसेन बोले**—हिडिम्बे ! राक्षस मोहिनी माया का आश्रय लेकर बहुत दिनों तक वैर का स्मरण रखते हैं, अतः तू भी अपने भाई के ही मार्ग पर चली जा।

युधिष्ठिर उवाच

क्रुद्धोऽपि पुरुषव्याघ्र भीम मा स्म स्त्रियं वधीः ।
शरीरगुप्त्याभ्यधिकं धर्मं गोपाय पाण्डव ॥२॥

[यह सुनकर] **युधिष्ठिर बोले**—हे पुरुषसिंह भीम ! यद्यपि तुम क्रोध से भरे हुए हो तो भी स्त्री का वध मत करो। पाण्डुनन्दन ! शरीर की रक्षा की अपेक्षा भी अधिक तत्परता से धर्म की रक्षा करो।

वैशम्पायन उवाच

हिडिम्बा तु ततः कुन्तीमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
युधिष्ठिरं तु कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् हिडिम्बा ने हाथ जोड़कर कुन्तीदेवी तथा उनके पुत्र युधिष्ठिर को प्रणाम करके इस प्रकार कहा—

आर्ये जानासि यद् दुःखमिह स्त्रीणामनङ्गजम् ।
तदिदं मामनुप्राप्तं भीमसेनकृतं शुभे ॥४॥

"आर्ये ! संसार में स्त्रियों को जो कामजनित पीड़ा होती है, उसे आप जानती ही हैं। शुभे ! आपके पुत्र भीमसेन की ओर से मुझे वही कामदेव-जनित कष्ट प्राप्त हुआ है।

मया ह्युत्सृज्य सुहृदः स्वधर्मं स्वजनं तथा ।
वृतोऽयं पुरुषव्याघ्रस्तव पुत्रः पतिः शुभे ॥५॥

"शुभे ! मैंने अपने हितैषी सुहृदों, स्वजनों तथा स्वधर्म का परित्याग करके आपके पुत्र पुरुषसिंह भीमसेन को अपना पति चुना है।

वीरेणाहं तथानेन त्वया चापि यशस्विनि ।
प्रत्याख्याता न जीवामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥६॥

"यशस्विनि ! यदि ये वीरवर भीमसेन अथवा आप मेरी इस प्रार्थना को ठुकरा देंगे, तो मैं जीवित नहीं रह सकूँगी। यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ।

तदर्हसि कृपां कर्तुं मयि त्वं वरवर्णिनि ।
मत्वा मूढेति तन्मां त्वं भक्ता वानुगतेति वा ॥७॥

"अतएव हे वरवर्णिनि ! आपको मुझे एक मूढ स्वभाव की स्त्री मानकर अथवा अपनी भक्ता जानकर या सेविका समझकर मुझपर कृपादृष्टि करनी चाहिए।

भर्त्रानेन महाभागे संयोजय सुतेन ह ।
तमुपादाय गच्छेयं यथेष्टं देवरूपिणम् ।
पुनश्चैवानयिष्यामि विस्रम्भं कुरु मे शुभे ॥८॥

"हे महाभागे ! मुझे अपने इस पुत्र से, जो मेरे मनोनीत पति हैं, मिलने का अवसर प्रदान कीजिए। मैं इन देवस्वरूप स्वामी को लेकर अपने अभीष्ट स्थान पर जाऊँगी और पुनः निश्चित समय पर इन्हें आपके पास वापस ले आऊँगी। हे शुभे ! आप मेरा विश्वास कीजिए।

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं हिडिम्बे नात्र संशयः ।
स्थातव्यं तु त्वया सत्ये यथा ब्रूयां सुमध्यमे ॥९॥

युधिष्ठिर बोले—हिडिम्बे ! तुम जैसा कह रही हो, वह सब ठीक है, इसमें संशय नहीं है। परन्तु सुमध्यमे ! मैं जैसे कहूँ, तुम्हें उसी प्रकार सत्य पर स्थित रहना चाहिए।

स्नातं कृताह्निकं भद्रे कृतकौतुकमङ्गलम् ।
भीमसेनं भजेथास्त्वं प्रागस्तगमनाद् रवेः ॥१०॥

भद्रे ! जब भीमसेन स्नान और नित्यकर्म करके माङ्गलिक वेश-भूषा आदि धारण कर लें, तब तुम प्रतिदिन उनके साथ रहकर सूर्यास्त होने से पहले तक ही उनकी सेवा कर सकती हो।

अहस्सु विहरानेन यथाकामं मनोजवा ।
अयं त्वानयितव्यस्ते भीमसेनः सदा निशि ॥११॥

तुम मन के समान वेग से चलने-फिरनेवाली हो, अतः दिनभर तो तुम इनके साथ अपनी इच्छा के अनुसार विहार करो, परन्तु रात्रि में भीमसेन को सदा ही हमारे पास पहुँचा देना होगा।

वैशम्पायन उवाच

तथेति तत् प्रतिज्ञाय हिडिम्बा राक्षसी तदा ।
भीमसेनमुपादाय सोर्ध्वमाचक्रमे ततः ॥१२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब 'ऐसा ही होगा' यह प्रतिज्ञा करके हिडिम्बा राक्षसी भीमसेन को साथ ले, वहाँ से ऊपर आकाश में उड़ गई।

प्रजज्ञे राक्षसी पुत्रं भीमसेनान्महाबलम् ।
विरूपाक्षं महावक्त्रं शङ्कुकर्णं विभीषणम् ॥१३॥

कुछ काल के पश्चात् उस राक्षसी ने भीमसेन से एक महान् बलवान् पुत्र उत्पन्न किया, जिसकी आँखें विकराल, मुख विशाल और कान शंकु के समान थे। वह देखने में भयंकर लगता था।

घटो हास्योत्कच इति माता तं प्रत्यभाषत ।
अब्रवीत् तेन नामास्य घटोत्कच इति स्म ह ॥१४॥

बालक की माता ने भीमसेन से कहा—"इसका घट [सिर] उत्कच=केश-रहित है।" उनके इस कथन से ही उसका नाम घटोत्कच हो गया।

संवाससमयो जीर्ण इत्याभाष्य ततस्तु तान् ।
हिडिम्बा समयं कृत्वा स्वां गतिं प्रत्यपद्यत ॥१५॥

उधर हिडिम्बा पाण्डवों से यह कहकर कि भीमसेन के साथ रहने का मेरा समय समाप्त हो गया तथा आवश्यकता के समय पुनः मिलने की प्रतिज्ञा करके अपने अभीष्ट स्थान को चली गई।

ते वनेन वनं गत्वा घ्नन्तो मृगगणान् बहून् ।
अपक्रम्य ययू राजंस्त्वरमाणा महारथाः ॥१६॥

जनमेजय ! वे महारथी पाण्डव एक वन से दूसरे वन में घूमते हुए तथा अनेक हिंसक पशुओं का आखेट करते हुए बड़ी उतावली के साथ आगे बढ़े।

जटाः कृत्वाऽऽत्मनः सर्वे वल्कलाजिनवाससः ।
सह कुन्त्या महात्मानो बिभ्रतस्तापसं वपुः ॥१७॥
क्वचिद् वहन्तो जननीं त्वरमाणा महारथाः ।
क्वचिच्छन्देन गच्छन्तस्ते जग्मुः प्रसभं पुनः ॥१८॥

उन सबने अपने सिर पर जटाएँ रख ली थीं। उन्होंने वल्कल और मृगचर्म से अपने शरीर को ढँक लिया था तथा तपस्वी का-सा वेष धारण कर रखा था। इस प्रकार वे महारथी महात्मा पाण्डव माता कुन्तीदेवी के साथ कहीं तो उन्हें पीठ पर ढोते हुए तीव्र गति से चलते थे, कहीं इच्छानुसार शनैः-शनैः पग बढ़ाते थे और कहीं पुनः अपनी चाल तेज कर देते थे।

ब्राह्मं वेदमधीयाना वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
नीतिशास्त्रं च सर्वज्ञा ददृशुस्ते पितामहम् ॥१९॥

पाण्डव लोग सब शास्त्रों के ज्ञाता तथा प्रतिदिन उपनिषद्, वेद-वेदाङ्ग तथा नीतिशास्त्र का स्वाध्याय किया करते थे। एक दिन जब वे स्वाध्याय में संलग्न थे, उन्हें पितामह व्यासजी का दर्शन हुआ।

तेऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं तदा ।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे सह मात्रा परन्तपाः ॥२०॥

शत्रुसंतापक पाण्डवों ने उस समय उन महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन को प्रणाम किया तथा अपनी माता के साथ वे सब लोग उनके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये। तब—

व्यास उवाच

मयेदं व्यसनं पूर्वं विदितं भरतर्षभाः ।
तद्विदित्वास्मि सम्प्राप्तश्चिकीर्षुः परमं हितम् ।
न विषादोऽत्र कर्तव्यः सर्वमेतत् सुखाय वः ॥२०

व्यासजी बोले—भरतश्रेष्ठ पाण्डुकुमारो ! मैंने पहले ही तुम लोगों पर आये हुए इस संकट को जान लिया था। वह सब-कुछ जानकर तुम्हारा परम हित करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ। तुम्हें दुःखी नहीं होना चाहिए, यह सब-कुछ तुम्हारे भावी कल्याण के लिए हो रहा है।

समास्ते चैव मे सर्वे यूयं चैव न संशयः ।
दीनतो बालतश्चैव स्नेहं कुर्वन्ति मानवाः ॥२२॥
तस्मादभ्यधिकः स्नेहो युष्मासु मम साम्प्रतम् ।
स्नेहपूर्वं चिकीर्षामि हितं वस्तन्निबोधत ॥२३॥

इसमें सन्देह नहीं कि मेरे लिए तुम लोग और धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदि सब समान ही हैं फिर भी जहाँ विनम्रता एवं बचपन है, वहीं मनुष्य अधिक स्नेह करते हैं, इसी कारण इस समय तुम लोगों पर मेरा अधिक स्नेह है। मैं स्नेहपूर्वक तुम लोगों का हित करना चाहता हूँ, अतः मेरी बात सुनो !

इदं नगरमभ्याशे रमणीयं निरामयम् ।
वसतेह प्रतिच्छन्ना ममागमनकाङ्क्षिणः ॥२४॥

यहाँ पास ही जो यह रमणीय नगर है, इसमें रोग-व्याधि का भय नहीं है, अतः तुम सब लोग यहीं छिपकर रहो तथा मेरे पुनः आने की प्रतीक्षा करो।

वैशम्पायन उवाच

एवं स तान्समाश्वास्य व्यासः सत्यवतीसुतः ।
एकचक्रामभिगतः कुन्तीमाश्वासयत् प्रभुः ॥२५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार पाण्डवों को भली-भाँति आश्वासन देकर सत्यवती-नन्दन व्यास उन सबके साथ एकचक्रा नगरी के निकट गये। वहाँ उन्होंने कुन्ती को इस प्रकार सान्त्वना दी।

व्यास उवाच

जीवत्पुत्रि सुतस्तेऽयं धर्मनित्यो युधिष्ठिरः ।
धर्मेण पृथिवीं जित्वा प्रशासिष्यति धर्मराट् ॥२६॥

व्यासजी बोले—जीवित पुत्रोंवाली बहू ! तुम्हारे ये पुत्र धर्मराज युधिष्ठिर सदा धर्मपरायण हैं, अतः ये धर्म से ही सारी पृथिवी को जीतकर उसपर शासन करेंगे।

अनुगृह्य सुहृद्वर्गं भोगैश्वर्यसुखैः सह ।
पितृपैतामहं राज्यमिमे भोक्ष्यन्ति ते सुताः ॥२७॥

तुम्हारे ये पुत्र अपने सुहृदों के समुदाय को उत्तम भोग एवं ऐश्वर्य-सुख के द्वारा अनुगृहीत करके बाप-दादों के राज्य का पालन एवं उपभोग करेंगे।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा निवेश्यैतान् ब्राह्मणस्य निवेशने ।
अब्रवीत् पाण्डवश्रेष्ठमृषिर्द्वैपायनस्तदा ॥२८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर महर्षि कृष्णद्वैपायन ने इन सबको एक ब्राह्मण के घर में ठहरा दिया और पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर से कहा—

इह मासं प्रतीक्षध्वमागमिष्याम्यहं पुनः ।
देशकालौ विदित्वैव लप्स्यध्वं परमां मुदम् ॥२९॥

तुम लोग यहाँ एक मास तक मेरी प्रतीक्षा करो। मैं पुनः आऊँगा। देश और काल का विचार करके ही कोई कार्य करना चाहिए, इससे तुम्हें अनुपम सुख मिलेगा।

स तैः प्राञ्जलिभिः सर्वैस्तथेत्युक्तो नराधिप ।
जगाम भगवान् व्यासो यथागतमृषिः प्रभुः ॥३०॥

राजन् ! उस समय सबने हाथ जोड़कर उनकी आज्ञा स्वीकार की। तब शक्तिशाली महर्षि भगवान् व्यास जैसे आये थे, वैसे ही चले गये।

इति महाभारते आदिपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

ब्राह्मण परिवार का कष्ट और कुन्ती का उन्हें आश्वासन देना

जनमेजय उवाच

एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
उत ऊर्ध्वं द्विजश्रेष्ठ किमकुर्वत पाण्डवाः ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! कुन्ती के महारथी पुत्र पाण्डव जब एकचक्रा नगरी में पहुँच गये, उसके पश्चात् उन्होंने क्या किया ?

वैशम्पायन उवाच

एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
ऊषुर्नातिचिरं कालं ब्राह्मणस्य निवेशने ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन् ! एकचक्रा नगरी में जाकर महारथी कुन्तीपुत्र थोड़े दिनों तक एक ब्राह्मण के घर में रहे ।

रमणीयानि पश्यन्तो वनानि विविधानि च ।
पार्थिवानपि चोद्देशान् सरितश्च सरांसि च ॥३॥
चेरुर्भैक्ष्यं तदा ते तु सर्व एव विशाम्पते ।
बभूवुर्नागराणां च स्वैर्गुणैः प्रियदर्शनाः ॥४॥

प्रजानाथ ! उस समय वे सभी पाण्डव भाँति-भाँति के रमणीय वनों, सुन्दर भूभागों, सरिताओं और सरोवरों का दर्शन करते हुए भिक्षा के द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे । अपने उत्तम गुणों के कारण वे सभी नागरिकों के प्रीति-पात्र हो गये थे ।

निवेदयन्ति स्म तदा कुन्त्या भैक्ष्यं सदा निशि ।
तया विभक्तान्भागांस्ते भुञ्जते स्म पृथक्पृथक् ॥५॥

प्रतिदिन रात्रि के आरम्भ में भिक्षा लाकर वे माता कुन्ती को सौंप देते और वे बांटकर जिसके लिए जितना भाग देतीं, उतना ही पृथक्-पृथक् लेकर पाण्डव भोजन करते थे ।

अर्धं ते भुञ्जते वीराः सह मात्रा परन्तपाः ।
अर्धं सर्वस्य भैक्ष्यस्य भीमो भुङ्क्ते महाबलः ॥६॥

वे चारों वीर परन्तप पाण्डव अपनी माता के साथ आधी भिक्षा का उपभोग करते थे और सम्पूर्ण भिक्षा का आधा भाग अकेले महाबली भीम खाते थे ।

ततः कदाचिद् भैक्ष्याय गतास्ते पुरुषर्षभाः ।
संगत्या भीमसेनस्तु तत्रास्ते पृथया सह ॥७॥

एक दिन नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर आदि चार भाई भिक्षा के लिए गये, किन्तु भीमसेन किसी कार्य-विशेष के सम्बन्ध से माता कुन्ती के साथ घर पर ही रह गये थे ।

अथार्तिजं महाशब्दं ब्राह्मणस्य निवेशने ।
भृशमुत्पतितं घोरं कुन्ती शुश्राव भारत ॥८॥

हे भारत ! उस दिन ब्राह्मण के घर में सहसा बड़े जोर का भयानक आर्तनाद होने लगा, जिसे कुन्ती ने सुना ।

रोरूयमाणांस्तान् दृष्ट्वा परिदेवयतश्च सा ।
कारुण्यात्साधुभावाच्च कुन्ती राजन्न चक्षमे ॥९॥

हे राजन् ! उस ब्राह्मण परिवार के लोगों को बहुत रोते और विलाप करते देख कुन्तीदेवी अत्यन्त दयालुता और साधुस्वभाव के कारण सहन न कर सकीं ।

मथ्यमानेन दुःखेन हृदयेन पृथा तदा ।
उवाच भीमं कल्याणी कृपान्वितमिदं वचः ॥१०॥

उस समय उनका दुःख मानो कुन्तीदेवी के हृदय को मथे डालता था, अतः कल्याणमयी कुन्ती भीमसेन से इस प्रकार करुणायुक्त वचन बोलीं ।

कुन्त्युवाच

वसाम सुसुखं पुत्र ब्राह्मणस्य निवेशने ।
अज्ञाता धार्तराष्ट्रस्य सत्कृता वीतमन्यवः ॥११॥

कुन्ती बोली—पुत्र ! हम लोग इस ब्राह्मण के घर में दुर्योधन से अज्ञात रहकर बड़े सुख से निवास करते हैं । यहां हमारा इतना सत्कार हुआ है कि हम अपने दुःख और दैन्य को भूल गये हैं ।

सा चिन्तये सदा पुत्र ब्राह्मणस्यास्य किं न्वहम् ।
प्रियं कुर्यामिति गृहे यत् कुर्युरुषिताः सुखम् ॥१२॥

अतः वत्स ! मैं सदा यही सोचती रहती हूं कि इस ब्राह्मण का मैं कौन-सा प्रिय कार्य करूँ, जिसे किसी के घर में सुखपूर्वक रहनेवाले लोग किया करते हैं ।

एतावान् पुरुषस्तात कृतं यस्मिन्न नश्यति ।□
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्याद्बह्वधिकं ततः ॥१३॥

तात ! मनुष्य वही है, जिसके प्रति किया हुआ उपकार नष्ट नहीं होता [जो उपकार का बदला चुकाता है, वही मनुष्य है] और यही उसकी मानवता है कि दूसरा पुरुष उसके प्रति जितना उपकार करे, वह उससे भी अधिक उस मनुष्य का प्रत्युपकार कर दे।

तदिदं ब्राह्मणस्यास्य दुःखमापतितं ध्रुवम् ।
तत्रास्य यदि साहाय्यं कुर्यामुपकृतं भवेत् ॥१४॥

इस समय निश्चय ही इस ब्राह्मण पर कोई भारी दुःख आ पड़ा है। यदि उसमें मैं इसकी सहायता करूँ तो वास्तविक उपकार हो सकता है।

भीमसेन उवाच

ज्ञायतामस्य यद् दुःखं यतश्चैव समुत्थितम् ।
विदित्वा व्यवसिष्यामि यद्यपि स्यात्सुदुष्करम् ॥१५॥

भीमसेन बोले—माँ ! पहले यह पता लगाओ कि इस ब्राह्मण को क्या दुःख है और वह किस कारण से प्राप्त हुआ है। यह जान लेने पर अत्यन्त दुष्कर होने पर भी मैं इसका कष्ट दूर करने के लिए पूरा उद्योग करूँगा।

वैशम्पायन उवाच

एवं तौ कथयन्तौ च भूयः शुश्रुवतुः स्वनम् ।
आर्तिजं तस्य विप्रस्य सभार्यस्य विशाम्पते ॥१६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! वे माँ-बेटे इस प्रकार वार्तालाप कर ही रहे थे कि पुनः पत्नी-सहित ब्राह्मण का आर्तनाद उनके कानों में पड़ा।

अन्तःपुरं ततस्तस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः ।
विवेश त्वरिता कुन्ती बद्धवत्सेव सौरभी ॥१७॥

तब कुन्ती तुरन्त ही उस महात्मा ब्राह्मण के घर में घुस गईं, ठीक उसी प्रकार जैसे घर के भीतर बँधे हुए बछड़ेवाली गाय स्वयं ही उसके पास पहुँच जाती है।

ततस्तं ब्राह्मणं तत्र भार्यया च सुतेन च ।
दुहित्रा चैव सहितं ददर्शावनताननम् ॥१८॥

भीतर जाकर कुन्ती ने ब्राह्मण को वहाँ अपनी पत्नी, पुत्र और कन्या के साथ मुँह लटकाये हुए बैठे देखा।

ब्राह्मण उवाच

धिगिदं जीवितं लोके गतसारमनर्थकम् ।
दुःखमूलं पराधीनं भृशमप्रियभागि च ॥१९॥

ब्राह्मण कह रहा था—जगत् के इस जीवन को धिक्कार है, क्योंकि यह सारहीन, निरर्थक, दुःख की जड़, पराधीन तथा अत्यन्त अप्रिय भावों का भागी है।

जीविते परमं दुःखं जीविते परमो ज्वरः ।
जीविते वर्तमानस्य दुःखानामागमो ध्रुवः ॥२०॥

जीने में महान् दुःख है। जीवनकाल में बड़ी भारी चिन्ता का सामना करना पड़ता है। जिसने जीवन धारण कर रखा है, उसे दुःखों की प्राप्ति अवश्य होती है।

न हि योगं प्रपश्यामि येन मुच्येयमापदः ।
पुत्रदारेण वा सार्धं प्राद्रवेयमनामयम् ॥२१॥

मुझे ऐसा कोई उपाय दिखाई नहीं देता, जिससे इस विपत्ति से छुटकारा पा सकूँ अथवा पुत्र और स्त्री के साथ किसी सुरक्षित स्थान में भाग चलूँ।

यतितं वै मया पूर्वं वेत्थ ब्राह्मणि तत् तथा ।
क्षेमं यतस्ततो गन्तुं त्वया तु मम न श्रुतम् ॥२२॥

ब्राह्मणी ! तुम इस बात को ठीक-ठीक जानती हो कि पहले तुम्हारे साथ किसी ऐसे स्थान में चलने के लिए, जहाँ सब प्रकार से अपना कल्याण हो, मैंने प्रयत्न किया था, परन्तु उस समय तुमने मेरी बात नहीं सुनी।

अहो धिक्कां गतिं त्वद्य गमिष्यामि सबान्धवः ।
सर्वैः सह मृतं श्रेयो न च मे जीवितं क्षमम् ॥२३॥

अहो ! धिक्कार है इस जीवन को। हाय ! मैं बन्धु-बान्धवों के साथ आज किस गति को प्राप्त होऊँगा ? सबके साथ मर जाना ही श्रेष्ठ है। मेरा जीवित रहना कदापि उचित नहीं है।

ब्राह्मण्युवाच

न सन्तापस्त्वया कार्यः प्राकृतेनेव कर्हिचित् ।
न हि सन्तापकालोऽयं वैद्यस्य तव विद्यते ॥२४॥

ब्राह्मणी बोली—प्राणनाथ ! आपको साधारण मनुष्यों की भाँति कभी सन्ताप नहीं करना चाहिए। आप विद्वान् हैं, आपके लिए यह सन्ताप का अवसर नहीं है।

अवश्यं निधनं सर्वैर्गन्तव्यमिह मानवैः ।□
अवश्यम्भाविन्यर्थे वै सन्तापो नेह विद्यते ॥२५॥

एक-न-एक दिन इस संसार में सभी मनुष्यों को अवश्य मरना पड़ेगा, अतः जो बात अवश्य होनेवाली है, उसके लिए शोक करने की आवश्यकता नहीं है।

भार्या पुत्रोऽथ दुहिता सर्वमात्मार्थमिष्यते ।
व्यथां जहि सुबुद्धया त्वं स्वयं यास्यामि तत्र च ॥२६॥
एतद्धि परमं नार्याः कार्यं लोके सनातनम् ।
प्राणानपि परित्यज्य यद् भर्तृहितमाचरेत् ॥२७॥

पत्नी, पुत्र और पुत्री—ये सब अपने लिए ही अभीष्ट होते हैं, आप विवेक का आश्रय लेकर शोक-सन्ताप छोड़िए। मैं स्वयं राक्षस के पास चली जाऊँगी। पत्नी के लिए लोक में सबसे बढ़कर यही सनातन कर्तव्य है कि वह अपने प्रिय प्राणों को भी न्योछावर करके पति की भलाई करे।

यदर्थमिष्यते भार्या प्राप्तः सोऽर्थस्त्वया मयि ।
कन्या चैका कुमारश्च कृताहमनृणा त्वया ॥२८॥

जिस उद्देश्य से पत्नी की अभिलाषा की जाती है, आपने वह उद्देश्य मुझसे सिद्ध कर लिया है। एक पुत्री और एक पुत्र आपके द्वारा मेरे गर्भ से उत्पन्न हो चुके हैं। इस प्रकार आपने मुझे भी उऋण कर दिया है।

समर्थः पोषणे चासि सुतयो रक्षणे तथा ।
न त्वहं सुतयोः शक्ता तथा रक्षणपोषणे ॥२९॥

इन दोनों सन्तानों का पालन-पोषण और रक्षण करने में आप समर्थ हैं। आपकी भाँति मैं इन दोनों के पालन-पोषण तथा रक्षा की उत्तम व्यवस्था नहीं कर सकूँगी।

कथं तव कुलस्यैकामिमां बालामनागसाम् ।
पितृपैतामहे मार्गे नियोक्तुमहमुत्सहे ॥३०॥

आपके कुल की एकमात्र निरपराध बालिका को मैं बाप-दादों द्वारा पालित धर्म-मार्ग पर लगाये रखने में कैसे समर्थ होऊँगी?

कथं शक्ष्यामि बालेऽस्मिन् गुणानाधातुमीप्सितान् ।
अनाथे सर्वतो लुप्ते यथा त्वं धर्मदर्शिवान् ॥३१॥

आप धर्म के ज्ञाता हैं, आप जैसे अपने बालक को सद्गुणी बना सकते हैं, उस प्रकार मैं आपके न रहने पर सब ओर से आश्रयहीन हुए इस अनाथ बालक में वाञ्छनीय उत्तम गुणों का आधान कैसे कर सकूँगी?

त्रितयं सर्वथाप्येवं विनंक्ष्यतीत्यसंशयम् ।
त्वया विहीनं तस्मात् त्वं मां परित्यक्तुमर्हसि ॥३२॥

नाथ! आपके बिना मैं और ये दोनों बच्चे—तीनों ही सर्वथा नष्ट हो जाएँगे—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, अतः आप केवल मुझे त्याग दीजिए।

व्युष्टिरेषा परा स्त्रीणां पूर्वं भर्तुः परां गतिम् ।
गन्तुं ब्रह्मन् सपुत्राणामिति धर्मविदो विदुः ॥३३॥

हे ब्रह्मन्! पुत्रवती स्त्रियाँ यदि अपने पति से पहले ही मृत्यु को प्राप्त हो जाएँ तो यह उनके लिए परम सौभाग्य की बात है। धर्मज्ञ विद्वान् ऐसा ही मानते हैं।

परित्यक्तः सुतश्चायं दुहितेयं तथा मया ।
बान्धवाश्च परित्यक्तास्त्वदर्थं जीवितं च मे ॥३४॥

आर्यपुत्र! आपके लिए मैंने यह पुत्र और पुत्री भी छोड़ दी, समस्त बन्धु-बान्धवों को भी छोड़ दिया और अब अपना यह जीवन त्यागने को भी मैं तैयार हूँ।

यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्दानैश्च विविधैस्तथा ।
विशिष्यते स्त्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते स्थितिः ॥३५॥

स्त्री यदि सदा अपने स्वामी के प्रिय और हित में लगी रहे तो यह उसके लिए बड़े-बड़े यज्ञों, तपस्याओं, नियमों और नाना प्रकार के दानों से भी बढ़कर है।

आपदर्थं धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥३६॥

आपत्ति के लिए धन की रक्षा करे, धन के द्वारा स्त्री की रक्षा करे और स्त्री तथा धन—दोनों के द्वारा सदा अपनी रक्षा करे।

स कुरुष्व मया कार्यं तारयात्मानमात्मना ।
अनुजानीहि मामार्य सुतौ मे परिपालय ॥३७॥

आर्य! आप मेरे द्वारा अभीष्ट कार्य की सिद्धि कीजिए और स्वयं प्रयत्न करके अपने को इस संकट से बचाइए। मुझे राक्षस के पास जाने की आज्ञा दीजिए तथा मेरे दोनों बच्चों का पालन कीजिए।

अवध्यां स्त्रियमित्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये ।
धर्मज्ञान् राक्षसानाहुर्न हन्यात् स च मामपि ॥३८॥

धर्मज्ञ विद्वानों ने धर्म-निर्णय के प्रसङ्ग में नारी को अवध्य बताया है। राक्षसों को भी लोग धर्मज्ञ कहते हैं, अतः सम्भव है, वह राक्षस भी मुझे स्त्री समझकर न मारे।

निस्संशयो वधः पुंसां स्त्रीणां संशयितो वधः।
अतो मामेव धर्मज्ञ प्रस्थापयितुमर्हसि ॥३९॥

पुरुष वहाँ जाएँ, तो वह राक्षस उनका वध कर ही डालेगा, इसमें संशय नहीं है, परन्तु स्त्रियों के वध में सन्देह है [यदि राक्षस ने धर्म का विचार किया तो बचने की सम्भावना है] अतः धर्मज्ञ आर्य-पुत्र! आप मुझे ही वहाँ भेजें।

एतत् सर्वं समीक्ष्य त्वमात्मत्यागं च गर्हितम्।
आत्मानं तारयाद्याशु कुलं चेमौ च दारकौ ॥४०॥

इन सब बातों को विचार करके तथा अपने शरीर-त्याग को निन्दित कर्म मानकर आप अब शीघ्र ही अपने को, अपने कुल को और इन दोनों बच्चों को संकट से बचा लीजिए।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तया भर्ता तां समालिङ्ग्य भारत।
मुमोच बाष्पं शनकैः सभार्यो भृशदुःखितः ॥४१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे भारत! ब्राह्मणी के ऐसा कहने पर उसके पति ब्राह्मण देवता अत्यन्त दुःखी हो उसे हृदय से लगाकर उसके साथ ही धीरे-धीरे आँसू बहाने लगे।

तयोर्दुःखितयोर्वाक्यमतिमात्रं निशम्य तु।
ततो दुःखपरीताङ्गी कन्या तावभ्यभाषत ॥४२॥

दुःख में डूबे हुए माता-पिता के उन शोकपूर्ण वचनों को सुनकर कन्या के सम्पूर्ण अङ्गों में दुःख व्याप्त हो गया, अतः वह अपने माता-पिता से बोली—

कन्योवाच

किमेवं भृशदुःखार्तौ रोरूयेतामनाथवत्।
ममापि श्रूयतां वाक्यं श्रुत्वा च क्रियतां क्षमम् ॥४३॥

कन्या बोली—आप दोनों इस प्रकार अत्यन्त दुःख से आतुर हो अनाथ की भाँति क्यों बार-बार रो रहे हैं? मेरी बात भी सुनिए और उसे सुनकर जो उचित लगे, वह कीजिए।

धर्मतोऽहं परित्याज्या युवयोर्नात्र संशयः।
त्यक्तव्यां मां परित्यज्य त्राहि सर्वं मयैकया ॥४४॥

एक-न-एक दिन आप दोनों को धर्मतः मेरा त्याग करना पड़ेगा, यह निश्चित है। जब मैं त्याज्य ही हूँ, तब आज ही मुझे त्यागकर मुझ अकेली के द्वारा सारे कुल की रक्षा कर लीजिए।

इत्यर्थमिष्यतेऽपत्यं तारयिष्यति मामिति।
अस्मिन्नुपस्थिते काले तरध्वं प्लववन्मया ॥४५॥

सन्तान की इच्छा इसीलिए की जाती है कि यह मुझे संकट से उबारेगी, अतः इस समय जो संकट उपस्थित हुआ है, उसमें नौका की भाँति मेरा उपयोग करके आप लोग शोकसागर से पार हो जाइए।

भ्राता च मम बालोऽयं गते लोकममुं त्वयि।
अचिरेणैव कालेन विनश्येत न संशयः ॥४६॥

यदि आप परलोकवासी हो गये तो मेरा यह नन्हा-सा भाई थोड़े ही समय में नष्ट हो जाएगा, इसमें सन्देह नहीं है।

पित्रा त्यक्ता तथा मात्रा भ्रात्रा चाहमसंशयम्।
दुःखाद् दुःखतरं प्राप्य म्रियेयमतथोचिता ॥४८॥

पिता, माता और भाई—तीनों से परित्यक्त होकर मैं एक दुःख से दूसरे महान् दुःख में पड़कर निश्चय ही मर जाऊँगी।

तदस्मदर्थं धर्मार्थं प्रसवार्थं च सत्तम।
आत्मानं परिरक्षस्व त्यक्तव्यां मां च संत्यज ॥४८॥

अतः हे साधुशिरोमणे! आप मेरे लिए तथा धर्म और सन्तान की रक्षा के लिए भी अपनी रक्षा कीजिए और मुझे, जिसे एक दिन त्यागना ही है, आज ही त्याग दीजिए।

किं त्वतः परमं दुःखं यद् वयं स्वर्गते त्वयि।
याचमानाः परादन्नं परिधावेमहि श्ववत् ॥४९॥

हम लोगों के लिए इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या होगा कि आपके परलोकवासी हो जाने पर हम दूसरों से अन्न की भीख माँगते हुए कुत्तों की भाँति इधर-उधर दौड़ते फिरें।

वैशम्पायन उवाच

एवं बहुविधं तस्या निशम्य परिदेवितम्।
पिता माता च सा चैव कन्या प्ररुरुदुस्त्रयः ॥५०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार उस कन्या के मुख से नाना प्रकार का विलाप सुनकर पिता, माता और वह कन्या तीनों फूट-फूटकर रोने लगे।

ततः प्ररुदितान् सर्वान् निशम्याथ सुतस्तदा।
उत्फुल्लनयनो बालः कलमव्यक्तमब्रवीत् ॥५१॥

तब उन सबको रोते देख ब्राह्मण का नन्हा-सा बालक उन सबकी ओर प्रफुल्ल नेत्रों से देखता हुआ तोतली भाषा में अस्पष्ट एवं मधुर वचन बोला—

मा पिता रुद मा मातर्मा स्वसस्त्विति चाब्रवीत्।
प्रहसन्निव सर्वांस्तानेकैकमनुसर्पति ॥५२॥
ततः स तृणमादाय प्रहृष्टः पुनरब्रवीत्।
अनेनाहं हनिष्यामि राक्षसं पुरुषादकम् ॥५३॥

"पिताजी ! न रोओ, माँ ! मत आँसू बहाओ, बहिन ! मत रो। वह हँसता हुआ-सा प्रत्येक के पास जाता और सबसे यही बात कहता था। तत्पश्चात् उसने एक तिनका उठा लिया और अत्यन्त हर्ष में भरकर कहा—"मैं इसी से उस नरभक्षी राक्षस को मार डालूँगा।"

तथापि तेषां दुःखेन परीतानां निशम्य तत्।
बालस्य वाक्यमव्यक्तं हर्षः समभवन्महान् ॥५४॥

यद्यपि वे सब लोग दुःख में डूबे हुए थे, तथापि उस बालक की अस्पष्ट तोतली बोली सुनकर उनके हृदय में सहसा अत्यन्त प्रसन्नता की लहर दौड़ गई।

अयं काल इति ज्ञात्वा कुन्ती समुपसृत्य तान्।
गतासूनमृतेनेव जीवयन्तीदमब्रवीत् ॥५५॥

'यही अपने को प्रकट करने का अवसर है' ऐसा सोच कुन्तीदेवी उन सबके निकट गईं तथा अपनी अमृतमयी वाणी से उन मृतक-से मानवों को जीवन-प्रदान करती हुई-सी बोलीं—

कुन्त्युवाच

कुतोमूलमिदं दुःखं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः।
विदित्वाप्यपकर्षेयं शक्यं चेदपकर्षितुम् ॥५६॥

कुन्ती ने पूछा—ब्रह्मन् ! आप लोगों के इस दुःख का कारण क्या है ? मैं यह ठीक-ठीक जानना चाहती हूँ। उसे जानकर यदि मिटाया जा सकेगा तो मिटाने की चेष्टा करूँगी।

ब्राह्मण उवाच

उपपन्नं सतामेतद् यद् ब्रवीषि तपोधने।
न तु दुःखमिदं शक्यं मानुषेण व्यपोहितुम् ॥५७॥

ब्राह्मण ने कहा—तपोधने ! आप जो कुछ कह रही हैं, वह आप-जैसे सज्जनों के अनुरूप ही है, परन्तु हमारे इस दुःख को कोई मनुष्य नहीं मिटा सकता।

समीपे नगरस्यास्य बको वसति राक्षसः।
ईशो जनपदस्यास्य पुरस्य च महाबलः ॥५८॥

इस नगर के समीप ही बक नामक एक राक्षस रहता है। वह राक्षस अत्यन्त बलवान् है। वही इस जनपद और नगर का स्वामी है।

रक्षत्यसुरराट् नित्यमिमं जनपदं बली।
तत्कृते परचक्राच्च भूतेभ्यश्च न नो भयम् ॥५९॥

वह शक्तिशाली असुरराज सदा इस जनपद की रक्षा करता है। उसके कारण हमें शत्रुराज्यों तथा हिंसक प्राणियों से कभी भय नहीं होता।

वेतनं तस्य विहितं शालिवाहस्य भोजनम्।
महिषौ पुरुषश्चैको यस्तदादाय गच्छति ॥६०॥

उसके लिए वेतन—कर निश्चित किया गया है—एक गाड़ी शालि चावल का भात, दो भैंसे और एक मनुष्य, जो यह सब सामान लेकर उसके पास जाता है।

एकैकश्चापि पुरुषस्तत् प्रयच्छति भोजनम्।
स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः ॥६१॥

प्रत्येक गृहस्थ अपनी वारी आने पर उसे भोजन देता है। यद्यपि यह वारी बहुत वर्षों के बाद आती है, तथापि लोगों के लिए उसकी पूर्ति बहुत कठिन होती है।

सोऽयमस्माननुप्राप्तो वारः कुलविनाशनः।
भोजनं पुरुषश्चैकः प्रदेयं वेतनं मया ॥६२॥

आज हमारे सारे कुल का नाश करनेवाली वह वारी आई है। मुझे उस राक्षस को कर के रूप में नियत भोजन और एक पुरुष की बलि देनी पड़ेगी।

न च मे विद्यते वित्तं संक्रेतुं पुरुषं क्वचित्।
सुहृज्जनं प्रदातुं च न शक्ष्यामि कदाचन ॥६३॥

मेरे पास धन नहीं है, जिससे कहीं से किसी पुरुष को क्रय कर लूँ। अपने सुहृदों और सगे-

सम्बन्धियों को तो मैं कदापि उस राक्षस के हाथ में नहीं दे सकूँगा।

गतिं चैव न पश्यामि तस्मान्मोक्षाय रक्षसः।
सोऽहं दुःखार्णवे मग्नो महत्यसुकरे भृशम् ॥६४॥

उस राक्षस से छूटने का कोई उपाय मुझे दिखाई नहीं देता, अतः मैं दुस्तर दुःख के महासागर में डूबा हुआ हूँ।

सहैवैतैर्गमिष्यामि बान्धवैरद्य राक्षसम्।
ततो नः सहितान् क्षुद्रः सर्वानेवोपभोक्ष्यति ॥६५॥

अब इन बन्धु-बान्धवों के साथ ही मैं उस राक्षस के पास जाऊँगा, जिससे वह नीच निशाचर एक ही साथ हम सबको खा ले।

कुन्त्युवाच

न विषादस्त्वया कार्यो भयादस्मात् कथंचन।
उपायः परिदृष्टोऽत्र तस्मान्मोक्षाय रक्षसः ॥६६॥

कुन्ती बोली—ब्रह्मन्! आपको अपने ऊपर आये हुए भय से किसी प्रकार भी विषाद नहीं करना चाहिए। इस परिस्थिति में उस राक्षस से छूटने का उपाय मेरी समझ में आ गया।

एकस्तव सुतो बालः कन्या चैका तपस्विनी।
न चैतयोस्तथा पत्न्या गमनं तव रोचये ॥६७॥

आपके तो एक ही नन्हा-सा पुत्र तथा एक ही तपस्विनी कन्या है, अतः इन दोनों का तथा आपकी पत्नी का भी वहाँ जाना मुझे अच्छा नहीं लगता।

मम पञ्च सुता ब्रह्मंस्तेषामेको गमिष्यति।
त्वदर्थं बलिमादाय तस्य पापस्य रक्षसः ॥६८॥

विप्रवर! मेरे पाँच पुत्र हैं, उनमें से एक आपके लिए उस पापी राक्षस की बलि-सामग्री लेकर चला जाएगा।

ब्राह्मण उवाच

नाहमेतत् करिष्यामि जीवितार्थी कथंचन।
ब्राह्मणस्यातिथेश्चैव स्वार्थे प्राणवियोजनम् ॥६९॥

ब्राह्मण बोला—मैं अपने जीवन की रक्षा के लिए ऐसा कभी नहीं करूँगा। एक तो ब्राह्मण, दूसरे अतिथि के प्राणों का नाश मैं अपने तुच्छ स्वार्थों के लिए कराऊँ, यह कदापि सम्भव नहीं।

आगतस्य गृहे त्यागस्तथैव शरणार्थिनः।
याचमानस्य च वधो नृशंसो गर्हितो बुधैः ॥७०॥

घर पर आये हुए तथा शरणार्थी का त्याग और अपनी रक्षा के लिए याचना करनेवाले का वध—यह विद्वानों की सम्मति में अत्यन्त क्रूर और निन्दित कर्म है।

श्रेयांस्तु सहदारस्य विनाशोऽद्य मम स्वयम्।
ब्राह्मणस्य वधं नाहमनुमंस्ये कदाचन ॥७१॥

अतः आज चाहे अपनी पत्नी के साथ स्वयं मेरा विनाश हो जाए, यह श्रेष्ठ है, किन्तु ब्राह्मण-वध की अनुमति मैं कदापि नहीं दे सकता।

कुन्त्युवाच

ममाप्येषा मतिर्ब्रह्मन् विप्रा रक्ष्या इति स्थिरा।
न चाप्यनिष्टः पुत्रो मे यदि पुत्रशतं भवेत् ॥७२
न चासौ राक्षसः शक्तो मम पुत्रविनाशने।
वीर्यवान् मन्त्रसिद्धश्च तेजस्वी च सुतो मम ॥७३॥

कुन्ती बोली—ब्रह्मन्! मेरा भी यह निश्चित विचार है कि ब्राह्मणों की रक्षा करनी चाहिए। यों तो मुझे भी अपना कोई पुत्र अप्रिय नहीं है, चाहे मेरे सौ पुत्र ही क्यों न हों, किन्तु वह राक्षस मेरे पुत्र का विनाश करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि मेरा पुत्र पराक्रमी, मन्त्रसिद्ध और तेजस्वी है।

राक्षसाय च तत् सर्वं प्रापयिष्यति भोजनम्।
मोक्षयिष्यति चात्मानमिति मे निश्चिता मतिः ॥७४

मेरा यह निश्चित विश्वास है कि मेरा पुत्र वह सारा भोजन राक्षस के पास पहुँचा देगा और उससे अपने आपको भी छुड़ा लेगा।

समागताश्च वीरेण दृष्टपूर्वाश्च राक्षसाः।
बलवन्तो महाकाया निहताश्चाप्यनेकशः ॥७५॥

मैंने पहले भी बहुत से बलवान् और विशालकाय राक्षस देखे हैं, जो मेरे वीर पुत्र से भिड़कर अपने जीवन से हाथ धो बैठे हैं।

न त्विदं केषुचिद् ब्रह्मन् व्याहर्तव्यं कथंचन।
विद्यार्थिनो हि मे पुत्रान् विप्रकुर्युः कुतूहलात् ॥७६॥

परन्तु हे ब्रह्मन्! आपको किसी से भी किसी प्रकार यह बात नहीं कहनी चाहिए, अन्यथा लोग मन्त्र सीखने के लोभ से कौतूहलवश मेरे पुत्रों को तंग करेंगे।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु पृथया स विप्रो भार्यया सह ।
हृष्टः सम्पूजयामास तद्वाक्यममृतोपमम् ॥७६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुन्तीदेवी के ऐसा कहने पर पत्नी-सहित वह ब्राह्मण अति प्रसन्न हुआ और उसने कुन्ती के अमृत-तुल्य जीवनदायक मधुर वचनों को बड़ा सम्मान दिया ।

ततः कुन्ती च विप्रश्च सहितावनिलात्मजम् ।
तमब्रूतां कुरुष्वेति स तथेत्यब्रवीच्च तौ ॥७८॥

तत्पश्चात् कुन्ती और ब्राह्मण ने मिलकर वायु-नन्दन भीमसेन से कहा—"तुम यह कठोर कार्य करो।" तब भीमसेन ने भी उन दोनों से "बहुत अच्छा" कह दिया ।

इति महाभारते आदिपर्वणि सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

भीम को राक्षस के पास भेजने के विषय में युधिष्ठिर और कुन्ती की बातचीत, भीम द्वारा बकासुर का वध, राक्षसों का पलायन और नगरवासियों की प्रसन्नता

वैशम्पायन उवाच

करिष्य इति भीमेन प्रतिज्ञातेऽथ भारत ।
आजग्मुस्ते ततः सर्वे भैक्ष्यमादाय पाण्डवाः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब भीमसेन ने यह प्रतिज्ञा कर ली कि "मैं इस कार्य को पूरा करूँगा" उसी समय अन्य चारों पाण्डव भिक्षा लेकर वहाँ आये ।

आकारेणैव तं ज्ञात्वा पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
रहः समुपविश्यैकस्ततः पप्रच्छ मातरम् ॥२॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने भीमसेन की आकृति से ही समझ लिया कि आज ये कुछ करनेवाले हैं, फिर उन्होंने एकान्त में अकेले बैठकर माता से पूछा ।

युधिष्ठिर उवाच

किं चिकीर्षत्ययं कर्म भीमो भीमपराक्रमः ।
भवत्यनुमते कच्चित् स्वयं वा कर्तुमिच्छति ॥३॥

युधिष्ठिर बोले—माँ ! ये भयंकर पराक्रमी भीमसेन कौन-सा कार्य करना चाहते हैं ? वे आपकी अनुमति से अथवा स्वयं ही कुछ करने के लिए उतारू हो रहे हैं ।

कुन्त्युवाच

ममैव वचनादेष करिष्यति परन्तपः ।
ब्राह्मणार्थं महत् कृत्यं मोक्षाय नगरस्य च ॥४॥

कुन्ती ने कहा—पुत्र ! शत्रुसंतापक भीम मेरी ही आज्ञा से ब्राह्मण के हितार्थ तथा समस्त नगर को संकट से छुड़ाने के लिए आज एक महान् कार्य करेगा ।

युधिष्ठिर उवाच

किमिदं साहसं तीक्ष्णं भवत्या दुष्करं कृतम् ।
परित्यागं हि पुत्रस्य न प्रशंसन्ति साधवः ॥५॥

युधिष्ठिर बोले—माँ ! आपने यह भीषण और दुष्कर साहस क्यों किया ? सज्जन पुरुष अपने पुत्र के परित्याग को अच्छा नहीं बताते ।

कथं परसुतस्यार्थे स्वसुतं त्यक्तुमिच्छसि ।
लोकवेदविरुद्धं हि पुत्रत्यागात् कृतं त्वया ॥६॥

दूसरे के पुत्र के लिए आप अपने पुत्र को क्यों त्याग देना चाहती हैं ? पुत्र का त्याग करके आपने लोक और वेद दोनों के विरुद्ध कार्य किया है ।

यस्य बाहू समाश्रित्य सुखं सर्वे शयामहे ।
राज्यं चापहृतं क्षुद्रैराजिहीर्षामहे पुनः ॥७॥

जिसके बाहुबल का भरोसा करके हम सब लोग सुख से सोते हैं और नीच शत्रुओं ने जिस राज्य को हड़प लिया है, उसे वापस लेना चाहते हैं [उस पुत्र के त्याग का निश्चय आपने कैसे किया है ?]

यस्य दुर्योधनो वीर्यं चिन्तयन्नमितौजसः ।
न शेते रजनीः सर्वा दुःखाच्छकुनिना सह ॥८॥
यस्य वीरस्य वीर्येण मुक्ता जतुगृहाद् वयम् ।
अन्येभ्यश्चैव पापेभ्यो निहतश्च पुरोचनः ॥९॥
यस्य वीर्यं समाश्रित्य वसुपूर्णां वसुन्धराम् ।
इमां मन्यामहे प्राप्तां निहत्य धृतराष्ट्रजान् ॥१०॥

तस्य व्यवसितस्त्यागो बुद्धिमास्थाय कां त्वया ।
कच्चिन्नु दुःखैर्बुद्धिस्ते विलुप्ता गतचेतसः ॥११॥

जिस अमित तेजस्वी वीर के पराक्रम का चिन्तन करके शकुनिसहित दुर्योधन को दुःख के मारे सारी रातें नींद नहीं आती, जिस वीर के बल से हम लोग लाक्षागृह तथा दूसरे पापपूर्ण अत्याचारों से बच पाये और दुष्ट पुरोचन भी मारा गया, जिसके बल-पराक्रम का आश्रय लेकर हम लोग धृतराष्ट्र-पुत्रों को मारकर धन-धान्य से सम्पन्न इस सम्पूर्ण पृथिवी को अपने अधिकार में आई हुई ही समझते हैं, उस बलवान् पुत्र के त्याग का निश्चय आपने किस बुद्धि से किया है ? क्या आप अनेक दुःखों के कारण अपनी चेतना खो बैठी हैं ? आपकी बुद्धि लुप्त हो गई है ?

कुन्त्युवाच

युधिष्ठिर न सन्तापस्त्वया कार्यो वृकोदरे ।
न चायं बुद्धिदौर्बल्याद् व्यवसायः कृतो मया ॥१२॥

कुन्ती ने कहा—हे युधिष्ठिर ! तुम्हें भीमसेन के लिए कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। मैंने जो यह निश्चय किया है, वह बुद्धि की किसी दुर्बलता से नहीं किया है ।

इह विप्रस्य भवने वयं पुत्र सुखोषिताः ।
तस्य प्रतिक्रिया पार्थ मयेयं प्रसमीक्षिता ॥१३॥

वत्स ! हम लोग इस ब्राह्मण के घर में सुखपूर्वक रहे हैं। ब्राह्मण के इस उपकार से उऋण होने का यही एक उपाय मुझे दिखाई दिया ।

एतावानेव पुरुषः कृतं यस्मिन् न नश्यति ।□
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्याद् बहुगुणं ततः ॥१४॥

मनुष्य वही है, जिसके प्रति किया हुआ उपकार नष्ट न हो अर्थात् जो किये हुए उपकार को भुला न दे। दूसरा मनुष्य उसके लिए जितना उपकार करे, उससे कई गुना प्रत्युपकार स्वयं उसके प्रति करना चाहिए ।

दृष्ट्वा भीमस्य विक्रान्तं तदा जतुगृहे महत् ।
हिडिम्बस्य वधाच्चैवं विश्वासो मे वृकोदरे ॥१५॥

मैंने उस दिन लाक्षागृह में भीमसेन का महान् पराक्रम देखा था तथा हिडिम्बवध की घटना भी मेरी आँखों के समक्ष घटित हुई, अतः भीमसेन पर मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है ।

बाह्वोर्बलं हि भीमस्य नागायुतसमं महत् ।
येन यूयं गजप्रख्या निर्व्यूढा वारणावतात् ॥१६॥

भीम का महान् बाहुबल दस सहस्र हाथियों के समान है, जिससे वह हाथी के समान बलशाली तुम सब भाइयों को वारणावत नगर से ढोकर लाया है ।

वृकोदरेण सदृशो बलेनान्यो न विद्यते ।
योऽभ्युदीयाद् युधि श्रेष्ठमपि वज्रधरं स्वयम् ॥१७॥

भीमसेन के समान बलवान् दूसरा कोई नहीं है। वह युद्ध में सर्वश्रेष्ठ वज्रपाणि इन्द्र का भी सामना कर सकता है ।

जातमात्रः पुरा चैष ममाङ्कात् पतितो गिरौ ।
शरीरगौरवादस्य शिला गात्रैर्विचूर्णिता ॥१८॥

पहले की बात है, जब यह उत्पन्न ही हुआ था, उसी समय मेरी गोद से छूटकर पर्वत के शिखर पर गिर पड़ा था। जिस चट्टान पर यह गिरा, वह इसके शरीर की गुरुता=भार के कारण चूर-चूर हो गई थी।

तदहं प्रज्ञया ज्ञात्वा बलं भीमस्य पाण्डव ।
प्रतिकार्ये च विप्रस्य ततः कृतवती मतिम् ॥१९॥

पाण्डुनन्दन ! मैंने भीमसेन के बल को अपनी बुद्धि से भली-भाँति समझकर तब ब्राह्मण के शत्रु राक्षस से बदला लेने का निश्चय किया है ।

नेदं लोभान्न चाज्ञानान्न च मोहाद्विनिश्चितम् ।
बुद्धिपूर्वं तु धर्मस्य व्यवसायः कृतो मया ॥२०॥

मैंने न लोभ से, न अज्ञान से और न मोह से ऐसा विचार किया है, अपितु बुद्धि के द्वारा खूब सोच-समझकर विशुद्ध धर्मानुकूल निश्चय किया है।

अर्थौ द्वावपि निष्पन्नौ युधिष्ठिर भविष्यतः ।
प्रतीकारश्च वासस्य धर्मश्च चरितो महान् ॥२१॥

युधिष्ठिर ! मेरे इस निश्चय से दो प्रयोजन सिद्ध हो जाएँगे। एक तो ब्राह्मण के यहाँ निवास करने का ऋण चुक जाएगा और दूसरा लाभ यह होगा कि ब्राह्मण और पुरवासियों की रक्षा होने के कारण महान् धर्म का पालन हो जाएगा ।

युधिष्ठिर उवाच

उपपन्नमिदं मातस्त्वया यद् बुद्धिपूर्वकम् ।
आर्तस्य ब्राह्मणस्यैतदनुक्रोशादिदं कृतम् ॥२२॥

युधिष्ठिर बोले—माँ ! आपने समझ-बूझकर

जो कुछ निश्चय किया है, वह सब उचित है। आपने संकट में पड़े हुए ब्राह्मण पर दया करके ही ऐसा विचार किया है।

वैशम्पायन उवाच

ततो रात्र्यां व्यतीतायामन्नमादाय पाण्डवः।
भीमसेनो ययौ तत्र यत्रासौ पुरुषादकः ॥२३॥
आसाद्य तु वनं तस्य रक्षसः पाण्डवो बली।
आजुहाव ततो नाम्ना तदन्नमुपयोजयन् ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर रात बीतने पर पाण्डुनन्दन भीमसेन भोजन-सामग्री लेकर उस स्थान पर गये, जहाँ वह नरभक्षी राक्षस रहता था। वक राक्षस के वन में पहुँचकर महाबली पाण्डुकुमार भीमसेन उसके लिए लाये हुए अन्न को स्वयं खाते हुए उस राक्षस का नाम ले-लेकर उसे पुकारने लगे।

ततः स राक्षसः क्रुद्धो भीमस्य वचनात् तदा।
आजगाम सुसंक्रुद्धो यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥२५॥

भीमसेन के इस प्रकार पुकारने से वह राक्षस कुपित हो उठा और अत्यन्त क्रोध में भरकर उस स्थान पर आया, जहाँ बैठकर भीम भोजन कर रहे थे।

भुञ्जानमन्नं तं दृष्ट्वा भीमसेनं स राक्षसः।
विवृत्य नयने क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥२६॥

भीमसेन को उस अन्न को खाते देख राक्षस का क्रोध बहुत बढ़ गया और उसने आँखें तरेर कर कहा—

कोऽयमन्नमिदं भुङ्क्ते मदर्थमुपकल्पितम्।
पश्यतो मम दुर्बुद्धिर्यियासुर्यमसादनम् ॥२७॥

"यमलोक में जाने की इच्छा रखनेवाला यह कौन दुर्बुद्धि मनुष्य है, जो मेरी आँखों के सामने मेरे लिए तैयार करके लाये हुए इस अन्न को स्वयं ही खा रहा है?"

भीमसेनस्तु तत् श्रुत्वा प्रहसन्निव भारत।
राक्षसं तमनादृत्य भुङ्क्त एव पराङ्मुखः ॥२८॥

हे भारत! उसकी बात सुनकर भीमसेन मानो जोर-जोर से हँसते हुए-से उस राक्षस की अवहेलना करते हुए मुँह फेरकर खाते रहे।

अमर्षेण तु सम्पूर्णः कुन्तीपुत्रं वृकोदरम्।
जघान पृष्ठे पाणिभ्यामुभाभ्यां पृष्ठतः स्थितः ॥२९॥

फिर तो उसने अत्यन्त अमर्ष (क्रोध) में भरकर कुन्तीनन्दन भीमसेन के पीछे खड़े हो अपने दोनों हाथों से उनकी पीठ पर प्रहार किया।

तथा बलवता भीमः पाणिभ्यां भृशमाहतः।
नैवावलोकयामास राक्षसं भुंक्त एव सः ॥३०॥

इस प्रकार बलवान् राक्षस के दोनों हाथों से भयानक चोट खाकर भी भीमसेन ने उसकी ओर देखा तक नहीं, वे भोजन करने में ही संलग्न रहे।

ततः स भूयः संक्रुद्धो वृक्षमादाय राक्षसः।
ताडयिष्यंस्तदा भीमं पुनरभ्यद्रवद् बली ॥३१॥

तब तो उस बलवान् राक्षस ने पुनः अत्यन्त कुपित हो एक वृक्ष उखाड़कर भीमसेन को मारने के लिए उनपर धावा बोल दिया।

ततो भीमः शनैर्भुक्त्वा तदन्नं पुरुषर्षभः।
वार्युपस्पृश्य संहृष्टस्तस्थौ युधि महाबलः ॥३२॥

उधर नरश्रेष्ठ महाबली भीमसेन धीरे-धीरे उस सब अन्न को खाकर, तथा मुँह-हाथ धोकर अत्यन्त प्रसन्न हो युद्ध के लिए डट गये।

क्षिप्तं क्रुद्धेन तं वृक्षं प्रतिजग्राह वीर्यवान्।
सव्येन पाणिना भीमः प्रहसन्निव भारत ॥३३॥

जनमेजय! क्रुद्ध हुए राक्षस के द्वारा फेंके हुए उस वृक्ष को पराक्रमी भीमसेन ने बाएँ हाथ से हँसते हुए ही पकड़ लिया।

नाम विश्राव्य तु बकः समभिद्रुत्य पाण्डवम्।
भुजाभ्यां परिजग्राह भीमसेनं महाबलम् ॥३४॥

तब तो बकासुर ने अपना नाम सुनाकर महाबली पाण्डुनन्दन भीमसेन की ओर दौड़कर दोनों भुजाओं से उन्हें पकड़ लिया।

भीमसेनोऽपि तद् रक्षः परिरभ्य महाभुजः।
विस्फुरन्तं महाबाहुं विचकर्ष बलाद् बली ॥३५॥

महाबाहु बलवान् भीमसेन ने भी उस विशाल भुजाओंवाले राक्षस को दोनों भुजाओं से कसकर छाती से सटा लिया और बलपूर्वक उसे इधर-उधर खींचने लगे। उस समय बकासुर उनके बाहुपाश से छूटने के लिए छटपटा रहा था।

हीयमानं तु तद् रक्षः समीक्ष्य पुरुषादकम्।
निष्पिष्य भूमौ जानुभ्यां समाजघ्ने वृकोदरः ॥३६॥

उस नरभक्षी राक्षस को निर्बल होते देख भीमसेन उसे पृथिवी पर पटककर रगड़ने लगे और दोनों घुटनों से मारने लगे।

ततोऽस्य जानुना पृष्ठमवपीड्य बलादिव।
बाहुना परिजग्राह दक्षिणेन शिरोधराम् ॥३७॥
सव्येन च कटीदेशे गृह्य वाससि पाण्डवः।
तद् रक्षो द्विगुणं चक्रे रुवन्तं भैरवं रवम् ॥३८॥

तत्पश्चात् उन्होंने अपने एक घुटने से बलपूर्वक राक्षस की पीठ दबाकर दाहिने हाथ से उसकी गर्दन पकड़ ली तथा बाएँ हाथ से कमर का लंगोट पकड़कर उस राक्षस को दुहरा मोड़ दिया। उस समय वह भयानक चीत्कार कर रहा था।

ततोऽस्य रुधिरं वक्त्रात् प्रादुरासीद् विशाम्पते।
भज्यमानस्य भीमेन तस्य घोरस्य रक्षसः ॥३९

राजन्! भीमसेन के द्वारा जब उस भयानक राक्षस की कमर तोड़ी जा रही थी, उस समय उसके मुख से [बहुत-सा] रक्त गिरा।

ततः स भग्नपार्श्वाङ्गो नदित्वा भैरवं रवम्।
शैलराजप्रतीकाशो गतासुरभवद् बकः ॥४०॥

पसलियों की हड्डियों के टूट जाने पर पर्वत के समान विशालकाय बकासुर भयंकर चीत्कार करके निष्प्राण हो गया।

तेन शब्देन वित्रस्तो जनस्तस्याथ रक्षसः।
निष्पपात गृहाद् राजन् सहैव परिचारिभिः ॥४१॥
तान् भीतान् विगतज्ञानान् भीमः प्रहरतां वरः।
सान्त्वयामास बलवान् समये च न्यवेशयत् ॥४२॥
न हिंस्या मानुषा भूयो युष्माभिरिति कर्हिचित्।
हिंसतां हि वधः शीघ्रमेवमेव भवेदिति ॥४३

राजन्! उस चीत्कार से भयभीत हो उस राक्षस के परिवार के लोग अपने सेवकों के साथ घर से बाहर निकल आये। योद्धाओं में श्रेष्ठ बलशाली भीम ने उन्हें भय से अचेत देखकर सान्त्वना प्रदान की और उनसे यह शर्त करा ली कि 'भविष्य में तुम लोग मनुष्यों की हिंसा न करना। जो हिंसा करेंगे, उनका शीघ्र ही इसी प्रकार वध कर दिया जाएगा।'

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा तानि रक्षांसि भारत।
एवमस्त्विति तं प्राहुर्जगृहुः समयं च तम् ॥४४॥

हे भारत! भीम की बात सुनकर उन राक्षसों ने 'ऐसा ही होगा' कहकर वह शर्त स्वीकार कर ली।

ततः प्रभृति रक्षांसि तत्र सौम्यानि भारत।
नगरे प्रत्यदृश्यन्त नरैर्नगरवासिभिः ॥४५॥

भरतकुलभूषण! तब से नगर-निवासी मनुष्यों ने अपने नगर में राक्षसों को बड़े सौम्य स्वभाव से व्यवहार करते देखा।

ततो भीमस्तमादाय गतासुं पुरुषादकम्।
द्वारदेशे विनिक्षिप्य जगामानुपलक्षितः ॥४६॥

उधर भीमसेन ने उस राक्षस की लाश उठाकर नगर के दरवाजे पर गिरा दी और स्वयं दूसरों की दृष्टि से अपने को बचाते हुए चले गये।

दृष्ट्वा भीमबलोद्भूतं बकं विनिहतं तदा।
ज्ञातयोऽस्य भयोद्विग्नाः प्रतिजग्मुरितस्ततः ॥४७॥

भीमसेन के बल से बकासुर को पछाड़ा एवं मारा गया देख उस राक्षस के कुटुम्बीजन भय से व्याकुल हो इधर-उधर भाग गये।

ततः स भीमस्तं हत्वा गत्वा ब्राह्मणवेश्म तत्।
आचचक्षे यथावृत्तं राज्ञः सर्वमशेषतः ॥४८॥

उस राक्षस को मारने के पश्चात् भीमसेन ब्राह्मण के उसी घर में गये और वहाँ उन्होंने राजा युधिष्ठिर को सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक कह सुनाया।

ततो नरा विनिष्क्रान्ता नगरात् काल्यमेव तु।
ददृशुर्निहतं भूमौ राक्षसं रुधिरोक्षितम् ॥४९॥

तत्पश्चात् प्रातःकाल होने पर जब लोग नगर से बाहर निकले, तब उन्होंने देखा कि बकासुर खून से लथपथ हो पृथिवी पर पड़ा है।

एकचक्रां ततो गत्वा प्रवृत्तिं प्रददुः पुरे।
ततः सहस्रशो राजन् नरा नगरवासिनः ॥५०॥
तत्राजग्मुर्बकं द्रष्टुं सस्त्रीवृद्धकुमारकाः।
ततस्ते विस्मिताः सर्वे कर्म दृष्ट्वातिमानुषम् ॥५१॥

हे राजन्! उन लोगों ने एकचक्रा नगरी में जाकर नगरभर में यह समाचार फैला दिया, फिर सहस्रों नगर-निवासी मनुष्य स्त्री, बच्चों और बूढ़ों के साथ बकासुर को देखने के लिए वहाँ आये। उस समय वह अमानुषिक कृत्य देखकर सबको महान् आश्चर्य हुआ।

इति महाभारते आदिपर्वणि अष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

पाण्डवों का एक ब्राह्मण से विचित्र कथाएँ सुनना, पाण्डवों की पाञ्चाल यात्रा, मार्ग में अर्जुन द्वारा चित्ररथ गन्धर्व की पराजय और दोनों की मित्रता

जनमेजय उवाच

ते तथा पुरुषव्याघ्रा निहत्य बकराक्षसम् ।
अत ऊर्ध्वं ततो ब्रह्मन् किमकुर्वत पाण्डवाः ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—ब्रह्मन् ! पुरुषसिंह पाण्डवों ने उस प्रकार बकासुर का वध करने के पश्चात् कौन-सा कार्य किया ?

वैशम्पायन उवाच

तत्रैव न्यवसन् राजन् निहत्य बकराक्षसम् ।
अधीयानाः परं ब्रह्म ब्राह्मणस्य निवेशने ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! बकासुर का वध करने के पश्चात् पाण्डव लोग वेदों का स्वाध्याय करते हुए वहीं ब्राह्मण के घर में रहने लगे ।

ततः कतिपयाहस्य ब्राह्मणः संशितव्रतः ।
प्रतिश्रयार्थी तद् वेश्म ब्राह्मणस्य जगाम ह ॥३॥

तदनन्तर कुछ दिनों के पश्चात् कठोर नियमों का पालन करनेवाला एक ब्राह्मण ठहरने के लिए उस ब्राह्मण के घर पर आया ।

स सम्यक् पूजयित्वा तं विप्रं विप्रर्षभस्तदा ।
ददौ प्रतिश्रयं तस्मै सदा सर्वातिथिव्रतः ॥४॥

उस ब्राह्मण का सदा घर पर आये हुए सभी अतिथियों की सेवा करने का व्रत था। उसने आगन्तुक ब्राह्मण का भली-भाँति सत्कार करके उसे ठहरने के लिए स्थान दे दिया ।

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सह कुन्त्या नरर्षभाः ।
उपासांचक्रिरे विप्रं कथयन्तं कथाः शुभाः ॥५॥

वह ब्राह्मण बड़ी सुन्दर-सुन्दर एवं कल्याणमयी कथाएँ कह रहा था, [उन्हें सुनने के लिए] सभी नरश्रेष्ठ पाण्डव कुन्ती के साथ उसके पास जा बैठे ।

कथयामास देशांश्च तीर्थानि सरितस्तथा ।
राज्ञश्च विविधाश्चर्यान् पुराणि विविधानि च ॥६॥

उसने अनेक देशों, तीर्थों, नदियों, राजाओं, नाना प्रकार के आश्चर्यजनक स्थानों तथा नगरों का वर्णन किया ।

स तत्राकथयद् विप्रः कथान्ते जनमेजय ।
पाञ्चालेष्वद्भुताकारं याज्ञसेन्याः स्वयंवरम् ॥७॥

जनमेजय ! कथा के अन्त में उस ब्राह्मण ने यह भी बताया कि पाञ्चाल देश में यज्ञसेनकुमारी द्रौपदी का अद्भुत स्वयंवर होने जा रहा है।

एतत् श्रुत्वा तु कौन्तेया ब्राह्मणात् संशितव्रतात् ।
सर्वे चास्वस्थमनसो बभूवुस्ते महाबलाः ॥८॥

कठोर व्रत का पालन करनेवाले उस ब्राह्मण से यह वृत्तान्त सुनकर उन सब महाबली कुन्तीपुत्रों का मन विचलित हो गया ।

ततः कुन्ती सुतान् दृष्ट्वा सर्वांस्तद्गतचेतसः ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वचनं सत्यवादिनी ॥९॥

अपने सभी पुत्रों के मन को उस स्वयंवर की ओर आकृष्ट हुआ देख उस समय सत्यवादिनी कुन्ती ने युधिष्ठिर से कहा—

कुन्त्युवाच

चिररात्रोषिताः स्मेह ब्राह्मणस्य निवेशने ।
रममाणाः पुरे रम्ये लब्धभैक्षा महात्मनः ॥१०॥

कुन्ती बोली—पुत्र ! हम लोग यहाँ इन महात्मा ब्राह्मण के घर में बहुत दिनों तक सुखपूर्वक रहे हैं । इस रमणीय नगर में हम आनन्दपूर्वक घूमे-फिरे और यहाँ हमें भिक्षा भी पर्याप्त मिली है ।

यानीह रमणीयानि वनान्युपवनानि च ।
सर्वाणि तानि दृष्टानि पुनः पुनररिन्दम ॥११॥

शत्रुदमन ! यहाँ जो रमणीय वन और उपवन हैं, उन सबको भी हमने बार-बार देख लिया ।

पुनर्दृष्टुं हि तानीह प्रीणयन्ति न नस्तथा ।
भैक्षं च न तथा वीर लभ्यते कुरुनन्दन ॥१२॥

वीर ! यदि उन देखे हुए स्थानों को हम पुनः देखने जाएँ तो वे हमें पहले जैसी प्रसन्नता नहीं दे सकते । कुरुनन्दन ! अब हमें यहाँ भिक्षा भी पहले जैसी नहीं मिल रही है ।

ते वयं साधु पाञ्चालान् गच्छाम यदि मन्यसे ।
अपूर्वदर्शनं वीर रमणीयं भविष्यति ॥१३॥

यदि तुम्हारी इच्छा हो तो अब हम सुखपूर्वक पाञ्चाल देश में चलें । हे वीर ! उस देश को हमने पहले कभी नहीं देखा है, अतः वह अतीव रमणीय प्रतीत होगा ।

एकत्र चिरवासश्च क्षमो न च मतो मम ।
ते तत्र साधु गच्छामो यदि त्वं पुत्र मन्यसे ॥१४॥

वत्स ! एक स्थान पर बहुत समय तक रहना मुझे न उचित जान पड़ता है, न ही सम्भव, अतः यदि तुम ठीक समझो, तो हम लोग सुखपूर्वक वहाँ चलें ।

युधिष्ठिर उवाच

भवत्या यन्मतं कार्यं तदस्माकं परं हितम् ।
अनुजांस्तु न जानामि गच्छेयुर्नेति वा पुनः ॥१५॥

युधिष्ठिर बोले—माँ ! आप जिस कार्य को ठीक समझती हैं, वह हमारे लिए परम हितकर है, परन्तु अपने छोटे भाइयों के सम्बन्ध में मैं नहीं जानता कि वे जाने के लिए उद्यत हैं या नहीं ।

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्ती भीमसेनमर्जुनं यमजौ तथा ।
उवाच गमनं ते च तथेत्येवाब्रुवंस्तदा ॥१६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब कुन्ती ने भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेव से भी चलने के विषय में पूछा । उन सबने भी 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति दे दी ।

तत आमन्त्र्य तं विप्रं कुन्ती राजन् सुतैः सह ।
प्रतस्थे नगरीं रम्यां द्रुपदस्य महात्मनः ॥१७॥

हे राजन् ! तब कुन्ती ने उस ब्राह्मण से विदा लेकर अपने पुत्रों के साथ महात्मा द्रुपद की रमणीय नगरी की ओर जाने की तैयारी की ।

वसत्सु तेषु प्रच्छन्नं पाण्डवेषु महात्मसु ।
आजगामथ तान् द्रष्टुं व्यासः सत्यवतीसुतः ॥१८॥

हे जनमेजय ! महात्मा पाण्डव जब गुप्तरूप से वहाँ निवास कर रहे थे [और जाने की तैयारी में संलग्न थे] उसी समय सत्यवतीनन्दन व्यासजी उनसे मिलने के लिए वहाँ आये ।

अथ धर्मार्थविद् वाक्यमुक्त्वा स भगवानृषिः ।
विचित्राश्च कथास्तास्ताः पुनरेवेदमब्रवीत् ॥१९॥

उस समय महर्षि भगवान् व्यास ने उनसे धर्म और अर्थयुक्त बातें कहीं । फिर विचित्र-विचित्र कथाएँ सुनाकर वे पुनः उनसे इस प्रकार बोले—

पाञ्चालनगरे गत्वा निवसध्वं महाबलाः ।
सुखिनो द्रौपदीं प्राप्य भविष्यथ न संशयः ॥२०॥

हे महाबली वीरो ! अब तुम पाञ्चालनगर में जाकर रहो । द्रौपदी को पाकर तुम सब लोग सुखी होओगे, इसमें संशय नहीं है ।

एवमुक्त्वा महाभागः पाण्डवान् स पितामहः ।
पार्थानामन्त्र्य कुन्तीं च प्रातिष्ठत महातपाः ॥२१॥

महान् सौभाग्यशाली और महातपस्वी पितामह व्यासजी पाण्डवों से ऐसा कहकर, उन सबसे और कुन्ती से विदा लेकर वहाँ से चल दिये ।

गते भगवति व्यासे पाण्डवा हृष्टमानसाः ।
ते प्रतस्थुः पुरस्कृत्य मातरं पुरुषर्षभाः ॥२२॥

भगवान् व्यास के चले जाने पर पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव प्रसन्नचित्त हो अपनी माता को आगे करके वहाँ से पाञ्चाल देश की ओर चल दिये ।

ते त्वगच्छन्नहोरात्रात् तीर्थं सोमाश्रयायणम् ।
आसेदुः पुरुषव्याघ्रा गङ्गायां पाण्डुनन्दनाः ॥२३॥

एक दिन और एक रात चलकर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव गङ्गा के तट पर सोमाश्रयण नामक तीर्थ पर जा पहुँचे ।

उल्मुकं तु समुद्यम्य तेषामग्रे धनञ्जयः ।
प्रकाशार्थं ययौ तत्र रक्षार्थं च महारथः ॥२४॥

उस समय उनके आगे-आगे महारथी अर्जुन उजाला तथा रक्षा करने के लिए जलती हुई मशाल उठाये चल रहे थे ।

तत्र गङ्गाजले रम्ये विविक्ते क्रीडयन् स्त्रिया ।
ईर्ष्युर्गन्धर्वराजो वै जलक्रीडामुपागतः ॥२५॥

उस एकान्त और गङ्गा के रमणीय जल में गन्धर्वराज चित्ररथ अपनी स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहा था । वह ईर्ष्यालु जल-क्रीड़ा करने के लिए ही वहाँ आया था ।

शब्दं तेषां स शुश्राव नदीं समुपसर्पताम् ।
तेन शब्देन चाविष्टश्चुक्रोध बलवद्बली ॥२६॥

उसने गङ्गा की ओर बढ़ते हुए पाण्डवों के पैरों की पदचाप [की ध्वनि] सुनी। उस शब्द को सुनते ही वह बलवान् गन्धर्व क्रोध के आवेश में आकार अत्यन्त बौखला उठा।

स दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र सह मात्रा परन्तपान् ।
विस्फारयन् धनुर्घोरमिदं वचनमब्रवीत् ॥२७॥

परन्तप पाण्डवों को अपनी माता के साथ वहाँ देख वह अपने भयानक धनुष को टंकारता हुआ इस प्रकार बोला—

आरात् तिष्ठत मा मह्यं समीपमुपसर्पत ।
कस्मान्मां नाभिजानीत प्राप्तं भागीरथं जलम् ॥२८॥
अङ्गारपर्णं गन्धर्वं वित्त मां स्वबलाश्रयम् ।
अहं हि मानी चेर्ष्युश्च कुबेरस्य प्रियः सखा ॥२९॥

अरे, ओ मनुष्यो! दूर ही खड़े रहो। मेरे समीप मत आना। तुम्हें कैसे ज्ञात नहीं हुआ कि मैं गन्धर्व-राज अङ्गारपर्ण गङ्गा के जल में उतरा हुआ हूँ। तुम लोग मुझे अच्छी प्रकार जान लो। मैं अपने ही बल का भरोसा रखनेवाला स्वाभिमानी तथा ईर्ष्यालु व्यक्ति हूँ और कुबेर का प्रिय मित्र हूँ।

न कौणपाः शृङ्गिणो वा न देवा न च मानुषाः ।
इदं समुपसर्पन्ति तत् किं समनुसर्पथ ॥३०॥

मेरी उपस्थिति में यहाँ राक्षस, यक्ष, देवता अथवा मनुष्य कोई भी नहीं आने पाता, फिर तुम लोग कैसे आ रहे हो?

अर्जुन उवाच

समुद्रे हिमवत्पार्श्वे नद्यामस्यां च दुर्मते ।
रात्रावहनि सन्ध्यायां कस्य गुप्तः परिग्रहः ॥३१॥

अर्जुन बोले—दुर्मते! समुद्र, हिमालय की तराई और गङ्गा नदी के तट पर रात, दिन अथवा सन्ध्या के समय किसका अधिकार सुरक्षित है?

भुक्तो वाप्यथवाभुक्तो रात्रावहनि खेचर ।
न कालनियमो ह्यस्ति गङ्गां प्राप्य सरिद्वराम् ॥३२॥

आकाशचारी गन्धर्व! सरिताओं में श्रेष्ठ गङ्गा के तट पर आने के लिए यह नियम नहीं है कि यहाँ कोई खाकर आये अथवा बिना खाये, रात्रि में आये या दिन में। इसी प्रकार काल आदि का भी कोई नियम नहीं है।

वयं च शक्तिसम्पन्ना अकाले त्वामधृष्णुमः ।
अशक्ता हि रणे क्रूर युष्मानर्चन्ति मानवाः ॥३३॥

अरे ओ क्रूर! हम लोग तो शक्ति-सम्पन्न हैं। हम असमय में भी आकर तुम्हें कुचल सकते हैं। जो युद्ध करने में असमर्थ हैं वे दुर्बल मनुष्य ही तुम लोगों की पूजा करते हैं।

वैशम्पायन उवाच

अङ्गारपर्णस्तत् श्रुत्वा क्रुद्ध आनम्य कार्मुकम् ।
मुमोच बाणान् निशितानहीनाशीविषानिव ॥३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुन की वह बात सुनकर अङ्गारपर्ण क्रुद्ध हो गया और धनुप तानकर विषैले साँपों की भाँति तीखे बाण छोड़ने लगा।

अर्जुन उवाच

विभीषिका वै गन्धर्व नास्त्रज्ञेषु प्रयुज्यते ।
अस्त्रज्ञेषु प्रयुक्तेयं फेनवत् प्रविलीयते ॥३५॥

अर्जुन बोले—गन्धर्व! जो अस्त्रविद्या के वेत्ता हैं, उनपर तुम्हारी यह घुड़की नहीं चल सकती। अस्त्रविद्या के मर्मज्ञों पर फैलाई हुई तुम्हारी यह माया फेन [झाग] की भाँति विलीन हो जाएगी।

मानुषानति गन्धर्वान् सर्वान् गन्धर्व लक्षये ।
तस्मादस्त्रेण दिव्येन योत्स्येऽहं न तु मायया ॥३६॥

गन्धर्व! मैं जानता हूँ कि सम्पूर्ण गन्धर्व मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली होते हैं, अतः मैं तुम्हारे साथ माया से नहीं, दिव्यास्त्र से युद्ध करूँगा।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा पाण्डवः क्रुद्धो गन्धर्वाय मुमोच ह ।
प्रदीप्तमस्त्रमाग्नेयं ददाहास्य रथं तु तत् ॥३७॥
विरथं विप्लुतं तं तु स गन्धर्वं महाबलः ।
अस्त्रतेजःप्रमूढं च प्रपतन्तमवाङ्मुखम् ॥३८॥
शिरोरुहेषु जग्राह माल्यवत्सु धनंजयः ।
भ्रातॄन् प्रति चकर्षाथ सोऽस्त्रपातादचेतसम् ॥३९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कह-कर पाण्डुनन्दन अर्जुन ने कुपित हो गन्धर्वराज पर प्रज्वलित आग्नेयास्त्र चला दिया। उस अस्त्र ने

गन्धर्व के रथ को जलाकर भस्म कर दिया। वह रथ-विहीन गन्धर्व व्याकुल हो उठा तथा अस्त्र के तेज से मूढ़ होकर नीचे मुंह किये गिरने लगा। तब महा-बली अर्जुन ने उसके फूलों की मालाओं से सुशोभित केश पकड़ लिये और उसे घसीटकर अपने भाइयों के पास ले आये। दिव्य अस्त्र के आघात से वह गन्धर्व अचेत हो गया था।

युधिष्ठिरं तस्य भार्या प्रपेदे शरणार्थिनी।
नाम्ना कुम्भीनसी नाम पतित्राणमभीप्सती ॥४०॥

उस गन्धर्व की पत्नी का नाम कुम्भीनसी था। उसने अपने पति के जीवन की रक्षा के लिए महाराज युधिष्ठिर की शरण ली।

गन्धर्व्युवाच

त्रायस्व मां महाभाग पतिं चेमं विमुञ्च मे।
गन्धर्वी शरणं प्राप्ता नाम्ना कुम्भीनसी प्रभो ॥४१॥

गन्धर्वी बोली—महाभाग! मेरी रक्षा कीजिए तथा मेरे इन पतिदेव को आप छोड़ दीजिए। प्रभो! मैं गन्धर्वपत्नी कुंभीनसी आपकी शरण में आयी हूँ।

युधिष्ठिर उवाच

युद्धे जितं यशोहीनं स्त्रीनाथमपराक्रमम्।
को निहन्याद् रिपुं तात मुञ्चेमं रिपुसूदन ॥४२॥

युधिष्ठिर बोले—तात! शत्रुसूदन अर्जुन! यह गन्धर्व युद्ध में हारकर अपना यश खो चुका। अब स्त्री इसकी रक्षिका बनकर आयी है। यह स्वयं पराक्रम नहीं कर सकता। ऐसे दीन-हीन शत्रु को कौन मारता है? इसे जीवित छोड़ दो!

अर्जुन उवाच

जीवितं प्रतिपद्यस्व गच्छ गन्धर्व मा शुचः।
प्रदिशत्यभयं तेऽद्य कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥४३॥

अर्जुन बोले—गन्धर्व! जीवन धारण करो। जाओ, अब शोक न करो। इस समय कुरुराज युधिष्ठिर तुम्हें अभय-दान दे रहे हैं।

गन्धर्व उवाच

जितोऽहं पूर्वकं नाम मुञ्चाम्यङ्गारपर्णताम्।
न च श्लाघे बलेनाङ्ग न नाम्ना जनसंसदि ॥४४॥

गन्धर्व ने कहा—हे अर्जुन! मैं परास्त हो गया, अतः अपने पहले नाम अङ्गारपर्ण[1] को त्याग देता हूँ। अब मैं जनसमुदाय में अपने बल की श्लाघा नहीं करूँगा और न इस नाम से अपना परिचय ही दूंगा।

अस्त्राग्निना विचित्रोऽयं दग्धो मे रथ उत्तमः।
सोऽहं चित्ररथो भूत्वा नाम्ना दग्धरथोऽभवम् ॥४५॥

आपके दिव्यास्त्र की अग्नि से मेरा यह विचित्र और उत्तम रथ दग्ध हो गया है। पहले मैं विचित्र रथ के कारण 'चित्ररथ' कहलाता था, परन्तु अब मेरा नाम 'दग्धरथ' हो गया।

साध्विमं लब्धवाँल्लाभं योऽहं दिव्यास्त्रधारिणम्।
गान्धर्व्या माययेच्छामि संयोजयितुमर्जुनम् ॥४६॥

[आज को पराजय से] मुझे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि मैंने दिव्यास्त्रधारी अर्जुन को मित्र-रूप में प्राप्त किया है और अब मैं इन्हें गन्धर्वों की माया से संयुक्त करना चाहता हूँ।

सम्भृता चैव विद्येयं तपसेह मया पुरा।
निवेदयिष्ये तामद्य प्राणदाय महात्मने ॥४७॥

मैंने पूर्वकाल में तपस्या द्वारा जो विद्या प्राप्त की है, उसे मैं आज अपने प्राणदाता महान् आत्मा मित्र को अर्पित करूँगा।

चाक्षुषी नाम विद्येयं यां सोमाय ददौ मनुः।
ददौ स विश्वावसवे मह्यं विश्वावसुर्ददौ ॥४८॥

यह चाक्षुषी नामक विद्या है, जिसे मनु ने सोम को दिया, सोम ने विश्वावसु को दिया और विश्वा-वसु ने मुझे प्रदान किया है।

सेयं कापुरुषं प्राप्ता गुरुदत्ता प्रणश्यति।
आगमोऽस्य मया प्रोक्तो वीर्यं प्रतिनिबोध मे ॥४९॥

यह गुरु-प्रदत्त विद्या यदि किसी कायर को मिल जाए तो नष्ट हो जाती है। [इस प्रकार] मैंने इसकी उपदेश-परम्परा का वर्णन किया है। अब इसका बल भी सुन लीजिए।

यच्चक्षुषा द्रष्टुमिच्छेत् त्रिषु लोकेषु किंचन।
तत् पश्येद् यादृशं चेच्छेत्तादृशं द्रष्टुमर्हति ॥५०॥

तीनों लोकों में जो कोई भी वस्तु है, उनमें से

---

१. गन्धर्वराज का पर्ण=वाहन प्रज्वलित अङ्गार की भाँति, दूसरों के छूने के अयोग्य था, अतः यह गन्धर्व अङ्गारपर्ण के नाम से विख्यात था।

जिस वस्तु को आँख से देखने की इच्छा हो, उसे इस विद्या के प्रभाव से कोई भी देख सकता है, और जिस रूप में देखना चाहे, उसी रूप में देख सकता है।

गन्धर्वजानामश्वानामहं पुरुषसत्तम ।
भ्रातृभ्यस्तव तुभ्यं च पृथग्दाता शतं शतम् ॥५१॥

पुरुषशिरोमणे ! [इस विद्या के अतिरिक्त] मैं आपको और आपके भाइयों को अलग-अलग गन्धर्व-लोक के सौ-सौ उत्तम अश्व भेंट करता हूँ।

अर्जुन उवाच

यदि प्रीतेन मे दत्तं संशये जीवितस्य वा ।
विद्या धनं श्रुतं वापि न तद् गन्धर्व रोचये ॥५२॥

अर्जुन बोले—गन्धर्व ! यदि तुमने प्रसन्न होकर अथवा प्राण-संकट से बचाने के कारण मुझे विद्या, धन अथवा शास्त्र प्रदान किया है, तो मैं इस प्रकार का दान लेना पसन्द नहीं करता।

गन्धर्व उवाच

संयोगो वै प्रीतिकरो महत्सु प्रतिदृश्यते ।
जीवितस्य प्रदानेन प्रीतो विद्यां ददामि ते ॥५३॥

गन्धर्व ने कहा—महापुरुषों के साथ जो समागम होता है, वह प्रीति बढ़ानेवाला होता है—ऐसा देखने में आता है। आपने मुझे जीवन-दान दिया है, इससे प्रसन्न होकर मैं आपको चाक्षुषी विद्या भेंट करता हूँ।

त्वत्तोऽप्यहं ग्रहीष्यामि अस्त्रमाग्नेयमुत्तमम् ।
तथैव सख्यं बीभत्सो चिराय भरतर्षभ ॥५४॥

साथ ही आपसे भी मैं उत्तम आग्नेयास्त्र ग्रहण करूँगा। भरतकुलभूषण अर्जुन ! ऐसा करने से ही हम दोनों में दीर्घकाल तक मित्रता बनी रहेगी।

अर्जुन उवाच

त्वत्तोऽस्त्रेण वृणोम्यश्वान् संयोगः शाश्वतोऽस्तु नौ ।
कारणं ब्रूहि गन्धर्व किं तद् येन स्म धर्षिताः ॥५५॥

अर्जुन बोला—ठीक है, मैं यह अस्त्र-विद्या देकर तुमसे घोड़े ले लूंगा। हम दोनों की मैत्री सदा बनी रहे। मित्र गन्धर्वराज ! तुमने हम लोगों पर आक्रमण किया है, इसका क्या कारण है ? इस पर भी प्रकाश डालो।

गन्धर्व उवाच

अनग्नयोऽनाहुतयो न च विप्रपुरस्कृताः ।
यूयं ततो धर्षिताः स्थ मया वै पाण्डुनन्दनाः ॥५६॥

गन्धर्व ने कहा—हे पाण्डुकुमारो ! आप लोग [विवाहित न होने के कारण] त्रिविध अग्नियों की सेवा नहीं करते। प्रतिदिन अग्नि को आहुति भी नहीं देते। आपके आगे कोई ब्राह्मण पुरोहित भी नहीं चल रहा था, इन्हीं सब कारणों से मैंने आपपर आक्रमण किया था।

स्त्रीसकाशे च कौरव्य न पुमान् क्षन्तुमर्हति ।
धर्षणामात्मनः पश्यन् बाहुद्रविणमाश्रितः ॥५७॥

हे कुरुनन्दन ! [एक और भी कारण है] अपने बाहुबल का भरोसा रखनेवाला कोई भी पुरुष जब स्त्री के समक्ष अपना तिरस्कार होता देखता है, तब उसे सहन नहीं कर सकता।

नक्तं च बलमस्माकं भूय एवाभिवर्धते ।
यतस्ततो मां कौन्तेय सादरं मन्युराविशत् ॥५८॥

कुन्तीनन्दन ! इसके सिवा एक बात यह भी है कि रात्रि के समय हम लोगों का बल बहुत बढ़ जाता है। इसी से स्त्री के साथ रहने के कारण मुझमें क्रोध का आवेश हो गया था।

ब्रह्मचर्यं परो धर्मः स चापि नियतस्त्वयि ।
यस्मात्तस्मादहं पार्थ रणेऽस्मि विजितस्त्वया ॥५९॥

[तुम्हारी विजय क्यों हुई, उसका कारण भी सुनो] ब्रह्मचर्य सबसे बड़ा धर्म है और वह तुममें निश्चितरूप से विद्यमान है। कुन्तीनन्दन ! इसीलिए युद्ध में मैं तुमसे हार गया हूँ।

यस्तु स्यात् क्षत्रियः कश्चित् कामवृत्तः परन्तप ।
नक्तं च युधि युध्येत न स जीवेत् कथंचन ॥६०॥

शत्रु-संतापक वीर ! यदि कोई दूसरा कामासक्त क्षत्रिय रात में मुझसे युद्ध करने आता तो फिर किसी प्रकार जीवित नहीं बच सकता था।

वेदे षडङ्गे निरताः शुचयः सत्यवादिनः ।
धर्मात्मानः कृतात्मानः स्युर्नृपाणां पुरोहिताः ॥६१॥

[तुम्हारा कोई पुरोहित नहीं है अतः किसी पुरोहित का वरण करो] जो छहों अङ्गोंसहित वेद के स्वाध्याय में तत्पर, विश्वस्त (ईमानदार), सत्यवादी,

धर्मात्मा और मन को वश में रखनेवाले हों, ऐसे ही ब्राह्मण राजाओं के पुरोहित होने चाहिएँ।

लाभं लब्धुमलब्धं वा लब्धं वा परिरक्षितुम्।
पुरोहितं प्रकुर्वीत राजा गुणसमन्वितम् ॥६२॥

राजा को किसी अप्राप्त वस्तु या धन को प्राप्त करने अथवा उपलब्ध धनादि की रक्षा करने के लिए गुणवान् ब्राह्मण को पुरोहित बनाना चाहिए।

पुरोहितमते तिष्ठेद् य इच्छेद् भूतिमात्मनः।
प्राप्तुं वसुमतीं सर्वां सर्वशः सागराम्बराम् ॥६३॥

जो समुद्र से घिरी हुई समस्त पृथिवी पर अपना अधिकार चाहे, अथवा अपने लिए ऐश्वर्य पाना चाहे, उसे पुरोहित की आज्ञा के अधीन रहना चाहिए।

अर्जुन उवाच

अस्माकमनुरूपो वै यः स्याद् गन्धर्व वेदवित्।
पुरोहितं तमाचक्ष्व सर्वं हि विदितं तव ॥६४॥

अर्जुन बोला—गन्धर्वराज ! हमारे अनुरूप जो कोई वेदवेत्ता पुरोहित हों, आप उनका नाम बताइए, क्योंकि आपको सब-कुछ ज्ञात है।

गन्धर्व उवाच

यवीयान् देवलस्यैष वने भ्राता तपस्यति।
धौम्य उत्कोचके तीर्थे तं वृणुध्वं यदीच्छथ ॥६५॥

गन्धर्व ने कहा—कुन्तीनन्दन ! इसी वन के उत्कोचक तीर्थ में महर्षि देवल के छोटे भाई धौम्य मुनि तपस्या करते हैं। यदि आप सब भ्राता चाहें, तो उन्हीं को पुरोहितपद पर वरण करें।

वैशम्पायन उवाच

ततोऽर्जुनोऽस्त्रमाग्नेयं प्रददौ तद् यथाविधि।
गन्धर्वाय तदा प्रीतो वचनं चेदमब्रवीत् ॥६६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब अर्जुन ने अत्यन्त प्रसन्न होकर गन्धर्वराज को विधिपूर्वक आग्नेयास्त्र प्रदान किया और यह बात कही—

त्वय्येव तावत्तिष्ठन्तु हया गन्धर्वसत्तम।
कार्यकाले ग्रहीष्यामः स्वस्ति तेऽस्त्विति चाब्रवीत् ।६७
तेऽन्योन्यमभिसम्पूज्य गन्धर्वः पाण्डवाश्च ह।
रम्याद् भागीरथीतीराद् यथाकामं प्रतस्थिरे ॥६८॥

"गन्धर्वप्रवर ! तुमने जो घोड़े दिये हैं, वे अभी तुम्हारे पास ही रहें। आवश्यकता के समय हम तुमसे ले लेंगे। तुम्हारा कल्याण हो।" अर्जुन की यह बात पूरी होने पर गन्धर्वराज और पाण्डवों ने एक-दूसरे का बहुत सत्कार किया। फिर पाण्डवगण गङ्गा के रमणीय तट से अपनी इच्छा के अनुसार चल दिये।

तत उत्कोचकं तीर्थं गत्वा धौम्याश्रमं तु ते।
तं वव्रुः पाण्डवा धौम्यं पौरोहित्याय भारत ॥६९॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् उत्कोचक तीर्थ में धौम्य के आश्रम पर जाकर पाण्डवों ने महामुनि धौम्य को पौरोहित्य-कर्म के लिए वरण किया।

तान् धौम्यः प्रतिजग्राह सर्ववेदविदां वरः।
वन्येन फलमूलेन पौरोहित्येन चैव ह ॥७०॥

सम्पूर्ण वेदों के विद्वानों में श्रेष्ठ महर्षि धौम्य ने जंगली फल-मूल अर्पण करके तथा पौरोहित्य के लिए स्वीकृति देकर उन सबका सत्कार किया।

ते समाशंसिरे लब्धां श्रियं राज्यं च पाण्डवाः।
ब्राह्मणं तं पुरस्कृत्य पाञ्चालीं च स्वयंवरे ॥७१॥

पाण्डवों ने उस ब्राह्मण देवता को पुरोहित बनाकर यह भली-भाँति विश्वास कर लिया कि 'अब हमें अपना राज्य और धन मिले हुए के ही समान हैं।' साथ ही उन्हें यह भी आशा हो गई कि 'स्वयंवर में द्रौपदी भी हमें मिल जाएगी।'

पुरोहितेन तेनाथ गुरुणा संगतस्तदा।
नाथवन्तमिवात्मनं मेनिरे भरतर्षभाः ॥७२॥

उन गुरु एवं पुरोहित के साथ हो जाने से उस समय भरतवंशियों में श्रेष्ठ पाण्डवों ने अपने आपको सनाथ-सा समझा।

स हि वेदार्थतत्त्वज्ञस्तेषां गुरुरुदारधीः।
तेन धर्मविदा पार्था याज्या धर्मविदः कृताः ॥७३॥

उदारबुद्धि धौम्य वेदार्थ के तत्त्वज्ञ थे, वे पाण्डवों के गुरु हुए। उन धर्मज्ञ मुनि ने कुन्तीकुमारों को अपना यजमान बना लिया।

वीरांस्तु स हितान्मेने प्राप्तराज्यान्स्वधर्मतः।
बुद्धिवीर्यबलोत्साहैर्युक्तान् देवानिव द्विजः ॥७४॥

धौम्य को भी यह विश्वास हो गया कि बुद्धि, वीर्य, बल और उत्साह से युक्त ये देवोपम वीर संगठित होकर स्वधर्म के अनुसार अपना राज्य अवश्य प्राप्त कर लेंगे।

कृतस्वस्त्ययनास्तेन ततस्ते मनुजाधिपाः ।
मेनिरे सहिता गन्तुं पाञ्चाल्यास्तं स्वयंवरम् ॥७५॥

धौम्य ने पाण्डवों के लिए स्वस्तिवाचन किया। तत्पश्चात् उन नरश्रेष्ठ पाण्डवों ने एक साथ द्रौपदी के स्वयंवर में जाने का निश्चय किया ।

इति महाभारते आदिपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥२९॥

त्रिंशोऽध्यायः

पाण्डवों का द्रुपद की राजधानी में जाकर कुम्हार के यहां ठहरना, स्वयंवर-सभा का वर्णन, धृष्टद्युम्न की घोषणा और अर्जुन का लक्ष्यवेध करके द्रौपदी को प्राप्त करना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते नरशार्दूला भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
प्रययुर्द्रौपदीं द्रष्टुं तं च देशं महोत्सवम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब वे नरश्रेष्ठ पाँचों पाण्डव भाई राजकुमारी द्रौपदी, उसके पाञ्चाल देश और वहाँ के महान् उत्सव को देखने के लिए वहाँ से चल दिये ।

पश्यन्तो रमणीयानि वनानि च सरांसि च ।
तत्र तत्र वसन्तश्च शनैर्जग्मुर्महारथाः ॥२॥

महारथी पाण्डव मार्ग में अनेकानेक रमणीय वनों और सरोवरों को देखते तथा उन-उन स्थानों में डेरा डालते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ते गये ।

स्वाध्यायवन्तः शुचयो मधुराः प्रियवादिनः ।
आनुपूर्व्येणसंप्राप्ताः पाञ्चालान् पाण्डुनन्दनाः ॥३॥

नित्य स्वाध्याय में तत्पर रहनेवाले, पवित्र, मधुर प्रकृतिवाले तथा प्रियवादी पाण्डुकुमार इस प्रकार चलकर क्रमशः पाञ्चाल देश में जा पहुँचे ।

ते तु दृष्ट्वा पुरं तच्च स्कन्धावारं च पाण्डवाः ।
कुम्भकारस्य शालायां निवासं चक्रिरे तदा ॥४॥

द्रुपद के उस नगर और उसके परकोटे [चहारदीवारी] को देखकर पाण्डवों ने उस समय एक कुम्हार के घर में अपने रहने की व्यवस्था की ।

तत्र भैक्ष्यं समाजह्रुर्ब्राह्मीं वृत्तिमाश्रिताः ।
तान्सम्प्राप्तांस्तथा वीरान्जज्ञिरे न नराः क्वचित् ॥५

वहाँ ब्राह्मणवृत्ति का आश्रय ले वे भिक्षा माँगकर लाते [और उसी से निर्वाह करते] थे । इस प्रकार वहाँ पहुँचे हुए पाण्डव वीरों को कहीं कोई भी मनुष्य नहीं पहचान सका ।

यज्ञसेनस्य कामस्तु पाण्डवाय किरीटिने ।
कृष्णां दद्यामिति सदा न चैतद् विवृणोति सः ॥६॥

राजा द्रुपद के मन में सदा यही इच्छा रहती थी कि मैं पाण्डुनन्दन अर्जुन के साथ द्रौपदी का विवाह करूँ, परन्तु वे अपने इस मनोरथ को किसी पर प्रकट नहीं करते थे ।

सोऽन्वेषमाणः कौन्तेयं पाञ्चाल्यो जनमेजय ।
दृढं धनुरनानम्यं कारयामास भारत ॥७॥

भरतवंशी जनमेजय ! पाञ्चाल नरेश ने कुन्तीपुत्र अर्जुन को खोज निकालने की इच्छा से एक ऐसा दृढ़ धनुष बनवाया, जिसे दूसरा कोई झुका ही न सके ।

यन्त्रं वैहायसं चापि कारयामास कृत्रिमम् ।
तेन यन्त्रेण समितं राजा लक्ष्यं चकार सः ॥८॥

राजा द्रुपद ने एक कृत्रिम आकाश-यन्त्र भी बनाया, [जो तीव्रवेग से आकाश में घूमता रहता था] । उस यन्त्र के छिद्र के ऊपर उन्होंने उसी के बराबर का लक्ष्य तैयार कराकर रखवा दिया । [फिर उन्होंने यह घोषणा करा दी—]

द्रुपद उवाच

इदं सज्यं धनुः कृत्वा सज्जैरेभिश्च सायकैः ।
अतीत्य लक्ष्यं यो वेद्धा स लब्धा मत्सुतामिति ॥९॥

द्रुपद ने घोषणा की—जो वीर इस धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर इन प्रस्तुत बाणों द्वारा ही यन्त्र के छेद के भीतर से इसे लाँघकर लक्ष्यवेध करेगा, वही मेरी पुत्री को प्राप्त कर सकेगा ।

वैशम्पायन उवाच

इति स द्रुपदो राजा स्वयंवरमघोषयत् ।
तत् श्रुत्वा पार्थिवाः सर्वे समीयुस्तत्र भारत ॥१०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार राजा द्रुपद ने जब स्वयंवर की घोषणा करा दी, तब उसे सुनकर सब राजा उनकी राजधानी में एकत्र होने लगे।

ऋषयश्च महात्मानः स्वयंवरदिदृक्षवः।
दुर्योधनपुरोगाश्च सकर्णाः कुरवो नृप ॥११॥

बहुत-से महात्मा ऋषि-मुनि भी स्वयंवर देखने के लिए आये। राजन् ! दुर्योधन आदि कुरुवंशी भी कर्ण के साथ वहाँ आये।

प्रागुत्तरेण नगराद् भूमिभागे समे शुभे।
समाजवाटः शुशुभे भवनैः सर्वतो वृतः ॥१२॥

नगर से ईशानकोण में सुन्दर एवं समतल भूमि पर स्वयंवर सभा का रङ्गमण्डप सजाया गया था, जो सब ओर से सुन्दर भवनों द्वारा घिरा होने के कारण बड़ी शोभा पा रहा था।

तत्र नानाप्रकारेषु विमानेषु स्वलंकृताः।
स्पर्धमानास्तदान्योन्यं निषेदुः सर्वपार्थिवाः ॥१३॥

उन्हीं सतमहले मकानों या विमानों में, जो अनेक प्रकार के बने हुए थे, सभी नृप परस्पर एक-दूसरे से होड़ रखते हुए सुन्दर श्रृङ्गार करके ठहरे थे।

ब्राह्मणैस्ते च सहिताः पाण्डवाः समुपाविशन्।
ऋद्धिं पाञ्चालराजस्य पश्यन्तस्तामनुत्तमाम् ॥१४॥

वे पाण्डव भी पाञ्चालनरेश की उस सर्वोत्तम समृद्धि का अवलोकन करते हुए ब्राह्मणों के साथ उन्हीं की पंक्ति में बैठे थे।

वर्तमाने समाजे तु द्रौपदी भरतर्षभ।
अवतीर्णा ततो रङ्गं मालामादाय काञ्चनीम् ॥१५॥

भरतश्रेष्ठ ! सब राजा-महाराजाओं के एकत्र हो जाने पर द्रौपदी स्वर्ण-माला [सोने की बनी हुई माला] को हाथ में लेकर उस रंगभूमि में पधारी।

रङ्गमध्ये गतस्तत्र धृष्टद्युम्नो विशाम्पते।
वाक्यमुच्चैर्जगादेदं श्लक्ष्णमर्थवदुत्तमम् ॥१६॥

हे महाराज ! उस समय द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न ने रङ्गमण्डप के बीच में खड़े होकर उच्च स्वर से यह अर्थयुक्त उत्तम एवं मधुर वचन कहा—

इदं धनुर्लक्ष्यमिमे च बाणाः
शृण्वन्तु मे भूपतयः समेताः।
छिद्रेण यन्त्रस्य समर्पयध्वं
शरैः शितैर्व्योमचरैर्दशार्धैः ॥१७॥

"यहाँ एकत्र नरेशवृन्द ! आप लोग [ध्यान-पूर्वक] मेरी बात सुनें। यह धनुष है, ये बाण हैं और यह लक्ष्य (निशाना) है। आप लोग आकाश में छोड़े हुए पाँच पैने बाणों द्वारा उस यन्त्र के छेद के भीतर से लक्ष्य को वेध कर गिरा दें।

एतन्महत्कर्म करोति यो वै
कुलेन रूपेण बलेन युक्तः।
तस्याद्य भार्या भगिनी ममेयं
कृष्णा भवित्री न मृषा ब्रवीमि ॥१८॥

"मैं सत्य कहता हूँ, झूठ नहीं बोलता—जो उत्तम कुल, सुन्दर रूप और श्रेष्ठ बल से सम्पन्न वीर यह महान् कर्म कर दिखाएगा, आज यह मेरी बहिन कृष्णा उसी की धर्मपत्नी हो जाएगी।

ततस्तु ते राजगणाः क्रमेण
कृष्णानिमित्तं कृतविक्रमाश्च।
तत्कार्मुकं संहननोपपन्नं
सज्यं न शेकुर्मनसापि कर्तुम् ॥१९॥
ते विक्रमन्तः स्फुरता दृढेन
विक्षिप्यमाना धनुषा नरेन्द्राः।
विचेष्टमाना धरणीतलस्था
विनिःश्वसन्तः शमयाम्बभूवुः ॥२०॥

इस घोषणा के पश्चात् वे भूपालगण द्रौपदी को प्राप्त करने के लिए क्रमशः अपना पराक्रम प्रकट करने लगे, परन्तु वे उस सुदृढ़ धनुष पर हाथ से कौन कहे, मन से भी प्रत्यञ्चा नहीं चढ़ा सके। उसपर जोर लगाते समय वे सभी नरेन्द्र उस सुदृढ़ एवं प्रकाशमान धनुष के झटके से दूर फेंक दिये जाते और लड़खड़ाकर पृथिवी पर जा गिरते थे। फिर तो लम्बी साँसें खींचते हुए वे शान्त होकर बैठ जाते थे।

एवं तेषु निवृत्तेषु क्षत्रियेषु समन्ततः।
चेदीनामधिपो वीरो बलवानन्तकोपमः ॥२१॥
दमघोषसुतो धीरः शिशुपालो महामतिः।
धनुरादायमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ॥२२॥

इस प्रकार जब वे सभी क्षत्रिय सब ओर से हट गये, तब यमराज के समान बलवान्, धीर, वीर,

चेदिराज दमघोषपुत्र महाबुद्धिमान् शिशुपाल धनुष उठाने के लिए आगे बढ़ा, परन्तु उसपर हाथ लगाते ही वह घुटनों के बल पृथिवी पर गिर पड़ा।

ततः शल्यो महावीरो मद्रराजो महाबलः।
तदप्यारोप्यमाणस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ॥२३॥

तत्पश्चात् महावीर एवं महाबली मद्रराज शल्य आगे आये, परन्तु उन्होंने भी उस धनुष को चढ़ाते समय धरती पर घुटने टेक दिये।

यदा निवृत्ता राजानो धनुषः सज्यकर्मणः।
अथोदतिष्ठद् विप्राणां मध्याज्जिष्णुरुदारधीः ॥२४॥

जब सब राजाओं ने उस धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने के कार्य से मुँह मोड़ लिया, तब उदारधी (उदारबुद्धि) अर्जुन ब्राह्मण-मण्डली के बीच से उठकर खड़े हुए।

उदक्रोशन् विप्रमुख्या विधुन्वन्तोऽजिनानि च।
दृष्ट्वा सम्प्रस्थितं पार्थमिन्द्रकेतुसमप्रभम् ॥२५॥

इन्द्र की ध्वजा के समान तेजस्वी तथा ऊँचे अर्जुन को उठकर धनुष की ओर जाते देख बड़े-बड़े ब्राह्मण अपने-अपने मृगचर्म हिलाते हुए जोर-जोर से कोलाहल करने लगे।

केचिदासन् विमनसः केचिदासन् मुदान्विताः।
आहुः परस्परं केचिन्निपुणा बुद्धिजीविनः ॥२६॥

कुछ ब्राह्मण उदास हो गये और कुछ हर्ष के मारे फूल उठे तथा कुछ चतुर एवं बुद्धिजीवी ब्राह्मण आपस में इस प्रकार कहने लगे—

यत्कर्णशल्यप्रमुखैः क्षत्रियैर्लोकविश्रुतैः।
नानतं बलवद्भिर्हि धनुर्वेदपरायणैः ॥२७॥
तत्कथं त्वकृतास्त्रेण प्राणतो दुर्बलीयसा।
बटुमात्रेण शक्यं हि सज्यं कर्तुं धनुर्द्विजाः ॥२८॥

"ब्राह्मणो! कर्ण और शल्य आदि बलवान्, धनुर्वेदपरायण तथा लोकविख्यात क्षत्रिय जिसे झुका तक न सके, उसी धनुष पर अस्त्र-ज्ञान से शून्य और शारीरिक बल की दृष्टि से अत्यन्त दुर्बल-सा यह निरीह ब्राह्मण-बालक प्रत्यञ्चा कैसे चढ़ा सकेगा ?

यद्येष दर्पाद्धर्षाद् वाप्यथ ब्राह्मणचापलात्।
प्रस्थितो धनुरायन्तं वार्यतां साधु मा गमत् ॥२९॥

"यदि यह अभिमान, हर्ष अथवा ब्राह्मणसुलभ चञ्चलता के कारण धनुष पर डोरी चढ़ाने के लिए आगे बढ़ा है, तो इसे रोक देना चाहिए, अच्छा तो यही होगा कि यह जाए ही नहीं।"

केचिदाहुर्युवा श्रीमान् नागराजकरोपमः।
पीनस्कन्धोरुबाहुश्च धैर्येण हिमवानिव ॥३०॥

कुछ ब्राह्मण बोले—"यह सुन्दर युवक नागराज ऐरावत के शुण्ड-दण्ड के समान हृष्ट-पुष्ट दिखाई देता है। इसके कन्धे सुपुष्ट और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं। यह धैर्य में हिमालय के समान जान पड़ता है।

सिंहखेलगतिः श्रीमान् मत्तनागेन्द्रविक्रमः।
सम्भाव्यमस्मिन् कर्मेदमुत्साहाच्चानुमीयते ॥३१॥

"इसकी चाल सिंह के समान मस्तानी है। यह शोभायुक्त तरुण मदमस्त हाथी के समान पराक्रमी प्रतीत होता है। इस वीर के लिए यह कार्य करना सम्भव है। इसका उत्साह देखकर भी ऐसा ही अनुमान होता है।"

एवं तेषां विलपतां विप्राणां विविधा गिरः।
अर्जुनो धनुषोऽभ्याशे तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥३२॥

इस प्रकार जब ब्राह्मण लोग भाँति-भाँति की बातें कर रहे थे, उसी समय महावीर अर्जुन धनुष के पास जाकर पर्वत के समान अविचल भाव से खड़े हो गये। फिर—

यत् पार्थिवै रुक्मसुनीथवक्रैः
राधेय - दुर्योधन - शल्यशाल्वैः।
तदा धनुर्वेदपरैर्नृसिंहैः
कृतं न सज्यं महतोऽपि यत्नात् ॥३३॥
तदर्जुनो वीर्यवतां सदर्प-
स्तदैन्द्रिरिन्द्रावरजप्रभावः ।
सज्यं च चक्रे निमिषान्तरेण
शरश्च जग्राह दशार्धसंख्यान् ॥३४॥

रुक्म, सुनीथ, वक्र, कर्ण, दुर्योधन, शल्य तथा शाल्व आदि धनुर्वेद के पारङ्गत विद्वान् पुरुषसिंह राजा लोग महान् प्रयत्न करके भी जिस धनुष पर डोरी न चढ़ा सके थे, उसी धनुष पर विष्णु के समान प्रभावशाली एवं पराक्रमी, वीरों में श्रेष्ठता का अभिमान रखनेवाले, इन्द्रकुमार अर्जुन ने पलक

मारते-मारते डोरी चढ़ा दी। तत्पश्चात् उन्होंने वे पाँच बाण भी हाथ में ले लिये।

विव्याध लक्ष्यं निपपात तच्च
छिद्रेण भूमौ सहसातिविद्धम्।
ततोऽन्तरिक्षे च बभूव नादः
समाजमध्ये च महान् निनादः ॥३५॥

और उन्हें चलाकर बात-की-बात में [लक्ष्य को] वेध दिया। वह बिंधा हुआ लक्ष्य अत्यन्त छिन्न-भिन्न हो यन्त्र के छेद से सहसा पृथिवी पर गिर पड़ा। उस समय आकाश में बड़ा भारी धमाका हुआ और सभा-मण्डप में उससे भी महान् आनन्द-भरा कोलाहल छा गया।

तस्मिंस्तु शब्दे महति प्रवृद्धे
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः।
आवासमेवोपजगाम शीघ्रं
सार्धं यमाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्याम् ॥३६॥

उस समय जब महान् कोलाहल बढ़ने लगा, तब धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर पुरुषोत्तम नकुल और सहदेव को साथ लेकर डेरे पर चले गये।

विद्धं तु लक्ष्यं प्रसमीक्ष्य कृष्णा
पार्थं च शक्रप्रतिमं निरीक्ष्य।
आदाय शुक्लं वरमाल्यदाम
जगाम कुन्तीसुतमुत्स्मयन्ती ॥३७॥

लक्ष्य को बिंधकर धरती पर गिरा देख इन्द्र-तुल्य पराक्रमी अर्जुन पर दृष्टि डालकर हाथों में सुन्दर श्वेत फूलों की जयमाला लिये द्रौपदी मन्द-मन्द मुस्कराती हुई कुन्तीपुत्र के समीप गई।

इति महाभारते आदिपर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

भीम और अर्जुन का द्रुपद को मारने के लिए उद्यत हुए राजाओं का सामना करना, उनके द्वारा कर्ण और शल्य की पराजय तथा द्रौपदी-सहित डेरे पर आना

वैशम्पायन उवाच

तस्मै दित्सति कन्यां तु ब्राह्मणाय तदा नृपे।
कोप आसीन्महीपानामालोक्यान्योन्यमन्तिकात् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा द्रुपद उस ब्राह्मण को कन्या देना चाहते हैं, यह जानकर उस समय वे राजा लोग बहुत क्रुद्ध हुए और वे एक-दूसरे को देखकर तथा समीप आकर इस प्रकार कहने लगे—

अस्मानयमतिक्रम्य तृणीकृत्य च संगतान्।
दातुमिच्छति विप्राय द्रौपदीं योषितां वराम् ॥२॥

"[अहो! देखो तो सही] यह राजा द्रुपद यहाँ एकत्र हुए हम सब लोगों को तिनके के समान तुच्छ समझकर और हमारा तिरस्कार करके युवतियों में श्रेष्ठ अपनी कन्या का विवाह एक ब्राह्मण के साथ करना चाहता है!

अवरोप्येह वृक्षं तु फलकाले निपात्यते।
निहन्मैनं दुरात्मानं योऽयमस्मान् न मन्यते ॥३॥

"यह वृक्ष लगाकर अब फल लगने के समय उसे काटकर गिरा रहा है, अतः हम लोग इस दुरात्मा को मार डालें, क्योंकि यह हमें कुछ नहीं समझ रहा है।"

इत्युक्त्वा राजशार्दूला हृष्टाः परिघबाहवः।
द्रुपदं तु जिघांसन्तः सायुधाः समुपाद्रवन् ॥४॥

ऐसा कहकर परिघ-जैसी मोटी भुजाओंवाले वे श्रेष्ठ भूपाल हर्ष और उत्साह में भरकर हाथों में अस्त्र-शस्त्र लिये द्रुपद को मारने की इच्छा से उनकी ओर वेग से दौड़े।

वेगेनापततस्तांस्तु प्रभिन्नानिव वारणान्।
पाण्डुपुत्रौ महेष्वासौ प्रतियातावरिन्दमौ ॥५॥

मद की धारा बहानेवाले मदोन्मत्त गजराजों की भाँति उन नृपों को वेग से आते देखकर शत्रुदमन महाधनुर्धर पाण्डुनन्दन भीम और अर्जुन उनका सामना करने के लिए आ गये।

ततः समुत्पेतुरुदायुधास्ते
महीक्षितो बद्धतलांगुलित्राः।
जिघांसमानाः कुरुराजपुत्रा-
वमर्षयन्तोऽर्जुनभीमसेनौ ॥६॥

तब हाथों में गोह के चमड़े के दस्ताने पहने और आयुधों को ऊपर उठाये अमर्ष में भरे हुए वे सभी नरेश राजकुमार भीम और अर्जुन को मारने के लिए उनपर टूट पड़े।

ततस्तु भीमोऽद्भुतभीमकर्मा
महाबलो वज्रसमानसारः।
उत्पाट्य दोर्भ्यां द्रुममेकवीरो
निष्पत्रयामास यथा गजेन्द्रः ॥७॥

तब तो वज्र के समान शक्तिशाली तथा अद्भुत एवं भयानक कर्म करनेवाले अद्वितीय वीर महाबली भीमसेन ने गजराज की भाँति अपने दोनों हाथों से एक वृक्ष को उखाड़ लिया एवं उसके पत्ते झाड़ दिये।

तं वृक्षमादाय रिपुप्रमाथी
दण्डीव दण्डं पितृराज उग्रम्।
तस्थौ समीपे पुरुषर्षभस्य
पार्थस्य पार्थः पृथुदीर्घबाहुः ॥८॥

फिर मोटी और विशाल भुजाओंवाले शत्रुनाशक कुन्तीपुत्र भीमसेन उसी वृक्ष को हाथ में लेकर भयंकर दण्ड उठाये हुए दण्डधारी यमराज की भाँति पुरुषोत्तम अर्जुन के समीप खड़े हो गये।

तत् प्रेक्ष्य कर्मातिमनुष्यबुद्धि-
र्जिष्णुः स हि भ्रातुरचिन्त्यकर्मा।
विसिष्मिये चापि भयं विहाय
तस्थौ धनुर्गृह्य महेन्द्रकर्मा ॥९॥

असाधारण बुद्धिवाले तथा देवराज इन्द्र के समान महापराक्रमी, अचिन्त्यकर्मा अर्जुन अपने भाई भीमसेन के उस अद्भुत कार्य को देखकर चकित हो उठे और भय छोड़कर धनुष हाथ में लिये हुए युद्ध के लिए डट गये।

अजिनानि विधुन्वन्तः करकांश्च द्विजर्षभाः।
ऊचुस्ते भीर्न कर्तव्या वयं योत्स्यामहे परान् ॥१०॥

उस समय अपने मृगचर्म और कमण्डलुओं को हिलाते और उछालते हुए वे श्रेष्ठ ब्राह्मण अर्जुन से कहने लगे—"तुम डरना मत, हम सब लोग तुम्हारी ओर से शत्रुओं से युद्ध करेंगे।"

ततः कर्णमुखान् दृष्ट्वा क्षत्रियान् युद्धदुर्मदान्।
सम्पेतुरभीतौ तौ गजौ प्रतिगजानिव ॥११॥

तब कर्ण आदि रणोन्मत्त क्षत्रियों को आते देख वे दोनों भाई निर्भय हो उनपर उसी प्रकार टूट पड़े, जैसे दो मतवाले हाथी अपने विपक्षी हाथियों की ओर बढ़े जा रहे हों।

ततः कर्णो महातेजा जिष्णुं प्रति ययौ रणे।
भीमसेनं ययौ शल्यो मद्राणामीश्वरो बली ॥१२॥

उस समय महातेजस्वी कर्ण युद्ध के लिए अर्जुन की ओर बढ़ा और महाबली मद्रराज शल्य भीम से जा भिड़े।

ततोऽर्जुनः प्रत्यविध्यदापतन्तं शितैः शरैः।
कर्णं वैकर्तनं श्रीमान् विकृष्य बलवद् धनुः ॥१३॥

तब तेजस्वी अर्जुन ने अपने धनुष को जोर से खींचकर अपनी ओर वेग से आते हुए सूर्यपुत्र कर्ण को कई बाण मारे।

तेषां शराणां वेगेन शितानां तिग्मतेजसाम्।
विमुह्यमानो राधेयो यत्नात् तमनुधावति ॥१४॥

उन दुःसह तेजवाले तीखे बाणों के वेगपूर्ण आघात से राधानन्दन कर्ण को मूर्च्छा आने लगी। वह बड़ी कठिनाई से अर्जुन की ओर बढ़ा।

तावुभावप्यनिर्देश्यौ लाघवाज्जयतां वरौ।
अयुध्येतां सुसंरब्धावन्योन्यविजिगीषिणौ ॥१५॥

विजयी वीरों में श्रेष्ठ वे दोनों योद्धा हाथों की फुर्ती दिखाने में बेजोड़ थे। उनमें कौन बड़ा है और कौन छोटा—यह बताना असम्भव था। दोनों ही एक-दूसरे को जीतने की इच्छा रखकर बड़े क्रोध से लड़ रहे थे।

ततोऽर्जुनस्य भुजयोर्वीर्यमप्रतिमं भुवि।
ज्ञात्वा वैकर्तनः कर्णो हृष्टोऽब्रवीदिदं वचः ॥१६॥

तदनन्तर अर्जुन के बाहुबल की इस पृथिवी पर कहीं समानता नहीं है, यह जानकर सूर्यपुत्र कर्ण ने हर्षित होकर यह वचन कहा—

कर्ण उवाच

तुष्यामि ते विप्रमुख्य भुजवीर्यस्य संयुगे।
अविषादस्य चैवास्य शस्त्रास्त्रविजयस्य च ॥१७॥

कर्ण बोला—विप्रवर! युद्ध में आपके बाहुबल से मैं अति सन्तुष्ट हूँ। आपमें थकावट अथवा विषाद का कोई चिह्न दिखाई नहीं देता और आपने सभी

अस्त्र-शस्त्रों को जीतकर मानो अपने वश में कर लिया है।

किं त्वं साक्षाद् धनुर्वेदो रामो वा विप्रसत्तम।
अथ साक्षाद्धरिहयः साक्षाद्वा विष्णुरच्युतः ॥१८॥

विप्रशिरोमणे ! आप मूर्तिमान् धनुर्वेद हैं या परशुराम ? अथवा आप स्वयं इन्द्र हैं या अपनी महिमा से कभी च्युत न होनेवाले विष्णु हैं ?

न हि मामाहवे क्रुद्धमन्यः साक्षाच्छचीपतेः।
पुमान् योधयितुं शक्तः पाण्डवाद्वा किरीटिनः ॥१९॥

क्योंकि युद्ध में मेरे कुपित होने पर साक्षात् शचीपति इन्द्र अथवा किरीटधारी पाण्डुनन्दन अर्जुन के अतिरिक्त दूसरा कोई मेरा सामना नहीं कर सकता।

अर्जुन उवाच

नास्मि कर्ण धनुर्वेदो नास्मि रामः प्रतापवान्।
ब्राह्मणोऽस्मि युधां श्रेष्ठः सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥२०॥

अर्जुन ने कहा—कर्ण ! न तो मैं धनुर्वेद हूँ और न ही प्रतापी परशुराम। मैं तो सम्पूर्ण शस्त्रधारियों में उत्तम और योद्धाओं में श्रेष्ठ एक ब्राह्मण हूँ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राधेयो युद्धात् कर्णो न्यवर्तत।
ब्राह्मं तेजस्तदाजय्यं मन्यमानो महारथः ॥२१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुन का यह कथन सुनकर महारथी कर्ण ब्रह्मतेज को अजेय मानता हुआ उस समय युद्ध छोड़कर हट गया।

अपरस्मिन् वनोद्देशे वीरौ शल्यवृकोदरौ।
अन्योन्यमाह्वयन्तौ तु मत्ताविव महागजौ ॥२२॥

इसी समय दूसरे स्थान को अपना युद्धक्षेत्र बनाकर वीर शल्य और भीमसेन एक-दूसरे को ललकारते हुए दो मतवाले गजराजों की भाँति युद्ध कर रहे थे।

मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव निघ्नन्तावितरेतरम्।
प्रकर्षणाकर्षणयोरभ्यकर्ष विकर्षणैः ॥२३॥

वे घूंसों और घुटनों से एक-दूसरे को मारने लगे। दोनों एक-दूसरे को दूर तक ठेल ले जाते, नीचे गिराने का प्रयत्न करते, कभी अपनी ओर खींचते और कभी अगल-बगल से पैंतरा देकर गिराने की चेष्टा करते थे।

ततश्चटचटाशब्दः सुघोरो ह्यभवत् तयोः।
पाषाणसम्पातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ॥२४॥

उस समय घूंसों की मार से उन दोनों के शरीरों पर अत्यन्त भयंकर 'चट-चट' शब्द हो रहा था। वे परस्पर इस प्रकार प्रहार कर रहे थे, मानो पत्थर टकरा रहे हों।

ततो भीमः समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां शल्यमाहवे।
अपातयत् कुरुश्रेष्ठो ब्राह्मणा जहसुस्तदा ॥२५॥

तत्पश्चात् कुरुश्रेष्ठ भीमसेन ने दोनों हाथों से शल्य को ऊपर उठाकर युद्धभूमि में दे पटका। यह देख ब्राह्मण लोग हँसने लगे।

तत्राश्चर्यं भीमसेनश्चकार पुरुषर्षभः।
यच्छल्यं पातितं भूमौ नावधीद् बलिनं बली ॥२६॥

कुरुश्रेष्ठ ! बलवान् भीमसेन ने एक आश्चर्य की बात यह की कि महाबली शल्य को पृथिवी पर पटक कर भी मार नहीं डाला।

पातिते भीमसेनेन शल्ये कर्णे च शङ्किते।
शङ्किताः सर्वराजानः परिवव्रुर्वृकोदरम् ॥२७॥

भीमसेन द्वारा शल्य को पछाड़ दिये जाने और अर्जुन से कर्ण के डर जाने पर सभी राजा [युद्ध का विचार छोड़] शंकित हो भीमसेन को चारों ओर से घेरकर खड़े हो गये।

ऊचुश्च सहितास्तत्र साध्विमौ ब्राह्मणर्षभौ।
विज्ञायेतां क्वजन्मानौ क्वनिवासौ तथैव च ॥२८॥

और एक साथ ही बोल उठे—"अहो ! ये दोनों श्रेष्ठ ब्राह्मण धन्य हैं। पता तो लगाओ, इनकी जन्म-भूमि कहाँ है तथा ये रहनेवाले कहाँ के हैं ?

को हि राधासुतं कर्णं शक्तो योधयितुं रणे।
अन्यत्र रामाद् द्रोणाद्वा पाण्डवाद्वा किरीटिनः ॥२९॥

"परशुराम, द्रोणाचार्य अथवा पाण्डुनन्दन अर्जुन के सिवा दूसरा ऐसा कौन है, जो युद्ध में राधानन्दन कर्ण का सामना कर सके ?

तथैव मद्राधिपतिं शल्यं बलवतां वरम्।
बलदेवादृते वीरात् पाण्डवाद्वा वृकोदरात् ॥३०॥
वीराद् दुर्योधनाद् वान्यः शक्तः पातयितुं रणे।
क्रियतामवहारोऽस्माद् युद्धाद् ब्राह्मणसंवृतात् ॥३१॥

"बलवानों में श्रेष्ठ मद्रराज शल्य को भी वीरवर बलदेव, पाण्डुनन्दन भीमसेन अथवा वीर दुर्योधन को छोड़कर दूसरा कौन रणभूमि में गिरा सकता है ? अतः ब्राह्मणों से घिरे हुए इस युद्ध-क्षेत्र से हम लोगों को हट जाना चाहिए।"

तत्कर्म भीमस्य समीक्ष्य कृष्णः
कुन्तीसुतौ तौ परिशङ्कमानः।
निवारयामास महीपतींस्तान्
धर्मेण लब्धेत्यनुनीय सर्वान् ॥३२॥

जनमेजय! उधर भीमसेन का वह अद्भुत कार्य देख श्रीकृष्ण ने यह सोचते हुए कि ये दोनों भाई कुन्ती-कुमार भीमसेन और अर्जुन ही हैं, उन सब राजाओं को यह समझाकर कि "इन्होंने धर्मपूर्वक द्रौपदी को प्राप्त किया है" अनुनयपूर्वक युद्ध से रोक दिया।

एवं ते विनिवृत्तास्तु युद्धाद् युद्धविशारदाः।
यथावासं ययुः सर्वे विस्मिता राजसत्तमाः ॥३३॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण के समझाने से वे सभी युद्ध-कुशल श्रेष्ठ भूपाल युद्ध से निवृत्त हो गये और विस्मित होकर अपने-अपने डेरों को चले गये।

तेषां माता बहुविधं विनाशं पर्यचिन्तयत्।
अनागच्छत्सु पुत्रेषु भैक्ष्यकालेऽभिगच्छति ॥३४॥
धार्तराष्ट्रैर्हता न स्युर्विज्ञाय कुरुपुङ्गवाः।
मायान्वितैर्वा रक्षोभिः सुघोरैर्दृढवैरिभिः ॥३५॥

इधर भिक्षा से लौटने का समय बीत जाने पर भी जब पुत्र नहीं लौटे, तब उनकी माता कुन्तीदेवी स्नेहवश अनेक प्रकार की चिन्ताओं में डूबकर उनके विनाश की आशंका करने लगीं—'कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि धृतराष्ट्र के पुत्रों ने कुरुश्रेष्ठ पाण्डवों को पहचानकर उनकी हत्या कर डाली हो ? अथवा दृढ़तापूर्वक वैरभाव को मन में रखनेवाले महाभयंकर मायावी राक्षसों ने तो मेरे पुत्रों को नहीं मार डाला?'[1]

इत्येवं चिन्तयामास सुतस्नेहावृता पृथा।
ब्राह्मणैः प्राविशत् ततो जिष्णुर्भार्गववेश्म तत् ॥३६॥

इस प्रकार पुत्र-प्रेम में पगी कुन्तीदेवी जब चिंता-मग्न हो रही थी, उसी समय ब्राह्मणमण्डली से घिरे हुए अर्जुन [और भीम] ने उस कुम्हार के घर में प्रवेश किया।

वृष्णिप्रवीरस्तु कुरुप्रवीरा-
नाशंसमानः सहरौहिणेयः।
जगाम तां भार्गवकर्मशालां
यत्रासते ते पुरुषप्रवीराः ॥३७॥

इधर वृष्णिवंशियों में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण रोहिणी-नन्दन बलरामजी के साथ कुरुकुल के प्रमुख वीर पाण्डवों को पहिचानकर कुम्हार के घर में, जहाँ वे नरश्रेष्ठ निवास करते थे, मिलने के लिए गये।

ततोऽब्रवीद् वासुदेवोऽभिगम्य
कुन्तीसुतं धर्मभृतां वरिष्ठम्।
कृष्णोऽहमस्मीति निपीड्य पादौ
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ॥३८॥

वहाँ जाकर वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण ने धर्मात्माओं में श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर से "मैं कृष्ण हूँ" ऐसा

---

१. जो लोग द्रौपदी के पाँच पति मानते हैं, वे इस स्थल को ध्यानपूर्वक पढ़ें। यहाँ माता चिन्तित हो रही है कि मेरे पुत्र अभी तक क्यों नहीं लौटे ? उन्हें पहचान तो नहीं लिया गया है ?

इसके अतिरिक्त एकचक्रा नगरी में ब्राह्मण से द्रौपदी के स्वयंवर की बात सुनकर जब पाँचों पाण्डव उद्विग्न-से हो गये थे, तब माता ने स्वयं ही वहाँ जाने का प्रस्ताव रखा था। मार्ग में व्यासजी ने भी पांचाल-नगर में जाने की सम्मति दी थी। स्वयं माता को यह पता है कि मेरे पुत्र स्वयंवर में गये हैं। स्वयंवर की शर्त पूर्ण होते ही युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव माता को सूचना देने के लिए तुरन्त घर पर आ गये हैं। [द्र० तस्मिस्तु शब्दे ३०।३६] भीम और अर्जुन द्रौपदी को लेकर अनेक ब्राह्मणों के साथ घर पर आये हैं। इन सब प्रसङ्गों के ध्यानपूर्वक अवलोकन से यह स्पष्ट है कि न तो पाण्डवों ने यह कहा था कि हम भिक्षा लाये हैं और न कुन्ती ने यह कहा कि पाँचों बाँट लो। द्रौपदी को पाँचों की पत्नी बनानेवाला सारा प्रकरण महाभारत में पीछे से मिलाया गया है। द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की पत्नी नहीं थी। यद्यपि स्वयंवर की शर्त अर्जुन ने पूर्ण की थी, परन्तु द्रौपदी का विवाह युधिष्ठिर के साथ हुआ था। वह युधिष्ठिर और केवल युधिष्ठिर की पत्नी थी।

कहकर अजमीढवंशी राजा युधिष्ठिर के दोनों चरणों का स्पर्श किया।

तथैव तस्याप्यनु रौहिणेय-
स्तौ चापि हृष्टाः कुरवोऽभ्यनन्दन्।
पितृष्वसुश्चापि यदुप्रवीरा-
वगृह्णतां भारतमुख्य पादौ ॥३९॥

उन्हीं के साथ उसी प्रकार [अपना नाम बताकर] बलरामजी ने भी उनके चरण छूए। पाण्डव भी उन दोनों को देखकर अति प्रसन्न हुए। जनमेजय! फिर उन यदुवीरों ने अपनी बूआ कुन्ती के चरणों का भी स्पर्श किया।

अजातशत्रुश्च कुरुप्रवीरः
पप्रच्छ कृष्णं कुशलं विलोक्य।
कथं वयं वासुदेव त्वयेह
गूढा वसन्तो विदिताश्च सर्वे ॥४०॥

कुरुकुल के श्रेष्ठ वीर अजातशत्रु युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को देखकर कुशल-समाचार पूछा और कहा—"वसुदेवनन्दन! हम तो यहाँ छिपकर रहते हैं, फिर आपने हम सब लोगों को कैसे पहचान लिया?"

तमब्रवीद् वासुदेवः प्रहस्य
गूढोऽप्यग्निर्ज्ञायत एव राजन्।
तं विक्रमं पाण्डवेयानतीत्य
कोऽन्यः कर्ता विद्यते मानुषेषु ॥४१॥

तब श्रीकृष्ण ने हँसकर उत्तर दिया—"राजन्! आग कितनी ही छिपी क्यों न हो, वह पहचान में आ ही जाती है। भला, पाण्डवों को छोड़कर मनुष्यों में ऐसा कौन है, जो वैसा अद्भुत कर्म कर दिखाता?

दिष्ट्या सर्वे पावकाद् विप्रमुक्ता
यूयं घोरात् पाण्डवाः शत्रुसाहाः।
दिष्ट्या पापो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः
सहामात्यो न सकामोऽभविष्यत् ॥४२॥

बड़े सौभाग्य की बात है कि शत्रुओं का सामना करने की शक्ति रखनेवाले आप सभी पाण्डव उस भयंकर अग्नि-काण्ड से जीवित बच गये। धृतराष्ट्र-पुत्र पापी दुर्योधन अपने मन्त्रियोंसहित इस षड्यन्त्र में सफल न हो सका, यह भी सौभाग्य की बात है।

इति महाभारते आदिपर्वणि एकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

धृष्टद्युम्न का गुप्तरूप से पाण्डवों का हाल जानना, द्रुपद द्वारा उनके शील की परीक्षा और युधिष्ठिर के साथ द्रौपदी का विवाह

वैशम्पायन उवाच

धृष्टद्युम्नस्तु पाञ्चाल्यः पृष्ठतः कुरुनन्दनौ।
अन्वगच्छत् तदा यान्तौ भार्गवस्य निवेशने ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब कुरुनन्दन भीमसेन और अर्जुन कुम्हार के घर जा रहे थे, उसी समय पाञ्चालकुमार धृष्टद्युम्न गुप्तरूप से उनके पीछे हो लिये।

सोऽज्ञायमानः पुरुषानवधाय समन्ततः।
स्वयमारान्निलीनोऽभूद् भार्गवस्य निवेशने ॥२॥

[वहाँ पहुँचकर] उन्होंने चारों ओर अपने सेवकों को बिठा दिया और स्वयं भी अज्ञातरूप से कुम्हार के घर के पास ही छिपे रहे।

सायं च भीमस्तु रिपुप्रमाथी
जिष्णुर्यमौ चापि महानुभावौ।
भैक्ष्यं चरित्वा तु युधिष्ठिराय
निवेदयाञ्चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥३॥

सायंकाल होने पर शत्रुओं का मानमर्दन करनेवाले भीमसेन, अर्जुन और महानुभाव नकुल-सहदेव ने भिक्षा लाकर युधिष्ठिर को निवेदन की। इन सबका अन्तःकरण उदार था।

ततस्तु कुन्ती द्रुपदात्मजां ता-
मुवाच काले वचनं वदान्या।
त्वमप्रमादाय कुरुष्व भद्रे
बलिं च विप्राय च देहि भिक्षाम् ॥४॥

उस समय उदार-हृदया कुन्ती माँ ने द्रौपदी से कहा—"भद्रे! तुम भोजन का प्रथम भाग लेकर उससे बलिवैश्वदेव यज्ञ करो तथा ब्राह्मणों को भिक्षा दो।

ये चान्नमिच्छन्ति ददस्व तेभ्यः
परिश्रिता ये परितो मनुष्याः ।
यतश्च शेषं प्रविभज्य शीघ्र-
मर्धं चतुर्धा मम चात्मनश्च ॥५॥

"तथा अपने आस-पास जो दूसरे मनुष्य आश्रित-भाव से रहते और भोजन चाहते हैं, उन्हें भी अन्न परोसो। फिर जो शेष बचे, उसका शीघ्र ही इस प्रकार विभाग करो—अन्न का आधा भाग एक के लिए रखो, पुनः शेष के छह भाग करके चार भाइयों के लिए चार भाग पृथक्-पृथक् रख दो, तत्पश्चात् मेरे और अपने लिए भी एक-एक भाग अलग-अलग परोस दो।

अर्धं च भीमाय च देहि भद्रे
य एष नागर्षभतुल्यरूपः ।
गौरो युवा संहननोपपन्न
एष हि वीरो बहुभुक् सदैव ॥६॥

"कल्याणि! ये जो गजराज के समान शरीर-वाले, हृष्ट-पुष्ट, गोरे युवक बैठे हैं, इनका नाम भीम है, इन्हें अन्न का आधा भाग दे दो, क्योंकि यह वीर सदा से ही बहुत खानेवाले हैं।"

सा हृष्टरूपेव तु राजपुत्री
तस्या वचः साधु विशङ्कमाना ।
यथावदुक्तं प्रचकार साध्वी
ते चापि सर्वे बुभुजुस्तदन्नम् ॥७॥

सास की आज्ञा-पालन में ही अपना कल्याण मानती हुई साध्वी राजकुमारी द्रौपदी ने अति प्रसन्न चित्त से कुन्ती ने जैसा कहा, ठीक वैसा ही किया। उन सबने भी उस अन्न को ग्रहण किया।

ते तत्र शूराः कथयाम्बभूवुः
कथा विचित्राः पृतनाधिकाराः ।
अस्त्राणि दिव्यानि रथांश्च नागान्
खड्गान् गदाश्चापि परश्वधांश्च ॥८॥

फिर वे शूरवीर पाण्डव सेनापतियों के योग्य अद्भुत कथाएँ कहने लगे। उन्होंने नाना प्रकार के दिव्यास्त्रों, रथों, हाथियों, तलवारों, गदाओं और फरसों के विषय में भी वार्तालाप किया।

धृष्टद्युम्नो राजपुत्रस्तु सर्वं
वृत्तं तेषां कथितं चैव रात्रौ ।
सर्वं राज्ञे द्रुपदायाखिलेन
निवेदयिष्यंस्त्वरितो जगाम ॥९॥

तब राजकुमार धृष्टद्युम्न रात में पाण्डवों का इतिहास तथा उनकी कही हुई सभी बातें राजा द्रुपद को पूर्णरूप से सुनाने के लिए बड़ी उतावली के साथ राजभवन में गये।

पाञ्चालराजस्तु विषण्णरूप-
स्तान् पाण्डवानप्रतिविन्दमानः ।
धृष्टद्युम्नं पर्यपृच्छन्महात्मा
क्व सा गता केन नीता च कृष्णा ॥१०॥

पाञ्चालराज द्रुपद पाण्डवों का पता न पाने के कारण अत्यन्त दुःखी थे। धृष्टद्युम्न के लौटने पर महात्मा द्रुपद ने उससे पूछा—"पुत्र! मेरी पुत्री कृष्णा कहाँ गई? उसे कौन ले गया?"

ततस्तथोक्तः परिहृष्टरूपः
पित्रे शशंसाथ स राजपुत्रः ।
धृष्टद्युम्नः सोमकानां प्रबर्हो
वृत्तं यथा येन हृता च कृष्णा ॥११॥

राजा द्रुपद के ऐसा कहने पर सोमकशिरोमणि राजकुमार धृष्टद्युम्न अत्यन्त हर्ष में भरकर, वहाँ जो वृत्तान्त हुआ था और जो कृष्णा को ले गया था, वह सब समाचार सुनाने लगे।

धृष्टद्युम्न उवाच

निःसंशयं क्षत्रियपुङ्गवास्ते
यथा हि युद्धं कथयन्ति राजन् ।
आशा हि नो व्यक्तमियं समृद्धा
मुक्तान् हि पार्थाञ्छृणुमोऽग्निदाहात् ॥१२॥

धृष्टद्युम्न बोले—जिस प्रकार वे युद्ध का वर्णन करते थे, उससे यह मान लेने में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि वे लोग क्षत्रियशिरोमणि हैं। हमने सुना है कि कुन्तीकुमार लाक्षागृह की अग्नि में जलने से बच गये थे, अतः हमारे मन में जो पाण्डवों से सम्बन्ध करने की अभिलाषा थी, निश्चय ही वह सफल हुई जान पड़ती है।

यथा हि लक्ष्यं निहतं धनुश्च
सज्यं कृतं तेन तथा प्रसह्य।
यथा हि भाषन्ति परस्परं ते
छन्ना ध्रुवं ते प्रचरन्ति पार्थाः ॥१३॥

जिस प्रकार उन्होंने धनुष पर बलपूर्वक प्रत्यञ्चा चढ़ाई, जिस प्रकार दुर्भेद्य लक्ष्य को मार गिराया तथा जिस प्रकार वे सभी भाई परस्पर वार्तालाप करते थे, उससे यह निश्चय हो जाता है कि कुन्ती-पुत्र ही ब्राह्मण-वेश में छिपे हुए विचर रहे हैं।

वैशम्पायन उवाच

ततः स राजा द्रुपदः प्रहृष्टः
पुरोहितं प्रेषयामास तेषाम्।
विद्याम युष्मानिति भाषमाणो
महात्मानः पाण्डुसुतास्तु कच्चित् ॥१४

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस समाचार से राजा द्रुपद को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उसी समय उनके पास अपने पुरोहित को भेजते हुए कहा—"आप उन लोगों से कहना कि मैं आप लोगों का परिचय जानना चाहता हूँ। क्या आप लोग महात्मा पाण्डु के पुत्र हैं?"

गृहीतवाक्यो नृपतेः पुरोधा
गत्वा प्रशंसामभिधाय तेषाम्।
वाक्यं समग्रं नृपतेर्यथावत्
उवाच चानुक्रमविक्रमेण ॥१५॥

राजा का अनुरोध मानकर पुरोहितजी गये तथा उन सबकी प्रशंसा करके राजा द्रुपद के वचनों को ठीक-ठीक एक के बाद एक करके क्रमशः कहने लगे—

विज्ञातुमिच्छत्यवनीश्वरो वः
पाञ्चालराजो वरदो वरार्हाः।
लक्ष्यस्य वेद्धारमिमं हि दृष्ट्वा
हर्षस्य नान्तं प्रतिपद्यते सः ॥१६॥

"वरदान पाने के योग्य वीरपुरुषो! वर देने में समर्थ पाञ्चालदेश के राजा द्रुपद आप लोगों का परिचय जानना चाहते हैं। इस वीर पुरुष को लक्ष्य-वेध करते देखकर उनके [द्रुपद] हर्ष की सीमा नहीं रह गई है।

आख्यात च जातिकुलानुपूर्वीं
पदं शिरस्सु द्विषतां कुरुध्वम्।
प्रह्लादयध्वं हृदयं ममेदं
पाञ्चालराजस्य च सानुगस्य ॥१७॥

"आप लोग अपने वर्ण और कुल आदि का यथार्थरूप से वर्णन करें, शत्रुओं के मस्तक पर पैर रखें तथा मेरे और अनुचरोंसहित पाञ्चालराज के हृदय को आनन्द प्रदान करें।

पाण्डुर्हि राजा द्रुपदस्य राज्ञः
प्रियः सखा चात्मसमो बभूव।
तस्यैष कामो दुहिता ममेयं
स्नुषां प्रदास्यामि हि कौरवाय ॥१८॥

"महाराज पाण्डु राजा द्रुपद के आत्मानुरूप प्रिय मित्र थे, अतः उनकी यह अभिलाषा थी कि मैं अपनी इस पुत्री का विवाह पाण्डुकुमार से करूँ। इसे राजा पाण्डु को पुत्रवधू के रूप में समर्पित करूँ।

कृतं हि तत् स्यात् सुकृतं ममेदं
यशश्च पुण्यं च हितं तदेतत् ॥१९॥

"उनका कहना है कि यदि मेरा यह मनोरथ पूरा हो जाए, तो मैं समझूँगा कि यह मेरे शुभकर्मों का फल प्राप्त हुआ है। यही मेरे लिए यश, पुण्य और हित की बात होगी।"

युधिष्ठिर उवाच

पाञ्चालराजेन सुता निसृष्टा
स्वधर्मदृष्टेन यथा न कामात्।
प्रविष्टशुल्का द्रुपदेन राज्ञा
सा तेन वीरेण तथानुवृत्ता ॥२०॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन्! पाञ्चालराज द्रुपद ने यह कन्या अपनी इच्छा से नहीं दी है, उन्होंने अपने धर्म के अनुसार लक्ष्य-वेध की शर्त रखकर अपनी पुत्री देने का निश्चय किया था। उस वीर पुरुष ने उसी शर्त को पूर्ण करके यह कन्या प्राप्त की है।

न तत्र वर्णेषु कृता विवक्षा
न चापि शीले न कुले न गोत्रे।
कृतेन सज्येन हि कार्मुकेण
विद्धेन लक्ष्येण हि सा विसृष्टा ॥२१॥

राजा ने वहाँ वर्ण, शील, कुल तथा गोत्र के विषय में कोई अभिप्राय व्यक्त नहीं किया था। धनुष पर डोरी चढ़ाकर लक्ष्यवेध कर देने पर ही कन्या-दान की घोषणा की थी।

कामश्च योऽसौ द्रुपदस्य राज्ञः
स चापि सम्पत्स्यति पार्थिवस्य।
सम्प्राप्यरूपां हि नरेन्द्रकन्या-
मिमामहं ब्राह्मण साधु मन्ये ॥२२॥

ब्राह्मण! राजा द्रुपद की जो पहले की अभिलाषा है, वह भी पूर्ण होगी। इस राजकन्या को मैं सर्वथा ग्रहण करने योग्य एवं उत्तम मानता हूँ।

न तद्धनुर्मन्दबलेन शक्यं
मौर्व्या समायोजयितुं तथा हि।
न चाकृतास्त्रेण न हीनजेन
लक्ष्यं तथा पातयितुं हि शक्यम् ॥२३॥

कोई बलहीन मनुष्य उस विशाल धनुष पर प्रत्यञ्चा नहीं चढ़ा सकता था। जिसने अस्त्रविद्या की पूर्ण शिक्षा न पाई हो, ऐसे पुरुष के अथवा किसी नीच कुल के मनुष्य के लिए भी उस लक्ष्य का वेधना असम्भव था।

तस्मान्न तापं दुहितुर्निमित्तं
पाञ्चालराजोऽर्हति कर्तुमद्य।
न चापि तत्पातनमन्यथेह
कर्तुं हि शक्यं भुवि मानवेन ॥२४॥

अतः पाञ्चालराज को अब अपनी पुत्री के लिए पश्चात्ताप करना उचित नहीं है। इस भूमण्डल पर उस वीर के अतिरिक्त ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो उस लक्ष्य को वेध सके।

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवत्येव युधिष्ठिरे तु
पाञ्चालराजस्य समीपतोऽन्यः।
तत्राजगामाशु नरो द्वितीयो
निवेदयिष्यन्निह सिद्धमन्नम् ॥२५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजा युधिष्ठिर ऐसा कह ही रहे थे कि पाञ्चालराज द्रुपद के पास से एक दूसरा मनुष्य यह समाचार देने के लिए शीघ्रता-पूर्वक आया कि "राजभवन में आप लोगों के लिए भोजन तैयार है।"

दूत उवाच

इमे रथाः काञ्चनपद्मचित्राः
सदश्वयुक्ता वसुधाधिपार्हाः।
एतान् समारुह्य समेत सर्वे
पाञ्चालराजस्य निवेशनं तत् ॥२६॥

दूत बोला—ये सुवर्णमय कमलों से सुशोभित तथा राजाओं की सवारी के योग्य विचित्र रथ खड़े हैं। इनमें उत्तम घोड़े जुते हैं। इनपर सवार हो आप सब लोग महाराज द्रुपद के महल में पधारें।

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयाताः कुरुपुङ्गवास्ते
पुरोहितं तं परियाप्य सर्वे।
आस्थाय यानानि महान्ति तानि
कुन्ती च कृष्णा च सहैकयाने ॥२७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब वे सभी कुरुश्रेष्ठ पाण्डव पुरोहितजी को विदा करके उन विशाल रथों पर आरूढ़ हो [राजमहलों की ओर] चले। उस समय कुन्ती और कृष्णा एक साथ एक ही रथ पर बैठी हुई थीं।

श्रुत्वा तु वाक्यानि पुरोहितस्य
यान्युक्तवान् भारत धर्मराजः।
जिज्ञासयैवाथ कुरूत्तमानां
द्रव्याण्यनेकान्युपसंजहार ॥२८॥

भरतकुलभूषण! उस समय धर्मराज युधिष्ठिर ने जो बातें कही थीं, उन्हें पुरोहित के मुख से सुनकर उन कुरुश्रेष्ठ वीरों के शील-स्वभाव की परीक्षा के लिए राजा द्रुपद ने अनेक प्रकार की वस्तुओं का संग्रह किया।

तान् सिंहविक्रान्तगतीन् निरीक्ष्य
राजा च राज्ञः सचिवाश्च पुत्राः।
प्रेष्याश्च सर्वे सुहृदस्तथैव
हर्षं समापेतुरतीव तत्र ॥२९॥

सिंह के समान पराक्रम-सूचक चाल-ढालवाले पाण्डवों को [राजभवन में पधारे हुए] देखकर राजा द्रुपद, उनके सभी मन्त्री, पुत्र, इष्ट-मित्र और सभी नौकर-चाकर—सब-के-सब अति प्रसन्न हुए।

ते तत्र वीराः परमासनेषु
सपादपीठेष्वविशङ्कमानाः ।
यथानुपूर्वं विविशुर्नराग्र्या
तथा महार्हेषु न विस्मयन्तः ॥३०॥

वे नरश्रेष्ठ वीर पाण्डव वहाँ लगे हुए पादपीठ-सहित बहुमूल्य श्रेष्ठ सिंहासनों पर बिना किसी हिचक या संकोच के मन में तनिक भी विस्मय न करते हुए बड़े-छोटे के क्रम से जा बैठे।

उच्चावचं पार्थिवभोजनीयं
पात्रीषु जाम्बूनदराजतीषु ।
दासाश्च दास्यश्च सुमृष्टवेशाः
सम्भोजकाश्चाप्युपजह्रुरन्नम् ॥३१॥

तब स्वच्छ और सुन्दर वेश-भूषा धारण किये हुए दास-दासी और रसोइयों ने सोने-चाँदी के बर्तनों में राजाओं के भोजन करने योग्य अनेक प्रकार की सामान्य और विशेष भोजन-सामग्री लाकर परोसी।

ते तत्र भुक्त्वा पुरुषप्रवीरा
यथाऽऽत्मकामं सुभृशं प्रतीताः ।
उत्क्रम्य सर्वाणि वसूनि राजन्
सांग्रामिकं ते विविशुर्नृवीराः ॥३२॥

मनुष्यों में श्रेष्ठ पाण्डव वहाँ अपनी रुचि के अनुसार उन सब वस्तुओं को खाकर अत्यधिक प्रसन्न हुए। राजन्! [तत्पश्चात् वहाँ संगृहीत अन्य] सब भोग-विलास की सामग्रियों को छोड़कर वे वीर पहले उसी स्थान पर गये, जहाँ युद्ध की सामग्रियाँ रखी गई थीं।

तल्लक्षयित्वा द्रुपदस्य पुत्रो
राजा च सर्वैः सहमन्त्रिमुख्यैः ।
समर्थयामासुरुपेत्य हृष्टाः
कुन्तीसुतान् पार्थिव राजपुत्रान् ॥३३॥

जनमेजय! यह सब देखकर राजा द्रुपद, राजकुमार और सभी प्रधान मन्त्री अति प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने मन में यही निश्चय किया कि ये राजकुमार कुन्तीदेवी के ही पुत्र हैं।

तत आहूय पाञ्चाल्यो राजपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
पर्यपृच्छददीनात्मा कुन्तीपुत्रं सुवर्चसम् ॥३४॥
कथं जानीम भवतः क्षत्रियान् ब्राह्मणानुत ।
वैश्यान् वा गुणसम्पन्नानथवा शूद्रयोनिजान् ॥३५॥

तत्पश्चात् महामना पाञ्चालराज द्रुपद ने अत्यन्त कान्तिमान् कुन्तीपुत्र राजकुमार युधिष्ठिर को [अपने पास] बुलाकर पूछा—"हमें किस प्रकार ज्ञात हो कि आप लोग किस वर्ण के हैं? हम आपको क्षत्रिय, ब्राह्मण, गुणसम्पन्न वैश्य अथवा शूद्र क्या समझें?

इच्छया ब्रूहि त्वं सत्यं सत्यं राजसु शोभते ।
इष्टापूर्तेन च तथा वक्तव्यमनृतं न तु ॥३६॥

"आप स्वेच्छा से ही सच्ची बात बताएँ। राजाओं में इष्ट और पूर्त[1] की अपेक्षा सत्य की ही अधिक महिमा है, अतः असत्य नहीं बोलना चाहिए।"

युधिष्ठिर उवाच

मा राजन् विमना भूस्त्वं पाञ्चाल्य प्रीतिरस्तु ते ।
ईप्सितस्ते ध्रुवः कामः संवृत्तोऽयमसंशयम् ॥३७

युधिष्ठिर ने कहा—पाञ्चालराज! आप उदास न हों, आपको प्रसन्न होना चाहिए। आपके मन में जो अभीष्ट कामना थी, वह निश्चय ही पूर्ण हुई है, इसमें संशय नहीं है।

वयं हि क्षत्रिया राजन् पाण्डोः पुत्रा महात्मनः ।
ज्येष्ठं मां विद्धि कौन्तेयं भीमसेनार्जुनाविमौ ॥३८॥

राजन्! हम लोग क्षत्रिय ही हैं और महात्मा पाण्डु के पुत्र हैं। मुझे कुन्ती का ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर समझिए तथा ये दोनों भीम एवं अर्जुन हैं।

आभ्यां तव सुता राजन् निर्जिता राजसंसदि ।
यमौ च तत्र कुन्ती च यत्र कृष्णा व्यवस्थिता ॥३९॥

---

१. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ॥
—अत्रिस्मृति, १।४४

अग्निहोत्र, तप-अनुष्ठान, सत्य-भाषण, वेदों की आज्ञा का पालन, अतिथियों का सत्कार और बलिवैश्वदेव—इनका नाम 'इष्ट' है।

वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥—वही, १।४५

बावड़ी, कुआँ, तालाब इत्यादि जलाशयों का निर्माण, यज्ञशालाओं की प्रतिष्ठा, अन्नदान और बगीचों का लगाना—इसका नाम 'पूर्त' है।

राजन् ! इन्हीं दोनों ने समस्त राजाओं के समूह में आपकी पुत्री को जीता है। उधर वे दोनों नकुल तथा सहदेव हैं। माता कुन्ती वहीं गई हैं, जहाँ राजकुमारी कृष्णा हैं।

व्येतु ते मानसं दुःखं क्षत्रियाः स्मो नरर्षभ।
पद्मिनीव सुतेयं ते ह्रदादन्यह्रदं गता ॥४०॥

नरश्रेष्ठ ! अब आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिए। हम सब क्षत्रिय हैं। आपकी यह पुत्री कृष्णा कमलिनी की भाँति एक सरोवर से दूसरे सरोवर को प्राप्त हुई है।

वैशम्पायन उवाच

ततः स द्रुपदो राजा हर्षव्याकुललोचनः।
प्रतिवक्तुं मुदा युक्तो नाशकत् तं युधिष्ठिरम् ॥४१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर की ये बातें सुनकर महाराज द्रुपद की आँखों में हर्ष के आँसू छलक आये। वे आनन्द में मग्न हो गये और [गला भर आने के कारण] युधिष्ठिर को तुरन्त [कुछ] उत्तर न दे सके।

यत्नेन तु स तं हर्षं संनिगृह्य परन्तपः।
अनुरूपं तदा वाचा प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥४२॥

शत्रुसंतापक द्रुपद ने बड़े यत्न से अपने हर्ष के आवेग को रोका; फिर युधिष्ठिर को उनके कथन के अनुरूप ही उत्तर दिया।

पप्रच्छ चैनं धर्मात्मा यथा ते प्रद्रुताः पुरात्।
स तस्मै सर्वमाचख्यावानुपूर्व्येण पाण्डवः ॥४३॥

फिर उन धर्मात्मा पाञ्चाल-नरेश ने यह पूछा कि "आप लोग वारणावत नगर से किस प्रकार भाग निकले ?" तब पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने वह सारा वृत्तान्त उन्हें क्रमपूर्वक कह सुनाया।

तत् श्रुत्वा द्रुपदो राजा कुन्तीपुत्रस्य भाषितम्।
विगर्हयामास तदा धृतराष्ट्रं नरेश्वरम् ॥४४॥
आश्वासयामास च तं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
प्रतिजज्ञे च राज्याय द्रुपदो वदतां वरः ॥४५॥

कुन्तीकुमार के मुख से वह सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनकर वक्ताओं में श्रेष्ठ महाराज द्रुपद ने उस समय राजा धृतराष्ट्र की बड़ी निन्दा की और कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर को आश्वासन दिया। साथ ही उन्होंने यह प्रतिज्ञा भी की "हम तुम्हें तुम्हारा राज्य वापस दिलाएँगे।"

ततः कुन्ती च कृष्णा च भीमसेनार्जुनावपि।
यमौ च राज्ञा संदिष्टं विविशुर्भवनं महत् ॥४६॥
तत्र ते न्यवसन् राजन् यज्ञसेनेन पूजिताः।
प्रत्याश्वस्तस्ततो राजा सह पुत्रैरुवाच तम् ॥४७॥

राजन् ! तत्पश्चात् कुन्ती, कृष्णा, युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव राजा द्रुपद के द्वारा निर्दिष्ट किये हुए विशाल भवन में गये तथा यज्ञसेन [द्रुपद] से सम्मानित हो वहीं रहने लगे। विश्वास जम जाने पर महाराज द्रुपद ने अपने पुत्रों के साथ जाकर युधिष्ठिर से कहा—

गृह्णातु विधिवत् पाणिमद्यायं कुरुनन्दनः।
पुण्येऽह्नि महाबाहुरर्जुनः कुरुतां क्षणम् ॥४८॥

"कुरुकुल को आनन्दित करनेवाले ये महाबाहु अर्जुन आज के पुण्यमय दिवस में मेरी पुत्री का विधिपूर्वक पाणिग्रहण करें तथा [अपने कुलोचित] मङ्गलाचार का पालन करना आरम्भ कर दें।"

तमब्रवीत् ततो राजा धर्मात्मा च युधिष्ठिरः।
ममापि दारसम्बन्धः कार्यस्तावद् विशाम्पते ॥४९॥

तब धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ने उनसे कहा—"राजन् ! विवाह तो मेरा भी करना होगा।"

द्रुपद उवाच

भवान् वा विधिवत् पाणिं गृह्णातु दुहितुर्मम।
यस्य वा मन्यसे वीर तस्य कृष्णामुपादिश ॥५०॥

द्रुपद बोले—हे वीर ! तब आप ही विधिपूर्वक मेरी पुत्री का पाणिग्रहण करें अथवा आप अपने भाइयों में से जिसके साथ चाहें, उसी के साथ कृष्णा को विवाह की आज्ञा दे दें।

वैशम्पायन उवाच

ततः समाधाय स वेदपारगो
जुहाव मन्त्रैर्ज्वलितं हुताशनम्।
युधिष्ठिरं चाप्युपनीय मन्त्रविद्-
नियोजयामास सहैव कृष्णया ॥५१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रुपद के ऐसा कहने पर वेद के पारंगत विद्वान् मन्त्रज्ञ पुरोहित धौम्य ने वेदी पर प्रज्वलित अग्नि की स्थापना करके उसमें मन्त्रों

द्वारा आहुति दी और युधिष्ठिर को बुलाकर कृष्णा के साथ उनका गँठबन्धन कर दिया।

प्रदक्षिणं तौ प्रगृहीतपाणिकौ
समानयामास स वेदपारगः।
ततोऽभ्यनुज्ञाय तमाजिशोभिनं
पुरोहितो राजगृहाद् विनिर्ययौ ॥५२॥

वेदों के पारङ्गत विद्वान् पुरोहित ने उन दोनों दम्पती का पाणिग्रहण कराकर उनसे अग्नि की प्रदक्षिणा करवाई, फिर [अन्य शास्त्रोक्त विधियों का अनुष्ठान कराके] उनका विवाह-कार्य सम्पन्न कर दिया। तत्पश्चात् संग्राम में शोभा पानेवाले युधिष्ठिर को छुट्टी देकर पुरोहितजी भी उस राज-भवन से बाहर चले गये।

कृष्णा च क्षौमसंवीता कृतकौतुकमङ्गला।
कृताभिवादना श्वश्र्वास्तस्थौ प्रह्वा कृताञ्जलिः ॥५३

माङ्गलिक कार्य सम्पन्न हो जाने के पश्चात् रेशमी साड़ी पहने हुए कृष्णा सास के चरणों में प्रणाम करके उनके सामने हाथ जोड़ विनीत भाव से खड़ी हो गई।

रूपलक्षणसम्पन्नां शीलाचारसमन्विताम्।
द्रौपदीमवदत् प्रेम्णा पृथाऽऽशीर्वचनं स्नुषाम् ॥५४॥

सुन्दर रूप तथा उत्तम लक्षणों से सम्पन्न, शील और सदाचार से सुशोभित अपनी बहू द्रौपदी को समक्ष देख कुन्तीदेवी उसे प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देती हुई बोलीं—

यथेन्द्राणी हरिहये स्वाहा चैव विभावसौ।
रोहिणी च यथा सोमे दमयन्ती यथा नले ॥५५॥
यथा वैश्रवणे भद्रा वसिष्ठे चाप्यरुन्धती।
यथा नारायणे लक्ष्मीस्तथा त्वं भव भर्तरि ॥५६॥

"पुत्री! जैसे इन्द्राणी इन्द्र में, स्वाहा अग्नि में रोहिणी चन्द्रमा में, दमयन्ती नल में, भद्रा कुबेर में, अरुन्धती वसिष्ठ में तथा लक्ष्मी नारायण में भक्ति-भाव एवं प्रेम रखती थीं, उसी प्रकार तुम भी अपने पति में अनुरक्त रहो।

जीवसूर्वीरसूर्भद्रे बहुसौख्यसमन्विता।
सुभगा भोगसम्पन्ना यज्ञपत्नी पतिव्रता ॥५७॥

"भद्रे! तुम अनन्त सौख्य से सम्पन्न होकर दीर्घजीवी तथा वीरपुत्रों की जननी बनो। तुम सौभाग्यशालिनी, भोग्य सामग्री से सम्पन्न, पति के साथ यज्ञ में बैठनेवाली तथा पतिव्रता होओ।

अतिथीनागतान्साधून्वृद्धान् बालांस्तथा गुरून्।
पूजयन्त्या यथान्यायं शश्वद् गच्छन्तु ते समाः ॥५८॥

"अपने घर पर आये हुए अतिथियों, साधु पुरुषों, बड़े-बूढ़ों, बालकों तथा गुरुजनों का यथायोग्य सत्कार करने में ही तुम्हारे जीवन के सम्पूर्ण वर्ष व्यतीत हों।

यथा त्वामभिनन्दामि वध्वद्य क्षौमसंवृताम्।
तथा भूयोऽभिनन्दिष्ये जातपुत्रां गुणान्विताम् ॥५९॥

"बहू! आज तुम्हें वैवाहिक रेशमी वस्त्रों से सुशोभित देखकर जैसे मैं तुम्हारा अभिनन्दन कर रही हूँ, उसी प्रकार जब तुम पुत्रवती बनोगी, उस समय भी मैं सद्गुणों से सम्पन्न तुम्हारा इसी प्रकार अभिनन्दन करूँगी।

कृते विवाहे द्रुपदो धनं ददौ
महारथेभ्यो बहुरूपमुत्तमम्।
शतं रथानां वरहेममालिनां
चतुर्युजां हेमखलीनमालिनाम् ॥६०॥

विवाह-कार्य सम्पन्न हो जाने पर द्रुपद ने महारथी पाण्डवों को दहेज में बहुत-सा धन और नाना प्रकार की उत्तम वस्तुएँ समर्पित कीं। सुन्दर सुवर्ण की मालाओं और सुवर्ण-जटित जूओं से सुशोभित सौ रथ प्रदान किये, जिनमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे।

कृते विवाहे च ततस्तु पाण्डवाः
प्रभूतरत्नामुपलभ्य तां श्रियम्।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमा महाबलाः
पुरे तु पाञ्चालनृपस्य तस्य ह ॥६१॥

विवाह हो जाने पर इन्द्र के समान महाबली पाण्डव प्रचुर रत्नराशि के साथ लक्ष्मीरूपा द्रौपदी को पाकर पाञ्चालराज द्रुपद के ही नगर में सुखपूर्वक विहार करने लगे।

इति महाभारते आदिपर्वणि द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥३२॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्र का पाण्डवों के प्रति प्रेम का दिखावा, दुर्योधन की कुमन्त्रणा, पाण्डवों को पराक्रम से दबाने के लिए कर्ण की सम्मति, भीष्म और द्रोणाचार्य द्वारा पाण्डवों को आधा राज्य देने की सम्मति और विदुर द्वारा उनके वचनों का समर्थन

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्त्वथ तां श्रुत्वा द्रौपदीं पाण्डवैर्वृताम् ।
व्रीडितान् धार्तराष्ट्रांश्च भग्नदर्पानुपागतान् ।।१।।
ततः प्रीतमनाः क्षत्ता धृतराष्ट्रं विशाम्पते ।
उवाच दिष्टया कुरवो वर्धन्त इति विस्मितः ।।२।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—विदुरजी ने जब यह सुना कि पाण्डवों ने द्रौपदी को प्राप्त कर लिया है तथा धृतराष्ट्र के पुत्र अपना अभिमानचूर्ण हो जाने से लज्जित होकर वापस आये हैं, तब वे मन-ही-मन अति प्रसन्न हुए। जनमेजय ! उस समय वे धृतराष्ट्र के पास जाकर विस्मयसूचक वाणी में बोले—"महाराज ! हमारा अहोभाग्य है जो कौरववंश की वृद्धि हो रही है ।"

वैचित्रवीर्यस्तु वचो निशम्य विदुरस्य तत् ।
अब्रवीत् परमप्रीतो दिष्टया दिष्टयेति भारत ।।३।।

हे भारत ! विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्र विदुर की यह बात सुनकर अत्यन्त हर्ष में भरकर सहसा बोल उठे—"अहोभाग्य, अहोभाग्य !"

मन्यते स वृतं पुत्रं ज्येष्ठं द्रुपदकन्यया ।
दुर्योधनमविज्ञानात् प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरः ।।४।।

उस अन्धे नरेश ने अज्ञानवश यह समझ लिया कि 'द्रुपद-कन्या ने मेरे ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन का वरण किया है ।'

अथ त्वाज्ञापयामास द्रौपद्या भूषणं बहु ।
आनीयतां वै कृष्णेति पुत्रं दुर्योधनं तदा ।।५।।

अतः उन्होंने आज्ञा दी—"द्रौपदी के लिए बहुत-से आभूषण मँगाओ तथा मेरे पुत्र दुर्योधन और द्रौपदी को अति सम्मानपूर्वक नगर में ले आओ ।"

अथास्य पश्चाद्विदुर आचख्यौ पाण्डवान्वृतान् ।
सर्वान् कुशलिनो वीरान् पूजितान् द्रुपदेन ह ।।६।।

तब पीछे से विदुर ने उन्हें बताया कि—"द्रौपदी ने पाण्डवों का वरण किया है। वे सभी वीर राजा द्रुपद के द्वारा सम्मानित होकर अब वहाँ कुशलपूर्वक रह रहे हैं ।"

एतत् श्रुत्वा तु वचनं विदुरस्य नराधिपः ।
आकारच्छादनार्थं स इदं वचनमब्रवीत् ।।७।।

विदुरजी का यह कथन सुनकर राजा धृतराष्ट्र ने अपनी बदली हुई आकृति को छिपाने के लिए यह वचन बोला—

यथैव पाण्डोः पुत्रास्तु तथैवाभ्यधिका मम ।
यथा चाभ्यधिका बुद्धिर्मम तान् प्रति तत् श्रुणु ।।८।।

"विदुर ! युधिष्ठिर आदि जैसे पाण्डु के पुत्र हैं, वैसे ही अथवा उससे अधिक मेरे हैं। उनके प्रति मेरे मन में अधिक अपनेपन का भाव क्यों है ? यह बताता हूँ, सुनो !

यत्ते कुशलिनो वीरा मित्रवन्तश्च पाण्डवाः ।
तेषां सम्बन्धिनश्चान्ये बहवश्च महाबलाः ।।९।।

"वे वीर पाण्डव कुशलपूर्वक जीवित बच गये हैं तथा उन्हें मित्रों का सहयोग भी प्राप्त हो गया है। इतना ही नहीं, और भी बहुत सारे महाबली नरेश उनके सम्बन्धी होते जा रहे हैं।

को हि द्रुपदमासाद्य मित्रं क्षत्तः सबान्धवम् ।
न बुभूषेद् भवेनार्थी गतश्रीरपि पार्थिवः ।।१०।।

"विदुर ! कौन ऐसा राजा है, जो सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर भी बन्धु-बान्धवोंसहित द्रुपद को मित्र के रूप में पाकर जीना नहीं चाहेगा ?"

तं तथा भाषमाणं तु विदुरः प्रत्यभाषत ।
नित्यं भवतु ते बुद्धिरेषा राजञ्छतं समाः ।।११।।

जनमेजय ! ऐसी बातें कहनेवाले राजा धृतराष्ट्र से विदुर इस प्रकार बोले—"महाराज ! सौ वर्षों तक आपकी बुद्धि ऐसी ही बनी रहे ।"

ततो दुर्योधनश्चापि राधेयश्च विशाम्पते ।
धृतराष्ट्रमुपागम्य वचोऽब्रूतामिदं तदा ।।१२।।

राजन् ! विदुर के चले जाने पर दुर्योधन और कर्ण ने धृतराष्ट्र के पास आकर यह बात कही—

सन्निधौ विदुरस्य त्वां दोषं वक्तुं न शक्नुवः ।
विविक्तमिति वक्ष्यावः किं तवेदं चिकीर्षितम् ॥१३॥
सपत्नवृद्धिं यत् तात मन्यसे वृद्धिमात्मनः ।
अभिष्टौषि च यत् क्षत्तुः समीपे द्विषतो वरम् ॥१४॥

"महाराज ! विदुर के समक्ष हम आपसे आपका कोई दोष नहीं बता सकते । इस समय एकान्त है, इसलिए कहते हैं । आप यह क्या करना चाहते हैं ? पूज्य पिताजी ! आप तो शत्रुओं की उन्नति को ही अपनी उन्नति मानने लगे हैं तथा विदुरजी के सामने हमारे शत्रुओं की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं ।

अन्यस्मिन् नृप कर्तव्ये त्वमन्यत् कुरुषेऽनघ ।
तेषां बलविघातो हि कर्तव्यस्तात नित्यशः ॥१५॥

"निष्पाप नरेश ! हमें करना तो कुछ और चाहिए परन्तु आप करते कुछ और ही हैं । हे तात ! हमारे लिए तो यही उचित है कि हम सदा पाण्डवों की शक्ति का विनाश करते रहें ।

ते वयं प्राप्तकालस्य चिकीर्षां मन्त्रयामहे ।
यथा नो न ग्रसेयुस्ते सपुत्रबलबान्धवान् ॥१६॥

इस समय जैसा अवसर उपस्थित है, इसमें हमें क्या करना चाहिए—यही सोच-विचारकर निश्चय करना है, जिससे वे पाण्डुपुत्र बान्धव तथा सेनासहित हमारा सर्वनाश न कर बैठें ।"

धृतराष्ट्र उवाच

अहमप्येवमेवैतच्चिकीर्षामि यथा युवाम् ।
विवेक्तुं नाहमिच्छामि त्वाकारं विदुरं प्रति ॥१७॥

धृतराष्ट्र बोले—पुत्र ! मैं भी तो वही करना चाहता हूँ, जो तुम चाहते हो, परन्तु मैं अपनी आकृति से भी विदुर पर अपने मन का भाव प्रकट नहीं होने देना चाहता ।

अतस्तेषां गुणानेव कीर्तयामि विशेषतः ।
नावबुध्येत विदुरो ममाभिप्रायमिङ्गितैः ॥१८॥

अतः विदुर के समक्ष मैं विशेषतः पाण्डवों के गुणों का ही वर्णन करता हूँ, जिससे वह संकेत से भी मेरे मनोभाव को न ताड़ सके ।

यच्च त्वं मन्यसे प्राप्तं तच्च ब्रूहि सुयोधन ।
राधेय मन्यसे यच्च प्राप्तकालं वदाशु मे ॥१९॥

सुयोधन और कर्ण ! तुम दोनों समय के अनुसार जो कार्य करनाआवश्यकसमझते हो, वह शीघ्र मुझे बताओ ।

दुर्योधन उवाच

अद्य तान् कुशलैर्विप्रैः सुगुप्तैराप्तकारिभिः ।
कुन्तीपुत्रान् भेदयामो माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥२०॥

दुर्योधन ने कहा—हे पिताजी ! आज अत्यन्त गुप्तरूप से कुछ ऐसे चतुर ब्राह्मणों को नियत करना चाहिए, जिनके कार्यों पर हमारा पूर्ण विश्वास हो । हमें उनके द्वारा पाण्डवों में से कुन्ती और माद्री के पुत्रों में फूट डालने की चेष्टा करनी चाहिए ।

भीमसेनस्य वा राजन्नुपायकुशलैर्नरैः ।
मृत्युर्विधीयतां छन्नैः स हि तेषां बलाधिकः ॥२१॥

अथवा राजन् ! उपाय-कुशल मनुष्य छिपे रहकर भीमसेन का ही वध कर डालें, क्योंकि वही पाण्डवों में सबसे अधिक बलवान् है ।

तमाश्रित्य हि कौन्तेयः पुरा चास्मान्न मन्यते ।
स हि तीक्ष्णश्च शूरश्च तेषां चैव परायणः ॥२२॥

उसी का आश्रय लेकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर पहले से ही हमें कुछ नहीं समझते । वह बहुत तीखे स्वभाव का और शूरवीर है । वही पाण्डवों का सबसे बड़ा सहारा है

अजेयो ह्यर्जुनः संख्ये पृष्ठगोपे वृकोदरे ।
तमृते फाल्गुनो युद्धे राधेयस्य न पादभाक् ॥२३॥

भीमसेन को पृष्ठरक्षक पाकर ही अर्जुन युद्ध में अजेय बने हुए हैं । यदि भीम न हों तो वे रणभूमि में कर्ण की एक-चौथाई के बराबर भी न हो सकेंगे ।

इहागतेषु वा तेषु निदेशवशवर्तिषु ।
प्रवर्तिष्यावहे राजन् यथाशास्त्रं निबर्हणम् ॥२४॥

राजन् ! अथवा यदि वे यहाँ आकर हमारी आज्ञा के अधीन होकर रहेंगे, तब हम नीतिशास्त्र के अनुसार उनके विनाश के कार्य में लग जाएँगे ।

अथवा दर्शनीयाभिः प्रमदाभिर्विलोभ्यताम् ।
एकैकस्तत्र कौन्तेयस्ततः कृष्णा विरज्यताम् ॥२५॥

अथवा देखने में सुन्दर युवती स्त्रियों द्वारा एक-

एक पाण्डव को लुभाया जाए और इस प्रकार कृष्णा का मन उनकी ओर से फेर दिया जाए।

प्रेष्यतां चैव राधेयस्तेषामागमनाय वै।
तैस्तैः प्रकारैः संनीय पात्यन्तामाप्तकारिभिः ॥२६॥

अथवा पाण्डवों को यहाँ बुला लाने के लिए राधानन्दन कर्ण को भेजा जाए और यहाँ लाकर विश्वसनीय कार्यकर्ताओं द्वारा विभिन्न उपायों से उन सबको मार गिराया जाए।

एषा मम मतिस्तात निग्रहाय प्रवर्तते।
साध्वी वा यदि वासाध्वी किं वा राधेय मन्यसे ॥२७॥

पिताजी! शत्रुओं को वश में करने के लिए ये ही उपाय मेरी बुद्धि में आते हैं। मेरा यह विचार भला है या बुरा, यह आप जानें। अथवा कर्ण! तुम्हारी क्या सम्मति है?

कर्ण उवाच

दुर्योधन तव प्रज्ञा न सम्यगिति मे मतिः।
न ह्युपायेन ते शक्या पाण्डवाः कुरुवर्धन ॥२८॥

कर्ण बोला—दुर्योधन! मेरे विचार से तुम्हारी यह सलाह ठीक नहीं है। कुरुवर्धन! ऐसे किसी भी उपाय से पाण्डवों को वश में नहीं किया जा सकता।

यावन्न कृतमूलास्ते पाण्डवेया विशाम्पते।
तावत् प्रहरणीयास्ते तत् तुभ्यं तात रोचताम् ॥२९॥
अस्मत्पक्षो महान्यावद्यावत्पाञ्चालको लघुः।
तावत् प्रहरणं तेषां क्रियतां मा विचारय ॥३०॥

हे राजन्! [मेरे विचार में] वे नरश्रेष्ठ पाण्डव जबतक अपनी जड़ें नहीं जमा लेते तभी तक उनपर प्रहार करना चाहिए। इसी से वे वश में आ सकते हैं। तात! मैं समझता हूँ, तुम्हें भी यह सम्मति रुचेगी। जबतक हमारा पक्ष बढ़ा-चढ़ा है और जबतक पाञ्चालराज द्रुपद का बल हमसे कम है, तभी तक उनपर आक्रमण कर दिया जाए। इसमें दूसरा कुछ विचार न करो।

वाहनानि प्रभूतानि मित्राणि च कुलानि च।
यावन्न तेषां गान्धारे तावद् विक्रम पार्थिव ॥३१॥

राजन्! गान्धारीनन्दन! जबतक पाण्डवों के पास बहुत-से वाहन, मित्र और कुटुम्बी नहीं हो जाते, तभी तक तुम उनपर आक्रमण कर लो।

यावच्च राजा पाञ्चाल्यो नोद्यमे कुरुते मनः।
सह पुत्रैर्महावीर्यैस्तावद् विक्रम पार्थिव ॥३२॥

पृथिवीपते! जबतक पाञ्चालनरेश अपने महापराक्रमी पुत्रों के साथ हमारे ऊपर चढ़ाई करने का विचार नहीं कर रहे हैं, तभी तक तुम अपना पराक्रम प्रकट कर लो।

विक्रमेण मही प्राप्ता भरतेन महात्मना।
विक्रमेण च लोकांस्त्रीञ्जितवान् पाकशासनः ॥३३॥

महात्मा भरत ने पराक्रम से ही यह पृथिवी प्राप्त की और इन्द्र ने भी पराक्रम से ही तीनों लोकों पर विजय पायी।

विक्रमं च प्रशंसन्ति क्षत्रियस्य विशाम्पते।
स्वको हि धर्मः शूराणां विक्रमः पार्थिवर्षभ ॥३४॥

राजन्! क्षत्रिय के पराक्रम की ही प्रशंसा की जाती है। नृपश्रेष्ठ! पराक्रम करना ही शूरवीरों का स्वधर्म है।

न हि साम्ना न दानेन न भेदेन च पाण्डवाः।
शक्याः साधयितुं तस्माद् विक्रमेणैव ताञ्जहि ॥३५॥

पाण्डवों को साम, दाम=दान और भेद की नीति से वश में नहीं किया जा सकता, अतः उन्हें पराक्रम से ही नष्ट करो।

तान् विक्रमेण जित्वेमामखिलां भुंक्ष्व मेदिनीम्।
अतो नान्यं प्रपश्यामि कार्योपायं जनाधिप ॥३६॥

नरेश्वर! तुम पराक्रम से ही पाण्डवों को जीतकर इस सारी पृथिवी का राज्य भोगो। इसके अतिरिक्त कार्यसिद्धि का मैं और कोई मार्ग नहीं देखता।

धृतराष्ट्र उवाच

उपपन्नं महाप्राज्ञे कृतास्त्रे सूतनन्दने।
त्वयि विक्रमसम्पन्नमिदं वचनमीदृशम् ॥३७॥

धृतराष्ट्र बोले—कर्ण! तुम परम बुद्धिमान्, अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञाता तथा सूत-कुल को आनन्दित करनेवाले हो। ऐसा पराक्रमयुक्त वचन तुम्हारे ही योग्य है।

भूय एव तु भीष्मश्च द्रोणो विदुर एव च।
युवां च कुरुतं बुद्धिं भवेद् या नः सुखोदया ॥३८॥

परन्तु मेरा विचार है कि भीष्म, द्रोण, विदुर और तुम दोनों एक साथ बैठकर पुनः विचार कर

लो तथा कोई ऐसी बात सोच निकालो, जो भविष्य में भी सुख देनेवाली हो।

वैशम्पायन उवाच

तत आनाय्य तान् सर्वान् मन्त्रिणः सुमहायशाः।
धृतराष्ट्रो महाराज मन्त्रयामास वै तदा ॥३९॥

महाराज ! तत्पश्चात् महायशस्वी धृतराष्ट्र ने भीष्म, द्रोण आदि एवं सम्पूर्ण मन्त्रियों को बुलवाकर उनके साथ विचार-विमर्श आरम्भ किया।

भीष्म उवाच

न रोचते विग्रहो मे पाण्डुपुत्रैः कथञ्चन।
यथैव धृतराष्ट्रो मे तथा पाण्डुरसंशयम् ॥४०॥

भीष्मजी बोले—मुझे पाण्डवों के साथ विरोध या युद्ध किसी प्रकार भी पसन्द नहीं है। मेरे लिए जैसे धृतराष्ट्र हैं, वैसे ही पाण्डु—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

गान्धार्याश्च यथा पुत्रास्तथा कुन्तीसुता मम।
यथा च मम ते रक्ष्या धृतराष्ट्र तथा तव ॥४१॥

हे धृतराष्ट्र ! जैसे गान्धारी के पुत्र मेरे अपने हैं, उसी प्रकार कुन्ती के पुत्र भी अपने ही हैं, अतः जैसे मुझे पाण्डवों की रक्षा करनी चाहिए, वैसे तुम्हें भी।

दुर्योधन यथा राज्यं त्वमिदं तात पश्यसि।
मम पैतृकमित्येवं तेऽपि पश्यन्ति पाण्डवाः ॥४२॥

तात दुर्योधन ! जैसे तुम इस राज्य को अपनी पैतृक सम्पत्ति के रूप में देखते हो, उसी प्रकार पाण्डव भी देखते हैं।

अधर्मेण च राज्यं त्वं प्राप्तवान् भरतर्षभ।
तेऽपि राज्यमनुप्राप्ताः पूर्वमेवेति मे मतिः ॥४३॥

भरतश्रेष्ठ ! तुमने अधर्मपूर्वक इस राज्य को हथिया लिया है, परन्तु मेरा विचार यह है कि तुमसे पूर्व ही वे भी इस राज्य को पा चुके थे।

मधुरेणैव राज्यस्य तेषामर्धं प्रदीयताम्।
एतद्धि पुरुषव्याघ्र हितं सर्वजनस्य च ॥४४॥

पुरुषसिंह ! तुम प्रेमपूर्वक ही उन्हें आधा राज्य दे दो, इसी में सब लोगों का हित है।

अतोऽन्यथा यते चेत् न हितं नो भविष्यति।
तवाप्यकीर्तिः सकला भविष्यति न संशयः ॥४५॥

यदि इसके विपरीत कुछ किया जाएगा, तो हमारी भलाई नहीं हो सकती और तुम्हें भी पूरा-पूरा अपयश मिलेगा—इसमें संशय नहीं है।

कीर्तिरक्षणमातिष्ठ कीर्तिर्हि परमं बलम्।□
नष्टकीर्तेर्मनुष्यस्य जीवितं ह्यफलं स्मृतम् ॥४६॥

अपनी कीर्ति की रक्षा करो, कीर्ति ही श्रेष्ठ बल है। जिसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है, उस मनुष्य का जीवन निष्फल माना गया है।

यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य न प्रणश्यति कौरव।□
तावज्जीवति गान्धारे नष्टकीर्तिस्तु नश्यति ॥४७॥

गान्धारीनन्दन ! कुरुश्रेष्ठ ! जबतक मनुष्य की कीर्ति नष्ट नहीं होती, तभी तक वह जीवित है। जिसकी कीर्ति नष्ट हो गई, उसका तो जीवन ही नष्ट हो जाता है।

तमिमं समुपातिष्ठ धर्मं कुरुकुलोचितम्।
अनुरूपं महाबाहो पूर्वेषामात्मनः कुरु ॥४८॥

महाबाहो ! कुरुकुल के लिए उचित इस उत्तम धर्म का पालन करो और अपने पूर्वजों के अनुरूप कार्य करते रहो।

दिष्ट्या ध्रियन्ते पार्था हि दिष्ट्या जीवति सा पृथा।
दिष्ट्या पुरोचनः पापो न सकामोऽत्ययं गतः ॥४९॥

सौभाग्य की बात है कि कुन्ती के पुत्र जीवित हैं और यह भी सौभाग्य की बात है कि कुन्ती भी जीवित है तथा सबसे बड़े सौभाग्य का विषय यह है कि पापी पुरोचन अपने दूषित मनोरथ में सफल न होकर स्वयं नष्ट हो गया।

तदिदं जीवितं तेषां तव किल्बिषनाशनम्।
सम्मन्तव्यं महाराज पाण्डवानां च दर्शनम् ॥५०॥

महाराज ! पाण्डवों का यह जीवित रहना और उनका दर्शन होना वास्तव में तुमपर लगे हुए कलंक का नाश करनेवाला है, ऐसा मानना चाहिए।

न चापि तेषां वीराणां जीवतां कुरुनन्दन।
पित्र्योंऽशः शक्य आदातुमपि वज्रभृता स्वयम् ॥५१॥

हे कुरुनन्दन ! पाण्डव वीरों के जीते-जी उनका पैतृक अंश साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी नहीं ले सकते।

ते सर्वेऽवस्थिता धर्मे सर्वे चैवैकचेतसः।
अधर्मेण निरस्ताश्च तुल्ये राज्ये विशेषतः ॥५२॥

वे सब धर्म में स्थित हैं, उन सबका चित्त=

विचार एक है। इस राज्य पर तुम्हारा और उनका समान अधिकार है, तो भी उनके साथ विशेष अधर्मपूर्ण व्यवहार करके उन्हें यहाँ से हटाया गया है।

यदि धर्मस्त्वया कार्यो यदि कार्यं प्रियं च मे।
क्षेमं च यदि कर्तव्यं तेषामर्धं प्रदीयताम् ॥५३॥

यदि तुम धर्मानुसार चलना चाहते हो, यदि मेरा प्रिय करना है और यदि संसार में भलाई करनी है तो उन्हें आधा राज्य प्रदान कर दो।

द्रोण उवाच

ममाप्येषा मतिस्तात या भीष्मस्य महात्मनः।
संविभज्यास्तु कौन्तेया धर्म एष सनातनः ॥५४॥

द्रोणाचार्य बोले—तात! मेरी भी वही सम्मति है, जो महात्मा भीष्मजी की है। कुन्ती के पुत्रों को आधा राज्य बाँट देना चाहिए, यही परम्परा से चला आनेवाला धर्म है।

प्रेष्यतां द्रुपदायाशु नरः कश्चित् प्रियंवदः।
बहुलं रत्नमादाय तेषामर्थाय भारत ॥५५॥

महाराज! द्रुपद के पास शीघ्र ही कोई प्रिय वचन बोलनेवाला मनुष्य भेजा जाए और वह पाण्डवों के लिए बहुत-से रत्नों की भेंट लेकर जाए।

एवं सान्त्वसमायुक्तं द्रुपदं पाण्डवैः सह।
उक्त्वा सोऽनन्तरं ब्रूयात् तेषामागमनं प्रति ॥५६॥

इस प्रकार [उपहार देने के पश्चात्] पाण्डवों-सहित द्रुपद से सान्त्वनापूर्ण वचन कहकर अन्त में वह पाण्डवों के हस्तिनापुर में आने के विषय में प्रस्ताव करे।

एतत् तव महाराज पुत्रेषु तेषु चैव हि।
वृत्तमौपायिकं मन्ये भीष्मेण सह भारत ॥५७॥

भरतवंशी महाराज! आपको अपने पुत्रों और पाण्डवों के प्रति उपर्युक्त व्यवहार ही करना चाहिए—भीष्मजी के साथ मैं भी यही उचित समझता हूँ।

अतोऽन्यथा क्रियते चेत् यद् ब्रवीमि परं हितम्।
कुरवो वै विनङ्क्ष्यन्ति नचिरेणैव मे मतिः ॥५८॥

मैं यह अत्यन्त हित की बात कह रहा हूँ। यदि इसके विपरीत कुछ किया जाएगा, तो कौरवों का शीघ्र ही नाश हो जाएगा—ऐसा मेरा मत है।

विदुर उवाच

इमौ हि वृद्धौ वयसा प्रज्ञया च श्रुतेन च।
समौ च त्वयि राजेन्द्र तथा पाण्डुसुतेषु च ॥५९॥

विदुरजी ने कहा—हे राजेन्द्र! अवस्था, बुद्धि और शास्त्र-ज्ञान—सभी बातों में ये [भीष्म और द्रोण] दोनों बढ़े-चढ़े हैं और आपमें तथा पाण्डवों में समान स्नेहभाव रखते हैं।

यच्चाप्यजेयतां तेषामाहतुः पुरुषर्षभौ।
तत् तथा पुरुषव्याघ्र तव तद् भद्रमस्तु ते ॥६०॥

इन पुरुष-शिरोमणियों ने जो पाण्डवों के अजेय होने की बात बताई है, वह वस्तुतः सत्य है। पुरुष-सिंह, आपका कल्याण हो।

कथं हि पाण्डवः श्रीमान् सव्यसाची धनञ्जयः।
शक्यो विजेतुं संग्रामे राजन् मघवतापि हि ॥६१॥

राजन्! दाहिने और बाएँ दोनों हाथों से बाण चलानेवाले श्रीमान् पाण्डुकुमार धनंजय को साक्षात् इन्द्र भी संग्राम में कैसे जीत सकते हैं?

भीमसेनो महाबाहुर्नागायुतबलो महान्।
कथं स्म युधि शक्येत विजेतुममरैरपि ॥६२॥

दस सहस्र हाथियों के समान महान् बलवान् महाबाहु भीमसेन को युद्ध में देवता भी कैसे जीत सकते हैं?

यस्मिन् धृतिरनुक्रोशः क्षमा सत्यं पराक्रमः।
नित्यानि पाण्डवे ज्येष्ठे स जीयेत रणे कथम् ॥६३॥

जिन ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर में धैर्य, दया, क्षमा सत्य और पराक्रम आदि गुण सदा निवास करते हैं, उन्हें युद्धभूमि में कैसे परास्त किया जा सकता है?

येषां पक्षधरो रामो येषां मन्त्री जनार्दनः।
किं नु तैरजितं संख्ये येषां पक्षे च सात्यकिः ॥६४॥

बलरामजी जिनके पक्ष में हैं, श्रीकृष्ण जिनके परामर्शदाता हैं तथा जिनके पक्ष में सात्यकि-जैसा वीर है, वे पाण्डव युद्ध में किसे परास्त नहीं कर देंगे?

इदं निर्दिष्टमयशः पुरोचनकृतं महत्।
तेषामनुग्रहेणाद्य राजन् प्रक्षालयात्मनः ॥६५॥

राजन्! पुरोचन के हाथों जो कुछ कराया गया, उससे आपका महान् अपयश सब ओर फैल गया है।

अपने उस कलंक को आज आप पाण्डवों पर अनुग्रह करके धो डालिए।

तेषामनुग्रहश्चायं सर्वेषां चैव नः कुले।
जीवितं च परं श्रेयः क्षत्रस्य च विवर्धनम् ॥६६॥

पाण्डवों पर किया हुआ यह अनुग्रह हमारे कुल के सभी लोगों के जीवन का रक्षक, परम हितकारक और सम्पूर्ण क्षत्रियजाति का अभ्युदय करनेवाला होगा।

द्रुपदोऽपि महान् राजा कृतवैरश्च नः पुरा।
तस्य संग्रहणं राजन् स्वपक्षस्य विवर्धनम् ॥६७॥

राजन्! द्रुपद भी बहुत बड़े राजा हैं और पहले हमारे साथ उनका वैर भी हो चुका है, अतः मित्र के रूप में उनका संग्रह हमारे अपने पक्ष की वृद्धि का कारण होगा।

बलवन्तश्च दाशार्हा बहवश्च विशाम्पते।
यतः कृष्णस्ततः सर्वे यतः कृष्णस्ततो जयः ॥६८॥

प्रजेश्वर! यदुवंशियों की संख्या बहुत है और वे बलवान् भी हैं। जिधर श्रीकृष्ण रहेंगे, उधर ही वे सब भी रहेंगे, अतः जिस पक्ष में श्रीकृष्ण होंगे, उस पक्ष की विजय निश्चित है।

यच्च साम्नैव शक्यते कार्यं साधयितुं नृप।
को दैवशप्तस्तत् कार्यं विग्रहेण समाचरेत् ॥६९॥

महाराज! जिस कार्य को शान्तिपूर्वक समझाने-बुझाने से ही सिद्ध किया जा सकता है, उसी को कौन दैव-भाग्य का मारा हुआ मनुष्य युद्ध के द्वारा सिद्ध करेगा?

श्रुत्वा च जीवतः पार्थान् पौरजानपदा जनाः।
बलवद् दर्शने हृष्टास्तेषां राजन् प्रियं कुरु ॥७०॥

कुन्ती के पुत्रों को जीवित सुनकर नगर और जनपद के सभी लोग उन्हें देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो रहे हैं। हे राजन्! आप उन सबका प्रिय कीजिए।

दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः।
अधर्मयुक्ता दुष्प्रज्ञा बाला मैषां वचः कृथाः ॥७१॥

दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि—ये अधर्म-परायण, खोटी बुद्धिवाले और मूर्ख हैं, अतः इनका कहना मत मानिए।

इति महाभारते आदिपर्वणि त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्र की आज्ञा से विदुर का द्रुपद के यहाँ जाना, पाण्डवों का हस्तिनापुर में आना और आधा राज्य पाकर इन्द्रप्रस्थ नगर का निर्माण करना

धृतराष्ट्र उवाच

भीष्मः शान्तनवो विद्वान् द्रोणश्च भगवानृषिः।
हितं च परमं वाक्यं त्वं च सत्यं ब्रवीषि माम् ॥१॥

धृतराष्ट्र ने कहा—विदुर! शान्तनुनन्दन भीष्म ज्ञानी हैं और भगवान् द्रोणाचार्य तो ऋषि ही हैं, अतः इनका वचन परम-हितकारक है। तुम भी मुझसे जो कुछ कहते हो, वह सत्य ही है।

यथैव पाण्डोस्ते वीराः कुन्तीपुत्रा महारथाः।
तथैव धर्मतः सर्वे मम पुत्रा न संशयः ॥२॥

कुन्ती के वीर महारथी पुत्र जैसे पाण्डु के लड़के हैं, उसी प्रकार धर्म की दृष्टि से वे सब मेरे भी पुत्र हैं—इसमें संशय नहीं है।

यथैव मम पुत्राणामिदं राज्यं विधीयते।
तथैव पाण्डुपुत्राणामिदं राज्यं न संशयः ॥३॥

जैसे मेरे पुत्रों का यह राज्य कहा जाता है, उसी प्रकार पाण्डु-पुत्रों का भी यह राज्य है—इसमें भी सन्देह नहीं है।

क्षत्तरानय गच्छैतान् सह मात्रा सुसत्कृतान्।
तया च देवरूपिण्या कृष्णया सह भारत ॥४॥

भरतवंशी विदुर! अब तुम्हीं जाओ और उनकी माता कुन्ती एवं देवरूपिणी वधू कृष्णा के साथ इन पाण्डवों को सत्कारपूर्वक ले आओ।

वैशम्पायन उवाच

ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रस्य शासनात्।
सकाशं यज्ञसेनस्य पाण्डवानां च भारत ॥५॥

समुपादाय रत्नानि वसूनि विविधानि च।
द्रौपद्याः पाण्डवानां च यज्ञसेनस्य चैव हि ॥६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब धृतराष्ट्र की आज्ञा से विदुरजी द्रौपदी, पाण्डव तथा महाराज यज्ञसेन=द्रुपद के लिए नाना प्रकार के धन-रत्नों की भेंट लेकर राजा द्रुपद और पाण्डवों के पास गये।

तत्र गत्वा स धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः।
द्रुपदं न्यायतो राजन् संयुक्तमुपतस्थिवान् ॥७॥

राजन्! वहाँ पहुँचकर सम्पूर्ण शास्त्रों के विद्वान् एवं धर्मज्ञ विदुर न्याय के अनुसार बड़े-छोटे के क्रम से द्रुपद तथा अन्य लोगों के साथ हृदय से लगकर प्रेमपूर्वक मिले।

स चापि प्रतिजग्राह धर्मेण विदुरं ततः।
चक्रतुश्च यथान्यायं कुशलप्रश्नसंविदम् ॥८॥

राजा द्रुपद ने भी धर्म के अनुसार विदुरजी का आदर-सम्मान किया। फिर वे दोनों यथोचित रीति से एक-दूसरे के कुशल-समाचार पूछने और कहने लगे।

ददर्श पाण्डवाँस्तत्र वासुदेवं च भारत।
परिष्वज्य स तान् स्नेहात् पप्रच्छानामयं ततः ॥९॥

हे भरतश्रेष्ठ! विदुरजी ने वहाँ पाण्डवों और वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्णजी को भी देखा। उन्होंने सबको स्नेह-पूर्वक हृदय से लगाकर उनकी कुशल पूछी।

पप्रच्छानामयं राजँस्ततस्तान् पाण्डुनन्दनान्।
प्रददौ चापि रत्नानि विविधानि वसूनि च ॥१०॥

राजन्! विदुरजी ने पाण्डवों से कुशल-मङ्गल पूछकर कौरवों की ओर से दिये गये रत्न और धन उन्हें भेंट कर दिये। [फिर उनसे बोले—]

विदुर उवाच

राजञ्छृणु सहामात्यः सपुत्रश्च वचो मम।
धृतराष्ट्रः सपुत्रस्त्वां सहामात्यः सबान्धवः ॥११॥
अब्रवीत् कुशलं राजन् प्रीयमाणः पुनः पुनः।
प्रीतिमाँस्ते दृढं चापि सम्बन्धेन नराधिप ॥१२॥

विदुरजी बोले—राजन्! आप अपने मन्त्रियों तथा पुत्रों के साथ मेरी बात सुनें। महाराज धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र, मन्त्री और बन्धुओं के साथ अत्यन्त प्रसन्न होकर बारम्बार आपकी कुशल पूछी है। राजेन्द्र! आपके साथ यह जो सम्बन्ध हुआ है, इससे उनको महती प्रसन्नता हुई है।

न तथा राज्यसम्प्राप्तिस्तेषां प्रीतिकरी मता।
यथा सम्बन्धकं प्राप्य यज्ञसेन त्वया सह ॥१३॥

हे यज्ञसेन! उन्हें राज्य की प्राप्ति भी उतनी प्रसन्नता देनेवाली नहीं जान पड़ी, जितनी प्रसन्नता आपके साथ सम्बन्ध का सौभाग्य पाकर हुई है।

विदित्वा तु भवानेतद् प्रस्थापयतु पाण्डवान्।
द्रष्टुं हि पाण्डुपुत्राँश्च त्वरन्ति कुरवो भृशम् ॥१४॥

यह जानकर आप पाण्डवों को हस्तिनापुर भेज दें। समस्त कुरुवंशी पाण्डवों को देखने और उनसे मिलने के लिए अत्यन्त उतावले हो रहे हैं।

स भवान् पाण्डुपुत्राणामाज्ञापयतु मा चिरम्।
गमनं सहदाराणामेतदत्र मतं मम ॥१५॥

अतः आप द्रौपदीसहित पाण्डवों को हस्तिनापुर चलने के लिए शीघ्र ही आज्ञा दीजिए। इस विषय में मेरी सम्मति यही है।

द्रुपद उवाच

एवमेतन् महाप्राज्ञ यथाऽऽत्थ विदुराद्य माम्।
ममापि परमो हर्षः सम्बन्धेऽस्मिन् कृते प्रभो ॥१६॥

द्रुपद ने कहा—महाप्राज्ञ विदुरजी! इस समय आपने जो कुछ मुझसे कहा है, वह सब ठीक है। प्रभो! [कौरवों के साथ] यह सम्बन्ध हो जाने से मुझे भी अपार हर्ष हुआ है।

गमनं चापि युक्तं स्याद् दृढमेषां महात्मनाम्।
न तु तावन्मया युक्तमेतद् वक्तुं स्वयं गिरा ॥१७॥
यदा तु मन्यते वीरः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
रामकृष्णौ च धर्मज्ञौ तदा गच्छन्तु पाण्डवाः ॥१८॥

महात्मा पाण्डवों का अपने नगर में जाना भी उचित ही है, तथापि मेरे लिए अपने मुख से उन्हें जाने के लिए कहना उचित नहीं है। यदि कुन्ती-कुमार वीरवर युधिष्ठिर तथा धर्मज्ञ बलराम और कृष्ण पाण्डवों का वहाँ जाना उचित समझते हों, तो ये अवश्य वहाँ जाएँ।

युधिष्ठिर उवाच

परवन्तो वयं राजँस्त्वयि सर्वे सहानुगाः।
यथा वक्ष्यसि नः प्रीत्या तत् करिष्यामहे वयम् ॥१९॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! हम सब लोग अपने सेवकोंसहित सदा आपके अधीन हैं। आप स्वयं प्रसन्नतापूर्वक हमसे जैसा कहेंगे, वही हम करेंगे।

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद् वासुदेवो गमनं मम रोचते।
यथा वा मन्यते राजा द्रुपदः सर्वधर्मवित् ॥२०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब श्रीकृष्ण ने कहा—"मुझे तो इनका जाना ही उचित जान पड़ता है। अथवा सब धर्मों के ज्ञाता महाराज द्रुपद जैसा उचित समझें, वैसा किया जाए।"

द्रुपद उवाच

यथैव मन्यते वीरो दाशार्हः पुरुषोत्तमः।
प्राप्तकालं महाबाहुः सा बुद्धिर्निश्चिता मम ॥२१॥

द्रुपद बोले—दशार्हकुल के रत्न वीरवर पुरुषोत्तम महाबाहु श्रीकृष्ण इस समय जो कर्तव्य उचित समझते हों, निश्चय ही मेरी भी वही सम्मति है।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते समनुज्ञाता द्रुपदेन महात्मना।
पाण्डवाश्चैव कृष्णश्च विदुरश्च महीपते ॥२२॥
आदाय द्रौपदीं कृष्णां कुन्तीं चैव यशस्विनीम्।
सविहारं सुखं जग्मुर्नगरं नागसाह्वयम् ॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजेन्द्र ! तब द्रुपद की आज्ञा पाकर पाण्डव, श्रीकृष्ण और विदुर द्रुपदकुमारी कृष्णा और यशस्विनी कुन्ती को साथ ले आमोद-प्रमोद करते हुए हस्तिनापुर की ओर चले।

श्रुत्वा चाप्यागतान् वीरान् धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
प्रतिग्रहाय पाण्डूनां प्रेषयामास कौरवान् ॥२४॥

राजा धृतराष्ट्र ने पाण्डुवीरों का आगमन सुनकर उनके स्वागत के लिए कौरवों को भेजा।

विकर्णं च महेष्वासं चित्रसेनं च भारत।
द्रोणं च परमेष्वासं गौतमं कृपमेव च ॥२५॥
तैस्ते परिवृता वीराः शोभमाना महाबलाः।
नगरं हास्तिनपुरं शनैः प्रविविशुस्तदा ॥२६॥

हे भारत ! विकर्ण, महाधनुर्धर चित्रसेन, विशाल धनुषवाले द्रोणाचार्य, गौतमवंशी कृपाचार्य आदि—इन सभी से घिरे हुए शोभाशाली महाबली वीर पाण्डवों ने धीरे-धीरे हस्तिनापुर नगर में प्रवेश किया। [उस समय—]

नागरिका ऊचुः

किं नु नाद्य कृतं तात सर्वेषां नः परं प्रियम्।
यन्नः कुन्तीसुता वीरा नगरं पुनरागताः ॥२७॥

पुरवासी कह रहे थे—तात ! कुन्ती के वीर पुत्र यदि पुनः इस नगर में चले आये तो आज हम सब लोगों का कौन-सा परमप्रिय कार्य सम्पन्न नहीं हो गया ? अर्थात् आज हमारे सभी परमप्रिय कार्य सम्पन्न हो गये।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते धृतराष्ट्रस्य भीष्मस्य च महात्मनः।
अन्येषां च तदर्हाणां चक्रुः पादाभिवन्दनम् ॥२८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—[उन वचनों को सुनते हुए थोड़ी ही देर में] पाण्डवों ने धृतराष्ट्र, महात्मा भीष्म तथा अन्य वन्दनीय पुरुषों के पास जाकर उन सबके चरणों में प्रणाम किया।

कृत्वा तु कुशलप्रश्नं सर्वेण नगरेण च।
समाविशन्त वेश्मानि धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥२९॥

फिर समस्त नगरवासियों से कुशलप्रश्न करके वे राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से राजमहलों में गये।

विश्रान्तास्ते महात्मानः कंचित् कालं महाबलाः।
आहूता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ॥३०॥

कुछ समय तक विश्राम कर लेने पर उन महाबली महात्मा पाण्डवों को राजा धृतराष्ट्र तथा भीष्मजी ने बुलवाया।

धृतराष्ट्र उवाच

भ्रातृभिः सह कौन्तेय निबोध गदतो मम।
अर्धं राज्यस्य सम्प्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविश ॥३१॥

धृतराष्ट्र बोले—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे अपने भाइयोंसहित ध्यान देकर सुनो—तुम आधा राज्य लेकर खाण्डवप्रस्थ में जाकर रहो।

वैशम्पायन उवाच

प्रतिगृह्य तु तद् वाक्यं नृपं सर्वे प्रणम्य च।
प्रतस्थिरे ततो घोरं वनं तन्मनुजर्षभाः ॥३२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्र की बात मानकर पाण्डवों ने उन्हें प्रणाम

किया और उस खाण्डवप्रस्थ की ओर चल दिये, जो भयंकर वन के रूप में था।

ततस्ते पाण्डवास्तत्र गत्वा कृष्णपुरोगमाः।
मण्डयाञ्चक्रिरे तद् वै परं स्वर्गवदच्युताः॥३३॥

तत्पश्चात् अपनी मर्यादा से कभी न डिगनेवाले पाण्डवों ने श्रीकृष्ण-सहित वहाँ पहुँचकर उस स्थान को उत्तम स्वर्गलोक की भाँति शोभायमान बना दिया।

ततः पुण्ये शिवे देशे शान्तिं कृत्वा महारथाः।
नगरं मापयामासुर्द्वैपायनपुरोगमाः॥३४॥

तत्पश्चात् पवित्र एवं कल्याणमय प्रदेश में शान्ति कर्म कराके महारथी पाण्डवों ने वेदव्याजी को अगुआ बनाकर नगर वसाने के लिए भूमि का नाप करवाया।

सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलंकृतम्।
प्राकारेण च सम्पन्नं दिवमावृत्य तिष्ठता॥३५॥
पाण्डुराभ्रप्रकाशेन हिमरश्मिनिभेन च।
शुशुभे तत् पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा॥३६॥

उसके चारों ओर समुद्र की भाँति विस्तृत एवं अगाध जल से भरी हुई खाइयाँ बनी थीं, जो उस समय नगर की शोभा बढ़ा रही थीं। श्वेत बादलों और चन्द्रमा के समान धवल तथा अपनी ऊँचाई से आकाशमण्डल को व्याप्त करनेवाली चहारदीवारी भी अति सुशोभित हो रही थी। जैसे नागों से भोगवती नगरी सुशोभित होती है, उसी प्रकार उस चहारदीवारी से खाई-सहित वह श्रेष्ठ नगर सुशोभित हो रहा था।

द्विपक्षगरुडप्रख्यैर्द्वारैः सौधैश्च शोभितम्।
गुप्तमभ्रचयप्रख्यैर्गोपुरैर्मन्दरोपमैः॥३७॥

उस नगर के द्वार ऐसे जान पड़ते थे, मानो गरुड़ ने अपने दोनों पंख फैला रखे हों। ऐसे अनेक बड़े-बड़े फाटक और अट्टालिकाएँ उस नगर की श्रीवृद्धि कर रही थीं। मेघों की घटा के समान सुशोभित तथा मन्दराचल के समान ऊँचे गोपुरों द्वारा वह नगर सब ओर से सुरक्षित था।

विविधैरपि निर्विद्धैः शस्त्रोपेतैः सुसंवृतैः।
शक्तिभिश्चावृतं तद्धि द्विजिह्वैरिव पन्नगैः॥३८॥

नाना प्रकार के अभेद्य तथा सब ओर से घिरे हुए शस्त्रागारों में शस्त्र-संग्रह करके रखे गये थे। नगर के चारों ओर हाथ से चलाई जानेवाली लोहे की शक्तियाँ निर्माण करके रखी गई थीं, जो दो जीभ-वाले साँपों के समान जान पड़ती थीं। इन सबके द्वारा उस नगर की सुरक्षा की गई थी।

तल्पैश्चाभ्यासिकैर्युक्तं शुशुभे योधरक्षितम्।
तीक्ष्णांकुशशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैश्च शोभितम्॥३९॥

जिनमें अस्त्र-शस्त्रों का अभ्यास किया जाता था, ऐसी अनेक अट्टालिकाओं से युक्त और योद्धाओं से सुरक्षित उस नगर की शोभा देखते ही बनती थी। तीखे अंकुशों=बर्छों, शतघ्नियों=तोपों और दूसरे युद्ध-सम्बन्धी यन्त्रों के जाल से वह नगर शोभा पा रहा था।

आयसैश्च महाचक्रैः शुशुभे तत् पुरोत्तमम्।
सुविभक्तमहारथ्यं देवताबाधवर्जितम्॥४०॥

लोह-निर्मित महान् चक्रों द्वारा उस उत्तम नगरी की अवर्णनीय शोभा हो रही थी। वहाँ विभागपूर्वक विभिन्न स्थानों में जाने के लिए विशाल एवं चौड़ी सड़कें बनी हुई थी। उस नगर में दैवी आपत्ति का नाम तक नहीं था।

विरोचमानं विविधैः पाण्डुरैर्भवनोत्तमैः।
तत् त्रिविष्टपसंकाशमिन्द्रप्रस्थं व्यरोचत॥४१॥

अनेक प्रकार के श्रेष्ठ एवं शुभ सदनों से सुशोभित वह नगर स्वर्गलोक के समान प्रकाशित हो रहा था। उसका नाम था इन्द्रप्रस्थ।

मेघवृन्दमिवाकाशे विद्धं विद्युत्समावृतम्।
तत्र रम्ये शिवे देशे कौरव्यस्य निवेशनम्॥४२॥

इन्द्रप्रस्थ के रमणीय एवं शुभ प्रदेश में कुरुराज युधिष्ठिर का सुन्दर राजभवन बना हुआ था, जो आकाश में विद्युत् की प्रभा से व्याप्त मेघमण्डल की भाँति देदीप्यमान था।

शुशुभे धनसम्पूर्णं धनाध्यक्षक्षयोपमम्।
तत्रागच्छन् द्विजा राजन् सर्ववेदविदां वराः॥४३॥
निवासं रोचयन्ति स्म सर्वभाषाविदस्तथा।
वणिजश्चाभ्ययुस्तत्र नानादिग्भ्यो धनार्थिनः।
सर्वशिल्पविदस्तत्र वासायाभ्यागमंस्तदा॥४४॥

अनन्त धन-राशि से परिपूर्ण होने के कारण वह

भवन धनाध्यक्ष कुबेर के निवास-स्थान के तुल्य था। राजन्! सम्पूर्ण वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ ब्राह्मण उस नगर में निवास करने के लिए आये, जो सम्पूर्ण भाषाओं के जानकार थे। उन्हें वहाँ का निवास बहुत भाया। अनेक दिशाओं से धनोपार्जन की इच्छावाले वणिक् भी उस नगर में आये। सब प्रकार की शिल्पकलाओं के जानकार मनुष्य भी उन दिनों इन्द्रप्रस्थ में निवास करने के लिए आ गये थे।

उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समन्ततः।
मल्लबर्हिणसंघुष्टकोकिलैश्च सदामदैः।
गृहैरादर्शविमलैर्विविधैश्च लतागृहैः॥४५॥

नगर के चारों ओर रमणीय उद्यान थे। मतवाले मयूरों के केकारव तथा सदा उन्मत्त रहनेवाली कोकिलाओं की काकली वहाँ गूँजती रहती थी। उन उद्यानों में दर्पण के समान स्वच्छ क्रीड़ा-भवन तथा नाना प्रकार के लता-मण्डप बनाये गये थे।

रम्याश्च विविधास्तत्र पुष्करिण्यो वनावृताः।
तडागानि च रम्याणि बृहन्ति सुबहूनि च॥४६॥

वहाँ वन से घिरी हुई भाँति-भाँति की रमणीय पुष्करिणियाँ [बावड़ियाँ] और सुरम्य एवं विशाल बहुसंख्यक तड़ाग बड़े सुन्दर जान पड़ते थे।

तेषां पुण्यजनोपेतं राष्ट्रमाविशतां महत्।
पाण्डवानां महाराज शश्वत् प्रीतिरवर्धत॥४७॥

महाराज! पुण्यात्मा मनुष्यों से भरे हुए उस महान् प्रदेश में प्रवेश करने के पश्चात् पाण्डवों की प्रसन्नता निरन्तर बढ़ती गई।

तां निवेश्य ततो वीरो रामेण सह केशवः।
ययौ द्वारवतीं राजन् पाण्डवानुमते तदा॥४८॥

हे राजन्! इस प्रकार उस पुरी को बसाकर बलरामजी के साथ वीरवर श्रीकृष्ण पाण्डवों की अनुमति ले उस समय द्वारकापुरी को चले गये।

प्राप्य राज्यं महातेजाः सत्यसन्धो युधिष्ठिरः।
पालयामास धर्मेण पृथिवीं भ्रातृभिः सह॥४९॥

इधर सत्यप्रतिज्ञ, महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर उस राज्य को पाकर अपने भाइयों के साथ धर्मपूर्वक पृथिवी का पालन करने लगे।

इति महाभारते आदिपर्वणि चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥३४॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

सुभद्रा-हरण, अर्जुन और सुभद्रा का विवाह, अभिमन्यु का जन्म

वैशम्पायन उवाच

अथ दीर्घेण कालेन रम्ये रैवतके गिरौ।
वृष्ण्यन्धकानामभवदुत्सवो नृपसत्तम॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! तदनन्तर दीर्घकाल के पश्चात् रमणीय रैवतक पर्वत पर वृष्णि और अन्धकवंश के लोगों का एक बहुत बड़ा उत्सव हुआ।

पौराश्च पादचारेण यानैरुच्चावचैस्तथा।
सदाराः सानुयात्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः॥२॥
ततो हलधरः क्षीवो रेवतीसहितः प्रभुः।
अनुगम्यमानो गन्धर्वैरचरत् तत्र भारत॥३॥

द्वारकापुरी के निवासी सैंकड़ों और हजारों मनुष्य अपनी स्त्रियों और सेवकों के साथ पैदल चलकर अथवा छोटी-बड़ी सवारियों के द्वारा आकर उस उत्सव में सम्मिलित हुए थे। भारत! महाबली बलरामजी हर्षोन्मत्त होकर वहाँ रेवती के साथ विचर रहे थे। उनके पीछे-पीछे गन्धर्व=गायक चल रहे थे।

चित्रकौतूहले तस्मिन् वर्तमाने महाद्भुते।
वासुदेवश्च पार्थश्च सहितौ परिजग्मतुः॥४॥

उस अत्यन्त अद्भुत और विचित्र कौतूहलपूर्ण उत्सव में श्रीकृष्ण और अर्जुन साथ-साथ घूम रहे थे।

तत्र चङ्क्रममाणौ तौ वसुदेवसुतां शुभाम्।
अलंकृतां सखीमध्ये भद्रां ददृशतुस्तदा॥५॥

इसी समय वसुदेवजी की सुन्दरी पुत्री सुभद्रा शृङ्गार से सुसज्जित हो, सखियों से घिरी हुई उधर आ निकली। वहाँ भ्रमण करते हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने उसे देखा।

दृष्ट्वैव तामर्जुनस्य कन्दर्पः समजायत।
तं तदकाग्रमनसं कृष्णः पार्थमलक्षयत् ॥६॥

उसे देखते ही अर्जुन के हृदय में कामाग्नि प्रज्वलित हो उठी। उनका चित्त उसी के चिन्तन में एकाग्र हो गया। श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन की उस मनोदशा को भाँप लिया।

कृष्ण उवाच

ममैषा भगिनी पार्थ पितुर्मे दयिता सुता।
यदि ते वर्तते बुद्धिर्वक्ष्यामि पितरं स्वयम् ॥७॥

श्रीकृष्ण बोले—कुन्तीनन्दन! यह मेरी सगी बहिन है। यह मेरे पिता की बड़ी लाड़ली पुत्री है। यदि तुम्हारा विचार इससे विवाह करने का हो, तो मैं स्वयं पिताजी से कहूँगा।

अर्जुन उवाच

दुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा।
रूपेण चैषा सम्पन्ना कमिवैषा न मोहयेत् ॥८॥

अर्जुन ने कहा—यह वसुदेवजी की पुत्री तथा वासुदेव की बहिन अनुपम रूप से सम्पन्न है। फिर यह किसका मन न मोह लेगी?

कृतमेव तु कल्याणं सर्वं मम भवेद् ध्रुवम्।
यदि स्यान्मम वार्ष्णेयी महिषीयं स्वसा तव ॥९॥

हे सखे! यदि यह वृष्णिकुल की कुमारी और आपकी बहिन सुभद्रा मेरी रानी हो सके तो निश्चय ही मेरा समस्त कल्याणमय मनोरथ पूर्ण हो जाए।

प्राप्तौ तु क उपायः स्यात् तं च ब्रूहि जनार्दन।
आस्थास्यामि तदा सर्वं यदि शक्यं नरेण तत् ॥१०॥

हे जनार्दन! बताइए, इसे प्राप्त करने का क्या उपाय हो सकता है? यदि मनुष्य के द्वारा कर सकने योग्य होगा तो वह सारा प्रयत्न मैं अवश्य करूँगा।

कृष्ण उवाच

स्वयंवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ।
स च संशयितः पार्थ स्वभावस्यानिमित्ततः ॥११॥

श्रीकृष्ण बोले—नरश्रेष्ठ पार्थ! क्षत्रियों के विवाह का स्वयंवर ही एक प्रकार है, परन्तु उसका परिणाम सन्दिग्ध होता है, क्योंकि स्त्रियों का स्वभाव अस्थिर होता है [पता नहीं, वे स्वयंवर में किसका वरण करें]।

प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते।
विवाहहेतुः शूराणामिति धर्मविदो विदुः ॥१२॥

बलपूर्वक कन्या का हरण भी शूरवीर क्षत्रियों के लिए विवाह का उत्तम हेतु कहा गया है, ऐसा धर्मज्ञ पुरुषों का मत है।

स त्वमर्जुन कल्याणीं प्रसह्य भगिनीं मम।
हर स्वयंवरे ह्यस्याः को वै वेद चिकीर्षितम् ॥१३॥

अर्जुन! मेरी सम्मति तो यही है कि तुम मेरी कल्याणमयी बहिन का बलपूर्वक हरण कर लो। कौन जानता है, स्वयंवर में उसकी क्या चेष्टा होगी—वह किसका वरण करना चाहेगी?

वैशम्पायन उवाच

ततोऽर्जुनश्च कृष्णश्च विनिश्चित्येतिकृत्यताम्।
शीघ्रगान् पुरुषानन्यान् प्रेषयामासतुस्तदा ॥१४॥
धर्मराजाय तत् सर्वमिन्द्रप्रस्थगताय वै।
श्रुत्वैव च महाबाहुरनुजज्ञे स पाण्डवः ॥१५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब अर्जुन और श्रीकृष्ण ने कर्तव्य का निश्चय करके कुछ दूसरे शीघ्रगामी पुरुषों को इन्द्रप्रस्थ में धर्मराज युधिष्ठिर के पास भेजा और सब बातें उन्हें सूचित करके उनकी सम्मति जानने की इच्छा प्रकट की। महाबाहु युधिष्ठिर ने यह सुनते ही अपनी ओर से आज्ञा दे दी।

ततः संवादिते तस्मिन्ननुज्ञातो धनञ्जयः।
गतां रैवतके कन्यां विदित्वा जनमेजय ॥१६॥
रथेन काञ्चनाङ्गेन सन्नद्धः कवची तदा।
मृगयाव्यपदेशेन प्रययौ पुरुषर्षभः ॥१७॥

जनमेजय! उस विवाह-सम्बन्धी संदेश पर युधिष्ठिर की आज्ञा मिल जाने के पश्चात् धनंजय को जब यह ज्ञात हुआ कि सुभद्रा रैवतक पर्वत पर गई हुई है तब नरश्रेष्ठ धनंजय धनुष-बाण और कवच-आदि से सुसज्जित होकर सुवर्णमय रथ पर आरूढ़ हो शिकार खेलने के बहाने रैवतक पर्वत पर जा पहुँचे।

सुभद्रा त्वथ शैलेन्द्रात् प्रययौ द्वारकां प्रति।
तामभिद्रुत्य कौन्तेयः प्रसह्यारोपयद् रथम् ॥१८॥

उधर सुभद्रा उस गिरिराज रैवतक पर्वत से द्वारका की ओर लौट रही थी। अर्जुन ने दौड़कर

सर्वाङ्ग-सुन्दरी सुभद्रा को वलपूर्वक पकड़कर अपने रथ पर वैठा लिया।

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तामादाय शुचिस्मिताम्।
रथेन काञ्चनाङ्गेन प्रययौ स्वपुरं प्रति ॥१९॥

फिर तो पुरुषसिंह धनंजय मधुर मुस्कानवाली सुभद्रा को साथ ले उस सुवर्णमय रथ द्वारा अपने नगर की ओर चल दिये।

ह्रियमाणां तु तां दृष्ट्वा सुभद्रां सैनिका जनाः।
विक्रोशन्तोऽद्रवन् सर्वे द्वारकामभितः पुरीम् ॥२०॥

सुभद्रा का अपहरण होता देख समस्त सैनिकगण हल्ला मचाते हुए द्वारकापुरी की ओर दौड़ पड़े।

तत् श्रुत्वा वृष्णिवीरास्ते मदसंरक्तलोचनाः।
अमृष्यमाणाः पार्थस्य समुत्पेतुरहंकृताः ॥२१॥

सुभद्रा-हरण की वात सुनते ही युद्धोन्माद से लाल नेत्रोंवाले वृष्णिवंशी वीर अर्जुन के प्रति अमर्ष से भर गये तथा गर्व से उछल पड़े।

योजयध्वं रथानाशु प्रासानाहरतेति च।
धनूंषि च महार्हाणि कवचानि बृहन्ति च ॥२२॥

[वे सब बड़ी उतावली से कहने लगे—]"जल्दी रथ जोतो, तुरन्त प्रास=प्रक्षेपणास्त्र ले आओ, धनुप तथा वहुमूल्य एवं विशाल कवच ले आओ।"

सूतानुच्चुक्रुशुः केचिद् रथान् योजयतेति च।
स्वयं च तुरगान् केचिदयुञ्जन् हेमभूषितान् ॥२३॥

कोई सारथियों को पुकार कर कहने लगे—"अरे! जल्दी रथ जोतो।" कुछ लोग स्वयं ही सोने के आभूषणों से विभूषित घोड़ों को रथों में जोतने लगे।

रथेष्वानीयमानेषु कवचेषु ध्वजेषु च।
अभिक्रन्दे नृवीराणां तदासीत् तुमुलं महत् ॥२४॥

रथ, कवच और ध्वजाओं के लाये जाते समय चारों ओर उन नरवीरों के कोलाहल से वहाँ बड़ी भारी तुमुल ध्वनि व्याप्त हो गई।

वनमाली ततः क्षीबः कैलासशिखरोपमः।
नीलवासा मदोत्सिक्त इदं वचनमब्रवीत् ॥२५॥

तदनन्तर कैलास-शिखर के समान गौरवर्णवाले, नीलवस्त्र और वनमाला धारण करनेवाले मदमस्त वलरामजी उन यादवों से इस प्रकार बोले—

किमिदं कुरुथाप्रज्ञास्तूष्णीं भूते जनार्दने।
अस्य भावमविज्ञाय संक्रुद्धा मोघगर्जिताः ॥२६॥

"मूर्खो! श्रीकृष्ण तो चुपचाप वैठे हैं, तुम यह क्या कर रहे हो? इनका अभिप्राय जाने विना ही तुम इतने कुपित हो उठे। तुम लोगों की यह गर्जना व्यर्थ ही है।

एष तावदभिप्रायमाख्यातु स्वं महामतिः।
यदस्य रुचिरं कर्तुं तत् कुरुध्वमतन्द्रिताः ॥२७॥

"पहले परम वुद्धिमान् श्रीकृष्ण अपना अभिप्राय वताएँ। तव जो कर्तव्य इन्हें उचित जान पड़े, उसी का आलस्य छोड़कर पालन करो।"

ततोऽब्रवीद् वासुदेवं वचो रामः परन्तपः।
किमवागुपविष्टोऽसि प्रेक्षमाणो जनार्दन ॥२८॥

तत्पश्चात् शत्रुदमन वलरामजी श्रीकृष्ण से वोले—हे जनार्दन! यह सव-कुछ देखते हुए भी तुम मौन होकर क्यों वैठे हो?

सत्कृतस्त्वत्कृते पार्थः सर्वैरस्माभिरच्युत।
न च सोऽर्हति तां पूजां दुर्बुद्धिः कुलपांसनः ॥२९॥

"अच्युत! तुम्हारे सन्तोष के लिए ही हम सव लोगों ने अर्जुन का इतना आदर-सत्कार किया, परन्तु वह खोटी वुद्धिवाला कुलाङ्गार उस सत्कार के योग्य कदापि नहीं था।

को हि तत्रैव भुक्त्वान्नं भाजनं भेत्तुमर्हति।
मन्यमानः कुले जातमात्मानं पुरुषः क्वचित् ॥३०॥

"अपने आपको कुलीन माननेवाला कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो जिस हाँडी में खाये, उसी में छेद करे?

सोऽवमन्य च नामास्मानानादृत्य च केशवम्।
प्रसह्य हृतवानद्य सुभद्रां मृत्युमात्मनः ॥३१॥

"उसने हम लोगों का अपमान और केशव का अनादर करके आज वलपूर्वक सुभद्रा का अपहरण किया है, जो उसके लिए अपनी मृत्यु का कारण है।

कथं हि शिरसो मध्ये पदं तेन कृतं मम।
मर्षयिष्यामि गोविन्द पादस्पर्शमिवोरगः ॥३२॥

"गोविन्द! जैसे सर्प पैर की ठोकर नहीं सह सकता, उसी प्रकार उसने मेरे सिर पर जो पैर रख दिया है, उसे मैं कैसे सह सकता हूँ?

अद्य निष्कौरवामेकः करिष्यामि वसुन्धराम् ।
न हि मे मर्षणीयोऽयमर्जुनस्य व्यतिक्रमः ।।३३।।

"अर्जुन का यह अन्याय मेरे लिए असह्य है। आज मैं अकेला ही इस वसुन्धरा को कुरुवंशियों से विहीन कर दूंगा ।"

कृष्ण उवाच

नावमानं कुलस्यास्य गुडाकेशः प्रयुक्तवान् ।
सम्मानोऽभ्यधिकस्तेन प्रयुक्तोऽयं न संशयः ।।३४।।

श्रीकृष्ण बोले—बलदेव ! निद्राजित् अर्जुन ने इस कुल का अपमान नहीं किया है, अपितु ऐसा करके उन्होंने इस कुल के प्रति अधिक सम्मान का भाव ही प्रकट किया है, इसमें संशय नहीं है ।

अर्थलुब्धान् न वः पार्थो मन्यते सात्वतान् सदा ।
स्वयंवरमनाधृष्यं मन्यते चापि पाण्डवः ।।३५।।

पृथापुत्र अर्जुन यह जानते हैं कि सात्वतवंशी कभी धन के लोभी नहीं रहे, अतः धन देकर कन्या नहीं ली जा सकती । साथ ही पाण्डुपुत्र अर्जुन को यह भी ज्ञात है कि स्वयंवर में कन्या के मिल जाने का पूर्ण निश्चय नहीं रहता, अतः वह भी अग्राह्य ही है ।

प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत् कः प्रतीक्षते ।
विक्रयं चाप्यपत्यस्य कः कुर्यात् पुरुषो भुवि ।।३६।।

भला कौन ऐसा वीर पुरुष होगा, जो पशु की भाँति पराक्रम-शून्य होकर कन्या-दान की प्रतीक्षा में बैठा रहेगा और इस पृथिवी पर ऐसा अधम पुरुष कौन होगा, जो धन लेकर अपनी सन्तान को बेचेगा ?

एतान् दोषांस्तु कौन्तेयो दृष्टवानिति मे मतिः ।
अतः प्रसह्य हृतवान् कन्यां धर्मेण पाण्डवः ।।३७।।

मेरा विश्वास है कि कुन्तीपुत्र अर्जुन ने इन सभी दोषों की ओर दृष्टिपात किया है और फिर क्षत्रिय-धर्म के अनुसार बलपूर्वक कन्या का अपहरण किया है ।

उचितश्चैव सम्बन्धः सुभद्रा च यशस्विनी ।
एष चापीदृशः पार्थः प्रसह्य हृतवानिति ।।३८।।

मेरे विचार में तो यह सम्बन्ध अति उचित है। सुभद्रा यशस्विनी है तथा ये कुन्तीपुत्र अर्जुन भी ऐसे ही यशस्वी हैं, अतः इन्होंने बलपूर्वक सुभद्रा का अपहरण किया है ।

भरतस्यान्वये जातं शान्तनोश्च यशस्विनः ।
कुन्तिभोजात्मजापुत्रं को बुभूषेत नार्जुनम् ।।३९।।

महाराज भरत तथा यशस्वी शान्तनु के कुल में जिनका जन्म हुआ है, जो कुन्तीभोजकुमारी कुन्ती के पुत्र हैं, ऐसे वीरवर अर्जुन को कौन अपना सम्बन्धी न बनाना चाहेगा ?

न च पश्यामि यः पार्थं विजयेत रणे बलात् ।
अपि सर्वेषु लोकेषु सेन्द्ररुद्रेषु मारिष ।।४०।।

आर्य ! इन्द्रलोक और रुद्रलोक-सहित सम्पूर्ण लोकों में मैं किसी ऐसे वीर को नहीं देखता, जो संग्राम में बलपूर्वक पार्थ को परास्त कर सके ।

तमभिद्रुत्य सान्त्वेन परमेण धनञ्जयम् ।
न्यवर्तयत संहृष्टा ममैषा परमा मतिः ।।४१।।

अतः आप लोग प्रसन्नतापूर्वक दौड़ जाइए और सान्त्वना प्रदान कर वीरवर अर्जुन को लौटा लाइए । मेरी तो यही परम सम्मति है ।

वैशम्पायन उवाच

तत् श्रुत्वा वासुदेवस्य तथा चक्रुर्जनाधिप ।
निवृत्तश्चार्जुनस्तत्र विवाहं कृतवान् प्रभुः ।।४२।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्ण का वह परामर्श सुनकर यादवों ने वैसा ही किया । शक्तिशाली अर्जुन द्वारका में लौट आये और वहाँ उन्होंने सुभद्रा से विवाह किया ।

उषित्वा तत्र कौन्तेयः संवत्सरपराः क्षपाः ।
विहृत्य च यथाकामं खाण्डवप्रस्थमागतः ।।४३।।

एक वर्ष से भी कुछ अधिक दिन तक वहाँ रहकर और इच्छानुसार विहार करके अर्जुन खाण्डवप्रस्थ में लौट आये ।

ततः सुभद्रा सौभद्रं केशवस्य प्रिया स्वसा ।
जयन्तमिव पौलोमी ख्यातिमन्तमजीजनत् ।।४४।।

तदनन्तर कुछ काल के पश्चात् कृष्ण की प्यारी बहिन सुभद्रा ने यशस्वी सौभद्र को जन्म दिया, ठीक उसी प्रकार, जैसे शची ने जयन्त को उत्पन्न किया था ।

दीर्घबाहुं महोरस्कं वृषभाक्षमरिन्दमम् ।
सुभद्रा सुषुवे वीरमभिमन्युं नरर्षभम् ।।४५।।

सुभद्रा ने वीरवर नरश्रेष्ठ अभिमन्यु को जन्म दिया जिसकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं। उसका वक्ष:-स्थल विशाल और नेत्र बैल की आँखों के समान बड़े-बड़े थे। वह शत्रुओं का दमन करनेवाला था।

अभीश्च मन्युमांश्चैव ततस्तमरिमर्दनम्।
अभिमन्युमिति प्राहुरार्जुनिं पुरुषर्षभम् ॥४६॥

वह अभी:=निर्भय तथा मन्युमान् [क्रुद्ध होकर लड़नेवाला] था, अत: पुरुषोत्तम अर्जुनकुमार को सब लोग 'अभिमन्यु' कहने लगे।

जन्मप्रभृति कृष्णश्च चक्रे तस्य क्रिया: शुभा:।
स चापि ववृधे बाल: शुक्लपक्षे यथा शशी ॥४७॥

श्रीकृष्ण ने जन्म से ही उसके लालन-पालन की सुन्दर व्यवस्थाएँ की थीं। बालक अभिमन्यु भी शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति बढ़ने लगा।

चतुष्पादं दशविधं धनुर्वेदमरिन्दम:।
अर्जुनाद् वेद वेदज्ञ: सकलं दिव्यमानुषम् ॥४८॥

उस शत्रुदमन बालक ने वेदों का ज्ञान प्राप्त करके अपने पिता अर्जुन से चार पदों[1] और दशविध[2] अङ्गों से युक्त दिव्य एवं मानुष[3] सब प्रकार के धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

विज्ञानेष्वपि चास्त्राणां सौष्ठवे च महाबल:।
क्रियास्वपि च सर्वासु विशेषानभ्यशिक्षयत् ॥४९॥

अस्त्रों के विज्ञान, सौष्ठव=प्रयोगपटुता और सम्पूर्ण क्रियाओं में भी महाबली अर्जुन ने उसे विशेष शिक्षा दी थी।

आगमे च प्रयोगे च चक्रे तुल्यमिवात्मन:।
तुतोष पुत्रं सौभद्रं प्रेक्षमाणो धनञ्जय: ॥५०॥

धनंजय ने अभिमन्यु को [अस्त्र-शस्त्रों के] आगम और प्रयोग में अपने समान बना दिया था।[4] वे सुभद्राकुमार को देखकर बहुत सन्तुष्ट रहते थे।

---

१. धनुर्वेद में निम्न चार पाद बताये गये हैं—
मन्त्रमुक्तं पाणिमुक्तं मुक्तामुक्तं तथैव च।
अमुक्तं च धनुर्वेदे चतुष्पाच्छस्त्रमीरितम् ॥
मन्त्रमुक्त, पाणिमुक्त, मुक्तामुक्त और अमुक्त—धनुर्वेद में शस्त्र के ये चार पाद बताये गये हैं।

जिसका मान्त्रिक प्रयोग होता है, उपसंहार नहीं होता उसे 'मन्त्रमुक्त' कहते हैं। जिसे हाथ में लेकर धनुष द्वारा छोड़ा जाए, उसे 'पाणिमुक्त' कहते हैं। जिसका प्रयोग और उपसंहार दोनों हों, वह 'मुक्तामुक्त' कहलाता है। जो छोड़ा नहीं जाता, जिसके देखने मात्र से ही शत्रु भाग जाते हैं, वह 'अमुक्त' कहलाता है।

अथवा—सूत्र, शिक्षा, प्रयोग और रहस्य—ये धनुर्वेद के चार पाद हैं।

२. धनुर्वेद के दश अङ्ग निम्न हैं—
आदानमथ सन्धानं मोक्षणं विनिवर्तनम्।
स्थानं मुष्टि: प्रयोगश्च प्रायश्चित्तानि मण्डलम्।
रहस्यं चेति दशधा धनुर्वेदाङ्गमिष्यते ॥
आदान, सन्धान, मोक्षण, विनिवर्तन, स्थान, मुष्टि, प्रयोग, प्रायश्चित्त, मण्डल और रहस्य—ये धनुर्वेद के दश अङ्ग हैं।

तरकस से बाण को निकालना 'आदान' है। बाण को धनुष की प्रत्यञ्चा पर चढ़ाना 'सन्धान' है, उसे लक्ष्य पर छोड़ने को 'मोक्षण' कहते हैं। छोड़े हुए बाण को वापस लौटाना 'विनिवर्तन' है। शरसन्धान-काल में धनुष और प्रत्यञ्चा के मध्यदेश को 'स्थान' कहते हैं। तीन अथवा चार अंगुलियों का सहयोग 'मुष्टि' कहलाता है। तर्जनी और मध्यमा अंगुलि के अथवा मध्यमा और अंगुष्ठ के मध्य से बाण का सन्धान करना 'प्रयोग' कहा जाता है। स्वत: अथवा दूसरे से प्राप्त होनेवाले ज्याघात [धनुष की डोरी के आघात] और बाण के आघात को रोकने के लिए दस्तानों के प्रयोग को 'प्रायश्चित्त कहते हैं। चक्राकार घूमते हुए रथ के साथ-साथ घूमनेवाले लक्ष्य का वेध 'मण्डल' कहलाता है। शब्द सुनकर लक्ष्य-वेधन अथवा एक ही समय में अनेक लक्ष्यों को बींध डालना—ये सब 'रहस्य' के अन्तर्गत आते हैं।

३. ब्रह्मास्त्र आदि को दिव्य और खड्ग आदि को मानुष कहते हैं।

४. लोक में ऐसी मिथ्या धारणा है कि युद्ध के समय अभिमन्यु की अवस्था केवल सोलह वर्ष थी। पाठक इस स्थल को ध्यानपूर्वक पढ़ें। यदि युद्ध के समय अभिमन्यु की अवस्था सोलह वर्ष थी, तो पाण्डवों के वनवास से पूर्व उसकी अवस्था लगभग तीन वर्ष होनी चाहिए। क्या अर्जुन ने तीन वर्ष के अभिमन्यु को सारे अस्त्र-शस्त्रों में पारंगत बना दिया था?

सर्वसंहननोपेतं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
दुर्धर्षमृषभस्कन्धं व्यात्ताननमिवोरगम् ।।५१।।
सिंहदर्पं महेष्वासं मत्तमातङ्गविक्रमम् ।
मेघदुन्दुभिनिर्घोषं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ।।५२।।
कृष्णस्य सदृशं शौर्ये वीर्ये रूपे तथाऽऽकृतौ ।
ददर्श पुत्रं बीभत्सुर्मघवानिव तं यथा ।।५३।।

दूसरों को तिरस्कृत करनेवाले, समस्त सद्गुणों से सम्पन्न, सभी उत्तम लक्षणों से सुशोभित एवं दुर्धर्ष, वृषभ के समान हृष्ट-पुष्ट कन्धोंवाले, शत्रुओं को मुंह खोले हुए सर्प की भाँति भयानक प्रतीत होनेवाले, सिंह के समान गर्वीले और मदमस्त, गजराज की भाँति पराक्रमी, महाधनुर्धर, मेघ और दुन्दुभि के समान गम्भीर स्वरवाले, पूर्ण चन्द्रमा के समान मुखवाले, शौर्य, पराक्रम, रूप और आकृति में श्रीकृष्ण के समान प्रतीत होनेवाले अपने उस पुत्र को अर्जुन वैसी ही प्रसन्नता से देखते थे, जैसे इन्द्र उन्हें देखा करते थे ।

इति महाभारते आदिपर्वणि पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ।।३५।।

षट्त्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिर के राज्य की विशेषता, श्रीकृष्ण की सहायता से अर्जुन के द्वारा खाण्डव वन का दाह

वैशम्पायन उवाच

इन्द्रप्रस्थे वसन्तस्ते जघ्नुरन्यान् नराधिपान् ।
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य राज्ञः शान्तनवस्य च ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्र तथा शान्तनुनन्दन भीष्मजी की आज्ञा से इन्द्रप्रस्थ में रहनेवाले पाण्डवों ने अन्य बहुत से भूपालों को, जो उनके शत्रु थे, मौत के घाट उतार दिया था ।

आश्रित्य धर्मराजं तं सर्वलोकोऽवसत् सुखम् ।
पुण्यलक्षणकर्माणं स्वदेहमिव देहिनः ।।२।।

धर्मराज युधिष्ठिर का आश्रय लेकर सब लोग सुखपूर्वक रहने लगे, जैसे जीवात्मा पुण्यकर्मों के फलस्वरूप उत्तम शरीर को पाकर सुख से रहता है।

न ह्ययुक्तं न चासत्यं नासह्यं न च विप्रियम् ।
भाषितं चारुभाषस्य जज्ञे पार्थस्य धीमतः ।।३।।

सदा मधुर बोलनेवाले, बुद्धिमान् कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर के मुख से कभी कोई अनुचित, असत्य, असह्य और अप्रिय बात नहीं निकलती थी ।

स हि सर्वस्य लोकस्य हितमात्मन एव च ।
चिकीर्षन् सुमहातेजा रेमे भरतसत्तम ।।४।।

भरतश्रेष्ठ ! महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर सब लोगों का तथा अपना भी हित करने की चेष्टा में रहकर सदा प्रसन्नतापूर्वक जीवन-यापन करने में दत्त-चित्त रहते थे ।

तथा तु मुदिताः सर्वे पाण्डवा विगतज्वराः ।
अवसन् पृथिवीपालाँस्तापयन्तः स्वतेजसा ।।५।।

इसी प्रकार सभी पाण्डव अपने तेज से दूसरे नरेशों को सन्तप्त करते हुए निश्चिन्त तथा आनन्द-मग्न होकर वहाँ निवास करते थे ।

ततः कतिपयाहस्य बीभत्सुः कृष्णमब्रवीत् ।
उष्णानि कृष्ण वर्तन्ते गच्छावो यमुनां प्रति ।।६।।

इस प्रकार आनन्दपूर्वक निवास करते हुए कुछ दिनों पश्चात् अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—"कृष्ण ! भीषण गरमी पड़ रही है । चलिए, यमुना में स्नान के लिए चलें ।

सुहृज्जनवृतौ तत्र विहृत्य मधुसूदन ।
सायाह्ने पुनरेष्यावो रोचतां ते जनार्दन ।।७।।

"हे मधुसूदन ! मित्रों के साथ वहाँ जल-विहार करके हम लोग सायंकाल तक वापस आ जाएँगे । जनार्दन ! आपकी इच्छा हो तो चलें ।"

वासुदेव उवाच

कुन्तीमातर्ममाप्येतद् रोचते यद् वयं जले ।
सुहृज्जनवृताः पार्थ विहरेम यथासुखम् ।।८।।

श्रीकृष्ण बोले—कुन्तीनन्दन ! मेरी भी ऐसी इच्छा हो रही है कि हम लोग सुहृदों के साथ वहाँ चलकर सुखपूर्वक जल-विहार करें ।

वैशम्पायन उवाच

आमन्त्र्य तौ धर्मराजमनुज्ञाप्य च भारत।
जग्मतुः पार्थगोविन्दौ सुहृज्जनवृतौ ततः ॥९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे भारत! यह विचार-विमर्श करके युधिष्ठिरजी की आज्ञा ले अर्जुन और श्रीकृष्ण सुहृदों के साथ वहाँ गये।

विहारदेशं सम्प्राप्य नानाद्रुममनुत्तमम्।
यथोपजोषं सर्वश्च जनश्चिक्रीड भारत ॥१०॥

हे भारत! नाना प्रकार के वृक्षों से सुशोभित विहार-स्थान पर पहुँचकर सब लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार जल-क्रीड़ा करने लगे।

तस्मिंस्तदा वर्तमाने कुरुदाशार्हनन्दनौ।
समीपं जग्मतुः कञ्चिदुद्देशं सुमनोहरम् ॥११॥

जब वहाँ जल-क्रीड़ा-विहार का आनन्दमय उत्सव चल रहा था, उसी समय श्रीकृष्ण और अर्जुन समीप ही किसी अत्यन्त मनोहर प्रदेश में गये।

तत्र गत्वा व्यतीतानि विक्रान्तानीतराणि च।
बहूनि कथयित्वा तौ रेमाते पार्थमाधवौ ॥१२॥

वहाँ जाकर श्रीकृष्ण और अर्जुन पहले किये हुए पराक्रमों तथा अन्य अनेक प्रकार की बातों की चर्चा करके आमोद-प्रमोद करने लगे।

तत्रोपविष्टौ मुदितौ नाकपृष्ठेऽश्विनाविव।
अभ्यागच्छत् तदा विप्रो वासुदेवधनञ्जयौ ॥१३॥

वहाँ प्रसन्नतापूर्वक बैठे हुए धनंजय और वासुदेव स्वर्गलोक में स्थित दोनों अश्विनीकुमारों की भाँति सुशोभित हो रहे थे। उसी समय उन दोनों के पास एक ब्राह्मण देवता आये।

सोऽब्रवीदर्जुनं चैव वासुदेवं च सात्वतम्।
लोकप्रवीरौ तिष्ठन्तौ खाण्डवस्य समीपतः ॥१४॥

उस ब्राह्मण ने अर्जुन और सात्वतवंशी श्रीकृष्ण से, जो विख्यात वीर थे तथा खाण्डव वन के समीप ठहरे हुए थे, इस प्रकार कहा—

स युवाभ्यां सहायाभ्यामस्त्रविद्भ्यां समागतः।
दहेयं खाण्डवं दावमेतदन्नं वृतं मया ॥१५॥

आप दोनों अस्त्रविद्या के पूर्ण जानकार हैं, अतः मैं इस उद्देश्य से आपके पास आया हूँ कि आप दोनों की सहायता से मैं इस खाण्डव वन को जला सकूँ। मैं आपसे इसी अन्न की भिक्षा माँगता हूँ।

अर्जुन उवाच

उत्तमास्त्राणि मे सन्ति दिव्यानि च बहूनि च।
यैरहं शक्नुयां योद्धुमपि वज्रधरान् बहून् ॥१६॥
धनुर्मे नास्ति भगवन् बाहुवीर्येण सम्मितम्।
कुर्वतः समरे यत्नं वेगं यद् विषहेन्मम ॥१७॥

अर्जुन बोले—भगवन्! मेरे पास बहुत-से दिव्य एवं उत्तम अस्त्र हैं, जिनके द्वारा मैं एक क्या, अनेक वज्रधारियों से युद्ध कर सकता हूँ। परन्तु मेरे पास मेरे बाहुबल के अनुरूप धनुष नहीं है, जो युद्ध-भूमि में युद्ध के लिए प्रयत्नशील मेरे वेग को सह सके।

शरैश्च मेऽर्थो बहुभिरक्षयैः क्षिप्रमस्यतः।
न हि वोढं रथः शक्तः शरान् मम यथेप्सितान् ॥१७

इसके अतिरिक्त शीघ्रतापूर्वक बाण चलाते रहने के लिए मुझे इतने अधिक बाणों की आवश्यकता होगी, जो कभी समाप्त न हों। साथ ही मेरी इच्छा के अनुरूप बाणों को ढोने के लिए शक्तिशाली रथ भी मेरे पास नहीं है।

अश्वांश्च दिव्यानिच्छेयं पाण्डुरान् वातरंहसः।
रथं च मेघनिर्घोषं सूर्यप्रतिमतेजसम् ॥१८॥
तथा कृष्णस्य वीर्येण नायुधं विद्यते समम्।
येन नागान् पिशाचांश्च निहन्यान्माधवो रणे ॥१९॥

मैं वायु के समान वेगवान् श्वेत रंग के दिव्य घोड़े तथा मेघ के समान गम्भीर घोष करनेवाला और सूर्य के समान तेजस्वी रथ भी चाहता हूँ। इसी प्रकार इन श्रीकृष्ण के बल-पराक्रम के अनुसार कोई आयुध इनके पास भी नहीं है, जिससे ये नागों और पिशाचों को युद्ध में मार सकें।

पौरुषेण तु यत् कार्यं तत् कर्तारौ स्व पावक।
करणानि समर्थानि भगवन् दातुमर्हसि ॥२०॥

भगवन्! निष्पाप देव! पुरुषार्थ से जो कार्य हो सकता है, उसे हम लोग करने के लिए तैयार हैं; परन्तु इसके लिए सुदृढ़ साधन जुटा देने की कृपा आपको करनी होगी।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स भगवान् धूमकेतुर्हुताशनः।
प्राधाच्चैव धनूरत्नमक्षय्ये च महेषुधी ॥२१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुन के ऐसा कहने पर उस तेजस्वी ब्राह्मण ने उन्हें धनुषों में रत्न के समान गाण्डीव तथा बाणों से भरे हुए दो अक्षय एवं बड़े तरकस भी दिये।

रथं च दिव्याश्वयुजं कपिप्रवरकेतनम्।
उपेतं राजतैरश्वैर्गान्धर्वैर्हेममालिभिः ॥२२॥

इनके अतिरिक्त ब्राह्मणदेव ने दिव्य घोड़ों से जुता हुआ एक रथ भी प्रस्तुत किया, जिसकी ध्वजा पर कपिश्रेष्ठ विराजमान था। उसमें जुते हुए घोड़ों का रंग चाँदी के समान श्वेत था। वे सभी घोड़े गन्धर्वदेश में उत्पन्न तथा स्वर्ण-मालाओं से समलंकृत थे।

तच्च दिव्यं धनुःश्रेष्ठं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा।
गाण्डीवमुपसंगृह्य बभूव मुदितोऽर्जुनः ॥२३॥

पूर्वकाल में ब्रह्माजी द्वारा निर्मित उस दिव्य एवं श्रेष्ठ गाण्डीव धनुष को हाथ में लेकर अर्जुन बहुत प्रसन्न हुए।

लब्ध्वा रथं धनुश्चैव तथाक्षय्ये महेषुधी।
बभूव कल्यः कौन्तेयः प्रहृष्टः साह्यकर्मणि ॥२४॥

उस रथ, धनुष तथा अक्षय तरकसों को पाकर कुन्तीनन्दन अर्जुन अत्यन्त प्रसन्न हो ब्राह्मण देव की सहायता करने में समर्थ हो गये।

वज्रनाभं ततश्चक्रं ददौ कृष्णाय पावकः।
आग्नेयमस्त्रं दयितं स च कल्योऽभवत् तदा ॥२५॥

तत्पश्चात् उस निष्पाप ब्राह्मण ने श्रीकृष्ण को एक चक्र दिया, जिसका मध्य भाग वज्र के समान था। उस आग्नेय सुदर्शन चक्र को पाकर श्रीकृष्ण भी उस समय सहायता के लिए समर्थ हो गये।

ब्राह्मण उवाच

क्षिप्तं क्षिप्तं रणे चैतत् त्वया माधव शत्रुषु।
हत्वाप्रतिहतं संख्ये पाणिमेष्यति ते पुनः ॥२६॥

ब्राह्मणदेव ने कहा—माधव ! युद्ध में आप जब-जब इसे शत्रुओं पर चलाएँगे, तब-तब यह उन्हें शीघ्र ही मारकर और स्वयं किसी वज्र से नष्ट न होकर पुनः आपके हाथ में आ जाएगा।[1]

वैशम्पायन उवाच

ततः पावकमब्रूतां प्रहृष्टावर्जुनाच्युतौ।
कल्यौ स्वो भगवन् योद्धुमपि सर्वैः सुरासुरैः ॥२७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अस्त्र-शस्त्र प्राप्त कर अर्जुन और श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर उस निष्पाप ब्राह्मण से कहा—"भगवन् ! अब हम दोनों देवताओं तथा असुरों से भी युद्ध करने में समर्थ हो गये हैं।

अर्जुन उवाच

सर्वतः परिवार्यैनं दावेन महता प्रभो।
कामं सम्प्रज्वलाद्यैव कल्यौ स्वः साह्यकर्मणि ॥२८॥

अर्जुन बोले—महाप्रभो ! अब आप इस सम्पूर्ण वन को चारों ओर से घेरकर आज ही इच्छानुसार जलाइए, हम आपकी सहायता के लिए तैयार हैं।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स भगवान् दाशार्हेणार्जुनेन च।
तैजसं रूपमास्थाय दावं दग्धुं प्रचक्रमे ॥२९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्ण और अर्जुन के ऐसा कहने पर उस ब्राह्मण ने तेजोमय रूप धारण करके उस खाण्डव वन को सब ओर से जलाना आरम्भ किया।

तौ रथाभ्यां रथश्रेष्ठौ दावस्योभयतः स्थितौ।
दिक्षु सर्वासु भूतानां चक्राते कदनं महत् ॥३०॥

उधर रथियों में श्रेष्ठ वे दोनों वीर दो रथों में बैठकर खाण्डव वन के दोनों ओर खड़े हो गये और सब दिशाओं में घूम-घूमकर प्राणियों का महान् संहार करने लगे।

यत्र यत्र च दृश्यन्ते प्राणिनः खाण्डवालयाः।
पलायन्तः प्रवीरौ तौ तत्र तत्राभ्यधावताम् ॥३१॥

खाण्डव वन में रहनेवाले प्राणी जहाँ-जहाँ भागते दिखाई देते, वहीं-वहीं वे दोनों प्रमुख वीर उनका पीछा करते।

खाण्डवे दह्यमाने तु भूताः शतसहस्रशः।
उत्पेतुर्भैरवान् नादान् विनदन्तः समन्ततः ॥३२॥

जब खाण्डव वन में आग फैल गई और वह अच्छी प्रकार जलने लगा, उस समय लाखों प्राणी

---

1. यहाँ प्राचीन भारत के अस्त्र-विज्ञान का अवलोकन कीजिए। आधुनिक युग के परम बुद्धिमान् वैज्ञानिक भी अभी तक किसी ऐसे शस्त्र का आविष्कार नहीं कर सके हैं।

भयानक चीत्कार करते हुए चारों ओर उछलने-कूदने और भागने-दौड़ने लगे।

दग्धैकदेशा बहवो निष्टप्ताश्च तथापरे।
स्फुटिताक्षा विशीर्णाश्च विलुप्ताश्च तथापरे ॥३३॥

बहुत-से प्राणियों के शरीर का एक भाग जल गया था, बहुतेरे अग्नि में झुलस गये थे, कितनों की आँखें फूट गई थीं और कितनों के शरीर फट गये थे और बहुत-से भागकर छुप गये।

द्विपाः प्रभिन्नाः शार्दूलाः सिंहाः केसरिणस्तथा।
मृगाश्च महिषाश्चैव शतशः पक्षिणस्तथा।
समुद्विग्ना विससृपुस्तथान्या भूतजातयः ॥३४॥

मद की धारा बहानेवाले हाथी, शार्दूल, केसरी, सिंह, मृग, भैंसे, सैंकड़ों पक्षी तथा दूसरी-दूसरी जाति के प्राणी अत्यन्त उद्विग्न हो इधर-उधर भागने लगे।

पिशाचान् पक्षिणो नागान् पशूंश्चैव सहस्रशः।
निघ्नंश्चरति वार्ष्णेयः कालवत् तत्र भारत ॥३५॥

हे भरतभूषण! श्रीकृष्ण वहाँ सहस्रों पिशाचों, पक्षियों, नागों तथा पशुओं का वध करते हुए काल के समान विचर रहे थे।

क्षिप्तं क्षिप्तं पुनश्चक्रं कृष्णस्यामित्रघातिनः।
छित्त्वानेकानि सत्त्वानि पाणिमेति पुनः पुनः ॥३६॥

शत्रुघाती श्रीकृष्ण द्वारा बार-बार चलाया हुआ वह चक्र अनेक प्राणियों को तहस-नहस करके पुनः उनके हाथ में लौट आता था।

समेतानां च सर्वेषां दानवानां च सर्वशः।
विजेता नाभवत् कश्चित् कृष्णपाण्डवयोर्मृधे ॥३७॥

वहाँ सब ओर से सम्पूर्ण दानव एकत्र हो गये थे, तथापि उनमें से एक भी ऐसा नहीं निकला, जो युद्ध में श्रीकृष्ण और अर्जुन को जीत सके।

न च स्म किञ्चिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः।
संछिद्यमानमिषुभिरस्यता सव्यसाचिना ॥३८॥

सव्यसाची अर्जुन के बाण चलाते समय उनके बाणों से कट जाने के कारण कोई भी जीव वहाँ से बाहर नहीं निकल सका।

नाशक्नुवंश्च भूतानि महान्त्यपि रणेऽर्जुनम्।
निरीक्षितुममोघास्त्रं योद्धुं चापि कुतो रणे।
शतं चैकेन विव्याध शतेनैकं पतत्त्रिणाम् ॥३९॥

अमोघ अस्त्रधारी अर्जुन को उस समय बड़े-से-बड़े प्राणी देख भी न सके, फिर रणभूमि में युद्ध तो कर ही कैसे सकते थे? अर्जुन कभी एक ही बाण से सैंकड़ों को बींध डालते थे और कभी एक ही को सौ बाणों से घायल कर देते थे।

भूतसंघाश्च बहवो दीनाश्चक्रुर्महास्वनम्।
रुरुदुर्वारणाश्चैव तथा मृगतरक्षवः ॥४०॥

बहुतेरे प्राणियों के समुदाय कातर होकर जोर-जोर से चीत्कार करने लगे। हाथी, मृग और चीते भी रो रहे थे।

तथाऽसुरं मयं नाम तक्षकस्य निवेशनात्।
विप्रद्रवन्तं सहसा ददर्श मधुसूदनः ॥४१॥

इसी समय तक्षक के निवास-स्थान से निकलकर सहसा भागते हुए मयासुर पर मधुसूदन [मधु नामक राक्षस को मारनेवाले श्रीकृष्ण] की दृष्टि पड़ी।

विज्ञाय दानवेन्द्राणां मयं वै शिल्पिनां वरम्।
जिघांसुर्वासुदेवस्तं चक्रमुद्यम्य विष्ठितः ॥४२॥
स चक्रमुद्यतं दृष्ट्वा दिधक्षन्तं च पावकम्।
अभिधावार्जुनेत्येवं मयस्त्राहीति चाब्रवीत् ॥४३॥

मय दानवेन्द्रों के शिल्पियों में श्रेष्ठ था, उसे पहचानकर श्रीकृष्ण उसका वध करने के लिए चक्र लेकर खड़े हो गये। मय ने देखा एक ओर मुझे मारने के लिए चक्र उठा हुआ है, दूसरी ओर अग्नि मुझे जला डालना चाहती है, तब वह अर्जुन की शरण में गया और बोला—"अर्जुन! दौड़ो, मुझे बचाओ! बचाओ!"

तस्य भीतस्वनं श्रुत्वा मा भैरिति धनञ्जयः।
प्रत्युवाच मयं पार्थो जीवयन्निव भारत ॥४४॥

हे भारत! उसका भययुक्त स्वर सुनकर कुन्तीकुमार धनंजय ने उसे जीवन-दान देते हुए कहा—"डरो मत!"

तं पार्थेनाभये दत्ते नमुचेर्भ्रातरं मयम्।
न हन्तुमैच्छद् दाशार्हः पावको न ददाह च ॥४५॥

अर्जुन के अभय-दान देने पर श्रीकृष्ण ने नमुचि के भाई मयासुर को मारने की इच्छा त्याग दी और ब्राह्मणदेव ने भी उसे नहीं जलाया।

तद् वनं पावको धीमान् दिनानि दश पञ्च च ।
ददाह कृष्णपार्थाभ्यां रक्षितः पाकशासनात् ॥४६॥

उस परम बुद्धिमान् निष्पाप ब्राह्मण ने श्रीकृष्ण और अर्जुन के द्वारा इन्द्र के आक्रमण से सुरक्षित होकर खाण्डव वन को पन्द्रह दिन तक जलाया।[1]

इति महाभारते आदिपर्वणि षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥३६॥

इति आदिपर्वं सम्पूर्णम् ॥१॥

---

१. खाण्डव वन का दाह नई बस्ती बसाने के लिए किया गया था। वन में आग लगा दी गई। जो वन्य और हिंसक प्राणी तथा नरमांस-भक्षक असुर वहाँ रहते थे, जब वे निकलकर भागने लगे तब ये भागकर पुरानी बस्ती में न घुस जाएँ, अतः श्रीकृष्ण और अर्जुन ने उनका संहार कर डाला।

सभापर्व

प्रथमोऽध्यायः

मयासुर द्वारा पाण्डवों के लिए अद्भुत सभा-भवन का निर्माण

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीन्मयः पार्थं वासुदेवस्य सन्निधौ।
प्राञ्जलिः श्लक्ष्णया वाचा पूजयित्वा पुनः पुनः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! खाण्डव-दाह के पश्चात् मयासुर ने श्रीकृष्ण के समीप बैठे हुए अर्जुन की बार-बार प्रशंसा करके और हाथ जोड़कर मधुर वाणी में उनसे कहा—

मय उवाच

अस्मात्कृष्णात् सुसंरब्धात् पावकाच्च दिधक्षतः।
त्वया त्रातोऽस्मि कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते ॥२॥

मयासुर बोला—कुन्तीनन्दन! आपने अति क्रुद्ध इन कृष्ण से तथा जला डालनेवाली अग्नि से मेरी रक्षा की है, अतः बताइए, इस उपकार के बदले मैं आपकी क्या सेवा करूँ?

अर्जुन उवाच

कृतमेव त्वया सर्वं स्वस्ति गच्छ महासुर।
प्रीतिमान् भव मे नित्यं प्रीतिमन्तो वयं च ते ॥३॥

अर्जुन ने कहा—असुरराज! तुमने इस प्रकार कृतज्ञता प्रकट करके मेरे उपकार का सारा बदला चुका दिया। तुम्हारा मङ्गल हो। अब तुम जाओ। मुझपर प्रेम बनाये रखना। हम भी तुम्हारे प्रति सदा प्रेमभाव रखेंगे।

मय उवाच

युक्तमेतत् त्वयि विभो यथाऽऽत्थ पुरुषर्षभ।
प्रीतिपूर्वमहं किंचित् कर्तुमिच्छामि भारत ॥४॥

मयासुर बोला—प्रभो! पुरुषोत्तम! आपने जो बात कही है, वह आप-जैसे महापुरुष के अनुरूप ही है। परन्तु भारत! मैं बड़े प्रेम से आपके लिए कुछ करना चाहता हूँ।

अहं हि विश्वकर्मा वै दानवानां महाकविः।
सोऽहं वै त्वत्कृते कर्तुं किञ्चिदिच्छामि पाण्डव ॥५॥

पाण्डुनन्दन! मैं दानवों का विश्वकर्मा और शिल्पविद्या का महान् पण्डित हूँ, अतः मैं आपके लिए किसी वस्तु का निर्माण करना चाहता हूँ।

अर्जुन उवाच

प्राणकृच्छ्राद् विमुक्तं त्वमात्मानं मन्यसे मया।
एवं गते न शक्ष्यामि किञ्चित् कारयितुं त्वया ॥६॥

अर्जुन बोले—मयासुर! तुम मेरे द्वारा अपने को प्राणसंकट से मुक्त हुआ मानते हो और इसलिए कुछ करना चाहते हो। ऐसी अवस्था में मैं तुमसे कोई काम न करा सकूँगा।

न चापि तव संकल्पं मोघमिच्छामि दानव।
कृष्णस्य क्रियतां किंचित् तथा प्रतिकृतं मयि ॥७॥

दानव! मैं यह भी नहीं चाहता कि तुम्हारा यह संकल्प व्यर्थ हो, अतः तुम श्रीकृष्ण के लिए कोई कार्य कर दो, इससे मेरे प्रति तुम्हारा कर्तव्य पूर्ण हो जाएगा।

वैशम्पायन उवाच

प्रेरितो वासुदेवस्तु मयेन भरतर्षभ।
मुहूर्तमिव संदध्यौ किमयं प्रेर्यतामिति ॥८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे भरतश्रेष्ठ! तब मयासुर ने श्रीकृष्ण से कोई काम बताने का अनुरोध किया। उसकी प्रेरणा पर श्रीकृष्ण ने थोड़ी देर विचार किया कि 'इसे कौन-सा कार्य बताया जाए!'

ततो विचिन्त्य मनसा कृष्णस्तमभिप्रैरयत् ।
धर्मराजस्य दैतेय सभा वै क्रियतामिति ॥६॥

तत्पश्चात् मन-ही-मन कुछ सोचकर श्रीकृष्ण ने उससे कहा—"दैत्यराज ! तुम धर्मराज युधिष्ठिर के लिए एक सभा-भवन बना दो ।

यां कृतां नानुकुर्वन्ति मानवाः प्रेक्ष्य विस्मिताः ।
मनुष्यलोके सकले तादृशीं कुरु वै सभाम् ॥१०॥

"वह सभा ऐसी हो जिसके बन जाने पर समस्त मनुष्यलोक के मानव देखकर आश्चर्यचकित हो जाएँ तथा कोई उसकी अनुकृति (नकल) न कर सके ।"

प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं सम्प्रहृष्टो मयस्तदा ।
विमानप्रतिमां चक्रे पाण्डवस्य शुभां सभाम् ॥११॥

श्रीकृष्णजी की उस आज्ञा को शिरोधार्य करके मयासुर बहुत प्रसन्न हुआ । तब उसने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर के लिए विमान-जैसे आकारवाला सुन्दर सभा-भवन बनाने का निश्चय किया ।

ततः कृष्णश्च पार्थश्च धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
सर्वमेतत् समावेद्य दर्शयामासतुर्मयम् ॥१२॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण और अर्जुन ने धर्मराज युधिष्ठिर को ये सब बातें बताकर मयासुर को उनसे मिलाया ।

तस्मै युधिष्ठिरः पूजां यथार्हमकरोत् तदा ।
स तु तां प्रतिजग्राह मयः सत्कृत्य भारत ॥१३॥

हे भारत ! उस समय कुरु-राज युधिष्ठिर ने मयासुर का यथोचित सत्कार किया । मयासुर ने भी बड़े आदर के साथ उनका वह सत्कार ग्रहण किया ।

स कालं कञ्चिदाश्वस्य विश्वकर्मा विचिन्त्य तु ।
सभां प्रचक्रमे कर्तुं पाण्डवानां महात्मनाम् ॥१४॥

कुछ समय तक वहाँ सुखपूर्वक रहकर दैत्यों के विश्वकर्मा मयासुर ने सोच-विचारकर महात्मा पाण्डवों के लिए सभा-भवन बनाने की तैयारी की ।

सर्वर्तुगुणसम्पन्नां दिव्यरूपां मनोरमाम् ।
दशकिष्कुसहस्रां तां मापयामास सर्वतः ॥१५॥

उसने सभा-भवन बनाने के लिए सभी ऋतुओं के गुणों से सम्पन्न दिव्यरूपवाली, मनोरम, सब ओर से दस सहस्र हाथ की [दस सहस्रहस्त वर्गाकार] भूमि नपवाई ।

उषित्वा खाण्डवप्रस्थे सुखवासं जनार्दनः ।
गमनाय मतिं चक्रे पितुर्दर्शनलालसः ॥१६॥

श्रीकृष्ण ने कुछ समय तक सुखपूर्वक खाण्डव-प्रस्थ में रहकर पिता के दर्शन की उत्सुकता से द्वारका जाने का विचार किया ।

धर्मराजमथामन्त्र्य भ्रातॄन् पृथां च केशवः ।
स्वां पुरीं प्रययौ हृष्टो यथा शक्रोऽमरावतीम् ॥१७॥

तब श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिर, सभी भाइयों और कुन्ती की आज्ञा लेकर प्रसन्नतापूर्वक अपनी पुरी द्वारका को गये मानो इन्द्र अमरावती को जा रहे हों ।

अथाब्रवीन्मयः पार्थमर्जुनं जयतां वरम् ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पुनरेष्यामि चाप्यहम् ॥१८

श्रीकृष्ण के चले जाने पर मयासुर ने विजयी वीरों में श्रेष्ठ अर्जुन से कहा—"भारत ! मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ । मैं एक स्थान पर जाऊँगा और फिर शीघ्र ही लौट आऊँगा ।

उत्तरेण तु कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति ।
यियक्षमाणेषु पुरा दानवेषु मया कृतम् ॥१६॥
चित्रं मणिमयं भाण्डं रम्यं बिन्दुसरः प्रति ।
सभायां सत्यसन्धस्य यदासीद् वृषपर्वणः ॥२०॥

"पूर्व समय में जब दैत्य लोग कैलास पर्वत से उत्तर दिशा में स्थित मैनाक पर्वत पर यज्ञ करना चाहते थे, उस समय मैंने एक विचित्र एवं रमणीय मणिमय भाण्ड तैयार किया था, जो बिन्दुसर के निकट सत्यप्रतिज्ञ राजा वृषपर्वा की सभा में रखा गया था ।

आगमिष्यामि तद् गृह्य यदि तिष्ठति भारत ।
ततः सभां करिष्यामि पाण्डवस्य यशस्विनीम् ॥२१॥

"हे भारत ! यदि वह मणिमय भाण्ड अबतक वहीं होगा तो मैं उसे लेकर पुनः लौट आऊँगा । फिर उसी से पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर के यश को बढ़ानेवाली सभा तैयार करूँगा ।

अस्ति बिन्दुसरस्युग्रा गदा च कुरुनन्दन ।
अनुरूपा च भीमस्य गाण्डीवं भवतो यथा ॥२२॥

"कुरुनन्दन ! बिन्दुसर में एक गदा भी है । जैसे गाण्डीव धनुष आपके योग्य है, वैसे ही वह गदा भीमसेन के योग्य होगी ।

वारुणश्च महाशंखो देवदत्तः सुघोषवान् ।
सर्वमेतत् प्रदास्यामि भवते नात्र संशयः ॥२३॥

"वहाँ वरुणदेव का देवदत्त नामक महान् शंख भी है जो बड़ी भारी आवाज करनेवाला है। मैं ये सब वस्तुएँ लाकर आपको भेंट करूँगा, इसमें संशय नहीं।"

इत्युक्त्वा सोऽसुरः पार्थं प्रागुदीचीं दिशं गतः ।
अथोत्तरेण कैलासान्मैनाकं पर्वतं प्रति ॥२४॥

अर्जुन से ऐसा कहकर मयासुर पूर्वोत्तर दिशा [ईशानकोण] में कैलास से उत्तर मैनाक पर्वत के पास गया।

तत्र गत्वा स जग्राह गदां शंखं च भारत ।
स्फाटिकं च सभाद्रव्यं यदासीद् वृषपर्वणः ॥२५

हे भारत ! मयासुर ने वहाँ जाकर वह गदा, शंख और सभा बनाने के लिए स्फटिक मणिमय द्रव्य ले लिया जो पहले वृषपर्वा के अधिकार में था।

तदाहृत्य च तां चक्रे सोऽसुरोऽप्रतिमां सभाम् ।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु दिव्यां मणिमयीं शुभाम् ॥२६॥

वे सब वस्तुएँ लाकर उस असुर ने वह अनुपम सभा तैयार की जो तीनों लोकों में विख्यात, दिव्य, मणिमयी, शुभ और सुन्दर थी।

गदां च भीमसेनाय प्रवरां प्रददौ तदा ।
देवदत्तं चार्जुनाय शंखप्रवरमुत्तमम् ॥२७॥

उसने वह श्रेष्ठ गदा भीमसेन के लिए और देवदत्त नामक उत्तम शंख अर्जुन को भेंट कर दिया।

सभा च सा महाराज शातकुम्भमयद्रुमा ।
अभिघ्नतीव प्रभया प्रभामर्कस्य भास्वराम् ॥२८॥

महाराज ! उस सभा में सुवर्णमय वृक्ष शोभा पाते थे। वह सभा अपनी प्रभा द्वारा सूर्य की तेजोमयी प्रभा से टक्कर लेती थी।

तां स्म तत्र मयेनोक्ता रक्षन्ति च वहन्ति च ।
सभामष्टौ सहस्राणि किंकरा नाम राक्षसाः ॥२९॥

मयासुर की आज्ञा के अनुसार आठ सहस्र किंकर नामक राक्षस उस सभा की रक्षा करते थे और उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर उठाकर ले जाते थे।[1]

तस्यां सभायां नलिनीं चकाराप्रतिमां मयः ।
वैडूर्यपत्रविततां मणिनालमयाम्बुजाम् ॥३०॥

मयासुर ने उस सभा-भवन में एक अति सुन्दर पुष्करिणी बना रखी थी, जिसकी कहीं तुलना नहीं थी। उसमें इन्द्रनीलमणिमय कमल के पत्ते फैले हुए थे। उन कमलों के मृणाल मणियों के बने थे।

मणिरत्नचितां तां तु केचिदभ्येत्य पार्थिवाः ।
दृष्ट्वापि नाभ्यजानन्त तेऽज्ञानात्प्रपतन्त्युत ॥३१॥

मणियों तथा रत्नों से व्याप्त होने के कारण कुछ राजा लोग उस पुष्करिणी के पास आकर और उसे देखकर भी उसकी यथार्थता पर विश्वास नहीं करते थे तथा भ्रम से उसे स्थल समझकर उसमें गिर पड़ते थे।

तां सभामभितो नित्यं पुष्पवन्तो महाद्रुमाः ।
आसन् नानाविधा लोलाः शीतच्छाया मनोरमाः ॥३२

उस सभा के चहुँ ओर अनेक प्रकार के बड़े-बड़े वृक्ष लहलहा रहे थे, जो सदा फूलों से लदे रहते थे। उनकी छाया बड़ी शीतल थी। वे मनोरम वृक्ष हवा के झोंकों से सदा हिलते रहते थे।

ईदृशीं तां सभां कृत्वा मासैः परिचतुर्दशैः ।
निष्ठितां धर्मराजाय मयो राजन् न्यवेदयत् ॥३३॥

हे राजन् ! मयासुर ने पूरे चौदह मास में इस अद्भुत सभा का निर्माण किया था। जब वह बनकर तैयार हो गई, तब मय ने धर्मराज को इस बात की सूचना दी।

ततः प्रवेशनं तस्यां चक्रे राजा युधिष्ठिरः ।
अयुतं भोजयित्वा तु ब्राह्मणानां नराधिपः ॥३४॥

सभा निर्मित हो जाने पर राजा युधिष्ठिर ने दश सहस्र ब्राह्मणों को भोजन कराकर उस सभा-भवन में प्रवेश किया।

इति महाभारते सभापर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

---

१. महाराज युधिष्ठिर की यह सभा एक स्थान से दूसरे स्थान पर उठाकर ले जायी जानेवाली [Transportable] थी। वेद में भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर उठाकर ले जानेवाले गृहों का वर्णन है—

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव । —अथर्व०
वधूमिव त्वा शाले यत्र कामं भरामसि ॥ ९।३।२४

हे शिल्पी लोगो ! ऐसी शाला का निर्माण करो जिसके बन्धन कभी ढीले न हों। जिसमें गुरु भार भी हल्का हो जाए अथवा जिसका अधिक भार भी हल्का हो जाए। नववधू की भाँति हम इस शाला को जहाँ चाहें, वहाँ ले जाएँ।

द्वितीयोऽध्यायः

नारद-नीति=नारदजी का प्रश्नों के रूप में युधिष्ठिर को उपदेश

वैशम्पायन उवाच

अथ तत्रोपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु।
महत्सु चोपविष्टेषु गन्धर्वेषु च भारत ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! एक दिन उस सभा में महात्मा पाण्डव अन्यान्य महापुरुषों तथा गन्धर्वों आदि के साथ बैठे थे।

वेदोपनिषदां वेत्ता महातेजस्विनारदः।
लोकाननुचरन् सर्वानागमत् तां सभां नृप ॥२॥

राजन्! उसी समय वेद और उपनिषदों के ज्ञाता, महातेजस्वी नारद लोक-लोकान्तरों में घूमते-फिरते उस सभा में आये।

तमागतमृषिं दृष्ट्वा प्रत्युत्थायानुजैः सह।
अभ्यवादयत प्रीत्या विनयावनतस्तदा ॥३॥

देवर्षि नारद को आया देख राजा युधिष्ठिर ने भाइयों समेत उठकर उन्हें प्रेम, विनय और नम्रता-पूर्वक प्रणाम किया।

सोऽर्चितः पाण्डवैः सर्वैर्महर्षिर्वेदपारगः।
धर्मकामार्थसंयुक्तं पप्रच्छेदं युधिष्ठिरम् ॥४॥

पाण्डवों द्वारा सत्कृत होकर उन वेदवेत्ता महर्षि ने युधिष्ठिर से धर्म, काम और अर्थ तीनों की साधक ये बातें पूछीं—

नारद उवाच

कच्चिदर्थाश्च कल्पन्ते धर्मे च रमते मनः।
सुखानि चानुभूयन्ते मनश्च न विहन्यते ॥५॥

नारदजी बोले—हे राजन्! क्या तुम्हारा धन तुम्हारे [यज्ञ-दान-कुटुम्ब-रक्षा आदि] आवश्यक कार्यों के निर्वाहार्थ पूरा पड़ जाता है? क्या धर्म में तुम्हारा मन प्रसन्नतापूर्वक लगता है? क्या तुम्हें इच्छानुसार सुख-भोग प्राप्त होते हैं? प्रभु-चिन्तन में लगे हुए तुम्हारे मन में विक्षेप तो नहीं होता है?

कच्चिदाचरितां पूर्वैर्नरदेव पितामहैः।
वर्तसे वृत्तिमक्षुद्रां धर्मार्थसहितां त्रिषु ॥६॥

हे नरदेव! क्या तुम ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र—इन तीनों वर्णों की प्रजा के प्रति अपने पिता-पितामहों द्वारा व्यवहार में लाई हुई धर्मार्थ-युक्त उत्तम एवं उदार वृत्ति का व्यवहार करते हो?

कच्चिदर्थेन वा धर्मं धर्मेणार्थमथापि वा।
उभौ वा प्रीतिसारेण न कामेन प्रबाधसे ॥७॥

तुम धन के लोभ में पड़कर धर्म को, केवल धर्म में ही लगे रहकर धन को अथवा आसक्ति ही जिसका बल है, उस कामभोग के सेवन द्वारा धर्म और अर्थ दोनों को हानि तो नहीं पहुँचाते?

कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतां वर।
विभज्य काले कालज्ञः सदा वरद सेवसे ॥८॥

विजयी वीरों में श्रेष्ठ! वरदायक नरेश! तुम त्रिवर्ग-सेवन के उपयुक्त समय का ज्ञान तो रखते हो न? तथा काल का विभाग करके नियत और उचित समय[1] पर सदा धर्म, अर्थ और काम का सेवन तो करते हो न?

कच्चिद् राजगुणैः षड्भिः सप्तोपायांस्तथाऽनघ।
बलाबलं तथा सम्यक् चतुर्दश परीक्षसे ॥९॥

निष्पाप युधिष्ठिर! क्या तुम राजोचित छह[2] गुणों के द्वारा सात उपायों[3] की, अपने और शत्रु के

---

१. स्मृतियों के अनुसार त्रिवर्ग-सेवन का समय-विभाग इस प्रकार बताया गया है—

पूर्वाह्णे त्वाचरेद्धर्मं मध्याह्नेऽर्थमुपार्जयेत्।
सायाह्ने चाचरेत्काममित्येषा वैदिकी श्रुतिः॥

पूर्वाह्णकाल में धर्म का आचरण करे, मध्याह्न के समय धनोपार्जन का काम देखे तथा सायाह्न=रात्रि के समय काम का सेवन करे। यह वैदिक श्रुति का आदेश है।

२. राजाओं में छह गुण होने चाहिएँ—(१) व्याख्यान-शक्ति, (२) प्रगल्भता, (३) तर्ककुशलता, (४) भूत-काल की स्मृति, (५) भविष्य पर दृष्टि और (६) नीतिनिपुणता।

३. सात उपाय ये हैं—मन्त्र, औषध, इन्द्रजाल, साम, दाम, दण्ड और भेद।

बलाबल की तथा देशपाल एवं दुर्गपाल[1] आदि चौदह व्यक्तियों की भली-भांति परख करते रहते हो ?

कच्चिदात्मानमन्वीक्ष्य परांश्च जयतां वर ।
तथा संधाय कर्माणि अष्टौ भारत सेवसे ॥१०॥

विजेताओं में श्रेष्ठ भरतवंशी युधिष्ठिर ! क्या तुम अपनी और शत्रु की शक्ति को अच्छी प्रकार समझकर, यदि शत्रु प्रबल हो तो उसके साथ सन्धि बनाये रखकर अपने धन और कोष की वृद्धि के लिए आठ कर्मों[2] का सेवन करते हो ?

कच्चित् प्रकृतयः सप्त न लुप्ता भरतर्षभ ।
आढ्यास्तथाव्यसनिनः स्वनुरक्ताश्च सर्वशः ॥११॥

भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारी मन्त्री आदि सात[3] प्रकृतियाँ कहीं शत्रुओं से मिल तो नहीं गई हैं ? तुम्हारे राज्य के धनिक बुरे व्यसनों से बचे रहकर तुमसे प्रेम तो करते हैं न ?

कच्चिन्न कृतकैर्दूतैर्ये चाप्यपरिशङ्किताः ।
त्वत्तो वा तव चामात्यैर्भिद्यते मन्त्रितं तथा ॥१२॥

जिनपर तुम्हें सन्देह नहीं होता, ऐसे शत्रु के गुप्तचर कृत्रिम मित्र बनकर तुम्हारे मन्त्रियों द्वारा तुम्हारी गुप्त मन्त्रणा को जानकर उसे प्रकाशित तो नहीं कर देते ?

कच्चिदात्मसमा वृद्धाः शुद्धाः सम्बोधनक्षमाः ।
कुलीनाश्चानुरक्ताश्च कृतास्ते वीर मन्त्रिणः ॥१३॥

वीर ! तुमने अपने स्वयं के समान विश्वसनीय, वृद्ध, शुद्ध हृदयवाले, किसी भी बात को अच्छी प्रकार समझने में समर्थ, उत्तम कुल में उत्पन्न तथा अपने प्रति अत्यन्त अनुराग रखनेवाले पुरुषों को ही मन्त्री बना रखा है न ?

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित् काले विबुद्ध्यसे ।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थमर्थवित् ॥१४॥

तुम असमय में ही निद्रा के वशीभूत तो नहीं होते, समय पर जाग तो जाते हो न ? अर्थशास्त्र के जानकार तो तुम हो ही। रात्रि के पिछले भाग में जागकर अपने अर्थ [आवश्यक कर्तव्य एवं हित] के विषय में विचार तो करते हो न ?[4]

कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह ।
कच्चित्ते मन्त्रितो मन्त्रो न राष्ट्रं परिधावति ॥१५॥

तुम किसी गूढ़ विषय पर अकेले ही तो विचार नहीं करते अथवा बहुत लोगों के साथ बैठकर तो मन्त्रणा नहीं करते ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारी निश्चित की हुई गुप्त मन्त्रणा फूटकर शत्रु के राज्य तक फैल जाती हो ?

कच्चिदर्थान् विनिश्चित्य लघुमूलान् महोदयान् ।
क्षिप्रमारभसे कर्तुं न विघ्नयसि तादृशान् ॥१६॥

धन की वृद्धि के ऐसे उपायों का निश्चय करके, जिनमें मूलधन तो कम लगाना पड़े परन्तु वृद्धि अधिक हो, उनको शीघ्रतापूर्वक आरम्भ कर देते हो न ? वैसे कार्यों में अथवा वैसा कार्य करनेवालों के मार्ग

---

१. परीक्षा के योग्य चौदह स्थान या व्यक्ति नीतिशास्त्र में ये बताये गये हैं—
देशो दुर्गं रथो हस्तिवाजियोधाधिकारिणः ।
अन्तःपुरान्नगणनाशास्त्रलेख्यधनासवः ॥
देश, दुर्ग, रथ, हाथी, घोड़े, शूर सैनिक, अधिकारी, अन्तःपुर, अन्न, गणना, शास्त्र, लेख्य, धन और असु= बल—इनके जो चौदह अधिकारी हैं, राजा को उनकी परीक्षा करते रहना चाहिए।

२. राजा के कोष और धन की वृद्धि के लिए आठ कर्म ये हैं—
कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम् ।
खन्याकरकरादानं शून्यानां च निवेशनम् ।
अष्ट सन्धानकर्माणि प्रयुक्तानि मनीषिभिः ॥
खेती का विस्तार, व्यापार की रक्षा, दुर्ग की रचना एवं रक्षा, पुलों का निर्माण और उनकी रक्षा, हाथी बांधना, सोने-हीरे आदि की खानों पर अधिकार करना, करों की वसूली और उजाड़ प्रान्तों में लोगों को बसाना—मनीषी लोगों द्वारा ये आठ सन्धानकर्म बताये गये हैं।

३. स्वामी, मन्त्री, मित्र, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना तथा पुरवासी—ये राज्य के सात अङ्ग ही सात प्रकृतियां हैं। अथवा—दुर्गाध्यक्ष, बलाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, सेनापति, पुरोहित, वैद्य और ज्योतिषी—ये भी सात प्रकृतियां कही गई हैं।

४. स्मृति में कहा है—
ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम् ।
नित्य ब्राह्ममुहूर्त में उठकर अपने हित का चिन्तन करे।

में तुम विघ्न तो नहीं डालते ?

कच्चित्सर्वे न कर्मान्ताः परोक्षास्ते विशङ्किताः ।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टाः संसृष्टं चात्र कारणम् ॥१७॥

तुम्हारे राज्य के किसान,[1] मजदूर आदि श्रमजीवी मनुष्य तुमसे अज्ञात तो नहीं हैं ? उनके कार्य और गतिविधि पर तुम्हारी दृष्टि रहती है न ? वे तुम्हारे अविश्वास के पात्र तो नहीं हैं अथवा तुम उन्हें बार-बार छोड़ते और पुनः काम पर तो नहीं लेते रहते, क्योंकि महान् उत्थान में उन सबका स्नेहपूर्ण सहयोग ही कारण है ।

कच्चिद् राजन् कृतान्येव कृतप्रायाणि वा पुनः ।
विदुस्ते वीर कर्माणि नानवाप्तानि कानिचित् ॥१८॥

राजन् ! वीरशिरोमणे ! क्या तुम्हारे कार्यों के सिद्ध हो जाने पर या सिद्धि के निकट पहुँच जाने पर ही लोग उन्हें जान पाते हैं ? सिद्ध होने से पूर्व ही तुम्हारे किन्हीं कार्यों को लोग जान तो नहीं लेते ?

कच्चित् कारणिका धर्मे सर्वशास्त्रेषु कोविदाः ।
कारयन्ति कुमारांश्च योधमुख्यांश्च सर्वशः ॥१९॥

तुम्हारे यहाँ जो शिक्षा देने का काम करते हैं, वे धर्म एवं सम्पूर्ण शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान् होकर ही राजकुमारों तथा मुख्य-मुख्य योद्धाओं को सब प्रकार की आवश्यक शिक्षाएँ देते हैं न ?

कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणासि पण्डितम् ।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं परम् ॥२०॥

तुम सहस्रों मूर्खों के बदले एक पण्डित को ही अपनाते [आदरपूर्वक स्वीकार करते] हो न, क्योंकि विद्वान् पुरुष ही अर्थ-संकट के समय महान् कल्याण कर सकता है ।

एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दान्तो विचक्षणः ।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥२१॥

यदि एक भी मन्त्री मेधावी, शौर्यसम्पन्न, संयमी और चतुर हो तो राजा अथवा राजकुमार को महान् ऐश्वर्य प्राप्त करा सकता है ?

कच्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः ।
यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ॥२२॥

क्या तुम्हारे सभी दुर्ग=किले धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल, यन्त्र=मशीन, शिल्पियों और धनुर्धर सैनिकों से भरे और पूरे रहते हैं ?

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥२३॥

क्या तुम शत्रुपक्ष के अठारह[2] तथा अपने पक्ष के पन्द्रह[3] तीर्थों की तीन-तीन अज्ञात गुप्तचरों द्वारा देख-भाल या जाँच-पड़ताल करते रहते हो ?

कच्चिद् द्विषामविदितः प्रतिपन्नश्च सर्वदा ।
नित्ययुक्तो रिपून् सर्वान् वीक्षसे रिपुसूदन ॥२४॥

शत्रुसूदन ! तुम अपने शत्रुओं से अज्ञात, निरन्तर सावधान और सदा प्रयत्नशील रहकर अपने सम्पूर्ण शत्रुओं की गतिविधियों पर दृष्टि तो रखते हो न ?

कच्चिद् विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः ।
अनसूयुरनुप्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः ॥२५॥

क्या तुम्हारे पुरोहित विनयशील, कुलीन, बहुज्ञ, विद्वान्, दोषदृष्टि से रहित तथा शास्त्रचर्चा में कुशल हैं ? क्या तुम उनका ठीक प्रकार से सत्कार करते हो ?

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ॥२६॥

क्या तुमने अग्निहोत्र के लिए विधिज्ञ, बुद्धिमान् और सरलस्वभाव के ब्राह्मणों को नियुक्त किया है ? वे सदा किये हुए और किये जानेवाले हवन को तुम्हें ठीक समय पर सूचित कर देते हैं न ?

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ॥२७॥

---

१. महर्षि दयानन्द सरस्वती ने किसानों के सम्बन्ध में लिखा है—"यह बात ठीक है कि राजाओं के राजा परिश्रम करनेवाले किसान आदि हैं ।"
—सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समुल्लास

२. शत्रुपक्ष के मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल अन्तर्वेशिक=अन्तःपुर का अध्यक्ष, कारागाराध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, यथायोग्य कार्यों में धन को व्यय करनेवाला सचिव, प्रदेष्टा=पहरेदारों को काम बतानेवाला, नगराध्यक्ष=कोतवाल, कार्यनिर्माणकर्ता=शिल्पियों का परिचालक, धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्र-सीमापाल तथा वनरक्षक—ये अठारह तीर्थ हैं जिनपर राजा को गहरी दृष्टि रखनी चाहिए ।

३. उपर्युक्त अठारह तीर्थों में से आदि के तीन को छोड़कर शेष पन्द्रह तीर्थ अपने पक्ष के भी सदा परीक्षणीय हैं ।

तुमने अपने प्रधान-प्रधान व्यक्तियों को उनके योग्य महान् कार्यों में, मध्यम श्रेणी के कार्यकर्ताओं को मध्यम कार्यों में तथा निम्न श्रेणी के सेवकों को उनकी योग्यता के अनुसार छोटे कामों में ही लगा रखा है न ?

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्विजसे प्रजाः ।
राष्ट्रं तवानुशासन्ति मन्त्रिणो भरतर्षभ ।।२८।।

भरतश्रेष्ठ ! कठोर दण्ड के द्वारा तुम प्रजाजन को अत्यन्त पीड़ित तो नहीं करते ? मन्त्री लोग तुम्हार राज्य का न्यायपूर्वक पालन करते हैं न ?

कच्चित् त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा ।
उग्रं प्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ।।२९।।

जैसे पवित्र याजक पतित यजमान का तथा स्त्रियाँ कामचारी पुरुष का तिरस्कार कर देती हैं, उसी प्रकार प्रजा कठोरतापूर्वक अधिक कर लेने के कारण तुम्हारा अनादर तो नहीं करती ?

कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च मतिमान्धृतिमान् शुचिः ।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिस्तव ।।३०।।

क्या तुम्हारा सेनापति हर्ष और उत्साह से सम्पन्न, शूरवीर, बुद्धिमान् धैर्यवान्, पवित्र, कुलीन, स्वामिभक्त तथा अपने कार्य में कुशल है ?

कच्चिद् बलस्य ते मुख्याः सर्वयुद्धविशारदाः ।
धृष्टाववाता विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ।।३१

तुम्हारी सेना के मुख्य-मुख्य दलपति सब प्रकार के युद्धों में चतुर, धृष्ट=निर्भय, निष्कपट और पराक्रमी हैं न ? तुम उनका यथोचित आदर-सत्कार करते हो न ?

कच्चिद् बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।
सम्प्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विकर्षसि ।।३२।।

तुम अपनी सेना के लिए यथोचित भोजन और वेतन ठीक समय[1] पर देते हो न ? जो उन्हें दिया जाना चाहिए, उसमें कमी या विलम्ब तो नहीं करते हो ?

कालातिक्रमणादेते भक्तवेतनयोर्भृताः ।
भर्तुः कुप्यन्ति यद्भृत्याः सोऽनर्थः सुमहान्स्मृतः ।।३३।।

भोजन और वेतन में अधिक विलम्ब होने पर भृत्यगण अपने स्वामी पर कुपित हो जाते हैं । उनका वह कोप महान् अनर्थ का कारण बताया गया है ।

कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।
कच्चित् प्राणाँस्तवार्थेषु संत्यजन्ति सदा युधि ।।३४।।

क्या उत्तम कुल में उत्पन्न मन्त्री आदि सभी प्रधान अधिकारी तुमसे प्रेम रखते हैं ? क्या वे युद्ध में तुम्हारे हित के लिए अपने प्राणों तक का त्याग करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं ?

कच्चिन्नैको बहूनर्थान् सर्वशः साम्परायिकान् ।
अनुशास्ति यथाकामं कामात्मा शासनातिगः ।।३५।।

तुम्हारे कर्मचारियों में कोई ऐसा तो नहीं है जो अपनी इच्छा के अनुसार चलनेवाला और तुम्हारे शासन का उल्लंघन करनेवाला हो तथा युद्ध के सारे साधनों और कार्यों को अकेला ही अपनी रुचि के अनुसार चला रहा हो ?

कच्चित् पुरुषकारेण पुरुषः कर्म शोभयन् ।
लभते मानमधिकं भूयो वा भक्तवेतनम् ।।३६।।

तुम्हारे यहाँ काम करनेवाला कोई पुरुष जब अपने पुरुषार्थ से किसी कार्य को उत्तम प्रकार से सम्पन्न करता है, तब वह आपसे अधिक सम्मान अथवा अधिक भत्ता और वेतन पाता है न ?

कच्चिद् विद्याविनीतांश्च नराञ्ज्ञानविशारदान् ।
यथार्हं गुणतश्चैव दानेनाभ्युपपद्यसे ।।३७।।

क्या तुम विद्या से विनयशील और ज्ञान-निपुण मनुष्यों को उनके गुणों के अनुसार यथायोग्य धन-आदि देकर उनका मान-सम्मान करते हो ?

कच्चिद् दारान्मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमीयुषाम् ।
व्यसनं चाभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ ।।३८।।

हे भरतश्रेष्ठ ! जो लोग तुम्हारे हित के लिए सहर्ष मृत्यु का आलिंगन करते हैं, अथवा भारी संकट

---

१. किसी नीतिकार ने कहा है—

कालातिक्रमणं वृत्तेर्यो न कुर्वीत भूपतिः ।
कदाचित्तं न मुञ्चन्ति भर्त्सिता अपि सेवकाः ।।

जो राजा अपने सेवकों का वेतन देने में समय का उल्लंघन नहीं करता, उस राजा के भर्त्सना करने पर भी वे अपने राजा को नहीं छोड़ते ।

में पड़ जाते हैं, तुम उनके बाल-बच्चों के योग-क्षेम की चिन्ता तो करते हो न ?

कच्चिद् भयादुपगतं क्षीणं वा रिपुमागतम् ।
युद्धे वा विजितं पार्थ पुत्रवत् परिरक्षसि ।।३९।।

हे पार्थ ! जो भय से या अपनी धन-सम्पत्ति का नाश होने से तुम्हारी शरण में आया हो अथवा युद्ध में तुमसे हार गया हो, ऐसे शत्रु का तुम पुत्र के समान पालन करते हो न ?

कच्चित् त्वमेव सर्वस्याः पृथिव्याः पृथिवीपते ।
समश्चानभिशङ्क्यश्च यथा माता यथा पिता ।।४०।।

नरेश्वर ! क्या समस्त भूमण्डल की प्रजा तुम्हें ही समदर्शी एवं माता-पिता के समान विश्वसनीय मानती है ?

कच्चिच्च बलमुख्येभ्यः परराष्ट्रे परन्तप ।
उपच्छन्नानि रत्नानि प्रयच्छसि यथार्हतः ।।४१।।

शत्रुतापक ! शत्रु के राज्य में जो प्रधान-प्रधान योद्धा हैं, तुम उन्हें छिपे-छिपे यथायोग्य रत्न आदि भेंट करते रहते हो न ?

कच्चिदात्मानमेवाग्रे विजित्य विजितेन्द्रियः ।
परान् जिगीषसे पार्थ प्रमत्तानजितेन्द्रियान् ।।४२।।

हे कुन्तीनन्दन ! क्या तुम पहले अपनी नेत्रादि इन्द्रियों और मन को जीतकर ही प्रमाद में पड़े हुए अजितेन्द्रिय शत्रुओं को जीतने की इच्छा करते हो ?

कच्चिन्मूलं दृढं कृत्वा परान् यासि विशाम्पते ।
तांश्च विक्रमसे जेतुं जित्वा च परिरक्षसि ।।४३

महाराज ! तुम अपने राज्य की नींव को दृढ़ करके ही शत्रुओं पर धावा करते हो न ? उन शत्रुओं को जीतने के लिए पूरा पराक्रम प्रकट करते हो न ? उन्हें जीतकर उनकी पूर्णरूप से रक्षा भी करते हो न ?

कच्चिदष्टाङ्गसंयुक्ता चतुर्विधबला चमूः ।
बलमुख्यैः सुनीता ते द्विषतां प्रतिबाधनी ।।४४।।

क्या आठ[1] अङ्गों और चार[2] प्रकार के बलों से युक्त तुम्हारी सेना सुयोग्य सेनापतियों द्वारा अच्छी प्रकार संचालित होकर शत्रुओं का संहार करने में समर्थ होती है ?

कच्चित् कोषश्च कोष्ठं च वाहनं द्वारमायुधम् ।
आयश्च कृतकल्याणैस्तव भक्तैरनुष्ठितः ।।४५।।

तुम्हारे धन-भण्डार, अन्न-भण्डार, वाहन, प्रधान द्वार, अस्त्र-शस्त्र तथा आय के साधनों की रक्षा एवं देख-भाल तुम्हारे कल्याण के लिए सदा प्रयत्नशील रहनेवाले, स्वामिभक्त मनुष्यों द्वारा ही की जाती है न ?

कच्चिदायस्य चार्धेन चतुर्भागेन वा पुनः ।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशुद्धयते तव ।।४६।।

क्या तुम्हारी आय के एक-चौथाई या आधे अथवा तीन-चौथाई भाग से तुम्हारा सारा खर्च चल जाता है ?

कच्चिज्ज्ञातीन् गुरून्वृद्धान्वणिजः शिल्पिनः श्रितान् ।
अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनधान्येन दुर्गतान् ।।४७।।

क्या तुम अपने आश्रित कुटुम्ब के लोगों, गुरुजनों, वृद्धों, व्यापारियों, शिल्पियों तथा दीन-दुःखियों को धन-धान्य देकर उनपर सदा अनुग्रह करते रहते हो ?

कच्चिन्न लुब्धाश्चौरा वा वैरिणो वा विशाम्पते ।
अप्राप्तव्यवहारा वा तव कर्मस्वनुष्ठिताः ।।४८।।

राजन् ! तुमने ऐसे लोगों को तो अपने कार्यों में नियुक्त नहीं कर रखा है जो लोभी, चोर, शत्रु, अथवा व्यावहारिक अनुभव से सर्वथा शून्य हों ?

कच्चिन्न चौरैर्लुब्धैर्वा कुमारैः स्त्रीबलेन वा ।
त्वया वा पीड्यते राष्ट्रं कच्चित्तुष्टाः कृषीवलाः ।।४९

चोरों, लोभियों, राजकुमारों अथवा राजकुल की स्त्रियों द्वारा अथवा स्वयं तुम्हारे द्वारा ही तुम्हारे राष्ट्र को पीड़ा तो नहीं पहुँच रही है ? क्या तुम्हारे राज्य के किसान सन्तुष्ट हैं ?

कच्चिद् राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि बृहन्ति च ।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका ।।५०।।

क्या तुम्हारे राज्य के सभी भागों में जल से परिपूर्ण बड़े-बड़े तालाब बनवाये गये हैं ? केवल वर्षा के पानी के भरोसे ही तो खेती नहीं होती है ?

कच्चिन्न भक्तं बीजं च कर्षकस्यावसीदति ।
प्रत्येकं च शतं वृद्ध्या ददास्यृणमनुग्रहम् ।।५१।।

---

१. धनरक्षक, द्रव्यसंग्राहक, चिकित्सक, गुप्तचर, पाचक, सेवक, लेखक और प्रहरी—ये सेना के आठ अङ्ग हैं ।

२. हाथी, घोड़े, रथ एवं पैदल—ये चार सेना के बल हैं ।

तुम्हारे राज्य के किसान का अन्न या बीज तो नष्ट नहीं होता ? क्या तुम प्रत्येक किसान पर कृपा करके उसे एक रुपया सैकड़े ब्याज पर ऋण देते हो ?

कच्चित् स्वनुष्ठिता तात वार्ता ते साधुभिर्जनैः ।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥५२॥

तुम्हारे राष्ट्र में श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा वार्ता=कृषि, गोरक्षा तथा व्यापार का काम तो भली-भाँति किया जाता है न ? क्योंकि वार्ता-वृत्ति पर आश्रित रहनेवाले लोग ही सुखपूर्वक उन्नति करते हैं ।

कच्चिद् द्वौ प्रथमौ यामौ रात्रेः सुप्त्वा विशाम्पते ।
संचिन्तयसि धर्मार्थौ याम उत्थाय पश्चिमे ॥५३॥

हे राजन् ! क्या तुम रात्रि के [प्रथम प्रहर के पश्चात्] जो प्रथम दो [दूसरे-तीसरे] प्रहर हैं, उन्हीं में सोकर तथा अन्तिम प्रहर में उठकर धर्म एवं अर्थ का चिन्तन करते हो ?

कच्चिदर्थयसे नित्यं मनुष्यान् समलंकृतः ।
उत्थाय काले कालज्ञैः सह पाण्डव मन्त्रिभिः ॥५४॥

हे पाण्डुनन्दन ! तुम प्रतिदिन समय पर उठकर स्नानादि के पश्चात् वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो देशकाल के ज्ञाता मन्त्रियों के साथ बैठकर [प्रार्थी या दर्शनार्थी] मनुष्यों की इच्छा पूर्ण करते हो न ?

कच्चिद् रक्ताम्बरधराः खड्गहस्ताः स्वलंकृताः ।
उपासते त्वामभितो रक्षणार्थमरिन्दम ॥५५॥

हे शत्रुदमन ! क्या लाल वर्दी धारण करनेवाले, अलंकारों से समलंकृत योद्धा अपने हाथ में तलवार लेकर तुम्हारी रक्षा के लिए सब ओर उपस्थित रहते हैं ?

कच्चिच्छारीरमाबाधमौषधैर्नियमेन वा ।
मानसं वृद्धसेवाभिः सदा पार्थापकर्षसि ॥५६॥

हे पार्थ ! क्या तुम ओषधि-सेवन व पथ्य भोजनादि नियम पालन से दैहिक तथा वृद्ध जन सेवा से मानसिक सन्तापों को सदा दूर करते रहते हो ?

कच्चिद् वैद्याश्चिकित्सायामष्टाङ्गायां विशारदाः ।
सुहृदश्चानुरक्ताश्च शरीरे ते हिताः सदा ॥५७॥

तुम्हारे वैद्य अष्टांगचिकित्सा[1] में कुशल, हितैषी, प्रेमी तथा तुम्हारे शरीर को स्वस्थ रखने के प्रयत्न में सदा संलग्न रहनेवाले हैं न ?

कच्चित् पौरा न सहिता ये च ते राष्ट्रवासिनः ।
त्वया सह विरुध्यन्ते परैः क्रीता कथञ्चन ॥५८॥

तुम्हारे नगर अथवा राष्ट्र के निवासी संगठित होकर तुम्हारे साथ विरोध तो नहीं करते ? शत्रुओं ने उन्हें किसी प्रकार घूस=रिश्वत देकर खरीद तो नहीं लिया है ?

कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां भूमिपालाः प्रधानतः ।
कच्चित् प्राणाँस्त्वदर्थेषु संत्यजन्ति त्वयाऽऽदृताः ॥५९॥

क्या सभी मुख्य-मुख्य भूपाल तुमसे प्रेम करते हैं ? क्या वे तुम्हारे द्वारा मान-सम्मान पाकर तुम्हारे लिए अपने प्राणों की आहुति दे सकते हैं ?

कच्चित् ते सर्वविद्यासु गुणतोऽर्चा प्रवर्तते ।
ब्राह्मणानां च साधूनां तव नैःश्रेयसी शुभा ।
दक्षिणास्त्वं ददास्येषां नित्यं स्वर्गापवर्गदाः ॥६०॥

क्या तुम्हारे मन में सभी विद्याओं के प्रति उनके गुणों के अनुसार आदर का भाव है ? क्या तुम ब्राह्मणों तथा साधु-सन्तों की सेवा-शुश्रूषा करते हो जो तुम्हारे लिए शुभ एवं कल्याणकारिणी है ? इन ब्राह्मणों को तुम सदा दक्षिणा आदि देते रहते हो न, क्योंकि वह स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त करानेवाली है ।

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ।
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च चिन्तनम् ॥६१॥
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ।
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ॥६२॥
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषाँश्चतुर्दश ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूलाऽपि पार्थिवाः ॥६३॥

युधिष्ठिर ! तुम नास्तिकता, झूठ, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानियों का सत्सङ्ग न करना, आलस्य, पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति प्रजाकार्यों के सम्बन्ध में अकेले ही विचार करना, अर्थशास्त्र को न जाननेवाले मूर्खों के साथ विचार-विमर्श करना,

---

१. चिकित्सा में आठ सर्वप्रथम परीक्षणीय अङ्ग ये हैं—नाड़ी, मल, मूत्र, जिह्वा, नेत्र, रूप, शब्द तथा स्पर्श ।

निश्चित कार्यों के आरम्भ करने में विलम्ब या टालमटोल, गुप्त मन्त्रणा को सुरक्षित न रखना, माङ्गलिक उत्सव आदि न करना और एक साथ ही सभी शत्रुओं पर आक्रमण कर देना—इन राजसम्बन्धी चौदह दोषों का त्याग तो करते हो न, क्योंकि इन दोषों के कारण दृढमूल राजा भी नष्ट हो जाते हैं।

कच्चित् ते सफला वेदाः कच्चित् ते सफलं धनम्।
कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम् ॥६४॥

क्या तुम्हारे वेद (वेदाध्ययन) सफल हैं? क्या तुम्हारा धन सफल है? क्या तुम्हारी स्त्री सफल है और क्या तुम्हारा शास्त्र-ज्ञान सफल है?

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै सफला वेदाः कथं वै सफलं धनम्?
कथं वै सफला दाराः कथं वै सफलं श्रुतम् ॥६५॥

युधिष्ठिर ने पूछा—देवर्षे! वेद कैसे सफल होते हैं? धन की सफलता कैसे होती है? स्त्री की सफलता कैसे मानी गई है और शास्त्रज्ञान कैसे सफल होता है?

नारद उवाच

अग्निहोत्रफला वेदा दत्तभुक्तफलं धनम्।
रतिपुत्रफला दाराः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ॥६६॥

नारदजी ने कहा—राजन्! वेदों की सफलता अग्निहोत्र से होती है। दान और भोग से धन सफल होता है। स्त्री का फल है रति और पुत्र की प्राप्ति तथा शास्त्र-ज्ञान का फल है—शील और सदाचार।

वैशम्पायन उवाच

एतदाख्याय स मुनिर्नारदो वै महातपाः।
पप्रच्छानन्तरमिदं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥६७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन्! यह कहकर महातपस्वी नारद मुनि ने धर्मात्मा युधिष्ठिर से पुनः इस प्रकार प्रश्न किये—

नारद उवाच

कच्चिदभ्यागता दूराद्वणिजो लाभकारणात्।
यथोक्तमवहार्यन्ते शुल्कं शुल्कोपजीविभिः ॥६८॥

नारद ने पूछा—राजन्! तुम्हारे कर लेनेवाले कर्मचारी लाभ उठाने के लिए दूर से आये व्यापारियों से ठीक-ठीक कर वसूल करते हैं न [अधिक कर तो नहीं लेते]?

कच्चित् ते पुरुषा राजन् पुरे राष्ट्रे च मानिताः।
उपानयन्ति पण्यानि उपधाभिरवञ्चिताः ॥६९॥

महाराज! वे व्यापारी लोग आपके नगर और राष्ट्र में सम्मानित होकर बिक्री के लिए उपयोगी सामान लाते हैं न? उन्हें तुम्हारे कर्मचारी छल से ठगते तो नहीं?

कच्चिच्छृणोषि वृद्धानां धर्मार्थसहिता गिरः।
नित्यमर्थविदां तात यथाधर्मार्थदर्शिनाम् ॥७०॥

तात! तुम सदा धर्म और अर्थ के ज्ञाता तथा अर्थशास्त्रज्ञ बड़े-बूढ़े लोगों की धर्म और अर्थ से युक्त बातें सुनते रहते हो न?

कच्चित् कृतं विजानीषे कर्तारं च प्रशंससि।
सतां मध्ये महाराज सत्करोषि च पूजयन् ॥७१॥

महाराज! क्या तुम्हें किसी के किये हुए उपकार का पता चलता है? क्या तुम उस उपकार करनेवाले की प्रशंसा करते हो? क्या तुम साधु-पुरुषों से भरी सभा में उस उपकारी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उसका आदर-सत्कार करते हो?

कच्चित् सूत्राणि सर्वाणि गृह्णासि भरतर्षभ।
हस्तिसूत्राश्वसूत्राणि रथसूत्राणि वा विभो ॥७२॥

विशदबुद्धि भरतश्रेष्ठ! क्या तुम संक्षेप में सिद्धान्त का प्रतिपादन करनेवाले सभी सूत्रग्रन्थों—हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र तथा रथसूत्र आदि—का पठन एवं अभ्यास करते रहते हो?

कच्चिदभ्यस्यते सम्यग् गृहे ते भरतर्षभ।
धनुर्वेदस्य सूत्रं वै यन्त्रसूत्रं च नागरम् ॥७३॥

भरतकुलश्रेष्ठ! क्या तुम्हारे घर पर धनुर्वेदसूत्र, यन्त्र-सूत्र[1] और नागरिक-सूत्र[2] का अच्छी तरह अभ्यास किया जाता है?

---

१. लोहनिर्मित उन मशीनों को, जिनके द्वारा बारूद के बल से सीसे आदि की गोलियां चलाई जाती हैं, यन्त्र कहते हैं। उन यन्त्रों के प्रयोग की विधि के प्रतिपादक संक्षिप्त वाक्य ही यन्त्र-सूत्र हैं।

२. नगर की रक्षा तथा उन्नति के साधनों को बतानेवाले संक्षिप्त वाक्यों को नागरिक सूत्र कहते हैं।

कच्चिदस्त्राणि सर्वाणि ब्रह्मदण्डश्च तेऽनघ ।
विषयोगास्तथा सर्वे विदिताः शत्रुनाशनाः ॥७४॥

निष्पाप नरेश ! तुम्हें सब प्रकार के अस्त्र, वेदोक्त दण्ड-विधान तथा शत्रुओं का नाश करनेवाले सब प्रकार के विष-प्रयोग ज्ञात हैं न ?

कच्चिदग्निभयाच्चैव सर्वं व्यालभयात् तथा ।
रोगरक्षोभयाच्चैव राष्ट्रं स्वं परिरक्षसि ॥७५॥

क्या तुम अग्नि, सर्प, रोग तथा राक्षसों के भय से अपने सम्पूर्ण राष्ट्र की रक्षा करते हो ?

कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पङ्गून् व्यङ्गानबान्धवान् ।
पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि ॥७६॥

धर्मज्ञ ! क्या तुम अन्धों, गूँगों, लँगड़ों, अङ्गहीनों और बन्धु-बान्धवों से रहित अनाथों तथा संन्यासियों का पिता की भाँति पालन करते हो ?

षडनर्था महाराज कच्चित् ते पृष्ठतः कृताः ।
निद्राऽऽलस्यं भयं क्रोधोऽमार्दवं दीर्घसूत्रता ॥७७॥

महाराज ! क्या तुमने निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, कठोरता और दीर्घसूत्रता—इन छह दोषों को त्याग दिया है ?

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् न्याय्यमाहैतं यथावद् धर्मनिश्चयम् ।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियतेऽयं विधिर्मया ॥७८॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! आपने राजधर्म का जो यथार्थ सिद्धान्त बताया है वह सर्वथा न्यायोचित है। मैं आपके इस न्यायानुकूल आदेश का यथाशक्ति पालन करता हूँ।

भवान् संचरते लोकान्सदा नानाविधान्बहून् ।
ईदृशी भवता काचिद् दृष्टपूर्वा सभा क्वचित् ॥७९॥

मुनिवर ! आप बहुत-से लोकों का दर्शन करते हुए निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं। कृपाकर यह बताइए, क्या आपने पहले कहीं ऐसा कोई सभा-भवन देखा है ?

नारद उवाच

मानुषेषु न मे तात दृष्टपूर्वा न वा श्रुता ।
सभा मणिमयी राजन् यथेयं तव भारत ॥८०॥

नारदजी ने कहा—तात ! भरतवंशी नरेश ! मणि एवं रत्नों से निर्मित जैसी यह सभा है, ऐसी सभा मैंने मनुष्य-लोक में न तो पहले कभी देखी है और न कानों से ही सुनी है।

समर्थोऽसि महीं जेतुं भ्रातरस्ते स्थिता वशे ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहरस्वेति भारत ॥८१॥

हे भारत ! तुम्हारे भाई तुम्हारी आज्ञा के अधीन हैं। तुम सारी पृथिवी को जीतने में समर्थ हो, अतः तुम राजसूय नामक श्रेष्ठ यज्ञ का अनुष्ठान करो।

बहुविघ्नश्च नृपते क्रतुरेष स्मृतो महान् ।
छिद्राण्यस्य तु वाञ्छन्ति यज्ञघ्ना ब्रह्मराक्षसाः ॥८२॥

राजन् ! इस महान् यज्ञ में बहुत-से विघ्न आने की सम्भावना रहती है, क्योंकि यज्ञ-विनाशक ब्रह्म-राक्षस इसके छिद्र ढूँढ़ते रहते हैं।

युद्धं च क्षत्रशमनं पृथिवीक्षयकारणम् ।
किंचिदेव निमित्तं च भवत्यत्र क्षयावहम् ॥८३॥

इसका अनुष्ठान करने पर कोई ऐसा निमित्त भी बन जाता है जिससे पृथिवी पर विनाशकारी युद्ध उपस्थित हो जाता है, जो क्षत्रियों के संहार और भूमण्डल के विनाश का कारण होता है।

एतत् संचिन्त्य राजेन्द्र यत्क्षेमं तत्समाचर ।
अप्रमत्तोत्थितो नित्यं चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ॥८४॥

राजेन्द्र ! यही सब सोच-विचारकर जो तुम्हें हितकर जान पड़े वह करो ! चारों वर्णों की रक्षा के लिए सदा सावधान और उद्यत रहो !

भव एधस्व मोदस्व धनैस्तर्पय च द्विजान् ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि दाशार्हनगरीं प्रति ॥८५॥

संसार में तुम्हारा अभ्युदय हो, तुम आनन्दित रहो और धन से ब्राह्मणों को तृप्त करो। अब मैं यहाँ से द्वारका जाऊँगा, अतः तुमसे अनुमति चाहता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

एवमाख्याय पार्थेभ्यो नारदो जनमेजय ।
जगाम तैर्वृतो राजन्नृषिभिर्यैः समागतः ॥८६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजा जनमेजय ! कुन्तीकुमारों से ऐसा कहकर नारदजी जिन ऋषियों के साथ आये थे, उन्हीं से घिरे हुए वापस चले गये।

गते तु नारदे पार्थो भ्रातृभिः सह कौरवः ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास पार्थिवः ॥८७॥

नारदजी के चले जाने पर कुरुश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ राजसूय नामक श्रेष्ठ यज्ञ के विषय में विचार करने लगे ।

इति महाभारते सभापर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ करने का संकल्प; भाइयों, मन्त्रियों, मुनियों तथा श्रीकृष्ण से परामर्श और श्रीकृष्ण का राजसूय यज्ञ के लिए सम्मति देना

वैशम्पायन उवाच

स मन्त्रिणः समानाय्य भ्रातृंश्च वदतां वरः ।
राजसूयं प्रति तदा पुनः पुनरपृच्छत ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! वक्ताओं में श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर ने अपने मन्त्रियों और भाइयों को बुलाकर उनसे बार-बार पूछा, "राजसूय यज्ञ के सम्बन्ध में आप लोगों का क्या विचार है ?"

ते पृच्छ्यमानाः सहिता वचोऽर्थ्यं मन्त्रिणस्तदा ।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं यियक्षुमिदमब्रुवन् ॥२॥

इस प्रकार पूछे जाने पर राजसूय यज्ञ के इच्छुक महाबुद्धिमान् युधिष्ठिर से उन सब मन्त्रियों ने एक साथ यह अर्थयुक्त बात कही—

समर्थोऽसि महाबाहो सर्वे ते वशगा वयम् ।
अचिरात् त्वं महाराज राजसूयमवाप्स्यसि ॥३॥

महाबाहो ! आप इस यज्ञ के करने में समर्थ हैं। हम सब लोग आपकी आज्ञा के अधीन हैं। महाराज ! आप शीघ्र ही राजसूय यज्ञ पूर्ण कर सकेंगे ।

श्रुत्वा सुहृद्वचस्तच्च जानंश्चाप्यात्मनः क्षमम् ।
पुनः पुनर्मनो दध्रे राजसूयाय भारत ॥४॥

हे भारत ! उन्होंने सुहृदों का वह सम्मतिसूचक वचन सुनकर एवं यह जानते हुए भी कि राजसूय यज्ञ मेरे लिए साध्य है, इस विषय में मन-ही-मन बारम्बार विचार किया—

सामर्थ्ययोगं सम्प्रेक्ष्य देशकालौ व्ययागमौ ।
विमृश्य च धिया सम्यक् कुर्वन् प्राज्ञो न सीदति ॥५॥

जो बुद्धिमान् अपनी शक्ति और साधनों को देखकर तथा देश-काल और आय-व्यय को बुद्धि के द्वारा भली-भाँति समझकर कार्यारम्भ करता है, वह कभी कष्ट में नहीं पड़ता ।

न हि यज्ञ समारम्भः भवत्यात्मविनिश्चयात् ।
स निश्चयार्थं कार्यस्य कृष्णं परममन्यत ।
कृत्वा तां नैष्ठिकीं बुद्धिं प्राहिणोद् दूतमञ्जसा ॥६॥

परन्तु केवल अपने ही निश्चय से यज्ञ आरम्भ नहीं किया जाता। उन्होंने इस कार्य के विषय में निश्चय करने के लिए श्रीकृष्ण को सर्वश्रेष्ठ माना। ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि करके उन्होंने श्रीकृष्ण के पास शीघ्र ही एक दूत भेजा ।

शीघ्रगेन रथेनाशु स दूतः प्राप्य यादवान् ।
द्वारकावासिनं कृष्णं द्वारवत्यां समासदत् ॥७॥

वह दूत शीघ्रगामी रथ के द्वारा तुरन्त यादवों के यहाँ पहुँचकर द्वारकावासी कृष्ण से द्वारका में ही मिला ।

दर्शनाकांक्षिणं पार्थं दर्शनाकाङ्क्षयाच्युतः ।
इन्द्रसेनेन सहित इन्द्रप्रस्थमगात् तदा ॥८॥

श्रीकृष्ण दर्शनाभिलाषी युधिष्ठिर के पास स्वयं भी उनके दर्शन की इच्छा से दूत इन्द्रसेन के साथ ही इन्द्रप्रस्थ में आये ।

तं विश्रान्तं शुभे देशे क्षणिनं कल्पमच्युतम् ।
धर्मराजः समागम्याज्ञापयत् स्वप्रयोजनम् ॥९॥

इन्द्रप्रस्थ में पहुँचकर उन्होंने एक उत्तम भवन में विश्राम किया। थोड़ी देर पश्चात् जब वे मिलने योग्य हुए और इसके लिए उन्होंने अवसर निकाल लिया, तब धर्मराज युधिष्ठिर ने आकर उन्हें अपना सारा प्रयोजन बताया ।

युधिष्ठिर उवाच

प्रार्थितो राजसूयो मे न चासौ केवलेप्सया ।
प्राप्यते येन तत् ते हि विदितं कृष्ण सर्वशः ॥१०॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे श्रीकृष्ण ! मैं राजसूय यज्ञ

करना चाहता हूँ, परन्तु वह इच्छा मात्र से सम्पन्न नहीं हो सकता। वह यज्ञ जैसे पूर्ण हो सकता है, वह सब आपको विदित है।

यस्मिन् सर्वं सम्भवति यश्च सर्वत्र पूज्यते।
यश्च सर्वेश्वरो राजा राजसूयं स विन्दति ॥११॥

जो सब-कुछ कर सकता है, जिसकी सर्वत्र पूजा होती है तथा जो सर्वेश्वर होता है, वही राजा राजसूय यज्ञ को सम्पन्न कर सकता है।

तं राजसूयं सुहृदः कार्यमाहुः समेत्य मे।
तत्र मे निश्चिततमं तव कृष्ण गिरा भवेत् ॥१२॥

मेरे सब सुहृद् एकत्र होकर मुझसे उसी राजसूय यज्ञ को करने के लिए कह रहे हैं, परन्तु उसके विषय में अन्तिम निश्चय तो आपके कहने से ही होगा।

केचिद्धि सौहृदादेव न दोषं परिचक्षते।
स्वार्थहेतोस्तथैवान्ये प्रियमेव वदन्त्युत ॥१३॥

कुछ लोग प्रेम के कारण मेरे दोषों को नहीं बताते हैं। दूसरे लोग स्वार्थवश वही बात कहते हैं जो मुझे प्रिय लगे।

प्रियमेव परीप्सन्ते केचिदात्मनि यद्धितम्।
एवम्प्रायाश्च दृश्यन्ते जनवादाः प्रयोजने ॥१४॥

कुछ लोग जो उनके लिए हितकर है, उसी को मेरे लिए भी हितकर समझते हैं। इस प्रकार अपने-अपने प्रयोजन को लेकर प्रायः लोगों की भिन्न-भिन्न बातें देखी जाती हैं।

त्वं तु हेतूनतीत्यैतान् कामक्रोधौ व्युदस्य च।
परमं यत् क्षमं लोके यथावद् वक्तुमर्हसि ॥१५॥

आप उपर्युक्त सभी हेतुओं और काम-क्रोध से ऊपर उठकर इस लोक में मेरे लिए जो उत्तम और करने योग्य हो, उसे ठीक-ठीक बताने की कृपा करें।

कृष्ण उवाच

सर्वैर्गुणैर्महाराज राजसूयं त्वमर्हसि।
जानतस्त्वेव ते सर्वं किंचिद् वक्ष्यामि भारत ॥१६॥

श्रीकृष्ण बोले—महाराज! आपमें सभी सद्गुण विद्यमान हैं, अतः आप राजसूय यज्ञ करने के सर्वथा योग्य हैं। भारत! आप सब-कुछ जानते हैं तो भी इस विषय में मैं कुछ निवेदन करता हूँ।

स त्वं सम्राड्गुणैर्युक्तः सदा भारतसत्तम।
क्षत्रे सम्राजमात्मानं कर्तुमर्हसि भारत ॥१७॥

भरतकुलभूषण! आप सदा ही सम्राट् के गुणों से समलंकृत हैं, अतः हे भारत! आपको क्षत्रिय-समाज में अपने आपको सम्राट् बना लेना चाहिए।

न तु शक्यं जरासन्धे जीवमाने महाबले।
राजसूयस्त्वयावाप्तुमेषा राजन् मतिर्मम ॥१८॥

परन्तु राजन्! मेरी सम्मति यह है, कि जब तक महाबली जरासन्ध जीवित है, तबतक आप राजसूय यज्ञ नहीं कर सकते।

तेन रुद्धा हि राजानः सर्वे जित्वा गिरिव्रजे।
कन्दरे पर्वतेन्द्रस्य सिंहेनेव महाद्विपाः ॥१९॥

उसने सब राजाओं को जीतकर गिरिव्रज में इस प्रकार कैद कर रखा है, जैसे किसी सिंह ने किसी महान् पर्वत की गुफा में बड़े-बड़े गजराजों=हाथियों को रोक रखा हो।

यदि त्वेनं महाराज यज्ञं प्राप्तुमभीप्ससि।
यतस्व तेषां मोक्षाय जरासन्धवधाय च ॥२०॥

हे राजन्! यदि आप यह यज्ञ सम्पन्न करना चाहते हैं तो पहले उन कैदी राजाओं को छुड़ाने और जरासन्ध को मारने का प्रयत्न कीजिए।

समारम्भो न शक्योऽयमन्यथा कुरुनन्दन।
राजसूयश्च कार्त्स्न्येन कर्तुं मतिमतां वर ॥२१॥

बुद्धिमानों में श्रेष्ठ हे कुरुनन्दन! ऐसा किये बिना आपके राजसूय यज्ञ का आयोजन पूर्णरूप से सफल नहीं हो सकेगा।

इत्येषा मे मती राजन् यथा वा मन्यसेऽनघ।
एवं गते ममाचक्ष्व स्वयं निश्चित्य हेतुभिः ॥२२॥

हे निष्पाप नरेश! मेरी सम्मति तो यही है। फिर आप जैसा उचित समझें, वैसा करें। ऐसी दशा में स्वयं हेतुओं और युक्तियों द्वारा जो कुछ निश्चय करें, वह मुझे बताएँ।

इति महाभारते सभापर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

जरासन्ध के विषय में राजा युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और श्रीकृष्ण की बातचीत और जरासन्ध के वध के लिए श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन की मगध-यात्रा

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं त्वया बुद्धिमता यन्नान्यो वक्तुमर्हति।
संशयानां हि निर्मोक्ता त्वन्नान्यो विद्यते भुवि ॥१॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण! आप परम बुद्धिमान् हैं। आपने जो बात कही है, वह दूसरा कोई नहीं कह सकता। इस संसार में समस्त संशयों को मिटानेवाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है।

गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियङ्कराः।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट्छब्दो हि कृच्छ्रभाक् ॥२॥

आजकल तो घर-घर में राजा हैं और वे सभी अपना-अपना प्रिय करने में रत हैं परन्तु वे सम्राट् पद को प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि सम्राट् की पदवी बड़ी कठिनाई से प्राप्त होती है।

शममेव परं मन्ये शमात् क्षेमं भवेन्मम।
आरम्भे पारमेष्ठ्ये तु न प्राप्यमिति मे मतिः ॥३॥

मैं तो शम=मन और इन्द्रियों के संयम को ही श्रेष्ठ मानता हूँ, उसी से मेरा कल्याण होगा। राजसूय यज्ञ का आरम्भ करने पर भी उसके फलस्वरूप ब्रह्मलोक की प्राप्ति मेरे लिए असम्भव है, मेरी तो ऐसी धारणा है।

भीम उवाच

अनारम्भपरो राजा वल्मीक इव सीदति।
दुर्बलश्चानुपायेन बलिनं योऽधितिष्ठति ॥४॥

भीमसेन ने कहा—हे राजन्! जो राजा उद्योग नहीं करता तथा जो दुर्बल होने पर भी उचित उपाय या युक्ति से कार्य न करके किसी बलवान् से भिड़ जाता है—वे दोनों दीमकों के बनाये हुए मिट्टी के ढेर के समान नष्ट हो जाते हैं।

अतन्द्रितश्च प्रायेण दुर्बलो बलिनं रिपुम्।
जयेत् सम्यक्प्रयोगेण नीत्यार्थानात्मनो हितान् ॥५॥

परन्तु जो आलस्य त्यागकर युक्ति और नीति से काम लेता है, वह दुर्बल होने पर भी बलवान् शत्रु को जीत लेता है तथा अपने लिए हितकर और अभीष्ट अर्थ प्राप्त करता है।

कृष्णे नयो मयि बलं जयः पार्थे धनञ्जये।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः ॥६॥

श्रीकृष्ण में नीति है, मुझमें बल है और अर्जुन में विजय की शक्ति है, अतः हम तीनों मिलकर मगधराज जरासन्ध को उसी प्रकार जीत लेंगे, जैसे तीनों अग्नियाँ यज्ञ को सिद्ध कर देती हैं।

कृष्ण उवाच

जित्वा जय्यान् यौवनाश्विः पालनाच्च भगीरथः।
कार्तवीर्यस्तपोवीर्याद् बलात् तु भरतो विभुः ॥७॥
ऋद्ध्या मरुत्तस्तान् पञ्च सम्राजस्त्वनुशुश्रुम।
साम्राज्यमिच्छतस्ते तु सर्वाकारं युधिष्ठिर।
निग्राह्यलक्षणं प्राप्तिर्धर्मार्थनयलक्षणैः ॥८॥

श्रीकृष्ण बोले—हे राजन्! युवनाश्व के पुत्र मान्धाता ने जीतने योग्य शत्रुओं को जीतकर सम्राट् का पद पाया था। भगीरथ प्रजा का पालन करने से, कार्तवीर्य=सहस्रबाहु अर्जुन तपोबल से और राजा भरत स्वाभाविक बल से सम्राट् हुए थे। राजा मरुत्त अपनी समृद्धि के प्रभाव से सम्राट् बने थे। अबतक इन पाँच सम्राटों का नाम ही हम सुनते आ रहे हैं। युधिष्ठिर! वे मान्धाता आदि तो एक-एक गुण से ही सम्राट् बने थे परन्तु आप तो सम्पूर्णरूप से सम्राट् होने के योग्य हैं, क्योंकि आप शत्रुविजय, प्रजापालन, तपःशक्ति, धन-समृद्धि और नीति—साम्राज्य-प्राप्ति के इन पाँचों गुणों से सम्पन्न हैं।

बार्हद्रथो जरासन्धस्तद् विद्धि भरतर्षभ।
ततः स्म मागधं संख्ये प्रतिबाधेम यद् वयम् ॥९॥

परन्तु भरतश्रेष्ठ! आपके मार्ग में बृहद्रथ का पुत्र जरासन्ध बाधक है, यह आपको जान लेना चाहिए। राजसूय यज्ञ की निर्विघ्न सफलता के लिए हम लोग जरासन्ध को द्वन्द्व-युद्ध में मार डालें।

षडशीतिः समानीताः शेषा राजंश्चतुर्दश।
जरासन्धेन राजानस्ततः क्रूरं प्रवर्त्स्यते ॥१०॥

राजन् ! जरासंध ने छियासी राजाओं को क़ैद कर रखा है, केवल चौदह शेष हैं। उनको भी बन्दी बनाने के पश्चात् वह क्रूर कर्म में प्रवृत्त होगा अर्थात् उन सबकी बलि देगा।

प्राप्नुयात् स यशो दीप्तं तत्र यो विघ्नमाचरेत्।
जयेद् यश्च जरासन्धं स सम्राट् नियतं भवेत् ॥११॥

जो राजा जरासंध के इस कर्म में विघ्न डालेगा, वह उज्ज्वल यश का भागी बनेगा और जो उसे जीत लेगा, वही निश्चितरूप से सम्राट् बनेगा।

युधिष्ठिर उवाच

सम्राड्गुणमभीप्सन् वै युष्मान् स्वार्थपरायणः।
कथं प्रहिणुयां कृष्ण सोऽहं केवलसाहसात् ॥१२॥

युधिष्ठिर बोले—हे कृष्ण ! मैं सम्राट् के गुणों की इच्छा रखकर, स्वार्थ-साधन में तत्पर हो केवल साहस के भरोसे आप लोगों को जरासन्ध के पास कैसे भेज दूँ ?

भीमार्जुनावुभौ नेत्रे मनो मन्ये जनार्दनम्।
मनश्चक्षुर्विहीनस्य कीदृशं जीवितं भवेत् ॥१३॥

हे जनार्दन ! भीम और अर्जुन दोनों मेरे नेत्र हैं और आपको तो मैं अपना मन मानता हूँ। अपने मन और नेत्रों को खो देने पर मेरा यह जीवन कैसे स्थिर रह सकेगा ?

जरासन्धबलं प्राप्य दुष्पारं भीमविक्रमम्।
यमोऽपि न विजेताऽऽजौ तत्र वः किं विचेष्टितम् ॥१४

जरासन्ध की सेना का पार पाना अति कठिन है। उसका पराक्रम भी भयानक है। युद्ध में उस सेना का सामना करके यमराज भी नहीं जीत सकता, फिर आप लोगों का प्रयत्न वहाँ क्या कर सकता है ?

अस्मिंस्त्वर्थान्तरे युक्तमनर्थः प्रतिपद्यते।
तस्मान्न प्रतिपत्तिस्तु कार्या युक्ता मता मम ॥१५॥

यह कार्य हमारे लिए इष्टफल के विपरीत फल देनेवाला जान पड़ता है, अतः अबतक हम जिसे सम्पन्न करना चाहते थे, उस राजसूय यज्ञ की ओर ध्यान देना मुझे उचित नहीं जान पड़ता।

संन्यासं रोचये साधु कार्यस्यास्य जनार्दन।
प्रतिहन्ति मनो मेऽद्य राजसूयो दुराहरः ॥१६॥

हे जनार्दन ! मुझे तो यह कार्य छोड़ देना ही अच्छा लगता है। राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान बहुत कठिन है। अब यह मेरे मन को प्रतिहत (निरुत्साहित) कर रहा है।

वैशम्पायन उवाच

पार्थः प्राप्य धनुः श्रेष्ठमक्षय्ये च महेषुधी।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ॥१७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! कुन्तीनन्दन अर्जुन उत्तम गाण्डीव धनुष, दो अक्षय तरकस, दिव्य रथ, ध्वजा और सभा प्राप्त कर चुके थे, अतः वे उत्साहित होकर युधिष्ठिर से बोले—

अर्जुन उवाच

धनुः शस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम्।
प्राप्तमेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥१८॥

अर्जुन ने कहा—हे राजन् ! धनुष, शस्त्र, बाण, पराक्रम, श्रेष्ठ सहायक, साम्राज्य, यश और बल की प्राप्ति अति कठिनाई से होती है किन्तु ये सभी दुर्लभ वस्तुएँ मुझे अपनी इच्छा के अनुकूल प्राप्त हुई हैं।

कुले जन्म प्रशंसन्ति वैद्याः साधु सुनिष्ठिताः। □
बलेन सदृशं नास्ति वीर्यं तु मम रोचते ॥१९॥

अनुभवी विद्वान् उत्तम कुल में जन्म की बड़ी प्रशंसा करते हैं, परन्तु बल के समान वह (उत्तम कुल) भी नहीं है। मुझे तो बल-पराक्रम ही श्रेष्ठ जान पड़ता है।

कृतवीर्यकुले जातो निर्वीर्यः किं करिष्यति।
निर्वीर्ये तु कुले जातो वीर्यवांस्तु विशिष्यते ॥२०॥

महापराक्रमी राजा कृतवीर्य के कुल में उत्पन्न होकर भी जो स्वयं निर्बल है, वह क्या करेगा ? वरन् निर्बल कुल में जन्म लेकर भी जो बलवान् और पराक्रमी है, वही श्रेष्ठ है।

क्षत्रियः सर्वशो राजन् यस्य वृत्तिर्द्विषज्जये।
सर्वैर्गुणैर्विहीनोऽपि वीर्यवान् हि तरेद् रिपून् ॥२१॥

महाराज ! शत्रुओं के जीतने में जिसकी प्रवृत्ति हो, वही सब प्रकार से श्रेष्ठ क्षत्रिय है। बलवान् पुरुष सब गुणों से हीन हो, तो भी वह शत्रुओं के संकट से पार हो सकता है।

सर्वैरपि गुणैर्युक्तो निर्वीर्यः किं करिष्यति।
गुणीभूता गुणाः सर्वे तिष्ठन्ति हि पराक्रमे ॥२२॥

जो पराक्रमहीन है, वह सर्वगुण-सम्पन्न होकर भी क्या करेगा, क्योंकि पराक्रम में सभी गुण उसके अङ्ग बनकर रहते हैं।

जयस्य हेतुः सिद्धिर्हि कर्म दैवं च संश्रितम्।
संयुक्तो हि बलैः कश्चित् प्रमादान्नोपयुज्यते।
तेन द्वारेण शत्रुभ्यः क्षीयते सबलो रिपुः ॥२३॥

महाराज! सिद्धि=मनोयोग और प्रारब्ध के अनुकूल पुरुषार्थ ही विजय का हेतु है। जो बल से सम्पन्न होकर भी प्रमाद करे, तो वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। प्रमादरूप छिद्र के कारण बलवान् शत्रु भी अपने सामान्य शत्रुओं द्वारा मारा जाता है।

दैन्यं यथा बलवति तथा मोहो बलान्विते।
तावुभौ नाशकौ हेतू राज्ञा त्याज्यौ जयार्थिना ॥२४॥

बलवान् पुरुष में दीनता की भाँति बलिष्ठ पुरुषों में मोह का होना भी महान् दोष है। दीनता और मोह दोनों विनाश के कारण हैं, अतः विजय के इच्छुक राजा को इन दोनों को त्याग देना चाहिए।

जरासन्धविनाशं च राज्ञां च परिरक्षणम्।
यदि कुर्याम यज्ञार्थं किं ततः परमं भवेत् ॥२५॥

यदि हम राजसूय यज्ञ की सिद्धि के लिए जरासन्ध का नाश और क़ैद में पड़े हुए राजाओं की रक्षा कर सकें, तो इससे उत्तम और क्या हो सकता है?

अनारम्भे हि नियतो भवेदगुणनिश्चयः।
गुणान्निःसंशयाद् राजन् नैर्गुण्यं मन्यते कथम् ॥२६

यदि हम यज्ञ का आरम्भ नहीं करते हैं तो निश्चय ही हमारी अयोग्यता और दुर्बलता प्रकट होती है, अतः राजन्! सुनिश्चित गुण की उपेक्षा करके आप निर्गुणता का कलंक क्यों स्वीकार करते हैं?

काषायं सुलभं पश्चान्मुनीनां शममिच्छताम्।
साम्राज्यं तु भवेच्छक्यं वयं योत्स्यामहे परान् ॥२७॥

ऐसा करने पर तो हमें शान्ति के अभिलाषी संन्यासियों का गेरुआ वस्त्र ही सुलभ होगा, परन्तु हम लोग साम्राज्य प्राप्त करने में समर्थ हैं, अतः हम लोग शत्रुओं से युद्ध करेंगे।

कृष्ण उवाच

जातस्य भारते वंशे तथा कुन्त्याः सुतस्य च।
या वै युक्ता मतिः सेयमर्जुनेन प्रदर्शिता ॥२८॥

श्रीकृष्ण ने कहा—राजन्! भरतवंश में उत्पन्न पुरुष और कुन्ती-जैसी माता के पुत्र की जैसी बुद्धि होनी चाहिए, अर्जुन ने उसी का परिचय दिया है।

न स्म मृत्युर्वयं विद्मरात्रौ वा यदि वा दिवा।
न चापि कञ्चिदमरमयुद्धेनानुशुश्रुमः ॥२९॥

महाराज! हम लोग यह नहीं जानते कि मृत्यु कब आएगी—रात्रि में आएगी या दिन में। हमने यह भी नहीं सुना है कि युद्ध न करने के कारण कोई अमर हो गया हो।

एतावदेव पुरुषैः कार्यं हृदयतोषणम्।
नयेन विधिदृष्टेन यदुपक्रमते परान् ॥३०॥

वीर पुरुषों का इतना ही कर्तव्य है कि वे अपने हृदय के सन्तोष के लिए नीतिशास्त्र में निर्दिष्ट नीति के अनुसार शत्रुओं पर आक्रमण करें।

ते वयं नयमास्थाय शत्रुदेहसमीपगाः।
कथमन्तं न गच्छेम वृक्षस्येव नदीरयाः ॥३१॥

हम लोग नीति का आश्रय लेकर शत्रु के शरीर के निकट तक पहुँच जाएँ, फिर जैसे नदी का वेग किनारे के वृक्षों को नष्ट कर देता है, वैसे ही हम शत्रु का अन्त क्यों न कर डालेंगे?

मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चावयोर्जयः।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः ॥३२॥

मुझमें नीति है, भीम में बल है और अर्जुन हम दोनों के रक्षक हैं, अतः जैसे तीन अग्नियाँ यज्ञ की सिद्धि करती हैं वैसे ही हम तीनों मिलकर जरासन्ध के वध का काम पूरा कर लेंगे।

त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्विजने स नराधिपः।
न सन्देहो यथा युद्धमेकेनाप्युपयास्यति ॥३३॥
अवमानाच्च लोभाच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः।
भीमसेनेन युद्धाय ध्रुवमप्युपयास्यति ॥३४॥

जब हम तीनों एकान्त में राजा जरासन्ध से मिलेंगे, तब वह हम तीनों में से किसी एक के साथ द्वन्द्वयुद्ध करना स्वीकार कर लेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अपमान के भय से, बड़े योद्धा भीम के साथ

लड़ने के लोभ से और अपने बाहुबल के अभिमान से जरासन्ध निश्चय ही भीमसेन के साथ युद्ध करने के लिए तैयार होगा।

अलं तस्मै महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः।
लोकस्य समुदीर्णस्य निधनायान्तको यथा ॥३५॥

जैसे उत्पन्न हुए समस्त संसार के विनाश के लिए एकमात्र यमराज पर्याप्त हैं, वैसे ही महाबली महाबाहु भीम जरासंध के वध के लिए पर्याप्त हैं।

यदि मे हृदयं वेत्सि यदि ते प्रत्ययो मयि।
भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभूतौ प्रयच्छ मे ॥३६॥

राजन्! यदि आप मेरे हृदय को जानते हैं और आपका मुझपर विश्वास है, तो भीम और अर्जुन को धरोहर के रूप में शीघ्र ही मुझे देने की कृपा करें।

युधिष्ठिर उवाच

अच्युताच्युत मा मैवं व्याहरामित्रकर्षन।
पाण्डवानां भवान् नाथो भवन्तं चाश्रिता वयम् ॥३७

युधिष्ठिर बोले—अपनी मर्यादा से च्युत न होनेवाले शत्रुनाशक अच्युत! आप ऐसी बात कदापि न कहें। आप हम पाण्डवों के स्वामी और रक्षक हैं और हम सब लोग आपकी शरण में हैं।

यथा वदसि गोविन्द सर्वं तदुपपद्यते।
न हि त्वमग्रतस्तेषां येषां लक्ष्मीः पराङ्मुखी ॥३८॥

हे गोविन्द! आप जैसा कहते हैं, वह सब ठीक है। जिनकी राज्यलक्ष्मी विमुख हो चुकी है, उनके सम्मुख आप आते ही नहीं हैं।

निहतश्च जरासन्धो मोक्षिताश्च महीक्षितः।
राजसूयश्च मे लब्धो निदेशे तव तिष्ठतः ॥३९॥

आपकी आज्ञा के अनुसार चलने मात्र से मैं यह मानता हूँ कि जरासन्ध मारा गया, समस्त राजा उसकी कैद से छूट गये और मेरा राजसूय यज्ञ भी पूरा हो गया।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः।
वार्ष्णेयः पाण्डवेयौ च प्रतस्थुर्मागधं प्रति ॥४०॥
वर्चस्विनां ब्राह्मणानां स्नातकानां परिच्छदम्।
आच्छाद्य सुहृदां वाक्यैर्मनोज्ञैरभिनन्दिताः ॥४१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर वे सब महातेजस्वी भाई श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीम मगधराज से भिड़ने के लिए उसकी राजधानी की ओर चल दिये। उन्होंने तेजस्वी ब्राह्मण-स्नातकों का वेश धारण कर अपने क्षत्रिय रूप को छिपाकर यात्रा की। उस समय सब हितैषी सुहृदों ने मधुर वचनों द्वारा उनका अभिनन्दन किया।

कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु गङ्गाशोणमतीत्य च।
गोरथं गिरिमासाद्य ददृशुर्मागधं पुरम् ॥४२॥

कुरुदेश से चलकर गङ्गा और शोणभद्र को पार करके, गोरथ पर्वत पर पहुँचकर उन तीनों ने मगध की राजधानी को देखा।

इति महाभारते सभापर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

मगध की राजधानी में प्रवेश, श्रीकृष्ण और जरासन्ध का संवाद, जरासन्ध का भीम से लड़ने के लिए तैयार होना और भीम द्वारा उसका वध

वैशम्पायन उवाच

हृष्टपुष्टजनोपेतं चातुर्वर्ण्यसमाकुलम्।
स्फीतोत्सवमनाधृष्यमासेदुश्च गिरिव्रजम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—वहाँ से चलकर वे तीनों गिरिव्रज के निकट जा पहुँचे। वह नगर चारों वर्णों के लोगों से भरा-पूरा था। उसमें रहनेवाले सभी लोग हृष्ट-पुष्ट दिखाई देते थे। वहाँ अधिकाधिक उत्सव होते रहते थे। उस नगर को कोई जीत भी नहीं सकता था।

ततो द्वारमनासाद्य चैत्यकान्तं समाद्रवन्।
स्थिरं सुविपुलं शृङ्गं सुमहान्तं पुरातनम् ॥२॥
विपुलैर्बाहुभिर्वीरास्तेऽभिहत्याभ्यपातयन्।
ततस्ते मागधं हृष्टाः पुरं प्रविविशुस्तदा ॥३॥

वे मुख्य फाटक पर न जाकर नगर के चैत्यक नामक ऊँचे स्थान पर चढ़ गये। उस चैत्यक का विशाल शिखर बहुत पुराना परन्तु सुदृढ़ था।

श्रीकृष्ण आदि तीनों वीरों ने अपनी विशाल भुजाओं से टक्कर मारकर उस चैत्यक पर्वत के शिखर को गिरा दिया। तत्पश्चात् वे अत्यन्त प्रसन्न होकर मगध की राजधानी गिरिव्रज के भीतर प्रविष्ट हुए।

राजमार्गेण गच्छन्तः कृष्णभीमधनञ्जयाः।
बलाद् गृहीत्वा माल्यानि मालाकारान्महाबलाः ॥४॥

राजमार्ग पर चलते हुए महाबली श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन ने एक माली से बलपूर्वक बहुत-सी मालाएँ छीनकर धारण कर लीं।

विरागवसनाः सर्वे स्रग्विणो मृष्टकुण्डलाः।
निवेशनमथाजग्मुर्जरासन्धस्य धीमतः ॥५॥

उन तीनों के वस्त्र अनेक रंगों के थे। उन्होंने गले में हार तथा कानों में चमकीले कुण्डल पहने हुए थे। वे चलते-चलते बुद्धिमान् राजा जरासन्ध के महल के निकट जा पहुँचे।

ते त्वतीत्य जनाकीर्णाः कक्षास्तिस्रो नरर्षभाः।
अहंकारेण राजानमुपतस्थुर्गतव्यथाः ॥६॥

वे नरश्रेष्ठ लोगों से भरी हुई तीन ड्योढ़ियों को पार करके निर्भय एवं निश्चिन्त हो बड़े दर्प के साथ राजा जरासन्ध के निकट पहुँच गये।

तान् पाद्यमधुपर्कार्हान् गवार्हान् सत्कृतिं गतान्।
प्रत्युत्थाय जरासन्ध उपतस्थे यथाविधि ॥७॥

वे पाद्य, मधुपर्क और गोदान पाने के योग्य थे। उनका सर्वत्र सत्कार अभीष्ट था। उन्हें आया देख जरासन्ध उठकर खड़ा हो गया तथा विधिपूर्वक उनका आतिथ्य किया।

उवाच चैतान् राजासौ स्वागतं वोऽस्त्विति प्रभुः।
मौनमासीत् तदा पार्थभीमयोर्जनमेजय ॥८॥
तेषां मध्ये महाबुद्धिः कृष्णो वचनमब्रवीत्।
वक्तुं नायाति राजेन्द्र एतयोर्नियमस्थयोः ॥९॥
अर्वाङ्निशीथात् परतस्त्वया सार्धं वदिष्यतः।
यज्ञागारे स्थापयित्वा राजा राजगृहं गतः ॥१०॥

तत्पश्चात् महाबली राजा ने इन तीनों अतिथियों से कहा—'आप लोगों का स्वागत है।' जनमेजय! उस समय भीम और अर्जुन मौन थे अतः महाबुद्धिमान् श्रीकृष्ण ने कहा—"राजेन्द्र! ये दोनों एक व्रत-नियम में दीक्षित (बद्ध) हैं, अतः आधी रात से पूर्व नहीं बोलते। अर्धरात्रि व्यतीत होने पर ये दोनों आप से वार्तालाप करेंगे।" तब जरासन्ध उन्हें यज्ञशाला में ठहराकर स्वयं राजभवन में चला गया।

ततोऽर्धरात्रे सम्प्राप्ते यातो यत्र स्थिता द्विजाः।
इदमूचुरमित्रघ्नाः स्वस्त्यस्तु कुशलं नृप ॥११॥

फिर आधी रात्रि होने पर जरासन्ध वहाँ गया जहाँ वे ब्राह्मण ठहरे हुए थे। शत्रुओं का नाश करने वाले वे सभी जरासन्ध को देखते ही बोले—"राजन्! आपका का कल्याण हो।"

तानुवाच जरासन्धो गर्हितान्परिवेशनात्।
न स्नातकव्रता विप्रा बहिर्माल्यानुलेपनाः ॥१२॥
भवन्तीति नृलोकेऽस्मिन् विदितं मम सर्वशः।
के यूयं पुष्पवन्तश्च भुजैर्ज्याकृतलक्षणैः ॥१३॥

हे कुरुनन्दन! उस समय जरासन्ध ने उन तीनों की निन्दा करते हुए कहा—"हे ब्राह्मणो! संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध है कि स्नातकव्रत का पालन करनेवाले ब्राह्मण माला और चन्दन धारण नहीं करते। मुझे भी यह बात भली-भाँति विदित है। आपके गले में फूलों की माला है और भुजाओं में धनुष की प्रत्यञ्चा की रगड़ का चिह्न भी स्पष्ट दिखाई देता है, अतः बताइए, आप लोग कौन हैं?

बिभ्रतः क्षात्रमोजश्च ब्राह्मण्यं प्रतिजानथ।
सत्यं वदत के यूयं सत्यं राजसु शोभते ॥१४॥

"आप लोग क्षत्रियोचित तेज धारण करते हैं परन्तु ब्राह्मण होने का परिचय दे रहे हैं। सच बताइए, आप कौन हैं? राजाओं में सत्य की ही शोभा होती है।

चैत्यकस्य गिरेः शृङ्गं भित्त्वा किमिह छद्मना।
अद्वारेण प्रविष्टाः स्थ निर्भया राजकिल्बिषात् ॥१५

चैत्यक पर्वत के शिखर को तोड़कर राजा का अपराध करके भी उससे भयभीत न हो छद्म-वेश धारण करके आप लोग द्वार-मार्ग छोड़कर इस नगर में घुस आये हैं, इसका क्या कारण है?

वदध्वं वाचि वीर्यं च ब्राह्मणस्य विशेषतः।
कर्म चैतद् विलिङ्गस्थं किं वोऽद्य प्रसमीक्षितम् ॥१६॥

"बोलिए, ब्राह्मण की तो वाणी में ही तेज होता है, कर्म में नहीं। आपने तो पर्वतशिखर को ही तोड़ा

है, वह आपके वर्ण और वेश के सर्वथा विपरीत है। बताइए, आपने आज क्या सोच रखा है?

एवं च मामुपस्थाय कस्माच्च विधिनार्हणाम्।
प्रतीतां नानुगृह्णीत कार्यं किं वास्मदागमे ॥१७॥

इस प्रकार मेरे यहाँ उपस्थित होकर मेरे द्वारा विधिपूर्वक अर्पित की हुई इस पूजा को आप लोग ग्रहण क्यों नहीं करते? फिर मेरे यहाँ आपके आने का प्रयोजन ही क्या है?

कृष्ण उवाच

स्नातकान्ब्राह्मणान् राजन्विद्ध्यस्माँस्त्वं नराधिप।
स्नातकव्रतिनो राजन् ब्राह्मणाः क्षत्रियाविशः ॥१८॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजन्! वेश के अनुसार तुम हमें स्नातक ब्राह्मण समझ सकते हो। वैसे तो स्नातक व्रत का पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के लोग होते हैं।

पुष्पवत्सु ध्रुवा श्रीश्च पुष्पवन्तस्ततो वयम्।
क्षत्रियो बाहुवीर्यस्तु न तथा वाक्यवीर्यवान् ॥१९॥

पुष्प धारण करनेवालों में लक्ष्मी का निवास ध्रुव है, अतः हम लोग पुष्पमालाधारी हैं। क्षत्रिय का बल और पराक्रम उसकी भुजाओं में होता है, वाणी में नहीं, अतः हम मौन हैं।

स्ववीर्यं क्षत्रियाणां तु बाह्वोर्धाता न्यवेशयत्।
तद् दिदृक्षसि चेद् राजन् द्रष्टास्यद्य न संशयः ॥२०॥

विधाता ने क्षत्रियों का अपना बल उनकी भुजाओं में ही भर दिया है। राजन्! यदि आज उसे देखना चाहते हो तो निश्चय ही देख लोगे।

अद्वारेण रिपोर्गेहं द्वारेण सुहृदो गृहान्।
प्रविशन्ति नरा धीरा द्वाराण्येतानि धर्मतः ॥२१॥

धीर मनुष्य शत्रु के घर में बिना द्वार (दरवाजे) के और मित्र के घर में द्वार से घुसते हैं। शत्रु और मित्र के लिए धर्मतः ये ही द्वार बताये गये हैं।

कार्यवन्तो गृहानेत्य शत्रुतो नार्हणां वयम्।
प्रतिगृह्णीम तद् विद्धि एतन्नः शाश्वतं व्रतम् ॥२२॥

हम अपने कार्य से तुम्हारे घर आये हैं, अतः शत्रु से पूजा ग्रहण नहीं कर सकते। यह हमारा सनातन व्रत है। इस बात को तुम अच्छी प्रकार समझ लो।

जरासन्ध उवाच

न स्मरामि कदा वैरं कृतं युष्माभिरित्युत।
चिन्तयँश्च न पश्यामि भवतां प्रति वैकृतम् ॥२३॥

जरासन्ध बोला—हे ब्राह्मणो! मुझे स्मरण नहीं आता कि मैंने कब आप लोगों के साथ वैर किया है। बहुत सोचने पर भी मुझे आपके प्रति अपने द्वारा किया हुआ कोई अपराध दिखाई नहीं देता।

वैकृते वासति कथं मन्यध्वं मामनागसम्।
अरिं वै ब्रूत हे विप्राः सतां समय एष हि ॥२४॥

हे विप्रो! जब मुझसे अपराध ही नहीं हुआ है तब मुझ निर्दोष को आप लोग शत्रु कैसे मान रहे हैं, यह बताइए। क्या यही साधु पुरुषों का बर्ताव है?

तस्य मेऽद्य स्थितस्येह स्वधर्मे नियतात्मनः।
अनागसं प्रजानां च प्रमादादिव जल्पथ ॥२५॥

मैं अपने मन को वश में रखकर सदा स्वधर्म [क्षत्रिय धर्म] में स्थित रहता हूँ। प्रजाओं का भी कोई अपराध नहीं करता, ऐसी स्थिति में आप लोग प्रमाद से ही मुझे शत्रु बता रहे हैं।

कृष्ण उवाच

कुलकार्यं महाबाहो कश्चिदेकः कुलोद्वहः।
वहते यस्तन्नियोगाद् वयमभ्युद्यतास्त्वयि ॥२६॥

श्रीकृष्ण बोले—हे महाबाहो! सारे कुल में कुल के भार को एक व्यक्ति ही सँभालता है, उस कुल के सभी लोगों की रक्षा आदि का कार्य वही सम्पन्न करता है। जो वैसे महापुरुष हैं, उन्हीं की आज्ञा से आज हम तुम्हें दण्ड देने को उद्यत हुए हैं।

त्वया चोपहृता राजन् क्षत्रिया लोकवासिनः।
तदागः क्रूरमुत्पाद्य मन्यसे किमनागसम् ॥२७॥

राजन्! तुमने भूलोक-निवासी क्षत्रियों को कैद में डाल रखा है। ऐसे क्रूर अपराध का आयोजन करके भी तुम अपने आपको निरपराध मानते हो?

राजा राज्ञः कथं साधून्हिंस्यान्नृपतिसत्तम।
तद् राज्ञः संनिगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि ॥२८॥

नृपश्रेष्ठ! एक राजा दूसरे राजा की हत्या कैसे कर सकता है? तुम राजाओं को बन्दीगृह में डाल उन्हें रुद्र देवता पर चढ़ाना चाहते हो?

अस्मांस्तदेनो गच्छेद्धि कृतं बार्हद्रथ त्वया ।
वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः ॥२६॥

वृहद्रथकुमार ! तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह पाप हम सब लोगों पर भी लागू होगा, क्योंकि हम धर्म की रक्षा करने में समर्थ और धर्म का पालन करनेवाले हैं।

मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन ।
स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शंकरम् ॥३०॥

किसी देवता की पूजा के लिए मनुष्यों का वध कभी नहीं देखा गया। फिर तुम कल्याणकारी शिव की पूजा मनुष्यों की हिंसा द्वारा कैसे करना चाहते हो ?

ते त्वां ज्ञातिक्षयकरं वयमार्तानुसारिणः ।
ज्ञातिवृद्धिनिमित्तार्थं विनिहन्तुमिहागताः ॥३१॥

संकट में पड़े हुए दीन-दुखियों के रक्षक हम लोग सजातीय वन्धुओं की वृद्धि के उद्देश्य से जाति-भाइयों के हत्यारे तुम्हारा वध करने के लिए यहाँ आये हैं।

नास्ति लोके पुमानन्यः क्षत्रियेष्विति चैव तत् ।
मन्यसे स च ते राजन् सुमहान् बुद्धिविप्लवः ॥३२॥

राजन् ! जो तुम यह मान बैठे हो कि इस संसार के क्षत्रियों में मेरे समान दूसरा कोई नहीं है, यह तुम्हारी वुद्धि का वहुत वड़ा भ्रम है।

युयुक्षमाणास्त्वत्तो हि न वयं ब्राह्मणा ध्रुवम् ।
शौरीरस्मि हृषीकेशो नृवीरौ पाण्डवाविमौ ॥३३॥

तुमसे युद्ध की इच्छा रखनेवाले हम लोग निश्चय ही ब्राह्मण नहीं हैं। मैं वसुदेवपुत्र हृषीकेश हूँ और ये दोनों पाण्डुपुत्र वीरवर भीमसेन और अर्जुन हैं।

त्वामाह्वयामहे राजन् स्थिरो युध्यस्व मागध ।
मुञ्च वा नृपतीन् सर्वान् गच्छ वा त्वं यमक्षयम् ॥३४

मगधनरेश ! हम तुम्हें युद्ध के लिए ललकारते हैं। तुम डटकर युद्ध करो। या तुम समस्त राजाओं को छोड़ दो अथवा यमलोक की राह लो।

जरासन्ध उवाच

नाजितान् वै नरपतीनहमादद्मि कांश्चन ।
अजितः पर्यवस्थाता कोऽत्र यो न मया जितः ॥३५॥

जरासन्ध ने कहा—कृष्ण ! मैं युद्ध में जीते विना किसी भी राजा को कैद करके यहाँ नहीं लाया हूँ। यहाँ ऐसा कौन-सा शत्रु राजा है, जो दूसरों से अजेय होने पर भी मेरे द्वारा न जीता गया हो ?

क्षत्रियस्यैतदेवाहुर्धर्म्यं कृष्णोपजीवनम् ।
विक्रम्य वशमानीय कामतो यत् समाचरेत् ॥३६॥

कृष्ण ! क्षत्रिय के लिए तो यह धर्मानुकूल जीविका वताई गई है कि वह पराक्रम करके शत्रु को अपने वश में लाकर फिर उसके साथ मनमाना वर्ताव करे।

देवतार्थमुपाहृत्य राज्ञः कृष्ण कथं भयात् ।
अहमद्य विमुच्येयं क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ॥३७॥

कृष्ण ! मैं क्षत्रियों के व्रत को स्मरण रखता हुआ देवों के वलिदानार्थ उपहार में लाये हुए इन राजाओं को आज तुम्हारे भय से कैसे छोड़ सकता हूँ ?

सैन्यं सैन्येन व्यूढेन एक एकेन वा पुनः ।
द्वाभ्यां त्रिभिर्वा योत्स्येऽहं युगपत् पृथगेव वा ॥३८॥

तुम्हारी सेना मेरी व्यूहरचना-युक्त सेना के साथ लड़ ले अथवा तुममें से कोई एक मुझ अकेले के साथ द्वन्द्वयुद्ध कर ले, अथवा मैं अकेला ही तुममें से दो या तीनों के साथ वारी-वारी से अथवा एक साथ युद्ध कर सकता हूँ।

कृष्ण उवाच

त्रयाणां केन ते राजन् योद्धुमुत्सहते मनः ।
अस्मदन्यतमेनेह सज्जीभवतु को युधि ॥३९॥

श्रीकृष्ण ने पूछा—हे राजन् ! हम तीनों में से किस एक वीर के साथ युद्ध करने के लिए तुम्हारे मन में उत्साह हो रहा है ? हममें से कौन तुम्हारे साथ युद्ध के लिए कटिबद्ध हो ?

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स नृपतिर्युद्धं वव्रे महाद्युतिः ।
जरासन्धस्ततो राजा भीमसेनेन मागधः ॥४०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—श्रीकृष्ण द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर महातेजस्वी मगध-नरेश राजा जरासन्ध ने भीमसेन के साथ युद्ध करना स्वीकार किया।

अवमुच्य किरीटं स केशान् समनुगृह्य च ।
उदतिष्ठज्जरासन्धो वेलातिग इवार्णवः ॥४१॥

जरासन्ध ने किरीट=मुकुट उतारकर केशों को कसकर बाँध लिया। तत्पश्चात् वह युद्ध के लिए उठकर खड़ा हो गया, मानो समुद्र अपनी मर्यादा को लाँघने के लिए उद्यत हो गया हो।

उवाच मतिमान् राजा भीमं भीमपराक्रमः।
भीम योत्स्ये त्वया सार्धं श्रेयसा निर्जितं वरम् ॥४२॥

फिर भयानक पराक्रम करनेवाले बुद्धिमान् राजा जरासन्ध ने भीमसेन से कहा—"भीम! आओ! मैं तुमसे युद्ध करूँगा, क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष से लड़कर हारना भी अच्छा है।"

एवमुक्त्वा जरासन्धो भीमसेनमरिन्दमः।
प्रत्युद्ययौ महातेजाः शक्रं वल इवासुरः ॥४३॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी शत्रुदमन जरासन्ध भीमसेन की ओर बढ़ा मानो वल नामक असुर इन्द्र से भिड़ने के लिए बढ़ा आ रहा हो।

ततः सम्मन्त्र्य कृष्णेन कृतस्वस्त्ययनो बली।
भीमसेनो जरासन्धमाससाद युयुत्सया ॥४४॥

तव महाबली भीम भी कृष्ण से परामर्श कर स्वस्ति-वाचन के पश्चात् युद्ध की इच्छा से जरासन्ध के पास आ धमके।

ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुशस्त्रौ समीयतुः।
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकांक्षिणौ ॥४५॥

फिर तो मनुष्यों में सिंह के समान पराक्रमी वे दोनों वीर अत्यन्त हर्ष और उत्साह में भरकर एक-दूसरे को जीतने की इच्छा से अपनी भुजाओं से ही शस्त्रों का काम लेते हुए परस्पर भिड़ गये।

करग्रहणपूर्वं तु कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
कक्षैः कक्षां विधुन्वानावास्फोटं तत्र चक्रतुः ॥४६॥

पहले उन दोनों ने हाथ मिलाये, फिर एक-दूसरे के चरणों का अभिवादन किया। तदनन्तर भुजाओं को भुजाओं से ठोकते हुए वे दोनों वीर ताल ठोकने लगे।

स्कन्धे दोर्भ्यां समाहत्य निहत्य च मुहुर्मुहुः।
अङ्गमङ्गैः समाश्लिष्य पुनरास्फालनं विभो ॥४७॥

राजन्! फिर वे दोनों हाथों से एक-दूसरे के कन्धे पर बार-बार चोट करते हुए अङ्ग-अङ्ग से भिड़कर आपस में गुँथ गये तथा एक-दूसरे को बार-बार रगड़ने लगे।

करसम्पीडनं कृत्वा गर्जन्तौ वारणाविव।
नर्दन्तौ मेघसंकाशौ बाहुप्रहरणावुभौ ॥४८॥

एक-दूसरे के हाथ दबाकर वे दोनों दो गजराजों की भाँति गरजने लगे। वे दोनों ही भुजाओं से प्रहार करते हुए मेघ के समान गम्भीर स्वर से महानाद करने लगे।

तलेनाहन्यमानौ तु अन्योन्यं कृतवीक्षणौ।
सिंहाविव सुसंक्रुद्धावाकृष्याकृष्य युध्यताम् ॥४९॥

थप्पड़ों की मार खाकर वे परस्पर घूर-घूर कर देखते और अत्यन्त क्रोध में भरे हुए दो सिंहों के समान एक-दूसरे को खींच-खींचकर लड़ने लगे।

तयोर्युद्धं ततो द्रष्टुं समेताः पुरवासिनः।
ब्राह्मणा वणिजश्चैव क्षत्रियाश्च सहस्रशः ॥५०॥
शूद्राश्च नरशार्दूल स्त्रियो वृद्धाश्च सर्वशः।
निरन्तरमभूत् तत्र जनौघैरभिसंवृतम् ॥५१॥

जनमेजय! उस समय उनका मल्ल-युद्ध देखने के लिए नगरवासी सहस्रों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्रियाँ एवं वृद्ध एकत्र हो गये। मनुष्यों की अपार भीड़ से वह स्थान खचाखच भर गया।

तयोरथ भुजाघातान्निग्रहप्रग्रहात् तथा।
आसीत् सुभीमसम्पातो वज्रपर्वतयोरिव ॥५२॥

उन दोनों की भुजाओं के आघात से तथा एक दूसरे के निग्रह-प्रग्रह[1] से ऐसा भयंकर पटपट शब्द होता था, मानो वज्र और पर्वत आपस में टकरा रहे हों।

उभौ परमसंहृष्टौ बलेन बलिनां वरौ।
अन्योन्यस्यान्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ॥५३॥

बलवानों में श्रेष्ठ वे दोनों वीर अत्यन्त हर्ष और उत्साह में भरे हुए थे तथा एक-दूसरे की दुर्बलता पर दृष्टि रखते हुए परस्पर बलपूर्वक विजय पाने के इच्छुक थे।

---

१. दोनों हाथों से शत्रु का कन्धा पकड़कर खींचने और उसे मुँह के बल नीचे गिराने की चेष्टा का नाम 'निग्रह' तथा शत्रु को उत्तान गिराने के लिए उसके पैरों को पकड़कर खींचने का नाम 'प्रग्रह' है।

व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव ॥५४॥

उन दोनों की छाती चौड़ी और भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं। दोनों ही मल्लयुद्ध में कुशल थे और लोहे की परिघ (मूसलाकार शस्त्र) जैसी मोटी भुजाओं को भिड़ाकर परस्पर गुंथ जाते थे।

कार्तिकस्य तु मासस्य प्रवृत्तं प्रथमेऽहनि ।
अनाहारं दिवारात्रमविश्रान्तमवर्तत ॥५५॥

कार्तिक मास के प्रथम दिन उन दोनों का मल्ल-युद्ध आरम्भ हुआ और दिन-रात विना खाये-पिये अविराम गति से चलता रहा।

तद्वृत्तं तु त्रयोदश्यां समवेतं महात्मनोः ।
चतुर्दश्यां निशायां तु निवृत्तो मागधः क्लमात् ॥५६॥

उन वीर महात्माओं का वह युद्ध इसी रूप में त्रयोदशी[1] तक चलता रहा। चतुर्दशी की रात्रि में मगध-नरेश जरासन्ध थककर युद्ध से निवृत्त-सा होने लगा।

तं राजानं तथा क्लान्तं दृष्ट्वा राजञ्जनार्दनः ।
उवाच भीमकर्माणं भीमं सम्बोधयन्निव ॥५७॥

राजन्! मगधनरेश को इस प्रकार थका देख-कर श्रीकृष्ण ने भयानक कर्म करनेवाले भीम को सम्बोधन-सा करते हुए कहा—

क्लान्तः शत्रुर्न कौन्तेय लभ्यः पीडयितुं रणे ।
पीडचमानो हि कार्त्स्न्येन जह्याज्जीवितमात्मनः ॥५८

कुन्तीनन्दन! शत्रु थक गया हो तो युद्ध में उसे अधिक पीड़ा देना उचित नहीं है। यदि उसे पूर्णरूप से पीड़ा दी जाए तो वह अपने प्राणों को त्याग देगा।

तस्मात् त्वया न कौन्तेय पीडनीयो जनाधिपः ।
सममेतेन युध्यस्व बाहुभ्यां भरतर्षभ ॥५६॥

पार्थ! तुम्हें राजा जरासन्ध को अधिक पीड़ा नहीं देनी चाहिए। भरतश्रेष्ठ! तुम अपनी भुजाओं द्वारा इनके साथ समभाव से ही युद्ध करो।

एवमुक्तस्तदा भीमो जरासन्धमरिन्दमः ।
उत्क्षिप्य भ्रामयामास बलवन्तं महाबलः ॥६०॥

श्रीकृष्ण के ऐसा संकेत करने पर शत्रुदमन महा-बली भीम ने उसी समय बलशाली जरासन्ध को उठाकर आकाश में घुमाना आरम्भ किया।

भ्रामयित्वा शतगुणं जानुभ्यां भरतर्षभ ।
बभञ्ज पृष्ठं संक्षिप्य निष्पिष्य विननाद च ॥६१॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! भीम ने उसे सौ बार घुमाकर धरती पर पटक दिया। फिर उसकी पीठ को धनुष की भाँति मोड़कर दोनों घुटनों की चोट से उसकी रीढ़ तोड़ डाली और अपने शरीर की रगड़ से उसे पीसते हुए भयंकर सिंहनाद किया।

ततो राज्ञः कुलद्वारि प्रसुप्तमिव तं नृपम् ।
रात्रौ गतासुमुत्सृज्य निश्चक्रुररिन्दमाः ॥६२॥

तत्पश्चात् शत्रुओं का मानमर्दन करनेवाले वे तीनों वीर रात्रि में जरासन्ध के प्राणहीन शरीर को सोते हुए के समान राजभवन के द्वार पर छोड़कर वहाँ से चल दिये।

जरासन्धरथं कृष्णो योजयित्वा पताकिनम् ।
आरोप्य भ्रातरौ चैव मोक्षयामास बान्धवान् ॥६३॥

श्रीकृष्ण ने जरासन्ध के ध्वजा-पताका से मण्डित दिव्य रथ को जोत लिया। भीम और अर्जुन को उसपर चढ़ाकर वे पहाड़ी खोह पर जा पहुँचे और वहाँ कारागार में पड़े हुए बन्धुस्वरूप सब राजाओं को बन्धन-मुक्त कर दिया।

बन्धनाद् विप्रमुक्ताश्च राजानो मधुसूदनम् ।
पूजयामासुरूचुश्च स्तुतिपूर्वमिदं वचः ॥६४॥

बन्धन से मुक्त हुए राजाओं ने भी श्रीकृष्ण की पूजा की तथा उनकी स्तुति करते हुए इस प्रकार कहा—

नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि देवकिनन्दने ।
भीमार्जुनबलोपेते धर्मस्य प्रतिपालनम् ॥६५॥

देवकी के आनन्द को बढ़ानेवाले हे महाबाहु कृष्ण! भीम और अर्जुन के साथ आप जो धर्म की रक्षा कर रहे हैं वह आप जैसे धर्मज्ञ के लिए आश्चर्य की बात नहीं है।

---

१. तेरह दिन तक बिना खाये-पिये निरन्तर युद्ध विश्व-कीर्तिमान [World Record] है जिसे आज तक कोई नहीं तोड़ सका है। जैसे आजकल तैरने, निरन्तर बोलने, पैदल और साइकिल पर चलने के रिकार्ड हैं, ऐसा ही रिकार्ड यह भी है।

जरासन्धह्रदे घोरे दुःखपङ्के निमज्जताम् ।
राज्ञां समभ्युद्धरणं यदिदं कृतमद्य वै ॥६६॥

श्रीकृष्ण ! हम सब राजा दुःखरूपी कीचड़ से भरे जरासन्ध-रूपी भयानक कुण्ड में डूब रहे थे। आज आपने हमारा जो उद्धार किया है, वह आपके ही योग्य है।

किं कुर्मः पुरुषव्याघ्र शाधि नः प्रणतिस्थितान् ।
कृतमित्येव तद् विद्धि नृपैर्यद्यपि दुष्करम् ॥६७॥

पुरुषसिंह ! हम सब आपके चरणों में पड़े हैं। आप हमें आज्ञा दीजिए, हम आपकी क्या सेवा करें ? यदि कोई दुष्कर कार्य भी हो, तो भी आपको यह समझना चाहिए कि हम सब राजाओं ने मिलकर उसे पूर्ण कर ही दिया।

तानुवाच हृषीकेशः समाश्वास्य महामनाः ।
युधिष्ठिरो राजसूयं क्रतुमाहर्तुमिच्छति ॥६८॥

तब महामना श्रीकृष्ण ने उन सबको आश्वासन देकर कहा—"राजाओ ! धर्मराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं।

तस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
सर्वैर्भवद्भिर्विज्ञाय साहाय्यं क्रियतामिति ॥६९॥

"धर्म में तत्पर रहते हुए ही उन्हें सम्राट् पद प्राप्त करने की इच्छा हुई है। अतः इस कार्य में आप सब लोग उनकी सहायता करें।"

ततः सुप्रीतमनसस्ते नृपा नृपसत्तम ।
तथेत्येवाब्रुवन् सर्वे प्रतिगृह्यास्य तां गिरम् ॥७०॥

हे राजेन्द्र ! तब उन सभी राजाओं ने प्रसन्न-चित्त होकर 'तथास्तु' कह श्रीकृष्ण की वह आज्ञा शिरोधार्य की।

जरासन्धात्मजश्चैव सहदेवो महामनाः ।
निर्ययौ सजनामात्यः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ॥७१॥

तत्पश्चात् जरासन्ध का पुत्र महामना सहदेव पुरोहित को आगे करके सेवकों और मन्त्रियों के साथ नगर से बाहर निकला।

स नीचैः प्रणतो भूत्वा बहुरत्नपुरोगमः ।
सहदेवो नृणां देवं वासुदेवमुपस्थितः ॥७२॥

उसके आगे रत्नों का विशाल भण्डार आ रहा था। सहदेव बड़े विनीत भाव से चरणों में पड़कर नरदेव श्रीकृष्ण की शरण में आया।

भयार्ताय ततस्तस्मै कृष्णो दत्त्वाऽभयं तदा ।
आददेऽस्य महार्हाणि रत्नानि पुरुषोत्तमः ॥७३॥

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने भय से पीड़ित सहदेव को अभयदान देकर उसके लाये बहुमूल्य रत्नों की भेंट स्वीकार कर ली।

अभ्यषिञ्चच्च तत्रैव जरासन्धात्मजं मुदा ।
गत्वैकत्वं च कृष्णेन पार्थाभ्यां चैव सत्कृतः ॥७४॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण ने जरासन्ध-पुत्र सहदेव को प्रसन्नपूर्वक वहीं पिता के राज्य पर अभिषिक्त कर उसे अपना अभिन्न सुहृद् बना लिया। भीम और अर्जुन ने भी उसका बड़ा सत्कार किया।

विवेश राजा द्युतिमान् बार्हद्रथपुरं नृप ।
अभिषिक्तो महाबाहुर्जारासन्धिर्महात्मभिः ॥७५॥

हे राजन् ! उन महात्माओं द्वारा अभिषिक्त हो महाबाहु जरासन्ध-कुमार तेजस्वी राजा सहदेव अपने पिता के नगर में लौट गया।

कृष्णस्तु सह पार्थाभ्यां श्रिया परमया युतः ।
रत्नान्यादाय भूरीणि प्रययौ पुरुषर्षभः ॥७६॥

उधर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण सर्वोत्तम शोभा से सम्पन्न हो, प्रचुर रत्नों की भेंट ले दोनों कुन्तीकुमारों के साथ वहाँ से चल पड़े।

इन्द्रप्रस्थमुपागम्य पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः ।
समेत्य धर्मराजं तं प्रीयमाणोऽभ्यभाषत ॥७७॥

भीमसेन और अर्जुन के साथ इन्द्रप्रस्थ में आकर श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिर से मिले तथा अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—

दिष्ट्या भीमेन बलवाञ्जरासन्धो निपातितः ।
राजानो मोक्षिताश्चैव बन्धनान्नृपसत्तम ॥७८॥

"हे नरेन्द्र ! सौभाग्य से महाबली भीमसेन ने जरासन्ध को मार गिराया और समस्त राजाओं को उसकी कैद से छुड़ा दिया।

दिष्ट्या कुशलिनौ चेमौ भीमसेनधनञ्जयौ ।
पुनः स्वनगरं प्राप्तावक्षताविति भारत ॥७९॥

"हे भारत ! सौभाग्य से भीम और अर्जुन दोनों भाई अपने नगर में पुनः सकुशल लौट आये हैं तथा इन्हें कोई हानि नहीं पहुँची।"

ततो युधिष्ठिरः कृष्णं पूजयित्वा यथार्हतः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव प्रहृष्टः परिषस्वजे ॥८०॥

तब महाराज युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण का यथा-योग्य आदर-सत्कार कर भीम और अर्जुन का भी प्रसन्नतापूर्वक आलिंगन किया ।

घातयित्वा जरासन्धं बुद्धिपूर्वमरिन्दमः ।
धर्मराजमनुज्ञाप्य प्रययौ स्वां पुरीं प्रति ॥८१॥

बुद्धिपूर्वक जरासन्ध को मरवाकर शत्रुमर्दन श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा लेकर अपनी द्वारकापुरी को चले गये ।

इति महाभारते सभापर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

पाण्डवों की दिग्विजय, युधिष्ठिर की दीक्षा, विभिन्न देशों के राजाओं का आगमन और उनके भोजन-विश्राम आदि की सुव्यवस्था

वैशम्पायन उवाच

पार्थः प्राप्य धनुः श्रेष्ठमक्षय्यौ च महेषुधी ।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुन श्रेष्ठ धनुप, दो बड़े और अक्षय तरकस, दिव्य रथ, ध्वज और सभा-भवन पहले ही प्राप्त कर चुके थे, अब वे युधिष्ठिर से बोले—

अर्जुन उवाच

धनुरस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम् ।
प्राप्तमेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥२॥

अर्जुन बोले—राजन् ! मुझे धनुप, अस्त्र, बाण, पराक्रम, श्रीकृष्ण जैसे सहायक, भूमि, यश और बल—ये सभी दुर्लभ और मनोवाञ्छित वस्तुएँ प्राप्त हो चुकी हैं ।

तत्र कृत्यमहं मन्ये कोशस्य परिवर्धनम् ।
करमाहारयिष्यामि राज्ञः सर्वान् नृपोत्तम ॥३॥

हे नरेन्द्र ! अब मैं अपने कोश को बढ़ाना ही आवश्यक कार्य समझता हूँ । मेरी इच्छा है कि सभी राजाओं को जीतकर उनसे कर प्राप्त करूँ ।

वैशम्पायन उवाच

धनञ्जयवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
स्निग्धगम्भीरनादिन्या तं गिरा प्रत्यभाषत ॥४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! अर्जुन का कथन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर स्नेहसिक्त गम्भीर वाणी में उनसे इस प्रकार बोले—

स्वस्तिवाच्यार्हतो विप्रान् प्रयाहि भरतर्षभ ।
विजयस्ते ध्रुवं पार्थ प्रियं काममवाप्स्यसि ॥५॥

भरतकुलभूपण ! पूजनीय ब्राह्मणों से स्वस्ति-वाचन कराकर यात्रा करो । पार्थ ! तुम्हारी विजय सुनिश्चित है, तुम मनोवाञ्छित कामनाओं को पूर्ण करोगे ।

इत्युक्तः प्रययौ पार्थः सैन्येन महताऽऽवृतः ।
अग्निदत्तेन दिव्येन रथेनाद्भुतकर्मणा ॥६॥
तथैव भीमसेनोऽपि यमौ च पुरुषर्षभौ ।
ससैन्याः प्रययुः सर्वे धर्मराजेन पूजिताः ॥७॥

उनका आदेश पाकर कुन्तीपुत्र अर्जुन विशाल सेना के साथ अग्निदेव द्वारा प्रदत्त अद्भुतकर्मा दिव्य रथ द्वारा वहाँ से चले । इसी प्रकार भीमसेन तथा नरश्रेष्ठ नकुल और सहदेव—सब भाइयों ने भी धर्म-राज से सम्मानित हो सेनाओं के साथ दिग्विजय के लिए प्रयाण किया ।

दिशं धनपतेरिष्टामजयत् पाकशासनिः ।
भीमसेनस्तथा प्राचीं सहदेवस्तु दक्षिणाम् ।
प्रतीचीं नकुलो राजन् दिशं व्यजयतास्त्रवित् ॥८॥

राजन् ! इन्द्रपुत्र अर्जुन ने कुबेर की प्रिय उत्तर दिशा पर विजय प्राप्त की । भीम ने पूर्व दिशा को, सहदेव ने दक्षिण और अस्त्रवेत्ता नकुल ने पश्चिम दिशा को जीत लिया ।

खाण्डवप्रस्थमध्यस्थो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
आसीत् परमया लक्ष्म्या सुहृद्गणवृतः प्रभुः ॥९॥

केवल धर्मराज युधिष्ठिर ही सुहृदों से घिरे हुए

अपनी उत्तम राजलक्ष्मी के साथ खाण्डवप्रस्थ में रह गये थे ।

रक्षणाद् धर्मराजस्य सत्यस्य परिपालनात् ।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव स्वकर्मनिरताः प्रजाः ॥१०॥

धर्मराज युधिष्ठिर प्रजा की रक्षा, सत्य का पालन और शत्रुओं का संहार करते थे । उनके इन कार्यों से निश्चिन्त और उत्साहित होकर समस्त प्रजावर्ग अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मों के पालन में तत्पर रहते थे ।

बलीनां सम्यगादानाद् धर्मतश्चानुशासनात् ।
निकामवर्षी पर्जन्यः स्फीतो जनपदोऽभवत् ॥११॥

न्यायपूर्वक कर लेने और धर्मपूर्वक शासन करने से उनके राज्य में मेघ इच्छानुसार वर्षा करते थे । इस प्रकार युधिष्ठिर का सम्पूर्ण जनपद धन-धान्य से सम्पन्न हो गया था ।

सर्वारम्भाः सुप्रवृत्ता गोरक्षा कर्षणं वणिक् ।
विशेषात् सर्वमेवैतत् संजज्ञे राजकर्मणः ॥१२॥

गोरक्षा, खेती और व्यापार आदि सभी कार्य अच्छी प्रकार होने लगे थे । विशेषतः राजा की सुव्यवस्था से ही यह सब-कुछ उत्तम रूप से सम्पन्न होता था ।

अवर्षं चातिवर्षं च व्याधिपावकमूर्च्छनम् ।
सर्वमेतत् तदा नासीद् धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥१३॥

धर्मशील युधिष्ठिर के राज्य में अनावृष्टि, अतिवृष्टि, व्याधि, रोग तथा आग लगने आदि उपद्रवों का नाम तक नहीं था ।

प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वभावजम् ।
अभिहर्तुं नृपा जग्मुर्नान्यैः कार्यैः कथञ्चन ॥१४॥

राजा लोग उनके यहाँ स्वाभाविक भेंट देने अथवा उनका कोई प्रिय कार्य करने के लिए ही आते थे, युद्धादि किसी अन्य कार्य से नहीं ।

धर्म्यैर्धनागमैस्तस्य ववृधे निचयो महान् ।
कर्तुं यस्य न शक्येत क्षयो वर्षशतैरपि ॥१५॥

धर्मपूर्वक प्राप्त होनेवाले धन की आय से उनका महान् धन-भण्डार इतना बढ़ गया था कि सैकड़ों वर्ष खुले हाथ लुटाने पर भी उसे समाप्त नहीं किया जा सकता था ।

स्वकोष्ठस्य परीमाणं कोशस्य च महीपतिः ।
विज्ञाय राजा कौन्तेयो यज्ञायैव मनो दधे ॥१६॥

अपने अन्न-वस्त्र के भण्डार तथा कोश का परिमाण जानकर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने यज्ञ करने का निश्चय किया ।

सुहृदश्चैव ये सर्वे पृथक् च सह चाब्रुवन् ।
यज्ञकालस्तव विभो क्रियतामत्र साम्प्रतम् ॥१७॥

उनके जितने हितैषी मित्र थे, वे सभी अलग-अलग और एक साथ यही कहने लगे—प्रभो ! आपके राजसूय यज्ञ करने का उपयुक्त समय आ गया है, अतः अब आप उसका आरम्भ कीजिए ।

अथैवं ब्रुवतामेव तेषामभ्याययौ हरिः ।
उच्चावचमुपादाय धर्मराजाय माधवः ॥१८॥

वे सुहृद् जन इस प्रकार की बातें कर ही रहे थे कि उसी समय श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिर के लिए नाना प्रकार के रत्नों की भेंट लेकर वहाँ आ पहुँचे ।

तं मुदाभिसमागम्य सत्कृत्य च यथाविधि ।
स पृष्ट्वा कुशलं चैव सुखासीनं युधिष्ठिरः ॥१९॥
धौम्य-द्वैपायन-मुखैर्ऋत्विग्भिः पुरुषर्षभ ।
भीमार्जुन-यमैश्चैव सहितः कृष्णमब्रवीत् ॥२०॥

नरश्रेष्ठ जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर अति प्रसन्न होकर उनसे मिले । उनका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार करके कुशल-मङ्गल पूछा । जब वे सुखपूर्वक बैठ गये, तब धौम्य, द्वैपायन आदि ऋत्विजों तथा भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव—चारों भाइयों के साथ निकट जाकर युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से कहा—

युधिष्ठिर उवाच

त्वत्कृते पृथिवी सर्वा मद्वशे कृष्ण वर्तते ।
धनं च बहु वार्ष्णेय त्वत्प्रसादादुपार्जितम् ॥२१॥

युधिष्ठिर बोले—हे श्रीकृष्ण ! आपकी कृपा से आपकी सेवा के लिए सारी पृथिवी इस समय मेरे अधीन हो गई है । वार्ष्णेय ! मुझे धन भी खूब प्राप्त हो गया है ।

तदहं यष्टुमिच्छामि दाशार्ह सहितस्त्वया ।
अनुजैश्च महाबाहो तन्मानुज्ञातुमर्हसि ॥२२॥

हे महाबाहु दाशार्ह ! अब मैं आप तथा अपने

छोटे भाइयों के साथ यज्ञ करना चाहता हूँ। इसके लिए आप मुझे अनुमति प्रदान करें।

श्रीकृष्ण उवाच

त्वमेव राजशार्दूल सम्राडर्हो महाक्रतुम्।
संप्राप्नुहि त्वया प्राप्ते कृतकृत्यास्ततो वयम् ॥२३॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजसिंह! आप सम्राट् होने के योग्य हैं, अतः आप ही इस महान् यज्ञ की दीक्षा ग्रहण कीजिए। आपके दीक्षा लेने पर हम सब कृतकृत्य हो जाएँगे।

यजस्वाभीप्सितं यज्ञं मयि श्रेयस्यवस्थिते।
नियुङ्क्ष्व त्वं च मां कृत्ये सर्वं कर्तास्मि ते वचः ॥२४॥

आप अपने अभीष्ट यज्ञ को आरम्भ कीजिए। मैं आपका कल्याण करने के लिए सदा उद्यत हूँ। मुझे भी आवश्यक कार्य में लगाइए। मैं आपकी सब आज्ञाओं का पालन करूँगा।

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातस्तु कृष्णेन पाण्डवो भ्रातृभिः सह।
यष्टुञ्च राजसूयेन साधनान्युपचक्रमे ॥२५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! श्रीकृष्ण की आज्ञा पाकर भाइयोंसहित पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करने के लिए साधन जुटाना आरम्भ किया।

ततस्त्वाज्ञापयामास पाण्डवोऽरिनिबर्हणः।
सहदेवं युधां श्रेष्ठं मन्त्रिणश्चैव सर्वशः ॥२६॥

उस समय शत्रुसंहारक पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ने योद्धाओं में श्रेष्ठ सहदेव और सभी मन्त्रियों को आज्ञा दी—

अस्मिन् क्रतौ यथोक्तानि यज्ञाङ्गानि द्विजातिभिः।
तथोपकरणं सर्वं मङ्गलानि च सर्वशः ॥२७॥
अधियज्ञांश्च सम्भारान् धौम्योक्तान् क्षिप्रमेव हि।
समानयन्तु पुरुषा यथायोगं यथाक्रमम् ॥२८॥

"इस यज्ञ के लिए ब्राह्मणों द्वारा निर्दिष्ट यज्ञ के अङ्गभूत सामान, आवश्यक उपकरण, सब प्रकार की मांगलिक वस्तुएँ तथा धौम्यजी की बताई हुई यज्ञोपयोगी सामग्री—इन सभी वस्तुओं को क्रमशः जैसे मिलें, वैसे शीघ्र ही अपने सेवक जाकर ले आएँ।"

तद्वाक्यसमकालं च कृतं सर्वं न्यवेदयत्।
सहदेवो युधां श्रेष्ठो धर्मराजे युधिष्ठिरे ॥२९॥

धर्मराज युधिष्ठिर की बात समाप्त होते ही योद्धाओं में श्रेष्ठ सहदेव ने उनसे निवेदन किया—"यह सब व्यवस्था हो चुकी है।"

ततो द्वैपायनो राजन्नृत्विजः समुपानयत्।
स्वयं ब्रह्मत्वमकरोत् तस्य सत्यवतीसुतः ॥३०॥

राजन्! महर्षि द्वैपायन व्यास बहुत-से ऋत्विजों को ले आये और सत्यवतीनन्दन व्यास ने उस यज्ञ में ब्रह्मा का आसन स्वयं सँभाला।

तत आज्ञापयामास स राजा राजसत्तमः।
सहदेवं तदा सद्यो मन्त्रिणं पुरुषर्षभः ॥३१॥
आमन्त्रणार्थं दूतांस्त्वं प्रेषयस्वाशुगान् द्रुतम्।
उपश्रुत्य वचो राज्ञः स दूतान् प्राहिणोत् तदा ॥३२॥

तत्पश्चात् राजशिरोमणि नरश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर ने तुरन्त मन्त्री सहदेव को आज्ञा दी, "सब राजाओं तथा ब्राह्मणों को आमन्त्रित करने के लिए शीघ्रगामी दूत तुरन्त भेजो!" राजा की आज्ञा पाते ही सहदेव ने दूतों को भेजा और कहा—

आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान् भूमिपानथ।
विशश्च मान्यान् शूद्रांश्च सर्वानानयतेति च ॥३३॥

"तुम लोग सभी राज्यों में घूम-घूमकर वहाँ के राजाओं, ब्राह्मणों, वैश्यों तथा सब माननीय शूद्रों को निमन्त्रित करो और उन्हें बुलाकर ले आओ।"

ततस्ते तु यथाकालं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
दीक्षयाञ्चक्रिरे विप्रा राजसूयाय भारत ॥३४॥

हे भारत! तत्पश्चात् वहाँ आये हुए सब ब्राह्मणों ने ठीक समय पर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ की दीक्षा दी।

दीक्षितः स तु धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
जगाम यज्ञायतनं वृतो विप्रैः सहस्रशः ॥३५॥

यज्ञ की दीक्षा लेकर धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिर बहुत-से ब्राह्मणों से घिरे हुए यज्ञ-मण्डप में गये।

ततो युधिष्ठिरो राजा प्रेषयामास पाण्डवम्।
नकुलं हास्तिनपुरं भीष्माय पुरुषर्षभः ॥३६॥
द्रोणाय धृतराष्ट्राय विदुराय कृपाय च।
भ्रातॄणां चैव सर्वेषां येऽनुरक्ता युधिष्ठिरे ॥३७॥

तब पुरुषोत्तम राजा युधिष्ठिर ने भीष्म, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, विदुर, कृपाचार्य तथा दुर्योधन आदि सब भाइयों तथा अपने में अनुराग रखनेवाले अन्य जो लोग वहाँ रहते थे, उन सबको बुलाने के लिए पाण्डुपुत्र नकुल को हस्तिनापुर भेजा।

स गत्वा हास्तिनपुरं नकुलः समितिञ्जयः।
भीष्ममामन्त्रयाञ्चक्रे धृतराष्ट्रं च पाण्डवः ॥३८॥

युद्धविजयी पाण्डुपुत्र नकुल ने हस्तिनापुर में जाकर भीष्म और धृतराष्ट्र को निमन्त्रित किया।

सत्कृत्यामन्त्रितास्तेन आचार्यप्रमुखास्ततः।
प्रययुः प्रीतमनसो यज्ञं ब्रह्मपुरःसराः ॥३९॥

तदनन्तर उन्होंने अत्यन्त सत्कारपूर्वक आचार्य-प्रमुख आदि को भी निमन्त्रण दिया। वे सब लोग अति प्रसन्न होकर ब्राह्मणों को आगे करके उस यज्ञ में गये।

द्रष्टुकामाः सभां चैव धर्मराजं च पाण्डवम्।
दिग्भ्यः सर्वे समापेतुः क्षत्रियास्तत्र भारत ॥४०॥

हे भारत ! धर्मराज युधिष्ठिर और उनकी सभा को देखने के लिए समस्त दिशाओं से सभी क्षत्रिय वहाँ आये।

धृतराष्ट्रश्च भीष्मश्च विदुरश्च महामतिः।
दुर्योधनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते ॥४१॥
गान्धारराजः सुबलः शकुनिश्च महाबलः।
तथा शल्यश्च बलवान् बाह्लिकश्च महाबलः ॥४२॥
अश्वत्थामा कृपो द्रोणः सैन्धवश्च जयद्रथः।
यज्ञसेनः सपुत्रश्च शाल्वश्च वसुधाधिपः ॥४३॥
प्राग्ज्योतिषश्च नृपतिर्भगदत्तो महारथः।
राजानो राजपुत्राश्च नानाजनपदेश्वराः ॥४४॥

धृतराष्ट्र, भीष्म, महाबुद्धिमान् विदुर, दुर्योधन आदि सभी भाई, गान्धारराज सुबल, महाबली शकुनि, बलवान् राजा शल्य, महाबली बाह्लिक, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, सिन्धुराज जयद्रथ, पुत्रोंसहित महाराज द्रुपद, राजा शाल्व, प्राग्ज्योतिषपुर के नरेश महारथी भगदत्त तथा नाना जनपदों के शासक राजा एवं राजकुमार उस यज्ञ में पधारे थे।

ददुस्तेषामावसथान् धर्मराजस्य शासनात्।
बहुभक्ष्यान्वितान् राजन् दीर्घिकातरुशोभितान् ॥४५

धर्मराज की आज्ञा से प्रबन्धकों ने उनके ठहरने के लिए उत्तम भवन दिये जो प्रभूत भोजन-सामग्री से सम्पन्न थे। उन घरों में स्नान के लिए बावलियाँ बनी थीं और वे भाँति-भाँति के वृक्षों से सुशोभित थे।

तत् सदः पार्थिवैः कीर्णं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।
भ्राजते स्म तदा राजन् नाकपृष्ठं यथामरैः ॥४६॥

जनमेजय ! उस समय राजाओं, ब्राह्मणों और महर्षियों से भरा हुआ वह यज्ञमण्डप देवताओं से भरे-पूरे स्वर्गलोक के समान शोभा पा रहा था।

इति महाभारते सभापर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

राजसूय यज्ञ का वर्णन, भीष्मजी की अनुमति से श्रीकृष्णजी की अग्रपूजा और शिशुपाल का बहिर्गमन

वैशम्पायन उवाच

पितामहं गुरुं चैव प्रत्युद्गम्य युधिष्ठिरः।
अभिवाद्य ततो राजन् वचनमिदमब्रवीत् ॥१॥
भीष्मं द्रोणं कृपं द्रौणिं दुर्योधनविविंशती।
अस्मिन् यज्ञे भवन्तो मामनुगृह्णन्तु सर्वशः ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोणाचार्य आदि का स्वागत करके युधिष्ठिर ने उनके चरणों में प्रणाम किया फिर भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, दुर्योधन और विविंशति से कहा—"इस यज्ञ में आप लोग सब प्रकार से मुझपर अनुग्रह करें।"

एवमुक्त्वा स तान् सर्वान् दीक्षितः पाण्डवाग्रजः।
युयोज स यथायोग्यमधिकारेष्वनन्तरम् ॥३॥

ऐसा निवेदन करके यज्ञदीक्षित युधिष्ठिर ने उन सबको यथायोग्य अधिकारों में लगाया।

भक्ष्यभोज्याधिकारेषु दुःशासनमयोजयत्।
परिग्रहे ब्राह्मणानामश्वत्थामानमुक्तवान् ॥४॥

भक्ष्य-भोज्य आदि सामग्रियों की देख-रेख तथा

उसके बाँटने-परोसने की व्यवस्था का अधिकार दुःशासन को दिया और ब्राह्मणों के स्वागत-सत्कार का भार अश्वत्थामा को सौंपा।

राज्ञां तु प्रतिपूजार्थं संजयं स न्ययोजयत्।
कृताकृतपरिज्ञाने भीष्मद्रोणौ महामती ॥५॥

राजाओं के सेवा-सत्कार के लिए धर्मराज ने संजय को नियुक्त किया। कितना काम हो गया और कितना शेष है, इसकी देख-भाल का काम महा-बुद्धिमान् भीष्म और द्रोणाचार्य को मिला।

हिरण्यस्य सुवर्णस्य रत्नानां चान्ववेक्षणे।
दक्षिणानां च वै दाने कृपं राजा न्ययोजयत् ॥६॥

उत्तम वर्ण के सुवर्ण तथा रत्नों के परखने, रखने और दक्षिणा देने के कार्य में राजा युधिष्ठिर ने कृपाचार्य को नियुक्त किया।

क्षत्ता व्ययकरस्त्वासीद् विदुरः सर्वधर्मवित्।
दुर्योधनस्त्वर्हणानि प्रतिजग्राह सर्वशः ॥७॥

सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता विदुरजी धन को व्यय करने के कार्य में नियुक्त किये गये। राजा दुर्योधन कर देनेवाले राजाओं से सब प्रकार की भेंट स्वीकार करने और व्यवस्थापूर्वक रखने का काम सँभाल रहे थे।

चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत्।
सर्वलोकसमावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम् ॥८॥

सब लोगों से घिरे हुए श्रीकृष्ण सबको सन्तुष्ट करने की इच्छा से स्वयं ही ब्राह्मणों के चरण धोने में लगे थे, जिससे उत्तम फल की प्राप्ति होती है।

द्रष्टुकामाः सभां चैव धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
न कश्चिदाहरत् तत्र सहस्रावरमर्हणम् ॥९॥

धर्मराज युधिष्ठिर को और उनकी सभा को देखने की इच्छा से आये हुए राजाओं में कोई भी ऐसा नहीं था, जो एक सहस्र स्वर्णमुद्रा से कम भेंट लाया हो।

कथं तु मम कौरव्यो रत्नदानैः समाप्नुयात्।
यज्ञमित्येव राजानः स्पर्धमाना ददुर्धनम् ॥१०॥

सभी राजा यह होड़ लगाकर धन दे रहे थे कि कुरुनन्दन युधिष्ठिर किसी प्रकार मेरे ही दिये हुए रत्नों के दान से अपना यज्ञ सम्पूर्ण करें।

सर्वान् जनान् सर्वकामैः समृद्धैः समतर्पयत्।
अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च भुक्तवज्जनसंवृतः ॥११॥

उधर राजा युधिष्ठिर ने उस यज्ञ में पधारे सब लोगों को उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण करके सन्तुष्ट किया। वह यज्ञ-समारोह अन्न से भरा-पूरा था, उसमें खाने-पीने की सब सामग्रियाँ पर्याप्त परिमाण में सदा प्रस्तुत रहती थीं। वह यज्ञ खा-पीकर तृप्त हुए लोगों से परिपूर्ण था।

यथा देवास्तथा विप्रा दक्षिणान्नमहाधनैः।
ततृपुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन् यज्ञे मुदान्विताः ॥१२॥

उस यज्ञ से जिस प्रकार अग्नि, वायु, जल आदि देवता तृप्त हुए, उसी प्रकार दक्षिणा में अन्न और विपुल धन पाकर ब्राह्मण तृप्त हो गये। उस यज्ञ में सभी वर्णों के लोग बड़े प्रसन्न थे, सबको पूर्ण तृप्ति मिली थी।

ततोऽभिषेचनीयेऽह्नि ब्राह्मणा राजभिः सह।
अन्तर्वेदीं प्रविविशुः सत्कारार्हा महर्षयः ॥१३॥

तदनन्तर अभिषेचनीय [पूज्य पुरुषों के अभिषेक] कार्य के दिन सत्कार के योग्य महर्षिगण और ब्राह्मण लोग राजाओं के साथ यज्ञशाला में गये।

ततो भीष्मोऽब्रवीद् राजन् धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
क्रियतामर्हणं राज्ञां यथार्हमिति भारत ॥१४॥

महाराज ! यज्ञशाला में प्रविष्ट होने पर भीष्म-जी ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—"भरतकुलभूषण युधिष्ठिर ! अब तुम यहाँ पधारे हुए इन राजाओं का यथायोग्य सत्कार करो।

आचार्यमृत्विजं चैव संयुजं च युधिष्ठिर।
स्नातकं च प्रियं प्राहुः षडर्घ्यार्हान् नृपं तथा ॥१५॥

आचार्य, ऋत्विक्, सम्बन्धी, स्नातक, प्रिय मित्र और राजा—इन छहों को अर्घ्य देकर पूजने योग्य बताया गया है।

एतानर्घ्यानभिगतानाहुः संवत्सरोषितान्।
त इमे कालपूगस्य महतोऽस्मानुपागताः ॥१६॥

ये यदि एक वर्ष के पश्चात् अपने यहाँ पधारें तो इन्हें अर्घ्य प्रदान कर इनकी पूजा करनी चाहिए, ऐसा शास्त्रवेत्ताओं का कथन है। ये सभी नरेश तो हमारे यहाँ बहुत समय के पश्चात् आये हैं।

एषामेकैकशो राजन्नर्घ्यमानीयतामिति ।
अथ चैषां वरिष्ठाय समर्थायोपनीयताम् ॥१७॥

अतः राजन् ! तुम इन सबके लिए बारी-बारी से अर्घ्य दो तथा इन सबमें जो श्रेष्ठ और शक्तिशाली हो, उसे सबसे पहले अर्घ्य प्रदान करो।

युधिष्ठिर उवाच

कस्मै भवान् मन्यतेऽर्घ्यमेकस्मै कुरुनन्दन ।
उपनीयमानं युक्तं च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१८॥

युधिष्ठिर ने पूछा—कुरुनन्दन पितामह ! इन समागत नरेशों में आप किसको सबसे पहले अर्घ्य प्रदान करना उचित समझते हैं, यह मुझे बताइए !

भीष्म उवाच

एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः ।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः ॥१९॥
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना ।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः ॥२०॥

भीष्म बोले—हे कुन्तीनन्दन ! ये श्रीकृष्ण सब समागत राजाओं के मध्य में अपने तेज, बल और पराक्रम से उसी प्रकार देदीप्यमान हो रहे हैं, जैसे ग्रह-नक्षत्रों में भुवनभास्कर सूर्य। अन्धकारपूर्ण स्थान जैसे सूर्य के उदय होने पर ज्योति से जगमगा उठता है और वायु-हीन स्थान जैसे वायु के संचार से प्राणवान् हो जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण द्वारा हमारी यह सभा आह्लादित एवं प्रकाशित हो रही है [अतः ये ही अग्रपूजा के योग्य हैं।]

वैशम्पायन उवाच

तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान् ।
उपजह्रेऽथ विधिवद् वार्ष्णेयायार्घ्यमुत्तमम् ॥२१॥

वैशम्पायनजी बोले—पितामह भीष्म की आज्ञा पाकर प्रतापी सहदेव ने वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्ण को विधिपूर्वक उत्तम अर्घ्य निवेदन किया।

प्रतिजग्राह तत् कृष्णः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे न चक्षमे ॥२२॥

श्रीकृष्ण ने शास्त्रविधि के अनुसार वह अर्घ्य स्वीकार किया। वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण की उस पूजा को राजा शिशुपाल सहन नहीं कर सका।

स उपालभ्य भीष्मं च धर्मराजं च संसदि ।
अपाक्षिपद् वासुदेवं चेदिराजो महाबलः ॥२३॥

महाबली चेदिराज भरी सभा में भीष्म और धर्मराज युधिष्ठिर को उलाहना देकर वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण पर आक्षेप करने लगा।

शिशुपाल उवाच

नायमर्हति वार्ष्णेयस्तिष्ठत्स्विह महात्मसु ।
महीपतिषु कौरव्य राजवत् पार्थिवार्हणम् ॥२४॥

शिशुपाल ने कहा—कौरव्य ! यहाँ इन महात्मा भूमिपतियों के रहते हुए यह वृष्णिवंशी कृष्ण राजाओं की भाँति राजोचित पूजा का अधिकारी कदापि नहीं हो सकता।

नायं युक्तः समाचारः पाण्डवेषु महात्मसु ।
यत् कामात् पुण्डरीकाक्षं पाण्डवार्चितवानसि ॥२५॥
बाला यूयं न जानीध्वं धर्मः सूक्ष्मो हि पाण्डवाः ।
अयं च स्मृत्यतिक्रान्तो ह्यापगेयोऽल्पदर्शनः ॥२६॥

महात्मा पाण्डवों के लिए यह विपरीत आचार कदापि उचित नहीं है। पाण्डुकुमार ! तुमने स्वार्थवश कमलनयन कृष्ण का पूजन किया है। पाण्डवो ! तुम अभी बालक हो। तुम्हें धर्म का पता ही नहीं है, क्योंकि धर्म का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। ये गङ्गानन्दन भीष्म बहुत वृद्ध हो गये हैं, अतः इनकी स्मरणशक्ति मारी गई है, इनकी सूझ-बूझ भी बहुत कम हो गई है [इसीलिए इन्होंने श्रीकृष्ण की पूजा की सम्मति दी है]।

कथं ह्यराजा दाशार्हो मध्ये सर्वमहीक्षिताम् ।
अर्हणामर्हति तथा यथा युष्माभिरर्चितः ॥२७॥

यह यदुवंशी कृष्ण राजा नहीं है, फिर समस्त भूपालों के मध्य में तुम लोगों ने जिस प्रकार इसकी पूजा की है, वैसी पूजा का अधिकारी यह कैसे हो सकता है ?

अथ वा मन्यसे कृष्णं स्थविरं कुरुपुङ्गव ।
वसुदेवे स्थिते वृद्धे कथमर्हति तत्सुतः ॥२८॥

कुरुश्रेष्ठ ! यदि तुम श्रीकृष्ण को बड़ा-बूढ़ा समझते हो तो इसके पिता वृद्ध वसुदेवजी के रहते हुए उनका यह पुत्र पूजा का पात्र कैसे हो सकता है ?

आचार्यं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन ।

द्रोणे तिष्ठति वार्ष्णेयं कस्मादर्चितवानसि ॥२९॥

कुरुनन्दन ! यदि यह समझ लें कि तुम कृष्ण को आचार्य मानते हो, फिर आचार्यों में वृद्ध द्रोणाचार्य के रहते हुए तुमने इस यदुवंशी की पूजा क्यों की है ?

ऋत्विजं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन ।
द्वैपायने स्थिते वृद्धे कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ॥३०॥

कुरुनन्दन ! यदि यह कहा जाए कि तुम कृष्ण को अपना ऋत्विज समझते हो तो ऋत्विजों में भी सबसे वृद्ध द्वैपायन वेदव्यास के रहते हुए तुमने कृष्ण की पूजा कैसे की ?

भीष्मे शान्तनवे राजन् राजेन्द्रे च सुयोधने ।
अश्वत्थाम्नि स्थिते वीरे कुलाचार्ये स्थिते कृपे ॥३१॥
भीष्मके चैव दुर्धर्षे एकलव्ये तथैव च ।
शल्ये मद्राधिपे चैव कथं कृष्णस्त्वयार्चितः ॥३२॥

हे राजन् ! शान्तनुनन्दन भीष्म, राजाधिराज दुर्योधन, वीर अश्वत्थामा, भरतवंश के आचार्य कृप, दुर्धर्ष वीर भीष्मक, श्रेष्ठ धनुर्धर एकलव्य तथा मद्रराज शल्य के रहते हुए तुमने कृष्ण की पूजा कैसे की ?

नैवर्त्विग् नैव चाचार्यो न राजा मधुसूदनः ।
अर्चितश्च कुरुश्रेष्ठ किमन्यत्प्रियकाम्यया ॥३३॥

कुरुश्रेष्ठ ! मधुसूदन न ऋत्विज है, न आचार्य है, और न राजा ही है। फिर तुमने किस प्रिय कामना से इसकी पूजा की है ?

अथ वाप्यर्चनीयोऽयं युष्माकं मधुसूदनः ।
किं राजभिरिहानीतैरवमानाय भारत ॥३४॥

हे भारत ! यदि यह मधुसूदन ही तुम्हारा पूजनीय है, और इसकी ही पूजा तुम्हें करनी थी तो इन राजाओं को केवल अपमानित करने के लिए बुलाने की क्या आवश्यकता थी ?

वयं तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
प्रयच्छामः करान् सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात् ॥३५

राजाओ ! हम सब लोग इन महात्मा कुन्ती-नन्दन युधिष्ठिर को जो कर दे रहे हैं, वह किसी भय, लोभ अथवा किसी विशेष आश्वासन के कारण नहीं दे रहे हैं।

अस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षितः ।
करानस्मै प्रयच्छामः सोऽयमस्मान् न मन्यते ॥३६॥

यह धर्माचरण में रत क्षत्रिय सम्राट् का पद पाना चाहता है, यही सोचकर हम उसे कर देते हैं, परन्तु यह राजा युधिष्ठिर तो हम लोगों को कुछ समझता ही नहीं है।

किमन्यदवमानाद्धि यदेनं राजसंसदि ।
अप्राप्तलक्षणं कृष्णमर्घ्येणार्चितवानसि ॥३७॥

युधिष्ठिर ! इससे बढ़कर और अपमान क्या हो सकता है कि तुमने राजाओं की सभा में राजोचित चिह्न छत्र-चँवरादि से हीन कृष्ण की अर्घ्य के द्वारा पूजा की है ?

यदि भीताश्च कौन्तेयाः कृपणाश्च तपस्विनः ।
ननु त्वयापि बोद्धव्यं यां पूजां माधवार्हसि ॥३८॥

[फिर शिशुपाल ने कृष्ण से कहा—] माधव ! कुन्ती के पुत्र तो कायर, डरपोक और तपस्वी हैं। इन्होंने तुम्हें ठीक-ठीक न जानकर तुम्हारी पूजा कर दी तो तुम्हें तो समझना चाहिए था कि तुम किस पूजा के अधिकारी हो।

अथ वा कृपणैरेतामुपनीतां जनार्दन ।
पूजामनर्हः कस्मात् त्वमभ्यनुज्ञातवानसि ॥३९॥

अथवा जनार्दन ! इन कायरों द्वारा उपस्थित की हुई इस अग्रपूजा को उसके योग्य न होते हुए भी तुमने कैसे स्वीकार कर लिया ?

अयुक्तामात्मनः पूजां त्वं पुनर्बहु मन्यसे ।
हविषः प्राप्य निष्यन्दं प्राशिता श्वेव निर्जने ॥४०॥

जैसे कुत्ता एकान्त में चूकर गिरे हुए थोड़े से घी को चाट ले और अपने को धन्य मानने लगे, वैसे ही तुम अपने लिए अयोग्य पूजा स्वीकार करके अपने आपको बहुत बड़ा मान रहे हो।

न त्वयं पार्थिवेन्द्राणामपमानः प्रयुज्यते ।
त्वामेव कुरवो व्यक्तं प्रलम्भन्ते जनार्दन ॥४१॥

कृष्ण ! तुम्हारी इस अग्रपूजा से हम राजा-धिराजों का कोई अपमान नहीं होता, परन्तु ये कुरु-वंशी पाण्डव तुम्हें अर्घ्य प्रदान कर वास्तव में तुम्हें ही ठग रहे हैं।

क्लीबे दारक्रिया यादृगन्धे वा रूपदर्शनम् ।
अराज्ञो राजवत् पूजा तथा ते मधुसूदन ॥४२॥

हे मधुसूदन ! जैसे नपुंसक का विवाह रचाना और अन्धे को रूप दिखाना उसका उपहास करना ही है, वैसे ही तुम-जैसे राज्यहीन की यह राजाओं के समान पूजा भी विडम्बना ही है ।

दृष्टो युधिष्ठिरो राजा दृष्टो भीष्मश्च यादृशः ।
वासुदेवोऽप्ययं दृष्टः सर्वमेतद् यथातथम् ॥४३॥

आज मैंने राजा युधिष्ठिर को देख लिया, भीष्म भी जैसे हैं, उन्हें भी देख लिया और इस कृष्ण के भी वास्तविक रूप को देख लिया । वास्तव में ये सब एक-जैसे ही महत्त्वहीन हैं ।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा शिशुपालस्तानुत्थाय परमासनात् ।
निर्ययौ सदसस्तस्मात् सहितो राजभिस्तदा ॥४४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर शिशुपाल अपने उत्तम आसन से उठकर कुछ राजाओं को साथ ले सभाभवन से बाहर निकल गया ।[1]

इति महाभारते सभापर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

भीष्म द्वारा शिशुपाल के आक्षेपों का उत्तर, शिशुपाल द्वारा भीष्म की निन्दा

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा शिशुपालमुपाद्रवत् ।
उवाच चैनं मधुरं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा युधिष्ठिर दौड़ते हुए शिशुपाल के पास गये और उसे शान्तिपूर्वक समझाते हुए मधुर वाणी में बोले—

नेदं युक्तं महीपाल यादृशं वै त्वमुक्तवान् ।
अधर्मश्च परो राजन् पारुष्यं च निरर्थकम् ॥२॥

हे राजन् ! तुमने जैसी बात कह डाली है, वह कदापि उचित नहीं है । किसी के प्रति इस प्रकार व्यर्थ कठोर बातें कहना महान् अधर्म है ।

पश्य चैतान् महीपालांस्त्वत्तो वृद्धतरान् बहून् ।
मृष्यन्ते चार्हणां कृष्णे तद्वत् त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥३॥

देखो ! ये सभी नरेश, जिनमें अनेक तुम्हारी अपेक्षा अवस्था व अनुभव में बहुत बड़े हैं, श्रीकृष्ण की अग्रपूजा को निःसंकोच सहन कर रहे हैं । इसी प्रकार तुम्हें भी इस विषय में कुछ नहीं कहना चाहिए ।

न हि धर्मं परं जातु नावबुध्येत पार्थिवः ।
भीष्मः शान्तनवस्त्वेनं मावमंस्थास्त्वमन्यथा ॥४॥

शान्तनुनन्दन भीष्मजी धर्म के तत्त्व को न जानते हों, ऐसी बात भी नहीं है, अतः तुम इनका अनादर न करो ।

भीष्म उवाच

नास्मै देयो ह्यनुनयो नायमर्हति सान्त्वनम् ।
लोकवृद्धतमे कृष्णे योऽर्हणां नाभिमन्यते ॥५॥

भीष्मजी बोले—धर्मराज ! इस समय श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत् में सबसे बढ़कर हैं, वे ही परम पूज्य हैं । जो व्यक्ति उनकी अग्रपूजा स्वीकार नहीं करता, उसकी अनुनय-विनय नहीं करनी चाहिए । वह सान्त्वना देने योग्य है भी नहीं ।

क्षत्रियः क्षत्रियं जित्वा रणे रणकृतां वरः ।
यो मुञ्चति वशे कृत्वा गुरुर्भवति तस्य सः ॥६॥

योद्धाओं में श्रेष्ठ जो क्षत्रिय जिस क्षत्रिय को युद्ध में जीतकर, अपने वश में करके छोड़ देता है, वह उस पराजित क्षत्रिय के लिए गुरु के तुल्य पूज्य हो जाता है ।

अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि ।
न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्रतेजसा ॥७॥

राजाओं के इस समूह में एक भी भूपाल ऐसा दिखाई नहीं देता जो युद्ध में देवकीनन्दन श्रीकृष्ण के तेज से परास्त न हो चुका हो ।

---

१. जैसे आजकल विरोधी पक्ष के लोग संसद् से बाहर निकल जाते हैं, इसी प्रकार यह भी शिशुपाल का बहिर्गमन (Walk out) था । सम्भवतः आज की यह प्रथा महाभारत-काल से ही आयी हो ।

तस्मात् सत्स्वपि वृद्धेषु कृष्णमर्चाम नेतरान्।
एवं वक्तुं न चार्हस्त्वं मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ॥८॥

अतः हम अन्य वृद्ध पुरुषों के होते हुए भी श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं, दूसरों की नहीं। राजन्! तुम्हें कृष्ण के प्रति वैसी बातें मुँह से नहीं निकालनी चाहिए थीं। उनके प्रति तुम्हें ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिए।

न सम्बन्धं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथञ्चन।
अर्चामहेऽर्चितं सद्भिर्भुवि भूतसुखावहम् ॥९॥

चेदिराज! अपना सम्बन्धी होने के कारण अथवा किसी उपकार के कारण हम इनकी पूजा नहीं कर रहे हैं। ये सभी प्राणियों को सुख पहुँचानेवाले हैं, और बड़े-बड़े सन्त-महात्माओं ने इनकी पूजा की है, इसीलिए हम भी इनकी पूजा कर रहे हैं।

यशः शौर्यं जयं चास्य विज्ञायार्चां प्रयुज्महे।
न च कश्चिदिहास्माभिः सुबालोऽप्यपरीक्षितः ॥१०॥

हम इनके यश, शौर्य और विजय को भली-भाँति जानकर इनकी पूजा कर रहे हैं। यहाँ बैठे हुए लोगों में कोई छोटा-सा बालक भी ऐसा नहीं है, जिसके गुणों की हम लोगों ने पूर्णतः परीक्षा न की हो।

वेदवेदाङ्ग-विज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ॥११
दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा।
सन्नतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते ॥१२॥

इनमें वेद-वेदाङ्गों का ज्ञान तो है ही, बल भी सबसे अधिक है। श्रीकृष्ण के सिवा इस युग के संसार में मनुष्यों में दूसरा कौन सबसे बढ़कर है?

दान, दक्षता, शास्त्र-ज्ञान, शौर्य, आत्म-लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनय, श्री, धृति, तुष्टि और पुष्टि—ये सभी सद्‌गुण श्रीकृष्ण में नित्य विद्यमान हैं।

ऋत्विग् गुरुस्तथाऽऽचार्यः स्नातको नृपतिः प्रियः।
सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥१३॥

श्रीकृष्ण हमारे ऋत्विक्, गुरु, आचार्य, स्नातक, राजा और प्रिय मित्र—सब-कुछ हैं, अतः हमने इनकी ही अग्रपूजा की है।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततो भीष्मो विरराम महाबलः।
व्याजहारोत्तरं तत्र सहदेवोऽर्थवद् वचः ॥१४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कह जब महाबली भीष्म चुप हुए, तब माद्रीपुत्र सहदेव ने शिशुपाल की बातों का मुँहतोड़ उत्तर देते हुए यह अर्थयुक्त बात कही—

पूज्यमानं मया यो वः कृष्णं न सहते नृपः।
सर्वेषां बलिनां मूर्ध्नि मयेदं निहितं पदम् ॥१५॥
एवमुक्ते मया सम्यगुत्तरं प्रब्रवीतु सः।
स एव हि मया वध्यो भविष्यति न संशयः ॥१६॥

"हे राजाओ! मेरे द्वारा श्रीकृष्ण की जो पूजा की गई है, आप लोगों में से जो उसे सहन न कर सकें, मैंने उन सब बलवानों के सिर पर अपना यह पैर रख दिया। मैंने यह बात बहुत सोच-समझकर कही है। जो इसका उत्तर देना चाहे, वह सामने आ जाए। वह मेरे द्वारा वध के योग्य होगा, इसमें संशय नहीं है।

मतिमन्तश्च ये केचिदाचार्यं पितरं गुरुम्।
अर्च्यमर्चितमर्घ्यार्हमनुजानन्तु ते नृपाः ॥१७॥

"जो बुद्धिमान् राजा हों, वे मेरे द्वारा की हुई आचार्य, पिता, गुरु, पूजनीय तथा अग्रपूजा के सर्वथा योग्य श्रीकृष्ण की पूजा का हृदय से अनुमोदन करें।"

ततो न व्याजहारैषां कश्चिद् बुद्धिमतां सताम्।
मानिनां बलिनां राज्ञां मध्ये वै दर्शिते पदे ॥१८॥

सहदेव ने महामानी और बलवान् राजाओं के बीच में खड़े होकर अपना पैर दिखाया था, तो भी जो बुद्धिमान् और श्रेष्ठ नरेश थे, उनमें से कोई कुछ न बोला।

पूजयित्वा च पूजार्हान् ब्रह्मक्षत्रविशेषवित्।
सहदेवो नृणां देवः समापद्यत कर्म तत् ॥१९॥

तब वहाँ आये हुए ब्राह्मणों और क्षत्रियों में विशिष्ट व्यक्तियों को पहचाननेवाले नरदेव सहदेव ने पूज्य व्यक्तियों की क्रमशः पूजा करके वह अर्घ्य-निवेदन का कार्य पूरा कर दिया।

तस्मिन्नभ्यर्चिते कृष्णे सुनीथः शत्रुकर्षणः।
अतिताम्रेक्षणः कोपादुवाच मनुजाधिपान् ॥२०॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण का पूजन सम्पन्न हो जाने पर शत्रु-विजयी शिशुपाल ने क्रोध से अत्यन्त लाल आँखें करके समस्त राजाओं से कहा—

स्थितः सेनापतिर्योऽहं मन्यध्वं किं तु साम्प्रतम् ।
युधि तिष्ठाम संनह्य समेतान् वृष्णिपाण्डवान् ॥२१॥

"हे भूमिपालो ! मैं आप सबका सेनापति बनकर खड़ा हूँ । तुम लोग किस चिन्ता में पड़े हो ? आओ, हम सब लोग युद्ध के लिए कटिबद्ध होकर पाण्डवों और यादवों की सम्मिलित सेना का सामना करने के लिए डट जाएँ ।"

इति सर्वान् समुत्साह्य राज्ञस्ताँश्चेदिपुङ्गवः ।
यज्ञोपघाताय ततः सोऽमन्त्रयत राजभिः ॥२२॥
तत्राहूता गताः सर्वे सुनीथप्रमुखा गणाः ।
समदृश्यन्त संक्रुद्धा विवर्णवदनास्तथा ॥२३॥

इस प्रकार उन सब राजाओं को युद्ध के लिए उत्साहित करके शिशुपाल ने युधिष्ठिर के यज्ञ में विघ्न डालने के उद्देश्य से राजाओं से मन्त्रणा की। शिशुपाल के आमन्त्रण पर उसके सेनापतित्व में सुनीथ आदि कुछ प्रमुख नरेशगण चले आये। वे सबके सब अत्यन्त क्रुद्ध थे। उनके मुख की कान्ति बदली हुई दिखाई देती थी।

युधिष्ठिराभिषेकं च वासुदेवस्य चार्हणम् ।
न स्याद् यथा तथा कार्यमेवं सर्वे तदाब्रुवन् ॥२४॥

वे सब बोले—"युधिष्ठिर के अभिषेक और कृष्ण की पूजा का कार्य सफल न हो सके, वैसा प्रयत्न हमको करना चाहिए।"

तं बलौघमपर्यन्तं राजसागरमक्षयम् ।
कुर्वाणं समयं कृष्णो युद्धाय बुबुधे तदा ॥२५॥

राजाओं का वह समुदाय अक्षय समुद्र की भाँति उमड़ रहा था। उसका कहीं अन्त दिखाई नहीं देता था। सेनाएँ ही उसकी अपार जलराशि थीं। उसे इस प्रकार शपथ करते देख श्रीकृष्ण ने यह समझ लिया कि अब ये नरेश युद्ध के लिए तैयार हैं।

ततः सागरसंकाशं दृष्ट्वा नृपतिमण्डलम् ।
रोषात् प्रचलितं सर्वं भीष्ममाह युधिष्ठिरः ॥२६॥

तदनन्तर महासागर की भाँति राजाओं के उस समुदाय को क्रोध से चञ्चल हुआ देखकर धर्मराज युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से कहा—

युधिष्ठिर उवाच

असौ रोषात् प्रचलितो महान् नृपतिसागरः ।
अत्र यत् प्रतिपत्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥२७॥

युधिष्ठिर बोले—हे पितामह ! यह देखिए, राजाओं का यह महासमुद्र क्रोध से अत्यन्त (क्षुब्ध) हो उठा है। इन सबको शान्त करने का जो उचित उपाय जान पड़े, वह मुझे बताइए।

यज्ञस्य च न विघ्नः स्यात् प्रजानां च हितं भवेत् ।
यथा सर्वत्र तत्सर्वं ब्रूहि मेऽद्य पितामह ॥२८॥

हे दादाजी ! यज्ञ में विघ्न न पड़े और प्रजा का हित हो तथा जिस प्रकार सर्वत्र शान्ति भी बनी रहे, वह सब उपाय मुझे बताने की कृपा करें।

भीष्म उवाच

मा भैस्त्वं कुरुशार्दूल श्वा सिंहं हन्तुमर्हति ।
शिवः पन्था सुनीतोऽत्र मया पूर्वतरं वृतः ॥२९॥

भीष्म ने कहा—कुरुवंश के वीरवर ! तुम डरो मत। क्या कुत्ता कभी सिंह को मार सकता है ? हमने कल्याणमय मार्ग [श्रीकृष्ण का आश्रय] पहले ही चुन लिया है।

प्रसुप्ते हि यथा सिंहे श्वानस्तस्मिन् समागताः ।
भषेयुः सहिताः सर्वे तथेमे वसुधाधिपाः ॥३०॥
वृष्णिसिंहस्य सुप्तस्य तथामी प्रमुखे स्थिताः ।
भषन्ते तात संक्रुद्धाः श्वानः सिंहस्य संनिधौ ॥३१॥
न हि सम्बुध्यते यावत् सुप्तः सिंह इवाच्युतः ।
तेन सिंहीकरोत्येतान् नृसिंहश्चेदिपुङ्गवः ॥३२॥
पार्थिवान् पार्थिवश्रेष्ठः शिशुपालोऽप्यचेतनः ।
सर्वान् सर्वात्मना तात नेतुकामो यमक्षयम् ॥३३॥

जैसे सिंह के सो जाने पर बहुत-से कुत्ते उसके निकट आकर एक साथ भौंकने लगते हैं, वैसे ही ये सामने खड़े राजा भी तभी तक भौंक रहे हैं, जबतक वृष्णिवंश का सिंह सो रहा है। क्रोध में भरे हुए कुत्तों के समान ये लोग सिंह के निकट तभी तक कोलाहल मचा रहे हैं, जबतक श्रीकृष्ण सिंह की भाँति जाग नहीं उठते और इन्हें दण्ड देने के लिए प्रस्तुत नहीं हो जाते। राजाओं में श्रेष्ठ चेदिकुल-भूषण नृसिंह शिशुपाल भी अपनी विवेक-शक्ति खो बैठा है, तभी

इन सब नरेशों को यमलोक में भेज देने की इच्छा से कुत्ते से सिंह बनाने का प्रयत्न कर रहा है ।

वैशम्पायन उवाच

इति तस्य वचः श्रुत्वा ततश्चेदिपतिर्नृपः ।
भीष्मं रूक्षाक्षरा वाचः श्रावयामास भारत ॥३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! भीष्मजी का कथन सुनकर चेदिराज शिशुपाल उन्हें अत्यन्त कठोर बातें सुनाने लगा ।

शिशुपाल उवाच

विभीषिकाभिर्बह्वीभिर्भीषयन् सर्वपार्थिवान् ।
न व्यपत्रपसे कस्माद् वृद्धः सन् कुलपांसन ॥३५॥

शिशुपाल बोला—कुलकलंकी भीष्म ! तुम अनेक प्रकार की गीदड़भभकियों द्वारा इन सब राजाओं को डराने की चेष्टा क्यों कर रहे हो ? बड़े-बूढ़े होकर भी तुम्हें अपने इस घृणित कृत्य पर लज्जा क्यों नहीं आती ?

युक्तमेतत् तृतीयायां प्रकृतौ वर्तता त्वया ।
वक्तुं धर्मादपेतार्थं त्वं हि सर्वकुरूत्तमः ॥३६॥

तुम तीसरी प्रकृति में स्थित [नपुंसक] हो, अतः तुम्हारे लिए इस प्रकार धर्म के विरुद्ध बातें कहना उचित ही है । फिर भी यह आश्चर्य है कि तुम सारे कुरुकुल के श्रेष्ठ पुरुष कहे जाते हो ।

नावि नौरिव सम्बद्धा यथान्धो वान्धमन्वियात् ।
तथाभूता हि कौरव्या येषां भीष्म त्वमग्रणीः ॥३७॥

भीष्म ! जैसे एक नाव दूसरी नाव में बाँध दी जाए, जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धे के पीछे चले, वही अवस्था इन सब कौरवों की है, जिन्हें तुम जैसा कुल-नेता मिला है ।

अवलिप्तस्य मूर्खस्य केशवं स्तोतुमिच्छतः ।
कथं भीष्म न ते जिह्वा शतधेयं विदीर्यते ॥३८॥

भीष्म ! तुम्हें अपने ज्ञानीपन का बड़ा अभिमान है, परन्तु तुम हो वास्तव में महामूर्ख । अहो ! इस केशव की स्तुति करने की इच्छा होते ही तुम्हारी जीभ के सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ?

यत्र कुत्सा प्रयोक्तव्या भीष्म बालतरैर्नरैः ।
तमिमं ज्ञानवृद्धः सन् गोपं संस्तोतुमिच्छसि ॥३९॥

भीष्म ! जिसके प्रति मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्य को भी घृणा करनी चाहिए, तुम इतने ज्ञान-वृद्ध होकर भी उसी ग्वाले की स्तुति करना चाहते हो [आश्चर्य है !]

यद्यनेन हतो बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम् ।
तौ वाश्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्ध विशारदौ ॥४०॥

भीष्म ! यदि इसने बचपन में एक पक्षी [बका-सुर] को अथवा युद्धकला से सर्वथा अनभिज्ञ केशी नामक अश्व और अरिष्टासुर वृषभ को मार डाला तो इसमें क्या आश्चर्य की बात हो गई ?

चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम् ।
पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम् ॥४१॥

भीष्म ! छकड़ा क्या है ? चेतना-शून्य लकड़ियों का ढेर ही तो । यदि इसने पैर से उसको उलट ही दिया तो यह कौन-सी आश्चर्य की बात हो गई ?

वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः ।
तदा गोवर्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम ॥४२॥

भीष्म ! यदि इसने गोवर्धन पर्वत को सात दिन तक अपने हाथ पर उठाये रखा तो उसमें भी मुझे कोई आश्चर्य की बात नहीं जान पड़ती, क्योंकि गोवर्धन तो दीमकों की खोदी हुई मिट्टी का ढेर मात्र है ।

यस्य चानेन धर्मज्ञ भुक्तमन्नं बलीयसः ।
स चानेन हतः कंस इत्येतन्न महाद्भुतम् ॥४३॥

धर्मज्ञ भीष्म ! जिस महाबली कंस का अन्न खाकर यह पला था, उसी को इसने मार डाला । यह भी इसके लिए कोई बड़ी अद्भुत बात नहीं है ।

न ते श्रुतमिदं भीष्म नूनं कथयतां सताम् ।
यद् वक्ष्ये त्वामधर्मज्ञं वाक्यं कुरुकुलाधम ॥४४॥

कुरुकुलाधम भीष्म ! तुम धर्म को बिल्कुल नहीं जानते । मैं तुमसे धर्म की जो बात कहूँगा, वह तुमने सन्त-महात्माओं के मुख से भी नहीं सुनी होगी ।

स्त्रीषु गोषु न शस्त्राणि पातयेद् ब्राह्मणेषु च ।
यस्य चान्नानि भुञ्जीत यत्र च स्यात् प्रतिश्रयः ॥४५

स्त्री पर, गौ पर और ब्राह्मणों पर तथा जिसका अन्न खाया हो अथवा जिसके यहाँ अपने को आश्रय मिला हो, इन पर कभी हथियार न चलाए ।

इति सन्तोऽनुशासन्ति सज्जनं धर्मिणः सदा ।
भीष्म लोके हि तत्सर्वं वितथं त्वयि दृश्यते ॥४६॥

भीष्म ! जगत् में साधु, धर्मात्मा पुरुष सज्जनों को सदा इसी धर्म का उपदेश देते हैं। परन्तु तुम्हारे निकट यह सब धर्म मिथ्या दिखाई देता है।

ज्ञानवृद्धं च वृद्धं च भूयांसं केशवं मम ।
अजानत इवाख्यासि संस्तुवन् कौरवाधम ॥४७॥

कौरवाधम ! तुम मेरे समक्ष इस कृष्ण की स्तुति करते हुए इसे ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध बता रहे हो, मानो मैं इसके विषय में कुछ जानता ही न होऊँ।

गोघ्नः स्त्रीघ्नश्च सन्भीष्म त्वद्वाक्याद्यदि पूज्यते ।
एवंभूतश्च यो भीष्म कथं संस्तवमर्हति ॥४८॥

भीष्म ! यदि तुम्हारे कहने से गोघाती और स्त्री-हन्ता कृष्ण की पूजा हो रही है तो तुम्हारी धर्मज्ञता की सीमा समाप्त हो गई। अब तुम्हीं कहो, इन दोनों प्रकार की हत्याओं का अपराधी स्तुति का अधिकारी कैसे हो सकता है ?

को हि धर्मोऽस्ति ते भीष्म ब्रह्मचर्यमिदं वृथा ।
यद् धारयसि मोहाद्वा क्लीबत्वाद्वा न संशयः ॥४९॥

भीष्म ! तुम्हारा-धर्म क्या है ? तुम्हारा ब्रह्मचर्य भी व्यर्थ का ढकोसला मात्र है जिसे तुमने मोह-वश अथवा नपुंसकता के कारण धारण कर रखा है, इसमें संशय नहीं।

न त्वहं तव धर्मज्ञ पश्याम्युपचयं क्वचित् ।
न हि ते सेविता वृद्धा य एवं धर्ममब्रवीः ॥५०॥

धर्मज्ञ भीष्म ! मैं तुम्हारी कहीं कोई उन्नति भी नहीं देख रहा हूँ। मेरा तो विश्वास है कि तुमने ज्ञानवृद्धों का सत्सङ्ग नहीं किया, तभी तुम ऐसे धर्म का उपदेश करते हो।

इति महाभारते सभापर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

भीम का क्रोध, भीष्म का उन्हें शान्त करना और कृष्ण से युद्ध करने के लिए चुनौती देना, कृष्ण द्वारा शिशुपाल का वध, यज्ञ की समाप्ति और श्रीकृष्ण का स्वदेश-गमन

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रूक्षं रूक्षाक्षरं बहु ।
चुकोप बलिनां श्रेष्ठो भीमसेनः प्रतापवान् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शिशुपाल की रूखी और अत्यन्त कटुता से भरी बातों को सुनकर बलवानों में श्रेष्ठ प्रतापी भीमसेन क्रोधाग्नि से भभक उठे।

उत्पतन्तं तु वेगेन जग्राहैनं मनस्विनम् ।
भीष्म एव महाबाहुर्महासेनमिवेश्वरः ॥२॥

वे उछलकर शिशुपाल के पास पहुँचना ही चाहते थे कि महाबाहु भीष्म ने बड़े वेग से उठकर उन मनस्वी भीम को वैसे ही पकड़ लिया, जैसे महेश्वर ने कार्तिकेय को रोक लिया था।

प्रहसंश्चाब्रवीद् वाक्यं चेदिराजः प्रतापवान् ।
भीमसेनमभिक्रुद्धं दृष्ट्वा भीमपराक्रमम् ॥३॥

उस समय भयानक पराक्रमी भीम को कुपित देख प्रतापी चेदिराज हँसते हुए बोला—

मुञ्चैनं भीष्म पश्यन्तु यावदेनं नराधिपाः ।
मत्प्रभावविनिर्दग्धं पतङ्गमिव वह्निना ॥४॥

भीष्म ! इसे छोड़ दो, ये सभी राजा लोग देख लें कि यह भीम मेरे प्रभाव से उसी प्रकार दग्ध हो जाएगा जैसे पतंगा अग्नि के पास जाते ही भस्म हो जाता है।

ततश्चेदिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा तत्कुरुसत्तमः ।
भीमसेनमुवाचेदं भीष्मो मतिमतां वरः ॥५॥

तब चेदिराज की वह बात सुनकर बुद्धिमानों में श्रेष्ठ कुरुकुलभूषण भीष्मजी ने भीमसेन से कहा—

भीष्म उवाच

नैषा चेदिपतेर्बुद्धिर्यया त्वाऽऽह्वयतेऽच्युतम् ।
नूनं कालपरीतात्मा जल्पति कुलपांसनः ॥६॥

भीष्मजी बोले—भीमसेन ! यह चेदिराज शिशु-पाल की बुद्धि नहीं है, जिसके द्वारा वह युद्ध से कभी पीछे न हटनेवाले तुम जैसे महावीर को ललकार रहा है। निश्चय ही काल ने इसके मन और बुद्धि को

ग्रस लिया है, इसीलिए यह कुल-कलंक अनाप-शनाप बोल रहा है।

वैशम्पायन उवाच

ततो न ममृषे चैद्यस्तद् भीष्मवचनं तदा।
उवाच चैनं संक्रुद्धः पुनर्भीष्ममथोत्तरम् ॥७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्म की यह बात शिशुपाल न सह सका। वह पुनः अत्यन्त क्रोध में भरकर भीष्मजी को उनकी बातों का उत्तर देते हुए बोला—

शिशुपाल उवाच

आत्मनिन्दाऽऽत्मपूजा च परनिन्दा परस्तवः।
अनाचरितमार्याणां वृत्तमेतच्चतुर्विधम् ॥८॥

शिशुपाल बोला—भीष्म! अपनी निन्दा, अपनी प्रशंसा, दूसरे की निन्दा और दूसरे की स्तुति ये चार प्रकार के कार्य पहले के श्रेष्ठ पुरुषों ने कभी नहीं किये हैं।

यदस्तुत्यमिमं शश्वन्मोहात् संस्तौषि भक्तितः।
केशवं तच्च ते भीष्म भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥९॥

भीष्म! जो स्तुति के सर्वथा अयोग्य है, उसी केशव की तुम मोहवश सदा भक्तिभाव से स्तुति करते हो। तुम्हारा यह व्यवहार उस भूलिंग पक्षी के समान है, जो कहता कुछ है और करता कुछ है।

भूलिङ्गशकुनिर्नाम पार्श्वे हिमवतः परे।
भीष्म तस्याः सदा वाचः श्रूयन्तेऽर्थविगर्हिताः ॥१०॥

भीष्म! हिमालय के दूसरे भाग में भूलिङ्ग नाम से प्रसिद्ध एक चिड़िया रहती है। उसके मुख से सदा ऐसी बात सुनाई पड़ती है, जो उसके कार्य के विपरीत-भाव की सूचक होने के कारण अति निन्दनीय जान पड़ती है।

मा साहसमितीदं सा सततं वाशते किल।
साहसं चात्मनातीव चरन्ती नावबुध्यते ॥११॥

वह चिड़िया सदा यही कहती है 'मा साहसम्' अर्थात् साहस का काम मत करो; परन्तु वह स्वयं ही भारी साहस का काम करती हुई भी यह नहीं समझ पाती।

सा हि मांसार्गलं भीष्म मुखात् सिंहस्य खादतः।
दन्तान्तरविलग्नं यत् तदादत्तेऽल्पचेतना ॥१२॥

भीष्म! वह चिड़िया मांस खाते हुए सिंह के दाँतों में लगे हुए मांस के टुकड़ों को अपनी चोंच से चुगती रहती है।

इच्छतः सा हि सिंहस्य भीष्म जीवत्यसंशयम्।
तद्वत् त्वमप्यधर्मिष्ठ सदा वाचः प्रभाषसे ॥१३॥

निःसन्देह सिंह की इच्छा से ही वह अबतक जी रही है। पापी भीष्म! तुम भी उसी पक्षी की भाँति सदा बढ़-चढ़कर बातें करते हो।

इच्छतां भूमिपालानां भीष्म जीवस्यसंशयम्।
लोकविद्विष्टकर्मा हि नान्योऽस्ति भवता समः ॥१४॥

भीष्म! निःसन्देह तुम्हारा जीवन इन राजाओं की इच्छा से ही बचा हुआ है क्योंकि तुम्हारे समान दूसरा कोई राजा ऐसा नहीं है, जिसके कर्म सम्पूर्ण जगत् से द्वेष करनेवाले हों।

भीष्म उवाच

इच्छतां किल नामाहं जीवाम्येषां महीक्षिताम्।
सोऽहं न गणयाम्येतांस्तृणेनापि नराधिपान् ॥१५॥

भीष्मजी बोले—अहो! शिशुपाल के कथनानुसार मैं इन राजाओं की इच्छा पर जी रहा हूँ। परन्तु मैं तो इन समस्त भूपालों को तिनके के बराबर भी नहीं समझता।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु भीष्मेण ततः संचुक्रुशुर्नृपाः।
केचिज्जहृषिरे तत्र केचिद् भीष्मं जगर्हिरे ॥१६॥

वैशम्पायनजी बोले—भीष्म के ऐसा कहने पर बहुत-से राजा कुपित हो उठे। कुछ राजाओं को हर्ष हुआ और कुछ भीष्मजी की निन्दा करने लगे।

केचिदूचुर्महेष्वासाः श्रुत्वा भीष्मस्य तद् वचः।
पापोऽवलिप्तो वृद्धश्च नायं भीष्मोऽर्हति क्षमाम् ॥१७

कुछ महान् धनुर्धर नरेश भीष्म की यह बात सुनकर कहने लगे—"यह बूढ़ा भीष्म तो पापी और घमण्डी है, अतः क्षमा के योग्य नहीं है।

हन्यतां दुर्मतिर्भीष्मः पशुवत् साध्वयं नृपाः।
सर्वैः समेत्य संरब्धैर्दह्यतां वा कटाग्निना ॥१८॥

"नृपगण! क्रोध में भरे हुए हम लोग मिलकर इस दुष्टबुद्धि भीष्म को पशु की भाँति गला दबाकर

मार डालें अथवा घास-फूंस की अग्नि में इसे जीवित जला डालें।"

इति तेषां वचः श्रुत्वा ततः कुरुपितामहः।
उवाच मतिमान् भीष्मस्तानेव वसुधाधिपान् ॥१९॥

उन नरेशों की ये बातें सुनकर कुरुकुल के पितामह महामति भीष्मजी फिर उन्हीं राजाओं से बोले—

उक्तस्योक्तस्य नेहान्तमहं समुपलक्षये।
यत्तु वक्ष्यामि तत्सर्वं शृणुध्वं वसुधाधिपाः ॥२०॥

"नरेशो! यदि मैं आप सबकी बातों का अलग-अलग उत्तर दूं, तो यहां उसकी समाप्ति होती दिखाई नहीं देती, अतः मैं जो कुछ कह रहा हूँ, आप सब उसे ध्यान से सुनो—

पशुवद् घातनं वा मे दहनं वा कटाग्निना।
क्रियतां मूर्ध्नि वो न्यस्तं मयेदं सकलं पदम् ॥२१॥

"तुम लोगों में साहस या शक्ति हो तो पशु की भाँति मेरी हत्या कर दो अथवा घास-फूंस की अग्नि में मुझे जला दो। मैंने तो तुम लोगों के मस्तक पर अपना पूरा पैर रख दिया है।

एष तिष्ठति गोविन्दः पूजितोऽस्माभिरच्युतः।
यस्य वस्त्वरते बुद्धिर्मरणाय स माधवम्।
कृष्णमाह्वयतामद्य युद्धे चक्रगदाधरम् ॥२२॥

"हमारे द्वारा सत्कृत एवं पूजित, अपनी महिमा से कभी च्युत नहीं होनेवाले गोविन्द तुम लोगों के सामने विद्यमान हैं। तुम लोगों में से जिसकी बुद्धि मृत्यु का आलिङ्गन करने के लिए उतावली हो रही हो, वह यदुकुलभूषण चक्रगदाधारी कृष्ण को आज युद्ध के लिए ललकारे।"

ततः श्रुत्वैव भीष्मस्य चेदिराडुरुविक्रमः।
युयुत्सुर्वासुदेवेन वासुदेवमुवाच ह ॥२३॥

भीष्मजी की यह बात सुनते ही महापराक्रमी चेदिराज शिशुपाल श्रीकृष्ण के साथ युद्ध के लिए उत्सुक हो इस प्रकार बोला—

आह्वये त्वां रणं गच्छ मया सार्धं जनार्दन।
यावदद्य निहन्मि त्वां सहितं सर्वपाण्डवैः ॥२४॥

"जनार्दन! मैं तुम्हें ललकार रहा हूँ। आओ, मेरे साथ युद्ध करो, जिससे आज मैं समस्त पाण्डवों सहित तुम्हें मार डालूं।

सह त्वया हि मे वध्याः सर्वथा कृष्ण पाण्डवाः।
नृपतीन् समतिक्रम्य यैरराजा त्वमर्चितः ॥२५॥

"कृष्ण! तुम्हारे साथ ये पाण्डव भी सर्वथा मेरे द्वारा मार डालने के योग्य हैं, क्योंकि इन्होंने सब राजाओं की अवहेलना करके राजा न होने पर भी तुम्हारी पूजा की है।"

एवमुक्तस्ततः कृष्णो मृदुपूर्वमिदं वचः।
उवाच पार्थिवान् सर्वान् स समक्षं च वीर्यवान् ॥२६॥

शिशुपाल के ऐसा कहने पर अनन्त पराक्रमी श्रीकृष्ण ने उसके सामने समस्त राजाओं से मधुर वाणी में कहा—

एष नः शत्रुरत्यन्तं पार्थिवाः सात्वतीसुतः।
सात्वतानां नृशंसात्मा न हितोऽनपकारिणाम् ॥२७॥

"राजवृन्द! यदुकुल की कन्या का पुत्र होकर भी यह शिशुपाल हम लोगों से अत्यन्त शत्रुता रखता है। यद्यपि यादवों ने इसका कोई अपराध नहीं किया है तो भी यह क्रूरात्मा सदा उनके अहित में ही लगा रहता है।

प्राग्ज्योतिषपुरं यातानस्माञ्ज्ञात्वा नृशंसकृत्।
अदहद् द्वारकामेष स्वस्त्रीयः सन् नराधिपाः ॥२८॥

"हे भूमिपालो! हम प्राग्ज्योतिषपुर में गये थे, यह बात जब इसे ज्ञात हुई, तब इस क्रूरकर्मा ने मेरे पिताजी का भानजा होकर भी द्वारका में आग लगवा दी।

अश्वमेधे हयं मेध्यमुत्सृष्टं रक्षिभिर्वृतम्।
पितुर्मे यज्ञविघ्नार्थमहरत् पापनिश्चयः ॥२९॥

"मेरे पिताजी ने अश्वमेध यज्ञ में रक्षकों से घिरा हुआ पवित्र घोड़ा छोड़ा। इस पापपूर्ण विचारवाले दुष्टात्मा ने यज्ञ में विघ्न डालने के लिए वह घोड़ा भी चुरा लिया।

पश्यन्ति हि भवन्तोऽद्य मय्यतीव व्यतिक्रमम्।
पितृष्वसुः कृते दुःखं सुमहन्मर्षयाम्यहम् ॥३०॥

"आप लोग देख ही रहे हैं कि इस समय यह मेरे प्रति कैसा अभद्र व्यवहार कर रहा है। मैं अपनी बुआ के सन्तोष के लिए ही इसके अति दुःखद अपराधों को सहन करता आया हूँ।

इमं त्वस्य न शक्ष्यामि क्षन्तुमद्य व्यतिक्रमम् ।
अवलेपाद् वधार्हस्य समग्रे राजमण्डले ॥३१॥

"परन्तु आज इसने अभिमान के वशीभूत होकर समस्त राजाओं के समक्ष मेरे साथ जो दुर्व्यवहार किया है, उसे मैं अब क्षमा नहीं कर सकूँगा ।"

एवमुक्त्वा यदुश्रेष्ठश्चेदिराजस्य तत्क्षणात् ।
व्यपाहरच्छिरः क्रुद्धश्चक्रेणामित्रकर्षणः ॥३२॥

ऐसा कहकर कुपित हुए शत्रुनाशक यदुकुलभूषण श्रीकृष्ण ने चक्र से उसी क्षण चेदिराज शिशुपाल का सिर उड़ा दिया ।

ततः केचिन्महीपाला नाब्रुवंस्तत्र किञ्चन ।
अपरे दशनैरोष्ठानदशन् क्रोधमूर्च्छिताः ॥३३॥

उस समय कुछ भूपाल वहाँ इस विषय में कुछ न बोल सके—मौन रह गये । कुछ नृपगण क्रोध से मूर्च्छित होकर दाँतों से ओठ चबाने लगे ।

रहश्च केचिद् वार्ष्णेयं प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
केचिदेव सुसंरब्धा मध्यस्थास्त्वपरेऽभवन् ॥३४॥

कुछ राजा एकान्त में श्रीकृष्ण की प्रशंसा करने लगे । कुछ ही भूपाल अत्यन्त क्रोध के वशीभूत हो रहे थे तथा कुछ लोग तटस्थ थे ।

पाण्डवस्त्वब्रवीद् भ्रातॄन् सत्कारेण महीपतिम् ।
दमघोषात्मजं वीरं संस्कारयत मा चिरम् ॥३५॥

उधर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने अपने भाइयों को आदेश दिया—"दमघोषपुत्र वीर राजा शिशुपाल का अन्त्येष्टि-संस्कार अति सत्कार के साथ करो, इसमें विलम्ब मत करो ।"

चेदीनामाधिपत्ये च पुत्रमस्य महीपतेः ।
अभ्यषिञ्चत् तदा पार्थः सह तैर्वसुधाधिपैः ॥३६॥

शिशुपाल के अन्त्येष्टि संस्कार के पश्चात् कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर ने वहाँ आये हुए सभी राजाओं के साथ चेदिदेश के राजसिंहासन पर शिशुपाल के पुत्र को अभिषिक्त कर दिया ।

शान्तविघ्नं सुखारम्भं केशवेन सुरक्षितम् ।
समापयामास च तं राजसूयं महाक्रतुम् ॥३७॥

प्रशान्त-विघ्न, सुखपूर्वक आरम्भ हुए और श्रीकृष्ण द्वारा सुरक्षित उस राजसूय यज्ञ को महाराज युधिष्ठिर ने विधिपूर्वक सम्पन्न किया ।

ततस्त्ववभृथस्नातं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
समस्तं पार्थिवं क्षत्रमुपागम्येदमब्रवीत् ॥३८॥

यज्ञ समाप्त होने पर जब महाराज युधिष्ठिर अवभृथ स्नान कर चुके, उस समय समस्त क्षत्रिय राजाओं का समुदाय उनके पास आकर बोला—

दिष्ट्या वर्धसि धर्मज्ञ साम्राज्यं प्राप्तवानसि ।
आपृच्छामो नरव्याघ्र सर्वकामैः सुपूजिताः ॥३९॥

"धर्मज्ञ ! बड़े सौभाग्य की बात है कि आपका अभ्युदय हो रहा है । आपने सम्राट् का पद प्राप्त कर लिया यह और भी अधिक सौभाग्य की बात है । आपने हमारे लिए सब प्रकार के अभीष्ट पदार्थ सुलभ करके हमारा सम्मान किया है । अब हम आपसे जाने की अनुमति लेना चाहते हैं ।"

श्रुत्वा तु वचनं राज्ञां धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
सम्पूज्य नृपतीन्सम्यक् भ्रातॄन् सर्वानुवाच ह ॥४०॥

राजाओं का यह कथन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर ने उन पूजनीय नरेशों का यथायोग्य सत्कार करके अपने सब भाइयों से कहा—

प्रस्थिताः स्वानि राष्ट्राणि मामापृच्छ्य परन्तपाः ।
अनुव्रजत भद्रं वो विषयान्तं नृपोत्तमान् ॥४१॥

"ये परन्तप भूपाल मुझसे आज्ञा लेकर अपने-अपने राष्ट्रों को जाने के लिए उद्यत हैं । तुम्हारा कल्याण हो । तुम लोग इन श्रेष्ठ नरेन्द्रों को आदरपूर्वक राज्य की सीमा तक पहुँचा आओ ।

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय पाण्डवा धर्मचारिणः ।
यथार्हं नृपतीन् सर्वानेकैकं समनुव्रजन् ॥४२॥

भाई की आज्ञा मानकर वे धर्मात्मा पाण्डव एक-एक करके यथायोग्य सभी राजाओं के साथ गये ।

विराटमन्वयात् तूर्णं धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
धनञ्जयो यज्ञसेनं महात्मानं महारथम् ॥४३॥

प्रतापी धृष्टद्युम्न तुरन्त ही राजा विराट के साथ गया । धनञ्जय ने महारथी महात्मा द्रुपद का अनुसरण किया ।

भीष्मं च धृतराष्ट्रं च भीमसेनो महाबलः ।
द्रोणं तु ससुतं वीरं सहदेवो युधाम्पतिः ॥४४॥

महाबली भीमसेन भीष्म और धृतराष्ट्र के साथ गये । योद्धाओं में श्रेष्ठ सहदेव ने द्रोणाचार्य तथा

उनके वीर पुत्र अश्वत्थामा को पहुँचाया।

नकुलः सुबलं राजन् सहपुत्रं समन्वयात्।
द्रौपदेयाः ससौभद्राः पर्वतीयान् महारथान् ॥४५॥

राजन्! सुबल और उनके पुत्र के साथ नकुल गये। द्रौपदी के पाँचों पुत्रों और अभिमन्यु[1] ने पर्वतीय महारथियों को अपने राज्य की सीमा तक पहुँचाया।

गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु सर्वेषु ब्राह्मणेषु च।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वासुदेवः प्रतापवान् ॥४६॥

राजाओं और ब्राह्मणों के चले जाने पर प्रतापी श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा—

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि द्वारकां कुरुनन्दन।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं दिष्टया त्वं प्राप्तवानसि ॥४७॥

"कुरुनन्दन! मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ, अब मैं द्वारकापुरी जाऊँगा। सौभाग्य से आपने सब यज्ञों में श्रेष्ठ राजसूय यज्ञ सम्पादन कर लिया है।"

तमुवाचैवमुक्तस्तु धर्मराजो जनार्दनम्।
तव प्रसादाद् गोविन्द प्राप्तः क्रतुवरो मया ॥४८॥

उनके ऐसा कहने पर धर्मराज युधिष्ठिर जनार्दन से बोले—"हे गोविन्द! आपकी ही कृपा से मैंने यह परमोत्तम यज्ञ सम्पन्न किया है।

कथं त्वद्गमनार्थं मे वाणी वितरतेऽनघ।
न ह्यहं त्वामृते वीर रतिं प्राप्नोमि कर्हिचित् ॥४९॥

"हे निष्पाप! मेरी वाणी आपको जाने के लिए कैसे कह सकती है? वीर! मैं आपके बिना किसी भी प्रकार प्रसन्न नहीं रह सकता।

अवश्यं चैव गन्तव्या भवता द्वारकापुरी।
एवमुक्तः स धर्मात्मा युधिष्ठिरसहायवान् ॥५०॥
अभिगम्याब्रवीत् प्रीतः पृथां पृथुयशा हरिः।
साम्राज्यं समनुप्राप्ताः पुत्रास्तेऽद्य पितृष्वसः ॥५१॥
सिद्धार्था वसुमन्तश्च सा त्वं प्रीतिमवाप्नुहि।
अनुज्ञातस्त्वया चाहं द्वारकां गन्तुमुत्सहे ॥५२॥

"परन्तु आपका द्वारकापुरी जाना भी आवश्यक ही है।" उनके ऐसा कहने पर महायशस्वी धर्मात्मा श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को साथ लेकर बुआ कुन्ती के पास गये और प्रसन्नतापूर्वक यों बोले—"बुआजी! आपके पुत्रों ने अब साम्राज्य प्राप्त कर लिया है। इनका मनोरथ पूर्ण हो गया है, ये सब-के-सब धन तथा रत्नों से सम्पन्न हैं। अब तुम इनके साथ प्रसन्नतापूर्वक रहो। यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो मैं द्वारका जाना चाहता हूँ।"

सुभद्रां द्रौपदीं चैव सभाजयत केशवः।
निष्क्रम्यान्तःपुरात्तस्माद् युधिष्ठिरसहायवान् ॥५३॥

कुन्ती से आज्ञा ले श्रीकृष्ण द्रौपदी एवं सुभद्रा से भी मिले और मधुर वचनों से उन दोनों को प्रसन्न किया। तदनन्तर वे युधिष्ठिर के साथ अन्तःपुर से बाहर निकले।

उपस्थितं रथं दृष्ट्वा समारुह्य महामनाः।
प्रययौ पुण्डरीकाक्षस्ततो द्वारवतीं पुरीम् ॥५४॥

रथ को उपस्थित देखकर महामना कमलनयन श्रीकृष्ण उस पर आरूढ़ हो द्वारकापुरी की ओर चल पड़े।

तं पद्भ्यामनुवव्राज धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् वासुदेवं महाबलम् ॥५५॥

भाइयोंसहित श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर पैदल ही महाबली वासुदेव के पीछे-पीछे चलने लगे।

ततो मुहूर्तं संगृह्य स्यन्दनप्रवरं हरिः।
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥५६॥

थोड़ी दूर जाने पर कमललोचन श्रीकृष्ण ने दो घड़ी के लिए अपने श्रेष्ठ रथ को रोककर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर से कहा—

अप्रमत्तः स्थितो नित्यं प्रजाः पाहि विशाम्पते।
कृत्वा परस्परेणैवं संविदं कृष्णपाण्डवौ ॥५७॥
अन्योऽन्यं समनुज्ञाप्य जग्मतुः स्वगृहान् प्रति।
गते द्वारवतीं कृष्णे सात्वतप्रवरे नृप ॥५८॥

---

१. जो लोग युद्ध के समय अभिमन्यु की अवस्था केवल सोलह वर्ष मानते हैं, वे इस स्थल को ध्यानपूर्वक पढ़ें। यदि युद्ध के समय अभिमन्यु सोलह वर्ष के थे, तो राजसूय यज्ञ के समय उनकी अवस्था तीन वर्ष की होनी चाहिए। क्या कोई तीन वर्ष का बालक किसी को विदा करने के लिए किसी के साथ जा सकता है?

एको दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ।
तस्यां सभायां दिव्यायामूषतुस्तौ नरर्षभौ ॥५६॥

"राजन् ! आप सदा सावधान रहकर प्रजाजनों के पालन में तत्पर रहें ।" श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर आपस में इस प्रकार बातें करके एक-दूसरे की आज्ञा ले अपने-अपने स्थान को चल दिये । राजन् ! यदु-वंश-शिरोमणि श्रीकृष्ण के द्वारका चले जाने पर भी राजा दुर्योधन और सुबलपुत्र शकुनि—ये दोनों नर-श्रेष्ठ उस दिव्य सभा-भवन में ही रहे ।

इति महाभारते सभापर्वणि नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

दुर्योधन का मय-निर्मित सभा-भवन को देखना और पग-पग पर भ्रम के कारण उपहास का पात्र बनना, पाण्डवों पर विजय-प्राप्ति के लिए दुर्योधन और शकुनि का वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

वसन् दुर्योधनस्तस्यां सभायां पुरुषर्षभ ।
शनैर्ददर्श तां सर्वां सभां शकुनिना सह ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ जनमेजय ! राजा दुर्योधन ने उस सभा-भवन में निवास करते समय शकुनि के साथ धीरे-धीरे उस सारी सभा का निरीक्षण किया ।

तस्यां दिव्यानभिप्रायान् ददर्श कुरुनन्दनः ।
न दृष्टपूर्वा ये तेन नगरे नागसाह्वये ॥२॥

कुरुनन्दन दुर्योधन ने उस सभा-भवन में उन दिव्य अभिप्रायों [दृश्यों] को देखा, जिन्हें उसने हस्तिना-पुर में पहले कभी नहीं देखा था ।

स कदाचित् सभामध्ये धार्तराष्ट्रो महीपतिः ।
स्फाटिकं स्थलमासाद्य जलमित्यभिशंकया ॥३॥
स्ववस्त्रोत्कर्षणं राजा कृतवान् बुद्धिमोहितः ।
दुर्मना विमुखश्चैव परिचक्राम तां सभाम् ॥४॥

एक दिन की बात है, राजा दुर्योधन उस सभा-भवन में भ्रमण करता हुआ स्फटिक मणिमय स्थल पर जा पहुँचा और वहाँ जल की आशंका से उसने अपना वस्त्र ऊपर उठा लिया । इस प्रकार बुद्धि-मोह हो जाने से उसका मन उदास हो गया, अतः उस स्थान से लौटकर वह सभा में दूसरी ओर चक्कर लगाने लगा ।

ततः स्थले निपतितो दुर्मना व्रीडितो नृपः ।
निःश्वसन् विमुखश्चापि परिचक्राम तां सभाम् ॥५॥

तत्पश्चात् वह स्थल में ही गिर पड़ा । इससे वह मन-ही-मन दुःखित और लज्जित हो गया तथा वहाँ से हटकर लम्बी साँसें लेता हुआ सभा-भवन में घूमने लगा ।

ततः स्फाटिकतोयां वै स्फाटिकाम्बुजशोभिताम् ।
वापीं मत्वा स्थलमिव सवासाः प्रापतज्जले ॥६॥

फिर स्फटिकमणि के समान स्वच्छ जल से भरी तथा स्फटिकमणिमय कमलों से सुशोभित बावली को स्थल मानकर वह वस्त्रोंसहित जल में गिर पड़ा ।

जले निपतितं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
अर्जुनश्च यमौ चोभौ सर्वे ते प्राहसँस्तदा ॥७॥

उसे जल में गिरा हुआ देख भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेव सभी उस समय ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगे ।

तथागतं तु तं दृष्ट्वा किंकराश्च सुयोधनम् ।
वासांसि च शुभान्यस्मै प्रददू राजशासनात् ॥८॥

दुर्योधन की यह दुरवस्था देख सेवकों ने राजा की आज्ञा से दुर्योधन को सुन्दर वस्त्र प्रदान किये ।

नामर्षयत् ततस्तेषामवहासममर्षणः ।
आकारं रक्षमाणस्तु न स तान् समुदैक्षत ॥९॥

दुर्योधन स्वभाव से ही अमर्षशील था, अतः वह उनका उपहास नहीं सह सका । अपने मुख-मण्डल के भाव को छिपाये रखने के लिए वह उनकी ओर आँख नहीं उठाता था ।

पुनर्वसनमुत्क्षिप्य प्रतरिष्यन्निव स्थलम् ।
आरुरोह ततः सर्वे जहसुश्च पुनर्जनाः ॥१०॥

फिर स्थल में ही जल का भ्रम हो जाने से वह कपड़े उठाकर इस प्रकार चलने लगा, मानो तैरने की तैयारी कर रहा हो । इस प्रकार जब वह ऊपर

चढ़ा, तब सब लोग उसकी भ्रान्ति पर पुनः हँसने लगे।

द्वारं तु पिहिताकारं स्फाटिकं प्रेक्ष्य भूमिपः।
प्रविशन्नाहतो मूर्ध्नि व्याघूर्णित इव स्थितः ॥११॥

तत्पश्चात् राजा दुर्योधन ने स्फटिकमणि का बना हुआ एक द्वार देखा जो वस्तुतः बन्द था, परन्तु खुला हुआ दिखाई देता था। उसमें प्रवेश करते ही उसका सिर टकरा गया तथा उसे चक्कर-सा आ गया।

भीमसेनेन तत्रोक्तो धृतराष्ट्रात्मजेति च।
सम्बोध्य प्रहसित्वा च इतो द्वारं नराधिपः ॥१२॥

महाराज! वहाँ भीमसेन ने उसे 'धृतराष्ट्रपुत्र'[1] कहकर सम्बोधित किया और हँसते हुए कहा—"राजन्! द्वार इधर है।"

तादृशं च परं द्वारं स्फाटिकोरुकपाटकम्।
विघटट्यन् कराभ्यां तु निष्क्रम्याग्रे पपात ह ॥१३॥

आगे चलकर ठीक उसी प्रकार का एक अन्य द्वार मिला जिसमें स्फटिकमणि के बड़े-बड़े किवाड़ लगे थे। यद्यपि वह खुला था, तो भी दुर्योधन ने उसे बन्द समझकर उस पर दोनों हाथों से धक्का देना चाहा। उस धक्के से वह स्वयं द्वार के बाहर निकलकर गिर पड़ा।

द्वारं तु वितताकारं समापेदे पुनश्च सः।
तद्वत्तं चेति मन्वानो द्वारस्थानादुपारमत् ॥१४॥

आगे जाने पर उसे एक बहुत बड़ा फाटक और मिला, परन्तु कहीं पिछले द्वारों की भाँति यहाँ भी कोई अप्रिय घटना न घट जाए, इस भय से वह उस द्वार के इधर से ही लौट आया।

एवं प्रलम्भान् विविधान् प्राप्य तत्र विशाम्पते।
पाण्डवेयाभ्यनुज्ञातस्ततो दुर्योधनो नृपः ॥१५॥
अप्रहृष्टेन मनसा राजसूये महाक्रतौ।
प्रेक्ष्य तामद्भुतामृद्धिं जगाम गजसाह्वयम् ॥१६॥

राजन्! इस प्रकार वहाँ बार-बार धोखा खाकर राजा दुर्योधन राजसूय महायज्ञ में पाण्डवों के पास आयी हुई अद्भुत-अपार समृद्धि पर दृष्टि डालकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर की आज्ञा ले अप्रसन्न मन से हस्तिनापुर को लौट गया।

पाण्डवश्रीप्रतप्तस्य ध्यायमानस्य गच्छतः।
दुर्योधनस्य नृपतेः पापा मतिरजायत ॥१७॥

पाण्डवों की राजलक्ष्मी से सन्तप्त हो उसी का चिन्तन करते हुए जाते समय राजा दुर्योधन के मन में पापपूर्ण विचार का उदय हुआ।

पार्थान्सुमनसो दृष्ट्वा पार्थिवांश्च वशानुगान्।
कृत्स्नं चापि हितं लोकमाकुमारं कुरूद्वह ॥१८॥
महिमानं परं चापि पाण्डवानां महात्मनाम्।
दुर्योधनो धार्तराष्ट्रो विवर्णः समपद्यत ॥१९॥

कुरुश्रेष्ठ! यह देखकर कि कुन्ती-पुत्रों का मन प्रमुदित है, भूमण्डल के सब नरेश उनके वश में हैं तथा आबाल-वृद्ध सारा जगत् उनका हितैषी है, महात्मा पाण्डवों की महिमा अत्यन्त बढ़ी हुई है, धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन का रंग फीका पड़ गया।

अनेकाग्रं तु तं दृष्ट्वा शकुनिः प्रत्यभाषत।
दुर्योधन कुतोमूलं निःश्वसन्निव गच्छसि ॥२०॥

उसे नाना प्रकार की चिन्ताओं से युक्त देखकर शकुनि ने पूछा—"दुर्योधन! तुम्हारे दुःख का क्या कारण है, जिससे तुम लम्बी-लम्बी साँसें खींचते चल रहे हो?"

दुर्योधन उवाच

दृष्ट्वेमां पृथिवीं कृत्स्नां युधिष्ठिरवशानुगाम्।
अमर्षेण तु सम्पूर्णो दह्यमानो दिवानिशम् ॥२१॥

दुर्योधन बोला—मामाजी! इस सारी पृथिवी को युधिष्ठिर के वश में आयी देखकर मैं दिन-रात ईर्ष्या से भरा जलता रहता हूँ।

श्रियं तथाऽऽगतां दृष्ट्वा ज्वलन्तीमिव पाण्डवे।
अमर्षवशमापन्नो दह्यामि न तथोचितः ॥२२॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर के समीप प्राप्त हुई उस प्रकाशमयी लक्ष्मी को देखकर मैं ईर्ष्यावश जल रहा हूँ। यद्यपि मेरे लिए यह उचित नहीं है।

---

1. महाभारत में केवल इतना ही वर्णन है। लोक में ऐसा प्रचलित है कि द्रौपदी उसे देखकर हँस पड़ी और बोली कि "अन्धों के अन्धे ही होते हैं।" यह बात महाभारत में कहीं नहीं है।

वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम् ।
अपो वापि प्रवेक्ष्यामि न हि शक्ष्यामि जीवितुम् ।।२३

मैं अग्नि में प्रविष्ट हो जाऊँगा, विष खा लूंगा अथवा जल में डूब मरूँगा, अब मैं जीवित नहीं रह सकूंगा ।

को हि नाम पुमांल्लोके मर्षयिष्यति सत्त्ववान् ।
सपत्नानृद्धयतो दृष्ट्वा हीनमात्मानमेव च ।।२४

संसार में ऐसा कौन शक्तिशाली मनुष्य होगा जो शत्रुओं की वृद्धि और अपनी हीन-अवस्था होती देखकर भी चुपचाप सहन कर लेगा ?

ईश्वरत्वं पृथिव्याश्च वसुमत्तां च तादृशीम् ।
यज्ञं च तादृशं दृष्ट्वा मादृशः को न संज्वरेत् ।।२५।।

शत्रुओं के पास समस्त भू-मंडल का वह साम्राज्य, वैसी धन-रत्नों से भरी सम्पदा तथा उनका वैसा उत्कृष्ट राजसूय यज्ञ देखकर मेरे जैसा कौन मनुष्य चिन्तित नहीं होगा ?

अशक्तश्चैक एवाहं तामाहर्तुं नृपश्रियम् ।
सहायांश्च न पश्यामि तेन मृत्युं विचिन्तये ।।२६।।

मैं अकेला उस राजलक्ष्मी को हड़प लेने में असमर्थ हूँ और अपने पास योग्य सहायक भी नहीं पाता हूँ, अतः मृत्यु का चिन्तन करता हूँ ।

कृतो यत्नो मया पूर्वं विनाशे तस्य सौबल ।
तच्च सर्वमतिक्रम्य संवृद्धोऽप्स्विव पंकजम् ।।२७।।

सुबलपुत्र ! मैंने पहले धर्मराज युधिष्ठिर को नष्ट करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उन सारे संकटों को लांघकर वे जल में कमल की भांति निरन्तर बढ़ते ही गये ।

सोऽहं श्रियं च तां दृष्ट्वा सभां ता च तथाविधाम् ।
रक्षिभिश्चावहासं तं परितप्ये यथाग्निना ।।२८।।

मैं उस राजलक्ष्मी को, उस दिव्य सभा को तथा रक्षकों द्वारा किये गये अपने उपहास को देखकर निरन्तर सन्तप्त हो रहा हूँ, मानो अग्नि में जला जा रहा हूँ ।

स मामभ्यनुजानीहि मातुलाद्य सुदुःखितम् ।
अमर्षं च समाविष्टं धृतराष्ट्रे निवेदय ।।२९।।

मामाजी ! आप अब मुझे मरने के लिए आज्ञा दीजिए, क्योंकि मैं अत्यन्त दुःखी हूं और ईर्ष्या की अग्नि में जल रहा हूँ । महाराज धृतराष्ट्र को मेरी यह अवस्था सूचित कर देना ।

शकुनिरुवाच

दुर्योधन न तेऽमर्षः कार्यः प्रति युधिष्ठिरम् ।
भागधेयानि हि स्वानि पाण्डवा भुञ्जते सदा ।।३०।।

शकुनि ने कहा—दुर्योधन ! तुम्हें युधिष्ठिर के प्रति ईर्ष्या नहीं रखनी चाहिए, क्योंकि पाण्डव सदा अपने भाग्य का ही उपभोग करते आ रहे हैं ।

आरब्धाश्च महाराज पुनः पुनररिन्दम ।
विमुक्ताश्च नरव्याघ्रा भागधेयपुरस्कृताः ।।३१।।

शत्रुदमन ! तुमने अनेक बार पाण्डवों पर कुचक्र चलाये, परन्तु वे नर-श्रेष्ठ अपने भाग्य से उन सभी संकटों से छुटकारा पाते गये ।

लब्धश्चानभिभूतार्थैः पित्र्योंऽशः पृथिवीपते ।
विवृद्धस्तेजसा तेषां तत्र का परिदेवना ।।३२।।

नृपते ! पाण्डवों ने अपने लक्ष्य से विचलित न होकर निरन्तर प्रयत्न करके राज्य में अपना पैतृक अंश प्राप्त किया है । वह पैतृक सम्पत्ति आज उन्हीं के तेज से बहुत बढ़ गई है, अतः उसके लिए चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ?

यच्चासहायतां राजन्नुक्तवानसि भारत ।
तन्मिथ्या भ्रातरो हीमे तव सर्वे वशानुगाः ।।३३।।

हे भारत ! तुमने जो अपने आपको असहाय बताया है, वह भी मिथ्या है; क्योंकि तुम्हारे ये सब भाई तुम्हारी आज्ञा के अधीन हैं ।

द्रोणस्तव महेष्वासः सह पुत्रेण वीर्यवान् ।
सूतपुत्रश्च राधेयो गौतमश्च महारथः ।।३४।।
अहं च सह सोदर्यैः सौमदत्तिश्च पार्थिवः ।
एतैस्त्वं सहितः सर्वैर्जय कृत्स्नां वसुन्धराम् ।।३५।।

महान् धनुर्धर एवं पराक्रमी द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामा के साथ तुम्हारे सहायक हैं। राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण, महारथी कृपाचार्य, भाइयों सहित मैं तथा राजा भूरिश्रवा—इन सबके साथ तुम भी सारी पृथिवी पर विजय प्राप्त करो ।

दुर्योधन उवाच

त्वया च सहितो राजन्नेतैश्चान्यैर्महारथैः ।
एतानेव विजेष्यामि यदि त्वमनुमन्यसे ।।३६।।

एतेषु विजितेष्वद्य भविष्यति मही मम।
सर्वे च पृथिवीपालाः सभा सा च महाधना ॥३७॥

दुर्योधन बोला—राजन्! यदि तुम्हारा सहयोग हो, तो तुम्हारे और इन द्रोणाचार्य आदि महारथियों के साथ मैं इन पाण्डवों को ही युद्ध में जीत लूँ। इनके परास्त हो जाने पर आज ही यह सम्पूर्ण पृथिवी, समस्त भूपाल और वह महाधन-सम्पन्न सभा भी मेरे अधीन हो जाएगी।

शकुनिरुवाच

धनञ्जयो वासुदेवो भीमसेनो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च द्रुपदश्च सहात्मजैः ॥३८॥
नैते युधि पराजेतुं शक्या देवगणैरपि।
महारथा महेष्वासाः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ॥३९॥

शकुनि ने कहा—राजन्! अर्जुन, श्रीकृष्ण, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा पुत्रोंसहित द्रुपद—इन्हें देवता भी युद्ध में परास्त नहीं कर सकते। ये सबके सब महारथी महान् धनुर्धर, अस्त्र-विद्या में निपुण और युद्ध में उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं।

अहं तु तद्विजानामि विजेतुं येन शक्यते।
युधिष्ठिरं स्वयं राजंस्तन्निबोध जुषस्व च ॥४०॥

राजन्! मैं वह उपाय जानता हूँ जिससे युधिष्ठिर स्वयं पराजित हो सकते हैं। तुम उसे सुनो और उसका सेवन करो।

द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न स जानाति देवितुम्।
समाहूतश्च राजेन्द्रो न शक्ष्यति निवर्तितुम् ॥४१॥

राजन्! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर को जुआ बहुत प्रिय है परन्तु वह जुआ खेलना नहीं जानते। यदि उन्हें जुआ खेलने के लिए बुलाया जाए, तो वे पीछे नहीं हट सकेंगे।

देवने कुशलश्चाहं न मेऽस्ति सदृशो भुवि।
त्रिषु लोकेषु कौरव्य तं त्वं द्यूते समाह्वय ॥४२॥

मैं जुआ खेलने में अति प्रवीण हूँ। इस कला में मेरी समानता करनेवाला पृथ्वी की तो बात ही क्या, तीनों लोकों में दूसरा नहीं है। अतः हे कुरुनन्दन! तुम युधिष्ठिर को द्यूतक्रीड़ा के लिए बुलवाओ।

तस्याक्षकुशलो राजन्नादास्येऽहमसंशयम्।
राज्यं श्रियं च तां दीप्तां त्वदर्थं पुरुषर्षभ ॥४३॥

नरश्रेष्ठ! मैं पासा फेंकने में कुशल हूँ, अतः युधिष्ठिर के राज्य तथा देदीप्यमान राजलक्ष्मी को तुम्हारे लिए अवश्य प्राप्त कर लूंगा, इसमें सन्देह नहीं है।

इदं तु सर्वं त्वं राज्ञे दुर्योधन निवेदय।
अनुज्ञातस्तु ते पित्रा विजेष्ये तान् न संशयः ॥४४॥

दुर्योधन! तुम ये सारी बातें अपने पिता धृतराष्ट्र से कहो। उनकी आज्ञा मिल जाने पर मैं निश्चय ही पाण्डवों को जीत लूँगा।

दुर्योधन उवाच

त्वमेव कुरुमुख्याय धृतराष्ट्राय सौबल।
निवेदय यथान्यायं नाहं शक्ष्ये निवेदितुम् ॥४५॥

दुर्योधन बोला—सुबलनन्दन! आप ही कुरुकुल के प्रधान महाराज धृतराष्ट्र से इन सब बातों को यथोचित रूप से कहिए। मैं स्वयं कुछ भी नहीं कह सकूँगा।

इति महाभारते सभापर्वणि दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

दुर्योधन का द्यूत के लिए धृतराष्ट्र को उकसाना

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनवचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रं जनाधिपम्।
उपगम्य महाप्राज्ञं शकुनिर्वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दुर्योधन की बात सुनकर शकुनि ने [हस्तिनापुर में आकर] महाप्राज्ञ राजा धृतराष्ट्र से इस प्रकार कहा—

शकुनिरुवाच

दुर्योधनो महाराज विवर्णो हरिणः कृशः।
दीनश्चिन्तापरश्चैव तं विद्धि मनुजाधिप ॥२॥

शकुनि बोला—महाराज! दुर्योधन की कान्ति मलिन होती जा रही है। उसका रंग सफेद पड़ गया है तथा वह दुर्बल हो गया है। उसकी दशा दयनीय

है। वह निरन्तर चिन्ता में डूबा रहता है। नरेश्वर! आप उसके मनोभावों को समझने का प्रयत्न कीजिए।

न वै परीक्षसे सम्यगसह्यं शत्रुसम्भवम्।
ज्येष्ठपुत्रस्य हृच्छोकं किमर्थं नावबुध्यसे ॥३॥

उसे शत्रुओं के द्वारा कोई असह्य कष्ट प्राप्त हुआ है। आप उसकी ठीक प्रकार से परीक्षा क्यों नहीं करते? दुर्योधन आपका ज्येष्ठ पुत्र है। उसके हृदय में महान् शोक व्याप्त है, आप उसका पता क्यों नहीं लगाते?

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन कुतोमूलं भृशमार्तोऽसि पुत्रक।
श्रोतव्यश्चेन्मया सोऽर्थो ब्रूहि मे कुरुनन्दन ॥४॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—पुत्र दुर्योधन! तुम्हारे दुःख का क्या कारण है? सुना है, तुम बड़े कष्ट में हो। कुरुनन्दन! यदि मेरे सुनने योग्य हो, तो वह बात मुझे बताओ।

अयं त्वां शकुनिः प्राह विवर्णं हरिणं कृशम्।
चिन्तयंश्च न पश्यामि शोकस्य तव सम्भवम् ॥५॥

शकुनि कहता है कि तुम्हारी कान्ति फीकी पड़ गई है। तुम सफेद और दुबले हो गये हो, परन्तु मैं बहुत सोचने पर भी तुम्हारे शोक का कोई कारण नहीं देखता।

ऐश्वर्यं हि महत् पुत्र त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
भ्रातरः सुहृदश्चैव नाचरन्ति तवाप्रियम् ॥६॥

"वत्स! इस सम्पूर्ण महान् ऐश्वर्य की प्रतिष्ठा तुम्हारे ही ऊपर है। तुम्हारे भाई और सुहृद्=हितैषी कभी तुम्हारे प्रतिकूल आचरण नहीं करते।

आच्छादयसि प्रावारानश्नासि विशदौदनम्।
आजानेया वहन्त्यश्वाः केनासि हरिणः कृशः ॥७॥

तुम बहुमूल्य वस्त्र पहनते-ओढ़ते हो, उत्तम विशुद्ध भात खाते हो और उत्तम नस्ल के घोड़े तुम्हारी सवारी में रहते हैं, फिर किस दुःख से तुम सफेद और दुबले हो गये हो?

शयनानि महार्हाणि योषितश्च मनोरमाः।
गुणवन्ति च वेश्मानि विहाराश्च यथासुखम् ॥८॥
देवानामिव ते सर्वं वाचि बद्धं न संशयः।
स दीन इव दुर्धर्ष कस्माच्छोचसि पुत्रक ॥९॥

बहुमूल्य शय्याएँ, मन को प्रिय लगनेवाली अनिन्द्य सुन्दरी युवतियाँ, सभी ऋतुओं में सुखदायक भवन तथा इच्छानुसार सुखप्रद विहार-स्थान—देवताओं की भाँति ये सभी वस्तुएँ निःसन्देह तुम्हें वाणी द्वारा कहनेमात्र से सुलभ हैं। मेरे दुर्धर्ष पुत्र! फिर तुम दीन की भाँति क्यों शोक करते हो?

दुर्योधन उवाच

अश्नाम्याच्छादये चाहं यथा कुपुरुषस्तथा।
अमर्षं धारये चोग्रं निनीषुः कालपर्ययम् ॥१०॥

दुर्योधन बोला—पिताजी! मैं अच्छा खाता हूँ, उत्तम वस्त्र पहनता हूँ परन्तु नीच पुरुषों की भाँति। मैं समय के परिवर्तन की प्रतीक्षा में रहकर अपने हृदय में भारी ईर्ष्या धारण कर रहा हूँ।

अमर्षणः स्वाः प्रकृतीरभिभूय परं स्थितः।□
क्लेशान् मुमुक्षुः परजान् स वै पुरुष उच्यते ॥११॥

जो शत्रुओं के प्रति अमर्ष रखकर उन्हें पराजित करके विश्राम लेता है तथा अपनी प्रजा को शत्रुजनित क्लेशों से छुड़ाने की इच्छा रखता है, वही पुरुष कहलाता है।

सन्तोषो वै श्रियं हन्ति ह्यभिमान च भारत।□
अनुक्रोशभये चोभे यैर्वृतो नाश्नुते महत् ॥१२॥

हे भारत! सन्तोष लक्ष्मी और स्वाभिमान को नष्ट कर देता है। दया और भय ये दोनों भी वैसे ही हैं। इन [सन्तोषादि] से युक्त मनुष्य कभी ऊँचा पद नहीं पा सकता।

न मां प्रीणाति मद्भुक्तं श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे।
अति ज्वलन्तीं कौन्तेये विवर्णकरणीं मम ॥१३॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर की उस अत्यन्त प्रकाशमान राजलक्ष्मी को देखकर मुझे भोजन अच्छा नहीं लगता। उसी के कारण मेरी कान्ति नष्ट हो रही है।

न क्वचिद्धि मया तादृग् दृष्टपूर्वो न च श्रुतः।
यादृग् धनागमो यज्ञे पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥१४॥

महाप्राज्ञ पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर के यज्ञ में धन की जैसी प्राप्ति हुई है, वैसी मैंने पहले कहीं न तो देखी है और न सुनी ही है।

अपर्यन्तं धनौघं तं दृष्ट्वा शत्रोरहं नृप ।
शमं नैवाभिगच्छामि चिन्तयानो विशाम्पते ।।१५।।

महाराज ! शत्रु की वह अनन्त धनराशि देखकर मैं चिन्तित हो रहा हूँ, मुझे चैन नहीं मिलता ।

शकुनिरुवाच

यामेतामतुलां लक्ष्मीं दृष्टवानसि पाण्डवे ।
तस्याः प्राप्तावुपायं मे शृणु सत्यपराक्रम ।।१६।।

शकुनि बोला—सत्यपराक्रमी दुर्योधन ! तुमने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर के यहाँ जो अनुपम लक्ष्मी देखी है, उसकी प्राप्ति का उपाय मुझसे सुनो ।

अहमक्षेष्वभिज्ञातः पृथिव्यामपि भारत ।
हृदयज्ञः पणज्ञश्च विशेषज्ञश्च देवने ।।१७।।

हे भारत ! मैं इस भूमण्डल में जुए के खेल का विशेष जानकार हूँ, द्यूतक्रीड़ा का मर्मज्ञ हूँ, दाँव लगाने का भी मुझे ज्ञान है तथा पासे फेंकने की कला में भी मैं विशेषज्ञ हूँ ।

द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न च जानाति देवितुम् ।
आहूतश्चैष्यति व्यक्तं द्यूतादपि रणादपि ।।१८।।

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर को जुआ खेलना बहुत प्रिय है परन्तु वे उसे खेलना नहीं जानते । द्यूत अथवा युद्ध किसी भी उद्देश्य से यदि उन्हें बुलाया जाए तो वे अवश्य पधारेंगे ।

नियतं तं विजेष्यामि कृत्वा तु कपटं विभो ।
आनयामि समृद्धिं तां दिव्यां चोपाह्वयस्व तम् ।।१९।।

विभो ! मैं छल का आश्रय लेकर युधिष्ठिर को निश्चय ही जीत लूँगा तथा उनकी उस दिव्य समृद्धि को यहाँ मँगा लूँगा, अतः तुम उन्हें बुलवाओ ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः शकुनिना राजा दुर्योधनस्ततः ।
धृतराष्ट्रमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ।।२०।।
अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमक्षवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रस्य तदनुज्ञातुमर्हसि ।।२१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—शकुनि के ऐसा कहने पर राजा दुर्योधन ने तुरन्त ही धृतराष्ट्र से कहा—"राजन् ! यह शकुनि द्यूतक्रीड़ा के मर्मज्ञ हैं और जुए द्वारा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर की राजलक्ष्मी के अपहरण का उत्साह रखते हैं, अतः इसके लिए इन्हें आज्ञा दीजिए ।"

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्ता मन्त्री महाप्राज्ञः स्थितो यस्यास्मि शासने ।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ।।२२

धृतराष्ट्र बोले—महाबुद्धिमान् विदुर मेरे मन्त्री हैं । मैं उनके आदेशानुसार चलता हूँ । उनसे विचार-विमर्श के पश्चात् मैं यह जान सकूँगा कि इस कार्य के सम्बन्ध में क्या निश्चय किया जाए ।

स हि धर्मं पुरस्कृत्य दीर्घदर्शी परं हितम् ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं वक्ष्यत्यर्थविनिश्चयम् ।।२३।।

विदुर दूरदर्शी हैं, वे धर्म को सामने रखकर दोनों पक्षों के लिए उचित और परम हित की बात सोचकर उसके अनुकूल ही कार्य का निश्चय करेंगे ।

दुर्योधन उवाच

निवर्तयिष्यति त्वासौ यदि क्षत्ता समेष्यति ।
निवृत्ते त्वयि राजेन्द्र मरिष्येऽहमसंशयम् ।।२४।।

दुर्योधन ने कहा—विदुरजी जब आपसे मिलेंगे तब निश्चय ही आपको इस कार्य से निवृत्त कर देंगे । राजेन्द्र ! आपके इस कार्य से मुँह मोड़ लेने पर मैं निःसन्देह प्राण त्याग दूंगा ।

स त्वं मयि मृते राजन् विदुरेण सुखी भव ।
भोक्ष्यसे पृथिवीं कृत्स्नां किं मया त्वं करिष्यसि ।।२५

राजन् ! मेरी मृत्यु हो जाने पर आप विदुर के साथ सुख से रहना और सारे भूमण्डल का राज्य भोगना । मेरे जीवित रहने से आपका क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

वैशम्पायन उवाच

आर्तवाक्यं तु तत्तस्य प्रणयोक्तं निशम्य सः ।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीत् प्रेष्यान् दुर्योधनमते स्थितः ।।२६।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने पुत्र का यह प्रेमपूर्ण आर्तवचन सुनकर राजा धृतराष्ट्र दुर्योधन के मत में आ गये और सेवकों से बोले—

स्थूणासहस्रैर्बृहतीं शतद्वारां सभां मम ।
मनोरमां दर्शनीयामाशु कुर्वन्तु शिल्पिनः ।।२७।।

"बहुत-से शिल्पी लगकर एक परम सुन्दर, दर्शनीय तथा विशाल सभा-भवन का शीघ्र निर्माण करें । उसमें सौ द्वार हों और एक सहस्र खम्भे हों ।

ततः संस्तीर्य रत्नैस्तां तक्ष्ण आनाय्य सर्वशः ।
सुकृतां सुप्रवेशां च निवेदयत मे शनैः ॥२८॥

"फिर सब देशों से तक्षक (शिल्पी) बुलाकर उस सभा-भवन के खम्भों और दीवारों में रत्न जड़वा दिये जाएँ । वह सुन्दर एवं सुसज्जित भवन जब सुख-पूर्वक प्रवेश के योग्य हो जाए, तब धीरे-से मेरे पास आकर इसकी सूचना दो ।"

दुर्योधनस्य शान्त्यर्थमिति निश्चित्य भूमिपः ।
धृतराष्ट्रो महाराज प्राहिणोद् विदुराय वै ॥२९॥

महाराज ! दुर्योधन की मनःशान्ति के लिए ऐसा निश्चय करके राजा धृतराष्ट्र ने विदुर के पास दूत भेजा ।

तत् श्रुत्वा विदुरो धीमान् कलिद्वारमुपस्थितम् ।
विनाशमुखमुत्पन्नं धृतराष्ट्रमुपाद्रवत् ॥३०॥

बुद्धिमान् विदुर कलह के द्वाररूप जुए का अवसर उपस्थित हुआ सुनकर तथा विनाश का मुख प्रकट हुआ जान धृतराष्ट्र के पास दौड़े हुए आये ।

सोऽभिगम्य महात्मानं भ्राता भ्रातरमग्रजम् ।
मूर्ध्ना प्रणम्य चरणाविदं वचनमब्रवीत् ॥३१॥

विदुर ने अपने श्रेष्ठ भ्राता महामना धृतराष्ट्र के पास जाकर उनके चरणों में सिर झुकाकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—

विदुर उवाच

नाभिनन्दामि ते राजन् व्यवसायमिमं प्रभो ।
पुत्रैर्भेदो यथा न स्याद् द्यूतहेतोस्तथा कुरु ॥३२॥

विदुर बोले—राजन् ! मैं आपके इस निश्चय को पसन्द नहीं करता । प्रभो ! आप ऐसा प्रयत्न कीजिए, जिससे जुए के कारण आपके और पाण्डु के पुत्रों में भेद-भाव न हो ।

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य मतिं ज्ञात्वा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमुवाच विजने पुनः ॥३३॥

विदुर का विचार जानकर अम्बिका-नन्दन राजा धृतराष्ट्र ने एकान्त में दुर्योधन से पुनः इस प्रकार कहा—

धृतराष्ट्र उवाच

अलं द्यूतेन गान्धारे विदुरो न प्रशंसति ।
न ह्यसौ महाबुद्धिरहितं नो वदिष्यति ॥३४॥

धृतराष्ट्र बोले—"गान्धारीनन्दन ! जुए का खेल नहीं होना चाहिए । विदुर इसे अच्छा नहीं मानते । महाप्राज्ञ विदुर हमें ऐसा परामर्श नहीं देंगे, जिससे हमारा अहित हो ।

हितं हि परमं मन्ये विदुरो यत् प्रभाषते ।
तदलं पुत्र द्यूतेन द्यूते भेदो हि दृश्यते ॥३५॥

विदुर जो कुछ कहते हैं, उसी को मैं अपना सर्वोत्तम हित मानता हूँ, अतः वत्स ! जुए का खेल नहीं होना चाहिए । जुए में वैर-विरोध की सम्भावना दिखाई देती है ।

भेदे विनाशो राज्यस्य तत् पुत्र परिवर्जय ।
पित्रा मात्रा च पुत्रस्य यद् वै कार्यं परं स्मृतम् ॥३६॥

वैर-विरोध होने से राज्य का नाश हो जाता है, अतः पुत्र ! तू जुए का आग्रह छोड़ दे । माता-पिता को चाहिए कि वे पुत्रों को उत्तम कर्तव्य की शिक्षा दें, अतः मैंने ऐसा कहा है ।

त्वं वै ज्येष्ठो ज्यैष्ठिनेयः पुत्र मा पाण्डवान् द्विषः ।
द्वेष्टा ह्यसुखमादत्ते यथैव निधनं तथा ॥३७॥

दुर्योधन ! तुम मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो, जेठी रानी के गर्भ से उत्पन्न हुए हो । पुत्र ! पाण्डवों से व्यर्थ द्वेष मत करो, क्योंकि द्वेष करनेवाला मनुष्य मृत्यु के समान कष्ट पाता है ।

अव्युत्पन्नं समानार्थं तुल्यमित्रं युधिष्ठिरम् ।
अद्विषन्तं कथं द्विष्यात् त्वादृशो भरतर्षभ ॥३८॥

युधिष्ठिर छलकपट से अनभिज्ञ हैं (वे किसी के साथ छल-कपट नहीं करते) । उनका धन तुम्हारे ही जैसा है । जो तुम्हारे मित्र हैं वे उनके भी मित्र हैं तथा युधिष्ठिर तुमसे कभी द्वेष नहीं करते । भरत-कुलभूषण ! तुम्हारे जैसे पुरुष को भी उनसे द्वेष नहीं करना चाहिए ।

तुल्याभिजनवीर्यश्च कथं भ्रातुः श्रियं नृपः ।
पुत्र कामयसे मोहान् मैवं भूः शाम्य मा शुचः ॥३९॥

राजन् ! तुम्हारा और युधिष्ठिर का कुल एवं पराक्रम एक-सा है । पुत्र ! तुम मोहवश अपने भाई की लक्ष्मी की इच्छा क्यों करते हो ? ऐसे अधम मत बनो । शान्त भाव से रहो, शोक न करो ।

अनार्यचरितं तात परस्वस्पृहणं भृशम् ।□
स्वसन्तुष्टः स्वधर्मस्थो यः स वै सुखमेधते ॥४०॥
अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु ।□
रक्षणं समुपात्तानामेतद् वैभवलक्षणम् ॥४१॥

तात ! दूसरों के धन की स्पृहा (इच्छा) रखना अत्यन्त नीच पुरुषों का काम है। जो अपने ही धन में सन्तुष्ट तथा अपने धर्म में ही स्थित है, वही सुख प्राप्त करता है। दूसरों के धन को हड़पने की चेष्टा न करना, अपने कर्तव्य को पूरा करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहना तथा अपने को जो कुछ प्राप्त है, उसकी रक्षा करना—यही उत्तम वैभव का लक्षण है।

विपत्तिष्वव्यथो दक्षो नित्यमुत्थानवान् नरः ।□
अप्रमत्तो विनीतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति ॥४२॥

जो विपत्ति में व्यथित नहीं होता, सदा उद्योग-शील बना रहता है, जो प्रमाद-रहित है, जिसके हृदय में विनयरूप सद्गुण है, वह चतुर मनुष्य सदा कल्याण ही देखता है।

बाहूनिवैतान् मा छेत्सीः पाण्डुपुत्रास्तथैव ते ।
भ्रातॄणां तद्धनार्थं वै मित्रद्रोहं च मा कुरु ॥४३॥

ये पाण्डव तुम्हारी भुजाओं के समान हैं, इन्हें काटो मत। इसी प्रकार तुम भाइयों के धन के लिए मित्र-द्रोह न करो।

दुर्योधन उवाच

यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः ।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव ॥४४॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! जिसके पास अपनी बुद्धि नहीं है, जिसने केवल बहुत-से शास्त्रों को श्रवण भर किया है, वह शास्त्र के तात्पर्य को नहीं जान सकता, जैसे कलछी दाल के रस का (स्वाद) नहीं जान सकती।

जानन् वै मोहयसि मां नावि नौरिव संयता ।
स्वार्थे किं नावधानं ते उताहो द्वेष्टि मां भवान् ॥४५॥

एक नाव में बँधी हुई दूसरी नौका के समान आप विदुरजी की बुद्धि के आश्रित हैं। आप जानते हुए भी मुझे मोह में क्यों डाल रहे हैं? स्वार्थ-साधन के लिए क्या आपमें तनिक भी सावधानी नहीं है? अथवा आप मुझसे द्वेष रखते हैं?

राजन् परिणतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ।
प्रतिपन्नान् स्वकार्येषु सम्मोहयसि नो भृशम् ॥४६॥

राजन् ! आपकी बुद्धि परिपक्व है, आप वृद्ध पुरुषों की सेवा करते हैं, आपने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की है, तो भी जब हम लोग अपने कार्य में तत्पर होते हैं, उस समय आप हमें बार-बार मोह में डाल देते हैं।

क्षत्रियस्य महाराज जये वृत्तिः समाहिता ।
स वै धर्मस्त्वधर्मो वा स्ववृत्तौ का परीक्षणा ॥४७॥

महाराज ! क्षत्रिय की वृत्ति सदा विजय में ही लगी रहती है, वह चाहे धर्म हो या अधर्म। अपनी वृत्ति के विषय में परीक्षा क्या?

प्रच्छन्नो वा प्रकाशो वा योगो योऽरिं प्रबाधते ।□
तद् वै शस्त्रं शस्त्रविदां न शस्त्रं छेदनं स्मृतम् ॥४८॥

गुप्त या प्रकट, जो भी उपाय शत्रु को विपत्ति में डाल दे, वही शस्त्रज्ञ पुरुषों का शस्त्र है। केवल काटनेवाला शस्त्र ही शस्त्र नहीं है।

शत्रुश्चैव हि मित्रं च न लेख्यं न च मातृका ।
यो वै संतापयति यं स शत्रुः प्रोच्यते नृप ॥४९॥

राजन् ! अमुक शत्रु है और अमुक मित्र, इसका कोई लेखा नहीं है। शत्रु-मित्र-सूचक कोई अक्षर भी नहीं है। जो जिसको सन्ताप देता है, वही उसका शत्रु कहा जाता है।

असन्तोषः श्रियो मूलं तस्मात्तं कामयाम्यहम् ।□
समुच्छ्रये यो यतते स राजन् परमो नयः ॥५०॥

असन्तोष ही लक्ष्मी-प्राप्ति का मूल कारण है, अतः मैं असन्तोष चाहता हूँ। राजन् ! जो अपनी उन्नति के लिए प्रयत्न करता है, उसका वह प्रयत्न ही सर्वोत्तम नीति है।

द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥५१॥

जैसे सर्प बिल में रहनेवाले चूहों आदि को निगल जाता है, उसी प्रकार यह भूमि विरोध न करनेवाले राजा तथा परदेश में न विचरनेवाले ब्राह्मण=संन्यासी को ग्रस लेती है।

शत्रुपक्षं समृध्यन्तं यो मोहात् समुपेक्षते ।
व्याधिराप्यायित इव तस्य मूलं छिनत्ति सः ॥५२॥

जो निरन्तर बढ़ते हुए शत्रु-पक्ष की ओर से मोह-वश उदासीन हो जाता है, तो बढ़े हुए रोग की भाँति शत्रु उस उदासीन राजा की जड़ काट डालता है।

आजमीढ रिपोर्लक्ष्मीर्मा ते रोचिष्ट भारत।
एष भारः सत्त्ववतां नयः शिरसि विष्ठितः ॥५३॥

भरतकुलतिलक! अजमीढनन्दन! आपको शत्रु की लक्ष्मी अच्छी नहीं लगनी चाहिए। हर समय न्याय को सिर पर उठाये रखना भी बुद्धिमानों के लिए भार ही है।

नाप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं संशयो मे भविष्यति।
अप्राप्य वा श्रियं तां हि शयिष्ये वा हतो युधि ॥५४॥

जब तक मैं पाण्डवों की सम्पत्ति को प्राप्त न कर लूँ, तबतक मेरे मन में दुविधा ही रहेगी। अतः या तो मैं पाण्डवों की उस सम्पत्ति को प्राप्त करूँगा अथवा युद्ध में मरकर सो जाऊँगा [तभी मेरी दुविधा मिटेगी]।

इति महाभारते सभापर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

युधिष्ठिर का हस्तिनापुर में आगमन, द्यूत-क्रीड़ा का आरम्भ और शकुनि के छल से प्रत्येक दाँव पर उसकी हार

धृतराष्ट्र उवाच

वाक्यं न मे रोचते यत् त्वयोक्तं
यत्ते प्रियं तत् क्रियतां नरेन्द्र।
पश्चात्तप्यसे त्वतिक्रम्य वाक्यं
न हीदृशं भावि वचो हि धर्म्यम् ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले—पुत्र! तुमने जो बात कही है, वह मुझे अच्छी नहीं लगती। नरेन्द्र! जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो। जुआ आरम्भ करने पर मेरी बातों को याद करके तुम पीछे पछताओगे, क्योंकि तुम्हारे मुख से जैसी बातें निकली हैं, वे धर्मानुकूल नहीं हैं।

वैशम्पायन उवाच

ततो विद्वान् विदुरं मन्त्रिमुख्य-
मुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः।
युधिष्ठिरं राजपुत्रं च गत्वा
मद्वाक्येन क्षिप्रमिहानयस्व ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर विद्वान् राजा धृतराष्ट्र ने मन्त्रियों में प्रधान विदुर को यह आज्ञा दी कि तुम राजकुमार युधिष्ठिर के पास जाकर मेरे आदेश से उन्हें शीघ्र यहाँ लिवा लाओ।

ततः प्रायाद् विदुरोऽश्वैरुदारै-
र्महाजवैर्बलिभिः साधुदान्तैः।
बलान्नियुक्तो धृतराष्ट्रराज्ञा
मनीषिणां पाण्डवानां सकाशे ॥३॥

राजा धृतराष्ट्र के बलपूर्वक भेजने पर विदुरजी अत्यन्त वेगशाली, बलवान् तथा अच्छी प्रकार वश में किये हुए श्रेष्ठ अश्वों से जुते हुए रथ पर सवार होकर परमबुद्धिमान् पाण्डवों के पास गये।

तं वै राजा सत्यधृतिर्महात्मा
अजातशत्रुर्विदुरं यथावत्।
पूजापूर्वं प्रतिगृह्याजमीढ-
स्ततोऽपृच्छद् धृतराष्ट्रं सपुत्रम् ॥४॥

सत्यवादी महात्मा अजमीढनन्दन अजातशत्रु राजा युधिष्ठिर ने विदुरजी का यथावत् आदर-सत्कार करके उनसे पुत्रोंसहित धृतराष्ट्र की कुशल पूछी।

युधिष्ठिर उवाच

विज्ञायते ते मनसोऽप्रहर्षः
कच्चित् क्षत्तः कुशलेनागतोऽसि।
कच्चित्पुत्राः स्थविरस्यानुलोमा
वशानुगाश्चापि विशोऽथ कच्चित् ॥५॥

युधिष्ठिर बोले—विदुरजी! आपका मन प्रसन्न नहीं जान पड़ता, आप कुशल से तो आये हैं? वृद्ध राजा धृतराष्ट्र के पुत्र उनके अनुकूल तो चलते हैं न? सारी प्रजा उनके वश में है न?

विदुर उवाच

राजा महात्मा कुशली सपुत्र
आस्ते वृतो ज्ञातिभिरिन्द्रकल्पः।

प्रीतो राजन् पुत्रगणैर्विनीतै-
र्विशोक एवात्मरतिर्महात्मा ॥६॥

विदुर ने बताया—हे राजन्! इन्द्र के समान प्रभावशाली महामना राजा धृतराष्ट्र अपने भाई-बन्धुओं तथा पुत्रोंसहित कुशलपूर्वक हैं अपने विनीत पुत्रों से वे प्रसन्न रहते हैं उनमें शोक का अभाव है। वे महामना अपनी आत्मा में ही अनुराग रखने वाले हैं।

इदं तु त्वां कुरुराजोऽभ्युवाच
पूर्वं पृष्ट्वा कुशलं चाव्ययं च।
इयं सभा त्वत्सभातुल्यरूपा
भ्रातॄणां ते दृश्यतामेत्य पुत्र॥७॥
समागम्य भ्रातृभिः पार्थ तस्यां
सुहृद्द्यूतं क्रियतां रम्यतां च।
प्रीयामहे भवतां सङ्गमेन
समागताः कुरवश्चापि सर्वे॥८॥

कुरुराज धृतराष्ट्र ने पहले तुमसे कुशल और आरोग्य पूछकर यह सन्देश दिया है कि वत्स! मैंने तुम्हारी सभा की भाँति ही एक सभा तैयार करायी है। तुम अपने भाइयों के साथ आकर अपने दुर्योधन आदि भाइयों की इस सभा को देखो। इसमें सभी इष्ट-मित्र मिलकर जुआ खेलें और मन बहलाएँ। हम सभी कौरव तुम सबसे मिलकर अति प्रसन्न होंगे।

युधिष्ठिर उवाच

द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते नः
को वै द्यूतं रोचयेद् बुध्यमानः।
किं वा भवान् मन्यते युक्तरूपं
भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताः स्म॥९॥

युधिष्ठिर बोले—विदुरजी! जुए में तो झगड़ा-फसाद होता है। कौन बुद्धिमान् मनुष्य जुआ खेलना पसन्द करेगा अथवा आप क्या इसे ठीक समझते हैं? हम सब लोग तो आपकी आज्ञा के अनुसार चलने-वाले हैं।

विदुर उवाच

जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं
कृतश्च यत्नोऽस्य मया निवेधे।
राजा च मां प्राहिणोत् त्वत्सकाशं
श्रुत्वा विद्वञ्छ्रेय इहाचरस्व॥१०॥

विदुरजी ने कहा—विद्वन्! मैं जानता हूँ, जुआ अनर्थ की जड़ है, अतः मैंने उसे रोकने का प्रयत्न भी किया। तथापि राजा धृतराष्ट्र ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है। यह सुनकर तुम्हें जो कल्याणकर जान पड़े, वह करो।

युधिष्ठिर उवाच

के तत्रान्ये कितवा दीव्यमाना
विना राज्ञो धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः।
पृच्छामि त्वां विदुर ब्रूहि नस्तान्
यैर्दीव्यामः शतशः संनिपत्य॥११॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे विदुरजी! वहाँ राजा धृतराष्ट्र के पुत्रों को छोड़कर अन्य कौन-कौन धूर्त जुआ खेलनेवाले हैं? यह मैं आपसे पूछता हूँ। आप उन सबको बताइए, जिनके साथ मिलकर और सैकड़ों की बाजी लगाकर हमें जुआ खेलना होगा।

विदुर उवाच

गान्धारराजः शकुनिर्विशाम्पते
राजातिदेवी सफलो मताक्षः।
विविंशतिश्चित्रसेनश्च राजा
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयश्च॥१२॥

विदुर बोले—राजन्! वहाँ गान्धारराज शकुनि है, जो जुए का बहुत बड़ा खिलाड़ी है। वह अपनी इच्छा के अनुसार पासे फेंकने में सिद्धहस्त है। उसे द्यूतक्रीड़ा के रहस्य का पूर्णज्ञान है। उसके अतिरिक्त राजा विविंशति, चित्रसेन, राजा सत्यव्रत, पुरुमित्र और जय भी रहेंगे।

युधिष्ठिर उवाच

नाहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य शासना-
न्न गन्तुमिच्छामि कवे दुरोदरम्।
इष्टो हि पुत्रस्य पिता सदैव
तदस्मि कर्ता विदुरात्थ मां यथा॥१३॥

युधिष्ठिर बोले—महाप्राज्ञ विदुरजी! मैं राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से जुए में अवश्य चलना चाहता हूँ। पुत्र को पिता सदैव मान्य है, अतः आपने मुझे जैसा आदेश दिया है, मैं वैसा ही करूँगा।

न चाकामः शकुनिना देविताहं
न चेन्मां जिष्णुराह्वयिता सभायाम् ।
आहूतोऽहं न निवर्ते कदाचित्
तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे ॥१४॥

मेरे मन में जुआ खेलने की इच्छा नहीं है। यदि मुझे विजयशील राजा धृतराष्ट्र सभा में न बुलाते, तो मैं शकुनि से कभी जुआ नहीं खेलता, परन्तु 'बुलाने पर मैं कभी पीछे नहीं हटूँगा'—यह मेरा सदा का नियम है।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा विदुरं धर्मराजः
प्रायात्रिकं सर्वमाज्ञाप्य तूर्णम् ।
प्रायाच्छ्वोभूते सगणः सानुयात्रः
सह स्त्रीभिर्द्रौपदीमादि कृत्वा ॥१५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! विदुर से ऐसा कहकर धर्मराज युधिष्ठिर ने तुरन्त ही यात्रा की सम्पूर्ण तैयारी करने का आदेश दे दिया। फिर प्रातःकाल होने पर उन्होंने अपने भाई-बन्धुओं, सेवकों तथा द्रौपदी आदि स्त्रियों के साथ हस्तिनापुर की यात्रा की।

स हास्तिनपुरं गत्वा धृतराष्ट्रगृहं ययौ ।
समियाय च धर्मात्मा धृतराष्ट्रेण पाण्डवः ॥१६॥

धर्मात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हस्तिनापुर में पहुँचकर धृतराष्ट्र के भवन में गये और उनसे मिले।

तथा भीष्मेण द्रोणेन कर्णेन च कृपेण च ।
समियाय यथान्यायं द्रौणिना च विभुः सह ॥१७॥

इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य और अश्वत्थामा के साथ भी यथायोग्य मिले।

ततो हर्षः समभवत् कौरवाणां विशाम्पते ।
तान् दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान् पाण्डवान् प्रियदर्शनान् ॥१८

जनमेजय! उन पुरुषश्रेष्ठ प्रियदर्शन पाण्डवों को आये देख कौरव अत्यन्त हर्षित हुए।

सुखोषितास्ते रजनीं प्रातः सर्वे कृताह्निकाः ।
सभां रम्यां प्रविविशुः कितवैरभिनन्दिताः ॥१९॥

सुखपूर्वक रात बिताकर वे प्रातःकाल उठे और सन्ध्या आदि नित्य-कर्म करने के पश्चात् उस रमणीय सभा में गये। वहाँ जुआरियों ने उनका अभिनन्दन किया।

प्रविश्य तां सभां पार्थाः पूजार्हानभिपूज्य च ।
आसनेषु विचित्रेषु चोपविष्टा यथार्हतः ॥२०॥

कुन्तीपुत्र उस सभा में पहुँचकर तथा पूजनीय राजाओं का सम्मान करके यथायोग्य विचित्र आसनों पर विराजमान हुए।

तेषु तत्रोपविष्टेषु सर्वेष्वथ नृपेषु च ।
शकुनिः सौबलस्तत्र युधिष्ठिरमभाषत ॥२१॥

उनके एवं सब नरेशों के बैठ जाने पर वहाँ सुबलकुमार शकुनि ने युधिष्ठिर से कहा—

शकुनिरुवाच

उपस्तीर्णा सभा राजन् सर्वे त्वयि कृतेक्षणाः ।
अक्षानुप्त्वा देवनस्य समयोऽस्तु युधिष्ठिर ॥२२॥

शकुनि बोला—महाराज युधिष्ठिर! सभा में पासे फेंकनेवाला वस्त्र बिछा दिया गया है। सब आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। अब पासे फेंककर जुआ खेलने का अवसर मिलना चाहिए।

युधिष्ठिर उवाच

निकृतिर्देवनं पापं न क्षात्रोऽत्र पराक्रमः ।
न च नीतिर्ध्रुवा राजन् किं त्वं द्यूतं प्रशंससि ॥२३॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे राजन्! जुआ तो एक प्रकार का छल है और पाप का कारण है। इसमें न तो क्षत्रियोचित पराक्रम ही दिखाया जा सकता है, और न इसकी कोई निश्चित नीति है। फिर तुम इस जुए की प्रशंसा क्यों करते हो?

न हि मानं प्रशंसन्ति निकृतौ कितवस्य हि ।
शकुने मैव नो जैषीरमार्गेण नृशंसवत् ॥२४॥

हे शकुनि! जुआरियो का छल-कपट में ही सम्मान होता है, सज्जन पुरुष वैसे सम्मान की प्रशंसा नहीं करते। तुम क्रूर मनुष्य की भाँति अनुचित मार्ग से हमें जीतने की चेष्टा न करो।

इदं वै देवनं पापं निकृत्या कितवैः सह ।
धर्मेण तु जयो युद्धे तत्परं न तु देवनम् ॥२५॥

जुआरियों के साथ शठतापूर्वक जो जुआ खेला जाता है, वह पाप है। धर्मानुकूल विजय तो युद्ध में

ही प्राप्त होती है, अतः क्षत्रियों के लिए युद्ध ही श्रेष्ठ है, जुआ खेलना नहीं।

शक्तितो ब्राह्मणान् नूनं रक्षितुं प्रयतामहे।
तद् वै वित्तं मातिदेवीर्मा जैषीः शकुने परान् ॥२६॥

शकुने ! हम लोग जिस धन से अपनी शक्ति के अनुसार ब्राह्मणों की रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं, उसे तुम जुआ खेलकर हमसे हड़पने की चेष्टा मत करो।

निकृत्या कामये नाहं सुखान्युत धनानि वा।
कितवस्येह कृतिनो वृत्तमेतन्न पूज्यते ॥२७॥

मैं धूर्ततापूर्ण वर्ताव द्वारा सुख अथवा धन पाने की इच्छा नहीं करता, क्योंकि जुआरी के कार्य को विद्वान् लोग अच्छा नहीं समझते।

शकुनिरुवाच

श्रोत्रियः श्रोत्रियानेति निकृत्यैव युधिष्ठिर।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥२८॥

शकुनि ने कहा—युधिष्ठिर ! एक श्रोत्रिय [वेद का विद्वान्] जब दूसरे श्रोत्रिय के पास उसे जीतने के लिए जाता है, तब शठता से ही कार्य लेता है। विद्वान् अविद्वानों को शठता से ही परास्त करता है, परन्तु इसे जनसाधारण शठता नहीं कहते।

अक्षैर्हि शिक्षितोऽभ्येति निकृत्यैव युधिष्ठिर।
अकृतास्त्रं कृतास्त्रश्च दुर्बलं बलवत्तरः ॥२९॥
एवं कर्मसु सर्वेषु निकृत्यैव युधिष्ठिर।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥३०॥

हे युधिष्ठिर ! जो द्यूतविद्या में पूर्ण शिक्षित है, वह अशिक्षितों पर शठता से ही विजय पाता है। धर्मराज ! अस्त्र-विद्या में निपुण योद्धा अनाड़ी को एवं बलिष्ठ पुरुष दुर्बल को शठता से ही जीतना चाहता है। इस प्रकार सब कार्यों में विद्वान् पुरुष अविद्वानों को शठता से ही जीतते हैं, किन्तु लोग उसे शठता नहीं कहते।

एवं त्वं मामिहाभ्येत्य निकृतिं यदि मन्यसे।
देवनाद् विनिवर्तस्व यदि ते विद्यते भयम् ॥३१॥

इसी प्रकार यदि आप मेरे पास आकर ऐसा समझते हैं कि आपके साथ शठता की जाएगी और यदि आपको भय प्रतीत होता है, तो जुए के खेल से निवृत्त हो जाइए।

युधिष्ठिर उवाच

आहूतो न निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम्।
विधिश्च बलवान् राजन्दिष्टस्यास्मि वशे स्थितः ॥३२॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! मैं बुलाने पर पीछे नहीं हटता, यह मेरा निश्चित व्रत है। दैव बलवान् है। मैं दैव के अधीन हूँ।

अस्मिन् समागमे केन देवनं मे भविष्यति।
प्रतिपाणश्च कोऽन्योऽस्ति ततो द्यूतं प्रवर्तताम् ॥३३॥

अच्छा तो यहाँ एकत्र हुए मनुष्यों में मुझे किसके साथ जुआ खेलना होगा ? मेरे मुकाबले में दूसरा कौन पुरुष दाँव लगाएगा ? इसका निश्चय हो जाए, तो द्यूतक्रीड़ा आरम्भ हो।

दुर्योधन उवाच

अहं दाताऽस्मि रत्नानां धनानां च विशाम्पते।
मदर्थे देविता चायं शकुनिर्मातुलो मम ॥३४॥

दुर्योधन ने कहा—राजन् ! दाँव पर लगाने के लिए धन और रत्न तो मैं दूँगा, परन्तु मेरी ओर से खेलेंगे मेरे मामा शकुनि।

युधिष्ठिर उवाच

अन्येनान्यस्य वै द्यूतं विषमं प्रतिभाति मे।
एतद् विद्वन्नुपादत्स्व काममेवं प्रवर्तताम् ॥३५॥

युधिष्ठिर बोले—एक के लिए दूसरे का जुआ खेलना मुझे तो अनुचित ही प्रतीत होता है। विद्वन् ! इस बात को समझ लो, फिर इच्छानुसार जुए का खेल आरम्भ हो।

वैशम्पायन उवाच

उपोह्यमाने द्यूते तु राजानः सर्व एव ते।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां ततः ॥३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जब जुए का खेल आरम्भ होने लगा तब सब राजा लोग धृतराष्ट्र को आगे करके उस सभा में आये।

भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विदुरश्च महामतिः।
नातिप्रीतेन मनसा तेऽन्ववर्तन्त भारत ॥३७॥

हे भारत ! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य तथा महाप्राज्ञ विदुर—ये सब लोग खिन्न मन से ही धृतराष्ट्र के पीछे-पीछे वहाँ आये।

ते द्वन्द्वशः पृथक् चैव सिंहग्रीवा महौजसः ।
सिंहासनानि भूरीणि विचित्राणि च भेजिरे ।।३८।।

सिंह के समान ग्रीवावाले ये महातेजस्वी राजा लोग कहीं एक-एक आसन पर दो-दो तथा कहीं अलग-अलग एक-एक आसन पर एक ही व्यक्ति बैठे। इस प्रकार उन्होंने वहाँ रखे हुए बहुसंख्यक विचित्र सिंहासनों को ग्रहण किया।

शुशुभे सा सभा राजन् राजभिस्तैः समागतैः ।
देवैरिव महाभागैः समवेतैस्त्रिविष्टपम् ।।३९।।

राजन् ! जैसे महाभाग देवताओं का समागम होने पर स्वर्गलोक सुशोभित होता है, वैसे ही उन आगन्तुक नरेशों से उस सभा की बड़ी शोभा हो रही थी।

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे भास्वरमूर्तयः ।
प्रावर्तत महाराज सुहृद्द्यूतमनन्तरम् ।।४०।।

महाराज ! वे सब-के-सब वेदवेत्ता एवं शूरवीर थे। उनके शरीर तेज से प्रदीप्त हो रहे थे। उनके बैठ जाने पर वहाँ सुहृदों की द्यूतक्रीड़ा आरम्भ हुई।

युधिष्ठिर उवाच

अयं बहुधनो राजन् सागरावर्तसम्भवः ।
मणिर्हारोत्तरः श्रीमान् कनकोत्तमभूषणः ।।४१।।

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! यह समुद्र के आवर्त्त में उत्पन्न हुआ कान्तिमान् मणिरत्न बहुत बड़े मूल्य का है। मेरे हारों में यह सर्वोत्तम है तथा इस पर उत्तम सुवर्ण मढ़ा गया है।

एतद् राजन् मम धनं प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव ।
येन मां त्वं महाराज धनेन प्रतिदीव्यसे ।।४२।।

राजन् ! मेरी ओर से यही धन दाँव पर रखा गया है। इसके बदले में तुम्हारी ओर से कौन-सा धन दाँव पर रखा जाता है जिस धन के द्वारा तुम मेरे साथ खेलना चाहते हो ?

दुर्योधन उवाच

सन्ति मे मणयश्चैव धनानि सुबहूनि च ।
मत्सरश्च न मेऽर्थेषु जयस्वैनं दुरोदरम् ।।४३।।

दुर्योधन ने कहा—मेरे पास भी मणियाँ और बहुत-सा धन है, मुझे अपने धन पर अहंकार नहीं है। आप इसे जुए में जीतिए।

वैशम्पायन उवाच

ततो जग्राह शकुनिस्तानक्षानक्षतत्त्ववित् ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ।।४४।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पासे फेंकने की कला में अति प्रवीण शकुनि ने उन पासों को हाथ में लिया और उन्हें फेंककर युधिष्ठिर से कहा—"लो, यह दाँव मैंने जीत लिया।"

युधिष्ठिर उवाच

मत्तः कैतवकेनैव यज्जितोऽस्मि दुरोदरे ।
शकुने हन्त दीव्यामो ग्लहमानाः परस्परम् ।।४५।।

युधिष्ठिर बोले—शकुनि ! तुमने छल से इस दाँव में मुझे हरा दिया, इसी पर तुम गर्वित हो उठे हो। आओ, हम लोग पुनः परस्पर पासे फेंककर जुआ खेलें।

सन्ति निष्कसहस्रस्य भाण्डिन्यो भरिताः शुभाः ।
कोशो हिरण्यमक्षय्यं जातरूपमनेकशः ।।४६
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ।
इत्युक्तः शकुनिः प्राह जितमित्येव तं नृपम् ।।४७।।

मेरे पास सहस्रों निष्कों से भरी हुई बहुत-सी सुन्दर पेटियाँ रखी हैं। इसके सिवा खजाना है, अक्षय धन है और अनेक प्रकार के सुवर्ण हैं। राजन् ! मैंने यह सब दाँव पर लगा दिया। मैं इसी के द्वारा तुम्हारे साथ खेलता हूँ।

युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर शकुनि ने युधिष्ठिर से कहा—"लो, यह दाँव भी मैंने जीत लिया।"

युधिष्ठिर उवाच

सहस्रसंख्या नागा मे मत्तास्तिष्ठन्ति सौबल ।
हेमकक्षाः कृतापीडाः पद्मिनो हेममालिनः ।।४८।।

युधिष्ठिर बोले—सुबलकुमार ! मेरे यहाँ एक सहस्र मतवाले हाथी हैं, जिनके बाँधने के रस्से सुवर्णमय हैं। वे सदा आभूषणों से अलंकृत रहते हैं। उनके कपोल और मस्तक आदि अङ्गों पर कमल के चिह्न बने हुए हैं। उनके गले में सोने के हार सुशोभित होते हैं।

सर्वे च पुरभेत्तारो नवमेघनिभा गजाः ।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ।।४९।।

वे सब-के-सब बड़े-बड़े नगरों को भी नष्ट करने

की शक्ति रखते हैं। उनकी कान्ति नवीन मेघों की घटा के समान है। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँव पर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवंवादिनं पार्थं प्रहसन्निव सौबलः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥५०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसी बातें कहते हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर से शकुनि ने हँसकर कहा—"इस दाँव को भी मैंने ही जीता।"

युधिष्ठिर उवाच

रथास्तावन्त एवेमे हेमदण्डाः पताकिनः।
हयैर्विनीतैः सम्पन्ना रथिभिश्चित्रयोधिभिः।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥५१॥

युधिष्ठिर बोले—मेरे पास उतने ही अर्थात् एक सहस्र रथ हैं, जिनकी ध्वजाओं में सोने के डण्डे लगे हैं। उन रथों पर पताकाएँ फहराती रहती हैं। उनमें सधे हुए घोड़े जोते जाते हैं तथा विचित्र युद्ध करनेवाले रथी उनमें बैठते हैं। राजन्! यह मेरा धन है, इसे दाँव पर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्ते वचने कृतवैरो दुरात्मवान्।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥५२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उनके ऐसा कहने पर वैरी दुरात्मा शकुनि ने युधिष्ठिर से कहा, "लो, यह दाँव भी मैंने ही जीता।"

युधिष्ठिर उवाच

अश्वांस्तित्तिरिकल्माषान् गान्धर्वान् हेममालिनः।
ददौ चित्ररथस्तुष्टो यांस्तान् गाण्डीवधन्वने ॥५३॥
युद्धे जितः पराभूतः प्रीतिपूर्वमरिन्दमः।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥५४॥

युधिष्ठिर बोले—मेरे पास तीतर पक्षी के समान विचित्र वर्णवाले गन्धर्व देश के घोड़े हैं, जो सोने के हारों से समलंकृत हैं। शत्रुदमन चित्ररथ गन्धर्व ने युद्ध में पराजित एवं तिरस्कृत होने के पश्चात् सन्तुष्ट हो गाण्डीवधारी अर्जुन को प्रेमपूर्वक वे घोड़े भेंट किये थे। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँव पर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

एतत् श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥५५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—यह सुनकर छल का आश्रय लेनेवाले शकुनि ने पुनः अपनी ही जीत का निश्चय करके युधिष्ठिर से कहा—"यह दाँव भी मैंने ही जीता है।"

युधिष्ठिर उवाच

ताम्रलोहैः परिवृता निधयो ये चतुःशताः।
पञ्चद्रौणिक एकैकः सुवर्णस्याहतस्य वै ॥५६॥
जातरूपस्य मुख्यस्य अनर्घेयस्य भारत।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥५७॥

युधिष्ठिर ने कहा—मेरे पास तांबे और लोहे की चार सौ निधियाँ, खजाने से भरी हुई पेटियाँ हैं। प्रत्येक में पाँच-पाँच द्रोण विशुद्ध सोना भरा हुआ है। वह सारा सोना तपाकर शुद्ध किया हुआ है। उसका मूल्य आँका नहीं जा सकता। भारत! यह मेरा धन है, जिसे दाँव पर रखकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

एतत् श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥५८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा सुनकर छल का आश्रय लेनेवाले शकुनि ने पूर्ववत् पूर्ण निश्चय के साथ युधिष्ठिर से कहा—"यह दाँव भी मैंने ही जीता।"

इति महाभारते सभापर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

विदुर द्वारा जुए का घोर विरोध और बारम्बार चेतावनी देना, युधिष्ठिर का जुए में अपना सर्वस्व और भाइयों सहित द्रौपदी को भी हारना

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रवर्तिते द्यूते घोरे सर्वापहारिणि।
सर्वसंशयनिर्मोक्ता विदुरो वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जिस समय सर्वस्व का हरण करनेवाली यह क्रूर द्यूतक्रीड़ा चल रही थी, उसी समय समस्त संशयों का निवारण करनेवाले विदुरजी बोले—

विदुर उवाच

महाराज विजानीहि यत् त्वां वक्ष्यामि भारत।
मुमूर्षोरौषधमिव न रोचेतापि ते श्रुतम् ॥२॥

विदुर बोले—भरतकुलभूषण महाराज धृतराष्ट्र! जैसे मरणासन्न रोगी को औषध अच्छी नहीं लगती, वैसे ही आप लोगों को मेरी शास्त्रसम्मत बात भी अच्छी नहीं लगेगी। फिर भी मैं आपसे जो कुछ कह रहा हूँ उसे ध्यानपूर्वक सुनिए और समझिए।

गृहे वसन्तं गोमायुं त्वं वै मोहान्न बुध्यसे।
दुर्योधनस्य रूपेण शृणु काव्यां गिरं मम ॥३॥

राजन्! दुर्योधन के रूप में आपके घर में एक गीदड़ निवास कर रहा है, परन्तु मोह के कारण आप इस बात को समझ नहीं पाते। सुनिए, मैं आपको शुक्राचार्य की कही हुई नीति की बात बताता हूँ।

मधु वै माध्विको लब्ध्वा प्रपातं नैव बुध्यते।
आरुह्य तं मज्जति वा पतनं चाधिगच्छति ॥४॥

मधु बेचनेवाला जब किसी ऊँचे वृक्ष आदि पर मधु का छत्ता देख लेता है, तब वहाँ से गिरने की सम्भावना की ओर ध्यान नहीं देता। वह ऊँचे स्थान पर चढ़कर या तो मधु पाकर मग्न हो जाता है, अथवा उस स्थान से नीचे गिर जाता है।

सोऽयं मत्तोऽक्षद्यूतेन मधुवन्न परीक्षते।
प्रपातं बुध्यते नैव वैरं कृत्वा महारथैः ॥५॥

वैसे ही जुए के मद में उन्मत्त यह दुर्योधन मधुमत्त मनुष्य की भाँति अपने ऊपर आनेवाले संकट को नहीं देखता है। महारथी पाण्डवों के साथ वैर करके हमें पतन के गर्त में गिरकर मरना पड़ेगा, इस बात को यह समझ नहीं पा रहा है।

विदितं मे महाप्राज्ञ भोजेष्वेवासमञ्जसम्।
पुत्रं संत्यक्तवान् पूर्वं पौराणां हितकाम्यया ॥६॥

महाप्राज्ञ! मुझे ज्ञात है कि भोजवंशियों के एक नरेश ने पूर्वकाल में नगरवासियों की हितेच्छा से अपने कुमार्गगामी पुत्र का परित्याग कर दिया था।

त्वन्नियुक्तः सव्यसाची निगृह्णातु सुयोधनम्।
निग्रहादस्य पापस्य मोदन्तां कुरवः सुखम् ॥७॥
काकेनेमांश्चित्रबर्हान् शार्दूलान् क्रोष्टुकेन च।
क्रीणीष्व पाण्डवान् राजन्मा मज्जीः शोकसागरे ॥८॥

आप आज्ञा दें तो ये सव्यसाची अर्जुन इस दुर्योधन को बन्दी बना सकते हैं। इस पापी के कैद हो जाने से समस्त कौरव सुख और आनन्द से रह सकते हैं। राजन्! दुर्योधन कौवा है और पाण्डव मोर। इस कौवे को देकर आप विचित्र पक्षोंवाले मोरों को खरीद लीजिए। इस गीदड़ को त्यागकर पाण्डवरूपी सिंहों को अपनाइए। शोक-सागर में डूबकर अपने प्राण न गँवाइए।

वृक्षानङ्गारकारीव मैनान् धाक्षीः समूलकान्।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥९॥

जैसे कोयला बनानेवाला वृक्षों को जलाकर भस्म कर देता है, वैसे ही आप इन पाण्डवों को जड़मूल सहित जलाने की चेष्टा न कीजिए। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डवों के साथ विरोध करने के कारण आपको पुत्र, मन्त्री और सेना के साथ यमलोक में जाना पड़े।

समवेतान् हि कः पार्थान् प्रतियुध्येत भारत।
मरुद्भिः सहितो राजन्नपि साक्षान्मरुत्पतिः ॥१०॥

हे भरतवंशीय राजन्! देवताओंसहित साक्षात् देवराज इन्द्र ही क्यों न हों, जब कुन्तीपुत्र संगठित होकर युद्ध के लिए तैयार होंगे, उस समय उनका सामना कौन कर सकता है?

द्यूतं मूलं कलहस्याभ्युपैति
मिथो भेदं महते दारुणाय ।
यदास्थितो धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
दुर्योधनः सृजते वैरमुग्रम् ॥११॥

जुआ खेलना झगड़े की जड़ है। इससे आपस में फूट पैदा होती है, जो बड़े भयंकर संकट की जननी है। यह धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन उसी का आश्रय लेकर इस समय भयानक वैर की सृष्टि कर रहा है।

दुर्योधनो ग्लहते पाण्डवेन
प्रियायसे त्वं जयतीति तच्च ।
अतिनर्मा जायते सम्प्रहारो
यतो विनाशः समुपैति पुंसाम् ॥१२॥

दुर्योधन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर के साथ दाँव लगाकर जुआ खेल रहा है, साथ ही वह जीत भी रहा है। महाराज ! यह सोचकर तुम बहुत प्रसन्न हो रहे हो। परन्तु आज का यह अतिशय विनोद शीघ्र ही भयंकर युद्ध के रूप में परिणत होनेवाला है जिससे असंख्यों मनुष्यों का संहार होगा।

जानीमहे देवितं सौबलस्य
वेद द्यूते निकृतिं पार्वतीयः ।
यतः प्राप्तः शकुनिस्तत्र यातु
मा यूयुधे भारत पाण्डवेयान् ॥१३॥

सुबलपुत्र शकुनि का जुआ खेलना कैसा है, मैं यह भी जानता हूँ। यह पर्वतीय नरेश जुए की सारी कपट-विद्या को जानता है। मेरी इच्छा है कि यह शकुनि जहाँ से आया है, वहीं लौट जाए। भारत ! कौरव-पाण्डवों में आप युद्ध की आग मत भड़काओ।

दुर्योधन उवाच

परानेव यशसा श्लाघसे त्वं
सदा क्षत्तः कुत्सयन् धार्तराष्ट्रान् ।
जानीमहे विदुर यत् प्रियस्त्वं
बालानिवास्मानवमन्यसे त्वम् ॥१४॥

दुर्योधन बोला—विदुर ! तुम सदा हमारे शत्रुओं के सुयश की डींग हाँकते रहते हो और हम सभी धृतराष्ट्र-पुत्रों की निन्दा करते रहते हो। तुम किसके प्रेमी हो, यह हम जानते हैं। तुम हमें मूर्ख समझकर सदा हमारा अपमान ही करते रहते हो।

उत्सङ्गे च व्याल इवाहितोऽसि
मार्जारवत् पोषकं चोपहंसि ।
भर्तृघ्नं त्वां न हि पापीय आहुः
तस्मात् क्षत्तः किं न बिभेषि पापात् ॥१५॥

हमारे लिए तुम गोद में बैठे सर्प के समान हो तथा बिलाव की भाँति पालनेवाले का ही गला घोंट रहे हो। तुम अपने स्वामी से द्रोह रखते हो, फिर भी लोग तुम्हें पापी नहीं कहते। हे विदुर ! तुम इस पाप से डरते क्यों नहीं ?

मा नोऽवमंस्था विद्म मनस्तवेदं
शिक्षस्व बुद्धिं स्थविराणां सकाशात् ।
यशो रक्षस्व विदुर सम्प्रणीतं
मा व्यापृतः परकार्येषु भूस्त्वम् ॥१६॥

विदुर ! तुम हम लोगों का अपमान मत करो। हम तुम्हारे मन को जान चुके हैं। तुम बड़े-बूढ़ों के पास बैठकर बुद्धि सीखो। अपने पूर्वार्जित यश की रक्षा करो। दूसरों के काम में हस्तक्षेप न करो।

अहं कर्तेति विदुर मा च मंस्था
मा नो नित्यं परुषाणीह वोचः ।
न त्वां पृच्छामि विदुर यद्धितं मे
स्वस्ति क्षत्तर्मा तितिक्षून् क्षिणु त्वम् ॥१७॥

विदुर ! 'मैं ही कर्त्ता-धर्त्ता हूँ' ऐसा मत समझो, और हमें प्रतिदिन कटु वचन भी मत बोलो। मैं अपने हित के सम्बन्ध में तुमसे कोई सम्मति नहीं माँगता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। हम तुम्हारे कटु वचन सहते जाते हैं, अतः हम क्षमाशीलों को तुम अपने वचनरूपी बाणों से मत छेदो।

न वासयेत् पारवर्ग्यं द्विषन्तं
विशेषतः क्षत्तरहितं मनुष्यम् ।
स यत्रेच्छसि विदुर तत्र गच्छ
सुसान्त्विता ह्यसती स्त्री जहाति ॥१८॥

विदुर ! जो शत्रु का पक्षपाती हो, अपने से द्वेष रखता हो और अहित करनेवाला हो, ऐसे मनुष्य को घर में नहीं रखना चाहिए, अतः तुम्हारी जहाँ इच्छा हो वहाँ चले जाओ। कुलटा स्त्री को मधुर वचनों द्वारा कितनी ही सान्त्वना दी जाए, वह पति को छोड़ ही देती है।

विदुर उवाच

अबालस्त्वं मन्यसे राजपुत्र
बालोऽहमित्येव सुमन्दबुद्धे ।
यः सौहृदे पुरुषं स्थापयित्वा
पश्चादेनं दूषयते स बालः ॥१९॥

विदुर बोले—राजकुमार दुर्योधन ! तुम्हारी बुद्धि अति मन्द है । तुम अपने को विद्वान् और मुझे मूर्ख समझते हो । जो किसी व्यक्ति को सुहृद् के पद पर स्थापित करके फिर स्वयं ही उस पर दोषारोपण करता है, वही मूर्ख है ।

न श्रेयसे नीयते मन्दबुद्धिः
स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा ।
ध्रुवं न रोचेद् भरतर्षभस्य
पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥२०॥

जैसे श्रोत्रिय के घर में दुराचारिणी स्त्री को यज्ञादि उत्तम कर्मों में नहीं लगाया जा सकता, वैसे ही मूर्ख मनुष्य को कल्याण के मार्ग पर नहीं लगाया जा सकता । जैसे कुमारी कन्या को साठ वर्ष का बूढ़ा पति पसन्द नहीं आ सकता, उसी प्रकार भरतवंश-शिरोमणि दुर्योधन को निश्चय ही मेरा उपदेश रुचिकर प्रतीत नहीं हो सकता ।

अतः प्रियं चेदनुकांक्षसे त्वं
सर्वेषु कार्येषु हिताहितेषु ।
स्त्रियश्च राजञ्जडपङ्गुकांश्च
पृच्छ त्वं वै तादृशांश्चैव सर्वान् ॥२१॥

राजन् ! यदि तुम भले-बुरे सभी कार्यों में केवल चिकनी-चुपड़ी बातें ही सुनना चाहते हो तो स्त्रियों, मूर्खों, पंगुओं तथा उसी प्रकार के अन्य सब मनुष्यों से सम्मति लिया करो ।

लभ्यते खलु पापीयान् नरोऽनुप्रियवागिह ।
अप्रियस्य हि पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥२२॥

इस संसार में सदा मन को प्रिय लगनेवाले वचन बोलनेवाला महापापी मनुष्य भी अवश्य मिल सकता है, परन्तु हितकारी अप्रिय वचन को कहने और सुननेवाले दोनों दुर्लभ हैं ।

यस्तु धर्मपरश्च स्याद्धित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥२३॥

जो धर्म में तत्पर रहकर स्वामी के प्रिय-अप्रिय का विचार छोड़कर अप्रिय होने पर भी हितकर वचन बोलता है, वही राजा का सच्चा सहायक है ।

आशीविषान् नेत्रविषान् कोपयेन्न च पण्डितः ।
एवं तेऽहं वदामीदं प्रयतः कुरुनन्दन ॥२४॥

हे कुरुनन्दन ! मैं एकाग्र हृदय से तुमसे यह बात कहता हूँ—'विद्वान् पुरुष उन सर्पों को कुपित न करें जो दाँतों और नेत्रों से भी विष उगलते रहते हैं ।' [ये पाण्डव तुम्हारे लिए विष से भी भयंकर हैं, इन्हें मत छेड़ो] । इधर ये बातें हो रही थीं, उधर—

शकुनिरुवाच

बहुवित्तं पराजैषीः पाण्डवानां युधिष्ठिर ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम् ॥२५॥

शकुनि बोला—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! आप अब तक पाण्डवों का बहुत-सा धन हार चुके हैं । यदि आपके पास बिना हारा हुआ कोई धन शेष हो तो बताइए ।

युधिष्ठिर उवाच

मम वित्तमसंख्येयं यदहं वेद सौबल ।
अथ त्वं शकुने कस्माद् वित्तं समनुपृच्छसि ॥२६॥

युधिष्ठिर ने कहा—सुबलपुत्र ! मेरे पास अमित धन है, जिसे मैं जानता हूँ । शकुने ! तुम मेरे धन का परिमाण क्यों पूछते हो ?

गवाश्वं बहुधेनूकमसंख्येयमजाविकम् ।
यत् किंचिदनुपर्णाशां प्राक् सिन्धोरपि सौबल ।
एतन्मम धनं सर्वं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥२७॥

सुबलपुत्र ! मेरे पास सिन्धु नदी के पूर्वी तट से लेकर पर्णाशा नदी के किनारे तक जो भी बैल, घोड़े, गाय, भेड़ एवं बकरी आदि पशु-धन है, वह असंख्य है । उनमें भी दूध देनेवाली गौओं की संख्या अधिक है । यह सारा धन मेरा है, जिसे मैं दाँव पर रखकर तुम्हारे साथ खेलता हूँ ।

वैशम्पायन उवाच

एतत् श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥२८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर छल का आश्रय लेनेवाले शकुनि ने अपनी ही जीत

घोषित करते हुए युधिष्ठिर से कहा—"लो, यह दाँव भी मैंने ही जीता।"

युधिष्ठिर उवाच

पुरं जनपदो भूमिरब्राह्मणधनैः सह।
अब्राह्मणाश्च पुरुषा राजञ्छिष्टं धनं मम।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥२६॥

युधिष्ठिर बोले—राजन्! ब्राह्मणों को जीविका रूप में जो ग्राम आदि दिये गये हैं, उन्हें छोड़कर शेष जो नगर, जनपद तथा भूमि मेरे अधिकार में है तथा जो ब्राह्मणेतर मनुष्य मेरे यहाँ रहते हैं, वह सब मेरा शेष धन है। शकुने! मैं इसी धन को दाँव पर लगाकर तुम्हारे साथ जुआ खेलता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

एतत् श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥३०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर शठता का आश्रय लेकर शकुनि ने पुनः अपनी ही जीत का निश्चय करके युधिष्ठिर से कहा—"यह दाँव भी मैंने ही जीता।"

युधिष्ठिर उवाच

राजपुत्रा इमे राजञ्छोभन्ते यैर्विभूषिताः।
कुण्डलानि च निष्काश्च सर्वं राजविभूषणम्।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥३१॥

युधिष्ठिर बोले—राजन्! ये राजपुत्र जिन आभूषणों से विभूषित होकर सुशोभित हो रहे हैं, वे कुण्डल और गले के सुवर्ण-भूषण आदि समस्त राजकीय आभूषण मेरे धन हैं। इन्हें दाँव पर लगाकर मैं तुम्हारे साथ जुआ खेलता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

एतत् श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥३२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर छल-कपट का आश्रय लेनेवाले शकुनि ने घोषणापूर्वक युधिष्ठिर से कहा—"लो, यह दाँव भी मैंने ही जीता।"

युधिष्ठिर उवाच

श्यामो युवा लोहिताक्षः सिंहस्कन्धो महाभुजः।
नकुलो ग्लह एवैको विद्ध्येतन्मम तद्धनम् ॥३३॥

युधिष्ठिर ने कहा—श्यामवर्ण, तरुण, लाल नेत्रों और सिंह के समान कन्धोंवाले महाबाहु नकुल को ही इस समय मैं दाँव पर रखता हूँ, इन्हीं को मेरे दाँव का धन समझो।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु तानक्षाञ्छकुनिः प्रत्यपद्यत।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर शकुनि ने पासे फेंके और युधिष्ठिर से कहा—"लो, इस दाँव पर भी मेरी ही विजय हुई।"

शकुनि उवाच

प्रियस्ते नकुलो राजन् राजपुत्रो युधिष्ठिर।
अस्माकं वशतां प्राप्तो भूयः केनेह दीव्यसि ॥३५॥

शकुनि ने पूछा—धर्मराज युधिष्ठिर! आपके परमप्रिय राजकुमार नकुल तो हमारे अधीन हो गये, अब आप कौन-से धन को दाँव पर लगा रहे हैं?

युधिष्ठिर उवाच

अयं धर्मान् सहदेवोऽनुशास्ति
लोके ह्यस्मिन् पण्डिताख्यां गतश्च।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन
दीव्याम्यहं चाप्रियवत् प्रियेण ॥३६॥

युधिष्ठिर ने कहा—ये सहदेव धर्मों का उपदेश करते हैं। संसार में पण्डित के रूप में इनकी प्रसिद्धि है। मेरे प्रिय राजकुमार सहदेव यद्यपि दाँव पर लगाने के योग्य नहीं हैं, तो भी मैं अप्रिय वस्तु की भाँति इन्हें दाँव पर लगाकर खेलता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

एतत् श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥३७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर छली शकुनि ने निश्चयपूर्वक युधिष्ठिर से कहा—"इस दाँव पर भी मेरी ही विजय हुई।"

शकुनिरुवाच

माद्रीपुत्रौ प्रियौ राजंस्तवेमौ विजितौ मया।
गरीयांसौ तु ते मन्ये भीमसेनधनञ्जयौ ॥३८॥

शकुनि ने कहा—राजन्! आपके ये दोनों प्रिय

भाई माद्रीपुत्र नकुल और सहदेव तो मेरे द्वारा जीत लिये गये। मैं समझता हूँ, भीमसेन और अर्जुन आपके लिए अधिक गौरव की वस्तु हैं [अतः आप इन्हें दाँव पर नहीं लगाएँगे]।

युधिष्ठिर उवाच

अधर्मं चरसे नूनं यो नावेक्षसि वै नयम्।
यो नः सुमनसां मूढ विभेदं कर्तुमिच्छसि ॥३९॥

युधिष्ठिर बोले—अरे मूढ़! तू निश्चय ही अधर्म का आचरण कर रहा है, जो न्याय की ओर दृष्टिपात नहीं करता। तू शुद्ध हृदयवाले हम भाइयों में फूट डालना चाहता है।

शकुनिरुवाच

गर्ते मत्तः प्रपतति प्रमत्तः स्थाणुमृच्छति।
ज्येष्ठो राजन् वरिष्ठोऽसि नमस्ते भरतर्षभ ॥४०॥

शकुनि बोला—राजन्! धन के लोभ से अधर्म करनेवाला मतवाला मनुष्य गढ़े में गिरता है, अवनति को प्राप्त होता है। अधिक उन्मत्त हुआ मनुष्य ठूँठा काठ हो जाता है। आप तो आयु में बड़े और गुणों में श्रेष्ठ हैं। हे भरतकुलभूषण! आपको नमस्कार है।

स्वप्ने तानि न दृश्यन्ते जाग्रतो वा युधिष्ठिर।
कितवा यानि दीव्यन्तः प्रलपन्त्युत्कटा इव ॥४१॥

धर्मराज युधिष्ठिर! जुआरी जुआ खेलते समय पागल होकर अनाप-शनाप बातें बक जाते हैं, वे न कभी स्वप्न में दिखाई देती हैं और न जागृति-काल में ही।

युधिष्ठिर उवाच

यो नः संख्ये नौरिव पारनेता
जेता रिपूणां राजपुत्रस्तरस्वी।
अनर्हता लोकवीरेण तेन
दीव्याम्यहं शकुने फाल्गुनेन ॥४२॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे शकुनि! जो युद्ध-रूपी समुद्र में हम लोगों को नौका की भाँति पार लगानेवाले हैं, जो शत्रुओं के विजेता हैं, वे संसार-प्रसिद्ध, वेगशाली वीर, राजकुमार अर्जुन यद्यपि दाँव पर लगाने योग्य नहीं हैं, तो भी उनको दाँव पर लगाकर मैं तुम्हारे साथ जुआ खेलता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

एतत् श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥४३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर शठता का आश्रय लेनेवाले शकुनि ने पूर्ववत् अपनी विजय का निश्चय करके युधिष्ठिर से कहा—"इस दाँव पर भी मेरी ही विजय हुई।"

युधिष्ठिर उवाच

तिर्यक् प्रेक्षी यश्च सदात्यमर्षी
गदाभृतामग्र्च इहारिमर्दी।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन
दीव्याम्यहं भीमसेनेन राजन् ॥४४॥

युधिष्ठिर बोले—राजन्! जो तिरछी दृष्टि से देखते हैं, जो सदा अत्यन्त अमर्ष में भरे रहते हैं, जो गदाधारियों में अग्रगण्य तथा अपने शत्रुओं को कुचल डालनेवाले हैं, उन्हीं राजकुमार भीमसेन को मैं दाँव पर लगाकर यह जुआ खेलता हूँ, यद्यपि वे इसके योग्य नहीं हैं।

वैशम्पायन उवाच

एतत् श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥४५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर धूर्तता का आश्रय लेनेवाले शकुनि ने घोषणापूर्वक युधिष्ठिर से कहा—"लो, यह दाँव भी मैंने ही जीता।"

शकुनिरुवाच

बहुवित्तं पराजैषीर्भ्रातृंश्च सहयद्विपान्।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम् ॥४६॥

शकुनि बोला—कुन्तीनन्दन! आप अपने भाइयों तथा हाथी-घोड़ोंसहित बहुत-सा धन हार चुके, अब आपके पास बिना हारा हुआ कोई धन शेष हो, तो बताइए।

युधिष्ठिर उवाच

अहं विशिष्टः सर्वेषां भ्रातृणां दयितस्तथा।
कुर्यामहं जितः कर्म स्वयमात्मन्युपप्लुते ॥४७॥

युधिष्ठिर ने कहा—मैं अपने सब भाइयों में बड़ा और सबका प्रिय हूँ, अतः मैं अपने को ही दाँव पर

लगाता हूँ। यदि मैं हार गया तो पराजित दास की भाँति सब काम करूँगा।

वैशम्पायन उवाच

एतत् श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जित मित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥४८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर कपटी शकुनि ने निश्चय के साथ अपनी विजय घोषित करते हुए युधिष्ठिर से कहा—"लो, यह दाँव भी मैंने ही जीत लिया।"

शकुनिरुवाच

एतत् पापिष्ठमकरोर्यदात्मानमहारयः।
शिष्टे सति धने राजन् पाप आत्मपराजयः ॥४९॥

शकुनि बोला—हे राजन्! आप अपने को दाँव पर लगाकर जो हार गये, यह आपके द्वारा बड़ा अधर्म-कार्य हुआ। धन के शेष रहते हुए अपने आपको हार जाना महान् पाप है।

अस्ति ते वै प्रिया राजन् ग्लह एकोऽपराजितः।
पणस्व कृष्णां पाञ्चालीं तयाऽऽत्मानं पुनर्जय ॥५०॥

राजन्! आपकी प्रियतमा द्रौपदी भी एक ऐसा दाँव है, जिसे आप अबतक नहीं हारे हैं, अतः पाञ्चाल राजकुमारी कृष्णा को आप दाँव पर लगाइए तथा उसके द्वारा फिर अपने को जीत लीजिए।

युधिष्ठिर उवाच

नैव ह्रस्वा न महती न कृष्णा नातिरोहिणी।
नीलकुञ्चितकेशी च तया दीव्याम्यहं त्वया ॥५१॥

युधिष्ठिर बोले—जो न नाटी है न लम्बी है, न कृष्णवर्णा है न अधिक रक्तवर्णा तथा जिसके केश नीले तथा घुँघराले हैं, उस द्रौपदी को भी दाँव पर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन धीमता।
धिग्धिगित्येव वृद्धानां सभ्यानां निःसृता गिरः ॥५२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बुद्धिमान् धर्मराज के ऐसा कहते ही उस सभा में बैठे हुए वृद्ध पुरुषों के मुख से 'धिक्कार है, धिक्कार है' की आवाज आने लगी।

चुक्षुभे सा सभा राजन् राज्ञां संजज्ञिरे शुचः।
भीष्मद्रोणकृपादीनां स्वेदश्च समजायत ॥५३॥

राजन्! उस समय सारी सभा में हलचल मच गई। राजाओं को अतिशोक हुआ। भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदि के शरीरों से पसीना छूटने लगा।

शिरो गृहीत्वा विदुरो गतसत्त्व इवाभवत्।
आस्ते ध्यायन्नधोवक्त्रो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥५४॥

विदुरजी तो दोनों हाथों से अपना सिर थामकर बेहोश-से हो गये। वे फुफकार मारते हुए सर्प की भाँति उच्छ्वास लेकर मुँह नीचा किये हुए गम्भीर चिन्तन में मग्न हो बैठे रह गये।

धृतराष्ट्रस्तु तं हृष्टः पर्यपृच्छत् पुनः पुनः।
किं जितं किं जितमिति ह्याकारं नाभ्यरक्षत ॥५५॥

धृतराष्ट्र मन-ही-मन प्रसन्न हो उनसे बार-बार पूछ रहे थे—"क्या हमारे पक्ष की जीत हो रही है?" वे अपनी प्रसन्नता की आकृति को न छिपा सके।

जहर्ष कर्णोऽतिभृशं सह दुःशासनादिभिः।
इतरेषां तु सभ्यानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥५६॥

दुःशासन आदि के साथ कर्ण को भी अत्यधिक प्रसन्नता हुई परन्तु अन्य सभासदों की आँखों से आँसू गिरने लगे।

सौबलस्त्वभिधायैवं जितकाशी मदोत्कटः।
जितमित्येव तानक्षान् पुनरेवान्वपद्यत ॥५७॥

सुबलपुत्र शकुनि ने "मैंने यह भी जीत लिया"—ऐसा कहकर पासों को पुनः उठा लिया। उस समय वह विजयोल्लास से सुशोभित और मदोन्मत्त हो रहा था।

इति महाभारते सभापर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

विदुर का दुर्योधन को फटकारना, दुःशासन का द्रौपदी को केश पकड़कर घसीटते हुए सभा में लाना, द्रौपदी का प्रश्न

दुर्योधन उवाच

एहि क्षत्तर्द्रौपदीमानयस्व
प्रियां भार्यां सम्मतां पाण्डवानाम् ।
सम्मार्जतां वेश्म परैतु शीघ्रं
तत्रास्तु दासीभिरपुण्यशीला ॥१॥

दुर्योधन बोला—हे विदुर ! यहाँ आओ। तुम जाकर पाण्डवों[1] की प्यारी एवं मनोनुकूल पत्नी द्रौपदी को यहाँ ले आओ। वह भाग्यहीना शीघ्र यहाँ आये तथा मेरे महलों में झाड़ू लगाए। उसे वहीं दासियों के साथ रहना होगा।

विदुर उवाच

दुर्विभाव्यं भाषितं त्वादृशेन
न मन्द सम्बुध्यसि पाशबद्धः ।
प्रपाते त्वं लम्बमानो न वेत्सि
व्याघ्रान् मृगः कोपयसेऽतिबाल्यात् ॥२॥

विदुर बोले—अरे मूर्ख ! तेरे-जैसे नीच के मुख से ही ऐसा दुर्वचन निकल सकता है। तू काल-पाश में बंधा होने से कुछ समझ नहीं पा रहा। तू ऐसे ऊँचे स्थान में लटक रहा है, जहाँ से गिरकर प्राण जाने में अधिक देर नहीं है, परन्तु तुझे इस बात का पता नहीं है। तू एक साधारण मृग होकर अपनी मूर्खता से व्याघ्रों को क्रुद्ध कर रहा है।

आशीविषास्ते शिरसि पूर्णकोपा महाविषाः ।
मा कोपिष्ठाः सुमन्दात्मन् मा गमस्त्वं यमक्षयम् ॥३॥

मन्दात्मन् ! तेरे सिर पर क्रोध में भरे हुए महाविषधर साँप चढ़ आये हैं। तू उनके क्रोध को मत भड़का ! यमलोक में जाने को उद्यत मत हो !

न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति ।
अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः ॥४॥

द्रौपदी कभी दासी नहीं हो सकती, क्योंकि राजा युधिष्ठिर पहले अपने को हारकर द्रौपदी को दाँव पर लगाने का अधिकार खो चुके थे। ऐसी अवस्था में उन्होंने इसे दाँव पर लगाया है, अतः मेरा विश्वास है कि द्रौपदी हारी नहीं गई।

अयं धत्ते वेणुरिवात्मघाती
फलं राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ।
द्यूतं हि वैराय महाभयाय
मत्तो न बुध्यत्ययमन्तकालम् ॥५॥

जैसे बाँस अपने नाश के लिए ही फल धारण करता है, वैसे ही धृतराष्ट्र के पुत्र इस राजा दुर्योधन ने महाभयंकर वैर की सृष्टि के लिए इस जुए के खेल को अपनाया है। यह ऐसा उन्मत्त हो गया है कि मृत्यु सिर पर नाच रही है, किन्तु इसे उसका पता ही नहीं है।

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेदुषतीं पापलोक्याम् ॥६॥

किसी को मर्मभेदी बात न कहे, किसी से कठोर वचन न बोले। नीच कर्म के द्वारा शत्रु को वश में करने की चेष्टा न करे। जिस बात से दूसरे को उद्वेग हो, जो जलन पैदा करनेवाली और नरक—दुःखविशेष की प्राप्ति करानेवाली हो, ऐसी बात मुंह से कभी न निकाले।

समुच्चरन्त्यतिवादाश्च वक्त्राद्
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥७॥

---

१. द्रौपदी केवल युधिष्ठिर की पत्नी थी। युधिष्ठिर द्वारा उसे दांव पर लगाने से भी यह बात सिद्ध होती है। यहां उसे 'पाण्डवों की प्यारी पत्नी' कहना लाक्षणिक है। आज भी इस प्रकार के प्रयोग होते हैं। जैसे "यह आचार-वालों की पत्नी है।" पत्नी तो वह एक ही की होती है, परन्तु कहा इस प्रकार जाता है मानो सबकी हो।

मुख से जो कटुवचन-रूपी बाण निकलते हैं, उनसे आहत हुआ मनुष्य रात-दिन शोक और चिन्ता में डूबा रहता है। वे दूसरे के मर्म पर ही आघात करते हैं, अतः बुद्धिमान् को दूसरों के प्रति कठोर वचनों का व्यवहार नहीं करना चाहिए।

न किंचिदित्थं प्रवदन्ति पार्था
वनेचरं वा गृहमेधिनं वा।
तपस्विनं वा परिपूर्णविद्यं
भषन्ति हैवं श्वनराः सदैव ॥८॥

कुन्तीपुत्र किसी बनवासी, गृहस्थ, तपस्वी अथवा विद्वान् से ऐसी कठोर बात कभी नहीं बोलते। तुम्हारे-जैसे कुत्ते के-से स्वभाववाले मनुष्य ही सदा इस प्रकार दूसरों पर भोंका करते हैं।

मज्जन्त्यलाबूनि शिलाः प्लवन्ते
मुह्यन्ति नावोऽम्भसि शश्वदेव।
मूढो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
न मे वाचः पथ्यरूपाः शृणोति ॥९॥

चाहे तूंबी जल में डूब जाए, पत्थर तैरने लग जाएँ तथा नौकाएँ भी सदा जल में डूब जाया करें, परन्तु धृतराष्ट्र का यह मूर्ख पुत्र राजा दुर्योधन मेरी हितकर बातें नहीं सुन सकता।

वैशम्पायन उवाच

धिगस्तु क्षत्तारमिति ब्रुवाणो
दर्पेण मत्तो धृतराष्ट्र पुत्रः।
अवैक्षत प्रातिकामीं सभाया-
मुवाच चैनं परमार्यमध्ये ॥१०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन गर्व से उन्मत्त हो रहा था। उसने 'विदुर को धिक्कार है'—ऐसा कहकर प्रातिकामी की ओर देखा और सभा में बैठे हुए श्रेष्ठ पुरुषों के मध्य उससे कहा—

दुर्योधन उवाच

प्रातिकामिन् द्रौपदीमानयस्व
न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः।
क्षत्ता ह्ययं विवदत्येव भीतो
न चास्माकं वृद्धिकामः सदैव ॥११॥

दुर्योधन बोला—प्रातिकामिन्! तुम द्रौपदी को यहाँ ले आओ! तुम्हें पाण्डवों से भयभीत नहीं होना चाहिए। ये विदुर तो भीरु हैं, अतः सदा ऐसी बातें किया करते हैं। ये कभी हम लोगों की वृद्धि नहीं चाहते।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रातिकामी स सूतः
प्रायाच्छीघ्रं राजवचो निशम्य।
प्रविश्य च श्वेव हि सिंहगोष्ठं
समासदन्महिषीं पाण्डवानाम् ॥१२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दुर्योधन के ऐसा कहने पर राजा के आदेश को शिरोधार्य करके वह सूत प्रातिकामी शीघ्र चला गया तथा जैसे कुत्ता सिंह की माँद में घुसे, उसी प्रकार उस राजभवन में प्रवेश करके वह पाण्डवों की महारानी के पास गया।

प्रातिकाम्युवाच

युधिष्ठिरो द्यूतमदेन मत्तो
दुर्योधनो द्रौपदि त्वामजैषीत्।
सा त्वं प्रपद्यस्व नृपस्य वेश्म
नयामि त्वां कर्मणि याज्ञसेनि ॥१३॥

प्रातिकामी बोला—हे द्रुपदकुमारि! धर्मराज युधिष्ठिर ने जुए के मद में उन्मत्त हो अपना सर्वस्व हारकर आपको भी दाँव पर लगा दिया और दुर्योधन ने आपको जीत लिया। याज्ञसेनि! अब आप महाराज धृतराष्ट्र के महल में पधारें। मैं आपको वहाँ दासी का काम करवाने के लिए ले चलता हूँ।

द्रौपद्युवाच

कथं त्वेवं वदसि प्रातिकामिन्
को हि दीव्येद् भार्यया राजपुत्रः।
मूढो राजा द्यूतमदेन मत्तो
ह्यभून्नान्यत् कैतवमस्य किंचित् ॥१४॥

द्रौपदी ने कहा—प्रातिकामिन्! तू ऐसी बात कैसे कहता है? कौन राजकुमार अपनी पत्नी को दाँव पर लगाकर जुआ खेलेगा? क्या राजा युधिष्ठिर जुए के मद में इतने उन्मत्त हो गये कि उनके पास जुआरियों को देने के लिए दूसरा कोई धन नहीं बचा?

प्रातिकाम्युवाच

यदा नाभूत् कैतवमन्यदस्य
तदादेवीत् पाण्डवोऽजातशत्रुः ।
न्यस्ताः पूर्वं भ्रातरस्तेन राज्ञा
स्वयं चात्मा त्वमथो राजपुत्रि ॥१५॥

प्रातिकामी बोला—राजकुमारि! जब जुआरियों को देने के लिए दूसरा कोई धन शेष नहीं रहा, तब अजातशत्रु पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ने पहले तो अपने भाइयों को दाँव पर लगाया, तत्पश्चात् अपने को और अन्त में आपको भी दाँव पर लगा दिया।

द्रौपद्युवाच

गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज ।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवा नु माम् ॥१६॥

द्रौपदी ने कहा—सूतपुत्र! तुम उस सभा में जुआरी महाराज के पास जाओ तथा वहाँ जाकर यह पूछो कि—'आप पहले अपने को हारे थे, या मुझे ?'

एतज्ज्ञात्वा समागच्छ ततो मां नय सूतज ।
ज्ञात्वा चिकीर्षितमहं राज्ञो यास्यामि दुःखिता ॥१७॥

सूतनन्दन! यह जानकर लौट आओ। तब मुझे ले चलो। राजा क्या करना चाहते हैं—यह जानकर ही मैं दुःखिनी अबला उस सभा में चलूंगी।

वैशम्पायन उवाच

सभां गत्वा स चोवाच द्रौपद्यास्तत् वचस्तदा ।
युधिष्ठिरं नरेन्द्राणां मध्ये स्थितमिदं वचः ॥१८॥
कस्येशो नः पराजैषीरिति त्वामाह द्रौपदी ।
किन्नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवापि माम् ॥१९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! प्रातिकामी सूत ने सभा में जाकर राजाओं के मध्य में बैठे हुए युधिष्ठिर से द्रौपदी की वह बात कह सुनाई। उसने कहा—"द्रौपदी आप से पूछना चाहती है कि किस-किस वस्तु के स्वामी रहते हुए आप मुझे हारे हैं? और, आप पहले अपने को हारे हैं या मुझे ?"

युधिष्ठिरस्तु निश्चेता गतसत्त्व इवाभवत् ।
न तं सूतं प्रत्युवाच वचनं साध्वसाधु वा ॥२०॥

हे राजन्! उस समय युधिष्ठिर अचेत और निष्प्राण-से हो रहे थे, अतः उन्होंने प्रातिकामी को भला-बुरा कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

दुर्योधन उवाच

इहैवागत्य पाञ्चाली प्रश्नमेनं प्रभाषताम् ।
इहैव सर्वे शृण्वन्तु तस्याश्चैतस्य यद् वचः ॥२१॥

दुर्योधन बोला—सूतपुत्र! जाकर कह दो, द्रौपदी यहीं आकर अपने इस प्रश्न को पूछे। यहीं सब सभासद् उसके प्रश्न और युधिष्ठिर के उत्तर को सुनें।

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा राजभवनं दुर्योधनवशानुगः ।
उवाच द्रौपदीं सूतः प्रातिकामी व्यथान्वितः ॥२२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! प्रातिकामी दुर्योधन के वश में था, अतः वह राज-भवन में जाकर द्रौपदी से व्यथित होकर बोला—

प्रातिकाम्युवाच

सभ्यास्त्वमी राजपुत्र्याह्वयन्ति
मन्ये प्राप्तः संक्षयः कौरवाणाम् ।
न वै समृद्धिं पालयते लघीयान्
यस्त्वां सभां नेष्यति राजपुत्रि ॥२३॥

प्रातिकामी बोला—राजकुमारि! वे [दुर्योधन आदि] सभासद् तुम्हें सभा में ही बुला रहे हैं। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि अब कौरवों के विनाश का समय आ गया है। जो (दुर्योधन) इतना गिर गया है कि तुम्हें सभा में बुलाने का साहस करता है, वह कभी अपनी धन-सम्पत्ति की रक्षा नहीं कर सकता।

द्रौपद्युवाच

एवं नूनं व्यदधात् संविधाता
स्पर्शावुभौ स्पृशतो वृद्धबालौ ।
धर्मं त्वेकं परमं प्राह लोके
स नः शमं धास्यति गोप्यमानः ॥२४॥

द्रौपदी बोली—सूतपुत्र! निश्चय ही विधाता का ऐसा ही विधान है। बालक और वृद्ध सबको सुख-दुःख प्राप्त होते रहते हैं। जगत् में एकमात्र धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। यदि हम उसका पालन करें तो वह हमारा कल्याण करेगा।

सोऽयं धर्मो मात्यगात् कौरवान् वै
सभ्यान् गत्वा पृच्छ धर्म्यं वचो मे ।

ते मां ब्रूयुर्निश्चितं तत् करिष्ये
धर्मात्मानो नीतिमन्तो वरिष्ठाः ॥२५॥

मेरे इस धर्म का उल्लंघन न हो, अतः तुम सभा में बैठे हुए कुरुवंशियों के पास जाकर मेरी यह धर्मानुकूल बात पूछो—'इस समय मुझे क्या करना चाहिए?' वे धर्मात्मा, नीतिज्ञ और श्रेष्ठ महापुरुष मुझे जैसी आज्ञा देंगे, मैं निश्चय ही वैसा करूँगी।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा सूतस्तद्वचो याज्ञसेन्याः
सभां गत्वा प्राह वाक्यं तदानीम्।
अधोमुखास्ते न च किंचिदूचु-
र्निर्बन्धं तं धार्तराष्ट्रस्य बुद्ध्वा ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रौपदी का यह कथन सुनकर प्रातिकामी ने पुनः सभा में लौटकर द्रौपदी के प्रश्न को दुहराया। परन्तु उस समय दुर्योधन के उस दुराग्रह को जानकर सभी मुख लटकाए बैठे रहे, कोई कुछ भी नहीं बोला।

पाण्डवाश्च महात्मानो दीना दुःखसमन्विताः।
सत्येनातिपरीताङ्गा नोदीक्षन्ते स्म किञ्चन ॥२७॥

इधर महात्मा पाण्डव सत्य के बन्धन से बँधकर अत्यन्त दीन और दुःख-मग्न थे। उन्हें कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था।

ततस्त्वेषां मुखमालोक्य राजा
दुर्योधनः सूतमुवाच हृष्टः।
इहैवैतामानय प्रातिकामिन्
प्रत्यक्षमस्याः कुरवो ब्रुवन्तु ॥२८॥

उनके दीन मुख की ओर देखकर राजा दुर्योधन अतिप्रसन्न हो सूत से बोला—"प्रातिकामिन्! तुम द्रौपदी को यहीं ले आओ। उसके समक्ष ही धर्मात्मा कौरव उसके प्रश्नों का उत्तर देंगे।"

ततः सूतस्तस्य वशानुगामी
भीतश्च कोपाद् द्रुपदात्मजायाः।
विहाय मानं पुनरेव सभ्या-
नुवाच कृष्णां किमहं ब्रवीमि ॥२९॥

तत्पश्चात् दुर्योधन के वशवर्ती प्रातिकामी ने द्रौपदी के क्रोध से डरते हुए अपने मान-सम्मान की चिन्ता न करके पुनः सभासदों से पूछा—"मैं द्रौपदी को क्या उत्तर दूँ?"

दुर्योधन उवाच

दुःशासनैष मम सूतपुत्रो
वृकोदरादुद्विजतेऽल्पचेताः
स्वयं प्रगृह्यानय याज्ञसेनीं
किं ते करिष्यन्त्यवशाः सपत्नाः ॥३०॥

दुर्योधन बोला—हे दुःशासन! यह मेरा सेवक सूतपुत्र प्रातिकामी अत्यन्त मूर्ख है। यह भीमसेन से डरता है। तुम स्वयं द्रौपदी को पकड़कर यहाँ ले आओ। हमारे शत्रु पाण्डव इस समय हम लोगों के वश में हैं। वे तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

ततः समुत्थाय स राजपुत्रः
श्रुत्वा भ्रातुः शासनं रक्तदृष्टिः।
प्रविश्य तद्वेश्म महारथाना-
मित्यब्रवीद् द्रौपदीं राजपुत्रीम् ॥३१॥

भाई का आदेश सुनकर राजकुमार दुःशासन उठ खड़ा हुआ और लाल आँखें किये वहाँ से चल दिया। महारथी पाण्डवों के महल में प्रविष्ट होकर उसने राजकुमारी द्रौपदी से इस प्रकार कहा—

एह्येहि पाञ्चालि जितासि कृष्णे
दुर्योधनं पश्य विमुक्तलज्जा।
कुरून् भजस्वायतपत्रनेत्रे
धर्मेण लब्धासि सभां परैहि ॥३२॥

"पाञ्चालि! आओ, आओ, तुम जुए में जीती जा चुकी हो। कृष्णे! अब लज्जा छोड़कर दुर्योधन की ओर देखो। कमल के समान विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदि! हमने धर्म के अनुसार तुम्हें प्राप्त किया है, अतः तुम कौरवों की सेवा करो। अभी राजसभा में चली चलो।"

ततः समुत्थाय सुदुर्मनाः सा
विवर्णमामृज्य मुखं करेण।
आर्ता प्रदुद्राव यतः स्त्रियस्ता
वृद्धस्य राज्ञः कुरुपुङ्गवस्य ॥३३॥

यह सुनकर द्रौपदी का मन अत्यन्त उदास हो गया। उसने अपने मलिन मुख को हाथ से पोंछा। फिर उठकर वह आर्त अबला उसी ओर भागी, जहाँ वृद्ध महाराज धृतराष्ट्र की स्त्रियाँ बैठी हुई थीं।

ततो जवेनाभिससार रोषाद्
दुःशासनस्तामभिगर्जमानः ।
दीर्घेषु नीलेष्वथ चोर्मिमत्सु
जग्राह केशेषु नरेन्द्रपत्नीम् ॥३४॥

तब दुःशासन भी रोष से गर्जता हुआ बड़े वेग से उसके पीछे दौड़ा। उसने महाराज युधिष्ठिर की पत्नी द्रौपदी के लम्बे, नीले और लहराते हुए केशों को पकड़ लिया।[1]

स तां पराकृष्य सभासमीप-
मानीय कृष्णामतिदीर्घकेशीम् ।
दुःशासनो नाथवतीमनाथां
चकर्ष वायुः कदलीमिवार्ताम् ॥३५॥

लम्बे केशोंवाली वह द्रौपदी यद्यपि सनाथा थी, तो भी दुःशासन उस आर्त अबला को अनाथ की भाँति घसीटता हुआ सभा के समीप ले आया तथा जैसे वायु केले के वृक्ष को झकझोर कर झुका देती है, उसी प्रकार वह द्रौपदी को बलपूर्वक घसीटने लगा।[2]

सा कृष्यमाणा नमिताङ्गयष्टिः
शनैरुवाचाथ रजस्वलास्मि ।
एकं च वासो मम मन्दबुद्धे
नेतुं सभां नार्हसि मामनार्य ॥३६॥

दुःशासन के खींचने से द्रौपदी का शरीर झुक गया। उसने धीरे से कहा—"ओ मन्दबुद्धि दुष्टात्मा दुःशासन! मैं रजस्वला हूँ तथा मेरे शरीर पर एक ही वस्त्र है। इस अवस्था में मुझे सभा में ले जाना अनुचित है।"

दुःशासन उवाच

रजस्वला वा भव याज्ञसेनि
एकाम्बरा वाप्यथवा विवस्त्रा ।
द्यूते जितासि च कृतासि दासी
दासीषु वासश्च यथोपजोषम् ॥३७॥

दुःशासन बोला—द्रौपदी! तू रजस्वला, एक-वस्त्रा अथवा नंगी ही क्यों न हो, हमने तुझे जुए में जीता है, अतः अब तू हमारी दासी हो चुकी है। तुझे अब हमारी इच्छा के अनुसार दासियों में रहना पड़ेगा।

वैशम्पायन उवाच

प्रकीर्णकेशी पतितार्धवस्त्रा
दुःशासनेन व्यवधूयमाना ।
ह्रीमत्यमर्षेण च दह्यमाना
शनैरिदं वाक्यमुवाच कृष्णा ॥३८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय द्रौपदी के केश बिखर गये थे। दुःशासन के झकझोरने से उसका आधा वस्त्र भी खिसककर गिर गया था। वह लज्जा से गड़ी जाती थी तथा भीतर-ही-भीतर क्रोध से जल रही थी। उसी अवस्था में वह धीरे से बोली—

द्रौपद्युवाच

इमे सभायामुपनीतशास्त्राः
क्रियावन्तः सर्व एवेन्द्रकल्पाः ।
गुरुस्थानाः गुरवश्चैव सर्वे
तेषामग्रे नोत्सहे स्थातुमेवम् ॥३९॥

द्रौपदी बोली—अरे दुष्ट! इस सभा में शास्त्रों के विद्वान्, कर्मठ तथा इन्द्र के समान तेजस्वी मेरे पिता के समान सभी गुरुजन बैठे हुए हैं। मैं उनके समक्ष इस रूप में खड़ी होना नहीं चाहती।

इदं त्वकार्यं कुरुवीरमध्ये
रजस्वलां यत् परिकर्षसे माम् ।

---

१. यहां द्रौपदी को नरेन्द्रपत्नी=युधिष्ठिर की पत्नी कहा गया है।

२. दुःशासन द्वारा द्रौपदी की साड़ी का खींचा जाना और श्रीकृष्ण द्वारा उसकी साड़ी बढ़ाना गप्प है। श्रीकृष्णजी तो कहते हैं कि मुझे पता ही नहीं था कि जुआ खेला जा रहा है। यदि मैं द्वारका में होता तो बिना बुलाये भी हस्तिनापुर आकर जुए को रुकवा देता।

[द्र० वनपर्व० १।१२-१३]

पूना-संस्करण में भी वह सारा विवरण प्रक्षेप होने के कारण मूल पाठ में नहीं दिया गया है।

न चापि कश्चित् कुरुतेऽत्र कुत्सां
ध्रुवं तवेदं मतमभ्युपेताः ॥४०॥

अरे ! तू इन कौरव-वीरों के मध्य में जो मुझ रजस्वला स्त्री को खींचकर लिए जा रहा है, यह अति पापपूर्ण कृत्य है। मैं देखती हूँ, यहाँ कोई भी मनुष्य तेरे इस कुकर्म की निन्दा नहीं कर रहा है। निश्चय ही ये सब लोग तेरे वश में हो गये।

धिगस्तु नष्टः खलु भारतानां
धर्मस्तथा क्षत्रविदां च वृत्तम्।
यत्र ह्यतीतां कुरुधर्मवेलां
प्रेक्षन्ति सर्वे कुरवः सभायाम् ॥४१॥

अहो ! धिक्कार है। भरतवंश के नरेशों का धर्म निश्चय ही नष्ट हो गया तथा क्षत्रियधर्म के जाननेवाले इन महापुरुषों का सदाचार भी नष्ट हो गया। यहाँ कौरवों की धर्म-मर्यादा का उल्लंघन हो रहा है, तो भी सभा में बैठे हुए सभी कुरुवंशी मौन होकर देख रहे हैं !

द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्त्वं
क्षत्तुस्तथैवास्य महात्मनोऽपि।
राज्ञस्तथा हीममधर्ममुग्रं
न लक्षयन्ते कुरुवृद्धमुख्याः ॥४२॥

जान पड़ता है, गुरु द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म, महात्मा विदुर तथा राजा धृतराष्ट्र में अब कोई शक्ति नहीं रह गई है, तभी तो ये कुरुवंश के वृद्ध महापुरुष राजा दुर्योधन के इस भयानक पापाचार की ओर दृष्टिपात नहीं कर रहे हैं।

भीष्म उवाच

न धर्मसौक्ष्म्यात् सुभगे विवेक्तुं
शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत्।
अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्वं
स्त्रियाश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य ॥४३॥

भीष्म बोले—सौभाग्यशालिनी ! धर्म का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण मैं तुम्हारे इस प्रश्न का ठीक-ठीक विवेचन नहीं कर सकता। जो स्वामी नहीं है, वह पराया धन दाँव पर नहीं लगा सकता। परन्तु स्त्री को सदा अपने स्वामी के ही अधीन देखा जाता है, अतः इन सब बातों पर विचार करने के बाद मुझसे कुछ कहते नहीं बनता।

वैशम्पायन उवाच

तां कृष्यमाणां च रजस्वलां च
स्रस्तोत्तरीयामतदर्हमाणाम्।
वृकोदरः प्रेक्ष्य युधिष्ठिरं च
चकार कोपं परमार्तरूपः ॥४४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कृष्णा रजस्वला दशा में घसीटी जा रही थी, उसके सिर का वस्त्र सरक गया था। वह इस तिरस्कार के योग्य कदापि नहीं थी। उसकी यह दुरवस्था देखकर भीमसेन को बड़ी पीड़ा हुई। वे युधिष्ठिर की ओर देखकर मन-ही-मन क्रुद्ध हो उठे।

इति महाभारते सभापर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

भीमसेन का क्रोध, विकर्ण की धर्मसंगत बात, भीम द्वारा दुःशासन के रक्तपान की प्रतिज्ञा

भीम उवाच

भवन्ति गेहे बन्धक्यः कितवानां युधिष्ठिर।
न ताभिरुत दीव्यन्ति दया चैवास्ति तास्वपि ॥१॥

भीम बोले—भैया युधिष्ठिर ! जुआरियों के घर में प्रायः कुलटा स्त्रियाँ रहती हैं, परन्तु वे भी उन्हें दाँव पर लगाकर जुआ नहीं खेलते। उन कुलटाओं के प्रति भी उनके हृदय में दया रहती है।

काश्यो यद् धनमाहार्षीद् द्रव्यं यच्चान्यदुत्तमम्।
तथान्ये पृथिवीपाला यानि रत्नान्युपाहरन् ॥२॥
वाहनानि धनं चैव कवचान्यायुधानि च।
राज्यमात्मा वयं चैव कैतवेन हृतं परैः ॥३॥

काशिराज ने जो धन उपहार में लाकर दिया था तथा और भी जो उत्तम द्रव्य वे हमारे लिए लाये थे एवं अन्य राजाओं ने भी जो रत्न हमें भेंट किये थे

उन सबको और हमारे वाहनों, वैभवों, कवचों, आयुधों, राज्य, आपके शरीर तथा हम सब भाइयों को भी शत्रुओं ने जुए के दाँव पर रखवाकर अपने अधिकार में कर लिया।

न च मे तत्र कोपोऽभूत् सर्वस्येशो हि नो भवान् ।
इमं त्वतिक्रमं मन्ये द्रौपदी यत्र पण्यते ॥४॥

उस सबके लिए मेरे मन में क्रोध नहीं हुआ, क्योंकि आप हमारे सर्वस्व के स्वामी हैं, परन्तु द्रौपदी को जो दाँव पर लगाया गया, इसे मैं अत्यन्त अनुचित मानता हूँ।

अस्याः कृते मन्युरयं त्वयि राजन् निपात्यते ।
बाहू ते सम्प्रधक्ष्यामि सहदेवाग्निमानय ॥५॥

राजन् ! द्रौपदी की इस दुर्दशा के लिए मैं आप पर ही अपना क्रोध छोड़ रहा हूँ। मैं आपकी दोनों भुजाओं को जलाऊँगा। सहदेव ! अग्नि ले आओ।

अर्जुन उवाच

न पुरा भीमसेन त्वमीदृशीर्वदिता गिरः ।
परैस्ते नाशितं नूनं नृशंसैर्धर्मगौरवम् ॥६॥

अर्जुन ने कहा—भैया भीमसेन ! तुमने पहले कभी ऐसी बातें नहीं कही थीं। निश्चय ही क्रूरकर्मा शत्रुओं ने तुम्हारी धर्म-विषयक गौरवमय बुद्धि को नष्ट कर दिया है।

न सकामाः परे कार्या धर्ममेवाचरोत्तमम् ।
भ्रातरं धार्मिकं ज्येष्ठं कोऽतिवर्तितुमर्हति ॥७॥

भैया ! शत्रुओं की कामना सफल मत करो; उत्तम धर्म का ही आचरण करो। भला, अपने धर्मात्मा बड़े भाई का अपमान करना किसको उचित है ?

वैशम्पायन उवाच

तथा तान् दुःखितान् दृष्ट्वा पाण्डवान् धृतराष्ट्रजः ।
कृष्यमाणां च पाञ्चालीं विकर्ण इदमब्रवीत् ॥८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! पाण्डवों को दुःखी और पाञ्चालकुमारी द्रौपदी को घसीटी जाती हुई देख धृतराष्ट्रनन्दन विकर्ण ने कहा—

याज्ञसेन्या यदुक्तं तद् वाक्यं विब्रूत पार्थिवाः ।
अविवेकेन वाक्यस्य नरकः सद्य एव नः ॥९॥

"नरेशो ! द्रौपदी ने जो प्रश्न उपस्थित किया है, आप लोग उसका उत्तर दें। यदि इसके प्रश्न का ठीक-ठीक विवेचन न किया गया, तो हमें शीघ्र ही नरक भोगना पड़ेगा।"

भीष्मश्च धृतराष्ट्रश्च कुरुवृद्धतमावुभौ ।
समेत्य नाहतुः किंचिद् विदुरश्च महामतिः ॥१०॥

"पितामह भीष्म और पिता धृतराष्ट्र—ये दोनों कुरुवंश के सबसे वृद्ध पुरुष हैं। ये तथा महाप्राज्ञ विदुरजी मिलकर कुछ उत्तर क्यों नहीं देते ?"

एवं स बहुशः सर्वानुक्तवांस्तान् सभासदः ।
न च ते पृथिवीपालास्तमूचुः साध्वसाधु वा ॥११॥

इस प्रकार विकर्ण ने उन सब सभासदों से बार-बार अनुरोध किया, परन्तु उन राजाओं ने उस विषय में उचितानुचित कुछ नहीं कहा।

उक्त्वा सकृत्तथा सर्वान् विकर्णः पृथिवीपतीन् ।
पाणौ पाणिं विनिष्पिष्य निःश्वसन्निदमब्रवीत् ॥१२॥

उन सब नरेशों से बार-बार आग्रह करने पर भी जब कुछ उत्तर नहीं मिला, तब विकर्ण ने हाथ पर हाथ मलते हुए लम्बी साँस खींचकर कहा—

विकर्ण उवाच

विब्रूत पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथञ्चन ।
मन्ये न्याय्यं यदत्राहं तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः ॥१३॥

कौरवो तथा अन्य नरेशो ! आप लोग द्रौपदी के प्रश्न पर किसी प्रकार का विचार प्रकट करें या न करें। मैं इस विषय में जो न्यायानुकूल समझता हूँ, वह कहता हूँ—

चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि महीक्षिताम् । ☐
मृगयां पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिरक्तताम् ॥१४॥

नरश्रेष्ठ भूपालो ! राजाओं के चार दुर्व्यसन बताये गये हैं—शिकार खेलना, मदिरा-पान, जुआ खेलना तथा विषय-भोग में अत्यन्त आसक्ति।

एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्तते । ☐
यथायुक्तेन च कृतां क्रियां लोको न मन्यते ॥१५॥

इन व्यसनों में फँसा हुआ मनुष्य धर्म की अवहेलना करके मनमाना व्यवहार करने लगता है। इस प्रकार व्यसनासक्त मनुष्य द्वारा किये हुए किसी भी कार्य को लोग सम्मान नहीं देते।

तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्तता भृशम् ।
समाहूतेन कितवैरास्थितो द्रौपदीपणः ॥१६॥

ये पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर द्यूत-रूपी दुर्व्यसन में अत्यन्त आसक्त हैं। इन्होंने धूर्त जुआरियों से प्रेरित होकर द्रौपदी को दाँव पर लगा दिया है।

इयं च कीर्तिता कृष्णा सौबलेन पणार्थिना ।
एतत् सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम् ॥१७॥

सब दाँवों को जीतने की इच्छावाले सुबलपुत्र शकुनि ने ही द्रौपदी को दाँव पर लगाने की बात उठाई थी। इन सब बातों पर विचार करके मैं द्रुपदकुमारी कृष्णा को जीती हुई नहीं मानता।

वैशम्पायन उवाच

एतत् श्रुत्वा महान् नादः सभ्यानामुदतिष्ठत ।
विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि निन्दताम् ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस कथन को सुनकर सभी सभासद् विकर्ण की प्रशंसा और सुबलपुत्र शकुनि की निन्दा करने लगे। उस समय वहाँ बड़ा कोलाहल मच गया।

तस्मिन्नुपरते शब्दे राधेयः क्रोधमूर्च्छितः ।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुमिदं वचनमब्रवीत् ॥१६॥

उस कोलाहल के शान्त होने पर राधानन्दन कर्ण क्रोध से मूर्च्छित हो विकर्ण की सुन्दर भुजा को पकड़कर इस प्रकार कहने लगा।

कर्ण उवाच

दृश्यन्ते वै विकर्णेह वैकृतानि बहून्यपि । □
तज्जातस्तद्विनाशाय यथाग्निररणिप्रजः ॥२०॥

कर्ण बोला—विकर्ण! इस संसार में बहुत-सी बातें उलटा परिणाम उत्पन्न करनेवाली देखी जाती हैं। जैसे अरणि से उत्पन्न हुई अग्नि उसी को भस्म कर देती है, वैसे ही कोई-कोई मनुष्य जिस कुल में उत्पन्न होता है, उसी का नाशक बन जाता है।

द्रोणो भीष्मः कृपो द्रौणिर्विदुरश्च महामतिः ।
धृतराष्ट्रश्च गान्धारी भवतः प्राज्ञवत्तराः ॥२१॥

विकर्ण! द्रोण, भीष्म, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, महाप्राज्ञ विदुर, धृतराष्ट्र एवं गान्धारी—ये सब तुमसे अधिक बुद्धिमान् हैं।

एते न किंचिदप्याहुः प्रेरिता ह्यपि कृष्णया ।
धर्मेण विजितामेतां मन्यन्ते द्रुपदात्मजाम् ॥२२॥

द्रौपदी के बार-बार प्रेरित करने पर भी ये सब कुछ भी नहीं बोलते हैं, क्योंकि ये सब लोग द्रुपद-कुमारी को धर्मानुसार जीती हुई समझते हैं।

त्वं तु केवलबाल्येन धार्तराष्ट्र विदीर्यसे ।
यद् ब्रवीषि सभामध्ये बालः स्थविरभाषितम् ॥२३॥

धृतराष्ट्रकुमार! तुम केवल अपनी मूर्खता के कारण अपने ही पैरों में कुल्हाड़ी मार रहे हो, क्योंकि तुम बालक होकर भी भरी सभा में वृद्धों की-सी बातें करते हो।

न च धर्मं यथावत् त्वं वेत्सि दुर्योधनावर ।
यद् ब्रवीषि जितां कृष्णामजितेति सुमन्दधीः ॥२४॥

दुर्योधन के छोटे भाई! तुम्हें धर्म के विषय में यथार्थ ज्ञान नहीं है। तुम जो जीती हुई द्रौपदी को बिना जीती हुई बता रहे हो, इससे तुम्हारे मन्द-बुद्धि होने का परिचय मिलता है।

यच्चैषां द्रविणं किञ्चिद् या चैषा ये च पाण्डवाः ।
सौबलेनेह तत्सर्वं धर्मेण विजितं वसु ॥२५॥

इन पाण्डवों के पास जो धन है, जो यह द्रौपदी है, तथा जो ये पाण्डव हैं, इन सबको सुबलपुत्र शकुनि ने यहाँ जुए के धन के रूप में धर्मपूर्वक जीता है।

दुःशासन सुबालोऽयं विकर्णः प्राज्ञवादिकः ।
पाण्डवानां च वासांसि द्रौपद्याश्चाप्युपाहर ॥२६॥

दुःशासन! यह विकर्ण अत्यन्त मूर्ख है, परन्तु विद्वानों की-सी बातें बनाता है। तुम पाण्डवों के और द्रौपदी के भी वस्त्र उतार लो।

वैशम्पायन उवाच

तत् श्रुत्वा पाण्डवाः सर्वे स्वानि वासांसि भारत ।
अवकीर्योत्तरीयाणि सभायां समुपाविशन् ॥२७

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! कर्ण की बात सुनकर समस्त पाण्डव अपने-अपने उत्तरीय-[शरीर के उपरि भाग के] वस्त्र उतारकर सभा में बैठ गये।

ततो दुःशासनो राजन् द्रौपद्या वसनं बलात् ।
सभामध्ये समाक्षिप्य व्यपाक्रष्टुं प्रचक्रमे ॥२८॥

हे राजन्! तब दुःशासन ने उस भरी सभा में

द्रौपदी का वस्त्र बलपूर्वक पकड़कर खींचना आरम्भ किया।

शशाप तत्र भीमस्तु राजमध्ये बृहत्स्वनः।
क्रोधाद् विस्फुरमाणोष्ठो विनिष्पिष्य करे करम् ॥२९

उस समय वहाँ समस्त राजाओं के मध्य में हाथ-पर-हाथ मलते हुए भीमसेन ने क्रोध में फड़कते हुए ओठों से भयंकर गर्जना के साथ यह शाप दिया [प्रतिज्ञा की]।

भीम उवाच

इदं मे वाक्यमादद्ध्वं क्षत्रिया लोकवासिनः।
नोक्तपूर्वं नरैरन्यैर्न चान्यो यद् वदिष्यति ॥३०॥

भीमसेन बोले—देश-देशान्तरवासी क्षत्रियो ! आप लोग मेरी इस बात पर ध्यान दें। ऐसी बात आज से पूर्व न तो किसी ने कही होगी और न दूसरा कोई कहेगा ही।

यद्येतदेवमुक्त्वाहं न कुर्यां पृथिवीश्वराः।
पितामहानां पूर्वेषां नाहं गतिमवाप्नुयाम् ॥३१॥
अस्य पापस्य दुर्बुद्धेर्भारतापसदस्य च।
न पिबेयं बलाद् वक्षो भित्वा चेद् रुधिरं युधि ॥३२॥

नरेशो ! यह खोटी बुद्धिवाला दुःशासन भरत-वंश के लिए कलंक है। मैं युद्ध में बलपूर्वक इस पापी की छाती फाड़कर इसका रक्तपान करूँगा। यदि रक्तपान न करूँ अर्थात् यदि अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण न करूं तो मुझे अपने पूर्वज बाप-दादों की श्रेष्ठ गति न मिले।

वैशम्पायन उवाच

धिक्शब्दस्तु ततस्तत्र समभूल्लोमहर्षणः।
सभ्यानां नरदेवानां दृष्ट्वा कुन्तीसुतांस्तथा ॥३३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उस समय कुन्तीपुत्रों की ओर देखकर सभा में उपस्थित राजाओं की ओर से दुःशासन पर रोमाञ्चकारी शब्दों में धिक्कार की बौछार होने लगी।

भीमसेन उवाच

यद्येष गुरुरस्माकं धर्मराजो महामनाः।
न प्रभुः स्यात् कुलस्यास्य न वयं मर्षयेमहि ॥३४॥

भीमसेन ने कहा—यदि ये महामना धर्मराज युधिष्ठिर हमारे पितृतुल्य तथा इस पाण्डुकुल के स्वामी न होते, तो आज हम इन कौरवों का यह अत्याचार कदापि न सहते।

पश्यध्वं ह्यायतौ वृत्तौ भुजौ मे परिघाविव।
नैतयोरन्तरं प्राप्य मुच्येतापि शतक्रतुः ॥३५॥

भूपालो ! परिघ के समान मोटी और गोलाकार मेरी इन विशाल बाहुओं को देखो। इनके बीच में आकर इन्द्र भी जीवित नहीं बच सकता।

धर्मपाशसितः पारं नाधिगच्छामि संकटम्।
गौरवेण निरुद्धश्च निग्रहादर्जुनस्य च ॥३६॥

मैं धर्म के बन्धन में बँधा हूँ। बड़े भाई के गौरव ने मुझे रोक रखा है और अर्जुन भी मना कर रहे हैं, इसीलिए मैं इस संकट से पार नहीं हो पा रहा हूँ।

धर्मराजनिसृष्टस्तु सिंहः क्षुद्रमृगानिव।
धार्तराष्ट्रानिमान्पापान्निष्पिषेयं तलासिभिः ॥३७॥

यदि धर्मराज मुझे आज्ञा दें, तो जैसे सिंह छोटे-छोटे मृगों को दबोच लेता है, वैसे ही मैं धृतराष्ट्र के इन पापी पुत्रों को तलवार के स्थान पर हाथों के तलवों से ही मसल डालूं।

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च।
क्षम्यतामिदमित्येवं सर्वं सम्भाव्यते त्वयि ॥३८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन् ! तब भीष्म, द्रोण और विदुर ने भीमसेन को शान्त करते हुए कहा—"भीम ! क्षमा करो, तुम सब-कुछ कर सकते हो।"

इति महाभारते सभापर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

भीमसेन द्वारा दुर्योधन की जाँघ तोड़ने की प्रतिज्ञा, द्रौपदी को धृतराष्ट्र से वर-प्राप्ति और पाण्डवों का दास-भाव से मुक्त होकर इन्द्रप्रस्थ लौटना

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनवचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
युधिष्ठिरमुवाचेदं तूष्णीम्भूतमचेतनम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भीमसेन का वह वचन सुनकर उस समय राजा दुर्योधन ने मौन एवं अचेत-सी अवस्था में बैठे हुए युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा—

भीमार्जुनौ यमौ चैव स्थितौ ते नृप शासने ।
प्रश्नं ब्रूहि च कृष्णां त्वमजितां यदि मन्यसे ॥२॥

"राजन् ! भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव आपकी आज्ञा के अधीन हैं । आप ही द्रौपदी के प्रश्न का उत्तर दीजिए । क्या आप द्रौपदी को हारी हुई नहीं मानते हैं ?"

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयमपोह्य वसनं स्वकम् ।
स्मयन्निवैक्षत्पाञ्चालीमैश्वर्यमदमोहितः ॥३॥
अभ्युत्स्मयित्वा राधेयं भीममाधर्षयन्निव ।
द्रौपद्याः प्रेक्षमाणायाः सव्यमूरुमदर्शयत् ॥४॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर से ऐसा कहकर ऐश्वर्यमद से मदान्ध हुए दुर्योधन ने संकेत से राधानन्दन कर्ण को उत्साहित करते हुए और भीमसेन का तिरस्कार-सा करते हुए अपनी जाँघ का वस्त्र हटाकर द्रौपदी की ओर मुस्कराते हुए देखा तथा अपनी बायीं जाँघ द्रौपदी की दृष्टि के सामने करके दिखाई ।

भीमसेनस्तमालोक्य नेत्रे उत्फाल्य लोहिते ।
प्रोवाच राजमध्ये तं सभां विश्रावयन्निव ॥५॥

यह देखकर भीमसेन की आँखें क्रोध से लाल हो गईं । वे आँखें फाड़-फाड़कर देखते और सारी सभा को सुनाते हुए-से राजाओं के मध्य में बोले—

पितृभिः सह सालोक्यं मा स्म गच्छेद् वृकोदरः ।
यद्येतमूरुं गदया न भिन्द्यां ते महाहवे ॥६॥

"दुर्योधन ! यदि महासमर में मैं तेरी इस जाँघ को अपनी गदा से न तोड़ डालूँ तो मुझ भीमसेन को अपने पूर्वजों के साथ उन्हीं के समान पुण्यलोकों की प्राप्ति न हो ।"

धृतराष्ट्र उवाच

हतोऽसि दुर्योधन मन्दबुद्धे
यस्त्वं सभायां कुरुपुङ्गवानाम् ।
स्त्रियं समाभाषसि दुर्विनीत
विशेषतो द्रौपदीं धर्मपत्नीम् ॥७॥

धृतराष्ट्र बोले—रे मन्द-बुद्धि दुर्योधन ! तू तो जीता ही मारा गया । दुर्विनीत ! तू श्रेष्ठ कुरु-वंशियों की सभा में अपने ही कुल की महिला, विशेषतः पाण्डुकुल की सती-साध्वी धर्मपत्नी द्रौपदी को लाकर उससे पापपूर्ण बातें कर रहा है । [दुर्योधन से ऐसा कह फिर उन्होंने द्रौपदी से कहा]

वरं वृणीष्व पाञ्चालि मत्तो यदभिवाञ्छसि ।
वधूनां हि विशिष्टा मे त्वं धर्मपरमा सती ॥८॥

बहू द्रौपदी ! तुम मेरी पुत्र-वधुओं में सबसे श्रेष्ठ तथा धर्मपरायणा सती हो । तुम्हारी जो इच्छा हो, उसके अनुसार मुझसे वर माँग लो ।

द्रौपद्युवाच

ददासि चेद् वरं मह्यं वृणोमि भरतर्षभ ।
सर्वधर्मानुगः श्रीमानदासोऽस्तु युधिष्ठिरः ॥९॥

द्रौपदी बोली—भरतवंश-शिरोमणे ! यदि आप मुझे वर देते हैं तो मैं यह वर माँगती हूँ कि सम्पूर्ण धर्म का आचरण करनेवाले राजा युधिष्ठिर दासभाव से मुक्त हो जाएँ ।

धृतराष्ट्र उवाच

एवं भवतु कल्याणि यथा त्वमभिभाषसे ।
द्वितीयं ते वरं भद्रे ददामि वरयस्व माम् ॥१०॥

धृतराष्ट्र ने कहा—कल्याणी ! तुम जैसा कहती हो, वैसा ही हो । भद्रे ! अब मैं तुम्हें दूसरा वर देता हूँ, वह भी माँग लो ।

द्रौपद्युवाच

सरथौ सधनुष्कौ च भीमसेनधनञ्जयौ ।
यमौ च वरये राजन्नदासान् स्ववशानहम् ॥११॥

द्रौपदी बोली—हे राजन् ! मैं दूसरा वर यह माँगती हूँ कि भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव

अपने रथ और धनुष-बाण सहित दास-भाव से रहित एवं स्वतन्त्र हो जाएँ।

धृतराष्ट्र उवाच

तथाऽस्तु ते महाभागे यथा त्वं नन्दिनीच्छसि ।
तृतीयं वरयास्मत्तो नासि द्वाभ्यां सुसत्कृता ॥१२॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे महाभागे ! तुम अपने कुल को आनन्द प्रदान करनेवाली हो। तुम जैसा चाहती हो, वैसा ही हो। अब तुम तीसरा वर और माँगो। मैं समझता हूँ, केवल दो वरों से तुम्हारा पूरा सत्कार नहीं हुआ।

द्रौपद्युवाच

लोभो धर्मस्य नाशाय भगवन् नाहमुत्सहे ।
अनर्हा वरमादातुं तृतीयं राजसत्तम ॥१३॥

द्रौपदी बोली—भगवन् ! लोभ धर्म का नाशक होता है, अतः अब मेरे मन में वर माँगने का उत्साह नहीं है। राज-शिरोमणे ! तीसरा वर लेने का मुझे अधिकार भी नहीं है।

एकमाहुर्वैश्यवरं द्वौ तु क्षत्रस्त्रिया वरौ ।
त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतं वराः ॥१४॥

हे राजेन्द्र ! वैश्य को एक वर माँगने का अधिकार बताया गया है, क्षत्रिय की स्त्री दो वर माँग सकती है, क्षत्रिय को तीन वर और ब्राह्मण को सौ वर माँगने का अधिकार है।

वैशम्पायन उवाच

अप्लवेऽम्भसि मग्नानामप्रतिष्ठे निमज्जताम् ।
पाञ्चाली पाण्डुपुत्राणां नौरेषा पारगाभवत् ॥१५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पाण्डव लोग नौका और आधार से रहित जल में गोते खा रहे थे, संकट के अथाह सागर में डूब रहे थे, किन्तु द्रौपदी उनके लिए पार लगानेवाली नौका बन गई।

भीम उवाच

इहैवैतांस्त्वहं सर्वान् हन्मि शत्रून् समागतान् ।
अथ निष्क्रम्य राजेन्द्र समूलान् हन्मि भारत ॥१६॥

भीमसेन ने कहा—भरतकुलतिलक युधिष्ठिर ! [यदि आपकी आज्ञा हो तो] यहाँ आये हुए इन सब शत्रुओं को मैं यहीं समाप्त कर दूँ तथा यहाँ से बाहर निकलकर इनके मूल को भी नष्ट कर डालूँ।

किं नो विविदितेनेह किमुक्तेन च भारत ।
अद्यैवैतान् निहन्मीह प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ॥१७॥

हे भारत ! अब यहाँ वाद-विवाद या उत्तर-प्रत्युत्तर करने की हमें क्या आवश्यकता है ? मैं आज ही इन सबको मौत के घाट उतार देता हूँ, आप इस सारी पृथिवी का निष्कण्टक शासन कीजिए।

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तमावार्य बाहुना बाहुशालिनम् ।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं जोषमास्स्वेति भारत ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय विशाल भुजाओं से सुशोभित होनेवाले भीमसेन को अपने हाथों से रोकते हुए युधिष्ठिर ने कहा—"प्रिय अनुज ! ऐसा न करो, शान्ति से बैठो !"

निवार्य च महाबाहुं कोपसंरक्तलोचनम् ।
पितरं समुपातिष्ठद् धृतराष्ट्रं कृताञ्जलिः ॥१९॥

उस समय क्रोध के कारण लाल-लाल नेत्रवाले महाबाहु भीमसेन को रोककर राजा युधिष्ठिर हाथ जोड़े हुए अपने ताऊ महाराज धृतराष्ट्र के पास गये।

युधिष्ठिर उवाच

राजन् किं करवामस्ते प्रशाध्यस्मांस्त्वमीश्वरः ।
नित्यं हि स्थातुमिच्छामस्तव भारत शासने ॥२०॥

युधिष्ठिर बोले—हे राजन् ! आप हमारे स्वामी हैं। आज्ञा दीजिए, हम क्या करें। हे भारत ! हम लोग सदा आपकी आज्ञा के अधीन रहना चाहते हैं।

धृतराष्ट्र उवाच

अजातशत्रो भद्रं ते अरिष्टं स्वस्ति गच्छत ।
अनुज्ञाताः सहधनाः स्वराज्यमनुशासत ॥२१॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे अजातशत्रो ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी आज्ञा से हारे हुए धन के साथ बिना किसी विघ्न-बाधा के कुशलपूर्वक अपनी राजधानी को जाओ और अपने राज्य का शासन करो।

वेत्थ त्वं तात धर्माणां गतिं सूक्ष्मां युधिष्ठिर ।
विनीतोऽसि महाप्राज्ञ वृद्धानां पर्युपासिता ॥२२॥

तात युधिष्ठिर ! तुम धर्म की सूक्ष्म गति को जानते हो। महामते ! तुममें विनय है। तुमने बड़े-बूढ़ों की सेवा और उनका सत्सङ्ग किया है।

यतो बुद्धिस्ततः शान्तिः प्रशमं गच्छ भारत ।
नादारुणि पतेच्छस्त्रं दारुण्येतन्निपात्यते ॥२३॥

जहाँ बुद्धि है, वहीं शान्ति है। हे भारत ! तुम शान्त हो जाओ [जो कुछ हुआ है, उसे भूल जाओ] पत्थर या लोहे पर कुल्हाड़ी नहीं पड़ती, लोग उसे लकड़ी पर ही चलाते हैं।

न वैराण्यभिजानन्ति गुणान्पश्यन्ति नागुणान् ।
विरोधं नाधिगच्छन्ति ये त उत्तमपूरुषाः ॥२४॥
स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ते प्रतिक्रियाम् ॥२५॥

जो पुरुष वैर को याद नहीं रखते, गुणों को ही देखते हैं अवगुणों को नहीं तथा किसी से विरोध नहीं रखते, वे ही उत्तम पुरुष कहलाते हैं। साधु पुरुष दूसरों के सत्कर्मों [उपकारादि] को ही स्मरण रखते हैं, उनके किये हुए वैर को नहीं। वे दूसरों की भलाई तो करते हैं, परन्तु उनसे वदला लेने की भावना नहीं रखते।

संवादे परुषाण्याहुर्युधिष्ठिर नराधमाः ।
प्रत्याहुर्मध्यमास्त्वेते ह्युक्ते परुषमुत्तरम् ॥२६॥
न चोक्ता नैव चानुक्तास्त्वहिताः परुषा गिरः ।
प्रतिजल्पन्ति वै धीराः सदा तूत्तमपूरुषाः ॥२७॥

युधिष्ठिर ! नीच मनुष्य साधारण बातचीत में भी कटु वचन बोलने लगते हैं; जो स्वयं पहले कटु वचन न कहकर प्रत्युत्तर में कठोर बातें कहते हैं, वे मध्यम श्रेणी के पुरुष हैं; परन्तु जो धीर एवं श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे किसी के कटुवचन बोलने या न बोलने पर भी अपने मुख से कभी कटु तथा अहितकर वचन नहीं बोलते।

असम्भिन्नार्यमर्यादाः साधवः प्रियदर्शनाः ।
तथाचरितमार्येण त्वयास्मिन् सत्समागमे ॥२८॥

श्रेष्ठ पुरुष आर्य-मर्यादाओं को कभी भङ्ग नहीं करते। उनके दर्शन से सभी लोग प्रसन्न हो जाते हैं। युधिष्ठिर ! कौरव-पाण्डवों के समागम में तुमने श्रेष्ठ पुरुषों के ही समान आचरण किया है।

दुर्योधनस्य पारुष्यं तत् तात हृदि मा कृथाः ।
मातरं चैव गान्धारीं पितरं पश्य भारत ॥२९॥

तात ! दुर्योधन ने तुम्हारे प्रति जो कठोर बर्ताव किया, तुम उसे अपने हृदय में मत लाना। भारत ! तुम अपनी माता गान्धारी और ताऊ की ओर देखो।

प्रेक्षापूर्वं मया द्यूतमिदमासीदुपेक्षितम् ।
मित्राणि द्रष्टुकामेन पुत्राणां च बलाबलम् ॥३०॥

मैंने जानबूझकर ही इस जुए की इसलिए उपेक्षा कर दी—उसे रोकने की चेष्टा नहीं की—क्योंकि मैं अपने मित्रों और सुहृदों से मिलना तथा अपने पुत्रों के वलावल को देखना चाहता था।

त्वयि धर्मोऽर्जुने धैर्यं भीमसेने पराक्रमः ।
श्रद्धा च गुरुशुश्रूषा यमयोः पुरुषाग्र्ययोः ॥३१॥
अजातशत्रो भद्रं ते खाण्डवप्रस्थमाविश ।
भ्रातृभिस्तेऽस्तु सौभ्रात्रं धर्मे ते धियतां मनः ॥३२॥

तुममें धर्म है, अर्जुन में धैर्य है, भीमसेन में पराक्रम है, नरश्रेष्ठ नकुल और सहदेव में श्रद्धा एवं विशुद्ध गुरु-सेवा का भाव है। अजातशत्रो ! तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम खाण्डवप्रस्थ को प्रस्थान करो। दुर्योधन आदि बन्धुओं के प्रति तुममें श्रेष्ठ भाई का-सा स्नेह-भाव रहे तथा तुम्हारा मन सदा धर्म में लगा रहे।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तो भरतश्रेष्ठ धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
कृत्वाऽऽर्यसमयं सर्वं प्रतस्थे भ्रातृभिः सह ॥३३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे भरतश्रेष्ठ ! राजा धृतराष्ट्र के इस प्रकार कहने पर धर्मराज युधिष्ठिर धृतराष्ट्र के आदेश को स्वीकार करके भाइयोंसहित वहाँ से विदा हो गये।

ते रथान् मेघसंकाशानास्थाय सह कृष्णया ।
प्रययुर्हृष्टमनसा इन्द्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥३४॥

वे सब द्रौपदी के साथ मेघ के समान शब्द (गम्भीर घोष-नाद) करनेवाले रथों पर बैठकर प्रसन्न मन से नगरों में श्रेष्ठ इन्द्रप्रस्थ को चल दिये।

इति महाभारते सभापर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

पुनः जुए का बुलावा, युधिष्ठिर का पुनः जुआ खेलना तथा हारना; दुःशासन द्वारा पाण्डवों का उपहास और पाण्डवों द्वारा शत्रुओं को मारने की भीषण प्रतिज्ञा

जनमेजय उवाच

अनुज्ञातान्विदित्वेमान् सरत्नधनसञ्चयान् ।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्राणां कथमासीन्मनस्तदा ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—ब्रह्मन् ! जब कौरवों को यह पता चला कि पाण्डवों को रथ और धन के संग्रह-सहित इन्द्रप्रस्थ जाने की आज्ञा मिल गई है, तब उनकी मनोदशा कैसी हुई ?

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातान्विदित्वैतान् धृतराष्ट्रेण धीमता ।
राजन् दुःशासनः क्षिप्रं जगाम भ्रातरं प्रति ॥२॥
दुर्योधनं समासाद्य सामात्यं भरतर्षभ ।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥३॥

वैशम्पायनजी बोले—भरतकुलश्रेष्ठ जनमेजय ! परम बुद्धिमान् महाराजा धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को इन्द्रप्रस्थ जाने की आज्ञा दे दी, यह जानकर दुःशासन शीघ्र ही अपने भाई भरतश्रेष्ठ दुर्योधन के पास, जो अपने मन्त्रियों [कर्ण एवं शकुनि] के साथ बैठा था, गया तथा दुःख से पीड़ित होकर यह वचन बोला—

दुःशासन उवाच

दुःखेनैतत् समानीतं स्थविरो नाशयत्यसौ ।
शत्रुसाद् गमयद् द्रव्यं तद् बुध्यध्वं महारथाः ॥४॥

दुःशासन ने कहा—महारथियो ! आप लोगों को ज्ञात होना चाहिए कि हमने अति कष्ट से जिस धन-राशि को प्राप्त किया था, उसे हमारा बूढ़ा बाप नष्ट कर रहा है, उसने सारा धन शत्रुओं को प्रदान कर दिया ।

वैशम्पायन उवाच

अथ दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
मिथः संगम्य सहिताः पाण्डवान् प्रति मानिनः ॥५॥
वैचित्रवीर्यं राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
अभिगम्य त्वरायुक्ताः श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—यह सुनकर दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि, जो बड़े ही अभिमानी थे, पाण्डवों से बदला लेने के लिए आपस में मिलकर विचार-विमर्श करने लगे । फिर उन सबने बड़ी उतावली के साथ विचित्रवीर्य-नन्दन मनीषी राजा धृतराष्ट्र के पास जाकर मीठी वाणी में कहा—

दुर्योधन उवाच

न त्वयेदं श्रुतं राजन् यज्जगाद बृहस्पतिः ।
शक्रस्य नीतिं प्रवदन् विद्वान् देवपुरोहितः ॥७॥

दुर्योधन बोला—राजन् ! देवगुरु विद्वान् बृहस्पति ने इन्द्र को नीति का उपदेश करते हुए जो बात कही है, उसे शायद आपने नहीं सुना है ।

सर्वोपायैर्निहन्तव्याः शत्रवः शत्रुसूदन ।
पुरा युद्धाद् बलाद् वापि प्रकुर्वन्ति तवाहितम् ॥८॥

शत्रुसूदन ! शत्रुओं को सभी उपायों से मार डालना चाहिए, क्योंकि आगे चलकर वे बल से और युद्ध से तुम्हारा अहित ही करेंगे ।

आत्तशस्त्रा रथगताः कुपितास्तात पाण्डवाः ।
निःशेषं वः करिष्यन्ति क्रुद्धा ह्याशीविषा इव ॥९॥

तात ! अस्त्र-शस्त्रों को लेकर रथ में बैठे हुए पाण्डव कुपित होकर क्रुद्ध विषधर सर्पों की भाँति आपके कुल को नष्ट कर डालेंगे ।

न क्षंस्यन्ते तथास्माभिर्जातु विप्रकृता हि ते ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं कस्तेषां क्षन्तुमर्हति ॥१०॥

हमने उनका तिरस्कार किया है, अतः वे हमें कभी क्षमा नहीं करेंगे । द्रौपदी को जो कष्ट दिया गया है, उसे उनमें से कौन चुपचाप सहन कर लेगा ?

पुनर्दीव्याम भद्रं ते वनवासाय पाण्डवैः ।
एवमेतान् वशे कर्तुं शक्ष्यामः पुरुषर्षभ ॥११॥

पुरुषश्रेष्ठ ! आपका मङ्गल हो ! हम चाहते हैं कि वनवास की शर्त रखकर पाण्डवों के साथ एक बार फिर जुआ खेलें ।

ते वा द्वादशवर्षाणि वयं वा द्यूतनिर्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यमजिनैः प्रतिवासिताः ॥१२॥

जुए में हार जाने पर वे अथवा हम मृगचर्म धारण

करके महान् वन में प्रवेश करें तथा बारह वर्ष तक वन में ही निवास करें।

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम्।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥१३॥
निवसेम वयं ते वा तथा द्यूतं प्रवर्तताम्।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥१४॥

तेरहवें वर्ष में लोगों की जानकारी से दूर किसी नगर में रहें। यदि तेरहवें वर्ष किसी की जानकारी में आ जाएँ तो फिर दुबारा बारह वर्ष तक वनों में रहें। हम हारें तो हम ऐसा करें और उनकी हार हो तो वे। इसी शर्त पर पुनः जुए का खेल आरम्भ हो। पाण्डव पासे फेंक कर जुआ खेलें।

वृढमूला वयं राज्ये मित्राणि परिगृह्य च।
सारवद् विपुलं सैन्यं सत्कृत्य च दुरासदम् ॥१५॥

[हमारी विजय होने पर] हम लोग बहुत-से मित्रों का संग्रह करके बलशाली, दुर्धर्ष एवं विशाल सेना का पुरस्कार आदि द्वारा सत्कार करते हुए इस राज्य पर अपनी जड़ जमा लेंगे।

ते च त्रयोदशं वर्षं पारयिष्यन्ति चेद् व्रतम्।
जेष्यामस्तान् वयं राजन् रोचतां ते परन्तप ॥१६॥

यदि वे तेरहवें वर्ष के अज्ञातवास की प्रतिज्ञा पूरी कर लेंगे तो हम उन्हें युद्ध में हरा देंगे। शत्रु-संतापक राजन्! आप हमारे इस प्रस्ताव को स्वीकृति (अनुमति) दें।

धृतराष्ट्र उवाच

तूर्णं प्रत्यानयस्वैतान् कामं व्यध्वगतानपि।
आगच्छन्तु पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥१७॥

धृतराष्ट्र ने कहा—पुत्र! पाण्डव लोग दूर भी चले गये हों, तो भी तुम्हारी इच्छा हो तो उन्हें तुरन्त बुलवा लो। समस्त पाण्डव यहाँ आयें तथा इस नये दाँव पर पुनः जुआ खेलें।

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणः सोमदत्तो बाह्लीकश्चैव गौतमः।
विदुरो द्रोणपुत्रश्च वैश्यापुत्रश्च वीर्यवान् ॥१८॥
भूरिश्रवाः शान्तनवो विकर्णश्च महारथः।
मा द्यूतमित्यभाषन्त शमोऽस्त्विति च सर्वशः ॥१९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय द्रोणाचार्य, सोमदत्त, बाह्लीक, कृपाचार्य, विदुर, अश्वत्थामा, पराक्रमी युयुत्सु, भूरिश्रवा, पितामह भीष्म तथा महारथी विकर्ण सबने एक स्वर से इस निर्णय का विरोध करते हुए कहा—"अब जुआ नहीं होना चाहिए, तभी सर्वत्र शान्ति बनी रह सकती है।"

अकामानां च सर्वेषां सुहृदामर्थदर्शिनाम्।
अकरोत् पाण्डवाह्वानं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ॥२०॥

भावी अर्थ (अनर्थ) को देखने और समझनेवाले सुहृद् अपनी अनिच्छा प्रकट करते ही रह गये परन्तु दुर्योधनादि पुत्रों के प्रेम में आकर धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को बुलाने का आदेश दे ही दिया।

अथाब्रवीन्महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम्।
पुत्रहार्दाद् धर्मयुक्ता गान्धारी शोककर्शिता ॥२१॥

महाराज! उस समय भावी अनिष्ट की आशंका से धर्मपरायणा गान्धारी पुत्रस्नेह-वश शोक से सन्तप्त हो उठी तथा राजा धृतराष्ट्र से इस प्रकार बोली—

गान्धार्युवाच

मा निमज्जीः स्वदोषेण महाप्सु त्वं हि भारत।
मा बालानामशिष्टानामभिमंस्था मतिं प्रभो ॥२२॥

गान्धारी बोली—भरतकुलभूषण! आप अपने ही दोष से इस कुल को विपत्ति के महासमुद्र में मत डुबाइए। प्रभो! इन उद्दण्ड बालकों की हाँ-में-हाँ न मिलाइए।

शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं श्रेयसे चेतराय च।
न वै वृद्धो बालमतिर्भवेद् राजन् कथञ्चन ॥२३॥

राजन्! जिसकी बुद्धि खोटी है, उसे शास्त्र भी अच्छा-बुरा कुछ नहीं सिखा सकता। मन्द-बुद्धि बालक वृद्धों-जैसा विवेकशील किसी प्रकार नहीं हो सकता।

त्वन्नेत्राः सन्तु ते पुत्रा मा त्वां दीर्णाः प्रहासिषुः।
तस्मादयं मद्वचनात् त्यज्यतां कुलपांसनः ॥२४॥

आप ऐसी चेष्टा कीजिए कि आपके पुत्र आपके ही नियन्त्रण में रहें। ऐसा न हो कि वे सभी मर्यादाओं को त्यागकर प्राणों से हाथ धो बैठें और आपको इस बुढ़ापे में छोड़कर चल बसें। आप मेरी बात मानकर इस कुल-कलंक दुर्योधन को त्याग दें।

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्महाराजो गान्धारीं धर्मदर्शिनीम् ।
अन्तः कामं कुलस्यास्तु न शक्नोमि निवारितुम् ।।२५।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब महाराज धृतराष्ट्र ने धर्म पर दृष्टि रखनेवाली गान्धारी से कहा—"देवि ! इस कुल का अन्त भले ही हो जाए, परन्तु मैं दुर्योधन को नहीं रोक सकता ।

यथेच्छन्ति तथैवास्तु प्रत्यागच्छन्तु पाण्डवाः ।
पुनर्द्यूतं च कुर्वन्तु मामकाः पाण्डवैः सह ।।२६।।

"ये सब जैसा चाहते हैं, वैसा ही हो । पाण्डव लौट आएँ तथा मेरे पुत्र उनके साथ पुनः जुआ खेलें ।"

ततो व्यध्वगतं पार्थं प्रातिकामी युधिष्ठिरम् ।
उवाच वचनाद्राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।।२७।।

राजन् ! धर्मराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ के मार्ग में बहुत दूर निकल गये थे । उस समय बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से प्रातिकामी उनके पास गया और इस प्रकार बोला—

उपास्तीर्णा सभा राजन्नक्षानुप्त्वा युधिष्ठिर ।
एहि पाण्डव दीव्येति पिता त्वाऽऽहेति भारत ।।२८।।

भरतकुलतिलक पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ! आपके पिता धृतराष्ट्र ने यह आदेश दिया है कि तुम लौट आओ । हमारी सभा पुनः सदस्यों से भर गई है और तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है । तुम पासे फेंककर जुआ खेलो ।

युधिष्ठिर उवाच

धातुर्नियोगाद् भूतानि प्राप्नुवन्ति शुभाशुभम् ।
न निवृत्तिस्तयोरस्ति देवितव्यं पुनर्यदि ।।२९।।

युधिष्ठिर बोले—समस्त प्राणी परमात्मा की प्रेरणा से शुभ और अशुभ फल प्राप्त करते हैं, उन्हें कोई टाल नहीं सकता । जान पड़ता है, मुझे फिर जुआ खेलना पड़ेगा ।

अक्षद्यूते समाह्वानं नियोगात् स्थविरस्य च ।
जानन्नपि क्षयकरं नातिक्रमितुमुत्सहे ।।३०।।

वृद्ध राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से जुए के लिए यह बुलावा हमारे कुल के नाश का कारण है, यह जानते हुए भी मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता ।

वैशम्पायन उवाच

इति ब्रुवन्निववृत्ते भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
जानंश्च शकुनेर्मायां पार्थो द्यूतमियात् पुनः ।।३१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहते हुए पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भाइयों के साथ पुनः लौट पड़े । वे शकुनि की माया को जानते थे, तो भी जुआ खेलने के लिए चले आये ।

विविशुस्ते सभां तां तु पुनरेव महारथाः ।
व्यथयन्ति स्म चेतांसि सुहृदां भरतर्षभाः ।।३२।।

महारथी भरतश्रेष्ठ पाण्डव पुनः उस सभा में प्रविष्ट हुए । उन्हें देखकर सुहृदों के मन में बड़ी व्यथा होने लगी ।

शकुनिरुवाच

अमुञ्चत् स्थविरो यद् वो धनं पूजितमेव तत् ।
महाधनं ग्लहं त्वेकं शृणु भो भरतर्षभ ।।३३।।

शकुनि बोला—भरतश्रेष्ठ ! राजन् ! हमारे वृद्ध महाराज ने आपको जो सारा धन लौटा दिया है, वह बहुत अच्छा किया है । अब जुए के लिए एक ही दाँव रखा जाएगा, उसे सुनिए ।

वयं वा द्वादशाब्दानि युष्माभिर्द्यूतनिर्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यं रौरवाजिनवाससः ।।३४।।

यदि आपने हम लोगों को जुए में हरा दिया तो हम मृगचर्म धारण करके बारह वर्ष के लिए महान् वन में प्रवेश करेंगे ।

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ।।३५।।

और बारह वर्ष वहाँ रहेंगे । तेरहवाँ वर्ष हम जन-समूह में लोगों से अज्ञात रहकर पूरा करेंगे । इस तेरहवें वर्ष में यदि लोगों ने हमें पहचान लिया, तो पुनः बारह वर्ष वन में रहेंगे ।

अस्माभिर्निर्जिता यूयं वने द्वादश वत्सरान् ।
वसध्वं कृष्णया सार्धमजिनैः प्रतिवासिताः ।।३६।।

यदि हम जीत गये तो आप लोगों को द्रौपदी के साथ बारह वर्षों तक मृग-चर्म धारण करके वन में रहना होगा ।

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ।।३७।।

आपको भी तेरहवाँ वर्ष जन-समूह में लोगों से अज्ञात रहकर व्यतीत करना होगा और यदि पहचान लिये गये तो फिर बारह वर्ष वन में रहना होगा।

त्रयोदशे च निर्वृत्ते पुनरेव यथोचितम् ।
स्वराज्यं प्रतिपत्तव्यमितरैरथवेतरैः ॥३८॥

तेरहवाँ वर्ष पूर्ण होने पर हम या आप वन से लौटकर यथोचित रीति से अपना-अपना राज्य प्राप्त कर सकते हैं।

अनेन व्यवसायेन सहास्माभिर्युधिष्ठिर ।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमेहि दीव्यस्व भारत ॥३९॥

भरतवंशी युधिष्ठिर! इसी निश्चय के साथ आप आइए और पुनः पासा फेंककर हम लोगों के साथ जुआ खेलिए।

सभ्या ऊचुः

अहो धिग्बान्धवा नैनं बोधयन्ति महद्भयम् ।
बुद्ध्या बुध्येन्न वा बुध्येदयं वै भरतर्षभः ॥४०॥

सभासद् बोले—अहो धिक्कार है! ये भाई-बन्धु भी युधिष्ठिर को उनके ऊपर आनेवाले महान् भय की बात नहीं समझाते। पता नहीं, ये भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर अपनी बुद्धि के द्वारा इस भय को समझें या न समझें।

वैशम्पायन उवाच

जनप्रवादान् सुबहूञ्छृण्वन्नपि नराधिपः ।
ह्रिया च धर्मसंयोगात् पार्थो द्यूतमियात् पुनः ॥४१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! लोगों की अनेक प्रकार की बातें सुनते हुए भी राजा युधिष्ठिर लज्जा के कारण तथा धृतराष्ट्र की आज्ञा के पालन-रूप धर्म की दृष्टि से पुनः जुआ खेलने के लिए तैयार हो गये।

जानन्नपि महाबुद्धिः पुनर्द्यूतमवर्तयत् ।
अप्यासन्नो विनाशः स्यात्कुरूणामिति चिन्तयन् ॥४२

परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर जुए का परिणाम जानते थे, तो भी यह सोचकर कि सम्भवतः कुरुकुल का विनाश बहुत निकट है, वे द्यूत-क्रीड़ा में प्रवृत्त हो गये।

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै मद्विधो राजा स्वधर्ममनुपालयन् ।
आहूतो विनिवर्तेत दीव्यामि शकुने त्वया ॥४३॥

युधिष्ठिर बोले—हे शकुनि! स्वधर्म-पालन में तत्पर रहनेवाला मेरे-जैसा राजा जुए के लिए बुलाये जाने पर पीछे कैसे हट सकता है, अतः मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ।

शकुनिरुवाच

एष नो ग्लह एवैको वनवासाय पाण्डवाः ।
यूयं वयं वा विजिता वसेम वनमाश्रिताः ॥४४॥

शकुनि बोला—पाण्डवो! एकमात्र वनवास का निश्चय ही हमारा दाँव है। आप लोग या हम जो भी हारेंगे, उन्हें वन में जाकर रहना होगा।

त्रयोदशं च वै वर्षमज्ञाता सजने तथा ।
अनेन व्यवसायेन दीव्याम पुरुषर्षभाः ॥४५॥

केवल तेरहवें वर्ष हमें किसी जन-समूह में अज्ञात-भाव से रहना होगा। नर-श्रेष्ठगण! हम इसी निश्चय के साथ जुआ खेलेंगे।

समुत्क्षेपेण चैकेन वनवासाय भारत ।
प्रतिजग्राह तं पार्थो ग्लहं जग्राह सौबलः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥४६॥

भारत! वनवास की शर्त रखकर केवल एक ही बार पासा फेंकने से जुए का खेल पूरा हो जाएगा। युधिष्ठिर ने उसकी बात स्वीकार कर ली। तत्पश्चात् सुबल-पुत्र शकुनि ने पासा हाथ में उठाया और उसे फेंककर युधिष्ठिर से कहा—"मेरी जीत हो गई।"

वैशम्पायन उवाच

ततः पराजिताः पार्था वनवासाय दीक्षिताः ।
अजिनान्युत्तरीयाणि जगृहुश्च यथाक्रमम् ॥४७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन्! तत्पश्चात् जुए में हारे हुए कुन्ती-पुत्रों ने वनवास की दीक्षा ली और सबने क्रमशः मृगचर्म को उत्तरीय वस्त्र के रूप में धारण किया।

अजिनैः संवृतान् दृष्ट्वा हृतराज्यानरिन्दमान् ।
प्रस्थितान् वनवासाय ततो दुःशासनोऽब्रवीत् ॥४८॥

जिनका राज्य छिन गया था, वे शत्रुदमन पाण्डव जब मृगचर्म से अपने शरीर को ढककर वनवास के लिए प्रस्थित हुए, उस समय दुःशासन ने सभा में उनको लक्ष्य करके कहा—

दुःशासन उवाच

प्रवृत्तं धार्तराष्ट्रस्य चक्रं राज्ञो महात्मनः ।
पराजिताः पाण्डुपुत्रा विपत्ति परमां गताः ॥४६॥

दुःशासन बोला—धृतराष्ट्र-पुत्र महात्मा राजा दुर्योधन का समस्त भूमण्डल पर एकछत्र राज्य हो गया । पाण्डव पराजित होकर बड़ी भारी विपत्ति में पड़ गये ।

नरकं पातिताः पार्था दीर्घकालमनन्तकम् ।
सुखाच्च हीना राज्याच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः ॥
धनेन मत्ता ये ते स्म धार्तराष्ट्रान् प्रहासिषुः ।
ते निर्जिता हृतधना वनमेष्यन्ति पाण्डवाः ॥५१॥

कुन्ती के पुत्र दीर्घकाल के लिए अनन्त दुःखरूप नरक में गिरा दिये गये । वे सदा के लिए सुख से वञ्चित तथा राज्य से हीन हो गये हैं । जो लोग पहले अपने धन से उन्मत्त हो धृतराष्ट्र-पुत्रों की हँसी उड़ाया करते थे, वे ही पाण्डव आज पराजित हो अपने धन-वैभव से हाथ धोकर वन में जा रहे हैं ।

सूक्ष्मान्प्रावारानजिनोत्तरीयान्
दृष्ट्वा वने निर्धनानप्रतिष्ठान् ।
कां त्वं प्रीतिं लप्स्यसे याज्ञसेनि
पतिं वृणीष्व यमन्यमिच्छसि ॥५२॥

द्रौपदि ! जो पाण्डव सुन्दर महीन रेशमी कपड़े पहना करते थे, उन्हीं को वन में निर्धन, अप्रतिष्ठित, और मृगचर्म की चादर ओढ़े देख तुम्हें क्या प्रसन्नता होगी ? अब तुम किसी अन्य पुरुष को, जिसे चाहो, अपना पति चुन लो !

यथाफलाः षण्ढतिला यथा चर्ममया मृगाः ।
तथैव पाण्डवाः सर्वे यथा काकयवा अपि ॥५३॥

जैसे थोथे तिल बोने पर फल नहीं देते, जैसे केवल चर्ममय मृग व्यर्थ है और जैसे काकयव=भूसी-रहित धान निष्प्रयोजन होते हैं, उसी प्रकार समस्त पाण्डवों का जीवन व्यर्थ हो गया है ।

वैशम्पायन उवाच

तद् वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी
निर्भर्त्स्योच्चैः संनिगृह्यैव रोषात् ।
उवाच तं सहसैवोपगम्य
सिंहो यथा हैमवतः शृगालम् ॥५४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—यह सब सुनकर भीमसेन अत्यन्त क्रुद्ध हुए । जैसे हिमालय की गुफा में रहनेवाला सिंह गीदड़ के पास जाए, उसी प्रकार वे सहसा दुःशासन के पास जा पहुँचे और रोषपूर्वक उसे रोककर जोर-जोर से फटकारते हुए बोले—

भीमसेन उवाच

क्रूर पापजनैर्जुष्टमकृतार्थं प्रभाषसे ।
गान्धारविद्यया हि त्वं राजमध्ये विकत्थसे ॥५५॥

भीमसेन बोले—ओ क्रूर एवं नीच दुःशासन ! तू पापी मनुष्यों द्वारा कही जानेवाली ओछी बातें बक रहा है । अरे ! तू अपने बाहुबल से नहीं, शकुनि की छल-विद्या के प्रभाव से आज राजाओं के मध्य अपने मुँह से अपनी प्रशंसा कर रहा है ।

यथा तुदसि मर्माणि वाक्शरैरिह नो भृशम् ।
तथा स्मारयिता तेऽहं कृन्तन् मर्माणि संयुगे ॥५६॥

जैसे यहाँ तू अपने वचनरूपी बाणों से हमारे मर्म-स्थानों में अत्यन्त पीड़ा पहुँचा रहा है, वैसे ही जब युद्ध में मैं तेरा हृदय विदीर्ण करने लगूँगा, उस समय तेरी कही हुई इन बातों का स्मरण कराऊँगा ।

ये च त्वामनुवर्तन्ते क्रोधलोभवशानुगाः ।
गोप्तारः सानुबन्धांस्तान् नेतास्मि यमसादनम् ॥५७॥

जो लोग क्रोध और लोभ के वशीभूत हो, तुम्हारे रक्षक बनकर तुम्हारे पीछे-पीछे चलते हैं, उन्हें उनके सम्बन्धियोंसहित यमलोक भेज दूंगा ।

वशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणमजिनं वसानं
दुःशासनस्तं परिनृत्यति स्म ।
मध्ये स्थितो धर्मनिबद्धमार्गं
गौगौरिति प्राह विमुक्तलज्जः ॥५८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! मृगचर्म धारण किये भीमसेन को ऐसी बातें करते देख निर्लज्ज दुःशासन कौरवों के मध्य में उनकी हँसी उड़ाते हुए नाचने लगा और 'ओ बैल, ओ बैल !' कहकर उन्हें पुकारने लगा । उस समय भीम का मार्ग धर्मराज युधिष्ठिर ने रोक रखा था [अन्यथा वे दुःशासन को जीता न छोड़ते] ।

भीमसेन उवाच

नृशंस परुषं वक्तुं शक्यं दुःशासन त्वया ।
निकृत्या हि धनं लब्ध्वा को विकत्थितुमर्हति ।।५६।।

भीमसेन बोले—अरे नृशंस दुःशासन ! तेरे ही मुख से ऐसी कठोर बातें निकल सकती हैं। तेरे सिवा दूसरा कौन है, जो छल-कपट से प्राप्त धन को पाकर इस प्रकार आप ही अपनी प्रशंसा करेगा ?

मैव स्म सुकृताँल्लोकान् गच्छेत्पार्थो वृकोदरः ।
यदि वक्षो हि ते भित्वा न पिबेच्छोणितं रणे ।।६०।।

मेरी बात सुन ले ! यह कुन्तीपुत्र भीमसेन यदि युद्ध में तेरी छाती फाड़कर तेरा रक्त न पीए तो इसे पुण्य-लोकों की प्राप्ति न हो ।

धार्तराष्ट्रान् रणे हत्वा मिषतां सर्वधन्विनाम् ।
शमं गन्तास्मि नचिरात् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।।६१।।

मैं तुझसे सत्य बात कह रहा हूँ—शीघ्र ही वह समय आनेवाला है, जबकि समस्त धनुर्धरों के देखते-देखते मैं युद्ध में धृतराष्ट्र के सभी पुत्रों का वध करके शान्ति प्राप्त करूँगा ।

वैशम्पायन उवाच

ततो नृपः सिंहगतेः सखेलं
दुर्योधनो पाण्डुसुतस्य हर्षात् ।
गतिं स्वगत्यानुचकार मन्दो
निर्गच्छतां पाण्डवानां सभायाः ।।६२।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब पाण्डव लोग सभा-भवन से निकले, उस समय मन्द-बुद्धि राजा दुर्योधन हर्ष में भरकर सिंह के समान मस्तानी चाल से चलनेवाले भीमसेन की खिल्ली उड़ाते हुए उनकी चाल की नकल करने लगा ।

नैतावता कृतमित्यब्रवीत् तं
वृकोदरः संनिवृत्तार्धकायः ।
शीघ्रं हि त्वां निहतं सानुबन्धं
संस्मार्याहं प्रतिवक्ष्यामि मूढ ।।६३

यह देख भीमसेन ने अपने आधे शरीर को पीछे की ओर मोड़कर कहा—अरे मूढ़ ! केवल दुःशासन के रक्तपान द्वारा ही मेरा कार्य पूर्ण नहीं होगा । तुझे भी सम्बन्धियोंसहित मौत के घाट उतार कर तेरे इस परिहास का स्मरण कराते हुए इसका समुचित उत्तर दूंगा ।

एवं समीक्ष्यात्मनि चावमानं
नियम्य मन्युं बलवान् स मानी ।
राजानुगः संसदि कौरवाणां
विनिष्क्रामन् वाक्यमुवाच भीमः ।।६४।।

इस प्रकार अपना अपमान होता देख शक्तिशाली तथा स्वाभिमानी भीमसेन ने क्रोध को किसी प्रकार रोककर राजा युधिष्ठिर के पीछे कौरव-सभा से निकलते हुए इस प्रकार कहा—

भीमसेन उवाच

अहं दुर्योधनं हन्ता कर्णं हन्ता धनञ्जयः ।
शकुनिं चाक्षकितवं सहदेवो हनिष्यति ।।६५।।

भीमसेन ने कहा—मैं दुर्योधन का वध करूँगा, अर्जुन कर्ण का संहार करेंगे तथा इस जुएबाज शकुनि को सहदेव मार डालेगा ।

इदं च भूयो वक्ष्यामि सभामध्ये बृहद् वचः ।
सत्यं देवाः करिष्यन्ति यन्नो युद्धं भविष्यति ।।६६।।
सुयोधनमिमं पापं हन्तास्मि गदया युधि ।
शिरः पादेन चास्याहमधिष्ठास्यामि भूतले ।।६७।।

साथ ही इस भरी-सभा में मैं पुनः एक बहुत बड़ी बात कह रहा हूँ—मुझे विश्वास है कि देवता लोग भी मेरी यह बात सत्य करके दिखाएँगे—जब हम पाण्डवों और कौरवों में युद्ध होगा, उस समय इस पापी दुर्योधन को मैं गदा से मार गिराऊँगा तथा रण-भूमि में पड़े हुए इस पापी के मस्तक को पैर से ठुकराऊँगा ।

वाक्यशूरस्य चैवास्य परुषस्य दुरात्मनः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पाताऽस्मि मृगराडिव ।।६८।।

तथा यह जो केवल बात बनाने में शूर क्रूर-स्वभाववाला दुरात्मा दुःशासन है, इसकी छाती का खून उसी प्रकार पी लूंगा, जैसे सिंह मृग का रक्त-पान करता है ।

अर्जुन उवाच

अर्जुनः प्रतिजानीते भीमस्य प्रियकाम्यया ।
कर्णं कर्णानुगाँश्चैव रणे हन्तास्मि पत्रिभिः ।।६९।।

अर्जुन बोले—अपने भाई भीमसेन का प्रिय करने की इच्छा से अर्जुन यह प्रतिज्ञा करता है कि "मैं युद्ध

में कर्ण और उसके अनुगामियों को वाणों द्वारा मार डालूँगा।"

ये चान्ये प्रतियोत्स्यन्ति बुद्धिमोहेन मां नृपाः।
तांश्च सर्वानहं वाणैर्नेतास्मि यमसादनम् ॥७०॥

दूसरे भी जो नरेश बुद्धि के व्यामोह-वश हमारे विपक्ष में होकर युद्ध करेंगे, उन सबको अपने तीक्ष्ण सायकों द्वारा यमलोक पठा दूँगा।

चलेद्धि हिमवान्स्थानान्निष्प्रभः स्याद् दिवाकरः।
शैत्यं सोमात् प्रणश्येत मत्सत्यं न चलिष्यति ॥७१॥

चाहे हिमालय पर्वत अपने स्थान से हट जाए, सूर्य की प्रभा नष्ट हो जाए और चन्द्रमा से उसकी शीतलता दूर हो जाए—किन्तु मेरा यह सत्य-कथन नहीं टल सकता।

न प्रदास्यति चेद् राज्यमितो वर्षे चतुर्दशे।
दुर्योधनो हि सत्कृत्य सत्यमेतद् भविष्यति ॥७२॥

यदि आज से चौदहवें वर्ष में दुर्योधन सत्कार-पूर्वक हमारा राज्य हमें वापस नहीं देगा, तो ये सब बातें सत्य होकर रहेंगी।

सहदेव उवाच

हन्तास्मि तरसा युद्धे त्वामेवेह सबान्धवम्।
यदि स्थास्यसि संग्रामे क्षात्रधर्मेण सौबल ॥७३॥

सहदेव बोला—सुबलकुमार! यदि तू क्षत्रिय धर्म के अनुसार युद्ध में डटा रहेगा, तो मैं वेगपूर्वक तुझे तेरे बन्धु-बान्धवोंसहित मौत के घाट उतारूँगा।

नकुल उवाच

सुतेयं यज्ञसेनस्य द्यूतेऽस्मिन् धृतराष्ट्रजैः।
यैर्वाचः श्राविता रूक्षाः स्थितैर्दुर्योधनप्रिये ॥७४॥
तान् धार्तराष्ट्रान् दुर्वृत्तान् मुमूर्षून् कालप्रेरितान्।
गमयिष्यामि भूयिष्ठानहं वैवस्वतक्षयम् ॥७५॥

नकुल बोले—दुर्योधन के प्रिय-साधन में लगे हुए जिन धृतराष्ट्र-पुत्रों ने इस द्यूतसभा में द्रुपदकुमारी कृष्णा को कठोर वचन कहे हैं, काल से प्रेरित हो मृत्यु के मुख में जाने की इच्छा रखनेवाले उन दुराचारी वहुसंख्यक धृतराष्ट्र के पुत्रों को मैं यमलोक का अतिथि बना दूँगा।

निदेशाद् धर्मराजस्य द्रौपद्याः पदवीं चरन्।
निर्धार्तराष्ट्रां पृथिवीं कर्तास्मि नचिरादिव ॥७६॥

धर्मराज की आज्ञा से द्रौपदी का प्रिय करते हुए मैं सम्पूर्ण पृथिवी को धृतराष्ट्र के पुत्रों से सूनी कर दूँगा, इसमें बहुत देर नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

एवं ते पुरुषव्याघ्राः सर्वे व्यायतबाहवः।
प्रतिज्ञा बहुलाः कृत्वा धृतराष्ट्रमुपागमन् ॥७७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार वे सभी पुरुषसिंह महाबाहु पाण्डव बहुत-सी प्रतिज्ञाएँ करके राजा धृतराष्ट्र के पास गये।

इति महाभारते सभापर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

युधिष्ठिर का धृतराष्ट्र आदि से विदा लेकर वन की ओर प्रस्थान करना; नगरवासियों का शोकातुर होना और वन-गमन के समय पाण्डवों की चेष्टाएँ

युधिष्ठिर उवाच

आमन्त्रयामि भरतांस्तथा वृद्धं पितामहम्।
राजानं सोमदत्तं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥१॥
द्रोणं कृपं नृपांश्चान्यानश्वत्थामानमेव च।
विदुरं धृतराष्ट्रं च धार्तराष्ट्रांश्च सर्वशः ॥२॥
युयुत्सुं संजयं चैव तथैवान्यान् सभासदः।
सर्वानामन्त्र्य गच्छामि द्रष्टास्मि पुनरेत्य वः ॥३॥

युधिष्ठिर बोले—मैं भरतवंश के सभी गुरुजनों से वन में जाने की आज्ञा चाहता हूँ। वृद्ध पितामह भीष्म, राजा सोमदत्त, महाराज बाह्लिक, गुरुवर द्रोण और कृपाचार्य, अश्वत्थामा, अन्यान्य नृपतिगण, विदुर, राजा धृतराष्ट्र, उनके सभी पुत्र, युयुत्सु, संजय और अन्य सब सदस्यों की आज्ञा लेकर मैं वन में जाता हूँ, पुनः लौटकर आप लोगों का दर्शन करूँगा।

वैशम्पायन उवाच

न च किञ्चिदथोचुस्तं ह्रिया सन्तो युधिष्ठिरम् ।
मनोभिरेव कल्याणं दध्युस्ते तस्य धीमतः ॥४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिर के इस प्रकार पूछने पर सब कौरव लज्जा के मारे मौन रह गये, वे कुछ भी उत्तर न दे सके। उन्होंने मन-ही-मन उन बुद्धिमान् युधिष्ठिर के कल्याण की कामना की।

विदुर उवाच

आर्या पृथा राजपुत्री नारण्यं गन्तुमर्हति ।
सुकुमारी च वृद्धा च नित्यं चैव सुखोचिता ॥५॥
इह वत्स्यति कल्याणी सत्कृता मम वेश्मनि ।
इति पार्था विजानीध्वमगदं वोऽस्तु सर्वशः ॥६॥

विदुर बोले—कुन्तीकुमारो ! राज-पुत्री आर्या कुन्ती वन में जाने के योग्य नहीं हैं। वे कोमल अङ्गों-वाली और वृद्धा हैं, सदा सुख और आराम के ही योग्य हैं, अतः वे मेरे गृह पर ही सत्कारपूर्वक रहेंगी। यह बात तुम सबलोग जान लो। मेरी शुभकामना है, तुम वन में सर्वथा नीरोग एवं सुखी रहो।

पाण्डवा ऊचुः

यथाऽऽज्ञापयसे विद्वँस्त्वं हि नः परमो गुरुः ।
यच्चान्यदपि कर्तव्यं तद् विधत्स्व महामते ॥७॥

पाण्डवों ने कहा—विद्वन् ! आप जैसी आज्ञा दें, वही हमें मान्य है, क्योंकि आप हमारे परम गुरु हैं। महामते ! इसके अतिरिक्त और भी जो हमारा कर्तव्य हो, वह हमें बताइए।

विदुर उवाच

युधिष्ठिर विजानीहि ममेदं भरतर्षभ ।
नाधर्मेण जितः कश्चिद् व्यथते वै पराजये ॥८॥

विदुर बोले—भरतकुलश्रेष्ठ ! तुम मेरी यह शिक्षा गाँठ बाँध लो कि अधर्म से पराजित होनेवाला कोई भी पुरुष अपनी उस पराजय के लिए दुःखी नहीं होता।

त्वं वै धर्मान्विजानीषे युधां जेता धनञ्जयः ।
हन्तारीणां भीमसेनो नकुलस्त्वर्थसंग्रही ॥९॥
संयन्ता सहदेवस्तु धौम्यो ब्रह्मविदुत्तमः ।
धर्मार्थकुशला चैव द्रौपदी धर्मचारिणी ॥१०॥

तुम धर्मों के ज्ञाता हो। अर्जुन युद्धों में विजय पानेवाले हैं। भीम शत्रुओं का नाश करने में समर्थ हैं। नकुल आवश्यक वस्तुओं के जुटाने में कुशल हैं। सहदेव संयमी हैं, ब्रह्मर्षि धौम्यजी ब्रह्मवेत्ताओं के शिरोमणि हैं और धर्मपरायणा द्रौपदी धर्म और अर्थ के सम्पादन में कुशल है।

अन्योन्यस्य प्रियाः सर्वे तथैव प्रियदर्शनाः ।
परैरभेद्याः सन्तुष्टाः को वो न स्पृहयेदिह ॥११॥

तुम सब लोग आपस में एक-दूसरे के प्रिय हो। तुम्हें देखकर सबको प्रसन्नता होती है। शत्रु तुम में फूट नहीं डाल सकते। इस संसार में कौन है जो तुम लोगों को न चाहता हो ?

मा हासीः साम्पराये त्वं बुद्धिं तामृषिपूजिताम् ।□
ऐन्द्रे जये धृतमना याम्ये कोपविधारणे ॥१२॥
तथा विसर्गे कौबेरे वारुणे चैव संयमे ।□
आत्मप्रदानं सौम्यत्वमद्भ्यश्चैवोपजीवनम् ॥१३॥
भूमेः क्षमा च तेजश्च समग्रं सूर्यमण्डलात् ।□
वायोर्बलं प्राप्नुहि त्वं भूतेभ्यश्चात्मसम्पदम् ॥१४॥

ऋषियों द्वारा सम्मानित परलोक-विषयक ज्ञान का तुम कभी त्याग मत करना। हे युधिष्ठिर ! तुम इन्द्र से मन में विजय का उत्साह प्राप्त करो। क्रोध को वश में रखने का पाठ यमराज से सीखो। उदारता एवं दान में कुबेर का और संयम में वरुण का आदर्श ग्रहण करो। दूसरों के हित=परोपकार के लिए अपने आपको न्यौछावर करना, सौम्यभाव [नम्रता और शीतलता] तथा दूसरों को जीवन-दान देना—इन सब बातों की शिक्षा तुम्हें जल से लेनी चाहिए। तुम भूमि से क्षमा, सूर्य-मण्डल से तेज, वायु से बल तथा सम्पूर्ण भूतों से अपनी सम्पत्ति प्राप्त करो।

अगदं वोऽस्तु भद्रं वो द्रक्ष्यास्मि पुनरागतान् ।
आपद्धर्मार्थकृच्छ्रेषु सर्वकार्येषु वा पुनः ॥१५॥
यथावत् प्रतिपद्येथाः काले काले युधिष्ठिर ।
आपृष्टोऽसीह कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ॥१६॥

तुम सदा स्वस्थ रहो, तुम्हें कोई रोग न हो ! तुम्हारा सदा कल्याण ही हो। कुशलतापूर्वक वन से लौटने पर मैं फिर तुम्हारे प्रिय दर्शन करूँगा। युधिष्ठिर ! आपत्ति-काल में, धर्म तथा अर्थ का

संकट उपस्थित होने पर अथवा सभी कार्यों में तुम समय-समय पर अपने उचित कर्त्तव्य का पालन करना। कुन्तीनन्दन ! भारत ! तुमसे आवश्यक बातें कर लीं। तुम्हें सम्पूर्ण मङ्गल की प्राप्ति हो !

कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामः पुनरागतम् ।
न हि वो वृजिनं किञ्चिद् वेद कश्चित् पुराकृतम् ।।१७

जब तुम वन से कुशलतापूर्वक कृतार्थ होकर लौटोगे, तब यहाँ आने पर फिर हम सब तुमसे मिलेंगे। युधिष्ठिर ! तुम्हारे पहले के किसी दोष को दूसरा कोई न जाने, इसका ध्यान रखना।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा पाण्डवः सत्यविक्रमः ।
भीष्मद्रोणौ नमस्कृत्य प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ।।१८।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुर के ऐसा कहने पर सत्यपराक्रमी पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भीष्म और द्रोण को नमस्कार करके वहाँ से प्रस्थित हुए।

तस्मिन् सम्प्रस्थिते कृष्णा पृथां प्राप्य यशस्विनीम् ।
अपृच्छद् भृशदुःखार्ता याश्चान्यास्तत्र योषितः ।।१९।।

युधिष्ठिर के प्रस्थान करने पर द्रौपदी ने यशस्विनी कुन्ती के पास जाकर अत्यन्त दुःख से आतुर हो वन में जाने की आज्ञा माँगी। वहाँ जो अन्य स्त्रियाँ बैठी थीं, उनसे भी आज्ञा ली।

कुन्ती च भृशसंतप्ता द्रौपदीं प्रेक्ष्य गच्छतीम् ।
शोकविह्वलया वाचा कृच्छ्राद् वचनमब्रवीत् ।।२०।।

द्रौपदी को जाती देख कुन्ती अत्यन्त सन्तप्त हो उठीं तथा शोकाकुल वाणी में बड़ी कठिनाई से इस प्रकार बोलीं—

कुन्त्युवाच

वत्से शोको न ते कार्यः प्राप्येदं व्यसनं महत् ।
स्त्रीधर्माणामभिज्ञासि शीलाचारवती तथा ।।२१।।

कुन्ती बोली—पुत्री ! इस महान् संकट में पड़कर भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए। तुम नारी-धर्म को जानती हो तथा शील एवं सदाचार का पालन करनेवाली हो।

न त्वां सन्देष्टुमर्हामि र्पातं प्रति शुचिस्मिते ।□
साध्वीगुणसमापन्ना भूषितं ते कुलद्वयम् ।।२२।।

पवित्र मुस्कानवाली वधू ! इसीलिए पति के प्रति तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है, यह तुम्हें बताने की आवश्यकता मैं नहीं समझती। तुम सती-साध्वी नारियों के सद्गुणों से सुभूषित हो, तुमने पति और पिता दोनों के कुलों की शोभा बढ़ाई है।

सभाग्याः कुरवश्चेमे ये न दग्धास्त्वयानघे ।
अरिष्टं व्रज पन्थानं मदनुध्यानबृंहिता ।।२३।।

निष्पाप द्रौपदी ! ये कौरव बड़े सौभाग्यशाली हैं, जिन्हें तूने अपनी क्रोधाग्नि से जलाकर भस्म नहीं कर दिया। जाओ, तुम्हारा मार्ग विघ्न-बाधाओं से रहित हो, मेरे किये हुए शुभ-चिन्तन से तुम्हारा अभ्युदय हो।

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्त्वा तु सा देवी स्रवन्नेत्रजलाविला ।
शोणिताक्तैकवसना मुक्तकेशी विनिर्ययौ ।।२४।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुन्ती के ऐसा कहने पर आँखों से आँसू बहाती हुई द्रौपदी ने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। उस समय उसके शरीर पर एक ही वस्त्र था, उसका भी कुछ भाग रज से सना हुआ था तथा उसके सिर के बाल बिखरे हुए थे। उसी दशा में वह अन्तःपुर से बाहर निकली।

तां क्रोशन्तीं पृथा दुःखादनुवव्राज गच्छतीम् ।
अथापश्यत् सुतान् सर्वान् हृताभरणवाससः ।।२५।।

रोती-बिलखती वन को जाती हुई द्रौपदी के पीछे-पीछे कुन्ती भी दुःख से व्याकुल हो कुछ दूर तक गईं। इतने में ही उन्होंने अपने सब पुत्रों को देखा, जिनके वस्त्र और आभूषण उतार लिये गये थे।

रुरुचर्मावृततनून् ह्रिया किंचिदवाङ्मुखान् ।
परैः परीतान् संहृष्टैः सुहृद्भिश्चानुशोचितान् ।।२६।।

उनके सभी अङ्ग मृगचर्म से ढके हुए थे। लज्जा के कारण वे नीचे मुख किये चले जा रहे थे। हर्ष में भरे हुए शत्रुओं ने उन्हें सब ओर से घेर रखा था तथा हितैषी सुहृद् उनके लिए शोक कर रहे थे।

तदवस्थान् सुतान् सर्वानुपसृत्यातिवत्सला ।
स्वजमानावदच्छोकात् तत्तद् विलपती बहु ।।२७।।

उस दशा में उन सभी पुत्रों के निकट पहुँचकर कुन्ती के हृदय में अत्यन्त वात्सल्य उमड़ आया। वे

उन्हें हृदय से लगाकर शोक-वश अत्यधिक विलाप करती हुई बोलीं—

कुन्त्युवाच

कथं सद्धर्मचारित्रान् वृत्तस्थितिविभूषितान् ।
अक्षुद्रान् दृढभक्तांश्च दैवतेज्यापरान् सदा ॥२८॥
व्यसनं वः समभ्यागात् कोऽयं विधिविपर्ययः ।
कस्यापध्यानजं चेदं धिया पश्यामि नैव तत् ॥२९॥

कुन्ती बोली—पुत्रो ! तुम उत्तम धर्म का पालन करनेवाले तथा सदाचार की मर्यादा से समलंकृत हो। तुममें क्षुद्रता का लेश भी नहीं है। तुम परमात्मा के दृढ़ भक्त और देवयज्ञ करने में सदा तत्पर रहनेवाले हो, तो भी तुम्हारे ऊपर यह विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा है। विधाता का यह कैसा विपरीत विधान है? किसके अनिष्ट-चिन्तन से तुम्हारे ऊपर यह महान् दुःख आया है। इस विषय में बुद्धि से बार-बार विचार करने पर भी मुझे कुछ नहीं सूझ पड़ता।

स्यात्तु मद्भाग्यदोषोऽयं याहं युष्मानजीजनम् ।
दुःखायासभुजोऽत्यर्थं युक्तानप्युत्तमैर्गुणैः ॥३०॥

यह सब मेरे ही भाग्य का दोष हो सकता है। तुम तो उत्तम गुणों से युक्त हो, तो भी अत्यन्त दुःख और कष्ट भोगने के लिए ही मैंने तुम्हें जन्म दिया है।

कथं वत्स्यथ दुर्गेषु वने ऋद्धि विनाकृताः ।
वीर्यसत्त्वबलोत्साहतेजोभिरकृशाः कृशाः ॥३१॥

इस प्रकार सम्पत्ति से वंचित होकर तुम वन के दुर्गम स्थानों में कैसे रह सकोगे? वीर्य, धैर्य, बल, उत्साह और तेज से परिपुष्ट होते हुए भी तुम दुर्बल बने रहोगे।

पुत्रका न विहास्ये वः कृच्छ्रलब्धान् प्रियान् सतः ।
साहं यास्यामि हि वनं हा कृष्णे किं जहासि माम् ॥३२

पुत्रो ! तुम सदाचारी और मेरे लिए प्राणों से भी अधिक प्रिय हो। मैंने बड़े कष्ट से तुम्हें प्राप्त किया है, अतः तुम्हें छोड़कर मैं अलग नहीं रहूँगी। मैं भी तुम्हारे साथ वन में चलूंगी। हा कृष्णे ! तुम मुझे क्यों छोड़े जाती हो?

अन्तवत्यसुधर्मेऽस्मिन् धात्रा किं नु प्रमादतः ।
ममान्तो नैव विहितस्तेनायुर्न जहाति माम् ॥३३॥

यह प्राण-धारणरूपी धर्म अनित्य है, एक-न-एक दिन इसका अन्त होना निश्चित है, फिर भी विधाता ने न जाने क्यों प्रमाद-वश मेरे जीवन का भी शीघ्र ही अन्त नहीं नियत कर दिया। तभी तो आयु मुझे छोड़ नहीं रही है।

वैशम्पायन उवाच

एवं विलपन्तीं कुन्तीमभिवाद्य प्रणम्य च ।
पाण्डवा विगतानन्दा वनायैव प्रवव्रजुः ॥३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार विलाप करती हुई माता कुन्ती को अभिवादन तथा प्रणाम करके पाण्डव लोग दुःखी हो वन को चले गये।

विदुरश्चापि तामार्तां कुन्तीमाश्वास्य हेतुभिः ।
प्रावेशयद् गृहं क्षत्ता स्वयमार्ततरः शनैः ॥३५॥

विदुरजी शोक से व्याकुल कुन्ती को अनेक प्रकार की युक्तियों द्वारा धीरज बँधाकर धीरे-धीरे अपने घर ले आये। उस समय वे स्वयं भी अतिदुःखी थे।

राजा च धृतराष्ट्रस्तु पुत्राणामनयं तदा ।
ध्यायन्नुद्विग्नहृदयो न शान्तिमधिजग्मिवान् ॥३६॥

उधर अपने पुत्रों के अन्याय का चिन्तन करके राजा धृतराष्ट्र का हृदय भी उद्विग्न हो उठा। उन्हें तनिक भी शान्ति नहीं मिलती थी।

स चिन्तयन्ननेकाग्रः शोकव्याकुलचेतनः ।
क्षत्तुः सम्प्रेषयामास शीघ्रमागम्यतामिति ॥३७॥

चिन्ता में पड़े-पड़े उनकी एकाग्रता नष्ट हो गई। उनका चित्त शोक से व्याकुल हो रहा था। उन्होंने विदुर के पास सन्देश भेजा कि तुम शीघ्र मेरे पास चले आओ।

ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
तं पर्यपृच्छत् संविग्नो धृतराष्ट्रो जनाधिपः ॥३८॥

तब विदुर राजा धृतराष्ट्र के महल में गये। उस समय महाराज धृतराष्ट्र ने अत्यन्त उद्विग्न होकर उनसे पूछा—

धृतराष्ट्र उवाच

कथं गच्छति कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनः सव्यसाची माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥३९॥
धौम्यश्च कथं क्षत्तर्द्रौपदी च यशस्विनी ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं तेषां शंस विचेष्टितम् ॥४०॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—विदुर ! कुन्तीनन्दन धर्मपुत्र युधिष्ठिर किस प्रकार जा रहे हैं ? भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव—ये चारों पाण्डव भी किस प्रकार यात्रा करते हैं ? पुरोहित धौम्य और यशस्विनी द्रौपदी भी कैसे जा रही है ? मैं उन सबकी पृथक्-पृथक् चेष्टाओं को सुनना चाहता हूँ, तुम मुझे सुनाओ।

विदुर उवाच

वस्त्रेण संवृत्य मुखं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
बाहू विशालौ सम्पश्यन् भीमो गच्छति पाण्डवः ॥४१

विदुर ने कहा—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर वस्त्र से मुँह ढँककर जा रहे हैं। पाण्डुकुमार भीमसेन अपनी विशाल भुजाओं की ओर देखते हुए जा रहे हैं।

सिकता वपन् सव्यसाची राजानमनुगच्छति।
माद्रीपुत्रः सहदेवो मुखमालिप्य गच्छति ॥४२॥

सव्यसाची अर्जुन वालू-रेत विखेरते हुए राजा युधिष्ठिर के पीछे-पीछे जा रहे हैं। माद्री-पुत्र सहदेव अपने मुँह पर मिट्टी पोतकर जा रहे हैं।

पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलश्चित्तविह्वलः।
दर्शनीयतमो लोके राजानमनुगच्छति ॥४३॥

लोक में अति दर्शनीय, मनोहर रूपवाले नकुल अपने सब अङ्गों में धूल लपेटकर व्याकुल-चित्त हो राजा युधिष्ठिर का अनुसरण कर रहे हैं।

कृष्णा तु केशैः प्रच्छाद्य मुखमायतलोचना।
दर्शनीया प्ररुदती राजानमनुगच्छति ॥४४॥

परम सुन्दरी विशाललोचना (वड़ी-वड़ी आँखों-वाली) कृष्णा अपने केशों से ही मुँह ढँककर रोती हुई राजा के पीछे-पीछे जा रही है।

धौम्यो रौद्राणि सामानि याम्यानि च विशाम्पते।
गायन् गच्छति मार्गेषु कुशानादाय पाणिना ॥४५॥

महाराज ! पुरोहित धौम्यजी हाथ में कुशा लेकर रुद्र तथा यम देवता-सम्वन्धी साम-मन्त्रों का गान करते हुए आगे-आगे मार्ग पर चल रहे हैं।

धृतराष्ट्र उवाच

विविधानीह रूपाणि कृत्वा गच्छन्ति पाण्डवाः।
तन्ममाचक्ष्व विदुर कस्मादेवं व्रजन्ति ते ॥४६

धृतराष्ट्र ने पूछा—हे विदुर ! पाण्डव लोग जो विविध प्रकार की चेष्टाएँ करते हुए यात्रा कर रहे हैं, उसका क्या रहस्य है, यह मुझे वताओ ! वे इस प्रकार क्यों जा रहे हैं ?

विदुर उवाच

योऽसौ राजा घृणी नित्यं धार्तराष्ट्रेषु भारत।
निकृत्या भ्रंशितः क्रोधान्नोन्मीलयति लोचने ॥४७॥

विदुर बोले—हे भारत ! राजा युधिष्ठिर आपके पुत्रों पर सदा दया-भाव वनाये रखते थे, परन्तु इन्होंने छलपूर्वक जुए का आश्रय लेकर उन्हें राज्य से वंचित किया है, इससे उनके मन में वड़ा क्रोध है, और इसीलिए वे अपनी आँखों को नहीं खोलते हैं।

नाहं जनं निर्दहेयं दृष्ट्वा घोरेण चक्षुषा।
स पिधाय मुखं राजा तस्माद् गच्छति पाण्डवः ॥४८

"मैं अपनी भयंकर—रौद्र दृष्टि से देखकर किसी निरपराध मनुष्य को भस्म न कर डालूँ"—इसी भय से पाण्डु-पुत्र राजा युधिष्ठिर अपना मुँह ढँककर जा रहे हैं।

बाह्वोर्बले नास्ति समो ममेति भरतर्षभ।
बाहू विशालौ कृत्वासौ तेन भीमोऽपि गच्छति ॥४९॥
बाहू विदर्शयन् राजन् बाहुद्रविणदर्पितः।
चिकीर्षन् कर्म शत्रुभ्यो बाहुद्रव्यानुरूपतः ॥५०॥

भरतश्रेष्ठ ! भीमसेन को इस वात का अभिमान है कि वाहुवल में मेरे समान दूसरा कोई नहीं है, इसीलिए वे अपनी विशाल भुजाओं की ओर देखते हुए यात्रा कर रहे हैं। राजन् ! अपने वाहुवल-रूपी वैभव पर उन्हें गर्व है, अतः वे अपनी दोनों भुजाएँ दिखाते हुए शत्रुओं से वदला लेने के लिए अपने वाहुवल के अनुरूप ही पराक्रम प्रकट करना चाहते हैं।

प्रदिशञ्छरसम्पातान् कुन्तीपुत्रोऽर्जुनस्तदा।
सिकता वपन् सव्यसाची राजानमनुगच्छति ॥५१॥
असक्ताः सिकतास्तस्य यथा सम्प्रति भारत।
असक्तं शरवर्षाणि तथा मोक्ष्यति शत्रुषु ॥५२॥

कुन्ती-पुत्र सव्यसाची अर्जुन इस समय राजा के पीछे-पीछे जो वालू विखेरते हुए यात्रा कर रहे हैं, उसके द्वारा वे शत्रुओं पर वाण वरसाने की इच्छा प्रकट करते हैं। हे भारत ! इस समय उनके गिराये

हुए बालू के कण जैसे आपस में संसक्त न होते हुए लगातार गिरते हैं, उसी प्रकार वे शत्रुओं पर परस्पर संसक्त न होनेवाले असंख्य बाणों की वर्षा करेंगे।

न मे कश्चिद् विजानीयान्मुखमद्येति भारत।
मुखमालिप्य तेनासौ सहदेवोऽपि गच्छति ॥५३॥

हे भारत ! "आज इस दुर्दिन में कोई मेरे मुख को पहचान न ले"—यही सोचकर सहदेव अपने मुख पर मिट्टी पोतकर जा रहे हैं।

नाहं मनांस्याददेयं मार्गे स्त्रीणामिति प्रभो।
पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलस्तेन गच्छति ॥५४॥

प्रभो ! "मार्ग में मैं स्त्रियों का चित्त न चुरा लूँ"—इस भय से नकुल अपने सारे अङ्गों में धूल लगाकर यात्रा कर रहे हैं।

एकवस्त्रा प्ररुदती मुक्तकेशी रजस्वला।
शोणितेनाक्तवसना द्रौपदी वाक्यमब्रवीत् ॥५५॥

द्रौपदी के शरीर पर एक ही वस्त्र था, उसके बाल खुले हुए थे, वह रजस्वला थी तथा उसके कपड़ों में रक्त का दाग लगा हुआ था। उसने रोते हुए कहा था—

यत्कृतेऽहमिमां प्राप्ता तेषां वर्षे चतुर्दशे।
हतपत्यो हतसुता हतबन्धुजनप्रियाः ॥५६॥
बहुशोणितदिग्धाङ्ग्यो मुक्तकेश्यो रजस्वलाः।
एवं कृतोदका भार्याः प्रवेक्ष्यन्ति गजाह्वयम् ॥५७॥

"जिनके अन्याय से आज मैं इस अवस्था को पहुँची हूँ, आज से चौदहवें वर्ष में उनकी स्त्रियाँ भी अपने पति, पुत्र तथा बन्धु-बान्धवों के मारे जाने से उनकी लाशों के पास लोट-लोटकर रोएँगी और अपने अङ्गों में रक्त तथा धूल लपेटे, बाल खोले हुए, अपने सगे-सम्बन्धियों को तिलाञ्जलि दे इसी प्रकार हस्तिनापुर में प्रवेश करेंगी।"

कृत्वा तु नैर्ऋतान् दर्भान् धीरो धौम्यः पुरोहितः।
सामानि गायन् याम्यानि पुरतो याति भारत ॥५८॥

हे भारत ! धीर स्वभाववाले पुरोहित धौम्यजी कुशों का अग्रभाग नैर्ऋत्यकोण की ओर करके यमदेवता-सम्बन्धी सामवेदीय मन्त्रों का गान करते हुए पाण्डवों के आगे-आगे जा रहे हैं।

हतेषु भारतेष्वाजौ कुरूणां गुरवस्तदा।
एवं सामानि गास्यन्तीत्युक्त्वा धौम्योऽपि गच्छति ॥

इस प्रकार जाते हुए धौम्यजी यह सूचित कर रहे थे कि युद्ध में कौरवों के मारे जाने पर उनके गुरु भी कभी इसी प्रकार साम-गान करेंगे।

एवमाकारलिङ्गैस्ते व्यवसायं मनोगतम्।
कथयन्तश्च कौन्तेया वनं जग्मुर्मनस्विनः ॥६०॥

महाराज ! इस प्रकार मनस्वी कुन्तीपुत्र अपनी आकृति एवं चिह्नों द्वारा अपने आन्तरिक निश्चय को प्रकट करते हुए वन को गये हैं।

इति महाभारते सभापर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्र की चिन्ता और उनका संजय के साथ वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

वनं गतेषु पार्थेषु निर्जितेषु दुरोदरे।
धृतराष्ट्रं महाराज तदा चिन्ता समाविशत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! जब पाण्डव जुए में हारकर वन में चले गये, तब राजा धृतराष्ट्र को बड़ी चिन्ता हुई।

तं चिन्तयन्तमासीनं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम्।
निःश्वसन्तमनेकाग्रमिति होवाच सञ्जयः ॥२॥

महाराज धृतराष्ट्र को लम्बी साँसें खींचते और उद्विग्न-चित्त होकर चिन्ता में डूबे हुए देख, संजय ने इस प्रकार कहा—

संजय उवाच

अवाप्य वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिप।
प्रव्राज्य पाण्डवान् राज्याद् राजन् किमनुशोचसि ॥३॥

सञ्जय बोले—पृथिवीनाथ ! धन-रत्नों से परिपूर्ण सम्पूर्ण वसुधा का राज्य पाकर और पाण्डवों को अपने देश से निर्वासित करके अब आप शोक-मग्न क्यों हो रहे हैं ?

धृतराष्ट्र उवाच

अशोच्यत्वं कुतस्तेषां येषां वैरं भविष्यति ।
पाण्डवैर्युद्धशौण्डैर्हि बलवद्भिर्महारथैः ॥४॥

धृतराष्ट्र ने कहा—युद्ध-कुशल, बलवान् और महारथी पाण्डवों से जिन लोगों का वैर होगा, वे शोक-मग्न हुए बिना कैसे रह सकते हैं ?

संजय उवाच

तवेदं स्वकृतं राजन् महद् वैरमुपस्थितम् ।
विनाशो येन लोकस्य सानुबन्धो भविष्यति ॥५॥

सञ्जय ने कहा—राजन् ! यह आपकी अपनी ही की हुई करतूत है, जिससे यह महान् वैर उपस्थित हुआ है तथा इसी के कारण सारे संसार का सगे-सम्बन्धियोंसहित विनाश हो जाएगा ।

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् । □
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽपाचीनानि पश्यति ॥६॥
बुद्धौ कलुषितायाञ्च विनाशे समुपस्थिते । □
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥७॥

देवता लोग जिस पुरुष को पराजय देना चाहते हैं, सबसे पूर्व उसकी बुद्धि का अपहरण कर लेते हैं, परिणामस्वरूप वह सब-कुछ उल्टा ही देखने लगता है । विनाशकाल के उपस्थित होने पर जब बुद्धि मलिन हो जाती है, उस समय अन्याय ही न्याय के समान जान पड़ता है और वह हृदय से किसी प्रकार नहीं निकलता ।

अनर्थाश्चार्थरूपेण अर्थाश्चानर्थरूपिणः ।
उत्तिष्ठन्ति विनाशाय नूनं तच्चास्य रोचते ॥८॥

उस समय उस पुरुष के विनाश के लिए अनर्थ अर्थ-रूप से तथा अर्थ अनर्थ-रूप से उपस्थित होते हैं और निश्चय ही अर्थ-रूप में आया हुआ अनर्थ ही उसे अच्छा लगता है ।

न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित् ।
कालस्य बलमेतावद् विपरीतार्थ-दर्शनम् ॥९॥

काल=मृत्यु डण्डा या तलवार लेकर किसी का सिर नहीं काटता । काल की शक्ति इतनी ही है कि वह प्रत्येक वस्तु के विषय में मनुष्य की बुद्धि को विपरीत कर देता है ।

आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
पाञ्चालीमपकर्षद्भिः सभामध्ये तपस्विनीम् ॥१०॥

तपस्विनी पाञ्चाल राजकुमारी द्रौपदी को भरी सभा में खींचकर लानेवाले दुष्टों ने भयंकर तथा लोम-हर्षक (रोंगटे खड़े कर देनेवाले) घमासान युद्ध की सम्भावना उत्पन्न कर दी है ।

तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ ।
एवं कृते महाराज परं श्रेयस्त्वमाप्स्यसि ॥११॥

भरतवंशशिरोमणे ! पाण्डवों के साथ आपको शान्ति ही बनाये रखनी चाहिए । महाराज ! ऐसा करने पर ही आप परम कल्याण के भागी होंगे ।

इति महाभारते सभापर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

इति सभापर्व सम्पूर्णम् ॥२॥

वनपर्व

प्रथमोऽध्यायः

पाण्डवों का ब्राह्मणों के साथ वन-गमन

वैशम्पायन उवाच

एवं द्यूतजिताः पार्थाः कोपिताश्च दुरात्मभिः।
धार्तराष्ट्रैः सहामात्यैर्निर्ययुर्गजसाह्वयात् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन्! इस प्रकार मन्त्रियोंसहित दुष्टात्मा धृतराष्ट्र-पुत्रों द्वारा जुए में पराजित करके क्रुद्ध किये हुए कुन्ती-पुत्र हस्तिनापुर से बाहर निकले।

वर्धमानपुरद्वारादभिनिष्क्रम्य पाण्डवाः।
उदङ्मुखाः शस्त्रभृतः प्रययुः सह कृष्णया ॥२॥

वर्धमानपुर की दिशा में स्थित नगर-द्वार से निकलकर शस्त्रधारी पाण्डवों ने द्रौपदी के साथ उत्तराभिमुख होकर यात्रा आरम्भ की।

गतानेतान्विदित्वा तु पौराः शोकाभिपीडिताः।
ऊचुर्विगतसन्त्रासाः समागम्य परस्परम् ॥३॥

पाण्डवों के वनवास का अशुभ समाचार पाकर हस्तिनापुर के निवासी शोक-पीड़ित एवं भयरहित हो, एक-दूसरे से मिलकर इस प्रकार कहने लगे—

पौरा ऊचुः

नेदमस्ति कुलं सर्वं न वयं न च नो गृहाः।
यत्र दुर्योधनः पापो राज्यमेतच्चिकीर्षति ॥४॥

पुरवासी बोले—अहो! हमारा यह समस्त कुल, हम और हमारे घर अब सुरक्षित नहीं हैं, क्योंकि पापी दुर्योधन इस राज्य का शासन करना चाहता है।

दुर्योधनो गुरुद्वेषी त्यक्ताचारसुहृज्जनः।
अर्थलुब्धोऽभिमानी च नीचः प्रकृतिनिर्घृणः ॥५॥

दुर्योधन गुरुजनों से द्वेष करनेवाला, अर्थ-लोलुप, अभिमानी, नीच और स्वभाव से ही निर्दय है।

नेयमस्ति मही कृत्स्ना यत्र दुर्योधनो नृपः।
साधु गच्छामहे सर्वे यत्र गच्छन्ति पाण्डवाः ॥६॥

जहाँ दुर्योधन राजा है, वहाँ की सारी पृथिवी नहीं के बराबर है, अतः अच्छा यही है कि हम सब लोग वहीं चलें, जहाँ पाण्डव जा रहे हैं।

सानुक्रोशा महात्मानो विजितेन्द्रियशत्रवः।
ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च धर्माचारपरायणाः ॥७॥

पाण्डवगण दयालु, महात्मा, जितेन्द्रिय, शत्रु-विजयी, लज्जाशील, यशस्वी, धर्मात्मा और सदा-चार-परायण हैं।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वानुजग्मुस्ते पाण्डवांस्तान् समेत्य च।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे कौन्तेयान् माद्रिनन्दनान् ॥८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर वे पुरवासी पाण्डवों के पास गये और उन कुन्ती तथा माद्रीपुत्रों से मिलकर, वे सबके सब हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले—

क्व गमिष्यथ भद्रं वस्त्यक्त्वास्मान्दुःखभागिनः।
वयमप्यनुयास्यामो यत्र यूयं गमिष्यथ ॥९॥

हे पाण्डवो! आपका कल्याण हो। आप हम सब दुःखी लोगों को छोड़कर कहाँ जा रहे हैं? जहाँ आप जाएँगे, वहीं हम भी आपके साथ चलेंगे।

श्रूयतां चाभिधास्यामो गुणदोषान् नरर्षभाः।
शुभाशुभाधिवासेन संसर्गः कुरुते यथा ॥१०॥

नरश्रेष्ठ पाण्डवो! शुभ एवं अशुभ आश्रय में रहने पर वहाँ का संसर्ग मनुष्यों में जैसे गुण-दोषों की सृष्टि करता है, हम उनका वर्णन करते हैं, आप सुनिए!

वस्त्रमापस्तिलान् भूमिं गन्धो वासयते यथा ।
पुष्पाणामधिवासेन तथा संसर्गजा गुणाः ॥११॥

जैसे फूलों के संसर्ग में रहने पर उनकी सुगन्ध वस्त्र, जल, तिल और भूमि को सुवासित कर देती है, उसी प्रकार संसर्ग-जनित गुण भी अपना प्रभाव डालते हैं।

मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः ।
अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः ॥१२॥

मूढ़ मनुष्यों के साथ मेल-जोल मोह-जाल की उत्पत्ति का कारण होता है और साधु-सन्तों का सङ्ग प्रतिदिन धर्म की प्राप्ति करानेवाला है।

तस्मात्प्राज्ञैश्च वृद्धैश्च सुस्वभावैस्तपस्विभिः ।
सद्भिश्च सह संसर्गः कार्यः शमपरायणैः ॥१३॥

अतः मनुष्य को विद्वानों, वृद्धपुरुषों, उत्तम स्वभाव वाले शान्तिपरायण, तपस्वी सत्पुरुषों का ही सत्सङ्ग करना चाहिए।

येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च ।
ते सेव्यास्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी ।१४

जिन पुरुषों के विद्या, जन्म और कर्म—ये तीनों श्रेष्ठ हों, उनका सेवन करना चाहिए, क्योंकि उन महापुरुषों के साथ बैठना शास्त्रों के स्वाध्याय से भी बढ़कर है।

असतां दर्शनात् स्पर्शात्सञ्जल्पाच्च सहासनात् ।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः ॥१५॥

दुष्ट मनुष्यों के दर्शन, स्पर्श, उनके साथ वार्तालाप अथवा उठने-बैठने से धार्मिक आचारों की हानि होती है, अतः वैसे मनुष्यों को कभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात् ।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः ॥१६॥

नीच पुरुषों का सङ्ग करने से मनुष्यों की बुद्धि नष्ट होती है। मध्यम श्रेणी के मनुष्यों का सङ्ग करने से मध्यम तथा उत्तम पुरुषों का सङ्ग करने से बुद्धि उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होती है।

ये गुणाः कीर्तिता लोके ते युष्मासु व्यवस्थिताः ।
इच्छामो गुणवन्मध्ये वस्तुं श्रेयोऽभिकांक्षिणः ॥१७॥

संसार में जो उत्तम गुण बताये गये हैं, वे सभी सद्‌गुण आप लोगों में विद्यमान हैं, अतः हम लोग कल्याण की इच्छा से आप-जैसे गुणवानों के मध्य में रहना चाहते हैं।

युधिष्ठिर उवाच

धन्या वयं यदस्माकं स्नेहकारुण्ययन्त्रिताः ।
असतोऽपि गुणानाहुर्ब्राह्मणप्रमुखाः प्रजाः ॥१८॥

युधिष्ठिर बोले—हम लोग धन्य हैं, क्योंकि ब्राह्मण आदि प्रजावर्ग के लोग हमारे प्रति स्नेह और करुणा के पाश में बँधकर, जो गुण हम में नहीं हैं, उन्हें भी हममें बता रहे हैं।

तदहं भ्रातृसहितः सर्वान् विज्ञापयामि वः ।
नान्यथा तद्धि कर्तव्यमस्मत्स्नेहानुकम्पया ॥१९॥

परन्तु भाइयोंसहित मैं आप लोगों से कुछ निवेदन करता हूँ। आप लोग हमपर स्नेह और कृपा करके उसके पालन से मुख न मोड़ें।

भीष्मः पितामहो राजा विदुरो जननी च मे ।
सुहृज्जनश्च प्रायो मे नगरे नागसाह्वये ॥२०॥

[आप लोगों को यह विदित ही है कि] हमारे पितामह भीष्म, राजा धृतराष्ट्र, विदुरजी, मेरी माता तथा प्रायः अन्य बन्धु-बान्धव भी हस्तिनापुर में ही हैं।

ते त्वस्मद्धितकामार्थं पालनीयाः प्रयत्नतः ।
युष्माभिः सहिताः सर्वे शोकसन्तापविह्वलाः ॥२१॥

वे सब लोग आप लोगों के साथ ही शोक और सन्ताप से व्याकुल हैं, अतः आप लोग हमारे हित की इच्छा रखकर उन सबका यत्नपूर्वक पालन करें।

निवर्ततागता दूरं समागमनशापिताः ।
स्वजने न्यासभूते मे कार्या स्नेहान्विता मतिः ॥२२॥

आप लोग बहुत दूर चले आये हैं, अब लौट जाइए। मैं अपनी शपथ दिलाकर अनुरोध करता हूँ कि आप लोग मेरे साथ न चलें। मेरे स्वजन आपके पास धरोहर के रूप में हैं, उनके प्रति आप लोगों के हृदय में स्नेहभाव रहना चाहिए।

वैशम्पायन उवाच

तथानुमन्त्रितास्तेन धर्मराजेन ताः प्रजाः ।
चक्रुरार्तस्वरं घोरं हा राजन्निति संहताः ॥२३॥

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय! धर्मराज द्वारा

इस प्रकार विनयपूर्वक अनुरोध किये जाने पर उन समस्त प्रजाओं ने 'हा ! महाराज !' ऐसा कहकर एक साथ भयंकर आर्तनाद किया।

गुणान् पार्थस्य संस्मृत्य दुःखार्ता परमातुराः।
अकामाः संन्यवर्तन्त समागम्याथ पाण्डवान् ।।२४।।

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर के गुणों का स्मरण करके प्रजा दुःख से पीड़ित और अत्यन्त आतुर हो गई। उनकी पाण्डवों के साथ जाने की इच्छा पूर्ण न हो सकी। वे केवल उनसे मिलकर लौट आये।

निवृत्तेषु तु पौरेषु रथानास्थाय पाण्डवाः।
आजग्मुर्जाह्नवीतीरे प्रमाणाख्यं महावटम् ।।२५।।

पुरवासियों के लौट जाने पर पाण्डव बन्धु रथों पर बैठकर गङ्गा के किनारे प्रमाणकोटि नामक महान् वटवृक्ष के समीप आये।

ते तं दिवसशेषेण वटं गत्वा तु पाण्डवाः।
ऊषुस्तां रजनीं वीराः संस्पृश्य सलिलं शुचि ।।२६।।

सन्ध्या होते-होते उस वट के निकट पहुँचकर शूरवीर पाण्डवों ने पवित्र जल का स्पर्श—आचमन और सन्ध्या-वन्दन आदि करके वह रात्रि वहीं व्यतीत की।

उदकेनैव तां रात्रिमूषुस्ते दुःखकर्षिताः।
अनुजग्मुश्च तत्रैतान् स्नेहात्केचिद् द्विजातयः ।।२७।।

दुःख से पीड़ित हुए वे पाँचों पाण्डुपुत्र उस रात में केवल जल पीकर ही रह गये। कुछ ब्राह्मणलोग भी इन पाण्डवों के साथ स्नेहवश वहाँ तक चले आये थे।

प्रभातायां तु शर्वर्यां तेषामक्लिष्टकर्मणाम्।
वनं यियासतां विप्रास्तस्थुर्भिक्षाभुजोऽग्रतः ।।२८।।

जब रात बीती और प्रभात का उदय हुआ, तब महापराक्रमी पाण्डवों को वन की ओर जाने के लिए उद्यत देख कुछ भिक्षान्नभोजी ब्राह्मण साथ चलने के लिए उनके सामने आकर खड़े हो गये।

तानुवाच ततो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
वयं हि हृतसर्वस्वा हृतराज्या हृतश्रियः ।।२९।।
फलमूलाशनाहारा वनं यास्याम दुःखिताः।
वनं च दोषबहुलं बहुव्यालसरीसृपम् ।।३०।।

तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने उनसे कहा—"ब्राह्मणो ! हमारा राज्य, लक्ष्मी और सर्वस्व जुए में छीन लिया गया है। हम फल, मूल तथा कन्दाहार का निश्चय करके दुःखी होकर वन में जा रहे हैं। वन में बहुत-से दोष हैं। वहाँ सर्प-विच्छू आदि अनेक भयंकर जन्तु हैं।

परिक्लेशश्च वो मन्ये ध्रुवं तत्र भविष्यति।
ब्राह्मणानां परिक्लेशो दैवतान्यपि सादयेत्।
किं पुनर्मामितो विप्रा निवर्तध्वं यथेष्टतः ।।३१।।

"मेरे विचार में वहाँ आप लोगों को अवश्य ही महान् कष्ट का सामना करना पड़ेगा। ब्राह्मणों को दिया हुआ क्लेश तो देवताओं का भी विनाश कर सकता है, फिर मेरी तो बात ही क्या है ? अतः हे ब्राह्मणो ! आप यहाँ से अपने अभीष्ट स्थान को लौट जाइए।

ब्राह्मणा ऊचुः

गतिर्या भवतां राजंस्तां वयं गन्तुमुद्यताः।
नार्हस्यस्मान् परित्यक्तुं भक्तान् सद्धर्मदर्शिनः ।।३२।।

ब्राह्मणों ने कहा—हे राजन् ! आपकी जो गति होगी, उसे भुगतने के लिए हम भी उद्यत हैं। हम आपके भक्त और श्रेष्ठधर्म पर दृष्टि रखनेवाले हैं, अतः हमारा परित्याग मत कीजिए।

युधिष्ठिर उवाच

ममापि परमा भक्तिर्ब्राह्मणेषु सदा द्विजाः।
सहायविपरिभ्रंशस्त्वयं सादयतीव माम् ।।३३।।
आहरेयुरिमे येऽपि फलमूलमधूनि च।
त इमे शोकजैर्दुःखैर्भ्रातरो मे विमोहिताः ।।३४।।

युधिष्ठिर बोले—हे विप्रगण ! मेरे हृदय में भी ब्राह्मणों के प्रति अत्यन्त श्रद्धा है, किन्तु सब प्रकार के सहायक साधनों का अभाव ही मुझे दुःखमग्न किये दे रहा है। जो फल, मूल, शहद आदि पदार्थ जुटाकर ला सकते थे, वे ही मेरे भाई शोकजनित दुःख से मोहित हो रहे हैं।

द्रौपद्या विप्रकर्षेण राज्यापहरणेन च।
दुःखार्दितानिमान् क्लेशैर्नाहं योक्तुमिहोत्सहे ।।३५।।

द्रौपदी के अपमान तथा राज्य के अपहरण के कारण ये दुःख से पीड़ित हो रहे हैं, अतः मैं इन्हें

[आहार-संग्रह का आदेश देकर] अधिक क्लेश में नहीं डालना चाहता।

ब्राह्मणा ऊचुः

असमत्पोषणजा चिन्ता मा भूत्ते हृदि पार्थिव।
स्वयमाहृत्य चान्नानि त्वानुयास्यामहे वयम् ॥३६॥

ब्राह्मण बोले—हे पृथिवीनाथ! आपके हृदय में हमारे पालन-पोषण की चिन्ता नहीं होनी चाहिए। हम स्वयं ही अपने लिए अन्नादि की व्यवस्था करके आपके साथ चलेंगे।

अनुध्यानेन जप्येन विधास्यामः शिवं तव।
कथाभिश्चाभिरम्याभिः सह रंस्यामहे वयम् ॥३७॥

हम आपके अभीष्ट-चिन्तन और जप के द्वारा आपका कल्याण करेंगे तथा आपको सुन्दर-सुन्दर कथाएँ सुनाकर आपके साथ प्रसन्नतापूर्वक वन में विचरेंगे।

वैशम्पायन उवाच

ततः कृतस्वस्त्ययना धौम्येन सह पाण्डवाः।
द्विजसंघैः परिवृताः प्रययुः काम्यकं वनम् ॥३८॥

ब्राह्मणों के ऐसा कहने पर पाण्डव स्वस्तिवाचन कराकर ब्राह्मण-समुदाय से घिरे हुए, धौम्यजी के साथ काम्यक वन को चले गये।

इति महाभारते वनपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

काम्यक वन में श्रीकृष्ण का पाण्डवों को आश्वासन

वैशम्पायन उवाच

भोजाः प्रव्रजितान् श्रुत्वा वृष्णयश्चान्धकैः सह।
पाण्डवान् दुःखसंतप्तान् समाजग्मुर्महावने ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब भोज, वृष्णि और अन्धक-वंश के वीरों ने सुना कि पाण्डव दुःख से सन्तप्त हो राजधानी से निकलकर चले गये, तब वे उनसे मिलने के लिए विशाल वन में आये।

पाञ्चालस्य च दायादो धृष्टकेतुश्च चेदिपः।
केकयाश्च महावीर्या भ्रातरो लोकविश्रुताः ॥२॥
वने द्रष्टुं ययुः पार्थान् क्रोधामर्षसमन्विताः।
गर्हयन्तो धार्तराष्ट्रान् किं कुर्म इति चाब्रुवन् ॥३॥

पाञ्चाल राजकुमार धृष्टद्युम्न, चेदिराज धृष्टकेतु तथा महापराक्रमी लोकविख्यात केकय राजकुमार सभी भाई क्रोध और अमर्ष में भरकर धृतराष्ट्र-पुत्रों की निन्दा करते हुए कुन्तीपुत्रों से मिलने के लिए वन में गये और आपस में इस प्रकार कहने लगे—"अब हमें क्या करना चाहिए?"

वासुदेवं पुरस्कृत्य सर्वे ते क्षत्रियर्षभाः।
परिवार्योपविविशुर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥४॥

श्रीकृष्ण को आगे करके वे सभी क्षत्रियशिरोमणि धर्मराज युधिष्ठिर को चारों ओर से घेरकर बैठ गये। तब—

वासुदेव उवाच

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥५॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजाओ! जान पड़ता है, यह पृथिवी दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि और चौथे दुःशासन—इन सबके रक्त का पान करेगी।

एतान् निहत्य समरे ये च तेषां पदानुगाः।
ततः सर्वेऽभिषिञ्चामो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥६॥

युद्ध में इनको और इनके अनुयायी सेवकों और राजाओं को मारकर हम सब लोग धर्मराज युधिष्ठिर को पुनः चक्रवर्ती सम्राट् के पद पर अभिषिक्त करें।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु वचने केशवेन महात्मना।
पाञ्चाली पुण्डरीकाक्षमभिगम्याब्रवीत् रुषा ॥७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महात्मा कृष्ण के ऐसा कहने पर क्रुद्ध हुई पाञ्चाल राजकुमारी द्रौपदी श्रीकृष्ण के पास जाकर उनसे बोली—

द्रौपद्युवाच

भार्याहं धर्मराजस्य तव कृष्ण सखी विभो।□
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी सभां कृष्येत मादृशी ॥८॥

द्रौपदी ने कहा—महात्मन् कृष्ण! मुझ जैसी स्त्री जो धर्मराज युधिष्ठिर की पत्नी, आपकी सखी और

धृष्टद्युम्न जैसे वीर की बहिन हो, क्या उसके केश पकड़कर सभा में घसीटा जा सकता है ?

चतुर्भिः कारणैः कृष्ण त्वया रक्ष्यास्मि नित्यशः । □
सम्बन्धात् गौरवात् सख्यात् प्रभुत्वेनैव केशव ॥९॥

श्रीकृष्ण ! चार कारणों से आपको सदा मेरी रक्षा करनी चाहिए । एक तो आप मेरे सम्बन्धी हैं, दूसरे मैं गौरवशालिनी हूँ, तीसरे आपकी सच्ची सखी हूँ और चौथे आप मेरी रक्षा करने में समर्थ हैं ।

वासुदेव उवाच

यत्समर्थं पाण्डवानां तत्करिष्यामि मा शुचः ।
सत्यं ते प्रतिजानामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि ॥१०॥

श्रीकृष्ण बोले—बहिन ! पाण्डवों के हित के लिए जो कुछ भी सम्भव है, मैं वह सब करूँगा, तुम शोक मत करो । मैं सत्य प्रतिज्ञापूर्वक कह रहा हूँ कि तुम राजरानी बनोगी ।

पतेद् द्यौर्हिमवाञ्छीर्येत् पृथिवी शकली भवेत् ।
शुष्येत् तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत् ॥११॥

हे कृष्णे ! चाहे आसमान फट पड़े, हिमालयपर्वत विदीर्ण हो जाए, पृथिवी के टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ और समुद्र सूख जाए, परन्तु मेरी यह बात झूठी नहीं हो सकती ।

नैतत् कृच्छ्रमनुप्राप्तो भवान् स्याद् वसुधाधिप ।
यद्यहं द्वारकायां स्यां राजन् सन्निहितः पुरा ॥१२॥
आगच्छेयमहं द्यूतमनाहूतोऽपि कौरवैः ।
वारयेयमहं द्यूतं बहून् दोषान् प्रदर्शयन् ॥१३॥

[द्रौपदी से ऐसा कह श्रीकृष्ण पुनः युधिष्ठिर से बोले] हे राजन् ! यदि मैं पहले द्वारका में या उसके निकट होता तो आप इस भारी संकट में नहीं पड़ते । मैं कौरवों के विना बुलाये भी उस द्यूत-सभा में जाता और जुए के अनेक दोष दिखाकर उसे रोकने की पूरी चेष्टा करता ।[1]

स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत् कामसमुत्थितम् । □
दुःखं चतुष्टयं प्रोक्तं यैर्नरो भ्रश्यते श्रियः ॥१४॥

स्त्रियों के प्रति आसक्ति, जुआ खेलना, शिकार खेलने का शौक और मद्यपान—ये चार प्रकार के काम-जनित भोग दुःखरूप हैं । इनके कारण ही मनुष्य अपने धनैश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है ।

न चेत् स मम राजेन्द्र गृह्णीयान्मधुरं वचः ।
पथ्यं च भरतश्रेष्ठ निगृह्णीयां बलेन तम् ॥१५॥

राजेन्द्र ! भरतश्रेष्ठ ! यदि वह (दुर्योधन) मेरा मधुर और हितकारी वचन सुनकर भी उसे न मानता तो मैं उसे बलपूर्वक रोक देता ।

अथैनमपनीतेन सुहृदो नाम दुर्हृदः ।
सभासदोऽनुवर्तेरँस्तांश्च हन्यां दुरोदरान् ॥१६॥

यदि वहाँ मित्र नामधारी शत्रु अन्याय का आश्रय लेकर धृतराष्ट्र का साथ देते, तो मैं उन सभासद् जुआरियों को भी मार डालता ।

असांनिध्यं तु कौरव्य ममानर्तेष्वभूत् तदा ।
येनेदं व्यसनं प्राप्ता भवन्तो द्यूतकारितम् ॥१७॥

कुरुश्रेष्ठ ! मैं उन दिनों आनर्त देश में था ही नहीं, इसीलिए आप लोगों पर यह द्यूत-जनित संकट आ गया ।

सोऽहमेत्य कुरुश्रेष्ठ द्वारकां पाण्डुनन्दन ।
अश्रौषं त्वां व्यसनिनं युयुधानाद् यथातथम् ॥१८॥

कुरुश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन ! जब मैं द्वारका में आया, तब सात्यकि से आपके संकट में पड़ने का यथावत् वृत्तान्त सुना ।

श्रुत्वैव चाहं राजेन्द्र परमोद्विग्नमानसः ।
तूर्णमभ्यागतोऽस्मि त्वां द्रष्टुकामो विशाम्पते ॥१९॥

हे नरनाथ ! राजेन्द्र ! यह समाचार सुनते ही मेरा मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा और मैं तुरन्त ही आपसे मिलने के लिए चला आया ।

---

१. कौरव सभा में द्रौपदी का चीर नहीं खींचा गया था, यह बात इस स्थल से स्पष्ट है । श्रीकृष्णजी कह रहे हैं कि जिस समय जुआ खेला जा रहा था, मैं द्वारका में नहीं था ।

श्रीकृष्णजी आप्त पुरुष थे । आप्त किसे कहते हैं ? महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'आप्त' शब्द की परिभाषा इस प्रकार की है—

"जो यथार्थ वक्ता, धर्मात्मा, सबके सुख के लिए प्रयत्न करता है, उसी को 'आप्त' कहता हूँ ।"
—सत्यार्थप्रकाश, स्वमन्तव्यामन्तव्य

श्रीकृष्णजी कहते हैं कि मैं द्वारका में नहीं था और भक्तों ने साड़ी बढ़ाने की कल्पना कर डाली । श्री कृष्णजी तो झूठ नहीं बोल सकते, अतः निश्चय ही उनके भक्त झूठ बोल रहे हैं ।

अहो कृच्छ्रमनुप्राप्ताः सर्वे स्म भरतर्षभ ।
अद्याहं किं करिष्यामि भिन्नसेतुरिवोदकम् ॥२०॥

अहो ! भरतकुलभूषण ! आप सब लोग बड़ी कठिनाई में पड़ गये हैं। जैसे बांध टूट जाने पर पानी को कोई नहीं रोक सकता, उसी प्रकार जब सब-कुछ बिगड़ गया है, तब मैं क्या कर सकता हूँ ?

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाबाहुः कौरवं पुरुषोत्तमः ।
आमन्त्र्य प्रययौ श्रीमान् पाण्डवान् मधुसूदनः ॥२१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! ऐसा कहकर पुरुषश्रेष्ठ महाबाहु श्रीकृष्ण कुरुनन्दन-युधिष्ठिर की आज्ञा लेकर द्वारका की ओर चले।

ततः प्रयाते दाशार्हे धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः ।
द्रौपदेयानुपादाय प्रययौ स्वपुरं तदा ॥२२॥

श्रीकृष्ण के चले जाने पर द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न ने भी द्रौपदीपुत्रों को साथ ले अपनी राजधानी की ओर प्रस्थान किया।

धृष्टकेतुः स्वसारं च समादायाथ चेदिराट् ।
जगाम पाण्डवान्दृष्ट्वा रम्यां शुक्तिमतीं पुरीम् ॥२३॥

चेदिराज धृष्टकेतु भी अपनी बहिन करेणुमती को, जो नकुल की भार्या थी, साथ लेकर पाण्डवों से मिल-जुलकर अपनी सुरम्य राजधानी शुक्तिमती पुरी को चले गये।

केकयाश्चाप्यनुज्ञाताः कौन्तेयेनामितौजसा ।
आमन्त्र्य पाण्डवान् सर्वान् प्रययुस्तेऽपि भारत ॥२४॥

हे भारत ! केकय राजकुमार भी अमित तेजस्वी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर की आज्ञा पा समस्त पाण्डवों से विदा लेकर अपने नगर को चले गये।

इति महाभारते वनपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

पाण्डवों का द्वैत वन में प्रवेश, दल्भपुत्र बक द्वारा ब्राह्मणों का महत्त्व-कथन

वैशम्पायन उवाच

ततस्तेषु प्रयातेषु कौन्तेयः सत्यसङ्गरः ।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भ्रातॄन् सर्वान् युधिष्ठिरः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—श्रीकृष्ण आदि के चले जाने पर सत्यप्रतिज्ञ एवं धर्मात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने अपने सब भाइयों से कहा—

द्वादशेमानि वर्षाणि वस्तव्यं निर्जने वने ।
समीक्षध्वं महारण्ये देशं बहुमृगद्विजम् ॥२॥

"हम लोगों को आगामी बारह वर्षों तक निर्जन वन में निवास करना है, अतः इस महान् वन में कोई ऐसा स्थान ढूंढ़ो जहां बहुत-से पशु-पक्षी निवास करते हों।

बहुपुष्पफलं रम्यं शिवं पुण्यजनावृतम् ।
यत्रेमाः शरदः सर्वाः सुखं प्रतिवसेमहि ॥३॥

जहाँ फल-फूलों की अधिकता हो, जो देखने में रमणीक और कल्याणकारी हो, जहां बहुत-से महात्मा रहते हों, वह स्थान ऐसा हो जहां हम बारह वर्ष तक सुख से रह सकें।

अर्जुन उवाच

त्वमेव राजञ्जानासि श्रेयः कारणमेव च ।
यत्रेच्छसि महाराज निवासं तत्र कुर्महे ॥४॥

अर्जुन बोले—राजन् ! आप ही श्रेय=मोक्ष के कारण का ज्ञान रखते हैं, अतः महाराज ! जहाँ आपकी इच्छा हो, हम लोग वहीं निवास करेंगे।

इदं द्वैतवनं नाम सरः पुण्यजलोचितम् ।
बहुपुष्पफलं रम्यं नानाद्विजनिषेवितम् ॥५॥

यह जो स्वच्छ जल से भरे हुए सरोवर युक्त है, इसका नाम द्वैत-वन है। यहाँ फल और फूलों की बहुलता है। यह स्थान रमणीय और अनेक ब्राह्मणों से सेवित है।

अत्रेमा द्वादश समा विहरेमेति रोचये ।
यदि तेऽनुमतं राजन् किमन्यन्मन्यते भवान् ॥६॥

मेरी इच्छा है कि बारह वर्ष तक हम लोग यहीं निवास करें। राजन् ! आपकी अनुमति हो तो यहीं निवास किया जाए अथवा आप दूसरे किसी स्थान को उत्तम समझते हैं ?

युधिष्ठिर उवाच

ममाप्येतन्मतं पार्थ त्वया यत् समुदाहृतम् ।
गच्छामः पुण्यविख्यातं महद् द्वैतवनं सरः ॥७॥

युधिष्ठिर ने कहा—पार्थ ! तुमने जैसा बताया है, मेरा भी वही मत है । हम लोग स्वच्छ एवं पवित्र जलवाले सरोवर के कारण प्रसिद्ध 'द्वैत वन' नामक विशाल अरण्य-प्रदेश में चलें ।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते प्रययुः सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः ।
ब्राह्मणैर्बहुभिः सार्धं पुण्यं द्वैतवनं सरः ॥८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वे सभी धर्मात्मा पाण्डव बहुत-से ब्राह्मणों के साथ पवित्र द्वैत-वन में स्थित सरोवर को चले गये ।

वसत्सु वै द्वैतवने पाण्डवेषु महात्मसु ।
अनुकीर्णं महारण्यं ब्राह्मणैः समपद्यत ॥९॥

जब पाण्डव द्वैतवन में निवास करने लगे, तब वह विशाल वन ब्राह्मणों से भर गया ।

ईर्यमानेन सततं ब्रह्मघोषेण सर्वशः ।
ब्रह्मलोकसमं पुण्यमासीद् द्वैतवनं सरः ॥१०॥

सदा और सब ओर उच्चारित होनेवाले वेद-मन्त्रों के घोष से सरोवर-सहित वह द्वैतवन ब्रह्मलोक के समान जान पड़ता था ।

ज्याघोषश्चैव पार्थानां ब्रह्मघोषश्च धीमताम् ।
संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं भूय एव व्यरोचत ॥११॥

कुन्तीपुत्रों के धनुष की डोरी के टंकार शब्द और बुद्धिमान् ब्राह्मणों के वेदमन्त्रों का घोष—दोनों मिलकर ऐसे प्रतीत होते थे, मानो ब्राह्म और क्षात्र-शक्ति का संयोग हो रहा है ।

अथाब्रवीद् बको दाल्भ्यो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
सन्ध्यां कौन्तेयमासीनमृषिभिः परिवारितम् ॥१२॥

एक दिन कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर सन्ध्या-उपासना करके ऋषियों से घिरे हुए बैठे थे, उस समय दल्भ के पुत्र बक ने उनसे कहा—

ब्रह्मक्षत्रेण संसृष्टं क्षत्रं च ब्रह्मणा सह ।
उदीर्णे दहतः शत्रून् वनानीवाग्निमारुतौ ॥१३॥

जब ब्राह्मण क्षत्रिय से और क्षत्रिय ब्राह्मण से मिल जाएँ तब दोनों प्रचण्ड शक्तिशाली होकर उसी प्रकार अपने शत्रुओं को भस्म कर देते हैं, जैसे अग्नि और वायु मिलकर सारे वन को जला देते हैं ।

ब्राह्मण्यनुपमा दृष्टिः क्षात्रमप्रतिमं बलम् ।
तौ यदा चरतः सार्धं तदा लोकः प्रसीदति ॥१४॥

ब्राह्मणों के पास अनुपम दृष्टि—विचारशक्ति होती है और क्षत्रिय के पास अनुपम बल होता है—ये दोनों जब साथ-साथ कार्य करते हैं, तब सारा संसार सुखी होता है ।

यथा हि सुमहानग्निः कक्षं दहति सानिलः ।
तथा दहति राजन्यो ब्राह्मणेन समं रिपुम् ॥१५॥

जैसे प्रचण्ड अग्नि वायु का सहारा पाकर सूखे जंगल को जला डालती है, उसी प्रकार ब्राह्मण के बुद्धि-बल की सहायता से राजा अपने शत्रु को भस्म कर देता है ।

ब्राह्मणेषूत्तमा वृत्तिस्तव नित्यं युधिष्ठिर ।
तेन ते सर्वलोकेषु दीप्यते प्रथितं यशः ॥१६॥

हे युधिष्ठिर ! ब्राह्मणों के प्रति तुम्हारे हृदय में सदा उत्तम भाव है, इसीलिए सब लोकों में तुम्हारा यश विख्यात एवं प्रकाशित है ।

इति महाभारते वनपर्वणि तृतीयोध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

द्रौपदी द्वारा युधिष्ठिर का क्रोध उभाड़ने (भड़काने) का प्रयत्न और युधिष्ठिर द्वारा क्षमाभाव की प्रशंसा

वैशम्पायन उवाच

ततो वनगताः पार्थाः सायाह्ने सह कृष्णया ।
उपविष्टाः कथाश्चक्रुर्दुःखशोकपरायणाः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! वन में निवास करते हुए पाण्डव एक दिन सायंकाल द्रौपदी के साथ बैठकर दुःख और शोक में मग्न हो कुछ बात-चीत कर रहे थे ।

प्रिया च दर्शनीया च पण्डिता च पतिव्रता ।
अथ कृष्णा धर्मराजमिदं वचनमब्रवीत् ॥२॥

तभी विदुषी, पतिव्रता, दर्शनीया, एवं प्रिय-

वादिनी द्रौपदी धर्मराज युधिष्ठिर से बोली—

द्रौपद्युवाच

न नूनं तस्य पापस्य दुःखमस्मासु किंचन ।
विद्यते धार्तराष्ट्रस्य नृशंसस्य दुरात्मनः ॥३॥

द्रौपदी बोली—हे राजन् ! मैं समझती हूँ, उस क्रूर स्वभाववाले दुरात्मा धृतराष्ट्र-पुत्र पापी दुर्योधन के मन में हम लोगों के लिए वनवासी बनने पर तनिक भी दुःख नहीं हुआ होगा ।

आयसं हृदयं नूनं तस्य दुष्कृतकर्मणः ।
यस्त्वां धर्मपरं श्रेष्ठं रूक्षाण्यश्रावयत्तदा ॥४॥

निश्चय ही उस कुकर्मी का हृदय फौलाद का बना है, क्योंकि उसने आप-जैसे श्रेष्ठ धर्मात्मा पुरुष को भी वन-प्रस्थान के समय कटुवचन कहे थे ।

चतुर्णामेव पापानामस्रं न पतितं तदा ।
त्वयि भारत निष्क्रान्ते वनायाजिनवाससि ॥५॥

हे भारत ! जब आप वल्कल-वस्त्र धारण करके वन में जाने के लिए निकले, उस समय दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन और शकुनि—इन चारों ही पापात्माओं के नेत्रों से एक भी आँसू नहीं गिरा था ।

इतरेषां तु सर्वेषां कुरूणां कुरुसत्तम ।
दुःखेनाभिपरीतानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥६॥

कुरुश्रेष्ठ ! अन्य सभी कुरुवंशी दुःख में डूबे हुए थे और उनके नेत्रों से आँसुओं की वर्षा हो रही थी ।

यदपश्यं सभायां त्वां राजभिः परिवारितम् ।
तच्च राजन्नपश्यन्त्याः का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥७॥

हे राजन् ! मैं इन्द्रप्रस्थ की सभा में आपको राजाओं से घिरा हुआ देख चुकी हूँ, अतः आज आपको वर्तमान अवस्था में देखकर मेरे हृदय को क्या शान्ति मिल सकती है ?

यत्ते भ्रातॄन् महाराज युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
अभोजयन्त मिष्टान्नैः सूदाः परमसंस्कृतैः ॥८॥

सर्वांस्तानद्य पश्यामि वने वन्येन जीविनः ।
अदुःखार्हान् मनुष्येन्द्र नोपशाम्यति मे मनः ॥९॥

हे महाराज ! आपके जिन भाइयों को कानों में सुन्दर कुण्डल पहने हुए युवक रसोइए उत्तम प्रकार से बनाये हुए स्वादिष्ट अन्न परोसकर भोजन कराया करते थे, उन सबको मैं आज वन में जंगली फल-फूलों से जीवन-निर्वाह करते देख रही हूँ । नरेन्द्र ! आपके भाई दुःख भोगने के योग्य नहीं हैं, आज उन्हें दुःख में देखकर मेरा चित्त किसी प्रकार भी शान्त नहीं हो पाता है ।

भीमसेनमिमं चापि दुःखितं वनवासिनम् ।
ध्यायतः किं न मन्युस्ते प्राप्तकाले विवर्धते ॥१०॥

राजन् ! वन में रहकर दुःख भोगते हुए अपने भाई भीमसेन का स्मरण करके समय आने पर क्या शत्रुओं के प्रति आपका क्रोध नहीं बढ़ेगा ?

योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ।
ध्यायन्तमर्जुनं दृष्ट्वा कस्माद्राजन्न कुप्यसि ॥११॥

राजन् ! आपका जो भाई अर्जुन दो भुजाओं से युक्त होने पर भी सहस्र भुजाओं से विभूषित कार्तवीर्य अर्जुन के समान पराक्रमी है, उस अर्जुनको चिन्तामग्न देखकर आप-अपने शत्रुओं पर क्रोध क्यों नहीं करते ?

श्यामं बृहन्तं तरुणं चर्मिणामुत्तमं रणे ।
नकुलं ते वने दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥१२॥

जो युद्ध में ढाल और तलवार से लड़नेवाले वीरों में श्रेष्ठ हैं, जिनका कद ऊँचा है तथा जो श्यामवर्ण तरुण हैं, उन्हीं नकुल को आज वन में कष्ट उठाते देखकर आपका क्रोध क्यों नहीं बढ़ता ?

दर्शनीयं च शूरं च माद्रीपुत्रं युधिष्ठिर ।
सहदेवं वने दृष्ट्वा कस्मान्मन्युर्न वर्धते ॥१३॥

महाराज युधिष्ठिर ! परम सुन्दर माद्रीपुत्र शूरवीर सहदेव को वनवास का दुःख भोगते देखकर आपका क्रोध क्यों नहीं बढ़ रहा है ?

द्रुपदस्य कुले जातां स्नुषां पाण्डोर्महात्मनः ।
मां वै वनगतां दृष्ट्वा कस्मात् क्षमसि पार्थिव ॥१४॥

द्रुपद के कुल में उत्पन्न हुई, महात्मा पाण्डु की पुत्रवधू मुझे वन में कष्ट उठाते देखकर भी आप शत्रुओं के प्रति क्षमाभाव कैसे धारण कर रहे हैं ?

नूनं च तव वै नास्ति मन्युर्भरतसत्तम ।
यत्ते भ्रातॄंश्च मां चैव दृष्ट्वा न व्यथते मनः ॥१५॥

भरतश्रेष्ठ ! निश्चय ही आपके हृदय में क्रोध नहीं है, क्योंकि मुझे और अपने भाइयों को कष्ट में

पड़े देखकर भी आपके मन में व्यथा नहीं होती है।

न निर्मन्युः क्षत्रियोऽस्ति लोके निर्वचनं स्मृतम्।
तदद्य त्वयि पश्यामि क्षत्रिये विपरीतवत् ॥१६॥

संसार में कोई भी क्षत्रिय क्रोधरहित नहीं होता, क्षत्रिय शब्द की व्युत्पत्ति ही ऐसी है जिससे उसका सक्रोध होना सूचित होता है [क्षरते इति क्षत्रम्—जो दुष्टों का क्षरण—नाश करता है, वह क्षत्रिय है] परन्तु आज आप-जैसे क्षत्रिय में मुझे क्रोध का यह अभाव क्षत्रियत्व के विपरीत-सा दिखाई देता है।

यो न दर्शयते तेजः क्षत्रियः काल आगते।
सर्वभूतानि तं पार्थ सदा परिभवन्त्युत ॥१७॥

कुन्तीनन्दन ! जो क्षत्रिय समय आने पर अपने तेज को प्रकट नहीं करता, उसका सब प्राणी सदा तिरस्कार करते हैं।

तदहं तेजसः कालं तव मन्ये नराधिप।
धार्तराष्ट्रेषु लुब्धेषु सततं चापकारिषु ॥१८॥

नरेश्वर ! धृतराष्ट्र के पुत्र लोभी तथा सदा आपका अपकार करनेवाले हैं, अतः उनके प्रति आपके पराक्रम करने का यह अवसर आया है, ऐसा मेरा मत है।

न हि कश्चित् क्षमाकालो विद्यतेऽद्य कुरून् प्रति।
तेजसश्चागते काले तेज उत्स्रष्टुमर्हसि ॥१९॥

कौरवों के प्रति अब क्षमा का कोई अवसर नहीं है। अब पराक्रम दिखाने का अवसर प्राप्त है, अतः उनपर आपको अपना तेज प्रकट करना चाहिए।

युधिष्ठिर उवाच

क्रोधो हन्ता मनुष्याणां क्रोधो भावयिता पुनः।
इति विद्धि महाप्राज्ञे क्रोधमूलौ भवाभवौ ॥२०॥

युधिष्ठिर बोले—महाबुद्धिमति ! क्रोध ही मनुष्य को मारनेवाला और वही मनुष्य का अभ्युदय करनेवाला है। तुम यह समझ लो कि उन्नति और अवनति दोनों क्रोधमूलक ही हैं [क्रोध के जीतने से उन्नति एवं उसके वशीभूत होने से अवनति होती है।]

क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते।
तत् कथं मादृशः क्रोधमुत्सृजेल्लोकनाशनम् ॥२१॥

इस जगत् में क्रोध के कारण लोगों का नाश होता दिखाई देता है, अतः मेरे-जैसा मनुष्य लोक-विनाशक क्रोध का उपयोग दूसरों पर कैसे करेगा ?

क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि। □
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते ॥२२॥

क्रोधी मनुष्य पाप कर डालता है, क्रोधी गुरुजनों की भी हत्या कर देता है तथा क्रोध में भरा हुआ मनुष्य अपनी कठोर वाणी द्वारा श्रेष्ठ मनुष्यों का भी अपमान कर देता है।

तं क्रोधं वर्जितं धीरैः कथमस्मद्विधश्चरेत्।
एतद् द्रौपदि संधाय न मे मन्युः प्रवर्धते ॥२३॥

धीर पुरुषों ने जिस क्रोध का परित्याग कर दिया है, उस क्रोध को मेरे-जैसा मनुष्य कैसे उपयोग में ला सकता है ? द्रुपदकुमारी ! यही सोचकर मेरा क्रोध नहीं उभड़ता है।

मन्योर्हि विजयं कृष्णे प्रशंसन्तीह साधवः।
क्षमावतो जयो नित्यं साधोरिह सतां मतम् ॥२४॥

हे कृष्णे ! साधु पुरुष क्रोध को जीतने की प्रशंसा करते हैं। सन्तों का यह मत है कि इस जगत् में क्षमाशील साधु पुरुष की सदा विजय होती है।

यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ॥२५॥

जो उत्पन्न हुए क्रोध को अपनी बुद्धि से दबा देता है, उसे तत्त्वदर्शी विद्वान् तेजस्वी मानते हैं।

दाक्ष्यं ह्यमर्षः शौर्यं च शीघ्रत्वमिति तेजसः।
गुणाः क्रोधाभिभूतेन न शक्याः प्राप्तुमञ्जसा ॥२६॥

दक्षता, अमर्ष, शौर्य और शीघ्रता—ये तेज के गुण हैं। जो मनुष्य क्रोध से दबा हुआ है, वह इन गुणों को सहज में ही नहीं पा सकता।

यदि न स्युर्मानुषेषु क्षमिणः पृथिवीसमाः।
न स्यात् सन्धिर्मनुष्याणां क्रोधमूलो हि विग्रहः ॥२७॥

यदि मनुष्यों में पृथिवी के समान क्षमाशील पुरुष न हों तो मनुष्यों में कभी सन्धि हो ही नहीं सकती, क्योंकि झगड़े की जड़ तो क्रोध ही है।

क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्। □
य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति ॥२८॥

क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा वेद है और क्षमा ही शास्त्र है। जो इस प्रकार जानता है, वह सबको क्षमा करने के योग्य हो जाता है।

क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च ।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ॥२९॥

क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा ही भूत और भविष्य है, क्षमा तप है तथा क्षमा शौच है । क्षमा ने ही सम्पूर्ण जगत् को धारण कर रखा है ।

क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम् ।
क्षमा सत्यं सत्यवतां क्षमा दानं क्षमा शमः ॥३०॥

क्षमा तेजस्वी पुरुषों का तेज है, क्षमा तपस्वियों का ब्रह्म है, क्षमा सत्यवादी पुरुषों का सत्य है । क्षमा दान है और क्षमा शम=मनोनिग्रह है ।

तां क्षमां तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत् ।
यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥३१॥

हे कृष्णे ! ऐसी क्षमा को जिसमें ब्रह्म, सत्य, यज्ञ और लोक सभी प्रतिष्ठित हैं, मेरे-जैसा मनुष्य कैसे छोड़ सकता है ?

क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता ।
यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥३२॥

ज्ञानी पुरुष को सदा क्षमा का ही आश्रय लेना चाहिए । जो मनुष्य क्षमाशील है, वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ।

एतदात्मवतां वृत्तमेष धर्मः सनातनः ।
क्षमा चैवानृशंस्यं च तत् कर्तास्म्यहमञ्जसा ॥३३॥

क्षमाशीलता और दयालुता—यही जितेन्द्रिय पुरुषों का सदाचार है और यही सनातन धर्म है, अतः मैं यथार्थरूप से क्षमा और दया को ही अपनाऊँगा ।

द्रौपद्युवाच

नमो धात्रे विधात्रे च यौ मोहं चक्रतुस्तव ।
नेह धर्मानृशंस्याभ्यां न क्षान्त्या नार्जवेन च ।
पुरुषः श्रियमाप्नोति न घृणित्वेन कर्हिचित् ॥३४॥

द्रौपदी बोली—हे राजन् ! उस धाता=ईश्वर और विधाता=प्रारब्ध को नमस्कार है जिन्होंने आपकी बुद्धि में मोह उत्पन्न कर दिया । इस जगत् में धर्म, कोमलता, क्षमा, विनय और दया से कोई भी मनुष्य कभी धन और ऐश्वर्य की प्राप्ति नहीं कर सकता ।

त्वां च व्यसनमभ्यागादिदं भारत दुःसहम् ।
यत् त्वं नार्हसि नापीमे भ्रातरस्ते महौजसः ॥३५॥

हे भारत ! इसी कारण तो आपपर भी यह दुःसह संकट आ पड़ा है, जिसके योग्य न तो आप हैं और न आपके महातेजस्वी ये भाई ही हैं ।

न हि तेऽध्यगमज्जातु तदानीं नाद्य भारत ।
धर्मात् प्रियतरं किञ्चिदपि चेज्जीवितादिह ॥३६॥

भरतकुलभूषण ! आपके भाइयों ने न तो पहले कभी और न आज ही किसी दूसरी वस्तु को धर्म से अधिक प्रिय समझा है अपितु सदा धर्म को ही जीवन से भी बढ़कर माना है ।

धर्मार्थमेव ते राज्यं धर्मार्थं जीवितं च ते ।
ब्राह्मणा गुरवश्चैव जानन्त्यपि च देवताः ॥३७॥

आपका राज्य और जीवन भी धर्म के लिए ही है । ब्राह्मण, देवता और गुरुजन सभी इस बात को जानते हैं ।

भीमसेनार्जुनौ चोभौ माद्रेयौ च मया सह ।
त्यजेस्त्वमिति मे बुद्धिर्न तु धर्मं परित्यजेः ॥३८॥

मुझे विश्वास है कि आप मेरे सहित भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव को भी त्याग देंगे, परन्तु धर्म का त्याग नहीं करेंगे ।

राजानं धर्मगोप्तारं धर्मो रक्षति रक्षितः ।
इति मे श्रुतमार्याणां त्वां तु मन्ये न रक्षति ॥३९॥

मैंने आर्यों के मुख से सुना है कि यदि धर्म की रक्षा की जाए तो वह धर्मरक्षक राजा की स्वयं भी रक्षा करता है, किन्तु मुझे प्रतीत होता है कि वह आपकी रक्षा नहीं कर रहा है ।

तवेमामापदं दृष्ट्वा समृद्धिं च सुयोधने ।
धातारं गर्हये पार्थ विषमं योऽनुपश्यति ॥४०॥

हे कुन्तीनन्दन ! आपके कष्ट और दुर्योधन की समृद्धि को देखकर मैं उस विधाता की निन्दा करती हूँ जो [सज्जनों को दुःख और दुर्जनों को सुख देकर] विषम दृष्टिसे देख रहा है ।

युधिष्ठिर उवाच

वल्गु चित्रपदं श्लक्ष्णं याज्ञसेनि त्वया वचः ।
उक्तं तत् श्रुतमस्माभिर्नास्तिक्यं तु प्रभाषसे ॥४१॥

युधिष्ठिर बोले—यज्ञसेनकुमारी ! तुमने जो बात कही है, वह सुनने में अति मनोहर है, विचित्र पदावली से युक्त और मधुर है । हमने उसे बड़े ध्यान

से सुना है परन्तु इस समय तुम नास्तिकता की बातें कर रही हो।

नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत ।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ॥४२॥

राजकुमारी ! मैं कर्मों के फल की इच्छा रखकर उनका अनुष्ठान नहीं करता अपितु 'देना चाहिए' यह समझकर दान देता हूँ और यज्ञ का अनुष्ठान भी कर्तव्य समझकर ही करता हूँ।

धर्मं चरामि सुश्रोणि न धर्मफलकारणात् ।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ॥४३॥

सुश्रोणि ! मैं धर्म का फल पाने के लोभ से धर्म का आचरण नहीं करता। जो मनुष्य कुछ पाने की इच्छा से धर्म का व्यापार करता है, वह धर्मवादी पुरुषों की दृष्टि में हीन और निन्दनीय है।

न धर्मफलमाप्नोति यो धर्मं दोग्धुमिच्छति ।
यश्चैनं शङ्कते कृत्वा नास्तिक्यात् पापचेतनः ॥४४॥

जो पापी मनुष्य नास्तिकतावश धर्म का अनुष्ठान करके उसके विषय में शंका करता है अथवा धर्म को दुहना चाहता है, उसे धर्म का फल बिल्कुल नहीं मिलता।

अतिवादाद् वदाम्येष मा धर्ममभिशङ्किथाः ।
धर्माभिशङ्की पुरुषस्तिर्यग्गतिपरायणः ॥४५॥

मैं सारे प्रमाणों से ऊपर उठकर केवल शास्त्र के आधार पर यह जोर देकर कह रहा हूँ कि तुम धर्म के विषय में शंका मत करो, क्योंकि धर्म में सन्देह करने-वाला मनुष्य पशु-पक्षियों की योनि में जन्म लेता है।

शिष्टैराचरितं धर्मं कृष्णे मा स्मातिशङ्किथाः ।
पुराणमृषिभिः प्रोक्तं सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः ॥४६॥

देवि कृष्णे ! सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा महर्षियों द्वारा प्रतिपादित तथा शिष्ट पुरुषों द्वारा आचरित प्राचीन धर्म पर शंका नहीं करनी चाहिए।

धर्म एव प्लवो नान्यः स्वर्गं द्रौपदि गच्छताम् ।
सैव नौः सागरस्येव वणिजः पारमिच्छतः ॥४७॥

द्रौपदी ! जैसे समुद्र के पार जाने की इच्छावाले वणिक् के लिए जहाज की आवश्यकता है, वैसे ही स्वर्ग में जानेवालों के लिए धर्माचरण ही जहाज है, दूसरा नहीं।

अफलो यदि धर्मः स्याच्चरितो धर्मचारिभिः ।
अप्रतिष्ठे तमस्येतज्जगन्मज्जेदनिन्दिते ॥४८॥

साध्वी द्रौपदी ! यदि धर्मपरायण पुरुषों द्वारा पालित धर्म निष्फल होता तो यह सम्पूर्ण जगत् असीम अन्धकार में डूब जाता।

ईश्वरं चापिभूतानां धातारं मा च वै क्षिप ।
शिक्षस्वैनं नमस्वैनं मा ते भूद् बुद्धिरीदृशी ॥४९॥

समस्त प्राणियों का पालन-पोषण करनेवाले ईश्वर पर आक्षेप न करो। तुम शास्त्र और गुरुजनों के उपदेशानुसार ईश्वर को समझने का प्रयत्न करो और उसी को नमस्कार करो। आज जैसी तुम्हारी बुद्धि है, वैसी कभी नहीं होनी चाहिए।

द्रौपद्युवाच

नावमन्ये न गर्हे च धर्मं पार्थ कथञ्चन ।
ईश्वरं कुत एवाहमवमंस्ये प्रजापतिम् ॥५०॥

द्रौपदी ने कहा—कुन्तीनन्दन ! मैं धर्म की अव-हेलना और निन्दा किसी प्रकार नहीं कर सकती फिर प्रजापति परमेश्वर की अवहेलना तो कर ही कैसे सकती हूँ ?

आर्ताहं प्रलपामीदमिति मां विद्धि भारत ।
भूयश्च विलपिष्यामि सुमनास्त्वं निबोध मे ॥५१॥

हे भारत ! आप ऐसा समझ लें कि मैं शोक से आर्त होकर प्रलाप कर रही हूँ। मैं इतने से ही चुप नहीं रहूँगी और भी प्रलाप करूँगी, आप प्रसन्नचित होकर मेरी बात सुनिए।

कर्म खल्विह कर्तव्यं जानतामित्रकर्शन ।
अकर्माणो हि जीवन्ति स्थावरा नेतरे जनाः ॥५२॥

शत्रुनाशन ! ज्ञानी पुरुष को भी इस संसार में कर्म अवश्य करना चाहिए। पर्वत और वृक्ष आदि स्थावर भूत ही कर्म किये बिना जी सकते हैं, दूसरे लोग नहीं।

अकर्मणां वै भूतानां वृत्तिः स्यान्न हि काचन ।
तदेवाभिप्रपद्येत न विहन्यात् कदाचन ॥५३॥

कर्म न करनेवाले प्राणियों की कोई जीविका भी सिद्ध नहीं होती, अतः मनुष्य भाग्य का भरोसा करके कभी कर्म का परित्याग न करे। सदा कर्म का ही आश्रय ले।

स्वकर्म कुरु मा ग्लासीः कर्मणा भव दंशितः।
कृत्यं हि योऽभिजानाति सहस्रे सोऽस्ति नास्ति च॥५४॥

आप अपना कर्म करें, उससे ग्लानि न करें। कर्म का कवच पहने रहें। जो ठीक प्रकार कर्म करना जानता है, ऐसा मनुष्य सहस्रों में एक भी है या नहीं—यह बताना कठिन है।

वित्तस्यापि भवेत् कार्यं विवृद्धौ रक्षणे तथा।
भक्ष्यमाणो ह्यनादानात् क्षीयेत हिमवानपि॥५५॥

धन की वृद्धि और रक्षा के लिए भी कर्म की आवश्यकता होती है। यदि धन का उपभोग=व्यय होता रहे और आय न हो तो हिमालय जैसी धनराशि भी समाप्त हो जाती है।

यश्च दिष्टपरो लोके यश्चापि हठवादकः।
उभावपि शठावेतौ कर्मबुद्धिः प्रशस्यते॥५६॥

संसार में जो केवल भाग्य के भरोसे कर्म नहीं करता और जो हठवादी है—वे दोनों ही मूर्ख हैं। जिसकी बुद्धि कर्म=पुरुषार्थ में रुचि रखती है, वही प्रशंसनीय है।

यो हि दिष्टमुपासीनो निर्विचेष्टः सुखं स्वपेत्।
अवसीदेत् स दुर्बुद्धिरामो घट इवोदके॥५७॥

जो खोटी बुद्धिवाला मनुष्य भाग्य का भरोसा रखकर उद्योग से मुख मोड़कर सुख से सोता रहता है, उसका जल में रखे हुए कच्चे घड़े की भाँति विनाश हो जाता है।

कर्तव्यमेव कर्मेति मनोरेष विनिश्चयः।
एकान्तेन ह्यनीहोऽयं पराभवति पूरुषः॥५८॥

महर्षि मनु का यह सिद्धान्त है कि कर्म करना ही चाहिए। जो मनुष्य कर्म छोड़कर निश्चेष्ट बैठा रहता है, वह पराभव को प्राप्त होता है।

कुर्वतो हि भवत्येव प्रायेणेह युधिष्ठिर।
एकान्तफलसिद्धि तु न विन्दत्यलसः क्वचित्॥५९॥

महाराज युधिष्ठिर! संसार में कर्म करनेवाले पुरुष को ही प्रायः फल की सिद्धि होती है जो आलसी है, जो ठीक-ठीक कर्तव्य का पालन नहीं करता, उसे सिद्धि नहीं मिलती।

अलक्ष्मीराविशत्येनं शयानमलसं नरम्।□
निःसंशयं फलं लब्ध्वा दक्षो भूतिमुपाश्नुते॥६०॥

जो मनुष्य आलसी बनकर सोता रहता है, उसे दरिद्रता प्राप्त होती है और कार्यकुशल मानव निश्चय ही अभीष्ट फल पाकर ऐश्वर्य का उपभोग करता है।

एकान्तेन ह्यनर्थोऽयं वर्ततेऽस्मासु साम्प्रतम्।
स तु निःसंशयं न स्यात् त्वयि कर्मण्यवस्थिते॥६१॥

इस समय हम लोगों पर राज्यापहरणरूप भारी आपत्ति आ पड़ी है। यदि आप तत्परता से पुरुषार्थ में लग जाएँ तो निश्चय ही यह संकट टल सकता है।

कुर्वतो नार्थसिद्धिर्मे भवतीति ह भारत।□
निर्वेदो नात्र कर्तव्यो द्वावन्यौ ह्यत्र कारणम्॥६२॥

हे भारत! 'पुरुषार्थ करने पर भी मुझे सिद्धि प्राप्त नहीं हो रही है', ऐसा सोचकर खिन्न=दुःखी नहीं होना चाहिए, क्योंकि फल की सिद्धि में पुरुषार्थ के अतिरिक्त दो और भी कारण हैं—प्रारब्ध और ईश्वर-कृपा।

न चैवात्मावमन्तव्यः पुरुषेण कदाचन।□
न ह्यात्मपरिभूतस्य भूतिर्भवति शोभना॥६३॥

मनुष्य कभी अपने आपका अनादर न करे—अपने आपको दीन-हीन एवं तुच्छ न समझे। जो स्वयं ही अपना अनादर करता है, उसे उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति नहीं होती।

इति महाभारते वनपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

भीमसेन द्वारा पुरुषार्थ की प्रशंसा और युधिष्ठिर का उन्हें समझाना

वैशम्पायन उवाच

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा भीमसेनो ह्यमर्षणः।
निःश्वसन्नुपसङ्गम्य क्रुद्धो राजानमब्रवीत्॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! द्रुपद-कुमारी का वचन सुनकर अमर्ष में भरे हुए भीम क्रोधपूर्वक उच्छ्वास लेते हुए राजा के पास आये और इस प्रकार कहने लगे—

भीम उवाच

राज्यस्य पदवीं धर्म्यां व्रज सत्पुरुषोचिताम् ।
धर्मकामार्थहीनानां किं नो वस्तुं तपोवने ॥२॥

भीमसेन बोले—महाराज ! श्रेष्ठ पुरुषों के लिए उचित और धर्मानुकूल जो राज्य-प्राप्ति का मार्ग=उपाय हो, आप उसका आश्रय लीजिए । धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों से वञ्चित होकर इस तपोवन में निवास करने पर हमारा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ?

नैव धर्मेण तद् राज्यं नार्जवेन न चौजसा ।
अक्षकूटमधिष्ठाय हृतं दुर्योधनेन वै ॥३॥

दुर्योधन ने धर्म से, सरलता से और बल से भी हमारा राज्य नहीं लिया है, उसने तो कपटपूर्ण जुए का आश्रय लेकर हमारा राज्य छीना है ।

गोमायुनेव सिंहानां दुर्बलेन बलीयसाम् ।
आमिषं विघसाशेन तद्वत् राज्यं हि नो हृतम् ॥४॥

बचे हुए अन्न को खानेवाला दुर्बल गीदड़ जैसे अत्यन्त बलवान् सिंहों का भोजन हर ले, उसी प्रकार शत्रुओं ने हमारे राज्य का अपहरण किया है ।

स भवान् दृष्टिमाञ्छक्तः पश्यन्नस्मासु पौरुषम् ।
आनृशंस्यपरो राजन् नानर्थमवबुध्यसे ॥५॥

राजन् ! आप समझदार, दूरदर्शी और शक्तिशाली हैं । हमारे पुरुषार्थ को देखते हुए भी इस प्रकार दया को अपनाकर आप इससे होनेवाले अनर्थ को नहीं समझ रहे हैं ।

अस्मानमी धार्तराष्ट्राः क्षममाणानलं सतः ।
अशक्तानिव मन्यन्ते तद् दुःखं नाहवे वध ॥६॥

हम शत्रुओं के अपराध को क्षमा करते जा रहे हैं, इसलिए धृतराष्ट्र के पुत्र हम समर्थों को निर्बल मानने लगे हैं, यही हमारे लिए महान् दुःख है, युद्ध में मारा जाना कोई दुःख नहीं है ।

सर्वथा कार्यमेतन्नः स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।
कांक्षतां विपुलां कीर्ति वैरं प्रतिचिकीर्षताम् ॥७॥

हम क्षत्रिय धर्म के अनुष्ठान में संलग्न हो वैर का बदला लेना चाहते हैं तथा संसार में महान् यश के विस्तार करने की इच्छा रखते हैं, अतः हमारे लिए सब प्रकार से युद्ध करना ही उचित है ।

कर्शनार्थो हि यो धर्मो मित्राणामात्मनस्तथा ।
व्यसनं नाम तद् राजन् न धर्मः कुधर्म तत् ॥८॥

महाराज ! जो धर्म अपने तथा अपने मित्रों के लिए क्लेश उत्पन्न करनेवाला हो, वह तो संकट ही है । वह धर्म नहीं, कुधर्म है ।

सर्वथा धर्मनित्यं तु पुरुषं धर्मदुर्बलम् ।
त्यजतस्तात धर्मार्थौ प्रेतं दुःखसुखे यथा ॥९॥

हे तात ! जैसे मुर्दों को दुःख और सुख दोनों नहीं होते, उसी प्रकार जो सर्वदा और सर्वथा धर्म में ही तत्पर रहकर उसके अनुष्ठान से दुर्बल हो गया है, उसे धर्म और अर्थ दोनों त्याग देते हैं ।

यस्य धर्मो हि धर्मार्थं क्लेशभाङ् न स पण्डितः । □
न स धर्मस्य वेदार्थं सूर्यस्यान्धः प्रभामिव ॥१०॥

जिसका धर्म केवल धर्म के लिए ही होता है, धर्म के नाम पर क्लेश उठानेवाला वह मनुष्य बुद्धिमान् नहीं है । जैसे अन्धा सूर्य-प्रभा को नहीं जानता उसी प्रकार वह धर्म के अर्थ को भी नहीं समझता ।

यस्य चार्थार्थमेवार्थः स च नार्थस्य कोविदः । □
रक्षते भृतकोऽरण्यं यथा गास्तादृगेव सः ॥११॥

जिसका धन केवल धन के लिए है, दान आदि के लिए नहीं, वह धन के तत्त्व को नहीं जानता । जैसे ग्वाला वन में गौओं की रक्षा करता है, उसी प्रकार वह भी उस धन का दूसरे के लिए रक्षकमात्र है ।

अतिवेलं हि योऽर्थार्थी नेतरावनुतिष्ठति । □
स वध्यः सर्वभूतानां ब्रह्महेव जुगुप्सितः ॥१२॥

जो केवल धन के संग्रह की अत्यधिक इच्छा रखता है परन्तु धर्म और काम का अनुष्ठान नहीं करता, वह ब्रह्महत्यारे के समान घृणा का पात्र है और सभी प्राणियों के लिए वध्य है ।

सततं यश्च कामार्थी नेतरावनुतिष्ठति । □
मित्राणि तस्य नश्यन्ति धर्मार्थाभ्यां च हीयते ॥१३॥

इसी प्रकार जो निरन्तर काम की ही अभिलाषा रखकर धर्म और अर्थ का सेवन नहीं करता, उसके मित्र नष्ट हो जाते हैं, उसे त्याग देते हैं और वह धर्म और अर्थ दोनों से वञ्चित हो जाता है ।

न धर्मपर एव स्यान्न चार्थपरमो नरः ।
न कामपरमो वा स्यात् सर्वान् सेवेत सर्वदा ॥१४॥
धर्मं पूर्वं धनं मध्ये चान्तिमे काममाचरेत् ।
अहन्यनुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः ॥१५॥

मनुष्य केवल धर्म, केवल अर्थ अथवा केवल काम के ही सेवन में तत्पर न रहे अपितु उन सबका सदा इस प्रकार सेवन करे जिससे इनमें विरोध न हो। इस विषय में शास्त्रों का यह विधान है कि दिन के पूर्व भाग में धर्म का, दूसरे भाग में अर्थ का और अन्तिम भाग में काम का सेवन करे।

धर्ममूलं जगद्राजन् नान्यद् धर्माद् विशिष्यते ।
धर्मश्चार्थेन महता शक्यो राजन् निषेवितुम् ॥१६॥

हे राजन् ! इस संसार का मूल कारण धर्म ही है। इस संसार में धर्म से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है परन्तु उस धर्म का अनुष्ठान भी पर्याप्त धन से ही हो सकता है।

न चार्थो भैक्ष्यचर्येण नापि क्लैब्येन कर्हिचित् ।
वेतुं शक्यः सदा राजन् केवलं धर्मबुद्धिना ॥१७॥

राजन् ! भीख माँगने से, कायरता दिखाने से अथवा केवल धर्म में ही मन लगाये रहने से धन की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती।

प्रतिषिद्धा हि ते याञ्चा यया सिद्धयति वै द्विजः ।
तेजसैवार्थलिप्सायां यतस्व पुरुषर्षभ ॥१८॥

नरश्रेष्ठ ! ब्राह्मण जिस याचना=भिक्षा के द्वारा कार्य-सिद्धि कर लेता है, वह तो आप कर नहीं सकते, क्योंकि क्षत्रियों के लिए उसका निषेध है, अतः आप अपने तेज द्वारा ही धन प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिए।

भैक्ष्यचर्या न विहिता न च विट्शूद्रजीविका ।
क्षत्रियस्य विशेषेण धर्मस्तु बलमौरसम् ॥१९॥

क्षत्रिय के लिए न तो भीख माँगने का विधान है और न वैश्य तथा शूद्र की जीविका अपनाने का। उसके लिए तो बल और उत्साह ही विशेष धर्म है।

स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व जहि शत्रून् समागतान् ।
धार्तराष्ट्रवनं पार्थ मया पार्थेन नाशय ॥२०॥

हे पार्थ ! अपने धर्म का आश्रय लीजिए और प्राप्त हुए शत्रुओं का वध कीजिए। मेरे तथा अर्जुन के द्वारा धृतराष्ट्रपुत्र रूपी वन को कटवा डालिए।

स क्षात्रं हृदयं कृत्वा त्यक्त्वेदं शिथिलं मनः ।
वीर्यमास्थाय कौरव्य धुरमुद्वह धुर्यवत् ॥२१॥

कुरुनन्दन ! अपने हृदय को क्षत्रियोचित उत्साह से भरकर, मन की शिथिलता को दूर करके पराक्रम का आश्रय ले आप एक धुरन्धर वीर पुरुष की भांति युद्ध का भार वहन कीजिए।

न हि केवलधर्मात्मा पृथिवीं जातु कश्चन ।
पार्थिवो व्यजयद् राजन् न भूतिं न पुनः श्रियम् ॥२२॥

राजन् ! केवल धर्म में ही लगे रहनेवाले किसी भी नरेश ने आजतक न तो कभी पृथिवी पर विजय पाई है और न ऐश्वर्य तथा लक्ष्मी ही प्राप्त की है।

एवं बलवतः सर्वमिति बुद्ध्वा महीपते ।
जहि शत्रून् महाबाहो परां निकृतिमास्थितः ॥२३॥

महाबाहो ! महाराज ! इस प्रकार बलवान् का ही सबपर अधिकार होता है, यह समझकर आप भी कूटनीति का आश्रय ले अपने शत्रुओं को मार डालिए।

न हि गाण्डीवमुक्तानां शराणां गार्ध्रवाससाम् ।
स्पर्शमाशीविषाभानां मर्त्यः कश्चन संसहेत् ॥२४॥

मनुष्यों में कोई ऐसा नहीं है जो गाण्डीव धनुष से छूटे हुए विषैले सर्पों के समान भयंकर गृध्रपंख-युक्त वाणों का स्पर्श सह सके।

न स वीरो न मातङ्गो न च सोऽश्वोऽस्ति भारत ।
यः सहेत गदावेगं मम क्रुद्धस्य संयुगे ॥२५॥

हे भारत ! इसी प्रकार संसार में ऐसा कोई वीर या अश्व अथवा हाथी भी नहीं है, जो रणभूमि में क्रोधपूर्वक विचरनेवाले मुझ भीमसेन की गदा का वेग (प्रहार) सह सके

सृञ्जयैः सह कैकेयैर्वृष्णीनां वृषभेण च ।
कथं स्विद् युधि कौन्तेय न राज्यं प्राप्नुयामहे ॥२६॥

कुन्तीनन्दन ! सृंजय और केकेयवंशी वीरों और वृष्णिवंशावतंस श्रीकृष्ण का आश्रय लेकर हम संग्राम में अपना राज्य कैसे प्राप्त नहीं कर लेंगे ?

अस्माभिरुषिताः सम्यग् वने मासास्त्रयोदश ।
परिमाणेन तान् पश्य तावतः परिवत्सरान् ॥२७॥

हमने अबतक वन में ठीक तेरह मास व्यतीत

कर लिये हैं, आप इन्हीं को परिमाण में तेरह वर्ष समझ लीजिए।

अस्ति मासः प्रतिनिधिर्यथा प्राहुर्मनीषिणः।
पूतिकामिव सोमस्य तथेदं क्रियतामिति ॥२८॥

मनीषी पुरुषों का कहना है कि मास संवत्सर का प्रतिनिधि है। जैसे पूतिका सोमलता के स्थान पर काम देती है, उसी प्रकार आप इन तेरह मासों को ही तेरह वर्षों का प्रतिनिधि स्वीकार कर लीजिए।

तस्माच्छत्रुवधे राजन् क्रियतां निश्चयस्त्वया।
क्षत्रियस्य हि सर्वस्य नान्यो धर्मोऽस्ति संयुगात् ॥२९

महाराज ! आप शत्रुओं के वध करने का निश्चय कीजिए, क्योंकि समस्त क्षत्रियों के लिए युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है।

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत।
इदमन्यत् समाधत्स्व वाच्यं मे वाक्यकोविद ॥३०॥

युधिष्ठिर बोले—हे महाबाहो ! वाक्यविशारद भीम ! तुम जैसा कह रहे हो, वह ठीक है, तथापि मेरी यह दूसरी बात भी मानो।

महापापानि कर्माणि यानि केवलसाहसात्।
आरभ्यन्ते भीमसेन व्यथन्ते तानि भारत ॥३१॥

हे भरतनन्दन भीम ! जो महान् पापमय कर्म केवल साहस के भरोसे आरम्भ किये जाते हैं, वे सभी कष्टदायक होते हैं।

सुमन्त्रिते सुविक्रान्ते सुकृते सुविचारिते।
सिध्यन्त्यर्था महाबाहो दैवं चात्र प्रदक्षिणम् ॥३२॥

महाबाहो ! अच्छी प्रकार परामर्श और विचार करके पूरा पराक्रम प्रकट करते हुए सुन्दररूप से जो कार्य किये जाते हैं, वे सफल होते हैं और उनमें दैव भी अनुकूल हो जाता है।

यस्तु केवलचापल्याद् बलदर्पोत्थितः स्वयम्।
आरब्धव्यमिदं कार्यं मन्यसे शृणु तत्र मे ॥३३॥

तुम स्वयं बल के घमण्ड में उन्मत्त हो जो केवल चपलतावश स्वयं इस युद्धरूपी कार्य को अभी आरम्भ करने के योग्य मान रहे हो, उसके विषय में मेरी बात सुनो !

भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च द्रोणपुत्रश्च वीर्यवान्।
धार्तराष्ट्रा दुराधर्षाः कृतास्त्राः सर्व एव हि ॥३४॥

भीष्म, द्रोण, कर्ण, बलवान् अश्वत्थामा और दुर्धर्ष धृतराष्ट्र के पुत्र—ये सभी अस्त्रविद्या के ज्ञाता हैं।

समा यद्यपि भीष्मस्य वृत्तिरस्मासु तेषु च।
द्रोणस्य च महाबाहो कृपस्य च महात्मनः ॥३५॥
अवश्यं राजपिण्डस्तैर्निर्वेश्य इति मे मतिः।
तस्मात्यक्ष्यन्ति संग्रामे प्राणानपि सुदुस्त्यजान् ॥३६॥

हे महाबाहो ! यद्यपि पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण तथा महामना कृपाचार्य का आन्तरिक स्नेह धृतराष्ट्र के पुत्रों तथा हम लोगों पर एक-सा ही है, तथापि वे राजा दुर्योधन का दिया हुआ अन्न खाते है, अतः उसका ऋण अवश्य चुकाएँगे, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। युद्ध आरम्भ होने पर वे दुर्योधन के पक्ष से लड़कर अपने दुस्त्यज प्राणों का भी परित्याग कर देंगे।

सर्वे दिव्यास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः।
अजेयाश्चेति मे बुद्धिरपि देवैः सवासवैः ॥३७॥

वे सब-के-सब दिव्यास्त्रों के ज्ञाता और धर्मपरायण हैं। मेरा तो विचार है कि इन्द्र-सहित देवता भी उन्हें परास्त नहीं कर सकते।

अमर्षी नित्यसंरब्धस्तत्र कर्णो महारथः।
सर्वास्त्रविदनाधृष्यो ह्यभेद्यकवचावृतः ॥३८॥

उस पक्ष में महारथी कर्ण भी है जो हमारे प्रति सदा अमर्ष और क्रोध से भरा रहता है। वह सब अस्त्रों का ज्ञाता, अजेय तथा अभेद्य कवच से सुरक्षित है।

अनिर्जित्य रणे सर्वानेतान् पुरुषसत्तमान्।
अशक्यो ह्यसहायेन हन्तुं दुर्योधनस्त्वया ॥३९॥

इन समस्त वीर पुरुषों को युद्ध में परास्त किये बिना तुम अकेले दुर्योधन को नहीं मार सकते।

न निद्रामभिगच्छामि चिन्तयानो वृकोदर।
अतिसर्वान् धनुर्ग्राहान् सूतपुत्रस्य लाघवम् ॥४०॥

वृकोदर ! सूतपुत्र कर्ण के हाथ की फुर्ती और उसका समस्त धनुर्धरों से बढ़-चढ़कर होने का स्मरण करके मुझे अच्छी प्रकार नींद नहीं आती है।

वैशम्पायन उवाच

एतद् वचनमाज्ञाय भीमसेनोऽत्यमर्षणः ।
बभूव विमनास्त्रस्तो न चैवोवाच किञ्चन ॥४१॥

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय ! युधिष्ठिर का यह वचन सुनकर अत्यन्त क्रोधी भीम उदास और शंकायुक्त हो गये, फिर उनके मुँह से कोई बात नहीं निकली ।

तयोः संवदतोरेवं तदा पाण्डवयोर्द्वयोः ।
आजगाम महायोगी व्यासः सत्यवतीसुतः ॥४२॥

दोनों पाण्डवों में जब इस प्रकार बातचीत हो ही रही थी तभी महायोगी सत्यवतीपुत्र व्यासजी वहाँ आ पहुँचे ।

सोऽभिगम्य यथान्यायं पाण्डवैः प्रतिपूजितः ।
युधिष्ठिरमिदं वाक्यमुवाच वदतां वर ॥४३॥

पाण्डवों ने उठकर उनका यथोचित स्वागत-सत्कार किया । तत्पश्चात् वक्ताओं में श्रेष्ठ व्यासजी युधिष्ठिर से इस प्रकार बोले—

व्यास उवाच

श्रेयसस्ते परः कालः प्राप्तो भरतसत्तम ।
येनाभिभविता शत्रून् रणे पार्थो धनुर्धरः ॥४४॥

व्यासजी बोले—हे भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे कल्याण का समय आ गया है जिससे धनुर्धर अर्जुन युद्ध में शत्रुओं को पराजित कर देंगे ।

गृहाणेमां मया प्रोक्तां सिद्धिं मूर्तिमतीमिव ।
विद्यां प्रतिस्मृतिं नाम प्रपन्नाय ब्रवीमि ते ॥४५॥

मेरे द्वारा प्रदत्त 'प्रतिस्मृति' नामक विद्या को ग्रहण करो जो मूर्त्तिमती सिद्धि के समान है । तुम मेरे शरणागत हो, अतः मैं तुम्हें इस विद्या का उपदेश करता हूँ ।

यामवाप्य महाबाहुरर्जुनः साधयिष्यति ।
अस्त्रहेतोर्महेन्द्रं च रुद्रं चैवाभिगच्छतु ॥४६॥
वरुणं च कुबेरं च धर्मराजं च पाण्डव ।
शक्तो ह्येष सुरान् द्रष्टुं तपसा विक्रमेण च ॥४७॥

महाबाहु अर्जुन इस विद्या को तुमसे प्राप्त करके अपना सब कार्य सिद्ध करेंगे । पाण्डुनन्दन ! ये अर्जुन दिव्यास्त्रों की प्राप्ति के लिए देवराज इन्द्र, रुद्र, वरुण, कुबेर तथा धर्मराज के पास जाएँ । ये अपनी तपस्या और पराक्रम से देवताओं को देखने—उनसे मिलने में समर्थ होंगे ।

अस्त्राणीन्द्राच्च रुद्राच्च लोकपालेभ्य एव च ।
समादाय महाबाहुर्महत् कर्म करिष्यति ॥४८॥

महाबाहु अर्जुन इन्द्र, रुद्र तथा अन्य लोकपालों से दिव्यास्त्र प्राप्त करके महान् कार्य करेंगे ।

वनादस्माच्च कौन्तेय वनमन्यद् विचिन्त्यताम् ।
निवासार्थञ्च यद् युक्तं भवेद् वः पृथिवीपते ॥४९॥

हे कुन्तीपुत्र ! नरेश ! अब तुम अपने निवास के लिए, इस वन से किसी दूसरे वन में, जो तुम्हारे लिए उपयोगी हो, जाने की बात सोचो ।

एकत्र चिरवासो हि न प्रीतिजनको भवेत् ।
तापसानां च सर्वेषां भवेदुद्वेगकारकः ॥५०॥

एक ही स्थान पर अधिक समय तक रहना प्रायः रुचिकारक नहीं होता । इसके अतिरिक्त, यहाँ तुम्हारा चिर-निवास समस्त तपस्वियों के लिए तप में विघ्न पड़ने के कारण उद्वेगकर होगा ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा धर्मराजं व्यासः सत्यवतीसुतः ।
प्रोवाच योगतत्त्वज्ञो योगी विद्यामनुत्तमाम् ॥५१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर योगतत्त्व के ज्ञाता, महायोगी, सत्यवतीपुत्र व्यास ने धर्मराज युधिष्ठिर को उस अत्युत्तम विद्या का उपदेश किया ।

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा तद् ब्रह्म मनसा यतः ।
धारयामास मेधावी काले काले सदाभ्यसन् ॥५२॥

धर्मात्मा, मेधावी और एकाग्रचित युधिष्ठिर ने उस वेदोक्त विद्या को मनोयोग से हृदय में धारण किया और समय-समय पर सदा उसका अभ्यास करने लगे ।

स व्यासवाक्यमुदितो वनाद् द्वैतवनात् ततः ।
ययौ सरस्वतीकूले काम्यकं नाम काननम् ॥५३॥

तदनन्तर वे व्यासजी की आज्ञा से प्रसन्नतापूर्वक द्वैत वन से काम्यक वन में चले गये, जो सरस्वती के तट पर सुशोभित है ।

इति महाभारते वनपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

अर्जुन का दिव्य अस्त्र-शस्त्र-प्राप्ति के लिए प्रस्थान, शंकर से अस्त्र-प्राप्ति

वैशम्पायन उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य धनञ्जयं युधिष्ठिरः ।
संस्मृत्य मुनिसन्देशं रहसीदमुवाच ह ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुछ समय पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर को व्यास मुनि का सन्देश स्मरण हो आया, तब उन्होंने एकान्त में अर्जुन से इस प्रकार कहा—

युधिष्ठिर उवाच

भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे द्रोणपुत्रे च भारत ।
धनुर्वेदश्चतुष्पाद एतेष्वद्य प्रतिष्ठितः ॥२॥

युधिष्ठिर बोले—हे भारत ! आजकल पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण और अश्वत्थामा —इन सब में चारों पादों से युक्त सम्पूर्ण धनुर्वेद प्रतिष्ठित है ।

ते सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्रेण परिसान्त्विताः ।
संविभक्ताश्च तुष्टाश्च गुरुवत्तेषु वर्तते ॥३॥

उन सबको धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन ने बड़े आश्वासन के साथ रखा है और उपभोग की सामग्री देकर सन्तुष्ट किया है । इतना ही नहीं, वह उनके प्रति गुरुवत् व्यवहार करता है ।

आचार्या मानितास्तुष्टाः शान्ति व्यवहरन्त्युत ।
शक्ति न हापयिष्यन्ति ते काले प्रतिपूजिताः ॥४॥

उसके द्वारा सम्मानित, समादृत और सन्तुष्ट किये हुए आचार्यगण उसके लिए सदा शान्ति स्थिर रखने का प्रयत्न करते हैं, वे उसकी शक्ति को कभी क्षीण नहीं होने देंगे ।

अद्य चेयं मही कृत्स्ना दुर्योधनवशानुगा ।
सग्रामनगरा पार्थ ससागरवनाकरा ॥५॥

हे पार्थ ! आज यह सारी पृथिवी ग्रामों, नगरों, समुद्र, वन तथा खानोंसहित दुर्योधन के वश में है ।

भवानेव प्रियोऽस्माकं त्वयि भारः समाहितः ।
अत्र कृत्यं प्रपश्यामि प्राप्तकालमरिन्दम ॥६॥
कृष्णद्वैपायनात् तात गृहीतोपनिषन्मया ।
तया प्रयुक्तया सम्यग् जगत् सर्वं प्रकाशते ॥७॥

शत्रुदमन ! तुम्हीं हम सब लोगों के अत्यन्त प्रिय हो । हमारे उद्धार का सारा भार तुम्हीं पर है । अब इस समय के योग्य जो कर्त्तव्य मुझे उचित प्रतीत होता है, उसे सुनो । तात ! मैंने श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यासजी से एक रहस्यमयी विद्या प्राप्त की है जिसका विधिवत् प्रयोग करने पर समस्त जगत् सम्यक् रूप से ज्यों-का-त्यों स्पष्ट दीखने लगता है ।

तेन त्वं ब्रह्मणा तात संयुक्तः सुसमाहितः ।
देवतानां यथाकालं प्रसादं प्रतिपालय ॥८॥

तात ! इस मन्त्र-विद्या से युक्त एवं एकाग्रचित होकर तुम यथा-समय देवताओं की प्रसन्नता प्राप्त करो ।

शक्रमेव प्रपद्यस्व स तेऽस्त्राणि प्रदास्यति ।
दीक्षितोऽद्यैव गच्छ त्वं द्रष्टुं देवं पुरन्दरम् ॥९॥

तुम इन्द्र के पास जाओ । वही तुम्हें सब अस्त्र प्रदान करेंगे । आज ही दीक्षा ग्रहण करके तुम देवराज इन्द्र के दर्शन की इच्छा से यात्रा करो ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा धर्मराजस्तमध्यापयत प्रभुः ।
अनुजज्ञे तदा वीरं भ्राता भ्रातरमग्रजः ॥१०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर धर्मराज युधिष्ठिर ने अर्जुन को 'प्रतिस्मृति' नामक विद्या का उपदेश किया और अपने वीर भाई अर्जुन को वहाँ से प्रस्थान करने की आज्ञा दी ।

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भ्रातॄन् धौम्यं च पाण्डवः ।
प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रगृह्य रुचिरं धनुः ॥११॥

तदनन्तर पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुन ने अपना सुन्दर धनुष हाथ में लेकर सभी भाइयों और आचार्य धौम्य मुनि की प्रदक्षिणा कर वहाँ से प्रस्थान किया ।

अगच्छत् पर्वतं पुण्यमेकाह्नैव महामनाः ।
मनोजवगतिर्भूत्वा योगयुक्तो यथानिलः ॥१२॥

महामना अर्जुन योग-युक्त होने के कारण मन के समान तीव्र वेग से चलने में समर्थ हो गये थे, अतः

वे वायु के समान एक ही दिन में पुण्य पर्वत हिमालय पर पहुँच गये।

इन्द्रकीलं समासाद्य ततोऽतिष्ठद् धनञ्जयः।
अन्तरिक्षेऽतिशुश्राव तिष्ठेति स वचस्तदा॥१३॥

तदनन्तर इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचकर अर्जुन ने आकाश में उच्च स्वर से गूँजती एक वाणी सुनी—'तिष्ठ=ठहरो!' तब वे वहीं ठहर गये।

तत् श्रुत्वा सर्वतो दृष्टिं चारयामास पाण्डवः।
अथापश्यत् सव्यसाची वृक्षमूले तपस्विनम्॥१४॥

उस वाणी को सुनकर पाण्डुनन्दन अर्जुन ने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। इतने में ही उन्हें वृक्ष के मूल भाग में बैठे हुए एक तपस्वी दिखाई दिये।

ब्राह्मया श्रिया दीप्यमानं पिङ्गलं जटिलं कृशम्।
सोऽब्रवीदर्जुनं तत्र स्थितं दृष्ट्वा महातपाः॥१५॥

वे ब्रह्मतेज से प्रदीप्त हो रहे थे, उनकी अङ्ग-कान्ति पिंगलवर्ण की थी। वे जटाजूट और अति दुर्बल थे। उन महातपस्वी ने अर्जुन को वहाँ खड़े देखकर पूछा—

कस्त्वं तातेह सम्प्राप्तो धनुष्मान् कवची शरी।
निक्षिपैतद् धनुस्तात नेहास्ति धनुषा कृतम्॥१६॥

तात! तुम कौन हो? कहाँ से आये हो? इस धनुष को यहीं फेंक दो, क्योंकि यहाँ इस धनुष का कोई प्रयोजन नहीं है।

तथा हसन्निवाभीक्ष्णं ब्राह्मणोऽर्जुनमब्रवीत्।
न चैनं चालयामास धैर्यात् सुधृतनिश्चयम्॥१७॥

इस प्रकार उस ब्रह्मर्षि ने हँसते हुए-से बार-बार अर्जुन से धनुष को त्यागने की बात कही, परन्तु वे ब्रह्मर्षि दृढ़-निश्चयी अर्जुन को अपने धैर्य से विचलित नहीं कर सके।

तमुवाच ततः प्रीतः स द्विजः प्रहसन्निव।
वरं वृणीष्व भद्रं ते शक्रोऽहमरिसूदन॥१८॥

तब उस ब्रह्मर्षि ने प्रसन्न हो हँसते हुए कहा—'हे शत्रुनाशक! तुम्हारा कल्याण हो। मैं इन्द्र हूँ, तुम मुझसे कोई वर माँगो।"

एवमुक्तः सहस्राक्षं प्रत्युवाच धनञ्जयः।
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा शूरः कुरुकुलोद्वहः॥१९॥

यह सुनकर कुरुकुल-भूषण शूरवीर अर्जुन ने सहस्रनेत्रधारी इन्द्र से हाथ जोड़कर प्रणामपूर्वक कहा—

ईप्सितो ह्येष वै कामो वरं चैनं प्रयच्छ मे।
त्वत्तोऽद्य भगवन्नस्त्रं कृत्स्नमिच्छामि वेदितुम्॥२०॥

'भगवन्! मैं आपसे सम्पूर्ण अस्त्रों का ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ, यही मेरा अभीष्ट मनोरथ है, अतः मुझे यही वर दीजिए।"

प्रत्युवाच महेन्द्रस्तं प्रीतात्मा प्रहसन्निव।
इह प्राप्तस्य किं कार्यमस्त्रैस्तव धनञ्जयः॥२१॥
कामान्वृणीष्व लोकाँस्त्वं प्राप्तोऽसि परमां गतिम्।
एवमुक्तः प्रत्युवाच सहस्राक्षं धनञ्जयः॥२२॥

तब इन्द्र ने प्रसन्नचित्त हो हँसते हुए कहा—"धनञ्जय! जब तुम यहाँ तक आ ही गये हो, तब तुम अस्त्रों को लेकर क्या करोगे? अब तुम इच्छा-अनुसार उत्तमलोक माँग लो, क्योंकि तुम्हें उत्तम गति प्राप्त हुई है।" यह सुनकर धनञ्जय ने पुनः देवराज इन्द्र से कहा—

न लोभान्न पुनः कामान् न देवत्वं पुनः सुखम्।
न च सर्वामरैश्वर्यं कामये त्रिदशाधिप॥२३॥
भ्रातृंस्तान् विपिने त्यक्त्वा वैरमप्रतियात्य च।
अकीर्तिं सर्वलोकेषु गच्छेयं शाश्वतीः समाः॥२४॥

"देवेश्वर! मैं अपने भाइयों को वन में छोड़कर, शत्रुओं से वैर का बदला लिये बिना लोभ या कामना के वशीभूत हो, न तो देवत्व चाहता हूँ, न सुख और न सम्पूर्ण देवताओं का ऐश्वर्य प्राप्त करना चाहता हूँ। यदि मैंने वैसा किया, तो सदा के लिए सम्पूर्ण लोकों में मुझे महान् अपयश प्राप्त होगा।"

एवमुक्तः प्रत्युवाच वृत्रहा पाण्डुनन्दनम्।
सान्त्वयञ्छ्लक्ष्णया वाचा सर्वलोकनमस्कृतः॥२५॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन के ऐसा कहने पर विश्ववन्द्य, वृत्र-विनाशक इन्द्र ने अर्जुन को सान्त्वना देते हुए मधुर वाणी में कहा—

यदा द्रक्ष्यसि भूतेशं शूलवन्तं महेश्वरम्।
तदा दातास्मि ते तात दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः॥२६॥

"तात! जब तुम त्रिशूलधारी, भूतनाथ, महादेव का दर्शन कर लोगे, तब मैं तुम्हें सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्रदान करूँगा।

रमणीये वनोद्देशे रममाणोऽर्जुनस्तदा ।
तपस्युग्रे स्थितस्तत्र उग्रतेजा महामनाः ॥२७॥

इन्द्र के चले जाने पर उग्र तेजस्वी महामना अर्जुन वहाँ वन के रमणीय प्रदेशों में घूम-फिरकर अत्यन्त कठोर तपस्या में संलग्न हो गये ।

अथ कदाचित् वराहं ददर्शाद्भुतदर्शनम् ।
गाण्डीवं धनुरादाय तमुवाचाथ फाल्गुनः ॥२८॥

कुछ काल पश्चात् अर्जुन ने एक अद्भुत सूअर को देखा । उसे देख गाण्डीव धनुष हाथ में ले अर्जुन ने उसे लक्ष्य करके कहा—

यन्मां प्रार्थयसे हन्तुमनागसमिहागतम् ।
तस्मात् त्वां पूर्वमेवाहं नेताद्य यमसादनम् ॥२९॥

"अरे ! तू यहाँ आये हुए मुझ निरपराध को मारने की घात में लगा हुआ है, अतः मैं आज पहले ही तुझे यमलोक पठा दूँगा ।"

दृष्ट्वा तं प्रहरिष्यन्तं फाल्गुनं दृढधन्विनम् ।
किरातरूपी सहसा वारयामास शङ्करः ॥३०॥

सुदृढ़ धनुषवाले अर्जुन को प्रहार के लिए उद्यत देख किरातरूपधारी शङ्कर ने उन्हें सहसा रोका ।

मयैष प्रार्थितः पूर्वमिन्द्रकीलसमप्रभः ।
अनादृत्य च तद् वाक्यं प्रजहाराथ फाल्गुनः ॥३१॥

और कहा—"इन्द्रकील पर्वत के समान कान्ति-वाले इस सूअर को पहले से ही मैंने अपना लक्ष्य बना रखा है, अतः तुम इसे मत मारो ।" परन्तु अर्जुन ने किरात=भील के वचन की अवहेलना करके उसपर प्रहार कर ही दिया ।

किरातश्च समं तस्मिन्नेकलक्ष्ये महाद्युतिः ।
प्रमुमोचाशनिप्रख्यं शरमग्निशिखोपमम् ॥३२॥

साथ ही महातेजस्वी किरात ने भी उसी एक-मात्र लक्ष्य पर विद्युत् और अग्नि-शिखा के समान एक तेजस्वी बाण छोड़ा ।

तौ मुक्तौ सायकौ ताभ्यां समं तत्र निपेततुः ।
शूकरगात्रे विस्तीर्णे शैलसंहनने तदा ॥३३॥

उन दोनों द्वारा छोड़े गये वे दोनों बाण एक ही साथ शूकर के पर्वत के समान विशाल शरीर में लगे ।

तमब्रवीत् प्रीतमनाः कौन्तेयः प्रहसन्निव ।
किरातवेषसंच्छन्नं पुरुषं काञ्चनप्रभम् ॥३४॥

तब प्रसन्नमन कुन्तीपुत्र अर्जुन ने किरात-वेश में छिपे हुए उस सुवर्ण के समान कान्तिमान् पुरुष से हँसते हुए-से कहा—

किमर्थं च त्वया विद्धो वराहो मत्परिग्रहः ।
न ह्येष मृगयाधर्मो यस्त्वयाद्य कृतो मयि ।
तेन त्वां भ्रंशयिष्यामि जीवितात् पर्वताश्रय ॥३५॥

यह सूअर तो मेरा लक्ष्य था । आपने उसपर बाण क्यों मारा ? यह मृगया का धर्म नहीं है जो आपने मेरे साथ किया है । हे पर्वतवासी ! इस अपराध के कारण मैं आज आपको जीवन से वञ्चित कर दूँगा ।

किरात उवाच

मयैष धन्वनिर्मुक्तैस्ताडितः पूर्वमेव हि ।
बाणैरभिहतः शेते नीतश्च यमसादनम् ॥३६॥

किरात बोला—मैंने अपने धनुष द्वारा छोड़े हुए बाणों से इसे पहले ही घायल कर दिया था । मेरे ही बाणों की चोट खाकर यह सदा के लिए सो रहा है और यमलोक पहुंच चुका है ।

दोषान् स्वान् नार्हसेऽन्यस्मै वक्तुं स्वबलदर्पितः ।
अवलिप्तोऽसि मन्दात्मन् न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ॥३७

मूर्ख ! तुम अपने बल के घमण्ड में आकर अपने दोष दूसरों पर नहीं मढ़ सकते । तुम्हें अपनी शक्ति पर बड़ा गर्व है परन्तु आज तुम मेरे हाथ से जीवित नहीं बच सकते ।

स्थिरो भव विमोक्ष्यामि सायकानशनीनिव ।
घटस्व परया शक्त्या मुञ्च त्वमपि सायकान् ॥३८॥

धैर्यपूर्वक सामने डटे रहो, मैं वज्र के समान भयानक बाण छोड़ूँगा । तुम भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर मुझे जीतने का प्रयास करो, मेरे ऊपर अपने बाण छोड़ो ।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा किरातस्यार्जुनस्तदा ।
रोषमाहारयामास ताडयामास चेषुभिः ॥३९॥

किरात की बात सुनकर उस समय अर्जुन बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने बाणों से उस [किरात] पर प्रहार आरम्भ किया ।

ततो हृष्टेन मनसा प्रतिजग्राह सायकान् ।
भूयो भूय इति प्राह मन्दमन्देत्युवाच ह ॥४०॥

प्रहरस्व शरानेतान् नाराचान् मर्मभेदिनः ।
इत्युक्तो बाणवर्षं स मुमोच सहसार्जुनः ॥४१॥

तब किरात ने प्रसन्नचित्त से अर्जुन के छोड़े हुए सभी बाणों को पकड़ लिया और कहा—"ओ मूर्ख ! और बाण मार ! और बाण मार ! इन मर्म-भेदी नाराचों का प्रहार कर।" उसके ऐसा कहने पर अर्जुन ने सहसा बाणों की झड़ी लगा दी।

शिव उवाच

भो भो फाल्गुन तुष्टोऽस्मि कर्मणाप्रतिमेन ते ।
शौर्येणानेन धृत्या च क्षत्रियो नास्ति ते समः ॥४२॥

शिवजी ने कहा—हे फाल्गुन ! मैं तुम्हारे इस अनुपम पराक्रम, शौर्य और धैर्य से बहुत संतुष्ट हूँ। तुम्हारे समान दूसरा कोई क्षत्रिय नहीं है।

प्रीतिमानस्मि ते पार्थ भवान् सत्यपराक्रमः ।
गृहाण वरमस्मत्तः कांक्षितं पुरुषोत्तम ॥४३॥

हे पार्थ ! तुम्हारा पराक्रम यथार्थ है, अतः मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। पुरुषोत्तम ! तुम मुझसे मनोवाञ्छित वर ग्रहण करो।

अर्जुन उवाच

वरं ददासि चेन्मह्यं कामं प्रीत्या वृषध्वज ।
कामये दिव्यमस्त्रं तद् घोरं पाशुपतं प्रभो ॥४४॥

अर्जुन ने कहा—वृषध्वज ! यदि आप प्रसन्नतापूर्वक मुझे इच्छानुसार वर देते हैं तो हे प्रभो ! मैं पाशुपत नामक भयंकर दिव्यास्त्र को प्राप्त करना चाहता हूँ।

शिव उवाच

ददामि तेऽस्त्रं दयितमहं पाशुपतं विभो ।
समर्थो धारणे मोक्षे संहारे चासि पाण्डव ॥४५॥

शिवजी ने कहा—पराक्रमशाली पाण्डुकुमार ! मैं अपना परमप्रिय पाशुपतास्त्र तुम्हें प्रदान करता हूँ। तुम इसके धारण, प्रयोग और उपसंहार में समर्थ हो।

नैतद् वेद महेन्द्रोऽपि न यमो न च यक्षराट् ।
वरुणोऽप्यथवा वायुः कुतो वेत्स्यन्ति मानवाः ॥४६॥

इस अस्त्र को देवराज इन्द्र, यम, यक्षराज कुबेर, वरुण अथवा वायुदेव भी नहीं जानते फिर साधारण मनुष्य तो जान ही कैसे सकेंगे ?

न त्वेतत् सहसा पार्थ मोक्तव्यं पुरुषे क्वचित् ।
जगद् विनाशयेत् सर्वमल्पतेजसि पातितम् ॥४७॥

परन्तु पार्थ ! तुम सहसा किसी पुरुष पर इसका प्रयोग मत करना। यदि किसी अल्पशक्ति योद्धा पर इसका प्रयोग किया गया तो यह सम्पूर्ण जगत् का नाश कर डालेगा।

अवध्यो नाम नास्त्यत्र त्रैलोक्ये सचराचरे ।
मनसा चक्षुषा वाचा धनुषा च निपातयेत् ॥४८॥

चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण त्रिलोकी में ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो इस अस्त्र के द्वारा न मारा जा सके। इसका प्रयोग करनेवाला पुरुष अपने मानसिक संकल्प से, दृष्टि से, वाणी से तथा धनुष-बाण द्वारा भी शत्रुओं को नष्ट कर सकता है।

वैशम्पायन उवाच

स्वर्गं गच्छेत्यनुज्ञातस्त्र्यम्बकेन तदार्जुनः । □
प्रणम्य शिरसा राजन् प्राञ्जलिर्देवमैक्षत ॥४९॥

वैशम्पायनजी ने कहा—अस्त्र देकर शिवजी ने अर्जुन को आज्ञा दी—'अब तुम स्वर्गलोक को जाओ।' राजन् ! तब अर्जुन ने हाथ जोड़कर उनकी ओर देखा और चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम किया।

इति महाभारते वनपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

अर्जुन का स्वर्गलोक में गमन और अस्त्र तथा संगीत की शिक्षा

वैशम्पायन उवाच

ततोऽर्जुनः परं चक्रे विस्मयं परवीरहा ।
मया साक्षान्महादेवो दृष्ट इत्येव भारत ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शिव के चले जाने पर शत्रुवीरों का संहार करनेवाले अर्जुन को यह सोचकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आज मुझे महादेवजी का साक्षात् दर्शन प्राप्त हुआ है।

कृतार्थं चावगच्छामि परमात्मानमाहवे ।
शत्रूंश्च विजितान् सर्वान् निर्वृत्तं च प्रयोजनम् ॥२॥

आज मैं अपने-आपको परम कृतार्थ मानता हूँ, साथ ही यह विश्वास करता हूँ कि महासमर में अपने समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त करूंगा। अब मेरा अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध हो गया है।

इत्येवं चिन्तयानस्य पार्थस्यामिततेजसः।
रथो मातलिसंयुक्त आजगाम महाप्रभः ॥३॥

अमित तेजस्वी कुन्तीनन्दन के ऐसा चिन्तन करते ही इन्द्र द्वारा प्रेषित मातलिसहित जगमगाता हुआ रथ वहाँ आ पहुँचा।

तथा तर्कयतस्तस्य फाल्गुनस्याथ मातलिः।
संनतः प्रस्थितो भूत्वा वाक्यमर्जुनमब्रवीत् ॥४॥

इस प्रकार विचार करते हुए अर्जुन के सम्मुख उपस्थित हो मातलि ने विनीत भाव से कहा—

मातलिरुवाच

भो भो शक्रात्मज श्रीमाञ्छक्रस्त्वां द्रष्टुमिच्छति।
आरोहतु भवाञ्छीघ्रं रथमिन्द्रस्य सम्मतम् ॥५॥

मातलि ने कहा—इन्द्रकुमार! श्रीमान् देवराज इन्द्र आपको देखना चाहते हैं। यह उनका प्रिय रथ है। आप शीघ्र इसपर आरूढ़ हो जाइए।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वाऽर्जुनस्तु परवीरहा।
आरुरोह रथं दिव्यं द्योतयन्निव भास्करः ॥६॥

वैशम्पायनजी बोले—हे जनमेजय! मातलि का यह वचन सुनकर शत्रुवीरों का संहार करनेवाले अर्जुन उस दिव्य रथ पर ऐसे आरूढ़ हुए, मानो सूर्य सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाशित कर रहा हो।

स तेनादित्यरूपेण दिव्येनाद्भुतकर्मणा।
प्रविवेश महाबाहुः शक्रस्य दयितां पुरीम् ॥७॥

महाबाहु अर्जुन उस अद्भुत चाल से चलनेवाले सूर्य के समान दीप्त दिव्य रथ के द्वारा देवराज इन्द्र की प्रिय नगरी अमरावती में प्रविष्ट हुए।

ततोऽभिगम्य देवेशं शिरसाभ्यगमद् बली।□
स चैनं वृत्तपीनाभ्यां बाहुभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥८॥

इन्द्रपुरी में पहुँच और सभा में प्रविष्ट होकर महाबली अर्जुन ने निकट जाकर देवराज इन्द्र के चरणों में मस्तक रख दिया। इन्द्र ने भी अपनी गोल-गोल मोटी भुजाओं से उसे उठाकर अपने हृदय से लगा लिया।

ततः शक्रासने पुण्ये देवर्षिगणसेविते।□
शक्रः पाणौ गृहीत्वैनमुपावेशयदन्तिके ॥९॥

तत्पश्चात् इन्द्र ने अर्जुन का हाथ पकड़कर अपने देवर्षिगण से सेवित पवित्र सिंहासन पर उन्हें अपने पास ही बैठा लिया।

एवं सम्पूजितो जिष्णुरुवास भवने पितुः।
उपशिक्षन् महास्त्राणि ससंहाराणि पाण्डवः ॥१०॥

इस प्रकार पूजित होकर पाण्डुकुमार अर्जुन अपने पिता के घर में रहने और उनसे उपसंहारसहित महान् अस्त्रों की शिक्षा ग्रहण करने लगे।

शक्रस्य हस्ताद् दयितं वज्रमस्त्रं च दुःसहम्।
अशनीश्च महानादा मेघबर्हिणलक्षणाः ॥११॥

उन्होंने इन्द्र के हाथ से उनके प्रिय एवं दुःसह अस्त्र वज्र और भारी गड़गड़ाहट पैदा करनेवाली उन अशनियों को ग्रहण किया, जिनका प्रयोग करने पर जगत् में मेघों की घटा घिर आती है और मोर नाचने लगते हैं।

गृहीतास्त्रस्तु कौन्तेयो भ्रातॄन् संस्मार पाण्डवः।□
पुरन्दरनियोगाच्च पञ्चाब्दानवसत् सुखी ॥१२॥

सब अस्त्रों की शिक्षा ग्रहण कर लेने पर अर्जुन ने अपने भाइयों का स्मरण किया। परन्तु इन्द्र के विशेष अनुरोध से वे पाँच वर्षों तक वहाँ सुखपूर्वक ठहरे रहे।

ततः शक्रोऽब्रवीत् पार्थं कृतास्त्रं काल आगते।
नृत्यं गीतं च कौन्तेय चित्रसेनादवाप्नुहि ॥१३॥

अस्त्र शिक्षा में पारंगत हो जाने पर एक दिन उपयुक्त अवसर आने पर इन्द्र ने कुन्तीनन्दन अर्जुन से कहा—"कुन्तीनन्दन! तुम चित्रसेन से नृत्य और गीत की शिक्षा ग्रहण करो।

वादित्रं देवविहितं नृलोके यन्न विद्यते।
तदर्जयस्व कौन्तेय श्रेयो वै ते भविष्यति ॥१४॥

"कुन्तीपुत्र! मनुष्यलोक में जो अबतक प्रचलित नहीं है, देवताओं की उस वाद्य-कला का ज्ञान प्राप्त कर लो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा।"

सखायं प्रददौ चास्य चित्रसेनं पुरन्दरः।
स तेन सह संगम्य रेमे पार्थो निरामयः ॥१५॥

पुरन्दर ने अर्जुन को संगीत की शिक्षा देने के लिए उन्हीं के मित्र चित्रसेन को नियुक्त कर दिया। मित्र से मिलकर दुःख-शोक से रहित अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए।

गीतवादित्रनृत्यानि भूय एवादिदेश ह।
गान्धर्वमतुलं नृत्यं वादित्रं चोपलब्धवान् ॥१६॥

चित्रसेन ने उन्हें गीत, वाद्य और नृत्य की बार-बार शिक्षा दी तथा अर्जुन ने भी गीत, वाद्य और नृत्य की उस अनुपम कला को पूर्णरूप से प्राप्त कर लिया।

इति महाभारते वनपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन का आदर्श चरित, उर्वशी का उन्हें शाप देना

वैशम्पायन उवाच

आदावेवाथ तं शक्रश्चित्रसेनं रहोऽब्रवीत्।
पार्थस्य चक्षुरुर्वश्यां सक्तं विज्ञाय वासवः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! एक समय इन्द्र ने अर्जुन के नेत्र उर्वशी के प्रति आसक्त जानकर चित्रसेन गन्धर्व को बुलाया और एकान्त में उनसे यह बात कही—

गन्धर्वराज गच्छाद्य प्रहितोऽप्सरसां वराम्।
उर्वशीं पुरुषव्याघ्र सोपातिष्ठतु फाल्गुनम् ॥२॥

गन्धर्वराज! तुम मेरी आज्ञा से अप्सराओं में श्रेष्ठ उर्वशी के पास जाओ। पुरुषश्रेष्ठ! तुम्हें वहाँ भेजने का उद्देश्य यह है कि उर्वशी अर्जुन की सेवा में उपस्थित हो।

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सोऽनुज्ञां प्राप्य वासवात्।
गन्धर्वराजोऽप्सरसमभ्यगादुर्वशीं वराम् ॥३॥

इन्द्र के ऐसा कहने पर 'तथास्तु' कहकर उनसे आज्ञा ले गन्धर्वराज चित्रसेन सुन्दरी अप्सरा उर्वशी के पास गये।

तां दृष्ट्वा विदितो हृष्टः स्वागतेनार्चितस्तया।
सुखासीनः सुखासीनां स्मितपूर्वं वचोऽब्रवीत् ॥४॥

उससे मिलकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उर्वशी ने चित्रसेन को आया जान स्वागतपूर्वक उसका सत्कार किया। जब वे आराम से बैठ गये, तब वे सुखपूर्वक सुन्दर आसन पर बैठी हुई उर्वशी से मुस्करा कर बोले—

यस्तु देवमनुष्येषु प्रख्यातः सहजैर्गुणैः।
श्रिया शीलेन रूपेण व्रतेन च दमेन च ॥५॥
वर्चस्वी तेजसा युक्तः क्षमावान् वीतमत्सरः।
विदितस्तेऽर्जुनो वीरः स स्वर्गफलमाप्नुयात् ॥६॥
त्वं तु शक्राभ्यनुज्ञाता तस्य पादान्तिकं व्रज।
तदेवं कुरु कल्याणि प्रसन्नस्त्वां धनञ्जयः ॥७॥

सुन्दरि! जो अपने स्वाभाविक सद्गुण श्री, शील स्वभाव, मनोहर रूप, उत्तम-व्रत और इन्द्रिय-संयम के कारण देवताओं तथा मनुष्यों में विख्यात हैं, जो वर्चस्वी, तेजस्वी, क्षमाशील और ईर्ष्यारहित हैं, उन वीरवर अर्जुन को तुम अच्छी प्रकार जानती हो। उन्हें स्वर्ग में आने का फल अवश्य मिलना चाहिए। देवराज की आज्ञानुसार तुम आज अर्जुन की सेवा में उपस्थित होओ। कल्याणि! तुम ऐसा प्रयत्न करो जिससे कुन्तीपुत्र अर्जुन तुम पर प्रसन्न हों।

एवमुक्ता स्मितं कृत्वा सम्मानं बहु मन्य च।
प्रत्युवाचोर्वशी प्रीता चित्रसेनमनिन्दिता ॥८॥

चित्रसेन के ऐसा कहने पर और इस आदेश को अपने लिए बहुत बड़ा सम्मान समझकर अनिन्द्य सुन्दरी उर्वशी मुस्करा कर चित्रसेन से यों बोली—

महेन्द्रस्य नियोगेन त्वत्तः सम्प्रणयेन च।
तस्य चाहं गुणौघेन फाल्गुने जातमन्यथा।
गच्छ त्वं हि यथाकाममागमिष्याम्यहं सुखम् ॥९॥

महेन्द्र की आज्ञा से, तुम्हारे प्रेमपूर्ण अनुरोध से तथा अर्जुन के गुण-समूह से मेरी उनके प्रति बड़ी प्रणयासक्ति हो गई है। तुम जाओ। मैं इच्छानुसार यथासमय उनके स्थान पर जाऊँगी।

ततो विसृज्य गन्धर्वं कृतकृत्यं शुचिस्मिता।
उर्वशी चाकरोत् स्नानं पार्थदर्शनलालसा ॥१०॥

तदनन्तर कृतकृत्य हुए गन्धर्वराज चित्रसेन को विदा करके पवित्र मुस्कानवाली उर्वशी ने अर्जुन से मिलने के लिए उत्सुक हो स्नान किया।

निर्गम्य चन्द्रोदयने विगाढे रजनीमुखे।
प्रस्थिता सा पृथुश्रोणी पार्थस्य भवनं प्रति ॥११॥

सन्ध्या-समय चन्द्रोदय होने पर जब चारों ओर चाँदनी छिटक गई तब स्थूल कटि-प्रदेशवाली वह अप्सरा अपने भवन से निकलकर अर्जुन के निवास-स्थान की ओर चली।

सीधुपानेन चाल्पेन तुष्टयाथ मदनेन च।
विलासनैश्च विविधैः प्रेक्षणीयतराभवत् ॥१२॥

वह अल्प सुरापान से, तुष्टि की कामना से, काम से और नाना प्रकार की विलास-भंगिमाओं से युक्त होने के कारण अत्यन्त दर्शनीय हो रही थी।

ततः प्राप्ता क्षणेनैव मनःपवनगामिनी।
भवनं पाण्डुपुत्रस्य फाल्गुनस्य शुचिस्मिता ॥१३॥

मन और वायु के समान तीव्र वेग से चलनेवाली पवित्र मुस्कान से शोभायमान वह अप्सरा क्षणभर में पाण्डुपुत्र अर्जुन के आवास में जा पहुँची।

तत्र द्वारमनुप्राप्ता द्वारस्थैश्च निवेदिता।
अर्जुनस्य नरश्रेष्ठ उर्वशी शुभलोचना ॥१४॥
उपातिष्ठत तद् वेश्म निर्मलं सुमनोहरम्।
स शंकितमना राजन् प्रत्युदगच्छत् तां निशि ॥१५॥

नरश्रेष्ठ जनमेजय! महल के द्वार पर पहुँचकर वह ठहर गई। उस समय द्वारपालों ने अर्जुन को उसके आगमन की सूचना दी। तब सुन्दर नेत्रोंवाली उर्वशी रात्रि में अर्जुन के अत्यन्त मनोहर तथा उज्ज्वल भवन में प्रविष्ट हुई। राजन्! अर्जुन सशङ्क हृदय से उसके सामने गये।

दृष्ट्वैव चोर्वशीं पार्थो लज्जासंवृतलोचनः।
तदाभिवादनं कृत्वा गुरुपूजां प्रयुक्तवान् ॥१६॥

उर्वशी को आई देख अर्जुन के नेत्र लज्जा से नत हो गये। उस समय उन्होंने उर्वशी के चरणों में प्रणाम करके उसका गुरुजनोचित सत्कार किया।

अर्जुन उवाच

अभिवादये त्वां शिरसा प्रवराप्सरसां वरे।
किमाज्ञापयसे देवि प्रेष्यस्तेऽहमुपस्थितः ॥१७॥

अर्जुन ने कहा—देवि! श्रेष्ठ अप्सराओं में भी तुम्हारा स्थान सबसे ऊँचा है। मैं तुम्हारे चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम करता हूँ। बताओ, मेरे लिए क्या आज्ञा है? मैं तुम्हारा सेवक हूँ और तुम्हारी आज्ञा-पालन करने के लिए उपस्थित हूँ।

वैशम्पायन उवाच

फाल्गुनस्य वचः श्रुत्वा गतसंज्ञा तदोर्वशी।
गन्धर्ववचनं सर्वं श्रावयामास तं तदा ॥१८॥

वैशम्पायनजी बोले—अर्जुन की यह बात सुनकर उर्वशी के होश-हवास गुम हो गये। उस समय उसने गन्धर्वराज चित्रसेन की कही हुई सारी बातें कह सुनाईं।

उर्वश्युवाच

उपस्थाने महेन्द्रस्य वर्तमाने मनोरमे।
तवागमनतो वृत्ते स्वर्गस्य परमोत्सवे ॥१९॥
वीणासु वाद्यमानासु गन्धर्वैः शक्रनन्दन।
दिव्ये मनोरमे गेये प्रवृत्ते पृथुलोचन ॥२०॥
सर्वाप्सरःसु मुख्यासु प्रनृत्तासु कुरूद्वह।
त्वं किलानिमिषः पार्थ मामेकां तत्र दृष्टवान् ॥२१॥

उर्वशी ने कहा—कुरुनन्दन पार्थ! देवराज इन्द्र के इस मनोरम निवास-स्थान में तुम्हारे शुभागमन के उपलक्ष्य में एक महान् उत्सव का आयोजन किया गया था। स्वर्ग-लोक के उस सबसे बड़े उत्सव में उस समय गन्धर्वों द्वारा अनेक वीणाएँ बजायी जा रही थीं। दिव्य मनोरम संगीत छिड़ा हुआ था और सभी प्रमुख अप्सराएँ नाच रहीं थीं। विशाल नेत्र-वाले इन्द्रकुमार! उस समय तुम मेरी ओर निर्निमेष नयनों से निहार रहे थे।

ततोऽहं समनुज्ञाता तेन पित्रा च तेऽनघ।
तवान्तिकमनुप्राप्ता शुश्रूषितुमरिन्दम ॥२२॥

अनघ! शत्रुनाशक! तदनन्तर चित्रसेन और तुम्हारे पिता देवराज इन्द्र की आज्ञा शिरोधार्य करके मैं तुम्हारी सेवा के लिए तुम्हारे पास आई हूँ।

त्वद् गुणाकृष्टचित्ताहमनङ्गवशमागता।
चिराभिलषितो वीर ममाप्येष मनोरथः ॥२३॥

तुम्हारे गुणों ने मेरे चित्त को अपनी ओर खींच लिया है। मैं कामदेव के वश में हो गई हूँ। वीर!

मेरे हृदय में भी चिर-काल से यह मनोरथ चला आ रहा था।

वैशम्पायन उवाच

तां तथा ब्रुवतीं श्रुत्वा भृशं लज्जाऽऽवृतोऽर्जुनः।
उवाच कर्णौ हस्ताभ्यां पिधाय त्रिदशालये ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! स्वर्गलोक में उर्वशी की यह बात सुनकर अर्जुन अत्यन्त लज्जा से गड़ गये और हाथों से दोनों कान मूंदकर बोले—

अर्जुन उवाच

दुःश्रुतं मेऽस्तु सुभगे यन्मां वदसि भामिनि।
गुरुदारैः समाना मे निश्चयेन वरानने ॥२५॥

अर्जुन बोले—हे सौभाग्यशीले! भामिनि! तुम जैसी बात कहरही हो, उसे सुनना भी मेरे लिए बड़े दुःख की बात है। वरानने! निश्चय ही मेरी दृष्टि में तुम गुरु-पत्नियों के समान पूजनीया हो।

यच्चेक्षितासि विस्पष्टं विशेषेण मया शुभे।
तच्च कारणपूर्वं हि शृणु सत्यं शुचिस्मिते ॥२६॥

शुभे! पवित्र मुस्कानवाली उर्वशी! मैंने उस समय सभा में तुम्हारी ओर एकटक दृष्टि से देखा था, उसका एक विशेष कारण था, उसे बताता हूँ, सुनो!

इयं पौरववंशस्य जननी मुदितेति च।
त्वामहं दृष्टवाँस्तत्र विज्ञायोत्फुल्ललोचनः ॥२७॥

तुम आनन्दमयी उर्वशी ही पुरुवंश की जननी हो, ऐसा जानकर मेरे नेत्र खिल उठे और इसी पूज्य-भाव को लेकर ही मैंने तुम्हें वहाँ एकटक देखा था।

यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥२८॥

हे अनघे! मेरी दृष्टि में कुन्ती, माद्री और शची का जो स्थान है, वही तुम्हारा भी है। तुम पूरुवंश की जननी होने के कारण आज भी मेरे लिए परम गौरवमयी हो।

गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि।
त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत् त्वया ॥२९

वरवर्णिनि! मैं तुम्हारे चरणों में मस्तक रखकर तुम्हारी शरण में प्रणत हूँ। तुम लौट जाओ। मेरी दृष्टि में तुम माता के समान पूजनीया हो और तुम्हें पुत्र के समान मेरी रक्षा करनी चाहिए।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता तु पार्थेन उर्वशी क्रोधमूर्च्छिता।
वेपन्ती भ्रुकुटीवक्रा शशापाथ धनञ्जयम् ॥३०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्तीपुत्र अर्जुन के ऐसा कहने पर उर्वशी क्रोध से व्याकुल हो उठी। उसका शरीर काँपने लगा और भौंहें टेढ़ी हो गईं। उसने अर्जुन को शाप देते हुए कहा—

उर्वश्युवाच

तव पित्राभ्यनुज्ञातां स्वयं च गृहमागताम्।
यस्मान्मां नाभिनन्देथाः कामबाणवशंगताम् ॥३१॥
तस्मात् त्वं नर्तनः पार्थ स्त्रीमध्ये मानवर्जितः।
अपुमानिति विख्यातः षण्ढवद् विचरिष्यसि ॥३२॥

उर्वशी बोली—अर्जुन! तुम्हारे पिता इन्द्र के कहने से मैं स्वयं तुम्हारे घर पर आई और कामबाण से घायल हो रही हूँ, फिर भी तुम मेरा आदर नहीं करते, अतः तुम्हें स्त्रियों के बीच में सम्मान-रहित होकर नर्तक बनकर रहना पड़ेगा। तुम नपुंसक कहलाओगे और तुम्हारा सारा आचार-व्यवहार हिजड़ों के ही समान रहेगा।

वैशम्पायन उवाच

एवं दत्त्वार्जुने शापं स्फुरदोष्ठी श्वसन्त्यथ।
पुनः प्रत्यागता क्षिप्रमुर्वशी गृहमात्मनः ॥३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—फड़कते होठों से इस प्रकार शाप देकर उर्वशी लम्बी साँसें खींचती हुई शीघ्र ही अपने घर को लौट गई।

ततोऽर्जुनस्त्वरमाणः चित्रसेनमरिन्दमः।
सम्प्राप्य रजनीवृत्तं तदुर्वश्या यथातथम् ॥३४॥
निवेदयामास तदा चित्रसेनाय पाण्डवः।
तत्र चैवं यथावृत्तं शापं चैव पुनः पुनः ॥३५॥

उधर शत्रुदमन पाण्डुकुमार अर्जुन बड़ी उतावली के साथ चित्रसेन के समीप गये तथा रात्रि में उर्वशी के साथ जो घटना जिस प्रकार घटित हुई, वह सब उन्होंने उस समय चित्रसेन को ज्यों-की-त्यों कह सुनाई। साथ ही उसके शाप देने की बात भी बार-बार दोहराई।

अवेदयच्च शक्रस्य चित्रसेनोऽपि सर्वशः।
तत आनाय्य तनयं विविक्ते हरिवाहनः ॥३६॥

सान्त्वयित्वा शुभैर्वाक्यैः स्मयमानोऽभ्यभाषत ।
सुपुत्राद्य पृथा तात त्वया पुत्रेण सत्तम ॥३७॥

चित्रसेन ने भी सारी घटना देवराज इन्द्र को बताई। तब इन्द्र ने अपने पुत्र को बुलाकर एकान्त में कल्याणमय वचनों द्वारा सान्त्वना देते हुए मुस्कराकर कहा—"तात ! तुम सत्पुरुषों के शिरोमणि हो। तुम जैसे पुत्र को पाकर कुन्ती वास्तव में पुत्रवती है।

ऋषयोऽपि हि धैर्येण जिता वै ते महाभुज ।
यत्तु दत्तवती शापमुर्वशी तव मानद ॥३८॥
स चापि तेऽर्थकृत् तात साधकश्च भविष्यति ।
अज्ञातवासो वस्तव्यो भवद्भिर्भूतलेऽनघ ।
वर्षे त्रयोदशे वीर तत्र त्वं क्षपयिष्यसि ॥३९॥

"महाबाहो ! तुमने अपने धैर्य=इन्द्रिय-संयम द्वारा ऋषियों को भी पराजित किया है। मानद ! उर्वशी ने तुम्हें जो शाप दिया है, वह तुम्हारे अभीष्ट अर्थ का साधक होगा। अनघ ! तुम्हें पृथिवी पर तेरहवें वर्ष में अज्ञातवास करना है। वीर ! उर्वशी के दिये हुए शाप को तुम उसी वर्ष में पूर्ण कर दोगे।"

एवमुक्तस्तु शक्रेण फाल्गुनः परवीरहा ।
मुदं परमिकां लेभे न च शापं व्यचिन्तयत् ॥४०॥

इन्द्र के ऐसा कहने पर शत्रुवीरों का संहार करनेवाले अर्जुन को बड़ी प्रसन्नता हुई और उनके शाप की चिन्ता छूट गई।

इति महाभारते वनपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

भीमसेन-युधिष्ठिर संवाद

जनमेजय उवाच

अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि ।
युधिष्ठिरप्रभृतयः किमकुर्वत पाण्डवाः ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! महात्मा अर्जुन के अस्त्र-विद्या की प्राप्ति के लिए इन्द्रलोक चले जाने पर युधिष्ठिर आदि पाण्डवों ने क्या किया ?

वैशम्पायन उवाच

अस्त्रहेतोर्गते पार्थे शक्रलोकं महात्मनि ।
आवसन् कृष्णया सार्धं काम्यके भरतर्षभाः ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! महात्मा अर्जुन के अस्त्र-विद्या की प्राप्ति के लिए इन्द्रलोक चले जाने पर भरतकुलभूषण पाण्डव द्रौपदी के साथ काम्यक वन में रहने लगे।

धनञ्जयवियोगाच्च राज्यभ्रंशाच्च दुःखिताः ।
अथ भीमो महाबाहुर्युधिष्ठिरमभाषत ॥३॥

पाण्डव राज्य के अपहरण हो जाने से तो दुःखी थे ही, अर्जुन के वियोग से वे और भी क्लेश में पड़ गये थे। उस समय महाबाहु भीम ने युधिष्ठिर से कहा—

क्षात्रं धर्मं महाराज त्वमवेक्षितुमर्हसि ।
न हि धर्मो महाराज क्षत्रियस्य वनाश्रयः ॥४॥

"महाराज ! आप क्षत्रियधर्म की ओर देखिए। इस प्रकार वन में रहना क्षत्रियों का धर्म कदापि नहीं है।

राज्यमेव परं धर्मं क्षत्रियस्य विदुर्बुधाः ।
स क्षत्रधर्मविद् राजा मा धर्म्यान्नीनशः पथः ॥५॥

"विद्वानों ने राज्य को ही क्षत्रिय का सर्वोत्तम धर्म माना है। आप क्षत्रियधर्म के ज्ञाता नरेश हैं, अतः धर्म के मार्ग से विचलित मत होइए।

प्राग् द्वादशसमा राजन् धार्तराष्ट्रान् निहन्महि ।
निवर्त्य च वनात् पार्थमानाय्य च जनार्दनम् ॥६॥

"राजन् ! हम लोग बारह वर्ष व्यतीत होने से पहले ही अर्जुन को वन से लौटाकर और श्रीकृष्ण को बुलाकर धृतराष्ट्र के पुत्रों का संहार कर सकते हैं।

निकृत्या निकृतिप्रज्ञा हन्तव्या इति निश्चयः ।
न हि नैकृतिकं हत्वा निकृत्या पापमुच्यते ॥७॥

"शठता करने या जाननेवाले शत्रुओं को शठता के द्वारा ही मारना चाहिए, यह एक सिद्धान्त है। जो दूसरों के साथ छल-कपट करता है, उसे छल से मार डालने में पाप नहीं है।

तथा भारत धर्मेषु धर्मज्ञैरिह दृश्यते।
अहोरात्रं महाराज तुल्यं संवत्सरेण ह ॥८॥

"भरतवंशी महाराज! धर्मशास्त्र में धर्मपरायण धर्मज्ञ पुरुषों द्वारा यहाँ एक दिन-रात एक संवत्सर के समान देखा जाता है।

यदि वेदाः प्रमाणास्ते दिवसादूर्ध्वमच्युत।
त्रयोदश समाः कालो ज्ञायतां परिनिष्ठितः ॥९॥

"अच्युत! यदि आप वेद को प्रमाण मानते हैं तो तेरहवें दिन के बाद ही तेरह वर्षों का समय बीत गया, ऐसा समझ लीजिए।

कालो दुर्योधनं हन्तुं सानुबन्धमरिन्दम।
एकाग्रां पृथिवीं सर्वां पुरा राजन् करोति सः ॥१०॥

"शत्रुदमन! सगे-सम्बन्धियोंसहित दुर्योधन को मारने का समय आ गया है। राजन्! जबतक वह सारी पृथिवी को एक सूत्र में बाँधे, उससे पूर्व ही उसे मार डालना चाहिए।"

एवं ब्रुवाणं भीमं तु धर्मराजो युधिष्ठिरः।
उवाच सान्त्वयन् राजा मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम् ॥११

धर्मराज महाराज युधिष्ठिर ने उपर्युक्त बातें कहनेवाले पाण्डुनन्दन भीम का मस्तक सूँघकर उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—

असंशयं महाबाहो हनिष्यसि सुयोधनम्।
वर्षात् त्रयोदशादूर्ध्वं सह गाण्डीवधन्वना ॥१२॥

"महाबाहो! इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि तुम तेरह वर्ष पश्चात् गाण्डीवधारी अर्जुन के साथ मिलकर युद्ध में सुयोधन को मार डालोगे।

यत्त्वमाभाषसे पार्थ प्राप्तः काल इति प्रभो।
अनृतं नोत्सहे वक्तुं न ह्येतन्मम विद्यते ॥१३॥

"परन्तु कुन्तीकुमार वीर! तुम जो यह कहते हो कि दुर्योधन के मारने का अवसर आ गया है, वह ठीक नहीं है। मैं झूठ नहीं बोल सकता, यह मेरा स्वभाव नहीं है।

अन्तरेणापि कौन्तेय निकृतं पापनिश्चयम्।
हन्ता त्वमसि दुर्धर्ष सानुबन्धं सुयोधनम् ॥१४॥

"कुन्तीनन्दन! दुर्धर्ष वीर! तुम छल-कपट का आश्रय लिये बिना भी पापपूर्ण विचार रखनेवाले सुयोधन को सम्बन्धियोंसहित नष्ट कर सकते हो।"

एवं ब्रुवति भीमं तु धर्मराजे युधिष्ठिरे।
आजगाम महाभागो बृहदश्वो महानृषिः ॥१५॥

धर्मराज युधिष्ठिर जब भीमसेन से ऐसी बातें कह रहे थे, उसी समय महाभाग महर्षि बृहदश्व वहाँ आ पहुँचे।

तमभिप्रेक्ष्य सम्प्राप्तं पूजयामास धर्मराट्।
आश्वस्तं चैनमासीनं कृपणं बह्वभाषत ॥१६॥

उन्हें आया देख धर्मराज युधिष्ठिर ने उनका स्वागत किया और जब वे विश्राम कर चुके, तब धर्मराज युधिष्ठिर दीनतापूर्वक बोले—

अक्षद्यूते तु भगवन् धनं राज्यं च मे हृतम्।
आहूय निकृतिप्रज्ञैः कितवैरक्षकोविदैः ॥१७॥

"भगवन्! मुझे जुए में बुलाकर छल-कपट में कुशल तथा पासा फेंकने की कला में निपुण धूर्त जुआरी शकुनि ने मेरे सारे धन तथा राज्य का अपहरण कर लिया।

अनक्षज्ञस्य हि सतो निकृत्या पापनिश्चयैः। □
भार्या च मे सभां नीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥१८॥

"मैं जुए का मर्मज्ञ नहीं हूँ। मुझे जुए में हराकर पापपूर्ण विचार रखनेवाले वे दुष्ट मेरी प्राणों से भी अधिक गौरवशालिनी पत्नी द्रौपदी को केश पकड़कर सभा में ले गये।

पुनर्द्यूतेन मां जित्वा वनवासं सुदारुणम्।
प्राव्राजयन् महारण्यमजिनैः परिवारितम् ॥१९॥

"एक बार जुए के संकट से बच जाने पर पुनः द्यूत का आयोजन कर उन्होंने मुझे जीत लिया और मृगचर्म पहनाकर वनवास का दारुण दुःख भोगने के लिए इस महान् वन में निर्वासित कर दिया।

अहं वने दुर्वसतीर्वसन् परमदुःखितः।
अक्षद्यूताधिकारे च गिरः शृण्वन् सुदारुणाः ॥२०॥
आर्तानां सुहृदां वाचो द्यूतप्रभृति शंसताम्।
अहं हृदि श्रिताः स्मृत्वा सर्वरात्रीर्विचिन्तयन् ॥२१॥

"मैं अत्यन्त दुःखी हो, अति कठिनाई से वन में निवास करता हूँ। जिस सभा में जुआ खेलने का आयोजन किया गया था, वहाँ प्रतिपक्षियों के मुख से मुझे अत्यन्त कठोर बातें सुननी पड़ी थीं। इसके अतिरिक्त द्यूत आदि कार्यों का उल्लेख करते हुए मेरे

दुःखातुर सुहृदों ने जो सन्ताप-सूचक बातें कही थीं, वे सब मेरे हृदय में स्थित हैं। उन बातों को याद करके मैं सारी रात चिन्ता में मग्न रहता हूँ।

यस्मिश्चैव समस्तानां प्राणा गाण्डीवधन्वनि।
विना महात्मना तेन गतसत्त्व इवाभवम् ॥२२॥

"इधर जिस गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन में हम सबके प्राण बसते हैं, वह भी हमसे अलग है। महात्मा अर्जुन के बिना मैं निष्प्राण-सा हो गया हूँ।

कदा द्रक्ष्यामि बीभत्सुं कृतास्त्रं पुनरागतम्।
प्रियवादिनमक्षुद्रं दयायुक्तमतन्द्रितः ॥२३॥

"मैं सदा निरालस्य भाव से यही सोचा करता हूँ कि श्रेष्ठ, प्रियवादी और दयालु अर्जुन कब अस्त्र-विद्या सीखकर फिर यहाँ आएगा, और मैं निरन्तर उसके प्रिय दर्शन करूँगा।

नृपोऽस्ति मद्विधः कश्चिदल्पभाग्यतरो भुवि।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा क्वचित्।
न मत्तो दुःखिततरः पुमानस्तीति मे मतिः ॥२४॥

"क्या मेरे जैसा अत्यन्त भाग्यहीन राजा इस पृथिवी पर कोई दूसरा भी है? अथवा आपने कहीं मेरे जैसे किसी राजा को पहले कभी देखा या सुना है? मेरा तो यह विश्वास है कि मुझसे बढ़कर अत्यन्त दुःखी दूसरा कोई नहीं है।"

बृहदश्व उवाच

यद् ब्रवीषि महाराज न मत्तो विद्यते क्वचित्।
अल्पभाग्यतरः कश्चित् पुमानस्तीति पाण्डव ॥२५॥
अत्र ते वर्णयिष्यामि यदि शुश्रूषसेऽनघ।
यस्त्वत्तो दुःखिततरो राजासीत् पृथिवीपते ॥२६॥

बृहदश्व बोले—महाराज पाण्डुनन्दन! तुम जो यह कह रहे हो कि मुझसे बढ़कर अत्यन्त भाग्यहीन कोई पुरुष कहीं भी नहीं है, उसके विषय में मैं तुम्हें एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा। निष्पाप पृथिवी-पते! यदि तुम सुनना चाहो तो मैं उस व्यक्ति का परिचय देता हूँ, जो इस पृथिवी पर तुम से भी अधिक दुःखी राजा था।

निषधेषु महीपालो वीरसेन इति श्रुतः।
तस्य पुत्रोऽभवन्नाम्ना नलो धर्मार्थकोविदः ॥२७॥

निषध देश में वीरसेन नाम के प्रसिद्ध भूपाल हो गये हैं। उनके पुत्र का नाम नल था। राजा नल धर्म और अर्थ के तत्त्वज्ञ थे।

स निकृत्या जितो राजा पुष्करेणेति नः श्रुतम्।
वनवासं सुदुःखार्तो भार्यया न्यवसत् सह ॥२८॥

हमने सुना है कि राजा नल को उसके भाई पुष्कर ने छल द्वारा जुए में जीत लिया था और वे अत्यन्त दुःख से आतुर हो अपनी पत्नी के साथ वनवास का दुःख भोगने लगे थे।

न तस्य दासा न रथो न भ्राता न च बान्धवाः।
वने निवसतो राजञ्छेष्यन्ते स्म कदाचन ॥२९॥

राजन्! उसके पास न सेवक थे, न रथ, न भाई थे, न बान्धव। वन में रहते समय उनके पास इन वस्तुओं में से कुछ भी शेष नहीं था।

भवान् हि संवृतो वीरैर्भ्रातृभिर्देवसम्मितैः।
ब्रह्मकल्पैर्द्विजाग्र्यैश्च तस्मान्नार्हसि शोचितुम् ॥३०॥

तुम तो देव-तुल्य पराक्रमी वीर भाइयों से घिरे हुए हो। ब्रह्माजी के समान तेजस्वी श्रेष्ठ ब्राह्मण तुम्हारे चारों ओर बैठे हुए हैं, अतः तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।

इति महाभारते सभापर्वणि नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

अर्जुन के लिए पाण्डवों की चिन्ता

जनमेजय उवाच

भगवन् काम्यकाद् पार्थे गते मे प्रपितामहे।
पाण्डवाः किमकुर्वंस्ते तमृते सव्यसाचिनम् ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—भगवन्! मेरे पितामह अर्जुन के काम्यक वन से चले जाने पर उनसे अलग रहते हुए शेष पाण्डवों ने कौन-सा कार्य किया?

वैशम्पायन उवाच

गते तु पाण्डवे तात काम्यकात् सत्यविक्रमे।
पितामहसमं धौम्यं प्राह राजा युधिष्ठिरः ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे तात! सत्यपराक्रमी

पाण्डुकुमार अर्जुन के काम्यक वन से चले जाने पर राजा युधिष्ठिर ने पितामह के समान प्रभावशाली पुरोहित धौम्यजी से कहा—

वयं तु तमृते वीरं वनेऽस्मिन् द्विपदां वर ।
अवधानं न गच्छामः काम्यके सह कृष्णया ॥३॥

"नरश्रेष्ठ ! इस काम्यकवन में वीर अर्जुन के बिना द्रौपदीसहित हम पाण्डवों का मन बिल्कुल नहीं लग रहा है ।

भवानन्यद् वनं साधु बह्वन्नं फलवच्छुचि ।
आख्यातु रमणीयं च सेवितं पुण्यकर्मभिः ॥४॥

"अतः आप हमें किसी ऐसे रमणीय वन का पता बताएँ, जो बहुत अच्छा, पवित्र, प्रचुर अन्न और फलों से सम्पन्न तथा पुण्यात्माओं द्वारा सेवित हो ।

विविधानाश्रमान् कांश्चिद् द्विजातिभ्यः प्रतिश्रुतान् ।
सरांसि सरितश्चैव रमणीयांश्च पर्वतान् ॥५
आचक्ष्व न हि मे ब्रह्मन् रोचते तमृतेऽर्जुनम् ।
वनेऽस्मिन्काम्यके वासो गच्छामोऽन्यां दिशं प्रति ॥६

"हे ब्रह्मन् ! आप दूसरे ब्राह्मणों से सुने हुए नाना प्रकार के कतिपय आश्रमों, सरोवरों, सरिताओं तथा रमणीय पर्वतों का पता बताइए । अर्जुन के बिना अब काम्यक वन में रहना हमें अच्छा नहीं लगता, अतः अब दूसरी दिशा को चलेंगे ।"

एवं सम्भाषमाणे तु लोमश आजगाम ह ।
समभ्यर्च्य यथान्यायं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पप्रच्छागमने हेतुमटने च प्रयोजनम् ॥७॥

जब इस प्रकार वार्तालाप चल रहा था, तभी महर्षि लोमश वहाँ आये । धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने उनका यथायोग्य पूजन किया तथा वहाँ आने और वन में घूमने का प्रयोजन पूछा ।

स पृष्टः पाण्डुपुत्रेण प्रीयमाणो महामनाः ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा हर्षयन्निव पाण्डवान् ॥८॥

युधिष्ठिर के इस प्रकार पूछने पर महामना महर्षि लोमश बड़े प्रसन्न हुए तथा अपनी मधुर वाणी द्वारा पाण्डवों का हर्ष बढ़ाते हुए बोले—

संचरन्नस्मि कौन्तेय सर्वांल्लोकान् यदृच्छया ।
गतः शक्रस्य भवनं तत्रापश्यं सुरेश्वरम् ॥९॥

"कुन्तीनन्दन ! मैं यों ही इच्छानुसार सम्पूर्ण लोकों में विचरण करता हूँ । एक दिन मैं देवराज इन्द्र के भवन में गया और वहाँ इन्द्र से मिला ।

तव च भ्रातरं वीरमपश्यं सव्यसाचिनम् ।
शक्रस्यार्धासनगतं तत्र मे विस्मयो महान् ॥१०॥
आसीत् पुरुषशार्दूल दृष्ट्वा पार्थं तथागतम् ।
आह मां तत्र देवेशो गच्छ पाण्डुसुतान् प्रति ॥११॥

"वहाँ मैंने तुम्हारे भ्राता सव्यसाची अर्जुन को भी देखा, जो इन्द्र के आधे सिंहासन पर बैठे हुए थे । पुरुषसिंह युधिष्ठिर ! तुम्हारे भाई अर्जुन को इन्द्र के सिंहासन पर बैठा देख जब मैं आश्चर्यचकित हो रहा था, उसी समय इन्द्र ने मुझसे कहा—"हे मुने ! तुम पाण्डवों के पास जाओ ।"

सोऽहमभ्यागतः क्षिप्रं दिदृक्षुस्त्वां सहानुजम् ।
वचनात् पुरुहूतस्य पार्थस्य च महात्मनः ॥१२॥

"देवराज इन्द्र के आदेश से मैं भाइयोंसहित तुम्हें देखने के लिए शीघ्रतापूर्वक यहाँ आया हूँ । इसके लिए इन्द्र ने तो मुझे कहा ही था, महात्मा अर्जुन ने भी अनुरोध किया था ।

आख्यास्ये ते प्रियं तात महत् पाण्डवनन्दन ।
ऋषिभिः सहितो राजन् कृष्णया चैव तच्छृणु ॥१३॥
यत् त्वयोक्तो महाबाहुरस्त्रार्थं भरतर्षभ ।
तदस्त्रमाप्तं पार्थेन रुद्रादप्रतिमं विभो ॥१४॥

"हे तात ! पाण्डवों को आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर ! मैं तुम्हें अत्यन्त प्रिय समाचार सुनाता हूँ । हे राजन् ! तुम इन महर्षियों और द्रौपदी के साथ मेरी बात सुनो । भरतकुलभूषण विभो ! तुमने महाबाहु अर्जुन को दिव्यास्त्रों की प्राप्ति के लिए जो आदेश दिया था, उसके विषय में यह निवेदन करना है कि अर्जुन ने शंकर से उनका अनुपम पाशुपत नामक प्रसिद्ध अस्त्र प्राप्त कर लिया है ।

यमात् कुबेराद् वरुणादिन्द्राच्च कुरुनन्दन ।
अस्त्राण्यधीतवान् पार्थो दिव्यान्यमितविक्रमः ॥१५॥

"हे कुरुनन्दन ! अमित पराक्रमी अर्जुन ने यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र से भी दिव्यास्त्रों का अध्ययन पूर्ण कर लिया है ।

विश्वावसोस्तु तनयाद् गीतं नृत्यं च साम च ।
वादित्रं च यथान्यायं प्रत्यविन्दद् यथाविधि ॥१६॥

"इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने विश्वावसु के पुत्र चित्ररथ से नृत्य, गीत, सामगान वाद्य कला की भी विधिपूर्वक यथोचित शिक्षा प्राप्त कर ली है।

आगमिष्यति ते भ्राता कृतास्त्रः क्षिप्रमर्जुनः।
तपसापि त्वमात्मानं योजय भ्रातृभिः सह ॥१७॥

"राजन्! तुम्हारे भाई अर्जुन अस्त्रविद्या में निपुण हो चुके हैं, वे शीघ्र ही लौटेंगे। तबतक तुम भी भाइयों के साथ स्वयं को तपस्या में लगाओ।"

युधिष्ठिर उवाच

न हर्षात् सम्प्रपश्यामि वाक्यस्यास्योत्तरं क्वचित्।
स्मरेद्धि देवराजोऽयं को नामाभ्यधिकस्ततः ॥१८॥

युधिष्ठिर बोले—हे महर्षे! आपके दर्शन और बातें सुनने से मुझे इतना हर्ष हुआ है कि मुझे इन वचनों का कोई उत्तर नहीं सूझता। देवराज इन्द्र जिसका स्मरण करते हों, उससे बढ़कर इस संसार में कौन भाग्यशाली होगा!

भवता संगमो यस्य भ्राता चैव धनञ्जयः।
वासवः स्मरते यस्य को नामाभ्यधिकस्ततः ॥१९॥

जिसे आपका सङ्ग प्राप्त हो, जिसके अर्जुन जैसा भाई हो और जिसे देवराज इन्द्र याद करते हों, उससे बढ़कर भाग्यशाली और कौन है?

वैशम्पायन उवाच

धौम्येन सहिता वीरास्तथा तैर्वनवासिभिः।
प्राङ्मुखाः प्रययुः सर्वे पाण्डवा जनमेजय ॥२०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! तदनन्तर वे सभी वीर पाण्डव वनवासी ब्राह्मणों और पुरोहित धौम्य के साथ पूर्वदिशा की ओर मुख करके वहाँ से प्रस्थित हुए।

ते तथा सहिता वीरा वसन्तस्तत्र तत्र ह।
कथां प्रचक्रिरे पुण्यां सदसिस्था महात्मनाम् ॥२१॥

वे वीर पाण्डव भिन्न-भिन्न स्थानों में बसते हुए, सभा में बैठकर महात्मा पुरुषों की कथाएँ करते थे।

इति महाभारते वनपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

गन्धमादन पर्वत पर

युधिष्ठिर उवाच

पञ्चवर्षाण्यहं वीरं सत्यसन्धं धनञ्जयम्।
यन्न पश्यामि बीभत्सुं तेने तप्ये वृकोदर ॥१॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन! आज पाँच वर्ष हो गये, मैं अपने वीर भाई सत्यप्रतिज्ञ अर्जुन के दर्शन से वञ्चित हो गया हूँ। इस कारण मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है।

वासुदेवसमं वीर्ये कार्तवीर्यसमं युधि।
अजेयममितं युद्धे तं न पश्यामि फाल्गुनम् ॥२॥

जो पराक्रम में श्रीकृष्ण के समान और युद्ध में कार्तवीर्य अर्जुन के समान है, जो समर-भूमि में एक होकर भी असंख्य-सा प्रतीत होता है, उस अजेय वीर अर्जुन को मैं बहुत दिनों से नहीं देख पा रहा हूँ।

यस्य बाहुबले तुल्यः प्रभावे च पुरन्दरः।
जवे वायुर्मुखे सोमः क्रोधे मृत्युः सनातनः ॥३॥
ते वयं तं नरव्याघ्रं सर्वे वीर दिदृक्षवः।
प्रवेक्ष्यामो महाबाहो पर्वतं गन्धमादनम् ॥४॥

महाबाहो! जो बाहुबल और प्रभाव में देवराज इन्द्र के समान है, जिसके वेग में वायु, मुख में चन्द्रमा और क्रोध में सनातन मृत्यु का निवास है, उसी नर-श्रेष्ठ अर्जुन को (देखने) मिलने के लिए उत्सुक होकर हम सब लोग आज गन्धमादन पर्वत की घाटियों में प्रवेश करेंगे।

वैशम्पायन उवाच

ते शूरास्ततधन्वानस्तूणवन्तः समार्गणाः।
बद्धगोधांगुलित्राणाः खड्गवन्तोऽमितौजसः ॥५॥
परिगृह्य द्विजश्रेष्ठाञ्ज्येष्ठाः सर्वधनुष्मताम्।
पाञ्चालीसहिता राजन् प्रययुर्गन्धमादनम् ॥६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! तदनन्तर सम्पूर्ण धनुर्धरों में अग्रगण्य वे अमित तेजस्वी शूरवीर पाण्डव विशाल धनुष, बाण, तरकश, ढाल और तलवार लिये, हाथों में गोह के चमड़े के दस्ताने पहने और श्रेष्ठ ब्राह्मणों को आगे किये द्रौपदी के साथ गन्धमादन पर्वत की ओर प्रस्थित हुए (चले)

प्रविशत्स्वथ वीरेषु पर्वतं गन्धमादनम् ।
चण्डवातं महद्वर्षं प्रादुरासीत् विशाम्पते ॥७॥

राजन् ! वीर पाण्डवों के गन्धमादन पर्वत पर पदार्पण करते ही प्रचण्ड आँधी के साथ बड़े जोर की वर्षा होने लगी ।

द्यौः स्वित् पतति किं भूमिर्दीर्यते पर्वतो नु किम् ।
इति ते मेनिरे सर्वे पवनेनापि मोहिताः ॥८॥

हवा के झोंकों से अति क्षुब्ध [मोहित] होकर वे सब-के-सब मन-ही-मन सोचने लगे कि आकाश तो नहीं फट पड़ा है, पृथिवी तो विदीर्ण नहीं हो रही है अथवा कोई पर्वत तो नहीं फट रहा है ।

ते पथानन्तरान् वृक्षान् वल्मीकान् विषमाणि च ।
पाणिभिः परिमार्गन्तो भीता वायोर्निलिल्यिरे ॥९॥

तत्पश्चात् वे मार्ग के आस-पास के वृक्षों, मिट्टी के ढेरों और ऊँचे-नीचे स्थानों को हाथ से टटोलते हुए हवा के डर से यत्र-तत्र छिपने लगे ।

तस्मिन्नुपरते शब्दे वाते च समतां गते ।
गते ह्यम्भसि निम्नानि प्रादुर्भूते दिवाकरे ॥१०॥
निर्जग्मुस्ते शनैः सर्वे समाजग्मुश्च भारत ।
प्रतस्थिरे पुनर्वीराः पर्वतं गन्धमादनम् ॥११॥

हे भारत ! थोड़ी देर पश्चात् जब तूफान का वेग शान्त हुआ, वायु का वेग कम और सम हो गया, पर्वत का सारा जल बहकर नीचे चला गया और बादलों का आवरण दूर हो जाने से सूर्य प्रकाशित हो उठा, तब वे समस्त पाण्डव वीर धीरे-धीरे अपने स्थान से निकले और गन्धमादन पर्वत की ओर चल पड़े ।

क्रोशमात्रं प्रयातेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
सौकुमार्याच्च पाञ्चाली सम्मुमोह तपस्विनी ॥१२॥

महात्मा पाण्डव अभी कोस-भर ही गये होंगे कि तपस्विनी द्रौपदी सुकुमारता के कारण मूर्च्छित होने लगी ।

तां पतन्तीं वरारोहां भज्यमानां लतामिव ।
नकुलः समभिद्रुत्य परिजग्राह वीर्यवान् ॥१३॥

सुन्दर अङ्गोंवाली द्रौपदी को टूटी हुई लता की भाँति गिरती देख बलशाली नकुल ने दौड़कर उसे थाम लिया ।

नकुल उवाच

राजन् पाञ्चालराजस्य सुतेयमसितेक्षणा ।
श्रान्ता निपतिता भूमौ तामवेक्षस्व भारत ॥१४॥

नकुल ने कहा—भरतकुलभूषण महाराज ! यह श्यामलोचना पाञ्चाल राजकुमारी द्रौपदी थककर पृथिवी पर गिर पड़ी है, आप आकर इसे देखिए ।

वैशम्पायन उवाच

तामवेक्ष्य तु कौन्तेयो विवर्णवदनां कृशाम् ।
अङ्कमानीय धर्मात्मा पर्यदेवयदातुरः ॥१५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—धर्मात्मा कुन्तीनन्दन ने देखा—द्रौपदी के मुख की कान्ति फीकी पड़ गई है और उसका शरीर कृश हो गया है । तब वे उसे गोद में लेकर शोकातुर हो विलाप करने लगे ।

स्पृश्यमाना करैः शीतैः पाण्डवैश्च मुहुर्मुहुः ।
पाञ्चाली सुखमासाद्य लेभे चेतः शनैः शनैः ॥१६॥

पाण्डवों ने अपने शीतल हाथों से बार-बार द्रौपदी के अङ्गों को सहलाया । इस प्रकार कुछ आराम मिलने पर द्रौपदी को धीरे-धीरे चेत हुआ ।

पर्याश्वासयदप्येनां धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उवाच च कुरुश्रेष्ठो भीमसेनमिदं वचः ॥१७॥

फिर कुरुश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर ने भी द्रौपदी को बहुत आश्वासन दिया और भीमसेन से इस प्रकार कहा—

बहवः पर्वता भीम विषमा हिमदुर्गमाः ।
तेषु कृष्णा महाबाहो कथं नु विचरिष्यति ॥१८॥

"महाबाहु भीम ! यहाँ बहुत-से ऊँचे-नीचे पर्वत हैं । बर्फ के कारण उनपर चलना कठिन है । द्रौपदी उन पर्वतों पर कैसे चल सकेगी ?"

भीमसेन उवाच

त्वां राजन् राजपुत्रीं च यमौ च पुरुषर्षभ ।
स्वयं नेष्यामि राजेन्द्र मा विषादे मनः कृथाः ॥१९॥

भीमसेन ने कहा—पुरुषरत्न राजन् ! आप चिन्ता न करें । मैं स्वयं राजकुमारी द्रौपदी, नकुल, सहदेव और आपको भी ले चलूँगा ?

हैडिम्बश्च महावीर्यो विहगो मद्बलोपमः ।
वहेदनघ सर्वान्नो वचनात् ते घटोत्कचः ॥२०॥

हिडिम्बा का पुत्र घटोत्कच भी महापराक्रमी है ।

वह मेरे ही समान बलवान् और आकाशचारी है। हे अनघ ! आपकी आज्ञा होने पर वह हम सबको ले चलेगा।

वैशम्पायन उवाच

आज्ञप्तो धर्मराजेन पुत्रं सस्मार राक्षसम्।
घटोत्कचस्तु धर्मात्मा बद्धाञ्जलिरुपस्थितः ॥२१॥
उवाच भीमसेनं स पितरं भीमविक्रमम्।
आज्ञापय महाबाहो सर्वं कर्तास्म्यसंशयम् ॥२२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर भीमसेन ने अपने राक्षसपुत्र का स्मरण किया। स्मरण करते ही धर्मात्मा घटोत्कच हाथ जोड़े हुए वहाँ उपस्थित हुआ। फिर उसने भयंकर पराक्रमी अपने पिता भीमसेन से कहा—महाबाहो ! आज्ञा दीजिए। मैं आपका सब कार्य अवश्य ही पूरा करूँगा।

भीमसेन उवाच

हैडिम्बेय परिश्रान्ता तव मातापराजित।
त्वं च कामगमस्तात स्कन्धमारोप्य तां वह ॥२३॥

भीमसेन बोले—अपराजित हिडिम्बानन्दन ! तुम्हारी माता द्रौपदी बहुत थक गई हैं। तुम इच्छानुसार सर्वत्र जाने में समर्थ हो, अतः इन्हें कन्धे पर बैठाकर ले चलो।

घटोत्कच उवाच

धर्मराजं च धौम्यं च कृष्णां च यमजौ तथा।
एकोऽप्यहमलं वोढुं किमुताद्य सहायवान् ॥२४॥

घटोत्कच बोला—तात ! मैं अकेला रहूँ तो भी धर्मराज युधिष्ठिर, पुरोहित धौम्य, माता द्रौपदी और चाचा नकुल-सहदेव को भी वहन कर सकता हूँ। फिर आज तो मेरे और भी बहुत-से संगी-साथी विद्यमान हैं, अतः आप लोगों को ले चलना कौन बड़ी बात है ?

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः कृष्णामुवाह स घटोत्कचः।
पाण्डूनां मध्यगो वीरः पाण्डवानपि चापरे ॥२५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर पाण्डवों के मध्य में स्थित वीर घटोत्कच ने द्रौपदी को और दूसरे राक्षसों ने पाण्डवों को अपने-अपने कन्धों पर बिठा लिया।

एवं सुरमणीयानि वनान्युपवनानि च।
आलोकयन्तस्ते जग्मुर्विशालां बदरीं प्रति ॥२६॥

इस प्रकार राक्षसों के कन्धों पर चढ़े वे सब लोग अत्यन्त रमणीक वनों और उपवनों का अवलोकन करते हुए विशाल बदरीक्षेत्र—बदरिकाश्रम की ओर चले।

ते त्वाशुगतिभिर्वीरा राक्षसैस्तैर्महाजवैः।
उह्यमाना ययुः शीघ्रं दीर्घमध्वानमल्पवत् ॥२७॥

उन महावेगशाली और तीव्र गति से चलनेवाले राक्षसों पर सवार हो वीर पाण्डवों ने उस विशाल मार्ग को इतनी तीव्रता से पार कर लिया, मानो वह बहुत छोटा हो।

समदैश्चापि विहगैः पादपैरन्वितास्तथा।
तेऽवतीर्य बहून् देशानुत्तमर्द्धि-समन्वितान् ॥२८॥
ददृशुर्विविधाश्चर्यं कैलासं पर्वतोत्तमम्।
तस्याभ्याशे तु ददृशुर्नरनारायणाश्रमम् ॥२९॥
उपेतं पादपैर्दिव्यैः सदापुष्पफलोपगैः।
ददृशुस्तां च बदरीं वृत्तस्कन्धां मनोरमाम् ॥३०॥

वह पर्वतीय प्रदेश मतवाले पक्षियों और अगणित वृक्षों से युक्त था। पाण्डवों ने उत्तम समृद्धि से सम्पन्न बहुत-से प्रदेशों को लाँघकर भाँति-भाँति के आश्चर्य-जनक दृश्यों से सुशोभित पर्वतश्रेष्ठ कैलास का दर्शन किया। उसकी सीमा के निकट ही उन्हें नर-नारायण का आश्रम दिखाई दिया जो नित्य फल-फूल देनेवाले दिव्य वृक्षों से सुशोभित था। वहीं वह विशाल एवं मनोरम बदरी का वृक्ष था जिसका स्कन्ध—तना गोल था।

तामुपेत्य महात्मानः सह तैर्ब्राह्मणर्षभैः।
अवतेरुस्ततः सर्वे रक्षःस्कन्धेभ्य एव च ॥३१॥

उस बदरीवृक्ष के पास पहुँचकर ये सब महात्मा पाण्डव उन श्रेष्ठ ब्राह्मणों के साथ राक्षसों के कन्धों से धीरे-धीरे उतरे।

पादपैः पुष्पविकचैः फलभारावनामिभिः।
शोभिते सर्वतो रम्यैः पुंस्कोकिलगणायुतैः ॥३२॥

उस वन में सब ओर सुरम्य वृक्ष दिखाई देते थे जो विकसित फूलों से युक्त थे। उनकी शाखाएँ फलों के बोझ से झुकी हुई थीं। कोकिल पक्षियों से युक्त

बहुसंख्यक वृक्षों के कारण उस वन की बड़ी शोभा होती थी।

सरांसि च विचित्राणि प्रसन्नसलिलानि च।
कमलैः सोत्पलैश्चैव भ्राजमानानि सर्वशः ॥३३॥

उस वन में कितने ही विचित्र सरोवर भी थे जो स्वच्छ जल से भरे हुए थे। खिले हुए उत्पल और कमल सब ओर से उनकी शोभा बढ़ा रहे थे।

पुण्यगन्धः सुखस्पर्शो ववौ तत्र समीरणः।
ह्लादयन्पाण्डवान्सर्वान्द्रौपद्या सहितान् प्रभो ॥३४॥

जनमेजय! गन्धमादन पर्वत पर पवित्र सुगन्ध से सुवासित सुखदायिनी वायु चल रही थी जो द्रौपदी सहित पाण्डवों को आनन्दमग्न कर रही थी।

इति महाभारते वनपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

भीमसेन का सौगन्धिक कमल लाने के लिए प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

तत्र ते पुरुषव्याघ्राः परमं शौचमास्थिताः।
षड्रात्रमवसन् वीरा धनञ्जयदिदृक्षवः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वे पुरुषसिंह वीर पाण्डव अर्जुन के दर्शन के लिए उत्सुक हो, परम पवित्रता के साथ वहाँ छह रात रहे।

ततः पूर्वोत्तरे वायुः प्लवमानो यदृच्छया।
सहस्रपत्रमर्काभं दिव्यं पद्ममुपाहरत् ॥२॥

एक दिन अकस्मात् ईशानकोण की ओर से वायु चली। उसने सूर्य के समान तेजस्वी एक दिव्य सहस्र-दलवाला कमल लाकर वहाँ डाल दिया।

तदपश्यत पाञ्चाली दिव्यगन्धं मनोरमम्।
अतीव मुदिता राजन् भीमसेनमथाब्रवीत् ॥३॥

राजन्! उस दिव्य गन्ध से युक्त मनोरम कमल को देखकर द्रौपदी बहुत प्रसन्न होकर भीमसेन से यों बोली—

यदि तेऽहं प्रिया पार्थ बहूनीमान्युपाहर।
तान्यहं नेतुमिच्छामि काम्यकं पुनराश्रमम् ॥४॥

हे कुन्तीनन्दन! यदि मेरे ऊपर तुम्हारा प्रेम है, तो मेरे लिए ऐसे बहुत-से पुष्प ले आओ। मैं इन्हें काम्यक वन में अपने आश्रम पर ले चलना चाहती हूँ।

अभिप्रायं तु विज्ञाय महिष्याः पुरुषर्षभः।
द्रौपद्याः प्रियकामः स प्रायाद् भीमो महाबलः ॥५॥

तब नरश्रेष्ठ महाबली भीम महारानी द्रौपदी के मनोभाव को जानकर उनका प्रिय करने की इच्छा से वहाँ से चल दिये।

वातं तमेवाभिमुखो यतस्तत् पुष्पमागतम्।
आजिहीर्षुर्जगामाशु स पुष्पाण्यपराण्यपि ॥६॥

वे उसी प्रकार के और पुष्प ले आने की अभिलाषा से तुरन्त प्रवाहित वायु की ओर मुख करके ईशान-कोण में आगे बढ़े, जिधर से वह फूल आया था।

चालयन्नूरुवेगेन लताजालान्यनेकशः।
आक्रीडमानो हृष्टात्मा श्रीमान् वायुसुतो ययौ ॥७॥

शोभाशाली पवनपुत्र भीमसेन अपने महान् वेग से अनेक लता-समूहों को विचलित करते हुए हर्षपूर्ण हृदय से खेल-सा करते हुए चले जा रहे थे।

परिवृत्तेऽहनि ततः प्रकीर्णहरिणे वने।
काञ्चनैर्विमलैः पद्मैर्ददर्श विपुलां नदीम् ॥८॥

दिन बीतते-बीतते भीमसेन ने एक वन में जहाँ चारों ओर बहुत-से हरिण विचर रहे थे, सुन्दर सुवर्णमय कमलों से सुशोभित एक विशाल नदी देखी।

तस्यां नद्यां महासत्त्वः सौगन्धिकवनं महत्।
अपश्यत् प्रीतिजननं बालार्कसदृशद्युतिः ॥९॥

महान् धैर्य और उत्साह से सम्पन्न भीम ने उसी नदी से आवेष्टित एक विशाल सौगन्धिक वन देखा जो प्रसन्नता को बढ़ानेवाला था। यह वन प्रभातकालीन सूर्य-प्रभा की भाँति शोभित था।

स गत्वा नलिनीं रम्यां राक्षसैरभिरक्षिताम्।
ददर्श विमलं तोयं पिबंश्च बहु पाण्डवः ॥१०॥

पाण्डुपुत्र भीम ने आगे बढ़कर राक्षसों से रक्षित एक अत्यन्त रमणीय सरोवर को भी देखा। उसका

जल अत्यन्त निर्मल था। भीम ने उसका तृप्त होकर पान किया।

ते तु दृष्ट्वैव कौन्तेयमजिनैः प्रतिवासितम्।
पुष्करेष्वुपायान्तमन्योन्यमभिचुक्रुशुः ॥११॥

मृगचर्म लपेटे हुए कुन्तीकुमार भीम को कमल लेने की इच्छा से वहाँ आते देख वे पहरा देनेवाले राक्षस आपस में कोलाहल करने लगे।

ततः सर्वे महाबाहुं समासाद्य वृकोदरम्।
तेजोयुक्तमपृच्छन्त कस्त्वमाख्यातुमर्हसि ॥१२॥

तत्पश्चात् वे सब राक्षस परम तेजस्वी महाबाहु भीम के पास आकर पूछने लगे—"तुम कौन हो और यहाँ क्यों आये हो ?" यह सब बताओ।

भीम उवाच

पाण्डवो भीमसेनोऽहं धर्मराजादनन्तरः।
विशालां बदरीं प्राप्तो भ्रातृभिः सह राक्षसाः ॥१३॥
अपश्यत् तत्र पाञ्चाली सौगन्धिकमनुत्तमम्।
पुष्पाहारमिह प्राप्तं सा बहूनि परीप्सति ॥१४॥

भीमसेन बोले—राक्षसो ! मैं धर्मराज युधिष्ठिर का छोटा भाई पाण्डुपुत्र भीमसेन हूँ और भाइयों के साथ विशाल बदरी नामक तीर्थ में आकर ठहरा हूँ। वहाँ पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी ने सौगन्धिक नामक एक परम उत्तम कमल देखा। वह उसी प्रकार के और भी बहुत-से कमल चाहती हैं, मैं उनके लिए सौगन्धिक पुष्पों को संचय कर ले जाने के लिए यहाँ आया हूँ।

राक्षसा ऊचुः

आक्रीडोऽयं कुबेरस्य दयितः पुरुषर्षभ।
नेह शक्यं मनुष्येण विहर्तुं मर्त्यधर्मिणा ॥१५॥

राक्षसों ने कहा—नरश्रेष्ठ ! यह सरोवर कुबेर देव की परमप्रिय क्रीड़ास्थली है। इसमें मरणधर्मा मनुष्य विहार नहीं कर सकता।

आमन्त्र्य यक्षराजं वै ततः पिब हरस्व च।
नातोऽन्यथा त्वया शक्यं किञ्चित् पुष्करमीक्षितुम् ॥

तुम पहले यक्षराज की आज्ञा ले लो, तत्पश्चात् सरोवर का जलपान करो और कमल-पुष्प ले जाओ। ऐसा किये बिना तुम यहाँ के किसी कमल की ओर देख भी नहीं सकते।

भीम उवाच

राक्षसास्तं न पश्यामि यक्षेश्वरमिहान्तिके।
दृष्ट्वापि च महाराजं नाहं याचितुमुत्सहे ॥१७॥
न हि याचन्ति राजान एष धर्मः सनातनः।
न चाहं हातुमिच्छामि क्षात्रधर्मं कथञ्चन ॥१८॥

भीमसेन बोले—हे राक्षसो ! प्रथम तो मैं यहाँ आप-पास कहीं भी यक्षेश कुबेर को देख नहीं रहा हूँ, दूसरे यदि मैं उन्हें देख भी लूं तो भी उनसे याचना नहीं कर सकता, क्योंकि क्षत्रिय कभी किसी से कुछ माँगते नहीं। यह उनका सनातनधर्म है और मैं किसी भी प्रकार क्षात्रधर्म को छोड़ना नहीं चाहता।

इयं च नलिनी रम्या जाता पर्वतनिर्झरे।
नेयं भवनमासाद्य कुबेरस्य महात्मनः ॥१९॥

यह रमणीय सरोवर पर्वतीय झरनों से प्रकट हुआ है, यह महात्मा कुबेर के घर में नहीं है।

तुल्या हि सर्वभूतानामियं वैश्रवणस्य च।
एवंगतेषु द्रव्येषु कः कं याचितुमर्हति ॥२०॥

इस सरोवर पर अन्य सब प्राणियों और कुबेर का समान अधिकार है। ऐसी सार्वजनिक वस्तुओं के लिए कौन किसकी याचना करेगा ?

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा राक्षसान् सर्वान् भीमसेनो ह्यमर्षणः।
व्यगाहत महातेजास्ते तं सर्वे न्यवारयन् ॥२१॥

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय ! सभी राक्षसों से ऐसा कहकर अमर्ष में भरे हुए महातेजस्वी भीम उस सरोवर में उतर पड़े। यह देख सब राक्षस उन्हें रोकने की चेष्टा करते हुए चिल्ला उठे—

गृह्णीत बध्नीत विकर्ततेमं
पचाम खादाम च भीमसेनम्।
क्रुद्धा ब्रुवन्तोऽभिययुर्द्रुतं ते
शस्त्राणि चोद्यम्य विवृत्तनेत्राः ॥२२॥

"अरे ! इसे पकड़ो, बाँध लो, काट डालो ! हम सब लोग इस भीम को पकाएँगे और खा जाएँगे।" क्रोधपूर्वक ऐसा कहते और आँखें फाड़-फाड़कर देखते हुए वे सभी राक्षस शस्त्र उठाकर तुरन्त भीम की ओर दौड़े।

ततः स गुर्वी यमदण्डकल्पां
महागदां काञ्चनपट्टनद्धाम् ।
प्रगृह्य तानभ्यपतत् तरस्वी
ततोऽब्रवीत् तिष्ठत तिष्ठतेति ॥२३॥

तब भीम ने यम-दण्ड के समान विशाल और भारी गदा, जिसपर सोने का पत्र मढ़ा हुआ था, उठा ली । उसे लेकर वे वेग से उन राक्षसों पर टूट पड़े और ललकारते हुए बोले—"खड़े रहो, खड़े रहो !"

ते तं तदा तोमरपट्टिशाद्यै-
र्व्याविद्धशस्त्रैः सहसा निपेतुः ।
जिघांसवः क्रोधवशाः सुभीमा
भीमं समन्तात् परिवव्रुरुग्राः ॥२४॥

यह देख क्रोध के वशीभूत हुए वे भयंकर राक्षस भीमसेन को मार डालने की इच्छा से शत्रुओं के शस्त्रों को नष्ट कर देनेवाले तोमर, पट्टिश आदि आयुधों को लेकर सहसा उनकी ओर दौड़े और उन्हें चारों ओर से घेरकर खड़े हो गये ।

तेषां स मार्गान् विविधान् महात्मा
निहत्य शस्त्राणि च शात्रवाणाम् ।
यथा प्रवीरान् निजघान भीमः
परं शतं पुष्करिणीसमीपे ॥२५॥

महामना भीम ने शत्रुओं के भाँति-भाँति के पैंतरो तथा अस्त्र-शस्त्रों को विफल करके उनके सौ से भी अधिक प्रमुख वीरों को उस सरोवर के समीप मार गिराया ।

ते तस्य वीर्यं च बलं च दृष्ट्वा
विद्याबलं बाहुबलं तथैव ।
अशक्नुवन्तः सहितं समन्ताद्
द्रुतं प्रवीराः सहसा निवृत्ताः ॥२६॥

भीमसेन का पराक्रम, शारीरिक बल, विद्याबल और बाहुबल देखकर वे वीर राक्षस एक-साथ संगठित होकर भी उनका वेग सहने में असमर्थ हो गये और सहसा सब ओर से युद्ध छोड़कर निवृत्त हो गये ।

ततस्तानि महार्हाणि दिव्यानि भरतर्षभ ।
बहूनि बहुरूपाणि विरजांसि समाददे ॥२७॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर भीमसेन ने अनेक प्रकार के बहुमूल्य, दिव्य और निर्मल बहुत-से सौगन्धिक कमल-पुष्प एकत्र कर लिये ।

अपश्यमानो भीमं तु धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
ततः कृष्णां यमौ चापि समीपस्थावरिन्दमः ॥२८॥
पप्रच्छ भ्रातरं भीमं भीमकर्माणमाहवे ।
कच्चित्क्व भीमः पाञ्चालि किंचित्कृत्यं चिकीर्षति ॥

इधर, जब भीम कहीं दिखाई न पड़े, तब शत्रु-दमन धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने द्रौपदी तथा पास ही बैठे हुए नकुल-सहदेव से युद्ध-भूमि में भयंकर कर्म करनेवाले अपने भाई भीम के सम्बन्ध में पूछा—"पाञ्चाल कुमारी ! भीम कहाँ हैं ? क्या वे कोई काम करने की इच्छा से कहीं गये हैं ?"

तं तथावादिनं कृष्णा प्रत्युवाच मनस्विनी ।
प्रिया प्रियं चिकीर्षन्ती महिषी चारुहासिनी ॥३०॥

धर्मराज युधिष्ठिर को ऐसा बोलते देख मनोहर मुस्कानवाली, मनस्विनी पतिप्रिया महारानी द्रौपदी ने उनका प्रिय करने की इच्छा से इस प्रकार उत्तर दिया ।

द्रौपद्युवाच

यत् तत् सौगन्धिकं राजन्नाहृतं मातरिश्वना ।
तन्मया भीमसेनस्य प्रीतयाद्योपपादितम् ॥३१॥
अपि चोक्तो मया वीरो यदि पश्येर्बहून्यपि ।
तानि सर्वाण्युपादाय शीघ्रमागम्यतामिति ॥३२॥

द्रौपदी बोली—राजन् ! आज जो सौगन्धिक पुष्प वायु से उड़कर आया था, उसे मैंने प्रसन्नतापूर्वक भीमसेन को दिया और उन वीर से यह भी कहा कि यदि इसी प्रकार के अन्य बहुत-से पुष्प तुम्हें दिखाई दें, तो उन सबको लेकर शीघ्र यहाँ लौट आओ ।

स तु नूनं महाबाहुः प्रियार्थं मम पाण्डवः ।
प्रागुदीचीं दिशं राजंस्ताग्याहर्तुमितो गतः ॥३३॥

महाराज ! प्रतीत होता है कि वे महाबाहु पाण्डुकुमार निश्चय ही मेरा प्रिय करने की इच्छा से उन्हीं फूलों को लाने के निमित्त यहाँ से पूर्वोत्तर दिशा की ओर गये हैं ।

वैशम्पायन उवाच

उक्तस्त्वेवं तया राजा यमाविदमथाब्रवीत् ।
गच्छाम सहितास्तूर्णं येन यातो वृकोदरः ॥३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रौपदी के ऐसा कहने पर राजा युधिष्ठिर ने नकुल और सहदेव से कहा—आओ, हम लोग भी एक साथ शीघ्र ही उसी मार्ग पर चलें जिससे भीमसेन गये हैं।

ते सर्वे त्वरिता गत्वा ददृशुः शुभकाननम्।
पद्मसौगन्धिकवतीं नलिनीं सुमनोरमाम्॥३५॥

उन सबने शीघ्रतापूर्वक जाकर सुन्दर वनस्थली से सुशोभित वह अत्यन्त मनोरम सरोवर देखा जिसमें सौगन्धिक कमल-पुष्प खिले थे।

तं च भीमं महात्मानं तस्यास्तीरे मनस्विनम्।
ददृशुर्निहतांश्चैव यक्षांश्च विपुलेक्षणान्॥३६॥

उस सरोवर के तट पर उन्होंने मनस्वी महामना भीम को तथा उनके द्वारा मारे गये बड़े-बड़े नेत्रों-वाले यक्षों को भी देखा।

तं दृष्ट्वा धर्मराजस्तु परिष्वज्य पुनः पुनः।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा कौन्तेय किमिदं कृतम्॥३७॥
साहसं बत भद्रं ते देवानामथ चाप्रियम्।
पुनरेवं न कर्तव्यं मम चेदिच्छसि प्रियम्॥३८॥

भीमसेन को देखकर धर्मराज युधिष्ठिर ने उन्हें बार-बार हृदय से लगाया और नम्र वाणी में कहा—"कुन्तीनन्दन! तुमने यह क्या कर डाला? तुम्हारा कल्याण हो! खेद से कहना पड़ता है कि तुम्हारा यह कार्य साहसपूर्ण तो है, परन्तु विद्वानों की दृष्टि में अनुचित है। यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो फिर ऐसा काम मत करना।"

अनुशास्य तु कौन्तेयं पद्मानि प्रतिगृह्य च।
तस्यामेव नलिन्यां तु विजह्रुरमरोपमाः॥३९॥

भीमसेन को ऐसा उपदेश करके उन्होंने पूर्वोक्त सौगन्धिक पुष्प ले लिये तथा वे देवोपम पाण्डव उसी सरोवर के तट पर इधर-उधर भ्रमण करने लगे।

ऊषुर्नातिचिरं कालं रममाणाः कुरूद्वहाः।
प्रतीक्षमाणा बीभत्सुं गन्धमादनसानुषु॥४०॥

तदनन्तर वे कुरु-प्रवर पाण्डव थोड़े समय तक वहाँ आनन्दपूर्वक विचरते रहे और गन्धमादन पर्वत के शिखरों पर अर्जुन के आगमन की प्रतीक्षा करते रहे।

तस्मिन् निवसमानोऽथ धर्मराजो युधिष्ठिरः।
कृष्णया सहितान् भ्रातॄनित्युवाच सहद्विजान्॥४१॥

उस सौगन्धिक सरोवर के तट पर निवास करते हुए धर्मराज युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों तथा द्रौपदीसहित अपने भाइयों से इस प्रकार कहा—

इमं वैश्रवणावासं पुण्यं सिद्धनिषेवितम्।
कथं वयं प्रवेक्ष्यामो गतिरन्तरधीयताम्॥४२॥

"यह सिद्धों से सेवित पुण्य प्रदेश कुबेर का निवासस्थान है। अब हम कुबेर के भवन में कैसे प्रवेश करें, इसका उपाय सोचो।"

एवं ब्रुवति राजेन्द्रे द्विजो धौम्योऽब्रवीद्वचः।
न शक्यो दुर्गमो गन्तुमितो वैश्रवणाश्रमात्॥४३॥

महाराज युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर पुरोहित धौम्य ने कहा—"कुबेर के इस आश्रम से आगे जाना सम्भव नहीं है। यह मार्ग अतिदुर्गम है।

अनेनैव पथा राजन् प्रतिगच्छ यथागतम्।
नरनारायणस्थानं बदरीत्यभिविश्रुतम्॥४४॥

"राजन्! तुम जिस मार्ग से आये हो, उसी मार्ग से विशाला बदरी नाम से विख्यात नर-नारायण के आश्रम को लौट चलो।"

ततो युधिष्ठिरो राजा प्रतिजग्राह तद् वचः।
प्रत्यागम्य पुनस्तं तु नरनारायणाश्रमम्॥४५॥
भीमसेनादिभिः सर्वैर्भ्रातृभिः परिवारितः।
पाञ्चाल्या ब्राह्मणाश्चैव न्यवसन्त सुखं तदा॥४६॥

तब महाराज युधिष्ठिर ने महर्षि धौम्य की बात स्वीकार कर ली और पुनः नर-नारायण आश्रम में लौटकर भीम आदि सब भाइयों और द्रौपदी के साथ वहीं रहने लगे। उनके साथ आये हुए ब्राह्मण भी वहीं सुखपूर्वक निवास करने लगे।

इति महाभारते वनपर्वणि द्वादशोऽध्यायः॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

जटासुर का वध

वैशम्पायन उवाच

ततस्तान् परिविश्वस्तान् वसतस्तत्र पाण्डवान् ।
पर्वतेन्द्रे द्विजैः सार्धं पार्थागमनकाङ्क्षया ॥१॥
रहितान् भीमसेनेन कदाचित्तान् यदृच्छया ।
धर्मराजं यमौ कृष्णां जहार स जटासुरः ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सब पाण्डव अर्जुन के आने की प्रतीक्षा करते हुए ब्राह्मणों के साथ गन्धमादन पर्वत पर निःशंक होकर रहते थे । एक दिन की बात है, भीमसेन की अनुपस्थिति में अकस्मात् जटासुर नामक राक्षस ने धर्मराज युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव और द्रौपदी को हर लिया ।

सहदेवस्तु यत्नेन ततोऽपक्रम्य पाण्डवः ।
आक्रन्दद् भीमसेनं वै येन यातो महाबलः ॥३॥

उस समय सहदेव प्रयत्न करके उस राक्षस की पकड़ से छूट गये । फिर वह, महाबली भीमसेन जिस मार्ग से गये थे, उधर ही आगे बढ़कर उन्हें ज़ोर-ज़ोर से पुकारने लगे ।

तमब्रवीद् धर्मराजो ह्रियमाणो युधिष्ठिरः ।
धर्मस्ते हीयते मूढ न तत्त्वं समवेक्षसे ॥४॥

इधर जटासुर द्वारा हरण किये जाते हुए राजा युधिष्ठिर ने उससे कहा—"अरे मूर्ख ! विश्वासघात करने के कारण तेरे धर्म का नाश हो रहा है, किन्तु उधर तेरी दृष्टि नहीं जाती ।

वयं राष्ट्रस्य गोप्तारो रक्षितारश्च राक्षस ।
राष्ट्रस्यारक्ष्यमाणस्य कुतो भूतिः कुतो सुखम् ॥५॥

"राक्षस ! हम लोग राष्ट्र के पालक और रक्षक हैं । हमारे द्वारा रक्षित न होने पर राष्ट्र को कैसे तो समृद्धि प्राप्त होगी और कैसे उसे सुख मिलेगा ?

द्रोग्धव्यं न च मित्रेषु न विश्वस्तेषु कर्हिचित् ।□
येषां चान्नानि भुञ्जीत यत्र च स्यात् प्रतिश्रयः ॥६॥

"किसी भी मनुष्य को अपने मित्रों एवं विश्वासी पुरुषों के साथ द्रोह नहीं करना चाहिए । जिनका अन्न खाये और जहाँ अपने को आश्रय मिला हो, उनके साथ भी द्रोह या विश्वासघात नहीं करना चाहिए ।"

स त्वं प्रतिश्रयेऽस्माकं पूज्यमानः सुखोषितः ।
भुक्त्वा चान्नानि दुष्प्रज्ञ कथमस्मान् जिहीर्षसि ॥७॥

"खोटी बुद्धिवाले राक्षस ! तू हमारे आश्रय में हम लोगों से सम्मानित होकर सुखपूर्वक रहा है । तू हमारा अन्न खाकर हमें ही हर ले जाने की इच्छा कैसे करता है ?"

सहदेवस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं मूढचेतनम् ।
उवाच वचनं राजन् कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥८॥
राजन् किं नाम सत्कृत्यं क्षत्रियस्यास्त्यतोऽधिकम् ।
यद् युद्धेऽभिमुखः प्राणाँस्त्यजेच्छत्रुं जयेत् वा ॥९॥

इधर सहदेव ने उस मूढ राक्षस की ओर देखते हुए युधिष्ठिर से कहा—"राजन् ! क्षत्रिय के लिए इससे बढ़कर सत्कर्म क्या होगा कि वह युद्ध में शत्रु का सामना करते हुए अपने प्राणों को त्याग दे या शत्रु को जीत ले ।

राक्षसे जीवमानेऽद्य रविरस्तमियाद् यदि ।
नाहं ब्रूयां पुनर्जातु क्षत्रियोऽस्मीति भारत ॥१०॥

"हे भारत ! यदि इस राक्षस के जीते-जी सूर्यास्त हो गया तो मैं फिर कभी अपने आपको क्षत्रिय नहीं कहूँगा ।

भो भो राक्षस तिष्ठस्व सहदेवोऽस्मि पाण्डवः ।
हत्वा वा मां नयस्वैनां हतो वाद्येह स्वप्स्यसि ॥११॥

"अरे ओ राक्षस ! खड़ा रह । मैं पाण्डुकुमार सहदेव हूँ । या तो तू मुझे मारकर द्रौपदी को ले जा या स्वयं मेरे हाथों मारा जाकर आज यहीं सदा के लिए सो जा ।"

तथा ब्रुवति माद्रेये भीमसेनो यदृच्छया ।
प्रत्यदृश्यद् गदाहस्तः सवज्र इव वासवः ॥१२॥

माद्रीकुमार सहदेव जब ऐसी बात कह ही रहे थे, उसी समय अकस्मात् वज्रधारी इन्द्र के समान गदा हाथ में लिये भीमसेन वहाँ दिखाई दिये ।

भ्रातॄंस्तान् ह्रियतो दृष्ट्वा द्रौपदीं च महाबलः ।
क्रोधमाहारयद् भीमो राक्षसं चेदमब्रवीत् ॥१३॥

विज्ञातोऽसि मया पूर्वं पाप शस्त्रपरीक्षणे।
अपक्वस्य च कालेन वधस्तव न विद्यते ॥१४॥

भाइयों और द्रौपदी का अपहरण होता देख महाबली भीम क्रुद्ध हो उठे और जटासुर से बोले—ओ पापी ! पहले जब तू शस्त्रों की परीक्षा कर रहा था, तभी मैंने तुझे पहचान लिया था। परन्तु तेरा समय तब पूरा नहीं हुआ था, इसीलिए आज से पूर्व तेरा वध नहीं किया जा सकता था।

नूनमद्यासि सम्पक्वो यथा ते मतिरीदृशी।
दत्ता कृष्णापहरणे कालेनाद्भुतकर्मणा ॥१५॥

आज निश्चय ही तेरी आयु पूर्ण हो चुकी है तभी तो अद्भुत कर्म करनेवाले काल ने तुझे इस प्रकार द्रौपदी के अपहरण करने की कुबुद्धि दी है।

यं चासि प्रस्थितो देशं मनः पूर्वं गतं च ते।
न तं गन्तासि गन्तासि मार्गं बकहिडिम्बयोः ॥१६॥

जिस देश की ओर तू चला है और जहाँ तेरा मन पहले ही जा पहुँचा है, अब तू वहाँ न जा सकेगा। तुझे तो अब बक और हिडिम्ब के मार्ग पर जाना है।

एवमुक्तस्तु भीमेन राक्षसः कालप्रेरितः।
भीत उत्सृज्य तान् सर्वान् युद्धाय समुपस्थितः ॥१७॥

भीम के ऐसा कहने पर वह राक्षस भयभीत हो उन सबको छोड़कर काल की प्रेरणा से युद्ध के लिए तैयार हो गया।

अब्रवीच्च पुनर्भीमं रोषात् प्रस्फुरिताधरः।
न मे मूढा दिशः पाप त्वदर्थं मे विलम्बितम् ॥१८॥

उस समय उसके होंठ क्रोध से फड़क रहे थे। उसने भीमसेन को उत्तर देते हुए कहा—"ओ पापी ! मुझे दिग्भ्रम नहीं हुआ था। मैंने तेरे ही लिए विलम्ब किया था।

श्रुता मे राक्षसा ये ये त्वया विनिहता रणे।
तेषामद्य करिष्यामि तवास्रेणोदकक्रियाम् ॥१९॥

"तूने जिन-जिन राक्षसों को युद्ध में मारा है, उन सबके नाम मैंने सुने हैं। आज तेरे रक्त से ही मैं उन सबका तर्पण करूँगा।"

इत्येवमुक्त्वा तौ वीरौ स्पर्धमानौ परस्परम्।
बाहुभ्यां समसज्जेतामुभौ रक्षोवृकोदरौ ॥२०॥

ऐसा कहकर वे दोनों वीर—राक्षस और भीम—एक-दूसरे से स्पर्धा रखते हुए बाँहों-से-बाँहें मिलाकर गुँथ गये।

तयोरासीत् सम्प्रहारः क्रुद्धयोर्भीमरक्षसोः।
अमृष्यमाणयोः संख्ये देवदानवयोरिव ॥२१॥

भीमसेन और राक्षस दोनों में देवों और दानवों के समान युद्ध होने लगा। वे दोनों ही रोष और अमर्ष में भरकर एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे।

मुष्टिभिश्च महाघोरैरन्योन्यमभिजघ्नतुः।
ततः कटकटाशब्दो बभूव सुमहात्मनोः ॥२२॥

वे अपने भयानक मुक्कों द्वारा एक-दूसरे पर चोट करने लगे। तब उन दोनों महाकाय वीरों में ज़ोर-ज़ोर से टकराने की आवाज़ होने लगी।

ततः संहृत्य मुष्टिं तु पञ्चशीर्षमिवोरगम्।
वेगेनाभ्यहनद् भीमो राक्षसस्य शिरोधराम् ॥२३॥

तत्पश्चात् भीमसेन ने पाँच सिरवाले सर्प की भाँति अपनी पाँचों अंगुलियों से युक्त हाथ की मुट्ठी बाँधकर उसे राक्षस की गर्दन पर बड़े ज़ोर से दे मारा।

तत एनं महाबाहुर्बाहुभ्याममरोपमः।
समुत्क्षिप्य बलाद् भीमो निष्पिपेष महीतले ॥२४॥

तदनन्तर देवों के समान तेजस्वी महाबाहु भीम ने उस राक्षस को दोनों भुजाओं से बलपूर्वक उठा लिया और उसे पृथिवी पर पटक कर पीस डाला।

तस्य गात्राणि सर्वाणि चूर्णयामास पाण्डवः।
अरत्निना चाभिहत्य शिरः कायादपाहरत् ॥२५॥

पाण्डुनन्दन भीम ने उसके समस्त अङ्गों को दबा कर चूर-चूर कर डाला और थप्पड़ मार-मारकर उसके सिर को धड़ से अलग कर दिया।

इति महाभारते वनपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

राजर्षि आर्ष्टिषेण के आश्रम पर

वैशम्पायन उवाच

**निहते राक्षसे तस्मिन् पुनर्नारायणाश्रमम्।
अभ्येत्य राजा कौन्तेयो निवासमकरोत् प्रभुः ॥१॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—उस राक्षस के मारे जाने पर कुन्तीपुत्र पराक्रमी राजा युधिष्ठिर पुनः नर-नारायण आश्रम में आकर रहने लगे।

**ततो युधिष्ठिरो राजा बहून् क्लेशान् विचिन्तयन्।
सिंहव्याघ्रगजाकीर्णामुदीचीं प्रययौ दिशम् ॥२॥**

कुछ समय पश्चात् राजा युधिष्ठिर अनेक कष्ट-क्लेशों का चिन्तन करते, सिंह, व्याघ्र और हाथियों से भरी हुई उत्तर दिशा की ओर चल दिये।

**अवेक्षमाणः कैलासं मैनाकं चैव पर्वतम्।
पृष्ठं हिमवतः पुण्यं ययौ सप्तदशेऽहनि ॥३॥**

वे कैलास-मैनाक आदि पर्वतों का दर्शन करते हुए सत्रहवें दिन हिमालय के एक पृष्ठवर्ती पुण्य-स्थान पर जा पहुँचे।

**पृष्ठे हिमवतः पुण्ये पुष्पितैश्च महीरुहैः।
समावृतं पुण्यतममाश्रमं वृषपर्वणः ॥४॥
तमुपागम्य राजर्षिं धर्मात्मानमरिन्दमाः।
पाण्डवा वृषपर्वाणमवन्दन्त गतक्लमाः ॥५॥**

हिमालय के उस पावन पृष्ठ-भाग पर पुष्पित वृक्षों से घिरा हुआ वृषपर्वा का परम पवित्र आश्रम था। शत्रुदमन पाण्डवों ने उन धर्मात्मा राजर्षि वृषपर्वा के पास जाकर स्वस्थ हो उन्हें प्रणाम किया।

**अभ्यनन्दत् स राजर्षिः पुत्रवद् भरतर्षभान्।
पूजिताश्चावसंस्तत्र सप्तरात्रमरिन्दमाः ॥६॥**

उन राजर्षि ने भरतकुल-भूषण पाण्डवों का पुत्रों के समान अभिनन्दन किया। उनसे सम्मानित होकर वे शत्रुदमन पाण्डव सात दिन तक वहाँ रहे।

**अष्टमेऽहनि सम्प्राप्ते तमृषिं लोकविश्रुतम्।
आमन्त्र्य वृषपर्वाणं प्रस्थानं प्रत्यरोचयन् ॥७॥**

आठवें दिन उन विश्वविख्यात राजर्षि वृषपर्वा की आज्ञा ले उन्होंने वहाँ से प्रस्थान करने का विचार किया।

**अन्वशासत् स धर्मज्ञः पुत्रवद् भरतर्षभान्।
तेऽनुज्ञाता महात्मानः प्रययुर्दिशमुत्तराम् ॥८॥**

उस धर्मज्ञ राजर्षि ने भरतकुल-भूषण पाण्डवों को पुत्र की भाँति उपदेश किया। उनकी आज्ञा पाकर महामना पाण्डव उत्तर दिशा की ओर चले।

**ते समासाद्य पन्थानं यथोक्तं वृषपर्वणा।
अनुसस्रुर्यथोद्देशं पश्यन्तो विविधान्नगान् ॥९॥**

वे पाण्डव वृषपर्वा के बताये हुए मार्ग का अनुसरण तथा नाना-प्रकार के वृक्षों का अवलोकन करते हुए अपने गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ रहे थे।

**ततः किम्पुरुषावासं सिद्धचारणसेवितम्।
ददृशुर्हृष्टरोमाणः पर्वतं गन्धमादनम् ॥१०॥**

आगे बढ़ने पर उन्हें किम्पुरुषों का निवास-स्थान गन्धमादन पर्वत दिखाई दिया। सिद्ध और चारण भी इस पर निवास करते थे। उसे देखकर पाण्डव हर्ष-विभोर हो गये।

**उपेतमथ माल्यैश्च फलवद्भिश्च पादपैः।
आर्ष्टिषेणस्य राजर्षेराश्रमं ददृशुस्तदा ॥११॥**

वहाँ से आगे जाने पर परन्तप पाण्डवों ने पुष्पों और फलों से लदे हुए वृक्षों से सुशोभित राजर्षि आर्ष्टिषेण का आश्रम देखा।

**ततस्ते तिग्मतपसं कृशं धमनिसंततम्।
पारगं सर्वधर्माणामार्ष्टिषेणमुपागमन् ॥१२॥**

तत्पश्चात् वे पाण्डव कठोर तपस्वी, दुर्बल-काय तथा नस-नाड़ियों के ढाँचेमात्र राजर्षि आर्ष्टिषेण के समीप गये जो सम्पूर्ण धर्मों के पारंगत विद्वान् थे।

**युधिष्ठिरस्तमासाद्य तपसा दग्धकिल्बिषम्।
अभ्यवादयत् प्रीतः शिरसा नाम कीर्तयन् ॥१३॥**

राजा युधिष्ठिर ने तप द्वारा दग्ध-दोष आर्ष्टि-षेण के पास जाकर बड़ी प्रसन्नता के साथ अपना नाम बताते हुए उनके चरणों में सिर झुकाकर प्रणाम किया।

**कुरूणामृषभं पार्थं पूजयित्वा महातपाः।
सह भ्रातृभिरासीनं पर्यपृच्छदनामयम् ॥१४॥**

महातपस्वी आर्ष्टिषेण ने भाइयोंसहित कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर का यथोचित आदर-सत्कार किया और जब वे बैठ गये, तब उनसे कुशल-समाचार पूछा—

नानृते कुरुषे भावं कच्चित् धर्मे प्रवर्तसे ।
मातापित्रोश्च ते वृत्तिः कच्चित् पार्थ न सीदति ॥१५

"हे कुन्तीनन्दन ! कभी झूठ की ओर तो तुम्हारा मन नहीं जाता ? तुम धर्म में ही लगे रहते हो न ? माता-पिता के प्रति जो सेवावृत्ति होनी चाहिए, वह है न ? उसमें शिथिलता तो नहीं आई ?

कच्चित्ते गुरवः सर्वे वृद्धा वैद्याश्च पूजिताः ।
कच्चिन्न कुरुषे भावं पार्थ पापेषु कर्मसु ॥१६॥

क्या तुमने सभी गुरुजनों, बड़े-बूढ़ों और विद्वानों का सदा समादर किया है ? हे पार्थ ! कभी पापकर्मों में तो तुम्हारी रुचि नहीं होती ?

सुकृतं प्रतिकर्तुं च कच्चिद्धातुं च दुष्कृतम् ।
यथान्यायं कुरुश्रेष्ठ जानासि न विकत्थसे ॥१७॥

"हे कुरुश्रेष्ठ ! क्या तुम अपने उपकारी को उसके उपकार का बदला देना जानते हो ? क्या तुम्हें अपना अपकार करनेवाले मनुष्य की उपेक्षा कर देने की कला का ज्ञान है ? कभी तुम अपने मुख से अपनी बड़ाई तो नहीं करते ?

यथार्हं मानिताः कच्चित् त्वया नन्दन्ति साधवः ।
वनेष्वपि वसन् कच्चिद् धर्ममेवानुवर्तसे ॥१८॥

"क्या तुम्हारे द्वारा यथायोग्य सम्मानित होकर साधु-पुरुष तुम पर प्रसन्न रहते हैं ? क्या तुम वन में रहते हुए भी सदा धर्म का पालन करते हो ?

कच्चिद् धौम्यस्त्वदाचारैर्न पार्थ परितप्यते ।
दान-धर्म-तपःशौचैरार्जवेन तितिक्षया ॥१९॥
पितृपैतामहं वृत्तं कच्चित् पार्थानुवर्तसे ।
कच्चिद् राजर्षियातेन पथा गच्छसि पाण्डव ॥२०॥

"हे पार्थ ! तुम्हारे आचार-व्यवहार से पुरोहित धौम्य को तो क्लेश नहीं पहुँचता है ? कुन्तीपुत्र ! क्या तुम दान, धर्म, तप, शौच, सरलता और क्षमा आदि के द्वारा अपने पितामह आदि के आचार-व्यवहार का अनुकरण करते हो ? पाण्डुनन्दन ! प्राचीन राजर्षि जिस मार्ग से गये हैं, तुम भी उसी मार्ग पर चलते हो न ?

पिता माता तथैवाग्निर्गुरुरात्मा च पञ्चमः ।
यस्यैते पूजिताः पार्थ तेन लोकावुभौ जितौ ॥२१॥

"पार्थ! जो मनुष्य माता, पिता, अग्नि, परमात्मा गुरु और आत्मा—इन पाँचों का आदर करता है, वह इहलोक और परलोक दोनों को जीत लेता है।"

युधिष्ठिर उवाच

भगवन्नार्यमाहैतद् यथावद् धर्मनिश्चयम् ।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियते विधिवन्मया ॥२२॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे भगवन् ! आर्य ! आपने मुझे यह धर्म का निचोड़ बतलाया है। मैं अपनी शक्ति के अनुसार यथोचित रीति से विधिपूर्वक इस धर्म का अनुष्ठान करता हूँ।

आर्ष्टिषेण उवाच

भुञ्जाना मुनिभोज्यानि रसवन्ति फलानि च ।
वसध्वं पाण्डवश्रेष्ठा यावदर्जुनदर्शनात् ॥२३॥

आर्ष्टिषेण बोले—हे श्रेष्ठ पाण्डवो ! जबतक तुम्हारी अर्जुन से भेंट न हो, तबतक तुम मुनियों के खाने योग्य रसवाले फलों का उपभोग करते हुए यहीं निवास करो।

न तात चपलैर्भाव्यमिह प्राप्तैः कथञ्चन ।
उषित्वेह यथाकामं यथाश्रद्धं विहृत्य च ॥
ततः शस्त्रजितां तात पृथिवीं पालयिष्यसि ॥२४॥

हे तात ! यहाँ आनेवाले लोगों को किसी प्रकार की चपलता नहीं करनी चाहिए। तुम यहाँ अपनी इच्छा के अनुसार रहकर और श्रद्धा के अनुसार घूम-फिरकर लौट जाओगे तथा शस्त्रों द्वारा जीती हुई इस पृथिवी का पालन करोगे।

वैशम्पायन उवाच

आर्ष्टिषेणाश्रमे तेषां वसतां वै महात्मनाम् ।
अगच्छन् बहवो मासाः पश्यतां महदद्भुतम् ॥२५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—आर्ष्टिषेण के आश्रम में निवास करते हुए एवं अत्यन्त अद्भुत दृश्यों को देखते हुए महामना पाण्डवों के अनेक मास व्यतीत हो गये।

इति महाभारते वनपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अर्जुन का आगमन और पाण्डवों का पुनः द्वैतवन में लौटना

वैशम्पायन उवाच

उषित्वा पञ्चवर्षाणि सहस्राक्षनिवेशने ।
अवाप्य दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि विबुधेश्वरात् ॥१॥
अनुज्ञातस्तदा तेन कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
आगच्छदर्जुनः प्रीतः प्रहृष्टो गन्धमादनम् ॥२॥

वैशम्पयानजी कहते हैं—पाँच वर्ष तक इन्द्र-भवन में रहकर तथा देवेश्वर इन्द्र से सम्पूर्ण अस्त्र प्राप्त करके उनसे अपने भाइयों के पास लौटने की आज्ञा ले तथा उनकी परिक्रमा कर अर्जुन अति प्रसन्न हुए, फिर वे हर्ष में भरकर गन्धमादन पर्वत पर लौट आये।

अभिवादयमानं तं मूर्ध्न्युपाघ्राय पाण्डवम् ।
हर्षगद्गदया वाचा प्रहृष्टोऽर्जुनमब्रवीत् ॥३॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन को प्रणाम करते देख युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए और उनका मस्तक सूँघकर हर्ष-गद्गद वाणी में इस प्रकार बोले—

युधिष्ठिर उवाच

दिष्ट्या धनञ्जयास्त्राणि त्वया प्राप्तानि भारत ।
दिष्ट्या चाराधितो राजा देवानामीश्वरः प्रभुः ॥४॥

युधिष्ठिर बोले—हे धनंजय ! बड़े सौभाग्य की बात है कि तुमने दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिये। हे भारत ! यह और भी सौभाग्य की बात है कि तुमने देवों के स्वामी इन्द्र को अपनी आराधना द्वारा प्रसन्न कर लिया।

अद्य कृत्स्नां महीं देवीं विजितां पुरमालिनीम् ।
मन्ये च धृतराष्ट्रस्य पुत्रानपि वशीकृतान् ॥५॥

आज मुझे यह विश्वास हो गया कि हम नगरों से सुशोभित सम्पूर्ण पृथिवी को जीत लेंगे। अब मैं धृतराष्ट्र के पुत्रों को भी अपने वश में पड़ा हुआ ही मानता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
उत्थायावश्यकार्याणि कृतवान् भ्रातृभिः सह ॥६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! जब वह रात्रि व्यतीत हो गई, तब धर्मराज युधिष्ठिर ने भाइयोंसहित उठकर आवश्यक नित्यकर्म पूरे किये।

ततः संप्रेरयामास सोऽर्जुनं भ्रातृनन्दनम् ।
दर्शयास्त्राणि कौन्तेय त्वया प्राप्तानि भारत ॥७॥

तदनन्तर उन्होंने भाइयों को सुख पहुँचानेवाले अर्जुन को आज्ञा दी—"कुरुकुल-भूषण कुन्तीनन्दन ! अब तुम उन दिव्यास्त्रों का प्रदर्शन करके दिखाओ, जिन्हें तुमने प्राप्त किया है।"

ततो धनञ्जयो राजन् देवैर्दत्तानि पाण्डवः ।
अस्त्राणि तानि दिव्यानि दर्शयामास भारत ॥८॥

राजन् ! तब पाण्डुनन्दन अर्जुन ने देवताओं के दिये वे दिव्य अस्त्र-शस्त्र सब भाइयों को दिखलाए।

जनमेजय उवाच

तस्मिन् कृतास्त्रे रथिनां प्रवीरे
प्रत्यागते वेश्मनः वृत्रहन्तुः ।
अतः परं किमकुर्वन्त पार्थाः
समेत्य शूरेण धनञ्जयेन ॥९॥

जनमेजय ने पूछा—हे भगवन् ! रथियों में श्रेष्ठ अर्जुन जब इन्द्र-भवन से दिव्यास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके लौट आये, तब उनसे मिलकर कुन्तीकुमारों ने पुनः कौन-सा कार्य किया ?

वैशम्पायन उवाच

वनेषु तेष्वेव तु ते नरेन्द्राः
सहार्जुनेनेन्द्रसमेन वीराः ।
तस्मिंश्च शैलप्रवरे सुरम्ये
धनेश्वराक्रीडयता विजह्रुः ॥१०॥

वैशम्पायनजी बोले—हे राजन् ! नरश्रेष्ठ वीर पाण्डव इन्द्र-तुल्य पराक्रमी अर्जुन के साथ उस अति रमणीय शैल-शिखर पर कुवेर की क्रीड़ास्थली के उन्हीं वनों में सुख से विहार करने लगे।

समेत्य पार्थेन यथैकरात्र-
मूषुः समास्तत्र तदा चतस्रः ।
पूर्वाश्च षट् ता दश पाण्डवानां
शिवा बभूवुर्वसतां वनेषु ॥११॥

वे अर्जुन के साथ वहाँ चार वर्ष तक रहे परन्तु वह समय उन्हें एक रात के समान ही प्रतीत हुआ। पहले के छह वर्ष तथा यहाँ के चार वर्ष इस प्रकार सब मिलाकर पाण्डवों के वनवास के दस वर्ष आनन्दपूर्वक व्यतीत हो गये।

वृतश्च सर्वैरनुजैर्द्विजैश्च
तेनैव मार्गेण पतिः कुरूणाम्।
उवाह चैतान् गणशस्तथैव
घटोत्कचः पर्वतनिर्झरेषु ॥१२॥

तत्पश्चात् समस्त भाइयों और ब्राह्मणों से घिरे हुए कुरुराज युधिष्ठिर जिस मार्ग से गये थे, उसी मार्ग से नीचे उतरने लगे। जहाँ दुर्गम पर्वत और झरने पड़ते थे, वहाँ घटोत्कच अपने गणोंसहित आकर पहले की भाँति उन्हें अपने कन्धों पर चढ़ाकर वहाँ से पार कर देता था।

वनानि रम्याणि सरित्सरांसि
गुहा गिरीणां गिरिगह्वराणि।
एते निवासाः सततं बभूवु-
र्दिवानिशं प्राप्य नरर्षभाणाम् ॥१३॥

नररत्न पाण्डव कभी रमणीय वनों में, कभी सरोवरों के किनारे, कभी नदियों के तटों पर और कभी पर्वतों की छोटी-बड़ी गुफाओं में दिन या रात्रि के समय ठहरते हुए जाते थे। सदा ऐसे ही स्थानों में उनका निवास होता था।

ते दुर्गवासं बहुधा निरुष्य
व्यतीत्य कैलासमचिन्त्यरूपम्।
आसेदुरत्यर्थमनोरमं ते
तमाश्रमाग्र्यं वृषपर्वणस्तु ॥१४॥

अनेक बार दुर्गम स्थानों में निवास करके अचिन्त्यरूप कैलास पर्वत को पीछे छोड़कर वे पुनः वृषपर्वा के अत्यन्त मनोरम एवं श्रेष्ठ आश्रम में आ पहुँचे।

सुखोषितास्तत्र त एकरात्र
मभ्यायुस्ते बदरीं विशालाम्।
विहृत्य मासं सुखिनो बदर्यां
किरातराजस्य पदं सुबाहोः ॥१५॥

उस आश्रम में एक रात्रि सुखपूर्वक रहकर वे विशालापुरी के बदरिकाश्रम में चले आये। बदरिकाश्रम में एक मास तक सुखपूर्वक विहार करके उन्होंने किरातनरेश सुबाहु के राज्य की ओर प्रस्थान किया।

सुखोषितास्तत्र त एकरात्रं
सूतान् समादाय रथांश्च सर्वान्।
घटोत्कचं सानुचरं विसृज्य
ततोऽभ्ययुर्यामुनमद्रिराजम् ॥१६॥

वहाँ उन सबने एक रात्रि बड़े सुख से निवास किया। यहाँ पाण्डवों ने अपने सारे सारथियों और रथों को साथ ले लिया एवं अनुचरोंसहित घटोत्कच को विदा करके वहाँ से पर्वतराज को प्रस्थान किया, जहाँ यमुना का उद्गम-स्थान है।

तस्मिन् गिरौ प्रस्रवणोपपन्ने-
हिमोत्तरीयारुण-पाण्डुसानौ।
विशाखयूपं समुपेत्य पार्थाः
संवत्सरं तत्र वने विजह्रुः ॥१७॥

झरनों से युक्त हिमराशि उस पर्वतरूपी पुरुष के लिए उत्तरीय का काम करती थी और उसका अरुण तथा श्वेत रंग का शिखर बालसूर्य की किरणें पड़ने से श्वेत एवं लाल उष्णीश (पगड़ी) के समान शोभा पा रहा था। उसके ऊपर विशाखयूप नामक वन में पहुँचकर पाण्डव वीर एक वर्ष तक वहाँ सुखपूर्वक विचरते रहे।

ते द्वादशं वर्षमुपोपयातं
वने विहर्तुं कुरवः प्रतीताः।
तस्माद् वनाच्चैत्ररथप्रकाशात्
श्रिया ज्वलन्तस्तपसा च युक्ताः ॥१८॥
ततश्च यात्वा मरुधन्वपार्श्वं
सदा धनुर्वेदरतिप्रधानाः।
सरस्वतीमेत्य निवासकामाः
सरस्ततो द्वैतवनं प्रतीयुः ॥१९॥

अब पाण्डवों के वनवास का बारहवाँ वर्ष आ पहुँचा था। उसे भी वन में आनन्दपूर्वक व्यतीत करने के लिए उनके मन में बड़ा उत्साह था। अपनी

अद्भुत कान्ति से प्रकाशित होते हुए तपस्वी पाण्डव चैत्ररथ वन के समान शोभा पानेवाले उस वन से निकलकर मरुभूमि के निकट सरस्वती-तट पर गये। और वहीं निवास करने की इच्छा से द्वैतवनस्थ द्वैत सरोवर के निकट आये। उस समय पाण्डवों का विशेष अनुराग धनुर्वेद में ही दिखाई देता था।

इति महाभारते वनपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

पाण्डवों का समाचार सुनकर धृतराष्ट्र का खेद और दुर्योधन की घोष-यात्रा

जनमेजय उवाच

एवं वनस्थाश्च हि ते नराग्र्याः
शीतोष्णवातातप-कर्शिताङ्गाः ।
सरस्तदासाद्य वनं च पुण्यं
ततः परं किमकुर्वन्त पार्थाः ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—हे मुने ! इस प्रकार वन में रहते हुए सर्दी, गर्मी, वायु और धूप का कष्ट सहन करने के कारण जिनके शरीर अत्यन्त कृश हो गये थे, उन नरश्रेष्ठ पाण्डवों ने पुण्य द्वैतवन में पूर्वोक्त सरोवर के पास पहुँचकर फिर कौन-सा कार्य किया ?

वैशम्पायन उवाच

सरस्तदासाद्य तु पाण्डुपुत्राः
जनं समुत्सृज्य विधाय वेश्म ।
वनानि रम्याण्यथ पर्वतांश्च
नदीः प्रदेशाँश्च तदा विचेरुः ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उस रमणीक सरोवर पर पहुँचकर पाण्डवों ने वहाँ आये हुए जन-समुदाय को विदा कर दिया और अपने रहने के लिए कुटी बनाकर वे आस-पास के रमणीक वनों, पर्वतों तथा नदी के तट-प्रदेशों में विचरने लगे।

ततः कदाचित् कुशलः कथासु
विप्रोऽभ्यगच्छद् भुवि कौरवेयान् ।
स तैः समेत्याथ यदृच्छयैव
वैचित्रवीर्यं नृपमभ्यगच्छत् ॥३॥

तदनन्तर किसी समय धर्मादि कथाएँ कहने में कुशल एक ब्राह्मण उस वन्यभूमि में पाण्डवों के पास आया। उनसे मिलकर वह घूमता-घामता अकस्मात् राजा धृतराष्ट्र की राज-सभा में जा पहुँचा।

अथोपविष्टः प्रतिसत्कृतश्च
वृद्धेन राज्ञा कुरुसत्तमेन ।
सम्प्रेरितः सन्कथयाम्बभूव
धर्मानिलेन्द्रप्रभवान् यमौ च ॥४॥

कुरुकुल के श्रेष्ठ एवं वयोवृद्ध राजा धृतराष्ट्र ने उसका बहुत आदर-सत्कार किया। जब वह आसन पर बैठ गया तब महाराज के पूछने पर वह युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेव के समाचार सुनाने लगा।

कृशाँश्च वातातपकर्शिताङ्गान्
दुःखस्य चोग्रस्य मुखे प्रपन्नान् ।
तां चाप्यनाथामिव वीरनाथां
कृष्णां परिक्लेशगुणेन युक्ताम् ॥५॥

उसने बताया—"इस समय पाण्डव शीत-उष्ण तथा वायु और धूप आदि का कष्ट सहने के कारण अत्यन्त कृश हो गये हैं। वे सब भयंकर दुःखों के मुख में पड़ गये हैं। वीरपत्नी द्रौपदी भी अनाथ की भाँति सब ओर से क्लेश-ही-क्लेश भोग रही है।"

ततः कथास्तस्य निशम्य राजा
वैचित्रवीर्यः करुणाभितप्तः ।
प्रोवाच दैन्याभिहतान्तरात्मा
तत्सर्वमात्मप्रभवं विचिन्त्य ॥६॥

ब्राह्मण की ये बातें सुनकर विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्र करुणा से द्रवीभूत हो बहुत दुःखी हो गये। उनका हृदय करुणा से भर आया और इस सबको अपनी ही कृति का दुष्फल समझकर वे यों बोले—

कथं नु सत्यः शुचिरार्यवृत्तो
ज्येष्ठः सुतानां मम धर्मराजः ।

अजातशत्रुः पृथिवीतलस्थः
शेते पुरा राङ्कवकूटशायी ॥७॥

"अहो ! जो मेरे सभी पुत्रों में ज्येष्ठ, सत्यवादी, पवित्र तथा सदाचारी हैं एवं जो पहले रङ्कु मृग के रोओं से बने हुए नरम बिछौनों पर सोया करते थे, वे अजातशत्रु धर्मराज युधिष्ठिर आजकल भूमि पर कैसे शयन करते होंगे ?

कथं नु वातातपकर्शिताङ्गो
वृकोदरः कोपपरिप्लुताङ्गः
शेते पृथिव्यामतथोचिताङ्गः
कृष्णासमक्षं वसुधातलस्थः ॥८॥

"भीमसेन का शरीर हवा और धूप का कष्ट सहन करने से अत्यन्त दुर्बल हो गया होगा। उनका अङ्ग-अङ्ग क्रोध से काँपता और फड़कता होगा। वे द्रौपदी के सामने धरती पर कैसे सोते होंगे ? उनका शरीर ऐसे कष्ट भोगने योग्य नहीं है।

तथार्जुनो देहमृदुः मनस्वी
वशे स्थितो धर्मसुतस्य राज्ञः।
विदूयमानैरिव सर्वगात्रैः
ध्रुवं न शेते वसतीरमर्षात् ॥९॥

"इसी प्रकार सुकोमल देहवाले मनस्वी अर्जुन, जो सदा धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा में रहते हैं, के सारे अङ्गों में क्रोध के कारण सन्ताप हो रहा होगा और निश्चय ही उन्हें अपनी कुटिया में अच्छी प्रकार नींद भी नहीं आती होगी।

तथा यमौ चाप्यसुखौ सुखार्हौ
समृद्धरूपावमरौ दिवीव।
प्रजागरस्थौ ध्रुवमप्रशान्तौ
धर्मेण सत्येन च वार्यमाणौ ॥१०॥

"इसी प्रकार स्वर्ग के देवता अश्विनीकुमारों की भाँति रूपवान्, सुख भोगने योग्य नकुल और सहदेव का भी सुख छिन गया है। वे भी निश्चय ही अशान्त भाव से सारी रात जागते हुए ही भूमि पर सोते होंगे ? धर्म और सत्य ही उन्हें तत्काल आक्रमण करने से रोके हुए है।

अजातशत्रौ तु जिते निकृत्या
दुःशासनो यत् परुषाण्यवोचत्।
तानि प्रविष्टानि वृकोदराङ्गं
दहन्ति कक्षाग्निरिवेन्धनानि ॥११॥

"अजातशत्रु युधिष्ठिर को जुए में छली, दुःशासन ने जो कड़वी बातें कहीं थीं, वे भीम के शरीर में घुसकर उसे उसी प्रकार दग्ध कर रही होंगी, जैसे आग तृण और काष्ठ के समूह को जला डालती है।

न पापकं ध्यास्यति धर्मपुत्रो
धनञ्जयश्चाप्यनुवर्त्स्यते तम्।
अरण्यवासेन विवर्धते तु
भीमस्य कोपोऽग्निरिवानिलेन ॥१२॥

"धर्मपुत्र युधिष्ठिर मेरे अपराध पर ध्यान नहीं देंगे। अर्जुन भी उन्हीं का अनुकरण करेंगे। परन्तु इस वनवास से भीमसेन का क्रोध तो उसी प्रकार बढ़ रहा होगा जैसे हवा लगने से अग्नि भभक उठती है।

गाण्डीवधन्वा च वृकोदरश्च
संरम्भिणावन्तककालकल्पौ।
न शेषयेतां युधि शत्रुसेनां
शरान् किरन्तावशनिप्रकाशान् ॥१३॥

"गाण्डीवधारी अर्जुन और भीम जब क्रोध में भर जाएँगे, तब वे यमराज और काल के समान हो जाएँगे। वे रण-भूमि में विद्युत् के समान चमचमाते बाणों की वर्षा करके शत्रु-सेना में से किसी को भी जीवित न छोड़ेंगे।

दुर्योधनः सौबलसूतपुत्रौ
दुःशासनश्चापि सुमन्दचेताः।
मधु प्रपश्यन्ति न तु प्रपातं
यद् द्यूतमालम्ब्य हरन्ति राज्यम् ॥१४॥

"दुर्योधन, शकुनि, सूतपुत्र कर्ण और दुःशासन—ये चारों बड़े ही मन्दबुद्धि हैं, क्योंकि ये जुए के सहारे दूसरे के राज्य को हड़प रहे हैं। [इन्हें अपने ऊपर आनेवाला संकट दिखाई नहीं देता] इन्हें केवल वृक्ष की शाखा से टपकता हुआ मधु ही दिखाई देता है, वहाँ से गिरने का जो भारी भय है, उधर उनकी बुद्धि या दृष्टि नहीं है।

धृतराष्ट्रस्य तद् वाक्यं निशम्य शकुनिस्तदा।
दुर्योधनमिदं काले कर्णेन सहितोऽब्रवीत् ॥१५॥

धृतराष्ट्र का पूर्वोक्त वचन सुनकर उस समय कर्णसहित शकुनि ने अवसर देखकर दुर्योधन से इस प्रकार कहा—

प्रव्राज्य पाण्डवान् वीरान् स्वेन वीर्येण भारत ।
भुङ्क्ष्वेमां पृथिवीमेको दिवि शम्बरहा यथा ॥१६॥

"भरतनन्दन ! तुमने अपने पराक्रम से पाण्डवों को वन में निर्वासित कर दिया है । अब तुम स्वर्ग में इन्द्र की भाँति अकेले ही इस सम्पूर्ण पृथिवी का राज्य भोगो ।

यैः स्म ते नाद्रियेताज्ञा न च ये शासने स्थिताः ।
पश्यामस्तान् श्रिया हीनान् पाण्डवान् वनवासिनः ॥१७

"जिन्होंने तुम्हारी आज्ञा का आदर नहीं किया था तथा जो तुम्हारी आज्ञा में नहीं थे, उन पाण्डवों की दशा हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं । वे राज्य-लक्ष्मी से हीन होकर वन में निवास करते हैं ।

श्रूयते हि महाराज सरो द्वैतवनं प्रति ।
वसन्तः पाण्डवाः सार्धं ब्राह्मणैर्वनवासिभिः ॥१८॥

"महाराज ! सुनने में आया है कि पाण्डव लोग द्वैतवन में सरोवर के तट पर वनवासी ब्राह्मणों के साथ रहते हैं ।

स प्रयाहि महाराज श्रिया परमया युतः ।
तापयन् पाण्डुपुत्रांस्त्वं रश्मिवानिव तेजसा ॥१९॥

"महाराज ! आप उत्कृष्ट राज्य-लक्ष्मी से युक्त होकर वहाँ चलो और जैसे सूर्य अपने तेज से संसार को संतप्त करते हैं, उसी प्रकार तुम भी पाण्डुपुत्रों को सन्तप्त करो ।

स्थितो राज्ये च्युतान् राज्याच्छ्रिया हीनाञ्छ्रिया वृतः ।
असमृद्धान् समृद्धार्थः पश्य पाण्डुसुतान् नृप ॥२०॥

"आप इस समय राज्य पर प्रतिष्ठित एवं पाण्डव राज्य से भ्रष्ट हैं । आप श्रीसम्पन्न और वे श्रीहीन हैं । आप ऐश्वर्ययुक्त और वे निर्धन हैं । हे नरेश्वर ! तुम इस दशा में चलकर पाण्डवों को देखो ।

समस्थो विषमस्थान् हि दुर्हृदो योऽभिवीक्षते ।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थः किमतः परमं सुखम् ॥२१॥

"जैसे पर्वत की चोटी पर खड़ा हुआ कोई व्यक्ति पृथिवी पर स्थित सभी वस्तुओं को नीची और छोटी देखता है, उसी प्रकार जो मनुष्य स्वयं सुख में रहकर शत्रुओं को संकट में पड़ा हुआ देखता है, उसके लिए इससे बढ़कर सुख की बात और क्या होगी ?

न पुत्रधनलाभेन न राज्येनापि विन्दति ।
प्रीतिं नृपतिशार्दूल याममित्राघदर्शनात् ॥२२॥

"नरश्रेष्ठ ! मनुष्य को अपने शत्रुओं की दुर्दशा देखकर जो प्रसन्नता होती है, वह धन, पुत्र और राज्य मिलने से भी नहीं होती ।

सुवाससो हि ते भार्या वल्कलाजिनसंवृताम् ।
पश्यन्तु दुःखितां कृष्णां सा च निर्विद्यतां पुनः ॥२३॥

"आपकी रानियाँ सुन्दर साड़ियाँ पहनकर चलें तथा वन में वल्कल एवं मृगचर्म लपेटकर दुःख में डूबी हुई द्रौपदी को देखें । वह भी इन्हें देखकर बार-बार सन्ताप करे ।"

दुर्योधन उवाच

ब्रवीषि यदिदं कर्ण सर्वं मनसि मे स्थितम् ।
न त्वभ्यनुज्ञां लप्स्यामि गमने यत्र पाण्डवाः ॥२४॥

दुर्योधन बोला—हे कर्ण ! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह सब मेरे मन में भी है, परन्तु जहाँ पाण्डव रहते हैं, वहाँ जाने के लिए मैं पिताजी की आज्ञा नहीं पा सकूँगा ।

ममापि हि महान् हर्षो यदहं भीमफाल्गुनौ ।
क्लिष्टावरण्ये पश्येयं कृष्णया सहिताविति ॥२५॥

यदि मैं भीम और अर्जुन को द्रौपदी के साथ वन में क्लेश उठाते देखूँ, तो मुझे भी बड़ी प्रसन्नता होगी ।

न तथा ह्याप्नुयां प्रीतिमवाप्य वसुधामिमाम् ।
दृष्ट्वा यथा पाण्डुसुतान् वल्कलाजिनवाससः ॥२६॥

पाण्डवों को वल्कल-वस्त्र पहने और मृगचर्म ओढ़े देखकर मुझे जितनी प्रसन्नता होगी, उतनी इस समूची पृथिवी का राज्य पाकर भी नहीं होगी ।

किं नु स्यादधिकं तस्माद् यदहं द्रुपदात्मजाम् ।
द्रौपदीं कर्ण पश्येयं काषायवसनां वने ॥२७॥

"कर्ण ! मैं द्रुपदकुमारी कृष्णा को वन में गेरुए कपड़े पहने देखूँ, इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात मेरे लिए और क्या हो सकती है ?

यदि मां धर्मराजश्च भीमसेनश्च पाण्डवः ।
युक्तं परमया लक्ष्म्या पश्येतां जीवितं भवेत् ॥२८॥

यदि धर्मराज युधिष्ठिर एवं पाण्डुनन्दन भीमसेन मुझे परमोत्कृष्ट राज्य-लक्ष्मी से सम्पन्न देख लें, तो मेरा जीवन सफल हो जाए।

उपायं न तु पश्यामि येन गच्छेम तद् वनम् ।
यथा चाभ्यनुजानीयाद् गच्छन्तं मां महीपतिः ॥२९॥

परन्तु मुझे कोई उपाय दिखाई नहीं देता जिससे हम लोग द्वैतवन में जा सकें, अथवा महाराज मुझे वहाँ जाने की अनुमति दे दें।

त्वं सौबलेन सहितस्तथा दुःशासनेन च ।
उपायं पश्य निपुणं येन गच्छेम तद् वनम् ॥३०॥

तुम मामा शकुनि और भाई दुःशासन के साथ परामर्श करके कोई अच्छा-सा उपाय ढूंढ़ निकालो, जिससे हम लोग द्वैतवन में चल सकें।

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनं कर्णः प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
उपायः परिदृष्टोऽयं तं निबोध जनेश्वरः ॥३१॥

वैशम्पायन बोले—तब कर्ण ने हंसकर दुर्योधन से कहा—"हे राजन्! मुझे जो उपाय सूझा है, उसे बताता हूं, सुनो—

घोषा द्वैतवने सर्वे त्वत्प्रतीक्षा नराधिप ।
घोषयात्रापदेशेन गमिष्यामो न संशयः ॥३२॥

"महाराज! इस समय हमारी गौओं के रहने के सभी स्थान द्वैतवन के समीप ही हैं और वहाँ आपके पधारने की सदा प्रतीक्षा की जाती है, अतः घोषयात्रा के बहाने हम वहाँ निःसन्देह चल सकेंगे।

उचितं हि सदा गन्तुं घोषयात्रां विशाम्पते ।
एवं च त्वां पिता राजन् समनुज्ञातुमर्हति ॥३३॥

"राजन्! अपनी गौओं को देखने के लिए यात्रा करना सदा उचित ही है, ऐसा बहाना लेने पर पिताजी तुम्हें अवश्य ही जाने की आज्ञा दे सकते हैं।"

ततः प्रहसिताः सर्वे तेऽन्योन्यस्य तलान् ददुः ।
तदेव च विनिश्चित्य ददृशुः कुरुसत्तमम् ॥३४॥

तदनन्तर वे सबके-सब अपनी योजना को सफल होती देख हँसने और एक-दूसरे के हाथ पर हाथ रखकर प्रसन्नता प्रकट करने लगे। फिर यही निश्चय करके वे तीनों कुरुश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्र से मिले।

ततस्तैर्विहितः पूर्वं समङ्गो नाम बल्लवः ।
समीपस्थास्तदा गावो धृतराष्ट्रे न्यवेदयत् ॥३५॥

उन लोगों ने समङ्ग नामक एक ग्वाले को पहले ही सिखा-पढ़ाकर ठीक कर लिया। उसने धृतराष्ट्र की सेवा में निवेदन किया—"महाराज! आजकल आपकी गौएँ समीप ही आई हुई हैं।"

अनन्तरं च राधेयः शकुनिश्च विशाम्पते ।
आहतुः पार्थिवश्रेष्ठं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ॥३६॥

हे जनमेजय! ग्वाले के निवेदन करने पर कर्ण और शकुनि ने राजाओं में श्रेष्ठ नरेश्वर धृतराष्ट्र से कहा—

रमणीयेषु देशेषु घोषाः सम्प्रति कौरव ।
स्मारणे समयः प्राप्तो वत्सानामपि चाङ्कनम् ॥३७॥

"हे कुरुराज! इस समय हमारी गौओं के स्थान रमणीय प्रदेशों में हैं। यह समय गौओं और बछड़ों की गणना करने तथा उनकी आयु, रंग, जाति एवं नाम का ब्यौरा लिखने के लिए भी अति उपयुक्त है।

मृगया चोचिता राजन्नस्मिन् काले सुतस्य ते ।
दुर्योधनस्य गमनं समनुज्ञातुमर्हसि ॥३८॥

"हे राजन्! यह समय आपके पुत्र दुर्योधन के लिए हिंसक पशुओं का शिकार करने के लिए भी अत्युपयुक्त अतः आप इन्हें द्वैतवन में जाने की आज्ञा दीजिए।"

धृतराष्ट्र उवाच

मृगया शोभना तात गवां हि समवेक्षणम् ।
विश्रम्भस्तु न कर्त्तव्यो बल्लवानामिति स्मरे ॥३९॥

धृतराष्ट्र बोले—हे तात! शिकार खेलने और गौओं की देख-भाल का प्रस्ताव उत्तम है, परन्तु 'ग्वालों की बात पर विश्वास नहीं करना चाहिए।' यह नीति-वचन मुझे अभी स्मरण हो आया है।

ते तु तत्र नरव्याघ्राः समीप इति नः श्रुतम् ।
अतो नाभ्यनुजानामि गमनं तत्र वः स्वयम् ॥४०॥

मैंने सुना है कि नरश्रेष्ठ पाण्डव भी इन दिनों में वहीं कहीं निकट ही ठहरे हुए हैं, अतः मैं तुम लोगों को वहाँ जाने की अनुमति नहीं दे सकता।

छद्मना निर्जितास्ते तु कर्शिताश्च महावने ।
तपोनित्याश्च राधेय समर्थाश्च महारथाः ॥४१॥

राधानन्दन ! पाण्डव छलपूर्वक हराये गये है। घोर वन में रहकर उन्हें महान् कष्ट सहना पड़ा है। वे निरन्तर तपस्या में रत रहे हैं, अतः अब विशेष शक्ति-सम्पन्न हो गये हैं, महारथी तो वे हैं ही।

धर्मराजो न संक्रुध्येद् भीमसेनस्त्वमर्षणः।
यज्ञसेनस्य दुहिता तेज एव तु केवलम् ॥४२॥

यह ठीक है कि धर्मराज युधिष्ठिर क्रोध नहीं करेंगे परन्तु भीमसेन तो सदा ही क्रोध में भरे रहते हैं और द्रुपदपुत्री कृष्णा तो साक्षात् अग्नि की ही मूर्ति है।

यूयं चाप्यपराध्येयुर्दर्पमोहसमन्विताः।
ततो विनिर्दहेयुस्ते तपसा हि समन्विताः ॥४३॥

तुम लोग तो अहंकार और मोह में चूर रहते ही हो, अतः उनका अपराध अवश्य करोगे, उस अवस्था में वे तुम्हें भस्म किये विना न छोड़ेंगे क्योंकि वे तपः-शक्ति से सम्पन्न हैं।

अथ वा सैनिकाः केचिदपकुर्युर्युधिष्ठिरम्।
तदबुद्धिकृतं कर्म दोषमुत्पादयेच्च वः ॥४४॥

अथवा यह भी सम्भव है कि तुम्हारे सैनिक ही युधिष्ठिर का अपमान कर बैठें और तुम्हारे अनजाने में किया गया यह अपराध तुम लोगों के लिए विपत्ति (हानिकारक) बन जाए।

तस्माद् गच्छन्तु पुरुषाः स्मारणायाप्तकारिणः।
न स्वयं तत्र गमनं रोचये तव भारत ॥४५॥

अतः भरतनन्दन ! दूसरे विश्वसनीय पुरुष गौओं की गणना के लिए वहाँ चले जाएँगे। स्वयं तुम्हारा वहाँ जाना मुझे ठीक नहीं जान पड़ता।

शकुनिरुवाच

धर्मज्ञः पाण्डवो ज्येष्ठः प्रतिज्ञातं च संसदि।
तेन द्वादशवर्षाणि वस्तव्यानीति भारत ॥

शकुनि बोला—हे भारत ! ज्येष्ठ पाण्डव राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं। उन्होंने भरी सभा में यह प्रतिज्ञा की थी कि हम बारह वर्ष तक वनों में रहेंगे।

अनुव्रताश्च ते सर्वे पाण्डवा धर्मचारिणः।
युधिष्ठिरस्तु कौन्तेयो न नः कोपं करिष्यति ॥४७॥

अन्य चारों पाण्डव भी धर्म पर ही चलनेवाले हैं, अतः वे सबके-सब युधिष्ठिर का ही अनुसरण करते हैं। कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर हम लोगों पर कभी क्रोध नहीं करेंगे।

मृगयां चैव नो गन्तुमिच्छा संवर्तते भृशम्।
स्मारणं तु चिकीर्षामो न तु पाण्डवदर्शनम् ॥४८॥

हमारी विशेष इच्छा केवल शिकार खेलने की है, दूसरे हम लोग स्मरण के लिए केवल गौओं की गणना करना चाहते हैं। पाण्डवों से मिलने की इच्छा हमारी बिल्कुल नहीं है।

न चानार्यसमाचारः कश्चित् तत्र भविष्यति।
न च तत्र गमिष्यामो यत्र तेषां प्रतिश्रयः ॥४९॥

हमारी ओर से वहाँ कोई भी अनार्य-आचरण (नीचतापूर्ण व्यवहार) नहीं होगा। जहाँ पाण्डवों का निवास होगा, वहाँ हम लोग जाएँगे ही नहीं।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः शकुनिना धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
दुर्योधनं सहामात्यमनुजज्ञे न कामतः ॥५०॥

वैशम्पायन जी कहते हैं—जनमेजय ! शकुनि के ऐसा कहने पर राजा धृतराष्ट्र ने इच्छा न होते हुए भी मन्त्रियोंसहित दुर्योधन को वहाँ जाने की अनुमति दे दी।

अनुज्ञातस्तु गान्धारिः कर्णेन सहितस्तदा।
निर्ययौ भरतश्रेष्ठो बलेन महता वृतः ॥५१॥

धृतराष्ट्र की आज्ञा पाकर गान्धारी-पुत्र भरत-श्रेष्ठ दुर्योधन कर्ण और विशाल सेना के साथ नगर से बाहर निकला।

दुःशासनेन च तथा सौबलेन च धीमता।
संवृतो भ्रातृभिश्चान्यैः स्त्रीभिश्चापि सहस्रशः ॥५२

दुःशासन, बुद्धिमान् शकुनि, अन्य अनेक भाइयों और सहस्रों स्त्रियों से घिरे हुए दुर्योधन ने वहाँ से प्रस्थान किया।

गव्यूतिमात्रे न्यवसद् राजा दुर्योधनस्तदा।
प्रयातो वाहनैः सर्वैस्ततो द्वैतवनं सरः ॥५३॥

नगर से दो कोस दूर जाकर राजा दुर्योधन ने पड़ाव डाल दिया। फिर वहाँ से समस्त वाहनों के साथ द्वैतवन एवं सरोवर की ओर प्रस्थान किया।

इति महाभारते वनपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

दुर्योधन द्वारा गौओं की देखभाल, गन्धर्वों के साथ मुठभेड़, कर्ण की पराजय और दुर्योधन का अपहरण

वैशम्पायन उवाच

अथ दुर्योधनो राजा तत्रतत्र वने वसन् ।
जगाम घोषानभितस्तत्र चक्रे निवेशनम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजा दुर्योधन वन में जहाँ-तहाँ पड़ाव डालता हुआ उन घोषों=गोशालाओं के पास पहुँच गया और वहीं अपनी छावनी डाल दी ।

ददर्श स तदा गावः शतशोऽथ सहस्रशः ।
अङ्कैर्लक्षैश्च ताः सर्वा लक्षयामास पार्थिवः ॥२॥

[ठहरने की सुव्यवस्था हो जाने पर] राजा दुर्योधन ने अपनी सैकड़ों और सहस्रों गौओं का निरीक्षण करना आरम्भ किया । उन सबपर संख्या और निशानी डलवा दी ।

अङ्कयामास वत्सांश्च जज्ञे चोपसृतांस्त्वपि ।
बालवत्साश्च या गावः कालयामास ता अपि ॥३॥

तत्पश्चात् बछड़ों पर भी संख्या और निशानी डलवाई । जो नाथने योग्य थे, उन सबकी गणना कराकर उनपर भी पहचान डाल दी । जिन गौओं के बछड़े बहुत छोटे थे, उनकी अलग गणना करवाई ।

अथ स स्मारणं कृत्वा लक्षयित्वा त्रिहायनान् ।
वृतो गोपालकैः प्रीतो व्यहरत् कुरुनन्दनः ॥४॥

इस प्रकार जांच-पड़ताल का काम पूरा करके कुरुनन्दन दुर्योधन ने तीन वर्ष के बछड़ों की पृथक् गणना करवाई । स्मारण का काम कर वह बड़ी प्रसन्नता के साथ ग्वालों से घिरकर उस वन में विहार करने लगा ।

ततस्ते सहिताः सर्वे तरक्षून् महिषान् मृगान् ।
गवयर्क्षवराहांश्च समन्तात् पर्यकालयन् ॥५॥

तत्पश्चात् वे सब तरक्षुओं=जरखों, जंगली भैंसों, मृगों, गवयों, रीछों, शूकरों और अन्य जंगली पशुओं का चारों ओर से शिकार करने लगे ।

गोरसानुपयुञ्जानः पश्यन् रम्यवनानि च ।
आगच्छदानुपूर्व्येण पुण्यं द्वैतवनं सरः ॥६॥

दुर्योधन अपने साथियोंसहित दूध आदि गोरसों का पान करता हुआ और क्रमशः आगे बढ़ता हुआ पवित्र द्वैतवन नामक सरोवर के समीप जा पहुँचा ।

ततो दुर्योधनः प्रेष्यानादिदेश सहस्रशः ।
आक्रीडावसथाः क्षिप्रं क्रियन्तामिति भारत ॥७॥

भारत ! वहां पहुँचकर दुर्योधन ने अपने सहस्रों सेवकों को आदेश दिया—"तुम लोग बहुत-से क्रीड़ा-मण्डप तैयार करो ।"

ते तथेत्येव कौरव्यमुक्त्वा वचनकारिणः ।
चिकीर्षन्तस्तदाऽऽक्रीडाञ्जग्मुर्द्वैतवनं सरः ॥८॥

आज्ञाकारी सेवक दुर्योधन से 'बहुत अच्छा' कह-कर क्रीड़ाभवन बनाने की इच्छा से द्वैतवन-सरोवर के निकट गये ।

तत्र गन्धर्वराजो वै पूर्वमेव विशाम्पते ।
कुबेरभवनाद् राजन्नाजगाम गणावृतः ॥९॥

प्रजानाथ राजन् ! वहाँ गन्धर्वराज चित्रसेन पहले से ही अपने सेवकगणों के साथ कुबेर-भवन से आया हुआ था ।

गणैरप्सरसां चैव त्रिदशानां तथाऽऽत्मजैः ।
विहारशीलः क्रीडार्थं तेन तत् संवृतं सरः ॥१०॥

वे उन दिनों अप्सराओं और देवकुमारों के साथ विभिन्न स्थानों में भ्रमण करते थे । उन्होंने स्वयं ही क्रीड़ा-विहार के लिए उस सरोवर को सब ओर से घेर लिया था ।

तेन तत्संवृतं दृष्ट्वा ते राजपरिचारकाः ।
प्रतिजग्मुस्ततो राजन् यत्र दुर्योधनो नृपः ॥११॥
स तु तेषां वचः श्रुत्वा सैनिकान् युद्धदुर्मदान् ।
प्रेषयामास कौरव्य उत्सारयत तानिति ॥१२॥

राजन् ! उस सरोवर को गन्धर्वों से घिरा देख-कर वे राजसेवक दुर्योधन के पास लौटकर आये । हे जनमेजय ! सेवकों का कथन सुनकर राजा दुर्योधन ने युद्ध के लिए उन्मत्त रहनेवाले उन सैनिकों को यह

आदेश देकर वापस भेजा कि—"गन्धर्वों को वहाँ से मार भगाओ !"

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राज्ञः सेनाग्रयायिनः ।
सरो द्वैतवनं गत्वा गन्धर्वानिदमब्रुवन् ॥१३॥

राजा की यह आज्ञा पाकर उसकी सेना के नायक द्वैतवन-सरोवर के समीप जाकर गन्धर्वों से इस प्रकार बोले—

राजा दुर्योधनो नाम धृतराष्ट्रसुतो बली ।
विजिहीर्षुरिहायाति तदर्थमपसर्पत ॥१४॥

"गन्धर्वो ! महाराज धृतराष्ट्र के शक्तिशाली पुत्र राजा दुर्योधन विहार करने की इच्छा से यहाँ पधार रहे हैं। तुम लोग यह स्थान उनके लिए खाली करके दूर हट जाओ।"

एवमुक्तास्तु गन्धर्वाः प्रहसन्तो विशाम्पते ।
प्रत्यब्रुवंस्तान् पुरुषानिदं हि परुषं वचः ॥१५॥

राजन् ! उनके ऐसा कहने पर गन्धर्वों ने जोर-जोर से हँसते हुए और उन राजसेवकों को उत्तर देते हुए कठोर वाणी में कहा—

न चेतयति वो राजा मन्दबुद्धिः सुयोधनः ।
योऽस्मानाज्ञापयत्येवं वैश्यानिव दिवौकसः ॥१६॥

"तुम्हारे राजा मन्दबुद्धि दुर्योधन को तनिक भी होश नहीं है, क्योंकि वह हम देवलोकवासी गन्धर्वों को भी बनियों के समान समझकर आज्ञा दे रहा है।

यूयं मुमूर्षवश्चापि मन्दप्रज्ञा न संशयः ।
ये तस्य वचनादेवमस्मान् ब्रूत विचेतसः ॥१७॥

"तुम लोग भी मरना चाहते हो और तुम्हारी भी बुद्धि मारी गई, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, तभी तो तुम दुर्योधन के कहने से हमसे इस प्रकार विवेक-हीन (विचारहीन) होकर बातें कर रहे हो।

गच्छत त्वरिताः सर्वे यत्र राजा स कौरवः ।
न चेदद्यैव गच्छध्वं धर्मराजनिवेशनम् ॥१८॥

"या तो तुम सब लोग शीघ्रतापूर्वक अपने राजा दुर्योधन के पास लौट जाओ अन्यथा अभी यमलोक की राह लो।"

एवमुक्तास्तु गन्धर्वै राज्ञः सेनाग्रयायिनः ।
सम्प्राद्रवन् यतो राजा धृतराष्ट्रतोभवत् ॥१९॥

गन्धर्वों के ऐसा कहने पर दुर्योधन की सेना के हरावल योद्धा वहीं भाग गये जहाँ राजा दुर्योधन स्वयं टिका हुआ था।

ततस्ते सहिताः सर्वे दुर्योधनमुपागमन् ।
अब्रुवंश्च महाराज यदूचुः कौरवं प्रति ॥२०॥

जनमेजय ! तब वे सब लोग एक साथ कुरुराज दुर्योधन के पास गये और गन्धर्वों ने दुर्योधन के प्रति जो कुछ कहा था, वह सब-कुछ कह सुनाया।

गन्धर्वैर्वारिते सैन्ये धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
अमर्षपूर्णः सैन्यानि प्रत्यभाषत भारत ॥२१॥

हे भारत ! गन्धर्वों द्वारा अपने सैनिकों के रोक दिये जाने पर प्रतापी दुर्योधन ने क्रुद्ध होकर समस्त सैनिकों से कहा—

शासतैतानधर्मज्ञान् मम विप्रियकारिणः ।
यदि प्रक्रीडते देवैः सर्वैः सह शतक्रतुः ॥२२॥

"अरे ! यदि समस्त देवों के साथ इन्द्र भी वहाँ आकर क्रीड़ा करते हों, तो भी मेरा अप्रिय करनेवाले उन पापात्माओं को तुम लोग दण्ड दो।"

दुर्योधनवचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रा महाबलाः ।
सर्व एवाभिसंनद्धा योधाश्चापि सहस्रशः ॥२३॥

दुर्योधन की आज्ञा पाकर महाबली कौरव और उनके सहस्रों योद्धा सबके-सब युद्ध के लिए कमर कसकर तैयार हो गये।

ततः प्रमथ्य सर्वांस्तांस्तद् वनं विविशुर्बलात् ।
सिंहनादेन महता पूरयन्तो दिशो दश ॥२४॥

तत्पश्चात् वे सब अपने महान् सिंहनाद से दसों दिशाओं को गुंजाते हुए उन समस्त गन्धर्वों को रौंदकर बलपूर्वक द्वैतवन में घुस गये।

गन्धर्वराजस्तान् सर्वानब्रवीत् कौरवान् प्रति ।
अनार्याञ्छासतेत्येतान् चित्रसेनोऽत्यमर्षणः ॥२५॥

यह देखकर गन्धर्वराज चित्रसेन बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने कौरवों को लक्ष्य करके समस्त गन्धर्वों को आज्ञा दी—"अरे, इन दुष्टों का दमन करो !"

अनुज्ञाताश्च गन्धर्वाश्चित्रसेनेन भारत ।
प्रगृहीतायुधाः सर्वे धार्तराष्ट्रानभिद्रवन् ॥२६॥

हे भारत ! गन्धर्वराज चित्रसेन का आदेश पाते ही सब गन्धर्व अस्त्र-शस्त्र लेकर कौरवों की ओर दौड़े।

तान् दृष्ट्वा पततः शीघ्रं गन्धर्वानुद्यतायुधान् ।
प्राद्रवँस्ते दिशः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥२७॥

गन्धर्वों को अस्त्र-शस्त्र लेकर तीव्र वेग से अपनी ओर आते देख सभी कौरव सैनिक दुर्योधन के देखते-देखते चारों ओर भागने लगे ।

आपतन्तीं तु सम्प्रेक्ष्य गन्धर्वाणां महाचमूम् ।
राधेयस्तु तदा वीरो नासीत् तत्र पराङ्मुखः ॥२८॥

गन्धर्वों की उस विशाल सेना को आती देखकर [और धृतराष्ट्र के पुत्रों को युद्ध से विमुख हो भागते देखकर भी] राधानन्दन कर्ण ने युद्ध में पीठ नहीं दिखाई ।

क्षुरप्रैर्विशिखैर्भल्लैर्वत्सदन्तैस्तथाऽऽयसैः ।
गन्धर्वाञ्छतशोऽभ्यघ्नँल्लघुत्वात् सूतनन्दनः ॥२९॥

सूतपुत्र कर्ण ने अपने हाथ की फुर्ती के कारण लोहे के क्षुरप्र, विशिख, भल्ल और वत्सदन्त नामक बाणों की वर्षा करके सैकड़ों गन्धर्वों को घायल कर दिया ।

गन्धर्वांस्त्रासितान् दृष्ट्वा चित्रसेनो ह्यमर्षणः ।
उत्पपातासनात् क्रुद्धो वधे तेषां समाहितः ॥३०॥

गन्धर्वों को भयभीत देख चित्रसेन प्रचण्ड क्रोध में भर गये । वे शत्रुओं के वध का दृढ़-संकल्प करके अपने आसन से उछल पड़े ।

ततो मायास्त्रमास्थाय युयुधे चित्रमार्गवित् ।
तयामुह्यन्त कौरव्याश्चित्रसेनस्य मायया ॥३१॥

युद्ध की विचित्र पद्धतियों के ज्ञाता चित्रसेन ने मायामय अस्त्रका आश्रय लेकर युद्ध आरम्भ किया । चित्रसेन की उस माया से समस्त कौरव मूर्च्छा से मोह-ग्रस्त हो गये ।

सर्व एव तु गन्धर्वाः शतशोऽथ सहस्रशः ।
जिघांसमानाः सहिताः कर्णमभ्यद्रवन् रणे ॥३२॥

उधर सभी गन्धर्व संगठित हो कर्ण को मार डालने की इच्छा से सौ-सौ और हजार-हजार का दल बाँधकर रणभूमि में कर्ण के ऊपर टूट पड़े ।

असिभिः पट्टिशैः शूलैर्गदाभिश्च महाबलाः ।
सूतपुत्रं जिघांसन्तः समन्तात् पर्यवाकिरन् ॥३३॥

उन बलशाली वीरों ने सूतपुत्र कर्ण के वध की इच्छा करके उसपर चारों ओर से तलवार, पट्टिश, शूलों और गदाओं द्वारा प्रहार किये ।

अन्येऽस्य युगमच्छिन्दन् ध्वजमन्ये न्यपातयन् ।
ईषामन्ये हयानन्ये सूतमन्ये न्यपातयन् ॥३४॥

किन्हीं ने उसके रथ का जुआ काट दिया, दूसरों ने ध्वजा काट गिराई । कुछ ने ईषादण्ड के टुकड़े-टुकड़े कर दिये, कुछ ने घोड़ों को यमलोक पठा दिया तो दूसरों ने सारथि को मार गिराया ।

ततो रथादवप्लुत्य सूतपुत्रोऽसिचर्मभृत् ।
विकर्णरथमास्थाय मोक्षायाश्वान् सुप्रैरयत् ॥३५॥

तब सूतपुत्र कर्ण हाथ में ढाल और तलवार लिये अपने रथ से कूद पड़ा और विकर्ण के रथ पर बैठकर अपने प्राण बचाने के लिए उसके घोड़ों को शीघ्रता से हाँककर युद्ध-क्षेत्र से निकल गया ।

गन्धर्वैस्तु महाराज भग्ने कर्णे महारथे ।
सम्प्राद्रवच्चमूः सर्वा धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥३६॥

जनमेजय ! गन्धर्वों ने जब महारथी कर्ण को भगा दिया, तब दुर्योधन के देखते-देखते उसकी सारी सेना भाग चली ।

तान्दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान्धार्तराष्ट्रान्पराङ्मुखान् ।
दुर्योधनो महाराजो नासीत् तत्र पराङ्मुखः ॥३७॥

धृतराष्ट्र के सभी पुत्रों को युद्ध से पीठ दिखाकर भागते देखकर भी राजा दुर्योधन वहीं डटा रहा [उसने युद्ध में पीठ नहीं दिखाई] ।

तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य गन्धर्वाणां महाचमूम् ।
महता शरवर्षेण सोऽभ्यवर्षदरिन्दमः ॥३८॥

गन्धर्वों की उस विशाल सेना को अपनी ओर आते देख शत्रुओं का दमन करनेवाले दुर्योधन ने उस पर बाणों की भारी वृष्टि आरम्भ कर दी ।

अचिन्त्य शरवर्षं तु गन्धर्वास्तस्य तं रथम् ।
दुर्योधनं जिघांसन्तः समन्तात् पर्यवारयन् ॥३९॥

परन्तु गन्धर्वों ने बाणवर्षा की कुछ भी परवाह नहीं की । उन्होंने दुर्योधन को मार डालने की इच्छा से उसके रथ को चारों ओर से घेर लिया ।

युगमीषां वरूथं च तथैव ध्वजसारथी ।
अश्वांस्त्रिवेणुं तल्पं च तिलशोऽभ्यहनन् रथम् ॥४०॥

और उसके रथ के युग=जुआ, ईषादण्ड, वरूथ, ध्वजा, सारथि, घोड़ों, तीन वेणुदण्डवाले छत्र और

तल्प=[बैठने के स्थान] के भी टुकड़े-टुकड़े होकर पृथिवी पर गिर पड़े।

दुर्योधनं चित्रसेनो विरथं पतितं भुवि।
अभिद्रुत्य महाबाहुर्जीवग्राहमथाग्रहीत् ॥४१॥

उस समय जब दुर्योधन रथहीन होकर पृथिवी पर गिर पड़ा, तो यह देख महाबाहु चित्रसेन ने दौड़कर उसे जीते-जी ही बन्दी बना लिया।

तस्मिन् गृहीते राजेन्द्र स्थितं दुःशासनं रथे।
पर्यगृह्णन्त गन्धर्वा राजदारांश्च सर्वशः ॥४२॥

राजन्! दुर्योधन के पकड़े जाने पर गन्धर्वों ने रथ पर बैठे हुए दुःशासन को और राजकुल की समस्त महिलाओं को भी अपने अधिकार में ले लिया।

सैन्यं तद् धार्तराष्ट्रस्य गन्धर्वैः समभिद्रुतम्।
पूर्वं प्रभग्नाः सहिताः पाण्डवानभ्ययुस्तदा ॥४३॥

गन्धर्वों ने दुर्योधन की सारी सेना को मार भगाया था। वह सेना और उसके वे सैनिक जो पहले से ही मैदान छोड़कर भाग गये थे, सब मिलकर पाण्डवों की शरण में गये।

सैनिका ऊचुः

प्रियदर्शी महाबाहुर्धार्तराष्ट्रो महाबलः।
गन्धर्वैर्ह्रियते राजा पार्थास्तमनुधावत ॥४४॥
दुःशासनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुर्जयस्तथा।
बद्ध्वा ह्रियन्ते गन्धर्वै राजदाराश्च सर्वशः ॥४५॥

सैनिक बोले—हे कुन्तीपुत्रो! हमारे प्रियदर्शी, महाबाहु, महाबली धृतराष्ट्रकुमार राजा दुर्योधन को गन्धर्व बाँधकर लिये जाते हैं। आप लोग उनकी रक्षा के लिए दौड़िए। वे दुःशासन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुर्जय और कुरुकुल की सब स्त्रियों को भी बन्दी बनाकर [कैद करके] लिये जाते हैं।

वैशम्पायन उवाच

इति दुर्योधनामात्याः क्रोशन्तो राजगृद्धिनः।
आर्ता दीनास्तथा सर्वे युधिष्ठिरमुपागमन् ॥४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजा को हृदय से चाहनेवाले दुर्योधन के सभी मन्त्री आर्त एवं दीन होकर उपर्युक्त बातें जोर-जोर से कहते हुए युधिष्ठिर के समीप गये।

तांस्तथा व्यथितान्दीनान्भिक्षमाणान्युधिष्ठिरम्।
वृद्धान् दुर्योधनामात्यान् भीमसेनोऽभ्यभाषत ॥४७॥

दुर्योधन के उन बूढ़े मन्त्रियों को इस प्रकार दीन और दुःखी होकर युधिष्ठिर से सहायता की भीख माँगते देख भीमसेन ने कहा—

भीमसेन उवाच

महता हि प्रयत्नेन संनह्य गजवाजिभिः।
अस्माभिर्यदनुष्ठेयं गन्धर्वैस्तदनुष्ठितम् ॥४८॥

भीमसेन बोले—हमें हाथी-घोड़ों आदि द्वारा बहुत प्रयत्न करके कमर कसकर जो काम करना चाहिए था, उसे गन्धर्वों ने ही पूरा कर दिया।

अन्यथा वर्तमानानामर्थो जातोऽयमन्यथा।
दुर्मन्त्रितमिदं तावद् राज्ञो दुर्द्यूतदेविनः ॥४९॥

ये कौरव कुछ और ही करना चाहते थे, परन्तु इन्हें उलटा परिणाम देखना पड़ा। छलपूर्वक जुआ खेलनेवाले दुर्योधन का यह दुर्मन्त्रणापूर्ण षड्यन्त्र था, जो सफल न हो सका।

द्वेष्टारमन्ये क्लीबस्य पातयन्तीति नः श्रुतम्।
इदं कृतं नः प्रत्यक्षं गन्धर्वैरतिमानुषम् ॥५०॥

हमने सुना है कि जो लोग निर्बलों से द्वेष करते हैं, उन्हें दूसरे ही लोग नीचा दिखा देते हैं। गन्धर्वों ने आज अलौकिक पराक्रम करके हमारी इस सुनी हुई बात को प्रत्यक्ष कर दिखाया है।

दिष्ट्या लोके पुमानस्ति कश्चिदस्मत्प्रिये स्थितः।
येनास्माकं हृतो भार आसीनानां सुखावहः ॥५१॥

सौभाग्य की बात है कि संसार में कोई ऐसा भी पुरुष है जो हमारे हितसाधन में लगा हुआ है। उसने हम लोगों का भार उतार दिया और हमें बैठे-ही-बैठे सुख पहुँचाया है।

शीतवातातपसहांस्तपसा चैव कर्शितान्।
समस्थो विषमस्थान् हि द्रष्टुमिच्छति दुर्मतिः ॥५२॥

हम सरदी, गरमी तथा वर्षा का कष्ट सहते हैं, तपस्या से दुर्बल हो गये हैं और विषम परिस्थिति में पड़े हैं तो भी राजसिंहासन पर बैठकर मौज उड़ानेवाला दुर्बुद्धि दुर्योधन हमें इस दुर्दशा में देखने की इच्छा रखता है।

इति महाभारते वनपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

युधिष्ठिर का भीमसेन को कौरवों को छुड़ाने का आदेश, पाण्डवों का गन्धर्वों के साथ युद्ध और दुर्योधन का छुटकारा

युधिष्ठिर उवाच

अस्मानभिगतांस्तात भयार्तान्छरणैषिणः ।
कौरवान् विषमप्राप्तान् कथं ब्रूयास्त्वमीदृशम् ॥१॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे तात ! ये लोग भय से पीड़ित हो शरण लेने के लिए हमारे पास आये हैं। इस समय कौरव भारी संकट में पड़ गये हैं, फिर तुम ऐसी कड़वी बातें क्यों बोल रहे हो ?"

भवन्ति भेदा ज्ञातीनां कलहाश्च वृकोदर ।
प्रसक्तानि च वैराणि कुलधर्मो न नश्यति ॥२॥

हे भीम ! भाई-बन्धुओं में मतभेद और लड़ाई-झगड़े होते ही रहते हैं। कभी-कभी उनमें वैर भी बँध जाते हैं परन्तु इससे कुलधर्म (अपनापन) नष्ट नहीं होता।

यदा तु कश्चिज्ज्ञातीनां बाह्यः प्रार्थयते कुलम् ।
न मर्षयन्ति तत् सन्तो बाह्येनाभिप्रधर्षणम् ॥३॥

जब कोई बाहर का मनुष्य उनके कुल पर आक्रमण करता है, तब श्रेष्ठ पुरुष उस बाहरी व्यक्ति द्वारा होनेवाले अपने कुल के अपमान को सहन नहीं करते।

परैः परिभवे प्राप्ते वयं पञ्चोत्तरं शतम् ।
परस्परं विरोधे तु वयं पञ्च शतं च ते ॥४॥

दूसरों के द्वारा पराभव प्राप्त होने पर उसका सामना करने के लिए हम एकसौ पाँच हैं और आपस में विरोध होने पर हम पाँच हैं और वे सौ हैं।

दुर्योधनस्य ग्रहणाद् गन्धर्वेण बलात् प्रभो ।
स्त्रीणां बाह्याभिमर्शाच्च हतं भवति नः कुलम् ॥५॥

हे बलशाली भीम ! गन्धर्व के द्वारा बलपूर्वक दुर्योधन के पकड़े जाने से और बाहरी पुरुष द्वारा कुरुकुल की स्त्रियों का अपहरण होने से हमारे कुल का जो तिरस्कार हुआ है, वह हमारे कुल के लिए मृत्यु के तुल्य है।

शरणं हि प्रपन्नानां त्राणार्थं च कुलस्य नः ।
उत्तिष्ठत नरव्याघ्राः सज्जीभवत मा चिरम् ॥६॥

हे नरश्रेष्ठो ! शरणागतों की रक्षा करने और कुल की लाज बचाने के लिए तुम लोग शीघ्र उठो और युद्ध के लिए तैयार हो जाओ, विलम्ब न करो।

अर्जुनश्च यमौ चैव त्वं च वीरापराजितः ।
मोक्षयध्वं नरव्याघ्रा ह्रियमाणं सुयोधनम् ॥७॥

हे वीर ! अर्जुन, नकुल, सहदेव और तुम किसी से परास्त होनेवाले नहीं हो। शूरवीरो ! गन्धर्वों द्वारा अपहृत होनेवाले दुर्योधन को छुड़ा लाओ।

एते रथा नरव्याघ्राः सर्वशस्त्रसमन्विताः ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां विमलाः काञ्चनध्वजाः ॥८॥
एतानास्थाय वै तात गन्धर्वान् योद्धुमाहवे ।
सुयोधनस्य मोक्षाय प्रयतध्वमतन्द्रिताः ॥९॥

नरसिंहो ! कौरवों के ये सुनहरी ध्वजाओंवाले उत्तम रथ सामने खड़े हैं। इनमें सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्र विद्यमान हैं। तात ! तुम लोग इन रथों पर सवार हो गन्धर्वों से युद्ध करने के लिए तैयार हो जाओ और सावधान होकर दुर्योधन को छुड़ाने का प्रयत्न करो।

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च पाण्डवाः ।
शत्रोश्च मोक्षणं क्लेशात् त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥१०

हे पाण्डवो ! वरदान, राज्यप्रदान और पुत्र की प्राप्ति, ये तीनों बातें एक ओर और शत्रु का संकट से उद्धार करना दूसरी ओर—इनकी तुलना करें तो ये एक समान हैं।

किं चाप्यधिकमेतस्माद् यदापन्नः सुयोधनः ।
त्वद्बाहुबलमाश्रित्य जीवितं परिमार्गते ॥११॥

तुम्हारे लिए इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात और क्या होगी कि दुर्योधन विपत्ति में पड़कर तुम्हारे बाहुबल के भरोसे अपने जीवन की रक्षा करना चाहता है ?

साम्नैव तु यथा भीम मोक्षयेथाः सुयोधनम् ।
तथा सर्वैरुपायैस्त्वं यतेथाः कुरुनन्दन ॥१२॥

हे कुरुनन्दन भीम ! शान्तिपूर्ण ढंग से समझा-

बुझाकर जिस प्रकार भी तुम दुर्योधन को छुड़ा सको, सभी उपायों से वैसा ही प्रयत्न करना।

न साम्ना प्रतिपद्येत यदि गन्धर्वराडसौ।
पराक्रमेण मृदुना मोक्षयेथाः सुयोधनम् ॥१३॥

यदि समझाने-बुझाने से वह गन्धर्वराज चित्रसेन तुम्हारी बात न माने तो कोमलतापूर्ण पराक्रम द्वारा दुर्योधन को छुड़ाने का यत्न करना।

अथासौ मृदुयुद्धेन न मुञ्चेद् भीम कौरवान्।
सर्वोपायैर्विमोच्यास्ते निगृह्य परिपन्थिनः ॥१४॥

भीम! यदि कोमलतापूर्ण युद्ध से भी वह कौरवों को न छोड़े तो तुम सभी उपायों से उन लुटेरे गन्धर्वों को कैद करके कौरवों को छुड़वाना।

वैशम्पायन उवाच

अजातशत्रोर्वचनं तत् श्रुत्वा तु धनञ्जयः।
प्रतिजज्ञे गुरोर्वाक्यं कौरवाणां विमोक्षणम् ॥१५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अजातशत्रु युधिष्ठिर का वह वचन सुनकर अर्जुन ने अपने बड़े भाई की आज्ञा के अनुसार कौरवों को छुड़ाने की प्रतिज्ञा की।

अर्जुन उवाच

यदि साम्ना न मोक्ष्यन्ति गन्धर्वा धृतराष्ट्रजान्।
अद्य गन्धर्वराजस्य भूमिः पास्यति शोणितम् ॥१६॥

अर्जुन बोले—यदि गन्धर्व लोग समझाने-बुझाने से कौरवों को नहीं छोड़ेंगे, तो आज यह पृथिवी गन्धर्वराज का रक्तपान करेगी।

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्य तु तां श्रुत्वा प्रतिज्ञां सत्यवादिनः।
कौरवाणां तदा राजन् पुनः प्रत्यागतं मनः ॥१७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सत्यशील अर्जुन की वह प्रतिज्ञा सुनकर कौरवों के जी में जी आया।

अभेद्यानि ततः सर्वे समनह्यन्त भारत।
जाम्बूनदविचित्राणि कवचानि महारथाः ॥१८॥
आयुधानि च दिव्यानि विविधानि समादधुः।
रथानास्थाय शार्दूलाः शीघ्रमेव ययुस्ततः ॥१९॥

हे भारत! तदनन्तर उन समस्त महारथियों ने जाम्बूनद नामक सुवर्ण से विभूषित और विचित्र शोभा धारण करनेवाले अभेद्य कवच धारण किये, फिर नाना प्रकार के दिव्य आयुध हाथ में लिये और रथों पर आरूढ़ हो वे पाण्डव-श्रेष्ठ वहाँ से तुरन्त ही चल दिये।

प्रयातान्सहितान्दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रान्महारथान्।
जितकाशिनः खचरास्त्वरिताश्च महारथाः ॥२०॥
क्षणेनैव वने तस्मिन् समाजग्मुरभीतवत्।
न्यवर्तन्त ततः सर्वे गन्धर्वा जितकाशिनः ॥२१॥

महारथी पाण्डवों को एक साथ धावा बोलते देख विजयश्री से समलंकृत होनेवाले आकाशचारी महारथी गन्धर्व बड़ी उतावली के साथ क्षण-भर में उस वन के भीतर ऐसे एकत्र हो गये, मानो उन्हें किसी का भय न हो। फिर अपनी विजयश्री से आनन्दित होते हुए सारे गन्धर्व शत्रुओं का सामना करने के लिए लौट पड़े।

दृष्ट्वा रथगतान्वीरान्पाण्डवांश्चतुरो रणे।
व्यूढानीका व्यतिष्ठन्त गन्धमादनवासिनः ॥२२॥

चारों पाण्डवों को युद्ध के लिए उद्यत हो रथों पर बैठकर आते देख गन्धमादन-वासी गन्धर्व अपनी सेना की व्यूह-रचना करके खड़े हो गये।

ततस्तान् युधि दुर्धर्षान् सव्यसाची परन्तपः।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यमुवाच खचरान् रणे।
विसर्जयत राजानं भ्रातरं मे सुयोधनम् ॥२३॥

उन्हें व्यूह में खड़े देख शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुन ने उन रणदुर्जय आकाशचारी गन्धर्वों को समझाते हुए कहा—"तुम सब लोग मेरे भाई राजा दुर्योधन को छोड़ दो।"

एवमुक्तास्तु गन्धर्वाः पाण्डवेन यशस्विना।
उत्स्मयन्तस्तदा पार्थमिदं वचनमब्रुवन् ॥२४॥

यशस्वी पाण्डुनन्दन अर्जुन के ऐसा कहने पर गन्धर्वों ने मुस्कराकर उनसे इस प्रकार कहा—

एकस्यैव वयं तात कुर्याम वचनं भुवि।
यस्य शासनमाज्ञाय चरामो विगतज्वराः ॥२५॥
तेनैकेन यथाऽऽदिष्टं तथा वर्ताम भारत।
न शास्ता विद्यतेऽस्माकमन्यस्तस्मात्सुरेश्वरात् ॥२६॥

"तात! हम भूमण्डल में एक ही व्यक्ति की आज्ञा का पालन करते हैं। हे भारत! जिनके शासन को मानकर हम लोग निश्चिन्त हो सर्वत्र विचरते हैं,

हमारे उन्हीं एकमात्र स्वामी ने हमें जैसी आज्ञा दी, हम वैसा ही वर्ताव कर रहे हैं। इन देवेश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो हम लोगों पर शासन कर सके।"

एवमुक्तः स गन्धर्वैः कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः।
गन्धर्वान् पुनरेवेदं वचनं प्रत्यभाषत ॥२७॥

गन्धर्वों के ऐसा कहने पर कुन्तीनन्दन अर्जुन ने पुनः उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—

नैतद् गन्धर्वराजस्य युक्तं कर्म जुगुप्सितम्।
परदाराभिमर्शश्च मानुषैश्च समागमः ॥२८॥

"हे गन्धर्वो! परायी स्त्रियों का अपहरण और मनुष्यों के साथ युद्ध—ये घृणित कर्म गन्धर्वराज चित्रसेन को शोभा नहीं देते।

उत्सृज्यध्वं महावीर्यान् धृतराष्ट्रसुतानिमान्।
दारांश्चैषां विमुञ्चध्वं धर्मराजस्य शासनात् ॥२९॥

"अतः तुम लोग धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा से इन महापराक्रमशाली धृतराष्ट्र के पुत्रों तथा इनकी स्त्रियों को छोड़ दो।

यदि साम्ना न मोक्षध्वं गन्धर्वा धृतराष्ट्रजान्।
मोक्षयिष्यामि विक्रम्य स्वयमेव सुयोधनम् ॥३०॥

"गन्धर्वो! यदि इस प्रकार समझाने-बुझाने से भी तुम लोग धृतराष्ट्र के पुत्रों को नहीं छोड़ोगे तो मैं अपने पराक्रम से भी दुर्योधन को छुड़ा लूंगा।"

ततः सुतुमुलं युद्धं गन्धर्वाणां तरस्विनाम्।
बभूव भीमवेगानां पाण्डवानं च भारत ॥३१॥

हे भारत! तदनन्तर बलशाली गन्धर्वों तथा भयानक वेगवाले पाण्डवों में अत्यन्त भयंकर युद्ध आरम्भ हो गया।

अभिक्रुद्धानभिक्रुद्धो गन्धर्वानर्जुनस्तदा।
लक्षयित्वाथ दिव्यानि महास्त्राण्युपचक्रमे ॥३२॥

उस समय गन्धर्वों को क्रोध में भरे हुए देखकर अर्जुन ने भी कुपित होकर महान् दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया।

तथा भीमो महेष्वासः संयुगे बलिनां वरः।
गन्धर्वाञ्छतशो राजञ्जघान निशितैः शरैः ॥३३॥

राजन्! इसी प्रकार बलवानों में श्रेष्ठ महाधनुर्धर भीमसेन ने भी अपने तीक्ष्ण सायकों द्वारा सैकड़ों गन्धर्वों को भूमि पर सुला दिया।

माद्रीपुत्रावपि तथा युध्यमानौ बलोत्कटौ।
परिगृह्याग्रतो राजञ्जघ्नतुः शतशः परान् ॥३४॥

उत्कट बलशाली माद्रीपुत्र नकुल और सहदेव ने भी युद्ध में तत्पर होकर सैकड़ों शत्रुओं को आगे से पकड़कर मार डाला।

ते वध्यमाना गन्धर्वा दिव्यैरस्त्रैर्महारथैः।
उत्पेतुः खमुपादाय धृतराष्ट्रसुतांस्ततः ॥३५॥

महारथी पाण्डवों के चलाये दिव्यास्त्रों की मार खाकर गन्धर्व धृतराष्ट्र के पुत्रों को लिये हुए आकाश में उड़ गये।

स तानुत्पतितान् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः।
महता शरजालेन समन्तात् पर्यवारयत् ॥३६॥

कुन्तीनन्दन अर्जुन ने उन्हें आकाश में उड़ते देख चारों ओर बाणों का विस्तृत जाल-सा फैलाकर गन्धर्वों को घेरे में डाल दिया।

ते बद्धाः शरजालेन शकुन्ता इव पञ्जरे।
ववर्षुरर्जुनं क्रोधाद् गदाशक्त्यृष्टिवृष्टिभिः ॥३७॥

वे उस जाल में ऐसे बँध गये जैसे पिंजरे में पक्षी, अतः वे अत्यन्त क्रुद्ध हो अर्जुन पर गदा, शक्ति और ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करने लगे।

तेषां तु शरवर्षाणि सव्यसाची परन्तपः।
अस्त्रैः संवार्य तेजस्वी गन्धर्वान् प्रत्यविध्यत ॥३८॥

शत्रुओं को तपानेवाले तेजस्वी अर्जुन ने अपने अस्त्रों द्वारा गन्धर्वों की बाणवर्षा को रोककर उन्हें फिर से घायल कर दिया।

ते दह्यमाना गन्धर्वाः कुन्तीपुत्रस्य सायकैः।
दैतेया इव शक्रेण विषादमगमन् परम् ॥३९॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन के सायकों से वे गन्धर्व उसी प्रकार दग्ध होने लगे जैसे इन्द्र के बाणों द्वारा दैत्य। इससे उनको बड़ा विषाद हुआ।

गन्धर्वांस्त्रासितान् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रेण भारत।
चित्रसेनो गदां गृह्य सव्यसाचिनमाद्रवत् ॥४०॥

हे भारत! इस प्रकार कुन्तीकुमार के द्वारा गन्धर्वों को भयभीत हुआ देख गन्धर्वराज चित्रसेन ने गदा हाथ में लेकर सव्यसाची अर्जुन पर आक्रमण किया।

तस्याभिपततस्तूर्णं गदाहस्तस्य संयुगे ।
गदां सर्वायसीं पार्थः शरैश्चिच्छेद सप्तधा ।।४१।।

गदा हाथ में लिये बड़े वेग से युद्ध के लिए आते हुए चित्रसेन की उस गदा के, जो सारी लोहे की बनी हुई थी, अर्जुन ने अपने बाणों द्वारा सात टुकड़े कर दिये।

स गदां बहुधा दृष्ट्वा कृत्तां बाणैस्तरस्विना ।
संवृत्य विद्ययाऽऽत्मानं योधयामास पाण्डवम् ।।४२।।

वेगशाली अर्जुन के द्वारा अपनी गदा के अनेक टुकड़े हुए देख चित्रसेन अन्तर्धान विद्या द्वारा अपने आपको छिपाकर उन पाण्डुपुत्रों के साथ युद्ध करने लगा।

अन्तर्धानवधं चास्य चक्रे क्रुद्धोऽर्जुनस्तदा ।
शब्दवेधं समाश्रित्य बहुरूपो धनञ्जयः ।।४३।।

तब अर्जुन ने कुपित होकर शब्दवेध का सहारा ले चित्रसेन की अन्तर्धानरूप-माया को भी नष्ट कर दिया। [रणभूमि में चहुँ ओर विचरण करने के कारण] उस समय अर्जुन अनेक रूप धारण किये हुए से जान पड़ते थे।

स वध्यमानस्तैरस्त्रैरर्जुनेन महात्मना ।
ततोऽस्य दर्शयामास तदाऽऽत्मानं प्रियः सखा ।।४४।।

चित्रसेन अर्जुन के प्यारे सखा थे। उन्होंने महात्मा अर्जुन के बाणों से अत्यन्त घायल होने पर अपने आपको उनके समक्ष प्रकट कर दिया।

चित्रसेनमथालक्ष्य सखायं युधि दुर्बलम् ।
संजहारास्त्रमथ तत् प्रसृष्टं पाण्डवर्षभः ।।४५।।

अपने मित्र चित्रसेन को युद्ध में अत्यन्त घायल और दुर्बल हुआ देख पाण्डवप्रवर अर्जुन ने अपने धनुष पर चढ़ाये हुए उस दिव्यास्त्र को उतार लिया।

ततोऽर्जुनश्चित्रसेनं प्रहसन्निदमब्रवीत् ।
मध्ये गन्धर्वसैन्यानां महेष्वासो महाद्युतिः ।।४६।।
किं ते व्यवसितं वीर कौरवाणां विनिग्रहे ।
किमर्थं च सदारोऽयं निगृहीतः सुयोधनः ।।४७।।

तत्पश्चात् परम कान्तिमान् महाधनुर्धर अर्जुन ने गन्धर्वों की सेना के बीच चित्रसेन से हँसते हुए पूछा—"वीर ! कौरवों को वन्दी बनाने में तुम्हारा क्या उद्देश्य था ? स्त्रियोंसहित दुर्योधन को किस लिए कैद किया है ?"

चित्रसेन उवाच

वनस्थान् भवतो ज्ञात्वा क्लिश्यमानाननाथवत् ।
इमेऽवहसितुं प्राप्ता द्रौपदीं च यशस्विनीम् ।।४८।।
ज्ञात्वा चिकीर्षितं चैषां ततोऽस्मीहागतो द्रुतम् ।
अयं दुरात्मा बद्धश्च गमिष्यामि सुरालयम् ।।४९।।

चित्रसेन ने कहा—धनंजय ! ये पापात्मा आप लोगों को वन में रहकर अनाथों की भाँति क्लेश उठाते देख आपकी और यशस्विनी द्रौपदी की हँसी उड़ाने के लिए वन में आये थे। इनकी आप लोगों का अनिष्ट करने की इच्छा को जानकर मैं तुरन्त यहाँ चला आया। यह दुष्ट दुर्योधन मेरी कैद में आ गया है, अब मैं इसे लेकर देवलोक में जाऊँगा।

अर्जुन उवाच

उत्सृज्यतां चित्रसेन भ्रातास्माकं सुयोधनः ।
धर्मराजस्य सन्देशान्मम चेदिच्छसि प्रियम् ।।५०।।

अर्जुन बोले—चित्रसेन ! दुर्योधन हम लोगों का भाई है। यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो, तो धर्मराज की आज्ञा से इसे छोड़ दो।

चित्रसेन उवाच

पापोऽयं नित्यसन्तुष्टो न विमोक्षणमर्हति ।
प्रलब्धा धर्मराजस्य कृष्णायाश्च धनञ्जय ।।५१।।

चित्रसेन ने कहा—धनञ्जय ! यह पापी सदा राज्य-सुख भोगने के कारण हर्ष से मतवाला हो उठा है, अतः इसे छोड़ना उचित नहीं है। इसने धर्मराज युधिष्ठिर तथा द्रौपदी को धोखा दिया है।

नेदं चिकीर्षितं तस्य कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
जानाति धर्मराजो हि श्रुत्वा कुरु यथेच्छसि ।।५२।।

कुन्तीनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर इसके इस कुटिल अभिप्राय को नहीं जानते हैं, अतः यह सब सुनकर तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो।

वैशम्पायन उवाच

ते सर्व एव राजानमभिजग्मुर्युधिष्ठिरम् ।
अभिगम्य च तत्सर्वं शशंसुस्तस्य चेष्टितम् ।।५३।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तत्पश्चात् वे सब लोग राजा युधिष्ठिर के पास गये। वहाँ जाकर

गन्धर्वों ने दुर्योधन की सारी कुचेष्टा कह सुनाई।

अजातशत्रुस्तत् श्रुत्वा गन्धर्वस्य वचस्तदा।
मोक्षयामास तान् सर्वान्गन्धर्वान् प्रशशंस च ॥५४॥

अजातशत्रु युधिष्ठिर ने गन्धर्वों का वह कथन सुनकर भी उस समय समस्त कौरवों को छुड़वा दिया और गन्धर्वों की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

ततो दुर्योधनं मुक्तं भ्रातृभिः सहितस्तदा।
युधिष्ठिरस्तु प्रणयादिदं वचनमब्रवीत् ॥५५॥

फिर बन्धनमुक्त हुए दुर्योधन से भाइयोंसहित युधिष्ठिर ने प्रेमपूर्वक यह कहा—

मा स्म तात पुनः कार्षीरीदृशं साहसं क्वचित्।
न हि साहसकर्तारः सुखमेधन्ति भारत ॥५६॥

"तात ! फिर कभी ऐसा दुःसाहस मत करना। हे भारत ! दुःसाहस करनेवाले मनुष्य कभी सुखी नहीं होते।

स्वस्तिमान् सहितः सर्वैर्भ्रातृभिः कुरुनन्दन।
गृहान् व्रज यथाकामं वैमनस्यं च मा कृथाः ॥५७॥

"कुरुनन्दन ! अब तुम अपने सभी भाइयोंसहित कुशलपूर्वक इच्छानुसार घर जाओ। हम लोगों के प्रति मन में वैमनस्य मत रखना।"

पाण्डवेनाभ्यनुज्ञातो राजा दुर्योधनस्तदा।
विदीर्यमाणो व्रीडावाञ्जगाम नगरं प्रति ॥५८॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर राजा दुर्योधन ने अपने नगर की ओर प्रस्थान किया। उस समय उसका हृदय व्यथा से विदीर्ण हो रहा था और वह अपने कुकृत्य पर अत्यन्त लज्जित था।

तस्मिन् गते कौरवेये कुन्तीपुत्रोऽब्रवीदिदम्।
साष्टमासं हि नो वर्षं यदेतद्रुपयुङ्क्ष्महे ॥५९॥

दुर्योधन के चले जाने पर युधिष्ठिर ने कहा—अब तक हम लोगों को इस द्वैतवन में रहते हुए एक वर्ष और आठ मास व्यतीत हो चुके हैं।

पुनर्बहुमृगं रम्यं काम्यकं काननोत्तमम्।
मरुभूमेः शिरःस्थानं तृणविन्दुसरः प्रति ॥६०॥
तत्रेमां वसतिं शिष्टां विहरन्तो रमेमहि।
ततस्ते पाण्डवाः शीघ्रं प्रययुर्धर्मकोविदाः ॥६१॥

अतः अब हम पुनः असंख्य मृगों से युक्त, रमणीक तथा उत्तम काम्यक वन में तृणविन्दु नामक सरोवर के पास चलें। काम्यक वन मरुभूमि के शीर्ष-स्थान में पड़ता है। वहीं विहार करते हुए हम वनवास का शेष समय व्यतीत करेंगे। धर्मराज के ऐसा कहने पर धर्मज्ञ पाण्डवों ने शीघ्र ही उस वन से प्रस्थान कर दिया।

विविशुस्ते स्म कौरव्या वृता विप्रर्षभैस्तदा।
तद्वनं भरतश्रेष्ठाः स्वर्गं सुकृतिनो यथा ॥६२॥

जैसे पुण्यात्मा पुरुष स्वर्ग में जाते हैं, वैसे ही उन भरतश्रेष्ठ पाण्डवों ने श्रेष्ठ ब्राह्मणों के साथ काम्यक वन में प्रवेश किया।

इति महाभारते वनपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

दुर्योधन की ग्लानि, आमरण अनशन का निश्चय, कर्ण और दुःशासन के समझाने पर नगर को लौटना

जनमेजय उवाच

शत्रुभिर्जितबद्धस्य पाण्डवैश्च महात्मभिः।
मोक्षितस्य युधा पश्चान्मानिनः सुदुरात्मनः ॥१॥
दुर्योधनस्य पापस्य नित्याहङ्कारवादिनः।
प्रवेशो हास्तिनपुरे दुष्करः प्रतिभाति मे ॥२॥
तस्य लज्जान्वितस्यैव शोकव्याकुलचेतसः।
प्रवेशं विस्तरेण त्वं वैशम्पायन कीर्तय ॥३॥

जनमेजय ने पूछा—हे मुने ! दुर्योधन को शत्रुओं ने जीता और बाँध लिया फिर महात्मा पाण्डवों ने गन्धर्वों के साथ युद्ध करके उसे छुड़वाया। ऐसी अवस्था में उस अभिमानी और दुरात्मा दुर्योधन का हस्तिनापुर में प्रवेश करना मुझे तो अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। पापी दुर्योधन सदा अहंकार की ही बातें करता था। पाण्डवों की सहायता से मेरे जीवन की रक्षा हुई, यह सोचकर वह लज्जित हो गया होगा, उसका हृदय शोक से व्याकुल हो उठा होगा।

वैशम्पायनजी ! ऐसी दशा में उसने अपनी राजधानी में कैसे प्रवेश किया ? आप यह सब विस्तारपूर्वक कहिए।

वैशम्पायन उवाच

धर्मराजनिसृष्टस्तु धार्तराष्ट्रः सुयोधनः।
लज्जयाधोमुखः सीदन्नुपासर्पत् सुदुःखितः ॥४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धर्मराज से विदा होकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन लज्जा से मुख नीचा किये अत्यन्त दुःखी और खिन्न होकर वहाँ से चल दिया।

स्वपुरं प्रययौ राजा चतुरङ्गबलानुगः।
शोकोपहतया बुद्धया चिन्तयानः पराभवम् ॥५॥

शोक के कारण उसकी बुद्धि मारी गई थी। वह अपने अपमान पर विचार करता हुआ चतुरङ्गिणी सेना के साथ नगर की ओर चल पड़ा।

विमुच्य पथि यानानि देशे सुयवसोदके।
संनिविष्टः शुभे रम्ये भूमिभागे यथेप्सितम् ॥६॥

मार्ग में एक स्थान पर जहाँ घास और जल की सुविधा थी, दुर्योधन अपने वाहनों को वहीं छोड़कर एक सुन्दर एवं रमणीक भूमि-भाग में अपनी रुचि के अनुसार ठहर गया।

अथोपविष्टं राजानं पर्यङ्के ज्वलनप्रभे।
उपागम्याब्रवीत् कर्णो दुर्योधनमिदं तदा ॥७॥

जब राजा दुर्योधन अग्नि के समान देदीप्यमान सोने के पलंग पर बैठ गया, तब कर्ण ने उसके पास जाकर इस प्रकार कहा—

दिष्टया जीवसि गान्धारे दिष्टया नः संगमः पुनः।
दिष्टया त्वया जिताश्चैव गन्धर्वाः कामरूपिणः ॥८॥

"गान्धारीनन्दन ! बड़े सौभाग्य की बात है कि तुम जीवित हो। सौभाग्यवश हम लोग पुनः एक-दूसरे से मिल गये। यह और भी सौभाग्य और प्रसन्नता की बात है कि आपने इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले गन्धर्वों पर विजय पायी।

अहं त्वभिद्रुतः सर्वैर्गन्धर्वैः पश्यतस्तव।
नाशक्नुवं स्थापयितुं दीर्यमाणां च वाहिनीम् ॥९॥

"मैं तो तुम्हारे देखते-देखते ही समस्त गन्धर्वों से पराजित होकर भाग आया था। मैं तितर-बितर होकर भागती हुई सेना को स्थिर न रख सका।

नैतस्य कर्ता लोकेऽस्मिन् पुमान् भारत विद्यते।
यत् कृतं ते महाराज सह भ्रातृभिराहवे ॥१०॥

"भरतनन्दन महाराज ! इस युद्ध में भाइयोंसहित आपने जो पराक्रम कर दिखाया है, उसे करनेवाला कोई दूसरा पुरुष इस संसार में नहीं है।"

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा।
उवाचावाक्शिरा राजन् बाष्पगद्गदया गिरा ॥११॥

राजन् ! कर्ण के ऐसा कहने पर उस समय राजा दुर्योधन ने नीचे सिर किये हुए अश्रुगद्गद वाणी में इस प्रकार कहा—

दुर्योधन उवाच

अजानतस्ते राधेय नाभ्यसूयाम्यहं वचः।
जानासि त्वं जिताञ्छत्रून् गन्धर्वांस्तेजसा मया ॥१२॥

दुर्योधन बोला—राधानन्दन ! तुम सब बातें नहीं जानते हो, इसी से मैं तुम्हारे कथन का बुरा नहीं मानता। तुम समझते हो कि मैंने अपने पराक्रम से गन्धर्वरूपी शत्रुओं को जीता है, परन्तु ऐसी बात है नहीं।

आयोधितास्तु गन्धर्वाः सुचिरं सोदरैर्मम।
मया सह महाबाहो कृतश्चोभयतः क्षयः ॥१३॥

महाबाहो ! मेरे भाइयों ने मेरे साथ रहकर बहुत देर तक युद्ध किया और उसमें दोनों ओर के बहुत-से सैनिक मारे गये।

मायाधिकास्त्वयुध्यन्त यदा शूरा वियद्गताः।
तदा नो न समं युद्धमभवत् खेचरैः सह ॥१४॥

परन्तु जब माया के कारण अधिक शक्तिशाली शूरवीर गन्धर्व आकाश में ठहरकर युद्ध करने लगे, तब उनके साथ हमारा युद्ध समान स्थिति में नहीं रह सका।

पराजयं च प्राप्ताः स्म रणे बन्धनमेव च।
सभृत्यामात्यपुत्राश्च सदारबलवाहनाः ॥१५॥

युद्ध में हमारी पराजय हुई तथा हम सेवक, मन्त्री, पुत्र, स्त्री, सेना और सवारियोंसहित वन्दी बना लिये गये।

अथ नः सैनिकाः केचिदमात्याश्च महारथाः।
उपगम्याब्रुवन् दीनाः पाण्डवाञ्छरणप्रदान् ॥१६॥

तब हमारे कुछ सैनिकों, महारथियों और मन्त्रियों ने अत्यन्त दीन हो शरणदाता पाण्डवों के पास जाकर कहा—

एष दुर्योधनो राजा धार्तराष्ट्रः सहानुजः ।
सामात्यदारो ह्रियते गन्धर्वैर्दिवमाश्रितैः ॥१७॥

हे कुन्तीपुत्रो ! धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन अपने भाइयों, मन्त्रियों और स्त्रियों के साथ गन्धर्वों द्वारा अपहृत होकर आकाशमार्ग द्वारा ले जाए जा रहे हैं।

तं मोक्षयत भद्रं वः सहदारं नराधिपम् ।
पराभवो मा भविष्यत् कुरुदारेषु सर्वशः ॥१८॥

आप लोगों का कल्याण हो। आप रानियोंसहित महाराज दुर्योधन को छुड़ाइए। कहीं ऐसा न हो कि कुरुकुल की स्त्रियों का तिरस्कार हो जाए।

एवमुक्ते तु धर्मात्मा ज्येष्ठः पाण्डुसुतस्तदा ।
प्रसाद्य पाण्डवान् सर्वानाज्ञापयत मोक्षणे ॥१९॥

उनके ऐसा कहने पर ज्येष्ठ पाण्डुपुत्र धर्मात्मा युधिष्ठिर ने अन्य सब पाण्डवों को प्रसन्न करके हम सब लोगों को छुड़ाने के लिए आज्ञा दी।

अथागम्य तमुद्देशं पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ।
सान्त्वपूर्वमयाचन्त शक्ताः सन्तो महारथाः ॥२०॥

तब पुरुषसिंह महारथी पाण्डव उस स्थान पर आकर समर्थ होते हुए भी गन्धर्वों से सान्त्वनापूर्ण शब्दों में हमें छोड़ देने के लिए याचना करने लगे।

यदा चास्मान्न मुमुचुर्गन्धर्वाः सान्त्विता अपि ।
ततोऽर्जुनश्च भीमश्च यमजौ च बलोत्कटौ ।
मुमुचुः शरवर्षाणि गन्धर्वान् प्रत्यनेकशः ॥२१॥

उनके समझाने-बुझाने पर भी जब गन्धर्वों ने हमें नहीं छोड़ा तब अर्जुन, भीम तथा उत्कट बलशाली नकुल-सहदेव ने उन गन्धर्वों को लक्ष्य करके बाणों की वर्षा आरम्भ कर दी।

अथ सर्वे रणं मुक्त्वा प्रयाताः खेचरा दिवम् ।
ततः समन्तात् पश्यामः शरजालेन वेष्टितम् ॥२२॥

फिर तो सारे गन्धर्व रणभूमि छोड़कर आकाश में उड़ गये। इसी समय हमने देखा कि चारों ओर बाणों का एक जाल-सा तन गया है।

समावृता दिशो दृष्ट्वा पाण्डवेन शितैः शरैः ।
धनञ्जयसखाऽऽत्मानं दर्शयामास वै तदा ॥२३॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन ने अपने तीखे बाणों से समस्त दिशाओं को ढँक दिया है—यह देखकर उनके सखा चित्रसेन ने अपने आपको उनके सामने प्रकट कर दिया।

चित्रसेनं समागम्य प्रहसन्नर्जुनस्तदा ।
इदं वचनमक्लीबमब्रवीत् परवीरहा ॥२४॥

कर्ण ! चित्रसेन से मिलकर उस समय शत्रु-संहारक अर्जुन ने हँसते हुए-से यह वीरोचित वचन कहा—

भ्रातॄनर्हसि मे वीर मोक्तुं गन्धर्वसत्तम ।
अनर्हधर्षणा ह्येमे जीवमानेषु पाण्डुषु ॥२५॥

"वीर गन्धर्वश्रेष्ठ ! तुम्हें मेरे इन भाइयों को मुक्त कर देना चाहिए। पाण्डवों के जीते-जी ये इस प्रकार अपमान सहन करने के योग्य नहीं हैं।"

एवमुक्तस्तु गन्धर्वः पाण्डवेन महात्मना ।
उवाच यत् कर्ण वयं मन्त्रयन्तो विनिर्गताः ।
द्रष्टारः स्म सुखाद्धीनान् सदारान् पाण्डवानिति ॥२६

कर्ण ! महात्मा पाण्डुनन्दन अर्जुन के ऐसा कहने पर गन्धर्व ने वह बात कह दी, जिसके लिए परामर्श करके हम लोग घर से चले थे। उसने बताया कि—'ये कौरव सुख से वञ्चित तुम पाण्डवों तथा द्रौपदी की दुर्दशा देखने के लिए आये थे।'

तस्मिन्नुच्चार्यमाणे तु गन्धर्वेण वचस्यथ ।
भूमेर्विवरमन्वैच्छं प्रवेष्टुं व्रीडयान्वितः ॥२७॥

गन्धर्व द्वारा उपर्युक्त बात कही जाने पर मैं अत्यन्त लज्जित हो गया। मेरी इच्छा हुई कि धरती फटे और मैं उसमें समा जाऊँ।

युधिष्ठिरमथागम्य गन्धर्वाः सह पाण्डवैः ।
अस्मद्दुर्मन्त्रितं तस्मै बद्धाँश्चास्मान् न्यवेदयन् ॥२८॥

तत्पश्चात् गन्धर्वों ने पाण्डवों के साथ युधिष्ठिर के पास आकर हम लोगों की दुर्मन्त्रणा उन्हें बताई और हमें उन्हें सौंप दिया। उस समय हम सब लोग बँधे हुए थे।

स्त्रीसमक्षमहं दीनो बद्धः शत्रुवशं गतः ।
युधिष्ठिरायोपहृतः किं नु दुःखमतः परम् ॥२९॥

स्त्रियों के सामने मैं दीनभाव से बँधकर शत्रुओं के वश में पड़ गया और उसी अवस्था में युधिष्ठिर

को अर्पित किया गया। मेरे लिए इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या हो सकती है ?

ये मे निराकृता नित्यं रिपुर्येषामहं सदा।
तैर्मोक्षितोऽहं दुर्बुद्धिर्दत्तं तैरेव जीवितम् ॥३०॥

जिनका मैंने सदा अपमान किया और जिनका मैं सदा शत्रु बना रहा, उन्हीं लोगों ने मुझ दुर्बुद्धि को शत्रुओं के बन्धन से छुड़ाया और उन्होंने ही मुझे जीवन प्रदान किया है।

प्राप्तः स्यां यद्यहं वीर वधं तस्मिन् महारणे।
श्रेयस्तद् भविता मह्यं नैवंभूतस्य जीवितम् ॥३१॥

हे वीर ! यदि मैं उस युद्ध में मारा जाता तो यह मेरे लिए कल्याणकारी होता, परन्तु इस अवस्था में जीवित रहना मेरे लिए कदापि अच्छा नहीं है।

यत् त्वद्य मे व्यवसितं तच्छृणुध्वं नरर्षभाः।
इह प्रायमुपासिष्ये यूयं व्रजत वै गृहान् ॥३२॥

नरश्रेष्ठ वीरो ! अब मैंने जो निश्चय किया है, उसे सुनो। मैं यहाँ आमरण अनशन करूँगा। तुम सब लोग घर लौट जाओ।

भ्रातरश्चैव मे सर्वे सुहृदो बान्धवाश्च ये।
दुःशासनं पुरस्कृत्य प्रयान्त्वद्य पुरं प्रति ॥३३॥

मेरे सब भाई, मेरे मित्र और बान्धवगण भी दुःशासन को आगे करके आज ही हस्तिनापुर को लौट जाएँ।

भीष्मद्रोणौ कृपद्रौणी ये चान्ये वृद्धसम्मताः।
किं मां वक्ष्यन्ति किं चापि प्रतिवक्ष्यामि तानहम् ॥३४

भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा तथा अन्य जो सम्मानित वृद्धजन हैं वे मुझे क्या कहेंगे और मैं उन्हें क्या उत्तर दूंगा ?

रिपूणां शिरसि स्थित्वा तथा विक्रम्य चोरसि।
आत्मदोषात् परिभ्रष्टः कथं वक्ष्यामि तानहम् ॥३५॥

मैं पराक्रम करके शत्रुओं के मस्तक और छाती पर खड़ा हो गया था, परन्तु अब अपने ही दोष से नीचे गिर गया। ऐसी अवस्था में उन आदरणीय महानुभावों से मैं कैसे वार्तालाप करूँगा ?

दुर्विनीताः श्रियं प्राप्य विद्यामैश्वर्यमेव च।□
तिष्ठन्ति न चिरं भद्रे यथाहं मदगर्वितः ॥३६॥

उद्दण्ड मनुष्य लक्ष्मी, विद्या और ऐश्वर्य पाकर भी दीर्घकाल तक कल्याणमय पद पर प्रतिष्ठित नहीं रह सकते, जैसे मैं मिथ्या अहंकार के मद में चूर होकर अपनी प्रतिष्ठा खो बैठा हूँ।

अहो नाहमिदं कर्म कष्टं दुश्चरितं कृतम्।
स्वयं दुर्बुद्धिना मोहाद् येन प्राप्तोऽस्मि संशयम् ॥३७॥

अहो ! यह कुकर्म मेरे योग्य नहीं था। मुझ दुर्बुद्धि ने स्वयं ही मोहवश यह दुःखदायक दुष्कर्म कर डाला, जिससे [बन्दी होने के कारण] मेरा जीवन संदिग्ध हो गया।

तस्मात्प्रायमुपासिष्ये न हि शक्ष्यामि जीवितुम्।
चेतयानो हि को जीवेत् कृच्छ्राच्छत्रुभिरुद्धृतः ॥३८

अतः अब मैं आमरण उपवास करूँगा। अब मैं जीवित नहीं रह सकूँगा। जिसका शत्रुओं ने संकट से उद्धार किया हो, ऐसा कौन विचारशील मनुष्य जीवित रहना चाहेगा ?

शत्रुभिश्चोपहसितो मानी पौरुषवर्जितः।
पाण्डवैर्विक्रमाढ्यैश्च सावमानमवेक्षितः ॥३९॥

शत्रुओं ने मेरा उपहास किया है। मुझे अपने पौरुष का अभिमान था परन्तु यहाँ मैं कुछ भी पुरुषार्थ न दिखा सका। पराक्रमी पाण्डवों ने मुझे अवहेलना-पूर्ण दृष्टि से देखा है, अतः मुझे जीवन से वैराग्य हो गया है।

वैशम्पायन उवाच

एवं चिन्तापरिगतो दुःशासनमथाब्रवीत्।
दुःशासन निबोधेदं वचनं मम भारत ॥४०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार चिन्तामग्न हुए दुर्योधन ने दुःशासन से कहा—"दुःशासन ! मेरी यह बात सुनो।

प्रतीच्छ त्वं मया दत्तमभिषेकं नृपो भव।
प्रशाधि पृथिवीं स्फीतां कर्णसौबलपालिताम् ॥४१॥

"मैं तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूं। तुम मेरे द्वारा प्रदत्त इस राज्य को ग्रहण करो और राजा बनो। कर्ण और शकुनि की सहायता से सुरक्षित तथा धन-धान्य से समृद्ध इस पृथिवी का पालन करो।

ब्राह्मणेषु सदा वृत्तिं कुर्वीथाश्चाप्रमादतः।
बन्धूनां सुहृदां चैव भवेथास्त्वं गतिः सदा ॥४२॥

"तुम प्रमाद छोड़कर सदा ब्राह्मणों की जीविका

की व्यवस्था एवं रक्षा में सचेष्ट रहना तथा बन्धुओं और सुहृदों का सदा आदर करना।"

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा दीनो दुःशासनोऽब्रवीत्।
विदीर्येत् सकला भूमिर्द्यौश्चापि शकली भवेत्॥४३॥
रविरात्मप्रभां जह्यात् सोमः शीतांशुतां त्यजेत्।
वायुः शैघ्र्यमथो जह्याद्धिमवांश्च परिव्रजेत्॥४४॥
शुष्यात् तोयं समुद्रेषु वह्निरप्युष्णतां त्यजेत्।
न चाहं त्वदृते राजन् प्रशासेयं वसुन्धराम्॥४५॥

दुर्योधन की यह बात सुनकर दुःशासन ने दीन-भाव से कहा—"चाहे सारी पृथिवी फट जाए, आकाश के टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ, सूर्य अपनी प्रभा और चन्द्रमा अपनी शीतलता त्याग दें, वायु अपनी तीव्र गति छोड़ दे, हिमालय अपना स्थान छोड़कर विचलित हो जाए, समुद्र का जल सूख जाए और अग्नि अपनी उष्णता त्याग दे, परन्तु मैं आपके बिना इस पृथिवी का शासन नहीं करूँगा।

त्वमेव नः कुले राजा भविष्यति शतं समाः।
एवमुक्त्वा स राजानं सुस्वरं प्ररुरोद च॥४६॥

"भैया! आप ही हमारे कुल में सौ वर्ष तक राजा बने रहेंगे।" ऐसा कहकर दुःशासन फूट-फूटकर रोने लगा।

तथा तौ दुःखितौ दृष्ट्वा दुःशासनसुयोधनौ।
अभिगम्य व्यथाविष्टः कर्णस्तौ प्रत्यभाषत॥४७॥

दुःशासन और दुर्योधन को इस प्रकार दुःखी होते देखकर कर्ण के मन में बड़ी व्यथा हुई। उसने निकट जाकर उन दोनों से कहा—

कर्ण उवाच

विषीदथः किं कौरव्यौ बालिश्यात् प्राकृताविव।
न शोकः शोचमानस्य विनिवर्तेत कर्हिचित्॥४८॥

कर्ण बोला—कुरुकुलभूषणो! तुम दोनों गँवारों की भाँति नासमझी के कारण इतना विषाद क्यों कर रहे हो? शोक में डूबे रहने से किसी मनुष्य का शोक कभी दूर नहीं होता।

कर्तव्यं हि कृतं राजन् पाण्डवैस्तव मोक्षणम्।
नित्यमेव प्रियं कार्यं राज्ञो विषयवासिभिः॥४९॥

हे राजन्! पाण्डवों ने तुम्हें गन्धर्वों के हाथ से छुड़ाकर अपने कर्तव्य का ही पालन किया है। राजा के राज्य में रहनेवालों को सदा राजा का प्रिय करना चाहिए।

यद्येवं पाण्डवै राजन् भवद्विषयवासिभिः।
यदृच्छया मोक्षितोऽसि तत्र का परिदेवना॥५०॥

राजन्! यदि तुम्हारे राज्य में निवास करने-वाले पाण्डवों ने इसी नीति के अनुसार दैववश तुम्हें शत्रुओं के हाथों से छुड़ा दिया है, तो इसमें दुःखी होने की कौन-सी बात है?

शूराश्च बलवन्तश्च संयुगेष्वपलायिनः।
भवतस्ते सहाया वै प्रेष्यतां पूर्वमागताः॥५१॥

पाण्डव शौर्यसम्पन्न, बलवान् तथा युद्ध में पीठ न दिखानेवाले हैं। वे आपके दास तो पहले ही हो चुके थे, अतः उन्हें आपकी सहायता करनी ही चाहिए थी।

पाण्डवेयानि रत्नानि त्वमद्याप्युपभुञ्जसे।
सत्त्वस्थान् पाण्डवान् पश्य न ते प्रायमुपाविशन्।
उत्तिष्ठ राजन् भद्रं ते न चिरं कर्तुमर्हसि॥५२॥

पाण्डवों के पास जितने भी रत्न थे, उन सबका उपभोग आज तुम्हीं कर रहे हो, फिर भी देखो, पाण्डव कितने धैर्यवान् हैं कि उन्होंने कभी आमरण अनशन नहीं किया, अतः राजन्! उठो। तुम्हारा कल्याण हो। अब यहाँ अधिक विलम्ब नहीं करना चाहिए।

मद्वाक्यमेतद् राजेन्द्र यद्येवं न करिष्यसि।
स्थास्यामीह भवत्पादौ शुश्रूषन्नरिमर्दन॥५३॥

शत्रुओं का मान-मर्दन करनेवाले महाराज! यदि तुम मेरी यह बात नहीं मानोगे तो मैं भी तुम्हारे चरणों की सेवा करते हुए यहीं रहूँगा।

नोत्सहे जीवितुमहं त्वद्विहीनो नरर्षभ।
प्रायोपविष्टस्तु नृप राज्ञां हास्यो भविष्यसि॥५४॥

नरश्रेष्ठ! तुम से अलग होकर मैं जीवित नहीं रहना चाहता। हे राजन्! आमरण अनशन के लिए बैठ जाने पर तुम सब राजाओं के उपहास-पात्र हो जाओगे।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन राजा दुर्योधनस्तदा।
नैवोत्थातुं मनश्चक्रे स्वर्गाय कृतनिश्चयः॥५५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कर्ण के ऐसा कहने पर भी स्वर्गलोक में ही जाने का निश्चय

करनेवाले राजा दुर्योधन ने उस समय वहाँ से उठने का विचार नहीं किया।

प्रायोपविष्टं राजानं दुर्योधनममर्षणम्।
उवाच सान्त्वयन् राजञ्छकुनिः सौबलस्तदा ॥५६॥

राजन्! तदनन्तर अमर्ष (दुःख व क्रोधभरी आत्म-ग्लानि) में भरकर आमरण उपवास के लिए बैठे हुए उस राजा दुर्योधन को सान्त्वना देते हुए सुबलपुत्र शकुनि ने कहा—

शकुनिरुवाच

सम्यगुक्तं हि कर्णेन तत् श्रुतं कौरव त्वया।
मया हृतां श्रियं स्फीतां तां मोहाद् विजहासि किम्॥५७

शकुनि बोला—कुरुनन्दन! कर्ण ने अत्युत्तम बात कही है, वह तुमने सुन ही ली है। मैंने पाण्डवों से तुम्हारे लिए जिस वैभवपूर्ण राज्य-लक्ष्मी का अपहरण किया है, मोह-वश तुम उसे क्यों त्याग रहे हो?

त्वमल्पबुद्ध्या नृपते प्राणानुत्स्रष्टुमर्हसि।
अथवाप्यवगच्छामि न वृद्धाः सेवितास्त्वया ॥५८॥

नरेश्वर! तुम अपनी अल्प-बुद्धि के कारण ही आज प्राण त्यागने पर उतारू हो गये हो; अथवा मैं समझता हूँ कि तुमने कभी वृद्ध पुरुषों का संग नहीं किया है।

यः समुत्पतितं हर्षं दैन्यं वा न नियच्छति।
स नश्यति श्रियं प्राप्य पात्रमाममिवाम्भसि ॥५९॥

जो मनुष्य सहसा उत्पन्न हुए हर्ष अथवा शोक पर नियन्त्रण नहीं कर पाता, वह राज्य-लक्ष्मी को पाकर भी वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे मिट्टी का कच्चा बर्तन पानी में गल जाता है।

अतिभीरुमतिक्लीबं दीर्घसूत्रं प्रमादिनम्।
व्यसनाद् विषयाक्रान्तं न भजन्ति नृपं प्रजाः ॥६०॥

जो राजा अति डरपोक, अत्यन्त कायर, दीर्घ-सूत्री (आलसी), प्रमादी तथा दुर्व्यसनवश विषयों में फँसा होता है, उसे प्रजा अपना स्वामी स्वीकार नहीं करती।

सत्कृतस्य हि ते शोको विपरीते कथं भवेत्।
मा कृतं शोभनं पार्थैः शोकमालम्ब्य नाशय ॥६१॥

पाण्डवों ने तुम्हारा सत्कार किया है, तो भी तुम्हें शोक हो रहा है। यदि उन्होंने तुम्हारा तिरस्कार किया होता तो न जाने तुम्हारी क्या अवस्था होती। कुन्तीपुत्रों ने तुम्हारे साथ जो सद्व्यवहार किया है, तुम शोक का आश्रय लेकर उसे नष्ट मत करो।

यत्र हर्षस्त्वया कार्यः सत्कर्तव्याश्च पाण्डवाः।
तत्र शोचसि राजेन्द्र विपरीतमिदं तव ॥६२॥

हे राजन्! जहाँ तुम्हें हर्ष मनाना और पाण्डवों का सत्कार करना चाहिए था, वहाँ तुम शोक कर रहे हो! तुम्हारा यह व्यवहार सर्वथा उलटा ही है।

प्रसीद मा त्यजात्मानं तुष्टश्च सुकृतं स्मर।
प्रयच्छ राज्यं पार्थानां यशो धर्ममवाप्नुहि ॥६३॥

प्रसन्न हो जाओ! शरीर का त्याग मत करो। पाण्डवों ने तुम्हारे साथ जो सद्व्यवहार किया है, उसे स्मरण करो और उससे सन्तुष्ट होकर उनका राज्य उन्हें लौटा दो। ऐसा करके यश और धर्म के भागी बनो।

दुर्योधन उवाच

न धर्मधनसौख्येन नैश्वर्येण न चाज्ञया।
नैव भोगैश्च मे कार्यं मा विहन्यत गच्छत ॥६४॥
निश्चितेयं मम मतिः स्थिता प्रायोपवेशने।
गच्छध्वं नगरं सर्वे पूज्याश्च गुरवो मम ॥६५॥

दुर्योधन बोला—मुझे धर्म, धन, सुख, ऐश्वर्य, शासन और भोग—किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। तुम लोग मेरे निश्चय में बाधा मत डालो! यहाँ से चले जाओ। आमरण अनशन करने के सम्बन्ध में मेरी बुद्धि का निश्चय अटल है। तुम सब लोग नगर को जाओ और वहाँ मेरे गुरुजनों का सदा आदर-सत्कार करो।

वैशम्पायन उवाच

त एवमुक्ताः प्रत्यूचू राजानमरिमर्दनम्।
या गतिस्तव राजेन्द्र सास्माकमपि भारत।
कथं वा सम्प्रवेक्ष्यामस्त्वद्विहीनाः पुरं वयम् ॥६६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा उत्तर पाकर सब सुहृदों ने शत्रुदमन राजा दुर्योधन से कहा—"राजेन्द्र! तुम्हारी जो गति होगी, वही हमारी भी होगी। भारत! तुम्हारे बिना हम हस्तिनापुर में कैसे प्रवेश करेंगे?"

स सुहृद्भिरमात्यैश्च भ्रातृभिः स्वजनेन च ।
बहुप्रकारमप्युक्तो निश्चयान्न विचाल्यते ॥६७॥

जनमेजय ! दुर्योधन को उसके सुहृद, मन्त्री, भाई तथा स्वजनों ने बहुतेरा समझाया, परन्तु कोई भी उसे उसके निश्चय से विचलित न कर सका ।

दर्भास्तरणमास्तीर्य निश्चयाद् धृतराष्ट्रजः ।
संस्पृश्यापः शुचिर्भूत्वा भूतले समुपस्थितः ॥६८॥

धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन अपने निश्चय पर अटल रहकर, आचमन कर और पवित्र होकर पृथिवी पर कुशा का आसन बिछाकर आमरण अनशन के लिए बैठ गया ।

दुर्योधनं निशान्ते च कर्णो वैकर्तनोऽब्रवीत् ।
स्मयन्निवाञ्जलिं कृत्वा पार्थिवं हेतुमद्वचः ॥६९॥

वह रात्रि बीत जाने पर सूर्यपुत्र कर्ण ने आकर हाथ जोड़ मुस्कराते हुए-से राजा दुर्योधन से यह युक्तियुक्त वचन कहा—

कर्ण उवाच

न मृतो जयते शत्रूञ्जीवन् भद्राणि पश्यति ।
कुतो मृतस्य भद्राणि कौरवेय कुतो जयः ॥७०॥

कर्ण बोला—कुरुनन्दन ! मरा हुआ मनुष्य कभी शत्रुओं पर विजय नहीं पाता । जो जीवित रहता है, वह कभी सुख के दिन भी देखता है । मरे हुए को सुख और विजय कहाँ ?

न कालोऽद्य विषादस्य भयस्य मरणस्य वा ।
परिष्वज्याब्रवीच्चैनं भुजाभ्यां स महाभुजः ॥७१॥

यह समय शोक मनाने, भयभीत होने अथवा मरने का नहीं है' यह कहकर महाबाहु कर्ण ने दुर्योधन को दोनों भुजाओं से खींचकर अपने हृदय से लगा लिया और कहा—

उत्तिष्ठ राजन् किं शेषे कस्माच्छोचसि शत्रुहन् ।
शत्रून् प्रताप्य वीर्येण कथं त्वं मृत्युमिच्छसि ॥७२॥

शत्रुनाशक नरेश ! उठो, सो क्यों रहे हो ? शोक क्यों करते हो ? अपने पराक्रम से शत्रुओं को सन्तप्त करके अब मृत्यु की इच्छा क्यों करते हो ?

अथ वा ते भयं जातं दृष्ट्वार्जुन-पराक्रमम् ।
सत्यं ते प्रति जानामि वधिष्यामि रणेऽर्जुनम् ॥७३॥

अथवा, यदि तुम्हें अर्जुन का पराक्रम देखकर भय हो गया हो तो मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि मैं युद्ध में अर्जुन को अवश्य परास्त कर मार डालूंगा ।

पादौ न धावये तावद् यावन्न निहतोऽर्जुनः ।
कीलालजं न खादेयं करिष्ये चासुरव्रतम् ।
नास्तीति नैव वक्ष्यामि याचितो येन केनचित् ॥७४॥

जबतक अर्जुन मेरे हाथ से मारा नहीं जाता तबतक मैं दूसरों से पैर नहीं धुलवाऊँगा, जल-सिंचन से उत्पन्न पवित्र अन्न नहीं खाऊँगा तथा असुरव्रत [क्रूरता आदि] धारण नहीं करूँगा । किसी के भी कुछ भी माँगने पर 'नहीं है' ऐसी बात नहीं कहूँगा ।

गते त्रयोदशे वर्षे सत्येनायुधमालभे ।
आनयिष्याम्यहं पार्थान् वशं तव जनाधिप ॥७५॥

महाराज ! मैं धनुष छूकर सचाई के साथ यह शपथ ग्रहण करता हूँ कि तेरहवाँ वर्ष व्यतीत होते-होते पाण्डवों को तुम्हारे वश में ला दूंगा ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन भ्रातॄणां वचनात् तथा ।
प्रणिपातेन चाप्येषामुदतिष्ठत् सुयोधनः ॥७६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कर्ण के ऐसा कहने पर और दुःशासन आदि भाइयों के प्रणामपूर्वक अनुनय-विनय करने पर दुर्योधन अपने आसन से उठ खड़ा हुआ ।

ततो मनुजशार्दूलो योजयामास वाहिनीम् ।
गङ्गौघप्रतिमा राजन् सा प्रयाता महाचमूः ॥७७॥

तदनन्तर नरश्रेष्ठ दुर्योधन ने अपनी सेना को तैयार होने की आज्ञा दी । हे राजन् ! वह विशाल वाहिनी गङ्गा के प्रवाह के समान चलने लगी ।

प्रयान्तं नृपसिंहं तमनुजग्मुः कुरूद्वहाः ।
कालेनाल्पेन राजेन्द्र स्वपुरं विविशुस्तदा ॥७८॥

राजसिंह दुर्योधन के प्रस्थान करने पर सभी कुरुकुलरत्न उसके पीछे-पीछे चलने लगे । जनमेजय ! थोड़े ही समय में उन सबने अपनी राजधानी हस्तिना-पुर में प्रवेश किया ।

इति महाभारते वनपर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशोऽध्यायः

जयद्रथ द्वारा द्रौपदी का हरण

जनमेजय उवाच

दुर्योधनं मोक्षयित्वा पाण्डुपुत्रा महाबलाः ।
किमकार्षुर्वने तस्मिंस्तन्ममाख्यातुमर्हसि ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—दुर्योधन को गन्धर्वों के बन्धन से छुड़ाकर महाबली पाण्डवों ने उस वन में कौन-सा कार्य किया, मुझे यह बताने की कृपा करें ।

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् बहुमृगेऽरण्ये अटमाना महारथाः ।
काम्यके भरतश्रेष्ठा विजह्रुस्ते यथामराः ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! काम्यक वन में नाना प्रकार के वन्य पशु रहते थे । वहाँ भरतकुलभूषण महारथी पाण्डव इधर-उधर घूमते हुए देवताओं के समान विहार करने लगे ।

प्रेक्षमाणा बहुविधान् वनोद्देशान् समन्ततः ।
यथर्तुकालरम्याश्च वनराजीः सुपुष्पिताः ॥३॥

वे चारों ओर घूम-घूमकर नाना प्रकार के वन्य प्रदेशों तथा ऋतु-काल-अनुसार सुविकसित पुष्पों से सुशोभित रमणीय वन-श्रेणियों की शोभा देखते थे ।

ततस्ते यौगपद्येन नृसिंहा मृगयाश्रिताः ।
द्रौपदीमाश्रमे न्यस्य ययुः सर्वे चतुर्दिशम् ॥४॥

एक दिन की बात है, पुरुषसिंह पाण्डव द्रौपदी को आश्रम में छोड़ हिंसक पशुओं का शिकार करने के लिए एक साथ चारों दिशाओं में [पृथक्-पृथक्] चले गये ।

ततस्तु राजा सिन्धूनां वार्द्धक्षत्रिर्महायशाः ।
राजभिर्बहुभिः सार्धमुपायात् काम्यकं च सः ॥५॥

उसी समय वृद्धक्षत्र का पुत्र सिन्धुदेश का महायशस्वी राजा जयद्रथ अनेक राजाओं के साथ यात्रा करता हुआ काम्यक-वन में आ पहुँचा ।

तिष्ठन्तीमाश्रमद्वारि तत्रापश्यत् स द्रौपदीम् ।
भ्राजयन्तीं वनोद्देशं विद्युन्नीलाम्बरं यथा ॥६॥

वहाँ उसने आश्रम के द्वार पर खड़ी द्रौपदी को देखा । जैसे विद्युत् अपनी स्वर्णिम प्रभा से नीले मेघ-समूह को प्रकाशित करती है, वैसे ही वह सुन्दरी अपनी स्वर्णिम सौन्दर्य-छवि (कान्ति) से प्रदेश को देदीप्यमान कर रही थी ।

अप्सरा देवकन्या वा माया वा देवनिर्मिता ।
इति कृत्वाञ्जलिं सर्वे ददृशुस्तामनिन्दिताम् ॥७॥

जयद्रथ और उसके सभी साथियों ने उस अनिन्द्य सुन्दरी की ओर देखा और वे सब हाथ जोड़कर मन-ही-मन यह विचार करने लगे—'यह कोई अप्सरा है, या देवकन्या है अथवा देवताओं की रची हुई माया है ।'

ततः स राजा सिन्धूनां वार्द्धक्षत्रिर्जयद्रथः ।
विस्मितस्त्वनवद्याङ्गीं दृष्ट्वा तां दुष्टमानसः ॥८॥

उस अनिन्द्य सुन्दरी को देखकर वृद्धक्षत्रकुमार सिन्धुराज जयद्रथ चकित रह गया । फिर उसके मन में दूषित-भाव का उदय हुआ ।

स कोटिकाश्यं राजानमब्रवीत् काममोहितः ।
कस्य त्वेषानवद्याङ्गी यदि वापि न मानुषी ॥९॥

उसने काम-मोहित होकर राजा कोटिकाश्य से कहा—"कोटिक ! तनिक जाकर पता तो करो, यह सर्वाङ्गसुन्दरी स्त्री किसकी है ? अथवा यह मानुषी स्त्री है भी या नहीं ?

गच्छ जानीहि सौम्येमां कस्य वात्र कुतोऽपि वा ।
किमर्थमागता सुभ्रूरिदं कण्टकितं वनम् ॥१०॥

"सौम्य ! जाओ, पता लगाओ, यह किसकी स्त्री है, और इस वन में कहाँ से आई है । यह सुन्दर भौंहोंवाली युवती काँटों से भरे हुए इस जंगल में किसलिए आई है ।

स कोटिकाश्यस्तत् श्रुत्वा रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली ।
तामुपेत्य च पप्रच्छ क्रोष्टा व्याघ्रवधूमिव ॥११॥

जयद्रथ का यह वचन सुनकर कुण्डलमण्डित कोटिकाश्य रथ से उतर पड़ा और जैसे गीदड़ सिंहनी से बात करे उसी प्रकार उसने द्रौपदी के पास जाकर पूछा—

कोटिक उवाच

का त्वं कदम्बस्य विनाम्य शाखा-
मेकाश्रमे तिष्ठसि शोभमाना।
देवी नु यक्षी यदि दानवी वा
वराप्सरा दैत्यवराङ्गना वा ॥१२॥

कोटिक ने पूछा—हे सुन्दरि! तुम कौन हो, जो कदम्ब की डाली झुकाकर उसके सहारे इस आश्रम में अकेली खड़ी हो और अपनी सौन्दर्य-छवि बिखेर रही हो। तुम किसी देवता, यक्ष, दानव अथवा दैत्य की स्त्री तो नहीं हो या कोई श्रेष्ठ अप्सरा हो?

धातुर्विधातुः सवितुर्विभोर्वा
शक्रस्य वा त्वं सदनात् प्रपन्ना।
आचक्ष्व बन्धूंश्च पतिं कुलं च
तत्त्वेन यच्चेह करोषि कार्यम् ॥१३॥

अथवा तुम धाता, विधाता, सविता, विभु या इन्द्र के भवन से यहाँ आई हो? भद्रे! तुम अपने बन्धु-बान्धव, पति और कुल का यथार्थ परिचय दो और यह भी बताओ कि तुम यहाँ क्या करती हो?

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीत्तं द्रुपदात्मजा सा
पृष्टा शिबीनां प्रवरेण तेन।
अवेक्ष्य मन्दं प्रविमुच्य शाखां
संगृह्णती कौशिकमुत्तरीयम् ॥१४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शिविदेश के प्रमुख वीर कोटिकाश्य के इस प्रकार पूछने पर राजकुमारी द्रौपदी उस कदम्ब की डाली को छोड़कर अपनी रेशमी ओढ़नी को सँभालती हुई संकोचपूर्वक उसकी ओर देखकर बोली—

बुद्धयाभिजानामि नरेन्द्रपुत्र
न मादृशी त्वामभिभाष्टुमर्हा।
न चापि वाक्यस्य तवास्ति वक्तु-
मन्यो नरो वाप्यथ वापि नारी ॥१५॥

"राजकुमार! मैं बुद्धि से सोच-विचारकर भली भाँति समझती हूँ कि मुझ जैसी पति-परायणा स्त्री को तुम जैसे पर-पुरुष से वार्तालाप नहीं करना चाहिए किन्तु यहाँ कोई दूसरा ऐसा पुरुष अथवा स्त्री नहीं है, जो तुम्हारी बात का उत्तर दे सके, और—

एका ह्यहं सम्प्रति तेन वाचं
ददामि वै भद्र निबोध चेदम्।
अपत्यमस्मि द्रुपदस्य राज्ञः
कृष्णेति मां शैब्य विदुर्मनुष्याः ॥१६॥

"इस समय मैं यहाँ अकेली हूँ, अतः विवश होकर मुझे तुमसे बोलना पड़ रहा है। भद्रपुरुष! मेरी बात सुनो। शिविदेश के राजकुमार! मैं राजा द्रुपद की पुत्री हूँ तथा सब मनुष्य मुझे कृष्णा के नाम से जानते हैं।"

तथाऽऽसीनेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत।
यदुक्तं कृष्णया सार्धं तत् सर्वं प्रत्यवेदयत् ॥१७॥

हे भारत! पूर्वोक्त प्रकार से रथों पर बैठे हुए उन राजाओं के पास जाकर कोटिकाश्य ने द्रौपदी के साथ उसकी जो-जो बातें हुईं थीं, वे सब कह सुनाईं।

कोटिक उवाच

एषा वै द्रौपदी कृष्णा राजपुत्री यशस्विनी।
तया समेत्य सौवीर सौवीराभिमुखो व्रज ॥१८॥

कोटिक बोला—सौवीर नरेश! यह यशस्विनी राजकुमारी द्रुपदपुत्री कृष्णा है। तुम उससे मिलकर सौवीर देश की राह लो।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच पश्यामि द्रौपदीमिति।
पतिः सौवीरसिन्धूनां दुष्टभावो जयद्रथः ॥१९॥

वैशम्पायनजी बोले—हे राजन्! कोटिकाश्य के ऐसा कहने पर सौवीर और सिन्धु आदि देशों के स्वामी जयद्रथ ने मन में दुर्भावना लेकर उससे कहा—"अच्छा, मैं भी द्रौपदी से मिल लेता हूँ।"

स प्रविश्याश्रमं कृष्णामिदं वचनमब्रवीत्।
एहि मे रथमारोह सुखमाप्नुहि केवलम् ॥२०॥

वह आश्रम में प्रविष्ट होकर द्रौपदी से बोला—"आओ, चलो। मेरे साथ रथ पर बैठो और अखण्ड सुख का उपभोग करो।

गतश्रीकांश्च्युतान् राज्यात् कृपणान् गतचेतसः।
अरण्यवासिनः पार्थान् नानुरोद्धुं त्वमर्हसि ॥२१॥
नैव प्राज्ञा गतश्रीकं भर्तारमुपयुञ्जते।
युञ्जानमनुयुञ्जीत न श्रियः संक्षये वसेत् ॥२२॥

"अब पाण्डव धन और राज्य से हीन हैं। वे दीन और उत्साहहीन हैं, अतः इन वनवासी कुन्ती-पुत्रों का अनुसरण करना तुम्हें शोभा नहीं देता। विदुषी स्त्रियाँ निर्धन पति की उपासना नहीं करतीं। स्वामी के पास जबतक धन रहे तभी तक उसके पास रहना चाहिए। जब उसकी सम्पत्ति नष्ट हो जाए तब उसके पास नहीं रहना चाहिए।

भार्या मे भव सुश्रोणि त्यजैतान् सुखमाप्नुहि।
अखिलान् सिन्धुसौवीरानाप्नुहि त्वं मया सह ॥२३॥

"सुन्दरि! तुम मेरी भार्या बनो। इन पाण्डवों को छोड़कर मेरे साथ सुख भोगो। मेरे साथ रहने से तुम्हें सम्पूर्ण सिन्धु और सौवीर देश का राज्य प्राप्त होगा और तुम महारानी बनोगी।"

इत्युक्ता सिन्धुराजेन वाक्यं हृदयकम्पनम्।
कृष्णा तस्मादपाक्रामद् देशात् सभ्रुकुटीमुखी ॥२४॥

सिन्धुराज जयद्रथ के मुख से यह हृदय कँपा देनेवाली बात सुनकर द्रौपदी उस स्थान से दूर हट गई। उसके मुख पर रोष छा गया और उसकी भौंहें तन गयीं।

अवमत्यास्य तद् वाक्यमाक्षिप्य च सुमध्यमा।
मैवमित्यब्रवीत् कृष्णा लज्जस्वेति च सैन्धव ॥२५॥

उसके इस प्रस्ताव को ठुकराकर सुन्दरी द्रौपदी ने उसे फटकारते हुए कहा—"खबरदार, फिर कभी ऐसी बात मुंह से मत निकालना। सिन्धुराज! तुम्हें लज्जा आनी चाहिए।"

जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे
जयद्रथस्तं समवाक्षिपत् सा।
तया समाक्षिप्ततनुः स पापः
पपात शाखीव निकृत्तमूलः ॥२६॥

इतने में ही जयद्रथ ने आगे बढ़कर द्रौपदी की ओढ़नी का छोर पकड़ लिया, परन्तु द्रौपदी ने उसे जोर का धक्का दिया। उसका धक्का लगते ही पापी जयद्रथ का शरीर जड़ से कटे हुए वृक्ष की भाँति भूमि पर गिर पड़ा।

प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन
मुहुर्विनिःश्वस्य च राजपुत्री।
सा कृष्यमाणा रथमारुरोह
धौम्यस्य पादावभिवाद्य कृष्णा ॥२७॥

परन्तु उसने बड़े वेग से उठकर राजकुमारी द्रौपदी को पकड़ लिया। तब बार-बार लम्बी साँसें छोड़ती हुई द्रौपदी ने धौम्य मुनि के चरणों में प्रणाम किया और फिर जयद्रथ के द्वारा खींची जाने के कारण वह बाध्य होकर उसके रथ पर बैठ गई।

धौम्य उवाच

नेयं शक्या त्वया नेतुमविजित्य महारथान्।
धर्मं क्षत्रस्य पौराणमवेक्षस्व जयद्रथ ॥२८॥

धौम्य बोले—जयद्रथ! तू क्षत्रियों के प्राचीन धर्म पर दृष्टिपात कर। महारथी पाण्डवों को परास्त किये बिना तुझे इसे ले जाने का कोई अधिकार नहीं है।

क्षुद्रं कृत्वा फलं पापं त्वं प्राप्स्यसि न संशयः।
आसाद्य पाण्डवान् वीरान् धर्मराजपुरोगमान् ॥२९॥

तू धर्मराज युधिष्ठिर आदि वीर पाण्डवों के सामने पड़ने पर इस खोटे कर्म का बुरा फल अवश्य प्राप्त करेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा ह्रियमाणां तां राजपुत्रीं यशस्विनीम्।
अन्वगच्छत् तदा धौम्यः पदातिगणमध्यगः ॥३०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! ऐसा कहकर धौम्यमुनि अपहरण की जाती हुई यशस्विनी राजकुमारी द्रौपदी के पीछे-पीछे पैदल-सेना के बीच में होकर चलने लगे।

इति महाभारते वनपर्वणि विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशोऽध्यायः

पाण्डवों द्वारा जयद्रथ का पीछा करके उसे पकड़ना और उसकी दुर्गति करके जीवन-दान देना

वैशम्पायन उवाच

यदा तु पार्था वनमाविशन्तो
महत्यरण्ये मृगयां चरित्वा ।
बालामपश्यन्त तदा रुदन्तीं
धात्रेयिकां प्रेष्यवधूं प्रियायाः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—विशाल वन में शिकार खेलकर जब पाण्डव आश्रम के समीपवर्ती वन में प्रवेश करने लगे, तब उन्होंने देखा कि उनकी प्रिया द्रौपदी की दासी धात्रेयिका, जो उन्हीं के एक सेवक की स्त्री थी, रो रही है ।

तामिन्द्रसेनस्त्वरितोऽभिसृत्य
रथादवप्लुत्य ततोऽभ्यधावत् ।
प्रोवाच चैनां वचनं नरेन्द्र
धात्रेयिकामार्ततरस्तदानीम् ॥२॥

नरेन्द्र जनमेजय ! उसे रोती देख सारथि इन्द्रसेन तुरन्त रथ से कूद पड़ा और वहाँ से दौड़कर धाय के पास जाकर अत्यन्त व्याकुल हुआ धाय से इस प्रकार बोला—

किं रोदिषि त्वं पतिता धरण्यां
किं ते मुखं शुष्यति दीनवर्णम् ।
अथाब्रवीच्चारुमुखं प्रमृज्य
धात्रेयिका सारथिमिन्द्रसेनम् ॥३॥

"तू इस प्रकार धरती पर पड़ी क्यों रो रही है ? तेरा मुख दीन होकर क्यों सूख रहा है ?" सारथि के ऐसा पूछने पर धात्रेयिका ने अपने सुन्दर मुख पर बहते हुए आँसुओं को दोनों हाथों से पोंछकर इन्द्रसेन से कहा—

जयद्रथेनापहृता प्रमथ्य
पञ्चेन्द्रकल्पान् परिभूय कृष्णा ।
आवर्तयध्वं ह्यनुयात शीघ्रं
न दूरयातैव हि राजपुत्री ॥४॥

"इन्द्रसेन ! इन्द्र के समान पराक्रमी इन पाँचों पाण्डवों का तिरस्कार करके जयद्रथ ने बलपूर्वक द्रौपदी का अपहरण किया है । पाण्डव वीरो ! आप लोग अपने रथों को लौटाइए और शीघ्र ही शत्रुओं का पीछा कीजिए । अभी राजकुमारी द्रौपदी दूर नहीं गई होंगी ।"

एतद् निशम्य प्रययुर्हि शीघ्रं
तान्येव वर्त्मान्यनुवर्तमानाः ।
मुहुर्मुहुर्व्यालवदुच्छ्वसन्तो
ज्यां विक्षिपन्तश्च महाधनुर्भ्यः ॥५॥

यह सुनकर समस्त पाण्डव अपने विशाल धनुषों की डोरी खींचते और बार-बार सर्पों के समान फुफकारते हुए उन्हीं मार्गों पर चलते हुए बड़े वेग से आगे बढ़े ।

ते ददृशुस्तस्य बलस्य रेणुं
समुद्गतं वाजिखुरप्रणुन्नम् ।
पदातिषु मध्यगतं च धौम्यं
भीमं विक्रोशन्तमभिद्रवेति ॥६॥

कुछ दूर जाने पर उन्हें जयद्रथ की सेना के घोड़ों की टाप से आहत होकर उड़ती हुई धूल दिखाई दी । उसके साथ ही पैदल सेना के मध्य में होकर चलते हुए पुरोहित धौम्य भी दृष्टिगोचर हुए जो 'भीमसेन, दौड़ो'—बार-बार ऐसा पुकार रहे थे ।

ते सान्त्व्य धौम्यं परिदीनसत्त्वाः
सुखं भवानेत्विति राजपुत्राः ।
श्येना यथैवामिषसम्प्रयुक्ता
जवेन तत् सैन्यमथाभ्यधावन् ॥७॥

असाधारण पराक्रमी राजकुमार पाण्डव धौम्य मुनि को आश्वासन देते हुए बोले—"आप निश्चिन्त होकर चलिए [हम लोग आ पहुँचे हैं] ।" फिर जैसे बाज़ पक्षी मांस की ओर झपटते हैं, उसी प्रकार पाण्डव जयद्रथ की सेना के पीछे बड़े वेग से दौड़े ।

ततः पार्थाः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पा-
स्त्यक्त्वा त्रस्तान् प्राञ्जलींस्तान् पदातीन् ।
रथानीकं शरवर्षान्धकारं
चक्रुः क्रुद्धाः सर्वतः संनिगृह्य ॥८॥

उनके निकट पहुँचने पर पाँच इन्द्रों के समान

पराक्रमी पाँचों पाण्डव भयभीत होकर हाथ जोड़नेवाले पैदल सैनिकों को छोड़कर क्रुद्ध हो रथ, हाथी तथा घोड़ों से युक्त अवशिष्ट सेना को सब ओर से घेर कर खड़े हो गये और बाणों की ऐसी घनघोर वर्षा करने लगे कि चारों ओर अन्धकार छा गया।

सन्तिष्ठत प्रहरत तूर्णं विपरिधावत।
इति स्म सैन्धवो राजा प्रेरयामास तान् नृपान् ॥९॥

जनमेजय ! तब सिन्धुराज जयद्रथ 'ठहरो, मारो, शीघ्र दौड़ो !'—ऐसा कहकर अपने साथ में आये हुए राजाओं को युद्ध के लिए उत्साहित करने लगा।

हेमचित्रसमुत्सेधां सर्वशैक्यायसीं गदाम्।
प्रगृह्याभ्यद्रवद् भीमः सैन्धवं कालप्रेरितम् ॥१०॥

उधर भीमसेन एक विशाल गदा को, जिसका ऊपरी भाग स्वर्ण-पत्र से जटित होने के कारण विचित्र शोभा पाता था, जिसका सब-कुछ शैक्य नामक लोहे से बनाया गया था, हाथ में लेकर काल-प्रेरित जयद्रथ की ओर दौड़े।

गजं तु सगजारोहं पदातींश्च चतुर्दश।
जघान गदया भीमः सैन्धवध्वजिनीमुखे ॥११॥

उन्होंने जयद्रथ की सेना के अग्र-भाग में जाकर अपनी गदा की चोट से सवारसहित एक हाथी और चौदह पैदलों को मार डाला।

पार्थः पञ्चदशान् शूरान् पर्वतीयान् महारथान्।
परीप्समानः सौवीरं जघान ध्वजिनीमुखे ॥१२॥

इसी प्रकार अर्जुन ने भी सौवीरराज जयद्रथ को पकड़ने की इच्छा रखकर सेना के अग्र-भाग में स्थित पन्द्रह शूरवीर पर्वतीय महारथियों को मार डाला।

राजा स्वयं सुवीराणां प्रवराणां प्रहारिणाम्।
निमेषमात्रेण शतं जघान समरे तदा ॥१३॥

स्वयं राजा युधिष्ठिर ने भी उस समय अपने ऊपर प्रहार करनेवाले सौवीर क्षत्रियों के सैकड़ों प्रमुख वीरों को पलक मारते-मारते युद्ध-क्षेत्र में मार गिराया।

ददृशे नकुलस्तत्र रथात् प्रस्कन्द्य खड्गधृक्।
शिरांसि पादरक्षाणां बीजवत् प्रवपन् मुहुः ॥१४॥

महावीर नकुल हाथ में तलवार लिये रथ से कूद पड़े। वे ऐसे दिखाई देते थे मानो पाद-रक्षक सैनिकों के मस्तकों को काट-काटकर बार-बार धरती पर बोते हों।

सहदेवस्तु संयाय रथेन गजयोधिनः।
पातयामास नाराचैर्द्रुमेभ्य इव बर्हिणः ॥१५॥

सहदेव रथ द्वारा आगे बढ़कर हाथी पर सवार योद्धाओं से भिड़ गये तथा नाराच नामक बाणों से मार-मारकर उन्हें नीचे गिराने लगे, जैसे कोई व्याध वृक्षों पर से मोरों को घायल करके गिरा रहा हो।

भीमस्त्वापततो राज्ञः कोटिकाश्यस्य सङ्गरे।
सूतस्य नुदतो वाहान् क्षुरेणापाहरच्छिरः ॥१६॥

इधर भीम ने युद्ध में अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले राजा कोटिकाश्य के रथ के घोड़ों का सञ्चालन करनेवाले सारथि के सिर को छुरे से उड़ा दिया।

विमुखं हतसूतं तं भीमः प्रहरतां वरः।
जघान तलयुक्तेन प्रासेनाभ्येत्य पाण्डवः ॥१७॥

सारथि के नष्ट हो जाने से कोटिकाश्य को रण से विमुख हुआ देखकर योद्धाओं में श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन भीम ने उसके निकट जाकर प्रास नामक मूठदार शस्त्र से उसे मार गिराया।

द्वादशानां तु सर्वेषां सौवीराणां धनञ्जय।
चकर्त निशितैर्भल्लैर्धनूंषि च शिरांसि च ॥१८॥

उधर अर्जुन ने सौवीर देश के जो बारह राजकुमार थे, उन सबके धनुष और मस्तक अपने भल्ल नामक तीखे बाणों से काट गिराये।

हतेषु तेषु वीरेषु सिन्धुराजो जयद्रथः।
कृष्णां विमुच्य संत्रस्तः पलायनपरोऽभवत् ॥१९॥

उन वीरों के मारे जाने पर सिन्धुराज जयद्रथ भय से थर्रा उठा और द्रौपदी को वहीं छोड़कर उसने भाग जाने का निश्चय किया।

स तस्मिन् संकुले सैन्ये द्रौपदीमवतार्य ताम्।
प्राणप्रेप्सुरुपाधावद् वनायैव नराधमः ॥२०॥

उस तितर-बितर हुई सेना के बीच द्रौपदी को रथ से उतारकर नीच जयद्रथ अपने प्राण बचाने के लिए वन की ओर भागा।

द्रौपदीं धर्मराजस्तु दृष्ट्वा धौम्यपुरस्कृताम्।
माद्रीपुत्रेण वीरेण रथमारोपयत् तदा ॥२१॥

जब धर्मराज युधिष्ठिर ने देखा कि द्रौपदी धौम्य

मुनि के पीछे-पीछे चली आ रही है, तब उन्होंने वीर माद्रीनन्दन सहदेव द्वारा उसे रथ पर चढ़वा लिया।

ततस्तद् विद्रुतं सैन्यमपयाते जयद्रथे।
आदिश्यादिश्य नाराचैराजघान वृकोदरः ॥२२॥

जयद्रथ के भाग जाने पर सारी सेना इधर-उधर भाग चली, परन्तु भीमसेन अपने नाराच बाणों द्वारा अपना नाम बता-बताकर उन सैनिकों का वध करने लगे।

सव्यसाची तु तं दृष्ट्वा पलायन्तं जयद्रथम्।
वारयामास निघ्नन्तं भीमं सैन्धवसैनिकान् ॥२३॥

जयद्रथ को भागते देख अर्जुन ने उसके सैनिकों के संहार में लगे हुए भीमसेन को रोका।

अर्जुन उवाच

यस्यापचारात्प्राप्तोऽयमस्मान्क्लेशो दुरासदः।
तमस्मिन् समरोद्देशे न पश्यामि जयद्रथम् ॥२४॥

अर्जुन ने कहा—जिसके अत्याचार से हम लोगों को यह दुःसह क्लेश सहन करना पड़ा है, उस जयद्रथ को मैं समरभूमि में नहीं देख पा रहा हूँ।

तमेवान्विष भद्रं ते किं ते योधैर्निपातितैः।
अनामिषमिदं कर्म कथं वा मन्यते भवान् ॥२४॥

भैया! आपका कल्याण हो। आप जयद्रथ की ही खोज करें। इन निरीह सैनिकों के मारने से क्या लाभ? यह कार्य तो निष्फल दिखाई देता है? अथवा आप इसे कैसा समझते हैं?

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तो भीमसेनस्तु गुडाकेशेन धीमता।
युधिष्ठिरमभिप्रेक्ष्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! बुद्धिमान् अर्जुन के ऐसा कहने पर वार्तालाप में कुशल भीमसेन ने युधिष्ठिर की ओर देखकर कहा—

यमाभ्यां सह राजेन्द्र धौम्येन च महात्मना।
प्राप्याश्रमपदं राजन् द्रौपदीं परिसान्त्वय ॥२७॥

"महाराज! आप नकुल, सहदेव तथा महात्मा धौम्य के साथ आश्रम पर पहुँचकर देवी द्रौपदी को सान्त्वना प्रदान कीजिए।

न हि स मोक्ष्यते जीवन् मूढः सैन्धवको नृपः।
पातालतलसंस्थोऽपि यदि शक्रोऽस्य सारथिः ॥२८॥

"मूर्ख सिन्धुराज जयद्रथ यदि पाताल में घुस जाए अथवा इन्द्र भी उसका सारथि या सहायक बनकर आ जाए, तो भी आज वह मेरे हाथों से जीवित नहीं बच सकता।"

युधिष्ठिर उवाच

न हन्तव्यो महाबाहो दुरात्मापि स सैन्धवः।
दुःशलामभिसंस्मृत्य गान्धारीं च यशस्विनीम् ॥२६॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहो! सिन्धुराज जयद्रथ यद्यपि अत्यन्त दुरात्मा है तथापि बहिन दुःशला और यशस्विनी माता गान्धारी का स्मरण करके उसका वध न करना।

वैशम्पायन उवाच

तत् श्रुत्वा द्रौपदी भीममुवाच व्याकुलेन्द्रिया।
कर्तव्यं चेत् प्रियं मह्यं वध्यः स पुरुषाधमः ॥३०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—युधिष्ठिर की यह बात सुनकर द्रौपदी की सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं और वह भीम से बोली—"यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो उस नीच को अवश्य मार डालना।

भार्याभिहर्ता वैरी यो यश्च राज्यहरो रिपुः।
याचमानोऽपि संग्रामे न मोक्तव्यः कथञ्चन ॥३१॥

"जो पत्नी का अपहरण करनेवाला तथा राज्य को हड़प लेनेवाला हो—ऐसे शत्रु को युद्ध में पाकर, यदि वह प्राणों की भीख भी माँगे तो भी, जीवित नहीं छोड़ना चाहिए।"

श्रुत्वेदं तौ नरव्याघ्रौ ययतुर्यत्र सैन्धवः।
स्वयमश्वाँस्तुदन्तौ तौ जवेनैवाभ्यधावताम् ॥३२॥

द्रौपदी की बात सुनकर वे दोनों (भीम-अर्जुन) नरश्रेष्ठ उधर ही चल दिये जिधर जयद्रथ गया था। वे स्वयं अपने घोड़ों को हाँकते हुए बड़ी तेजी से उसके पीछे दौड़े।

सैन्धवं त्वभिसम्प्रेक्ष्य पराक्रान्तं पलायने।
अनुयाय महाबाहुः फाल्गुनो वाक्यमब्रवीत् ॥३३॥

सिन्धुराज को केवल भागने में ही पराक्रम दिखाता देख महाबाहु अर्जुन उसका पीछा करते हुए बोले—

अनेन वीर्येण कथं स्त्रियं प्रार्थयसे बलात्।
राजपुत्र निवर्तस्व न ते युक्तं पलायनम् ॥३४॥

कथं ह्यनुचरान् हित्वा शत्रुमध्ये पलायसे ।
इत्युच्यमानः पार्थेन सैन्धवो न न्यवर्तत ॥३५॥

"राजकुमार ! लौटो, तुझे पीठ दिखाकर भागना शोभा नहीं देता । अपने सेवकों को शत्रुओं के मध्य में छोड़कर तू कैसे भागा जा रहा है ? क्या इसी बल पर तू दूसरों की स्त्री को बलपूर्वक हरकर ले जाना चाहता था ?" अर्जुन के इस प्रकार ताना देने पर भी जयद्रथ नहीं लौटा ।

तिष्ठ तिष्ठेति तं भीमः सहसाभ्यद्रवद् बली ।
मा वधीरिति पार्थस्तं दयावान् प्रत्यभाषत ॥३६॥

तब महाबली भीम 'ठहरो, ठहरो !' कहते हुए सहसा उसके पीछे दौड़े । तब दयालु अर्जुन ने उनसे कहा—"भैया ! इसका वध मत करना ।"

अभिद्रुत्य निजग्राह केशपक्षे ह्यमर्षणः ।
समुद्यम्य च तं भीमो निष्पिपेष महीतले ॥३७॥

अमर्ष में भरे हुए भीमसेन ने बड़े वेग से दौड़कर उसके केश पकड़ लिये, फिर उसे ऊपर उठाकर धरती पर पटक दिया और रौंदने लगे ।

शिरो गृहीत्वा राजानं ताडयामास चैव ह ।
पदा मूर्ध्नि महाबाहुः प्राहरद् विलपिष्यतः ॥३८॥
तस्य जानू ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना ।
स मोहमगमद् राजा प्रहारवरपीडितः ॥३९॥

तत्पश्चात् भीम ने जयद्रथ का सिर पकड़कर उसे कई थप्पड़ लगाये, फिर उसके सिर में एक लात मारी । इससे वह रोने और चिल्लाने लगा तो भी भीमसेन ने उसे गिराकर उसके शरीर पर अपने दोनों घुटने रख दिये और उसे घूँसों से मारने लगे । इस प्रकार भीषण मार पड़ने से पीड़ा के कारण जयद्रथ मूर्च्छित हो गया ।

सरोषं भीमसेनं तु वारयामास फाल्गुनः ।
दुःशलायाः कृते राजा यत् तदाहेति कौरव ॥४०॥

क्रोध में भरे हुए भीम को अर्जुन ने रोका और कहा—"कुरुनन्दन ! दुःशला के वैधव्य का विचार करके महाराज ने जो आज्ञा दी थी, उसका भी तो विचार कीजिए ।"

भीमसेन उवाच

नायं पापसमाचारो मत्तो जीवितुमर्हति ।
कृष्णायास्तदनर्हायाः परिक्लेष्टा नराधमः ॥४१॥

भीमसेन ने कहा—इस नीच ने क्लेश सहने के सर्वथा अयोग्य महारानी द्रौपदी को कष्ट पहुँचाया है, अतः अब मेरे हाथों से इस पापी जयद्रथ का जीवित बचना कठिन ही है ।

किं नु शक्यं मया कर्तुं यद् राजा सततं घृणी ।
त्वं च बालिशया बुद्ध्या सदैवास्मान् प्रबाधसे ॥४२॥

परन्तु मैं क्या कर सकता हूँ ? राजा युधिष्ठिर सदा दयालु ही बने रहते हैं और तुम भी अपनी बाल-बुद्धि के कारण मेरे ऐसे कार्यों में सदा ही बाधा डाला करते हो ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सटास्तस्य पञ्च चक्रे वृकोदरः ।
अर्धचन्द्रेण बाणेन किंचिदब्रुवतस्तदा ॥४३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर भीम ने जयद्रथ के लम्बे-लम्बे बालों को अर्धचन्द्राकार बाण से मूँड़कर पाँच चोटियाँ बना दीं । उस समय दुष्ट जयद्रथ भय के मारे कुछ भी बोल नहीं पाता था ।

विकत्थयित्वा राजानं ततः प्राह वृकोदरः ।
जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ॥४४॥

फिर अति कटुवचनों से सिन्धुराज का तिरस्कार करते हुए भीम ने उससे कहा—"मूढ़ ! यदि तू जीवित रहना चाहता है, तो जीवनरक्षा का हेतुभूत मेरा यह वचन सुन—

दासोऽस्मीति तथा वाच्यं संसत्सु च सभासु च ।
एवं ते जीवितं दद्यामेष युद्धजितो विधिः ॥४५॥

"तू राजाओं की सभा-समितियों में जाकर सदा अपने आपको [महाराज युधिष्ठिर] का दास बताना । यह शर्त स्वीकार हो तो मैं तुझे जीवनदान दे सकता हूँ । युद्ध में विजयी पुरुष की ओर से हारे हुए के लिए ऐसा ही विधान है ।"

एवमस्त्विति तं राजा कृष्यमाणो जयद्रथः ।
प्रोवाच पुरुषव्याघ्रं भीममाहवशोभिनम् ॥४६॥

उस समय जयद्रथ धरती पर घसीटा जा रहा था । उसने उपर्युक्त शर्त स्वीकार कर ली और युद्ध में शोभा पानेवाले पुरुषसिंह भीम को अपनी स्वीकृति स्पष्ट बता दी ।

तत एनं विचेष्टन्तं बद्ध्वा पार्थो वृकोदरः ।
रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुण्ठितम् ॥४७॥

तदनन्तर उठने की चेष्टा करनेवाले उस जयद्रथ को कुन्तीपुत्र वृकोदर ने बाँधकर रथ पर डाल लिया। उस समय वह बेचारा धूल से लथपथ और अचेत हो रहा था।

ततस्तं रथमास्थाय भीमः पार्थानुगस्तदा ।
अभ्येत्याश्रममध्यस्थमभ्यगच्छद् युधिष्ठिरम् ॥४८॥

उसे रथ पर डालकर आगे-आगे भीम चले और पीछे-पीछे अर्जुन। आश्रम में पहुँचकर भीमसेन वहाँ मध्यभाग में बैठे हुए राजा युधिष्ठिर के पास गये।

दर्शयामास भीमस्तु तदवस्थं जयद्रथम् ।
तं राजा प्राहसद् दृष्ट्वा मुच्यतामिति चाब्रवीत् ॥४९॥

भीम ने उसी अवस्था में जयद्रथ को महाराज के सामने उपस्थित किया। उसे देखकर राजा युधिष्ठिर जोर-जोर से हँसने लगे और फिर बोले—"अब इसे छोड़ दो।"

राजानं चाब्रवीद् भीमो द्रौपद्याः कथ्यतामिति ।
दासभावगतो ह्येष पाण्डूनां पापचेतनः ॥५०॥

तब भीमसेन ने राजा युधिष्ठिर से कहा—"आप द्रौपदी को यह सूचित कर दीजिए कि यह पापात्मा जयद्रथ पाण्डवों का दास बन चुका है।"

तमुवाच ततो ज्येष्ठो भ्राता सप्रणयं वचः ।
मुञ्चैनमधमाचारं प्रमाणा यदि ते वयम् ॥५१॥

तब ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर ने प्रेमपूर्वक भीमसेन से कहा—"यदि तुम मेरी आज्ञा मानते हो, तो इस पापाचारी को छोड़ दो।"

द्रौपदी चाब्रवीद् भीममभिप्रेक्ष्य युधिष्ठिरम् ।
दासोऽयं मुच्यतां राज्ञस्त्वया पञ्चसटः कृतः ॥५२॥

उस समय द्रौपदी ने भी युधिष्ठिर की ओर देख भीमसेन से कहा—"आपने इसका सिर मूँड़कर पाँच चोटियाँ रख दी हैं और यह महाराज का दास हो गया है, अतः अब इसे छोड़ दीजिए!"

स मुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य युधिष्ठिरम् ।
ववन्दे विह्वलो राजंस्तांश्च दृष्ट्वा मुनींस्तदा ॥५३॥

हे राजन्! मुक्त होने पर उसने विह्वल होकर राजा युधिष्ठिर के पास जाकर उन्हें प्रणाम किया। तत्पश्चात् वहाँ बैठे अन्यान्य मुनियों को देखकर उनके चरणों में भी मस्तक झुकाया।

तमुवाच घृणी राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
तथा जयद्रथं दृष्ट्वा गृहीतं सव्यसाचिना ॥५४॥

उस समय [आदर देते हुए] अर्जुन ने जयद्रथ का हाथ थाम लिया। तब दयालु राजा धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने जयद्रथ की ओर देखकर कहा—

अदासो गच्छ मुक्तोऽसि मैवं कार्षीः पुनः क्वचित् ।
स्त्रीकामं वा धिगस्तु त्वां क्षुद्रः क्षुद्रसहायवान् ॥५५॥

"सिन्धुराज! तू मुक्त कर दिया गया है, अब तू दास नहीं रहा। फिर कभी ऐसा मत करना। अरे! तू परायी स्त्री की इच्छा करता है! तुझे धिक्कार है! तू स्वयं तो नीच है ही, तेरे सहायक भी नीच हैं।"

गतसत्त्वमिव ज्ञात्वा कर्तारमशुभस्य तम् ।
सम्प्रेक्ष्य भरतश्रेष्ठः कृपां चक्रे नराधिपः ॥५६॥
धर्मे ते वर्धतां बुद्धिर्मा चाधर्मे मनः कृथाः ।
साश्वः सरथपादातः स्वस्ति गच्छ जयद्रथ ॥५७॥

अशुभ कर्म करनेवाला जयद्रथ मृतप्राय-सा हो गया है, यह देख और समझकर भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर ने उसपर कृपा की और कहा—"तेरी बुद्धि धर्म में उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, तू कभी अधर्म में मन मत लगाना। जयद्रथ! अपने रथ, घोड़े और पैदल सबको साथ लिये हुए तू कुशलपूर्वक चला जा।"

एवमुक्तस्तु सव्रीडं तूष्णीं किंचिदवाङ्मुखः ।
जगाम राजन् दुःखार्तो गङ्गाद्वाराय भारत ॥५८॥

जनमेजय! युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर जयद्रथ बहुत लज्जित हुआ। वह नीचा मुँह किये चुपचाप गंगाद्वार—हरद्वार को चला गया।

इति महाभारते वनपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

दुःखी युधिष्ठिर को मार्कण्डेय मुनि का आश्वासन

जनमेजय उवाच

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
अत ऊर्ध्वं नरव्याघ्राः किमकुर्वत पाण्डवाः ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—मुने ! इस प्रकार द्रौपदी का अपहरण होने पर अति दुःख उठाने के पश्चात् पुरुष-सिंह पाण्डवों ने कौन-सा कार्य किया ?

वैशम्पायन उवाच

एवं कृष्णां मोक्षयित्वा विनिर्जित्य जयद्रथम् ।
आसाञ्चक्रे मुनिगणैर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥२॥

वैशम्पायनजी बोले—हे जनमेजय ! इस प्रकार जयद्रथ को जीत और द्रौपदी को छुड़ा लेने के पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर मुनिमण्डली के साथ बैठे हुए थे ।

तेषां मध्ये महर्षीणां शृण्वतामनुशोचताम् ।
मार्कण्डेयमिदं वाक्यमब्रवीत् पाण्डुनन्दनः ॥३॥

महर्षि लोग भी पाण्डवों पर आये हुए संकट को सुनते हुए उसके लिए बारम्बार दुःख प्रकट कर रहे थे । उन्हीं महर्षियों में मार्कण्डेय को लक्ष्य करके पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने कहा—

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् देवर्षीणां त्वं ख्यातो भूतभविष्यवित् ।
संशयं परिपृच्छामि छिन्धि मे हृदि संस्थितम् ॥४॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भगवन् ! आप भूत, वर्तमान और भविष्यत्—तीनों कालों के ज्ञाता हैं । देवर्षियों में भी आपका नाम विख्यात है, अतः मैं आपसे अपने हृदय का एक सन्देह पूछता हूँ । कृपाकर उसका निवारण कीजिए ।

द्रुपदस्य सुता ह्येषा स्नुषा पाण्डोर्महात्मनः ।
न हि पापं कृतं किञ्चित् तां जहार जयद्रथः ॥५॥

यह कृष्णा महाराज द्रुपद की पुत्री है, महात्मा पाण्डु की पुत्रवधू है । इसने कभी कोई पाप नहीं किया है । ऐसी देवी का भी जयद्रथ ने बलपूर्वक अपहरण किया ।

तद् दारहरणं प्राप्तमस्माभिरवितर्कितम् ।
ज्ञातिभिर्विप्रवासश्च मिथ्या व्यवसितैरयम् ॥६॥

जिसके सम्बन्ध में हमने कभी सोचा भी न था, वह पत्नी का अपहरण-रूप अपमान हमें प्राप्त हुआ और मिथ्या व्यवसाय में लगे हुए बान्धवों ने हमें देश से निकाल दिया है ।

अस्ति सम्नं मया कश्चिदल्पभाग्यतरो नरः ।
भवता दृष्टपूर्वो वा श्रुतपूर्वोऽपि वा भवेत् ॥७॥

मैं पूछता हूँ, क्या संसार में मेरे-जैसा मन्दभाग्य मनुष्य कोई और भी है ? अथवा, आपने पहले कभी कहीं मुझ-जैसा भाग्यहीन देखा या सुना है ?

मार्कण्डेय उवाच

प्राप्तमप्रतिमं दुःख रामेण भरतर्षभ ।
रक्षसा जानकी तस्य हृता भार्या बलीयसा ॥८॥
आश्रमाद् राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना ।
मायामास्थाय तरसा हत्वा गृध्रं जटायुषम् ॥९॥

मार्कण्डेयजी बोले—भरतश्रेष्ठ ! श्रीराम को भी वनवास तथा स्त्रीवियोग का दारुण दुःख सहन करना पड़ा था । महाबली दुरात्मा राक्षसराज रावण अपनी माया फैलाकर आश्रम से उनकी पत्नी सीता को वेगपूर्वक हरकर ले गया तथा अपने कार्य में बाधा डालनेवाले गृध्रराज जटायु को भी उसने वहीं मार गिराया था ।

प्रत्याजहार तां रामः सुग्रीवबलमाश्रितः ।
बद्ध्वा सेतुं समुद्रस्य दग्ध्वा लंकां शितैः शरैः ॥१०॥

तब श्रीराम सुग्रीव की सेना का सहारा ले समुद्र पर पुल बाँधकर लंका में गये और अपने आग्नेय आदि तीखे बाणों से लंका को भस्म करके सीता को वापस लाये ।

मा शुचः पुरुषव्याघ्र क्षत्रियोऽसि परन्तप ।
न हि ते वृजिनं किञ्चिद् वर्तते परमण्वपि ॥११॥

शत्रुसन्तापक पुरुषसिंह ! तुम क्षत्रिय हो, अतः शोक मत करो । श्रीराम के कष्ट के समक्ष तुम्हारा कष्ट अणुमात्र भी नहीं है ।

सहायवति सर्वार्थाः सन्तिष्ठन्तीह सर्वशः ।
किं नु तस्याजितं संख्ये यस्य भ्राता धनञ्जयः ॥१२॥

जो सहायकों से सम्पन्न है, इस जगत् में उसके सभी मनोरथ सब प्रकार से सिद्ध होते हैं। फिर जिसके पास धनंजय-जैसा भाई हो, वह युद्ध में किसे परास्त नहीं कर सकता?

अयं च बलिनां श्रेष्ठो भीमो भीमपराक्रमः।
युवानौ च महेष्वासौ वीरौ माद्रवतीसुतौ ॥१३॥

ये भयंकर पराक्रमी भीमसेन बलवानों में श्रेष्ठ हैं। माद्रीनन्दन वीर नकुल और सहदेव भी महान् धनुर्धर तथा नवयुवक हैं।

एभिः सहायैः कस्मात् त्वं विषीदसि परन्तप।
य इमे वज्रिणः सेनां जयेयुः समरुद्गणाम् ॥१४॥

परन्तप! इन सब सहायकों के होते हुए तुम विषाद क्यों करते हो? तुम्हारे ये भाई तो मरुद्गणों-सहित वज्रधारी इन्द्र की सेना को भी परास्त कर सकते हैं।

त्वमप्येभिर्महेष्वासैः सहायैर्देवरूपिभिः।
विजेष्यसे रणे सर्वानमित्रान् भरतर्षभ ॥१५॥

भरतश्रेष्ठ! तुम भी इन देवस्वरूप महाधनुर्धर भाइयों की सहायता से अपने समस्त शत्रुओं को युद्ध में जीत लोगे।

असहायेन रामेण वैदेही पुनराहृता।
हत्वा संख्ये दशग्रीवं राक्षसं भीमविक्रमम् ॥१६॥

श्रीराम तो सहायकों से हीन थे, तो भी उन्होंने युद्ध में भयंकर पराक्रमी राक्षस रावण का वध करके विदेहकुमारी सीता को पुनः लौटा लिया। [तुम्हारे तो चार शूरवीर भाई सहायक हैं।]

तस्मात् स त्वं कुरुश्रेष्ठ मा शुचो भरतर्षभ।
त्वद्विधा हि महात्मानो न शोचन्ति परन्तप ॥१७॥

कुरुश्रेष्ठ! भरतकुलभूषण! तुम शोक न करो। परन्तप! तुम्हारे जैसे महापुरुष कभी शोक नहीं करते।

इति महाभारते वनपर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

ब्राह्मण की अरणि एवं मन्थन-काष्ठ का पता लगाने के लिए पाण्डवों का मृग के पीछे दौड़ना; नकुल आदि चारों भाइयों का सरोवर के तट पर अचेत होना

जनमेजय उवाच

एवं हृतायां भार्यायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम्।
प्रतिपद्य ततः कृष्णां किमकुर्वत पाण्डवाः ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—हे ब्रह्मन्! इस प्रकार अपनी पत्नी द्रौपदी का अपहरण होने पर अत्यन्त क्लेश उठाकर जब पाण्डवों ने उसे पुनः प्राप्त कर लिया, तत्पश्चात् उन्होंने क्या किया?

वैशम्पायन उवाच

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम्।
विहाय काम्यकं राजा सह भ्रातृभिरच्युतः ॥२॥
पुनर्द्वैतवनं रम्यमाजगाम युधिष्ठिरः।
स्वादुमूलफलं रम्यं विचित्रबहुपादपम् ॥३॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन्! पूर्वोक्त प्रकार से द्रौपदी का हरण होने पर भारी क्लेश उठाने के पश्चात् जब पाण्डवों ने उसे पा लिया, तब धर्म से च्युत न होनेवाले राजा युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ काम्यक वन छोड़कर पुनः द्वैतवन में आ गये। वहाँ स्वादिष्ट फल-मूलों की प्रचुरता थी तथा बहुत-से विचित्र वृक्ष उस वन की शोभा बढ़ाते थे।

तस्मिन् प्रतिवसन्तस्ते यत् प्रापुः कुरुसत्तमाः।
वने क्लेशं सुखोदर्कं तत् प्रवक्ष्यामि ते शृणु ॥४॥

हे राजन्! उस वन में रहते हुए उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवों ने भविष्य में सुख देनेवाला जो क्लेश उठाया, उसका वर्णन करता हूँ, सुनो!

अरणीसहितं मन्थं ब्राह्मणस्य तपस्विनः।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥५॥

एक तपस्वी ब्राह्मण का [रस्सी में बँधा] अरणी-सहित मन्थनकाष्ठ एक वृक्ष पर टँगा था। एक मृग वहाँ आकर उस वृक्ष से अपना शरीर रगड़ने लगा। उस समय वे दोनों काष्ठ उसके सींग में अटक गये।

तदादाय गतो राजँस्त्वरमाणो महामृगः ।
आश्रमान्तरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥६॥

राजन् ! उस काष्ठ को लेकर वह महामृग अति शीघ्रता से भागा और बड़े वेग से चौकड़ी भरता हुआ शीघ्र ही आश्रम से ओझल हो गया ।

ह्रियमाणं तु तं दृष्ट्वा स विप्रः कुरुसत्तम ।
त्वरितोऽभ्यागमत् तत्र अग्निहोत्रपरीप्सया ॥७॥

कुरुश्रेष्ठ ! वह ब्राह्मण अपने मन्थन काष्ठ को हरण होता हुआ देख, अपने अग्निहोत्र की रक्षा के लिए तुरन्त पाण्डवों के आश्रम में आया ।

अजातशत्रुमासीनं भ्रातृभिः सहितं वने ।
आगम्य ब्राह्मणस्तूर्णं संतप्तश्चेदमब्रवीत् ॥८॥

वन में अपने भाइयों के साथ बैठे हुए अजातशत्रु युधिष्ठिर के पास पहुँचकर सन्तप्त हुए ब्राह्मण ने इस प्रकार कहा—

अरणीसहितं मन्थं समासक्तं वनस्पतौ ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥९॥
तदादाय गतो राजँस्त्वरमाणो महामृगः ।
आश्रमात् त्वरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ॥१०॥

"हे राजन् ! मैंने अपनी अरणी और मथानी एक वृक्ष पर रख दी थी । एक हरिण वहाँ आकर उस वृक्ष से अपना शरीर रगड़ने लगा और वे दोनों काष्ठ उसके सींग में फँस गये । वह महामृग उन काष्ठों को लेकर बड़ी उतावली के साथ भाग गया है । अत्यन्त वेगशाली होने के कारण चौकड़ी भरता हुआ वह आश्रम से बहुत दूर निकल गया है ।

तस्य गत्वा पदं राजन्नासाद्य च महामृगम् ।
अग्निहोत्रं न लुप्येत तदानयत पाण्डवाः ॥११॥

"महाराज युधिष्ठिर ! वीर पाण्डवो ! तुम सब लोग उसके पदचिह्नों को देखते हुए उस महामृग के पास पहुँचो और वे दोनों काष्ठ ला दो, जिससे मेरा यज्ञकर्म लुप्त न हो ।"

ब्राह्मणस्य वचः श्रुत्वा संतप्तोऽथ युधिष्ठिरः ।
धनुरादाय कौन्तेयः प्राद्रवत् भ्रातृभिः सह ॥१२॥

ब्राह्मण की बात सुनकर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर बहुत दुःखी हुए और मृग का पता लगाने के लिए वे धनुष लेकर भाइयोंसहित दौड़े ।

तेषां प्रयतमानानां नादृश्यत महामृगः ।
अपश्यन्तो मृगं श्रान्ता दुःखं प्राप्ता मनस्विनः ॥१३॥

घोर प्रयत्न करने पर भी वह महामृग उनके हाथ न लगा । वह सहसा अदृश्य हो गया । उस मृग को न देखकर वे मनस्वी वीर निराश और दुःखी हो गये ।

शीतलच्छायमागम्य न्यग्रोधं गहने वने ।
क्षुत्पिपासापरीताङ्गाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥१४॥

तत्पश्चात् भूख-प्यास से व्याकुल वे पाण्डव उस गहन वन में एक शीतल छायावाले बरगद के नीचे आकर बैठ गये ।

ततो युधिष्ठिरो राजा नकुलं वाक्यमब्रवीत् ।
आरुह्य वृक्षं माद्रेय निरीक्षस्व दिशो दश ॥१५॥
पानीयमन्तिके पश्य वृक्षांश्चाप्युदकाश्रितान् ।
एते हि भ्रातरः श्रान्तास्तव तात पिपासिताः ॥१६॥

कुछ देर पश्चात् राजा युधिष्ठिर ने नकुल से कहा—"माद्रीनन्दन ! किसी वृक्ष पर चढ़कर सब दिशाओं में दृष्टिपात करो । कहीं आस-पास पानी हो तो देखो । अथवा जल के किनारे होनेवाले वृक्षों पर भी दृष्टि डालो, क्योंकि तात ! तुम्हारे ये भाई थके-माँदे और प्यासे हैं ।"

नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा शीघ्रमारुह्य पादपम् ।
अब्रवीद् भ्रातरं ज्येष्ठमभिवीक्ष्य समन्ततः ॥१७॥

तब नकुल 'बहुत अच्छा' कहकर शीघ्र ही एक वृक्ष पर चढ़ गये और चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर अपने भाई से बोले—

पश्यामि बहुलान् राजन् वृक्षानुदकसंश्रयान् ।
सारसानां च निर्ह्रादमत्रोदकमसंशयम् ॥१८॥

"राजन् ! मैं ऐसे बहुत-से वृक्ष देख रहा हूँ जो जल के किनारे ही होते हैं । सारसों की आवाज़ भी सुनाई देती है, अतः निःसन्देह यहाँ आस-पास ही कोई सरोवर है ।"

ततोऽब्रवीत् सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
गच्छ सौम्य ततः शीघ्रं तूर्णं पानीयमानय ॥१९॥

तब सत्य का पालन करनेवाले कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ने नकुल से कहा—'सौम्य ! शीघ्र जाओ और तरकस में पानी ले आओ ।'

नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासनात् ।
प्राद्रवद् यत्र पानीयं शीघ्रं चैवान्वपद्यत ॥२०॥

नकुल 'बहुत अच्छा' कहकर बड़े भाई की आज्ञा से शीघ्रतापूर्वक गये और तुरन्त वहाँ पहुँच गये, जहाँ जलाशय था ।

स दृष्ट्वा विमलं तोयं सारसैः परिवारितम् ।
पातुकामस्ततो वाचमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे ॥२१॥

सारसों से घिरे हुए उस जलाशय के निर्मल जल को देखकर नकुल को उसे पीने की इच्छा हुई। इतने में ही आकाश से उनके कानों में एक स्पष्ट वाणी सुनाई दी ।

यक्ष उवाच

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु माद्रेय ततः पिब हरस्व च ॥२२॥

यक्ष बोला—हे तात ! इस सरोवर का पानी पीने का साहस मत करो । इस पर पहले से ही मेरा अधिकार है । हे माद्रीकुमार ! पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, फिर तुम पानी पीओ और ले भी जाओ ।

वैशम्पायन उवाच

अनादृत्य तु तद् वाक्यं नकुलः सुपिपासितः ।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—प्यास से व्याकुल नकुल ने यक्ष के उस कथन की अवहेलना करके वहाँ का शीतल जल पी लिया । जल पीते ही वे अचेत होकर गिर पड़े ।

चिरायमाणे नकुले कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीद् भ्रातरं वीरं सहदेवमरिन्दमम् ॥२४॥

जब नकुल के लौटने में विलम्ब हो गया, तब कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने अपने शत्रुहन्ता वीरभ्राता सहदेव से कहा—

भ्राता हि चिरयातो नः सहदेव तवाग्रजः ।
तथैवानय सोदर्यं पानीयं च त्वमानय ॥२५॥

"सहदेव ! हमारे अनुज और तुम्हारे अग्रज भ्राता नकुल को यहाँ से गये बहुत देर हो गई, अतः तुम जाकर अपने सहोदर भाई को बुला लाओ और पानी भी ले आओ ।"

सहदेवस्तथेत्युक्त्वा तां दिशं प्रत्यपद्यत ।
ददर्श च हतं भूमौ भ्रातरं नकुलं तदा ॥२६॥

तब सहदेव 'बहुत अच्छा' कहकर उसी दिशा की ओर चल दिये । वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि भाई नकुल भूमि पर मरे पड़े हैं ।

भ्रातृशोकाभिसंतप्तस्तृषया च प्रपीडितः ।
अभिदुद्राव पानीयं ततो वागभ्यभाषत ॥२७॥

भाई की मृत्यु के शोक से सन्तप्त साथ ही प्यास के कारण अत्यन्त व्याकुल वह पानी की ओर दौड़ा, उसी समय आकाशवाणी सुनाई पड़ी—

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा यथाकामं ततः पिब हरस्व च ॥२८॥

"तात ! पानी पीने का साहस मत करो । यहाँ पहले से ही मेरा अधिकार हो चुका है । पहले तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, फिर इच्छानुसार जल-पान करो और ले जाओ ।"

अनादृत्य तु तद् वाक्यं सहदेवः पिपासितः ।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥२९॥

प्यास से व्याकुल सहदेव उस वचन की अवहेलना करके वहाँ का ठण्डा जल पीने लगे, परन्तु जल पीते ही अचेत होकर गिर पड़े ।

अथाब्रवीत् स विजयं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भ्रातरौ ते चिरगतौ बीभत्सो शत्रुकर्शन ॥३०॥

तत्पश्चात् कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा, "शत्रुनाशन अर्जुन ! तुम्हारे दोनों भाइयों को गये बहुत समय हो गया ।

तौ चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ।
त्वं हि नस्तात सर्वेषां दुःखितानामपाश्रयः ॥३१॥

"तुम्हारा कल्याण हो ! तुम उन दोनों भाइयों को बुला लाओ और साथ ही पानी भी ले आओ । तात ! तुम्हीं हम सब दुःखी बन्धुओं के सहारे हो ।"

एवमुक्तो गुडाकेशः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
आमुक्तखड्गो मेधावी तत्सरः प्रतिपद्यत ॥३२॥

युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर निद्रा को विजय करनेवाले बुद्धिमान् अर्जुन धनुष-बाण एवं खुला खड्ग लेकर उस सरोवर के तट पर गये ।

ततः पुरुषशार्दूलौ पानीयहरणे गतौ ।
तौ ददर्श हतौ तत्र भ्रातरौ श्वेतवाहनः ॥३३॥

श्वेतवाहन अर्जुन ने जल लाने के लिए गये हुए उन दोनों पुरुषसिंह भाइयों को वहाँ मरे हुए देखा ।

प्रसुप्ताविव तौ दृष्ट्वा नरसिंहः सुदुःखितः ।
धनुरुद्यम्य कौन्तेयो व्यलोकयत तद् वनम् ॥३४॥

दोनों भाइयों को प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए-से देखकर पुरुषसिंह अर्जुन को बहुत दुःख हुआ । फिर उन्होंने धनुष उठाकर उस वन का अच्छी प्रकार निरीक्षण किया ।

नापश्यत् तत्र किंचित् स भूतमस्मिन् महावने ।
सव्यसाची ततः श्रान्तः पानीयं सोऽभ्यधावत ॥३५॥

उस विशाल वन में जब उन्हें कोई हिंसक प्राणी दिखाई नहीं दिया, तब सव्यसाची अर्जुन थककर पानी की ओर दौड़े ।

अभिधावँस्ततो वाक्यमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे ।
किमासीदसि पानीयं नैतच्छक्यं बलात् त्वया ॥३६॥
कौन्तेय यदि प्रश्नांस्तान् मयोक्तान् प्रतिपत्स्यसे ।
ततः पास्यसि पानीयं हरिष्यसि च भारत ॥३७॥

पानी की ओर दौड़ते हुए उन्हें आकाशवाणी सुनाई दी—"कुन्तीनन्दन ! क्यों पानी की ओर दौड़ रहे हो ? तुम बलपूर्वक जल नहीं पी सकते । भारत! यदि मेरे प्रश्नों का उत्तर दे सको, तभी तुम पानी पी सकोगे और ले जा भी सकोगे ।"

वारितस्त्वब्रवीत् पार्थो दृश्यमानो निवारय ।
यावद् बाणैर्विनिर्भिन्नः पुनर्नैवं वदिष्यसि ॥३८॥

इस प्रकार मना किये जाने पर अर्जुन ने कहा—"तनिक सामने आकर रोको । सामने आते ही बाणों से तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े हो जाएँगे फिर तुम इस प्रकार नहीं बोल सकोगे ।"

एवमुक्त्वा ततः पार्थः शरैरस्त्रानुमन्त्रितैः ।
प्रववर्ष दिशः कृत्स्नाः शब्दवेधं च दर्शयन् ॥३९॥

ऐसा कहकर अर्जुन ने अपनी शब्दवेधी बाण-विद्या का परिचय देते हुए सब ओर दिव्यास्त्रों से अभिमन्त्रित बाणों की झड़ी लगा दी ।

यक्ष उवाच

किं विघातेन ते पार्थ प्रश्नानुक्त्वा ततः पिब ।
अनुक्त्वा च पिबन् प्रश्नान् पीत्वैव न भविष्यसि ॥४०॥

यक्ष ने कहा—पार्थ ! इस प्रकार प्राणियों की हिंसा से क्या लाभ ? पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, फिर जल पीओ । यदि तुम मेरे प्रश्नों का उत्तर दिये बिना जल पीओगे तो पीते ही मर जाओगे ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततः पार्थः सव्यसाची धनञ्जयः ।
अवज्ञायैव तां वाचं पीत्वैव निपपात ह ॥४१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उसके ऐसा कहने पर कुन्तीपुत्र सव्यसाची धनञ्जय उसके वचनों का अनादर करके पानी पीने लगे और पीते ही अचेत होकर गिर पड़े ।

अथाब्रवीद् भीमसेनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च बीभत्सुश्च परन्तप ॥४२॥
चिरं गतास्तोयहेतोर्न चागच्छन्ति भारत ।
तांश्चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ॥४३॥

अर्जुन के न लौटने पर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा—"परन्तप ! भरतनन्दन ! नकुल, सहदेव और अर्जुन को पानी के लिए गये हुए बहुत देर हो गई । वे अभी तक नहीं लौटे हैं । तुम्हारा कल्याण हो । तुम जाकर उन्हें बुला लाओ और पानी भी ले आओ ।"

भीमसेनस्तथेत्युक्त्वा तं देशं प्रत्यपद्यत ।
यत्र ते पुरुषव्याघ्रा भ्रातरोऽस्य निपातिताः ॥४४॥

तब भीमसेन 'बहुत अच्छा' कहकर उस स्थान पर गये जहाँ वे पुरुषसिंह तीनों भाई पृथिवी पर मरे पड़े थे ।

तान् दृष्ट्वा दुःखितो भीमस्तृषया च प्रपीडितः ।
अमन्यत महाबाहुः कर्म तद् यक्षरक्षसाम् ॥४५॥

अपने भाइयों को उस दशा में देखकर प्यास से व्याकुल भीमसेन को बड़ा दुःख हुआ । महाबाहु भीम ने सोचा—'यह यक्षों या राक्षसों का काम है ।'

स चिन्तयामास तदा योद्धव्यं ध्रुवमद्य वै ।
पास्यामि तावत् पानीयमिति पार्थो वृकोदरः ।
ततोऽभ्यधावत् पानीयं पिपासुः पुरुषर्षभः ॥४६॥

फिर उन्होंने सोचा—'आज मुझे निश्चय ही शत्रु से युद्ध करना पड़ेगा, अतः पहले जल पी लूं ।'

ऐसा निश्चय करके प्यासे नरश्रेष्ठ कुन्तीकुमार भीमसेन जल की ओर दौड़े।

यक्ष उवाच

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥४७॥

यक्ष बोला—हे तात! पानी पीने का साहस न करना। इस सरोवर पर पहले से ही मेरा अधिकार स्थापित हो चुका है। कुन्तीपुत्र! पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, फिर पानी पीओ और ले भी जाओ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तदा भीमो यक्षेणामिततेजसा।
अनुक्त्वैव तु तान् प्रश्नान् पीत्वैव निपपात ह ॥४८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अमित तेजस्वी यक्ष के ऐसा कहने पर भी भीमसेन उन प्रश्नों का उत्तर दिये बिना ही जल पीने लगे और पीते ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े।

ततः कुन्तीसुतो राजा प्रविवेश महावनम्।
ददर्श तत् सरः श्रीमान् विश्वकर्मकृतं यथा ॥४९॥

तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने स्वयं उस विशाल वन में प्रवेश किया और उस सरोवर को देखा जो साक्षात् विश्वकर्मा द्वारा निर्मित किया जान पड़ता था।

इति महाभारते वनपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

यक्ष-युधिष्ठिर संवाद

वैशम्पायन उवाच

स ददर्श हतान् भ्रातॄन् सर्वांश्चिन्तासमन्वितः।
धर्मपुत्रो महाबाहुर्विललाप सुविस्तरम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! अपने भाइयों को मरा हुआ देखकर महाबाहु धर्मपुत्र युधिष्ठिर गहरी चिन्ता में पड़ गये और देर तक विलाप करते रहे—

कथं रिपुवशं यातौ कुन्तीपुत्रौ महाबलौ।
यौ सर्वास्त्राप्रतिहतौ भीमसेनधनञ्जयौ ॥२॥

"कुन्तीदेवी के ये दोनों महाबली पुत्र भीम और अर्जुन, जो किसी भी अस्त्र द्वारा अवध्य थे, वे आज सहसा शत्रु के अधीन कैसे हो गये?

अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम दुर्हृदः।
यमौ यदेतौ दृष्ट्वाद्य पतितौ नावदीर्यते ॥३॥

"मुझ दुष्ट का हृदय निश्चय ही पत्थर एवं लोहे का बना हुआ है जो आज इन दोनों भाई नकुल और सहदेव को भूमि पर पड़ा देखकर भी टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाता।

शास्त्रज्ञा देशकालज्ञास्तपोयुक्ताः क्रियान्विताः।
अकृत्वा सदृशं कर्म किं शेध्वं पुरुषर्षभाः ॥४॥

"पुरुषसिंह बन्धुओ! तुम सभी शास्त्रों के जानने-वाले, देशकाल को समझनेवाले, तपस्वी और कर्मठ वीर थे फिर अपने योग्य पराक्रम किये बिना ही तुम लोग प्राणहीन होकर कैसे सो रहे हो?

अविक्षतशरीराश्चाप्यप्रमृष्टशरासनाः
असंज्ञा भुवि संगम्य किं शेध्वमपराजिताः ॥५॥

"तुम्हारे शरीरों पर कोई घाव नहीं है। तुमने धनुष-बाण का स्पर्श तक नहीं किया है तथा तुम किसी से परास्त होनेवाले भी नहीं हो, फिर इस पृथिवी पर अचेत होकर क्यों पड़े हो?"

एवं विलप्य बहुधा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
बुद्ध्या विचिन्तयामास वीराः केन निपातिताः ॥६॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिर इस प्रकार बहुत देर तक विलाप करने के पश्चात् अपनी बुद्धि द्वारा यह विचार करने लगे—'इन वीरों को किसने मार गिराया है?

एकैकशश्चौघबलानिमान् पुरुषसत्तमान्।
कोऽन्यः प्रतिसमासेत कालान्तकयमादृते ॥७॥

'मेरे इन पुरुषरत्न भाइयों में से प्रत्येक के शरीर में बल का अगाध सागर लहराता था। आयु पूर्ण होने पर सबका अन्त कर देनेवाले यमराज के सिवाय दूसरा कौन इनसे भिड़ सकता था?'

एतेन व्यवसायेन तत् तोयं व्यवगाढवान् ।
गाहमानश्च तत् तोयमन्तरिक्षात् स शुश्रुवे ॥८॥

ऐसा सोचते-विचारते युधिष्ठिर जल में उतरे। पानी में प्रवेश करते ही उन्हें अलक्ष्य आकाशवाणी सुनाई दी—

यक्ष उवाच

इमे ते भ्रातरो राजन् वार्यमाणा मयासकृत् ।
बलात् तोयं जिहीर्षन्तस्ततो वै मृदिता मया ॥९॥
पार्थ मा साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥१०॥

यक्ष बोला—हे राजन्! तुम्हारे इन भाइयों को मैंने बार-बार रोका था, फिर भी ये बलपूर्वक जल ले जाना चाहते थे, इसी से मैंने इन्हें मार डाला। पार्थ! तुम भी पानी पीने का साहस मत करना। यह सरोवर पहले से मेरे अधिकार में है। हे कुन्ती-नन्दन! पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, फिर जल पीओ और ले भी जाओ।

युधिष्ठिर उवाच

न चाहं कामये यक्ष तव पूर्वपरिग्रहम् ।
यथाप्रज्ञं तु ते प्रश्नान् प्रतिवक्ष्यामि पृच्छ माम् ॥११॥

युधिष्ठिर ने कहा—यक्ष! मैं तुम्हारे अधिकार की वस्तु को नहीं लेना चाहता। मैं अपनी बुद्धि के अनुसार तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दूंगा। तुम मुझसे प्रश्न करो।

यक्ष उवाच

किं स्विदादित्यमुन्नयति के च तस्याभितश्चराः ।
कश्चैनमस्तं नयति कस्मिंश्च प्रतितिष्ठति ॥१२॥

यक्ष ने पूछा—सूर्य को कौन उदित करता है? उसके चारों ओर कौन चलते हैं? उसे अस्त कौन करता है? और वह किसमें प्रतिष्ठित है?

युधिष्ठिर उवाच

ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याभितश्चराः ।□
धर्मश्चास्तं नयति च सत्ये च प्रतितिष्ठति ॥१३॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्म सूर्य को उदित करता है। देवगण उसके चारों ओर चलते हैं। धर्म उसे अस्त करता है और वह सत्य में प्रतिष्ठित है।

यक्ष उवाच

केनस्विच्छ्रोत्रियो भवति केनस्विद् विन्दते महत् ।
केन द्वितीयवान् राजन् केन भवति बुद्धिमान् ॥१४॥

यक्ष ने पूछा—हे राजन्! मनुष्य श्रोत्रिय किससे होता है? महत् पद को किसके द्वारा प्राप्त करता है? वह किसके द्वारा द्वितीयवान् होता है और बुद्धिमान् किससे होता है?

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतेन श्रोत्रियो भवति तपसा विन्दते महत् ।□
धृत्या द्वितीयवान् यक्ष बुद्धिमान् वृद्धसेवया ॥१५॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—मनुष्य वेदाध्ययन से श्रोत्रिय बनता है! तप से महान् पद पाता है। हे यक्ष! धैर्य से मनुष्य दूसरे साथी से युक्त होता है और वृद्ध पुरुषों की सेवा से बुद्धिमान् होता है।

यक्ष उवाच

किं ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥१६॥

यक्ष ने पूछा—ब्राह्मणों में देवत्व क्या है? उनमें सत्पुरुषों का-सा धर्म क्या है? उनका मनुष्यभाव क्या है? तथा उनमें असत्पुरुषों का-सा आचरण क्या है?

युधिष्ठिर उवाच

स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव ।□
मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव ॥१७॥

युधिष्ठिर बोले—वेदों का स्वाध्याय ही ब्राह्मणों में देवत्व है, तप सत्पुरुषों का-सा धर्म है, मरना मनुष्य भाव है और निन्दा करना असत्पुरुषों का-सा आचरण है।

यक्ष उवाच

किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥१८॥

यक्ष ने पूछा—क्षत्रियों में देवत्व क्या है? उनमें सत्पुरुषों का-सा धर्म क्या है? उनका मनुष्यभाव क्या है? तथा उनमें असत्पुरुषों का-सा आचरण क्या है?

युधिष्ठिर उवाच

इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव ।□
भयं वै मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव ॥१९॥

युधिष्ठिर बोले—बाणविद्या क्षत्रियों का देवत्व है, यज्ञ उनका सत्पुरुषों का-सा धर्म है, भय मानवीय भाव है तथा शरणागत दुःखियों का परित्याग असत्पुरुषों का-सा आचरण है।

यक्ष उवाच

किमेकं यज्ञियं साम किमेकं यज्ञियं यजुः।
का चैषां वृणुते यज्ञं कां यज्ञो नातिवर्तते ॥२०॥

यक्ष ने पूछा—कौन-सी एक वस्तु यज्ञीय साम है? कौन एक वस्तु यज्ञीय यजु है? कौन एक वस्तु यज्ञ का वरण करती है? किस एक का यज्ञ अतिक्रमण नहीं करता।

युधिष्ठिर उवाच

प्राणो वै यज्ञियं साम मनो वै यज्ञियं यजुः।
ऋगेका वृणुते यज्ञं तां यज्ञो नातिवर्तते ॥२१॥

युधिष्ठिर बोले—प्राण ही यज्ञीय साम है, मन ही यज्ञसम्बन्धी यजु है। एकमात्र ऋचा ही यज्ञ का वरण करती है और उसी का यज्ञ अतिक्रमण नहीं करता।

यक्ष उवाच

किं स्विदावपतां श्रेष्ठं किं स्विन्निवपतां वरम्।
किं स्वित् प्रतिष्ठमानानां किं स्वित् प्रसवतां वरम् ॥२२

यक्ष ने पूछा—खेती करनेवालों के लिए कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है? बोनेवालों के लिए क्या श्रेष्ठ है? प्रतिष्ठा-प्राप्त धनियों के लिए कौन-सी वस्तु श्रेष्ठ है? सन्तान उत्पन्न करनेवालों के लिए क्या श्रेष्ठ है?

युधिष्ठिर उवाच

वर्षमावपतां श्रेष्ठं बीजं निवपतां वरम्।☐
गावः प्रतिष्ठमानानां पुत्रः प्रसवतां वरः ॥२३॥

युधिष्ठिर बोले—खेती करनेवालों के लिए वर्षा श्रेष्ठ है। बोनेवालों के लिए बीज श्रेष्ठ है। प्रतिष्ठा प्राप्त धनिकों के लिए गोपालन श्रेष्ठ है तथा सन्तान उत्पन्न करनेवालों के लिए पुत्र श्रेष्ठ है।

यक्ष उवाच

इन्द्रियार्थाननुभवन् बुद्धिमाँल्लोकपूजितः।
सम्मतः सर्वभूतानामुच्छ्वसन् को न जीवति ॥२४॥

यक्ष ने पूछा—ऐसा कौन मनुष्य है जो बुद्धिमान्, लोक में सम्मानित तथा सब प्राणियों का माननीय होकर और इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करते हुए एवं श्वास लेते हुए भी वास्तव में जीवित नहीं है?

युधिष्ठिर उवाच

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥२५॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—जो देवता, अतिथि, भरणीय कुटुम्बीजन, पितर और आत्मा—इन पाँचों का पोषण नहीं करता, वह श्वास लेने पर भी जीवित नहीं है।

यक्ष उवाच

किं स्विद् गुरुतरं भूमेः किं स्विदुच्चतरं च खात्।
किं स्विच्छीघ्रतरं वायोः किं स्विद् बहुतरं तृणात् ॥२६

यक्ष ने पूछा—पृथिवी से भारी क्या है? आकाश से भी ऊँचा क्या है? वायु से भी तीव्र चलनेवाला क्या है और तृणों से भी असंख्य (असीम, विस्तृत) एवं अनन्त क्या है?

युधिष्ठिर उवाच

माता गुरुतरा भूमेः पिता चोच्चतरश्च खात्।☐
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरी तृणात् ॥२७॥

युधिष्ठिर ने कहा—माता पृथिवी से भी भारी है। पिता आकाश से भी ऊँचा है। मन वायु से भी अधिक तीव्रगामी है और चिन्ता तिनकों से भी अधिक, असंख्य (असीम, विस्तृत) एवं अनन्त है।

यक्ष उवाच

किन्न निमिषति सुप्तं किं स्विज्जातं न चोपति।
कस्य स्विद् हृदयं नास्ति किं स्विद् वेगेन वर्धते ॥२८॥

यक्ष ने पूछा—कौन नींद में भी आँखें बन्द नहीं करता? कौन उत्पन्न होकर भी चेष्टा नहीं करता? किसमें हृदय नहीं है? वेग से कौन बढ़ता है?

युधिष्ठिर उवाच

मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति।☐
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ॥२९॥

युधिष्ठिर बोले—मछली सोने पर भी आँखें नहीं मूँदती। अण्डा उत्पन्न होकर भी चेष्टा नहीं करता। पत्थर में हृदय नहीं होता और नदी वेग से बढ़ती है।

यक्ष उवाच

किं स्वित् प्रवसतो मित्रं किं स्विन्मित्रं गृहे सतः।
आतुरस्य च किं मित्रं किं स्विन्मित्रं मरिष्यतः ॥३०

यक्ष ने पूछा—प्रवासी का मित्र कौन है? गृहस्थ का मित्र कौन है? रोगी का मित्र कौन है? मृत्यु के निकट पहुँचे हुए मनुष्य का मित्र कौन है?

युधिष्ठिर उवाच

सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः।
आतुरस्य भिषङ् मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः ॥३१॥

युधिष्ठिर ने कहा—सहयात्री (साथ में यात्रा करनेवाला साथी ही) प्रवासी का मित्र है। पत्नी गृहस्थ की मित्र है। वैद्य रोगी का मित्र है और दान मरनेवाले मनुष्य का मित्र है।

यक्ष उवाच

कोऽतिथिः सर्वभूतानां किं स्विद्धर्मः सनातनः।
अमृतं किं स्विद् राजेन्द्र किं स्वित् सर्वमिदं जगत् ॥३२॥

यक्ष ने पूछा—हे राजेन्द्र! समस्त प्राणियों का अतिथि कौन है? सनातन धर्म क्या है? अमृत क्या है और यह सारा जगत् क्या है?

युधिष्ठिर उवाच

अतिथिः सर्वभूतानामग्निः सोमो गवामृतम्।
सनातनोऽमृतो धर्मो वायुः सर्वमिदं जगत् ॥३३॥

युधिष्ठिर बोले—अग्नि ही समस्त प्राणियों का अतिथि है। गौ का दूध अमृत है। अविनाशी नित्य धर्म ही सनातन धर्म है। वायु यह सारा जगत् है।

यक्ष उवाच

किं स्विदेको विचरते जातः को जायते पुनः।
किं स्विद्धिमस्य भैषज्यं किं स्विदावपनं महत् ॥३४॥

यक्ष ने पूछा—अकेला कौन विचरता है? एक बार उत्पन्न होकर पुनः कौन उत्पन्न होता है? शीत की औषध क्या है? बीज बोने का बहुत बड़ा क्षेत्र कौन-सा है?

युधिष्ठिर उवाच

सूर्य एको विचरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत् ॥३५॥

युधिष्ठिर बोले—सूर्य ही अकेला विचरता है। चन्द्रमा एक बार जन्म लेकर पुनः जन्म लेता है। अग्नि शीत की औषध है। पृथिवी बीज बोने का बहुत बड़ा स्थान है।

यक्ष उवाच

किं स्विदेकपदं धर्म्यं किं स्विदेकपदं यशः।
किं स्विदेकपदं स्वर्ग्यं किं स्विदेकपदं सुखम् ॥३६॥

यक्ष ने पूछा—धर्म का मुख्य स्थान क्या है? यश का मुख्य स्थान क्या है? स्वर्ग का मुख्य स्थान क्या है? सुख का मुख्य स्थान क्या है?

युधिष्ठिर उवाच

दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम् ॥३७॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—धर्म का मुख्य स्थान दक्षता है। यश का मुख्य स्थान दान है। स्वर्ग का मुख्य स्थान सत्य है और सुख का मुख्य स्थान शील है।

यक्ष उवाच

किं स्विदात्मा मनुष्यस्य किं स्विद् दैवकृतः सखा।
किञ्चोपजीवनमस्य किं स्विदस्य परायणम् ॥३८॥

यक्ष ने पूछा—मनुष्य की आत्मा क्या है? इसका दैवकृत सखा कौन है? इसके जीवन का सहारा क्या है? इसका परम आश्रय क्या है?

युधिष्ठिर उवाच

पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा।
उपजीवनं पर्जन्यो दानमस्य परायणम् ॥३९॥

युधिष्ठिर बोले—पुत्र मनुष्य की आत्मा है, स्त्री इसकी दैवकृत सहचरी (जीवन-संगिनी) है। मेघ उसका उप-जीवन=सहारा है और दान इसका आश्रय है।

यक्ष उवाच

धन्यानामुत्तमं किं स्विद् धनानां स्यात् किमुत्तमम्।
लाभानानुत्तमं किं स्यात् सुखानां स्यात् किमुत्तमम् ॥४०

यक्ष ने पूछा—धन्य पुरुषों में उत्तम गुण क्या है? धनों में उत्तम धन क्या है? लाभों में प्रधान लाभ क्या है? तथा सुखों में उत्तम सुख क्या है?

युधिष्ठिर उवाच

धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम्।
लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा ॥४१॥

युधिष्ठिर बोले—धन्य पुरुषों में दक्षता ही उत्तम गुण है। धनों में शास्त्र-ज्ञान प्रधान है। लाभों में आरोग्य लाभ श्रेष्ठ है और सुखों में सन्तोष ही सबसे उत्तम सुख है।

यक्ष उवाच

कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्मः सदाफलः।
किं नियम्य न शोचन्ति कैश्च सन्धिर्न जीर्यते ॥४२॥

यक्ष ने पूछा—लोक में श्रेष्ठ धर्म क्या है? नित्य फल देनेवाला धर्म क्या है? किसको वश में रखने से मनुष्य शोक नहीं करते? किनके साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती?

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः।
मनो यम्य न शोचन्ति सन्धिः सद्भिर्न जीर्यते ॥४३॥

युधिष्ठिर बोले—संसार में दया श्रेष्ठ धर्म है। वेदोक्त-धर्म नित्य फल देनेवाला है। मन को वश में रखने से मनुष्य शोक नहीं करते और सत्पुरुषों के साथ की हुई मित्रता नष्ट नहीं होती।

यक्ष उवाच

किं नु हित्वा प्रियो भवेत्किं नु हित्वा न शोचति।
किं नु हित्वार्थवान् भवेत्किं नु हित्वा सुखी भवेत् ॥४४

यक्ष ने पूछा—किस वस्तु को त्यागकर मनुष्य प्रिय होता है? किस वस्तु को त्यागकर मनुष्य शोक नहीं करता? किसको त्यागकर वह अर्थवान् होता है और किसको त्यागकर सुखी होता है?

युधिष्ठिर उवाच

मानं हित्वा प्रियो भवेत्क्रोधं हित्वा न शोचति।
कामं हित्वार्थवान् भवेल्लोभं हित्वा सुखी भवेत् ॥४५॥

युधिष्ठिर बोले—मान को त्याग देने पर मनुष्य प्रिय होता है, क्रोध को त्यागने पर शोक नहीं करता, काम को त्यागकर वह अर्थवान् होता है तथा लोभ को त्यागकर सुखी होता है।

यक्ष उवाच

किमर्थं ब्राह्मणे दानं किमर्थं नटनर्तके।
किमर्थं चैव भृत्येषु किमर्थं चैव राजसु ॥४६॥

यक्ष ने पूछा—ब्राह्मण को दान क्यों दिया जाता है? नट और नर्तकों को दान क्यों देते हैं? सेवकों को दान देनें का क्या प्रयोजन है? राजाओं को दान क्यों दिया जाता है?

युधिष्ठिर उवाच

धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोऽर्थं नटनर्तके।
भृत्येषु भरणार्थं वै भयार्थं चैव राजसु ॥४७॥

युधिष्ठिर बोले—ब्राह्मणों को धर्म के लिए दान दिया जाता है, नट-नर्तकों को यश के लिए धन देते हैं, सेवकों को उनके भरण-पोषण के लिए दान=वेतन दिया जाता है और राजाओं को भय के कारण दान=कर देते हैं।

यक्ष उवाच

केन स्विदावृतो लोकः केन स्विन्न प्रकाशते।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥४८॥

यक्ष ने पूछा—जगत् किस वस्तु से ढका हुआ है? किसके कारण वह प्रकाशित नहीं होता? मनुष्य मित्रों को किस लिए त्याग देता है और स्वर्ग में किस कारण नहीं जा पाता?

युधिष्ठिर उवाच

अज्ञानेनावृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते।
लोभात्त्यजति मित्राणि संगात्स्वर्गं न गच्छति ॥४९॥

युधिष्ठिर बोले—जगत् अज्ञान से ढका हुआ है, तमोगुण के कारण वह प्रकाशित नहीं होता। लोभ के कारण मनुष्य मित्रों को त्याग देता है और आसक्ति के कारण स्वर्ग=सुख की स्थिति में नहीं जा पाता।

यक्ष उवाच

मृतः कथं स्यात् पुरुषः कथं राष्ट्रं मृतं भवेत्।
दानं मृतं कथं वा स्यात् कथं यज्ञो मृतो भवेत् ॥५०॥

यक्ष ने पूछा—पुरुष किस प्रकार मरा कहा जाता है? राष्ट्र किस प्रकार मर जाता है? दान किस प्रकार मृत हो जाता है? यज्ञ कैसे मृत=नष्ट हो जाता है?

युधिष्ठिर उवाच

मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं राष्ट्रमराजकम्।
मृतमश्रोत्रिये दानं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ॥५१॥

युधिष्ठिर बोले—दरिद्र पुरुष मरा हुआ है। राजा से रहित राष्ट्र मर जाता है। अश्रोत्रिय

(वेदज्ञानविरहित) ब्राह्मण को दिया गया दान मृत के समान है और दक्षिणारहित यज्ञ नष्ट हो जाता है।

यक्ष उवाच

तपः किं लक्षणं प्रोक्तं को दमश्च प्रकीर्तितः।
क्षमा च का परा प्रोक्ता का च ह्रीः परिकीर्तिता ॥५२

यक्ष ने पूछा—तप का क्या लक्षण बताया गया है? दम किसे कहा गया है? उत्तम क्षमा क्या बताई गई है तथा लज्जा किसे कहते हैं?

युधिष्ठिर उवाच

तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं दमः।□
क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ॥५३॥

युधिष्ठिर बोले—अपने धर्म में स्थिर रहना तप है। मन को वश में करने का नाम दम है। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, गरमी-सरदी आदि द्वन्द्वों को सहन करना क्षमा है और न करने योग्य कामों से दूर रहना लज्जा है।

यक्ष उवाच

किं ज्ञानं प्रोच्यते राजन् कः शमश्च प्रकीर्तितः।
दया का च परा प्रोक्ता किं चार्जवमुदाहृतम् ॥५४॥

यक्ष ने पूछा—राजन्! ज्ञान किसे कहते हैं? शम क्या कहलाता है? उत्तम दया किसका नाम है और आर्जव=सरलता किसे कहते हैं?

युधिष्ठिर उवाच

ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः शमश्चित्तप्रशान्तता।□
दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता ॥५५॥

युधिष्ठिर बोले—परमात्म-तत्त्व का यथार्थ बोध ही ज्ञान है, चित्त की शान्ति ही शम है, सबके सुख की इच्छा रखना उत्तम दया है और समचित्त होना आर्जव=सरलता है।

यक्ष उवाच

कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसां कश्च व्याधिरनन्तकः।
कीदृशश्च स्मृतः साधुरसाधुः कीदृशः स्मृतः ॥५६॥

यक्ष ने पूछा—मनुष्यों का दुर्जय शत्रु कौन-सा है? अनन्त व्याधि क्या है? साधु कौन माना जाता है और असाधु किसे कहते हैं?

युधिष्ठिर उवाच

क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनन्तकः।□
सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः ॥५७॥

युधिष्ठिर बोले—क्रोध दुर्जय शत्रु है। लोभ अनन्त व्याधि है। जो समस्त प्राणियों का हित करनेवाला है, वही साधु है, जो निर्दय (दयाहीन) है उसे ही असाधु माना गया है।

यक्ष उवाच

को मोहः प्रोच्यते राजन् कश्च मानः प्रकीर्तितः।
किमालस्यं च विज्ञेयं कश्च शोकः प्रकीर्तितः ॥५८॥

यक्ष ने पूछा—राजन्! मोह किसे कहते हैं? मान क्या कहलाता है? आलस्य किसे जानना चाहिए और शोक किसे कहते हैं?

युधिष्ठिर उवाच

मोहो हि धर्ममूढत्वं मानस्त्वात्माभिमानिता।□
धर्मनिष्क्रियताऽऽलस्यं शोकस्त्वज्ञानमुच्यते ॥५९॥

युधिष्ठिर बोले—धर्ममूढता ही मोह है, आत्म-अभिमान ही मान है। धर्म का पालन न करना ही आलस्य है और अज्ञान को ही शोक कहते हैं।

यक्ष उवाच

किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं किं च धैर्यमुदाहृतम्।
स्नानं च किं परं प्रोक्तं दानं च किमिहोच्यते ॥६०॥

यक्ष ने पूछा—ऋषियों ने स्थिरता किसे कहा है? धैर्य क्या कहलाता है? परम स्नान किसे कहते हैं और दान किसका नाम है?

युधिष्ठिर उवाच

स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रियनिग्रहः।□
स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥६१॥

युधिष्ठिर बोले—अपने धर्म में स्थिर रहना ही स्थिरता है? इन्द्रिय-निग्रह धैर्य है, मानसिक मलों का त्याग करना स्नान है और प्राणियों की रक्षा करना ही दान है।

यक्ष उवाच

कः पण्डितः पुमाञ्ज्ञेयो नास्तिकः कश्च उच्यते।
को मूर्खः कश्च कामः स्यात् को मत्सर इति स्मृतः ॥६२

यक्ष ने पूछा—किस मनुष्य को पण्डित समझना

चाहिए, नास्तिक कौन कहलाता है ? मूर्ख कौन है ? काम क्या है ? मत्सर किसे कहते हैं ?

युधिष्ठिर उवाच

धर्मज्ञः पण्डितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते ।
कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ॥६३॥

युधिष्ठिर बोले—धर्मज्ञ को पण्डित समझना चाहिए। वेदनिन्दक नास्तिक है और नास्तिक ही मूर्ख कहलाता है, जन्म-मरण रूप संसार का कारण जो वासना है, वही काम है तथा हृदय की जलन ही मत्सर है ।

यक्ष उवाच

कोऽहंकार इति प्रोक्तः कश्च दम्भः प्रकीर्तितः ।
किं तद् दैवं परं प्रोक्तं किं तत् पैशुन्यमुच्यते ॥६४॥

यक्ष ने पूछा—अहंकार किसे कहते हैं ? दम्भ क्या कहलाता है ? जिसे परम दैव कहते हैं, वह क्या है और पैशुन्य किसका नाम है ?

युधिष्ठिर उवाच

महाज्ञानमहङ्कारो दम्भो धर्मध्वजोच्छ्रयः ।
दैवं दानफलं प्रोक्तं पैशुन्यं परदूषणम् ॥६५॥

युधिष्ठिर बोले—महा-अज्ञान अहंकार है, अपने को झूठ-मूठ बड़ा धर्मात्मा प्रसिद्ध करना दम्भ है। दान का फल दैव कहलाता है और दूसरों को दोष लगाना पैशुन्य=चुगली है ।

यक्ष उवाच

धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः ।
एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र सङ्गमः ॥६६॥

यक्ष ने पूछा—धर्म, अर्थ और काम—ये सब परस्पर-विरोधी हैं। इन नित्य-विरुद्ध पुरुषार्थों का एक स्थान पर संयोग कैसे हो सकता है ?

युधिष्ठिर उवाच

यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि सङ्गमः ॥६७॥

युधिष्ठिर बोले—जब धर्म और भार्या—ये दोनों परस्पर-अविरोधी होकर मनुष्य के वश में हो जाते हैं, उस समय धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों परस्पर विरोधी पुरुषार्थों का भी एक साथ रहना सहज हो जाता है ।

यक्ष उवाच

अक्षयो नरकः केन प्राप्यते भरतर्षभ ।
एतन्मे पृच्छतः प्रश्नं तच्छीघ्रं वक्तुमर्हसि ॥६८॥

यक्ष ने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! अक्षय नरक=दुःख किस पुरुष को प्राप्त होता है ? मेरे इस प्रश्न का शीघ्र उत्तर दो ।

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमानमकिञ्चनम् ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात्सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥६९॥

युधिष्ठिर बोले—जो पुरुष भिक्षा माँगनेवाले किसी अकिञ्चन ब्राह्मण को स्वयं बुलाकर फिर उसे 'न' कर देता है, वह अक्षय नरक को प्राप्त होता है।

वेदेषु धर्मशास्त्रेषु मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
देवेषु पितृधर्मेषु सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥७०॥

जो पुरुष वेद, धर्मशास्त्र, ब्राह्मण, देवता और पितृधर्मों में मिथ्या बुद्धि रखता है वह अक्षय नरक को प्राप्त होता है ।

विद्यमाने धने लोभाद् दानभोगविवर्जितः ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात् सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥७१॥

धन पास रहते हुए भी जो लोभवश दान और भोग नहीं करता और [माँगनेवाले ब्राह्मण आदि तथा न्याययुक्त भोग के लिए स्त्री-पुरुषों को] पीछे से यह कह देता है कि मेरे पास देने को कुछ नहीं है, वह भी अक्षय नरक में जाता है ।

यक्ष उवाच

राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत् सुनिश्चितम् ॥७२॥

यक्ष ने पूछा—राजन् ! कुल, आचार, स्वाध्याय और शास्त्रश्रवण—इसमें से किसके द्वारा ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है ? यह बात निश्चय करके बताओ ।

युधिष्ठिर उवाच

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥७३॥

युधिष्ठिर बोले—तात यक्ष ! सुनो, न तो कुल ब्राह्मणत्व का कारण है, न स्वाध्याय और न शास्त्र-श्रवण । ब्राह्मणत्व का हेतु केवल सदाचार ही है, इसमें संशय नहीं है ।

वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥७४॥

ब्राह्मण को तो विशेषरूप से प्रयत्नपूर्वक सदाचार की ही रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि जिसका सदाचार अक्षुण्ण है उसका ब्राह्मणत्व भी बना हुआ है और जिसका सदाचार नष्ट हो गया वह तो स्वयं भी नष्ट हो गया।

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः ॥७५॥

पढ़नेवाले, पढ़ानेवाले तथा शास्त्र का विचार करनेवाले—ये सब तो व्यसनी और मूर्ख ही हैं। पण्डित तो वही है, जो अपने शास्त्रोक्त कर्तव्य का पालन करता है।

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते ।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥७६॥

चारों वेद पढ़ा होने पर भी जो दुराचारी है, वह नीचता में शूद्र से भी बढ़कर है। जो नित्य अग्निहोत्र में तत्पर और जितेन्द्रिय है, वही ब्राह्मण है।

यक्ष उवाच

प्रियवचनवादी किं लभते
विमृशितकार्यकरः किं लभते ।
सुबहुमित्रकरः किं लभते
धर्मरतः कथय किं लभते ॥७७॥

यक्ष ने पूछा—बताओ, मधुर बोलनेवाले को क्या मिलता है? सोच-विचारकर काम करनेवाले को क्या प्राप्त होता है? जो बहुत-से मित्र बना लेता है, उसे क्या लाभ होता है? और जो धर्मनिष्ठ है, वह क्या पाता है?

युधिष्ठिर उवाच

प्रियवचनवादी प्रियो भवति
विमृशितकार्यकरोऽति जयति ।
बहुमित्रकरश्च सुखं लभते
यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ॥७८॥

युधिष्ठिर बोले—मधुरवचन बोलनेवाला सबका प्रिय हो जाता है। सोच-विचारकर काम करनेवाले को अधिकतर सफलता मिलती है। बहुत-से मित्र बना लेनेवाला सुख से रहता है। जो धर्मनिष्ठ है, वह सद्गति पाता है।

यक्ष उवाच

को मोदते किमाश्चर्यं कः पन्थाः का च वार्तिका ।
ममैतांश्चतुरः प्रश्नान् कथयित्वा जलं पिब ॥७९॥

यक्ष ने पूछा—सुखी कौन है? आश्चर्य क्या है? जीवनपथ—[जीवन का मार्ग] क्या है? और वार्ता क्या है? मेरे इन चार प्रश्नों का उत्तर दो और जल पीओ।

युधिष्ठिर उवाच

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे ।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते ॥८०॥

युधिष्ठिर बोले—जलचर यक्ष! जिस पुरुष पर ऋण नहीं है, जो परदेश में नहीं है, ऐसा व्यक्ति पाँचवें या छठे दिन अपने घर के भीतर साग-पात पकाकर खाने पर भी सुखी है।

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥८१॥

संसार से प्रतिदिन प्राणी यमलोक में जा रहे हैं परन्तु जो बचे हुए हैं, वे सर्वथा जीने की इच्छा करते हैं, इससे बढ़कर और आश्चर्य क्या हो सकता है?

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥८२॥

तर्क की कहीं स्थिति नहीं है, मनुष्यों की श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा कोई एक ऋषि भी नहीं है जिसका मत प्रमाण माना जाए तथा धर्म का तत्त्व हृदयगुहा में निहित [अत्यन्त गूढ़] है अतः जिस मार्ग से महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग है।

अस्मिन् महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥८३॥

संसाररूपी महामोहरूप तैल-भरे कड़ाह में काल समस्त प्राणियों को मास और ऋतु-रूप कलछी से उलट-पुलटकर सूर्यरूप अग्नि और रात-दिनरूप

इंधन के द्वारा पका रहा है, यही वार्ता है।

यक्ष उवाच

व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना याथातथ्यं परन्तप।
पुरुषं त्विदानीं व्याख्याहि यश्च सर्वधनी नरः ॥८४॥

यक्ष ने पूछा—परंतप ! तुमने मेरे समस्त प्रश्नों के उत्तर ठीक-ठीक दे दिये। अब तुम पुरुष की भी व्याख्या कर दो और यह बताओ कि सबसे बड़ा धनी कौन है ?

युधिष्ठिर उवाच

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्येन कर्मणा।□
यावत् स शब्दो भवति तावत् पुरुष उच्यते ॥८५॥

युधिष्ठिर बोले— पुरुष के पुण्य कर्मों की कीर्ति का जय-निनाद जबतक स्वर्ग और भूमि को स्पर्श करता है, तबतक वह पुरुष कहलाता है।

तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च।□
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः ॥८६॥

जो मनुष्य प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख और भूत-भविष्यत्—इन द्वन्द्वों में सम [समान] है, वही सबसे बड़ा धनी है।

यक्ष उवाच

व्याख्यातः पुरुषो राजन् यश्च सर्वधनी नरः।□
तस्मात् त्वमेकं भ्रातॄणां यमिच्छसि स जीवतु ॥८७॥

यक्ष ने कहा—हे राजन् ! तुमने पुरुष और सबसे बढ़कर धनी की ठीक-ठीक व्याख्या कर दी, अतः तुम अपने भाइयों में से जिस एक को चाहो, वही जीवित हो सकता है।

युधिष्ठिर उवाच

श्यामो य एष रक्ताक्षो बृहच्छाल इवोत्थितः।
व्यूढोरस्को महाबाहुर्नकुलो यक्ष जीवतु ॥८८॥

युधिष्ठिर बोले—हे यक्ष ! यह जो श्यामवर्ण, अरुणनयन, विशाल शालवृक्ष के समान उन्नत (ऊँचा) और चौड़ी छातीवाला महाबाहु नकुल है, वह जीवित हो जाए।

यक्ष उवाच

प्रियस्ते भीमसेनोऽयमर्जुनो वः परायणम्।
स कस्मान्नकुलं राजन् सापत्नं जीवमिच्छसि ॥८९॥

यक्ष ने कहा—हे राजन् ! यह महाबली भीम तुम्हारा प्रिय है और यह अर्जुन तुम सबका सहारा है। इन्हें छोड़कर तुम सौतेले भाई नकुल को क्यों जिलाना चाहते हो ?

युधिष्ठिर उवाच

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।□
तस्मा त्यजामि न धर्मं मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥९०॥

युधिष्ठिर बोले—नष्ट किया हुआ धर्म मनुष्य को मार देता है और रक्षा किया हुआ धर्म मनुष्य की रक्षा करता है, अतः मैं धर्म का त्याग नहीं करता कि कहीं नष्ट होकर वह धर्म मेरा ही नाश न कर दे।

आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थाच्च मे मतम्।
आनृशंस्यं चिकीर्षामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥९१॥

हे यक्ष ! मेरा विचार है कि अनृशंसता=दया और समता ही परम धर्म है। यही सोचकर मैं सबके प्रति दया और समभाव ही रखना चाहता हूँ, अतः नकुल ही जीवित हो जाए।

धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥९२॥

हे यक्ष ! लोग मेरे विषय में ऐसा समझते हैं कि राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा है, अतः मैं अपने धर्म से विचलित नहीं होऊंगा। मेरा भाई नकुल जीवित हो जाए।

कुन्ती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम।
उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयते मतिः ॥९३॥

मेरे पिता के कुन्ती और माद्री नामक दो भार्याएँ थीं। वे दोनों ही पुत्रवती बनी रहें, यही मेरी स्थिर धारणा है।

यथा कुन्ती तथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥९४॥

हे यक्ष ! मेरे लिए जैसी माँ कुन्ती है वैसी ही माद्री, उन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। मैं दोनों माताओं के प्रति समभाव ही रखना चाहता हूँ, अतः नकुल ही जीवित हो।

यक्ष उवाच

यस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं मतम्।
तस्मात् ते भ्रातरः सर्वे जीवन्तु भरतर्षभ ॥९५॥

यक्ष ने कहा—हे भरतश्रेष्ठ ! तुमने दया और समभाव का अर्थ और काम से भी अधिक आदर किया है, अतः तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जाएँ।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते यक्षवचनादुदतिष्ठन्त पाण्डवाः ।
क्षुत्पिपासे च सर्वेषां क्षणेन व्यपगच्छताम् ॥१६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन् ! तदनन्तर यक्ष के कहते ही सब पाण्डव उठकर खड़े हो गये तथा एक क्षण में ही उनकी भूख और प्यास जाती रही।

इति महाभारते वनपर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

यक्ष का वरदान देना और पाण्डवों का ब्राह्मणों से आज्ञा लेकर अज्ञातवास के लिए जाना

युधिष्ठिर उवाच

सरस्येकेन पादेन तिष्ठन्तमपराजितम् ।
पृच्छामि को भवान् देवो न मे यक्षो मतो भवान् ॥१॥

युधिष्ठिर बोले—इस सरोवर में एक पैर से खड़े हुए, किसी से भी पराजित न होनेवाले हे देव ! आपसे मैं पूछता हूँ—आप कौन श्रेष्ठ देव हैं ? मुझे आप यक्ष तो प्रतीत नहीं होते ?

यक्ष उवाच

अहं ते जनकस्तात धर्मोऽमृदुपराक्रम ।
त्वां दिदृक्षुरनुप्राप्तो विद्धि मां भरतर्षभ ॥२॥

यक्ष ने कहा—प्रचण्ड पराक्रमी भरतश्रेष्ठ तात युधिष्ठिर ! मैं तुम्हारा जन्मदाता पिता धर्मराज हूँ। तुम्हें देखने की इच्छा से ही मैं यहाँ आया हूँ, मुझे पहचानो।

यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम् । □
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम ॥३॥

यश, सत्य, दम, शौच=पवित्रता, सरलता, लज्जा (आत्म-लज्जा), अचञ्चलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य—ये सब मेरे शरीर हैं।

अहिंसा समता शान्तिरानृशंस्यममत्सरः ।
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम ॥४॥

अहिंसा, समता, शान्ति, दया और अमत्सर=डाह का न होना—इन्हें मेरे पास पहुँचने के द्वार समझो। तुम मुझे सदा प्रिय हो।

दिष्ट्या पञ्चसु रक्तोऽसि दिष्ट्या ते षट्पदी जिता ।
द्वे पूर्वे मध्यमे द्वे च द्वे चान्ते साम्परायिके ॥५॥

सौभाग्यवश तुम्हारा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान—इन पाँचों साधनों पर अनुराग है तथा सौभाग्य से तुमने भूख-प्यास, शोक-मोह तथा जरा-मृत्यु—इन छह दोषों को भी जीत लिया है। इनमें से पहले दो आरम्भ से ही रहते हैं, मध्य के दो यौवन-अवस्था आने पर प्राप्त होते हैं और अन्तिम दो दोष जीवन के अन्त में आते हैं।

धर्मोऽहमिति भद्रं ते जिज्ञासुस्त्वामिहागतः ।
आनृशंस्येन तुष्टोऽस्मि वरं दास्यामि तेऽनघ ॥६॥

निष्पाप राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो। मैं धर्म हूँ और तुम्हारा व्यवहार जानने की इच्छा से ही यहाँ आया हूँ। तुम्हारी दयालुता और समदर्शिता से मैं तुम पर प्रसन्न हूँ और तुम्हें वर देना चाहता हूँ।

वरं वृणीष्व राजेन्द्र दाता ह्यस्मि तवानघ ।
ये हि मे पुरुषा भक्ता न तेषामस्ति दुर्गतिः ॥७॥

पाप-शून्य राजेन्द्र ! तुम मनोऽनुकूल वर माँग लो। मैं तुम्हें अवश्य दूँगा। जो मनुष्य मेरे भक्त हैं, उनकी कभी दुर्गति नहीं होती।

युधिष्ठिर उवाच

अरणीसहितं यस्य मृगो ह्यादाय गच्छति ।
तस्याग्नयो न लुप्येरन् प्रथमोऽस्तु वरो मम ॥८॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! पहला वर तो मैं यही माँगता हूँ कि जिस ब्राह्मण के अरणीसहित मन्थन-काष्ठ को लेकर मृग भाग गया है, उसके अग्निहोत्र का लोप न हो।

यक्ष उवाच

अरणीसहितं तस्य ब्राह्मणस्य हृतं मया ।
मृगवेषेण कौन्तेय जिज्ञासार्थं तव प्रभो ॥९॥

यक्ष ने कहा—कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर ! उस ब्राह्मण के अरणीसहित मन्थनकाष्ठ को तुम्हारी परीक्षा के लिए मैं ही मृग-रूप से लेकर भागा था ।

वैशम्पायन उवाच

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत ।
अन्यं वरय भद्रं ते वरं त्वममरोपम ॥१०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इसके पश्चात् भगवान् धर्म ने उत्तर दिया कि लो, अरणी और मन्थनकाष्ठ मैं तुम्हें दे ही देता हूँ । देवोपम नरेश ! तुम्हारा मङ्गल हो ! अब तुम कोई दूसरा वर माँगो ।

युधिष्ठिर उवाच

वर्षाणि द्वादशारण्ये त्रयोदशमुपस्थितम् ।
तत्र नो नाभिजानीयुर्वसतो मनुजाः क्वचित् ॥११॥

युधिष्ठिर बोले—हम बारह वर्ष तक वन में रह चुके । अब तेरहवाँ वर्ष आ पहुँचा है, अतः आप ऐसा वर दीजिए कि इस वर्ष में कहीं भी रहने पर लोग हमें पहचान न सकें ।

वैशम्पायन उवाच

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत ।
भूयश्चाश्वासयामास कौन्तेयं सत्यविक्रमम् ॥१२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यह सुनकर भगवान् धर्म ने उत्तर में कहा—"मैं तुम्हें यह वर भी देता हूँ ।" तत्पश्चात् धर्मराज ने सत्य-पराक्रमी युधिष्ठिर को आश्वासन देते हुए कहा—

स्वेन यद्यपि रूपेण चरिष्यथ महीमिमाम् ।
न वो विज्ञास्यते कश्चित् त्रिषु लोकेषु भारत ॥१३॥

"भरतनन्दन ! यदि तुम इस पृथिवी पर इसी रूप में भी विचरोगे तो भी तीनों लोकों में तुम्हें कोई नहीं पहचान सकेगा ।

वर्षं त्रयोदशमिदं मत्प्रसादात् कुरूद्वहाः ।
विराटनगरे गूढा अविज्ञाताश्चरिष्यथ ॥१४॥

"कुरुनन्दन पाण्डवो ! मेरी कृपा से तुम लोग तेरहवें वर्ष में गुप्तरूप से विराट नगर में रहते हुए किसी से भी न पहचाने जाकर विचरण करोगे ।

प्रवृणीष्वापरं सौम्य वरमिष्टं ददामि ते ।
न तृप्यामि नरश्रेष्ठ प्रयच्छन् वै वरांस्तव ॥१५॥

"सौम्य ! इसके अतिरिक्त तुम एक और भी अभीष्ट वर माँग लो । वह मैं तुम्हें दूँगा । नरश्रेष्ठ ! तुम्हें वर देते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ।"

युधिष्ठिर उवाच

जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो ।
दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत् ॥१६॥

युधिष्ठिर बोले—प्रभो ! मुझे यह वर दीजिए कि मैं लोभ, मोह और क्रोध को जीत सकूँ तथा दान, तप और सत्य में मेरा मन सदा लगा रहे ।

धर्म उवाच

उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पाण्डव ।
भवान् धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति ॥१७॥

धर्मराज ने कहा—हे पाण्डुपुत्र ! तुम तो स्वयं धर्म-स्वरूप ही हो । तुम इन गुणों से स्वभाव से ही सम्पन्न हो । फिर भी तुम्हारे कथनानुसार तुममें ये सब धर्म बने रहेंगे ।

वैशम्पायन उवाच

उपेत्य चाश्रमं वीराः सर्व एव गतक्लमाः ।
आरणेयं ददुस्तस्मै ब्राह्मणाय तपस्विने ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—धर्मराज से वर प्राप्त करके सब पाण्डव श्रमरहित हुए आश्रम में लौट आये । वहाँ आकर उन्होंने अरणी एवं मन्थन-काष्ठ उस तपस्वी ब्राह्मण को दे दिये ।

अज्ञातवासवासार्थं चिन्तयन्तः परस्परम् ।
ये तद्भक्ता वसन्ति स्म तानब्रुवन् महात्मनः ॥१९॥

तेरहवें वर्ष में अज्ञातवास की इच्छा से विद्वान् पाण्डव विचार-विमर्श के लिए आस-पास बैठे । कुछ परामर्श कर वनवास के समय अपने साथ रहनेवाले स्नेही ब्राह्मणों से महात्मा पाण्डवों ने कहा—

उषिताश्च वने कृच्छ्रे वयं द्वादश वत्सरान् ।
तद्वसामो वयं छन्नास्तदनुज्ञातुमर्हथ ॥२०॥

हम लोग कष्टप्रद वनों में बारह वर्ष तक रह चुके । इस वर्ष हम छिपकर रहना चाहते हैं, इसके लिए आप हमें आज्ञा प्रदान करें ।

अपि नस्तद् भवेद् भूयो यद् वयं ब्राह्मणैः सह ।
समस्ताः स्वेषु राष्ट्रेषु स्वराज्यस्था भवेमहि ॥२१॥

क्या हमारे सामने फिर कभी ऐसा शुभ अवसर आएगा । जबकि हम सब भाई ब्राह्मणों के साथ अपने

राष्ट्र में रहेंगे, अपने राज्य पर प्रतिष्ठित होंगे ?

इत्युक्त्वा दुःखशोकार्तः शुचिर्धर्मसुतस्तदा ।
सम्मूर्च्छितोऽभवद् राजा साश्रुकण्ठो युधिष्ठिरः ॥२२॥

ऐसा कहकर वे पवित्र अन्तःकरणवाले धर्मराज युधिष्ठिर दुःख और शोक से आतुर हो मूर्च्छित हो गये । उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा वह रही थी और कण्ठ अवरुद्ध हो गया था ।

तमथाश्वासयन् सर्वे ब्राह्मणा भ्रातृभिः सह ।
अथ धौम्योऽब्रवीद् वाक्यं महार्थं नृपतिं तदा ॥२३॥

उस समय उनके भाइयोंसहित सब ब्राह्मणों ने उन्हें आश्वासन दिया । तदनन्तर महर्षि धौम्य ने राजा युधिष्ठिर से यह गम्भीर अर्थयुक्त वचन कहा—

राजन्विद्वान्भवान्दान्तः सत्यसन्धो जितेन्द्रियः ।
नैवंविधाः प्रमुह्यन्ते नराः कस्याञ्चिदापदि ॥२४॥

"राजन् ! आप विद्वान्, मन को वश में रखनेवाले, सत्य-प्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय हैं । आप जैसे मनुष्य किसी भी आपत्ति में मोहित नहीं होते, अपना धैर्य और विवेक नहीं खोते ।

देवैरप्यापदः प्राप्ताश्छन्नैश्च बहुशस्तथा ।
तत्र तत्र सपत्नानां निग्रहार्थं महात्मभिः ॥२५॥

"महात्माओं [देवताओं] को भी जहाँ-तहाँ शत्रुओं के निग्रह के लिए अनेक वार छिपकर रहना और आपत्तियों को भोगना पड़ा है ।

इन्द्रेण निषधान् प्राप्य गिरिप्रस्थाश्रमे तदा ।
छन्नेनोष्य कृतं कर्म द्विषतां च विनिग्रहे ॥२६॥

"देवराज इन्द्र शत्रुओं का दमन करने के लिए गुप्तरूप से निषध-देश में गये तथा गिरिप्रस्थ आश्रम में छिपे रहकर उन्होंने अपना कार्य सिद्ध किया ।

एवमेव महात्मानः प्रच्छन्नास्तत्र तत्र वै ।
अजयञ्छात्रवान् युद्धे तथा त्वमपि जेष्यसि ॥२७॥

"इसी प्रकार कितने ही महामना वीर पुरुषों ने यत्र-तत्र छिपे रहकर युद्ध में शत्रुओं पर विजय पायी है, इसी प्रकार तुम भी विजय प्राप्त करोगे ।"

अथाब्रवीन्महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ।
राजानं बलिनां श्रेष्ठो गिरा सम्परिहर्षयन् ॥२८॥

तत्पश्चात् बलवानों में श्रेष्ठ महावाहु महाबली भीमसेन अपनी वाणी से राजा युधिष्ठिर का हर्ष और उत्साह बढ़ाते हुए बोले—

अवेक्षया महाराज तव गाण्डीवधन्वना ।
धर्मानुगतया बुद्ध्या न किंचित् साहसं कृतम् ॥२९॥

"महाराज ! गाण्डीवधारी अर्जुन ने आपके आदेश की प्रतीक्षा तथा अपनी धर्मानुगामिनी बुद्धि के कारण ही अबतक कोई साहस का कार्य नहीं किया है ।

सहदेवो मया नित्यं नकुलश्च निवारितौ ।
शक्तौ विध्वंसने तेषां शत्रूणां भीमविक्रमौ ॥३०॥

"भयंकर पराक्रमी नकुल और सहदेव उन सब शत्रुओं का विध्वंस करने में समर्थ हैं । इन दोनों को मैं सदा ही रोकता आया हूँ ।

न वयं तत् प्रहास्यामो यस्मिन् योक्ष्यति नो भवान् ।
भवान् विधत्तां तत् सर्वं क्षिप्रं जेष्यामहे रिपून् ॥३१॥

"आप हमें जिस कार्य में लगा देंगे हम लोग उसे पूरा किये विना नहीं छोड़ेंगे, अतः आप युद्ध की सारी व्यवस्था कीजिए । हम शत्रुओं पर शीघ्र ही विजय प्राप्त करेंगे ।"

इत्युक्ते भीमसेनेन ब्राह्मणाः परमाशिषा ।
उक्त्वा चापृच्छ्य भरतांस्तान्यथास्वान्ययुर्गृहान् ॥३२

भीमसेन के ऐसा कहने पर सब ब्राह्मण पाण्डवों को उत्तम आशीर्वाद देकर तथा उन भरतवंशियों से अनुमति लेकर अपने-अपने घरों को चले गये ।

सह धौम्येन विद्वांसस्तथा पञ्च च पाण्डवाः ।
उत्थाय प्रययुर्वीराः कृष्णामादाय धन्विनः ॥३३॥

धौम्यसहित विद्वान् एवं वीर वे पाँचों पाण्डव द्रौपदी को लेकर धनुष-बाण धारण किये हुए वहाँ से उठकर चल दिये ।

श्वोभूते मनुजव्याघ्राश्छन्नवासार्थमुद्यताः ।
क्रोशमात्रमुपागम्य मन्त्राय समुपाविशन् ॥३४॥

आगामी दूसरे दिन से अज्ञातवास आरम्भ करने के लिए उद्यत नरश्रेष्ठ पाण्डव एक कोस जाकर परस्पर मन्त्रणा करने के लिए आस-पास बैठ गये ।

इति महाभारते वनपर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

इति वनपर्व सम्पूर्णम्

विराटपर्व

प्रथमोऽध्यायः

विराटनगर में अज्ञातवास के लिए पाण्डवों के भावी कार्यक्रम का दिग्दर्शन

जनमेजय उवाच

कथं विराटनगरे मम पूर्वपितामहाः ।
अज्ञातवासमुषिता दुर्योधनभयार्दिताः ॥१॥
पतिव्रता महाभागा सततं ब्रह्मवादिनी ।
द्रौपदी च कथं ब्रह्मन्नज्ञाता दुःखितावसत् ॥२॥

जनमेजय ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! मेरे पितामह पाण्डवों ने दुर्योधन के भय से कष्ट उठाते हुए विराटनगर में अपने अज्ञातवास का समय कैसे व्यतीत किया और दुःख में पड़ी हुई ब्रह्मवादिनी, परम सौभाग्यवती पतिव्रता द्रौपदी अपने को अज्ञात रखकर वहाँ कैसे निवास कर सकी ?

वैशम्पायन उवाच

यथा विराटनगरे तव पूर्वपितामहाः ।
अज्ञातवासमुषितास्तच्छृणुष्व नराधिप ॥३॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! तुम्हारे पितामहों ने विराटनगर में जिस प्रकार अज्ञातवास का समय पूरा किया था, वह बताता हूँ, सुनो !

अथ युधिष्ठिरो राजा धर्मपुत्रो महामनाः ।
संनिवर्त्यानुजान् सर्वानिति होवाच भारत ॥४॥

हे भारत ! सब ब्राह्मणों को विदाकर धर्मपुत्र महामनस्वी राजा युधिष्ठिर ने अपने सब भाइयों को एकत्र कर उनसे कहा—

द्वादशेमानि वर्षाणि राज्यविप्रोषिता वयम् ।
त्रयोदशोऽयं सम्प्राप्तः कृच्छ्रात् परमदुर्वसः ॥५॥

"अपने राज्य से प्रवासित होकर वन-वास करते हुए हमें आज बारह वर्ष बीत गये । यह तेरहवाँ वर्ष आरम्भ हुआ है । इसमें कठिनाइयों का सामना करते हुए अत्यन्त गुप्त रूप में रहना होगा ।

स साधु कौन्तेय इतो वासमर्जुन रोचय ।
संवत्सरमिमं यत्र वसेमाविदिताः परैः ॥६॥

"कुन्तीनन्दन अर्जुन ! तुम अपनी रुचि के अनुसार कोई उत्तम स्थान चुनो, जहाँ जाकर हम एक वर्ष तक इस प्रकार रह सकें कि शत्रुओं को हमारा पता न लगे ।"

अर्जुन उवाच

सन्ति रम्या जनपदा बह्वन्नाः परितः कुरून् ।
पाञ्चालाश्चेदिमत्स्याश्च सौराष्ट्रावन्तयस्तथा ॥७॥

अर्जुन ने कहा—कुरुदेश के चारों ओर बहुत-से सुरम्य जनपद हैं, जहाँ बहुत अन्न होता है । उनके नाम हैं—पाञ्चाल, चेदि, मत्स्य, सौराष्ट्र और अवन्ती ।

एतेषां कतमो राजन् निवासस्तव रोचते ।
यत्र वत्स्यामहे राजन् संवत्सरमिमं वयम् ॥८॥

हे राजन् ! इनमें से कौन-सा राष्ट्र आपको निवास करने के लिए उत्तम रहेगा, जिसमें हम सब इस वर्ष निष्कण्टक निवास कर सकें ।

युधिष्ठिर उवाच

मत्स्यो विराटो बलवानभिरक्तोऽथ पाण्डवान् ।
धर्मशीलो वदान्यश्च वृद्धश्च सततं प्रियः ॥९॥

युधिष्ठिर बोले—[तुम्हारे कहे देशों में] मत्स्य देश के राजा विराट बहुत बलवान् हैं । पाण्डवों के प्रति उनका अनुराग भी है । वे स्वभावतः धर्मात्मा, वृद्ध, उदार तथा हमें सदैव प्रिय हैं ।

विराटनगरे तात संवत्सरमिमं वयम्।
कुर्वन्तस्तस्य कर्माणि विहरिष्याम भारत ॥१०॥

तात! भरतकुलभूषण! इस तेरहवें वर्ष में हम लोग राजा विराट के नगर में उनका कार्य-साधन करते हुए विचरण करें।

यानि यानि च कर्माणि तस्य वक्ष्यामहे वयम्।
आसाद्य मत्स्यं तत् कर्म प्रब्रूत कुरुनन्दनाः ॥११॥

किन्तु कुरुनन्दनो! तुम लोग यह तो बताओ कि हम मत्स्यराज के पास पहुँचकर किन-किन कार्यों का भार सँभाल सकोगे?

अर्जुन उवाच

मृदुर्वदान्यो ह्रीमांश्च धार्मिकः सत्यविक्रमः।
राजंस्त्वमापदाऽऽकृष्टः किं करिष्यसि पाण्डव ॥१२॥

अर्जुन ने पूछा—हे राजन्! आपका स्वभाव कोमल है। आप उदार, लज्जाशील, धर्मपरायण और सत्य-पराक्रमी हैं, तथापि विपत्ति में पड़ गये हैं। पाण्डुनन्दन! आप वहाँ क्या करेंगे?

युधिष्ठिर उवाच

सभास्तारो भविष्यामि तस्य राज्ञो महात्मनः।
कङ्को नाम द्विजो भूत्वा मताक्षः प्रियदेवनः ॥१३॥

युधिष्ठिर बोले—मैं जुआ खेलना जानता हूँ और यह खेल मुझे प्रिय भी है, अतः मैं 'कङ्क' नामक ब्राह्मण बनकर महामना राजा विराट की राजसभा का एक सदस्य हो जाऊँगा।

विराटराजं रमयन् सामात्यं सहबान्धवम्।
न च मां वेत्स्यते कश्चित् तोषयिष्ये च तं नृपम् ॥१४॥

मैं राजा विराट को उनके मन्त्रियों तथा बन्धु-बान्धवोंसहित पासों के खेल से प्रसन्न करता रहूँगा। इस रूप में मुझे कोई नहीं पहचान सकेगा और मैं मत्स्य-नरेश को सन्तुष्ट रखूँगा।

आसं युधिष्ठिरस्याहं पुरा प्राणसमः सखा।
इति वक्ष्यामि राजानं यदि मां सोऽनुयोक्ष्यते ॥१५॥

यदि राजा मुझसे पूछेंगे कि आप कौन हैं, तो मैं उन्हें बताऊँगा कि मैं पहले महाराज युधिष्ठिर का प्राणों के समान प्रिय सखा था।

वैशम्पायन उवाच

एवं निर्दिश्य चात्मानं भीमसेनमुवाच ह।
वृकोदर विराटे त्वं रंस्यसे केन हेतुना ॥१६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! इस प्रकार अज्ञातवास में अपने कार्य का निर्देश कर उन्होंने भीम से पूछा—"वृकोदर! विराट के यहाँ तुम कौन-सा कार्य करके प्रसन्नतापूर्वक रह सकोगे?"

भीमसेन उवाच

पौरोगवो ब्रुवाणोऽहं बल्लवो नाम भारत।
उपस्थास्यामि राजानं विराटमिति मे मतिः ॥१७॥

भीमसेन ने कहा—हे भरतकुल-तिलक! मैं 'पौरोगव'=पाकशाला (रसोईघर) का अध्यक्ष बनकर और 'वल्लव' नाम से अपना परिचय देकर राजा विराट के दरबार में उपस्थित होऊँगा, ऐसा मेरा विचार है।

सूपानस्य करिष्यामि कुशलोऽस्मि महानसे।
कृतपूर्वाणि यान्यस्याभिभविष्यामि तान्यपि ॥१८॥

मैं भोजन बनाने में चतुर हूँ। मैं राजा के लिए सूप (दाल-कढ़ी) आदि तैयार करूँगा। महाराज के लिए पहले जो-जो व्यञ्जन बनाये गये होंगे, स्वनिर्मित व्यञ्जनों के द्वारा मैं उन्हें भी तुच्छ सिद्ध कर दूँगा।

द्विपा वा बलिनो राजन् वृषभा वा महाबलाः।
विनिग्राह्या यदि मया निग्रहीष्यामि तानपि ॥१९॥

हे राजन्! बलवान् हाथी अथवा महाबली साँड भी यदि वश में करने के लिए मुझे सौंपे जाएँगे, तो मैं उन्हें भी बाँधकर अपने वश में कर लूँगा।

ये च केचिन्नियोत्स्यन्ति समाजेषु नियोधकाः।
तानहं हि नियोत्स्यामि रतिं तस्य विवर्धयन् ॥२०॥

तथा जो कोई भी मल्लयुद्ध करनेवाले पहलवान जन-समाज में दंगल करना चाहेंगे, राजा का प्रेम बढ़ाने के लिए मैं उनसे भी भिड़ जाऊँगा।

आरालिको गोविकर्ता सूपकर्ता नियोधकः।
आसं युधिष्ठिरस्याहमिति वक्ष्यामि पृच्छतः ॥२१॥

महाराज के पूछने पर मैं बताऊँगा कि मैं राजा युधिष्ठिर के यहाँ आरालिक=मदमस्त हाथियों को वश में करनेवाला गज-शिक्षक, गोविकर्ता=महाबली साँड़ों को पछाड़कर उन्हें नाथनेवाला, सूपकर्ता तथा नियोधक=दंगली पहलवान रहा हूँ।

युधिष्ठिर उवाच

मृगाणामिव शार्दूलो गरुडः पततामिव।
वरः संनह्यमानानां सोऽर्जुनः किं करिष्यति ॥२२॥

युधिष्ठिर ने पूछा—जैसे मृगों में सिंह तथा पक्षियों में गरुड़ श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार कवचधारी वीरों में जिनका स्थान सबसे ऊँचा है, वह अर्जुन विराटनगर में जाकर क्या करेंगे?

अर्जुन उवाच

प्रतिज्ञां षण्ढकोऽस्मीति करिष्यामि महीपते।
कर्णयोः प्रतिमुच्याहं कुण्डले ज्वलनप्रभे ॥२३॥
पिनद्धकम्बुः पाणिभ्यां तृतीयां प्रकृतिं गतः।
वेणीकृतशिरा राजन् नाम्ना चैव बृहन्नला ॥२४॥

अर्जुन बोले—महाराज! मैं विराट की सभा में दृढ़तापूर्वक यह कहूँगा कि मैं नपुंसक हूँ। मैं दोनों कानों में अग्नि के समान कान्तिमान कुण्डल और हाथों में शंख की चूड़ियाँ धारण कर लूँगा। इस प्रकार नपुंसकभाव को अपनाकर मैं सिर पर चोटी गूँथ लूँगा और अपना नाम 'बृहन्नला' बताऊँगा।

पठन्नाख्यायिकाश्चैव स्त्रीभावेन पुनः पुनः।
रमयिष्ये महीपालमन्यांश्चान्तःपुरे जनान् ॥२५॥

स्त्री-भाव से अपने रूप को छिपाकर और बारम्बार पूर्ववर्ती राजाओं के चरित्रों का गान करके मैं महाराज विराट तथा अन्तःपुर की अन्यान्य स्त्रियों का मनोरंजन करूँगा।

गीतं नृत्यं विचित्रं च वादित्रं विविधं तथा।
शिक्षयिष्याम्यहं राजन् विराटस्य पुरस्त्रियः ॥२६॥

राजन्! मैं विराटनगर की स्त्रियों को गीत गाने, विचित्र प्रकार से नृत्य करने तथा नाना प्रकार के वाद्य=बाजे बजाने की शिक्षा प्रदान करूँगा।

युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका।
उषितास्मीति वक्ष्यामि पृष्टो राज्ञा च पाण्डव ॥२७॥

पाण्डुनन्दन! यदि राजा विराट ने मेरा परिचय पूछा तो मैं कहूँगा कि पहले मैं महाराज युधिष्ठिर के घर महारानी द्रौपदी की परिरिचाका रह चुकी हूँ।"

युधिष्ठिर उवाच

किं त्वं नकुल कुर्वाणस्तत्र तात चरिष्यसि।
सुकुमारश्च शूरश्च दर्शनीयः सुखोचितः ॥२८॥

युधिष्ठिर ने पूछा—नकुल! तुम राजा विराट के राज्य में कौन-सा कार्य करते हुए निवास करोगे? तात! तुम शूरवीर होने के साथ ही अति सुकुमार, दर्शनीय और सुख भोगने के योग्य हो।

नकुल उवाच

अश्वबन्धो भविष्यामि विराटनृपतेरहम्।
सर्वथा ज्ञानसम्पन्नः कुशलः परिरक्षणे ॥२९॥

नकुल ने कहा—हे राजन्! मैं राजा विराट के यहाँ अश्वबन्ध=घोड़ों को वश में रखनेवाला सेवक बनकर रहूँगा। मैं अश्व-विज्ञान में निपुण और घोड़ों की रक्षा के कार्य में कुशल हूँ।

ग्रन्थिको नाम नाम्नाहं कर्मैतत् सुप्रियं मम।
कुशलोऽस्म्यश्वशिक्षायां तथैवाश्वचिकित्सने ॥३०॥

मैं राजसभा में 'ग्रन्थिक' नाम से अपना परिचय दूँगा। घोड़ों की देखभाल का काम मुझे अत्यन्त प्रिय है। मैं उन्हें अनेक प्रकार की चालें सिखाने और उनकी चिकित्सा करने में भी निपुण हूँ।

ये मामामन्त्रयिष्यन्ति प्रवक्ष्यामि च तानहम्।
पाण्डवेन पुरा तात अश्वेष्वधिकृतः पुरा ॥३१॥

विराटनगर में जो लोग मेरा परिचय पूछेंगे, मैं उन्हें कहूँगा—"तात! पहले राजा युधिष्ठिर ने मुझे अश्वों का अध्यक्ष बना रखा था।"

युधिष्ठिर उवाच

सहदेव कथं तस्य समीपे विहरिष्यसि।
किं वा त्वं कर्म कुर्वाणः प्रच्छन्नो विचरिष्यसि ॥३२॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भैया सहदेव! तुम राजा विराट के समीप कैसे जाओगे और उनके यहाँ क्या काम करते हुए गुप्तरूप से निवास करोगे?

सहदेव उवाच

गोसंख्याता भविष्यामि विराटस्य महीपतेः।
प्रतिषेद्धा च दोग्धा च संख्याने कुशलो गवाम् ॥३३॥

सहदेव ने कहा—"महाराज! मैं राजा विराट के यहाँ गौओं की गिनती=जाँच-पड़ताल करनेवाला गोशालाध्यक्ष होकर रहूँगा। मैं गौओं को नियन्त्रण में रखने और उन्हें दुहने का काम भली प्रकार जानता हूँ। मैं उन्हें गिनने और उनकी परख करने में भी कुशल हूँ।

तन्तिपाल इति ख्यातो नाम्नाहं विदितस्त्वथ ।
निपुणं विचरिष्यामि व्येतु ते मानसो ज्वरः ।।३४।।

मैं वहाँ 'तन्तिपाल' नाम से प्रसिद्ध होऊँगा। इसी नाम से सब लोग मुझे जानेंगे। मैं अति चतुराई से अपने को छिपाये रखकर वहाँ विचरूँगा, अतः मेरे लिए आप मानसिक चिन्ता दूर कर दें।

युधिष्ठिर उवाच

केन स्म द्रौपदी कृष्णा कर्मणा विचरिष्यति ।
न हि किञ्चिद् विजानाति कर्म कर्तुं यथा स्त्रियः ।।३५

युधिष्ठिरजी बोले—द्रुपदकुमारी कृष्णा अन्य स्त्रियों की भाँति कोई काम-काज भी नहीं जानती फिर यह वहाँ किस कर्म का आश्रय लेकर निवास करेगी ?

सुकुमारी च बाला च राजपुत्री यशस्विनी ।
पतिव्रता महाभागा कथं नु विचरिष्यति ।।३६।।

इसका शरीर सुकोमल है। नव युवावस्था है। यह यशस्विनी राजकुमारी परम सौभाग्यवती और पतिव्रता है। यह विराटनगर में किस प्रकार रहेगी ?

द्रौपद्युवाच

सैरंध्र्यो रक्षिता लोके भुजिष्याः सन्ति भारत ।
साहं ब्रुवाणा सैरन्ध्री कुशला केशकर्मणि ।।३७
युधिष्ठिरस्य गेहे वै द्रौपद्याः परिचारिका ।
उषितास्मीति वक्ष्यामि पृष्टा राज्ञा च भारत ।।३८

द्रौपदी ने कहा—हे भारत ! जगत् में बहुत-सी ऐसी स्त्रियाँ हैं जिनका दूसरों के घरों में पालन-पोषण होता है। वे शिल्प-कर्मों द्वारा जीवन-निर्वाह करती हैं। उन्हें 'सैरन्ध्री' कहते हैं। मैं 'सैरन्ध्री' कहकर अपना परिचय दूंगी। मैं बालों के संवारने और वेणी-रचना आदि कार्यों में अति निपुण हूँ। यदि राजा मुझसे पूछेंगे तो मैं बताऊँगी कि मैं महाराज युधिष्ठिर के महल में महारानी द्रौपदी की परिचारिका बनकर रही हूँ।

इति महाभारते विराटपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

द्वितीयोऽध्यायः

धौम्य का पाण्डवों को राजा के यहाँ रहने का ढंग बताना और सबका अपने-अपने अभीष्ट स्थानों को गमन

वैशम्पायन उवाच

एवं तेऽन्योन्यमामन्त्र्य कर्माण्युक्त्वा पृथक् पृथक् ।
धौम्यमामन्त्रयामासुः स च तान् मन्त्रमब्रवीत् ।।१।

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! इस प्रकार आपस में एक-दूसरे की सलाह लेकर और अपने पृथक्-पृथक् कर्म बताकर पाण्डवों ने पुरोहित धौम्य की भी सम्मति ली। तब पुरोहित धौम्य ने उन्हें इस प्रकार परामर्श दिया—

धौम्य उवाच

विदितं वो यथा सर्वं लोकवृत्तमिदं तव ।
विदिते चापि वक्तव्यं सुहृद्भिरनुरागतः ।।२।।

धौम्य बोले—पाण्डवो ! लोक-व्यवहार की सभी बातें आप लोगों को विदित हैं, फिर भी हितैषी सुहृदों का कर्तव्य है कि वे स्नेह-वश हित की बातें बताएँ।

अतोऽहमपि वक्ष्यामि हेतुमत्र निबोधत ।
हन्तेमां राजवसतिं राजपुत्रा ब्रवीम्यहम् ।।३।।
यथा राजकुलं प्राप्य सर्वान् दोषांस्तरिष्यथ ।
दुर्वसं चैव कौरव्य जानता राजवेश्मनि ।।४।।

मैं जो युक्तियुक्त बातें बताऊँगा, उन्हें ध्यान देकर सुनो ! राजपुत्रो ! मैं यह बता रहा हूँ कि राजा के घर में रहकर कैसे बर्ताव करना चाहिए। उसके अनुसार राजकुल में रहते हुए भी तुम लोग वहाँ के सब दोषों से पार हो जाओगे। कुरुनन्दन ! ज्ञानी पुरुष के लिए भी राजमहल में निवास करना अत्यन्त कठिन है।

दृष्टद्वारो लभेद् द्रष्टुं राजस्वेषु न विश्वसेत् ।
तदेवासनमन्विच्छेद् यत्र नाभिपतेत् परः ।।५।।

राजा से मिलना हो तो पहले द्वारपाल से मिलकर राजा को सूचना देनी चाहिए और मिलने

के लिए उनकी आज्ञा ले लेनी चाहिए। इन राजाओं पर पूर्ण विश्वास कभी न करे। अपने लिए वही आसन पसन्द करे जिसपर दूसरा कोई बैठनेवाला न हो।

यो न यानं न पर्यङ्कं न पीठं न गजं रथम्।
आरोहेत् सम्मतोऽस्मीति स राजवसतिं वसेत् ॥६॥

'मैं राजा का प्रीति-पात्र हूँ'—ऐसा मानकर भी जो राजा की सवारी, पलंग, पादुका, हाथी एवं रथ आदि पर नहीं चढ़ता है, वही राजा के घर में कुशलपूर्वक रह सकता है।

यत्र यत्रैनमासीनं शङ्केरन् दुष्टचारिणः।
न तत्रोपदिशेद् यो वै स राजवसतिं वसेत् ॥७॥

जिन-जिन स्थानों पर बैठने से दुराचारी मनुष्य सन्देह करते हों, उन-उन स्थानों पर जो कभी नहीं बैठता, वही राज-भवन में निवास कर सकता है।

न चानुशिष्याद् राजानमपृच्छन्तं कदाचन।
तूष्णीं त्वेनमुपासीत काले समभिपूजयेत् ॥८॥

बिना पूछे राजा को कभी कर्तव्य का उपदेश न दे। मौन-भाव से ही उसकी सेवा करे और उपयुक्त अवसर पर राजा की प्रशंसा भी करे।

असूयन्ति हि राजानो जनाननृतवादिनः।
तथैव चावमन्यन्ते मन्त्रिणं वादिनं मृषा ॥९॥

झूठ बोलनेवाले मनुष्यों के प्रति राजा लोग दोष-दृष्टि कर लेते हैं। इसी प्रकार वे मिथ्यावादी मन्त्री का भी अपमान कर डालते हैं।

नैषां दारेषु कुर्वीत मैत्रीं प्राज्ञः कदाचन।
अन्तःपुरचरा ये च द्वेष्टि यानहिताश्च ये ॥१०॥

बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह राजा की स्त्रियों से मेल-जोल न करे। जो रनिवास में आते-जाते हों, राजा जिनसे द्वेष रखता हो तथा जो लोग राजा का अहित चाहनेवाले हों, उनसे भी मैत्री स्थापित न करे।

विदिते चास्य कुर्वीत कार्याणि सुलघून्यपि।
एवं विचरतो राज्ञि न क्षतिर्जायते क्वचित् ॥११॥

छोटे-से-छोटा कार्य भी राजा को जताकर ही करे। राजसभा में ऐसा आचरण करनेवाले मनुष्य को कभी हानि नहीं उठानी पड़ती।

यद् यद् भर्तानुयुञ्जीत तत् तदेवानुवर्तयेत्।
प्रमादमवलेपं च कोपं च परिवर्जयेत् ॥१२॥

राजा जिस-जिस कार्य के लिए आज्ञा दे, उसी का पालन करे। लापरवाही, अहंकार और क्रोध को सर्वथा त्याग दे।

शूरोऽस्मीति न दृप्तः स्याद् बुद्धिमानिति वा पुनः।
प्रियमेवाचरन् राज्ञः प्रियो भवति भोगवान् ॥१३॥

'मैं शूरवीर हूँ अथवा बड़ा बुद्धिमान् हूँ'—ऐसा घमण्ड न करे। जो सदा राजा को प्रिय लगनेवाले कार्य ही करता है, वही उसका प्रेम-पात्र तथा ऐश्वर्य-भोग से सम्पन्न होता है।

न चोष्ठौ न भुजौ जानू न च वाक्यं समाक्षिपेत्।
सदा क्षुतं च वातं च ष्ठीवनं चाचरेच्छनैः ॥१४

राजा के समक्ष अपने दोनों हाथ, ओठ और घुटनों को व्यर्थ न हिलाए, बकवास न करे। धीरे-से छींके और थूके तथा दूसरों को पता न लगे, इस प्रकार अधोवायु छोड़े।

राजानं राजपुत्रं वा संवर्णयति यः सदा।
अमात्यः पण्डितो भूत्वा स चिरं तिष्ठति प्रियः ॥१५॥

जो बुद्धिमान् सचिव सदा राजा अथवा राज-कुमार की प्रशंसा करता रहता है, वही राजा के यहाँ उसका प्रीति-पात्र होकर दीर्घ समय तक टिक सकता है।

अम्लानो बलवाञ्छूरश्छायेवानुगतः सदा।
सत्यवादी मृदुर्दान्तः स राजवसतिं वसेत् ॥१६॥

जो उत्साह-सम्पन्न, बुद्धि-बल से युक्त, शूरवीर, सत्यवादी, कोमल-स्वभाव और जितेन्द्रिय होकर सदा छाया की भाँति राजा का अनुसरण करता है, वही राज-दरबार में टिक सकता है।

समवेषं न कुर्वीत नोच्चैः संनिहितो वसेत्।
न मन्त्रं बहुधा कुर्यादेवं राज्ञः प्रियो भवेत् ॥१७॥

राजा के समान वेश-भूषा कभी धारण न करे। उसके अत्यन्त निकट न रहे। [अति निकटता से राजा शंकाशील होता है।] उसके सामने ऊँचे आसन पर न बैठे। अपने साथ हुई राजा की गुप्त मन्त्रणा को दूसरों पर प्रकट न करे। ऐसा करने से मनुष्य राजाओं का प्रिय होता है।

न कर्मणि नियुक्तः सन् धनं किञ्चिदपि स्पृशेत् ।
प्राप्नोति हि हरन् द्रव्यं बन्धनं यदि वा वधम् ।।१८

राजा ने यदि किसी काम पर नियुक्त किया है तो उसमें तनिक भी घूस न ले, क्योंकि घूस लेनेवाले को एक दिन बन्धन या वध का दण्ड भोगना पड़ता है।

एवं संयम्य चित्तानि यत्नतः पाण्डुनन्दनाः ।
संवत्सरमिमं तात तथाशीला बुभूषत ।।१९।।

तात युधिष्ठिर तथा पाण्डवो ! तुम इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक अपने मन को वश में रखकर पूर्वोक्त रीति से उत्तम-व्यवहार करते हुए इस तेरहवें वर्ष को व्यतीत करो और इसी रूप में रहकर ऐश्वर्य पाने की इच्छा करो।

युधिष्ठिर उवाच

अनुशिष्टाः स्म भद्रं ते नैतद् वक्तास्ति कश्चन ।
कुन्तीमृते मातरं नो विदुरं वा महामतिम् ।।२०।।

युधिष्ठिर बोले—हे ब्रह्मन् ! आपका कल्याण हो। आपने हमें अत्युत्तम शिक्षा दी। हमारी माता कुन्ती तथा महाबुद्धिमान् विदुर को छोड़कर दूसरा कोई हमें ऐसी शिक्षा नहीं दे सकता था।

यदेवानन्तरं कार्यं तद् भवान् कर्तुमर्हति ।
तारणायास्य दुःखस्य प्रस्थानाय जयाय च ।।२१।।

अब हमें इस दुःखसागर से पार होने, यहाँ से प्रस्थान करने और विजय पाने के लिए जो कर्तव्य आवश्यक हो, उसे आप पूर्ण करें।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो राज्ञा धौम्योऽथ द्विजसत्तमः ।
अकरोद् विधिवत्सर्वं प्रस्थाने यद् विधीयते ।।२२।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर विप्रवर धौम्य ने यात्रा के समय जो आवश्यक शास्त्र-विहित कर्तव्य था, वह सब विधिपूर्वक सम्पन्न किया।

तेषां समिध्य तानग्नीन् मन्त्रवच्च जुहाव सः ।
समृद्धिवृद्धिलाभाय पृथिवीविजयाय च ।।२३।।

पाण्डवों की अग्निहोत्र-सम्बन्धी अग्नि को प्रज्वलित करके धौम्य ने उनकी समृद्धि, वृद्धि, राज्य-लाभ तथा पृथिवी पर विजय-प्राप्ति के लिए वेद-मन्त्रों द्वारा होम किया।

अग्नीन् प्रदक्षिणीकृत्य ब्राह्मणांश्च तपोधनान् ।
याज्ञसेनीं पुरस्कृत्य षडेवाथ प्रवव्रजुः ।।२४।।

तत्पश्चात् पाण्डवों ने अग्नि तथा तपस्वी ब्राह्मणों की परिक्रमा करके द्रौपदी को आगे रखकर वहाँ से प्रस्थान किया। कुल छह व्यक्ति ही आसन छोड़कर एक साथ चले थे।

गतेषु तेषु वीरेषु धौम्योऽथ जपतां वरः ।
अग्निहोत्राण्युपादाय पाञ्चालानभ्यगच्छत ।।२५।।

वीर पाण्डवों के चले जाने पर जप-यज्ञ करनेवालों में श्रेष्ठ धौम्यजी उस अग्निहोत्र-सम्बन्धी अग्नि को साथ लेकर पाञ्चाल देश में चले गये।

इति महाभारते विराटपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ।।२।।

तृतीयोऽध्यायः

पाण्डवों का विराटनगर के समीप पहुँचकर अपने अस्त्र-शस्त्रों को श्मशान-स्थित एक शमीवृक्ष पर रखना और प्रत्येक का क्रमशः राज-सभा में प्रवेश करना

वैशम्पायन उवाच

ते वीरा बद्धनिस्त्रिंशास्तथा बद्धकलापिनः ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणाः कालिन्दीमभितो ययुः ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! वीर पाण्डव तलवार बाँधे, पीठ पर तूणीर कसे, गोह-चर्म से निर्मित दस्ताने पहने (पैदल चलते-चलते) यमुना नदी के समीप जा पहुँचे।

ततस्ते दक्षिणं तीरमन्वगच्छन् पदातयः ।
निवृत्तवनवासा हि स्वराष्ट्रं प्रेप्सवस्तदा ।।२।।

तत्पश्चात् वे यमुना के दक्षिण किनारे पर पैदल ही चलने लगे। उस समय उनके मन में यह इच्छा जाग उठी थी कि अब हम वनवास के कष्ट से शीघ्र

मुक्त हो अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे।

ततो जनपदं प्राप्य कौन्तेयोऽर्जुनमब्रवीत्।
क्वायुधानि समासज्य प्रवेक्ष्यामः पुरं वयम् ॥३॥

चलते-चलते विराट की राजधानी के समीप पहुँचकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा—"भैया! हम अपने अस्त्र-शस्त्र कहाँ रखकर नगर में प्रवेश करें?

सायुधाश्च प्रवेक्ष्यामो वयं तात पुरं यदि।
समुद्वेगं जनस्यास्य करिष्यामो न संशयः ॥४॥

"तात! यदि हम अपने आयुधों के साथ नगर में प्रवेश करेंगे, तो निःसन्देह यहाँ के निवासियों को उद्वेग [भय] में डाल देंगे।"

अर्जुन उवाच

इयं कूटे मनुष्येन्द्र गहना महती शमी।
भीमशाखा दुरारोहा श्मशानस्य समीपतः ॥५॥

अर्जुन ने कहा—हे राजन्! श्मशान-भूमि के समीप एक टीले पर स्थित यह शमी का बहुत बड़ा सघन वृक्ष है। इसकी शाखाएँ बड़ी भयानक हैं, अतः इस पर चढ़ना कठिन है।

न चापि विद्यते कश्चिन्मनुष्य इति मे मतिः।
योऽस्मान् निदधतो द्रष्टा भवेच्छस्त्राणि पाण्डव ॥६॥

पाण्डुनन्दन! मेरा विश्वास है कि यहाँ कोई ऐसा मनुष्य भी नहीं है, जो हमें अपने अस्त्र-शस्त्रों को इसके मध्य रखते समय देख रहा हो।

उत्पथे हि वने जाता मृगव्यालनिषेविते।
समाधायायुधं शम्यां गच्छामो नगरं प्रति ॥७॥

यह वृक्ष मार्ग से बहुत दूर जंगल में है। इसके आस-पास हिंसक जीव और सर्प आदि रहते हैं, यहाँ किसी के आने की भी सम्भावना नहीं, अतः हम इसी शमी वृक्ष पर अपने अस्त्र-शस्त्र रखकर नगर में चलें।

वैशम्पायन उवाच

अथान्वशासन्नकुलं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
आरुह्येमां शमीं वीर धनूंष्येतानि निक्षिप ॥८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! अर्जुन की बात सुनकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने नकुल को आज्ञा दी—"वीर! तुम इस शमीवृक्ष पर चढ़कर ये धनुष आदि अस्त्र-शस्त्र रख दो।"

तामुपारुह्य नकुलो धनूंषि निदधे स्वयम्।
यानि तस्यावकाशानि दिव्यरूपाण्यमन्यत ॥९॥

तब नकुल ने उस वृक्ष पर चढ़कर उसके खोखलों में वे धनुष आदि आयुध स्वयं अपने हाथ से रखे। उसके जो खोखले थे, वे नकुल को दिव्यरूप जान पड़े।

शरीरं च मृतस्यैकं समबध्नन्त पाण्डवाः।
विवर्जयिष्यन्ति नरा दूरादेव शमीमिमाम् ॥१०॥

तत्पश्चात् पाण्डवों ने एक मृतक का शरीर [शव] लाकर उस वृक्ष की शाखा में बाँध दिया, जिससे लोग इस शमी वृक्ष को दूर से ही त्याग दें।

जयो जयन्तो विजयो जयत्सेनो जयद्बलः।
इति गुह्यानि नामानि चक्रे तेषां युधिष्ठिरः ॥११॥

तब युधिष्ठिर ने पाँचों भाइयों के क्रमशः जय, जयन्त, विजय, जयत्सेन और जयद्बल—ये गुप्त नाम रखे।

ततो यथाप्रतिज्ञाभिः प्राविशन् नगरं महत्।
अज्ञातचर्यां वत्स्यन्तो राष्ट्रे वर्षं त्रयोदशम् ॥१२॥

तत्पश्चात् उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार तेरहवें वर्ष का अज्ञातवास पूर्ण करने के लिए मत्स्य राष्ट्र के उस विशाल नगर में प्रवेश किया।

ततो विराटं प्रथमं युधिष्ठिरो
राजा सभायामुपविष्टमाव्रजत्।
वैदूर्यरूपान् प्रतिमुच्य काञ्चना-
नक्षान् स कक्षे परिगृह्य वाससा ॥१३॥

तब वैदूर्य के समान हरी, स्वर्ण के समान पीली [तथा लाल और काली] चौसर की गोटियोंसहित पासों को कपड़े में बाँधकर बगल में दबाये हुए राजा युधिष्ठिर सबसे पहले राजा के दरबार में गये। उस समय राजा विराट सभा में बैठे थे।

तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य पाण्डवं
विराटराडिन्दुमिवाभ्रसंवृतम्।
पप्रच्छ कोऽयं प्रथमं समेयिवान्
नृपोपमोऽयं समवेक्षते सभाम् ॥१४॥

बादलों से ढके हुए चन्द्रमा की भाँति शोभायमान

पाण्डुनन्दन को आते देखकर विराट ने सभासदों से पूछा—"ये कौन हैं, जो पहले-पहले यहाँ पधारे हैं? ये तो किसी राजा की भाँति मेरी सभा का अवलोकन कर रहे हैं।

न तु द्विजोऽयं भविता नरोत्तमः
पतिः पृथिव्या इति मे मनोगतम्।
न चास्य दासा न रथा न कुञ्जरा
समीपतो भ्राजति चायमिन्द्रवत् ॥१५॥

"इनका वेश तो ब्राह्मण जैसा है, परन्तु ये ब्राह्मण नहीं हो सकते। ये नरश्रेष्ठ तो कहीं के राजा ही होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। इनके साथ दास, रथ और हाथी-घोड़े आदि कुछ भी नहीं हैं, फिर भी ये निकट से इन्द्र के समान देदीप्यमान हो रहे हैं!"

वितर्कयन्तं तु नरर्षभस्तथा
युधिष्ठिरोऽभ्येत्य विराटमब्रवीत्।
सम्राट् विजानात्विह जीवनार्थिनं
विनष्टसर्वस्वमुपागतं द्विजम् ॥१६॥

इस प्रकार तर्क-वितर्क में पड़े हुए राजा विराट के पास पहुँचकर नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर ने कहा—"महाराज! आपको विदित हो, मैं एक ब्राह्मण हूँ। मेरा सर्वस्व नष्ट हो गया है, अतः मैं आपके यहाँ जीवन-निर्वाह के लिए आया हूँ।"

तमब्रवीत् स्वागतमित्यनन्तरं
कस्यासि राज्ञो विषयादिहागतः।
गोत्रं च नामापि च शंस तत्त्वतः
किं चापि शिल्पं तव विद्यते कृतम् ॥१७॥

युधिष्ठिर की बात सुनकर विराट ने कहा—"ब्रह्मन्! आपका स्वागत है!" फिर उन्होंने पूछा—"आप इस समय किस राजा के यहाँ से आये हैं? अपना गोत्र और नाम भी ठीक-ठीक बताइए। साथ ही यह भी बताइए कि आपने किस विद्या या कला में कुशलता प्राप्त की है?"

युधिष्ठिर उवाच

युधिष्ठिरस्यासमहं पुरा सखा
वैयाघ्रपद्यः पुनरस्मि ब्राह्मणः।
अक्षान् प्रयोक्तुं कुशलोऽस्मि देविनां
कङ्केति नाम्नास्मि विराट विश्रुतः ॥१८॥

युधिष्ठिर बोले—महाराज विराट! मैं वैयाघ्र-पदगोत्र-उत्पन्न ब्राह्मण हूँ। मैं 'कङ्क' के नाम से प्रसिद्ध हूँ। मैं पहले राजा युधिष्ठिर के साथ रहता था। वे मुझे अपना मित्र मानते थे। मैं चौसर खेलने-वालों के बीच पासे फेंकने की कला में कुशल हूँ।

विराट उवाच

समानयानो भवितासि मे सखा
प्रभूतवस्त्रो बहुपानभोजनः।
पश्येस्त्वमन्तश्च बहिश्च सर्वदा
कृतं च ते द्वारमपावृतं मया ॥१९॥

विराट ने कहा—कङ्क! आज से आप मेरे मित्र हैं। आपको मेरे जैसी ही सवारी मिलेगी। वस्त्र और भोजन आदि का प्रबन्ध भी आपके लिए पर्याप्त मात्रा में रहेगा। बाहर और भीतर के राज्य की देख-भाल भी आप ही करें। मेरे आदेश से आपके लिए राजमहल का द्वार सदा खुला रहेगा।

वैशम्पायन उवाच

अथापरो भीमबलः श्रिया ज्वल-
न्नुपाययौ सिंहविलासविक्रमः।
खजं च दर्वीं च करेण धारय-
न्नसिं च कालाङ्गमकोशमव्रणम् ॥२०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तत्पश्चात् द्वितीय पाण्डव भयंकर बलशाली, अपने तेज से प्रकाशित भीमसेन सिंह की-सी मस्त चाल से चलते हुए राजा विराट के दरबार में आये। उन्होंने हाथ में मथानी, कलछी और शाक काटने के लिए एक काले रंग का तीखी धारवाला छुरा ले रखा था। वह छुरा न तो टूटा-फूटा था और न उसपर कोई आवरण ही था।

ततो विराटं समुपेत्य पाण्डव-
स्त्वदीनरूपं वचनं महामनाः।
उवाच सूदोऽस्मि नरेन्द्र बल्लवो
भजस्व मां व्यञ्जनकारमुत्तमम् ॥२१॥

महामना पाण्डुनन्दन भीम विराट के अत्यन्त समीप जाकर दीनता-रहित वाणी में बोले—"हे नरेन्द्र! मैं रसोइया हूँ। मेरा नाम बल्लव है। मैं बहुत उत्तम व्यञ्जन बनाना जानता हूँ। आप मुझे अपने यहाँ इस कार्य के लिए रख लीजिए!"

विराट उवाच

न सूवतां वल्लव श्रद्दधामि ते
सहस्रनेत्रप्रतिमो विराजसे ।
श्रिया च रूपेण च विक्रमेण च
प्रभाससे त्वं नृवरो नरेष्विव ॥२२॥

विराट ने कहा—हे वल्लव ! तुम रसोइए हो, इस बात पर मुझे विश्वास नहीं होता । तुम तो इन्द्र के समान तेजस्वी दिखाई देते हो । अपने अद्‌भुत रूप, दिव्य शोभा और महान् पराक्रम से तुम मनुष्यों में कोई श्रेष्ठ पुरुष अथवा राजा प्रतीत होते हो ।

भीम उवाच

नरेन्द्र सूदः परिचारकोऽस्मि ते
जानामि सूपान् प्रथमं च केवलान् ।
आस्वादिता ये नृपते पुराभवन्
युधिष्ठिरेणापि नृपेण सर्वशः ॥२३॥

भीमसेन बोले—महाराज ! मैं भोजन बनानेवाला आपका सेवक हूँ । मैं नाना-प्रकार के व्यञ्जन बनाना जानता हूँ, जिनका बनाना केवल मुझे ही ज्ञात है । मेरे बनाये व्यञ्जन उत्तम-कोटि के होते हैं । राजन् ! पहले राजा युधिष्ठिर ने भी मेरे बनाये सब प्रकार के व्यञ्जनों का आस्वादन किया है ।

बलेन तुल्यश्च न विद्यते मया
नियुद्धशीलश्च सदैव पार्थिव ।
गजैश्च सिंहैश्च समेयिवानहं
सदा करिष्यामि तवानघ प्रियम् ॥२४॥

हे अनघ ! इसके सिवा शारीरिक बल में भी मेरा सामना करनेवाला दूसरा कोई नहीं है । मैं सदा कुश्ती लड़नेवाला पहलवान हूँ, हाथियों और सिंहों से भी भिड़ जाता हूँ । हे नरेश ! मैं सदा आपको प्रिय लगनेवाले कार्य करूँगा ।

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरान् महानसे
तथा च कुर्याः कुशलं प्रभाषसे ।
न चैव मन्ये तव कर्म यत् समं
समुद्रनेमिं पृथिवीं त्वमर्हसि ॥२५॥

विराट ने कहा—वल्लव ! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें अभीष्ट वर देता हूँ । तुम अपने को भोजन-कला में कुशल बताते हो तो मेरी पाकशाला में रहकर वही करो, परन्तु मैं इस कार्य को तुम्हारे योग्य नहीं समझता । तुम तो समुद्र से घिरी समस्त पृथिवी का शासन करने योग्य हो ।

यथा हि कामो भवतस्तथा कृतं
महानसे त्वं भव मे पुरस्कृतः ।
नराश्च ये तत्र समाहिताः पुरा
भवांश्च तेषामधिपो मया कृतः ॥२६॥

तथापि जैसी तुम्हारी रुचि है, मैंने वैसा ही किया है । तुम मेरी पाकशाला में अग्रणी होकर रहो । जो लोग वहाँ पहले से नियुक्त हैं, मैंने तुम्हें उन सबका स्वामी बना दिया ।

वैशम्पायन उवाच

वासश्च परिधायैकं कृष्णा सुमलिनं महत् ।
कृत्वा वेषं च सैरन्ध्र्यास्ततो व्यचरदार्तवत् ॥२७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उधर द्रौपदी एक अत्यन्त मलिन वस्त्रधारण करके 'सैरन्ध्री' का वेश बनाये दीन-दुखियों की भाँति नगर में विचरने लगी ।

तां नराः परिधावन्तीं स्त्रियश्च समुपाद्रवन् ।
अपृच्छँश्चैव तां दृष्ट्वा का त्वं किं च चिकीर्षसि ॥२८

उसे इधर-उधर भटकती देख बहुत-सी स्त्रियाँ और पुरुष उसके पास दौड़े आये और उससे पूछने लगे—"तुम कौन हो और क्या चाहती हो ?"

सा तानुवाच राजेन्द्र सैरन्ध्र्यहमिहागता ।
कर्म चेच्छामि वै कर्तुं तस्य यो मां पुपुक्षति ॥२९॥
तस्या रूपेण वेषेण श्लक्ष्णया च तथा गिरा ।
न श्रद्दधत तां दासीमन्नहेतोरुपस्थिताम् ॥३०॥

हे राजेन्द्र ! उनके इस प्रकार पूछने पर द्रौपदी ने उनसे कहा—"मैं सैरन्ध्री हूँ । जो मुझे अपने यहाँ रखना चाहे, उसी के यहाँ सैरन्ध्री का काम करना चाहती हूँ और इसीलिए यहाँ आई हूँ ।" उसके रूप, वेश और मधुर वाणी से किसी को यह विश्वास नहीं हुआ कि यह दासी है और अन्न-वस्त्र के लिए यहाँ उपस्थित हुई है ।

विराटस्य तु कैकेयी भार्या परमसम्मता ।
आलोकयन्ती ददृशे प्रासादाद् द्रुपदात्मजाम् ॥३१॥

इतने में ही नृप विराट की अत्यन्त प्यारी भार्या

केकय की राजकुमारी सुदेष्णा ने, जो अपने महल पर खड़ी हुई नगर की शोभा निहार रही थी, वहीं से द्रुपदकुमारी को देखा।

सा समीक्ष्य तथारूपामनाथामेकवाससम्।
समाहूयाब्रवीद् भद्रे का त्वं किं च चिकीर्षसि ॥३२॥

उस दिव्यरूपवाली, एक वस्त्रधारिणी और अनाथा-सी दीखनेवाली तरुणी को उस अवस्था में देखकर रानी ने अपने पास बुलाकर पूछा—"भद्रे ! तुम कौन हो और क्या चाहती हो ?"

सा तामुवाच राजेन्द्र सैरन्ध्र्यहमुपागता।
कर्म चेच्छाम्यहं कर्तुं तस्य यो मां पुपुक्षति ॥३३॥

हे राजेन्द्र ! तब द्रौपदी ने सुदेष्णा से कहा—"मैं सैरन्ध्री हूँ। जो मुझे अपने यहाँ रखना चाहे, उसके यहाँ रहकर सैरन्ध्री का कार्य करना चाहती हूँ तथा इसीलिए यहाँ आई हूँ।"

सुदेष्णोवाच

नैवंरूपा भवन्त्येवं यथा वदसि भामिनि।
प्रेषयन्तीव वै दासीर्दासांश्च विविधान् बहून् ॥३४॥

सुदेष्णा ने कहा—हे भामिनि ! तुम जैसा कह रह रही हो उसपर विश्वास नहीं होता, क्योंकि तुम जैसी रूपवती स्त्रियाँ सैरन्ध्री (दासी) नहीं हुआ करतीं। तुम तो बहुत-से दास-दासियों को आज्ञा देनेवाली रानी जैसी जान पड़ती हो।

का त्वं ब्रूहि यथा भद्रे नासि दासी कथञ्चन।
यक्षी वा यदि वा देवी गन्धर्वी यदि वाप्सराः ॥३५॥
देवकन्या भुजङ्गी वा नगरस्याथ देवता।
विद्याधरी किन्नरी वा यदि वा रोहिणी स्वयम् ॥३६॥

भद्रे ! तुम वास्तव में कौन हो ? सच बताओ। तुम दासी तो किसी प्रकार नहीं हो सकतीं। तुम यक्षिणी हो या देवी ? गन्धर्व-कन्या हो या अप्सरा ? देव-कन्या हो या नाग-कन्या ? अथवा तुम इस नगर की अधिष्ठात्री देवी तो नहीं हो ? तुम विद्याधरी, किन्नरी या साक्षात् चन्द्रदेव की पत्नी रोहिणी तो नहीं हो ?

द्रौपद्युवाच

नास्मि देवी न गन्धर्वी नासुरी न च राक्षसी।
सैरन्ध्री तु भुजिष्यास्मि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥३७॥

द्रौपदी बोली—हे महारानी ! मैं न तो देवी हूँ, न गन्धर्वी, न असुर-पत्नी हूँ, न राक्षसी। मैं तो सेवा करनेवाली सैरन्ध्री हूँ—यह मैं आपसे सच-सच कह रही हूँ।

केशाञ्जानाम्यहं कर्तुं पिंषे साधु विलेपनम्।
मल्लिकोत्पलपद्मानां चम्पकानां तथा शुभे।
ग्रथयिष्ये विचित्राश्च स्रजः परमशोभनाः ॥३८॥

मैं केशों का शृङ्गार करना जानती हूँ तथा उबटन या अङ्गराग भी बहुत अच्छा पीस लेती हूँ। शुभे ! मैं मल्लिका (चमेली) उत्पल, कमल और चम्पा आदि फूलों के अति सुन्दर एवं विचित्र हार भी गूँथ सकती हूँ।

सुदेष्णोवाच

मूर्ध्नि त्वां वासयेयं वै संशयो मे न विद्यते।
न चेदिच्छति राजा त्वां गच्छेत्सर्वेण चेतसा ॥३९॥

सुदेष्णा ने कहा—"हे सुन्दरि ! यदि राजा तुम्हें चाहने न लगें—सम्पूर्ण चित्त से तुमपर आसक्त न हो जाएँ—तो तुम्हें रखने में मुझे कोई आपत्ति न होगी। मैं तुम्हें अपने सिर-माथे पर धारण करूँगी।

स्त्रियो राजकुले याश्च याश्चेमा मम वेश्मनि।
प्रसक्तास्त्वां निरीक्षन्ते पुमांसं कं न मोहयेः ॥४०॥

इस राजकुल में तथा मेरे महल में जितनी स्त्रियाँ हैं, वे सब एकटक तुम्हारी ओर निहार रही हैं। फिर ऐसा कौन पुरुष होगा जिसे तुम मोहित न कर सको ?

वृक्षांश्चावस्थितान् पश्य य इमे मम वेश्मनि।
तेऽपि त्वां संनमन्तीव पुमांसं कं न मोहयेः ॥४१॥

देखो ! मेरे भवन में ये जो वृक्ष खड़े हैं, वे भी तुम्हें देखने के लिए मानो झुके-से पड़ते हैं। फिर ऐसा कौन पुरुष होगा जिसे तुम मोहित न कर लो ?

राजा विराटः सुश्रोणि दृष्ट्वा वपुरमानुषम्।
विहाय मां वरारोहे गच्छेत्त्वां सर्वचेतसा ॥४२॥

सुन्दर नितम्बोंवाली सुन्दरि ! तुम्हारे सम्पूर्ण अङ्ग सुन्दर हैं। राजा विराट तुम्हारा यह दिव्य रूप देखते ही मुझे छोड़कर सम्पूर्ण चित्त से तुम्हीं में आसक्त हो जाएँगे।

यथा च कर्कटी गर्भमाधत्ते मृत्युमात्मनः ।
तथाविधमहं मन्ये वासं तव शुचिस्मिते ॥४३॥

शुचिस्मिते [सुन्दर व पावन मुस्कानवाली] ! जैसे केकड़े की मादा अपनी मृत्यु के लिए ही गर्भ धारण करती है, उसी प्रकार तुम्हें इस घर में ठहराना मैं अपने लिए मरण के तुल्य मानती हूँ ।"

द्रौपद्युवाच

नास्मि लभ्या विराटेन न चान्येन कदाचन ।
न चाप्यहं चालयितुं शक्या केनचिदङ्गने ॥४४॥

द्रौपदी ने कहा—कल्याणि ! मुझे राजा विराट या दूसरा कोई पुरुष कभी नहीं पा सकता । न ही मुझे कोई भी सतीत्व से विचलित कर सकता है ।

यो हि मां पुरुषो गृध्येद्यथान्याः प्राकृताः स्त्रियः ।
तामेव निवसेद् रात्रिं प्रविश्य च परां तनुम् ॥४५॥

जो पुरुष मुझे अन्य साधारण स्त्रियों के समान समझकर बलपूर्वक प्राप्त करना चाहता है, उसका उसी रात में परलोकवास हो जाता है ।

सुदेष्णोवाच

एवं त्वां वासयिष्यामि यथा त्वं नन्दिनीच्छसि ।
न च पादौ न चोच्छिष्टं स्प्रक्ष्यसि त्वं कथञ्चन ॥४६

सुदेष्णा बोली—आनन्ददायिनि सुन्दरि ! यदि ऐसा है तो मैं तुम्हारी इच्छा के अनुसार तुम्हें अवश्य अपने घर में ठहराऊँगी । तुम्हें किसी प्रकार भी किसी के पैर या जूठन नहीं छूने पड़ेंगे ।

वैशम्पायन उवाच

एवं कृष्णा विराटस्य भार्यया परिसान्त्विता ।
उवास नगरे तस्मिन् पतिधर्मवती सती ॥४७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--विराट की रानी ने जब इस प्रकार आश्वासन दिया, तब पतिव्रत-धर्म का पालन करनेवाली सती द्रौपदी उस नगर में रहने लगी ।

सहदेवोऽपि गोपानां कृत्वा वेषमनुत्तमम् ।
भाषां चैषां समास्थाय विराटमुपयादथ ॥४८॥

तत्पश्चात् सहदेव भी ग्वालों का-सा उत्तम वेप बनाकर उन्हीं की भाषा में बोलते हुए राजा विराट के यहाँ गये ।

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य भ्राजमानं नरर्षभम् ।
समुपस्थाय वै राजा पप्रच्छ कुरुनन्दनम् ॥४९॥

दिव्य कान्ति से सुशोभित नरश्रेष्ठ सहदेव को राजसभा की ओर आते देखकर राजा विराट स्वयं उठकर उनके पास गये और कुरुकुल को आनन्द देनेवाले सहदेव से पूछने लगे—

कस्य वा त्वं कुतो वा त्वं किं वा त्वं तु चिकीर्षसि ।
न हि मे दृष्टपूर्वस्त्वं तत्त्वं ब्रूहि नरर्षभ ॥५०॥

"पुरुषप्रवर ! तुम किसके पुत्र हो, कहाँ से आये हो और क्या करना चाहते हो ? मैंने आज से पहले तुम्हें कभी नहीं देखा, अतः अपना ठीक-ठीक परिचय दो ।"

सहदेव उवाच

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरः ।
गोसंख्याता ह्यहं तस्य तन्तिपालेति मां विदुः ॥५१॥

सहदेव ने कहा—हे राजन् ! मैं, पाँचों पाण्डवों में सबसे बड़े भाई युधिष्ठिर की गौओं का गणक एवं निरीक्षक था । मुझे लोग 'तन्तिपाल' के नाम से जानते हैं ।

क्षिप्रं च गावो बहुला भवन्ति
न तासु रोगो भवतीह कश्चित् ।
तैस्तैरुपायैर्विदितं ममैत-
देतानि शिल्पानि मयि स्थितानि ॥५२

किन-किन उपायों से गौओं की संख्या शीघ्र बढ़ जाती है तथा उनमें कोई रोग पैदा नहीं होता, यह सब मुझे ज्ञात है । महाराज ! ये ही कलाएँ मुझमें विद्यमान हैं ।

वृषभांश्चापि जानामि राजन् पूजितलक्षणान् ।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते ॥५३

मैं उन उत्तम लक्षणोंवाले बैलों को भी जानता हूँ जिनके मूत्र को सूँघ लेने से ही वन्ध्या स्त्री भी गर्भ-धारण एवं सन्तान उत्पन्न करने योग्य हो जाती है ।

विराट उवाच

शतं सहस्राणि समाहितानि च
सवर्णवर्णस्य विमिश्रितान् गुणैः ।
पशून् सपालान् भवते ददाम्यहं
त्वदाश्रया मे पशवो भवन्त्विह ॥५४॥

विराट ने कहा—हे तन्तिपाल ! मेरे यहाँ एक लाख पशु हैं। उनमें कुछ तो एक ही रंग के हैं और कुछ मिश्रित रंग के। वे सब विभिन्न गुणों से युक्त हैं। मैं उन पशुओं और पशुपालों को आज से तुम्हारे हाथ में सौंपता हूँ। मेरे पशु अब तुम्हारे ही अधीन रहेंगे।

वैशम्पायन उवाच

अथापरोऽदृश्यत रूपसम्पदा
स्त्रीणामलंकारधरो बृहत्पुमान्।
प्राकारवप्रे प्रतिमुच्य कुण्डले
दीर्घे च कम्बू परिहाटके शुभे ॥५५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तत्पश्चात् नगर की चारदीवारी के पीछे मिट्टी के ऊँचे टीले के समीप रूप-सम्पदा से सुशोभित, ऊँचे डील-डौलवाला एक दूसरा पुरुष दिखाई दिया। उसने स्त्रियों के लिए उचित आभूषण धारण कर रखे थे। उसने कानों में बड़े-बड़े कुण्डल और हाथों में शंख की चूड़ियाँ पहनकर उनके ऊपर सोने के सुन्दर कंगन धारण कर रखे थे।

बहूंश्च दीर्घान् प्रविकीर्य मूर्धजान्
महाभुजो वारणतुल्यविक्रमः।
गतेन भूमिं प्रतिकम्पयंस्तदा
विराटमासाद्य सभासमीपतः ॥५६॥

अपने घने बड़े-बड़े केशों की लटों को फैलाये वह महाबाहु पुरुष उस समय हाथी के समान मस्तानी चाल से चलता और पग-पग पर मानो पृथिवी को कँपाता हुआ राजसभा के समीप राजा विराट के पास आकर खड़ा हुआ।

तं प्रेक्ष्य राजोपगतं सभातले
सर्वानपृच्छच्च सभानुचारिणः।
न चैनमूचुर्विदितं तदा नराः
सविस्मयं वाक्यमिदं नृपोऽब्रवीत् ॥५७

उसे सभा-भवन में आया हुआ देखकर राजा ने समस्त सभासदों से उसके सम्बन्ध में पूछा। राजा के पूछने पर उन मनुष्यों में से किसी ने भी उसे अपना परिचित नहीं बताया। तब राजा ने आश्चर्ययुक्त होकर यह बात कही—

सत्त्वोपपन्नः पुरुषोऽमरोपमः
श्यामो युवा वारणयूथपोपमः।
नैवंविधाः क्लीबरूपा भवन्ति
कथञ्चनेति प्रतिभाति मे मनः ॥५८॥

"तात ! तुम शक्ति और धैर्य से सम्पन्न देवोपम पुरुष हो। तुम्हारी अङ्ग-कान्ति श्याम है। तुम तरुण हो और हाथियों के यूथपति महान् गजराज के समान शोभा पा रहे हो। तुम्हारे जैसे रूपवाले किसी भी प्रकार नपुंसक नहीं हो सकते। मेरे मन को ऐसा ही प्रतीत होता है।"

अर्जुन उवाच

गायामि नृत्याम्यथ वादयामि च
भद्रोऽस्मि नृत्ये कुशलोऽस्मि गायने।
त्वमुत्तरायै प्रदिशस्व मां स्वयं
भवामि देव्या नरदेव नर्तकः ॥५९॥

अर्जुन बोला—नरदेव ! मैं गाता, नाचता और वाद्य बजाता हूँ। मैं नृत्यकला में कुशल और संगीत में निपुण हूँ। आप राजकुमारी उत्तरा को शिक्षा देने के लिए मुझे रख लें। मैं स्वयं राजकुमारी उत्तरा को नृत्य सिखाऊँगा।

इदं तु रूपं मम येन किं तव
प्रकीर्तयित्वा भृशशोकवर्धनम्।
बृहन्नलां मां नरदेव विद्धि त्वं
सुतं सुतां वा पितृमातृवर्जिताम् ॥६०॥

मेरा ऐसा रूप जिस कारण से हुआ है, उसे आपके समक्ष कहने से क्या लाभ ? वह अधिक शोक बढ़ानेवाली बात है। राजन् ! आप मुझे 'बृहन्नला' समझें और पिता-माता से रहित पुत्र या पुत्री मान लें।

विराट उवाच

ददामि ते हन्त वरं बृहन्नले
सुतां च मे नर्तय याश्च तादृशीः।
इदं तु ते कर्म समं न मे मतं
समुद्रनेमिं पृथिवीं त्वमर्हसि ॥६१॥

विराट बोले—बृहन्नले ! मैं तुम्हें अभीष्ट वर देता हूँ। तुम मेरी पुत्री को तथा उसके समान अवस्थावाली अन्य राजकुमारियों को नृत्य-कला

सिखाओ, परन्तु मुझे यह कार्य तुम्हारे योग्य नहीं जान पड़ता। तुम तो समुद्र से घिरी समस्त पृथ्वी का शासन करने योग्य हो।

वैशम्पायन उवाच

बृहन्नलां तामभिवीक्ष्य मत्स्यराट्
कलासु नृत्येषु तथैव वादिते।
सम्मंत्र्य राजा विविधैः स्वमन्त्रिभिः
परीक्ष्य चैनं प्रमदाभिराशु वै ॥६२॥
अपुंस्त्वमप्यस्य निशम्य च स्थिरं
ततः कुमारीपुरमुत्ससर्ज तम्।
स शिक्षयामास च गीतवादितं
सुतां विराटस्य धनञ्जयः प्रभुः ॥६३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! तत्पश्चात् मत्स्य-नरेश ने वृहन्नला की गीत, नृत्य और वाजे बजाने की कलाओं में परीक्षा करके अपने मन्त्रियों से उसे अन्तःपुर में रखने के विषय में विचार-विमर्श किया। फिर तरुणी स्त्रियों द्वारा उसके नपुंसकत्व की जाँच कराई। जब सब प्रकार से उसका नपुंसक होना प्रमाणित हो गया, तव यह सुन-समझकर उन्होंने वृहन्नला को कन्याओं के अन्तःपुर में जाने की आज्ञा दे दी। तव शक्तिशाली अर्जुन विराट-कन्या उत्तरा को गीत, वाद्य एवं नृत्य की शिक्षा देने लगे।

अथापरोऽदृश्यत पाण्डवः प्रभु-
विराटराजं तरसा समेयिवान्।
तमापतन्तं ददृशे पृथग्जनो
विमुक्तमभ्रादिव सूर्यमण्डलम् ॥६४॥

राजन्! तदनन्तर अन्य पाण्डुपुत्र शक्तिशाली नकुल वड़े वेग से चलते हुए राजा विराट के यहाँ आये। उन्हें आते समय साधारण लोगों ने देखा। उस समय वे मेघमाला की ओट से निकले हुए सूर्य-मण्डल के समान तेजस्वी जान पड़ते थे।

स वै हयानैक्षत ताँस्ततस्ततः
समीक्षमाणं स ददर्श मत्स्यराट्।
ततोऽब्रवीत्ताननुगान् नरेश्वरः
कुतोऽयमायाति नरोऽमरोपमः ॥६५॥
स्वयं हयान्वीक्षति मामकान् दृढं
ध्रुवं हयज्ञो भविता विचक्षणः।
प्रवेश्यतामेष समीपमाशु मे
विभाति वीरो हि यथामरस्तथा ॥६६॥

आते ही उन्होंने इधर-उधर घूमकर घोड़ों को देखना आरम्भ किया। इस प्रकार अश्वों का निरीक्षण करते समय उन्हें मत्स्य-नरेश विराट ने देखा। तव उस नरेश ने वहाँ वैठे हुए अनुचरों से कहा—"पता तो लगाओ, यह देवोपम पुरुप कहाँ से आ रहे हैं? यह विना कहे-सुने मेरे घोड़ों को वड़े ध्यान से देख रहा है, अतः यह निश्चय ही घोड़ों को पहचानने-वाला और अश्व-विद्या का विशेषज्ञ (विद्वान्) होगा। इसे शीघ्र मेरे पास ले आओ। यह वीर देवों की भाँति सुशोभित हो रहा है।"

अभ्येत्य राजानममित्रहाब्रवी-
ज्जयोऽस्तु ते पार्थिव भद्रमस्तु वः।
हयेषु युक्तो नृप सम्मतः सदा
तवाश्वसूतो निपुणो भवाम्यहम् ॥६७॥

तदनन्तर राजसेवकों के साथ राजा के समीप आकर शत्रुहन्ता नकुल ने कहा—"हे राजन्! आपकी जय हो, आपका कल्याण हो! मैं घोड़ों को शिक्षा देने में निपुण हूँ और अनेक राजाओं से सम्मानित हूँ। मैं सदा आपके घोड़ों का चतुर सारथि हो सकता हूँ।"

विराट उवाच

ददामि यानानि धनं निवेशनं
ममाश्वसूतो भवितुं त्वमर्हसि।
कुतोऽसि कस्यासि कथं त्वमागतः
प्रब्रूहि शिल्पं तव विद्यते च यत् ॥६८॥

विराट ने कहा—भद्र पुरुष! मैं तुम्हें सवारी, धन और रहने के लिए घर देता हूँ। तुम मेरे घोड़ों को शिक्षा देनेवाले सारथि हो सकते हो, परन्तु पहले मैं यह जानना चाहता हूँ कि तुम कहाँ से आये हो, किसके पुत्र हो और यहाँ तुम्हारा आगमन किस लिए हुआ है? तुममें जो-जो कला-कौशल हों, वे भी वताओ।

नकुल उवाच

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां ज्येष्ठो भ्राता युधिष्ठिरः।
तेन पुराऽहमश्वेषु नियुक्तः शत्रुकर्शन ॥६९॥

अश्वानां प्रकृतिं वेद्मि विनयं चापि सर्वशः ।
दुष्टानां प्रतिपत्तिं च कृत्स्नं चैव चिकित्सितम् ॥७०॥

नकुल बोले—शत्रुदमन ! सुनिए, पाँचों पाण्डवों में जो बड़े भ्राता युधिष्ठिर हैं, उन्होंने पहले मुझे अपने घोड़ों की देख-रेख पर लगा रखा था। मैं घोड़ों की जाति पहचानता हूँ तथा उन्हें सब प्रकार की शिक्षा देने की कला भी जानता हूँ। दुष्ट घोड़ों की दुष्टता दूर करने के उपाय भी मुझे ज्ञात हैं और घोड़ों की चिकित्सा भी मैं पूर्णरूपेण जानता हूँ।

न कातरं स्यान्मम जातु वाहनं
न मेऽस्ति दुष्टा वडवा कुतो हयाः ।
जनस्तु मामाह स चापि पाण्डवो
युधिष्ठिरो ग्रन्थिकमेव नामतः ॥७१॥

मेरा सिखाया हुआ घोड़ा कभी कायर नहीं हो सकता। मेरी सिखाई हुई घोड़ी में भी कोई ऐब नहीं आता, फिर घोड़े तो बिगड़ ही कैसे सकते हैं ? मुझे जन-साधारण तथा पाण्डुनन्दन महाराज युधिष्ठिर 'ग्रन्थिक' नाम से पुकारते थे।

विराट उवाच

यदस्ति किंचिन्मम वाजिवाहनं
तदस्तु सर्वं त्वदधीनमद्य वै ।
ये चापि केचिन्मम वाजियोजका-
स्त्वदाश्रयाः सारथयश्च सन्तु मे ॥७२॥

विराट ने कहा—ग्रन्थिक ! मेरे पास जो भी घोड़े और अन्य वाहन हैं, वे सब आज से तुम्हारे अधीन हो जाएँगे। इसके अतिरिक्त जो कोई भी मेरे घोड़ों को जोतनेवाले सारथि हैं, वे सब भी तुम्हारे अधिकार में रहेंगे।

वैशम्पायन उवाच

तथा स गन्धर्ववरोपमो युवा
विराटराजेन मुदा प्रपूजितः ।
न चैनमन्येऽपि विदुः कथञ्चन
प्रियाभिरामं विचरन्तमन्तरा ॥७३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन् ! इस प्रकार प्रसन्न हुए राजा विराट के द्वारा सम्मानित हो, श्रेष्ठ गन्धर्व के समान शोभा पानेवाले युवावस्था-सम्पन्न नकुल वहाँ रहने लगे। उनका स्वरूप बड़ा ही प्रिय तथा नयनाभिराम था। वे नगर के भीतर विचरते रहते थे, तो भी उन्हें राजा और अन्य पुरुष किसी प्रकार न पहचान सके।

एवं हि मत्स्ये न्यवसन्त पाण्डवा
यथा प्रतिज्ञाभिरमोघदर्शनाः ।
अज्ञातचर्यां व्यचरन् समाहिताः
समुद्रनेमीपतयोऽतिदुःखिताः ॥७४॥

अमोघ-दर्शन पाँचों पाण्डव इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मत्स्य देश में रहने और एकाग्रता-पूर्वक अज्ञातवास का समय बिताने लगे। वे सागर से घिरी हुई सम्पूर्ण पृथिवी के स्वामी होकर भी महान् कष्ट उठा रहे थे।

इति महाभारते विराटपर्वणि तृतीयोध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

भीमसेन द्वारा जीमूत मल्ल का वध

जनमेजय उवाच

एवं ते मत्स्यनगरे प्रच्छन्नाः कुरुनन्दनाः ।
अत ऊर्ध्वं महावीर्याः किमकुर्वत वै द्विज ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! इस प्रकार मत्स्य-देश की राजधानी में गुप्तरूप से निवास करनेवाले महापराक्रमी वीर पाण्डुपुत्रों ने इसके पश्चात् क्या किया ?

वैशम्पायन उवाच

एवं मत्स्यस्य नगरे प्रच्छन्नाः कुरुनन्दनाः ।
आराधयन्तो राजानं यदकुर्वत तच्छृणु ॥२॥

वैशम्पायनजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार मत्स्यदेश की राजधानी में गुप्तरूप से रहनेवाले पाण्डवों ने राजा विराट की सेवा करते हुए जो-जो कार्य किये, उन्हें सुनो।

युधिष्ठिरः सभास्तारो मत्स्यानामभवत्प्रियः।
स ह्यक्षहृदयज्ञस्तान् क्रीडयामास पाण्डवः ॥३॥

महाराज युधिष्ठिर राजसभा के प्रमुख सदस्य और मत्स्यदेश की प्रजा के अत्यन्त प्रिय थे। वे पासों के मर्मज्ञ थे, अतः वे राजा आदि को जुआ खिलाया करते थे।

अथ मासे चतुर्थे तु ब्रह्मणः सुमहोत्सवः।
आसीत् समृद्धो मत्स्येषु पुरुषाणां सुसम्मतः ॥४॥
तत्र मल्लाः समापेतुर्दिग्भ्यो राजन् सहस्रशः।
समाजे ब्रह्मणो राजन् यथा पशुपतेरिव ॥५॥

पाण्डवों के वहाँ रहते हुए चौथा मास आरम्भ होने पर मत्स्यदेश में ब्रह्माजी की पूजा का महान् उत्सव मनाया जाने लगा। इसमें बड़ा समारोह होता था। हे जनमेजय! उस समय विराटनगर में चारों दिशाओं से सहस्रों कुश्ती लड़नेवाले मल्ल जुटने लगे। इस अवसर पर ब्रह्माजी और शिवजी की सभा के समान उस राजधानी में लोगों का जमघट होता था।

तेषामेको महानासीत् सर्वमल्लानथाह्वयत्।
आवल्गमानं तं रङ्गे नोपतिष्ठति कश्चन ॥६॥

उन मल्लों में एक बहुत बड़ा पहलवान था, जो दूसरे सब पहलवानों को अपने साथ लड़ने के लिए ललकारता था। जब वह अखाड़े में उतरकर उछलने लगा, तब कोई भी उसके समीप खड़ा न हो सका।

यदा सर्वे विमनसस्ते मल्ला हतचेतसः।
अथ सूदेन तं मल्लं योधयामास मत्स्यराट् ॥७॥

जब अन्य सभी मल्ल उदासीन होकर हिम्मत हार बैठे, तब मत्स्यनरेश ने अपने रसोइये से उस पहलवान को लड़ाने का निश्चय किया।

नोद्यमानस्तदा भीमो दुःखेनैवाकरोन्मतिम्।
न हि शक्नोति विवृते प्रत्याख्यातुं नराधिपम् ॥८॥

उस समय राजा द्वारा प्रेरित किये जाने पर भीम ने [पहचाने जाने के भय से] दुःखी होकर ही उससे लड़ने का विचार किया। वे राजा की आज्ञा को प्रकट रूप में टाल नहीं सकते थे।

ततः स पुरुषव्याघ्रः शार्दूलशिथिलश्चरन्।
प्रविवेश महारङ्गं विराटमभिपूजयन् ॥९॥

तत्पश्चात् पुरुषसिंह भीमसेन ने सिंह के समान धीमी चाल से चलते हुए राजा विराट का मान रखने के लिए उस विशाल रङ्गभूमि में प्रवेश किया।

बबन्ध कक्ष्यां कौन्तेयस्ततः संहर्षयञ्जनान्।
जीमूतं वृत्रसंकाशं भीमो मल्लं समाह्वयत् ॥१०॥

कुन्तीपुत्र भीम ने लोगों में हर्ष का संचार करते हुए लंगोट कसा। फिर वृत्रासुर के समान दिखाई देनेवाले उस जीमूत नामक मल्ल को युद्ध के लिए ललकारा।

तावुभौ सुमहोत्साहावुभौ भीमपराक्रमौ।
मत्ताविव महाकायौ वारणौ षष्टिहायनौ ॥११॥

वे दोनों बड़े उत्साह में भरे थे। दोनों ही प्रचण्ड पराक्रमी थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानो साठ वर्ष के दो मतवाले एवं विशालकाय गजराज एक-दूसरे से भिड़ने को उद्यत हों।

ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुयुद्धं समीयतुः।
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ ॥१२॥

अत्यन्त हर्ष में भरकर एक-दूसरे को जीत लेने की इच्छावाले वे दोनों नरश्रेष्ठ वीर बाहुयुद्ध करने लगे।

चकर्ष दोर्भ्यामुत्पात्य भीमो मल्लममित्रहा।
निनदन्तमभिक्रोशन् शार्दूल इव वारणम् ॥१३॥
समुद्यम्य महाबाहुर्भ्रामयामास वीर्यवान्।
ततो मल्लाश्च मत्स्याश्च विस्मयं चक्रिरे परम् ॥१४

महापराक्रमी शत्रुहन्ता महाबाहु भीम ने गर्जना करते हुए जैसे सिंह हाथी पर झपटे, उसी प्रकार झपटकर जीमूत को दोनों हाथों से पकड़कर खींचा और ऊपर उठाकर उसे घुमाना आरम्भ किया। यह देख वहाँ आये हुए पहलवानों तथा मत्स्य देश की प्रजा को बड़ा आश्चर्य हुआ।

भ्रामयित्वा शतगुणं गतसत्त्वमचेतनम्।
प्रत्यापिषन्महाबाहुर्मल्लं भुवि वृकोदरः ॥१५॥

सौ बार घुमाने पर जब वह धैर्य, साहस और चेतना से भी हाथ धो बैठा, तब महाबाहु वृकोदर ने उसे पृथिवी पर गिराकर मसल डाला।

तस्मिन् विनिहते वीरे जीमूते लोकविश्रुते।
विराटः परमं हर्षमगच्छद् बान्धवैः सह ॥१६॥

उस लोक-प्रसिद्ध वीर जीमूत मल्ल के मारे जाने

पर राजा विराट को अपने बन्धु-बान्धवों के साथ अति प्रसन्नता हुई।

प्रहर्षात् प्रददौ वित्तं बहु राजा महामनाः।
बल्लवाय महारङ्गे यथा वैश्रवणस्तथा ॥१७॥

उस समय कुबेर के समान महामनस्वी राजा विराट ने अत्यन्त हर्ष में भरकर बल्लव को उस विशाल रङ्गभूमि में ही बहुत-सा धन दिया।

एवं स सुबहून् मल्लान् पुरुषांश्च महाबलान्।
विनिघ्नन् मत्स्यराजस्य प्रीतिमाहरदुत्तमाम् ॥१८॥

इसी प्रकार बहुत से पहलवानों और महाबली पुरुषों को मारकर भीमसेन ने मत्स्यराज विराट का उत्तम प्रेम प्राप्त किया।

यदास्य तुल्यः पुरुषो न कश्चित् तत्र विद्यते।
ततो व्याघ्रैश्च सिंहैश्च द्विरदैश्चाप्ययोधयत् ॥१९॥

जब वहाँ उनकी जोड़ का कोई पहलवान नहीं रह गया, तब विराट ने भीम को व्याघ्रों, सिंहों और हाथियों से लड़ाया।

पुनरन्तःपुरगतः स्त्रीणां मध्ये वृकोदरः।
योध्यते स्म विराटेन सिंहैर्मत्तैर्महाबलैः ॥२०॥

कभी-कभी विराट की प्रेरणा से भीमसेन स्त्रियों के अन्तःपुर में जाकर उनके मनोरंजन के लिए महाबली और मतवाले सिंहों के साथ लड़ा करते थे।

बीभत्सुरपि गीतेन स्वनृत्येन च पाण्डवः।
विराटं तोषयामास सर्वाश्चान्तःपुरस्त्रियः ॥२१॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन ने भी अपने गीत और नृत्य से राजा विराट और अन्तःपुर की सभी स्त्रियों को सन्तुष्ट कर लिया था।

अश्वैर्विनीतैर्जवनैस्तत्र तत्र समागतैः।
तोषयामास राजानं नकुलो नृपसत्तमम् ॥२२॥

नकुल ने जहाँ-तहाँ से आये हुए वेगवान् घोड़ों को सुशिक्षित करके नृपश्रेष्ठ विराट को प्रसन्न कर लिया।

विनीतान् वृषभान् दृष्ट्वा सहदेवस्य चाभितः।
धनं ददौ बहुविधं विराटः पुरुषर्षभः ॥२३॥

सहदेव के द्वारा शिक्षित एवं विनीत किये हुए बैलों को देखकर नरश्रेष्ठ विराट ने उन्हें पुरस्कार में बहुत-सा धन दिया।

द्रौपदी प्रेक्ष्य तान्सर्वान्क्लिश्यमानान्महारथान्।
नातिप्रीतमना राजन् निःश्वासपरमाभवत् ॥२४॥

राजन्! उन सब महारथियों को कष्ट उठाते देख द्रौपदी के मन में खेद होता था और वह लम्बी साँसें भरती रहती थी।

एवं ते न्यवसंस्तत्र प्रच्छन्नाः पुरुषर्षभाः।
कर्माणि तस्य कुर्वाणा विराटनृपतेस्तदा ॥२५॥

इस प्रकार वे पुरुष-श्रेष्ठ पाण्डव उस समय राजा विराट के भिन्न-भिन्न कार्य सँभालते हुए वहाँ छिपकर रहते थे।

इति महाभारते विराटपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

कीचक का द्रौपदी पर आसक्त होकर प्रणय-प्रार्थना करना और द्रौपदी का उसे फटकारना

वैशम्पायन उवाच

वसत्सु तत्र पार्थेषु मत्स्यस्य नगरे तदा।
महारथेषु छन्नेषु मासा दश समाययुः ॥१॥
याज्ञसेनी सुदेष्णां तु शुश्रूषन्ती विशाम्पते।
आवसत् परिचारार्हा सुदुःखं जनमेजय ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! कुन्ती के उन महारथी पुत्रों को मत्स्यराज के नगर में छिपकर रहते हुए धीरे-धीरे दस मास व्यतीत हो गये। हे राजन्! यज्ञसेन-कुमारी द्रौपदी, जो स्वयं स्वामिनी की भाँति सेवा के योग्य थी, रानी सुदेष्णा की सेवा करती हुई बड़े कष्ट से वहाँ रहती थी।

तथा चरन्ती पाञ्चाली सुदेष्णाया निवेशने।
तां देवीं तोषयामास तथा चान्तःपुरस्त्रियः ॥३॥

सुदेष्णा के महल में पूर्वोक्त प्रकार से सेवा करती हुई पाञ्चाली ने महारानी सुदेष्णा तथा अन्तःपुर की अन्य स्त्रियों को पूर्णरूप से प्रसन्न कर लिया।

तस्मिन् वर्षे गतप्राये कीचकस्तु महाबलः ।
सेनापतिर्विराटस्य ददर्श द्रुपदात्मजाम् ।।४।।

जब वह वर्ष समाप्त होने में कुछ ही समय शेष रह गया, उस समय की बात है। एक दिन राजा विराट के सेनापति महाबली कीचक ने द्रुपदकुमारी को देखा।

तां दृष्ट्वा देवगर्भाभां चरन्तीं देवतामिव ।
कीचकः कामयामास कामबाणप्रपीडितः ।।५।।

राजमहल में देवाङ्गनाओं की भाँति विचरती हुई, देवकन्या के समान कान्तिवाली द्रौपदी को देखकर कीचक कामबाण से अत्यन्त पीड़ित हो उसे चाहने लगा।

स तु कामाग्निसंतप्तः सुदेष्णामभिगम्य वै ।
प्रहसन्निव सेनानीरिदं वचनमब्रवीत् ।।६।।

कामवासना की आग में जलता हुआ सेनापति कीचक अपनी बहिन रानी सुदेष्णा के पास गया और हँसता हुआ-सा उससे इस प्रकार बोला—

नेयं पुरा जातु मयेह दृष्टा
राज्ञो विराटस्य निवेशने शुभा ।
रूपेण चोन्मादयतीव मां भृशं
गन्धेन जाता मदिरेव भामिनी ।।७।।

"सुदेष्णे ! यह सुन्दरी, जो अपने रूप से मुझे अत्यन्त उन्मत्त-सा किये देती है, पहले कभी राजा विराट के इस महल में मैंने नहीं देखी थी। यह भामिनी अपनी दिव्य गन्ध से मेरे लिए मदिरा-सी मादक सिद्ध हो रही है।

का देवरूपा हृदयङ्गमा शुभे
ह्याचक्ष्व मे कस्य कुतोऽत्र शोभने ।
चित्तं हि निर्मथ्य करोति मां वशे
न चान्यदत्रौषधमस्ति मे मतम् ।।८।।

"शुभे ! यह कौन है ? इसका रूप देवाङ्गनाओं के समान है। यह मेरे हृदय में बस गई है। शोभने ! मुझे बताओ, यह किसकी स्त्री है और कहाँ से आई है ? यह मेरे मन को मथकर मुझे वश में किये लेती है। मेरे इस रोग की ओषधि इसकी प्राप्ति के सिवा और कोई नहीं जान पड़ती।

अहो तवेयं परिचारिका शुभा
प्रत्यग्ररूपा प्रतिभाति मामियम् ।
अयुक्तरूपं हि करोति कर्म ते
प्रशास्तु मां यच्च ममास्ति किञ्चन ।।९।।

"अहो ! आश्चर्य है, यह सुन्दरी तुम्हारे यहाँ दासी का काम कर रही है ! मुझे ऐसा प्रतीत होता है, इसका रूप नित्य-नवीन है। तुम्हारे यहाँ यह जो काम करती है, वह इसके योग्य कदापि नहीं है। मैं चाहता हूँ यह मेरी पत्नी बनकर मुझपर और मेरी सम्पत्ति पर एकछत्र शासन करे।

प्रभूतनागाश्वरथं महाजनं
समृद्धियुक्तं बहुपानभोजनम् ।
मनोहरं काञ्चनचित्रभूषणं
गृहं महच्छोभयतामियं मम ।।१०।।

"मेरे घर में बहुत-से हाथी, घोड़े और रथ हैं, सेवा करनेवाले बहुत-से परिजन हैं तथा उसमें प्रचुर सम्पत्ति भरी है। विविध प्रकार के भोजन और पेयों की उसमें अधिकता है। देखने में भी वह मनोहर है। सुवर्णमय चित्र उसकी शोभा बढ़ाते हैं। यह सुन्दरी मेरे उस विशाल भवन को सुशोभित करे।"

ततः सुदेष्णामनुमन्त्र्य कीचक-
स्ततः समभ्येत्य नराधिपात्मजाम् ।
उवाच कृष्णामभिसान्त्वयँस्तदा
मृगेन्द्रकन्यामिव जम्बुको वने ।।११।।

ऐसा कह और रानी सुदेष्णा की सम्मति ले कीचक राजकुमारी द्रौपदी के पास आकर उसे सान्त्वना देता हुआ ऐसे बोला, मानो वन में कोई शृगाल [स्यार] किसी सिंहिनी को फुसला रहा हो।

कीचक उवाच

का त्वं कस्यासि कल्याणि कुतो वा त्वं वरानने ।
प्राप्ता विराटनगरे तत् त्वमाचक्ष्व शोभने ।।१२।।

कीचक ने पूछा—हे कल्याणी ! तुम कौन हो और किसकी कन्या हो ? अथवा सुमुखि ! तुम इस विराटनगर में कहाँ से आई हो ? शोभने ! ये सब बातें मुझे सच-सच बताओ।

रूपमग्र्यं तथा कान्तिः सौकुमार्यमनुत्तमम् ।
**कान्त्या विभाति वक्त्रं ते शशाङ्क इव निर्मलम् ।।१३

तुम्हारा यह श्रेष्ठ एवं सुन्दर रूप, दिव्य कान्ति और सुकुमारता संसार में सबसे उत्तम है। तुम्हारा निर्मल मुख अपनी छवि से निष्कलंक चन्द्रमा की भाँति शोभा पा रहा है।

नेत्रे सुविपुले सुभ्रु पद्मपत्रनिभे शुभे।
वाक्यं ते चारुसर्वाङ्गि परपुष्टरुतोपमम् ॥१४॥

सुन्दर भौंहोंवाली सर्वाङ्गि सुन्दरि! तुम्हारे ये उत्तम एवं विशाल नेत्र कमलपत्र के समान सुशोभित हैं। तुम्हारी वाणी क्या है, कोकिल की कूक है।

एवंरूपा मया नारी काचिदन्या महीतले।
न दृष्टपूर्वा सुश्रोणि यादृशी त्वमनिन्दिते ॥१५॥

सुश्रोणी! अनिन्दिते! जैसी तुम हो, ऐसे मनोहर रूपवाली कोई अन्य स्त्री आज से पहले मैंने इस पृथिवी पर कभी नहीं देखी थी।

लक्ष्मीः पद्मालया का त्वमथ भूतिः सुमध्यमे।
ह्रीः श्रीः कीर्तिरथो कान्तिरासां का त्वं वरानने ॥१६

सुमध्यमे! तुम कमलों में निवास करनेवाली लक्ष्मी हो अथवा साकार विभूति? सुमुखि! लज्जा, श्री, कीर्ति और कान्ति—इन देवियों में से तुम कौन हो?

नार्हसीहासुखं वस्तुं सर्वाभरणभूषिता।
कामं प्रकामं सेवस्व मया सह विलासिनि ॥१७॥

यहाँ अनेक प्रकार के कष्ट हैं, अतः तुम यहाँ निवास करने के योग्य नहीं हो। विलासिनि! तुम समस्त आभूषणों से विभूषित होकर मेरे साथ अतिशय काम-भोग का सेवन करो।

त्यजामि दारान् मम ये पुरातना
भवन्तु दास्यस्तव चारुहासिनि।
अहं च ते सुन्दरि दासवत्स्थितः
सदा भविष्याम्यनुगो वरानने ॥१८॥

चारुहासिनी! यदि तुम चाहो तो मैं अपनी पहली स्त्रियों को त्याग दूंगा अथवा वे सब तुम्हारी दासी बनकर रहेंगी। सुन्दरि! सुमुखि! मैं स्वयं भी दास की भाँति सदा तुम्हारे अधीन रहूँगा।

द्रौपद्युवाच

अप्रार्थनीयामिह मां सूतपुत्राभिमन्यसे।
निहीनवर्णां सैरन्ध्रीं बीभत्सां केशकारिणीम् ॥१९॥

द्रौपदी ने कहा—सूतपुत्र! तुम मुझे चाहते हो? छिः-छिः, मुझसे ऐसी याचना करना तुम्हें कदापि योग्य नहीं। एक तो मैं हीन-वर्ण की हूँ, दूसरे दासी हूँ, तीसरे बीभत्स वेशवाली हूँ, चौथे केश सँवारने का काम करनेवाली मैं एक तुच्छ सेविका हूँ।

परदारास्मि भद्रं ते न युक्तं तव साम्प्रतम्।
दयिताः प्राणिनां दारा धर्मं समनुचिन्तय ॥२०॥

तुम्हारा कल्याण हो! मैं दूसरे की पत्नी हूँ। मुझसे ऐसी बात करना अनुचित है। जगत् के सब प्राणियों के लिए अपनी ही स्त्री प्रिय होती है। तुम धर्म का विचार करो।

परदारे न ते बुद्धिर्जातु कार्या कथञ्चन।
विवर्जनं ह्यकार्याणामेतत् सत्पुरुषव्रतम् ॥२१॥

पराई स्त्री में तुम्हें कभी किसी प्रकार भी मन नहीं लगाना चाहिए। न करने योग्य अनुचित कर्मों का सर्वथा त्याग करना—यही श्रेष्ठ पुरुषों का व्रत है।

मिथ्याभिगृध्नो हि नरः पापात्मा मोहमास्थितः।
अयशः प्राप्नुयाद् घोरं महद्वा प्राप्नुयाद् भयम् ॥२२॥

मिथ्या [झूठे] विषयों में आसक्त होनेवाला पापात्मा पुरुष मोह में पड़कर भयंकर अपयश पाता है अथवा उसे बड़े भारी भय [मृत्यु] का सामना करना पड़ता है।

कीचक उवाच

नार्हस्येवं वरारोहे प्रत्याख्यातुं वरानने।
मां मन्मथसमाविष्टं त्वत्कृते चारुहासिनि ॥२३॥

कीचक ने कहा—वरारोहे! सुमुखी, तुम्हें इस प्रकार मेरी प्रणय-याचना नहीं ठुकरानी चाहिए। मनोहर मुस्कानवाली! मैं तुम्हारे लिए काम-वेदना से पीड़ित हूँ।

प्रत्याख्याय च मां भीरु वशगं प्रियवादिनम्।
नूनं त्वमसितापाङ्गि पश्चात्तापं करिष्यसि ॥२४॥

भीरु! मैं तुम्हारे वश में हूँ और प्रियवचन बोल रहा हूँ। कजरारे नयनोंवाली सैरन्ध्री! मुझे ठुकराकर तुम निश्चय ही पश्चात्ताप करोगी।

अहं हि सुभ्रु राज्यस्य कृत्स्नस्यास्य सुमध्यमे।
प्रभुर्वासयिता चैव वीर्ये चाप्रतिमः क्षितौ ॥२५॥

हे सुभ्रु ! सुमध्यमे ! मैं इस सम्पूर्ण राज्य का स्वामी और इसे बसानेवाला हूँ । बल और पराक्रम में इस पृथिवी पर मेरी समता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ।

मया दत्तमिदं राज्यं स्वामिन्यसि शुभानने ।
भजस्व मां वरारोहे भुङ्क्ष्व भोगाननुत्तमान् ॥२६॥

शुभानने ! मैंने यह सम्पूर्ण राज्य तुम्हें समर्पित कर दिया । अब तुम्हीं इसकी स्वामिनी हो । वरारोहे ! मुझे अपना लो और मेरे साथ उत्तमोत्तम भोगों को भोगो ।

सैरन्ध्री-उवाच

मा सूतपुत्र मुह्यस्व माद्य त्यक्षस्व जीवितम् ।
जानीहि पञ्चभिर्घोरैर्नित्यं मामभिरक्षिताम् ॥२७॥

सैरन्ध्री बोली—सूतपुत्र ! तू आज इस प्रकार मोह के फंदे में मत फँस । अपने प्राण मत गँवा । तुझे ज्ञात होना चाहिए कि पाँच भयंकर गन्धर्व सदा मेरी रक्षा करते हैं ।

न चाप्यहं त्वया लभ्या गन्धर्वाः रक्षका मम ।
ते त्वां निहन्युः कुपिताः साध्वलं मा व्यनीनशः ॥२८

वे गन्धर्व मेरे रक्षक हैं । तू मुझे कदापि नहीं पा सकता । वे गन्धर्व कुपित होकर तुझे मार डालेंगे, अतः सँभल जा ! इस पाप-बुद्धि का त्याग कर दे ! अपना सर्वनाश न करा !

त्वं कालरात्रीमिव कश्चिदातुरः
किं मां दृढं प्रार्थयसेऽद्य कीचक ।
किं मातुरङ्के शयितो यथा शिशु-
श्चन्द्रं जिघृक्षुरिव मन्यसे हि माम् ॥२९

कीचक ! जैसे कोई मुमूर्षु रोगी कालरात्रि का आह्वान करे, उसी प्रकार मुझे प्राप्त करने के लिए तू क्यों आज दुराग्रहपूर्ण प्रार्थना कर रहा है ? अरे ! जैसे माता की गोद में सोया हुआ शिशु चन्द्रमा को ग्रहण करना चाहता है, क्या तू उसी प्रकार मुझे पाना चाहता है ?

इति महाभारते विराटपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

कीचक द्वारा द्रौपदी का अपमान द्रौपदी द्वारा सुदेष्णा को सूचना

वैशम्पायन उवाच

प्रत्याख्यातो राजपुत्र्या सुदेष्णां कीचकोऽब्रवीत् ।
अमर्यादेन कामेन घोरेणाभिपरिप्लुतः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! राजकुमारी द्रौपदी के द्वारा इस प्रकार ठुकराये जाने पर कीचक असीम एवं भयंकर काम से विवश होकर अपनी बहिन रानी सुदेष्णा से बोला—

येनोपायेन सैरन्ध्री भजेन्मां गजगामिनी ।
तं सुदेष्णे परीप्सस्व प्राणान् मोहात् प्रहासिषम् ॥२॥

"सुदेष्णे ! वह गजगामिनी सैरन्ध्री जिस उपाय से मुझे अङ्गीकार कर ले, वह उपाय खोजो, जिससे मुझे मोह-वश होकर प्राणों का त्याग न करना पड़े ।"

तस्य सा बहुशः श्रुत्वा वाचं विलपतस्तदा ।
विराटमहिषी देवी सुदेष्णा सूतमब्रवीत् ॥३॥

जनमेजय ! इस प्रकार बारम्बार विलाप करते हुए कीचक की बात सुनकर उस समय राजा विराट की महारानी सुदेष्णा ने सूत से कहा—

पर्वणि त्वं समुद्दिश्य सुरामन्नं च कारय ।
तत्रैनां प्रेषयिष्यामि सुरादानाय चान्तिकम् ॥४॥

"हे कीचक ! तुम किसी पर्व या त्यौहार के दिन अपने घर में मदिरा तथा अन्न-भोजन की सामग्री तैयार कराओ, तब मैं इस सैरन्ध्री को वहाँ से सुरा लाने के बहाने तुम्हारे पास भेजूंगी—

तत्र सम्प्रेषितामेनां विजने निरवग्रहे ।
सान्त्वयेथा यथाकामं सान्त्व्यमाना रमेद् यदि ॥५॥

"वहाँ भेजी हुई इस सेविका को तुम एकान्त में जहाँ कोई विघ्न-बाधा न हो, अपनी इच्छा के अनुसार समझाना-बुझाना । सम्भव है, तुम्हारी सान्त्वना मिलने पर वह रमण के लिए तैयार हो जाए ।"

इत्युक्तः स विनिष्क्रम्य भगिन्या वचनात् तदा ।
सुरामाहारयामास राजार्हां सुपरिष्कृताम् ॥६॥
भक्ष्यांश्च विविधाकारान् बहूंश्चोच्चावचांस्तदा ।
कारयामास कुशलैरन्नं पानं सुशोभनम् ॥७॥

बहिन द्वारा इस प्रकार आश्वासन मिलने पर कीचक उस समय वहाँ से चला गया। घर जाकर उसने यथासमय चतुर रसोइयों द्वारा राजाओं के उपयोग में आने योग्य उत्तम एवं परिष्कृत मदिरा मँगवाई तथा भाँति-भाँति के अनेक विशिष्ट और साधारण भक्ष्य पदार्थ एवं परम उत्तम अन्न-पान तैयार कराये।

तस्मिन् कृते तदा देवी कीचकेनोपमन्त्रिता ।
सुदेष्णा प्रेषयामास सैरन्ध्रीं कीचकालयम् ॥८॥

सब व्यवस्था होजाने पर कीचक ने अपनी वहिन रानी सुदेष्णा को भोजन के लिए आमन्त्रित किया। तब रानी ने सैरन्ध्री को अपने भाई कीचक के घर जाने को कहा।

सुदेष्णोवाच

उत्तिष्ठ गच्छ सैरन्ध्रि कीचकस्य निवेशनम् ।
पानमानय कल्याणि पिपासा मां प्रबाधते ॥९॥

सुदेष्णा बोली—सैरन्ध्री! उठो और कीचक के घर जाओ। कल्याणि! मुझे प्यास व्याकुल कर रही है, अतः वहाँ से मेरे पीने योग्य रस ले आओ।

सैरन्ध्री-उवाच

न गच्छेयमहं तस्य राजपुत्रि निवेशनम् ।
त्वमेव राज्ञि जानासि यथा स निरपत्रपः ॥१०॥

सैरन्ध्री ने कहा—राजकुमारी! मैं उसके घर में नहीं जा सकती। हे महारानी! आप तो जानती ही हैं कि वह कैसा निर्लज्ज है।

कीचकस्तु सुकेशान्ते मूढो मदनदर्पितः ।
सोऽवमंस्यति मां दृष्ट्वा न यास्ये तत्र शोभने ॥११॥

कमनीय केशोंवाली सुन्दरि! मूर्ख कीचक तो काम के मद से उन्मत्त हो रहा है। वह मुझे देखते ही अपमानित कर देगा, अतः मैं वहाँ नहीं जाऊँगी।

सन्ति बह्व्यस्तव प्रेष्या राजपुत्रि वशानुगाः ।
अन्यां प्रेषय भद्रं ते स हि मामवमंस्यते ॥१२॥

राजपुत्री! आपके अधीन तो और भी बहुत सी दासियाँ हैं। आपका कल्याण हो। आप उन्हीं में से किसी [अन्य] को भेज दीजिए। वहाँ जाने पर कीचक मेरा अपमान करेगा।

सुदेष्णोवाच

नैव त्वां जातु हिंस्यात् स इतः सम्प्रेषितां मया ।
इत्युक्त्वा प्रददौ पात्रं सपिधानं हिरण्मयम् ॥१३॥

सुदेष्णा बोली—"शुभे! मैंने तुम्हें यहाँ से भेजा है, अतः वह तुम्हें कोई कष्ट नहीं देगा"—ऐसा कहकर सुदेष्णा ने द्रौपदी के हाथ में ढक्कनसहित एक सुवर्ण-पात्र दे दिया।

वैशम्पायन उवाच

सा शङ्कमाना रुदती दैवं शरणमीयुषी ।
प्रातिष्ठत सुराहारी कीचकस्य निवेशनम् ॥१४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रौपदी मदिरा लाने के लिए पात्र को लेकर शंकित हो रोती हुई कीचक के घर की ओर चली। अपने सतीत्व की रक्षा के लिए वह मन-ही-मन परमात्मा से रक्षा की प्रार्थना करती रही।

तां मृगीमिव संत्रस्तां दृष्ट्वा कृष्णां समीपगाम् ।
उदतिष्ठन् मुदा सूतो नावं लब्ध्वेव पारगः ॥१५॥

डरी हुई हरिणी की भाँति भयभीत द्रौपदी को समीप आई देख सूत कीचक प्रसन्न होकर खड़ा हो गया, मानो नदी के पास जानेवाला पथिक नौका पाकर प्रसन्न हो गया हो।

कीचक उवाच

स्वागतं ते सुकेशान्ते सुव्युष्टा रजनी मम ।
स्वामिनी त्वमनुप्राप्ता प्रकुरुष्व मम प्रियम् ॥१६॥

कीचक बोला—सुन्दर अलकोंवाली सैरन्ध्री! तुम्हारा स्वागत है। आज की रात का प्रभात मेरे लिए बड़ा मङ्गलमय है। अब तुम मेरी स्वामिनी होकर मेरा प्रिय कार्य करो।

द्रौपद्युवाच

अप्रैषीद् राजपुत्री मां सुरादानाय तेऽन्तिकम् ।
पानमाहर मे क्षिप्रं पिपासा मेऽति चाब्रवीत् ॥१७॥

द्रौपदी बोली—राजकुमारी सुदेष्णा ने मुझे मदिरा लाने के लिए तुम्हारे पास भेजा है। उसने कहा था—"मुझे बड़े जोर की प्यास लगी है, अतः

मेरे लिए पीने योग्य रस शीघ्र ले आओ ।"

कीचक उवाच

अन्या भद्रे नयिष्यन्ति राजपुत्र्याः प्रतिश्रुतम् ।
इत्येतां दक्षिणे पाणौ सूतपुत्रः परामृशत् ॥१८॥

कीचक ने कहा—'कल्याणि ! राजपुत्री सुदेष्णा की मँगाई हुई वस्तु दूसरी दासियाँ पहुँचा देंगी ।"—ऐसा कहकर सूतपुत्र ने द्रौपदी का दाहिना हाथ पकड़ लिया ।

वैशम्पायन उवाच

सा गृहीता विधुन्वाना भूमावाक्षिप्य कीचकम् ।
सभां शरणमागच्छद् यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥१९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पकड़ में आने पर वह कीचक को धक्का मार और उसे भूमि पर गिराकर भय से काँपती हुई राज-सभा की शरण में आई, जहाँ राजा युधिष्ठिर विद्यमान थे ।

तां कीचकः प्रधावन्तीं केशपाशे परामृशत् ।
अथैनां पश्यतो राज्ञः पातयित्वा पदावधीत् ॥२०॥

कीचक ने भी तुरन्त ही उठकर भागती हुई द्रौपदी का पीछा किया और राज-सभा में जाकर उसने राजा के देखते-देखते उसे पृथिवी पर गिराकर उसके लात मारी ।

तां चासीनौ ददृशतुर्भीमसेनयुधिष्ठिरौ ।
अमृष्यमाणौ कृष्णायाः कीचकेन पराभवम् ॥२१॥

राज-सभा में बैठे हुए भीमसेन और युधिष्ठिर ने कीचक के द्वारा द्रौपदी का यह अपमान अपनी आँखों से देखा, जिसे वे सहन न कर सके ।

तस्य भीमो वधं प्रेप्सुः कीचकस्य दुरात्मनः ।
दन्तैर्दन्तांस्तदा रोषान्निष्पिपेष महामनाः ॥२२॥

महामना भीमसेन दुरात्मा कीचक को मार डालने की इच्छा से उस समय रोषावेश में दाँत-से-दाँत पीसने लगे ।

अथावमृद्नादङ्गुष्ठमङ्गुष्ठेन युधिष्ठिरः ।
प्रबोधनभयाद् राजा भीमं तं प्रत्यषेधयत् ॥२३॥

तब रहस्य प्रकट हो जाने के भय से राजा युधिष्ठिर ने अपने अँगूठे से भीमसेन का अँगूठा दबाकर उन्हें इस प्रकार उत्तेजित होने से रोका ।

तं मत्तमिव मातङ्गं वीक्षमाणं वनस्पतिम् ।
स तमावारयामास भीमसेनं युधिष्ठिरः ॥२४॥

भीमसेन मतवाले गजराज की भाँति एक वृक्ष की ओर देख रहे थे । युधिष्ठिर ने उन्हें रोकते हुए कहा—

आलोकयसि किं वृक्षं सूद दारुकृतेन वै ।
यदि ते दारुभिः कृत्यं बहिर्वृक्षान्निगृह्यताम् ॥२५॥

"वल्लव ! क्या तुम ईंधन के लिए वृक्ष की ओर देख रहे हो ? यदि तुम्हें रसोई के लिए सूखी लकड़ी चाहिए तो बाहर जाकर किसी वृक्ष से ले लो ।

यस्य चार्द्रस्य वृक्षस्य शीतच्छायां समाश्रयेत् ।
न तस्य पर्णं द्रुह्येत पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥२६॥

"जिस हरे-भरे-वृक्ष की शीतल छाया का आश्रय लिया जाए, उसके पहले उपकारों का स्मरण करते हुए, उसके किसी एक पत्ते को भी हानि नहीं पहुँचानी चाहिए ।"

सम्प्रेक्ष्य च वरारोहा सर्वांस्तत्र सभासदः ।
विराटं चाह पाञ्चाली दुःखेनाविष्टचेतना ॥२७॥

सुन्दर नितम्बोंवाली द्रौपदी उस राजसभा में विद्यमान राजा विराट और समस्त सभासदों की ओर देखकर दुःखी हृदय से इस प्रकार बोली—

अहं त्वनपराध्यन्ती कीचकेन दुरात्मना ।
पश्यतस्ते महाराज हता पादेन दासवत् ॥२८॥

"महाराज ! मैंने कोई अपराध नहीं किया है, फिर भी दुरात्मा कीचक ने आपके देखते-देखते मुझे लात मारकर मेरे साथ दासों का-सा व्यवहार किया है ।

दस्यूनामिव धर्मस्ते न हि संसदि शोभते ।
नाहमेतेन युक्तं वै हन्तुं मत्स्य तवान्तिके ॥२९॥

"मत्स्यराज ! तुम्हारा यह लुटेरों का-सा धर्म इस राज-सभा में शोभा नहीं देता । तुम्हारे समक्ष कीचक द्वारा मुझपर मार पड़ी, यह कदापि उचित नहीं कहा जा सकता ।

कीचको न च धर्मज्ञो न च मत्स्यः कथञ्चन ।
सभासदोऽप्यधर्मज्ञा य एनं पर्युपासते ॥३०॥

"कीचक को धर्म का ज्ञान नहीं है । मत्स्यराज

भी किसी प्रकार धर्मज्ञ नहीं हैं तथा जो अधर्मी इस राजा के पास बैठते हैं, वे सभासद् भी धर्म के ज्ञाता नहीं हैं।"

वचोभिर्विविधैरेवं तदा कृष्णाश्रुलोचना।
उपालभत राजानं मत्स्यानां वरवर्णिनी ॥३१॥

हे जनमेजय! कान्तिमयी द्रौपदी ने उस समय आँखों में आँसू भरकर ऐसे वचनों द्वारा मत्स्यराज को बहुत फटकारा और उलाहना दिया।

विराट उवाच

परोक्षं नाभिजानामि विग्रहं युवयोरहम्।
अर्थतत्त्वमविज्ञाय किं नु स्यात् कौशलं मम ॥३२॥

विराट ने कहा—सैरन्ध्री! परोक्ष में तुम दोनों में क्या झगड़ा हुआ है, इसे मैं नहीं जानता और वास्तविक बात को जाने बिना न्याय करने में मेरा क्या कौशल प्रकट होगा?

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु सभ्या विज्ञाय कृष्णां भूयोऽभ्यपूजयन्।
साधु साध्विति चाप्याहुः कीचकं च व्यगर्हयन् ॥३३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन्! तत्पश्चात् सभासदों ने सारा रहस्य जानकर द्रौपदी की बारम्बार प्रशंसा की। उसे अनेक बार साधुवाद दिया और कीचक की निन्दा करते हुए उसे बहुत धिक्कारा।

अथाब्रवीद् राजपुत्रीं कौरव्यो महिषीं प्रियाम्।
गच्छ सैरन्ध्रि माऽत्र स्थाः सुदेष्णाया निवेशनम् ॥३४॥

जब सभासद् द्रौपदी की प्रशंसा कर रहे थे, तब कुरुनन्दन युधिष्ठिर ने अपनी प्रिया महारानी द्रौपदी से इस प्रकार कहा—"सैरन्ध्री! अब तू यहाँ मत ठहर! रानी सुदेष्णा के महल में चली जा।

भर्तारमनुरुन्धन्त्यः क्लिश्यन्ते वीरयोषितः। □
शुश्रूषया क्लिश्यमानाः पतिलोकं जयन्त्युत ॥३५॥

"पति का अनुसरण करनेवाली वीर पत्नियाँ सब क्लेश चुपचाप सहन कर लेती हैं। जो साध्वी देवियाँ पति की सेवा करते हुए क्लेश उठाती हैं, वे पति-लोक पर विजय पा लेती हैं।

गच्छ सैरन्ध्रि गन्धर्वाः करिष्यन्ति तव प्रियम्।
व्यपनेष्यन्ति ते दुःखं येन ते विप्रियं कृतम् ॥३६॥

"हे सैरन्ध्री! तुम अब जाओ। गन्धर्व तुम्हारा प्रिय करेंगे। जिसने तुम्हारा अपकार किया है, वे उसे मारकर तुम्हारा दुःख दूर कर देंगे।"

इत्युक्ता प्राद्रवत् कृष्णा सुदेष्णाया निवेशनम्।
केशान् मुक्त्वा च सुश्रोणी संरम्भाल्लोहितेक्षणा ॥३७॥

ऐसा कहे जाने पर सुन्दर कटिप्रान्तवाली द्रौपदी तीव्र गति से रानी सुदेष्णा के महल को चली गई। उसके केश खुले हुए थे और क्रोध से उसकी आँखें लाल हो रही थीं।

सुदेष्णोवाच

कस्त्वावधीद् वरारोहे कस्माद् रोदिषि शोभने।
कस्याद्य न सुखं भद्रे केन ते विप्रियं कृतम् ॥३८॥

सुदेष्णा ने कहा—हे वरारोहे! तुम्हें किसने मारा है? हे शोभने! तुम क्यों रोती हो? भद्रे! आज किसका सुख समाप्त हो गया? किसने तुम्हारा अपराध किया है?

द्रौपद्युवाच

कीचको मावधीत् तत्र सुरादानगतां तव।
सभायां पश्यतो राज्ञो यथैव विजने वने ॥३९॥

द्रौपदी बोली—मैं तुम्हारे लिए मदिरा लाने गई थी। वहाँ कीचक ने राज-सभा में महाराज के देखते हुए मुझपर ऐसे प्रहार किया है जैसे कोई निर्जन वन में किसी असहाय अबला पर आघात करता हो।"

सुदेष्णोवाच

घातयामि सुकेशान्ते कीचकं यदि मन्यसे।
योऽसौ त्वां कामसम्मत्तो दुर्लभामवमन्यते ॥४०॥

सुदेष्णा ने कहा—घुँघराले बालोंवाली सुन्दरि! यदि तुम्हारी सम्मति हो तो मैं कीचक को मरवा डालूँ, जो काम से उन्मत्त होकर तुम जैसी दुर्लभ देवी का अपमान कर रहा है?

सैरन्ध्री-उवाच

अन्ये चैनं वधिष्यन्ति येषामागः करोति सः।
मन्ये चैवाद्य सुव्यक्तं यमलोकं गमिष्यति ॥४१॥

सैरन्ध्री बोली—महारानी! दूसरे ही लोग, जिनका कि वह अपराध कर रहा है, उसे मार डालेंगे। मैं तो समझती हूँ, अब वह निश्चय ही यमलोक की यात्रा करेगा।

इति महाभारते विराटपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

द्रौपदी का भीमसेन के पास जाना और भीम द्वारा कीचक का वध करना

वैशम्पायन उवाच

सा हता सूतपुत्रेण राजपुत्री यशस्विनी ।
वधं कृष्णा परीप्सन्ती सेनावाहस्य भामिनी ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! सूतपुत्र सेनापति कीचक ने जब से लात मारी थी, तभी से यशस्विनी राजपत्नी भामिनी द्रौपदी उसके वध की बात सोचने लगी—

किं करोमि क्व गच्छामि कथं कार्यं भवेन्मम ।
इत्येवं चिन्तयित्वा सा भीमं वै मनसागमत् ॥२॥

'मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ? मेरा अभीष्ट कार्य कैसे सिद्ध होगा ?'—ऐसा सोचकर उसने मन-ही-मन भीमसेन का स्मरण किया ।

नान्यः कर्ता ऋते भीमान्ममाद्य मनसः प्रियम् ।
तत उत्थाय रात्रौ सा विहाय शयनं स्वकम् ॥३॥
प्राद्रवन्नाथमिच्छन्ती कृष्णा नाथवती सती ।
भवनं भीमसेनस्य क्षिप्रमायतलोचना ॥४॥

'भीमसेन के अतिरिक्त दूसरा कोई मेरे मन को प्रिय लगनेवाला कार्य नहीं कर सकता'—ऐसा निश्चय करके वह विशाल नेत्रोंवाली सती-साध्वी सनाथा कृष्णा रात्रि में अपनी शय्या छोड़कर उठी और अपने रक्षक से मिलने की इच्छा रखकर शीघ्रतापूर्वक भीमसेन के भवन में गई । [वहाँ पहुँचकर—]

सैरन्ध्री-उवाच

तस्मिञ्जीवति पापिष्ठे सेनावाहे मम द्विषि ।
तत् कर्म कृतवानद्य कथं निद्रां निषेवसे ॥५॥

सैरन्ध्री बोली—भीम ! मुझसे द्वेष रखनेवाले उस महापापी सेनापति के जीते हुए, जिसने मेरे साथ ऐसा अपमानजनक व्यवहार किया है, तुम आज कैसे नींद ले रहे हो ?

वैशम्पायन उवाच

बाहुभ्यां परिरभ्यैनं प्राबोधयदनिन्दिता ।
सिंहं सुप्तं वने दुर्गे मृगराजवधूरिव ॥६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रौपदी ने भीमसेन की दोनों बाँहों को पकड़कर उसे जगाया, ठीक वैसे ही, जैसे दुर्गम वन में सोये हुए सिंह को सिंहनी जगाती है ।

उपातिष्ठत मेघाभो राजपुत्र्या प्रबोधितः ।
अथाब्रवीद् राजपुत्रीं किमर्थं मामुपागता ॥७॥
न ते प्रकृतिमान् वर्णः कृशा पाण्डुश्च लक्ष्यसे ।
आचक्ष्व परिशेषेण सर्वं विद्यामहं यथा ॥८॥

राजकुमारी द्रौपदी के जगाने पर मेघ के समान श्याम वर्णवाले भीमसेन उठ बैठे और द्रौपदी से बोले—"हे देवि ! तुम यहाँ किसलिए आई हो ? तुम्हारे शरीर की कान्ति स्वाभाविक नहीं है । तुमपर उदासी छायी हुई है । तुम दुबली और पीली दिखाई देती हो । तुम सम्पूर्ण वृत्तान्त कहो, जिससे मैं पूरी बात जान सकूं ।

सुखं वा यदि वा दुःखं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
यथावत् सर्वमाचक्ष्व श्रुत्वा ज्ञास्यामि यत् क्षमम् ॥९॥

"तुम्हें दुःख हुआ हो या सुख, बुरा हुआ हो या भला, सब बातें ठीक-ठीक कह सुनाओ । वह सब सुनकर मैं उसके निवारण के लिए उचित उपाय सोचूंगा ।

अहमेव हि ते कृष्णे विश्वास्यः सर्वकर्मसु ।
अहमापत्सु चापि त्वां मोक्षयामि पुनः पुनः ॥१०॥

"हे कृष्णे ! सब कार्यों के लिए मैं ही तुम्हारा विश्वास-पात्र हूँ । मैं ही सब प्रकार की विपत्तियों में बार-बार सहायता करके तुम्हें संकट से मुक्त करता हूँ ।

शीघ्रमुक्त्वा यथाकामं यत् ते कार्यं विवक्षितम् ।
गच्छ वै शयनायैव पुरा नान्येन बुध्यते ॥११॥

"अतः जैसी तुम्हारी रुचि हो और जिस कार्य के लिए कुछ कहना चाहती हो, उसे शीघ्र कहकर किसी को पता लगने से पूर्व ही अपने शयन-गृह में चली जाओ ।"

द्रौपद्युवाच

अशोच्यत्वं कुतस्तस्या यस्या भर्ता युधिष्ठिरः ।
जानन् सर्वाणि दुःखानि किं मां त्वं परिपृच्छसि ॥१२॥

द्रौपदी बोली—हे वीर ! जिस स्त्री का पति राजा युधिष्ठिर हो, उसे कोई शोक न हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? तुम मेरे सारे दुःखों को जानते हुए भी मुझसे क्या पूछते हो ?

योऽयं राज्ञो विराटस्य कीचको नाम भारत ।
सेनानीः पुरुषव्याघ्र श्यालः परमदुर्मतिः ।।१३।।
स मां सैरन्ध्रिवेषेण वसन्तीं राजवेश्मनि ।
नित्यमेवाह दुष्टात्मा भार्या मम भवेति वै ।।१४।।

हे भारत ! पुरुषसिंह ! राजा विराट का यह जो कीचक नामक सेनापति है, वह उनका साला लगता है । उसकी बुद्धि बड़ी खोटी है । राजमहल में सैरन्ध्री के वेश में निवास करती हुई मुझे देखकर वह दुरात्मा प्रतिदिन ही आकर मुझसे कहता है—"तुम मेरी पत्नी बन जाओ !

तेनोपमन्त्र्यमाणाया वधार्हेण सपत्नहन् ।
कालेनेव फलं पक्वं हृदयं मे विदीर्यते ।।१५।।

शत्रुनाशक ! उस मार डालने योग्य पापी के द्वारा प्रतिदिन यह घृणित प्रस्ताव सुनते-सुनते समय से पके हुए फल की भाँति मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है ।

कीचको राजवाल्लभ्याच्छोककृन्मम भारत ।
तमेवं कामसम्मत्तं भिन्धि कुम्भमिवाश्मनि ।।१६।।

हे भारत ! राजा का प्रिय होने के कारण ही वह कीचक मेरे लिए शोक-कारक हो रहा है । उस कामोन्मत्त पापी को तुम उसी प्रकार नष्ट कर दो जैसे पत्थर पर पटककर घड़े को फोड़ दिया जाता है ।

यो निमित्तमनर्थानां बहूनां मम भारत ।
तं चेज्जीवन्तमादित्यः प्रातरभ्युदयिष्यति ।।१७।।
विषमालोड्य पास्यामि मा कीचकवशं गमम् ।
श्रेयो हि मरणं मह्यं भीमसेन तवाग्रतः ।।१८।।

हे भारत ! जो मेरे लिए बहुत-से अनर्थों का कारण बना हुआ है, उसके जीवित रहते यदि कल सूर्य उदय हो जाएगा तो मैं विष घोलकर पी लूंगी, परन्तु कीचक के अधीन नहीं होऊँगी । भीम ! कीचक के वश में होने की अपेक्षा तुम्हारे समक्ष प्राण त्याग देना मेरे लिए अधिक कल्याणकारी होगा ।

भीमसेन उवाच

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे ।
अद्य तं सूदयिष्यामि कीचकं सहबान्धवम् ।।१९।।

भीमसेन बोले—हे भद्रे ! तुम जैसा कह रही हो, मैं वैसा ही करूँगा । भीरु ! मैं आज कीचक को उसके भाई-बन्धुओंसहित मार डालूंगा ।

अस्याः प्रदोषे शर्वर्याः कुरुष्वानेन सङ्गतम् ।
दुःखं शोकं च निर्धूय याज्ञसेनि शुचिस्मिते ।।२०।।

हे पवित्र मुस्कानवाली देवी ! तुम दुःख-शोक भुलाकर आगामी रात्रि के प्रदोषकाल में कीचक से मिलो और उसे नृत्यशाला में आने के लिए कह दो ।

तत्रास्ति शयनं दिव्यं दृढाङ्गं सुप्रतिष्ठितम् ।
तत्रास्य दर्शयिष्यामि पूर्वप्रेतान् पितामहान् ।।२१।।

उस नृत्यशाला में एक अति सुन्दर और दृढ़ पलंग बिछा हुआ है । वहाँ आने पर मैं कीचक को उसके मरे हुए बाप-दादों का दर्शन कराऊँगा ।

यथा च त्वां न पश्येयुः कुर्वाणां तेन संविदम् ।
कुर्यास्तथा त्वं कल्याणि यथा संनिहितो भवेत् ।।२२

तुम ऐसी चेष्टा करना जिससे उसके साथ गुप्त वार्तालाप करते समय कोई तुम्हें देखे नहीं । कल्याणि! तुम ऐसी बात करना, जिससे वहाँ दिये हुए संकेत के अनुसार वह मेरे पास अवश्य पहुँच जाए ।

वैशम्पायन उवाच

तथा तौ कथयित्वा तु बाष्पमुत्सृज्य दुःखितौ ।
रात्रिशेषं तमत्युग्रं धारयामासतुर्हृ दि ।।२३।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन् ! इस प्रकार वार्तालाप करके वे दोनों दुःखी-जन आँसू बहाकर अलग हुए । रात्रि के शेष भाग को उन्होंने बड़ी व्याकुलता से व्यतीत किया और अपनी बातचीत को मन में ही गुप्त रखा ।

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरुत्थाय कीचकः ।
गत्वा राजकुलायैव द्रौपदीमिदमब्रवीत् ।।२४।।

वह रात्रि व्यतीत होने पर कीचक प्रातःकाल उठा और राजमहल में जाकर द्रौपदी से इस प्रकार बोला—

सभायां पश्यतो राज्ञः पातयित्वा पदाहनम् ।
न चैवालभसे त्राणमभिपन्ना बलीयसा ।।२५।।

"सैरन्ध्री ! मैंने राजसभा में महाराज विराट के देखते-देखते तुम्हें भूमि पर गिराकर लात मारी थी। तुम मुझ-जैसे महाबली के पाले पड़ी हो, अतः यहाँ तुम्हें कोई बचा नहीं सकता।

प्रवादेनेह मत्स्यानां राजा नाम्नायमुच्यते।
अहमेव हि मत्स्यानां राजा वै वाहिनीपतिः ॥२६॥

"राजा विराट तो कहने के लिए ही मत्स्यदेश के राजा हैं। वास्तव में मैं ही यहाँ का राजा हूँ, क्योंकि सेना का स्वामी तो मैं हूँ।

मां सुखं प्रतिपद्यस्व दासो भीरु भवामि ते।
अह्नाय तव सुश्रोणि शतं निष्कान् ददाम्यहम् ॥२७॥

"भीरु ! प्रीतिपूर्वक तुम मुझे स्वीकार कर लो, फिर तो मैं तुम्हारा दास बन जाऊँगा। सुश्रोणि ! मैं तुम्हारे दैनिक व्यय के लिए प्रतिदिन सौ मोहरें देता रहूँगा।

दासी शतं च ते दद्यां दासानामपि चापरम्।
रथं चाश्वतरीयुक्तमस्तु नौ भीरु सङ्गमम् ॥२८॥

"मैं तुम्हारी सेवा के लिए सौ दासियाँ और उतने ही दास भी दूँगा। तुम्हारी सवारी के लिए श्रेष्ठ खच्चरों से जुता रथ भी तैयार रहेगा। भीरु ! अब हम दोनों का परस्पर समागम होना चाहिए।"

द्रौपद्युवाच

एवं मे समयं त्वद्य प्रतिपद्यस्व कीचक।
न त्वां सखा वा भ्राता वा जानीयात् सङ्गतं मया ॥२९

द्रौपदी बोली—हे कीचक ! यदि ऐसी बात है, तो आज मेरी एक शर्त स्वीकार करो। तुम मुझसे मिलने आते हो—यह बात तुम्हारा मित्र अथवा भाई कोई भी न जाने।

अनुप्रवादाद् भीतास्मि गन्धर्वाणां यशस्विनाम्।
एवं मे प्रतिजानीहि ततोऽहं वशगा तव ॥३०॥

मैं यशस्वी गन्धर्वों के अपवाद [निन्दा] से डरती हूँ। 'हमारा समागम गुप्त रहेगा'—यदि तुम इस बात के लिए प्रतिज्ञा करो तो मैं तुम्हारे अधीन हो सकती हूँ।

कीचक उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा सुश्रोणि भाषसे।
एको भद्रे गमिष्यामि शून्यमावसथं तव ॥३१॥

कीचक ने कहा—ठीक है। सुश्रोणी ! तुम जैसा कहती हो, मैं वैसा ही करूँगा। भद्रे ! तुम्हारे सूने घर में मैं अकेला ही आऊँगा।

द्रौपद्युवाच

यदेतन्नर्तनागारं मत्स्यराजेन कारितम्।
दिवात्र कन्या नृत्यन्ति रात्रौ यान्ति यथागृहम् ॥३२॥

द्रौपदी बोली—कीचक ! मत्स्यराज ने जो यह नृत्यशाला बनवाई है, उसमें दिन के समय कन्याएँ नृत्य करती हैं तथा रात में वे अपने-अपने घर चली जाती हैं।

तमिस्रे तत्र गच्छेथा गन्धर्वास्तन्न जानते।
तत्र दोषः परिहृतो भविष्यति न संशयः ॥३३॥

वहाँ अँधेरा रहता है, अतः मुझसे मिलने के लिए तुम वहीं आना। उस स्थान को गन्धर्व भी नहीं जानते। वहाँ मिलने से सब दोष दूर हो जाएगा, इसमें संशय नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

तमर्थमपि जल्पन्त्याः कृष्णायाः कीचकेन ह।
दिवसार्धं समभवन्मासेनैव समं नृप ॥३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार कीचक के साथ वार्तालाप के पश्चात् द्रौपदी को अवशिष्ट आधा दिन [भीम से वह बात कहने की प्रतीक्षा में] एक मास के समान भारी प्रतीत हुआ।

कीचकोऽथ गृहं गत्वा भृशं हर्षपरिप्लुतः।
सैरन्ध्रीरूपिणं मूढो मृत्युं तं नावबुद्धवान् ॥३५॥

इधर कीचक अत्यन्त हर्ष में भरा हुआ अपने घर को गया। उस मूर्ख को यह पता नहीं था कि सैरन्ध्री के रूप में आज उसकी मृत्यु ही चली आ रही है।

गन्धाभरणमाल्येषु व्यासक्तः स विशेषतः।
अलञ्चक्रे तदात्मानं सत्वरः काममोहितः ॥३६॥

वह काम से मोहित हो रहा था, अतः घर जाकर शीघ्र ही वह अपने आपको सजाने लगा। वह विशेषतः सुगन्धित पदार्थों, आभूषणों तथा मालाओं के सेवन में संलग्न रहा।

ततस्तु द्रौपदी गत्वा तदा भीमं महानसे।
तमुवाच सुकेशान्ता कीचकस्य मया कृतः।
सङ्गमो नर्तनागारे यथावोचः परन्तप ॥३७॥

सूर्यास्त के समय द्रौपदी पाकशाला में भीम के पास गई। वहाँ पहुँचकर सुन्दर अलकोंवाली कृष्णा ने कहा—"शत्रुतापक! जैसा तुमने कहा था, उसके अनुसार मैंने कीचक को नृत्यशाला में मिलने का संकेत कर दिया है।

शून्यं स नर्तनागारमागमिष्यति कीचकः।
एको निशि महाबाहो कीचकं तं निषूदय ॥३८॥

"हे महाबाहो! कीचक रात्रि के समय उस सूनी नृत्यशाला में अकेला आएगा। तुम उसे वहीं मार डालना।"

भीमसेन उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे।
अद्य तं सूदयिष्यामि कीचकं सह बान्धवैः ॥३६॥

भीमसेन ने कहा—हे भीरु! ठीक है। तुम जैसा कहती हो, मैं वैसा ही करूँगा। आज मैं उस कीचक को उसके बन्धु-बान्धवोंसहित मार डालूँगा।

वैशम्पायन उवाच

भीमोऽथ प्रथमं गत्वा रात्रौ छन्न उपाविशत्।
मृगं हरिरिवादृश्यः प्रत्याकाङ्क्षत कीचकम् ॥४०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन्! भीमसेन रात्रि में पहले ही नृत्यशाला में पहुँचकर छिपकर बैठ गये और कीचक की इस प्रकार प्रतीक्षा करने लगे, जैसे सिंह अदृश्य रहकर हरिण की घात में बैठ जाता है।

कीचकश्चाप्यलंकृत्य यथाकाममुपागमत्।
तां वेलां नर्तनागारं पाञ्चालीसङ्गमाशया ॥४१॥

इधर कीचक भी इच्छानुसार वस्त्राभूषणों से सज-धजकर द्रौपदी के साथ समागम की अभिलाषा से उसी समय नृत्यशाला के समीप आया।

मन्यमानः स संङ्केतमागारं प्राविशच्च तत्।
प्रविश्य च स तद् वेश्म तमसा संवृतं महत् ॥४२॥

उस गृह को संकेत-स्थान मानकर उसने निःशङ्क होकर भीतर प्रवेश किया। वहाँ प्रविष्ट होकर देखा तो वह विशाल भवन सब ओर से अन्धकार से ढका हुआ था।

पूर्वागतं ततस्तत्र भीममप्रतिमौजसम्।
एकान्तावस्थितं चैनमाससाद स दुर्मतिः ॥४३॥
शयानं शयने तत्र सूतपुत्रः परामृशत्।
जाज्वल्यमानं कोपेन कृष्णाधर्षजेन च ॥४४॥

महाबली भीमसेन वहाँ पहले से ही आकर एकान्त में एक शय्या पर लेटे हुए थे। खोटी बुद्धि-वाला सूतपुत्र कीचक वहीं पहुँच गया और द्रौपदी के अपमान के कारण क्रोध से प्रज्वलित भीमसेन को हाथ से टटोलने लगा।

उपसङ्गम्य चैवैनं कीचकः काममोहितः।
हर्षोन्मथितचित्तात्मा स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥४५॥

उसके पास पहुँचते ही काममोहित कीचक हर्ष से उन्मत्तचित्त हो मुस्कराते हुए बोला—

रूपलावण्ययुक्ताभिर्युवतीभिरलङ्कृतम् ।
गृहं चान्तःपुरं सुभ्रु क्रीडारतिविराजितम्।
तत्सर्वं त्वां समुद्दिश्य सहसाहमुपागतः ॥४६॥

"सुभ्रु! मेरा गृह एवं अन्तःपुर धन-रत्नादि से सम्पन्न, सैकड़ों दासी आदि उपकरणों से युक्त, रूप-लावण्यवती युवतियों से अलंकृत तथा क्रीडा-विलास से सुशोभित है, वह सब तुम्हारे लिए ही न्यौछावर करके मैं सहसा तुम्हारे पास चला आया हूँ।

अकस्मान्मां प्रशंसन्ति सदा गृहगताः स्त्रियः।
सुवासा दर्शनीयश्च नान्योऽस्ति त्वादृशः पुमान् ॥४७

"मेरे घर की स्त्रियाँ अकस्मात् मेरी प्रशंसा करने लगती हैं और कहती हैं—आपके समान सुन्दर वस्त्रधारी और दर्शनीय दूसरा कोई पुरुष नहीं है।"

भीमसेन उवाच

दिष्ट्या त्वं दर्शनीयोऽथ दिष्ट्याऽऽत्मानं प्रशंससि।
ईदृशस्तु त्वया स्पर्शः स्पृष्टपूर्वो न कर्हिचित् ॥४८॥

भीमसेन बोले—सौभाग्य की बात है कि तुम ऐसे दर्शनीय हो। यह भी सौभाग्य की बात है कि तुम स्वयं अपनी प्रशंसा कर रहे हो, परन्तु ऐसा कोमल स्पर्श भी तुम्हें पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ होगा।

स्पर्शं वेत्सि विदग्धस्त्वं कामधर्मविचक्षणः।
स्त्रीणां प्रीतिकरो नान्यस्त्वत्समः पुरुषस्त्विह ॥४६॥

स्पर्श को तुम खूब पहचानते हो। इस कला में अति चतुर भी हो। कामशास्त्र के विलक्षण ज्ञाता प्रतीत होते हो। संसार में स्त्रियों को प्रसन्न करने-

वाला तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कोई पुरुष नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः।
सहसोत्पत्य कौन्तेयः प्रहस्येदमुवाच ह ।।५०।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन् ! कीचक से ऐसा कहकर भयंकर पराक्रमी कुन्तीपुत्र महाबाहु भीमसेन सहसा उछलकर खड़े हो गये और हँसते हुए इस प्रकार बोले—

अद्य त्वां भगिनी पापं कृष्यमाणं मया भुवि।
द्रक्ष्यतेऽद्रिप्रतीकाशं सिंहेनेव महागजम् ।।५१।।

"पर्वत के समान विशालकाय होने पर भी, आज में तुझ पापी को पृथिवी पर पटककर वैसे ही घसीटूँगा जैसे सिंह महान् गजराज को घसीटता है, और तेरी बहिन यह सब देखेगी।"

ततो जग्राह केशेषु माल्यवत्सु महाबलः।
स केशेषु परामृष्टो बलेन बलिनां वरः ।।५२।।
आक्षिप्य केशान् वेगेन बाह्वोर्जग्राह पाण्डवम्।
बाहुयुद्धं तयोरासीत् क्रुद्धयोर्नरसिंहयोः ।।५३।।

ऐसा कहकर महाबली भीम ने उसके केश पकड़ लिये। कीचक भी बलवानों में श्रेष्ठ था। सिर के बाल पकड़ लिये जाने पर उसने बलपूर्वक झटका देकर उन्हें छुड़ा लिया तथा बड़ी फुर्ती से पाण्डुनन्दन भीम को दोनों भुजाओं में भर लिया। तत्पश्चात् क्रोध में भरे हुए उन दोनों पुरुषसिंहों में बाहु-युद्ध होने लगा।

तावन्योन्यं समाश्लिष्य प्रकर्षन्तौ परस्परम्।
उभावपि प्रकाशेते प्रवृद्धौ वृषभाविव ।।५४।।

वे दोनों आपस में गुँथ गये और एक-दूसरे को खींचने लगे। उस समय वे हृष्ट-पुष्ट दो साँड़ों के समान सुशोभित हो रहे थे।

भीमेन च परामृष्टो दुर्बलो बलिना रणे।
प्रास्पन्दत यथा प्राणं विचकर्ष च पाण्डवम् ।।५५।।

उस युद्ध में बलवान् भीम की पकड़ में आकर यद्यपि कीचक बलहीन हो रहा था, तो भी वह यथा-शक्ति उन्हें परास्त करने की चेष्टा करते हुए उन्हें अपनी ओर खींचने लगा।

ईषदाकलितं चापि क्रोधाद् द्रुतपदं स्थितम्।
कीचको बलवान् भीमं जानुभ्यामाक्षिपद् भुवि ।।५६।।

जब वे कुछ-कुछ वश में आ गये और उनके पैर कुछ लड़खड़ाने लगे, तब बलवान् कीचक ने क्रोध-पूर्वक दोनों घुटने मारकर भीमसेन को पृथिवी पर गिरा दिया।

पातितो भुवि भीमस्तु कीचकेन बलीयसा।
उत्पपाताथ वेगेन दण्डपाणिरिवान्तकः ।।५७।।

महाबली कीचक द्वारा इस प्रकार भूमि पर गिराये जाने पर भीमसेन हाथ में दण्ड धारण करने-वाले यमराज की भाँति बड़े वेग से उछलकर खड़े हो गये।

स्पर्धया च बलोन्मत्तौ तावुभौ सूतपाण्डवौ।
निशीथे पर्यकर्षेतां बलिनौ निर्जने स्थले ।।५८।।

सूतपुत्र और पाण्डुनन्दन दोनों बल से उन्मत्त हो रहे थे। वे दोनों बलशाली वीर स्पर्धा के कारण आधी रात के समय उस निर्जन स्थान में एक-दूसरे को खींचते और धक्के देते रहे।

तलाभ्यां स तु भीमेन वक्षस्यभिहतो बली।
कीचको रोषसन्तप्तः पदान्न चलितः पदम् ।।५९।।

भीम ने दोनों हथेलियों से कीचक की छाती पर प्रहार किया। चोट खाकर बलशाली कीचक क्रोध से जल उठा, परन्तु अपने स्थान से एक पग भी विचलित नहीं हुआ।

मुहूर्तं तु स तं वेगं प्रसह्य भुवि दुःसहम्।
बलादहीयत तदा सूतो भीमबलार्दितः ।।६०।।

भूमि पर खड़े रहकर दो घड़ी तक उस दुःसह वेग को सह लेने के पश्चात् भीमसेन के बल से पीड़ित हो सूतपुत्र कीचक अपनी शक्ति खो बैठा।

तं हीयमानं विज्ञाय भीमसेनो महाबलः।
वक्षस्यानीय वेगेन ममर्दैनं विचेतसम् ।।६१।।

महाबली भीमसेन उसे निर्बल एवं अचेत होते देख उसकी छाती पर चढ़ बैठे और बड़े वेग से उसे रौंदने लगे।

क्रोधाविष्टो विनिःश्वस्य पुनश्चैनं वृकोदरः।
जग्राह जयतां श्रेष्ठः केशेष्वेव तदा भृशम् ।।६२।।

विजयी वीरों में श्रेष्ठ भीमसेन का क्रोधावेश

अभी उतरा नहा था। उन्होंने पुनः वारंवार उच्छ्वास लेकर कीचक के केश पकड़ लिये।

तत एनं परिश्रान्तमुपलभ्य वृकोदरः।
योक्त्रयामास बाहुभ्यां पशुं रशनया यथा ॥६३॥

तत्पश्चात् उसे अत्यन्त थका जानकर भीम ने अपनी भुजाओं में इस प्रकार कस लिया, जैसे पशु को रस्सी से बाँध दिया जाता है।

प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां कण्ठं तस्य वृकोदरः।
अपीडयत कृष्णायास्तदा कोपोपशान्तये ॥६४॥

फिर द्रौपदी का कोप शान्त करने के लिए उन्होंने दोनों हाथों से उसका गला पकड़कर बड़े जोर से दबाया।

अथ तं भग्नसर्वाङ्गं व्याविद्धनयनाम्बरम्।
आक्रम्य च कटीदेशे जानुना कीचकाधमम्।
अपीडयत बाहुभ्यां पशुमारममारयत् ॥६५॥

इस प्रकार जब उसके सब अङ्ग टूट गये, आँखों की पुतलियाँ बाहर निकल आई और वस्त्र फट गये, तब उन्होंने उस नीच कीचक की कमर को अपने घुटनों से दबाकर दोनों भुजाओं द्वारा उसका गला घोंट दिया तथा उसे पशु की भाँति मारने लगे।

तं विषीदन्तमाज्ञाय कीचकं पाण्डुनन्दनः।
भूतलं भ्रामयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥६६॥

मृत्यु के समय कीचक को दुःखी होते देख पाण्डु-नन्दन भीम ने उसे धरती पर घसीटा और इस प्रकार कहा—

अद्याहमनृणो भूत्वा[1] भ्रातुर्भार्यापहारिणम्।
शान्ति लब्धास्मि परमां हत्वा सैरन्ध्रिकण्टकम् ॥६७॥

"अपने बड़े भाई की पत्नी का अपहरण करने-वाले, सैरन्ध्री के लिए कण्टकरूप दुष्ट कीचक को मारकर आज मैं उऋण हो जाऊँगा और मुझे अत्य-धिक शान्ति प्राप्त होगी।"

निष्पिष्य पाणिना पाणिं संदष्टौष्ठपुटं बली।
समाक्रम्य च संक्रुद्धो बलेन बलिनां वरः ॥६८॥

[ऐसा कहकर] बलवानों में श्रेष्ठ क्रुद्ध भीमसेन हाथ-से-हाथ मलते हुए दाँतों से होंठ दबाकर पुनः बलपूर्वक कीचक के ऊपर चढ़ गये।

तस्य पादौ च पाणी च शिरो ग्रीवां च सर्वशः।
काये प्रवेशयामास पशोरिव पिनाकधृक् ॥६९॥

फिर जैसे महादेवजी ने गयासुर के सब अङ्गों को उसके शरीर में घुसेड़ दिया था, उसी प्रकार उन्होंने भी कीचक के हाथ, पैर, सिर और गर्दन आदि सब अङ्गों को उसके धड़ में घुसा दिया।

तं सम्मथितसर्वाङ्गं मांसपिण्डोपमं कृतम्।
कृष्णायै दर्शयामास भीमसेनो महाबलः ॥७०॥

महाबली भीम ने उसका सारा शरीर मथ डाला तथा उसे मांस का लौंदा-सा बना दिया। तत्पश्चात् उन्होंने उसे द्रौपदी को दिखाया।

उवाच स महातेजा द्रौपदीं योषितां वराम्।
पश्यैनमेहि पाञ्चालि कामुकोऽयं यथा कृतः ॥७१॥

उस समय महातेजस्वी भीम ने युवतियों में श्रेष्ठ द्रौपदी से कहा—"पाञ्चालि! यहाँ आओ और इसे देखो! मैंने इस कामी की कैसी दुर्गति बना दी है।"

एवमुक्त्वा महाराज भीमो भीमपराक्रमः।
पादेन पीडयामास तस्य कायं दुरात्मनः ॥७२॥

महाराज! भयंकर पराक्रमी भीम ने ऐसा कहकर उस दुरात्मा की लाश को पैरों से ठुकराया।

तत्कृत्वा दुष्करं कर्म कृष्णायाः प्रियमुत्तमम्।
आमन्त्र्य द्रौपदीं कृष्णां क्षिप्रमायान्महानसम् ॥७३॥

द्रौपदी को प्रिय लगनेवाले उस उत्तम एवं दुष्कर कर्म को करके भीमसेन द्रौपदी से आज्ञा लेकर पाक-शाला में चले गये।

---

१. इस श्लोक से यह सिद्ध है कि द्रौपदी केवल युधिष्ठिर की पत्नी थी। यदि वह सबकी पत्नी होती, तो भीम उसे 'भ्रातुर्भार्या' न कहकर 'आत्मभार्या' कहते। एक बात और, हम डिण्डिम-घोष के साथ कहना चाहते हैं कि सारे संस्कृत-साहित्य में 'भ्रातुर्भार्या' शब्द का प्रयोग छोटे भाई की पत्नी के लिए कहीं भी नहीं हुआ है, अतः द्रौपदी अर्जुन की पत्नी नहीं हो सकती।

कीचकं घातयित्वा तु द्रौपदी योषितां वरा ।
कीचकोऽयं हतः शेते सभापालानुवाच ह ।।७४।।

युवतियों में श्रेष्ठ द्रौपदी कीचक को मरवाकर अति प्रसन्न हुई । फिर वह सभा-भवन के रक्षकों के पास जाकर बोली—"आओ, देखो ! यह कीचक मरा पड़ा है ।"

तत् श्रुत्वा भाषितं तस्या नर्तनागाररक्षिणः ।
सहसैव समाजग्मुरादायोल्काः सहस्रशः ।।७५।।

उसका यह कथन सुनकर नृत्यशाला के बहुत-से रक्षक हाथों में मशालें ले-लेकर तुरन्त वहाँ आये ।

अमानुषं कृतं कर्म तं दृष्ट्वा विनिपातितम् ।
क्वास्य ग्रीवा क्व चरणौ क्व पाणी क्व शिरस्तथा ।
इति स्म तं परीक्षन्ते गन्धर्वेण हतं तदा ।।७६।।

कीचक को इस प्रकार मारा गया देख वे परस्पर बोले—"यह किसी मनुष्य का काम नहीं हो सकता । देखो न, इसकी ग्रीवा, हाथ, पैर और सिर आदि सब अङ्ग कहाँ चले गये ?" यों कहकर और परीक्षा करने पर वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि हो-न-हो, इसे गन्धर्व ने ही मारा है ।

इति महाभारते विराटपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ।।७।।

अष्टमोऽध्यायः

उपकीचकों द्वारा सैरन्ध्री को बाँधकर श्मशान-भूमि में ले जाना, भीम का उन्हें मारकर सैरन्ध्री को छुड़ाना और द्रौपदी का राजमहल में लौटना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् काले समागम्य सर्वे तत्रास्य बान्धवाः ।
रुरुदुः कीचकं दृष्ट्वा परिवार्य समन्ततः ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उसी समय यह समाचार पाकर कीचक के सब बन्धु-बान्धव वहाँ आ गये । कीचक की यह दुर्दशा देख, उसे चारों ओर से घेरकर वे सब विलाप करने लगे ।

सर्वे संहृष्टरोमाणः संत्रस्ताः प्रेक्ष्य कीचकम् ।
तथा सम्भिन्नसर्वाङ्गं कूर्मं स्थल इवोद्धृतम् ।।२।।

उसके सारे अवयव शरीर में घुस गये थे, अतः वह जल से निकालकर स्थल में रखे हुए, कछुए के समान जान पड़ता था । कीचक के शव की यह दुर्गति देखकर वे सब थर्रा उठे, उनके रोंगटे खड़े हो गये ।

पातितं भीमसेनेन तमिन्द्रेणेव दानवम् ।
संस्कारयितुमिच्छन्तो बहिर्नेतुं प्रचक्रमुः ।।३।।

इन्द्र के द्वारा वृत्रासुर दानव के वध की भाँति भीम के द्वारा मारे गये उस कीचक का दाह-संस्कार करने की इच्छा से उसके बान्धव उसे श्मशान-भूमि में ले जाने की तैयारी करने लगे ।

ददृशुस्ते ततः कृष्णां सूतपुत्राः समागताः ।
अदूराच्चानवद्याङ्गीं स्तम्भमालिङ्ग्य तिष्ठतीम् ।।४।।

उसी समय वहाँ आये हुए सूतपुत्रों ने देखा कि निर्दोष अङ्गोंवाली द्रौपदी थोड़ी ही दूर पर एक खंभे का सहारा लिये खड़ी है ।

समवेतेषु सर्वेषु तामूचुरुपकीचकाः ।
हन्यतां शीघ्रमसती यत्कृते कीचको हतः ।।५।।

जब सब लोग जुट गये, तब उन उपकीचकों—कीचक के भाइयों ने द्रौपदी को लक्ष्य करके कहा—"इस दुष्टा को शीघ्र मार डाला जाए, क्योंकि इसी के कारण कीचक मारा गया है ।

अथवा नैव हन्तव्या दह्यतां कामिना सह ।
मृतस्यापि प्रियं कार्यं सूतपुत्रस्य सर्वथा ।।६।।

"अथवा मारा न जाए । कामी कीचक के साथ ही इसे भी जला दिया जाए । मर जाने पर भी हमें सूतपुत्र का प्रिय कार्य, जिससे उसकी आत्मा प्रसन्न हो, अवश्य करना चाहिए ।"

ततो विराटमूचुस्ते कीचकोऽस्याः कृते हतः ।
सहानेनाद्य दह्येम तदनुज्ञातुमर्हसि ।।७।।

तब उन्होंने विराट से कहा—"इस सैरन्ध्री के कारण ही कीचक मारा गया है, अतः आज हम कीचक के शव के साथ इसे भी जला देना चाहते हैं । आप इसके लिए हमें आज्ञा प्रदान करें ।"

पराक्रमं तु सूतानां मत्वा राजान्वमोदत ।
सैरन्ध्र्याः सूतपुत्रेण सह दाहं विशाम्पतिः ॥८॥

राजा ने सूतपुत्रों के पराक्रम का विचार करके सैरन्ध्री को कीचक के साथ जला डालने की अनुमति प्रदान कर दी ।

तां समासाद्य वित्रस्तां कृष्णां कमललोचनाम् ।
मोमुह्यमानां ते तत्र जगृहुः कीचका भृशम् ॥९॥

फिर क्या था, उपकीचकों ने उसके पास जाकर भयभीत एवं मूर्च्छित हुई कमल-लोचना कृष्णा को बलपूर्वक पकड़ लिया ।

ततस्तु तां समारोप्य निबध्य च सुमध्यमाम् ।
जग्मुरुद्यम्य ते सर्वे श्मशानाभिमुखास्तदा ॥१०॥

तब उन्होंने सुन्दर कटिभागवाली उस देवी को टिकटी पर चढ़ाकर शव के साथ ही बाँध दिया । तत्पश्चात् वे सब लोग मृतक को उठाकर श्मशान-भूमि की ओर ले चले ।

ह्रियमाणा तु सा राजन् सूतपुत्रैरनिन्दिता ।
प्राक्रोशन्नाथमिच्छन्ती कृष्णा नाथवती सती ॥११॥

राजन् ! सूतपुत्रों द्वारा इस प्रकार ले जाई जाती हुई सती द्रौपदी सनाथा होकर भी [उस समय अनाथा-सी होने के कारण] नाथ=रक्षक की इच्छा करती हुई जोर-जोर से पुकारने लगी ।

द्रौपद्युवाच

जयो जयन्तो विजयो जयत्सेनो जयद्बलः ।
ते मे वाचं विजानन्तु सूतपुत्रा नयन्ति माम् ॥१२॥

द्रौपदी बोली—सूतपुत्र मुझे श्मशान-भूमि में लिये जा रहे हैं—जय, जयन्त, विजय, जयत्सेन और जयद्बल जहाँ भी हों, मेरी इस आर्त वाणी को सुनें और समझें ।

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्ताः कृपणा वाचः कृष्णायाः परिदेवितम् ।
श्रुत्वैवाभ्यापतद् भीमः शयनादविचारयन् ॥१३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! द्रौपदी की वह दीनवाणी और करुण-विलाप सुनते ही भीमसेन बिना कोई विचार किये शय्या से कूद पड़े ।

भीमसेन उवाच

अहं शृणोमि ते वाचं त्वया सैरन्ध्रि भाषिताम् ।
तस्मात् ते सूतपुत्रेभ्यो भयं भीरु न विद्यते ॥१४॥

भीमसेन ने कहा—सैरन्ध्रि ! तुम जो कुछ कह रही हो, तुम्हारी उस वाणी को मैं सुन रहा हूँ, अतः भीरु ! अब सूतपुत्रों से तुम्हें कोई भय नहीं होना चाहिए ।

वैशम्पायन उवाच

ततः स व्यायतं कृत्वा वेषं विपरिवर्त्य च ।
अद्वारेणाभ्यवस्कन्द्य निर्जगाम बहिस्तदा ॥१५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तत्पश्चात् अपने शरीर को बढ़ाकर और प्रयत्नपूर्वक वेष बदलकर वे बिना दरवाजे के ही दीवार फाँदकर पाकशाला से बाहर निकल गये ।

स भीमसेनः प्राकारादारुह्य तरसा द्रुमम् ।
श्मशानाभिमुखः प्रायाद् निःसृत्य च पुरोत्तमात् ॥१६॥

फिर वे नगर का परकोटा लाँघकर अति शीघ्रता से एक वृक्ष पर चढ़ गये [यह देखने के लिए कि उपकीचक द्रौपदी को किधर ले जा रहे हैं] । चार-दीवारी को लाँघने के पश्चात् उस श्रेष्ठ नगर से निकलकर भीमसेन श्मशान-भूमि की दिशा में चल दिये ।

चितासमीपे गत्वा स तत्रापश्यद् वनस्पतिम् ।
तालमात्रं महास्कन्धं मूर्धशुष्कं विशाम्पते ॥१७॥

राजन् ! चिता के समीप पहुँचकर उन्होंने वहाँ ताड़ के बराबर एक वृक्ष देखा, जिसकी शाखाएँ बहुत बड़ी थीं और वह ऊपर से सूख गया था ।

तं नागवदुपक्रम्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।
स्कन्धमारोपयामास दशव्यामं परन्तपः ॥१८॥

उस वृक्ष की ऊँचाई दस व्याम[1] थी । शत्रुनाशक भीम ने उसे दोनों भुजाओं में भरकर और हाथी के समान जोर लगाकर उखाड़ा तथा अपने कन्धे पर रख लिया ।

स तं वृक्षं दशव्यामं सस्कन्धविटपं बली ।
प्रगृह्याभ्यद्रवत् सूतान् दण्डपाणिरिवान्तकः ॥१९॥

---

१. दोनों हाथों के फैलाने पर एक हाथ की अंगुलियों के सिरे से दूसरे हाथ की अंगुलियों की दूरी तक की लम्बाई को व्याम कहते हैं ।

शाखा-प्रशाखाओं के सहित उस दस व्याम ऊँचे वृक्ष को लेकर महाबली भीम दण्डपाणि यमराज के समान उन सूतपुत्रों की ओर दौड़े ।

ते तु दृष्ट्वा तदाऽऽविद्धं भीमसेनेन पादपम् ।
विमुच्य द्रौपदीं तत्र प्राद्रवन्नगरं प्रति ॥२०॥

इतने में ही भीमसेन के द्वारा घुमाये जाते हुए उस वृक्ष को देखकर, वे द्रौपदी को वहीं छोड़ नगर की ओर भागने लगे ।

द्रवतस्तांस्तु सम्प्रेक्ष्य वृक्षेणैतेन भूमिप ।
शतं पञ्चाधिकं भीमः प्राहिणोद् यमसादनम् ॥२१॥

हे पृथिवीनाथ ! उन्हें भागते देख भीम ने उस वृक्ष से एक सौ पाँच उपकीचकों को यमराज के घर भेज दिया ।

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं नरा नार्यश्च सङ्गताः ।
विस्मयं परमं गत्वा नोचुः किञ्चन भारत ॥२२॥

हे भारत ! उस समय श्मशानभूमि में एकत्र बहुत-से पुरुष और स्त्रियों ने यह महान् आश्चर्यजनक दृश्य देखा, परन्तु भारी विस्मय में पड़कर किसी ने कहा कुछ नहीं ।

ते दृष्ट्वा निहतान्सूतान् राज्ञे गत्वा न्यवेदयन् ।
गन्धर्वैर्निहता राजन् सूतपुत्रा महाबलाः ॥२३॥

राजन् ! सूतपुत्रों का यह संहार देख नगर-वासियों ने राजा विराट के पास जाकर कहा—"महाराज ! गन्धर्वों ने महाबली सूतपुत्रों को मार डाला ।

सैरन्ध्री च विमुक्तासौ पुनरायाति ते गृहम् ।
सर्वं संशयितं राजन् नगरं ते भविष्यति ॥२४॥

"सैरन्ध्री बन्धनमुक्त हो गई है। वह पुनः आपके महल की ओर आ रही है। उसके रहने से आपके सम्पूर्ण नगर का जीवन संकट में पड़ जाएगा ।

यथा सैरन्ध्रिदोषेण न ते राजन्निदं पुरम् ।
विनाशमेति वै क्षिप्रं तथा नीतिर्विधीयताम् ॥२५॥

"हे राजन् ! आप शीघ्र ही कोई ऐसी नीति अपनाएँ, जिससे सैरन्ध्री के दोष से आपका यह नगर नष्ट न हो जाए ।"

तेषां तद्वचनं श्रुत्वा विराटो वाहिनीपतिः ।
अब्रवीत् क्रियतामेषां सूतानां परमक्रिया ॥२६॥

उनकी यह बात सुनकर सेनाओं के स्वामी राजा विराट ने कहा—"इन सूतपुत्रों का अन्त्येष्टि-संस्कार किया जाए ।"

सुदेष्णामब्रवीद् राजा महिषीं जातसाध्वसः ।
सैरन्ध्रीमागतां ब्रूया ममैव वचनादिदम् ॥२७॥

तत्पश्चात् राजा ने भयभीत होकर रानी सुदेष्णा के पास जाकर कहा—"देवि ! जब सैरन्ध्री यहाँ आये तो मेरी ओर से उसे यह कहना—

गच्छ सैरन्ध्रि भद्रं ते यथाकामं वरानने ।
बिभेति राजा सुश्रोणि गन्धर्वेभ्यः पराभवात् ॥२८॥

"सैरन्ध्री ! तुम्हारा कल्याण हो । वरानने ! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, तुम वहाँ चली जाओ । सुश्रोणी ! गन्धर्वों के तिरस्कार से राजा डरते हैं ।

न हि त्वामुत्सहे वक्तुं स्वयं गन्धर्वरक्षिताम् ।
स्त्रियास्त्वदोषस्तां वक्तुमतस्त्वां प्रब्रवीम्यहम् ॥२९॥

"तुम गन्धर्वों से सुरक्षित हो, अतः पुरुष होने के कारण मैं स्वयं तुम से कोई बात नहीं कह सकता, परन्तु स्त्री के मुख से तुम्हारे प्रति यह सब कहलाने में दोष नहीं है, अतः अपनी पत्नी द्वारा मैं स्वयं ही तुमसे यह बात कह रहा हूँ ।"

अथ मुक्ता भयात् कृष्णा सूतपुत्रान् निरस्य च ।
मोक्षिता भीमसेनेन जगाम नगरं प्रति ॥३०॥

उधर जब वीर भीमसेन ने सूतपुत्रों को मारकर द्रौपदी के बन्धन खोल दिये, तब वह भयमुक्त होकर नगर की ओर चली ।

तां दृष्ट्वा पुरुषा राजन् प्राद्रवन्त दिशो दश ।
गन्धर्वाणां भयत्रस्ताः केचिद् दृष्ट्वा न्यमीलयन् ॥३१॥

हे जनमेजय ! उस समय उस द्रौपदी को देखकर गन्धर्वों के भय से भयभीत मनुष्य दशों दिशाओं में भागने लगे । किसी-किसी ने उसे देखकर अपनी आँखें मूंद लीं ।

ततः सा नर्तनागारे धनञ्जयमपश्यत ।
राज्ञः कन्या विराटस्य नर्तयानं महाभुजम् ॥३२॥

राजन् ! नगर की ओर बढ़ते हुए द्रौपदी ने नृत्य-शाला में पहुँचकर महाबाहु अर्जुन को देखा जो राजा विराट की कन्याओं को नृत्य सिखा रहे थे ।

ततस्ता नर्तनागाराद् विनिष्क्रम्य सहार्जुनाः ।
कन्या ददृशुरायान्तीं क्लिष्टां कृष्णामनागसाम् ॥३३

उसके आने का समाचार पाकर अर्जुनसहित वे सब कन्याएँ नृत्यशाला से बाहर निकलीं और वहाँ आती हुई निरपराध तथा सतायी गई द्रौपदी को देखने लगीं ।

कन्या ऊचुः

दिष्टया सैरन्ध्रि मुक्तासि दिष्टयासि पुनरागता ।
दिष्टया विनिहताः सूता ये त्वां क्लिश्यन्त्यनागसाम्

कन्याएँ बोलीं—हे सैरन्ध्री ! सौभाग्य की बात है कि तुम संकट-मुक्त हो गईं तथा सौभाग्य से पुनः यहाँ लौट आई । जो सूतपुत्र निरपराध तुझे कष्ट दे रहे थे, वे मार दिये गये—यह भी सौभाग्य की बात है ।

बृहन्नलोवाच

कथं सैरन्ध्रि मुक्तासि कथं पापाश्च ते हताः ।
इच्छामि वै तव श्रोतुं सर्वमेव यथातथम् ॥३५॥

बृहन्नला ने पूछा—सैरन्ध्री ! तू उन पापियों के हाथ से कैसे छूटी ? वे पापी कैसे मारे गये ? मैं ये सब बातें तेरे मुख से ज्यों-की-त्यों सुनना चाहती हूँ ।

सैरन्ध्री-उवाच

बृहन्नले नु किं तेऽद्य सैरन्ध्रया कार्यमस्ति वै ।
या त्वं वससि कल्याणि सदा कन्यापुरे सुखम् ॥३६॥

सैरन्ध्री बोली—बृहन्नले ! अब तुम्हें सैरन्ध्री से क्या काम है ? हे कल्याणी ! तुम तो मौज से इन कन्याओं के अन्तःपुर में रहती हो ।

न हि दुःखं समाप्नोषि सैरन्ध्री यदुपाश्नुते ।
तेन मां दुःखितामेवं पृच्छसि प्रहसन्निव ॥३७॥

सैरन्ध्री जो दुःख भोग रही है, तुम उसे दूर तो करोगी नहीं अथवा उसका अनुभव तो तुम्हें होता नहीं, केवल मुझ दुखिया की हँसी उड़ाने के लिए ऐसा प्रश्न पूछ रही हो ?

बृहन्नलोवाच

बृहन्नला सुकल्याणि दुःखमाप्नोत्यनुत्तमम् ।
तिर्यग्योनिगता बाले न चैनामवबुध्यसे ॥३८॥

बृहन्नला ने कहा—हे कल्याणी ! पशुओं की-सी नीच अथवा नपुंसक योनि में पड़कर बृहन्नला भी महान् दुःख भोग रही है । तू भोली-भाली है, अतः बृहन्नला को नहीं समझ पाती ।

न तु केनचिदत्यन्तं कस्यचिद्धृदयं क्वचित् ।
वेदितुं शक्यते नूनं तेन मां नावबुध्यसे ॥३९॥

निश्चय ही, कोई अन्य व्यक्ति किसी दूसरे के हृदय को पूर्णरूप से नहीं समझ सकता, यही कारण है कि तुम मुझे नहीं समझ पातीं, मेरे कष्ट का अनुभव नहीं कर पातीं ।

वैशम्पायन उवाच

ततः सहैव कन्याभिर्द्रौपदी राजवेश्म तत् ।
प्रविवेश सुदेष्णायाः समीपमुपगामिनी ॥४०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् उन कन्याओं के साथ ही द्रौपदी राज-भवन में गई और रानी सुदेष्णा के पास जाकर खड़ी हो गई ।

तामब्रवीद् राजपुत्री विराटवचनादिदम् ।
सैरन्ध्रि गम्यतां शीघ्रं यत्र कामयसे गतिम् ॥४१॥

तब राजपुत्री सुदेष्णा ने विराट के कथनानुसार उससे कहा—"हे सैरन्ध्री ! तुम जहाँ जाना चाहो, शीघ्र चली जाओ ।

राजा बिभेति ते भद्रे गन्धर्वेभ्यः पराभवात् ।
त्वं चापि तरुणी सुभ्रु रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
पुंसामिष्टश्च विषयो गन्धर्वाश्चातिकोपनाः ॥४२॥

"हे भद्रे ! तुम्हारे गन्धर्वों द्वारा प्राप्त होनेवाले पराभव से महाराज डरते हैं । सुभ्रु ! तुम अभी तरुणी हो । रूप-सौंदर्य में तुम्हारी समता करनेवाली कोई भी स्त्री इस भू-मण्डल में नहीं है । पुरुषों को विषय-भोग प्रिय होता है [उनसे प्रमाद होना सम्भव है] उधर तुम्हारे गन्धर्व बड़े क्रोधी हैं [पता नहीं, कब क्या कर बैठें] ।

सैरन्ध्री-उवाच

त्रयोदशाहमात्रं मे राजा क्षाम्यतु भामिनि ।
कृतकृत्या भविष्यन्ति गन्धर्वास्ते न संशयः ॥४३॥

सैरन्ध्री ने कहा—भामिनी ! केवल तेरह दिन के लिए महाराज मुझे और क्षमा कर दें । निःसन्देह तबतक गन्धर्वों का अभीष्ट कार्य पूर्ण हो जाएगा—वे कृतकृत्य हो जाएँगे ।

ततो मामुपनेष्यन्ति करिष्यन्ति च ते प्रियम् ।
ध्रुवं च श्रेयसे राजा योक्ष्यते सह बान्धवैः ॥४४॥

इसके पश्चात् वे मुझे ले जाएँगे और आपका भी प्रिय करेंगे। गन्धर्वों की प्रसन्नता से राजा विराट निश्चय ही अपने भाई-बन्धुओंसहित परम कल्याण के भागी होंगे।

इति महाभारते विराटपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

पाण्डवों का पता लगाने के सम्बन्ध में दुर्योधन की राज-सभा में विचार-विमर्श

वैशम्पायन उवाच

अथ वै धार्तराष्ट्रेण प्रयुक्ता ये बहिश्चराः ।
मृगयित्वा बहून् ग्रामान् राष्ट्राणि नगराणि च ॥१॥
संविधाय यथादृष्टं यथादेशप्रदर्शनम् ।
कृतकृत्या न्यवर्तन्त ते चरा नगरं प्रति ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इधर अज्ञातवास की अवस्था में पाण्डवों का पता लगाने के लिए दुर्योधन ने जो बाहर देशों में विचरनेवाले गुप्तचर लगा रखे थे, वे अनेक ग्राम, राष्ट्र और नगरों में उन्हें ढूँढ़कर, जैसा वे देख या पता लगा सकते थे, अथवा जिन-जिन देशों में छान-बीन कर सकते थे, उन सभी देशों में देख-भालकर तथा अपना कार्य सम्पन्न करके हस्तिनापुर में लौट आये।

तत्र दृष्ट्वा तु राजानं कौरव्यं धृतराष्ट्रजम् ।
दुर्योधनं सभामध्ये आसीनमिदमब्रुवन् ॥३॥

वहाँ वे राज-सभा के मध्य में विराजमान धृतराष्ट्र-पुत्र कुरुनन्दन दुर्योधन से मिले। उससे मिलकर गुप्तचरों ने कहा—

चरा ऊचुः

नरेन्द्र बहुशोऽन्विष्टा नैव विद्मश्च पाण्डवान् ।
अत्यन्तं वा विनष्टास्ते भद्रं तुभ्यं नरर्षभ ॥४॥

हे नरश्रेष्ठ महाराज! हमने पाण्डवों की बहुत खोज की, परन्तु उनका कहीं भी पता नहीं लगा। आपका कल्याण हो। सम्भव है वे सर्वथा नष्ट ही हो गये हों।

मृगयित्वा यथान्यायं वेदितार्थाः स्म तत्त्वतः ।
प्राप्ता द्वारवतीं सूता विना पार्थैः परन्तप ॥५॥

हे शत्रुसंतापक! अच्छी प्रकार खोज करके हमने एक यथार्थ बात का ठीक-ठीक पता लगा लिया है वह यह कि पाण्डवों के सब सारथि उनके बिना ही द्वारकापुरी में पहुँच गये है।

सर्वथा विप्रणष्टास्ते नमस्ते भरतर्षभ ।
न हि विद्मो गतिं तेषां वासं वापि महात्मनाम् ॥६॥
पाण्डवानां प्रवृत्तिं च विद्मः कर्मापि वा कृतम् ।
स नः शाधि मनुष्येन्द्र अत ऊर्ध्वं विशाम्पते ॥७॥

प्रतीत होता है, वे सर्वथा नष्ट हो गये। भरत-श्रेष्ठ! आपको नमस्कार है। हम महात्मा पाण्डवों के मार्ग, निवास-स्थान, प्रवृत्ति अथवा उनके द्वारा किये हुए कार्यों के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त नहीं कर सके। प्रजापालक नरेश! अब आगे हमारे लिए क्या आज्ञा है?

इमां च नः प्रियां वीर वाचं भद्रवतीं शृणु ।
येन त्रिगर्ता निहता बलेन महता नृप ॥८॥
सूतेन राज्ञो मत्स्यस्य कीचकेन बलीयसा ।
स हतः पतितः शेते गन्धर्वैर्निशि भारत ॥९॥

हमारी एक और बात सुनिए। यह आपको प्रिय लगेगी। इसमें आपके लिए एक मङ्गलदायक समाचार है। हे राजन्! मत्स्यराज विराट के जिस महाबली सेनापति सूतपुत्र कीचक ने बहुत बड़ी सेना के द्वारा त्रिगर्त देश और वहाँ के निवासियों को तहस-नहस कर दिया था, हे भारत! वह रात्रि में गन्धर्वों के द्वारा मारा जाकर श्मशान-भूमि में सो रहा है।

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा ज्ञात्वा तेषां वचस्तदा ।
चिरमन्तर्मना भूत्वा प्रत्युवाच सभासदः ॥१०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—दूतों की बात सुनकर राजा दुर्योधन उनकी बात पर मन-ही-मन बहुत देर तक विचारता रहा। फिर उसने सभासदों से कहा—

अल्पावशिष्टं कालस्य गतभूयिष्ठमन्ततः ।
तेषामज्ञातचर्यायामस्मिन् वर्षे त्रयोदशे ॥११॥

"इस तेरहवें वर्ष में भी पाण्डवों के अज्ञातवास का अधिकांश समय व्यतीत हो चुका है, अब थोड़े ही दिन शेष हैं।

अस्य वर्षस्य शेषं चेद् व्यतीयुरिह पाण्डवाः ।
निवृत्तसमयास्ते हि सत्यव्रतपरायणाः ॥१२॥
क्षरन्त इव नागेन्द्राः सर्वे ह्याशीविषोपमाः ।
दुःखा भवेयुः संरब्धाः कौरवान् प्रति ते ध्रुवम् ॥१३॥

"यदि पाण्डवों ने शेष समय इसी प्रकार व्यतीत कर लिया तो वे प्रतिज्ञा-पालन के भार से मुक्त हो जाएँगे। फिर तो वे सत्यव्रती पाण्डव मद की धारा बहानेवाले गजराजों और विषधर सर्पों के समान क्रोध में भरकर कौरवों के लिए निश्चय ही दुःखदायी हो जाएँगे।

तस्मात् क्षिप्रं बुभूषध्वं यथा तेऽत्यन्तमव्ययम् ।
राज्यं निर्द्वन्द्वमव्यग्रं निःसपत्नं चिरं भवेत् ॥१४॥

"वे ऐसा वेश धारण करके छिपे होंगे जिससे उन्हें पहचानना कठिन हो गया है। आप लोग शीघ्र उनका पता लगाने की चेष्टा करें। ऐसा होने पर ही मेरा यह राज्य दीर्घ समय के लिए निर्द्वन्द्व, व्यग्रताशून्य और निष्कण्टक हो सकेगा।"

अथाब्रवीत् ततः कर्णः क्षिप्रं गच्छन्तु भारत ।
अन्ये धूर्ता नरा दक्षा निभृताः साधुकारिणः ॥१५॥

यह सुनकर कर्ण ने कहा—"हे भारत! तब शीघ्र ही अन्य कार्यकुशल गुप्तचर भेजे जाएँ जो धूर्त होने के साथ ही छिपे रहकर अपना कार्य अच्छी प्रकार कर सकें।"

दुःशासन उवाच

येषु नः प्रत्ययो राजंश्चारेषु मनुजाधिप ।
ते यान्तु दत्त देया वै भूयस्तान् परिमार्गितुम् ॥१६॥

दुःशासन बोला—हे राजन्! नरेश्वर! जिन गुप्तचरों पर हमारा अधिक विश्वास हो, उन्हें देने योग्य सब साधन प्रदान करके पुनः पाण्डवों की खोज के लिए भेजा जाए।

अत्यन्तं वा निगूढास्ते पारं चोर्मिमतो गताः ।
व्यालैश्चापि महारण्ये भक्षिताः शूरमानिनः ॥१७॥

या तो वे अत्यधिक गुप्त स्थान में जा छिपे हैं अथवा समुद्र के पार चले गये हैं। यह भी सम्भव है कि अपने को शूरवीर माननेवाले उन पाण्डवों को किसी महान् वन में अजगर निगल गये हों।

द्रोण उवाच

न तादृशा विनश्यन्ति न प्रयान्ति पराभवम् ।
शूराश्च कृतविद्याश्च बुद्धिमन्तो जितेन्द्रियाः ।
धर्मज्ञाश्च कृतज्ञाश्च धर्मराजमनुव्रताः ॥१८॥

द्रोणाचार्य ने कहा—पाण्डव शूरवीर, विद्वान्, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ, कृतज्ञ तथा अपने बड़े भाई धर्मराज की आज्ञा का पालन करनेवाले हैं। ऐसे महापुरुष न तो नष्ट हो सकते हैं और न किसी से पराजित या तिरस्कृत ही हो सकते हैं।

सर्वे यत्नात् प्रतीक्षन्ते कालस्योदयमागतम् ।
न हि ते नाशमृच्छेयुरिति पश्याम्यहं धिया ॥१९॥

मैं अपने अनुभव और बुद्धि की दृष्टि से देख रहा हूँ कि पाण्डव लोग अपने अनुकूल समय आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, वे नष्ट नहीं हो सकते।

साम्प्रतं चैव यत्कार्यं तच्च क्षिप्रमकालिकम् ।
क्रियतां साधु संचिन्त्य वासश्चैषां प्रचिन्त्यताम् ॥२०॥

इस समय जो कुछ करना है, वह खूब सोच-विचार कर शीघ्र करना चाहिए। पाण्डवों के निवास-स्थान का ही ठीक-ठीक पता लगाना चाहिए।

विज्ञाय क्रियतां तस्माद् भूयश्च मृगयामहे ।
ब्राह्मणैश्चारकैः सिद्धैर्ये चान्ये तद्विदो जनाः ॥२१॥

खूब सोच-विचारकर ही हमें कोई कार्य करना चाहिए। ब्राह्मण, गुप्तचर, सिद्ध-पुरुष अथवा अन्य जो लोग उन्हें पहचानते हों, उनके द्वारा पुनः उनकी खोज करानी चाहिए।

भीष्म उवाच

सर्वलक्षणसम्पन्नाः साधुव्रतसमन्विताः ।
श्रुतव्रतोपपन्नाश्च नानाश्रुतिसमन्विताः ॥२२॥
वृद्धानुशासने युक्ताः सत्यव्रतपरायणाः ।
समयं समयज्ञास्ते पालयन्तः शुचिव्रताः ॥२३॥

पाण्डव समस्त शुभ-लक्षणों से सम्पन्न, साधु-पुरुषोचित नियमों तथा व्रतों के पालने में तत्पर, वेदोक्त व्रतों के पालक, नाना प्रकार की श्रुतियों के

ज्ञाता, वृद्धों के सदुपदेश और आदेश के पालन में संलग्न (तत्पर), सत्यव्रत-परायण तथा शुद्धव्रत धारण करनेवाले हैं। वे अज्ञातवास के नियत समय को जानते हैं, अतः उसका पालन कर रहे हैं।

धर्मतश्चैव गुप्तास्ते सुवीर्येण च पाण्डवाः।
न नाशमधिगच्छेयुरिति मे धीयते मतिः ॥२४॥

पाण्डव अपने धर्म तथा उत्तम पराक्रम से सुरक्षित हैं, अतः वे नष्ट नहीं हो सकते—यह मेरा सुनिश्चित विचार है।

तत्र बुद्धिं प्रवक्ष्यामि पाण्डवान् प्रति भारत।
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेवकः।
जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥२५॥

हे भरतनन्दन ! पाण्डवों के विषय में मेरी बुद्धि का जो निश्चय है, मैं उसे बताता हूँ। जहाँ राजा युधिष्ठिर निवास करेंगे, उस जनपद के लोग दानशील, उदार, विनीत और लज्जाशील होने चाहिएँ।

प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः।
हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥२६॥

जहाँ राजा युधिष्ठिर का निवास होगा, वहाँ के मनुष्य सदा मधुरभाषी, जितेन्द्रिय, कल्याण-भागी, सत्यपरायण, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र और कार्यकुशल होंगे।

नासूयको न चापीर्ष्युर्नाभिमानी न मत्सरी।
भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः ॥२७॥

वहाँ न तो कोई दूसरे के दोष देखनेवाला होगा और न ईर्ष्यालु। न किसी में अभिमान होगा और न मात्सर्य=द्वेष। वहाँ के सब लोग स्वयं ही धर्म में तत्पर होंगे।

ब्रह्मघोषाश्च भूयांसः पूर्णाहुत्यस्तथैव च।
क्रतवश्च भविष्यन्ति भूयांसो भूरिदक्षिणाः ॥२८॥

उस देश या जनपद में वेद की ध्वनि खूब गूँजती होगी। यज्ञ में पूर्णाहुतियाँ दी जाती होंगी और बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले, बहुत-से यज्ञ हो रहे होंगे।

सदा च तत्र पर्जन्यः सम्यग्वर्षी न संशयः।
मही सम्पन्नसस्या च निरातङ्का भविष्यति ॥२९॥

वहाँ मेघ सदा ठीक समय पर वर्षा करते होंगे, इसमें कोई संशय नहीं है। वहाँ की भूमि पर खेती लहलहाती होगी तथा वहाँ निवास करनेवाली प्रजा सर्वथा निर्भय होगी।

गुणवन्ति च धान्यानि रसवन्ति फलानि च।
गन्धवन्ति च माल्यानि शुभशब्दा च भारती ॥३०॥

वहाँ गुण-युक्त धान्य, रस-युक्त फल, सुगन्ध-युक्त माला और माङ्गलिक शब्दों से युक्त-वाणी सुलभ होगी।

वायुश्च सुखसंस्पर्शो निष्प्रतीपं च दर्शनम्।
न भयं त्वाविशेत् तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥३१॥

जहाँ राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँ सुख-स्पर्शी शीतल एवं मन्द वायु बहेगी। धर्म और ब्रह्म के स्वरूप का विचार पाखण्ड-शून्य होगा। वहाँ भय का प्रवेश नहीं हो सकता।

गावश्च बहुलास्तत्र न कृशा न च दुर्बलाः।
पयांसि दधिसर्पींषि रसवन्ति हितानि च ॥३२॥

उस जनपद में गौओं की अधिकता होगी तथा वे गौएँ कृश या दुर्बल न होकर खूब हृष्ट-पुष्ट होंगी। उनके दूध, दही और घी भी बड़े स्वादिष्ट और हितकारी होंगे।

धर्मश्च तत्र सर्वैस्तु सेविताश्च द्विजातिभिः।
स्वैः स्वैर्गुणैश्च संयुक्ता अस्मिन् वर्षे त्रयोदशे ॥३३॥

इस तेरहवें वर्ष में राजा युधिष्ठिर जहाँ कहीं भी होंगे, वहाँ के समस्त द्विज अपने-अपने धर्मों का पालन करते होंगे और प्रत्येक वर्ण भी अपने-अपने गुण तथा प्रभाव से सम्पन्न होगा।

तस्मात् तत्र निवासं तु छन्नं यत्नेन धीमतः।
गतिं च परमां तत्र नोत्सहे वक्तुमन्यथा ॥३४॥

अतः जहाँ ऐसे लक्षण पाये जाएँ, वहीं बुद्धिमान् युधिष्ठिर का यत्नपूर्वक छिपाया हुआ निवास-स्थान हो सकता है, वहीं उनका उत्कृष्ट आश्रय होना सम्भव है। इसके विपरीत मैं और कोई बात नहीं कह सकता।

एवमेतत् तु संचिन्त्य यत्कृतं मन्यसे हितम्।
तत् क्षिप्रं कुरु कौरव्य यद्येवं श्रद्दधासि मे ॥३५॥

कुरुनन्दन ! यदि मेरी बातों पर तुम्हें विश्वास हो तो सोच-विचार कर जिस कार्य को करने में तुम्हें अपना हित जान पड़े, उसे शीघ्र करो।

वैशम्पायन उवाच

ततः शारद्वतो वाक्यमित्युवाच कृपस्तदा ।
युक्तं प्राप्तं च वृद्धेन पाण्डवान् प्रति भाषितम् ॥३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन् ! तत्पश्चात् शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य ने कहा, "राजन् ! वयोवृद्ध भीष्मजी ने पाण्डवों के विषय में जो कुछ कहा है, वह युक्ति-युक्त तो है ही, अवसर के अनुकूल भी है।"

ततो दुर्योधनो वाक्यं श्रुत्वा तेषां महात्मनाम् ।
मुहूर्तमिव संचिन्त्य सचिवानिदमब्रवीत् ॥३७॥

हे राजन् ! तदनन्तर दुर्योधन उन महात्माओं के वचन सुनकर दो घड़ी तक कुछ विचार करता रहा, फिर अपने मन्त्रियों से इस प्रकार बोला—

दुर्योधन उवाच

सत्त्वे बाहुबले धैर्ये प्राणे शारीरसम्भवे ।
साम्प्रतं मानुषे लोके सदैत्यनरराक्षसे ॥३८॥
चत्वारस्तु नरव्याघ्रा बले शक्रोपमा भुवि ।
बलदेवश्च भीमश्च मद्रराजश्च वीर्यवान् ॥३९॥
चतुर्थः कीचकस्तेषां पञ्चमं नानुशुश्रुमः ।
अन्योन्यानन्तरबलाः परस्परजयैषिणः ॥४०॥

दुर्योधन बोला—इस समय मनुष्य-लोक में दैत्य, मानव और राक्षसों में चार ही ऐसे पुरुषसिंह सुने जाते हैं जो आत्मबल, बाहुबल, धैर्य तथा शारीरिक शक्ति में इन्द्र के समान हैं। उनके नाम हैं—बलदेव, भीमसेन, पराक्रमी मद्रराज शल्य तथा चौथा कीचक। इनके समान कोई पाँचवाँ वीर मेरे सुनने में नहीं आया। ये सभी परस्पर समान बलशाली तथा अवसर आने पर एक-दूसरे को जीतने के लिए उत्सुक रहे हैं।

तत्राहं कीचकं मन्ये भीमसेनेन मारितम् ।
सैरन्ध्रीं द्रौपदीं मन्ये नात्र कार्या विचारणा ॥४१॥

मैं ऐसा समझता हूँ कि विराटनगर में कीचक को भीमसेन ने ही मारा है। सैरन्ध्री को मैं द्रौपदी मानता हूँ। इस विषय में अब अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

पितामहेन ये चोक्ता देशस्य च जनस्य च ।
गुणास्ते मत्स्यराष्ट्रस्य बहुशोऽपि मया श्रुताः ॥४२॥

पितामह भीष्म ने युधिष्ठिर के निवास के प्रभाव से देश और जन-समुदाय के जो-जो गुण बताये हैं, उनमें से भी बहुत-से गुण मत्स्यराष्ट्र में मेरे सुनने में आये हैं। [अतः मैं समझता हूँ कि पाण्डव विराट-नगर में छिपे हुए हैं।]

तस्मात् कर्तव्यमेतद् वै तत्र यात्रा विधीयताम् ।
एतत् सुनीतं मन्येऽहं सर्वेषां यदि रोचते ॥४३॥

अतः निश्चय ही मत्स्यदेश की यात्रा अथवा उस पर आक्रमण किया जाए। यदि आप सबको उचित जान पड़े, तो मैं इस कार्य को नीति के अनुकूल मानता हूँ।

इति महाभारते विराटपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

सुशर्मा के प्रस्तावानुसार मत्स्यदेश पर धावा, पाण्डवोंसहित मत्स्यराज का युद्ध के लिए प्रस्थान, सुशर्मा की पराजय, विराट द्वारा पाण्डवों का सम्मान

वैशम्पायन उवाच

अथ राजा त्रिगर्तानां सुशर्मा रथयूथपः ।
प्राप्तकालमिदं वाक्यमुवाच त्वरितो बली ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् त्रिगर्त देश के राजा महाबली सुशर्मा ने, जो रथियों के समूह का अधिपति था, अति उतावली के साथ अपना यह समयोचित प्रस्ताव उपस्थित किया—

असकृन्निकृताः पूर्वं कीचकेन पुनः पुनः ।
बाधितो बन्धुभिः सार्धं बलाद् बलवता विभो ॥२॥

"हे प्रभो ! सूतपुत्र कीचक ने अपने बन्धुओं के साथ बार-बार आक्रमण करके हमें कष्ट दिया है और बलपूर्वक सताया है—

क्रूरोऽमर्षी स दुष्टात्मा भुवि विख्यातविक्रमः ।
निहतः स तु गन्धर्वैः पापकर्मा नृशंसवान् ॥३॥

"वह दुष्टात्मा अति क्रूर और क्रोधी था। वह अपने पराक्रम के लिए विश्व में प्रसिद्ध था। अब वह निर्दय और पापाचारी कीचक गन्धर्वों द्वारा मार डाला गया है।

तस्मिन् विनिहते राजा हतदर्पो निराश्रयः ।
भविष्यति निरुत्साहो विराट इति मे मतिः ।।४।।

"उसके मारे जाने पर राजा विराट का गर्व खर्व =चूर-चूर हो गया होगा । अब वह निराधार तथा निरुत्साह हो गया होगा— ऐसा मेरा विश्वास है ।

तत्र यात्रा मम मता यदि ते रोचतेऽनघ ।
कौरवाणां च सर्वेषां कर्णस्य च महात्मनः ।।५।।

"हे निष्पाप ! यदि आपको उचित प्रतीत हो तो मेरी सम्मति यह है कि समस्त कौरव वीरों और महामना कर्ण द्वारा उस देश पर आक्रमण हो ।

आददामोऽस्य रत्नानि विविधानि वसूनि च ।
ग्रामान् राष्ट्राणि वा तस्य हरिष्यामो विभागशः ।।६।।

"राजा विराट के यहाँ नाना-प्रकार के धन और रत्न हैं । हम वे सब ले लेंगे और उनके गाँव तथा सम्पूर्ण राष्ट्र को जीतकर आपस में बाँट लेंगे ।

अथ वा गोसहस्राणि शुभानि च बहूनि च ।
विविधानि हरिष्यामः प्रतिपीडय पुरं बलात् ।।७।।

"अथवा उनके यहाँ सहस्रों सुन्दर गौओं के बहुत-से समुदाय हैं । हम बलपूर्वक उनके नगर में उत्पात मचाकर उन समस्त गौओं का अपहरण कर लेंगे ।"

तत् श्रुत्वा वचनं तस्य कर्णो राजानमब्रवीत् ।
सूक्तं सुशर्मणा वाक्यं प्राप्तकालं हितं च नः ।।८।।

त्रिगर्तराज का यह कथन सुनकर कर्ण ने राजा दुर्योधन से कहा—"सुशर्मा ने उचित ही कहा है, यह प्रस्ताव समयोचित होने के साथ ही हमारे लिए हितकर भी है ।"

ततो दुर्योधनो राजा क्षिप्रमाज्ञापयत् स्वयम् ।
प्रागेव हि सुसंवीतो मत्स्यस्य विषयं प्रति ।।९।।
जघन्यतो वयं तत्र यास्यामो दिवसान्तरे ।
विषयं मत्स्यराजस्य सुसमृद्धं सुसंहताः ।।१०।।

कर्ण की बात सुनकर दुर्योधन ने स्वयं ही तुरन्त आदेश दे दिया—"सब साधनों से सम्पन्न हो पहले सुशर्मा मत्स्य देश पर आक्रमण करें, फिर एक दिन पश्चात् हम लोग भी पूर्णतः संगठित हो मत्स्यनरेश के समृद्धिशाली राज्य पर धावा बोल दें ।"

ततस्त्रयोदशस्यान्ते तस्य वर्षस्य भारत ।
सुशर्मणा गृहीतं तद् गोधनं तरसा बहु ।।११।।

हे भारत ! तब विराट नगर में जाकर तेरहवें वर्ष के अन्त में सुशर्मा ने बड़े वेग से आक्रमण करके विराट की बहुत-सी गौओं को अपने अधिकार में कर लिया ।

ततो जवेन महता गोपः पुरमथाव्रजत् ।
सोऽब्रवीदुपसङ्गम्य विराटं प्रणतस्तदा ।।१२।।
अस्मान् युधि विनिर्जित्य परिभूय सबान्धवान् ।
गवां शतसहस्राणि त्रिगर्ताः कालयन्ति ते ।।१३।।

तब उन गौओं का रक्षक गोप अत्यन्त तीव्र गति से नगर में आया । वह विराट के समीप जाकर तथा उन्हें प्रणाम करके बोला—"महाराज ! त्रिगर्त देश के सैनिक हमें युद्ध में जीतकर और भाई-बन्धुओं-सहित हमारा तिरस्कार करके आपकी बहुत-सी गौओं को हाँककर लिये जा रहे हैं ।

तान् परीप्सस्व राजेन्द्र मा नेशुः पशवस्तव ।
तत् श्रुत्वा नृपतिः सेनां मत्स्यानां समयोजयत् ।।१४।।

"हे राजेन्द्र ! उन्हें वापस लेने—छुड़ाने की चेष्टा कीजिए जिससे आपके वे पशु नष्ट न हो जाएँ—आपके हाथ से न निकल जाएँ ।" यह सुनकर विराट ने मत्स्य देश की सेना एकत्र की ।

अथ मत्स्योऽब्रवीद् राजा शतानीकं जघन्यजम् ।
कङ्कबल्लवगोपाला दामग्रन्थिश्च वीर्यवान् ।।१५।।
युध्येयुरिति मे बुद्धिर्वर्तते नात्र संशयः ।
एतेषामपि दीयन्तां रथा ध्वजपताकिनः ।।१६।।

तत्पश्चात् मत्स्यराज ने अपने छोटे भाई शतानीक से कहा—"भैया ! मेरे विचार में यह बात आती है कि यह कङ्क, वल्लव, तन्तिपाल और ग्रन्थिक भी युद्ध कर सकते हैं इसमें संशय नहीं है, अतः इनके लिए भी ध्वजा और पताकाओं से सुशोभित रथ दो ।"

एतत् श्रुत्वा तु नृपतेर्वाक्यं त्वरितमानसः ।
शतानीकस्तु पार्थेभ्यो रथान् राजन् समादिशत् ।।१७।।

जनमेजय ! राजा का यह वचन सुनकर शतानीक ने उतावले मन से कुन्तीपुत्रों के लिए शीघ्रतापूर्वक रथ लाने का आदेश दिया ।

रथान् हयैः सुसम्पन्नानास्थाय च नरोत्तमाः ।
निर्ययुर्मुदिताः पार्थाः शत्रुसंघावमर्दिनः ।।१८।।

शत्रु-समूह को कुचल डालनेवाले नरश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र घोड़े जुते हुए रथों पर बैठकर बड़ी प्रसन्नता के साथ राजभवन से बाहर निकले।

निर्याय नगराच्छूरा व्यूढानीकाः प्रहारिणः।
त्रिगर्तानस्पृशन् मत्स्याः सूर्ये परिणते सति ॥१९॥

राजन्! नगर से निकलकर प्रहार करने में कुशल वे मत्स्यदेशीय वीर योद्धा अपनी सेना का व्यूह बनाकर चले और सूर्य के अस्त होते-होते उन्होंने त्रितर्गों को जा पकड़ा।

ते त्रिगर्ताश्च मत्स्याश्च संरब्धा युद्धदुर्मदाः।
अन्योन्यमभिगर्जन्तो गोषु गृद्धा महाबलाः ॥२०॥

फिर तो क्रोध में भरकर युद्ध के लिए उन्मत्त हुए वे त्रिगर्त और मत्स्यदेश के महाबली वीर गौओं को ले जाने की इच्छा से एक-दूसरे को लक्ष्य करके गर्जने लगे।

देवासुरसमो राजन्नासीत् सूर्ये विलम्बति।
पदातिरथनागेन्द्रहयारोहबलौघवान् ॥२१॥

हे राजन्! जब सूर्य पश्चिम की ओर ढल रहा था, उस समय पैदल, रथी, हाथी और घुड़सवारों के समूह से भरा हुआ वह युद्ध देवासुर-संग्राम के समान हो रहा था।

अन्योन्यमभ्यापततां निघ्नतां चेतरेतरम्।
उदतिष्ठद् रजो भौमं न प्रज्ञायत किंचन ॥२२॥

एक-दूसरे पर आक्रमण करके आपस में मार-काट मचानेवाले उन सैनिकों के पदाघात से इतनी धूल उड़ी कि कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता था।

तमसाभिप्लुते लोके रजसा चैव भारत।
अतिष्ठन् वै मुहूर्तं तु व्यूढानीकाः प्रहारिणः ॥२३॥

हे भारत! उस समय सब लोग धूल से आवृत्त तो थे ही ये [सूर्यास्त के कारण] अन्धकार से भी आच्छादित हो गये, अतः प्रहार करनेवाले सैनिक सेना का व्यूह बनाकर कुछ देर तक युद्ध बन्द करके खड़े रहे।

ततोऽन्धकारं प्रणुदन्नुदतिष्ठत चन्द्रमाः।
कुर्वाणो विमलां रात्रिं नन्दयन् क्षत्रियान् युधि ॥२४॥

थोड़ी ही देर में अन्धकार को चीरते हुए चन्द्रमा का उदय हुआ। उसने रण-क्षेत्र में क्षत्रियों को आनन्द प्रदान करते हुए उस रात्रि को निर्मल=अन्धकार-शून्य बना दिया।

ततः सुशर्मा त्रैगर्तः सह भ्रात्रा यवीयसा।
अभ्यद्रवन्मत्स्यराजं रथव्रातेन सर्वशः ॥२५॥

तत्पश्चात् त्रिगर्तराज सुशर्मा ने अपने छोटे भाई के साथ रथियों का समूह लेकर चारों ओर से मत्स्यराज विराट पर धावा किया।

तौ निहत्य पृथक् धुर्यावुभौ च पार्ष्णिसारथी।
विरथं मत्स्यराजं तं जीवग्राहमगृह्णताम् ॥२६॥

उन दोनों भाइयों ने पृथक्-पृथक् विराट के दोनों घोड़ों को मार डाला फिर उनके पार्श्वभाग की रक्षा करनेवाले सिपाहियों तथा सारथियों को भी मार डाला और उन्हें रथहीन करके जीते-जी ही पकड़ लिया।

तमुन्मथ्य सुशर्माथ युवतीमिव कामुकः।
स्यन्दनं स्वं समारोप्य प्रययौ शीघ्रवाहनः ॥२७॥

जैसे कामी पुरुष किसी युवती को बलपूर्वक पकड़ ले, वैसे ही सुशर्मा ने राजा विराट को पीड़ित करके पकड़ लिया और अपने शीघ्रगामी घोड़ों से युक्त रथ पर चढ़ाकर ले चला।

तस्मिन् गृहीते विरथे विराटे बलवत्तरे।
प्राद्रवन्त भयान्मत्स्यास्त्रिगर्तैरर्दिता भृशम् ॥२८॥

महाबली राजा विराट जब रथहीन करके पकड़ लिये गये, तब त्रिगर्तों द्वारा अत्यन्त पीड़ित हुए मत्स्य-देशीय सैनिक भयभीत होकर भागने लगे।

तेषु संत्रस्यमानेषु कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अभ्यभाषन्महाबाहुं भीमसेनमरिन्दमम् ॥२९॥

उन सैनिकों के इस प्रकार अत्यन्त भयभीत होने पर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने शत्रुओं का मान मर्दन करनेवाले महाबाहु भीमसेन से कहा—

मत्स्यराजः परामृष्टस्त्रिगर्तेन सुशर्मणा।
तं मोचय महाबाहो न गच्छेद् द्विषतां वशम् ॥३०॥

"महाबाहो! त्रिगर्तराज सुशर्मा ने मत्स्यराज विराट को पकड़ लिया है। उन्हें शीघ्र छुड़ाओ, जिससे वे शत्रुओं के वश में न पड़ जाएँ।"

एवमुक्तस्तु वेगेन भीमसेनो महाबलः।
गृहीत्वा तु धनुःश्रेष्ठमवर्षच्छरवर्षणम् ॥३१॥

युधिष्ठिर के ऐसा आदेश देने पर महाबली भीमसेन ने शीघ्रतापूर्वक एक उत्तम धनुष हाथ में लिया और बाणों की वर्षा करने लगे।

तं भीमो भीमकर्माणं सुशर्माणमथाद्रवत्।
विराटं समवीक्ष्यैनं तिष्ठ तिष्ठेति चावदत् ॥३२॥

तत्पश्चात् भीमसेन भयंकर कर्म करनेवाले सुशर्मा की ओर दौड़े और विराट की ओर देखते हुए सुशर्मा से बोले—"अरे! खड़ा रह, खड़ा रह!"

सुशर्मा चिन्तयामास कालान्तकयमोपमम्।
तिष्ठ तिष्ठेति भाषन्तं पृष्ठतो रथपुङ्गवः ॥३३॥
पश्यतां सुमहत् कर्म महद् युद्धमुपस्थितम्।
परावृत्तो धनुर्गृह्य सुशर्मा भ्रातृभिः सह ॥३४॥

पीछे की ओर से आते और 'खड़ा रह, खड़ा रह' कहते हुए काल, अन्तक और यमराज के समान भयंकर वीर पुरुष को देखकर रथियों में श्रेष्ठ सुशर्मा चिन्ता में पड़ गया और अपने साथियों से बोला—"देखो, फिर भारी युद्ध उपस्थित हुआ है, इसमें महान् पराक्रम दिखाओ।" ऐसा कहकर सुशर्मा भाइयों-सहित धनुष उठाकर लौट पड़ा।

ततो राजन्नाशुकारी कुन्तीपुत्रो वृकोदरः।
समासाद्य सुशर्माणमश्वानस्य व्यपोथयत् ॥३५॥
पृष्ठगोपांश्च तस्याथ हत्वा परमसायकैः।
अथास्य सारथिं क्रुद्धो रथोपस्थादपातयत् ॥३६॥

राजन्! फिर तो शीघ्रकारी कुन्तीपुत्र भीम ने सुशर्मा के पास पहुँचकर प्रचण्ड बाणों से उसके घोड़ों को मार डाला, साथ ही उसके पृष्ठरक्षकों को मार-कर क्रुद्ध हो उसके सारथि को भी रथ से नीचे गिरा दिया।

ततो विराटः प्रस्कन्द्य रथादथ सुशर्मणः।
गदां तस्य परामृश्य तमेवाभ्यद्रवद् बली ॥३७॥

इसी बीच में बलशाली राजा विराट सुशर्मा के रथ से कूद पड़े तथा उसकी गदा लेकर उसी की ओर दौड़े।

पलायमानं त्रैगर्तं दृष्ट्वा भीमोऽभ्यभाषत।
राजपुत्र निवर्तस्व न ते युक्तं पलायनम् ॥३८॥

उधर अवसर पाकर भागते हुए त्रिगर्तराज को देखकर भीमसेन बोले—"राजकुमार! लौट आओ। तुम्हारे लिए युद्ध से पीठ दिखाकर भागना उचित नहीं है।

कथमनेन वीर्येण गास्त्वं प्रार्थयसे बलात्।
कथं चानुचरांस्त्यक्त्वा शत्रुमध्ये विषीदसि ॥३९॥

"इसी पराक्रम के भरोसे तुम विराट की गौओं को बलपूर्वक कैसे ले जाना चाहते थे? अपने सेवकों को शत्रुओं के मध्य में छोड़कर क्यों भागते और विषाद करते हो?"

तं भीमसेनो धावन्तमभ्यधावत वीर्यवान्।
त्रिगर्तराजमादातुं सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥४०॥

फिर पराक्रमी भीमसेन भागते हुए त्रिगर्तराज को पकड़ने के लिए उसी प्रकार उसका पीछा करने लगे जैसे सिंह छोटे मृगों को पकड़ने के लिए उनके पीछे दौड़ता है।

अभिद्रुत्य सुशर्माणं केशपक्षे परामृशत्।
समुद्यम्य तु रोषात् तं निष्पिपेष महीतले ॥४१॥

तब सुशर्मा के निकट पहुँचकर भीमसेन ने उसके केश पकड़ लिये और क्रोधपूर्वक उसे उठाकर पृथिवी पर दे मारा। फिर उसे वहीं रगड़ने लगे।

तस्य जानुं ददौ भीमो जघ्ने चैनमरत्निना।
स मोहमगमद् राजा प्रहारवरपीडितः ॥४२॥

भीमसेन ने उसके पेट को घुटनों से दबाकर ऐसा घूँसा मारा कि उसके भारी आघात से पीड़ित होकर राजा सुशर्मा मूर्च्छित हो गया।

तत एनं विचेष्टन्तं बद्ध्वा पार्थो वृकोदरः।
रथमारोपयामास विसंज्ञं पांसुगुण्ठितम् ॥४३॥

फिर कुन्तीपुत्र भीम ने छूटने के लिए छटपटाते हुए सुशर्मा को रस्सियों से बाँधकर रथ पर रख दिया। उस समय उसके सारे अङ्ग धूल में सने थे और चेतना लुप्त-सी हो रही थी।

अभ्येत्य रणमध्यस्थमभ्यगच्छद् युधिष्ठिरम्।
दर्शयामास भीमस्तु सुशर्माणं नराधिपम् ॥४४॥

तत्पश्चात् भीमसेन ने रणभूमि में स्थित राजा युधिष्ठिर के पास पहुँचकर राजा सुशर्मा को उन्हें दिखाया।

तं राजा प्राहसद् दृष्ट्वा मुच्यतां वै नराधमः।
एवमुक्तोऽब्रवीद् भीमः सुशर्माणं महाबलम् ॥४५॥

राजा युधिष्ठिर सुशर्मा को उस अवस्था में देखकर हँसे और भीम से बोले—"इस नराधम को छोड़ दो !" उनके ऐसा कहने पर भीम ने महाबली सुशर्मा से कहा—

भीम उवाच

जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु ।
दासोऽस्मीति त्वया वाच्यं संसत्सु च सभासु च ॥४६॥

भीमसेन बोले—मूर्ख ! यदि तू जीना चाहता है, तो उसका उपाय बताता हूँ, सुन ! तुझे संसदों और सभाओं में जाकर सदा यही कहना होगा कि "मैं राजा विराट का दास हूँ ।"

युधिष्ठिर उवाच

मुञ्च मुञ्चाधमाचारं प्रमाणं यदि ते वयम् ।
दासभावं गतो ह्येष विराटस्य महीपतेः ॥४७॥

युधिष्ठिर बोले—भैया ! यदि तुम मेरी बात मानते हो, तो इस पापाचारी को छोड़ दो । यह महाराज विराट का दास तो हो ही चुका है ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते नु सव्रीडः सुशर्माऽऽसीदधोमुखः ।
स मुक्तोऽभ्येत्य राजानमभिवाद्य प्रतस्थिवान् ॥४८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर सुशर्मा ने लज्जित होकर अपना मुँह नीचे कर लिया और बन्धन से मुक्त हो राजा विराट के पास जा उन्हें अभिवादन कर अपने देश को प्रस्थान किया ।

विसृज्य तु सुशर्माणं पाण्डवास्ते हतद्विषः ।
संग्रामशिरसो मध्ये तां रात्रिं सुखिनोऽवसन् ॥४९॥

सुशर्मा को मुक्त करके शत्रुओं का संहार करनेवाले वे पाण्डव उस रात्रि में युद्ध के अग्रप्रदेश पर ही सुखपूर्वक रहे ।

ततो विराटः कौन्तेयानतिमानुषविक्रमान् ।
अर्चयामास वित्तेन मानेन च महारथान् ॥५०॥

अगले दिन राजा विराट ने अतिमानुष=मानव-शक्ति से परे पराक्रम करनेवाले महारथी कुन्तीपुत्रों का धन और मान द्वारा आदर-सत्कार किया ।

विराट उवाच

युष्माकं विक्रमादद्य मुक्तोऽहं स्वस्तिमानिह ।
तस्माद् भवन्तो मत्स्यानामीश्वराः सर्व एव हि ॥५१

विराट बोले—आज मैं तुम लोगों के पराक्रम से ही शत्रु के हाथों से कुशलपूर्वक छूटकर यहाँ आया हूँ, अतः तुम लोग मत्स्यदेश के स्वामी ही हो ।

वैशम्पायन उवाच

तथेतिवादिनं मत्स्यं कौरवेयाः पृथक् पृथक् ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे युधिष्ठिरपुरोगमाः ॥५२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पूर्वोक्त वचन कहनेवाले मत्स्यराज से युधिष्ठिर आदि सभी कुरुवंशी पृथक्-पृथक् हाथ जोड़कर बोले—

प्रतिनन्दाम ते वाक्यं सर्वं चैव विशाम्पते ।
एतेनैव प्रतीताः स्म यत् त्वं मुक्तोऽद्य शत्रुभिः ॥५३॥

"महाराज ! आपका कहना ठीक है । हम आपके वचनों का अभिनन्दन करते हैं, परन्तु हम लोग इतने से ही सन्तुष्ट हैं कि आज आप शत्रुओं से मुक्त हो गये ।

गच्छन्तु दूतास्त्वरितं नगरं तव पार्थिव ।
सुहृदां प्रियमाख्यातुं घोषयन्तु च ते जयम् ॥५४॥

"महाराज ! अब आपके नगर में सुहृदों को यह प्रिय समाचार देने के लिए तुरन्त ही दूतों को जाना चाहिए । वे दूत वहाँ जाकर आपकी विजय-घोषणा करें ।"

ततस्तद्वचनान्मत्स्यो दूतान् राजा समादिशत् ।
ते गत्वा तत्र तां रात्रिमथ सूर्योदयं प्रति ।
विराटस्य पुराभ्याशे दूता जयमघोषयन् ॥५५॥

तब उनके कथनानुसार राजा विराट ने दूतों को आदेश दिया । महाराज की आज्ञा पाकर दूत रात्रि में ही वहाँ से प्रस्थान कर सूर्योदय होते-होते विराट की राजधानी में जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने सब ओर मत्स्यराज की विजय घोषित कर दी ।

इति महाभारते विराटपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

कौरवों द्वारा विराट की गौओं का अपहरण और उत्तरकुमार का बृहन्नला को सारथि बनाकर रणभूमि की ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

याते त्रिगर्तान् मत्स्ये तु पशूँस्तान् वै परीप्सति ।
दुर्योधनः सहामात्यो विराटमुपयादथ ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जिस समय अपने पशुओं को छुड़ा लाने की इच्छा से विराट त्रिगर्तों से युद्ध करने के लिए गये, उसी समय दुर्योधन ने अपने मन्त्रियों को साथ लेकर मत्स्यदेश पर आक्रमण किया।

भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च कृपश्च परमास्त्रवित् ।
द्रौणिश्च सौबलश्चैव तथा दुःशासनः प्रभो ।।२।।
एते मत्स्यानुपागम्य विराटस्य महीपतेः ।
घोषान् विद्राव्य तरसा गोधनं जह्रुरोजसा ।।३।।

राजन् ! भीष्म, द्रोण, कर्ण, अस्त्रविद्या के श्रेष्ठ विद्वान् कृपाचार्य, अश्वत्थामा, शकुनि और दुःशासन —इन सबने राजा विराट के मत्स्यदेश में आकर उनके गोष्ठों में भगदड़ मचा दी और अति वेग से बलपूर्वक गोधन का अपहरण करना आरम्भ किया।

गोपाध्यक्षो भयत्रस्तो रथमास्थाय सत्वरः ।
जगाम नगरायैव परिक्रोशँस्तदाऽऽर्तवत् ।।४।।

तब उन गौओं का रक्षक भयभीत हो तुरन्त ही रथ पर सवार हो आर्त की भाँति विलाप करता हुआ राजधानी की ओर चल दिया।

स प्रविश्य पुरं राज्ञो नृपवेश्माभ्ययात् ततः ।
अवतीर्य रथात् तूर्णमाख्यातुं प्रविवेश च ।।५।।

राजा विराट के नगर में पहुँचकर वह राजभवन के समीप गया तथा रथ से उतरकर तुरन्त यह समाचार देने के लिए महल के भीतर चला गया।

दृष्ट्वा भूमिञ्जयं नाम पुत्रं मत्स्यस्य मानिनम् ।
तस्मै तत् सर्वमाचष्टे राष्ट्रस्य पशुकर्षणम् ।।६।।
षष्टिं गवां सहस्राणि कुरवः कालयन्ति ते ।
तद् विजेतुं समुत्तिष्ठ गोधनं राष्ट्रवर्धन ।।७।।

वहाँ मत्स्यराज के अभिमानी पुत्र भूमिञ्जय [उत्तरकुमार] से मिलकर उस गोप ने उनसे राज्य के पशुओं के अपहरण का समस्त वृत्तान्त बताते हुए कहा—"राष्ट्रवर्धन =राष्ट्र की उन्नति करनेवाले ! आज कौरव आपकी साठ हजार=बहुत-सी गौओं को हाँके लिये जा रहे हैं। उनके हाथ से उस गोधन को जीत लाने के लिए आप उठें।

राजपुत्र हितप्रेप्सुः क्षिप्रं निर्याहि च स्वयम् ।
त्वां हि मत्स्यो महीपालः शून्यपालमिहाकरोत् ।।८।।

"हे राजपुत्र ! आप इस राज्य के हितैषी हैं, अतः स्वयं ही युद्ध के लिए तैयार होकर शीघ्र प्रयाण कीजिए। मत्स्य नरेश ने अपनी अनुपस्थिति में आपको ही यहाँ का रक्षक नियुक्त किया है।

स त्वां परिषदो मध्ये श्लाघते च नराधिपः ।
पुत्रो मामनुरूपश्च शूरश्चेति कुलोद्वहः ।।९।।

"वे सभा में आपकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं— "मेरा पुत्र उत्तर मेरे अनुरूप शूरवीर और इस वंश का भार वहन करने में समर्थ है।

इष्वस्त्रे निपुणो योधः सदा वीरश्च मे सुतः ।
तस्य तत् सत्यमेवास्तु मनुष्येन्द्रस्य भाषितम् ।।१०।।

"मेरा वह प्रिय पुत्र बाण चलाने तथा अन्यान्य अस्त्रों के प्रयोग की कला में भी निपुण, सदा युद्ध के लिए उद्यत रहनेवाला और वीर है।" उन महाराज का यह कथन आज सत्य सिद्ध होना चाहिए।

रणे जित्वा कुरून् सर्वान् वज्रपाणिरिवासुरान् ।
यशो महदवाप्य त्वं प्रविशेदं पुरं पुनः ।।११।।

"जैसे वज्रपाणि इन्द्र समस्त असुरों को परास्त कर देते हैं, उसी प्रकार आप युद्ध में सम्पूर्ण कौरवों को जीतकर और महान् यश प्राप्त करके पुनः इस नगर में प्रवेश करें।"

स्त्रीमध्ये कथितं तेन तद् वाक्यमभयङ्करम् ।
अन्तःपुरे श्लाघमान इदं वचनमब्रवीत् ।।१२।।

राजन् ! उस गोपाध्यक्ष ने ये निर्भय बनानेवाली उत्साहजनक बातें अन्तःपुर में स्त्रियों के बीच में बैठे उत्तरकुमार से कहीं। तब अपनी प्रशंसा करता हुआ

राजकुमार उत्तर इस प्रकार कहने लगा—

उत्तर उवाच

अद्याहमनुगच्छेयं दृढधन्वा गवां पदम् ।
यदि मे सारथिः कश्चिद् भवेदश्वेषु कोविदः ॥१३॥

उत्तर बोला—गोपप्रवर ! यदि मेरे पास घोड़े हाँकने की कला में कुशल कोई सारथि होता, तो दृढ़ धनुपधारी मैं आज अवश्य ही उन गौओं के पद-चिह्नों का अनुसरण करता ।

तमेव नाधिगच्छामि यो मे यन्ता भवेन्नरः ।
पश्यध्वं सारथिं क्षिप्रं मम युक्तं प्रयास्यतः ॥१४॥

इस समय मुझे किसी ऐसे मनुष्य का पता नहीं है, जो मेरा सारथि वन सके । में युद्ध के लिए प्रस्थान करूँगा, अतः शीघ्र ही मेरे लिए किसी योग्य सारथि की तलाश करो ।

स लभेयं यदा त्वन्यं हययानविदं नरम् ।
त्वरावानद्य यात्वाहं समुच्छ्रितमहाध्वजम् ॥१५॥
विगाह्य तत् परानीकं गजवाजिरथाकुलम् ।
शस्त्रप्रतापनिर्वीर्यान् कुरूञ्जित्वाऽऽनये पशून् ॥१६॥

यदि मैं घोड़े हाँकने की कला जाननेवाले किसी मनुष्य को पा जाऊँ, तो अभी बड़े वेग से जाकर ऊँची-ऊँची एवं विशाल ध्वजाओं से विभूपित एवं हाथी, घोड़े तथा रथों से भरी हुई शत्रु की सेना में घुस जाऊँ और अपने शस्त्रों के प्रताप से कौरवों को पराक्रमशून्य तथा परास्त करके सम्पूर्ण पशुओं को लौटा लाऊँ ।

शून्यमासाद्य कुरवः प्रयान्त्यादाय गोधनम् ।
किं नु शक्यं मया कर्तुं यदहं तत्र नाभवम् ॥१७॥

गोष्ठ को सूना पाकर कौरव लोग मेरा गोधन लिये जा रहे हैं, परन्तु अव मैं यहाँ से क्या कर सकता हूँ जवकि वहाँ उस समय मैं विद्यमान नहीं था ।

पश्येयुरद्य मे वीर्यं कुरवस्ते समागताः ।
किं नु पार्थोऽर्जुनः साक्षादयमस्मान् प्रबाधते ॥१८॥

अच्छा, जब कौरव लोग यहाँ आ ही गये हैं, तब वे आज मेरा पराक्रम देख लें । फिर तो वे कहेंगे—क्या यह साक्षात् कुन्तीपुत्र अर्जुन ही हमें पीड़ित कर रहा है ?

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं स्त्रीषु भाषतश्च पुनः पुनः ।
नामर्षयत पाञ्चाली बीभत्सोः परिकीर्तनम् ॥१९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजकुमार उत्तर स्त्रियों के मध्य में बैठा हुआ वार-वार अपनी तुलना में अर्जुन का नाम ले-लेकर डींग हाँक रहा था । द्रौपदी से यह सहन न हो सका ।

अथैनमुपसङ्गम्य स्त्रीमध्यात् सा तपस्विनी ।
व्रीडमानेव शनकैरिदं वचनमब्रवीत् ॥२०॥

तपस्विनी द्रौपदी स्त्रियों के मध्य से उठकर राजकुमार उत्तर के समीप आई और लजाती हुई-सी धीरे-धीरे इस प्रकार वोली—

द्रौपद्युवाच

योऽसौ बृहद्वारणाभो युवा सुप्रियदर्शनः ।
बृहन्नलेति विख्यातः पार्थस्यासीत् स सारथिः ॥२१॥

द्रौपदी बोली—हे राजकुमार ! यह जो विशाल गजराज के समान हृष्ट-पुष्ट, तरुण, सुन्दर तथा देखने में अति प्रिय बृहन्नला नाम से प्रसिद्ध नर्तक है, पहले कुन्तीपुत्र अर्जुन का सारथि था ।

धनुष्यनवरश्चासीत् तस्य शिष्यो महात्मनः ।
दृष्टपूर्वो मया वीर चरन्त्या पाण्डवान् प्रति ॥२२॥

हे वीर ! यह नर्तक महात्मा अर्जुन का ही शिष्य है, अतः धनुर्विद्या में भी उनसे कम नहीं है । पहले पाण्डवों के यहाँ रहते समय मैंने इसे देखा है ।

यदि वै सारथिःस स्यात् कुरून् सर्वान् न संशयः ।
जित्वा गाश्च समादाय ध्रुवमागमनं भवेत् ॥२३॥

यदि वह तुम्हारा सारथि हो जाए तो निःसन्देह सम्पूर्ण कौरवों को जीतकर और गौओं को वापस लेकर तुम्हारा इस नगर में विजयी-शुभागमन हो सकता है, यह ध्रुव सत्य है ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स सैरन्ध्र्या भगिनीं प्रत्यभाषत ।
गच्छ त्वमनवद्याङ्गि तामानय बृहन्नलाम् ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—सैरन्ध्री के ऐसा कहने पर उत्तर ने अपनी वहन से कहा—"निर्दोप अङ्गों-वाली उत्तरे ! तुम अभी जाओ और उस बृहन्नला को बुला लाओ ।"

सा भ्रात्रा प्रेषिता शीघ्रमगच्छन्नर्तनागृहम् ।
यत्रास्ते स महाबाहुश्छन्नः सत्रेण पाण्डवः ।।२५।।

भाई के भेजने पर कुमारी उत्तरा शीघ्र ही नृत्य-शाला में गई, जहाँ पाण्डुनन्दन महाबाहु अर्जुन छद्म वेश में छिपकर रहते थे ।

स तां दृष्ट्वा विशालाक्षीं राजपुत्रीं सखीं तथा ।
प्रहसन्नब्रवीद् राजन् किमागमनमित्युत ।।२६।।

हे जनमेजय ! विशाल नेत्रोंवाली अपनी सखी राजकुमारी उत्तरा की ओर देखकर अर्जुन ने उससे हँसते हुए पूछा—"कहिए राजकुमारी ! कैसे आना हुआ ?"

उत्तरोवाच

गावो राष्ट्रस्य कुरुभिः काल्यन्ते नो बृहन्नले ।
ता विजेतुं मम भ्राता प्रयास्यति धनुर्धरः ।।२७।।

उत्तरा बोली—बृहन्नले ! हमारे राष्ट्र की गौओं को कौरव हाँककर लिये जा रहे हैं, अतः उन्हें जीतने के लिए मेरे भ्राता धनुष धारण करके जानेवाले हैं ।

नाचिरं निहतस्तस्य संग्रामे रथसारथिः ।
तेन नास्ति समः सूतो योऽस्य सारथ्यमाचरेत् ।।२८।।

थोड़ा ही समय हुआ, उनके रथ का सारथि एक युद्ध में मारा गया । इस कारण कोई ऐसा योग्य सूत नहीं है जो उनके सारथि का भार सँभाल सके ।

तस्मै प्रयतमानाय सारथ्यर्थं बृहन्नले ।
आचचक्षे हयज्ञाने सैरन्ध्री कौशलं तव ।।२९।।

हे बृहन्नले ! वे सारथि ढूँढने का प्रयत्न कर रहे थे, इतने में ही सैरन्ध्री ने पहुँचकर यह बताया कि तुम अश्वविद्या में कुशल हो ।

अर्जुनस्य किलासीस्त्वं सारथिर्दयितः पुरा ।
त्वयाजयत् सहायेन पृथिवीं पाण्डवर्षभः ।।३०।।

पहले तुम अर्जुन की प्रिय सारथि रह चुकी हो । तुम्हारी सहायता से उन पाण्डवशिरोमणि ने समूची पृथिवी पर विजय पाई है ।

सा सारथ्यं मम भ्रातुः कुरु साधु बृहन्नले ।
पुरा दूरतरं गावो ह्रियन्ते कुरुभिर्हि नः ।।३१।।

हे बृहन्नले ! इससे पूर्व कि कौरव लोग हमारी गौओं को लेकर बहुत दूर निकल जाएँ, तुम मेरे भाई के सारथि का कार्य अच्छी प्रकार सँभाल लो ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु सुश्रोण्या तया सख्या परन्तपः ।
जगाम राजपुत्रस्य सकाशममितौजसः ।।३२।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—सुन्दर कटि प्रदेशवाली सखी उत्तरा के ऐसा कहने पर शत्रुसंतापक अर्जुन अमितपराक्रमी राजकुमार उत्तर के समीप गये ।

दूरादेव तु तं प्रेक्ष्य राजपुत्रोऽभ्यभाषत ।
त्वया सारथिना पार्थोऽजयत्कृत्स्नां वसुन्धराम् ।।३३।।
संयच्छ मामकानश्वांस्तथैव त्वं बृहन्नले ।
कुरुभिर्योत्स्यमानस्य गोधनानि परीप्सतः ।।३४।।

राजकुमार उत्तर ने बृहन्नला को दूर से ही देखकर कहा—"हे बृहन्नले ! अर्जुन ने तुम्हें सारथि बनाकर समस्त पृथिवी पर विजय पाई थी, अतः आज तुम अर्जुन के घोड़ों की भाँति मेरे घोड़ों को भी काबू में रखना, क्योंकि मैं अपना गोधन वापस लेने के लिए कौरवों के साथ युद्ध करनेवाला हूँ ।"

एवमुक्ता प्रत्युवाच राजपुत्रं बृहन्नला ।
का शक्तिर्मम सारथ्यं कर्तुं संग्राममूर्धनि ।।३५।।

उसके ऐसा कहने पर बृहन्नला राजकुमार से बोली—"भला मेरी क्या शक्ति है कि मैं युद्ध के छोर (मोर्चे) पर सारथि का काम सँभाल सकूं ।

गीतं वा यदि वा नृत्यं वादित्रं वा पृथग्विधम् ।
तत् करिष्यामि भद्रं ते सारथ्यं तु कुतो मम ।।३६।।

"राजकुमार ! आपका कल्याण हो । यदि गाना हो, नृत्य करना हो अथवा विभिन्न प्रकार के बाजे बजाने हों तो वह कर लूंगी । सारथि का काम मुझसे कैसे हो सकता है ?"

उत्तर उवाच

बृहन्नले गायनो वा नर्तनो वा पुनर्भव ।
क्षिप्रं मे रथमास्थाय निगृह्णीष्व हयोत्तमान् ।।३७।।

उत्तर बोला—हे बृहन्नले ! तुम पुनः लौटकर गायक या नर्तक जो चाहो बन जाना । इस समय तो तुरन्त ही मेरे रथ पर बैठकर श्रेष्ठ घोड़ों को काबू में करो ।

वैशम्पायन उवाच

स तत्र नर्मसंयुक्तमकरोत् पाण्डवो बहु ।
उत्तरायाः प्रमुखतः सर्वं जानन्नरिन्दमः ।।३८।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! शत्रुदमन पाण्डुपुत्र अर्जुन ने सब-कुछ जानते हुए भी उत्तरा के सामने हँसी के लिए बहुत-से अज्ञानतासूचक कार्य किये ।

ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य कवचं शरीरे प्रत्यमुञ्चत ।
कुमार्यस्तत्र तं दृष्ट्वा प्राहसन् पृथुलोचनाः ॥३९॥

वे कवच को ऊपर उठाकर शरीर में डालने लगे । यह देखकर वहाँ खड़ी हुई बड़े-बड़े नेत्रोंवाली राजकुमारियाँ हँसने लगीं ।

स तु दृष्ट्वा विमुह्यन्तं स्वयमेवोत्तरस्ततः ।
कवचेन महार्हेण समनह्यद् बृहन्नलाम् ॥४०॥

बृहन्नला को कवच धारण करते समय भूल करती देख राजकुमार उत्तर ने स्वयं अपने हाथों उसे बहुमूल्य कवच धारण कराया ।

स बिभ्रत् कवचं चाग्र्यं स्वयमप्यंशुमत्प्रभम् ।
ध्वजं च सिंहमुच्छ्रित्य सारथ्ये समकल्पयत् ॥४१॥

तत्पश्चात् उन्होंने स्वयं भी सूर्य के समान देदीप्यमान सुन्दर कवच धारण किया और रथ पर सिंह-ध्वज फहराकर बृहन्नला को सारथि के कार्य में नियुक्त कर दिया ।

धनूंषि च महार्हाणि बाणाँश्च रुचिरान् बहून् ।
आदाय प्रययौ वीरः स बृहन्नलसारथिः ॥४२॥

फिर बहुत-से बहुमूल्य धनुष और सुन्दर बाण लेकर और बृहन्नला को सारथि बनाकर वीर उत्तर युद्ध के लिए प्रस्थित हुआ ।

अथोत्तरा च कन्याश्च सख्यस्तामब्रुवँस्तदा ।
बृहन्नले आनयेथा वासांसि रुचिराणि च ॥४३॥
पाञ्चालिकार्थं चित्राणि सूक्ष्माणि च मृदूनि च ।
विजित्य संग्रामगतान्भीष्मद्रोणमुखान् कुरून् ॥४४॥

उस समय उत्तरा तथा उसकी सहेली दूसरी राजकन्याओं ने कहा—"हे बृहन्नले ! तुम युद्धभूमि में आये हुए भीष्म, द्रोण आदि प्रमुख कौरव वीरों को जीतकर हमारी गुड़ियों के लिए उनके महीन, कोमल और रंग-बिरंगे सुन्दर-सुन्दर वस्त्र ले आना ।"

बृहन्नलोवाच

यद्युत्तरोऽयं संग्रामे विजेष्यति महारथान् ।
अथाहरिष्ये वासांसि दिव्यानि रुचिराणि च ॥४५॥

बृहन्नला ने कहा—यदि ये राजकुमार उत्तर संग्राम-भूमि में उन सब महारथियों को परास्त कर देंगे, तो मैं अवश्य उनके दिव्य और सुन्दर वस्त्र ले आऊँगी ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु बीभत्सुस्ततः संप्रैरयद्धयान् ।
कुरूनभिमुखः शूरो नानाध्वजपताकिनः ॥४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! ऐसा कहकर शूरवीर अर्जुन ने अनेक प्रकार की ध्वजा-पताओं से सुशोभित कौरवों की ओर जाने के लिए घोड़ों को हाँक दिया ।

इति महाभारते विराटपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

उत्तरकुमार का कौरव सेना को देखकर भागना, अर्जुन का उसे आश्वासन देना, शमी वृक्ष से अस्त्र उतारकर अर्जुन का उत्तर को पाण्डवों का यथार्थ परिचय देना और युद्ध के लिए तैयारी

वैशम्पायन उवाच

स राजधान्या निर्याय वैराटिरकुतोभयः ।
प्रयाहीत्यब्रवीत् सूतं यत्र ते कुरवो गताः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजधानी से निकलकर विराटपुत्र उत्तर ने सर्वथा निर्भय हो सारथि से कहा—"बृहन्नले ! जिधर कौरव गये हैं, मेरे रथ को उधर ही ले चलो ।

समवेतान् कुरून् सर्वाञ्जिगीषूनवजित्य वै ।
गास्तेभ्यः क्षिप्रमादाय पुनरेष्याम्यहं पुरम् ॥२॥

"मैं यहाँ विजय की आशा से एकत्र होनेवाले समस्त कौरवों को परास्त करके उनसे अपनी गौओं को वापस ले शीघ्र अपने नगर में लौटूँगा ।"

ततस्तान् प्रेरयामास सदश्वान् पाण्डुनन्दनः ।
ते हया नरसिंहेन नोदिता वातरंहसः ।

आलिखन्त इवाकाशमूहुः काञ्चनमालिनः ॥३॥

तब पाण्डुनन्दन अर्जुन ने उत्तर के उत्तम जाति के घोड़ों को हाँका और उनकी बाग ढीली कर दी। नरश्रेष्ठ अर्जुन के हाँकने पर सोने की मालाएँ पहने हुए वे घोड़े वायु के समान वेग से चलने लगे, मानो आकाश में टापें मारते हुए रथ लिये उड़े जा रहे हों।

नातिदूरमथो गत्वा मत्स्यपुत्रधनञ्जयौ।
अवेक्षेताममित्रघ्नौ कुरूणां बलिनां बलम् ॥४॥

थोड़ी ही दूर जाने पर शत्रुनाशक विराटपुत्र उत्तर और धनञ्जय ने महाबली कौरवों की विशाल सेना देखी।

तदनीकं महद् दृष्ट्वा गजाश्वरथसंकुलम्।
हृष्टरोमा भयोद्विग्नः पार्थं वैराटिरब्रवीत् ॥५॥

हाथियों, घोड़ों एवं रथों से भरी उस सेना को देखकर विराटपुत्र उत्तर के रोंगटे खड़े हो गये। उसने भय से व्याकुल होकर अर्जुन से कहा—

उत्तर उवाच

नोत्सहे कुरुभिर्योद्धुं रोमहर्षं च जायते।
दृष्ट्वैव हि परानाजौ मनः प्रव्यथतीव मे ॥६॥

उत्तर बोला—बृहन्नले! मुझमें कौरवों के साथ युद्ध करने का साहस नहीं है। भय के कारण मेरे रोंगटे खड़े हो गये हैं। रणभूमि में इन शत्रुओं को देखकर ही मेरा हृदय व्यथित-सा हो गया है।

त्रिगर्तान् मे पिता यातः शून्ये सम्प्रणिधाय माम्।
सर्वां सेनामुपादाय न मे सन्तीह सैनिकाः ॥७॥
सोऽहमेको बहून् बालः कृतास्त्रानकृतश्रमः।
प्रतियोद्धुं न शक्ष्यामि निवर्तस्व बृहन्नले ॥८॥

हे बृहन्नले! मेरे पिता सूने नगर में उसकी रक्षा के लिए मुझे अकेला रखकर सारी सेनासहित त्रिगर्तों से युद्ध करने के लिए गये हैं। मेरे पास यहाँ कोई सैनिक नहीं है। मैं अकेला बालक हूँ और मैंने अस्त्र-विद्या में भी अधिक परिश्रम नहीं किया है। ऐसी अवस्था में अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञाता और प्रौढ़-अवस्थावाले इन बहुसंख्यक कौरवों का सामना मैं नहीं कर सकूँगा, अतः तुम मेरे रथ को लौटा लो।

बृहन्नलोवाच

भयेन दीनरूपोऽसि द्विषतां हर्षवर्धनः।
न च तावत् कृतं कर्म परैः किंचिद् रणाजिरे ॥९॥

बृहन्नला ने कहा—हे राजकुमार! तुम भय के कारण दीन होकर शत्रुओं का हर्ष बढ़ा रहे हो। अभी तो शत्रुओं ने युद्धभूमि में कोई पराक्रम भी प्रकट नहीं किया है।

स्वयमेव च मामात्थ वह मां कौरवान् प्रति।
सोऽहं त्वां तत्र नेष्यामि यत्रैते बहुला ध्वजाः ॥१०॥

तुमने स्वयं ही कहा था कि मुझे कौरवों के पास ले चलो, अतः जहाँ ये बहुत-सी ध्वजा फहरा रही हैं, वहीं मैं तुम्हें ले चलूँगी।

तथा स्त्रीषु प्रतिश्रुत्य पौरुषं पुरुषेषु च।
कत्थमानोऽभिनिर्याय किमर्थं न युयुत्ससे ॥११॥

तुम स्त्रियों और पुरुषों के बीच में कौरवों को हराकर अपने गोधन को वापस लाने की प्रतिज्ञा करके पुरुषार्थ के विषय में आत्म-श्लाघा करते हुए युद्ध के लिए निकले थे, फिर अब युद्ध करना क्यों नहीं चाहते?

न चेद् विजित्य गास्तास्त्वं गृहान्वै प्रतियास्यसि।
प्रहसिष्यन्ति वीरास्त्वां नरा नार्यश्च सङ्गताः ॥१२

यदि उन गौओं को बिना जीते ही तुम घर लौटोगे, तो वीर पुरुष तुम पर हँसेंगे तथा स्त्री और पुरुष यत्र-तत्र एकत्र होकर तुम्हारा उपहास करेंगे।

अहमप्यत्र सैरन्ध्र्या ख्याता सारथ्यकर्मणि।
न च शक्ष्याम्यनिर्जित्य गाः प्रयातुं पुरं प्रति ॥१३॥

मैं भी सैरन्ध्री के द्वारा सारथ्य-कर्म में कुशल बताई गई हूँ, अतः अब गौओं को जीतकर वापस लिये बिना मैं नगर में नहीं जा सकूँगी।

उत्तर उवाच

कामं हरन्तु मत्स्यानां भूयांसः कुरवो धनम्।
प्रहसन्तु च मां नार्यो नरा वापि बृहन्नले ॥१४॥
संग्रामे न च कार्यं मे गावो गच्छन्तु चापि मे।
शून्यं मे नगरं चापि पितुश्चैव बिभेम्यहम् ॥१५॥

उत्तर बोला—हे बृहन्नले! भारी संख्या में आये हुए कौरव भले ही इच्छानुसार मत्स्यदेश का सारा धन हर ले जाएँ, स्त्रियाँ या पुरुष जितना चाहें मेरा उपहास करें और मेरी गौएँ भी चली जाएँ परन्तु इस युद्ध से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। मेरा नगर

सूना पड़ा है [पिताजी उसकी रक्षा का भार मुझे सौंप गये हैं] मैं पिताजी से डरता हूँ [अतः यहाँ नहीं ठहर सकता]।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्राद्रवद् भीतो रथात्प्रस्कन्द्य कुण्डली।
त्यक्त्वा मानं च दर्पं च विसृज्य सशरं धनुः ॥१६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कह मान एवं अभिमान को त्याग धनुष-बाण को छोड़कर कुण्डलधारी राजकुमार रथ से कूदा और भयभीत होकर भाग चला।

बृहन्नलोवाच

नैष शूरैः स्मृतो धर्मः क्षत्रियस्य पलायनम्।
श्रेयस्तु मरणं युद्धे न भीतस्य पलायनम् ॥१७॥

बृहन्नला बोली—राजकुमार! क्षत्रिय का युद्ध से भागना शूरवीरों की दृष्टि में धर्म नहीं है। युद्ध करके मर जाना अच्छा है, परन्तु भयभीत होकर भागना कदापि अच्छा नहीं।

वैशम्पायन उवाच

तमन्वधावद् धावन्तं राजपुत्रं धनञ्जयः।
गत्वा पदशतं तूर्णं केशपक्षे परामृशत् ॥१८॥

वैशम्पयानजी कहते हैं—हे राजन्! [कुन्तीपुत्र भी रथ से कूदकर] भागते हुए राजकुमार को पकड़ने के लिए उसके पीछे दौड़े और सौ कदम दूर जाते-जाते उसके केश पकड़ लिये।

सोऽर्जुनेन परामृष्टः पर्यदेवयदार्तवत्।
बहुलं कृपणं चैव विराटस्य सुतस्तदा ॥१९॥

अर्जुन के द्वारा पकड़ लिये जाने पर विराटकुमार उत्तर अति दीनता के साथ आर्त की भाँति विलाप करने लगा—

उत्तर उवाच

शृणुयास्त्वं हि कल्याणि बृहन्नले सुमध्यमे।
निवर्तय रथं क्षिप्रं जीवन् भद्राणि पश्यति ॥२०॥

राजकुमार उत्तर बोला—हे सुन्दर कटिवाली कल्याणि बृहन्नले! तुम मेरी बात सुनो। मेरे रथ को शीघ्र लौटाओ, क्योंकि मनुष्य जीवित रहे तो वह अनेक बार मङ्गल देखता है।

वैशम्पायन उवाच

एवमादीनि वाक्यानि विलपन्तमचेतसम्।
प्रहस्य पुरुषव्याघ्रो रथस्यान्तिकमानयत् ॥२१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उत्तर इसी प्रकार की बातें कहता और विलाप करता हुआ अचेत हो रहा था। पुरुषसिंह अर्जुन उसकी बातों पर हँसते हुए उसे रथ के समीप ले आये।

अर्जुन उवाच

यदि नोत्सहसे योद्धुं शत्रुभिः शत्रुकर्षण।
एहि मे त्वं हयान् यच्छ युध्यमानस्य शत्रुभिः ॥२२॥

अर्जुन ने कहा—शत्रुनाशन! यदि तुम्हें शत्रुओं के साथ युद्ध करने का उत्साह नहीं है, तो चलो, मैं उनसे युद्ध करूँगा। तुम मेरे घोड़ों की बागडोर सँभालो।

अहं वै कुरुभिर्योत्स्ये विजेष्यामि च ते पशून्।
प्रविश्यैतद् रथानीकमप्रधृष्यं दुरासदम् ॥२३॥

देखो, मैं इस अतीव दुर्धर्ष तथा दुर्गम रथसेना में प्रविष्ट होकर कौरवों के साथ युद्ध करूँगा और तुम्हारे पशुओं को जीत लाऊँगा।

वैशम्पायन उवाच

तत एनं विचेष्टन्तमकामं भयपीडितम्।
रथमारोपयामास पार्थः प्रहरतां वरः ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते है—तत्पश्चात् प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र अर्जुन ने युद्ध की कामना से रहित, भय से व्याकुल और भागने के लिए छटपटाते हुए उत्तर को रथ पर चढ़ाया।

उत्तरं स समाश्वास्य कृत्वा यन्तारमर्जुनः।
गाण्डीवं पुनरादातुमुपायात् तां शमीं प्रति ॥२५॥

अर्जुन ने उत्तर को समझा-बुझाकर अपना सारथि बनने के लिए राजी कर लिया, फिर अपना गाण्डीव धनुष लेने के लिए उस शमी वृक्ष की ओर गये।

तां शमीमुपसङ्गम्य पार्थो वैराटिमब्रवीत्।
समादिष्टो मया क्षिप्रं धनूंष्यवहरोत्तर ॥२६॥
नेमानि हि त्वदीयानि सोढुं शक्ष्यन्ति मे बलम्।
भारं चापि गुरुं वोढुं कुञ्जरं वा प्रमर्दितुम् ॥२७॥

उस शमी वृक्ष के पास पहुँचकर अर्जुन ने विराट

पुत्र से कहा—"हे उत्तर ! मेरी आज्ञा से तुम शीघ्र इस वृक्ष पर चढ़कर वहाँ रखे हुए धनुष को उतारो, क्योंकि तुम्हारे ये धनुष मेरे बाहुबल को न सह सकेंगे, कोई भारी कार्यभार भी न उठा सकेंगे अथवा बड़े-बड़े गजराजों का नाश करने में भी ये काम न दे सकेंगे।

अस्यां हि पाण्डुपुत्राणां धनूंषि निहितान्युत।
युधिष्ठिरस्य भीमस्य बीभत्सोर्यमयोस्तथा ॥२८॥

इस वृक्ष पर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेव—इन सब पाण्डवों के धनुष रखे हुए हैं।

एवमुक्तः स पार्थेन रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली।
आरुरोह शमीवृक्षं वैराटीरवशस्तदा ॥२९॥

अर्जुन के ऐसा कहने पर कुण्डलधारी विराटपुत्र उत्तर विवश हो रथ से कूदकर शमीवृक्ष पर चढ़ गया।

सोऽपहृत्य महार्हाणि धनूंषि पृथुवक्षसाम्।
परिवेष्टनपत्राणि विमुच्य समुपानयत् ॥३०॥
तथा संनहनान्येषां परिमुच्य समन्ततः।
अपश्यत् तत्र गाण्डीवं चतुर्भिरपरैः सह ॥३१॥

उत्तर ने विशाल वक्षःस्थलवाले पाण्डवों के बहुमूल्य धनुषों को नीचे उतारकर उनपर जो पत्तों के वेष्टन लगे थे, उन्हें खोलकर हटाया। तत्पश्चात् उन धनुषों तथा उनकी डोरियों को सब ओर से खोलकर अर्जुन के पास ले आया। उसमें अन्य चार धनुषों के साथ रखे हुए गाण्डीव धनुष को उत्तर ने देखा।

संस्पृश्य तानि चापानि भानुमन्ति बृहन्ति च।
वैराटिरर्जुनं राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥३२॥

राजन् ! तत्पश्चात् उन प्रभापूर्ण विशाल धनुषों का स्पर्श करके विराट-पुत्र उत्तर ने अर्जुन से इस प्रकार कहा—

उत्तर उवाच

सुवर्णविकृतानीमान्यायुधानि महात्मनाम्।
रुचिराणि प्रकाशन्ते पार्थानामाशुकारिणाम् ॥३३॥
क्व नु स्विदर्जुनः पार्थः कौरव्यो वा युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च भीमसेनश्च पाण्डवः ॥३४

उत्तर बोला—बृहन्नले ! रण में फुर्ती दिखाने-वाले जिन महात्मा कुन्तीपुत्रों के ये सुवर्ण-भूषित आयुध इतने प्रकाशित हो रहे हैं, वे पृथापुत्र अर्जुन, कुरुनन्दन युधिष्ठिर, नकुल-सहदेव और पाण्डुपुत्र भीमसेन अब कहाँ हैं ?

द्रौपदी क्व च पाञ्चाली स्त्रीरत्नमिति विश्रुता।
जितानक्षैस्तदा कृष्णा तानेवान्वगमद् वनम् ॥३५॥

स्त्रीरत्न रूप में विख्यात पाञ्चाल देश की राजकुमारी द्रौपदी कहाँ है ? सुना है, जब पाण्डव जुए में हार गये, तब द्रौपदी भी उन्हीं के साथ वन में चली गई थी।

अर्जुन उवाच

अहमस्म्यर्जुनः पार्थः सभास्तारो युधिष्ठिरः।
बल्लवो भीमसेनस्तु पितुस्ते रसपाचकः ॥३६॥

अर्जुन ने कहा—हे राजकुमार ! मैं ही पृथापुत्र अर्जुन हूँ। राजा की सभा के माननीय सदस्य कङ्क ही युधिष्ठिर हैं। तुम्हारे पिता के भोजनालय में रसोइये का काम करनेवाले बल्लव ही भीमसेन हैं।

अश्वबन्धोऽथ नकुलः सहदेवस्तु गोकुले।
सैरन्ध्रीं द्रौपदीं विद्धि यत्कृते कीचका हताः ॥३७॥

अश्वों की देख-भाल करनेवाले ग्रन्थिक ही नकुल हैं और गोशाला के अध्यक्ष तन्तिपाल ही सहदेव हैं। सैरन्ध्री द्रौपदी है, जिसके कारण सभी कीचक मारे गये हैं।

उत्तर उवाच

दश पार्थस्य नामानि यानि पूर्वं श्रुतानि मे।
ब्रूयास्त्वं यदि जानीषे श्रद्दध्यां सर्वमेव ते ॥३८॥

उत्तर बोला—मैंने पहले अर्जुन के जो दस नाम सुन रखे हैं, यदि तुम उन्हें जानते हो तो बताओ ! तब मैं तुम्हारी सारी बातों पर विश्वास कर सकता हूँ।

अर्जुन उवाच

हन्त तेऽहं समाचक्षे दश नामानि यानि मे।
वैराटे शृणु तानि त्वं यानि पूर्वं श्रुतानि ते ॥३९॥

अर्जुन ने कहा—विराटपुत्र ! मेरे दस नाम जो तुमने पहले ही सुन रखे हैं, मैं अब उनका वर्णन करता हूँ, तुम सुनो !

अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णुः किरीटी श्वेतवाहनः ।
बीभत्सुर्विजयः कृष्णः सव्यसाची धनञ्जयः ।।४०।।

वे नाम हैं—अर्जुन, फाल्गुन, जिष्णु, किरीटी, श्वेतवाहन, वीभत्सु, विजय, कृष्ण, सव्यसाची और धनञ्जय ।

पृथिव्यां चतुरन्तायां वर्णो मे दुर्लभः समः ।
करोमि कर्म शुक्लं च तस्मान्मामर्जुनं विदुः ।।४१।।

[अर्जुन शब्द के अर्थ हैं—वर्ण या दीप्ति, ऋजुता या समता, धवल या शुद्ध] समुद्र-पर्यन्त पृथिवी पर चहुँ ओर मेरे-जैसी दीप्ति दुर्लभ है। मैं सबके प्रति समभाव रखता हूँ और शुद्ध कर्म करता हूँ, अतः विज्ञपुरुष मुझे 'अर्जुन' के नाम से जानते हैं।

उत्तराभ्यां फाल्गुनीभ्यां नक्षत्राभ्यामहं दिवा ।
जातो हिमवतः पृष्ठे तेन मां फाल्गुनं विदुः ।।४२।।

हिमालय के शिखर पर उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में दिन के समय मेरा जन्म हुआ था, अतः मुझे 'फाल्गुन' कहते हैं।

अहं दुरापो दुर्धर्षो दमनः पाकशासनिः ।
तेन देवमनुष्येषु जिष्णुर्नामास्मि विश्रुतः ।।४३।।

मुझे पकड़ना या तिरस्कृत करना बहुत कठिन है। मैं इन्द्र का पुत्र तथा शत्रुदमन विजयी वीर हूँ, अतः देवताओं और मनुष्यों में 'जिष्णु' नाम से मेरी ख्याति है।

पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः ।
किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मां किरीटिनम् ।।४४।।

पूर्वकाल में बड़े-बड़े दानव वीरों के साथ युद्ध करते समय देवराज इन्द्र ने मेरे मस्तक पर सूर्य के समान प्रकाशित होनेवाला किरीट रखा था, अतः मुझे 'किरीटी' कहते हैं।

श्वेताः काञ्चनसंनाहा रथे युञ्जन्ति मे हयाः ।
संग्रामे युध्यमानस्य तेनाहं श्वेतवाहनः ।।४५।।

संग्राम में युद्ध करते समय मेरे रथ में सोने के बख्तर से सजे हुए श्वेत रंग के घोड़े जोते जाते हैं, इसलिए मेरा नाम 'श्वेतवाहन' है।

न कुर्यां कर्म बीभत्सं युद्धमानः कथञ्चन ।
तेन देवमनुष्येषु बीभत्सुरिति विश्रुतः ।।४६।।

युद्ध करते समय मैं कोई भी वीभत्स=घृणित तथा निन्दनीय कार्य नहीं करता हूँ, अतः देवताओं और मनुष्यों में मैं 'वीभत्सु'[1] नाम से प्रसिद्ध हूँ।

अभिप्रयामि संग्रामे यदहं युद्धदुर्मदान् ।
नाजित्वा विनिवर्तामि तेन मां विजयं विदुः ।।४७।।

जब मैं रणक्षेत्र में रणोन्मत्त योद्धाओं का सामना करने के लिए जाता हूँ तब उन्हें परास्त किये विना कभी नहीं लौटता, अतः वीर-पुरुष मुझे 'विजय' के नाम से पुकारते हैं।

उभौ मे दक्षिणौ पाणी गाण्डीवस्य विकर्षणे ।
तेन देवमनुष्येषु सव्यसाचीति मां विदुः ।।४८।।

मेरा बायाँ और दाहिना दोनों ही हाथ गाण्डीव धनुष की डोरी खींचने में समर्थ हैं, अतः देवता और मनुष्य दोनों ही मुझे 'सव्यसाची' कहते हैं।

सर्वाञ्जनपदाञ्जित्वा वित्तमादाय केवलम् ।
मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाहुर्मां धनञ्जयम् ।।४९।।

मैं सम्पूर्ण देशों को जीतकर और उनसे कर-रूप में केवल धन लेकर धन के ही बीच में स्थित था, अतः लोग मुझे 'धनञ्जय' कहते हैं।

कृष्ण इत्येव दशमं नाम चक्रे पिता मम ।
ततः कृष्णावदातस्य प्रियत्वाद् बालकस्य वै ।।५०।।

[कृष्ण शब्द का अर्थ है—श्यामवर्ण तथा मन को आकर्षित करनेवाला] मेरे शरीर का रंग कृष्ण [गौर एवं आकर्षक है] तथा बाल्यावस्था में चित्त-आकर्षक होने के कारण मैं पिताजी को अति प्रिय था, अतः पिताजी ने ही मेरा दसवाँ नाम 'कृष्ण' रखा था।

वैशम्पायन उवाच

ततः स पार्थं वैराटिरभ्यवादयदन्तिकात् ।
अहं भूमिञ्जयो नाम नाम्नाहमपि चोत्तरः ।।५१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुन के दस नामों को सुनकर विराटपुत्र ने निकट जाकर अर्जुन के चरणों

१. यह नाम उलटा है। 'बीभत्सु' का अर्थ होता है निन्दित, घृणित तथा बर्बर कर्म करनेवाला। परन्तु महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ ने **"भदि कल्याणे सुखे च"** इस धातु से सन् प्रत्यय लगाकर 'बीभत्सु' शब्द की निष्पत्ति मानी है।

में प्रणाम किया और कहा—"मेरा नाम भूमिंजय तथा उत्तर भी है।

दिष्ट्या त्वां पार्थ पश्यामि स्वागतं ते धनञ्जय।
लोहिताक्ष महाबाहो नागराजकरोपमौ ॥५२॥

"कुन्तीनन्दन! मेरा सौभाग्य है कि मुझे आपका दर्शन हुआ। धनञ्जय! आपका स्वागत है। आपके नेत्र लाल हैं और भुज-दण्ड गजराज के सूँड़ को भी लज्जित कर रहे हैं।

यदज्ञानादवोचं त्वां क्षन्तुमर्हसि तन्मम।
यतस्त्वया कृतं पूर्वं चित्रं कर्म सुदुष्करम्।
अतो भयं व्यतीतं मे प्रीतिश्च परमा त्वयि ॥५३॥

"मैंने अज्ञानवश आपसे जो अनुचित बात कह दी हो, उसे आप क्षमा करें। पूर्वकाल में आपने अत्यन्त दुष्कर और अद्भुत कर्म किये हैं, अतः आपका संरक्षण पाकर मेरा भय दूर हो गया है तथा आपके प्रति मेरा प्रेम बहुत बढ़ गया है।"

ततो विमुच्य बाहुभ्यां वलयानि स वीर्यवान्।
चित्रे काञ्चनसंनाहे प्रत्यमुञ्चत् तदा तले ॥५४॥

उत्तर के ऐसा कहने पर पराक्रमी अर्जुन ने हाथों से कड़े और चूड़ियाँ उतार दीं तथा हथेलियों में सोने के बने हुए विचित्र कवच धारण कर लिये।

प्रतिगृह्य ततोऽस्त्राणि प्रहृष्टवदनोऽभवत्।
अधिज्यं तरसा कृत्वा गाण्डीवं व्यक्षिपद् धनुः ॥५५॥

फिर अपने अस्त्र-शस्त्रों को धारण करके अर्जुन का मुख प्रसन्नता से खिल उठा। उन्होंने बड़े वेग से गाण्डीव धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसकी टंकार की।

तस्य विक्षिप्यमाणस्य धनुषोऽभून्महाध्वनिः।
यथा शैलस्य महतः शैलेनैवावजघ्नतः ॥५६॥

उस धनुष की टंकार के समय बड़ा प्रचण्ड शब्द हुआ, मानो किसी महान् पर्वत को पर्वत से ही टक्कर लगी हो।

उत्तरं सारथिं कृत्वा कौन्तेयः श्वेतवाहनः।
ततः प्रायादुदीचीं च कपिप्रवरकेतनः ॥५७॥

उत्तर को सारथि बनाकर श्वेतवाहन कुन्तीनन्दन अर्जुन ने कपिश्रेष्ठ हनुमान् से चिह्नित ध्वजा को फहराते हुए उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया।

स्वनवन्तं महाशंखं बलवानरिमर्दनः।
प्राधमद् बलमास्थाय द्विषतां लोमहर्षणम् ॥५८॥

उस समय शत्रुदमन महाबली अर्जुन ने घोर शब्द करनेवाले अपने महान् शंख को खूब जोर लगाकर बजाया जिसकी आवाज सुनकर शत्रुओं के रोंगटे खड़े हो गये।

ततस्ते जवना धुर्या जानुभ्यामगमन्महीम्।
उत्तरश्चापि संत्रस्तो रथोपस्थ उपाविशत् ॥५९॥

उस शंखध्वनि से घबराकर रथ के वेगशाली घोड़ों ने भूमि पर घुटने टेक दिये तथा उत्तर भी अत्यन्त भयभीत हो रथ के ऊपरी भाग में, जहाँ रथी का स्थान है, जा बैठा।

संस्थाप्य चाश्वान् कौन्तेयः समुद्यम्य च रश्मिभिः।
उत्तरं च परिष्वज्य समाश्वासयदर्जुनः ॥६०॥

तब कुन्तीपुत्र अर्जुन ने स्वयं रास खेंचकर घोड़ों को खड़ा किया तथा उत्तर को हृदय से लगाकर धैर्य बँधाया।

अर्जुन उवाच

मा भैस्त्वं राजपुत्राग्र्य क्षत्रियोऽसि परन्तप।
कथं तु पुरुषव्याघ्र शत्रुमध्ये विषीदसि ॥६१॥

अर्जुन बोले—शत्रु-संतापक श्रेष्ठ राजकुमार! डरो मत, तुम क्षत्रिय हो। पुरुषसिंह! शत्रुओं के मध्य में आकर घबराते कैसे हो?

श्रुतास्ते शंखशब्दाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः।
कुञ्जराणां च नदतां व्यूढानीकेषु तिष्ठताम् ॥६२॥

तुमने अनेक बार शंख-ध्वनि सुनी होगी। रण-भेरियों के भयंकर शब्द भी बहुत बार तुम्हारे कानों में पड़े होंगे एवं व्यूहबद्ध सेनाओं में खड़े हुए गजराजों की चिघाड़ें भी तुमने सुनी होंगी।

उत्तर उवाच

श्रुता मे शंखशब्दाश्च भेरीशब्दाश्च पुष्कलाः।
कुञ्जराणां निनदतां व्यूढानीकेषु तिष्ठताम् ॥६३॥

उत्तर बोला—वीरवर! इसमें सन्देह नहीं कि मैंने शंखध्वनियाँ सुनी हैं, रणभेरियों के भयंकर शब्द भी अनेक बार मेरे कानों में पड़े हैं और व्यूहबद्ध सेनाओं में खड़े हुए चिघाड़नेवाले गजराजों की चिघाड़ें भी मैंने सुनी हैं।

नैवंविधः शंखशब्दः पुरा जातु मया श्रुतः ।
ध्वजस्य चापि रूपं मे दृष्टपूर्वं न हीदृशम् ॥६४॥

परन्तु आज से पूर्व ऐसा भयंकर शंखनाद मेरे सुनने में नहीं आया था और ध्वजा का भी ऐसा रूप मैंने कभी नहीं देखा था ।

धनुषश्चैव निर्घोषः श्रुतपूर्वो न मे क्वचित् ।
रथस्य च निनादेन मनो मुह्यति मे भृशम् ॥६५॥

धनुष की ऐसी टंकार भी पहले मैंने नहीं सुनी थी । रथ की भारी गड़गड़ाहट से भी डरकर मेरा हृदय बहुत व्याकुल हो उठा है ।

द्रोण उवाच

यथा रथस्य निर्घोषो यथा मेघ उदीर्यते ।
कम्पते च यथा भूमिर्नैषोऽन्यः सव्यसाचिनः ॥६६॥

उधर उस शंखध्वनि को सुनकर द्रोणाचार्य ने कहा—जैसी यह रथ की गड़गड़ाहट सुनाई दे रही है, उससे मेघगर्जना का-सा जो शब्द हो रहा है, उसी के कारण जिस प्रकार यह पृथिवी काँपने-सी लगी है, उससे यह सूचित होता है कि आनेवाला योद्धा अर्जुन के सिवा दूसरा कोई नहीं है ।

इति महाभारते विराटपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

दुर्योधन के द्वारा युद्ध का निश्चय, भीष्म का परामर्श, अर्जुन द्वारा दुर्योधन की सेना पर आक्रमण करके गौओं को लौटाना तथा कौरव सेना का संहार

वैशम्पायन उवाच

अथ दुर्योधनो राजा समरे भीष्ममब्रवीत् ।
द्रोणं च रथशार्दूलं कृपं च सुमहारथम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! द्रोणाचार्य का वह कथन सुनकर राजा दुर्योधन ने रणभूमि में भीष्म, रथियों में श्रेष्ठ द्रोण और महारथी कृपाचार्य से कहा—

उक्तोऽयमर्थ आचार्यौ मया कर्णेन चासकृत् ।
पुनरेव प्रवक्ष्यामि न हि तृप्यामि तं ब्रुवन् ॥२॥

"आचार्यो ! मैंने और कर्ण ने यह बात आप लोगों से कई बार कही है और फिर उसे दुहराता हूँ, क्योंकि उसे बार-बार कहकर भी मुझे तृप्ति नहीं होती ।

पराभूतैर्हि वस्तव्यं तैश्च द्वादश वत्सरान् ।
वने जनपदेऽज्ञातैरेष एव पणो हि नः ॥३॥

"जुआ खेलते समय हमारी शर्त थी कि हममें से जो हारेंगे, उन्हें बारह वर्ष तक किसी वन में प्रकट-रूप से तथा एक वर्ष तक किसी नगर में अज्ञातरूप में रहना होगा ।

तेषां न तावन्निर्वृत्तं वर्तते तु त्रयोदशम् ।
अज्ञातवासो बीभत्सुरथास्माभिः समागतः ॥४॥

"अभी पाण्डवों का तेरहवाँ वर्ष पूरा नहीं हुआ है, तो भी अज्ञातवास में रहनेवाला अर्जुन आज प्रकटरूप से हमारे साथ युद्ध करने आ रहा है ।

अनिवृत्ते तु निर्वासे यदि बीभत्सुरागतः ।
पुनर्द्वादशवर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥५॥

"यदि अज्ञातवास पूर्ण होने से पूर्व ही अर्जुन आ गया है, तो पाण्डवों को पुनः बारह वर्ष तक वन में निवास करना होगा ।

लोभाद् वा ते न जानीयुरस्मान् वा मोह आविशत् ।
हीनातिरिक्तमेतेषां भीष्मो वेदितुमर्हति ॥६॥

"वे राज्य के लोभ से अपनी प्रतिज्ञा को स्मरण नहीं रख सके अथवा हमें ही मोह=प्रमाद आ गया है । इनके तेरहवें वर्ष में अभी कुछ कमी है, या अधिक दिन बीत गये हैं, यह भीष्मजी जान सकते हैं ।"

भीष्म उवाच

इह कालातिरेकेण ज्योतिषां च व्यतिक्रमात् ।
पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासावुपजायतः ॥७॥

भीष्मजी बोले—कालचक्र में पक्ष-मास आदि के समय के घटने-बढ़ने से और ग्रह-नक्षत्रों की गति के व्यतिक्रम से हर पाँचवें वर्ष में दो मास अधिमास के बढ़ जाते हैं ।

एषामभ्यधिका मासाः पञ्च च द्वादश क्षपाः ।
त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्तते मतिः ॥८॥

इस प्रकार इन तेरह वर्षों के पूर्ण होने के पश्चात् भी पाण्डवों के पाँच मास, बारह दिन और अधिक बीत चुके हैं ।[1] ऐसा मेरा विचार है ।

सर्वं यथावच्चरितं यद् यदेभिः प्रतिश्रुतम् ।
एवमेतद् ध्रुवं ज्ञात्वा ततो बीभत्सुरागतः ॥९॥

इन पाण्डवों ने जो-जो प्रतिज्ञाएँ की थीं, उन सब का यथावत् पालन किया है । अज्ञातवास की अवधि पूर्ण हो गई है, इस बात को अच्छी प्रकार जानकर ही अर्जुन यहाँ आये हैं ।

सर्वे चैव महात्मानः सर्वे धर्मार्थकोविदाः ।
येषां युधिष्ठिरो राजा कस्माद् धर्मेऽपराध्नुयुः ॥१०॥

सभी पाण्डव महान् आत्मा हैं । सभी धर्म और अर्थ के ज्ञाता हैं । जिनके नेता महाराज युधिष्ठिर हैं, वे धर्म के विषय में कोई अपराध कैसे कर सकते हैं ?

अलुब्धाश्चैव कौन्तेयाः कृतवन्तश्च दुष्करम् ।
वृणुयुर्मरणं पार्था नानृतत्वं कथञ्चन ॥११॥

कुन्ती के पुत्र लोभी नहीं हैं । उन्होंने तपस्या आदि कठोर कर्म किये हैं । कुन्ती के पुत्र मृत्यु का आलिंगन कर सकते हैं, परन्तु किसी प्रकार असत्य का आश्रय नहीं ले सकते ।

समरे प्रतियुध्येम सर्वशस्त्रभृतां वरम् ।
तस्माद्यदत्र कल्याणं शीघ्रं तत्संविधीयताम् ॥१२॥

इस समय हमें संग्राम-भूमि में शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन से युद्ध करना है, अतः जो कल्याणकारी उपाय है, उसे शीघ्र करना चाहिए ।

न हि पश्यामि संग्रामे कदाचिदपि कौरव ।
एकान्तसिद्धिं राजेन्द्र सम्प्राप्तश्च धनञ्जयः ॥१३॥

कुरुनन्दन ! राजेन्द्र ! मैं युद्ध में कभी ऐसा नहीं देखता कि किसी एक पक्ष की ही विजय अनिवार्य हो । लो, अर्जुन आ पहुँचे हैं ।

सम्प्रवृत्ते तु संग्रामे भावाभावौ जयाजयौ ।
अवश्यमेकं स्पृशतो दृष्टमेतदसंशयम् ॥१४॥

युद्ध छिड़ जाने पर किसी-न-किसी पक्ष को लाभ या हानि, जय अथवा पराजय अवश्य प्राप्त होते हैं, यह सदा देखा गया है, इसमें संशय की कोई बात ही नहीं है ।

तस्माद् युद्धोचितं कर्म कर्म वा धर्मसंहितम् ।
क्रियतामाशु राजेन्द्र सम्प्राप्तश्च धनञ्जयः ॥१५॥

राजेन्द्र ! तुम युद्धोचित कर्तव्य का पालन करो अथवा धर्म के अनुसार कार्य करो [उनका राज्य लौटाकर सन्धि कर लो] । जो कुछ करना है, शीघ्र करो, क्योंकि अर्जुन अब सिर पर आ पहुँचे हैं ।

दुर्योधन उवाच

नाहं राज्यं प्रदास्यामि पाण्डवानां पितामह ।
युद्धोपचारिकं यत्तु तच्छीघ्रं प्रविधीयताम् ॥१६॥

दुर्योधन बोला—पितामह ! मैं पाण्डवों को राज्य

---

१. महाभारत-काल में प्रत्येक पाँच वर्ष में दो मास बढ़ाकर चान्द्रमास को सौरमास के बराबर कर लिया जाता था। श्लोक ७ में इस तथ्य का उल्लेख है। पाण्डवों ने तेरह वर्ष [चान्द्रवर्ष] पूर्ण करने के पश्चात् पाँच मास और बारह दिन अधिक बिता दिये थे ।

प्रत्येक पाँच वर्ष में दो मास के गणित से तेरह वर्षों में पाण्डवों को पाँच मास और छह दिन पूर्ण करने चाहिए थे, अतः भीष्मजी के अनुसार पाण्डवों का वन तथा अज्ञातवास का समय पूरा ही नहीं हुआ, अपितु उन्होंने छह दिन अधिक बिता दिये। परन्तु दुर्योधन का कहना यह था कि पाँच वर्ष में दो मास अधिक आते हैं, अतः पाण्डवों को तेरह वर्ष पूर्ण करने के पश्चात् छह मास बिताने चाहिए थे, किन्तु उन्होंने पाँच मास तथा बारह दिन ही व्यतीत किये हैं, अतः पाण्डव शर्त हार गये और इन्हें पुनः वन में जाना चाहिए ।

पाण्डवों ने पाँच मास और बारह दिन व्यतीत किये थे और दुर्योधन के अनुसार छह मास पूर्ण करने चाहिए थे। इस प्रकार अठारह दिन का अन्तर रह गया। इस अठारह दिन के लिए ही अठारह दिन तक लोहे-से-लोहा बजता रहा, भीषण नरसंहार हुआ। अठारह अक्षौहिणी सेना में से केवल दस व्यक्ति बचे ।

सम्भवतः इस अठारह की संख्या को लेकर ही महाभारत के अठारह पर्व बने, सेना भी अठारह अक्षौहिणी और युद्ध भी अट्ठारह दिन तक लड़ा गया ।

तो दूँगा नहीं [अतः सन्धि भी नहीं हो सकती, तब] युद्ध में उपयोगी जो कार्य हो वही किया जाए।

भीष्म उवाच

अत्र या मामिका बुद्धिः श्रूयतां यदि रोचते।
सर्वथा हि मया श्रेयो वक्तव्यं कुरुनन्दन ॥१७॥

भीष्मजी बोले—कुरुनन्दन ! यदि तुम्हें जँचे तो इस विषय में मेरी जो सम्मति है, उसे सुनो। मैं सर्वथा कल्याण की ही बात कहूँगा।

क्षिप्रं बलचतुर्भागं गृह्य गच्छ पुरं प्रति।
ततोऽपरश्चतुर्भागो गाः समादाय गच्छतु ॥१८॥

तुम सेना का एक-चौथाई भाग लेकर शीघ्र ही हस्तिनापुर को प्रस्थान करो तथा दूसरी एक-चौथाई टुकड़ी गौओं को साथ लेकर जाए।

वयं चार्धेन सैन्यस्य द्रोणः कर्णः कृपस्तथा।
प्रतियोत्स्याम बीभत्सुमागतं कृतनिश्चयम् ॥१९॥

द्रोणाचार्य, कर्ण, कृपाचार्य आदि हम लोग आधी सेना साथ लेकर युद्ध का निश्चय करके आये हुए अर्जुन के साथ लड़ेंगे।

वैशम्पायन उवाच

तद्वाक्यं रुरुचे तेषां भीष्मेणोक्तं महात्मना।
तथा हि कृतवान् राजा कौरवाणामनन्तरम् ॥२०॥
भीष्मः प्रस्थाप्य राजानं गोधनं तदनन्तरम्।
सेनामुख्यान् व्यवस्थाप्य व्यूहितुं सम्प्रचक्रमे ॥२१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! महात्मा भीष्म की यह सम्मति सबको पसन्द आई। फिर कौरवों के राजा दुर्योधन ने वैसा ही किया। भीष्मजी ने पहले राजा दुर्योधन को, फिर गोधन को भेजकर सेनापतियों को व्यवस्थित करके सेना का व्यूह बनाने की तैयारी की।

भीष्म उवाच

आचार्य मध्ये तिष्ठ त्वमश्वत्थामा तु सव्यतः।
कृपः शारद्वतो धीमान् पार्श्वं रक्षतु दक्षिणम् ॥२२॥

भीष्म ने कहा—आचार्य ! आप मध्य में खड़े हों। अश्वत्थामा वाम=बाएँ भाग की रक्षा करें और शरद्वान् के पुत्र बुद्धिमान् कृपाचार्य सेना के दक्षिण भाग की रक्षा करें।

अग्रतः सूतपुत्रस्तु कर्णस्तिष्ठतु दंशितः।
अहं सर्वस्य सैन्यस्य पश्चात्स्थास्यामि पालयन् ॥२३॥

सूतपुत्र कर्ण कवच धारण करके सेना के आगे रहें और मैं पृष्ठ भाग की रक्षा करता हुआ सम्पूर्ण सेना के पीछे स्थित रहूँगा।

वैशम्पायन उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु कौरवेयेषु भारत।
उपायादर्जुनस्तूर्णं रथघोषेण नादयन् ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार कौरव-सेना की व्यूह-रचना हो जाने पर अर्जुन अपने रथ की गड़गड़ाहट से सम्पूर्ण दिशाओं को गुंजाते हुए शीघ्र ही निकट आ पहुँचे। [अर्जुन को निकट आया देखकर—]

द्रोण उवाच

एतद् ध्वजाग्रं पार्थस्य दूरतः सम्प्रकाशते।
एष घोषः स रथजो रोरवीति च वानरः ॥२५॥

द्रोणाचार्य बोले—वह देखो, अर्जुन के रथ की ध्वजा का ऊपरी भाग दूर से ही प्रकाशित हो रहा है। यह उन्हीं के रथ की गड़गड़ाहट का शब्द है। साथ ही ध्वजा पर बैठा वानर भी उच्च स्वर से गर्जना कर रहा है।

एष तिष्ठन् रथश्रेष्ठे रथे च रथिनां वरः।
उत्कर्षति धनुः श्रेष्ठं गाण्डीवमशनिस्वनम् ॥२६॥

यह देखो, श्रेष्ठ रथ में बैठे हुए रथियों में श्रेष्ठ वीर अर्जुन धनुषों में सर्वोत्तम गाण्डीव की डोरी खींच रहे हैं और उससे वज्र की गड़गड़ाहट के समान शब्द हो रहा है।

इमौ च बाणौ सहितौ पादयोर्मे व्यवस्थितौ।
अपरौ चाप्यतिक्रान्तौ कर्णौ संस्पृश्य मे शरौ ॥२७॥

ये दो बाण एक साथ आकर मेरे दोनों पैरों के आगे गिरे हैं और दूसरे दो बाण मेरे दोनों कानों को छूकर निकल गये हैं।

निरुष्य हि वने वासं कृत्वा कर्मातिमानुषम्।
अभिवादयते पार्थः श्रोत्रे च परिपृच्छति ॥२८॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन वन में रहकर वहाँ तपस्या तथा शौर्य द्वारा अतिमानुष पराक्रम करके आज प्रकट हुए हैं। वे प्रथम दो बाणों द्वारा मुझे प्रणाम कर रहे हैं और दूसरे कानों के पास फेंके गये दो बाणों से मेरा

कुशल-मङ्गल पूछते तथा युद्ध के लिए आज्ञा माँगते हैं। [उधर अर्जुन ने सारथि से कहा—]

अर्जुन उवाच

इषुपाते च सेनाया हयान् संयच्छ सारथे।
यावत्समीक्षे सैन्येऽस्मिन् क्वासौ कुरुकुलाधमः ॥२९॥

अर्जुन ने कहा—सारथे! कौरव सेना और मेरे रथ के बीच में बाण की मार का अन्तर रह जाए तो घोड़ों को रोक लेना, जिससे मैं यह देख लूँ कि इस सेना में कुरुकुलाधम दुर्योधन कहाँ है।

सर्वानेताननादृत्य दृष्ट्वा तमतिमानिनम्।
तस्य मूर्ध्नि पतिष्यामि तत एते पराजिताः ॥३०॥

उस महा-अभिमानी दुर्योधन को देख लेने पर मैं इन सब योद्धाओं को छोड़कर उसी के सिर पर पड़ूँगा। उसके पराजित होने से ये सब परास्त हो जाएँगे।

एष व्यवस्थितो द्रोणो द्रौणिश्च तदनन्तरम्।
भीष्मः कृपश्च कर्णश्च महेष्वासाः समागताः ॥३१॥

ये आचार्य द्रोण खड़े हैं, उनके पश्चात् उन्हीं के पुत्र अश्वत्थामा हैं। उधर पितामह भीष्म हैं। इधर कृपाचार्य हैं और वह कर्ण है। ये सब महान् धनुर्धर यहाँ युद्ध के लिए आये हैं।

राजानं नात्र पश्यामि गाः समादाय गच्छति।
दक्षिणं मार्गमास्थाय शंके जीवपरायणः ॥३२॥

परन्तु इनमें मैं राजा दुर्योधन को नहीं देखता हूँ। मुझे सन्देह है कि वह दुरात्मा दक्षिण दिशा का मार्ग पकड़कर गौओं को साथ ले अपनी जान बचाकर भागा जा रहा है।

उत्सृजैतद् रथानीकं गच्छ यत्र सुयोधनः।
तं जित्वा विनिर्वर्तिष्ये गाः समादाय वै पुनः ॥३३॥

विराटनन्दन! रथियों की सेना को छोड़ो और जहाँ दुर्योधन है वहीं चलो। उसे जीतकर गौओं को अपने साथ ले मैं पुनः लौट आऊँगा।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स वैराटिर्हयान् संयम्य यत्नतः।
संप्रैरयत् ततो वाहान् यत्र दुर्योधनो गतः ॥३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुन के ऐसी आज्ञा देने पर विराटकुमार उत्तर ने यत्नपूर्वक घोड़ों को संयम में रखते हुए उसी ओर बढ़ाया जिधर दुर्योधन गया था।

उत्सृज्य रथवंशं तु प्रयाते श्वेतवाहने।
अभिप्रायं विदित्वा च कृपो वचनमब्रवीत् ॥३५॥

रथियों की सेना को छोड़कर श्वेत घोड़ोंवाले अर्जुन जब दूसरी ओर चल दिये, तब उनका अभिप्राय जानकर कृपाचार्य बोले—

नैषोऽन्तरेण राजानं बीभत्सुः स्थातुमिच्छति।
तस्य पार्ष्णिं ग्रहीष्यामो जवेनाभिप्रयास्यतः ॥३६॥

"ये अर्जुन राजा दुर्योधन के बिना ठहरना नहीं चाहते, अतः बड़े वेग से उधर ही जा रहे हैं। आओ, हम लोग शीघ्र चलकर इनका पीछा करें।

किं नो गावः करिष्यन्ति धनं वा विपुलं तथा।
दुर्योधनः पार्थजले पुरा नौरिव मज्जति ॥३७॥

ये गौएँ अथवा प्रभूत धन हमें क्या लाभ देंगे? राजा दुर्योधन पार्थरूपी जल में जीर्ण [पुरानी] नौका की भाँति डूबना चाहता है।

तथैव गत्वा बीभत्सुर्नाम विश्राव्य चात्मनः।
शलभैरिव तां सेनां शरैः शीघ्रमवाकिरत् ॥३८॥

उधर अर्जुन ने दुर्योधन के पास पहुँचकर और उच्च स्वर से अपना नाम सुनाकर बड़ी शीघ्रता से कौरव सेना पर टिड्डी दल की भाँति असंख्य बाणों की वर्षा आरम्भ कर दी।

तेषामापततां युद्धे नापयानेऽभवन्मतिः।
शीघ्रत्वमेव पार्थस्य पूजयन्ति स्म चेतसा ॥३९॥

युद्ध में बाणों की मार खाकर कौरव धराशायी होते जा रहे थे, परन्तु उनका मन वहाँ से भागने को नहीं होता था। वे मन-ही-मन अर्जुन की स्फूर्ति की सराहना करते थे।

ततः शंखं प्रदध्मौ स द्विषतां लोमहर्षणम्।
तस्य शंखस्य शब्देन रथनेमिस्वनेन च ॥४०॥
ऊर्ध्वं पुच्छान् विधुन्वाना रेभमाणाः समन्ततः।
गावः प्रतिन्यवर्तन्त दिशमास्थाय दक्षिणाम् ॥४१॥

तत्पश्चात् पार्थ ने अपना वह शंख बजाया, जो शत्रुओं के रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। अर्जुन के उस शंखनाद और रथ के पहियों की घर्घराहट से गौएँ ऊपर को पूँछ उठाकर उन्हें हिलातीं और रँभाती

हुईं सब ओर से लौट पड़ीं तथा दक्षिण दिशा की ओर भाग चलीं।

ततः प्रहस्य बीभत्सुः कौन्तेयः श्वेतवाहनः।
दिव्यमस्त्रं प्रकुर्वाणः प्रत्यायाद् रथसत्तमः ॥४२॥

तत्पश्चात् श्वेत घोड़ोंवाले श्रेष्ठ रथ पर आरूढ़ कुन्तीपुत्र अर्जुन ने हँसकर दिव्यास्त्र प्रकट करते हुए उस सेना का सामना किया।

स तु द्रोणं त्रिसप्तत्या क्षुरप्राणां समार्पयत्।
दुःसहं दशभिर्बाणैर्द्रौणिमष्टाभिरेव च ॥४३॥
दुःशासनं द्वादशभिः कृपं शारद्वतं त्रिभिः।
भीष्मं शान्तनवं षष्ठ्या राजानं वै शतेन च।
कर्णं च कर्णिना कर्णे विव्याध परवीरहा ॥४४॥

उन्होंने द्रोणाचार्य को तिहत्तर, दुःसह को दस, अश्वत्थामा को आठ, दुःशासन को बारह, शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य को तीन, शान्तनुनन्दन भीष्म को साठ तथा राजा दुर्योधन को सौ क्षुरप्र नामवाले बाणों से घायल किया। तत्पश्चात् शत्रुवीरों का हनन करनेवाले अर्जुन ने कर्ण के कान में कर्णी नामक बाण मारकर उसे बींध डाला।

तस्मिन् विद्धे महेष्वासे कर्णे सर्वास्त्रकोविदे।
हताश्वसूते विरथे ततोऽनीकमभज्यत ॥४५॥

सम्पूर्ण अस्त्रों के ज्ञाता महाधनुर्धर सुप्रसिद्ध कर्ण के घायल होने तथा उसके घोड़े और सारथि के मारे जाने और रथ के नष्ट हो जाने पर सारी सेना में भगदड़ मच गई।

इति महाभारते विराटपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

अर्जुन द्वारा समस्त कौरव महारथियों की पराजय, उत्तर का कौरव योद्धाओं के वस्त्र उतारना, विजयी अर्जुन और उत्तर का राजधानी की ओर लौटना

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनः कर्णो दुःशासनविविंशतिः।
द्रोणश्च सहपुत्रेण कृपश्चापि महारथः ॥१॥
पुनर्ययुश्च संरब्धा धनञ्जयजिघांसवः।
विस्फारयन्तश्चापानि बलवन्ति दृढानि च ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! सेना में भगदड़ मचने पर दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन, विविंशति, पुत्रसहित आचार्य द्रोण और महारथी कृपाचार्य—ये सब योद्धा रोष में भरकर अर्जुन को मार डालने की इच्छा से अपने शक्तिशाली और दृढ़ धनुषों की टंकार करते हुए उनपर पुनः चढ़ आये।

तान् विकीर्णपताकेन रथेनादित्यवर्चसा।
प्रत्युद्ययौ महाराज समन्ताद् वानरध्वजः ॥३॥

महाराज! तब वानरध्वजावाले अर्जुन भी सूर्य के समान दीप्त तथा लहराती हुई पताका से सुशोभित रथ के द्वारा सब ओर से उनका सामना करने के लिए आगे बढ़े।

ततः कृपश्च कर्णश्च द्रोणश्च रथिनां वरः।
तं महास्त्रैर्महावीर्यं परिवार्य धनञ्जयम् ॥४॥
शरौघान् सम्यगस्यन्तो जीमूता इव वार्षिकाः।
ववर्षुः शरवर्षाणि पातयन्तो धनञ्जयम् ॥५॥

यह देख कृपाचार्य, कर्ण तथा रथियों में श्रेष्ठ आचार्य द्रोण—ये महापराक्रमी अर्जुन को चारों ओर से घेरकर अपने महान् धनुषों से उनपर बाणों का जमकर प्रहार करने लगे। वे तीनों महारथी धनञ्जय को मार गिराने की इच्छा से वर्षाकाल के मेघों की भाँति सायकों की वर्षा कर रहे थे।

ततः प्रहस्य बीभत्सुर्दिव्यमैन्द्रं महारथः।
अस्त्रमादित्यसङ्काशं गाण्डीवे समयोजयत् ॥६॥

तब महारथी अर्जुन ने हँसकर गाण्डीव धनुष पर सूर्य के समान तेजस्वी दिव्य ऐन्द्रास्त्र का संधान किया।

नागाश्च रथिनः सर्वे मुमुहुस्तत्र भारत।
संग्रामे विमुखाः सर्वे योधास्ते हतचेतसः ॥७॥

हे जनमेजय! उस अस्त्र के प्रभाव से गजारूढ़ और रथी आदि सब सैनिक मूर्च्छित हो रहे थे और

तभी सब योद्धाओं ने हतोत्साह होकर युद्ध से मुंह मोड़ लिया।

तदा सर्वाणि सैन्यानि भग्नानि भरतर्षभ।
व्यद्रवन्त दिशः सर्वा निराशानि स्वजीविते ॥८॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! तब सारी सेना का व्यूह टूट गया। सब सैनिक अपने जीवन से निराश होकर चारों दिशाओं में भागने लगे।

ततः शान्तनवो भीष्मो भरतानां पितामहः।
वध्यमानेषु योधेषु धनञ्जयमुपाद्रवत् ॥९॥

तब भरतवंश के सुप्रसिद्ध वीर शान्तनुनन्दन भीष्म पितामह अपने पक्ष के योद्धाओं का संहार होते देख अर्जुन की ओर दौड़े।

तमुदीक्ष्य समायान्तं कौन्तेयः परवीरहा।
प्रत्यगृह्णात् प्रहृष्टात्मा धाराधरमिवाचलः ॥१०॥

शत्रुनाशक कुन्तीपुत्र अर्जुन ने भीष्म को आते देख प्रसन्नचित्त होकर उसी प्रकार उनका सामना किया जैसे पर्वत अविचल भाव से खड़ा रहकर जल बरसानेवाले मेघ का आघात सहन करता है।

तयोस्तदभवद् युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
भीष्मस्य सह पार्थेन बलिवासवयोरिव ॥११॥

उन दोनों का वह तुमुल युद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। पार्थ के साथ भीष्म का वह संग्राम बलि और इन्द्र के युद्ध के समान था।

प्रैक्षन्त कुरवः सर्वे योधाश्च सहसैनिकाः।
भल्लैर्भल्लाः समागम्य भीष्मपाण्डवयोर्युधि।
अन्तरिक्षे व्यराजन्त खद्योताः प्रावृषीव हि ॥१२॥

समस्त कौरव-योद्धा अपने सैनिकों के साथ खड़े-खड़े तमाशा देखने लगे। रणक्षेत्र में भीष्म और अर्जुन के भल्ल एक-दूसरे से टकराकर वर्षाकाल के आकाश में जुगनुओं की भाँति चमक उठते थे।

प्राजापत्यं तथैवैन्द्रमाग्नेयं रौद्रदारुणम्।
कौबेरं वारुणं चैव याम्यं वायव्यमेव च।
प्रयुञ्जानौ महात्मानौ समरे तौ विचेरतुः ॥१३॥

प्राजापत्य, ऐन्द्र, आग्नेय, भयंकर रौद्र, कौबेर, वारुण, याम्य तथा वायव्य अस्त्रों का प्रयोग करते हुए वे दोनों महापुरुष समरभूमि में विचर रहे थे।

विस्मितान्यथ भूतानि तौ दृष्ट्वा संयुगे तदा।
साधु पार्थ महाबाहो साधु भीष्मेति चाब्रुवन् ॥१४॥

उस समय युद्ध में उन दोनों की ओर देखकर सब प्राणी—सैनिक आश्चर्यचकित होकर बोल उठते थे—"महाबाहो पार्थ ! धन्य है। महाबाहो भीष्म ! वाह-वाह !"

एवं सर्वास्त्रविदुषोरस्त्रयुद्धमवर्तत।
अस्त्रयुद्धे तु निर्वृत्ते शरयुद्धमवर्तत ॥१५॥

इस प्रकार सम्पूर्ण अस्त्रों के ज्ञाता भीष्म और अर्जुन में कुछ समय तक भयंकर दिव्यास्त्रों का युद्ध चलता रहा। उसके समाप्त हो जाने पर पुनः बाणयुद्ध आरम्भ हुआ।

अथ जिष्णुरुपावृत्य क्षुरधारेण कार्मुकम्।
चकर्त स हि भीष्मस्य जातरूपपरिष्कृतम् ॥१६॥

तत्पश्चात् विजयशील अर्जुन ने निकट आकर छुरे के समान धारवाले एक बाण से भीष्म के सुवर्ण-भूषित धनुष को काट डाला।

निमेषान्तरमात्रेण भीष्मोऽन्यत् कार्मुकं रणे।
समादाय महाबाहुः सज्यं चक्रे महारथः।
शरांश्च सुबहून् क्रुद्धो मुमोचाशु धनञ्जये ॥१७॥

महाबाहु महारथी भीष्म ने भी पलक मारते-मारते उस युद्ध में दूसरा धनुष ले उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और क्रोध में भरकर धनञ्जय पर बहुत से बाणों का प्रहार किया।

अर्जुनोऽपि शरांस्तीक्ष्णान्भीष्माय निशितान्बहून्।
चिक्षेप सुमहातेजास्तथा भीष्मश्च पाण्डवे ॥१८॥

तब महातेजस्वी अर्जुन ने भी भीष्म पर बहुत-से पैने बाण फेंके और भीष्म ने भी पाण्डुपुत्र को अनेक तीखे बाण मारे।

अतीव पाण्डवो भीष्मं भीष्मश्चातीव पाण्डवम्।
बभूव तस्मिन् संग्रामे राजंल्लोके तदद्भुतम् ॥१९॥

हे राजा जनमेजय ! उस युद्ध में कभी पाण्डुपुत्र अर्जुन भीष्म से आगे बढ़ जाते थे, तो कभी भीष्म ही अर्जुन को लाँघ जाते थे। लोक में यह एक अद्भुत-सी बात थी।

ततः शान्तनवो भीष्मो वामं पार्श्वमताडयत्।
पश्यतः प्रतिसंधाय विध्यतः सव्यसाचिनः ॥२०॥

तदनन्तर शान्तनुनन्दन भीष्म ने [कौरव सेना

को] वींधनेवाले सव्यसाची अर्जुन के देखते-देखते बाण-सन्धान करके उनके बायें पार्श्व को वींध डाला।

ततः प्रहस्य बीभत्सुः पृथुधारेण कार्मुकम्।
चिच्छेद गार्ध्रपत्रेण भीष्मस्यादित्यतेजसः ॥२१॥

तब अर्जुन ने भी हँसकर मोटी धार एवं गीध के पंखवाले बाण से सूर्य के समान तेजस्वी भीष्म का धनुष फिर काट दिया।

अथैनं दशभिर्बाणैः प्रत्यविध्यत् सुवक्षसि।
यतमानं पराक्रान्तं कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥२२॥

तत्पश्चात् कुन्तीपुत्र धनञ्जय ने विजय के लिए प्रयत्नशील भीष्म की छाती में दस तीक्ष्ण बाण मारकर गहरी चोट पहुँचाई।

स पीडितो महाबाहुर्गृहीत्वा रथकूबरम्।
गाङ्गेयो युद्धदुर्धर्षस्तस्थौ दीर्घमिवान्तरम् ॥२३॥

इन बाणों से पीड़ित हो रणदुर्धर्ष वीर महाबाहु भीष्म रथ का कूबर पकड़कर बहुत देर तक निश्चेष्ट बैठे रह गये।

तं विसंज्ञमपोवाह संयन्ता रथवाजिनाम्।
उपदेशमनुस्मृत्य रक्षमाणो महारथम् ॥२४॥

वे बेहोश थे। 'ऐसी अवस्था में सारथि को रथी की रक्षा करनी चाहिए'—इस उपदेश का स्मरण करके महारथी भीष्म की प्राण-रक्षा के उद्देश्य से उनके रथ और घोड़ों को वश में रखनेवाला सारथि उन्हें संग्राम-भूमि से बाहर हटा ले गया।

भीष्मे तु संग्रामशिरो विहाय
पलायमाने धृतराष्ट्रपुत्रः।
उपसृज्य केतुं विनदन् महात्मा
धनुर्विगृह्यार्जुनमाससाद ॥२५॥

हे जनमेजय! जब भीष्मजी युद्ध-क्षेत्र [स्थल] छोड़ दूर हट गये, तब धृतराष्ट्रपुत्र महामना दुर्योधन अपने रथ की पताका फहराकर हाथ में धनुष ले सिंहनाद करता हुआ अर्जुन पर चढ़ आया।

स भीमधन्वानमुदग्रवीर्यं
धनञ्जयं शत्रुगणे चरन्तम्।
आकर्णपूर्णायतप्रेरितेन
विव्याध भल्लेन ललाटमध्ये ॥२६॥

उस समय भयंकर धनुषधारी, प्रचण्ड पराक्रमी अर्जुन शत्रुसेना में विचर रहे थे। दुर्योधन ने धनुष को कान तक खींचकर छोड़े हुए भल्ल नामक बाण से उनके ललाट में गहरी चोट पहुँचाई।

दुर्योधनश्चापि तमुग्रतेजाः
पार्थश्च दुर्योधनमेकवीरः।
अन्योन्यमाजौ पुरुषप्रवीरौ
समौ समाजग्मतुराजमीढौ ॥२७॥

तत्पश्चात् उग्र तेजस्वी अद्वितीय वीर अर्जुन ने दुर्योधन पर तथा दुर्योधन ने अर्जुन पर आक्रमण किया। अजमीढवंशीय वे दोनों प्रमुख वीर एकसमान पराक्रमी थे। उन्होंने संग्राम में एक-दूसरे पर बड़े वेग से धावा किया।

ततः प्रभिन्नेन महागजेन
महीधराभेन पुनर्विकर्णः।
रथैश्चतुर्भिर्गजपादरक्षैः
कुन्तीसुतं जिष्णुमथाभ्यधावत् ॥२८॥

उसी समय विकर्ण एक पर्वतकार विशाल गजराज पर, जिसके मस्तक से मद चू रहा था, चढ़कर पुनः कुन्तीपुत्र जिष्णु=अर्जुन पर चढ़ आया। उसके साथ चार रथारोही योद्धा भी थे, जो हाथी के चारों पैरों की रक्षा करते थे।

तमापतन्तं त्वरितं गजेन्द्रं
धनञ्जयः कुम्भविभागमध्ये।
आकर्णपूर्णेन महायसेन
बाणेन विव्याध महाजवेन ॥२९॥

उस गजराज को तीव्र गति से अपनी ओर आते देख धनञ्जय ने धनुष को कान तक खींचकर चलाये हुए लोहे के अत्यन्त वेगशाली बाण द्वारा उसके कुम्भस्थल को वींध डाला।

शरप्रतप्तः स तु नागराजः
प्रवेपिताङ्गो व्यथितान्तरात्मा।
संसीदमानो निपपात मह्यां
वज्राहतं शृङ्गमिवाचलस्य ॥३०॥

वह गजराज अर्जुन के बाण से सन्तप्त हो गया। उसकी अन्तरात्मा व्यथित हो गई और सारा शरीर काँपने लगा। जैसे वज्र का मारा हुआ पर्वतशिखर ढह जाता है, वैसे ही वह नागराज शिथिल होकर

धराशायी हो गया ।

दृष्ट्वैव पार्थेन हतं च नागं
योधाँश्च सर्वान् द्रवतो निशम्य ।
रथं समावृत्य कुरुप्रवीरो
रणात् प्रदुद्राव यतो न पार्थः ॥३१॥

अर्जुन के द्वारा गजराज मारा गया और समस्त योद्धा भी युद्ध छोड़कर भाग रहे हैं, यह देखकर कुरुवंश का प्रमुख वीर दुर्योधन भी, जिस ओर अर्जुन नहीं थे, उसी दिशा में रथ घुमाकर भागा ।

तं भीमरूपं त्वरितं द्रवन्तं
दुर्योधनं शत्रुसहोऽभिषङ्गात् ।
प्रास्फोटयद् योद्धुमनाः किरीटी
बाणेन विद्धं रुधिरं वमन्तम् ॥३२॥

उस समय दुर्योधन का रूप विकराल हो रहा था। वह परास्त होकर बाण से घायल हो रक्त-वमन करता हुआ भागा जा रहा था। यह देखकर शत्रु का वेग सहन करनेवाले किरीटधारी अर्जुन ने ताल ठोकी और मन में युद्ध के लिए उत्साह रखते हुए शत्रु को ललकारा—

अर्जुन उवाच

विहाय कीर्ति विपुलं यशश्च
युद्धात् परावृत्य पलायसे किम् ।
न तेऽद्य तूर्याणि समाहितानि
नरेन्द्रवृत्तं स्मर धार्तराष्ट्र ॥३३॥

अर्जुन बोले—हे धृतराष्ट्रपुत्र ! तू युद्ध से पीठ दिखाकर क्यों भागा जा रहा है ? अरे ! ऐसा करके तू अपनी कीर्ति और महान् यश से हाथ धो बैठा है। आज तेरी विजय के बाजे पहले जैसे नहीं बज रहे हैं। राजा का आचार और व्यवहार कैसा होना चाहिए, इसका तो स्मरण कर ।

मोघं तवेदं भुवि नामधेयं
दुर्योधनो नाम कृतं पुरस्तात् ।
न हीह दुर्योधनता तवास्ति
पलायमानस्य रणं विहाय ॥३४॥

व्यर्थ ही इस पृथिवी पर तेरा नाम दुर्योधन रखा गया। तू तो युद्ध छोड़कर भागा जा रहा है, अतः यहाँ तुझमें दुर्योधन नाम के अनुरूप कोई गुण नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

आहूयमानश्च स तेन संख्ये
महात्मना वै धृतराष्ट्रपुत्रः ।
निर्वर्तितस्तस्य गिराङ्कुशेन
महागजो मत्त इवाङ्कुशेन ॥३५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! महात्मा अर्जुन ने जब इस प्रकार युद्ध के लिए ललकारा, तब धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन अंकुश की चोट खाये हुए मतवाले गजराज की भाँति उनके कटुवचनरूपी अंकुश से पीड़ित होकर पुनः युद्ध के लिए लौट पड़ा ।

तं प्रेक्ष्य कर्णः परिवर्तमानं
निवर्त्य संस्तभ्य च विद्धगात्रम् ।
दुर्योधनस्योत्तरतोऽभ्यगच्छत्
पार्थं नृवीरो युधि हेममाली ॥३६॥

दुर्योधन को लौटते देख कर्ण भी अपने घायल शरीर को किसी प्रकार सँभालकर लौट पड़ा और उसके उत्तर [वाम] भाग में रहकर युद्धभूमि में पार्थ का सामना करने के लिए चला। नरवीर कर्ण स्वर्णमाला से सुशोभित था।

भीष्मस्ततः शान्तनवो विवृत्य
हिरण्यकक्षस्त्वरयाभिसङ्गी ।
दुर्योधनं पश्चिमतोऽभ्यरक्षत्
पार्थान्महाबाहुरधिज्यधन्वा ॥३७॥

उधर सुनहरे रंग की चादर ओढ़े शान्तनुनन्दन भीष्म भी बड़े वेग से रथ घुमाकर वहाँ आ पहुँचे। वे शत्रु को पराजित करने में समर्थ थे। महाबाहु भीष्म धनुष की डोरी चढ़ाकर पश्चिम=पीछे की ओर से पार्थ के आक्रमणों से दुर्योधन की रक्षा करने लगे।

द्रोणः कृपश्चैव विविंशतिश्च
दुःशासनश्चैव विवृत्य शीघ्रम् ।
सर्वे पुरस्ताद् विततोरुचापा
दुर्योधनार्थं त्वरिताऽभ्युपेयुः ॥३८॥

द्रोण, कृपाचार्य, विविंशति और दुःशासन भी शीघ्र ही घूमकर उधर आ गये। वे सब अपने विशाल धनुषों को ताने हुए पूर्व=सामने की ओर से दुर्योधन की रक्षा के लिए बड़ी उतावली के साथ आये थे।

ते सर्वतः सम्परिवार्य पार्थ-
मस्त्राणि दिव्यानि समाददानाः ।
ववर्षुरभ्येत्य शरैः समन्ता-
न्मेघा यथा भूधरमम्बुवर्गैः ॥३९॥

दिव्यास्त्र धारण करनेवाले उन सब योद्धाओं ने अर्जुन को चारों ओर से घेर लिया और जैसे बादल पर्वत पर सब ओर से पानी बरसाते हैं, उसी प्रकार वे निकट आकर उनपर बाणों की वर्षा करने लगे।

ततोऽस्त्रमस्त्रेण निवार्य तेषां
गाण्डीवधन्वा कुरुपुङ्गवानाम् ।
सम्मोहनं शत्रुसहोऽन्यदस्त्रं
प्रादुश्चकारैन्द्रिरपारणीयम् ॥४०॥

नव शत्रुओं का वेग सहन करनेवाले इन्द्रपुत्र गाण्डीवधारी अर्जुन ने अपने अस्त्र से कौरव दल के उन श्रेष्ठ वीरों के अस्त्रों का निवारण करके सम्मोहन नामक दूसरा अस्त्र प्रकट किया, जिसका निवारण करना किसी के लिए भी सम्भव नहीं था।

ततो दिशश्चानुदिशो विवृत्य
शरैः सुधारैर्निशितैः सुपत्रैः ।
गाण्डीवघोषेण मनांसि तेषां
महाबलः प्रव्यथयाञ्चकार ॥४१॥

फिर तो महाबली अर्जुन ने सुन्दर पंख और पैनी धारवाले बाणों द्वारा समस्त दिशाओं और दिक्कोणों को आच्छादित करके गाण्डीव धनुष की भयंकर टंकार से कौरव-योद्धाओं के हृदय में भारी व्यथा उत्पन्न कर दी।

ततः पुनर्भीमरवं प्रगृह्य
दोर्भ्यां महाशंखमुदारघोषम् ।
व्यनादयत् स प्रदिशो दिशः खं
भुवं च पार्थो द्विषतां निहन्ता ॥४२॥

तत्पश्चात् शत्रुनाशक कुन्तीपुत्र अर्जुन ने भयंकर शब्द करनेवाले अपने प्रचण्ड शंख को, जिसकी ध्वनि बहुत दूर तक सुनाई देती थी, दोनों हाथों से थामकर बजाया। उसकी ध्वनि सम्पूर्ण दिशा-विदिशाओं, आकाश तथा पृथिवी में सब ओर गूँज उठी।

ते शंखनादेन कुरुप्रवीराः
सम्मोहिताः पार्थसमीरितेन ।
उत्सृज्य चापानि दुरासदानि
सर्वे तदा शान्तिपरा बभूवुः ॥४३॥

अर्जुन के बजाये हुए उस शंख की ध्वनि से समस्त कौरव वीर मोहित=मूर्च्छित हो गये तथा अपने दुर्लभ धनुषों को त्यागकर सबके सब गहरी शान्ति=बेहोशी में डूब गये।

तथा विसंज्ञेषु च तेषु पार्थः
स्मृत्वा च वाक्यानि तथोत्तरायाः ।
निर्याहि मध्यादिति मत्स्यपुत्र-
मुवाच यावत् कुरवो विसंज्ञाः ॥४४॥
आचार्यशारद्वतयोः सुशुक्ले
कर्णस्य पीतं रुचिरं च वस्त्रम् ।
द्रौणेश्च राज्ञश्च तथैव नीले
वस्त्रे समादत्स्व नरप्रवीर ॥४५॥

उन कौरव महारथियों के मूर्च्छित हो जाने पर अर्जुन को उत्तरा की कही हुई बातें स्मरण हो आईं, अतः उन्होंने मत्स्यराज के पुत्र से कहा—"नरवीर! जबतक ये कौरव होश में आएँ, उससे पूर्व ही सेना के बीच से निकल जाओ और आचार्य द्रोण और कृपाचार्य के शरीर पर जो श्वेत वस्त्र सुशोभित हैं, कर्ण के अङ्गों पर जो पीले रंग का वस्त्र है, अश्वत्थामा एवं राजा दुर्योधन के शरीर पर जो नीले रंग के वस्त्र हैं, उन सबको उतार लो।

भीष्मस्य संज्ञां तु तथैव मन्ये
जानाति सोऽस्त्र प्रतिघातमस्य ।
एतस्य वाहान् कुरु सव्यतस्त्व-
मेवं हि यातव्यममूढसंज्ञैः ॥४६॥

"मेरे विचार में, पितामह भीष्म को होश बना हुआ है, क्योंकि वे इस सम्मोहन अस्त्र के निवारण की विधि जानते हैं। तुम उनके घोड़ों को बाईं ओर छोड़कर जाना, क्योंकि जो बेहोश न हों, ऐसे वीरों के निकट से जाना हो, तो इसी प्रकार जाना चाहिए।"

रश्मीन् समुत्सृज्य ततो महात्मा
रथादवप्लुत्य विराटपुत्रः ।
वस्त्राण्युपादाय महारथानां
तूर्णं पुनः स्वं रथमारुरोह ॥४७॥

तब महामना विराटपुत्र घोड़ों की रास छोड़कर रथ से कूद पड़ा तथा उन महारथियों के कपड़े लेकर फिर शीघ्र ही अपने रथ पर आ चढ़ा।

लब्ध्वा हि संज्ञां तु कुरुप्रवीराः
पार्थं निरीक्ष्याथ सुरेन्द्रकल्पम्।
रणाद् विमुक्तं स्थितमेकमाजौ
स धार्तराष्ट्रस्त्वरितं बभाषे ॥४८॥

थोड़ी देर पश्चात् होश में आने पर कौरव वीरों ने देखा, देवराज इन्द्र के समान पराक्रमी कुन्तीपुत्र अर्जुन युद्ध में रथों के घेरे से बाहर हो अकेले खड़े हैं। उन्हें इस अवस्था में देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन तुरन्त बोल उठा—

अयं कथं वै भवतो विमुक्त-
स्तथा प्रमथ्नीत यथा न मुच्येत्।
तमब्रवीच्छान्तनवः प्रहस्य
क्व ते गता बुद्धिरभूत् क्व वीर्यम् ॥४९
शान्ति परां प्राप्य यदा स्थितोऽभू-
रुत्सृज्य बाणांश्च धनुर्विचित्रम्।
न त्वेष बीभत्सुरलं नृशंसं
कर्तुं न पापेऽस्य मनो निविष्टम् ॥५०॥
त्रैलोक्यहेतोर्न जहेत् स्वधर्मं
सर्वे न तस्मान्निहता रणेऽस्मिन्।
क्षिप्रं कुरून् याहि कुरुप्रवीर
विजित्य गाश्च प्रतियातु पार्थः ॥५१

"पितामह! यह अर्जुन आपके हाथ से कैसे बच गया? आप इसे इस प्रकार मथ डालिए, जिससे यह छूटने न पाये।" तब भीष्म ने हँसकर दुर्योधन से कहा—"राजन्! जब तू अपने विचित्र धनुष और बाणों को त्यागकर बेहोश पड़ा था, उस समय तेरी बुद्धि कहाँ गई थी और पराक्रम कहाँ था? ये अर्जुन कभी निर्दयता का व्यवहार नहीं कर सकते। इनका मन कभी पाप में प्रवृत्त नहीं होता। ये तीनों लोकों के राज्य के लिए भी अपना धर्म नहीं छोड़ सकते। यही कारण है कि इन्होंने युद्ध में हम सबके प्राण नहीं लिये। कुरुकुल के प्रमुख वीर! अब तू शीघ्र ही कुरुदेश को लौट चल। अर्जुन भी गायों को जीतकर लौट जाएँ।"

तद् भीष्मवाक्यं हितमीक्ष्य सर्वे
धनञ्जयाग्निं च विवर्धमानम्।
निवर्तनायैव मनो निदध्यु-
र्दुर्योधनं ते परिरक्षमाणाः ॥५२॥

सब योद्धाओं को भीष्मजी का वह कथन हितकर जान पड़ा। धनञ्जयरूपी अग्नि को उत्तरोत्तर प्रचण्डरूप धारण करते देख, उन सबने दुर्योधन की रक्षा करते हुए अपने देश को लौट जाने का ही निश्चय किया।

दृष्ट्वा प्रयातांस्तु कुरून् किरीटी
हृष्टोऽब्रवीत् तत्र स मत्स्यपुत्रम्।
आवर्तयाश्वान् पशवो जितास्ते
याताः परे याहि पुरं प्रहृष्टः ॥५३॥

कौरव चले गये, यह देखकर किरीटधारी अर्जुन अति हर्षित हुए। उन्होंने मत्स्यनरेश के पुत्र उत्तर से कहा—"राजकुमार! अब घोड़ों को लौटा लो। तुम्हारी गौओं को जीत लिया गया और शत्रु भाग गये, अतः अब तुम आनन्दपूर्वक नगर की ओर चलो।"

स शत्रुसेनां सुविजित्य जिष्णु-
राच्छिद्य सर्वं च धनं कुरुभ्यः।
श्मशानमागत्य पुनः शमीं ता-
मभ्येत्य तस्थौ शरविक्षताङ्गः ॥५४॥

विजयशील अर्जुन शत्रुसेना को परास्त करके तथा कौरव सेना के हाथ से सारा गोधन छीन लेने के पश्चात् पुनः श्मशानभूमि में उसी शमीवृक्ष के समीप आकर खड़े हुए। उस समय उनके सभी अङ्ग बाणों के आघात से क्षत-विक्षत हो रहे थे।

विधाय तच्चायुधमाजिवर्धनं
कुरूत्तमानामिषुधीः शरांस्तथा।
प्रायात् स मत्स्यो नगरं सुप्रेरितः
किरीटिना सारथिना महामनाः ॥५५॥

कुरुकुल-शिरोमणि पाण्डवों के युद्धक्षमता-वर्धक आयुधों, तरकसों और बाणों को पुनः पूर्ववत् शमी-वृक्ष पर रखकर मत्स्यकुमार उत्तर महात्मा अर्जुन को सारथि बना उनके साथ प्रसन्नतापूर्वक नगर को चला।

इति महाभारते विराटपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

राजा विराट की उत्तर के विषय में चिन्ता, विजयी उत्तर का नगर में प्रवेश, प्रजा द्वारा उसका स्वागत, विराट द्वारा युधिष्ठिर का तिरस्कार और क्षमाप्रार्थना तथा उत्तर से युद्ध के विषय में बातचीत

वैशम्पायन उवाच

धनं चापि विजित्याशु विराटो वाहिनीपतिः।
विवेश नगरं हृष्टश्चतुर्भिः पाण्डवैः सह ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सेनाओं के स्वामी राजा विराट ने [दक्षिण गोष्ठ की] गौओं को जीतकर शीघ्र ही चारों पाण्डवों के साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक नगर में प्रवेश किया।

उपतस्थुः प्रकृतयः समस्ता ब्राह्मणैः सह।
सभाजितः ससैन्यस्तु प्रतिनन्द्याथ मत्स्यराट् ॥२॥

उनके नगर में प्रविष्ट होने पर ब्राह्मणोंसहित समस्त प्रजावर्ग के लोग उपस्थित हुए। सबने सेना-सहित मत्स्यराज का अभिनन्दन एवं स्वागत-सत्कार किया।

तदा विसर्जयामास द्विजाँश्च प्रकृतीस्तथा।
तथा स राजा मत्स्यानां विराटो वाहिनीपतिः ॥३॥
उत्तरं परिपप्रच्छ क्व यात इति चाब्रवीत्।
आचख्युस्तस्य तत्सर्वं स्त्रियः कन्याश्च वेश्मनि ॥४॥

स्वागत-सत्कार के पश्चात् मत्स्यदेश के राजा सेनाओं के स्वामी विराट ने ब्राह्मणों तथा प्रजावर्ग के लोगों को विदा कर दिया और अन्तःपुर में जाकर उत्तर के विषय में पूछा—"राजकुमार उत्तर कहाँ गये हैं?" तब घर में रहनेवाली स्त्रियों और कन्याओं ने उन्हें सब बातें बताईं।

अन्तः पुरचराश्चैव कुरुभिर्गोधनं हृतम्।
विजेतुमभिसंरब्ध एक एवातिसाहसात्।
बृहन्नलासहायश्च निर्गतः पृथिवीञ्जयः ॥५॥

अन्तःपुर में रहनेवाली स्त्रियों ने बताया कि "कौरवों ने हमारे गोष्ठ का गोधन हर लिया है, अतः कुमार भूमिजय अत्यन्त साहस के कारण क्रोध में भरकर अकेले ही उन गौओं को जीत लाने के लिए बृहन्नला के साथ गये हैं।

उपयातानतिरथान् भीष्मं शान्तनवं कृपम्।
कर्णं दुर्योधनं द्रोणं द्रोणपुत्रं च षड्रथान् ॥६॥

"सुना है, शान्तनुनन्दन भीष्म, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, द्रोणाचार्य तथा द्रोणपुत्र अश्वत्थामा—ये छह अतिरथी वीर युद्ध के लिए आये हैं।"

राजा विराटोऽथ भृशं प्रतप्तः
श्रुत्वा सुतं त्वेकरथेन यातम्।
बृहन्नलासारथिमाजिमुख्यम्
प्रोवाच सर्वानथ मन्त्रिमुख्यान् ॥७॥

जनमेजय! युद्ध में आगे बढ़नेवाले अपने पुत्र को बृहन्नला सारथि के साथ एकमात्र रथ की सहायता से कौरवों का सामना करने के लिए गया हुआ सुनकर राज विराट अति संतप्त हुए। उन्होंने अपने सभी प्रमुख मन्त्रियों से कहा—

कुमारमाशु जानीत यदि जीवति वा न वा।
यस्य यन्ता गतः षण्ढो मन्येऽहं स न जीवति ॥८॥

"जाओ, शीघ्र पता लगाओ, कुमार जीवित हैं, या नहीं। एक हिजड़ा जिसका सारथि बनकर गया है, मेरे विचार में वह जीवित नहीं बचा होगा।"

तमब्रवीद् धर्मराजो विहस्य
विराटराजं तु भृशं प्रतप्तम्।
बृहन्नला तस्य रथस्य यन्ता
परे न नेष्यन्ति तवाद्य गास्ताः ॥९॥
सर्वान् महीपान् सहितान् कुरूँश्च
तथैव देवासुरसिद्धयक्षान्।
अलं विजेतुं समरे सुतस्ते
स्वनुष्ठितः सारथिना हि तेन ॥१०॥

राजा विराट को अत्यन्त सन्तप्त देखकर धर्मराज युधिष्ठिर ने उनसे हँसकर कहा—"हे नरेन्द्र! यदि बृहन्नला सारथि है तो यह विश्वास रखिए कि शत्रु आज आपकी गौएँ नहीं ले जा सकेंगे। उस हितैषी सारथि के सहयोग से सब कार्य ठीक-ठीक कर लेने पर आपका पुत्र युद्ध में समस्त राजाओं और संगठित होकर आये हुए कौरवों की तो बात ही क्या, देवों, असुरों, सिद्धों और यक्षों पर भी निश्चय ही

विजय पा सकता है ।"

अथोत्तरेण प्रहिता दूतास्ते शीघ्रगामिनः ।
विराटनगरं प्राप्य विजयं च न्यवेदयन् ॥११॥

जिस समय यहाँ ऐसी बातें हो रही थीं, उसी समय उत्तर के भेजे हुए शीघ्रगामी दूतों ने विराट नगर में आकर उसकी विजय की सूचना दी ।

युधिष्ठिर उवाच

दिष्ट्या विनिर्जिता गावः कुरवश्च पलायिताः ।
नाद्भुतं त्वेव मन्येऽहं यत् ते पुत्रोऽजयत् कुरून् ।
ध्रुव एव जयस्तस्य यस्य यन्ता बृहन्नला ॥१२॥

युधिष्ठिर बोले—महाराज ! सौभाग्य की बात है कि गौएँ जीत ली गईं और कौरव भाग गये । आपके पुत्र ने कौरवों पर जो विजय प्राप्त की है, उसे मैं कोई आश्चर्य की बात नहीं मानता, क्योंकि जिसका सारथि महात्मा बृहन्नला हो, उसकी विजय तो निश्चित ही है ।

वैशम्पायन उवाच

ततो विराटो नृपतिः सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
श्रुत्वा स विजयं तस्य कुमारस्यामितौजसः ।
आच्छादयित्वा दूतांस्तान्मन्त्रिणं सोऽभ्यप्रेरयत् ॥१३

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपने अमित पराक्रमी कुमार की विजय का समाचार सुनकर राजा विराट अति हर्षित हुए । उनके सारे शरीर में रोमाञ्च हो आया । उन्होंने वस्त्र और आभूषणों से उन दूतों का सत्कार करके मन्त्रियों को आज्ञा दी—

राजमार्गाः क्रियन्तां मे पताकाभिरलंकृताः ।
वादित्राणि च सर्वाणि प्रत्युद्यान्तु सुतं मम ॥१४॥

"मेरे नगर की सड़कों को ध्वजा-पताकाओं से अलंकृत किया जाए तथा सब प्रकार के बाजे मेरे पुत्र की अगवानी के लिए जाएँ ।

घण्टावान् मानवः शीघ्रं मत्तमारुह्य वारणम् ।
शृङ्गाटकेषु सर्वेषु आख्यातु विजयं मम ॥१५॥
उत्तरा च कुमारीभिर्बह्वीभिः परिवारिता ।
शृङ्गारवेषाभरणा प्रत्युद्यातु सुतं मम ॥१६॥

"एक मनुष्य शीघ्र ही हाथ में घण्टा लेकर मदमस्त गजराज पर बैठ जाए और नगर के सभी चौराहों पर हमारी विजय का संवाद सुनाए । राजकुमारी उत्तरा भी उत्तम शृङ्गार और सुन्दर वेशभूषा से सुशोभित हो अन्य राजकुमारियों के साथ मेरे पुत्र के स्वागत के लिए जाए ।"

प्रस्थाप्य सेनां कन्याश्च वादित्राणां च मण्डलम् ।
मत्स्यराजो महाप्राज्ञः प्रहृष्ट इदमब्रवीत् ॥१७॥

हे राजन् ! सेना, कन्याओं और नाना प्रकार के के वाद्यों को भेजकर परम बुद्धिमान् मत्स्य नरेश आनन्दविभोर होकर इस प्रकार बोले—

अक्षानाहर सैरन्ध्रि कङ्क द्यूतं प्रवर्तताम् ।
तं तथावादिनं दृष्ट्वा पाण्डवः प्रत्यभाषत ॥१८॥

"सैरन्ध्री ! जा, पासे ले आ । हे कङ्क ! जुआ आरम्भ हो ।" उन्हें ऐसा कहते देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर बोले—

न देवितव्यं हृष्टेन कितवेनेति नः श्रुतम् ।
तं त्वामद्य मुदायुक्तं नाहं देवितुमुत्सहे ।
प्रियं तु ते चिकीर्षामि वर्ततां यदि मन्यसे ॥१९॥

"राजन् ! मैंने सुना है, जब चालाक जुआरी अत्यन्त हर्ष में भरा हो, तब उसके साथ जुआ नहीं खेलना चाहिए । आज आप भी अत्यन्त आनन्द में मग्न हैं, अतः आपके साथ जुआ खेलने का साहस नहीं होता, फिर भी आपका प्रिय कार्य तो करना ही चाहता हूँ, अतः आपकी इच्छा हो तो खेल आरम्भ हो सकता है ।"

विराट उवाच

स्त्रियो गावो हिरण्यं च यच्चान्यद्वसु किञ्चन ।
न मे किञ्चित् त्वया रक्ष्यमन्तरेणापि देवितुम् ॥२०॥

विराट बोले—स्त्रियाँ, गौएँ, सुवर्ण तथा अन्य जो कोई भी धन सुरक्षित रखा जाता है, बिना जुए के वह सब कुछ मुझे नहीं चाहिए [मुझे तो जुआ ही सबसे अधिक प्रिय है ।]

कङ्क उवाच

किं ते द्यूतेन राजेन्द्र बहुदोषेण मानद ।
देवने बहवो दोषास्तस्मात्तत् परिवर्जयेत् ॥२१॥

कङ्क ने कहा—सबको मान देनेवाले महाराज ! आपको जुए से क्या लेना है ? इसमें अनेक दोष हैं । जुआ तो अनर्थों की जड़ है, अतः इसे त्याग ही देना चाहिए ।

श्रुतस्ते यदि वा दृष्टः पाण्डवो वै युधिष्ठिरः ।
स राष्ट्रं सुमहत् स्फीतं भ्रातॄंश्च त्रिदशोपमान् ॥२२॥
द्यूते हारितवान् सर्वं तस्माद् द्यूतं न रोचये ।
अथवा मन्यसे राजन् दीव्याम यदि रोचते ॥२३॥

आपने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को देखा होगा अथवा उनका नाम तो अवश्य सुना होगा। वे अपने अत्यन्त समृद्धिशाली राष्ट्र को, देवताओं के समान तेजस्वी भाइयों को तथा समस्त राज्य को भी जुए में हार गये थे, अतः मैं जुआ खेलना पसन्द नहीं करता। राजन्! तो भी यदि आपकी रुचि और आग्रह हो तो हम खेलेंगे ही।

वैशम्पायन उवाच

प्रवर्तमाने द्यूते तु मत्स्यः पाण्डवमब्रवीत् ।
पश्य पुत्रेण मे युद्धे तादृशाः कुरवो जिताः ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! जुए का खेल आरम्भ हो गया। खेलते-खेलते मत्स्यराज ने पाण्डुनन्दन से कहा—"देखो, आज मेरे पुत्र ने युद्ध में प्रसिद्ध कौरवों पर विजय प्राप्त की है।"

ततोऽब्रवीन्महात्मा स एनं राजा युधिष्ठिरः ।
यन्ता बृहन्नला यस्य कथं स न जयेद् युधि ॥२५॥

तब महात्मा राजा युधिष्ठिर ने विराट से कहा—"बृहन्नला जिसका सारथि हो, उसकी युद्ध में विजय क्यों नहीं होगी ?"

इत्युक्तः कुपितो राजा मत्स्यः पाण्डवमब्रवीत् ।
समं पुत्रेण मे षण्ढं ब्रह्मबन्धो प्रशंससि ॥२६॥

यह सुनते ही मत्स्यनरेश कुपित हो उठे और पाण्डुनन्दन से बोले—अधम ब्राह्मण! तू मेरे पुत्र के समान एक हिजड़े की प्रशंसा करता है।

वाच्यावाच्यं न जानीषे नूनं मामवमन्यसे ।
भीष्मद्रोणमुखान्सर्वान् कस्मान्न स विजेष्यति ॥२७॥
वयस्यत्वात् तु ते ब्रह्मन्नपराधमिमं क्षमे ।
नेदृशं तु पुनर्वाच्यं यदि जीवितुमिच्छसि ॥२८॥

"क्या कहना चाहिए और क्या नहीं, तुझे इसका ज्ञान नहीं है। निश्चय ही तू अपनी बातों से मेरा अपमान कर रहा है। भला मेरा पुत्र भीष्म, द्रोण आदि समस्त वीरों को क्यों नहीं जीत लेगा ? ब्रह्मन्! मित्र होने के नाते ही मैं तुम्हारे इस अपराध को क्षमा करता हूँ। यदि जीवन की इच्छा हो तो फिर ऐसी बात मत कहना।"

युधिष्ठिर उवाच

यत्र द्रोणस्तथा भीष्मो द्रौणिर्वैकर्तनः कृपः ।
दुर्योधनश्च राजेन्द्रस्तथान्ये च महारथाः ॥२९॥
मरुद्गणैः परिवृतः साक्षादपि मरुत्पतिः ।
कोऽन्यो बृहन्नलायास्तान् प्रतियुध्येत संगतान् ॥३०॥

युधिष्ठिर बोले—जहाँ द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, राजा दुर्योधन तथा अन्य महारथी उपस्थित हों, वहाँ बृहन्नला के अतिरिक्त दूसरा कौन पुरुष उन सब संगठित वीरों का सामना कर सकता है ? देवताओं से घिरा हुआ साक्षात् इन्द्र भी उनसे लोहा लेने में असमर्थ है।

विराट उवाच

बहुशः प्रतिषिद्धोऽसि न च वाचं नियच्छसि ।
नियन्ता चेन्न विद्येत न कश्चिद् धर्ममाचरेत् ॥३१॥

विराट ने कहा—कङ्क! अनेक बार मना करने पर भी तू अपनी जबान बन्द नहीं कर रहा है। सच है, यदि शासनकर्त्ता राजा न हो तो कोई भी धर्म का आचरण न करे।

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रकुपितो राजा तमक्षेणाहनद् भृशम् ।
मुखे युधिष्ठिरं कोपान्नैवमित्येव भर्त्सयन् ॥३२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इतना कहकर कोप में भरे हुए राजा विराट ने वह पाँसा जोर से युधिष्ठिर के मुख पर दे मारा तथा क्रुद्ध होकर उन्हें डाँटते हुए कहा—"तुम फिर कभी ऐसी बात न कहना।"

बलवत् प्रतिविद्धस्य नस्तः शोणितमावहत् ।
तदप्राप्तं महीं पार्थः पाणिभ्यां प्रत्यगृह्णत ॥३३॥
अवैक्षत स धर्मात्मा द्रौपदीं पार्श्वतः स्थिताम् ।
सा ज्ञात्वा तमभिप्रायं भर्तुश्चित्तवशानुगा ॥३४॥
पात्रं गृहीत्वा सौवर्णं जलपूर्णमनिन्दिता ।
तच्छोणितं प्रत्यगृह्णाद् यत् प्रसुस्राव नस्ततः ॥३५॥

पासे का आघात पूरे जोर से लगा था, अतः युधिष्ठिर की नाक से रक्त की धारा बह निकली, किन्तु धर्मात्मा युधिष्ठिर ने उस रक्त को पृथिवी पर

गिरने से पूर्व ही अपने दोनों हाथों में रोक लिया एवं पास ही खड़ी हुई द्रौपदी की ओर देखा। अपने स्वामी के मन के अधीन रहनेवाली और उनकी अनुगामिनी सती-साध्वी द्रौपदी ने उनका अभिप्राय समझ लिया, अतः जल से भरा हुआ स्वर्णपात्र लाकर, उनकी नाक से बहनेवाले रक्त को उसमें ले लिया।

अथोत्तरः शुभैर्गन्धैर्माल्यैश्च विविधैस्तथा ।
अवकीर्यमाणः संहृष्टो नगरं स्वैरमागतः ॥३६॥

इसी समय राजकुमार उत्तर बड़े हर्ष के साथ स्वच्छन्दतापूर्वक नगर में आये। मार्ग में उन पर उत्तम गन्ध और भाँति-भाँति के पुष्पहार बरसाये जा रहे थे।

सभाज्यमानः पौरैश्च स्त्रीभिर्जानपदैस्तथा ।
आसाद्य भवनद्वारं पित्रे सम्प्रत्यवेदयत् ॥३७॥

मत्स्य देश के सभी नागरिकों, पुरवासियों तथा सुन्दरी स्त्रियों ने उनका स्वागत किया। फिर राजभवन के द्वार पर पहुँचकर उन्होंने पिता को अपने आगमन की सूचना भिजवाई।

ततो द्वाःस्थः प्रविश्यैव विराटमिदमब्रवीत् ।
बृहन्नलासहायश्च पुत्रो द्वार्युत्तरः स्थितः ॥३८॥

तब द्वारपाल ने भीतर जाकर महाराज विराट से कहा—"प्रभो! बृहन्नला के साथ राजकुकार उत्तर द्वार पर खड़े हैं।"

मत्स्यराजस्ततो हृष्टः क्षत्तारमिदमब्रवीत् ।
प्रवेश्यतामुभौ तूर्णं दर्शनेप्सुरहं तयोः ॥३९॥

इस समाचार से प्रसन्न होकर मत्स्यराज अपने सेवक से बोले—"मैं उन दोनों से मिलना चाहता हूँ, अतः उन्हें शीघ्र भीतर ले जाओ।"

क्षत्तारं कुरुराजस्तु शनैः कर्ण उपाजपत् ।
उत्तरः प्रविशत्वेको न प्रवेश्या बृहन्नला ॥४०॥

तब जाते हुए सेवक के कान में युधिष्ठिर ने धीरे से कहा—"पहले अकेले राजकुमार उत्तर ही यहाँ आएँ। बृहन्नला को साथ में मत लाना।

एतस्य हि महाबाहोर्व्रतमेतत् समाहितम् ।
यो ममाङ्गे व्रणं कुर्याच्छोणितं वापि दर्शयेत् ।
अन्यत्र संग्रामगतान्न स जीवेत् कथञ्चन ॥४१॥

"हे महाबाहु! बृहन्नला का यह निश्चित व्रत है कि जो युद्धभूमि के सिवा अन्य किसी स्थान पर मेरे शरीर में घाव कर दे अथवा रक्त बहता दिखा दे, वह किसी प्रकार जीवित नहीं बच सकता।

न मृष्याद् भृशसंक्रुद्धो मां दृष्ट्वा तु सशोणितम् ।
विराटमिह सामात्यं हन्यात् सबलवाहनम् ॥४२॥

"मेरे शरीर से रक्त-स्राव देखकर वह अत्यन्त क्रुद्ध हो उठेगा तथा इस अपराध को क्षमा नहीं करेगा। वह राजा विराट को मन्त्री, सेना और वाहनोंसहित यहीं मार डालेगा।"

ततो राज्ञः सुतो ज्येष्ठः प्राविशत्पृथिवीञ्जयः ।
सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कङ्कं चाप्युपतिष्ठतः ॥४३॥

जनमेजय! तत्पश्चात् राजा विराट के ज्येष्ठ पुत्र भूमिजय [उत्तर] ने भीतर प्रवेश किया और पिता के चरणों में प्रणाम करके कङ्क को भी मस्तक झुकाया।

ततो रुधिरसंयुक्तमनेकाग्रमनागसम् ।
भूमावासीनमेकान्ते सैरन्ध्र्या प्रत्युपस्थितम् ॥४४॥

उसने देखा, कङ्क एकान्त में भूमि पर बैठे हैं। सैरन्ध्री उनकी सेवा में उपस्थित है। उनका मन एकाग्र नहीं है और वे निरपराध हैं, फिर भी उनके शरीर से रक्त वह रहा है।

ततः पप्रच्छ पितरं त्वरमाण इवोत्तरः ।
केनायं ताडितो राजन् केन पापमिदं कृतम् ॥४५॥

तब उत्तर ने बड़ी उतावली के साथ अपने पिता से पूछा—"हे राजन्! इन्हें किसने मारा है? किसने यह पाप किया है?"

विराट उवाच

मयायं ताडितो जिह्मो न चाप्येतावदर्हति ।
प्रशस्यमाने यच्छूरे त्वयि षण्ढं प्रशंसति ॥४६॥

विराट ने कहा—पुत्र! इस कुटिल व्यक्ति को मैंने ही मारा है। यह इतने सम्मान के योग्य कदापि नहीं है। देखो न, जब मैं तुम्हारे शौर्य की प्रशंसा करता हूँ, तब यह उस हिजड़े का गुणगान करने लगता है।

उत्तर उवाच

अकार्यं ते कृतं राजन् क्षिप्रमेव प्रसाद्यताम् ।
मा त्वां ब्रह्मविषं घोरं समूलमिह निर्दहेत् ।।४७।।

उत्तर बोला—हे राजन् ! आपने इन्हें आघात पहुँचाकर अति अनुचित कार्य किया है । शीघ्र ही उन्हें मनाइए, अन्यथा ब्राह्मण का भयंकर क्रोधरूपी विष आपको जड़मूलसहित भस्म कर डालेगा ।

वैशम्पायन उवाच

स पुत्रस्य वचः श्रुत्वा विराटो राष्ट्रवर्धनः ।
क्षमयामास कौन्तेयं भस्मच्छन्नमिवानलम् ।।४८।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन् ! पुत्र की यह बात सुनकर अपने राष्ट्र की वृद्धि करनेवाले राजा विराट ने राख में छिपी हुई अग्नि की भाँति तेजस्वी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर से तुरन्त ही क्षमा माँगी ।

क्षमयन्तं तु राजानं पाण्डवः प्रत्यभाषत ।
चिरं क्षान्तमिदं राजन् न मन्युर्विद्यते मम ।।४९।।

राजा को क्षमा माँगते देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने कहा—"राजन् ! मैंने चिरकाल से क्षमा का व्रत ले रखा है, अतः आपका यह अपराध क्षमा हो चुका है । मुझे आपपर तनिक भी क्रोध नहीं है ।

यदि ह्येतद् पतेद् भूमौ रुधिरं मम नस्ततः ।
सराष्ट्रस्त्वं महाराज विनश्येथा न संशयः ।।५०।।

"महाराज ! यदि मेरी नाक से बहनेवाला यह रक्त धरती पर गिर जाता, तो आप सारे राष्ट्र के साथ नष्ट हो जाते, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है ।

न दूषयामि ते राजन् यद् वै हन्याददूषकम् ।
बलवन्तं प्रभुं राजन् क्षिप्रं दारुणमाप्नुयात् ।।५१।।

"राजन् ! जो किसी की निन्दा या अपराध न करे उसे मारना अन्याय है तथापि मैं आपके इस कार्य की निन्दा नहीं करता, क्योंकि बलवान् राजा को प्रायः शीघ्र ही ऐसे कठोर कर्म करने का अवसर प्राप्त हो जाता है ।"

शोणिते तु व्यतिक्रान्ते प्रविवेश बृहन्नला ।
अभिवाद्य विराटं तु कङ्कं चाप्युपतिष्ठत ।।५२।।

राजन् ! जब युधिष्ठिर की नाक से रक्त बहना बन्द हो गया, तब बृहन्नला ने राजसभा में प्रवेश किया । उसने विराट का अभिवादन करके कङ्क को भी प्रणाम किया ।

क्षामयित्वा तु कौरव्यं रणादुत्तरमागतम् ।
प्रशशंस ततो मत्स्यः शृण्वतः सव्यसाचिनः ।।५३।।

इधर मत्स्यनरेश कुरुनन्दन युधिष्ठिर से क्षमा माँगकर सव्यसाची अर्जुन के आते ही रणभूमि से आये हुए उत्तर की प्रशंसा करने लगे—

त्वया दायादवानस्मि कैकेय्यानन्दवर्धन ।
त्वया मे सदृशः पुत्रो न भूतो न भविष्यति ।।५४।।

"कैकेयीनन्दन ! तुम्हें पाकर मैं वस्तुतः पुत्रवान् हूँ । तुम्हारे समान मेरा दूसरा कोई पुत्र न हुआ है, न होगा ही ।

पदं पदसहस्रेण यश्चरन् नापराध्नुयात् ।
तेन कर्णेन ते तात कथमासीत् समागमः ।।५५।।
मनुष्यलोके सकले यस्य तुल्यो न विद्यते ।
तेन भीष्मेण ते तात कथमासीत् समागमः ।।५६।।

"तात ! जो एक ही लक्ष्य के साथ-साथ अनेक लक्ष्यों का वेध करने के लिए बाण चलाता है और कहीं भी नहीं चूकता, उस कर्ण के साथ तुम्हारा युद्ध किस प्रकार हुआ ? हे पुत्र ! सारे मनुष्य-लोक में जिनकी समानता करनेवाला कोई वीर नहीं है, उन भीष्मजी के साथ तुम्हारी भिड़न्त किस प्रकार हुई ?

आचार्यो वृष्णिवीराणां कौरवाणां च यो द्विजः ।
सर्वक्षत्रस्य चाचार्यः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
तेन द्रोणेन ते तात कथमासीत् समागमः ।।५७।।

"तात ! जो वृष्णिवीरों और कौरवों दोनों के आचार्य हैं, अथवा दोनों के ही नहीं सम्पूर्ण क्षत्रियों के आचार्य हैं, समस्त शस्त्रधारियों में जिनका स्थान सबसे ऊँचा है, उन द्रोणाचार्य के साथ तुम्हारा युद्ध किस प्रकार हुआ ?

आचार्यपुत्रो यः शूरः सर्वशस्त्रभृतामपि ।
अश्वत्थामेति विख्यातस्तेनासीत् संगरः कथम् ।।५८।।

"द्रोणाचार्य का जो अश्वत्थामा नाम से प्रसिद्ध सम्पूर्ण शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ शूरवीरपुत्र है, उनके साथ तुम्हारा संग्राम किस प्रकार हुआ ?

रणे यं प्रेक्ष्य सीदन्ति हृतस्वा वणिजो यथा ।
कृपेण तेन ते तात कथमासीत् समागमः ।।५९।।

"तात ! जैसे वणिक् अपना धन छिन जाने पर

दुःखी होते हैं, उसी प्रकार युद्ध में जिन्हें सम्मुख देखकर बड़े-बड़े योद्धा शिथिल हो जाते हैं, उन कृपाचार्य के साथ तुम्हारी लड़ाई किस प्रकार हुई ?

पर्वत योऽभिविध्येत राजपुत्रो महेषुभिः ।
दुर्योधनेन ते तात कथमासीत् समागमः ॥६०॥

"हे तात ! जो राजपुत्र अपने प्रचण्ड बाणों से पर्वत को भी विदीर्ण कर सकता है, उस दुर्योधन के साथ तुम्हारी मुठभेड़ किस प्रकार हुई ?

अवगाढा द्विषन्तो मे सुखो वातोऽभिवाति माम् ।
यस्त्वं धनमयाजैषीः कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे ॥६१

"पुत्र ! कौरवों ने जिस गोधन को संग्राम में हड़प लिया था, उसे तुम जीतकर ले आये, यह अति उत्तम हुआ । आज हमारे शत्रु परास्त हो गये, अतः आज की वायु मुझे बड़ी सुखदायिनी प्रतीत हो रही है ।"

उत्तर उवाच

न मया निर्जिता गावो न मया निर्जिताः परे ।
कृतं तत् सकलं कर्म देवपुत्रेण केनचित् ॥६२॥

उत्तर ने कहा—पिताजी ! मैंने गौओं को नहीं जीता है, और न मैंने शत्रुओं पर ही विजय पाई है। यह सब कार्य तो किसी देवकुमार ने किया है ।

स हि भीतं द्रवन्तं मां देवपुत्रो न्यवर्तयत् ।
स चातिष्ठद् रथोपस्थे वज्रसंहननो युवा ॥६३॥

मैं तो डरकर भागा आ रहा था परन्तु वज्र के समान दृढ़ शरीरवाले उस तरुण देवपुत्र ने मुझे लौटाया और वह स्वयं ही रथ के पिछले भाग में महारथी बनकर बैठ गया ।

तेन ता निर्जिता गावः कुरवश्च पराजिताः ।
तस्य तत्कर्म वीरस्य न मया तात तत्कृतम् ॥६४॥

उसी ने उन गौओं को जीता है, और कौरवों को भी परास्त किया है । पिताजी ! यह सब उस वीर का कर्म है । मैंने कुछ भी नहीं किया है ।

एकेन तेन वीरेण षड् रथाः परिनिर्जिताः ।
शार्दूलेनेव मत्तेन यथा वनचरा मृगाः ॥६५॥

जैसे मदोन्मत्त सिंह वन में विचरनेवाले मृगों को परास्त करता है, उसी प्रकार उस वीर देवपुत्र ने अकेले ही उन छह महारथियों को हराया है ।

विराट उवाच

क्व स वीरो महाबाहुर्देवपुत्रो महायशाः ।
यो मे धनमथाजैषीत् कुरुभिर्ग्रस्तमाहवे ॥६६॥
इच्छामि तमहं द्रष्टुमर्चितुं च महाबलम् ।
येन मे त्वं च गावश्च रक्षिता देवसूनुना ॥६७॥

विराट ने पूछा—पुत्र ! वह महायशस्वी महाबाहु वीर देवपुत्र कहाँ है जिसने युद्ध में कौरवों द्वारा अपहृत मेरी गौओं को जीता है ? जिस देवकुमार ने तुम्हें और मेरी गौओं को भी बचाया है, मैं उस महापराक्रमी वीर को देखना और उसका सत्कार करना चाहता हूँ ।

उत्तर उवाच

अन्तर्धानं गतस्तत्र देवपुत्रो महाबलः ।
स तु श्वो वा परश्वो वा मन्ये प्रादुर्भविष्यति ॥६८॥

उत्तर बोला—पिताजी ! वह महाबली देवपुत्र वहीं अन्तर्धान हो गया, परन्तु मेरा विश्वास है कि वह कल या परसों यहाँ पुनः प्रकट होगा ।

वैशम्पायन उवाच

एवमाख्यायमानं तु छन्नं सत्रेण पाण्डवम् ।
वसन्तं तत्र नाज्ञासीद् विराटो वाहिनीपतिः ॥६९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार संकेतपूर्वक बताने पर भी सेनाओं के स्वामी राजा विराट नपुंसकवेश में छिपकर वहीं रहनेवाले पाण्डुपुत्र अर्जुन को नहीं पहचान सके ।

ततः पार्थोऽभ्यनुज्ञातो विराटेन महात्मना ।
प्रददौ तानि वासांसि विराटदुहितुः स्वयम् ॥७०॥

तत्पश्चात् महामना विराट की आज्ञा से बृहन्नला रूपी अर्जुन ने स्वयं विराट-कन्या उत्तरा को वे सब वस्त्र, जो महारथियों के शरीर से उतारे गये थे, दे दिये ।

उत्तरा तु महार्हाणि विविधानि नवानि च ।
प्रतिगृह्याभवत् प्रीता तानि वासांसि भामिनी ॥७१॥

भामिनी उत्तरा उन अनेक प्रकार के नवीन एवं बहुमूल्य वस्त्रों को लेकर अति प्रसन्न हुई ।

मन्त्रयित्वा तु कौन्तेय उत्तरेण महात्मना ।
इतिकर्तव्यतां सर्वां राजन् पार्थे युधिष्ठिरे ॥७२॥

ततस्तथा तद् व्यदधाद् यथावत् पुरुषर्षभ ।
सह पुत्रेण मत्स्यस्य प्रहृष्टा भरतर्षभाः ॥७३॥

जनमेजय ! कुन्तीनन्दन अर्जुन ने महामना उत्तर के साथ राजा युधिष्ठिर को प्रकट करने के विषय में परामर्श किया तथा क्या-क्या करना चाहिए, इन सब बातों का निश्चय कर लिया । नरश्रेष्ठ ! फिर उसी निश्चय के अनुसार सब व्यवस्था की । भरत-कुलभूषण पाण्डव विराट-पुत्र उत्तर के साथ वह सब व्यवस्था करके अति प्रसन्न हुए ।

इति महाभारते विराटपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

पाण्डवों का विराट को अपना परिचय देना, विराट का अर्जुन के साथ उत्तरा के विवाह का प्रस्ताव, अर्जुन का उत्तरा को पुत्रवधू के रूप में ग्रहण करना, अभिमन्यु और उत्तरा का विवाह

वैशम्पायन उवाच

ततोऽहनि तृतीये च भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
स्नाताः शुक्लाम्बरधराः समये चरितव्रताः ॥१॥
युधिष्ठिरं पुरस्कृत्य सर्वाभरणभूषिताः ।
द्वारि मत्ता यथा नागा भ्राजमाना महारथाः ॥२॥
विराटस्य सभां गत्वा भूमिपालासनेष्वथ ।
निषेदुः पावकप्रख्याः सर्वे धिष्ण्येष्विवाग्नयः ॥३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् नियत समय तक अपनी प्रतिज्ञा का पालन करके अग्नि के समान तेजस्वी पाँचों भाई, महारथी पाण्डव तीसरे दिन स्नान से निवृत्त हो श्वेत वस्त्र धारण करके समस्त राजोचित आभूषणों से अलंकृत हो राजसभा में द्वार पर स्थित मदोन्मत्त गजराजों की भाँति सुशोभित होने लगे । वे राजा युधिष्ठिर को आगे करके विराट की सभा में गये । वहाँ जाकर युधिष्ठिर राजा के सिंहासन पर और चारों पाण्डव भी यथायोग्य आसनों पर बैठ गये । उस समय वे भिन्न-भिन्न यज्ञवेदियों पर प्रज्वलित अग्नियों के समान प्रकाशित हो रहे थे ।

तेषु तत्रोपविष्टेषु विराटः पृथिवीपतिः ।
आजगाम सभां कर्तुं राजकार्याणि सर्वशः ॥४॥

जिस समय पाण्डव वहाँ बैठे हुए थे, उसी समय राजा विराट अपने समस्त राजकाज करने के लिए सभा में आये ।

श्रीमतः पाण्डवान् दृष्ट्वा सरोषः पृथिवीपतिः ।
अथ मत्स्योऽब्रवीत् कङ्कं देवरूपमिव स्थितम् ॥५॥

श्रीसम्पन्न पाण्डवों को देखकर पृथ्वीपति विराट क्रुद्ध होकर देवता के समान स्थित कङ्क से बोले—

स किलाक्षातिवापस्त्वं सभास्तारो मया वृतः ।
अथ राजासने कस्मादुपविष्टस्त्वलंकृतः ॥६॥

"कङ्क ! तुम्हें तो मैंने पासा फेंकनेवाला सभासद् बनाया था । आज बन-ठनकर तुम राजसिंहासन पर कैसे बैठ गये ?"

परिहासेप्सया वाक्यं विराटस्य निशम्य तत् ।
स्मयमानोऽर्जुनो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥७॥

हे जनमेजय ! मानो परिहास के लिए कहा गया हो, ऐसे विराट के उस वचन को सुनकर अर्जुन मुस्कराते हुए इस प्रकार बोले—

अर्जुन उवाच

इन्द्रस्यार्धासनं राजन्नयमारोढुमर्हति ।
ब्रह्मण्यः श्रुतवांस्त्यागी यज्ञशीलो दृढव्रतः ॥८॥

अर्जुन बोले—हे राजन् ! आपके इस राज-सिंहासन की तो बात ही क्या है, ये तो इन्द्र के भी आधे आसन पर बैठने के अधिकारी हैं । ये ब्राह्मण-भक्त, शास्त्रों के विद्वान्, त्यागी, यज्ञशील तथा अपने व्रतों का दृढ़ता के साथ पालन करनेवाले हैं ।

एष विग्रहवान् धर्म एष वीर्यवतां वरः ।
एष बुद्ध्याधिको लोके तपसां च परायणम् ॥९॥

ये मूर्तिमान् धर्म हैं, तथा पराक्रमी पुरुषों में श्रेष्ठ हैं । इस जगत् में ये सबसे बढ़कर बुद्धिमान् हैं और तपस्या के परम आश्रय हैं ।

अयं कुरूणामृषभो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अस्य कीर्तिः स्थिता लोके सूर्यस्येवोद्यतः प्रभा ॥१०॥

ये ही कुरुवंश में सर्वश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर हैं। उदयकालीन सूर्य की शान्त प्रभा के समान इनकी सुखदायिनी कीर्ति सारे संसार में फैली हुई है।

विराट उवाच

राजा यद्येष कौरव्यः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
कतमोऽस्यार्जुनो भ्राता भीमश्च कतमो बली ॥११॥
नकुलः सहदेवो वा द्रौपदी वा यशस्विनी।
यदा द्यूतजिताः पार्था न प्रज्ञायन्त ते क्वचित् ॥१२॥

विराट ने पूछा—यदि ये कुरुकुलभूषण कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर हैं तो इनमें इनके भ्राता अर्जुन कौन-से हैं? महाबली भीमसेन कौन हैं? नकुल, सहदेव तथा यशस्विनी द्रौपदी कौन है? जब से कुन्तीपुत्र जुए में हार गये, तब से उनका कहीं भी पता नहीं लगा।

अर्जुन उवाच

य एष बल्लवो ब्रूते सूदस्तव नराधिप।
एष भीमो महाराज भीमवेगपराक्रमः ॥१३॥

अर्जुन बोले—महाराज! यह जो बल्लव नामधारी आपके रसोइये हैं, यह ही भयंकर वेग और पराक्रमवाले भीमसेन हैं।

यश्चासीदश्वबन्धस्ते नकुलोऽयं परन्तपः।
गोसंख्यः सहदेवश्च माद्रीपुत्रौ महारथौ ॥१४॥

जो आपके यहाँ अश्वशाला के प्रबन्धक रहे हैं, वे शत्रुसन्तापक नकुल हैं। गौओं की देखभाल करनेवाले सहदेव हैं। ये दोनों माद्री के पुत्र और महारथी वीर हैं।

एषा पद्मपलाशाक्षी सुमध्या चारुहासिनी।
सैरन्ध्री द्रौपदी राजन् यस्यार्थे कीचका हताः ॥१५॥

हे राजन्! यह विकसित कमलपत्र के समान विशाल नेत्रोंवाली, सुन्दर कटिप्रदेश तथा मनोहर मुस्कानवाली सैरन्ध्री ही महारानी द्रौपदी है, इसी के सतीत्व की रक्षा के लिए कीचकों का वध किया गया था।

अर्जुनोऽहं महाराज व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः।
भीमादवरजः पार्थो यमाभ्यां चापि पूर्वजः ॥१६॥

महाराज! मैं ही अर्जुन हूँ। मेरा नाम भी निश्चय ही आपके कानों में पड़ा होगा। मैं कुन्ती देवी का पुत्र हूँ। मैं भीम से छोटा और नकुल-सहदेव से बड़ा हूँ।

उषिताः स्म महाराज सुखं तव निवेशने।
अज्ञातवासमुषिता गर्भवास इव प्रजाः ॥१७॥

हे राजन्! हम लोगों ने अति सुखपूर्वक आपके महल में अज्ञातवास का समय बिताया है। जैसे सन्तान गर्भ में रहती है, उसी प्रकार हम भी यहाँ अज्ञातवास में रहे हैं।

वैशम्पायन उवाच

यदार्जुनेन ते वीराः कथिताः पञ्च पाण्डवाः।
तदार्जुनस्य वैराटिः कथयामास विक्रमम् ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब अर्जुन ने पाँचों पाण्डव वीरों का परिचय दे दिया, तब विराटकुमार उत्तर ने अर्जुन के पराक्रम का वर्णन किया।

उत्तर उवाच

अनेन विजिता गावो जिताश्च कुरवो युधि।
अस्य शंखप्रणादेन कर्णौ मे बधिरीकृतौ ॥१९॥

उत्तर ने कहा—इन्होंने ही गौओं को जीता तथा युद्ध में कौरवों को परास्त किया है। इनके शंख की गम्भीर ध्वनि सुनकर मेरे तो कान बहरे हो गये थे।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा मत्स्यराजः प्रतापवान्।
उत्तरं प्रत्युवाचेदमभिपन्नो युधिष्ठिरे ॥२०॥
प्रसादनं पाण्डवस्य प्राप्तकालं हि रोचते।
उत्तरां च प्रयच्छामि पार्थाय यदि मन्यसे ॥२१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उत्तर की यह बात सुनकर प्रतापी मत्स्यनरेश, जो युधिष्ठिर के अपराधी थे, अपने पुत्र से इस प्रकार बोले—"पुत्र! यह पाण्डवों को प्रसन्न करने का समय प्राप्त हुआ है। यदि तुम्हारी सम्मति हो, तो मैं कुमारी उत्तरा का विवाह कुन्तीपुत्र अर्जुन से कर दूँ, मेरी ऐसी ही इच्छा है।"

उत्तर उवाच

आर्याः पूज्याश्च मान्याश्च प्राप्तकालं च मे मतम्।
पूज्यन्तां पूजनार्हाश्च महाभागाश्च पाण्डवान् ॥२२॥

उत्तर ने कहा—पूज्य पिताजी! पाण्डव महान् सौभाग्यशाली हैं। ये श्रेष्ठ, पूजनीय और सम्मान के

योग्य हैं। मेरे विचार में हमें इनके सत्कार का अवसर भी मिल गया है, अतः पूजा के योग्य पाण्डवों का आप अवश्य सत्कार करें।

विराट उवाच

अहं खल्वपि संग्रामे शत्रूणां वशमागतः।
मोक्षितो भीमसेनेन गावश्चापि जितास्तथा ॥२३॥

विराट बोले—पुत्र ! मैं भी त्रिगर्तों के साथ होनेवाले संग्राम में शत्रुओं के वशीभूत हो गया था, तब भीमसेन ने मुझे छुड़ाया और हमारी सब गायों को भी जीता।

एतेषां बाहुवीर्येण अस्माकं विजयो मृधे।
वयं सर्वे सहामात्याः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
प्रसादयामो भद्रं ते सानुजं पाण्डवर्षभम् ॥२४॥

इन पाण्डवों के बाहुबल से संग्राम में हमारी विजय हुई है। वत्स ! तुम्हारा कल्याण हो। आओ, हम सब लोग मन्त्रियोंसहित पाण्डवश्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर को उनके छोटे भाइयोंसहित प्रसन्न करें।

वैशम्पायन उवाच

ततो विराटः परमाभितुष्टः
समेत्य राजा समयं चकार।
राज्यं च सर्वं विससर्ज तस्मै
सदण्डकोशं सपुरं महात्मा ॥२५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन् ! तत्पश्चात् राजा विराट ने अति हर्ष के साथ अपने पुत्र से मिलकर कुछ विचार-विमर्श किया; फिर उन महामना ने दण्ड, कोश और नगर आदि सहित सम्पूर्ण राज्य युधिष्ठिर को समर्पित कर दिया।

पाण्डवांश्च ततः सर्वान् मत्स्यराजः प्रतापवान्।
धनञ्जयं पुरस्कृत्य दिष्टचा दिष्टचेति चाब्रवीत् ॥२६॥

तदनन्तर प्रतापी मत्स्यराज अर्जुन को आगे रखकर सब पाण्डवों से मिले और कहा—"हमारा महान् सौभाग्य है, वस्तुतः महान् सौभाग्य है जो आप लोगों का दर्शन हुआ !"

समुपाघ्राय मूर्धानं संश्लिष्य च पुनः पुनः।
युधिष्ठिरं च भीमं च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥२७॥

फिर उन्होंने युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेव का बार-बार मस्तक सूँघा और सबको हृदय से लगाया।

नातृप्यद् दर्शने तेषां विराटो वाहिनीपतिः।
स प्रीयमाणो राजानं युधिष्ठिरमथाब्रवीत् ॥२८॥

सेनाओं के स्वामी राजा विराट पाण्डवों को देखकर तृप्त नहीं होते थे। कुछ देर पश्चात् वे राजा युधिष्ठिर से इस प्रकार बोले—

दिष्टचा भवन्तः सम्प्राप्ताः सर्वे कुशलिनो वनात्।
दिष्टचा सम्पालितं कृच्छ्रमज्ञातं वै दुरात्मभिः ॥२९॥

"बड़े सौभाग्य की बात है कि आप सब लोग वन से कुशलपूर्वक लौट आये। दुरात्मा कौरवों से अज्ञात रहकर आपने यह कष्टसाध्य अज्ञातवास का समय पूर्ण कर लिया, यह भी सौभाग्य की बात है।

इदं च राज्यं पार्थाय यच्चान्यदपि किञ्चन।
प्रतिगृह्णन्तु तत् सर्वं पाण्डवा अविशंकया ॥३०॥

"मेरा यह राज्य कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर के लिए समर्पित है। इसके अतिरिक्त मेरे पास और भी जो कुछ है, वह सब पाण्डव लोग बिना संकोच के ग्रहण करें।

उत्तरां प्रतिगृह्णातु सव्यसाची धनञ्जयः।
अयं ह्यौपयिको भर्ता तस्याः पुरुषसत्तमः ॥३१॥

सव्यसाची धनञ्जय मेरी पुत्री उत्तरा को पत्नी-रूप में स्वीकार करें। ये नरश्रेष्ट उसके लिए सर्वथा सुयोग्य पति हैं।"

एवमुक्तो धर्मराजः पार्थमैक्षद् धनञ्जयम्।
ईक्षितश्चार्जुनो भ्रात्रा मत्स्यं वचनमब्रवीत् ॥३२॥
प्रतिगृह्णाम्यहं राजन् स्नुषां दुहितरं तव।
युक्तश्चावां हि सम्बन्धो मत्स्यभारतयोरपि ॥३३॥

महामना राजा विराट के ऐसा कहने पर धर्मराज युधिष्ठिर ने कुन्तीपुत्र अर्जुन की ओर देखा। भाई द्वारा देखे जाने पर अर्जुन ने मत्स्यराज से कहा—"राजन् ! मैं आपकी पुत्री को अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करता हूँ। मत्स्य और भरतवंश का यह सम्बन्ध सर्वथा उचित है।"

विराट उवाच

किमर्थं पाण्डवश्रेष्ठ भार्यां दुहितरं मम।
प्रतिगृहीतुं नेमां त्वं मया दत्तामिहेच्छसि ॥३४॥

विराट बोले—हे पाण्डवश्रेष्ठ ! मैं स्वयं तुम्हें

अपनी कन्या प्रदान कर रहा हूँ फिर तुम उसे अपनी पत्नी के रूप में क्यों नहीं स्वीकार करते ?

अर्जुन उवाच

अन्तःपुरेऽहमुषितः सदा पश्यन् सुतां तव ।
रहस्यं च प्रकाशं च विश्वस्ता पितृवन्मयि ।।३५।।
प्रियो बहुमतश्चासं नर्तको गीतकोविदः ।
आचार्यवच्च मां नित्यं मन्यते दुहिता तव ।।३६।।

अर्जुन ने कहा—राजन् ! मैं चिरकाल तक आपके रनिवास में रहा हूँ तथा आपकी कन्या को एकान्त में तथा सबके समक्ष पुत्रीभाव से ही देखता आया हूँ। उसने भी मुझपर पिता की भाँति ही विश्वास किया है। मैं नाचता तो था ही, गान-विद्या में भी कुशल हूँ, अतः उसका मेरे प्रति अत्यधिक प्रेम रहा है, परन्तु आपकी पुत्री मुझे सदा आचार्य=गुरु की भाँति ही मानती आई है।

वयस्कया तया राजन् सह संवत्सरोषितः ।
अतिशंका भवेत् स्थाने तव लोकस्य वा विभो ।।३७।।

हे राजन् ! उसकी वयस्क अवस्था में मैं उसके साथ एक वर्ष तक रह चुका हूँ। प्रभो ! [ऐसी अवस्था में यदि मैं उसके साथ विवाह करूँगा, तो] आपको या और किसी मनुष्य को हमारे विषय में अवश्य ही सन्देह होगा और वह युक्तिसंगत ही होगा।

तस्मान्निमन्त्रयेऽहं ते दुहितां मनुजाधिप ।
शुद्धो जितेन्द्रियो दान्तस्तस्याः शुद्धिः कृता मया ।।३८।।

महाराज ! वह सन्देह न हो, अतः मैं आपकी पुत्री को पुत्रवधू के रूप में ही ग्रहण करूँगा। ऐसा होने पर ही मैं शुद्ध-चरित्र, जितेन्द्रिय और मन को दमन करनेवाला समझा जाऊँगा तथा इसी से मेरे द्वारा आपकी कन्या के चरित्र की शुद्धि भी स्पष्ट हो जाएगी।

दुहितरि स्नुषायां च पुत्रे चात्मनि वा पुनः ।
अत्र शंकां न पश्यामि तेन शुद्धिर्भविष्यति ।।३९।।

पुत्रवधू और पुत्री में तथा पुत्र अथवा आत्मा में भेद नहीं है, अतः उसे पुत्रवधू के रूप में ग्रहण करने पर मुझे कलङ्क की शंका दिखाई नहीं देती और इससे हम दोनों की पवित्रता भी स्पष्ट हो जाएगी।

अभिशापादहं भीतो मिथ्यावादात् परन्तप ।
स्नुषार्थमुत्तरां राजन् प्रतिगृह्णामि ते सुताम् ।।४०।।

परन्तप ! मैं अभिशाप और मिथ्यावाद से डरता हूँ [आपकी पुत्री को पत्नी रूप में ग्रहण करने पर लोग यह कल्पना कर सकते हैं कि दोनों में पहले से ही अनुचित सम्बन्ध था] अतः राजन् ! मैं आपकी पुत्री उत्तरा को पुत्रवधू के रूप में ही ग्रहण करता हूँ।

स्वस्त्रीयो वासुदेवस्य साक्षाद् देवशिशुर्यथा ।
दयितश्चक्रहस्तस्य सर्वास्त्रेषु च कोविदः ।।४१।।

मेरा पुत्र साक्षात् देवकुमार के समान है। वह श्रीकृष्ण का भानजा है। चक्रधारी श्रीकृष्ण को वह अतिप्रिय है, साथ ही वह सब प्रकार की अस्त्र-विद्या में भी कुशल है।

अभिमन्युर्महाबाहुः पुत्रो मम विशाम्पते ।
जामाता तव युक्तो वै भर्ता च दुहितुस्तव ।।४२।।

महाराज ! मेरे उस महाबाहु पुत्र का नाम अभिमन्यु है। वह आपका सुयोग्यतम जामाता और आपकी पुत्री का उपयुक्त पति होगा।

विराट उवाच

उपपन्नं कुरुश्रेष्ठे कुन्तीपुत्रे धनञ्जये ।
य एवं धर्मनित्यश्च ज्ञातज्ञानश्च पाण्डवः ।।४३।।
यत् कृत्यं मन्यसे पार्थ क्रियतां तदनन्तरम् ।
सर्वे कामाः समृद्धा मे सम्बन्धी यस्य मेऽर्जुनः ।।४४।।

विराट बोले—हे पार्थ ! कौरवों में श्रेष्ठ तथा कुन्ती के पुत्र धनञ्जय में इस प्रकार धर्म का विचार होना उचित ही है। पाण्डुपुत्र अर्जुन ही इस प्रकार नित्य धर्म-परायण और ज्ञान-सम्पन्न हो सकते हैं। अब जो कर्तव्य आप ठीक समझें, उसे पूर्ण करें। जिसके सम्बन्धी अर्जुन हो रहे हों, उसकी कौन-सी कामना अपूर्ण रह सकती है ? मेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो गईं।

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति राजेन्द्रे कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अन्वशासत् स संयोगं समये मत्स्यपार्थयोः ।।४५।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाराज विराट के ऐसा कहने पर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने

उचित अवसर जान मत्स्यनरेश और पार्थ के इस सम्बन्ध का अनुमोदन कर दिया।

ततो मित्रेषु सर्वेषु वासुदेवं च भारत।
प्रेषयामास कौन्तेयो विराटश्च महीपतिः ॥४६॥

जनमेजय! तत्पश्चात् कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर तथा राजा विराट ने अपने-अपने सम्पूर्ण सुहृदों, सगे-सम्बन्धियों तथा श्रीकृष्ण को भी निमन्त्रण भेजा।

ततस्त्रयोदशे वर्षे निवृत्ते पञ्च पाण्डवाः।
उपप्लव्यं विराटस्य समपद्यन्त सर्वशः ॥४७॥

पाचों पाण्डवों का तेरहवाँ वर्ष पूर्ण हो चुका था, अतः वे सब राजा विराट के उपप्लव्य नामक नगर में आकर रहने लगे।

अभिमन्युं च बीभत्सुरानिनाय जनार्दनम्।
आनर्तेभ्योऽपि दाशार्हानानयामास पाण्डवः ॥४८॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन ने आनर्त देश से अभिमन्यु, श्रीकृष्ण तथा दशार्हवंश के अपने अन्य सम्बन्धियों को भी वहाँ बुलवा लिया।

तानागतानभिप्रेक्ष्य मत्स्यो धर्मभृतां वरः।
पूजयामास विधिवत् सभृत्यबलवाहनान् ॥४९॥

धर्मात्माओं में श्रेष्ठ मत्स्यनरेश विराट ने उन्हें आया हुआ देख, सेवक, सेना और सवारियोंसहित उन सबका विधिवत् आदर-सम्मान किया।

ततो विवाहो विधिवद् ववृधे मत्स्यपार्थयोः।
परिवार्योत्तरां तास्तु राजपुत्रीमलंकृताम्।
सुतामिव महेन्द्रस्य पुरस्कृत्योपतस्थिरे ॥५०॥

तत्पश्चात् मत्स्य एवं पार्थकुल के वैवाहिक सम्बन्ध का कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न होने लगा। उस समय राजकुमारी उत्तरा वस्त्राभूषणों से विभूषित हो महेन्द्रपुत्री जयन्ती-सी सुशोभित हो रही थी। राज-परिवार की सब स्त्रियाँ उसे आगे करके दोनों ओर से घेरकर वहाँ उपस्थित हुईं।

तां प्रत्यगृह्णात् कौन्तेयः सुतस्यार्थे धनञ्जयः।
सौभद्रस्यानवद्याङ्गीं विराटतनयां तदा ॥५१॥

उस समय कुन्तीनन्दन अर्जुन ने अपने पुत्र सुभद्राकुमार अभिमन्यु के लिए निर्दोष अङ्गोंवाली विराट-कुमारी उत्तरा को ग्रहण किया।

तत्रातिष्ठन् महाराजो रूपमिन्द्रस्य धारयन्।
स्नुषां तां प्रतिजग्राह कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥५२॥

इन्द्र के समान रूप धारण किये कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर भी वहाँ विद्यमान थे। उन्होंने भी उत्तरा को पुत्रवधू रूप में स्वीकार किया।

प्रतिगृह्य च तां पार्थः पुरस्कृत्य जनार्दनम्।
विवाहं कारयामास सौभद्रस्य महात्मनः ॥५३॥

पृथापुत्र अर्जुन ने उत्तरा को ग्रहण करके श्रीकृष्ण के समक्ष महामना अभिमन्यु और उत्तरा का विवाह संस्कार सम्पन्न कराया।

कृते विवाहे तु तदा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं यदुपाहरदच्युतः ॥५४॥

विवाह सम्पन्न हो जाने पर धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से जो धन मिला था, वह सब ब्राह्मणों को दान कर दिया।

तन्महोत्सवसंकाशं परिहृष्टजनायुतम्।
नगरं मत्स्यराजस्य शुशुभे भरतर्षभ ॥५५॥

हे जनमेजय! उस समय हजारों-लाखों हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों से भरा हुआ मत्स्यराज का वह नगर मूर्तिमान् महोत्सव-सा सुशोभित हो रहा था।

इति महाभारते विराटपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

विराटपर्व सम्पूर्णम्

उद्योगपर्व

प्रथमोऽध्यायः

महाराज विराट की सभा में श्रीकृष्ण, बलराम और सात्यकि के भाषण; राजा द्रुपद की सम्मति

वैशम्पायन उवाच

कृत्वा विवाहं तु कुरुप्रवीरा-
स्तदाभिमन्योर्मुदिताः स्वपक्षाः ।
विश्रम्य रात्रावुषसि प्रतीताः
सभां विराटस्य ततोऽभिजग्मुः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अभिमन्यु का विवाह करके कुरुवीर पाण्डव तथा उनके अपने पक्ष के लोग [यादव, पाञ्चालादि] अति प्रसन्न हुए । रात्रि में विश्राम करके वे प्रातःकाल जागे तथा [नित्यकर्म करके] विराट की सभा में उपस्थित हुए ।

सभा तु सा मत्स्यपतेः समृद्धा
मणिप्रवेकोत्तमरत्नचित्रा ।
न्यस्तासना माल्यवती सुगन्धा
तामभ्ययुस्ते नरराजवृद्धाः ॥२॥

मत्स्यनरेश विराट की वह सभा अति समृद्धिशालिनी थी । उसमें मोती-मूँगे आदि मणियों की खिड़कियाँ और झालरें लगीं थीं । उसके फर्श और दीवारों में हीरे-पन्ने आदि उत्तमोत्तम रत्नों की पच्चीकारी की गई थी । इन सबके कारण उसकी विचित्र शोभा हो रही थी । उस सभा-भवन में यथा-योग्य स्थानों पर आसन बिछे हुए थे, स्थान-स्थान पर मालाएँ लटक रही थीं तथा चहुँ ओर सुगन्ध फैल रही थी । वे श्रेष्ठ राजा लोग उसी सभा में एकत्र हुए ।

अथासनान्याविशतां पुरस्ता-
दुभौ विराटद्रुपदौ नरेन्द्रौ ।
वृद्धौ च मान्यौ पृथिवीपतीनां
पित्रा समं रामजनार्दनौ च ॥३॥

सभा में सबसे पूर्व राजा विराट एवं द्रुपद आसनों पर विराजमान हुए, क्योंकि वे समस्त भूपालों में वृद्ध और सम्माननीय थे । तत्पश्चात् अपने पिता वसुदेव के साथ बलराम और कृष्ण ने भी आसन ग्रहण किये ।

पाञ्चालराजस्य समीपतस्तु
शिनिप्रवीरः सहरौहिणेयः ।
मत्स्यस्य राज्ञस्तु सुसंनिकृष्टौ
जनार्दनश्चैव युधिष्ठिरश्च ॥४॥

पाञ्चालराज द्रुपद के पास शिनिवंश के श्रेष्ठ वीर सात्यकि और रोहिणीपुत्र बलरामजी बैठे थे तथा मत्स्यराज के अत्यन्त निकट श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिर विराजमान थे ।

सुताश्च सर्वे द्रुपदस्य राज्ञो
भीमार्जुनौ माद्रवतीसुतौ च ।
प्रद्युम्नसाम्बौ च युधि प्रवीरौ
विराटपुत्रैश्च सहाभिमन्युः ॥५॥
सर्वे च शूराः पितृभिः समाना
वीर्येण रूपेण बलेन धाम्ना ।
उपाविशन् द्रौपदेयाः कुमाराः
सुवर्णचित्रेषु वरासनेषु ॥६॥

राजा द्रुपद के सब पुत्र, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, युद्धवीर प्रद्युम्न और साम्ब, विराट के पुत्रों-सहित अभिमन्यु एवं द्रौपदी के सभी पुत्र सुवर्णजटित सुन्दर सिंहासनों पर आस-पास ही बैठे थे । द्रौपदी

के पाँचों पुत्र पराक्रम, सौन्दर्य और बल में अपने चाचा पाण्डवों के ही समान थे। वे सब-के-सब शूरवीर थे।

तत्रोपविष्टेषु महारथेषु
विराजमानाभरणाम्बरेषु ।
रराज सा राजवती समृद्धा
ग्रहैरिव द्यौर्विमलैरुपेता ॥७॥

चमकीले आभूषणों तथा सुन्दर वस्त्रों से विभूषित उन समस्त महारथियों के बैठ जाने पर राजाओं से भरी हुई वह समृद्धिशालिनी सभा ऐसे सुशोभित हो रही थी मानो उज्ज्वल ग्रह-नक्षत्रों से भरा द्युलोक जगमगा रहा हो।

ततः कथास्ते समवाययुक्ताः
कृत्वा विचित्राः पुरुषप्रवीराः ।
तस्थुर्मुहूर्तं परिचिन्तयन्तः
कृष्णं नृपास्ते समुदीक्षमाणाः ॥८॥

तत्पश्चात् उन शूरवीर पुरुषों ने समाज में जैसा वार्तालाप करना उचित है, वैसी ही विविध प्रकार की विचित्र बातें कीं। फिर वे सब नरेश श्रीकृष्ण की ओर देखते हुए दो घड़ी तक कुछ सोचते हुए मौन होकर बैठे रहे।

कथान्तमासाद्य च माधवेन
संघट्टिताः पाण्डवकार्यहेतोः ।
ते राजसिंहाः सहिता ह्यशृण्वन्
वाक्यं महार्थं सुमहोदयं च ॥९॥

श्रीकृष्ण ने पाण्डवों की कार्यसिद्धि के लिए ही उन श्रेष्ठ राजाओं को संगठित किया था। जब उन लोगों की बातचीत बन्द हो गई तब वे सिंह के समान पराक्रमी नरेश एक साथ श्रीकृष्ण के सारगर्भित और श्रेष्ठ फल देनेवाले वचन सुनने लगे।

श्रीकृष्ण उवाच

सर्वैर्भवद्भिर्विदितं यथायं
युधिष्ठिरः सौबलेनाक्षवत्याम् ।
जितो निकृत्यापहृतं च राज्यं
वनप्रवासे समयः कृतश्च ॥१०॥

श्रीकृष्ण ने कहा—उपस्थित सुहृद्गण ! आप सबको विदित ही है कि सुबलपुत्र शकुनि ने द्यूतसभा में किस प्रकार छल के द्वारा धर्मात्मा युधिष्ठिर को परास्त किया और इनका राज्य छीन लिया। उस जुए में यह शर्त रखी गई थी कि जो हारे, वह बारह वर्ष तक वनवास और एक वर्ष तक अज्ञातवास करे।

शक्तैर्विजेतुं तरसा महीं च
सत्ये स्थितैः सत्यरथैर्यथावत् ।
पाण्डोः सुतैस्तद् व्रतमुग्ररूपं
वर्षाणि षट् सप्त च चीर्णमग्र्यैः ॥११॥

पाण्डव सदा सत्य पर आरूढ़ रहते हैं। सत्य ही इनका रथ—आश्रय है। इनमें बलपूर्वक सम्पूर्ण भूमण्डल को जीतने की शक्ति है फिर भी इन वीराग्रगण्य पाण्डुपुत्रों ने सत्य का विचार करके तेरह वर्ष तक वनवास और अज्ञातवास के उस कठोर व्रत का धैर्यपूर्वक पालन किया है, जिसका स्वरूप अत्यन्त उग्र है।

एवंस्थिते धर्मसुतस्य राज्ञो
दुर्योधनस्यापि च यद्धितं स्यात् ।
तच्चिन्तयध्वं कुरुपुङ्गवानां
धर्म्यं च युक्तं च यशस्करं च ॥१२॥
अधर्मयुक्तं न च कामयेत
राज्यं सुराणामपि धर्मराजः ।
धर्मार्थयुक्तं तु महीपतित्वं
ग्रामेऽपि कस्मिंश्चिदयं बुभूषेत् ॥१३॥

ऐसी परिस्थितियों में जिस उपाय से धर्मपुत्र युधिष्ठिर तथा राजा दुर्योधन—दोनों का हित हो, उसका आप लोग विचार करें। आप कोई ऐसा मार्ग खोजें जो इन कुरुवीरों के लिए धर्मानुकूल, न्यायोचित तथा यश की वृद्धि करनेवाला हो। धर्मराज युधिष्ठिर अधर्म द्वारा देवराज इन्द्र के राज्य को भी नहीं लेना चाहेंगे, इसके विपरीत किसी छोटे-से ग्राम का राज्य भी यदि धर्म और अर्थ के अनुकूल प्राप्त होता हो, तो ये उसे लेने की इच्छा कर सकते हैं।

पित्र्यं हि राज्यं विदितं नृपाणां
यथापकृष्टं धृतराष्ट्रपुत्रैः ।
मिथ्योपचारेण यथा ह्यनेन
कृच्छ्रं महत् प्राप्तमसह्यरूपम् ॥१४॥

आप सभी भूपालों को यह ज्ञात ही है कि धृत-राष्ट्र के पुत्रों ने पाण्डवों के पैतृक राज्य का किस प्रकार अपहरण किया है। कौरवों के इस मिथ्या व्यवहार तथा छल-कपटके कारण पाण्डवों को कितना महान् और असह्य कष्ट भोगना पड़ा है, यह भी आप लोगों से छिपा नहीं है।

यत् तु स्वयं पाण्डुसुतैर्विजित्य
समाहृतं भूमिपतीन् प्रपीडय।
तत् प्रार्थयन्ति पुरुषप्रवीराः
कुन्तीसुता माद्रवतीसुतौ च ॥१५॥

पाण्डवों ने अन्य राजाओं को युद्ध में जीत तथा उन्हें पीड़ित करके जो धन स्वयं प्राप्त किया था, उसी को कुन्ती और माद्री के ये वीरपुत्र माँग रहे हैं।

तेषां च लोभं प्रसमीक्ष्य वृद्धं
धर्मज्ञतां चापि युधिष्ठिरस्य।
सम्बन्धितां चापि समीक्ष्य तेषां
मतिं कुरुध्वं सहिताः पृथक् च ॥१६॥

कौरवों के बढ़े हुए लोभ को, युधिष्ठिर की धर्म-ज्ञता को और इन दोनों के आपस के सम्बन्धों को देखते हुए सभी सभासद् पृथक्-पृथक् तथा सर्व-सम्मति से कुछ निश्चय करें।

दुर्योधनस्यापि मतं यथाव-
न्न ज्ञायते किं नु करिष्यतीति।
अज्ञायमाने च मते परस्य
किं स्यात् समारभ्यतमं मतं वः ॥१७॥

दुर्योधन के मत का भी अभी ठीक-ठीक पता नहीं है कि वह क्या करेगा। शत्रुपक्ष का विचार जाने बिना आप लोग कोई ऐसा निश्चय कैसे कर सकते हैं जिसे निश्चय ही कार्यरूप में परिणत किया जा सके।

तस्मादितो गच्छतु धर्मशीलः
शुचिः कुलीनः पुरुषोऽप्रमत्तः।
दूतः समर्थः प्रशमाय तेषां
राज्यार्धदानाय युधिष्ठिरस्य ॥१८॥

मेरा विचार है कि यहाँ से कोई धर्मशील, पवित्रात्मा, कुलीन और सावधान पुरुष दूत बनकर वहाँ जाए। वह दूत ऐसा होना चाहिए जो उनके जोश तथा रोष को शान्त करने में समर्थ हो और उन्हें युधिष्ठिर को इनका आधा राज्य देने के लिए विवश कर सके।

निशम्य वाक्यं तु जनार्दनस्य
धर्मार्थयुक्तं मधुरं समं च।
समाददे वाक्यमथाग्रजोऽस्य
सम्पूज्य वाक्यं तदतीव राजन् ॥१९॥

हे राजन्! श्रीकृष्ण का धर्म और अर्थ से युक्त, मधुर तथा दोनों पक्षों के लिए समानरूप से हितकर वचन सुनकर उनके बड़े भाई बलरामजी ने उस भाषण की प्रभूत प्रशंसा करके अपना वक्तव्य आरम्भ किया।

बलदेव उवाच

श्रुतं भवद्भिर्गदपूर्वजस्य
वाक्यं यथा धर्मवदर्थवच्च।
अजातशत्रोश्च हितं हितं च
दुर्योधनस्यापि तथैव राज्ञः ॥२०॥

बलदेवजी बोले—सज्जनो! गदाग्रज=श्रीकृष्ण ने जो कुछ धर्मानुकूल एवं अर्थशास्त्र-सम्मत भाषण किया है, वह आप सबने सुन लिया। इन्होंने जो कुछ कहा है इसी में अजातशत्रु युधिष्ठिर का भी हित है और ऐसा करने से ही राजा दुर्योधन की भलाई है।

अर्धं हि राज्यस्य विसृज्य वीराः
कुन्तीसुतास्तस्य कृते यतन्ते।
प्रदाय चार्धं धृतराष्ट्रपुत्रः
सुखी सहास्माभिरतीव मोदेत् ॥२१॥

वीर कुन्तीनन्दन आधा राज्य छोड़कर केवल आधे के लिए ही प्रयत्नशील हैं। दुर्योधन भी पाण्डवों को आधा राज्य प्रदान करके हमारे साथ स्वयं भी सुखी और प्रसन्न होगा।

लब्ध्वा हि राज्यं पुरुषप्रवीराः
सम्यक् प्रवृत्तेषु परेषु चैव।
ध्रुवं प्रशान्ताः सुखमाविशेयु-
स्तेषां प्रशान्तिश्च हितं प्रजानाम् ॥२२॥

पुरुषों में श्रेष्ठ वीर पाण्डव आधा राज्य पाकर तथा दूसरे पक्ष की ओर से उत्तम व्यवहार होने पर निश्चय ही शान्त [युद्ध से दूर] रहकर कहीं सुख-

पूर्वक निवास करेंगे। इसी से कौरवों को शान्ति मिलेगी तथा प्रजावर्ग का भी हित होगा।

दुर्योधनस्यापि मतं च वेत्तुं
वक्तुं च वाक्यानि युधिष्ठिरस्य।
प्रियं च मे स्याद् यदि तत्र कश्चिद्
व्रजेच्छमार्थं कुरुपाण्डवानाम् ॥२३॥

यदि दुर्योधन का विचार जानने के लिए तथा युधिष्ठिर के सन्देश को उसके कानों तक पहुँचाने के लिए और इस प्रकार कौरव-पाण्डवों में शान्ति स्थापित करने के लिए कोई दूत वहाँ जाए, तो यह मेरे लिए अतिप्रसन्नता की बात होगी।

सर्वास्ववस्थासु च ते न कोप्या
ग्रस्तो हि सोऽर्थो बलमाश्रितैस्तैः।
प्रियाभ्युपेतस्य युधिष्ठिरस्य
द्यूते प्रसक्तस्य हृतं च राज्यम् ॥२४॥

किसी भी अवस्था में कौरवों को कुपित न किया जाए, क्योंकि उन्होंने बलवान् होकर ही पाण्डवों के राज्य पर अधिकार किया है। [युधिष्ठिर भी सर्वथा निर्दोष नहीं हैं, क्योंकि] ये जुए को प्रिय मानकर उसमें आसक्त हुए, इसी से इनके राज्य का अपहरण हुआ।

तस्मात् प्रणम्यैव वचो ब्रवीतु
वैचित्रवीर्यं बहुसामयुक्तम्।
तथा हि शक्यो धृतराष्ट्रपुत्रः
स्वार्थे नियोक्तुं पुरुषेण तेन ॥२५॥

अतः जो दूत वहाँ भेजा जाए, वह धृतराष्ट्र को प्रणाम करके अत्यन्त विनय के साथ सामनीतियुक्त वचन कहे। ऐसा करने से ही वह दूत धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन को अपने प्रयोजन की सिद्धि में लगा सकेगा।

अयुद्धमाकांक्षत कौरवाणां
साम्नैव दुर्योधनमाह्वयध्वम् ॥
साम्ना जितोऽर्थोऽर्थकरो भवेत
युद्धेऽनयो भविता नेह सोऽर्थः ॥२६॥

कौरव-पाण्डवों में परस्पर युद्ध हो, ऐसा कोई पग न उठाओ। सन्धि=समझौते की भावना से ही दुर्योधन को आमन्त्रित करो। मेल-मिलाप से समझा-बुझाकर जो प्रयोजन सिद्ध किया जाता है, वही परिणाम में हितकारी होता है। युद्ध में तो दोनों पक्षों की ओर से अनीति=अन्याय का ही व्यवहार होता है और अन्याय से इस संसार में किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती।

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवत्येव मधुप्रवीरे
शिनिप्रवीरः सहसोत्पपात।
तच्चापि वाक्यं परिनिन्द्य तस्य
समाददे वाक्यमिदं समन्युः ॥२७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! मधुवंश के प्रमुख वीर बलदेवजी ऐसा कह ही रहे थे कि शिनिवंश के श्रेष्ठ शूरवीर सात्यकि सहसा उछलकर खड़े हो गये। उन्होंने क्रुद्ध होकर बलरामजी के भाषण की कड़ी आलोचना करते हुए इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

सात्यकिरुवाच

यादृशः पुरुषस्यात्मा तादृशं सम्प्रभाषते।
यथारूपोऽन्तरात्मा ते तथारूपं प्रभाषसे ॥२८॥

सात्यकि बोले—बलरामजी! जैसा मनुष्य का हृदय होता है, वैसी ही बात उसके मुख से निकलती है। आपका भी जैसा अन्तःकरण है, वैसा ही भाषण दे रहे हैं।

सन्ति वै पुरुषाः शूराः सन्ति कापुरुषास्तथा।
उभावेतौ दृढौ पक्षौ दृश्येते पुरुषान् प्रति ॥२९॥

संसार में शूरवीर पुरुष भी हैं और कापुरुष=कायर भी। पुरुषों में ये दोनों पक्ष निश्चित रूप से देखे जाते हैं।

एकस्मिन्नेव जायेते कुले क्लीबमहाबलौ।
फलाफलवती शाखे यथैकस्मिन् वनस्पतौ ॥३०॥

जैसे एक ही वृक्ष में कोई शाखा फलवती होती है और कोई फलहीन; वैसे ही एक ही कुल में दो प्रकार की सन्तान होती हैं, एक नपुंसक और दूसरी महाशक्तिशाली।

नाभ्यसूयामि ते वाक्यं ब्रुवतो लाङ्गलध्वज।
ये तु शृण्वन्ति ते वाक्यं तानसूयामि माधव ॥३१॥

लाङ्गलध्वज मधुकुलभूषण! आप जो कुछ कह रहे हैं, मैं उसमें दोष नहीं निकाल रहा हूँ, अपितु जो

लोग चुप-चाप आपकी बातें सुन रहे हैं, मैं उन्हीं को दोषी मानता हूँ।

कथं हि धर्मराजस्य दोषमल्पमपि ब्रुवन्।
लभते परिषन्मध्ये व्याहर्तुमकुतोभयः ॥३२॥

भला कोई भी मनुष्य भरी सभा में निर्भय होकर धर्मराज युधिष्ठिर पर थोड़ा-सा भी दोषारोपण करे, तो वह वहाँ बोलने का अवसर कैसे पा सकता है?

समाहूय महात्मानं जितवन्तोऽक्षकोविदाः।
अनक्षज्ञं यथाश्रद्धं तेषु धर्मजयः कुतः ॥३३॥

महात्मा युधिष्ठिर जुआ खेलना नहीं जानते थे, तो भी जुए के खेल में प्रवीण धूर्तों ने उन्हें अपने घर बुलाकर अपने विश्वास के अनुसार हराया अथवा जीता है। यह उनकी धर्मपूर्वक विजय कैसे कही जा सकती है?

यदि कुन्तीसुतं गेहे क्रीडन्तं भ्रातृभिः सह।
अभिगम्य जयेयुस्ते तत् तेषां धर्मतो भवेत् ॥३४॥

यदि भाइयोंसहित कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर अपने घर पर जुआ खेलते तथा ये कौरव वहाँ जाकर इन्हें हरा देते, तो यह उनकी धर्मपूर्वक विजय कही जा सकती थी।

समाहूय च राजानं क्षत्रधर्मरतं सदा।
निकृत्या जितवन्तस्ते किं नु तेषां परं शुभम्।
कथं प्रणिपतेच्चायमिह कृत्वा पणं परम् ॥३५॥

कौरवों ने सदा क्षत्रिय-धर्म में तत्पर रहनेवाले राजा युधिष्ठिर को बुलाकर छल और कपट से इन्हें पराजित किया है। क्या यही उनका परम कल्याण-मय कर्म कहा जा सकता है? वनवास विषयक प्रतिज्ञा पूरी करके राजा युधिष्ठिर उनके समक्ष मस्तक क्यों झुकाएँ?

कथं च धर्मयुक्तास्ते न च राज्यं जिहीर्षवः।
निवृत्तवासान् कौन्तेयान् य आहुर्विदिता इति ॥३६॥

कुन्तीपुत्रों के वनवास की अवधि पूर्ण करके लौटने पर कौरव यह कहने लगे हैं कि हमने तो इन्हें समय पूर्ण होने से पहले ही पहचान लिया है। ऐसी अवस्था में यह कैसे कहा जा सकता है कि कौरव धर्म में तत्पर हैं और पाण्डवों के राज्य का अपहरण नहीं करना चाहते?

अनुनीता हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च।
न व्यवस्यन्ति पाण्डूनां प्रदातुं पैतृकं वसु ॥३७॥

वे भीष्म, द्रोण और विदुर के बहुत अनुनय-विनय करने पर भी पाण्डवों को उनका पैतृक धन वापस देने का निश्चय अथवा प्रयास नहीं कर रहे हैं।

को हि गाण्डीवधन्वानं कश्च चक्रायुधं युधि।
मां चापि विषहेत् क्रुद्धं कश्च भीमं दुरासदम् ॥३८॥

कौरव दल में ऐसा कौन है जो युद्ध-भूमि में गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन, चक्रधारी श्रीकृष्ण, क्रोध में भरे हुए मुझ सात्यकि और दुर्धर्ष वीर भीमसेन का सामना कर सके?

ते वयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रान् शकुनिना सह।
कर्णं चैव निहत्याजावभिषेक्ष्याम पाण्डवम् ॥३९॥

हम लोग शकुनि सहित धृतराष्ट्र-पुत्रों दुर्योधन आदि को तथा कर्ण को भी युद्ध में मारकर पाण्डु-नन्दन युधिष्ठिर का राज्याभिषेक करेंगे।

नाधर्मो विद्यते कश्चिच्छत्रून् हत्वाऽऽततायिनः।
अधर्म्यमयशस्यं च शात्रवाणां प्रयाचनम् ॥४०॥

आततायी शत्रुओं का वध करने में कोई पाप नहीं है। शत्रुओं के सामने याचना करना ही अधर्म और अपयश की बात है।

अद्य पाण्डुसुतो राज्यं लभतां वा युधिष्ठिरः।
निहता वा रणे सर्वे स्वप्स्यन्ति वसुधातले ॥४१॥

अब पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर को उनका राज्य वापस मिल जाना चाहिए अन्यथा समस्त कौरव युद्ध में मारे जाकर रण-भूमि में सदा के लिए सो जाएँगे।

द्रुपद उवाच

एवमेतन्महाबाहो भविष्यति न संशयः।
न हि दुर्योधनो राज्यं मधुरेण प्रदास्यति ॥४२॥
अनुवर्त्स्यति तं चापि धृतराष्ट्रः सुतप्रियः।
भीष्मद्रोणौ च कार्पण्यान्मौर्ख्याद् राधेयसौबलौ ॥४३॥

द्रुपद बोले—हे महाबाहो! तुम्हारा कहना सत्य है, निःसन्देह ऐसा ही होगा; क्योंकि दुर्योधन मधुर=शान्तिपूर्ण व्यवहार से राज्य नहीं देगा। अपने उस पुत्र के प्रति मोहासक्त रहनेवाले धृतराष्ट्र भी उसी

का अनुसरण करेंगे । भीष्म और द्रोणाचार्य दीनतावश तथा कर्ण और शकुनि मूर्खतावश दुर्योधन का साथ देंगे ।

बलदेवस्य वाक्यं तु मम ज्ञाने न युज्यते ।
एतद्धि पुरुषेणाग्रे कार्यं सुनयमिच्छता ॥४४॥
न तु वाच्यो मृदुवचो धार्तराष्ट्रः कथञ्चन ।
न हि मार्दवसाध्योऽसौ पापबुद्धिर्मतो मम ॥४५॥

बलरामजी का कथन मेरे विचार में उचित नहीं है । मैं जो कुछ कहने लगा हूँ, वही सुनीति की इच्छा रखनेवाले पुरुष को सबसे पहले करना चाहिए । धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन से मधुर अथवा नम्रतापूर्ण वचन कहना किसी प्रकार भी युक्त नहीं है । मेरा ऐसा मत है कि वह पापपूर्ण विचार रखनेवाला है, अतः मृदु-व्यवहार से वश में आनेवाला नहीं है ।

गर्दभे मार्दवं कुर्याद् गोषु तीक्ष्णं समाचरेत् ।□
मृदु दुर्योधने वाक्यं यो ब्रूयात् पापचेतसि ॥४६॥

जो पापात्मा दुर्योधन के प्रति मृदु वचन बोलेगा वह मानो गधे के प्रति कोमलतापूर्ण बर्ताव करेगा और गायों के प्रति कठोर व्यवहार ।

मृदुं वै मन्यते पापो भाषमाणमशक्तिकम् ।□
जितमर्थं विजानीयादबुधो मार्दवे सति ॥४७॥

पापी एवं मूर्ख मनुष्य मृदु-वचन बोलनेवाले को शक्तिहीन समझता है तथा कोमलता का व्यवहार करने पर यह समझने लगता है कि मैंने इसके धन पर विजय पा ली है ।

एतच्चैव करिष्यामो यत्नश्च क्रियतामिह ।
प्रस्थापयामो मित्रेभ्यो बलान्युद्योजयन्तु नः ॥४८॥

"हमें अपने मित्रों के पास यह सन्देश भेज देना चाहिए कि वे हमारे लिए सैन्य-संग्रह का उद्योग करें ।' हम इसी प्रस्ताव को सम्पन्न करेंगे और इसी के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए ।

शल्यस्य धृष्टकेतोश्च जयत्सेनस्य वा विभो ।
केकयानां च सर्वेषां दूता गच्छन्तु शीघ्रगाः ॥४९॥

भगवन् ! हमारे शीघ्रगामी दूत शल्य, धृष्टकेतु, जयत्सेन और समस्त केकय राजकुमारों के पास जाएँ ।

स च दुर्योधनो नूनं प्रेषयिष्यति सर्वशः ।
पूर्वाभिपन्नाः सन्तश्च भजन्ते पूर्वप्रेरणम् ॥५०॥

निश्चय ही दुर्योधन भी सबके यहाँ निमन्त्रण भेजेगा । श्रेष्ठ नरेश जब किसी के द्वारा पहले सहायता के लिए निमन्त्रित हो जाते हैं, तब वे पहले निमन्त्रण देनेवाले की ही सहायता करते हैं ।

तत् त्वरध्वं नरेन्द्राणां पूर्वमेव सुप्रेरणे ।
महद्धि कार्यं वोढव्यमिति मे वर्तते मतिः ॥५१॥

अतः सभी नरेशों के पास पहले ही अपना निमन्त्रण पहुँच जाए, इसके लिए शीघ्रता करो । मैं समझता हूँ, हम सब लोगों को महान् कार्य का भार वहन करना है ।

अयं च ब्राह्मणो विद्वान् मम राजन् पुरोहितः ।
प्रेष्यतां धृतराष्ट्राय वाक्यमस्मै प्रदीयताम् ॥५२॥

मत्स्यनरेश ! ये मेरे पुरोहित विद्वान् ब्राह्मण हैं, इन्हें उचित सन्देश देकर धृतराष्ट्र के पास भेजिए ।

यथा दुर्योधनो वाच्यो यथा शान्तनवो नृपः ।
धृतराष्ट्रो यथा वाच्यो द्रोणश्च रथिनां वरः ॥५३॥

दुर्योधन से क्या कहना है ? शान्तनुनन्दन भीष्मजी से किस प्रकार वार्तालाप करना है ? धृतराष्ट्र को क्या सन्देश देना है ? रथियों में श्रेष्ठ द्रोणाचार्य से क्या बातचीत करनी है—यह सब इन्हें समझा दीजिए ।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीकृष्ण का द्वारका-गमन, विराट और द्रुपद का नरेशों को युद्ध के लिए आमन्त्रण, पुरोहित का दौत्यकर्म के लिए हस्तिनापुर को प्रस्थान

श्रीकृष्ण उवाच

उपपन्नमिदं वाक्यं सोमकानां धुरन्धरे ।
अर्थसिद्धिकरं राज्ञः पाण्डवस्यामितौजसः ॥१॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे सभासदो ! सोमवंश के धुरन्धर वीर महाराज द्रुपद ने जो बात कही है, वह उन्हीं के योग्य है । इसी से अमित तेजस्वी पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिर के अभीष्ट कार्य की सिद्धि हो सकती है ।

एतच्च पूर्वं कार्यं नः सुनीतिमभिकाङ्क्षताम् ।
अन्यथा ह्याचरन् कर्म पुरुषः स्यात् सुबालिशः ॥२॥

हम लोग सुनीति की इच्छा रखनेवाले हैं, अतः हमें सबसे पहले यही कार्य करना चाहिए । जो अवसर के विपरीत आचरण करता है, वह मनुष्य अत्यन्त मूर्ख माना जाता है ।

किं तु सम्बन्धकं तुल्यमस्माकं कुरुपाण्डुषु ।
यथेष्टं वर्तमानेषु पाण्डवेषु च तेषु च ॥३॥

परन्तु हम लोगों का कौरवों और पाण्डवों के साथ एक-सा सम्बन्ध है । पाण्डव और कौरव दोनों ही हमारे साथ यथायोग्य अनुकूल वर्ताव करते हैं ।

ते विवाहार्थमानीता वयं सर्वे तथा भवान् ।
कृते विवाहे मुदिता गमिष्यामो गृहान् प्रति ॥४॥

इस समय हम और आप सब लोग विवाहोत्सव में निमन्त्रित होकर आये हैं । विवाह-कार्य सम्पन्न हो गया, अतः अब हम प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने घरों को लौट जाएँगे ।

भवान् वृद्धतमो राज्ञां वयसा च श्रुतेन च ।
शिष्यवत् ते वयं सर्वे भवामो न हि संशयः ॥५॥

आप समस्त नरेशों में अवस्था तथा शास्त्र-ज्ञान दोनों ही दृष्टियों से सबसे बड़े हैं । इसमें सन्देह नहीं है कि हम सब लोग आपके शिष्य के समान हैं ।

भवन्तं धृतराष्ट्रोऽपि सततं बहु मन्यते ।
आचार्ययोः सखा चासि द्रोणस्य च कृपस्य च ॥६॥

राजा धृतराष्ट्र भी सदा आपका विशेष आदर करते हैं । आचार्य द्रोण और कृप दोनों आपके सखा हैं ।

स भवान् प्रेषयत्वद्य पाण्डवार्थकरं वचः ।
सर्वेषां निश्चितं तन्नः प्रेषयिष्यति यद् भवान् ॥७॥

अतः आप आज ही पाण्डवों की कार्य-सिद्धि के अनुकूल संदेश भेजिए । आप जो भी सन्देश भेजेंगे, वह हम सब लोगों का निश्चित मत होगा ।

यदि तावच्छमं कुर्यान्न्यायेन कुरुपुङ्गवः ।
न भवेत् कुरुपाण्डूनां सौभ्रात्रेण महान् क्षयः ॥८॥

यदि कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन न्याय के अनुसार शान्ति स्वीकार करेगा तो कौरवों और पाण्डवों में परस्पर बन्धुजनोचित सौहार्द के कारण महाविनाश नहीं होगा ।

अथ दर्पान्वितो मोहान्न कुर्याद् धृतराष्ट्रजः ।
अन्येषां प्रेषयित्वा च पश्चादस्मान् समाह्वयेः ॥९॥

यदि धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन मोहवश अभिमान में आकर हमारा प्रस्ताव स्वीकार न करे तो आप अन्य नरेशों को युद्ध का निमन्त्रण भेजकर सबके अन्त में हमें भी आमन्त्रित कीजिएगा ।

ततो दुर्योधनो मन्दः सहामात्यः सबान्धवः ।
निष्ठामापत्स्यते मूढः क्रुद्धे गाण्डीवधन्वनि ॥१०॥

फिर तो गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन के क्रुद्ध होने पर मन्द-बुद्धि मूढ़ दुर्योधन अपने मन्त्रियों और बन्धु-जनों के साथ सर्वथा नष्ट ही हो जाएगा ।

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्कृत्य वार्ष्णेयं विराटः पृथिवीपतिः ।
गृहान् प्रस्थापयामास सगणं सहबान्धवम् ॥११॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् राजा विराट ने सेवकों तथा बान्धवोंसहित वृष्णि-कुलभूषण श्रीकृष्ण का सत्कार करके उन्हें द्वारका जाने के लिए विदा किया ।

द्वारकां तु गते कृष्णे युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
चक्रुः सांग्रामिकं सर्वं विराटश्च महीपतिः ॥१२॥

श्रीकृष्ण के द्वारका चले जाने पर युधिष्ठिर आदि पाण्डव तथा राजा विराट युद्ध की सारी तैयारी करने लगे।

ततः सम्प्रेषयामास विराटः सह बान्धवैः।
सर्वेषां भूमिपालानां द्रुपदश्च महीपतिः ॥१३॥

बन्धुओंसहित राजा विराट तथा महाराज द्रुपद ने मिलकर सब राजाओं के पास युद्ध का निमन्त्रण भेजा।

ततः प्रज्ञावयोवृद्धं पाञ्चाल्यः स्वपुरोहितम्।
कुरुभ्यः प्रेषयामास युधिष्ठिरमते स्थितः ॥१४॥

उधर पाञ्चालनरेश द्रुपद ने युधिष्ठिर की सम्मति के अनुसार बुद्धि और अवस्था में बढ़े-चढ़े अपने पुरोहित को कौरवों के पास भेजा।

द्रुपद उवाच

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः। □
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेष्वपि द्विजातयः ॥१५॥

द्रुपद बोले—पुरोहितजी! समस्त भूतों में प्राणधारी श्रेष्ठ हैं। प्राणधारियों में भी बुद्धिजीवी श्रेष्ठ हैं। बुद्धिजीवी प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में भी ब्राह्मण श्रेष्ठ माने गये हैं।

द्विजेषु वैद्याः श्रेयांसो वैद्येषु कृतबुद्धयः। □
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः ॥१६॥

ब्राह्मणों में विद्वान्, विद्वानों में भी सिद्धान्त के जानकार, सिद्धान्त के ज्ञाताओं में भी तदनुसार आचरण करनेवाले पुरुष और उनमें भी ब्रह्मवेत्ता श्रेष्ठ हैं।

स भवान् कृतबुद्धीनां प्रधान इति मे मतिः।
कुलेन च विशिष्टोऽसि वयसा च श्रुतेन च ॥१७॥

मेरा ऐसा विश्वास है कि आप सिद्धान्तवेत्ताओं में प्रमुख हैं। आप कुलीन तो हैं ही, अवस्था और शास्त्र-ज्ञान में भी बढ़े-चढ़े हैं।

प्रज्ञया सदृशश्चासि शुक्रेणाङ्गिरसेन च।
विदितं चापि ते सर्वं यथावृत्तः स कौरवः ॥१८॥

आपकी बुद्धि शुक्राचार्य और बृहस्पति के समान है। दुर्योधन का आचार-विचार जैसा है, वह सब भी आपको विदित ही है।

पाण्डवश्च यथावृत्तः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
धृतराष्ट्रस्य विदिते वञ्चिताः पाण्डवाः परैः ॥१९॥

कुन्तीपुत्र पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर का आचार-विचार भी आपसे छिपा नहीं है। धृतराष्ट्र की जानकारी में शत्रुओं ने पाण्डवों को ठगा है।

शकुनिर्बुद्धिपूर्वं हि कुन्तीपुत्रं समाह्वयत्।
अनक्षज्ञं मताक्षः सन् क्षत्रवृत्ते स्थितं शुचिम् ॥२०॥

द्यूतक्रीड़ा में प्रवीण शकुनि ने यह जानते हुए भी कि युधिष्ठिर जुए के खिलाड़ी नहीं हैं, वे क्षत्रिय-धर्म पर चलनेवाले शुद्धात्मा पुरुष हैं, उन्हें जान-बूझकर जुए के लिए बुलाया।

ते तथा वञ्चयित्वा तु धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
न कस्याञ्चिदवस्थायां राज्यं दास्यन्ति वै स्वयम् ॥२१

उन सबने मिलकर धर्मराज युधिष्ठिर को ठगा है। अब वे किसी भी दशा में स्वयं राज्य नहीं लौटाएंगे।

भवांस्तु धर्मसंयुक्तं धृतराष्ट्रं ब्रुवन् वचः।
मनांसि तस्य योधानां ध्रुवमावर्तयिष्यति ॥२२॥

परन्तु आप राजा धृतराष्ट्र से धर्मयुक्त बातें कहकर उनके योद्धाओं का मन निश्चय ही अपनी ओर फेर लेंगे।

विद्यमानेषु च स्वेषु लम्बमाने तथा त्वयि।
न तथा ते करिष्यन्ति सेनाकर्म न संशयः ॥२३॥

जब हमारे स्वजन वहाँ उपस्थित रहेंगे तथा आप भी वहाँ रहकर लौटने में विलम्ब करते रहेंगे, तब निःसन्देह वे सैन्यसंग्रह का कार्य उतने अच्छे ढंग से नहीं कर सकेंगे।

न च तेभ्यो भयं तेऽस्ति ब्राह्मणो ह्यसि वेदवित्।
दूतकर्मणि युक्तश्च स्थविरश्च विशेषतः ॥२४॥

आपको उनसे कोई भय नहीं है, क्योंकि आप वेदवेत्ता ब्राह्मण हैं। विशेष रूप से दूतकर्म में नियुक्त और वृद्ध हैं।

स भवान् पुष्ययोगेन मुहूर्तेन जयेन च।
कौरवेयान् प्रयात्वाशु कौन्तेयस्यार्थसिद्धये ॥२५॥

अतः आप पुष्य-नक्षत्र से युक्त जय नामक मुहूर्त में कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर के कार्य की सिद्धि के लिए कौरवों के पास शीघ्र जाइए।

वैशम्पायन उवाच

तथानुशिष्टः प्रययौ द्रुपदेन महात्मना ।
पुरोधा वृत्तसम्पन्नो नगरं नागसाह्वयम् ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! महामना राजा द्रुपद द्वारा इस प्रकार अनुशासित होकर सदाचार-सम्पन्न पुरोहित ने हस्तिनापुर को प्रस्थान किया ।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

श्रीकृष्ण द्वारा दुर्योधन और अर्जुन दोनों की सहायता

वैशम्पायन उवाच

पुरोहितं ते प्रस्थाप्य नगरं नागसाह्वयम् ।
दूतान् प्रस्थापयामासुः पार्थिवेभ्यस्ततस्ततः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! पुरोहित को हस्तिनापुर भेजकर पाण्डव लोग यत्र-तत्र राजाओं के यहाँ अपने दूतों को भेजने लगे ।

प्रस्थाप्य दूतानन्यत्र द्वारकां पुरुषर्षभः ।
स्वयं जगाम कौरव्यः कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥२॥

अन्य सब स्थानों में दूत भेजकर कुरुकुलभूषण कुन्तीपुत्र नरश्रेष्ठ धनञ्जय स्वयं द्वारकापुरी को गये ।

गते द्वारवतीं कृष्णे गूढैः प्रणिहितैश्चरैः ।
सर्वमागमयामास पाण्डवानां विचेष्टितम् ॥३॥

श्रीकृष्ण के द्वारकापुरी की ओर प्रस्थान करने पर दुर्योधन ने अपने नियुक्त किये हुए गुप्तचरों से पाण्डवों की सारी चेष्टाओं का पता लगा लिया था ।

स श्रुत्वा माधवं यान्तं सदश्वैरनिलोपमैः ।
बलेन नातिमहता द्वारकामभ्ययात् पुरीम् ॥४॥

जब उसने सुना कि श्रीकृष्ण विराटनगर से द्वारका को जा रहे हैं, तब वह वायु के समान वेगवान् उत्तम घोड़ों तथा एक छोटी-सी सेना के साथ द्वारकापुरी की ओर चल दिया ।

तमेव दिवसं चापि कौन्तेयः पाण्डुनन्दनः ।
आनर्तनगरीं रम्यां जगामाशु धनञ्जयः ॥५॥

कुन्तीकुमार पाण्डुनन्दन अर्जुन ने भी उसी दिन शीघ्रतापूर्वक रमणीय द्वारकापुरी की ओर प्रस्थान किया ।

तौ यात्वा पुरुषव्याघ्रौ द्वारकां कुरुनन्दनौ ।
सुप्तं ददृशतुः कृष्णं शयानं चाभिजग्मतुः ॥६॥

कुरुवंश का आनन्द बढ़ानेवाले उन दोनों नरवीरों ने द्वारका में पहुँचकर देखा कि श्रीकृष्ण शयन कर रहे हैं । तब वे दोनों सोये हुए श्रीकृष्ण के पास गये ।

ततः शयाने गोविन्दे प्रविवेश सुयोधनः ।
उच्छीर्षतश्च कृष्णस्य निषसाद वरासने ॥७॥

श्रीकृष्ण के शयनकाल में पहले दुर्योधन ने उनके भवन में प्रवेश किया तथा उनके सिरहाने की ओर रखे हुए एक उत्तम सिंहासन पर बैठ गया ।

ततः किरीटी तस्यानुप्रविवेश महामनाः ।
पश्चाच्चैव स कृष्णस्य प्रह्वोऽतिष्ठत् कृताञ्जलिः ॥८॥

तदनन्तर महामना किरीटधारी अर्जुन श्रीकृष्ण के शयनागार में प्रविष्ट हुए । वे अत्यन्त नम्रता के साथ हाथ जोड़े हुए श्रीकृष्ण के चरणों की ओर खड़े रहे ।

प्रतिबुद्धः स वार्ष्णेयो ददर्शाग्रे किरीटिनम् ।
स तयोः स्वागतं कृत्वा यथावत् प्रतिपूज्य तौ ॥९॥
तदागमनजं हेतुं पप्रच्छ मधुसूदनः ।
ततो दुर्योधनः कृष्णमुवाच प्रहसन्निव ॥१०॥

जागने पर वृष्णिकुलभूषण श्रीकृष्ण ने पहले अर्जुन को ही देखा । फिर मधुसूदन ने उन दोनों का यथायोग्य आदर-सत्कार करके उनके आगमन का कारण पूछा । तब दुर्योधन ने हँसते-हुए-से श्रीकृष्ण से कहा—

दुर्योधन उवाच

विग्रहेऽस्मिन् भवान् कृष्ण साहाय्यं दातुमर्हति ।
समं हि भवतः सख्यं मम चैवार्जुनेऽपि च ॥११॥

अहं चाभिगतः पूर्वं त्वामद्य मधुसूदन।
पूर्वं चाभिगतं सन्तो भजन्ते पूर्वसारिणः ॥१२॥
त्वं च श्रेष्ठतमो लोके सतामद्य जनार्दन।
सततं सम्मतश्चैव सद्‌वृत्तमनुपालय ॥१३॥

दुर्योधन बोला—हे माधव ! [पाण्डवों के साथ हमारा] जो युद्ध होनेवाला है, उसमें आप मेरी सहायता करें। आपकी मेरे और अर्जुन के साथ एक-सी मित्रता है और मधुसूदन ! आज मैं ही आपके पास पहले आया हूँ। पूर्वपुरुषों के सदाचार का अनुसरण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष पहले आये हुए प्रार्थी की ही सहायता करते हैं। जनार्दन ! आप इस समय संसार के सत्पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ हैं और सभी आपको सदा सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, अतः आप सत्पुरुषों के ही आचार का पालन कर।

कृष्ण उवाच

भवानभिगतः पूर्वमत्र मे नास्ति संशयः।
दृष्टस्तु प्रथमं राजन् मया पार्थो धनञ्जयः ॥१४॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजन् ! इसमें सन्देह नहीं कि आप ही मेरे यहाँ पहले आये हैं, परन्तु मैंने पहले कुन्तीनन्दन अर्जुन को ही देखा है।

तव पूर्वाभिगमनात् पूर्वं चाप्यस्य दर्शनात्।
साहाय्यमुभयोरेव करिष्यामि सुयोधन ॥१५॥

सुयोधन ! आप पहले आये हैं, और अर्जुन को मैंने पहले देखा है, अतः मैं दोनों की ही सहायता करूँगा।

प्रवारणं तु बालानां पूर्वं कार्यमिति श्रुतिः।
तस्मात् प्रवारणं पूर्वमर्हः पार्थो धनञ्जयः ॥१६॥

शास्त्र की आज्ञा है कि पहले बालकों को ही उनकी अभीष्ट वस्तु देनी चाहिए, अतः अवस्था में छोटे होने के कारण पहले कुन्तीपुत्र अर्जुन ही अपनी अभीष्ट वस्तु पाने के अधिकारी हैं।

मत्संहननतुल्यानां गोपानामर्बुदं महत्।
नारायणा इति ख्याताः सर्वे संग्रामयोधिनः ॥१७॥

मेरे पास 'अर्बुद' नामक गोपों की एक विशाल सेना है, जो सब-के-सब मेरे ही जैसे बलिष्ठ शरीरवाले हैं। उन सबकी 'नारायण' संज्ञा है। वे सभी युद्ध में डटकर लोहा लेनेवाले हैं।

ते वा युधि दुराधर्षा भवन्त्वेकस्य सैनिकाः।
अयुध्यमानः संग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहमेकतः ॥१८॥

एक ओर तो वे दुर्धर्ष सैनिक युद्ध के लिए उद्यत रहेंगे और दूसरी ओर अकेला मैं रहूँगा, परन्तु मैं न तो युद्ध करूँगा और न कोई शस्त्र ही धारण करूँगा।

आभ्यामन्यतरं पार्थ यत् ते हृद्यतरं मतम्।
तद् वृणीतां भवानग्रे प्रवार्यस्त्वं हि धर्मतः ॥१९॥

हे अर्जुन ! इन दोनों में से कोई एक वस्तु जो तुम्हारे मन को अधिक प्रिय जान पड़े, तुम पहले चुन लो, क्योंकि धर्म के अनुसार पहले तुम्हें ही अपनी मनचाही वस्तु चुनने का अधिकार है।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कृष्णेन कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः।
अयुध्यमानं संग्रामे वरयामास केशवम् ॥२०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन् ! श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर धनञ्जय ने संग्राम-भूमि में युद्ध न करनेवाले श्रीकृष्ण को ही अपना सहायक चुना।

दुर्योधनस्तु तत् सैन्यं सर्वमावरयत् तदा।
कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा सम्प्राप परमां मुदम् ॥२१॥
ततोऽभ्ययाद् भीमबलो रौहिणेयं महाबलम्।
सर्वं चागमने हेतुं स तस्मै संन्यवेदयत् ॥२२॥

जनमेजय ! तब दुर्योधन ने वह सारी सेना माँग ली। उन योद्धाओं को पाकर और श्रीकृष्ण को ठगा गया समझकर राजा दुर्योधन को अतिहर्ष हुआ। उस सारी सेना को लेकर महाबली दुर्योधन रोहिणीनन्दन बलरामजी के पास गया और उन्हें अपने आने का सारा कारण बताया।

बलदेव उवाच

नाहं सहायः पार्थस्य नापि दुर्योधनस्य वै।
इति मे निश्चिता बुद्धिर्वासुदेवमवेक्ष्य ह ॥२३॥

मैं श्रीकृष्ण की ओर देखकर मन-ही-मन इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि मैं न तो अर्जुन की सहायता करूँगा और न दुर्योधन की ही।

जातोऽसि भारते वंशे सर्वपार्थिवपूजिते।
गच्छ युध्यस्व धर्मेण क्षात्रेण पुरुषर्षभ ॥२४॥

पुरुषश्रेष्ठ ! तुम समस्त राजाओं द्वारा सम्मानित

भरतवंश में उत्पन्न हुए हो। जाओ, क्षत्रिय धर्म के अनुसार युद्ध करो।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्तस्तु तदा परिष्वज्य हलायुधम्।
कृष्णं चापहृतं ज्ञात्वा युद्धे मेने जितं जयम् ॥२५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! बलराम के ऐसा कहने पर दुर्योधन ने उन्हें हृदय से लगाया और श्रीकृष्ण को ठगा गया जानकर युद्ध में अपनी निश्चित विजय समझ ली।

सोऽभ्ययात् कृतवर्माणं धृतराष्ट्रसुतो नृपः।
कृतवर्मा ददौ तस्य सेनामक्षौहिणीं तदा ॥२६॥

तत्पश्चात् धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन कृतवर्मा के पास गया। कृतवर्मा ने उसे एक अक्षौहिणी सेना प्रदान की।

स तेन सर्वसैन्येन भीमेन कुरुनन्दनः।
वृतः परिययौ हृष्टः सुहृदः सम्प्रहर्षयन् ॥२७॥

उस सारी भयंकर सेना के द्वारा घिरा हुआ कुरुनन्दन दुर्योधन अपने सुहृदों का हर्ष बढ़ाता हुआ बड़ी प्रसन्नता के साथ हस्तिनापुर को लौट गया।

गते दुर्योधने कृष्णः किरीटिनमथाब्रवीत्।
अयुध्यमानः कां बुद्धिमास्थायाहं वृतस्त्वया ॥२८॥

दुर्योधन के चले जाने पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से पूछा—"पार्थ! मैं तो युद्ध करूँगा नहीं, फिर तुमने क्या सोच-समझकर मुझे चुना है?"

अर्जुन उवाच

भवान् समर्थस्तान् सर्वान् निहन्तुं नात्र संशयः।
निहन्तुमहमप्येकः समर्थः पुरुषर्षभ ॥२९॥

अर्जुन बोले—हे पुरुषोत्तम! आप अकेले ही उन सबको नष्ट करने में समर्थ हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। [आपकी कृपा से] मैं भी अकेला ही उन सब शत्रुओं का संहार करने में समर्थ हूँ।

भवांस्तु कीर्तिमाँल्लोके तद्यशस्त्वां गमिष्यति।
यशसां चाहमप्यर्थी तस्मादसि मया वृतः ॥३०॥

आप संसार में यशस्वी हैं। आप जहाँ भी रहेंगे, वहाँ ही यश आपका ही अनुसरण करेगा। मुझे भी यश की इच्छा है, अतः मैंने आपका वरण किया है।

सारथ्यं तु त्वया कार्यमिति मे मानसं सदा।
चिररात्रेप्सितं कामं तद् भवान् कर्तुमर्हति ॥३१॥

मेरे मन में बहुत समय से यह इच्छा थी कि आपको अपना सारथि बनाऊँ—अपने जीवन-रथ की बागडोर आपके हाथों में सौंप दूँ। मेरी इस चिर-कालिक अभिलाषा को आप पूर्ण करें।

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं पार्थ यत् स्पर्धसि मया सह।
सारथ्यं ते करिष्यामि कामः सम्पद्यतां तव ॥३२॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे पार्थ! तुम जो शत्रुओं पर विजय पाने में मेरे साथ स्पर्धा रखते हो, वह तुम्हारे योग्य ही है। मैं तुम्हारा सारथ्य करूँगा। तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण हो।

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रमुदितः पार्थः कृष्णेन सहितस्तदा।
वृतो दाशार्हप्रवरैः पुनरायाद् युधिष्ठिरम् ॥३३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार अपनी इच्छा पूर्ण होने से प्रसन्न हुए अर्जुन श्रीकृष्ण सहित प्रमुख दशार्हवंशी यादवों से घिरे हुए पुनः युधिष्ठिर के पास आये।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

शल्य का दुर्योधन के सत्कार से प्रसन्न होकर उसे वर और युधिष्ठिर से मिलकर उन्हें आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

शल्यः श्रुत्वा तु दूतानां सैन्येन महता वृतः।
अभ्ययात् पाण्डवान् राजन् सह पुत्रैर्महारथैः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! पाण्डवों के दूतों द्वारा उनका सन्देश सुनकर राजा शल्य अपने महारथी पुत्रोंसहित विशाल सेना लेकर पाण्डवों के पास चले।

ततो दुर्योधनः श्रुत्वा महात्मानं महारथम्।
उपायान्तमभिद्रुत्य स्वयमानर्च भारत ॥२॥

भरतनन्दन! तब दुर्योधन ने महारथी तथा

महामना राजा शल्य का आगमन सुनकर स्वयं आगे बढ़कर [मार्ग में ही] उनका आदर-सत्कार करना आरम्भ कर दिया।

कारयामास पूजार्थं तस्य दुर्योधनः सभाः।
तत्र वस्त्राणि माल्यानि भक्ष्यं पेयं च सत्कृतम् ॥३॥

दुर्योधन ने राजा शल्य के स्वागत-सत्कार के लिए [मार्ग में] बहुत-से सभाभवन बनवाए। उनमें अनेक प्रकार के वस्त्र, मालाएँ, खाने-पीने की वस्तुएँ तथा सत्कार का अन्य सामान रखवाया।

स ताः सभाः समासाद्य पूज्यमानो यथामरः।
दुर्योधनस्य सचिवैर्देशे देशे समन्ततः ॥४॥

मार्ग में विभिन्न स्थानों में बने हुए उन सभा-भवनों में पहुँचकर राजा शल्य दुर्योधन के मन्त्रियों द्वारा देवताओं की भाँति पूजित होते थे।

आजगाम सभामन्यां देवावसथवर्चसाम्।
स तत्र विषयैर्युक्तः कल्याणैरतिमानुषैः ॥५॥

यात्रा करते हुए शल्य एक दिन एक अन्य सभा-भवन में पहुँचे, जो देवमन्दिर के समान प्रकाशित था। वहाँ उन्हें अलौकिक कल्याणमय भोग प्राप्त हुए।

मेनेऽभ्यधिकमात्मानमवमेने पुरन्दरम्।
पप्रच्छ स ततः प्रेष्यान् प्रहृष्टः क्षत्रियर्षभः ॥६॥

उस समय उस क्षत्रियशिरोमणि भूपाल ने अपने आपको सबसे अधिक सौभाग्यशाली समझा। उन्हें देवराज इन्द्र भी अपने से तुच्छ प्रतीत हुए। उस समय अति प्रसन्न होकर उन्होंने सेवकों से पूछा—

युधिष्ठिरस्य पुरुषाः केऽत्र चक्रुः सभा इमाः।
आनीयन्तां सभाकाराः प्रदेयार्हा हि मे मताः ॥७॥

"युधिष्ठिर के किन सेवकों ने ये सभा-भवन बनवाये हैं? उन सबको बुलवाओ। मैं उन्हें पुरस्कार देने योग्य समझता हूँ।"

सम्प्रहृष्टो यदा शल्यो दिदित्सुरपि जीवितम्।
गूढो दुर्योधनस्तत्र दर्शयामास मातुलम् ॥८॥

हर्ष में भरे हुए राजा शल्य जब [अपने प्रति किये गये उपकार के बदले] प्राण तक देने के लिए तैयार हो गये, तब गुप्तरूप से वहीं छिपा हुआ दुर्योधन मामा शल्य के सामने गया।

तं दृष्ट्वा मद्रराजश्च ज्ञात्वा यत्नं च तस्य तम्।
परिष्वज्याब्रवीत् प्रीत इष्टोऽर्थो गृह्यतामिति ॥९॥

उसे देखकर और यह जानकर कि उसने ही यह सारी व्यवस्था की है, मद्रराज ने प्रसन्नतापूर्वक दुर्योधन को हृदय से लगा लिया और कहा—"तुम अपनी अभीष्ट वस्तु मुझसे माँग लो।"

दुर्योधन उवाच

सत्यवाग् भव कल्याण वरो वै मम दीयताम्।
सर्वसेनाप्रणेता मे भवान् भवितुमर्हति ॥१०॥

दुर्योधन बोला—कल्याणस्वरूप महानुभाव! आपकी बात सत्य हो। आप मुझे निश्चय ही वर प्रदान कीजिए। मैं चाहता हूँ कि आप मेरी सम्पूर्ण सेना के अधिनायक हो जाएँ।

वैशम्पायन उवाच

कृतमित्यब्रवीच्छल्यः किमन्यत् क्रियतामिति।
कृतमित्येव गान्धारिः प्रत्युवाच पुनः पुनः ॥११॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन्! उस समय शल्य ने दुर्योधन से कहा—"तुम्हारी यह प्रार्थना तो स्वीकार हो गई, अब और कौन-सा कार्य करूँ?" यह सुनकर गान्धारीपुत्र दुर्योधन ने बार-बार यही कहा कि मेरा तो सब कार्य आपने सम्पन्न कर दिया।

शल्य उवाच

गच्छ दुर्योधन पुरं स्वकमेव नरर्षभ।
अहं गमिष्ये द्रष्टुं वै युधिष्ठिरमरिन्दमम् ॥१२॥

शल्य बोले—नरश्रेष्ठ दुर्योधन! अब तुम अपने नगर को लौट जाओ। मैं शत्रुदमन युधिष्ठिर से मिलने जाऊँगा।

दृष्ट्वा युधिष्ठिरं राजन् क्षिप्रमेष्ये नराधिप।
अवश्यं चापि द्रष्टव्यः पाण्डवः पुरुषर्षभः ॥१३॥

राजन्! नरेश्वर! मैं युधिष्ठिर से मिलकर शीघ्र ही लौट आऊँगा। पाण्डुपुत्र नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर से मिलना भी अत्यन्त आवश्यक है।

दुर्योधन उवाच

क्षिप्रमागम्यतां राजन् पाण्डवं वीक्ष्य पार्थिव।
त्वय्याधीनाः स्म राजेन्द्र वरदानं स्मरस्व नः ॥१४॥

दुर्योधन ने कहा—राजन्! पृथिवीपते! पाण्डु-नन्दन युधिष्ठिर से मिलकर आप शीघ्र लौट आइए।

हे राजेन्द्र ! हम आपके ही अधीन हैं। आपने हमें जो वरदान दिया है, उसे स्मरण रखिएगा।

वैशम्पायन उवाच

स तथा शल्यमामन्त्र्य पुनरायात् स्वकं पुरम्।
शल्यो जगाम कौन्तेयानाख्यातुं कर्म तस्य तत् ॥१५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार शल्य से आज्ञा लेकर दुर्योधन अपने नगर को लौट गया और शल्य कुन्तीपुत्रों से दुर्योधन की वह करतूत सुनाने के लिए युधिष्ठिर के पास गये।

उपप्लव्यं स गत्वा तु स्कन्धावारं प्रविश्य च।
पाण्डवानथ तान् सर्वान् शल्यस्तत्र ददर्श ह ॥१६॥

विराटनगर के उपप्लव्य नामक प्रदेश में जाकर वे पाण्डवों की छावनी में पहुँचे तथा वहीं उन सब पाण्डवों से मिले।

आसने चोपविष्टस्तु शल्यः पार्थमुवाच ह।
कुशलं राजशार्दूल कच्चित् ते कुरुनन्दन ॥१७॥

आसन पर विराजमान होने के पश्चात् शल्य युधिष्ठिर से बोले—"नृपश्रेष्ठ कुरुनन्दन ! तुम कुशल-पूर्वक तो हो न ?

अरण्यवासाद् दिष्ट्यासि विमुक्तो जयतां वर।
सुदुष्करं कृतं राजन् निर्जने वसता त्वया।
भ्रातृभिः सह राजेन्द्र कृष्णया चानया सह ॥१८॥

"विजयी वीरों में श्रेष्ठ नरेश ! यह महान् सौभाग्य की बात है कि तुम वनवास के कष्ट से छुटकारा पा गये। राजन् ! तुमने अपने भाइयों तथा इस द्रुपदकुमारी कृष्णा के साथ निर्जन वन में निवास करके अत्यन्त दुष्कर कार्य किया है।

अज्ञातवासं घोरं च वसता दुष्करं कृतम्।
दुःखमेव कुतः सौख्यं भ्रष्टराज्यस्य भारत ॥१९॥

"हे भारत ! भयंकर अज्ञातवास करके तुम लोगों ने और भी दुष्कर कार्य किया है। जो अपने राज्य से वञ्चित हो गया हो, उसे तो कष्ट ही उठाना पड़ता है, सुख कहाँ मिल सकता है ?

दुःखस्यैतस्य महतो धार्तराष्ट्रकृतस्य वै।
अवाप्स्यसि सुखं राजन् हत्वा शत्रून् परन्तप ॥२०॥

"शत्रुसंतापक नरेश ! दुर्योधन द्वारा दिये गये इस महान् दुःख के अन्त में अब तुम शत्रुओं को मारकर सुख के भागी होओगे।"

ततोऽस्याकथयद् राजा दुर्योधनसमागमम्।
तच्च शुश्रूषितं सर्वं वरदानं च भारत ॥२१॥

भारत ! इस वार्तालाप के पश्चात् राजा शल्य ने दुर्योधन के मिलने, सेवा-सत्कार करने और उसे अपने वरदान देने की सारी बातें कह सुनाईं।

युधिष्ठिर उवाच

सुकृतं ते कृतं राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
दुर्योधनस्य यद् वीर त्वया वाचा प्रतिश्रुतम् ॥२२॥

युधिष्ठिर बोले—वीर महाराज ! आपने प्रसन्न-चित्त होकर दुर्योधन को उसकी सहायता करने का जो वचन दिया है, वह अच्छा ही किया।

एकं त्विच्छामि भद्रं ते क्रियमाणं महीपते।
राजन्नकर्तव्यमपि कर्तुमर्हसि सत्तम ॥२३॥

परन्तु पृथिवीपते ! आपका कल्याण हो। मैं आपके द्वारा अपना भी एक कार्य कराना चाहता हूँ। साधुशिरोमणे ! वह न करने योग्य होने पर भी आपको अवश्य करना चाहिए।

भवानिह च सारथ्ये वासुदेवसमो युधि।
कर्णार्जुनाभ्यां सम्प्राप्ते द्वैरथे राजसत्तम ॥२४॥
कर्णस्य भवता कार्यं सारथ्यं नात्र संशयः।
तत्र तेजोवधः कार्यः कर्णस्यार्जुनसंस्तवः ॥२५॥

नृपशिरोमणे ! आप पृथिवी पर युद्ध में सारथ्य-कर्म में श्रीकृष्ण के समान माने गये हैं। जब कर्ण और अर्जुन के द्वैरथयुद्ध का अवसर प्राप्त होगा, उस समय आपको ही कर्ण के सारथि का काम करना पड़ेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। उस समय आप अर्जुन की प्रशंसा करके कर्ण के तेज और उत्साह का नाश करें [यही मेरी विनय है]।

शल्य उवाच

अहं तस्य भविष्यामि संग्रामे सारथिर्ध्रुवम्।
वासुदेवेन हि समं नित्यं मां स हि मन्यते ॥२६॥

शल्य बोले—पाण्डुनन्दन ! यह निश्चित है कि युद्ध में मैं कर्ण का सारथि होऊंगा। स्वयं कर्ण भी सदा मुझे सारथि-कर्म में श्रीकृष्ण के समान समझता है।

तस्याहं कुरुशार्दूल प्रतीपमहितं वचः ।
ध्रुवं संकथयिष्यामि योद्धुकामस्य संयुगे ॥२७॥
यथा स हृतदर्पश्च हृततेजाश्च पाण्डव ।
भविष्यति सुखं हन्तुं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥२८॥

कुरुश्रेष्ठ ! जब कर्ण युद्धभूमि में अर्जुन के साथ युद्ध की इच्छा करेगा, उस समय मैं निश्चय ही उसके प्रतिकूल अहितकर वचन बोलूँगा, जिससे उसका अभिमान और तेज नष्ट हो जाएगा तथा वह युद्ध में सुखपूर्वक मारा जा सकेगा। पाण्डुनन्दन ! यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ।

एवमेतत् करिष्यामि यथा मां सम्प्रभाषसे ।
यच्चान्यदपि शक्ष्यामि तत् करिष्यामि ते प्रियम् ॥२९॥

राजन्, तुम मुझसे जैसा कह रहे हो, मैं ऐसा ही करूँगा। इसके सिवा और भी जो कुछ मुझसे हो सकेगा, तुम्हारा वह प्रिय कार्य अवश्य करूँगा।

वैशम्पायन उवाच

ततस्त्वामन्त्र्य कौन्तेयाञ्छल्यो मद्राधिपस्तदा ।
जगाम सबलः श्रीमान् दुर्योधनमरिन्दम ॥३०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुदमन जनमेजय ! तत्पश्चात् समस्त कुन्तीकुमारों से विदा लेकर श्रीमान् मद्रराज शल्य अपनी सेना के साथ दुर्योधन के यहाँ चले गये ।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

द्रुपद के पुरोहित का कौरव-सभा में भाषण और भीष्मजी द्वारा उसका समर्थन; कर्ण के आक्षेपपूर्ण वचन, धृतराष्ट्र द्वारा सम्मानपूर्वक दूत की विदाई

वैशम्पायन उवाच

स च कौरव्यमासाद्य द्रुपदस्य पुरोहितः ।
सत्कृतो धृतराष्ट्रेण भीष्मेण विदुरेण च ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उधर द्रुपद के पुरोहित कौरवनरेश के पास पहुँचकर राजा धृतराष्ट्र, भीष्म तथा विदुरजी द्वारा सम्मानित हुए।

सर्वं कौशल्यमुक्त्वाऽऽदौ पृष्ट्वा चैवमनामयम् ।
सर्वसेनाप्रणेतॄणां मध्ये वाक्यमुवाच ह ॥२॥

उन्होंने पहले अपने पक्ष के लोगों का सारा कुशल समाचार बताकर धृतराष्ट्र आदि के स्वास्थ्य का समाचार पूछा, तत्पश्चात् समस्त सेनानायकों के समक्ष इस प्रकार कहा—

धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च सुतावेकस्य विश्रुतौ ।
तयोः समानं द्रविणं पैतृकं नात्र संशयः ॥३॥
धृतराष्ट्रस्य ये पुत्राः प्राप्तं तैः पैतृकं वसु ।
पाण्डुपुत्राः कथं नाम न प्राप्ताः पैतृकं वसु ॥४॥

"राजा धृतराष्ट्र तथा पाण्डु दोनों एक ही पिता के सुविख्यात पुत्र हैं। पैतृक सम्पत्ति में दोनों का समान अधिकार है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। धृतराष्ट्र के पुत्रों ने तो पैतृक धन प्राप्त कर लिया फिर पाण्डवों को वह पैतृक सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो ?

प्राणान्तिकैरप्युपायैः प्रयतद्भिरनेकशः ।
शेषवन्तो न शकिता नेतुं वै यमसादनम् ॥५॥

"दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रपुत्रों ने प्राणहारी उपायों द्वारा अनेक बार पाण्डवों को नष्ट करने का प्रयत्न किया, परन्तु इनकी आयु शेष थी, अतः वे इन्हें यमलोक न पठा सके।

ते सर्वे पृष्ठतः कृत्वा तत्सर्वं पूर्वकिल्बिषम् ।
सामैव कुरुभिः सार्धमिच्छन्ति कुरुपुङ्गवाः ॥६॥

"पहले के किये हुए उन सब अत्याचारों को भुलाकर वे कुरुश्रेष्ठ पाण्डव अब भी इन कौरवों के साथ मेल-जोल ही रखना चाहते हैं।

तेषां तु वृत्तमाज्ञाय वृत्तं दुर्योधनस्य च ।
अनुनेतुमिहार्हन्ति धार्तराष्ट्रं सुहृज्जनाः ॥७॥

"पाण्डवों के आचार-व्यवहार को तथा दुर्योधन के वर्ताव को जानकर [दोनों पक्षों का हित चाहने-वाले] सुहृदों का यह कर्तव्य है कि वे दुर्योधन को समझाएँ।

न हि ते विग्रहं वीराः कुर्वन्ति कुरुभिः सह।
अविनाशेन लोकस्य काङ्क्षन्ते पाण्डवाः स्वकम् ॥८॥

"वीर पाण्डव कौरवों के साथ युद्ध नहीं कर रहे हैं। वे नरसंहार किये बिना ही अपना राज्य पाना चाहते हैं।

यश्चापि धार्तराष्ट्रस्य हेतुः स्याद् विग्रहं प्रति।
स च हेतुर्न मन्तव्यो बलीयांसस्तथा हि ते ॥९॥

"दुर्योधन जिस हेतु को सामने रखकर युद्ध के लिए उत्सुक है, उसे यथार्थ नहीं मानना चाहिए, क्योंकि पाण्डव इन कौरवों से कहीं अधिक बलवान् हैं।

एकादशैताः पृतना एकतश्च समागताः।
एकतश्च महाबाहुर्बहुरूपी धनञ्जयः ॥१०॥

"कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना एक ओर से आएँ और दूसरी ओर अनेक रूपधारी महाबाहु अर्जुन हों, तो वे अकेले ही, उन सबके लिए पर्याप्त हैं।

बहुलत्वं च सेनानां विक्रमं च किरीटिनः।
बुद्धिमत्त्वं च कृष्णस्य बुद्ध्वा युध्येत को नरः ॥११॥

"युधिष्ठिर की सेनाओं की बहुलता, किरीटधारी अर्जुन के पराक्रम और श्रीकृष्ण की बुद्धिमत्ता को जान लेने पर कौन मनुष्य पाण्डवों के साथ युद्ध कर सकता है?

ते भवन्तो यथाधर्मं यथासमयमेव च।
प्रयच्छन्तु प्रदातव्यं मा वः कालोऽत्यगादयम् ॥१२॥

"आप लोग अपने धर्म और पूर्वप्रतिज्ञा के अनुसार पाण्डवों को उनका आधा राज्य, जो उन्हें मिलना ही चाहिए, दे दीजिए। कहीं ऐसा न हो कि यह सुअवसर आप लोगों के हाथों से निकल जाए।"

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा प्रज्ञावृद्धो महाद्युतिः।
सम्पूज्यैनं यथाकालं भीष्मो वचनमब्रवीत् ॥१३॥

जनमेजय! पुरोहित का यह कथन सुनकर बुद्धि में बढ़े-चढ़े महातेजस्वी भीष्म ने समय के अनुसार उनका आदर करके इस प्रकार कहा—

भीष्म उवाच

दिष्ट्या कुशलिनः सर्वे सह दामोदरेण ते।
दिष्ट्या सहायवन्तश्च दिष्ट्या धर्मे च ते रताः ॥१४॥

भीष्मजी बोले—ब्रह्मन्! समस्त पाण्डव श्रीकृष्ण के साथ सकुशल हैं, यह सौभाग्य की बात है। उनके बहुत-से सहायक हैं तथा वे धर्म में तत्पर हैं यह और भी सौभाग्य तथा हर्ष का विषय है।

दिष्ट्या च सन्धिकामास्ते भ्रातरः कुरुनन्दनाः।
दिष्ट्या न युद्धमनसः पाण्डवाः सह बान्धवैः ॥१५॥

कुरुकुल को आनन्दित करनेवाले पाँचों पाण्डव सन्धि के इच्छुक हैं, यह सौभाग्य की बात है। वे अपने बन्धु-बान्धवों के साथ युद्ध से विरत हैं, यह भी सौभाग्य का विषय है।

भवता सत्यमुक्तं तु सर्वमेतन्न संशयः।
अतितीक्ष्णं तु ते वाक्यं ब्राह्मण्यादिति मे मतिः ॥१६॥

आपने जो बातें कही हैं, वे सब सत्य हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है, परन्तु आपकी बातें अत्यन्त तीखी हैं। यह तीक्ष्णता ब्राह्मण-स्वभाववश ही है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है।

असंशयं क्लेशितास्ते वने चेह च पाण्डवाः।
प्राप्ताश्च धर्मतः सर्वं पितुर्धनमसंशयम् ॥१७॥

निःसन्देह पाण्डवों को वन में और यहाँ भी कष्ट उठाना पड़ा है। उन्हें धर्मतः अपनी सारी पैतृक सम्पत्ति पाने का अधिकार प्राप्त हो चुका है, इसमें भी कोई संशय नहीं है।

किरीटी बलवान् पार्थः कृतास्त्रश्च महारथः।
को हि पाण्डुसुतं युद्धे विषहेत धनञ्जयम् ॥१८॥

कुन्तीपुत्र किरीटधारी महारथी अर्जुन बलवान् तथा अस्त्रविद्या में निपुण हैं। कौन ऐसा वीर है, जो युद्ध में पाण्डुपुत्र अर्जुन का वेग सह सके?

अपि वज्रधरः साक्षात् किमुतान्ये धनुर्भृतः।
त्रयाणामपि लोकानां समर्थ इति मे मतिः ॥१९॥

साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी युद्ध में उनका सामना नहीं कर सकते, फिर दूसरे धनुर्धरों की तो बात ही क्या है? मेरा तो ऐसा विश्वास है कि अर्जुन तीनों लोकों का सामना करने में समर्थ हैं।

वैशम्पायन उवाच

भीष्मे ब्रुवति तद् वाक्यं धृष्टमाक्षिप्य मन्युना।
दुर्योधनं समालोक्य कर्णो वचनमब्रवीत् ॥२०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! भीष्म

इस प्रकार कह ही रहे थे कि कर्ण ने दुर्योधन की ओर देखकर क्रुद्ध हो धृष्टतापूर्वक उनके कथन की अवहेलना करते हुए यह बात कही—

कर्ण उवाच

न तत्राविदितं ब्रह्मँल्लोके भूतेन केनचित् ।
पुनरुक्तेन किं तेन भाषितेन पुनः पुनः ॥२१॥

कर्ण बोला—हे ब्रह्मन् ! इस संसार में जो घटना बीत चुकी है, वह किसी को अज्ञात नहीं है, उसको दोहराने से अथवा बारम्बार उसपर भाषण देने से क्या लाभ है ?

दुर्योधनार्थे शकुनिर्द्यूते निर्जितवान् पुरा ।
समयेन गतोऽरण्यं पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ॥२२॥

पहले की बात है, शकुनि ने दुर्योधन के लिए पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को जुए में हराया था और वे उस जुए की शर्त के अनुसार वन में गये थे ।

स तं समयमाश्रित्य राज्यं नेच्छति पैतृकम् ।
बलमाश्रित्य मत्स्यानां पाञ्चालानां च मूर्खवत् ॥२३॥

युधिष्ठिर उस शर्त का पालन करके अपना पैतृक राज्य चाहते हों, ऐसी बात नहीं है । वे तो मूर्खों की भाँति मत्स्य और पाञ्चाल देश की सेना के भरोसे राज्य लेना चाहते हैं ।

दुर्योधनो भयाद् विद्वन् न दद्यात् पादमन्ततः ।
धर्मतस्तु महीं कृत्स्नां प्रदद्याच्छत्रवेऽपि च ॥२४॥

हे विद्वन् ! दुर्योधन किसी के भय से अपने राज्य का आधा कौन कहे, चौथाई भाग भी नहीं देंगे, हाँ, धर्मानुसार वे शत्रु को सम्पूर्ण पृथिवी तक भी दे सकते हैं ।

यदि काङ्क्षन्ति ते राज्यं पितृपैतामहं पुनः ।
यथाप्रतिज्ञं कालं तं चरन्तु वनमाश्रिताः ॥२५॥

यदि पाण्डव अपने बाप-दादों का राज्य लेना चाहते हैं, तो वे पूर्वप्रतिज्ञा के अनुसार उतने समय तक पुनः वन में निवास करें ।

ततो दुर्योधनस्याङ्के वर्तन्तामकुतोभयाः ।
अधार्मिकीं तु मा बुद्धिं मौर्ख्यात्कुर्वन्तु केवलात् ॥२६॥

तत्पश्चात् वे दुर्योधन के आश्रय में निर्भय होकर रह सकते हैं । केवल मूर्खतावश वे अपनी बुद्धि को अधर्मपरायण न बनाएँ ।

अथ ते धर्ममुत्सृज्य युद्धमिच्छन्ति पाण्डवाः ।
आसाद्येमान् कुरुश्रेष्ठान् स्मरिष्यन्ति वचो मम ॥२८

यदि पाण्डव धर्म को तिलाञ्जलि देकर युद्ध ही करना चाहते हैं तो इन कुरुश्रेष्ठ वीरों से भिड़ने पर वे मेरी बात याद करेंगे ।

भीष्म उवाच

किं नु राधेय वाचा ते कर्म तत् स्मर्तुमर्हसि ।
एक एव यदा पार्थः षड्रथाञ्जितवान् युधि ॥२८॥

भीष्मजी बोले—राधानन्दन ! इस प्रकार बढ़-बढ़कर बातें बनाने का क्या लाभ है ? तू पार्थ के उस पराक्रम को स्मरण कर जब विराटनगर के युद्ध में उसने अकेले ही सम्पूर्ण सेनासहित छह महारथियों को जीत लिया था ।

बहुशो जीयमानस्य कर्म दृष्टं तदैव ते ।
न चेदेवं करिष्यामो यदयं ब्राह्मणोऽब्रवीत् ।
ध्रुवं युधि हतास्तेन भक्षयिष्याम पांसुकान् ॥२६॥

तेरा पराक्रम तो उसी समय देख लिया गया था, जब अनेक बार अर्जुन के सामने जाकर तुझे पराजित होना पड़ा । इस ब्राह्मण देवता ने जो कुछ कहा है, यदि हम लोग तदनुसार कार्य नहीं करेंगे, तो यह निश्चित है कि युद्ध में पाण्डुनन्दन अर्जुन के द्वारा आहत होकर धूल फाँकनी पड़ेगी ।

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्ततो भीष्ममनुमान्य प्रसाद्य च ।
अवभर्त्स्य च राधेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥३०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् धृतराष्ट्र ने कर्ण को फटकार कर भीष्मजी का सम्मान किया तथा उन्हें प्रसन्न करके इस प्रकार कहा—

अस्मद्धितं वाक्यमिदं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ।
पाण्डवानां हितं चैव सर्वस्य जगतस्तथा ॥३१॥

"शान्तनुनन्दन भीष्म जी ने हमारे लिए यह हितकर बात कही है । इसी में पाण्डवों का तथा सारे संसार का भी भला है ।

चिन्तयित्वा तु पार्थेभ्यः प्रेषयिष्यामि संजयम् ।
स भवान् प्रति यात्वद्य पाण्डवानेव मा चिरम् ॥३२॥

"ब्रह्मन् ! मैं कुछ सोच-विचार कर संजय को

पाण्डवों के पास भेजूंगा। आप भी पाण्डवों के पास पधारें, विलम्ब न करें।"

स तं सत्कृत्य कौरव्यः प्रेषयामास पाण्डवान्।
सभामध्ये समाहूय संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥३३॥

राजा धृतराष्ट्र ने उस ब्राह्मण का आदर-सत्कार करके उसे पाण्डवों के पास वापस भेजा तथा संजय को सभा में बुलाकर यह बात कही।

इति महाभारते उद्योग पर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

संजय का दौत्य कर्म

धृतराष्ट्र उवाच

नाहं तथा ह्यर्जुनाद् वासुदेवाद्
भीमाद् वाहं यमयोर्वा बिभेमि।
यथा राज्ञः क्रोधदीप्तस्य सूत
मन्योरहं भीततरः सदैव ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले—हे संजय! मैं अर्जुन, श्रीकृष्ण, भीमसेन, नकुल-सहदेव—किसी से भी उतना नहीं डरता जितना कि तमतमाये हुए राजा युधिष्ठिर के कोप से। उनके रोष से मैं सदा अत्यन्त भयभीत रहता हूँ।

स गच्छ शीघ्रं प्रहितो रथेन
पाञ्चालराजस्य चमूनिवेशम्।
अजातशत्रुं कुशलं स्म पृच्छेः
पुनः पुनः प्रीतियुक्तं वदेस्त्वम् ॥२॥

मेरे द्वारा प्रेषित तुम रथ पर आरूढ़ होकर शीघ्र ही पाञ्चालराज द्रुपद की छावनी में जाकर वहाँ अत्यन्त प्रेमपूर्वक अजातशत्रु युधिष्ठिर से बातचीत करना तथा बारम्बार उनका कुशल-मङ्गल पूछना।

समानीतान् पाण्डवान् सृंजयांश्च
जनार्दनं युयुधानं विराटम्।
अनामयं मद्वचनेन पृच्छेः
सर्वांस्तथा द्रौपदेयांश्च पञ्च ॥३॥
यद् यत् तत्र प्राप्तकालं परेभ्य-
स्त्वं मन्येथा भारतानां हितं च।
तद् भाषेथाः संजय राजमध्ये
न मूर्च्छयेद् यन्न च युद्धहेतुः ॥४॥

सञ्जय! तुम वहाँ एकत्र हुए पाण्डवों तथा सृञ्जयवंशी क्षत्रियों से, श्रीकृष्ण, सात्यकि, राजा विराट् तथा द्रौपदी के पाँचों पुत्रों से भी मेरी ओर से स्वास्थ्य का समाचार पूछना। इसके सिवा जैसा अवसर हो तथा जिसमें तुम्हें भरतवंशियों का हित दिखाई दे, वैसी बातें पाण्डवपक्ष के लोगों से करना। राजाओं के मध्य में ऐसा कोई वचन न कहना जो उनके क्रोध को बढ़ाए तथा युद्ध का कारण बने।

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रस्य संजयः।
उपप्लव्यं ययौ द्रष्टुं पाण्डवानमितौजसः ॥५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! राजा धृतराष्ट्र की बात सुनकर संजय अमित तेजस्वी पाण्डवों से मिलने के लिए उपप्लव्य गया।

स तु राजानमासाद्य कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
अभिवाद्य ततः पूर्वं सूतपुत्रोऽभ्यभाषत ॥६॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर के पास पहुँचकर सूतपुत्र संजय ने उन्हें प्रणाम किया फिर उनसे वार्तालाप आरम्भ किया—

अनामयं पृच्छति त्वाऽऽम्बिकेयो
वृद्धो नृपो धृतराष्ट्रो मनीषी।
कच्चिद् भीमः कुशली पाण्डवाग्र्यो
धनञ्जयस्तौ च माद्रीतनूजौ ॥७॥

"वृद्ध तथा बुद्धिमान् अम्बिकानन्दन महाराज धृतराष्ट्र ने आपका कुशल-मङ्गल पूछा है। भीमसेन, पाण्डवप्रवर अर्जुन तथा दोनों माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव कुशल से तो हैं न?"

युधिष्ठिर उवाच

गावल्गणे संजय स्वागतं ते
प्रीयामहे ते वयं दर्शनेन।

अनामयं प्रतिजाने तवाहं
सहानुजैः कुशली चास्मि विद्वन् ॥८॥

युधिष्ठिर बोले—हे गवल्गणकुमार संजय ! तुम्हारा स्वागत है। तुम्हारे दर्शन से हमें अति प्रसन्नता हुई है। विद्वन् ! मैं अपने भाइयोंसहित कुशल हूँ तथा तुम्हें अपने आरोग्य की सूचना दे रहा हूँ।

पितामहो नः स्थविरो मनस्वी
महाप्राज्ञः सर्वधर्मोपपन्नः।
स कौरव्यः कुशली तात भीष्मो
यथापूर्वं वृत्तिरस्त्यस्य कच्चित् ॥९॥

तात ! मनस्वी, परम ज्ञानी तथा समस्त धर्मों के ज्ञान से सम्पन्न हमारे बूढ़े पितामह कुरुवंशी भीष्मजी तो कुशलपूर्वक हैं न ? हम लोगों पर उनका स्नेहभाव पूर्ववत् बना हुआ है न ?

कच्चिद्राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
वैचित्रवीर्यः कुशली महात्मा।
द्रोणः सपुत्रश्च कृपश्च विप्रो
महेष्वासाः कच्चिदेतेऽप्यरोगाः ॥१०॥

संजय ! क्या अपने पुत्रोंसहित विचित्रवीर्यनन्दन महामना राजा धृतराष्ट्र सकुशल हैं ? पुत्रसहित द्रोणाचार्य तथा विप्रश्रेष्ठ कृपाचार्य—ये महाधनुर्धर वीर स्वस्थ तो हैं न ?

सञ्जय उवाच

यथाऽऽत्थ मे पाण्डव तत् तथैव
कुरून् कुरुश्रेष्ठ जनं च पृच्छसि।
अनामयास्तात मनस्विनस्ते
कुरुश्रेष्ठान् पृच्छसि पार्थ यांस्त्वम् ॥११॥

संजय बोला—कुरुश्रेष्ठ पाण्डवनन्दन ! आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वह यथार्थ है। कौरवों तथा अन्य लोगों के विषयों में आप जो पूछ रहे हैं, वह बताता हूँ, सुनिए। तात ! कुन्तीनन्दन ! आपने जिन श्रेष्ठ कुरुवंशियों के कुशल-समाचार पूछे हैं, वे सभी मनस्वी पुरुष स्वस्थ एवं सानन्द हैं।

यन्माब्रवीद् धृतराष्ट्रो निशाया-
मजातशत्रो वचनं पिता ते।
सहामात्यः सहपुत्रश्च राजन्
समेत्य तां वाचमिमां निबोध ॥१२॥

महाराज युधिष्ठिर ! आपके ताऊ धृतराष्ट्र ने रात्रि में मुझे आप लोगों के लिए जो सन्देश दिया था, उसे आप मन्त्रियों और पुत्रोंसहित मेरे इन शब्दों में सुनिए—

शमं राजा धृतराष्ट्रोऽभिनन्द-
न्नयोजयत् त्वरमाणो रथं मे।
सभ्रातृपुत्रस्वजनस्य राज-
स्तद् रोचतां पाण्डवानां शमोऽस्तु ॥१३॥

राजा धृतराष्ट्र शान्ति का आदर करते हैं [युद्ध नहीं चाहते]। उन्होंने अति शीघ्रतापूर्वक मेरे लिए रथ तैयार कराया तथा मुझे यहाँ भेजा। मैं चाहता हूँ कि भाई, पुत्र तथा स्वजनोंसहित राजा धृतराष्ट्र का यह शान्ति-सन्देश पाण्डवों को रुचिकर प्रतीत हो एवं दोनों पक्षों में सन्धि हो जाए।

सर्वक्षयो दृश्यते यत्र कृत्स्नः
पापोदयो निरयोऽभावसंस्थः।
कस्तत् कुर्याज्जातु कर्म प्रजानन्
पराजयो यत्र समो जयश्च ॥१४॥

जिसमें सबका विनाश दिखाई देता है, जिससे पाप का उदय होता है, जो नरक=दुःख का हेतु है, जिसके अन्त में अभाव ही हाथ लगता है तथा जिसमें जय एवं पराजय दोनों समान हैं, उस युद्ध जैसे क्रूर कर्म के लिए कौन समझदार मनुष्य कभी उद्योग करेगा ?

ते वै धन्या यैः कृतं ज्ञातिकार्यं
ते वै पुत्राः सुहृदो बान्धवाश्च।
उपक्रुष्टं जीवितं संत्यजेयु-
र्यतः कुरूणां नियतो वै भवः स्यात् ॥१५॥

जिन्होंने जाति और कुटुम्ब के हितकर कार्यों का सम्पादन किया है, वे ही धन्य हैं। वे ही पुत्र, मित्र तथा बान्धव कहलाने के योग्य हैं। कौरवों को चाहिए कि वे निन्दित जीवन का परित्याग कर दें, जिससे कुरुकुल का उत्कर्ष=उन्नति अवश्यम्भावी हो।

ते चेत् कुरूननुशिष्याथ पार्था
निर्णीय सर्वान् द्विषतो निगृह्य।

समं वस्तज्जीवितं मृत्युना स्याद्
यज्जीवध्वं ज्ञातिवधे न साधु ॥१६॥

कुन्तीकुमारो ! यदि आप लोग समस्त कौरवों को अपना शत्रु मानकर, उन्हें दण्ड देंगे, कैद करेंगे, अथवा उनका वध कर डालेंगे तो उस अवस्था में आपका वह जीवन आपके द्वारा कुटुम्बी जनों के वध के कारण उत्तम नहीं समझा जाएगा। यह निन्दित जीवन तो मृत्यु के समान ही होगा।

सोऽहं जये चैव पराजये च
निःश्रेयसं नाधिगच्छामि किञ्चित्।
कथं हि नीचा इव दौष्कुलेया
निर्धर्मार्थं कर्म कुर्युश्च पार्थाः ॥१७॥

मैं तो इस युद्ध में चाहे किसी भी पक्ष की जय हो या पराजय, कोई कल्याण की बात नहीं देखता हूँ। भला कुन्ती के पुत्र नीच कुल में उत्पन्न हुए दूसरे अधम मनुष्यों के समान ऐसा निन्दित कर्म कैसे कर सकते हैं जिससे न तो धर्म की सिद्धि होनेवाली है और न अर्थ की ही।

युधिष्ठिर उवाच

कां नु वाचं संजय मे शृणोषि
युद्धैषिणीं येन युद्धाद् बिभेषि।
अयुद्धं वै तात युद्धाद् गरीयः
कस्तल्लब्ध्वा जातु युध्येत सूत ॥१८॥

युधिष्ठिर बोले——संजय ! तुमने मेरी ऐसी कौन-सी बात सुनी है जिससे मेरी युद्ध करने की इच्छा प्रकट होती है और जिसके कारण तुम युद्ध से भयभीत हो रहे हो ? तात ! युद्ध करने की अपेक्षा युद्ध न करना ही श्रेष्ठ है। सूत ! युद्ध न करने का अवसर पाकर भी कौन मनुष्य कभी युद्ध में प्रवृत्त होगा ?

आशंसते वै धृतराष्ट्रः सपुत्रो
महाराज्यमसपत्नं पृथिव्याम्।
तस्मिञ्छमः केवलं नोपलभ्यः
सर्वं स्वकं मद्गते मन्यतेऽर्थम् ॥१९॥

धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंसहित भूमण्डल का निष्कण्टक साम्राज्य प्राप्त करने की आशा लगाये बैठे हैं। ऐसे लोभी नरेश के साथ सन्धि ही बनी रहेगी, युद्ध नहीं होगा यह सम्भव नहीं जान पड़ता, क्योंकि हम लोगों के वन चले जाने पर वे हमारे सम्पूर्ण धन को अपना ही मानने लगे हैं।

इन्द्रोऽप्येतन्नोत्सहेताभिहर्तु-
मैश्वर्यं नो जीवति भीमसेने।
धनञ्जये नकुले चैव सूत
वीरे तथा सहदेवे सहिष्णौ ॥२०॥

तात संजय ! जबतक भीमसेन, अर्जुन, नकुल तथा सहनशील वीर सहदेव जीवित हैं, तबतक इन्द्र भी हमारे ऐश्वर्य का अपहरण नहीं कर सकता।

अद्यापि तत् तत्र तथैव वर्ततां
शान्तिं गमिष्यामि यथा त्वमात्थ।
इन्द्रप्रस्थे भवतु ममैव राज्यं
सुयोधनो यच्छतु भारताग्र्यः ॥२१॥

अब भी सब कुछ पहले के समान ही हो सकता है। जैसा तुम कह रहे हो तदनुसार मैं शान्ति धारण कर लूँगा, परन्तु इन्द्रप्रस्थ में पूर्ववत् मेरा ही राज्य रहे तथा भरतवंश-शिरोमणि सुयोधन मेरा वह राज्य मुझे वापस लौटा दे।

संजय उवाच

धर्मे नित्या पाण्डव ते विचेष्टा
लोके श्रुता दृश्यते चापि पार्थ।
महास्रावं जीवितं चाप्यनित्यं
सम्पश्य त्वं पाण्डव मा व्यतीयात् ॥२२॥

संजय बोला—पाण्डुनन्दन ! आपकी प्रत्येक चेष्टा सदा धर्मानुकूल ही होती है। पार्थ ! आपकी वह धर्मयुक्त चेष्टा लोक में तो प्रसिद्ध है ही, देखने में भी आ रही है। यद्यपि यह जीवन अनित्य है, तथापि इससे महान् सुयश की प्राप्ति हो सकती है। पाण्डव! आप जीवन की उस क्षणभंगुरता पर विचार करें तथा अपनी कीर्ति को नष्ट न होने दें।

न चेद् भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात्
प्रयच्छेरंस्तुभ्यमजातशत्रो।
भैक्षचर्यामन्धकवृष्णिराज्ये
श्रेयो मन्ये न तु युद्धेन राज्यम् ॥२३॥

अजातशत्रो ! यदि कौरव युद्ध के बिना आपको राज्य का भाग न दें, तो भी अन्धक और वृष्णिवंशी

क्षत्रियों के राज्य में भीख माँगकर जीवन का निर्वाह कर लेना मैं आपके लिए उत्तम समझता हूँ परन्तु युद्ध करके राज्य लेना अच्छा नहीं समझता।

अल्पकालं जीवितं यन्मनुष्ये
महास्रावं नित्यदुःखं चलं च।
भूयश्च तद् यशसो नानुरूपं
तस्मात् पापं पाण्डव मा कृथास्त्वम् ॥२४॥

मनुष्य का जीवन बहुत थोड़े समय तक रहनेवाला है। इसको क्षीण करनेवाले महान् दोष को प्राप्त होते रहते हैं। यह सदा दुःखमय और चञ्चल है, अतः पाण्डुपुत्र ! आप युद्धरूपी पाप मत कीजिए। वह आपके सुयश के अनुरूप नहीं है।

धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं
महाप्रतापः सवितेव भाति।
हीनो हि धर्मेण महीमपीमां
लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः ॥२५॥

तात ! धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों में धर्म को ही प्रधान मानकर तदनुसार चलनेवाला मनुष्य महाप्रतापी होकर सूर्य के समान चमक उठता है। परन्तु जो धर्म से हीन है, जिसकी बुद्धि पाप में ही लगी हुई है, वह मनुष्य इस सारी पृथिवी को पाकर भी कष्ट ही भोगता रहता है।

तच्चेदेवं द्वेषरूपेण पार्थाः
करिष्यध्वं कर्म पापं चिराय।
निवसध्वं वर्षपूगान् वनेषु
दुःखं वासं पाण्डवा धर्म एव ॥२६॥

कुन्तीकुमारो ! यदि आप लोगों को राज्य के लिए चिरस्थायी विद्वेष के रूप में युद्धरूप पापकर्म ही करना है, तब मैं यही कहूँगा कि आप अनेक वर्षों तक दुःखमय वनवास का ही कष्ट भोगते रहें। पाण्डवो ! वह वनवास ही आपके लिए धर्मरूप होगा।

नाधर्मे ते धीयते पार्थ बुद्धि-
र्न संरम्भात् कर्म पापं चकर्थ।
अात्थ किं तत् कारणं यस्य हेतोः
प्रज्ञाभिन्नं कर्म चिकीर्षसीदम् ॥२७॥

पार्थ ! आपकी बुद्धि कभी अधर्म में नहीं लगती तथा आपने क्रुद्ध होकर भी कभी कोई पापकर्म नहीं किया है। फिर बताइए, कौन-सा ऐसा कारण है, जिसके लिए अब आप अपनी बुद्धि के विरुद्ध यह युद्ध जैसा पापकर्म करना चाहते हैं ?

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगं
यशोमुषं पापफलोदयं वा।
पेयं सतां यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥२८॥

महाराज ! जो बिना व्याधि के ही उत्पन्न होता है, स्वाद में अत्यन्त कड़वा है, जिसके कारण सिर में दर्द होने लगता है, जो यश का नाशक और पापरूप फल को प्रकट करनेवाला है, जो सज्जन पुरुषों के ही पीने योग्य है, जिसे असाधु पुरुष नहीं पी सकते, उस क्रोध को आप पी लीजिए और शान्त हो जाइए।

पापानुबन्धं न हि कामयेत
क्षमैव ते ज्यायसी नोत भोगाः।
भीष्मो हतः शान्तनवो यतः स्यात्
द्रोणः सपुत्रो यदि च हतः स्यात् ॥२९॥

जो पाप की जड़ है, उस क्रोध की इच्छा तुम जैसा श्रेष्ठ पुरुष नहीं करेगा। आपकी दृष्टि में तो क्षमा ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है; वे भोग नहीं जिनके लिए शान्तनुनन्दन भीष्म तथा पुत्रसहित आचार्य द्रोण की हत्या की जाए।

शल्यः कृपः सोमदत्तिर्विकर्णो
विविंशतिः कर्णसुयोधनौ च।
निहत्य चैतान् कीदृशं सुखं स्यात्
यद् विन्दसि मामनु ब्रूहि पार्थ ॥३०॥

पार्थ ! ऐसा कौन-सा सुख हो सकता है जिसे आप कृपाचार्य, शल्य, भूरिश्रवा, विकर्ण, विविंशति, कर्ण तथा दुर्योधन—इस सबको मौत के घाट उतार कर पाना चाहते हैं, वह मुझे बताइए।

लब्ध्वाऽपि भूमिं खलु सागरान्तां
जरां च मृत्युं न हि त्वं प्रजह्याः।
प्रियाप्रिये दुःखसुखे च राज-
न्नेवं बुद्धस्त्वं न कुरुष्व युद्धम् ॥३१॥

हे राजन् ! समुद्र-पर्यन्त इस सारी पृथिवी को पाकर भी आप जरा-मृत्यु, प्रिय-अप्रिय तथा दुःख-सुख के द्वन्द्व से नहीं बच सकते। आप इन सब बातों

को अच्छी प्रकार जानते हैं, अतः मेरी प्रार्थना है कि आप युद्ध न करें।

युधिष्ठिर उवाच

असंशयं संजय सत्यमेतद्
धर्मो वरः कर्मणां यत्त्वमात्थ।
ज्ञात्वा तु मां संजय गर्हयेस्त्वं
धर्मं चराम्येष उताप्यधर्मम् ॥३२॥

युधिष्ठिर बोले—संजय ! तुमने जो कहा है कि सब प्रकार के कर्मों में धर्म ही श्रेष्ठ है, वह सर्वथा सत्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, परन्तु मैं धर्म कर रहा हूँ या अधर्म, इस बात को पहले अच्छी प्रकार जान लो, फिर मेरी निन्दा करना।

यदि ह्यहं विसृजन् साम गर्ह्यो
नियुध्यमानश्चेज्जह्यां स्वधर्मम्।
महायशाः केशवस्तद् ब्रवीतु
वासुदेवस्तूभयोरर्थकामः ॥३३॥

यदि मैं सामनीति अथवा सन्धि का परित्याग करके निन्दा का पात्र बन रहा हूँ अथवा युद्ध के लिए उद्यत होकर अपने धर्म का उल्लंघन करने को हूँ तो महायशस्वी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण अपने विचार प्रकट करें, क्योंकि वे दोनों पक्षों का हित चाहनेवाले हैं।

वासुदेव उवाच

अविनाशं सञ्जय पाण्डवाना-
मिच्छाम्यहं भूतिमेषां प्रियं च।
तथा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सूत
समाशंसे बहुपुत्रस्य वृद्धिम् ॥३४॥

श्रीकृष्ण ने कहा—सूत सञ्जय ! मैं जिस प्रकार पाण्डवों को विनाश से बचाना, उनको ऐश्वर्य दिलाना और उनका प्रिय करना चाहता हूँ, उसी प्रकार अनेक पुत्रों से युक्त राजा धृतराष्ट्र का भी अभ्युदय चाहता हूँ।

कामो हि मे सञ्जय नित्यमेव
नान्यद् ब्रूयां तान् प्रति शाम्यतेति।
राज्ञश्च हि प्रियमेतच्छृणोमि
मन्ये चैतत् पाण्डवानां समक्षम् ॥३५॥

सूत ! मेरी भी सदा यही अभिलाषा है कि दोनों पक्षों में शान्ति बनी रहे। 'कुन्तीपुत्रो ! कौरवों से सन्धि करो, उनके प्रति शान्त बने रहो' इसके अतिरिक्त दूसरी कोई बात मैं पाण्डवों के सामने नहीं कहता हूँ। राजा युधिष्ठिर के मुख से भी मैं ऐसा ही प्रिय वचन सुनता हूँ और स्वयं भी इसी को उचित मानता हूँ।

न त्वं धर्मं विचरं सञ्जयेह
मत्तश्च जानासि युधिष्ठिराच्च।
स कस्मात् त्वं जानतां ज्ञानवान् सन्
व्यायच्छसे सञ्जय कौरवार्थे ॥३६॥

सञ्जय ! तुम यह भली-भाँति जानते हो कि मुझसे और युधिष्ठिर से धर्म का लोप नहीं हो सकता। तुम ज्ञानियों में भी श्रेष्ठ ज्ञानी हो, फिर भी तुम कौरवों की स्वार्थ-सिद्धि के लिए वाग्जाल क्यों फैला रहे हो ?

उताहो त्वं मन्यसे शाम्यमेव
राज्ञां युद्धे वर्तते धर्मतन्त्रम्।
अयुद्धे वा वर्तते धर्मतन्त्रं
तथैव ते वाचमिमां शृणोमि ॥३७॥

यदि तुम शान्ति धारण करना ही उचित समझते हो तो बताओ, युद्ध में प्रवृत्त होने से राजाओं के धर्म का ठीक-ठीक पालन होता है अथवा युद्ध छोड़कर भाग जाने से ? क्षत्रिय धर्म का विचार करते हुए तुम जो कुछ भी कहोगे, मैं तुम्हारी बात सुनने के लिए तैयार हूँ।

गृध्येत् यदाऽन्यविभवे नृशंसो
विधिप्रकोपाद् बलमाददानः।
राज्ञां ततो भवति युद्धमेतत्
जातं ततो वर्म शस्त्रं धनुश्च ॥३८॥

जब कोई क्रूर मनुष्य लोभवश दूसरे की धन-सम्पत्ति को लेने की इच्छा करता है और विधाता के कोप से [पर-हानि] के लिए सैन्य-संग्रह करता है, उस समय राजाओं में युद्ध का अवसर उपस्थित होता है। इस युद्ध के लिए ही कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुष का आविष्कार हुआ है।

पुण्यं नृपैर्दस्युवधेन लभ्यम्
दोषश्च स कुरुभिस्तीव्ररूपः।

अधार्मिकैर्धर्ममबुध्यमानैः
प्रादुर्भूतः सञ्जय साधु तन्न ॥३९॥

भूपालों को लुटेरों का वध करने से पुण्य की प्राप्ति होती है। सञ्जय ! कौरवों में यह लुटेरेपन का दोष तीव्ररूप से प्रकट हो गया है, जो अच्छा नहीं है। वे अधर्म के तो पूरे पण्डित हैं, परन्तु धर्म की बात बिल्कुल नहीं जानते।

तत्र राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
धर्म्यं हरेत् पाण्डवानामकस्मात्।
नावेक्षन्ते राजधर्मं पुराणं
तदन्वयाः कुरवः सर्व एव ॥४०॥

राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रों के साथ मिलकर सहसा पाण्डवों के धर्मतः प्राप्त पैतृक राज्य को हड़प लेना चाहते हैं। प्राचीन राजधर्म की ओर दृष्टिपात न करते हुए अन्य समस्त कौरव भी उन्हीं का अनुसरण कर रहे हैं।

स्तेनो हरेद् यत्र धनं ह्यदृष्टः
प्रसह्य वा यत्र हरेत दृष्टः।
उभौ गर्ह्यौ भवतः सञ्जयैतौ
किं वै पृथक्त्वं धृतराष्ट्रस्य पुत्रे ॥४१॥

चोर अदृश्य=छिपा रहकर धन चुरा ले जाए अथवा सामने आकर डाका डाले, दोनोंही अवस्थाओं में वे चोर-डाकू निन्दा के ही पात्र होते हैं। सञ्जय ! तुम्हीं कहो, धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन और उन चोर-डाकुओं में क्या अन्तर है ?

सोऽयं लोभान्मन्यते धर्ममेतं
यमिच्छति क्रोधवशानुगामी।
भागः पुनः पाण्डवानां निविष्ट-
स्तं नः कस्मादाददीरन् परे वै ॥४२॥

दुर्योधन क्रोध के वशीभूत हो उसी के अनुसार चलनेवाला है तथा वह लोभवश राज्य को ले लेना चाहता है। उसे यह धर्म प्रतीत हो रहा है, परन्तु वह तो पाण्डवों का भाग है, जो कौरवों के यहाँ धरोहर के रूप में रखा गया है। सञ्जय ! हमारे उस भाग को हमसे शत्रुता रखनेवाले कौरव कैसे ले सकते हैं ?

एतान् धर्मान् कौरवाणां पुराणा-
नाचक्षीथाः सञ्जय राजमध्ये।
स्वयं त्वहं प्रार्थये तत्र गन्तुं
समाधातुं कार्यमेतद् विपन्नम् ॥४३॥

सञ्जय ! तुम राजाओं की मण्डली में राजाओं के इन प्राचीन धर्मों का कौरवों के समक्ष वर्णन करना। मैं स्वयं भी इस विगड़े हुए कार्य को बनाने के लिए हस्तिनापुर चलना चाहता हूँ।

अहापयित्वा यदि पाण्डवार्थं
शमं कुरूणामपि चेच्छकेयम्।
स्यात् पुण्यं मे चरितं महोदयं
मुच्येरँश्च कुरवो मृत्युपाशात् ॥४४॥

यदि पाण्डवों का स्वार्थ नष्ट किये बिना ही मैं कौरवों के साथ इनकी सन्धि कराने में सफल हो गया तो मेरे द्वारा यह परम पवित्र और महान् अभ्युदय का कार्य सम्पन्न हो जाए तथा कौरव भी मृत्यु के पाश से छूट जाएँगे।

अतोऽन्यथा रथिना फाल्गुनेन
भीमेन चैवाहवदंशितेन।
परासिक्तान् धार्तराष्ट्राँश्च विद्धि
परिदग्धान् कर्मणा स्वेन पापान् ॥४५॥

सञ्जय ! यदि ऐसा नहीं हुआ और कौरवों ने इसके विपरीत भाव दिखाया तो समझलो कि रथ पर बैठे हुए अर्जुन तथा युद्ध के लिए कवच धारण करके तैयार हुए भीमसेन के द्वारा पराजित होकर धृतराष्ट्र के वे सभी पापात्मा पुत्र अपने ही कर्म-दोष से दग्ध हो जाएँगे।

पराजितान् पाण्डवेयाँस्तु वाचो
रौद्रा रूक्षा भाषते धार्तराष्ट्रः।
गदाहस्तो भीमसेनोऽप्रमत्तो
दुर्योधनं स्मारयिता हि काले ॥४६॥

द्यूत के समय जब पाण्डव हार गये थे, तब दुर्योधन ने उनके प्रति अति भयानक, कड़वी और कठोर बातें कही थीं, अतः सदा सावधान रहनेवाले भीमसेन युद्ध के समय गदा हाथ में लेकर दुर्योधन को उन बातों का स्मरण कराएँगे।

सुयोधनो मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः ।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ॥४७॥

दुर्योधन क्रोधमय विशाल वृक्ष के समान है, कर्ण उस वृक्ष का स्कन्ध है, शकुनि शाखा है और दुःशासन समृद्ध फल-पुष्प है। अज्ञानी राजा धृतराष्ट्र ही इसके मूल=जड़ हैं।

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः
स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः ।
माद्रीपुत्रौ पुष्पफले समृद्धे
मूलं त्वहं ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥४८॥

युधिष्ठिर धर्ममय विशाल वृक्ष हैं। अर्जुन उस वृक्ष के स्कन्ध, भीमसेन शाखा और माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव उसके समृद्ध फल-पुष्प हैं। मैं, वेद और ब्राह्मण ही उस वृक्ष के मूल=जड़ हैं।

वनं राजा धृतराष्ट्रः सपुत्रो
व्याघ्रास्ते वै सञ्जय पाण्डुपुत्राः ।
सिंहाभिगुप्तं न वनं विनश्येत्
सिंहो न नश्येत वनाभिगुप्तः ॥४९॥

सञ्जय ! पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र एक वन हैं और पाण्डव उस वन में निवास करनेवाले व्याघ्र हैं। सिंहों से रक्षित वन नष्ट नहीं होता तथा वन में सुरक्षित रहकर सिंह नष्ट नहीं होता, [ऐसे वन का उच्छेद मत करो]।

निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रं छिद्यते वनम् ।
तस्माद् व्याघ्रो वनं रक्षेद् वनं व्याघ्रं च पालयेत् ॥५०॥

वन से बाहर निकला हुआ व्याघ्र मारा जाता है तथा व्याघ्र से रहित वन को सब लोग सरलता से काट लेते हैं, अतः व्याघ्र वन की रक्षा करे और वन व्याघ्र की रक्षा करे।

धार्तराष्ट्रा लताधर्माः शालाः सञ्जय पाण्डवाः ।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥५१॥

सञ्जय ! धृतराष्ट्र के पुत्र लताओं के समान हैं तथा पाण्डव शाल वृक्षों के समान। कोई भी लता किसी महावृक्ष का आश्रय लिये बिना कभी नहीं बढ़ सकती [धृतराष्ट्रपुत्र भी पाण्डवों का आश्रय लेकर ही बढ़ सकते हैं]।

स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिन्दमाः ।
यत् कृत्यं धृतराष्ट्रस्य तत् करोतु नराधिपः ॥५२॥

शत्रुओं का दमन करनेवाले कुन्तीकुमार धृतराष्ट्र की सेवा करने के लिए भी समुद्यत हैं और युद्ध के लिए भी। अब राजा धृतराष्ट्र का जो कर्तव्य हो, वे उसका पालन करें।

स्थिताः शमे महात्मानः पाण्डवाः धर्मचारिणः ।
योधाः समर्थास्तद् विद्वन्नाचक्षीथा यथातथम् ॥५३॥

विद्वन् सञ्जय ! धर्म का आचरण करनेवाले महात्मा पाण्डव शान्ति के लिए भी तैयार हैं तथा युद्ध करने में भी समर्थ हैं। इन दोनों अवस्थाओं को समझकर तुम राजा धृतराष्ट्र से यथार्थ बातें कहना।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

सञ्जय को विदाई और पाण्डवों का कौरवों के प्रति सन्देश

सञ्जय उवाच

आमन्त्रये त्वां नरदेवदेव
गच्छाम्यहं पाण्डव स्वस्ति तेऽस्तु ।
कच्चिन्न वाचा वृजिनं हि किंचि-
दुच्चारितं मे मनसोऽभिषङ्गात् ॥१॥

सञ्जय बोले—नरदेवश्रेष्ठ पाण्डुनन्दन ! आपका कल्याण हो। अब मैं आपसे विदा लेकर हस्तिनापुर जाता हूँ। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि मैंने मानसिक आवेग के कारण वाणी द्वारा कोई ऐसी बात कह दी हो जिससे आपको कष्ट हुआ हो ?

जनार्दनं भीमसेनार्जुनौ च
माद्रीसुतौ सात्यकिं चेकितानम् ।
आमन्त्र्य गच्छामि शिवं सुखं वः
सौम्येन मां पश्यत चक्षुषा च ॥२॥

श्रीकृष्ण, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, सात्यकि और चेकितान—इन सभी से आज्ञा लेकर मैं जा रहा हूँ। आप लोगों को सुख और शान्ति प्राप्त हो। नरेश्वरो ! आप मेरी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखें।

युधिष्ठिर उवाच

अनुज्ञातः संजय स्वस्ति गच्छ
कल्याणवाक् शीलवांस्तृप्तिमांश्च।
न मर्मगां जातु वक्तासि रूक्षां
नोपश्रुतिं कटुकां नोत मुक्ताम् ॥३॥

युधिष्ठिर बोले—हे संजय ! मैं तुम्हें जाने की अनुमति देता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम प्रस्थान करो। तुम्हारी बातें कल्याणकारी हैं। तुम शीलवान् तथा सन्तोषी हो। तुम्हारे मुख से कभी कोई ऐसी बात नहीं निकलती जो कड़वी होने के साथ ही मर्म पर आघात करनेवाली हो। तुम नीरस एवं अप्रासङ्गिक बात भी नहीं कहते।

इतो गत्वा संजय क्षिप्रमेव
यस्मिञ्शौर्यमानृशंस्यं तपश्च।
पादौ गृहीत्वा कुरुसत्तमस्य
भीष्मस्य मां तत्र निवेदयेथाः ॥४॥

हे संजय ! यहाँ से जाकर तुम शीघ्र ही जिनमें वीरता, दया और तपस्या आदि सद्गुण विद्यमान हैं, उन कुरुश्रेष्ठ भीष्म पितामह के दोनों चरण पकड़-कर मेरा प्रणाम निवेदन करना।

प्रज्ञाचक्षुर्यः प्रणेता कुरूणां
बहुश्रुतो वृद्धसेवी मनीषी।
तस्मै राज्ञे स्थविरायाभिवाद्य
आचक्षीथाः संजय मामरोगम् ॥५॥

हे संजय ! जो कौरवों के नेता, अनेक शास्त्रों के ज्ञाता, वृद्धों के सेवक और बुद्धिमान् हैं, उन वृद्ध नरेश प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र को मेरा प्रणाम निवेदन करके यह बताना कि युधिष्ठिर नीरोग एवं सकुशल है।

इदं पुनर्वचनं धार्तराष्ट्रं
सुयोधनं संजय श्रावयेथाः।
ददस्व वा शक्रपुरीं ममैव
युध्यस्व वा भारतमुख्य वीर ॥६॥

संजय ! तत्पश्चात् दुर्योधन को मेरा यह सन्देश सुना देना—"भरतवंश के प्रमुख वीर ! तुम या तो इन्द्रप्रस्थ का राज्य मुझे वापस लौटा दो अथवा युद्ध करो !

अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दीं वारणावतम्।
अवसानं भवत्वत्र कञ्चिदेकं च पञ्चमम् ॥७॥

"अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत तथा पाँचवाँ कोई भी एक ग्राम दे दो। इसी पर युद्ध की समाप्ति हो जाएगी।

भ्रातॄणां देहि पञ्चानां पञ्चग्रामान् सुयोधन।
शान्तिर्नोऽस्तु महाप्राज्ञ ज्ञातिभिः सह संजय ॥८॥

"हे सुयोधन ! हम पाँच भाइयों को पाँच ग्राम दे दो।' महाप्राज्ञ संजय ! ऐसा हो जाने पर भी अपने कुटुम्बी जनों के साथ हम लोगों की शान्ति बनी रहेगी।

भ्राता भ्रातरमन्वेतु पिता पुत्रेण युज्यताम्।
स्मयमानाः समायान्तु पाञ्चालाः कुरुभिः सह ॥९॥
अक्षतान् कुरुपाञ्चालान् पश्येयमिति कामये।
सर्वे सुमनसस्तात शाम्याम भरतर्षभ ॥१०॥

"भाई भाई से मिलें तथा पिता पुत्र से मिलें। पाञ्चालदेशीय क्षत्रिय कुरुवंशियों के साथ मुस्कराते हुए मिलें। मेरी यही कामना है कि मैं कौरवों और पाञ्चालों को अक्षतशरीर देखूँ। तात ! भरतश्रेष्ठ दुर्योधन ! हम सब लोग प्रसन्नचित्त होकर शान्त हो जाएँ, ऐसी चेष्टा करो।"

अलमेव शमायास्मि तथा युद्धाय संजय।
धर्मार्थयोरलं चाहं मृदवे दारुणाय च ॥११॥

हे संजय ! मैं शान्ति रखने में भी समर्थ हूँ और युद्ध करने में भी। धर्म और अर्थ के विषय का भी मुझे ठीक-ठीक ज्ञान है। मैं समय के अनुसार कोमल भी हो सकता हूँ तथा कठोर भी।

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातः पाण्डवेन प्रययौ संजयस्तदा।
शासनं धृतराष्ट्रस्य सर्वं कृत्वा महात्मनः ॥१२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर तथा महामना राजा धृतराष्ट्र के सम्पूर्ण आदेशों का पालन करके संजय ने वहाँ से प्रस्थान किया।

सम्प्राप्य हास्तिनपुरं शीघ्रमेव प्रविश्य च ।
अन्तःपुरं समास्थाय द्वाःस्थं वचनमब्रवीत् ॥१३॥

हस्तिनापुर में पहुँचकर उन्होंने शीघ्र ही राजभवन में प्रवेश किया तथा अन्तःपुर के निकट जाकर द्वारपाल से कहा—

आचक्ष्व धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ मां समुपागतम् ।
सकाशात् पाण्डुपुत्राणां संजयं मा चिरं कृथाः ॥१४॥

"द्वारपाल ! तुम राजा धृतराष्ट्र को मेरे आने की सूचना दो और कहो—'पाण्डवों के पास से संजय आये हैं ।' विलम्ब मत करो ।"

द्वाःस्थोऽथ श्रुत्वा नृपतिं जगाम
स संजयो भूमिपते नमस्ते ।
दिदृक्षया द्वारमुपागतस्ते
प्रशाधि राजन् किमयं करोतु ॥१५॥

यह सुनकर द्वारपाल महाराज के पास गया और बोला—"महाराज ! आपको नमस्कार है । [पाण्डवों के पास से लौटे हुए] संजय आपके दर्शन की इच्छा से द्वार पर खड़े हैं । हे राजन् ! आज्ञा दीजिए, वे संजय क्या करें !"

धृतराष्ट्र उवाच

आचक्ष्व मां सुखिनं कल्पमस्मै
प्रवेश्यतां स्वागतं सञ्जयाय ।
न चाहमेतस्य भवाम्यकल्पः
कस्मात् स मे द्वारि स्थितश्च सक्तः ॥१६॥

धृतराष्ट्र बोले—द्वारपाल ! संजय का स्वागत है । उससे कहो कि—"मैं शकुशल हूँ, अतः इस समय उससे भेंट करने को तैयार हूँ ।" उसे भीतर ले आओ । उससे मिलने में मुझे कभी भी अड़चन नहीं होती, फिर वह द्वार पर चिपका क्यों खड़ा है ?

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रविश्यानुमते नृपस्य
महद् वेश्म प्राज्ञशूरार्यगुप्तम् ।
सिंहासनस्थं नृपमाससाद
वैचित्रवीर्यं नतसूतपुत्रः ॥१७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार राजा की आज्ञा पाकर सूतपुत्र संजय ने बुद्धिमान्, शूरवीर तथा श्रेष्ठपुरुषों से सुरक्षित विशाल राजभवन में प्रवेश किया और सिंहासन पर बैठे हुए विचित्रवीर्यनन्दन महाराज धृतराष्ट्र के पास जा हाथ जोड़कर कहा—

संजय उवाच

अहं सञ्जयो भूमिपते नमस्ते
प्राप्तोऽस्मि गत्वा नरदेव पाण्डवान् ।
अभिवाद्य त्वां पाण्डुसुतो मनस्वी
युधिष्ठिरः कुशलं चान्वपृच्छत् ॥१८॥

संजय ने कहा—भूपाल ! आपको नमस्कार हो । हे नरदेव ! मैं संजय हूँ और पाण्डवों के पास जाकर वहाँ से लौटा हूँ । उदारचित्त पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ने आपको प्रणाम करके आपकी कुशल पूछी है ।

सहामात्यः कुशली पाण्डुपुत्रो
सत्त्वं पुनर्वाञ्छति ह्यात्मनश्च ।
निर्णिक्तधर्मार्थकरो मनस्वी
बहुश्रुतो दृष्टिमाञ्छीलवांश्च ॥१९॥

पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपने मन्त्रियोंसहित सकुशल हैं तथा पहले उन्हें जो राज्य और धनादि प्राप्त था, उसे पुनः वापस लेना चाहते हैं । वे विशुद्ध भाव से धर्म और अर्थ का सेवन करनेवाले, मनस्वी, विद्वान्, दूरदर्शी और शीलवान् हैं ।

अजातशत्रुस्तु विहाय पापं
जीर्णां त्वचं सर्प इवासमर्थाम् ।
विरोचतेऽहार्यवृत्तेन वीरो
युधिष्ठिरस्त्वयि पापं विसृज्य ॥२०॥

जैसे सर्प पुरानी केंचुली को, जो शरीर में ठहर नहीं सकती, उतारकर चमक-उठता है, उसी प्रकार अजातशत्रु वीर युधिष्ठिर पाप का परित्याग करके तथा उस पाप को आपपर ही छोड़कर अपने स्वाभाविक सदाचार से सुशोभित हो रहे हैं ।

हन्तात्मनः कर्म निबोध राजन्
धर्मार्थयुक्तार्यगुणैरपेतम् ।
उपक्रोशं चेह गतोऽसि राजन्
भूयश्च पापं प्रसजेदमुत्र ॥२१॥

महाराज ! आप तनिक अपने कर्म पर तो ध्यान दीजिए । आपका बर्ताव धर्म और अर्थ से युक्त श्रेष्ठ पुरुषों के व्यवहार के सर्वथा विपरीत है । हे राजन् !

इसी कारण इस लोक में आपकी निन्दा हो रही है तथा परलोक में भी आपको पापमय नरक का दुःख भोगना पड़ेगा।

स त्वमर्थं संशयितं विना तै-
राशंससे पुत्रवशानुवर्ती।
अधर्मभावश्च महान् पृथिव्यां
कृत्यं समं ते न हि भारताग्र्य॥२२॥

भरतवंशशिरोमणे! आप इस समय अपने पुत्रों के वशीभूत होकर पाण्डवों को अलग करके अकेले उनकी सारी सम्पत्ति ले लेना चाहते हैं, परन्तु इसकी सफलता में सन्देह है। [यदि सफल हो भी गये तो] इस अधर्म के कारण संसार में आपकी बड़ी भारी निन्दा होगी। यह कार्य आपके सर्वथा अयोग्य है।

गर्हे ह्यहं त्वां स्वकुले विरोधा-
दन्तो ह्ययं सम्भविता प्रजानाम्।
नो चेत्तवैव सुकृतापराधाद्-
दहेत कुरून् कक्षमिवैष वह्निः॥२३॥

आप जो भरतवंश में विरोध—फूट फैला रहे हैं, इसके कारण मैं तो आपकी ही निन्दा करता हूँ क्योंकि इस कौरव-पाण्डव विरोध से समस्त प्रजाओं का निश्चय ही विनाश होगा। यदि आपने पाण्डवों का राज्य नहीं लौटाया तो आपके अपराध से अर्जुन समस्त कौरव वंश को उसी प्रकार दग्ध कर डालेंगे, जैसे अग्नि घास-फूंस के समूह को जला देती है।

एको हि त्वं जातु सुतस्य राजन्
गत्वा वशं सर्वविधं नरेन्द्र।
कामात्मनः श्लाघसे द्यूतकाले
नागाः शमं पश्य विपाकमस्य॥२४॥

नरेन्द्र! महाराज! समस्त संसार में एकमात्र आप ही अपने स्वेच्छाचारी पुत्र की प्रशंसा करते हुए उसके अधीन होकर जुए के समय जो उसकी प्रशंसा करते थे तथा [राज्य का लोभ छोड़कर] शान्त न हो सके, उसी का यह भयंकर परिणाम अपनी आँखों के समक्ष देख लीजिए।

अनाप्तानां संग्रहात् त्वं नरेन्द्र
तथाऽऽप्तानां निग्रहाच्चैव राजन्।
भूमिं स्फीतां दुर्बलत्वादनन्ता-
मशक्तस्त्वं रक्षितुं कौरवेय॥२५॥

नरेन्द्र! आपने ऐसे लोगों [शकुनि-कर्ण आदि] को इकट्ठा कर लिया है, जो विश्वास के योग्य नहीं हैं तथा विश्वसनीय पुरुषों [पाण्डवों] को आपने दण्ड दिया है, अतः कुरुकुलनन्दन! अपनी इस मानसिक दुर्बलता के कारण आप इस अनन्त समृद्धि-शालिनी पृथिवी की रक्षा करने में भी समर्थ नहीं हो सकते।

अनुज्ञातो रथवेगावधूतः
श्रान्तोऽभिपद्ये शयनं नृसिंह।
प्रातः श्रोतारः कुरवः सभाया-
मजातशत्रोर्वचनं समेताः॥२६॥

हे नरश्रेष्ठ! इस समय रथ के वेग से हिलने-डुलने के कारण मैं थक गया हूँ। यदि आज्ञा हो तो मैं सोने के लिए जाऊँ। प्रातःकाल जब सभी कौरव जनसभा में एकत्र होंगे, उस समय वे अजातशत्रु युधिष्ठिर के वचन सुनेंगे।

धृतराष्ट्र उवाच

अनुज्ञातोऽस्यावसथं परेहि
प्रपद्यस्व शयनं सूतपुत्र।
प्रातः श्रोतारः कुरवः सभाया-
मजातशत्रोर्वचनं त्वयोक्तम्॥२७॥

धृतराष्ट्र बोले—सूतपुत्र! मैं आज्ञा देता हूँ, तुम अपने घर जाओ और विश्राम करो। प्रातःकाल सब कौरव सभा में एकत्र हो, तुम्हारे मुख से अजातशत्रु युधिष्ठिर के सन्देश को सुनेंगे।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि सप्तमोऽध्यायः॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

विदुरनीति=धृतराष्ट्र तथा विदुर का संवाद

वैशम्पायन उवाच

द्वाःस्थं प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
विदुरं द्रष्टुमिच्छामि तमिहानय मा चिरम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! [संजय के चले जाने पर] महाविद्वान् राजा धृतराष्ट्र ने द्वारपाल से कहा—"मैं विदुर से मिलना चाहता हूँ, उन्हें शीघ्र बुला लाओ ।

ततः प्रविश्य विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं चिन्तयानं नराधिपम् ॥२॥

राजा के द्वारा बुलाये जाने पर विदुर धृतराष्ट्र के महल में प्रविष्ट होकर चिन्ता में पड़े हुए राजा से हाथ जोड़कर बोले—

विदुरोऽहं महाप्राज्ञ सम्प्राप्तस्तव शासनात् ।
यदि किञ्चन कर्तव्यमयमस्मि प्रशाधि माम् ॥३॥

"महाप्राज्ञ ! मैं विदुर हूँ । आपकी आज्ञा से यहाँ आया हूँ । यदि मेरे योग्य कोई कार्य हो तो मैं उपस्थित हूँ, मुझे आज्ञा दीजिए ।"

धृतराष्ट्र उवाच

सञ्जयो विदुर प्राज्ञो गर्हयित्वा च मां गतः ।
अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति ॥४॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! बुद्धिमान् संजय आया था । वह मेरी निन्दा करके, मुझे बुरा-भला कहकर चला गया है । कल सभा में वह अजातशत्रु युधिष्ठिर का सन्देश सुनाएगा ।

तस्याद्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया ।
तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत् प्रजागरम् ॥५॥

आज मैं उस कुरुवीर युधिष्ठिर का सन्देश नहीं जान सका—यही चिन्ता मेरे अङ्गों को जला रही है और इसी ने मुझे अब तक जगा रखा है ।

जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनुपश्यसि ।
तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥६॥

तात ! मैं चिन्ता से जलता हुआ अभी तक जाग रहा हूँ । मेरे लिए जो कल्याण की बात समझो, वह मुझे बताओ, क्योंकि हम लोगों में तुम्हीं धर्म और अर्थ के ज्ञान में निपुण हो ।

विदुर उवाच

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम् ।□
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः ॥७॥

विदुरजी बोले—हे राजन् ! जिसका बलवान् के साथ विरोध हो गया हो, साधनहीन दुर्बल मनुष्य को, जिसका सर्वस्व हरण हो गया है, कामी तथा चोर को रात्रि में निद्रा नहीं आती ।

कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप ।
कच्चिच्च परवित्तेषु गृध्यन् न परितप्यसे ॥८॥

हे नरेन्द्र ! कहीं आपका भी इन महान् दोषों से सम्पर्क तो नहीं हो गया है ? कहीं पराये धन के लोभ से तो आप कष्ट नहीं पा रहे हैं ?

धृतराष्ट्र उवाच

श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं परं नैःश्रेयसं वचः ।
अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसम्मतः ॥९॥

धृतराष्ट्र बोले—हे विदुर ! मैं तुम्हारे धर्मयुक्त तथा कल्याणकारी उत्तम वचन सुनना चाहता हूँ, क्योंकि इस राजर्षिवंश में केवल तुम्हीं विद्वानों के भी माननीय हो ।

विदुर उवाच

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।□
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥१०॥

विदुरजी बोले—अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान, पुरुषार्थ, द्वन्द्व [सुख-दुःख] सहन करने की शक्ति और धर्म में स्थिरता—ये गुण जिस मनुष्य को लक्ष्य से च्युत नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है ।

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।□
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम् ॥११॥

जो श्रेष्ठ कर्मों का अनुष्ठान करता है और बुरे कर्मों से दूर रहता है, साथ ही जो आस्तिक और श्रद्धालु है, उसके वे सद्गुण पण्डित होने के लक्षण हैं ।

क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीस्तम्भो मान्यमानिता ।□
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥१२॥

क्रोध, हर्ष, अभिमान, लज्जा, उद्दण्डता तथा अहम्मन्यता=अपने को पूज्य समझना—ये सब भाव

जिसे अपने पुरुषार्थ से भ्रष्ट नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है।

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥१३॥

अन्य लोग जिसके कार्य, परामर्श और सोचे हुए विचार को कार्य पूरा होने पर ही जानते हैं, वही पण्डित कहलाता है।

यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥१४॥

सरदी-गरमी, भय-अनुराग=प्रेम, सम्पत्ति अथवा दरिद्रता—ये जिसके कार्य में विघ्न नहीं डालते, वही पण्डित कहलाता है।

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे
तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥१५॥

विद्वान् पुरुष किसी विषय को देर तक सुनता है, परन्तु शीघ्र समझ लेता है। समझकर कर्तव्य-बुद्धि से पुरुषार्थ में प्रवृत्त होता है, कामना से नहीं। बिना पूछे दूसरे के विषय में व्यर्थ कोई बात नहीं कहता—यह स्वभाव पण्डित की मुख्य पहचान है।

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥१६॥

पण्डितों की-सी बुद्धि रखनेवाले मनुष्य दुर्लभ वस्तु की कामना नहीं करते, खोई हुई वस्तु के विषय में शोक नहीं करते तथा विपत्ति में पड़कर घबराते नहीं हैं।

निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ॥१७॥

जो पहले निश्चय करके फिर कार्य का आरम्भ करता है, कार्य के मध्य में नहीं रुकता, समय को व्यर्थ नहीं गँवाता और मन को वश में रखता है, वही पण्डित कहलाता है।

न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तप्यते।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥१८॥

जो अपना आदर होने पर हर्ष के कारण फूल नहीं उठता, अपमान से सन्तप्त नहीं होता तथा गङ्गा-ह्रद=समुद्र के समान जिसके चित्त में क्षोभ नहीं होता, वही पण्डित कहलाता है।

तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम्।
उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डित उच्यते ॥१९॥

सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों के तत्त्व का ज्ञान रखनेवाला, सब कार्यों के करने का ढंग जाननेवाला और मनुष्यों में सबसे बढ़कर उपाय का जाननेवाला ही पण्डित कहलाता है।

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥२०॥

जिसकी वाणी रुकती नहीं, जो विचित्र ढंग से वार्तालाप करता है, जो तर्क में निपुण एवं प्रतिभाशाली है, जो ग्रन्थ के तात्पर्य को शीघ्र बता सकता है, वह पण्डित कहलाता है।

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा।
असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥२१॥

जिसकी विद्या बुद्धि का अनुसरण करती है तथा बुद्धि विद्या का और जो आर्यपुरुषों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, वही पण्डित की संज्ञा पा सकता है।

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥२२॥

बिना पढ़े ही गर्व करनेवाले, दरिद्र होकर भी बड़े-बड़े मनोरथ करनेवाले तथा बिना कर्म किये ही धन-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले मनुष्य को पण्डित लोग मूर्ख कहते हैं।

स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति।
मिथ्या चरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥२३॥

जो अपना कर्तव्य छोड़कर दूसरे के कर्तव्य का पालन करता है और मित्र के साथ खोटा व्यवहार करता है, वह मूर्ख कहलाता है।

अकामान् कामयति यः काममानान् परित्यजेत्।
बलवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम् ॥२४॥

जो न चाहनेवालों को चाहता है तथा चाहनेवालों को त्याग देता है अथवा जो न करने योग्य कामनाओं को करता है एवं करने योग्य कामनाओं को नहीं करता और जो अपने से बलवान् के साथ

वैर करता है, उसे मूढविचार का मनुष्य कहते हैं।

अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ॥२५॥

जो शत्रु को मित्र बनाता है एवं मित्र से द्वेष करता है तथा उसे कष्ट पहुँचाता है और सदा बुरे कर्मों का आरम्भ करता है, उसे मूढ़ चित्तवाला कहते हैं।

संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ ॥२६॥

"हे भरतश्रेष्ठ! जो अपने कार्यों को व्यर्थ ही फैलाता है, सर्वत्र संदेह करता है और शीघ्र होनेवाले कार्य में भी देर लगाता है, वह मूढ है।

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥२७॥

मूढ चित्तवाला अधम मनुष्य बिना बुलाये ही भीतर घुस आता है, बिना पूछे ही बहुत बोलता है तथा अविश्वसनीय मनुष्य पर भी विश्वास करता है।

परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ॥२८॥

स्वयं दोषयुक्त व्यवहार करते हुए भी जो दूसरों पर उसके दोष बताकर आक्षेप करता है और जो असमर्थ होते हुए भी व्यर्थ का क्रोध करता है, वह मनुष्य महामूर्ख है।

एकः सम्पन्नमश्नाति धत्ते वासश्च शोभनम्।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः को नृशंसतरस्ततः ॥२९॥

जो अपने द्वारा भरण-पोषण करने योग्य व्यक्तियों को बाँटे बिना अकेले ही उत्तम भोजन करता है तथा सुन्दर वस्त्र पहनता है, उससे बढ़कर क्रूर मनुष्य और कौन होगा?

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनाः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥३०॥

मनुष्य अकेला पाप करके धन कमाता है। उस धन का उपभोग बहुत-से लोग करते हैं। उपभोग करनेवाले तो पाप से छूट जाते हैं, परन्तु कर्ता दोष का भागी होता है।

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद् राष्ट्रं सराजकम् ॥३१॥

किसी धनुर्धारी द्वारा छोड़ा गया बाण सम्भव है किसी एक को भी मारे या न मारे, परन्तु बुद्धिमान् द्वारा दुष्टभाव से प्रयुक्त बुद्धि राजा के साथ-साथ सम्पूर्ण राष्ट्र को भी नष्ट कर देती है।

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भवेत् ॥३२॥

एक [बुद्धि] से दो [कर्तव्य और अकर्तव्य] का निश्चय करके चार [साम, दाम, दण्ड, भेद] से तीन [शत्रु, मित्र तथा उदासीन] को वश में कीजिए। पाँच [इन्द्रियों] को जीतकर छह गुणों [सन्धि, विग्रह, यान, आसन, समाश्रय और द्वैधीभाव] को जानकर तथा सात दोषों [परस्त्री-सेवन, जुआ, शिकार, मद्यपान, कटु वचन, दण्ड की कठोरता तथा अन्याय से धनोपार्जन] को छोड़कर सुखी हो जाइए।

एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते।
सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मन्त्रविप्लवः ॥३३॥

विष का रस एक [पीनेवाले] को ही मारता है, शस्त्र से भी एक का ही वध होता है; परन्तु गुप्त मन्त्रणा के प्रकाशित होने से राष्ट्र और प्रजा के साथ ही राजा का भी विनाश हो जाता है।

एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान् न चिन्तयेत्।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥३४॥

अकेला स्वादिष्ट पदार्थ न खाए, अकेला किसी विषय का चिन्तन न करे, अकेला मार्ग में न चले तथा बहुत-से लोग सोये हों तो उनमें अकेला न जागे।

एकमेवाद्वितीयं तद् यद् राजन् नावबुध्यसे।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥३५॥

हे राजन्! जैसे समुद्र-पार जाने के लिए जलयान ही एकमात्र साधन है, उसी प्रकार स्वर्ग के लिए सत्य ही एकमात्र सोपान=सीढ़ी है, परन्तु आप इसे समझ नहीं पा रहे हैं।

एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥३६॥

क्षमाशील पुरुषों पर एक ही दोषारोपण होता है, दूसरे की तो सम्भावना ही नहीं है। वह दोष यह है कि क्षमाशील मनुष्य को लोग असमर्थ समझ लेते हैं।

सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम् । □
क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥३७॥

परन्तु क्षमाशील मनुष्य का वह दोष नहीं मानना चाहिए, क्योंकि क्षमा बहुत बड़ा बल है। क्षमा असमर्थ मनुष्यों का गुण तथा समर्थों का भूषण है।

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते । □
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ॥३८॥

इस संसार में क्षमा वशीकरणरूप है। भला क्षमा से क्या सिद्ध नहीं होता ? जिसके हाथ में शान्तिरूपी तलवार है, उसका दुष्ट लोग क्या बिगाड़ सकते हैं ?

अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति । □
अक्षमावान् परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ॥३९॥

तृणरहित स्थान में गिरी हुई अग्नि अपने आप बुझ जाती है। क्षमाहीन मनुष्य अपने को तथा दूसरे को भी दोष का भागी बना लेता है।

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा । □
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥४०॥

केवल धर्म ही परम कल्याणकारक है, एकमात्र क्षमा ही शान्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। एक विद्या ही परम सन्तोष देनेवाली और एकमात्र अहिंसा ही परम सुख देनेवाला गुण है।

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव । □
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥४१॥

साँप जैसे बिल में रहनेवाले जीवों को खा जाता है, उसी प्रकार यह पृथिवी शत्रु से विरोध न करनेवाले राजा और प्रवास न करनेवाले ब्राह्मण=संन्यासी—इन दोनों को खा जाती है।

द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिल्लोके विरोचते । □
अब्रुवन् परुषं किञ्चिदसतोऽनर्चयँस्तथा ॥४२॥

ज़रा भी कठोर न बोलना और दुष्ट पुरुषों का आदर न करना—इन दो कर्मों का करनेवाला मनुष्य इस संसार में विशेष शोभा पाता है।

द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ । □
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ॥४३॥

जो निर्धन होकर बहुमूल्य वस्तु की इच्छा रखता है तथा असमर्थ होकर भी क्रोध करता है—ये दोनों ही अपने लिए तीक्ष्ण काँटों के समान हैं और अपने शरीर को सुखानेवाले हैं।

द्वाविमौ न विराजेते विपरीतेन कर्मणा । □
गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवाँश्चैव भिक्षुकः ॥४४॥

दो ही अपने विपरीत कर्म के कारण संसार में शोभा नहीं पाते—अकर्मण्य=कर्म न करनेवाला गृहस्थ और प्रपञ्च में लगा हुआ संन्यासी।

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः । □
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥४५॥

हे राजन् ! शक्तिशाली होने पर भी क्षमाशील और निर्धन होने पर भी दानशील—ये दो प्रकार के मनुष्य स्वर्ग से भी ऊपर स्थान पाते हैं।

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ । □
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥४६॥

न्यायपूर्वक उपार्जित धन के दो ही दुरुपयोग समझने चाहिएँ—अपात्र को दान देना और सत्पात्र को न देना।

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम् । □
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥४७॥

जो धनवान् होकर भी दान न दे और दरिद्र होने पर भी परिश्रम न करे, कष्ट को सहन न करे—इन दो प्रकार के मनुष्यों को गले में भारी शिला बाँधकर पानी में डुबा देना चाहिए।

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ । □
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥४८॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! योगयुक्त संन्यासी और संग्राम में शत्रुओं के सम्मुख युद्ध करके मरनेवाला योद्धा—ये दो प्रकार के मनुष्य सूर्यमण्डल को भेदकर ऊर्ध्वगति को प्राप्त होते हैं।

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः । □
नियोजयेद् यथावत् तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥४९॥

हे राजन् ! उत्तम, मध्यम और अधम—ये तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं। इनको यथायोग्य तीन ही प्रकार के कर्मों में लगाना चाहिए।

हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम् । □
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥५०॥

दूसरे के धन का अपहरण, दूसरे की स्त्री का संसर्ग और सहृदय मित्र का परित्याग—ये तीनों दोष

[मनुष्य की आयु, धर्म तथा कीर्ति का] क्षय [नाश] करनेवाले होते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। □
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥५१॥

काम, क्रोध और लोभ—ये आत्मा का नाश करनेवाले नरक के तीन दरवाजे हैं, अतः इन तीनों को त्याग देना चाहिए।

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम्। □
त्रीनेतांश्छरणं प्राप्तान् विषमेऽपि न संत्यजेत् ॥५२॥

भक्त, सेवक तथा 'मैं आपका हूँ'—ऐसा कहनेवाले—इन तीन प्रकार के शरणागत मनुष्यों को संकट पड़ने पर भी नहीं छोड़ना चाहिए।

चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन
वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात्। □
अल्पप्रज्ञैः सह मन्त्रं न कुर्यात्
दीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च ॥५३॥

थोड़ी बुद्धिवाले, दीर्घसूत्री, जल्दबाज तथा स्तुति करनेवाले चारण—इन लोगों के साथ गुप्त सलाह नहीं करनी चाहिए। ये चारों महाबली राजा के लिए त्यागने योग्य बताये गये हैं। विद्वान् पुरुष ऐसे लोगों को पहचान ले।

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे। □
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः
सखा दरिद्रश्च स्वसाऽनपत्या ॥५४॥

तात ! गृहस्थधर्म में स्थित आप लक्ष्मीवान् के घर में चार प्रकार के मनुष्य सदा रहने चाहिएँ—अपने कुटुम्ब का बूढ़ा, संकट में पड़ा उच्च कुल का मनुष्य, धनहीन मित्र और बिना सन्तान की बहिन।

चत्वारि कर्माण्यभयङ्कराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथा कृतानि। □
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥५५॥

चार प्रकार के कर्म भय को दूर करनेवाले हैं, परन्तु वे ही यदि ठीक प्रकार से न किये जाएँ तो भय प्रदान करते हैं। वे कर्म हैं—आदर के साथ अग्निहोत्र, आदरपूर्वक मौन का पालन, आदरपूर्वक स्वाध्याय और आदर के साथ यज्ञ का अनुष्ठान।

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः। □
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥५६॥

हे भरतश्रेष्ठ ! पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु—मनुष्य को इन पाँच अग्नियों की बड़े यत्न से सेवा करनी चाहिए।

पञ्चैव पूजयंल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम्। □
देवान् पितॄन् मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान् ॥५७

विद्वान्, पितर, मनुष्य, संन्यासी और अतिथि—इन पाँचों की पूजा करनेवाला मनुष्य शुद्ध यश प्राप्त करता है।

पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम्। □
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥५८॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियोंवाले पुरुष की यदि एक भी इन्द्रिय छिद्रयुक्त=दूषित हो जाए तो उससे उसकी बुद्धि इस प्रकार बाहर निकल जाती है जैसे मशक या फूटे पात्र से पानी निकल जाता है।

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता। □
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥५९॥

ऐश्वर्य अथवा उन्नति के इच्छुक मनुष्य को नींद, तन्द्रा=ऊँघना, डर, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता [शीघ्र हो जानेवाले कार्यों में अधिक विलम्ब करने का स्वभाव]—इन छह दुर्गुणों को सर्वथा त्याग देना चाहिए।

षडिमान् पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे। □
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥६०॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम्। □
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥६१॥

उपदेश न देनेवाले आचार्य, मन्त्रोच्चारण न करनेवाले होता, रक्षा करने में असमर्थ राजा, कटु वचन बोलनेवाली स्त्री, ग्राम में रहने की इच्छा करनेवाला ग्वाला और वन में रहने का इच्छुक नाई—इन छह को उसी प्रकार छोड़ दे, जैसे समुद्र की सैर करनेवाला मनुष्य छिद्रयुक्त नौका का परित्याग कर देता है।

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥६२॥

मनुष्य को सत्य, दान, कर्मण्यता, अनसूया=गुणों में दोष दिखाने की प्रवृत्ति का अभाव, क्षमा तथा धैर्य—इन छह गुणों का त्याग कभी नहीं करना चाहिए।

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।□
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥६३

हे राजन्! धन-प्राप्ति, नीरोगता, स्त्री का प्रिय-दर्शन=सुन्दर तथा प्रियवादिनी होना, पुत्र का आज्ञाकारी होना तथा आर्थिक सुख-साधन देनेवाली विद्या—ये छह बातें इस मनुष्य-लोक में सुखदायिनी होती हैं।

षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः॥६४॥

जो मनुष्य मन में [अपने जीवन में] नित्य रहनेवाले छह शत्रुओं [काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य] को वश में कर लेता है, वह जितेन्द्रिय मनुष्य पापों से लिप्त नहीं होता, फिर उनसे उत्पन्न होनेवाले अनर्थों से युक्त होने की तो बात ही क्या है?

षडिमे षट्सु जीवन्ति सप्तमो नोपलभ्यते।□
चौराः प्रमत्ते जीवन्ति व्याधितेषु चिकित्सकाः॥६५
प्रमदाः कामयानेषु यजमानेषु याजकाः।
नृपाः विवदमानेषु नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः॥६६॥

निम्न छह प्रकार के मनुष्य छह प्रकार के लोगों से अपनी आजीविका चलाते हैं, सातवें की उपलब्धि नहीं होती। चोर असावधान पुरुष से, वैद्य रोगी से, कामोन्मत्त स्त्रियाँ कामियों से, पुरोहित यजमानों से, राजा झगड़नेवालों से तथा विद्वान् पुरुष मूर्खों से अपनी जीविका चलाते हैं।

षडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्तमनवेक्षणात्।□
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्या वृषलसङ्गतिः॥६७॥

मुहूर्तभर [कुछ काल] भी देख-रेख न करने से गौ, सेवा, खेती, स्त्री, विद्या तथा वृषल [धर्मलोपक] की संगति—ये छह नष्ट हो जाते हैं।

षडेते ह्यवमन्यन्ते नित्यं पूर्वोपकारिणम्।□
आचार्यं शिक्षिताः शिष्याः कृतदाराश्च मातरम्॥६८
नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम्।
नावं निस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सकम्॥६९

ये छह प्रकार के लोग प्रायः अपने पूर्व उपकारी का सम्मान नहीं करते—शिक्षा समाप्त हो जाने पर शिष्य आचार्य का, विवाहित पुत्र माता का, काम-वासना की शान्ति हो जाने पर पुरुष स्त्री का, कृत-कार्य मनुष्य सहायक का, नदी की दुर्गम धारा पार कर लेनेवाला पुरुष नाव का और रोगी पुरुष नीरोग होने के पश्चात् वैद्य का।

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः
सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोगः।□
स्वप्रत्यया वृत्तिरभीतवासः
षड्जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥७०॥

हे राजन्! नीरोगता, किसी का ऋणी न होना, परदेश में न रहना, उत्तम पुरुषों के साथ मेल होना, अपनी वृत्ति से जीविका चलाना और निर्भय होकर रहना—ये छह मनुष्यलोक के सुख हैं।

ईर्ष्युर्घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशंकितः।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः॥७१॥

ईर्ष्या करनेवाला, घृणा करनेवाला, असन्तोषी, क्रोधी, सदा शंकित रहनेवाला तथा दूसरे के भाग्य पर जीवन-निर्वाह करनेवाला—ये छह सदा दुःखी रहते हैं।

सप्त दोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः।□
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूला अपीश्वराः॥७२॥
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पञ्चमम्।□
महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च॥७३॥

स्त्रीविषयक आसक्ति, जुआ खेलना, शिकार करना, मद्यपान, वाणी की कठोरता, अत्यन्त कठोर दण्ड देना तथा धन का दुरुपयोग करना—ये सात दुःखदायी दोष राजा को सदा त्याग देने चाहिएँ। इन दोषों से दृढ़मूल राजा भी प्रायः नष्ट हो जाते हैं।

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च।□

पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥७४॥

बुद्धि, कुलीनता, मन को वश में रखना, शास्त्र-ज्ञान, पराक्रम, अधिक न बोलना, शक्ति के अनुसार दान देना और कृतज्ञता—ये आठ गुण मनुष्य को चमका देते हैं, उसके यश को फैलाते हैं।

नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम्।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः ॥७५॥

जो विद्वान् [आँख, नाकादि] नौ द्वारवाले, तीन [सत्त्व, रज, तमरूपी] खम्भोंवाले, पाँच [ज्ञानेन्द्रिय-रूप] साक्षीवाले, आत्मा के निवास-स्थान इस शरीर-रूपी गृह को सत्त्वरूप से जानता है, वह बहुत बड़ा ज्ञानी है।

दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान्।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥७६॥
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ॥७७॥

महाराज धृतराष्ट्र ! ये दस प्रकार के लोग जो धर्म के तत्त्व को नहीं जानते, उनके नाम सुनो—नशे में मतवाला, असावधान, पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, जल्दबाज, लोभी, भयभीत और कामी—इस प्रकार के लोगों में विद्वान् पुरुष को आसक्त नहीं होना चाहिए।

यः काममन्यू प्रजहाति राजा
पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च।
विशेषवित् श्रुतवान् क्षिप्रकारी
तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् ॥७८॥

जो राजा काम और क्रोध को त्याग देता है, सुपात्र को धन देता है, विशेषज्ञ है, शास्त्रों का ज्ञाता और कर्त्तव्य को शीघ्र पूरा करनेवाला है, उस [के व्यवहार और वचनों] को सब लोग प्रमाण मानते हैं।

जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्
विज्ञातदोषेषु दधाति दण्डम्। □
जानाति मात्रां च तथा क्षमां च
तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्राः ॥७९॥

जो मनुष्यों में विश्वास उत्पन्न करना जानता है, जिनका अपराध प्रमाणित हो गया है उन्हीं को दण्ड देने की न्यून-अधिक मात्रा तथा क्षमा का उपयोग जानता है, उस राजा की सेवा में सम्पूर्ण सम्पत्ति चली आती है।

सुदुर्बलं नावजानाति कञ्चिद्
युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम्। □
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः
काले च यो विक्रमते स धीरः ॥८०॥

जो किसी दुर्बल का अपमान नहीं करता, सदा सावधान रहकर शत्रु के साथ बुद्धिपूर्वक व्यवहार करता है, बलवानों के साथ युद्ध पसन्द नहीं करता तथा समय पड़ने पर पराक्रम दिखाता है, वही धीर है।

न योऽभ्यसूयत्यनुकम्पते च
न दुर्बलः प्रतिभाव्यं करोति।
नात्याह किञ्चित् क्षमते विवादं
सर्वत्र तादृग् लभते प्रशंसाम् ॥८१॥

जो दूसरों के दोष नहीं देखता, सबपर दया करता है, असमर्थ होते हुए किसी की जमानत नहीं देता, बढ़कर नहीं बोलता तथा विवाद को सह लेता है—ऐसा मनुष्य सर्वत्र प्रशंसा पाता है।

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं
न दर्पमारोहति नास्तमेति। □
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं
तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥८२॥

जो शान्त हुई वैर की अग्नि को पुनः प्रज्वलित नहीं करता, गर्व नहीं करता, हीनता नहीं दिखाता तथा 'मैं विपत्ति में पड़ा हूँ' ऐसा सोचकर अनुचित कार्य नहीं करता, ऐसे उत्तम आचरणवाले पुरुष को आर्यजन सर्वश्रेष्ठ कहते हैं।

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
चान्यस्य दुःखे भवति विषादी। □
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं
स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥८३॥

जो अपने सुख में प्रसन्न नहीं होता, दूसरे को दुःख में देखकर दुःखी हो जाता है, दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह सज्जनों में सदाचारी कहलाता है।

दम्भं मोहं मत्सरं पापकृत्यं
राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम् ।
मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं
यः प्रज्ञावान् वर्जयेत् स प्रधानः ॥८४॥

जो बुद्धिमान् दम्भ, मोह, मात्सर्य, पापकर्म, राजद्रोह, चुगलखोरी, समूह से वैर, मतवाले, पागल और दुर्जनों से विवाद छोड़ देता है, वह श्रेष्ठ है।

मितं भुंक्ते संविभज्याश्रितेभ्यो
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा ।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सं-
स्तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः ॥८५॥

जो अपने आश्रित जनों को बाँटकर थोड़ा ही भोजन करता है, बहुत अधिक काम करके भी थोड़ा सोता है तथा माँगने पर जो मित्र नहीं हैं, उन्हें भी धन देता है, उस मनस्वी मनुष्य को सारे अनर्थ दूर से ही छोड़ देते हैं।

पाण्डो सुताः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पाः
बालास्त्वया वर्धिताः शिक्षिताश्च ।
प्रदायैषामुचितं तात राज्यं
सुखी पुत्रैः सहितो मोदमानः ॥८६॥

तात ! महाराज पाण्डु के पाँच पुत्र पाँच इन्द्रों के समान शक्तिशाली हैं। उन्हें आपने ही बाल्यावस्था से पाला और शिक्षित किया है। उन्हें उनका न्यायोचित राज्यभाग देकर आप अपने पुत्रों के साथ आनन्दित होते हुए सुख भोगिए।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र के प्रति विदुर के नीतियुक्त वचन

धृतराष्ट्र उवाच

त्वं मां यथावद् विदुर प्रशाधि
स्वप्रज्ञया सर्वमजातशत्रोः ।
यन्मन्यसे पथ्यमदीनसत्त्व
श्रेयस्करं ब्रूहि तद् वै कुरूणाम् ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले—उदारचित्त विदुर ! तुम अपनी बुद्धि से विचारकर मुझे ठीक-ठीक उपदेश दो। तुम जो बात युधिष्ठिर के लिए हितकर तथा कौरवों के लिए कल्याणकारी समझो, वह सब अवश्य बताओ।

विदुर उवाच

शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
अपृष्टस्तस्य तद् ब्रूयाद् यस्य नेच्छेत् पराभवम् ॥२॥

विदुरजी ने कहा—राजन् ! मनुष्य को चाहिए कि वह जिसकी पराजय नहीं चाहता, उसको बिना पूछे भी शुभ या अशुभ [अच्छी अथवा बुरी] कल्याणकारी या अनिष्टकारी—जो भी बात हो, बता दे।

तस्माद्वक्ष्यामि ते राजन् हितं यत्स्यात्कुरून्प्रति ।
वचः श्रेयस्करं धर्म्यं ब्रुवतस्तन्निबोध मे ॥३॥

अतः हे राजन् ! जिससे समस्त कौरवों का हित हो, मैं वही बात आप से कहूँगा। मैं जो कल्याणकारी और धर्मयुक्त वचन कह रहा हूँ, आप इन्हें ध्यानपूर्वक सुनें।

न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥४॥

'अब तो राज्य प्राप्त हो ही गया'—ऐसा समझकर किसी से भी अनुचित् वर्ताव नहीं करना चाहिए। उद्दण्डता सम्पत्ति को उसी प्रकार नष्ट कर देती है, जैसे बुढ़ापा सुन्दर शरीर को नष्ट कर देता है।

भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं मत्स्यो बडिशमायसम् ।
लोभाभिपाती ग्रसते नानुबन्धमवेक्षते ॥५॥

मछली उत्तम खाद्य वस्तु से ढके हुए लोहे के काँटे को लोभ में पड़कर निगल जाती है, उससे होनेवाले परिणाम पर विचार नहीं करती [अतः मर जाती है]।

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।
हितं च परिणामे यत् तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥६॥

अपनी उन्नति के इच्छुक पुरुष को वही वस्तु खानी या ग्रहण करनी चाहिए [जो परिणाम में

अनिष्टकर न हो अर्थात् जो खाने योग्य हो तथा खाई जा सके, खाने या ग्रहण करने पर पच सके तथा पच जाने पर हितकारी हो।

वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ॥७॥

जो पेड़ से कच्चे फलों को तोड़ता है, वह उन फलों से रस तो पाता नहीं, उस वृक्ष के बीज का भी नाश हो जाता है।

यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम्।
फलाद् रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ॥८॥

परन्तु जो समय पर पके हुए फल को ग्रहण करता है, वह फल से रस तो प्राप्त करता ही है, साथ ही उस बीज से पुनः फल भी पाता है।

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥९॥

जैसे भ्रमर [भौंरा] फूलों की रक्षा करता हुआ ही उनके मधु का ग्रहण करता है, वैसे ही राजा भी प्रजाजनों को कष्ट दिये विना ही उनसे धन [कर] ले।

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः ॥१०॥

जैसे माली उद्यान में से एक-एक फूल तोड़ता है, वृक्षों की जड़ नहीं काटता, वैसे ही राजा प्रजा की रक्षापूर्वक उनसे कर ले, कोयला वनानेवाले की भाँति उन्हें जड़ से न काटे।

सुपुष्पितः स्यादफलः फलितः स्याद् दुरारुहः।
अपक्वः पक्वसङ्काशो न तु शीर्येत कर्हिचित् ॥११॥

राजा वृक्ष की भाँति अच्छी प्रकार फूलने [प्रसन्न रहने] पर भी फल से खाली रहे [वहु दानी न हो]। यदि फल से युक्त [दानशील] हो तो भी जिसपर चढ़ा न जा सके, ऐसा पहुँच से वाहर होकर रहे। कच्चा [अल्पशक्ति] होने पर भी अपने को पके [शक्तिसम्पन्न] की भाँति प्रकट करे। ऐसा करने से वह नष्ट नहीं होता।

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम्।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति ॥१२॥

जो राजा नेत्र, मन, वाणी, और कर्म—इन चारों से प्रजा को प्रसन्न करता है, उसी से प्रजा प्रसन्न होती है।

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्तवान् स्वेन कर्मणा।
वायुरभ्रमिवासाद्य भ्रंशयत्यनये स्थितः ॥१३॥

अन्याय में स्थित हुआ राजा वाप-दादों का राज्य पाकर भी अपने कर्मों से उसे इस प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे वायु वादल को छिन्न-भिन्न कर देती है।

अथ संत्यजतो धर्ममधर्मं चानुतिष्ठतः।
प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा ॥१४॥

जो राजा धर्म को छोड़कर अधर्म का अनुष्ठान करता है, उसके राज्य की भूमि अग्नि पर रखे हुए चमड़े की भाँति संकुचित हो जाती है।

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत्।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥१५॥

धर्म से ही राज्य प्राप्त करे और धर्म से ही उसकी रक्षा करे, क्योंकि धर्ममूलक राज्यलक्ष्मी को पाकर न तो राजा उसे छोड़ता है और न वह राजा को छोड़ती है।

अप्युन्मत्तात्प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः।
सर्वतः सारमादद्यादश्मभ्य इव काञ्चनम् ॥१६॥

निरर्थक वोलनेवाले, पागल तथा वकवाद करनेवाले वालक से भी सार वात उसी प्रकार ग्रहण कर लेनी चाहिए, जैसे पत्थरों में से सोना ले लिया जाता है।

सुव्याहृतानि सूक्तानि सुकृतानि ततस्ततः।
संचिन्वन् धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा ॥१७॥

जैसे शिलोञ्छवृत्ति से जीवन-निर्वाह करनेवाला अन्न का एक-एक दाना चुगता रहता है, उसी प्रकार धीर पुरुष को जहाँ-तहाँ से भावपूर्ण वचनों, सूक्तियों और सत्कर्मों का संग्रह करते रहना चाहिए।

गावः गन्धेन पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥१८॥

गौएँ गन्ध से, ब्राह्मण लोग वेदों से, राजा गुप्तचरों से तथा अन्य साधारण लोग आँखों से देखते हैं।

भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा।
अथ या सुदुहा राजन् नैव तां वितुदन्त्यपि ॥१९॥

राजन्! जो गाय वड़ी कठिनाई से दुहने देती है,

वह बहुत क्लेश उठाती है परन्तु जो सरलतापूर्वक दूध देती है, उसे लोग कष्ट नहीं देते।

यदतप्तं प्रणमति न तत् सन्तापयन्त्यपि।
यच्च स्वयं नतं दारु न तत् संनामयन्त्यपि ॥२०॥

जो धातु बिना गर्म किये मुड़ जाती हैं, उन्हें अग्नि में नहीं तपाते। जो काष्ठ [लकड़ी] स्वयं झुका होता है, उसे कोई झुकाने का प्रयत्न नहीं करता [अर्थात् बुद्धिमान् को अधिक बलवान् के समक्ष झुक जाना चाहिए]।

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते। □
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥२१॥

सत्य से धर्म की रक्षा होती है, योग से विद्या सुरक्षित रहती है, स्वच्छता से [सुन्दर] रूप की रक्षा होती है और सदाचार से कुल की रक्षा होती है।

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः। □
अन्त्येष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥२२॥

मेरा ऐसा मत है कि सदाचार से हीन मनुष्य का केवल उच्चकुल मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि नीच-कुल में उत्पन्न मनुष्य का भी सदाचार श्रेष्ठ माना जाता है।

य ईर्ष्युः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये। □
सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः ॥२३॥

जो दूसरों के धन, रूप, पराक्रम, कुलीनता, सुख, सौभाग्य और सम्मान पर डाह करता है, उसका यह रोग असाध्य है।

विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः। □
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥२४॥

विद्या का मद, धन-मद तथा तीसरा उच्चकुल का मद—ये अभिमानी मनुष्यों के लिए तो मद हैं परन्तु ये [विद्या, धन और कुलीनता] ही सज्जन पुरुषों के लिए दम के साधन हैं।

जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता। □
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम् ॥२५॥

अच्छे वस्त्रवाला सभा को जीत लेता [सभा में अपना प्रभाव जमा लेता] है, जिसके पास गौ है वह [दूध, घी आदि पदार्थों के आस्वादन से] मीठे स्वाद की इच्छा को जीत लेता है, सवारी से चलनेवाला मार्ग को जीत लेता [पार कर लेता] है तथा शील स्वभाववाला पुरुष सबपर विजय पा लेता है।

शीलं प्रधानं पुरुषे तद् यस्येह प्रणश्यति। □
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभिः ॥२६॥

पुरुषों में शील ही प्रधान है, जिसका शील ही नष्ट हो जाता है, इस संसार में उसका जीवन, धन और बन्धुओं से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

ऐश्वर्यमदपापिष्ठा मदाः पानमदादयः।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नापतित्वा विबुध्यते ॥२७॥

यूँ तो मादक वस्तुओं के पीने का नशा आदि भी नशा ही है, परन्तु ऐश्वर्य का नशा तो बहुत ही बुरा है, क्योंकि ऐश्वर्य के मद से मतवाला पुरुष भ्रष्ट (पतित) हुए बिना होश में नहीं आता।

यो जितः पञ्चवर्गेण सहजेनात्मकर्षिणा।
आपदस्तस्य वर्धन्ते शुक्लपक्ष इवोडुराट् ॥२८॥

जो मनुष्य जीवों को सहज वश में करनेवाली पाँच इन्द्रियों से जीत लिया गया, उसकी आपत्तियाँ शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की भाँति बढ़ती हैं।

अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते।
अमित्रान् वाजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥२९॥

जो राजा इन्द्रियोंसहित मन को जीते बिना ही मन्त्रियों को जीतने की इच्छा करता है अथवा मन्त्रियों को अपने अधीन किये बिना शत्रुओं को जीतना चाहता है, उस अजितेन्द्रिय राजा या पुरुष को सब लोग त्याग देते हैं।

आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण यो जयेत्।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥३०॥

जो पहले इन्द्रियोंसहित मन को ही शत्रु समझकर जीत लेता है, तत्पश्चात् यदि वह मन्त्रियों तथा शत्रुओं को जीतने की इच्छा करे तो उसे सफलता मिलती है।

वश्येन्द्रियं जितात्मानं धृतदण्डं विकारिषु। □
परीक्ष्यकारिणं धीरमत्यन्तं श्रीर्निषेवते ॥३१॥

इन्द्रियों तथा मन को जीतनेवाले, अपराधियों को दण्ड देनेवाले तथा जाँच-परखकर कार्य करने-वाले धीर पुरुष की लक्ष्मी अत्यन्त सेवा करती है।

रथः शरीरं पुरुषस्य राज-
न्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥३२॥

राजन् ! मनुष्य का शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है तथा इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं। इनको वश में करके सावधान रहनेवाला चतुर एवं धीर पुरुष काबू में किये हुए घोड़ों से रथी की भाँति सुखपूर्वक संसार-पथ का अतिक्रमण करता है।

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥३३॥

शिक्षा न पाये हुए तथा वश में न आनेवाले घोड़े जैसे मूर्ख रथी को मार्ग में गिरा देते हैं, वैसे ही ये इन्द्रियाँ वश में न रहने पर मनुष्य को मार डालने में भी समर्थ होती हैं।

धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियवशानुगः ।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥३४॥

जो मनुष्य धर्म और अर्थ का परित्याग करके इन्द्रियों के वशीभूत हो जाता है, वह शीघ्र ही ऐश्वर्य, प्राण, धन तथा स्त्री से भी हाथ धो बैठता है।

आत्मनाऽऽत्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः ।
आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥३५॥

मन, बुद्धि और इन्द्रियों को अपने वश में कर अपने द्वारा ही अपने आत्मा को जीतने की इच्छा करे, क्योंकि उद्धारकर्ता आत्मा ही अपना बन्धु और उद्धार-पराङ्मुख आत्मा ही अपना शत्रु है।

क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुभौ ।
कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुम्पतः ॥३६॥

राजन् ! जैसे सूक्ष्म छेदवाले जाल में फँसी हुई दो बड़ी-बड़ी मछलियाँ मिलकर जाल को काट डालती हैं, उसी प्रकार काम और क्रोध—ये दोनों विवेक को लुप्त कर देते हैं।

अनसूयाऽऽर्जवं शौचं सन्तोषः प्रियवादिता ।□
दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम् ॥३७॥

गुणों में दोष न देखना, सरलता, पवित्रता, सन्तोष, प्रियवचन बोलना, इन्द्रिय-दमन, सत्य भाषण और सहिष्णुता—ये गुण दुरात्माओं में नहीं होते।

आत्मज्ञानमसंरम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।□
वाक् चैव गुप्ता दानं च नैतान्यन्त्येषु भारत ॥३८॥

भारत ! आत्मज्ञान, अक्रोध, सहनशीलता, धर्म-परायणता, प्रतिज्ञा-पालन तथा दान—ये गुण अधम =नीच पुरुषों में नहीं होते।

आक्रोशपरिवादाभ्यां विहिंसन्त्यबुधा बुधान् ।□
वक्ता पापमुपादत्ते क्षममाणो विमुच्यते ॥३९॥

मूर्ख मनुष्य विद्वानों को गाली और निन्दा से कष्ट पहुँचाते हैं। गाली देनेवाला पाप का भागी होता है और क्षमा करनेवाला पाप से मुक्त हो जाता है।

हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम् ।□
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥४०॥

हिंसा दुष्टों का बल है, दण्ड देना राजाओं का बल है, शुश्रूषा नारियों का बल है तथा क्षमा करना गुणवानों का बल है।

वाक्संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो मतः ।
अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहु भाषितुम् ॥४१॥

राजन् ! वाणी का पूर्ण संयम तो बहुत कठिन है ही, परन्तु विशेष अर्थयुक्त तथा चमत्कारपूर्ण वाणी भी अधिक नहीं बोली जा सकती [अतः दुष्कर होने पर भी वाणी का संयम करना चाहिए]।

अभ्यावहति कल्याणं विविधा वाक् सुभाषिता ।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ॥४२॥

राजन् ! मधुर शब्दों में कही हुई बात अनेक प्रकार से कल्याण करती है परन्तु वही बात यदि कटु शब्दों में कही जाए तो महान् अनर्थ का कारण बन जाती है।

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥४३॥

बाणों से बिंधा हुआ तथा फरसे से कटा हुआ वन पुनः अंकुरित हो जाता है, परन्तु कटु वचन कहकर वाणी से किया हुआ भयानक घाव कभी नहीं भरता।

कर्णिनालीकनाराचा निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥४४॥

कर्णि, नालीक और नाराच नामक बाणों को

शरीर से निकाल सकते हैं, परन्तु कटु वचनरूपी वाण नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि वह हृदय के भीतर धँस जाना है।

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः ।।४५।।

कटुवचन रूपी वाण मुख से निकलकर दूसरों के मर्म-स्थान पर चोट करते हैं, उनसे आहत मनुष्य रात-दिन घुलता रहता है, अतः विद्वान् पुरुष दूसरों पर उनका प्रयोग न करे।

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धि तस्यापकर्षन्ति सोऽपाचीनानि पश्यति ।।४६।।

देवता लोग जिसे पराजय देते हैं, उसकी बुद्धि को पहले ही हर लेते हैं, इससे वह नीच कर्मों पर ही अधिक दृष्टि रखता है।

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे समुपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ।।४७।।

विनाशकाल उपस्थित होने पर बुद्धि मलिन हो जाती है, फिर तो न्याय के समान प्रतीत होनेवाला अन्याय हृदय से वाहर नहीं निकलता।

सेयं बुद्धिः परीता ते पुत्राणां भरतर्षभ ।
पाण्डवानां विरोधेन न चैनानवबुध्यसे ।।४८।।

भरतश्रेष्ठ ! आपके पुत्रों की वह बुद्धि पाण्डवों के प्रति विरोध से व्याप्त हो गई है, आप इन्हें [अपने मलिन बुद्धि पुत्रों को] पहचान नहीं पा रहे हैं।

राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत् ।
शिष्यस्ते शासिता सोऽस्तु धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ।।४९।।

महाराज धृतराष्ट्र ! जो राजलक्षणों से सम्पन्न होने के कारण त्रिभुवन का भी राजा हो सकता है, वह आपका आज्ञाकारी युधिष्ठिर ही इस भूमण्डल का शासक होने योग्य है।

अतीत्य सर्वान् पुत्राँस्ते भागधेयपुरस्कृतः ।
तेजसा प्रज्ञया चैव युक्तो धर्मार्थतत्त्ववित् ।।५०।।

वह धर्म तथा अर्थ के तत्त्व को जाननेवाला, तेज और बुद्धि से युक्त, पूर्ण सौभाग्यशाली और आपके सभी पुत्रों से वढ़-चढ़कर है।

अनुक्रोशादानृशंस्याद् योऽसौ धर्मभृतां वरः ।
गौरवात् तव राजेन्द्र बहून् क्लेशाँस्तितिक्षति ।।५१।।

राजेन्द्र ! धर्मधारियों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर दया, सौम्यभाव और आपके प्रति पूज्य बुद्धि रखने के कारण वहुत कष्ट सह रहा है।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि नवमोऽध्यायः ।।९।।

दशमोऽध्यायः

विदुर का धृतराष्ट्र को धर्मोपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रूहि भूयो महाबुद्धे धर्मार्थसहितं वचः ।
शृण्वतो नास्ति मे तृप्तिर्विचित्राणीह भाषसे ।।१।।

धृतराष्ट्र बोले—महाबुद्धे ! तुम पुनः धर्म और अर्थ से युक्त वातें सुनाओ। इन्हें सुनकर मुझे तृप्ति नहीं हो रही है। इस विषय में तुम विलक्षण बातें कह रहे हो।

विदुर उवाच

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ।।२।।

विदुरजी ने कहा—राजन् ! सब तीर्थों में स्नान तथा सब प्राणियों के साथ कोमलता का वर्ताव—ये दोनों एक समान हैं, अथवा इनमें कोमलता के वर्ताव का अधिक महत्त्व है।

आर्जवं प्रतिपद्यस्व पुत्रेषु सततं विभो ।
इह कीर्ति परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि ।।३।।

राजन् ! आप अपने पुत्र कौरव और पाण्डवों के साथ समान रूप से कोमलता का वर्ताव कीजिए। ऐसा करने से आपको इस लोक में महान् सुयश की प्राप्ति होगी और मरने के पश्चात् स्वर्ग—सुखविशेष की प्रप्ति होगी।

त्वं हि राजेन्द्र भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसि ।
मा गमः ससुतामात्यो नाशं पुत्रार्थमब्रुवन् ॥४॥

राजेन्द्र ! आप राज्य के लिए झूठ न बोलें। पुत्र के स्वार्थवश सच्ची बात न कहकर पुत्र और मन्त्रियों के साथ विनाश के मुख में न जाएँ।

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् । □
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्धया संविभजन्ति तम् ॥५॥

देवता लोग ग्वालों की भाँति डण्डा लेकर किसी की रक्षा नहीं करते। वे जिसकी रक्षा करना चाहते हैं, उसे उत्तम बुद्धि से युक्त कर देते हैं।

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः ।
तथा तथास्य सर्वार्थाः सिद्धयन्ते नात्र संशयः ॥६॥

मनुष्य जैसे-जैसे कल्याण में मन लगता है, वैसे-वैसे ही उसके सारे अभीष्ट सिद्ध होते जाते हैं—इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं है।

न छन्दांसि वृजिनात् तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षा-
श्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥७॥

कपटपूर्ण व्यवहार करनेवाले मायावी को वेद भी पापों से मुक्त नहीं कर सकते, अपितु जैसे पंख निकल आने पर चिड़ियों के बच्चे घोंसला छोड़ देते हैं, उसी प्रकार वेद भी अन्तकाल में उस मायावी को त्याग देते हैं।

मद्यपानं कलहं पूगवैरं
भार्यापत्योरन्तरं ज्ञातिभेदम् ।
राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवादं
वर्ज्यान्याहुर्यश्च पन्थाः प्रदुष्टः ॥८॥

शराब पीना, कलह, समूह के साथ वैर, पति-पत्नी में भेद डालना, कुटुम्बवालों में भेद-बुद्धि उत्पन्न करना, राजा के साथ द्वेष, स्त्री और पुरुष में विवाद तथा बुरे रास्ते—ये सब परित्याग करने योग्य बताये गये हैं।

सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं
शलाकधूर्तं च चिकित्सकं च ।
अरिं च मित्रं च कुशीलवं च
नैतान् साक्ष्ये त्वधिकुर्वीत सप्त ॥९॥

हस्तरेखा देखनेवाला, चोरी करके व्यापार करनेवाला, जुआरी, वैद्य, शत्रु, मित्र और नर्तक—इन सात को कभी भी गवाह न बनाए।

तृणोल्कया हि ज्ञायते जातरूपं
वृत्तेन भद्रो व्यवहारेण साधुः ।
शूरो भयेषु चार्थकृच्छ्रेषु धीरः
कृच्छ्रेष्वापत्सु सुहृदश्चारयश्च ॥१०॥

जलती हुई अग्नि से सुवर्ण की पहचान होती है; सदाचार से सत्पुरुष की, व्यवहार से श्रेष्ठ पुरुष की, भय प्राप्त होने पर शूर की, आर्थिक कठिनाइयों में धीर की और कठिन आपत्तियों में शत्रु एवं मित्र की परीक्षा होती है।

जरा रूपं हरति धैर्यमाशा
मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया । □
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा
ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ॥११॥

वृद्धावस्था सुन्दर रूप को, आशा धीरता को, मृत्यु प्राणों को, असूया [गुणों में दोष देखने की प्रवृत्ति] धर्माचरण को, क्रोध लक्ष्मी को, नीच पुरुषों की सेवा सत्स्वभाव को, काम लज्जा को और अभिमान सर्वस्व को नष्ट कर देता है।

श्रीर्मङ्गलात् प्रभवति प्रागल्भ्यात् सम्प्रवर्धते ।
दाक्ष्यात् तु कुरुते मूलं संयमात् प्रतितिष्ठति ॥१२॥

शुभ कर्मों से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, प्रगल्भता से वह बढ़ती है, चतुरता से जड़ जमा लेती है और संयम से सुरक्षित रहती है।

अष्टौ नृपेमानि मनुष्यलोके
स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शनानि ।
चत्वार्येषामन्ववेतानि सद्भि-
श्चत्वारि चैषामनुयान्ति सन्तः ॥१३॥

राजन् ! मनुष्यलोक में आठ गुण स्वर्गलोक का दर्शन करानेवाले हैं, इनमें से चार तो सन्तों के साथ नित्य सम्बद्ध हैं—उनमें सदा विद्यमान रहते हैं तथा चार का सज्जन पुरुष अनुसरण करते हैं।

यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च
चत्वार्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः ।

दमः सत्यमार्जवमानृशंस्यं
चत्वार्येतान्यनुयान्ति सन्तः ॥१४॥

यज्ञ, दान, शास्त्रों का अध्ययन और तप—ये चार सज्जनों के साथ सदा सम्बद्ध हैं तथा मनोनिग्रह, सत्य, सरलता और कोमलता—इन चारों का सन्तजन अनुसरण करते हैं।

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥१५॥
तत्र पूर्वचतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति ॥१६॥

यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया और निर्लोभता—ये धर्म के आठ प्रकार के मार्ग बताये गये हैं। इनमें से पहले चार का तो कोई दम्भी मनुष्य भी दम्भ के लिए सेवन कर सकता है, परन्तु अन्तिम चार तो जो महात्मा नहीं हैं, उनमें रह ही नहीं सकते।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
धर्मो न स यत्र न सत्यमस्ति
सत्यं न तत् यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥१७॥

जिस सभा में वृद्ध न हों, वह सभा नहीं; जो धर्म की बात न कहें, वे वृद्ध नहीं; जिसमें सत्य न हो वह धर्म नहीं और जो कपट से पूर्ण हो, वह सत्य नहीं है।

सत्यं व्रतं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् ।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः ॥१८॥

सत्य, व्रतपालन, शास्त्रज्ञान, विद्या, कुलीनता, शील, बल, शूरवीरता और चमत्कारपूर्ण बात कहना—ये दस स्वर्ग के हेतु हैं।

असूयको दन्दशूको निष्ठुरो वैरकृच्छठः ।
स कृच्छ्रं महदाप्नोति न चिरात् पापमाचरन् ॥१९॥

गुणों में दोष देखनेवाला, मर्म पर आघात करनेवाला, निर्दय [दयाहीन], शत्रुता करनेवाला और शठ—दुष्ट पुरुष पाप-आचरण करता हुआ शीघ्र ही महान् कष्ट को प्राप्त होता है।

दिवसेनैव तत् कुर्याद् येन रात्रौ सुखं वसेत् ।
अष्टमासेन तत्कुर्याद् येन वर्षाः सुखं वसेत् ॥२०॥

दिनभर में वह कार्य कर ले जिससे रात्रि में सुख से रह सके और आठ मास में वह कार्य कर ले, जिससे वर्षा के चार मास सुख से व्यतीत कर सके।

पूर्वे वयसि तत् कुर्याद् येन वृद्धः सुखं वसेत् ।
यावज्जीवेन तत् कुर्याद् येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥२१॥

पहली अवस्था [यौवन] में वह काम करे जिससे वृद्धावस्था में सुखपूर्वक रह सके और जीवनभर वह कार्य करे जिससे मरने के पश्चात् भी [परलोक, पुनर्जन्म में] सुख से रह सके।

जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति भार्यां च गतयौवनाम् ।
शूरं विजितसंग्रामं गतपारं तपस्विनम् ॥२२॥

सज्जन पुरुष पच जाने पर अन्न की, निष्कलङ्क यौवन बीत जाने पर पत्नी या स्त्री की, संग्राम विजय कर लेने पर शूरवीर की तथा संसार-सागर को पार कर लेने पर तपस्वी की प्रशंसा करते हैं।

ऋषीणां च नदीनां च कुलानां च महात्मनाम् ।
प्रभवो नाधिगन्तव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च ॥२३॥

ऋषि और महात्माओं के कुल तथा नदियों के उत्पत्ति-स्थान को जानने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, इसी प्रकार स्त्रियों के दुश्चरित का कारण जानने का भी प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्जवी ।
क्षत्रियः शीलभाग् राजँश्चिरं पालयते महीम् ॥२४॥

राजन्! ब्राह्मणों के आदर-सम्मान में लगा रहनेवाला, दाता, कुटुम्बी जनों के प्रति कोमलता का व्यवहार करनेवाला तथा शीलवान् राजा चिरकाल तक पृथिवी का पालन करता है।

सुवर्णपुष्पितां पृथ्वीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥२५॥

शूरवीर, विद्वान् और सेवाधर्म को जाननेवाले—ये तीन प्रकार के मनुष्य ही पृथिवीरूप लता से सुवर्णरूप पुष्पों का संचय करते हैं।

दुर्योधनेऽथ शकुनौ मूढे दुःशासने तथा ।
कर्णे चैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥२६॥

राजन्! आप दुर्योधन, शकुनि, मूर्ख दुःशासन तथा कर्ण पर राज्य का भार रखकर उन्नति कैसे चाहते हैं?

सर्वैर्गुणैरुपेतास्तु पाण्डवा भरतर्षभ ।
पितृवत् त्वयि वर्तन्ते तेषु वर्तस्व पुत्रवत् ॥२७॥

भरतश्रेष्ठ ! पाण्डव सभी उत्तमगुणों से सम्पन्न हैं और आप में पिता का-सा भाव रखकर बर्ताव करते हैं, आप भी उनपर पुत्रभाव रखकर उचित बर्ताव कीजिए ।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

महाकुलीन लोगों के लक्षण बताते हुए विदुर का धृतराष्ट्र को समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

महाकुलेभ्यः स्पृहयन्ति देवा
धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च ।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं
भवन्ति वै कानि महाकुलानि ॥१॥

धृतराष्ट्र ने कहा—विदुर ! धर्म और अर्थ के अनुष्ठान में तत्पर तथा बहुश्रुत देवता भी उत्तम कुल में उत्पन्न पुरुषों की इच्छा करते हैं, अतः मैं तुमसे पूछता हूँ कि उत्तम कुल कौन-से हैं ?

विदुर उवाच

तपो दमो ब्रह्मवित्तं वितानाः
पुण्या विवाहाः सततान्नदानम् ।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति
सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि ॥२॥

विदुरजी बोले—राजन् ! जिनमें तप, इन्द्रिय-संयम, वेदों का स्वाध्याय, यज्ञ, पवित्र विवाह, निरन्तर अन्नदान और सदाचार—ये सात गुण वर्तमान हैं, उन्हें महान् [उत्तम] कुल कहते हैं ।

येषां हि वृत्तं व्यथते न योनि-
श्चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम् ।
ये कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टां
त्यक्तानृतानि च महाकुलानि ॥३॥

जिनका सदाचार शिथिल नहीं होता, जो अपने दोषों से माता-पिता को कष्ट नहीं पहुँचाते, जो प्रसन्न-चित्त से धर्म का आचरण करते हैं एवं असत्य का परित्याग कर अपने कुल की विशेष कीर्ति चाहते हैं, वे ही महान् कुल कहलाते हैं ।

अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च ॥४॥

यज्ञों के परित्याग से, निन्दित कुल में विवाह करने से, वेद का त्याग और धर्म का उल्लंघन करने से उत्तम कुल भी अधम हो जाते हैं ।

कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः ।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥५॥

गौओं, मनुष्यों और धन से सम्पन्न होकर भी जो कुल सदाचार से हीन हैं, वे उत्तम कुलों की गणना में नहीं आ सकते ।

वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥६॥

थोड़े धनवाले कुल भी यदि सदाचार-सम्पन्न हैं तो वे उत्तम कुलों की गणना में आ जाते हैं तथा महान् यश प्राप्त करते हैं ।

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥७॥

मनुष्य को यत्नपूर्वक सदाचार की रक्षा करनी चाहिए, धन तो आता और जाता रहता है । धन नष्ट हो जाने पर भी सदाचारी मनुष्य क्षीण नहीं माना जाता परन्तु सदाचार से भ्रष्ट हो जाने पर तो उसे नष्ट ही समझना चाहिए।

मा नः कुले वैरकृत् कश्चिदस्तु
राजामात्यो मा परस्वापहारी ।
मित्रद्रोही नैकृतिकोऽनृती वा
पूर्वाशी वा पितृदेवातिथिभ्यः ॥८॥

हमारे कुल में कोई वैर करनेवाला न हो, दूसरों के धन का अपहरण करनेवाला राजा अथवा मन्त्री न हो, कोई मित्र-द्रोही, कपटी और असत्यवादी न हो । इसी प्रकार माता-पिता, देवता एवं अतिथियों को भोजन कराने से पहले भोजन करनेवाला भी न हो।

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥९॥

तृण का आसन, पृथिवी, जल तथा चौथी मधुर वाणी—सज्जनों के घर में इन चार वस्तुओं की कमी कभी नहीं होती।

अकस्मादेव कुप्यन्ति प्रसीदन्त्यनिमित्ततः ।
शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लवं यथा ॥१०॥

दुष्ट पुरुषों का स्वभाव मेघ के समान चञ्चल होता है, वे सहसा क्रुद्ध हो जाते हैं तथा अकारण ही प्रसन्न हो जाते हैं।

सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥११॥

जो मित्रों से सत्कार पाकर तथा उनकी सहायता से कृतार्थ होकर भी उनके नहीं होते, ऐसे कृतघ्नों के मरने पर मांसभोजी जन्तु भी उनका मांस नहीं खाते।

संतापाद् भ्रश्यते रूपं संतापाद् भ्रश्यते बलम् ।
संतापाद् भ्रश्यते ज्ञानं संतापाद् व्याधिमृच्छति ॥१२॥

सन्ताप [शोक] से रूप नष्ट हो जाता है, सन्ताप से बल नष्ट होता है, सन्ताप से ज्ञान नष्ट होता है तथा सन्ताप से मनुष्य रोगी हो जाता है।

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च ।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति
तस्माद् धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ॥१३॥

सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये क्रमशः सबको प्राप्त होते रहते हैं, अतः धीर पुरुष को इनके लिए हर्ष और शोक नहीं करना चाहिए।

धृतराष्ट्र उवाच

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया ।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ॥१४॥

धृतराष्ट्र ने कहा—काष्ठरूपी शरीर में छिपे हुए अग्नि के समान सूक्ष्म धर्म से बँधे हुए राजा युधिष्ठिर को मैंने अपने मिथ्या व्यवहार से कुपित कर दिया है अतः जैसे अग्नि काष्ठ को जला डालती है, वैसे ही अब वह [युधिष्ठिर] युद्ध करके मेरे मूर्ख पुत्रों का नाश कर डालेगा।

नित्योद्विग्नमिदं सर्वं नित्योद्विग्नमिदं मनः ।
यत् तत् पदमनुद्विग्नं तन्मे वद महामते ॥१५॥

महामते! यहाँ का [कौरव-कुल का] सारा ही वातावरण भय से उद्विग्न है, मेरा यह मन भी भय से उद्विग्न है, अतः जो उद्वेगरहित और शान्त पद=मार्ग है, वही मुझे बताइए।

विदुर उवाच

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र लोभसंत्यागाच्छान्तिं पश्यामि तेऽनघ ॥१६॥

विदुरजी बोले—निष्पाप नरेश! विद्या, तप, इन्द्रिय-निग्रह तथा लोभत्याग के अतिरिक्त और कोई शान्ति का मार्ग मैं आपके लिए नहीं देखता हूँ।

बुद्ध्या भयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत् ।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति ॥१७॥

बुद्धि से मनुष्य अपने भय को दूर करता है, तपस्या से महत्पद को प्राप्त होता है, गुरु की सेवा से ज्ञान प्राप्त करता है और योग से शान्ति पाता है।

स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः ।
तपसश्च सुतप्तस्य तस्यान्ते सुखमेधते ॥१८॥

सम्यक् अध्ययन, न्यायोचित युद्ध, पुण्यकर्म और उत्तम प्रकार से किये हुए तप के अन्त में सुख की वृद्धि होती है।

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना
न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते ।
न स्त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवन्ति
न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ॥१९॥

राजन्! परस्पर फूट रखनेवाले लोग अच्छे बिछौनों से युक्त पलंग पाकर भी कभी सुख की नींद नहीं सो सकते; उन्हें स्त्रियों के पास रहकर तथा सूत-मागधों द्वारा की हुई स्तुति सुनकर भी प्रसन्नता नहीं होती।

न वै भिन्ना जातु धर्मं चरन्ति
न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः ।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति
न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥२०॥

जो आपस में भेद-भाव रखते हैं, वे कभी धर्म का आचरण नहीं करते। वे सुख भी नहीं पाते। उन्हें

गौरव भी प्राप्त नहीं होता और शान्ति की वार्ता भी उन्हें नहीं सुहाती।

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं
योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम्।
भिन्नानां वै नृपेन्द्र परायणं
न विद्यते किंचिदन्यद् विनाशात् ॥२१॥

परस्पर भेद-भाव रखनेवालों को हित की बात भी कही जाए तो उन्हें अच्छी नहीं लगती। उनके योगक्षेम की भी सिद्धि नहीं हो पाती। राजन्! भेद-भाववाले पुरुषों की विनाश के अतिरिक्त और कोई गति नहीं है।

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥२२॥

भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्र! जलती हुई लकड़ियाँ पृथक्-पृथक् होने पर धुआँ देती हैं और एकत्र होने पर प्रज्वलित हो उठती हैं। इसी प्रकार जातिबन्धु भी आपस में फूट होने पर दुःख उठाते हैं तथा एकता होने पर सुखी रहते हैं।

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥२३॥

धृतराष्ट्र! जो लोग ब्राह्मणों, स्त्रियों, जातिवालों और गौओं पर ही शूरता प्रकट करते हैं, वे उसी प्रकार नीचे गिरते हैं, जैसे पकने पर फल डण्ठल से अलग होकर नीचे गिर जाता है।

महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः।
प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ॥२४॥

यदि वृक्ष अकेला है तो वह बलवान्, दृढ़मूल तथा बहुत बड़ा होने पर भी एक ही क्षण में आँधी के द्वारा बलपूर्वक शाखाओंसहित धराशायी किया जा सकता है।

अथ ये सहिता वृक्षाः संघशः सुप्रतिष्ठिताः।
ते हि शीघ्रतमान् वातान् सहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात् ॥२५॥

परन्तु जो बहुत-से वृक्ष एक-साथ रहकर समूह के रूप में खड़े होते हैं, वे एक-दूसरे के सहारे बड़ी-से-बड़ी आँधी को भी सह सकते हैं।

एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम्।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम् ॥२६॥

इसी प्रकार सम्पूर्ण गुणों से समलंकृत मनुष्य को भी अकेले होने पर शत्रु अपनी शक्ति के भीतर समझते हैं, जैसे अकेले वृक्ष को वायु।

अन्योन्यसमुपष्टम्भादन्योन्योपाश्रयेण च।
ज्ञातयः सम्प्रवर्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत ॥२७॥

परन्तु परस्पर मेल होने से तथा एक-दूसरे का सहारा मिलने से जातिवाले लोग उसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त होते हैं जैसे तालाब में कमल।

अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः।
येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः ॥२८॥

ब्राह्मण, गौ, कुटुम्बी, बालक, स्त्री, अन्नदाता और शरणागत—ये अवध्य होते हैं।

न मनुष्ये गुणः कश्चिद् राजन् सधनतामृते।
अनातुरत्वाद् भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः ॥२९॥

राजन्! आपका कल्याण हो। मनुष्य में धन और आरोग्य को छोड़कर दूसरा कोई गुण नहीं है, क्योंकि रोगी तो मुर्दे के समान है।

रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते
न वै लभन्ते विषयेषु तत्त्वम्।
दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव
न बुध्यन्ते धनभोगान् न सौख्यम् ॥३०॥

रोग से पीड़ित मनुष्य मधुर फलों का आदर नहीं करते, विषयों में भी उन्हें कुछ सुख या सार नहीं मिलता। रोगी सदा ही दुःखी रहते हैं। वे न तो धन-सम्बन्धी भोगों का अनुभव कर पाते हैं और न ही सुख का।

पुरा ह्युक्तो नाकरोस्त्वं वचो मे
द्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्य राजन्।
दुर्योधनं वारयत्वक्षवत्यां
कितवत्वं पण्डिता वर्जयन्ति ॥३१॥

राजन्! पहले जुए में द्रौपदी को जीती गई देखकर मैंने आपसे कहा था—"आप द्यूतक्रीड़ा में आसक्त दुर्योधन को रोकिए, बुद्धिमान् लोग इस प्रवञ्चना के लिए मना करते हैं।" परन्तु आपने मेरा कहना नहीं माना।

धार्तराष्ट्राः पाण्डवान् पालयन्तु
पाण्डोः सुतास्तव पुत्रांश्च पान्तु।

एकारिमित्राः कुरवः कृतार्थाः
जीवन्तु राजन् सुखिनः समृद्धाः ॥३२॥

राजन्! आपके पुत्र पाण्डवों की रक्षा करें तथा पाण्डु के पुत्र आपके पुत्रों की रक्षा करें। सभी कौरव एक-दूसरे के शत्रु को शत्रु एवं मित्र को मित्र समझें। सबका एक ही कर्त्तव्य हो, सभी सुखी और समृद्धिशाली होकर जीवन व्यतीत करें।

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य-
स्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।□
मायाचारो मायया वर्तितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥३३॥

जो मनुष्य अपने साथ जैसा व्यवहार करे उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए—यही नीति-धर्म है। कपट का आचरण करनेवाले के साथ कपटपूर्ण वर्ताव करे तथा उत्तम व्यवहार करनेवाले के साथ उत्तम व्यवहार करना चाहिए।

धृतराष्ट्र उवाच

शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा।
नाप्नोत्यथ च तत् सर्वमायुः केनेह हेतुना ॥३४॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—विदुर! जब सभी वेदों में मनुष्य को सौ वर्ष की आयुवाला बताया गया है, तब वह किस कारण से अपनी पूर्ण आयु को प्राप्त नहीं होता?

विदुर उवाच

अतिमानोऽतिवादश्च तथात्यागो नराधिप।□
क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट् ॥३५॥
एत एवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम्।
एतानि मानवान् घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥३६॥

विदुरजी बोले—राजन्! आपका कल्याण हो। अत्यन्त अतिमान [अभिमान, स्वार्थ], बहुत बोलना, त्याग का अभाव [अदानशीलता], क्रोध, अपना ही पेट पालने की चिन्ता और मित्रद्रोह—ये छह तीखी तलवारें देहधारियों की आयुष्य [आयु] को काटती हैं। ये ही मनुष्यों का वध करती हैं, मृत्यु नहीं।

गृहीतवाक्यो नयविद् वदान्यः
शेषान्नभोक्ता ह्यविहिंसकश्च।□
नानर्थकृत्याकुलितः कृतज्ञः
सत्यो मृदुः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥३७॥

बड़ों की आज्ञा माननेवाला, नीतिज्ञ, दाता, यज्ञशेष अन्न का भोजन करनेवाला, हिंसारहित, अनर्थपूर्ण कार्यों से दूर रहनेवाला, कृतज्ञ, सत्यवादी तथा कोमल स्वभाववाला विद्वान् ही स्वर्गसुख को प्राप्त करता है।

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।□
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥३८॥

राजन्! सदा मधुर वचन बोलनेवाले मनुष्य तो सरलता से मिल सकते हैं परन्तु जो वचन अप्रिय होता हुआ भी हितकारी हो—ऐसे वचन के वक्ता और श्रोता दोनों ही दुर्लभ हैं।

यो हि धर्मं समाश्रित्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये।□
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥३९॥

जो धर्म का आश्रय लेकर और स्वामी को प्रिय लगेगा या अप्रिय—इसका विचार छोड़कर अप्रिय होने पर भी हित की बात कहता है, उसी से राजा को सच्ची सहायता मिलती है।

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।□
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥४०॥

कुल की रक्षा के लिए एक मनुष्य का, ग्राम की रक्षा के लिए कुल का, देश की रक्षा के लिए ग्राम का तथा आत्मा के कल्याण के लिए सारी पृथिवी का त्याग कर देना चाहिए।

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि।□
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥४१॥

आपत्ति के लिए धन की रक्षा करे, धन के द्वारा भी स्त्री की रक्षा करे तथा स्त्री और धन दोनों के द्वारा अपनी रक्षा करे।

द्यूतमेतत् पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम्।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥४२॥

पूर्वकाल में जुआ खेलना मनुष्यों में वैर उत्पन्न करने का कारण देखा गया है, अतः बुद्धिमान् मनुष्य हँसी [मनोविनोद, दिल-बहलाव] के लिए भी जुआ न खेले।

अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं
सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः।□

अरोगजातीयमुदारवाक्यं
दूतं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम् ॥४३॥

अहंकारशून्य, कायरतारहित, शीघ्र कार्य को पूर्ण करनेवाला, दयालु, शुद्ध हृदय, दूसरों के बहकावे में न आनेवाला, नीरोग तथा उदार वचनवाला—इन आठ गुणों से युक्त मनुष्य को 'दूत' बनाने योग्य बताया गया है।

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते
बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः ।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च
श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥४४॥

नित्य स्नान करनेवाले मनुष्य को बल, रूप, मधुर स्वर, उज्ज्वल वर्ण, कोमलता, सुगन्ध, पवित्रता, शोभा, सुकुमारता और सुन्दर स्त्रियाँ—ये दश लाभ प्राप्त होते हैं।

गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजन्ते
आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च ।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं
न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ॥४५॥

मित=थोड़ा भोजन करनेवाले को निम्न छह गुण प्राप्त होते हैं—आरोग्य, आयु, बल तथा सुख तो मिलते ही हैं, उसकी सन्तान उत्तम होती है तथा 'यह पेटू [बहुत खानेवाला] है'—ऐसा कहकर लोग उसपर आक्षेप नहीं करते।

अकर्मशीलं च महाशनं च
लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम् ।
अदेशकालज्ञमनिष्टवेष-
मेतान् गृहे न प्रतिवासयेत ॥४६॥

अकर्मण्य, बहुत खानेवाले, सब लोगों से वैर करनेवाले, अधिक मायावी, क्रूर, देश-काल का ज्ञान न रखनेवाले तथा निन्दित वेष धारण करनेवाले मनुष्य को कभी अपने घर में न ठहरने दे।

कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च
वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम् ।
निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्न-
मेतान् भृशार्तोऽपि न जातु याचेत् ॥४७॥

अत्यन्त दुःखी होने पर भी कृपण=कंजूस, गाली बकनेवाले, मूर्ख, जंगल में रहनेवाले, धूर्त, नीचसेवी, निर्दय, वैर बाँधनेवाले और कृतघ्न से कभी सहायता की याचना नहीं करनी चाहिए।

हितं यत् सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम् ।
तत् कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ॥४८॥

जो समस्त प्राणियों के लिए हितकर तथा अपने लिए भी सुखदायक हो, उसे ईश्वरार्पित बुद्धि से करे, सम्पूर्ण सिद्धियों का यही मूलमन्त्र है।

सर्पो ह्यग्निश्च सिंहश्च कुलपुत्रो हि भारत ।
नावज्ञेया मनुष्येण सर्वे ह्येतेऽतितेजसः ॥४९॥

हे भारत! मनुष्य को चाहिए कि वह साँप, अग्नि, सिंह तथा अपने कुल में उत्पन्न व्यक्ति का अनादर न करे, क्योंकि ये सभी अत्यन्त तेजस्वी होते हैं।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्याय:

विदुरजी का नीतियुक्त उपदेश तथा धर्म की महत्ता का प्रतिपादन

विदुर उवाच

अपकृत्य बुद्धिमतो दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः ॥१॥

विदुरजी बोले—बुद्धिमान् मनुष्य का अपकार करके इस विश्वास पर निश्चिन्त न रहे कि मैं बहुत दूर हूँ। बुद्धिमान् की बुद्धिरूपी भुजाएँ बड़ी लम्बी होती हैं। सताया जाने पर वह उन्हीं बाँहों से बदला लेता है।

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥२॥

जो अविश्वास का पात्र है, उसका विश्वास तो करे ही नहीं, अपितु जो विश्वास-पात्र है, उसपर भी

अधिक विश्वास न करे। विश्वास से जो भय उत्पन्न होता है, वह मूल का भी उच्छेद कर डालता है।

अनीर्ष्युर्गुप्तदारश्च संविभागी प्रियंवदः।
श्लक्ष्णो मधुरवाक् स्त्रीणां न चासां वशगो भवेत् ॥३॥

मनुष्य को चाहिए कि वह ईर्ष्याशून्य, स्त्रियों का रक्षक, सम्पत्ति का न्यायपूर्वक विभाग करनेवाला, प्रियवादी, स्वच्छ तथा स्त्रियों के निकट मधुर वचन बोलनेवाला हो, परन्तु उनके वश में कभी न हो।

पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद् रक्ष्या विशेषतः ॥४॥

स्त्रियाँ घर की लक्ष्मी कही गई हैं। ये अत्यन्त सौभाग्यशालिनी, मान और सत्कार के योग्य, पवित्र तथा घर की शोभा हैं, अतः इनकी विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिए।

अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति।
स तेषां विपरिभ्रंशाद् भ्रंश्यते जीवितादपि ॥५॥

जो मोहवश बुरे [शास्त्र-निषिद्ध] कर्म करता है, वह उन कार्यों का विपरीत परिणाम होने से अपने जीवन से भी हाथ धो बैठता है।

नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः।
भृत्येभ्यो विसृजेदर्थान् नैकः सर्वहरो भवेत् ॥६॥

राजा को चाहिए कि वह अपने 'राजा' नाम से तथा राजोचित 'छत्र' के धारण से ही सन्तुष्ट रहे। सेवकों को पर्याप्त धन दे, सब अकेला ही न हड़प ले।

न शत्रुर्वशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः।
न्यग्भूत्वा पर्युपासीत् वध्यं हन्याद् बले सति ॥७॥

वश में आये हुए वध के योग्य शत्रु को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। यदि स्वयं निर्बल हो तो नम्र होकर उसके पास समय व्यतीत करना चाहिए और बल प्राप्त होने पर उसे मार ही डालना चाहिए।

अनार्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम्।
अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ॥८॥

जिसका चरित्र निन्दनीय है, जो मूर्ख, गुणों में दोष देखनेवाला, अधार्मिक, बुरे वचन बोलनेवाला तथा क्रोधी है उसपर शीघ्र ही संकट आ जाते हैं।

अविसंवादनं दानं समयस्याव्यतिक्रमः।
आवर्तयन्ति भूतानि सम्यक् प्रणिहिता च वाक् ॥९॥

ठगी न करना, दान देना, प्रतिज्ञा का उल्लंघन न करना और उत्तम प्रकार किया हुआ वार्तालाप—ये सम्पूर्ण भूतों [प्राणियों] को अपना बना लेते हैं।

धृतिः शमो दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ॥१०॥

धैर्य, मनोनिग्रह, इन्द्रियदमन, पवित्रता, दया, कोमलवाणी तथा मित्र से द्रोह न करना—ये सात बातें लक्ष्मी को बढ़ानेवाली हैं।

असंविभागी दुष्टात्मा कृतघ्नो निरपत्रपः।
तादृङ्नराधिपो लोके वर्जनीयो नराधिप ॥११॥

राजन्! जो अपने आश्रितों में ठीक-ठीक धन का बटवारा नहीं करता, जो दुष्ट स्वभाववाला, कृतघ्न और निर्लज्ज है, ऐसा राजा इस लोक में त्याग देने योग्य है।

न स रात्रौ सुखं शेते ससर्प इव वेश्मनि।
यः कोपयति निर्दोषं सदोषोऽभ्यन्तरं जनम् ॥१२॥

जो स्वयं दोषी होकर भी निर्दोष आत्मीय जनों को कुपित करता है, वह सर्पयुक्त घर में रहनेवाले मनुष्य की भाँति रात्रि में सुख से नहीं सो सकता।

यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता।
मज्जन्ति तेऽवशा राजन् नद्यामश्मप्लवा इव ॥१३॥

राजन्! जिस देश का शासन स्त्री, जुआरी तथा बालक के हाथ में होता है, वहाँ लोग नदी में पत्थर की नौका पर बैठनेवालों की भाँति विवश होकर विपत्ति के समुद्र में डूब जाते हैं।

यं प्रशंसन्ति कितवा यं प्रशंसन्ति चारणाः।
यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो न स जीवति मानवः ॥१४॥

[केवल] जुआरी जिसकी प्रशंसा करते हैं, नर्तक जिसका गुणगान करते हैं तथा वेश्याएँ जिसकी बड़ाई किया करती हैं, वह मनुष्य जीता हुआ ही मुर्दे के समान है।

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः।
मन्त्रमूलबलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः ॥१५॥

संसार में कोई मनुष्य दान देने से प्रिय होता है, कोई मधुर वचन बोलने के कारण प्रिय होता है, कोई मन्त्र तथा औषध के बल से प्रिय होता है, परन्तु जो वास्तव में प्रिय है, वह तो सदा प्रिय ही है।

द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः ।
प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह ॥१६॥

जिससे द्वेष हो जाता है, वह न साधु [सज्जन], न विद्वान् और न बुद्धिमान् ही जान पड़ता है । प्रिय व्यक्ति [मित्र आदि] के तो सभी कर्म शुभ और शत्रु के सभी कर्म पापमय प्रतीत होने लगते हैं ।

ये वै भेदनशीलास्तु सकामा निस्त्रपाः शठाः ।
ये पापा इति विख्याताः संवासे परिगर्हिताः ॥१७॥

दूसरों में फूट डालने का ही जिनका स्वभाव है, जो कामी, निर्लज्ज, शठ और प्रसिद्ध पापी हैं, वे साथ रखने के सर्वथा अयोग्य—निन्दित माने गये हैं ।

यो ज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरम् ।
स पुत्रपशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानन्त्यमश्नुते ॥१८॥

जो अपने कुटुम्बी, दरिद्र, दीन तथा रोगी पर अनुग्रह करता है, वह पुत्रों और पशुओं से वृद्धि को प्राप्त होता है तथा अनन्त कल्याण का अनुभव करता है ।

विगुणा ह्यपि संरक्ष्या ज्ञातयो भरतर्षभ ।
किं पुनर्गुणवन्तस्ते त्वत्प्रसादाभिकांक्षिणः ॥१९॥

भरतश्रेष्ठ ! अपने कुटुम्बी लोग गुणहीन भी हों तो भी उनकी रक्षा करनी चाहिए; फिर जो आपके कृपाभिलाषी तथा गुणवान् हैं, उनका तो कहना ही क्या है !

प्रसादं कुरु वीराणां पाण्डवानां विशाम्पते ।
दीयन्तां ग्रामकाः केचित् तेषां वृत्त्यर्थमीश्वर ॥२०॥

राजन् ! आप समर्थ हैं, अतः वीर पाण्डवों पर कृपा कीजिए और उनकी आजीविका के लिए उन्हें कुछ ग्राम दे दीजिए ।

सम्भोजनं संकथनं सम्प्रीतिश्च परस्परम् ।
ज्ञातिभिः सह कार्याणि न विरोधः कदाचन ॥२१॥

अपने जाति-भाइयों के साथ परस्पर भोजन, वार्तालाप तथा प्रेम करना ही कर्तव्य है, उनके साथ कभी विरोध नहीं करना चाहिए ।

ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च ।
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ॥२२॥

इस जगत् में जाति-बन्धु ही तारते हैं और जाति-बन्धु ही डुबाते भी हैं । उनमें जो सदाचारी हैं, वे तो तारते हैं तथा दुराचारी डुबा देते हैं ।

येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा ।
आदावेव न तत् कुर्यादध्रुवे जीविते सति ॥२३॥

जीवन क्षणभंगुर है, अतः जिस कार्य को करने से अन्त में खाट पर बैठकर पछताना पड़े, उसे पहले ही नहीं करना चाहिए ।

मन्त्रभेदस्य षट् प्राज्ञो द्वाराणीमानि लक्षयेत् ।
अर्थसन्ततिकामश्च रक्षेदेतानि नित्यशः ॥२४॥
मदं स्वप्नमविज्ञानमाकारं चात्मसम्भवम् ।
दुष्टामात्येषु विश्रम्भं दूताच्चाकुशलादपि ॥२५॥

बुद्धिमान् मनुष्य को मन्त्रभेद के इन छह द्वारों को जानना तथा धन को सुरक्षित रखने की इच्छा से इन्हें सदा बन्द रखना चाहिए—मादक वस्तुओं का सेवन, निद्रा, आवश्यक बातों की जानकारी न रखना, अपने नेत्र, मुख आदि का विकार, दुष्ट मन्त्रियों पर विश्वास तथा कार्य में अकुशल दूत पर भरोसा करना ।

न वै श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा ।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ॥२६॥

बृहस्पति के समान बुद्धिशील मनुष्य भी शास्त्र-ज्ञान अथवा वृद्धों की सेवा किये बिना धर्म और अर्थ का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते ।

नष्टं समुद्रे पतितं नष्टं वाक्यमशृण्वति ।
अनात्मनि श्रुतं नष्टं नष्टं हुतमनग्निकम् ॥२७॥

समुद्र में गिरी हुई वस्तु नष्ट हो जाती है, जो सुनता नहीं, उससे कही हुई बात भी नष्ट हो जाती है, अजितेन्द्रिय पुरुष का शास्त्र-ज्ञान तथा राख में किया हुआ हवन भी नष्ट हो जाता है ।

अकीर्तिं विनयो हन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रमः ।
हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥२८॥

विनम्रता अपयश को नष्ट करती है, पराक्रम अनर्थ को दूर करता है, क्षमा सदा ही क्रोध का नाश करती है तथा सदाचार कुलक्षण को समाप्त करता है ।

प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम् ।
मित्रवन्तं सुवाक्यं च सुहृदं परिपालयेत् ॥२९॥

जो विद्वानों की सेवा में रहनेवाला, वैद्य, धार्मिक,

प्रियदर्शन [देखने में सुन्दर], मित्रों से युक्त और मधुरभाषी हो, ऐसे सुहृद् की सर्व प्रकार से रक्षा करनी चाहिए।

दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लंघयेत्। □
धर्मापेक्षी मृदुः ह्लीमान् स कुलीनशताद् वरः ॥३०॥

नीच कुल में उत्पन्न हुआ हो या उत्तम कुल में—जो मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, धर्म की अपेक्षा रखता है, कोमल स्वभाव तथा लज्जाशील है, वह सैकड़ों कुलीनों से बढ़कर है।

अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च। □
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद् बुधः ॥३१॥

विद्वान् पुरुष को उचित है कि वह अभिमानी, मूर्ख, क्रोधी, दुष्कृत्यों में साहसिक तथा धर्मशून्य पुरुषों के साथ मित्रता न करे।

कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम्। □
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते ॥३२॥

मित्र ऐसा होना चाहिए जो कृतज्ञ, धार्मिक, सत्यवादी, उदार, दृढ़ अनुराग रखनेवाला, जितेन्द्रिय, मर्यादा के भीतर रहनेवाला तथा मैत्री का त्याग न करनेवाला हो।

इन्द्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनापि विशिष्यते।
अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद् दैवतान्यपि ॥३३॥

इन्द्रियों को विषयों से सर्वथा रोक रखना तो मृत्यु का आलिङ्गन कर लेने से भी बढ़कर कठिन है तथा उन्हें सर्वथा खुली छोड़ देना देवताओं का भी नाश कर देता है।

मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः। □
आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाविमानना ॥३४॥

सभी प्राणियों के प्रति दया, गुणों में दोष न देखना, क्षमा, धैर्य और मित्रों का अपमान न करना—ये सब गुण आयु को बढ़ानेवाले हैं—ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं।

मङ्गलालम्भनं योगः श्रुतमुत्थानमार्जवम्। □
भूतिमेतानि कुर्वन्ति सतां चाभीक्ष्णदर्शनम् ॥३५॥

माङ्गलिक पदार्थों का स्पर्श, चित्तवृत्तियों का निरोध, शास्त्र का अभ्यास, उद्योगशीलता, सरलता तथा सत्पुरुषों का बारम्बार दर्शन—ये सब कल्याणकारी हैं।

अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च। □
महान् भवत्यनिर्विण्णः सुखं चात्यन्तमश्नुते ॥३६॥

उद्योग=परिश्रम में लगे रहना—उससे विरक्त न होना धन लाभ और कल्याण का मूल है। उद्योग न छोड़नेवाला मनुष्य महान् हो जाता है तथा अत्यन्त सुख का उपभोग करता है।

नातः श्रीमत्तरं किञ्चिदन्यत् पुण्यतमं मतम्। □
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा ॥३७॥

तात! समर्थ पुरुष के लिए सर्वत्र और सब कालों में क्षमा के समान हितकारक और अत्यन्त वैभवशाली बनानेवाला उपाय दूसरा नहीं माना गया है।

क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान् धर्मकारणात्।
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता ॥३८॥

जो शक्तिहीन है, वह तो सबको क्षमा करे ही, जो शक्तिशाली है वह भी धर्म के लिए क्षमा करे और जिसकी दृष्टि में अर्थ एवं अनर्थ दोनों समान हैं, उसके लिए तो क्षमा सदा ही हितकारिणी होती है।

यत् सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते।
कामं तदुपसेवेत न मूढव्रतमाचरेत् ॥३९॥

जिस सुख का सेवन करते रहने पर भी मनुष्य धर्म तथा अर्थ से भ्रष्ट नहीं होता, उसका खूब सेवन करे परन्तु मूढ़व्रत=विषयाभिलाषा तथा निद्रा-प्रमाद आदि का सेवन न करे।

दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च। □
न श्रीर्वसत्यदान्तेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ॥४०॥

जो दुःख से पीड़ित, प्रमादी, नास्तिक, आलसी, अजितेन्द्रिय तथा उत्साह से शून्य हैं, उनके यहाँ लक्ष्मी का वास नहीं होता।

अत्यार्यमतिदातारमतिशूरमतिव्रतम्।
प्रज्ञाभिमानिनं चैव श्रीर्भयान्नोपसर्पति ॥४१॥

अत्यन्त श्रेष्ठ, अतिशय दानी, अतीव शूरवीर, अत्यधिक व्रत=नियमों का पालन करनेवाले तथा बुद्धि के घमण्ड में चूर रहनेवाले मनुष्य के पास लक्ष्मी भय के मारे नहीं जाती।

अधर्मोपार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।
न स तस्य फलं प्रेत्य भुंक्तेऽर्थस्य दुरागमात् ॥४२॥

जो अधर्म के द्वारा कमाये धन से पारलौकिक कर्म करता है, वह मरने के पश्चात् उसके फल को नहीं पाता, क्योंकि उसका धन बुरे मार्गों से आया होता है।

कान्तारे वनदुर्गेषु कृच्छ्रास्वापत्सु सम्भ्रमे ।
उद्यतेषु च शस्त्रेषु नास्ति सत्त्ववतां भयम् ॥४३॥

घोर जंगल में, दुर्गम मार्ग में, भीषण आपत्ति के समय, घबराहट में तथा प्रहार के लिए शस्त्र उठे रहने पर भी सत्त्वसम्पन्न = आत्मबल से युक्त पुरुष को भय नहीं होता।

उत्थानं संयमो दाक्ष्यमप्रमादो धृतिः स्मृतिः ।
समीक्ष्य च समारम्भो विद्धि मूलं भवस्य तु ॥४४॥

उद्योग, संयम, दक्षता, सावधानी, धैर्य, स्मृति तथा सोच-विचारकर कार्य करना—इन्हें उन्नति का मूलमन्त्र जानो।

तपो बलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ॥४५॥

तपस्वियों का बल है तप, वेदवेत्ताओं का बल है वेद, पापियों का बल है हिंसा तथा गुणवानों का बल है क्षमा।

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
संग्रहेणैष धर्मः स्यात् कामादन्यः प्रवर्तते ॥४६॥

'जो अपने प्रतिकूल जान पड़े, उसे दूसरों के प्रति भी न करे'—संक्षेप में धर्म का यही स्वरूप है। इसके विपरीत जिसमें कामना से प्रवृत्ति होती है, वह अधर्म है।

अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत् ।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ॥४७॥

अक्रोध = शान्ति से क्रोध को जीते, दुष्ट को सद्व्यवहार से वश में करे, कंजूस को दान से जीते तथा झूठ पर सत्य से विजय प्राप्त करे।

स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरौ चण्डे पुरुषमानिनि ।
चौरे कृतघ्ने विश्वासो न कार्यो न च नास्तिके ॥४८॥

स्त्रीलम्पट, आलसी, डरपोक, क्रोधी, पुरुषत्व के अभिमानी, चोर, कृतघ्न और नास्तिक का विश्वास नहीं करना चाहिए।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते ह्यायुर्विद्यायशो बलम् ॥४९॥

जो सदा माता-पिता आदि गुरुजनों को प्रणाम करता है तथा वृद्धों की सेवा में लगा रहता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल—ये चारों बढ़ते हैं।

अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम् ।
निराहाराः प्रजाः शोच्याः शोच्यं राष्ट्रमराजकम् ॥५०॥

विद्यारहित पुरुष, सन्तानोत्पत्तिरहित स्त्रीप्रसङ्ग, आहार न पानेवाली प्रजा तथा बिना राजा के राष्ट्र के लिए शोक करना चाहिए।

न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन जयेत् स्त्रियः ।
नेन्धनेन जयेदग्निं न पानेन सुरां जयेत् ॥५१॥

अधिक सोकर निद्रा को जीतने का प्रयास न करे, कामोपभोग के द्वारा स्त्री को जीतने की इच्छा न करे, ईंधन डालकर अग्नि को जीतने की आशा न रखे तथा अधिक पीकर मदिरा पीने की आदत को जीतने का प्रयास न करे।

यस्य दानजितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिताः ।
अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम् ॥५२॥

जिसका मित्र धन-दान के द्वारा वश में आ चुका है, जिसके शत्रु युद्ध में जीत लिये गये हैं तथा जिसकी स्त्रियाँ खान-पान के द्वारा वशीभूत हो चुकी हैं, उसका जीवन सफल = सुखमय है।

सहस्त्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा ।
धृतराष्ट्र विमुञ्चेच्छां न कथञ्चिन्न जीव्यते ॥५३॥

जिनके पास सहस्र [रुपये] हैं, वे भी जीवित हैं और जिनके पास सौ हैं, वे भी जीवित हैं, अतः हे महाराज धृतराष्ट्र! आप अधिक धन का लोभ छोड़ दीजिए। स्वल्प से जीवन-निर्वाह नहीं होगा, ऐसी बात नहीं है।

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति पश्यन्न मुह्यति ॥५४॥

इस पृथिवी पर जो भी धान, जौ, सोना, पशु तथा स्त्रियाँ हैं, वे सब-के-सब एक पुरुष के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं—उनसे एक व्यक्ति की भी तृप्ति नहीं हो सकती। ऐसा विचार करनेवाला पुरुष मोह में नहीं पड़ता।

महान्तमप्यर्थमधर्मयुक्तं
यः संत्यजत्यनपाकृष्ट एव ।
सुखं सुदुःखान्यवमुच्य शेते
जीर्णां त्वचं सर्प इवावमुच्य ॥५५॥

जो अधर्म से उपार्जित महान् धनराशि को भी उसकी ओर आकृष्ट हुए विना ही त्याग देता है, वह जैसे साँप अपनी पुरानी केंचुली को छोड़ देता है, उसी प्रकार दुःखों से मुक्त हो सुखपूर्वक सोता है।

अनृते च समुत्कर्षो राजगामि च पैशुनम् ।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥५६॥

झूठ बोलकर उन्नति करना, राजा के पास चुगली करना, गुरुजन पर झूठा दोपारोपण करने का आग्रह करना—ये तीन कर्म ब्रह्महत्या के समान हैं।

असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः ।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ॥५७॥

गुणों में दोप देखना एकदम मृत्यु के समान है, निन्दा करना लक्ष्मी का वध है और सेवा का अभाव, जल्दवाजी तथा आत्म-प्रशंसा—ये तीन विद्या के शत्रु हैं।

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च ।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥५८॥

आलस्य, मद-मोह, चञ्चलता, गोष्ठी, उद्दण्डता, अभिमान तथा स्वार्थ-त्याग का अभाव—ये सात विद्यार्थियों के लिए सदा ही दोष माने गये हैं।

सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥५९

सुख के अभिलाषी को विद्या और विद्या चाहनेवाले के लिए सुख नहीं है। सुखाभिलाषी को विद्या छोड़ देनी चाहिए और विद्या की इच्छावाले को सुख त्याग देना चाहिए।

आशा धृतिं हन्ति समृद्धिमन्तकः
क्रोधः श्रियं हन्ति यशः कदर्यता ।
अपालनं हन्ति पशूंश्च भूमिप
एकश्च क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ॥६०॥

आशा धैर्य को, काल समृद्धि को, क्रोध लक्ष्मी को, कृपणता यश को तथा देखरेख का अभाव पशुओं को नष्ट कर देता है परन्तु राजन्! क्रुद्ध होने पर एक ही ब्राह्मण सम्पूर्ण राष्ट्र को नष्ट कर डालता है।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥६१॥

मनुष्य को चाहिए कि वह कामना से, भय से, लोभ से तथा इस जीवन के लिए भी कभी धर्म का त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं। जीव नित्य है परन्तु इसका कारण अनित्य है। [आप भी अनित्य को छोड़कर नित्य में स्थित हों।]

महाबलान् पश्य महानुभावान्
प्रशास्य भूमिं धनधान्यपूर्णाम् ।
राज्यानि हित्वा विपुलांश्च भोगान्
गतान् नरेन्द्रान् वशमन्तकस्य ॥६२॥

आप धन-धान्यादि से परिपूर्ण पृथिवी का शासन करके अन्त में सम्पूर्ण राज्य और प्रभूत भोगों को यहीं छोड़कर यमराज=मौत के वश में गये हुए बड़े-बड़े बलवान् और महानुभाव राजाओं की ओर दृष्टि डालिए।

मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या
उत्क्षिप्य राजन् स्वगृहात् प्रयान्ति ।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्तः
चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति ॥६३॥

राजन्! जिसका बड़े कष्ट से पालन-पोषण किया था, वही पुत्र जब मर जाता है, तब मनुष्य उसे उठाकर तुरन्त घर से बाहर कर देते हैं। पहले तो उसके लिए बाल बिखेरकर करुणाभरे स्वर में विलाप करते हैं, फिर साधारण काठ की भाँति उसे जलती चिता में झोंक देते हैं।

अग्नौ प्रस्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयं कृतम् ।
तस्मात् तु पुरुषो यत्नाद् धर्मं संचिनुयाच्छनैः ॥६४॥

अग्नि में डाले हुए उस मनुष्य के पीछे तो केवल उसका अपना किया हुआ बुरा या भला कर्म ही जाता है, अतः मनुष्य को चाहिए कि वह धीरे-धीरे प्रयत्नपूर्वक धर्म का ही संग्रह करे।

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था
सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा
पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ॥६५॥

हे भारत ! यह जीवात्मा एक नदी है। इसमें पुण्य ही तीर्थ है। इसमें सत्यरूपी जल है। धैर्य ही इसके किनारे हैं। दया इसकी लहरें हैं। पुण्यकर्म करनेवाला मनुष्य इसमें स्नान करके पवित्र होता है, क्योंकि लोभरहित आत्मा सदा पवित्र ही है।

कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम्।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि सन्तर ॥६६॥

काम-क्रोधादिरूप ग्रहों से भरी, पाँच इन्द्रियों के विषयजल से पूर्ण इस संसार-नदी के जन्म-मरण-रूप दुर्गम प्रवाह को धैर्य की नौका बनाकर पार कीजिए।

प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुं
विद्यावृद्धमायुषा चापि वृद्धम्।
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य
यः सम्पृच्छेन्न स मुह्येत् कदाचित् ॥६७॥

जो मनुष्य बुद्धि, धर्म, विद्या तथा अवस्था में बड़े अपने बन्धु को आदर-सत्कार से प्रसन्न करके उससे कर्तव्याकर्तव्य के विषय में प्रश्न करता है, वह कभी मोह में नहीं पड़ता।

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ॥६८॥

मनुष्य को चाहिए कि धैर्य से उपस्थ और उदर की रक्षा करे अर्थात् कामभोग और खान-पान में अधीर न बने। हाथ-पैर की आँख से रक्षा करे अर्थात् देखकर हाथ-पाँव चलाए। आँख-कान की मन से और मन-वाणी की कर्म से रक्षा करे अर्थात् आँख-कान पर मन का अंकुश रखे तथा मन और वाणी पर संयम से नियन्त्रण रखे।

धृतराष्ट्र उवाच

एवमेतद् यथा त्वं मामनुशाससि सर्वदा।
ममापि च मतिः सौम्य भवत्येवं यथाऽऽत्थ माम् ॥६९॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! तुम प्रतिदिन मुझे जैसा उपदेश करते हो, वह बहुत ठीक है। सौम्य ! तुम मुझसे जो कुछ भी कहते हो, ऐसा ही मेरा भी विचार है।

सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान् प्रति मे सदा।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते ॥७०॥

यद्यपि मैं पाण्डवों के प्रति सदा ऐसी ही बुद्धि रखता हूँ तथापि दुर्योधन से मिलने पर मेरी बुद्धि फिर पलट जाती है।

न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित्।
दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥७१॥

प्रारब्ध का उल्लंघन करने की शक्ति किसी भी प्राणी में नहीं है। मैं तो प्रारब्ध को ही अटल मानता हूँ, उसके समक्ष पुरुषार्थ तो व्यर्थ है।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

संजय का कौरवसभा में अर्जुन का सन्देश सुनाना, भीष्म का दुर्योधन को सन्धि के लिए समझाना, कर्ण की गर्वोक्ति और भीष्म द्वारा उसका उपहास

वैशम्पायन उवाच

तस्यां रजन्यां व्युष्टायां राजानः सर्व एव ते।
सभामाविविशुर्हृष्टाः सूतस्योपदिदृक्षया ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—वह रात्रि व्यतीत होने पर जब प्रातःकाल हुआ तब सब राजा लोग सूतपुत्र संजय से मिलने और उसके द्वारा पाण्डवों का सन्देश सुनने के लिए प्रसन्नतापूर्वक सभा में आये।

आसनस्थेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत।
द्वाःस्थो निवेदयामास सूतपुत्रमुपस्थितम् ॥२॥

हे भारत ! जब वे सब भूपाल आकर यथायोग्य आसनों पर बैठ गये तब द्वारपाल ने सूचना दी कि संजय राजसभा के द्वार पर उपस्थित हैं।

उपेयाय स तु क्षिप्रं रथात् प्रस्कन्द्य कुण्डली।
प्रविवेश सभां पूर्णां महीपालैर्महात्मभिः ॥३॥

द्वारपाल के इतना कहते ही कानों में कुण्डल धारण किये संजय रथ से नीचे उतरकर राजसभा के निकट आया और महामना महीपालों से भरी हुई सभा में प्रविष्ट हुआ।

संजय उवाच

प्राप्तोऽस्मि पाण्डवान् गत्वा तं विजानीत कौरवाः।
यथावयः कुरून् सर्वान् प्रतिनन्दन्ति पाण्डवाः ॥४॥

संजय ने कहा—कौरवो! आपको विदित होना चाहिए कि मैं पाण्डवों के यहाँ जाकर लौटा हूँ। पाण्डव लोग अवस्थाक्रम के अनुसार सभी कौरवों का अभिनन्दन करते हैं।

प्रणमन्ति सुवृद्धांश्च वयस्यांश्च वयस्यवत्।
यूनश्चाभ्यवदन् पार्थाः प्रतिपूज्य यथावयः ॥५॥

उन्होंने बड़े-बूढ़ों को प्रणाम कहलाया है। जो समवयस्क हैं, उनके साथ मित्रोचित वर्ताव का सन्देश दिया है और नवयुवकों को भी उनकी अवस्था के अनुसार सम्मान देकर उनसे प्रेमालाप की अभिलाषा प्रकट की है।

धृतराष्ट्र उवाच

पृच्छामि त्वां संजय राजमध्ये
किमब्रवीद् वाक्यमदीनसत्त्वः।
धनञ्जयस्तात युधां प्रणेता
दुरात्मनां जीवितच्छिन्महात्मा ॥६॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—संजय! मैं इन राजाओं के समक्ष तुमसे यह पूछ रहा हूँ कि अनेक युद्धों के संचालक और दुष्टों के जीवनों का नाश करनेवाले उदारहृदय महात्मा अर्जुन ने हमारे लिए कौन-सा सन्देश भेजा है?

संजय उवाच

दुर्योधनो वाचमिमां शृणोतु
यदब्रवीदर्जुनो योत्स्यमानः।
युधिष्ठिरस्यानुमते महात्मा
धनञ्जयः शृण्वतः केशवस्य ॥७॥

संजय बोला—राजन्! युधिष्ठिर की आज्ञा से युद्ध के लिए उद्यत हुए अतुल धन-विजेता महात्मा अर्जुन ने श्रीकृष्ण के सुनते हुए जो सन्देश दिया है, उसे दुर्योधन सुने। [उन्होंने कहा है—]

न चेद् राज्यं त्यजति धार्तराष्ट्रो
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः।
अस्ति नूनं कर्म कृतं पुरस्ता-
दनिर्विष्टं पापकं धार्तराष्ट्रैः ॥८॥

"यदि दुर्योधन अजमीढ-कुलनन्दन महाराज युधिष्ठिर का राज्य नहीं छोड़ता है तो निश्चय ही धृतराष्ट्र के पुत्रों का पूर्वजन्म का किया हुआ कोई ऐसा पापकर्म प्रकट हुआ है, जिसका फल उन्हें भोगना ही पड़ेगा।

यदा ज्येष्ठः पाण्डवः संशितात्मा
क्रोधं यत्तं वर्षपूगान् सुघोरम्।
अवस्रष्टा कुरुषूद्वृत्तचेता-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥९॥

"अपने मन को शुद्ध एवं संयत रखनेवाले ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर जब उत्तेजित हो अनेक वर्षों से दबे हुए अपने अति भयानक क्रोध को कौरवों पर छोड़ेंगे, उस समय जो भयानक युद्ध होगा, उसे देखकर दुर्योधन को पछताना पड़ेगा।

कृष्णवर्त्मेव ज्वलितः समिद्धो
यथा दहेत् कक्षमग्निर्निदाघे।
एवं दग्धा धार्तराष्ट्रस्य सेनां
युधिष्ठिरः क्रोधदीप्तोऽन्ववेक्ष्य ॥१०॥

"जैसे ग्रीष्मऋतु में प्रज्वलित अग्नि सब ओर से धधककर घास-फूँस तथा जंगलों को जलाकर भस्म कर डालती है, उसी प्रकार क्रोध से तमतमाये हुए युधिष्ठिर दुर्योधन की सेना को अपने दृष्टिपात से ही भस्म कर डालेंगे।

यदा द्रष्टा भीमसेनं रथस्थं
गदाहस्तं क्रोधविषं वमन्तम्।
अमर्षणं पाण्डवं भीमवेगं
तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोन्वतप्स्यत् ॥११॥

"जिस समय दुर्योधन, हाथ में गदा लिये रथ पर आरूढ, भयंकर वेगवाले, अमर्षशील [क्रोधान्ध] पाण्डुनन्दन भीम को क्रोधरूप विष उगलते देखेगा, उस समय युद्ध के परिणाम को सोचकर उसे महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

त्यक्तात्मानः पार्थिवा योधनाय
समादिष्टा धर्मराजेन सूत ।
रथैः शुभ्रैः सैन्यमभिद्रवन्तो
दृष्ट्वा पश्चात् तप्स्यते धार्तराष्ट्रः ॥१२॥

"संजय ! धर्मराज युधिष्ठिर के द्वारा युद्ध के लिए आदेश दिये जाने पर उनके लिए प्राण देने को उद्यत रहनेवाले भूमण्डल के नरेश जब प्रकाशमान रथों पर आरूढ़ होकर कौरव-सेना पर आक्रमण करेंगे, उस समय उन्हें देखकर दुर्योधन को युद्ध के लिए अत्यन्त पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

यदाभिमन्युः परवीरघाती
शरैः परान् मेघ इवाभिवर्षन् ।
विगाहिता कृष्णसमः कृतास्त्र-
स्तदा युद्धं धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥१३॥

"शत्रुपक्ष के वीरों का संहार करने में समर्थ अभिमन्यु श्रीकृष्ण के समान पराक्रमी और अस्त्र-विद्या में प्रवीण है। जिस समय वह मेघ के समान बाणों की वर्षा करता हुआ शत्रुओं की सेना में प्रवेश करेगा, उस समय धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन युद्ध के लिए मन-ही-मन बहुत संतप्त होगा।

यदा रथे गाण्डीवं वासुदेवं
दिव्यं शंखं पाञ्चजन्यं हयांश्च ।
तूणावक्षय्यौ देवदत्तं च मां च
द्रष्टा युद्धे धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ॥१४॥

"धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन जब रथ पर मेरे गाण्डीव धनुष को, सारथिरूप में भगवान् श्रीकृष्ण को, उनके दिव्य पाञ्चजन्य शंख को, रथ में जुते हुए दिव्य घोड़ों को, बाणों से भरे हुए दो अक्षय तरकसों को, मेरे देवदत्त नाम शंख को और मुझे देखेगा, उस समय युद्ध का परिणाम सोचकर वह अत्यन्त सन्तप्त होगा।

अस्पृष्टं जृम्भति गाण्डिवं धनु-
रनाहता कम्पति मे धनुर्ज्या ।
बाणाश्च मे तूणमुखाद् विसृत्य
मुहुर्मुहुर्गन्तुमुशन्ति चैव ॥१५॥

"मेरा गाण्डीव धनुष बिना स्पर्श किये ही तना जा रहा है, मेरे धनुष की डोरी बिना खींचे ही हिलने लगी है और मेरे बाण बार-बार तरकस से निकलकर शत्रुओं की ओर जाने के लिए उतावले हो रहे हैं।

विजेतारः समरे सूत लब्ध्वा
देवानपीन्द्रप्रमुखान् समेतान् ।
तैर्मन्यते कलहं सम्प्रसह्य
धार्तराष्ट्रः पश्यत मोहमस्य ॥१६॥

"सूत ! जो पाण्डव समरभूमि में इन्द्र आदि समस्त देवताओं को भी पाकर उन्हें पराजित किये बिना नहीं रहेंगे, उन्हीं हम पाण्डवों के साथ यह दुर्योधन हठपूर्वक युद्ध करना चाहता है, इसका मोह तो देखो।

वृद्धो भीष्मः शान्तनवः कृपश्च
द्रोणः सपुत्रो विदुरश्च धीमान् ।
एते सर्वे यद् वदन्ति तदस्तु
आयुष्मन्तः कुरवः सन्तु सर्वे ॥१७॥

"फिर भी मैं चाहता हूँ कि शान्तनुनन्दन वृद्ध पितामह भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और बुद्धिमान् विदुर—ये सब लोग मिलकर जैसा कहें, वही हो। समस्त कौरव दीर्घायु बने रहें।"

वैशम्पायन उवाच

समवेतेषु सर्वेषु तेषु राजसु भारत ।
दुर्योधनमिदं वाक्यं भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे भारत ! [अर्जुन का सन्देश सुनने के पश्चात्] वहाँ एकत्र हुए उन समस्त राजाओं की मण्डली में शान्तनुनन्दन भीष्म ने दुर्योधन से यह बात कही—

अर्थाच्च तात धर्माच्च तव बुद्धिरुपप्लुता ।
त्रयाणामेव च मतं तत् त्वमेकोऽनुमन्यसे ॥१९॥
दुर्जातिः सूतपुत्रस्य शकुनेः सौबलस्य च ।
तथा क्षुद्रस्य पापस्य भ्रातुर्दुःशासनस्य च ॥२०॥

"तात ! तुम्हारी बुद्धि अर्थ और धर्म दोनों से भ्रष्ट हो गई है, यही कारण है कि तुम खोटी जाति-वाले सूतपुत्र कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि और अपने नीच तथा पापात्मा भाई दुःशासन—इन तीनों के मत का अनुमोदन एवं अनुसरण करते हो।"

कर्ण उवाच

नैवमायुष्मता वाच्यं यन्मामात्थ पितामह ।
क्षात्रधर्मे स्थितो ह्यस्मि स्वधर्मादनपेयिवान् ॥२१॥

कर्ण बोला—पितामह ! आपने मेरे प्रति जिन शब्दों का प्रयोग किया है, वे अनुचित हैं। आप जैसे वयोवृद्ध पुरुष को ऐसी बातें मुंह से नहीं निकालनी चाहिएँ। मैं क्षत्रियधर्म में स्थित हूँ तथा अपने धर्म से कभी भ्रष्ट नहीं हुआ हूँ।

अहं हि पाण्डवान्सर्वान्हनिष्यामि रणे स्थितान्।
प्राग्विरुद्धैः शमं सद्भिः कथं वा क्रियते पुनः ॥२२॥

मैं युद्धभूमि में खड़े होने पर समस्त पाण्डवों को अवश्य मार डालूंगा। जो लोग पहले अपने विरोधी रहे हों, उनके साथ पुनः सन्धि कैसे की जा सकती है?

वैशम्पायन उवाच

कर्णस्य तु वचः श्रुत्वा भीष्मः शान्तनवः पुनः।
धृतराष्ट्रं महाराज सम्भाष्येदं वचोऽब्रवीत् ॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! कर्ण की बात सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्म ने राजा धृतराष्ट्र को सम्बोधित करके पुनः इस प्रकार कहा—

भीष्म उवाच

यदयं कत्थते नित्यं हन्ताहं पाण्डवानिति।
नायं कलापि सम्पूर्णा पाण्डवानां महात्मनाम् ॥२४॥

भीष्म बोले—राजन् ! यह कर्ण जो प्रतिदिन यह डींग मारा करता है कि मैं पाण्डवों को मार डालूंगा, वह व्यर्थ है। मेरे विचार में यह महात्मा पाण्डवों की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है।

अनयो योऽयमागन्ता पुत्राणां ते दुरात्मनाम्।
तदस्य कर्म जानीहि सूतपुत्रस्य दुर्मतेः ॥२५॥

तुम्हारे दुरात्मा पुत्रों पर अन्याय के फलस्वरूप जो यह महान् संकट आनेवाला है, वह सब इस दूषित बुद्धिवाले सूतपुत्र कर्ण की ही करतूत समझो।

एतमाश्रित्य पुत्रस्ते मन्दबुद्धिः सुयोधनः।
अवामन्यत तान् वीरान् देवपुत्रानरिन्दमान् ॥२६॥

तुम्हारे मन्दबुद्धि-पुत्र दुर्योधन ने इसी का सहारा लेकर शत्रुओं का दमन करनेवाले उन वीर देवपुत्र पाण्डवों का अपमान किया है।

किं चाप्येतेन तत्कर्म कृतपूर्वं सुदुष्करम्।
तैर्यथा पाण्डवैः सर्वैरेकैकेन कृतं पुरा ॥२७॥

आज से पहले पाण्डवों ने मिलकर अथवा उनमें से एक-एक ने पृथक्-पृथक् जैसे-जैसे भयंकर पराक्रम किये हैं, वैसा कौन-सा पराक्रम इस सूतपुत्र ने पहले कभी किया है?

दृष्ट्वा विराटनगरे भ्रातरं निहतं प्रियम्।
धनञ्जयेन विक्रम्य किमनेन तदा कृतम् ॥२८॥

जब विराटनगर में अपना पराक्रम प्रकट करते हुए अर्जुन ने इसके सामने ही इसके प्रिय भाई को मार डाला था, तब इसने सब-कुछ अपनी आँखों से देखकर भी अर्जुन का क्या विगाड़ लिया?

सहितान् हि कुरून्सर्वानभियातो धनञ्जयः।
प्रमथ्य चाच्छिनद् वासः किमयं प्रोषितस्तदा ॥२९॥

जिस समय धनञ्जय ने अकेले ही समस्त कौरवों पर आक्रमण किया तथा सबको मूर्च्छित करके उनके वस्त्र उतार लिये थे, तब यह कर्ण क्या कहीं परदेश चला गया था?

गन्धर्वैर्घोषयात्रायां ह्रियते यत् सुतस्तव।
क्व तदा सूतपुत्रोऽभूद् य इदानीं वृषायते ॥३०॥

घोषयात्रा के समय जब गन्धर्व लोग तुम्हारे पुत्र को कैद करके लिये जा रहे थे, उस समय यह सूतपुत्र कहाँ था, जो इस समय साँड की भाँति डकार रहा है?

एतान्यस्य मृषोक्तानि बहूनि भरतर्षभ।
विकत्थनस्य भद्रं ते सदा धर्मार्थलोपिनः ॥३१॥

भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारा कल्याण हो। यह कर्ण व्यर्थ ही डींग हाँकता है। इसकी कही हुई बहुत-सी बातें इसी प्रकार झूठी हैं। यह तो धर्म और अर्थ—दोनों का ही लोप करनेवाला है।

द्रोण उवाच

यदाह भरतश्रेष्ठो भीष्मस्तत् क्रियतां नृप।
न काममर्थलिप्सूनां वचनं कर्तुमर्हसि ॥३२॥

द्रोण बोले—नरेश्वर ! भरतकुल-भूषण भीष्मजी ने जो कहा है, वही कीजिए। जो लोग अर्थ और काम के लोभी हैं, उनकी बातें आपको नहीं माननी चाहिएँ।

पुरा युद्धात् साधु मन्ये पाण्डवैः सह संगतम्।
यद् वाक्यमर्जुनेनोक्तं संजयेन निवेदितम् ॥३३॥

सर्वं तदपि जानामि करिष्यति च पाण्डवः ।
न ह्यस्य त्रिषु लोकेषु सदृशोऽस्ति धनुर्धरः ॥३४॥

मैं तो युद्ध से पूर्व पाण्डवों के साथ सन्धि करना ही उचित समझता हूँ। अर्जुन ने जो बात कही है तथा संजय ने उनका जो सन्देश यहाँ सुनाया है, मैं वह सब जानता और समझता हूँ, पाण्डुनन्दन अर्जुन वैसा करके ही रहेंगे। इस समय तीनों लोकों में अर्जुन के समान दूसरा कोई धनुर्धर नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

अनादृत्य तु तद्वाक्यमर्थवद् द्रोणभीष्मयोः ।
ततः स संजयं राजा पर्यपृच्छत पाण्डवान् ॥३५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! द्रोणाचार्य और भीष्म की उन सार्थक एवं सारगर्भित बातों की अवहेलना करके राजा धृतराष्ट्र संजय से पुनः पाण्डवों का समाचार पूछने लगे।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

संजय द्वारा युधिष्ठिर के प्रधान सहायकों का वर्णन, भीम और अर्जुन के पराक्रम से डरे हुए धृतराष्ट्र का विलाप, धृतराष्ट्र का शान्ति-प्रस्ताव और संजय का उन्हें दुर्योधन पर शासन करने का परामर्श देना

धृतराष्ट्र उवाच

संजयाचक्ष्व येनास्मान् पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।
धृष्टद्युम्नस्य सैन्येन सोमकानां बलेन च ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—संजय! बताओ, पाण्डव लोग धृष्टद्युम्न की सेना तथा अन्यान्य सोमकवंशियों की विशाल वाहिनी के अतिरिक्त और किस-किस की सहायता पाकर हम लोगों के साथ युद्ध करने के लिए उद्यत हुए हैं?

संजय उवाच

शृणु यैर्हि महाराज पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ।
धृष्टद्युम्नेन वीरेण युद्धे वस्तेऽभ्ययुञ्जत ॥२॥

संजय बोले—महाराज! पाण्डवों ने जिन लोगों की सहायता पाकर युद्ध के लिए तैयारी की है, उनका परिचय देता हूँ सुनिए। उन्हें वीर धृष्टद्युम्न का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है, जिससे सबल होकर उन पाण्डवों ने आप लोगों पर आक्रमण की तैयारी की है।

यो नैव रोषान्न भयात् सत्यं जह्यात् कदाचन ।
अजातशत्रुणा तेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥३॥

महाराज! जो धर्मात्मा न रोष से और न भय से ही कभी सत्य का परित्याग कर सकते हैं, उन अजातशत्रु के प्रभाव से पाण्डवों ने युद्ध की तैयारी की है।

यस्य बाहुबले तुल्यः पृथिव्यां नास्ति कश्चन ।
तेन वो भीमसेनेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥४॥

बाहुबल में जिनकी समानता करनेवाला इस भूमण्डल पर दूसरा कोई नहीं है, उन भीमसेन के बल से पाण्डवों ने आप लोगों पर आक्रमण करने का उद्योग आरम्भ किया है।

यश्च सर्वान् वशे चक्रे लोकपालान् धनुर्धरः ।
तेन वै विजयेनाजौ पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥५॥

जिस धनुर्धर वीर ने सम्पूर्ण लोकपालों को भी हराकर अपने वश में कर लिया था, उन्हीं अर्जुन के बल पर पाण्डव लोग युद्ध में आप लोगों से भिड़ने के लिए तैयार हैं।

यः प्रतीचीं दिशं चक्रे वशे म्लेच्छगणायुताम् ।
स तत्र नकुलो योद्धा चित्रयोधी व्यवस्थितः ॥६॥

कुरुनन्दन! जिन्होंने सहस्रों म्लेच्छों से भरी हुई पश्चिम दिशा को जीतकर अपने अधीन कर लिया था, वे विचित्र रीति से युद्ध करने में कुशल योद्धा नकुल उधर से युद्ध करने के लिए तैयार खड़े हैं।

यः काशीनङ्गमगधान् कलिङ्गांश्च युधाजयत् ।
तेन वः सहदेवेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥७॥

जिन्होंने युद्ध में काशी, अङ्ग, मगध तथा कलिंग देश के राजाओं को पराजित किया है, उन वीर सहदेव के बल से पाण्डव आप लोगों से भिडने के लिए

तैयार हुए हैं।

यः कलिङ्गान् समापेदे पाञ्चाल्यो युद्धदुर्मदः।
शिखण्डिना वः कुरवः कृतास्त्रेणाभ्ययुञ्जत ॥८॥

युद्ध में उन्मत्त होकर लड़नेवाले अस्त्रवेत्ता, कलिङ्गदेशीय क्षत्रियों को पराजित करनेवाले द्रुपद-कुमार शिखण्डी के बल पर पाण्डवों ने आप लोगों के साथ युद्ध की तैयारी की है।

यो दीर्घबाहुः क्षिप्रास्त्रो धृतिमान् सत्यविक्रमः।
तेन वो वृष्णिवीरेण युयुधानेन संगरः ॥९॥

जिनकी भुजाएँ विशाल हैं, जो अतिशीघ्रता से अस्त्र-संचालन करते हैं, जो धीर और सत्य पराक्रमी हैं, उन वृष्णिवीर सात्यकि के साथ आप लोगों का युद्ध होनेवाला है।

शिशुभिर्दुर्जयैः संख्ये द्रौपदेयैर्महात्मभिः।
आशीविषसमस्पर्शैः पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥१०॥

द्रौपदी के महामना पुत्र देखने में बालक होने पर भी समरभूमि में दुर्जय हैं। उन्हें छेड़ना विषधर सर्पों को छू लेने के समान है। उनके बल पर पाण्डव आप लोगों से लोहा लेने की तैयारी कर रहे हैं।

यः कृष्णसदृशो वीर्ये युधिष्ठिरसमो दमे।
तेनाभिमन्युना संख्ये पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥११॥

जो पराक्रम में श्रीकृष्ण के समान तथा इन्द्रिय-संयम में युधिष्ठिर के तुल्य हैं, उन अभिमन्यु को साथ लेकर पाण्डवों ने आप लोगों के साथ युद्ध की तैयारी की है।

यः संश्रयः पाण्डवानां देवानामिव वासवः।
तेन वो वासुदेवेन पाण्डवा अभ्ययुञ्जत ॥१२॥

जैसे इन्द्र देवताओं के आश्रयदाता हैं, उसी प्रकार जो पाण्डवों को शरण देनेवाले हैं, उन श्रीकृष्ण के साथ पाण्डवों ने आप लोगों पर आक्रमण की तैयारी की है।

एते च बहवश्चान्ये प्राच्योदीच्या महीक्षितः।
शतशो यानुपाश्रित्य धर्मराजो व्यवस्थितः ॥१३॥

ये तथा और भी बहुत-से पूर्व तथा उत्तर दिशाओं में रहनेवाले नरेश सैकड़ों की संख्या में आकर वहाँ डटे हुए हैं, जिनका आश्रय लेकर युधिष्ठिर युद्ध के लिए तैयार हैं।

धृतराष्ट्र उवाच

सर्व एते महोत्साहा ये त्वया परिकीर्तिताः।
एकतस्त्वेव ते सर्वे समेता भीम एकतः ॥१४॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय! तुमने जिन लोगों के नाम गिनाये हैं, वे सभी अति उत्साही वीर हैं। इनमें भी जितने लोग वहाँ एकत्र हैं, वे सब एक ओर और अकेला भीमसेन एक ओर।

भीमसेनाद्धि मे भूयो भयं संजायते महत्।
क्रुद्धादमर्षणात् तात व्याघ्रादिव महारुरोः ॥१५॥

तात! मुझे क्रोध में भरे हुए अमर्षशील भीमसेन से बहुत डर लगता है, ठीक वैसे ही जैसे महान् मृग को किसी व्याघ्र से सदा भय बना रहता है।

जागर्मि रात्रयः सर्वा दीर्घमुष्णं च निःश्वसन्।
भीतो वृकोदरात् तात सिंहात् पशुरिवापरः ॥१६॥

तात! सिंह से डरे हुए पशु की भाँति मैं भीमसेन से भयभीत हो रातभर गर्म-गर्म लम्बी साँसें खींचता हुआ जागता रहता हूँ।

न हि तस्य महाबाहोः शक्रप्रतिमतेजसः।
सैन्येऽस्मिन् प्रतिपश्यामि य एनं विषहेद् युधि ॥१७॥

विशालबाहु भीम इन्द्र के समान तेजस्वी हैं। मैं अपनी सेना में किसी भी ऐसे वीर को नहीं देखता, जो भीम का सामना कर सके—युद्ध में उसके वेग को सह सके।

अमर्षणश्च कौन्तेयो दृढवैरश्च पाण्डवः।
अनर्महासी सोन्मादस्तिर्यक्प्रेक्षी महास्वनः ॥१८॥

कुन्तीनन्दन पाण्डुपुत्र भीम असहनशील तथा वैर को स्मरण रखनेवाला है। वह हँसी में कही बात को भी सत्य कर दिखाता है। उसका स्वभाव उद्धत है। वह टेढ़ी निगाह से देखता तथा बड़े जोर से गर्जना करता है।

महावेगो महोत्साहो महाबाहुर्महाबलः।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ॥१९॥

वह महान् वेगशाली, अत्यधिक उत्साही, विशाल-बाहु तथा महाबली है। वह युद्ध करके मेरे मन्दबुद्धि-पुत्रों को अवश्य मार डालेगा।

अस्त्रे द्रोणार्जुनसमं वायुवेगसमं जवे।
महेश्वरसमं क्रोधे को हन्याद् भीममाहवे ॥२०॥

वह अस्त्रविद्या में द्रोणाचार्य तथा अर्जुन के समान है, वेग में वायु के समान है तथा क्रोध में महेश्वर के तुल्य है। ऐसे भीम को युद्ध में कौन मार सकता है?

निष्ठुरो रोषणोऽत्यर्थं भज्येतापि न संनमेत्।
तिर्यक्प्रेक्षी संहतभ्रूः कथं शाम्येद् वृकोदरः॥२१॥

वह क्रूर तथा क्रोधी है। वह टूट भले ही जाए, परन्तु झुक नहीं सकेगा। वह सदा टेढ़ी निगाह से ही देखता है। उसकी भौंहें क्रोध के कारण परस्पर गुंथी रहती हैं। ऐसा भीमसेन कैसे शान्त हो सकेगा?

अगदस्याप्यधनुषो विरथस्य विवर्मणः।
बाहुभ्यां युद्धयमानस्य कस्तिष्ठेदग्रतः पुमान् ॥२२॥

यदि वह गदा, धनुष, रथ तथा कवच को भी छोड़कर केवल दोनों भुजाओं से ही युद्ध करे तो भी उसके समक्ष कौन मनुष्य ठहर सकता है?

किन्नु कुर्यां कथं कुर्यां क्व नु गच्छामि संजय।
एते नश्यन्ति कुरवो मन्दाः कालवशं गताः॥२३॥

संजय! मैं क्या करूँ, कैसे करूँ और कहाँ चला जाऊँ? ये मूर्ख कौरव काल के वशीभूत होकर नष्ट होना चाहते हैं।

अवशोऽहं तदा तात पुत्राणां निहते शते।
श्रोष्यामि निनदं स्त्रीणां कथं मां मरणं स्पृशेत् ॥२४॥

तात! मेरे सौ पुत्र यदि युद्ध में मारे गये, तब विवश होकर मुझे इनकी विधवा स्त्रियों का विलाप सुनना पड़ेगा। हाय! मेरी मृत्यु किस प्रकार हो सकती है?

यस्य वै नानृता वाचः कदाचिदनुशुश्रुम।
त्रैलोक्यमपि तस्य स्याद् योद्धा यस्य धनञ्जयः॥२५॥

संजय! जिनके मुख से कभी कोई झूठी बात निकलती हमने नहीं सुनी तथा जिनके पक्ष में धनंजय जैसा योद्धा है, उन धर्मराज युधिष्ठिर को [भूमण्डल की तो बात ही क्या] तीनों लोकों का भी राज्य प्राप्त हो सकता है।

तस्यैव च न पश्यामि युधि गाण्डीवधन्वनः।
अनिशं चिन्तयानोऽपि यः प्रतीयाद् रथेन तम् ॥२६॥

मैं निरन्तर सोचने-विचारने पर भी युद्ध में गाण्डीवधारी अर्जुन का सामना करनेवाले किसी ऐसे वीर को नहीं देखता, जो रथ पर आरूढ़ हो उनके सम्मुख जा सके।

अस्यतः कर्णिनालीकान् मार्गणान् हृदयच्छिदः।
प्रत्येता न समः कश्चिद् युधि गाण्डीवधन्वनः॥२७॥

जो हृदय को विदीर्ण कर देनेवाले कर्णी और नालीक आदि बाणों की निरन्तर झड़ी लगाते हैं, उन गाण्डीवधारी अर्जुन का युद्ध में साम्मुख्य करनेवाला कोई भी योद्धा नहीं है।

अन्येऽप्यस्त्राणि जानन्ति जीयन्ते च जयन्ति च।
एकान्तविजयस्त्वेव श्रूयते फाल्गुनस्य वै॥२८॥

दूसरे योद्धा भी अस्त्र चलाना जानते हैं, परन्तु वे कभी हारते हैं और कभी जीतते हैं, केवल अर्जुन ही ऐसे हैं, जिनकी निरन्तर विजय ही सुनी जाती है।

त्रयस्त्रिंशत् समाऽऽहूय खाण्डवेऽग्निमतर्पयत्।
जिगाय च सुरान् सर्वान् नास्य विद्मः पराजयम् ॥२९॥

[1]तैंतीस वर्ष पूर्व अर्जुन ने अग्नि को खाण्डववन में बुलाकर तृप्त किया था और सभी देवताओं को भी जीत लिया था। उनकी कभी पराजय हुई हो, ऐसा हमने आज तक नहीं सुना है।

यस्य यन्ता हृषीकेशः शीलवृत्तसमो युधि।
ध्रुवस्तस्य जयस्तात यथेन्द्रस्य जयस्तथा॥३०॥

तात! श्रीकृष्ण जिनका स्वभाव तथा आचार-व्यवहार भी अर्जुन के ही समान है, वे युद्ध में अर्जुन का रथ हाँकते हैं, अतः इन्द्र की विजय की भाँति

१. यहाँ स्पष्ट कहा है कि अर्जुन को खाण्डवदाह किये तेंतीस वर्ष व्यतीत हो गये। यह भी ध्रुव सत्य है कि अभिमन्यु का जन्म खाण्डवदाह से पूर्व हो चुका था। इतना ही नहीं धनुर्धारी अर्जुन खाण्डवदाह से पूर्व ही अभिमन्यु को सम्पूर्ण धनुर्वेद की शिक्षा भी प्रदान कर चुके थे। द्रष्टव्य—विज्ञानेष्वपि [आदि० २५।४६]। ३३ वर्ष खाण्डवदाह के और उससे पूर्व अभिमन्यु अस्त्र-शस्त्रों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुके थे, अतः युद्ध के समय उनकी अवस्था ४८ वर्ष से कम नहीं हो सकती।

उनकी भी विजय निश्चित है।

कृष्णावेकरथे युक्तावधिज्यं गाण्डिवं धनुः।
युगपत् त्रीणि तेजांसि समेतान्यनुशुश्रुमः ॥३१॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन एक रथ पर आरूढ़ हैं तथा गाण्डीवधनुष भी प्रत्यञ्चा चढ़ी हुई है, इस प्रकार ये तीनों तेज एक ही साथ एकत्र हो गये हैं, यह हमारे सुनने में आया है।

नैवास्ति नो धनुस्तादृक् न योद्धा न च सारथिः।
तच्च मन्दाः न जानन्ति दुर्योधनवशानुगाः ॥३२॥

हम लोगों के पास न तो वैसा धनुष है, न अर्जुन जैसा पराक्रमी योद्धा है, न श्रीकृष्ण के समान सारथि ही है, परन्तु दुर्योधन के वशीभूत हुए मेरे मूर्ख पुत्र इस बात को समझ नहीं पाते हैं।

शेषयेदशनिर्दीप्तो विपतन् मूर्ध्नि संजय।
न तु शेषं शरास्तात कुर्युस्ताः किरीटिना ॥३३॥

तात सञ्जय! अपने तेज से दीप्त इन्द्र का वज्र किसी के मस्तक पर पड़कर सम्भव है, उसके जीवन को बचा दे, परन्तु किरीटधारी अर्जुन के चलाये हुए बाण जिसे लग जाएँगे, उसे जीवित नहीं छोड़ेंगे।

युधिष्ठिरस्य च क्रोधादर्जुनस्य च विक्रमात्।
यमाभ्यां भीमसेनाच्च भयं मे तात जायते ॥३४॥
अमानुषं मनुष्येन्द्रैर्जालं विततमन्तरा।
न मे सैन्यास्तरिष्यन्ति ततः क्रोशामि सञ्जय ॥३५॥

सञ्जय! मुझे युधिष्ठिर के क्रोध से, अर्जुन के पराक्रम से, नकुल-सहदेव दोनों भाइयों तथा भीमसेन से बड़ा भय लगता है। तात! इन नरश्रेष्ठ वीरों द्वारा मेरी सेना के भीतर जब अलौकिक अस्त्रों का जाल-सा बिछा दिया जाएगा, तब मेरे सैनिक उसे पार नहीं कर सकेंगे, इसीलिए मैं बिलख रहा हूँ।

दर्शनीयो मनस्वी च लक्ष्मीवान् ब्रह्मवर्चसी।
मेधावी सुकृतप्रज्ञो धर्मात्मा पाण्डुनन्दनः ॥३६॥
बहुश्रुतः कृतात्मा च वृद्धसेवी जितेन्द्रियः।
तपन्तमभि को मन्दः पतिष्यति पतङ्गवत् ॥३७॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर दर्शनीय, मनस्वी, लक्ष्मीवान्, ब्रह्मर्षियों के समान तेजस्वी, मेधावी, सुनिश्चित दूरदर्शिनी बुद्धि से युक्त, धर्मात्मा, अनेक शास्त्रों के ज्ञाता, मन को वश में रखनेवाले, वृद्धसेवी और जितेन्द्रिय हैं। कौन मूर्ख मनुष्य पतंग की भाँति उस प्रदीप्त अग्नि में गिरेगा?

तैरयुद्धं साधु मन्ये कुरवस्तन्निबोधत।
युद्धे विनाशः कृत्स्नस्य कुलस्य भविता ध्रुवम् ॥३८॥
एषा मे परमा बुद्धिर्यया शाम्यति मे मनः।
यदि त्वयुद्धमिष्टं वो वयं शान्त्यै यतामहे ॥३९॥

कौरवो! मैं पाण्डवों के साथ युद्ध न होना ही अच्छा समझता हूँ। तुम लोग इसे भली प्रकार समझ लो कि युद्ध हुआ तो समस्त कुरुकुल का विनाश अवश्यम्भावी है। मेरी बुद्धि का यही सर्वोत्तम निश्चय है, इसी से मेरे मन को शान्ति मिलती है। यदि तुम्हें भी युद्ध न होना ही अभीष्ट हो तो हम शान्ति के लिए प्रयत्न करें।

सञ्जय उवाच

एवमेतन्महाराज यथा वदसि भारत।
युद्धे विनाशः क्षत्रस्य गाण्डीवेन प्रदृश्यते ॥४०॥

सञ्जय ने कहा— महाराज! आप जैसा कह रहे हैं, वही उचित है। हे भारत! युद्ध में तो गाण्डीव धनुष के द्वारा क्षत्रिय-समुदाय का विनाश ही दिखाई देता है।

इदं तु नाभिजानामि तव धीरस्य नित्यशः।
यत् पुत्रवशमागच्छेस्तत्त्वज्ञः सव्यसाचिनः ॥४१॥

परन्तु सदा से बुद्धिमान् माने जानेवाले आपके सम्बन्ध में मैं यह नहीं समझ पा रहा हूँ कि सव्यसाची अर्जुन के बल-पराक्रम को भली-भाँति जानते हुए भी आप अपने पुत्रों के अधीन क्यों हो रहे हैं?

नैष कालो महाराज तव शश्वत् कृतागसः।
त्वया ह्येवादितः पार्था निकृता भरतर्षभ ॥४२॥

भरतकुलश्रेष्ठ महाराज! आप [स्वभाव से ही] पाण्डवों के प्रति अपराध करनेवाले हैं, अतः इस समय आपने जो विचार व्यक्त किया है, वह सदा स्थिर रहनेवाला नहीं है। आपने आरम्भ से ही कुन्तीपुत्रों के साथ कपटपूर्ण व्यवहार किया है।

पिता श्रेष्ठः सुहृद् यश्च सम्यक् प्रणिहितात्मवान्।
आस्थेयं हि हितं तेन न द्रोग्धा गुरुरुच्यते ॥४३॥

जो पिता के पद पर प्रतिष्ठित है, श्रेष्ठ सुहृद् है तथा मन में भली-भाँति सावधानी रखनेवाला है,

उसे अपने आश्रितों का हितसाधन ही करना चाहिए। द्रोह करनेवाला पुरुष पिता अथवा गुरु नहीं कहला सकता।

इदं जितमिदं लब्धमिति श्रुत्वा पराजितान्।
द्यूतकाले महाराज स्मयसे स्म कुमारवत् ॥४४॥

महाराज ! द्यूतक्रीड़ा के समय जब आप अपने पुत्रों के मुख से सुनते थे कि यह जीता, वह पाया तथा पाण्डवों की पराजय हो रही है, तब आप बालकों की भाँति मुस्करा उठते थे।

तस्याद्य वसुधा राजन् निखिला भरतर्षभ।
यस्य भीमार्जुनौ योधौ स राजा राजसत्तम ॥४५॥

राजाओं में श्रेष्ठ भरतकुलभूषण ! अब तो यह सारी पृथिवी उसी के अधिकार में रहेगी और वही राजा होगा जिसकी ओर से भीम और अर्जुन जैसे योद्धा युद्ध करेंगे।

यदिदं ते विलपितं पाण्डवान् प्रति भारत।
अनीशेनेव राजेन्द्र सर्वमेतन्निरर्थकम् ॥४६॥

राजेन्द्र ! आपने जो पाण्डवों के बल-पराक्रम की चर्चा करके असमर्थ की भाँति विलाप किया है, वह सब व्यर्थ है।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

दुर्योधन द्वारा अपने उत्कर्ष और पाण्डवों के अपकर्ष का वर्णन, पाण्डवों से युद्ध का ही निश्चय तथा आत्मप्रशंसा

दुर्योधन उवाच

न भेतव्यं महाराज न शोच्या भवता वयम्।
समर्थाः स्म पराञ्जेतुं बलिनः समरे विभो ॥१॥

दुर्योधन बोला—महाराज ! आप भयभीत न हों। आप हमारे लिए शोक न करें। प्रभो ! हम बलवान् तथा शक्तिशाली हैं और युद्धभूमि में शत्रुओं को जीतने की शक्ति रखते हैं।

जेतुं समग्रां सेनां मे वासवोऽपि न शक्नुयात्।
हन्तुमक्षय्यरूपा न ब्रह्मणाऽपि स्वयम्भुवा ॥२॥

मेरी सम्पूर्ण सेना को इन्द्र भी नहीं जीत सकते, स्वयम्भू ब्रह्माजी भी इसका विनाश नहीं कर सकते।

युधिष्ठिरः पुरं हित्वा पञ्चग्रामान् स याचति।
भीतो हि मामकात् सैन्यात्प्रभावाच्चैव मे विभो ॥३॥

प्रभो ! युधिष्ठिर तो मेरी सेना तथा प्रभाव से इतने भयभीत हो गये हैं कि राजधानी या नगर लेने की बात छोड़कर अब केवल पाँच गाँव माँगने लगे हैं।

समर्थं मन्यसे यच्च कुन्तीपुत्रं वृकोदरम्।
तन्मिथ्या न हि मे कृत्स्नं प्रभावं वेत्सि भारत ॥४॥

हे भारत ! आप जो कुन्तीपुत्र भीम को बहुत शक्तिशाली मान रहे हैं, वह भी मिथ्या ही है, क्योंकि आप मेरे प्रभाव को पूर्णरूप से नहीं जानते हैं।

मत्समो हि गदायुद्धे पृथिव्यां नास्ति कश्चन।
नासीत् कश्चिदतिक्रान्तो भविता न च कश्चन ॥५॥

गदायुद्ध में मेरी समानता करनेवाला इस भूतल पर न तो कोई है, न भूतकाल में कोई हुआ था और न भविष्य में ही कोई होगा।

एकं प्रहारं यं दद्यां भीमाय रुषितो नृप।
स एवैनं नयेद् घोरं क्षिप्रं वैवस्वतक्षयम् ॥६॥

महाराज ! मैं क्रोध में भरकर भीमसेन पर गदा का जो एक भरपूर प्रहार करूँगा, वह अत्यन्त भयंकर एक ही आघात उसे शीघ्र ही यमलोक पठा देगा।

गदाप्रहाराभिहतो हिमवानपि पर्वतः।
सकृन्मया विदीर्येत गिरिः शतसहस्रधा ॥७॥

यदि मैं अपनी गदा का एक भरपूर आघात कर दूँ तो हिमालय पर्वत भी सैकड़ों-हजारों टुकड़ों में विदीर्ण हो जाएगा।

तत् ते वृकोदरमयं भयं व्येतु महाहवे।
व्यपनेष्याम्यहं ह्येनं मा राजन् विमना भव ॥८॥

राजन् ! भीमसेन से आपको जो भय हो रहा है, वह दूर हो जाना चाहिए। मैं महायुद्ध में उसे मार गिराऊँगा, अतः आप मन में खेद न करें।

अभिव्यक्तः परेषां च कृत्स्नो भुवि पराजयः।
अहत्वा ह्येकेन भीष्मोऽयं प्रयुतं हन्ति भारत ॥९॥

हे भारत ! इस पृथिवी पर मेरे शत्रुओं की पूर्णतः पराजय तो इसी से स्पष्ट है कि ये पितामह भीष्म प्रतिदिन दस सहस्र विपक्षी योद्धाओं का संहार करेंगे ।

अक्षौहिण्यो हि मे राजन् दशैका च समाहृताः ।
न्यूनाः परेषां सप्तैव कस्मान् मे स्यात्पराजयः ॥१०॥

महाराज ! अपने यहाँ ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गई हैं, परन्तु शत्रुओं के पक्ष में हमसे बहुत कम—केवल सात अक्षौहिणी सेनाएँ हैं, फिर मेरी पराजय कैसे हो सकती है ?

गुणहीनं परेषां च बहु पश्यामि भारत ।
गुणोदयं बहुगुणमात्मनश्च विशाम्पते ॥११॥

हे भारत ! प्रजानाथ ! मैं देख रहा हूँ कि शत्रुओं का बल हमारी अपेक्षा अनेक प्रकार से गुणहीन [न्यूनतम] है, परन्तु मेरा बल [सेना] सब प्रकार से बहुत अधिक तथा गुणशाली है ।

एतत् सर्वं समाज्ञाय बलाग्र्यं मम भारत ।
न्यूनतां पाण्डवानां च न मोहं गन्तुमर्हसि ॥१२॥

भरतनन्दन ! सभी दृष्टियों से मेरा बल अधिक है और पाण्डवों का बहुत कम है, यह जानकर आप व्याकुल एवं अधीर न हों ।

धृतराष्ट्र उवाच

उन्मत्त इव मे पुत्रो विलपत्येष सञ्जय ।
न हि शक्तो रणे जेतुं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥१३॥

धृतराष्ट्र बोले—सञ्जय ! मेरा यह पुत्र पागल के समान प्रलाप कर रहा है । यह युद्ध में धर्मराज युधिष्ठिर को कभी नहीं जीत सकता ।

दुर्योधन निवर्तस्व युद्धाद् भरतसत्तम ।
न हि युद्धं प्रशंसन्ति सर्वावस्थमरिन्दम ॥१४॥

भरतकुलतिलक शत्रुदमन दुर्योधन ! तुम युद्ध से निवृत्त हो जाओ । श्रेष्ठ पुरुष किसी भी अवस्था में युद्ध की प्रशंसा नहीं करते ।

अलमर्धं पृथिव्यास्ते सहामात्यस्य जीवितुम् ।
प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां यथाभागमरिन्दम ॥१५॥

शत्रुदमन ! तुम पाण्डवों को उनका यथोचित राज्यभाग दे दो । वत्स ! मन्त्रियोंसहित तुम्हारे जीवन-निर्वाह के लिए आधा राज्य ही पर्याप्त है ।

न त्वहं युद्धमिच्छामि नैतदिच्छति बाह्लिकः ।
न च भीष्मो न च द्रोणो नाश्वत्थामा न सञ्जयः ॥१६॥

देखो, न तो मैं युद्ध चाहता हूँ, न बाह्लीक इसकी इच्छा रखते हैं । भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा और सञ्जय भी युद्ध के पक्ष में नहीं हैं ।

न त्वं करोषि कामेन कर्णः कारयिता तव ।
दुःशासनश्च पापात्मा शकुनिश्चापि सौबलः ॥१७॥

[मैं जानता हूँ,] तुम अपनी इच्छा से युद्ध नहीं कर रहे हो, अपितु कर्ण, पापात्मा दुःशासन तथा सुबलपुत्र शकुनि ही तुमसे यह कार्य करा रहे हैं ।

दुर्योधन उवाच

नाहं भवति न द्रोणे न भीष्मे न च सञ्जये ।
तावकेषु न वान्येषु भारं कृत्वा समाह्वयम् ॥१८॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! मैंने आप, द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह, संजय अथवा आपके अन्यान्य योद्धाओं पर सारा बोझ रखकर पाण्डवों को युद्ध के लिए आमन्त्रित नहीं किया है ।

अहं च तात कर्णश्च रणयज्ञं वितत्य वै ।
युधिष्ठिरं पशुं कृत्वा दीक्षितौ भरतर्षभ ॥१९॥

तात ! भरतश्रेष्ठ ! मैंने तथा कर्ण ने रणयज्ञ का विस्तार करके युधिष्ठिर को बलिपशु बनाकर उस यज्ञ की दीक्षा ग्रहण की है ।

रथो वेदी स्रुवः खड्गो गदा स्रुक् कवचोऽजिनम् ।
चातुर्होत्रं च धुर्या मे शरा दर्भा हविर्यशः ॥२०॥

इस यज्ञ में रथ ही वेदी है, खड्ग स्रुवा है, गदा स्रुक् है, कवच मृगचर्म है, रथ का भार वहन करनेवाले मेरे चारों घोड़े ही चार होता हैं, बाण कुश हैं तथा यश ही हविष्य है ।

आत्मयज्ञेन नृपते इष्ट्वा वैवस्वतं रणे ।
विजित्य च समेष्यावो हतामित्रौ श्रिया वृतौ ॥२१॥

नरेश्वर ! हम दोनों युद्धभूमि में अपने इस यज्ञ के द्वारा यमराज का यजन करके शत्रुओं को मारकर विजयी हो, विजयलक्ष्मी से शोभा पाते हुए पुनः राजधानी में लौटेंगे ।

अहं च तात कर्णश्च भ्राता दुःशासनश्च मे ।
एते वयं हनिष्यामः पाण्डवान् समरे त्रयः ॥२२॥

तात ! मैं, कर्ण तथा भाई दुःशासन—हम तीन

ही संग्रामभूमि में पाण्डवों का संहार कर डालेंगे ।

अहं हि पाण्डवान् हत्वा प्रशास्ता पृथिवीमिमाम् ।
मां वा हत्वा पाण्डुपुत्रा भोक्तारः पृथिवीमिमाम् ॥२३॥

पाण्डवों का संहार कर या तो मैं ही इस पृथिवी का शासन करूँगा। अथवा पाण्डव ही मुझे मारकर भूमण्डल का राज्य भोगेंगे ।

त्यक्तं मे जीवितं राज्यं धनं सर्वं च पार्थिव ।
न जातु पाण्डवैः सार्धं वसेयमहमच्युत ॥२४॥

राज्य से च्युत न होनेवाले महाराज ! मैं जीवन, राज्य, धन—सब-कुछ छोड़ सकता हूँ, परन्तु पाण्डवों के साथ मिलकर नहीं रह सकता ।

यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णाया विध्येदग्रेण मारिष ।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥२५॥

पूज्य पिताजी ! तीखी सूई के अग्रभाग से जितनी भूमि विंध सकती है, मैं उतनी भूमि भी पाण्डवों को नहीं दे सकता ।

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वान् वस्तात शोचामि त्यक्तो दुर्योधनो मया ।
ये मन्दमनुयास्यध्वं यान्तं वैवस्वतक्षयम् ॥२६॥

धृतराष्ट्र बोले—तात कौरवगण ! मैंने दुर्योधन का परित्याग कर दिया है। यमलोक को जाते हुए उस मूर्ख का तुम लोगों में से जो अनुसरण करेंगे, मैं उन सभी लोगों के लिए शोक में पड़ा हूँ ।

रुरूणामिव यूथेषु व्याघ्राः प्रहरतां वराः ।
वरान् वरान् हनिष्यन्ति समेता युधि पाण्डवाः ॥२७॥

प्रहार करनेवालों में श्रेष्ठ व्याघ्र जैसे रुरु नामक मृगों के झुण्ड में घुसकर बड़े-बड़ों को मार डालता है, उसी प्रकार योद्धाओं में अग्रगण्य पाण्डव युद्ध में एकत्र होकर कौरवों के सभी प्रधान-प्रधान वीरों का वध कर डालेंगे ।

महद् वो भयमागामि न चेच्छाम्यथ पाण्डवैः ।
गदया भीमसेनेन हताः शममुपैष्यथ ॥२८॥

तुम लोगों पर बहुत बड़ा भय आनेवाला है। मैं नहीं चाहता कि पाण्डवों के साथ तुम्हारा युद्ध हो। यदि युद्ध हुआ तो तुम लोग भीम की गदा से मारे जाकर सदा के लिए शान्त हो जाओगे ।

महावनमिव छिन्नं यदा द्रक्ष्यसि पातितम् ।
बलं कुरूणां भीमेन तदा स्मर्तासि मे वचः ॥२९॥

काटकर गिराये हुए विशाल वन की भाँति जब तुम कौरव-सेना को भीमसेन के द्वारा मार गिराई हुई देखोगे, तब तुम्हें मेरी बात स्मरण आएगी ।

वैशम्पायन उवाच

पितुरेतद् वचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रोऽत्यमर्षणः ।
आधाय विपुलं क्रोधं पुनरेवेदमब्रवीत् ॥३०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पिता की यह बात सुनकर अति क्रोधी दुर्योधन ने भीतर-ही-भीतर अत्यन्त क्रुद्ध होकर पुनः इस प्रकार कहा—

दुर्योधन उवाच

स्तम्भितास्वप्सु गच्छन्ति मया रथपदातयः ।
देवासुराणां भावानामहमेकः प्रवर्तिता ॥३१॥

दुर्योधन बोला—मेरे द्वारा स्तम्भित किये हुए जल पर रथ और पैदल सेनाएँ चल सकती हैं। एकमात्र मैं ही दैव तथा आसुर शक्तियों को प्रकट करने में समर्थ हूँ ।

सरितः सागरं प्राप्य यथा नश्यन्ति सर्वशः ।
तथैव ते विनङ्क्ष्यन्ति मामासाद्य सहान्वयाः ॥३२॥

जैसे नदियाँ समुद्र में लीन होकर सब प्रकार से अपना अस्तित्व खो बैठती हैं, उसी प्रकार वे पाण्डव आदि योद्धा मेरे समीप आने पर अपने बन्धु-बान्धवों-सहित नष्ट हो जाएँगे ।

परा बुद्धिः परं तेजो वीर्यं च परमं मम ।
परा विद्या परो योगो मम तेभ्यो विशिष्यते ॥३३॥

मेरी बुद्धि उत्तम है, तेज उत्कृष्ट है, बल-पराक्रम महान् है, विद्या बड़ी है तथा उद्योग भी सबसे बढ़कर है। ये सारी कलाएँ पाण्डवों की अपेक्षा मुझमें अधिक हैं ।

पितामहश्च द्रोणश्च कृपः शल्यः शलस्तथा ।
अस्त्रेषु यत् प्रजानन्ति सर्वं तन्मयि विद्यते ॥३४॥

पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, शल्य तथा शल—ये लोग अस्त्रविद्या के विषय में जो कुछ जानते हैं, वह सारा ज्ञान मुझमें विद्यमान है ।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

विदुर का दम—मन तथा इन्द्रियनिग्रह की महिमा तथा कौटुम्बिक कलह से हानि बताते हुए धृतराष्ट्र को सन्धि का परामर्श देना, धृतराष्ट्र का दुर्योधन को समझाना

विदुर उवाच

इह निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥१॥

विदुरजी बोले—सिद्धान्तवेत्ता वृद्ध पुरुष कहते हैं कि संसार में दम ही कल्याण का परम साधन है। ब्राह्मण के लिए तो विशेष रूप से दम ही सनातन धर्म है।

तस्य दानं क्षमा सिद्धिर्यथावदुपपद्यते।
दमो दानं तपो ज्ञानमधीतं चानुवर्तते ॥२॥

जो दमरूपी गुण से युक्त है, उसी को दान, क्षमा तथा सिद्धि का यथार्थ लाभ प्राप्त होता है, क्योंकि दम ही दान, तपस्या, ज्ञान और स्वाध्याय का सम्पादन करता है।

वर्धयति दमस्तेजः पवित्रं दम उत्तमम्।
विपाप्मा वृद्धतेजास्तु पुरुषो विन्दते महत् ॥३॥

दम तेज की वृद्धि करता है। दम पवित्र एवं उत्तम साधन है। दम से निष्पाप तथा बढ़े हुए तेज से सम्पन्न मनुष्य परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्। □
इन्द्रियाभिजयो धैर्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥४॥
अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः श्रद्दधानता।
एतानि यस्य राजेन्द्र स दान्तः पुरुषः स्मृतः ॥५॥

हे राजेन्द्र ! जिस पुरुष में क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समदर्शिता, सत्य, सरलता, इन्द्रिय-संयम, धीरता, मृदुता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, अक्रोध, सन्तोष और श्रद्धा—ये गुण विद्यमान हैं, वह पुरुष 'दान्त' माना गया है।

कामो लोभश्च दर्पश्च मन्युर्निद्रा विकत्थनम्। □
मान ईर्ष्या च शोकश्च नैतद् दान्तो निषेवते।
अजिह्ममशठं शुद्धमेतद् दान्तस्य लक्षणम् ॥६॥

दमनशील पुरुष काम, लोभ, अभिमान, क्रोध, निद्रा, आत्म-प्रशंसा, मान, ईर्ष्या तथा शोक—इन दुर्गुणों को अपने पास नहीं फटकने देता। कुटिलता तथा शठता का अभाव एवं आत्म-शुद्धि—यह दमयुक्त पुरुष का लक्षण है।

अलोलुपस्तथाल्पेप्सुः कामानामविचिन्तिता। □
समुद्रकल्पः पुरुषः स दान्तः परिकीर्तितः ॥७॥

जो निर्लोभ, कम-से-कम चाहनेवाला, भोगों के चिन्तन से दूर रहनेवाला तथा समुद्र के समान गम्भीर है, उस पुरुष को 'दान्त' कहा गया है।

सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविद् बुधः। □
प्राप्येह लोके सम्मानं सुगतिं प्रेत्य गच्छति ॥८॥

जो सदाचारी, शीलवान्, प्रसन्नचित्त तथा आत्म-ज्ञानी विद्वान् है, वह इस जगत् में सम्मान पाकर मृत्यु के पश्चात् उत्तम गति का भागी होता है।

अभयं यस्य भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः। □
स वै परिणतप्रज्ञः प्रख्यातो मनुजोत्तमः ॥९॥

जिसे समस्त प्राणियों से निर्भयता प्राप्त हो गई हो, वह परिपक्व बुद्धिवाला पुरुष मनुष्यों में श्रेष्ठ कहा गया है।

सर्वभूतहितो मैत्रस्तस्मान्नोद्विजते जनः। □
समुद्र इव गम्भीरः प्रज्ञातृप्तः प्रशाम्यति ॥१०॥

जो समस्त प्राणियों का हितचिन्तक तथा सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाला है, उससे किसी भी प्राणी को उद्वेग प्राप्त नहीं होता। जो समुद्र के समान गम्भीर तथा उत्कृष्ट ज्ञानरूपी अमृत से तृप्त है, वही परमशान्ति का भागी होता है।

कर्मणाऽऽचरितं पूर्वं सद्भिराचरितं च यत्।
तदेवास्थाय मोदन्ते दान्ताः शमपरायणाः ॥११॥

जो कर्तव्य शुभकर्मों द्वारा आचरित है और पूर्व-श्रेष्ठपुरुषों ने जिसका आचरण किया है, उसे अपना-कर शम-दम से सम्पन्न मनुष्य सदा आनन्द में मग्न रहते हैं।

शकुनीनामिहार्थाय पाशं भूमावयोजयत्।
कश्चिच्छाकुनिकस्तात पूर्वेषामिति शुश्रुम ॥१२॥

तात ! हमने पूर्वजों के मुख से सुन रखा है कि किसी समय एक चिड़ीमार ने चिड़ियों को फँसाने के लिए पृथिवी पर जाल फैलाया ।

तस्मिन् द्वौ शकुनौ बद्धौ युगपत् सहचारिणौ ।
तावुपादाय तं पाशं जग्मतुः खचरावुभौ ॥१३॥

उस जाल में दो ऐसे पक्षी फँस गये, जो सदा साथ-साथ उड़ने और विचरनेवाले थे। वे दोनों पक्षी उस जाल को लेकर आकाश में उड़ चले।

तौ विहायसमाक्रान्तौ दृष्ट्वा शाकुनिकस्तदा ।
अन्वधावदनिर्विण्णो येन येन स्म गच्छतः ॥१४॥

वह चिड़ीमार उन दोनों पक्षियों को आकाश में उड़ते देखकर भी खिन्न अथवा हताश नहीं हुआ। वे पक्षी जिधर जाते थे, वह भी उधर ही उनके पीछे दौड़ता था।

तथा तमनुधावन्तं मृगयुं शकुनार्थिनम् ।
आश्रमस्थो मुनिः कश्चिद् ददर्शाथ कृताह्निकः ॥१५॥

उन पक्षियों को पकड़ने के लिए उनका पीछा करते हुए उस व्याध को सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य-कर्मों से निवृत्त हुए किसी आश्रमवासी मुनि ने देखा।

तावन्तरिक्षगौ शीघ्रमनुयान्तं महीचरम् ।
श्लोकेनानेन कौरव्य पप्रच्छ स मुनिस्तदा ॥१६॥

कुरुनन्दन ! उन आकाशचारी पक्षियों के पीछे-पीछे भूमि पर पैदल दौड़नेवाले उस व्याध से उस मुनि ने निम्न श्लोक के अनुसार प्रश्न किया—

विचित्रमिदमाश्चर्यं मृगहन् प्रतिभाति मे ।
प्लवमानौ हि खचरौ पदातिरनुधावसि ॥१७॥

"अरे व्याध ! मुझे यह बात अति विचित्र तथा आश्चर्यजनक जान पड़ती है कि तू आकाश में उड़ते हुए इन दोनों पक्षियों के पीछे पृथिवी पर पैदल दौड़ रहा है।"

शाकुनिक उवाच

पाशमेकमुभावेतौ सहितौ हरतो मम ।
यत्र वै विवदिष्येते तत्र मे वशमेष्यतः ॥१८॥

व्याध बोला—मुने ! ये दोनों पक्षी आपस में मिल गये हैं, अतः मेरे एकमात्र जाल को लिये जा रहे हैं। जहाँ ये एक-दूसरे से झगड़ेंगे, वहीं मेरे वश में आ जाएँगे।

विदुर उवाच

तौ विवादमनुप्राप्तौ शकुनौ मृत्युसन्धितौ ।
विगृह्य च सुदुर्बुद्धी पृथिव्यां संनिपेततुः ॥१९॥

विदुरजी कहते हैं—राजन् ! तत्पश्चात् कुछ ही देर में काल के वशीभूत हुए वे दोनों दुर्बुद्धि पक्षी आपस में झगड़ने लगे तथा लड़ते-लड़ते पृथिवी पर गिर पड़े।

तौ युध्यमानौ संरब्धौ मृत्युपाशवशानुगौ ।
उपसृत्यापरिज्ञातो जग्राह मृगहा तदा ॥२०॥

जिस समय मृत्यु के पाश में फँसे हुए वे पक्षी अति क्रुद्ध होकर एक-दूसरे से लड़ रहे थे, उसी समय व्याध ने चुपचाप उनके पास आकर उन्हें पकड़ लिया।

एवं ये ज्ञातयोऽर्थेषु मिथो गच्छन्ति विग्रहम् ।
तेऽमित्रवशमायान्ति शकुनाविव विग्रहात् ॥२१॥

इसी प्रकार जो कुटुम्बीजन धन-सम्पत्ति के लिए आपस में झगड़ा करते हैं, वे युद्ध करके उन दोनों पक्षियों की भाँति शत्रुओं के वश में पड़ जाते हैं।

सम्भोजनं संकथनं सम्प्रश्नोऽथ समागमः ।
एतानि ज्ञातिकार्याणि न विरोधः कदाचन ॥२२॥

एक-साथ बैठकर भोजन करना, परस्पर प्रेमालाप, एक-दूसरे के सुख-दुःख को पूछना तथा सदा मिलते-जुलते रहना—ये ही भाई-बन्धुओं के काम हैं, परस्पर विरोध करना कदापि उचित नहीं है।

अङ्के कुरुष्व राजानं धृतराष्ट्र युधिष्ठिरम् ।
युद्धतोहि द्वयोर्युद्धे नैकान्तेन भवेज्जयः ॥२३॥

महाराज धृतराष्ट्र ! आप राजा युधिष्ठिर को अपनी गोद में बैठा लीजिए, क्योंकि जब दोनों पक्षों में युद्ध छिड़ जाएगा, तब विजय किसकी होगी—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन विजानीहि यत् त्वां वक्ष्यामि पुत्रक ।
उत्पथं मन्यसे मार्गमनभिज्ञ इवाध्वगः ॥२४॥

धृतराष्ट्र बोले—पुत्र दुर्योधन ! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसपर ध्यान दो। तुम इस समय अनजान पथिक के समान कुमार्ग को भी सुमार्ग समझ रहे हो।

तिष्ठ तात सतां वाक्ये सुहृदामर्थवादिनाम् ।
वृद्धं शान्तनवं भीष्मं तितिक्षस्व पितामहम् ॥२५॥

तात ! तुम सत्पुरुषों तथा तुम्हारे हित की बात कहनेवाले सुहृदों के कथनानुसार कार्य करो । वृद्ध शान्तनुनन्दन भीष्म तुम्हारे पितामह हैं, तुम उनकी प्रत्येक बात सहन करो ।

मां च ब्रुवाणं शुश्रूष कुरूणामर्थदर्शिनम् ।
द्रोणं कृपं विकर्णं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥२६॥
एते ह्यपि यथैवाहं मन्तुमर्हसि तांस्तथा ।
सर्वे धर्मविदो ह्येते तुल्यस्नेहाश्च भारत ॥२७॥

मैं कौरवों के हित की बात सोचता हूँ, अतः मेरी भी सुनो । आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, विकर्ण और महाराज बाह्लीक—ये भी तुम्हारे हितैषी ही हैं, अतः मेरे ही समान तुम्हें भी इनका आदर करना चाहिए । भरतनन्दन ! ये सभी धर्म के ज्ञाता हैं तथा दोनों पक्षों के लोगों पर समान भाव से स्नेह रखते हैं ।

यत् तद् विराटनगरे सह भ्रातृभिरग्रतः ।
उत्सृज्य गाः सुसंत्रस्तं बलं ते समशीर्यत ॥२८॥
यच्चैव नगरे तस्मिन् श्रूयते महदद्भुतम् ।
एकस्य च बहूनां च पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥२९॥

विराटनगर में तुम्हारे भाइयोंसहित जो सारी सेना युद्ध के लिए गई थी, वह वहाँ की समस्त गौओं को छोड़कर अत्यन्त भयभीत हो तुम्हारे सामने ही भाग खड़ी हुई थी । उस नगर में जो एक [अर्जुन] का बहुतों के साथ अत्यन्त अद्भुत युद्ध हुआ सुना जाता है, वह एक ही दृष्टान्त [उसकी प्रबलता तथा अजेयता के लिए] पर्याप्त है ।

अर्जुनस्तत् तथाकार्षीत् किं पुनः सर्व एव ते ।
स भ्रातॄनभिजानीहि वृत्त्या तं प्रतिपादय ॥३०॥

देखो ! जब अकेले अर्जुन ने इतना अद्भुत कार्य कर डाला, तब वे सब भाई मिलकर क्या नहीं कर सकते ? तुम पाण्डवों को अपना भाई ही समझो तथा उनकी वृत्ति=स्वत्व उन्हें देकर उनके साथ भ्रातृभाव बढ़ाओ ।

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधने धार्तराष्ट्रे तद् वचो नाभिनन्दति ।
तूष्णीम्भूतेषु सर्वेषु समुत्तस्थुर्नरर्षभाः ॥३१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन ने उस कथन का कोई आदर नहीं किया और सब लोग भी चुप्पी साधकर रह गये । तब वहाँ बैठे हुए समस्त नरश्रेष्ठ भूपालगण वहाँ से उठकर चले गये ।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण का शान्तिदूत बनकर हस्तिनापुर जाने के लिए उद्यत होना तथा युधिष्ठिर को युद्ध के लिए उत्साहित करना

वैशम्पायन उवाच

संजये प्रतियाते तु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अभ्यभाषत दाशार्हमृषभं सर्वसात्वताम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इधर संजय के चले जाने पर धर्मराज युधिष्ठिर ने समस्त यदुवंशियों में श्रेष्ठ दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहा—

युधिष्ठिर उवाच

अयं स कालः सम्प्राप्तो मित्राणां मित्रवत्सल ।
न च त्वदन्यं पश्यामि यो न आपत्सु तारयेत् ॥२॥

युधिष्ठिर ने कहा—मित्रवत्सल ! मित्रों की सहायता के लिए यह उपयुक्त अवसर आया है । मुझे आपके अतिरिक्त और कोई ऐसा दिखाई नहीं देता जो इस विपत्ति से हमारा उद्धार करे ।

श्रुतं ते धृतराष्ट्रस्य सपुत्रस्य चिकीर्षितम् ।
तन्मतं धृतराष्ट्रस्य सञ्जयो मां यदब्रवीत् ॥३॥

श्रीकृष्ण ! पुत्रोंसहित राजा धृतराष्ट्र क्या करना चाहते हैं, यह सब तो आपने सुन ही लिया । संजय ने मुझसे जो कुछ कहा है, वह धृतराष्ट्र का ही मत है ।

अप्रदानेन राज्यस्य शान्तिमस्मासु मार्गति ।
लुब्धः पापेन मनसा चरन्नसममात्मनः ॥४॥

राजा धृतराष्ट्र को राज्य का बड़ा लोभ है। उनके मन में पाप बस गया है। वे अपने अनुरूप व्यवहार न करके राज्य दिये बिना ही हमारे साथ सन्धि का मार्ग ढूंढ रहे हैं।

सुयोधनमते तिष्ठन् राजास्मासु जनार्दन ।
मिथ्या चरति लुब्धः सन् चरन् हि प्रियमात्मनः ॥५॥

जनार्दन! उनका लोभ इतना बढ़ गया है कि वे दुर्योधन की हाँ-में-हाँ मिलाते हैं तथा अपना ही प्रिय कार्य करते हुए हमारे साथ मिथ्या व्यवहार कर रहे हैं।

इतो दुःखतरं किं नु यदहं मातरं ततः ।
संविधातुं न शक्नोमि मित्राणां च जनार्दन ॥६॥

जनार्दन! इससे बढ़कर महान् क्लेश की बात और क्या हो सकती है कि मैं अपनी माता तथा अपने मित्रों का भी अच्छी प्रकार भरण-पोषण नहीं कर सकता।

काशिभिश्चेदिपाञ्चालैर्मत्स्यैश्च मधुसूदन ।
भवता चैव नाथेन पञ्च ग्रामा वृता मया ॥७॥

मधुसूदन! यद्यपि काशी, चेदि, पाञ्चाल तथा मत्स्य देश के वीर हमारे सहायक हैं और आप हम लोगों के रक्षक हैं [आप लोगों की सहायता से हम सम्पूर्ण राज्य ले सकते हैं], तथापि मैंने केवल पाँच ही गाँव माँगे थे।

न च तानपि दुष्टात्मा धार्तराष्ट्रोऽनुमन्यते ।
स्वाम्यमात्मनि मत्वासावतो दुःखतरं नु किम् ॥८॥

परन्तु दुरात्मा दुर्योधन सबपर अपना ही अधिकार मानकर उन पाँच ग्रामों को भी देने की बात स्वीकार नहीं कर रहा है, इससे बढ़कर कष्ट की बात और क्या हो सकती है?

कुले जातस्य वृद्धस्य परवित्तेषु गृद्धचतः ।
लोभः प्रज्ञानमाहन्ति प्रज्ञा हन्ति हता ह्रियम् ॥९॥

मनुष्य उत्तम कुल में जन्म लेकर और वृद्ध होने पर भी यदि दूसरों के धन को लेना चाहता है तो वह लोभ उसकी विचारशक्ति को नष्ट कर देता है, विचारशक्ति नष्ट होने पर उसकी लज्जा को भी नष्ट कर देता है।

अधनाद्धि निवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदो द्विजाः ।
अपुष्पादफलाद् वृक्षाद् यथा कृष्ण पतत्रिणः ॥१०॥

श्रीकृष्ण! धनहीन पुरुष से उसके भाई-बन्धु, सुहृद् और ब्राह्मण लोग भी उसी प्रकार मुँह मोड़ लेते हैं, जैसे पक्षी पुष्प एवं फलविहीन वृक्ष को छोड़कर उड़ जाते हैं।

धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम् ।□
जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः ॥११॥

धन को उत्तम धर्म का साधक बताया गया है। धन में सब-कुछ प्रतिष्ठित है। संसार में धनी मनुष्य ही जीवन धारण करते हैं, जो निर्धन हैं वे तो मुर्दे के समान हैं।

न तथा बाध्यते कृष्ण प्रकृत्या निर्धनो जनः ।
यथा भद्रां श्रियं प्राप्य तया हीनः सुखैधितः ॥१२॥

श्रीकृष्ण! जन्म से ही निर्धन को दरिद्रता के कारण उतना कष्ट नहीं पहुँचता, जितना कि कल्याणमयी सम्पत्ति को पाकर सुख में ही पले हुए मनुष्य को उस सम्पत्ति से वञ्चित होने पर होता है।

ते वयं न श्रियं हातुमलं न्यायेन केनचित् ।
अत्र नो यतमानानां वधश्चेदपि साधु तत् ॥१३॥

अतः हम लोग किसी भी न्याय से अपनी पैतृक सम्पत्ति का परित्याग नहीं कर सकते। इसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हुए यदि हम लोगों का वध भी हो जाए तो वह भी अच्छा है।

तत्र नः प्रथमः कल्पो यद् वयं ते च माधव ।
प्रशान्ताः समभूतास्च श्रियं तामश्नुवीमहि ॥१४॥

माधव! इस विषय में हमारा पहला ध्येय यही है कि हम और कौरव आपस में सन्धि करके शान्त-भाव से रहते हुए उस सम्पत्ति का समानरूप से उपभोग करें।

तत्रैषा परमा काष्ठा रौद्रकर्मक्षयोदया ।
यद् वयं कौरवान् हत्वा तानि राष्ट्राण्यवाप्नुमः ॥१५॥

दूसरा पक्ष यह है कि हम कौरवों को मारकर सम्पूर्ण राज्य अपने अधिकार में कर लें, परन्तु यह रौद्र और क्रूरतापूर्ण कर्म की पराकाष्ठा होगी।

[निरपराध जन-संहार के पश्चात् हमारी विजय होगी]।

क्षत्रियः क्षत्रियं हन्ति मत्स्यो मत्स्येन जीवति ।
श्वा श्वानं हन्ति दाशार्ह पश्य धर्मो यथागतः ॥१६॥

क्षत्रिय क्षत्रिय को मारता है, मछली मछली को खाकर जीती है और कुत्ता कुत्ते को काटता है। दशार्हनन्दन ! देखिए, यही परम्परा से चला आनेवाला धर्म है।

न राज्यं त्यक्तुमिच्छामो न चेच्छामः कुलक्षयम् ।
अत्र या प्रणिपातेन शान्तिः सैव गरीयसी ॥१७॥

हम लोग न तो राज्य त्यागना चाहते हैं और न कुल के विनाश की ही इच्छा करते हैं। यदि नम्रता दिखाने से ही शान्ति हो जाए तो वही सबसे बढ़कर है।

सर्वथा यतमानानामयुद्धमभिकांक्षताम् ।
सान्त्वे प्रतिहते युद्धं प्रसिद्धं नापराक्रमः ॥१८॥

यद्यपि हम युद्ध की इच्छा न रखकर साम, दाम और भेद सभी उपायों द्वारा राज्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रहे हैं तथापि यदि हमारी साम-नीति असफल रही तब युद्ध ही हमारा प्रधान कर्तव्य होगा, हम पराक्रम छोड़कर बैठ नहीं सकते।

प्रतिघातेन सान्त्वस्य दारुणं सम्प्रवर्तते ।
तच्छुनामिव सम्पाते पण्डितैरुपलक्षितम् ॥१९॥

शान्ति के प्रयत्नों में बाधा आने पर भयंकर युद्ध स्वतः आरम्भ हो जाता है। पण्डितों ने इस युद्ध की उपमा कुत्तों की कलह से दी है।

लाङ्गूलचालनं क्ष्वेडः प्रतिवाचो विवर्तनम् ।
दन्तदर्शनमारावस्ततो युद्धं प्रवर्तते ॥२०॥
तत्र यो बलवान् कृष्ण जित्वा सोऽस्ति तदामिषम् ।
एवमेव मनुष्येषु विशेषो नास्ति कश्चन ॥२१॥

कुत्ते पहले पूँछ हिलाते हैं, फिर गुर्राते और गर्जते हैं। तदनन्तर एक-दूसरे के समीप पहुँचते हैं, फिर दाँत दिखाना और भौंकना शुरू करते हैं। तत्पश्चात् उनमें युद्ध होने लगता है। श्रीकृष्ण ! उनमें जो बलवान् होता है, वही उस मांस को खाता है, जिसके लिए उनमें लड़ाई हुई थी। यही अवस्था मनुष्यों की है। इनमें कोई विशेषता नहीं है।

बलवान् पुत्रस्नेहश्च धृतराष्ट्रस्य माधव ।
स पुत्रवशमापन्नः प्रणिपातं प्रहास्यति ॥२२॥

माधव ! धृतराष्ट्र में अपने पुत्र के प्रति प्रबल मोहासक्ति है। वे पुत्र के वश में होने के कारण कभी भी झुकना स्वीकार नहीं करेंगे।

तत्र किं मन्यसे कृष्ण प्राप्तकालमनन्तरम् ।
कथमर्थाच्च धर्माच्च न हीयेमहि माधव ॥२३॥

माधव ! श्रीकृष्ण ! ऐसे समय में आप क्या उचित समझते हैं ? हम कैसा व्यवहार करें, जिससे हमें अर्थ और धर्म से वञ्चित न होना पड़े ?

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मराजं जनार्दनः ।
उभयोरेव वामार्थे यास्यामि कुरुसंसदम् ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण ने उनसे कहा—"राजन् ! मैं दोनों पक्षों के कल्याण के लिए कौरवों की सभा में जाऊँगा।

शमं तत्र लभेयं चेद युष्मदर्थमहापयन् ।
पुण्यं मे सुमहद्राजंश्चरितं स्यान्महाफलम् ॥२५॥

"वहाँ जाकर आपके लाभ में किसी प्रकार की बाधा न पहुँचाते हुए यदि मैं दोनों पक्षों की सन्धि कराने में सफल हुआ तो मैं समझूँगा कि मेरे द्वारा यह महान् फलदायक तथा बड़ा पुण्यकार्य सम्पन्न हो गया।"

युधिष्ठिर उवाच

न ममैतन्मतं कृष्ण यत् त्वं यायाः कुरून् प्रति ।
सुयोधनः सूक्तमपि न करिष्यति ते वचः ॥२६॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! आप कौरवों के यहाँ जाएँ, मुझे यह उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि आपकी अच्छी बातों को भी दुर्योधन नहीं मानेगा।

प्रणीयेन्न हि नो द्रव्यं न देवत्वं कुतः सुखम् ।
न च सर्वामरैश्वर्यं तव द्रोहेण माधव ॥२७॥

माधव ! यदि दुर्योधन ने द्रोहवश आपके साथ कोई अनुचित व्यवहार किया तो धन, देवत्व, सुख तथा सम्पूर्ण देवताओं का ऐश्वर्य भी हमें प्रसन्न नहीं कर सकेगा।

कृष्ण उवाच

जानाम्येतां महाराज धार्तराष्ट्रस्य पापताम् ।
अवाच्यास्तु भविष्यामः सर्वलोके महीक्षिताम् ॥२८॥

श्रीकृष्ण बोले—हे महाराज ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन कितना पापाचारी है, यह मैं जानता हूँ तथापि वहाँ जाकर सन्धि के लिए प्रयत्न करने पर हम सब लोग सारे भूमण्डल के राजाओं की दृष्टि में निन्दा से बच जाएँगे ।

न चापि मम पर्याप्ताः सहिताः सर्वपार्थिवाः ।
क्रुद्धस्य संयुगे स्थातुं सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥२६॥

[मेरे तिरस्कार के भय से आप चिन्तित न हों, क्योंकि] जैसे क्रोध में भरे हुए सिंह के समक्ष दूसरे पशु नहीं ठहर सकते, उसी प्रकार मेरे क्रुद्ध होने पर संसार के सारे नरेश मिलकर भी युद्ध में मेरे सामने खड़े नहीं हो सकते ।

अथ चेत् ते प्रवर्तन्ते मयि किञ्चिदसाम्प्रतम् ।
निर्दहेयं कुरून् सर्वानिति मे धीयते मतिः ॥३०॥

यदि वे मेरे साथ थोड़ा-सा भी अनुचित व्यवहार करेंगे तो मैं उन समस्त कौरवों को जलाकर भस्म कर डालूंगा, यह मेरा निश्चित विचार है ।

न जातु गमनं पार्थ भवेत् तत्र निरर्थकम् ।
अर्थप्राप्तिः कदाचित् स्यादन्ततो वाप्यवाच्यता ॥३१॥

कुन्तीनन्दन ! मेरा वहाँ जाना कदापि निरर्थक नहीं होगा । सम्भव है, वहाँ अपने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि हो जाए और यदि काम न बना, तो भी हम निन्दा से तो बच ही जाएँगे ।

युधिष्ठिर उवाच

यत् तुभ्यं रोचते कृष्ण स्वस्ति प्राप्नुहि कौरवान् ।
कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामि पुनरागतम् ॥३२॥

युधिष्ठिर ने कहा—श्रीकृष्ण ! आपकी जैसी रुचि हो वही कीजिए । आपका मङ्गल हो । आप प्रसन्नतापूर्वक कौरवों के पास जाइए । आशा है, मैं पुनः आपको अपने कार्य में सफल होकर यहाँ सकुशल लौटा हुआ देखूंगा ।

अस्मान्वेत्थ परान्वेत्थ वेत्थार्थान्वेत्थ भाषितुम् ।
यद् यदस्मद्धितं कृष्ण तत् तद् वाच्यः सुयोधनः ॥३३॥

श्रीकृष्ण ! आप हमें जानते हैं, कौरवों को भी जानते हैं, हम दोनों के स्वार्थों से भी आप परिचित हैं तथा वार्तालाप कैसे करना चाहिए, यह भी आपको भली-भाँति ज्ञात है, अतः जिस-जिस बात से हमारा हित हो, वह सब आप दुर्योधन को बताएँ ।

यद् यद् धर्मेण संयुक्तमुपपद्येद्धितं वचः ।
तत् तत् केशव भाषेथाः सान्त्वं वा यदि वेतरत् ॥३४॥

हे केशव ! जो-जो बात धर्मसंगत, युक्तियुक्त और हितकर हो, वह सब कोमल हो या कठोर, आप अवश्य कहें ।

कृष्ण उवाच

संजयस्य श्रुतं वाक्यं भवतश्च श्रुतं मया ।
सर्वं जानाम्यभिप्रायं तेषां च भवतश्च यः ॥३५॥

श्रीकृष्ण बोले—राजन् ! मैंने संजय की और आपकी—दोनों की बातें सुनी हैं । कौरवों का क्या अभिप्राय है और आपका क्या विचार है, यह सब भी मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ ।

तव धर्माश्रिता बुद्धिस्तेषां वैराश्रया मतिः ।
यदयुद्धेन लभ्येत तत्ते बहुमतं भवेत् ॥३६॥

आपकी बुद्धि धर्म में स्थित है और उनकी बुद्धि ने शत्रुता का आश्रय ले रखा है । आप तो बिना युद्ध किये ही जो कुछ मिल जाए उसी को बहुत समझेंगे ।

न चैवं नैष्ठिकं कर्म क्षत्रियस्य विशाम्पते ।
आहुराश्रमिणः सर्वे न भैक्षं क्षत्रियश्चरेत् ॥३७॥

परन्तु महाराज ! भिक्षा माँगना क्षत्रिय का नैष्ठिक=स्वाभाविक कर्म नहीं है । सभी आश्रमों के श्रेष्ठपुरुषों का यह कथन है कि क्षत्रिय को भीख नहीं माँगनी चाहिए ।

जयो वधो वा संग्रामे धात्राऽऽदिष्टः सनातनः ।
स्वधर्मः क्षत्रियस्यैष कार्पण्यं न प्रशस्यते ॥३८॥

क्षत्रिय के लिए विधाता ने यही सनातन कर्तव्य बताया है कि वह संग्राम में विजय प्राप्त करे अथवा प्राण दे दे । यही उसका स्वधर्म है । दीनता अथवा कायरता क्षत्रिय के लिए प्रशंसा की वस्तु नहीं है ।

न हि कार्पण्यमास्थाय शक्या वृत्तिर्युधिष्ठिर ।
विक्रमस्व महाबाहो जहि शत्रून् परन्तप ॥३६॥

महाबाहो युधिष्ठिर ! दीनता का आश्रय लेने से

क्षात्रय की आजीविका नहीं चल सकती। शत्रु-संतापक ! अब पराक्रम प्रकट कीजिए तथा शत्रुओं को यमलोक पठाइए।

यावच्च मार्दवेनैतान् राजन्नुपचरिष्यसि।
तावदेते हरिष्यन्ति तव राज्यमरिन्दम ॥४०॥

शत्रुदमन राजन् ! जबतक आप इनके साथ नम्रता का व्यवहार करेंगे तबतक ये आपके राज्य का अपहरण करने की ही चेष्टा करेंगे।

वध्यः सर्प इवानार्यः सर्वलोकस्य दुर्मतिः।
जह्येनं त्वममित्रघ्न मा राजन् विचिकित्सया:॥४१॥

खोटी बुद्धिवाला दुराचारी दुर्योधन दुष्ट सर्प की भाँति सब लोगों के लिए वध्य है, अतः शत्रुनाशक महाराज ! आप दुविधा में न पड़ें, इस दुष्ट को अवश्य मार डालें।

अहं तु सर्वलोकस्य गत्वा छेत्स्यामि संशयम्।
येषामस्ति द्विधाभावो राजन् दुर्योधनं प्रति ॥४२॥

राजन् ! मैं कौरवों की सभा में जाकर दुर्योधन के सम्बन्ध में जिन लोगों के मन में दुविधा है—जो उसके अच्छे या बुरे होने का निर्णय नहीं कर सके हैं—उन सब लोगों के सन्देह को दूर कर दूंगा।

मध्ये राज्ञामहं तत्र प्रातिपौरुषिकान् गुणान्।
तव संकीर्तयिष्यामि ये च तस्य व्यतिक्रमाः ॥४३॥

मैं राजसभा में एकत्र हुए भूपालों की मण्डली में आपके सर्वसाधारण गुणों का वर्णन तथा दुर्योधन के दोषों एवं अपराधों का उद्घाटन करूँगा।

यात्वा चाहं कुरून् सर्वान् युष्मदर्थमहापयन्।
यतिष्ये प्रशमं कर्तुं लक्षयिष्ये च चेष्टितम् ॥४४॥

वहाँ जाकर मैं आपके कार्य की सिद्धि में तनिक भी त्रुटि न रखते हुए समस्त कौरवों से सन्धि-स्थापन के लिए प्रयत्न करूँगा तथा उनकी चेष्टाओं पर दृष्टि रखूंगा।

कौरवाणां प्रवृत्तिं च गत्वा युद्धाधिकारिकाम्।
निशम्य विनिर्वर्तिष्ये जयाय तव भारत ॥४५॥

हे भारत ! मैं वहाँ जाकर कौरवों की युद्ध-विषयक तैयारी की सारी बात जान-सुनकर आपकी विजय का मार्ग प्रशस्त करके पुनः यहाँ शीघ्र लौट आऊँगा।

सर्वथा युद्धमेवाहमाशंसामि परैः सह।
निमित्तानि हि सर्वाणि तथा प्रादुर्भवन्ति मे ॥४६॥

मुझे तो शत्रुओं के साथ सर्वथा युद्ध होने की ही सम्भावना दिखाई दे रही है, क्योंकि मेरे समक्ष सब ऐसे ही लक्षण प्रकट हो रहे हैं।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

भीमसेन और श्रीकृष्ण का वार्तालाप

भीम उवाच

यथा यथैव शान्तिः स्यात् कुरूणां मधुसूदन।
तथा तथैव भाषेथा मा स्म युद्धेन भीषयेः ॥१॥

भीमसेन बोले—मधुसूदन ! आप कौरवों के मध्य में वैसी ही बातें कहें जिनसे हम लोगों में शान्ति स्थापित हो सके, युद्ध की बात सुनाकर उन्हें भयभीत न कीजिएगा।

अमर्षी जातसंरम्भः श्रेयोद्वेषी महामनाः।
नोग्रं दुर्योधनो वाच्यः साम्नैवैनं समाचरेः ॥२॥

दुर्योधन असहनशील, क्रोध में भरा रहनेवाला, श्रेय का विरोधी तथा मन में बड़े-बड़े हौसले रखनेवाला है, अतः उसके प्रति कठोर बात न कहकर उसे सामनीति के द्वारा ही समझाने का प्रयत्न कीजिएगा।

प्रकृत्या पापसत्त्वश्च तुल्यचेतास्तु दस्युभिः।
ऐश्वर्यमदमत्तश्च कृतवैरश्च पाण्डवैः ॥३॥

दुर्योधन स्वभाव से ही पापात्मा है। उसके हृदय में डाकुओं के समान क्रूरता भरी हुई है। वह ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त है तथा पाण्डवों के साथ सदा वैर बाँधे रखता है।

अदीर्घदर्शी निष्ठूरी क्षेप्ता क्रूरपराक्रमः।
दीर्घमन्युरनेयश्च पापात्मा निकृतिप्रियः ॥४॥

वह अदूरदर्शी, कटु वचन बोलनेवाला, परनिन्दक; क्रूर-पराक्रमी, दीर्घकाल तक क्रोध को मन में संचित रखनेवाला, सन्मार्ग पर लाया जाने के अयोग्य,

पापात्मा और शठता से प्रेम करनेवाला है।

म्रियेतापि न भज्येत नैव जह्यात् स्वकं मतम् ।
तादृशेन शमः कृष्ण मन्ये परमदुष्करम् ॥५॥

श्रीकृष्ण ! वह मर जाएगा परन्तु झुकेगा नहीं। वह अपनी टेक कभी नहीं छोड़ेगा। मैं समझता हूँ, ऐसे दुराग्रही मनुष्य के साथ सन्धि स्थापित करना अत्यन्त कठिन कार्य है।

तस्मान्मृदु शनैर्ब्रूया धर्मार्थसहितं हितम् ।
कामानुबन्धबहुलं नोग्रमुग्रपराक्रम ॥६॥

प्रचण्ड पराक्रमी कृष्ण ! आप उससे जो कुछ भी कहें, कोमल एवं मधुरवाणी में धीरे-धीरे कहें। आपका कथन धर्म तथा अर्थ से युक्त और हितकर हो, उसमें उग्रता न आने पाए। साथ ही आपकी अधिकांश बातें उसकी रुचि के अनुकूल हों।

अपि दुर्योधनं कृष्ण सर्वे वयमधश्चराः ।
नीचैर्भूत्वानुयास्यामो मा स्म नो भरता नशन् ॥७॥

श्रीकृष्ण ! हम सब लोग भूमि पर पैदल चलकर, अत्यन्त नम्र होकर दुर्योधन का अनुसरण करते रहेंगे, परन्तु हमारे कारण भरतवंशियों का नाश न हो।

वाच्यः पितामहो वृद्धो ये च कृष्ण सभासदः ।
भ्रातॄणामस्तु सौभ्रात्रं धार्तराष्ट्रः प्रशाम्यताम् ॥८॥

श्रीकृष्ण ! आप वहाँ वृद्ध पितामह भीष्मजी तथा अन्य सभासदों से ऐसा करने के लिए ही कहें जिससे सब भाइयों में सौहार्द बना रहे तथा दुर्योधन भी शान्त हो जाए।

अहमेतद् ब्रवीम्येवं राजा चैव प्रशंसति ।
अर्जुनो नैव युद्धार्थी भूयसी हि दयार्जुने ॥९॥

मैं इस प्रकार शान्ति-स्थापना के लिए कह रहा हूँ। राजा युधिष्ठिर भी शान्ति के ही प्रशंसक हैं, अर्जुन भी युद्ध का इच्छुक नहीं है, क्योंकि वह अत्यन्त दयालु है।

वैशम्पायन उवाच

एतत् श्रुत्वा महाबाहुः केशवः प्रहसन्निव ।
अभूतपूर्वं भीमस्य मार्दवोपहितं वचः ॥१०॥
संतेजयंस्तदा वाग्भिर्मातरिश्वेव पावकम् ।
उवाच भीममासीनं कृपयाभिपरिप्लुतम् ॥११॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भीमसेन के मुख से ये अभूतपूर्व मृदुतापूर्ण वचन सुनकर महाबाहु श्रीकृष्ण हँसने-से लगे। फिर अपने पास बैठे हुए दया से द्रवित भीमसेन को अपने वचनों द्वारा उसी प्रकार उत्तेजित करते हुए बोले जैसे वायु अग्नि को उद्दीप्त कर रही हो।

कृष्ण उवाच

त्वमन्यदा भीमसेन युद्धमेव प्रशंससि ।
वधाभिनन्दिनः क्रूरान् धार्तराष्ट्रान् मिमर्दिषुः ॥१२॥

श्रीकृष्ण बोले—भैया भीम ! आज के सिवा और दिन तो तुम हिंसा से ही प्रसन्न होनेवाले क्रूर धृतराष्ट्रपुत्रों को मसल डालने की इच्छा मन में रखकर सदा युद्ध की ही प्रशंसा किया करते थे।

न च स्वपिषि जागर्षि न्युब्जः शेषे परन्तप ।
घोरामशान्तां रुषतीं सदा वाचं प्रभाषसे ॥१३॥

परन्तप ! [इन्हीं विचारों में मग्न रहने के कारण] तुम रात्रि में सोते भी नहीं थे, जागते ही रहते थे। कभी सोना ही पड़ा, तो औंधे-मुंह लेट जाते और सदा घोर, अशान्त तथा रोषभरी बातें ही तुम्हारे मुख से निकलती थीं।

हन्ताहं गदयाभ्येत्य दुर्योधनममर्षणम् ।
इति स्म मध्ये भ्रातॄणां सत्येनालभसे गदाम् ।
तस्य ते प्रशमे बुद्धिर्धीयतेऽद्य परन्तप ॥१४॥

तुम अपने भाइयों के बीच में सत्य की शपथ खाकर बार-बार गदा छूते हुए यह कहते थे—"मैं अमर्षशील दुर्योधन के पास जाकर अपनी गदा से उसके प्राण ले लूंगा।" परन्तप ! ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले तुम जैसे वीर की बुद्धि आज शान्ति-स्थापना में कैसे लग रही है ? [यह आश्चर्य की बात है !]

अहो युद्धाभिकाङ्क्षाणां युद्धकाल उपस्थिते ।
चेतांसि विप्रतीपानि यत् त्वां भीर्भीम विन्दति ॥१५॥

अहो ! युद्ध का अवसर उपस्थित होने पर पहले से युद्ध की अभिलाषा रखनेवाले लोगों के विचार भी इतने बदल जाते हैं कि वे विपरीत सोचने लगते हैं। भीमसेन ! प्रतीत होता है, तुम्हें भी युद्ध से भय होने लगा है।

अहो नाशंससे किञ्चित्पुंस्त्वं क्लीव इवात्मनि ।
कश्मलेनाभिपन्नोऽसि तेन ते विकृतं मनः ॥१६॥

अहो ! कायर और नपुंसक की भाँति इस समय तुम अपने में कुछ भी पुरुषार्थ नहीं मानते । तुम्हारे ऊपर मोह छा गया है, अतः तुम्हारी मानसिक अवस्था बिगड़ गई है ।

उद्वेपते ते हृदयं मनस्ते प्रतिसीदति ।
ऊरुस्तम्भगृहीतोऽसि तस्मात् प्रशममिच्छसि ॥१७॥

ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारा हृदय काँप रहा है, मन शिथिल होताजा रहाहै, तुम्हारी जांघें अकड़ गई हैं, अतः तुम शान्ति चाहते हो ।

अनित्यं किल मर्त्यस्य चित्तं पार्थ चलाचलम् ।
वातवेगप्रचलिता अष्ठीला शाल्मलेरिव ॥१८॥

हे पार्थ ! कहते हैं कि मनुष्य का चित्त सदा एक निश्चय पर अटल नहीं रहता । वह हवा के वेग से हिलती हुई सेमल के फल की गाँठ के समान डाँवा-डोल रहता है ।

इदं मे महदाश्चर्यं पर्वतस्येव सर्पणम् ।
यदीदृशं प्रभाषेथा भीमसेनासमं वचः ॥१९॥

भीमसेन ! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह तुम्हारे योग्य कदापि नहीं है । पर्वत के चलने के समान तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत यह शान्ति-प्रस्ताव मुझे महान् आश्चर्य में डाल रहा है ।

स दृष्ट्वा स्वानि कर्माणि कुले जन्म च भारत ।
उत्तिष्ठस्व विषादं मा कृथा वीर स्थिरो भव ॥२०॥

हे भारत ! तुम अपने कर्मों की ओर देखकर तथा जिस कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है, उसपर दृष्टिपात करके खड़े हो जाओ । वीर ! विषाद न करो, अपने क्षत्रियोचित कर्म पर डट जाओ ।

न चैतदनुरूपं ते यत् ते ग्लानिररिन्दम ।
यदोजसा न लभते क्षत्रियो न तदश्नुते ॥२१॥

शत्रुदमन ! तुम्हारे मन में जो ग्लानि उत्पन्न हुई है, वह तुम्हारे जैसे शूरवीर के योग्य कदापि नहीं है, क्योंकि क्षत्रिय जिसे अपने पराक्रम से प्राप्त नहीं करता उसे अपने उपभोग में नहीं लाता ।

भीमसेन उवाच

अन्यथा मां चिकीर्षन्तमन्यथा मन्यसेऽच्युत ।
तस्मादनभिरूपाभिर्वाग्भिर्मां त्वं समर्च्छसि ॥२२॥

भीमसेन बोले—हे अच्युत ! मैं करना तो कुछ और चाहता हूँ, परन्तु आप समझ कुछ और ही रहे हैं, अतः आप अनुचित वचनों द्वारा मुझपर आक्षेप कर रहे हैं ।

सर्वथानार्यकर्मैतत् प्रशंसा स्वयमात्मनः ।
अतिवादापविद्धस्तु वक्ष्यामि बलमात्मनः ॥२३॥

यद्यपि स्वयं अपनी प्रशंसा करना अनार्यों का काम है, तथापि आप द्वारा किये गये तिरस्कार से पीड़ित होकर मैं अपने बल का वर्णन करता हूँ ।

पश्येमे रोदसी कृष्ण ययोरासन्निमाः प्रजाः ।
अचले चाप्रतिष्ठे चाप्यनन्ते सर्वमातरौ ॥२४॥
यदीमे सहसा क्रुद्धे समेयातां शिले इव ।
अहमेते निगृह्णीयां बाहुभ्यां सचराचरे ॥२५॥

श्रीकृष्ण ! आप इस पृथिवी और द्युलोक पर दृष्टिपात करें । समस्त प्रजा इन्हीं के भीतर निवास करती है । ये दोनों सबके माता-पिता हैं । इन्हें अचल एवं अनन्त माना गया है । ये दूसरों के आधार होते हुए भी स्वयं आधारशून्य हैं । यदि ये दोनों लोक सहसा क्रुद्ध होकर दो शिलाओं की भाँति परस्पर टकराने लगें तो मैं चराचर प्राणियोंसहित इन्हें अपनी दोनों भुजाओं से रोक सकता हूँ ।

पश्यैतदन्तरं बाह्वोर्महापरिघयोरिव ।
य एतत् प्राप्य मुच्येत न तं पश्यामि पूरुषम् ॥२६॥

लोहे के विशाल परिघों की भाँति मेरी इन मोटी भुजाओं का मध्यभाग कैसा है, यह देख लीजिए । मुझे कोई ऐसा वीर पुरुष दिखाई नहीं देता जो इनके भीतर आकर फिर जीवित निकल जाए ।

यथामति ब्रवीम्येतद् विद्धि मामधिकं ततः ।
द्रष्टासि युधि सम्बाधे प्रवृत्ते वैशसेऽहनि ॥२७॥

मैं अपनी बुद्धि के अनुसार यहाँ जो कुछ कह रहा हूँ, आप मुझे उससे भी बढ़-चढ़कर समझें । जिस समय योद्धाओं से खचाखच भरे हुए युद्ध में भयानक मार-काट मचेगी, उस दिन मुझे देखिएगा ।

युद्धार्हान् क्षत्रियान् सर्वान् पाण्डवेष्वाततायिनः ।
अधः पादतलेनैतानधिष्ठास्यामि भूतले ॥२८॥

पाण्डवों के प्रति आततायी बने हुए इन समस्त

क्षत्रियों को, जो युद्ध के लिए उद्यत हुए हैं, मैं पृथिवी पर गिराकर पैरों तले रौंद डालूंगा।

न मे सीदन्ति मज्जानो न ममोद्वेपते मनः।
सर्वलोकादभिक्रुद्धान्न भयं विद्यते मम ।।२९।।
किं तु सौहृदमेवैतत् कृपया मधुसूदन।
सर्वांस्तितिक्षे संक्लेशान् मा स्म नो भरता नशन् ।।३०

मेरी मज्जा शिथिल नहीं हो रही है और न मेरा हृदय ही काँप रहा है। मधुसूदन! यदि सारा भूमण्डल क्रुद्ध होकर मुझपर आक्रमण करे तो भी उससे मुझे भय नहीं है। मैंने जो शान्ति का प्रस्ताव रखा है, यह तो केवल मेरा सौहार्द ही है। मैं दया-वश सारे क्लेश सहने को उद्यत हूँ और चाहता हूँ कि हमारे कारण भरतवंशियों का नाश न हो।

कृष्ण उवाच

भावं जिज्ञासमानोऽहं प्रणयादिदमब्रुवम्।
न चाक्षेपान्न पाण्डित्यान्न क्रोधान्न विवक्षया ।।३१।।

श्रीकृष्ण बोले—भीम! मैंने तुम्हारा मनोभाव जानने के लिए ही प्रेम से ये बातें की हैं। तुमपर आक्षेप करने, पाण्डित्य दिखाने, क्रोध प्रकट करने या व्याख्यान देने की इच्छा से कुछ नहीं कहा है।

वेदाहं तव माहात्म्यमुत ते वेद यद्बलम्।
उत ते वेद कर्माणि न त्वां परिभवाम्यहम् ।।३२।।

मैं तुम्हारे माहात्म्य को जानता हूँ। तुममें जो बल और पराक्रम है, उससे भी मैं परिचित हूँ। तुमने जो बड़े बड़े पराक्रम किये हैं, वे भी मुझसे छिपे नहीं हैं, अतः मैं तुम्हारा तिरस्कार नहीं करता।

अस्मिन् युद्धे भीमसेन त्वयि भारः समाहितः।
तस्मादाशङ्कमानोऽहं वृकोदर मतिं तव।
गदतः क्लीबया वाचा तेजस्ते समदीदिपम् ।।३३।।

भीमसेन! इस युद्ध में सारा भार तुम्हारे ऊपर ही रखा जाएगा। वृकोदर! इसलिए जब तुम कायरतापूर्ण वचनों द्वारा शान्ति का प्रस्ताव करने लगे, तब मुझे तुम्हारे युद्ध-विषयक विचार के बदल जाने का संदेह हुआ, जिसके कारण मैंने पूर्वोक्त बातें कहकर तुम्हारे तेज को उद्दीप्त किया है।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ।।१८।।

एकोनविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण का द्रौपदी को आश्वासन देना

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा धर्मार्थसहितं हितम्।
कृष्णा दाशार्हमासीनमब्रवीच्छोककर्शिता ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिर के धर्म और अर्थ से युक्त हितकर वचन सुनकर शोक से आतुर द्रौपदी वहाँ बैठे हुए दशार्ह-कुलभूषण श्रीकृष्ण से बोली।

कृष्णोवाच

अप्रदानेन राज्यस्य यदि कृष्ण सुयोधनः।
सन्धिमिच्छेन्न कर्तव्यं तत्र गत्वा कथञ्चन ।।२।।

कृष्णा बोली—हे कृष्ण! आपके वहाँ जाने पर यदि दुर्योधन राज्य दिये बिना ही सन्धि करना चाहे तो आप इसे किसी प्रकार स्वीकार न कीजिएगा।

न हि साम्ना न दानेन शक्योऽर्थस्तेषु कश्चन।
तस्मात् तेषु न कर्तव्या कृपा ते मधुसूदन ।।३।।

मधुसूदन! कौरवों के प्रति साम और दामनीति का प्रयोग करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, अतः आपको उनपर कभी कृपा नहीं करनी चाहिए।

साम्ना दानेन वा कृष्ण ये न शाम्यन्ति शत्रवः।
योक्तव्यस्तेषु दण्डः स्याज्जीवितं परिरक्षता ।।४।।

श्रीकृष्ण! अपने जीवन की रक्षा करनेवाले पुरुष को चाहिए कि जो शत्रु साम और दान से शान्त न हों, उनपर दण्ड का प्रयोग करे।

क्षत्रियेण हि हन्तव्यः क्षत्रियो लोभमास्थितः।
अक्षत्रियो वा दाशार्ह स्वधर्ममनुतिष्ठता ।।५।।

दशार्हनन्दन! अपने धर्म का पालन करनेवाले क्षत्रिय को चाहिए कि वह लोभ का आश्रय करने-वाले मनुष्य को भले ही वह क्षत्रिय हो या अक्षत्रिय, अवश्य मार डाले।

यथावध्ये भवेद् दोषो वध्यमाने जनार्दन।
स वध्यस्यावधे दृष्ट इति धर्मविदो विदुः ॥६॥

हे जनार्दन! जैसे अवध्य का वध करने पर महान् दोष लगता है, उसी प्रकार वध्य का वध न करने से भी दोष की प्राप्ति होती है—यह बात धर्मज्ञ पुरुष जानते हैं। [अतः आप ऐसा प्रयत्न कीजिए जिससे यह दोष आपको न छू सके]

पुनरुक्तं च वक्ष्यामि विश्रम्भेण जनार्दन।
का नु सीमन्तिनी मादृक् पृथिव्यामस्ति केशव ॥७॥

जनार्दन! आपपर अत्यन्त विश्वास होने के कारण मैं अपनी कही हुई बात को फिर दुहराती हूँ। केशव! इस पृथिवी पर मेरे समान हतभाग्य स्त्री कौन होगी?

जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चालेष्वथ वृष्णिषु।
दासीभूतास्मि पापानां सभामध्ये व्यवस्थिता ॥८॥

पाण्डवों, पाञ्चालों और यदुवंशियों के जीते-जी मैं पापी कौरवों की दासी बनी और उसी रूप में मुझे सभा में उपस्थित होना पड़ा।

नन्वहं कृष्ण भीष्मस्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः।
स्नुषा भवामि धर्मेण साहं दासीकृता बलात् ॥९॥

श्रीकृष्ण! मैं धर्मतः भीष्म और धृतराष्ट्र दोनों की पुत्रवधू हूँ, तो भी उनके सामने ही मुझे बलपूर्वक दासी बनाया गया।

धिक् पार्थस्य धनुष्मत्तां भीमसेनस्य धिग्बलम्।
यत्र दुर्योधनः कृष्ण मुहूर्तमपि जीवति ॥१०॥

कृष्ण! ऐसी अवस्था में यदि दुर्योधन एक मुहूर्त भी जीवित रहता है तो अर्जुन के धनुषधारण और भीमसेन के बल को धिक्कार है।

यदि तेऽहमनुग्राह्या यदि तेऽस्ति कृपा मयि।
धार्तराष्ट्रेषु वै कोपः सर्वः कृष्ण विधीयताम् ॥११॥

श्रीकृष्ण! यदि मैं आपकी अनुग्रहभाजन हूँ, यदि मुझपर आपकी कृपा है तो आप धृतराष्ट्र के पुत्रों पर पूर्णरूप से क्रोध कीजिए।

वैशम्पायन उवाच

केशपक्षं वरारोहा गृह्य वामेन पाणिना।
अश्रुपूर्णेक्षणा कृष्णा कृष्णं वचनमब्रवीत् ॥१२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—[ऐसा कहकर और] अपने केशों को बाएँ हाथ में लेकर अनिन्द्यसुन्दरी [सुन्दर अङ्गोंवाली] कृष्णा ने नेत्रों में आँसू भरकर श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहा—

कृष्णोवाच

अयं ते पुण्डरीकाक्ष दुःशासनकरोद्धृतः।
स्मर्तव्यः सर्वकार्येषु परेषां सन्धिमिच्छता ॥१३॥

द्रौपदी बोली—कमलनेत्र श्रीकृष्ण! शत्रु के साथ सन्धि करने की इच्छा से आप जो-जो कार्य या प्रयत्न करें, उन सबमें दुःशासन के हाथों से खेंचे हुए मेरे इन केशों को स्मरण रखें

यदि भीमार्जुनौ कृष्ण कृपणौ सन्धिकामुकौ।
पिता मे योत्स्यते वृद्धः सह पुत्रैर्महारथैः ॥१४॥

श्रीकृष्ण! यदि भीम और अर्जुन कायर होकर कौरवों के साथ सन्धि की कामना करने लगे हैं, तो मेरे वृद्ध पिताजी अपने महारथी पुत्रों के साथ शत्रुओं से युद्ध करेंगे।

पञ्च चैव महावीर्याः पुत्रा मे मधुसूदन।
अभिमन्युं पुरस्कृत्य योत्स्यन्ते कुरुभिः सह ॥१५॥

मधुसूदन! मेरे पाँच महापराक्रमी पुत्र भी वीर अभिमन्यु को प्रधान बनाकर कौरवों के साथ युद्ध करेंगे।

दुःशासनभुजं श्यामं संछिन्नं पांसुगुण्ठितम्।
यद्यहं तं न पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥१६॥

यदि मैं दुःशासन की साँवली भुजा को कटकर धूल में लोटती न देखूँ तो मेरे हृदय को कैसे शान्ति मिलेगी?

विदीर्यते मे हृदयं भीमवाक्शल्यपीडितम्।
योऽयमद्य महाबाहुर्धर्ममेवानुपश्यति ॥१७॥

आज भीमसेन के सन्धि के लिए कहे गये वचन मेरे हृदय में बाण के समान लगे हैं, जिनसे पीड़ित होकर मेरा कलेजा फटा जा रहा है। हा! ये महाबाहु आज [मेरे अपमान को भुलाकर] केवल धर्म का ही चिन्तन कर रहे हैं।

वैशम्पायन उवाच

तामुवाच महाबाहुः केशवः परिसान्त्वयन्।
अचिराद् द्रक्ष्यसे कृष्णे रुदतीर्भरतस्त्रियः ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब महाबाहु श्रीकृष्ण

ने द्रौपदी को सान्त्वना देते हुए कहा—"कृष्णे ! तुम शीघ्र ही भरतवंश की अन्य स्त्रियों को भी रुदन करते देखोगी।

एवं ता भीरु रोत्स्यन्ति निहतज्ञातिबान्धवाः।
हतमित्रा हतबला येषां क्रुद्धासि भामिनि ॥१९॥

"भामिनी ! जिनपर तुम क्रुद्ध हुई हो, उन विपक्षियों की स्त्रियाँ भी अपने कुटुम्बी, बन्धु-बान्धव, मित्रवृन्द तथा सेनाओं के मारे जाने पर इसी प्रकार रोएँगी।

अहं च तत् करिष्यामि भीमार्जुनयमैः सह।
युधिष्ठिरनियोगेन दैवाच्च विधिनिर्मितात् ॥२०॥

"युधिष्ठिर की आज्ञा तथा विधाता के रचे हुए अदृष्ट से प्रेरित हो भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव को साथ लेकर मैं वही करूँगा जो तुम्हें अभीष्ट है।

धार्तराष्ट्राः कालपक्वा न चेच्छृण्वन्ति मे वचः।
शेष्यन्ते निहताभूमौ श्वशृगालादनीकृताः ॥२१॥

"यदि काल के गाल में जानेवाले धृतराष्ट्रपुत्र मेरी बात नहीं सुनेंगे तो वे सब मारे जाकर पृथिवी पर सदा की नींद सो जाएँगे और कुत्तों तथा स्यारों के भोजन बनेंगे।

चलेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा भवेत्।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत् ॥२२॥

"चाहे हिमालयपर्वत अपने स्थान से टल जाए, पृथिवी के सैकड़ों खण्ड हो जाएँ और नक्षत्रोंसहित आकाश टूट पड़े, परन्तु मेरी यह बात असत्य नहीं हो सकती।

सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे बाष्पो निगृह्यताम्।
हतामित्रा्श्रिया युक्तम चिराद् द्रक्ष्यसे पतिम् ॥२३॥

"कृष्णे ! अपने आँसुओं को रोको। मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तुम शीघ्र ही देखोगी कि सारे शत्रु मार डाले गये और तुम्हारा पति युधिष्ठिर राज्यलक्ष्मी से सम्पन्न है।"

इति महाभारते उद्योगपर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशोऽध्याय।

श्रीकृष्ण का हस्तिनापुर पहुँचना, धृतराष्ट्र द्वारा उनका स्वागत तथा दुःशासन के महल में ठहराने का विचार

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यपेते तमसि सूर्ये विमलवद्गते।
कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे ॥१॥
आरुरोह रथं शौरिर्विमानमिव कामगम्।
ततः सात्यकिमारोप्य प्रययौ पुरुषोत्तमः ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् रात्रि के अन्धकार के दूर होने और निर्मल आकाश में सूर्य के उदित होने पर कार्तिक मास के रेवती नक्षत्र में जब शरदृतु का अन्त और हेमन्त का आरम्भ हो रहा था, श्रीकृष्ण इच्छा के अनुसार चलनेवाले और विमान के समान सुशोभित रथ में आरूढ़ हुए, फिर सात्यकि को भी उसी रथ पर बैठाकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने वहाँ से प्रस्थान किया।

वृकस्थलं समासाद्य केशवः परवीरहा।
प्रकीर्णरश्मावादित्ये व्योम्नि वै लोहितायति ॥३॥
अवतीर्य रथात् तूर्णं कृत्वा शौचं यथाविधि।
रथमोचनमादिश्य सन्ध्यामुपविवेश ह ॥४॥

शत्रुवीरों का संहार करनेवाले श्रीकृष्ण जब वृकस्थल में पहुँचे, उस समय सप्तरंगी किरणों से मण्डित सूर्य अस्त होने लगे तथा पश्चिम के आकाश में लाली छा गई। तब श्रीकृष्ण रथ से उतर पड़े। उन्होंने सारथि को घोड़ों को खोलने का आदेश दिया और वे स्वयं विधिपूर्वक शौच-स्नान करके सन्ध्योपासना करने लगे।

अभ्यतीत्य तु तत् सर्वमुवाच मधुसूदनः।
युधिष्ठिरस्य कार्यार्थमिह वत्स्यामहे क्षपाम् ॥५॥

सन्ध्यावन्दन आदि सारा कार्य समाप्त करके मधुसूदन श्रीकृष्ण ने कहा—"युधिष्ठिर का कार्य सिद्ध करने के लिए आज रात्रि में हम लोग यहीं निवास करेंगे।"

तस्य तन्मतमाज्ञाय चक्रुरावस्थं नराः ।
क्षणेन चान्नपानानि गुणवन्ति समार्जयन् ॥६॥

उनका यह विचार जानकर सेवकों ने वहीं डेरे डाल दिये। थोड़ी ही देर में उन्होंने खाने-पीने के उत्तमोत्तम रसीले एवं स्वादिष्ट पदार्थ भी प्रस्तुत कर दिये।

तस्मिन् ग्रामे प्रधानास्तु य आसन् ब्राह्मणा नृप ।
आर्याः कुलीना ह्रीमन्तो ब्राह्मीं वृत्तिमनुष्ठिताः ॥७॥
तेऽभिगम्य महात्मानं हृषीकेशमरिन्दमम् ।
पूजां चक्रुर्यथान्यायमाशीर्मङ्गलसंयुताम् ॥८॥

राजन् ! उस ग्राम में जो प्रमुख ब्राह्मण रहते थे, वे आर्य=श्रेष्ठ, कुलीन, लज्जाशील तथा ब्राह्मणोचित वृत्ति का पालन करनेवाले थे। उन्होंने शत्रुदमन महात्मा इन्द्रियविजेता श्रीकृष्ण के पास पहुँचकर आशीर्वाद तथा मंगलपाठपूर्वक उनका यथोचित पूजन, [सत्कार] किया।

सुमृष्टं भोजयित्वा च ब्राह्मणांस्तत्र केशवः ।
भुक्त्वा च सह तैः सर्वैरवसत् तां क्षपां सुखम् ॥९॥

श्रीकृष्ण ने उन ब्राह्मणों को वहीं सुस्वादु अन्न का भोजन कराया, फिर स्वयं भी भोजन करके, उन सबके साथ उस रात्रि में वहीं सुखपूर्वक निवास किया।

धृतराष्ट्र उवाच

उपप्लव्यादिह क्षत्तरुपायातो जनार्दनः ।
वृकस्थले निवसति स च प्रातरिहैष्यति ॥१०॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! मुझे सूचना मिली है कि श्रीकृष्ण ने उपप्लव्य से यहाँ के लिए प्रस्थान कर दिया है। आज वे वृकस्थल में ठहरे हैं तथा कल प्रातःकाल ही इस नगर में पहुँच जाएँगे।

तस्मै पूजां प्रयोक्ष्यामि दाशार्हाय महात्मने ।
प्रत्यक्षं तव धर्मज्ञ तां मे कथयतः शृणु ॥११॥

धर्मज्ञ विदुर ! मैं तुम्हारे समक्ष ही उन महात्मा श्रीकृष्ण को जो भेंट दूँगा, उसे बताता हूँ, सुनो।

एकवर्णैः सुक्लृप्ताङ्गैर्बाह्लिजातैर्हयोत्तमैः ।
चतुर्युक्तान् रथांस्तस्मै रौक्मान् दास्यामि षोडश ॥१२

एक रंग के, सुदृढ़ अङ्गोंवाले तथा बाह्लीक देश में उत्पन्न हुए उत्तम जाति के चार-चार घोड़ों से जुते हुए सोलह सुवर्णमय रथ मैं श्रीकृष्ण को भेंट करूँगा।

नित्यप्रभिन्नान् मातङ्गानीषादन्तान् प्रहारिणः ।
अष्टानुचरमेकैकमष्टौ दास्यामि कौरव ॥१३

कुरुनन्दन ! इन रथों के अतिरिक्त मैं उन्हें आठ मतवाले हाथी भी दूँगा, जिनके मस्तक से सदा मद चूता रहता है, जिनके दाँत ईषादण्ड के समान प्रतीत होते हैं। ये शत्रुओं पर आक्रमण करने में कुशल हैं तथा इनमें से प्रत्येक के साथ आठ-आठ सेवक हैं।

दिवा रात्रौ च भात्येष सुतेजा विमलो मणिः ।
तमप्यस्मै प्रदास्यामि तमर्हति हि केशवः ॥१४॥

मेरे पास एक अत्यन्त तेजस्वी निर्मल मणि है। यह दिन में तथा रात्रि में भी प्रकाशित होती है, इसे भी मैं श्रीकृष्ण को दूँगा, क्योंकि वे ही इसके योग्य हैं।

मम पुत्राश्च पौत्राश्च सर्वे दुर्योधनादृते ।
प्रत्युद्यास्यन्ति दाशार्हं रथैर्मृष्टैः स्वलंकृताः ॥१५॥

दुर्योधन के सिवा मेरे सभी पुत्र और पौत्र वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो स्वच्छ सुन्दर रथों पर बैठकर श्रीकृष्ण के स्वागत के लिए जाएँगे।

महाध्वजपताकाश्च क्रियन्तां सर्वतोदिशः ।
जलावसिक्तो विरजाः पन्थास्तस्येति चान्वशात् ॥१६

"नगर में चारों ओर विशाल ध्वजाएँ और पताकाएँ फहरा दी जाएँ तथा श्रीकृष्ण जिस मार्ग से आ रहे हों, उस राजपथ पर जल का छिड़काव करके उसे धूलरहित बना दिया जाए"—इस प्रकार राजा धृतराष्ट्र ने आदेश दिया।

दुःशासनस्य च गृहं दुर्योधनगृहाद् वरम् ।
तदद्य क्रियतां क्षिप्रं सुसम्मृष्टमलंकृतम् ॥१७॥

[इतना कहकर वे फिर बोले]—दुःशासन का महल दुर्योधन के राजभवन से भी सुन्दर है। उसी को आज स्वच्छ करके [श्रीकृष्ण के ठहरने के लिए] सब प्रकार से सुसज्जित कर दिया जाए।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशोऽध्यायः

विदुर का धृतराष्ट्र को श्रीकृष्ण की आज्ञापालन के लिए समझाना, दुर्योधन की कुमन्त्रणा, भीष्मजी का सभा से बहिर्गमन

विदुर उवाच

राजन् बहुमतश्चासि त्रैलोक्यस्यापि सत्तमः ।
सम्भावितश्च लोकस्य सम्मतश्चासि भारत ॥१॥

विदुर बोले—राजन् ! आप तीनों लोकों में श्रेष्ठतम पुरुष हैं, सर्वत्र आपका बहुत सम्मान है। भारत ! इस लोक में भी आपकी अति प्रतिष्ठा और सम्मान है।

लेखा शशिनि भाः सूर्ये महोर्मिरिव सागरे ।
धर्मस्त्वयि तथा राजन्निति व्यवसिताः प्रजाः ॥२॥

राजन् ! जैसे चन्द्रमा में कला है, सूर्य में प्रभा है तथा समुद्र में उत्ताल तरंगें हैं, वैसे ही आपमें धर्म की स्थिति है। यह बात समस्त प्रजा निश्चितरूप से जानती है।

सदैव भावितो लोको गुणौघैस्तव पार्थिव ।
गुणानां रक्षणे नित्यं प्रयतस्व सबान्धवः ॥३॥

नरेश ! आपके सद्गुण-समूह से सदा ही इस संसार की उन्नति एवं प्रतिष्ठा हो रही है, अतः आप अपने बन्धु-बान्धवोंसहित सदा ही इन सद्गुणों की रक्षा के लिए प्रयत्न कीजिए।

आर्जवं प्रतिपद्यस्व मा बाल्याद् बहुधा नशीः ।
राजन् पुत्रांश्च पौत्रांश्च सुहृदश्चैव सुप्रियान् ॥४॥

राजन् ! आप सरलता को अपनाइए। आप मूर्खतावश कुटिलता का आश्रय ले अपने अतिप्रिय पुत्रों-पौत्रों तथा सुहृदों का सर्वनाश मत कीजिए।

यत् त्वमिच्छसि कृष्णाय राजन्नतिथये बहु ।
एतदन्यच्च दाशार्हः पृथिवीमपि चार्हति ॥५॥

राजन् ! श्रीकृष्ण को अतिथिरूप में पाकर आप जो उन्हें बहुत-सी वस्तुएँ देना चाहते हैं, उन सबके साथ-साथ वे आपसे इस समस्त भू-मण्डल को भी पाने के अधिकारी हैं।

न तु त्वं धर्ममुद्दिश्य तस्य वा प्रियकारणात् ।
एतद् दित्ससि कृष्णाय छद्मैतद् भूरिदक्षिण ॥६॥

यज्ञों में प्रभूत दक्षिणा देनेवाले महाराज ! आप धर्मपालन के उद्देश्य से अथवा श्रीकृष्ण का प्रिय करने के लिए ये सब वस्तुएँ उन्हें नहीं देना चाहते। यह सब तो आपकी माया और प्रवञ्चनामात्र है।

पञ्च पञ्चैव लिप्सन्ति ग्रामकान् पाण्डवा नृप ।
न च दित्ससि तेभ्यस्तांस्तच्छमं न करिष्यसि ॥७॥

नरेश्वर ! बेचारे पाँचों भाई पाण्डव आपसे केवल पाँच गाँव ही पाना चाहते हैं, परन्तु आप उन्हें वे ग्राम भी नहीं देना चाहते। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आप [सन्धि द्वारा] शान्ति-स्थापन नहीं करेंगे।

अर्थेन तु महाबाहुं वार्ष्णेयं त्वं जिहीर्षसि ।
अनेन चाप्युपायेन पाण्डवेभ्यो बिभेत्स्यसि ॥८॥

आप तो धन देकर महाबाहु श्रीकृष्ण को अपने पक्ष में करना चाहते हैं तथा यह आशा रखते हैं कि इस उपाय से आप उन्हें पाण्डवों की ओर से फोड़ लेंगे।

न च वित्तेन शक्योऽसौ नोद्यमेन न गर्हया ।
अन्यो धनञ्जयात् कर्तुमेतत् तत्त्वं ब्रवीमि ते ॥९॥

परन्तु मैं आपको रहस्य की बात बताता हूँ—आप धन देकर, कोई दूसरा उद्योग करके अथवा निन्दा करके श्रीकृष्ण को अर्जुन से पृथक् नहीं कर सकते।

अन्यत् कुम्भादपां पूर्णादन्यत् पादावसेचनात् ।
अन्यत् कुशलसम्प्रश्नान्नैषिष्यति जनार्दनः ॥१०॥

श्रीकृष्ण आपके द्वारा प्रदत्त वस्तुओं में से जल से भरे हुए कलश, पैर धोने के लिए जल तथा कुशल-प्रश्न को छोड़कर अन्य किसी वस्तु को स्वीकार नहीं करेंगे।

आशंसमानः कल्याणं कुरूनभ्येति केशवः ।
येनैव राजन्नर्थेन तदेवास्मा उपाकुरु ॥११॥

महाराज ! श्रीकृष्ण दोनों पक्षों के कल्याण की इच्छा लेकर जिस उद्देश्य से इस कुरु देश में आ रहे हैं, वही उन्हें उपहार में दीजिए।

शममिच्छति दाशार्हस्तव दुर्योधनस्य च ।
पाण्डवानां च राजेन्द्र तदस्य वचनं कुरु ॥१२॥

राजेन्द्र ! दशार्हकुल-तिलक श्रीकृष्ण आप, दुर्योधन तथा पाण्डवों में सन्धि कराकर शान्ति स्थापित करना चाहते हैं, आप उनके आदेश का पालन कीजिए [इसी से वे सन्तुष्ट होंगे]।

पितासि राजन् पुत्रास्ते वृद्धस्त्वं शिशवः परे ।
वर्तस्व पितृवत् तेषु वर्तन्ते ते हि पुत्रवत् ॥१३॥

महाराज ! आप पिता हैं और पाण्डव आपके पुत्र हैं। आप वृद्ध हैं और वे बालक हैं। आप उनके साथ पिता के समान स्नेहपूर्ण बर्ताव कीजिए। वे आपके प्रति सदा ही पुत्रों की भाँति श्रद्धा-भक्ति रखते हैं।

दुर्योधन उवाच

यथाह विदुरः कृष्णे सर्वं तत् सत्यमच्युते ।
अनुरक्तो ह्यसंहार्यः पार्थान् प्रति जनार्दनः ॥१४॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! अपनी मर्यादा से कभी न डिगनेवाले श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में विदुरजी ने जो कुछ कहा है, वह सब ठीक है। जनार्दन श्रीकृष्ण का कुन्ती के पुत्रों के साथ अटूट सम्बन्ध है, अतः उन्हें उनकी ओर से फोड़ा नहीं जा सकता।

यत् तत् सत्कारसंयुक्तं देयं वसु जनार्दने ।
अनेकरूपं राजेन्द्र न तद् देयं कदाचन ॥१५॥

हे राजेन्द्र ! आप श्रीकृष्ण को सत्कारपूर्वक जो बहुत-सा धन-रत्न भेंट करना चाहते हैं, वह उन्हें कदापि न दें।

देशः कालस्तथायुक्तो न हि नार्हति केशवः ।
मंस्यत्यधोक्षजो राजन् भयादर्चति मामिति ॥१६॥

मैं यह बात इसलिए नहीं कहता कि श्रीकृष्ण उन वस्तुओं के अधिकारी नहीं हैं अपितु इस दृष्टि से मना कर रहा हूँ कि वर्तमान देश-काल और परिस्थिति ऐसी नहीं है कि उनका विशेष आदर किया जाए। राजन् ! इस समय उनका सत्कार करने से तो वे यही समझेंगे कि ये डर के कारण मेरी पूजा कर रहे हैं।

इदं तु सुमहत्कार्यं शृणु मे यत् समर्थितम् ।
परायणं पाण्डवानां नियच्छामि जनार्दनम् ॥१७॥

इस समय मैंने जो महान् कार्य करने का निश्चय किया है, आप उसे सुनिए। मैं पाण्डवों के सबसे बड़े सहारे श्रीकृष्ण को यहाँ आने पर बन्दी बना लूँगा।

तस्मिन् बद्धे भविष्यन्ति वृष्णयः पृथिवी तथा ।
पाण्डवाश्च विधेया मे स च प्रातरिहैष्यति ॥१८॥

उनके बन्दी हो जाने पर समस्त यदुवंशी, इस भू-मण्डल का राज्य एवं पाण्डव भी मेरी आज्ञा के अधीन हो जाएँगे। श्रीकृष्ण कल प्रातः ही यहाँ पहुँच रहे हैं।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रोऽब्रवीद् वचः ।
मैवं ब्रूहि प्रजापाल नैष धर्मः सनातनः ॥१९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उसकी यह बात सुनकर धृतराष्ट्र बोले—"प्रजापालक दुर्योधन ! तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए, यह सनातन धर्म नहीं है।

दूतश्च हि हृषीकेशः सम्बन्धी च प्रियश्च नः ।
अपापः कौरवेयेषु स कथं बन्धमर्हति ॥२०॥

"श्रीकृष्ण इस समय दूत बनकर आ रहे हैं। वे हमारे प्रिय तथा सम्बन्धी भी हैं और उन्होंने कौरवों का कोई अपराध भी नहीं किया है। ऐसी अवस्था में वे बन्दी बनाने योग्य कैसे हो सकते हैं ?"

भीष्म उवाच

परीतस्तव पुत्रोऽयं धृतराष्ट्र सुमन्दधीः ।
वृणोत्यनर्थं नैवार्थं याच्यमानः सुहृज्जनैः ॥२१॥

भीष्मजी ने कहा—धृतराष्ट्र ! तुम्हारा यह मन्दबुद्धिपुत्र काल के वश में हो गया है। यह अपने हितैषी सुहृदों के समझाने पर भी अनर्थ को ही अपना रहा है, अर्थ को नहीं।

पापस्यास्य नृशंसस्य त्यक्तधर्मस्य दुर्मतेः ।
नोत्सहेऽनर्थसंयुक्ताः श्रोतुं वाचः कथञ्चन ॥२२॥

इसने धर्म का सर्वथा त्याग कर दिया है। अब मैं इस मूर्ख, पापी एवं क्रूर दुर्योधन की अनर्थभरी बातें किसी प्रकार भी नहीं सुनना चाहता।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा भरतश्रेष्ठो वृद्धः परममन्युमान् ।
उत्थाय तस्मात् प्रातिष्ठद् भीष्मः सत्यपराक्रमः ॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर भरतश्रेष्ठ, सत्यपराक्रमी वृद्ध पितामह भीष्म अत्यन्त क्रुद्ध हो उस सभाभवन से उठकर चले गये।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण का स्वागत, धृतराष्ट्र और विदुर के घरों पर उनका आतिथ्य, कृष्ण द्वारा कुन्ती को समाश्वासन

वैशम्पायन उवाच

प्रातरुत्थाय कृष्णस्तु कृतवान् सर्वमाह्निकम् ।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः प्रययौ नगरं प्रति ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! [उधर वृक-स्थल में] प्रातः उठकर श्रीकृष्ण ने सन्ध्या आदि नित्यकर्म पूर्ण किये। फिर ब्राह्मणों की आज्ञा ले, वे हस्तिनापुर की ओर चले।

धार्तराष्ट्रास्तमायान्तं प्रत्युज्जग्मुः स्वलंकृताः ।
दुर्योधनादृते सर्वे भीष्मद्रोणकृपादयः ॥२॥

दुर्योधन के सिवा धृतराष्ट्र के सभी पुत्र तथा भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि यथायोग्य वस्त्राभूषणों से विभूषित हो हस्तिनापुर की ओर आते हुए श्रीकृष्ण के स्वागत के लिए गये।

न च कश्चिद् गृहे राजँस्तदाऽऽसीद् भरतर्षभ ।
न स्त्री न वृद्धो न शिशुर्वासुदेवदिदृक्षया ॥३॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय श्रीकृष्ण के दर्शन की तीव्र इच्छा के कारण स्त्री, बालक तथा वृद्ध कोई भी घर में नहीं ठहर सका [सभी श्रीकृष्ण के स्वागत के लिए उमड़ पड़े]।

स वै पथि समागम्य भीष्मेणाक्लिष्टकर्मणा ।
द्रोणेन धार्तराष्ट्रैश्च तैर्वृतो नगरं ययौ ॥४॥

अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले भीष्म तथा द्रोणाचार्य से मार्ग में ही मिलकर, धृतराष्ट्रपुत्रों से घिरे हुए श्रीकृष्ण ने नगर में प्रवेश किया।

कृष्णसम्माननार्थं च नगरं समलंकृतम् ।
बभूव राजमार्गश्च बहुरत्नसमाचितः ॥५॥

श्रीकृष्ण के स्वागत-सम्मानार्थ हस्तिनापुर को खूब सजाया गया था। वहाँ का राजमार्ग भी अनेक प्रकार के रत्नों से सुशोभित किया गया था।

स गृहं धृतराष्ट्रस्य प्राविशच्छत्रुकर्शनः ।
पाण्डुरं पुण्डरीकाक्षः प्रासादैरुपशोभितम् ॥६॥

शत्रुओं को क्षीण करनेवाले कमलनेत्र श्रीकृष्ण ने राजा धृतराष्ट्र के अट्टालिकाओं से सुशोभित उज्ज्वल भवन में प्रवेश किया।

तत्रासीदूर्जितं मृष्टं काञ्चनं महदासनम् ।
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य तत्रोपाविशदच्युतः ॥७॥

वहाँ एक स्वच्छ और जगमगाता हुआ सुवर्ण का विशाल सिंहासन रखा हुआ था। धृतराष्ट्र की आज्ञा से श्रीकृष्ण उसी पर आसीन हुए।

कृतातिथ्यस्तु गोविन्दः सर्वान् परिहसन् कुरून् ।
आस्ते साम्बन्धिकं कुर्वन् कुरुभिः परिवारितः ॥८॥

उनका आतिथ्य ग्रहण करके श्रीकृष्ण हँसते हुए कौरवों के साथ बैठ गये तथा सबसे अपने सम्बन्ध के अनुसार यथायोग्य व्यवहार करते हुए उनसे घिरे हुए कुछ समय तक बैठे रहे।

सोऽर्चितो धृतराष्ट्रेण पूजितश्च महायशाः ।
राजानं समनुज्ञाप्य निराक्रामदरिन्दम ॥९॥

धृतराष्ट्र से पूजित एवं सत्कृत हो महायशस्वी शत्रुदमन श्रीकृष्ण उनकी अनुमति ले उस राजभवन से बाहर निकले।

तैः समेत्य यथान्यायं कुरुभिः कुरुसंसदि ।
विदुरावसथं रम्यमुपातिष्ठत माधवः ॥१०॥

तत्पश्चात् कौरवसभा में यथायोग्य सबसे मिल-जुलकर यदुवंशी श्रीकृष्ण ने विदुरजी के रमणीय गृह में पदार्पण किया।

विदुरः सर्वकल्याणैरभिगम्य जनार्दनम् ।
अर्चयामास दाशार्हं सर्वकामैरुपस्थितम् ॥११॥

विदुरजी ने अपने घर पर पधारे हुए दशार्हनन्दन श्रीकृष्ण के पास जाकर समस्त मनोवाञ्छित भोगों तथा सम्पूर्ण मांगलिक वस्तुओं द्वारा उनका आदर-सत्कार और आतिथ्य किया।

कृतातिथ्यं तु गोविन्दं विदुरः सर्वधर्मवित् ।
कुशलं पाण्डुपुत्राणामपृच्छन्मधुसूदनम् ॥१२॥

मधुसूदन श्रीकृष्ण जब उनका आतिथ्य ग्रहण कर चुके तब सब धर्मों के ज्ञाता विदुरजी ने उनसे

पाण्डवों का कुशल-समाचार पूछा ।

तस्य सर्वं सविस्तारं पाण्डवानां विचेष्टितम् ।
क्षत्तुराचष्ट दाशार्हः सर्वं प्रत्यक्षदर्शिवान् ॥१३॥

सब-कुछ प्रत्यक्ष देखनेवाले श्रीकृष्ण ने विदुरजी से पाण्डवों की सारी चेष्टाएँ विस्तारपूर्वक कह सुनाईं ।

अथोपगम्य विदुरमपराह्णे जनार्दनः ।
पितृष्वसारं गोविन्दः सोऽभ्यगच्छदरिन्दमः ॥१४॥

जनमेजय ! शत्रुदमन श्रीकृष्ण विदुरजी से मिलने के पश्चात् तीसरे प्रहर में अपनी बुआ कुन्तीदेवी के पास गये ।

सा दृष्ट्वा कृष्णमायान्तं प्रसन्नादित्यवर्चसम् ।
कण्ठे गृहीत्वा प्राक्रोशत् स्मरन्ती तनयान् पृथा ॥१५॥

निर्मल सूर्य के समान तेजस्वी श्रीकृष्ण को आते देख कुन्तीदेवी उनके गले लग गईं तथा अपने पुत्रों को स्मरण कर वे फूट-फूटकर रोने लगीं ।

कुन्त्युवाच

न मां माधव वैधव्यं नार्थनाशो न वैरता ।
तथा दहति शोकाय यथा पुत्रैर्विनाभवः ॥१६॥

कुन्ती ने कहा—माधव ! वैधव्य, धन का नाश और कुटुम्बीजनों के साथ बढ़ा हुआ वैरभाव—इन सबसे मुझे उतना शोक नहीं होता, जितना कि पुत्रों का विछोह मुझे शोकदग्ध कर रहा है ।

न दुःखं राज्यहरणं न च द्यूते पराजयः ।
प्रव्राजनं तु पुत्राणां न मे तद् दुःखकारणम् ॥१७॥
यत् तु सा बृहती श्यामा एकवस्त्रा सभां गता ।
अशृणोत् परुषा वाचः किं नु दुःखतरं ततः ॥१८॥

राज्य का छिन जाना, जुए में हार जाना तथा मेरे पुत्रों को वन में भेज देना—इन सबसे मुझे दुःख नहीं हुआ, परन्तु मेरी श्रेष्ठ सुन्दरी वधू को एक वस्त्र धारण किये जो सभा में जाना पड़ा तथा दुष्टों के कठोर वचन सुनने पड़े, इससे बढ़कर महान् दुःख की बात और क्या हो सकती है !

वासुदेव उवाच

का तु सीमन्तिनी त्वादृक् लोकेष्वस्ति पितृष्वसः ।
शूरस्य राज्ञो दुहिता आजमीढकुलं गता ॥१९॥

श्रीकृष्ण बोले—बुआ ! संसार में तुम-जैसी सौभाग्यशालिनी नारी दूसरी कौन है ? तुम राजा शूरसेन की पुत्री हो तथा महाराज अजमीढ के कुल में व्याहकर आई हो ।

वीरसूर्वीरपत्नी त्वं सर्वैः समुदिता गुणैः ।
सुखदुःखे महाप्राज्ञे त्वादृशी सोढुमर्हति ॥२०॥

तुम वीर पत्नी, वीर जननी तथा समस्त गुणों से सुभूषित हो । महाप्राज्ञे ! तुम्हारी-जैसी विवेकशील स्त्री को सुख और दुःख चुपचाप सहने चाहिएँ ।

निद्रातन्द्रे क्रोधहर्षौ क्षुत्पिपासे हिमातपौ ।
एतानि पार्था निर्जित्य नित्यं वीरसुखे रताः ॥२१॥

तुम्हारे सभी पुत्र निद्रा-तन्द्रा—आलस्य, क्रोध-हर्ष, भूख-प्यास, सरदी-गरमी—इन सबको जीतकर सदा वीरोचित सुख का उपभोग कर रहे हैं ।

त्वामभिवादयन्ति ते पाण्डवाः सह कृष्णया ।
आत्मानं च कुशलिनं निवेद्याहुरनामयम् ॥२२॥

बुआ ! द्रौपदीसहित पाँचों पाण्डवों ने आपको प्रणाम कहलाया है तथा अपने को सकुशल बताकर अपनी स्वस्थता की भी सूचना दी है ।

अरोगान् सर्वसिद्धार्थान् क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पाण्डवान् ।
ईश्वरान् सर्वलोकस्य हतामित्राञ्छ्रिया वृतान् ॥२३॥

तुम शीघ्र ही देखोगी कि पाण्डव नीरोग अवस्था में तुम्हारे सामने उपस्थित हैं, उनके सभी मनोरथ सिद्ध हो गये हैं और वे अपने शत्रुओं को मौत के घाट उतारकर साम्राज्य-लक्ष्मी से युक्त हो भू-मण्डल के शासक-पद पर प्रतिष्ठित हैं ।

कुन्त्युवाच

यद् यत् तेषां महाबाहो पथ्यं स्यान्मधुसूदन ।
यथा यथा त्वं मन्येथाः कुर्याः कृष्ण तथा तथा ॥२४॥

कुन्ती बोली—महाबाहु मधुसूदन कृष्ण ! जो पाण्डवों के लिए हितकर हो तथा जैसे-जैसे कार्य करना तुम्हें उचित जान पड़े, वैसे-वैसे करो ।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण का दुर्योधन के निमन्त्रण को अस्वीकार करके विदुरजी के गृह पर भोजन करना, विदुरजी का कौरवसभा में जाने का अनौचित्य और कृष्ण द्वारा औचित्य प्रतिपादन करना

वैशम्पायन उवाच

पृथामामन्त्र्य गोविन्दः कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ।
दुर्योधनगृहं शौरिरभ्यगच्छदरिन्दमः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शत्रुओं का दमन करनेवाले शूरनन्दन श्रीकृष्ण कुन्ती की परिक्रमा करके तथा उनकी आज्ञा लेकर दुर्योधन के घर गये ।

समेत्य धार्तराष्ट्रेण सहामात्येन केशवः ।
राजभिस्तत्र वार्ष्णेयः समागच्छद् यथावयः ॥२॥

मन्त्रियोंसहित दुर्योधन से मिलकर वृष्णिकुल-तिलक केशव अवस्था के अनुसार वहाँ सभी राजाओं से यथायोग्य मिले ।

तत्र जाम्बूनदमयं पर्यङ्कं सुपरिष्कृतम् ।
विविधास्तरणास्तीर्णमभ्युपाविशदच्युतः ॥३॥

उस राजभवन में सुन्दर रत्नों से विभूषित एक सुवर्णमय पर्यङ्क रखा हुआ था, जिसपर अनेक प्रकार के बिछौने बिछे हुए थे । श्रीकृष्ण उसी पर बैठे ।

ततो दुर्योधनो राजा वार्ष्णेयं जयतां वरम् ।
न्यमन्त्रयद् भोजनेन नाभ्यनन्दच्च केशवः ॥४॥

तत्पश्चात् राजा दुर्योधन ने विजयी वीरों में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण को भोजन के लिए निमन्त्रित किया परन्तु श्रीकृष्ण ने वह निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया ।

दुर्योधन उवाच

कस्मादन्नानि पानानि वासांसि शयनानि च ।
त्वदर्थमुपनीतानि नाग्रहीस्त्वं जनार्दन ॥५॥

दुर्योधन बोला—जनार्दन ! आपके लिए अन्न, जल, वस्त्र तथा शैया आदि जो वस्तुएँ प्रस्तुत की गई हैं, आपने उन्हें ग्रहण क्यों नहीं किया ?

कृष्ण उवाच

कृतार्था भुञ्जते दूताः पूजां गृह्णन्ति चैव हि ।
कृतार्थं मां सहामात्यं समर्चिष्यसि भारत ॥६॥

कृष्णजी ने कहा—हे भारत ! दूत अपना प्रयोजन सिद्ध होने पर ही भोजन और सम्मान स्वीकार करते हैं । तुम भी मेरा उद्देश्य सिद्ध हो जाने पर ही मेरा और मेरे मन्त्रियों का सत्कार करना ।

दुर्योधन उवाच

न युक्तं भवतास्मासु प्रतिपत्तुमसाम्प्रतम् ।
यतामहे पूजयितुं दाशार्ह न च शक्नुमः ॥७॥

दुर्योधन बोला—हे दशार्हनन्दन ! आपको हम लोगों के साथ ऐसा अनुचित बर्ताव नहीं करना चाहिए । हम लोग तो आपका सम्मान करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु इसमें हमें सफलता नहीं मिल रही है ।

न च तत्कारणं विद्मो यस्मिन्नो मधुसूदन ।
पूजां कृतां प्रीयमाणैर्नामंस्थाः पुरुषोत्तम ॥८॥

मधुदैत्य के नाशक पुरुषोत्तम ! हमें ऐसा कोई कारण नहीं जान पड़ता, जिससे आप हमारी प्रेम-पूर्वक समर्पित पूजा ग्रहण न कर सकें ?

वैरं नो नास्ति भवता गोविन्द न च विग्रहः ।
स भवान् प्रसमीक्ष्यैतन्नेदृशं वक्तुमर्हति ॥९॥

गोविन्द ! आपके साथ हम लोगों का न तो कोई वैर है और न झगड़ा ही है । इन सब बातों का विचार करके आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए ।

कृष्ण उवाच

नाहं कामान्न संरम्भान्न द्वेषान्नार्थकारणात् ।
न हेतुवादाल्लोभाद् वा धर्मं जह्यां कथञ्चन ॥१०॥

श्रीकृष्ण ने कहा—हे राजन् ! मैं काम से, क्रोध से, द्वेष से, स्वार्थवश, वहानेबाजी अथवा लोभ से—इन किन्हीं भी प्रकारों से धर्म का त्याग नहीं कर सकता ।

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः ।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम् ॥११॥

किसी के घर का अन्न या तो प्रेम के कारण खाया जाता है अथवा आपत्ति में पड़ने पर । राजन् !

प्रेम तो तुममें है नहीं और किसी आपत्ति में हम नहीं पड़े हैं।[1]

अकस्माद् द्वेष्टि वै राजन् जन्मप्रभृति पाण्डवान्।
प्रियानुवर्तिनो भ्रातॄन् सर्वैः समुदितान् गुणैः ॥१२॥

राजन्! पाण्डव तुम्हारे भाई ही हैं। वे अपने प्रेमियों का साथ देनेवाले तथा समस्त सद्गुणों से विभूषित हैं, फिर भी तुम जन्म से ही उनके साथ अकारण ही द्वेष रखते हो।

अकस्माच्चैव पार्थानां द्वेषणं नोपपद्यते।
पाण्डवा हि स्थिता धर्मे कस्तान् किं वक्तुमर्हति ॥१३॥

अकारण ही कुन्तीपुत्रों के साथ द्वेष रखना तुम्हारे लिए सर्वथा अनुचित है। पाण्डव सदा अपने धर्म में स्थित रहते हैं, अतः उनके विरुद्ध कौन क्या कह सकता है?

यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु।
ऐकात्म्यं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ॥१४॥

जो पाण्डवों से द्वेष करता है, वह मुझसे भी द्वेष करता है; जो उनके अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है। तुम मुझे धर्मात्मा पाण्डवों के साथ एकरूप हुआ ही समझो।

द्विषदन्नं न भोक्तव्यं द्विषन्तं नैव भोजयेत्।□
पाण्डवान् द्विषसे राजन् मम प्राणा हि पाण्डवाः ॥१५॥

जो द्वेष रखता है उसका अन्न नहीं खाना चाहिए और द्वेष रखनेवाले को खिलाना भी नहीं चाहिए। राजन्! तुम पाण्डवों से द्वेष रखते हो और पाण्डव मेरे प्राण हैं।

सर्वमेतन्न भोक्तव्यमन्नं दुष्टाभिसंहितम्।
क्षत्तुरेकस्य भोक्तव्यमिति मे धीयते मतिः ॥१६॥

तुम्हारा यह सारा अन्न दुर्भावना से दूषित है, अतः मेरे खाने के योग्य नहीं है। मेरे लिए तो यहाँ केवल विदुर का ही अन्न खाने योग्य है, यह मेरी दृढ़ धारणा है।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाबाहुर्दुर्योधनममर्षणम्।
निर्याय च ययौ वेश्म विदुरस्य महात्मनः ॥१७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अमर्षशील [क्रोधी] दुर्योधन से ऐसा कहकर महाबाहु श्रीकृष्ण उसके भवन से निकलकर [ठहरने के लिए] महात्मा विदुर के भवन में चले गये।

ततः क्षत्तान्नपानानि शुचीनि गुणवन्ति च।
उपाहरदनेकानि केशवाय महात्मने ॥१८॥

वहाँ पधारने पर विदुरजी ने अनेक प्रकार के पवित्र तथा गुणकारक अन्न-पान महात्मा केशव को अर्पित किये।

तं भुक्तवन्तमाश्वस्तं निशायां विदुरोऽब्रवीत्।
नेदं सम्यग् व्यवसितं केशवागमनं तव ॥१९॥

रात्रि में जब श्रीकृष्ण भोजन करके विश्राम कर रहे थे तब विदुरजी ने उनसे कहा—"केशव! आपने जो यहाँ आने का विचार किया, मेरे सम्मति में यह ठीक नहीं हुआ।

अर्थधर्मातिगो मन्दः संरम्भी च जनार्दन।
मानघ्नो मानकामश्च वृद्धानां शासनातिगः ॥२०॥

"जनार्दन! मन्दमति दुर्योधन धर्म और अर्थ दोनों का उल्लंघन कर चुका है। वह क्रोधी, दूसरों के सम्मान को नष्ट करनेवाला तथा स्वयं सम्मान चाहनेवाला है। उसने वृद्ध गुरुजनों का आदेश भी ठुकरा दिया है।

एकः कर्णः पराञ्जेतुं समर्थ इति निश्चितम्।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः स शमं नोपयास्यति ॥२१॥

"दुर्बुद्धि दुर्योधन को इस बात का दृढ़ विश्वास है कि अकेला कर्ण ही शत्रुओं को जीतने में समर्थ है, अतः वह सन्धि कदापि नहीं करेगा।

यत्र सूक्तं दुरुक्तं च समं स्यान्मधुसूदन।
न तत्र प्रलपेत् प्राज्ञो बधिरेष्विव गायनः ॥२२॥

"मधुसूदन! जहाँ अच्छी और बुरी बातों का

---

१. श्रीकृष्ण का यह उत्तर वेद की मर्यादा के अनुकूल है। वेद में कहा है—

न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोन्नमश्नीयात्।
—अथर्व० ६।१।२४

मनुष्य को चाहिए कि वह अन्न की निन्दा करते हुए भोजन न करे और द्वेष रखनेवाले दाता का अन्न भी न खाए।

एक-सा ही परिणाम हो वहाँ बुद्धिमान् को कुछ न कहना चाहिए, क्योंकि वहाँ कुछ कहना बहरों के आगे गाने के समान व्यर्थ ही है।

सोऽयं बलस्थो मूढश्च न करिष्यति ते वचः।
तस्मिन्निरर्थकं वाक्यमुक्तं सम्पत्स्यते तव ॥२३॥

"मूढ़ दुर्योधन सेना एकत्र करके अपने को शक्तिशाली समझता है। वह आपकी बात नहीं मानेगा। उसके प्रति कहा हुआ आपका प्रत्येक वाक्य निरर्थक होगा।

तेषां समुपविष्टानां सर्वेषां पापचेतसाम्।
तव मध्यावतरणं मम कृष्ण न रोचते ॥२४॥
दुर्बुद्धीनामशिष्टानां बहूनां दुष्टचेतसाम्।
प्रतीपं वचनं मध्ये तव कृष्ण न रोचते ॥२५॥

"श्रीकृष्ण! वे सभी पापपूर्ण विचार लेकर बैठे हुए हैं, अतः आपका उनके मध्य में जाना मुझे अच्छा प्रतीत नहीं होता। वे सब-के-सब दुर्बुद्धि, अशिष्ट और दुष्टचित्त हैं। उनकी संख्या भी अधिक है। श्रीकृष्ण! आप उनके बीच में जाकर कोई प्रतिकूल बात कहें यह मुझे उचित नहीं जान पड़ता।

अनुपासितवृद्धत्वाच्छ्रियो दर्पाच्च मोहितः।
वयोदर्पादमर्षाच्च न ते श्रेयो ग्रहीष्यति ॥२६॥

"दुर्योधन ने कभी वृद्ध पुरुषों का सेवन नहीं किया है। वह राजलक्ष्मी के मद में चूर है। उसे अपनी युवावस्था पर गर्व है और वह पाण्डवों के प्रति सदा अमर्ष में भरा रहता है, अतः आपकी हितकर बात भी वह नहीं मानेगा।

सर्वथा त्वं महाबाहो देवैरपि दुरुत्सहः।
प्रभावं पौरुषं बुद्धिं जानामि तव शत्रुहन् ॥२७॥
या मे प्रीतिः पाण्डवेषु भूयः सा त्वयि माधव।
प्रेम्णा च बहुमानाच्च सौहृदाच्च ब्रवीम्यहम् ॥२८॥

"शत्रुहन्ता महाबाहु श्रीकृष्ण! यद्यपि सम्पूर्ण देवता भी आपके सामने नहीं टिक सकते तथा आपका जो प्रभाव, पुरुषार्थ और बुद्धिबल है, उसे भी मैं जानता हूँ, तथापि माधव! पाण्डवों पर मेरा जो प्रेम है, वही और उससे भी बढ़कर आपके प्रति है। अतः प्रेम, अत्यधिक आदर और सौहार्द से प्रेरित होकर ही मैं यह बात कह रहा हूँ।"

कृष्ण उवाच

सत्यं प्राप्तं च युक्तं वाप्येवमेव यथाऽऽत्थ माम्।
शृणुष्वागमने हेतुं विदुरावहितो भव ॥२९॥

श्रीकृष्ण बोले—विदुरजी! आपने मुझसे जो कुछ कहा है, वही सत्य, समयानुकूल और युक्तिसंगत है, फिर भी मेरे यहाँ आने का जो कारण है, उसे आप ध्यानपूर्वक सुनिए।

दौरात्म्यं धार्तराष्ट्रस्य क्षत्रियाणां च वैरताम्।
सर्वमेतदहं जानन् क्षत्तः प्राप्तोऽद्य कौरवान् ॥३०॥

विदुरजी! मैं धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन की दुष्टता तथा क्षत्रिय योद्धाओं का वैरभाव—इन सब बातों को जानकर ही आज कौरवों के पास आया हूँ।

पर्यस्तां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुञ्जराम्।
यो मोचयेन्मृत्युपाशात् प्राप्नुयाद् धर्ममुत्तमम् ॥३१॥

आज अश्व, रथ और हाथियोंसहित यह सम्पूर्ण पृथिवी विनष्ट होना चाहती है। जो इसे मृत्युपाश से छुड़ाने का प्रयत्न करेगा, उसे ही उत्तम धर्म प्राप्त होगा।

धर्मकार्यं यतञ्छक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः। □
प्राप्तो भवति तत् पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः ॥३२॥

मनुष्य अपनी सारी शक्ति लगाकर किसी धर्मकार्य को करने का प्रयत्न करते हुए भी यदि उसमें सफलता प्राप्त न कर सके, तो भी उसे उसका पुण्य तो अवश्य ही प्राप्त होता है, इस विषय में मुझे किञ्चित् भी सन्देह नहीं है।

मनसा चिन्तयन्पापं कर्मणा नातिरोचयन्। □
न प्राप्नोति फलं तस्येत्येवं धर्मविदो विदुः ॥३३॥

इसी प्रकार यदि मनुष्य मन से पाप का चिन्तन करते हुए भी उसमें रुचि न होने के कारण उसे क्रिया द्वारा सम्पादित न करे, तो उसे उस पाप का फल नहीं मिलता ऐसा धर्मज्ञ पुरुष जानते हैं।

सोऽहं यतिष्ये प्रशमं क्षत्तः कर्तुममायया।
कुरूणां सृञ्जयानां च संग्रामे विनशिष्यताम् ॥३४॥

अतः विदुरजी! मैं युद्ध में मर-मिटने को उद्यत हुए कौरवों तथा सृञ्जयों में सन्धि कराने का निश्छल भाव से प्रयत्न करूँगा।

हिते प्रयतमानं मां शङ्केद् दुर्योधनो यदि ।
हृदयस्य च मे प्रीतिरानृण्यं च भविष्यति ॥३५॥

हितसाधन के लिए प्रयत्न करने पर भी यदि दुर्योधन मुझपर शंका करेगा, तो भी मेरे मन को तो प्रसन्नता ही होगी तथा मैं अपने कर्तव्य के भार से उऋण हो जाऊँगा ।

ज्ञातीनां हि मिथो भेदे यन्मित्रं नाभिपद्यते ।□
सर्वयत्नेन माध्यस्थ्यं न तन्मित्रं विदुर्बुधाः ॥३६॥

भाई-बन्धुओं में परस्पर फूट पड़ने का अवसर उपस्थित होने पर जो मित्र पूर्ण प्रयत्न करके उनमें मेल कराने के लिए मध्यस्थता नहीं करता, विद्वान् लोग उसे मित्र नहीं मानते ।

न मां ब्रूयुरधर्मिष्ठा मूढा ह्यसुहृदस्तथा ।
शक्तो नावारयत् कृष्णः संरब्धान् कुरुपाण्डवान् ॥३७॥

संसार के पापी, मूढ़ और शत्रुभाव रखनेवाले लोग मेरे विषय में यह न कहें कि कृष्ण ने समर्थ होते हुए भी क्रोध से भरे हुए कौरव-पाण्डवों को युद्ध से नहीं रोका [इसलिए भी मैं सन्धि कराने का प्रयत्न करूँगा] ।

मम धर्मार्थयुक्तं हि श्रुत्वा वाक्यमनामयम् ।
न चेदादास्यते बालो दिष्टस्य वशमेष्यति ॥३८॥

यदि मूर्ख दुर्योधन मेरे कष्टनिवारक और धर्म तथा अर्थ के अनुकूल वचनों को सुनकर भी उन्हें ग्रहण नहीं करेगा तो उसे दुर्भाग्य के अधीन होना पड़ेगा ।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा वचनं वृष्णीनामृषभस्तदा ।
शयने सुखसंस्पर्शे शिश्ये यदुसुखावहः ॥३९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यदुकुलनन्दन वृष्णिवंशभूषण श्रीकृष्ण विदुरजी से उपर्युक्त बात कहकर स्पर्शमात्र से सुख देनेवाली शय्या पर सो गये ।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण का कौरवसभा में गमन तथा सभा में उनका प्रभावशाली भाषण

वैशम्पायन उवाच

तत उत्थाय दाशार्ह ऋषभः सर्वसात्वताम् ।
सर्वमावश्यकं चक्रे प्रातः कार्यं जनार्दनः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—रात्रि में सुखपूर्वक सोकर यदुवंश-शिरोमणि दर्शार्हनन्दन श्रीकृष्ण ने शय्या से उठकर प्रातःकाल का समस्त आवश्यक कर्म क्रमशः सम्पन्न किया ।

कृतोदकानुजप्यः स हुताग्निः समलंकृतः ।
ततश्चादित्यमुद्यन्तमुपातिष्ठत माधवः ॥२॥

स्नान, सन्ध्या तथा जप करने के पश्चात् अग्निहोत्र करके श्रीकृष्ण ने समलंकृत होकर उदयकाल में सूर्य का उपस्थान किया ।

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना ।
हयोत्तमयुजा शीघ्रमुपातिष्ठत दारुकः ॥३॥

तब छोटे-छोटे घुंघुरुओं से विभूषित तथा उत्तम घोड़ों से जुते हुए चमकीले विशाल रथ के साथ दारुक शीघ्र ही श्रीकृष्ण की सेवा में उपस्थित हुआ ।

तमुपस्थितमाज्ञाय रथं दिव्यं महामनाः ।
आतिष्ठत रथं शौरिः सर्वयादवनन्दनः ॥४॥

उस दिव्य-रथ को उपस्थित जान समस्त यादवों को आनन्द प्रदान करनेवाले महामना शूरनन्दन श्रीकृष्ण उस रथ पर आरूढ़ हुए ।

अन्वारुरोह दाशार्हं विदुरः सर्वधर्मवित् ।
सर्वप्राणभृतां श्रेष्ठं सर्वबुद्धिमतां वरम् ॥५॥

समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण बुद्धिमानों में उत्तम दशार्हनन्दन श्रीकृष्ण के पश्चात् समस्त धर्मों के ज्ञाता विदुरजी भी उसी रथ पर जा बैठे ।

सात्यकिः कृतवर्मा च वृष्णीनां चापरे रथाः ।
पृष्ठतोऽनुययुः कृष्णं गजैरश्वैः रथैरपि ॥६॥

सात्यकि, कृतवर्मा तथा वृष्णिवंश के दूसरे रथी भी हाथी, घोड़ों तथा रथों पर बैठकर श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे गये ।

आसाद्य तु सभाद्वारमृषभः सर्वसात्वताम् ।
अवतीर्य रथाच्छौरिः प्रविवेश सभां ततः ॥७॥

सभा के द्वार पर पहुँचकर सर्वयादव-शिरोमणि श्रीकृष्ण ने रथ से उतरकर कौरवसभा में प्रवेश किया।

पाणौ गृहीत्वा विदुरं सात्यकिं च महायशाः।
ज्योतींष्यादित्यवद्राजन्कुरून्प्राच्छादयन्श्रिया ॥८॥

राजन्! जैसे सूर्य अपनी प्रभा से आकाश के तारों को तिरोहित कर देता है, उसी प्रकार महायशस्वी श्रीकृष्ण भी अपनी दिव्य कान्ति से कौरवों को आच्छादित करते हुए विदुर और सात्यकि का हाथ पकड़े हुए सभाभवन में आये।

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य भीष्मद्रोणादयस्ततः।
आसनेभ्योऽचलन् सर्वे पूजयन्तो जनार्दनम् ॥९॥

उस समय भीष्म और द्रोण आदि सबलोग श्रीकृष्ण का सम्मान करने के लिए राजा धृतराष्ट्र को आगे करके अपने-अपने आसनों से उठकर आगे बढ़े।

आसनं सर्वतोभद्रं जाम्बूनदपरिष्कृतम्।
कृष्णार्थे कल्पितं तत्र धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥१०॥

राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से वहाँ श्रीकृष्ण के लिए सुवर्ण-मण्डित सर्वतोभद्र नामक सिंहासन रखा गया था।

तत्र केशवमानर्चुः सम्यगभ्यागतं सभाम्।
राजानः पार्थिवाः सर्वे कुरवश्च जनार्दनम् ॥११॥

उस सभा में विधिवत् पधारे हुए जनार्दन श्रीकृष्ण का भूमण्डल के राजाओं और सभी कौरवों ने आदर-सत्कार किया।

चिरस्य दृष्ट्वा दाशार्हं राजानः सर्व एव ते।
अमृतस्येव नातृप्यन् प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ॥१२॥

सब भूपाल दीर्घकाल के पश्चात् दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण को देखकर उन्हीं की ओर टकटकी लगाये रहे। जैसे अमृतपान से तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार उनके दर्शनों से उन्हें तृप्ति नहीं हो रही थी।

तेष्वासीनेषु सर्वेषु तूष्णीम्भूतेषु राजसु।
वाक्यमभ्याददे कृष्णः सुदंष्ट्रो दुन्दुभिस्वनः ॥१३॥

जब सभा में सब राजा मौन होकर बैठ गये तब सुन्दर दन्तावलि से सुशोभित तथा दुन्दुभि के समान गम्भीर स्वरवाले श्रीकृष्ण ने बोलना आरम्भ किया।

कृष्ण उवाच

कुरूणां पाण्डवानां च शमः स्यादिति भारत।
अप्रणाशेन वीराणामेतद् याचितुमागतः ॥१४॥

श्रीकृष्ण बोले—भरतनन्दन! 'क्षत्रिय वीरों का संहार हुए बिना ही कौरव और पाण्डवों में शान्ति स्थापित हो जाए'—मैं आपसे यह प्रार्थना करने के लिए यहाँ आया हूँ।

राजन् नान्यत् प्रवक्तव्यं तव नैःश्रेयसं वचः।
विदितं ह्येव ते सर्वं वेदितव्यमरिन्दम ॥१५॥

शत्रुदमन नरेश! मुझे इसके अतिरिक्त और कोई कल्याणकारक बात आपसे नहीं कहनी है, क्योंकि जानने योग्य जितनी बातें हैं, वे सब आपको विदित ही हैं।

इदं ह्यद्य कुलं श्रेष्ठं सर्वराजसु पार्थिव।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नं सर्वैः समुदितं गुणैः ॥१६॥

भूपाल! इस समय समस्त राजाओं में यह कुरुवंश ही सर्वश्रेष्ठ है। इसमें शास्त्र एवं सदाचार का पूर्णरूप से पालन किया जाता है। यह कौरवकुल सम्पूर्ण सद्गुणों से सम्पन्न है।

कृपानुकम्पा कारुण्यमानृशंस्यं च भारत।
तथार्जवं क्षमा सत्यं कुरुष्वेतद् विशिष्यते ॥१७॥

हे भारत! कुरुवंशियों में कृपा, अनुकम्पा, करुणा, अनृशंसता [मृदुता], सरलता, क्षमा, और सत्य—ये सद्गुण अन्य राजवंशों की अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं।

तस्मिन्नेवंविधे राजन् कुले महति तिष्ठति।
त्वन्निमित्तं विशेषेण नेह युक्तमसाम्प्रतम् ॥१८॥

राजन्! ऐसे उत्तम गुण-सम्पन्न तथा अत्यन्त प्रतिष्ठित कुल के होते हुए भी यदि इसमें आपके कारण कोई अनुचित कार्य हो, तो यह अनुचित है।

ते पुत्रास्तव कौरव्य दुर्योधनपुरोगमाः।
धर्मार्थौ पृष्ठतः कृत्वा प्रचरन्ति नृशंसवत् ॥१९॥

नरेश! दुर्योधन आदि आपके पुत्र धर्म और अर्थ का परित्याग करके क्रूर मनुष्यों के समान आचरण कर रहे हैं।

अशिष्टा गतमर्यादा लोभेन हृतचेतसः।
स्वेषु बन्धुषु मुख्येषु तद् वेत्थ पुरुषर्षभ ॥२०॥

पुरुष-शिरोमणे ! ये अपने ही श्रेष्ठ बन्धुओं के साथ अशिष्टतापूर्ण व्यवहार करते हैं। लोभ ने इनके हृदयों को ऐसा वशीभूत कर लिया है कि इन्होंने धर्म की सब मर्यादाएँ तोड़ दी हैं। इस बात को आप भली-भाँति जानते हैं।

सेयमापन्महाघोरा कुरुष्वेव समुत्थिता।
उपेक्ष्यमाणा कौरव्य पृथिवीं घातयिष्यति ॥२१॥

कुरुश्रेष्ठ ! इस समय यह भयंकर आपत्ति [विपत्ति] कौरवों में ही प्रकट हुई है। यदि इसकी उपेक्षा की गई तो यह सारे भूमण्डल को नष्ट कर डालेगी।

शक्या चेयं शमयितुं त्वं चेदिच्छसि भारत।
न दुष्करो ह्यत्र शमो मतो मे भरतर्षभ ॥२२॥

हे भारत ! यदि आप चाहें तो यह भीषण संकट अब भी टाला जा सकता है। भरतश्रेष्ठ ! इन दोनों पक्षों में शान्ति स्थापित होना मैं कठिन कार्य नहीं मानता हूँ।

त्वय्याधीनः शमो राजन् मयि चैव विशाम्पते।
पुत्रान् स्थापय कौरव्य स्थापयिष्याम्यहं परान् ॥२३॥

प्रजेश ! इस समय इन दोनों पक्षों में सन्धि कराना आपके और मेरे अधीन है। आप अपने पुत्रों को मर्यादा में रखिए और मैं पाण्डवों को नियन्त्रण में रखूंगा।

संयुगे वै महाराज दृश्यते सुमहान् क्षयः।
क्षये चोभयतो राजन् धर्मं कमनुपश्यसि ॥२४॥

महाराज ! युद्ध छिड़ जाने पर तो महाविनाश ही दिखाई देता है। राजन् ! दोनों पक्षों का विनाश कराने में आप कौन-सा धर्म देखते हैं ?

समवेताः पृथिव्यां हि राजानो राजसत्तम।
अमर्षवशमापन्ना नाशयेयुरिमाः प्रजाः ॥२५॥

नृपश्रेष्ठ ! भूमण्डल के समस्त राजा यहाँ एकत्र हो अमर्ष में भरकर इन प्रजाओं का नाश कर डालेंगे।

शुक्ला वदान्या ह्रीमन्त आर्याः पुण्याभिजातयः।
अन्योन्यसचिवा राजन् पाहि तान्महतो भयात् ॥२६॥

राजन् ! ये सभी नरेश शुद्ध, उदार, लज्जाशील, श्रेष्ठ, पवित्र कुलों में उत्पन्न तथा एक-दूसरे के सहायक हैं। आप इन सबकी महान् भय से रक्षा कीजिए।

शिवेनेमे महीपालाः समागम्य परस्परम्।
सह भुक्त्वा च पीत्वा च प्रतियान्तु यथागृहम् ॥२७॥

आप ऐसा प्रयत्न कीजिए, जिससे ये सभी भूपाल परस्पर मिलकर तथा एक-साथ खा-पीकर सकुशल अपने-अपने घरों को लौट जाएँ।

हार्दं यत्पाण्डवेष्वासीत् प्राप्तेऽस्मिन्नायुषः क्षये।
तदेव ते भवत्वद्य संधत्स्व भरतर्षभ ॥२८॥

भरतश्रेष्ठ ! अब आपकी आयु भी क्षीण हो चली है। इस वृद्धावस्था में आपका पाण्डवों पर वैसा ही स्नेह बना रहे, जैसा पहले था, अतः सन्धि कर लीजिए।

बाला विहीनाः पित्रा ते त्वयैव परिवर्धिताः।
तान् पालय यथान्यायं पुत्रांश्च भरतर्षभ ॥२९॥

भरतकुलभूषण ! पाण्डव बाल्यावस्था में ही पिता से विहीन हो गये थे। उस समय आपने ही उनका लालन-पालन किया, अतः अब भी आप ही उनका और अपने पुत्रों का न्यायपूर्वक पालन कीजिए।

आहुस्त्वां पाण्डवा राजन्नभिवाद्य प्रसाद्य च।
भवतः शासनाद् दुःखमनुभूतं सहानुगैः ॥३०॥

राजन् ! पाण्डवों ने आपको प्रणाम करके प्रसन्न करते हुए यह सन्देश कहलाया है—"तात ! आपकी आज्ञा से अनुचरोंसहित हमने भीषण कष्ट सहन किया है।

द्वादशेमानि वर्षाणि वने निर्व्युषितानि नः।
त्रयोदशं तथाज्ञातैः सजने परिवत्सरम् ॥३१॥

"बारह वर्षों तक हमने निर्जन वन में निवास किया है और तेरहवाँ वर्ष जन-समुदाय से भरे हुए नगर में अज्ञात रहकर व्यतीत किया है।

स्थाता नः समये तस्मिन् पितेति कृतनिश्चयाः।
नाहास्म समयं तात तच्च नो ब्राह्मणा विदुः ॥३२॥

'तात ! आप हमारे पितृ-समान हैं, अतः हमारे विषय में की हुई अपनी प्रतिज्ञा पर डटे रहेंगे [वन-वास से लौटने पर हमारा राज्य लौटा देंगे] ऐसा निश्चय करके ही हमने वनवास और अज्ञातवास की

शर्त को कभी नहीं तोड़ा, यह बात हमारे साथ रहनेवाले ब्राह्मण जानते हैं।

तस्मिन् नः समये तिष्ठ स्थितानां भरतर्षभ।
नित्यं संक्लेशिता राजन् स्वराज्यांशं लभेमहि ॥३३॥

"भरतश्रेष्ठ ! हम उस प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे हैं, आप भी हमारे साथ की हुई अपनी प्रतिज्ञा पर डटे रहें। राजन् ! हमने सदा क्लेश उठाया है। अब हमें हमारा राज्यभाग प्राप्त हो जाना चाहिए।"

आहुश्चेमां परिषदं पुत्रास्ते भरतर्षभ।
धर्मज्ञेषु सभासत्सु नेह युक्तमसाम्प्रतम् ॥३४॥

भरतकुलतिलक ! आपके पुत्र पाण्डवों ने इस सभा के लिए यह सन्देश दिया है—"आप समस्त सभासद्गण धर्म के ज्ञाता हैं। आपके रहते हुए यहाँ कोई अयोग्य कार्य हो, यह उचित नहीं है।

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च। □
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥३५॥

"जहाँ सभासदों के देखते-देखते अधर्म के द्वारा धर्म का और असत्य द्वारा सत्य का हनन होता है, वहाँ वे सभासद् नष्ट हुए माने जाते हैं।

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्र प्रपद्यते। □
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥३६॥

"जिस सभा में अधर्म से विद्ध [बिंधा] हुआ धर्म प्रवेश करता है और सभासद्गण उस अधर्मरूपी काँटे को काटकर निकाल नहीं देते तो उस काँटे से सभासद् ही विद्ध होते हैं [सभासदों को ही अधर्म से लिप्त होना पड़ता है]।"

ये धर्ममनुपश्यन्तस्तूष्णीं ध्यायन्त आसते।
ते सत्यमाहुर्धर्म्यं च न्याय्यं च भरतर्षभ ॥३७॥

भरतश्रेष्ठ ! जो पाण्डव सदा धर्म की ओर ही दृष्टि रखते हैं तथा उसी का विचार करके चुपचाप बैठे हैं, उनका आपसे राज्य लौटाने का अनुरोध सत्य, धर्मसम्मत और न्यायसंगत है।

पित्र्यं तेभ्यः प्रदायांशं पाण्डवेभ्यो यथोचितम्।
ततः सपुत्रः सिद्धार्थो भुङ्क्ष्व भोगान् परन्तप ॥३८॥

परंतप ! पाण्डवों को उनका यथोचित पैतृक राज्यभाग देकर आप भी अपने पुत्रों के साथ सफलमनोरथ हो, मनोवाञ्छित भोग भोगिए।

अहं तु तव तेषां च श्रेय इच्छामि भारत।
धर्मादर्थात्सुखाच्चैव मा राजन् नीनशः प्रजाः ॥३९॥

अनर्थमर्थं मन्वानोऽप्यर्थं चानर्थमात्मनः।
लोभेऽतिप्रसृतान् पुत्रान् निगृह्णीष्व विशाम्पते ॥४०॥

हे भारत ! मैं तो आप और पाण्डव—दोनों का कल्याण चाहता हूँ। राजन् ! आप समस्त प्रजा को धर्म, अर्थ और सुख से वञ्चित मत कीजिए। इस समय आप अनर्थ को ही अर्थ तथा अर्थ को ही अपने लिए अनर्थ मान रहे हैं। भूपाल ! आपके पुत्र लोभ में अत्यन्त आसक्त हो गये हैं, उन्हें वश में कीजिए।

स्थिताः शुश्रूषितुं पार्थाः स्थिता योद्धुमरिन्दमाः।
यत् ते पथ्यतमं राजंस्तस्मिंस्तिष्ठ परन्तप ॥४१॥

राजन् ! शत्रुओं का दमन करनेवाले कुन्तीपुत्र आपकी सेवा के लिए भी प्रस्तुत [तैयार] हैं तथा युद्ध के लिए भी सन्नद्ध हैं। परन्तप ! इनमें से जो आपके लिए हितकर जान पड़े, उसी मार्ग का अवलम्बन लीजिए।

वैशम्पायन उवाच

ततोऽभ्यावृत्य वार्ष्णेयो दुर्योधनममर्षणम्।
अब्रवीन्मधुरां वाचं सर्वधर्मार्थतत्त्ववित् ॥४२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—धृतराष्ट्र और सभासदों से इतना कहकर सम्पूर्ण धर्म और अर्थ के तत्त्व को जाननेवाले वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण अमर्षशील दुर्योधन की ओर घूमकर मधुरवाणी में उससे बोले—

कृष्ण उवाच

दुर्योधन निबोधेदं मद्वाक्यं कुरुसत्तम।
शर्मार्थं ते विशेषेण सानुबन्धस्य भारत ॥४३॥

श्रीकृष्ण बोले—कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन ! तुम मेरी यह बात सुनो। हे भारत ! मैं विशेषतः सगे-सम्बन्धियों सहित तुम्हारे कल्याण के लिए तुम्हें कुछ परामर्श दे रहा हूँ।

महाप्राज्ञकुले जातः साध्वेतत् कर्तुमर्हसि।
श्रुतवृत्तोपसम्पन्नः सर्वैः समुदितो गुणैः ॥४४॥

तुम महाबुद्धिमान् पुरुषों के कुल में उत्पन्न हुए हो। तुम स्वयं भी शास्त्रज्ञान और सुचरित्र से सम्पन्न हो। तुममें सभी उत्तम गुण विद्यमान हैं, अतः तुम्हें मेरा सत्परामर्श मानना चाहिए।

प्राज्ञैः शूरैर्महोत्साहैरात्मवद्भिर्बहुश्रुतैः ।
संधत्स्व पुरुषव्याघ्र पाण्डवैर्भरतर्षभ ॥४५॥

भरतकुलभूषण पुरुषसिंह ! तुम ज्ञानी, परम-उत्साही, शूरवीर, मनस्वी तथा अनेक शास्त्रों के ज्ञाता पाण्डवों के साथ सन्धि कर लो ।

रोचते ते पितुस्तात पाण्डवैः सह समागमः ।
सामात्यस्य कुरुश्रेष्ठ तत् तुभ्यं तात रोचताम् ॥४६॥

तात ! मन्त्रियोंसहित तुम्हारे पिता को पाण्डवों के साथ सन्धि कर लेना ही अच्छा जान पड़ता है । कुरुश्रेष्ठ ! यही तुम्हें भी पसन्द आना चाहिए ।

जन्मप्रभृति कौन्तेया नित्यं विनिकृतास्त्वया ।
न च ते जातु कुप्यन्ति धर्मात्मानो हि पाण्डवाः ॥४७॥

तुमने जन्म से ही कुन्ती के पुत्रों के साथ सदा शठतापूर्ण व्यवहार किया है परन्तु वे कभी कुपित नहीं हुए, क्योंकि पाण्डव धर्मात्मा हैं ।

आत्मानं तक्षति ह्येष वनं परशुना यथा ।
यः सम्यग्वर्तमानेषु मिथ्या राजन् प्रवर्तते ॥४८॥

राजन् ! जो सद्व्यवहार करनेवाले सत्पुरुषों के साथ दुर्व्यवहार करता है, वह कुल्हाड़ी से जंगल की भाँति उस दुर्व्यवहार से अपने-आपको ही काटता है ।

दुःशासने दुर्विषहे कर्णे वा चापि सौबले ।
एतेष्वैश्वर्यमाधाय भूतिमिच्छसि भारत ॥४९॥

हे भारत ! तुम दुःशासन, दुर्विषह, कर्ण और शकुनि—इन सबपर अपने ऐश्वर्य का भार रखकर उन्नति की इच्छा रखते हो ?

न चैते तव पर्याप्ता ज्ञाने धर्मार्थयोस्तथा ।
विक्रमे चाप्यपर्याप्ताः पाण्डवान् प्रति भारत ॥५०॥

भरतनन्दन ! ये तुम्हें ज्ञान, धर्म तथा अर्थ की प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं है और पाण्डवों के साथ पराक्रम प्रकट करने में भी सर्वथा असमर्थ हैं ।

न हीमे सर्वराजानः पर्याप्ताः सहितास्त्वया ।
क्रुद्धस्य भीमसेनस्य प्रेक्षितुं मुखमाहवे ॥५१॥

तुम्हारे सहित ये समस्त भूपाल भी युद्ध में क्रुद्ध हुए भीमसेन के मुख की ओर आँख उठाकर देख सकने में भी असमर्थ हैं ।

अयं भीष्मस्तथा द्रोणः कर्णश्चायं तथा कृपः ।
अशक्ताः सर्व एवैते प्रतियोद्धुं धनञ्जयम् ॥५२॥

यह भीष्म, द्रोण, कर्ण तथा कृपाचार्य—ये सब मिलकर भी अर्जुन का सामना करने में असमर्थ हैं ।

अजेयो ह्यर्जुनः संख्ये सर्वैरपि सुरासुरैः ।
मानुषैरपि गन्धर्वैर्मा युद्धे चेत आधिथाः ॥५३॥

सम्पूर्ण देवता और असुर भी युद्ध में अर्जुन को जीत नहीं सकते । वे समस्त मनुष्यों और गन्धर्वों द्वारा भी अजेय हैं, अतः तुम युद्ध का विचार त्याग दो ।

पश्य पुत्रांस्तथा भ्रातॄन्ज्ञातीन् सम्बन्धिनस्तथा ।
त्वत् कृते न विनश्येयुरिमे भरतसत्तमाः ॥५४

दुर्योधन ! अपने इन पुत्रों, भाइयों, कुटुम्बी-जनों तथा सगे-सम्बन्धियों की ओर तो देखो । ये श्रेष्ठ भरतवंशी तुम्हारे कारण नष्ट न हो जाएँ ।

अस्तु शेषं कौरवाणां मा पराभूदिदं कुलम् ।
कुलघ्न इति नोच्येथा नष्टकीर्तिर्नराधिप ॥५५॥

राजन् ! कौरवकुल बचा रहे, इस कुल का पराभव न हो और तुम भी अपनी कीर्ति को नष्ट करके कुलघाती न कहलाओ ।

त्वामेव स्थापयिष्यन्ति यौवराज्ये महारथाः ।
महाराज्येऽपि पितरं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥५६॥

महारथी पाण्डव तुम्हें ही युवराज के पद पर अभिषित करेंगे और तुम्हारे पिता राजा धृतराष्ट्र को महाराज के पद पर बनाये रखेंगे ।

मा तात श्रियमायान्तीमवमंस्थाः समुद्यताम् ।
अर्धं प्रदाय पार्थेभ्यो महतीं श्रियमाप्नुहि ॥५७॥

तात ! अपने घर में आने के लिए उद्यत राज्य-लक्ष्मी का तिरस्कार मत करो । कुन्ती के पुत्रों को आधी राज्यलक्ष्मी [आधा राज] देकर स्वयं विशाल सम्पत्ति का उपभोग करो ।

पाण्डवैः संशमं कृत्वा कृत्वा च सुहृदां वचः ।
सम्प्रीयमाणो मित्रैश्च चिरं भद्राण्यवाप्स्यसि ॥५८॥

पाण्डवों के साथ सन्धि करके तथा अपने हितैषी सुहृदों की बात मानकर मित्रों के साथ प्रसन्नतापूर्वक रहते हुए तुम चिरकाल तक कल्याण के भागी बने रहोगे ।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

भीष्म, द्रोण और विदुर का दुर्योधन को समझाना, दुर्योधन का पाण्डवों को राज्य न देने का निश्चय, श्रीकृष्ण का दुर्योधन को फटकारना, दुर्योधन का उन्हें कैद करने की सम्मति देना

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो दुर्योधनममर्षणम् ।
केशवस्य वचः श्रुत्वा प्रोवाच भरतर्षभ ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! श्रीकृष्ण का पूर्वोक्त वचन सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्म ने ईर्ष्या और क्रोध में भरे रहनेवाले दुर्योधन से इस प्रकार कहा—

कृष्णेन वाक्यमुक्तोऽसि सुहृदां शममिच्छता ।
अन्वपद्यस्व तत् तात मा मन्युवशमन्वगाः ॥२॥

"तात ! श्रीकृष्ण ने सुहृदों में परस्पर शान्ति बनाये रखने की इच्छा से जो बात कही है, उसे स्वीकार करो। क्रोध के वशीभूत मत होओ।

अकृत्वा वचनं तात केशवस्य महात्मनः ।
न सुखं जातु न श्रेयः न कल्याणमवाप्स्यसि ॥३॥

"तात ! महान्-आत्मा केशव की बात न मानने से तुम कभी सुख, सौभाग्य और कल्याण नहीं पा सकोगे।

मा कुलघ्नः कुपुरुषो दुर्मतिः कापथं गमः ।
मातरं पितरं चैव मा मज्जीः शोकसागरे ॥४॥

"कुलघाती, तथा कुपुरुष न बनो। कुबुद्धि से कलंकित होकर कुमार्ग पर मत चलो और अपने माता-पिता को शोकसागर में न डुबाओ।"

अथ द्रोणोऽब्रवीत् तत्र दुर्योधनमिदं वचः ।
अनुतिष्ठ महाप्राज्ञ कृष्णभीष्मौ यदूचतुः ॥५॥

भीष्म का कथन समाप्त होने पर द्रोणाचार्य ने दुर्योधन से कहा—"महामते ! श्रीकृष्ण और भीष्म ने जो कुछ कहा है, उसका पालन करो।

एतच्चैव मतं सत्यं सुहृदोः कृष्णभीष्मयोः ।
यदि नादास्यसे तात पश्चात् तप्स्यसि भारत ॥६॥

"तात ! भारत ! तुम्हारा वास्तविक हित चाहनेवाले श्रीकृष्ण और भीष्म का मत ही यथार्थ है। यदि तुम इसे ग्रहण नहीं करोगे तो पीछे पछताओगे।"

विदुर उवाच

दुर्योधन न शोचामि त्वामहं भरतर्षभ ।
इमौ तु वृद्धौ शोचामि गान्धारीं पितरं च ते ॥७॥

विदुर बोले—भरतभूषण दुर्योधन ! मैं तुम्हारे लिए शोक नहीं करता। मुझे तो तुम्हारे इन वृद्ध माता-पिता गान्धारी और धृतराष्ट्र के लिए भारी शोक हो रहा है।

यावनाथौ चरिष्येते त्वया नाथेन दुर्हृदा ।
हतमित्रौ हतामात्यौ लूनपक्षाविवाण्डजौ ॥८॥

क्योंकि ये दोनों तुम-जैसे सहायक के कारण मित्रों तथा मन्त्रियों के मारे जाने पर पंख कटे हुए पक्षियों की भाँति अनाथ=असहाय होकर विचरेंगे।

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन निबोधेदं शौरिणोक्तं महात्मना ।
आदत्स्व शिवमत्यन्तं योगक्षेमवदव्ययम् ॥९॥

धृतराष्ट्र बोले—दुर्योधन ! मेरी बात पर ध्यान दो। महात्मा श्रीकृष्ण ने जो बात कही है वह अति कल्याणकारक, योगक्षेम की प्राप्ति करानेवाली और चिरकाल तक स्थिर रहनेवाली है—तुम इसे स्वीकार करो।

वासुदेवेन तीर्थेन गच्छ तात युधिष्ठिरम् ।
चर स्वस्त्ययनं कृत्स्नं मा त्वं दुर्योधनातिगाः ॥१०॥

तात ! तुम श्रीकृष्ण को मध्यस्थ बनाकर युधिष्ठिर के पास जाओ और पूर्णरूप से अपना मङ्गल सम्पादन करो। दुर्योधन ! तुम मेरी इस आज्ञा का उल्लंघन मत करो।

शमं चेद् याचमानं त्वं प्रत्याख्यास्यसि केशवम् ।
त्वदर्थमभिजल्पन्तं न तवास्त्यपराभवः ॥११॥

यदि तुम शान्ति की प्रार्थना करनेवाले श्रीकृष्ण का, जो तुम्हारे हित की बात बता रहे हैं, तिरस्कार करोगे—उनकी आज्ञा नहीं मानोगे तो तुम्हारा पराभव हुए बिना नहीं रह सकता।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा दुर्योधनो वाक्यमप्रियं कुरुसंसदि ।
प्रत्युवाच महाबाहुं वासुदेवं यशस्विनम् ॥१२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कौरव-सभा में यह अप्रिय वचन सुनकर दुर्योधन ने यशस्वी महाबाहु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण को यह उत्तर दिया—

दुर्योधन उवाच

प्रसमीक्ष्य भवानेतद् वक्तुमर्हति केशव ।
मामेव हि विशेषेण विभाष्य परिगर्हसे ॥१३॥

दुर्योधन बोला—केशव ! आपको सोच-विचारकर ऐसी बातें कहनी चाहिएँ । आप तो विशेष रूप से मुझे ही दोषी ठहराकर मेरी निन्दा कर रहे हैं ।

भवान् क्षत्ता च राजा वाप्याचार्यो वा पितामहः ।
मामेव परिगर्हन्ते नान्यं कञ्चन पार्थिवम् ॥१४॥

मैं देखता हूँ कि आप, विदुरजी, आचार्य द्रोण अथवा भीष्म पितामह—सभी लोग मुझपर ही दोषारोपण करते हैं, अन्य किसी राजा पर नहीं ।

न चाहं लक्षये कञ्चिद् व्यभिचारमिहात्मनः ।
अथ सर्वे भवन्तो मां विद्विषन्ति सराजकाः ॥१५॥

मुझे अपना कोई दोष दिखाई नहीं देता, परन्तु राजा धृतराष्ट्रसहित आप सब लोग अकारण ही मुझसे द्वेष करने लगे हैं ।

न चाहं कञ्चिदत्यर्थमपराधमरिन्दम ।
विचिन्तयन् प्रपश्यामि सुसूक्ष्ममपि केशव ॥१६॥

शत्रुदमन केशव ! मैं अत्यन्त सोच-विचारकर दृष्टि डालता हूँ, तो भी मुझे अपना कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अपराध भी दिखाई नहीं देता ।

प्रियाभ्युपगते द्यूते पाण्डवा मधुसूदन ।
जिताः शकुनिना राज्यं तत्र किं मम दुष्कृतम् ॥१७॥

मधुसूदन ! पाण्डवों को जुए का खेल अति प्रिय था, इसीलिए वे उसमें प्रवृत्त हुए । फिर यदि मामा शकुनि ने उनका राज्य जीत लिया तो इसमें मेरा क्या अपराध हो गया ?

किमस्माभिः कृतं तेषां कस्मिन् वा पुनरागसि ।
धार्तराष्ट्रान् जिघांसन्ति पाण्डवाः सृञ्जयैः सह ॥१८॥

हमने पाण्डवों का क्या बिगाड़ा है ? वे हमारे किस अपराध पर सृञ्जयों के साथ मिलकर हम धृतराष्ट्रपुत्रों का वध करना चाहते हैं ?

न चापि वयमुग्रेण कर्मणा वचनेन वा ।
वित्रस्ताः प्रणमामहे भयादपि शतक्रतुम् ॥१९॥

हम लोग किसी भयंकर कर्म अथवा भयानक वचन से भयभीत हो क्षत्रिय-धर्म से च्युत होकर साक्षात् इन्द्र के सम्मुख [सामने] भी नतमस्तक नहीं हो सकते ।

न च तं कृष्ण पश्यामि क्षत्रधर्ममनुष्ठितम् ।
उत्सहेत युधा जेतुं यो नः शत्रुनिबर्हण ॥२०॥

शत्रुनाशक कृष्ण ! मैं क्षत्रिय-धर्म का अनुष्ठान करनेवाले किसी भी ऐसे वीर को नहीं देखता, जो युद्ध में हम सब लोगों को जीतने का साहस कर सके ।

न हि भीष्मकृपद्रोणाः सकर्णा मधुसूदन ।
देवैरपि युधा जेतुं शक्याः किमुत पाण्डवैः ॥२१॥

मधुसूदन ! भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और कर्ण को तो देवता भी युद्ध में नहीं जीत सकते, फिर पाण्डवों की तो बात ही क्या है ?

मुख्यश्चैवैष नो धर्मः क्षत्रियाणां जनार्दन ।
यच्छयीमहि संग्रामे शरतल्पगता वयम् ॥२२॥

जनार्दन ! हम क्षत्रियों का यही मुख्य=प्रधान धर्म है कि संग्राम में हमें बाण-शय्या पर सोने का अवसर प्राप्त हो ।

कश्च जातु कुले जातः क्षत्रधर्मेण वर्तयन् ।
भयाद् वृत्तिं समीक्ष्यैवं प्रणमेदिह कर्हिचित् ॥२३॥

उत्तम कुल में उत्पन्न होकर क्षत्रिय-धर्म के अनुसार जीवन-निर्वाह करनेवाला कौन ऐसा महापुरुष होगा, जो क्षत्रियोचित वृत्ति पर दृष्टि रखते हुए भयभीत होकर शत्रु के सामने मस्तक झुकाएगा ?

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् । □
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेदिह कर्हिचित् ॥२४॥

वीर पुरुष को चाहिए कि वह सदा उद्योग ही करे, किसी के समक्ष झुके नहीं, क्योंकि उद्योग करना ही पुरुष का पौरुष है । वीर पुरुष असमय में नष्ट भले ही हो जाए परन्तु शत्रु के सामने मस्तक न झुकाए ।

राज्यांशश्चाभ्यनुज्ञातो यो मे पित्रा पुराभवत् ।
न स लभ्यः पुनर्जातु मयि जीवति केशव ॥२५॥

केशव ! मेरे पिताजी ने पूर्वकाल में जो राज्य-भाग मेरे अधीन कर दिया है, उसे कोई भी मेरे जीते-जी फिर कदापि नहीं पा सकता ।

यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विध्येदग्रेण केशव ।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥२६॥

केशव ! पाण्डवों को भूमि का उतना अंश भी नहीं दिया जा सकता, जितना कि एक बारीक सूई की नोक से बिंध सकता है । [आधे राज्य या पाँच ग्रामों की तो बात ही क्या है ?]

वैशम्पायन उवाच

ततो निशम्य दाशार्हः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥२७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—दुर्योधन की बातें सुनकर श्रीकृष्ण के नेत्र क्रोध से लाल हो गये । फिर कुछ विचारकर उन्होंने कौरवसभा में दुर्योधन से इस प्रकार कहा—

कृष्ण उवाच

लप्स्यसे वीरशयनं काममेतदवाप्स्यसि ।
स्थिरो भव सहामात्यो विमर्दो भविता महान् ॥२८॥

श्रीकृष्ण ने कहा—दुर्योधन ! तुझे रणभूमि में वीरशय्या प्राप्त होगी । तेरी यह इच्छा पूर्ण होगी । तू मन्त्रियोंसहित धैर्य धारण कर । शीघ्र ही महान् नरसंहार होनेवाला है ।

यच्चैवं मन्यसे मूढ न मे कश्चिद् व्यतिक्रमः ।
पाण्डवेष्विति तत् सर्वं निबोधत नराधिपाः ॥२९॥

मूढ ! तू जो यह मानता है कि मैंने पाण्डवों के प्रति कोई अपराध नहीं किया है, तो इस सम्बन्ध में मैं सब बातें बताता हूँ । भूपालो ! आप लोग भी ध्यान देकर सुनें ।

श्रिया संतप्यमानेन पाण्डवानां महात्मनाम् ।
त्वया दुर्मन्त्रितं द्यूतं सौबलेन च भारत ॥३०॥

हे भारत ! महात्मा पाण्डवों की बढ़ती हुई समृद्धि से सन्तप्त होकर तूने ही शकुनि के साथ यह कुमन्त्रणा की थी कि पाण्डवों के साथ जुआ खेला जाए ।

कश्चान्यो भ्रातृभार्यां वै विप्रकर्तुं तथार्हति ।
आनीय च सभां व्यक्तं यथोक्ता द्रौपदी त्वया ॥३१॥

तेरे सिवा कौन ऐसा नीच होगा जो अपने बड़े भाई की पत्नी को सभा में लाकर उसके साथ वैसा अभद्र व्यवहार करेगा जैसा कि तूने द्रौपदी के प्रति स्पष्टरूप से न कहने योग्य बातें कहकर किया था ?

सह मात्रा प्रदग्धुं तान् बालकान् वारणावते ।
आस्थितः परमं यत्नं न समृद्धं च तत् तव ॥३२॥

तूने वारणावत नगर में बाल्यावस्था में पाण्डवों को उनकी मातासहित जला डालने का भारी प्रयत्न किया था, परन्तु तेरा वह उद्देश्य सफल न हो सका ।

विषेण सर्पबन्धैश्च यतिताः पाण्डवास्त्वया ।
सर्वोपायैर्विनाशाय न समृद्धं च तत् तव ॥३३॥

तूने [भीम को] विष देकर, सर्प से कटाकर तथा बँधे हुए हाथ-पैरोंसहित जल में डुबाकर पाण्डवों को नष्ट करने का प्रयत्न किया था परन्तु तेरा वह प्रयास भी सफल न हो सका ।

एवंबुद्धिः पाण्डवेषु मिथ्यावृत्तिः सदा भवान् ।
कथं ते नापराधोऽस्ति पाण्डवेषु महात्मसु ॥३४॥

ऐसे ही विचार रखकर तू पाण्डवों के प्रति सदा कपटपूर्ण बर्ताव करता आया है, फिर कैसे मान लिया जाए कि महात्मा पाण्डवों के प्रति तूने कोई अपराध नहीं किया ?

यच्चैभ्यो याचमानेभ्यः पित्र्यमंशं न दित्ससि ।
तच्च पाप प्रदातासि भ्रष्टैश्वर्यो निपातितः ॥३५॥

पापी ! तू याचना करने पर भी पाण्डवों को जो पैतृक राज्य-भाग नहीं देना चाहता, वही तुझे उस समय देना पड़ेगा, जब युद्धभूमि में धराशायी होकर तू ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाएगा ।

मातापितृभ्यां भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
शाम्येति मुहुरुक्तोऽसि न च शाम्यसि पार्थिव ॥३६॥

माता-पिता, भीष्म, द्रोण और विदुर सबने तुझे बार-बार कहा है कि तू सन्धि कर ले—शान्त हो, परन्तु भूपाल ! तू शान्त होने का नाम ही नहीं लेता ।

शमे हि सुमहाँल्लाभस्तव पार्थस्य चोभयोः ।
न च रोचयसे राजन् किमन्यद् बुद्धिलाघवात् ॥३७॥

राजन् ! शान्ति स्थापित होने पर तेरा और युधिष्ठिर—दोनों का ही महान् लाभ है, परन्तु तुझे यह प्रस्ताव अच्छा नहीं लगता । इसे बुद्धि की मन्दता के सिवा और क्या कहा जा सकता है ?

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति दाशार्हे दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःशासन इदं वाक्यमब्रवीत् कुरुसंसदि ॥३८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जिस समय श्रीकृष्ण ये बातें कह रहे थे, उसी समय दुःशासन ने बीच में ही अमर्षशील दुर्योधन से कौरवसभा में यह कहा—

दुःशासन उवाच

न चेत् संधास्यसे राजन् स्वेन कामेन पाण्डवैः ।
बद्ध्वा हि त्वां प्रदास्यन्ति कुन्तीपुत्राय कौरवाः ॥३९॥

दुःशासन ने कहा—राजन् ! यदि आप स्वेच्छा से पाण्डवों के साथ सन्धि नहीं करेंगे तो प्रतीत होता है, कौरव लोग आपको बाँधकर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर के हाथ में सौंप देंगे ।

वैकर्तनं च मां त्वां च त्रीनेतान् मनुजर्षभ ।
पाण्डवेभ्यःप्रदास्यन्ति भीष्मो द्रोणः पिता च ते ॥४०॥

नरश्रेष्ठ पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण और पिताजी—ये कर्ण को, आपको और मुझे—हम तीनों को ही पाण्डवों के अधिकार में दे देंगे ।

वैशम्पायन उवाच

भ्रातुरेतद् वचः श्रुत्वा धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ।
क्रुद्धः प्रातिष्ठतोत्थाय महानाग इव श्वसन् ॥४१॥
विदुरं धृतराष्ट्रं च भीष्मं द्रोणं जनार्दनम् ।
सर्वानेताननादृत्य मानी मान्यावमानिता ॥४२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भाई की यह बात सुनकर अभिमानी तथा माननीय पुरुषों का अपमान करनेवाला धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन अत्यन्त क्रुद्ध हो फुकार मारते हुए महासर्प की भाँति लम्बी साँसें खींचता हुआ विदुर, धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण और श्रीकृष्ण—इन सबका अनादर करके वहाँ से उठकर चला गया ।

प्रस्थितं तमभिप्रेक्ष्य भ्रातरो मनुजर्षभम् ।
अनुजग्मुः सहामात्या राजानश्चापि सर्वशः ॥४३॥

नरश्रेष्ठ दुर्योधन को वहाँ से जाते देख उसके सभी भाई, मन्त्री तथा सहयोगी नरेश भी सब-के-सब उठकर उसके साथ चल दिये ।

सभायामुत्थितं क्रुद्धं प्रस्थितं भ्रातृभिः सह ।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य भीष्मः शान्तनवोऽब्रवीत् ॥४४॥

इस क्रोध में भरे हुए दुर्योधन को भाइयोंसहित सभा से उठकर जाते देख शान्तनुनन्दन भीष्म ने कहा—

कालपक्वमिदं मन्ये सर्वं क्षत्रं जनार्दन ।
सर्वे ह्यनुसृता मोहात् पार्थिवाः सह मन्त्रिभिः ॥४५॥

"जनार्दन ! मैं समझता हूँ कि ये सभी क्षत्रिय काल से पके हुए फल की भाँति मृत्यु के मुख में जानेवाले हैं, इसीलिए ये सब-के-सब मोहवश अपने मन्त्रियों के साथ दुर्योधन का अनुसरण कर रहे हैं ।"

भीष्मस्याथ वचः श्रुत्वा दाशार्हः पुष्करेक्षणः ।
भीष्मद्रोणमुखान् सर्वानभ्यभाषत वीर्यवान् ॥४६॥

भीष्मजी का यह कथन सुनकर महापराक्रमी दशार्हकुलनन्दन कमलनेत्र श्रीकृष्ण ने भीष्म और द्रोण आदि सब लोगों से इस प्रकार कहा—

श्रीकृष्ण उवाच

दुर्योधनं तथा कर्णं शकुनिं चापि सौबलम् ।
बद्ध्वा दुःशासनं चापि पाण्डवेभ्यः प्रयच्छथ ॥४७॥

श्रीकृष्ण बोले—भरतवंशियो ! आप लोग दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि और दुःशासन को बन्दी बनाकर पाण्डवों को सौंप दो ।

राजन् दुर्योधनं बद्ध्वा ततः संशाम्य पाण्डवैः ।
त्वत्कृते न विनश्येयुः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥४८॥

महाराज धृतराष्ट्र ! आप दुर्योधन को बन्दी बनाकर पाण्डवों से सन्धि कर लें । क्षत्रियशिरोमणे ! ऐसा न हो कि आपके कारण समस्त क्षत्रियों का विनाश हो जाए ।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

षड्विंशोऽध्यायः

धृतराष्ट्र का गान्धारी को बुलाना तथा उसका दुर्योधन को समझाना

वैशम्पायन उवाच

**कृष्णस्य तु वचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
विदुरं सर्वधर्मज्ञं त्वरमाणोऽभ्यभाषत ॥१॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! श्रीकृष्ण का कथन सुनकर राजा धृतराष्ट्र ने सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता विदुर से शीघ्रतापूर्वक कहा—

**गच्छ तात महाप्राज्ञां गान्धारीं दीर्घदर्शिनीम्।
आनयेह तया सार्धमनुनेष्यामि दुर्मतिम् ॥२॥**

"तात! जाओ, परम विदुषी तथा दूरदर्शिनी गान्धारी देवी को यहाँ बुला लाओ। मैं उसी के साथ इस दुर्बुद्धि को समझा-बुझाकर सुमार्ग पर लाने की चेष्टा करूंगा।

**यदि सापि दुरात्मानं शमयेद् दुष्टचेतसम्।
अपि कृष्णस्य सुहृदस्तिष्ठेम वचने वयम् ॥३॥**

"यदि वह भी उस दुष्टचित्त दुरात्मा को शान्त कर सके तो हम लोग अपने सुहृद् श्रीकृष्ण की आज्ञापालन कर सकते हैं।"

**राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा विदुरो दीर्घदर्शिनीम्।
आनयामास गान्धारीं धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥४॥**

महाराज धृतराष्ट्र की आज्ञा सुनकर विदुर उनके आदेश से दूरदर्शिनी गान्धारीदेवी को वहाँ बुला लाये। [उनके आ जाने पर]

धृतराष्ट्र उवाच

**एष गान्धारि पुत्रस्ते दुरात्मा शासनातिगः।
ऐश्वर्यलोभादैश्वर्यं जीवितं च प्रहास्यति ॥५॥**

धृतराष्ट्र बोले—हे गान्धारि! तुम्हारा यह दुरात्मा पुत्र गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन कर रहा है। यह ऐश्वर्य के लोभ में पड़कर राज्य और प्राण दोनों से हाथ धो बैठेगा।

**अशिष्टवदमर्यादः पापैः सह दुरात्मवान्।
सभाया निर्गतो मूढो व्यतिक्रम्य सुहृद्वचः ॥६॥**

मर्यादा का उल्लंघन करनेवाला यह मूढ़ दुरात्मा अशिष्ट पुरुषों की भाँति हितैषी सुहृदों की आज्ञा को ठुकराकर अपने पापी साथियों के साथ सभा से बाहर चला गया है।

वैशम्पायन उवाच

**सा भर्तृवचनं श्रुत्वा राजपुत्री यशस्विनी।
अन्विच्छन्ती महच्छ्रेयो गान्धारी वाक्यमब्रवीत् ॥७॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पति का यह वचन सुनकर यशस्विनी राजपुत्री गान्धारी महान् कल्याण का अनुसन्धान करती हुई इस प्रकार बोली।

गान्धार्युवाच

**आनायय सुतं क्षिप्रं राज्यकामुकमातुरम्।
त्वं ह्येवात्र भृशं गर्ह्यो धृतराष्ट्र सुतप्रियः ॥८॥**

गान्धारी ने कहा—महाराज! राज्य की कामना से आतुर हुए अपने पुत्र को शीघ्र बुलवाइए। आपको अपना पुत्र बहुत प्रिय है, अतः वर्तमान परिस्थिति के लिए आप ही अत्यन्त निन्दनीय हैं।

**स एष काममन्युभ्यां प्रलब्धो लोभमास्थितः।
अशक्योऽद्य त्वया राजन् विनिवर्तयितुं बलात् ॥९॥**

राजन्! इस दुर्योधन को काम और क्रोध ने अपने वश में कर लिया है। यह लोभ में फँस गया है, अतः अब आपका इसे बलपूर्वक पीछे लौटाना असम्भव है।

वैशम्पायन उवाच

**शासनाद् धृतराष्ट्रस्य दुर्योधनममर्षणम्।
मातुश्च वचनात् क्षत्ता सभां प्रावेशयत् पुनः ॥१०॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पिता धृतराष्ट्र के आदेश और माता गान्धारी की आज्ञा से विदुर अमर्षशील दुर्योधन को जैसे-तैसे पुनः सभा में ले आये।

**तं प्रविष्टमभिप्रेक्ष्य पुत्रमुत्पथमास्थितम्।
विगर्हमाणा गान्धारी शमार्थं वाक्यमब्रवीत् ॥११॥**

अपने कुमार्गगामी पुत्र को पुनः सभा में प्रविष्ट हुआ देख गान्धारी उसकी निन्दा करती हुई शान्ति-स्थापन के लिए इस प्रकार बोली—

गान्धार्युवाच

**दुर्योधन यदाह त्वां पिता भरतसत्तम।
भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता सुहृदां कुरु तद् वचः ॥१२॥**

गान्धारी बोली—भरतश्रेष्ठ दुर्योधन! तुम्हारे

पिता, पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य तथा विदुर तुमसे जो कुछ कहते हैं, अपने इन सुहृदों की वह बात मान लो।

भीष्मस्य तु पितुश्चैव मम चापचितिः कृता।
भवेद् द्रोणमुखानां च सुहृदां शाम्यता त्वया ॥१३॥

यदि तुम शान्त हो जाओगे तो तुम्हारे द्वारा भीष्मजी की, पिताजी की, मेरी तथा द्रोणाचार्य आदि अन्य हितैषी सुहृदों की भी पूजा सम्पन्न हो जाएगी [प्रतिष्ठा रह जाएगी]।

न हि राज्यं महाप्राज्ञ स्वेन कामेन शक्यते।
अवाप्तुं रक्षितुं वापि भोक्तुं भरतसत्तम ॥१४॥

भरतश्रेष्ठ! कोई भी अपनी इच्छा मात्र से राज्य की प्राप्ति, रक्षा अथवा उसका उपभोग नहीं कर सकता।

न ह्यवश्येन्द्रियो राज्यमश्नीयाद् दीर्घमन्तरम्।□
विजितात्मा तु मेधावी स राज्यमभिपालयेत् ॥१५॥

जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं किया है, वह चिरकाल तक राज्य का उपभोग नहीं कर सकता। जिसने अपने मन को जीत लिया है, वह मेधावी पुरुष ही राज्य की रक्षा कर सकता है।

कामक्रोधौ हि पुरुषमर्थेभ्यो व्यपकर्षतः।□
तौ तु शत्रू विनिर्जित्य राजा विजयते महीम् ॥१६॥

काम और क्रोध मनुष्य को धन से दूर खींचकर ले जाते हैं। उन दोनों शत्रुओं को जीत लेने पर ही राजा इस पृथिवी पर विजय पाता है।

कामं क्रोधं च लोभं च दम्भं दर्पं च भूमिपः।□
सम्यग्विजेतुं यो वेद स महीमभिजायते ॥१७॥

जो राजा काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और दर्प को अच्छी प्रकार जीतने की कला जानता है, वही इस पृथिवी का शासन कर सकता है।

यथा भीष्मः शान्तनवो द्रोणश्चापि महारथः।
आहतुस्तात तत् सत्यमजेयौ कृष्णपाण्डवौ ॥१८॥

तात! शान्तनुनन्दन भीष्म तथा महारथी द्रोणाचार्य जैसा कह रहे हैं, वह सर्वथा सत्य है। वस्तुतः श्रीकृष्ण और अर्जुन अजेय हैं।

प्रपद्यस्व महाबाहुं कृष्णमक्लिष्टकारिणम्।
प्रसन्नो हि सुखाय स्यादुभयोरेव केशवः ॥१९॥

तुम अनायास ही महिमाभरे [सुखद] कर्म करनेवाले महाबाहु श्रीकृष्ण की शरण लो, क्योंकि श्रीकृष्ण प्रसन्न होने पर दोनों ही पक्षों को सुखी बना सकते हैं।

सुहृदामर्थकामानां यो न तिष्ठति शासने।□
प्राज्ञानां कृतविद्यानां स नरः शत्रुनन्दनः ॥२०॥

जो मनुष्य अपना भला चाहनेवाले ज्ञानी एवं विद्वान् सुहृदों के शासन में नहीं रहता—उनके उपदेश के अनुसार नहीं चलता वह शत्रुओं का आनन्द बढ़ानेवाला होता है।

न युद्धे तात कल्याणं न धर्मार्थौ कुतः सुखम्।
न चापि विजयो नित्यं मा युद्धे चेत आधिथाः ॥२१॥

तात! युद्ध करने में कल्याण नहीं है। उससे धर्म और अर्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर सुख तो मिल ही कैसे सकता है? युद्ध में सदा विजय ही हो यह भी निश्चित नहीं है, अतः युद्ध में मन मत लगाओ।

प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां यथोचितमरिन्दम।
यदीच्छसि सहामात्यो भोक्तुमर्धं प्रदीयताम् ॥२२॥

शत्रुओं का दमन करनेवाले पुत्र! यदि तुम अपने मन्त्रियोंसहित राज्य-सुख भोगना चाहते हो तो पाण्डवों को उनका यथोचित भाग—आधा राज्य प्रदान कर दो।

अलमर्धं पृथिव्यास्ते सहामात्यस्य जीवितुम्।
सुहृदां वचने तिष्ठन् यशः प्राप्स्यसि भारत ॥२३॥

हे भारत! भूमण्डल का आधा राज्य मन्त्रियों सहित तुम्हारे जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त है। सुहृदों की आज्ञा के अनुसार चलकर तुम सुयश प्राप्त करोगे।

अलमङ्ग निकारोऽयं त्रयोदश समाः कृतः।
शमयैनं महाप्राज्ञ कामक्रोधसमेधितम् ॥२४॥

वत्स! पाण्डवों को जो तेरह वर्ष के लिए निर्वासित कर दिया गया था, यह भी उनका महान् अपकार हुआ है। महामते! तुम्हारे काम और क्रोध से इस अपकार की और भी वृद्धि हुई है। अब तुम सन्धि के द्वारा इसे शान्त कर दो।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

दुर्योधन के षड्यन्त्र का भण्डाफोड़, श्रीकृष्ण की सिंहगर्जना और कौरवसभा से प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

तत्तु वाक्यमनादृत्य सोऽर्थवन्मातृभाषितम् ।
पुनः प्रतस्थे संरम्भात् सकाशमकृतात्मनाम् ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! माता के कहे हुए उस नीतियुक्त वचन का अनादर करके दुर्योधन पुनः क्रोधपूर्वक वहाँ से उठकर उन्हीं अजितात्मा मन्त्रियों के पास चला गया।

ततः सभाया निर्गम्य मन्त्रयामास कौरवः ।
सौबलेन मताक्षेण राज्ञा शकुनिना सह ।।२।।

फिर सभा से बाहर निकलकर दुर्योधन ने जुए के विशेषज्ञ सुबलपुत्र राजा शकुनि के साथ गुप्तरूप से मन्त्रणा की।

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेः सौबलस्य च ।
दुःशासनचतुर्थानामिदमासीद् विचेष्टितम् ।।३।।

उस समय दुर्योधन, कर्ण, सुबलपुत्र शकुनि और दुःशासन—इन चारों ने यह निश्चय किया—

पुरायमस्मान् गृह्णाति क्षिप्रकारी जनार्दनः ।
वयमेव हृषीकेशं निगृह्णीम बलादिव ।।४।।

शीघ्रकारी श्रीकृष्ण हमें बन्दी बनाएँ उससे पूर्व हम लोग ही बलपूर्वक हृषीकेश को बन्दी बना लें।

श्रुत्वा गृहीतं वार्ष्णेयं पाण्डवा हतचेतसः ।
निरुत्साहा भविष्यन्ति भग्नदंष्ट्रा इवोरगाः ।।५।।

श्रीकृष्ण को बन्दी हुआ सुनकर पाण्डव दाँत तोड़े हुए सर्पों के समान निराश और हतोत्साह हो जाएँगे।

तेषां पापमभिप्रायं पापानां दुष्टचेतसाम् ।
इङ्गितज्ञः कविः क्षिप्रमन्वबुद्ध्यत सात्यकिः ।।६।।

विद्वान् सात्यकि संकेतों से दूसरों के मन की बात समझ लेनेवाले थे। वे उन दुष्टचित्त पापियों के उस पापपूर्ण अभिप्राय को शीघ्र ही ताड़ गये।

तदर्थमभिनिष्क्रम्य हार्दिक्येन सहास्थितः ।
अब्रवीत् कृतवर्माणं क्षिप्रं योजय वाहिनीम् ।।७।।
व्यूढानीकः सभाद्वारमुपतिष्ठस्व दंशितः ।
यावदाख्याम्यहं चैतत् कृष्णायाक्लिष्टकारिणे ।।८।।

फिर उसके प्रतिकार के लिए वे सभा से बाहर निकलकर कृतवर्मा से मिले तथा इस प्रकार बोले—"तुम शीघ्र ही अपनी सेना को तैयार कर लो और स्वयं भी कवच धारण करके व्यूहाकार खड़ी हुई सेना के साथ सभाभवन के द्वार पर खड़े रहो। तबतक मैं अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीकृष्ण को कौरवों के इस षड्यन्त्र की सूचना दिये देता हूँ।"

स प्रविश्य सभां वीरः सिंहो गिरिगुहामिव ।
आचष्ट तमभिप्रायं केशवाय महात्मने ।
धृतराष्ट्रं ततश्चैव विदुरं चान्वभाषत ।।९।।

ऐसा कहकर वीर सात्यकि ने सभा में प्रवेश किया, मानो सिंह पर्वत की गुहा में प्रवेश कर रहा हो। वहाँ जाकर उन्होंने महात्मा केशव को कौरवों का अभिप्राय बताया। फिर धृतराष्ट्र और विदुर को भी इसकी सूचना दी।

सात्यकिरुवाच

धर्मादर्थाच्च कामाच्च कर्म साधुविगर्हितम् ।
मन्दाः कर्तुमिहेच्छन्ति न चावाप्यं कथञ्चन ।।१०।।

सात्यकि ने कहा—सभासदो ! कुछ मूर्ख कौरव एक ऐसा नीच कर्म करना चाहते हैं जो धर्म, अर्थ और काम सभी दृष्टियों से साधु-पुरुषों द्वारा निन्दित है, यद्यपि इस कार्य में उन्हें सफलता किसी प्रकार भी नहीं मिल सकती।

इमं हि पुण्डरीकाक्षं जिघृक्षन्त्यल्पचेतसः ।
पटेनाग्निं प्रज्वलितं यथा बाला यथा जडाः ।।११।।

जैसे बालक और जड़ बुद्धिवाले लोग प्रज्वलित अग्नि को कपड़े में बाँधना चाहें, उसी प्रकार ये मन्द-बुद्धि कौरव कमलनेत्र श्रीकृष्ण को यहाँ बन्दी बनाना चाहते हैं।

कृष्ण उवाच

राजन्नेते यदि क्रुद्धा मां निगृह्णीयुरोजसा ।
एते वा मामहं वैनाननुजानीहि पार्थिव ।।१२।।

श्रीकृष्ण बोले—राजन् ! ये दुष्ट कौरव यदि क्रुद्ध होकर मुझे बलपूर्वक पकड़ सकते हों तो आप इन्हें आज्ञा दे दीजिए। फिर देखिए, ये मुझे पकड़ते

हैं अथवा मैं इन्हें बन्दी बनाता हूँ।

एतान् हि सर्वान् संरब्धान् नियन्तुमहमुत्सहे।
न त्वहं निन्दितं कर्म कुर्यां पापं कथञ्चन ॥१३॥

यद्यपि क्रोध में भरे हुए इन समस्त कौरवों को मैं बन्दी बना लेने की शक्ति रखता हूँ, तथापि मैं किसी प्रकार भी कोई निन्दित कर्म अथवा पाप नहीं कर सकूँगा।

एष दुर्योधनो राजन् यथेच्छति तथास्तु तत्।
अहं तु सर्वांस्तनयाननुजानामि ते नृप ॥१४॥

नरेश्वर ! यह दुर्योधन जैसा चाहता है, वैसा ही हो। मैं आपके सभी पुत्रों को इसके लिए आज्ञा देता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

एतत् श्रुत्वा तु विदुरं धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत।
क्षिप्रमानय तं पापं राज्यलुब्धं सुयोधनम् ॥१५॥
सहमित्रं सहामात्यं ससोदर्यं सहानुगम्।
शक्नुयां यदि पन्थानमवतारयितुं पुनः ॥१६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—यह सुनकर धृतराष्ट्र ने विदुर से कहा—"तुम उस पापात्मा राज्यलोभी दुर्योधन को उसके मित्रों, मन्त्रियों, भाइयों तथा अनुगामियोंसहित शीघ्र मेरे पास बुला लाओ। यदि मैं पुनः प्रयत्न कर उसे सन्मार्ग पर ला सकूँ तो अच्छा होगा।"

ततो दुर्योधनं क्षत्ता पुनः प्रावेशयत् सभाम्।
अकामं भ्रातृभिः सार्धं राजभिः परिवारितम् ॥१७॥

तब विदुरजी राजाओं से घिरे हुए दुर्योधन को उसकी इच्छा न होते हुए भी भाइयोंसहित पुनः सभा में ले आये।

अथ दुर्योधनं राजा धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत।
कर्णदुःशासनाभ्यां च राजभिश्चापि संवृतम् ॥१८॥

उस समय कर्ण, दुःशासन, तथा अन्य राजाओं से घिरे हुए दुर्योधन से राजा धृतराष्ट्र ने कहा।

धृतराष्ट्र उवाच

त्वमिमं पुण्डरीकाक्षमप्रधृष्यं दुरासदम्।
पापैः सहायैः संहत्य निग्रहीतुं किलेच्छसि ॥१९॥

धृतराष्ट्र बोले—सुनता हूँ, तू अपने पापी सहायकों से मिलकर इन दुर्धर्ष तथा दुर्जय वीर, कमलनेत्र श्रीकृष्ण को बन्दी बनाना चाहता है।

यो न शक्यो बलात् कर्तुं देवैरपि सवासवैः।
तं त्वं प्रार्थयसे मन्द बालश्चन्द्रमसं यथा ॥२०॥

अरे मूढ़ ! इन्द्रसहित सारे देवता भी जिन्हें बलपूर्वक अपने वश में नहीं कर सकते, तू उन्हीं को बन्दी बनाना चाहता है। तेरी यह चेष्टा वैसी ही है, जैसे कोई बालक चन्द्रमा को पकड़ना चाहे।

दुर्ग्रहः पाणिना वायुर्दुःस्पर्शः पाणिना शशी।
दुर्धरा पृथिवी मूर्ध्ना दुर्ग्राह्यः केशवो बलात् ॥२१॥

जैसे वायु को हाथ से पकड़ना दुष्कर है, चन्द्रमा को हाथ से स्पर्श करना कठिन है तथा भूमि को मस्तक पर धारण करना असम्भव है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण को बलपूर्वक पकड़ना असम्भव है।

विदुर उवाच

प्रधर्षयन् महाबाहुं कृष्णमक्लिष्टकारिणम्।
पतङ्गोऽग्निमिवासाद्य सामात्यो न भविष्यसि ॥२२॥

विदुरजी ने कहा—अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले महाबाहु श्रीकृष्ण का तिरस्कार करने पर तुम अपने मन्त्रियोंसहित उसी प्रकार नष्ट हो जाओगे, जैसे पतंगा अग्नि में पड़कर भस्म हो जाता है।

वैशम्पायन उवाच

विदुरेणैवमुक्तस्तु केशवः शत्रुपूगहा।
दुर्योधनं धार्तराष्ट्रमभ्यभाषत वीर्यवान् ॥२३॥
एकोऽहमिति यन्मोहान्मन्यसे मां सुयोधन।
परिभूय सुदुर्बुद्धे ग्रहीतुं मां चिकीर्षसि ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरजी के ऐसा कहने पर शत्रुसमूह का संहार करनेवाले महाबली श्रीकृष्ण ने धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन से कहा—"दुर्बुद्धि दुर्योधन ! तू मोहवश जो मुझे अकेला मान रहा है और इसीलिए मेरा तिरस्कार करके मुझे पकड़ना चाहता है, यह तेरा अज्ञान है।

एवमुक्त्वा जहासोच्चैः केशवः परवीरहा।
ततः सात्यकिमादाय पाणौ हार्दिक्यमेव च।
निश्चक्राम त्वनादृत्य सर्वं तद् राजमण्डलम् ॥२५॥

ऐसा कहकर श्रीकृष्ण ने उच्च स्वर से अट्टहास किया। फिर वे सात्यकि और कृतवर्मा का हाथ पकड़े हुए उस समस्त नरेशमण्डल का तिरस्कार कर सभा-

भवन से बाहर निकल आये।

ततो रथेन शुभ्रेण महता किङ्किणीकिना।
कुरूणां पश्यतां द्रष्टुं स्वसारं स पितुर्ययौ ॥२६॥

बाहर निकलकर किंकिणीविभूषित विशाल एवं उज्ज्वल रथ पर आरूढ़ हो श्रीकृष्ण कौरवों के देखते-देखते अपनी बुआ कुन्ती से मिलने के लिए गये।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशोऽध्याय

विदुला का उपाख्यान सुनाते हुए कुन्ती का पाण्डवों को सन्देश देना

वैशम्पायन उवाच

प्रविश्याथ गृहं तस्याश्चरणावभिवाद्य च।
आचख्यौ तत् समासेन यद् वृत्तं कुरुसंसदि ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कुन्ती के भवन [कक्ष] में जा, उनके चरणों में प्रणाम करके श्रीकृष्ण ने कौरवसभा में जो कुछ हुआ था, वह सब समाचार उन्हें संक्षेप से कह सुनाया।

वासुदेव उवाच

उक्तं बहुविधं वाक्यं न चासौ तद् गृहीतवान्।
कालपक्वमिदं सर्वं सुयोधनवशानुगम् ॥२॥

श्रीकृष्ण बोले—बुआजी! मैंने अनेक प्रकार के वचनों से दुर्योधन को समझाया परन्तु उसने मेरी बात नहीं मानी। प्रतीत होता है, दुर्योधन के वश में होकर उसी के पीछे चलनेवाला यह सारा क्षत्रिय-समुदाय काल से परिपक्व हो गया है, [अतः शीघ्र नष्ट होनेवाला है]।

आपृच्छे भवतीं शीघ्रं प्रयास्ये पाण्डवान् प्रति।
किं वाच्याः पाण्डुपुत्रास्ते भवत्या वचनान्मया ॥३॥

अब मैं आपसे आज्ञा चाहता हूँ। मैं यहाँ से शीघ्र ही पाण्डवों के पास जाऊँगा। मुझे पाण्डवों से आपका क्या सन्देश कहना है, वह बताओ।

कुन्त्युवाच

ब्रूयाः केशव राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
भूयांस्ते हीयते धर्मो मा पुत्रक वृथा कृथाः ॥४॥

कुन्ती बोली—केशव! तुम धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर के पास जाकर इस प्रकार कहना—पुत्र! तुम्हारे प्रजा-पालनरूप धर्म की महती हानि हो रही है। तुम उस धर्म-पालन के अवसर को व्यर्थ न गँवाओ।

पित्र्यमंशं महाबाहो निमग्नं पुनरुद्धर।
साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनाथ नयेन वा ॥५॥

महाबाहो! तुम्हारा पैतृक राज्य-भाग शत्रुओं के हाथ में पड़कर लुप्त हो गया है। तुम साम, दान, भेद अथवा दण्डनीति से पुनः उसका उद्धार करो।

इतो दुःखतरं किं नु यदहं हीनबान्धवा।
परपिण्डमुदीक्षे वै त्वां सूत्वामित्रनन्दन ॥६॥

शत्रुओं का आनन्द बढ़ानेवाले पाण्डव! इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या हो सकती है कि मैं तुम्हें जन्म देकर भी बन्धु-बान्धवों से हीन नारी के समान जीविका के लिए दूसरों के दिये हुए पिण्ड (अन्न, रोटी) की आशा लगाये ऊपर देखती रहती हूँ!

युद्धस्व राजधर्मेण मा निमज्जीः पितामहान्।
मा गमः क्षीणपुण्यस्त्वं सानुजः पापिकां गतिम् ॥७॥

अतः तुम राजधर्म के अनुसार युद्ध करो। कायर बनकर अपने बाप-दादाओं के नाम को बट्टा मत लगाओ तथा भाइयोंसहित पुण्य से वञ्चित होकर पापमयी गति को प्राप्त मत होओ।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
विदुलायाश्च संवादं पुत्रस्य च परन्तप ॥८॥

शत्रुसंतापक श्रीकृष्ण! इस प्रसङ्ग में विद्वान् लोग विदुला और उसके पुत्र संजय के संवादरूप इस पुरातन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं।

विदुला नाम राजन्या जगर्हे पुत्रमौरसम्।
निर्जितं सिन्धुराजेन शयानं दीनचेतसम् ॥९॥

विदुला नामक एक प्रसिद्ध क्षत्राणी थी। एक समय उसका पुत्र संजय सिन्धुराज से पराजित हो

प्रत्यन्त दीनभाव से घर आकर सो रहा था। राजरानी विदुला ने अपने उस औरसपुत्र को इस दशा में देखकर उसकी बड़ी निन्दा की।

विदुलोवाच

अनन्दनमधर्मज्ञं द्विषतां हर्षवर्धनम्।
न मया त्वं न पित्रा च जातः क्वाभ्यागतो ह्यसि ॥१०॥

विदुला बोली—अरे! तू मेरे गर्भ से उत्पन्न होकर भी मुझे दुःख देनेवाला, धर्म को न जाननेवाला और शत्रुओं का आनन्द बढ़ानेवाला है, अतः मैं समझती हूँ कि तू मेरी कोख से पैदा ही नहीं हुआ। तेरे पिता ने भी तुझे उत्पन्न नहीं किया, फिर तुझ जैसा कायर कहाँ से आ गया?

निर्मन्युश्चाप्यसंख्येयः पुरुषः क्लीवसाधनः।
यावज्जीवं निराशोऽसि कल्याणाय धुरं वह ॥११॥

तू सर्वथा क्रोधशून्य है, क्षत्रियों में गणना के अयोग्य है। तू नाममात्र का पुरुष है, तेरे मन आदि सभी साधन नपुंसकों के समान हैं। क्या तू जीवन-भर के लिए निराश हो गया? अरे! उठ, और अपने कल्याण के लिए युद्ध का भार वहन कर।

माऽऽत्मानमवमन्यस्व मैनमल्पेन बीभरः।
मनः कृत्वा सुकल्याणं मा भैस्त्वं प्रतिसंहर ॥१२॥

अपने-आपको दीन-हीन मत समझ। इस आत्मा का थोड़े धन से भरण-पोषण मत कर। अपने मन को शिवसंकल्पों से सम्पन्न करके निडर हो जा, भय को सर्वथा त्याग दे।

उत्तिष्ठ कापुरुष त्वं मा शेष्वैवं पराजितः।
अमित्रान् नन्दयन् सर्वान् निर्मानो बन्धुशोकदः ॥१३॥

अरे कायर! उठ, खड़ा हो, इस प्रकार पराजित होकर घर में शयन न कर [उद्योगशून्य मत बन]। ऐसा करके तो तू सब शत्रुओं को आनन्द दे रहा है और मान-प्रतिष्ठा से वञ्चित होकर बन्धु-बान्धवों को शोक में डाल रहा है।

सुपूरा वै कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः।
सुसन्तोषः कापुरुषः स्वल्पकेनैव तुष्यति ॥१४॥

जैसे छोटी नदी थोड़े-से जल से भर जाती है, चूहे की अञ्जलि थोड़े-से अन्न से भर जाती है, वैसे ही कायर को सन्तुष्ट करना सुगम है, वह थोड़े-से ही सन्तुष्ट हो जाता है।

अप्यहेरारुजन् दंष्ट्रामाश्वेव निधनं व्रज।
अपि वा संशयं प्राप्य जीवितेऽपि पराक्रमेः ॥१५॥

तू शत्रुरूपी सर्प के दाँत तोड़ता हुआ तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो जा। प्राण जाने का सन्देह हो तो भी शत्रु के साथ युद्ध में पराक्रम ही प्रकट कर।

मास्तं गमस्त्वं कृपणो विश्रूयस्व स्वकर्मणा।
मा मध्ये मा जघन्ये त्वं माधो भूस्तिष्ठ गर्जितः ॥१६॥

तू दीन होकर अस्त मत हो। तू अपने शौर्यपूर्ण कर्म से प्रसिद्धि प्राप्त कर। तू मध्यम, अधम अथवा निकृष्ट-भाव का आश्रय न ले अपितु सिंहनाद करके युद्ध-भूमि में डट जा।

अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि विज्वल।□
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः॥
मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् ॥१७॥

तू तिन्दुक [फूस] की जलती हुई अग्नि के समान दो घड़ी के लिए ही प्रज्वलित हो, उस [थोड़ी देर के लिए ही सही, शत्रु के सामने महान् पराक्रम प्रकट कर] परन्तु जीने की इच्छा से भूसी की ज्वालारहित आग के समान केवल धूआँ न छोड़ [मन्द पराक्रम से काम न ले]। दो घड़ी भी प्रज्वलित रहना अच्छा, परन्तु धूआँ छोड़ते हुए दीर्घकाल तक सुलगना अच्छा नहीं।

उद्भावयस्व वीर्यं वा तां वा गच्छ ध्रुवां गतिम्।
धर्मं पुत्राग्रतः कृत्वा किं निमित्तं हि जीवसि ॥१८॥

पुत्र! धर्म को आगे रखकर या तो पराक्रम प्रकट कर अथवा मृत्यु को प्राप्त हो जा अन्यथा किसलिए जी रहा है?

इष्टापूर्तं हि ते क्लीब कीर्तिश्च सकला हता।
विच्छिन्नं भोगमूलं ते किंनिमित्तं हि जीवसि ॥१९॥

कायर! तेरे इष्ट और आपूर्ति-कर्म नष्ट हो गये, सारी कीर्ति धूल में मिल गई तथा सुख-भोग का मूलसाधन राज्य भी छिन गया, फिर तू किस-लिए जी रहा है?

शत्रुर्निमज्जता ग्राह्यो जङ्घायां प्रपतिष्यता।
विपरिच्छिन्नमूलोऽपि न विषीदेत् कथञ्चन ॥२०॥

मनुष्य डूबते हुए अथवा ऊपर से नीचे गिरते

समय भी शत्रु की टाँग अवश्य पकड़े। ऐसा करते समय अपना मूलोच्छेद हो जाए तो भी किसी प्रकार का विषाद न करे।

कुरु सत्त्वं च मानं च विद्धि पौरुषमात्मनः।
उद्भावय कुलं मग्नं त्वत्कृते स्वयमेव हि ॥२१॥

पुत्र! तू धैर्य और स्वाभिमान का अवलम्बन कर। अपने पुरुषार्थ को जान और तेरे कारण डूबे हुए इस वंश का तू स्वयं ही उद्धार कर।

यस्य वृत्तं न जल्पन्ति मानवा महदद्भुतम्।
राशिवर्धनमात्रं स नैव स्त्री न पुनः पुमान् ॥२२॥

जिसके महान् और अद्भुत पुरुषार्थ तथा चरित्र की सब लोग चर्चा नहीं करते, वह मनुष्य अपने द्वारा जनसंख्या की वृद्धिमात्र करनेवाला है। मेरी दृष्टि में न तो वह स्त्री है और न पुरुष ही है।

दाने तपसि सत्ये च यस्य नोच्चरितं यशः।
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव सः ॥२३॥

दान, तपस्या, सत्यभाषण, विद्या तथा धनोपार्जन में जिसके सुयश का सर्वत्र बखान नहीं होता, वह मनुष्य अपनी माता का पुत्र नहीं, मल-मूत्र मात्र है।

श्रुतेन तपसा वापि श्रिया वा विक्रमेण वा।
जानन् योऽभिभवत्यन्यान् कर्मणा हि स वै पुमान् ॥२४॥

जो शास्त्रज्ञान, तपस्या, धन-सम्पत्ति अथवा पराक्रम के द्वारा दूसरे लोगों को पराजित कर देता है, वह उसी श्रेष्ठ कर्म के द्वारा पुरुष कहलाता है।

निरमर्षं निरुत्साहं निर्वीर्यमरिनन्दनम्। □
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम् ॥२५॥

संसार की कोई भी नारी ऐसे पुत्र को जन्म न दे जो अमर्षशून्य, उत्साहहीन, बल और पराक्रम से रहित तथा शत्रुओं का आनन्द बढ़ानेवाला हो।

मा धूमाय ज्वलात्यन्तमाक्रम्य जहि शात्रवान्।
ज्वलमूर्धन्यमित्राणां मुहूर्तमपि वा क्षणम् ॥२६॥

अरे! धूएँ की भाँति मत उठ। जोर से प्रज्वलित हो जा और वेगपूर्वक आक्रमण करके शत्रु-सैनिकों का संहार कर डाल। तू एक मुहूर्त या एक क्षण के लिए ही सही, वैरियों के मस्तक पर जलती हुई आग बनकर छा जा।

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी।
क्षमावान् निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान् ॥२७॥

वही पुरुष [क्षत्रिय] है जिसके हृदय में अमर्ष [क्रोध] है तथा जो शत्रुओं के प्रति क्षमाभाव धारण नहीं करता, इतने ही गुणों के कारण वह पुरुष कहाता है। जो क्षमाशील और अमर्षशून्य है, वह क्षत्रिय न तो स्त्री है और न पुरुष ही कहलाने योग्य है।

सन्तोषो वै श्रियं हन्ति तथानुक्रोश एव च।
अनुत्थानभये चोभे निरीहो नाश्नुते महत् ॥२८॥

सन्तोष, दया, उद्योगशून्यता और भय— ये सम्पत्ति का नाश करनेवाले हैं। निश्चेष्ट मनुष्य कभी कोई महत्त्वपूर्ण पद नहीं पा सकता।

एभ्यो निकृतिपापेभ्यः प्रमुञ्चात्मानमात्मना।
आयसं हृदयं कृत्वा मृगयस्व पुनः स्वकम् ॥२९॥

पराजय के कारण लोक में जो तेरी निन्दा और तिरस्कार हो रहा है, इन सब दोषों से तू स्वयं ही अपने-आपको मुक्त कर तथा अपने हृदय को लोहे के समान दृढ़ बनाकर पुनः अपने योग्य पद (राज्य-वैभव) का अनुसन्धान कर।

परं विषहते यस्मात् तस्मात् पुरुष उच्यते।
तमाहुर्व्यर्थनामानं स्त्रीवद् य इह जीवति ॥३०॥

जो पर अर्थात् शत्रु का सामना करके उसके दाँत खट्टे कर देता है, वही उस पुरुषार्थ के कारण पुरुष कहलाता है। जो इस जगत् में स्त्री की भाँति भीरुता-पूर्ण जीवन बिताता है, उसका 'पुरुष' नाम व्यर्थ कहा गया है।

यस्य शूरस्य विक्रान्तैरेधन्ते बान्धवाः सुखम्।
त्रिदशा इव शक्रस्य साधु तस्येह जीवितम् ॥३१॥

जैसे इन्द्र के पराक्रम से सभी देवता सुखी रहते हैं, वैसे ही जिस शूरवीर के बल और पुरुषार्थ से उसके भाई-बन्धु सुखपूर्वक उन्नति करते हैं, इस संसार में उसी का जीवन श्रेष्ठ है।

स्वबाहुबलमाश्रित्य योऽभ्युज्जीवति मानवः।
स लोके लभते कीर्तिं परत्र च शुभां गतिम् ॥३२॥

जो मनुष्य अपने बाहुबल का आश्रय लेकर उत्कृष्ट जीवन व्यतीत करता है, वह इस लोक में यश और परलोक में शुभ गति पाता है।

यो हि तेजो यथाशक्ति न दर्शयति विक्रमात् ।
क्षत्रियो जीविताकांक्षी स्तेन इत्येव तं विदुः ॥३३॥

जो क्षत्रिय अपने जीवन के लोभ से यथाशक्ति पराक्रम प्रकट करके अपने तेज का परिचय नहीं देता, उसे सब लोग चोर मानते हैं।

संजयो नामतश्च त्वं न च पश्यामि तत् त्वयि ।
अन्वर्थनामा भव मे पुत्र मा व्यर्थनामकः ॥३४॥

तेरा नाम तो संजय है, परन्तु मैं तुझमें इस नाम के अनुसार गुण नहीं देख रही हूँ। वत्स! तू युद्ध में विजय प्राप्त करके अपना नाम सार्थक कर, व्यर्थ संजय नाम धारण मत कर।

एकशत्रुवधेनैव शूरो गच्छति विश्रुतिम् ।
इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत ॥३५॥

एक शत्रु का वध करने से ही शूरवीर पुरुष सारे भू-मण्डल में विख्यात हो जाता है। देवराज इन्द्र केवल वृत्रासुर का वध करके ही महेन्द्र नाम से प्रसिद्ध हो गये।

नाम विश्राव्य वै संख्ये शत्रूनाहूय दंशितान् ।
सेनाग्रं चापि विद्राव्य हत्वा वा पुरुषं वरम् ॥३६॥
यदैव लभते वीरः सुयुद्धेन महद् यशः ।
तदैव प्रव्यथन्तेऽस्य शत्रवो विनमन्ति च ॥३७॥

वीर पुरुष युद्ध में अपना नाम सुनाकर, कवचधारी शत्रुओं को ललकारकर, सेना के अग्रभाग को खदेड़कर अथवा शत्रुपक्ष के किसी श्रेष्ठ [मुख्य] पुरुष का वध करके जब भीषण युद्ध के द्वारा महान् यश प्राप्त कर लेता है, तभी उसके शत्रु व्यथित होते तथा उसके सामने मस्तक झुकाते हैं।

जहि शत्रून् रणे राजन् स्वधर्ममनुपालय ।
युद्धमेकायनं मत्वा पतोल्मुक इवारिषु ॥३८॥

राजन्! तू युद्ध में शत्रुओं को मार और अपने धर्म का पालन कर। युद्ध को ही [राज्यप्राप्ति का] एकमात्र मार्ग मानकर तू जलते हुए काठ की भाँति शत्रुओं पर टूट पड़।

यत् त्वादृशो विकुर्वीत यशस्वी लोकविश्रुतः ।
अधुर्यवच्च बोढव्ये मन्ये मरणमेव तत् ॥३९॥

यदि तेरे जैसा यशस्वी और लोक-विख्यात पुरुष पराक्रम के अवसर पर डर जाए, भार ढोने के समय बिना नथे बैल के समान बैठा रहे या भाग जाए, तो मैं इसे तेरा मरण ही समझती हूँ।

यदि त्वामनुपश्यामि परस्य प्रियवादिनम् ।
पृष्ठतोऽनुव्रजन्तं वा का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥४०॥

यदि मैं यह देखूँ कि तू शत्रु से मीठी-मीठी बातें करता तथा उसके पीछे-पीछे चलता है, तो मेरे हृदय को क्या शान्ति मिलेगी?

नास्मिन् जातु कुले जातो गच्छेद् योऽन्यस्य पृष्ठतः ।
न त्वं परस्यानुचरस्तात जीवितुमर्हसि ॥४१॥

इस कुल में कभी कोई ऐसा पुरुष नहीं हुआ जो दूसरे के पीछे-पीछे चलता हो। तात! तू दूसरे का सेवक बनकर जीवित रहने के योग्य नहीं है।

यो वै कश्चिदिहाजातः क्षत्रियः क्षत्रकर्मवित् ।
भयाद् वृत्तिसमीक्षो वा न नमेदिह कस्यचित् ॥४२॥

इस जगत् में जो कोई भी क्षत्रिय उत्पन्न हुआ है तथा क्षत्रियधर्म को जाननेवाला है, वह भय से अथवा आजीविका की ओर दृष्टि रखकर भी किसी के सामने नतमस्तक नहीं हो सकता।

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेदिह कस्यचित् ॥४३॥

सदा उद्यम करे, किसी के समक्ष मस्तक न झुकाए। उद्यम ही पुरुषार्थ है। असमय में नष्ट भले ही हो जाए परन्तु किसी के आगे नतमस्तक न हो।

मत्त इव हि मातंगः परीयात् सुमहामनाः ।
ब्राह्मणेभ्यः नमेन्नित्यं धर्मायैव च संजय ॥४४॥

संजय! महामनस्वी क्षत्रिय मदमत्त हाथी के समान सर्वत्र निर्भय होकर विचरे और सदा ब्राह्मणों और धर्म को ही नमस्कार करे।

पुत्र उवाच

ते हि कृष्णायसस्येव संहत्य हृदयं कृतम् ।
ईदृशं वचनं ब्रूयाद् भवती पुत्रमेकजम् ॥४५॥

पुत्र बोला—माँ! ऐसा प्रतीत होता है कि तेरा हृदय काले लोहे के पिण्ड को ठोक-पीटकर बनाया गया है। तू मेरी माँ होकर मुझ-जैसे एकमात्र पुत्र से ऐसी निष्ठुर बात कहे, आश्चर्य है!

अहो क्षत्रसमाचारो यत्र मामितरं यथा ।
नियोजयसि युद्धाय परमातेव मां तथा ॥४६॥

अहो ! क्षत्रियों का आचार-व्यवहार कैसा आश्चर्यजनक है, जिसमें स्थित होकर तू मुझे इस प्रकार युद्ध में लगा रही है, मानो मैं दूसरे का पुत्र होऊँ तथा तू दूसरे की माँ हो।

मातोवाच

तं त्वामयशसा स्पृष्टं न ब्रूयां यदि संजय।
खरीवात्सल्यमाहुस्तन्निःसामर्थ्यमहेतुकम् ॥४७॥

माता बोली—सञ्जय ! जिस समय तुझ-जैसे वीर का अपयश सर्वत्र फैल रहा है, ऐसे अवसर पर भी यदि मैं तुझे कुछ न कहूँ तो मेरा वह वात्सल्य गधी के स्नेह के समान शक्तिहीन और निरर्थक होगा।

युद्धाय क्षत्रियः सृष्टः सञ्जयेह जयाय च।
सद्भिर्विगर्हितं मार्गं त्यज मूर्ख-निषेवितम् ॥४८॥

सञ्जय ! इस लोक में युद्ध एवं विजय के लिए ही विधाता ने क्षत्रिय की सृष्टि की है, अतः वत्स ! तू श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा निन्दित और मूर्खों द्वारा सेवित मार्ग को त्याग दे [खड़ा हो जा और युद्ध कर]।

न शक्रभवने पुण्ये दिवि तद् विद्यते सुखम्।
यदमित्रान् वशे कृत्वा क्षत्रियः सुखमश्नुते ॥४९॥

पुत्र ! जो सुख क्षत्रिय वीर को शत्रुओं को वश में करके प्राप्त होता है, वह सुख पुण्यमय इन्द्र के भवन में और स्वर्गलोक में कहीं भी नहीं मिल सकता।

पुत्र उवाच

अकोशस्यासहायस्य कुतः सिद्धिर्जयो मम।
ईदृशं भवती कंचिदुपायमनुपश्यति ॥५०॥

पुत्र बोला—माँ ! मेरे पास न तो कोश=खजाना है और न सहायता करनेवाले सैनिक ही हैं, फिर मुझे विजयरूप अभीष्ट की सिद्धि कैसे प्राप्त होगी ? क्या तू कोई ऐसा उपाय देख रही है, जिससे मुझे विजय प्राप्त हो सके ?

मातोवाच

पुत्र नात्मावमन्तव्यः पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
अभूत्वा हि भवन्त्यर्था भूत्वा नश्यन्ति चापरे ॥५१॥

माता बोली—पुत्र ! पहले की सम्पत्ति नष्ट हो गई है—यह सोचकर तुम्हें अपना तिरस्कार नहीं करना चाहिए, क्योंकि धन-सम्पत्ति नष्ट होकर पुनः प्राप्त हो जाती हैं तथा प्राप्त भी फिर नष्ट हो जाती हैं।

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ॥५२॥

सफलता होगी ही, मन में ऐसा दृढ़ विश्वास करके तथा निरन्तर विषादरहित होकर तुझे उठना, सजग होना और ऐश्वर्य की प्राप्ति करानेवाले कार्यों में लग जाना चाहिए।

पुत्र उवाच

उदके भूरियं धार्या मर्तव्यं प्रवणे मया।
उद्यच्छाम्येष शत्रूणां नियमाय जयाय च ॥५३॥

पुत्र बोला—माँ ! अब मैं या तो शत्रुरूपी जल में डूबे अपने राज्य का उद्धार करूँगा अथवा युद्ध में शत्रुओं का सामना करते हुए अपने प्राण विसर्जन कर दूंगा। यह देखो, अब मैं शत्रुओं का दमन और विजय-प्राप्ति के लिए बन्धु-बान्धवों के साथ उद्योग कर रहा हूँ।

कुन्त्युवाच

सदश्व इव स क्षिप्तः प्रणुन्नो वाक्यसायकैः।
तच्चकार तथा सर्वं यथावदनुशासनम् ॥५४॥

कुन्ती कहती है—श्रीकृष्ण ! माता के वाग्बाणों से विद्ध और तिरस्कृत होकर चाबुक की मार खाये हुए अच्छे घोड़े की भाँति सञ्जय ने माता के उस समस्त उपदेश का यथावत् पालन किया।

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा।
महीं विजयते क्षिप्रं श्रुत्वा शत्रूंश्च मर्दति ॥५५॥

यह जय नामक इतिहास है। विजय के इच्छुक पुरुष को इसका श्रवण करना चाहिए। इसे सुनकर युद्ध में जानेवाला राजा शीघ्र ही पृथिवी पर विजय पाता है और शत्रुओं को रौंद डालता है।

एतद् धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः।
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ॥५६॥

तुम अर्जुन से तथा युद्ध के लिए सदा उद्यत रहनेवाले भीम से जाकर कहना—"क्षत्राणी जिसके लिए पुत्र को जन्म देती है, उसका यह उपयुक्त अवसर आ गया है।"

माद्रीपुत्रौ च वक्तव्यौ क्षत्रधर्मरतावुभौ ।
विक्रमेणार्जितान् भोगान् वृणीतं जीवितादपि ॥५७॥

पुरुषोत्तम ! तत्पश्चात् क्षत्रिय धर्म में तत्पर रहनेवाले दोनों माद्रीपुत्रों से भी मेरा यह सन्देश कहना—"वीरो ! तुम प्राणों की बाजी लगाकर भी अपने पराक्रम से प्राप्त हुए भोगों का ही उपभोग करो ।"

पाण्डवान् कुशलं पृच्छेः मां च कुशलिनीं वद ।
अरिष्टं गच्छ पन्थानं पुत्रान् मे प्रतिपालय ॥५८॥

कृष्ण ! तुम मेरी ओर से पाण्डवों से कुशल-क्षेम पूछना, फिर मेरी भी कुशलता बताना । जाओ तुम्हारा मार्ग मङ्गलमल हो । तुम सदा मेरे पुत्रों की रक्षा करो ।

वैशम्पायन उवाच

अभिवाद्याथ तां कृष्णः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
निश्चक्राम महाबाहुः सिंहखेलगतिस्ततः ॥५९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् महाबाहु श्रीकृष्ण ने कुन्ती देवी को प्रणाम करके उनकी प्रदक्षिणा की, फिर सिंह के समान मस्तानी चाल से वहाँ से निकले ।

आरोप्याथ रथे कर्णं प्रायात् सात्यकिना सह ।
मन्त्रयामास च तदा कर्णेन सुचिरं सह ॥६०॥

बाहर निकलकर उन्होंने कर्ण को अपने रथ पर बैठाकर सात्यकि के साथ वहाँ से प्रस्थान किया । [नगर से बाहर निकलकर] उन्होंने बहुत देर तक कर्ण के साथ मन्त्रणा की ।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि अष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण का कर्ण को पाण्डवपक्ष में आने के लिए समझाना, कर्ण का दुर्योधन के पक्ष में ही रहने का दृढ़ निश्चय

वासुदेव उवाच

उपासितास्ते राधेय ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
तत्त्वार्थं परिपृष्टाश्च नियतेनानसूयया ॥१॥

श्रीकृष्ण बोले—राधानन्दन ! तुमने वेद के पारंगत ब्राह्मणों की उपासना की है । तत्त्वज्ञान के लिए संयम-नियम से रहकर दोष-दृष्टि का परित्याग करके उन ब्राह्मणों से अपनी शंकाएँ पूछी हैं ।

त्वमेव कर्ण जानासि वेदवादान् सनातनान् ।
त्वमेव धर्मशास्त्रेषु सूक्ष्मेषु परिनिष्ठितः ॥२॥

कर्ण ! सनातन वैदिक सिद्धान्त क्या है, इसे तुम अच्छी प्रकार जानते हो । धर्मशास्त्र के सूक्ष्म रहस्यों के भी तुम परिनिष्ठित विद्वान् हो ।

कानीनश्च सहोढश्च कन्यायां यश्च जायते ।
वोढारं पितरं तस्य प्राहुः शास्त्रविदो जनाः ॥३॥

कर्ण ! कन्या के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसके दो भेद बताये जाते हैं—कानीन और सहोढ । वैसे पुत्र की माता का जिसके साथ विवाह होता है, शास्त्रज्ञों ने उसी को उसका पिता बताया है ।

सोऽसि कर्ण तथा जातः पाण्डोः पुत्रोऽसि धर्मतः ।
निग्रहाद् धर्मशास्त्राणामेहि राजा भविष्यसि ॥४॥

कर्ण ! तुम्हारा जन्म भी इसी प्रकार हुआ है[1] [तुम कुन्ती के ही कन्यावस्था में उत्पन्न हुए पुत्र हो] अतः तुम भी धर्मानुसार पाण्डु के ही पुत्र हो । इसलिए आओ, धर्मशास्त्रों के निश्चयानुसार तुम्हीं राजा होओगे ।

पितृपक्षे च ते पार्था मातृपक्षे च वृष्णयः ।
द्वौ पक्षावभिजानीहि त्वमेतौ पुरुषर्षभ ॥५॥

पिता के पक्ष में कुन्ती के सभी पुत्र तुम्हारे सहायक हैं और मातृपक्ष में समस्त वृष्णिवंशी तुम्हारे साथ हैं । पुरुषश्रेष्ठ ! तुम अपने इन दोनों पक्षों को जान लो ।

---

१. यह सारा प्रकरण यह बता रहा है कि कर्ण को कुन्ती अपना पुत्र बताने और बनाने का प्रयत्न कर रही है । श्रीकृष्ण ने जब देखा कि दोनों पक्षों में सन्धि सम्भव नहीं है तब उन्होंने कर्ण को फोड़ने का प्रयत्न किया । यह श्रीकृष्ण की बहुत बड़ी राजनीतिक चाल थी, परन्तु श्रीकृष्ण इसमें सफल नहीं हुए । हाँ, लोक में यह प्रवाद अवश्य फैल गया है कि कर्ण कुन्ती का कानीन पुत्र है ।

मया सार्धमितो यातमद्य त्वां तात पाण्डवाः ।
अभिजानन्तु कौन्तेयं पूर्वजातं युधिष्ठिरात् ॥६॥

तात ! मेरे साथ यहाँ से चलने पर आज पाण्डवों को तुम्हारे विषय में यह पता लग जाए कि तुम कुन्ती के ही पुत्र हो तथा तुम्हारा जन्म युधिष्ठिर से भी पहले हुआ है।

पादौ तव ग्रहीष्यन्ति भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
द्रौपदेयास्तथा पञ्च सौभद्रश्चापराजितः ॥७॥

पाँचों भाई पाण्डव, द्रौपदी के पाँचों पुत्र तथा किसी से भी पराजित न होनेवाला सुभद्राकुमार वीर अभिमन्यु—ये सभी तुम्हारे चरणों का स्पर्श करेंगे।

अहं च त्वाभिषेक्ष्यामि राजानं पृथिवीपतिम् ।
युवराजोऽस्तु ते राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥८॥

मैं तुम्हें पृथिवीपालक सम्राट् के पद पर अभिषित करूँगा। धर्मपुत्र कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर तुम्हारे युवराज होंगे।

स त्वं परिवृतः पार्थैर्नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
प्रशाधि राज्यं कौन्तेय कुन्तीं च प्रतिनन्दय ॥९॥

कुन्तीकुमार ! नक्षत्रों से घिरे हुए चन्द्रमा की भाँति तुम अपने अन्य भाइयों से घिरे रहकर राज्य का पालन और कुन्ती को आनन्दित करो।

मित्राणि ते प्रहृष्यन्तु व्यथन्तु रिपवस्तथा ।
सौभ्रात्रं चैव तेऽद्यास्तु भ्रातृभिः सह पाण्डवैः ॥१०॥

तुम्हारे मित्र प्रसन्न हों और शत्रुओं के मन में व्यथा हो। कर्ण ! आज से अपने भाई पाण्डवों के साथ तुम्हारा एक श्रेष्ठ बन्धु की भाँति स्नेहपूर्ण व्यवहार हो।

कर्ण उवाच

असंशयं सौहृदान्मे प्रणयाच्चात्थ केशव ।
सख्येन चैव वार्ष्णेय श्रेयस्कामात्तथैव च ॥११॥

कर्ण ने कहा—केशव ! आपने सौहार्द, प्रेम, मैत्री तथा मेरे हित की इच्छा से जो कुछ कहा है, वह निःसन्देह ठीक है।

सर्वं चैवाभिजानामि पाण्डोः पुत्रोऽस्मि धर्मतः ।
कुन्त्या त्वहमपाकीर्णो यथा न कुशलं तथा ॥१२॥

कृष्ण ! मैं धर्मतः पाण्डु का ही पुत्र हूँ, इस बात को मैं अच्छी प्रकार जानता और समझता हूँ, परन्तु कुन्तीदेवी ने मुझे इस प्रकार त्याग दिया, जिससे मैं कुशल नहीं रह सकता था।

सूतो हि मामधिरथो दृष्ट्वैवाभ्यानयद् गृहान् ।
राधायै चैव मां प्रादात् सौहार्दान्मधुसूदन ॥१३॥

मधुसूदन ! उसके पश्चात् अधिरथ नामक सूत मुझे जल में बहते देख, उसमें से निकाल अपने घर ले आये और अति स्नेह से मुझे अपनी पत्नी राधा की गोद में दे दिया।

सा मे मूत्रं पुरीषं च प्रतिजग्राह माधव ।
तस्याः पिण्डव्यपनयं कुर्यादस्मद्विधः कथम् ॥१४॥

माधव ! उस अवस्था में उसी ने मेरा मल-मूत्र उठाना स्वीकार किया, अतः मेरे जैसा [धर्मज्ञ पुरुष] राधा के मुख का ग्रास [पुत्र-सुख] कैसे छीन सकता है ?

तथा मामभिजानाति सूतश्चाधिरथः सुतम् ।
पितरं चाभिजानामि तमहं सौहृदात् सदा ॥१५॥

अधिरथ सूत भी मुझे अपना पुत्र ही समझते हैं तथा मैं भी सौहार्दवश उन्हें सदा से अपना पिता ही मानता आया हूँ।

न पृथिव्या सकलया सुवर्णस्य च राशिभिः ।
हर्षाद् भयाद् वा गोविन्द मिथ्या कर्तुं तदुत्सहे ॥१६॥

गोविन्द ! अब मैं सम्पूर्ण पृथिवी का राज्य पाकर, सुवर्ण की राशियाँ लेकर अथवा हर्ष या भय के कारण भी वे सब सम्बन्ध मिथ्या करना नहीं चाहता।

धृतराष्ट्रकुले कृष्ण दुर्योधनसमाश्रयात् ।
मया त्रयोदश समा भुक्तं राज्यमकण्टकम् ॥१७॥

श्रीकृष्ण ! मैंने दुर्योधन का सहारा पाकर धृतराष्ट्र के कुल में रहते हुए तेरह वर्षों तक अकण्टक राज्य का उपभोग किया है।

मां च कृष्ण समासाद्य कृतः शस्त्रसमुद्यमः ।
दुर्योधनेन वार्ष्णेय विग्रहश्चापि पाण्डवैः ॥१८॥

वृष्णिनन्दन कृष्ण ! दुर्योधन ने मेरे ही भरोसे हथियार उठाने तथा पाण्डवों के साथ विग्रह=युद्ध करने का निश्चय किया है।

द्वैरथे मां रणे तस्मात् प्रत्युद्यातारमच्युत ।
वृतवान् परमं कृष्ण प्रतीपं सव्यसाचिनः ॥१९॥

हे अच्युत ! द्वैरथ युद्ध में सव्यसाची अर्जुन के विरुद्ध लोहा लेने तथा उनका सामना करने के लिए दुर्योधन ने मेरा वरण कर लिया है।

वधाद् बन्धाद्भयाद्वापि लोभाद्वापि जनार्दन।
अनृतं नोत्सहे कर्तुं धार्तराष्ट्रस्य धीमतः ॥२०॥

जनार्दन ! इस समय मैं वध, वन्धन, भय अथवा लोभ—किसी भी प्रकार से बुद्धिमान् धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन के साथ मिथ्या व्यवहार नहीं करना चाहता।

यदि ह्यद्य न गच्छेयं द्वैरथं सव्यसाचिना।
अकीर्तिः स्याद् हृषीकेश मम पार्थस्य चोभयोः ॥२१॥

हृषीकेश ! अब यदि मैं अर्जुन के साथ द्वैरथ युद्ध न करूँ तो यह मेरे और अर्जुन—दोनों के लिए अपयश की बात होगी।

असंशयं हितार्थाय ब्रूयास्त्वं मधुसूदन।
सर्वं च पाण्डवाः कुर्युस्त्वद्वशित्वान्न संशयः ॥२२॥

मधुसूदन ! इसमें सन्देह नहीं कि आप मेरे हित के लिए ही ये सब बातें कह रहे हैं। पाण्डव आपके अधीन हैं, अतः आप उनसे जो भी कहेंगे, वह सब वे अवश्य ही कर सकते हैं।

मन्त्रस्य नियमं कुर्यास्त्वमत्र मधुसूदन।
एतदत्र हितं मन्ये सर्वं यादवनन्दन ॥२३॥

परन्तु मधुसूदन ! मेरे और आपके बीच में जो यह गुप्त मन्त्रणा हुई है, इसे आप यहीं तक सीमित रखें। यादवनन्दन ! ऐसा करने में ही मैं यहाँ सब प्रकार से हित समझता हूँ।

यदि जानाति मां राजा धर्मात्मा संयतेन्द्रियः।
कुन्त्याः प्रथमजं पुत्रं न स राज्यं ग्रहीष्यति ॥२४॥

जितेन्द्रिय धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर यदि यह जान लेंगे कि मैं [कर्ण] कुन्ती का प्रथम पुत्र हूँ, तब वे राज्य ग्रहण नहीं करेंगे।

प्राप्य चापि महद् राज्यं तदहं मधुसूदन।
स्फीतं दुर्योधनायैव सम्प्रदद्यामरिन्दम ॥२५॥

शत्रुदमन मधुसूदन ! उस अवस्था में मैं उस समृद्धिशाली विशाल राज्य को पाकर भी दुर्योधन को ही सौंप दूँगा।

स एव राजा धर्मात्मा शाश्वतोऽस्तु युधिष्ठिरः।
नेता यस्य हृषीकेशो योद्धा यस्य धनञ्जयः ॥२६॥

मेरी भी यही कामना है कि जिनके नेता हृषीकेश तथा योद्धा अर्जुन हैं, वे धर्मात्मा युधिष्ठिर ही सर्वदा राजा बने रहें।

धार्तराष्ट्रस्य वार्ष्णेय शस्त्रयज्ञो भविष्यति।
अस्य यज्ञस्य वेत्ता त्वं भविष्यसि जनार्दन ॥२७॥

जनार्दन ! वृष्णिनन्दन ! अब दुर्योधन के यहाँ एक शस्त्रयज्ञ होगा, जिसके साक्षी आप होंगे।

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च जनार्दन।
तावत् कीर्तिभवः शब्दः शाश्वतोऽयं भविष्यति ॥२८॥

हे जनार्दन ! जवतक ये पर्वत और सरिताएँ रहेंगी, तवतक इस युद्ध की कीर्ति-कथा भी अक्षय वनी रहेगी।

ब्राह्मणाः कथयिष्यन्ति महाभारतमाहवम्।
समागमेषु वार्ष्णेय क्षत्रियाणां यशोधनम् ॥२९॥

वार्ष्णेय ! ब्राह्मण लोग क्षत्रियों के समाज में इस महाभारत युद्ध का, जिसमें राजाओं के यशरूपी धन का संग्रह होनेवाला है, वर्णन करेंगे।

कृष्ण उवाच

अपि त्वां न लभेत् कर्ण राज्यलम्भोपपादनम्।
मया दत्तां हि पृथिवीं न प्रशासितुमिच्छसि ॥३०॥

श्रीकृष्ण बोले—कर्ण ! मैं जो राज्य की प्राप्ति का उपाय वता रहा हूँ, प्रतीत होता है वह तुम्हें ग्राह्य नहीं है। तुम मेरे द्वारा प्रदत्त पृथिवी का शासन नहीं करना चाहते।

ब्रूयाः कर्ण इतो गत्वा द्रोणं शान्तनवं कृपम्।
सौम्योऽयं वर्तते मासः सुप्रापयवसेन्धनः ॥३१॥

अच्छा कर्ण ! तुम यहाँ से जाकर आचार्य द्रोण, शान्तनुनन्दन भीष्म तथा कृपाचार्य से कहना कि यह सौम्य [मार्गशीर्ष] मास चल रहा है। इसमें पशुओं के लिए घास तथा जलाने के लिए लकड़ी आदि वस्तुएँ सुगमता से मिल सकती हैं।

सर्वौषधिवनस्फीतः फलवानल्पमाक्षिकः।
निष्पङ्को रसवत्तोयो नात्युष्णशिशिरः सुखः ॥३२॥

सव प्रकार की ओषधियों तथा फल-फूलों से वन की समृद्धि बढ़ी हुई है, धान के खेतों में खूब फल लगे हुए हैं, मक्खियाँ बहुत कम हो गई हैं। धरती पर कीचड़ का नाम भी नहीं है। जल स्वच्छ एवं सुस्वादु

प्रतीत होता है। इस सुखद मास में न बहुत गरमी ही है और न अत्यधिक सरदी ही।

सप्तमाच्चापि दिवसादमावास्या भविष्यति।
संग्रामो युज्यतां तस्यां तामाहुः शक्रदेवताम् ॥३३॥

आज से सातवें दिन के पश्चात् अमावास्या होगी। उसके देवता इन्द्र कहे गये हैं। उसी में युद्ध आरम्भ किया जाए।

कर्ण उवाच

असंशयमिदं कृष्ण महद् युद्धमुपस्थितम्।
पाण्डवानां कुरूणां च घोरं रुधिरकर्दमम् ॥३४॥

कर्ण ने कहा—श्रीकृष्ण! इसमें सन्देह नहीं कि कौरवों और पाण्डवों का यह अति भयंकर युद्ध उपस्थित हुआ है, जो रक्त की कीच मचा देनेवाला है।

राजानो राजपुत्राश्च दुर्योधनवशानुगाः।
रणे शस्त्राग्निना दग्धाः प्राप्स्यन्ति यमसादनम् ॥३५॥

जो दुर्योधन के वश में रहनेवाले राजा और राजकुमार हैं, वे सब रणभूमि में अस्त्र-शस्त्रों की अग्नि से दग्ध होकर निश्चय ही यमलोक में जा पहुँचेंगे।

स्वप्ना हि बहवो घोरा दृश्यन्ते मधुसूदन।
निमित्तानि च घोराणि तथोत्पाताः सुदारुणाः ॥३६॥

मधुसूदन! मुझे बहुत-से भयंकर स्वप्न दिखाई देते हैं। भयंकर अपशकुन और अति दारुण उत्पात भी दृष्टिगोचर होते हैं।

पराजयं धार्तराष्ट्रे विजयं च युधिष्ठिरे।
शंसन्त इव वार्ष्णेय विविधा रोमहर्षणाः ॥३७॥

वृष्णिनन्दन! वे रोंगटे खड़े कर देनेवाले विविध उत्पात दुर्योधन की पराजय और युधिष्ठिर की विजय की घोषणा-सी करते हुए प्रतीत होते हैं।

यूयं सर्वे वधिष्यध्वं तत्र मे नास्ति संशयः।
पार्थिवान् समरे कृष्ण दुर्योधनपुरोगमान् ॥३८॥

अतः श्रीकृष्ण! आप सब लोग इस युद्ध में दुर्योधन आदि समस्त राजाओं का वध कर डालेंगे, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है।

अहं चान्ये च राजानो यच्च तत् क्षत्रमण्डलम्।
गाण्डीवाग्नि प्रवेक्ष्याम इति मे नास्ति संशयः ॥३९॥

मैं, अन्यान्य नरेश और क्षत्रिय-समाज सब-के-सब गाण्डीव की अग्नि में प्रवेश कर जाएँगे, इसमें रत्ती-भर भी सन्देह नहीं है।

अपि त्वां कृष्ण पश्याम जीवन्तोऽस्मान्महारणात्।
समुत्तीर्णा महाबाहो वीरक्षत्रविनाशनात् ॥४०॥

महाबाहु श्रीकृष्ण! वीर क्षत्रियों का विनाश करनेवाले इस महायुद्ध से पार होकर यदि हम जीवित बच गये तो पुनः आपका दर्शन करेंगे।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा माधवं कर्णः परिष्वज्य च पीडितम्।
विसर्जितः केशवेन रथोपस्थादवातरत् ॥४१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर कर्ण श्रीकृष्ण का प्रगाढ़ आलिंगन करके उनसे विदा लेकर रथ के पिछले भाग से उतर गया।

ततः शीघ्रतरं प्रायात् केशवः सहसात्यकिः।
पुनरुच्चारयन् वाणीं याहि याहीति सारथिम् ॥४२॥

तत्पश्चात् सात्यकिसहित श्रीकृष्ण सारथि से बारम्बार 'चलो, चलो'—ऐसा कहते हुए अत्यन्त तीव्रगति से उपप्लव्य नगर की ओर चल दिये।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥२९॥

त्रिंशोऽध्यायः

कुन्ती का कर्ण के पास जाना और उसे अपना पुत्र बताकर पाण्डवपक्ष में मिलने का अनुरोध करना, कर्ण का कुन्ती को उत्तर तथा अर्जुन को छोड़कर शेष चारों भाइयों को न मारने की प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

असिद्धानुनये कृष्णे कुरुभ्यः पाण्डवान् गते।
अभिगम्य पृथां क्षत्ता शनैः शोचन्निवाब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब श्रीकृष्ण का अनुनय असफल हो गया और वे कौरवों के यहाँ से पाण्डवों के पास चले गये, तब विदुर कुन्ती के पास जा शोकमग्न-से हो धीरे-धीरे इस प्रकार बोले—

जानासि मे जीवपुत्रि भावं नित्यमविग्रहे ।
क्रोशतो न च गृह्णीते वचनं मे सुयोधनः ॥२॥

"दीर्घजीवी पुत्रों को जन्म देनेवाली देवि ! तुम तो जानती ही हो कि मेरी इच्छा सदा ही यह रही है कि कौरव-पाण्डवों में युद्ध न हो। इसके लिए मैं पुकार-पुकारकर कहता रह गया, परन्तु दुर्योधन मेरी बात सुनता ही नहीं है।

राजा तु धृतराष्ट्रोऽयं वयोवृद्धो न शाम्यति ।
मत्तः पुत्रमदेनैव विधर्मे पथि वर्तते ॥३॥

"ये राजा धृतराष्ट्र बूढ़े हो जाने पर भी शान्त नहीं हो रहे हैं। ये पुत्रों के मद से उन्मत्त हो अधर्म के मार्ग पर ही चल रहे हैं।

जयद्रथस्य कर्णस्य तथा दुःशासनस्य च ।
सौबलस्य च दुर्बुद्ध्या मिथोभेदः प्रपत्स्यते ॥४॥

"जयद्रथ, कर्ण, दुःशासन तथा शकुनि की खोटी बुद्धि से कौरव-पाण्डवों में परस्पर फूट होकर ही रहेगी।"

कुन्ती श्रुत्वा तु तद्वाक्यमर्थकामेन भाषितम् ।
सा निःश्वसन्ती दुःखार्ता मनसा विममर्श ह ॥५॥

उभयपक्ष के हित की इच्छा से कही विदुरजी की उस बात को सुनकर कुन्ती दुःख से आतुर हो उठी और दीर्घ निःश्वास लेती हुई मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगी।

धिगस्त्वर्थं यत्कृतेऽयं महान् ज्ञातिवधः कृतः ।
वर्त्स्यते सुहृदां चैव युद्धेऽस्मिन् वै पराभवः ॥६॥

'अहो ! इस धन को धिक्कार है, जिसके लिए बन्धु-बान्धवों का यह भयंकर संहार किया जानेवाला है। इस युद्ध में अपने सगे-सम्बन्धियों का पराभव भी होगा ही।

पितामहः शान्तनव आचार्यश्च युधां पतिः ।
कर्णश्च धार्तराष्ट्रार्थं वर्धयन्ति भयं मम ॥७॥

'शान्तनुनन्दन भीष्म पितामह, योद्धाओं में श्रेष्ठ आचार्य द्रोण और कर्ण—ये सभी दुर्योधन के लिए ही रणभूमि में उतरेंगे, अतः ये मेरे भय की वृद्धि कर रहे हैं।

नाचार्यः कामवान् शिष्यैर्द्रोणो युद्धचेत जातुचित् ।
पाण्डवेषु कथं हार्दं कुर्यान्न च पितामहः ॥८॥

'आचार्य द्रोण तो सदा हमारे हित की इच्छा रखनेवाले हैं, वे अपने शिष्यों के साथ कभी युद्ध नहीं कर सकते। इसी प्रकार भीष्म पितामह भी पाण्डवों के प्रति हार्दिक स्नेह कैसे नहीं रखेंगे ?

अयं त्वेको वृथादृष्टिर्धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ।
मोहानुवर्ती सततं पापो द्वेष्टि च पाण्डवान् ॥९॥

'परन्तु यह एकमात्र मिथ्यादर्शी कर्ण मोहवश सदा दुर्बुद्धि दुर्योधन का ही अनुसरण करनेवाला है, अतः यह पापात्मा पाण्डवों से सदा द्वेष ही रखता है।

आशंसे त्वद्य कर्णस्य मनोऽहं पाण्डवान् प्रति ।
प्रसादयितुमासाद्य दर्शयन्ति यथातथम् ॥१०॥

'अच्छा, आज मैं कर्ण के मन को पाण्डवों के प्रति प्रसन्न करने के लिए उसके पास जाऊँगी तथा यथार्थ सम्बन्ध का परिचय देती हुई उससे बातचीत करूँगी।'

इति कुन्ती विनिश्चित्य ययौ भागीरथीं प्रति ।
आत्मजस्य पृथाश्रौषीद् वेदाध्ययननिःस्वनम् ॥११॥

ऐसा निर्णय करके कुन्ती भागीरथी गंगा के तट पर गई। वहाँ उसने अपने पुत्र कर्ण के मुख से वेद-पाठ की गम्भीर ध्वनि सुनी।

प्राङ्मुखस्योर्ध्वबाहोः सा पर्यतिष्ठत पृष्ठतः ।
जप्यावसानं कार्यार्थं प्रतीक्षन्ती तपस्विनी ॥१२॥

वह अपनी दोनों बाहें ऊपर उठाकर पूर्वाभिमुख हो जप कर रहा था। तपस्विनी कुन्ती उसकी जप-समाप्ति की प्रतीक्षा करती हुई कार्यवश उसके पीछे की ओर खड़ी रही।

आ पृष्ठतापाज्जप्त्वा स परिवृत्य यतव्रतः ।
दृष्ट्वा कुन्तीमुपातिष्ठदभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥१३॥

जबतक सूर्य पीठ की ओर ताप न देने लगे [पूर्व से पश्चिम की ओर नहीं चले गये] तबतक जप करके, नियमपूर्वक व्रत का पालन करनेवाला कर्ण जब पीछे की ओर घूमा, तब कुन्ती को अपने सामने देखकर, उसने हाथ जोकर प्रणाम किया और उनके पास खड़ा हो गया।

यथान्यायं महातेजा मानी धर्मभृतां वरः ।
उत्स्मयन् प्रणतः प्राह कुन्तीं वैकर्तनो वृषः ॥१४॥

धर्मात्माओं में श्रेष्ठ, अभिमानी तथा महातेजस्वी

सूर्यपुत्र कर्ण, जिसका दूसरा नाम वृष भी था, कुन्ती को यथोचित रीति से प्रणाम करके मुस्कराता हुआ बोला—

कर्ण उवाच

राधेयोऽहमाधिरथिः कर्णस्त्वामभिवादये।
किमर्थं भवती प्राप्ता ब्रूहि किं करवाणि ते ॥१५॥

कर्ण बोला—देवि ! मैं राधा तथा अधिरथ का पुत्र कर्ण हूँ और आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ। आप यहाँ किसलिए आई हैं ? बताइए, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?

कुन्त्युवाच

कौन्तेयस्त्वं न राधेयो न तवाधिरथः पिता।
नासि सूतकुले जातः कर्ण तद् विद्धि मे वचः ॥१६॥

कुन्ती ने कहा—कर्ण ! तुम राधा के नहीं कुन्ती के पुत्र हो। तुम्हारे पिता अधिरथ नहीं हैं तथा तुम सूतकुल में उत्पन्न नहीं हुए हो। तुम मेरी इस बात को सत्य मानो।

कानीनस्त्वं मया जातः पूर्वजः कुक्षिणा धृतः।
कुन्तिराजस्य भवने पार्थस्त्वमसि पुत्रक ॥१७॥

तुम कन्यावस्था में मेरे गर्भ से उत्पन्न हुए प्रथम पुत्र हो। महाराज कुन्तीभोज के घर में रहते समय मैंने तुम्हें गर्भ में धारण किया था, अतः वत्स ! तुम पार्थ हो।

स त्वं भ्रातॄनसम्बुद्ध्य मोहाद् यदुपसेवसे।
धार्तराष्ट्रान् न तद्युक्तं त्वयि पुत्र विशेषतः ॥१८॥

पुत्र ! तुम जो अपने भाइयों से अपरिचित रहकर मोह के कारण धृतराष्ट्र के पुत्रों की सेवा कर रहे हो, वह तुम्हारे लिए कदापि योग्य नहीं है।

एतद् धर्मफलं पुत्र नराणां धर्मनिश्चये।
यत तुष्यन्त्यस्य पितरो माता चाप्येकदर्शिनी ॥१९॥

पुत्र ! धर्मशास्त्र में मनुष्यों के लिए धर्म का यही श्रेष्ठफल बताया गया है कि उनके पिता आदि गुरुजन तथा एकमात्र पुत्र पर ही दृष्टि रखनेवाली माता उनसे सन्तुष्ट रहे।

अर्जुनेनार्जितां पूर्वं हृतां लोभादसाधुभिः।
आच्छिद्य धार्तराष्ट्रेभ्यो भुंक्ष्व यौधिष्ठिरीं श्रियम् ।२०

अर्जुन ने पूर्वकाल में जिसका उपार्जन किया था तथा दुष्टों ने लोभवश जिसका अपहरण कर लिया है, युधिष्ठिर की उस राजलक्ष्मी को तुम धृतराष्ट्र-पुत्रों से छीनकर भाइयोंसहित उसका उपभोग करो।

अद्य पश्यन्तु कुरवः कर्णार्जुनसमागमम्।
सौभ्रात्रेण समालक्ष्य संनमन्तामसाधवः ॥२१॥

सहोदर बन्धुजनोचित स्नेह के साथ आज लोग कर्ण और अर्जुन का परस्पर मिलन देखें तथा इसे देखकर दुष्ट लोग नतमस्तक हों।

कर्णार्जुनौ च भवेतां यथा रामजनार्दनौ।
असाध्यं किं नु लोके स्याद् युवयोः संहितात्मनोः ॥२२

कर्ण तथा अर्जुन दोनों मिलकर वैसे ही शक्तिशाली हैं जैसे बलराम और कृष्ण। तुम दोनों के हृदय से संगठित हो जाने पर इस संसार में तुम्हारे लिए कौनसा कार्य असाध्य रहेगा !

कर्ण शोभिष्यसे नूनं पञ्चभिर्भ्रातृभिर्वृतः।
देवैः परिवृतो ब्रह्मा वेद्यामिव महाध्वरे ॥२३॥

कर्ण ! जैसे महान् यज्ञ की वेदी पर देवगणों= विद्वानों से घिरे हुए ब्रह्मा सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार अपने पाँचों भाइयों से घिरे हुए तुम भी सुशोभित होओगे।

उपपन्नो गुणैः सर्वैर्ज्येष्ठः श्रेष्ठेषु बन्धुषु।
सूतपुत्रेति मा शब्दः पार्थस्त्वमसि वीर्यवान् ॥२४॥

अपने उत्तम स्वभाववाले भाइयों में तुम सर्वगुण सम्पन्न, ज्येष्ठ भ्राता और परम पराक्रमी कुन्तीपुत्र कर्ण हो। तुम्हारे लिए 'सूतपुत्र' शब्द का प्रयोग नहीं होना चाहिए।

कर्ण उवाच

न चैतच्छ्रद्दधे वाक्यं क्षत्रिये भाषितं त्वया।
धर्मद्वारं ममैतत् स्यान्नियोगकरणं तव ॥२५॥

कर्ण बोला—राजपुत्रि ! तुमने जो कुछ कहा है, उसपर मुझे विश्वास नहीं होता। तुम्हारी इस आज्ञा का पालन करना मेरे लिए धर्म का द्वार है, इसपर भी मुझे विश्वास नहीं है।

अकरोन्मयि यत् पापं भवती सुमहात्ययम्।
अपाकीर्णोऽस्मि यन्मातस्तद्यशः कीर्तिनाशनम् ॥२६॥

तुमने मेरे प्रति जो अत्याचार किया है, वह महान् कष्टदायक है। माता ! तुमने जो मुझे पानी

में प्रवाहित कर दिया, वह मेरे लिए यश और कीर्ति का नाशक बन गया।

न वै मम हितं पूर्वं मातृवच्चेष्टितं त्वया।
सा मां सम्बोधयस्यद्य केवलात्महितैषिणी ॥२७॥

पूर्वकाल में तुमने माता के समान मेरे हित की चेष्टा कभी नहीं की और आज केवल अपने हित की कामना रखकर मुझे मेरे कर्तव्य का उपदेश करने चली हो।

कृष्णेन सहितात् को वै न व्यथेत धनञ्जयात्।
कोऽद्य भीतं न मां विद्यात् पार्थानां समितं गतम् ॥२८॥

श्रीकृष्ण जिनके सहायक हैं, ऐसे अर्जुन से आज कौन वीर भय मानकर पीड़ित नहीं होता? यदि इस समय मैं पाण्डवों की सभा में मिल जाऊँ तो मुझे कौन भयभीत नहीं समझेगा?

अभ्राता विदितः पूर्वं युद्धकाले प्रकाशितः।
पाण्डवान् यदि गच्छामि किं मां क्षत्रं वदिष्यति ॥२९

आज से पहले कोई नहीं जानता था कि मैं पाण्डवों का भाई हूँ। युद्ध के समय मेरा यह सम्बन्ध प्रकट हुआ है। यदि इस समय मैं पाण्डवों के साथ मिल जाऊँ तो क्षत्रिय-समाज मुझे क्या कहेगा?

सर्वकामैः संविभक्तः पूजितश्च यथासुखम्।
अहं वै धार्तराष्ट्राणां कुर्यां तदफलं कथम् ॥३०॥

धृतराष्ट्र के पुत्रों ने मुझे सब प्रकार की मनो-वाञ्छित वस्तुएँ प्रदान की हैं तथा मुझे सुखपूर्वक रखते हुए सदा मेरा सम्मान किया है। उनके उस उपकार को मैं निष्फल कैसे कर सकता हूँ?

मया प्लवेन संग्रामं तितीर्षन्ति दुरत्ययम्।
अपारे पारकामा ये त्यजेयं तानहं कथम् ॥३१॥

जो मुझे ही नौका बनाकर उसके सहारे दुर्लङ्घ्य युद्धरूपी समुद्र को पार करना चाहते हैं तथा मेरे ही भरोसे महान् संकट से पार होने की इच्छा रखते हैं, उन्हें मैं मझधार में कैसे छोड़ दूँ?

धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामर्थे योत्स्यामि ते सुतैः।
बलं च शक्तिमास्थाय न वै त्वय्यनृतं वदे ॥३२॥

मैं तुमसे असत्य नहीं कहता। धृतराष्ट्र के पुत्रों के लिए मैं अपनी शक्ति और बल के अनुसार तुम्हारे पुत्रों के साथ युद्ध अवश्य करूँगा।

न च तेऽयं समारम्भो मयि मोघो भविष्यति।
वध्यान् विषह्यान् संग्रामे न हनिष्यामि ते सुतान् ॥३३
युधिष्ठिरं च भीमं च यमौ चैवार्जुनादृते।
अर्जुनेन समं युद्धमपि यौधिष्ठिरे बले ॥३४॥

परन्तु मेरे पास आने का तुमने जो कष्ट उठाया है, वह भी व्यर्थ नहीं जाएगा। युद्ध में अर्जुन के अतिरिक्त तुम्हारे चार पुत्रों युधिष्ठिर, भीम, नकुल तथा सहदेव को अपने वश में तथा वध के योग्य अवस्था में पाकर भी मैं नहीं मारूँगा। युधिष्ठिर की सेना में अर्जुन के साथ ही मेरा युद्ध होगा।

अर्जुनं हि निहत्याजौ सम्प्राप्तं स्यात् फलं मया।
यशसा चापि युज्येयं निहतः सव्यसाचिना ॥३५॥

अर्जुन को युद्ध में मार देने पर मुझे संग्राम का फल प्राप्त हो जाएगा अथवा मैं स्वयं ही सव्यसाची अर्जुन के द्वारा मारा जाकर यश का भागी बनूँगा।

न ते जातु नशिष्यन्ति पुत्राः पञ्च यशस्विनि।
निरर्जुनाः सकर्णा वा सार्जुना वा हते मयि ॥३६॥

यशस्विनि! प्रत्येक अवस्था में तुम्हारे पाँच पुत्र अवश्य ही शेष रहेंगे। यदि अर्जुन मारे गये तो कर्ण-सहित और यदि मैं मारा गया तो अर्जुनसहित तुम्हारे पाँच पुत्र रहेंगे।

वैशम्पायन उवाच

इति कर्णवचः श्रुत्वा कुन्ती दुःखात् प्रवेपती।
उवाच पुत्रमाश्लिष्य कर्णं धैर्यादकम्पितम् ॥३७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कर्ण की यह बात सुन कर कुन्ती धैर्य से विचलित न होनेवाले अपने पुत्र कर्ण को हृदय से लगाकर दुःख से काँपती हुई बोली—

एवं वै भाव्यमेतेन क्षयं यास्यन्ति कौरवाः।
यथा त्वं भाषसे कर्ण दैवं तु बलवत्तरम् ॥३८॥

"कर्ण! दैव बड़ा बलवान् है। तुम जैसा कहते हो, वैसा ही हो। इस युद्ध के द्वारा कौरवों का संहार होगा।

त्वया चतुर्णां भ्रातॄणामभयं शत्रुकर्शन।
दत्तं तत् प्रतिजानीहि संगरप्रतिमोचनम् ॥३९॥

"शत्रुसूदन! तुमने अपने चार भाइयों को अभय-दान दिया है। युद्ध में उन्हें छोड़ देने की प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना।

अनामयं स्वस्ति चेति पृथाथो कर्णमब्रवीत्।
तां कर्णोऽथ तथेत्युक्त्वा ततस्तौ जग्मतुः पृथक् ॥४०॥

'तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो'—जब कुन्ती ने कर्ण से ऐसा कहा, तब कर्ण ने भी 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली। फिर वे दोनों पृथक्-पृथक् अपने-अपने स्थानों को चले गये।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

पाण्डव-पक्ष के सेनापति का चुनाव और पाण्डव-सेना का कुरुक्षेत्र में जमाव

वैशम्पायन उवाच

आगम्य हस्तिनापुरादुपप्लव्यमरिन्दमः।
पाण्डवानां यथावृत्तं केशवः सर्वमुक्तवान् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शत्रुओं का दमन करनेवाले श्रीकृष्ण ने हस्तिनापुर से उपप्लव्य में आकर पाण्डवों को वहाँ का सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों कह सुनाया।

वासुदेव उवाच

मया नागपुरं गत्वा सभायां धृतराष्ट्रजः।
तथ्यं पथ्यं हितं चोक्तो न च गृह्णाति दुर्मतिः ॥२॥

श्रीकृष्ण ने कहा—राजन्! मैंने हस्तिनापुर जाकर कौरवसभा में धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन से यथार्थ, लाभदायक और हित की बात कही थी, परन्तु वह दुर्बुद्धि उसे स्वीकार नहीं करता था।

साम्यमादौ प्रयुक्तं मे राजन् सौभ्रात्रमिच्छता।
अभेदायास्य वंशस्य प्रजानां च विवृद्धये ॥३॥

राजन्! मैंने सब भाइयों में श्रेष्ठ बन्धुजनोचित प्रेम बने रहने की इच्छा से पहले सामनीति का प्रयोग किया था, जिससे इस वंश में फूट न हो तथा प्रजाजनों की निरन्तर उन्नति होती रहे।

पुनर्भेदश्च मे युक्तो यदा साम न गृह्यते।
कर्मानुकीर्तनं चैव देवमानुषसंहितम् ॥४॥

जब उन्होंने सामनीति को ग्रहण नहीं किया, तब मैंने भेदनीति [फूट डालने] का आश्रय लिया। मैंने पाण्डवों के देव-मनुष्योचित कार्यों का वर्णन किया।

पुनः सामाभिसंयुक्तं सम्प्रदानमथाब्रुवम्।
अभेदात् कुरुवंशस्य कार्ययोगात् तथैव च ॥५॥

उनमें भेद उत्पन्न करने के पश्चात् फिर साम-सहित दान की बात उठाई जिससे कुरुवंश की एकता बनी रहे तथा अभीष्ट कार्य की सिद्धि हो जाए।

सर्वं भवतु ते राज्यं पञ्च ग्रामान् विसर्जय।
अवश्यं भरणीया हि पितुस्ते राजसत्तम ॥६॥

मैंने कहा—"नृपश्रेष्ठ! सारा राज्य तुम्हारे पास ही रहे। तुम पाण्डवों को पाँच गाँव ही दे दो, क्योंकि तुम्हारे पिता के लिए पाण्डवों का भरण-पोषण करना भी परमावश्यक है।"

एवमुक्तोऽपि दुष्टात्मा नैव भागं व्यमुञ्चत।
दण्डं चतुर्थं पश्यामि तेषु पापेषु नान्यथा ॥७॥

मेरे ऐसा कहने पर भी उस दुष्टात्मा ने राज्य का कोई भाग तुम्हें देना स्वीकार नहीं किया। अब तो मैं उन पापियों पर चौथे उपाय दण्ड के प्रयोग को ही आवश्यक समझता हूँ, अन्यथा उन्हें मार्ग पर लाना असम्भव है।

न ते राज्यं प्रयच्छन्ति विना युद्धेन पाण्डव।
विनाशहेतवः सर्वे प्रत्युपस्थितमृत्यवः ॥८॥

पाण्डुनन्दन! वे कौरव बिना युद्ध किये तुम्हें राज्य नहीं देंगे। उन सबके विनाश का कारण जुट गया है तथा उनका मृत्युकाल भी आ पहुँचा है।

वैशम्पायन उवाच

जनार्दनवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातॄनुवाच धर्मात्मा समक्षं केशवस्य ह ॥९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! श्रीकृष्ण की बात सुनकर धर्म में ही मन लगाये रखनेवाले धर्मराज युधिष्ठिर ने केशव के सामने ही अपने भाइयों से कहा—

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं भवद्भिर्यद् वृत्तं सभायां कुरुसंसदि ।
केशवस्यापि यद् वाक्यं तत् सर्वमवधारितम् ॥१०॥

युधिष्ठिर ने कहा—कौरव-सभा में जो कुछ हुआ है, वह सब वृत्तान्त तुम लोगों ने सुन लिया । फिर श्रीकृष्ण ने भी जो बात कही है, उसे भी अच्छी प्रकार समझ लिया होगा ।

तस्मात् सेनाविभागं मे कुरुध्वं नरसत्तमाः ।
अक्षौहिण्यश्च सप्तैताः समेता विजयाय वै ॥११॥

अतः नरश्रेष्ठ वीरो ! अब तुम लोग मेरी सेना का विभाग करो । ये सात अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हो गई हैं, जो निश्चय ही हमारी विजय करानेवाली होंगी ।

तासां ये पतयः सप्त विख्यातास्तान् निबोधत ।
द्रुपदश्च विराटश्च धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ ॥१२॥
सात्यकिश्चेकितानश्च भीमसेनश्च वीर्यवान् ।
एते सेनाप्रणेतारो वीराः सर्वे तनुत्यजः ॥१३॥

इन सात अक्षौहिणियों के जो सात विख्यात सेनापति हैं, उनके नामों को सुनो, वे हैं—द्रुपद, विराट, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सात्यकि, चेकितान और पराक्रमी भीमसेन । ये सभी वीर हमारे लिए अपने शरीर का भी बलिदान करने के लिए समुद्यत हैं, अतः ये ही पाण्डव-सेना के संचालक होने के योग्य हैं ।

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ।
ह्रीमन्तो नीतिमन्तश्च सर्वे युद्धविशारदाः ।
इष्वस्त्रकुशलाः सर्वे तथा सर्वास्त्रयोधिनः ॥१४॥

ये सब-के-सब वेदवेत्ता, शूरवीर, उत्तम व्रत का पालन करनेवाले, मर्यादाशील, नीतिज्ञ तथा युद्ध-कुशल हैं । ये सब धनुर्वेद में निपुणता प्राप्त तथा सब प्रकार के अस्त्रों द्वारा युद्ध करने में समर्थ हैं ।

सप्तानामपि यो नेता सेनानां प्रविभागवित् ।
यः सहेत रणे भीष्मं शरार्चिः पावकोपमम् ॥१५॥
तं तावत् सहदेवात्र प्रब्रूहि कुरुनन्दन ।
स्वमतं पुरुषव्याघ्र को नः सेनापतिः क्षमः ॥१६॥

अब यह विचार करना चाहिए कि इन सातों का भी नेता कौन हो ? नेता ऐसा होना चाहिए, जो सभी सेना-विभागों को भली-भाँति जानता हो और युद्ध में बाणरूपी ज्वालाओं से प्रदीप्त अग्नि के समान तेजस्वी भीष्म का आक्रमण सह सकता हो । पुरुषसिंह कुरुनन्दन सहदेव ! पहले तुम अपना विचार प्रकट करो । हमारा प्रधान सेनापति होने योग्य कौन है ?

सहदेव उवाच

मत्स्यो विराटो बलवान् कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः ।
प्रसहिष्यति संग्रामे भीष्मं तांश्च महारथान् ॥१७॥

सहदेव बोले—बलवान्, अस्त्रविद्या में निपुण और युद्ध में उन्मत्त होकर लड़नेवाले मत्स्यनरेश विराट युद्धभूमि में भीष्म तथा अन्य महारथियों का सामना अच्छी प्रकार कर सकेंगे ।

नकुल उवाच

श्वसुरो द्रुपदोऽस्माकं सेनाग्रं स प्रकर्षति ।
स द्रोणभीष्मावायान्तौ सहेदिति मतिर्मम ॥१८॥

नकुल ने कहा—मेरे विचार से हमारे श्वशुर द्रुपद हमारी सेना के प्रमुख भाग का सञ्चालन करें । वे ही युद्ध के लिए सम्मुख आये हुए द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह का सामना कर सकते हैं ।

अर्जुन उवाच

पुरुषं तं न पश्यामि यः सहेत महाव्रतम् ।
धृष्टद्युम्नादृते राजन्निति मे धीयते मतिः ॥१९॥

अर्जुन बोले—राजन् ! मैं धृष्टद्युम्न के सिवा ऐसे किसी पुरुष को नहीं देखता, जो महान् व्रतधारी भीष्म का वेग सह सके । मेरा तो यही निश्चित मत है ।

क्षिप्रहस्तश्चित्रयोधी मतः सेनापतिर्मम ।
अभेद्यकवचः श्रीमान् मातङ्ग इव यूथपः ॥२०॥

जो शीघ्रतापूर्वक हस्तसंचालन करनेवाला, विचित्र रीति से युद्ध करने में कुशल, अभेद्य कवच से सम्पन्न और यूथपति गजराज की भाँति सुशोभित होनेवाला है, मेरी सम्मति में वह श्रीमान् धृष्टद्युम्न ही सेनापति होने के योग्य है ।

युधिष्ठिर उवाच

यमाह कृष्णो दाशार्हः सोऽस्तु सेनापतिर्मम ।
कृतास्त्रोऽप्यकृतास्त्रो वा वृद्धो वा यदि वा युवा ॥२१॥

युधिष्ठिर बोले—दशार्हकुल-तिलक श्रीकृष्ण जिसका नाम बताएँ, वही हमारी सेना का प्रधान

सेनापति हो, फिर वह अस्त्रविद्या में कुशल हो या अकुशल, वृद्ध हो अथवा युवा। [जैसा भी हो, हमें इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए।]

कृष्ण उवाच

सारवद् बलमस्माकं दुष्प्रधर्षं दुरासदम्।
धार्तराष्ट्रबलं संख्ये हनिष्यति न संशयः।
धृष्टद्युम्नमहं मन्ये सेनापतिमरिन्दम ॥२२॥

श्रीकृष्ण बोले—हमारी सेना अति बलशाली, दुर्धर्ष और दुर्गम है। वह युद्ध में धृतराष्ट्र के पुत्रों की सेना का संहार कर डालेगी, इसमें संशय नहीं है। शत्रुदमन! मैं धृष्टद्युम्न को ही प्रधान सेनापति होने योग्य मानता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु कृष्णेन सम्प्रहृष्यन्नरोत्तमाः।
हृष्टानां सम्प्रयातानां नादः समभवन्महान् ॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए। उधर हर्ष और उत्साह में भरकर यात्रा करनेवाले सैनिकों का महान् हर्षनाद चहुँ ओर गूँज उठा।

प्रहृष्टा दंशिता योधाः परानीकविदारणाः।
तेषां मध्ये ययौ राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥२४॥

हर्ष में भरे हुए और कवच आदि से सुसज्जित वे सैनिक शत्रु-सेना को कुचल डालने का उत्साह रखते थे। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर समस्त सैनिकों के बीच में होकर चल रहे थे।

शकटापणवेशाश्च यानयुग्यं च सर्वशः।
कोशं यन्त्रायुधं चैव ये च वैद्याश्चिकित्सकाः ॥२५॥

सामान ढोनेवाली गाड़ियाँ, बाजार, डेरे-तम्बू, रथ आदि सवारी, खजाना, यन्त्र-चालित अस्त्र तथा चिकित्सा-कुशल वैद्य भी उनके साथ-साथ चले।

फल्गु यच्च बलं किंचिद् यच्चापि कृशदुर्बलम्।
तत् संगृह्य ययौ राजा ये चापि परिचारकाः ॥२६॥

राजा युधिष्ठिर ने जो सेना सारहीन, कृशकाय अथवा दुर्बल थी, उस सबको एवं अन्य परिचारकों को उपप्लव्य में एकत्र करके वहाँ से प्रस्थान किया।

कृत्वा मूलप्रतीकारं गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः।
स्कन्धावारेण महता प्रययुः पाण्डुनन्दनाः ॥२७॥

पाण्डव लोग दुर्ग की रक्षा के लिए आवश्यक स्थावर [परकोटे और खाई आदि] तथा जङ्गम [पहरेदार सैनिकों की नियुक्ति आदि] उपायों द्वारा स्त्रियों और धन आदि की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध करके बहुत-से खेमे और तम्बू आदि साथ लेकर प्रस्थित हुए।

आसाद्य तु कुरुक्षेत्रं व्यूढानीकाः प्रहारिणः।
पाण्डवाः समदृश्यन्त नर्दन्तो वृषभा इव ॥२८॥

कुरुक्षेत्र में पहुँचकर, सेना की व्यूह-रचना करके प्रहार करने के लिए उद्यत हुए पाण्डव-सैनिक साँडों के समान गर्जना करते हुए दिखाई देने लगे।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि एकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

दुर्योधन की रणयात्रा के लिए तैयारी, सेनाओं का विभाजन, भीष्मजी का प्रधान सेनापति के पद पर अभिषेक और कुरुक्षेत्र में पहुँचकर शिविर-निर्माण

वैशम्पायन उवाच

प्रतिप्रयाते दाशार्हे राजा दुर्योधनस्तदा।
कर्णं दुःशासनं चैव शकुनिं चाब्रवीदिदम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दशार्हनन्दन श्रीकृष्ण के चले जाने पर राजा दुर्योधन ने कर्ण, दुःशासन और शकुनि से इस प्रकार कहा—

दुर्योधन उवाच

अकृतेनैव कार्येण गतः पार्थानधोक्षजः।
स एनान्मन्युनाऽऽविष्टो ध्रुवं धक्ष्यत्यसंशयम् ॥२॥

दुर्योधन बोला—श्रीकृष्ण यहाँ से सफल-मनोरथ होकर नहीं गये हैं, अतः वे क्रोध में भरकर पाण्डवों को निश्चय ही युद्ध के लिए उत्तेजित करेंगे, इसमें

तनिक भी सन्देह नहीं है।

भविता विग्रहः सोऽयं तुमुलो लोमहर्षणः।
तस्मात् सांग्रामिकं सर्वं कारयध्वमतन्द्रिताः ॥३॥

हम लोगों का पाण्डवों के साथ होनेवाला यह युद्ध अति भयंकर एवं रोमाञ्चकारी होगा। इसलिए आप सब आलस्य छोड़कर युद्ध की सारी तैयारी करो।

शिविराणि कुरुक्षेत्रे क्रियन्तां वसुधाधिपाः।
प्रयाणं घुष्यतामद्य श्वोभूत इति मा चिरम् ॥४॥

भूपालो! आप कुरुक्षेत्र में शिविर तैयार कराएँ तथा आज ही यह घोषणा कर दी जाए कि कल प्रातः ही युद्ध के लिए प्रस्थान करना है, इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिए।

वैशम्पायन उवाच

व्युष्टायां वै रजन्यां हि राजा दुर्योधनस्ततः।
व्यभजत् तान्यनीकानि दश चैकं च भारत ॥५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! रात्रि व्यतीत होकर जब प्रभात हुआ तब राजा दुर्योधन ने अपनी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओं का विभाग किया।

नरहस्तिरथाश्वानां सारं मध्यं च फल्गु च।
सर्वेष्वेतेष्वनीकेषु संदिदेश नराधिपः ॥६॥

राजा दुर्योधन ने पैदल, हाथी, रथ और घुड़सवार—इन सभी सेनाओं में से उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणियों को पृथक्-पृथक् करके उन्हें यथास्थान नियुक्त कर दिया।

चतुर्युजो रथाः सर्वे सर्वे चोत्तमवाजिनः।
सप्रासऋष्टिकाः सर्वे सर्वे शतशरासनाः ॥७॥

सभी रथों में चार-चार घोड़े जुते हुए थे, जो सब उत्तम नस्ल के थे तथा सभी रथों में प्रास, ऋष्टि और बहुत-से धनुष रखे गये थे। [शत=बहुनाम]

धुर्ययोर्हययोरेकस्तथान्यौ पार्ष्णिसारथी।
तौ चापि रथिनां श्रेष्ठौ रथी च हयवित् तथा ॥८॥

प्रत्येक रथ के दो-दो घोड़ों पर एक-एक रक्षक नियुक्त था। एक-एक रथ के लिए दो चक्ररक्षक नियुक्त किये गये थे। वे दोनों ही रथियों में श्रेष्ठ थे और रथी भी अश्व-संचालन की कला में कुशल था।

यथा रथास्तथा नागा बद्धकक्षाः स्वलंकृताः।
बभूवुः सप्तपुरुषा रत्नवन्त इवाद्रयः ॥९॥

जैसे रथ सजाये गये थे, वैसे ही हाथियों को भी स्वर्णमालाओं से समलंकृत किया गया था। उन सबको रस्सों से कसा गया था। उनपर सात-सात पुरुष बैठे हुए हुए थे जिनसे वे हाथी रत्नयुक्त पर्वतों के समान जान पड़ते थे।

द्वावङ्कुशधरौ तत्र द्वावुत्तमधनुर्धरौ।
द्वौ वरासिधरौ राजन्नेकः शक्तिपिनाकधृक् ॥१०॥

राजन्! उनमें से दो पुरुष अंकुश लेकर महावत का काम करते थे, दो उत्तम धनुर्धर योद्धा थे, दो पुरुष श्रेष्ठ तलवारें लिए रहते थे और एक व्यक्ति शक्ति तथा त्रिशूल धारण करता था।

आयुक्तकवचैर्युक्तैः सपताकैः स्वलंकृतैः।
सादिभिश्चोपपन्नास्तु तथा चायुतशो हयाः ॥११॥

इसी प्रकार कवचधारी, युद्ध के लिए उद्यत, आभूषणों से मण्डित तथा पताकाधारी सवारों से युक्त लाखों घोड़े उस सेना में विद्यमान थे।

नानारूपविकाराश्च नानाकवचशस्त्रिणः।
पदातिनो नरास्तत्र बभूवुर्हेममालिनः ॥१२॥

उस सेना में जो पैदल मनुष्य थे, वे भी स्वर्ण-मालाओं से विभूषित थे। उनके रूप, रंग, कवच और अस्त्रशस्त्र नाना प्रकार के दिखाई देते थे।

तत्र दुर्योधनो राजा शूरान् बुद्धिमतो नरान्।
प्रसमीक्ष्य महाबाहुश्चक्रे सेनापतींस्तदा ॥१३॥

उस समय वहाँ महाबाहु राजा दुर्योधन ने अच्छी प्रकार सोच-विचारकर बुद्धिमान् एवं शूरवीर पुरुषों को सेनापति-पद पर नियुक्त किया।

पृथगक्षौहिणीनां च प्रणेतॄन् नरसत्तमान्।
विधिवत् पूर्वमानीय पार्थिवानभ्यषेचयत् ॥१४॥
कृपं द्रोणं च शल्यं च सैन्धवं च जयद्रथम्।
सुदक्षिणं च काम्बोजं कृतवर्माणमेव च ॥१५॥
द्रोणपुत्रं च कर्णं च भूरिश्रवसमेव च।
शकुनिं सौबलं चैव बाह्लीकं च महाबलम् ॥१६॥

कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, मद्रराज शल्य, सिन्धुराज जयद्रथ, कम्बोजराज सुदक्षिण, कृतवर्मा, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, सुबलपुत्र शकुनि तथा

महाबली बाह्लीक—इन श्रेष्ठ पुरुषों और राजाओं को अपने सामने बुलाकर इन सबको पृथक्-पृथक् एक-एक अक्षौहिणी सेना का नायक नियुक्त करके विधिपूर्वक उन सबका अभिषेक किया।

ततः शान्तनवं भीष्मं प्राञ्जलिर्धृतराष्ट्रजः।
सह सर्वैर्महीपालैरिदं वचनमब्रवीत् ॥१७॥

तत्पश्चात् धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन समस्त राजाओं के साथ शान्तनुनन्दन भीष्मजी के पास जाकर हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला—

दुर्योधन उवाच

ऋते सेनाप्रणेतारं पृतना सुमहत्यपि।
दीर्यते युद्धमासाद्य पिपीलिकपुटं यथा ॥१८॥

दुर्योधन बोला—पितामह! कितनी ही विशाल सेना क्यों न हो, किसी योग्य सेनापति के बिना युद्ध में जाकर चींटियों की पंक्ति के समान छिन्न-भिन्न हो जाती है।

न हि जातु द्वयोर्बुद्धिः समा भवति कर्हिचित्।
शौर्यं च बलनेतॄणां स्पर्धते च परस्परम् ॥१९॥

दो पुरुषों की बुद्धि कभी समान नहीं होती। यदि दोनों ओर योग्य सेनापति हों तो उनका शौर्य एक-दूसरे की स्पर्धा—होड़ में बढ़ता है।

ये नये कुशलं शूरं हितेप्सितमकल्मषम्।
सेनापतिं प्रकुर्वन्ति ते जयन्ति रणे रिपून् ॥२०॥

जो लोग किसी नीतिनिपुण, शूरवीर, हितैषी और निष्पाप [पापरहित] व्यक्ति को सेनापति बना लेते हैं, वे संग्राम में शत्रुओं पर अवश्य विजय पाते हैं।

भवानुशनसा तुल्यो हितैषी च सदा मम।
असंहार्यः स्थितो धर्मे स नः सेनापतिर्भव ॥२१॥

आप सदा मेरा हित चाहनेवाले और नीति में शुक्राचार्य के समान हैं। आपको आपकी इच्छा के बिना कोई मार नहीं सकता। आप सदा धर्म में ही तत्पर रहते हैं, अतः आप मेरे प्रधान सेनापति का पद ग्रहण करें।

प्रयातु नो भवानग्रे देवानामिव पावकिः।
वयं त्वामनुयास्यामः सौरभेया इवर्षभम् ॥२२॥

जैसे कार्तिकेय देवताओं के आगे-आगे चलते थे, वैसे ही आप हमारे अगुआ हों। जैसे बछड़े साँड के पीछे चलते हैं, उसी प्रकार हम आपके पीछे चलेंगे।

भीष्म उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत।
यथैव हि भवन्तो मे तथैव मम पाण्डवाः ॥२३॥

भीष्मजी ने कहा—हे भारत! तुम जैसा कहते हो वह ठीक है, परन्तु मेरे लिए जैसे तुम हो, वैसे ही पाण्डव भी हैं।

अपि चैव मया श्रेयो वाच्यं तेषां नराधिप।
संयोद्धव्यं तवार्थाय यथा मे समयः कृतः ॥२४॥

नरेश्वर! मैं पाण्डवों को उनके पूछने पर अवश्य ही उनके हित की बात बताऊँगा तथा तुम्हारे लिए युद्ध करूँगा—ऐसी ही मैंने प्रतिज्ञा की है।

न त्वेवोत्सादनीया मे पाण्डोः पुत्रा जनाधिप।
तस्माद् योधान् हनिष्यामि प्रयोगेणायुतं सदा ॥२५॥
एवमेषां करिष्यामि निधनं कुरुनन्दन।
न चेत् ते मां हनिष्यन्ति पूर्वमेव समागमे ॥२६॥

जनेश्वर! मैं पाण्डु के पुत्रों की हत्या किसी भी प्रकार नहीं करूँगा। कुरुनन्दन! यदि पाण्डव इस युद्ध में मुझे पहले ही नहीं मार डालेंगे तो मैं अपने अस्त्रों के प्रयोग द्वारा प्रतिदिन उनके पक्ष के दस सहस्र योद्धाओं का वध करता रहूँगा। मैं इस प्रकार इनकी सेना का संहार करूँगा।

सेनापतिस्त्वहं राजन् समयेनापरेण ते।
भविष्यामि यथाकामं तन्मे श्रोतुमिहार्हसि ॥२७॥

राजन्! मैं अपनी इच्छा के अनुसार एक शर्त पर तुम्हारा सेनापति बनूँगा। उसके बदले दूसरी शर्त नहीं मानूँगा। उस शर्त को तुम मुझसे सुन लो।

कर्णो वा युध्यतां पूर्वमहं वा पृथिवीपते।
स्पर्धते हि सदात्यर्थं सूतपुत्रो मया रणे ॥२८॥

राजन्! या तो पहले कर्ण ही युद्ध कर ले अथवा मैं ही युद्ध करूँ, क्योंकि यह सूतपुत्र युद्ध में मुझसे अत्यन्त स्पर्धा रखता है।

कर्ण उवाच

नाहं जीवति गाङ्गेये राजन् योत्स्ये कथञ्चन।
हते भीष्मे तु योत्स्यामि सह गाण्डीवधन्विना ॥२९॥

कर्ण ने कहा—राजन्! मैं गङ्गानन्दन भीष्म के

जीते-जी किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा। इनके मर जाने पर ही मैं गाण्डीवधारी अर्जुन के साथ युद्ध करूँगा।

वैशम्पायन उवाच

ततः सेनापतिं चक्रे विधिवद् भूरिदक्षिणम्।
धृतराष्ट्रात्मजो भीष्मं सोऽभिषिक्तो व्यरोचत ॥३०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! तत्पश्चात् धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन ने यज्ञों में प्रचुर दक्षिणा देनेवाले [उदार] भीष्मजी का प्रधान सेनापति के पद पर विधिपूर्वक अभिषेक कर दिया।

ततो भेरीश्च शंखांश्च शतशोऽथ सहस्रशः।
वादयामासुरव्यग्रा वादका राजशासनात् ॥३१॥

तत्पश्चात् राजा दुर्योधन का आदेश पाकर बाजा बजानेवालों ने निर्भय होकर सैकड़ों और सहस्रों भेरियों और शंखों को बजाया।

ततो भीष्मं पुरस्कृत्य भ्रातृभिः सहितस्तदा।
स्कन्धावारेण महता कुरुक्षेत्रं जगाम सः ॥३२॥

तदनन्तर भीष्म पितामह को सेनापति बनाकर और उन्हें आगे रखकर दुर्योधन भाइयों के साथ हस्तिनापुर से बाहर निकला और विशाल तम्बू-शामियानों के साथ कुरुक्षेत्र को गया।

परिक्रम्य कुरुक्षेत्रं कर्णेन सह कौरवः।
शिविरं मापयामास समे देशे जनाधिप ॥३३॥

जनमेजय! कर्ण के साथ कुरुक्षेत्र में जाकर दुर्योधन ने एक समतल प्रदेश में शिविर के लिए भूमि का माप करवाया।

मधुरानूषरे देशे प्रभूतयवसेन्धने।
यथैव हास्तिनपुरं तद्वच्छिविरमाबभौ ॥३४॥

उपजाऊ एवं मनोहर प्रदेश में जहाँ घास और ईंधन प्रभूत मात्रा में उपलब्ध था, दुर्योधन की सेना का शिविर हस्तिनापुर की भाँति सुशोभित होने लगा।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥३२॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

बलरामजी का पाण्डवों के शिविर में पदार्पण और उनसे विदा लेकर तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थान, रुक्मी का सहायता देने के लिए आना परन्तु दोनों पक्षों द्वारा कोरा उत्तर पाकर लौट जाना

वैशम्पायन उवाच

तद् दृष्ट्वोपस्थितं युद्धं समासन्नं महात्ययम्।
प्राविशद् भवनं राजन् पाण्डवानां हलायुधः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस महान् संहारकारी युद्ध को अत्यन्त सन्निकट और प्रायः उपस्थित हुआ देखकर हलधारी [हलास्त्रधारी] बलरामजी ने पाण्डवों के शिविर में प्रवेश किया।

तं दृष्ट्वा धर्मराजश्च केशवश्च महाद्युतिः।
उदतिष्ठत् ततः पार्थो भीमकर्मा वृकोदरः।
गाण्डीवधन्वा ये चान्ये राजानस्तत्र केचन ॥२॥

उन्हें देखते ही धर्मराज युधिष्ठिर, महातेजस्वी श्रीकृष्ण, भयंकर कर्म करनेवाले बलशाली भीमसेन, गाण्डीवधारी अर्जुन तथा अन्य जो भी नरेश वहाँ विद्यमान थे, वे सब-के-सब उठकर खड़े हो गये।

पूजयां चक्रिरे ते वै समायान्तं हलायुधम्।
ततस्तं पाण्डवो राजा करे पस्पर्श पाणिना ॥३॥

हलायुध बलरामजी को आया देख सभी ने उनका आदर-सत्कार किया। तत्पश्चात् पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिर ने उनका हस्तालिंगन किया।

ततस्तेषूपविष्टेषु पार्थिवेषु समन्ततः।
वासुदेवमभिप्रेक्ष्य रौहिणेयोऽभ्यभाषत ॥४॥

तदनन्तर उन सब राजाओं के चारों ओर बैठ जाने पर रोहिणीनन्दन बलराम ने श्रीकृष्ण की ओर देखते हुए कहा—

भवितायं महारौद्रो दारुणः पुरुषक्षयः।
दिष्टमेतद् ध्रुवं मन्ये न शक्यमतिवर्तितुम् ॥५॥

"जान पड़ता है यह महाभयंकर तथा दारुण नर-संहार होगा ही। प्रारब्ध के इस विधान को मैं अटल मानता हूँ। अब इसे टाला नहीं जा सकता।

ध्रुवो जयः पाण्डवानामिति मे निश्चिता मतिः ।
तथा ह्यभिनिवेशोऽयं वासुदेवस्य भारत ॥६॥

"मेरा दृढ़ विश्वास है कि इस युद्ध में पाण्डवों की अवश्य विजय होगी। हे भारत ! श्रीकृष्ण का भी ऐसा ही दृढ़ संकल्प है।

उभौ शिष्यौ हि मे वीरौ गदायुद्धविशारदौ ।
तुल्यस्नेहोऽस्म्यतो भीमे तथा दुर्योधने नृपे ॥७॥

"गदायुद्ध में कुशल भीमसेन और राजा दुर्योधन दोनों ही वीर मेरे शिष्य हैं, अतः मैं इन दोनों पर एक-समान स्नेह रखता हूँ।

तस्माद् यास्यामि तीर्थानि सरस्वत्या निषेवितुम् ।
न हि शक्ष्यामि कौरव्यान् नश्यमानानुपेक्षितुम् ॥८॥

"अतः मैं सरस्वती नदी के तटवर्ती तीर्थों का सेवन करने के लिए जाऊँगा, क्योंकि मैं नष्ट होते हुए कुरुवंशियों को उस दशा में देखकर उनकी उपेक्षा नहीं कर सकूँगा।"

एवमुक्त्वा महाबाहुरनुज्ञातश्च पाण्डवैः ।
तीर्थयात्रां ययौ रामो निवर्त्य मधुसूदनम् ॥९॥

ऐसा कहकर महाबाहु बलराम पाण्डवों से विदा ले और मधुसूदन श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट करके तीर्थ-यात्रा के लिए चले गये।

एतस्मिन्नेव काले तु भीष्मकस्य महात्मनः ।
दाक्षिणात्यपतेः पुत्रो दिक्षु रुक्मीति विश्रुतः ॥१०॥

जनमेजय ! इसी समय दाक्षिणात्य देश के अधिपति महामना भीष्मक का पुत्र जो सम्पूर्ण दिशाओं में रुक्मी के नाम से विख्यात था, पाण्डवों के पास आया।

नामृष्यत पुरो योऽसौ स्वबाहुबलगर्वितः ।
रुक्मिण्या हरणं वीरो वासुदेवेन धीमता ॥११॥

यह वही वीर रुक्मी था, जो अपने बाहुबल के घमण्ड में आकर पहले परम बुद्धिमान् श्रीकृष्ण द्वारा किये गये रुक्मिणी के अपहरण को सहन नहीं कर सका था।

स भोजराजः सैन्येन महता परिवारितः ।
अक्षौहिण्या महावीर्यः पाण्डवान् क्षिप्रमागमत् ॥१२॥

महापराक्रमी भोजराज रुक्मी एक अक्षौहिणी विशाल सेना से घिरा हुआ शीघ्रतापूर्वक पाण्डवों के पास आया।

उवाच मध्ये वीराणां कुन्तीपुत्रं धनञ्जयम् ।
सहायोऽस्मि स्थितो युद्धे यदि भीतोऽसि पाण्डव ॥१३॥

उसने वीरों के मध्य में कुन्तीपुत्र अर्जुन से कहा, "पाण्डुनन्दन ! यदि तुम डरे हुए हो तो मैं युद्ध में तुम्हारी सहायता के लिए आ पहुँचा हूँ।"

न हि मे विक्रमे तुल्यः पुमानस्तीह कश्चन ।
करिष्यामि रणे साह्यमसह्यं तव शत्रुभिः ॥१४॥

इस संसार में मेरे समान दूसरा पराक्रमी पुरुष नहीं है। मैं इस महायुद्ध में तुम्हारी वह सहायता करूँगा, जो तुम्हारे शत्रुओं के लिए असह्य हो उठेगी।

हनिष्यामि रणे भागं यन्मे दास्यसि पाण्डव ।
अपि द्रोणकृपौ वीरौ भीष्मकर्णावथो पुनः ॥१५॥
अथवा सर्वं एवैते तिष्ठन्तु वसुधाधिपाः ।
निहत्य समरे शत्रूंस्तव दास्यामि मेदिनीम् ॥१६॥

पाण्डुकुमार ! तुम शत्रुओं का जो भी भाग मुझे सौंप दोगे, मैं रणक्षेत्र में उसका संहार कर डालूँगा। मेरे हिस्से में द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा वीरवर भीष्म एवं कर्ण ही क्यों न हों, मैं किसी को जीवित नहीं छोड़ूँगा। अथवा यहाँ पधारे हुए सब नरेश चुपचाप बैठे रहें। मैं अकेला ही रणभूमि में तुम्हारे सारे शत्रुओं का वध करके तुम्हें पृथिवी का राज्य अर्पित कर दूँगा।

इत्युक्तो धर्मराजस्य केशवस्य च संनिधौ ।
उवाच धीमान् कौन्तेयः प्रहस्य सख्यपूर्वकम् ॥१७॥

धर्मराज युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण के सान्निध्य में रुक्मी के ऐसा कहने पर परम बुद्धिमान् कुन्तीपुत्र अर्जुन ने मित्रभाव से हँसकर कहा—

कौरवाणां कुले जातः पाण्डोः पुत्रो विशेषतः ।
द्रोणं व्यपदिशञ्छिष्यो वासुदेवसहायवान् ।
भीतोऽस्मीति कथं ब्रूयां दधानो गाण्डिवं धनुः ॥१८॥

"वीर ! मैं कौरवों के कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, विशेषतः महाराज पाण्डु का पुत्र हूँ। आचार्य द्रोण को अपना गुरु मानता हूँ तथा स्वयं उनका शिष्य कहलाता हूँ। इसके सिवा कृष्णजी मेरे सहायक हैं और मैं अपने हाथ में गाण्डीव धनुष धारण करता

हूँ। ऐसी स्थिति में मैं अपने-आपको डरा हुआ कैसे कह सकता हूँ ?

युध्यमानस्य मे वीर गन्धर्वैः सुमहाबलैः ।
सहायो घोषयात्रायां कस्तदाऽऽसीत् सखा मम ॥१९॥

"वीरवर ! कौरवों की घोषयात्रा के समय जब मैंने महाबली गन्धर्वों के साथ लोहा लिया था, उस समय कौन-सा मित्र मेरी सहायता के लिए आया था ?

तथा प्रतिभये तस्मिन् देवदानवसंकुले ।
खाण्डवे युध्यमानस्य कः सहायस्तदाभवत् ॥२०॥

"खाण्डव वन में देवताओं और दानवों से परिपूर्ण भयंकर युद्ध में जब मैं अपने प्रतिपक्षियों के साथ युद्ध कर रहा था, उस समय मेरा कौन सहायक था ?

तथा विराटनगरे कुरुभिः सह संगरे ।
युध्यतो बहुभिस्तत्र कः सहायोऽभवन्मम ॥२१॥

"इसी प्रकार विराटनगर में जब कौरवों के साथ होनेवाले संग्राम में मैं अकेला ही बहुत-से वीरों के साथ युद्ध कर रहा था, उस समय मेरा सहायक कौन था ?

कथमस्मद्विधो ब्रूयाद् भीतोऽस्मीति यशोहरम् ।
वचनं नरशार्दूल वज्रायुधमपि स्वयम् ॥२२॥

"नरश्रेष्ठ ! मुझ-जैसा पुरुष साक्षात् वज्रधारी इन्द्र के सामने भी—"मैं डरा हुआ हूँ" ऐसा सुयश का नाश करनेवाला वचन कैसे कह सकता है ?

नास्मि भीतो महाबाहो सहायार्थश्च नास्ति मे ।
यथाकामं यथायोगं गच्छ वान्यत्र तिष्ठ वा ॥२३॥

"महाबाहो ! मैं डरा हुआ नहीं हूँ तथा मुझे सहायता की भी आवश्यकता नहीं है। आप अपनी इच्छानुसार जैसा उचित समझें अन्यत्र चले जाइए अथवा यहीं ठहरिए।"

विनिवर्त्य ततो रुक्मी सेनां सागरसंनिभाम् ।
दुर्योधनमुपागच्छत् तथैव भरतर्षभ ॥२४॥

भरतश्रेष्ठ ! अर्जुन का यह वचन सुनकर रुक्मी अपनी समुद्र के समान विशाल सेना को लौटाकर उसी प्रकार दुर्योधन के पास गया।

तथैव चाभिगम्यैनमुवाच वसुधाधिपः ।
प्रत्याख्यातश्च तेनापि स तदा शूरमानिना ॥२५॥

राजा रुक्मी ने दुर्योधन से मिलकर उससे भी वैसी ही बातें कहीं। तब अपने को शूर माननेवाले दुर्योधन ने भी उसकी सहायता लेने से इन्कार कर दिया।

द्वावेव तु महाराज तस्माद् युद्धादपेयतुः ।
रौहिणेयश्च वार्ष्णेयो रुक्मी च वसुधाधिप ॥२६॥

महाराज जनमेजय ! उस युद्ध से दो ही वीर अलग रहे थे—एक तो वृष्णिवंशी रोहिणीनन्दन बलराम तथा दूसरा राजा रुक्मी।

तीर्थयात्रां गते रामे भीष्मकस्य सुते तथा ।
उपाविशन् पाण्डुपुत्रा मन्त्राय पुनरेव च ॥२७॥

बलरामजी के तीर्थयात्रा पर तथा भीष्मकपुत्र रुक्मी के अपने नगर को लौट जाने पर पाण्डवों ने पुनः गुप्त मन्त्रणा के लिए बैठक की।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

दुर्योधन का उलूक को दूत बनाकर पाण्डवों के पास भेजना, उलूक का पाण्डवों के पास जाकर भरी सभा में दुर्योधन का सन्देश सुनाना, पाण्डवपक्ष की ओर से दुर्योधन के सन्देश का उत्तर

जनमेजय उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु कुरुक्षेत्रे द्विजर्षभ ।
किमकुर्वंश्च कुरवः कालेनाभिप्रचोदिताः ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! जब इस प्रकार कुरुक्षेत्र में सेनाएँ मोर्चा बाँधकर खड़ी हो गईं, तब कालप्रेरित कौरवों ने क्या किया

वैशम्पायन उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु यत्तेषु भरतर्षभ ।
धृतराष्ट्रो महाराज संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं — भरतकुल-तिलक, महाराज ! जब वे सभी सेनाएँ कुरुक्षेत्र में व्यूहरचना-पूर्वक डट गईं, तब धृतराष्ट्र ने संजय से कहा—

एहि संजय सर्वं मे आचक्ष्वानवशेषतः ।
सेनानिवेशे यद् वृत्तं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥३॥

संजय ! यहाँ आओ तथा कौरवों और पाण्डवों की सेना के पड़ाव पड़ जाने पर वहाँ जो कुछ हुआ, वह सब मुझे पूर्णरूप से बताओ ।

संजय उवाच

हिरण्वत्यां निविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
न्यविशन्त महाराज कौरवेया यथाविधि ॥४॥

संजय कहते हैं—महाराज ! महात्मा पाण्डवों ने जब हिरण्वती नदी के तट पर अपना पड़ाव डाल दिया, तब कौरवों ने भी विधिपूर्वक दूसरे स्थान पर अपनी छावनी डाल दी ।

तत्र दुर्योधनो राजा निवेश्य बलमोजसा ।
सम्भाषयित्वा च कर्णेन भ्रात्रा दुःशासनेन च ॥५॥
सौबलेन च राजेन्द्र मन्त्रयित्वा नरर्षभ ।
आहूयोपह्वरे राजन्नुलूकमिदमब्रवीत् ॥६॥

राजेन्द्र ! भरतनन्दन ! नरश्रेष्ठ ! राजा दुर्योधन ने अपनी शक्तिशाली सेना को वहाँ ठहराकर कर्ण, भाई दुःशासन तथा सुबलपुत्र शकुनि से सम्भाषण एवं परामर्श करके उलूक को एकान्त में बुलाकर उससे इस प्रकार कहा—

उलूक गच्छ कैतव्य पाण्डवान् सहसोमकान् ।
गत्वा मम वचो ब्रूहि वासुदेवस्य शृण्वतः ॥७॥

द्यूतकुशल शकुनिपुत्र उलूक ! तुम सोमकों तथा पाण्डवों के पास जाओ तथा वहाँ पहुँचकर श्रीकृष्ण के समक्ष उनसे मेरा यह संदेश कहो—

यदेतत् कत्थनावाक्यं संजयो महदब्रवीत् ।
वासुदेवसहायस्य गर्जतः सानुजस्य ते ॥८॥
मध्ये कुरूणां कौन्तेय तस्य कालोऽयमागतः ।
यथा वः सम्प्रतिज्ञातं तत् सर्वं क्रियतामिति ॥९॥

"कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! श्रीकृष्ण की सहायता पाकर भाइयोंसहित गर्जना करते हुए तुमने संजय से जो आत्मश्लाघापूर्ण बातें कहीं थीं और जिन्हें संजय ने कौरवसभा में बहुत बढ़ा-चढ़ाकर सुनाया था, उन सबको सत्य करके दिखाने का अवसर आ गया है । तुम लोगों ने जो-जो प्रतिज्ञाएँ की थीं, अब उन्हें पूरा करो ।"

भ्रातृभिः सहितः सर्वैः सोमकैश्च सकेकयैः ।
कथं वा धार्मिको भूत्वा त्वमधर्मे मनः कृथाः ॥१०॥

[युधिष्ठिर से कहना—] "राजन् ! तुम तो अपने सभी भाइयों, सोमकों और केकयोंसहित बड़े धर्मात्मा बनते हो । धर्मात्मा होकर तुम अधर्म में मन कैसे लगा रहे हो ?

अन्यथा किल ते वाक्यमन्यथा कर्म दृश्यते ।
दम्भनार्थाय लोकस्य वेदाश्चोपशमश्च ते ॥११॥

"तुम्हारी बातें तो कुछ और हैं, परन्तु कर्म कुछ और ही ढंग के दिखाई देते हैं । तुम्हारा वेदाध्ययन और शान्तस्वभाव लोगों को दिखाने के लिए पाखण्डमात्र है ।

यच्च कृष्णमवोचस्त्वमायान्तं कुरुसंसदि ।
अयमस्मि स्थितो राजन् शमाय समराय च ॥१२॥
तस्यायमागतः कालः समरस्य नराधिप ।
किं नु युद्धात् परं लाभं क्षत्रियो बहु मन्यते ॥१३॥

"तुमने कौरवसभा में आते हुए श्रीकृष्ण से जो यह संदेश दिलाया था कि—'राजन् ! मैं शान्ति और युद्ध दोनों के लिए तैयार हूँ ।' नरेश्वर ! उस संग्राम का यह उपयुक्त अवसर आ गया है । भला, क्षत्रिय युद्ध से बढ़कर दूसरे किस लाभ को महत्त्व देता है ?"

ब्रूयास्त्वं वासुदेवं च पाण्डवानां समीपतः ।
आत्मार्थं पाण्डवार्थं च यत्तो मां प्रति योधय ॥१४॥

उलूक ! तुम पाण्डवों के समीप वासुदेव श्रीकृष्ण से भी कहना—"जनार्दन ! अब तुम पूरी तैयारी और तत्परता के साथ अपनी और पाण्डवों की भलाई के लिए मेरे साथ युद्ध करो ।"

तं च तूबरकं बालं बह्वाशिनमविद्यकम् ।
उलूक मद्वचो ब्रूहि ह्यसकृद्भीमसेनकम् ॥१५॥

उलूक ! उस बिना मूँछों के मर्द [अथवा भारवाहक बैल], अधिक खानेवाले, अज्ञानी और मूर्ख भीमसेन से भी बार-बार मेरा यह सन्देश कहना—

प्रतिज्ञातं सभामध्ये न तन्मिथ्या त्वया पुरा ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीयतां यदि शक्यते ॥१६॥

"पहले कौरवसभा में तूने जो प्रतिज्ञा की थी,

वह मिथ्या नहीं होनी चाहिए। यदि तुझमें शक्ति हो तो आकर दुःशासन का रक्तपान करना।

त्वं हि भोज्ये पुरस्कार्यो भक्ष्ये पेये च भारत।
क्व युद्धं क्व च भोक्तव्यं युध्यस्व पुरुषो भव ॥१७॥

"हे भारत ! तुम तो निरे भोजनभट्ट हो, अतः अधिक खाने-पीने में पुरस्कार पाने योग्य हो। कहाँ युद्ध और कहाँ भोजन ? शक्ति हो तो युद्ध करो और मर्द बनो।"

उलूक नकुलं ब्रूहि वचनान्मम भारत।
युध्यस्वाद्य स्थिरो भूत्वा पश्यामस्तव पौरुषम् ॥१८॥

उलूक ! नकुल से भी कहना—"भारत ! तुम मेरे कहने से अब स्थिरतापूर्वक युद्ध करो। हम तुम्हारा पौरुष देखेंगे।"

ब्रूयास्त्वं सहदेवं च राजमध्ये वचो मम।
युद्धचेदानीं रणे यत्तः क्लेशान् स्मर च पाण्डव ॥१९॥

उलूक ! तुम राजाओं के मध्य में सहदेव से भी मेरा यह सन्देश कहना—"पाण्डुनन्दन ! पहले दिये हुए क्लेशों को स्मरण कर लो और अब तत्पर होकर रणक्षेत्र में युद्ध करो।"

धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यं ब्रूयास्त्वं वचनान्मम।
एष ते समयः प्राप्तो लब्धव्यश्च त्वयापि सः ॥२०॥

फिर पाञ्चालकुमार धृष्टद्युम्न को भी मेरा यह सन्देश सुना देना—"राजकुमार ! यह तुम्हारे योग्य समय प्राप्त हुआ है। तुम्हें आचार्य द्रोण अपने सामने ही मिल जाएँगे।"

एवमुक्त्वा ततो राजा प्रहस्योलूकमब्रवीत्।
धनञ्जयं पुनर्ब्रूहि वासुदेवस्य शृण्वतः ॥२१॥

ऐसा कहकर राजा दुर्योधन खिलखिलाकर हँस पड़ा। तदनन्तर उलूक से पुनः यह कहा—"उलूक ! तुम वसुदेवनन्दन कृष्ण के सामने ही अर्जुन से इस प्रकार कहना—

अस्मान् वा त्वं पराजित्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम्।
अथवा निर्जितोऽस्माभी रणे वीर शयिष्यसे ॥२२॥

"वीर धनंजय ! या तो तुम हम लोगों को परास्त करके इस पृथिवी पर शासन करो अथवा हमारे द्वारा मारे जाकर सदा के लिए युद्धभूमि में सो जाओ।

राष्ट्रान्निर्वासितक्लेशं वनवासं च पाण्डव।
कृष्णायाश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव ॥२३॥

"पाण्डुनन्दन ! राज्य से निर्वासित होने, वन में निवास करने तथा द्रौपदी के अपमानित होने के क्लेशों को स्मरण करके अब तो मर्द बनो।

बलं वीर्यं च शौर्यं च परं चाप्यस्त्रलाघवम्।
पौरुषं दर्शयन्युद्धे कोपस्य कुरु निष्कृतिम् ॥२४॥

"तुम संग्राम में बल, पराक्रम, उत्तम शौर्य, अस्त्र-संचालन की फुर्ती और पुरुषार्थ दिखाते हुए अपने बढ़े हुए क्रोध को [हमारे ऊपर छोड़कर] शान्त कर लो।"

सेनानिवेशं सम्प्राप्तः कैतव्यः पाण्डवस्य ह।
समागतः पृथापुत्रैर्युधिष्ठिरमभाषत ॥२५॥

महाराज धृतराष्ट्र ! दुर्योधन का वह सन्देश लेकर जुआरी शकुनि का पुत्र उलूक पाण्डवों की छावनी में जाकर उनसे मिला और युधिष्ठिर से इस प्रकार बोला—

अभिज्ञो दूतवाक्यानां यथोक्तं ब्रुवतो मम।
दुर्योधनसमादेशं श्रुत्वा न क्रोद्धुमर्हसि ॥२६॥

राजन् ! आप दूत के वचनों का मर्म जाननेवाले हैं। दुर्योधन ने आपके लिए जो सन्देश दिया है, उसे मैं ज्यों-का-त्यों दोहरा दूँगा। उसे सुनकर आपको मुझपर कुपित नहीं होना चाहिए।

युधिष्ठिर उवाच

उलूक न भयं तेऽस्ति ब्रूहि त्वं विगतज्वरः।
यन्मतं धार्तराष्ट्रस्य लुब्धस्यादीर्घदर्शिनः ॥२७॥

युधिष्ठिर बोले—उलूक ! तुम तनिक भी भय मत करो। तुम निश्चिन्त होकर लोभी और अदूरदर्शी दुर्योधन का अभिप्राय सुनाओ।

सञ्जय उवाच

ततो द्युतिमतां मध्ये पाण्डवानां महात्मनाम्।
सृञ्जयानां च मत्स्यानां कृष्णस्य च यशस्विनः ॥२८
द्रुपदस्य सपुत्रस्य विराटस्य च सन्निधौ।
भूमिपानां च सर्वेषां मध्ये वाक्यं जगाद सः ॥२९॥

सञ्जय कहते हैं—तब वहाँ बैठे हुए तेजस्वी महात्मा पाण्डवों, सृञ्जयों, मत्स्यों, यशस्वी श्रीकृष्ण तथा पुत्रोंसहित द्रुपद और विराट के समीप समस्त

राजाओं के मध्य में उलूक ने दुर्योधन का सन्देश ज्यों-का-त्यों कह सुनाया।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रुषिताः पाण्डवा भृशम्।
उत्स्मयन्निव दाशार्हः कैतव्यं प्रत्यभाषत ॥३०॥

उसकी बात सुनकर पाण्डव बहुत क्रुद्ध हुए, तब दशार्हकुलभूषण श्रीकृष्ण ने उलूक से मुस्कराते हुए-से कहा—

प्रयाहि शीघ्रं कैतव्य ब्रूयाश्चैव सुयोधनम्।
श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत् ते तथास्तु तत् ॥३१॥

"द्यूतकुशल शकुनिपुत्र उलूक! तू शीघ्र लौट जा और दुर्योधन से कह दे—'पाण्डवों ने तुम्हारे सन्देश को सुनकर तथा उसके अर्थ को समझकर स्वीकार कर लिया है। युद्ध के विषय में जैसा तुम्हारा मत है, वैसा ही हो।'"

भीम उवाच

श्रुतं ते वचनं मूर्ख यत् त्वां दुर्योधनोऽब्रवीत्।
तन्मे कथयतो मन्द शृणु वाक्यं दुरासदम् ॥३२॥
सर्वक्षत्रस्य मध्ये तं यद् वक्ष्यसि सुयोधनम्।
शृण्वतः सूतपुत्रस्य पितुश्च ते दुरात्मनः ॥३३॥

भीमसेन बोले—अरे मूर्ख! दुर्योधन ने तुझसे जो कुछ कहा है, वह तेरा वचन हमने सुन लिया। मन्दबुद्धि! अब तू मेरी कही हुई दुःसह बातें सुन तथा समस्त राजाओं की मण्डली में सूतपुत्र कर्ण और अपने दुरात्मा पिता शकुनि के सामने दुर्योधन को सुना देना।

मयापि च प्रतिज्ञातो वधः सभ्रातृकस्य ते।
स तथा भविता पाप नात्र कार्या विचारणा ॥३४॥

पापी! मैंने जो तेरे और तेरे भाइयों के वध की प्रतिज्ञा की है, वह उसी रूप में पूर्ण होगी। इस विषय में तुझे कोई दूसरा विचार नहीं करना चाहिए।

वेलामतिक्रमेत् सद्यः सागरो वरुणालयः।
पर्वताश्च विशीर्येयुर्मयोक्तं न मृषा भवेत् ॥३५॥

वरुणालय समुद्र चाहे शीघ्र ही अपनी सीमा का उल्लङ्घन कर जाए और पर्वत जीर्ण-शीर्ण होकर बिखर जाएँ, परन्तु मेरी की हुई प्रतिज्ञा मिथ्या नहीं हो सकती।

युधिष्ठिर उवाच

उलूक गच्छ कैतव्य ब्रूहि तात सुयोधनम्।
कृतघ्नं वैरपुरुषं दुर्मतिं कुलपांसनम् ॥३६॥

युधिष्ठिर ने कहा—जुआरी शकुनि के पुत्र, तात उलूक! तुम जाओ और वैर के मूर्तिमान स्वरूप उस कृतघ्न, दुर्बुद्धि और कुलकलङ्क दुर्योधन से यह कह देना—

स्ववीर्याद् यः पराक्रम्य पाप आह्वयते परान्।
अभीतः पूरयन् वाक्यमेष वै क्षत्रियः पुमान् ॥३७॥

पापात्मन्! जो किसी से भयभीत न होकर अपने वचनों का पालन करता है तथा अपने ही बाहुबल से पराक्रम प्रकट करके शत्रुओं को युद्ध के लिए ललकारता है, वही पुरुष क्षत्रिय है।

त्वं पापः क्षत्रियो भूत्वा अस्मानाहूय संयुगे।
मान्यामान्यान् पुरस्कृत्य युद्धं मा गाः कुलाधम ॥३८॥

कुलाधम! तू पापी है। देख, क्षत्रिय होकर और हम लोगों का युद्ध के लिए आह्वान करके ऐसे लोगों को आगे करके युद्धभूमि में मत आना, जो हमारे माननीय वृद्ध गुरुजन और स्नेहास्पद बालक हों।

आत्मवीर्यं समाश्रित्य भृत्यवीर्यं च कौरव।
आह्वयस्व रणे पार्थान् सर्वथा क्षत्रियो भव ॥३९॥

कुरुनन्दन! तू अपने तथा भरणीय सेवकवर्ग के बल और पराक्रम का आश्रय लेकर ही कुन्तीपुत्रों का युद्ध के लिए आह्वान कर। सब प्रकार से क्षत्रियत्व का परिचय दे।

परवीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयते परान्।
अशक्तः स्वयमादातुमेतदेव नपुंसकम् ॥४०॥

जो स्वयं सामना करने में असमर्थ होने के कारण दूसरों के पराक्रम का भरोसा करके शत्रुओं को युद्ध के लिए ललकारता है, उसका यह कार्य उसकी नपुंसकता का ही सूचक है।

स त्वं परेषां वीर्येण आत्मानं बहु मन्यसे।
कथमेवमशक्तस्त्वमस्मान् समभिगर्जसि ॥४१॥

तू तो दूसरों के ही बल पर अपने-आपको बहुत बलशाली समझता है परन्तु ऐसा असमर्थ होकर तू हमारे सामने गर्जना क्यों कर रहा है?

श्रीकृष्ण उवाच

मद्वचश्चापि भूयस्ते वक्तव्यः स सुयोधनः ।
श्व इदानीं प्रपद्येथाः पुरुषो भव दुर्मते ॥४२॥

श्रीकृष्ण बोले—उलूक ! युधिष्ठिर के सन्देश के पश्चात् तू दुर्योधन से मेरी बात भी कह देना—"दुर्मते ! अब कल ही तू युद्धक्षेत्र में आ जा तथा अपने पुरुषत्व का परिचय दे ।

मन्यसे यच्च मूढ त्वं न योत्स्यति जनार्दनः ।
सारथ्येन वृतः पार्थैरिति त्वं न बिभेषि च ॥४३॥

"मूढ़ ! तू जो यह समझता है कि कुन्ती के पुत्रों ने श्रीकृष्ण से सारथि बनने का अनुरोध किया है, अतः वे युद्ध नहीं करेंगे, कदाचित् इसीलिए तू मुझसे नहीं डर रहा है ।

जघन्यकालमप्येतन्न भवेत् सर्वपार्थिवान् ।
निर्दहेयमहं क्रोधात् तृणानीव हुताशनः ॥४४॥

"परन्तु स्मरण रख, यदि मैं चाहूँ तो इन सम्पूर्ण नरेशों को अपनी क्रोधाग्नि से वैसे ही भस्म कर सकता हूँ, जैसे अग्नि घास-फूस को जला डालती है। किन्तु मेरी इच्छा है कि युद्ध के अन्त तक मुझे ऐसा अवसर न मिले ।

यद्युत्पतसि लोकांस्त्रीन् यद्याविशसि भूतलम् ।
तत्र तत्रार्जुनरथं प्रभाते द्रक्ष्यसि पुनः ॥४५॥

"अब तू यदि तीनों लोकों से ऊपर उड़ जाए अथवा पृथिवी में समा जाए तो भी [तू जहाँ-जहाँ जाएगा] वहाँ-वहाँ प्रातःकाल अर्जुन का रथ पहुँचा हुआ देखेगा ।

यच्चापि भीमसेनस्य मन्यसे मोघभाषितम् ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीतमद्यावधारय ॥४६॥

"और जो तू भीमसेन की कही हुई बातों को व्यर्थ समझने लगा है, वह भी ठीक नहीं है । तू आज ही निश्चित रूप से समझ ले कि भीमसेन ने दुःशासन का रक्तपान कर लिया ।"

अर्जुन उवाच

स्ववीर्यं यः समाश्रित्य समाह्वयति वै परान् ।
अभीतो युध्यते शत्रून् स वै पुरुष उच्यते ॥४७॥

अर्जुन ने कहा—जो अपने ही बल-पराक्रम का भरोसा करके शत्रुओं को ललकारता है तथा उनके साथ निर्भय होकर युद्ध करता है, वही पुरुष कहलाता है ।

परवीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयते परान् ।
क्षत्रबन्धुरशक्तत्वाल्लोके स पुरुषाधमः ॥४८॥

जो दूसरे के बल-पराक्रम का आश्रय लेकर शत्रुओं को युद्ध के लिए आहूत करता है [बुलाता है] वह क्षत्रबन्धु असमर्थ होने के कारण लोक में पुरुषाधम कहा गया है ।

स त्वं परेषां वीर्येण मन्यसे वीर्यमात्मनः ।
स्वयं कापुरुषो मूढ परांश्च क्षेप्तुमिच्छसि ॥४९॥

मूढ़ ! तू दूसरों के पराक्रम से ही अपने को शक्तिशाली मानता है और स्वयं कायर होकर दूसरों पर आक्षेप करना चाहता है ।

यस्त्वं वृद्धं सर्वराज्ञां हितबुद्धिं जितेन्द्रियम् ।
मरणाय महाप्रज्ञं दीक्षयित्वा विकत्थसे ॥५०॥

जो सब राजाओं में वृद्ध, सबके हितैषी, जितेंद्रिय और महाज्ञानी हैं, उन्हीं पितामह को तू मरण के लिए रण की दीक्षा दिलाकर अपनी वीरता की डींग हाँकता है ।

भावस्ते विदितोऽस्माभिर्दुर्बुद्धे कुलपांसन ।
न हनिष्यन्ति गाङ्गेयं पाण्डवा घृणयेति हि ॥५१॥

खोटी बुद्धिवाले कुलकलङ्क ! तेरा मनोभाव हमने समझ लिया है । तू समझता है कि पाण्डव-लोग दया के कारण गङ्गानन्दन भीष्म का वध नहीं करेंगे ।

यस्य वीर्यं समाश्रित्य धार्तराष्ट्र विकत्थसे ।
हन्तास्मि प्रथमं भीष्मं मिषतां सर्वधन्विनाम् ॥५२॥

धृतराष्ट्रपुत्र ! तू जिनके पराक्रम का आश्रय लेकर बड़ी-बड़ी बातें बनाता है, उन पितामह भीष्म को ही मैं सबसे पहले तेरे समस्त धनुर्धरों के देखते-देखते मार डालूँगा ।

शान्ते भीष्मे तथा द्रोणे सूतपुत्रे च पातिते ।
निराशो जीविते राज्ये पुत्रेषु च भविष्यसि ॥५३॥

भीष्म, द्रोणाचार्य और सूतपुत्र कर्ण के मारे जाने पर तू अपने जीवन, राज्य तथा पुत्रों की रक्षा की ओर से निराश हो जाएगा ।

भ्रातृणां निधनं श्रुत्वा पुत्राणां च सुयोधन ।
भीमसेनेन निहतो दुष्कृतानि स्मरिष्यसि ।।५४।।

सुयोधन ! तू अपने भाइयों और पुत्रों का मरण सुनकर तथा भीमसेन के हाथ से स्वयं भी मारा जाकर अपने पापों को याद करेगा ।

न द्वितीयां प्रतिज्ञां हि प्रतिजानामि कैतव ।
सत्यं ब्रवीम्यहं ह्येतत् सर्वं सत्यं भविष्यति ।।५५।।

शकुनिपुत्र ! मैं दूसरी वार प्रतिज्ञा करना नहीं जानता । मैं तुझसे सच्ची बात कहता हूँ, यह सब-कुछ होकर रहेगा ।

युधिष्ठिर उवाच

स्वेन वृत्तेन मे वृत्तं नाधिगन्तुं त्वमर्हसि ।
उभयोरन्तरं वेद सूनृतानृतयोरपि ।।५६।।

युधिष्ठिर ने कहा—"सुयोधन ! तुझे अपने आचरण के अनुसार ही मेरे आचरण को नहीं समझना चाहिए । मैं दोनों के व्यवहार का तथा सत्य और झूठ का भी अन्तर समझता हूँ ।

न चाहं कामये पापमपि कीटपिपीलयोः ।
किं पुनर्ज्ञातिषु वधं कामयेयं कथञ्चन ।।५७।।

"मैं तो कीड़ों और चींटियों को भी कष्ट नहीं पहुँचाना चाहता, फिर अपने भाई-वन्धुओं अथवा कुटुम्बीजनों के वध की कामना कैसे कर सकता हूँ ?

एतदर्थं मया तात पञ्च ग्रामा वृताः पुरा ।
कथं तव सुदुर्बुद्धे न प्रेक्षे व्यसनं महत् ।।५८।।

"तात ! इसीलिए पहले मैंने केवल पाँच ही ग्राम माँगे थे । दुर्बुद्धे ! मेरा ऐसा करने का यही उद्देश्य था कि किसी प्रकार तेरे ऊपर महान् संकट आया हुआ न देखूं ।

स त्वं कामपरीतात्मा मूढभावाच्च कत्थसे ।
तथैव वासुदेवस्य न गृह्णासि हितं वचः ।।५९।।

"परन्तु तेरा मन लोभ और तृष्णा में डूबा हुआ है । तू मूर्खता के कारण अपनी झूठी प्रशंसा करता है तथा श्रीकृष्ण के हितकारक वचन को भी नहीं मान रहा है ।

किं चेदानीं बहूक्तेन युध्यस्व सह बान्धवैः ।
श्रुतं वाक्यं गृहीतोऽर्थो मतं यत्ते तथास्तु तत् ।।६०।।

"अब इस समय अधिक कहने से क्या लाभ ! तू अपने भाई-वन्धुओं के साथ आकर युद्ध कर । तेरा सन्देश सुन लिया तथा उसका अभिप्राय जान लिया । तेरी जैसी इच्छा है, वैसा ही हो ।"

धृष्टद्युम्न उवाच

सुयोधनो मम वचो वक्तव्यो नृपतेः सुतः ।
अहं द्रोणं हनिष्यामि सगणं सहबान्धवम् ।।६१।।

धृष्टद्युम्न बोला—उलूक ! तू राजपुत्र दुर्योधन से मेरी भी यह बात कह देना—"मैं द्रोणाचार्य को उनके गणों और वन्धु-वान्धवोंसहित मार डालूँगा ।"

संजय उवाच

उलूकस्तु ततो राजन् धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
आमन्त्र्य प्रययौ तत्र यत्र राजा सुयोधनः ।।६२।।

संजय कहते हैं—राजन् ! तत्पश्चात् उलूक धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर से विदा ले, जहाँ राजा दुर्योधन था, वहीं चला गया ।

उलूकस्तत आगम्य दुर्योधनममर्षणम् ।
अर्जुनस्य समादेशं यथोक्तं सर्वमब्रवीत् ।
वासुदेवस्य भीमस्य धर्मराजस्य पौरुषम् ।।६३।।

वहाँ आकर उलूक ने अमर्षशील दुर्योधन को अर्जुन का सारा सन्देश ज्यों-का-त्यों सुना दिया । इसी प्रकार उसने श्रीकृष्ण, भीमसेन और धर्मराज युधिष्ठिर की पुरुषार्थभरी वातों का भी वर्णन किया ।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ।।३४।।

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

कौरवपक्ष के रथी, महारथी और अतिरथियों का वर्णन, कर्ण और भीष्म का रोषपूर्ण संवाद, दुर्योधन द्वारा उसका निवारण

धृतराष्ट्र उवाच

फाल्गुनेन प्रतिज्ञाते वधे भीष्मस्य संयुगे ।
किमकुर्वत मे मन्दाः पुत्रा दुर्योधनादयः ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—संजय ! जब अर्जुन ने युद्ध-भूमि में भीष्म का वध करने की प्रतिज्ञा कर ली, तब दुर्योधन आदि मेरे मूर्ख पुत्रों ने क्या किया ?

सेनापत्यं च सम्प्राप्य कौरवाणां धुरन्धरः ।
किमचेष्टत गाङ्गेयो महाबुद्धिपराक्रमः ॥२॥

कौरवकुल का भारवाहन करनेवाले परम बुद्धिमान् और पराक्रमी गङ्गापुत्र भीष्म ने सेनापति का पद प्राप्त करके युद्ध के लिए कौन-सी चेष्टा की।

संजय उवाच

सेनापत्यमनुप्राप्य भीष्मः शान्तनवो नृप ।
दुर्योधनमुवाचेदं वचनं हर्षयन्निव ॥३॥

संजय ने कहा—नरेश्वर ! सेनापति का पद प्राप्त करके शान्तनुनन्दन भीष्म ने दुर्योधन का हर्ष बढ़ाते हुए-से उनसे यह बात कही—

अहं योत्स्यामि तत्त्वेन पालयँस्तव वाहिनीम् ।
यथावच्छास्त्रतो राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥४॥

"राजन् ! मैं तुम्हारी सेना की रक्षा करता हुआ शास्त्रीय विधान के अनुसार यथार्थ रूप से पाण्डवों के साथ युद्ध करूँगा, अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिए।"

दुर्योधन उवाच

विद्यते मे न गाङ्गेय भयं देवासुरेष्वपि ।
समस्तेषु महाबाहो सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥५॥

दुर्योधन बोला—महाबाहु गङ्गानन्दन ! मैं आपसे सत्य कहता हूँ, मुझे सम्पूर्ण देवताओं और असुरों से भी कभी भय नहीं होता है।

किं पुनस्त्वयि दुर्धर्षे सेनापत्ये व्यवस्थिते ।
द्रोणे च पुरुषव्याघ्रे स्थिते युद्धाभिनन्दिनि ॥६॥

फिर जब आप-जैसे दुर्धर्ष वीर हमारे सेनापति के पद पर प्रतिष्ठित हैं और युद्ध का अभिनन्दन करनेवाले पुरुषसिंह द्रोणाचार्य जैसे योद्धा मेरे लिए युद्धभूमि में उपस्थित हैं, तब तो मुझे भय हो ही कैसे सकता है ?

भवद्भ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां स्थिताभ्यां विजये मम ।
न दुर्लभं कुरुश्रेष्ठ देवराज्यमपि ध्रुवम् ॥७॥

कुरुश्रेष्ठ ! जब आप दोनों पुरुष प्रवर वीर मेरी विजय के लिए यहाँ खड़े हैं तब तो निश्चय ही मेरे लिए देवताओं का राज्य भी दुर्लभ नहीं है।

रथसंख्यां तु कार्त्स्न्येन परेषामात्मनस्तथा ।
तथैवातिरथानां च वेत्तुमिच्छामि कौरव ॥८॥

कुरुनन्दन ! आप शत्रुओं तथा अपने पक्ष के रथियों और अतिरथियों की संख्या को पूर्णरूप से जानते हैं, मैं भी आपसे इस विषय की जानकारी प्राप्त करना चाहता हूँ।

भीष्म उवाच

गान्धारे शृणु राजेन्द्र रथसंख्यां स्वके बले ।
ये रथाः पृथिवीपाल तथैवातिरथाश्च ये ॥९॥

भीष्मजी बोले—राजेन्द्र ! गान्धारीनन्दन ! तुम अपनी सेना के रथियों की संख्या श्रवण करो। भूपाल ! तुम्हारी सेना में जो रथी तथा अतिरथी हैं, मैं उन सबका वर्णन करता हूँ।

भवानग्रे रथोदारः सह सर्वैः सहोदरैः ।
दुःशासनप्रभृतिभिर्भ्रातृभिः शतसम्मितैः ॥१०॥

सबसे प्रथम अपने दुःशासन आदि सौ सहोदर भाइयों के साथ तुम्हीं बहुत बड़े उदार रथी हो।

तथाहं भरतश्रेष्ठ सर्वसेनापतिस्तव ।
शत्रून् विध्वंसयिष्यामि कदर्थीकृत्य पाण्डवान् ॥११॥

भरतश्रेष्ठ ! मैं तो तुम्हारी सम्पूर्ण सेना का प्रधान सेनापति ही हूँ। मैं पाण्डवों को पीड़ित करके शत्रुसेना के सैनिकों का संहार करूँगा।

न त्वात्मनो गुणान् वक्तुमर्हामि विदितोऽस्मि ते।
कृतवर्मा त्वतिरथो भोजः शस्त्रभृतां वरः ॥१२॥

मैं अपने मुख से अपने गुणों का वर्णन करना

उचित नहीं समझता। तुम तो मुझे जानते ही हो। शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ भोजवंशी कृतवर्मा तुम्हारे पक्ष के अतिरथी वीर हैं।

मद्रराजो महेष्वासः शल्यो मेऽतिरथो मतः।
स्पर्धते वासुदेवेन नित्यं यो वै रणे रणे ॥१३॥

महाधनुर्धर मद्रराज शल्य को भी मैं अतिरथी मानता हूँ जो प्रत्येक युद्ध में सदा श्रीकृष्ण के साथ स्पर्धा रखते हैं।

सोमदत्तिर्महेष्वासो रथयूथपयूथपः।
बलक्षयममित्राणां सुमहान्तं करिष्यति ॥१४॥

सोमदत्त के पुत्र महाधनुर्धर भूरिश्रवा रथियों के यूथपतियों के भी यूथपति हैं, अतः वे तुम्हारे शत्रुओं की सेना का महान् संहार करेंगे।

सिन्धुराजो महाराज मतो मे द्विगुणो रथः।
योत्स्यते समरे राजन् विक्रान्तो रथसत्तमः ॥१५॥

महाराज! सिन्धुराज जयद्रथ को मैं दो रथियों के बराबर समझता हूँ। ये अत्यन्त पराक्रमी और रथी योद्धाओं में श्रेष्ठ हैं। राजन्! ये भी रणभूमि में पाण्डवों के साथ युद्ध करेंगे।

कृपः शारद्वतो राजन् रथयूथपयूथपः।
प्रियान् प्राणान् परित्यज्य प्रधक्ष्यति रिपूँस्तव ॥१६॥

राजन्! शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य तो रथयूथ-पतियों के भी यूथपति हैं। ये अपने प्यारे प्राणों की चिन्ता न करके तुम्हारे शत्रुओं को जला डालेंगे।

शकुनिर्मातुलस्तेऽसौ रथ एको नराधिप।
प्रयुज्य पाण्डवैर्वैरं योत्स्यते नात्र संशयः ॥१७॥

नरेश्वर! तुम्हारे मामा शकुनि भी रथी हैं। ये पाण्डवों से वैर बाँधकर युद्ध करेंगे, इसमें संशय नहीं है।

द्रोणपुत्रो महेष्वासः सर्वानेवाति धन्विनः।
समरे चित्रयोधी च दृढास्त्रश्च महारथः ॥१८॥

महाधनुर्धर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तो सभी धनुर्धरों से बढ़कर है। वह युद्ध में विचित्र रीति से शत्रुओं का सामना करनेवाला, सुदृढ़ अस्त्रों से युक्त और महारथी है।

नैष शक्यो मया वीरः संख्यातुं रथसत्तमः।
निर्दहेदपि लोकांस्त्रीनिच्छन्नेष महारथः ॥१९॥

रथियों में श्रेष्ठ इस वीर पुरुष के महत्त्व की गणना नहीं की जा सकती। यह महारथी चाहे तो तीनों लोकों को भस्म कर सकता है।

क्रोधस्तेजश्च तपसा सम्भृतोऽऽश्रमवासिनाम्।
द्रोणेनानुगृहीतश्च दिव्यैरस्त्रैरुदारधीः ॥२०॥

इसमें क्रोध है, तेज है और आश्रमवासी महर्षियों के योग्य तप भी संचित है। इसकी बुद्धि उदार है। द्रोणाचार्य ने सम्पूर्ण दिव्यास्त्रों का ज्ञान देकर इस-पर महान् अनुग्रह किया है।

दोषस्त्वस्य महानेको येनैव भरतर्षभ।
न मे रथो नातिरथो मतः पार्थिवसत्तम ॥२१॥

परन्तु भरतश्रेष्ठ! नरेश्वर! इसमें एक बहुत बड़ा दोष है जिसके कारण मैं इसे न तो अतिरथी मानता हूँ और न रथी ही।

जीवितं प्रियमत्यर्थमायुष्कामः सदा द्विजः।
न ह्यस्य सदृशः कश्चिदुभयोः सेनयोरपि ॥२२॥

इस ब्राह्मण को अपना जीवन बहुत प्रिय है, यह सदा दीर्घायु बना रहना चाहता है [यही इसका दुर्गुण है] अन्यथा दोनों सेनाओं में इसकी समानता करनेवाला कोई नहीं है।

पिता त्वस्य महातेजा वृद्धोऽपि युवभिर्वरः।
रणे कर्म महत् कर्ता अत्र मे नास्ति संशयः ॥२३॥

अश्वत्थामा के पिता द्रोणाचार्य महातेजस्वी हैं। ये वृद्ध होने पर भी युवकों से अच्छे हैं। इस युद्ध में ये अपना महान् पराक्रम प्रकट करेंगे, इसमें मुझे सन्देह नहीं है।

रथयूथपयूथानां यूथपोऽयं नरर्षभः।
भरद्वाजात्मजः कर्ता कर्म तीव्रं हिताय वः ॥२४॥

ये नरश्रेष्ठ भरद्वाजनन्दन रथयूथपतियों के समुदाय के भी यूथपति हैं। ये तुम्हारे कल्याण के लिए तीव्र पराक्रम प्रकट करेंगे।

सर्वमूर्धाभिषिक्तानामाचार्यः स्थविरो गुरुः।
गच्छेदन्तं सृञ्जयानां प्रियस्त्वस्य धनञ्जयः ॥२५॥

सम्पूर्ण मूर्धाभिषिक्त भूपालों के ये आचार्य तथा वृद्ध गुरु हैं। ये सृंजयवंशी क्षत्रियों का संहार कर डालेंगे, परन्तु अर्जुन इन्हें बहुत प्रिय है।

सखा ते दयितो नित्यं य एष रणकर्कशः।
उत्साहयति राजँस्त्वां विग्रहे पाण्डवैः सह ॥२६॥
परुषः कत्थनो नीचः कर्णो वैकर्तनस्तव।
मन्त्री नेता च बन्धुश्च मानी चात्यन्तमुच्छ्रितः॥२७॥

राजन्! यह जो तुम्हारा प्रिय मित्र कर्ण है, जो तुम्हें पाण्डवों के साथ युद्ध के लिए सदा उत्साहित करता रहता है तथा रणभूमि में सदा अपनी क्रूरता का परिचय देता है, बड़ा ही कटुभाषी, आत्मप्रशंसी तथा नीच है। यह कर्ण तुम्हारा मन्त्री, नेता और बन्धु बना हुआ है। यह अभिमानी तो है ही तुम्हारा आश्रय पाकर बहुत ऊँचा चढ़ गया है।

एष नैव रथः कर्णो न चाप्यतिरथो रणे।
वियुक्तः कवचेनैष तेन मेऽर्धरथो मतः ॥२८॥

यह कर्ण युद्धभूमि में न तो अतिरथी है और न रथी ही कहलाने योग्य है। यह अपने दिव्य कवच से भी हीन हो चुका है, अतः मेरी दृष्टि में यह कर्ण अर्धरथी है।

संजय उवाच

ततोऽब्रवीत् पुनर्द्रोणः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं न मिथ्यास्ति कदाचन ॥२९॥

संजय कहते हैं—यह सुनकर समस्त शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ द्रोणाचार्य भी बोल उठे—"आप जैसा कहते हैं, वह सर्वथा सत्य है। आपका यह मत कदापि मिथ्या नहीं है।

रणे रणेऽभिमानी च विमुखश्चापि दृश्यते।
घृणी कर्णः प्रमादी च तेन मेऽर्धरथो मतः ॥३०॥

"यह प्रत्येक संग्राम में घमण्ड तो बहुत दिखाता है परन्तु वहाँ से भागता ही देखा जाता है। कर्ण दयालु और प्रमादी है, अतः मेरी सम्मति में भी वह अर्धरथी है।"

एतत् श्रुत्वा तु राधेयः क्रोधादुत्फाल्य लोचने।
उवाच भीष्मं राधेयस्तुदन् वाग्भिः प्रतोदवत् ॥३१॥

यह सुनकर राधानन्दन कर्ण क्रोध से आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा तथा अपने वचनरूपी चाबुक से पीड़ा देता हुआ भीष्मजी से कहने लगा—

पितामह यथेष्टं मां वाक्शरैरुपकृन्तसि।
अनागसं सदा द्वेषादेवमेव पदे पदे ॥३२॥

"पितामह! मैंने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया है, फिर भी मेरे प्रति द्वेष रखने के कारण आप पग-पग पर मुझे अपने वाग्बाणों द्वारा इच्छानुसार चोट पहुँचाते रहते हो।

मर्षयामि च तत्सर्वं दुर्योधनकृतेन वै।
त्वं तु मां मन्यसे मन्दं यथा कापुरुषं तथा ॥३३॥

"मैं दुर्योधन के कारण यह सब-कुछ चुपचाप सह लेता हूँ परन्तु तुम मुझे मूर्ख और कायर के समान समझते हो।

भवानर्धरथो मह्यं मतो वै नात्र संशयः।
कुरूणामहितो नित्यं गाङ्गेयो न मृषा वदे ॥३४॥

हे गङ्गापुत्र भीष्म! मेरी दृष्टि में तुम भी अर्धरथी हो, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। मैं झूठ नहीं बोलता, तुम सभी कुरुओं का सदा अहित करते हो।

को हि नाम समानेषु राजसूदारकर्मसु।
तेजोवधमिमं कुर्याद् विभेदयिषुराहवे ॥३५॥

"युद्ध के अवसर पर तथा समान श्रेणी के उदार-चरित राजाओं के एकत्र होने पर आपस में फूट उत्पन्न करने की इच्छा रखकर कौन पुरुष अपने ही पक्ष के योद्धा का इस प्रकार तेज और उत्साह नष्ट करेगा?

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः।
महारथत्वं संख्यातुं शक्यं क्षत्रस्य कौरव ॥३६॥

"हे कौरव! केवल बड़ी अवस्था हो जाने, बाल पक जाने, अधिक धन प्राप्त कर लेने तथा बहुत-से भाई-बन्धुओं के होने से ही किसी क्षत्रिय को महारथी नहीं गिना जा सकता।

बलज्येष्ठं स्मृतं क्षत्रं मन्त्रज्येष्ठा द्विजातयः।
धनज्येष्ठाः स्मृता वैश्याः शूद्रास्तु वयसाधिकाः ॥३७॥

"क्षत्रिय बल में श्रेष्ठ होने से, ब्राह्मण वेदमन्त्रों के ज्ञान से, वैश्य अधिक धन से तथा शूद्र अधिक अवस्था होने से श्रेष्ठ माने जाते हैं।

यथेच्छकं स्वयं ब्रूया रथानतिरथांस्तथा।
कामद्वेषसमायुक्तो मोहात् प्रकुरुते भवान् ॥३८॥

"आप राग-द्वेष से भरे हुए हो, अतः मोहवश

मनमाने ढंग से रथी और अतिरथियों की गणना कर रहे हो।

श्रोतव्यं खलु वृद्धानामिति शास्त्रनिदर्शनम्।
न त्वेव ह्यतिवृद्धानां पुनर्बाला हि ते मताः ॥३९॥

"वृद्धों की बातें सुननी चाहिएँ, यह शास्त्र का आदेश है, परन्तु जो बहुत वृद्ध हो गये हैं, उनकी बातें श्रवण करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि वे तो फिर बालकों के समान ही माने गये हैं।

अहमेको हनिष्यामि पाण्डवानामनीकिनीम्।
सुयुद्धे राजशार्दूल यशो भीष्मं गमिष्यति ॥४०॥

[भीष्म से इतना कहकर वह दुर्योधन से बोला--] "नृपश्रेष्ठ ! मैं इस युद्ध में अकेला ही पाण्डवों की सेना का संहार करूँगा, परन्तु सारा यश भीष्मजी को मिलेगा।

कृतः सेनापतिस्त्वेष त्वया भीष्मो नराधिप।
सेनापतौ यशो गन्ता न तु योधान् कथञ्चन ॥४१॥

"नरेश्वर ! तुमने इन भीष्म को ही सेनापति बनाया है। विजय का यश सेनापति को ही प्राप्त होता है, योद्धाओं को कभी नहीं।

नाहं जीवति गाङ्गेये योत्स्ये राजन् कथञ्चन।
हते भीष्मे तु योद्धास्मि सर्वैरेव महारथैः ॥४२॥

"अतः राजन् ! मैं भीष्म के जीते-जी किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा। हाँ, भीष्म के मारे जाने पर मैं समस्त महारथियों के साथ टक्कर लूँगा।"

भीष्म उवाच

समुद्यतोऽयं भारो मे सुमहान् सागरोपमः।
मिथोभेदो न मे कार्यस्तेन जीवसि सूतज ॥४३॥

भीष्मजी ने कहा—सूतपुत्र ! इस युद्ध में मैंने समुद्र के समान गुरुतर भार अपने कन्धों पर उठाया है। ऐसे अवसर पर मुझे पारस्परिक भेद नहीं उत्पन्न करना चाहिए, इसलिए तू अभी तक जी रहा है।

अन्यथा त्वद्य विक्रम्य स्थविरोऽपि शिशोस्तव।
युद्धश्रद्धामहं छिन्द्यां जीवितस्य च सूतज ॥४४॥

सूतनन्दन ! यदि ऐसी बात न होती तो मैं वृद्ध होने पर भी पराक्रम करके तुझ बालक की युद्ध-विषयक श्रद्धा तथा जीवन की आशा का एक-साथ ही उच्छेद कर डालता।

युद्धचस्व समरे पार्थं येन विस्पर्धसे सह।
द्रक्ष्यामि त्वां विनिर्मुक्तमस्माद् युद्धात् सुदुर्मते ॥४५॥

दुर्मते ! तू जिसके साथ सदा स्पर्धा रखता है, उस अर्जुन के साथ रणक्षेत्र में युद्ध कर। मैं देखूँगा कि तू इस संग्राम में किस प्रकार बच पाता है ?

संजय उवाच

तमुवाच ततो राजा धार्तराष्ट्रः प्रतापवान्।
मां समीक्षस्व गाङ्गेय कार्यं हि महदुद्यतम् ॥४६॥

संजय कहते हैं—भीष्म के ऐसा कहने पर प्रतापी राजा दुर्योधन ने भीष्मजी से कहा—"गङ्गानन्दन ! आप मेरी ओर देखिए, क्योंकि इस समय महान् कार्य उपस्थित है।

चिन्त्यतामिदमेकाग्रं मम निःश्रेयसं परम्।
उभावपि भवन्तौ मे महत् कर्म करिष्यतः ॥४७॥

"आप एकाग्रचित्त होकर मेरे परम कल्याण की बात सोचिए। आप और कर्ण दोनों ही मेरा महान् कार्य सिद्ध करेंगे।

भूयश्च श्रोतुमिच्छामि परेषां रथसत्तमान्।
ये चैवातिरथास्तत्र ये चैव रथयूथपाः ॥४८॥

"अब मैं पुनः शत्रुपक्ष के श्रेष्ठ रथियों, अतिरथियों तथा रथयूथपतियों का परिचय सुनना चाहता हूँ।

बलाबलममित्राणां श्रोतुमिच्छामि कौरव।
प्रभातायां रजन्यां वै इदं युद्धं भविष्यति ॥४९॥

"कुरुनन्दन ! शत्रुपक्ष के बलाबल को सुनने की मेरी प्रबल इच्छा है, क्योंकि आज की रात व्यतीत होते ही कल प्रातःकाल यह युद्ध प्रारम्भ हो जाएगा।"

इति महाभारते उद्योगपर्वणि पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥३५॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

पाण्डवपक्ष के रथी, अतिरथी आदि का भीष्म द्वारा वर्णन

भीष्म उवाच

एते रथास्तवाख्यातास्तथैवातिरथा नृप ।
ये चाप्यर्धरथा राजन् पाण्डवानामतः शृणु ॥१॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर ! ये तुम्हारे पक्ष के रथी, अतिरथी और अर्धरथी गिनाये गये हैं। राजन् ! अब तुम पाण्डवपक्ष के रथी आदि का वर्णन सुनो।

स्वयं राजा रथोदारः पाण्डवः कुन्तीनन्दनः ।
अग्निवत् समरे तात चरिष्यति न संशयः ॥२॥

तात ! कुन्ती का आनन्द बढ़ानेवाले स्वयं पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर एक श्रेष्ठ रथी=महारथी हैं। वे समरभूमि में अग्नि के समान सर्वत्र विचरेंगे, इसमें संशय नहीं है।

भीमसेनस्तु राजेन्द्र रथोऽष्टगुणसाम्मतः ।
न तस्यास्ति समो युद्धे गदया सायकैरपि ॥३॥

राजेन्द्र ! भीमसेन तो अकेले ही आठ रथियों के बराबर हैं। गदा और बाणों द्वारा किये जानेवाले युद्ध में उनके समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है।

माद्रीपुत्रौ च रथिनौ द्वावेव पुरुषर्षभौ ।
अश्विनाविव रूपेण तेजसा च समन्वितौ ॥४॥

माद्री के दोनों पुत्र नकुल और सहदेव अश्विनीकुमारों के समान रूपवान् और तेजस्वी हैं। ये दोनों ही पुरुषरत्न रथी हैं।

लोहिताक्षो गुडाकेशो वासुदेवसहायवान् ।
उभयोः सेनयोर्वीरो रथो नास्तीति तादृशः ॥५॥

लाल नेत्रोंवाले, निद्राविजयी और श्रीकृष्ण जिसके सहायक हैं, कौरव-पाण्डव दोनों सेनाओं में, उस अर्जुन के समान वीर रथी दूसरा कोई नहीं है।

न हि देवेषु यक्षेषु नरेषु कुत एव तु ।
भूतोऽथवा भविष्यो वा रथः कश्चिन्मया श्रुतः ॥६॥

समस्त देवताओं तथा यक्षों में अर्जुन के समान कोई नहीं है, फिर मनुष्यों में तो हो ही कैसे सकता है ? भूत या भविष्य में भी कोई ऐसा रथी मेरे सुनने में नहीं आया।

अहं चैनं प्रत्युदियामाचार्यो वा धनञ्जयम् ।
न तृतीयोऽस्ति राजेन्द्र सेनयोरुभयोरपि ।
य एनं शरवर्षाणि वर्षन्तमुदियाद् रथी ॥७॥

मैं अथवा द्रोणाचार्य ही अर्जुन का सामना कर सकते हैं। राजेन्द्र ! दोनों सेनाओं में तीसरा कोई ऐसा रथी नहीं है जो बाणों की वर्षा करते हुए अर्जुन के समक्ष ठहर सके।

द्रौपदेया महाराज सर्वे पञ्चमहारथाः ।
वैराटिरुत्तरश्चैव रथोदारो मतो मम ॥८॥

महाराज ! द्रौपदी के जो पाँच पुत्र हैं, वे सब-के-सब महारथी हैं। विराटपुत्र उत्तर को मैं उदार रथी मानता हूँ।

अभिमन्युर्महाबाहू रथयूथपयूथपः ।
समः पार्थेन समरे वासुदेवेन चारिहा ॥९॥
लब्धास्त्रश्चित्रयोधी च मनस्वी च दृढव्रतः ।
संस्मरन् वै परिक्लेशं स्वपितुर्विक्रमिष्यति ॥१०॥

महाबाहु अभिमन्यु रथ-यूथपतियों का भी यूथपति है। वह शत्रुसंहारक वीर युद्धभूमि में अर्जुन और श्रीकृष्ण के समान पराक्रमी है। उसने अस्त्र-विद्या की विधिवत् शिक्षा प्राप्त की है। वह युद्ध की विचित्र कलाएँ जानता है तथा दृढ़तापूर्वक व्रत का पालन करनेवाला एवं मनस्वी है। वह अपने पिता के क्लेश का स्मरण कर अवश्य पराक्रम प्रकट करेगा।

सात्यकिर्माधवः शूरो रथयूथपयूथपः ।
एष वृष्णिप्रवीराणाममर्षी जितसाध्वसः ॥११॥

मधुवंशी शूरवीर सात्यकि भी रथ-यूथपतियों का भी यूथपति है। वृष्णिवंश के प्रमुख वीरों में ये सात्यकि अत्यन्त अमर्षशील हैं। इन्होंने भय को जीत लिया है।

उत्तमौजास्तथा राजन् रथोदारो मतो मम ।
युधामन्युश्च विक्रान्तो रथोदारो मतो मम ॥१२॥

राजन् ! उत्तमौजा को भी मैं उदार रथी मानता हूँ। पराक्रमी युधामन्यु भी मेरे मत में एक श्रेष्ठ रथी है।

अजेयौ समरे वृद्धौ विराटद्रुपदौ तथा।
महारथौ महावीर्यौ मतौ मे पुरुषर्षभौ ॥१३॥

वृद्ध राजा विराट और द्रुपद भी युद्ध में अजेय हैं। इन दोनों महापराक्रमी नरश्रेष्ठ वीरों को मैं महारथी मानता हूँ।

सुतः पाञ्चालराजस्य राजन् परपुरञ्जयः।
शिखण्डी रथमुख्यो मे मतः पार्थस्य भारत ॥१४॥

राजन्! भरतनन्दन! पाञ्चालराज द्रुपद का पुत्र शिखण्डी शत्रुओं की नगरी पर विजय पानेवाला है, मैं उसे युधिष्ठिर की सेना का एक प्रमुख रथी मानता हूँ।

एष योत्स्यति संग्रामे नाशयन् पूर्वसंस्थितम्।
परं यशो विप्रथयंस्तव सेनासु भारत ॥१५॥

हे भारत! वह तुम्हारी सेना में प्रवेश करके अपने पूर्व अपयश का नाश तथा उत्तम सुयश का विस्तार करता हुआ अत्यन्त उत्साह से युद्ध करेगा।

धृष्टद्युम्नश्च सेनानीः सर्वसेनासु भारत।
मतो मेऽतिरथो राजन् द्रोणशिष्यो महारथः ॥१६॥

भारत! जो पाण्डवों की सम्पूर्ण सेना का सेनापति है, वह द्रोणाचार्य का महारथी शिष्य धृष्टद्युम्न मेरे विचार से अतिरथी है।

शिशुपालसुतो वीरश्चेदिराजो महारथः।
धृष्टकेतुर्महेष्वासः सम्बन्धी पाण्डवस्य वै ॥१७॥

शिशुपाल का वीरपुत्र महाधनुर्धर चेदिराज धृष्टकेतु पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर का सम्बन्धी तथा महारथी है।

चेकितानः सत्यधृतिः पाण्डवानां महारथौ।
द्वाविमौ पुरुषव्याघ्रौ रथोदारौ मतौ मम ॥१८॥

चेकितान और सत्यधृति—ये दो पुरुषसिंह पाण्डव-सेना के महारथी हैं। मैं इन्हें रथियों में श्रेष्ठ मानता हूँ।

पुरुजित् कुन्तिभोजश्च महेष्वासो महाबलः।
मातुलो भीमसेनस्य स च मेऽतिरथो मतः ॥१९॥

कुन्तिभोजकुमार राजा पुरुजित् जो भीमसेन के मामा हैं, वे भी महाधनुर्धर तथा अति बलवान् हैं। मैं इन्हें भी अतिरथी मानता हूँ।

भैमसेनिर्महाराज हैडिम्बो राक्षसेश्वरः।
मतो मे बहुमायावी रथयूथपयूथपः ॥२०॥

महाराज! भीमसेन और हिडिम्बा का पुत्र राक्षसराज घटोत्कच अति मायावी है। वह मेरे मत में रथयूथपतियों का भी यूथपति है।

एते चान्ये च बहवो नाना जनपदेश्वराः।
समेताः पाण्डवस्यार्थे वासुदेवपुरोगमाः ॥२१॥

ये तथा और बहुत-से वीर क्षत्रिय जो विभिन्न जनपदों के स्वामी हैं, जिनमें श्रीकृष्ण का स्थान सबसे प्रमुख है, पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर के लिए यहाँ एकत्र हुए हैं।

एते प्राधान्यतो राजन् पाण्डवस्य महात्मनः।
रथाश्चातिरथाश्चैव ये चान्येऽर्धरथा नृप ॥२२॥

हे राजन्! ये महात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर के मुख्य-मुख्य रथी, अतिरथी और अन्य अर्धरथी हैं।

तैरहं समरे वीर मायाविद्भिर्जयैषिभिः।
योत्स्यामि जयमाकाङ्क्षन्नथवा निधनं रणे ॥२३॥

वीर! मैं तुम्हारी ओर से रणभूमि में उन मायावेत्ता तथा विजयाभिलाषी पाण्डव वीरों के साथ अपनी विजय अथवा मृत्यु की आकांक्षा लेकर युद्ध करूँगा।

अर्जुनं वासुदेवं च ये चान्ये तत्र पार्थिवाः।
सर्वांस्तान् वारयिष्यामि यावद् द्रक्ष्यामि भारत ॥२४॥

हे भारत! अर्जुन, श्रीकृष्ण तथा अन्य जो-जो भूपाल हैं, मैं उनमें से जिन-जिनको देखूंगा, उन सबको आगे बढ़ने से रोक दूंगा।

पाञ्चाल्यं तु महाबाहो नाहं हन्यां शिखण्डिनम्।
उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा प्रतियुध्यन्तमाहवे ॥२५॥

परन्तु महाबाहो! पाञ्चालराजकुमार शिखण्डी को धनुष पर बाण चढ़ाये युद्ध में अपना सामना करते देखकर भी मैं नहीं मारूँगा।

देवव्रतत्वं विज्ञाप्य पृथिव्यां सर्वराजसु।
नैव हन्यां स्त्रियं जातु न स्त्रीपूर्वं कदाचन ॥२६॥

सारे संसार में समस्त राजाओं में अपने देवव्रत-स्वरूप की ख्याति कराकर मैं कभी भी किसी स्त्री को अथवा जो पहले स्त्री रहा हो, उस पुरुष को भी नहीं मार सकता।

स हि स्त्रीपूर्वको राजन् शिखण्डी यदि ते श्रुतः।
कन्या भूत्वा पुमान् जातो न योत्स्ये तेन भारत ॥२७

राजन्! कदाचित् तुम्हारे सुनने में आया होगा, शिखण्डी पहले 'स्त्री रूप' में ही उत्पन्न हुआ था। भारत! पहले कन्या होकर वह फिर पुरुष हो गया था, अतः मैं उससे युद्ध नहीं करूँगा।

सर्वांस्त्वन्यान् हनिष्यामि पार्थिवान् भरतर्षभ।
समरे यान् समेष्यामि न तु कुन्तीसुतान् नृप ॥२८॥

भरतश्रेष्ठ! मैं अन्य सब राजाओं को जिन्हें युद्ध में पाऊँगा, मार गिराऊँगा, परन्तु कुन्ती के पुत्रों का वध कदापि नहीं करूँगा।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥३६॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

कौरव तथा पाण्डव-पक्षों की शक्ति का वर्णन तथा दोनों सेनाओं का युद्ध के लिए प्रस्थान

सञ्जय उवाच

प्रभातायां तु शर्वर्यां पुनरेव सुतस्तव।
मध्ये सर्वस्य सैन्यस्य पितामहमपृच्छत ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! जब रात्रि व्यतीत हुई और प्रभात हुआ, उस समय आपके पुत्र दुर्योधन ने सारी सेना के मध्य में पुनः पितामह भीष्म से पूछा—

पाण्डवानाञ्च गाङ्गेय यदेतत् सैन्यमुद्यतम्।
सेनासागरमक्षोभ्यमपि देवैर्महाहवे ॥२॥
केन कालेन गाङ्गेय क्षपयेथा महाद्युते।
आचार्यो वा महेष्वासः कृपो वा सुमहाबलः ॥३॥
कर्णो वा समरश्लाघी द्रौणिर्वा द्विजसत्तमः।
दिव्यास्त्रविदुषः सर्वे भवन्तो हि बले मम ॥४॥

गङ्गानन्दन! यह जो पाण्डवों की विशाल सेना युद्ध के लिए उद्यत है, बड़े-बड़े देवता भी इस महान् युद्ध में इस सैन्य समुद्र को क्षुब्ध नहीं कर सकते। महातेजस्वी गङ्गानन्दन! आप इस सारी सेना का संहार कितने समय में कर सकते हैं; महाधनुर्धर द्रोणाचार्य, अत्यन्त बलशाली कृपाचार्य, युद्ध की स्पृहा रखनेवाले कर्ण अथवा द्विजश्रेष्ठ अश्वत्थामा कितने समय में शत्रुसेना को समाप्त कर सकते हैं, क्योंकि मेरी सेना में आप सब लोग दिव्यास्त्रों के ज्ञाता हैं।

एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं परं कौतूहलं हि मे।
हृदि नित्यं महाबाहो वक्तुमर्हसि तन्मम ॥५॥

"महाबाहो! मैं यह सब-कुछ जानना चाहता हूँ, इसके लिए मेरे हृदय में सदा कौतूहल बना रहता है। आप मुझे यह सब बताने की कृपा करें।"

भीष्म उवाच

अनुरूपं कुरुश्रेष्ठ त्वय्येतत् पृथिवीपते।
बलाबलममित्राणां तेषां यदिह पृच्छसि ॥६॥

भीष्मजी बोले—कुरुश्रेष्ठ! प्रजेश्वर! तुमने शत्रुओं के बलाबल के सम्बन्ध में जो प्रश्न पूछा है, वह तुम्हारे योग्य ही है।

शृणु मम रणे राजन् या शक्तिः परमा भवेत्।
शस्त्रवीर्यं रणे यच्च भुजयोश्च महाभुज ॥७॥

राजन्! महाबाहो! युद्ध में मेरी जो सबसे अधिक शक्ति है, मेरे अस्त्र-शस्त्रों का तथा दोनों भुजाओं का जितना बल है, वह सब बताता हूँ, सुनो।

आर्जवेनैव युद्धेन योद्धव्य इतरो जनः।
मायायुद्धेन मायावी इत्येतद् धर्मनिश्चयः ॥८॥

साधारण लोगों के साथ सरल भाव से ही युद्ध करना चाहिए तथा जो लोग मायावी हैं, उनका सामना मायायुद्ध से ही करना चाहिए, यही धर्मशास्त्र का निश्चय है।

मुञ्चेयं यदि वास्त्राणि महान्ति समरे स्थितः।
शतसाहस्रघातीनि हन्यां मासेन भारत ॥९॥

हे भारत! यदि मैं युद्ध में खड़ा होकर लाखों वीरों का संहार करनेवाले अपने भयंकर अस्त्रों का प्रयोग करूँ तो एक मास में पाण्डवों की सारी सेना को नष्ट कर सकता हूँ।

संजय उवाच

श्रुत्वा भीष्मस्य तद् वाक्यं राजा दुर्योधनस्ततः ।
पर्यपृच्छत राजेन्द्र द्रोणमङ्गिरसां वरम् ॥१०॥
आचार्य केन कालेन पाण्डुपुत्रस्य सैनिकान् ।
निहन्या इति तं द्रोणः प्रत्युवाच हसन्निव ॥११॥

सञ्जय कहते हैं—हे राजेन्द्र ! भीष्म का यह वचन सुनकर राजा दुर्योधन ने अङ्गिरस ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ द्रोणाचार्य से पूछा—"आचार्य ! आप कितने समय में पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर के सैनिकों का संहार कर सकते हैं ?" यह प्रश्न सुनकर द्रोणाचार्य हँसते हुए-से बोले—

स्थविरोऽस्मि महाबाहो मन्दप्राणविचेष्टितः ।
शस्त्राग्निना निर्दहेयं पाण्डवानामनीकिनीम् ॥१२॥

"महाबाहो ! अब तो मैं वृद्ध हो गया हूँ, मेरी प्राणशक्ति और चेष्टा भी कम हो गई है, तो भी मैं अपने अस्त्र-शस्त्रों की अग्नि से पाण्डवों की विशाल सेना को भस्म कर दूंगा ।

यथा भीष्मः शान्तनवो मासेनेति मतिर्मम ।
एषा मे परमा शक्तिरेतन्मे परमं बलम् ॥१३॥

"शान्तनुनन्दन भीष्म की भाँति मैं भी एक मास में पाण्डव-सेना का संहार कर सकता हूँ, ऐसा मेरा विश्वास है। यही मेरी सबसे बड़ी शक्ति है तथा यही मेरा अधिक-से-अधिक बल है ।"

द्वाभ्यामेव तु मासाभ्यां कृपः शारद्वतोऽब्रवीत् ।
द्रौणिस्तु दशरात्रेण प्रतिजज्ञे बलक्षयम् ॥१४॥

कृपाचार्य ने दो मास में पाण्डव-सेना के संहार की बात कही, परन्तु अश्वत्थामा ने दस ही दिनों में शत्रुसेना के विध्वंस की प्रतिज्ञा कर ली ।

कर्णस्तु पञ्चरात्रेण प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ।
तत् श्रुत्वा सूतपुत्रस्य वाक्यं सागरगासुतः ॥१५॥
जहास सस्वनं हासं वाक्यं चेदमुवाच ह ।
न हि यावद् रणे पार्थं बाणशंखधनुर्धरम् ॥१६॥
वासुदेवसमायुक्तं रथेनायान्तमाहवे ।
समागच्छसि राधेय तेनैवमभिमन्यसे ।
शक्यमेवं च भूयश्च त्वया वक्तुं यथेष्टतः ॥१७॥

भयंकर अस्त्रों के ज्ञाता कर्ण ने पाँच ही दिन में पाण्डव-सेना को नष्ट करने की प्रतिज्ञा की। सूतपुत्र का यह कथन सुनकर गङ्गानन्दन भीष्मजी ठहाका मारकर हँस पड़े और यह वचन बोले—"राधापुत्र ! जबतक तुम युद्धभूमि में शंख, बाण और धनुष धारण करनेवाले श्रीकृष्णसहित अर्जुन को एक ही रथ पर आते हुए नहीं देखते और जबतक उनके साथ तुम्हारी मुठभेड़ नहीं होती, तभी तक ऐसा अभिमान प्रकट करते हो । तुम इच्छानुसार और भी ऐसी बहुत-सी बहकी-बहकी बातें कह सकते हो ।"

वैशम्पायन उवाच

एतत् श्रुत्वा तु कौन्तेयः सर्वान् भ्रातॄनुपह्वरे ।
आहूय भरतश्रेष्ठ इदं वचनमब्रवीत् ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! कौरव-सेना में हुई बातचीत का समाचार पाकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने भी अपने सब भाइयों को एकान्त में बुलाकर इस प्रकार कहा—

युधिष्ठिर उवाच

धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु ये चारपुरुषा मम ।
ते प्रवृत्तिप्रयच्छन्ति ममेमां व्युषितां निशाम् ॥१९॥
दुर्योधनः किलापृच्छदापगेयं महाव्रतम् ॥
केन कालेन पाण्डूनां हन्याः सैन्यमिति प्रभो ॥२०॥

युधिष्ठिर ने कहा—धृतराष्ट्र की सेना में जो मेरे गुप्तचर नियुक्त हैं, उन्होंने मुझे यह समाचार दिया है कि इसी विगत रात्रि में दुर्योधन ने व्रतधारी गङ्गानन्दन भीष्मजी से यह पूछा था कि प्रभो ! आप पाण्डवों की सेना का संहार कितने समय में कर सकते हैं ?

मासेनेति च तेनोक्तो धार्तराष्ट्रः सुदुर्मतिः ।
तावता चापि कालेन द्रोणोऽपि प्रतिजज्ञिवान् ॥२१॥
गौतमो द्विगुणं कालमुक्तवानिति नः श्रुतम् ।
द्रौणिस्तु दशरात्रेण प्रतिजज्ञे महास्त्रवित् ॥२२॥

भीष्मजी ने धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधन को यह उत्तर दिया कि मैं एक मास में पाण्डव-सेना का संहार कर सकता हूँ । द्रोणाचार्य ने भी उतने ही समय में वैसा करने की प्रतिज्ञा की । कृपाचार्य ने दो मास का समय बताया यह बात हमारे सुनने में आई है तथा महान् अस्त्रवेत्ता अश्वत्थामा ने दस ही दिन में पाण्डव-सेना के विध्वंस की प्रतिज्ञा की है ।

तथा दिव्यास्त्रवित् कर्णः सम्पृष्टः कुरुसंसदि ।
पञ्चभिर्दिवसैर्हन्तुं ससैन्यं प्रतिजज्ञिवान् ॥२३॥

जब कौरवसभा में यही प्रश्न दिव्यास्त्र-वेत्ता कर्ण से पूछा गया, तब उसने पाँच ही दिन में हमारी सारी सेना को नष्ट करने की प्रतिज्ञा कर ली।

तस्मादहमपीच्छामि श्रोतुमर्जुन ते वचः।
कालेन कियता शत्रून् क्षपयेरिति फाल्गुन ॥२४॥

अतः अर्जुन ! मैं भी तुम्हारी बात सुनना चाहता हूँ। फाल्गुन ! तुम कितने समय में शत्रुसेना का संहार कर सकते हो ?

संजय उवाच

एवमुक्तो गुडाकेशः पार्थिवेन धनञ्जयः ।
वासुदेवं समीक्ष्येदं वचनं प्रत्यभाषत ॥२५॥

संजय कहते हैं—राजा युधिष्ठिर के इस प्रकार पूछने पर निद्राविजयी अर्जुन ने श्रीकृष्ण की ओर देखकर यह बात कही।

अर्जुन उवाच

सर्व एते महात्मानः कृतास्त्राश्चित्रयोधिनः ।
असंशयं महाराज हन्युरेव न संशयः ॥२६॥

अर्जुन बोला—महाराज ! निःसन्देह ये सभी महामना योद्धा अस्त्रविद्या के विद्वान् और विचित्र प्रकार से युद्ध करनेवाले हैं, अतः उतने दिनों में शत्रु-सेना का संहार कर सकते हैं, इसमें संशय नहीं है।

अपैतु ते मनस्तापो यथा सत्यं ब्रवीम्यहम् ।
हन्यामेकरथेनैव वासुदेवसहायवान् ॥२७॥
सामरानपि लोकांस्त्रीन् सर्वान् स्थावरजङ्गमान् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च निमेषादिति मे मतिः ॥२८॥

परन्तु आपका मनस्ताप दूर हो जाना चाहिए। मैं जो सत्य बात कहने जा रहा हूँ, उसपर ध्यान दीजिए। मैं श्रीकृष्ण की सहायता से युक्त हुआ एक-मात्र रथ को लेकर ही देवताओंसहित तीनों लोकों, सम्पूर्ण चराचर प्राणियों तथा भूत, वर्तमान और भविष्य को भी पलक मारते-मारते नष्ट कर सकता हूँ, ऐसा मेरा विश्वास है।

यत्तद् घोरं पशुपतिः प्रादादस्त्रं महन्मम ।
कैराते द्वन्द्वयुद्धे तु तदिदं मयि वर्तते ॥२९॥

महाराज शिव ने किरातवेष में द्वन्द्वयुद्ध करते समय मुझे जो अपना भयंकर महास्त्र प्रदान किया था, वह मेरे पास विद्यमान है।

तन्न जानाति गाङ्गेयो न द्रोणो न च गौतमः ।
न च द्रोणसुतो राजन् कुत एव तु सूतजः ॥३०॥

राजन् ! इस अस्त्र को न तो गङ्गानन्दन भीष्मजी जानते हैं, न द्रोणाचार्य जानते हैं, न कृपाचार्य जानते हैं और न द्रोणपुत्र अश्वत्थामा को ही इसका ज्ञान है, फिर सूतपुत्र कर्ण तो इसे जान ही कैसे सकता है ?

न तु युक्तं रणे हन्तुं दिव्यैरस्त्रैः पृथग्जनम् ।
आर्जवेनैव युद्धेन विजेष्यामो वयं परान् ॥३१॥

परन्तु युद्ध में साधारणजनों को दिव्यास्त्रों द्वारा मारना कदापि उचित नहीं है, अतः हम लोग सरलतापूर्वक युद्ध के द्वारा ही शत्रुओं को जीतेंगे।

शिखण्डी युयुधानश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
भीमसेनो यमौ चोभौ युधामन्यूत्तमौजसौ ॥३२॥
विराटद्रुपदौ चोभौ भीष्मद्रोणसमौ युधि ।
स्वयं चापि समर्थोऽसि त्रैलोक्योत्सादनेऽपि च ॥३३॥

शिखण्डी, सात्यकि, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, भीमसेन, दोनों भाई नकुल-सहदेव, युधामन्यु, उत्तमौजा और महाराज विराट तथा द्रुपद—ये सभी युद्ध में भीष्म और द्रोणाचार्य की समानता करनेवाले हैं। आप स्वयं भी तीनों लोकों का संहार करने में समर्थ हैं।

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रभाते विमले धार्तराष्ट्रेण प्रेरिताः ।
दुर्योधनेन राजानः प्रययुः पाण्डवान् प्रति ॥३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् निर्मल प्रभात में धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन द्वारा प्रेरित हो सभी भूपाल पाण्डवों से युद्ध करने के लिए चले।

आप्लाव्य शुचयः सर्वे स्रग्विणः शुक्लवाससः ।
गृहीतशस्त्रा ध्वजिनः स्वस्ति वाच्या हुताग्नयः ॥३५॥

चलने से पूर्व उन सबने स्नान करके शुद्ध हो श्वेतवस्त्र धारण किये, पुष्पों की मालाएँ धारण कीं, ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराया, अग्नि में आहुतियाँ दीं, फिर ध्वजा फहराते हुए हाथों में अस्त्र-शस्त्र लेकर रणभूमि की ओर प्रस्थित हुए।

ते समेत्य यथान्यायं धार्तराष्ट्रा महाबलाः ।
कुरुक्षेत्रस्य पश्चार्धे व्यवातिष्ठन्त दंशिताः ॥३६॥

धृतराष्ट्र के वे बलशाली पुत्र रणक्षेत्र में जाकर कवच आदि से सुसज्जित हो कुरुक्षेत्र के पश्चिम भाग में यथोचितरूप से खड़े हुए ।

पञ्चयोजनमुत्सृज्य मण्डलं तद्रणाजिरम् ।
सेनानिवेशास्ते राजन्नाविशञ्छतसंघशः ॥३७॥

समराङ्गण के लिए पाँच योजन का घेरा छोड़कर सैनिकों के लिए सौ-सौ की संख्या में कितनी ही श्रेणीबद्ध छावनियाँ डाली गई थीं ।

तत्र ते पृथिवीपाला यथोत्साहं यथाबलम् ।
विविशुः शिविराण्यत्र द्रव्यवन्ति सहस्रशः ॥३८॥

उन्हीं बहुमूल्य आवश्यक सामग्रियों से भरपूर सहस्रों छावनियों में वे नरेश अपने बल और उत्साह के अनुरूप युद्ध के लिए उद्यत होकर रहते थे ।

तेषां दुर्योधनो राजा ससैन्यानां महात्मनाम् ।
व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम् ॥३९॥
सनागाश्वमनुष्याणां ये च शिल्पोपजीविनः ।
ये चान्येऽनुगतास्तत्र सूतमागधवन्दिनः ॥४०॥

राजा दुर्योधन सवारियों और सैनिकोंसहित उन महामना नरेशों को परम उत्तम भक्ष्य-भोज्य पदार्थ देता था । हाथियों, घोड़ों, पैदल सैनिकों, शिल्पजीवियों, अन्य अनुगामियों तथा सूत, मागध और वन्दीजनों को भी राजा की ओर से भोजन प्राप्त होता था ।

तथैव राजा कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
धृष्टद्युम्नमुखान् वीरान् प्रेरयामास भारत ॥४१॥

जनमेजय ! इसी प्रकार कुन्तीनन्दन धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर ने भी धृष्टद्युम्न आदि वीरों को युद्ध के लिए प्रस्थान करने की प्रेरणा की ।

तेषां युधिष्ठिरो राजा ससैन्यानां महात्मनाम् ।
व्यादिदेश सवाह्यानां भक्ष्यभोज्यमनुत्तमम् ॥४२॥

महाराज युधिष्ठिर ने सेना और सवारियोंसहित उन महामना नरेशों को उत्तमोत्तम खाने-पीने की वस्तुएँ देने की आज्ञा दी ।

इति महाभारते उद्योगपर्वणि सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥

॥ इति उद्योगपर्व सम्पूर्णम् ॥

भीष्मपर्व

प्रथमोऽध्यायः

दोनों सेनाओं का कुरुक्षेत्र में जमाव तथा युद्ध के नियमों का निर्माण

वैशम्पायन उवाच

तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं पाण्डवाः सहसोमकाः ।
कौरवाः समवर्तन्त जिगीषन्तो महाबलाः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—सोमकोंसहित पाण्डव और कौरव—दोनों महाबली थे। वे एक-दूसरे को जीतने की इच्छा से कुरुक्षेत्र में उतरकर आमने-सामने डटे हुए थे।

अभियाय च दुर्धर्षां धार्तराष्ट्रस्य वाहिनीम् ।
प्राङ्मुखाः पश्चिमे भागे न्यविशन्त ससैनिकाः ॥२॥

पाण्डवों के योद्धा लोग अपने-अपने सैनिकोंसहित धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन की दुर्धर्ष सेना के सम्मुख जाकर पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होकर ठहर गये थे।

दृष्ट्वा ध्वजाग्रं पार्थस्य धार्तराष्ट्रो महामनाः ।
सह सर्वैर्महीपालैः प्रत्यव्यूहत पाण्डवम् ॥३॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन के ध्वज का अग्रभाग देखकर महामना दुर्योधन ने समस्त भूपालों के साथ पाण्डव-सेना के विरुद्ध अपनी सेना की व्यूहरचना की।

दृष्ट्वा दुर्योधनं हृष्टाः पाञ्चाला युद्धनन्दिनः ।
दध्मुः प्रीता महाशंखान् भेर्यश्च मधुरस्वनाः ॥४॥

दुर्योधन को देखकर युद्ध का अभिनन्दन करनेवाले पाञ्चाल सैनिक बहुत प्रसन्न हुए और हर्ष में भरकर बड़े-बड़े शंखों तथा मधुर ध्वनि करनेवाली भेरियों को बजाने लगे।

ततो हर्षं समागम्य वासुदेवधनञ्जयौ ।
दध्मतुः पुरुषव्याघ्रौ दिव्यौ शंखौ रथे स्थितौ ॥५॥

अपनी सेना को हर्ष और उल्लास में भरी हुई देख एक ही रथ पर बैठे हुए पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुन भी आनन्दमग्न होकर अपने दिव्य शंखों को बजाने लगे।

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं देवदत्तस्य चोभयोः ।
श्रुत्वा तु निनदं योधाः शकृन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः ॥६॥

पाञ्चजन्य और देवदत्त दोनों शंखों की ध्वनि सुनकर शत्रुपक्ष के बहुत-से सैनिकों का तो भयभीत होकर मल-मूत्र निकलने लगा।

उभे सैन्ये च राजेन्द्र युद्धाय मुदिते भृशम् ।
कुरुक्षेत्रे स्थिते यत्ते सागरक्षुभितोपमे ॥७॥

राजेन्द्र! कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिए अत्यन्त हर्षोल्लास से भरी हुई दोनों पक्ष की सेनाएँ दो विक्षुब्ध महासागरों के समान एक-दूसरे के सम्मुख खड़ी थीं।

तयोस्तु सेनयोरासीदद्भुतः स तु सङ्गमः ।
युगान्ते समनुप्राप्ते द्वयोः सागरयोरिव ॥८॥

दोनों सेनाओं का वह अद्भुत समागम प्रलय-काल उपस्थित होने पर परस्पर मिलनेवाले दो समुद्रों के समान जान पड़ता था।

शून्यासीत् पृथिवी सर्वा वृद्धबालावशेषिता ।
निरश्वपुरुषेवासीद् रथकुञ्जरवर्जिता ॥९॥

सारी पृथिवी नवयुवकों से शून्य-सी हो रही थी। सर्वत्र केवल बालक और बूढ़े ही शेष रह गये थे। सारी वसुधा हाथी, घोड़े, रथ और तरुणों से हीन-सी हो गई थी।

ततस्ते समयं चक्रुः कुरुपाण्डवसोमकाः ।
धर्मान् संस्थापयामासुर्युद्धानां भरतर्षभ ॥१०॥

भरतश्रेष्ठ! दोनों सेनाओं के मोर्चों पर डट

जाने पर कौरव, पाण्डव तथा सोमकों ने परस्पर मिलकर युद्ध के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाये और युद्ध की मर्यादा स्थापित की।

निवृत्ते विहिते युद्धे स्यात् प्रीतिर्नः परस्परम्।
यथापरं यथायोगं न च स्यात् कस्यचित् पुनः ॥११॥

वे नियम थे—युद्ध बन्द हो जाने पर सन्ध्याकाल में हम सब लोगों में परस्पर प्रेम बना रहे। उस समय पुनः किसी का किसी के साथ शत्रुतापूर्ण अयोग्य व्यवहार नहीं होना चाहिए।

वाचा युद्धप्रवृत्तानां वाचैव प्रतियोधनम्।
निष्क्रान्ताः पृतनामध्यान्न हन्तव्याः कदाचन ॥१२॥
रथी च रथिना योध्यो गजेन गजधूर्गतः।
अश्वेनाश्वी पदातिश्च पादातेनैव भारत ॥१३॥

जो वाग्युद्ध में प्रवृत्त हों उनके साथ वाणी से ही युद्ध किया जाए। जो सेना से बाहर निकल गये हों, उनका वध कदापि न किया जाए। हे भारत! रथी को रथी के साथ ही युद्ध करना चाहिए। इसी प्रकार हाथीसवार को हाथीसवार के साथ, घुड़सवार को घुड़सवार के साथ और पैदल को पैदल के साथ युद्ध करना चाहिए।

यथायोगं यथाकामं यथोत्साहं यथाबलम्।
समाभाष्य प्रहर्तव्यं न विश्वस्ते न विह्वले ॥१४॥

जिसमें जैसी योग्यता, इच्छा, उत्साह और बल हो उसी के अनुसार विपक्षी को बताकर, उसे सावधान करके ही उसपर प्रहार किया जाए। जो विश्वास करके असावधान हो अथवा जो युद्ध से घबराया हुआ हो, उसपर प्रहार न किया जाए।

एकेन सह संयुक्तः प्रपन्नो विमुखस्तथा।
क्षीणशस्त्रो विवर्मा च न हन्तव्यः कदाचन ॥१५॥

जो एक के साथ युद्ध में लगा हो, शरण में आया हो, पीठ दिखाकर भागा हो तथा जिसके अस्त्र-शस्त्र और कवच कट गये हों, ऐसे मनुष्य को कदापि न मारा जाए।

न सूतेषु न धुर्येषु न च शस्त्रोपनायिषु।
न भेरीशंखवादेषु प्रहर्तव्यं कथञ्चन ॥१६॥

घोड़ों की सेवा के लिए नियुक्त हुए सूतों, बोझ ढोनेवालों, शस्त्र पहुँचानेवालों तथा भेरी और शंख बजानेवालों पर कोई किसी प्रकार भी प्रहार न करे।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

संजय का युद्धभूमि से लौटकर धृतराष्ट्र को भीष्मजी की मृत्यु का समाचार सुनाना

वैशम्पायन उवाच

अथ गावल्गणिर्विद्वान् संयुगादेत्य भारत।
आचष्ट निहतं भीष्मं धृतराष्ट्राय ध्यायते ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! एक दिन गवल्गणपुत्र विद्वान् संजय ने युद्धभूमि से लौटकर चिन्तामग्न धृतराष्ट्र के पास जा उन्हें पितामह भीष्म के युद्धभूमि में मारे जाने का समाचार सुनाया।

संजय उवाच

संजयोऽहं महाराज नमस्ते भरतर्षभ।
हतो भीष्मः शान्तनवो भरतानां पितामहः ॥२॥

संजय बोले—महाराज! भरतश्रेष्ठ! नमस्ते। मैं संजय आपकी सेवा में उपस्थित हूँ। भरतवंशियों के पितामह, महाराज शान्तनु के पुत्र भीष्मजी आज युद्ध में मारे गये।

ककुदं सर्वयोधानां धाम सर्वधनुष्मताम्।
शरतल्पगतः सोऽद्य शेते कुरुपितामहः ॥३॥

जो समस्त योद्धाओं के ध्वजस्वरूप तथा सम्पूर्ण धनुर्धरों के आश्रय थे, वे ही कुरुकुलपितामह भीष्म आज बाणशय्या पर सो रहे हैं।

यः सर्वान् पृथिवीपालान् समवेतान् महामृधे।
जिगायैकरथेनैव काशिपुर्यां महारथः ॥४॥
जामदग्न्यं रणे रामं योऽयुध्यदसम्भ्रमः।
न हतो जामदग्न्येन स हतोऽद्य शिखण्डिना ॥५॥

जिन महारथी वीर भीष्म ने काशिराज की नगरी में एकत्र हुए समस्त नरेशों को रथ पर बैठकर अकेले ही महान् युद्ध में पराजित कर दिया था, जिन्होंने युद्धक्षेत्र में जमदग्निनन्दन परशुराम के साथ निर्भय होकर युद्ध किया था और जिन्हें परशुरामजी

भी नहीं मार सके, वे ही भीष्म आज शिखण्डी के द्वारा मारे गये।

स शेते निहतो भूमौ वातभग्न इव द्रुमः।
तव दुर्मन्त्रिते राजन् यथा नार्हः स भारत ॥६॥

भरतवंशी नरेश! भीष्मजी आँधी से उखाड़े हुए वृक्ष की भाँति मारे जाकर युद्धभूमि में सो रहे हैं। यह सब आपकी कुमन्त्रणा का फल है, अन्यथा भीष्मजी इस दुर्दशा के योग्य नहीं थे।

धृतराष्ट्र उवाच

कथं चातिरथस्तेन पाञ्चाल्येन शिखण्डिना।
भीष्मो विनिहतो युद्धे देवैरपि दुरासदः ॥७॥

धृतराष्ट्र बोले—भीष्म तो युद्ध में देवताओं के लिए भी दुर्जय और अतिरथी वीर थे, फिर पाञ्चाल-राजकुमार शिखण्डी के हाथ से वे कैसे मारे गये?

अश्मसारमयं नूनं हृदयं सुदृढं मम।
यत् श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं हतं भीष्मं न दीर्यते ॥८॥

निश्चय ही मेरा यह हृदय लोहे के समान कठोर है, तभी तो पुरुषसिंह भीष्मजी की मृत्यु का समाचार सुनकर भी विदीर्ण नहीं होता है।

योषेव हतवीरा मे सेना पुत्रस्य संजय।
अगोपमिव चोद्भ्रान्तं गोकुलं तद् बलं मम ॥९॥

संजय! उन वीर सेनापति के मारे जाने पर मेरे पुत्र की सेना विधवा स्त्री के समान असहाय हो गई है। जैसे ग्वाले के बिना गौओं का समुदाय इधर-उधर भटकता फिरता है, उसी प्रकार अब मेरी सेना उद्भ्रान्त हो रही होगी!

अगाधे सलिले मग्नां नावं दृष्ट्वेव पारगाः।
भीष्मे हते भृशं दुःखान्मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः ॥१०॥

जैसे पार जाने की इच्छावाले पथिक नौका को अगाध जल में डूबी हुई देखकर दुःखी होते हैं, मैं समझता हूँ कि भीष्मजी के मारे जाने पर मेरे पुत्र भी दुःख के कारण अत्यन्त शोकमग्न हो गये होंगे।

यद् वृत्तं तत्र संग्रामे मन्दस्याबुद्धिसम्भवम्।
अपनीतं सुनीतं यत् तन्ममाचक्ष्व संजय ॥११॥

संजय! मूर्ख दुर्योधन के अज्ञान के कारण उस युद्ध में अन्याय और न्याय की जो-जो बातें संघटित हुई हों, तुम उन सबका वर्णन करो।

यत्कृतं तत्र संग्रामे भीष्मेण जयमिच्छता।
तेजोयुक्तं कृतास्त्रेण शंस तच्चाप्यशेषतः ॥१२॥

विजय की इच्छा रखनेवाले अस्त्रवेत्ता भीष्मजी ने उस युद्ध में अपनी तेजस्विता के अनुरूप जो-जो कार्य किया हो, वह सभी पूर्णरूप से मुझे बताओ।

संजय उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो महाराज यथार्हसि।
न तु दुर्योधने दोषमिममासंक्तुमर्हसि ॥१३॥

संजय ने कहा—महाराज! आपने बारम्बार जो अनेक प्रश्न किये हैं, वे सर्वथा उचित तथा आपके ही योग्य हैं, परन्तु आपको यह सारा दोष दुर्योधन के माथे पर नहीं मढ़ना चाहिए।

प्रत्यक्षं यन्मया दृष्टं दृष्टं योगबलेन च।
शृणु तत्पृथिवीपाल मा च शोके मनः कृथाः ॥१४॥

भूपाल! युद्ध का जो वृत्तान्त मैंने अपनी आँखों से देखा है तथा योगबल से जिसका साक्षात्कार किया है, वह सब सुना रहा हूँ, सुनिए। अपने मन को शोक में न डुबाइए।

तेष्वनीकेषु यत्तेषु व्यूढेषु च विधानतः।
दुर्योधनो महाराज दुःशासनमथाब्रवीत् ॥१५॥

महाराज! जब समस्त सेनाएँ शास्त्रीय विधि के अनुसार व्यूह-रचनापूर्वक अपने-अपने स्थान पर युद्ध के लिए तैयार हो गईं, तब दुर्योधन ने दुःशासन से कहा—

दुर्योधन उवाच

दुःशासन रथास्तूर्णं युज्यन्तां भीष्मरक्षिणः।
अनीकानि च सर्वाणि शीघ्रं त्वमनुनोदय ॥१६॥

दुर्योधन बोला—दुःशासन! तुम भीष्मजी की रक्षा करनेवाले रथों को शीघ्र तैयार कराओ। सम्पूर्ण सेनाओं को भी शीघ्र उनकी रक्षा के लिए तैयार हो जाने की आज्ञा दो।

नातः कार्यतमं मन्ये रणे भीष्मस्य रक्षणात्।
हन्याद् गुप्तो ह्यसौ पार्थान्सोमकांश्च ससृञ्जयान् ॥१७

मैं इस समय युद्ध में भीष्मजी की रक्षा से बढ़कर और कोई कार्य आवश्यक नहीं समझता हूँ, क्योंकि वे सुरक्षित रहें तो कुन्ती के पुत्रों, सोमकों तथा सृंजयवंशियों को भी मार सकते हैं।

अब्रवीच्च विशुद्धात्मा नाहं हन्यां शिखण्डिनम् ।
श्रूयते स्त्री ह्यसौ पूर्वं तस्माद् वर्ज्यो रणे मम ॥१८॥

विशुद्धहृदय भीष्मजी मुझसे कह चुके हैं कि "मैं शिखण्डी को युद्ध में नहीं मारूँगा। सुनते हैं कि वह पहले स्त्री था, अतः रणभूमि में मेरे लिए वह सर्वथा त्याज्य है।"

रक्षितव्यो ह्यतो भीष्मो विशेषेणेति मे मतिः ।
शिखण्डिनो वधे यत्ताः सर्वे तिष्ठन्तु मामकाः ॥१९॥

अतः मेरा विचार है कि इस समय हमें विशेषरूप से भीष्मजी की रक्षा में ही तत्पर रहना चाहिए तथा मेरे सारे सैनिक शिखण्डी को मार डालने का प्रयत्न करें।

संजय उवाच

ततो रजन्यां व्युष्टायां शब्दः समभवन्महान् ।
क्रोशतां भूमिपालानां युज्यतां युज्यतामिति ॥२०॥

संजय कहते हैं—राजन्! रात्रि के अन्त में प्रभात होते ही—'रथ जोतो, युद्ध के लिए तैयार हो जाओ' इस प्रकार चिल्लानेवाले नरेशों का महान् कोलाहल चहुँ ओर व्याप्त हो गया।

शंखदुन्दुभिघोषैश्च सिंहनादैश्च भारत ।
हयहेषितनादैश्च रथनेमिस्वनैस्तथा ॥२१॥
गजानां बृंहतां चैव योधानां चापि गर्जताम् ।
क्ष्वेलितास्फोटितोत्क्रुष्टैस्तुमुलं सर्वतोऽभवत् ॥२२॥

भरतनन्दन! शंख और दुन्दुभियों की ध्वनि, वीरों के सिंहनाद, घोड़ों की हिनहिनाहट, रथ के पहियों की घरघराहट, हाथियों की चिंघाड़ और गर्जते हुए योद्धाओं के सिंहनाद करने, ताल ठोकने और चीखने-चिल्लाने की तुमुल ध्वनि सब ओर व्याप्त हो गई।

उदतिष्ठन्महाराज सर्वं युक्तमशेषतः ।
सूर्योदये महत् सैन्यं कुरुपाण्डवसेनयोः ॥२३॥

महाराज! सूर्योदय होते-होते कौरव और पाण्डवों की वह विशाल सेना सम्पूर्ण रूप से युद्ध के लिए तैयार हो उठी।

राजेन्द्र तव पुत्राणां पाण्डवानां तथैव च ।
दुष्प्रधृष्याणि चास्त्राणि समदृश्यन्त चन्द्रवत् ॥२४॥

राजेन्द्र! उस समय आपके पुत्रों और पाण्डवों के दुर्दम्य अस्त्र-शस्त्र चन्द्रमा के समान प्रकाशित हो उठे।

महेन्द्रकेतवः शुभ्रा महेन्द्रसदनेष्विव ।
संनद्धास्ते प्रवीराश्च ददृशुर्युद्धकांक्षिणः ॥२५॥

जैसे इन्द्र-भवन में देवराज इन्द्र के चमकीले ध्वज फहराते हैं, उसी प्रकार कौरव-पाण्डवों के ध्वज फहरा रहे थे। दोनों सेनाओं के प्रमुख वीर युद्ध की अभिलाषा रखकर कवच आदि से सुसज्जित दिखाई दे रहे थे।

उद्यतैरायुधैश्चित्रास्तलबद्धाः कलापिनः ।
ऋषभाक्षा मनुष्येन्द्राश्चमूमुखगता बभुः ॥२६॥

उनके हथियार उठे हुए थे। हाथों में दस्ताने तथा पीठ पर तरकस बाँधे सेना के मुहाने पर खड़े हुए वे भूपाल अद्भुत शोभा पा रहे थे। उनकी आँखें क्रोधोद्धत साँडों की आँखों के समान बड़ी-बड़ी दिखाई दे रही थीं।

रथानीकान्यदृश्यन्त नगराणीव भूरिशः ।
अतीव शुशुभे तत्र पिता ते पूर्णचन्द्रवत् ॥२७॥

बहुसंख्यक रथों की सेनाएँ नगरों के समान दृष्टिगोचर हो रही थीं। उनके मध्य में आपके ताऊ भीष्मजी पूर्ण चन्द्रमा के समान प्रकाशित हो रहे थे।

जृम्भमानं महासिंहं दृष्ट्वा क्षुद्रमृगा यथा ।
धृष्टद्युम्नमुखाः सर्वे समुद्विविजिरे मुहुः ॥२८॥

धृष्टद्युम्न आदि सृंजयवंशी उन्हें देखकर बार-बार उद्विग्न हो उठते थे, ठीक उसी प्रकार जैसे मुँह बाये हुए विशाल सिंह को देखकर क्षुद्रमृग भय से व्याकुल हो उठते हैं।

उन्मत्तमकरावर्तौ महाग्राहसमाकुलौ ।
युगान्ते समवेतौ द्वौ दृश्येते सागराविव ॥२९॥

वे दोनों सेनाएं प्रलयकाल में एक-दूसरे से मिलनेवाले उन दो समुद्रों के समान दृष्टिगोचर हो रही थीं जिनमें विकराल मगर और भँवर होते हैं तथा जिनमें बड़े-बड़े ग्राह सब ओर फैले रहते हैं।

नैव नस्तादृशो राजन् दृष्टपूर्वो न च श्रुतः ।
अनीकानां समेतानां कौरवाणां तथाविधः ॥३०॥

राजन्! कौरवों की इतनी बड़ी सेना का वैसा

संगठन हमने पहले कभी न तो देखा ही था और न सुना ही था।

मघाविषयगः सोमस्तद् दिनं प्रत्यपद्यत ।
दीप्यमानाश्च सम्पेतुर्दिवि सप्त महाग्रहाः ॥३१॥

उस दिन चन्द्रमा मघा नक्षत्र पर था तथा आकाश में सात महाग्रह अग्नि के समान उद्दीप्त दिखाई दे रहे थे।

सर्वधर्मविशेषज्ञः पिता देवव्रतस्तव ।
समानीय महीपालानिदं वचनमब्रवीत् ॥३२॥

उस दिन सम्पूर्ण धर्मों के विशेषज्ञ आपके ताऊ देवव्रत भीष्मजी ने सब राजाओं को बुलाकर उनसे इस प्रकार कहा—

भीष्म उवाच

इदं वः क्षत्रिया द्वारं स्वर्गायापावृतं महत् ।
गच्छध्वं तेन शक्रस्य ब्रह्मणः सहलोकताम् ॥३३॥

भीष्मजी बोले—क्षत्रियो ! यह युद्ध तुम्हारे लिए स्वर्ग का खुला हुआ विशाल द्वार है। तुम लोग इसके द्वारा इन्द्र वा ब्रह्माजी के लोकों को प्राप्त करो।

एष वः शाश्वतः पन्थाः पूर्वैः पूर्वतरैः कृतः ।
सम्भावयध्वमात्मानमव्यग्रमनसो युधि ॥३४॥

यह तुम्हारे पूर्वजों के पूर्वजों द्वारा स्वीकार किया हुआ सनातन मार्ग है। तुम सब लोग शान्त-चित्त होकर और युद्ध में शौर्य का परिचय देते हुए अपने-आपको सुयश और सम्मान का भागी बनाओ।

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यद् व्याधिमरणं गृहे ।
यदयोनिधनं याति सोऽस्य धर्मः सनातनः ॥३५॥

घर में रोगी होकर पड़े-पड़े प्राण त्यागना क्षत्रिय के लिए अधर्म माना गया है। युद्ध में लोहे के अस्त्र-शस्त्रों द्वारा आहत होकर जो मृत्यु का आलिंगन करता है, वही उसका सनातन धर्म है।

संजय उवाच

एवमुक्ता महीपाला भीष्मेण भरतर्षभ ।
निर्ययुः स्वान्यनीकानि शोभयन्तो रथोत्तमैः ॥३६॥

सञ्जय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! भीष्मजी के ऐसा कहने पर वे सभी नरेश श्रेष्ठ रथों द्वारा अपनी सेनाओं की शोभा बढ़ाते हुए युद्ध के लिए प्रस्थित हुए।

स तु वैकर्तनः कर्णः सामात्यः सह बन्धुभिः ।
न्यासितः समरे शस्त्रं भीष्मेण भरतर्षभ ॥३७॥

भरतभूषण ! इस युद्ध में भीष्मजी ने मन्त्रियों तथा बन्धुओंसहित कर्ण के अस्त्र-शस्त्र रखवा दिये थे।

अपेतकर्णाः पुत्रास्ते राजानश्चैव तावकाः ।
निर्ययुः सिंहनादेन नादयन्तो दिशो दश ॥३८॥

अतः आपके पुत्र और अन्य नरेश बिना कर्ण के ही अपने सिंहनाद से दसों दिशाओं को गुंजाते हुए युद्ध के लिए निकले।

पुत्राणां तव दुर्धर्ष पाण्डवानां तथैव च ।
समकम्पन्त सैन्यानि परस्परसमागमे ॥३९॥

दुर्धर्ष नरेश ! आपके पुत्रों और पाण्डवों की सेनाएँ एक-दूसरे के निकट आने पर काँप उठीं।

धृतराष्ट्र उवाच

अक्षौहिण्यो दशैका च व्यूढा दृष्ट्वा युधिष्ठिरः ।
कथमल्पेन सैन्येन प्रत्यव्यूहत पाण्डवः ॥४०॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय ! मेरी ग्यारह अक्षौहिणी सेना को व्यूहाकार में खड़ी हुए देख पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने उसका सामना करने के लिए अपनी थोड़ी-सी सेना के द्वारा किस प्रकार व्यूह-रचना की ?

सञ्जय उवाच

बृहतीं धार्तराष्ट्रस्य सेनां दृष्ट्वा समुद्यताम् ।
विषादमगमद् राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥४१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! युद्ध के लिए उद्यत हुई दुर्योधन की विशाल सेना को देखकर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर के मन में विषाद छा गया।

व्यूहं भीष्मेण चाभेद्यं कल्पितं प्रेक्ष्य पाण्डवः ।
अक्षोभ्यमिव सम्प्रेक्ष्य विवर्णोऽर्जुनमब्रवीत् ॥४२॥

भीष्मजी ने जिस व्यूह की रचना की थी, उसका भेदन करना असम्भव था। उसे अक्षोभ्य-सा देखकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर की कान्ति फीकी पड़ गई और वे अर्जुन से इस प्रकार बोले—

युधिष्ठिर उवाच

धनञ्जय कथं शक्यमस्माभिर्योद्धुमाहवे ।
धार्तराष्ट्रैर्महाबाहो येषां योद्धा पितामहः ॥४३॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहो ! धनञ्जय ! जिनके प्रधान योद्धा पितामह भीष्म हैं, उन धृतराष्ट्र-पुत्रों के साथ हम रणभूमि में कैसे युद्ध कर सकते हैं ?

अक्षोभ्योऽयमभेद्यश्च भीष्मेणामित्रकर्षिणा ।
कल्पितः शास्त्रदृष्टेन विधिना भूरिवर्चसा ॥४४॥

महातेजस्वी शत्रुसंहारक भीष्मजी ने शास्त्रीय विधि के अनुसार यह अक्षोभ्य एवं अभेद्य व्यूह रचा है ।

ते वयं संशयं प्राप्ताः ससैन्याः शत्रुकर्षण ।
कथमस्मान्महाव्यूहादुत्थानं नो भविष्यति ॥४५॥

शत्रुसंहारक अर्जुन ! हम लोग अपनी सेनाओं के साथ प्राण-संकट की स्थिति में पहुँच गये हैं । इस महान् व्यूह से हमारा उद्धार कैसे होगा ?

अर्जुन उवाच

न तथा बलवीर्याभ्यां जयन्ति विजिगीषवः ।
यथा सत्यानृशंस्याभ्यां धर्मेणैवोद्यमेन च ॥४६॥

अर्जुन बोला—विजय की इच्छा रखनेवाले शूर-वीर अपने बल और पराक्रम से वैसी विजय नहीं पाते जैसी कि सत्य, सज्जनता, धर्म और उत्साह से प्राप्त कर लेते हैं ।

त्यक्त्वाधर्मं च लोभं च मोहं चोद्यममास्थिताः ।
युद्ध्यध्वमनहंकारा यतो धर्मस्ततो जयः ॥४७॥

अधर्म, लोभ और मोह त्यागकर तथा उद्यम का सहारा ले अहंकारशून्य होकर युद्ध करो । जहाँ धर्म है, उसी पक्ष की विजय होती है ।

एष व्यूहामि ते व्यूहं राजसत्तम दुर्जयम् ।
अचलं नाम वज्राख्यं विहितं वज्रपाणिना ॥४८॥

नृपश्रेष्ठ ! यह लीजिए, मैं आपके लिए अविचल एवं दुर्जय वज्रव्यूह की रचना करता हूँ, जिसका आविष्कार वज्रधारी इन्द्र ने किया है ।

यः स वात इवोद्धूतः समरे दुःसहः परैः ।
योत्स्यते वै पुरो नः स भीमः प्रहरतां वरः ॥४९॥

जो संग्राम में प्रचण्ड वायु की भाँति उठकर शत्रुओं के लिए दुःसह हो उठते हैं, वे योद्धाओं में श्रेष्ठ आर्य भीमसेन हमारे आगे रहकर युद्ध करेंगे ।

यं दृष्ट्वा कुरवः सर्वे दुर्योधनपुरोगमाः ।
निवर्तिष्यन्ति संत्रस्ताः सिंहं क्षुद्रमृगा यथा ॥५०॥

जैसे सिंह को देखते ही क्षुद्र मृग भयभीत होकर भाग जाते हैं, उसी प्रकार इन्हें देखकर दुर्योधन आदि समस्त कौरव त्रस्त होकर पीछे भाग जाएँगे ।

न हि सोऽस्ति पुमाँल्लोके यः संक्रुद्धं वृकोदरम् ।
द्रष्टुमत्युग्रकर्माणं विषहेत नरर्षभम् ॥५१॥

संसार में ऐसा कोई भी वीर पुरुष नहीं है जो भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले और क्रोध में भरे हुए नरश्रेष्ठ वृकोदर की ओर देखने का साहस भी कर सके ।

सञ्जय उवाच

एवं ते पुरुषव्याघ्राः पाण्डवा युद्धनन्दिनः ।
व्यवस्थिताः प्रतिव्यूह्य तव पुत्रस्य वाहिनीम् ॥५२॥
ग्रसन्त इव मज्जा नो योधानां भरतर्षभ ।
दृष्ट्वाऽग्रतो भीमसेनं गदापाणिमवस्थितम् ॥५३॥

भरतभूषण ! इस प्रकार युद्ध से आनन्दित होने-वाले पुरुषसिंह पाण्डव आपके पुत्र की सेना के सामने व्यूह बनाकर खड़े थे तथा हमारे योद्धाओं का रक्त और मज्जा भी सुखाये देते थे । हाथ में गदा लिये भीमसेन को आगे खड़ा देखकर हमारी सारी सेना भयभीत हो रही थी ।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

श्रीकृष्ण द्वारा गीता-उपदेश

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—हे सञ्जय ! पुण्यभूमि कुरु-क्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्र हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ?

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

सञ्जय ने कहा—उस समय व्यूह-रचनायुक्त

पाण्डव-सेना को देखकर तथा द्रोणाचार्य के पास जाकर राजा दुर्योधन यह वचन कहने लगा—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

"हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रों की इस विशाल सेना को निहारिए ।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

"इस सेना में बड़े-बड़े धनुर्धोवाले और युद्ध में भीम तथा अर्जुन के समान शूरवीर, सात्यकि एवं विराट और महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु तथा चेकितान और बलवान् काशी का राजा, कुन्तिभोज-कुमार राजा पुरुजित्, और नरश्रेष्ठ शिवी देश का राजा; महापराक्रमी युधामन्यु तथा शक्तिशाली उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं ।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

"हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! हमारे पक्ष में जो प्रधान, मुख्य अथवा विशेष वीर पुरुष हैं, उन्हें भी जान लीजिए । आपके परिचय के लिए मैं अपनी सेना के जो-जो सेनापति हैं, उन्हें बताता हूँ ।

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

"[मेरी सेना में] आप=द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म, कर्ण और संग्रामविजेता कृपाचार्य और वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा तथा मेरे लिए अपने जीवन का बलिदान करनेवाले और भी बहुत-से शूरवीर हैं जो सभी अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित तथा सब-के-सब युद्ध में कुशल हैं ।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

"भीष्म द्वारा रक्षित हमारी वह सेना असंख्य अतः सब प्रकार से अजेय है और भीम द्वारा रक्षित इन लोगों की यह सेना तो परिमित अतएव जीतने में सुगम है ।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

"इसलिए सब मोर्चों पर अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हुए आप सभी लोग भीष्मपितामह की ही सब ओर से रक्षा करें ।"

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥१२॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥१३॥

हे पृथिवीनाथ ! तत्पश्चात् वानर की ध्वजा-वाले अर्जुन ने मोर्चा बाँधकर डटे हुए धृतराष्ट्र के पुत्रों और सम्बन्धियों को देखकर, शस्त्रों का चलना आरम्भ होने के समय, धनुष उठाकर श्रीकृष्ण से यह वचन कहा—

अर्जुन बोला—हे निश्चल कृष्ण ! आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दीजिए ।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥१४॥

और जबतक कि मैं रणभूमि में डटे हुए युद्ध के अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओं को भली-भाँति देख लूँ कि इस युद्ध के व्यापार में मुझे किन-किन के साथ लड़ना है, तबतक खड़ा रखिए ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥१५॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥१६॥

सञ्जय बोले—हे धृतराष्ट्र ! निद्राविजयी अर्जुन के ऐसा कहने पर इन्द्रियों के विजेता श्रीकृष्ण ने

अर्जुन के रथ को दोनों सेनाओं के बीच में तथा भीष्म एवं द्रोणाचार्य तथा समस्त राजाओं के सामने खड़ा करके इस प्रकार कहा—"हे पार्थ ! युद्ध के लिए जुटे हुए इन कौरवों को देखो।"

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥१७॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

तब वहाँ अर्जुन ने दोनों ही सेनाओं में स्थित चाचा-ताउओं को, दादा-परदादाओं को, गुरुओं को, मामाओं को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को तथा मित्रों को, ससुरों को और सुहृदों को देखा।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥१८॥
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

वहाँ उपस्थित उन समस्त बन्धुओं को देखकर वह कुन्तीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणा से युक्त होकर दुःखी होता हुआ यह वचन बोला—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥१९॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२०॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण ! रणभूमि में मोर्चे पर डटे हुए युद्ध की इच्छावाले अपने बन्धुवर्ग को देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जा रहे हैं तथा मुख सूखा जा रहा है और मेरे शरीर में कम्प एवं रोमाञ्च हो रहा है।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥२१॥

गाण्डीव धनुष मेरे हाथ से खिसका जा रहा है और त्वचा भी जल रही है। मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, अतः मैं खड़ा रहने में भी समर्थ नहीं हूँ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥२२॥

हे केशव ! मैं लक्षणों को भी विपरीत देख रहा हूँ, अतः युद्ध में अपने बन्धु-बान्धवों को मारकर मैं कल्याण नहीं देखता।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥२३॥

हे कृष्ण ! मुझे विजय, राज्य और सुख नहीं चाहिए। हे गोविन्द ! हमें ऐसे [बन्धु-बान्धवों को मारकर प्राप्त होनेवाले] राज्य से क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगों और जीवन से भी क्या लाभ है ?

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणाँस्त्यक्त्वा धनानि च ॥२४॥

हमें जिनके लिए राज्य, भोग तथा सुखादि अभीष्ट है, वे ही ये सब लोग धन और जीवन की आशा को त्यागकर संग्राम में खड़े हैं।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराजस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥२५॥

हे मधुसूदन ! मुझे मारने पर भी अथवा तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मैं इन सबको नहीं मारना चाहता, फिर पृथिवी के लिए तो कहना ही क्या है ?

अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥२६॥

हा ! शोक ! हम लोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करने लगे हैं जो कि राज्य और सुख के लोभ से अपने बन्धु-बान्धवों को मारने के लिए उद्यत हो गये हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥२७॥

शस्त्र हाथ में लिये धृतराष्ट्र के पुत्र यदि मुझ शस्त्ररहित और सामना न करनेवाले को युद्ध में मार डालें तो मेरा वह मरण भी परम कल्याणकारक होगा।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥२८॥

संजय कहते हैं—रणभूमि में शोक से खिन्न मनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर, बाणसहित धनुष को छोड़कर रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥२९॥

इस प्रकार करुणा से आर्द्र तथा आँसुओं से पूर्ण एवं व्याकुल नेत्रोंवाले शोकयुक्त उस अर्जुन को मधुसूदन श्रीकृष्ण ये वचन कहने लगे—

कृष्ण उवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥३०॥

श्रीकृष्ण बोले—हे अर्जुन ! तुझे इस असमय में यह मोह किस हेतु से प्राप्त हो गया ? तेरा यह व्यवहार न तो आर्यों=श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरित है, न स्वर्ग को देनेवाला है और न कीर्ति ही देनेवाला है ।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥३१॥

हे अर्जुन ! नपुंसकता को प्राप्त मत हो, यह तेरे लिए उचित नहीं है । हे शत्रुसंतापक ! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर तू युद्ध के लिए खड़ा हो जा ।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥३२॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन ! मैं युद्धक्षेत्र में पितामह भीष्म और द्रोणाचार्य के विरुद्ध बाणों से कैसे लड़ूँगा ? हे अरिसूदन ! वे दोनों ही पूजनीय हैं ।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीहि लोके ।
हत्वार्थकामाँस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीयभोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥३३॥

इन महानुभावों को न मारकर मैं इस संसार में भिक्षा का अन्न खा लेना अधिक कल्याणकारक समझता हूँ, क्योंकि गुरुओं को मारकर तो मैं इसी लोक में रक्त से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही भोगूँगा ।

न चैतद् विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥३४॥

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए युद्ध करना और न करना—इन दोनों में से कौन-सा कार्य श्रेष्ठ है अथवा हम यह भी नहीं जानते कि युद्ध में हम उन्हें जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे मुकाबले पर खड़े हैं ।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यत् श्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे-
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥३५॥

कायरता के दोष से दबे हुए क्षात्रस्वभाववाला, कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में भ्रान्तचित्तवाला मैं आपसे पूछता हूं कि जो साधन निश्चितरूप से कल्याणकारक हो, मुझे उसी का उपदेश दीजिए । मैं आपका शिष्य हूँ, आप अपनी [श्रीकृष्ण की] शरण में आये हुए मेरा उचित पथ-प्रदर्शन कीजिए ।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥३६॥

संजय कहते हैं—हे राजन् ! निद्रा को जीतनेवाला अर्जुन इन्द्रियों के स्वामी श्रीकृष्ण से "मैं युद्ध नहीं करूँगा"—ऐसा कहकर चुप हो गया ।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥३७॥

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र ! योगेश्वर श्रीकृष्ण दोनों सेनाओं के बीच में शोक करते हुए उस अर्जुन को मुस्कराते हुए-से यह वचन बोले—

कृष्ण उवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादाँश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥३८॥

श्रीकृष्ण बोले—हे अर्जुन ! तू शोक न करने योग्य मनुष्यों के लिए शोक करता है और पण्डितों के-से वचन बोलता है, परन्तु विद्वान् लोग जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिए और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिए भी शोक नहीं करते ।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥३९॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, अथवा तू नहीं था, या ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि हम सब इसके पश्चात् नहीं रहेंगे ।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥४०॥

जैसे आत्मा के इस शरीर में कुमार, युवा और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है, अतः बुद्धिमान् मनुष्य इस विषय में मोह नहीं करता।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥४१॥

हे कुन्तीपुत्र! सरदी-गरमी और सुख-दुःख को देनेवाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील तथा अनित्य हैं, अतः हे भारत! तू उनको सहन कर।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥४२॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! सुख और दुःख को समान समझनेवाले जिस धीरपुरुष को ये इन्द्रिय और विषयों के संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष का अधिकारी होता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥४३॥

जो नहीं है उसकी उत्पत्ति नहीं होती और जो है उसका नाश कभी नहीं होता। इस प्रकार तत्त्व-ज्ञानियों ने इन दोनों का ही तत्त्व देखा है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥४४॥

जिसने इस सारे संसार का विस्तार=निर्माण किया है, जिससे सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है तू उस परमेश्वर को नाशरहित जान। इस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥४५॥

नष्ट न होनेवाले, अप्रमेय=इन्द्रियों के ज्ञान से परे नित्यस्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। शरीर नाशवान् है और आत्मा अमर है, अतः हे अर्जुन! तू खड़ा हो जा और युद्ध कर।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥४६॥

यह आत्मा किसी भी काल में न तो जन्म लेता है और न मरता ही है। ऐसी बात भी नहीं है कि यह आत्मा न होकर फिर होगा। यह आत्मा अजन्मा, नित्य, स्थिर और अनादि, शाश्वत एवं पुरातन है, शरीर के नष्ट हो जाने पर भी इसका नाश नहीं होता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥४७॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को उतारकर दूसरे नवीन वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को छोड़कर दूसरे नये शरीरों में प्रवेश करता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥४८॥

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि इसे जला नहीं सकता, जल इसे गीला नहीं कर सकता तथा वायु इसे सुखा नहीं सकता। [अतः तुझे शोक करने की आवश्यकता नहीं, और यदि तू इसे मरणधर्मा मान ले तो भी चिन्ता की कोई बात नहीं।]

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥४९॥

क्योंकि जन्म लेनेवाले की मृत्यु निश्चित है तथा मरे हुए का जन्म भी निश्चित है, अतः बिना उपाय-वाले [न टलनेवाले] विषय में तुझे शोक करना उचित नहीं है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥५०॥

हे अर्जुन! यह आत्मा सबके शरीरों में सदा ही अवध्य है, अतः तुझे सब प्राणियों के लिए शोक नहीं करना चाहिए।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥५१॥

अपने क्षात्रधर्म का चिन्तन करके भी तुझे भय-भीत नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धर्म-युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्त्तव्य नहीं है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥५२॥

हे पार्थ ! अपने-आप प्राप्त हुए तथा खुले हुए स्वर्ग के द्वाररूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय लोग ही पाते हैं।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥५३॥

अब यदि तू इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करेगा तो अपने क्षात्रधर्म और यश को खोकर पाप को ही प्राप्त होगा।

भयाद् रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥५४॥

जिनकी दृष्टि में तू बहुत बड़ा और सम्मानित था अब उन्हीं की दृष्टि में तुच्छता को प्राप्त हो जाएगा, वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से हटा हुआ मानेंगे।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥५५॥

यदि तू युद्ध में मारा गया तो तुझे स्वर्ग की प्राप्ति होगी और यदि जीत गया तो पृथिवी का राज्य भोगने को मिलेगा, अतः अर्जुन ! तू युद्ध के लिए निश्चय करके खड़ा हो जा।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥५६॥

सुख-दुःख, लाभ-अलाभ तथा जय और अजय को समान समझकर तू युद्ध के लिए तैयार हो जा, इस प्रकार तू पाप का भागी नहीं बनेगा।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥५७॥

तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फलों में कदापि नहीं, अतः तू कर्मों के फल का हेतु मत बन, फल-प्राप्ति के लिए कर्म मत कर और तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो अर्थात् कर्मरहित, कर्मशून्य भी मत बन।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥५८॥

जनक आदि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्म द्वारा ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए थे इसीलिए तथा लोक-संग्रह [लोगों को साथ लेने] को दृष्टि में रखते हुए भी तुझे कर्म करना ही उचित है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥५९॥

श्रेष्ठपुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय भी उसी के अनुसार वर्तने [व्यवहार करने] लग जाता है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥६०॥

हे अर्जुन ! मुझे तीनों लोकों में न तो कोई कर्त्तव्य कर्म करना शेष है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, फिर भी मैं निरन्तर कर्म में ही लगा रहता हूँ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वाँस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥६१॥

हे अर्जुन ! जैसे कर्म में आसक्त हुए अज्ञानी लोग कर्म करते हैं, वैसे ही ज्ञानी मनुष्य भी अनासक्त होकर लोक-संग्रह की इच्छा से कर्म करे।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥६२॥

अतः हे भरतवंशी अर्जुन ! तू हृदय में स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशय को विवेक-[ज्ञान] रूपी तलवार के द्वारा काटकर, छिन्न-भिन्न करके समत्वरूप कर्मयोग का आश्रय लेकर युद्ध के लिए खड़ा हो जा।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।
तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ॥६३॥

प्रतिपक्षी सेना में जो योद्धा लोग खड़े हैं, वे सब

तेरे विना भी नहीं रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी इन सब का नाश हो जाएगा, अतः तू उठ और शत्रुओं को जीतकर यश प्राप्त कर तथा धन-धान्य से सम्पन्न राज्य को भोग।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥६४॥

जो तू अहंकार का आश्रय लेकर यह मान रहा है कि—"मैं युद्ध नहीं करूँगा"—तेरा यह व्यापार निश्चय ही झूठा है, क्योंकि तेरा क्षत्रियपन का स्वभाव तुझे जबरदस्ती युद्ध में लगा देगा।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६५॥

क्योंकि हे अर्जुन! शरीररूपी यन्त्र पर आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया—शक्ति से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थित है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६६

हे अर्जुन! तू सब प्रकार से उसी परमेश्वर की शरण में जा, पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण कर दे। उसी परमेश्वर की कृपा से तू परमशान्ति को तथा परान्त-काल तक मोक्षपद को प्राप्त करेगा।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६७॥

मैंने तुझे यह गूढ़-से-गूढ़ [अत्यन्त रहस्यमय] ज्ञान बतला दिया। अब तू इस रहस्यमय ज्ञान पर पूर्णरूप से विचार-विमर्श करके जैसा चाहता है, वैसा कर।

कच्चिदेतत् श्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥६८॥

हे पार्थ! क्या इस उपदेश, ज्ञान को तूने एकाग्र-चित्त से श्रवण किया? हे धनञ्जय! क्या तेरा अज्ञान से उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ?

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥६९॥

अर्जुन बोले—हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया, मेरी भ्रान्ति दूर हो गई। मुझे अपने क्षात्रधर्म का स्मरण हो गया। अब मैं संशय-रहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

सञ्जय उवाच

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७०॥

सञ्जय कहते हैं—हे राजन्! जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीवधारी अर्जुन हैं [जहाँ ब्राह्म और क्षात्रशक्ति दोनों का मेल है] वहीं पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

युधिष्ठिर का भीष्म-द्रोण आदि से अनुमति लेकर युद्ध के लिए तैयार होना

सञ्जय उवाच

ततो धनञ्जयं दृष्ट्वा बाणगाण्डीवधारिणम्।
पुनरेव महानादं व्यसृजन्त महारथाः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् अर्जुन को गाण्डीव धनुष और बाण धारण किये देख पाण्डव महारथियों ने पुनः बड़े जोर से सिंहनाद किया।

ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा युद्धाय समवस्थिते।
ते सेने सागरप्रख्ये मुहुः प्रचलिते नृप ॥२॥
विमुच्य कवचं वीरो निक्षिप्य च वरायुधम्।
अवरुह्य रथात् क्षिप्रं पद्भ्यामेव कृताञ्जलिः ॥३॥
पितामहमभिप्रेक्ष्य धर्मराजो युधिष्ठिरः।
वाग्यतः प्रययौ येन प्राङ्मुखो रिपुवाहिनीम् ॥४॥

राजन्! तदनन्तर महावीर राजा युधिष्ठिर समुद्र के समान उन दोनों सेनाओं को युद्ध के लिए

उपस्थित और चञ्चल हुई देख अपना कवच खोल और उत्तम अस्त्र-शस्त्रों को नीचे डालकर रथ से उतर पड़े और हाथ जोड़े हुए पैदल ही पितामह भीष्म को लक्ष्य करके चल दिये। धर्मराज युधिष्ठिर मौन एवं पूर्वाभिमुख हो शत्रुसेना की ओर चले।

तं प्रयान्तमभिप्रेक्ष्य कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः।
अवतीर्य रथात् तूर्णं भ्रातृभिः सहितोऽन्वयात् ॥५॥

कुन्तीपुत्र धनञ्जय उन्हें शत्रुसेना की ओर जाते देख तुरन्त रथ से उतर पड़े और अपने भाइयोंसहित उनके पीछे-पीछे चल पड़े।

अर्जुन उवाच

किं ते व्यवसितं राजन् यदस्मानपहाय वै।
पद्भ्यामेव प्रयातोऽसि प्राङ्मुखो रिपुवाहिनीम् ॥६॥

अर्जुन ने पूछा—राजन्! आपने क्या निश्चय किया है कि हम लोगों को छोड़कर आप पूर्वाभिमुख हो पैदल ही शत्रुसेना की ओर जा रहे हैं?

भीमसेन उवाच

क्व गमिष्यसि राजेन्द्र निक्षिप्तकवचायुधः।
दंशितेष्वरिसैन्येषु भ्रातॄनुत्सृज्य पार्थिव ॥७॥

भीम ने पूछा—महाराज! पृथिवीपते! कवच और हथियार नीचे डालकर तथा भाइयों को छोड़कर कवच आदि से सुसज्जित हुई शत्रुसेना में आप कहाँ जाएँगे?

सञ्जय उवाच

एवमाभाष्यमाणोऽपि भ्रातृभिः कुरुनन्दनः।
नोवाच वाग्यतः किञ्चिद् गच्छत्येव युधिष्ठिरः ॥८॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! भाइयों के इस प्रकार कहने पर भी कुरुकुल को आनन्दित करनेवाले राजा युधिष्ठिर उनसे कुछ नहीं बोले, चलते ही गये।

तानुवाच महाप्राज्ञो वासुदेवो महामनाः।
अभिप्रायोऽस्य विज्ञातो मयेति प्रहसन्निव ॥९॥

तब परम बुद्धिमान् महामना श्रीकृष्ण ने उन चारों भाइयों से हँसते हुए-से कहा—"इनका अभिप्राय मुझे ज्ञात हो गया है।

एष भीष्मं तथा द्रोणं गौतमं शल्यमेव च।
अनुमान्य गुरून् सर्वान् योत्स्यते पार्थिवोऽरिभिः ॥१०

"ये राजा युधिष्ठिर भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और शल्य—इन सभी गुरुजनों से आज्ञा लेकर शत्रुओं के साथ युद्ध करेंगे।

अनुमान्य यथाशास्त्रं यस्तु युध्येन्महत्तरैः।
ध्रुवस्तस्य जयो युद्धे भवेदिति मतिर्मम ॥११॥

"जो शास्त्र की आज्ञा के अनुसार माननीय महानुभावों से आज्ञा लेकर युद्ध करता है, उसकी युद्ध में अवश्य विजय होती है, ऐसा मेरा विश्वास है।"

एवं ब्रुवति कृष्णेऽत्र धार्तराष्ट्रचमूं प्रति।
हाहाकारो महानासीन्निःशब्दास्त्वपरेऽभवन् ॥१२॥

जिस समय श्रीकृष्णजी ये बातें कह रहे थे और युधिष्ठिर दुर्योधन की सेना की ओर बढ़ रहे थे, उस समय कहीं महान् हाहाकार हो रहा था और कहीं सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ था, कोई कुछ नहीं बोल रहा था।

दृष्ट्वा युधिष्ठिरं दूराद् धार्तराष्ट्रस्य सैनिकाः।
मिथः संकथयाञ्चक्रुरेषो हि कुलपांसनः ॥१३॥

युधिष्ठिर को दूर से ही देखकर दुर्योधन के सैनिक परस्पर इस प्रकार बातें करने लगे—"यह युधिष्ठिर तो अपने कुल का जीता-जागता कलंक ही है।

व्यक्तं भीत इवाभ्येति राजासौ भीष्ममन्तिकम्।
युधिष्ठिरः ससोदर्यः शरणार्थं प्रयाचकः ॥१४॥

"देखो, स्पष्ट ही दिखाई दे रहा है कि राजा युधिष्ठिर भयभीत की भाँति भाइयोंसहित भीष्मजी के पास शरण माँगने के लिए आ रहा है।"

सोऽवगाह्य चमूं शत्रोः शरशक्तिसमाकुलाम्।
भीष्ममेवाभ्ययात् तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः ॥१५॥

उधर इस प्रकार की बातें हो रही थीं, इधर भाइयों से घिरे हुए युधिष्ठिर बाण और शक्तियों से युक्त शत्रु की सेना में घुसकर शीघ्र ही भीष्मजी के पास जा पहुँचे।

तमुवाच ततः पादौ कराभ्यां पीड्य पाण्डवः।
भीष्मं शान्तनवं राजा युद्धाय समुपस्थितम् ॥१६॥

वहाँ पहुँचकर पाण्डुनन्दन राजा युधिष्ठिर ने अपने दोनों हाथों से पितामह के चरणों को दबाया और युद्ध के लिए उपस्थित हुए उन शान्तनुनन्दन भीष्मजी से इस प्रकार कहा—

युधिष्ठिर उवाच

आमन्त्रये त्वां दुर्धर्ष त्वया योत्स्यामहे सह।
अनुजानीहि मां तात आशिषश्च प्रयोजय ॥१७॥

युधिष्ठिर बोले—दुर्धर्ष वीर पितामह! हमें आपके साथ युद्ध करना है, अतः मैं आपसे अनुमति चाहता हूँ। तात! मुझे युद्ध के लिए आज्ञा और विजय के लिए आशीर्वाद प्रदान कीजिए।

भीष्म उवाच

यद्येवं नाभिगच्छेथा युधि मां पृथिवीपते।
शपेयं त्वां महाराज पराभवाय भारत ॥१८॥

भीष्मजी बोले—पृथिवीपते! भरतकुलभूषण! महाराज! यदि इस युद्ध के समय तुम इस प्रकार मेरे पास नहीं आते तो मैं तुम्हें पराजित होने के लिए शाप दे देता।

प्रीतोऽहं पुत्र युध्यस्व जयमाप्नुहि पाण्डव।
यत् तेऽभिलषितं चान्यत् तदवाप्नुहि संयुगे ॥१९॥

पाण्डुनन्दन! पुत्र! मैं प्रसन्न हूँ तथा तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम युद्ध करो और विजय पाओ। इसके सिवा और भी जो तुम्हारी अभिलाषा हो, वह भी इस युद्धभूमि में प्राप्त करो।

व्रियतां च वरः पार्थ किमस्मत्तोऽभिकाङ्क्षसि।
एवं गते महाराज न तवास्ति पराजयः ॥२०॥

हे पार्थ! तुम वर माँगो। तुम मुझसे क्या चाहते हो? महाराज! ऐसी स्थिति में तुम्हारी पराजय नहीं होगी।

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥२१॥

महाराज! पुरुष अर्थ का दास है, परन्तु अर्थ किसी का दास नहीं है। यह सच्ची बात है। मैं कौरवों के द्वारा अर्थ से बँधा हुआ हूँ।

अतस्त्वां क्लीबवद् वाक्यं ब्रवीमि कुरुनन्दन।
भृतोऽस्म्यर्थेन कौरव्य युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥२२॥

कुरुनन्दन! आज मैं तुम्हारे सामने नपुंसक के समान वचन बोलता हूँ। कौरव! धृतराष्ट्र के पुत्रों ने धन के द्वारा मेरा भरण-पोषण किया है, अतः [तुम्हारे पक्ष में होकर] उनके साथ युद्ध करने के सिवा तुम क्या चाहते हो, यह बताओ।

युधिष्ठिर उवाच

मन्त्रयस्व महाबाहो हितैषी मम नित्यशः।
युध्यस्व कौरवस्यार्थे ममैष सततं वरः ॥२३॥

युधिष्ठिर ने कहा—महाबाहो! आप सदा मेरा हित चाहते हुए मुझे उचित परामर्श दें और दुर्योधन के लिए युद्ध करें। मैं सदा के लिए यही वर चाहता हूँ।

भीष्म उवाच

राजन् किमत्र साह्यं ते करोमि कुरुनन्दन।
कामं योत्स्ये परस्यार्थे ब्रूहि यत्ते विवक्षितम् ॥२४॥

भीष्म बोले—राजन्! कुरुनन्दन! मैं तुम्हारी क्या सहायता करूँ? युद्ध तो मैं इच्छानुसार तुम्हारे शत्रु की ओर से ही करूँगा, अतः बताओ तुम क्या कहना चाहते हो?

युधिष्ठिर उवाच

कथं जयेयं संग्रामे भवन्तमपराजितम्।
एतन्मे मन्त्रय हितं यदि श्रेयः प्रपश्यसि ॥२५॥

युधिष्ठिर ने कहा—पितामह! आप अजेय हैं, फिर मैं आपको युद्ध में कैसे जीत सकूँगा? यदि आप मेरा कल्याण देखते और सोचते हों तो मेरे हित का परामर्श दीजिए।

भीष्म उवाच

नैनं पश्यामि कौन्तेय यो मां युध्यन्तमाहवे।
विजयेत पुमान् कश्चित् साक्षादपि शतक्रतुः ॥२६॥

भीष्म बोले—कुन्तीनन्दन! मैं ऐसे किसी वीर को नहीं देखता, जो युद्धभूमि में युद्ध करते समय मुझे पराजित कर सके, चाहे वह साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो?

युधिष्ठिर उवाच

हन्त पृच्छामि तस्मात्त्वां पितामह नमोऽस्तु ते।
वधोपायं ब्रवीहि त्वमात्मनः समरे परैः ॥२७॥

युधिष्ठिर ने कहा—पितामह! आपको नमस्कार है। आप अजेय हैं, अतः मैं आपसे पूछता हूँ, आप संग्राम में शत्रुओं द्वारा मारे जाने का उपाय बताइए।

भीष्म उवाच

न स्म तं तात पश्यामि समरे यो जयेत माम्।
न तावन्मृत्युकालो मे पुनरागमनं कुरु ॥२८॥

भीष्म बोले—वत्स ! मैं ऐसे किसी वीर को नहीं देखता हूँ जो युद्धभूमि में मुझे जीत ले और अभी मेरी मृत्यु का समय भी नहीं आया है, अतः अपने इस प्रश्न का उत्तर लेने के लिए फिर किसी समय आना।

संजय उवाच

ततो युधिष्ठिरो वाक्यं भीष्मस्य कुरुनन्दन।
शिरसा प्रतिजग्राह भूयस्तमभिवाद्य च ॥२९॥
प्रायात् पुनर्महाबाहुराचार्यस्य रथं प्रति।
पश्यतां सर्वसैन्यानां मध्येन भ्रातृभिः सह ॥३०॥
स द्रोणमभिवाद्याथ कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
उवाच राजा दुर्धर्षमात्मनिःश्रेयसं वचः ॥३१॥

संजय कहते हैं—कुरुनन्दन ! तत्पश्चात् महाबाहु युधिष्ठिर ने भीष्म की आज्ञा को शिरोधार्य किया तथा उन्हें प्रणाम करके वे द्रोणाचार्य के रथ की ओर गये। सारी सेना के देखते हुए वे उसके बीच से निकलकर भाइयोंसहित द्रोणाचार्य के पास जा पहुँचे। वहाँ राजा युधिष्ठिर ने उन्हें प्रणाम करके उनकी प्रदक्षिणा की और उन दुर्जय वीर-शिरोमणि से अपने हित की बात पूछी—

आमन्त्रये त्वां भगवन् योत्स्ये विगतकल्मषः।
कथं जये रिपून् सर्वाननुज्ञातस्त्वया द्विज ॥३२॥

"भगवन् ! मैं आपसे सम्मति चाहता हूँ कि मैं किस प्रकार आपके साथ निरपराध तथा पापरहित होकर युद्ध करूँ। विप्रवर ! आपकी आज्ञा से मैं किस प्रकार समस्त शत्रुओं को जीतूँ ?"

द्रोण उवाच

यदि मां नाभिगच्छेथा युद्धाय कृतनिश्चयः।
शपेयं त्वां महाराज पराभवाय सर्वशः ॥३३॥

द्रोणाचार्य ने कहा—महाराज ! यदि युद्ध का निश्चय करने के पश्चात् तुम मुझसे आज्ञा माँगने के लिए नहीं आते तो मैं तुम्हारी सर्वथा पराजय होने के लिए तुम्हें शाप दे देता।

तद् युधिष्ठिर तुष्टोऽस्मि पूजितश्च त्वयानघ।
अनुजानामि युध्यस्व विजयं समवाप्नुहि ॥३४॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हारे द्वारा सत्कृत हो गया। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम शत्रुओं से लड़ो और विजय प्राप्त करो।

करवाणि च ते कामं ब्रूहि त्वमभिकांक्षितम्।
एवं गते महाराज युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥३५॥

महाराज ! तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ क्या है ? मैं तुम्हारी कामना पूर्ण करूँगा। वर्तमान स्थिति में मैं तुम्हारी ओर से युद्ध तो कर नहीं सकता, उसे छोड़कर तुम क्या चाहते हो ?

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥३६॥

मनुष्य अर्थ का दास है। अर्थ किसी का दास नहीं है। महाराज ! यह सच्ची बात है। मैं कौरवों के द्वारा अर्थ से बँधा हुआ हूँ।

ब्रवीम्येतत् क्लीबवत् त्वां युद्धादन्यत् किमिच्छसि।
योत्स्येऽहं कौरवस्यार्थे तवाशास्यो जयो मया ॥३७

मैं यह बात नपुंसक की भाँति तुमसे पूछता हूँ कि तुम युद्ध के सिवा मुझसे क्या चाहते हो ? मैं युद्ध तो दुर्योधन के लिए करूँगा, परन्तु विजय तुम्हारी ही चाहूँगा।

युधिष्ठिर उवाच

जयमाशास्व मे ब्रह्मन् मन्त्रयस्व च मद्धितम्।
युद्धयस्व कौरवस्यार्थे वर एष वृतो मया ॥३८॥

युधिष्ठिर ने कहा—ब्रह्मन् ! आप दुर्योधन की ओर से ही युद्ध करें परन्तु आप मेरी विजय चाहें तथा मेरे हित का परामर्श देते रहें, मैं आपसे यही वर माँगता हूँ।

द्रोण उवाच

ध्रुवस्ते विजयो राजन् यस्य मन्त्री हरिस्तव।
अहं त्वामभिजानामि रणे शत्रून् विमोक्ष्यसे ॥३९॥

द्रोणाचार्य बोले—राजन् ! तुम्हारी विजय निश्चित है, क्योंकि श्रीकृष्ण तुम्हारे मन्त्री हैं। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम युद्ध में शत्रुओं को उनके प्राणों से मुक्त कर दोगे।

यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।
युद्धयस्व गच्छ कौन्तेय पृच्छ मां किं ब्रवीमि ते ॥४०॥

जहाँ धर्म है, वहाँ कृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है। कुन्तीकुमार ! जाओ, युद्ध करो। और कुछ पूछना हो तो पूछो, तुम्हें क्या बताऊँ ?

युधिष्ठिर उवाच

पृच्छामि त्वां द्विजश्रेष्ठ शृणु यन्मेऽभिकांक्षितम् ।
कथं जयेयं संग्रामे भवन्तमपराजितम् ॥४१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपसे जो पूछता हूँ मेरे उस मनोवाञ्छित प्रश्न को सुनिए। आप अजेय हैं, फिर आपको मैं युद्ध में कैसे जीत सकूँगा ?

हन्त तस्मान्महाबाहो वधोपायं वदात्मनः ।
आचार्य प्रणिपत्यैष पृच्छामि त्वां नमोऽस्तु ते ॥४२॥

महाबाहो ! आचार्य ! आप अजेय हैं, अतः अपने वध का उपाय मुझे बताइए। आपको नमस्कार है। मैं आपके चरणों में प्रणाम करके यह प्रश्न पूछ रहा हूँ।

द्रोण उवाच

न शत्रुं तात पश्यामि यो मां हन्याद् रथे स्थितम् ।
युध्यमानं सुसंरब्धं शरवर्षौघवर्षिणम् ॥४३॥

द्रोणाचार्य बोले—तात ! जब मैं रथ पर बैठकर क्रुद्ध हो बाणों की वर्षा करते हुए युद्ध में संलग्न रहूँ, उस समय जो मुझे मार सके, ऐसे किसी शत्रु को मैं नहीं देखता हूँ।

ऋते प्रायगतं राजन् न्यस्तशस्त्रमचेतनम् ।
हन्यान्मां युधि योधानां सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥४४॥

राजन् ! जब मैं हथियार डालकर तथा अचेत-सा होकर आमरण अनशन के लिए बैठ जाऊँ, उस दशा को छोड़कर और किसी समय कोई मुझे नहीं मार सकता। उसी दशा में कोई श्रेष्ठ योद्धा मुझे युद्ध में मार सकता है, मैं तुमसे यह सच्ची बात कह रहा हूँ।

शस्त्रं चाहं रणे जह्यां श्रुत्वा तु महदप्रियम् ।
श्रद्धेयवाक्यात् पुरुषादेतत् सत्यं ब्रवीमि ते ॥४५॥

यदि मैं किसी विश्वसनीय पुरुष से युद्धभूमि में कोई अत्यन्त अप्रिय समाचार सुन लूँ तो हथियार नीचे डाल दूँगा यह भी सच्ची बात कह रहा हूँ।

सञ्जय उवाच

एतत् श्रुत्वा महाराज भारद्वाजस्य धीमतः ।
अनुमान्य तमाचार्यं प्रायाच्छारद्वतं प्रति ॥४६॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! परम बुद्धिमान् द्रोणाचार्य की यह बात सुनकर और उनका आदर-सम्मान करके राजा युधिष्ठिर कृपाचार्य के पास गये।

सोऽभिवाद्य कृपं राजा कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
उवाच दुर्धर्षतमं वाक्यं वाक्यविदां वरः ॥४७॥

उन्हें नमस्कार करके तथा उनकी प्रदक्षिणा करने के पश्चात् वक्ताओं में श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर ने दुर्धर्ष वीर कृपाचार्य से कहा—

आज्ञप्तस्त्वामहं योत्स्ये गुरो विगतकल्मषः ।
जयेयं च रिपून् सर्वाननुज्ञातस्त्वयानघ ॥४८॥

"निष्पाप ! गुरुदेव ! मैं निष्पाप रहकर आपके साथ युद्ध कर सकूँ, इसके लिए आपकी आज्ञा चाहता हूँ। आपका आदेश पाकर मैं समस्त शत्रुओं को युद्ध में जीत सकता हूँ।"

कृप उवाच

प्रीतस्तेऽभिगमेनाहं जयं तव नराधिप ।
आशासिष्ये सदोत्थाय सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥४९॥

कृपाचार्य बोले—नरेश्वर ! तुम्हारे इस आगमन से मुझे अति हर्ष हुआ है, अतः मैं प्रातः उठकर सदा तुम्हारी विजय के लिए शुभ-कामना करूँगा। तुमसे मैं यह सच्ची बात कहता हूँ।

सञ्जय उवाच

एतत् श्रुत्वा महाराज गौतमस्य विशाम्पते ।
अनुमान्य कृपं राजा प्रययौ यत्र मद्रराट् ॥५०॥

सञ्जय कहते हैं—हे महाराज ! प्रजेश्वर ! कृपाचार्य की बात सुनकर राजा युधिष्ठिर उनकी अनुमति ले, उधर गये जहाँ मद्रराज शल्य थे।

स शल्यमभिवाद्याथ कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम् ।
उवाच राजा दुर्धर्षमात्मनिःश्रेयसं वचः ॥५१॥

दुर्जय वीर शल्य को प्रणाम करके तथा उनकी परिक्रमा करने के पश्चात् राजा युधिष्ठिर ने उनसे अपने कल्याण की बात कही—

अनुमानये त्वां दुर्धर्ष योत्स्ये विगतकल्मषः ।
जयेयं नु परान् राजन्ननुज्ञातस्त्वया रिपून् ॥५२॥

'दुर्धर्ष वीर ! मैं पापरहित और निरपराध रहकर आपके साथ युद्ध कर सकूँ, इसके लिए आपकी अनुमति चाहता हूँ। राजन् ! आपकी आज्ञा

पाकर मैं समस्त शत्रुओं को युद्ध में परास्त कर सकता हूँ।

शल्य उवाच

तुष्टोऽस्मि पूजितश्चास्मि यत्कांक्षसि तदस्तु ते ।
अनुजानामि चैव त्वां युध्यस्व जयमाप्नुहि ॥५३॥

शल्य बोले—मैं अति सन्तुष्ट हूँ। तुमने मेरा बहुत आदर किया है। तुम्हारी जो अभिलाषा है, वह पूर्ण हो। मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम युद्ध करो और विजयी बनो।

ब्रूहि चैव परं वीर केनार्थः किं ददामि ते ।
एवं गते महाराज युद्धादन्यत् किमिच्छसि ॥५४॥

हे वीर! तुम कुछ और बताओ, किस प्रकार तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा? मैं तुम्हें क्या दूं? महाराज! इस परिस्थिति में तुम्हारी ओर से युद्ध करने के सिवा तुम मुझसे क्या चाहते हो?

युधिष्ठिर उवाच

स एव मे वरः शल्य उद्योगे यस्त्वया कृतः ।
सूतपुत्रस्य संग्रामे कार्यस्तेजोवधस्त्वया ॥५५॥

युधिष्ठिर ने कहा—मामा शल्य! युद्ध के लिए उद्योग के दिनों में आपने जो वर मुझे दिया था, वही वर आज भी मेरे लिए आवश्यक है। जब सूत-पुत्र कर्ण का अर्जुन के साथ युद्ध हो उस समय आपको उसका उत्साह भंग करना चाहिए।

शल्य उवाच

सम्पत्स्यत्येष ते कामः कुन्तीपुत्र यथेप्सितम् ।
गच्छ युध्यस्व विश्रब्धः प्रतिजाने वचस्तव ॥५६॥

शल्य बोले—कुन्तीकुमार! तुम्हारा यह अभीष्ट मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा। जाओ, निश्चिन्त होकर युद्ध करो। मैं तुम्हारे वचन के पालन करने की प्रतिज्ञा करता हूँ।

सञ्जय उवाच

अनुमान्याथ कौन्तेयो मातुलं मद्रकेश्वरम् ।
निर्जगाम महासैन्याद् भ्रातृभिः परिवारितः ॥५७॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार अपने मामा मद्रराज शल्य की अनुमति लेकर भाइयों से घिरे हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर उस विशाल सेना से बाहर निकल गये।

वासुदेवस्तु राधेयमाहवेऽभिजगाम वै ।
तत एनमुवाचेदं पाण्डवार्थे गदाग्रजः ॥५८॥

इधर श्रीकृष्ण उस युद्ध में राधानन्दन के पास गये। वहाँ जाकर गदाग्रज ने पाण्डवों के हित के लिए उससे इस प्रकार कहा—

श्रुतं मे कर्ण भीष्मस्य द्वेषात् किल न योत्स्यसे ।
अस्मान् वरय राधेय यावद् भीष्मो न हन्यते ॥५९॥

"कर्ण! मैंने सुना है कि तुम भीष्म से द्वेष होने के कारण युद्ध नहीं करोगे। राधानन्दन! ऐसी परि-स्थिति में जबतक भीष्म नहीं मारे जाते, तबतक हम लोगों का पक्ष ग्रहण कर लो।

हते तु भीष्मे राधेय पुनरेष्यसि संयुगम् ।
धार्तराष्ट्रस्य साहाय्यं यदि पश्यसि चेत् समम् ॥६०॥

"राधेय! भीष्मजी की मृत्यु के पश्चात् यदि तुम ठीक समझो तो युद्ध में पुनः दुर्योधन की सहायता के लिए चले जाना।"

कर्ण उवाच

न विप्रियं करिष्यामि धार्तराष्ट्रस्य केशव ।
त्यक्तप्राणं हि मां विद्धि दुर्योधनहितैषिणम् ॥६१॥

कर्ण बोला—केशव! मैं दुर्योधन का हितैषी हूँ। उसके लिए अपने प्राणों को न्यौछावर किये बैठा हूँ, अतः मैं उसका अप्रिय कदापि नहीं करूँगा।

सञ्जय उवाच

तत् श्रुत्वा वचनं कृष्णः संन्यवर्तत भारत ।
युधिष्ठिरपुरोगैश्च पाण्डवैः सह संगतः ॥६२॥

सञ्जय कहते हैं—हे भारत! कर्ण की यह बात सुनकर श्रीकृष्ण लौट आये तथा युधिष्ठिर आदि पाण्डवों से जा मिले।

अथ सैन्यस्य मध्ये तु प्राक्रोशत् पाण्डवाग्रजः ।
योऽस्मान् वृणोति तमहं वरये साह्यकारणात् ॥६३॥

तब ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर ने सेना के बीच में खड़े होकर पुकारा—"जो कोई वीर सहायता के लिए हमारे पक्ष में आना स्वीकार करे, मैं भी उसे स्वी-कार करूँगा।"

अथ तान् समभिप्रेक्ष्य युयुत्सुरिदमब्रवीत् ।
प्रीतात्मा धर्मराजं तं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥६४॥

उस समय आपके पुत्र युयुत्सु ने पाण्डवों की ओर

देखकर प्रसन्नचित्त हो धर्मराज कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा—

अहं योत्स्यामि भवतः संयोगे धृतराष्ट्रजान् ।
युष्मदर्थं महाराज यदि मां वृणुषेऽनघ ॥६५॥

"महाराज ! निष्पाप नरेश ! यदि आप मुझे स्वीकार करें तो मैं आप लोगों के लिए युद्ध में धृतराष्ट्र के पुत्रों से युद्ध करूँगा ।"

युधिष्ठिर उवाच

एह्येहि सर्वे योत्स्यामस्तव भ्रातॄनपण्डितान् ।
युयुत्सो वासुदेवश्च वयं च ब्रूमः सर्वशः ॥६६॥

युधिष्ठिर बोले—युयुत्सो ! आओ, आओ । हम सब लोग मिलकर तुम्हारे इन मूर्ख भाइयों से युद्ध करेंगे । यह बात हम और श्रीकृष्ण सभी कह रहे हैं ।

वृणोमि त्वां महाबाहो युद्धचस्व मम कारणात् ।
भजस्वास्मान् राजपुत्र भजमानान् महाद्युते ॥६७॥

महाबाहो ! मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ । तुम मेरे लिए युद्ध करो । महातेजस्वी राजकुमार ! हम तुम्हें अपनाते हैं । तुम भी हमें स्वीकार करो ।

सञ्जय उवाच

ततो युयुत्सुः कौरव्यान् परित्यज्य सुतांस्तव ।
जगाम पाण्डुपुत्राणां सेनां विश्राव्य दुन्दुभिम् ॥६८॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! तब युयुत्सु आपके सभी पुत्रों का परित्याग कर डंका पीटता हुआ पाण्डवों की सेना में चला गया ।

ततो युधिष्ठिरो राजा सम्प्रहृष्टः सहानुजः ।
जग्राह कवचं भूयो दीप्तिमत् कनकोज्ज्वलम् ॥६९॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिर ने भाइयोंसहित अत्यन्त प्रसन्न हो सुवर्ण-निर्मित चमकीला कवच धारण किया ।

प्रत्यपद्यन्त ते सर्वे स्वरथान् पुरुषर्षभाः ।
ततो व्यूहं यथापूर्वं प्रत्यव्यूहन्त ते पुनः ॥७०॥

तदनन्तर वे सभी श्रेष्ठ पुरुष अपने-अपने रथों पर आरूढ़ हुए और उन्होंने पुनः शत्रुओं के विरुद्ध पहले की भाँति ही अपनी सेना की व्यूहरचना की ।

गौरवं पाण्डुपुत्राणां मान्यान् मानयतां च तान् ।
दृष्ट्वा महीक्षितस्तत्र पूजयाञ्चक्रिरे भृशम् ॥७१॥

माननीय पुरुषों का सम्मान करनेवाले पाण्डवों के उस गौरव को देखकर सब भूपाल उनकी अत्यन्त प्रशंसा करने लगे ।

सौहृदं च कृपां चैव प्राप्तकालं महात्मनाम् ।
दयां च ज्ञातिषु परां कथयाञ्चक्रिरे नृपाः ॥७२॥

सब नरेश महात्मा पाण्डवों के सौहार्द, कृपाभाव, समयोचित कर्तव्य के पालन तथा कुटुम्बियों के प्रति परम दयाभाव की चर्चा करने लगे ।

साधु साध्विति सर्वत्र निश्चेरुः स्तुतिसंहिताः ।
वाचः पुण्याः कीर्तिमतां मनोहृदयहर्षणाः ॥७३॥

यशस्वी पाण्डवों के लिए सब ओर से उनकी स्तुति-प्रशंसा से भरी हुई—'अत्युत्तम, बहुत सुन्दर' —आदि बातें निकलती थीं । उन्हें ऐसी पवित्र वाणी सुनने को मिलती थी, जो उनके मन और हृदय के हर्ष को बढ़ानेवाली थी ।

म्लेच्छाश्चार्याश्च ये तत्र ददृशुः शुश्रुवुस्तथा ।
वृत्तं तत् पाण्डुपुत्राणां रुरुदुस्ते सगद्गदाः ॥७४॥

वहाँ जिन-जिन म्लेच्छों और आर्यों ने पाण्डवों का वह बर्ताव देखा तथा सुना, वे सब गद्गदकण्ठ होकर रोने लगे ।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

प्रथम दिन का युद्ध, कौरव-पाण्डवों का घमासान युद्ध, भीष्म के साथ अभिमन्यु का भयंकर युद्ध, शल्य द्वारा उत्तरकुमार का वध और श्वेत का पराक्रम

सञ्जय उवाच

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे प्रगृहीतशरासनाः ।
सहसैन्याः समापेतुः पुत्रस्य तव शासनात् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—पाण्डवों को व्यूहाकार में व्यवस्थित देखकर अन्य सब राजा भी आपके पुत्र दुर्योधन की आज्ञा से हाथों में धनुषबाण लिये सेनाओं सहित वहाँ आ पहुँचे ।

युधिष्ठिरेण चादिष्टाः पार्थिवास्ते सहस्रशः ।
विनदन्तः समापेतुः पुत्रस्य तव वाहिनीम् ।।२।।

इधर युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर सहस्रों नरेश गर्जना करते हुए आपके पुत्र की सेना पर टूट पड़े ।

पूर्वाह्णे तस्य रौद्रस्य युद्धमह्नो विशाम्पते ।
प्रावर्तत महाघोरं राज्ञां देहावकर्तनम् ।।३।।

प्रजेश्वर ! उस भयंकर दिन के प्रथम भाग में महाभयानक युद्ध होने लगा, जो राजाओं के शरीरों का उच्छेद करनेवाला था ।

कुरूणां सृञ्जयानां च जिगीषूणां परस्परम् ।
सिंहानामिव संह्लादो दिवमुर्वीं च नादयन् ।।३।।

कौरव और सृञ्जयवंशी वीर एक-दूसरे को जीतने की इच्छा रखकर सिंहों के समान दहाड़ रहे थे । उनका वह सिंहनाद पृथिवी और आकाश को निनादित कर रहा था ।

आसीत् किलकिलाशब्दस्तलशंखरवैः सह ।
जज्ञिरे सिंहनादाश्च शूराणां प्रतिगर्जताम् ।।५।।

तल और शंखों की ध्वनि के साथ सैनिकों का किलकिल शब्द गूंज उठा । एक-दूसरे के प्रति गर्जना करनेवाले शूरवीरों के सिंहनाद होने लगे ।

ते मनः क्रूरमाधाय समभित्यक्तजीविताः ।
पाण्डवानभ्यवर्तन्त सर्व एवोच्छ्रितध्वजाः ।।६।।

उस समय समस्त कौरव सैनिक अपने मन को कठोर बना तथा प्राणों की बाजी लगाकर ऊँची ध्वजाएँ फहराते हुए पाण्डवों पर धावा करने लगे ।

अथ शान्तनवो राजन्नभ्यधावद् धनञ्जयम् ।
प्रगृह्य कार्मुकं घोरं कालदण्डोपमं रणे ।।७।।

राजन् ! उस युद्ध में शान्तनुनन्दन भीष्म कालदण्ड के समान भयंकर धनुष लेकर अर्जुन की ओर दौड़े ।

अर्जुनोऽपि धनुर्गृह्य गाण्डीवं लोकविश्रुतम् ।
अभ्यधावत् तेजस्वी गाङ्गेयं रणमूर्धनि ।।८।।

उधर से महातेजस्वी अर्जुन भी अपना लोकप्रसिद्ध गाण्डीव धनुष लेकर युद्ध के मुहाने पर गङ्गानन्दन भीष्म की ओर दौड़े ।

गाङ्गेयस्तु रणे पार्थं विद्ध्वा नाकम्पयद् बली ।
तथैव पाण्डवो राजन् भीष्मं नाकम्पयद् युधि ।।९।।

महाबली भीष्म युद्ध में अर्जुन को घायल करके भी उन्हें विचलित न कर सके । हे राजन् ! उसी प्रकार पाण्डुनन्दन अर्जुन भी भीष्मजी को युद्ध में चलायमान न कर सके ।

सात्यकिस्तु महेष्वासः कृतवर्माणमभ्ययात् ।
तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ।।१०।।

दूसरी ओर महाधनुर्धर सात्यकि ने कृतवर्मा पर धावा किया । उन दोनों में बड़ा भयंकर रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ ।

सात्यकिः कृतवर्माणं कृतवर्मा च सात्यकिम् ।
आनर्च्छतुः शरैर्घोरैस्तक्षमाणौ परस्परम् ।।११।।

सात्यकि ने कृतवर्मा को और कृतवर्मा ने सात्यकि को भयंकर बाणों से घायल करते हुए एक-दूसरे को पीड़ा पहुँचाई ।

अभिमन्युर्महेष्वासं बृहद्बलमयोधयत् ।
भीमसेनस्तव सुतं दुर्योधनमयोधयत् ।।१२।।

अभिमन्यु ने महान् धनुर्धर बृहद्बल के साथ युद्ध किया और भीमसेन आपके पुत्र दुर्योधन से युद्ध करने लगे ।

तावुभौ नरशार्दूलौ कुरुमुख्यौ महाबलौ ।
अन्योन्यं शरवर्षाभ्यां ववृषाते रणाजिरे ।।१३।।

वे दोनों नरश्रेष्ठ महाबली वीर कुरुकुल के प्रधान व्यक्ति थे । उन्होंने युद्धभूमि में एक-दूसरे पर बाणों की वर्षा आरम्भ कर दी ।

युधिष्ठिरः स्वयं राजा मद्रराजमथाभ्ययात् ।
तस्य मद्राधिपश्चापं द्विधा चिच्छेद मारिष ।।१४।।

स्वयं राजा युधिष्ठिर ने मद्रराज शल्य पर आक्रमण किया । परन्तु राजन् ! मद्रराज ने युधिष्ठिर के धनुष के दो टुकड़े कर दिये ।

धृष्टद्युम्नस्ततो द्रोणमभ्यद्रवत भारत ।
तस्य द्रोणः सुसंक्रुद्धस्त्रिधा चिच्छेद कार्मुकम् ।।१५।।

भरतनन्दन ! धृष्टद्युम्न ने द्रोणाचार्य पर धावा किया, तब द्रोण ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसके धनुष के तीन टुकड़े कर डाले ।

राक्षसं रौद्रकर्माणं क्रूरकर्मा घटोत्कचः ।
अलम्बुषं प्रत्युदियाद् बलं शक्र इवाहवे ।।१६।।

जैसे इन्द्र ने युद्ध में बल नामक दैत्य पर चढ़ाई

की थी, उसी प्रकार क्रूरकर्मा घटोत्कच ने भयंकर कर्म करनेवाले अलम्बुष नामक राक्षस पर आक्रमण किया।

शिखण्डी समरे राजन् द्रौणिमभ्युद्ययौ बली।
बृहत्क्षत्रं तु कैकेयं कृपः शारद्वतो ययौ ॥१७॥

राजन्! बलवान् शिखण्डी ने युद्धभूमि में द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा पर आक्रमण किया। उधर केकयराज बृहत्क्षत्र पर शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य ने चढ़ाई की।

एवं द्वन्द्वसहस्राणि रथवारणवाजिनाम्।
पदातीनां च समरे तव तेषां च संकुले ॥१८॥

इस प्रकार उस घमासान युद्ध में आपके और पाण्डवपक्ष के रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सैन्य के सहस्रों योद्धाओं में द्वन्द्व-युद्ध चल रहा था।

मुहूर्तमिव तद् युद्धमासीन्मधुरदर्शनम्।
तत उन्मत्तवद् राजन् न प्राज्ञायत किंचन ॥१९॥

महाराज! दो घड़ी तक तो वह युद्ध देखने में बड़ा मनोहर प्रतीत हुआ, फिर उन्मत्त की भाँति विकट युद्ध होने लगा। उस समय किसी को कुछ सूझ नहीं पड़ता था।

गजो गजेन समरे रथिनं च रथी ययौ।
अश्वोऽश्वं समभिप्रायात् पदातिश्च पदातिनम् ॥२०॥

उस युद्धभूमि में गजारोही गजारोही से भिड़ गया, रथी ने रथी पर आक्रमण किया, घुड़सवार घुड़सवार पर चढ़ आया और पैदल ने पैदल पर धावा बोल दिया।

न पुत्रः पितरं जज्ञे न पिता पुत्रमौरसम्।
न भ्राता भ्रातरं तत्र स्वस्रीयं न च मातुलः ॥२१॥

उस युद्ध में पुत्र पिता को नहीं पहचानता था और न पिता अपने औरस पुत्र को। न भाई भाई को जानता था तथा न मामा अपने भानजे को पहचानता था।

मातुलं न च स्वस्रीयो न सखायं सखा तथा।
आविष्टा इव युध्यन्ते पाण्डवाः कुरुभिः सह ॥२२॥

न भानजा अपने मामा को पहचानता था, न मित्र मित्र को। उस समय पाण्डव-योद्धा कौरव-सैनिकों के साथ इस प्रकार युद्ध करते थे मानो उनमें किसी महाशक्ति का आवेश आ गया हो।

रथानीकं नरव्याघ्राः केचिदभ्यपतन् रथैः।
अभजन्त युगैरेव युगानि भरतर्षभ ॥२३॥

कुछ नरश्रेष्ठ वीर अपने रथों द्वारा शत्रुपक्ष की रथसेना पर टूट पड़े। भरतश्रेष्ठ! कितने ही रथों के जुए विपक्षी रथों के जुओं से टकराकर टूट गये।

प्रभिन्नास्तु महाकायाः संनिपत्य गजा गजैः।
बहुधा दारयन् क्रुद्धा [1]विषाणैरितरेतरम् ॥२४॥

गण्डस्थल से मद की धारा बहानेवाले विशाल-काय गजराज क्रुद्ध हो दूसरे हाथियों से टक्कर लेते हुए अपने दाँतों के आघात से एक-दूसरे को नाना प्रकार से विदीर्ण करने लगे।

अश्वैरग्र्यजवैः केचिदाप्लुत्य महतो रथान्।
शिरांस्याददिरे वीरा रथिनामश्वसादिनः ॥२५॥

कितने ही वीर घुड़सवार शीघ्रगामी अश्वों द्वारा आक्रमण करके बड़े-बड़े रथों पर कूद पड़ते और रथियों के मस्तक काट लेते थे।

बहूनपि हयारोहान् भल्लैः संनतपर्वभिः।
रथी जघान सम्प्राप्य बाणगोचरमागतान् ॥२६॥

इसी प्रकार एक-एक रथी झुकी हुई गाँठोंवाले भल्ल नामक बाणों द्वारा निशाने पर आये हुए बहुत-से घुड़सवारों का संहार कर डालता था।

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि दारुणे।
वर्तमाने तथा रौद्रे महावीरवरक्षये ॥२७॥
दुर्मुखः कृतवर्मा च कृपः शल्यो विविंशतिः।
भीष्मं जुगुपुरासाद्य तव पुत्रेण नोदिताः ॥२८॥

राजन्! उस अत्यन्त भयंकर दिन का पूर्वभाग जब प्रायः व्यतीत हो गया, तब बड़े-बड़े वीरों का विनाश करनेवाले उस भयानक युद्ध में आपके पुत्र की आज्ञा से दुर्मुख, कृतवर्मा, कृपाचार्य, शल्य और विविंशति वहाँ भीष्म की रक्षा करने लगे।

---

१. विषाणः का बहुप्रचलित अर्थ सींग है परन्तु कोशों में 'विषाणः' का अर्थ हाथी का दाँत भी दिया हुआ है। हाथी के सींग नहीं होते इसलिए भी 'विषाणः' का अर्थ दाँत करना ही समीचीन है।

एतैरतिरथैर्गुप्तः पञ्चभिर्भरतर्षभः ।
पाण्डवानामनीकानि विजगाहे महारथः ॥२९॥

इन पाँच अतिरथी वीरों से सुरक्षित हो भरत-भूषण महारथी भीष्मजी ने पाण्डवों की सेना में प्रवेश किया ।

स शिरांसि रणेऽरीणां रथांश्च सयुगध्वजान् ।
निचकर्त महावेगैर्भल्लैः संनतपर्वभिः ॥३०॥

वे युद्ध में झुकी हुई गाँठवाले अति वेगशाली भल्लों द्वारा शत्रुओं के मस्तक, रथ, जुआ और ध्वजाओं को काट-काटकर गिराने लगे ।

अभिमन्युः सुसंक्रुद्धः पिशङ्गैस्तुरगोत्तमैः ।
संयुक्तं रथमास्थाय प्रायाद् भीष्मरथं प्रति ॥३१॥

यह देख अभिमन्यु अत्यन्त कुपित हो पिङ्गलवर्ण के श्रेष्ठ घोड़ों से जुते हुए रथ पर बैठकर भीष्म के रथ की ओर दौड़ पड़े ।

स तालकेतोस्तीक्ष्णेन केतुमाहत्य पत्रिणा ।
भीष्मेण युयुधे वीरस्तस्य चानुरथैः सह ॥३२॥

वीर अभिमन्यु ने तीखे वाण से उनके ताल-चिह्नित ध्वज को छेद डाला तथा भीष्म और उनके अनुगामी रथियों के साथ युद्ध आरम्भ कर दिया ।

कृतवर्माणमेकेन शल्यं पञ्चभिराशुगैः ।
विद्ध्वा नवभिरानर्च्छच्छिताग्रैः प्रपितामहम् ॥३३॥

उन्होंने एक वाण से कृतवर्मा को तथा पाँच शीघ्रगामी वाणों से शल्य को वेधकर तीखी धारवाले नौ वाणों से प्रपितामह भीष्म को भी चोट पहुँचाई ।

दुर्मुखस्य तु भल्लेन सर्वावरणभेदिना ।
जहार सारथेः कायाच्छिरः संनतपर्वणा ॥३४॥

तत्पश्चात् अभिमन्यु ने झुकी हुई गाँठवाले तथा सब प्रकार के आवरणों का भेदन करनेवाले एक भल्ल के द्वारा दुर्मुख के सारथि का मस्तक धड़ से अलग कर दिया ।

लब्धलक्ष्यतया कार्ष्णेः सर्वे भीष्ममुखा रथाः ।
सत्त्ववन्तममन्यन्त साक्षादिव धनञ्जयम् ॥३५॥

अर्जुनकुमार के इस लक्ष्य-वेध की सफलता से प्रभावित हो भीष्म आदि सभी रथियों ने उन्हें साक्षात् अर्जुन के समान शक्तिशाली समझा ।

तमासाद्य महावेगैर्भीष्मो नवभिराशुगैः ।
विव्याध समरे तूर्णमार्जुनिं परवीरहा ॥३६॥

अर्जुनकुमार अभिमन्यु को अपने ऊपर आक्रमण करते देख शत्रुवीरों का हनन करनेवाले भीष्म ने समरभूमि में नौ शीघ्रगामी महावेगवान् वाणों द्वारा तुरन्त ही उन्हें वेध दिया ।

ध्वजं चास्य त्रिभिर्भल्लैश्चिच्छेद परमौजसः ।
सारथिं च त्रिभिर्बाणैराजघान यतव्रतः ॥३७॥

साथ ही उस तेजस्वी वीर के ध्वज को भी तीन वाणों से काट गिराया, इतना ही नहीं, नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करनेवाले भीष्म ने तीन वाणों से अभिमन्यु के सारथि को भी मार डाला ।

तथैव कृतवर्मा च कृपः शल्यश्च मारिष ।
विद्ध्वा नाकम्पयत्कार्ष्णिं मैनाकमिव पर्वतम् ॥३८॥

आर्य ! इसी प्रकार कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा शल्य मैनाक पर्वत की भाँति स्थिर हुए उस अर्जुनपुत्र को वाणों से घायल करके भी चलायमान न कर सके ।

स तैः परिवृतः शूरो धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
ववर्ष शरवर्षाणि कार्ष्णिः पञ्चरथान् प्रति ॥३९॥

दुर्योधन के उन महारथियों से घिर जाने पर भी शूरवीर अर्जुनकुमार उन पाँचों रथियों पर वाणवर्षा करता रहा ।

ततस्तेषां महास्त्राणि संवार्य शरवृष्टिभिः ।
ननाद बलवान् कार्ष्णिर्भीष्माय विसृजञ्शरान् ॥४०॥

अपनी वाणवर्षा से उन सबके महान् अस्त्रों का निवारण करके महाबली अर्जुनकुमार अभिमन्यु ने भीष्म पर सायकों का प्रहार करते हुए भीषण सिंहनाद किया ।

तत्रास्य सुमहद् राजन् बाह्वोर्बलमदृश्यत ।
समरे यतमानस्य भीष्ममर्दयतः शरैः ॥४१॥

राजन् ! उस समय समरभूमि में प्रयत्नपूर्वक अपने वाणों द्वारा भीष्म को पीड़ा देते हुए अभिमन्यु की भुजाओं का महान् बल प्रत्यक्ष देखा गया ।

पराक्रान्तस्य तस्यैव भीष्मोऽपि प्राहिणोच्छरान् ।
स तांश्चिच्छेद समरे भीष्मचापच्युताञ्शरान् ॥४२॥

तब भीष्म ने भी उस पराक्रमी वीर पर वाणों का प्रहार किया, परन्तु अभिमन्यु ने युद्धभूमि में

भीष्म के धनुष से छूटे हुए समस्त वाणों को काट डाला ।

ततो ध्वजममोघेषुर्भीष्मस्य नवभिः शरैः ।
चिच्छेद समरे वीरस्तत उच्चुक्रुशुर्जनाः ।।४३।।

अभिमन्यु के वाण अमोघ थे । उस वीर ने रण-क्षेत्र में नौ वाणों द्वारा भीष्मजी के ध्वज को काट गिराया । यह देख सब लोग उच्च स्वर से कोलाहल कर उठे ।

अथ भीष्मो महास्त्राणि दिव्यानि सुबहूनि च ।
प्रादुश्चक्रे महारौद्रे रणे तस्मिन् महाबलः ।।४४।।

तव महावली भीष्म ने उस अत्यन्त भयंकर संग्राम में अनेक महान् दिव्यास्त्र प्रकट किये ।

ततो दश महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः ।
रक्षार्थमभ्यधावन्त सौभद्रं त्वरिता रथैः ।।४५।।
विराटः सहपुत्रेण धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
भीमश्च केकयाश्चैव सात्यकिश्च विशाम्पते ।।४६।।

राजन् ! तव पुत्रसहित विराट, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, भीमसेन, पाँचों भाई केकय-राजकुमार तथा सात्यकि—पाण्डवपक्ष के महान् धनुर्धर ये दस महारथी अभिमन्यु की रक्षा के लिए रथों द्वारा तुरन्त वहाँ दौड़े आये ।

प्रगृहीताग्रहस्तेन वैराटिरपि दन्तिना ।
अभ्यद्रवत राजानं मद्राधिपतिमुत्तरः ।।४७।।

तव जिसने अपनी सूँड को मोड़कर मुख में रख लिया था, उस दन्तार हाथी पर आरूढ़ हुए विराट-कुमार उत्तर ने मद्रराज शल्य पर आक्रमण किया ।

तस्य वारणराजस्य जवेनापततो रथे ।
शल्यो निवारयामास वेगमप्रतिमं शरैः ।।४८।।

वह गजराज वड़े वेग से शल्य के रथ की ओर झपटा । उस समय शल्य ने अपने वाणों द्वारा उसके अप्रतिम वेग को रोक दिया ।

तस्य क्रुद्धः स नागेन्द्रो बृहतः साधुवाहिनः ।
पदा युगमधिष्ठाय जघान चतुरो हयान् ।।४९।।

इससे वह गजेन्द्र शल्य पर अत्यन्त कुपित हो उठा और अपना एक पैर रथ के जुए पर रखकर उस रथ को अच्छी प्रकार वहन करनेवाले चारों वड़े-वड़े घोड़ों को मार डाला ।

स हताश्वे रथे तिष्ठन् मद्राधिपतिरायसीम् ।
उत्तरान्तकरीं शक्तिं चिक्षेप भुजगोपमाम् ।।५०।।

घोड़ों के मर जाने पर भी उसी रथ में वैठे हुए मद्रराज शल्य ने लोहे की वनी हुई एक शक्ति चलाई जो सर्प के समान भयंकर तथा राजकुमार उत्तर का अन्त करनेवाली थी ।

तया भिन्नतनुत्राणः प्रविश्य विपुलं तमः ।
स पपात गजस्कन्धात् प्रमुक्ताङ्कुशतोमरः ।।५१।।

उस शक्ति ने उत्तर के कवच को काट दिया । उसकी चोट से उसपर अत्यन्त मोह छा गया । उसके हाथ से अंकुश और तोमर छूटकर गिर गये तथा वह भी अचेत होकर हाथी की पीठ से भूमि पर गिर पड़ा ।

असिमादाय शल्योऽपि ह्यवप्लुत्य रथोत्तमात् ।
तस्य वारणराजस्य चिच्छेदाथ महाकरम् ।।५२।।

इसी समय शल्य भी हाथ में तलवार लेकर अपने श्रेष्ठ रथ से कूद पड़े और उस गजराज की विशाल सूँड को उन्होंने काट गिराया ।

भिन्नमर्मा शरशतैश्छिन्नहस्तः स वारणः ।
भीममार्तस्वरं कृत्वा पपात च ममार च ।।५३।।

सैकड़ों वाणों से उसके मर्मस्थल विद्ध हो गये थे तथा उसकी सूँड भी काट डाली गई थी, इससे भयंकर आर्तनाद करके वह गजराज भूमि पर गिर पड़ा और मर गया ।

एतदीदृशकं कृत्वा मद्रराजो नराधिप ।
आरुरोह रथं तूर्णं भास्वरं कृतवर्मणः ।।५४।।

हे नरेश्वर ! यह पराक्रम करके मद्रराज शल्य तुरन्त ही कृतवर्मा के तेजस्वी रथ पर चढ़ गये ।

उत्तरं वै हतं दृष्ट्वा वैराटिर्भ्रातरं तदा ।
श्वेतः क्रोधात् प्रजज्वाल हविषा हव्यवाडिव ।।५५।।

अपने भाई उत्तर को मारा गया देख विराटपुत्र श्वेत क्रोध से जल उठे, मानो अग्नि में घी की आहुति पड़ गई हो ।

स विस्फार्य महच्चापं शक्रचापोपमं बली ।
मुञ्चन् बाणमयं वर्षं प्रायाच्छल्यरथं प्रति ।।५६।।

वह वलवान् वीर इन्द्रधनुष के समान अपने

विशाल धनुष को कानों तक खींचकर बाणों की वर्षा करता हुआ शल्य के रथ पर चढ़ आया।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मत्तवारणविक्रमम्।
तावकानां रथाः सप्त समन्तात् पर्यवारयन्।
मद्रराजमभीप्सन्तो मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतम्॥५७॥

मदमस्त गजराज के समान पराक्रम प्रकट करनेवाले श्वेत को धावा करते देख आपके सात रथियों ने मौत के मुँह में फँसे हुए मद्रराज शल्य को बचाने की इच्छा रखकर उन्हें चारों ओर से घेर लिया।

ते तु बाणमयं वर्षं श्वेतमूर्धन्यपातयन्।
निदाघान्तेऽनिलोद्धता मेघा इव नगे जलम्॥५८॥

फिर उन सबने श्वेत के मस्तक पर बाणों की वर्षा आरम्भ कर दी, मानो ग्रीष्म ऋतु के अन्त में वायु के द्वारा उठाये हुए मेघ पर्वत पर जल बरसा रहे हों।

ततः क्रुद्धो महेष्वासः सप्तभल्लैः सुतेजनैः।
धनूंषि तेषामाच्छिद्य ममर्द पृतनापतिः॥५९॥

तब तो महान् धनुर्धर सेनापति श्वेत ने कुपित होकर अत्यन्त तीक्ष्ण भल्ल नामक सात बाणों द्वारा उन सातों रथियों के धनुषों को काटकर उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिये।

ते निकृत्तमहाचापास्त्वरमाणा महारथाः।
रथशक्तीः परामृश्य विनेदुर्भैरवान् रवान्॥६०॥

अपने विशाल धनुषों के कट जाने पर उन सातों महारथियों ने अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक रथ-शक्तियाँ उठा लीं और भयंकर गर्जना की।

अन्वयुर्भरतश्रेष्ठ सप्त श्वेतरथं प्रति।
अप्राप्ताः सप्तभिर्भल्लैश्चिच्छेद परमास्त्रवित्॥६१॥

भरतश्रेष्ठ! वे सातों शक्तियाँ एकसाथ श्वेत के रथ की ओर चलीं। परन्तु उत्तम अस्त्रों के ज्ञाता श्वेत ने सात भल्ल मारकर अपने निकट आने से पूर्व ही उन शक्तियों के टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

शरं ततः समादाय सर्वकायविदारणम्।
प्राहिणोद् भरतश्रेष्ठ श्वेतो रुक्मरथं प्रति॥६२॥

भरतकुलभूषण! तदनन्तर श्वेत ने सबके शरीरों को विदीर्ण कर देनेवाले एक बाण को लेकर उसे रुक्मरथ की ओर चलाया।

स तु रुक्मरथो राजन् सायकेन दृढाहतः।
निषसाद रथोपस्थे कश्मलं चाविशन्महत्॥६३॥

राजन्! उस बाण से अत्यन्त घायल होकर रुक्मरथ अपने रथ के पिछले भाग में बैठ गया और अत्यन्त मूर्च्छित हो गया।

तं विसंज्ञं विमनसं त्वरमाणस्तु सारथिः।
अपोवाह न सम्भ्रान्तः सर्वलोकस्य पश्यतः॥६४॥

उसे अचेत और अनमना देख उसका सारथि तनिक भी घबराहट में न पड़कर अति शीघ्रतापूर्वक सबके देखते-देखते उसे युद्धभूमि से दूर हटा ले गया।

ततोऽन्यान् षट् समादाय श्वेतो हेमविभूषितान्।
तेषां षण्णां महाबाहुर्ध्वजशीर्षाण्यपातयत्॥६५॥

तब महाबाहु श्वेत ने दूसरे स्वर्णभूषित छह बाण लेकर उन छह रथियों के ध्वजों के अग्रभाग काट गिराये।

हयांश्च तेषां निर्भिद्य सारथींश्च परन्तप।
शरैश्चैतान् समाकीर्य प्रायाच्छल्यरथं प्रति॥६६॥

हे परन्तप! तत्पश्चात् उसने उनके घोड़ों और सारथियों को विदीर्ण करके उनके शरीरों में भी बहुत-से बाण जड़ दिये। फिर श्वेत ने शल्य पर आक्रमण किया।

ततो हलहलाशब्दस्तव सैन्येषु भारत।
दृष्ट्वा सेनापतिं तूर्णं यान्तं शल्यरथं प्रति॥६७॥

हे भारत! सभी रथियों को पीड़ित करने के पश्चात् सेनापति श्वेत को शल्य के रथ की ओर जाते देख आपकी सेना में हाहाकार मच गया।

ततो भीष्मं पुरस्कृत्य तव पुत्रो महाबलः।
वृतस्तु सर्वसैन्येन प्रायाच्छ्वेतरथं प्रति।
मृत्योरास्यमनुप्राप्तं मद्रराजममोचयत्॥६८॥

तब आपके महाबलीपुत्र दुर्योधन ने भीष्मजी को आगे करके सम्पूर्ण सेना के साथ श्वेत के रथ पर आक्रमण किया और मृत्यु के मुख में पड़े हुए मद्रराज शल्य को छुड़ा लिया।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

श्वेत और भीष्म का युद्ध, भीष्म द्वारा श्वेत का वध, भीष्म का प्रचण्ड पराक्रम तथा प्रथम दिन के युद्ध की समाप्ति

सञ्जय उवाच

प्रहरन्तमनीकानि पिता देवव्रतस्तव ।
दृष्ट्वा सेनापतिं भीष्मस्त्वरितः श्वेतमभ्ययात् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—हे राजन् ! जब आपके पिता देवव्रत ने देखा कि सेनापति श्वेत हमारी सेना पर प्रहार कर रहे हैं, तब वे तुरन्त उसका सामना करने के लिए गये।

स भीष्मं शरजालेन महता समवाकिरत् ।
श्वेतं चापि तथा भीष्मः शरौघैः समवाकिरत् ॥२॥

महारथी श्वेत ने अपने असंख्य बाणों का जाल-सा बिछाकर भीष्म को ढक दिया। तब भीष्म ने भी श्वेत पर बाणसमूहों की झड़ी लगा दी।

तौ वृषाविव नर्दन्तौ मत्ताविव महाद्विपौ ।
व्याघ्राविव सुसंरब्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥३॥

वे दोनों वीर गर्जते हुए दो साँडों, मद से उन्मत्त हुए दो गजराजों तथा क्रोध में भरे हुए दो सिंहों की भाँति एक-दूसरे पर चोट करने लगे।

वैराटिः समरे क्रुद्धो भृशमायम्य कार्मुकम् ।
आजघान ततो भीष्मं श्वेतः क्षत्रियनन्दनः ॥४॥

क्षत्रियकुल को आनन्दित करनेवाले विराटकुमार श्वेत ने युद्ध में कुपित हो धनुष को पूरा तानकर भीष्म पर पुनः बाणों द्वारा प्रहार किया।

सम्प्रहस्य ततः श्वेतः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
धनुश्चिच्छेद भीष्मस्य नवभिर्दशधा शरैः ॥५॥

श्वेत ने हँसते हुए और अपने मुँह के दोनों कोनों को चाटते हुए नौ बाण मारकर भीष्म के धनुष के दस टुकड़े कर दिये।

संधाय विशिखं चैव शरं लोमप्रवाहिणम्।
उन्ममाथ ततस्तालं ध्वजशीर्षं महात्मनः ॥६॥

फिर शिखाशून्य पंखयुक्त बाण का सन्धान करके उसके द्वारा महात्मा भीष्म के तालचिह्नयुक्त ध्वज का ऊपरी भाग काट गिराया।

केतुं निपतितं दृष्ट्वा भीष्मस्य तनयास्तव ।
हतं भीष्ममन्यन्त श्वेतस्य वशमागतम् ॥७॥

भीष्म के ध्वज को नीचे गिरा देख आपके पुत्रों ने उन्हें श्वेत के वश में पड़कर मरा हुआ ही समझा।

ततोऽन्यद् धनुरादाय भीष्मः शान्तनवो युधि ।
श्वेतं प्रति महाराज व्यसृजत् सायकान् बहून् ॥८॥
तानावार्य रणे श्वेतो भीष्मस्य रथिनां वरः ।
धनुश्चिच्छेद भल्लेन पुनरेव पितुस्तव ॥९॥

महाराज ! तब शान्तनुनन्दन भीष्म ने दूसरा धनुष लेकर समरभूमि में श्वेत पर बहुत-से बाणों की वृष्टि की, परन्तु रथियों में श्रेष्ठ श्वेत ने युद्धभूमि में उन सब सायकों का निवारण करके पुनः एक भल्ल के द्वारा आपके पिता भीष्म का धनुष काट दिया।

उत्सृज्य कार्मुकं राजन् गाङ्गेयः क्रोधमूर्च्छितः ।
अन्यत् कार्मुकमादाय विपुलं बलवत्तरम् ॥१०॥
तत्र संधाय विपुलान् भल्लान् सप्त शिलाशितान् ।
चतुर्भिश्च जघानाश्वाञ्छ्वेतस्य पृतनापतेः ॥११॥
ध्वजं द्वाभ्यां तु चिच्छेद सप्तमेन च सारथेः ।
शिरश्चिच्छेद भल्लेन संक्रुद्धो लघुविक्रमः ॥१२॥

राजन् ! यह देख गङ्गानन्दन भीष्म ने क्रोध से मूर्च्छित हो उस धनुष को फेंककर दूसरा अत्यन्त प्रबल एवं विशाल धनुष ले लिया तथा उसपर पत्थर पर रगड़कर तेज किये हुए सात विशाल भल्लों का सन्धान किया। उनमें से चार भल्लों द्वारा उन्होंने सेनापति श्वेत के चारों घोड़ों को मार डाला, दो से उसका ध्वज काट गिराया तथा अपनी फुर्ती का परिचय देते हुए सातवें भल्ल के द्वारा क्रोधपूर्वक उनके सारथि का सिर उड़ा दिया।

हताश्वसूतात् स रथादवप्लुत्य महाबलः ।
ततः शक्तिं रणे श्वेतो जग्राहोग्रां महाभयाम् ॥१३॥
कालदण्डोपमां घोरां मृत्योर्जिह्वामिव श्वसन् ।
अब्रवीच्च तदा श्वेतो भीष्मं शान्तनवं रणे ॥१४॥

युद्धक्षेत्र में घोड़े और सारथि के मारे जाने पर महाबली श्वेत उस रथ से कूद पड़ा और उसने एक

अत्यन्त उग्र, महाभयंकर, कालदण्ड के समान घोर तथा मृत्यु की जिह्वा-सी प्रतीत होनेवाली शक्ति को हाथ में लेकर लम्बी साँस लेते हुए रणक्षेत्र में शान्तनु-पुत्र भीष्म से इस प्रकार कहा—

तिष्ठेदानीं सुसंरब्धः पश्य मां पुरुषो भव ।
एवमुक्त्वा महेष्वासो भीष्मं युधि पराक्रमी ॥१५॥
ततः शक्तिममेयात्मा चिक्षेप भुजगोपमाम् ।
पाण्डवार्थे पराक्रान्तस्तवानर्थं चिकीर्षुकः ॥१६॥

"भीष्म ! इस समय साहसपूर्वक खड़े रहो । मुझे देखो और पुरुष बनो ।" ऐसा कहकर अमित आत्म-बल से सम्पन्न महाधनुर्धर और पराक्रमी वीर श्वेत ने भीष्म पर वह सर्प के समान भयंकर शक्ति चलाई। श्वेत पाण्डवों का हित और आपके पक्ष का अहित करने की इच्छा से पराक्रम दिखा रहे थे ।

अपतत् सहसा राजन् महोल्केव नभस्तलात् ।
ज्वलन्तीमन्तरिक्षे तां ज्वालाभिरिव संवृताम् ॥१७॥
असम्भ्रान्तस्तदा राजन् पिता देवव्रतस्तव ।
अष्टभिर्नवभिर्भीष्मः शक्तिं चिच्छेद पत्रिभिः ॥१८॥

राजन् ! वह शक्ति आकाश से बहुत बड़ी उल्का के समान सहसा गिरी । अन्तरिक्ष में ज्वालाओं से घिरी हुई-सी उस प्रज्वलित शक्ति को देखकर आपके पिता देवव्रत तनिक भी नहीं घबराये । उन्होंने आठ-नौ बाण मारकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ।

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा वैराटिः क्रोधमूर्च्छितः ।
कालोपहतचेतास्तु कर्तव्यं नाभ्यजानत ॥१९॥
क्रोधसम्मूर्च्छितो राजन् वैराटिः प्रहसन्निव ।
गदां जग्राह संहृष्टो भीष्मस्य निधनं प्रति ॥२०॥

अपनी शक्ति को इस प्रकार व्यर्थ हुई देख विराट-पुत्र श्वेत क्रोध से मूर्च्छित हो गये । काल ने उनकी विवेकशक्ति को नष्ट कर दिया था, अतः उन्हें अपने कर्तव्य का भान न रहा । उन्होंने हर्ष से उत्साहित हो हँसते-हँसते भीष्म को मार डालने के लिए हाथ में गदा उठा ली ।

श्वेतः क्रोधसमाविष्टो भ्रामयित्वा तु तां गदाम् ।
रथे भीष्मस्य चिक्षेप यथा देवो धनेश्वरः ॥२१॥

फिर श्वेत ने अत्यन्त क्रुद्ध हो उस गदा को आकाश में घुमाकर भीष्म के रथ पर फेंक दिया, मानो कुबेर ने गदा का प्रहार किया हो ।

तया भीष्मनिपातिन्या स रथो भस्मसात्कृतः ।
सध्वजः सह सूतेन साश्वः सयुगबन्धुरः ॥२२॥

भीष्म का वध कर डालने के लिए चलाई हुई उस गदा के आघात से ध्वज, सारथि, घोड़े, जुआ और धुरा आदि के साथ वह सारा रथ चूर-चूर हो गया ।

ततोऽन्यं रथमास्थाय गाङ्गेयः प्रहसन्निव ।
शरमेकं मृत्युसमं समाधत्त दुरासदम् ॥२३॥

तब गङ्गानन्दन भीष्म ने दूसरे रथ पर बैठकर हँसते हुए-से, मृत्यु के समान भयंकर और दुःसह एक बाण का संधान कर उसे श्वेत पर छोड़ दिया ।

स तस्य कवचं भित्त्वा हृदयं चामितौजसः ।
जगाम धरणीं बाणो महाशनिरिव ज्वलन् ॥२४॥

वह बाण महान् वज्र के समान प्रज्वलित हो उठा और अमित बलशाली श्वेत के कवच तथा हृदय को छेदकर भूमि में समा गया ।

अस्तं गच्छन् यथाऽऽदित्यः प्रभामादाय सत्वरः ।
एवं जीवितमादाय श्वेतदेहाज्जगाम ह ॥२५॥

जैसे अस्त होता हुआ सूर्य अपनी प्रभा को साथ लेकर शीघ्र ही अस्त हो जाता है, उसी प्रकार वह बाण श्वेत के शरीर से उसके प्राण लेकर चला गया ।

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि दारुणे ।
तावकानां परेषां च पुनर्युद्धमवर्तत ॥२६॥

उस भयंकर दिन के पूर्वभाग का अधिकांश व्यतीत हो जाने पर आपके और पाण्डवों के सैनिकों में पुनः युद्ध आरम्भ हुआ ।

श्वेतं तु निहतं दृष्ट्वा विराटस्य चमूपतिम् ।
कृतवर्मणा च सहितं दृष्ट्वा शल्यमवस्थितम् ।
शंखः क्रोधात्प्रजज्वाल हविषा हव्यवाडिव ॥२७॥

विराट के सेनापति श्वेत को मारा गया और राजा शल्य को कृतवर्मा के साथ रथ पर बैठा हुआ देख शंख क्रोध से जल उठा, मानो अग्नि में घी की आहुति पड़ गई हो ।

स विस्फार्य महच्चापं शक्रचापोपमं बली ।
अभ्यधावज्जिघांसन् वै शल्यं मद्राधिपं युधि ॥२८॥

उस बलशाली वीर ने इन्द्रधनुष के समान अपने

विशाल धनुष को कान तक खींचकर मद्रराज शल्य को युद्ध में मार डालने की इच्छा से उनपर आक्रमण किया।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मत्तवारणविक्रमम्।
तावकानां रथाः सप्त समन्तात् पर्यवारयन् ॥२९॥

मदमस्त गजराज के समान पराक्रम प्रकट करनेवाले शंख को धावा करते देख आपके सात रथियों ने शल्य को चारों ओर से घेर लिया।

ते तु बाणमयं वर्षं शंखमूर्ध्नि न्यपातयन्।
निदाघान्तेऽनिलोद्धूता मेघा इव नगे जलम् ॥३०॥

उन सबने शंख के मस्तक पर बाणों की वर्षा आरम्भ कर दी, मानो ग्रीष्म ऋतु के अन्त में वायु द्वारा उठाये हुए मेघ पर्वत पर जल बरसा रहे हों।

ततः क्रुद्धो महेष्वासः सप्तभल्लैः सुतेजनैः।
धनूंषि तेषामाच्छिद्य ननर्द पृतनापतिः ॥३१॥

उस समय महान् धनुर्धर सेनापति शंख ने क्रुद्ध होकर भल्ल नामक साण पर तेज किये हुए सात बाणों द्वारा उन सातों रथियों के धनुषों को काटकर गर्जना की।

ततो भीष्मो महाबाहुर्विनद्य जलदो यथा।
तालमात्रं धनुर्गृह्य शंखमभ्यद्रवद् रणे ॥३२॥

तब महाबाहु भीष्म ने मेघ के समान गर्जन करके चार हाथ लम्बा धनुष लेकर रणभूमि में शंख पर धावा किया।

तमुद्यन्तमुदीक्ष्याथ महेष्वासं महाबलम्।
संत्रस्ता पाण्डवी सेना वातवेगहतेव नौः ॥३३॥

उस समय महाधनुर्धर महाबली भीष्म को युद्ध के लिए उद्यत देख पाण्डव-सेना हवा के झोंकों से डगमग होनेवाली नौका की भाँति काँपने लगी।

ततोऽर्जुनः संत्वरितः शंखस्यासीत् पुरः सरः।
भीष्माद् रक्ष्योऽयमद्येति ततो युद्धमवर्तत ॥३४॥

यह देख अर्जुन तुरन्त ही शंख के आगे आ गये। उनके आगे आने का उद्देश्य यह था कि आज भीष्म के हाथ से शंख को बचाना चाहिए। फिर तो [अर्जुन और भीष्म का] महान् युद्ध आरम्भ हुआ।

अथ शल्यो गदापाणिरवतीर्य महारथात्।
शंखस्य चतुरो वाहानहनद् भरतर्षभ ॥३५॥

भरतश्रेष्ठ! उसी समय राजा शल्य हाथ में गदा लेकर अपने विशाल रथ से उतर पड़े और शंख पर आक्रमण कर उसके चारों घोड़ों को मार डाला।

स हताश्वाद् रथात् तूर्णं खड्गमादाय विद्रुतः।
बीभत्सोश्च रथं प्राप्य पुनः शान्तिमविन्दत ॥३६॥

घोड़ों के मारे जाने पर शंख जल्दी से तलवार हाथ में लेकर रथ से कूद पड़ा और अर्जुन के रथ पर चढ़कर उसने पुनः शान्ति की साँस ली।

ततो भीष्मरथात् तूर्णमुत्पतन्ति पतत्त्रिणः।
यैरन्तरिक्षं भूमिश्च सर्वतः समवस्तृता ॥३७॥

उधर भीष्म के रथ से शीघ्रतापूर्वक पंखयुक्त बाण पक्षी के समान उड़ने लगे, जिन्होंने पृथिवी और आकाश सबको आच्छादित कर लिया।

पाञ्चालानथ मत्स्यांश्च केकयांश्च प्रभद्रकान्।
भीष्मः प्रहरतां श्रेष्ठः पातयामास पत्रिभिः ॥३८॥

योद्धाओं में श्रेष्ठ भीष्म पाञ्चाल, मत्स्य, केकय तथा प्रभद्रक वीरों को अपने बाणों से मार-मारकर गिराने लगे।

ततः सैन्येषु भग्नेषु मथितेषु च सर्वशः।
प्राप्ते चास्तं दिनकरे न प्राज्ञायत किंचन ॥३९॥

भीष्म के बाणों की मार से सारी सेना व्यथित हो उठी, व्यूह भंग हो गया तथा सूर्य अस्ताचल को चले गये। उस समय अन्धेरे में कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था।

भीष्मं च समुदीर्यन्तं दृष्ट्वा पार्था महाहवे।
अवहारमकुर्वन्त सैन्यानां भरतर्षभ ॥४०॥

हे भरतश्रेष्ठ! उस महान् युद्ध में भीष्म का वेग अधिकाधिक प्रचण्ड होता जा रहा था, यह देख कुन्ती के पुत्रों ने अपनी सेनाओं को युद्धक्षेत्र से पीछे हटा लिया।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिर की चिन्ता, श्रीकृष्ण द्वारा उन्हें आश्वासन, धृष्टद्युम्न का उत्साह और दूसरे दिन के युद्ध के लिए क्रौञ्चारुणव्यूह का निर्माण

सञ्जय उवाच

कृतेऽवहारे सैन्यानां प्रथमे भरतर्षभ।
धर्मराजस्ततस्तूर्णमभिगम्य जनार्दनम् ॥१॥
शुचा परमया युक्तश्चिन्तयानः पराजयम्।
वार्ष्णेयमब्रवीद्राजन्दृष्ट्वा भीष्मस्य विक्रमम् ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—हे भरतश्रेष्ठ! राजन्! प्रथम दिन युद्ध में जब पाण्डव-सेना पीछे हटा ली गई, तब धर्मराज युधिष्ठिर तुरन्त श्रीकृष्ण के पास गये तथा अत्यन्त शोक से सन्तप्त हो भीष्म का पराक्रम देखकर अपनी पराजय के लिए चिन्ता करते हुए श्रीकृष्ण से इस प्रकार बोले—

युधिष्ठिर उवाच

कृष्ण पश्य महेष्वासं भीष्मं भीमपराक्रमम्।
शरैर्दहन्तं सैन्यं मे ग्रीष्मे कक्षमिवानलम् ॥३॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण! देखिए तो, महान् धनुर्धर और भयंकर पराक्रमी भीष्म अपने बाणों द्वारा मेरी सेना को उसी प्रकार दग्ध कर रहे हैं, जैसे ग्रीष्म-ऋतु में लगी हुई आग घास-फूंस को जलाकर भस्म कर डालती है।

शक्यो जेतुं यमः क्रुद्धो वज्रपाणिश्च संयुगे।
न तु भीष्मो महातेजाः शक्यो जेतुं महाबलः ॥४॥

क्रोध में भरे हुए यमराज और वज्रधारी इन्द्र कदाचित् युद्ध में जीते जा सकते हैं, परन्तु महाबली, महातेजस्वी भीष्म को जीतना असम्भव है।

वनं यास्यामि वार्ष्णेय श्रेयो मे तत्र जीवितुम्।
न त्वेतान् पृथिवीपालान् दातुं भीष्माय मृत्यवे ॥५॥

वार्ष्णेय! अब मैं वन को चला जाऊँगा। वहीं जीवन व्यतीत करना मेरे लिए कल्याणकारी होगा। इन नरेशों को व्यर्थ ही भीष्मरूपी मृत्यु के मुख में सौंप देने में कोई भलाई नहीं है।

क्षयं नीतोऽस्मि वार्ष्णेय राज्यहेतोः पराक्रमी।
भ्रातरश्चैव मे वीराः कर्शिताः शरपीडिताः ॥६॥

वार्ष्णेय! राज्य के लिए पराक्रम करके मैं सब प्रकार से क्षीण होता जा रहा हूँ। मेरे वीर भाई बाणों से पीड़ित होकर अत्यन्त कृश होते जा रहे हैं।

किं नु कृत्वा हितं मे स्याद् ब्रूहि माधव मा चिरम्।
मध्यस्थमिव पश्यामि समरे सव्यसाचिनम् ॥७॥

माधव! शीघ्र बताइए, क्या करने से मेरा हित होगा? सव्यसाची अर्जुन को तो मैं इस युद्ध में मध्यस्थ—उदासीन-सा देख रहा हूँ।

एको भीमः परं शक्त्या युध्यत्येव महाभुजः।
केवलं बाहुवीर्येण क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥८॥

एकमात्र महाबाहु भीमसेन ही क्षत्रियधर्म का विचार करता हुआ केवल बाहुबल के भरोसे अपनी पूरी शक्ति लगाकर युद्ध कर रहा है।

नालमेष क्षयं कर्तुं परसैन्यस्य मारिष।
आर्जवेनैव युद्धेन वीर वर्षशतैरपि ॥९॥

माननीय वीर श्रीकृष्ण! यदि इस प्रकार सरलतापूर्वक युद्ध किया जाए तो यह अकेला भीमसेन सौ वर्षों में भी शत्रु-सेना का विनाश नहीं कर सकता।

एकोऽस्त्रवित् सखा तेऽयं सोऽप्यस्मान् समुपेक्षते।
निर्दह्यमानान् भीष्मेण द्रोणेन च महामना ॥१०॥

केवल आपका यह सखा अर्जुन ही दिव्य अस्त्रों का ज्ञाता है, परन्तु यह भी महामना भीष्म और द्रोण के द्वारा दग्ध होते हुए हम लोगों की उपेक्षा कर रहा है।

स त्वं पश्य महाभाग योगेश्वर महारथम्।
भीष्मं यः शमयेत् संख्ये दावाग्निं जलदो यथा ॥११॥

महाभाग योगेश्वर! आप ऐसे किसी महारथी को ढूँढिए जो संग्रामभूमि में भीष्म को उसी प्रकार शान्त कर दे, जैसे बादल दावानल को बुझा देता है।

तव प्रसादाद् गोविन्द पाण्डवा निहतद्विषः।
स्वराज्यमनुसम्प्राप्ता मोदिष्यन्ते सबान्धवाः ॥१२॥

हे गोविन्द! आपकी कृपा से ही पाण्डव अपने

शत्रुओं को मारकर तथा स्वराज्य प्राप्त करके बन्धु-बान्धवोंसहित सुखी होंगे।

कृष्ण उवाच

मा शुचो भरतश्रेष्ठ न त्वं शोचितुमर्हसि।
यस्य ते भ्रातरः शूराः सर्वलोकेषु धन्विनः ॥१३॥
अहं च प्रियकृद्राजन् सात्यकिश्च महायशाः।
विराटद्रुपदौ चेमौ धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥१४॥
तथैव सबलाश्चेमे राजानो राजसत्तम।
त्वत्प्रसादं प्रतीक्षन्ते त्वद्भक्ताश्च विशाम्पते ॥१५॥

श्रीकृष्ण बोले—हे भरतश्रेष्ठ! तुम शोक मत करो। इस प्रकार शोक करना तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम्हारे शूरवीर भाई समस्त लोकों में विख्यात धनुर्धर हैं। राजन्! मैं भी तुम्हारा प्रिय करनेवाला ही हूँ। नृपश्रेष्ठ! महायशस्वी सात्यकि, विराट्, द्रुपद, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न तथा सेनासहित ये सम्पूर्ण नरेश आपके कृपाप्रसाद की प्रतीक्षा करते हैं। महाराज! ये सब-के-सब आपके भक्त हैं।

एष ते पार्षतो नित्यं हितकामः प्रिये रतः।
सैनापत्यमनुप्राप्तो धृष्टद्युम्नो महाबलः ॥१६॥

ये द्रुपदपुत्र महाबली धृष्टद्युम्न भी सदा आपका हित चाहते हैं तथा आपके प्रिय-साधन में तत्पर होकर ही इन्होंने प्रधान सेनापति का गुरुतर भार सँभाला है।

शिखण्डी च महाबाहो भीष्मस्य निधनं किल।
करिष्यति न सन्देहो नृपाणां युधि पश्यताम् ॥१७॥

महाबाहो! यह शिखण्डी, समस्त राजाओं के देखते-देखते भीष्म का वध कर डालेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

सञ्जय उवाच

एतत् श्रुत्वा ततो राजा धृष्टद्युम्नं महारथम्।
अब्रवीत् समितौ तस्यां वासुदेवस्य शृण्वतः ॥१८॥

सञ्जय कहते हैं—यह सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण के सुनते हुए ही उस सभा में महारथी धृष्टद्युम्न से कहा—

युधिष्ठिर उवाच

धृष्टद्युम्न निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि मारिष।
नातिक्रम्यं भवेत् तच्च वचनं मम भाषितम् ॥१९॥

युधिष्ठिर ने कहा—आर्य धृष्टद्युम्न! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ उसे ध्यानपूर्वक सुनो। मेरे कहे हुए वचनों का तुम्हें उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

भवान् सेनापतिर्मह्यं वासुदेवेन सम्मतः।
स त्वं पुरुषशार्दूल विक्रम्य जहि कौरवान् ॥२०॥

तुम मेरे सेनापति हो और श्रीकृष्ण के समान पराक्रमी हो। पुरुषसिंह! तुम पराक्रम करके कौरवों का नाश करो।

अहं च तेऽनुयास्यामि भीमः कृष्णश्च मारिष।
माद्रीपुत्रौ च सहितौ द्रौपदेयाश्च दंशिताः ॥२१॥

हे नरश्रेष्ठ! मैं, भीमसेन, श्रीकृष्ण, माद्रीपुत्र नकुल और सहदेव तथा द्रौपदी के पाँचों पुत्र कवच धारण करके तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे।

धृष्टद्युम्न उवाच

अहं भीष्मं कृपं द्रोणं तथा शल्यं जयद्रथम्।
सर्वानद्य रणे दृप्तान् प्रतियोत्स्यामि पार्थिव ॥२२॥

धृष्टद्युम्न बोला—पृथिवीपते! आज युद्धभूमि में मैं भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य तथा जयद्रथ—इन समस्त अभिमानी योद्धाओं का सामना करूँगा।

सञ्जय उवाच

तमब्रवीत् ततः पार्थः पार्षतं पृतनापतिम्।
व्यूहः क्रौञ्चारुणो नाम सर्वशत्रुनिबर्हणः ॥२३॥

सञ्जय कहते हैं—धृष्टद्युम्न के युद्ध के लिए उद्यत होने पर युधिष्ठिर ने सेनापति द्रुपदपुत्र से पुनः इस प्रकार कहा—"सेनापते! क्रौञ्चारुण नामक व्यूह समस्त शत्रुओं का संहार करनेवाला है।

तं यथावत् प्रतिव्यूह परानीकविनाशनम्।
अदृष्टपूर्वं राजानः पश्यन्तु कुरुभिः सह ॥२४॥

"शत्रुसेना का विनाश करनेवाले उस क्रौञ्चारुण नामक व्यूह का तुम यथावत् रूप से निर्माण करो। आज समस्त राजा कौरवों के साथ उस अदृष्टपूर्व व्यूह को अपनी आँखों से देखें।"

यथोक्तः स नृदेवेन व्यूहमार्गविचक्षणः।
प्रभाते सर्वसैन्यानामग्रे चक्रे धनञ्जयम् ॥२५॥

नरदेव युधिष्ठिर के पूर्वोक्त बात कहने पर व्यूहरचना में कुशल धृष्टद्युम्न ने प्रातःकाल [सूर्योदय

मे पूर्व] ही समस्त सेनाओं का व्यूह निर्माण किया। उन्होंने सबसे आगे अर्जुन को खड़ा किया।

शिरोऽभूद् द्रुपदो राजन् महत्या सेनया वृतः।
कुन्तिभोजश्च चैद्यश्च चक्षुरासीज्जनेश्वरौ ॥२६॥
दाशार्णकाः प्रभद्राश्च दाशेरकगणैः सह।
अनूपकाः किराताश्च ग्रीवायां भरतर्षभ ॥२७॥

राजन्! अपनी विशाल सेना के साथ राजा द्रुपद उस व्यूह के सिर के स्थान पर थे। कुन्तिभोज और धृष्टकेतु—ये दोनों नरेश नेत्रों के स्थान पर प्रतिष्ठित हुए। हे भरतश्रेष्ठ! दाशार्णक, दाशेरक समूहों के साथ प्रभद्रक, अनूपक और किरातगण गर्दन के स्थान में खड़े किये गये।

पटच्चरैश्च पौण्ड्रैश्च राजन् पौरवकैस्तथा।
निषादैः सहितश्चापि पृष्ठमासीद् युधिष्ठिरः।
पक्षौ तु भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥२८॥

पटच्चर, पौण्ड्र, पौरव तथा निषादों के साथ स्वयं राजा युधिष्ठिर पृष्ठभाग में स्थित हुए। भीमसेन और धृष्टद्युम्न क्रौञ्चपक्षी के दोनों पंखों के स्थान पर नियुक्त किये गये।

एवमेनं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः।
सूर्योदयं त इच्छन्तः स्थिता युद्धाय दंशिताः ॥२९॥

हे भारत! इस प्रकार पाण्डव क्रौञ्चारुण नामक महाव्यूह की रचना करके सूर्योदय की प्रतीक्षा करते हुए कवच आदि से सुसज्जित हो युद्ध के लिए खड़े हो गये।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

दूसरे दिन का युद्ध, भीष्म और अर्जुन, धृष्टद्युम्न तथा द्रोणाचार्य का युद्ध

सञ्जय उवाच

क्रौञ्चं दृष्ट्वा ततो भीष्मस्तव पुत्राश्च मारिष।
अव्यूहन्त महाव्यूहं पाण्डूनां प्रतिबाधनम् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—धृष्टद्युम्न द्वारा निर्मित उस क्रौञ्चव्यूह को देखकर भीष्म और आपके पुत्रों ने मिलकर अपनी सेना का महान् व्यूह बनाया, जो पाण्डव सैनिकों को बाधा पहुँचाने में समर्थ था।

ततस्ते तावकाः सर्वे हृष्टा युद्धाय भारत।
दध्मुः शंखान् मुदा युक्ताः सिंहनादांश्च नादयन् ॥२॥

भारत! व्यूह निर्मित हो जाने पर आपकी सेना के समस्त सैनिक हर्ष से उल्लसित हो प्रसन्नतापूर्वक शंख बजाने और सिंहनाद करने लगे।

ततो युद्धं समभवत् तुमुलं लोमहर्षणम्।
तावकानां परेषां च व्यतिषक्तरथद्विपम् ॥३॥

फिर तो आपके और पाण्डवों के सैनिकों में रोमाञ्चकारी घमासान युद्ध होने लगा। उसमें उभय पक्ष के रथ और हाथी एक-दूसरे के साथ जूझ गये।

तथा प्रवृत्ते संग्रामे धनुरुद्यम्य दंशितः।
अभिपत्य महाबाहुर्भीष्मो भीमपराक्रमः ॥४॥
सौभद्रे भीमसेने च धृष्टद्युम्ने च पार्षते।
ववर्ष शरवर्षाणि वृद्धः कुरुपितामहः ॥५॥

इस प्रकार युद्ध आरम्भ हो जाने पर भयंकर पराक्रमी तथा कुरुकुल के प्रभावशाली वृद्ध पितामह महाबाहु भीष्म कवच बाँधे और धनुष उठाये सहसा आगे बढ़े और अभिमन्यु, भीमसेन तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न पर बाणों की वर्षा करने लगे।

अभिद्यत ततो व्यूहस्तस्मिन् वीरसमागमे।
सर्वेषामेव सैन्यानामासीद् व्यतिकरो महान् ॥६॥

वीरों के इस संघर्ष में सेनाओं का व्यूह भंग हो गया तथा सभी सैनिकों का आपस में महान् सम्मिश्रण हो गया।

सादिनो ध्वजिनश्चैव हताः प्रवरवाजिनः।
विप्रद्रुतरथानीकाः समपद्यन्त पाण्डवाः ॥७॥

घुड़सवार, ध्वजा धारण करनेवाले सैनिक तथा उत्तम घोड़े मारे गये। पाण्डवों की रथ-सेना मैदान छोड़कर भागने लगी।

अर्जुनस्तु नरव्याघ्रो दृष्ट्वा भीष्मं महारथम्।
वार्ष्णेयमब्रवीत् क्रुद्धो याहि यत्र पितामहः ॥८॥

एष भीष्मः सुसंक्रुद्धो वार्ष्णेय मम वाहिनीम् ।
नाशयिष्यति सुव्यक्तं दुर्योधनहिते रतः ॥९॥

तब नरश्रेष्ठ अर्जुन ने महारथी भीष्म को देखकर श्रीकृष्ण से क्रुद्ध होकर कहा—"वार्ष्णेय ! जहाँ पितामह भीष्म हैं, वहाँ चलिए । अन्यथा ये भीष्म अत्यन्त क्रोध में भरकर निश्चय ही मेरी सारी सेना का विनाश कर डालेंगे, क्योंकि इस समय ये दुर्योधन के हित में तत्पर हैं ।"

तमब्रवीद् वासुदेवो यत्तो भव धनञ्जय ।
एष त्वां प्रापयिष्यामि पितामहरथं प्रति ॥१०॥

तब श्रीकृष्ण ने कहा—"धनञ्जय ! सावधान हो जाओ । मैं तुम्हें अभी भीष्म के रथ के समीप पहुँचाये देता हूँ ।"

एवमुक्त्वा ततः शौरी रथं तं लोकविश्रुतम् ।
प्रापयामास भीष्मस्य रथं प्रति जनेश्वर ॥११॥

जनेश्वर ! ऐसा कहकर श्रीकृष्ण ने उस विश्व-विख्यात रथ को भीष्म के रथ के समीप पहुँचा दिया ।

तमापतन्तं वेगेन प्रभिन्नमिव वारणम् ।
सहसा प्रत्युदीयाय भीष्मः शान्तनवोऽर्जुनम् ॥१२॥

मद की धारा बहानेवाले गजराज की भाँति उन्हें वेग से आते देख शान्तनुनन्दन भीष्म सहसा अर्जुन की ओर बढ़े ।

भीष्मस्तु रथिनां श्रेष्ठो राजन् विव्याध पाण्डवम् ।
अशीत्या निशितैर्बाणैस्ततोऽक्रोशन्त तावकाः ॥१३॥

राजन् ! रथियों में श्रेष्ठ भीष्म ने पाण्डुनन्दन अर्जुन को अस्सी तीखे बाण मारकर बींध डाला । यह देखकर आपके सैनिक हर्षित होकर कोलाहल करने लगे ।

तेषां तु निनदं श्रुत्वा सहितानां प्रहृष्टवत् ।
प्रविवेश ततो मध्यं नरसिंहः प्रतापवान् ॥१४॥
तेषां महारथानां स मध्यं प्राप्य धनञ्जयः ।
चिक्रीड धनुषा राजँल्लक्ष्यं कृत्वा महारथान् ॥१५॥

उन समस्त कौरवों का हर्षनाद सुनकर प्रतापी पुरुषसिंह अर्जुन ने आपकी सेना के भीतर प्रवेश किया । राजन् ! उन महारथियों के मध्य में पहुँचकर अर्जुन उन सबको अपने बाणों का निशाना बनाकर धनुष से खेल करने लगे ।

ततो दुर्योधनो राजा भीष्ममाह जनेश्वरः ।
पीड्यमानं स्वकं सैन्यं दृष्ट्वा पार्थेन संयुगे ॥१६॥

तब प्रजापालक राजा दुर्योधन ने अर्जुन के द्वारा युद्ध में अपनी सेना को पीड़ित हुई देख भीष्मजी से कहा—

एष पाण्डुसुतस्तात मूलं नः परिकृन्तति ।
स तथा कुरु गाङ्गेय यथा हन्येत फाल्गुनः ॥१७॥

"तात ! ये पाण्डुपुत्र अर्जुन हम लोगों का मूलोच्छेद कर रहे हैं । गङ्गानन्दन ! आप ऐसा प्रयत्न कीजिए जिससे अर्जुन मार डाले जाएँ ।"

एवमुक्तस्ततो राजन् पिता देवव्रतस्तव ।
धिक् क्षात्रधर्ममित्युक्त्वा प्रायात् पार्थरथं प्रति ॥१८॥

हे राजन् ! दुर्योधन के ऐसा कहने पर आपके पितृ-तुल्य भीष्मजी 'क्षत्रिय-धर्म को धिक्कार है'—ऐसा कहकर अर्जुन के रथ की ओर चले ।

उभौ श्वेतहयौ राजन् संसक्तौ प्रेक्ष्य पार्थिवाः ।
सिंहनादान् भृशं चक्रुः शंखान् दध्मुश्च मारिष ॥१९॥

महाराज ! उन दोनों के रथों में श्वेत घोड़े जुते हुए थे । आर्य ! उन्हें एक-दूसरे से भिड़े हुए देख सभी भूपाल जोर-जोर से सिंहनाद करने और शंख बजाने लगे ।

द्रौणिर्दुर्योधनश्चैव विकर्णश्च तवात्मजः ।
परिवार्य रणे भीष्मं स्थिता युद्धाय मारिष ॥२०॥

आर्य ! उस समय अश्वत्थामा, दुर्योधन और आपका पुत्र विकर्ण—ये सभी रणक्षेत्र में भीष्म को घेरकर युद्ध के लिए खड़े थे ।

तथैव पाण्डवाः सर्वे परिवार्य धनञ्जयम् ।
स्थिता युद्धाय महते ततो युद्धमवर्तत ॥२१॥

इसी प्रकार समस्त पाण्डव भी अर्जुन को सब ओर से घेरकर महायुद्ध के लिए वहाँ डटे हुए थे, अतः उनमें भारी युद्ध छिड़ गया ।

गाङ्गेयस्तु रणे पार्थमानर्च्छन्नवभिः शरैः ।
तमर्जुनः प्रत्यविध्यद् दशभिर्मर्मभेदिभिः ॥२२॥

गङ्गानन्दन भीष्म ने उस रणक्षेत्र में नौ बाणों से अर्जुन को गहरी चोट पहुँचायी । तब अर्जुन ने भी उन्हें दस मर्मभेदी बाणों द्वारा बींध डाला ।

उभौ परमसंहृष्टावुभौ युद्धाभिनन्दिनौ ।
निर्विशेषमयुध्येतां कृतप्रतिकृतैषिणौ ॥२३॥

वे दोनों वीर अत्यन्त हर्ष में भरकर युद्ध का अभिनन्दन करनेवाले थे। दोनों ही एक-दूसरे के किये हुए प्रहार का प्रतिकार करते हुए समानभाव से युद्ध करने लगे।

भीष्मचापविमुक्तानि शरजालानि संघशः ।
शीर्यमाणान्यदृश्यन्त भिन्नान्यर्जुनसायकैः ॥२४॥

भीष्म के धनुष से छूटे हुए सायकों के समूह अर्जुन के बाणों से छिन्न-भिन्न होकर इधर-उधर बिखरे दिखाई देते थे।

तथैवार्जुनमुक्तानि शरजालानि सर्वशः ।
गाङ्गेयशरनुन्नानि प्रापतन्त महीतले ॥२५॥

इसी प्रकार अर्जुन के छोड़े हुए बाणसमूह गङ्गा-नन्दन भीष्म के बाणों से छिन्न-भिन्न होकर पृथिवी पर सब ओर पड़े हुए थे।

अर्जुनः पञ्चविंशत्या भीष्ममार्च्छच्छितैः शरैः ।
भीष्मोऽपि समरे पार्थं विव्याध निशितैः शरैः ॥२६॥

अर्जुन ने पच्चीस तीखे बाण मारकर भीष्म को पीड़ित कर दिया, फिर भीष्मजी ने भी युद्धक्षेत्र में अपने तीखे सायकों द्वारा अर्जुन को बींध दिया।

ततः क्रुद्धो महाराज भीष्मः प्रहरतां वरः ।
वासुदेवं त्रिभिर्बाणैराजघान महोरसि ॥२७॥

महाराज! फिर प्रहार करनेवालों में श्रेष्ठ भीष्म ने कुपित होकर तीन बाणों से श्रीकृष्ण की छाती में गहरी चोट पहुँचाई।

ततोऽर्जुनो भृशं क्रुद्धो निर्विद्धं प्रेक्ष्य माधवम् ।
सारथिं कुरुवृद्धस्य निर्बिभेद शितैः शरैः ॥२८॥

श्रीकृष्ण को घायल हुआ देख अर्जुन अत्यन्त कुपित हो उठे और उन्होंने तीखे सायकों द्वारा कुरुकुलवृद्ध भीष्म के सारथि को विदीर्ण कर डाला।

यतमानौ तु तौ वीरावन्योन्यस्य वधं प्रति ।
न शक्नुतां तदान्योन्यमभिसंधातुमाहवे ॥२९॥

इस प्रकार वे दोनों वीर एक-दूसरे के वध के लिए पूरा प्रयत्न कर रहे थे, तो भी वे रणक्षेत्र में परस्पर घातक प्रहार करने में सफल न हो सके।

अन्तरं च प्रहारेषु तर्कयन्तौ परस्परम् ।
राजन्नन्तरमार्गस्थौ स्थितावास्तां मुहुर्मुहुः ॥३०॥

राजन्! वे दोनों ही एक-दूसरे के प्रहारों में छिद्र ढूँढने के लिए सतर्क थे। वे बारम्बार छिद्रान्वेषण के मार्ग में स्थित हो छिद्र देखने में संलग्न रहते थे।

न तयोर्विवरं कश्चिद् रणे पश्यति भारत ।
धर्मे स्थितस्य हि यथा न कश्चिद् वृजिनं क्वचित् ॥३१

भरतनन्दन! जैसे कोई धार्मिक मनुष्य में कहीं कोई पाप नहीं देख पाता, उसी प्रकार कोई भी रण-भूमि में उन दोनों योद्धाओं का छिद्र नहीं देख पाता था।

उभौ च शरजालेन तावदृश्यौ बभूवतुः ।
प्रकाशौ च पुनस्तूर्णं बभूवतुरुभौ रणे ॥३२॥

दोनों ही वीर रणक्षेत्र में एक-दूसरे के बाण-समूहों से आच्छादित होकर अदृश्य हो जाते और उन्हें छिन्न-भिन्न करके शीघ्र ही प्रकट हो जाते थे।

न हि शक्यो रणे जेतुं भीष्मः पार्थेन धीमता ।
सधनुः सरथः साश्वः प्रवपन् सायकान् रणे ॥३३॥

बुद्धिमान् पार्थ युद्धभूमि में भीष्म को जीतने में असमर्थ थे, क्योंकि वे समरभूमि में घोड़े और धनुष तथा रथसहित उपस्थित हो बाणों को बीज की भाँति बो रहे थे।

तथैव पाण्डवं युद्धे देवैरपि दुरासदम् ।
न विजेतुं रणे भीष्म उत्सहेत धनुर्धरम् ॥३४॥

उसी प्रकार भीष्म भी युद्ध में देवताओं के लिए भी दुर्जय गाण्डीवधारी पाण्डुपुत्र अर्जुन को जीतने में समर्थ नहीं हो सके।

त्वदीयास्तु तदा योधाः पाण्डवेयाश्च भारत ।
अन्योन्यं समरे जघ्नुस्तयोस्तत्र पराक्रमे ॥३५॥

भारत! उस समय वहाँ उन दोनों वीरों के पराक्रम करते समय युद्धभूमि में आपके और पाण्डव-पक्ष के योद्धा भी एक-दूसरे को मार रहे थे।

वर्तमाने तथा घोरे तस्मिन् युद्धे सुदारुणे ।
द्रोणपाञ्चाल्ययो राजन् महानासीत् समागमः ॥३६॥

राजन्! जहाँ एक ओर इस प्रकार भयानक व अत्यन्त दारुण युद्ध चल रहा था, वहीं दूसरी ओर

द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्न में बहुत घमासान युद्ध छिड़ा हुआ था।

द्रोणस्तु निशितैर्बाणैर्धृष्टद्युम्नमविध्यत।
सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत् ॥३७॥

द्रोणाचार्य ने अपने तीखे बाणों द्वारा धृष्टद्युम्न को घायल कर दिया और एक भल्ल के द्वारा उनके सारथि को मारकर रथ की बैठक से नीचे गिरा दिया।

तथास्य चतुरो वाहांश्चतुर्भिः सायकोत्तमैः।
पातयामास संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नस्य मारिष ॥३८॥

आर्य! क्रोध में भरे हुए द्रोणाचार्य ने चार उत्तम सायकों से धृष्टद्युम्न के चारों चतुर घोड़ों को भी मार डाला।

धृष्टद्युम्नस्ततो द्रोणं नवत्या निशितैः शरैः।
विव्याध प्रहसन् वीरस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥३९॥

तब धृष्टद्युम्न ने भी नब्बे तीखे बाणों से द्रोणाचार्य को घायल कर दिया और कहा—"खड़े रहो, खड़े रहो।"

ततः पुनरमेयात्मा भारद्वाजः प्रतापवान्।
शरैः प्रच्छादयामास धृष्टद्युम्नममर्षणम् ॥४०॥

तब तो अमेय आत्मबल से सम्पन्न प्रतापी द्रोणाचार्य ने पुनः अमर्षशील धृष्टद्युम्न को अपने बाणों से ढक दिया।

आददे च शरं घोरं पार्षतान्तचिकीर्षया।
शक्राशनिसमस्पर्शं कालदण्डमिवापरम् ॥४१॥

तत्पश्चात् धृष्टद्युम्न का काम तमाम कर डालने की इच्छा से उन्होंने द्वितीय कालदण्ड के समान एक भयंकर बाण हाथ में लिया, जिसका स्पर्श इन्द्र के वज्र के समान कठोर था।

तं च दीप्तं शरं घोरमायान्तं मृत्युमात्मनः।
चिच्छेद शरवृष्टिं च भारद्वाजे मुमोच ह ॥४२॥

अपने ऊपर मृत्यु बनकर आते हुए उस भयंकर तेजस्वी बाण को देखकर धृष्टद्युम्न ने तत्काल ही उसे काट गिराया और द्रोणाचार्य पर बाण-वृष्टि आरम्भ कर दी।

ततः शक्तिं महावेगां स्वर्णवैदूर्यभूषिताम्।
द्रोणस्य निधनाकांक्षी चिक्षेप स पराक्रमी ॥४३॥

तत्पश्चात् द्रोणाचार्य की मृत्यु चाहनेवाले पराक्रमशाली धृष्टद्युम्न ने उनपर सुवर्ण और वैदूर्यमणि से भूपित अत्यन्त वेगशाली शक्ति चलाई।

तामापतन्तीं सहसा शक्तिं कनकभूषिताम्।
त्रिधा चिच्छेद समरे भारद्वाजो हसन्निव ॥४४॥

उस सुवर्णभूपित शक्ति को सहसा अपनी ओर आते देख द्रोणाचार्य ने युद्धभूमि में हँसते-हँसते उसके तीन टुकड़े कर दिये।

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नः प्रतापवान्।
ववर्ष शरवर्षाणि द्रोणं प्रति जनेश्वर ॥४५॥

राजन्! अपनी शक्ति को नष्ट हुई देख प्रतापी धृष्टद्युम्न ने द्रोणाचार्य पर पुनः बाणों की वर्षा आरम्भ कर दी।

शरवर्षं ततस्तत् तु संनिवार्य महायशाः।
द्रोणो द्रुपदपुत्रस्य मध्ये चिच्छेद कार्मुकम् ॥४६॥

तब महायशस्वी द्रोणाचार्य ने उस शर-वृष्टि का निवारण करके द्रुपदपुत्र के धनुष को बीच में से काट डाला।

स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
गदापाणिरवारोहत् ख्यापयन् पौरुषं महत् ॥४७॥
तामस्य विशिखैस्तूर्णं पातयामास भारत।
रथादनवरूढस्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥४८॥

इस प्रकार धनुष कट जाने और सारथि तथा घोड़ों के मारे जाने पर रथहीन हुए धृष्टद्युम्न हाथ में गदा लेकर रथ से नीचे उतरने लगे। हे भारत! इतने में ही अपने महान् पौरुष का परिचय देते हुए द्रोणाचार्य ने तुरन्त ही बाण मारकर रथ से उतरते-उतरते ही उनकी गदा को भी काट डाला। वह एक अद्भुत-सी घटना हुई।

ततः स विपुलं चर्म शतचन्द्रं च भानुमत्।
खड्गं च विपुलं दिव्यं प्रगृह्य सुभुजो बली ॥४९॥
अभिदुद्राव वेगेन द्रोणस्य वधकाङ्क्षया।
आमिषार्थी यथा सिंहो वने मत्तमिव द्विपम् ॥५०॥

तब सुन्दर भुजाओंवाले शक्तिशाली वीर धृष्टद्युम्न ने चन्द्राकार सौ फुल्लियों से सुशोभित तेजस्वी और विस्तृत ढाल तथा दिव्य एवं विशाल खड्ग हाथ में लेकर द्रोण का वध करने की इच्छा से

उनपर वेगपूर्वक आक्रमण किया। ठीक वैसे ही जैसे मांस चाहनेवाला सिंह वन में किसी मतवाले हाथी पर धावा करता है।

तत्राद्भुतमपश्याम भारद्वाजस्य पौरुषम्।
लाघवं चास्त्रयोगं च बलं बाह्वोश्च भारत ॥५१॥

हे भारत ! उस समय हमने वहाँ द्रोणाचार्य का अद्भुत हस्तलाघव, अस्त्र-प्रयोग, बाहुबल और पुरुषार्थ देखा।

यदेनं शरवर्षेण वारयामास पार्षतम्।
न शशाक ततो गन्तुं बलवानपि संयुगे ॥५२॥

उन्होंने अपने बाणों की वर्षा से द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न को सहसा आगे बढ़ने से रोक दिया, अतः वे बलवान् होने पर भी युद्ध में द्रोणाचार्य के पास तक न पहुँच सके।

निवारितस्तु द्रोणेन धृष्टद्युम्नो महारथः।
न्यवारयच्छरौघांस्तांश्चर्मणा कृतहस्तवत् ॥५३॥

द्रोणाचार्य द्वारा रोके गये महारथी धृष्टद्युम्न सिद्धहस्त वीर की भाँति अपनी ढाल से ही उनके बाणसमूहों का निवारण करने लगे।

ततो भीमो महाबाहुः सहसाभ्यपतद् बली।
साहाय्यकारी समरे पार्षतस्य महात्मनः ॥५४॥

उसी समय बलवान् महाबाहु भीमसेन सहसा युद्धक्षेत्र में महामना धृष्टद्युम्न की सहायता करने के लिए आ पहुँचे।

स द्रोणं निशितैर्बाणै राजन् विव्याध सप्तभिः।
पार्षतं च रथं तूर्णं स्वकमारोहयत् तदा ॥५५॥

राजन् ! उन्होंने सात तीखे बाणों द्वारा द्रोणाचार्य को घायल कर दिया तथा द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न को तुरन्त ही अपने रथ पर चढ़ा लिया।

ततो दुर्योधनो राजन् भानुमन्तमनोदयत्।
सैन्येन महता युक्तं भारद्वाजस्य रक्षणे ॥५६॥

महाराज ! तब दुर्योधन ने विशाल सेना से युक्त भानुमान् को द्रोणाचार्य की रक्षा के लिए प्रेरित किया।

ततः सा महती सेना कलिङ्गानां जनेश्वर।
भीममभ्युद्ययौ तूर्णं तव पुत्रस्य शासनात् ॥५७॥

नरेश्वर ! तब आपके पुत्र की आज्ञा से कलिङ्ग-देशीय वीरों की वह विशाल सेना तुरन्त ही भीमसेन के सम्मुख आ पहुँची।

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
कलिङ्गानां च समरे भीमस्य च महात्मनः ॥५८॥

फिर तो रणभूमि में कलिङ्ग-देशीय योद्धाओं और महामनस्वी भीमसेन का अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्याय।

भीमसेन द्वारा शक्रदेव, भानुमान् तथा केतुमान् का वध और उनके बहुत-से सैनिकों का संहार

सञ्जय उवाच

कलिङ्गस्तु महेष्वासः पुत्रश्चास्य महारथः।
शक्रदेव इति ख्यातो जघ्नतुः पाण्डवं शरैः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—महाधनुर्धर कलिङ्गराज तथा शक्रदेव नाम से विख्यात उसका महारथी पुत्र—दोनों मिलकर पाण्डुनन्दन भीमसेन पर बाणों का प्रहार करने लगे।

शक्रदेवस्तु समरे विसृजन् सायकान् बहून्।
अश्वाञ्जघान समरे भीमसेनस्य सायकैः ॥२॥

शक्रदेव ने रणभूमि में बहुत-से सायकों की वर्षा करते हुए उन सायकों द्वारा भीमसेन के घोड़ों को मार डाला।

हताश्वे तु रथे तिष्ठन् भीमसेनो महाबलः।
शक्रदेवाय चिक्षेप सर्वशैक्यायसीं गदाम् ॥३॥

मृत घोड़ोंवाले रथ पर खड़े हुए महाबली भीम-सेन ने शक्रदेव को लक्ष्य करके पूर्णरूप से लोहे के सारतत्त्व से बनी हुई अपनी गदा चलाई।

स तया निहतो राजन् कलिङ्गतनयो रथात्।
सध्वजः सह सूतेन जगाम धरणीतलम् ॥४॥

राजन् ! उस गदा की चोट खाकर कलिङ्ग-

राजकुमार प्राणशून्य हो अपने सारथि और ध्वज के साथ रथ से नीचे भूमि गिर पर पड़ा।

हतमात्मसुतं दृष्ट्वा कलिङ्गानां जनाधिपः।
रथैरनेकसाहस्रैर्भीमस्यावारयद् दिशः ॥५॥

अपने पुत्र को मारा गया देख कलिङ्गराज ने बहुत-से रथों के द्वारा भीमसेन की सम्पूर्ण दिशाओं को रोक दिया।

प्रगृह्य च शरं घोरं सविषं सर्पसदृशम्।
प्राहिणोद् भीमसेनाय वधाकांक्षी जनेश्वर ॥६॥

जनेश्वर! फिर सर्प के समान एक विषैला एवं भयंकर बाण हाथ में लेकर भीमसेन का वध करने की इच्छा से उनपर चला दिया।

तमापतन्तं वेगेन प्रेरितं निशितं शरम्।
भीमसेनो द्विधा राजंश्चिच्छेद विपुलासिना ॥७॥

राजन्! भीमसेन ने अपने विशाल खड्ग से उसके वेगपूर्वक चलाये हुए तीखे बाण के दो टुकड़े कर दिये।

कलिङ्गस्तु ततः क्रुद्धो भीमसेनाय संयुगे।
तोमरान् प्राहिणोच्छीघ्रं चतुर्दश शिलाशितान् ॥८॥

तब कलिङ्गराज ने युद्धभूमि में अत्यन्त कुपित हो भीमसेन पर तुरन्त ही चौदह तोमरों का प्रहार किया, जिन्हें साण पर चढ़ाकर तेज किया गया था।

तानप्राप्तान् महाबाहुः खगतानेव पाण्डवः।
चिच्छेद सहसा राजन्नसम्भ्रान्तो वरासिना ॥९॥

राजन्! अपने पास पहुँचने से पूर्व ही महाबाहु पाण्डुकुमार ने बिना किसी घबराहट के अपनी श्रेष्ठ तलवार से सहसा उन्हें आकाश में ही काट डाला।

भानुमांस्तु ततो भीमं शरवर्षेण च्छादयन्।
ननाद बलवन्नादं नादयानो नभस्तलम् ॥१०॥

यह देख भानुमान् ने अपने बाणों की वर्षा से भीमसेन को आच्छादित करके आकाश को निनादित करते हुए बड़े जोर की गर्जना की।

न च तं ममृषे भीमः सिंहनादं महाहवे।
ततः शब्देन महता विननाद महास्वनः।
तेन नादेन वित्रस्ता कलिङ्गानां वरूथिनी ॥११॥

भीमसेन उस महासमर में भानुमान् की वह गर्जना न सह सके। उन्होंने और भी अधिक जोर से सिंह के समान दहाड़ना आरम्भ किया। उनकी उस गर्जना से कलिङ्गों की वह विशाल वाहिनी संत्रस्त हो उठी।

न भीमं समरे मेने मानुषं भरतर्षभ।
ततो भीमो महाबाहुर्नदित्वा विपुलं स्वनम् ॥१२॥
सासिर्वेगवदाप्लुत्य दन्ताभ्यां वारणोत्तमम्।
आरुरोह ततो मध्यं नागराजस्य मारिष ॥१३॥

भरतश्रेष्ठ! उस सेना के सैनिकों ने भीमसेन को युद्ध में मनुष्य नहीं, कोई देवता समझा। आर्य! महाबाहु भीमसेन जोर-जोर से गर्जना करके हाथ में तलवार लिये वेगपूर्वक उछलकर गजराज के दाँतों के सहारे उसके मस्तक पर चढ़ गये।

ततो मुमोच कालिङ्गः शक्तिं तामकरोद् द्विधा।
खड्गेन पृथुना मध्ये भानुमन्तमथाच्छिनत् ॥१४॥

इतने में ही कलिङ्गराजकुमार ने उनपर शक्ति चलाई, परन्तु भीम ने उसके दो टुकड़े कर दिये तथा अपने विशाल खड्ग से भानुमान् के शरीर को बीच से काट डाला।

सोऽन्तरायुधिनं हत्वा राजपुत्रमरिन्दमः।
गुरुं भारसहं स्कन्धे नागस्यासिमपातयत् ॥१५॥

इस प्रकार गजारूढ होकर लड़नेवाले कलिङ्ग-राजकुमार को मारकर शत्रुदमन भीम ने भार सहने में समर्थ अपनी भारी तलवार को उस हाथी के कन्धे पर भी दे मारा।

छिन्नस्कन्धः स विनदन् पपात गजयूथपः।
आरुग्णः सिन्धुवेगेन सानुमानिव पर्वतः ॥१६॥

कन्धा कट जाने से वह गजयूथपति चिंघाड़ता हुआ समुद्र के वेग से भग्न होकर गिरनेवाले शिखर-युक्त पर्वत के समान धराशायी हो गया।

ततस्तस्मादवप्लुत्य गजाद् भारत भारतः।
खड्गपाणिरदीनात्मा तस्थौ भूमौ सुदंशितः ॥१७॥

हे भारत! फिर कवचधारी, खड्गपाणि, उदार-चित्त, भरतवंशी भीमसेन उस हाथी से सहसा कूद-कर धरती पर खड़े हो गये।

स चचार बहून् मार्गानभितः पातयन् गजान्।
अग्निचक्रमिवाविद्धं सर्वतः प्रत्यदृश्यत ॥१८॥

फिर दोनों ओर घूम-घूमकर हाथियों को गिराते

हुए वे अनेक मार्गों से विचरण करने लगे। उस समय घूमते हुए अलातचक्र की भाँति वे सब ओर दिखाई देते थे।

केचिदग्रासिना छिन्नाः पाण्डवेन महात्मना।
विनेदुर्भिन्नमर्माणो निपेतुश्च गतासवः ॥१९॥

पाण्डुनन्दन महामना भीमसेन के प्रचण्ड खड्ग की चोट से कितने ही हाथियों के अङ्ग छिन्न-भिन्न हो उनके मर्मस्थल विदीर्ण हो गये और वे चिंघाड़ते हुए प्राणशून्य होकर भूमि पर गिर पड़े।

आप्लुत्य रथिनः कांश्चित् परामृश्य महाबलः।
पातयामास खड्गेन सध्वजानपि पाण्डवः ॥२०॥

महाबली पाण्डुनन्दन भीम उछलकर कितने ही रथियों के पास पहुँच जाते और उन्हें पकड़कर ध्वजों-सहित तलवार से काट गिराते थे।

स जघान पदा कांश्चिद् व्याक्षिप्यान्यानपोथयत्।
खड्गेनान्यांश्च चिच्छेद नादेनान्यांश्च भीषयन् ॥२१॥
उरुवेगेन चाप्यन्यान् पातयामास भूतले।
अपरे चैनमालोक्य भयात् पञ्चत्वमागताः ॥२२॥

उन्होंने कितने ही योद्धाओं को पैरों से कुचलकर मार डाला, कितनों को ऊपर उछालकर पटक दिया, कितनों को तलवार से काट दिया, दूसरे कितने ही योद्धाओं को अपनी गर्जना से डरा दिया और कितनों को अपने महान् वेग से पृथिवी पर दे मारा। दूसरे बहुत-से योद्धा उन्हें देखते ही भय के मारे निष्प्राण हो गये।

एवं सा बहुला सेना कलिङ्गानां तरस्विनाम्।
परिवार्य रणे भीष्मं भीमसेनमुपाद्रवत् ॥२३॥

इस प्रकार मारी जाने पर भी वेगशाली कलिङ्ग वीरों की उस विशाल सेना ने युद्धभूमि में भीष्म की रक्षा के लिए उन्हें चारों ओर से घेरकर पुनः भीमसेन पर धावा किया।

ततः कलिङ्गसैन्यानां प्रमुखे भरतर्षभ।
श्रुतायुषमभिप्रेक्ष्य भीमसेनः समभ्ययात् ॥२४॥

भरतश्रेष्ठ! कलिङ्गसेना के अग्रभाग में राजा श्रुतायु को देखकर भीमसेन उसका सामना करने के लिए आगे बढ़े।

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य कलिङ्गो नवभिः शरैः।
भीमसेनममेयात्मा प्रत्यविध्यत् महोरसि ॥२५॥

उन्हें आगे बढ़ते देख अमेय आत्मबल से सम्पन्न कलिङ्गराज श्रुतायु ने भीमसेन की छाती में नौ बाण मारे।

समाहतो महाराज कलिङ्गेन महात्मना।
सञ्चुक्रुशे भृशं भीमो दण्डाहत इवोरगः ॥२६॥

हे महाराज! महामना कलिङ्गराज के बाणों से घायल हो भीमसेन डण्डे की चोट खाये हुए सर्प की भाँति अत्यन्त कुपित हो उठे।

क्रुद्धश्च चापमायम्य बलवद् बलिनां वरः।
कलिङ्गमवधीत् पार्थो भीमः सप्तभिरायसैः ॥२७॥

तब बलवानों में श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र भीमसेन ने क्रुद्ध हो अपने सुदृढ़ धनुष को बलपूर्वक खींचकर लोहे के सात बाणों द्वारा कलिङ्गराज श्रुतायुध को घायल कर दिया।

क्षुराभ्यां चक्ररक्षौ च कलिङ्गस्य महाबलौ।
सत्यदेवं च सत्यं च प्राहिणोद् यमसादनम् ॥२८॥

तत्पश्चात् दो क्षुर नामक बाणों से कलिङ्गराज के चक्ररक्षक महाबली सत्यदेव तथा सत्य को यमलोक पहुँचा दिया।

ततः पुनरमेयात्मा नाराचैर्निशितैस्त्रिभिः।
केतुमन्तं रणे भीमोऽगमयद् यमसादनम् ॥२९॥

फिर अमेय आत्मबल से सम्पन्न भीम ने तीन तीखे नाराचों द्वारा रणभूमि में केतुमान् को मारकर उसे भी यमलोक पठा दिया।

ततः कलिङ्गाः संनद्धा भीमसेनममर्षणम्।
अनीकैर्बहुसाहस्रैः क्षत्रियाः समवारयन् ॥३०॥

तब कलिङ्गदेशीय समस्त क्षत्रियों ने कई सहस्र सैनिकों के साथ आकर युद्ध के लिए उद्यत हो अमर्षशील भीमसेन को आगे बढ़ने से रोक दिया।

ततः शक्तिगदाखड्गतोमरर्ष्टिपरश्वधैः।
कलिङ्गाश्च ततो राजन् भीमसेनमवाकिरन् ॥३१॥

राजन्! उस समय कलिङ्ग योद्धा भीमसेन पर शक्ति, गदा, खड्ग, तोमर, ऋष्टि तथा फरसों की मार मारने लगे।

संनिवार्य स तां घोरां शरवृष्टिं समुत्थिताम्।
भीमः सप्तशतान् वीराननयद् यमसादनम् ॥३२॥

वहाँ होती हुई उस भयंकर वाणवृष्टि को रोककर भीम ने सात सौ वीरों को यमलोक भेज दिया।

ततो भीमो महाबाहुः खड्गहस्तो महाभुजः।
सम्प्रहृष्टो महाघोषं शंखं प्राध्मापयद् बली ॥३३॥

तत्पश्चात् महाबली महाबाहु भीमसेन ने खड्ग हाथ में लिये हुए अत्यन्त प्रसन्न हो बड़े जोर से शंख बजाया।

सर्वकालिङ्गसैन्यानां मनांसि समकम्पयत्।
मोहश्चापि कलिङ्गानामाविवेश परन्तप ॥३४॥

परंतप! उस शंखनाद के द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण कलिङ्गों [कलिङ्ग सैनिकों] के हृदय में कम्प मचा दिया। इतना ही नहीं, उन सबपर मोह छा गया।

भीमसेनं तथा दृष्ट्वा प्राक्रोशंस्तावका नृप।
कालोऽयं भीमरूपेण कलिङ्गैः सह युध्यते ॥३५॥

राजन्! भीमसेन को उस रूप में देखकर आपके सैनिक पुकार-पुकारकर कहने लगे, यह साक्षात् काल ही भीमसेन के रूप में प्रकट होकर कलिङ्गों के साथ युद्ध कर रहा है।

ततः शान्तनवो भीष्मः श्रुत्वा तं निनदं रणे।
अभ्ययात् त्वरितो भीमं व्यूढानीकः समन्ततः ॥३६॥

तब शान्तनुनन्दन भीष्म युद्धभूमि में उस कोलाहल को सुनकर अपनी सेना को सब ओर से व्यूहबद्ध करके तुरन्त ही भीमसेन के पास आये।

सात्यकिश्च ततस्तूर्णं भीमस्य प्रियकाम्यया।
गाङ्गेयसारथिं तूर्णं पातयामास सायकैः ॥३७॥

इधर सात्यकि ने भी भीमसेन का प्रिय करने की इच्छा से भीष्म के सारथि को तुरन्त ही अपने सायकों द्वारा मार गिराया।

भीष्मस्तु निहते तस्मिन् सारथौ रथिनां वरः।
वातायमानैस्तैरश्वैरपनीतो रणाजिरात् ॥३८॥

रथियों में श्रेष्ठ भीष्म सारथि के मारे जाने पर वायु के समान शीघ्रगामी घोड़ों के द्वारा रणभूमि से बाहर कर दिये गये।

भीमसेनस्ततो राजन्नपयाते महाव्रते।
प्रजज्वाल यथा वह्निर्दहन् कक्षमिवैधितः ॥३९॥

राजन्! महान् व्रतधारी भीष्म के रणभूमि से हट जाने पर भीमसेन घास-फूस के ढेर में लगी हुई अग्नि के समान अपने तेज से प्रज्वलित हो उठे।

स हत्वा सर्वकालिङ्गान् सेनामध्ये व्यतिष्ठित।
नैनमभ्युत्सहन् केचित् तावका भरतर्षभ ॥४०॥

भरतश्रेष्ठ! भीमसेन सम्पूर्ण कलिङ्गों का संहार करके सेना के मध्यभाग में ही खड़े थे, परन्तु आपके सैनिकों में से कोई भी उनके पास जाने का साहस नहीं करता था।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

अभिमन्यु एवं अर्जुन का पराक्रम तथा दूसरे दिन के युद्ध की समाप्ति

सञ्जय उवाच

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि भारत।
रथनागाश्वपत्तीनां सादिनां च महाक्षये ॥१॥
द्रोणपुत्रेण शल्येन कृपेण च महात्मना।
समसज्जत पाञ्चाल्यस्त्रिभिरेतैर्महारथैः ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—भारत! उस दूसरे दिन जब पूर्वाह्ण का अधिक भाग व्यतीत हो गया और बहुसंख्यक रथ, हाथी, घोड़े, पैदल और सवारों का महान् संहार होने लगा, उस समय पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न अकेला ही द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, शल्य और महामनस्वी कृपाचार्य—इन तीनों महारथियों के साथ युद्ध करने लगा।

स लोकविदितानश्वान् निजघान महाबलः।
द्रौणेः पाञ्चालदायादः शितैर्दशभिराशुगैः ॥३॥

महाबली पाञ्चाल-राजकुमार ने दस शीघ्रगामी तीखे वाण मारकर अश्वत्थामा के विश्वविख्यात घोड़ों को मार डाला।

धृष्टद्युम्नं तु संसक्तं द्रौणिना वीक्ष्य भारत।
सौभद्रोऽभ्यपतत् तूर्णं विकिरन् निशितान्शरान् ॥४॥

भरतनन्दन! धृष्टद्युम्न को अश्वत्थामा के साथ

जूझता हुआ देख सुभद्राकुमार अभिमन्यु भी धुआँधार शरवर्षा करता हुआ तुरन्त वहाँ आ पहुँचा ।

लक्ष्मणस्तव पौत्रस्तु सौभद्रं समवस्थितम् ।
अभ्यवर्तत संहृष्टस्ततो युद्धमवर्तत ॥५॥

उधर आपके पौत्र लक्ष्मण ने सुभद्राकुमार अभिमन्यु को सामने खड़ा देख हर्ष और उत्साह में भरकर उसपर धावा किया। फिर तो दोनों में युद्ध ठन गया।

दौर्योधनिः सुसंक्रुद्धः सौभद्रं परवीरहा ।
विव्याध समरे राजँस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥६॥

राजन् ! शत्रुवीरों का संहार करनेवाले दुर्योधन के पुत्र लक्ष्मण ने अति क्रुद्ध हो युद्धभूमि में अनेक वाणों से अभिमन्यु को वींध डाला। वह एक अद्भुत-सी वात हुई।

अभिमन्युः सुसंक्रुद्धो भ्रातरं भरतर्षभ ।
शरैः पञ्चाशता राजन् क्षिप्रहस्तोऽभ्यविध्यत ॥७॥

भरतश्रेष्ठ ! राजन् ! यह देख शीघ्रतापूर्वक वाण चलानेवाला वीर अभिमन्यु कुपित हो उठा और उसने अपने भाई लक्ष्मण को पचास वाणों से घायल कर दिया।

लक्ष्मणोऽपि पुनस्तस्य धनुश्चिच्छेद पत्रिणा ।
मुष्टिदेशे महाराज ततस्ते चुक्रुशुर्जनाः ॥८॥

महाराज ! तव लक्ष्मण ने भी पुनः एक वाण मारकर उसके धनुष को, जहाँ मुट्ठी रखी जाती है, वहाँ से काट दिया। यह देख आपके सैनिक हर्ष से कोलाहल कर उठे।

तद् विहाय धनुश्छिन्नं सौभद्रः परवीरहा ।
अन्यदादत्तवांश्चित्रं कार्मुकं वेगवत्तरम् ॥९॥

तव शत्रुवीरों का संहार करनेवाले सुभद्राकुमार ने उस कटे हुए धनुष को फेंककर दूसरा विचित्र धनुष हाथ में लिया, जो अत्यन्त वेगशाली था।

तौ तत्र समरे युक्तौ कृतप्रतिकृतैषिणौ ।
अन्योऽन्यं विशिखैस्तीक्ष्णैर्जघ्नतुः पुरुषर्षभौ ॥१०॥

वे दोनों नररत्न वहाँ एक-दूसरे के अस्त्रों का निवारण अथवा प्रतिकार करने की इच्छा रखकर युद्ध में डटे हुए थे और पैने वाणों द्वारा एक-दूसरे को घायल कर रहे थे।

ततो दुर्योधनो राजा दृष्ट्वा पुत्रं महारथम् ।
पीडितं तव पौत्रेण प्रायात् तत्र प्रजेश्वरः ॥११॥

तव प्रजाओं का स्वामी राजा दुर्योधन अपने महारथी पुत्र को आपके पौत्र अभिमन्यु से पीड़ित होता हुआ देख स्वयं वहाँ जा पहुँचा।

सौभद्रमथ संसक्तं दृष्ट्वा तत्र धनञ्जयः ।
अभिदुद्राव वेगेन त्रातुकामः स्वमात्मजम् ॥१२॥

इसी समय अर्जुन सुभद्राकुमार को युद्ध में जूझते देख अपने पुत्र की रक्षा के लिए वड़े वेग से वहाँ आ पहुंचे।

ततः सरथनागाश्वा भीष्मद्रोणपुरोगमाः ।
अभ्यवर्तन्त राजानः सहिताः सव्यसाचिनम् ॥१३॥

यह देख भीष्म और द्रोण आदि सभी कौरव-पक्षीय नरेश रथ, हाथी और घोड़ों की सेनासहित एक-साथ अर्जुन पर चढ़ आये।

तानि नागसहस्राणि भूमिपालशतानि च ।
तस्य बाणपथं प्राप्य नाभ्यवर्तन्त सर्वशः ॥१४॥

इधर सहस्रों हाथी और सैकड़ों नरेश अर्जुन के वाणों के सन्मुख आकर किसी प्रकार भी आगे नहीं वढ़ सके।

सादिता रथनागाश्च हताश्वा रथिनो रणे ।
विप्रद्रुतरथाः केचिद् दृश्यन्ते रथयूथपाः ॥१५॥

उस युद्धभूमि में कितने ही रथ टूट गये, अनेकों हाथी मारे गये, कितने ही रथियों के घोड़े मार डाले गये और कितने ही रथयूथपतियों के रथ भागते दिखाई दिये।

हयारोहा हयाँस्त्यक्त्वा गजारोहाश्च दन्तिनः ।
अर्जुनस्य भयाद् राजन् समन्ताद् विप्रदुद्रुवुः ॥१६॥

महाराज ! अर्जुन के भय से घुड़सवार घोड़ों को और गजारोही गजों को छोड़कर सव ओर भाग चले।

रथेभ्यश्च गजेभ्यश्च हयेभ्यश्च नराधिपाः ।
पतिताः पात्यमानाश्च दृश्यन्तेऽर्जुनसायकैः ॥१७॥

वहाँ वहुत-से नरेश अर्जुन के सायकों से कटकर रथों, हाथियों और घोड़ों से गिरते और गिराये जाते हुए दृष्टिगोचर हो रहे थे।

नासीत्तत्र पुमान् कश्चित्तव सैन्यस्य भारत।
योऽर्जुनं समरे शूरं प्रत्युद्यायात् कथञ्चन ॥१८॥

हे भारत! उस समय आपकी सेना में कोई भी ऐसा पुरुष नहीं था, जो रणक्षेत्र में शूरवीर अर्जुन का सामना करने के लिए किसी प्रकार आगे बढ़ सके।

यो यो हि समरे पार्थं प्रत्युद्याति विशाम्पते।
स संख्ये विशिखैस्तीक्ष्णैः परलोकाय नीयते ॥१९॥

प्रजेश्वर! उस समरभूमि में जो-जो वीर अर्जुन की ओर बढ़ता था, वही-वही उनके तीखे बाणों द्वारा परलोक पठा दिया जाता था।

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा पिता देवव्रतस्तव।
अब्रवीत् समरे शूरं भारद्वाजं स्मयन्निव ॥२०॥

कौरव-सेना को इस प्रकार नष्ट होते देख रणक्षेत्र में खड़े हुए आपके ताऊ भीष्म ने शूरवीर आचार्य द्रोण से मुस्कराते हुए-से कहा—

न ह्येष समरे शक्यो विजेतुं हि कथञ्चन।
यथास्य दृश्यते रूपं कालान्तकयमोपमम् ॥२१॥

"यह अर्जुन समरभूमि में किसी प्रकार भी जीता नहीं जा सकता, क्योंकि इसका रूप इस समय प्रलय-काल के यमराज-सा दिखाई दे रहा है।

न निवर्तयितुं चापि शक्येयं महती चमूः।
अन्योन्यप्रेक्षया पश्य द्रवतीयं वरूथिनी ॥२२॥

"यह विशालवाहिनी इस समय पीछे भी नहीं लौटाई जा सकती। देखिए, सारे सैनिक एक-दूसर की देखा-देखी भागे जा रहे हैं।

एष चास्तं गिरिश्रेष्ठं भानुमान् प्रतिपद्यते।
चक्षूंषि सर्वलोकस्य संहरन्निव सर्वथा ॥२३॥

"इधर ये सूर्यदेव सम्पूर्ण जगत् के नेत्रों की ज्योति को सर्वथा समेटते हुए-से गिरिश्रेष्ठ अस्ताचल को जा पहुँचे हैं।

तत्रावहारं सम्प्राप्तं मन्येऽहं पुरुषर्षभ।
श्रान्ता भीताश्च नो योधा न योत्स्यन्ति कथञ्चन ॥२४॥

"नरश्रेष्ठ! मैं इस समय समस्त सैनिकों को युद्ध से हटा लेना ही उचित समझता हूँ। हमारे सभी योद्धा थके-माँदे और डरे हुए हैं, अतः इस समय वे किसी प्रकार युद्ध नहीं कर सकेंगे।"

एवमुक्त्वा ततो भीष्मो द्रोणमाचार्यसत्तमम्।
अवहारमथो चक्रे तावकानां महारथः ॥२५॥

आचार्यप्रवर द्रोण से ऐसा कहकर महारथी भीष्म ने आपके समस्त सैनिकों को युद्धक्षेत्र से लौटा लिया।

ततोऽवहारः सैन्यानां तव तेषां च भारत।
अस्तं गच्छति सूर्येऽभूत् सन्ध्याकाले समागते ॥२६॥

हे भारत! इस प्रकार सूर्य के अस्ताचल को चले जाने पर सन्ध्या के समय आपकी और पाण्डवों की सेनाएँ लौट आईं।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

तृतीय दिवस—कौरव-पाण्डवों की व्यूहरचना तथा युद्ध का आरम्भ, पाण्डववीरों का पराक्रम, दुर्योधन और भीष्म का संवाद

सञ्जय उवाच

प्रभातायां च शर्वर्यां भीष्मः शान्तनवस्तदा।
अनीकान्यनुसंयाने व्यादिदेशाथ भारत ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—हे भारत! जब रात्रि व्यतीत हुई और सूर्योदय हुआ, तब शान्तनुनन्दन भीष्म ने अपनी सेनाओं को युद्धभूमि में चलने का आदेश दिया।

गारुडं च महाव्यूहं चक्रे शान्तनवस्तदा।
पुत्राणां ते जयाकांक्षी भीष्मः कुरुपितामहः ॥२॥

उस समय कुरुकुल के पितामह शान्तनुकुमार भीष्म ने आपके पुत्रों को विजय दिलाने की इच्छा से महान् गरुड़व्यूह की रचना की।

व्यूढं दृष्ट्वा तु तत्सैन्यं सव्यसाची परन्तपः।
अर्धचन्द्रेण व्यूहेन प्रत्यव्यूहत संयुगे ॥३॥

शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुन ने कौरव-सेना की वह व्यूहरचना देखकर युद्धभूमि में उसका सामना करने के लिए अपनी सेना का अर्ध-चन्द्राकार व्यूह बनाया।

ततो व्यूढेष्वनीकेषु तावकेषु परेषु च।
किरीटी च ययौ क्रुद्धः समन्तात् पार्थिवोत्तमान् ॥४॥

राजन्! आपकी और पाण्डवों की व्यूहरचना सम्पन्न हो जाने पर क्रोध में भरे हुए किरीटधारी अर्जुन सब ओर खड़े हुए श्रेष्ठ नरेशों का सामना करने के लिए बढ़े।

ततस्ते पार्थिवाः क्रुद्धाः फाल्गुनं वीक्ष्य संयुगे।
रथैरनेकसाहस्रैः समन्तात् पर्यवारयन् ॥५॥

वे समस्त भूपाल युद्धभूमि में अर्जुन को देखते ही क्रुद्ध हो उठे तथा उन्होंने बहुत-से रथियों के साथ उन्हें सब ओर से घेर लिया।

अथैनं रथवृन्देन कोष्ठकीकृत्य भारत।
शरैः सुबहुसाहस्रैः समन्तादभ्यवारयन् ॥६॥

भरतनन्दन! उन राजाओं ने रथसमूह द्वारा अर्जुन को सब ओर से घेरकर उनपर बहुत-से बाणों की झड़ी लगा दी।

शस्त्राणामथ तां वृष्टिं शलभानामिवायतिम्।
रुरोध सर्वतः पार्थः शरैः कनकभूषणैः ॥७॥

शलभों की श्रेणी के समान अस्त्र-शस्त्रों की उस वर्षा को अर्जुन ने सुवर्णभूषित बाणों द्वारा सब ओर से रोक दिया।

सात्यकिश्चाभिमन्युश्च महत्या सेनया वृतौ।
गान्धारान् समरे शूराञ्जग्मतुः सहसौबलान् ॥८॥

उधर विशाल सेना से घिरे हुए सात्यकि और अभिमन्यु ने युद्धक्षेत्र में सुबल के पुत्रोंसहित गान्धार-देशीय शूरवीरों पर आक्रमण किया।

ततो धर्मसुतो राजा माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
मिषतां सर्वसैन्यानां द्रोणानीकमुपाद्रवन् ॥९॥

इधर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर तथा माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेव ने समस्त सेनाओं के देखते-देखते द्रोणाचार्य की सेना पर धावा किया।

कुर्वाणौ सुमहत् कर्म भीमसेनघटोत्कचौ।
दुर्योधनस्य महतीं द्रावयामास वाहिनीम् ॥१०॥

दूसरी ओर भीमसेन और घटोत्कच ने महान् पराक्रम का परिचय देते हुए दुर्योधन की विशाल सेना को खदेड़ना आरम्भ किया।

द्रवतस्तान् समालक्ष्य भीष्मद्रोणौ महारथौ।
न्यवारयेतां संरब्धौ दुर्योधनहितैषिणौ ॥११॥

दुर्योधन की सेना के योद्धाओं को भागते देख दुर्योधन का हित चाहनेवाले महारथी भीष्म और द्रोण क्रोधपूर्वक उन्हें रोकने लगे।

संनिवृत्तांस्ततस्तांस्तु दृष्ट्वा राजा सुयोधनः।
अब्रवीत् त्वरितो गत्वा भीष्मं शान्तनवं वचः ॥१२॥

अपनी सेना के वीरों को लौटा हुआ देख राजा दुर्योधन तुरन्त ही शान्तनुनन्दन भीष्म के पास जाकर बोला—

दुर्योधन उवाच

पितामह निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि भारत।
नानुरूपमहं मन्ये त्वयि जीवति कौरव ॥१३॥
द्रोणे चास्त्रविदां श्रेष्ठे सपुत्रे ससुहृज्जने।
कृपे चैव महेष्वासे द्रवते यद् वरूथिनी ॥१४॥

दुर्योधन बोला—पितामह भरतनन्दन! मैं आपसे जो कुछ कहता हूँ, उसे सुनिए। कुरुनन्दन! आपके पुत्र तथा सुहृदोंसहित अस्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ द्रोणाचार्य के और महाधनुर्धर कृपाचार्य के जीते-जी जो मेरी सेना भाग रही है, इसे मैं आप लोगों के अनुरूप नहीं मानता।

न पाण्डवान् प्रतिबलांस्तव मन्ये कथञ्चन।
तथा द्रोणस्य संग्रामे द्रौणेश्चैव कृपस्य च ॥१५॥

मैं किसी भी प्रकार यह नहीं मान सकता कि पाण्डव संग्राम में आपके, द्रोणाचार्य के, कृपाचार्य के और अश्वत्थामा के समान बलवान् हैं।

अनुग्राह्याः पाण्डुसुतास्तव नूनं पितामह।
यथेमां क्षमसे वीर वध्यमानां वरूथिनीम् ॥१६॥

वीर पितामह! निश्चय ही पाण्डव आपके कृपापात्र हैं, तभी तो मेरी सेना का वध हो रहा है और आप चुपचाप इसकी दुर्दशा को सहते चले जा रहे हैं।

सोऽस्मि वाच्यस्त्वया राजन् पूर्वमेव समागमे।
न योत्स्ये पाण्डवान् संख्ये नापि पार्षतसात्यकी ॥१७॥

राजन्! यदि पाण्डवों पर दया ही करनी थी तो आप युद्धारम्भ होने से पूर्व ही मुझे यह बता देते कि मैं रणक्षेत्र में पाण्डुपुत्रों, धृष्टद्युम्न और सात्यकि से युद्ध नहीं करूँगा।

तावकीनं वचः श्रुत्वा ह्याचार्यस्य कृपस्य च।
कर्णेन सहितः कृत्यं चिन्तयानस्तदैव हि ॥१८॥

उस अवस्था में आपका, आचार्य द्रोण का तथा कृपाचार्य का वचन सुनकर मैं कर्ण के साथ उसी समय अपने कर्तव्य का निश्चय कर लेता।

यदि नाहं परित्याज्यो युवाभ्यामिह संयुगे।
विक्रमेणानुरूपेण युध्येतां पुरुषर्षभौ ॥१९॥

यदि युद्ध में आप दोनों को मेरा परित्याग करना उचित नहीं जान पड़ता हो तो द्रोणाचार्य और आप—दोनों श्रेष्ठ पुरुष अपने योग्य पराक्रम प्रकट करते हुए युद्ध कीजिए।

सञ्जय उवाच

एतत् श्रुत्वा वचो भीष्मः प्रहसन् वै मुहुर्मुहुः।
अब्रवीत् भवतः पुत्रं क्रोधादुद्वृत्य चक्षुषी ॥२०॥

सञ्जय कहते हैं—यह सुनकर भीष्मजी बार-बार हँसकर और क्रोध से आँखें तरेरते हुए आपके पुत्र से बोले—

भीष्म उवाच

बहुशोऽसि मया राजंस्तथ्यमुक्तो हितं वचः।
अजेयाः पाण्डवा युद्धे देवैरपि सवासवैः ॥२१॥

भीष्म बोले—राजन्! मैंने तुमसे अनेक बार यह सत्य और हित की बात बताई है कि युद्ध में पाण्डवों को इन्द्र आदि देवता भी नहीं जीत सकते।

यत्तु शक्यं मया कर्तुं वृद्धेनाद्य नृपोत्तम।
करिष्यामि यथाशक्ति प्रेक्षस्व त्वं सबान्धवः ॥२२॥

नृपश्रेष्ठ! तो भी मुझ वृद्ध के द्वारा जो कुछ किया जा सकता है, उसे आज यथाशक्ति करूँगा। तुम अपने बन्धु-बान्धवोंसहित मेरा पराक्रम देखो।

अद्य पाण्डुसुतानेकः ससैन्यान् सह बन्धुभिः।
सोऽहं निवारयिष्यामि सर्वलोकस्य पश्यतः ॥२३॥

आज मैं अकेला ही सबके देखते-देखते सेना और बन्धुओंसहित समस्त पाण्डवों को आगे बढ़ने से रोक दूँगा।

सञ्जय उवाच

एवमुक्ते तु भीष्मेण पुत्रास्तव जनेश्वर।
दध्मुः शंखान् मुदायुक्ता भेरीः संजघ्निरे भृशम् ॥२४

सञ्जय कहते हैं—जनेश्वर! भीष्म के ऐसा कहने पर आपके पुत्र आनन्दमग्न होकर जोर-जोर से शंख बजाने और डंका पीटने लगे।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

भीष्म का पराक्रम, श्रीकृष्ण का उन्हें मारने के लिए उद्यत होना, अर्जुन की प्रतिज्ञा एवं उनके द्वारा कौरव सेना की पराजय, तीसरे दिन के युद्ध की समाप्ति

सञ्जय उवाच

गतपूर्वाह्णभूयिष्ठे तस्मिन्नहनि भारत।
जयं प्राप्तेषु हृष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ॥१॥
सर्वधर्मविशेषज्ञः पिता देवव्रतस्तव।
अभ्ययाज्जवनैरश्वैः पाण्डवानामनीकिनीम् ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—भारत! उस दिन जब पूर्वाह्न-काल का अधिक भाग व्यतीत हो गया और विजय को प्राप्त हुए महामना पाण्डव आनन्द मनाने लगे, उस समय सब धर्मों के विशेषज्ञ आपके ताऊ भीष्मजी ने वेगशाली अश्वों द्वारा पाण्डवों की सेना पर आक्रमण किया।

प्रावर्तत ततो युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
अस्माकं पाण्डवैः सार्धमनयात् तव भारत ॥३॥

हे भारत! तत्पश्चात् आपके अन्याय से हम लोगों का पाण्डवों के साथ रोमाञ्चकारी भयंकर युद्ध होने लगा।

तिष्ठ स्थितोऽस्मि विद्धयेनं निवर्तस्व स्थिरो भव।
स्थिरोऽस्मि प्रहरस्वेति शब्दोऽश्रूयत सर्वशः ॥४॥

उस समय 'खड़े रहो, खड़ा हूँ, इसे बींध डालो, लौटो, स्थिरभाव से खड़े रहो, हाँ-हाँ, स्थिरभाव से ही खड़ा हूँ, तुम प्रहार करो'—ऐसे शब्द सब ओर सुनाई पड़ते थे।

पतितान्युत्तमाङ्गानि बाहवश्च विभूषिताः।
व्यचेष्टन्त महीं प्राप्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥५॥

उस तुमुल युद्ध में सैनिकों के सैकड़ों-सहस्रों मस्तक तथा स्वर्ण-विभूषित भुजाएँ कट-कटकर पृथिवी पर गिरने और तड़पने लगीं।

हृतोत्तमाङ्गाः केचित्तु तथैवोद्यतकार्मुकाः।
प्रगृहीतायुधाश्चापि तस्थुः पुरुषसत्तमाः ॥६॥

कितने ही पुरुष-शिरोमणि वीरों के मस्तक तो कट गये, परन्तु उनके धड़ पूर्ववत् धनुष-बाण एवं अन्य आयुध लिये खड़े ही रह गये।

प्रावर्तत महावेगा नदी रुधिरवाहिनी।
मातङ्गाङ्गशिलारौद्रा मांसशोणितकर्दमा ॥७॥
वराश्वनरनागानां शरीरप्रभवा तदा।
परलोकार्णवमुखी गृध्रगोमायुमोदिनी ॥८॥

रणक्षेत्र में बड़े वेग से रक्त की नदी बह चली, जो देखने में बहुत भयानक थी। हाथियों के शरीर उसमें भीषण शिलाखण्डों के समान जान पड़ते थे। रक्त और मांस कीचड़ के समान प्रतीत होते थे। बड़े-बड़े हाथी, घोड़े और मनुष्यों के शरीरों से वह रक्त की नदी निकली थी तथा परलोकरूपी समुद्र की ओर प्रवाहित हो रही थी। वह रक्त-मांस की नदी गीधों और गीदड़ों को आनन्द प्रदान करनेवाली थी।

न दृष्टं न श्रुतं वापि युद्धमेतादृशं नृप।
यथा तव सुतानां च पाण्डवानां च भारत ॥९॥

हे भारत! राजन्! पाण्डवों और आपके पुत्रों का उस दिन जैसा भयानक युद्ध हुआ, वैसा न कभी देखा गया था और न सुना ही गया था।

तात भ्रातः सखे बन्धो वयस्य मम मातुल।
मा मां परित्यजेत्यन्ये चुक्रुशुः पतिता रणे ॥१०॥

कितने ही योद्धा रणभूमि में गिरकर इस प्रकार आर्तभाव से स्वजनों को पुकार रहे थे—"तात! भ्रातः! सखे! बन्धो! मेरे मित्र! मेरे मामा! मुझे छोड़कर न जाओ।"

अयाम्येहि त्वमागच्छ किं भीतोऽसि क्व यास्यसि।
स्थितोऽहं समरे मा भैरिति चान्ये विचुक्रुशुः ॥११॥

दूसरे सैनिक यों चिल्ला रहे थे—"अरे आओ, मेरे पास आओ, क्यों डरे हुए हो? कहाँ जाओगे? मैं संग्राम में डटा हुआ हूँ। तुम भय न करो।"

तत्र भीष्मः शान्तनवो नित्यं मण्डलकार्मुकः।
मुमोच बाणान् दीप्ताग्रानहीनाशीविषानिव ॥१२॥

उधर शान्तनुनन्दन भीष्म अपने धनुष को मण्डलाकार करके विषधर सर्पों के समान भयंकर एवं प्रज्वलित बाणों की निरन्तर वर्षा कर रहे थे।

तमेकं समरे शूरं पाण्डवाः सृञ्जयैः सह।
अनेकशतसाहस्रं समपश्यन्त लाघवात् ॥१३॥

युद्ध में शूरवीर भीष्म यद्यपि अकेले थे, तथापि सृंजयोंसहित पाण्डवों को वे अपनी फुर्ती के कारण कई सौ व्यक्तियों के समान दिखाई देते थे।

न हि मोघः शरः कश्चिदासीद् भीष्मस्य संयुगे।
नरनागाश्वकायेषु बहुत्वाल्लघुयोधिनः ॥१४॥

युद्ध में मनुष्यों, हाथियों और घोड़ों के शरीरों पर चलाया हुआ भीष्म का कोई भी बाण व्यर्थ नहीं जाता था, क्योंकि एक तो उनके पास बाण बहुत थे और दूसरे वे बड़ी फुर्ती से चलाते थे।

यो यो भीष्मं नरव्याघ्रमभ्येति युधि कश्चन।
मुहूर्तदृष्टः स मया पतितो भुवि दृश्यते ॥१५॥

जो कोई भी योद्धा नरश्रेष्ठ भीष्म के सम्मुख आ जाता, वह मुझे एक ही मुहूर्त में खड़ा दिखाई देकर उसी क्षण भूमि पर लोटता दिखाई देता था।

एवं सा धर्मराजस्य वध्यमाना महाचमूः।
भीष्मेणातुलवीर्येण व्यशीर्यत सहस्रधा ॥१६॥

इस प्रकार अतुल पराक्रमी भीष्म के द्वारा मारी जाती हुई धर्मराज युधिष्ठिर की वह विशाल वाहिनी अनेकों भागों में बिखर गई।

महेन्द्रसमवीर्येण वध्यमाना महाचमूः।
अभज्यत महाराज न च द्वौ सह धावतः ॥१७॥

महाराज! महेन्द्र के समान पराक्रमी भीष्म की मार खाकर वह विशाल सेना इस प्रकार तितर-बितर हुई कि उसके दो-दो सैनिक भी साथ नहीं भाग सकते थे।

प्रभज्यमानं सैन्यं तु दृष्ट्वा यादवनन्दनः।
उवाच पार्थं बीभत्सुं निगृह्य रथमुत्तमम् ॥१८॥

अपनी सेना में इस प्रकार भगदड़ मची हुई देख यदुकुलनन्दन श्रीकृष्ण ने अपने उत्तम रथ को खड़ा करके कुन्तीपुत्र अर्जुन से कहा—

कृष्ण उवाच

अयं स कालः सम्प्राप्तः पार्थ यस्तेऽभिकांक्षितः ।
प्रहरस्व नरव्याघ्र न चेन्मोहाद् विमुह्यसे ॥१६॥

श्रीकृष्ण बोले—पुरुषसिंह ! दीर्घकाल से तुम जिसकी अभिलाषा करते थे, यह वही अवसर प्राप्त हुआ है। यदि तुम मोह से किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हो गये हो तो पूरी शक्ति लगाकर युद्ध करो।

यत् त्वया कथितं वीर पुरा राज्ञां समागमे ।
भीष्मद्रोणमुखान्सर्वान्धार्तराष्ट्रस्य सैनिकान् ॥२०॥
सानुबन्धान् हनिष्यामि ये मां योत्स्यन्ति संयुगे ।
इति तत्कुरु कौन्तेय सत्यं वाक्यमरिन्दम ॥२१॥

हे वीर ! पहले राजाओं की मण्डली में तुमने जो यह कहा था कि 'जो मेरे साथ युद्धभूमि में उतरकर युद्ध करेंगे, दुर्योधन के उन भीष्म, द्रोण आदि समस्त सैनिकों को मैं सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालूंगा।' शत्रुसूदन कुन्तीनन्दन ! अब अपनी उस बात को सत्य कर दिखाओ।

अर्जुन उवाच

नोदयाश्वान् यतो भीष्मो विगाह्यैतद् बलार्णवम् ।
पातयिष्यामि दुर्धर्षं वृद्धं कुरुपितामहम् ॥२२॥

अर्जुन ने कहा—भगवन् ! इन घोड़ों को हाँककर वहीं ले चलिए जहाँ भीष्म हैं। इस सेनारूपी समुद्र में प्रवेश कीजिए। आज मैं कुरुकुल के वृद्ध पितामह दुर्धर्ष वीर भीष्म को मार गिराऊँगा।

सञ्जय उवाच

ततोऽश्वान् रजतप्रख्यान् नोदयामास माधवः ।
यतो भीष्मरथो राजन् दुष्प्रेक्ष्यो रश्मिवानिव ॥२३॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन के चाँदी के समान सफेद घोड़ों को उधर ही हाँका जहाँ भीष्मजी का रथ था। सूर्य की भाँति उस रथ की ओर आँख उठाकर देखना भी कठिन था।

ततस्तत् पुनरावृत्तं युधिष्ठिरबलं महत् ।
दृष्ट्वा पार्थं महाबाहुं भीष्मायोद्यतमाहवे ॥२४॥

उस समय महाबाहु अर्जुन को समरभूमि में भीष्म से लोहा लेने को उद्यत देख युधिष्ठिर की वह विशाल वाहिनी पुनः लौट आई।

ततो भीष्मः कुरुश्रेष्ठ सिंहवद् विनदन् मुहुः ।
धनञ्जयरथं शीघ्रं शरवर्षैरवाकिरत् ॥२५॥

कुरुश्रेष्ठ ! उस समय भीष्म सिंह के समान बारम्बार गर्जना करते हुए अर्जुन के रथ पर शीघ्रतापूर्वक बाणों की वर्षा करने लगे।

गृहित्वा च धनुः पार्थः दिव्यं जलदनिःस्वनम् ।
पातयामास भीष्मस्य धनुश्छित्वा त्रिभिः शरैः ॥२६॥

तब अर्जुन ने मेघ के समान गम्भीर घोष करनेवाले दिव्य धनुष को हाथ में लेकर तीन बाणों से भीष्म के धनुष को काट गिराया।

स च्छिन्नधन्वा कौरव्यः पुनरन्यन्महद् धनुः ।
निमिषान्तरमात्रेण सज्यं चक्रे पिता तव ॥२७॥

धनुष कट जाने पर आपके ताऊ कुरुनन्दन भीष्म ने पलक मारते-मारते पुनः दूसरे विशाल धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी।

विचकर्ष ततो दोर्भ्यां धनुर्जलदनिःस्वनम् ।
अथास्य तदपि क्रुद्धश्चिच्छेद धनुरर्जुनः ॥२८॥

फिर मेघ के समान गम्भीर शब्द करनेवाले उस धनुष को दोनों हाथों से खींचा। इतने में ही कुपित हुए अर्जुन ने उनके उस धनुष को भी काट डाला।

तस्य तत् पूजयामास लाघवं शान्तनोः सुतः ।
साधु पार्थ महाबाहो साधु भोः पाण्डुनन्दन ॥२९॥
त्वय्येवैतद् युक्तरूपं महत् कर्म धनञ्जय ।
प्रीतोऽस्मि सुभृशं पुत्र कुरु युद्धं मया सह ॥३०॥

अर्जुन की इस फुर्ती को देखकर शान्तनुनन्दन भीष्म ने उनकी बड़ी प्रशंसा की और कहा—"महाबाहु कुन्तीकुमार ! तुम्हें साधुवाद। पाण्डुनन्दन ! धन्यवाद। वत्स ! तुम्हारी इस फुर्ती से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। धनञ्जय ! यह महान् कर्म तुम्हारे ही योग्य है। अब तुम मेरे साथ युद्ध करो।"

इति पार्थं प्रशस्याथ प्रगृह्यान्यन्महद् धनुः ।
मुमोच समरे वीरः शरान् पार्थरथं प्रति ॥३१॥

इस प्रकार कुन्तीकुमार अर्जुन की प्रशंसा करके और पुनः दूसरा विशाल धनुष हाथ में लेकर वीर भीष्म ने युद्धस्थल में उनके रथ की ओर बाण-वृष्टि आरम्भ की।

अदर्शयद् वासुदेवो हययाने परं बलम् ।
मोघान् कुर्वञ्शरांस्तस्य मण्डलान्याचरल्लघु ॥३२॥

उस समय श्रीकृष्ण ने घोड़ों को हाँकने की कला में अपने उत्तम कौशल का परिचय दिया। वे भीष्म के बाणों को व्यर्थ करते हुए बड़ी फुर्ती के साथ रथ को मण्डलाकार चलाने लगे।

तथा भीष्मस्तु सुदृढं वासुदेवधनञ्जयौ।
विव्याध निशितैर्बाणैः सर्वगात्रेषु भारत ॥३३॥

हे भारत! इतना होने पर भी भीष्म ने श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्पूर्ण अङ्गों में अपने तीखे बाणों से गहरे आघात किये।

ततस्तु कृष्णः समरे दृष्ट्वा भीष्मपराक्रमम्।
सम्प्रेक्ष्य च महाबाहुः पार्थस्य मृदुयुद्धताम् ॥३४॥
भीष्मं च शरवर्षाणि सृजन्तमनिशं युधि।
प्रचिन्तयदमेयात्मा नास्ति यौधिष्ठिरं बलम् ॥३५॥

तब अमेय आत्मबल से सम्पन्न महाबाहु श्रीकृष्ण ने उस युद्धभूमि में भीष्म का पराक्रम देखकर मन-ही-मन विचार किया कि अर्जुन तो कोमलतापूर्वक युद्ध कर रहा है और भीष्म रणभूमि में निरन्तर बाणों की वर्षा कर रहे हैं, अतः युधिष्ठिर की सेना का अस्तित्व मिटना चाहता है।

सोऽहं भीष्मं निहन्म्यद्य पाण्डवार्थाय दंशितः।
भारमेतं विनेष्यामि पाण्डवानां महात्मनाम् ॥३६॥
अर्जुनो हि शरैस्तीक्ष्णैर्वध्यमानोऽपि संयुगे।
कर्तव्यं नाभिजानाति रणे भीष्मस्य गौरवात् ॥३७॥

अतः आज पाण्डवों के लिए कवच धारण किया हुआ मैं स्वयं ही भीष्म को मारे डालता हूँ। महामना पाण्डवों के इस भारी भार को मैं ही दूर करूँगा। अर्जुन तो इस युद्ध में तीखे बाणों की मार खाकर भी भीष्म के प्रति गौरव-बुद्धि रखने के कारण अपने कर्तव्य को नहीं समझ रहा है। [ऐसा सोचकर—]

क्षुरान्तमुद्यम्य भुजेन चक्रं
रथादवप्लुत्य विसृज्य वाहान्।
संकम्पयन् गां चरणैर्महात्मा
वेगेन कृष्णः प्रससार भीष्मम् ॥३८॥

श्रीकृष्ण घोड़ों की लगाम छोड़कर और हाथ में छुरे के समान तीक्ष्ण किनारेवाले चक्र को लेकर रथ से कूद पड़े तथा अपने पैरों की धमक से पृथिवी को कँपाते हुए बड़े वेग से भीष्मजी की ओर दौड़े।

रथादवप्लुत्य ततस्त्वरावान्
पार्थोऽप्यनुद्रुत्य यदुप्रवीरम्।
बलान्निजग्राह हरिं किरीटी
पदेऽथ राजन् दशमे कथञ्चित् ॥३९॥

श्रीकृष्ण को भीष्म के रथ की ओर बढ़ते देख किरीटधारी अर्जुन ने भी बड़ी उतावली के साथ अपने रथ से कूदकर यदुकुलश्रेष्ठ श्रीकृष्ण [के पैरों] को बलपूर्वक पकड़ लिया और किसी प्रकार दसवें कदम पर पहुँचते-पहुँचते उन्हें रोका।

अवस्थितं च प्रणिपत्य कृष्णं
प्रीतोऽर्जुनः काञ्चनचित्रमाली।
उवाच कोपं प्रतिसंहरेति
गतिर्भवान् केशव पाण्डवानाम् ॥४०॥

जब श्रीकृष्ण खड़े हो गये, तब सुवर्ण का विचित्र हार पहने हुए अर्जुन ने अत्यन्त हर्षित हो उनके चरणों में प्रणाम करके कहा—"केशव! आप अपना क्रोध रोकिए। आप ही पाण्डवों के परम आश्रय हैं।

न हास्यते कर्म यथाप्रतिज्ञं
पुत्रैः शपे केशव सोदरैश्च।
अन्तं करिष्यामि यथा कुरूणां
त्वयाहमिन्द्रानुज सम्प्रयुक्तः ॥४१॥

"केशव! अब मैं अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार कर्तव्य का पालन करूँगा, उसका त्याग कभी नहीं करूँगा। यह बात मैं अपने पुत्रों और भाइयों की शपथ खाकर कहता हूँ। उपेन्द्र! आपकी आज्ञा मिलने पर मैं समस्त कौरवों का अन्त कर डालूँगा।"

ततः प्रतिज्ञां समयं च तस्य
जनार्दनः प्रीतमना निशम्य।
स्थितः प्रिये कौरवसत्तमस्य
रथं सचक्रः पुनरारुरोह ॥४२॥

अर्जुन की यह प्रतिज्ञा तथा कर्तव्यपालन का निश्चय सुनकर श्रीकृष्ण का मन प्रसन्न हो गया। वे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन का प्रिय करने के लिए उद्यत हो पुनः चक्र हाथ में लिये रथ पर जा बैठे।

स तानभीषून् पुनराददानः
प्रगृह्य शंखं द्विषतां निहन्ता।
निनादयामास ततो दिशश्च
स पाञ्चजन्यस्य रवेण शौरिः ॥४३॥

शत्रुओं का संहार करनेवाले श्रीकृष्ण ने पुनः घोड़ों की वागडोर सँभाली और पाञ्चजन्य शंख लेकर उसकी ध्वनि से सम्पूर्ण दिशाओं को निनादित कर दिया ।

ततो भुजाभ्यां बलवद् विकृष्य
चित्रं धनुर्गाण्डिवमप्रमेयम् ।
माहेन्द्रमस्त्रं विधिवत् सुघोरं
प्रादुश्चकाराद्भुतमन्तरिक्षे ॥४४॥

उधर अप्रमेय शक्तिशाली विचित्र गाण्डीव धनुप को दोनों भुजाओं से बलपूर्वक खींचकर अर्जुन ने विधिपूर्वक अत्यन्त भयंकर माहेन्द्र अस्त्र को प्रकट किया । वह अद्भुत अस्त्र अन्तरिक्ष में चमक उठा ।

तेनोत्तमास्त्रेण ततो महात्मा
सर्वाण्यनीकानि महाधनुष्मान् ।
शरौघजालैर्विमलाग्निवर्णैर्-
निवारयामास किरीटमाली ॥४५॥

तव किरीटधारी महाधनुर्धर अर्जुन ने उस उत्तम अस्त्र द्वारा निर्मल एवं अग्नि के समान प्रज्वलित वाणों का जाल-सा विछाकर कौरवों के सभी सैनिकों को आगे बढ़ने से रोक दिया ।

पदातिसंघाश्च रथाश्च संख्ये
हयाश्च नागाश्च धनञ्जयस्य ।
बाणाहतास्तूर्णमपेतसत्त्वा
विष्टभ्य गात्राणि निपेतुरुर्व्याम् ॥४६॥

उस संग्राम में अर्जुन के उस महेन्द्रास्त्र से निकले वाणों से घायल पैदलों के समूह, रथ, घोड़े और हाथी शीघ्र ही सत्त्वशून्य होकर अपने अङ्गों को सिकोड़े हुए पृथिवी पर गिरने लगे ।

तदैन्द्रमस्त्रं विततं च घोर-
मसह्यमुद्वीक्ष्य युगान्तकल्पम् ।
अथापयानं कुरवः सभीष्माः
चक्रुर्निशां सन्धिगतां समीक्ष्य ॥४७॥

उस भयंकर ऐन्द्रास्त्र को प्रलयंकर अग्नि के समान सर्वत्र व्याप्त एवं असह्य हुआ जानकर और निशा के आरम्भकाल का अवलोकन कर भीष्म और अन्य कौरव योद्धाओं ने सेना को युद्धभूमि से लौटा लिया ।

अवाप्य कीर्ति च यशश्च लोके
विजित्य शत्रूँश्च धनञ्जयोऽपि ।
ययौ नरेन्द्रैः सह सोदरैश्च
समाप्तकर्मा शिबिरं निशायाम् ॥४८॥

धनञ्जय भी शत्रुओं को जीतकर तथा लोक में सुयश और कीर्ति पाकर अपने भाइयों और राजाओं के साथ सारा कार्य समाप्त करके निशा के आरम्भ में अपने शिविर को लौट गये ।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

चतुर्थ दिवस—भीष्म एवं अर्जुन का द्वैरथ-युद्ध; अभिमन्यु, भीम और घटोत्कच का पराक्रम तथा चौथे दिन के युद्ध की समाप्ति

सञ्जय उवाच

व्युष्टां निशां भारत भारताना-
मनीकिनीनां प्रमुखे महात्मा ।
ययौ सपत्नान् प्रति जातकोपो
वृतः समग्रेण बलेन भीष्मः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—हे भारत ! जब रात बीती और प्रभात हुआ, तब भरतवंशियों की सेना के अग्रभाग में स्थित हुए महामना भीष्म सम्पूर्ण सेना से घिरकर शत्रुओं से युद्ध करने के लिए चले । उस समय उनके मन में शत्रुओं के प्रति बड़ा क्रोध था ।

तं व्यालनानाविधगूढसारं
गजाश्वपादातरथौघपक्षम् ।
व्यूहं महामेघसमं महात्मा
ददर्श दूरात् कपिराजकेतुः ॥२॥

उधर महामना कपिध्वज अर्जुन ने दूर से देखा कि कौरवसेना व्याल नामक व्यूह में आवद्ध होने के कारण अनेक प्रकार की दिखाई दे रही है । उसकी शक्ति छिपी हुई है । उसमें हाथी, घोड़े, पैदल तथा रथियों के समूह भरे हुए हैं । सेना का वह व्यूह महान् मेघों की घटा के समान प्रतीत होता था ।

विनिर्ययौ केतुमता रथेन
नरर्षभः श्वेतहयेन वीरः ।
वरूथिना सैन्यमुखे महात्मा
वधे धृतः सर्वसपत्नयूनाम् ॥३॥

तब नरश्रेष्ठ महामना वीर अर्जुन समस्त शत्रुपक्षीय युवकों के वध का संकल्प करके श्वेत घोड़ों से जुते हुए, ध्वज एवं आवरणों से युक्त रथ पर आरूढ़ हो शत्रुसेना के सामने चले ।

ततो यथादेशमुपेत्य तस्थुः
पाञ्चालमुख्याः सह चेदिमुख्यैः ।
ततः समादेशसमाहतानि
भेरीसहस्राणि विनेदुराजौ ॥४॥

उधर सेनापति के आदेश के अनुसार यथोचित स्थान पर पहुँचकर पाञ्चाल और चेदिदेश के प्रमुख वीर खड़े हो गये । फिर उस युद्धस्थल में प्रधान की आज्ञानुसार सहस्रों रणभेरियाँ एक-साथ बज उठीं ।

महानुभावाश्च ततः प्रकाश-
मालोक्य वीराः सहसाभिपेतुः ।
रथी रथेनाभिहतः ससूतः
पपात साश्वः सरथः सकेतुः ॥५॥
गजो गजेनाभिहतः पपात
पदातिना चाभिहतः पदातिः ।
सम्भ्रान्तनागाश्वरथे मुहूर्ते
किरीटिनं शान्तनवोऽभ्यधावत् ॥६॥

रणभेरी बजने के पश्चात् महान् प्रभावशाली वीर सूर्यदेव का प्रकाश देखकर सहसा शत्रुदल पर टूट पड़े । रथी रथी से भिड़कर सारथि, घोड़े, रथ और ध्वजसहित कटकर गिरने लगे । हाथी हाथी के आघात से और पैदल पैदल की चोट से धराशायी होने लगे । उस समय जब हाथी, घोड़े और रथ [रथी] सभी अत्यन्त घबराहट में पड़े हुए थे, शान्तनुनन्दन भीष्म ने किरीटधारी अर्जुन पर आक्रमण किया ।

तमुत्तमं सर्वधनुर्धराणा-
मसक्तकर्मा कपिराजकेतुः ।
भीष्मं महात्माभिववर्ष तूर्णं
शरौघजालैर्विमलैश्च भल्लैः ॥७॥

तब अप्रतिहत पराक्रमी महामना कपिध्वज अर्जुन ने भी समस्त धनुर्धरों में श्रेष्ठ भीष्म पर तुरन्त ही निर्मल भल्लों तथा बाणसमूहों की वर्षा आरम्भ कर दी ।

तथैव भीष्माहतमन्तरिक्षे
महास्त्रजालं कपिराजकेतोः ।
विशीर्यमाणं ददृशुस्त्वदीया
दिवाकरेणेव तमोऽभिभूतम् ॥८॥

महाराज ! आपके सैनिकों ने देखा कि आकाश में कपिध्वज अर्जुन के बिछाये हुए महान् अस्त्रजाल को भीष्मजी ने अपने अस्त्रों के आघात से वैसे ही छिन्न-भिन्न कर दिया है, जैसे सूर्य अन्धकार को नष्ट कर देता है ।

एवंविधं कार्मुकभीमनाद-
मदीनवत् सत्पुरुषोत्तमाभ्याम् ।
ददर्श लोकः कुरुसृञ्जयाश्च
तद् द्वैरथं भीष्मधनञ्जयाभ्याम् ॥९॥

इस प्रकार सत्पुरुषों में श्रेष्ठ भीष्म और अर्जुन में धनुषों की भयंकर टङ्कार से युक्त दीनतारहित द्वैरथ युद्ध होने लगा, जिसे कौरव और सृञ्जय वीरों तथा अन्य लोगों ने भी देखा ।

द्रोणिर्भूरिश्रवाः शल्यश्चित्रसेनश्च मारिष ।
पुत्रः सांयमनेश्चैव सौभद्रं पर्यवारयन् ॥१०॥

आर्य ! उधर तो भीष्म और अर्जुन का द्वैरथ युद्ध चल रहा था, इधर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, शल्य, चित्रसेन तथा शल के पुत्र ने सुभद्राकुमार अभिमन्यु को आगे बढ़ने से रोका ।

संसक्तमतितेजोभिस्तमेकं ददृशुर्जनाः ।
पञ्चभिर्मनुजव्याघ्रैर्गजैः सिंहशिशुं यथा ॥११॥

जैसे सिंहशावक [सिंह का बच्चा] पाँच हाथियों से भिड़ा हुआ हो, उसी प्रकार सुभद्राकुमार अभिमन्यु उन अत्यन्त तेजस्वी पाँच पुरुषसिंहों से अकेला ही युद्ध कर रहा था । यह बात वहाँ सब लोगों ने प्रत्यक्ष देखी ।

नातिलक्ष्यतया कश्चिन्न शौर्ये न पराक्रमे ।
बभूव सदृशः कार्ष्णेर्नास्त्रेनापि च लाघवे ॥१२॥

लक्ष्य वेधने, शौर्य प्रकट करने, पराक्रम दिखाने,

अस्त्रज्ञान प्रदर्शित करने तथा हाथों की फुर्ती में उन पाँचों में से कोई भी अभिमन्यु की समानता न कर सका।

स द्रौणिमिषुणैकेन विद्ध्वा शल्यं च पञ्चभिः।
ध्वजं सांयमनेश्चैव सोऽष्टाभिश्चिच्छिदे तदा ॥१३॥

उसने अश्वत्थामा को एक तथा शल्य को पाँच वाणों से घायल करके शल के ध्वज को आठ वाणों से काट डाला।

रुक्मदण्डां महाशक्तिं प्रेषितां सोमदत्तिना।
शितेनोरगसंकाशां पत्रिणापजहार ताम् ॥१४॥

फिर भूरिश्रवा द्वारा फेंकी गई स्वर्णदण्डविभूषित सर्पसदृश महाशक्ति को एक तीखे वाण से छिन्न-भिन्न कर डाला।

शल्यस्य च महावेगानस्यतः समरे शरान्।
निवार्यार्जुनदायादो जघान चतुरो हयान् ॥१५॥

शल्य रणभूमि में बड़े वेगशाली वाणों का प्रहार कर रहे थे, परन्तु पार्थकुमार अभिमन्यु ने उन वाणों का निवारण कर उसके चारों घोड़ों को मार डाला।

भूरिश्रवाश्च शल्यश्च द्रौणिः सांयमनिः शलः।
नाभ्यवर्तन्त संरब्धाः कार्ष्णेर्बाहुबलोदयम् ॥१६॥

भूरिश्रवा, शल्य, अश्वत्थामा तथा सांयमनि -[सोमदत्तपुत्र]-शल—ये सभी अत्यन्त क्रोध में भरे हुए थे, तथापि वे अभिमन्यु के वाहुवल की वृद्धि को न रोक सके।

अथ दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः।
विधित्सुः कलहस्यान्तं गदां जग्राह पाण्डवः ॥१७॥

इधर अभिमन्यु शत्रुओं से लोहा ले रहा था उधर महावली पाण्डुपुत्र भीम ने दुर्योधन को देखकर झगड़े का अन्त कर डालने की इच्छा से गदा उठा ली।

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम्।
भीमसेनं महाबाहुं पुत्रास्ते प्राद्रवन् भयात् ॥१८॥

गदा उठाये हुए महावाहु भीमसेन को एक शिखर से युक्त कैलास पर्वत के समान उपस्थित देख आपके सभी पुत्र भय के मारे भाग खड़े हुए।

अनीकं पुरतः कृत्वा कुञ्जराणां तरस्विनाम्।
दुर्योधनस्तु संक्रुद्धो भीमसेनं समभ्ययात् ॥१९॥

तव वेगशाली हाथियों की सेना को आगे करके दुर्योधन ने कुपित होकर भीमसेन पर आक्रमण किया।

आपतन्तं च तं दृष्ट्वा गजानीकं वृकोदरः।
गदापाणिरवारोहद् रथात् सिंह इव नदन् ॥२०॥

उस गजसेना को आते देख भीमसेन हाथ में गदा लेकर और सिंह के समान गर्जना करते हुए अपने रथ से उतर पड़े।

स गजान् गदया निघ्नन् व्यचरत् समरे बली।
भीमसेनो महाबाहुः सवज्र इव वासवः ॥२१॥

फिर तो महावली महावाहु भीमसेन वज्रधारी इन्द्र के समान गदा से हाथियों का संहार करते हुए समराङ्गण में विचरने लगे।

एकप्रहारनिहतान् भीमसेनेन वन्तिनः।
अपश्याम रणे तस्मिन् गिरीन् वज्रहतानिव ॥२२॥

महाराज! उस रणभूमि में हमने वज्र के मारे हुए पर्वतों की भाँति भीमसेन के एक ही प्रहार से दन्तार हाथियों को भी मरते देखा था।

शोणिताक्तां गदां बिभ्रदुक्षितां गजशोणितैः।
कृतान्त इव रौद्रात्मा भीमसेनो व्यदृश्यत ॥२३॥

रक्त में सनी और हाथियों के लहू से भीगी हुई गदा लिये हुए रौद्ररूपधारी भीमसेन यमराज के समान दिखाई देते थे।

यथा पशूनां संघातं यष्टचा पालः प्रकालयेत्।
तथा भीमो गजानीकं गदया समकालयत् ॥२४॥

जैसे चरवाहा पशुओं के झुण्ड को डण्डे से हाँकता है, वैसे ही भीमसेन हाथियों के समूह को अपनी गदा से हाँक रहे थे।

गदया वध्यमानास्ते मार्गणैश्च समन्ततः।
स्वान्यनीकानि मृद्नन्तः प्राद्रवन् कुञ्जरास्तव ॥२५॥

महाराज! चारों ओर से गदा और वाणों की मार पड़ने पर आपकी सेना के वे समस्त हाथी अपने ही सैनिकों को कुचलते हुए भाग रहे थे।

हते तस्मिन् गजानीके पुत्रो दुर्योधनस्तव।
भीमसेनं घ्नतेत्येवं सर्वसैन्यान्यनोदयत् ॥२६॥

महाराज! हाथियों की उस सेना के मारे जाने पर आपके पुत्र दुर्योधन ने समस्त सैनिकों को आदेश

दिया कि सब मिलकर भीमसेन को मार डालो ।

ततः सर्वाण्यनीकानि तव पुत्रस्य शासनात् ।
अभ्यद्रवन् भीमसेनं नदन्तं भैरवान् रवान् ॥२७॥

तब आपके पुत्र की आज्ञा से समस्त सेनाएँ भैरव गर्जना करती हुई भीमसेन पर टूट पड़ीं ।

ततः शैक्यायसीं गुर्वीं प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
अधावत् तावकान् योधान् दण्डपाणिरिवान्तकः ॥२८॥

फिर तो पूर्णतः फौलाद की बनी हुई विशाल एवं भारी गदा हाथ में लेकर भीमसेन दण्डपाणि यमराज की भाँति आपके सैनिकों पर टूट पड़े ।

उरुवेगेन संकर्षन् रथजालानि पाण्डवः ।
बलानि सम्ममर्दाशु नड्वलानीव कुञ्जरः ॥२९॥

पाण्डुनन्दन भीम अपने महान् वेग से रथसमूहों को खींचकर नष्ट कर देते और शीघ्र ही सारी सेना को उसी प्रकार रौंद डालते थे, जैसे हाथी सरकण्डों के पौधों को रौंद डालता है ।

मृद्नन् रथेभ्यो रथिनो गजेभ्यो गजयोधिनः ।
सादिनश्चाश्वपृष्ठेभ्यो भूमौ चापि पदातिनः ॥३०॥
गदया व्यधमत् सर्वान् वातो वृक्षानिवौजसा ।
भीमसेनो महाबाहुस्तव पुत्रस्य वै बले ॥३१॥

महाबाहु भीमसेन रथों से रथियों को, हाथियों से हाथीसवारों को, घोड़ों की पीठ से घुड़सवारों को और पृथिवी पर पैदलों को मसलते हुए गदा से आपके पुत्र की सेना के सब लोगों को उसी प्रकार नष्ट कर देते थे, जैसे वायु अपने वेग से वृक्षों को उखाड़ फेंकती है ।

यतो यतः प्रेक्षते स्म गदामुद्यम्य पाण्डवः ।
तेन तेन स्म दीर्यन्ते सर्वसैन्यानि भारत ॥३२॥

हे भारत ! भीमसेन गदा उठाकर जिस-जिस ओर देखते थे, उधर-उधर से सारी सेनाओं में दरार पड़ जाती थी [वहाँ के सैनिक भागकर स्थान रिक्त कर देते थे] ।

ततो भीमो महाबाहुः स्वरथं सुमहाबलः ।
आरुरोह रथश्रेष्ठं विशोकं चेदमब्रवीत् ॥३३॥

दुर्योधन की उस सेना का संहार कर महाबली महाबाहु भीमसेन अपने श्रेष्ठ रथ पर आरूढ़ हो गये और अपने सारथि विशोक से इस प्रकार बोले—

भीम उवाच

एते महारथाः शूरा धार्तराष्ट्राः समागताः ।
मामेव भृशसंक्रुद्धा हन्तुमभ्युद्यता युधि ॥३४॥

भीमसेन बोले—ये महारथी शूरवीर धृतराष्ट्र-पुत्र अत्यन्त क्रुद्ध हो युद्ध में मुझे ही मारने के लिए उद्यत हो यहाँ आये हैं ।

मनोरथद्रुमोऽस्माकं चिन्तितो बहुवार्षिकः ।
सफलः सूत चाद्येह योऽहं पश्यामि सोदरान् ॥३५॥

सूत ! मेरे मन में बहुत वर्षों से जिसका चिन्तन हो रहा था, वह मनोरथरूपी वृक्ष आज सफल होना चाहता है, क्योंकि इस समय यहाँ मैं दुर्योधन के भाइयों को एकत्र देख रहा हूँ ।

यत्राशोक समुत्क्षिप्ता रेणवो रथनेमिभिः ।
प्रयास्यन्त्यन्तरिक्षं हि शरवृन्दैर्दिगन्तरे ॥३६॥
तत्र तिष्ठति संनद्धः स्वयं राजा सुयोधनः ।
भ्रातरश्चास्य सन्नद्धाः कुलपुत्रा मदोत्कटाः ॥३७॥

विशोक ! जहाँ रथ के पहियों से उड़ी हुई धूल बाणसमूहों के साथ अन्तरिक्ष और दिगन्त में फैल रही है, वहीं स्वयं राजा दुर्योधन कवच आदि से सुसज्जित होकर युद्ध के लिए खड़ा है । उसके कुलीन और मदोन्मत्त भाई भी वहीं कवच बाँधकर खड़े हैं ।

एतानद्य हनिष्यामि पश्यतस्ते न संशयः ।
तस्मान्ममाश्वान् संग्रामे यत्तः संयच्छ सारथे ॥३८॥

आज तुम्हारे देखते-देखते मैं इन सबको मार डालूँगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, अतः सारथे ! तुम सावधान होकर संग्राम में मेरे घोड़ों को वश में रखो ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततः पार्थस्तव पुत्रं विशाम्पते ।
विव्याध दशभिस्तीक्ष्णैः शरैः कनकभूषणैः ॥३९॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर कुन्ती-कुमार भीम ने स्वर्णभूषित दस तीखे बाणों द्वारा आपके पुत्र दुर्योधन को बींध डाला ।

प्रत्युद्ययुस्ततो भीमं तव पुत्राश्चतुर्दश ।
विसृजन्तो बहून् बाणान् क्रोधसंरक्तलोचनाः ॥४०॥

राजन् ! तब आपके चौदह पुत्रों ने क्रोध से

आँखें लाल करके बहुत-से बाणों की वर्षा करते हुए भीमसेन पर धावा किया।

पुत्रांस्तु तव सम्प्रेक्ष्य भीमसेनो महाबलः।
सृक्किणी विलिहन् वीरः पशुमध्ये यथा वृकः ॥४१॥
अभिपत्य महाबाहुर्गरुत्मानिव वेगतः।
सेनापतेः क्षुरप्रेण शिरश्चिच्छेद पाण्डवः ॥४२॥

महाबली महाबाहु वीर भीमसेन आपके पुत्रों को देखकर पशुओं के मध्य में खड़े हुए भेड़िये के समान अपने मुँह के दोनों कोनों को चाटते हुए गरुड़ के समान बड़े वेग से उनके सामने पहुंचे। वहाँ आकर पाण्डुकुमार ने क्षुरप्र नामक बाण से आपके पुत्र सेनापति का सिर काट डाला।

सुषेणं च ततो हत्वा त्रिभिर्बाणैर्महाभुजः।
जलसन्धं विनिर्भिद्य सोऽनयद् यमसादनम् ॥४३॥

तत्पश्चात् सुषेण को मारकर महाबाहु भीमसेन ने जलसन्ध को तीन बाणों से विदीर्ण करके यमलोक पठा दिया।

उग्रस्य सशिरस्त्राणं शिरश्चन्द्रोपमं भुवि।
पातयामास भल्लेन कुण्डलाभ्यां विभूषितम् ॥४४॥

फिर उग्र के कुण्डलों से विभूषित चन्द्रोपम मस्तक को एक भल्ल के द्वारा शिरस्त्राणसहित काटकर भूमि पर गिरा दिया।

वीरबाहुं च सप्तत्या साश्वकेतुं ससारथिम्।
निनाय समरे वीरः परलोकाय पाण्डवः ॥४५॥

तत्पश्चात् पाण्डुनन्दन वीरवर भीमसेन ने रणभूमि में घोड़े, ध्वज और सारथिसहित वीरबाहु को सत्तर बाणों से मारकर परलोक पहुँचा दिया।

भीमभीमरथौ चोभौ भीमसेनो हसन्निव।
पुत्रौ ते दुर्मदौ राजन्ननयद् यमसादनम् ॥४६॥

राजन्! तदनन्तर भीमसेन ने हँसते हुए-से आपके दो पुत्र भीम और भीमरथ को भी जो युद्ध में उन्मत्त होकर लड़नेवाले थे, यमलोक भेज दिया।

पुत्रास्तु तव तं दृष्ट्वा भीमसेनपराक्रमम्।
शेषा येऽन्येऽभवंस्तत्र विप्रद्रुता दिशो दश ॥४७॥

आपके जो अन्य शेष पुत्र वहाँ विद्यमान थे, वे भीमसेन का पराक्रम देखकर वहाँ से सम्पूर्ण दिशाओं में भाग खड़े हुए।

ततोऽब्रवीच्छान्तनवः सर्वानेव महारथान्।
एष भीमो रणे क्रुद्धो धार्तराष्ट्रान् महारथान् ॥४८॥
यथा प्राग्र्यान्यथा ज्येष्ठान्यथा शूरांश्च संगतान्।
निपातयत्युग्रधन्वा तं प्रगृह्णीत माचिरम् ॥४९॥

दुर्योधन के भाइयों का संहार होते देख शान्तनुनन्दन भीष्म ने अपने सभी महारथियों से कहा— "ये भयंकर धनुर्धर भीमसेन युद्ध में क्रुद्ध होकर सामने आये हुए श्रेष्ठ, ज्येष्ठ एवं शूर महारथी धृतराष्ट्रपुत्रों को मारे डालते हैं, अतः तुम सब मिलकर इन्हें शीघ्र वश में करो।"

एवमुक्तास्ततः सर्वे धार्तराष्ट्रस्य सैनिकाः।
अभ्यद्रवन्त संक्रुद्धा भीमसेनं महाबलम् ॥५०॥

उनके ऐसा कहने पर दुर्योधन के सभी सैनिक क्रुद्ध होकर महाबली भीमसेन की ओर दौड़े।

भगदत्तः प्रभिन्नेन कुञ्जरेण विशाम्पते।
अभ्ययात् सहसा तत्र यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥५१॥

हे प्रजेश्वर! राजा भगदत्त मदवर्षी गजराज पर आरूढ़ होकर सहसा वहाँ जा पहुँचे, जहाँ भीमसेन खड़े थे।

ततस्तु नृपतिः क्रुद्धो भीमसेनस्य वक्षसि।
आजघान महाराज शरेणानतपर्वणा ॥५२॥

महाराज! वहाँ पहुँचकर राजा भगदत्त ने कुपित हो झुकी हुई गाँठवाले बाण से भीमसेन की छाती में गहरी चोट पहुँचाई।

सोऽतिविद्धो महेष्वासस्तेन राज्ञा महारथः।
मूर्च्छयाभिपरीतात्मा ध्वजयष्टिं समाश्रयत् ॥५३॥

राजा भगदत्त द्वारा अत्यन्त घायल किये जाने पर महाधनुर्धर महारथी भीमसेन ने मूर्च्छा से व्याप्त हो ध्वज का दण्डा थाम लिया।

ततो घटोत्कचो राजन् प्रेक्ष्य भीमं तथागतम्।
ऐरावणं समारूढो घोररूपं समास्थितः ॥५४॥

भीमसेन को उस अवस्था में देखकर घटोत्कच ऐरावण हाथी पर आरूढ़ होकर भयंकररूप धारण किये हुए दृष्टिगोचर हुआ।

घटोत्कचस्तु स्वं नागं प्रेरयामास तं तदा।
सगजं भगदत्तं तु हन्तुकामः परन्तपः ॥५५॥

शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले घटोत्कच ने अपने

हाथी को गजारूढ़ राजा भगदत्त के हाथी की ओर बढ़ाया। वह उन्हें हाथी सहित मारना चाहता था।

नागेन पीड्यमानः स वेदनार्तः शराहतः।
अनदत् सुमहानादमिन्द्राशनिसमस्वनम् ॥५६॥

भगदत्त का हाथी बाणों से घायल हो चुका था, अतः घटोत्कच के हाथी द्वारा पीड़ित होने पर वह वेदना से व्याकुल हो बड़े जोर से चीत्कार करने लगा। उसकी आवाज इन्द्र के वज्र की गड़गड़ाहट के समान जान पड़ती थी।

तस्य तं नदतो नादं सुघोरं भीमनिःस्वनम्।
श्रुत्वा भीष्मोऽब्रवीद् द्रोणं राजानं च सुयोधनम् ॥५७॥

भयंकर आवाज के साथ अत्यन्त घोर शब्द करनेवाले हाथी के उस चीत्कार को सुनकर भीष्म ने द्रोणाचार्य तथा दुर्योधन से कहा—

एष युध्यति संग्रामे हैडिम्बेन दुरात्मना।
भगदत्तो महेष्वासः कृच्छ्रे च परिवर्तते ॥५८॥

"ये महाधनुर्धर राजा भगदत्त दुरात्मा घटोत्कच के साथ जूझ रहे हैं तथा संकट में पड़ गये हैं।

तत्र गच्छाम भद्रं वो राजानं परिरक्षितुम्।
अरक्ष्यमाणः समरे क्षिप्रं प्राणान् विमोक्ष्यति ॥५९॥

"तुम्हारा कल्याण हो। आओ, हम राजा भगदत्त की रक्षा करने के लिए वहाँ चलें, अन्यथा अरक्षित होने पर वे रणभूमि में शीघ्र ही अपने प्राण त्याग देंगे।

ते त्वरध्वं महावीर्याः किं चिरेण प्रयामहे।
महान् हि वर्तते रौद्रः संग्रामो लोमहर्षणः ॥६०॥

"महापराक्रमी वीरो! शीघ्रता करो। विलम्ब से क्या लाभ? हमें जल्दी चलना चाहिए, क्योंकि यह संग्राम अत्यन्त भयंकर तथा रोमाञ्चकारी है।"

भीष्मस्य तद् वचः श्रुत्वा सर्व एव महारथाः।
उत्तमं जवमास्थाय प्रययुर्यत्र सोऽभवत् ॥६१॥

भीष्म का यह कथन सुनकर सभी महारथी अत्यन्त वेग से उस स्थान पर गये, जहाँ भगदत्त थे।

तान्यनीकान्यथालोक्य राक्षसेन्द्रः प्रतापवान्।
ननाद सुमहानादं विस्फोटमशनेरिव ॥६२॥

उन सेनाओं को आते देख प्रतापी राक्षसराज घटोत्कच ने बड़े जोर से सिंहनाद किया मानो वज्र फट पड़ा हो।

तस्य तं निनदं श्रुत्वा दृष्ट्वा नागांश्च युध्यतः।
भीष्मः शान्तनवो भूयो भारद्वाजमभाषत ॥६३॥

घटोत्कच की वह गर्जना सुनकर तथा जूझते हुए हाथियों को देखकर शान्तनुनन्दन भीष्म ने पुनः द्रोणाचार्य से कहा—

न रोचते मे संग्रामो हैडिम्बेन दुरात्मना।
बलवीर्यसमाविष्टः ससहायश्च साम्प्रतम् ॥६४॥

"मुझे इस समय दुरात्मा घटोत्कच के साथ युद्ध करना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि वह बल और पराक्रम से सम्पन्न है तथा इस समय उसे प्रबल सहायक भी मिल गये हैं।

नैष शक्यो युधा जेतुमपि वज्रभृता स्वयम्।
लब्धलक्ष्यः प्रहारी च वयं च क्षतविक्षताः ॥६५॥

"ऐसी अवस्था में साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी उसे युद्ध में पराजित नहीं कर सकते। यह प्रहार करने में कुशल तथा लक्ष्य भेदने में सफल है। इधर हमारे शरीर क्षत-विक्षत हो रहे हैं।

तन्न मे रोचते युद्धं पाण्डवैर्जितकाशिभिः।
घुष्यतामवहारोऽद्य श्वो योत्स्यामः परैः सह ॥६६॥

"अतः विजय से सुशोभित होनेवाले पाण्डवों के साथ इस समय युद्ध करना मुझे अच्छा नहीं लगता। आज युद्ध का विराम घोषित कर दिया जाए। कल प्रातः हम लोग शत्रुओं के साथ युद्ध करेंगे।"

पितामहवचः श्रुत्वा तथा चक्रुः स्म कौरवाः।
उपायेनापयानं ते घटोत्कचभयार्दिताः ॥६७॥

पितामह भीष्म की यह बात सुनकर कौरवों ने उपायपूर्वक युद्ध से हट जाना स्वीकार कर लिया, क्योंकि उस समय वे घटोत्कच के भय से पीड़ित थे।

कौरवेषु निवृत्तेषु पाण्डवा जितकाशिनः।
सिंहनादान् भृशं चक्रुः शंखान् दध्मुश्च भारत ॥६८॥

भारत! कौरवों के निवृत्त हो जाने पर विजय से आनन्दित होनेवाले पाण्डव बारम्बार सिंहनाद करने और शंख बजाने लगे।

कौरवास्तु ततो राजन् प्रययुः शिविरं स्वकम् ।
व्रीडमाना निशाकाले पाण्डवैश्च पराजिताः ॥६९॥

राजन् ! तत्पश्चात् निशा के प्रारम्भकाल में पाण्डवों से पराजित होकर कौरव लज्जित हो अपने शिविर को गये ।

शरविक्षतगात्रास्तु पाण्डुपुत्रा महारथाः ।
युद्धे सुमनसो भूत्वा जग्मुः स्वशिविरं प्रति ॥७०॥

महारथी पाण्डवों के शरीर भी युद्ध में बाणों से क्षत-विक्षत हो गये थे, तथापि वे प्रसन्नचित्त होकर अपने शिविर को लौटे ।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

पञ्चम दिवस—भीष्म-अर्जुन, दुर्योधन-भीमसेन, अभिमन्यु और लक्ष्मण, सात्यकि एवं भूरिश्रवा का युद्ध, अर्जुन का पराक्रम तथा पाँचवें दिन के युद्ध का उपसंहार

सञ्जय उवाच

व्युषितायां तु शर्वर्यामुदिते च दिवाकरे ।
उभे सेने महाराज युद्धायैव समीयतुः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! वह रात्रि व्यतीत होने पर जब सूर्योदय हुआ तब दोनों ओर की सेनाएँ आमने-सामने आकर युद्ध के लिए डट गईं ।

ततो दुर्योधनो राजा कलिङ्गैर्बहुभिर्वृतः ।
पुरस्कृत्य रणे भीष्मं पाण्डवानभ्यवर्तत ॥२॥

उस समय बहुसंख्यक कलिङ्गों से घिरे हुए राजा दुर्योधन ने युद्ध में भीष्म को आगे करके पाण्डवों पर आक्रमण किया ।

तथैव पाण्डवाः सर्वे परिवार्य वृकोदरम् ।
भीष्ममभ्यद्रवन् क्रुद्धास्ततो युद्धमवर्तत ॥३॥

इसी प्रकार क्रोध में भरे हुए समस्त पाण्डवों ने भी भीमसेन को घेरकर भीष्म पर धावा किया । फिर तो दोनों पक्षों में भयंकर युद्ध होने लगा ।

दृष्ट्वा भीष्मेण संसक्तान्भ्रातॄनन्यांश्च पार्थिवान् ।
समभ्यधावद् गाङ्गेयमुद्यतास्त्रो धनञ्जयः ॥४॥

अपने भाइयों तथा दूसरे राजाओं को भीष्म के साथ जूझते हुए देख अस्त्र उठाये हुए अर्जुन ने भी गङ्गानन्दन भीष्म पर धावा किया ।

तोमरप्रासनाराचगजाश्वरथयोधिनाम् ।
बलेन महता भीष्मः समसज्जत् किरीटिना ॥५॥

उधर भीष्म भी तोमर, नाराच और प्रास आदि धारण करनेवाले हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथारोही योद्धाओं की विशाल सेना के साथ किरीटधारी अर्जुन से भिड़ गये ।

आवन्त्यः काशिराजेन भीमसेनेन सैन्धवः ।
अजातशत्रुर्मद्राणामृषभेण यशस्विना ॥६॥

दूसरी ओर अवन्तीनरेश काशिराज के साथ, सिन्धुराज जयद्रथ भीमसेन के साथ और अजातशत्रु राजा युधिष्ठिर यशस्वी मद्रराज शल्य के साथ युद्ध करने लगे ।

विकर्णः सहदेवेन चित्रसेनः शिखण्डिना ।
मत्स्या दुर्योधनं जग्मुः शकुनिं च विशाम्पते ॥७॥
द्रुपदश्चेकितानश्च सात्यकिश्च महारथः ।
द्रोणेन समसज्जन्त सपुत्रेण महात्मना ॥८॥

प्रजेश्वर ! विकर्ण सहदेव के साथ तथा चित्रसेन शिखण्डी के साथ भिड़ गये । मत्स्यदेशीय योद्धाओं ने दुर्योधन और शकुनि का सामना किया । द्रुपद, चेकितान और महारथी सात्यकि—ये तीनों द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा और महामना द्रोण से जूझने लगे ।

एवं प्रव्रजिताश्वानि भ्रान्तनागरथानि च ।
सैन्यानि समसज्जन्त प्रयुद्धानि समन्ततः ॥९॥

इस प्रकार अपने-अपने घोड़ों को आगे बढ़ाकर तथा हाथी एवं रथों को घुमाकर समस्त सैनिक सब ओर युद्ध करने लगे ।

वीरबाहुविसृष्टानां सर्वावरणभेदिनाम् ।
संघातः शरजालानां तुमुलः समपद्यत ॥१०॥

उस समय वीरों की भुजाओं से छूटकर सब प्रकार के आवरणों [कवच आदि] का भेदन करनेवाले बाणसमूहों के भयानक आघात सब ओर हो रहे थे ।

भग्नचक्राक्षनीडाश्च निपातितमहाध्वजाः ।
हताश्वाः पृथिवीं जग्मुस्तत्र तत्र महारथाः ॥११॥

उन द्वन्द्व युद्धों में कितने ही महारथियों के रथों के पहिये, धुरे और भीतर की बैठकें टूट-फूटकर नष्ट हो गईं, बड़ी-बड़ी ध्वजाएँ खण्डित होकर गिर गईं, घोड़े मार दिये गये और वे महारथी स्वयं भी मारे जाकर भूमि पर जहाँ-तहाँ लोटने लगे ।

एवं संछादितं तत्र बभूवायोधनं महत् ।
सादिभिश्च पदातैश्च सध्वजैश्च महारथैः ॥१२॥

इस प्रकार सवारों, पैदलों और ध्वजाओंसहित महारथियों के शरीरों से वह विशाल युद्धस्थल पट गया था ।

विराटोऽथ त्रिभिर्बाणैर्भीष्ममार्च्छन्महारथम् ।
विव्याध तुरगांश्चास्य त्रिभिर्बाणैर्महारथः ॥१३॥

उधर महारथी राजा विराट ने तीन बाण मारकर महारथी भीष्म को पीड़ित किया तथा तीन ही बाणों से उनके घोड़ों को भी घायल कर दिया ।

तं प्रत्यविध्यद् दशभिर्भीष्मः शान्तनवः शरैः ।
रुक्मपुंखैर्महेष्वासः कृतहस्तो महाबलः ॥१४॥

तब महाधनुर्धर, महाबली और शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले शान्तनुनन्दन भीष्म ने सोने के पंखवाले दस बाण मारकर विराट को भी घायल कर दिया ।

द्रौणिर्गाण्डीवधन्वानं भीमधन्वा महारथः ।
अविध्यदिषुभिः षड्भिर्दृढहस्तश्च वक्षसि ॥१५॥

भयंकर धनुष धारण करनेवाले महारथी अश्वत्थामा ने अपने हाथ की दृढ़ता का परिचय देते हुए गाण्डीवधारी अर्जुन की छाती में छह बाणों से प्रहार किया ।

ममैष आचार्यसुतो द्रोणस्यातिप्रियः सुतः ।
समास्थाय मतिं वीरः कृपां चक्रे सुतं प्रति ॥१६॥

वीर अर्जुन ने यह सोचकर कि अश्वत्थामा मेरे आचार्य का पुत्र है, द्रोण का लाड़ला बेटा है, आचार्य-पुत्र पर कृपा की ।

द्रौणिं त्यक्त्वा ततो युद्धे कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।
युयुधे तावकान् निघ्नंस्त्वरमाणः पराक्रमी ॥१७॥

तब श्वेत घोड़ोंवाले कुन्तीकुमार पराक्रमी अर्जुन ने अश्वत्थामा को वहीं युद्धस्थल में छोड़कर अति उतावली के साथ आपके दूसरे सैनिकों का संहार करते हुए उनके साथ युद्ध आरम्भ किया ।

चित्रसेनं नरव्याघ्रं सौभद्रः परवीरहा ।
अविध्यद् दशभिर्बाणैः पुरुमित्रं च सप्तभिः ॥१८॥

उधर शत्रुवीरों का संहार करनेवाले सुभद्राकुमार अभिमन्यु ने नरश्रेष्ठ चित्रसेन को दस और पुरुमित्र को सात बाणों से बींध डाला ।

तस्य तच्चरितं दृष्ट्वा पौत्रस्तव विशाम्पते ।
लक्ष्मणोऽभ्यपतत् तूर्णं सात्वतीपुत्रमाहवे ॥१९॥

प्रजेश्वर ! उसका यह पराक्रम देखकर आपका पौत्र लक्ष्मण तुरन्त ही युद्ध में सुभद्राकुमार का सामना करने के लिए आ पहुँचा ।

अभिमन्युस्तु संक्रुद्धो लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
विव्याध निशितैः षड्भिः सारथिं च त्रिभिः शरैः ॥२०

तब क्रोध में भरे हुए अभिमन्यु ने उत्तम लक्षणों से युक्त लक्ष्मण को छह और उसके सारथि को तीन तीखे बाणों से बींध डाला ।

तथैव लक्ष्मणो राजन् सौभद्रं निशितैः शरैः ।
अविध्यत महाराज तदद्भुतमिवाभवत् ॥२१॥

राजन् ! इसी प्रकार लक्ष्मण ने भी सुभद्राकुमार को अपने तीखे बाणों से छेद डाला । महाराज ! वह अद्भुत-सी बात हुई ।

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा सारथिं च महाबलः ।
अभ्यद्रवत् सौभद्रो लक्ष्मणं निशितैः शरैः ॥२२॥

यह देख महाबली सुभद्राकुमार ने लक्ष्मण के चारों घोड़ों और सारथि को मारकर तीखे बाणों द्वारा उसपर भी आक्रमण किया ।

हताश्वे तु रथे तिष्ठँल्लक्ष्मणः परवीरहा ।
शक्तिं चिक्षेप संक्रुद्धः सौभद्रस्य रथं प्रति ॥२३॥

शत्रुवीरों का संहार करनेवाले लक्ष्मण ने उस अश्वहीन रथ पर खड़े-खड़े ही क्रोध में भरकर अभिमन्यु के रथ की ओर एक शक्ति चलाई ।

तामापतन्तीं सहसा घोररूपां दुरासदाम् ।
अभिमन्युः शरैस्तीक्ष्णैश्चिच्छेद भुजगोपमाम् ॥२४॥

उस भयंकर एवं दुर्जय सर्पिणी के समान शक्ति को सहसा अपनी ओर आते देख अभिमन्यु ने तीखे

बाणों द्वारा उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

ततः स्वरथमारोप्य लक्ष्मणं गौतमस्तदा।
अपोवाह रथेनाजौ सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥२५॥

तब कृपाचार्य सब सैनिकों के देखते-देखते लक्ष्मण को अपने रथ पर बैठाकर युद्धभूमि से बाहर ले गये।

ततः समाकुले तस्मिन् वर्तमाने महाभये।
अभ्यद्रवञ्जिघांसन्तः परस्परवधैषिणः ॥२६॥

तत्पश्चात् उस महाभयंकर संघर्ष में सब योद्धा विपक्षी को मारने की इच्छा रखकर एक-दूसरे का वध करने के लिए परस्पर टूट पड़े।

तावकाश्च महेष्वासाः पाण्डवाश्च महारथाः।
जुह्वन्तः समरे प्राणान् निजघ्नुरितरेतरम् ॥२७॥

आपके और पाण्डवपक्ष के महाधनुर्धर महारथी वीर समराङ्गण में प्राणों की आहुति देते हुए एक-दूसरे को मार रहे थे।

विकृष्य चापं सुदृढं सात्यकिर्युद्धदुर्मदः।
आससाद ततो वीरो भूरिश्रवसमाहवे ॥२८॥

उधर युद्ध में उन्मत्त होकर लड़नेवाले वीर सात्यकि ने अपने सुदृढ़ धनुष को बलपूर्वक खेंचकर युद्धस्थल में भूरिश्रवा पर आक्रमण किया।

स हि संदृश्य सेनां ते युयुधानेन पातिताम्।
अभ्यधावत संक्रुद्धो दर्शयन् पाणिलाघवम् ॥२९॥

सात्यकि ने आपकी सेना को मार गिराया है, यह देखकर भूरिश्रवा अत्यन्त क्रुद्ध हो, अपने हस्त-लाघव का परिचय देते हुए उनकी ओर दौड़ा।

इन्द्रायुधसवर्णं तु विस्फार्य सुमहद् धनुः।
सृष्टवान् वज्रसंकाशाञ्शरानाशीविषोपमान् ॥३०॥

इन्द्रधनुष के समान अपने बहुरंगे विशाल धनुष को खींचकर भूरिश्रवा ने वज्र के समान दुःसह और विषैले सर्पों के समान भयंकर बाणों की वृष्टि की।

शरांस्तान् मृत्युसंस्पर्शान् सात्यकेस्तु पदानुगाः।
न विषेहुस्तदा राजन् दुद्रुवुस्ते समन्ततः ॥३१॥

राजन्! उन बाणों का स्पर्श मृत्यु के तुल्य था। उस समय सात्यकि के साथ आये हुए सैनिक उन सायकों का वेग न सह सके, अतः वहाँ से सब ओर भाग निकले।

तं दृष्ट्वा युयुधानस्य सुता दश महाबलाः।
ऊचुः सर्वे समासाद्य यूपकेतुं महारणे ॥३२॥

सात्यकि के दस महाबलवान् पुत्र थे। वे युद्धस्थल में यूपचिह्नित ध्वजावाले भूरिश्रवा को देखकर उसके पास आये और उससे यह बोले—

भो भोः कौरवदायाद सहास्माभिर्महाबल।
एहि युध्यस्व संग्रामे समस्तैः पृथगेव वा ॥३३॥

"महाबली कौरवपुत्र! आओ, इस रणभूमि में हम लोगों के साथ अथवा पृथक्-पृथक् एक-एक के साथ युद्ध करो।

अस्मान् वा त्वं पराजित्य यशः प्राप्नुहि संयुगे।
वयं वा त्वां पराजित्य प्रीतिं दास्यामहे पितुः ॥३४॥

या तो तुम युद्ध में हमें परास्त करके यश प्राप्त करो अथवा हम तुम्हें परास्त करके पिताजी की प्रसन्नता बढ़ाएंगे।"

एवमुक्तस्तदा शूरैस्तानुवाच महाबलः।
वीर्यश्लाघी नरश्रेष्ठस्तान् दृष्ट्वा समवस्थितान् ॥३५॥

उन शूरवीरों के ऐसा कहने पर अपने पराक्रम की प्रशंसा करनेवाला महाबली नरश्रेष्ठ भूरिश्रवा उन्हें युद्ध के लिए उपस्थित देख उनसे इस प्रकार बोला—

साध्विदं कथ्यते वीरा यद्येवं मतिरद्य वः।
युध्यध्वं सहिता यत्ता निहनिष्यामि वो रणे ॥३६॥

"वीरो! यदि तुम्हारा ऐसा विचार है तो तुम लोगों ने यह बहुत अच्छी बात कही है। तुम सब लोग एक-साथ सावधान होकर यत्नपूर्वक युद्ध करो। मैं इस रणभूमि में तुम सब लोगों को मार गिराऊँगा।"

एवमुक्ता महेष्वासास्ते वीराः क्षिप्रकारिणः।
महता शरवर्षेण अभ्यधावन्नरिन्दमम् ॥३७॥

भूरिश्रवा के ऐसा कहने पर शीघ्रता करनेवाले उन महाधनुर्धर वीरों ने बड़ी भारी बाणवर्षा करते हुए शत्रुदमन भूरिश्रवा पर आक्रमण किया।

सोऽपराह्णे महाराज संग्रामस्तुमुलोऽभवत्।
एकस्य च बहूनां च समेतानां रणाजिरे ॥३८॥

महाराज! अपराह्ण काल में उस युद्धभूमि में एकत्र हुए बहुत-से वीरों के साथ एक वीर का भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ।

तमेकं रथिनां श्रेष्ठं शरैस्ते समवाकिरन्।
प्रावृषीव यथा मेरुं सिषिचुर्जलदा नृप ॥३९॥

नरेश्वर! जैसे मेघ वर्षाकाल में मेरु पर्वत पर जल की बूँदें बरसाते हैं, उसी प्रकार उन सबने मिलकर रथियों में श्रेष्ठ अकेले भूरिश्रवा पर बाण-वृष्टि आरम्भ की।

सोमदत्तिस्ततः क्रुद्धस्तेषां चापानि भारत।
चिच्छेद समरे राजन् युध्यमानो महारथैः ॥४०॥

भरतकुलभूषण! उस समय क्रोध में भरे हुए भूरिश्रवा ने उन महारथियों के साथ युद्ध करते हुए रणभूमि में उनके धनुष काट डाले।

अथैषां छिन्नधनुषां शरैः सन्नतपर्वभिः।
चिच्छेद समरे राजञ्शिरांसि भरतर्षभ ॥४१॥

भरतश्रेष्ठ! इनके धनुष कट जाने पर झुकी हुई गाँठवाले बाणों से भूरिश्रवा ने उनके मस्तक भी समरभूमि में काट गिराये।

तान्दृष्ट्वा निहतान्वीरो रणे पुत्रान्महाबलान्।
वार्ष्णेयो विनदन् राजन् भूरिश्रवसमभ्ययात् ॥४२॥

अपने उन महाबली पुत्रों को संग्राम में मारे गये देख वीरवर सात्यकि ने गर्जना करते हुए वहाँ भूरिश्रवा पर आक्रमण किया।

तावन्योन्यं हि समरे निहत्य रथवाजिनः।
विरथावभिवल्गन्तौ समेयातां महारथौ ॥४३॥

उन दोनों ने आपस में एक-दूसरे के रथ और घोड़ों को नष्ट कर दिया। इस प्रकार रथहीन हुए दोनों महारथी उछलते-कूदते हुए एक-दूसरे का सामना करने लगे।

प्रगृहीतमहाखड्गौ तौ चर्मवरधारिणौ।
शुशुभाते नरव्याघ्रौ युद्धाय समवस्थितौ ॥४४॥

वे दोनों पुरुषसिंह हाथों में बड़ी-बड़ी तलवारें तथा सुन्दर ढालें लिये हुए युद्ध के लिए उद्यत होकर बड़ी शोभा पा रहे थे।

ततः सात्यकिमभ्येत्य निस्त्रिंशवरधारिणम्।
भीमसेनस्त्वरन् राजन् रथमारोपयत् तदा ॥४५॥

राजन्! तदनन्तर उत्तम खड्ग धारण करनेवाले सात्यकि के पास पहुँचकर भीमसेन ने उस समय तुरन्त उन्हें अपने रथ पर चढ़ा लिया।

तवापि तनयो राजन् भूरिश्रवसमाहवे।
आरोपयद् रथं तूर्णं पश्यतां सर्वधन्विनाम् ॥४६॥

महाराज! इसी प्रकार आपके पुत्र दुर्योधन ने भी युद्धस्थल में समस्त धनुर्धरों के देखते-देखते भूरिश्रवा को तुरन्त अपने रथ पर बिठा लिया।

तस्मिंस्तथा वर्तमाने रणे भीष्मं महारथम्।
अयोधयन्त संरब्धाः पाण्डवा भरतर्षभ ॥४७॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय क्रोध में भरे हुए पाण्डव उस युद्ध में महारथी भीष्म के साथ युद्ध करने लगे।

लोहितायति चादित्ये त्वरमाणो धनञ्जयः।
पञ्चविंशति साहस्रान् निजघान महारथान् ॥४८॥

जिस समय सूर्य अस्ताचल के समीप पहुँचकर लाल होने लगे, उस समय अर्जुन ने बड़ी शीघ्रता के साथ बाण-वर्षा करके पच्चीस सहस्र सैनिकों को मार डाला।

एतस्मिन्नेव काले तु सूर्येऽस्तमुपगच्छति।
सर्वेषां चैव सैन्यानां प्रमोहः समजायत ॥४९॥

इसी समय सूर्य अस्ताचल को चले गये। तब आपके समस्त सैनिकों पर मोह छा गया।

अवहारं ततश्चक्रे पिता देवव्रतस्तव।
सन्ध्याकाले महाराज सैन्यानां श्रान्तवाहनः ॥५०॥

महाराज! तब आपके ताऊ देवव्रत ने सन्ध्या के समय अपनी सेनाओं को पीछे हटा लिया। उनके वाहन बहुत थक गये थे।

ततः स्वशिबिरं गत्वा न्यविशंस्तत्र भारत।
पाण्डवाः सृञ्जयैः सार्धं कुरवश्च यथाविधि ॥५१॥

हे भारत! तत्पश्चात् सृञ्जयोंसहित पाण्डव और कौरव अपने-अपने शिविर में जाकर वहाँ विधिपूर्वक विश्राम करने लगे।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

छठे दिन के युद्ध का आरम्भ, पाण्डव तथा कौरवों का मकर एवं क्रौञ्च व्यूह बनाकर युद्ध में प्रवृत्त होना; भीमसेन, धृष्टद्युम्न तथा द्रोणाचार्य का पराक्रम

सञ्जय उवाच

ते विश्रम्य ततो राजन् सहिताः कुरुपाण्डवाः ।
व्यतीतायां तु शर्वर्यां पुनर्युद्धाय निर्ययुः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! रात्रि में विश्राम करने के पश्चात् जब वह रात बीती और प्रभात हुआ, तब कौरव और पाण्डव पुनः युद्ध के लिए साथ-साथ निकले।

ततो युधिष्ठिरो राजा धृष्टद्युम्नमभाषत ।
व्यूहं व्यूह महाबाहो मकरं शत्रुनाशनम् ॥२॥

उस समय राजा युधिष्ठिर ने धृष्टद्युम्न से कहा—"महाबाहो! तुम शत्रुनाशक मकरव्यूह की रचना करो।"

एवमुक्तस्तु पार्थेन धृष्टद्युम्नो महारथः ।
व्यादिदेश महाराज रथिनो रथिनां वरः ॥३॥

महाराज! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर रथियों में श्रेष्ठ महारथी धृष्टद्युम्न ने अपने समस्त रथियों को मकरव्यूह बनाने के लिए आदेश दिया।

व्यूढं दृष्ट्वा तु तत् सैन्यं पिता देवव्रतस्तव ।
क्रौञ्चेन महता राजन् प्रत्यव्यूहत वाहिनीम् ॥४॥

राजन्! तब आपके ताऊ देवव्रत ने पाण्डवों का वह व्यूह देखकर उसके मुकाबिले में अपनी सेना को महान् क्रौञ्चव्यूह के रूप में संगठित किया।

भीमसेनार्जुनयमैर्गुप्ता चान्यैर्महारथैः ।
शुशुभे पाण्डवी सेना नक्षत्रैरिव शर्वरी ॥५॥

उधर भीमसेन, अर्जुन, नकुल-सहदेव तथा अन्य महारथियों से सुरक्षित हुई पाण्डव-सेना नक्षत्रों से रात्रि की भाँति सुशोभित हो रही थी।

तथा भीष्मकृपद्रोणशल्यदुर्योधनादिभिः ।
तवापि च बभौ सेना ग्रहैर्द्यौरिव संवृता ॥६॥

इसी प्रकार इधर भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य और दुर्योधन आदि से घिरी हुई आपकी सेना भी ग्रहों से आकाश की भाँति शोभा पा रही थी।

भीमसेनस्तु कौन्तेयो द्रोणं दृष्ट्वा पराक्रमी ।
अभ्ययाज्जवनैरश्वैर्भारद्वाजस्य वाहिनीम् ॥७॥

पराक्रमी कुन्तीकुमार भीमसेन ने द्रोणाचार्य को देखकर वेगशाली अश्वों द्वारा द्रोणाचार्य की सेना पर आक्रमण किया।

द्रोणस्तु समरे क्रुद्धो भीमं नवभिरायसैः ।
विव्याध समरश्लाघी मर्माण्युद्दिश्य वीर्यवान् ॥८॥

युद्ध की अभिलाषा रखनेवाले पराक्रमी द्रोणाचार्य ने रणभूमि में क्रुद्ध हो भीम के मर्मस्थानों को लोहे के नौ बाणों से घायल कर दिया।

दृढाहतस्ततो भीमो भारद्वाजस्य संयुगे ।
सारथिं प्रेषयामास यमस्य सदनं प्रति ॥९॥

युद्ध में द्रोणाचार्य के द्वारा अत्यन्त आहत होने पर भीमसेन ने उनके सारथि को यमलोक पठा दिया।

स संगृह्य स्वयं वाहान् भारद्वाजः प्रतापवान् ।
व्यधमत् पाण्डवीं सेनां तूलराशिमिवानलः ॥१०॥

तब प्रतापशाली द्रोणाचार्य स्वयं अपने घोड़ों की बागडोर सँभालते हुए पाण्डव-सेना का उसी प्रकार संहार करने लगे, जैसे अग्नि रूई के ढेर को भस्म-कर डालती है।

ते वध्यमाना द्रोणेन भीष्मेण च नरोत्तमाः ।
सृञ्जयाः केकयैः सार्धं पलायनपराऽभवन् ॥११॥

वे नरश्रेष्ठ सृञ्जय और केकय द्रोणाचार्य और भीष्म की मार खाकर युद्धभूमि से भागने लगे।

तथैव तावकं सैन्यं भीमार्जुनपरिक्षतम् ।
मुह्यते तत्र तत्रैव समदेव वराङ्गना ॥१२॥

इसी प्रकार भीम और अर्जुन के बाणों से क्षत-विक्षत हुई आपकी सेना भी मतवाली स्त्री की भाँति जहाँ-तहाँ मूर्च्छित होने लगी।

धृतराष्ट्र उवाच

एवं बहुगुणं सैन्यमेवं बहुविधं पुरा ।
व्यूढमेवं यथाशास्त्रममोघं चैव सञ्जय ॥१३॥

धृतराष्ट्र बोले—सञ्जय ! हमारी सेना अनेक गुणों से सम्पन्न है । वह अनेक अङ्गों से युक्त और अनेक प्रकार से संगठित है तथा शास्त्रीय विधि से उसकी व्यूहरचना की गई है, अतः वह अमोघ [विजय पाने में विफल न होनेवाली] है ।

हृष्टमस्माकमत्यन्तमभिकामं च नः सदा ।
प्रह्वमव्यसनोपेतं पुरस्ताद् दृष्टविक्रमम् ॥१४॥

हमारी यह सेना हम लोगों पर सदा प्रसन्न और अनुरक्त रहनेवाली है । यह हमारे प्रति सदा विनीत भाव रखती आई है । यह किसी भी व्यसन में नहीं फँसी है । पूर्वकाल में इसका पराक्रम देखा जा चुका है ।

नातिवृद्धमबालं च न कृशं न च पीवरम् ।
लघुवृत्तायतप्रायं सारयोधमनामयम् ॥१५॥

इसमें न कोई अत्यन्त वृद्ध है, न बालक है, न अत्यन्त दुबला है और न अत्यन्त मोटा ही है । इसमें शीघ्र कार्य करनेवाले, प्रायः ऊँचे कद के लोग हैं । इस सेना का प्रत्येक सैनिक सारवान् योद्धा और नीरोग है ।

द्रोणभीष्माभिसंगुप्तं गुप्तं च कृतवर्मणा ।
कृपदुःशासनाभ्यां च जयद्रथमुखैस्तथा ॥१६॥

यह सेना द्रोणाचार्य, भीष्म, कृतवर्मा, कृपाचार्य, दुःशासन और जयद्रथ आदि प्रमुख वीरों के द्वारा सुरक्षित रहती है ।

ईदृशोऽपि बलौघस्तु संयुक्तः शस्त्रसम्पदा ।
वध्यते यत्र संग्रामे किमन्यद् भागधेयतः ॥१७॥

इतना बड़ा सैन्यसमुदाय शस्त्रसम्पत्ति से युक्त होने पर भी यदि संग्राम में नष्ट हो रहा है तो इसमें भाग्य के सिवा और क्या कारण हो सकता है ?

सञ्जय उवाच

आत्मदोषात्त्वया राजन्प्राप्तं व्यसनमीदृशम् ।
तव दोषात् पुरा वृत्तं द्यूतमेव विशाम्पते ॥१८॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! आपने अपने ही दोष से यह संकट प्राप्त किया है । प्रजानाथ ! पहले आपके ही अपराध से द्यूतक्रीड़ा की घटना घटी थी ।

तव दोषेण युद्धं च प्रवृत्तं सह पाण्डवैः ।
त्वमेवाद्य फलं भुङ्क्ष्व कृत्वा किल्बिषमात्मना ॥१९॥

आपके ही दोष से आज पाण्डवों के साथ युद्ध आरम्भ हुआ है । आपने स्वयं ही जो पाप किया है, उसका फल आज आप स्वयं ही भोग रहे हैं ।

आत्मनैव कृतं कर्म आत्मनैवोपभुज्यते । □
इह च प्रेत्य वा राजंस्त्वया प्राप्तं यथातथम् ॥२०॥

राजन् ! इहलोक अथवा परलोक में अपने किये हुए कर्म का फल अपने-आपको ही भोगना पड़ता है, अतः आपको जैसे-का-तैसा प्राप्त हुआ है ।

तस्माद्राजन् स्थिरो भूत्वा प्राप्येदं व्यसनं महत् ।
शृणु युद्धं यथावृत्तं शंसतो मे नराधिप ॥२१॥

राजन् ! नरेश्वर ! इस महान् संकट को पाकर भी स्थिरतापूर्वक युद्ध का यथावत् वृत्तान्त जैसा मैं बता रहा हूं, सुनिए ।

भीमसेनः सुनिशितैर्बाणैर्भित्वा महाचमूम् ।
आससाद ततो वीरः सर्वान् दुर्योधनानुजान् ॥२२॥

वीर भीमसेन ने तीखे बाणों से आपकी विशाल सेना को विदीर्ण करके दुर्योधन के सभी भाइयों पर आक्रमण किया ।

दुःशासनं दुर्विषहं दुःसहं दुर्मदं जयम् ।
एतांश्चान्यांश्च सुबहून् समीपस्थान्महारथान् ॥२३॥
धार्तराष्ट्रान् सुसंक्रुद्धान् दृष्ट्वा भीमो महारथः ।
भीष्मेण समरे गुप्तां प्रविवेश महाचमूम् ॥२४॥

दुःशासन, दुर्विषह, दुःसह, दुर्मद, जय—ये तथा और भी बहुत-से आपके जो महारथी पुत्र समीप खड़े थे, उन्हें कुपित देखकर महारथी भीमसेन ने रणभूमि में भीष्म के द्वारा सुरक्षित विशाल कौरव-सेना में प्रवेश किया ।

अथालोक्य प्रविष्टं तमूचुस्ते सर्व एव तु ।
जीवग्राहं निगृह्णीमो वयमेनं नराधिपाः ॥२५॥

भीमसेन को सेना में प्रविष्ट हुआ देख उन सब नरेशों ने आपस में कहा कि हम लोग इन्हें जीवित ही पकड़कर बन्दी बना लें ।

तेषां व्यवसितं ज्ञात्वा भीमसेनो जिघृक्षताम् ।
समस्तानां वधे राजन् मतिं चक्रे महामनाः ॥२६॥

राजन् ! उन्हें कैद करने की इच्छावाले क्षत्रियों के इस निश्चय को जानकर महामना भीम ने उन सबके वध का विचार किया ।

ततो रथं समुत्सृज्य गदामादाय पाण्डवः ।
जघान धार्तराष्ट्राणां तं बलौघं महार्णवम् ॥२७॥

तब तो पाण्डुनन्दन भीमसेन, उस रथ को छोड़ और हाथ में गदा लेकर तथा उस विशाल सेना में घुसकर, उस महासागर के समान सैन्यसमुदाय को नष्ट करने लगे ।

भीमसेने प्रविष्टे तु धृष्टद्युम्नोऽपि पार्षतः ।
द्रोणमुत्सृज्य तरसा प्रययौ यत्र सौबलः ॥२८॥

भीमसेन के कौरवसेना में प्रवेश करने पर द्रुपद-कुमार धृष्टद्युम्न भी द्रोणाचार्य को छोड़कर, अति वेग से उस स्थान पर गये, जहाँ शकुनि युद्ध कर रहा था ।

निवार्य महतीं सेनां तावकानां नरर्षभः ।
आससाद रथं शून्यं भीमसेनस्य संयुगे ॥२९॥

वहाँ आपकी विशाल सेना को आगे बढ़ने से रोककर नरश्रेष्ठ धृष्टद्युम्न रणभूमि में भीमसेन के सूने रथ के पास जा पहुँचे ।

दृष्ट्वा विशोकं समरे भीमसेनस्य सारथिम् ।
धृष्टद्युम्नो महाराज दुर्मना गतचेतनः ॥३०॥

महाराज ! भीमसेन के सारथि विशोक को रण-क्षेत्र में अकेला खड़ा देख धृष्टद्युम्न मन-ही-मन बहुत दुःखी और अचेत हो गये ।

अपृच्छद् बाष्पसंरुद्धो निःश्वसन् वाचमीरयन् ।
मम प्राणैः प्रियतमः क्व भीम इति दुःखितः ॥३१॥

वे दीर्घ श्वास छोड़ते और आँसू बहाते हुए गद्-गद्कण्ठ से पूछने लगे—"विशोक ! मेरे प्राणों से प्रिय भीम कहाँ है ?" इतना कहते-कहते वे अत्यन्त दुःखी हो गये ।

विशोकस्तमुवाचेदं धृष्टद्युम्नं कृताञ्जलिः ।
संस्थाप्य मामिह बली पाण्डवो हि पराक्रमी ॥३२॥
प्रविष्टो धार्तराष्ट्राणामेतद् बलमहार्णवम् ।
मामुक्त्वा पुरुषव्याघ्रः प्रीतियुक्तमिदं वचः ॥३३॥
प्रतिपालय मां सूत नियम्याश्वान् मुहूर्तकम् ।
यावदेतान् निहन्म्यद्य य इमे मद्वधोद्यताः ॥३४॥

तब विशोक ने हाथ जोड़कर धृष्टद्युम्न से कहा —"प्रभो ! पराक्रमी और बलवान् पाण्डुनन्दन मुझे यहीं खड़ा करके कौरवों के इस सैन्य-समुद्र में घुस गये हैं । जाते समय पुरुषसिंह भीमसेन ने मुझसे प्रीति-पूर्वक यह बात कही कि सूत ! तुम दो घड़ी तक इन घोड़ों को रोककर यहीं मेरी प्रतीक्षा करो, जबतक कि जो लोग मेरा वध करने के लिए उद्यत हैं, मैं इन्हें मार न डालूँ ।"

विशोकस्य वचः श्रुत्वा धृष्टद्युम्नोऽथ पार्षतः ।
प्रत्युवाच ततः सूतं रणमध्ये महाबलः ॥३५॥

विशोक की यह बात सुनकर महाबली द्रुपद-कुमार धृष्टद्युम्न ने उस रणभूमि में उसके सारथि से यह वचन कहा—

अस्वस्ति तस्य कुर्वन्ति देवाः शक्रपुरोगमाः ।
यः सहायान् परित्यज्य स्वस्तिमानाव्रजेद् गृहम् ॥३६॥

"जो अपने सहायकों को छोड़कर स्वयं कुशल-पूर्वक घर को लौट जाता है, इन्द्र आदि देवता उसका अनिष्ट करते हैं ।

मम भीमः सखा चैव सम्बन्धी च महाबलः ।
भक्तोऽस्मान् भक्तिमाँश्चाहं तमप्यरिनिषूदनम् ॥३७॥

"महाबली भीम मेरे मित्र और सम्बन्धी हैं । वे हम लोगों के भक्त हैं और मैं भी उन शत्रु-संहारक भीम का भक्त हूँ ।

सोऽहं तत्र गमिष्यामि यत्र यातो वृकोदरः ।
निघ्नन्तं मां रिपून् पश्य दानवानिव वासवम् ॥३८॥

"अतः मैं भी वहीं जाऊँगा जहाँ भीमसेन गये हैं । जैसे इन्द्र दानवों का संहार करते हैं, उसी प्रकार मुझे भी शत्रुसेना का विनाश करते हुए देखना ।"

एवमुक्त्वा ततो वीरो ययौ मध्येन भारत ।
भीमसेनस्य मार्गेषु गदाप्रमथितैर्गजैः ॥३९॥

हे भारत ! ऐसा कहकर वीरवर धृष्टद्युम्न भीमसेन के बनाये हुए मार्गों से कौरव-सेना के भीतर गये । उन मार्गों पर गदा के मारे हुए हाथी पड़े थे ।

स ददर्श तदा भीमं दहन्तं रिपुवाहिनीम् ।
वातो वृक्षानिव बलात् प्रभञ्जन्तं रणे रिपून् ॥४०॥

तब कुछ दूर जाकर धृष्टद्युम्न ने शत्रुसेना को दग्ध करते हुए भीमसेन को देखा । जैसे आँधी वृक्षों को बलपूर्वक उखाड़ फेंकती है, वैसे ही भीमसेन भी रणभूमि में शत्रुओं का संहार कर रहे थे ।

सैन्येन घोरेण सुसंगतेन
दृष्ट्वा बली पार्षतो भीमसेनम् ।
अथोपगच्छच्छरविक्षताङ्गं-
पदातिनं क्रोधविषं वमन्तम् ॥४१॥

अत्यन्त संगठित हुई भयंकर सेना ने भीमसेन पर आक्रमण किया है, यह देख धृष्टद्युम्न उनके पास गये। उस समय उन-[भीम]-का प्रत्येक अङ्ग वाणों से क्षत-विक्षत हो रहा था। वे पैदल थे और क्रोधरूपी विष उगल रहे थे।

विशल्यमेनं च चकार तूर्ण-
मारोपयच्चात्मरथे महात्मा।
भृशं परिष्वज्य च भीमसेन-
माश्वासयामास स शत्रुमध्ये ॥४२॥

महामना धृष्टद्युम्न ने तुरन्त ही उन्हें अपने रथ पर बिठा लिया और उनके शरीर में घुसे हुए वाणों को निकाल दिया। उन्होंने शत्रुओं के बीच में ही भीमसेन को हृदय से लगाकर उन्हें पूर्णतः सान्त्वना प्रदान की।

अयं दुरात्मा द्रुपदस्य पुत्रः
समागतो भीमसेनेन सार्धम् ।
तं याम सर्वे महता बलेन
भ्रातॄनुवाचाथ तवापि पुत्रः ॥४३॥

उधर आपका पुत्र दुर्योधन अपने भाइयों से बोला—"यह दुरात्मा द्रुपदपुत्र आकर भीमसेन से मिल गया है। आओ, हम सब लोग विशाल सेना के साथ इसपर आक्रमण करें।"

श्रुत्वा तु वाक्यं तममृष्यमाणा
ज्येष्ठाज्ञया नोदिता धार्तराष्ट्राः।
वधाय निष्पेतुरुदायुधास्ते
युगक्षये केतवो यद्वदुग्राः ॥४४॥

दुर्योधन का यह कथन सुनकर आपके सभी वीर पुत्र, जो धृष्टद्युम्न का आगमन नहीं सह सके थे, बड़े भाई की आज्ञा से प्रेरित हो प्रलयकाल के भयंकर केतुओं की भाँति हाथ में आयुध लिये धृष्टद्युम्न के वध के लिए उनपर टूट पड़े।

शरैरवर्षन् द्रुपदस्य पुत्रं
यथाम्बुदा भूधरं वारिजालैः।
निहत्य तांश्चापि शरैः सुतीक्ष्णैर्-
न विव्यथे समरे चित्रयोधी ॥४५॥

जैसे मेघ पर्वत पर जल की बूँदें बरसाते हैं, उसी प्रकार वे द्रुपदपुत्र पर वाणों की वृष्टि करने लगे, परन्तु विचित्र रीति से युद्ध करनेवाले धृष्टद्युम्न उस रणक्षेत्र में अपने तीखे वाणों द्वारा उन सबको अत्यन्त घायल करके स्वयं तनिक भी व्यथित नहीं हुए।

समभ्युदीर्णांश्च तवात्मजांस्तथा
निशम्य वीरानभितः स्थितान् रणे।
जिघांसुरुग्रं द्रुपदात्मजो युवा
प्रमोहनास्त्रं युयुजे महारथः ॥४६॥

युद्ध में सामने खड़े हुए आपके वीर पुत्रों को आगे बढ़ते देख नवयुवक महारथी द्रुपदकुमार ने उनके वध के लिए भयंकर प्रमोहनास्त्र का प्रयोग किया।

क्रुद्धो भृशं तव पुत्रेषु राजन्
दैत्येषु यद्वत् समरे महेन्द्रः।
ततो व्यमुह्यन्त रणे नृवीराः
प्रमोहनास्त्राहतबुद्धिसत्त्वाः ॥४७॥

राजन्! जैसे युद्ध में देवराज इन्द्र दैत्यों पर क्रुद्ध होते हैं, उसी प्रकार आपके पुत्रों पर धृष्टद्युम्न का कोप बहुत बढ़ा हुआ था। उसके मोहनास्त्र के प्रयोग से अपनी चेतना और धैर्य खोकर आपके नर-वीर पुत्र रणक्षेत्र में मोहित हो गये।

प्रदुद्रुवुः कुरवश्चैव सर्वे
सवाजिनागाः सरथाः समन्तात्।
परीतकालानिव नष्टसंज्ञान्
मोहोपेतांस्तव पुत्रान् निशम्य ॥४८॥

आपके पुत्रों को मोह से युक्त एवं मरे हुओं के समान अचेत हुआ देख समस्त कौरव-सैनिक हाथी, घोड़े और रथोंसहित सब ओर भाग चले।

अथ शुश्राव तेजस्वी द्रोणः शस्त्रभृतां वरः।
रणे प्रमोहनास्त्रेण मोहितानात्मजांस्तव ॥४९॥

उधर शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ तेजस्वी द्रोणाचार्य ने सुना कि आपके पुत्र युद्धभूमि में प्रमोहनास्त्र से मोहित होकर भूमि पर पड़े हैं।

ततो द्रोणो महाराज त्वरितोऽभ्याययौ रणात् ।
मोहाविष्टांश्च ते पुत्रानपश्यत् स महारथः ॥५०॥

महाराज ! यह सुनते ही द्रोणाचार्य तुरन्त उस युद्धस्थल से चलकर वहाँ आ पहुँचे । वहाँ आकर उस महारथी ने देखा कि आपके पुत्र मोहाविष्ट होकर पड़े हुए हैं ।

ततः प्रज्ञास्त्रमादाय मोहनास्त्रं व्यनाशयत् ।
अथ प्रत्यागतप्राणास्तव पुत्रा महारथाः ॥५१॥

तब उन्होंने प्रज्ञास्त्र लेकर उसके द्वारा मोहनास्त्र का नाश कर दिया । इससे आपके महारथी पुत्रों में पुनः चेतना लौट आई ।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

उभयपक्ष की सेनाओं का संकुल युद्ध, भीमसेन द्वारा दुर्योधन की पराजय तथा छठे दिन के युद्ध की समाप्ति

सञ्जय उवाच

अपराह्णे महाराज प्रावर्तत महारणः ।
तावकानां च बलिनां परेषां चैव भारत ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! भरतनन्दन ! अपराह्णकाल में आपके और पाण्डवपक्ष के अत्यन्त बलवान् योद्धाओं में बड़ा भारी युद्ध आरम्भ हुआ ।

अभिमन्युर्विकर्णस्य हयान् हत्वा महाहवे ।
अथैनं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ॥२॥

अभिमन्यु ने उस युद्ध में विकर्ण के घोड़ों को मारकर स्वयं विकर्ण को भी पच्चीस बाणों से घायल कर दिया ।

दुःशासनस्तु समरे केकयान् पञ्च मारिष ।
योधयामास राजेन्द्र तदद्भुतमिवाभवत् ॥३॥

आर्य ! राजेन्द्र ! दुःशासन ने अकेले ही रणभूमि में पाँच केकय-राजकुमारों के साथ युद्ध किया । वह एक अद्भुत-सी बात हुई ।

द्रौपदेया रणे क्रुद्धा दुर्योधनमवारयन् ।
शरैराशीविषाकारैः पुत्रं तव विशाम्पते ॥४॥

प्रजेश्वर ! युद्ध में कुपित हुए द्रौपदी के पाँचों पुत्रों ने विषधर सर्प के समान आकारवाले भयंकर बाणों द्वारा आपके पुत्र दुर्योधन को आगे बढ़ने से रोक दिया ।

पुत्रोऽपि तव दुर्धर्षो द्रौपद्यास्तनयान् रणे ।
सायकैर्निशितै राजन्नाजघान पृथक् पृथक् ॥५॥

राजन् ! तब आपके दुर्धर्ष पुत्र ने भी तीखे सायकों द्वारा युद्धभूमि में द्रौपदी के पाचों पुत्रों पर पृथक्-पृथक् प्रहार किया ।

भीष्मोऽपि समरे राजन् पाण्डवानामनीकिनीम् ।
कालयामास बलवान् पालः पशुगणानिव ॥६॥

राजन् ! बलवान् भीष्मजी भी रणभूमि में पाण्डवसेना को उसी प्रकार खदेड़ने लगे, जैसे चरवाहा पशुओं को हाँकता है ।

ततो गाण्डीवनिर्घोषः प्रादुरासीद् विशाम्पते ।
दक्षिणेन वरूथिन्याः पार्थस्यारीन् विनिघ्नतः ॥७॥

प्रजानाथ ! उधर शत्रुओं का संहार करते हुए अर्जुन के गाण्डीव धनुष का घोष सेना के दक्षिण भाग से प्रकट हुआ ।

उत्तस्थुः समरे तत्र कबन्धानि समन्ततः ।
कुरूणां चैव सैन्येषु पाण्डवानां च भारत ॥८॥

हे भारत ! वहाँ रणभूमि में कौरवों और पाण्डवों की सेनाओं में चारों ओर कबन्ध उठने लगे ।

छिन्नहस्ता विकवचा विदेहाश्च नरोत्तमाः ।
दृश्यन्ते पतितास्तत्र शतशोऽथ सहस्रशः ॥९॥

वहाँ सैकड़ों और हजारों नरश्रेष्ठ भूमि पर पड़े दिखाई देते थे । उनमें से कितनों के हाथ कट गये थे, कितने ही कवचरहित हो गये थे और बहुतों के शरीर छिन्न-भिन्न हो गये थे ।

एवं युयुधिरे वीराः प्रार्थयाना महद् यशः ।
तावकाः पाण्डवैः सार्धमाकाङ्क्षन्तो जयं युधि ॥१०॥

इस प्रकार महान् यश की अभिलाषा रखते हुए

तथा युद्ध में विजय चाहते हुए आपके वीर सैनिक पाण्डवों के साथ युद्ध कर रहे थे।

ततो दुर्योधनो राजा लोहितायति भास्करे।
संग्रामरभसो भीमं हन्तुकामोऽभ्यधावत ॥११॥

जब सूर्यदेव पर सन्ध्या की लाली छाने लगी, उस समय युद्ध के लिए उत्साह रखनेवाले राजा दुर्योधन ने भीमसेन को मार डालने की इच्छा से उन पर आक्रमण किया।

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य नृवीरं दृढवैरिणम्।
भीमसेनः सुसंक्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥१२॥

अपने पक्के वैरी नरवीर दुर्योधन को आते देख भीमसेन का क्रोध बहुत बढ़ गया और वे उससे ये वचन बोले—

भीम उवाच

अयं स कालः सम्प्राप्तो वर्षपूगाभिवाञ्छितः।
अद्य त्वां निहनिष्यामि यदि नोत्सृजसे रणम् ॥१३॥

भीम बोले—दुर्योधन ! मैं बहुत वर्षों से जिसकी अभिलाषा और प्रतीक्षा कर रहा था, आज वही अवसर मुझे प्राप्त हुआ है। यदि तू युद्ध छोड़कर भाग नहीं जाएगा, तो आज मैं तुझे अवश्य मार डालूंगा।

अद्य कुन्त्याः परिक्लेशं वनवासं च कृत्स्नशः।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं प्रणेष्यामि हते त्वयि ॥१४॥

माता कुन्ती को जो कष्ट भोगना पड़ा है, हमने वनवास का जो क्लेश उठाया है और सभा में द्रौपदी को जो अपमान सहना पड़ा था, आज तुझे मारकर मैं उन सबका बदला चुका लूंगा।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा धनुर्घोरं विकृष्योद्भ्राम्य चासकृत्।
समाधत्त शरान् घोरान् महाशनिसमप्रभान् ॥१५॥

सञ्जय कहते हैं—ऐसा कहकर भीम ने अपने भयंकर धनुष को बारम्बार घुमाकर उसे बलपूर्वक खींचा और वज्र के समान तेजस्वी भयंकर बाणों को उसपर चढ़ाया।

षड्विंशतिमथ क्रुद्धो मुमोचाशु सुयोधने।
ज्वलिताग्निशिखाकारान् वज्रकल्पानजिह्मगान् ॥१६॥

भीमसेन ने शीघ्रतापूर्वक सीधे जानेवाले, वज्र तथा प्रज्वलित अग्नि की लपटों के समान प्रतीत होनेवाले छब्बीस बाण दुर्योधन के ऊपर छोड़े।

ततोऽस्य कार्मुकं द्वाभ्यां सूतं द्वाभ्यां च विव्यधे।
चतुर्भिरश्वाञ्जवनाननयद् यमसादनम् ॥१७॥

तत्पश्चात् भीमसेन ने दो बाणों से दुर्योधन का धनुष काट दिया, दो बाणों से उसके सारथि को व्यथा पहुँचाई और चार बाणों से उसके वेगशाली घोड़ों को यमलोक पठा दिया।

अथैनं दशभिर्बाणैस्तोत्त्रैरिव महाद्विपम्।
आजघान रणे वीरं स्मयन्निव महारथः ॥१८॥

फिर महारथी भीम ने मुस्कराते हुए-से रणभूमि में वीरवर दुर्योधन को दस बाणों से उसी प्रकार घायल किया, जैसे महावत अंकुशों से महान् गजराज को पीड़ित करता है।

स गाढविद्धो व्यथितो भीमसेनेन संयुगे।
निषसाद रथोपस्थे राजन् दुर्योधनस्तदा ॥१९॥

राजन् ! भीमसेन ने उस युद्ध में दुर्योधन को बहुत घायल कर दिया था, अतः उस समय वह व्यथा से व्याकुल होकर रथ के पिछले भाग में जा बैठा।

परिवार्य ततो भीमं जेतुकामो जयद्रथः।
रथैरनेकसाहस्त्रैर्भीमस्यावारयद् दिशः ॥२०॥

तब जयद्रथ ने भीमसेन को जीतने की इच्छा रखकर अनेक रथों द्वारा उन्हें घेर लिया और उनकी सम्पूर्ण दिशाओं को अवरुद्ध कर दिया।

धृष्टकेतुस्ततो राजन्नभिमन्युश्च वीर्यवान्।
केकया द्रौपदेयाश्च तव पुत्रानयोधयन् ॥२१॥

राजन् ! उसी समय धृष्टकेतु, पराक्रमी अभिमन्यु, पाँच केकयकुमार तथा द्रौपदी के पाँचों पुत्र आपके पुत्रों के साथ युद्ध करने लगे।

तेषां सुतुमुलं युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम्।
अवर्तत महारौद्रं निघ्नतामितरेतरम् ॥२२॥

फिर तो एक-दूसरे पर घातक प्रहार करते हुए उन सभी महारथियों में भयंकर तुमुल युद्ध होने लगा। रथों से रथ और हाथियों से हाथी भिड़ गये।

ततः शान्तनवः क्रुद्धः शरैः संनतपर्वभिः।
नाशयामास सेनां तां भीष्मस्तेषां महात्मनाम् ॥२३॥

उधर शान्तनुनन्दन भीष्म ने कुपित होकर झुकी

हुई गाँठवाले बाणों द्वारा उन महामना वीरों की सेना का नाश कर डाला ।

एवं भित्त्वा महेष्वासः पाण्डवानामनीकिनीम् ।
कृत्वावहारं सैन्यानां ययौ स्वशिबिरं नृप ॥२४॥

राजन् ! महाधनुर्धर भीष्म इस प्रकार पाण्डव-सेना का संहार करके अपनी समस्त सेनाओं को युद्ध से लौटाकर अपने शिविर को चले गये ।

धर्मराजोऽपि सम्प्रेक्ष्य धृष्टद्युम्नवृकोदरौ ।
मूर्ध्नि चैतावुपाघ्राय प्रहृष्टः शिबिरं ययौ ॥२५॥

धर्मराज युधिष्ठिर ने भी धृष्टद्युम्न और भीमसेन दोनों से मिलकर उनका मस्तक सूँघा और बड़े हर्ष के साथ अपने शिविर को प्रस्थान किया ।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

सातवें दिन का युद्ध—कौरव-पाण्डव सेनाओं का मण्डल और वज्रव्यूह बनाकर भीषण संघर्ष, द्रोणाचार्य और विराट, शिखण्डी और अश्वत्थामा का युद्ध, धृष्टद्युम्न के द्वारा दुर्योधन की पराजय, भीमसेन और कृतवर्मा का युद्ध

सञ्जय उवाच

ततः प्रभाते विमले स्वेन सैन्येन वीर्यवान् ।
मण्डलमकरोद्भीष्मः व्यूहं व्यूहविशारदः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—रात्रि व्यतीत होने पर निर्मल प्रभात की वेला में व्यूहविशारद भीष्म ने अपनी सेना के द्वारा स्वयं ही मण्डल नामक व्यूह का निर्माण किया ।

मण्डलं तु समालोक्य व्यूहं परमदुर्जयम् ।
स्वयं युधिष्ठिरो राजा वज्रं व्यूहमथाकरोत् ॥२॥

कौरवों के परम दुर्जय उस मण्डल-व्यूह को देखकर राजा युधिष्ठिर ने स्वयं अपनी सेना के लिए वज्रव्यूह का निर्माण किया ।

बिभित्सवस्ततो व्यूहं निर्ययुर्युद्धकांक्षिणः ।
इतरेतरतः शूराः ससैन्याः सुप्रहारिणः ॥३॥

व्यूह-निर्माण हो जाने पर प्रहार करने में कुशल सभी शूरवीर एक-दूसरे का व्यूह तोड़ने और परस्पर युद्ध करने की इच्छा से सेनासहित आगे बढ़े ।

भारद्वाजो ययौ मत्स्यं द्रौणिश्चापि शिखण्डिनम् ।
स्वयं दुर्योधनो राजा पार्षतं समुपाद्रवत् ॥४॥

द्रोणाचार्य ने विराट पर और अश्वत्थामा ने शिखण्डी पर आक्रमण किया । स्वयं राजा दुर्योधन ने द्रुपद पर चढ़ाई की ।

नकुलः सहदेवश्च मद्रराजं समीयतुः ।
विन्दानुविन्दावावन्त्याविरावन्तमभिद्रुतौ ॥५॥

नकुल और सहदेव ने अपने मामा मद्रराज शल्य पर धावा बोला । अवन्ती के विन्द और अनुविन्द ने इरावान् पर आक्रमण किया ।

प्राग्ज्योतिषो महेष्वासो हैडिम्बं राक्षसोत्तमम् ।
अभिदुद्राव वेगेन मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥६॥

महाधनुर्धर भगदत्त ने राक्षसप्रवर घटोत्कच पर बड़े वेग से आक्रमण किया मानो एक मतवाला हाथी दूसरे मतवाले हाथी पर टूट पड़ा हो ।

भूरिश्रवा रणे मत्तो धृष्टकेतुमयोधयत् ।
श्रुतायुषं च राजानं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥७॥

भूरिश्रवा ने मदमत्त होकर रणभूमि में धृष्टकेतु के साथ युद्ध छेड़ दिया । धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने राजा श्रुतायु पर धावा किया ।

ततो राजसमूहास्ते परिवव्रुर्धनञ्जयम् ।
शक्तितोमरनाराचगदापरिघपाणयः ॥८॥

उधर आपके सारे राजसमूहों ने मिलकर अर्जुन को चारों ओर से घेर लिया । उन सबके हाथों में शक्ति, तोमर, नाराच, गदा और परिघ आदि शोभा पा रहे थे ।

ततः क्रुद्धोऽर्जुनो राजन्नैन्द्रमस्त्रमुदैरयत् ।
तत्राद्भुतमपश्याम विजयस्य पराक्रमम् ॥९॥

राजन् ! तब अर्जुन ने कुपित होकर ऐन्द्रास्त्र का प्रयोग किया । उस समय हम लोगों ने अर्जुन का अद्भुत पराक्रम देखा ।

शस्त्रवृष्टिं परैर्मुक्तां शरौघैर्यदवारयत् ।
न च तत्राप्यनिर्भिन्नः कश्चिदासीद् विशाम्पते ॥१०॥

उन्होंने अपने बाणसमूह से शत्रुओं द्वारा की हुई बाणवर्षा को रोक दिया। महाराज ! उस समय वहाँ कोई भी योद्धा ऐसा नहीं रह गया था, जो उनके बाणों से क्षत-विक्षत न हो गया हो।

ते हन्यमानाः पार्थेन भीष्मं शान्तनवं ययुः ।
अगाधे मज्जमानानां भीष्मः पोतोऽभवत् तदा ॥११॥

अर्जुन की मार खाकर वे सबके सब शान्तनुनन्दन भीष्म की शरण में गये। उस समय अगाध विपत्ति-समुद्र में डूबते हुए सैनिकों के लिए भीष्म ही जहाज बन गये।

ततः प्रयातः सहसा भीष्मः शान्तनवोऽर्जुनम् ।
रणे भारतमायान्तमाससाद महाबलः ॥१२॥

तब शान्तनुनन्दन भीष्म रणभूमि में सहसा अर्जुन के सामने गये। भरतवंशी भीष्मजी को आते देख महाबली अर्जुन उनके पास जा पहुँचे।

भारद्वाजस्तु समरे मत्स्यं विव्याध पत्रिणा ।
ध्वजं चास्य शरेणाजौ धनुश्चैकेन चिच्छिदे ॥१३॥

दूसरी ओर द्रोणाचार्य ने मत्स्यराज विराट को रणभूमि में एक बाण से बींध डाला तथा एक बाण से उनका ध्वज तथा एक से धनुष काट डाला।

तदपास्य धनुश्छिन्नं विराटो वाहिनीपतिः ।
अन्यदादत्त वेगेन धनुर्भारसहं दृढम् ॥१४॥

तब सेनापति विराट ने उस कटे हुए धनुष को फेंककर शीघ्रतापूर्वक एक अन्य सुदृढ़ धनुष को हाथ में लिया, जो भार सहन करने में समर्थ था।

शरांश्चाशीविषाकाराञ्ज्वलितान् पन्नगानिव ।
द्रोणं त्रिभिश्च विव्याध चतुर्भिश्चास्य वाजिनः ॥१५

उन्होंने उसके द्वारा प्रज्वलित सर्पों की भाँति विषैले सर्पों की-सी आकृतिवाले बाण छोड़कर तीन से द्रोणाचार्य को और चार बाणों से उनके घोड़ों को बींध डाला।

तस्य द्रोणोऽवधीदश्वाञ्शरैः संनतपर्वभिः ।
अष्टाभिर्भरतश्रेष्ठ सूतमेकेन पत्रिणा ॥१६॥

भरतश्रेष्ठ ! तब द्रोण ने झुकी हुई गाँठवाले आठ बाणों द्वारा विराट के घोड़ों को तथा एक बाण से सारथि को मार डाला।

स हताश्वादवप्लुत्य स्यन्दनाद्धतसारथिः ।
आरुरोह रथं तूर्णं पुत्रस्य रथिनां वरः ॥१७॥

सारथि और घोड़ों के मारे जाने पर रथियों में श्रेष्ठ विराट अपने रथ से तुरन्त कूद पड़े और अपने पुत्र के रथ पर जा चढ़े।

ततस्तु तौ पितापुत्रौ भारद्वाजं रथे स्थितौ ।
महता शरवर्षेण वारयामासतुर्बलात् ॥१८॥

फिर तो उन दोनों पिता-पुत्रों ने एक ही रथ पर बैठकर महान् बाण-वृष्टि करके द्रोणाचार्य को बल-पूर्वक आगे बढ़ने से रोक दिया।

भारद्वाजस्ततः क्रुद्धः शरमाशीविषोपमम् ।
चिक्षेप समरे तूर्णं शंखं प्रति जनेश्वर ॥१९॥

नरेश्वर ! तब द्रोणाचार्य ने कुपित हो रणभूमि में विषधर सर्प के समान एक भयंकर बाण शीघ्रता-पूर्वक [विराट-पुत्र] शंख पर चलाया।

स तस्य हृदयं भित्त्वा पीत्वा शोणितमाहवे ।
जगाम धरणीं बाणो लोहितार्द्रवरच्छदः ॥२०॥

यह बाण शंख का हृदय विदीर्ण करके तथा रण-भूमि में उसका रक्तपान करके धरती में समा गया। उसके श्रेष्ठ पंख लोहू में भीगकर लाल हो रहे थे।

स पपात रणे तूर्णं भारद्वाजशराहतः ।
धनुस्त्यक्त्वा शरांश्चैव पितुरेव समीपतः ॥२१॥

द्रोणाचार्य के बाण से आहत होकर शंख पिता के समीप ही धनुष-बाण छोड़कर तुरन्त ही रणभूमि में गिर पड़ा।

हतं तमात्मजं दृष्ट्वा विराटः प्राद्रवद् भयात् ।
उत्सृज्य समरे द्रोणं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥२२॥

अपने पुत्र को मारा गया देख मुँह बाये हुए काल के समान भयंकर द्रोणाचार्य को रणभूमि में छोड़कर विराट भय के कारण भाग गये।

भारद्वाजस्ततस्तूर्णं पाण्डवानां महाचमूम् ।
दारयामास समरे शतशोऽथ सहस्रशः ॥२३॥

तब द्रोणाचार्य ने युद्धभूमि में तुरन्त ही पाण्डवों की विशाल सेना को विदीर्ण करना आरम्भ किया। सैकड़ों-सहस्रों योद्धा धराशायी हो गये।

शिखण्डी तु महाराज द्रौणिमासाद्य संयुगे ।
आजघान भ्रुवोर्मध्ये नाराचैस्त्रिभिराशुगैः ॥२४॥

राजेन्द्र ! दूसरी ओर शिखण्डी ने युद्धभूमि में अश्वत्थामा के पास पहुँचकर तीन शीघ्रगामी नाराच बाणों द्वारा उसके भौंहों के मध्यभाग में आघात किया ।

अश्वत्थामा ततः क्रुद्धो निमेषार्धाच्छिखण्डिनः ।
ध्वजं सूतमथो राजंस्तुरगानायुधानि च ॥२५॥
शरैर्बहुभिराच्छिद्य पातयामास संयुगे ।
स हताश्वादवप्लुत्य रथाद् वै रथिनां वरः ॥२६॥
खड्गमादाय सुशितं विमलं च शरावरम् ।
श्येनवद् व्यचरत् क्रुद्धः शिखण्डी शत्रुतापनः ॥२७॥

राजन् ! तब क्रोध में भरे हुए अश्वत्थामा ने आधे निमेष में ही बहुत-से बाणों द्वारा शिखण्डी के ध्वज, सारथि, घोड़ों और आयुधों को युद्धभूमि में काट गिराया । रथियों में श्रेष्ठ शत्रुसन्तापी शिखण्डी घोड़ों के मर जाने पर उस रथ से कूद पड़े और बहुत तीखी तथा चमकती तलवार एवं ढाल हाथ में लेकर कुपित हुए श्येन पक्षी की भाँति सब ओर विचरने लगे ।

सात्यकिश्चापि संक्रुद्धो राक्षसं क्रूरमाहवे ।
अलम्बुषं शरैस्तीक्ष्णैर्विव्याध बलिनां वरः ॥२८॥

इधर बलवानों में श्रेष्ठ सात्यकि ने भी अत्यन्त कुपित होकर अपने तीखे बाणों द्वारा संग्रामभूमि में क्रूर राक्षस अलम्बुष को बींध डाला ।

तत् तथा पीडितं तेन माधवेन यशस्विना ।
प्रदुद्राव भयाद् रक्षस्त्यक्त्वा सात्यकिमाहवे ॥२९॥

महायशस्वी मधुवंशी सात्यकि के द्वारा इस प्रकार पीड़ित होने पर वह राक्षस भय से व्याकुल हो उन्हें युद्धस्थल में छोड़कर भाग गया ।

न्यहनत् तावकांश्चापि सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
निशितैर्बहुभिर्बाणैस्तेऽद्रवन्त भयार्दिताः ॥३०॥

तब सत्यपराक्रमी सात्यकि ने अपने बहुसंख्यक तीखे बाणों द्वारा आपके अन्य योद्धाओं को भी मारना आरम्भ किया । उस समय उनके भय से पीड़ित हो वे सब भागने लगे ।

एतस्मिन्नेव काले तु द्रुपदस्यात्मजो बली ।
धृष्टद्युम्नो महाराज पुत्रं तव जनेश्वरम् ॥३१॥
छादयामास समरे शरैः संनतपर्वभिः ।
हयांश्च चतुरः शीघ्रं निजघान महाबलः ॥३२॥

महाराज ! इसी समय द्रुपद के बलवान् पुत्र धृष्टद्युम्न ने आपके पुत्र राजा दुर्योधन को युद्धभूमि में झुकी हुई गाँठवाले बाणों से आच्छादित कर दिया । फिर शीघ्रतापूर्वक उसके चारों घोड़ों को भी मार डाला ।

स हताश्वान्महाबाहुरवप्लुत्य रथाद् बली ।
पदातिरसिमुद्यम्य प्राद्रवत् पार्षतं प्रति ॥३३॥

घोड़ों के मारे जाने पर बलवान् महाबाहु दुर्योधन अपने रथ से कूद पड़ा और तलवार उठाकर धृष्टद्युम्न की ओर पैदल ही दौड़ा ।

शकुनिस्तं समभ्येत्य राजगृद्धी महाबलः ।
राजानं सर्वलोकस्य रथमारोपयत् स्वकम् ॥३४॥

उसी समय महाबली शकुनि ने जो राजा को बहुत चाहता था, निकट आकर सम्पूर्ण जगत् के अधिपति दुर्योधन को अपने रथ पर चढ़ा लिया ।

कृतवर्मा रणे भीमं शरैराच्छन्महारथः ।
तं च प्रच्छादयामास महामेघो रविं यथा ॥३५॥

महारथी कृतवर्मा ने युद्धभूमि में भीमसेन को अपने बाणों से बहुत पीड़ित किया और महामेघ जैसे सूर्य को ढक लेता है, वैसे ही उसने भीमसेन को बाणों से आच्छादित कर दिया ।

ततः प्रहस्य समरे भीमसेनः परन्तपः ।
प्रेषयामास संक्रुद्धः सायकान् कृतवर्मणे ॥३६॥

तब युद्ध में शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले भीमसेन ने हँसकर अत्यन्त क्रोधपूर्वक कृतवर्मा पर अनेक सायकों का प्रहार किया ।

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा भीमसेनो महारथः ।
सारथिं पातयामास सध्वजं सुपरिष्कृतम् ॥३७॥

फिर महारथी भीमसेन ने उनके चारों घोड़ों को मारकर ध्वजसहित सुसज्जित सारथि को भी काट गिराया ।

हताश्वश्च ततस्तूर्णं वृषकस्य रथं ययौ ।
श्यालस्य ते महाराज तव पुत्रस्य पश्यतः ॥३८॥

महाराज ! घोड़ों के मारे जाने पर कृतवर्मा आपके पुत्र के देखते-देखते तुरन्त ही आपके साले वृषक के रथ पर जा चढ़ा।

भीमसेनोऽपि संक्रुद्धस्तव सैन्यमुपाद्रवत् ।
निजघान च संक्रुद्धो दण्डपाणिरिवान्तकः ॥३६॥

इधर भीमसेन भी अत्यन्त कुपित होकर आपकी सेना पर टूट पड़े और दण्डपाणि यमराज की भाँति उसका संहार करने लगे।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

इरावान् द्वारा विन्द-अनुविन्द और भगदत्त द्वारा घटोत्कच की पराजय, अभिमन्यु द्वारा चित्रसेन का हारना, भीष्म और युधिष्ठिर का युद्ध तथा द्रोण का पराक्रम

धृतराष्ट्र उवाच

बहूनि हि विचित्राणि द्वैरथानि स्म सञ्जय ।
पाण्डूनां मामकैः सार्धमश्रौषं तव जल्पतः ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले—सञ्जय ! मैंने तुम्हारे मुख से अबतक पाण्डवों के मेरे पुत्रों के साथ जो बहुत-से विचित्र द्वैरथ युद्ध हुए हैं, उनका वर्णन सुना।

न चैव मामकं किञ्चिद्धृष्टं शंससि सञ्जय ।
नित्यं पाण्डुसुतान् हृष्टानभग्नान् सम्प्रशंससि ॥२॥

परन्तु सञ्जय ! तुमने अभी तक मेरे पक्ष में घटित हुई कोई हर्ष की बात नहीं कही है, उल्टे तुम पाण्डवों को प्रतिदिन हर्ष से पूर्ण और अपराजित बताते हो।

जीयमानान् विमनसो मामकान् विगतौजसः ।
ब्रवसि संयुगे सूत दिष्टमेतन्न संशयः ॥३॥

तुम सदा मेरे पुत्रों को तेज और बल से हीन, खिन्नचित्त और युद्ध में पराजित बताते हो। सूत ! यह सब प्रारब्ध का ही खेल है, इसमें संशय नहीं है।

सञ्जय उवाच

यथाशक्ति यथोत्साहं युद्धे चेष्टन्ति तावकाः ।
दर्शयानाः परं शक्त्या पौरुषं पुरुषर्षभ ॥४॥

सञ्जय कहते हैं—पुरुषश्रेष्ठ ! आपके पुत्र भी पूरी शक्ति से पुरुषार्थ दिखाते हुए अपने बल और उत्साह के अनुसार युद्ध में सफलता प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं।

गङ्गायाः सुरनद्या वै स्वादु भूत्वा यथोदकम् ।
महोदधेर्गुणाभ्यासाल्लवणत्वं निगच्छति ॥५॥
तथा तत् पौरुषं राजंस्तावकानां परन्तप ।
प्राप्य पाण्डुसुतान् वीरान् व्यर्थं भवति संयुगे ॥६॥

परन्तप ! नरेश ! जैसे देवनदी गङ्गा का जल स्वादिष्ट होकर भी महासागर के संयोग से उसके गुण का सम्मिश्रण हो जाने से खारा हो जाता है, उसी प्रकार आपके पुत्रों का पुरुषार्थ युद्ध में वीर पाण्डवों तक पहुँचकर व्यर्थ हो जाता है।

घटमानान् यथाशक्ति कुर्वाणान् कर्म दुष्करम् ।
न दोषेण कुरुश्रेष्ठ कौरवान् गन्तुमर्हसि ॥७॥

कुरुश्रेष्ठ ! कौरव यथाशक्ति प्रयत्न करते और दुष्कर कर्म कर दिखाते हैं, अतः आपको उनपर दोषारोपण नहीं करना चाहिए।

पूर्वाह्णे तु महाराज प्रावर्तत जनक्षयः ।
तं त्वमेकमना भूत्वा शृणु देवासुरोपमम् ॥८॥

महाराज ! उस दिन पूर्वाह्णकाल में बड़ा भारी जनसंहार हुआ था। आप एकाग्रचित्त होकर देवासुर-संग्राम के समान भयंकर उस युद्ध का वृत्तान्त सुनिए।

आवन्त्यौ तु महेष्वासौ महासेनौ महाबलौ ।
इरावन्तमभिप्रेक्ष्य समेयातां रणोत्कटौ ॥९॥

अवन्ती के महाबली, महाधनुर्धर और विशाल सेना से युक्त राजकुमार विन्द और अनुविन्द, जो युद्ध में उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं, अर्जुनपुत्र इरावान् को सामने देखकर उसी से भिड़ गये।

इरावांस्तु ततो राजन्ननुविन्दस्य सायकैः ।
चतुर्भिश्चतुरो वाहाननयद् यमसादनम् ॥१०॥

राजन् ! उस समय इरावान् ने अपने चार बाणों द्वारा अनुविन्द के चारों घोड़ों को यमलोक पठा दिया।

त्यक्त्वानुविन्दोऽथ रथं विन्दस्य रथमास्थितः।
धनुर्गृहीत्वा परमं भारसाधनमुत्तमम् ॥११॥

तब अनुविन्द अपने रथ को छोड़कर विन्द के रथ पर जा बैठा और भारवहन करने में समर्थ दूसरा परम उत्तम धनुष लेकर युद्ध के लिए डट गया।

तावेकस्थौ रणे वीरावावन्त्यौ रथिनां वरौ।
शरान् मुमुचतुस्तूर्णमिरावति महात्मनि ॥१२॥

रथियों में श्रेष्ठ वे दोनों अवन्ती के वीर रणभूमि में एक ही रथ पर बैठकर बड़ी शीघ्रता के साथ महामना इरावान् पर बाणों की वर्षा करने लगे।

इरावांस्तु रणे क्रुद्धो भ्रातरौ तौ महारथौ।
ववर्ष शरवर्षेण सारथिं चाप्यपातयत् ॥१३॥

तब इरावान् ने भी रणभूमि में क्रुद्ध होकर उन दोनों महारथी बन्धुओं पर बाणों की वर्षा आरम्भ कर दी और उनके सारथि को मार गिराया।

तस्मिंस्तु पतिते भूमौ गतसत्त्वे तु सारथौ।
रथः प्रदुद्राव दिशः समुद्भ्रान्तहयस्ततः ॥१४॥

सारथि के प्राणशून्य होकर पृथिवी पर गिर जाने के पश्चात् उस रथ के घोड़े घबराकर भागने लगे और इस प्रकार वह रथ समस्त दिशाओं में दौड़ने लगा।

तौ स जित्वा महाराज नागराजसुतासुतः।
पौरुषं ख्यापयंस्तूर्णं व्यधमत् तव वाहिनीम् ॥१५॥

महाराज! नागराज-कन्या उलूपी के पुत्र इरावान् ने विन्द और अनुविन्द को जीतकर अपने पुरुषार्थ का परिचय देते हुए तुरन्त ही आपकी सेना का संहार आरम्भ कर दिया।

हैडिम्बो राक्षसेन्द्रस्तु भगदत्तं समाद्रवत्।
शरैः प्रच्छादयामास मेरुं गिरिमिवाम्बुदः ॥१६॥

दूसरी ओर राक्षसराज घटोत्कच ने भगदत्त पर आक्रमण किया। उसने बाणों द्वारा उसे उसी प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे बादल मेरुपर्वत को ढक देता है।

ततः प्राग्ज्योतिषो राजा प्रहसन्निव भारत।
तस्याश्वांश्चतुरः संख्ये पातयामास सायकैः ॥१७॥

हे भारत! तब राजा प्राग्ज्योतिष=भगदत्त ने हँसते हुए-से उस युद्ध में अपने सायकों द्वारा घटोत्कच के चारों घोड़ों को मार गिराया।

स हताश्वे रथे तिष्ठन् राक्षसेन्द्रः प्रतापवान्।
शक्तिं चिक्षेप वेगेन प्राग्ज्योतिषगजं प्रति ॥१८॥

घोड़ों के मर जाने पर भी उसी रथ पर खड़े हुए प्रतापी राक्षसराज घटोत्कच ने भगदत्त के हाथी पर बड़े वेग से शक्ति का प्रहार किया।

तामापतन्तीं सहसा त्रिधा चिच्छेद भूपतिः।
शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा हैडिम्बः प्राद्रवद् भयात् ॥१९॥

उस शक्ति को सहसा अपनी ओर आते देख राजा भगदत्त ने उसके तीन टुकड़े कर डाले। अपनी शक्ति को नष्ट हुई देख हिडिम्बाकुमार घटोत्कच भय के मारे रणक्षेत्र से भाग खड़ा हुआ।

चित्रसेनो विकर्णश्च राजन् दुर्मर्षणस्तथा।
रथिनो हेमसंनाहाः सौभद्रमभिदुद्रुवुः ॥२०॥

राजन्! इसी समय चित्रसेन, विकर्ण तथा दुर्मर्षण—इन तीन रथियों ने सोने के कवच बाँधकर सुभद्राकुमार अभिमन्यु पर आक्रमण किया।

अभिमन्योस्ततस्तैस्तु घोरं युद्धमवर्तत।
शरीरस्य यथा राजन् वातपित्तकफैस्त्रिभिः ॥२१॥

नरेश्वर! तब उनके साथ अभिमन्यु का भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ, ठीक उसी प्रकार, जैसे शरीर का वात, पित्त और कफ—इन तीनों दोषों के साथ होता रहता है।

विरथांस्तव पुत्रांस्तु कृत्वा राजन् महाहवे।
न जघान नरव्याघ्रः स्मरन् भीमवचस्तदा ॥२२॥

राजन्! उस युद्ध में आपके पुत्रों को रथहीन करके पुरुषसिंह अभिमन्यु ने उस समय भीमसेन की प्रतिज्ञा का स्मरण करके उनका वध नहीं किया।

भीष्मः शान्तनवस्तूर्णं युधिष्ठिरमुपाद्रवत्।
युधिष्ठिरोऽपि कौरव्यो भीष्मं शान्तनवं ययौ ॥२३॥

उसी समय शान्तनुनन्दन भीष्म ने तुरन्त ही राजा युधिष्ठिर पर आक्रमण किया। उधर कुरुनन्दन राजा युधिष्ठिर भी उनका सामना करने के लिए आगे बढ़े।

निमेषार्धेन कौन्तेयं भीष्मः शान्तनवो युधि।
अदृश्यं समरे चक्रे शरजालेन भागशः ॥२४॥

शान्तनुनन्दन भीष्म ने युद्धक्षेत्र में आधे निमेष में ही पृथक्-पृथक् बाणों का जाल-सा बिछाकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर को अदृश्य कर दिया ।

ततो युधिष्ठिरो राजा कौरव्यस्य महात्मनः ।
नाराचं प्रेषयामास क्रुद्ध आशीविषोपमम् ॥२५॥

तब कुपित हुए राजा युधिष्ठिर ने कुरुवंशी महात्मा भीष्म पर विषधर सर्प के समान नाराच का प्रहार किया ।

तं तु छित्वा रणे भीष्मो नाराचं कालसम्मितम् ।
निजघ्ने कौरवेन्द्रस्य हयान् काञ्चनभूषणान् ॥२६॥

रणक्षेत्र में काल के समान भयङ्कर उस नाराच को काटकर भीष्म ने कौरवराज पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर के स्वर्णाभूषणों से विभूषित घोड़ों को मार डाला ।

हताश्वं तु रथं त्यक्त्वा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आरुरोह रथं तूर्णं नकुलस्य महात्मनः ॥२७॥

तब जिस रथ के घोड़े मारे जा चुके थे, उस रथ को त्यागकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर तुरन्त ही महात्मा नकुल के रथ पर आरूढ़ हो गये ।

ततो युधिष्ठिरो वश्यान् राज्ञस्तान् समनोदयत् ।
भीष्मं शान्तनवं सर्वे निहतेति सुहृद्गणान् ॥२८॥

फिर युधिष्ठिर ने अपने वशवर्ती नरेशों तथा हितैषियों को यह आदेश दिया कि तुम सब लोग मिलकर शान्तनुनन्दन भीष्म को मार डालो ।

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम् ।
महता रथवंशेन परिवव्रुः पितामहम् ॥२९॥

उस समय कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर का यह कथन सुनकर समस्त राजाओं ने विशाल रथसमूहों के द्वारा पितामह भीष्म को चारों ओर से घेर लिया ।

परिवृतः समन्तात् सः पिता देवव्रतस्तव ।
चिक्रीड धनुषा राजन् पातयानो महारथान् ॥३०॥

राजन् ! सब ओर से घिरे हुए आपके ताऊ देवव्रत सब महारथियों को धराशायी करते हुए अपने धनुष से ही खेलने-से लगे ।

तं चरन्तं रणे पार्था ददृशुः कौरवं युधि ।
मृगमध्यं प्रविश्येव यथा सिंहशिशुं वने ॥३१॥

जैसे सिंह का बच्चा वन के भीतर मृगों के झुण्ड में घुसकर खेल कर रहा हो उसी प्रकार कुन्तीकुमारों ने युद्ध में विचरते हुए कुरुवंशी भीष्म को वहाँ देखा ।

शिरांसि रथिनां भीष्मः पातयामास संयुगे ।
तालेभ्यः परिपक्वानि फलानि कुशलो नरः ॥३२॥

भीष्म उस युद्धस्थल में रथियों के मस्तक काट-काटकर उसी प्रकार गिराने लगे, जैसे कोई कुशल मनुष्य ताड़ के वृक्षों से पके हुए फलों को गिरा रहा हो ।

तस्मिन् सुतुमुले युद्धे वर्तमाने भयानके ।
सर्वेषामेव सैन्यानामासीद् व्यतिकरो महान् ॥३३॥

उस भयानक तुमुल युद्ध के होते समय सभी सेनाओं का आपस में भारी संकर हो गया ।

शिखण्डी तु समासाद्य भरतानां पितामहम् ।
अभिदुद्राव वेगेन तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥३४॥

उस समय शिखण्डी भरतवंश के पितामह भीष्म के पास पहुँचकर उनकी ओर बड़े वेग से दौड़ा और बोला—"खड़ा रह, खड़ा रह ।"

अनादृत्य ततो भीष्मस्तं शिखण्डिनमाहवे ।
प्रययौ सृञ्जयान् क्रुद्धः स्त्रीत्वं चिन्त्य शिखण्डिनः ॥३५॥

परन्तु भीष्मजी ने शिखण्डी के स्त्रीत्व का स्मरण करके युद्ध में उसकी अवहेलना कर दी और सृञ्जयवंशी क्षत्रियों पर क्रोधपूर्वक आक्रमण किया ।

ततः प्रववृते युद्धं व्यतिषक्तरथद्विपम् ।
पश्चिमां दिशमासाद्य स्थिते सवितरि प्रभो ॥३६॥

राजन् ! जब सूर्य पश्चिम दिशा में ढलने लगा उस समय युद्ध का रूप और भी भयंकर हो गया । रथ से रथी और हाथी से हाथी भिड़ गये ।

धृष्टद्युम्नोऽथ पाञ्चाल्यः सात्यकिश्च महारथः ।
पीडयन्तौ भृशं सैन्यं शक्तितोमरवृष्टिभिः ॥३७॥

पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न तथा महारथी सात्यकि—ये दोनों शक्ति और तोमरों की वर्षा से कौरव-सेना को अत्यधिक पीड़ा देने लगे ।

अर्जुनश्चापि संक्रुद्धः क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः ।
अयोधयत संग्रामे वज्रपाणिरिवासुरान् ॥३८॥

क्षत्रियशिरोमणि अर्जुन भी अत्यन्त कुपित होकर क्षत्रियों के साथ रणभूमि में वैसे ही युद्ध करने लगे, जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरों के साथ युद्ध करते हैं ।

द्रोणस्तु समरे क्रुद्धः पुत्रस्य प्रियकृत् तव ।
व्यधमत् सर्वपाञ्चालांस्तूलराशिमिवानलः ॥३९॥

आपके पुत्र का प्रिय करनेवाले द्रोणाचार्य भी युद्ध में कुपित होकर समस्त पाञ्चालों का विनाश करने लगे, मानो आग रूई के ढेर को जला रही हो ।

युध्यतां तु तथा तेषां कुर्वतां कर्म दुष्करम् ।
अस्तं गिरिमथारूढे अप्रकाशति भास्करे ॥४०॥

जब सब योद्धा वेग से युद्ध करते हुए दुष्कर पराक्रम प्रकट कर रहे थे, उसी समय सूर्य अस्ताचल को चला गया और उसका प्रकाश लुप्त हो गया ।

ततः स्वशिबिरं गत्वा पाण्डवाः कुरवस्तथा ।
न्यवसन्त महाराज पूजयन्तः परस्परम् ॥४१॥

महाराज ! सूर्यास्त होने पर पाण्डव तथा कौरव अपने-अपने शिविरों में जाकर परस्पर एक-दूसरे की प्रशंसा करते हुए विश्राम करने लगे ।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

आठवें दिन का घमासान युद्ध, भीमसेन के द्वारा धृतराष्ट्र के आठ पुत्रों का वध, दुर्योधन और भीष्म का युद्धविषयक वार्तालाप

सञ्जय उवाच

परिणाम्य निशां तां तु सुखं प्राप्ता जनेश्वराः ।
कौरवाः पाण्डवाश्चैव पुनर्युद्धाय निर्ययुः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! नरेश्वर कौरव और पाण्डव निद्रासुख का अनुभव करके और वह रात बिताकर पुनः युद्ध के लिए निकले ।

भीष्मः कृत्वा महाव्यूहं पिता तव विशाम्पते ।
सागरप्रतिमं घोरं वाहनोर्मितरङ्गिणम् ॥२॥

प्रजेश्वर ! आपके ताऊ भीष्म ने समुद्र के समान विशाल एवं भयङ्कर महाव्यूह का निर्माण किया, जिसमें हाथी, घोड़े आदि वाहन उत्ताल तरंगों के समान प्रतीत होते थे ।

तं तु दृष्ट्वा महाव्यूहं तावकानां महारथः ।
युधिष्ठिरोऽब्रवीत् तूर्णं पार्षतं पृतनापतिम् ॥३॥

राजन् ! आपके सैनिकों का वह व्यूह देखकर महारथी युधिष्ठिर ने तुरन्त ही सेनापति धृष्टद्युम्न से कहा—

पश्य व्यूहं महेष्वास निर्मितं सागरोपमम् ।
त्वमपि प्रतिव्यूहं हि कुरु पार्षत सत्वरम् ॥४॥

"महाधनुर्धर द्रुपदकुमार ! देखो, शत्रुसेना का व्यूह सागर के समान बनाया गया है । तुम भी उसके मुकाबिले में शीघ्र ही अपनी सेना का व्यूह बना लो ।"

ततः स पार्षतः क्रूरो व्यूहं चक्रे सुदारुणम् ।
शृङ्गाटकं महाराज परव्यूहविनाशनम् ॥५॥

महाराज ! तब क्रूर स्वभाववाले धृष्टद्युम्न ने अत्यन्त दारुण शृङ्गाटक [सिंघाड़े] के आकारवाला व्यूह बनाया, जो शत्रु के व्यूह का विनाश करनेवाला था ।

एवमेतं महाव्यूहं व्यूह्य भारत पाण्डवाः ।
अतिष्ठन् समरे शूरा योद्धुकामा जयैषिणः ॥६॥

भरतनन्दन ! इस प्रकार अपनी सेना के इस महाव्यूह का निर्माण करके युद्ध की कामना और विजय की अभिलाषा रखनेवाले शूरवीर पाण्डव रणभूमि में खड़े थे ।

ततः शान्तनवो भीष्मो रथघोषेण नादयन् ।
अभ्यगमद् रणे पार्थान् धनुःशब्देन मोहयन् ॥७॥

इतने में ही शान्तनुनन्दन भीष्म अपने रथ की घरघराहट से सम्पूर्ण दिशाओं को गुंजाते और धनुष की टङ्कार से लोगों को घबराहट में डालते हुए रणभूमि में पाण्डवों पर चढ़ आये ।

पाण्डवानां रथाश्चापि नदन्तो भैरवं स्वनम् ।
अभ्यद्रवन्त संयत्ता धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ॥८॥

उस समय धृष्टद्युम्न आदि पाण्डव महारथी भी भयङ्कर नाद करते हुए युद्ध के लिए संनद्ध होकर उनका सामना करने के लिए दौड़े ।

ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयावहम् ।
तावकानां परेषां च निघ्नतामितरेतरम् ॥९॥

फिर तो आपके और पाण्डवों के सैनिक एक-दूसरे पर अस्त्रों के द्वारा आघात-प्रत्याघात करने लगे। उस समय उनमें अत्यन्त भयङ्कर युद्ध होने लगा।

भीष्मं तु समरे क्रुद्धं प्रतपन्तं समन्ततः ।
न शेकुः पाण्डवा द्रष्टुं तपन्तमिव भास्करम् ॥१०॥

राजन् ! जैसे तपते हुए सूर्य की ओर देखना कठिन होता है, उसी प्रकार जब भीष्म उस युद्ध में कुपित हो सब ओर अपना पराक्रम प्रकट करने लगे, उस समय पाण्डव सैनिक उनकी ओर देख न सके।

स तु भीष्मो रणश्लाघी सोमकान् सह सृञ्जयान् ।
पाञ्चालांश्च महेष्वासान् पातयामास सायकैः ॥११॥

युद्ध की स्पृहा रखनेवाले भीष्म अपने बाणों के द्वारा सोमक, सृञ्जय और पाञ्चाल महाधनुर्धरों को रणक्षेत्र में धराशायी करने लगे।

स तेषां रथिनां वीरो भीष्मः शान्तनवो युधि ।
चिच्छेद सहसा राजन् बाहूनथ शिरांसि च ॥१२॥

राजन् ! वीर शान्तनुनन्दन भीष्म उस युद्ध के मैदान में सहसा उन रथियों की भुजाओं तथा मस्तकों को काट-काटकर गिराने लगे।

निर्मनुष्यांश्च मातङ्गाञ्शयानान् पर्वतोपमान् ।
अपश्याम महाराज भीष्मास्त्रेण प्रमोहितान् ॥१३॥

महाराज ! हमने देखा कि भीष्म के अस्त्र से मूर्च्छित हो बहुत-से पर्वताकार गजराज रणभूमि में पड़े हैं तथा उनके पास कोई मनुष्य नहीं है।

न तत्रासीत्पुमान् कश्चित्पाण्डवानां विशाम्पते ।
अन्यत्र रथिनां श्रेष्ठाद् भीमसेनान्महाबलात् ॥१४॥

प्रजानाथ ! उस समय वहाँ रथियों में श्रेष्ठ महाबली भीमसेन के अतिरिक्त पाण्डव-पक्ष का कोई भी वीर भीष्म के सामने नहीं ठहर सका।

स हि भीष्मं समासाद्य ताडयामास संयुगे ।
ततो निष्ठानको घोरो भीष्मभीमसमागमे ॥१५॥
बभूव सर्वसैन्यानां घोररूपो भयानकः ।
तथैव पाण्डवा हृष्टाः सिंहनादमथानदन् ॥१६॥

वे ही युद्ध में भीष्म का सामना करते हुए उनपर अपने बाणों का प्रहार कर रहे थे। भीष्म और भीमसेन में युद्ध होते समय सम्पूर्ण सेनाओं में भयङ्कर कोलाहल मच गया और पाण्डव हर्ष में भरकर जोर-जोर से सिंहनाद करने लगे।

ततो दुर्योधनो राजा सोदर्यैः परिवारितः ।
जुगोप समरे भीष्मं वर्तमाने जनक्षये ॥१७॥

जिस समय युद्ध में वह भयङ्कर जनसंहार हो रहा था, उसी समय राजा दुर्योधन अपने भाइयों से घिरा हुआ वहाँ आया और भीष्म की रक्षा करने लगा।

भीमस्तु सारथिं हत्वा भीष्मस्य रथिनां वरः ।
सुनाभस्य शरेणाशु शिरश्चिच्छेद भारत ॥१८॥

हे भारत ! इसी समय रथियों में श्रेष्ठ भीमसेन ने भीष्म के सारथि को मारकर एक बाण से शीघ्र ही सुनाभ का सिर भी काट डाला।

हते तस्मिन् महाराज तव पुत्रे महारथे ।
नामृष्यन्त रणे शूराः सोदराः सप्त संयुगे ॥१९॥

महाराज ! आपके उस महारथी पुत्र के मारे जाने पर, उसके सात रणवीर भाई, जो वहीं विद्यमान थे, भीम का यह अपराध सहन न कर सके।

आदित्यकेतुर्बह्वाशी कुण्डधारो महोदरः ।
अपराजितः पण्डितको विशालाक्षः सुदुर्जयः ॥२०॥
पाण्डवं चित्रसंनाहा विचित्रकवचध्वजाः ।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे योद्धुकामामरिन्दमाः ॥२१॥

आदित्यकेतु, बह्वाशी, कुण्डधार, महोदर, अपराजित, पण्डितक तथा अत्यन्त दुर्जय वीर विशालाक्ष—ये सातों शत्रुमर्दन भाई विचित्र वेशभूषा से सुसज्जित हो विचित्र कवच और ध्वज धारण किये रणभूमि में युद्ध की अभिलाषा से पाण्डुपुत्र भीमसेन पर टूट पड़े।

स तन्न समृषे भीमः शत्रुभिर्वधमाहवे ।
धनुः प्रपीड्य वामेन करेणामित्रकर्शनः ॥२२॥
शिरश्चिच्छेद समरे शरेणानतपर्वणा ।
अपराजितस्य सुनसं तव पुत्रस्य संयुगे ॥२३॥

भीमसेन उस रणभूमि में शत्रुओं द्वारा किये हुए उस प्रहार को सहन न कर सके। उस शत्रुनाशक वीर ने बाएँ हाथ से धनुष को अच्छी तरह दबाकर झुकी हुई गाँठवाले बाण से युद्धक्षेत्र में आपके पुत्र

अपराजित का सुन्दर नासिका से युक्त मस्तक काट डाला।

अथापरेण भल्लेन कुण्डधारं महारथम्।
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय सर्वलोकस्य पश्यतः ॥२४॥

फिर भीमसेन ने एक-दूसरे भल्ल के द्वारा सब लोगों के देखते-देखते महारथी कुण्डधार को परलोक भेज दिया।

ततः पुनरमेयात्मा प्रसन्धाय शिलीमुखम्।
प्रेषयामास समरे पण्डितं प्रति भारत ॥२५॥

भरतनन्दन! तत्पश्चात् अमेय आत्मबल से सम्पन्न भीम ने रणक्षेत्र में पुनः एक बाण का सन्धान करके उसे पण्डितक की ओर चलाया।

स शरः पण्डितं हत्वा विवेश धरणीतलम्।
यथा नरं निहत्याशु भुजगः कालनोदितः ॥२६॥

जैसे काल से प्रेरित सर्प किसी मनुष्य को शीघ्र डँसकर अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार वह बाण पण्डितक की हत्या करके भूमि में समा गया।

विशालाक्षशिरश्छित्वा पातयामास भूतले।
त्रिभिः शरैरदीनात्मा स्मरन् क्लेशं पुरातनम् ॥२७॥

तत्पश्चात् उदार हृदयवाले भीम ने अपने पूर्व-क्लेशों का स्मरण करके तीन बाणों द्वारा विशालाक्ष के मस्तक को काटकर धरती पर गिरा दिया।

महोदरं महेष्वासं नाराचेन स्तनान्तरे।
विव्याध समरे राजन् स हतो न्यपतद् भुवि ॥२८॥

राजन्! तदनन्तर उन्होंने महाधनुर्धर महोदर की छाती में एक नाराच से प्रहार किया। युद्ध में उससे मारा जाकर वह धरती पर गिर पड़ा।

आदित्यकेतोः केतुं च छित्वा बाणेन संयुगे।
भल्लेन भृशतीक्ष्णेन शिरश्चिच्छेद भारत ॥२९॥

हे भारत! फिर भीम ने रणभूमि में एक बाण से आदित्यकेतु की ध्वजा काटकर अत्यन्त तीखे भल्ल के द्वारा उसका मस्तक भी काट डाला।

बह्वाशिनं ततो भीमः शरेणानतपर्वणा।
प्रेषयामास संक्रुद्धो यमस्य सदनं प्रति ॥३०॥

इसी समय क्रोध में भरे हुए भीमसेन ने एक झुकी हुई गाँठवाला बाण मारकर बह्वाशी को भी यमलोक भेज दिया।

प्रदुद्रुवुस्ततस्तेऽन्ये पुत्रास्तव विशाम्पते।
मन्यमाना हि तत्सत्यं सभायां तस्य भाषितम् ॥३१॥

प्रजेश्वर! तब आपके दूसरे पुत्र भीमसेन के द्वारा सभा में की हुई उस प्रतिज्ञा को सत्य मानकर वहाँ से भाग खड़े हुए।

ततो दुर्योधनो राजा भीष्ममासाद्य संयुगे।
दुःखेन महताऽऽविष्टो विललाप सुदुःखितः ॥३२॥

उधर राजा दुर्योधन रणभूमि में भीष्म के पास जाकर महान् दुःख से व्याप्त तथा अत्यन्त शोकमग्न होकर विलाप करने लगा—

निहता भ्रातरः शूरा भीमसेनेन मे युधि।
यतमानास्तथान्येऽपि हन्यन्ते सर्वसैनिकाः ॥३३॥

"पितामह! भीमसेन ने युद्ध में मेरे शूरवीर भाइयों को मार डाला है और दूसरे समस्त सैनिक भी विजय के लिए पूर्ण प्रयत्न करते हुए भी असफल हो उनके हाथों मारे जा रहे हैं।

भवांश्च मध्यस्थतया नित्यमस्मानुपेक्षते।
सोऽहं कुपथमारूढः पश्य दैवमिदं मम ॥३४॥

"आप मध्यस्थ बने रहने के कारण सदा हम लोगों की उपेक्षा करते हैं। मेरे इस दुर्भाग्य को देखिए, मैं अत्यन्त बुरे मार्ग पर चढ़ आया हूँ।"

एतत् श्रुत्वा वचः क्रूरं पिता देवव्रतस्तव।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीत् साश्रुलोचनः ॥३५॥

यह क्रूरतापूर्ण वचन सुनकर आपके ताऊ भीष्म ने अपने नेत्रों से आँसू बहाते हुए वहाँ दुर्योधन से इस प्रकार कहा—

उक्तमेतन्मया पूर्वं द्रोणेन विदुरेण च।
गान्धार्या च यशस्विन्या तत्त्वं तात न बुद्धवान् ॥३६॥

"तात! मैंने, द्रोणाचार्य ने, विदुर ने तथा यशस्विनी गान्धारी ने पहले ही जो बात तुमसे कही थी, तुमने उसपर ध्यान नहीं दिया।

यं यं हि धार्तराष्ट्राणां भीमो द्रक्ष्यति संयुगे।
हनिष्यति रणे नित्यं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥३७॥

"मैं आपसे सत्य कहता हूँ कि भीमसेन धृतराष्ट्र के पुत्रों में से जिस-जिसको भी [युद्ध में अपने समक्ष आया हुआ] देख लेंगे, उसे प्रतिदिन संग्राम में अवश्य मार डालेंगे।

स त्वं राजन् स्थिरो भूत्वा रणे कृत्वा दृढां मतिम् ।
योधयस्व रणे पार्थान् स्वर्गं कृत्वा परायणम् ॥३८॥

"अतः राजन् ! तुम स्थिर होकर युद्ध के विषय में अपना दृढ़ निश्चय बना लो तथा स्वर्ग को ही अपना अन्तिम आश्रय मानकर युद्धक्षेत्र में पाण्डवों के साथ युद्ध करो ।

न शक्याः पाण्डवा जेतुं सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ।
तस्माद् युद्धे स्थिरां कृत्वा मतिं युध्यस्व भारत ॥३९॥

"हे भारत ! इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी पाण्डवों पर विजय नहीं पा सकते, अतः युद्ध के लिए पहले अपनी बुद्धि को स्थिर कर लो फिर युद्ध करो ।"

इति महाभारते भीष्मपर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशोऽध्याय।

कौरव-पाण्डव-सेना का घमासान युद्ध, इरावान् द्वारा शकुनि के भाइयों का तथा अलम्बुष द्वारा इरावान् का वध, घटोत्कच और दुर्योधन का युद्ध

सञ्जय उवाच

मध्याह्ने सुमहारौद्रः संग्रामः समपद्यत ।
लोकक्षयकरो राजंस्तन्मे निगदतः शृणु ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! उस दिन दोपहर होते-होते बड़ा भयंकर संग्राम होने लगा, जो सम्पूर्ण संसार के योद्धाओं का संहार करनेवाला था । वह सब मैं कह रहा हूँ, आप सुनिए ।

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सात्यकिश्च महारथः ।
युक्तानीका महाराज भीष्ममेव समभ्ययुः ॥२॥

महाराज ! धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और महारथी सात्यकि—इन सबने अपनी सेनाओं के साथ भीष्म पर ही आक्रमण किया ।

अर्जुनो द्रौपदेयाश्च चेकितानश्च वीर्यवान् ।
दुर्योधनसमादिष्टान् राज्ञः सर्वान् समभ्ययुः ॥३॥

अर्जुन, द्रौपदी के पाँचों पुत्र तथा पराक्रमी चेकितान—ये सभी दुर्योधन के द्वारा भेजे गये समस्त राजाओं पर चढ़ धाये ।

अभिमन्युस्तथा शूरो हैडिम्बश्च महारथः ।
भीमसेनश्च संक्रुद्धस्तेऽभ्यधावन्त कौरवान् ॥४॥

शूरवीर अभिमन्यु, महारथी घटोत्कच तथा क्रोध में भरे हुए भीमसेन—इन सबने कौरवों पर धावा किया ।

त्रिधाभूतैरवध्यन्त पाण्डवैः कौरवा युधि ।
तथैव कौरवैः राजन्नवध्यन्त परे रणे ॥५॥

राजन् ! पाण्डवों ने तीन दलों में विभक्त होकर कौरवों का वध करना आरम्भ किया । इसी प्रकार कौरव भी समरभूमि में शत्रुओं का नाश करने लगे ।

वर्तमाने तथा रौद्रे राजन् वीरवरक्षये ।
सौबलस्यानुजाः शूरा निर्गता रणमूर्धनि ॥६॥

राजन् ! जिस समय बड़े-बड़े वीरों का विनाश करनेवाला वह भयंकर युद्ध चल रहा था, उसी समय शकुनि के शूरवीर भाई युद्ध के मुहाने पर जा निकले ।

बलेन महता युक्ताः स्वर्गाय विजयैषिणः ।
विविशुस्ते तदा हृष्टा गान्धारा युद्धदुर्मदाः ॥७॥

उन युद्धदुर्मद गान्धारदेशीय वीरों ने विजय अथवा स्वर्ग की अभिलाषा लेकर विशाल सेना के साथ हर्ष एवं उत्साह में भरकर पाण्डव-सेना के भीतर प्रवेश किया ।

तान् प्रविष्टांस्तदा दृष्ट्वा इरावानपि वीर्यवान् ।
विकृष्य च शितं खड्गं गृहीत्वा च शरावरम् ॥८॥
पदातिर्द्रुतमागच्छञ्जिघांसुः सौबलान् युधि ।
असिहस्तापहस्ताभ्यां तेषां गात्राण्यकृन्तत ॥९॥

तब उन्हें सेना के भीतर प्रविष्ट हुआ देख पराक्रमी इरावान् ने भी तीखी तलवार और ढाल निकालकर युद्ध में सुबलपुत्रों को मार डालने की इच्छा से तुरन्त उनपर पैदल ही धावा किया और कभी दाहिने तथा कभी बाएँ हाथ से तलवार घुमाकर उसके द्वारा शत्रुओं के अङ्गों को छिन्न-भिन्न कर दिया ।

आयुधानि च सर्वेषां बाहूनपि विभूषितान् ।
अपतन्त निकृत्ताङ्गा मृता भूमौ गतासवः ॥१०॥

फिर उन सबके आयुधों और भूषणभूषित भुजाओं को भी उसने काट डाला। इस प्रकार अङ्ग-अङ्ग कट जाने से वे प्राणशून्य हो मरकर धरती पर गिर पड़े।

तान् सर्वान् पतितान् दृष्ट्वा भीतो दुर्योधनस्ततः ।
अभ्यधावत संक्रुद्धो राक्षसं घोरदर्शनम् ॥११॥
आर्ष्यश्रृङ्गिं महेष्वासं मायाविनमरिन्दमम् ।
वैरिणं भीमसेनस्य पूर्वं बकवधेन वै ॥१२॥

उन सबको मार गिराया गया देख दुर्योधन भयभीत हो उठा। वह अत्यन्त क्रोध में भरकर भयङ्कर दीखनेवाले राक्षस ऋष्यशृङ्गपुत्र [अलम्बुष] के पास दौड़ा गया। वह राक्षस शत्रुओं का दमन करने में समर्थ, मायावी और महान् धनुर्धर था। पूर्वकाल में किये गये बकासुर-वध के कारण वह भीमसेन का वैरी बन बैठा था।

दुर्योधन उवाच

पश्य वीर यथा ह्येष फाल्गुनस्य सुतो बली ।
मायावी विप्रियं कर्तुमकार्षीन्मे बलक्षयम् ॥१३॥

दुर्योधन बोला—वीर! देखो, अर्जुन का यह बलवान् पुत्र बड़ा मायावी है। इसने मेरा अप्रिय करने के लिए मेरी सेना का संहार कर डाला है।

त्वं च कामगमस्तात मायास्त्रे च विशारदः ।
कृतवैरश्च पार्थेन तस्मादेनं रणे जहि ॥१४॥

तात! तुम इच्छानुसार चलनेवाले और मायामय अस्त्रों के संचालन में कुशल हो। कुन्ती-कुमार भीम ने तुम्हारे साथ वैर भी किया है, अतः तुम युद्ध में इस इरावान् को मार डालो।

सञ्जय उवाच

बाढमित्येवमुक्त्वा तु राक्षसो घोरदर्शनः ।
प्रययौ सिंहनादेन यत्रार्जुनसुतो युवा ॥१५॥

सञ्जय कहते हैं—'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर वह भौंडा दिखाई देनेवाला राक्षस सिंहनाद करके जहाँ नवयुवक अर्जुनकुमार इरावान् था, उस स्थान पर गया।

आद्रवन्तमभिप्रेक्ष्य राक्षसं युद्धदुर्मदम् ।
इरावानथ संरब्धः प्रत्यधावन्महाबलः ॥१६॥

रणदुर्मद राक्षस अलम्बुष को अपने ऊपर आक्रमण करते देख महाबली इरावान् भी उसपर टूट पड़ा।

समभ्याशगतस्याजौ तस्य खड्गेन दुर्मतेः ।
चिच्छेद कार्मुकं दीप्तं शरावापं च सत्वरम् ॥१७॥

एक बार जब वह दुर्बुद्धि राक्षस अति निकट आ गया, तब इरावान् ने अपने खड्ग से उसके देदीप्यमान धनुष और तरकश को शीघ्र ही काट डाला।

ततश्चुक्रोध बलवांश्चक्रे वेगं च संयुगे ।
इरावतः शिरोऽसिना पातयामास भूतले ॥१८॥

तब तो महाबली अलम्बुष ने [युद्ध में] अत्यन्त क्रोध और वेग प्रकट किया तथा तलवार के द्वारा इरावान् के मस्तक को काटकर भूमि पर गिरा दिया।

तस्मिंस्तु निहते वीरे राक्षसेनार्जुनात्मजे ।
विशोकाः समपद्यन्त धार्तराष्ट्राः सराजकाः ॥१९॥

इस प्रकार राक्षस के द्वारा अर्जुन के वीरपुत्र इरावान् के मारे जाने पर राजा दुर्योधनसहित आपके सभी पुत्र शोकरहित हो गये।

इरावन्तं तु निहतं संग्रामे वीक्ष्य राक्षसः ।
व्यनदत् सुमहानादं भैमसेनिर्घटोत्कचः ॥२०॥

राजन्! उधर इरावान् को युद्धभूमि में मारा गया देख भीमसेन का पुत्र राक्षस घटोत्कच बड़े जोर से सिंहनाद करने लगा।

नर्दित्वा सुमहानादं रूपं कृत्वा विभीषणम् ।
आजघान सुसंक्रुद्धः कालान्तकयमोपमः ॥२१॥

भयङ्कर गर्जना करके काल, अन्तक और यम के समान क्रोध में भरे हुए उस राक्षस ने भीषण रूप बनाकर आपकी सेना का संहार आरम्भ किया।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य संक्रुद्धं भीमदर्शनम् ।
स्वबलं च भयात् तस्य प्रायशो विमुखीकृतम् ॥२२॥

अत्यन्त क्रोध में भरे हुए भयङ्कर दिखाई देनेवाले उस राक्षस को आक्रमण करते देख उसके भय से आपकी सेना प्रायः युद्ध से विमुख होकर भाग चली।

ततो दुर्योधनो राजा घटोत्कचमुपाद्रवत् ।
प्रगृह्य विपुलं चापं सिंहवद् विनदन् मुहुः ॥२३॥

तव राजा दुर्योधन ने एक विशाल धनुप लेकर और वारम्वार सिंह के समान गर्जना करते हुए घटोत्कच पर आक्रमण किया।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य गजानीकेन संवृतम्।
पुत्रं तव महाराज चुकोप च निशाचरः ॥२४॥

महाराज ! हाथियों की सेना से घिरे हुए आपके पुत्र दुर्योधन को आते देख वह निशाचर अत्यन्त कुपित हो उठा।

अथैनमब्रवीत् क्रुद्धः क्रूरः संरक्तलोचनः।
अद्यानृण्यं गमिष्यामि पितृणां मातुरेव च ॥२५॥
ये त्वया सुनृशंसेन दीर्घकालं प्रवासिताः।
यच्च ते पाण्डवा राजंश्छलद्यूते पराजिताः ॥२६॥
यच्चैव द्रौपदी कृष्णा एकवस्त्रा रजस्वला।
सभामानीय दुर्बुद्धे वहुधा क्लेशिता त्वया ॥२७॥
एतेषामपमानानामन्येषां च कुलाधम।
अन्तमद्य गमिष्यामि यदि नोत्सृजसे रणम् ॥२८॥

तत्पश्चात् क्रूर घटोत्कच क्रोध से आँखें लाल करके दुर्योधन से वोला—"ओ दुष्ट ! आज मैं अपने उन पितरों और माता के ऋण से उऋण हो जाऊँगा, जिन्हें तूने दीर्घकाल तक वन में रहने के लिए विवश कर दिया था। तू अति क्रूर है। दुर्बुद्धि नरेश ! तूने जो पाण्डवों को द्यूत में छलपूर्वक हराया था तथा एक वस्त्र धारण करनेवाली द्रुपदकुमारी कृष्णा को रजस्वला-अवस्था में सभा के भीतर लाकर अनेक प्रकार के क्लेश दिये थे, कुलाधम ! यदि तू युद्ध छोड़कर भाग नहीं जाएगा तो इन अपमानों और अन्य सव अत्याचारों का भी आज मैं वदला चुका लूंगा।"

एवमुक्त्वा तु हैडिम्बो महद् विस्फार्य कार्मुकम्।
शरवर्षेण महता दुर्योधनमवाकिरत् ॥२९॥

ऐसा कहकर हिडिम्वाकुमार ने अपने विशाल धनुप को खींचकर दुर्योधन पर वाणों की झड़ी लगा दी।

ततः क्रोधसमाविष्टो निःश्वसन्निव पन्नगः।
संशयं परमं प्राप्तः पुत्रस्ते भरतर्षभ ॥३०॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय क्रोध में भरकर फुंकारते हुए सर्प के समान लम्वी सांस खींचता हुआ आपका पुत्र दुर्योधन जीवन-रक्षा को लेकर भारी संशय में पड़ गया।

अशक्तः प्रतियोद्धुं वै दृष्ट्वा तस्य पराक्रमम्।
क्षात्रधर्मं पुरस्कृत्य तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥३१॥

वह घटोत्कच के पराक्रम पर दृष्टिपात करके उसका सामना करने में असमर्थ हो गया, परन्तु अपने क्षत्रिय धर्म का विचार करके दुर्योधन पर्वत की भाँति अविचल भाव से खड़ा रहा।

सन्धाय च शितं वाणं कालाग्निसमतेजसम्।
मुमोच परमक्रुद्धस्तस्मिन् घोरे निशाचरे ॥३२॥

तत्पश्चात् उसने प्रलयकाल की अग्नि के समान एक तेजस्वी और तीखे वाण को धनुप पर रखकर उसे अत्यन्त क्रोधपूर्वक उस घोर निशाचर पर छोड़ दिया।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य वाणमिन्द्राशनिप्रभम्।
लाघवान्मोचयामास महात्मा वै घटोत्कचः ॥३३॥

इन्द्र के वज्र के समान प्रकाशित होनेवाले उस वाण को अपनी ओर आता देख महामना राक्षस घटोत्कच ने अपनी फुर्ती के कारण अपने-आपको उससे वचा लिया।

भूयश्च विननादोग्रं क्रोधसंरक्तलोचनः।
त्रासयामास सैन्यानि युगान्ते जलदो यथा ॥३४॥

अपने-आपको वचा क्रोध से आँखें लाल करके वह पुनः भयङ्कर गर्जना करने लगा। जैसे प्रलयकाल में संवर्तक मेघ की गर्जना होती है, वैसी ही गर्जना करके उसने सारी कौरव-सेना को दहला दिया।

राक्षसस्य तु तं शब्दं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः।
उवाच भरतश्रेष्ठ भीमसेनमरिन्दमम् ॥३५॥

भरतश्रेष्ठ ! राक्षस घटोत्कच की उस गर्जना को सुनकर राजा युधिष्ठिर ने शत्रुदमन भीमसेन से इस प्रकार कहा—

युध्यते राक्षसो नूनं धार्तराष्ट्रैर्महारथैः।
यथास्य श्रूयते शब्दो नदतो भैरवं स्वनम् ॥३६॥

"निश्चय ही राक्षस घटोत्कच कौरव महारथियों से युद्ध कर रहा है। भैरवनाद करते हुए उस राक्षस का जैसा शब्द सुनाई देता है, उससे ऐसा ही प्रतीत होता है।

अतिभारं च पश्यामि तस्मिन् राक्षसपुङ्गवे ।
गच्छ त्वं रक्ष हैडिम्बं संशयं परमं गतम् ॥३७॥

मैं उस राक्षसशिरोमणि पर बहुत बड़ा भार अनुभव कर रहा हूँ । तुम जाओ और अत्यन्त संशय में पड़े हुए हिडिम्बाकुमार की रक्षा करो ।"

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय त्वरमाणो वृकोदरः ।
प्रययौ सिंहनादेन त्रासयन् सर्वपार्थिवान् ॥३८॥

भाई की यह आज्ञा मानकर भीमसेन अपने सिंहनाद से सम्पूर्ण नरेशों को भयभीत करते हुए बड़ी उतावली के साथ वहाँ से चल दिये ।

अन्वगच्छन् सत्यधृतिः सौचित्तिर्युद्धदुर्मदः ।
अभिमन्युमुखाश्चैव द्रौपदेया महारथाः ॥३९॥

उनके पीछे-पीछे सत्यधृति, रणदुर्मद सौचित्ति, अभिमन्यु आदि योद्धा और द्रौपदी के पाँचों पुत्र भी गये ।

ततः प्रववृते युद्धं तत्र तेषां महात्मनाम् ।
तावकानां परेषां च संग्रामेष्वनिवर्तिनाम् ॥४०॥

फिर तो संग्राम में कभी पीठ न दिखानेवाले आपके तथा शत्रुपक्ष के उन महामनस्वी योद्धाओं में भारी युद्ध छिड़ गया ।

विशिरस्कैर्मनुष्यैश्च छिन्नगात्रैश्च वारणैः ।
अश्वैः सम्भिन्नदेहैश्च संकीर्णाभूद् वसुन्धरा ॥४१॥

बिना सिर के मनुष्यों, कटे हुए अङ्गोंवाले हाथियों तथा छिन्न-भिन्न शरीरवाले घोड़ों से वहाँ की सारी भूमि पट गई ।

हया हयान् समासाद्य प्रेषिता हयसादिभिः ।
समाहत्य रणेऽन्योन्यं निपेतुर्गतजीविताः ॥४२॥

घुड़सवारों द्वारा प्रेरित हुए घोड़े घोड़ों से भिड़कर और आपस में टक्कर लेकर प्राणशून्य हो रणक्षेत्र में गिर पड़ते थे ।

नरा नरान् समासाद्य क्रोधरक्तेक्षणा भृशम् ।
उरांस्युरोभिरन्योन्यं समाश्लिष्य निजघ्निरे ॥४३॥

मनुष्य मनुष्यों पर आक्रमण करके अत्यन्त क्रोध से लाल आँखें किये छाती से छाती भिड़ाकर एक-दूसरे को मारने लगे ।

वर्तमाने तथा तस्मिन् संग्रामे लोमहर्षणे ।
धार्तराष्ट्रं महत्सैन्यं प्रायशो विमुखीकृतम् ॥४॥

इस प्रकार चलनेवाले उस रोमाञ्चकारी संग्राम में दुर्योधन की विशाल सेना प्रायः युद्ध से विमुख होकर भाग गई ।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशोऽध्यायः

दुर्योधन एवं भीमसेन, अश्वत्थामा और राजा नील का युद्ध तथा घटोत्कच की माया से मोहित होकर कौरव-सेना का पलायन

सञ्जय उवाच

स्वसैन्यं निहतं दृष्ट्वा राजा दुर्योधनः स्वयम् ।
अभ्यधावत संक्रुद्धो भीमसेनमरिन्दमम् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! अपनी अधिकांश सेना को मारी गई देख क्रोध में भरे हुए स्वयं राजा दुर्योधन ने शत्रुदमन भीमसेन पर धावा किया ।

अर्धचन्द्रं च सन्धाय सुतीक्ष्णं लोमवाहिनम् ।
भीमसेनस्य चिच्छेद चापं क्रोधसमन्वितः ॥२॥

उसने अत्यन्त कुपित होकर और अपने धनुष पर एक पंखयुक्त अत्यन्त तीखे अर्धचन्द्राकार बाण का प्रयोग करके भीमसेन के धनुष को काट दिया ।

तदन्तरं च सम्प्रेक्ष्य त्वरमाणो महारथः ।
प्रसंदधे शितं बाणं गिरीणामपि दारणम् ॥३॥

फिर उसी को उपयुक्त अवसर समझकर महारथी दुर्योधन ने बड़ी शीघ्रता के साथ एक तीखे बाण का सन्धान किया, जो पर्वत को भी विदीर्ण करनेवाला था ।

तेनोरसि महाराज भीमसेनमताडयत् ।
स गाढविद्धो व्यथितः समालम्बत स्वध्वजम् ॥४॥

महाराज ! उस बाण के द्वारा दुर्योधन ने भीमसेन की छाती पर गहरी चोट पहुँचाई । उससे अत्यन्त घायल होकर उन्होंने अपने ध्वज का सहारा ले लिया ।

तथा विमनसं दृष्ट्वा भीमसेनं घटोत्कचः ।
क्रोधेनाभिप्रजज्वाल दिधक्षन्निव पावकः ॥५॥

भीमसेन को इस प्रकार खिन्नचित्त देखकर घटोत्कच जलाने की इच्छावाले अग्निदेव की भाँति क्रोध से प्रज्वलित हो उठा ।

अभिमन्युमुखाश्चापि पाण्डवानां महारथाः ।
समभ्यधावन् क्रोशन्तो राजानं जातसम्भ्रमाः ॥६॥

साथ ही अभिमन्यु आदि पाण्डव महारथी भी बड़े वेग से राजा दुर्योधन को ललकारते हुए उसी की ओर दौड़े ।

सम्प्रेक्ष्यैतान् सम्पततः संक्रुद्धाञ्जातसम्भ्रमान् ।
भारद्वाजोऽब्रवीद्वाक्यं तावकान् सुमहारथान् ॥७॥
क्षिप्रं गच्छत भद्रं वो राजानं परिरक्षत ।
संशयं परमं प्राप्तं मज्जन्तं व्यसनार्णवे ॥८॥

क्रोध में भरे हुए इन समस्त योद्धाओं को वेग-पूर्वक धावा करते देख द्रोणाचार्य ने आपके महारथियों से कहा—"वीरो ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम शीघ्र जाओ और संकट के समुद्र में डूबकर महान् प्राण-संशय में पड़े हुए राजा दुर्योधन की रक्षा करो।"

तदाचार्यवचः श्रुत्वा सौमदत्तिपुरोगमाः ।
तावकाः समवर्तन्त पाण्डवानामनीकिनीम् ॥९॥

आचार्य का यह वचन सुनकर भूरिश्रवा आदि आपके प्रमुख योद्धाओं ने पाण्डव-सेना पर आक्रमण किया ।

एवमुक्त्वा महाबाहुर्महद् विस्फार्य कार्मुकम् ।
भारद्वाजस्ततो भीमं षड्विंशत्या समार्पयत् ॥१०॥

कौरवमहारथियों से पूर्वोक्त बात कहने के पश्चात् महाबाहु भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य ने स्वयं भी अपने विशाल धनुष को खींचकर भीमसेन को छब्बीस बाण मारे ।

तं प्रत्यविध्यद् दशभिर्भीमसेनः शिलीमुखैः ।
त्वरमाणो महेष्वासः सव्ये पार्श्वे महाबलः ॥११॥

तब महाबली धनुर्धर भीम ने भी बड़ी उतावली के साथ द्रोणाचार्य की बाईं पसली में दस बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया ।

स गाढविद्धो व्यथितो वयोवृद्धश्च भारत ।
प्रणष्टसंज्ञः सहसा रथोपस्थ उपाविशत् ॥१२॥

भरतनन्दन ! उन बाणों से उन्हें गहरा आघात लगा । वे वयोवृद्ध तो थे ही, अतः सहसा व्यथित एवं अचेत होकर रथ के पिछले भाग में बैठ गये ।

गुरुं प्रव्यथितं दृष्ट्वा राजा दुर्योधनः स्वयम् ।
द्रौणायनिश्च संक्रुद्धौ भीमसेनमभिद्रुतौ ॥१३॥

आचार्य द्रोण को व्यथा से पीड़ित देख स्वयं राजा दुर्योधन और अश्वत्थामा दोनों अत्यन्त कुपित हो भीमसेन पर टूट पड़े ।

तावापतन्तौ सम्प्रेक्ष्य गदामादाय सत्वरम् ।
अवप्लुत्य रथात् तूर्णं तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥१४॥

उन दोनों महारथियों को आते देख भीमसेन ने तुरन्त ही गदा हाथ में ले ली और वे रथ से कूदकर पर्वत के समान अविचल भाव से खड़े हो गये ।

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम् ।
कौरवो द्रोणपुत्रश्च सहितावभ्यधावताम् ॥१५॥

शृङ्गधारी कैलासपर्वत के समान ऊपर गदा उठाये हुए भीमसेन को देखकर दुर्योधन और अश्वथामा ने एक-साथ उनपर धावा किया ।

तावापतन्तौ सहितौ त्वरितौ बलिनां वरौ ।
अभ्यधावत वेगेन त्वरमाणो वृकोदरः ॥१६॥

बलवानों में श्रेष्ठ उन दोनों वीरों को एक-साथ शीघ्रतापूर्वक अपनी ओर आते देख भीमसेन भी उतावले होकर बड़े वेग से उनकी ओर बढ़े ।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य संक्रुद्धं भीमदर्शनम् ।
समभ्यधावंस्त्वरिताः कौरवाणां महारथाः ॥१७॥

क्रोध में भरकर भयङ्कर दिखाई देनेवाले भीमसेन को देखकर कौरव महारथी बड़ी उतावली के साथ उनकी ओर दौड़े ।

सहिताः पाण्डवं सर्वे पीडयन्तः समन्ततः ।
तं दृष्ट्वा संशयं प्राप्तं पीड्यमानं महारथम् ॥१८॥
अभिमन्युप्रभृतयः पाण्डवानां महारथाः ।
अभ्यधावन्परीप्सन्तः प्राणांस्त्यक्त्वा सुदुस्त्यजान् ॥१९॥

वे सब एक-साथ मिलकर चारों ओर से पाण्डु-कुमार भीमसेन को पीड़ित करने लगे । महारथी भीमसेन को पीड़ित और उनके प्राणों को संकट में पड़ा देख अभिमन्यु आदि पाण्डव अपने दुस्त्यज प्राणों का मोह छोड़कर उनकी रक्षा के लिए दौड़ पड़े ।

अनूपाधिपतिः शूरो भीमस्य दयितः सखा ।
विस्फार्य सुमहच्चापं द्रौणिं विव्याध पत्रिणा ॥२०॥

अनूप देश के शूरवीर राजा नील ने जो भीमसेन का प्रिय सखा था, अपने विशाल धनुष को खींचकर एक पंखयुक्त बाण से अश्वत्थामा को घायल कर दिया ।

स विस्फार्य धनुश्चित्रमिन्द्राशनिसमस्वनम् ।
दध्रे नीलविनाशाय मतिं मतिमतां वरः ॥२१॥

तब बुद्धिमानों में श्रेष्ठ अश्वत्थामा ने इन्द्र के वज्र की भाँति भयंकर टङ्कार करनेवाले अपने विचित्र धनुष को खींचकर नील को मार डालने का विचार किया ।

ततः सन्धाय विमलान् भल्लान् कर्मारमार्जितान् ।
जघान चतुरो वाहान् सारथिं ध्वजमेव च ॥२२॥
सप्तमेन च भल्लेन नीलं विव्याध वक्षसि ।
स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ॥२३॥

तदनन्तर उसने लोहार के माँजे हुए सात चमकीले भल्लों को धनुष पर रखकर चलाया । उनमें से चार के द्वारा उसने नील के चारों घोड़ों को और पाँचवें से सारथि को मार डाला । छठे से ध्वज को काट गिराया और सातवें भल्ल से नील की छाती में प्रहार किया । उस बाण से अत्यधिक घायल हो जाने के कारण वे व्यथित हो रथ के पिछले भाग में बैठ गये ।

मोहितं वीक्ष्य राजानमभिक्रुद्धो घटोत्कचः ।
अभिदुद्राव वेगेन द्रौणिमाहवशोभिनम् ॥२४॥

राजा नील को मोहित हुआ देख घटोत्कच अत्यन्त क्रुद्ध हो युद्ध में शोभा पानेवाले अश्वत्थामा की ओर बड़े वेग से दौड़ा।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य राक्षसं घोरदर्शनम् ।
अभ्यधावत तेजस्वी भारद्वाजात्मजस्त्वरन् ॥२५॥

देखने में अत्यन्त भयंकर राक्षस घटोत्कच को धावा करते देख तेजस्वी अश्वत्थामा ने बड़ी उतावली के साथ उसपर आक्रमण किया ।

प्रादुश्चक्रे ततो मायां घोररूपां सुदारुणाम् ।
मोहयन् समरे द्रौणिं मायावी राक्षसाधिपः ॥२६॥

फिर तो उस मायावी राक्षसराज ने समरभूमि में अश्वत्थामा को मोहित करते हुए अत्यन्त दारुण घोर माया प्रकट की ।

ततस्ते तावकाः सर्वे मायया विमुखीकृताः ।
अन्योन्यं समपश्यन्त निकृत्ता मेदिनीतले ॥२७॥
विचेष्टमानाः कृपणाः शोणितेन परिप्लुताः ।
विध्वस्ता रथिनः सर्वे राजानश्च निपातिताः ॥२८॥

तब उस माया से डरकर आपके सभी सैनिक युद्ध से विमुख हो गये । इन्होंने एक-दूसरे को इस प्रकार देखा कि सब-के-सब भिन्न-भिन्न हो पृथिवी पर गिरकर छटपटा रहे हैं और खून से लथपथ होकर दयनीय अवस्था को पहुँच गये हैं । सभी रथी विध्वंस को प्राप्त हो गये हैं और सब राजा मारे गये हैं ।

तद् दृष्ट्वा तावकं सैन्यं विद्रुतं शिबिरं प्रति ।
मम प्राक्रोशतो राजंस्तथा देवव्रतस्य च ॥२९॥
युध्यध्वं मा पलायध्वं मायैषा राक्षसी रणे ।
घटोत्कचप्रयुक्तेति नातिष्ठन्त विमोहिताः ॥३०॥

यह सब देखकर आपकी सेना शिबिर की ओर भाग चली । राजन् ! उस समय मैं और देवव्रत भीष्म भी पुकार-पुकारकर कह रहे थे—"वीरो ! युद्ध करो । भागो मत । रणभूमि में तुम जो कुछ देख रहे हो, वह घटोत्कच द्वारा छोड़ी हुई राक्षसी माया है ।" परन्तु वे मोहित होने के कारण ठहर न सके ।

तांश्च प्रद्रवतो दृष्ट्वा जयं प्राप्ताश्च पाण्डवाः ।
घटोत्कचेन सहिताः सिंहनादान् प्रचक्रिरे ॥३१॥

उन्हें भागते देख विजयी पाण्डव घटोत्कच के साथ सिंहनाद करने लगे ।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

भगदत्त का घटोत्कच, भीमसेन और पाण्डव-सेना के साथ घोर युद्ध, इरावान् के वध पर अर्जुन का दुःखपूर्ण उद्गार, भीमसेन द्वारा धृतराष्ट्र के नौ पुत्रों का वध, तथा आठवें दिन के युद्ध का उपसंहार

सञ्जय उवाच

तस्मिन् महति संक्रन्दे राजा दुर्योधनस्तदा।
गाङ्गेयमुपसंगम्य विनयेनाभिवाद्य च ॥१॥
घटोत्कचस्य विजयमात्मनश्च पराजयम्।
कथयामास दुर्धर्षो विनिःश्वस्य पुनः पुनः ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! दुर्धर्ष वीर राजा दुर्योधन ने उस महान् युद्ध में गङ्गानन्दन भीष्मजी के पास जाकर और उन्हें विनीतभाव से प्रणाम करके वारम्वार लम्बी साँस खींचकर घटोत्कच की विजय और अपनी पराजय की कथा कह सुनाई।

भीष्म उवाच

शृणु राजन् मम वचो यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव।
यथा त्वया महाराज वर्तितव्यं परन्तप ॥३॥

भीष्मजी बोले—महाराज ! कुरुनन्दन! मैं तुमसे जो कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो। शत्रुसन्तापक राजन् ! तुम्हें जैसा वर्ताव करना चाहिए, वह सुनो।

आत्मा रक्ष्यो रणे तात सर्वावस्थास्वरिन्दम।
धर्मराजेन संग्रामस्त्वया कार्यः सदानघ ॥४॥

तात ! शत्रुदमन ! तुम युद्ध में सदा अपनी रक्षा करो। निष्पाप ! तुम्हें सदा धर्मराज युधिष्ठिर से ही युद्ध करना चाहिए।

अर्जुनेन यमाभ्यां वा भीमसेनेन वा पुनः।
राजधर्मं पुरस्कृत्य राजा राजानमार्छति ॥५॥

अर्जुन, नकुल, सहदेव अथवा भीमसेन के साथ भी तुम युद्ध कर सकते हो। राजधर्म को समक्ष रखकर यह वात कही गई है। राजा राजा से ही युद्ध करता है।

अहं द्रोणः कृपो द्रौणिः कृतवर्मा च सात्वतः।
त्वदर्थे प्रतियोत्स्यामो राक्षसं तं महाबलम् ॥६॥

मैं, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा और सात्वतवंशी कृतवर्मा—हम सव लोग तुम्हारे लिए उस महावली राक्षस से युद्ध करेंगे।

अथं वा गच्छतु रणे तस्य युद्धाय दुर्मतेः।
भगदत्तो महीपालः पुरन्दरसमो युधि ॥७॥

अथवा उस दुष्ट के साथ युद्ध करने के लिए भगदत्त जाएँ, क्योंकि ये युद्ध में इन्द्र के समान पराक्रमी हैं।

सञ्जय उवाच

एतावदुक्त्वा राजानं भगदत्तमथाब्रवीत्।
समक्षं पार्थिवेन्द्रस्य वाक्यं वाक्यविशारदः ॥८॥

सञ्जय कहते हैं—इतना कहकर वोलनेवालों में कुशल भीष्म ने राजाधिराज दुर्योधन के सामने ही राजा भगदत्त से यह वात कही—

गच्छ शीघ्रं महाराज हैडिम्बं युद्धदुर्मदम्।
वारयस्व रणे यत्तो मिषतां सर्वधन्विनाम् ॥९॥

"महाराज ! तुम रणदुर्मद घटोत्कच का सामना करने के लिए शीघ्र जाओ और समस्त धनुर्धरों के देखते-देखते प्रयत्नपूर्वक उसे रणक्षेत्र में आगे वढ़ने से रोको।"

एतत् श्रुत्वा तु वचनं भीष्मस्य पृतनापतेः।
प्रययौ सिंहनादेन परानभिमुखो द्रुतम् ॥१०॥

सेनापति भीष्म का यह वचन सुनकर राजा भगदत्त सिंहनाद करते हुए तुरन्त ही शत्रुओं का सामना करने के लिए चल दिये।

तमाद्रवन्तं सम्प्रेक्ष्य गर्जन्तमिव तोयदम्।
अभ्यवर्तन्त संक्रुद्धा पाण्डवानां महारथाः ॥११॥

गर्जते हुए मेघ के समान राजा भगदत्त को धावा करते देख पाण्डवपक्षीय महारथी क्रोध में भरकर उनका सामना करने के लिए आगे आये।

ततः समभवद् युद्धं घोररूपं भयानकम्।
पाण्डूनां भगदत्तेन यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥१२॥

फिर तो पाण्डवों का भगदत्त के साथ घोर एवं भयानक युद्ध होने लगा, जो यमराज के राष्ट्र की वृद्धि करनेवाला था।

भग्नं तु स्वबलं दृष्ट्वा भगदत्तेन धीमता।
घटोत्कचोऽथ संक्रुद्धो भगदत्तमुपाद्रवत् ॥१३॥

बुद्धिमान् भगदत्त के द्वारा अपनी सेना में भगदड़ पड़ी हुई देख घटोत्कच ने अत्यन्त कुपित हो भगदत्त पर धावा किया।

जग्राह विमलं शूलं गिरीणामपि दारणम्।
नागं जिघांसुः सहसा चिक्षेप च महाबलः ॥१४॥

उस महाबली राक्षस ने भगदत्त के हाथी को मार डालने की इच्छा से एक अत्यन्त तीखा त्रिशूल हाथ में लिया जो पर्वतों को भी विदीर्ण करनेवाला था, फिर सहसा उसे चला दिया।

तमापतन्तं सहसा दृष्ट्वा प्राग्ज्योतिषो नृपः।
चिच्छेद तन्महच्छूलमर्धचन्द्रेण वेगवान् ॥१५॥
शूलं निपतितं दृष्ट्वा द्विधा कृत्तं च पार्थिवः।
रुक्मदण्डां महाशक्तिं चिक्षेपाग्निशिखोपमाम् ॥१६॥

उस त्रिशूल को अपने ऊपर आते देख वेगवान् प्राग्ज्योतिषपुर के नरेश भगदत्त ने एक अर्धचन्द्र बाण चलाकर उस महान् त्रिशूल को काट डाला। उस त्रिशूल को दो टुकड़ों में कटा हुआ देख राजा भगदत्त ने आग की लपटों से वेष्टित तथा स्वर्णमय दण्ड से विभूषित एक महाशक्ति को चलाया।

तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य वियत्स्थामशनीमिव।
उत्पत्य राक्षसस्तूर्णं जग्राह च ननाद च ॥१७॥
बभञ्ज चैनां त्वरितो जानुन्यारोप्य भारत।
पश्यतः पार्थिवेन्द्रस्य तदद्भुतमिवाभवत् ॥१८॥

हे भारत! आकाश में प्रकाशित होनेवाली अशनि (विद्युत्) के समान उस महाशक्ति को गिरती हुई देख राक्षस घटोत्कच ने उछलकर तुरन्त ही उसे पकड़ लिया और सिंह के समान गर्जना की। फिर उसने तुरन्त ही राजा भगदत्त के देखते-देखते उस महाशक्ति को घुटने पर रखकर तोड़ डाला। यह एक अद्भुत-सी बात हुई।

पाण्डवाश्च महाराज भीमसेनपुरोगमाः।
साधु साध्विति नादेन पृथिवीमन्वनादयन् ॥१९॥

महाराज! उस समय भीमसेन आदि पाण्डवों ने वाह-वाह कहते हुए अपने सिंहनाद से पृथिवी को गुंजा दिया।

एतस्मिन्नेव काले तु पाण्डवः कृष्णसारथिः।
आजगाम महाराज विघ्नञ्शत्रून् समन्ततः ॥२०॥

इसी समय श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, वे पाण्डुनन्दन अर्जुन चारों ओर से शत्रुओं का संहार करते हुए वहाँ आ पहुँचे [जहाँ भगदत्त और घटोत्कच युद्ध कर रहे थे]।

तदाऽऽसीत् सुमहद् युद्धं भगदत्तस्य मारिष।
पाञ्चालैः पाण्डवैश्चैव केकयैश्चोद्यतायुधैः ॥२१॥

आर्य! उस समय शस्त्र उठाये हुए पाञ्चालों, पाण्डवों और केकयों के साथ भगदत्त का बड़ा भारी युद्ध हुआ।

भीमसेनोऽपि समरे तावुभौ केशवार्जुनौ।
अश्रावयद् यथावृत्तमिरावद्वधमुत्तमम् ॥२२॥

भीमसेन ने भी समरभूमि में श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों को इरावान् के वध का यथावत् वृत्तान्त अच्छी प्रकार सुना दिया।

पुत्रं विनिहतं श्रुत्वा इरावन्तं धनञ्जयः।
अब्रवीत् समरे राजन् वासुदेवमिदं वचः ॥२३॥

राजन्! अपने पुत्र इरावान् के वध का वृत्तान्त सुनकर अर्जुन ने युद्धभूमि में वासुदेव श्रीकृष्ण से कहा—

अर्जुन उवाच

अर्थहेतोर्नरश्रेष्ठ क्रियते कर्म कुत्सितम्।
धिगर्थान् यत् कृते ह्येवं क्रियते ज्ञातिसंक्षयः ॥२४॥

अर्जुन बोला—नरश्रेष्ठ! धन के लिए यह कुत्सित कर्म किया जा रहा है। धिक्कार है उस धन को, जिसके लिए इस प्रकार जाति-भाइयों का विनाश किया जाता है।

अधनस्य मृतं श्रेयो न च ज्ञातिवधाद् धनम्।
किं नु प्राप्स्यामहे कृष्ण हत्वा ज्ञातीन् समागतान् ॥२५

मनुष्य का निर्धन रहकर मर जाना उत्तम है, परन्तु जाति-भाइयों के वध से धन प्राप्त करना कदापि अच्छा नहीं है। कृष्ण! हम यहाँ आये हुए इन जाति-भाइयों को मारकर क्या प्राप्त कर लेंगे?

दृष्ट्वा हि क्षत्रियाञ्शूराञ्शयानान् धरणीतले।
निन्दामि भृशमात्मानं धिगस्तु क्षत्रजीविकाम् ॥२६॥

आज क्षत्रिय वीरों को युद्धभूमि में सोते देख मैं सबसे अधिक अपनी निन्दा करता हूं। क्षत्रियों की इस जीविका को धिक्कार है!

अशक्तमिति मामेते ज्ञास्यन्ते क्षत्रिया रणे ।
युद्धं तु मे न रुचितं ज्ञातिभिर्मधुसूदन ॥२७॥

मधुसूदन ! युद्धभूमि में मेरे मुख से ऐसी बात सुनकर ये क्षत्रिय मुझे शक्तिहीन समझेंगे, परन्तु इन जाति-भाइयों के साथ युद्ध करना मुझे अच्छा नहीं लगता ।

सन्नोदय हयाञ्शीघ्रं धार्तराष्ट्रचमूं प्रति ।
प्रतरिष्ये महापारं भुजाभ्यां समरोदधिम् ॥२८॥

[तथापि आपकी आज्ञानुसार मैं युद्ध करूँगा, अतः] आप शीघ्र ही अपने घोड़ों को दुर्योधन की सेना की ओर हाँकिए, जिससे मैं अपनी भुजाओं द्वारा इस अपार समर-सागर को पार करूँ ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तस्तु पार्थेन केशवः परवीरहा ।
नोदयामास तानश्वान् पाण्डुरान् वातरंहसः ॥२९॥

सञ्जय कहते हैं—अर्जुन के ऐसा कहने पर शत्रु-वीरों का संहार करनेवाले केशव ने वायु के समान वेगशाली उन श्वेत घोड़ों को आगे बढ़ाया ।

अपराह्णे महाराज संग्रामः समपद्यत ।
पर्जन्यसमनिर्घोषो भीष्मस्य सह पाण्डवैः ॥३०॥

महाराज ! दोपहर पश्चात् पाण्डवों के साथ भीष्म का भीषण संग्राम आरम्भ हुआ, जिसमें मेघ की गर्जना के समान गम्भीर घोष हो रहा था ।

ततस्तव सुता राजन् भीमसेनमुपाद्रवन् ।
परिवार्य रणे द्रोणं वसवो वासवं यथा ॥३१॥

राजन् ! उधर आपके पुत्र, जैसे वसुगण इन्द्र के सब ओर खड़े होते हैं, उसी प्रकार द्रोणाचार्य को चारों ओर से घेरकर रणक्षेत्र में भीमसेन पर टूट पड़े ।

भीमसेनस्तु सम्प्रेक्ष्य पुत्रांस्तव जनेश्वर ।
प्रजज्वाल रणे क्रुद्धो हविषा हव्यवाडिव ॥३२॥

जनेश्वर ! जैसे घी की आहुति डालने से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार रणभूमि में आपके पुत्रों को देखकर भीमसेन क्रोध से जल उठे ।

स छाद्यमानो बहुधा पुत्रैस्तव विशाम्पते ।
सृक्किणी संलिहन् वीरः शार्दूल इव दर्पितः ॥३३॥

व्यूढोरस्कं ततो भीमः पातयामास भारत ।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन सोऽभवद् गतजीवितः ॥३४॥

प्रजापालक ! भरतनन्दन ! आपके पुत्रों द्वारा बारम्बार बाणों की वर्षा से आच्छादित किये जाने पर क्रोधपूर्वक अपने मुख के दोनों कोनों को चाटते हुए सिंह के समान शौर्य का अभिमान रखनेवाले वीर भीमसेन ने एक अति तीक्ष्ण क्षुरप्र के द्वारा आपके पुत्र व्यूढोरस्क को मार गिराया । उसकी जीवनलीला समाप्त हो गई ।

अपरेण तु भल्लेन पीतेन निशितेन च ।
अपातयत् कुण्डलिनं सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥३५॥

तदनन्तर जैसे सिंह छोटे-से मृग को दबोच लेता है, उसी प्रकार भीम ने दूसरे पानीदार एवं तीखे भल्ल से आपके पुत्र कुण्डली को भूमि पर सुला दिया ।

ततः सुनिशितान् पीतान् समादत्त शिलीमुखान् ।
ससर्ज त्वरया युक्तः पुत्रांस्ते प्राप्य मारिष ॥३६॥

आर्य ! तत्पश्चात् भीमसेन ने बड़ी उतावली के साथ बहुत-से तीखे और पानीदार बाण हाथ में लिये तथा आपके पुत्रों को लक्ष्य करके छोड़ दिये ।

प्रेषिता भीमसेनेन शरास्ते दृढधन्वना ।
अपातयन्त पुत्रांस्ते रथेभ्यः सुमहारथान् ॥३७॥
अनाधृष्टिं कुण्डभेदिं वैराटं दीर्घलोचनम् ।
दीर्घबाहुं सुबाहुं च तथैव कनकध्वजम् ॥३८॥

सुदृढ़ धनुर्धर भीमसेन के द्वारा चलाये हुए उन बाणों ने आपके बहुत-से महारथी पुत्रों को मारकर रथों से नीचे गिरा दिया । उनके नाम हैं—अनाधृष्टि, कुण्डभेदि, वैराट, दीर्घलोचन, दीर्घबाहु, सुबाहु तथा कनकध्वज ।

ततः प्रदुद्रुवुः शेषास्तव पुत्रा महाहवे ।
तं कालमिव मन्यन्तो भीमसेनं महाबलम् ॥३९॥

फिर तो उस महासमर में आपके शेष पुत्र महाबली भीमसेन को काल के समान समझकर वहाँ से भाग चले ।

तत्राद्भुतमपश्याम कुन्तीपुत्रस्य पौरुषम् ।
द्रोणेन वार्यमाणोऽपि निजघ्ने यत् सुतांस्तव ॥४०॥

महाराज ! उस समय हमने कुन्तीपुत्र भीम का

अद्भुत पराक्रम देखा। यद्यपि द्रोणाचार्य बाण-वृष्टि करके उन्हें रोक रहे थे, तो भी उन्होंने आपके पुत्रों को मार डाला।

गाङ्गेयो भगदत्तश्च गौतमश्च महारथाः ।
पाण्डवं रभसं युद्धे वारयामासुरर्जुनम् ॥४१॥

दूसरी ओर गङ्गानन्दन भीष्म, भगदत्त और कृपाचार्य—ये तीनों महारथी युद्ध में वेग से आगे बढ़नेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुन का निवारण कर रहे थे।

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य तेषां सोऽतिरथो रणे ।
प्रवीरांस्तव सैन्येषु प्रेषयामास मृत्यवे ॥४२॥

परन्तु अतिरथी वीर अर्जुन ने युद्धभूमि में उनके अस्त्रों का अस्त्रों द्वारा निवारण करके आपकी सेना के प्रमुख वीरों को यमलोक पठा दिया।

धृष्टद्युम्नमुखास्त्वन्ये तव सैन्यमयोधयन् ।
तथैव तावकाः सर्वे पाण्डुसैन्यमयोधयन् ॥४३॥

उधर धृष्टद्युम्न आदि अन्य महारथी आपकी सेना के साथ तथा आपके प्रमुख सैनिक पाण्डव-सेना के साथ युद्ध करने लगे।

तत्राक्रन्दो महानासीत् तव तेषां च भारत ।
निघ्नतां दृढमन्योन्यं कुर्वतां कर्म दुष्करम् ॥४४॥

हे भारत! एक-दूसरे पर सुदृढ़ प्रहार और दुष्कर पराक्रम करनेवाले आपके और पाण्डवों के सैनिकों का भयंकर कोलाहल होने लगा।

अन्योऽन्यं हि रणे शूराः केशेष्वाक्षिप्य मानिनः ।
नखदन्तैरयुध्यन्त मुष्टिभिर्जानुभिस्तथा ॥४५॥

कितने ही मानी शूरवीर उस रणक्षेत्र में एक-दूसरे के केश पकड़कर नखों, दाँतों, मुक्कों और घुटनों से प्रहार करते हुए लड़ रहे थे।

तलैश्चैवाथ निस्त्रिंशैर्बाहुभिश्च सुसंस्थितैः ।
विवरं प्राप्य चान्योन्यमनयन् यमसादनम् ॥४६॥

अवसर पाकर वे थप्पड़ों, तलवारों तथा सुदृढ़ भुजाओं द्वारा भी एक-दूसरे को यमलोक भेज देते थे।

नानाविधानि शस्त्राणि प्रगृह्य पतिता नराः ।
जीवन्त इव दृश्यन्ते गतसत्त्वा महारथाः ॥४७॥

अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों को हाथ में लेकर पृथिवी पर पड़े हुए प्राणहीन महारथी सैनिक जीवित-से दिखाई देते थे।

गदाविमथितैर्गात्रैर्मुसलैर्भिन्नमस्तकाः ।
गजवाजिरथक्षुण्णाः शेरते स्म नराः क्षितौ ॥४८॥

किन्हीं के शरीर गदा की चोट से चूर-चूर हो गये थे, किन्हीं के मस्तक मूसलों की मार से फट गये थे और कितने ही सैनिक घोड़े, हाथी तथा रथों से कुचल गये थे। ये सभी प्राणहीन होकर पृथिवी पर सो गये थे।

तथैवाश्वनृनागानां शरीरैर्विबभौ तदा ।
संछन्ना वसुधा राजन् पर्वतैरिव सर्वशः ॥४९॥

राजन्! इसी प्रकार घोड़े, हाथी और मनुष्यों के मृत शरीरों से सारी पृथिवी आच्छादित हो उस समय पर्वतों से ढकी हुई-सी जान पड़ती थी।

एवमेते महासेने मृदिते तत्र भारत ।
परस्परं समासाद्य तव तेषां च संयुगे ॥५०॥

हे भारत! इस प्रकार आपकी और पाण्डवों की वे दोनों विशाल सेनाएँ एक-दूसरे से भिड़कर रणभूमि में रौंदी जा रही थीं।

तेषु श्रान्तेषु भग्नेषु मृदितेषु च भारत ।
रात्रिः समभवत् तत्र नापश्याम ततोऽनुगान् ।
ततोऽवहारं सैन्यानां प्रचक्रुः कुरुपाण्डवाः ॥५१॥

भरतनन्दन! उस समय जब अधिकांश सैनिक परिश्रम से थककर चूर-चूर हो रहे थे, कितने ही भाग गये थे तथा कितने ही योद्धा रौंद डाले गये थे, रात्रि हो गई थी और हमें अपने सेवक दिखाई नहीं दे रहे थे, तब कौरवों और पाण्डवों ने अपनी-अपनी सेनाओं को लौटने का आदेश दे दिया।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

दुर्योधन का भीष्मजी से पाण्डवों को मारने अथवा कर्ण को युद्ध की आज्ञा देने का अनुरोध करना और भीष्म का अर्जुन का पराक्रम बताते हुए भयंकर युद्ध करने की प्रतिज्ञा करना

सञ्जय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ।
दुःशासनश्च पुत्रस्ते सूतपुत्रश्च दुर्जयः ॥१॥
समागम्य महाराज मन्त्रं चक्रुर्विवक्षितम् ।
कथं पाण्डुसुताः संख्ये जेतव्याः सगणा इति ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! सेनाओं के युद्ध-भूमि से लौटने के पश्चात् राजा दुर्योधन, सुबलपुत्र शकुनि, आपका पुत्र दुःशासन, दुर्जयवीर सूतपुत्र कर्ण —ये सभी मिलकर अभीष्ट कार्य के विषय में गुप्त परामर्श करने लगे। उनकी मन्त्रणा का मुख्य विषय यह था कि पाण्डवों को दल-बलसहित युद्ध में कैसे जीता जा सकता है ?

दुर्योधन उवाच

द्रोणो भीष्मः कृपः शल्यःसौमदत्तिश्च संयुगे ।
न पार्थान् प्रतिबाधन्ते न जाने तच्च कारणम् ॥३॥

दुर्योधन ने कहा—मित्रो ! द्रोणाचार्य, भीष्म, कृपाचार्य, शल्य एवं भूरिश्रवा—ये लोग युद्ध में कुन्तीपुत्रों को कोई भी बाधा नहीं पहुँचाते हैं। मैं नहीं जानता इसका क्या कारण है ?

अवध्यमानास्ते चापि क्षपयन्ति बलं मम ।
सोऽस्मि क्षीणबलः कर्ण क्षीणशस्त्रश्च संयुगे ॥४॥

वे पाण्डव स्वयं अवध्य रहकर मेरी सेना का संहार कर रहे हैं। कर्ण ! इस प्रकार मेरी सेना तथा अस्त्र-शस्त्रों का युद्ध में क्षय होता जा रहा है।"

कर्ण उवाच

मा शोच भरतश्रेष्ठ करिष्येऽहं प्रियं तव ।
भीष्मः शान्तनवस्तूर्णमपयातु महारणात् ॥५॥

कर्ण बोला—भरतश्रेष्ठ ! शोक न करो। मैं तुम्हारा प्रियकार्य करूँगा, परन्तु शान्तनुनन्दन भीष्म शीघ्र ही महायुद्ध से अलग हो जाएँ।

अहं पार्थान् हनिष्यामि सहितान् सर्वसोमकैः ।
पश्यतो युधि भीष्मस्य शपे सत्येन ते नृप ॥६॥

[भीष्म के हट जाने पर] मैं युद्ध में भीष्म के देखते-देखते सोमकोंसहित समस्त कुन्तीपुत्रों को एक-साथ मार डालूँगा। हे राजन् ! यह मैं तुमसे सत्य की शपथ खाकर कहता हूँ।

पाण्डवेषु दयां नित्यं स हि भीष्मः करोति वै ।
अशक्तश्च रणे भीष्मो जेतुमेतान् महारथान् ॥७॥

भीष्म सदा ही पाण्डवों पर दया करते हैं, अतः युद्ध में इन महारथियों को जीतने में वे सर्वथा असमर्थ हैं।

स त्वं शीघ्रमितो गत्वा भीष्मस्य शिबिरं प्रति ।
अनुमान्य गुरुं वृद्धं शस्त्रं न्यासय भारत ॥८॥

"हे भारत ! तुम शीघ्र ही यहाँ से भीष्मजी के शिविर में जाकर अपने पूज्य वृद्ध पितामह को सन्तुष्ट करके उनके अस्त्र-शस्त्र रखवा दो।

न्यस्तशस्त्रे ततो भीष्मे निहतान् पश्य पाण्डवान् ।
मयैकेन रणे राजन् ससुहृद्गणबान्धवान् ॥९॥

राजन् ! भीष्म के हथियार डाल देने पर आप युद्ध में केवल मेरे द्वारा पाण्डवों को सुहृदों और बन्धु-बान्धवोंसहित मारा गया समझो।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तस्तु कर्णेन कर्णमाह जनेश्वरः ।
अनुमान्य रणे भीष्ममेषोऽहं द्विपदां वरम् ॥१०॥
आगमिष्ये ततः क्षिप्रं त्वत्सकाशमरिन्दम ।
अपक्रान्ते ततो भीष्मे प्रहरिष्यसि संयुगे ॥११॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! कर्ण के ऐसा कहने पर जनेश्वर दुर्योधन ने कर्ण से कहा—"शत्रुदमन ! मैं मनुष्यों में श्रेष्ठ भीष्म को युद्ध से हटने के लिए राजी करके अभी तुम्हारे पास लौट आता हूँ। फिर भीष्म के निवृत्त हो जाने पर तुम रणभूमि में शत्रुओं पर प्रहार करना।"

निष्पपात ततस्तूर्णं पुत्रस्तव विशाम्पते ।
सहितो भ्रातृभिस्तैस्तु देवैरिव शतक्रतुः ॥१२॥

प्रजेश्वर ! कर्ण से ऐसा कहकर आपका पुत्र दुर्योधन तुरन्त ही अपने भाइयों के साथ शिविर से

वाहर निकला, मानो देवताओं के साथ इन्द्र अपने भवन से वाहर आये हों।

सम्प्राप्य तु ततो राजा भीष्मस्य सदनं शुभम्।
उवाच प्राञ्जलिर्भीष्मं वाष्पकण्ठोऽश्रुलोचनः ॥१३॥
त्वां वयं हि समाश्रित्य संयुगे शत्रुसूदन।
उत्सहेम रणे जेतुं सेन्द्रानपि सुरासुरान् ॥१४॥
तस्मादर्हसि गाङ्गेय कृपां कर्तुं मयि प्रभो।
जहि पाण्डुसुतान् वीरान् महेन्द्र इव दानवान् ॥१५॥

तब राजा दुर्योधन भीष्म के सुन्दर निवासस्थान के पास पहुँचकर नेत्रों में आंसू भर हाथ जोड़े हुए भर्राए कण्ठ से भीष्म से इस प्रकार वोला—"शत्रुसूदन! हम लोग आपका आश्रय लेकर रणभमि में इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरों को भी जीतने का उत्साह रखते हैं [पाण्डवों की तो वात ही क्या है!] प्रभो! गङ्गानन्दन! आप मुझपर कृपा कीजिए और जैसे देवराज इन्द्र दानवों का संहार करते हैं, उसी प्रकार आप पाण्डव वीरों को मार डालिए।

दयया यदि वा राजन् द्वेष्यभावान्मम प्रभो।
मन्दभाग्यतया वापि मम रक्षसि पाण्डवान् ॥१६॥
समरे ह्यनुजानीहि कर्णमाहवशोभिनम्।
स जेष्यति रणे पार्थान् ससुहृद्गणबान्धवान् ॥१७॥

"प्रभो! यदि पाण्डवों के प्रति दयाभाव अथवा मेरे दुर्भाग्यवश मेरे प्रति द्वेपभाव रखने के कारण आप पाण्डवों की रक्षा करते हैं तो समरभूमि में शोभा पानेवाले कर्ण को युद्ध के लिए आज्ञा दे दीजिए। वह सुहृदों और वान्धवोंसहित कुन्तीपुत्रों को अवश्य जीत लेगा।"

भीष्म उवाच

किं त्वं दुर्योधनैवं मां वाक्शल्यैरपकृन्तसि।
घटमानं यथाशक्ति कुर्वाणं च तव प्रियम् ॥१८॥

भीष्मजी बोले—पुत्र दुर्योधन! तुम इस प्रकार वाग्वाणों से मुझे क्यों छेद रहे हो? मैं तो यथाशक्ति शत्रुओं पर विजय पाने की चेष्टा करता हूँ तथा तुम्हारे प्रिय-साधन में लगा हुआ हूँ।

यदा च त्वां महाबाहो गन्धर्वैर्हृतमोजसा।
अमोचयत् पाण्डुसुतः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥१९॥

महावाहो! जव गन्धर्वों ने तुम्हें वलपूर्वक पकड़ लिया था, उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुन ने ही तुम्हें छुड़ाया था। उनके पराक्रम का यह दृष्टान्त पर्याप्त है।

द्रवमाणेषु शूरेषु सोदरेषु तव प्रभो।
सूतपुत्रे च राधेये पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥२०॥

प्रभो! उस समय तुम्हारे ये शूरवीर भाई और राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण तो मैदान छोड़कर भाग गये थे। यह अर्जुन की अद्भुत शक्ति का ज्वलन्त उदाहरण है।

यच्च नः सहितान् सर्वान् विराटनगरे तदा।
एक एव समुद्यातः पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥२१॥

जिस समय विराट नगर में हम सब एक-साथ युद्ध के लिए डटे थे, तव अर्जुन ने अकेले ही हमपर आक्रमण किया था। यह उनकी अजेयता का पूरा प्रमाण है।

द्रोणं च युधि संरब्धं मां च निर्जित्य संयुगे।
वासांसि च समादत्त पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥२२॥

अर्जुन ने क्रोध में भरे हुए द्रोणाचार्य को तथा मुझे भी युद्ध में परास्त करके सबके वस्त्र छीन लिये थे। यह उनकी अजेयता का पर्याप्त प्रमाण है।

विजित्य च यदा कर्णं सदा पुरुषमानिनम्।
उत्तरायै ददौ वस्त्रं पर्याप्तं तन्निदर्शनम् ॥२३॥

सदा अपने पुरुषार्थ का अभिमान रखनेवाले कर्ण को भी जीतकर अर्जुन ने उसके वस्त्र छीनकर उत्तरा को अर्पित किये थे। उनकी अपरिमित शक्ति का यह पर्याप्त उदाहरण है।

को हि शक्तो रणे जेतुं पाण्डवं रभसं सदा।
त्वं तु मोहान्न जानीषे वाच्यावाच्यं सुयोधन ॥२४॥

सदा वेगशाली वीर पाण्डुपुत्र अर्जुन को युद्ध के मैदान में कौन जीत सकता है? परन्तु सुयोधन! तुम मोहवश कहने और न कहने योग्य वात को समझते ही नहीं हो।

स्वयं वैरं महत् कृत्वा पाण्डवैः सह सृञ्जयैः।
रणे तानद्य युद्धयस्व पश्यामः पुरुषो भव ॥२५॥

तुमने स्वयं ही पाण्डवों और सृञ्जयों के साथ महान् वैर ठाना है। अतः अव तुम्हीं युद्ध करो। हम

सब लोग देखते हैं। तुम स्वयं पुरुषत्व का परिचय दो।

अहं तु सोमकान्सर्वान्पाञ्चालांश्च समागतान्।
निहनिष्ये नरव्याघ्र वर्जयित्वा शिखण्डिनम् ॥२६॥

पुरुषसिंह! मैं शिखण्डी को छोड़कर युद्ध में आये हुए समस्त सोमकों और पाञ्चालों को मार डालूंगा।

तैर्वाहं निहतः संख्ये गमिष्ये यमसादनम्।
निहत्य समरे वा तान् प्रीतिं दास्याम्यहं तव ॥२७॥

अब या तो उनके द्वारा युद्ध में मारा जाकर मैं यमलोक का रास्ता लूंगा अथवा उन्हीं को युद्धभूमि में मारकर मैं तुम्हें हर्ष प्रदान करूँगा।

सुखं स्वपिहि गान्धारे श्वोऽस्मि कर्ता महारणम्।
यं जनाः कथयिष्यन्ति यावत् स्थास्यति मेदिनी ॥२८॥

गान्धारीनन्दन! अब तुम जाकर सुखपूर्वक सो रहो। कल मैं अत्यन्त भीषण युद्ध करूँगा, जिसकी चर्चा लोग तबतक करते रहेंगे, जबतक पृथिवी विद्यमान रहेगी।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तस्तव सुतो निर्जगाम जनेश्वर।
अभिवाद्य गुरुं मूर्ध्ना प्रययौ स्वं निवेशनम् ॥२९॥

सञ्जय कहते हैं—जनेश्वर! भीष्मजी के ऐसा कहने पर आपका पुत्र दुर्योधन अपने गुरु [पितामह] के चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम करने के पश्चात् अपने शिविर को चला गया।

प्रभातायां च शर्वर्यां प्रातरुत्थाय तान् नृपः।
राज्ञः समाज्ञापयत सेनां योजयतेति ह ॥३०॥
अद्य भीष्मो रणे क्रुद्धो निहनिष्यति सोमकान्।
तत्र कार्यतमं मन्ये भीष्मस्यैवाभिरक्षणम् ॥३१॥

राजन्! प्रातः उठकर राजा दुर्योधन ने समस्त राजाओं को यह आज्ञा दी—"राजसिंहो! तुम सब लोग सेना को युद्ध के लिए तैयार करो। आज पितामह भीष्म युद्धभूमि में क्रुद्ध होकर सोमकों का संहार करेंगे, अतः मैं भीष्म की रक्षा को ही अपना प्रधान कर्तव्य समझता हूँ।

अब्रवीद्धि विशुद्धात्मा नाहं हन्यां शिखण्डिनम्।
स्त्रीपूर्वको ह्यसौ राजंस्तस्माद् वर्ज्यो मया रणे ॥३२॥

"विशुद्ध अन्तःकरण महात्मा भीष्म ने मुझसे कहा है—'राजन्! मैं शिखण्डी को नहीं मार सकता, क्योंकि वह पहले स्त्रीरूप में उत्पन्न हुआ था, अतः युद्ध में मुझे उसका परित्याग कर देना है।'

अरक्ष्यमाणं हि वृको हन्यात् सिंहं महाहवे।
मा वृकेणेव गाङ्गेयं घातयेम शिखण्डिना ॥३३॥

"यदि युद्ध में सिंह की रक्षा न की जाए तो उसे एक भेड़िया मार सकता है, परन्तु हम भेड़िये के सदृश शिखण्डी के हाथ से सिंह के समान भीष्म का वध नहीं होने देंगे।"

एतत् श्रुत्वा तु ते सर्वे दुर्योधनवचस्तदा।
सर्वतो रथवंशेन गाङ्गेयं पर्यवारयन् ॥३४॥

उस समय दुर्योधन की यह बात सुनकर उन सब वीरों ने रथों की विशाल सेना द्वारा गङ्गानन्दन भीष्म को सब ओर से घेर लिया।

भीष्मं तु रथवंशेन दृष्ट्वा समभिसंवृतम्।
अर्जुनो रथिनां श्रेष्ठो धृष्टद्युम्नमुवाच ह ॥३५॥

उधर भीष्म को रथों के समूहों से घिरा हुआ देख रथियों में श्रेष्ठ अर्जुन ने धृष्टद्युम्न से कहा—

शिखण्डिनं नरव्याघ्रं भीष्मस्य प्रमुखे नृप।
स्थापयस्वाद्य पाञ्चाल्य तस्य गोप्ताहमित्युत ॥३६॥

"नरेश्वर! पाञ्चाल राजकुमार! आज तुम पुरुषसिंह शिखण्डी को भीष्म के सामने उपस्थित करो। मैं उसकी रक्षा करूँगा।"

इति महाभारते भीष्मपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

नवें दिन का युद्ध—अभिमन्यु द्वारा राक्षस अलम्बुष की पराजय, दोनों पक्षों की सेनाओं का घमासान युद्ध और रक्तमयी नदी का वर्णन

सञ्जय उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो निर्ययौ सह सेनया ।
व्यूहं चाव्यूहत महत् सर्वतोभद्रमात्मनः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! तब शान्तनुनन्दन भीष्म सेना के साथ शिविर से बाहर निकले। उन्होंने अपनी सेना को सर्वतोभद्र नामक महान् व्यूह के रूप में संगठित किया।

तत्र तेऽपि महाव्यूहं प्रतिव्यूह्य सुदुर्जयम् ।
पाण्डवाः समरे शूराः स्थिता युद्धाय दंशिताः ॥२॥

उधर शूरवीर पाण्डव भी रणभूमि में अत्यन्त दुर्जय महाव्यूह की रचना करके कवच बाँधे हुए युद्ध के लिए तैयार थे।

ततोऽन्योन्यं प्रधावन्तः सम्प्रहारं प्रचक्रिरे ।
महता तस्य शब्देन प्रचकम्पे वसुन्धरा ॥३॥

फिर तो दोनों पक्षों के योद्धा एक-दूसरे पर धावा करते हुए अस्त्र-शस्त्रों का प्रहार करने लगे। उस समय जो महान् कोलाहल हुआ, उससे सारी पृथिवी काँपने लगी।

अभिमन्यू रथोदारः पिशङ्गैस्तुरगोत्तमैः ।
अभिदुद्राव तेजस्वी दुर्योधनबलं महत् ॥४॥

राजन् ! रथियों में श्रेष्ठ तेजस्वी अभिमन्यु पिंगल वर्णवाले श्रेष्ठ घोड़ों से जुते हुए रथ द्वारा दुर्योधन की विशाल सेना पर टूट पड़ा।

सरथान् रथिनस्तूर्णं हयांश्चैव ससादिनः ।
गजारोहांश्च सगजान् दारयामास फाल्गुनिः ॥५॥

अर्जुनकुमार ने रथोंसहित रथियों, सवारोंसहित घोड़ों तथा हाथियोंसहित गजारोहियों को तुरन्त ही विदीर्ण कर डाला।

मोहयित्वा कृपं द्रोणं द्रौणिं च सबृहद्बलम् ।
सैन्धवं च महेष्वासो व्यचरल्लघु सुष्ठु च ॥६॥

महाधनुर्धर अभिमन्यु कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, बृहद्बल तथा सिन्धुराज जयद्रथ—इन सबको मोहित करके सुन्दर एवं शीघ्र गति से सब ओर विचरता रहा।

तं दृष्ट्वा क्षत्रियाः शूराः प्रतपन्तं तरस्विनम् ।
द्विफाल्गुनमिमं लोकं मेनिरे तस्य कर्मभिः ॥७॥

सबको सन्ताप देते हुए उस वेगशाली वीर को देखकर समस्त शूरवीर क्षत्रिय उसके कर्मों द्वारा यह मानने लगे कि संसार में दो अर्जुन हो गये हैं।

तेनार्दिता महाराज भारती सा महाचमूः ।
व्यभ्रमत् तत्र तत्रैव योषिन्मदवशादिव ॥८॥

महाराज ! अभिमन्यु से पीड़ित हुई भरतवंशियों की वह विशाल सेना मदोन्मत्त युवती की भाँति वहीं चक्कर काट रही थी।

द्रावयित्वा महासैन्यं कम्पयित्वा महारथान् ।
सुहृदो नन्दयामास मयं जित्वेव वासवः ॥९॥

मयासुर पर विजय पानेवाले इन्द्र की भाँति अभिमन्यु ने उस विशाल सेना को भगाकर और महारथियों को कँपाकर अपने सुहृदों को आनन्दित किया।

दुर्योधनस्तदा राजन्नार्ष्यशृङ्गिमभाषत ।
एष कार्ष्णिर्महाबाहो द्वितीय इव फाल्गुनः ॥१०॥

राजन् ! उस समय दुर्योधन ने राक्षस ऋष्यशृङ्गपुत्र अलम्बुष से इस प्रकार कहा—"महाबाहो ! यह अर्जुन का पुत्र द्वितीय अर्जुन के समान पराक्रमी है।

चमूं द्रावयते क्रोधाद् वृत्रो देवचमूमिव ।
तस्य चान्यन्न पश्यामि संयुगे भेषजं महत् ॥११॥
ऋते त्वां राक्षसश्रेष्ठं सर्वविद्यासु पारगम् ।
स गत्वा त्वरितं वीर जहि सौभद्रमाहवे ॥१२॥

"जैसे वृत्रासुर देवताओं की सेना को मार भगाता था, उसी प्रकार यह भी क्रोधपूर्वक मेरी सेना को खदेड़ रहा है। मैं रणभूमि में सम्पूर्ण विद्याओं के पारंगत और राक्षसों में सर्वश्रेष्ठ तुम जैसे वीर को

छोड़कर दूसरे किसी को ऐसा नहीं देखता, जो उस रोग की औषधि हो सके, अतः तुम तुरन्त जाकर युद्धभूमि में सुभद्राकुमार का वध करो।"

स एवमुक्तो बलवान् प्रययौ समरे मुदा।
नर्दमानो महानादं प्रावृषीव बलाहकः ॥१३॥

दुर्योधन के ऐसा कहने पर बलशाली अलम्बुष तुरन्त ही वर्षाकाल के मेघ की भाँति जोर-जोर से गर्जना करता हुआ समरभूमि में गया।

कार्ष्णिश्चापि मुदा युक्तः प्रगृह्य सशरं धनुः।
नृत्यन्निव रथोपस्थे तद् रक्षः समुपाद्रवत् ॥१४॥

उधर अभिमन्यु भी हर्ष और उत्साह में भरकर हाथ में धनुष-बाण लिये रथ की बैठक में नृत्य-सा करता हुआ उस राक्षस की ओर दौड़ा।

ततः स राक्षसः क्रुद्धः सम्प्राप्यैवार्जुनिं रणे।
नातिदूरे स्थितां तस्य द्रावयामास वै चमूम् ॥१५॥

तत्पश्चात् कुपित हुआ वह राक्षस युद्ध में अभिमन्यु के समीप पहुँचकर पास ही खड़ी हुई उसकी सेना को खदेड़ने लगा।

ततः कार्ष्णिर्महाराज निशितैः सायकैस्त्रिभिः।
आर्ष्यशृङ्गिं रणे विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ॥१६

महाराज! राक्षस द्वारा अपनी सेना को खदेड़ी जाते देख अर्जुनपुत्र अभिमन्यु ने तीन तीखे सायकों से रणभूमि में अलम्बुष को बींधकर पुनः पाँच बाणों से घायल कर दिया।

अलम्बुषोऽपि संक्रुद्धः कार्ष्णिं नवभिराशुगैः।
हृदि विव्याध वेगेन तोत्त्रैरिव महाद्विपम् ॥१७॥

तब क्रोध में भरे हुए अलम्बुष ने भी नौ शीघ्रगामी बाणों द्वारा अर्जुनपुत्र अभिमन्यु की छाती में उसी प्रकार वेगपूर्वक प्रहार किया, जैसे अंकुशों द्वारा गजराज पर प्रहार किया जाता है।

अभिमन्युस्ततः क्रुद्धो नवभिर्नतपर्वभिः।
बिभेद निशितैर्बाणै राक्षसेन्द्रं महोरसि ॥१८॥

इससे क्रुद्ध होकर अभिमन्यु ने भी राक्षसराज अलम्बुष की चौड़ी छाती में झुकी हुई गाँठवाले नौ बाण मारे।

ततः क्रुद्धो महाराज आर्ष्यशृङ्गिरमर्षणः।
महेन्द्रप्रतिमं कार्ष्णिं छादयामास पत्रिभिः ॥१९॥

महाराज! तब अमर्षशील अलम्बुष ने कुपित होकर देवराज इन्द्र के समान पराक्रमी अर्जुनकुमार को पंखवाले बाणों से आच्छादित कर दिया।

तेन ते विशिखा मुक्ता यमदण्डोपमाः शिताः।
अभिमन्युं विनिर्भिद्य प्राविशन्त धरातलम् ॥२०॥

उसके द्वारा छोड़े गये यमदण्ड के समान भयंकर एवं तीखे बाण अभिमन्यु के शरीर को छेदकर भूमि में समा गये।

तथैवार्जुनिना मुक्ताः शराः कनकभूषणाः।
अलम्बुषं विनिर्भिद्य प्राविशन्त धरातलम् ॥२१॥

उसी प्रकार अभिमन्यु के छोड़े हुए स्वर्णपंखी बाण भी अलम्बुष को विदीर्ण करके पृथिवी में समा गये।

सौभद्रस्तु रणे रक्षः शरैः संनतपर्वभिः।
चक्रे विमुखमासाद्य मयं शक्र इवाहवे ॥२२॥

जैसे इन्द्र ने युद्धभूमि में मयासुर को विमुख किया था, वैसे ही सुभद्राकुमार अभिमन्यु ने रणभूमि में झुकी हुई गाँठवाले बाण मारकर उस राक्षस को युद्ध से विमुख कर दिया।

विमुखं च ततो रक्षो वध्यमानं रणेऽरिणा।
प्रादुश्चक्रे महामायां तामसीं परतापिनीम् ॥२३॥

तब समराङ्गण में शत्रु से पीड़ित तथा विमुख हुए राक्षस ने शत्रुओं को तपानेवाली अपनी अन्धकारमयी तामसी माया प्रकट की।

अभिमन्युश्च तद् दृष्ट्वा घोररूपं महत्तमः।
प्रादुश्चक्रेऽस्त्रमत्युग्रं भास्करं कुरुनन्दनः ॥२४॥

उस भयंकर एवं महान् अन्धकार को देखकर कुरुकुल को आनन्दित करनेवाले अभिमन्यु ने अति उग्र भास्करास्त्र को प्रकट किया [जिससे सर्वत्र प्रकाश हो गया]।

बह्वीस्तथान्या मायाश्च प्रयुक्तास्तेन रक्षसा।
सर्वास्त्रविदमेयात्मा वारयामास फाल्गुनिः ॥२५॥

उस राक्षस ने अन्य अनेक जिन-जिन मायाओं का प्रयोग किया, उन सबको सम्पूर्ण अस्त्रों के ज्ञाता, अनन्त आत्मबल से सम्पन्न अभिमन्यु ने नष्ट कर दिया।

हतमायं ततो रक्षो वध्यमानं च सायकैः।
रथं तत्रैव संत्यज्य प्राद्रवन्महतो भयात् ।।२६।।

अपनी माया के नष्ट हो जाने पर सायकों की मार खाता हुआ वह राक्षस अत्यधिक भयभीत होकर अपने रथ को वहीं छोड़कर भाग गया।

तस्मिन् विनिर्जिते तूर्णं कूटयोधिनि राक्षसे।
आर्जुनिः समरे सैन्यं तावकं सम्ममर्द ह ।।२७।।

माया द्वारा युद्ध करनेवाले उस राक्षस के पराजित हो जाने पर अर्जुनकुमार अभिमन्यु ने तुरन्त ही रणभूमि में आपकी सेना को रौंद डाला।

ततः शान्तनवो भीष्मः सैन्यं दृष्ट्वाभिविद्रुतम्।
महता शरवर्षेण सौभद्रं पर्यवारयत् ।।२८

उस समय अपनी सेना को भागती देख शान्तनुनन्दन भीष्म ने बड़ी भारी बाणवर्षा करके सुभद्राकुमार अभिमन्यु को रोक दिया।

कोष्ठकीकृत्य तं वीरं धार्तराष्ट्रा महारथाः।
एकं सुबहवो युद्धे ततक्षुः सायकैर्दृढम् ।।२६।।

फिर आपके महारथी पुत्रों ने वीर अभिमन्यु को चारों ओर से घेर लिया तथा रणभूमि में उस अकेले को बहुत-से योद्धाओं ने सायकों द्वारा जोर-जोर से घायल करना आरम्भ किया।

ततो धनञ्जयो वीरो विनिघ्नंस्तव सैनिकान्।
आससाद रणे भीष्मं पुत्रप्रेप्सुरमर्षणः ।।३०।।

अभिमन्यु को सब ओर से घिरा हुआ देख वीर अर्जुन रणभूमि में आपके सैनिकों का संहार करते हुए अपने पुत्र की रक्षा के लिए अमर्ष में भरकर भीष्म के पास आ पहुँचे।

तथैव समरे राजन् पिता देवव्रतस्तव।
आससाद रणे पार्थं स्वर्भानुरिव भास्करम् ।।३१।।

राजन्! जैसे सूर्य पर राहु आक्रमण करता है, उसी प्रकार आपके ताऊ देवव्रत भीष्म ने रणभूमि में कुन्तीपुत्र अर्जुन पर धावा किया।

शारद्वतस्ततो राजन् भीष्मस्य प्रमुखे स्थितम्।
अर्जुनं पञ्चविंशत्या सायकानां समाचिनोत् ।।३२।।

राजन्! उधर भीष्म के समक्ष खड़े हुए अर्जुन को कृपाचार्य ने भी पच्चीस बाण मारे।

प्रत्युद्गम्याथ विव्याध सात्यकिस्तं शितैः शरैः।
पाण्डवप्रियकामार्थं शार्दूल इव कुञ्जरम् ।।३३।।

तब जैसे सिंह हाथी पर आक्रमण करता है, उसी प्रकार सात्यकि ने आगे बढ़कर पाण्डुनन्दन अर्जुन का प्रिय करने के लिए कृपाचार्य को अपने तीखे बाणों से बींध डाला।

गौतमोऽपि त्वरायुक्तो माधवं नवभिः शरैः।
हृदि विव्याध संक्रुद्धः कङ्कपत्रपरिच्छदैः ।।३४।।

यह देख कृपाचार्य ने भी अत्यन्त क्रुद्ध हो बड़ी उतावली के साथ सात्यकि की छाती में कङ्कपत्रविभूषित नौ बाण मारकर उन्हें घायल कर दिया।

शैनेयोऽपि ततः क्रुद्धश्चापमानम्य वेगवान्।
गौतमान्तकरं तूर्णं समाधत्त शिलीमुखम् ।।३५।।

तब वेगशाली सात्यकि ने भी कुपित होकर अपने धनुष को झुकाकर अति शीघ्रतापूर्वक उसपर कृपाचार्य का अन्त कर देनेवाला एक बाण रखा।

तमापतन्तं वेगेन शक्राशनिसमद्युतिम्।
द्विधा चिच्छेद संक्रुद्धो द्रौणिः परमकोपनः ।।३६।।

इन्द्र के वज्र के समान प्रज्वलित उस बाण को वेगपूर्वक आते देख परम क्रोधी अश्वत्थामा ने अत्यन्त क्रुद्ध हो उसके दो टुकड़े कर डाले।

समुत्सृज्याथ शैनेयो गौतमं रथिनां वरः।
अभ्यद्रवद् रणे द्रौणिं राहुः खे शशिनं यथा ।।३७।।

तब रथियों में श्रेष्ठ सात्यकि ने कृपाचार्य को छोड़कर रणभूमि में अश्वत्थामा पर उसी प्रकार आक्रमण किया जैसे आकाश में राहु चन्द्रमा पर आक्रमण करता है।

दृष्ट्वा पुत्रं च तं ग्रस्तं राहुणेव निशाकरम्।
अभ्यद्रवत शैनेयं भारद्वाजः प्रतापवान् ।।३८।।

जैसे राहु चन्द्रमा को ग्रस लेता है, वैसे ही सात्यकि द्वारा अपने पुत्र पर ग्रहण लगा हुआ देख प्रतापी द्रोणाचार्य ने उसपर धावा किया।

विव्याध च सुतीक्ष्णेन पृषत्केन महामृधे।
परीप्सन् स्वसुतं राजन् वार्ष्णेयेनाभिपीडितम् ।।३९।।

राजन्! उस महायुद्ध में सात्यकि द्वारा पीड़ित हुए अपने पुत्र की रक्षा करने के लिए आचार्य ने तीखे बाण से उसे घायल कर दिया।

सात्यकिस्तु रणे हित्वा गुरुपुत्रं महारथम्।
द्रोणं विव्याध विंशत्या सर्वपारशवैः शरैः ॥४०॥

तब सात्यकि ने रणभूमि में गुरुपुत्र महारथी अश्वत्थामा को छोड़कर पूर्णतः लोहे के बने हुए बीस बाणों से द्रोणाचार्य को बींध डाला।

तदन्तरममेयात्मा कौन्तेयः शत्रुतापनः।
अभ्यद्रवद् रणे क्रुद्धो द्रोणं प्रति महारथः ॥४१॥

इसी समय शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले अमेय आत्मबल से युक्त महारथी कुन्तीपुत्र अर्जुन रणक्षेत्र में क्रुद्ध होकर द्रोणाचार्य पर टूट पड़े।

ततो द्रोणश्च पार्थश्च समेयातां महामृधे।
यथा बुधश्च शुक्रश्च महाराज नभस्तले ॥४२॥

महाराज! फिर तो द्रोणाचार्य और अर्जुन उस महासमर में एक-दूसरे से भिड़ गये, मानो आकाश में बुध और शुक्र एक-दूसरे पर आक्रमण कर रहे हों।

अश्वत्थामा ततः शल्यो दुर्योधनः कृपस्तथा।
महता रथवंशेन पार्थस्यावारयन् दिशः ॥४३॥

तब अश्वत्थामा, शल्य, दुर्योधन और कृपाचार्य—इन सबने रथियों की विशाल सेना साथ लेकर उसके द्वारा अर्जुन की सम्पूर्ण दिशाओं—मार्गों को रोक दिया।

तथैव भगदत्तश्च श्रुतायुश्च महाबलः।
गजानीकेन भीमस्य तावबारयतां दिशः ॥४४॥

उसी प्रकार भगदत्त तथा महाबली श्रुतायु ने हाथियों की सेना द्वारा भीमसेन की सम्पूर्ण दिशाओं को रोक लिया।

भूरिश्रवाः शलश्चैव सौबलश्च विशाम्पते।
शरौघैर्विमलैस्तीक्ष्णैर्माद्रीपुत्राववारयन् ॥४५॥

प्रजेश्वर! भूरिश्रवा, शल तथा शकुनि ने तीखे और चमकीले बाणसमूहों की वर्षा करके माद्रीकुमार नकुल और सहदेव को रोका।

भीष्मस्तु संहतः संख्ये धार्तराष्ट्रैः ससैनिकैः।
युधिष्ठिरं समासाद्य सर्वतः पर्यवारयत् ॥४६॥

भीष्मजी ने सैनिकों के सहित आपके पुत्रों के साथ संगठित होकर युद्ध में राजा युधिष्ठिर के पास जाकर उन्हें सब ओर से घेर लिया।

तत्रासीत् सुमहद् युद्धं तव तेषां च संकुलम्।
नराश्वरथनागानां यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥४७॥

फिर तो उन तथा आपके पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथीसवारों में अत्यन्त भयंकर घमासान युद्ध होने लगा, जो यमराज के राष्ट्र की वृद्धि करनेवाला था।

रथी रथिनमासाद्य प्राहिणोद् यमसादनम्।
तथेतरान् समासाद्य नरनागाश्वसादिनः ॥४८॥

रथी ने रथी का सामना करके उसे यमलोक पठा दिया। पैदल, हाथीसवार और घुड़सवारों ने भी ऐसा ही किया।

अनयन् परलोकाय शरैः संनतपर्वभिः।
शरैश्च विविधैर्घोरैस्तत्र तत्र विशाम्पते ॥४९॥

प्रजेश्वर! उस रणभूमि में जहाँ-तहाँ सब योद्धा झुकी हुई गाँठवाले नाना प्रकार के भयंकर बाणों द्वारा अपने विपक्षियों को परलोक का अतिथि बनाने लगे।

रथास्तु रथिभिर्हीना हतसारथयस्तथा।
विप्रद्रुताश्वाः समरे दिशो जग्मुः समन्ततः ॥५०॥

कितने ही रथ रथियों और सारथियों से शून्य होकर भागते हुए घोड़ों के साथ सम्पूर्ण दिशाओं में चक्कर काट रहे थे।

रथिनश्च रथैर्हीनास्तत्र तत्र विशाम्पते।
विप्रद्रुता व्यदृश्यन्त प्राकृता इव मानवाः ॥५१॥

प्रजानाथ! कितने ही रथी रथों से हीन हो गये। रथहीन होकर वे गँवार [साधारण] मनुष्यों की भाँति जहाँ-तहाँ भागते दिखाई देते थे।

दन्तिनश्च नरश्रेष्ठ हीनाः परमसादिभिः।
मृद्नन्तः स्वान्यनीकानि निपेतुः सर्वशब्दगाः ॥५२॥

नरश्रेष्ठ! कितने ही दन्तार हाथी अपने श्रेष्ठ सवारों से रहित हो अपनी ही सेना को कुचलते हुए प्रत्येक शब्द के पीछे दौड़ते थे।

अश्वारोहान् हतैरश्वैर्गृहीतासीन् समन्ततः।
द्रवमाणानपश्याम द्राव्यमाणांश्च संयुगे ॥५३॥

हमने युद्ध में बहुत-से घुड़सवारों को देखा, जो घोड़ों के मारे जाने पर हाथ में तलवार लिये सब ओर भागते और शत्रुओं द्वारा खदेड़े जाते थे।

गजो गजं समासाद्य द्रवमाणं महाहवे।
ययौ प्रमृद्य तरसा पादातान् वाजिनस्तथा ॥५४॥

उस महायुद्ध में एक हाथी भागते हुए दूसरे हाथी के पास पहुँचकर अपने वेग से अनेक पैदल सिपाहियों तथा घोड़ों को कुचलता हुआ उसका अनुसरण करता था।

तस्मिन् रौद्रे तथा युद्धे वर्तमाने महाभये।
प्रावर्तत नदी घोरा शोणितान्त्रतरङ्गिणी ॥५५॥

उस महाभयंकर घोर युद्ध में रक्त और आँतों की तरंगों से युक्त एक भयानक नदी वह चली।

अस्थिसंघातसम्बाधा केशशवलशाद्वला।
रथह्लदा शरावर्ता हयमीना दुरासदा ॥५६॥

वह नदी हड्डियों के समूहरूपी शिलाखण्डों से भरी थी। मृत वीरों के केश ही उसमें सेवार और घास के समान प्रतीत होते थे। रथ कुण्ड और वाण भँवर के समान प्रतीत होते थे। घोड़े ही उस दुर्गम नदी के मत्स्य थे।

शीर्षोपलसमाकीर्णा हस्तिग्राहसमाकुला।
कवचोष्णीषफेनौघा धनुर्वेगासिकच्छपा ॥५७॥

उस नदी में कटे हुए मस्तक पत्थरों के टुकड़ों के समान बिखरे थे। हाथी ही उसमें विशाल ग्राहों के समान प्रतीत होते थे, कवच और पगड़ी फेनराशि के समान थे, धनुष ही उसका वेगयुक्त प्रवाह और खड्ग ही वहाँ कच्छप के समान जान पड़ते थे।

पताकाध्वजवृक्षाढ्या मर्त्यकूलापहारिणी।
क्रव्यादसंघसंकीर्णा यमराष्ट्रविवर्धनी ॥५८॥

उस नदी में पताका और ध्वजाएँ किनारे के वृक्षों के समान प्रतीत होती थीं। मनुष्यों की लाशें ही उसकी कगारें थीं, जिन्हें वह अपने वेग से तोड़-तोड़कर बहा रही थी, मांसाहारी पक्षियों के समूहों से वह भरी हुई थी। वह नदी यम के राज्य का विस्तार कर रही थी।

तां नदीं क्षत्रियाः शूरा रथनागहयप्लवैः।
प्रतेरुर्बहवो राजन् भयं त्यक्त्वा महारथाः ॥५९॥

राजन्! बहुत-से शूरवीर महारथी क्षत्रिय नौका के समान घोड़े, रथ, हाथी आदि पर चढ़कर भय से रहित हो उस नदी के पार जा रहे थे।

प्राक्रोशन् क्षत्रियास्तत्र दृष्ट्वा तद् वैशसं महत्।
दुर्योधनापराधेन गच्छन्ति क्षत्रियाः क्षयम् ॥६०॥

वहाँ खड़े हुए क्षत्रिय उस भीषण मार-काट को देखकर पुकार-पुकारकर यह कह रहे थे कि "दुर्योधन के अपराध से ही सारे क्षत्रिय विनाश को प्राप्त हो रहे हैं।

गुणवत्सु कथं द्वेषं धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
कृतवान् पाण्डुपुत्रेषु पापात्मा लोभमोहितः ॥६१॥

"पापात्मा राजा धृतराष्ट्र ने लोभ से मोहित होकर गुणवान् पाण्डवों से द्वेष क्यों किया?"

एवं बहुविधा वाचः श्रूयन्ते स्म परस्परम्।
पाण्डवस्तवसंयुक्ताः पुत्राणां ते सुदारुणाः ॥६२॥

महाराज! इस प्रकार वहाँ परस्पर कही हुई पाण्डवों की प्रशंसा तथा आपके पुत्रों की अत्यन्त भयंकर निन्दा से युक्त नाना प्रकार की बातें सुनाई पड़ती थीं।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

अनेक द्वन्द्व युद्ध, श्रीकृष्ण का भीष्म को मारने के लिए उद्यत होना और अर्जुन का उन्हें रोकना तथा नवें दिन के युद्ध की समाप्ति

सञ्जय उवाच

एकीभूतास्ततः सर्वे कुरवः सह पाण्डवैः।
अयुध्यन्त महाराज मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! दोपहर होते-होते समस्त कौरव संगठित होकर पाण्डवों के साथ घोर युद्ध करने लगे।

भीमसेनस्तु राजानं बाह्लीकं प्रपितामहम्।
विद्ध्वा नदन्महानादं शार्दूल इव कानने ॥२॥

भीमसेन ने अपने प्रपितामह राजा बाह्लीक को बाणों द्वारा घायल करके वन में सिंह के समान बड़े जोर से गर्जना की।

तथैव द्रुपदो राजा द्रोणं विद्ध्वा शितैः शरैः।
पुनर्विव्याध सप्तत्या सारथिं चास्य पञ्चभिः ॥३॥

इसी प्रकार राजा द्रुपद ने द्रोणाचार्य को एक बार तीखे बाणों से घायल करके सत्तर बाणों द्वारा पुनः घायल किया तथा पाँच बाणों से उसके सारथि को भी बींध डाला।

आर्जुनिश्चित्रसेनेन विद्धो बहुभिराशुगैः।
अतिष्ठदाहवे शूरः किरन् बाणान् सहस्रशः ॥४॥

अर्जुनकुमार अभिमन्यु को चित्रसेन ने बहुत-से बाणों द्वारा बींध डाला, तो भी शूरवीर अभिमन्यु सहस्रों बाणों की वर्षा करता हुआ रणभूमि में डटा रहा।

सात्यकिः कृतवर्माणं वारयित्वा महारणे।
शरैर्बहुविधै राजन्नाससाद पितामहम् ॥५॥

राजन्! दूसरी ओर उस महायुद्ध में सात्यकि ने कृतवर्मा को रोककर अनेक प्रकार से बाणों की वर्षा करते हुए पितामह भीष्म पर धावा किया।

तस्यायसीं महाशक्तिं चिक्षेपाथ पितामहः।
हेमचित्रां महावेगां नागकन्योपमां शुभाम् ॥६॥

पितामह ने सात्यकि पर लोह-निर्मित एक विशाल शक्ति चलाई जो स्वर्णजटित, अत्यन्त वेग-शालिनी तथा सर्पिणी के समान आकारवाली और सुन्दर थी।

तामापतन्तीं सहसा मृत्युकल्पां सुदुर्जयाम्।
व्यंसयामास वार्ष्णेयो लाघवेन महायशाः ॥७॥

उस अत्यन्त दुर्जय मृत्युरूपी शक्ति को सहसा अपनी ओर आते देख महायशस्वी सात्यकि ने अपनी फुर्ती के कारण उसे असफल कर दिया।

वार्ष्णेयस्तु ततो राजन्स्वां शक्तिं कनकप्रभाम्।
वेगवद् गृह्य चिक्षेप पितामहरथं प्रति ॥८॥

राजन्! उस वार को बचाकर सात्यकि ने भी अपनी सुनहरी तथा प्रभावशाली शक्ति लेकर उसे भीष्म के रथ पर बड़े वेग से चलाया।

तामापतन्तीं सहसा द्विधा चिच्छेद भारतः।
क्षुरप्राभ्यां सुतीक्ष्णाभ्यां सा व्यशीर्यत मेदिनीम् ॥९॥

परन्तु भरतवंशी भीष्म ने अपने दो अत्यन्त तीखे क्षुरप्रों से उस सहसा आती हुई शक्ति को दो स्थानों से काट दिया जिससे वह छिन्न-भिन्न होकर पृथिवी पर गिर पड़ी।

छित्त्वा शक्तिं तु गाङ्गेयः सात्यकिं नवभिः शरैः।
आजघानोरसि क्रुद्धः प्रहसञ्छत्रुकर्शनः ॥१०॥

उस शक्ति को काटकर हँसते हुए शत्रुसन्तापक गङ्गानन्दन भीष्म ने कुपित हो सात्यकि की छाती में नौ बाण मारे।

ततः सरथनागाश्वाः पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज।
परिवव्रू रणे भीष्मं माधवत्राणकारणात् ॥११॥

पाण्डु अग्रज! उस समय मधुवंशी सात्यकि को बचाने के लिए पाण्डवों ने रथ, घोड़े और हाथियों की सेना के साथ आकर युद्धभूमि में भीष्म को चारों ओर से घेर लिया।

स समन्तात् परिवृतो रथौघैरपराजितः।
गहनेऽग्निरिवोत्सृष्टः प्रजज्वाल दहन् परान् ॥१२॥

उस समय चारों ओर से रथसमूहों द्वारा घिरे हुए अपराजित वीर भीष्म गहन वन में लगाई हुई अग्नि के समान शत्रुओं को दग्ध करते हुए प्रज्वलित हो उठे।

रथाग्न्यागारश्चापार्चिरसिशक्तिगदेन्धनः।
शरस्फुलिङ्गो भीष्माग्निर्ददाह क्षत्रियर्षभान् ॥१३॥

रथ ही उनके लिए अग्निशाला के समान था, धनुष ज्वालाओं के समान प्रकाशित होता था, खड्ग, शक्ति और गदा आदि अस्त्र-शस्त्र समिधा का काम कर रहे थे, बाण चिंगारियों के समान थे। इस प्रकार भीष्मरूपी अग्नि वहाँ क्षत्रिय-शिरोमणियों को दग्ध करने लगी।

अमोघा ह्यपतन् बाणाः पितुस्ते भरतर्षभ।
नासज्जन्त तनुत्रेषु भीष्मचापच्युताः शराः ॥१४॥
हतवीरान् रथान् राजन् संयुक्ताञ्जवनैर्हयैः।
अपश्याम महाराज ह्रियमाणान् रणाजिरे ॥१५॥

भरतश्रेष्ठ! आपके ताऊ भीष्म के बाण कभी खाली नहीं जाते थे। राजन्! भीष्म के धनुष से छूटे हुए बाण कवचों में भी नहीं अटकते थे [उन्हें

छिन्न-भिन्न करके भीतर घुस जाते थे]। महाराज! हमने रणभूमि में ऐसे बहुत-से रथ देखे, जिनके रथी और सारथि तो मार दिये गये थे, परन्तु वेगशाली घोड़ों से जुते हुए होने के कारण वे इधर-उधर खींच-कर ले जाए जा रहे थे।

महेन्द्रसमवीर्येण वध्यमाना महाचमूः।
अभज्यत महाराज न च द्वौ सह धावतः ॥१६॥

महाराज! महेन्द्र के समान पराक्रमी भीष्मजी के द्वारा मारी जाती हुई उस विशाल सेना में भगदड़ मच गई थी। भगदड़ भी ऐसी कि दो आदमी भी एक-साथ नहीं भागते थे।

तद् गोकुलमिवोद्भ्रान्तमुद्भ्रान्तरथकूबरम्।
ददृशे पाण्डुपुत्रस्य सैन्यमार्तस्वरं तदा ॥१७॥

उस समय पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर की सारी सेना [सिंह से डरी हुई] गौओं के झुण्ड की भाँति घबराहट में पड़ गई थी। रथ के कूबर उलट-पलट हो गये थे तथा सभी सैनिक आर्तनाद कर रहे थे।

प्रभज्यमानं सैन्यं तु दृष्ट्वा यादवनन्दनः।
उवाच पार्थं बीभत्सुं निगृह्य रथमुत्तमम् ॥१८॥

उस सेना में भगदड़ मची देख यादवनन्दन श्रीकृष्ण ने अपने उत्तम रथ को रोककर कुन्तीकुमार अर्जुन से कहा—

कृष्ण उवाच

अयं स कालः सम्प्राप्तः पार्थ यः काङ्क्षितस्त्वया।
प्रहरास्मिन् नरव्याघ्र न चेन्मोहाद् विमुह्यसे ॥१९॥

श्रीकृष्ण बोले—पार्थ! तुम्हें जिस अवसर की अभिलाषा और प्रतीक्षा थी, वह समय आ गया। पुरुषसिंह! यदि तुम मोह से मोहित नहीं हो रहे हो तो भीष्म पर प्रहार करो।

यत्पुरा कथितं वीर राज्ञां तेषां समागमे।
विराटनगरे तात सञ्जयस्य समीपतः ॥२०॥
भीष्मद्रोणमुखान्सर्वान्धार्तराष्ट्रस्य सैनिकान्।
सानुबन्धान्हनिष्यामि ये मां योत्स्यन्ति संयुगे ॥२१॥
इति तत् कुरु कौन्तेय सत्यं वाक्यमरिन्दम।
क्षत्रधर्ममनुस्मृत्य युध्यस्व विगतज्वरः ॥२२॥

वीर! तात! पूर्वकाल में जब समस्त नरेश विराटनगर में एकत्र हुए थे, उनके सामने और सञ्जय के समीप तुमने जो यह कहा था कि 'मैं युद्ध में, जो मेरा सामना करने आएँगे, दुर्योधन के उन भीष्म, द्रोण आदि समस्त सैनिकों को, सगे-सम्बन्धियोंसहित मार डालूँगा।' शत्रुदमन कुन्ती-नन्दन! अब अपने उस कथन को सत्य सिद्ध कर दिखाओ। तुम क्षत्रियधर्म का स्मरण करके सारी चिन्ताएँ छोड़कर युद्ध करो।

अर्जुन उवाच

अवध्यानां वधं कृत्वा राज्यं वा नरकोत्तरम्।
दुःखानि वनवासे वा किं नु मे सुकृतं भवेत् ॥२३॥

अर्जुन बोले—प्रभो! मैं अवध्य महापुरुषों का वध करके नरक से भी बढ़कर निन्दनीय राज्य प्राप्त करूँ अथवा वनवास में रहकर कष्ट भोगूँ—इन दोनों में कौन-सी बात मेरे लिए पुण्यदायक होगी?

नोदयाश्वान् यतो भीष्मः करिष्ये वचनं तव।
पातयिष्यामि दुर्धर्षं भीष्मं कुरुपितामहम् ॥२४॥

अच्छा, जिधर भीष्म हैं उधर ही घोड़ों को बढ़ाइए। आज मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा और कुरुकुल के वृद्ध पितामह, दुर्धर्ष वीर भीष्म को मार गिराऊँगा।

सञ्जय उवाच

स चाश्वान् रजतप्रख्यान्नोदयामास माधवः।
यतो भीष्मस्ततो राजन् दुष्प्रेक्ष्यो रश्मिवानिव ॥२५॥

सञ्जय ने कहा—राजन्! तब श्रीकृष्ण ने चाँदी के समान सफेद रंगवाले घोड़ों को उसी ओर हाँका, जहाँ अंशुमाली सूर्य के समान दुर्निरीक्ष्य भीष्म युद्ध कर रहे थे।

ततस्तत् पुनरावृत्तं यौधिष्ठिरबलं महत्।
दृष्ट्वा पार्थं महाबाहुं भीष्मायोद्यतमाहवे ॥२६॥

महाबाहु कुन्तीकुमार अर्जुन को भीष्म के साथ युद्ध करने के लिए उद्यत देख युधिष्ठिर की भागती हुई सेना पुनः लौट आई।

ततो भीष्मः कुरुश्रेष्ठः सिंहवद् विनदन् मुहुः।
धनञ्जयरथं शीघ्रं शरवर्षैरवाकिरत् ॥२७॥

उधर बारम्बार सिंहनाद करते हुए कुरुश्रेष्ठ भीष्म ने अर्जुन के रथ पर शीघ्र ही बाण-वृष्टि आरम्भ कर दी।

क्षणेन स रथस्तस्य सहयश्च ससारथिः ।
शरवर्षेण महता न प्राज्ञायत भारत ॥२८॥

हे भारत ! कुछ ही देर में बाणों की उस भीषण वर्षा के कारण सारथि और घोड़ोंसहित उनका वह रथ ऐसा अदृश्य हो गया कि उसका कुछ पता ही न चलता था ।

वासुदेवस्त्वसम्भ्रान्तो धैर्यमास्थाय सत्वरः ।
प्रेरयामास तानश्वान् विनुन्नान् भीष्मसायकैः ॥२९॥

परन्तु श्रीकृष्ण बिना किसी घबराहट के धैर्य धारण कर भीष्म के सायकों से क्षत-विक्षत हुए उन घोड़ों को शीघ्रतापूर्वक हाँक रहे थे ।

ततः पार्थो धनुर्गृह्य दिव्यं जलदनिःस्वनम् ।
पातयामास भीष्मस्य धनुश्छित्वा शितैः शरैः ॥३०॥

तब कुन्तीपुत्र अर्जुन ने मेघ के समान गम्भीर घोष करनेवाले अपने दिव्य धनुष को हाथ में लेकर तीखे बाणों द्वारा भीष्म के धनुष को काट गिराया ।

स च्छिन्नधन्वा कौरव्यः पुनरन्यन्महद् धनुः ।
निमेषान्तरमात्रेण सज्यं चक्रे पिता तव ॥३१॥

धनुष कट जाने पर आपके ताऊ कुरुकुलभूषण भीष्म ने पुनः दूसरा धनुष हाथ में ले पलक मारते-मारते उसपर प्रत्यञ्चा=डोरी चढ़ा दी ।

चकर्ष च ततो दोर्भ्यां धनुर्जलदनिःस्वनम् ।
अथास्य तदपि क्रुद्धश्चिच्छेद धनुरर्जुनः ॥३२॥

तत्पश्चात् मेघों के समान गम्भीर नाद करनेवाले उस धनुष को उन्होंने दोनों हाथों से खेंचा । इतने में ही कुपित हुए अर्जुन ने उनके उस धनुष को भी काट दिया ।

तस्य तत् पूजयामास लाघवं शान्तनोः सुतः ।
साधु साधु महाबाहो गाङ्गेयस्त्वब्रवीदिति ॥३३॥

राजन् ! उस समय शान्तनुकुमार गंगानन्दन भीष्म ने अर्जुन की उस फुर्ती के लिए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और इस प्रकार कहा—"महाबाहो ! बहुत अच्छा, तुम्हें साधुवाद !"

समाभाष्यैवमपरं प्रगृह्य रुचिरं धनुः ।
मुमोच समरे भीष्मः शरान् पार्थरथं प्रति ॥३४॥

ऐसा कहकर भीष्म ने पुनः दूसरा सुन्दर धनुष लेकर रणभूमि में अर्जुन के रथ पर बाणों की वर्षा आरम्भ कर दी ।

अदर्शयद् वासुदेवो हययाने परं बलम् ।
मोघान् कुर्वञ्शरांस्तस्य मण्डलानि निदर्शयन् ॥३५॥

उस समय श्रीकृष्ण ने घोड़ों के हाँकने की कला में अपनी अद्भुत शक्ति दिखाई । वे अनेक प्रकार के पैंतरे दिखाते हुए भीष्म के बाणों को व्यर्थ करते जा रहे थे ।

वासुदेवस्तु सम्प्रेक्ष्य पार्थस्य मृदुयुद्धताम् ।
नामृष्यत महाबाहुर्माधवः परवीरहा ॥३६॥

शत्रुवीरों का नाश करनेवाले महाबाहु माधव श्रीकृष्ण ने जब देखा कि अर्जुन मन लगाकर युद्ध नहीं कर रहे हैं, अपितु वे भीष्म के प्रति कोमलता दिखा रहे हैं, तब वे उसे सहन न कर सके ।

उत्सृज्य रजतप्रख्यान्हयान्पार्थस्य मारिष ।
वासुदेवस्ततो योगी प्रचस्कन्द महारथात् ॥३७॥
अभिदुद्राव भीष्मं स भुजप्रहरणो बली ।
प्रतोदपाणिस्तेजस्वी सिंहवद् विनदन् मुहुः ॥३८॥

आर्य ! योगेश्वर श्रीकृष्ण चाँदी के समान श्वेत रंगवाले अर्जुन के घोड़ों को छोड़कर उस विशाल रथ से कूद पड़े और केवल भुजाओं को ही आयुध बनाये हुए हाथ में चाबुक उठाये, बारम्बार सिंहनाद करते हुए बलवान् एवं तेजस्वी कृष्ण भीष्म की ओर बड़े वेग से दौड़े ।

दृष्ट्वा माधवमाक्रन्दे भीष्मायोद्यतमन्तिके ।
हतो भीष्मो हतो भीष्मस्तत्र तत्र वचो महत् ॥३९॥

राजन् ! उस मार-काट में श्रीकृष्ण को समीप आकर भीष्म के वध के लिए उद्यत हुआ देख चारों ओर यह महान् कोलाहल सुनाई देने लगा कि—'भीष्म मारे गये, भीष्म मारे गये !'

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य पुण्डरीकाक्षमाहवे ।
उवाच भीष्मो गोविन्दमसम्भ्रान्तेन चेतसा ॥४०॥

उस महासमर में कमलनयन श्रीकृष्ण को अपनी ओर आते देख भीष्मजी व्यग्रताशून्य मन से उन्हें सम्बोधित करते हुए बोले—

मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे ।
त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममानघ ॥४१॥

श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः ।
प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव माधव ॥४२॥

"सात्वतशिरोमणे ! इस महासमर में आज आप मुझे मार गिराइए। देव ! निष्पाप कृष्ण ! आपके द्वारा संग्राम में मारे जाने पर भी संसार में सब ओर मेरा परमकल्याण=यश ही होगा। माधव ! मैं आपका दास हूँ। आप अपनी इच्छानुसार मुझपर प्रहार कीजिए।

अन्वगेव ततः पार्थः समभिद्रुत्य केशवम् ।
निजग्राह महाबाहुर्बाहुभ्यां परिगृह्य वै ॥४३॥

इधर महाबाहु अर्जुन श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे दौड़ रहे थे। उन्होंने श्रीकृष्ण को अपनी दोनों भुजाओं से पकड़कर किसी प्रकार काबू में कर लिया।

निगृह्यमाणः पार्थेन कृष्णो राजीवलोचनः ।
जगामैवैनमादाय वेगेन पुरुषोत्तमः ॥४४॥

अर्जुन के द्वारा पकड़े जाने पर भी कमलनयन पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण उन्हें घसीटते हुए ही वेगपूर्वक आगे बढ़ने लगे।

बलात् पार्थस्तु विष्टभ्य चरणौ परवीरहा ।
निजग्राह हृषीकेशं कथञ्चिद् दशमे पदे ॥४५॥

तब शत्रुवीरों के संहारक अर्जुन ने बलपूर्वक श्रीकृष्ण के चरणों को पकड़ लिया और इस प्रकार दसवें पग तक जाते-जाते वे किसी प्रकार उन्हें रोकने में सफल हो गये।

तत एवमुवाचार्तः क्रोधपर्याकुलेक्षणम् ।
निवर्तस्व महाबाहो नानृतं कर्तुमर्हसि ॥४६॥

उस समय श्रीकृष्ण के नेत्र क्रोध से व्याप्त हो रहे थे। उन्हें रोककर अर्जुन आर्तभाव से बोले—"महाबाहो ! लौटिए, अपनी प्रतीज्ञा को झूठी मत कीजिए।

यत् त्वया कथितं पूर्वं न योत्स्यामीति केशव ।
मिथ्यावादीति लोकास्त्वां कथयिष्यन्ति माधव ॥४७॥

"केशव ! आपने पहले जो यह कहा था कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा,' अपने उस वचन की रक्षा कीजिए। अन्यथा हे माधव ! सब लोग आपको मिथ्यावादी कहेंगे।

ममैष भारः सर्वो हि हनिष्यामि पितामहम् ।
शपे केशव शस्त्रेण सत्येन सुकृतेन च ॥४८॥

"केशव ! यह सारा भार मुझपर है। मैं अपने अस्त्र-शस्त्र, सत्य और पुण्यकर्मों की शपथ खाकर कहता हूँ कि मैं पितामह भीष्म का वध करूँगा।

अन्तं यथा गमिष्यामि शत्रूणां शत्रुसूदन ।
अद्यैव पश्य दुर्धर्षं पात्यमानं महारथम् ॥४९॥

"शत्रुसूदन ! मैं सब शत्रुओं का संहार कर डालूँगा। देखिए, मैं आज ही दुर्जय वीर महारथी भीष्म को मार गिराता हूँ।"

माधवस्तु वचः श्रुत्वा फाल्गुनस्य महात्मनः ।
न किंचिदुक्त्वा सक्रोध आरुरोह रथं पुनः ॥५०॥

महामना अर्जुन का यह वचन सुनकर श्रीकृष्ण कुछ भी न बोलकर पुनः क्रोधपूर्वक ही रथ पर जा बैठे।

तौ रथस्थौ नरव्याघ्रौ भीष्मः शान्तनवः पुनः ।
ववर्ष शरवर्षेण मेघो वृष्टया यथाचलौ ॥५१॥

पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुन को रथ पर बैठे देख शान्तनुनन्दन भीष्म ने पुनः उनपर बाण-वृष्टि आरम्भ कर दी, मानो मेघ दो पर्वतों पर जल की धारा गिरा रहा हो।

प्राणानादत्त योधानां पिता देवव्रतस्तव ।
गभस्तिभिरिवादित्यस्तेजांसि शिशिरात्यये ॥५२॥

राजन् ! आपके ताऊ देवव्रत उसी प्रकार पाण्डव-योद्धाओं के प्राण लेने लगे, जैसे ग्रीष्म-ऋतु में सूर्य अपनी किरणों द्वारा सबका तेज हर लेते हैं।

यथा कुरूणां सैन्यानि बभञ्जुर्युधि पाण्डवाः ।
तथा पाण्डवसैन्यानि बभञ्ज युधि ते पिता ॥५३॥

राजेन्द्र ! जैसे पाण्डवों ने युद्ध में कौरव-सेनाओं को खदेड़ा था, उसी प्रकार आपके ताऊ भीष्म ने भी पाण्डव-सेनाओं को मार भगाया।

युध्यतामेव तेषां तु भास्करेऽस्तमुपागते ।
सन्ध्या समभवद् घोरा नापश्याम ततो रणम् ॥५४॥

कौरव और पाण्डवों के युद्ध करते-करते ही सूर्य अस्ताचल को चला गया तथा भयंकर संध्याकाल आ गया। फिर हम लोगों ने युद्ध नहीं देखा।

ततोऽवहारं सैन्यानां चक्रे राजा युधिष्ठिरः।
तथैव तव सैन्यानामवहारो ह्यभूत् तदा ॥५५॥

सूर्यास्त होने पर महाराज युधिष्ठिर ने अपनी सेना को पीछे लौटा लिया। इसी प्रकार आपकी सेना भी उस समय युद्धस्थल से शिविर की ओर लौट चली।

ततोऽवहारं सैन्यानां कृत्वा तत्र महारथाः।
न्यविशन्त कुरुश्रेष्ठ संग्रामे क्षतविक्षताः ॥५६॥

कुरुश्रेष्ठ! इस प्रकार संग्राम में क्षत-विक्षत हुए वे सब महारथी सेना को लौटाकर शिविरों में विश्राम करने लगे।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

षड्विंशोऽध्यायः

पाण्डवों की गुप्त मन्त्रणा, श्रीकृष्णसहित पाण्डवों का भीष्मजी से मिलकर उनके वध का उपाय जानना

सञ्जय उवाच

तस्मिन् रात्रिमुखे घोरे पाण्डवा वृष्णिभिः सह।
सृञ्जयाश्च दुराधर्षा मन्त्राय समुपाविशन् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! उस भयंकर रात्रि के आरम्भकाल में वृष्णिवंशियोंसहित दुर्धर्ष सृञ्जय और पाण्डव गुप्त मन्त्रणा के लिए एक-साथ बैठे।

ततो युधिष्ठिरो राजा मन्त्रयित्वा चिरं नृप।
वासुदेवं समुद्वीक्ष्य वचनं चेदमाददे ॥२॥

उस समय राजा युधिष्ठिर ने दीर्घकाल तक मन्त्रणा करने के पश्चात् वासुदेवनन्दन श्रीकृष्ण की ओर देखकर यह बात कही—

कृष्ण पश्य महात्मानं भीष्मं भीमपराक्रमम्।
गजं नलवनानीव विमृद्नन्तं बलं मम ॥३॥

"श्रीकृष्ण! देखिए, भयंकर पराक्रमी महात्मा भीष्म हमारी सेना को उसी प्रकार कुचल रहे हैं, जैसे हाथी सरकण्डों के जंगलों को रौंद डालते हैं।

सोऽहमेवंगते कृष्ण निमग्नः शोकसागरे।
आत्मनो बुद्धिदौर्बल्याद् भीष्ममासाद्य संयुगे ॥४॥

"श्रीकृष्ण! ऐसी अवस्था में मैं अपनी बुद्धि की दुर्बलता के कारण रणभूमि में भीष्म को सामने देखकर शोक-सागर में डूबा जा रहा हूँ।

यदि तेऽहमनुग्राह्यो भ्रातृभिः सह केशव।
स्वधर्मस्याविरोधेन हितं व्याहर माधव ॥५॥

"केशव! माधव! यदि भाइयोंसहित मुझपर आपका अनुग्रह है तो मुझे स्वधर्म के अनुकूल कोई हितकारक परामर्श दीजिए।"

कृष्ण उवाच

धर्मपुत्र विषादं त्वं मा कृथाः सत्यसङ्गर।
यस्य ते भ्रातरः शूरा दुर्जयाः शत्रुसूदनाः ॥६॥

श्रीकृष्ण बोले—धर्मपुत्र! सत्यप्रतिज्ञ युधिष्ठिर! विषाद मत कीजिए। आपके भाई अत्यन्त शूरवीर, दुर्जय और शत्रुओं का संहार करने में समर्थ हैं।

अर्जुनो भीमसेनश्च वाय्वग्निसमतेजसौ।
माद्रीपुत्रौ च विक्रान्तौ त्रिदशानामिवेश्वरौ ॥७॥

अर्जुन और भीमसेन वायु और अग्नि के समान तेजस्वी हैं। माद्रीकुमार नकुल और सहदेव भी पराक्रम में दो इन्द्रों के समान हैं।

मां वा नियुङ्क्ष्व सौहार्दाद्योत्स्ये भीष्मेण पाण्डव।
त्वत्प्रयुक्तो महाराज किं न कुर्यां महाहवे ॥८॥

पाण्डुनन्दन! महाराज! आप सौहार्दवश मुझे भी आज्ञा दीजिए। मैं भीष्म से युद्ध करूँगा। भला आपका आदेश मिलने पर मैं इस महासमर में क्या नहीं कर सकता?

हनिष्यामि रणे भीष्ममाहूय पुरुषर्षभम्।
पश्यतां धार्तराष्ट्राणां यदि नेच्छति फाल्गुनः ॥९॥

यदि अर्जुन भीष्म को मारना नहीं चाहते तो मैं युद्ध में पुरुषश्रेष्ठ भीष्म को ललकारकर धृतराष्ट्र के पुत्रों के देखते-देखते मार डालूंगा।

यः शत्रुः पाण्डुपुत्राणां मच्छत्रुः स न संशयः।
मदर्था भवदीया ये ये मदीयास्तवैव ते ॥१०॥

जो पाण्डवों का शत्रु है, वह मेरा भी शत्रु है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। जो आपके सुहृद् हैं,

वे मेरे भी सुहृद् हैं और जो मेरे सुहृद् हैं, वे आपके ही हैं।

तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च।
मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थे महीपते ॥११॥

राजन्! आपके भाई अर्जुन मेरे सखा, सम्बन्धी और शिष्य हैं। मैं अर्जुन के लिए अपना मांस भी काटकर दे दूँगा।

एष चापि नरव्याघ्रो मत्कृते जीवितं त्यजेत्।
एष नः समयस्तात तारयेम परस्परम् ॥१२॥

ये पुरुषसिंह अर्जुन भी मेरे लिए अपने प्राणों तक का परित्याग कर सकते हैं। तात! हम लोगों में यह प्रतिज्ञा हो चुकी है कि हम एक-दूसरे की संकट में रक्षा करेंगे।

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि माधव।
सर्वे ह्येते न पर्याप्तास्तव वेगविधारणे ॥१३॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहो! माधव! आप जैसा कहते हैं, ठीक वैसी ही बात है। ये समस्त कौरव भी आपका वेग धारण करने में समर्थ नहीं हैं।

न तु त्वामनृतं कर्तुमुत्सहे स्वात्मगौरवात्।
अयुध्यमानः साहाय्यं यथोक्तं कुरु माधव ॥१४॥

माधव! मैं अपनी गुरुता का प्रभाव डालकर आपको असत्यवादी नहीं बना सकता। आप युद्ध किये बिना ही पूर्वोक्त सहायता करते रहिए।

समयस्तु कृतः कश्चिन्मम भीष्मेण संयुगे।
मन्त्रयिष्ये तवार्थाय न तु योत्स्ये कथञ्चन ॥१५॥

मेरी भीष्मजी के साथ एक शर्त हो चुकी है। उन्होंने कहा था—'मैं युद्ध में तुम्हारे हित का परामर्श दे सकता हूँ, परन्तु तुम्हारी ओर से युद्ध किसी प्रकार भी न करूँगा।'

तस्माद् देवव्रतं भूयो वधोपायार्थमात्मनः।
भवता सहिताः सर्वे प्रयाम मधुसूदन ॥१६॥

अतः मधुसूदन! हम सब लोग आपके साथ देवव्रत भीष्म के पास उन्हीं से उनके वध का उपाय पूछने चलें।

सञ्जय उवाच

ततोऽब्रवीन्महाराज वार्ष्णेयः कुरुनन्दनम्।
रोचते मे महाप्राज्ञ राजेन्द्र तव भाषितम् ॥१७॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! तब श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा—"महामते राजेन्द्र! आपका कथन मुझे ठीक जान पड़ता है।

गत्वा शान्तनवं वृद्धं मन्त्रं पृच्छाम भारत।
स वो दास्यति मन्त्रं यं तेन योत्स्यामहे परान् ॥१८॥

"हे भारत! हम वहाँ चलकर वृद्ध शान्तनुनन्दन भीष्म से हितकारक मन्त्रणा पूछें। वे आपको ऐसी सलाह देंगे, जिससे हम लोग शत्रुओं के साथ युद्ध कर सकेंगे।

एवमामन्त्र्य ते वीराः पाण्डवाः पाण्डुपूर्वजम्।
जग्मुस्ते सहिताः सर्वे वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥१९॥

वे वीर पाण्डव इस प्रकार परामर्श करके सब एक-साथ मिलकर अपने पिता पाण्डु के भी पितृतुल्य भीष्म पितामह के पास गये। उनके साथ पराक्रमी श्रीकृष्ण भी थे।

विमुक्तशस्त्रकवचा भीष्मस्य सदनं प्रति।
प्रविश्य च तदा भीष्मं शिरोभिः प्रणिपेदिरे ॥२०॥

उन सबने अस्त्र-शस्त्र और कवच रख दिये थे। वे सब भीष्म के शिविर की ओर गये तथा उसके भीतर प्रवेश करके उन्होंने मस्तक झुकाकर भीष्म को प्रणाम किया।

तानुवाच महाबाहुर्भीष्मः कुरुपितामहः।
स्वागतं तव वार्ष्णेय स्वागतं ते धनञ्जय ॥२१॥
स्वागतं धर्मपुत्राय भीमाय यमयोस्तथा।
किं वा कार्यं करोम्यद्य युष्माकं प्रीतिवर्धनम् ॥२२॥

उस समय कुरुकुल के पितामह महाबाहु भीष्म ने उन सब लोगों से कहा—"वृष्णिनन्दन! आपका स्वागत है। धनञ्जय! तुम्हारा भी स्वागत है। धर्मपुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल और सहदेव सबका स्वागत है। आज मैं तुम सब लोगों की प्रसन्नता बढ़ानेवाला कौन-सा कार्य करूँ?"

तथा ब्रुवाणं गाङ्गेयं प्रीतियुक्तं पुनः पुनः।
उवाच राजा दीनात्मा प्रीतियुक्तमिदं वचः ॥२३॥

गङ्गानन्दन भीष्म जब बारम्बार इस प्रकार

प्रसन्नतापूर्वक कह रहे थे, उस समय राजा युधिष्ठिर ने दीन हृदय से प्रीतिपूर्वक यह बात कही—

वर्षता शरवर्षाणि संयुगे वैशसं कृतम्।
क्षयं नीता हि पृतना संयुगे महती मम ॥२४॥

"पितामह! आपने युद्धस्थल में बाणों की वर्षा करके भारी संहार मचा रखा है। रणभूमि में मेरी विशाल सेना आपके द्वारा नष्ट हो चुकी है।

कथं जयेम सर्वज्ञ कथं राज्यं लभेमहि।
भवान् हि नो वधोपायं ब्रवीतु स्वयमात्मनः ॥२५॥

"सर्वज्ञ! युद्ध में हमें विजय कैसे प्राप्त हो? हम किस प्रकार राज्य प्राप्त करें? आप स्वयं ही हमें अपने वध का उपाय बताइए।"

भीष्म उवाच

न कथञ्चन कौन्तेय मयि जीवति संयुगे।
जयो भवति सर्वज्ञ सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥२६॥

भीष्मजी बोले—कुन्तीकुमार! मेरे जीते-जी युद्ध में किसी प्रकार तुम्हारी विजय नहीं हो सकती। सर्वज्ञ! मैं तुमसे यह सच्ची बात कह सकता हूँ।

निर्जिते मयि युद्धेन रणे जेष्यथ पाण्डवाः।
क्षिप्रं मयि प्रहरध्वं यदीच्छथ रणे जयम् ॥२७॥

पाण्डवो! यदि युद्ध के द्वारा मैं किसी प्रकार जीत लिया जाऊँ, तभी युद्ध में तुम विजयी हो सकोगे, अतः युद्ध में विजय पाने के लिए मुझपर शीघ्र ही घातक प्रहार करो।

य एष द्रौपदो राजंस्तव सैन्ये महारथः।
शिखण्डी समरामर्षी शूरश्च समितिञ्जयः ॥२८॥

राजन्! तुम्हारी सेना में जो यह द्रुपदपुत्र महारथी शिखण्डी है, वह समरभूमि में अमर्षशील, शौर्यसम्पन्न और युद्धविजयी है।

अर्जुनः समरे शूरः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम्।
मामेव विशिखैस्तीक्ष्णैरभिद्रवतु दंशितः ॥२९॥

शूरवीर अर्जुन रणभूमि में कवच धारण करके और शिखण्डी को आगे रखकर मुझपर तीखे बाणों द्वारा आक्रमण करे।

अमङ्गल्यध्वजे तस्मिन् स्त्रीपूर्वे च विशेषतः।
न प्रहर्तुमभीप्सामि गृहीतेषुः कथञ्चन ॥३०॥

शिखण्डी के रथ की ध्वजा अमाङ्गलिक चिह्न से युक्त है, विशेषतः वह पहले स्त्री रहा है, अतः मैं हाथ में बाण लिये रहने पर भी किसी प्रकार उसपर प्रहार नहीं करना चाहता।

तदन्तरं समासाद्य पाण्डवो मां धनञ्जयः।
शरैर्घातयतु क्षिप्रं समन्ताद् भरतर्षभ ॥३१॥

भरतश्रेष्ठ! इसी अवसर का लाभ उठाकर पाण्डुपुत्र अर्जुन मुझे चारों ओर से शीघ्रतापूर्वक बाणों द्वारा मार डालने का प्रयत्न करे।

सञ्जय उवाच

ते तु ज्ञात्वा ततः पार्था जग्मुः स्वशिबिरं प्रति।
अभिवाद्य महात्मानं भीष्मं कुरुपितामहम् ॥३२॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! यह सब जानकर कुन्ती के सभी पुत्र कुरुकुल के वृद्ध पितामह महात्मा भीष्म को प्रणाम करके अपने शिविर की ओर चले गये।

तथोक्तवति गाङ्गेये परलोकाय दीक्षिते।
अर्जुनो दुःखसंतप्तः सव्रीडमिदमब्रवीत् ॥३३॥

गङ्गानन्दन भीष्म परलोक की दीक्षा ले चुके थे। उन्होंने जब पूर्वोक्त बात बताई, तब अर्जुन दुःख से सन्तप्त एवं लज्जित होकर श्रीकृष्ण से इस प्रकार बोले—

अर्जुन उवाच

गुरुणा कुरुवृद्धेन कृतप्रज्ञेन धीमता।
पितामहेन संग्रामे कथं योद्धास्मि माधव ॥३४॥

अर्जुन बोले—माधव! कुरुकुल के वृद्ध गुरुजन विशुद्ध-बुद्धि, मतिमान् पितामह भीष्म से मैं रणभूमि में कैसे युद्ध करूँगा?

क्रीडता हि मया बाल्ये वासुदेव महामनाः।
पांसुरूषितगात्रेण महात्मा परुषीकृतः ॥३५॥

वासुदेव! बचपन में खेलते समय मैंने अपने धूलि-धूसर शरीर से उन महामनस्वी महात्मा को सदा दूषित किया है।

यस्याहमधिरुह्याङ्कं बालः किल गदाग्रज।
तातेत्यवोचं पितरं पितुः पाण्डोर्महात्मनः ॥३६॥
नाहं तातस्तव पितुस्तातोऽस्मि तव भारत।
इति मामब्रवीद् बाल्ये यः स वध्यः कथं मया ॥३७॥

गदाग्रज! कहते हैं, मैं बचपन में अपने पिता महात्मा पाण्डु के भी पितृतुल्य भीष्मजी की गोद में

चढ़कर जब उन्हें 'तात' कहकर पुकारता था, उस समय उस बाल्यावस्था में ही वे मुझसे कहते थे—"भरतनन्दन ! मैं तुम्हारा तात नहीं, तुम्हारे पिता का तात हूँ।" वे ही वृद्ध पितामह मेरे द्वारा मारने योग्य कैसे हो सकते हैं ?

कामं वध्यतु सैन्यं मे नाहं योत्स्ये महात्मना ।
जयो वास्तु वधो वा मे कथं वा कृष्ण मन्यसे ॥३८॥

भले ही वे मेरी सेना का नाश कर डालें, मेरी विजय हो अथवा मृत्यु, परन्तु मैं उन महात्मा भीष्म के साथ युद्ध नहीं करूँगा; अथवा कृष्ण ! आप क्या ठीक समझते हैं ?

वासुदेव उवाच

प्रतिज्ञाय वधं जिष्णो पुरा भीष्मस्य संयुगे ।
क्षत्रधर्मे स्थितः पार्थ कथं नैनं हनिष्यसि ॥३९॥

श्रीकृष्ण बोले—विजयी कुन्तीकुमार ! तुम क्षत्रियधर्म में स्थित हो । युद्ध में तुम पहले भीष्म के वध की प्रतिज्ञा करके अब उन्हें कैसे नहीं मारोगे ?

पातयैनं रथात् पार्थ क्षत्रियं युद्धदुर्मदम् ।
नाहत्वा युधि गाङ्गेयं विजयस्ते भविष्यति ॥४०॥

हे पार्थ ! तुम युद्धदुर्मद क्षत्रियप्रवर भीष्म को रथ से मार गिराओ । युद्धभूमि में गङ्गानन्दन भीष्म को मारे बिना तुम्हारी विजय नहीं हो सकेगी ।

जहि भीष्मं स्थिरो भूत्वा शृणु चेदं वचो मम ।
यथोवाच पुरा शक्रं महाबुद्धिर्बृहस्पतिः ॥४१॥

अर्जुन ! तुम स्थिरचित्त होकर भीष्म को मारो और मेरी यह बात सुनो, जिसे पूर्वकाल में महाबुद्धिमान् बृहस्पति ने देवराज इन्द्र को बताया था ।

ज्यायांसमपि चेद् वृद्धं गुणैरपि समन्वितम् ।□
आततायिनमायान्तं हन्याद् घातकमात्मनः ॥४२॥

कोई बड़े-से-बड़े गुरुजन, वृद्ध और सर्वगुण-सम्पन्न पुरुष ही क्यों न हों, यदि शस्त्र उठाकर अपना वध करने के लिए आ रहे हों तो उस आततायी को अवश्य मार डालना चाहिए ।

शाश्वतोऽयं स्थितो धर्मः क्षत्रियाणां धनञ्जय ।□
योद्धव्यं रक्षितव्यं च यष्टव्यं चानसूयुभिः ॥४३॥

धनञ्जय ! यह क्षत्रियों का निश्चित सनातन धर्म है—उन्हें किसी के प्रति दोषदृष्टि न रखकर सदा युद्ध, प्रजाओं की रक्षा और यज्ञ करते रहना चाहिए ।

अर्जुन उवाच

शिखण्डी निधनं कृष्ण भीष्मस्य भविता ध्रुवम् ।
दृष्ट्वैव हि सदा भीष्मः पाञ्चाल्यं विनिवर्तते ॥४४॥

अर्जुन ने कहा—श्रीकृष्ण ! शिखण्डी निश्चय ही भीष्म की मृत्यु का कारण होगा, क्योंकि भीष्म उस पाञ्चाल-राजकुमार को देखते ही सदा युद्ध से निवृत्त हो जाते हैं ।

ते वयं प्रमुखे तस्य पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
गाङ्गेयं पातयिष्याम उपायेनेति मे मतिः ॥४५॥

अतः हम सब लोग उनके सामने शिखण्डी को खड़ा करके शस्त्रप्रहाररूप उपाय द्वारा गङ्गानन्दन भीष्म को मार गिराएँगे, यही मेरा विचार है ।

सञ्जय उवाच

इत्येवं निश्चयं कृत्वा पाण्डवाः सहमाधवाः ।
शयनानि यथास्वानि भेजिरे पुरुषर्षभाः ॥४६॥

सञ्जय कहते हैं—ऐसा निश्चय करके श्रीकृष्ण-सहित पुरुषशिरोमणि पाण्डवों ने भी अपनी-अपनी शय्याओं का आश्रय लिया ।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

दसवें दिन का युद्ध—भीष्म और शिखण्डी का सामना, अर्जुन का भीष्म को रथ से गिराना, भीष्म का उत्तरायण की प्रतीक्षा करते हुए प्राण न त्यागना

धृतराष्ट्र उवाच

कथं शिखण्डी गाङ्गेयमभ्यवर्तत संयुगे ।
पाण्डवांश्च कथं भीष्मस्तन्ममाचक्ष्व सञ्जय ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय ! शिखण्डी ने युद्ध में गङ्गानन्दन भीष्म पर किस प्रकार आक्रमण किया तथा भीष्म ने भी पाण्डवों पर कैसे धावा बोला ? यह सब मुझे बताओ ।

सञ्जय उवाच

ताड्यमानासु भेरीषु सूर्यस्योदयनं प्रति ।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य निर्याताः पाण्डवा युधि ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! सूर्योदय होने पर जब रणभेरियाँ बज उठीं, उस समय समस्त पाण्डव शिखण्डी को आगे करके युद्ध के लिए शिविर से बाहर निकले ।

तथैव कुरवो राजन् भीष्मं कृत्वा महारथम् ।
अग्रतः सर्वसैन्यानां प्रययुः पाण्डवान् प्रति ॥३॥

राजन् ! इसी प्रकार कौरवों ने भी महारथी भीष्म को सब सेनाओं के आगे रखकर पाण्डवों पर आक्रमण किया ।

ततः प्रववृते युद्धं तव तेषां च भारत ।
अन्योऽन्यं निघ्नतां राजन् यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥४॥

हे भारत ! फिर तो आपकी और पाण्डवों की सेनाओं में युद्ध आरम्भ हो गया । राजन् ! परस्पर घातक प्रहार करनेवाले उन वीरों का युद्ध यमराज के राज्य की वृद्धि करनेवाला था ।

अर्जुनप्रमुखाः पार्थाः पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
भीष्मं युद्धेऽभ्यवर्तन्त किरन्तो विविधाञ्छरान् ॥५॥

अर्जुन आदि कुन्तीकुमारों ने शिखण्डी को आगे करके युद्ध में अनेक प्रकार के बाणों की वर्षा करते हुए भीष्म पर आक्रमण किया ।

तं शिखण्डी त्रिभिर्बाणैरभ्यविध्यन्महोरसि ।
आशीविषमिव क्रुद्धं कालसृष्टमिवान्तकम् ॥६॥

कालप्रेरित मृत्यु तथा क्रोध में भरे हुए विषधर सर्प के समान प्रतीत होनेवाले भीष्म के विशाल वक्ष पर शिखण्डी ने तीन बाणों से प्रहार किया ।

स तेनातिभृशं विद्धः प्रेक्ष्य भीष्मः शिखण्डिनम् ।
अनिच्छन्निव संक्रुद्धः प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥७॥

शिखण्डी के द्वारा अत्यन्त घायल हो भीष्म उसकी ओर देखकर अत्यन्त कुपित हो बिना इच्छा के ही हँसते हुए इस प्रकार बोले—

काममभ्यस वा मा वा न त्वां योत्स्ये कथञ्चन ।
यैव हि त्वं कृता धात्रा सैव हि त्वं शिखण्डिनी ॥८॥

"अरे ! तू इच्छानुसार प्रहार कर या न कर, मैं तेरे साथ किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा । विधाता ने तुझे जिस रूप में उत्पन्न किया था, तू वही शिखण्डिनी है ।"

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शिखण्डी क्रोधमूर्च्छितः ।
उवाचैनं तथा भीष्मं सृक्किणी परिसंलिहन् ॥९॥

उनकी यह बात सुनकर शिखण्डी क्रोध-मूर्च्छित-सा हो गया तथा अपने मुँह के दोनों कोनों को चाटता हुआ भीष्म से इस प्रकार बोला—

जानामि त्वां महाबाहो क्षत्रियाणां क्षयंकर ।
मया श्रुतं च ते युद्धं जामदग्न्येन वै सह ॥१०॥

"क्षत्रियों का विनाश करनेवाले महाबाहु भीष्म ! मैं भी आपको जानता हूँ । मैंने सुना है कि आपने जमदग्निनन्दन परशुरामजी के साथ भी युद्ध किया था ।

दिव्यश्च ते प्रभावोऽयं मया च बहुशः श्रुतः ।
जानन्नपि प्रभावं ते योत्स्येऽद्याहं त्वया सह ॥११॥

"आपका यह दिव्य प्रभाव बहुत बार मेरे सुनने में आया है । आपके उस प्रभाव को जानकर भी मैं आज आपके साथ युद्ध करूँगा ।

पाण्डवानां प्रियं कुर्वन्नात्मनश्च नरोत्तम ।
अद्य त्वां योधयिष्यामि रणे पुरुषसत्तम ॥१२॥

"नरश्रेष्ठ ! पुरुषप्रवर ! आज मैं पाण्डवों का तथा अपना भी प्रिय कार्य करने के लिए युद्धभूमि में अच्छी प्रकार डटकर आपका सामना करूँगा ।

ध्रुवं च त्वां हनिष्यामि शपे सत्येन तेऽग्रतः ।
एतत् श्रुत्वा च मद्वाक्यं यत्कृत्यं तत् समाचर ॥१३॥

"मैं आपके समक्ष सत्य की शपथ खाकर कहता हूँ कि आज मैं आपको निश्चय ही मार डालूँगा । मेरी यह बात सुनकर आपको जो कुछ करना हो वह कीजिए ।

काममभ्यस वा मा वा न मे जीवन् प्रमोक्ष्यसे ।
सुदृष्टः क्रियतां भीष्म लोकोऽयं समितिञ्जय ॥१४॥

"युद्धविजेता भीष्म ! आप मुझपर इच्छानुसार प्रहार करो या न करो, परन्तु आज आप मेरे हाथ से जीवित नहीं छूटोगे, अतः इस संसार को अच्छी प्रकार देख लो ।"

एवमुक्त्वा ततो भीष्मं पञ्चभिर्नतपर्वभिः ।
अविध्यत रणे राजन् प्रणुन्नं वाक्सायकैः ॥१५॥

राजन् ! ऐसा कहकर शिखण्डी ने, जिन्हें पहले वचनरूपी बाणों से पीड़ित किया था, उन्हीं भीष्म को झुकी हुई गाँठवाले पाँच बाणों से बींध डाला।

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सव्यसाची महारथः ।
कालोऽयमिति संचिन्त्य शिखण्डिनमनोदयत् ॥१६॥

उसके उस कथन को सुनकर महारथी सव्यसाची अर्जुन ने यह सोचकर कि यही इसके उत्साह बढ़ाने का अवसर है, शिखण्डी से इस प्रकार कहा—

अहं त्वामनुयास्यामि परान् विद्रावयञ्शरैः ।
अभिद्रव सुसंरब्धो भीष्मं भीमपराक्रमम् ॥१७॥

"वीर ! मैं बाणों द्वारा शत्रुओं को भगाता हुआ निरन्तर तुम्हारा साथ दूँगा, अतः तुम भयंकर पराक्रमी भीष्म पर रोषपूर्वक आक्रमण करो।

न हि ते संयुगे पीडां शक्तः कर्तुं महाबलः ।
तस्मादद्य महाबाहो यत्नाद् भीष्ममभिद्रव ॥१८॥

"महाबाहो ! युद्ध में महाबली भीष्म तुम्हें पीड़ा नहीं दे सकते, अतः आज यत्नपूर्वक इनपर आक्रमण करो।

अहत्वा समरे भीष्मं यदि यास्यसि मारिष ।
अवहास्योऽस्य लोकस्य भविष्यसि मया सह ॥१९॥

"आर्य ! यदि आज तुम रणभूमि में भीष्म को मारे बिना लौट जाओगे तो मेरे साथ ही तुम इस संसार में उपहास के पात्र बनोगे।

नावहास्या यथा वीर भवेम परमाहवे ।
तथा कुरु रणे यत्नं साधयस्व पितामहम् ॥२०॥

"वीर ! इस महायुद्ध में जैसे भी हम लोग हँसी के पात्र न बनें, वैसा प्रयत्न करो। आज रणक्षेत्र में पितामह भीष्म को अवश्य मार गिराओ।

अहं ते रक्षणं युद्धे करिष्यामि महाबलः ।
वारयन् रथिनः सर्वान् साधयस्व पितामहम् ॥२१॥

"महाबली वीर ! इस युद्ध में मैं सब रथियों को रोककर निरन्तर तुम्हारी रक्षा करता रहूँगा। तुम पितामह को मारने का कार्य सिद्ध करो।"

एवमुक्तस्तु पार्थेन शिखण्डी भरतर्षभ ।
अभ्यद्रवत गाङ्गेयं श्रुत्वा पार्थस्य भाषितम् ॥२२॥

भरतश्रेष्ठ ! जब अर्जुन ने शिखण्डी से ऐसा कहा, तब उसने पार्थ के उस कथन को सुनकर गङ्गानन्दन भीष्म पर धावा किया।

शिखण्डी तु समासाद्य भरतानां पितामहम् ।
इषुभिस्तूर्णमव्यग्रो बहुभिः स समाचिनोत् ॥२३॥

फिर शिखण्डी ने भरतकुल के पितामह भीष्म के सामने पहुँचकर स्वस्थ चित्त से अनेकों बाणों द्वारा तुरन्त ही उन्हें आच्छादित कर दिया।

शिखण्डी तु महाबाणान् यान् मुमोच महारथः ।
न चक्रुस्ते रुजं तस्य स्वर्णपुङ्खाः शिलासिताः ॥२४॥

महारथी शिखण्डी द्वारा प्रयुक्त सभी बाण स्वर्णमय पंखों से युक्त और सान पर रगड़कर तेज किये गये थे तो भी वे भीष्मजी के शरीर में घाव या पीड़ा उत्पन्न नहीं कर सके।

ततः किरीटी संरब्धो भीष्ममेवाभ्यधावत ।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य धनुश्चास्य समाच्छिनत् ॥२५॥

तब किरीटधारी अर्जुन ने कुपित हो शिखण्डी को आगे किये हुए ही भीष्म पर धावा किया और उनके धनुष को काट डाला।

शिखण्डी तु रणे श्रेष्ठो रक्ष्यमाणः किरीटिना ।
अविध्यद् दशभिर्भीष्मं छिन्नधन्वानमाहवे ॥२६॥
सारथिं दशभिश्चास्य ध्वजं चैकेन चिच्छिदे ।
सोऽन्यत् कार्मुकमादाय गाङ्गेयो वेगवत्तरम् ॥२७॥
जघान निशितैर्बाणैरर्जुनं परवीरहा ।
तदप्यस्य शितैर्बाणैस्त्रिभिश्चिच्छेद फाल्गुनः ॥२८॥

भीष्मजी का धनुष कट गया था। उसी अवस्था में अर्जुन द्वारा सुरक्षित शिखण्डी ने दस बाणों से उन्हें तथा दस बाणों से सारथि को बींध डाला। फिर एक बाण से उनके ध्वज को काट गिराया। तब शत्रुवीरों का संहार करनेवाले गङ्गानन्दन भीष्म ने दूसरा अत्यन्त वेगशाली धनुष लेकर तीखे बाणों द्वारा अर्जुन को घायल करना आरम्भ किया। यह देख अर्जुन ने उस धनुष को भी तीन पैने बाणों द्वारा काट डाला।

एवं स पाण्डवः क्रुद्ध आत्तमात्तं पुनः पुनः ।
धनुश्चिच्छेद भीष्मस्य सव्यसाची परन्तपः ॥२९॥

इस प्रकार क्रोध में भरे हुए शत्रुसन्तापी, सव्यसाची पाण्डुनन्दन अर्जुन जिस-जिस धनुष को भीष्मजी लेते, उसी-उसी को काट डालते थे।

स छिन्नधन्वा संक्रुद्धः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
जग्राह तरसा शक्तिं गिरीणामपि दारणीम् ।।३०।।

धनुष कट जाने पर क्रोधपूर्वक अपने मुंह के दोनों कोनों को चाटते हुए भीष्म ने बलपूर्वक एक शक्ति हाथ में ली, जो पर्वतों को भी चूर्ण कर डालनेवाली थी।

तां च चिक्षेप संक्रुद्धः फाल्गुनस्य रथं प्रति ।
तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य ज्वलन्तीमशनीमिव ।।३१।।
समादत्त शितान् भल्लान् पञ्च पाण्डवनन्दनः ।
तस्य चिच्छेद तां शक्तिं पञ्चधा पञ्चभिः शरैः ।।३२।।

फिर उन्होंने क्रोधपूर्वक उस शक्ति को अर्जुन के रथ की ओर चला दिया। प्रज्वलित वज्र के समान उस शक्ति को आते देख पाण्डवों को आनन्दित करनेवाले अर्जुन ने अपने हाथ में भल्लनामक पांच तीखे बाण लिये और उन पाँच बाणों के द्वारा उस शक्ति के पाँच टुकड़े कर दिये।

शिखण्डी तु महाराज भरतानां पितामहम् ।
आजघानोरसि क्रुद्धो नवभिर्निशितैः शरैः ।।३३।।

महाराज ! उस समय शिखण्डी ने क्रुद्ध होकर भरतवंशियों के पितामह भीष्म की छाती में नौ तीखे बाण मारे।

ततः प्रहस्य बीभत्सुर्गाण्डिवं व्याक्षिपन् धनुः ।
गाङ्गेयं पञ्चविंशत्या क्षुद्रकाणां समार्पयत् ।।३४।।

उधर अर्जुन ने भी हँसकर गाण्डीव धनुष की टंकार करते हुए गङ्गानन्दन भीष्म को क्षुद्रक नामक पच्चीस बाण मारे।

पुनः शरशतैरेनं त्वरमाणो धनञ्जयः ।
सर्वगात्रेषु संक्रुद्धः सर्वमर्मस्वताडयत् ।।३५।।

फिर उन्होंने अत्यन्त कुपित हो शीघ्रतापूर्वक सौ बाणों द्वारा भीष्म के सम्पूर्ण अङ्गों और सभी मर्मस्थानों में आघात किया।

सोऽतिविद्धो महेष्वासो दुःशासनमभाषत ।
अर्जुनस्य इमे बाणा नेमे बाणाः शिखण्डिनः ।।३६।।
सर्वे ह्यपि न मे दुःखं कुर्युरन्ये नराधिपाः ।
वीरं गाण्डीवधन्वानमृते जिष्णुं कपिध्वजम् ।।३७।।

इस प्रकार अत्यन्त घायल होने पर महाधनुर्धर भीष्म ने दुःशासन से कहा—"ये अर्जुन के बाण हैं, ये शिखण्डी के बाण नहीं हैं। गाण्डीवधारी वीर कपिध्वज अर्जुन को छोड़कर अन्य सभी नरेश अपने प्रहारों द्वारा मुझे इतनी पीड़ा नहीं दे सकते।"

दशमेऽहनि राजेन्द्र भीष्मार्जुनसमागमे ।
आसीद् गाङ्ग इवावर्तो मुहूर्तमुदधेरिव ।।३८।।

हे राजेन्द्र ! दसवें दिन भीष्म और अर्जुन के उस संघर्ष में दो घड़ी तक ऐसा दृश्य दिखाई दिया, मानो समुद्र में गङ्गा के गिरते समय उसके जल में भारी भँवर उठ रहा हो।

योधानामयुतं हत्वा तस्मिन् स दशमेऽहनि ।
अतिष्ठदाहवे भीष्मो भिद्यमानेषु मर्मसु ।।३९।।

दसवें दिन के उस युद्ध में अपने मर्मस्थानों के विदीर्ण होते रहने पर भी भीष्मजी दस सहस्र योद्धाओं को मारकर वहाँ खड़े हुए थे।

निहत्य समरे राजञ्शतशोऽथ सहस्रशः ।
न तस्यासीदनिर्भिन्नं गात्रे द्व्यङ्गुलमन्तरम् ।।४०।।

राजन् ! युद्ध में सैकड़ों और सहस्रों वीरों का संहार करके भीष्म स्वयं इस अवस्था में पहुँच गये थे कि उनके शरीर में दो अङ्गुल भी ऐसा स्थान नहीं रह गया था, जो बाणों से विद्ध न हुआ हो।

एवंभूतस्तव पिता शरैर्विशकलीकृतः ।
शिताग्रैः फाल्गुनेनाजौ प्राक्शिराः प्रापतद् रथात् ।।४१
दिनकरे किञ्चिच्छेषे पुत्राणां तव पश्यताम् ।
धरणीं न स पस्पर्श शरसंघैः समावृतः ।।४२

इस प्रकार आपके ताऊ भीष्म युद्धस्थल में अर्जुन के तीखे बाणों से अत्यन्त विद्ध हो गये थे—उनका शरीर छिदकर छलनी हो रहा था। वे उसी दशा में, जबकि दिन थोड़ा ही शेष था, आपके पुत्रों के देखते-देखते पूर्व दिशा की ओर शिर किये रथ से नीचे गिर पड़े। उनके सारे अङ्गों में सब ओर बाण बिंधे हुए थे, अतः गिरने पर भी उनका धरती से स्पर्श नहीं हुआ।

सम्पतन्तमभिप्रेक्ष्य महात्मानं पितामहम् ।
सह भीष्मेण सर्वेषां प्रापतन् हृदयानि नः ।।४३।।

महाराज ! महात्मा पितामह भीष्म को रथ से नीचे गिरते देखकर हम सब लोगों के हृदय भी उनके साथ ही गिर पड़े [बैठ गये]।

धारयामास च प्राणान् पतितोऽपि महीतले।
उत्तरायणमन्विच्छन् भीष्मः कुरुपितामहः ॥४४॥

उधर कुरुकुल के वृद्ध पितामह भीष्म पृथिवी पर [वस्तुतः शरशय्या पर] गिरकर भी उत्तरायण की प्रतीक्षा करते हुए अपने प्राणों को रोके हुए थे।

कुरूणां पतिते ह्येवं शृङ्गे भीष्मे महौजसि।
पाण्डवाः सृञ्जयाश्चैव सिंहनादं प्रचक्रिरे ॥४५॥

इस प्रकार कुरुकुल-शिरोमणि महापराक्रमी भीष्म के गिर जाने पर पाण्डव और सृञ्जय हर्ष से सिंहनाद करने लगे।

तस्मिन् हते महासत्त्वे भरतानां पितामहे।
न किञ्चित् प्रत्यपद्यन्त पुत्रास्ते भरतर्षभ ॥४६॥

भरतश्रेष्ठ! उस महान् शक्तिशाली और भरतवंशियों के पितामह भीष्म के मारे जाने पर आपके पुत्रों को कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था।

सम्मोहश्चैव तुमुलः कुरूणामभवत् तदा।
कृपदुर्योधनमुखा निःश्वस्य रुरुदुस्ततः ॥४७॥

उस समय कौरवों पर अत्यन्त भयंकर मोह छा गया। कृपाचार्य और दुर्योधन आदि सब लोग सिसक-सिसककर रोने लगे।

सेनयोरुभयोश्चापि गाङ्गेये निहते विभो।
वीराः सन्यस्य शस्त्राणि प्राध्यायन्त समन्ततः ॥४८॥

शक्तिशाली गङ्गानन्दन भीष्म के मारे जाने पर सब ओर दोनों सेनाओं के सब वीर अपने अस्त्र-शस्त्र नीचे डालकर भारी चिन्ता में डूब गये।

प्राक्रोशन् प्राद्रवंश्चान्ये जग्मुर्मोहं तथापरे।
क्षत्रं चान्येऽभ्यनिन्दन्त भीष्मं चान्येऽभ्यपूजयन् ॥४९॥

कुछ फूट-फूटकर रोने लगे, कुछ इधर-उधर भागने लगे और कुछ लोग मूर्च्छित हो गये। कुछ लोग क्षात्रधर्म की निन्दा कर रहे थे और कुछ भीष्मजी की प्रशंसा कर रहे थे।

महोपनिषदं चैव योगमास्थाय वीर्यवान्।
जपञ्शान्तनवो धीमान्कालकांक्षी स्थितोऽभवत् ॥५०॥

उधर पराक्रमी एवं बुद्धिमान् भीष्म महान् उपनिषदों के सारभूत योग का आश्रय ले प्रणव का जप करते हुए उत्तरायणकाल की प्रतीक्षा में बाण-शय्या पर स्थित थे।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

अर्जुन द्वारा भीष्म को तकिया प्रदान करना और उभय-पक्ष की सेनाओं का अपने शिविरों में जाना

सञ्जय उवाच

भीष्मं शान्तनवं दृष्ट्वा विशीर्णकवचध्वजम्।
अभिवाद्यावतिष्ठन्त पाण्डवाः कुरुभिः सह ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! जिनके कवच और ध्वज छिन्न-भिन्न हो गये थे, उन शान्तनुनन्दन भीष्म को उस अवस्था में देखकर कौरव और पाण्डव उन्हें प्रणाम करके खड़े हो गये।

अथ पाण्डून् कुरूंश्चैव प्रणिपत्याग्रतः स्थितान्।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भीष्मः शान्तनवस्तदा ॥२॥

पाण्डव तथा कौरव जब प्रणाम करके उनके सामने खड़े हुए, तब शान्तनुनन्दन धर्मात्मा भीष्मजी ने उनसे इस प्रकार कहा—

स्वागतं वो महाभागाः स्वागतं वो महारथाः।
तुष्यामि दर्शनाच्चाहं युष्माकममरोपमाः ॥३॥

"महाभाग नरेशगण! आप लोगों का स्वागत है। देवोपम महारथियो! आपका स्वागत है। मैं आप लोगों के दर्शनों से बहुत सन्तुष्ट हूँ।"

अभिमन्त्र्याथ तानेवं शिरसा लम्बताब्रवीत्।
शिरो मे लम्बतेऽत्यर्थमुपधानं प्रदीयताम् ॥४॥

इस प्रकार उन सब लोगों से स्वागत-भाषण करके वे अपने लटके हुए शिर द्वारा ही उनसे बोले—"भूपालो! मेरा सिर बहुत लटक रहा है, अतः आप लोग मुझे तकिया दें।"

ततो नृपाः समाजह्रुस्तनूनि च मृदूनि च।
उपधानानि मुख्यानि नैच्छत् तानि पितामहः ॥५॥

तब राजा लोग तत्काल बढ़िया, कोमल और

महीन वस्त्र के बने हुए बहुत-से तकिये ले आये, परन्तु पितामह भीष्म ने उन्हें लेने की इच्छा नहीं की।

अथाब्रवीन्नरव्याघ्रः प्रहसन्निव तान् नृपान्।
नैतानि वीरशय्यासु युक्तरूपाणि पार्थिवाः ॥६॥

पुरुषसिंह भीष्म ने हँसते हुए-से उन राजाओं से कहा—"राजाओ! ये तकिये वीरशय्या के अनुरूप नहीं हैं।"

ततो वीक्ष्य नरश्रेष्ठमभ्यभाषत पाण्डवम्।
धनञ्जयं दीर्घबाहुं सर्वलोकमहारथम् ॥७॥

फिर वे सम्पूर्ण लोकों में विख्यात महारथी नरश्रेष्ठ महाबाहु पाण्डुपुत्र धनञ्जय की ओर देखकर इस प्रकार बोले—

धनञ्जय महाबाहो शिरो मे तात लम्बते।
दीयतामुपधानं वै यद् युक्तमिह मन्यसे ॥८॥

"महाबाहु धनञ्जय! मेरा सिर लटक रहा है। वत्स! इस लटकते हुए सिर के अनुरूप यहाँ जो तकिया तुम्हें उचित प्रतीत हो, वह ला दो।"

फाल्गुनोऽपि तथेत्युक्त्वा गाण्डीवमभिमन्त्र्य च।
त्रिभिस्तीक्ष्णैर्महावेगैरन्वगृह्णाच्छिरः शरैः ॥९॥

अर्जुन ने भी 'जो आज्ञा' कहकर और गाण्डीव धनुष को अभिमन्त्रित करके अत्यन्त वेगशाली तीन तीखे बाणों द्वारा उनके मस्तक को अनुगृहीत किया [कुछ ऊँचा करके स्थिर कर दिया]।

अभिप्राये तु विदिते धर्मात्मा सव्यसाचिना।
अतुष्यद् भरतश्रेष्ठो भीष्मो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥१०॥

सव्यसाची अर्जुन ने उनके अभिप्राय को समझकर जब ठीक तकिया लगा दिया, तब धर्म और अर्थ के तत्त्वज्ञ धर्मात्मा भरतश्रेष्ठ भीष्मजी अति सन्तुष्ट हुए।

उपधानेन दत्तेन प्रत्यनन्दद् धनञ्जयम्।
प्राह सर्वान् समुद्वीक्ष्य भरतान् भारतं प्रति ॥११॥

उन्होंने वह तकिया देने से अर्जुन की प्रशंसा करके उन्हें प्रसन्न किया और समस्त भरतवंशियों की ओर देखकर भरतकुलभूषण अर्जुन से इस प्रकार कहा—

शयनस्यानुरूपं मे पाण्डवोपहितं त्वया।
यद्यन्यथा प्रपद्येथाः शपेयं त्वामहं रुषा ॥१२॥

"पाण्डुनन्दन! तुमने मुझे मेरी शय्या के अनुरूप तकिया प्रदान किया है। यदि इसके विपरीत तुमने कोई और तकिया दिया होता तो मैं कुपित होकर तुम्हें शाप दे देता।

एवमेव महाबाहो धर्मेषु परितिष्ठता।
स्वप्तव्यं क्षत्रियेणाजौ शरतल्पगतेन वै ॥१३॥

"महाबाहो! अपने धर्म में स्थित रहनेवाले क्षत्रिय को युद्धस्थल में इसी प्रकार शरशय्या पर शयन करना चाहिए।"

एवमुक्त्वा तु बीभत्सुं सर्वांस्तानब्रवीद् वचः।
राज्ञश्च राजपुत्रांश्च पाण्डवानभिसंस्थितान् ॥१४॥

अर्जुन से ऐसा कहकर भीष्मजी ने पाण्डवों के पास खड़े हुए उन समस्त राजाओं और राजपुत्रों से कहा—

पश्यध्वमुपधानं मे पाण्डवेनाभिसंधितम्।
शिश्येऽहमस्यां शय्यायां यावदावर्तनं रवेः ॥१५॥

"पाण्डुनन्दन अर्जुन ने मेरे सिर के नीचे जो तकिया लगाया है, आप लोग इसे देखें। मैं सूर्य के उत्तरायण में लौटने तक इस शरशय्या पर शयन करूँगा।

परिखा खन्यतामत्र ममावसदने नृपाः।
उपारमध्वं संग्रामाद् वैरमुत्सृज्य पार्थिवाः ॥१६॥

"नरेश्वरो! मेरे इस स्थान के चारों ओर खाई खोद दो। भूपालगणो! अब आप लोग आपस का वैर छोड़कर युद्ध से विरत हो जाओ।"

उपातिष्ठन्नथो वैद्याः शल्योद्धरणकोविदाः।
सर्वोपकरणैर्युक्ताः कुशलैः साधु शिक्षिताः ॥१७॥

उधर शरीर से बाणों को निकाल फेंकने की कला में कुशल वैद्य भीष्मजी की सेवा में उपस्थित हुए। वे समस्त आवश्यक उपकरणों से युक्त तथा कुशल पुरुषों द्वारा भली-भाँति शिक्षा पाये हुए थे।

तान् दृष्ट्वा जाह्नवीपुत्रः प्रोवाच तनयं तव।
धनं दत्त्वा विसृज्यन्तां पूजयित्वा चिकित्सकाः ॥१८॥
एवंगते मयेदानीं वैद्यैः कार्यमिहास्ति किम्।
क्षत्रधर्मे प्रशस्तां हि प्राप्तोऽस्मि परमां गतिम् ॥१९॥

नैष धर्मो महीपालाः शरतल्पगतस्य मे ।
एभिरेव शरैश्चाहं दग्धव्योऽस्मि नराधिपाः ॥२०॥

उन वैद्यों को देखकर गङ्गानन्दन भीष्म ने आपके पुत्र दुर्योधन से कहा—"वत्स ! इन चिकित्सकों को धन देकर सम्मानपूर्वक विदा कर दो। मुझे यहाँ इस अवस्था में अब इन वैद्यों से क्या प्रयोजन है ? क्षत्रिय-धर्म में जिसकी प्रशंसा की गई है, मैं उसी उत्तम गति को प्राप्त हुआ हूँ । भूपालो ! मैं बाणशय्या पर लेटा हुआ हूँ । अब मेरा यह धर्म नहीं है कि मैं इन बाणों को निकलवाकर अपनी चिकित्सा कराऊँ । नरेश्वरो ! मेरे इस शरीर को इन बाणों के साथ ही दग्ध कर देना ।"

तत् श्रुत्वा वचनं तस्य पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
वैद्यान् विसर्जयामास पूजयित्वा यथार्हतः ॥२१॥

भीष्मजी का यह कथन सुनकर आपके पुत्र दुर्योधन ने यथायोग्य सम्मान करके उन वैद्यों को विदा कर दिया ।

ततस्ते विस्मयं जग्मुर्नानाजनपदेश्वराः ।
स्थितिं धर्मे परां दृष्ट्वा भीष्मस्यामिततेजसः ॥२२॥

उस समय विभिन्न जनपदों के स्वामी नरेशगण अमित तेजस्वी भीष्म की यह धर्म-विषयक उत्तम निष्ठा देखकर अत्यन्त विस्मित हुए ।

उपधानं ततो दत्त्वा पितुस्ते मनुजेश्वराः ।
सहिताः पाण्डवाः सर्वे कुरवश्च महारथाः ॥२३॥
उपगम्य महात्मानं शयानं शयने शुभे ।
तेऽभिवाद्य ततो भीष्मं कृत्वा च त्रिः प्रदक्षिणम् ॥२४॥
विधाय रक्षां भीष्मस्य सर्व एव समन्ततः ।
वीराः स्वशिबिराण्येवोपागच्छन् परमातुराः ॥२५॥

हे राजन् ! तत्पश्चात् आपके पितृतुल्य भीष्म को उपयुक्त तकिया देकर सभी नरेशों, पाण्डवों तथा महारथी कौरवों ने एक-साथ सुन्दर शरशय्या पर सोये हुए महात्मा भीष्म के पास जाकर उन्हें प्रणाम करके उनकी तीन बार प्रदक्षिणा की तथा सब ओर से भीष्म की रक्षा की व्यवस्था करके सभी वीर अत्यन्त आतुर होकर अपने शिबिरों की ओर चल दिये ।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि अष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

अर्जुन का दिव्य जल प्रकट करके भीष्म की प्यास बुझाना तथा भीष्म का दुर्योधन को सन्धि के लिए समझाना

सञ्जय उवाच

व्युष्टायां तु महाराज शर्वर्यां सर्वपार्थिवाः ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च उपातिष्ठन् पितामहम् ॥१॥
तं वीरशयने वीरं शयानं कुरुसत्तम ।
अभिवाद्योपतस्थुर्वै क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभम् ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! जब रात्रि व्यतीत हुई और प्रभात हुआ, उस समय सब नरेश, पाण्डव तथा आपके पुत्र [कौरव] पुनः वीर-शय्या पर सोये हुए वीर पितामह भीष्म की सेवा में उपस्थित हुए । कुरुश्रेष्ठ ! वे सब क्षत्रियश्रेष्ठ भीष्मजी को प्रणाम करके उनके समीप खड़े हो गये ।

भीष्मस्तु वेदनां धैर्यान्निगृह्य भरतर्षभ ।
अभितप्तः शरैश्चैव निःश्वसन्नुरगो यथा ॥३॥
शराभितप्तकायोऽपि शस्त्रसम्पातमूर्च्छितः ।
पानीयमिति सम्प्रेक्ष्य राज्ञस्तान् प्रत्यभाषत ॥४॥

भरतश्रेष्ठ ! भीष्मजी बाणों से सन्तप्त होकर सर्प के समान लम्बी साँस खींच रहे थे । वे अपनी वेदना को धैर्यपूर्वक सह रहे थे । बाणों की जलन से उनका सारा शरीर जल रहा था। वे शस्त्रों के आघात से मूर्च्छित-से हो रहे थे । उस समय उन्होंने राजाओं की ओर देखकर केवल इतना ही कहा—"पानी ।"

ततस्ते क्षत्रिया राजन्नुपाजह्रुः समन्ततः ।
भक्ष्यानुच्चावचान् राजन्वारिकुम्भांश्च शीतलान् ॥५॥

राजन् ! उस समय वे क्षत्रियनरेश चारों ओर से भोजन की उत्तमोत्तम सामग्री तथा शीतल जल से

भरे हुए घड़े ले आये।

उपानीतं तु पानीयं दृष्ट्वा शान्तनवोऽब्रवीत्।
नाद्यातीता मया शक्या भोगाः केचन मानुषाः ॥६॥
अपक्रान्तो मनुष्येभ्यः शरशय्यां गतो ह्यहम्।
प्रतीक्षमाणस्तिष्ठामि निवृत्तिं शशिसूर्ययोः ॥७॥

उनके द्वारा लाये हुए उस जल को देखकर भीष्मजी ने कहा—"अब मैं मनुष्यलोक का कोई भी भोग अपने उपयोग में नहीं ला सकता, मैं उन्हें छोड़ चुका हूँ। यद्यपि मैं यहाँ शरशय्या पर सो रहा हूँ, तथापि मनुष्यलोक से ऊपर उठ चुका हूँ। मैं केवल सूर्य-चन्द्रमा के उत्तरायण में आने की प्रतीक्षा में रुका हुआ हूँ।"

एवमुक्त्वा शान्तनवो निन्दन् वाक्येन पार्थिवान्।
अर्जुनं द्रष्टुमिच्छामीत्यभ्यभाषत भारत ॥८॥

हे भारत! ऐसा कहकर शान्तनुनन्दन भीष्म ने अपनी वाणी द्वारा अन्य राजाओं की निन्दा करते हुए कहा—"अब मैं अर्जुन को देखना चाहता हूँ।"

अथोपेत्य महाबाहुरभिवाद्य पितामहम्।
अतिष्ठत् प्राञ्जलिः प्रह्वः किं करोमीति चाब्रवीत् ॥९

तब महाबाहु अर्जुन पितामह भीष्म के पास जाकर उन्हें प्रणाम कर, हाथ जोड़कर खड़े हो गये और विनयपूर्वक बोले—"मेरे लिए क्या आज्ञा है? मैं कौन-सी सेवा करूँ?"

तं दृष्ट्वा पाण्डवं राजन्नभिवाद्याग्रतः स्थितम्।
अभ्यभाषत धर्मात्मा भीष्मः प्रीतो धनञ्जयम् ॥१०॥

राजन्! प्रणाम करके अपने समक्ष खड़े हुए पाण्डुपुत्र अर्जुन को देखकर धर्मात्मा भीष्म अति प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले—

दह्यतीव शरीरं मे संवृतस्य तवेषुभिः।
मर्माणि परिदूयन्ते मुखं च परिशुष्यति ॥११॥

"अर्जुन! तुम्हारे बाणों से मेरे सम्पूर्ण अङ्ग विंधे हुए हैं, अतः मेरा यह शरीर दग्ध-सा हो रहा है। सारे मर्मस्थलों में अत्यन्त पीड़ा हो रही है। मुंह सूखता जा रहा है।

वेदनार्तशरीरस्य प्रयच्छापो ममार्जुन।
त्वं हि शक्तो महेष्वास दातुमापो यथाविधि ॥१२॥

"महाधनुर्धर अर्जुन! वेदना से पीड़ित शरीर-वाले मुझ वृद्ध को तुम पानी लाकर दो। तुम्हीं विधिपूर्वक मेरे लिए दिव्य जल प्रस्तुत करने में समर्थ हो।"

अर्जुनस्तु तथेत्युक्त्वा रथमारुह्य वीर्यवान्।
संधाय च शरं दीप्तमभिमन्त्र्य स पाण्डवः ॥१३॥
पर्जन्यास्त्रेण संयोज्य सर्वलोकस्य पश्यतः।
अविध्यत् पृथिवीं पार्थः पार्श्वे भीष्मस्य दक्षिणे ॥१४॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर पराक्रमी अर्जुन ने रथ पर आरूढ़ हो अपने गाण्डीव धनुष पर एक तेजस्वी बाण का सन्धान किया और सब मनुष्यों के देखते-देखते उस बाण को पर्जन्यास्त्र से संयुक्त करके भीष्म के दाहिने पार्श्व में पृथिवी पर चलाया।

उत्पपात ततो धारा वारिणो विमला शुभा।
शीतस्यामृतकल्पस्य दिव्यगन्धरसस्य च ॥१५॥
अतर्पयत् ततः पार्थः शीतया जलधारया।
भीष्मं कुरूणामृषभं दिव्यकर्मपराक्रमम् ॥१६॥

फिर तो शीतल, अमृत के समान मधुर तथा दिव्य सुगन्ध एवं दिव्यरस से संयुक्त जल की सुन्दर स्वच्छ धारा ऊपर की ओर उठ-[कर भीष्म के मुख में पड़]-ने लगी। उस शीतल जलधारा से अर्जुन ने दिव्यकर्म तथा पराक्रमवाले कुरुश्रेष्ठ भीष्म को तृप्त कर दिया।

कर्मणा तेन पार्थस्य शक्रस्येव विकुर्वतः।
विस्मयं परमं जग्मुस्ततस्ते वसुधाधिपाः ॥१७॥

इन्द्र के समान पराक्रमी अर्जुन के उस अद्भुत पराक्रम से वहाँ बैठे हुए समस्त नरेश अत्यन्त चकित हुए।

तत् कर्म प्रेक्ष्य बीभत्सोरतिमानुषविक्रमम्।
सम्प्रावेपन्त कुरवो गावः शीतार्दिता इव ॥१८॥

अर्जुन का वह अलौकिक कर्म देखकर समस्त कौरव सर्दी की सतायी हुई गौओं के समान थर-थर काँपने लगे।

विस्मयाच्चोत्तरीयाणि व्याविध्यन् सर्वतो नृपाः।
शंखदुन्दुभिनिर्घोषस्तुमुलः सर्वतोऽभवत् ॥१९॥

वहाँ बैठे हुए नरेशगण आश्चर्यचकित हो सब ओर अपने-अपने दुपट्टे हिलाने लगे। चारों ओर शंख और नगाड़ों की गम्भीर ध्वनि गूंज उठी।

तृप्तः शान्तनवश्चापि राजन् बीभत्सुमब्रवीत् ।
सर्वपार्थिववीराणां सन्निधौ पूजयन्निव ॥२०॥

राजन् ! उस जल से तृप्त होकर शान्तनुनन्दन भीष्म ने भी अर्जुन से समस्त वीर नरेशों के समक्ष उनकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार कहा—

आदित्यस्तेजसां श्रेष्ठो गिरीणां हिमवान् वरः ।
जातीनां ब्राह्मणः श्रेष्ठः श्रेष्ठस्त्वमसि धन्विनाम् ॥२१॥

"तेजोमय पदार्थों में सूर्य श्रेष्ठ है, पर्वतों में हिमालय महान् है, जातियों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है और तुम सम्पूर्ण धनुर्धरों में श्रेष्ठ हो।"

दृष्टं दुर्योधनैतत् ते यथा पार्थेन धीमता ।
जलस्य धारा जनिता शीतस्यामृतगन्धिनः ॥२२॥

[अर्जुन की प्रशंसा कर उन्होंने दुर्योधन से कहा—] "दुर्योधन ! बुद्धिमान् अर्जुन ने जिस प्रकार शीतल, अमृत के समान मधुर गन्धयुक्त जल की धारा प्रकट की है, उसे तुमने प्रत्यक्ष देख लिया है।

अशक्यः पाण्डवस्तात युद्धे जेतुं कथञ्चन ।
अमानुषाणि कर्माणि यस्यैतानि महात्मनः ॥२३॥
तेन सत्त्ववता संख्ये शूरेणाहवशोभिना ।
कृतिना समरे राजन् सन्धिर्भवतु माचिरम् ॥२४॥

"तात ! पाण्डुपुत्र अर्जुन को युद्ध में किसी प्रकार भी जीतना असम्भव है। जिस महामनस्वी पुरुष के ये अलौकिक कर्म प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, जो धैर्यवान्, युद्ध में वीरता दिखानेवाले और संग्राम में सुशोभित होनेवाले हैं, राजन् ! उन अस्त्र-शस्त्र-विद्या के पारङ्गत अर्जुन के साथ इस रणभूमि में तुम्हारी सन्धि हो जानी चाहिए। इस कार्य में विलम्ब नहीं होना चाहिए।

यावन्न ते चमूः सर्वाः शरैः सन्नतपर्वभिः ।
नाशयत्यर्जुनस्तावत् सन्धिस्ते तात युज्यताम् ॥२५॥

"तात ! जबतक अर्जुन झुकी हुई गाँठवाले बाणों द्वारा तुम्हारी सम्पूर्ण सेना का विनाश नहीं कर डालते हैं, तभी तक उनके साथ तुम्हारी सन्धि हो जानी चाहिए।

न निर्दहति ते यावत् क्रोधदीप्तेक्षणश्चमूम् ।
युधिष्ठिरो रणे तावत् सन्धिस्ते तात युज्यताम् ॥२६

"हे तात ! जबतक क्रोध के कारण लाल-लाल आँखोंवाला युधिष्ठिर युद्धभूमि में आपकी सेना को जलाकर भस्म नहीं कर देता, तभी तक तुम्हें सन्धि कर लेनी चाहिए।

यावत् तिष्ठन्ति समरे हतशेषाः सहोदराः ।
नृपाश्च बहवो राजँस्तावत् सन्धिः प्रयुज्यताम् ॥२७॥

"राजन् ! इस रणभूमि में मरने से बचे हुए तुम्हारे सहोदर भाई जबतक विद्यमान हैं, और बहुत-से नरेश भी जीवित हैं, तभी तक तुम अर्जुन के साथ सन्धि कर लो।

एतत् तु रोचतां वाक्यं यदुक्तोऽसि मयानघ ।
एतत् क्षेममहं मन्ये तव चैव कुलस्य च ॥२८॥

"निष्पाप नरेश ! मैंने जो बातें तुमसे कहीं हैं, वे तुम्हें रुचिकर प्रतीत होनी चाहिएँ। मैं सन्धि को ही तुम्हारे और कुरुकुल के लिए कल्याणकारी समझता हूँ।

त्यक्त्वा मन्युं व्युपशाम्यस्व पार्थैः
पर्याप्तं तद् यत् कृतं फाल्गुनेन ।
भीष्मस्यान्तादस्तु वः सौहृदं च
जीवन्तु शेषास्त्वं प्रसीद राजन् ॥२९॥

"राजन् ! तुम क्रोध छोड़कर कुन्तीपुत्रों के साथ सन्धि स्थापित कर लो। अर्जुन ने आज तक जो कुछ किया है, उतना ही उसके शौर्य के निदर्शन के लिए पर्याप्त है। मुझ भीष्म के जीवन का अन्त होने से [तुम्हारे वैर का भी अन्त हो जाए] तुम लोगों में प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो और जो लोग मरने से बचे हैं, वे अच्छी प्रकार जीवित रहें, इसके लिए तुम प्रसन्न हो जाओ।

राज्यस्यार्धं दीयतां पाण्डवाना-
मिन्द्रप्रस्थं धर्मराजोऽभियातु ।
मा मित्रध्रुक् पार्थिवानां जघन्यः
पापां कीर्तिं प्राप्स्यसे कौरवेन्द्र ॥३०॥

"तुम पाण्डवों को आधा राज्य दे दो। धर्मराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ चले जाएँ। कौरवराज ! ऐसा करने से तुम राजाओं में मित्रद्रोही और नीच नहीं कहलाओगे और तुम्हें पापपूर्ण अपयश की प्राप्ति नहीं होगी।

शान्तिः प्रजानां हि ममावसानात्
संगच्छन्तां पार्थिवाः प्रीतिमन्तः ।
पुत्रं पिता मातुलं भागिनेयो
भ्राता चैव भ्रातरं प्रैतु राजन् ॥३१॥

"राजन् ! मेरे जीवन का अन्त होने से ही प्रजाओं में शान्ति हो जाए। समस्त नरेश एक-दूसरे से प्रीतिपूर्वक मिलें। पिता पुत्र से, भानजा मामा से तथा भाई भाई से मिले।

न चेदेवं प्राप्तकालं वचो मे
मोहाविष्टः प्रतिपत्स्यस्यबुद्ध्या ।
तप्स्यस्यन्ते एतदन्ताः स्थ सर्वे
सत्यामेतां भारतमीरयामि ॥३२॥

"दुर्योधन ! यदि तुम मोहवश अपनी मूर्खता के कारण मेरे इस समयोचित वचन को नहीं मानोगे तो अन्त में पछताओगे और इस युद्ध में ही तुम सब लोगों का अन्त हो जाएगा। यह मैं तुमसे सच्ची बात कह रहा हूँ।"

एतद् वाक्यं सौहृदादापगेयो
मध्ये राज्ञां भारतं श्रावयित्वा ।
तूष्णीमासीच्छल्यसंतप्तमर्मा
योज्यात्मानं वेदनां संनियम्य ॥३३॥

गङ्गानन्दन भीष्म समस्त राजाओं के बीच सौहार्दवश दुर्योधन को यह सुनाकर मौन हो गये। वाणों से उनके मर्मस्थलों में अत्यन्त पीड़ा हो रही थी। उन्होंने उस वेदना को किसी प्रकार वश में करके अपने मन को परमात्मा के चिन्तन में लगा दिया।

धर्मार्थसहितं वाक्यं श्रुत्वा हितमनामयम् ।
नारोचयत पुत्रस्ते मुमूर्षुरिव भेषजम् ॥३४॥

राजन् ! जैसे मरणासन्न पुरुष को औषधि अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार महात्मा भीष्म का वह धर्म और अर्थ से युक्त परम हितकर तथा निर्दोष वचन भी आपके पुत्र को पसन्द नहीं आया।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥२९॥

त्रिंशोऽध्यायः

भीष्म तथा कर्ण का रहस्यमय वार्तालाप

सञ्जय उवाच

**ततस्ते पार्थिवाः सर्वे जग्मुः स्वानालयान् पुनः ।
तूष्णीम्भूते महाराज भीष्मे शान्तनुनन्दने ॥१॥**

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! शान्तनुनन्दन भीष्म के मौन हो जाने पर सब राजा वहाँ से उठकर अपने-अपने विश्रामस्थल को चले गये।

**श्रुत्वा तु निहतं भीष्मं राधेयः पुरुषर्षभः ।
ईषदागतसन्त्रासस्त्वरयोपजगाम ह ॥२॥**

भीष्मजी को रथ से नीचे गिराये जाने का समाचार सुनकर पुरुषश्रेष्ठ राधानन्दन कर्ण के मन में कुछ भय समा गया, अतः वह बड़ी उतावली के साथ उनके पास आया।

**स ददर्श महात्मानं शरतल्पगतं तदा ।
जन्मशय्यागतं वीरं कार्तिकेयमिव प्रभुम् ॥३॥**

उस समय उसने देखा, महात्मा भीष्म शरशय्या पर सो रहे हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे वीर कार्तिकेय जन्म-अवसर पर शरशय्या [सरकण्डों के बिछावन] पर सो रहे थे।

**निमीलिताक्षं तं वीरं साश्रुकण्ठस्तदा वृषः ।
भीष्म भीष्म महाबाहो इत्युवाच महाद्युतिः ॥४॥
राधेयोऽहं कुरुश्रेष्ठ नित्यमक्षिगतस्तव ।
द्वेष्योऽहं तव सर्वत्र इति चैनमुवाच ह ॥५॥**

वीर भीष्म के नेत्र बन्द थे। उन्हें देखकर महातेजस्वी कर्ण की आँखों में आँसू छल-छला आये और रुँधे हुए गले से उसने कहा—भीष्म ! भीष्म ! महाबाहो ! कुरुश्रेष्ठ ! मैं वही राधापुत्र कर्ण हूँ, जो सदा आपकी आँखों में खटकता रहता था और

जिसे आप सर्वत्र द्वेषदृष्टि से देखते थे।" कर्ण ने यह बात उनसे कही।

तत् श्रुत्वा कुरुवृद्धो हि बली संवृतलोचनः।
शनैरुद्वीक्ष्य सस्नेहमिदं वचनमब्रवीत् ॥६॥
रहितं धिष्ण्यमालोक्य समुत्सार्य च रक्षिणः।
पितेव पुत्रं गाङ्गेयः परिरभ्यैकपाणिना ॥७॥

उनकी बात सुनकर बन्द नेत्रोंवाले बलवान् कुरुवृद्ध भीष्म ने धीरे से आँखें खोलकर देखा और उस स्थान को एकान्त देख पहरेदारों को हटाकर एक हाथ से कर्ण का उसी प्रकार सस्नेह आलिंगन किया, जैसे पिता अपने पुत्र को गले से लगाता है। तदनन्तर उन्होंने इस प्रकार कहा—

एह्येहि मे विप्रतीप स्पर्धसे त्वं मया सह।
यदि मां नाधिगच्छेथा न ते श्रेयो ध्रुवं भवेत् ॥८॥

"आओ आओ, कर्ण! तुम सदा मुझसे लाग-डाँट रखते रहे, सदा मेरे साथ स्पर्धा करते रहे। आज यदि तुम मेरे पास न आते तो निश्चय ही तुम्हारा कल्याण नहीं होता।

कौन्तेयस्त्वं न राधेयो न तवाधिरथः पिता।
सूर्यजस्त्वं महाबाहो विदितो नारदान्मया ॥९॥

"वत्स! तुम राधा के नहीं, कुन्ती के पुत्र हो। तुम्हारे पिता अधिरथ नहीं हैं। महाबाहो! तुम सूर्य के पुत्र हो। मैंने नारदजी से तुम्हारा परिचय प्राप्त किया था।

तेजोवधनिमित्तं तु परुषं त्वाहमब्रुवम्।
अकस्मात् पाण्डवान् सर्वानवाक्षिपसि सुव्रत ॥१०॥
येनासि बहुशो राज्ञा नोदितः सूतनन्दन।
जातोऽसि धर्मलोपेन ततस्ते बुद्धिरीदृशी ॥११॥
नीचाश्रयान्मत्सरेण द्वेषिणी गुणिनामपि।
तेनासि बहुशो रूक्षं श्रावितः कुरुसंसदि ॥१२॥

"उत्तम व्रत का पालन करनेवाले वीर! मैं कभी-कभी तुमसे जो कठोर वचन कह दिया करता था, उसका उद्देश्य था तुम्हारे उत्साह और तेज को नष्ट करना, क्योंकि सूतनन्दन! तुम राजा दुर्योधन के उकसाने से अकारण ही समस्त पाण्डवों पर बहुत बार आक्षेप किया करते थे। तुम्हारा जन्म [कन्यावस्था में ही कुन्ती के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण] धर्मलोप से हुआ है, अतः नीच पुरुषों के आश्रय से तुम्हारी बुद्धि इस प्रकार ईर्ष्यावश गुणवान् पाण्डवों से भी द्वेष रखनेवाली हो गई है। इसीलिए मैंने कौरवसभा में तुम्हें अनेक बार कटुवचन सुनाये हैं।

जानामि समरे वीर्यं शत्रुभिर्दुःसहं भुवि।
ब्रह्मण्यतां च शौर्यं च दाने च परमां स्थितिम् ॥१३॥

"मैं जानता हूँ, तुम्हारा पराक्रम रणभूमि में शत्रुओं के लिए दुःसह है। तुम ब्राह्मणभक्त, शूरवीर तथा दान में उत्तम निष्ठा रखनेवाले हो।

न त्वया सदृशः कश्चित् पुरुषेष्वमरोपम।
कुलभेदभयाच्चाहं सदा परुषमुक्तवान् ॥१४॥

"देवोपम वीर! मनुष्यों में तुम्हारे समान कोई नहीं है। मैं सदा अपने कुल में फूट पड़ने के डर से तुम्हें कटुवचन सुनाता रहा।

इष्वस्त्रे चास्त्रसंधाने लाघवेऽस्त्रबले तथा।
सदृशः फाल्गुनेनासि कृष्णेन च महात्मना ॥१५॥

"बाण चलाने, दिव्यास्त्रों का सन्धान करने, फुर्ती दिखाने तथा अस्त्रबल में तुम अर्जुन तथा महात्मा श्रीकृष्ण के समान हो।

ब्राह्मण्यः सत्वयोधी च तेजसा च बलेन च।
देवगर्भसमः संख्ये मनुष्यैरधिको युधि ॥१६॥

"तुम ब्राह्मणभक्त, धैर्यपूर्वक युद्ध करनेवाले और तेज तथा बल से सम्पन्न हो। युद्धभूमि में तुम देवकुमारों के समान प्रतीत होते हो और प्रत्येक युद्ध में मनुष्यों से अधिक पराक्रम हो।

व्यपनीतोऽद्य मन्युर्मे यस्त्वां प्रति पुरा कृतः।
दैवं पुरुषकारेण न शक्यमतिवर्तितुम् ॥१७॥

"मैंने पहले जो तुम्हारे प्रति क्रोध किया था, वह अब दूर हो गया है, क्योंकि प्रारब्ध के विधान को कोई पुरुषार्थ द्वारा नहीं टाल सकता।

सोदर्याः पाण्डवा वीरा भ्रातरस्तेऽरिसूदन।
संगच्छ तैर्महाबाहो मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥१८॥

"शत्रुसंहारक! वीर पाण्डव तुम्हारे सगे भाई हैं। महाबाहो! यदि तुम मेरा प्रिय करना चाहते हो तो अपने उन भाइयों से मिल जाओ।

मया भवतु निर्वृत्तं वैरमादित्यनन्दन।
पृथिव्यां सर्वराजानो भवन्त्वद्य निरामयाः ॥१९॥

"सूर्यनन्दन ! मेरी मृत्यु के द्वारा ही यह वैर की अग्नि शान्त हो जाए और भूमण्डल के सारे नरेश अब दुःख-शोक से रहित तथा निर्भय हो जाएँ।"

कर्ण उवाच

जानाम्येव महाबाहो सर्वमेतन्न संशयः।
यथा वदसि मे भीष्म कौन्तेयोऽहं न सूतजः ॥२०॥

कर्ण बोला—महाबाहो भीष्म ! आप जो कुछ कह रहे हैं, उसे मैं भी जानता हूँ। यह सब ठीक है, इसमें संशय नहीं है। वस्तुतः ! मैं कुन्ती का ही पुत्र हूँ, सूतपुत्र नहीं हूँ।

अवकीर्णस्त्वहं कुन्त्या सूतेन च विवर्धितः।
भुक्त्वा दुर्योधनैश्वर्यं न मिथ्या कर्तुमुत्सहे ॥२१॥

माता कुन्ती ने तो मुझे पानी में बहा दिया और सूत ने मुझे पाल-पोषकर बड़ा किया। मैंने दुर्योधन का ऐश्वर्य भोगा। दुर्योधन का ऐश्वर्य भोगकर अब मैं उसे निष्फल नहीं कर सकता।

वसुदेवसुतो यद्वत् पाण्डवाय दृढव्रतः।
वसु चैव शरीरं च पुत्रदारं तथा यशः ॥२२॥
सर्वं दुर्योधनस्यार्थे त्यक्तं मे भूरिदक्षिण।
मा चैतद् व्याधिमरणं क्षत्रं स्यादिति कौरव ॥२३॥
कोपिताः पाण्डवा नित्यं समाश्रित्य सुयोधनम्।
अवश्यभावी ह्यर्थोऽयं यो न शक्यो निवर्तितुम् ॥२४॥

जैसे वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण पाण्डुपुत्र अर्जुन की सहायता के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं, उसी प्रकार मेरा धन, शरीर, स्त्री, पुत्र तथा यश सब-कुछ दुर्योधन के लिए न्योछावर है। यज्ञों में प्रचुर दक्षिणा देनेवाले कुरु-नन्दन भीष्म ! मैंने दुर्योधन का आश्रय लेकर पाण्डवों का क्रोध सदा इसलिए बढ़ाया है कि यह क्षत्रिय-जाति रोगों की शिकार होकर न मरे [युद्ध में वीरगति प्राप्त करे]। यह युद्ध अवश्यम्भावी है, इसे कोई टाल नहीं सकता।

न च शक्यमवस्रष्टुं वैरमेतत् सुदारुणम्।
धनञ्जयेन योत्स्येऽहं स्वधर्मप्रीतमानसः ॥२५॥

पाण्डवों के साथ हम लोगों का यह वैर अत्यन्त भयंकर हो गया है, अब इसे दूर नहीं किया जा सकता। मैं अपने धर्म के अनुसार प्रसन्नचित्त होकर अर्जुन के साथ युद्ध करूँगा।

अनुजानीहि मां तात युद्धाय कृतनिश्चयम्।
अनुज्ञातस्त्वया वीर युद्धयेयमिति मे मतिः ॥२६॥

तात ! मैं युद्ध के लिए निश्चय कर चुका हूँ। वीर ! मेरा विचार है कि मैं आपकी आज्ञा लेकर युद्ध करूँ, अतः आप मुझे आज्ञा प्रदान करें।

दुरुक्तं विप्रतीपं वा रभसाच्चापलात् तथा।
यन्मयेह कृतं किंचित् तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥२७॥

मैंने क्रोध के आवेग से अथवा चपलता के कारण आपके प्रति जो कटुवचन कहा हो अथवा आपके प्रतिकूल आचरण किया हो, वह सब आप कृपापूर्वक क्षमा कर दें।

भीष्म उवाच

न चेच्छक्यमवस्रष्टुं वैरमेतत् सुदारुणम्।
अनुजानामि कर्ण त्वां युद्धयस्व स्वर्गकाम्यया ॥२८॥

भीष्म बोले—कर्ण ! यदि यह भयंकर वैर अब नहीं छोड़ा जा सकता तो मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा से युद्ध करो।

निर्मन्युर्गतसंरम्भः कृतकर्मा रणे स्म ह।
यथाशक्ति यथोत्साहं सतां वृत्तेषु वृत्तवान् ॥२९॥

तुम दीनता और क्रोध छोड़कर अपनी शक्ति और उत्साह के अनुसार सत्पुरुषों के आचार में स्थित रहकर युद्ध करो। तुम रणभूमि में पराक्रम प्रकट कर चुके हो और आचारवान् तो हो ही।

अहं त्वामनुजानामि यदिच्छसि तदाप्नुहि।
क्षत्रधर्मजितांल्लोकानवाप्स्यसि धनञ्जयात् ॥३०॥

कर्ण ! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम जो चाहते हो, वह प्राप्त करो। धनञ्जय के हाथ से मारे जाने पर तुम्हें क्षत्रियधर्म के पालन से प्राप्त होनेवाले लोकों की प्राप्ति होगी।

युध्यस्व निरहङ्कारो बलवीर्यव्यपाश्रयः।
धर्म्याद्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

तुम अभिमान-शून्य होकर बल और पराक्रम का सहारा लेकर युद्ध करो। क्षत्रिय के लिए धर्मानुकूल युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी साधन नहीं है।

प्रशमे हि कृतो यत्नः सुमहान् सुचिरं मया।
न चैव शकितः कर्तुं कर्ण सत्यं ब्रवीमि ते ॥३२॥

कर्ण ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि मैंने कौरवों और पाण्डवों में शान्ति स्थापित करने के लिए दीर्घकाल तक महान् प्रयत्न किया, परन्तु मैं उसमें सफल न हो सका।

सञ्जय उवाच

इत्युक्तवति गाङ्गेये अभिवाद्योपमन्त्र्य च।
राधेयो रथमारुह्य प्रायात् तव सुतं प्रति ॥३३॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! गङ्गानन्दन भीष्म के ऐसा कहने पर राधानन्दन कर्ण उन्हें प्रणाम करके तथा उनकी आज्ञा लेकर रथ पर आरूढ़ हो आपके पुत्र दुर्योधन के पास चला गया।

इति महाभारते भीष्मपर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

॥ इति भीष्मपर्व सम्पूर्णम् ॥

द्रोणपर्व

प्रथमोऽध्यायः

द्रोणाचार्य का सेनापति के पद पर अभिषेक

जनमेजय उवाच

**हतं देवव्रतं श्रुत्वा पाञ्चाल्येन शिखण्डिना ।
यदचेष्टत कौरव्यस्तन्मे ब्रूहि तपोधन ॥१॥**

जनमेजय ने पूछा—तपोधन ! देवव्रत भीष्म को पाञ्चालराजकुमार शिखण्डी के द्वारा मारा गया सुनकर कुरुवंशी दुर्योधन ने जो यत्न किया, वह सब मुझे बताइए ।

वैशम्पायन उवाच

**निहतं पितरं श्रुत्वा धृतराष्ट्रो जनाधिपः ।
लेभे न शान्तिं कौरव्यश्चिन्ताशोकपरायणः ॥२॥**

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय ! ज्येष्ठ पिता को मारा गया सुनकर कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र चिन्ता और शोक में मग्न हो गये । उन्हें क्षणभर को भी शान्ति नहीं मिल रही थी ।

**तस्य चिन्तयतो दुःखमनिशं पार्थिवस्य तत् ।
आजगाम विशुद्धात्मा पुनर्गावल्गणिस्तदा ॥३॥**

वे नरेश निरन्तर उस दुःखदायिनी घटना का ही चिन्तन करते रहे । उसी समय विशुद्ध अन्तःकरण-वाला गवल्गण का पुत्र संजय पुनः उसके पास आया ।

**शिबिरात् संजयं प्राप्तं निशि नागाह्वयं पुरम् ।
आम्बिकेयो महाराज धृतराष्ट्रोऽन्वपृच्छत ॥४॥**

महाराज ! रात्रि के समय कुरुक्षेत्र के शिविर से हस्तिनापुर में आये हुए सञ्जय से अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्र ने वहाँ का समाचार पूछा ।

धृतराष्ट्र उवाच

**देवव्रते तु निहते कुरूणामृषभे तदा ।
किमकार्षुर्नृपतयस्तन्ममाचक्ष्व संजय ॥५॥**

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय ! कुरुश्रेष्ठ देवव्रत के मारे जाने पर उस समय सब राजाओं ने कौन-सा कार्य किया ? यह मुझे बताइए ।

सञ्जय उवाच

**शृणु राजन्नेकमना वचनं ब्रुवतो मम ।
यत् ते पुत्रास्तदाकार्षुर्हते देवव्रते मृधे ॥६॥**

सञ्जय ने कहा—राजन् ! उस युद्ध में देवव्रत भीष्म के मारे जाने पर आपके पुत्रों ने जो कुछ किया, वह सब मैं बता रहा हूँ, आप मेरे कथन को ध्यानपूर्वक सुनें ।

**निहते तु तदा भीष्मे राजन् सत्यपराक्रमे ।
पुनर्युद्धाय निर्जग्मुः क्षत्रियाः कालनोदिताः ॥७॥**

राजन् ! सत्यपराक्रमी भीष्म के मारे जाने पर काल से प्रेरित क्षत्रिय पुनः युद्ध के लिए निकल पड़े ।

**मोहात् तव सपुत्रस्य वधाच्छान्तनवस्य च ।
कौरव्या मृत्युसाद्भूताः सहिताः सर्वराजभिः ॥८॥**

पुत्रसहित आपके मोह=अविवेक से और शान्तनुनन्दन भीष्म का वध हो जाने से उस समय समस्त राजाओंसहित सम्पूर्ण कुरुवंशी मृत्यु के अधीन हो रहे थे ।

**अजावय इवागोपा वने श्वापदसंकुले ।
भृशमुद्विग्नमनसो हीना देवव्रतेन ते ॥९॥**

जिस प्रकार हिंसक जन्तुओं से भरे वन में विना रक्षक की भेड़ और बकरियाँ भय से उद्विग्न रहती हैं, उसी प्रकार आपके पुत्र और सैनिक देवव्रत से रहित होकर मन-ही-मन अत्यन्त दुःखी हो उठे थे।

पतिते भरतश्रेष्ठे बभूव कुरुवाहिनी।
विधवेव वरारोहा शुष्कतोयेव निम्नगा ॥१०॥

भरतशिरोमणि भीष्म के धराशायी हो जाने पर कौरव-सेना सुन्दरी विधवा के समान और जिसका पानी सूख गया हो ऐसी नदी के समान भयभीत, विचलित और श्रीहीन जान पड़ती थी।

तस्मिंस्तु निहते शूरे सत्यसन्धे महौजसि।
त्वत्सुताः कर्णमस्मार्षुस्तर्तुकामा इव प्लवम् ॥११॥

महापराक्रमी, सत्यप्रतिज्ञ, शूरवीर भीष्म के मारे जाने पर आपके पुत्रों ने कर्ण का वैसे ही स्मरण किया, जैसे पार जाने के इच्छुक मनुष्य नौका की इच्छा करते हैं।

तावकास्तव पुत्राश्च सहिताः सर्वराजभिः।
हा कर्ण इति चाक्रन्दन् कालोऽयमिति चाब्रुवन् ॥१२॥

समस्त राजाओंसहित आपके पुत्र और सैनिक 'हा कर्ण' कहकर विलाप करने लगे और बोले—"कर्ण! इस समय तुम्हारे पराक्रम प्रकट करने का समय आया है।"

हते तु भीष्मे रथसत्तमे परैर्-
निमज्जतीं नावमिवार्णवे कुरून्।
पितेव पुत्रांस्त्वरितोऽभ्ययात् ततः
संतारयिष्यंस्तव सुतस्य सेनाम् ॥१३॥

उधर रथियों में श्रेष्ठ भीष्मजी के शत्रुओं द्वारा मारे जाने पर, जैसे पिता अपने पुत्रों को संकट से बचाने के लिए जाता हो, वैसे ही सूतपुत्र कर्ण डूबती हुई नौका के समान आपके पुत्र की सेना को संकट से बचाने के लिए बड़ी उतावली के साथ दुर्योधन के निकट आ पहुँचा।

रथस्थं पुरुषव्याघ्रं दृष्ट्वा कर्णमवस्थितम्।
हृष्टो दुर्योधनो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥१४॥

राजन्! पुरुषसिंह कर्ण को युद्ध के लिए रथ पर बैठा देख दुर्योधन ने प्रसन्न होकर इस प्रकार कहा—

दुर्योधन उवाच

न विना नायकं सेना मुहूर्तमपि तिष्ठति।
आहवेष्वाहवश्रेष्ठ नेतृहीनेव नौर्जले ॥१५॥

दुर्योधन ने कहा—समराङ्गण के श्रेष्ठ वीर! सेनापति के विना कोई सेना दो घड़ी भी संग्राम में नहीं टिक सकती, ठीक वैसे ही, जैसे नाविक के विना नौका जल में स्थिर नहीं रह सकती।

यथा ह्यकर्णधारा नौ रथश्चासारथिर्यथा।
द्रवेद् यथेष्टं तद्वत् स्यादृते सेनापतिं बलम् ॥१६॥

जैसे विना मल्लाह की नौका जल में इधर-उधर कहीं भी वह सकती है और विना सारथि का रथ चाहे जहाँ भटक जाता है, उसी प्रकार सेनापति के विना सेना भी चाहे जहाँ भाग सकती है।

अदैशिको यथा सार्थः सर्वः कृच्छ्रं समर्च्छति।
अनायका तथा सेना सर्वान् दोषान् समर्च्छति ॥१७॥

जैसे किसी मार्गदर्शक के न होने पर यात्रियों का सारा दल भारी संकट में पड़ जाता है, वैसे ही सेनापति के विना सेना को सब प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

स भवान् वीक्ष्य सर्वेषु मामकेषु महात्मसु।
पश्य सेनापतिं युक्तमनु शान्तनवादिह ॥१८॥

अतः आप मेरे पक्ष के सब महामनस्वी वीरों पर दृष्टि डालकर यह देखो कि भीष्मजी के पश्चात् अब कौन उपयुक्त सेनापति हो सकता है?

कर्ण उवाच

सर्व एव महात्मान इमे पुरुषसत्तमाः।
सेनापतित्वमर्हन्ति नात्र कार्या विचारणा ॥१९॥

कर्ण बोला—राजन्! ये सभी महामनस्वी पुरुषप्रवर नरेश सेनापति होने के योग्य हैं। इस विषय में कोई अन्यथा विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

कुलसंहननज्ञानैर्बलविक्रमबुद्धिभिः।
युक्ताः श्रुतज्ञा धीमन्त आहवेष्वनिवर्तिनः ॥२०॥

जो नरेश यहाँ विद्यमान हैं, वे सभी अपने कुल, शरीर, ज्ञान, बल, पराक्रम और बुद्धि की दृष्टि से सेनापति-पद के योग्य हैं। ये सभी वेदज्ञ, बुद्धिमान् और युद्ध से कभी पीछे न हटनेवाले हैं।

युगपन्न तु ते शक्याः कर्तुं सर्वे पुरःसराः ।
एक एव तु कर्तव्यो यस्मिन् वैशेषिका गुणाः ॥२१॥

परन्तु सब-के-सब एक ही समय तो सेनापति नहीं बनाये जा सकते, अतः जिस एक में सभी विशिष्ट गुण हों, उसी को अपनी सेना का नायक बनाना चाहिए ।

अन्योन्यस्पर्धिनां ह्येषां यद्येकं यं करिष्यसि ।
शेषा विमनसो व्यक्तं न योत्स्यन्ति हितास्तव ॥२२॥

किन्तु ये सभी नरेश एक-दूसरे से स्पर्धा रखने-वाले हैं । यदि तुम इनमें से किसी एक को सेनापति बना लोगे तो शेष सब राजा मन-ही-मन अप्रसन्न हो तुम्हारे हित की भावना से युद्ध नहीं करेंगे, यह बात अत्यन्त स्पष्ट है ।

अयं च सर्वयोधानामाचार्यः स्थविरो गुरुः ।
युक्तः सेनापतिः कर्तुं द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ॥२३॥

अतः जो इन समस्त योद्धाओं के आचार्य, वयो-वृद्ध, गुरु तथा शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ हैं, वे आचार्य द्रोण ही इस समय सेनापति-पद पर अभिषिक्त किये जाने योग्य हैं ।

को हि तिष्ठति दुर्धर्षे द्रोणे शस्त्रभृतां वरे ।
सेनापतिः स्यादन्योऽस्माच्छुक्राङ्गिरसदर्शनात् ॥२४॥

सम्पूर्ण शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ, दुर्जय वीर द्रोणाचार्य के रहते हुए, इन शुक्राचार्य और बृहस्पति के समान महानुभाव को छोड़कर दूसरा कौन सेनापति हो सकता है ? [अतः आचार्य द्रोण को शीघ्र सेनापति बनाओ ।]

सञ्जय उवाच

कर्णस्य वचनं श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
सेनामध्यगतं द्रोणमिदं वचनमब्रवीत् ॥२५॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! कर्ण का यह वचन सुनकर उस समय राजा दुर्योधन ने सेना के मध्यभाग में स्थित हुए द्रोणाचार्य से इस प्रकार कहा—

दुर्योधन उवाच

वर्णश्रैष्ठ्यात् कुलोत्पत्त्या श्रुतेन वयसा धिया ।
तपसा च कृतज्ञत्वाद् वृद्धः सर्वगुणैरपि ॥२६॥
युक्तो भवत्समो गोप्ता राज्ञामन्यो न विद्यते ।
भवन्नेत्राः पराञ्जेतुमिच्छामो द्विजसत्तम ॥२७॥

दुर्योधन बोला—द्विजश्रेष्ठ ! आप उत्तम वर्ण, श्रेष्ठ कुल में जन्म, शास्त्रज्ञान, अवस्था, बुद्धि, तपस्या, कृतज्ञता आदि समस्त गुणों के द्वारा सबसे बढ़े-चढ़े हैं । आपके समान योग्य संरक्षक इन राजाओं में दूसरा कोई भी नहीं है । हम आपके नेतृत्व में रहकर शत्रु पर विजय पाना चाहते हैं ।

ध्रुवं युधिष्ठिरं संख्ये सानुबन्धं सबान्धवम् ।
जेष्यामि पुरुषव्याघ्र भवान् सेनापतिर्यदि ॥२८॥

नरशार्दूल ! यदि आप मेरे सेनापति बन जाएँ तो मैं युद्ध में निश्चय ही भाइयों तथा सगे-सम्बन्धियों सहित युधिष्ठिर को जीत लूँगा ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्ते ततो द्रोणं जयेत्यूचुर्नराधिपाः ।
सिंहनादेन महता हर्षयन्तस्तवात्मजम् ॥२९॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! दुर्योधन के ऐसा कहने पर सब नरेश अपने महान् सिंहनाद से आपके पुत्र का हर्ष बढ़ाते हुए द्रोणाचार्य से बोले—"आचार्य ! आपकी जय हो ।"

द्रोण उवाच

वेदं षडङ्गं वेदाहमर्थविद्यां च मानवीम् ।
त्रैयम्बकमथेष्वस्त्रं शस्त्राणि विविधानि च ॥३०॥

द्रोणाचार्य ने कहा—राजन् ! मैं छहों अङ्गों-सहित वेद, मनुजी का कहा हुआ अर्थशास्त्र, महाराज शिव की दी हुई बाणविद्या और अनेक प्रकार के अस्त्रशस्त्र भी जानता हूँ ।

ये चाप्युक्ता मयि गुणा भवद्भिर्जयकांक्षिभिः ।
चिकीर्षुस्तानहं सर्वान् योधयिष्यामि पाण्डवान् ॥३१॥

विजय-अभिलाषी तुम लोगों ने मुझमें जो-जो गुण बताये हैं, उन सबको प्राप्त करने की इच्छा से मैं पाण्डवों के साथ युद्ध करूँगा ।

पार्षतं तु रणे राजन् न हनिष्ये कथञ्चन ।
स हि सृष्टो वधार्थाय ममैव पुरुषर्षभः ॥३२॥

परन्तु राजन् ! मैं द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न को युद्धभूमि में किसी प्रकार भी नहीं मारूँगा, क्योंकि वह पुरुषश्रेष्ठ धृष्टद्युम्न मेरे ही वध के संकल्प से उत्पन्न किया गया है ।

सञ्जय उवाच

स एवमभ्यनुज्ञातश्चक्रे सेनापतिं ततः ।
द्रोणं तव सुतो राजन् विधिदृष्टेन कर्मणा ॥३३॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार द्रोणाचार्य की अनुमति मिल जाने पर आपके पुत्र दुर्योधन ने उन्हें शास्त्रीय विधि के अनुसार सेनापति के पद पर अभिषिक्त कर दिया ।

ततो वादित्रघोषेण शंखानां च महास्वनैः ।
प्रादुरासीत् कृते द्रोणे हर्षः सेनापतौ तदा ॥३४॥

उस समय वाद्यों के घोष तथा शंखों की गम्भीर ध्वनि के साथ द्रोणाचार्य के सेनापति-पद पर अभिषिक्त हो जाने पर सब लोगों के हृदयों में महान् हर्ष प्रकट हुआ ।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

द्रोणाचार्य द्वारा युधिष्ठिर को जीवित पकड़ लाने की प्रतिज्ञा

सञ्जय उवाच

सेनापतित्वं सम्प्राप्य भारद्वाजो महारथः ।
मध्ये सर्वस्य सैन्यस्य पुत्रं ते वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! सेनापति का पद प्राप्त करके महारथी द्रोणाचार्य ने समस्त सेना के मध्य आपके पुत्र दुर्योधन से इस प्रकार कहा—

यत् कौरवाणामृषभादापगेयादनन्तरम् ।
सैनापत्येन यद् राजन् मामद्य कृतवानसि ॥२॥
सदृशं कर्मणस्तस्य फलं प्राप्नुहि भारत ।
करोमि कामं कं तेऽद्य प्रवृणीष्व यमिच्छसि ॥३॥

"राजन् ! तुमने कौरवश्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्म के बाद जो आज मुझे सेनापति-पद पर अभिषिक्त किया है, भरतभूषण ! इस कार्य के अनुरूप कोई फल मुझसे प्राप्त करो । आज तुम्हारा कौन-सा मनोरथ पूर्ण करूँ ? तुम्हें जिस वस्तु की इच्छा हो, वही माँग लो ।"

दुर्योधन उवाच

ददासि चेद् वरं मह्यं जीवग्राहं युधिष्ठिरम् ।
गृहीत्वा रथिनां श्रेष्ठं मत्समीपमिहानय ॥४॥

दुर्योधन बोला—आचार्य, यदि आप मुझे वर दे रहे हैं तो रथियों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर को जीवित पकड़कर मेरे पास ले आइए ।

द्रोण उवाच

धन्यः कुन्तीसुतो राजन् यस्य ग्रहणमिच्छसि ।
न वधार्थं सुदुर्धर्षं वरमद्य प्रयाचसे ॥५॥

द्रोणाचार्य ने कहा—राजन् ! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर धन्य हैं, जिन्हें आप जीवित पकड़ना चाहते हैं । उस दुर्धर्ष वीर को मौत के घाट उतारने के लिए आज आप मुझसे याचना नहीं कर रहे हो ।

किमर्थं च नरव्याघ्र न वधं तस्य कांक्षसे ।
नाशंससि क्रियामेतां मत्तो दुर्योधन ध्रुवम् ॥६॥

पुरुषसिंह ! आपको उनके वध की इच्छा क्यों नहीं हो रही है ? दुर्योधन ! तुम मेरे द्वारा युधिष्ठिर का वध क्यों नहीं कराना चाहते हो ?

अहोस्विद् धर्मराजस्य द्वेष्टा तस्य न विद्यते ।
यदीच्छसि त्वं जीवन्तं कुलं रक्षसि चात्मनः ॥७॥

अथवा इसका कारण यह तो नहीं कि धर्मराज युधिष्ठिर से द्वेष रखनेवाला इस लोक में कोई है ही नहीं, अतः तुम उन्हें जीवित देखना और अपने कुल की रक्षा करना चाहते हो ?

अथवा भरतश्रेष्ठ निर्जित्य युधि पाण्डवान् ।
राज्यं सम्प्रति दत्त्वा च सौभ्रात्रं कर्तुमिच्छसि ॥८॥

अथवा भरतभूषण ! तुम युद्ध में पाण्डवों को जीतकर इस समय उनका राज्य उन्हें लौटाकर श्रेष्ठ भ्रातृभाव का आदर्श उपस्थित करना चाहते हो ।

धन्यः कुन्तीसुतो राजा सुजातं चास्य धीमतः ।
अजातशत्रुता सत्या तस्य यत् स्निह्यते भवान् ॥९॥

कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर धन्य हैं । उन बुद्धिमान् नरेश का जन्म भी बहुत उत्तम है । वे जो

अजातशत्रु कहलाते हैं, वह भी ठीक है, क्योंकि तुम भी उनपर स्नेह रखते हो।

सञ्जय उवाच

द्रोणेन चैवमुक्तस्य तव पुत्रस्य भारत।
सहसा निःसृतो भावो योऽस्य नित्यं हृदि स्थितः ॥१०॥

सञ्जय कहते हैं—हे भारत ! द्रोणाचार्य के ऐसा कहने पर तुम्हारे पुत्र के मन का स्थिर भाव जो सदा उनके मन में बना रहता था, सहसा प्रकट हो गया।

नाकारो गूहितं शक्यो बृहस्पतिसमैरपि।□
तस्मात्तव सुतो राजन् प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत् ॥११॥

राजन् ! बृहस्पति के समान बुद्धिमान् पुरुष भी अपने आकार को छिपा नहीं सकते, अतः आपका पुत्र अत्यन्त प्रसन्न होकर इस प्रकार बोला—

दुर्योधन उवाच

वधे कुन्तिसुतस्याजौ नाचार्य विजयो मम।
हते युधिष्ठिरे पार्था हन्युः सर्वान् हि नो ध्रुवम् ॥१२॥

दुर्योधन बोला—आचार्य ! युद्धभूमि में कुन्ती-कुमार युधिष्ठिर के मारे जाने से मेरी विजय नहीं हो सकती, क्योंकि युधिष्ठिर का वध होने पर कुन्ती के पुत्र हम सब लोगों को अवश्य ही मार डालेंगे।

न च शक्या रणे सर्वे निहन्तुममरैरपि।
य एव तेषां शेषः स्यात् स एवास्मान् न शेषयेत् ॥१३॥

समस्त देवता भी सारे पाण्डवों को रणक्षेत्र में नहीं मार सकते और पाण्डवों में से जो भी शेष रह जाएगा, वही हम लोगों को शेष नहीं रहने देगा।

सत्यप्रतिज्ञे त्वानीते पुनर्द्यूतेन निर्जिते।
पुनर्यास्यन्त्यरण्याय पाण्डवास्तमनुव्रताः ॥१४॥

सत्यप्रतिज्ञ राजा युधिष्ठिर को जीते-जी पकड़ ले आने पर यदि उन्हें पुनः जुए में जीत लिया जाए तो उनमें भक्ति रखनेवाले पाण्डव पुनः वन में चले जाएँगे।

सोऽयं मम जयो व्यक्तं दीर्घकालं भविष्यति।
अतो न वधमिच्छामि धर्मराजस्य कर्हिचित् ॥१५॥

इस प्रकार निश्चय ही मेरी विजय दीर्घकाल तक बनी रहेगी, अतः मैं कभी भी धर्मराज युधिष्ठिर का वध नहीं करना चाहता।

सञ्जय उवाच

तस्य जिह्ममभिप्रायं ज्ञात्वा द्रोणोऽथ तत्त्ववित्।
तं वरं सान्तरं तस्मै ददौ संचिन्त्य बुद्धिमान् ॥१६॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! द्रोणाचार्य प्रत्येक बात के वास्तविक रहस्य को तुरन्त समझ लेनेवाले थे। दुर्योधन के उस कुटिल भाव को जानकर बुद्धिमान् द्रोण ने मन-ही-मन कुछ विचार किया और अन्तर [शर्त] रखकर उसे वर दिया—

द्रोण उवाच

न चेद् युधिष्ठिरं वीरः पालयत्यर्जुनो युधि।
मन्यस्व पाण्डवश्रेष्ठमानीतं वशमात्मनः ॥१७॥

द्रोणाचार्य बोले—राजन् ! यदि वीरवर अर्जुन युद्ध में युधिष्ठिर की रक्षा न करते हों, तब तुम पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर को अपने वश में आया हुआ ही समझो।

न हि शक्यो रणे पार्थः सेन्द्रैर्देवासुरैरपि।
प्रत्युद्यातुमतस्तात नैतदामर्षयाम्यहम् ॥१८॥

तात ! युद्धभूमि में इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता और असुर भी अर्जुन का सामना नहीं कर सकते, अतः मुझमें भी उन्हें जीतने का उत्साह नहीं है।

असंशयं स मे शिष्यो मत्पूर्वश्चास्त्रकर्मणि।
तरुणः सुकृतैर्युक्त एकायनगतश्च ह ॥१९॥
अस्त्राणीन्द्राच्च रुद्राच्च भूयः स समवाप्तवान्।
अमर्षितश्च ते राजंस्ततो नामर्षयाम्यहम् ॥२०॥

निःसन्देह अर्जुन मेरा शिष्य है और सर्वप्रथम उसने मुझसे ही अस्त्रविद्या सीखी है, तथापि वह युवक है और अनेक प्रकार के पुण्यकर्मों से युक्त है। विजय अथवा मृत्यु—इन दोनों में से एक का वरण करने का दृढ़ निश्चय कर चुका है। इसके अतिरिक्त अर्जुन ने देवराज इन्द्र तथा भगवान् शिव से दिव्यास्त्रों [ऐन्द्र-पाशुपतादि] की सम्पूर्ण शिक्षासहित उपलब्धि की है, एवं तुमने अपने स्वार्थपूर्ण अनैतिक व्यापारों व व्यवहारों से अर्जुन को अत्यन्त क्रुद्ध किया हुआ है अतः मैं अपने किसी कार्य [अनुचित कार्य] से उसे और क्रुद्ध नहीं करना चाहता।

स चापक्रम्यतां युद्धाद् येनोपायेन शक्यते।
अपनीते ततः पार्थे धर्मराजो जितस्त्वया ॥२१॥

इसलिए जिस उपाय से भी सम्भव हो, तुम अर्जुन को युद्धभूमि से दूर हटा दो। कुन्तीपुत्र अर्जुन के रणभूमि से हट जाने पर समझ लो कि तुमने धर्मराज को जीत लिया।

सञ्जय उवाच

सान्तरं तु प्रतिज्ञाते राज्ञो द्रोणेन निग्रहे।
गृहीतं तममन्यन्त तव पुत्राः सुबालिशाः ॥२२॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! द्रोणाचार्य ने शर्त के साथ जब राजा युधिष्ठिर को पकड़ लेने की प्रतिज्ञा कर ली, तब आपके मूर्ख पुत्र उन्हें बन्दी हुआ ही मानने लगे।

पाण्डवेषु च सापेक्षं द्रोणं जानाति ते सुतः।
ततः प्रतिज्ञास्थैर्यार्थं स मन्त्रो बहुलीकृतः ॥२३॥

आपका पुत्र दुर्योधन यह जानता था कि द्रोणाचार्य पाण्डवों के प्रति पक्षपात रखते हैं, अतः उसने उनकी प्रतिज्ञा को स्थिर रखने के लिए उस गुप्त बात को भी लोगों में फैला दिया।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन का युधिष्ठिर को समाश्वासन, द्रोणाचार्य का पराक्रम और अर्जुन की विजय

सञ्जय उवाच

तत्तु सर्वं यथान्यायं धर्मराजेन भारत।
आप्तैराशु परिज्ञातं भारद्वाजचिकीर्षितम् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—भरतभूषण! द्रोणाचार्य क्या करना चाहते हैं, धर्मराज युधिष्ठिर ने शीघ्र ही अपने विश्वसनीय गुप्तचरों द्वारा यथायोग्य सभी बातें पूर्णरूप से जान लीं।

ततः सर्वान् समानाय्य भ्रातॄनन्यांश्च सर्वशः।
अब्रवीद् धर्मराजस्तु धनञ्जयमिदं वचः ॥२॥

तब धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने सब भाइयों और दूसरे राजाओं को सब ओर से बुलवाकर धनञ्जय अर्जुन से यह बात कही—

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं ते पुरुषव्याघ्र द्रोणस्याद्य चिकीर्षितम्।
यथा तन्न भवेत् सत्यं तथा नीतिर्विधीयताम् ॥३॥

युधिष्ठिर ने कहा—पुरुषसिंह! आज द्रोणाचार्य क्या करना चाहते हैं, यह तुमने सुना ही होगा, अतः तुम ऐसी नीति अपनाओ, जिससे उनकी इच्छा पूर्ण न हो।

सान्तरं हि प्रतिज्ञातं द्रोणेनामित्रकर्षिणा।
तच्चान्तरं महेष्वास त्वयि तेन समाहितम् ॥४॥

शत्रुनाशक द्रोणाचार्य ने कुछ शर्त रखकर प्रतिज्ञा की है। महाधनुर्धर अर्जुन! वह शर्त उन्होंने आप पर ही डाल रखी है।

स त्वमद्य महाबाहो युध्यस्व मदनन्तरम्।
यथा दुर्योधनः कामं नेमं द्रोणादवाप्नुयात् ॥५॥

अतः महाबाहो! आज तुम मेरे समीप रहकर ही युद्ध करो, जिससे दुर्योधन द्रोणाचार्य द्वारा अपने इस मनोरथ को पूर्ण न करा सके।

अर्जुन उवाच

यथा मे न वधः कार्य आचार्यस्य कदाचन।
तथा तव परित्यागो न मे राजंश्चिकीर्षितः ॥६॥

अर्जुन बोले—राजन्! जैसे मेरे लिए द्रोणाचार्य का किसी भी अवस्था में वध करना योग्य नहीं है, वैसे ही आपका परित्याग भी मुझे अभीष्ट नहीं है।

प्रपतेद् द्यौः सनक्षत्रा पृथिवी शकली भवेत्।
न त्वां द्रोणो निगृह्णीयाज्जीवमाने मयि ध्रुवम् ॥७॥

नक्षत्रोंसहित आकाश फट पड़े और पृथिवी के टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ तो भी मेरे जीते-जी द्रोणाचार्य आपको पकड़ नहीं सकते, यह ध्रुव सत्य है।

यदि तस्य रणे साह्यं कुरुते वज्रभृत् स्वयम्।
विष्णुर्वा सहितो देवैर्न त्वां प्राप्स्यत्यसौ मृधे ॥८॥
मयि जीवति राजेन्द्र न भयं कर्तुमर्हसि।
द्रोणादस्त्रभृतां श्रेष्ठात् सर्वशस्त्रभृतामपि ॥९॥

हे राजेन्द्र! यदि युद्धभूमि में साक्षात् वज्रधारी इन्द्र अथवा समस्त देवताओंसहित विष्णु भी आकर दुर्योधन की सहायता करें, तो भी मेरे जीते-जी वह आपको पकड़ नहीं सकेगा, इसलिए आपको सम्पूर्ण

अस्त्र-शस्त्र धारियों में श्रेष्ठ द्रोणाचार्य से भयभीत नहीं होना चाहिए।

सञ्जय उवाच

ततः शंखाश्च भेर्यश्च मृदङ्गाश्चानकैः सह।
प्रावाद्यन्त महाराज पाण्डवानां निवेशने ॥१०॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! तत्पश्चात् पाण्डवों के शिविर में शंख, भेरी, मृदङ्ग और आणक आदि बाजे बजने लगे।

श्रुत्वा शंखस्य निर्घोषं पाण्डवस्य महौजसः।
त्वदीयेष्वप्यनीकेषु वादित्राण्यभिजघ्निरे ॥११॥

महातेजस्वी पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर की सेना में वह शंखध्वनि सुनकर आपकी सेना में भी भाँति-भाँति के बाजे बजने लगे।

ततो व्यूढान्यनीकानि तव तेषां च भारत।
शनैरुपेयुरन्योन्यं योध्यमानानि संयुगे ॥१२॥

भरतभूषण ! तत्पश्चात् आपकी और उनकी भी सेनाएँ व्यूहबद्ध होकर धीरे-धीरे युद्ध के लिए एक-दूसरे के समीप आने लगीं।

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
पाण्डवानां कुरूणां च द्रोणपाञ्चाल्ययोरपि ॥१३॥

तब कौरवों तथा पाण्डवों और द्रोणाचार्य एवं धृष्टद्युम्न में रोमाञ्चकारी भयंकर युद्ध होने लगा।

यतमानाः प्रयत्नेन द्रोणानीकविशातने।
न शेकुः सृञ्जया युद्धे तद्धि द्रोणेन पालितम् ॥१४॥

सृंजय योद्धा उस संग्राम में द्रोणाचार्य की सेना का विनाश करने के लिए यत्नपूर्वक चेष्टा करने लगे परन्तु सफल न हो सके, क्योंकि वह सेना आचार्य द्रोण द्वारा भली-भाँति सुरक्षित थी।

तथैव तव पुत्रस्य रथोदाराः प्रहारिणः।
न शेकुः पाण्डवीं सेनां पाल्यमानां किरीटिना ॥१५॥

इसी प्रकार आपके पुत्र की सेना के उदार महारथी, जो प्रहार करने में कुशल थे, पाण्डव सेना को परास्त न कर सके, क्योंकि किरीटधारी अर्जुन उसकी रक्षा कर रहे थे।

ततः स पाण्डवानीके जनयन् सुमहद् भयम्।
व्यचरत् पृतनां द्रोणो दहन् कक्षमिवानलः ॥१६॥

राजन् ! तब द्रोणाचार्य पाण्डव-दल में महान् भय उत्पन्न करते और घास-फूँस के समान सारी सेना को जलाते हुए सब ओर विचरणे लगे।

तस्य विद्युदिवाभ्रेषु चापं हेमपरिष्कृतम्।
भ्रमद्रथाम्बुदे चास्मिन् दृश्यते स्म पुनः पुनः ॥१७॥

उनके घूमते हुए रथरूपी मेघमण्डल में सुवर्ण-विभूषित धनुष विद्युत् के समान बारम्बार प्रकाशित दिखाई देता था।

स वीरः सत्यवान् प्राज्ञो धर्मनित्यः सदा पुनः।
युगान्तकालवद् घोरां रौद्रां प्रावर्तयन्नदीम् ॥१८॥

उन सत्यपरायण परम बुद्धिमान् तथा सदा धर्म में तत्पर रहनेवाले वीर द्रोणाचार्य ने उस युद्धभूमि में प्रलयकाल के समान अत्यन्त भयंकर रक्त की नदी बहा दी।

ततो युधिष्ठिरानीकमुद्धतार्णवनिःस्वनम्।
त्वदीयमवधीत् सैन्यं सम्प्रद्रुतमहारथम् ॥१९॥

उधर उत्ताल तरंगों से युक्त महासागर की भाँति गर्जना करती हुई युधिष्ठिर की वाहिनी आपकी सेना का संहार करने लगी। इससे कौरवसेना के बड़े-बड़े महारथी भाग खड़े हुए।

तत्प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा शत्रुभिर्भृशमर्दितम्।
अलं द्रुतेन वः शूरा इति द्रोणोऽभ्यभाषत ॥२०॥

शत्रुओं द्वारा अच्छी प्रकार रौंदी गई आपकी सेना को भागती देख आचार्य द्रोण ने कहा—"शूर-वीरो ! तुम भागो मत तुम्हारे भागने से कोई लाभ नहीं होगा।"

ततः शोणहयः क्रुद्धश्चतुर्दन्त इव द्विपः।
प्रविश्य पाण्डवानीकं युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥२१॥

ततः=सैनिकों से ऐसा कहकर लाल घोड़ोंवाले द्रोणाचार्य ने क्रुद्ध हो चार दाँतोंवाले गजराज के समान पाण्डवसेना में घुसकर युधिष्ठिर पर आक्रमण किया।

तमाविध्यच्छितैर्बाणैः कङ्कपत्रैर्युधिष्ठिरः।
तस्य द्रोणो धनुश्छित्त्वा तं द्रुतं समुपाद्रवत् ॥२२॥

युधिष्ठिर ने गिद्ध के पंखों के रंग के पैने बाणों द्वारा द्रोणाचार्य को बींध डाला। तब आचार्य द्रोण ने भी उनका धनुष काटकर बड़े वेग से उनपर आक्रमण किया।

चक्ररक्षः कुमारस्तु पाञ्चालानां यशस्करः ।
दधार द्रोणमायान्तं वेलेव सरितां पतिम् ॥२३॥

उस समय पाञ्चालों के यश को बढ़ानेवाले कुमार ने, जो युधिष्ठिर के रथचक्र की रक्षा कर रहा था, आते हुए द्रोणाचार्य को उसी प्रकार रोक दिया, जैसे तटभूमि समुद्र को रोक देती है ।

द्रोणं निवारितं दृष्ट्वा कुमारेण द्विजर्षभम् ।
सिंहनादरवो ह्यासीत् साधु साध्विति भाषितम् ॥२४

कुमार के द्वारा द्विजश्रेष्ठ आचार्य द्रोण को रोका गया देख पाण्डवसेना में जोर-जोर से सिंहनाद होने लगा और सब लोग कहने लगे—"बहुत अच्छा, वाह-वाह !"

तं शूरमार्यव्रतिनं मन्त्रास्त्रेषु कृतश्रमम् ।
चक्ररक्षं परामृद्नात् कुमारं द्विजपुङ्गवः ॥२५॥

परन्तु द्विजश्रेष्ठ द्रोणाचार्य ने शूरवीर, आर्यव्रती और मन्त्रास्त्र-विद्या में परिश्रम किये चक्र-रक्षक कुमार को परास्त कर दिया ।

स मध्यं प्राप्य सेनायाः सर्वाः परिचरन् दिशः ।
तव सैन्यस्य गोप्ताऽऽसीद् भारद्वाजो द्विजर्षभः ॥२६॥

हे राजन् ! भरद्वाजनन्दन विप्रवर द्रोणाचार्य आपकी सेना के संरक्षक थे । वे पाण्डवसेना के मध्य में घुसकर सम्पूर्ण दिशाओं में विचरने लगे ।

व्यक्षोभयद् रणे योधान् यथा मुख्यमभिद्रवन् ।
अन्यवर्तत सम्प्रेप्सुः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥२७॥

राजन् ! उन्होंने युद्धभूमि में मुख्य-मुख्य योद्धाओं पर आक्रमण कर उन्हें क्षोभ में डाल दिया और कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर को पकड़ने के लिए उनपर वेग से धावा किया ।

ततो विराटद्रुपदौ केकयाः सात्यकिः शिबिः ।
व्याघ्रदत्तश्च पाञ्चाल्यः सिंहसेनश्च वीर्यवान् ॥२८॥
एते चान्ये च बहवः परीप्सन्तो युधिष्ठिरम् ।
आवव्रुस्तस्य पन्थानं किरन्तः सायकान् बहून् ॥२९॥

यह देख विराट, द्रुपद, केकय, सात्यकि, शिबि, पाञ्चालदेशीय व्याघ्रदत्त और पराक्रमशाली सिंह-सेन—ये तथा अन्य भी बहुत-से नरेश युधिष्ठिर की रक्षा के लिए बहुत-से सायकों की वर्षा करते हुए द्रोणाचार्य का मार्ग रोककर खड़े हो गये ।

तान् प्रमथ्य शरव्रातैः पाण्डवानां महारथान् ।
युधिष्ठिररथाभ्याशे तस्थौ मृत्युरिवान्तकः ॥३०॥

उन पाण्डव महारथियों को अपने बाणसमूह से मथित करके द्रोणाचार्य विनाशकारी यमराज के समान युधिष्ठिर के समीप खड़े हो गये ।

ततोऽभवन्महाशब्दो राजन् यौधिष्ठिरे बले ।
हतो राजेति योधानां समीपस्थे यतव्रते ॥३१॥

राजन् ! जब नियम एवं व्रत का पालन करने-वाले द्रोणाचार्य युधिष्ठिर के अति निकट पहुँच गये, तब उनकी सेना के सैनिकों में महान् हाहाकार मच गया। सब लोग कहने लगे—"हाय, राजा मारे गये !"

अब्रुवन् सैनिकास्तत्र दृष्ट्वा द्रोणस्य विक्रमम् ।
अद्य राजा धार्तराष्ट्रः कृतार्थो वै भविष्यति ॥३२॥

वहाँ द्रोणाचार्य का पराक्रम देख कौरव-सैनिक कहने लगे—"आज राजा दुर्योधन अवश्य कृतार्थ हो जाएँगे ।

अस्मिन् मुहूर्ते द्रोणस्तु पाण्डवं गृह्य हर्षितः ।
आगमिष्यति नो नूनं धार्तराष्ट्रस्य संयुगे ॥३३॥

"इस मुहूर्त में द्रोणाचार्य युद्धभूमि में निश्चय ही राजा युधिष्ठिर को पकड़कर बड़े हर्ष के साथ हमारे राजा दुर्योधन के पास ले आएँगे ।"

ततः किरीटी सहसा द्रोणानीकमुपाद्रवत् ।
छादयन्निषुजालेन महता मोहयन्निव ॥३४॥

तभी किरीटधारी अर्जुन ने सहसा द्रोणाचार्य की सेना पर आक्रमण किया। वे अपने बाण-समूह से द्रोणाचार्य को मोह में डालते हुए-से आच्छादित करने लगे ।

नादृश्यत तदा राजंस्तत्र किंचन संयुगे ।
बाणान्धकारे महति कृते गाण्डीवधन्वना ॥३५॥

राजन् ! उस युद्धभूमि में गाण्डीवधारी अर्जुन ने बाणों के द्वारा महान् अन्धकार फैला दिया था, उसमें कुछ भी दिखाई नहीं देता था ।

सूर्ये चास्तमनुप्राप्ते तमसा चाभिसंवृते ।
नाज्ञायत तदा शत्रुर्न सुहृन्न च कश्चन ॥३६॥

सूर्यदेव अस्ताचल को चले गये, समस्त संसार अन्धकार से व्याप्त हो गया, उस समय न कोई शत्रु पहचाना जाता था और न मित्र ।

ततोऽवहारं चक्रुस्ते द्रोणदुर्योधनादयः।
तान् विदित्वा पुनस्त्रस्तानयुद्धमनसः परान् ॥३७॥
स्वान्यनीकानि वीभत्सुः शनकैरवहारयत्।
ततोऽभितुष्टुवुः पार्थं प्रहृष्टाः पाण्डुसृञ्जयाः ॥३८॥

तब द्रोणाचार्य और दुर्योधन आदि ने अपनी सेना को पीछे लौटा लिया। शत्रुओं का मन अब युद्ध से हट गया है और वे बहुत डर गये हैं, यह जानकर अर्जुन ने भी धीरे-धीरे अपनी सेनाओं को रणभूमि से हटा लिया। उस समय हर्ष में भरे हुए पाण्डव और सृञ्जय कुन्तीकुमार युधिष्ठिर का गुणगान करने लगे।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

संशप्तकों की अर्जुन से युद्ध करने की प्रतिज्ञा और युधिष्ठिर को पकड़ने के लिए द्रोणाचार्य का प्रबल पुरुषार्थ

सञ्जय उवाच

कृत्वावहारं सैन्यानां द्रोणः परमदुर्मनाः।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य सव्रीडमिदमब्रवीत् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! सेनाओं को युद्धभूमि से लौटाकर द्रोणाचार्य मन-ही-मन अत्यन्त दुःखी हो दुर्योधन की ओर देखते हुए लज्जित होकर बोले—

द्रोण उवाच

उक्तमेतन्मया पूर्वं न तिष्ठति धनञ्जये।
शक्यो ग्रहीतुं संग्रामे देवैरपि युधिष्ठिरः ॥२॥

द्रोणाचार्य बोले—राजन्! मैंने पहले ही कह दिया था कि अर्जुन के रहते हुए सम्पूर्ण देवता भी युद्ध में युधिष्ठिर को नहीं पकड़ सकते।

इति तद् वः प्रयततां कृतं पार्थेन संयुगे।
मा विशङ्कीर्वचो मह्यमजेयौ कृष्णपाण्डवौ ॥३॥

तुम सब लोगों के प्रयत्न करने पर भी युद्धभूमि में अर्जुन ने मेरे पूर्वोक्त कथन को सत्य कर दिखाया है। तुम मेरी बात पर शङ्का मत करो। वास्तव में श्रीकृष्ण और अर्जुन युद्ध में मेरे लिए अजेय हैं।

अपनीते तु योगेन केनचिच्छ्वेत वाहने।
तत एष्यति मे राजन् वशमेष युधिष्ठिरः ॥४॥

राजन्! यदि किसी उपाय से श्वेतवाहन अर्जुन दूर हटा दिये जाएँ तो ये राजा युधिष्ठिर मेरे वश में आ जाएँगे।

कश्चिदाहूय तं संख्ये देशमन्यं प्रकर्षतु।
तमजित्वा न कौन्तेयो निवर्तेत कथञ्चन ॥५॥

यदि कोई वीर अर्जुन को युद्ध के लिए ललकार-कर खींच ले जाए तो वह कुन्तीपुत्र उसे परास्त किये बिना किसी प्रकार नहीं लौट सकता।

एतस्मिन्नन्तरे शून्ये धर्मराजमहं नृप।
ग्रहीष्यामि चमूं भित्त्वा धृष्टद्युम्नस्य पश्यतः ॥६॥

हे राजन्! इस सूने अवसर में मैं धृष्टद्युम्न के देखते-देखते पाण्डव-सेना को विदीर्ण करके धर्मराज युधिष्ठिर को अवश्य पकड़ लूंगा।

अर्जुनेन विहीनस्तु यदि नोत्सृजते रणम्।
मामुपायान्तमालोक्य ग्रहीतं विद्धि पाण्डवम् ॥७॥

अर्जुन से रहित होने पर यदि पाण्डवनन्दन युधिष्ठिर मुझे निकट आते देख युद्धभूमि को छोड़कर भाग नहीं जाएँगे तो तुम निश्चय समझो, वे मेरी पकड़ में आ जाएँगे।

सञ्जय उवाच

द्रोणस्य तद् वचः श्रुत्वा त्रिगर्ताधिपतिस्तदा।
भ्रातृभिः सहितो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥८॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! द्रोणाचार्य का यह वचन सुनकर उस समय भाइयोंसहित त्रिगर्तराज सुशर्मा ने इस प्रकार कहा—

वयं विनिकृता राजन् सदा गाण्डीवधन्वना।
अनागःस्वपि चागस्तत् कृतमस्मासु तेन वै ॥९॥

"महाराज! गाण्डीवधारी अर्जुन ने सदा हम लोगों का अपमान किया है। यद्यपि हम सदा निर-पराध रहे हैं तो भी उसके द्वारा सर्वदा हमारे प्रति अपराध किया गया है।

ते वयं स्मरमाणास्तान् विनिकारान् पृथग्विधान्।
क्रोधाग्निना दह्यमाना न शेमहि सदा निशि ॥१०॥

"हम विभिन्न प्रकारों से किये गये उन अपराधों

को याद करके क्रोधाग्नि से जलते रहते हैं और रात्रि में हमें कभी निद्रा नहीं आती ।

स नो दिष्टयास्त्रसम्पन्नश्चक्षुर्विषयमागतः ।
कर्तारः स्म वयं कर्म यच्चिकीर्षाम हृद्गतम् ॥११॥

"अब हमारे सौभाग्य से अर्जुन स्वयं ही अस्त्र-शस्त्र धारण करके हमारी आँखों के सामने आ गये हैं, अतः हम मन-ही-मन जो-कुछ करना चाहते थे, वह प्रतिशोधात्मक कार्य अवश्य करेंगे ।

भवतश्च प्रियं यत्स्यादस्माकं च यशस्करम् ।
वयमेनं हनिष्यामो निकृष्यायोधनाद् बहिः ॥१२॥

"उससे आपका तो प्रिय होगा ही, हम लोगों की कीर्ति भी बढ़ेगी । हम इसे युद्धभूमि से बाहर खींच ले जाएँगे और मार डालेंगे ।

अद्यास्त्वनर्जुना भूमिरत्रिगर्ताथ वा पुनः ।
सत्यं ते प्रतिजानीमो नैतन्मिथ्या भविष्यति ॥१३॥

"हम आपके सामने यह बात सत्य प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि आज यह भूमि या तो अर्जुन से सूनी हो जाएगी अथवा त्रिगर्तों में से कोई इस पृथिवी पर नहीं रह जाएगा । मेरा यह कथन कभी झूठा नहीं होगा ।"

परिणाम्य निशां तां तु भारद्वाजो महारथः ।
उक्त्वा सुबहु राजेन्द्र वचनं वै सुयोधनम् ॥१४॥
विधाय योगं पार्थेन संशप्तकगणैः सह ।
निष्क्रान्ते च तदा पार्थे संशप्तकवधं प्रति ॥१५॥
व्यूढानीकस्ततो द्रोणः पाण्डवानां महाचमूम् ।
अभ्ययाद् भरतश्रेष्ठ धर्मराजजिघृक्षया ॥१६॥

हे राजेन्द्र ! तब महारथी द्रोणाचार्य ने वह रात बिताकर दुर्योधन से बहुत-कुछ बातें कहीं और संशप्तकों के साथ अर्जुन के युद्ध का योग लगा दिया । भरतभूषण ! जब अर्जुन संशप्तकों का वध करने के लिए निकल गये, तब सेना की व्यूहरचना करके धर्मराज युधिष्ठिर को पकड़ने के लिए द्रोणाचार्य ने पाण्डवों की विशाल सेना पर आक्रमण किया ।

व्यूढं दृष्ट्वा सुपर्णं तु भारद्वाजकृतं तदा ।
ततो युधिष्ठिरः संख्ये पार्षतं वाक्यमब्रवीत् ॥१७॥
ब्राह्मणस्य वशं नाहमियामद्य यथा प्रभो ।
पारावतसवर्णाश्व तथा नीतिर्विधीयताम् ॥१८॥

द्रोणाचार्य द्वारा निर्मित गरुड़व्यूह को देखकर युधिष्ठिर ने रणक्षेत्र में धृष्टद्युम्न से इस प्रकार कहा—"कबूतर के समान रंगवाले घोड़ों पर चलनेवाले वीर ! आज तुम ऐसी नीति का प्रयोग करो, जिससे मैं उस ब्राह्मण के वश में न पड़ूँ ।"

धृष्टद्युम्न उवाच

द्रोणस्य यतमानस्य वशं नैष्यसि सुव्रत ।
अहमावारयिष्यामि द्रोणमद्य सहानुगम् ॥१९॥

धृष्टद्युम्न ने कहा—उत्तम व्रत के पालक भूपाल ! द्रोणाचार्य कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, आप उनके वश में नहीं होंगे । आज मैं सेवकोंसहित द्रोणाचार्य को रोकूँगा ।

मयि जीवति कौरव्य नोद्वेगं कर्तुमर्हसि ।
न हि शक्तो रणे द्रोणो विजेतुं मां कथञ्चन ॥२०॥

कुरुनन्दन ! मेरे जीवित रहते हुए आपको किसी प्रकार का भय नहीं करना चाहिए । द्रोणाचार्य युद्धभूमि में मुझे किसी प्रकार जीत नहीं सकते ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा किरन् बाणान् द्रुपदस्य सुतो बली ।
पारावतसवर्णाश्वः स्वयं द्रोणमुपाद्रवत् ॥२१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर कबूतर के समान रंग के घोड़ोंवाले महाबली द्रुपदकुमार ने बाणों का जाल-सा बिछाते हुए स्वयं द्रोणाचार्य पर आक्रमण किया ।

अनिष्टदर्शनं दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नमवस्थितम् ।
क्षणेनैवाभवद् द्रोणो नातिहृष्टमना इव ॥२२॥

जिसका दर्शन अनिष्ट का सूचक था, उस धृष्टद्युम्न को सामने खड़ा देख द्रोणाचार्य क्षणभर में अत्यन्त दुःखी और उदास हो गये ।

तं तु सम्प्रेक्ष्य पुत्रस्ते दुर्मुखः शत्रुकर्षणः ।
प्रियं चिकीर्षुर्द्रोणस्य धृष्टद्युम्नमवारयत् ॥२३॥

राजन् ! शत्रुसंहारक आपके पुत्र दुर्मुख ने द्रोणाचार्य को उदास देख धृष्टद्युम्न को आगे बढ़ने से रोक दिया । वह द्रोणाचार्य का प्रिय करना चाहता था ।

स सम्प्रहारस्तुमुलः सुघोरः समपद्यत ।
पार्षतस्य च शूरस्य दुर्मुखस्य च भारत ॥२४॥

भरतभूषण ! उस समय शूरवीर धृष्टद्युम्न और दुर्मुख में तुमुल युद्ध होने लगा। धीरे-धीरे उसने भयंकर रूप धारण कर लिया।

गजाश्वरथयोधानां शरीरौघसमावृता ।
बभूव पृथिवी राजन् मांसशोणितकर्दमा ॥२५॥

राजन् ! हाथी, घोड़े और रथ-योद्धाओं की लाशों से ढकी हुई वहाँ की भूमि पर रक्त और मांस की कीच जम गई थी।

वर्तमाने तथा युद्धे घोररूपे भयंकरे ।
मोहयित्वा परान् द्रोणो युधिष्ठिरमुपाद्रवत् ॥२६॥

इस प्रकार जब अत्यन्त भयंकर घोर युद्ध चल रहा था, उस समय शत्रुओं को मोहित करके द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर पर धावा किया।

ततो युधिष्ठिरो द्रोणं दृष्ट्वाऽन्तिकमुपागतम् ।
महता शरवर्षेण प्रत्यगृह्णादभीतवत् ॥२७॥

तब युधिष्ठिर ने द्रोण को अपने समीप आया देख एक निर्भय वीर की भाँति बाणों की बड़ी भारी वर्षा करके उन्हें रोक दिया।

दृष्ट्वा द्रोणं ततः शूरः सत्यजित् सत्यविक्रमः ।
युधिष्ठिरमभिप्रेप्सुराचार्यं समुपाद्रवत् ॥२८॥

आचार्य द्रोण को युधिष्ठिर पर धावा करते देख सत्यपराक्रमी शूरवीर सत्यजित् युधिष्ठिर की रक्षा के लिए द्रोणाचार्य पर टूट पड़ा।

ततो द्रोणं महेष्वासः सत्यजित् सत्यविक्रमः ।
अविध्यन्निशिताग्रेण परमास्त्रं विदर्शयन् ॥२९॥

सत्यपराक्रमी महाधनुर्धर सत्यजित् ने अपने उत्तम अस्त्र का प्रदर्शन करते हुए तीखी धारवाले एक बाण से द्रोणाचार्य को घायल कर दिया।

तस्याथ सारथेः पञ्च शरान् सर्पविषोपमान् ।
अमुञ्चदन्तकप्रख्यान् सम्मुमोहास्य सारथिः ॥३०॥

फिर उनके सारथि पर सर्पविष एवं यमराज के समान भयंकर पाँच बाणों का प्रहार किया। उन बाणों की चोट से द्रोणाचार्य का सारथि मूर्च्छित हो गया।

द्रोणस्तु तत्समालोक्य चरितं तस्य संयुगे ।
मनसा चिन्तयामास प्राप्तकालमरिन्दमः ॥३१॥

तब शत्रुसंहारक द्रोणाचार्य ने रणक्षेत्र में उसका वह पराक्रम देख मन-ही-मन अपने समयोचित कर्तव्य का चिन्तन किया।

ततः सत्यजितं तीक्ष्णैर्दशभिर्मर्मभेदिभिः ।
अविध्यच्छीघ्रमाचार्यश्छित्त्वास्य सशरं धनुः ॥३२॥

तब आचार्य ने सत्यजित् के बाणसहित धनुष को काटकर मर्मस्थल को विदीर्ण करनेवाले दस तीखे बाणों द्वारा उसे शीघ्र ही घायल कर दिया।

स शीघ्रतरमादाय धनुरन्यत् प्रतापवान् ।
द्रोणमभ्यहनद् राजंस्त्रिंशता कङ्कपत्रिभिः ॥३३॥

हे राजन् ! धनुष के कट जाने पर प्रतापी वीर सत्यजित् ने शीघ्र ही दूसरा धनुष लेकर कंक की पाँख से युक्त तीस बाणों द्वारा द्रोणाचार्य को गहरी चोट पहुँचाई।

स तन्न ममृषे द्रोणः पाञ्चाल्येनार्दितो मृधे ।
ततस्तस्य विनाशाय सत्वरं व्यसृजच्छरान् ॥३४॥

युद्ध में पाञ्चालराजकुमार सत्यजित् से पीड़ित होकर द्रोणाचार्य उसके पराक्रम को न सह सके, अतः उन्होंने उसके विनाश के लिए तुरन्त ही बाण-वृष्टि आरम्भ कर दी।

हयान् ध्वजं धनुर्मुष्टिमुभौ च पार्ष्णिसारथी ।
अवाकिरत् ततो द्रोणः शरवर्षैः सहस्रशः ॥३५॥

द्रोणाचार्य ने सत्यजित् के घोड़ों, ध्वज, धनुष की मुष्टि और दोनों पार्श्वरक्षकों पर सहस्रों बाणों की वर्षा की।

तथा संछिद्यमानेषु कार्मुकेषु पुनः पुनः ।
पाञ्चाल्यः परमास्त्रज्ञः शोणाश्वं समयोधयत् ॥३६॥

इस प्रकार बारम्बार धनुषों के कट जाने पर भी उत्तम अस्त्रों का ज्ञाता पाञ्चालवीर सत्यजित् लाल घोड़ोंवाले द्रोणाचार्य से युद्ध करता ही रहा।

स सत्यजितमालोक्य तथोदीर्णं महाहवे ।
अर्धचन्द्रेण चिच्छेद शिरस्तस्य महात्मनः ॥३७॥

उस महायुद्ध में सत्यजित् को प्रचण्ड होते देख आचार्य द्रोण ने अर्धचन्द्राकार बाण के द्वारा उस महामनस्वी वीर का सिर धड़ से अलग कर दिया।

तस्मिन् हते महामात्रे पाञ्चालानां महारथे ।
अपायाज्जवनैरश्वैर्द्रोणात् त्रस्तो युधिष्ठिरः ॥३८॥

उस महाबली महारथी पाञ्चालवीर के मारे

जाने पर युधिष्ठिर द्रोणाचार्य से अत्यन्त भयभीत होकर वेगशाली घोड़ों से जुते हुए रथ के द्वारा युद्ध-क्षेत्र से दूर चले गये।

पाञ्चालाः केकया मत्स्याश्चेदिकारूपकोसलाः।
युधिष्ठिरमभीप्सन्तो दृष्ट्वा द्रोणमुपाद्रवन् ॥३९॥

उस समय युधिष्ठिर की रक्षा के लिए पाञ्चाल, केकय, मत्स्य, चेदि कारूप और कोशल देशों के योद्धा द्रोणाचार्य को देखते ही उनपर टूट पड़े।

ततो युधिष्ठिरं प्रेप्सुराचार्यः शत्रुपूगहा।
व्यधमत् तान्यनीकानि तूलराशिमिवानलः ॥४०॥

तब शत्रुसमूह के नाशक द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर को पकड़ने के लिए उन समस्त सैनिकों का वैसे ही संहार कर डाला, जैसे अग्नि रूई के ढेर को जला देती है।

तान् दृष्ट्वा चलितान् संख्ये प्रणुन्नान् द्रोणसायकैः।
दुर्योधनोऽब्रवीत् कर्णं प्रहृष्टः प्रहसन्निव ॥४१॥

उन [पाञ्चाल, चेदि, कोसल आदि] योद्धाओं को युद्ध में द्रोणाचार्य के बाणों से पीड़ित और विचलित होते हुए देख राजा दुर्योधन ने अत्यन्त प्रसन्न होकर कर्ण से हँसते हुए-से कहा—

दुर्योधन उवाच

पश्य राधेय पाञ्चालान् प्रणुन्नान् द्रोणसायकैः।
सिंहेनेव मृगान् वन्यांस्त्रासितान् दृढधन्वना ॥४२॥

दुर्योधन बोला—राधानन्दन! देखो, सुदृढ़ धनुर्धारी द्रोणाचार्य के बाणों से ये पाञ्चाल सैनिक उसी प्रकार पीड़ित हो रहे हैं, जैसे सिंह वनचारी मृगों को त्रस्त कर देता है।

नैते जातु पुनर्युद्धमीहेयुरिति मे मतिः।
यथा तु भग्ना द्रोणेन वातेनेव महाद्रुमाः ॥४३॥

मेरा तो ऐसा विश्वास है कि ये फिर कभी युद्ध की इच्छा नहीं करेंगे। जैसे वायु बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ फेंकती हैं, वैसे ही द्रोणाचार्य ने युद्ध में इनके पाँव उखाड़ दिये हैं।

एष भीमो महाक्रोधी हीनः पाण्डवसृञ्जयैः।
मदीयैरावृतो योधैः कर्ण नन्दयतीव माम् ॥४४॥

यह महाक्रोधी भीमसेन पाण्डव तथा सृञ्जयों से रहित हो मेरे योद्धाओं से घिर गया है। कर्ण! इस दशा में भीमसेन मुझे आनन्दित-सा कर रहा है।

व्यक्तं द्रोणमयं लोकमद्य पश्यति दुर्मतिः।
निराशो जीवितान्नूनमद्य राज्याच्च पाण्डवः ॥४५॥

निश्चय ही आज अपने जीवन और राज्य से निराश हो यह दुर्बुद्धि पाण्डुपुत्र सारे संसार को द्रोणमय ही देख रहा होगा।

कर्ण उवाच

नैष जातु महाबाहुर्जीवन्नाहवमुत्सृजेत्।
न चेमान् पुरुषव्याघ्र सिंहनादान् सहिष्यते ॥४६॥

कर्ण ने कहा—राजन्! यह महाबाहु भीमसेन जीते-जी कभी युद्ध से पीछे नहीं हट सकता। पुरुषसिंह! तुम्हारे सैनिक जो ये सिंहनाद कर रहे हैं, इन्हें भीमसेन कभी नहीं सहेगा।

न चापि पाण्डवा युद्धे भज्येरन्निति मे मतिः।
शूराश्च बलवन्तश्च कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ॥४७॥

पाण्डव शूरवीर, बलवान्, अस्त्रविद्या में निपुण और युद्ध में उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं। ये युद्धक्षेत्र से कभी भाग नहीं सकते, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

विषाग्निद्यूतसंक्लेशान् वनवासं च पाण्डवाः।
स्मरमाणा न हास्यन्ति संग्राममिति मे मतिः ॥४८॥

पाण्डव तुम्हारे द्वारा दिये हुए विष, अग्निदाह, जुए के कष्टों और वनवास को याद करके कभी युद्धभूमि नहीं छोड़ेंगे, ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है।

निवृत्तो हि महाबाहुरमितौजा वृकोदरः।
वरान् वरान् हि कौन्तेयो रथोदारान् हनिष्यति ॥४९॥

अमिततेजस्वी महाबाहु कुन्तीकुमार वृकोदर इधर ही लौट रहे हैं। वे बड़े-बड़े उदार महारथियों को चुन-चुनकर मारेंगे।

तमेनमनुवर्तन्ते सात्यकिप्रमुखा रथाः।
पाञ्चालाः केकया मत्स्याः पाण्डवाश्च विशेषतः ॥५०॥

देखो, भीमसेन के पीछे सात्यकि आदि महारथी तथा पाञ्चाल, केकय, मत्स्य और विशेषतः पाण्डव योद्धा भी आ रहे हैं।

असंशयं कृतास्त्राश्च पर्याप्ताश्चापि वारणे।
अतिभारमहं मन्ये भारद्वाजे समाहितम् ॥५१॥

इसमें सन्देह नहीं कि ये सभी योद्धा अस्त्र-विद्या में निपुण और द्रोणाचार्य की गति को रोकने में

समर्थ हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य पर बहुत बड़ा भार आ पड़ा है।

शीघ्रमनुगमिष्यामो यत्र द्रोणो व्यवस्थितः।
कोका इव महानागं मा वै हन्युर्यतव्रतम् ॥५२॥

अतः हम लोग शीघ्र वहाँ चलें, जहाँ द्रोणाचार्य खड़े हैं। कहीं ऐसा न हो कि कुछ भेड़िये [जैसे पाण्डव सैनिक] महान् गजराज-जैसे व्रतधारी द्रोणाचार्य का वध कर डालें!

सञ्जय उवाच

राधेयस्य वचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्ततः।
भ्रातृभिः सहितो राजन् प्रायाद् द्रोणरथं प्रति ॥५३॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! राधानन्दन कर्ण की बात सुनकर राजा दुर्योधन अपने भाइयों के साथ द्रोणाचार्य के रथ की ओर चल दिया।

तत्रारावो महानासीदेकं द्रोणं जिघांसताम्।
पाण्डवानां निवृत्तानां नानावर्णैर्हयोत्तमैः ॥५४॥

वहाँ नाना प्रकार के रंगवाले श्रेष्ठ घोड़ों से जुते हुए रथों पर आरूढ़ [सवार] एकमात्र द्रोणाचार्य को मार डालने की इच्छा से लौटे हुए पाण्डव-सैनिकों का महान् कोलाहल प्रकट हो रहा था।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

भीमसेन का भगदत्त से युद्ध, अर्जुन द्वारा संशप्तकों का संहार और हाथीसहित भगदत्त का वध

धृतराष्ट्र उवाच

तेष्वेवं संनिवृत्तेषु प्रत्युद्यातेषु भागशः।
कथं युयुधिरे पार्था मामकाश्च तरस्विनः ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय! इस प्रकार जब सैनिक पृथक्-पृथक् युद्ध के लिए लौटे और कौरव-योद्धा आगे बढ़कर सामना करने के लिए उद्यत हुए, उस समय मेरे और कुन्ती के पराक्रमी पुत्रों ने आपस में किस प्रकार युद्ध किया?

सञ्जय उवाच

तथा तेषु निवृत्तेषु प्रत्युद्यातेषु भागशः।
स्वयमभ्यद्रवद् भीमं नागानीकेन ते सुतः ॥२॥

सञ्जय बोले—राजन्! इस प्रकार जब पाण्डव-सैनिक पृथक्-पृथक् युद्ध के लिए लौटे और कौरव-योद्धा आगे बढ़कर सामना करने के लिए उद्यत हुए, उस समय आपके पुत्र दुर्योधन ने हाथियों की सेना साथ लेकर स्वयं ही भीमसेन पर आक्रमण किया।

स नाग इव नागेन गोवृषेणेव गोवृषः।
समाहूतः स्वयं राज्ञा नागानीकमुपाद्रवत् ॥३॥

जैसे हाथी से हाथी और साँड से साँड भिड़ जाता है, उसी प्रकार राजा दुर्योधन के ललकारने पर भीमसेन स्वयं ही हाथियों की सेना पर टूट पड़े।

स युद्धकुशलः पार्थो बाहुवीर्येण चान्वितः।
अभिनत् कुञ्जरानीकमचिरेणैव मारिष ॥४॥

आदरणीय नरेश! कुन्तीपुत्र भीमसेन युद्ध में कुशल और बाहुबल से सम्पन्न हैं। उन्होंने थोड़ी ही देर में हाथियों की उस सेना को विदीर्ण कर डाला।

तथा गजानां कदनं कुर्वाणमनिलात्मजम्।
क्रुद्धो दुर्योधनोऽभ्येत्य प्रत्यविध्यच्छितैः शरैः ॥५॥

इस प्रकार गजसेना का संहार करते हुए पवन-पुत्र भीमसेन के पास आकर क्रोध में भरे हुए दुर्योधन ने उन्हें तीखे बाणों से बींध डाला।

ततः क्षणेन क्षितिपं क्षतजप्रतिमेक्षणः।
क्षयं निनीषुर्निशितैर्भीमो विव्याध पत्रिभिः ॥६॥

यह देख भीमसेन की आँखें खून के समान लाल हो गईं। उन्होंने क्षणभर में राजा दुर्योधन का नाश करने की इच्छा से पंखयुक्त पैने बाणों द्वारा उसे बींध डाला।

दुर्योधनं पीड्यमानं दृष्ट्वा भीमेन मारिष।
चुक्षोभयिषुरभ्यागादङ्गो मातङ्गमास्थितः ॥७॥

आर्य! भीमसेन के द्वारा दुर्योधन को पीड़ित होते देख क्षोभ में डालने की इच्छा से मतवाले हाथी

पर बैठे हुए राजा अङ्ग उनका सामना करने के लिए आ गये।

तमापतन्तं नागेन्द्रमम्बुदप्रतिमस्वनम्।
कुम्भान्तरे भीमसेनो नाराचैरार्दयद् भृशम् ॥८॥

वह गजराज मेघ के समान गर्जना करनेवाला था। उसे अपनी ओर आते देख भीमसेन ने उसके कुम्भस्थल में नाराचों द्वारा गहरी चोट पहुँचाई।

तस्य कायं विनिर्भिद्य न्यमज्जद् धरणीतले।
ततः पपात द्विरदो वज्राहत इवाचलः ॥९॥

भीमसेन का नाराच [बाण] उस हाथी के शरीर को चीरकर पृथिवी में समा गया। इससे वह गजराज वज्र के मारे हुए पर्वत की भाँति पथिवी पर गिर पड़ा।

तस्यावर्जितनागस्य म्लेच्छस्याधः पतिष्यतः।
शिरश्चिच्छेद भल्लेन क्षिप्रकारी वृकोदरः ॥१०॥

वह म्लेच्छजातीय राजा अङ्ग हाथी से अलग नहीं हुआ था। उस हाथी के साथ-साथ वह नीचे गिरना ही चाहता था कि शीघ्रकारी भीमसेन ने एक भल्ल के द्वारा उसका सिर काट लिया।

तस्मिन् निपतिते वीरे सम्प्राद्रवत् सा चमूः।
सम्भ्रान्ताश्वद्विपरथा पदातीनवमृद्नती ॥११॥

उस वीर के धराशायी होते ही उसकी वह सारी सेना भागने लगी। घोड़े, हाथी और रथ सभी घबराहट में पड़कर इधर-उधर चक्कर काटने लगे। वह सेना अपने ही पैदल सैनिकों को रौंदती हुई भाग रही थी।

तेष्वनीकेषु भग्नेषु विद्रवत्सु समन्ततः।
प्राग्ज्योतिषस्ततो भीमं कुञ्जरेण समाद्रवत् ॥१२॥

इस प्रकार उन सेनाओं के व्यूह भंग होने और चारों ओर भागने पर प्राग्ज्योतिषपुर के राजा भगदत्त ने अपने हाथी के द्वारा भीमसेन पर आक्रमण किया।

स नागप्रवरो भीमं सहसा समुपाद्रवत्।
चरणाभ्यामथो द्वाभ्यां संहतेन करेण च ॥१३॥

वह गजराज अपने दो पैरों और सिकोड़ी हुई सूंड के द्वारा सहसा भीमसेन पर टूट पड़ा।

व्यावृत्तनयनः क्रुद्धः प्रमथन्निव पाण्डवम्।
वृकोदररथं साश्वमविशेषमचूर्णयत् ॥१४॥

उस हाथी के नेत्र सब ओर घूम रहे थे। वह क्रोध में भरकर पाण्डुपुत्र भीमसेन को मानो मथ डालेगा, इस भाव से भीमसेन के रथ की ओर दौड़ा और उसे घोड़ोंसहित पूर्णरूप से तोड़-फोड़ डाला।

ततः सर्वस्य सैन्यस्य नादः समभवन्महान्।
अहो धिङ् निहतो भीमः कुञ्जरेणेति मारिष ॥१५॥

आर्य ! उस समय सारी सेना में बड़े जोर से कोलाहल होने लगा। उस समय सबके मुख से यही बात निकल रही थी—"अहो ! इस हाथी ने भीमसेन को मार डाला, यह कितनी बुरी बात है !"

ततो युधिष्ठिरो राजा हतं मत्वा वृकोदरम्।
भगदत्तं सपाञ्चाल्यः सर्वतः समवारयत् ॥१६॥

उस समय महाराज युधिष्ठिर ने भीमसेन को मारा गया जानकर पाञ्चालदेशीय सैनिकों को साथ ले भगदत्त को चारों ओर से घेर लिया।

ततः पाण्डवयोधास्ते नागराजं शरैर्वृतम्।
सिषिचुर्भैरवान् नादान् विनदन्तो जिघांसवः ॥१७॥

तत्पश्चात् पाण्डव योद्धा उस गजराज को शीघ्रतापूर्वक मार डालने की इच्छा से भैरव गर्जना करते हुए अपने बाणों की वर्षा द्वारा उसे सींचने लगे।

तमार्जुनिर्द्वादशभिर्युयुत्सुर्दशभिः शरैः।
त्रिभिस्त्रिभिर्द्रौपदेया धृष्टकेतुश्च विव्यधुः ॥१८॥

अर्जुनकुमार अभिमन्यु ने बारह, युयुत्सु ने दस और द्रौपदी के पुत्रों एवं धृष्टकेतु ने तीन-तीन बाणों से भगदत्त के उस हाथी को घायल कर दिया।

नियन्तुः शिल्पयत्नाभ्यां प्रेरितोऽरिशरार्दितः।
परिचिक्षेप तान् नागः स रिपून् सव्यदक्षिणम् ॥१९॥

महावत के कौशल और प्रयत्न से प्रेरित होकर वह हाथी शत्रुओं के बाणों से पीड़ित होने पर भी उन विपक्षियों [विपक्षी योद्धाओं] को दाएँ-बाएँ उठा-उठाकर फेंकने लगा।

क्षिप्रं श्येनाभिपन्नानां वायसानामिव स्वनः।
बभूव पाण्डवेयानां भृशं विद्रवतां स्वनः ॥२०॥

जैसे बाज पक्षी के चंगुल में फँसे हुए अथवा

उसके आक्रमण से भयभीत हुए कौओं में शीघ्र ही काँव-काँव का कोलाहल होने लगता है, उसी प्रकार पाण्डव योद्धाओं का आर्तनाद जोर-जोर से सुनाई दे रहा था।

रजो दृष्ट्वा समुद्धूतं श्रुत्वा च गजनिःस्वनम्।
भगदत्ते विकुर्वाणे कौन्तेयः कृष्णमब्रवीत्॥२१॥

भगदत्त के विचित्र रूप से युद्ध करते समय वहाँ धूल उड़ती देखकर तथा हाथी के चिंघाड़ने का शब्द सुनकर कुन्तीपुत्र अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—

यथा प्राग्ज्योतिषो राजा गजेन मधुसूदन।
त्वरमाणो विनिष्क्रान्तो ध्रुवं तस्यैष निःस्वनः॥२२॥

"मधुसूदन! राजा भगदत्त अपने हाथी पर आरूढ़ होकर जिस उतावली के साथ युद्ध के लिए निकले थे, उससे जान पड़ता है, निश्चय ही यह महान् कोलाहल उन्हीं का है।

इन्द्रादनवरः संख्ये गजयानविशारदः।
प्रथमो गजयोधानां पृथिव्यामिति मे मतिः॥२३॥

"मेरा तो यह विश्वास है कि वे युद्ध में इन्द्र से कम नहीं हैं। भगदत्त हाथी की सवारी में कुशल तथा गजारोही योद्धाओं में इस पृथिवी पर सबसे प्रधान [प्रथम] हैं।

सहः शस्त्रनिपातानामग्निस्पर्शस्य चानघ।
स पाण्डवबलं सर्वमद्यैको नाशयिष्यति॥२४॥

"हे अनघ! वह सम्पूर्ण शस्त्रों के आघात और अग्नि के स्पर्श को भी सह सकनेवाला है। आज वह अकेला ही समस्त पाण्डव-सेना का विनाश कर डालेगा।

न चावाभ्यामृतेऽन्योऽस्ति शक्तस्तं प्रतिबाधितुम्।
त्वरमाणस्ततो याहि यतः प्राग्ज्योतिषाधिपः॥२५॥

"हम दोनों के अतिरिक्त और कोई उसे बाधा देने में समर्थ नहीं है, अतः आप शीघ्रतापूर्वक वहीं चलिए, जहाँ प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त विद्यमान हैं।"

वचनादथ कृष्णस्तु प्रययौ सव्यसाचिनः।
दीर्यते भगदत्तेन यत्र पाण्डववाहिनी॥२६॥

सव्यसाची अर्जुन के ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण उसके रथ को उस स्थान पर ले चले, जहाँ भगदत्त पाण्डवसेना का संहार कर रहे थे।

तं प्रयान्तं ततः पश्चादाह्वयन्तो महारथाः।
संशप्तकाः समारोहन् सहस्राणि चतुर्दश॥२७॥

अर्जुन को भगदत्त की ओर प्रस्थान करते देख पीछे से चौदह सहस्र संशप्तक महारथी उन्हें ललकारते हुए चढ़ आये।

स तु दोलायमानोऽभूद् द्वैधीभावेन पाण्डवः।
वधेन तु नराग्र्याणामकरोत् तां मृषा तदा॥२८॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन एक बार दुविधा में पड़कर [भगदत्त की ओर जाऊँ या संशप्तकों से युद्ध करूँ] चञ्चल हो गये थे, तथापि नरश्रेष्ठ संशप्तक वीरों के वध का निश्चय करके उन्होंने उस दुविधा को भुला दिया।

ततः शतसहस्राणि शराणां नतपर्वणाम्।
व्यसृजन्नर्जुने राजन् संशप्तकमहारथाः॥२९॥

राजन्! तदनन्तर संशप्तक महारथियों ने झुकी हुई गाँठवाले सैकड़ों सहस्रों बाणों की वर्षा की।

नैव कुन्तीसुतः पार्थो नैव कृष्णो जनार्दनः।
न हया न रथो राजन् दृश्यन्ते स्म शरैश्चिताः॥३०॥

महाराज! उस समय न तो कुन्तीकुमार अर्जुन, न जनार्दन श्रीकृष्ण, न घोड़े और न रथ ही दिखाई देते थे। सब-के-सब वहाँ बाणों से ढक गये थे।

तदा मोहमनुप्राप्तः सिष्विदे हि जनार्दनः।
ततस्तान्प्रायशः पार्थो ब्रह्मास्त्रेण निजघ्निवान्॥३१॥

उस अवस्था में श्रीकृष्ण पसीने-पसीने हो गये। उनपर मोह छा गया। यह देख अर्जुन ने ब्रह्मास्त्र से उन सब वीरों व बाणों को अधिकांश में नष्ट कर दिया।

शतशः पाणयश्छिन्नाः सेषुज्यातलकार्मुकाः।
केतवो वाजिनः सूता रथिनश्चापतन् क्षितौ॥३२॥

सैकड़ों भुजाएँ बाण, प्रत्यञ्चा और धनुषसहित कट गईं। ध्वज, घोड़े, सारथि और रथी सभी धराशायी हो गये।

दृष्ट्वा तत् कर्म पार्थस्य वासवस्येव माधवः।
विस्मयं परमं गत्वा प्राञ्जलिस्तमुवाच ह॥३३॥

इन्द्र के समान अर्जुन का वह पराक्रम देख श्रीकृष्ण अत्यन्त आश्चर्य में पड़कर हाथ जोड़े हुए बोले—

कर्मैतत् पार्थ शक्रेण यमेन धनदेन च।
दुष्करं समरे यत्ते कृतमद्येति मे मतिः ॥३४॥

"पार्थ ! मेरा ऐसा विश्वास है कि आज रणभूमि में तुमने जो कार्य किया है, वह इन्द्र, यम और कुवेर के लिए भी दुष्कर है।

युगपच्चैव संग्रामे शतशोऽथ सहस्रशः।
पतिता एव मे दृष्टाः संशप्तकमहारथाः ॥३५॥

"इस युद्ध में मैंने सैकड़ों और सहस्रों संशप्तक महारथियों को एक साथ ही गिरते देखा है।"

संशप्तकाँस्ततो हत्वा भूयिष्ठा ये व्यवस्थिताः।
भगदत्ताय याहीति कृष्णं पार्थोऽभ्यनोदयत् ॥३६॥

इस प्रकार वहाँ खड़े हुए संशप्तक योद्धाओं में से अधिकांश का वध करके अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—"अब भगदत्त के पास चलिए।"

यियासतस्ततः कृष्णः पार्थस्याश्वान् मनोजवान्।
सम्प्रैषीद्धेमसंछन्नान् द्रोणानीकाय सत्वरम् ॥३७॥

तव द्रोणाचार्य की सेना के समीप जाने के इच्छुक अर्जुन के सुवर्णभूषित एवं मन के समान वेगशाली घोड़ों को श्रीकृष्ण ने बड़ी उतावली के साथ द्रोणाचार्य की सेना तक पहुँचने के लिए हाँका।

तं प्रयान्तं कुरुश्रेष्ठं स्वान् भ्रातॄन् द्रोणतापितान्।
सुशर्मा भ्रातृभिः सार्धं युद्धार्थी पृष्ठतोऽन्वयात् ॥३८॥

द्रोणाचार्य द्वारा सताये हुए अपने भाइयों के पास जाते हुए कुरुश्रेष्ठ अर्जुन को भाइयोंसहित सुशर्मा ने युद्ध की इच्छा से ललकारा और पीछे से उनपर आक्रमण किया।

ततः श्वेतहयः कृष्णमब्रवीदजितं जयः।
एष मां भ्रातृभिः सार्धं सुशर्माऽऽह्वयतेऽच्युत ॥३९॥

तव श्वेतवाहन अर्जुन ने अपराजित श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहा—"हे अच्युत ! भाइयोंसहित यह सुशर्मा मुझे पुनः युद्ध के लिए बुला रहा है।

दीर्यते चोत्तरेणैव तत् सैन्यं मधुसूदन।
द्वैधीभूतं मनो मेऽद्य कृतं संशप्तकैरिदम् ॥४०॥

"उधर उत्तर दिशा की ओर अपनी सेना का विनाश किया जा रहा है। मधुसूदन ! इन संशप्तकों ने आज मेरे मन को दुविधा में डाल दिया है।

किं नु संशप्तकान्हन्मि स्वान्रक्षाम्यहितार्दितान्।
इति मे त्वं मतं वेत्सि तत्र किं सुकृतं भवेत् ॥४१॥

"क्या मैं संशप्तकों का वध करूँ अथवा शत्रुओं द्वारा पीड़ित हुए अपने सैनिकों की रक्षा करूँ ? इस प्रकार मेरा मन संकल्प-विकल्प के हिण्डोले में झूल रहा है, यह आप जानते ही हैं। बताइए, अब मेरे लिए क्या करना श्रेष्ठ होगा ?"

एवमुक्तस्तु दाशार्हः स्यन्दनं प्रत्यवर्तयत्।
येन त्रिगर्ताधिपतिः पाण्डवं समुपाह्वयत् ॥४२॥

अर्जुन के ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण ने अपने रथ को उसी ओर लौटाया, जिस ओर त्रिगर्तराज सुशर्मा उन पाण्डुकुमार को युद्ध के लिए ललकार रहा था।

ततोऽर्जुनः सुशर्माणं विद्ध्वा सप्तभिराशुगैः।
ध्वजं धनुस्तथा चास्य क्षुराभ्यां समकृन्तत ॥४३॥

वहाँ पहुँचकर अर्जुन ने सुशर्मा को सात वाणों से घायल करके दो छुरों द्वारा उसके ध्वज और धनुष को काट डाला।

त्रिगर्ताधिपतेश्चापि भ्रातरं षड्भिराशुगैः।
साश्वं ससूतं त्वरितः पार्थः प्रैषीद् यमक्षयम् ॥४४॥

साथ ही त्रिगर्तराज के भाई को भी छह वाण मारकर अर्जुन ने उसे घोड़ों और सारथिसहित तुरन्त यमलोक भेज दिया।

ततो भुजगसंकाशां सुशर्मा शक्तिमायसीम्।
चिक्षेपार्जुनमादिश्य वासुदेवाय तोमरम् ॥४५॥

तव सुशर्मा ने भी सर्प के समान आकृतिवाली लोहे की बनी हुई एक शक्ति को अर्जुन पर चलाया और श्रीकृष्ण पर तोमर से प्रहार किया।

शक्तिं त्रिभिः शरैश्छित्त्वा तोमरं त्रिभिरर्जुनः।
सुशर्माणं शरव्रातैर्मोहयित्वा न्यवर्तयत् ॥४६॥

अर्जुन ने तीन वाणों द्वारा शक्ति और तीन वाणों द्वारा तोमर को काटकर सुशर्मा को अपने वाण-समूह द्वारा मोहित करके पीछे लौटा दिया।

संवेष्टयन्ननीकानि शरवर्षेण पाण्डवः।
सुपर्णपातवद् राजन्नायात् प्राग्ज्योतिषं प्रति ॥४७॥

राजन् ! अर्जुन ने वाणों की वर्षा से कौरव-सेनाओं को आच्छादित करते हुए गरुड़ के समान वेग से भगदत्त पर आक्रमण किया।

यथा नलवनं क्रुद्धः प्रभिन्नः षष्टिहायनः ।
मृद्नीयात् तद्वदायस्तः पार्थोऽमृद्नाच्चमूं तव ॥४८॥

जैसे साठ वर्ष का मदस्रावी हाथी क्रोध में भरकर नरकुलों [नरकाण्डों] के वन को रौंदकर धूल में मिला देता है, वैसे ही प्रयत्नशील पार्थ ने आपकी सेना को मटियामेट कर दिया ।

तस्मिन् प्रमथिते सैन्ये भगदत्तो नराधिपः ।
सहसा तेन नागेन धनञ्जयमुपाद्रवत् ॥४६॥

उस कौरव-सेना के मथे जाने पर राजा भगदत्त ने उस सुप्रतीक हाथी के द्वारा सहसा धनञ्जय पर आक्रमण किया ।

तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा परीवारं निहत्य च ।
लालयन्निव राजानं भगदत्तमयोधयत् ॥५०॥

तब अर्जुन ने राजा भगदत्त का धनुष काटकर उसके अनुचरों को भी मार डाला और लाड़ लड़ाते हुए-से उनके साथ युद्ध आरम्भ किया ।

सोऽर्करश्मिनिभाँस्तीक्ष्णाँस्तोमरान् वै चतुर्दश ।
अप्रेषयत् सव्यसाची द्विधैकैकमथाच्छिनत् ॥५१॥

भगदत्त ने सूर्य की किरणों के समान तीखे चौदह तोमर चलाये, परन्तु सव्यसाची अर्जुन ने उनमें से प्रत्येक के दो-दो टुकड़े कर डाले ।

ततो नागस्य तद् वर्म व्यधमत् पाकशासनिः ।
शरजालेन महता तद् व्यशीर्यत भूतले ॥५२॥

तब इन्द्रकुमार अर्जुन ने भारी बाण-वर्षा के द्वारा उस हाथी के कवच को काट डाला, जिससे वह कवच जीर्ण-शीर्ण होकर पृथिवी पर गिर पड़ा ।

ततश्छत्रं ध्वजं चैव छित्त्वा राज्ञोऽर्जुनः शरैः ।
विव्याध दशभिस्तूर्णमुत्स्मयन् पर्वतेश्वरम् ॥५३॥

तत्पश्चात् अर्जुन ने अपने बाणों द्वारा राजा भगदत्त के छत्र और ध्वज को काटकर मुस्कराते हुए दस बाणों द्वारा तुरन्त ही उस पर्वतेश्वर को बींध डाला ।

विद्धस्ततोऽतिव्यथितो वैष्णवास्त्रमुदीरयन् ।
अभिमन्त्र्याङ्कुशं क्रुद्धो व्यसृजत् पाण्डवोरसि ॥५४॥

उन बाणों से घायल हो अत्यन्त पीड़ित होकर भगदत्त ने वैष्णवास्त्र प्रकट किया । उसने कुपित हो अपने अंकुश को ही वैष्णवास्त्र से अभिमन्त्रित करके पाण्डुनन्दन अर्जुन की छाती पर छोड दिया ।

विसृष्टं भगदत्तेन तदस्त्रं सर्वघाति वै ।
उरसा प्रतिजग्राह पार्थं संछाद्य केशवः ॥५५॥

भगदत्त का छोड़ा हुआ वह अस्त्र सबका विनाश करनेवाला था । श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ओट में करके स्वयं ही अपनी छाती पर उसकी चोट सह ली ।

ततोऽर्जुनं वासुदेवः प्रत्युवाचार्थवद् वचः ।
विमुक्तं परमास्त्रेण जहि पार्थ महासुरम् ॥५६॥

तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन से ये रहस्यपूर्ण वचन कहे—"पार्थ ! अब यह महान् असुर उत्कृष्ट अस्त्र से वञ्चित हो गया है, अतः तुम उसे मार डालो ।"

एवमुक्तस्तदा पार्थः केशवेन महात्मना ।
भगदत्तं शितैर्बाणैः सहसा समवाकिरत् ॥५७॥

महात्मा केशव के ऐसा कहने पर कुन्तीपुत्र अर्जुन उसी समय भगदत्त पर सहसा पैने बाणों की वर्षा करने लगे ।

ततः पार्थो महाबाहुरसम्भ्रान्तो महामनाः ।
कुम्भयोरन्तरे नागं नाराचेन समार्पयत् ॥५८॥

तदनन्तर महाबाहु महामना पार्थ ने बिना किसी घबराहट के हाथी के कुम्भस्थल में एक नाराच का प्रहार किया ।

स समासाद्य तं नागं बाणो वज्र इवाचलम् ।
अभ्यगात् सह पुङ्खेन वल्मीकमिव पन्नगः ॥५६॥

वह नाराच उस हाथी के मस्तक पर पहुँचकर उसी प्रकार लगा, जैसे वज्र पर्वत पर चोट करता है । जैसे सर्प बांबी में समा जाता है, उसी प्रकार वह बाण हाथी के कुम्भस्थल में पंखसहित समा गया ।

स तु विष्टभ्य गात्राणि दन्ताभ्यामवनिं ययौ ।
नदन्नार्तस्वनं प्राणानुत्ससर्ज महाद्विपः ॥६०॥

उस आघात से उस महान् गजराज ने अपने अङ्गों को निश्चेष्ट करके दोनों दाँत धरती पर टेक दिये और आर्तस्वर से चीत्कार करके प्राण त्याग दिये ।

ततो गाण्डीवधन्वानमभ्यभाषत केशवः ।
अयं महत्तरः पार्थ पलितेन समावृतः ॥६१॥
वलीसंछन्ननयनः शूरः परमदुर्जयः ।
अक्ष्णोरुन्मीलनार्थाय बद्धपट्टो ह्यसौ नृपः ॥६२॥

हाथी के मारे जाने पर श्रीकृष्ण ने गाण्डीवधारी अर्जुन से कहा—"पार्थ ! यह भगदत्त बहुत बड़ी अवस्था का है। इसके सारे बाल पक गये हैं और ललाट आदि अङ्गों में झुर्रियाँ पड़ जाने के कारण पलकें झपी रहने से इसकी आँखें प्रायः बन्द-सी रहती हैं। यह शूरवीर तथा अत्यन्त दुर्जय है। इसने अपने दोनों नेत्रों को खुला रखने के लिए पलकों को कपड़े की पट्टी से ललाट में बाँध रखा है।"

देववाक्यात् प्रचिच्छेद शरेण भृशमर्जुनः।
छिन्नमात्रेंऽशुके तस्मिन् रुद्धनेत्रो बभूव सः ॥६३॥

श्रीकृष्ण के कहने से अर्जुन ने बाण मारकर भगदत्त के शिर की पट्टी अत्यन्त छिन्न-भिन्न कर दी। उस पट्टी के कटते ही भगदत्त की आँखें बन्द हो गईं।

तमोमयं जगन्मेने भगदत्तः प्रतापवान्।
ततश्चन्द्रार्धबिम्बेन बाणेन नतपर्वणा ॥६४॥
बिभेद हृदयं राज्ञो भगदत्तस्य पाण्डवः।
शरासनं शरांश्चैव गतासुः प्रमुमोच सः ॥६५॥

फिर तो प्रतापी भगदत्त को सारा संसार अन्धकारमय प्रतीत होने लगा। उस समय झुकी हुई गाँठवाले एक अर्धचन्द्राकार बाण द्वारा पाण्डुनन्दन अर्जुन ने राजा भगदत्त के वक्षःस्थल को विदीर्ण कर दिया। हृदय विदीर्ण हो जाने पर उस राजा भगदत्त ने प्राणशून्य हो अपने धनुप-बाण त्याग दिये।

ततोऽर्जुनोऽस्त्रविच्छ्रैष्ठ्यं दर्शयन्नात्मनोऽरिषु।
अभ्यवर्षच्छरौघेण कौरवाणामनीकिनीम् ॥६६॥

भगदत्त के वध के पश्चात् अस्त्रों के ज्ञाता अर्जुन शत्रुओं को अपनी फुर्ती दिखाते हुए कौरव-सेना पर बाण-समूहों की वर्षा करने लगे।

सा हन्यमाना पार्थेन तव पुत्रस्य वाहिनी।
द्वैधीभूता महाराज गङ्गेवासाद्य पर्वतम् ॥६७॥

महाराज ! अर्जुन द्वारा मारी जाती हुई आपके पुत्र की विशाल सेना उसी प्रकार दो भागों में बँट गई, जैसे गङ्गा किसी विशाल पर्वत के समीप पहुँचकर दो धाराओं में विभक्त हो गई हो।

द्रोणमेवान्वपद्यन्त केचित् तत्र नरर्षभाः।
केचिद् दुर्योधनं राजन्नर्द्यमानाः किरीटिना ॥६८॥

राजन् ! किरीटधारी अर्जुन द्वारा पीड़ित हो आपकी सेना के कितने ही नरश्रेष्ठ द्रोणाचार्य के पीछे जा छिपे और कितने ही सैनिक दुर्योधन के पास भाग गये।

न च द्वितीयं व्यसृजत् कुञ्जराश्वनरेषु सः।
पृथगेकशराहृता निपेतुस्ते गतासवः ॥६९॥

हाथी, घोड़ों और मनुष्यों पर अर्जुन दूसरा बाण नहीं छोड़ते थे। वे सब-के-सब पृथक्-पृथक् एक ही बाण से घायल हो प्राणहीन होकर पृथिवी पर गिर पड़ते थे।

पाण्डवानामनीकानि समासाद्य सहस्रशः।
द्रोणेन चरता संख्ये प्रभग्नानि शितैः शरैः ॥७०॥

उधर युद्धभूमि में विचरते हुए द्रोणाचार्य ने पाण्डव-सेना में प्रविष्ट होकर अपने तीखे बाणों द्वारा सहस्रों सैनिकों के पाँव उखाड़ दिये।

तेषु प्रमथ्यमानेषु द्रोणेनाद्भुतकर्मणा।
पर्यवारयदासाद्य द्रोणं सेनापतिः स्वयम् ॥७१॥

अद्भुत पराक्रम दिखानेवाले द्रोणाचार्य द्वारा जब उन सेनाओं का मन्थन होने लगा, उस समय स्वयं सेनापति धृष्टद्युम्न ने द्रोण के पास पहुँचकर उन्हें रोका।

तदद्भुतमभूद् युद्धं द्रोणपाञ्चालयोस्तथा।
नैव तस्योपमा काचिदिति मे निश्चिता मतिः ॥७२॥

वहाँ द्रोणाचार्य और धृष्टद्युम्न में अद्भुत युद्ध हुआ। उस युद्ध की कोई उपमा नहीं दी जा सकती, यह मेरा निश्चित मत है।

आसीच्छक्त्यासिसम्पातो युद्धमासीत् परश्वधैः।
प्रकृष्टमसियुद्धं च बभूव कटुकोदयम् ॥७३॥

उस युद्ध में शक्ति और खड्गों के घातक प्रहार हो रहे थे। फरसों से मार-काट हो रही थी। तलवार खींचकर उसके द्वारा ऐसा भयंकर युद्ध हो रहा था कि जिसका कटु परिणाम प्रत्यक्ष सामने आ रहा था।

रथो भग्नो ध्वजश्छिन्नश्छत्रमुर्व्यां निपातितम्।
युगार्धं छिन्नमादाय प्रदुद्राव तथा हयः ॥७४॥

कितने ही रथ टूट गये, ध्वज कट गये, छत्र पृथिवी पर गिरा दिये गये और जुए खण्डित हो गये।

उन खण्डित हुए आधे जुओं को लेकर ही घोड़े तीव्र-गति से भाग रहे थे।

ततो बलेऽतिलुलिते परस्परं
निरीक्षमाणे रुधिरौघसम्प्लुते।
दिवाकरेऽस्तंगिरिमास्थिते शनै-
रुभे प्रयाते शिबिराय भारत ॥७५॥

हे भरतभूषण! दोनों ओर की सेनाएँ अत्यन्त आहत होकर रक्त से लथपथ हो एक-दूसरे की ओर देख रही थीं, इतने में ही भुवनभास्कर अस्ताचल को जा पहुँचे। फिर तो वे दोनों ही धीरे-धीरे अपने-अपने शिविर की ओर चल दीं।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

द्रोणाचार्य की प्रतिज्ञा, चक्रव्यूह का निर्माण, अभिमन्यु का पराक्रम और उसका वध

सञ्जय उवाच

ततः प्रभातसमये द्रोणं दुर्योधनोऽब्रवीत्।
प्रणयादभिमानाच्च द्विषद्वृद्ध्या च दुर्मनाः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—अगले दिन प्रातःकाल दुर्योधन ने, जो शत्रुओं के अभ्युदय से अति खिन्न था, आचार्य के प्रति जिसके हृदय में प्रेम था और अपने शौर्य पर अभिमान भी, द्रोणाचार्य के पास जाकर उनसे कहा—

नूनं वयं वध्यपक्षे भवतो द्विजसत्तम।
तथा हि नाग्रहीः प्राप्तं समीपेऽद्य युधिष्ठिरम् ॥२॥

"द्विजश्रेष्ठ! निश्चय ही हम लोग आपकी दृष्टि में शत्रुवर्ग के अन्तर्गत हैं। यही कारण है कि अत्यन्त निकट आने पर भी आपने राजा युधिष्ठिर को नहीं पकड़ा।

इच्छतस्ते न मुच्येत चक्षुःप्राप्तो रणे रिपुः।
जिघृक्षतो रक्ष्यमाणः सामरैरपि पाण्डवैः ॥३॥

"युद्धभूमि में कोई भी शत्रु आपके नेत्रों के समक्ष आ जाए और आप उसे पकड़ना चाहें तब सम्पूर्ण देवताओं के साथ सारे पाण्डव उसकी रक्षा करें तो भी वह आपसे छूटकर नहीं जा सकता।

वरं दत्त्वा मम प्रीतः पश्चाद् विकृतवानसि।
आशाभङ्गं न कुर्वन्ति भक्तस्यार्याः कथञ्चन ॥४॥

"आपने प्रसन्न होकर पहले तो मुझे वर दिया और पीछे उसे उलट दिया, परन्तु आर्यपुरुष किसी प्रकार भी अपने भक्त की आशा भङ्ग नहीं करते हैं।"

ततोऽप्रीतस्तथोक्तः सन् भारद्वाजोऽब्रवीन्नृपम्।
नार्हसे मां तथा ज्ञातुं घटमानं तव प्रिये ॥५॥

दुर्योधन के ऐसा कहने पर द्रोणाचार्य को तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई। वे दुःखी होकर राजा दुर्योधन से इस प्रकार बोले—"राजन्! तुम्हें मुझे इस प्रकार प्रतिज्ञा भङ्ग करनेवाला नहीं समझना चाहिए। मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति से तुम्हारा प्रिय करने की चेष्टा कर रहा हूँ।

ससुरासुरगन्धर्वाः सयक्षोरगराक्षसाः।
नालं लोका रणे जेतुं पाल्यमानं किरीटिना ॥६॥

"परन्तु एक बात स्मरण रखो, किरीटधारी अर्जुन युद्धभूमि में जिसकी रक्षा कर रहे हों, उसे देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग तथा राक्षसोंसहित सम्पूर्ण लोक भी नहीं जीत सकते।

सत्यं तात ब्रवीम्यद्य नैतज्जात्वन्यथा भवेत्।
अद्यैकं प्रवरं कञ्चित् पातयिष्ये महारथम् ॥७॥

"तात! आज मैं एक सत्य बात कहता हूँ, यह कभी झूठी नहीं हो सकती। आज मैं पाण्डवपक्ष के किसी श्रेष्ठ महारथी को अवश्य मार गिराऊँगा।

तं च व्यूहं विधास्यामि योऽभेद्यस्त्रिदशैरपि।
योगेन केनचिद् राजन्नर्जुनस्त्वपनीयताम् ॥८॥

"राजन्! आज मैं उस व्यूह का निर्माण करूँगा, जिसे देवता भी नहीं तोड़ सकते, परन्तु किसी उपाय से अर्जुन को यहाँ से दूर हटा दो।

न ह्यज्ञातमसाध्यं वा तस्य संख्येऽस्ति किञ्चन।
तेन ह्युपात्तं सकलं सर्वज्ञानमितस्ततः ॥९॥

"युद्ध के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नहीं है, जो अर्जुन के लिए अज्ञात अथवा असाध्य हो। उन्होंने

इधर-उधर से युद्ध-विषयक सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है।"

द्रोणेन व्याहृते त्वेवं संशप्तकगणाः पुनः।
आह्वयन्नर्जुनं संख्ये दक्षिणामभितो दिशम् ॥१०॥

द्रोणाचार्य के ऐसा कहने पर पुनः संशप्तकगणों ने दक्षिण दिशा में जा अर्जुन को युद्ध के लिए ललकारा।

ततोऽर्जुनस्याथ परैः सार्धं समभवद् रणः।
तादृशो यादृशो नान्यः श्रुतो दृष्टोऽपि वा क्वचित् ॥११॥

वहाँ अर्जुन का शत्रुओं के साथ ऐसा घोर संग्राम हुआ, जैसा दूसरा कोई कहीं न तो देखा गया है और न सुना ही गया है।

चक्रव्यूहो महाराज आचार्येणाभिकल्पितः।
तत्र शक्रोपमाः सर्वे राजानो विनिवेशिताः ॥१२॥

राजन्! इधर द्रोणाचार्य ने जिस चक्रव्यूह का निर्माण किया था, उसमें इन्द्र के समान पराक्रम प्रकट करनेवाले समस्त राजाओं का समावेश कर रखा था।

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
तावकानां परेषां च मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥१३॥

व्यूह निर्माण हो जाने पर 'मरने पर ही युद्ध से निवृत्त होंगे'—ऐसा निश्चय करके आपके और शत्रु-पक्ष के योद्धाओं में अत्यन्त भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था।

तदनीकमनाधृष्यं भारद्वाजेन रक्षितम्।
पार्थाः समभ्यवर्तन्त भीमसेनपुरोगमाः ॥१४॥

राजन्! द्रोणाचार्य द्वारा सुरक्षित उस दुर्धर्ष सेना [चक्रव्यूह] का भीमसेन आदि कुन्तीपुत्रों ने डटकर सामना किया।

पीड्यमानाः शरै राजन् द्रोणचापविनिःसृतैः।
न शेकुः प्रमुखे स्थातुं भारद्वाजस्य पाण्डवाः ॥१५॥

परन्तु राजन्! आचार्य द्रोण के धनुष से छूटे हुए बाणों से अत्यन्त पीड़ित होकर पाण्डववीर उनके सामने ठहर नहीं सके।

तमायान्तमभिक्रुद्धं द्रोणं दृष्ट्वा युधिष्ठिरः।
बहुधा चिन्तयामास द्रोणस्य प्रतिवारणम् ॥१६॥

क्रोध में भरे हुए उन्हीं द्रोणाचार्य को आते देख राजा युधिष्ठिर ने उन्हें रोकने के उपाय पर बारम्बार विचार किया।

अशक्यं तु तमन्येन द्रोणं मत्वा युधिष्ठिरः।
अविषह्यं गुरुं भारं सौभद्रे समवासृजत् ॥१७॥

इस समय द्रोणाचार्य का सामना करना दूसरे के लिए असम्भव जानकर युधिष्ठिर ने वह दुःसह एवं महान् भार सुभद्राकुमार अभिमन्यु पर डाल दिया।

वासुदेवादनवरं फाल्गुनाच्चामितौजसम्।
अब्रवीत् परवीरघ्नमभिमन्युमिदं वचः ॥१८॥

महातेजस्वी अभिमन्यु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण और अर्जुन से किसी बात में कम नहीं था। उस शत्रुवीरों के संहारक से युधिष्ठिर ने इस प्रकार कहा—

एत्य नो नार्जुनो गर्हेद् यथा तात तथा कुरु।
न वयं चक्रव्यूहस्य विद्मो भेदं कथञ्चन ॥१९॥

"तात! संशप्तकों के साथ युद्ध करके लौटने पर अर्जुन जिस प्रकार हम लोगों की निन्दा न करें [हमें असमर्थ न बताएँ] वैसा कार्य करो। हम लोग तो किसी भी प्रकार चक्रव्यूह के भेदन की प्रक्रिया को नहीं जानते हैं।

त्वं वार्जुनो वा कृष्णो वा भिन्द्यात् प्रद्युम्न एव वा।
चक्रव्यूहं महाबाहो पञ्चमो नोपपद्यते ॥२०॥

"महाबाहो! तुम, अर्जुन, श्रीकृष्ण अथवा प्रद्युम्न—ये चार पुरुष ही चक्रव्यूह का भेदन कर सकते हैं। पाँचवाँ कोई योद्धा इस कार्य के योग्य नहीं है।

अभिमन्यो वरं तात याचतां दातुमर्हसि।
पितृणां मातुलानां च सैन्यानां चैव सर्वशः ॥२१॥

"तात अभिमन्यो! तुम्हारे पिता और मामा के पक्ष के समस्त योद्धा और सभी सैनिक तुमसे याचना कर रहे हैं। तुम्हीं इन्हें वर देने के योग्य हो।"

अभिमन्युरुवाच

द्रोणस्य दृढमत्युग्रमनीकप्रवरं युधि।
पितृणां जयमाकाङ्क्षन्नवगाहेऽविलम्बितम् ॥२२॥

अभिमन्यु ने कहा—महाराज! मैं अपने पितृ-वर्ग की विजय की अभिलाषा से युद्धक्षेत्र में द्रोणाचार्य

की अत्यन्त भयंकर, सुदृढ़ एवं श्रेष्ठ सेना में शीघ्र ही प्रवेश करता हूँ।

उपदिष्टो हि मे पित्रा योगोऽनीकविशातने।
नोत्सहे हि विनिर्गन्तुमहं कस्यांचिदापदि ॥२३॥

पिताजी ने मुझे चक्रव्यूह के भेदन की विधि तो बताई है, परन्तु किसी आपत्ति में पड़ जाने पर मैं उस व्यूह से बाहर नहीं निकल सकता।

युधिष्ठिर उवाच

भिन्ध्यनीकं युधां श्रेष्ठ द्वारं सञ्जनयस्व नः।
वयं त्वानुगमिष्यामो येन त्वं तात यास्यसि ॥२४॥

युधिष्ठिर बोले—योद्धाओं में श्रेष्ठ वीर! तुम व्यूह का भेदन करो तथा हमारे लिए द्वार बना दो। तात! फिर तुम जिस मार्ग से जाओगे, उसी के द्वारा हम भी तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे।

धनञ्जयसमं युद्धे त्वां वयं तात संयुगे।
प्रणिधायानुयास्यामो रक्षन्तः सर्वतोमुखाः ॥२५॥

तात! हम लोग युद्धभूमि में तुम्हें अर्जुन के समान मानते हैं। हम अपना ध्यान तुम्हारी ही ओर रखकर सब ओर से तुम्हारी रक्षा करते हुए तुम्हारे साथ ही चलेंगे।

सञ्जय उवाच

सौभद्रस्तद् वचः श्रुत्वा धर्मराजस्य धीमतः।
अनोदयत यन्तारं द्रोणानीकाय भारत ॥२६॥

सञ्जय कहते हैं—हे भारत! बुद्धिमान् युधिष्ठिर का पूर्वोक्त वचन सुनकर सुभद्राकुमार अभिमन्यु ने अपने सारथि को द्रोणाचार्य की सेना की ओर चलने का आदेश दिया।

तेन संनोद्यमानस्तु याहि याहीति सारथिः।
प्रत्युवाच ततो राजन्नभिमन्युमिदं वचः ॥२७॥

राजन्! 'चलो, चलो!' ऐसा कहकर अभिमन्यु के बारम्बार प्रेरित करने पर सारथि ने उससे इस प्रकार कहा—

अतिभारोऽयमायुष्मन्नाहितस्त्वयि पाण्डवैः।
सम्प्रधार्य क्षणं बुद्ध्या ततस्त्वं योद्धुमर्हसि ॥२८॥

"आयुष्मन्! पाण्डवों ने आपके कन्धे पर बहुत बड़ा भार डाल दिया है। पहले आप क्षणभर रुककर बुद्धिपूर्वक अपने कर्तव्य का निश्चय कर लो, बाद में युद्ध करना।

आचार्यो हि कृती द्रोणः परमास्त्रे कृतश्रमः।
अत्यन्तसुखसंवृद्धस्त्वं चायुद्धविशारदः ॥२९॥

"द्रोणाचार्य अस्त्रविद्या के पारङ्गत विद्वान् हैं और उत्तम अस्त्रों के अभ्यास में उन्होंने विशेष परिश्रम किया है। इधर आप अत्यन्त सुख और लाड़-प्यार में पले हैं। युद्ध-कला में आप उनके जैसे विज्ञ नहीं हैं।"

ततोऽभिमन्युः प्रहसन् सारथिं वाक्यमब्रवीत्।
सारथे को न्वयं द्रोणः समग्रं क्षत्रमेव वा ॥३०॥
अपि विश्वजितं कृष्णं मातुलं प्राप्य सूतज।
पितरं चार्जुनं युद्धे न भीर्मामुपयास्यति ॥३१॥

तब अभिमन्यु ने हँसते-हँसते सारथि से इस प्रकार कहा—"सारथे! इन द्रोणाचार्य अथवा सम्पूर्ण क्षत्रियमण्डल की तो बात ही क्या है, विश्वविजयी मामा श्रीकृष्ण और पिता अर्जुन को भी युद्ध में विपक्षी के रूप में सामने पाकर मुझे भय नहीं होगा।"

अभिमन्युश्च तां वाचं कदर्थीकृत्य सारथेः।
याहीत्येवाब्रवीदेनं द्रोणानीकाय माचिरम् ॥३२॥

अभिमन्यु ने सारथि के पूर्वोक्त कथन की अवहेलना करके उससे यही कहा—"तुम शीघ्र द्रोणाचार्य की सेना की ओर चलो।"

ततः संनोदयामास हयानाशु त्रिहायनान्।
नातिहृष्टमनाः सूतो हेमभाण्डपरिच्छदान् ॥३३॥

तब सारथि ने सुवर्णमय अलंकारों से अलंकृत तथा तीन वर्ष की अवस्थावाले घोड़ों को शीघ्र आगे बढ़ाया, परन्तु उस समय उसका मन अधिक प्रसन्न नहीं था।

ते प्रेषिताः सुमित्रेण द्रोणानीकाय वाजिनः।
द्रोणमभ्यद्रवन् राजन् महावेगपराक्रमम् ॥३४॥

राजन्! सारथि सुमित्र द्वारा द्रोणाचार्य की सेना की ओर हाँके हुए वे घोड़े महान् वेगशाली और पराक्रमी द्रोण की ओर दौड़े।

तमुदीक्ष्य तथाऽऽयान्तं सर्वे द्रोणपुरोगमाः।
अभ्यवर्तन्त कौरव्याः पाण्डवाश्च तमन्वयुः ॥३५॥

अभिमन्यु को इस प्रकार आते देख द्रोणाचार्य

आदि कौरव वीर उनके सामने आकर खड़े हो गये और पाण्डव योद्धा उसका अनुसरण करने लगे।

शूराणां युध्यमानानां निघ्नतामितरेतरम्।
संग्रामस्तुमुलो राजन् प्रावर्तत सुदारुणः ॥३६॥

राजन्! फिर तो युद्ध में तत्पर हो एक-दूसरे पर घातक प्रहार करते हुए उन शूरवीरों में अति दारुण और भयंकर संघर्ष होने लगा।

प्रवर्तमाने संग्रामे तस्मिन्नतिभयंकरे।
द्रोणस्य मिषतो व्यूहं भित्त्वा प्राविशदार्जुनिः ॥३७॥

वह अति भयंकर संग्राम चल ही रहा था कि द्रोणाचार्य के देखते-देखते अर्जुन-कुमार अभिमन्यु व्यूह का भेदन कर अन्दर घुस गया।

तं प्रविष्टं विनिघ्नन्तं शत्रुसंघान् महाबलम्।
हस्त्यश्वरथपत्त्यौघाः परिवव्रुरुदायुधाः ॥३८॥

व्यूह में प्रविष्ट होकर शत्रुसमूहों का विनाश करते हुए महाबली अभिमन्यु को हाथ में अस्त्र-शस्त्र लिये गजारोही, घुड़सवार, रथी और पैदल योद्धाओं के भिन्न-भिन्न दलों ने चारों ओर से घेर लिया।

तेषामापततां वीरः शीघ्रयोधी महाबलः।
क्षिप्रास्त्रो न्यवधीद् राजन् मर्मज्ञो मर्मभेदिभिः ॥३९

राजन्! महाबली वीर अभिमन्यु शीघ्रतापूर्वक युद्ध करने में कुशल, शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाला और शत्रुओं के मर्मस्थलों को जाननेवाला था, अतः वह अपनी ओर आते हुए शत्रु-सैनिकों को मर्मभेदी बाणों द्वारा मौत के घाट उतारने लगा।

ततस्तेषां शरीरैश्च शरीरावयवैश्च सः।
संतस्तार क्षितिं क्षिप्रं कुशैर्वेदिमिवाध्वरे ॥४०॥

जैसे यज्ञ में वेदी पर कुश बिछाये जाते हैं, उसी प्रकार अभिमन्यु ने तुरन्त ही शत्रुओं के शरीरों तथा भिन्न-भिन्न अवयवों से सारी युद्धभूमि को पाट दिया।

तथा निर्मथितं तेन त्र्यङ्गं तव बलं महत्।
यथासुरबलं घोरं त्र्यम्बकेन महौजसा ॥४१॥

जैसे रुद्र ने असुरों की सेना को मथ डाला था, उसी प्रकार अभिमन्यु ने रथ, हाथी, घोड़े—इन तीन अङ्गों से युक्त आपकी विशाल सेना को रौंद डाला।

कृत्वा कर्म रणेऽसह्यं परैरार्जुनिराहवे।
अभिनच्च पदात्योघांस्त्वदीयानेव सर्वशः ॥४२॥

इस प्रकार अर्जुनकुमार अभिमन्यु ने युद्धभूमि में शत्रुओं के लिए असह्य पराक्रम करके आपके पैदल योद्धाओं के समूहों का सभी प्रकार से विनाश आरम्भ किया।

अभिमन्युः कृतोत्साहः कृतोत्साहानरिन्दमान्।
रथस्थो रथिनः सर्वांस्तावकानभ्यवर्षयत् ॥४३॥

अभिमन्यु युद्ध के लिए उत्साह से भरा था। वह रथ पर बैठकर आपके उत्साहभरे शत्रु-संहारक समस्त रथारोहियों पर बाणों की वर्षा करने लगा।

द्रोणं कर्णं कृपं शल्यं द्रौणिं भोजं महाबलम्।
अलातचक्रवत् सर्वांश्चरन् बाणैः समार्पयत् ॥४४॥

अभिमन्यु अलातचक्र की भाँति चारों ओर घूम-कर द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य, शल्य, अश्वत्थामा और महाबली भोज—इन सबपर बाणों का प्रहार कर रहा था।

अथाब्रवीन्महाप्राज्ञो भारद्वाजः प्रतापवान्।
हर्षेणोत्फुल्लनयनः कृपमाभाष्य सत्वरम् ॥४५॥
घट्टयन्निव मर्माणि पुत्रस्य तव भारत।
अभिमन्युं रणे दृष्ट्वा तदा रणविशारदम् ॥४६॥

उस समय महाबुद्धिमान् और प्रतापी वीर द्रोणा-चार्य के नेत्र हर्ष से खिल उठे। हे भारत! उन्होंने युद्धविशारद अभिमन्यु को युद्ध में स्थित देखकर आपके पुत्र के मर्मस्थल पर चोट-सी करते हुए कृपा-चार्य को सम्बोधित करते हुए कहा—

एष गच्छति सौभद्रः पार्थानां प्रथितो युवा।
नन्दयन् सुहृदः सर्वान् राजानं च युधिष्ठिरम् ॥४७॥

"यह पार्थकुल का प्रसिद्ध तरुणवीर सुभद्राकुमार अभिमन्यु अपने समस्त सुहृदों और राजा युधिष्ठिर को आनन्द प्रदान करता हुआ जा रहा है।

नास्य युद्धे समं मन्ये कञ्चिदन्यं धनुर्धरम्।
इच्छन् हन्यादिमां सेनां किमर्थमपि नेच्छति ॥४८॥

"मैं दूसरे किसी धनुर्धर वीर को युद्धक्षेत्र में इसके समान नहीं मानता। यदि यह चाहे तो इस सारी सेना को नष्ट कर सकता है, परन्तु यह न जाने ऐसा चाहता क्यों नहीं है!"

द्रोणस्य प्रीतिसंयुक्तं श्रुत्वा वाक्यं तवात्मजः ।
आर्जुनिं प्रति संक्रुद्धो द्रोणं दृष्ट्वा स्मयन्निव ॥४९॥
अथ दुर्योधनः कर्णमब्रवीद् बाह्लिकं नृपः ।
दुःशासनं मद्रराजं तांस्तथान्यान् महारथान् ॥५०॥

अभिमन्यु के सम्बन्ध में द्रोणाचार्य का यह प्रीतियुक्त वचन सुनकर आपका पुत्र राजा दुर्योधन क्रोध में भर गया और द्रोणाचार्य की ओर देखकर मुस्कराता हुआ-सा कर्ण बाह्लिक, दुःशासन, मद्रराज शल्य और अन्य महारथियों से बोला—

सर्वमूर्धाभिषिक्तानामाचार्यो ब्रह्मवित्तमः ।
अर्जुनस्य सुतं मूढं नायं हन्तुमिहेच्छति ॥५१॥

"सम्पूर्ण मूर्धाभिषिक्त राजाओं के आचार्य तथा सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता ये द्रोणाचार्य अर्जुन के इस मूढ़ पुत्र को मारना नहीं चाहते हैं।

अर्जुनस्य सुतं त्वेष शिष्यत्वादभिरक्षति ।
शिष्याः पुत्राश्च दयितास्तदपत्यं च धर्मिणाम् ॥५२॥

"ये अर्जुन के पुत्र की रक्षा करते हैं, क्योंकि अर्जुन इनके शिष्य हैं। शिष्य और पुत्र तो प्रिय होते ही हैं, उनकी सन्तानें भी धर्मात्माओं को प्रिय जान पड़ती हैं।

संरक्ष्यमाणो द्रोणेन मन्यते वीर्यमात्मनः ।
आत्मसम्भावितो मूढस्तं प्रमथ्नीत माचिरम् ॥५३॥

"यह द्रोणाचार्य से रक्षित होने के कारण अपने बल और पराक्रम पर अभिमान कर रहा है। यह मूर्ख अभिमन्यु आत्म-प्रशंसा करनेवाला है। तुम सब मिलकर इसे मथ डालो।"

दुःशासनस्तु तत् श्रुत्वा दुर्योधनवचस्तदा ।
अब्रवीत् कुरुशार्दूल दुर्योधनमिदं वचः ॥५४॥

कुरुकुलभूषण! उस समय दुर्योधन के उपर्युक्त वचन को सुनकर दुःशासन ने उससे यह बात कही—

अहमेनं हनिष्यामि महाराज ब्रवीमि ते ।
मिषतां पाण्डुपुत्राणां पाञ्चालानां च पश्यताम् ॥५५

"महाराज! मैं आपसे [प्रतिज्ञापूर्वक] कहता हूँ कि मैं पाञ्चालों और पाण्डवों के देखते-देखते इस अभिमन्यु को मार डालूँगा।"

एवमुक्त्वानदद् राजन् पुत्रो दुःशासनस्तव ।
सौभद्रमभ्ययात् क्रुद्धः शरवर्षैरवाकिरत् ॥५६॥

महाराज! ऐसा कहकर आपका पुत्र दुःशासन जोर-जोर से गर्जना करने लगा। वह क्रोध में भरकर अभिमन्यु पर बाणों की वर्षा करता हुआ उसके सामने गया।

तमतिक्रुद्धमायान्तं तव पुत्रमरिन्दमः ।
अभिमन्युः शरैस्तीक्ष्णैः षड्विंशत्या समार्पयत् ॥५७॥

आपके पुत्र को अत्यन्त कुपित हो अपनी ओर आते देख शत्रुहन्ता अभिमन्यु ने छब्बीस पैने बाणों द्वारा उसे घायल कर दिया।

स गाढविद्धो व्यथितो रथोपस्थ उपाविशत् ।
दुःशासनो महाराज कश्मलं चाविशन्महत् ॥५८॥

बाणों की गहरी चोट खाकर दुःशासन व्यथित हो रथ की बैठक में बैठ गया। महाराज! उस समय उसे भारी मूर्च्छा आ गई।

सारथिस्त्वरमाणस्तु दुःशासनमचेतनम् ।
रणमध्यादपोवाह सौभद्रशरपीडितम् ॥५९॥

तब अभिमन्यु के बाणों से पीड़ित तथा अचेत हुए दुःशासन को उसका सारथि बड़ी उतावली के साथ रणभूमि से बाहर हटा ले गया।

ततः कर्णः शरैस्तीक्ष्णैरभिमन्युं दुरासदम् ।
अभ्यवर्षत संक्रुद्धः पुत्रस्य हितकृत् तव ॥६०॥

तब आपके पुत्र का हित करनेवाला कर्ण अत्यन्त क्रोध में भरकर दुर्धर्ष वीर अभिमन्यु पर तीखे बाणों की वर्षा करने लगा।

ततो मुहूर्तात् कर्णस्य बाणेनैकेन वीर्यवान् ।
सध्वजं कार्मुकं वीरश्छित्त्वा भूमावपातयत् ॥६१॥

तब दो ही घड़ी में महापराक्रमी वीर अभिमन्यु ने एक बाण मारकर कर्ण के ध्वज और धनुष को काटकर पृथिवी पर गिरा दिया।

ततः कृच्छ्रगतं कर्णं दृष्ट्वा कर्णादनन्तरः ।
सौभद्रमभ्ययात् तूर्णं दृढमुद्यम्य कार्मुकम् ॥६२॥

कर्ण को संकट में पड़ा देख उसका छोटा भाई सुदृढ़ धनुष हाथ में लेकर तुरन्त ही सुभद्राकुमार का सामना करने के लिए आ पहुँचा।

तस्याभिमन्युरायम्य स्मयन्नेकेन पत्रिणा ।
शिरः प्रच्यावयामास तद्रथात् प्रापतद् भुवि ॥६३॥

तब अभिमन्यु ने मुस्कराते हुए-से अपने धनुष

को खींचकर एक ही बाण से कर्ण के भाई का मस्तक काट दिया। उसका वह सिर रथ से नीचे भूमि पर गिर पड़ा।

विमुखीकृत्य कर्णं तु सौभद्रः कङ्कपत्रिभिः।
अन्यानपि महेष्वासाँस्तूर्णमेवाभिदुद्रुवे ॥६४॥

फिर सुभद्राकुमार अभिमन्यु ने गीध की पाँखवाले बाणों द्वारा कर्ण को युद्ध से भगाकर अन्य महाधनुर्धर वीरों पर भी तुरन्त आक्रमण किया।

धृतराष्ट्र उवाच

गाहमानमनीकानि सदश्वैश्च त्रिहायनैः।
अपि यौधिष्ठिरात् सैन्यात् कश्चिदन्वपतद् बली ॥६५॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय! जिस समय अभिमन्यु तीन वर्ष की अवस्थावाले उत्तम घोड़ों के द्वारा मेरी सेनाओं में प्रवेश कर रहा था, उस समय युधिष्ठिर की सेना से क्या कोई बलवान् वीर उसके पीछे-पीछे व्यूह के भीतर घुस सका था?

सञ्जय उवाच

युधिष्ठिरो भीमसेनः शिखण्डी सात्यकिर्यमौ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च मत्स्याश्चाभ्यपतन् रणे ॥६६॥
तेनैव तु पथा यान्तः पितरो मातुलैः सह।
अभ्यद्रवन् परीप्सन्तो व्यूढानीकाः प्रहारिणः ॥६७॥

सञ्जय बोला—राजन्! युधिष्ठिर, भीमसेन, शिखण्डी, सात्यकि, नकुल-सहदेव, धृष्टद्युम्न, विराट और मत्स्यदेशीय योद्धा—ये सभी युद्धभूमि में आगे बढ़े। अभिमन्यु के ताऊ, चाचा और मामागण अपनी सेना को व्यूह द्वारा संगठित करके प्रहार करने के लिए उद्यत हो अभिमन्यु की रक्षा के लिए उसी के बनाये मार्ग से व्यूह में प्रविष्ट होने के लिए एक-साथ दौड़ पड़े।

तान् दृष्ट्वा द्रवतः शूराँस्त्वदीया विमुखाऽभवन्।
जामाता तव तेजस्वी संस्तम्भयिषुराद्रवत् ॥६८॥

उन शूरवीरों को आक्रमण करते देख आपके सैनिक भाग खड़े हुए, परन्तु आपका जामाता तेजस्वी जयद्रथ उन्हें स्थिरतापूर्वक स्थापित करने की इच्छा से वहाँ दौड़ा हुआ आया।

संक्रुद्धान् पाण्डवानेको यद् दधारास्त्रतेजसा।
तत् तस्य कर्म भूतानि सर्वाण्येवाभ्यपूजयन् ॥६९॥

जयद्रथ ने अकेले ही अपने अस्त्रों के तेज से क्रोध में भरे हुए पाण्डवों को रोक लिया, उसके इस पराक्रम की सभी वीर प्रशंसा करने लगे।

सौभद्रेण हतैः पूर्वं सोत्तरायोधिभिर्द्विपैः।
पाण्डूनां दर्शितः पन्थाः सैन्धवेन निवारितः ॥७०॥

सुभद्राकुमार अभिमन्यु ने पहले गजारोहियों-सहित बहुत-से गजराजों को मारकर चक्रव्यूह में प्रविष्ट होने के लिए पाण्डवों के लिए जो मार्ग दिखाया था, उसे जयद्रथ ने बन्द कर दिया।

यो यो हि यतते भेत्तुं द्रोणानीकं तवाहितः।
तं तमेव वरं प्राप्य सैन्धवः प्रत्यवारयत् ॥७१॥

आपका जो-जो शत्रु द्रोणाचार्य के व्यूह को तोड़ने का प्रयत्न करता, उसी-उसी श्रेष्ठ वीर के पास पहुँचकर जयद्रथ उसे रोक देता था।

प्रविश्याथार्जुनिः सेनां सत्यसन्धो दुरासदः।
व्यक्षोभयत तेजस्वी मकरः सागरं यथा ॥७२॥

उधर सत्यप्रतिज्ञ, दुर्धर्ष और तेजस्वी वीर अभिमन्यु ने आपकी सेना में घुसकर ऐसा तहलका मचा दिया, जैसे बड़ा भारी मगर समुद्र में हलचल पैदा कर देता है।

ये केचन गतास्तस्य समीपमपलायिनः।
न ते प्रतिन्यवर्तन्त समुद्रादिव सिन्धवः ॥७३॥

युद्ध से न भागनेवाले जो कोई शूरवीर उस समय अभिमन्यु के पास गये, वे फिर नहीं लौटे, जैसे समुद्र में मिली हुई नदियाँ फिर वहाँ से नहीं लौट पातीं।

अथ रुक्मरथो नाम मद्रेश्वरसुतो बली।
त्रस्तामाश्वासयन् सेनामत्रस्तो वाक्यमब्रवीत् ॥७४॥

इसी समय मद्रराज का शूरवीर पुत्र रुक्मरथ आकर अपनी डरी हुई सेना को आश्वासन देता हुआ निर्भय होकर बोला—

अलं त्रासेन वः शूरा नैष कश्चिन्मयि स्थिते।
अहमेनं ग्रहीष्यामि जीवग्राहं न संशयः ॥७५॥

"शूरवीरो! तुम्हें डरने की कोई आवश्यकता नहीं। यह अभिमन्यु मेरे रहते कुछ भी नहीं है। मैं अभी इसे जीते-जी पकड़ लूंगा, इसमें संशय नहीं है।"

एवमुक्त्वा तु सौभद्रमभिदुद्राव वीर्यवान्।
सुकल्पितेनोह्यमानः स्यन्दनेन विराजता ॥७६॥

ऐसा कहकर पराक्रमी रुक्मरथ सुन्दर, सुसज्जित तेजस्वी रथ पर आरूढ़ हो सुभद्राकुमार अभिमन्यु की ओर दौड़ा।

सोऽभिमन्युं त्रिभिर्बाणैर्विद्ध्वा वक्षस्यथानदत्।
त्रिभिश्च दक्षिणे बाहौ सव्ये च निशितैस्त्रिभिः ॥७७॥

उसने अभिमन्यु की छाती में तीन बाण मारकर सिंहनाद किया। फिर तीन बाण दाहिनी ओर तीन तीखे बाण बायीं भुजा में मारे।

स तस्येष्वसनं छित्वा फाल्गुनिः सव्यदक्षिणौ।
भुजौ शिरश्च स्वक्षिभ्रु क्षितौ क्षिप्रमपातयत् ॥७८॥

तब अर्जुनकुमार अभिमन्यु ने रुक्मरथ का धनुष काटकर उसकी बायीं-दायीं भुजाओं को और सुन्दर नेत्र तथा भौंहों से सुशोभित मस्तक को भी तुरन्त ही काटकर पृथिवी पर गिरा दिया।

एकधा शतधा राजन् दृश्यते स्म सहस्रधा।
अलातचक्रवत् संख्ये क्षिप्रमस्त्राणि दर्शयन् ॥७९॥

राजन्! फिर वह शीघ्रतापूर्वक अस्त्र-संचालन का कौशल दिखाता हुआ युद्ध में अलातचक्र की भाँति एक, सौ और सहस्रों रूपों में दृष्टिगोचर होता था।

रथचर्यास्त्रमायाभिर्मोहयित्वा परन्तपः।
बिभेद शतधा राजञ्शरीराणि महीक्षिताम् ॥८०॥

महाराज! शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले अभिमन्यु ने रथचर्या और अस्त्रों की माया से मोहित करके राजाओं के शरीरों के सौ-सौ टुकड़े कर दिये।

प्राणाः प्राणभृतां संख्ये प्रेषिता निशितैः शरैः।
राजन् प्रापुरमुं लोकं शरीराण्यवनिं ययुः ॥८१॥

राजन्! उस युद्धस्थल में उसके पैने बाणों से प्रेरित हुए प्राणधारियों के शरीर तो पृथिवी पर गिर पड़े, परन्तु प्राण परलोक में जा पहुँचे।

धनूंष्यश्वान् नियन्तृंश्च ध्वजान् बाहूंश्च साङ्गदान्।
शिरांसि च शितैर्बाणैस्तेषां चिच्छेद फाल्गुनिः ॥८२

अर्जुनपुत्र अभिमन्यु ने अपने तीखे तीरों द्वारा उनके धनुष, घोड़े, सारथि, ध्वज, अङ्गदयुक्त बाहु और मस्तक भी काट डाले।

रथिनः कुञ्जरानश्वान् पदातींश्चापि मज्जतः।
दृष्ट्वा दुर्योधनः क्षिप्रमुपायात् तममर्षितः ॥८३॥

रथियों, हाथियों, घोड़ों और पैदल—सभी को अभिमन्युरूपी समुद्र में डूबते देख अमर्ष में भरे हुए दुर्योधन ने शीघ्र ही उसपर आक्रमण किया।

तयोः क्षणमिवापूर्णः संग्रामः समपद्यत।
अथाभवत् ते विमुखः पुत्रः शरशताहतः ॥८४॥

उन दोनों में एक क्षण तक अधूरा-सा युद्ध हुआ। इतने में ही आपका पुत्र दुर्योधन सैकड़ों बाणों से आहत होकर वहाँ से भाग गया।

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधने च विमुखे राजपुत्रशते हते।
सौभद्रे प्रतिपत्तिं कां प्रत्यपद्यन्त मामकाः ॥८५॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय! जब दुर्योधन भाग गया और सैकड़ों राजकुमार मौत के घाट उतार दिये गये, उस समय मेरे पुत्रों ने सुभद्राकुमार का सामना करने के लिए क्या उपाय किया?

सञ्जय उवाच

संशुष्कास्याश्चलन्नेत्राः प्रस्विन्ना लोमहर्षणाः।
पलायने कृतोत्साहा निरुत्साहा द्विषज्जये ॥८६॥

सञ्जय बोले—महाराज! आपके सभी सैनिकों के मुँह सूख गये थे, आँखें भय से चञ्चल हो रही थीं, सारे अङ्ग पसीने-पसीने हो रहे थे और रोंगटे खड़े हो गये थे। वे भागने में ही उत्साह दिखा रहे थे। उनके मन में शत्रुओं को जीतने का उत्साह तनिक भी नहीं था।

हतान् भ्रातॄन् पितॄन् पुत्रान् सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान्।
उत्सृज्योत्सृज्य संजग्मुस्त्वरयन्तो हयद्विपान् ॥८७

वे युद्ध में मारे गये भाइयों, पितरों, पुत्रों, सुहृदों, सम्बन्धियों और बन्धु-बान्धवों को छोड़-छोड़कर अपने घोड़े और हाथियों को उतावली के साथ हाँकते हुए भाग रहे थे।

एकस्तु सुखसंवृद्धो बाल्याद् दर्पाच्च निर्भयः।
इष्वस्त्रविन्महातेजा लक्ष्मणोऽर्जुनिमभ्ययात् ॥८८॥

उस समय सुख में पला हुआ, धनुर्वेद का ज्ञाता, एकमात्र महातेजस्वी लक्ष्मण अपने बालस्वभाव और अभिमान के कारण निर्भय हो अभिमन्यु के सामने आया।

अत्यन्तसुखसंवृद्धं धनेश्वरसुतोपमम्।
आससाद रणे कार्ष्णिर्मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥८९॥

अत्यन्त सुख में पला हुआ वह वीर लक्ष्मण कुबेर के पुत्र के समान जान पड़ता था। जैसे मतवाला हाथी किसी मदोन्मत्त गजराज से भिड़ जाए, वैसे ही अभिमन्यु ने लक्ष्मण पर आक्रमण किया।

लक्ष्मणेन तु संगम्य सौभद्रः परवीरहा।
पौत्रस्तव महाराज तव पौत्रमभाषत ॥९०॥

लक्ष्मण से भिड़ जाने पर शत्रुवीरों का संहार करनेवाले आपके पौत्र सुभद्राकुमार अभिमन्यु ने आपके दूसरे पौत्र लक्ष्मण से कहा—

सुदृष्टः क्रियतां लोको ह्यमुं लोकं गमिष्यसि।
पश्यतां बान्धवानां त्वां नयामि यमसादनम् ॥९१॥

"लक्ष्मण! इस संसार को अच्छी प्रकार देख ले। तुम अब शीघ्र ही परलोक की यात्रा करोगे। इन बन्धु-बान्धवों के देखते-देखते मैं तुम्हें यमलोक पठा दूंगा।"

एवमुक्त्वा ततो भल्लं सौभद्रः परवीरहा।
उद्बबर्ह महाबाहुर्निर्मुक्तोरगसन्निभम् ॥९२॥

ऐसा कहकर शत्रुवीरों का संहार करनेवाले महाबाहु अभिमन्यु ने केंचुली से निकले हुए सर्प के समान एक भल्ल को तरकस से निकाला।

स तस्य भुजनिर्मुक्तो लक्ष्मणस्य सुदर्शनम्।
सुनसं सुभ्रुकेशान्तं शिरोऽहार्षीत् सकुण्डलम् ॥९३॥

अभिमन्यु के हाथ से छूटे हुए उस भल्ल ने लक्ष्मण के देखने में सुन्दर-सुघड़ नासिका, मनोहर भौंह, सुन्दर केशान्तभाग और रुचिकर कुण्डलों से युक्त मस्तक को धड़ से अलग कर दिया।

ततो दुर्योधनः क्रुद्धः प्रिये पुत्रे निपातिते।
घ्नतैनमिति चुक्रोश क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः ॥९४॥

अपने प्रियपुत्र लक्ष्मण के मारे जाने पर क्षत्रिय-शिरोमणि दुर्योधन कुपित हो उठा और समस्त क्षत्रियों से बोला—"अहो! इस अभिमन्यु को मार डालो।"

ततः द्रोणः कृपः कर्णो द्रोणपुत्रो बृहद्बलः।
कृतवर्मा च हार्दिक्यः षड् रथाः पर्यवारयन् ॥९५॥

तब आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, बृहद्बल और हृदिकपुत्र कृतवर्मा—इन छह महारथियों ने अभिमन्यु को घेर लिया।

तांस्तु सर्वान् महेष्वासान् सर्वविद्यासु निष्ठितान्।
व्यष्टम्भयद् रणे बाणैः सौभद्रः परवीरहा ॥९६॥

परन्तु शत्रुवीरों का संहार करनेवाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु ने सम्पूर्ण विद्याओं में प्रवीण उन सभी महाधनुर्धरों को युद्धभूमि में अपने बाणों द्वारा स्तब्ध कर दिया।

ततो वृन्दारकं वीरं कुरूणां कीर्तिवर्धनम्।
पुत्राणां तव वीराणां पश्यतामवधीद् बली ॥९७॥

फिर बलवान् अभिमन्यु ने कुरुकुल की कीर्ति बढ़ानेवाले वीर विन्दारक को आपके वीर पुत्रों के देखते-देखते मार डाला।

तं कोसलानामधिपः कर्णिनाताडयद्धृदि।
स तस्याश्वान् ध्वजं चापं सूतं चापातयत् क्षितौ ॥९८॥

तब कोसलराज बृहद्बल ने एक बाण द्वारा अभिमन्यु की छाती में चोट पहुँचायी। यह देख अभिमन्यु ने उसके चारों घोड़ों तथा ध्वज और सारथि को भी पृथिवी पर मार गिराया।

अथ कोसलराजस्तु विरथः खड्गचर्मभृत्।
इयेष फाल्गुनेः कायाच्छिरो हर्तुं सकुण्डलम् ॥९९॥

रथहीन होने पर कोसलनरेश ने हाथ में ढाल तथा तलवार ले ली और अभिमन्यु के शरीर से उसके कुण्डलयुक्त मस्तक को काट डालने का विचार किया।

स कोसलानामधिपं राजपुत्रं बृहद्बलम्।
हृदि विव्याध बाणेन स भिन्नहृदयोऽपतत् ॥१००॥

इसी बीच में अभिमन्यु ने एक बाण द्वारा कोसलनरेश राजपुत्र बृहद्बल के हृदय में गहरा आघात किया। इससे उसका वक्षःस्थल विदीर्ण हो गया और वह भूमि पर गिर पड़ा।

तथा बृहद्बलं हत्वा सौभद्रो व्यचरद् रणे।
व्यष्टम्भयन्महेष्वासो योधांस्तव शराम्बुभिः ॥१०१॥

इस प्रकार बृहद्बल का वध करके महाधनुर्धर अभिमन्यु आपके योद्धाओं को अपने बाणरूपी जल की वर्षा से स्तब्ध करता हुआ रणक्षेत्र में विचरने लगा।

अथाब्रवीत् पुनर्द्रोणं कर्णो वैकर्तनो रणे।
पुरा सर्वान् प्रमथ्नाति ब्रूह्यस्य वधमाशु नः ॥१०२॥

तब विकर्तनपुत्र कर्ण ने युद्धभूमि में द्रोणाचार्य से पूछा—"आचार्य ! अभिमन्यु हम लोगों को मार डाले—इससे पूर्व ही हमें शीघ्र यह बताइए कि इसका वध किस प्रकार होगा ।"

तमाचार्योऽब्रवीत् कर्णं शनकैः प्रहसन्निव ।
अभेद्यमस्य कवचं युवा चाशुपराक्रमः ॥१०३॥

यह सुनकर द्रोणाचार्य ठहाका मारकर हँसने हुए-से धीरे-धीरे कर्ण से इस प्रकार बोले—"कर्ण ! अभिमन्यु का कवच अभेद्य है और यह तरुण वीर शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाला है ।

शक्यं त्वस्य धनुश्छेत्तुं ज्यां च बाणैः समाहितैः ।
अभीषूंश्च हयांश्चैव तथोभौ पार्ष्णिसारथी ॥१०४॥
एतत् कुरु महेष्वास राधेय यदि शक्यते ।
अथैनं विमुखीकृत्य पश्चात् प्रहरणं कुरु ॥१०५॥

"[इसका कवच तो अभेद्य है] परन्तु मनोयोग-पूर्वक चलाये गये बाणों से इसके धनुष और प्रत्यञ्चा को काटा जा सकता है। साथ ही इसके घोड़ों की बागडोरों को, घोड़ों को और दोनों पार्श्वरक्षों को भी नष्ट किया जा सकता है। महाधनुर्धर राधापुत्र ! यदि कर सको तो यही करो। अभिमन्यु को युद्ध से विमुख करके फिर इसपर प्रहार करो ।

सधनुष्को न शक्योऽयमपि जेतुं सुरासुरैः ।
विरथं विधनुष्कं च कुरुष्वैनं यदीच्छसि ॥१०६॥

"धनुष हाथ में लिये रहने पर तो इसे सम्पूर्ण देवता और असुर भी नहीं जीत सकते। यदि तुम इसे परास्त करना चाहते हो तो इसके रथ और धनुष को नष्ट कर दो ।"

तदाचार्यवचः श्रुत्वा कर्णो वैकर्तनस्त्वरन् ।
अस्यतो लघुहस्तस्य पृषत्कैर्धनुराच्छिनत् ॥१०७॥
अश्वानस्यावधीद् भोजो गौतमः पार्ष्णिसारथी ।
शेषास्तु च्छिन्नधन्वानं शरवर्षैरवाकिरन् ॥१०८॥

आचार्य की यह बात सुनकर विकर्तनपुत्र ने बड़ी उतावली के साथ अपने बाणों द्वारा शीघ्रतापूर्वक हाथ चलाते हुए अस्त्रों का प्रयोग करनेवाले अभिमन्यु के धनुष को काट डाला। भोजवंशी कृतवर्मा ने उसके घोड़े मार डाले और कृपाचार्य ने दोनों पार्श्वरक्षकों का काम तमाम कर दिया। शेष महारथी धनुष कट जाने पर अभिमन्यु पर बाणों की वर्षा करने लगे।

त्वरमाणास्त्वराकाले विरथं षण्महारथाः ।
शरवर्षैरकरुणा युवानन्तमवाकिरन् ॥१०९॥

इस प्रकार शीघ्रता करने के अवसर पर शीघ्रता करनेवाले छह निर्दयी महारथी एक रथहीन युवक पर बाणों की वृष्टि करने लगे ।

स च्छिन्नधन्वा विरथः स्वधर्ममनुपालयन् ।
खड्गचर्मधरः श्रीमानुत्पपात विहायसा ॥११०॥

धनुष के कट जाने और रथ नष्ट हो जाने पर तेजस्वी वीर अभिमन्यु अपने स्वधर्म का पालन करते हुए ढाल और तलवार हाथ में लेकर आकाश में उछल पड़ा ।

तस्य द्रोणोऽच्छिनन्मुष्टौ खड्गं मणिमयत्सरुम् ।
क्षुरप्रेण महातेजास्त्वरमाणः सपत्नजित् ॥१११॥

उस समय शत्रुओं पर विजय पानेवाले महा-तेजस्वी द्रोणाचार्य ने शीघ्रता करते हुए एक क्षुरप्र के द्वारा अभिमन्यु की मुट्ठी में स्थित मणिमय मूठ से युक्त खड्ग को काट दिया ।

राधेयो निशितैर्बाणैर्व्यधमच्चर्म चोत्तमम् ।
विखड्गे चक्रमुद्यम्य द्रोणं क्रुद्धोऽभ्यधावत ॥११२॥

राधानन्दन कर्ण ने अपने तीखे तीरों द्वारा उसकी उत्तम ढाल के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। खड्ग [और ढाल] से रहित हो जाने पर अभिमन्यु चक्र हाथ में ले कुपित हो द्रोणाचार्य की ओर दौड़ा ।

वपुः समीक्ष्य पृथ्वीशा दुःसमीक्ष्यं सुरैरपि ।
तच्चक्रं भृशमुद्विग्नाः सञ्चिच्छिदुरनेकधा ॥११३॥

उस समय उसके शरीर और उस चक्र को—जिसकी ओर दृष्टिपात करना देवताओं के लिए भी अति कठिन था—देखकर समस्त नरेश उद्विग्न हो उठे और उन सबने मिलकर उस चक्र के टुकड़े-टुकड़े कर दिये ।

विधनुः स्यन्दनासिस्तैर्विचक्रश्चारिभिः कृतः ।
अभिमन्युर्गदापाणिरश्वत्थामानमार्दयत् ॥११४॥

शत्रुओं ने उसे धनुष, रथ, खड्ग और चक्र से वञ्चित कर दिया था, अतः वह गदा हाथ में लेकर अश्वत्थामा पर टूट पड़ा ।

स गदामुद्यतां दृष्ट्वा ज्वलन्तीमशनीमिव ।
अपाक्रमद् रथोपस्थाद् विक्रमांस्त्रीन् नरर्षभः ॥११५॥

प्रज्वलित वज्र के समान उस गदा को ऊपर उठी हुई देख नरश्रेष्ठ अश्वत्थामा अपने रथ की बैठक से तीन पग पीछे हट गया ।

तस्याश्वान् गदया हत्वा तथोभौ पार्ष्णिसारथी ।
शराचिताङ्गः सौभद्रः श्वाविद्वत् समदृश्यत ॥११६॥

उस गदा से अश्वत्थामा के चारों घोड़ों और दोनों पार्श्वरक्षकों को मारकर बाणों से भरे हुए शरीरवाला सुभद्राकुमार साही के समान दृष्टिगोचर होने लगा ।

ततः सुबलदायादं कालिकेयमपोथयत् ।
पुनश्चैव वसातीयाञ्जघान रथिनो दश ॥११७॥

तत्पश्चात् उसने सुबलपुत्र कालिकेय को मार गिराया । फिर दस वसातीय रथियों को मार डाला ।

केकयानां रथान् सप्त हत्वा च दशकुञ्जरान् ।
दौःशासनिरथं साश्वं गदया समपोथयत् ॥११८॥

इसके बाद केकयों के सात रथों और दस हाथियों को मारकर दुःशासनकुमार के घोड़ोंसहित रथ को भी गदा के आघात से चूर-चूर कर दिया ।

ततो दौःशासनिः क्रुद्धो गदामुद्यम्य मारिष ।
अभिदुद्राव सौभद्रं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥११९॥

आर्य ! इससे दुःशासनपुत्र कुपित हो गदा हाथ में लेकर अभिमन्यु की ओर दौड़ा और इस प्रकार बोला—"अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह ।"

तावुद्यतगदौ वीरावन्योन्यवधकांक्षिणौ ।
भ्रातृव्यौ सम्प्रजह्राते पुरेव त्र्यम्बकान्धकौ ॥१२०॥

चचेरे भाई होकर भी वे दोनों वीर एक-दूसरे के शत्रु थे, अतः वे गदा हाथ में लेकर एक-दूसरे का काम तमाम करने की इच्छा से परस्पर प्रहार करने लगे । ठीक वैसे ही जैसे पूर्वकाल में शिव और अन्धकासुर परस्पर गदा का आघात करते थे ।

तावन्योन्यं गदाग्राभ्यामाहत्य पतितौ क्षितौ ।
दौःशासनिरथोत्थाय कुरूणां कीर्तिवर्धनः ॥१२१॥
उत्तिष्ठमानं सौभद्रं गदया मूर्ध्न्यताडयत् ।
गदावेगेन महता व्यायामेन च मोहितः ॥१२२॥
विचेता न्यपतद् भूमौ सौभद्रः परवीरहा ।
एवं विनिहितो राजन्नेको बहुभिराहवे ॥१२३॥

वे दोनों वीर गदा के अग्रभाग से एक-दूसरे को चोट पहुँचाकर पृथिवी पर गिर पड़े । तत्पश्चात् कुरुकुल की कीर्ति बढ़ानेवाले दुःशासनपुत्र ने पहले उठते हुए सुभद्राकुमार के मस्तक पर गदा का प्रहार किया । गदा के उस महान् वेग और परिश्रम से मूर्च्छित होकर शत्रुवीरों का संहारक अभिमन्यु पृथिवी पर गिर पड़ा । राजन् ! इस प्रकार उस युद्धस्थल में बहुत-से योद्धाओं ने मिलकर एकाकी अभिमन्यु को मार डाला ।

तं भूमौ पतितं दृष्ट्वा तावकास्ते महारथाः ।
मुदा परमया युक्ताश्चुक्रुशुः सिंहवन्मुहुः ॥१२४॥

अभिमन्यु को भूमि पर पड़ा हुआ देखकर आपके महारथी अति प्रसन्नता से बारम्बार सिंहनाद करने लगे ।

आसीत् परमको हर्षस्तावकानां विशाम्पते ।
इतरेषां तु वीराणां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥१२५॥

नरेश्वर ! आपके पुत्र तो अभिमन्यु की मृत्यु से अत्यन्त हर्षित हुए, परन्तु पाण्डव वीरों के नेत्रों से आँसू बहने लगे ।

दीर्यमाणं बलं दृष्ट्वा सौभद्रे विनिपातिते ।
अजातशत्रुस्तान् वीरानिदं वचनमब्रवीत् ॥१२६॥

सुभद्राकुमार के धराशायी हो जाने पर अपनी सेना में भगदड़ मची देख अजातशत्रु युधिष्ठिर ने अपने पक्ष के उन वीरों से यह वचन कहा—

स्वर्गमेष गतः शूरो यो हतो न पराङ्मुखः ।
संस्तम्भयत मा भैष्ट विजेष्यामो रणे रिपून् ॥१२७॥

"युद्ध में पीठ न दिखानेवाला शूरवीर अभिमन्यु मारा जाकर निश्चय ही स्वर्गलोक में गया है । तुम सब लोग धैर्य धारण करो, भयभीत मत होओ । हम लोग युद्धभूमि में शत्रु को अवश्य जीतेंगे ।"

इत्येवं स महातेजा दुःखितेभ्यो महाद्युतिः ।
धर्मराजो युधां श्रेष्ठो ब्रुवन् दुःखमपानुदत् ॥१२८॥

महातेजस्वी, परमकान्तिमान् और योद्धाओं में श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने दुःखी सैनिकों से इस प्रकार कहकर उनका दुःख-निवारण किया ।

वयं तु प्रवरं हत्वा तेषां तैः शरपीडिताः ।
निवेशायाभ्युपायामः सायाह्ने रुधिरोक्षिताः ।।१२९।।

राजन् ! हम लोग शत्रुओं के उस प्रमुख वीर का वध करके उनके बाणों से पीड़ित हो सन्ध्या के समय शिविर में विश्राम के लिए चले आये। उस समय हम लोगों के शरीर रक्त से भीग गये थे।

निरीक्षमाणास्तु वयं परे चायोधनं शनैः ।
अपयाता महाराज ग्लानिं प्राप्ता विचेतसः ।।१३०।।

महाराज ! हम और शत्रुपक्ष के लोग रणभूमि को देखते हुए धीरे-धीरे वहाँ से हट गये। पाण्डवपक्ष के लोग अत्यन्त शोकग्रस्त हो अचेत हो रहे थे।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिर का विलाप और व्यासजी का उन्हें आश्वासन देना

सञ्जय उवाच

हते तस्मिन् महावीर्ये सौभद्रे रथयूथपे ।
विमुक्तरथसंनाहाः सर्वे निक्षिप्तकार्मुकाः ।।१।।
उपोपविष्टा राजानं परिवार्य युधिष्ठिरम् ।
तदेव युद्धं ध्यायन्तः सौभद्रगतमानसाः ।।२।।

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! महापराक्रमी रथ-यूथपति सुभद्राकुमार अभिमन्यु के मारे जाने पर समस्त पाण्डव महारथी रथ और कवच को त्यागकर तथा धनुष को नीचे डालकर राजा युधिष्ठिर को चारों ओर से घेरकर उनके पास बैठ गये। उन सबका मन सुभद्राकुमार अभिमन्यु में ही लगा था और वे उसी युद्ध का चिन्तन कर रहे थे।

ततो युधिष्ठिरो राजा विललाप सुदुःखितः ।
अभिमन्यौ हते वीरे भ्रातुः पुत्रे महारथे ।।३।।

उस समय महाराज युधिष्ठिर अपने भाई के वीर पुत्र महारथी अभिमन्यु के मारे जाने के कारण अत्यन्त दुःखी हो विलाप करने लगे—

कथं द्रक्ष्यामि कौन्तेयं सौभद्रे निहतेऽर्जुनम् ।
सुभद्रां वा महाभागां प्रियं पुत्रमपश्यतीम् ।।४।।

"सुभद्राकुमार अभिमन्यु के मार दिये जाने पर अब मैं कुन्तीपुत्र अर्जुन से आँखें कैसे मिला सकूँगा ? अथवा अपने प्रिय पुत्र को अब न देख पानेवाली महाभागा सुभद्रा के सामने कैसे जाऊँगा ?

किंस्विद् वयमपेतार्थमश्लिष्टमसमञ्जसम् ।
तावुभौ प्रतिवक्ष्यामो हृषीकेशधनञ्जयौ ।।५।।

"हाय ! हम लोग श्रीकृष्ण और अर्जुन—दोनों के सामने किस प्रकार यह अनर्थपूर्ण, असंगत और अनुचित वृत्तान्त कह सकेंगे ?

अहमेव सुभद्रायाः केशवार्जुनयोरपि ।
प्रियकामो जयाकांक्षी कृतवानिदमप्रियम् ।।६।।

"मैंने ही अपने प्रिय कार्य की इच्छा तथा विजय की अभिलाषा रखकर सुभद्रा, श्रीकृष्ण और अर्जुन का यह अप्रिय कार्य किया है।

न लुब्धो बुध्यते दोषाँल्लोभान्मोहात् प्रवर्तते । □
मधुलिप्सुर्हि नापश्यं प्रपातमहमीदृशम् ।।७।।

"लोभी मनुष्य किसी कार्य के दोष को नहीं समझता। वह लोभ और मोह के वशीभूत होकर उसमें संलग्न हो जाता है। मैंने मधु के समान मधुर लगनेवाले राज्य को पाने की इच्छा रखकर यह नहीं देखा कि इसमें ऐसे भयकर पतन का भय है।

यो हि भोज्ये पुरस्कार्यो यानेषु शयनेषु च ।
भूषणेषु च सोऽस्माभिर्युवा युधि पुरस्कृतः ।।८।।

"हाय ! जिसको भोजन और शयन करने, सवारी पर चलने तथा आभूषण एवं वस्त्र पहनने में आगे रखना चाहिए था, उसे हम लोगों ने युद्ध में आगे कर दिया।

न मम जयः प्रीतिकरो न राज्यं
न चामरत्वं न सुरैः सलोकता ।
इमं समीक्ष्याप्रतिवीर्यपौरुषं
निपातितं देववरात्मजात्मजम् ।।९।।

"जिसके बल और पुरुषार्थ की कहीं तुलना नहीं थी, देवेन्द्रकुमार अर्जुन के पुत्र इस अभिमन्यु को

रणक्षेत्र में मारा गया देख अब मुझे विजय, राज्य, अमरत्व और देवलोक की प्राप्ति भी प्रसन्न नहीं कर सकती।"

अथैनं विलपन्तं तं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
कृष्णद्वैपायनस्तत्र आजगाम महानृषिः ॥१०॥

राजन्! इस प्रकार विलाप करते हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर के पास वहाँ महर्षि श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यास-जी आये।

व्यास उवाच

युधिष्ठिर महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
व्यसनेषु न मुह्यन्ति त्वादृशा भरतर्षभ ॥११॥

व्यासजी बोले—सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता, परम बुद्धिमान्, भरतकुलभूषण युधिष्ठिर! तुम्हारे जैसे पुरुष संकट के समय मोहित नहीं होते।

स्वर्गमेष गतः शूरः शत्रून् हत्वा बहून् रणे।
अबालसदृशं कर्म कृत्वा वै पुरुषोत्तमः ॥१२॥

यह पुरुषोत्तम अभिमन्यु शूरवीर था। इसने युद्ध में युवकों जैसा पराक्रम प्रदर्शित करके और बहुत-से शत्रुओं को मारकर स्वर्गलोक की यात्रा की है।

अनतिक्रमणीयो वै विधिरेष युधिष्ठिर।
देवदानवगन्धर्वान् मृत्युर्हरति भारत ॥१३॥

भरतभूषण! युधिष्ठिर! विधाता के विधान का कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। मृत्यु देवताओं, दानवों और गन्धर्वों का भी प्राण हर लेती है।

शूरो वीरः कृतार्थश्च प्रताप्यारीन् सहस्रशः।
अभिमन्युर्गतो वीरः पृतनाभिमुखो हतः ॥१४॥

शूरवीर अभिमन्यु तो कृतार्थ हो चुका है। वह वीर शत्रुसेना के सम्मुख युद्ध में तत्पर हो सहस्रों वैरियों को संतप्त करके मारा गया और स्वर्गलोक में जा पहुँचा है।

एवं ज्ञात्वा स्थिरो भूत्वा जह्यरीन् धैर्यमाप्नुहि।
जीवन्त एव नः शोच्या न तु स्वर्गगतोऽनघ ॥१५॥

राजन्! ऐसा जानकर स्थिरचित्त होकर धैर्य का आश्रय लो और उत्साहपूर्वक शत्रुओं का वध करो। निष्पाप नरेश! हमें इस संसार में जीवित पुरुषों के लिए ही शोक [चिन्ता] करना चाहिए। स्वर्गवासी के लिए शोक करना उचित नहीं है।

शोचतो हि महाराज अघमेवाभिवर्धते। □
तस्माच्छोकं परित्यज्य श्रेयसे प्रयतेद् बुधः ॥१६॥

महाराज! शोक करने से केवल दुःख ही बढ़ता है, अतः विद्वान् पुरुष शोक का परित्याग करके अपने कल्याण के लिए ही प्रयत्न करे।

सञ्जय उवाच

गते भगवति व्यासे समाश्वास्य युधिष्ठिरम्।
पुनश्चाचिन्तयद् दीनः किंस्विद्वक्ष्ये धनञ्जयम् ॥१७॥

सञ्जय कहते हैं—भगवान् व्यास जब युधिष्ठिर को आश्वासन देकर चले गये, तब युधिष्ठिर दीन-भाव से पुनः यह सोचने लगे कि मैं अर्जुन से क्या कहूँगा?

इति महाभारते द्रोणपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अभिमन्यु की मृत्यु का समाचार सुनकर अर्जुन द्वारा जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा

सञ्जय उवाच

हत्वा संशप्तकव्रातान् दिव्यैरस्त्रैः कपिध्वजः।
प्रायात स शिबिरं जिष्णुर्जैत्रमास्थाय तं रथम् ॥१॥
गच्छन्नेव स गोविन्दं साश्रुकण्ठोऽभ्यभाषत।
किं नु मे हृदयं त्रस्तं वाक् च सज्जति केशव ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! उधर विजयशील कपिध्वज अर्जुन अपने दिव्य-अस्त्रों द्वारा संशप्तक-समूहों का वध करके अपने विजयी रथ पर बैठे हुए शिविर की ओर चले। चलते-चलते वे आँखों से आँसू बहाते हुए गद्गद कण्ठ हो श्रीकृष्ण से बोले—"केशव! न जाने क्यों आज मेरा हृदय धड़क रहा है और वाणी लड़खड़ा रही है!

अनिष्टं चैव मे श्लिष्टं हृदयान्नापसर्पति।
भुवि ये दिक्षु चाप्युग्रा उत्पातास्त्रासयन्ति माम् ॥३॥

"मेरे हृदय में अनिष्ट की चिन्ता घुसी हुई है, जो किसी भी प्रकार वहाँ से निकलती नहीं है। पृथिवी

पर और सम्पूर्ण दिशाओं में होनेवाले उत्पात मुझे डरा रहे हैं।

बहुप्रकारा दृश्यन्ते सर्व एवाघशंसिनः।
अपि स्वस्ति भवेद् राज्ञः सामात्यस्य गुरोर्मम ।।४।।

"जो अनेक प्रकार के उत्पात दिखाई देते हैं, वे सब-के-सब भारी अमङ्गल की सूचना देनेवाले हैं। क्या मेरे पूज्य भ्राता महाराज युधिष्ठिर अपने मन्त्रियोंसहित सकुशल होंगे?"

वासुदेव उवाच

व्यक्तं शिवं तव भ्रातुः सामात्यस्य भविष्यति।
मा शुचः किञ्चिदेवान्यत् तत्रानिष्टं भविष्यति ।।५।।

श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन! शोक न करो। मुझे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मन्त्रियोंसहित तुम्हारे भाई का कल्याण ही होगा। इन अपशकुनों के अनुसार कोई अन्य ही अनिष्ट हुआ होगा।

सञ्जय उवाच

ततः सन्ध्यामुपास्यैव वीरौ वीरावसादने।
कथयन्तौ रणे वृत्तं प्रयातौ रथमास्थितौ ।।६।।

सञ्जय कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् वे दोनों वीर उस वीरसंहारक युद्धभूमि में सन्ध्यावन्दन करके पुनः रथ में बैठकर युद्ध-सम्बन्धी वार्तालाप करते हुए आगे बढ़े।

ततः स्वशिबिरं प्राप्तौ हतानन्दं हतत्विषम्।
वासुदेवोऽर्जुनश्चैव कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।।७।।

फिर श्रीकृष्ण और अर्जुन जो अत्यन्त दुष्कर कर्म करके लौट रहे थे, अपने शिविर के निकट आ पहुँचे। उस समय वह शिविर आनन्दशून्य और श्रीहीन दृष्टिगोचर हो रहा था।

ध्वस्ताकारं समालक्ष्य शिबिरं परवीरहा।
बीभत्सुरब्रवीत् कृष्णमस्वस्थहृदयस्ततः ।।८।।

अपनी छावनी को विध्वस्त हुई-सी देखकर शत्रु-वीरों के संहारक अर्जुन का हृदय चिन्तित हो उठा, अतः वे श्रीकृष्ण से इस प्रकार बोले—

नदन्ति नाद्य तूर्याणि मङ्गल्यानि जनार्दन।
मिश्रा दुन्दुभिनिर्घोषैः शंखाश्चाडम्बरैः सह ।।९।।

"जनार्दन! आज इस शिविर में माङ्गलिक बाजे नहीं बज रहे हैं। दुन्दुभि-नाद और तुरही के शब्दों के साथ मिली हुई शंखध्वनि भी सुनाई नहीं दे रही है।

योधाश्चापि हि मां दृष्ट्वा निवर्तन्ते ह्यधोमुखाः।
कर्माणि च यथापूर्वं कृत्वा नाभिवदन्ति माम् ।।१०।।

"मेरे सैनिक मुझे देखकर नीचे मुख किये लौट जाते हैं। वे पहले की भाँति अभिवादन करके मुझे युद्ध का समाचार नहीं बता रहे हैं।

न च मामद्य सौभद्रः प्रहृष्टो भ्रातृभिः सह।
रणादायान्तमुचितं प्रत्युद्याति हसन्निव ।।११।।

"आज प्रतिदिन की भाँति अभिमन्यु अपने भाइयों के साथ हर्ष में भरकर हँसता हुआ-सा युद्ध से लौटते हुए मेरी उचित अगवानी करने क्यों नहीं आ रहा है?"

एवं संकथयन्तौ तौ प्रविष्टौ शिबिरं स्वकम्।
ददृशाते भृशास्वस्थान् पाण्डवान् नष्टचेतसः ।।१२।।

राजन्! इस प्रकार बातें करते हुए उन दोनों ने शिविर में पहुँचकर देखा कि पाण्डव अत्यन्त व्याकुल और हतोत्साह हो रहे हैं।

दृष्ट्वा भ्रातॄंश्च पुत्रांश्च विमना वानरध्वजः।
अपश्यंश्चैव सौभद्रमिदं वचनमब्रवीत् ।।१३।।

भाइयों तथा पुत्रों को इस अवस्था में देख और सुभद्राकुमार को वहाँ न पाकर कपिध्वज अर्जुन का मन उदास हो गया और वे इस प्रकार बोले—

मुखवर्णोऽप्रसन्नो वः सर्वेषामेव लक्ष्यते।
न चाभिमन्युं पश्यामि न च मां प्रतिनन्दथ ।।१४।।

"आज आप सभी लोगों के मुख की कान्ति अप्रसन्न दिखाई देती है, उधर अभिमन्यु भी दिखाई नहीं देता और आप लोग भी मुझसे प्रसन्नतापूर्वक वार्तालाप नहीं कर रहे हैं।

मया श्रुतश्च द्रोणेन चक्रव्यूहो विनिर्मितः।
न कश्चित्तस्य भेत्तास्ति विना सौभद्रमर्भकम् ।।१५।।

"मैंने सुना है कि आचार्य द्रोण ने चक्रव्यूह की रचना की थी। आप लोगों में से अभिमन्युकुमार के सिवा दूसरा कोई उस व्यूह का भेदन नहीं कर सकता था।

न चोपदिष्टस्तस्यासीन्मयानीकाद् विनिर्गमः।
कच्चिन्न बालो युष्माभिः परानीकं प्रवेशितः ।।१६।।

"मैंने उसे व्यूह से निकलने का ढंग अभी नहीं बताया था। कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि आप लोगों ने उस बालक को शत्रु के व्यूह में भेज दिया हो?

भित्त्वानीकं महेष्वासः परेषां बहुशो युधि।
कच्चिन्न निहतः संख्ये सौभद्रः परवीरहा ॥१७॥

"शत्रुवीरों का संहारक, महाधनुर्धर सुभद्राकुमार अभिमन्यु युद्ध में शत्रुओं के उस व्यूह का अनेक बार भेदन करके अन्त में वहीं मारा तो नहीं गया?

वार्ष्णेयीदयितं शूरं मया सततलालितम्।
यदि पुत्रं न पश्यामि यास्यामि यमसादनम् ॥१८॥

'सुभद्रा के प्राणप्यारे शूरवीर पुत्र को, जिसको मैंने सदा लाड़-प्यार किया है, यदि नहीं देखूँगा तो मैं भी यमलोक चला जाऊँगा।

अभिवादनदक्षं तं पितॄणां वचने रतम्।
नाद्याहं यदि पश्यामि का शान्तिर्हृदयस्य मे ॥१९॥

"अभिवादन करने में कुशल और पितृवर्ग की आज्ञा का पालन करने में तत्पर अभिमन्यु को यदि आज मैं नहीं देखता हूँ तो मेरे हृदय को क्या शान्ति मिलेगी?"

एवं विलप्य बहुधा भिन्नपोतो वणिग् यथा।
दुःखेन महताऽऽविष्टो युधिष्ठिरमपृच्छत ॥२०॥

इस प्रकार बारम्बार विलाप करके टूटे हुए जलयानवाले व्यापारी की भाँति महान् दुःख से व्याप्त हो अर्जुन ने युधिष्ठिर से इस प्रकार पूछा—

कच्चित्स कदनं कृत्वा परेषां कुरुनन्दन।
स्वर्गतोऽभिमुखः संख्ये युद्धमानो नरर्षभः ॥२१॥

"कुरुनन्दन! क्या शत्रुवीरों के साथ युद्ध करता हुआ अभिमन्यु युद्धभूमि में शत्रुओं का संहार करके पीठ न दिखाता हुआ मारा जाकर स्वर्गलोक में गया है?

स नूनं बहुभिर्यत्तैर्युध्यमानो नरर्षभः।
असहायः सहायार्थी मामनुध्यातवान् ध्रुवम् ॥२२॥

"निश्चय ही बहुत-से श्रेष्ठ और सावधानतापूर्वक युद्ध करनेवाले योद्धाओं के साथ अकेले लड़ते हुए अभिमन्यु ने सहायता की इच्छा से मेरा बारम्बार स्मरण किया होगा।

वज्रसारमयं नूनं हृदयं सुदृढं मम।
अपश्यतो दीर्घबाहुं रक्ताक्षं यन्न दीर्यते ॥२३॥

"निश्चय ही मेरा यह हृदय अति कठोर और वज्रसार का बना हुआ है, तभी तो लाल नेत्रोंवाले महाबाहु अभिमन्यु को न देखने पर भी यह फट नहीं जाता है।

यो मां नित्यमदीनात्मा प्रत्युद्गम्याभिनन्दति।
उपायान्तं रिपून् हत्वा सोऽद्य मां किं न पश्यति ॥२४॥

"जब मैं शत्रुओं का संहार करके शिविर को लौटता था, उस समय जो प्रतिदिन प्रसन्नचित्त हो आगे बढ़कर मेरा अभिनन्दन करता था, वह अभिमन्यु आज मुझे क्यों नहीं देख रहा है?

नूनं स पतितः शेते धरण्यां रुधिरोक्षितः।
शोभयन् मेदिनीं गात्रैरादित्य इव पातितः ॥२५॥

"निश्चय ही शत्रुओं ने उसे मार गिराया है और वह खून से लथपथ होकर धरती पर पड़ा सो रहा है तथा आकाश से नीचे गिराये हुए सूर्य की भाँति अपने अङ्गों से पृथिवी की शोभा बढ़ा रहा है।

सुभद्रामनुशोचामि या पुत्रमपलायिनम्।
रणे विनिहतं श्रुत्वा शोकार्ता वै विनङ्क्ष्यति ॥२६॥

"मुझे बारम्बार सुभद्रा के लिए शोक हो रहा है, जो युद्ध से मुँह न मोड़नेवाले अपने वीर पुत्र को रणक्षेत्र में मारा गया सुनकर शोकातुर हो अपने प्राण गँवा देगी।

सुभद्रा वक्ष्यते किं मामभिमन्युमपश्यती।
द्रौपदी चैव दुःखार्ते ते च वक्ष्यामि किं न्वहम् ॥२७॥

"अभिमन्यु को न देखकर सुभद्रा मुझे क्या कहेगी? द्रौपदी भी मुझसे किस प्रकार वार्तालाप करेगी? इन दोनों दुखिया देवियों को मैं क्या उत्तर दूँगा?"

निगृह्य वासुदेवस्तं पुत्राधिभिरभिप्लुतम्।
मैवमित्यब्रवीत् कृष्णस्तीव्रशोकसमन्वितम् ॥२८॥

राजन्! पुत्रशोक के कारण होनेवाली गहरी मनोव्यथा में डूबे हुए और तीव्र शोक से सन्तप्त अर्जुन को श्रीकृष्ण ने पकड़कर सँभाला और उससे बोले—"मित्र! ऐसे व्याकुल मत होओ।

सर्वेषामेष वै पन्थाः शूराणामनिवर्तिनाम्।
क्षत्रियाणां विशेषेण येषां युद्धेन जीविका ॥२९॥

"युद्ध में पीठ न दिखानेवाले सभी शूरवीरों का यही मार्ग है। विशेषरूप से उन क्षत्रियों को, जिनकी आजीविका युद्ध से चलती है, इसी मार्ग से जाना पड़ता है।

ध्रुवं हि युद्धे मरणं शूराणामनिवर्तिनाम्।
गतः पुण्यकृतां लोकानभिमन्युर्न संशयः ॥३०॥

"पीछे पैर न हटानेवाले शूरवीरों का युद्ध में प्राण त्यागना अवश्यम्भावी है। अभिमन्यु पुण्यात्मा पुरुषों के लोक में गया है, इसमें संशय नहीं है।

मा शुचः पुरुषव्याघ्र पूर्वैरेष सनातनः।
धर्मकृद्भिः कृतो धर्मः क्षत्रियाणां रणे क्षयः ॥३१॥

"पुरुषसिंह! शोक न करो! प्राचीन धर्मशास्त्रकारों ने संग्राम में वध होना ही क्षत्रियों का सनातनधर्म नियत किया है।

इमे ते भ्रातरः सर्वे दीना भरतसत्तम।
त्वयि शोकसमाविष्टे नृपाश्च सुहृदस्तव ॥३२॥

"भरतकुलभूषण! तुम्हारे शोकाकुल हो जाने से ये तुम्हारे सभी भाई, भूपाल और मित्रगण दीन हो रहे हैं।

एतांश्च वचसा साम्ना समाश्वासय मानद।
विदितं वेदितव्यं ते न शोकं कर्तुमर्हसि ॥३३॥

"मानद! इन सबको अपने शान्तिपूर्ण वचनों से आश्वासन दो। तुम्हें जानने योग्य तत्त्व का ज्ञान हो चुका है, अतः तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।"

एवमाश्वासितः पार्थः कृष्णेनाद्भुतकर्मणा।
ततोऽब्रवीत् तदा भ्रातॄन् सर्वान् पार्थः सगद्गदान् ॥३४

अद्भुत कर्म करनेवाले श्रीकृष्ण के इस प्रकार समझाने-बुझाने पर अर्जुन उस समय वहाँ गद्गद कण्ठवाले अपने सब भाइयों से बोले—

स दीर्घबाहुः पृथ्वंसो दीर्घराजीवलोचनः।
अभिमन्युर्यथा वृत्तः श्रोतुमिच्छाम्यहं तथा ॥३५॥

"विशाल कन्धों, दीर्घ बाहुओं और कमल के समान विशाल नेत्रोंवाला अभिमन्यु युद्ध में जिस प्रकार लड़ा था, वह सब वृत्तान्त मैं सुनना चाहता हूँ।

सनागस्यन्दनहयान् द्रक्ष्यध्वं निहतान् मया।
संग्रामे सानुबन्धांस्तान् मम पुत्रस्य वैरिणः ॥३६॥

"कल आप लोग देखेंगे कि मेरे पुत्र के वैरी अपने हाथी, रथ, घोड़े और सगे-सम्बन्धियोंसहित युद्ध में मेरे द्वारा मार डाले गये हैं।"

एवमुक्त्वा ततो वाक्यं तिष्ठंश्चापवरासिमान्।
न स्माशक्यत बीभत्सुः केनचित्प्रसमीक्षितुम् ॥३७॥

ऐसा कहकर अर्जुन धनुष और उत्तम तलवार लेकर खड़े हो गये। उस समय कोई उनकी ओर आँख उठाकर भी न देख सका।

ततस्तं पुत्रशोकेन भृशं पीडितमानसम्।
राजीवलोचनं क्रुद्धं राजा वचनमब्रवीत् ॥३८॥

तत्पश्चात् मन-ही-मन पुत्रशोक से अत्यन्त व्याकुल हुए और क्रोध में भरे हुए कमलनयन अर्जुन से राजा युधिष्ठिर ने इस प्रकार कहा—

युधिष्ठिर उवाच

त्वयि याते महाबाहो संशप्तकबलं प्रति।
प्रयत्नमकरोत् तीव्रमाचार्यो ग्रहणे मम ॥३९॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहो! जब तुम संशप्तक सेना के साथ युद्ध के लिए चले गये, तब आचार्य द्रोण ने मुझे पकड़ने के लिए घोर प्रयत्न किया।

व्यूढानीका वयं द्रोणं वारयामः स्म सर्वशः।
प्रतिव्यूह्य रथानीकं यतमानं तथा रणे ॥४०॥

वे रथ-सेना का व्यूह बनाकर बारम्बार उद्योग करते थे तथा हम लोग युद्धभूमि में अपनी सेना को व्यूह में संगठित करके सब प्रकार से द्रोणाचार्य को आगे बढ़ने से रोक देते थे।

स वार्यमाणो रथिभिर्मयि चापि सुरक्षिते।
अस्मानभिजगामाशु पीडयन् निशितैः शरैः ॥४१॥

"जब रथियों द्वारा द्रोणाचार्य रोक दिये गये एवं मैं सुरक्षित रह गया, तब उन्होंने अपने तीखे बाणों द्वारा हमें पीड़ा देते हुए हम लोगों पर तीव्र वेग से आक्रमण किया।

ते पीड्यमाना द्रोणेन द्रोणानीकं न शक्नुमः।
प्रतिवीक्षितुमप्याजौ भेत्तुं तत् कुत एव तु ॥४२॥

"द्रोणाचार्य से पीड़ित होने के कारण हम लोग उनके सैन्यव्यूह की ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकते थे, फिर रणभूमि में उसका भेदन तो कर ही कैसे सकते थे?

वयं त्वप्रतिमं वीर्ये सर्वे सौभद्रमात्मजम् ।
उक्तवन्तः स्म तं तात भिन्ध्यनीकमिति प्रभो ॥४३॥

तब हम सब लोग अनुपम पराक्रमी आपके पुत्र सुभद्राकुमार अभिमन्यु से बोले, 'तात ! तुम इस व्यूह का भेदन करो, क्योंकि तुम ऐसा करने में समर्थ हो ।'

स तथा नोदितोऽस्माभिः सदश्व इव वीर्यवान् ।
असह्यमपि तं भारं वोढुमेवोपचक्रमे ॥४४॥

हमारे इस प्रकार आज्ञा देने पर उस पराक्रमी वीर ने अच्छे घोड़े की भाँति उस असह्य भार को भी वहन करने का भरसक प्रयत्न किया ।

स तवास्त्रोपदेशेन वीर्येण च समन्वितः ।
प्राविशत्तद्बलं बालः सुपर्ण इव सागरम् ॥४५॥

तुम्हारे द्वारा दिये हुए अस्त्र-शस्त्र-विद्या के उपदेश और पराक्रम से सम्पन्न बालक अभिमन्यु ने उस सेना में उसी प्रकार प्रवेश किया जैसे गरुड़ सागर में घुसता है ।

तेऽनुयाता वयं वीरं सात्वतीपुत्रमाहवे ।
ततः सैन्धवकस्तात सर्वान् नः समवारयत् ॥४६॥

तदनन्तर हम लोग युद्धभूमि में सुभद्राकुमार अभिमन्यु के पीछे उस व्यूह में प्रविष्ट होने की इच्छा से चले । तात ! ठीक उसी समय सिन्धुनरेश जयद्रथ ने हम सबको अन्दर प्रविष्ट होने से रोक दिया ।

ततो द्रोणः कृपः कर्णो द्रौणिः कौसल्य एव च ।
कृतवर्मा च सौभद्रं षड् रथाः पर्यवारयन् ॥४७॥

तत्पश्चात् द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, बृहद्बल और कृतवर्मा इन छह महारथियों ने सुभद्रा कुमार को चारों ओर से घेर लिया ।

परिवार्य तु तैः सर्वैर्युधि बालो महारथैः ।
यतमानः परं शक्त्या बहुभिर्विरथीकृतः ॥४८॥

घिरा होने पर भी वह बालक पूरी शक्ति लगाकर उन सबपर विजय पाने का प्रयत्न करता रहा, तथापि वे संख्या में अधिक थे, अतः उन समस्त महारथियों ने उसे घेरकर रथहीन कर दिया ।

ततो दौःशासनिः क्षिप्रं तथा तैर्विरथीकृतम् ।
संशयं परमं प्राप्य दिष्टान्तेनाभ्ययोजयत् ॥४९॥

तब दुःशासनपुत्र लक्ष्मण ने अभिमन्यु के प्रहार से भारी प्राणसंकट में पड़कर पूर्वोक्त महारथियों द्वारा रथहीन किये हुए अभिमन्यु को शीघ्र ही [गदा के प्रहार से] मार डाला ।

सञ्जय उवाच

ततोऽर्जुनो वचः श्रुत्वा धर्मराजेन भाषितम् ।
हा पुत्र इति निःश्वस्य व्यथितो न्यपतद् भुवि ॥५०॥

सञ्जय बोले—धर्मराज युधिष्ठिर की कही हुई यह बात सुनकर अर्जुन व्यथा से पीड़ित हो लम्बी साँस खींचते हुए 'हा पुत्र' कहकर पृथिवी पर गिर पड़े ।

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां वासविः क्रोधमूर्च्छितः ।
कम्पमानो ज्वरेणेव निःश्वसंश्च मुहुर्मुहुः ॥५१॥
पाणिं पाणौ विनिष्पिष्य श्वसमानोऽश्रुनेत्रवान् ।
उन्मत्त इव विप्रेक्षन्निदं वचनमब्रवीत् ॥५२॥

फिर इन्द्रकुमार अर्जुन होश में आकर क्रोध से व्याकुल हो मानो ज्वर से काँप रहे हों—इस प्रकार बारम्बार दीर्घ निःश्वास छोड़ते और हाथ पर हाथ मलते हुए नेत्रों से आँसू बहाने लगे और उन्मत्त के समान देखते हुए इस प्रकार बोले—

अर्जुन उवाच

सत्यं वः प्रतिजानामि श्वोऽस्मि हन्ता जयद्रथम् ।
न चेद् वधभयाद् भीतो धार्तराष्ट्रान् प्रहास्यति ॥५३॥
न चास्मान् शरणं गच्छेत् कृष्णं वा पुरुषोत्तमम् ।
भवन्तं वा महाराज श्वोऽस्मि हन्ता जयद्रथम् ॥५४॥

अर्जुन बोले—मैं आप लोगों के समक्ष सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, कल जयद्रथ को अवश्य मार डालूंगा । महाराज ! यदि वह मारे जाने के भय से डरकर धृतराष्ट्र के पुत्रों को छोड़ नहीं देगा, मेरी, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की अथवा आपकी शरण में नहीं आ जाएगा तो कल उसे अवश्य मार डालूंगा ।

धार्तराष्ट्रप्रियकरं मयि विस्मृतसौहृदम् ।
पापं बालवधे हेतुं श्वोऽस्मि हन्ता जयद्रथम् ॥५५॥

जो धृतराष्ट्र के पुत्रों का प्रिय कर रहा है, जिसने मेरे प्रति अपना सौहार्द भुला दिया है और जो बालक अभिमन्यु के वध में प्रमुख कारण बना है, मैं उस पापी जयद्रथ को कल अवश्य मार डालूँगा ।

रक्षमाणाश्च तं संख्ये यो मां योत्स्यन्ति केचन ।
अपि द्रोणकृपौ राजन् छादयिष्यामि तान्शरैः ॥५६॥

राजन् ! युद्ध में जयद्रथ की रक्षा करते हुए जो

कोई भी मेरे साथ युद्ध करेंगे, चाहे वे द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ही क्यों न हों, मैं उन्हें अपने बाणसमूह से ढक दूंगा।

यद्येतदेवं संग्रामे न कुर्यां पुरुषर्षभाः।
मा स्म पुण्यकृतांल्लोकान्प्राप्नुयां शूरसम्मतान् ॥५७॥

पुरुषश्रेष्ठ वीरो! यदि संग्रामभूमि में मैं ऐसा न कर सकूँ तो पुण्यात्मा पुरुषों के उन लोकों को, जो शूरवीरों को प्रिय हैं, प्राप्त न करूँ।

इमां चाप्यपरां भूयः प्रतिज्ञां मे निबोधत।
यद्यस्मिन्न् हते पापे सूर्योऽस्तमुपयास्यति।
इहैव सम्प्रवेष्टाहं ज्वलितं जातवेदसम् ॥५८॥

अब आप लोग पुनः मेरी यह दूसरी प्रतिज्ञा भी सुन लें। यदि इस पापी जयद्रथ के मारे जाने से पूर्व ही सूर्य अस्त हो जाएगा तो मैं यहीं प्रज्वलित अग्नि में प्रविष्ट हो जाऊँगा।

सञ्जय उवाच

अर्जुनेन प्रतिज्ञाते पाञ्चजन्यं जनार्दनः।
प्रदध्मौ तत्र संक्रुद्धो देवदत्तं च फाल्गुनः ॥५९॥

सञ्जय कहते हैं—अर्जुन के इस प्रकार प्रतिज्ञा कर लेने पर श्रीकृष्ण ने भी अत्यन्त क्रुद्ध होकर पाञ्चजन्य शंख बजाया। इधर अर्जुन ने भी देवदत्त नामक शंख फूंका।

ततो वादित्रघोषाश्च प्रादुरासन् सहस्रशः।
सिंहनादश्च पाण्डूनां प्रतिज्ञाते महात्मना ॥६०॥

महामना अर्जुन ने जब उक्त प्रतिज्ञा कर ली, तब पाण्डवों के शिविर में अनेक बाजों के सहस्रों शब्द और पाण्डव वीरों का सिंहनाद भी सब ओर गूंजने लगा।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

जयद्रथ का भय और दुर्योधन तथा द्रोणाचार्य का उसे आश्वासन देना

सञ्जय उवाच

श्रुत्वा तु तं महाशब्दं पाण्डवानां जयैषिणाम्।
चारैः प्रवेदिते तत्र समुत्थाय जयद्रथः ॥१॥
शोकसम्मूढहृदयो दुःखेनाभिपरिप्लुतः।
जगाम समितिं राज्ञां सव्रीडो वाक्यमब्रवीत् ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! सिन्धुराज जयद्रथ ने जब विजयाभिलाषी पाण्डवों का वह महान् शब्द सुना और गुप्तचरों ने आकर जब अर्जुन की प्रतिज्ञा का समाचार निवेदन किया, तब वह सहसा उठकर खड़ा हो गया, उसका हृदय शोक से व्याकुल हो गया। वह दुःख से परिपूर्ण हो राजाओं की सभा में गया और लज्जित होकर बोला—

जयद्रथ उवाच

वधो नूनं प्रतिज्ञातो मम गाण्डीवधन्वना।
तथा हि हृष्टाः क्रोशन्ति शोककाले स्म पाण्डवाः ॥३॥

जयद्रथ बोला—राजाओ! निश्चय ही गाण्डीवधारी अर्जुन ने मेरे वध की प्रतिज्ञा कर ली है, तभी शोक के समय भी पाण्डव योद्धा बड़े हर्ष के साथ गर्जना कर रहे हैं।

तन्न देवा न गन्धर्वा नासुरोरगराक्षसाः।
उत्सहन्तेऽन्यथा कर्तुं कुत एव नराधिपाः ॥४॥

अर्जुन की इस प्रतिज्ञा को देवता, गन्धर्व, असुर, नाग और राक्षस भी नहीं बदल सकते, फिर ये नरेश तो उसे पलट ही कैसे सकते हैं?

तस्मान्मामनुजानीत भद्रं वोऽस्तु नरर्षभाः।
अदर्शनं गमिष्यामि न मां द्रक्ष्यन्ति पाण्डवाः ॥५॥

अतः नरश्रेष्ठ वीरो! आपका कल्याण हो। आप लोग मुझे जाने की आज्ञा दें। मैं अदृश्य हो जाऊँगा। पाण्डव मुझे देख नहीं सकेंगे।

सञ्जय उवाच

एवं विलपमानं तं भयाद् व्याकुलचेतसम्।
आत्मकार्यगरीयस्त्वाद् राजा दुर्योधनोऽब्रवीत् ॥६॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! भय से व्याकुलचित्त होकर विलाप करते हुए जयद्रथ से राजा दुर्योधन ने अपने कार्य की गुरुता का विचार करके इस प्रकार कहा—

न भेतव्यं नरव्याघ्र को हि त्वां पुरुषर्षभ।
मध्ये क्षत्रियवीराणां तिष्ठन्तं प्रार्थयेद् युधि ॥७॥

"पुरुषसिंह! नरश्रेष्ठ! तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिए। युद्धस्थल में क्षत्रिय वीरों के मध्य में खड़े रहने पर कौन तुम्हें मारने की इच्छा कर सकता है?

अहं वैकर्तनः कर्णश्चित्रसेनो विविंशतिः।
भूरिश्रवाः शलः शल्यो वृषसेनो दुरासदः ॥८॥
दुःशासनः सुबाहुश्च द्रोणो द्रौणिश्च सौबलः।
एते चान्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः।
ससैन्यास्त्वाभियास्यन्ति व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥९॥

"मैं, सूर्यपुत्र कर्ण, चित्रसेन, विविंशति, भूरिश्रवा, शल, शल्य, दुर्धर्ष वीर वृषसेन, दुःशासन, सुबाहु, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और शकुनि—ये तथा और भी बहुत-से भूपाल जो विभिन्न देशों के अधिपति हैं, अपनी सेना के साथ तुम्हारी रक्षा के लिए चलेंगे, अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिए।

त्वं चापि रथिनां श्रेष्ठः स्वयं शूरोऽमितद्युते।
स कथं पाण्डवेभ्यो हि भयं पश्यसि सैन्धव ॥१०॥

"अमित तेजस्वी सिन्धुराज! तुम स्वयं भी तो रथियों में श्रेष्ठ शूरवीर हो, फिर पाण्डु के पुत्रों से अपने लिए भय क्यों देख रहे हो?

अक्षौहिण्यो दशैका च मदीयास्तव रक्षणे।
यत्ता योत्स्यन्ति मा भैस्त्वं सैन्धव व्येतु ते भयम् ॥११॥

"मेरी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ तुम्हारी रक्षा के लिए उद्यत होकर युद्ध करेंगी, अतः सिन्धुराज! तुम भयभीत मत होओ। तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिए।"

द्रोण उवाच

न तु ते युधि संत्रासः कार्यः पार्थात् कथञ्चन।
अहं हि रक्षिता तात भयात्त्वां नात्र संशयः ॥१२॥
न हि मद्बाहुगुप्तस्य प्रभवन्त्यमरा अपि।
व्यूहयिष्यामि तं व्यूहं यं पार्थो न तरिष्यति ॥१३॥

द्रोणाचार्य बोले—वत्स! तुम्हें युद्ध में किसी प्रकार भी अर्जुन से भयभीत नहीं होना चाहिए, क्योंकि मैं उनके भय से तुम्हारी रक्षा करनेवाला हूँ—इसमें संशय नहीं है। मेरी भुजाएँ जिसकी रक्षा करती हों, उसपर देवताओं का भी जोर नहीं चल सकता। मैं ऐसे व्यूह की रचना करूँगा, जिसे अर्जुन पार नहीं कर सकेंगे।

तस्माद् युद्ध्यस्व मा भैस्त्वं स्वधर्ममनुपालय।
पितृपैतामहं मार्गमनुयाहि महारथ ॥१४॥

अतः तुम डरो मत। उत्साहपूर्वक युद्ध करो और अपने क्षत्रिय-धर्म का पालन करो। महारथी वीर! अपने बाप-दादाओं के मार्ग पर चलो।

सञ्जय उवाच

एवमाश्वासितो राजा भारद्वाजेन सैन्धवः।
अपानुदद् भयं पार्थाद् युद्धाय च मनो दधे ॥१५॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! द्रोणाचार्य के इस प्रकार आश्वासन देने पर राजा जयद्रथ ने अर्जुन का भय त्याग दिया और युद्ध करने का विचार किया।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

अर्जुन के वीरोचित वचन, श्रीकृष्ण द्वारा सुभद्रा को आश्वासन

सञ्जय उवाच

प्रतिज्ञाते तु पार्थेन सिन्धुराजवधे तदा।
वासुदेवो महाबाहुर्धनञ्जयमभाषत ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! जब अर्जुन ने सिन्धुराज जयद्रथ के वध की प्रतिज्ञा कर ली, उस समय महाबाहु श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—

भ्रातॄणां मतमज्ञाय त्वया वाचा प्रतिश्रुतम्।
सैन्धवं चास्मि हन्तेति तत्साहसमिदं कृतम् ॥२॥

"धनञ्जय! तुमने अपने भाइयों का मत जाने बिना ही जो वाणी द्वारा यह प्रतिज्ञा कर ली कि कल मैं सिन्धुराज का वध करूँगा, यह तुमने दुःसाहसपूर्ण कार्य किया है।

धार्तराष्ट्रस्य शिबिरे मया प्रणिहिताश्चराः।
त इमे शीघ्रमागम्य प्रवृत्तिं वेदयन्ति नः ॥३॥

"मैंने दुर्योधन के शिविर में अपने गुप्तचर भेजे थे। वे शीघ्र ही वहाँ से लौटकर अभी-अभी वहाँ का समाचार मुझे बता गये हैं।

कर्णो भूरिश्रवा द्रौणिर्वृषसेनश्च दुर्जयः।
कृपश्च मद्रराजश्च षडेतेऽस्य पुरोगमाः ॥४॥

"कल के युद्ध में कर्ण, भूरिश्रवा, अश्वत्थामा, दुर्जय वीर वृषसेन, कृपाचार्य और मद्रराज शल्य—ये छह महारथी जयद्रथ के आगे रहकर उसकी रक्षा करेंगे।

शकटः पद्मपश्चार्धो व्यूहो द्रोणेन निर्मितः।
पद्मकर्णिकमध्यस्थः सूचीपार्श्वे जयद्रथः।
स्थास्यते रक्षितो वीरैः सिन्धुराट् स सुदुर्मदः ॥५॥

"द्रोणाचार्य ने ऐसा व्यूह बनाया है, जिसका अगला आधा भाग शकट के आकार का है और पिछला कमल के समान। कमलव्यूह के बीच की कर्णिका के मध्य सूचीव्यूह के पार्श्वभाग में युद्ध-दुर्मद सिन्धुराज जयद्रथ खड़ा होगा और अन्यान्य वीर उसकी रक्षा करेंगे।

अविषह्यतमा ह्येते निश्चिताः पार्थ षड् रथाः।
एतानजित्वा षड् रथान् नैव प्राप्यो जयद्रथः ॥६॥

"पार्थ! ये पूर्वनिश्चित छह महारथी अत्यन्त असह्य माने गये हैं। इन छह महारथियों को परास्त किये बिना जयद्रथ को प्राप्त करना असम्भव है।

तेषामेकैकशो वीर्यं षण्णां त्वमनुचिन्तय।
सहिता हि नरव्याघ्र न शक्या जेतुमञ्जसा ॥७॥

"पुरुषसिंह! पहले तुम इन छह महारथियों में से प्रत्येक के बल-पराक्रम का विचार करो। फिर जब वे छहों एक-साथ होंगे, उस समय उन्हें सरलता से नहीं जीता जा सकता।"

अर्जुन उवाच

षड् रथान् धार्तराष्ट्रस्य मन्यसे यान् बलाधिकान्।
तेषां वीर्यं ममार्धेन न तुल्यमिति मे मतिः ॥८॥
अस्त्रमस्त्रेण सर्वेषामेतेषां मधुसूदन।
मया द्रक्ष्यसि निर्भिन्नं जयद्रथवधैषिणा ॥९॥

अर्जुन बोला—मधुसूदन! दुर्योधन के जिन छह महारथियों को आप बल में अधिक मानते हैं, उनका पराक्रम मेरे आधे के बराबर भी नहीं है, ऐसा मेरा विश्वास है। जयद्रथ के वध की इच्छा से मुझे युद्ध करते समय आप देखेंगे कि मैंने इन सबके अस्त्रों को अपने अस्त्रों से काट दिया है।

द्रोणस्य मिषतश्चाहं सगणस्य विलप्यतः।
मूर्धानं सिन्धुराजस्य पातयिष्यामि भूतले ॥१०॥

मैं द्रोणाचार्य के देखते-देखते अपने सैनिकोंसहित विलाप करते हुए सिन्धुराज जयद्रथ का मस्तक काटकर पृथिवी पर गिरा दूँगा।

यस्तु गोप्ता महेष्वासस्तस्य पापस्य दुर्मतेः।
तमेव प्रथमं द्रोणमभियास्यामि केशव ॥११॥

केशव! उस दुर्बुद्धि पापी जयद्रथ की रक्षा का बीड़ा उठाये हुए जो महाधनुर्धर आचार्य द्रोण हैं, मैं पहले उन्हीं पर आक्रमण करूंगा।

द्रष्टासि श्वो महेष्वासान् नाराचैस्तिग्मतेजितैः।
शृङ्गाणीव गिरेर्वज्रैर्दार्यमाणान् मया युधि ॥१२॥

जैसे इन्द्र अपने वज्र द्वारा पर्वतों के शिखरों को विदीर्ण कर देते हैं, वैसे ही कल युद्ध में मैं अच्छी प्रकार तेज किये हुए नाराचों द्वारा बड़े-बड़े धनुर्धरों को चीर डालूंगा, यह आप देखेंगे।

गाण्डीवप्रेषिता बाणा मनोऽनिलसमा जवे।
नृनागाश्वान् विदेहासून् कर्तारश्च सहस्रशः ॥१३॥

गाण्डीव धनुष से छूटे हुए बाण मन और वायु के समान वेगशाली होते हैं। वे शत्रुओं के सहस्रों हाथी-घोड़े और मनुष्यों को शरीर और प्राणों से शून्य कर देंगे।

तथा प्रभाते कर्तास्मि यथा कृष्ण सुयोधनः।
नान्यं धनुर्धरं लोके मंस्यते मत्समं युधि ॥१४॥

श्रीकृष्ण! मैं कल प्रातः ऐसा युद्ध करूंगा जिससे दुर्योधन रणक्षेत्र के भीतर संसार के दूसरे किसी धनुर्धर को मेरे समान नहीं मानेगा।

गाण्डीवं च धनुर्दिव्यं योद्धा चाहं नरर्षभ।
त्वं च यन्ता हृषीकेश किं नु स्यादजितं मया ॥१५॥

नरश्रेष्ठ हृषीकेश! जहाँ गाण्डीव जैसा दिव्य धनुष है, मेरे जैसा योद्धा है और आप सारथि हैं, वहाँ मैं किसको नहीं जीत सकता!

ध्रुवं वै ब्राह्मणे सत्यं ध्रुवा साधुषु संनतिः।
श्रीर्ध्रुवापि च यज्ञेषु हृषीकेशे ध्रुवो जयः ॥१६॥

जैसे ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण में सत्य, साधुपुरुषों में नम्रता और यज्ञों में लक्ष्मी का होना ध्रुव सत्य है, वैसे ही जहाँ जितेन्द्रिय श्रीकृष्ण विद्यमान हैं, वहाँ विजय भी निश्चित है।

आश्वासय सुभद्रां त्वं भगिनीं स्नुषया सह।
स्नुषां चास्या वयस्याश्च विशोकाःकुरु माधव ॥१७॥

माधव ! अब आप पुत्रवधू उत्तरासहित अपनी बहिन सुभद्रा को धीरज बँधाइए। उत्तरा और उसकी सखियों का शोक भी दूर कीजिए।

सञ्जय उवाच

ततोऽर्जुनगृहं गत्वा वासुदेवः सुदुर्मनाः।
भगिनीं पुत्रशोकार्तामाश्वासयत दुःखिताम् ॥१८॥

सञ्जय कहते हैं—तब श्रीकृष्ण अत्यन्त उदास मन से अर्जुन के शिविर में गये और पुत्रशोक से पीड़ित हुई अपनी दुखिया बहिन को आश्वासन देने लगे—

वासुदेव उवाच

मा शोकं कुरु वार्ष्णेयि कुमारं प्रति सस्नुषा।
सर्वेषां प्राणिनां भीरु निष्ठैषा कालनिर्मिता ॥१९॥

श्रीकृष्ण बोले—वृष्णिनन्दिनी ! तुम और पुत्र-वधू उत्तरा कुमार अभिमन्यु के लिए शोक मत करो। भीरु ! काल एक दिन सभी प्राणियों की ऐसी ही अवस्था कर देता है।

तपसा ब्रह्मचर्येण श्रुतेन प्रज्ञयापि च।
सन्तो यां गतिमिच्छन्ति तां प्राप्तस्तव पुत्रकः ॥२०॥

तपस्या, ब्रह्मचर्य, शस्त्रज्ञान और सद्बुद्धि के द्वारा साधु पुरुष जिस गति को पाना चाहते हैं, वही गति तुम्हारे पुत्र को भी प्राप्त हुई है।

वीरसूर्वीरपत्नी त्वं वीरजा वीरबान्धवा।
मा शुचस्तनयं भद्रे गतः स परमां गतिम् ॥२१॥

सुभद्रे ! तुम वीर-माता, वीर-पत्नी, वीर-कन्या और वीर भाइयों की बहन हो। तुम पुत्र के लिए शोक न करो; वह श्रेष्ठ गति को प्राप्त हुआ है।

श्वः शिरः श्रोष्यसे तस्य सैन्धवस्य रणे हृतम्।
समन्तपञ्चकाद् बाह्यं विशोका भव मा रुदः ॥२२॥

तुम कल ही सुनोगी कि युद्धभूमि में जयद्रथ का मस्तक काट लिया गया है और वह समन्तपञ्चक-क्षेत्र से बाहर जा गिरा है, अतः शोक त्यागकर रोना-धोना बन्द करो।

सञ्जय उवाच

एतत् श्रुत्वा वचस्तस्य केशवस्य महात्मनः।
सुभद्रा पुत्रशोकार्ता विललाप सुदुःखिता ॥२३॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! महात्मा केशव का यह वचन सुनकर पुत्रशोक से व्याकुल और अत्यन्त दुःखित हुई सुभद्रा इस प्रकार विलाप करने लगी—

हा वीर दृष्टो नष्टश्च धनं स्वप्न इवासि मे।
अहो ह्यनित्यं मानुष्यं जलबुद्बुदचञ्चलम् ॥२४॥

"हा वीर ! तुम स्वप्न में मिले हुए धन की भाँति मुझे दिखाई दिये और नष्ट हो गये। अहो ! यह मनुष्य-जीवन पानी के बुलबुले के समान चञ्चल और अनित्य है।

मधुमांसनिवृत्तानां मदाद् दम्भात्तथानृतात्।
परोपतापत्यक्तानां तां गतिं व्रज पुत्रक ॥२५॥

"पुत्र ! जो मद्य और मांस का सेवन नहीं करते, मद=अभिमान, दम्भ और असत्य से अलग रहते तथा दूसरों को सन्ताप नहीं देते, उन्हें मिलनेवाली सद्गति तुम्हें भी प्राप्त हो।"

विसंज्ञकल्पां रुदतीं मर्मविद्धां प्रवेपतीम्।
भगिनीं पुण्डरीकाक्ष इदं वचनमब्रवीत् ॥२६॥

पुत्रशोक से मर्माहत रोती और काँपती हुई अपनी बहिन सुभद्रा से कमलनयन श्रीकृष्ण ने यह वचन कहा—

सुभद्रे मा शुचः पुत्रं पाञ्चाल्याश्वासयोत्तराम्।
गतोऽभिमन्युः प्रथितां गतिं क्षत्रियपुङ्गवः ॥२७॥

"सुभद्रे ! तुम पुत्र के लिए शोक मत करो। द्रुपदकुमारी ! तुम उत्तरा को सान्त्वना प्रदान करो। क्षत्रिय-शिरोमणि अभिमन्यु ने श्रेष्ठ गति प्राप्त की है।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्याय।

अर्जुन का द्रोणाचार्य द्वारा निर्मित चक्रशकट व्यूह में प्रवेश

सञ्जय उवाच

तस्यां निशायां व्युष्टायां द्रोणः शस्त्रभृतां वरः।
स्वान्यनीकानि सर्वाणि प्राक्रामद् व्यूहितं ततः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! वह रात्रि व्यतीत होने पर प्रातःकाल शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ द्रोणाचार्य ने अपनी सारी सेनाओं का व्यूह बनाना आरम्भ किया।

तेष्वनीकेषु सर्वेषु स्थितेष्वाहवनन्दिषु।
भारद्वाजो महाराज जयद्रथमथाब्रवीत् ॥२॥

महाराज! युद्ध से आनन्दित होनेवाले उन समस्त सैनिकों के व्यूहबद्ध हो जाने पर द्रोणाचार्य ने जयद्रथ से कहा—

त्वं चैव सौमदत्तिश्च कर्णश्चैव महारथः।
अश्वत्थामा च शल्यश्च वृषसेनः कृपस्तथा ॥३॥
शतं चाश्वसहस्राणां रथानामयुतानि षट्।
द्विरदानां प्रभिन्नानां सहस्राणि चतुर्दश ॥४॥
पदातीनां सहस्राणि दंशितान्येकविंशतिः।
गव्यूतिषु त्रिमात्रासु मामनासाद्य तिष्ठत ॥५॥

"राजन्! तुम, भूरिश्रवा, महारथी कर्ण, अश्वत्थामा, शल्य, वृषसेन और कृपाचार्य एक लाख घुड़सवार, साठ सहस्र रथ, चौदह सहस्र मदस्रावी हाथी और इक्कीस सहस्र कवचधारी पैदल सैनिकों को साथ लेकर मुझसे छह कोस की दूरी पर जाकर डटे रहो।

तत्रस्थं त्वां न संसोढुं शक्ता देवाः सवासवाः।
किं पुनः पाण्डवाः सर्वे समाश्वसिहि सैन्धव ॥६॥

"सिन्धुराज! वहाँ रहने पर इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता भी तुम्हारा सामना नहीं कर सकते, फिर समस्त पाण्डव तो कर ही कैसे सकते हैं? अतः तुम धैर्य धारण करो।"

एवमुक्तः समाश्वस्तः सिन्धुराजो जयद्रथः।
सम्प्रायात् सह गान्धारैर्वृतस्तैश्च महारथैः ॥७॥

आचार्य के ऐसा कहने पर सिन्धुराज जयद्रथ को बड़ा आश्वासन मिला। फिर वह गान्धार महारथियों से घिरा हुआ युद्ध के लिए चल दिया।

दीर्घो द्वादश गव्यूतिः पश्चार्धे पञ्च विस्तृतः।
व्यूहस्तु चक्रशकटो भारद्वाजेन निर्मितः ॥८॥

आचार्य द्रोण ने चक्रगर्भ शकटव्यूह का निर्माण किया था, जिसकी लम्बाई चौबीस कोस और पिछले भाग की चौड़ाई दस कोस थी।

पश्चार्धे तस्य पद्मस्तु गर्भव्यूहः सुदुर्भिदः।
सूची पद्मस्य गर्भस्थो गूढो व्यूहः कृतः पुनः ॥९॥

उस चक्रशकटव्यूह के पिछले भाग में पद्मनामक एक गर्भव्यूह बनाया गया था, जो अति दुर्भेद्य था। उस पद्मव्यूह के मध्यभाग में सूची नामक एक गूढ़ व्यूह और बनाया गया था।

जयद्रथस्ततो राजा सूचीपार्श्वे व्यवस्थितः।
शकटस्य तु राजेन्द्र भारद्वाजो मुखे स्थितः ॥१०॥

हे राजेन्द्र! राजा जयद्रथ सूचीव्यूह के पार्श्वभाग में था और उस शकटव्यूह के मुहाने पर भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य स्वयं विराजमान थे।

ततो व्यूढेष्वनीकेषु समुत्क्रुष्टेषु मारिष।
ताड्यमानासु भेरीषु मृदङ्गेषु नदत्सु च ॥११॥
अनीकानां च संह्रादे वादित्राणां च निःस्वने।
रौद्रे मुहूर्ते सम्प्राप्ते सव्यसाची व्यदृश्यत ॥१२॥

आर्य! जब इस प्रकार कौरव-सेनाओं की व्यूह-रचना हो गई, युद्ध के लिए उत्सुक सैनिक कोलाहल करने लगे, नगाड़े पीटे जाने लगे, मृदङ्ग बजने लगे, सैनिकों की गर्जना के साथ-साथ रणवाद्यों की तुमुल ध्वनि फैलने लगी, उस समय उग्र मुहूर्त आने पर रणक्षेत्र में सव्यसाची अर्जुन दिखाई दिये।

सोऽप्रानीकस्य महत इषुपाते धनञ्जयः।
व्यवस्थाप्य रथं राजञ्शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१३॥

राजन्! प्रतापी अर्जुन ने अपने सामने खड़ी हुई विशाल शत्रुसेना के सम्मुख, जितनी दूर से बाण मारा जा सके उतनी ही दूरी पर अपने रथ को खड़ा करके शंख बजाया।

अथ कृष्णोऽप्यसम्भ्रान्तः पार्थेन सह मारिष।
प्राध्मापयत् पाञ्चजन्यं शंखं प्रवरमोजसा ॥१४॥

आर्य! तब श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन के साथ बिना

किसी घबराहट के अपने श्रेष्ठ शंख पाञ्चजन्य को बड़े जोर से फूंका।

यथा त्रस्यन्ति भूतानि सर्वाण्यशनिनिःस्वनात्।
तथा शंखप्रणादेन वित्रेसुस्तव सैनिकाः ॥१५॥

जैसे वज्र की गड़गड़ाहट से सारे प्राणी थर्रा उठते हैं, वैसे ही उन दोनों वीरों की शंखध्वनि से आपके समस्त सैनिक संत्रस्त हो उठे।

प्रसुस्रुवुः शकृन्मूत्रं वाहनानि च सर्वशः।
एवं सवाहनं सर्वमाविग्नमभवद् बलम् ॥१६॥

सेना के सभी वाहन भय के मारे मल-मूत्र त्यागने लगे। इस प्रकार आरोहियोंसहित सारी सेना उद्विग्न हो गई।

सीदन्ति स्म नरा राजञ्शंखशब्देन मारिष।
विसंज्ञाश्चाभवन्केचित्केचिद् राजन्वितत्रसुः ॥१७॥

आर्य! अपनी सेना के सब मनुष्य उस शंखनाद को सुनकर शिथिल हो गये। नरेश्वर! कितने ही तो मूर्च्छित हो गये और कितने ही भय से थर्रा उठे।

ततः सायकवर्षेण पर्जन्य इव वृष्टिमान्।
परानवाकिरत् पार्थः पर्वतानिव नीरदः ॥१८॥

शंखनाद करके अर्जुन बाणों की वृष्टि करते हुए जल बरसानेवाले मेघ के समान प्रतीत होने लगे। जैसे मेघ पानी की वर्षा करके पर्वतों को आच्छादित कर देता है, वैसे ही अर्जुन ने अपनी बाणवर्षा से शत्रुओं को ढक दिया।

ते चापि रथिनः सर्वे त्वरिताः कृतहस्तवत्।
अवाकिरन् बाणजालैस्तत्र कृष्णधनञ्जयौ ॥१९॥

उधर उन समस्त कौरव रथियों ने भी सिद्धहस्त पुरुषों की भाँति शीघ्रतापूर्वक बाण चलाते हुए अपने बाणसमूह से श्रीकृष्ण और अर्जुन को आच्छादित कर दिया।

ततः क्रुद्धो महाबाहुर्वार्यमाणः परैर्युधि।
शिरांसि रथिनां पार्थः कायेभ्योऽपाहरच्छरैः ॥२०॥

उस समय रणभूमि में शत्रुओं द्वारा रोके जाने पर महाबाहु अर्जुन क्रुद्ध हो उठे और अपने बाणों द्वारा रथियों के शिरों [मस्तकों] को उनके शरीर से काट-काटकर गिराने लगे।

ततः कबन्धं किंचित् तु धनुरालम्ब्य तिष्ठति।
किंचित् खड्गं विनिष्कृष्य भुजेनोद्यम्य तिष्ठति ॥२१॥

अर्जुन के बाणों द्वारा सिर कट जाने पर कोई-कोई कबन्ध [बिना सिर का धड़] धनुष लेकर खड़ा था और कोई तलवार खींचकर उसे हाथ में उठाये हुए खड़ा था।

अयं पार्थः कुतः पार्थ एष पार्थ इति प्रभो।
तव सैन्येषु योधानां पार्थभूतमिवाभवत् ॥२२॥

प्रभो! आपकी सेनाओं के समस्त योद्धाओं की दृष्टि में सब ओर अर्जुनमय-सा हो रहा था। वे बार-बार 'यह अर्जुन है, अर्जुन कहाँ है, अर्जुन यह है'—इस प्रकार चिल्ला उठते थे।

यो यः स्म समरे पार्थं प्रतिसंचरते नरः।
तस्य तस्यान्तको बाणः शरीरमुपसर्पति ॥२३॥

जो-जो मनुष्य उस रणभूमि में अर्जुन का सामना करने के लिए चलता था, उस-उसके शरीर पर प्राणान्तकारी बाण आ गिरता था।

तत्तथा तव पुत्रस्य सैन्यं युधि परन्तप।
प्रभग्नं द्रुतमाविग्नमतीव शरपीडितम् ॥२४॥

शत्रुसंतापक नरेश! इस प्रकार उस समराङ्गण में अर्जुन के बाणों से पीड़ित हुई आपके पुत्र की सेना के पाँव उखड़ गये और वह अत्यन्त उद्विग्न हो तुरन्त ही वहाँ से भाग खड़ी हुई।

ततस्तव सुतो राजन् दृष्ट्वा सैन्यं तथागतम्।
दुःशासनो भृशं क्रुद्धो युद्धायार्जुनमभ्यगात् ॥२५॥

राजन्! सेना की ऐसी दुर्दशा देखकर आपके पुत्र दुःशासन को बड़ा क्रोध हुआ और वह युद्ध के लिए अर्जुन के सामने जा पहुँचा।

नागानीकेन महता ग्रसन्निव महीमिमाम्।
दुःशासनो महाराज सव्यसाचिनमावृणोत् ॥२६॥

महाराज! दुःशासन ने अपनी विशाल गजसेना द्वारा अर्जुन को चारों ओर से इस प्रकार घेर लिया, मानो वह सम्पूर्ण वसुन्धरा को ग्रस लेने के लिए उद्यत हो।

तान् दृष्ट्वा पततस्तूर्णमङ्कुशैरभिनोदितान्।
सिंहनादेन महताभीतो स व्यधमच्छरैः ॥२७॥

महावतों द्वारा अंकुशों से हाँके जानेवाले उन हाथियों को बड़े वेग से अपने ऊपर आक्रमण करते

देख पराक्रमी अर्जुन ने जोर से सिंहनाद करके विना किसी भय के बाणों द्वारा उन हाथियों का संहार कर डाला।

निहतैर्वारणैरश्वैः क्षत्रियैश्च निपातितैः।
अदृश्यत मही तत्र दारुणप्रतिदर्शना ॥२८॥

अनेक हाथी, घोड़े और क्षत्रियों के धराशायी कर दिये जाने के कारण वहाँ की भूमि देखने में अत्यन्त भयंकर जान पड़ती थी।

एवं दुःशासनबलं वध्यमानं किरीटिना।
सम्प्राद्रवन्महाराज व्यथितं सहनायकम् ॥२९॥

महाराज! इस प्रकार किरीटधारी अर्जुन की मार खाकर अत्यन्त व्यथित हुई दुःशासन की सेना अपने नायकसहित भाग गई।

ततो दुःशासनस्त्रस्तः सहानीकः शरार्दितः।
द्रोणं त्रातारमाकांक्षञ्शकटव्यूहमभ्यगात् ॥३०॥

अर्जुन के बाणों से अत्यन्त पीड़ित और भयभीत हो सेनाओंसहित दुःशासन अपने रक्षक द्रोणाचार्य के आश्रय में जाने की इच्छा रखकर शकटव्यूह में घुस गया।

दुःशासनबलं हत्वा सव्यसाची महारथः।
सिन्धुराजं परीप्सन् वै द्रोणानीकमुपाद्रवत् ॥३१॥

राजन्! दुःशासन की सेना का संहार करके सव्यसाची महारथी अर्जुन ने सिन्धुराज जयद्रथ को पाने की इच्छा रखकर द्रोणाचार्य की सेना पर धावा किया।

स तु द्रोणं समासाद्य व्यूहस्य प्रमुखे स्थितम्।
कृताञ्जलिरिदं वाक्यं कृष्णस्यानुमतेऽब्रवीत् ॥३२॥

व्यूह के मुहाने पर खड़े हुए आचार्य द्रोण के पास पहुँचकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण की अनुमति ले हाथ जोड़ इस प्रकार कहा—

शिवेन ध्याहि मां ब्रह्मन् स्वस्ति चैव वदस्व मे।
भवत्प्रसादादिच्छामि प्रवेष्टुं दुर्भिदां चमूम् ॥३३॥

"ब्रह्मन्! आप मेरा कल्याण चिन्तन कीजिए। मुझे स्वस्ति कहकर आशीर्वाद दीजिए। मैं आपकी कृपा से ही इस दुर्भेद्य सेना के भीतर प्रवेश करना चाहता हूँ।

भवान् पितृसमो मह्यं धर्मराजसमोऽपि च।
तथा कृष्णसमश्चैव सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥३४॥

"आप मेरे लिए पिता पाण्डु, भ्राता धर्मराज युधिष्ठिर और सखा श्रीकृष्ण के समान हैं। यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ।

अश्वत्थामा यथा तात रक्षणीयस्त्वयानघ।
तथाहमपि ते रक्ष्यः सदैव द्विजसत्तम ॥३५॥

"तात! निष्पाप द्विजश्रेष्ठ! जैसे अश्वत्थामा आपके लिए रक्षणीय हैं, वैसे ही मैं भी सदा आपसे संरक्षण पाने का अधिकारी हूँ।

तव प्रसादादिच्छेयं सिन्धुराजमिहाहवे।
निहन्तुं द्विपदां श्रेष्ठ प्रतिज्ञां रक्ष मे प्रभो ॥३६॥

"नरश्रेष्ठ! मैं आपके प्रसाद से इस युद्ध में सिन्धुराज जयद्रथ को मारना चाहता हूँ। प्रभो! आप मेरी इस प्रतिज्ञा की रक्षा कीजिए।"

एवमुक्तस्तदाचार्यः प्रत्युवाच स्मयन्निव।
मामजित्वा न बीभत्सो शक्यो जेतुं जयद्रथः ॥३७॥

महाराज! अर्जुन के ऐसा कहने पर उस समय द्रोणाचार्य ने उन्हें हँसते हुए-से उत्तर दिया—"अर्जुन! मुझे पराजित किये विना जयद्रथ को जीतना असम्भव है।"

एतावदुक्त्वा तं द्रोणः शरव्रातैरवाकिरत्।
सरथाश्वध्वजं तीक्ष्णैः प्रहसन् वै ससारथिम् ॥३८॥

अर्जुन से इतना कहकर द्रोणाचार्य ने हँसते-हँसते रथ, घोड़े, ध्वज तथा सारथिसहित उनपर तीखे बाणसमूहों की वर्षा आरम्भ कर दी।

ततोऽर्जुनः शरव्रातान् द्रोणस्यावार्य सायकैः।
द्रोणमभ्यद्रवद् बाणैर्घोररूपैर्महत्तरैः ॥३९॥

तब अर्जुन ने अपने बाणों द्वारा द्रोणाचार्य के बाणसमूहों का निवारण करके बड़े-बड़े भयंकर बाणों द्वारा उनपर आक्रमण किया।

अथात्यर्थं विसृष्टेन द्विषतामसुभोजिना।
आजघ्ने वक्षसि द्रोणो नाराचेन धनञ्जयम् ॥४०॥

तब तो द्रोणाचार्य ने भी शत्रुओं का प्राण हरण कर लेनेवाले एक नाराच का प्रहार करके अर्जुन की छाती में गहरी चोट पहुँचाई।

स विह्वलितसर्वाङ्गः क्षितिकम्पे यथाचलः।
धैर्यमालम्ब्य बीभत्सुर्द्रोणं विव्याध पत्त्रिभिः ॥४१॥

जैसे भूकम्प होने पर पर्वत हिल उठता है, वैसे ही उस आघात से अर्जुन का सारा शरीर विह्वल हो गया, तथापि अर्जुन ने धैर्य धारण करके पंखयुक्त बाणों द्वारा आचार्य द्रोण को घायल कर दिया।

द्रोणस्तु पञ्चभिर्बाणैर्वासुदेवमताडयत्।
अर्जुनं च त्रिसप्तत्या ध्वजं चास्य त्रिभिः शरैः ॥४२॥

फिर द्रोण ने भी पाँच बाणों से श्रीकृष्ण को, तिहत्तर बाणों से अर्जुन को और तीन बाणों द्वारा उनके ध्वज को भी चोट पहुँचायी।

तद् दृष्ट्वा तादृशं युद्धं द्रोणपाण्डवयोस्तदा।
वासुदेवो महाबुद्धिरर्जुनमब्रवीद् वचः ॥४३॥

उस समय द्रोणाचार्य और अर्जुन का वैसा युद्ध देखकर परम बुद्धिमान् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यह वचन कहा—

पार्थ पार्थ महाबाहो न नः कालात्ययो भवेत्।
द्रोणमुत्सृज्य गच्छामः कृत्यमेतन्महत्तरम् ॥४४॥

"अर्जुन ! पार्थ ! महाबाहो ! हमारा अधिक समय यहीं व्यतीत न हो जाए, अतः हम द्रोणाचार्य को छोड़कर आगे चलें, यही इस समय सबसे महान् कार्य है।"

पार्थश्चाप्यब्रवीत् कृष्णं यथेष्टमिति केशवम्।
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा द्रोणं प्रायान्महाभुजम् ॥४५॥

तब अर्जुन ने भी श्रीकृष्ण से कहा—"प्रभो ! आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा कीजिए।" तत्पश्चात् अर्जुन महाबाहु द्रोणाचार्य की परिक्रमा करके लौट पड़े।

ततोऽब्रवीत् स्वयं द्रोणः क्वेदं पाण्डव गम्यते।
ननु नाम रणे शत्रुमजित्वा न निवर्तसे ॥४६॥

यह देख द्रोणाचार्य ने स्वयं कहा—"पाण्डुनन्दन! तुम इस प्रकार कहाँ चले जा रहे हो ? तुम तो युद्ध-भूमि में शत्रुओं को पराजित किये बिना कभी नहीं लौटते थे।"

अर्जुन उवाच

गुरुर्भवान् न मे शत्रुः शिष्यः पुत्रसमोऽस्मि ते।
न चास्ति स पुमाँल्लोके यस्त्वां युधि पराजयेत् ॥४७॥

अर्जुन ने कहा—ब्रह्मन् ! आप मेरे शत्रु नहीं अपितु गुरु हैं। मैं आपका पुत्र के समान प्रिय शिष्य हूँ। इस संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो युद्ध में आपको पराजित कर सके।

सञ्जय उवाच

एवं ब्रुवाणो बीभत्सुर्जयद्रथवधोत्सुकः।
त्वरायुक्तो महाबाहुस्त्वत्सैन्यं समुपाद्रवत् ॥४८॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहते हुए महाबाहु अर्जुन ने जयद्रथ-वध के लिए उत्सुक हो बड़ी उतावली के साथ आपकी सेना पर आक्रमण किया।

तं चक्ररक्षौ पाञ्चाल्यौ युधामन्यूत्तमौजसौ।
अन्वयातां महात्मानौ विशन्तं तावकं बलम् ॥४९॥

आपकी सेना में प्रविष्ट होते समय पाञ्चाल वीर महामना युधामन्यु और उत्तमौजा चक्ररक्षक होकर उनके पीछे-पीछे गये।

ततो जयो महाराज कृतवर्मा च सात्वतः।
काम्बोजश्च श्रुतायुश्च धनञ्जयमवारयन् ॥५०॥

महाराज ! उस समय जय, सात्वत-वंशी कृतवर्मा, काम्बोजनरेश और श्रुतायु ने सम्मुख आकर अर्जुन को रोका।

ततः प्रववृते युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम्।
अन्योन्यं वै प्रार्थयतां योधानामर्जुनस्य च ॥५१॥

तत्पश्चात् एक-दूसरे को ललकारते हुए कौरव योद्धाओं और अर्जुन में रोमाञ्चकारी तथा भयंकर युद्ध छिड़ गया।

किरन्निषुगणाँस्तीक्ष्णान् स रश्मीनिव भास्करः।
तापयामास तत् सैन्यं देहं व्याधिगणो यथा ॥५२॥

जैसे रोगों का समुदाय शरीर को सन्तप्त कर देता है, उसी प्रकार अर्जुन ने कौरवों की सेना को अत्यन्त सन्ताप दिया। जैसे सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों का प्रसार करते हैं, उसी प्रकार वे तीखे बाणसमूहों की वर्षा करने लगे।

अश्वो विद्धो रथश्छिन्नः सारोहः पातितो गजः।
छत्राणि चापविद्धानि रथाश्चक्रैर्विना कृताः ॥५३॥

उन्होंने घोड़ों को घायल कर दिया, रथों के टुकड़े-टुकड़े कर डाले, गजारोहियोंसहित हाथियों को मार गिराया, छत्र इधर-उधर बिखेर दिये और रथों को पहियों से सूना कर दिया।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

द्रोणाचार्य का दुर्योधन के शरीर में दिव्य कवच बाँधकर अर्जुन के साथ युद्ध के लिए भेजना

सञ्जय उवाच

प्रभग्नं स्ववलं दृष्ट्वा पुत्रस्ते द्रोणमभ्ययात् ।
त्वरन्नेकरथेनैव समेत्य द्रोणमब्रवीत् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—अपनी सम्पूर्ण सेना में भगदड़ मची देख आपका पुत्र दुर्योधन बड़ी उतावली के साथ एकमात्र रथ के द्वारा द्रोणाचार्य के पास गया और उनसे मिलकर इस प्रकार बोला—

गतः स पुरुषव्याघ्रः प्रमथ्यैतां महाचमूम् ।
अथ बुद्धया समीक्षस्व दारुणेऽस्मिञ्जनक्षये ॥२॥
यथा स पुरुषव्याघ्रो न हन्येत जयद्रथः ।
तथा विधत्स्व भद्रं ते त्वं हि नः परमा गतिः ॥३॥

"गुरुदेव ! पुरुषसिंह अर्जुन हमारी इस विशाल सेना को मथकर व्यूह में प्रविष्ट हो गया । अब आप बुद्धि से विचार कीजिए और इस भयंकर नरसंहार में जिस प्रकार भी पुरुषसिंह जयद्रथ न मारा जाए, वैसा उपाय कीजिए । आपका कल्याण हो । हमारा सबसे बड़ा आश्रय आप ही हैं ।

अतिक्रान्ते हि कौन्तेय भित्वा सैन्यं परन्तप ।
जयद्रथस्य गोप्तारः संशयं परमं गताः ॥४॥

"शत्रुसन्तापक आचार्य ! जब से कुन्तीपुत्र अर्जुन आपकी सेना का व्यूह भेदकर और आपको भी लाँघकर आगे चले गये हैं, तब से जयद्रथ की रक्षा करनेवाले योद्धा महान् संशय में पड़ गये हैं ।

स्थिरा बुद्धिर्नरेन्द्राणामासीद् ब्रह्मविदां वर ।
नातिक्रमिष्यति द्रोणं जातु जीवं धनञ्जयः ॥५॥

"ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ आचार्य ! हमारे पक्ष के राजाओं का यह दृढ़ विश्वास था कि अर्जुन द्रोणाचार्य के जीते-जी उन्हें लाँघकर सेना के भीतर प्रविष्ट नहीं हो सकेगा ।

जानामि त्वां महाभाग पाण्डवानां हिते रतम् ।
तथा मुह्यामि च ब्रह्मन् कार्यवत्तां विचिन्तयन् ॥६॥

"ब्रह्मन् ! महाभाग ! मैं यह जानता हूँ कि आप पाण्डवों के हित में तत्पर रहनेवाले हैं, अतः मैं अपने कार्य की गुरुता का विचार करके मोहित हो रहा हूँ ।

अस्मान्न त्वं सदा भक्तानिच्छस्यमितविक्रम ।
पाण्डवान् सततं प्रीणास्यस्माकं विप्रिये रतान् ॥७॥

"अमित पराक्रमी आचार्य ! आपके चरणों में भक्ति रखनेवाले हमें तो आप चाहते नहीं हैं और सदा हम लोगों का अप्रिय करने में तत्पर पाण्डवों को आप निरन्तर प्रसन्न रखते हैं ।

अस्मानेवोपजीवंस्त्वमस्माकं विप्रिये रतः ।
न ह्यहं त्वां विजानामि मधुदिग्धमिव क्षुरम् ॥८॥

'हमसे ही आपकी आजीविका चलती है तो भी आप हमारा ही अप्रिय करने में लगे रहते हैं । मैं नहीं जानता था कि आप मधु में डुबोये हुए छुरे के समान हैं ।

नादास्यच्चेद् वरं मह्यं भवान् पाण्डवनिग्रहे ।
नावारयिष्यं गच्छन्तमहं सिन्धुपतिं गृहान् ॥९॥

"यदि आप मुझे अर्जुन को रोके रखने का वर न देते तो मैं सिन्धुराज जयद्रथ को अपने घर को जाते हुए कभी मना नहीं करता ।

मया त्वाशंसमानेन त्वत्तस्त्राणमबुद्धिना ।
आश्वासितः सिन्धुपतिर्मोहाद् दत्तश्च मृत्यवे ॥१०॥

"मुझ मूर्ख ने आपसे संरक्षण पाने का भरोसा करके सिन्धुराज जयद्रथ को समझा-बुझाकर यहीं रोक लिया और इस प्रकार मोहवश मैंने उसे मृत्यु को सौंप दिया ।

यमदंष्ट्रान्तरं प्राप्तो मुच्येतापि हि मानवः ।
नार्जुनस्य वशं प्राप्तो मुच्येताजौ जयद्रथः ॥११॥

"मनुष्य यमराज की दाढ़ों में पड़कर भले ही बच जाए परन्तु समराङ्गण में अर्जुन के वश में पड़े हुए जयद्रथ के प्राण नहीं बच सकते ।

स तथा कुरु शोणाश्व यथा मुच्येत सैन्धवः ।
मम चार्तप्रलापानां मा क्रुधः पाहि सैन्धवम् ॥१२॥

"लाल घोड़ोंवाले आचार्य ! आप कोई ऐसा प्रयत्न कीजिए, जिससे सिन्धुराज जयद्रथ मृत्यु के मुख से छूट जाए । मैंने दुःखी होने के कारण जो प्रलाप किये हैं, उनके लिए क्रोध न कीजिए, जैसे भी हो सिन्धुराज की रक्षा कीजिए ।"

द्रोण उवाच

नाभ्यसूयामि ते वाक्यमश्वत्थाम्नासि मे समः ।
सत्यं तु ते प्रवक्ष्यामि तज्जुषस्व विशाम्पते ॥१३॥

द्रोणाचार्य बोले—राजन् ! तुमने जो कुछ कहा है, उसके लिए मैं बुरा नहीं मानता, क्योंकि तुम मेरे लिए अश्वत्थामा के समान हो, परन्तु जो सच्ची बात है, वह तुम्हें बता रहा हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो ।

सारथिः प्रवरः कृष्णः शीघ्राश्चास्य हयोत्तमाः ।
अल्पं च विवरं कृत्वा तूर्णं याति धनञ्जयः ॥१४॥

श्रीकृष्ण अर्जुन के श्रेष्ठ सारथि हैं और उनके उत्तम घोड़े भी तीव्रगामी हैं, अतः थोड़ा-सा भी अवकाश बनाकर अर्जुन तत्काल सेना में घुस जाते हैं ।

न चाहं शीघ्रयानेऽद्य समर्थो वयसान्वितः ।
सेनामुखे च पार्थानामेतद् बलमुपस्थितम् ॥१५॥

मैं वृद्ध हो गया हूँ, अतः मैं शीघ्रतापूर्वक रथ चलाने में असमर्थ हूँ । इधर मेरी सेना के सामने यह कुन्तीपुत्रों की भारी सेना उपस्थित है ।

युधिष्ठिरश्च मे ग्राह्यो मिषतां सर्वधन्विनाम् ।
एवं मया प्रतिज्ञातं क्षत्रमध्ये महाभुज ॥१६॥

महाबाहो ! मैंने क्षत्रियों के मध्य में यह प्रतिज्ञा की है कि समस्त धनुर्धरों के देखते-देखते मैं युधिष्ठिर को कैद कर लूँगा ।

धनञ्जयेन चोत्सृष्टो वर्तते प्रमुखे नृप ।
तस्माद् व्यूहमुखं हित्वा नाहं योत्स्यामि फाल्गुनम् ॥१७

राजन् ! इस समय युधिष्ठिर अर्जुन से रहित होकर मेरे सम्मुख खड़े हैं, ऐसी दशा में मैं व्यूह का द्वार छोड़कर अर्जुन के साथ युद्ध करने के लिए नहीं जाऊँगा ।

राजा शूरः कृती दक्षो वैरमुत्पाद्य पाण्डवैः ।
वीर स्वयं प्रयाह्यत्र यत्र पार्थो धनञ्जयः ॥१८॥

तुम राजा, शूरवीर, विद्वान् और युद्ध-कुशल हो । वीर ! तुमने ही पाण्डवों के साथ वैर बाँधा है, अतः जहाँ अर्जुन गये हैं, वहाँ उनसे युद्ध करने के लिए स्वयं ही शीघ्रतापूर्वक जाओ ।

दुर्योधन उवाच

कथं त्वामप्यतिक्रान्तः सर्वशास्त्रभृतां वरम् ।
धनञ्जयो मया शक्य आचार्य प्रतिबाधितुम् ॥१९॥

दुर्योधन बोला—आचार्य ! जो सम्पूर्ण शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ आपको भी लाँघकर आगे बढ़ गया, वह अर्जुन मेरे द्वारा कैसे रोका जा सकता है ?

अपि शक्यो रणे जेतुं वज्रहस्तः पुरन्दरः ।
नार्जुनः समरे शक्यो जेतुं परपुरञ्जयः ॥२०॥

युद्ध में वज्रधारी इन्द्र को भी जीता जा सकता है, परन्तु युद्ध-भूमि में शत्रुओं की राजधानी पर विजय पानेवाले अर्जुन को जीतना असम्भव है ।

येन भोजश्च हार्दिक्यो भवाँश्च त्रिदशोपमः ।
अस्त्रप्रतापेन जितौ श्रुतायुश्च निबर्हितः ॥२१॥
तं कथं पाण्डवं युद्धे दहन्तमिव पावकम् ।
प्रतियोत्स्यामि दुर्धर्षं तमहं शस्त्रकोविदम् ॥२२॥

जिसने भोजवंशी कृतवर्मा और देवताओं के समान तेजस्वी आपको भी अपने अस्त्र के प्रताप से परास्त कर दिया, श्रुतायु और अनेक राजाओं का संहार कर डाला, युद्ध में अग्नि के समान शत्रुओं को दग्ध करनेवाले और अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञाता उस दुर्धर्ष वीर पाण्डुपुत्र अर्जुन के साथ मैं कैसे युद्ध कर सकूँगा ?

क्षमं च मन्यसे युद्धं मम तेनाद्य संयुगे ।
परवानस्मि भवति प्रेष्यवद् रक्ष मद्यशः ॥२३॥

यदि आज समर-भूमि में आप अर्जुन के साथ मेरा युद्ध करना उचित मानते हैं, तो मैं एक सेवक की भाँति आपकी आज्ञा के अधीन हूँ । आप मेरे यश की रक्षा कीजिए ।

द्रोण उवाच

सत्यं वदसि कौरव्य दुराधर्षो धनञ्जयः ।
अहं तु तत्करिष्यामि यथैनं प्रसहिष्यसि ॥२४॥

द्रोणाचार्य ने कहा—कुरुनन्दन ! तुम सत्य कहते हो । अर्जुन निश्चय ही दुर्जय वीर है, परन्तु मैं एक ऐसा उपाय कर दूँगा, जिससे तुम उसका वेग सह सकोगे ।

अद्भुतं चाद्य पश्यन्तु लोके सर्वधनुर्धराः ।
विषक्तं त्वयि कौन्तेयं वासुदेवस्य पश्यतः ॥२५॥

आज संसार के समस्त धनुर्धर श्रीकृष्ण के समक्ष ही कुन्तीपुत्र अर्जुन को तुम्हारे साथ युद्ध में उलझे रहने की अद्भुत घटना देखेंगे ।

एष ते कवचं राजँस्तथा बध्नामि काञ्चनम् ।
यथा न बाणा नास्त्राणि प्रहरिष्यन्ति ते रणे ॥२६॥

राजन् ! मैं यह सुवर्णमय कवच तुम्हारे शरीर में इस प्रकार बाँध देता हूँ, जिससे रणभूमि में छूटनेवाले बाण और अन्य अस्त्र तुम्हें चोट नहीं पहुँचा सकेंगे ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा त्वरन् द्रोणः स्पृष्ट्वाम्भो वर्म भास्वरम् ।
आबबन्धाद्भुततमं जपन् मन्त्रं यथाविधि ॥२७॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर द्रोणाचार्य ने तुरन्त आचमन करके दुर्योधन के शरीर में विधिपूर्वक मन्त्रजप के साथ-साथ वह अत्यन्त तेजस्वी अद्भुत कवच बाँध दिया ।

बद्ध्वा तु कवचं तस्य मन्त्रेण विधिपूर्वकम् ।
प्रेषयामास राजानं युद्धाय महते द्विजः ॥२८॥

मन्त्र द्वारा राजा दुर्योधन के शरीर में विधिपूर्वक कवच बाँधकर विप्रवर द्रोणाचार्य ने उसे महान् युद्ध के लिए भेज दिया ।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्याय।

द्रोणाचार्य और सात्यकि का अद्भुत युद्ध

सञ्जय उवाच

प्रविष्टयोर्महाराज पार्थवार्ष्णेययो रणे ।
दुर्योधने प्रयाते च पृष्ठतः पुरुषर्षभे ॥१॥
जवेनाभ्यद्रवन् द्रोणं महता निःस्वनेन च ।
पाण्डवाः सोमकैः सार्धं ततो युद्धमवर्तत ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! उस युद्धभूमि में जब श्रीकृष्ण तथा अर्जुन कौरव-सेना में घुस गये और पुरुषप्रवर दुर्योधन उनका पीछा करता हुआ आगे बढ़ गया, तब सोमकोंसहित पाण्डवों ने बड़ी भारी गर्जना के साथ द्रोणाचार्य पर वेगपूर्वक धावा किया, फिर तो वहाँ बड़े जोर से युद्ध होने लगा ।

रक्षमाणः स्वकं व्यूहं द्रोणोऽपि सह सैनिकैः ।
रुक्मपुंखाञ्शरानस्यन् युयुधानमुपाद्रवत् ॥३॥

द्रोणाचार्य ने भी अपने व्यूह की रक्षा करते हुए बहुत-से सैनिकों को साथ लेकर सुवर्णमय पंखवाले बाणों की वर्षा करते हुए वहाँ युयुधान [सात्यकि] पर आक्रमण किया ।

ततस्तौ द्रोणशैनेयौ युयुधाते परन्तपौ ।
शरैरनेकसाहस्रैस्ताडयन्तौ परस्परम् ॥४॥

फिर तो शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले द्रोणाचार्य और सात्यकि एक-दूसरे पर सहस्रों बाणों का प्रहार करते हुए युद्ध करने लगे ।

उभयोः पतिते छत्रे तथैव पतितौ ध्वजौ ।
उभौ रुधिरसिक्ताङ्गावुभौ च विजयैषिणौ ॥५॥

युद्ध करते-करते दोनों के छत्र कटकर गिर गये, ध्वज धराशायी हो गये और दोनों ही विजय की अभिलाषा रखते हुए खून से लथपथ हो रहे थे ।

स्रवद्भिः शोणितं गात्रैः प्रस्रुताविव वारणौ ।
अन्योन्यमभ्यविध्येतां जीवितान्तकरैः शरैः ॥६॥

सारे अङ्गों से रक्त की धारा बहने के कारण वे दोनों वीर मदवर्षी गजराजों के समान प्रतीत होते थे । वे एक-दूसरे को प्राणघातक बाणों से वेध रहे थे ।

यदस्त्रमस्यति द्रोणस्तदेवास्यति सात्यकिः ।
तमाचार्योऽप्यसम्भ्रान्तोऽयोधयच्छत्रुतापनः ॥७॥

द्रोणाचार्य जिस अस्त्र का प्रयोग करते, उसी का सात्यकि भी करते थे । शत्रुसन्तापक आचार्य द्रोण भी घबराहट छोड़कर सात्यकि से युद्ध करते रहे ।

ततः क्रुद्धो महाराज धनुर्वेदस्य पारगः ।
वधाय युयुधानस्य दिव्यमस्त्रमुदैरयत् ॥८॥

महाराज ! तत्पश्चात् धनुर्वेद के पारंगत विद्वान् द्रोणाचार्य ने क्रुद्ध होकर सात्यकि के वध के लिए एक दिव्यास्त्र प्रकट किया ।

तदाग्नेयं महाघोरं रिपुघ्नमुपलक्ष्य सः ।
दिव्यमस्त्रं महेष्वासो वारुणं समुदैरयत् ॥९॥

शत्रुओं का नाश करनेवाले उस अति भयंकर

आग्नेयास्त्र को देखकर महाधनुर्धर सात्यकि ने भी वारुण नामक दिव्यास्त्र का प्रयोग किया।

ततो युधिष्ठिरो राजा भीमसेनश्च पाण्डवः।
नकुलः सहदेवश्च पर्यरक्षन्त सात्यकिम् ॥१०॥

फिर तो राजा युधिष्ठिर, पाण्डुकुमार भीमसेन, नकुल और सहदेव सब ओर से सात्यकि की रक्षा करने लगे।

दुःशासनं पुरस्कृत्य राजपुत्राः सहस्रशः।
द्रोणमभ्युपपद्यन्त सपत्नैः परिवारितम् ॥११॥

उधर से सहस्रों राजकुमार दुःशासन को आगे करके शत्रुओं से घिरे हुए द्रोणाचार्य के पास उनकी रक्षा के लिए जा पहुँचे।

ततो युद्धमभूद् राजंस्तेषां तव च धन्विनाम्।
रजसा संवृते लोके शरजालसमावृते ॥१२॥

राजन्! तत्पश्चात् पाण्डवों के और आपके धनुर्धरों का परस्पर युद्ध होने लगा। उस समय सब लोग धूल से आवृत और बाणसमूह से आच्छादित हो गये।

सर्वमाविग्नमभवन्न प्राज्ञायत किञ्चन।
सैन्येन रजसा ध्वस्ते निर्मर्यादमवर्तत ॥१३॥

वहाँ का सब-कुछ उद्विग्न हो रहा था। सेना द्वारा उड़ाई हुई धूल से ध्वस्त होने के कारण किसी को कुछ ज्ञात नहीं होता था, इस प्रकार वहाँ मर्यादा-शून्य युद्ध चल रहा था।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

अर्जुन द्वारा अद्भुत जलाशय का निर्माण और श्रीकृष्ण द्वारा अश्व-परिचर्या

सञ्जय उवाच

तथा तेषु विषक्तेषु सैन्येषु जयगृद्धिषु।
अर्जुनो वासुदेवश्च सैन्धवायैव जग्मतुः ॥१॥

विजय-अभिलाषी वे समस्त सेनाएँ जब युद्ध में इस प्रकार जूझ रही थीं तब अर्जुन और श्रीकृष्ण सिन्धुराज जयद्रथ को प्राप्त करने के लिए ही आगे बढ़ते चले गये।

यत्र यत्र रथो याति पाण्डवस्य महात्मनः।
तत्र तत्रैव दीर्यन्ते सेनास्तव विशाम्पते ॥२॥

नरेश्वर! महामना पाण्डुपुत्र अर्जुन का रथ जहाँ-जहाँ जाता था, वहीं-वहीं आपकी सेना में दरार पड़ जाती थी।

प्रविश्य तु रणे राजन् केशवः परवीरहा।
सेनामध्ये हयांस्तूर्णं नोदयामास भारत ॥३॥

राजन्! भरतनन्दन! शत्रु वीरों का संहार करनेवाले श्रीकृष्ण ने युद्धभूमि में सेना में प्रविष्ट होकर अपने घोड़ों को तीव्र गति से हाँका।

ततस्तस्य रथौघस्य मध्यं प्राप्य हयोत्तमाः।
कृच्छ्रेण रथमूहुस्तं क्षुत्पिपासासमन्विताः ॥४॥

तत्पश्चात् रथियों के समूह के मध्यभाग में पहुँचकर भूख और प्यास से पीड़ित हुए वे घोड़े बड़ी कठिनाई से उस रथ को खेंच पा रहे थे।

एतस्मिन्नन्तरे वीरावावन्त्यौ भ्रातरौ नृप।
सहसेनौ समार्च्छेतां पाण्डवं क्लान्तवाहनम् ॥५॥

प्रजेश्वर! इसी समय अवन्ती के वीर राजकुमार दोनों भाई विन्द और अनुविन्द थके हुए घोड़ोंवाले पाण्डुपुत्र अर्जुन का सामना करने के लिए अपनी सेना के साथ आये।

तयोस्तु धनुषी चित्रे भल्लाभ्यां श्वेतवाहनः।
चिच्छेद समरे तूर्णं ध्वजौ च कनकोज्ज्वलौ ॥६॥

श्वेत घोड़ोंवाले अर्जुन ने युद्धभूमि में दो बाणों द्वारा उनके दोनों विचित्र धनुषों और सुवर्ण के समान प्रकाशित होनेवाले दोनों ध्वजों को भी तुरन्त ही काट डाला।

ज्येष्ठस्य च शिरः कायात् क्षुरप्रेण न्यकृन्तत।
स पपात हतः पृथ्व्यां वातरुग्ण इव द्रुमः ॥७॥

तत्पश्चात् एक क्षुरप्र द्वारा बड़े भाई विन्द का मस्तक धड़ से काट दिया। विन्द आँधी द्वारा उखाड़े हुए वृक्ष के समान मरकर पृथिवी पर गिर पड़ा।

विन्दं तु निहतं दृष्ट्वा ह्यनुविन्दः प्रतापवान् ।
अभ्यवर्तत संग्रामे गदां गृह्य महाबलः ॥८॥

विन्द को मारा गया देख महाबली और प्रतापी अनुविन्द हाथ में गदा लेकर रणभूमि में डटा रहा ।

तस्यार्जुनः शरैः षड्भिर्ग्रीवां पादौ भुजौ शिरः ।
निचकर्त स संछिन्नः पपाताद्रिचयो यथा ॥९॥

तब अर्जुन ने छह बाणों द्वारा उसकी गर्दन, दोनों पैरों, दोनों भुजाओं और सिर को भी काट डाला । इस प्रकार छिन्न-भिन्न होकर वह पर्वत-समूह के समान धराशायी हो गया ।

ततस्तौ निहतौ दृष्ट्वा तयो राजन् पदानुगाः ।
अभ्यद्रवन्त संक्रुद्धाः किरन्तः शतशः शरान् ॥१०॥

राजन् ! तब उन दोनों भाइयों को मारा गया देख उनके सेवकगण अत्यन्त क्रुद्ध हो सैकड़ों बाणों की वर्षा करते हुए अर्जुन पर टूट पड़े ।

तानर्जुनः शरैस्तूर्णं निहत्य भरतर्षभ ।
व्यरोचत यथा वह्निर्दावं दग्ध्वा हिमात्यये ॥११॥

भरतभूषण ! अर्जुन बाणों द्वारा शीघ्र ही उन सबका संहार करके ग्रीष्म-ऋतु में वन को जलाकर प्रकाशित होनेवाले अग्निदेव के समान सुशोभित हुए ।

तं दृष्ट्वा कुरवस्त्रस्ताः प्रहृष्टाश्चाभवन् पुनः ।
अभ्यवर्तन्त पार्थं च समन्ताद् भरतर्षभ ॥१२॥

भरतभूषण ! उन्हें देखकर कौरव-सैनिक पहले तो भयभीत हुए, फिर प्रसन्न हो गये । वे चारों ओर से कुन्तीपुत्र का सामना करने के लिए डट गये ।

श्रान्तं चैनं समालक्ष्य ज्ञात्वा दूरे च सैन्धवम् ।
सिंहनादेन महता सर्वतः पर्यवारयन् ॥१३॥

अर्जुन को थका हुआ देख और सिन्धुराज जयद्रथ को उनसे बहुत दूर जानकर आपके सैनिकों ने महान् सिंहनाद करते हुए उन्हें सब ओर से घेर लिया ।

तांस्तु दृष्ट्वा सुसंरब्धानुत्स्मयन् पुरुषर्षभः ।
शनकैरिव दाशार्हमर्जुनो वाक्यमब्रवीत् ॥१४॥

उन सबको क्रोध में भरा हुआ देख पुरुष शिरोमणि अर्जुन ने मुस्कराते हुए धीरे-धीरे श्रीकृष्ण से कहा—

शरार्दिताश्च ग्लानाश्च हया दूरे च सैन्धवः ।
किमिहानन्तरं कार्यं ज्यायिष्ठं तव रोचते ॥१५॥

"मेरे घोड़े बाणों से पीड़ित हो बहुत थक गये हैं और सिन्धुराज जयद्रथ अभी बहुत दूर है, अतः इस समय यहाँ कौन-सा कार्य आपको श्रेष्ठ प्रतीत होता है ?

मम त्वनन्तरं कृत्यं यद् वै तत् त्वं निबोध मे ।
हयान् विमुच्य हि सुखं विशल्यान् कुरु माधव ॥१६॥

"माधव ! मेरी दृष्टि में इस समय जो कर्तव्य है, वह बताता हूँ, आप मुझसे सुनिए । आप घोड़ों को खोलकर इन्हें सुख पहुँचाने के लिए इनके शरीर से बाण निकाल दीजिए ।"

एवमुक्तस्तु पार्थेन केशवः प्रत्युवाच तम् ।
ममाप्येतन्मतं पार्थ यदिदं ते प्रभाषितम् ॥१७॥

अर्जुन के ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण ने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—"पार्थ ! तुमने इस समय जो बात कही है, वही मुझे भी अभीष्ट है ।"

अर्जुन उवाच

अहमावारयिष्यामि सर्वसैन्यानि केशव ।
त्वमप्यत्र यथान्यायं कुरु कार्यमनन्तरम् ॥१८॥

अर्जुन ने कहा—केशव ! मैं इन समस्त सेनाओं को रोक रखूँगा । आप भी यहाँ इस समय करने योग्य यथोचित कार्य को सम्पन्न करें ।

सञ्जय उवाच

सोऽवतीर्य रथोपस्थादसम्भ्रान्तो धनञ्जयः ।
गाण्डीवं धनुरादाय तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥१९॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! अर्जुन बिना किसी घबराहट के रथ की बैठक से उतर पड़े और गाण्डीव धनुष हाथ में लेकर पर्वत के समान अविचल भाव से खड़े हो गये ।

धृतराष्ट्र उवाच

अर्जुने धरणीं प्राप्ते हयहस्ते च केशवे ।
एतदन्तरमासाद्य कथं पार्थो न घातितः ॥२०॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय ! जब अर्जुन धरती पर खड़े हो गये और श्रीकृष्ण ने घोड़ों की चिकित्सा में हाथ लगाया, तब यह अवसर पाकर मेरे सैनिकों ने पृथापुत्र का वध क्यों नहीं कर डाला ?

सञ्जय उवाच

सद्यः पार्थिव पार्थेन निरुद्धाः सर्वपार्थिवाः ।
रथस्था धरणीस्थेन वाक्यमच्छान्दसं यथा ॥२१॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! उस समय अर्जुन ने पृथिवी पर खड़े होकर रथ पर बैठे हुए समस्त राजाओं को सहसा उसी प्रकार रोक दिया, जैसे वेदविरुद्ध वाक्य अग्राह्य कर दिया जाता है ।

स पार्थः पार्थिवान्सर्वान्भूमिस्थोऽपि रथस्थितान् ।
एको निवारयामास लोभः सर्वगुणानिव ॥२२॥

अर्जुन ने अकेले ही पृथिवी पर खड़े रहकर भी रथ पर बैठे हुए समस्त राजाओं को वैसे ही रोक दिया, जैसे लोभ सम्पूर्ण गुणों का निवारण कर देता है ।

ततो जनार्दनः संख्ये प्रियं पुरुषसत्तमम् ।
असम्भ्रान्तो महाबाहुरर्जुनं वाक्यमब्रवीत् ॥२३॥

तत्पश्चात् सम्भ्रमरहित महाबाहु श्रीकृष्ण ने युद्धस्थल में अपने प्रिय सखा पुरुषप्रवर अर्जुन से यह बात कही—

उदपानमिहाश्वानां नालमस्ति रणेऽर्जुन ।
परीप्सन्ते जलं चेमे पेयं न त्ववगाहनम् ॥२४॥

"अर्जुन ! यहाँ घोड़ों को पीने के लिए पर्याप्त जल नहीं है । ये पीने योग्य जल चाहते हैं । इन्हें स्नान की इच्छा नहीं है ।"

इदमस्तीत्यसम्भ्रान्तो ब्रुवन्नस्त्रेण मेदिनीम् ।
अभिहत्यार्जुनश्चक्रे वाजिपानं सरः शुभम् ॥२५॥

'यह रहा इनके पीने के लिए जल'—ऐसा कहकर अर्जुन ने बिना किसी घबराहट के अस्त्र द्वारा पृथिवी पर आघात करके घोड़ों के लिए पीने योग्य जल से भरा हुआ सुन्दर सरोवर उत्पन्न कर दिया ।

वासुदेवो रथात् तूर्णमवतीर्य महाद्युतिः ।
मोचयामास तुरगान् विनुन्नान् कङ्कपत्रिभिः ॥२६॥

सरोवर के निर्माण हो जाने पर महातेजस्वी श्रीकृष्ण ने तुरन्त ही रथ से उतरकर कंकपत्रयुक्त बाणों से क्षत-विक्षत हुए घोड़ों को खोल दिया ।

शल्यानुद्धृत्य पाणिभ्यां परिमृज्य च तान् हयान् ।
उपावर्त्य यथान्यायं पाययामास वारि सः ॥२७

उन्होंने अपने दोनों हाथों से बाण निकालकर उन घोड़ों को मला और यथोचित रूप से टहलाकर उन्हें पानी पिलाया ।

स ताँल्लब्धोदकान्स्नाताञ्जग्धान्नान्विगतक्लमान् ।
योजयामास संहृष्टः पुनरेव रथोत्तमे ॥२८॥

श्रीकृष्ण ने पानी पिलाकर उन्हें नहलाया, घास चरायी, दाना खिलाया और जब उनकी सारी थकावट दूर हो गई, तब पुनः उन्हें उस उत्तम रथ में बड़ी प्रसन्नता के साथ जोत दिया ।

स तं रथवरं शौरिः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
समास्थाय महातेजाः सार्जुनः प्रययौ द्रुतम् ॥२९॥

तब समस्त शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ महातेजस्वी श्रीकृष्ण अर्जुनसहित उस उत्तम रथ पर सवार होकर बड़े वेग के साथ आगे बढ़े ।

रथं रथवरस्याजौ युक्तं लब्धोदकैर्हयैः ।
दृष्ट्वा कुरुबलश्रेष्ठाः पुनर्विमनसोऽभवन् ॥३०॥

रथियों में श्रेष्ठ अर्जुन के उस रथ को युद्धभूमि में पानी पीकर सुस्ताये हुए घोड़ों से जुता हुआ देख कौरव-सेना के श्रेष्ठ वीर पुनः उदास हो गये ।

विनिःश्वसन्तस्ते राजन् भग्नदंष्ट्रा इवोरगाः ।
धिगहो धिग्गतः पार्थः कृष्णश्चेत्यब्रुवन् पृथक् ॥३१॥

राजन् ! टूटे दाँतवाले सर्पों के समान लम्बे-लम्बे श्वास लेते हुए वे पृथक्-पृथक् कहने लगे—"अहो ! हमें धिक्कार है ! धिक्कार है, अर्जुन और श्रीकृष्ण तो चले गये ।"

तौ दृष्ट्वा तु व्यतिक्रान्तौ हृषीकेशधनञ्जयौ ।
सिन्धुराजस्य रक्षार्थं पराक्रान्तः सुतस्तव ॥३२॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन सारी सेना को लाँघते हुए आगे बढ़े जा रहे हैं, यह देख आपके पुत्र दुर्योधन ने जयद्रथ की रक्षा के लिए पराक्रम दिखाना आरम्भ किया ।

द्रोणेनाबद्धकवचो राजा दुर्योधनस्ततः ।
ययावेकरथेनाजौ हयसंस्कारवित् प्रभो ॥३३॥

प्रभो ! घोड़ों के संस्कार को जाननेवाला राजा दुर्योधन उस समय आचार्य द्रोण के बाँधे हुए कवच को धारण करके एकमात्र रथ की सहायता से रण-भूमि में गया था ।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अर्जुन तथा दुर्योधन का युद्ध और दुर्योधन की पराजय

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा दुर्योधनं कृष्णो व्यतिक्रान्तं सहानुगम्।
अब्रवीदर्जुनं राजन् प्राप्तकालमिदं वचः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! सेवकोंसहित दुर्योधन सबको लाँघकर सामने आ गया—यह देखकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से यह समयोचित वचन कहा—

वासुदेव उवाच

दुर्योधनमतिक्रान्तमेनं पश्य धनञ्जय।
अत्यद्भुतमिमं मन्ये नास्त्यस्य सदृशो रथः ॥२॥

श्रीकृष्ण बोले—धनञ्जय! सबको लाँघकर सामने आये हुए इस दुर्योधन को देखो। मैं तो इसे अत्यद्भुत योद्धा मानता हूँ। इस जैसा दूसरा कोई रथी नहीं है।

दूरपाती महेष्वासः कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः।
दृढास्त्रश्चित्रयोधी च धार्तराष्ट्रो महाबलः ॥३॥

यह महाबली धृतराष्ट्रपुत्र दूर तक लक्ष्य को मार गिरानेवाला, महान् धनुर्धर, अस्त्रविद्या में निपुण और युद्ध-दुर्मद है। इसके अस्त्रशस्त्र सुदृढ़ हैं और यह विचित्र रीति से युद्ध करनेवाला है।

तेन युद्धमहं मन्ये प्राप्तकालं तवानघ।
अत्र वो द्यूतमायत्तं विजयायेतराय वा ॥४॥

निष्पाप अर्जुन! मैं समझता हूँ, इस समय इसी के साथ युद्ध करने का समय है। यहाँ तुम दोनों में जो रणद्यूत होनेवाला है, वही विजय अथवा पराजय का कारण होगा।

अत्र क्रोधविषं पार्थ विमुञ्च चिरसम्भृतम्।
एषमूलमनर्थानां पाण्डवानां महारथः ॥५॥

पार्थ! तुम बहुत दिनों से सँजोकर रखे हुए अपने क्रोधरूपी विष को इसपर छोड़ो। महारथी दुर्योधन ही पाण्डवों के लिए सारे अनर्थों की जड़ है।

दिष्ट्या त्विदानीं सम्प्राप्त एष ते बाणगोचरम्।
यथायं जीवितं जह्यात् तथा कुरु धनञ्जय ॥६॥

धनञ्जय! सौभाग्यवश यह दुर्योधन इस समय तुम्हारे बाणों के पथ में आ गया है। तुम ऐसा प्रयत्न करो जिससे यह अपने प्राणों को त्याग दे।

सञ्जय उवाच

तं तथेत्यब्रवीत् पार्थः कृत्यरूपमिदं मम।
सर्वमन्यदनादृत्य गच्छ यत्र सुयोधनः ॥७॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! तब कुन्तीपुत्र अर्जुन ने बहुत अच्छा कहकर श्रीकृष्ण से कहा—"यह मेरे लिए सबसे बड़ा कर्तव्य प्राप्त हुआ है। अन्य सब [योद्धाओं] की अवहेलना करके आप वहीं चलिए, जहाँ दुर्योधन खड़ा है।

येनैतद् दीर्घकालं नो भुक्तं राज्यमकण्टकम्।
अप्यस्य युधि विक्रम्य छिन्द्यां मूर्धानमाहवे ॥८॥

"जिसने दीर्घकाल तक हमारे इस अकण्टक राज्य का उपभोग किया है, मैं युद्ध में पराक्रम करके उस दुर्योधन के सिर को धड़ से अलग कर दूँगा।"

इत्येवं वादिनौ कृष्णौ हृष्टौ श्वेतान् हयोत्तमान्।
प्रेषयामासतुः संख्ये प्रेप्सन्तौ तं नराधिपम् ॥९॥

इस प्रकार की बातें करते हुए उन दोनों कृष्णों [कृष्ण और अर्जुन] ने युद्धभूमि में राजा दुर्योधन को अपना लक्ष्य बनाने के लिए हर्षपूर्वक अपने उत्तम सफेद घोड़ों को उसकी ओर बढ़ाया।

दृष्ट्वा तु पार्थं संरब्धं वासुदेवं च मारिष।
प्रहसन्नेव पुत्रस्ते योद्धुकामः समाह्वयत् ॥१०॥

आर्य! अर्जुन और श्रीकृष्ण को अत्यन्त रोष में भरे देख आपके पुत्र दुर्योधन ने जोर-जोर से हँसते हुए ही युद्ध की इच्छा से उन दोनों को ललकारा।

ततः प्रहृष्टो दाशार्हः पाण्डवश्च धनञ्जयः।
व्यक्रोशेतां महानादं दध्मतुश्चाम्बुजोत्तमौ ॥११॥

तब हर्ष में भरे हुए श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र धनञ्जय ने बड़े जोर से सिंहनाद किया और अपने उत्तम शंखों को बजाया।

तथा तु दृष्ट्वा योधास्ते प्रहृष्टौ कृष्णपाण्डवौ।
हतो राजा हतो राजेत्यूचिरे च भयार्दिताः ॥१२॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन को इस प्रकार हर्षमग्न देख आपके समस्त सैनिक भय से पीड़ित हो—"हाय!

राजा दुर्योधन मारे गये, मारे गये"—ऐसा कहते हुए कोलाहल करने लगे।

जनस्य संनिनादं तु श्रुत्वा दुर्योधनोऽब्रवीत्।
व्येतु वो भीरहं कृष्णौ प्रेषयिष्यामि मृत्यवे ॥१३॥

लोगों का वह आर्तनाद सुनकर दुर्योधन बोला—"मैं इन दोनों कृष्णों को मौत के घाट उतार दूंगा, अतः तुम लोगों का भय दूर हो जाना चाहिए।"

इत्युक्त्वा सैनिकान् सर्वाञ्जयापेक्षी नराधिपः।
पार्थमाभाष्य संरम्भादिदं वचनमब्रवीत् ॥१४॥

अपने समस्त सैनिकों से ऐसा कहकर विजय की अभिलाषा रखनेवाले राजा दुर्योधन ने कुन्तीपुत्र अर्जुन को सम्बोधित करके क्रोधपूर्वक यह वचन कहा—

पार्थ यच्छिक्षितं तेऽस्त्रं दिव्यं पार्थिवमेव च।
तद् दर्शय मयि क्षिप्रं यदि जातोऽसि पाण्डुना ॥१५॥

"पार्थ! यदि तुम पाण्डु के पुत्र हो तो तुमने जो लौकिक और दिव्य-अस्त्रों की शिक्षा प्राप्त की है, उन सबका मुझपर शीघ्र प्रयोग करो।"

एवमुक्त्वार्जुनं राजा त्रिभिर्मर्मातिगैः शरैः।
अभ्यविध्यन्महावेगैश्चतुर्भिश्चतुरो हयान् ॥१६॥

राजन्! अर्जुन से ऐसा कहकर राजा दुर्योधन ने तीन अति वेगशाली मर्मभेदी बाणों द्वारा उन्हें बींध डाला और चार बाणों द्वारा उनके चारों घोड़ों को भी घायल कर दिया।

वासुदेवं च दशभिः प्रत्यविध्यत् महोरसि।
प्रतोदं चास्य भल्लेन छित्वा भूमावपातयत् ॥१७॥

इस प्रकार दस बाण मारकर उसने श्रीकृष्ण की छाती को बींध डाला और एक भल्ल से उनके चाबुक को काटकर पृथिवी पर गिरा दिया।

तं चतुर्दशभिः पार्थश्चित्रपुङ्खैः शिलाशितैः।
अविध्यत् तूर्णमव्यग्रस्ते चाभ्रश्यन्त वर्मणः ॥१८॥

तब अर्जुन ने बिना किसी घबराहट के सान पर चढ़ाकर तेज किये हुए विचित्र पंखवाले चौदह बाणों द्वारा तुरन्त उसे घायल कर दिया, परन्तु वे बाण दुर्योधन के कवच पर जाकर फिसल गये।

तेषां नैष्फल्यमालोक्य पुनर्नव च पञ्च च।
प्राहिणोन्निशितान् बाणांस्ते चाभ्रश्यन्तवर्मणः ॥१९॥

अपने बाणों को निष्फल हुआ देख अर्जुन ने फिर चौदह तीखे बाण चलाये, परन्तु वे भी कवच से फिसल गये।

अष्टाविंशांस्तु तान्बाणानस्तान्विप्रेक्ष्य निष्फलान्।
अब्रवीत् परवीरघ्नः कृष्णोऽर्जुनमिदं वचः ॥२०॥

अर्जुन द्वारा चलाये गये उन अट्ठाईस बाणों को व्यर्थ हुआ देख शत्रुवीरों के संहारक श्रीकृष्ण ने कहा—

अदृष्टपूर्वं पश्यामि शिलानामिव सर्पणम्।
त्वया सम्प्रेषिताः पार्थ नार्थं कुर्वन्ति पत्रिणः ॥२१॥

"पार्थ! आज तो मैं पत्थरों के चलने के समान ऐसी बात देख रहा हूँ, जिसे पहले कभी नहीं देखा था। तुम्हारे चलाये हुए बाण तो कोई काम ही नहीं कर रहे हैं।

कच्चिद् गाण्डीवजः प्राणस्तथैव भरतर्षभ।
मुष्टिश्च ते यथापूर्वं भुजयोश्च बलं तव ॥२२॥

"भरतभूषण! तुम्हारे गाण्डीव-धनुष की शक्ति पहले जैसी ही है न? तुम्हारी मुट्ठी और बाहुबल भी पूर्ववत् ही हैं न?

विस्मयो मे महान् पार्थ तव दृष्ट्वा शरानिमान्।
व्यर्थान् निपतितान् संख्ये दुर्योधनरथं प्रति ॥२३॥

"कुन्तीकुमार! आज रणभूमि में दुर्योधन के रथ के पास व्यर्थ होकर गिरे हुए तुम्हारे इन बाणों को देखकर मुझे महान् आश्चर्य हो रहा है।

वज्राशनिसमा घोराः परकायावभेदिनः।
शराः कुर्वन्ति ते नार्थं पार्थ काद्य विडम्बना ॥२४॥

"पार्थ! वज्र तथा विद्युत् के समान भयंकर और शत्रुओं के शरीर को विदीर्ण कर देनेवाले तुम्हारे ये तीर आज कुछ काम नहीं कर रहे हैं, यह कैसी विडम्बना है?"

अर्जुन उवाच

द्रोणेनैषा मतिः कृष्ण धार्तराष्ट्रे निवेशिता।
अभेद्या हि ममास्त्राणामेषा कवचधारणा ॥२५॥

अर्जुन ने कहा—श्रीकृष्ण! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि दुर्योधन को द्रोणाचार्य ने अभेद्य कवच बाँधकर उसमें यह अद्भुत शक्ति स्थापित कर दी है। यह कवचधारणा मेरे अस्त्रों के लिए अभेद्य है।

एष दुर्योधनः कृष्ण द्रोणेन विहितामिमाम् ।
तिष्ठत्यभीतवत् संख्ये बिभ्रत् कवचधारणाम् ।।२६।।

श्रीकृष्ण ! आचार्य द्रोण द्वारा विधिपूर्वक धारण कराई हुई इस कवचधारणा को ग्रहण करके यह दुर्योधन रणभूमि में निर्भय-सा खड़ा है ।

यत्त्वत्र विहितं कार्यं नैष तद् वेत्ति माधव ।
स्त्रीवदेष बिभर्त्येतां युक्तां कवचधारणाम् ।।२७।।

माधव ! इसे धारण करने पर जिस कर्तव्य के पालन का विधान किया गया है, उससे यह अनभिज्ञ है । जैसे स्त्रियाँ आभूषण पहन लेती हैं, वैसे ही यह दूसरे के द्वारा दी हुई इस कवचधारणा को अपनाये हुए है ।

पश्य बाह्वोश्च मे वीर्यं धनुषश्च जनार्दन ।
पराजयिष्ये कौरव्यं कवचेनापि रक्षितम् ।।२८।।

जनार्दन ! अब आप मेरी भुजाओं और धनुष का बल देखिए । मैं कवच द्वारा सुरक्षित होने पर भी दुर्योधन को परास्त कर दूँगा ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनो बाणमभिमन्त्र्य व्यकर्षयत् ।
मानवास्त्रेण मानार्हस्तीक्ष्णावरणभेदिना ।।२६।।

सञ्जय कहते हैं—हे राजन् ! ऐसा कहकर पूजनीय अर्जुन ने कठोर आवरण का भेदन करनेवाले मानवास्त्र से अपने बाणों को अभिमन्त्रित करके धनुष की डोरी खींची ।

विकृष्यमाणांस्तेनैव धनुर्मध्यगताञ्शरान् ।
तानस्यास्त्रेण चिच्छेद द्रौणिः सर्वास्त्रघातिना ।।३०।।

धनुष के बीच में रखकर अर्जुन द्वारा खींचे जानेवाले उन बाणों को अश्वत्थामा ने सर्वास्त्रघातक नामक अस्त्र द्वारा काट डाला ।

तान्निकृत्तानिषून्दृष्ट्वा दूरतो ब्रह्मवादिना ।
न्यवेदयत् केशवाय विस्मितः श्वेतवाहनः ।।३१।।

ब्रह्मवादी अश्वत्थामा द्वारा दूर से ही काट दिये गये उन बाणों को देखकर श्वेतवाहन अर्जुन चकित हो गये और श्रीकृष्ण से निवेदन किया—

नैतदस्त्रं मया शक्यं द्विः प्रयोक्तुं जनार्दन ।
अस्त्रं मामेव हन्याद्धि हन्याच्चापि बलं मम ।।३२।।

"जनार्दन ! इस अस्त्र का मैं दो बार प्रयोग नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने पर यह मुझे ही मार डालेगा और मेरी सेना का भी संहार कर देगा ।"

ततो दुर्योधनः कृष्णौ नवभिर्नवभिः शरैः ।
अविध्यत रणे राजञ्शरैराशीविषोपमैः ।।३३।।

राजन् ! इसी समय दुर्योधन ने युद्धभूमि में विषधर सर्प के समान भयंकर नौ-नौ बाणों से श्रीकृष्ण और अर्जुन को घायल कर दिया ।

भूय एवाभ्यवर्षच्च समरे कृष्णपाण्डवौ ।
शरवर्षेण महता ततोऽहृष्यन्त तावकाः ।।३४।।

उसने रणक्षेत्र में भीषण बाण-वृष्टि करके श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुन पर पुनः बाणों की झड़ी लगा दी । इससे आपके सैनिक अति प्रसन्न हुए ।

ततः क्रुद्धो रणे पार्थः सृक्किणी परिसंलिहन् ।
नापश्यच्च ततोऽस्याङ्गं यन्न स्याद्वर्मरक्षितम् ।।३५।।

तब तो युद्धभूमि में कुपित हुए अर्जुन अपने मुँह के कोने चाटने लगे । उन्हें दुर्योधन का कोई भी ऐसा अङ्ग दिखाई न दिया, जो कवच से सुरक्षित न हो ।

ततोऽस्य निशितैर्बाणैः सुमुक्तैरन्तकोपमैः ।
हयांश्चकार निर्देहानुभौ च पार्ष्णिसारथी ।।३६।।

तत्पश्चात् अर्जुन ने सम्यक् छोड़े हुए कालोपम तीखे बाणों द्वारा दुर्योधन के चारों घोड़ों और दोनों पृष्ठ-रक्षकों को मार डाला ।

धनुरस्याच्छिनत् तूर्णं हस्तवापं च वीर्यवान् ।
रथं च शकलीकर्तुं सव्यसाची प्रचक्रमे ।।३७।।

फिर पराक्रमी सव्यसाची अर्जुन ने तुरन्त ही उसके धनुष तथा दस्ताने को काट दिया और उसके रथ के टुकड़े-टुकड़े करना आरम्भ किया ।

दुर्योधनं च बाणाभ्यां तीक्ष्णाभ्यां विरथीकृतम् ।
आविध्यद्धस्ततलयोरुभयोरर्जुनस्तदा ।।३८।।

उस समय अर्जुन ने रथहीन हुए दुर्योधन की दोनों हथेलियों में दो पैने बाणों द्वारा गहरी चोट पहुँचाई ।

प्रयत्नज्ञो हि कौन्तेयो नखमांसान्तरेषुभिः ।
स वेदनाभिराविग्नः पलायनपरायणः ।।३६।।

उपाय के ज्ञाता कुन्तीपुत्र ने अपने तीरों द्वारा दुर्योधन के नखों के मांस में प्रहार किया। तब वह वेदना से व्याकुल हो युद्धभूमि से भाग चला।

तं कृच्छ्रामापदं प्राप्तं दृष्ट्वा परमधन्विनः।
समापेतुः परीप्सन्तो धनञ्जयशरार्दितम् ॥४०॥

अर्जुन के बाणों से पीड़ित हुए दुर्योधन को भारी संकट में पड़ा हुआ देख श्रेष्ठ धनुर्धर योद्धा उसकी रक्षा के लिए आ पहुँचे।

तं रथैर्बहुसाहस्रैः कल्पितैः कुञ्जरैर्हयैः।
पदात्योघैश्च संरब्धैः परिवव्रुर्धनञ्जयम् ॥४१॥

उन्होंने कई सहस्र रथों, समलंकृत हाथियों, घोड़ों और क्रोध में भरे हुए पैदल सैनिकों द्वारा अर्जुन को चारों ओर से घेर लिया।

ततोऽर्जुनोऽस्त्रवीर्येण निजघ्ने तां वरूथिनीम्।
तत्र व्यङ्गीकृताः पेतुः शतशोऽथ रथद्विपाः ॥४२॥

फिर तो अर्जुन भी अपने अस्त्रबल से उस कौरव-सेना को यमलोक पठाने लगे। वहाँ सैकड़ों रथ और हाथी अङ्ग-भङ्ग होने के कारण धराशायी हो गये।

तैर्विमुक्तो रथो रेजे वाय्वीरित इवाम्बुदः।
जयद्रथस्य गोप्तारस्ततः क्षुब्धाः सहानुगाः ॥४३॥

उनके घेरे से मुक्त हुआ अर्जुन का रथ वायु द्वारा संचालित मेघ के समान शोभा पाने लगा। इससे जयद्रथ के रक्षक सेवकोंसहित क्षुब्ध हो उठे।

ते दृष्ट्वा सहसा पार्थं गोप्तारः सैन्धवस्य तु।
चक्रुर्नादान् महेष्वासाः कम्पयन्तो वसुन्धराम् ॥४४॥

जयद्रथ की रक्षा में नियुक्त हुए महाधनुर्धर वीर सहसा अर्जुन को वहाँ उपस्थित देख पृथिवी को कँपाते हुए जोर-जोर से गर्जना करने लगे।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

युधिष्ठिर का सात्यकि को अर्जुन की सहायतार्थ भेजना

धृतराष्ट्र उवाच

अर्जुने सैन्धवं प्राप्ते भारद्वाजेन संवृताः।
पञ्चालाः कुरुभिः सार्धं किमकुर्वत सञ्जयः ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय! जब अर्जुन सिन्धुराज जयद्रथ के निकट पहुँच गये, तब द्रोणाचार्य द्वारा रोके हुए पाञ्चाल सैनिकों ने कौरवों के साथ क्या किया?

सञ्जय उवाच

अपराह्णे महाराज संग्रामे लोमहर्षणे।
पाञ्चालानां कुरूणां च द्रोणद्यूतमवर्तत ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! उस दिन दोपहर-पश्चात् रोमाञ्चकारी युद्ध चल रहा था, पाञ्चालों और कौरवों में द्रोणाचार्य को दाँव पर रखकर द्यूत-सा होने लगा।

पाञ्चाला हि जिघांसन्तो द्रोणं संहृष्टचेतसः।
अभ्यमुञ्चन्त गर्जन्तः शरवर्षाणि मारिष ॥३॥

आर्य! पाञ्चाल-सैनिक द्रोणाचार्य को मार डालने की इच्छा से प्रसन्नचित्त होकर गर्जना करते हुए उनपर बाणों की वर्षा करने लगे।

ततस्तु तुमुलस्तेषां संग्रामोऽवर्ततादभुतः।
पाञ्चालानां कुरूणां च घोरो देवासुरोपमः ॥४॥

तत्पश्चात् उन पाञ्चालों और कौरवों में घोर देवासुर-संग्राम के समान अद्भुत एवं भयंकर युद्ध होने लगा।

वर्तमाने तथा रौद्रे तस्मिन् वीरवरक्षये।
अशृणोत् सहसा पार्थः पाञ्चजन्यस्य निःस्वनम् ॥५॥

बड़े-बड़े वीरों का संहार करनेवाला वह भयंकर युद्ध चल ही रहा था कि सहसा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने पाञ्चजन्य की ध्वनि सुनी।

कश्मलाभिहतो राजा चिन्तयामास पाण्डवः।
न नूनं स्वस्ति पार्थाय यथा नदति शंखराट् ॥६॥

तब पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर मोह के वशीभूत होकर इस प्रकार चिन्ता करने लगे—'जिस प्रकार शंखराज पाञ्चजन्य की ध्वनि हो रही है, उससे प्रतीत होता है, निश्चय ही अर्जुन की कुशल नहीं है।'

एवं स चिन्तयित्वा तु व्याकुलेनान्तरात्मना ।
अजातशत्रुः कौन्तेयः सात्वतं प्रत्यभाषत ॥७॥

ऐसा सोचकर अजातशत्रु कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर का हृदय व्याकुल हो उठा । फिर वे सात्यकि को सम्बोधित करते हुए बोले—

युधिष्ठिर उवाच

यः स धर्मः पुरा दृष्टः सद्भिः शैनेय शाश्वतः ।
साम्पराये सुहृत्कृत्ये तस्य कालोऽयमागतः ॥८॥

युधिष्ठिर बोले—शैनेय ! सज्जनों ने पूर्वकाल में संकट के समय एक मित्र के कर्तव्य के विषय में जिस सनातन धर्म का साक्षात्कार किया है, आज उसी के पालन का अवसर उपस्थित हुआ है ।

यो हि प्रीतमना नित्यं यश्च नित्यमनुव्रतः ।
स कार्ये साम्पराये तु नियोज्य इति मे मतिः ॥९॥

जो सदा प्रसन्नचित्त रहता हो, जो सदा अपने प्रति अनुराग रखता हो, उसी को विपत्ति में किसी महत्त्वपूर्ण कार्य का सम्पादन करने के लिए नियुक्त करना चाहिए, ऐसा मेरा मत है ।

स त्वं भ्रातुर्वयस्यस्य गुरोरपि च संयुगे ।
कुरु कृच्छ्रे सहायार्थमर्जुनस्य नरर्षभ ॥१०॥

नरश्रेष्ठ ! अर्जुन तुम्हारा भाई, मित्र एवं गुरु है । वह रणक्षेत्र में संकट में पड़ा हुआ है, अतः तुम उसकी सहायता के लिए प्रयत्न करो ।

पुरस्तात् सैन्धवानीकं द्रोणानीकं च पृष्ठतः ।
बहुत्वाद्धि नरव्याघ्र देवेन्द्रमपि पीडयेत् ॥११॥

नरव्याघ्र ! अर्जुन के आगे तो सिन्धुराज की सेना है और पीछे द्रोणाचार्य की । इसकी संख्या इतनी अधिक है कि वह देवराज इन्द्र को भी पीड़ित कर सकती है ।

अपर्यन्ते बले मग्नो जह्यादपि च जीवितम् ।
तस्मिंश्च निहते युद्धे कथं जीवेत मादृशः ॥१२॥

इस अनन्त सैन्यसागर में डूबकर अर्जुन अपने प्राणों का भी परित्याग कर देगा । युद्ध में उसके मारे जाने पर मेरे-जैसा मनुष्य कैसे जीवित रह सकता है ?

श्यामो युवा गुडाकेशो प्रविष्टस्तात भारतीम् ।
तन्न जानामि वार्ष्णेय यदि जीवति वा न वा ॥१३॥

तात ! निद्राविजयी अर्जुन श्यामवर्ण वाला और तरुण है । उसने कौरवी सेना में प्रवेश किया था । वार्ष्णेय ! पता नहीं इस समय तक अर्जुन जीवित भी है या नहीं ।

तस्य त्वं पदवीं गच्छ मादृशेनाभिनोदितः ।
परित्यज्य प्रियान्प्राणान् रणे चर विभीतवत् ॥१४॥

तुम मुझ-जैसे मनुष्य द्वारा प्रेरित होकर अर्जुन के पथ का अनुसरण करो । तुम युद्धभूमि में प्रिय प्राणों का मोह छोड़कर निर्भय के समान विचरो ।

अयुद्धमनवस्थानं संग्रामे च पलायनम् ।
भीरूणामसतां मार्गो नैष दाशार्हसेवितः ॥१५॥

शैनेय ! युद्ध से मुँह मोड़ना, रणक्षेत्र में डटे न रहना और युद्धभूमि में पीठ दिखाकर भागना यह कायर और नीच पुरुषों का मार्ग है । दशार्हकुल के वीर इससे दूर रहते हैं ।

सञ्जय उवाच

धर्मराजस्य तद् वाक्यं निशम्य शिनिपुङ्गवः ।
सात्यकिर्भरतश्रेष्ठ प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥१६॥

सञ्जय कहते हैं—भरतभूषण ! धर्मराज का वह वचन सुनकर शिनिप्रवर सात्यकि ने युधिष्ठिर को इस प्रकार उत्तर दिया—

अनुयास्यामि बीभत्सुं करिष्ये वचनं तव ।
न मे प्रियतरोऽर्जुनात् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥१७॥

"मैं अर्जुन के पास जाऊँगा और आपकी आज्ञा का पालन करूँगा । मुझे तीनों लोकों में अर्जुन से अधिक प्रिय और कोई पुरुष नहीं है ।

तवाज्ञां शिरसाऽऽगृह्य पाण्डवार्थमहं प्रभो ।
भित्त्वेदं दुर्भिदं सैन्यं प्रयास्ये नरपुङ्गव ॥१८॥

"प्रभो ! नरश्रेष्ठ ! मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके पाण्डुपुत्र अर्जुन के लिए इस दुर्भेद्य सैन्यव्यूह का भेदन करके उनके पास जाऊँगा ।"

ततः प्रयातः सहसा तव सैन्यं स सात्यकिः ।
दिदृक्षुरर्जुनं राजन् धर्मराजस्य शासनात् ॥१९॥

राजन् ! तत्पश्चात् धर्मराज की आज्ञा के अनुसार सात्यकि अर्जुन से मिलने के लिए आपकी सेना की ओर वेगपूर्वक बढ़े ।

प्रविष्टे तव सैन्यं तु शैनेये सत्यविक्रमे ।
अक्रुद्ध्यत रणे राजन् जलसंधो महाबलः ॥२०॥

जब सत्यपराक्रमी सात्यकि कौरव-सेना में प्रविष्ट हो गये, तब महाबली जलसंध रणभूमि में कुपित हो उठा ।

ततः क्रुद्धो महाराज मार्गणैर्भारसाधनैः ।
अविध्यत शिनेः पौत्रं जलसंधो महोरसि ॥२१॥

महाराज ! फिर तो कुपित हुए जलसंध ने भार सहन करने में समर्थ बाणों द्वारा शिनिपौत्र सात्यकि की विशाल छाती पर गहरा आघात किया ।

ततः साभरणौ बाहू क्षुराभ्यां माधवोत्तमः ।
सात्यकिर्जलसंधस्य चिच्छेद प्रहसन्निव ॥२२॥

तब मधुवंश-शिरोमणि सात्यकि ने हँसते हुए-से दो छुरों का प्रहार करके जलसंध की आभूषण-भूषित दोनों भुजाओं को काट दिया ।

ततः सुदंष्ट्रं सुमहच्चारुकुण्डलमण्डितम् ।
क्षुरेणास्य तृतीयेन शिरश्चिच्छेद सात्यकिः ॥२३॥

तत्पश्चात् सात्यकि ने तीसरे छुरे से उसके सुन्दर दाँतोंवाले और मनोहर कुण्डलों से अलंकृत विशाल मस्तक को भी काट गिराया ।

जलसंधं हतं दृष्ट्वा वृष्णीनामृषभेण तु ।
हाहाकारो महानासीत् तव सैन्यस्य मारिष ॥२४॥

पूजनीय नरेश ! वृष्णिप्रवर सात्यकि के द्वारा जलसंध को मारा गया देख आपकी सेना में महान् हाहाकार मच गया ।

विमुखाश्चाभ्यधावन्त तव योधाः समन्ततः ।
पलायनकृतोत्साहा निरुत्साहा द्विषज्जये ॥२५॥

आपके योद्धा शत्रुओं पर विजय पाने का उत्साह खो बैठे । अब वे भाग निकलने में ही उत्साह दिखाने लगे और युद्ध से मुख मोड़कर चारों ओर भाग गये ।

ततः स पुरुषव्याघ्रः सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
प्रविष्टस्तावकाञ्जित्वा सूतं याहीत्यनोदयत् ॥२६॥

हे राजन् ! सत्यपराक्रमी, पुरुषसिंह सात्यकि आपके सैनिकों पर विजयी हो कौरव-सेना में घुस गये और सारथि को आदेश देते हुए बोले—'आगे बढ़ो ।'

ततो दुःशासनो राजञ्शैनेयं समुपाद्रवत् ।
किरञ्शतसहस्राणि पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥२७॥

राजन् ! तब दुःशासन ने वर्षा करनेवाले मेघ के समान बहुत-से बाण चलाते हुए वहाँ शिनिपौत्र सात्यकि पर आक्रमण किया ।

सात्वतोऽपि महाराज तं विव्याध महोरसि ।
त्रिभिरेव महाभागः शरैः संनतपर्वभिः ॥२८॥

महाराज ! इधर महाभाग सात्यकि ने भी झुकी हुई गाँठवाले तीन बाणों द्वारा दुःशासन की छाती में चोट पहुँचाई ।

ततोऽस्य वाहान् निशितैः शरैर्जघ्ने महारथः ।
सारथिं च सुसंक्रुद्धः शरैः संनतपर्वभिः ॥२९॥

तत्पश्चात् महारथी युयुधान ने अत्यन्त क्रुद्ध हो तीखे तीरों से उसके चारों घोड़ों को मार डाला । फिर झुकी हुई गाँठवाले बाणों से उसके सारथि को भी यमलोक पठा दिया ।

धनुरेकेन भल्लेन हस्तवापं च पञ्चभिः ।
चिच्छेद विशिखैस्तीक्ष्णैस्तथोभौ पार्ष्णिसारथी ॥३०

फिर सात्यकि ने एक भल्ल से दुःशासन के धनुष और पाँच भल्लों से उसके दस्तानों के टुकड़े-टुकड़े कर दिये । इतना ही नहीं, उन्होंने तीखे तीरों द्वारा उसके दोनों पार्श्व-रक्षकों को भी मार डाला ।

स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।
त्रिगर्तसेनापतिना स्वरथेनापवाहितः ॥३१॥

धनुष कट जाने पर रथ, घोड़े और सारथि से हीन हुए दुःशासन को त्रिगर्त-सेनापति ने अपने रथ पर बैठाकर वहाँ से दूर हटा दिया ।

ततो दुःशासनं जित्वा सात्यकिः संयुगे प्रभो ।
जगाम त्वरितो राजन् येन यातो धनञ्जयः ॥३२॥

प्रभो ! राजन् ! इस प्रकार रणभूमि में दुःशासन पर विजय पाकर सात्यकि तत्काल ही उस मार्ग पर चल दिये, जिससे अर्जुन गये थे ।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्याय।

द्रोणाचार्य द्वारा अनेक वीरों का वध

सञ्जय उवाच

अपराह्णे महाराज संग्रामः सुमहानभूत्।
पर्जन्यसमनिर्घोषः पुनर्द्रोणस्य सोमकैः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! अपराह्णकाल में सोमकों के साथ द्रोणाचार्य का पुनः महान् युद्ध छिड़ गया, जिसमें मेघों की गर्जना के समान गम्भीर सिंहनाद हो रहा था।

शोणाश्वं रथमास्थाय नरवीरः समाहितः।
समरेऽभ्यद्रवत् पाण्डूञ्जवमास्थाय मध्यमम् ॥२॥

नरवीर द्रोणाचार्य लाल घोड़ोंवाले रथ पर आरूढ़ हो चित्त को एकाग्र करके मध्यम वेग का आश्रय ले युद्धक्षेत्र में पाण्डवों पर टूट पड़े।

तमभ्ययाद् बृहत्क्षत्रः केकयानां महारथः।
भ्रातॄणां नृप पञ्चानां श्रेष्ठः समरकर्कशः ॥३॥

प्रजानाथ! उस समय युद्धदुर्मद केकय महारथी बृहत्क्षत्र, जो अपने पाँचों भाइयों में सबसे बड़े थे, द्रोणाचार्य का सामना करने के लिए आगे बढ़े।

द्रोणस्तु बहुभिर्विद्धो बृहत्क्षत्रेण मारिष।
असृजद् विशिखांस्तीक्ष्णान् कैकयस्य रथं प्रति ॥४॥

समादरणीय नरेश! जब बृहत्क्षत्र ने बहुत सारे बाण मारकर द्रोणाचार्य को क्षत-विक्षत कर दिया, तब उन्होंने केकयनरेश के रथ पर तीखे सायकों की वृष्टि आरम्भ की।

व्याकुलीकृत्य तं द्रोणो बृहत्क्षत्रं महारथम्।
अश्वांश्चतुर्भिर्न्यवधीच्चतुरोऽस्य पतत्त्रिभिः ॥५॥

आचार्य द्रोण ने महारथी बृहत्क्षत्र को व्याकुल करके अपने चार बाणों द्वारा उनके चारों घोड़ों को मार डाला।

सूतं चैकेन बाणेन रथनीडादपातयत्।
द्वाभ्यां ध्वजं च च्छत्रं च छित्त्वा भूमावपातयत् ॥६

फिर एक बाण मारकर उसके सारथि को रथ की बैठक से नीचे गिरा दिया और दो बाणों से उसके ध्वज और छत्र को भी काटकर भूमि पर गिरा दिया।

ततः साधुविसृष्टेन नाराचेन द्विजर्षभः।
हृद्यविध्यद् बृहत्क्षत्रं स च्छिन्नहृदयोऽपतत् ॥७॥

तत्पश्चात् सम्यक् चलाये हुए नाराच से द्विजश्रेष्ठ द्रोण ने बृहत्क्षत्र की छाती छेद डाली। वक्षस्थल विदीर्ण होने के कारण बृहत्क्षत्र धरती पर गिर पड़े।

धृष्टकेतुश्च चेदीनामृषभोऽतिबलोदितः।
वधायाभ्यद्रवद् द्रोणं पतङ्ग इव पावकम् ॥८॥

[बृहत्क्षत्र के मारे जाने पर] अत्यन्त बलसम्पन्न चेदिराज धृष्टकेतु द्रोणाचार्य का वध करने के लिए उनकी ओर वैसे ही दौड़ा जैसे पतंगा आग पर टूट पड़ता है।

ततोऽस्य विशिखं तीक्ष्णं वधार्थं वधकांक्षिणः।
प्रेषयामास समरे भारद्वाजः प्रतापवान् ॥९॥

तब अपने वध की इच्छा रखनेवाले धृष्टकेतु के वध के लिए प्रतापी द्रोणाचार्य ने रणभूमि में उसपर एक बाण का प्रहार किया।

स तस्य कवचं भित्त्वा हृदयं चामितौजसः।
अभ्यगाद् धरणीं बाणो हंसः पद्मवनं यथा ॥१०॥

वह बाण अमित तेजस्वी धृष्टकेतु के कवच और वक्षस्थल को विदीर्ण करके धरती में ऐसे समा गया, जैसे हंस कमलवन में प्रवेश करता है।

निहते चेदिराजे तु तत् खण्डं पित्र्यमाविशत्।
अमर्षवशमापन्नः पुत्रोऽस्य परमास्त्रवित् ॥११॥

चेदिराज के मारे जाने पर उत्तम अस्त्रों का ज्ञाता उसका पुत्र क्रोध के वशीभूत हो अपने पिता के स्थान पर आकर डट गया।

तमपि प्रहसन् द्रोणः शरैर्निन्ये यमक्षयम्।
महाव्याघ्रो महारण्ये मृगशावं यथा बली ॥१२॥

परन्तु हँसते हुए द्रोणाचार्य ने उसे भी अपने बाणों द्वारा उसी प्रकार यमलोक पठा दिया, जैसे बलवान् महाव्याघ्र विशाल वन में किसी हिरण के बच्चे को दबोच लेता है।

तेषु प्रक्षीयमाणेषु पाण्डवेषु च भारत।
जरासन्धसुतो वीरः स्वयं द्रोणमुपाद्रवत् ॥१३॥

भरतभूषण! उन पाण्डव योद्धाओं के इस प्रकार मारे जाने पर जरासन्ध के वीर पुत्र सहदेव ने स्वयं ही द्रोणाचार्य पर आक्रमण किया।

छादयित्वा रणे द्रोणो रथस्थं रथिनां वरम्।
जारासन्धिं जघानाशु मिषतां सर्वधन्विनाम् ॥१४॥

परन्तु द्रोणाचार्य ने समस्त धनुर्धरों के देखते-देखते रणभूमि में रथ पर बैठे हुए रथियों में श्रेष्ठ जरासन्धकुमार को अपने बाणों द्वारा आच्छादित करके शीघ्र ही मौत के घाट उतार दिया।

यो यः स्म नीयते तत्र तं द्रोणो ह्यन्तकोपमः।
आदत्ते सर्वभूतानि प्राप्ते काले यथान्तकः ॥१५॥

जैसे समय आने पर यमराज समस्त प्राणियों को ग्रस लेता है, उसी प्रकार काल के समान द्रोणाचार्य ने जो-जो वीर उनके सामने पहुँचा, उसे-उसे मृत्यु को सौंप दिया।

ततो द्रोणो महाराज नाम विश्राव्य संयुगे।
शरैरनेकसाहस्रैः पाण्डवेयान् समावृणोत् ॥१६॥

महाराज! तत्पश्चात् द्रोणाचार्य ने युद्धभूमि में अपना नाम सुना-सुनाकर अनेक सहस्र बाणों द्वारा पाण्डव-सैनिकों को ढक दिया।

आकर्णपलितः श्यामो वयसाशीतिपञ्चकः।[1]
रणे पर्यचरद् द्रोणो वृद्धः षोडशवर्षवत् ॥१७॥

जिनके कान तक के बाल पक गये थे, श्याम वर्ण था और जो चार सौ वर्ष के वृद्ध थे, वे द्रोणाचार्य रणभूमि में सोलह वर्ष के नवयुवक की भाँति विचर रहे थे।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

युधिष्ठिर का भीमसेन को अर्जुन और सात्यकि का पता लगाने के लिए भेजना

सञ्जय उवाच

वर्तमाने तथा रौद्रे संग्रामे लोमहर्षणे।
नापश्यच्छरणं किञ्चिद् धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! जिस समय वह रोमाञ्चकारी भयंकर संग्राम चल रहा था, उस समय धर्मराज युधिष्ठिर को कोई भी अपना आश्रय या रक्षक दिखाई नहीं दिया।

ततो वीक्ष्य दिशः सर्वाः सव्यसाचिदिदृक्षया।
युधिष्ठिरो ददर्शाथ नैव पार्थं न माधवम् ॥२॥

तब युधिष्ठिर ने सव्यसाची अर्जुन को देखने की इच्छा से सम्पूर्ण दिशाओं में दृष्टि दौड़ाई, परन्तु उन्हें कहीं भी अर्जुन और सात्यकि दिखाई नहीं दिये।

सोऽपश्यन् नरशार्दूलं वानरर्षभलक्षणम्।
गाण्डीवस्य च निर्घोषमश्रृण्वन् व्यथितेन्द्रियः ॥३॥

वानरश्रेष्ठ हनुमान् के चिह्न से युक्त ध्वजावाले पुरुषसिंह अर्जुन को न देखकर और उनके गाण्डीव का गम्भीर घोष न सुनकर उनकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गईं।

अपश्यन् सात्यकिं चापि वृष्णीनां प्रवरं रथम्।
चिन्तयाभिपरीताङ्गो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥४॥

वृष्णिवंश के प्रमुख महारथी सात्यकि को भी न देखने के कारण धर्मराज युधिष्ठिर का एक-एक अङ्ग चिन्ता की ज्वाला से संतप्त हो उठा।

---

१. 'अशीतिपञ्चकः' पद का अर्थ हमने चारसौ वर्ष किया है और यही समीचीन भी है। युद्ध के समय अर्जुन की आयु अस्सी वर्ष की थी, तो क्या द्रोणाचार्य अर्जुन से पाँच वर्ष ही बड़े थे? चार सौ वर्ष की आयु असम्भव नहीं है।

प्रश्न हो सकता है कि युद्ध के समय अर्जुन की आयु ८० वर्ष की थी, इसका क्या प्रमाण है? हमारा उत्तर यह है कि युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर ने ३६ वर्ष तक राज्य किया है। श्रीकृष्ण ने १२५ वर्ष की अवस्था में परमगति पाई थी। पाण्डवों ने श्रीकृष्ण की मृत्यु के पश्चात् स्वर्गारोहण किया है, अतः अर्जुन युद्ध के अवसर पर ८० वर्ष से कम नहीं थे।

यदि द्रोणाचार्य की अवस्था युद्ध के अवसर पर ८५ वर्ष की होती तो व्यासजी 'पञ्चाशीतिः' पद का प्रयोग करते।

अचिन्तयन्महाबाहुः शैनेयस्य रथं प्रति ।
पदवीं प्रेषितश्चैव फाल्गुनस्य मया रणे ॥५॥
शैनेयः सात्यकिः सत्यो मित्राणामभयंकरः ।
तदिदं ह्येकमेवासीद् द्विधा जातं ममाद्य वै ।
सात्यकिश्च हि विज्ञेयः पाण्डवश्च धनञ्जयः ॥६॥

महाबाहु युधिष्ठिर सात्यकि के रथ के सम्बन्ध में मन-ही-मन इस प्रकार चिन्ता करने लगे—'अहो ! मैंने ही युद्धभूमि में मित्रों को अभय प्रदान करनेवाले, सत्यवादी शिनिपौत्र सात्यकि को अर्जुन के अन्वेषण के लिए भेजा था, अतः यह मेरा मन जो पहले एक की ही चिन्ता में निमग्न था, अब दो व्यक्तियों के लिए चिन्तित होकर दो भागों में बट गया है । इस समय मुझे सात्यकि का भी पता लगाना चाहिए और अर्जुन का भी ।

सात्यकिं प्रेषयित्वा तु पाण्डवस्य पदानुगम् ।
सात्वतस्यापि कं युद्धे प्रेषयिष्ये पदानुगम् ॥७॥

'मैंने पाण्डुपुत्र अर्जुन के पीछे तो सात्यकि को भेज दिया । अब सात्यकि के पीछे किसको रणभूमि में भेजूंगा ?

करिष्यामि प्रयत्नेन भ्रातुरन्वेषणं यदि ।
युयुधानमनन्विष्य लोको मां गर्हयिष्यति ॥८॥

'यदि मैं युयुधान का अन्वेषण न कराकर प्रयत्नपूर्वक केवल अपने भाई अर्जुन की ही खोज कराऊँगा तो संसार मेरी निन्दा करेगा ।

लोकापवादभीरुत्वात् सोऽहं पार्थं वृकोदरम् ।
पदवीं प्रेषयिष्यामि माधवस्य महात्मनः ॥९॥

'मुझे लोकनिन्दा से बड़ा भय लगता है, अतः मैं कुन्तीनन्दन भीम को महामनस्वी सात्यकि का पता लगाने के लिए भेजता हूँ ।'

एवं निश्चित्य मनसा भीममाहूय पार्थिवः ।
अब्रवीद् वचनं राजन् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥१०॥

मन-ही-मन ऐसा निश्चय कर और भीम को अपने पास बुलाकर कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर ने उससे इस प्रकार कहा—

यथा शंखस्य निर्घोषः पाञ्चजन्यस्य श्रूयते ।
पूरितो वासुदेवेन संरब्धेन यशस्विना ॥११॥
नूनमद्य हतः शेते तव भ्राता धनञ्जयः ।
तस्मिन् विनिहते नूनं युध्यतेऽसौ जनार्दनः ॥१२॥

"भैया ! इस समय पाञ्चजन्य शंख की जैसी ध्वनि सुनाई देती है और यशस्वी श्रीकृष्ण ने क्रोध में भरकर उस शंख को जिस प्रकार बजाया है, उससे प्रतीत होता है, आज तुम्हारा भाई अर्जुन निश्चय ही मारा जाकर युद्धभूमि में सो रहा है और उसके मारे जाने पर स्वयं श्रीकृष्ण ही युद्ध कर रहे हैं ।

अर्जुनार्थे महाबाहो सात्वतस्य च कारणात् ।
वर्धते हविषेवाग्निरिध्यमानः पुनः पुनः ॥१३॥

"भीम ! अर्जुन और सात्यकि के लिए ही मैं दुःखी हो रहा हूँ । जैसे बारम्बार घी डालने से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार मेरी शोकाग्नि भी बढ़ती जाती है ।

न हि मे शुध्यते भावस्तयोरेव परन्तप ।
स तत्र गच्छ कौन्तेय यत्र यातो धनञ्जयः ॥१४॥
सात्यकिश्च महावीर्यः कर्तव्यं यदि मन्यसे ।
वचनं मम धर्मज्ञ भ्राता ज्येष्ठो भवामि ते ॥१५॥
न तेऽर्जुनस्तथा ज्ञेयो ज्ञातव्यः सात्यकिर्यथा ।
चिकीर्षुर्मत्प्रियं पार्थ स यातः सव्यसाचिनः ॥१६॥

"परन्तप ! अर्जुन और सात्यकि के जीवन के विषय में जो मेरे मन में संशय उत्पन्न हो गया है, वह दूर नहीं हो रहा है, अतः कुन्तीकुमार ! तुम वहीं जाओ, जहाँ अर्जुन और महापराक्रमी सात्यकि गये हैं । धर्मज्ञ ! मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूँ । यदि तुम मेरी आज्ञा का पालन करना उचित मानते हो तो ऐसा ही करो । तुम्हें अर्जुन की उतनी खोज नहीं करनी है जितनी सात्यकि की । पार्थ ! सात्यकि ने मेरा प्रिय करने की इच्छा से सव्यसाची अर्जुन के पथ का अनुसरण किया है ।

दृष्ट्वा कुशलिनौ कृष्णौ सात्वतं चैव सात्यकिम् ।
संविदं चैव कुर्यास्त्वं सिंहनादेन पाण्डव ॥१७॥

"पाण्डुकुमार ! जब तुम श्रीकृष्ण, अर्जुन और सात्वतवंशी वीर सात्यकि को सकुशल देख लो, तब उच्च स्वर से सिंहनाद करके मुझे इसकी सूचना दे देना ।"

इति महाभारते द्रोणपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

भीमसेन का पराक्रम, धृतराष्ट्र के अनेक पुत्रों का वध और द्रोणाचार्य के रथों को तोड़कर श्रीकृष्ण और अर्जुन के पास पहुँच सिंहगर्जना करना

भीमसेन उवाच

ब्रह्मेशानेन्द्रवरुणानवहद् यः पुरः रथः ।
तमस्थाय गतौ कृष्णौ न तयोर्विद्यते भयम् ॥१॥

भीमसेन ने कहा—महाराज ! जो रथ पहले ब्रह्मा, महादेव, इन्द्र और वरुण की सवारी में आ चुका है, उसी रथ पर बैठकर श्रीकृष्ण और अर्जुन युद्ध के लिए गये हैं, अतः उनके लिए तनिक भी भय नहीं है ।

आज्ञां तु शिरसा बिभ्रदेष गच्छामि मा शुचः ।
समेत्य तान् नरव्याघ्रांस्तव दास्यामि संविदम् ॥२॥

परन्तु आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके मैं जा रहा हूँ । आप चिन्ता न करें । मैं उन पुरुषसिंहों से मिलकर आपको सूचना दूंगा ।

सञ्जय उवाच

ततो निक्षिप्य राजानं धृष्टद्युम्ने च पाण्डवम् ।
अभिवाद्य गुरुं ज्येष्ठं प्रययौ येन फाल्गुनः ॥३॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! भीम ऐसा कह और पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर को धृष्टद्युम्न के हाथों में सौंपकर अपने बड़े भाई को प्रणाम करके जिस मार्ग से अर्जुन गये थे, उसी मार्ग पर चल दिये ।

तं प्रयान्तं महाबाहुं पाञ्चालाः सहसोमकाः ।
पृष्ठतोऽनुययुः शूरा मघवन्तमिवामराः ॥४॥

यात्रा करते हुए महाबाहु भीमसेन के पीछे पाञ्चाल एवं सोमक वीर भी ऐसे चले, मानो देवगण देवराज इन्द्र का अनुगमन कर रहे हों ।

तं समेत्य महाराज तावकाः पर्यवारयन् ।
छादयन्तः शरैर्भीमं मेघाः सूर्यमिवोदितम् ॥५॥

महाराज ! उस समय आपके पुत्रों ने भीमसेन को घेर लिया और वे बाणों द्वारा उसे ऐसे ही आच्छादित करने लगे जैसे बादल उदय होते हुए सूर्य को ढक लेते हैं ।

स तानतीत्य वेगेन द्रोणानीकमुपाद्रवत् ।
तमवारयदाचार्यो वेलोद्वृत्तमिवार्णवम् ॥६॥

परन्तु भीमसेन अपने वेग से उन सबको लाँघकर द्रोणाचार्य की सेना पर टूट पड़े । उस समय द्रोणाचार्य ने भीमसेन को उसी प्रकार रोका, जैसे उत्ताल तरङ्गों के साथ उठे हुए महासागर को तट की भूमि रोक देती है ।

स मन्यमानस्त्वाचार्यो ममायं फाल्गुनो यथा ।
भीमः करिष्यते पूजामित्युवाच वृकोदरम् ॥७॥

अर्जुन की भाँति भीम भी मेरा आदर-सम्मान करेगा, ऐसा समझकर द्रोणाचार्य ने भीम से इस प्रकार कहा—

भीमसेन न ते शक्या प्रवेष्टुमरिवाहिनी ।
मामनिर्जित्य समरे शत्रुमद्य महाबल ॥८॥

"महाबली भीमसेन ! तुम रणभूमि में आज मुझ शत्रु को पराजित किये बिना इस शत्रुसेना में प्रवेश नहीं कर सकोगे ।

यदि ते सोऽनुजः कृष्णः प्रविष्टोऽनुमते मम ।
अनीकं न तु शक्यं मे प्रवेष्टुमिह वै त्वया ॥९॥

"तुम्हारे छोटे भाई अर्जुन मेरी अनुमति से इसमें प्रविष्ट हुए हैं । यदि इच्छा हो तो तुम भी उसी प्रकार जा सकते हो, अन्यथा मेरे इस सैन्यसमूह में प्रवेश नहीं कर सकोगे ।"

अथ भीमस्तु तत् श्रुत्वा गुरोर्वाक्यमपेतभीः ।
क्रुद्धः प्रोवाच वै द्रोणं रक्तताम्रेक्षणस्त्वरन् ॥१०॥

गुरु की यह बात सुनकर भीमसेन के नेत्र क्रोध से लाल हो गये । वे बड़ी उतावली के साथ द्रोणाचार्य से निर्भय होकर बोले—

तवार्जुनो नानुमते ब्रह्मबन्धो रणाजिरम् ।
प्रविष्टः स हि दुर्धर्षः शक्रस्यापि विशेद् बलम् ॥११॥

"ब्रह्मबन्धो ! अर्जुन आपकी अनुमति से इस रणभूमि में प्रविष्ट नहीं हुए हैं । वे तो दुर्जय हैं । वे तो देवराज इन्द्र की सेना में भी घुस सकते हैं ।

तेन वै परमां पूजां कुर्वता मानितो ह्यसि ।
नार्जुनोऽहं घृणी द्रोण भीमसेनोऽस्मि ते रिपुः ॥१२॥

"उन्होंने आपकी प्रभूत पूजा कर निश्चय ही आपको सम्मान दिया है, परन्तु द्रोण ! मैं दयालु अर्जुन नहीं हूँ, मैं तो तुम्हारा शत्रु भीमसेन हूँ ।

पिता नस्त्वं गुरुर्बन्धुस्तथा पुत्रास्तु ते वयम् ।
इति मन्यामहे सर्वे भवन्तं प्रणताः स्थिताः ॥१३॥

"आप हमारे पिता, गुरु और बन्धु हो और हम आपके पुत्र के तुल्य हैं—यही हम सब लोग मानते हैं और सदा आपके समक्ष प्रणतभाव से खड़े होते हैं ।

अद्य तद्विपरीतं ते वदतोऽस्मासु दृश्यते ।
यदि त्वं शत्रुमात्मानं मन्यसे तत्तथास्त्विह ॥१४॥

"परन्तु आज आपके मुख से जो बात निकल रही है, उससे हम लोगों पर आपका विपरीत भाव लक्षित होता है । यदि आप अपने को शत्रु समझते हो तो ऐसा ही सही ।"

अथोद्भ्राम्य गदां भीमः कालदण्डमिवान्तकः ।
द्रोणाय व्यसृजद् राजन् स रथादवपुप्लुवे ॥१५॥

राजन् ! ऐसा कहकर भीमसेन ने गदा उठा ली, मानो यमराज ने कालदण्ड हाथ में उठा लिया हो । उन्होंने उस गदा को घुमाकर द्रोणाचार्य पर दे मारा, परन्तु वे शीघ्र ही रथ से कूद पड़े ।

साश्वसूतध्वजं यानं द्रोणस्यापोथयत् तदा ।
प्रामृद्नाच्च बहून् योधान् वायुर्वृक्षानिवौजसा ॥१६॥

जैसे वायु अपने वेग से वृक्षों को धराशायी कर देती है, उसी प्रकार गदा ने उस समय घोड़े, सारथि और ध्वजसहित द्रोणाचार्य के रथ को चूर-चूर कर दिया तथा बहुत-से योद्धाओं को भी धूल में मिला दिया ।

अन्यं तु रथमास्थाय द्रोणः प्रहरतां वरः ।
व्यूहद्वारं समासाद्य युद्धाय समुपस्थितः ॥१७॥

योद्धाओं में श्रेष्ठ द्रोणाचार्य दूसरे रथ पर बैठकर व्यूह के द्वार पर आ पहुँचे और युद्ध के लिए उद्यत हो गये ।

ततः क्रुद्धो महाराज भीमसेनः पराक्रमी ।
अग्रतः स्यन्दनानीकं शरवर्षैरवाकिरत् ॥१८॥

महाराज ! तब कुपित हुए पराक्रमी भीमसेन ने सामने खड़ी हुई रथसेना पर बाण-वृष्टि आरम्भ कर दी ।

ततो दुःशासनः क्रुद्धो रथशक्तिं समाक्षिपत् ।
सर्वपारसवीं तीक्ष्णां जिघांसुः पाण्डुनन्दनम् ॥१९॥

तब क्रुद्ध हुए दुःशासन ने पाण्डुकुमार भीमसेन को मार डालने की इच्छा से उनपर एक तीखी रथशक्ति फेंकी, जो पूर्णरूप से लोहे की बनी हुई थी ।

आपतन्तीं महाशक्तिं तव पुत्रप्रणोदिताम् ।
द्विधा चिच्छेद तां भीमस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥२०॥

आपके पुत्र द्वारा चलाई गई उस महाशक्ति को अपने ऊपर आती देख भीमसेन ने उसके दो टुकड़े कर दिये । वह अद्भुत-सी बात हुई ।

अथान्यैर्विशिखैस्तीक्ष्णैः संक्रुद्धः कुण्डभेदिनम् ।
सुषेणं दीर्घनेत्रं च त्रिभिस्त्रीनवधीद् बली ॥२१॥

फिर अत्यन्त कुपित हुए महाबली भीम ने दूसरे तीन तीखे तीरों द्वारा कुण्डभेदी, सुषेण और दीर्घलोचन [दीर्घरोमा] आपके इन तीन पुत्रों को मार डाला ।

ततो वृन्दारकं वीरं कुरूणां कीर्तिवर्धनम् ।
पुत्राणां तव वीराणां युध्यतामवधीत् पुनः ॥२२॥

तदनन्तर आपके अन्य वीर पुत्रों के युद्ध करते रहने पर भी उन्होंने पुनः कुरुकुल की कीर्ति बढ़ानेवाले वीर वृन्दारक का वध कर दिया ।

अभयं रौद्रकर्माणं दुर्विमोचनमेव च ।
त्रिभिस्त्रीनवधीद् भीमः पुनरेव सुतांस्तव ॥२३॥

तत्पश्चात् भीम ने पुनः तीन बाण मारकर अभय, रौद्रकर्मा और दुर्विमोचन [दुर्विरोचन]—आपके इन तीन पुत्रों को भी यमलोक की राह दिखा दी ।

विन्दानुविन्दौ सहितौ सुवर्माणं च ते सुतम् ।
प्रहसन्नेव कौन्तेयः शरैर्निन्ये यमक्षयम् ॥२४॥

कुन्तीपुत्र भीम ने हँसते हुए ही अपने बाणों द्वारा एक-साथ आये हुए दोनों भाई विन्द और अनुविन्द को एवं आपके पुत्र सुवर्मा को भी यमलोक पठा दिया ।

ततः सुदर्शनं वीरं पुत्रं ते भरतर्षभ ।
विव्याध समरे तूर्णं स पपात ममार च ॥२५॥

भरतभूषण ! इसके पश्चात् उन्होंने रणभूमि में आपके वीर पुत्र सुदर्शन [उर्णनाभ] को घायल कर दिया । इससे वह तुरन्त ही गिरा और मर गया ।

सोऽचिरेणैव कालेन तद्रथानीकमाशुगैः ।
दिशः सर्वाः समालोक्य व्यधमत् पाण्डुनन्दनः ॥२६॥

इस प्रकार पाण्डुकुमार भीमसेन ने समस्त दिशाओं में दृष्टिपात करके अपने बाणों द्वारा थोड़े ही समय में उस रथसेना को नष्ट कर दिया।

भीषयित्वा रथानीकं हत्वा योधान्वरान्वरान् ।
व्यतीत्य रथिनश्चापि द्रोणानीकमुपाद्रवत् ॥२७॥

समस्त रथसेना को भयभीत करके तथा श्रेष्ठ-श्रेष्ठ योद्धाओं को चुन-चुनकर मारकर और समस्त सैनिकों को लाँघकर भीम ने द्रोणाचार्य की सेना पर आक्रमण किया।

समुत्तीर्णं रथानीकं पाण्डवं विहसन् रणे ।
विवारयिषुराचार्यः शरवर्षैरवाकिरत ॥२८॥

महाराज ! रथसेना को पार करके आये हुए पाण्डुपुत्र भीमसेन को युद्ध में रोकने की इच्छा से द्रोणाचार्य ने हँसते-हँसते उनपर बाण-वृष्टि आरम्भ कर दी।

स बध्यमानः समरे रथं द्रोणस्य मारिष ।
ईषायां पाणिना गृह्य प्रचिक्षेप महाबलः ॥२९॥

आर्य ! युद्धभूमि में बाणों से आहत होते हुए महाबली भीम ने द्रोणाचार्य के रथ के जुए को हाथ से पकड़कर सम्पूर्ण रथ को दूर फेंक दिया।

द्रोणस्तु सत्वरो राजन् क्षिप्तो भीमेन संयुगे ।
रथमन्यं समारुह्य व्यूहद्वारं ययौ पुनः ॥३०॥

राजन् ! उस युद्धस्थल में भीम द्वारा फेंके गये द्रोणाचार्य तुरन्त ही दूसरे रथ पर सवार हो पुनः व्यूह के द्वार पर जा पहुँचे।

तमायान्तं तथा दृष्ट्वा भग्नोत्साहं गुरुं तदा ।
गत्वा वेगात् पुनर्भीमो धुरं गृह्य रथस्य तु ॥३१॥
तमप्यतिरथं भीमश्चिक्षेप भृशरोषितः ।
एवमष्टौ रथाः क्षिप्ता भीमसेनेन लीलया ॥३२॥

जिनका उत्साह भंग हो गया था, ऐसे द्रोणाचार्य को आते देख भीमसेन ने पुनः वेगपूर्वक आगे बढ़कर उनके रथ की धुरी पकड़ ली और अत्यन्त क्रुद्ध होकर उन अतिरथी वीर द्रोणाचार्य को भी पुनः रथ के साथ ही फेंक दिया। इस प्रकार भीमसेन ने खेल-सा करते हुए आठ रथ फेंके।

ततः स्वरथमास्थाय भीमसेनो महाबलः ।
अभ्यद्रवत वेगेन तव पुत्रस्य वाहिनीम् ॥३३॥

तत्पश्चात् महाबली भीमसेन पुनः अपने रथ पर आरूढ़ हो आपके पुत्र की सेना पर वेगपूर्वक टूट पड़े।

स मृद्नन् क्षत्रियानाजौ वातो वृक्षानिवोद्धतः ।
आगच्छद् दारयन् सेनां सिन्धुवेगो नगानिव ॥३४॥

जैसे उठी हुई आँधी वृक्षों को उखाड़ फेंकती है और सिन्धु [नदी] का वेग पर्वतों को विदीर्ण कर देता है, वैसे ही युद्धभूमि में क्षत्रियों को रौंदते और कौरव सेना को विदीर्ण करते हुए भीमसेन आगे गये।

भोजानीकमतिक्रम्य दरदानां च वाहिनीम् ।
तथा म्लेच्छगणानन्यान् बहून् युद्धविशारदान् ॥३५॥
सात्यकिं चैव सम्प्रेक्ष्य युध्यमानं महारथम् ।
रथेन यत्तः कौन्तेयो वेगेन प्रययौ तदा ॥३६॥

उस समय कुन्तीपुत्र भीमसेन भोजवंशियों को लाँघकर दरदों की विशाल वाहिनी को पार कर गये और बहुत-से युद्धविशारद म्लेच्छों को परास्त करके महारथी सात्यकि को शत्रुओं के साथ युद्ध करते देख सावधान हो रथ के द्वारा वेगपूर्वक आगे बढ़े।

भीमसेनो महाराज द्रष्टुकामो धनञ्जयम् ।
अतीत्य समरे योधाँस्तावकान् पाण्डुनन्दनः ॥३७॥

महाराज ! अर्जुन को देखने की इच्छा लिये पाण्डुनन्दन भीमसेन रणभूमि में आपके योद्धाओं को लाँघते हुए वहाँ पहुँचे थे।

सोऽपश्यदर्जुनं तत्र युध्यमानं महारथम् ।
सैन्धवस्य वधार्थं हि पराक्रान्तं पराक्रमी ॥३८॥

पराक्रमी भीमसेन ने वहाँ सिन्धुराज के वध के लिए पराक्रम करते हुए युद्ध में तत्पर महारथी अर्जुन को देखा।

तं दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रश्चुक्रोश महतो रवान् ।
प्रावृट्काले महाराज नर्दन्निव बलाहकः ॥३९॥

महाराज ! उन्हें देखते ही पुरुषसिंह भीमसेन ने वर्षाकाल में गर्जते हुए मेघ के समान बहुत उच्चस्वर से सिंहनाद किया।

तं तस्य निनदं घोरं पार्थः शुश्राव नर्दतः ।
वासुदेवश्च कौरव्य भीमसेनस्य संयुगे ॥४०॥

कुरुकुलनन्दन ! गर्जते हुए भीमसेन के उस भयंकर सिंहनाद को रणक्षेत्र में कुन्तीपुत्र अर्जुन और श्रीकृष्ण ने सुना ।

तौ श्रुत्वा युगपद् वीरौ निनदं तस्य शुष्मिणः ।
पुनः पुनः प्रणदतां दिदृक्षन्तौ वृकोदरम् ॥४१॥

उस महाबली वीर के सिंहनाद को एक ही साथ सुनकर उन दोनों वीरों ने भीम को देखने की इच्छा प्रकट करते हुए बारम्बार गर्जना की ।

भीमसेनरवं श्रुत्वा फाल्गुनस्य च धन्विनः ।
अप्रीयत महाराज धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥४२॥

प्रजेश्वर ! भीमसेन और धनुर्धर अर्जुन की गर्जना सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर अति प्रसन्न हुए ।

तथा तु नर्दमाने वै भीमसेने मदोत्कटे ।
हृद्गतं मनसा प्राह ध्यात्वा धर्मभृतां वरः ॥४३॥

मदोन्मत्त भीमसेन के बारम्बार गर्जना करने पर धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर मन-ही-मन कुछ सोचते हुए अपने हृदय की बात इस प्रकार कहने लगे—

दत्ता भीम त्वया संवित् कृतं गुरुवचस्तथा ।
न हि तेषां जयो युद्धे येषां द्वेष्टासि पाण्डव ॥४४॥
दिष्टया जीवति संग्रामे सव्यसाची धनञ्जयः ।
दिष्टया च कुशली वीरः सात्यकिः सत्यविक्रमः ॥४५॥

'भीम ! तुमने सूचना दे दी और गुरु की आज्ञा का पालन कर दिया । पाण्डुकुमार ! जिनके शत्रु तुम हो, उन्हें युद्ध में विजय प्राप्त नहीं हो सकती । सौभाग्य की बात है कि रणक्षेत्र में सव्यसाची अर्जुन जीवित है । यह भी आनन्द की बात है कि सत्य-पराक्रमी वीर सात्यकि सकुशल हैं ।

कच्चित् तीर्णप्रतिज्ञं हि वासुदेवेन रक्षितम् ।
अनस्तमित आदित्ये समेष्याम्यहमर्जुनम् ॥४६॥

'क्या सूर्यास्त होने से पूर्व ही प्रतिज्ञा पूर्ण करके लौटे हुए श्रीकृष्ण द्वारा सुरक्षित अर्जुन से मैं मिल सकूंगा ?

कच्चिद् दुर्योधनो राजा फाल्गुनेन निपातितम् ।
दृष्ट्वा सैन्धवकं संख्ये शममस्मासु धास्यति ॥४७॥

'क्या युद्ध में सिन्धुराज को अर्जुन के हाथ से मारा गया देखकर राजा दुर्योधन हमारे साथ सन्धि कर लेगा ?

दृष्ट्वा चान्यान्महायोधान्पातितान् धरणीतले ।
कच्चिद् दुर्योधनो मन्दः पश्चात्तापं गमिष्यति ॥४८॥

'अन्य अनेक योद्धाओं को भी धराशायी किये गये देखकर क्या मन्दबुद्धि दुर्योधन को पश्चात्ताप होगा ?'

एवं बहुविधं तस्य राज्ञश्चिन्तयतस्तदा ।
कृपयाभिपरीतस्य घोरं युद्धमवर्तत ॥४९॥

इस प्रकार राजा युधिष्ठिर जब दया से द्रवित होकर भाँति-भाँति की बातें सोच रहे थे, उस समय दूसरी ओर घोर युद्ध हो रहा था ।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशोऽध्यायः

सात्यकि का अद्भुत पराक्रम, अर्जुन द्वारा भूरिश्रवा की भुजा का उच्छेद और सात्यकि द्वारा भूरिश्रवा का वध

सञ्जय उवाच

तरन्निव जले श्रान्तो यथा स्थलमुपेयिवान् ।
तं दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रं युयुधानः समाश्वसत् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—जैसे जल में तैरते-तैरते थका हुआ मनुष्य स्थल में पहुँच जाए, उसी प्रकार पुरुष-सिंह अर्जुन को देखकर युयुधान [सात्यकि] को बड़ा आश्वासन मिला ।

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य केशवः पार्थमब्रवीत् ।
असावायाति शैनेयस्तव पार्थ पदानुगः ॥२॥

सात्यकि को आते देख श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"पार्थ ! देखो, यह तुम्हारे चरणों का अनुगामी शिनिपौत्र सात्यकि आ रहा है ।

एष शिष्यः सखा चैव तव सत्यपराक्रमः ।
सर्वान् योधाँस्तृणीकृत्य विजिग्ये पुरुषर्षभः ॥३॥

"यह सत्यपराक्रमी वीर तुम्हारा शिष्य और मित्र भी है। इस पुरुषसिंह ने सम्पूर्ण योद्धाओं को तिनके के समान समझकर परास्त कर दिया है।

कृत्वा सुदुष्करं कर्म सैन्यमध्ये महाबलः।
तव दर्शनमन्विच्छन् पाण्डवाभ्येति सात्यकिः ॥४॥

"पाण्डुनन्दन! महाबली सात्यकि कौरव-सेना के भीतर अत्यन्त दुष्कर पराक्रम करके तुम्हें देखने की इच्छा से यहाँ आ रहा है।"

ततोऽप्रहृष्टः कौन्तेयः केशवं वाक्यमब्रवीत्।
न मे प्रियं महाबाहो यन्मामभ्येति सात्यकिः ॥५॥

श्रीकृष्ण की बात सुनकर खिन्न-से हुए कुन्तीपुत्र अर्जुन ने केशव से कहा—"महाबाहो! सात्यकि जो मेरे पास आ रहे हैं, यह बात मुझे प्रिय नहीं है।

न हि जानामि वृत्तान्तं धर्मराजस्य केशव।
सात्वतेन विहीनः स यदि जीवति वा न वा ॥६॥

"केशव! पता नहीं धर्मराज का क्या हाल है! सात्यकि से रहित होकर वे जीवित भी हैं या नहीं!

एतेन हि महाबाहो रक्षितव्यः स पार्थिवः।
तमेष कथमुत्सृज्य मम कृष्ण पदानुगः ॥७॥

"महाबाहो! सात्यकि को तो उन्हीं की रक्षा करनी चाहिए थी। श्रीकृष्ण! उन्हें छोड़कर ये मेरे पीछे कैसे चले आये?

राजा द्रोणाय चोत्सृष्टः सैन्धवश्चानिपातितः।
प्रत्युद्याति च शैनेयमेष भूरिश्रवा रणे ॥८॥

"इन्होंने राजा युधिष्ठिर को द्रोणाचार्य के लिए छोड़ दिया और सिन्धुराज जयद्रथ भी अभी मारा नहीं गया। इसके अतिरिक्त ये भूरिश्रवा युद्धभूमि में शिनिपौत्र सात्यकि की ओर बढ़ रहे हैं।

सोऽयं गुरुतरो भारः सैन्धवार्थे समाहितः।
ज्ञातव्यश्च हि मे राजा रक्षितव्यश्च सात्यकिः ॥९॥

"इस समय सिन्धुराज जयद्रथ के कारण मुझपर बहुत बड़ा भार आ गया है। एक तो मुझे राजा युधिष्ठिर की कुशलता का वृत्तान्त जानना है, दूसरे सात्यकि की भी रक्षा करनी है।

जयद्रथश्च हन्तव्यो लम्बते च दिवाकरः।
श्रान्तश्चैष महाबाहुरल्पप्राणश्च साम्प्रतम् ॥१०॥
परिश्रान्ता हयाश्चास्य हययन्ता च माधव।
न च भूरिश्रवाः श्रान्तः ससहायश्च केशव ॥११॥

"इसके सिवा जयद्रथ का भी वध करना है। इधर सूर्य अस्ताचल को जा रहा है। माधव! ये महाबाहु सात्यकि इस समय थककर अल्पप्राण हो रहे हैं। इनके घोड़े और सारथि भी थक गये हैं, किन्तु केशव! भूरिश्रवा और उनके सहायक थके नहीं हैं।

अपीदानीं भवेदस्य क्षेममस्मिन् समागमे।
कच्चिन्न सागरं तीर्त्वा सात्यकिः सत्यविक्रमः।
गोष्पदं प्राप्य सीदेत महौजाः शिनिपुङ्गवः ॥१२॥

"क्या इन दोनों के इस संघर्ष में इस समय सात्यकि सकुशल विजयी हो सकेंगे? कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि सत्यपराक्रमी शिनिप्रवर महाबली सात्यकि समुद्र को पार करके गाय की खुरी के बराबर जल में डूबने लगें।

व्यतिक्रममिमं मन्ये धर्मराजस्य केशव।
आचार्याद् भयमुत्सृज्य यः प्रेषयत सात्यकिम् ॥१३॥

"केशव! मैं तो धर्मराज युधिष्ठिर के इस कार्य को विपरीत समझता हूँ, जिन्होंने द्रोणाचार्य का भय छोड़कर सात्यकि को इधर भेज दिया।

ग्रहणं धर्मराजस्य खगः श्येन इवामिषम्।
नित्यमाशंसते द्रोणः कच्चित्स्यात्कुशली नृपः ॥१४॥

"जैसे बाज पक्षी मांस पर झपट्टा मारता है, उसी प्रकार द्रोणाचार्य प्रतिदिन धर्मराज को बन्दी बनाना चाहते हैं। ऐसी दशा में क्या राजा युधिष्ठिर कुशल होंगे?"

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य सात्वतं युद्धदुर्मदम्।
क्रोधाद् भूरिश्रवा राजन् सहसा समुपाद्रवत् ॥१५॥

राजन्! [इधर अर्जुन और श्रीकृष्ण में यह वार्तालाप हो रहा था उधर] युद्धदुर्मद सात्यकि को आते देख भूरिश्रवा ने क्रोधपूर्वक सहसा उनपर आक्रमण किया।

तमब्रवीन्महाराज कौरव्यः शिनिपुङ्गवम्।
अद्य प्राप्तोऽसि दिष्टया मे चक्षुर्विषयमित्युत ॥१६॥
चिराभिलषितं काममहं प्राप्स्यामि संयुगे।
न हि मन्मोक्ष्यसे जीवन् यदि नोत्सृजसे रणम् ॥१७॥

महाराज! कुरुनन्दन भूरिश्रवा ने उस समय शिनिप्रवर सात्यकि से इस प्रकार कहा—"युयुधान!

बड़े सौभाग्य की बात है कि आज तुम मेरी आँखों के सामने आ गये। आज युद्ध में मैं अपनी बहुत दिनों की इच्छा पूरी करूँगा। यदि तुम मैदान छोड़कर भाग नहीं गये तो आज मेरे हाथों से जीवित नहीं बचोगे।

अद्य त्वां समरे हत्वा नित्यं शूराभिमानिनम्।
नन्दयिष्यामि दाशार्ह कुरुराजं सुयोधनम् ॥१८॥

"दाशार्ह! तुम सदा अपने को बड़ा शूरवीर समझते हो। आज मैं रणभूमि में तुम्हारा वध करके कुरुराज दुर्योधन को आनन्दित करूँगा।

अद्य मद्बाणनिर्दग्धं पतितं धरणीतले।
द्रक्ष्यतस्त्वां रणे वीरौ सहितौ केशवार्जुनौ ॥१९॥

"आज युद्ध में वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों एक-साथ तुम्हें मेरे बाणों से दग्ध होकर पृथिवी पर पड़ा हुआ देखेंगे।

अद्य संयमनीं याता मया त्वं निहतो रणे।
यथा रामानुजेनाजौ रावणिर्लक्ष्मणेन ह ॥२०॥

"जैसे पूर्वकाल में श्रीराम के भाई लक्ष्मण द्वारा युद्ध में रावणपुत्र इन्द्रजित् मारा गया था, वैसे ही इस रणभूमि में मेरे द्वारा मारे जाकर तुम आज ही यमराज की संयमनीपुरी की ओर यात्रा करोगे।"

युयुधानस्तु तं राजन् प्रत्युवाच हसन्निव।
कौरवेय न संत्रासो विद्यते मम संयुगे ॥२१॥

राजन्! युयुधान ने भूरिश्रवा की ये बातें सुनकर हँसते हुए-से यह उत्तर दिया—"कुरुनन्दन! युद्ध में मुझे कभी किसी से भय नहीं होता।

किं वृथोक्तेन बहुना कर्मणा तत् समाचर।
शारदस्येव मेघस्य गर्जितं निष्फलं हि ते ॥२२॥

"व्यर्थ ही बहुत-सी बातें बनाने से क्या लाभ? तुमने जो कुछ कहा है, उसे करके दिखाओ। शरत्काल के मेघ के समान तुम्हारे इस गर्जन-तर्जन का कुछ फल नहीं है।

चिरकालेप्सितं लोके युद्धमद्यास्तु कौरव।
नाहत्वाहं निवर्तिष्ये त्वामद्य पुरुषाधम ॥२३॥

"कौरव! इस लोक में मेरी भी तुम्हारे साथ युद्ध करने की बहुत समय से अभिलाषा थी, वह आज पूरी हो जाए। पुरुषाधम! आज तुम्हारा वध किये बिना मैं पीछे नहीं हटूँगा।"

अन्योन्यं तौ तथा वाग्भिस्तक्षन्तौ नरपुङ्गवौ।
जिघांसू परमक्रुद्धावभिजघ्नतुराहवे ॥२४॥

इस प्रकार एक-दूसरे को मार डालने की इच्छावाले वे दोनों नरश्रेष्ठ वीर परस्पर वाग्बाणों का प्रहार करते हुए उस रणभूमि में अत्यन्त क्रुद्ध हो बाणों द्वारा आघात करने लगे।

तौ नखैरिव शार्दूलौ दन्तैरिव महाद्विपौ।
रथशक्तिभिरन्योन्यं विशिखैश्चाप्यकृन्तताम् ॥२५॥

जैसे दो सिंह नखों से और दो बड़े-बड़े गजराज दाँतों से परस्पर प्रहार करते हैं, उसी प्रकार वे दोनों वीर रथशक्तियों तथा बाणों द्वारा एक-दूसरे को क्षत-विक्षत करने लगे।

अन्योन्यस्य हयान् हत्वा धनुषी विनिकृत्य च।
विरथावसियुद्धाय समेयातां महारणे ॥२६॥

दोनों ने दोनों के घोड़े मारकर धनुष काट दिये और उस महायुद्ध में दोनों ही रथहीन होकर खड्ग-युद्ध के लिए एक-दूसरे के सामने आ गये।

आर्षभे चर्मणी चित्रे प्रगृह्य विपुले शुभे।
विकोशौ चाप्यसी कृत्वा समरे तौ विचेरतुः ॥२७॥

बैल के चमड़े से बनी हुई दो विचित्र, सुन्दर एवं विशाल ढालें लेकर और तलवारों को म्यान से बाहर निकालकर वे दोनों रणभूमि में विचरने लगे।

दर्शयन्तावुभौ शिक्षां लाघवं सौष्ठवं तथा।
रणे रणकृतां श्रेष्ठावन्योन्यं पर्यकर्षताम् ॥२८॥

वे दोनों ही अपनी शिक्षा, स्फूर्ति [फुर्ती] और युद्ध-कौशल दिखाते हुए रणक्षेत्र में एक-दूसरे को खींच रहे थे। वे दोनों ही योद्धाओं में श्रेष्ठ थे।

असिभ्यां चर्मणी चित्रे शतचन्द्रे नराधिप।
निकृत्य पुरुषव्याघ्रौ बाहुयुद्धं प्रचक्रतुः ॥२९॥

एक-दूसरे पर तलवारों की चोट करके दोनों ने दोनों की सौ चन्द्राकार चिह्नों से सुशोभित विचित्र ढालें काट डालीं। प्रजेश्वर! फिर वे दोनों पुरुषसिंह भुजाओं द्वारा मल्लयुद्ध करने लगे।

द्वात्रिंशत् करणानि स्युर्यानि युद्धानि भारत।
तान्यदर्शयतां तत्र युद्ध्यमानौ महाबलौ ॥३०॥

भरतभूषण! इस प्रकार वे दोनों महाबली वीर

परस्पर जूझते हुए मल्ल-युद्ध की जो बत्तीस कलाएँ हैं, उनका प्रदर्शन करने लगे।

ततो भूरिश्रवाः क्रुद्धः सात्यकिं युद्धदुर्मदः।
उद्यम्याभ्याहनद् राजन् मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥३१॥

राजन्! इसी समय क्रोध में भरे हुए युद्धदुर्मद भूरिश्रवा ने उद्योग करके सात्यकि पर उसी प्रकार आघात किया, जैसे एक मतवाला गजराज दूसरे मदोन्मत्त हाथी पर चोट करता है।

अथ कृष्णो महाबाहुरर्जुनं प्रत्यभाषत।
पश्य वृष्ण्यन्धकव्याघ्रं सौमदत्तिवशं गतम् ॥३२॥

तब महाबाहु श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"पार्थ! देखो! वृष्णि और अन्धकवंश का वह श्रेष्ठ वीर सात्यकि भूरिश्रवा के वश में हो गया है।

परिश्रान्तं गतं भूमौ कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।
तवान्तेवासिनं वीरं पालयार्जुन सात्यकिम् ॥३३॥

"वह अत्यन्त दुष्कर कर्म करके परिश्रम से चूर-चूर हो पृथिवी पर गिर गया है। अर्जुन! वीर सात्यकि तुम्हारा ही शिष्य है, उसकी रक्षा करो।"

इत्येवं भाषमाणे तु पाण्डवं वै धनञ्जयम्।
तदुद्यम्य महाबाहुः सात्यकिं न्यहनद् भुवि ॥३४॥

भरतभूषण! श्रीकृष्ण पाण्डुनन्दन अर्जुन से इस प्रकार कह ही रहे थे कि महाबाहु भूरिश्रवा ने सात्यकि को उठाकर धरती पर पटक दिया।

अथकोशाद् विनिष्कृष्य खड्गं भूरिश्रवा रणे।
मूर्धजेषु निजग्राह पदा चोरस्यताडयत् ॥३५॥

तत्पश्चात् भूरिश्रवा ने रणक्षेत्र में तलवार को म्यान से बाहर निकालकर सात्यकि के केशों को पकड़ लिया और उसकी छाती में लात मारी।

ततोऽस्य छेत्तुमारब्धः शिरः कायात् सकुण्डलम्।
तावत्क्षणात् सात्वतोऽपि शिरः सम्भ्रमयंस्त्वरन् ।३६

फिर उसने सात्यकि के कुण्डलभूषित मस्तक को धड़ से अलग कर देने का उद्योग आरम्भ किया। उस समय सात्यकि भी बड़ी शीघ्रता के साथ अपने मस्तक को घुमाने लगे।

यथा चक्रं तु कौलालो दण्डविद्धं तु भारत।
सहैव भूरिश्रवसो बाहुना केशधारिणा ॥३७॥

भरतभूषण! जैसे कुम्हार छेद में डण्डा डालकर अपने चाक को घुमाता है वैसे ही केश पकड़े हुए भूरिश्रवा के बाँह के साथ ही सात्यकि अपने सिर को घुमाने लगे।

तं तथा परिकृष्यन्तं दृष्ट्वा सात्वतमाहवे।
वासुदेवस्ततो राजन् भूयोऽर्जुनमभाषत ॥३८॥

राजन्! इस प्रकार युद्धभूमि में केश खींचे जाने के कारण सात्यकि को कष्ट पाते देख श्रीकृष्ण अर्जुन से पुनः इस प्रकार बोले—

पश्य वृष्ण्यन्धकव्याघ्रं सौमदत्तिवशं गतम्।
तव शिष्यं महाबाहो धनुष्यनवरं त्वया ॥३९॥

"महाबाहो! देखो, वृष्णि और अन्धकवंश का वह सिंह भूरिश्रवा के वश में पड़ गया है। यह तुम्हारा शिष्य है और धनुर्विद्या में तुमसे कम नहीं है।"

अर्जुन उवाच

सैन्धवे सक्तदृष्टित्वान्नैनं पश्यामि माधवम्।
एतत् त्वसुकरं कर्म यादवार्थे करोम्यहम् ॥४०॥

अर्जुन बोले—प्रभो! मेरी दृष्टि सिन्धुराज जयद्रथ पर लगी हुई थी, अतः मैं सात्यकि को देख नहीं रहा था, परन्तु अब मैं इस यदुवंशी वीर की रक्षा के लिए यह दुष्कर्म करता हूँ।

सञ्जय उवाच

इत्युक्त्वा वचनं कुर्वन् वासुदेवस्य पाण्डवः।
ततः क्षुरप्रं निशितं गाण्डीवं समयोजयत् ॥४१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन करते हुए पाण्डुनन्दन अर्जुन ने गाण्डीव धनुष पर एक तीखा क्षुरप्र रखा।

पार्थबाहुविसृष्टः स महोल्केव नभश्च्युता।
सखड्गं यज्ञशीलस्य साङ्गदं बाहुमच्छिनत् ॥४२॥

अर्जुन की भुजाओं से छोड़े गये उस क्षुरप्र ने आकाश से गिरी हुई बड़ी भारी उल्का के समान उस यज्ञशील भूरिश्रवा के बाजूबन्दमण्डित [दाहिनी] भुजा को खड्गसहित काट गिराया।

स मोघं कृतमात्मानं दृष्ट्वा पार्थेन कौरवः।
उत्सृज्य सात्यकिं क्रोधाद् गर्हयामास पाण्डवम् ॥४३॥

कुन्तीपुत्र अर्जुन के द्वारा अपने को असफल किया हुआ देख कुरुवंशी भूरिश्रवा ने क्रुद्ध हो सात्यकि

को छोड़ पाण्डुकुमार अर्जुन की निन्दा करते हुए कहा—

भूरिश्रवा उवाच

नृशंसं बत कौन्तेय कर्मेदं कृतवानसि ।
अपश्यतो विषक्तस्य यन्मे बाहुमचिच्छिदः ॥४४॥

भूरिश्रवा ने कहा—कुन्तीपुत्र ! तुमने यह अति निर्दयतापूर्ण कर्म किया है, क्योंकि मैं तुम्हें देख नहीं पा रहा था और दूसरे से युद्ध करने में लगा था, उस अवस्था में तुमने मेरी भुजा काट दी ।

किं नु वक्ष्यसि राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
किं कुर्वाणो मया संख्ये हतो भूरिश्रवा रणे ॥४५॥

तुम धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर से क्या कहोगे ? यही न कि 'भूरिश्रवा किसी और कार्य में लगे थे और मैंने उसी अवस्था में उन्हें युद्ध में मार डाला ?'

इदमिन्द्रेण ते साक्षदुपदिष्टं महात्मना ।
अस्त्रं रुद्रेण वा पार्थ द्रोणेनाथ कृपेण वा ॥४६॥

कुन्तीकुमार ! इस अस्त्र-विद्या का उपदेश तुम्हें साक्षात् महात्मा इन्द्र ने दिया है, अथवा रुद्र, द्रोण या कृपाचार्य ने ?

ननु नामास्त्रधर्मज्ञस्त्वं लोकेऽभ्यधिकः परैः ।
सोऽयुध्यमानस्य कथं रणे प्रहृतवानसि ॥४७॥

अर्जुन ! तुम तो इस संसार में दूसरों से अधिक अस्त्र-धर्म के ज्ञाता हो, फिर जो तुम्हारे साथ युद्ध नहीं कर रहा था, तुमने युद्ध में उसपर प्रहार कैसे किया ?

न प्रमत्ताय भीताय विरथाय प्रयाचते ।
व्यसने वर्तमानाय प्रहरन्ति मनस्विनः ॥४८॥

मनस्वी पुरुष असावधान, डरे हुए, रथहीन, प्राणों की भीख माँगनेवाले और संकट में पड़े हुए मनुष्य पर प्रहार नहीं करते हैं ।

इदं तु नीचाचरितमसत्पुरुषसेवितम् ।
कथमाचरितं पार्थ पापकर्म सुदुष्करम् ॥४९॥

कुन्तीपुत्र ! यह नीच पुरुषों द्वारा आचरित और दुष्ट पुरुषों द्वारा सेवित अत्यन्त दुष्कर पापकर्म तुमने कैसे कर डाला ?

आर्येण सुकरं त्वाहुरार्यकर्म धनञ्जय ।
अनार्यकर्म त्वार्येण सुदुष्करतमं भुवि ॥५०॥

धनञ्जय ! श्रेष्ठ पुरुष के लिए उत्तम कर्म ही सुकर बताया गया है । नीच कर्म का आचरण तो इस पृथिवी पर उसके लिए अत्यन्त दुष्कर माना गया है ।

येषु येषु नरव्याघ्र यत्र यत्र च वर्तते ।
आशु तच्छीलतामेति तदिदं त्वयि दृश्यते ॥५१॥

नरसिंह ! मनुष्य जहाँ-जहाँ, जिन-जिन लोगों के समीप रहता है, उसमें शीघ्र ही उन लोगों का शील स्वभाव आ जाता है, यही बात तुममें भी देखी जाती है ।

कथं हि राजवंश्यस्त्वं कौरवेयो विशेषतः ।
क्षत्रधर्मादपक्रान्तः सुवृत्तश्चरितव्रतः ॥५२॥

अन्यथा राजा के वंशज और विशेषतः कुरुकुल में उत्पन्न होकर भी तुम क्षत्रियधर्म से कैसे गिर जाते ? तुम्हारा शील-स्वभाव तो अत्युत्तम था और तुमने श्रेष्ठ व्रतों का पालन भी किया था ।

इदं तु यदतिक्षुद्रं वार्ष्णेयार्थे कृतं त्वया ।
वासुदेवमतं नूनं नैतत् त्वय्युपपद्यते ॥५३॥

तुमने सात्यकि को बचाने के लिए जो यह अत्यन्त नीच कर्म किया है, यह निश्चय ही वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण का मत है, तुममें यह विचार सम्भव नहीं है।

अर्जुन उवाच

व्यक्तं हि जीर्यमाणोऽपि बुद्धिं जरयते नरः ।
अनर्थकमिदं सर्वं यत् त्वया व्याहृतं प्रभो ॥५४॥

अर्जुन बोले—प्रभो ! यह स्पष्ट है कि मनुष्य के वृद्ध होने के साथ-साथ उसकी बुद्धि भी बूढ़ी हो जाती है । तुमने इस समय जो कुछ कहा है, वह सब व्यर्थ है ।

संग्रामाणां हि धर्मज्ञः सर्वशास्त्रार्थपारगः ।
न चाधर्ममहं कुर्यां जानंश्चैव हि मुह्यसे ॥५५॥

मैं युद्ध के नियमों को जानता हूँ और सम्पूर्ण वेद-शास्त्रों के अर्थज्ञान में पारंगत हूँ । मैं किसी प्रकार अधर्म नहीं कर सकता, यह जानते हुए भी तुम मेरे विषय में मोहित हो रहे हो ।

युध्यन्ति क्षत्रियाः शत्रून्स्वैः स्वैः परिवृता नराः ।
भ्रातृभिः पितृभिः पुत्रैस्तथा सम्बन्धिबान्धवैः ।
वयस्यैरथ मित्रैश्च ते च बाहुं समाश्रिताः ॥५६॥

क्षत्रिय लोग अपने-अपने भाई, पिता, पुत्र, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धवों, समान अवस्थावाले साथी और मित्रों से घिरकर शत्रु के साथ युद्ध करते हैं। वे सब लोग उस प्रधान योद्धा के बाहुबल के आश्रित होते हैं।

न चात्मा रक्षितव्यो वै राजन् रणगतेन हि।
यो यस्य युज्यतेऽर्थेषु स वै रक्ष्यो नराधिप ॥५७॥

राजन्! रणभूमि में गये हुए वीर के लिए केवल अपनी ही सुरक्षा उचित नहीं है। प्रजेश्वर! जो जिसके कार्य में संलग्न होता है, वह अवश्य ही उसके द्वारा रक्षणीय हुआ करता है।

यद्यहं सात्यकिं पश्ये वध्यमानं महारणे।
ततस्तस्य वियोगेन पापं मेऽनर्थतो भवेत् ॥५८॥

यदि मैं इस महायुद्ध में सात्यकि को अपने सामने मरता देखता तो उसके वियोग से मुझे अनर्थकारी पाप लगता।

यच्च मे गर्हसे राजन्नन्येन सह संगतम्।
अहं त्वया विनिकृतस्तत्र मे बुद्धिविभ्रमः ॥५९॥

राजन्! आप जो यह कहकर मेरी निन्दा कर रहे हैं कि 'अर्जुन! मैं दूसरे के साथ युद्ध में लगा हुआ था, उस अवस्था में तुमने मेरे साथ छल किया'—आपकी इस बात से मेरी बुद्धि में भ्रम उत्पन्न हो गया है।

स्वैः परैश्च समेतेभ्यो गम्भीरे सैन्यसागरे।
एकस्यैकेन हि कथं संग्रामः सम्भविष्यति ॥६०॥

गम्भीर सैन्य-समुद्र में जहाँ अपने और शत्रुपक्ष के एकत्र हुए लोगों का परस्पर युद्ध चल रहा था, ऐसे तुमुल युद्ध में किसी भी एक योद्धा का एक ही योद्धा के साथ संग्राम कैसे माना जा सकता है?

बहुभिः सह संगम्य निर्जित्य च महारथान्।
श्रान्तश्च श्रान्तवाहश्च विमनाः शस्त्रपीडितः ॥६१॥
ईदृशं सात्यकिं संख्ये निर्जित्य च महारथम्।
अधिकत्वं विजानीषे स्ववीर्यवशमागतम् ॥६२॥

सात्यकि बहुत-से योद्धाओं के साथ युद्ध करके कितने ही महारथियों को परास्त करने के पश्चात् थक गया था। उनके घोड़े भी थक गये थे और वह स्वयं अस्त्र-शस्त्रों से पीड़ित हो खिन्नचित्त हो गया था। ऐसी दशा में महारथी सात्यकि को युद्ध में जीतकर तुम यह समझने लगे कि मैं सात्यकि से बड़ा वीर हूँ और वह मेरे पराक्रम से वश में आ गया है।

यदिच्छसि शिरश्चास्य असिना हन्तुमाहवे।
तथा कृच्छ्रगतं चैव सात्यकिं कः क्षमिष्यति ॥६३॥

इसलिए तुम रणभूमि में तलवार से उसका सिर काट लेना चाहते थे। सात्यकि को वैसे संकट में देखकर मेरे पक्ष का कौन वीर इसको सहन कर सकता था?

त्वं वैऽवगर्हयात्मानमात्मानं यो न रक्षसि।
कथं करिष्यसे वीर यो वा त्वां संश्रयेज्जनः ॥६४॥

वीरवर! तुम अपनी ही निन्दा करो, जो तुम अपनी भी रक्षा नहीं कर सके, फिर जो तुम्हारे आश्रय में होगा, उसकी रक्षा कैसे कर सकोगे?

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो महाबाहुर्यूपकेतुर्महायशाः।
युयुधानं समुत्सृज्य रणे प्रायमुपाविशत् ॥६५॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! अर्जुन के ऐसा कहने पर यूप-चिह्न से युक्त ध्वजावाले महायशस्वी, महाबाहु भूरिश्रवा सात्यकि को छोड़कर युद्धभूमि में आमरण अनशन का व्रत लेकर बैठ गये।

शरानास्तीर्य सव्येन पाणिना पुण्यलक्षणः।
यियासुर्ब्रह्मलोकाय प्राणान् प्राणेष्वथाजुहोत् ॥६६॥

शुभ लक्षणोंवाले भूरिश्रवा ने बाएँ हाथ से बाण बिछाकर ब्रह्मलोक में जाने की इच्छा से प्राणायाम के द्वारा प्राणों को प्राणों में ही होम दिया।

सूर्ये चक्षुः समाधाय प्रसन्नं सलिले मनः।
ध्यायन् महोपनिषदं योगयुक्तोऽभवन्मुनिः ॥६७॥

वे नेत्रों को सूर्य में और प्रसन्न मन को जल में समाहित करके महोपनिषत्-प्रतिपादित परब्रह्म का चिन्तन करते हुए योगयुक्त मुनि हो गये।

ततः स सर्वसेनायां जनः कृष्णधनञ्जयौ।
गर्हयामास तं चापि शशंस पुरुषर्षभम् ॥६८॥

उस समय सारी सेना के लोग श्रीकृष्ण और अर्जुन की निन्दा और नरश्रेष्ठ भूरिश्रवा की प्रशंसा करने लगे।

तांस्तथा वादिनो राजन् पुत्रांस्तव धनञ्जय ।
उवाच पाण्डुतनयः स्मारयन्निव भारत ॥६९॥

हे भारत ! आपके पुत्र जब भूरिश्रवा की ही भाँति निन्दा की बातें कहने लगे, तब पाण्डुपुत्र अर्जुन ने पुरानी बातों का स्मरण कराते हुए कहा—

मम सर्वेऽपि राजानो जानन्त्येव महाव्रतम् ।
न शक्यो मामको हन्तुं यो मे स्याद् बाणगोचरे ॥७०॥

"सब भूपाल मेरे इस महान् व्रत को जानते ही हैं कि जो कोई मेरा आत्मीयजन मेरे बाणों की पहुँच के भीतर होगा, वह किसी शत्रु के द्वारा मारा नहीं जा सकता ।

आत्तशस्त्रस्य हि रणे वृष्णिवीरं जिघांसतः ।
यदहं बाहुमच्छैत्सं न स धर्मो विगर्हितः ॥७१॥

"भूरिश्रवा तलवार हाथ में लेकर युद्धभूमि में वृष्णिवीर सात्यकि का वध करना चाहते थे । उस अवस्था में यदि मैंने उनकी भुजा काट डाली, तो यह आश्रित-रक्षारूप धर्म निन्दित नहीं है ।

न्यस्तशस्त्रस्य बालस्य विरथस्य विवर्मणः ।
अभिमन्योर्वधं तात धार्मिकः को नु पूजयेत् ॥७२॥

"तात ! भूरिश्रवाजी ! बालक अभिमन्यु शस्त्र, कवच और रथ से हीन हो चुका था, उस अवस्था में जो उसका वध किया गया, उसकी कौन धार्मिक पुरुष प्रशंसा कर सकता है ?"

एतत् पार्थस्य तु वचस्ततः श्रुत्वा महाद्युतिः ।
यूपकेतुर्महाराज तूष्णीमासीदवाङ्मुखः ॥७३॥

महाराज ! अर्जुन की उपर्युक्त बात सुनकर यूप-चिह्न से युक्त ध्वजावाले महा-तेजस्वी भूरिश्रवा मुँह नीचा किये हुए मौन रह गये ।

उत्थितः स तु शैनेयो विमुक्तः सौमदत्तिना ।
खड्गमादाय चिच्छित्सुः शिरस्तस्य महात्मनः ॥७४॥

राजन् ! उधर सोमदत्तकुमार भूरिश्रवा के छोड़ देने पर शिनिपौत्र सात्यकि उठकर खड़े हो गये, फिर उन्होंने तलवार लेकर महामना भूरिश्रवा का सिर काट लेने का निश्चय किया ।

इयेष सात्यकिर्हन्तुं शलाग्रजमकल्मषम् ।
निकृत्तभुजमासीनं छिन्नहस्तमिव द्विपम् ॥७५॥

सात्यकि ने शल्य के बड़े भाई, प्रचुर दक्षिणा देनेवाले, सर्वथा निष्पाप और बाँह कट जाने से सूँड-कटे हाथी के समान बैठे हुए भूरिश्रवा को मार डालने की इच्छा की ।

वार्यमाणः स कृष्णेन पार्थेन च महात्मना ।
विक्रोशतां च सैन्यानामवधीत् तं धृतव्रतम् ॥७६॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन के द्वारा रोके जाने और समस्त सैनिकों के चीखने-चिल्लाने पर भी सात्यकि ने उस व्रतधारी भूरिश्रवा का काम तमाम कर डाला ।

नाभ्यनन्दन्त सैन्यानि सात्यकिं तेन कर्मणा ।
पक्षवादांश्च सुबहून् प्रावदंस्तत्र सैनिकाः ॥७७॥
न वार्ष्णेयस्यापराधो भवितव्यं हि तत् तथा ।
तस्मान्मन्युर्न वः कार्यः क्रोधो दुःखतरो नृणाम् ॥७८॥

सात्यकि के उस कर्म से सैनिकों ने उसका अभिनन्दन नहीं किया । आपके सैनिकों ने सात्यकि के पक्ष और विपक्ष में बहुत-सी बातें कहीं । वे कहते थे—"इसमें सात्यकि का कोई अपराध नहीं है । होनहार ही ऐसी थी, अतः आप लोगों को अपने मन में क्रोध नहीं करना चाहिए, क्योंकि क्रोध मनुष्यों के लिए अत्यन्त दुःखदायी होता है ।"

सात्यकिरुवाच

न हन्तव्यो न हन्तव्य इति यन्मां प्रभाषत ।
धर्मवादैरधर्मिष्ठा धर्मकञ्चुकमास्थिताः ॥७९॥

सात्यकि बोले—धर्म का चोला पहने खड़े हुए अधर्मपरायण पापात्माओ ! इस समय धर्म की बातें बनाते हुए तुम लोग जो मुझसे बार-बार कह रहे हो कि 'न मारो, न मारो' इसका उत्तर मुझसे सुन लो ।

यदा बालः सुभद्रायाः सुतः शस्त्रविनाकृतः ।
युष्माभिर्निहतो युद्धे तदा धर्मः क्व वो गतः ॥८०॥

जब तुम लोगों ने सुभद्रा के बालपुत्र अभिमन्यु को युद्ध में शस्त्रविहीन करके मार डाला था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?

मया त्वेतत्प्रतिज्ञातं क्षेपे कस्मिंश्चिदेव हि ।
यो मां निष्पिष्य संग्रामे जीवन्हन्यात्पदा रुषा ।
स मे वध्यो भवेच्छत्रुर्यद्यपि स्यान्मुनिव्रतः ॥८१॥

मैंने तो पहले से ही यह प्रतिज्ञा कर रखी है कि जिसके द्वारा कभी भी मेरा तिरस्कार हो जाएगा

अथवा जो संग्राम-भूमि में मुझे पटककर जीते-जी क्रोधपूर्वक लात मारेगा, वह शत्रु चाहे मुनिव्रत धारण करके बैठा हो, अवश्य मेरा वध्य होगा ।

भवितव्यं हि यद् भावि दैवं चेष्टयतीव च ।
सोऽयं हतो विमर्देऽस्मिन् किमत्राधर्मचेष्टितम् ॥८२॥

जो होनहार होती है, उसके अनुकूल ही दैव चेष्टा कराता है। इसी के अनुसार इस युद्ध में भूरिश्रवा मारे गये हैं। इसमें अधर्मपूर्ण चेष्टा क्या है?

अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि ।
न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवङ्गम ॥८३॥
सर्वकालं मनुष्येण व्यवसायवता सदा ।
पीडाकरममित्राणां यत् स्यात् कर्तव्यमेव तत् ॥८४॥

महर्षि वाल्मीकि ने पूर्वकाल में इस भूतल पर निम्न श्लोक का गान किया है—'वानर ! तुम जो यह कहते हो कि स्त्रियों का वध नहीं करना चाहिए, उसके उत्तर में मेरा [इन्द्रजित् का] कहना यह है कि उद्योगी मनुष्य द्वारा सदा वह कार्य करने योग्य माना गया है, जो शत्रुओं को पीड़ा देनेवाला हो ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्ते महाराज सर्वे कौरवपुङ्गवाः ।
न स्म किंचिदभाषन्त मनसा समपूजयन् ॥८५॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! सात्यकि के ऐसा कहने पर समस्त श्रेष्ठ कौरवों ने उसके उत्तर में कुछ नहीं कहा। वे मन-ही-मन उसकी प्रशंसा करने लगे ।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशोऽध्यायः

अर्जुन का जयद्रथ पर आक्रमण और उसका वध

धृतराष्ट्र उवाच

तदवस्थे हते तस्मिन् भूरिश्रवसि कौरवे ।
यथा भूयोऽभवद् युद्धं तन्ममाचक्ष्व सञ्जय ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय ! उस अवस्था में कुरुवंशी भूरिश्रवा के मारे जाने पर पुनः जिस प्रकार युद्ध हुआ, वह मुझे बताओ ।

सञ्जय उवाच

भूरिश्रवसि संक्रान्ते परलोकाय भारत ।
वासुदेवं महाबाहुरर्जुनः समनूनुदत् ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—भरतभूषण ! भूरिश्रवा के परलोकगामी हो जाने पर महाबाहु अर्जुन ने श्रीकृष्ण को प्रेरित करते हुए कहा—

नोदयाश्वान् भृशं कृष्ण यतो राजा जयद्रथः ।
अस्तमेति महाबाहो त्वरमाणो दिवाकरः ॥३॥

"महाबाहो ! सूर्य तीव्रगति से अस्ताचल की ओर जा रहा है, अतः श्रीकृष्ण ! जहाँ राजा जयद्रथ खड़ा है, आप इन घोड़ों को शीघ्रतापूर्वक उधर ही हाँकिए ।"

ततः कृष्णो महाबाहू रजतप्रतिमान् हयान् ।
हयज्ञो नोदयामास जयद्रथवधं प्रति ॥४॥

तब अश्वविद्या के ज्ञाता महाबाहु श्रीकृष्ण ने जयद्रथ का वध करने के उद्देश्य से चाँदी के समान श्वेत घोड़ों को उसकी ओर हाँका ।

तं प्रयान्तममोघेषुमुत्पतद्भिरिवाशुगैः ।
त्वरमाणा महाराज सेनामुख्याः समाद्रवन् ॥५॥

महाराज ! जिनके बाण कभी व्यर्थ नहीं जाते, उस अर्जुन को धनुष से छूटे हुए बाणों के समान उड़ते हुए-से अश्वों द्वारा जयद्रथ की ओर जाते देख कौरव सेना के प्रधान-प्रधान वीर बड़े वेग से दौड़े ।

स तान् रथवरान् राजन्नत्याक्रामत् तदार्जुनः ।
मोहयन्निव नाराचैर्जयद्रथवधेप्सया ॥६॥
विसृजन् दिक्षु सर्वासु शरानसितसारथिः ।
सरथो व्यचरत् तूर्णं प्रेक्षणीयो धनञ्जयः ॥७॥

राजन् ! उस समय जयद्रथ के वध की इच्छा से अर्जुन नाराचों द्वारा उन महारथियों को मोहित करते हुए-से लाँघ गये। श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, वे धनञ्जय सम्पूर्ण दिशाओं में बाणों की वृष्टि करते हुए

रथसहित तुरन्त वहाँ विचरने लगे। उस समय उनकी शोभा देखने ही योग्य थी।

आददानं महेष्वासं संदधानं च सायकम्।
विसृजन्तं च कौन्तेयं नानुपश्याम वै तदा ॥८॥

उस समय हम कुन्तीपुत्र महाधनुर्धर अर्जुन को बाण लेते, चढ़ाते और छोड़ते समय देख नहीं पाते थे।

यो योऽभ्यधावदाक्रन्दे तावकः पाण्डवं रणे।
तस्य तस्यान्तगा बाणाः शरीरे न्यपतन् प्रभो ॥९॥

प्रभो ! उस घोर संग्राम में आपके पक्ष का जो-जो योद्धा पाण्डुनन्दन अर्जुन की ओर बढ़ा, उस-उसके शरीर पर प्राणान्तकारी बाण पड़ने लगे।

एतस्मिन्नेव काले तु द्रुतं गच्छति भास्करे।
अब्रवीत् पाण्डवं राजंस्त्वरमाणो जनार्दनः ॥१०॥

राजन् ! इस समय जबकि सूर्यदेव तीव्रगति से अस्ताचल की ओर जा रहे थे, उतावले हुए श्रीकृष्ण ने पाण्डुपुत्र अर्जुन से कहा—

एष मध्ये कृतः षड्भिः पार्थ वीरैर्महारथैः।
जीवितेप्सुर्महाबाहो भीतस्तिष्ठति सैन्धवः ॥११॥

"महाबाहु पार्थ ! यह सिन्धुराज जयद्रथ प्राण बचाने की इच्छा से भयभीत होकर खड़ा है और उसे छह वीर महारथियों ने अपने बीच में कर रखा है।

रणे ह्येतानर्निजित्य षड् रथान् पुरुषर्षभ।
न शक्यः सैन्धवो हन्तुं यतो निर्व्याजमर्जुन ॥१२॥

"नरश्रेष्ठ अर्जुन ! युद्धभूमि में इन छह महारथियों को पराजित किये बिना सिन्धुराज को बिना माया के जीता नहीं जा सकता।

योगमत्र विधास्यामि सूर्यस्यावरणं प्रति।
अस्तंगत इति व्यक्तं द्रक्ष्यत्येकः स सिन्धुराट् ॥१३॥

"अतः मैं इस सूर्य को ढकने के लिए कोई युक्ति करूँगा, जिससे सभी को सूर्य अस्त हुआ दिखाई देगा परन्तु जयद्रथ को सूर्य उदित ही दिखाई देगा।[1]

तत्र छिद्रे प्रहर्तव्यं त्वयास्य कुरुसत्तम।
व्यपेक्षा नैव कर्तव्या गतोऽस्तमितिभास्करः ॥१४॥

"कुरुश्रेष्ठ ! वैसा अवसर आने पर तुम्हें अवश्य

---

१. जयद्रथ-वध के सम्बन्ध में लोगों में बहुत भ्रान्त धारणा है। ऐसा लोकप्रवाद है कि श्रीकृष्ण ने दिन में ही अपनी माया से सूर्य को अस्त कर दिया। जब अर्जुन जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं कर सका, तब अर्जुन के आत्मदाह के लिए चिता बनाई गई। अर्जुन भस्म होने के लिए जब उस चिता पर बैठ गया, तब उसका धनुष और बाण भी चिता पर रख दिया गया कि उन्हें भी अर्जुन के साथ ही जला देना चाहिए, अन्यथा इन्हें देख-देखकर हमें अर्जुन की याद आती रहेगी। उधर जब कौरवों ने देखा कि अर्जुन स्वयं जल मरने के लिए चिता पर बैठ गया है, तब वे भी तमाशा देखने के लिए चिता के चारों ओर खड़े हो गये। जयद्रथ भी सामने आकर खड़ा हो गया। जब श्रीकृष्ण ने देखा कि जयद्रथ अर्जुन की मार में खड़ा है, तब उन्होंने अर्जुन को आदेश दिया कि तीर चलाओ और जयद्रथ का काम तमाम कर दो। अर्जुन ने धनुष-बाण उठाया और जयद्रथ की गर्दन को धड़ से अलग कर दिया। उसी समय लोगों ने देखा कि आकाश में सूर्य चमक रहा है, उसी समय लोगों को यह ज्ञात हुआ कि यह सब तो श्रीकृष्ण की माया थी।

यह सारा वर्णन महाभारत की वास्तविक घटना के विरुद्ध है। वस्तुस्थिति यह है कि अर्जुन ने द्वन्द्वयुद्ध में जयद्रथ के वध की प्रतिज्ञा थी। परन्तु जयद्रथ को बचाने के लिए छह महारथी उसकी रक्षा कर रहे थे। श्रीकृष्ण ने उन छह महारथियों को युद्ध से विरत करने के लिए एक माया रची। उन्होंने दिन में सूर्य को अस्त कर दिया और वह भी इस प्रकार कि सभी योद्धाओं—यहाँ तक कि अर्जुन को भी यह दिखाई देता था कि सूर्य अस्त हो गया, परन्तु जयद्रथ को ऐसा दिखाई दे रहा था कि अभी सूर्य अस्त नहीं हुआ है। वह गर्दन उठाकर बार-बार देख रहा था कि अभी सूर्यास्त में कितना समय शेष है ? अर्जुन को श्रीकृष्ण ने सावधान कर ही दिया था। शेष महारथियों ने जब देखा कि सूर्यास्त हो गया है, तब वे या तो लड़े ही नहीं, अथवा बेमन से लड़े। जयद्रथ को यह दिखाई दे रहा था कि सूर्यास्त नहीं हुआ है, अतः वह पूर्ण उत्साह से लड़ रहा था। इस प्रकार जयद्रथ लड़ते हुए मारा गया है, बिना युद्ध करते हुए धोखे से नहीं मारा गया।

दिन में सूर्य को अस्त कर देना, यह श्रीकृष्ण का युद्धकौशल था। द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी ने भी ऐसे प्रयोग कई बार किये थे।

उसपर प्रहार करना चाहिए। इस बात पर ध्यान नहीं देना चाहिए कि सूर्य अस्त हो गया है।"

एवमस्त्विति बीभत्सुः केशवं प्रत्यभाषत।
ततोऽसृजत् तमः कृष्णः सूर्यस्यावरणं प्रति ॥१५॥

यह सुनकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—"प्रभो! ऐसा ही हो।" तब श्रीकृष्ण ने सूर्य को ढकने के लिए अन्धकार की सृष्टि की।

सृष्टे तमसि कृष्णेन गतोऽस्तमिति भास्करः।
त्वदीयाः जहृषुर्योधाः पार्थनाशान्नराधिप ॥१६॥

प्रजेश्वर! श्रीकृष्ण द्वारा अन्धकार की सृष्टि होने पर सूर्यास्त हो गया, ऐसा मानते हुए आपके योद्धा अर्जुन का विनाश निकट देख हर्षमग्न हो गये।

ते प्रहृष्टा रणे राजन् नापश्यन् सैनिका रविम्।
तदा चोन्नाम्यवक्त्राणि स हि राजा जयद्रथः ॥१७॥

राजन्! उस युद्धभूमि में हर्षमग्न हुए आपके सैनिकों ने सूर्य की ओर देखा तक नहीं। केवल राजा जयद्रथ उस समय बारम्बार मुंह ऊँचा करके सूर्य की ओर देख रहा था।

वीक्षमाणे ततस्तस्मिन् सिन्धुराजे दिवाकरम्।
पुनरेवाब्रवीत् कृष्णो धनञ्जयमिदं वचः ॥१८॥

सिन्धुराज जयद्रथ जब इस प्रकार सूर्य की ओर देखने लगा, तब श्रीकृष्ण पुनः अर्जुन से इस प्रकार बोले—

पश्य सिन्धुपतिं वीरं प्रेक्षमाणं दिवाकरम्।
भयं हि विप्रमुच्यैतत् त्वत्तो भरतसत्तम ॥१९॥

"भरतकुलभूषण! देखो, यह वीर सिन्धुराज अब तुम्हारा भय छोड़कर सूर्य की ओर दृष्टिपात कर रहा है।

अयं कालो महाबाहो वधायास्य दुरात्मनः।
छिन्धि मूर्धानमस्याशु कुरु साफल्यमात्मनः ॥२०॥

"महाबाहो! इस दुरात्मा के वध का यही अवसर है। तुम शीघ्र इसका मस्तक काट डालो और अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो।"

इत्येवं केशवेनोक्तः पाण्डुपुत्रः प्रतापवान्।
न्यवधीत् तावकं सैन्यं शरैरर्काग्निसंनिभैः ॥२१॥

श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर प्रतापी पाण्डुपुत्र अर्जुन ने सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी बाणों द्वारा आपकी सेना को मौत के घाट उतारना आरम्भ किया।

कृपं विव्याध विंशत्या कर्णं पञ्चाशता शरैः।
शल्यं दुर्योधनं चैव षड्भिः षड्भिरताडयत् ॥२२॥

उन्होंने कृपाचार्य को बीस, कर्ण को पचास तथा शल्य और दुर्योधन को छह-छह बाण मारे।

तथैव च महाबाहुस्त्वदीयान् पाण्डुनन्दनः।
गाढं विद्ध्वा शरै राजन् जयद्रथमुपाद्रवत् ॥२३॥

राजन्! इसी प्रकार महाबाहु पाण्डुपुत्र अर्जुन ने आपके अन्य सैनिकों को भी बाणों द्वारा गहरी चोट पहुँचाकर जयद्रथ पर धावा किया।

तं समीपस्थितं दृष्ट्वा लेलिहानमिवानलम्।
जयद्रथस्य गोप्तारः संशयं परमं गताः ॥२४॥

अपनी लपटों से सबको चाट जानेवाली अग्नि के समान अर्जुन को निकट खड़ा देख जयद्रथ के रक्षक भारी संकट में पड़ गये।

तत्राद्भुतमपश्याम कुन्तीपुत्रस्य विक्रमम्।
तादृङ् न भावी भूतो वा यच्चकार महायशाः ॥२५॥

वहाँ हम लोगों ने कुन्तीकुमार का अद्भुत पराक्रम देखा। उस महायशस्वी वीर ने उस समय जो पराक्रम प्रकट किया था, वैसा न तो पहले कभी प्रकट हुआ था और न आगे कभी होगा ही।

द्विपान् द्विपगतांश्चैव हयान् हयगतानपि।
तथा स रथिनश्चैव न्यहन् रुद्रः पशूनिव ॥२६॥

जैसे संहारकारी रुद्र समस्त प्राणियों का विनाश कर डालते हैं, उसी प्रकार उन्होंने हाथियों और हाथीसवारों को, घोड़ों और घुड़सवारों को तथा रथों और रथियों को भी नष्ट कर दिया।

एवं तान् व्याकुलीकृत्य त्वदीयानां महारथान्।
उज्जहार शरं घोरं पाण्डवोऽनलसंनिभम् ॥२७॥

इस प्रकार आपके महारथियों को व्याकुल करके पाण्डुपुत्र अर्जुन ने एक अग्नि के समान तेजस्वी एवं भयंकर बाण निकाला।

वज्रेणास्त्रेण संयोज्य विधिवत् कुरुनन्दनः।
समादधन्महाबाहुर्गाण्डीवे क्षिप्रमर्जुनः ॥२८॥

कुरुनन्दन महाबाहु अर्जुन ने उस बाण को विधि-

पूर्वक वज्रास्त्र से संयोजित करके शीघ्र ही गाण्डीव धनुष पर रखा।

तस्मिन् संधीयमाने तु शरे ज्वलनतेजसि।
अब्रवीच्च पुनस्तत्र त्वरमाणो जनार्दनः ॥२६॥

राजन्! जब अर्जुन अग्नि के समान तेजस्वी उस बाण का संधान करने लगे, उस समय श्रीकृष्ण पुनः उतावले होकर बोले--

धनञ्जय शिरश्छिन्धि सैन्धवस्य दुरात्मनः।
अस्तं महीधरं श्रेष्ठं यियासति दिवाकरः ॥३०॥

"धनञ्जय! तुम दुरात्मा सिन्धुराज का मस्तक शीघ्र काट डालो, क्योंकि सूर्य अब पर्वतश्रेष्ठ अस्ताचल पर जाना ही चाहता है।"

एतत् श्रुत्वा तु वचनं सृक्विणी परिसंलिहन्।
विससर्जार्जुनस्तूर्णं सैन्धवस्य वधे धृतम् ॥३१॥

श्रीकृष्ण का यह वचन सुनकर अपने ओठों के दोनों कोने चाटते हुए अर्जुन ने सिन्धुराज के वध के लिए धनुष पर रखे हुए उस बाण को तुरन्त ही छोड़ दिया।

स तु गाण्डीवनिर्मुक्तः शरः श्येन इवाशुगः।
शिरःसिन्धुपतेश्छित्वा ह्युत्पपात विहायसम् ॥३२॥

गाण्डीव धनुष से छूटा हुआ वह शीघ्रगामी बाण सिन्धुराज का सिर काटकर बाज पक्षी के समान उसे आकाश में ले उड़ा।

ततो विनिहते राजन् सिन्धुराजे किरीटिना।
तमस्तद् वासुदेवेन संहृतं भरतर्षभ ॥३३॥

राजन्! भरतभूषण! किरीटधारी अर्जुन के द्वारा सिन्धुराज जयद्रथ के मारे जाने पर श्रीकृष्ण ने अपने रचे हुए अन्धकार को समेट लिया।

पश्चाज्ज्ञातं महीपाल तव पुत्रैः सहानुगैः।
वासुदेवप्रयुक्तेयं मायेति नृपसत्तम ॥३४॥

भूपाल! नृपश्रेष्ठ! तब सेवकोंसहित आपके पुत्रों को यह ज्ञात हुआ कि इस अन्धकार के रूप में श्रीकृष्ण द्वारा फैलाई हुई माया थी।

एवं स निहतो राजन् पार्थेनामिततेजसा।
अक्षौहिणीरष्टौ हत्वा जामाता तव सैन्धवः ॥३५॥

राजन्! इस प्रकार अमित तेजस्वी अर्जुन ने आपकी आठ अक्षौहिणी सेनाओं का संहार करके आपके दामाद सिन्धुराज जयद्रथ को मार डाला।

हतं जयद्रथं दृष्ट्वा तव पुत्रा नराधिप।
दुःखादश्रूणि मुमुचुर्निराशाश्चाभवञ्जये ॥३६॥

प्रजेश्वर! जयद्रथ को मारा गया देख आपके पुत्र दुःख से आँसू बहाने लगे और अपनी विजय से निराश हो गये।

ततो जयद्रथे राजन् हते पार्थेन केशवः।
दध्मौ शंखं महाबाहुरर्जुनश्च परन्तपः ॥३७॥

राजन्! कुन्तीपुत्र द्वारा जयद्रथ के मारे जाने पर श्रीकृष्ण और शत्रुसंतापक महाबाहु अर्जुन ने अपना-अपना शंख बजाया।

भीमश्च वृष्णिसिंहश्च युधामन्युश्च भारत।
उत्तमौजाश्च विक्रान्तः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥३८॥

भरतभूषण! तदनन्तर भीमसेन, वृष्णिवंश के सिंह सात्यकि, युधामन्यु और पराक्रमी उत्तमौजा ने पृथक् पृथक् शंख बजाये।

श्रुत्वा महान्तं तं शब्दं धर्मराजो युधिष्ठिरः।
सैन्धवं निहतं मेने फाल्गुनेन महात्मना ॥३९॥

राजन्! उस महान् शंखनाद को सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर को यह निश्चय हो गया कि महात्मा अर्जुन ने सिन्धुराज जयद्रथ को मार दिया है।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

अर्जुन के बाणों से कृपाचार्य का मूर्च्छित होना, कर्ण और सात्यकि के युद्ध में कर्ण की पराजय

धृतराष्ट्र उवाच

तस्मिन् विनिहते वीरे सैन्धवे सव्यसाचिना।
मामका यदकुर्वन्त तन्ममाचक्ष्व सञ्जय ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय! सव्यसाची अर्जुन के द्वारा वीर जयद्रथ के मारे जाने पर मेरे पुत्रों ने क्या किया, यह मुझे बताओ।

सञ्जय उवाच

सैन्धवं निहतं दृष्ट्वा रणे पार्थेन भारत।
अमर्षवशमापन्नः कृपः शारद्वतस्ततः ॥२॥
महता शरवर्षेण पाण्डवं समवाकिरत्।
द्रौणिश्चाभ्यद्रवद् राजन् रथमास्थाय फाल्गुनम् ॥३॥

सञ्जय बोले—भरतभूषण ! जयद्रथ को युद्धभूमि में मारा गया देख शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य क्रोध में भरकर भारी बाण-वृष्टि करके पाण्डुपुत्र अर्जुन को ढकने लगे। राजन् ! द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने भी रथ पर बैठकर अर्जुन पर आक्रमण किया।

तावेतौ रथिनां श्रेष्ठौ रथाभ्यां रथसत्तमौ।
उभावुभयतस्तीक्ष्णैर्विशिखैरभ्यवर्षताम् ॥४॥

रथियों में श्रेष्ठ वे दोनों महारथी [कृपाचार्य और अश्वत्थामा] दो दिशाओं से आकर अर्जुन पर पैने बाणों की वर्षा करने लगे।

स तथा शरवर्षाभ्यां सुमहद्भ्यां महाभुजः।
पीड्यमानः परामार्तिमगमद् रथिनां वरः ॥५॥

इस प्रकार दो दिशाओं से होनेवाली उस भारी बाणवर्षा से पीड़ित हो रथियों में श्रेष्ठ महाबाहु अर्जुन अत्यन्त व्यथित हो उठे।

सोऽजिघांसुर्गुरुं संख्ये गुरोस्तनयमेव च।
चकाराचार्यकं तत्र कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥६॥

वे रणभूमि में गुरु और गुरुपुत्र का वध नहीं करना चाहते थे, अतः कुन्तीकुमार धनञ्जय ने वहाँ अपने आचार्य का सम्मान किया।

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य द्रौणेः शारद्वतस्य च।
मन्दवेगानिषूंस्ताभ्यामजिघांसुरवासृजत् ॥७॥

उन्होंने अपने अस्त्रों के द्वारा अश्वत्थामा और कृपाचार्य के अस्त्रों का निवारण करके उनका वध करने की इच्छा न रखते हुए उन पर मन्द वेगवाले बाण चलाये।

ते चापि भृशमभ्यघ्नन् विशिखाः पार्थप्रेरिताः।
बहुत्वात् तु परमार्ति शराणां तावगच्छताम् ॥८॥

अर्जुन द्वारा चलाये हुए उन बाणों की संख्या अधिक होने के कारण उनसे उन दोनों को भारी चोट पहुँची। वे दोनों अत्यन्त वेदना का अनुभव करने लगे।

अथ शारद्वतो राजन् कौन्तेयशरपीडितः।
अवासीदद् रथोपस्थे मूर्च्छामभिजगाम च ॥९॥

राजन् ! कृपाचार्य अर्जुन के बाणों से पीड़ित हो मूर्च्छित हो गये और रथ के पिछले भाग में जा बैठे।

विह्वलं तमभिज्ञाय भर्तारं शरपीडितम्।
हतोऽयमिति च ज्ञात्वा सारथिस्तमपावहत् ॥१०॥

अपने स्वामी को बाणों से पीड़ित और विह्वल जानकर तथा उन्हें मरा हुआ समझकर सारथि उन्हें रणभूमि से दूर हटा ले गया।

तस्मिन् भग्ने महाराज कृपे शारद्वते युधि।
अश्वत्थामाप्यपायासीत् पाण्डवाच्च रथान्तरम् ॥११॥

महाराज ! रणक्षेत्र में शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य के अचेत होकर वहाँ से हट जाने पर अश्वत्थामा भी अर्जुन को छोड़कर दूसरे किसी रथी का सामना करने के लिए चला गया।

दृष्ट्वा शारद्वतं पार्थो मूर्च्छितं शरपीडितम्।
रथ एव महेष्वासः सकृपं पर्यदेवयत् ॥१२॥

कृपाचार्य को बाणों से पीड़ित एवं मूर्च्छित देखकर महाधनुर्धर अर्जुन दयावश रथ पर बैठे-बैठे ही विलाप करने लगे।

धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलपौरुषम्।
को हि ब्राह्मणमाचार्यमभिद्रुह्येत मादृशः ॥१३॥
ऋषिपुत्रो ममाचार्यो द्रोणस्य परमः सखा।
एष शेते रथोपस्थे कृपो मद्बाणपीडितः ॥१४॥

"क्षत्रिय के आचार, बल और पुरुषार्थ को धिक्कार है ! धिक्कार है !! मेरे जैसा कौन पुरुष ब्राह्मण एवं आचार्य से द्रोह करेगा ? ये ऋषिकुमार, मेरे आचार्य और गुरुवर द्रोणाचार्य के परम सखा कृप मेरे बाणों द्वारा पीड़ित हो रथ की बैठक में पड़े हैं।

अकामयानेन मया विशिखैरर्दितो भृशम्।
अवसीदन् रथोपस्थे प्राणान् पीडयतीव मे ॥१५॥

"मैंने इच्छा न रखते हुए भी इन्हें बाणों द्वारा अधिक चोट पहुँचाई है। वे रथ की बैठक में पड़े हुए कष्ट पा रहे हैं और मुझे अत्यन्त पीड़ित-सा कर रहे हैं।

उपाकृत्य तु वै विद्यामाचार्येभ्यो नरर्षभाः ।
प्रयच्छन्तीह ये कामान् देवत्वमुपयान्ति ते ॥१६॥

"आचार्यों से विद्या प्राप्त करके जो श्रेष्ठ पुरुष उन्हें उनकी अभीष्ट वस्तुएँ देते हैं, वे देवत्व को प्राप्त होते हैं।

ये च विद्यामुपादाय गुरुभ्यः पुरुषाधमाः ।
घ्नन्ति तानेव दुर्वृत्तास्ते वै निरयगामिनः ॥१७॥

"गुरु से विद्या ग्रहण करके जो नराधम उनपर ही चोट करते हैं, वे दुराचारी मानव निश्चय ही नरकगामी होते हैं।

तदिदं नरकायाद्य कृतं कर्म मया ध्रुवम् ।
आचार्यं शरवर्षेण रथे सादयता कृपम् ॥१८॥

"मैंने आचार्य कृप को अपनी बाण-वृष्टि से रथ पर सुला दिया है। निश्चय ही यह कर्म मैंने आज नरक में जाने के लिए ही किया है।

नमस्तस्मै सुपूज्याय गौतमायापलायिने ।
धिगस्तु मम वार्ष्णेय यदस्मै प्रहराम्यहम् ॥१९॥

"वार्ष्णेय ! युद्ध से कभी मुँह न मोड़नेवाले उन परम पूजनीय गौतमवंशी कृपाचार्य को मेरा नमस्कार है। मैंने जो उनपर प्रहार किया है, इसके लिए मुझे धिक्कार है !"

तथा विलपमाने तु तं प्रति सव्यसाचिनि ।
सैन्धवं निहतं दृष्ट्वा राधेयः समुपाद्रवत् ॥२०॥

सव्यसाची अर्जुन कृपाचार्य के लिए विलाप कर ही रहे थे कि सिन्धुराज को मारा गया देख राधानन्दन कर्ण ने उनपर आक्रमण किया।

तमापतन्तं राधेयमर्जुनस्य रथं प्रति ।
पाञ्चाल्यौ सात्यकिश्चैव सहसा समुपाद्रवन् ॥२१॥

राधापुत्र कर्ण को अर्जुन के रथ की ओर बढ़ते देख दोनों भाई पाञ्चालराजकुमार [युधामन्यु और उत्तमौजा] तथा सात्वतवंशी सात्यकि सहसा उनकी ओर दौड़े।

उपायान्तं तु राधेयं दृष्ट्वा पार्थो महारथः ।
प्रहसन् देवकीपुत्रमिदं वचनमब्रवीत् ॥२२॥

राधानन्दन कर्ण को अपने निकट आते देख महारथी कुन्तीकुमार अर्जुन ने देवकीपुत्र श्रीकृष्ण से हँसते हुए कहा—

एष प्रयात्याधिरथिः सात्यकेः स्यन्दनं प्रति ।
न मृष्यति हतं नूनं भूरिश्रवसमाहवे ॥२३॥

"यह अधिरथपुत्र कर्ण सात्यकि के रथ की ओर जा रहा है। अवश्य ही युद्धस्थल में भूरिश्रवा का मारा जाना इसके लिए असह्य हो उठा है।

यत्र यात्येष तत्र त्वं नोदयाश्वान् जनार्दन ।
न सोमदत्तेः पदवीं गमयेत् सात्यकिं वृषः ॥२४॥

"जनार्दन ! यह जहाँ जाता है, वहीं आप भी अपने घोड़ों को हाँकिए। कहीं ऐसा न हो कि कर्ण सात्यकि को भूरिश्रवा के पथ पर पहुँचा दे।"

एवमुक्तो महाबाहुः केशवः सव्यसाचिना ।
प्रत्युवाच महातेजाः कालयुक्तमिदं वचः ॥२५॥

सव्यसाची अर्जुन के ऐसा कहने पर महातेजस्वी महाबाहु श्रीकृष्ण ने उनसे यह समयोचित वचन कहा—

अलमेष महाबाहुः कर्णायैकोऽपि पाण्डव ।
किं पुनर्द्रौपदेयाभ्यां सहितः सात्वतर्षभः ॥२६॥

"पाण्डुनन्दन ! यह महाबाहु सात्वतशिरोमणि सात्यकि अकेला ही कर्ण के लिए पर्याप्त है, फिर इस समय जब द्रुपद के दोनों पुत्र इसके साथ हैं, तब तो कहना ही क्या है !

न च तावत् क्षमः पार्थ तव कर्णेन सङ्गरः ।
प्रज्वलन्ती महोल्केव तिष्ठत्यस्य हि वासवी ॥२७॥

"कुन्तीनन्दन ! इस समय कर्ण के साथ तुम्हारा युद्ध होना ठीक नहीं है, क्योंकि उसके पास महाउल्का के समान प्रज्वलित होनेवाली इन्द्र-प्रदत्त शक्ति विद्यमान है।

त्वदर्थं पूज्यमानैषा रक्ष्यते परवीरहन् ।
अतः कर्णः प्रयात्वत्र सात्वतस्य यथातथा ॥२८॥

"शत्रुनाशक अर्जुन ! तुम्हारे लिए कर्ण प्रतिदिन उसकी पूजा करते हुए उसे सदा सुरक्षित रखता है, अतः कर्ण सात्यकि के पास जैसे-तैसे जाए और युद्ध करे।"

धृतराष्ट्र उवाच

योऽसौ कर्णेन वीरस्य वार्ष्णेयस्य समागमः ।
हते तु भूरिश्रवसि सैन्धवे च निपातिते ॥२९॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय ! भूरिश्रवा के मारे

जाने और सिन्धुराज के धराशायी किये जाने पर कर्ण के साथ शूरवीर सात्यकि का जो संग्राम हुआ वह कैसा रहा ?

सात्यकिश्चापि विरथः कं समारूढवान् रथम् ।
चक्ररक्षौ च पाञ्चाल्यौ तन्ममाचक्ष्व सञ्जय ॥३०॥

सञ्जय ! सात्यकि तो रथहीन हो गये थे, वे किसके रथ पर आरूढ़ हुए और चक्ररक्षक युधामन्यु तथा उत्तमौजा—इन दोनों पाञ्चाल वीरों ने किसके साथ युद्ध किया ? यह सब मुझे बताओ ।

सञ्जय उवाच

हन्त ते वर्तयिष्यामि यथा वृत्तं महारणे ।
शुश्रूषस्व स्थिरो भूत्वा दुराचरितमात्मनः ॥३१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! मैं अत्यन्त दुःख के साथ उस महायुद्ध में घटित हुई घटनाओं का आपके समक्ष वर्णन करूँगा । आप स्थिर होकर अपने दुराचार का परिणाम सुनें ।

सात्यकिं विरथं दृष्ट्वा कर्णं चाभ्युद्यतं रणे ।
दध्मौ शंखं महानादमार्षभेणाथ माधवः ॥३२॥

सात्यकि को रथहीन और कर्ण को युद्ध के लिए तत्पर देख श्रीकृष्ण ने महान् ध्वनि करनेवाले शंख को ऋषभस्वर से बजाया ।

दारुकोऽवेत्य संदेशं श्रुत्वा शंखस्य च स्वनम् ।
रथमन्वानयत् तस्मै सुपर्णोच्छ्रितकेतनम् ॥३३॥

दारुक ने उस शंखध्वनि को सुनकर और श्रीकृष्ण के सन्देश को स्मरण करके तुरन्त ही उनके लिए अपना रथ ला दिया। इस रथ पर गरुड़चिह्न से युक्त ऊँची ध्वजा फहरा रही थी ।

स केशवस्यानुमते रथं दारुकसंयुतम् ।
समारुह्य शिनेः पौत्रो राधेयं समुपाद्रवत् ॥३४॥

श्रीकृष्ण की अनुमति पाकर शिनिपौत्र सात्यकि ने दारुक द्वारा जोते हुए रथ पर आरूढ़ होकर राधापुत्र कर्ण पर धावा किया ।

चक्ररक्षावपि तदा युधामन्यूत्तमौजसौ ।
धनञ्जयरथं हित्वा राधेयं प्रत्युदीयतुः ॥३५॥

उस समय चक्ररक्षक युधामन्यु और उत्तमौजा ने भी धनञ्जय का रथ छोड़कर कर्ण पर ही आक्रमण किया ।

राधेयोऽपि महाराज शरवर्षं समुत्सृजन् ।
अभ्यद्रवत् सुसंक्रुद्धो रणे शैनेयमच्युतम् ॥३६॥

महाराज ! अत्यन्त कुपित हुए कर्ण ने भी उस संग्रामभूमि में अपनी मर्यादा से कभी च्युत न होनेवाले सात्यकि पर बाण-वृष्टि करते हुए आक्रमण किया ।

तं तु सक्रोधमालोक्य सात्यकिः प्रत्ययुध्यत ।
महता शरवर्षेण गजं प्रतिगजो यथा ॥३७॥

कर्ण को क्रुद्ध देख सात्यकि भी बाणों की भारी वर्षा करते हुए उसका सामना करने लगे, मानो एक हाथी दूसरे हाथी से लड़ रहा हो ।

तौ समेतौ नरव्याघ्रौ व्याघ्राविव तरस्विनौ ।
अन्योन्यं संततक्षाते रणेऽनुपमविक्रमौ ॥३८॥

वेगशाली व्याघ्रों के समान परस्पर भिड़े हुए वे दोनों पुरुषसिंह युद्ध में अनुपम पराक्रम दिखाते हुए एक-दूसरे को क्षत-विक्षत कर रहे थे ।

ततः कर्णं शिनेः पौत्रः सर्वपारशवैः शरैः ।
बिभेद सर्वगात्रेषु पुनः पुनररिन्दम ॥३९॥
सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत् ।
अश्वांश्च चतुरः श्वेतान् निजघान शितैः शरैः ॥४०॥
छित्वा ध्वजरथं चैव शतधा पुरुषर्षभ ।
चकार विरथं कर्णं तव पुत्रस्य पश्यतः ॥४१॥

शत्रुओं का दमन करनेवाले महाराज ! तब शिनिपौत्र सात्यकि ने सम्पूर्णतः लोहनिर्मित बाणों द्वारा कर्ण के सभी अङ्गों में बारम्बार चोट पहुँचाई और एक भल्ल द्वारा उसके सारथि को रथ की बैठक से नीचे गिरा दिया। नरश्रेष्ठ ! फिर सात्यकि ने तीखे बाणों द्वारा कर्ण के चारों श्वेत घोड़ों को मार डाला तथा उसके ध्वज को काटकर रथ के सैकड़ों टुकड़े करके आपके पुत्र के देखते-देखते उसे रथहीन कर दिया ।

कृष्णयोः सदृशो वीर्ये सात्यकिः शत्रुतापनः ।
जितवान् सर्वसैन्यानि तावकानि हसन्निव ॥४२॥

शत्रुसन्तापक सात्यकि श्रीकृष्ण और अर्जुन के समान पराक्रमी थे। [कर्ण को परास्त करके] उन्होंने आपकी सारी सेनाओं को हँसते हुए-से जीत लिया ।

कृष्णो वापि भवेल्लोके पार्थो वापि धनुर्धरः ।
शैनेयो वा नरव्याघ्र चतुर्थस्तु न विद्यते ॥४३॥

नरव्याघ्र ! संसार में श्रीकृष्ण, कुन्तीपुत्र अर्जुन और शिनिपौत्र सात्यकि—ये तीन ही वस्तुतः धनुर्धर हैं। इनके समान चौथा कोई नहीं है।

ततो राजन् हृषीकेशः संग्रामशिरसि स्थितम् ।
तीर्णप्रतिज्ञं बीभत्सुं परिष्वज्यैनमब्रवीत् ॥४४॥

राजन् ! उधर कर्ण और सात्यकि का युद्ध हो रहा था, इधर श्रीकृष्ण ने प्रतिज्ञा से पार होकर युद्ध के मुहाने पर खड़े हुए अर्जुन को हृदय से लगाकर इस प्रकार कहा—

दिष्ट्या सम्पादिता जिष्णो प्रतिज्ञा महती त्वया ।
दिष्ट्या विनिहतः पापो सिन्धुराजो जयद्रथः ॥४५॥

"विजयशील अर्जुन ! महान् सौभाग्य की बात है कि तुमने अपनी बड़ी भारी प्रतिज्ञा पूर्ण कर ली। यह भी सौभाग्य की बात है कि सिन्धुराज पापी जयद्रथ मारा गया।

एवमेव हते कर्णे सानुबन्धे दुरात्मनि ।
वर्धयिष्यामि भूयस्त्वां विजितारिं हतद्विषम् ॥४६॥

"इसी प्रकार सगे-सम्बन्धियों सहित दुरात्मा कर्ण के मारे जानेपर शत्रुओं को जीतने और द्वेषी विपक्षियों का वध करनेवाले तुझ विजयी वीर को बधाई दूँगा।"

तमर्जुनः प्रत्युवाच प्रसादात् तव माधव ।
प्रतिज्ञेयं मया तीर्णा विबुधैरपि दुस्तरा ॥४७॥
अनाश्चर्यो जयस्तेषां येषां नाथोऽसि केशव ।
त्वत्प्रसादान्महीं कृत्स्नां सम्प्राप्स्यति युधिष्ठिरः॥४८

तब अर्जुन ने कहा—"माधव ! आपकी कृपा से ही मैं इस प्रतिज्ञा को पूर्ण कर सका हूँ, अन्यथा यह कार्य देवताओं के लिए भी कठिन था। आप जिनके रक्षक हैं, उनकी विजय हो, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आपके कृपा-प्रसाद से महाराज युधिष्ठिर सम्पूर्ण पृथिवी का राज्य प्राप्त करेंगे।"

ततो राजानमभ्येत्य धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
ववन्दे स प्रहृष्टात्मा हते पार्थेन सैन्धवे ॥४९॥

राजन् ! तत्पश्चात् अर्जुन द्वारा जयद्रथ के मारे जाने पर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर के पास पहुँचकर श्रीकृष्ण ने हर्ष-पूर्ण हृदय से उन्हें प्रणाम किया और कहा—

दिष्ट्या वर्धसि राजेन्द्र हतशत्रुर्नरोत्तम ।
दिष्ट्या निस्तीर्णवांश्चैव प्रतिज्ञामनुजस्तव ॥५०॥

"हे राजेन्द्र ! सौभाग्य से आपका अभ्युदय हो रहा है। हे नरश्रेष्ठ ! आपका शत्रु मारा गया। आपके छोटे भाई ने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर ली, यह भी सौभाग्य की बात है।"

स त्वेवमुक्तः कृष्णेन हृष्टः परपुरञ्जयः ।
पर्यष्वजत् तदा कृष्णावानन्दाश्रुपरिप्लुतः ॥५१॥

राजन् ! श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर शत्रुओं की राजधानी पर विजय पानेवाले राजा युधिष्ठिर ने हर्ष में भरकर और आनन्द के आँसू बहाते हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन को हृदय से लगाया।

प्रमृज्य वदनं शुभ्रं पुण्डरीकसमप्रभम् ।
अब्रवीद् वासुदेवं च पाण्डवं च धनञ्जयम् ॥५२॥

फिर उनके कमल के समान सुन्दर मुख पर हाथ फेरते हुए वे वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण और पाण्डुकुमार धनञ्जय से इस प्रकार बोले—

नान्तं गच्छामि हर्षस्य श्रुत्वेदं परमं प्रियम् ।
अत्यद्भुतमिदं कृष्ण कृतं पार्थेन धीमता ॥५३॥

"कृष्ण ! आपके मुख से यह प्रिय समाचार सुनकर मेरे हर्ष की सीमा नहीं रह गई है। बुद्धिमान् अर्जुन ने यह अत्यन्त अद्भुत पराक्रम किया है।

दिष्ट्या पश्यामि संग्रामे तीर्णभारौ महारथौ ।
दिष्ट्या विनिहतः पापः सैन्धवः पुरुषाधमः ॥५४॥

"आज सौभाग्यवश युद्धभूमि में मैं आप दोनों महारथियों को प्रतिज्ञा के भार से मुक्त हुआ देख रहा हूँ। यह महती प्रसन्नता की बात है कि नराधम सिन्धुराज जयद्रथ मारा गया।"

एवमुक्तौ महात्मानावुभौ केशवपाण्डवौ ।
तावब्रूतां तदा कृष्णौ राजानं पृथिवीपतिम् ॥५५॥

उनके ऐसा कहने पर महात्मा कृष्ण और अर्जुन ने उस समय उन पृथिवीपति-नरेश से इस प्रकार कहा—

तव कोपाग्निना दग्धः पापो राजा जयद्रथः ।
उत्तीर्णं चापि सुमहद् धार्तराष्ट्रबलं रणे ॥५६॥

"महाराज! पापी राजा जयद्रथ आपकी क्रोधाग्नि से भस्म हो गया है और रणभूमि में दुर्योधन की विशाल सेना से पार पाना भी आपकी कृपा से ही सम्भव हुआ है।

हन्यन्ते निहताश्चैव विनङ्क्ष्यन्ति च भारत।
तव क्रोधहता ह्येते कौरवाः शत्रुसूदन ॥५७॥

"हे भारत! शत्रुनाशक! ये समस्त कौरव आपके क्रोध से ही नष्ट होकर मारे गये हैं, मारे जाते हैं और भविष्य में भी मारे जाएँगे।

त्वां हि चक्षुर्हणं वीरं कोपयित्वा सुयोधनः।
समित्रबन्धुः समरे प्राणाँस्त्यक्ष्यति दुर्मतिः ॥५८॥

"क्रोधपूर्ण दृष्टिपात मात्र से शत्रु को भस्म कर देनेवाले आप-जैसे वीर को कुपित करके दुर्बुद्धि दुर्योधन अपने मित्रों और बन्धुओं के साथ रणक्षेत्र में प्राणों को त्याग देगा।"

ततो भीमो महाबाहुः सात्यकिश्च महारथः।
अभिवाद्य गुरुं ज्येष्ठं मार्गणैः क्षतविक्षतौ ॥५९॥
क्षितावास्तां महेष्वासौ पाञ्चाल्यैः परिवारितौ।
तौ दृष्ट्वा मुदितौ वीरौ प्राञ्जली चाग्रतः स्थितौ ॥६०॥
अभ्यनन्दत कौन्तेयस्तावुभौ भीमसात्यकी।
दिष्ट्या पश्यामि वां शूरौ विमुक्तौ सैन्यसागरात् ॥६१॥

तत्पश्चात् बाणों से क्षत-विक्षत हुए महाबाहु भीमसेन और महारथी सात्यकि अपने ज्येष्ठ गुरु युधिष्ठिर को प्रणाम कर भूमि पर खड़े हो गये। पाञ्चालों से घिरे हुए उन दोनों महाधनुर्धर वीरों को प्रसन्नतापूर्वक हाथ जोड़े हुए सामने खड़े देख कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने भीम और सात्यकि दोनों का अभिनन्दन करते हुए कहा—"बड़े सौभाग्य की बात है कि मैं तुम दोनों शूरवीरों को शत्रुसेना के सागर से पार हुआ देख रहा हूँ।"

इत्युक्त्वा पाण्डवो राजन् युयुधानवृकोदरौ।
सस्वजे पुरुषव्याघ्रौ हर्षाद् बाष्पं मुमोच ह ॥६२॥

राजन्! पुरुषसिंह सात्यकि और भीमसेन से ऐसा कहकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने उन दोनों को हृदय से लगा लिया और वे आनन्द के आँसू बहाने लगे।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

दुर्योधन का द्रोणाचार्य को उपालम्भ देना, द्रोणाचार्य का प्रत्युत्तर

सञ्जय उवाच

सैन्धवे निहते राजन् पुत्रस्तव सुयोधनः।
अश्रुपूर्णमुखो दीनो निरुत्साहो द्विषज्जये ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! सिन्धुराज जयद्रथ के मारे जाने पर आपका पुत्र दुर्योधन अत्यन्त दुःखी हो गया। उसके मुख पर आँसुओं की धारा बहने लगी और उसका शत्रुओं के जीतने का उत्साह ठण्डा पड़ गया।

दृष्ट्वा तत्कदनं घोरं स्वबलस्य कृतं महत्।
अमन्यतार्जुनसमो न योद्धा भुवि विद्यते ॥२॥

अपनी सेना का घोर संहार हुआ देख दुर्योधन को यह विश्वास हो गया कि 'इस पृथिवी पर अर्जुन के समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है।'

निर्जित्य हि रणे पार्थः सर्वान् मम महारथान्।
अवधीत् सैन्धवं संख्ये न हि कश्चिदवारयत् ॥३॥

वह सोचने लगा—'आज के युद्ध में अर्जुन ने हमारे सभी महारथियों को जीतकर सिन्धुराज का वध कर डाला, परन्तु कोई भी उन्हें युद्धभूमि में न रोक सका।

यस्य वीर्यं समाश्रित्य शमं याचन्तमच्युतम्।
तृणवत् तमहं मन्ये स कर्णो निर्जितो युधि ॥४॥

'अहो! जिसके पराक्रम का आश्रय लेकर मैंने सन्धि की याचना करनेवाले श्रीकृष्ण को तिनके के समान समझा था, वही कर्ण युद्ध में परास्त हो गया।'

एवं क्लान्तमना राजन्नुपायाद् द्रोणमीक्षितुम्।
आगस्कृत् सर्वलोकस्य पुत्रस्ते भरतर्षभ ॥५॥

राजन्! भरतभूषण! समस्त संसार का अपराध करनेवाला आपका पुत्र जब इस प्रकार सोचते-सोचते मन-ही-मन अति खिन्न हो गया, तब वह आचार्य द्रोण का दर्शन करने के लिए उनके पास गया।

दुर्योधन उवाच

पश्य मूर्धाभिषिक्तानामाचार्य कदनं महत्।
कृत्वा प्रमुखतः शूरं भीष्मं मम पितामहम् ॥६॥

दुर्योधन बोला—आचार्य ! जिनके मस्तक पर विधिपूर्वक राज्याभिषेक किया गया था, उन भूपालों का यह महाविनाश देखिए। मेरे शूरवीर पितामह भीष्म से लेकर आज तक कितने ही नरेश मारे गये।

भवानुपेक्षां कुरुते शिष्यत्वादर्जुनस्य हि।
अतो विनिहताः सर्वे येऽस्मज्जयचिकीर्षवः ॥७॥

आप हमारी उपेक्षा करते हैं, क्योंकि अर्जुन आपके शिष्य हैं। इसीलिए हमारी विजय चाहनेवाले सभी योद्धा मारे गये।

जलसन्धं महेष्वासं पश्य सात्यकिना हतम्।
मदर्थमुद्यतं शूरं प्राणाँस्त्यक्त्वा महारथम् ॥८॥

आचार्य ! देखिए तो सही, मेरे लिए प्राणों का मोह छोड़कर राज्य दिलाने के लिए उद्यत हुए महाधनुर्धर शूरवीर महारथी जलसन्ध को सात्यकि ने मार डाला।

हतो जयद्रथश्चैव सौमदत्तिश्च वीर्यवान्।
अभीषाहाः शूरसेनाः शिबयोऽथ वसातयः ॥९॥

जयद्रथ और सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा मारे गये। अभीषाह, शूरसेन, शिवि और वसातिगण भी मौत के घाट उतार दिये गये।

सोऽहमद्य गमिष्यामि यत्र ते पुरुषर्षभाः।
हता मदर्थे संग्रामे युध्यमानाः किरीटिना ॥१०॥

वे नरश्रेष्ठ सुहृद् युद्धभूमि में मेरे लिए लड़ते-लड़ते अर्जुन के हाथ से मारे जाकर जिन लोकों में गये हैं, वहीं आज मैं भी जाऊँगा।

न हि मे जीवितेनार्थस्तानृते पुरुषर्षभान्।
आचार्यः पाण्डुपुत्राणामनुजानातु नो भवान् ॥११॥

उन नररत्न मित्रों के बिना अब मेरे जीवित रहने का कोई प्रयोजन नहीं है। आप पाण्डुपुत्रों के आचार्य हैं, अतः मुझे जाने की अनुमति प्रदान करें।

सञ्जय उवाच

द्रोणस्तु तद्वचः श्रुत्वा पुत्रस्य तव दुर्मनाः।
मुहूर्तमिव तद् ध्यात्वा भृशमार्तोऽभ्यभाषत ॥१२॥

सञ्जय ने कहा—राजन् ! आपके पुत्र का वह वचन सुनकर द्रोणाचार्य मन-ही-मन दुःखी हो गये। फिर उन्होंने दो घड़ी सोच-विचारकर अत्यन्त आर्तभाव से कहा—

द्रोण उवाच

दुर्योधन किमेवं मां वाक्शरैरपि कृन्तसि।
अजेयं सततं संख्ये ब्रुवाणं सव्यसाचिनम् ॥१३॥

द्रोणाचार्य ने कहा—दुर्योधन ! तुम क्यों इस प्रकार अपने वचनरूपी बाणों से मुझे बींध रहे हो? मैं तो सदा से कहता आया हूँ कि सव्यसाची अर्जुन युद्ध में अजेय हैं।

एतेनैवार्जुनं ज्ञातुमलं कौरव संयुगे।
यच्छिखण्डयवधीद्भीष्मं पाल्यमानः किरीटिना ॥१४॥

कुरुनन्दन ! अर्जुन के पौरुष को तो तुम्हें इसी बात से समझ लेना चाहिए था कि उनके द्वारा सुरक्षित होकर शिखण्डी ने भी युद्ध के मैदान में भीष्म को मार डाला।

यान् स्म तान् ग्लहते तात शकुनिः कुरुसंसदि।
अक्षान् न तेऽक्षा निशिता बाणास्ते शत्रुतापनाः ॥१५॥

जुए के समय विदुर ने तुमसे कहा था—'तात ! कौरव-सभा में शकुनि जिन पाशों को फेंक रहा है, उन्हें पासे न समझो, वे किसी दिन शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले तीखे तीर बन सकते हैं।'

एते ते घ्नन्ति नरतात विशिखाः पार्थप्रेरिताः।
तांस्तदाऽऽख्यायमानांस्त्वं विदुरेण न बुद्धवान् ॥१६॥

वत्स ! उस समय विदुरजी की कही हुई बातों को तुमने कुछ नहीं समझा। अब वे ही पासे अर्जुन के बाणों के रूप में परिवर्तित होकर हमें मार रहे हैं।

यच्च नः प्रेक्षमाणानां कृष्णामानाय्य तत्सभाम्।
तस्याधर्मस्य गान्धारे फलं प्राप्तमिदं महत् ॥१७॥

इसके अतिरिक्त तुमने हम लोगों के सामने ही जो द्रौपदी को सभा में बुलाकर अपमानित किया था, उसी अधर्म का यह महान् फल प्राप्त हुआ है कि तुम्हारे दल का नाश हो रहा है।

यच्च तान् पाण्डवान् द्यूते विषमेण विजित्य च।
प्राव्राजयस्तदारण्ये रौरवाजिनवाससः ॥१८॥

इतना ही नहीं, तुमने पाण्डवों को जूए में छल से जीतकर और मृगचर्ममय वस्त्र पहनाकर उन्हें

वनवास दे दिया [उस अधर्म का फल तुम्हें भोगना पड़ रहा है]।

पुत्राणामिव चैतेषां धर्ममाचरतां सदा।
द्रुह्येत् को नु नरो लोके मदन्यो ब्राह्मणब्रुवः ॥१९॥

पाण्डव मेरे पुत्र के समान हैं तथा वे सदा धर्माचरण में तत्पर रहते हैं। संसार में मेरे अतिरिक्त दूसरा कौन मनुष्य है, जो ब्राह्मण कहलाकर भी उनसे द्रोह करे ?

पाण्डवानामयं कोपस्त्वया शकुनिना सह।
आहूतो धृतराष्ट्रस्य सम्मते कुरुसंसदि ॥२०॥

तुमने राजा धृतराष्ट्र की सम्मति से कौरवों की सभा में शकुनि के साथ बैठकर पाण्डवों का यह क्रोध आमन्त्रित किया है।

दुःशासनेन संयुक्तः कर्णेन परिवर्धितः।
क्षत्तुर्वाक्यमनादृत्य त्वयाभ्यस्तः पुनः पुनः ॥२१॥

इस कार्य में दुःशासन ने तुम्हारा साथ दिया है, कर्ण ने भी उस कोपाग्नि को बढ़ाया है और विदुरजी के उपदेश की अवहेलना करके तुमने बारम्बार पाण्डवों के उस क्रोध को बढ़ने का अवसर दिया है।

यत्ताः सर्वे पराभूताः पर्यवारयतार्ऽजुनम्।
सिन्धुराजं समाश्रित्य स वो मध्ये कथं हतः ॥२२॥

तुम सब लोगों ने बड़ी सावधानी से अर्जुन को घेर लिया था, फिर तुम सब-के-सब पराजित कैसे हो गये ? तुमने सिन्धुराज को आश्रय दिया था, फिर तुम्हारे बीच में वह कैसे मारा गया ?

कथं त्वयि च कर्णे च कृपे शल्ये च जीवति।
अश्वत्थाम्नि च कौरव्य निधनं सैन्धवोऽगमत् ॥२३॥

कुरुकुलभूषण ! तुम और कर्ण तो नहीं मारे गये थे, कृपाचार्य, शल्य और अश्वत्थामा तो जीवित थे, फिर तुम लोगों के जीतेजी सिन्धुराज की मृत्यु क्यों हुई ?

मय्येव हि विशेषेण तथा दुर्योधन त्वयि।
आशंसत परित्राणमर्जुनात् स महीपतिः ॥२४॥

दुर्योधन ! राजा जयद्रथ विशेषरूप से मुझपर और तुमपर ही अर्जुन से अपनी जीवन-रक्षा का भरोसा किये बैठा था।

ततस्तस्मिन् परित्राणमलब्धवति फाल्गुनात्।
न किञ्चिदनुपश्यामि जीवितस्थानमात्मनः ॥२५॥

तो भी जब अर्जुन से उसकी रक्षा नहीं की जा सकी, तब मुझे अपने जीवन की रक्षा के लिए भी कोई स्थान दिखाई नहीं देता।

मज्जन्तमिव चात्मानं धृष्टद्युम्नस्य किल्बिषे।
पश्याम्यहत्वा पाञ्चालान् सह तेन शिखण्डिना ॥२६

मैं [द्रोणाचार्य] धृष्टद्युम्न और शिखण्डीसहित समस्त पाञ्चालों का वध न करके अपने-आपको भी धृष्टद्युम्न के पापपूर्ण संकल्प में डूबता-सा देख रहा हूँ।

तन्मां किमभितप्यन्तं वाक्शरैरेव कृन्तसि।
अशक्तः सिन्धुराजस्य भूत्वा त्राणाय भारत ॥२७॥

हे भारत ! तुम स्वयं सिन्धुराज जयद्रथ की रक्षा में असमर्थ होकर मुझे अपने वाग्बाणों से क्यों बींध रहे हो ? मैं तो स्वयं ही सन्तप्त हो रहा हूँ।

इमानि पाण्डवानां च सृञ्जयानां च भारत।
अनीकान्याद्रवन्ते मां सहितान्यद्य भारत ॥२८॥

हे भारत ! वह देखो, पाण्डवों और सृञ्जयों की सेनाएँ एक-साथ मिलकर इस समय मुझपर चढ़ी आ रही हैं।

नाहत्वा सर्वपाञ्चालान् कवचस्य विमोक्षणम्।
कर्तास्मि समरे कर्म धार्तराष्ट्र हितं तव ॥२९॥

दुर्योधन ! अब मैं समस्त पाञ्चालों को मारे बिना अपना कवच नहीं उतारूँगा। मैं रणभूमि में वही कार्य करूँगा, जिससे तुम्हारा हित हो।

राजन् ब्रूयाः सुतं मे त्वमश्वत्थामानमाहवे।
न सोमकाः प्रमोक्तव्या जीवितं परिरक्षता ॥३०॥

राजन् ! तुम मेरे पुत्र अश्वत्थामा से जाकर कहना कि 'वह युद्ध में अपने जीवन की रक्षा करते हुए जैसे भी हो, सोमकों को जीवित न छोड़े।'

यच्च पित्रानुशिष्टोऽसि तद् वचः परिपालय।
आनृशंस्ये दमे सत्ये चार्जवे च स्थिरो भव ॥३१॥

यह भी कहना कि 'पिता ने तुम्हें जो उपदेश दिया है, उसका पालन करो। दया, दम, सत्य तथा सरलता आदि सद्गुणों में स्थिर रहो।

धर्मार्थकामकुशलो धर्मार्थावप्यपीडयन्।
धर्मप्रधानकार्याणि कुर्याश्चेति पुनः पुनः ॥३२॥

'तुम धर्म, अर्थ और काम के साधन में कुशल हो, अतः धर्म और अर्थ को हानि न पहुँचाते हुए तुम वारम्बार धर्मप्रधान कर्मों का ही अनुष्ठान करो।

चक्षुर्मनोभ्यां संतोष्या विप्राः पूज्याश्च शक्तितः।
न चैषां विप्रियं कार्यं ते हि वह्निशिखोपमाः ॥३३॥

'विनयपूर्ण दृष्टि और श्रद्धायुक्त हृदय से ब्राह्मणों को सन्तुष्ट रखना, यथाशक्ति उनका आदर-सत्कार करते रहना, कभी उनका अप्रिय न करना, क्योंकि वे अग्नि की ज्वाला के समान तेजस्वी होते हैं।'

एष त्वहमनीकानि प्रविशाम्यरिसूदन।
रणाय महते राजँस्त्वया वाक्शरपीडितः ॥३४॥

राजन्! शत्रुसंहारक! लो, अब मैं तुम्हारे वचनरूपी वाणों से पीड़ित हो भीषण युद्ध के लिए शत्रुओं की सेना में प्रवेश करता हूँ।

त्वं च दुर्योधन बलं यदि शक्तोऽसि पालय।
रात्रावपि च योत्स्यन्ते संरब्धाः कुरुसृञ्जयाः ॥३५॥

दुर्योधन! तुममें शक्ति और सामर्थ्य हो तो सेना की रक्षा करना, क्योंकि इस समय क्रोध में भरे हुए कौरव और सृञ्जय रात्रि में भी युद्ध करेंगे।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततः प्रायाद् द्रोणः पाण्डवसृञ्जयान्।
मुष्णन् क्षत्रियतेजांसि नक्षत्राणामिवांशुमान् ॥३६॥

सञ्जय कहते हैं—जैसे सूर्य नक्षत्रों का तेज हर लेता है, वैसे ही क्षत्रियों के तेज का अपहरण करते हुए द्रोणाचार्य दुर्योधन से पूर्वोक्त बातें कहकर पाण्डवों और सृञ्जयों से युद्ध करने के लिए चल दिये।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

दुर्योधन और कर्ण की मन्त्रणा और पुनः युद्ध का आरम्भ

सञ्जय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा द्रोणेनैवं प्रणोदितः।
अमर्षवशमापन्नो युद्धायैव मनो दधे ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! तब द्रोणाचार्य से इस प्रकार प्रेरित हो क्रोध में भरे हुए राजा दुर्योधन ने मन-ही-मन युद्ध करने का ही निश्चय किया।

अब्रवीच्च तदा कर्णं पुत्रो दुर्योधनस्तव।
पश्य कृष्णसहायेन पाण्डवेन किरीटिना ॥२॥
आचार्यविहितं व्यूहं भित्त्वा देवैः सुदुर्भिदम्।
मिषतां योधमुख्यानां सैन्धवो विनिपातितः ॥३॥

उस समय आपके पुत्र दुर्योधन ने कर्ण से इस प्रकार कहा—"कर्ण! देखो, श्रीकृष्ण की सहायता से पाण्डुपुत्र अर्जुन ने आचार्य द्वारा निर्मित व्यूह को, जिसका भेदन करना देवताओं के लिए भी कठिन था, भेदकर मुख्य-मुख्य योद्धाओं के देखते-देखते सिन्धुराज जयद्रथ को मार गिराया।

कथं नियम्यमानस्य द्रोणस्य युधि फाल्गुनः।
भिन्द्यात् सुदुर्भिदं व्यूहं यतमानोऽपि संयुगे ॥४॥

"यदि इस संग्राम में द्रोणाचार्य अर्जुन को रोकने की पूरी चेष्टा करते तो प्रयत्न करने पर भी वे रणक्षेत्र में उस दुर्भेद्य व्यूह को कैसे तोड़ सकते थे?

दयितः फाल्गुनो नित्यमाचार्यस्य महात्मनः।
ततोऽस्य दत्तवान् द्वारमयुद्धेनैव शत्रुहन् ॥५॥

"शत्रुसंहारक! परन्तु अर्जुन तो महात्मा द्रोणाचार्य को सदा से ही परम प्रिय हैं, अतः उन्होंने युद्ध किये बिना ही उन्हें व्यूह में घुसने का मार्ग दे दिया।

अभयं सिन्धुराजस्य दत्त्वा द्रोणः परन्तपः।
प्रादात् किरीटिने द्वारं पश्य निर्गुणतां मम ॥६॥

"शत्रुसंतापक द्रोणाचार्य ने सिन्धुराज को अभय-दान देकर भी किरीटधारी अर्जुन को व्यूह में घुसने का मार्ग दे दिया। देखो, मैं कैसा गुणहीन हूँ!

यद्यदास्यदनुज्ञां वै पूर्वमेव गृहान् प्रति।
प्रस्थातुं सिन्धुराजस्य नाभविष्यज्जनक्षयः ॥७॥

"यदि उन्होंने पहले ही सिन्धुराज को घर जाने की आज्ञा दे दी होती तो यह इतना बड़ा नरसंहार नहीं होता।"

कर्ण उवाच

आचार्यं मा विगर्हस्व शक्त्यासौ युध्यते द्विजः।
यथाबलं यथोत्साहं त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ॥८॥

कर्ण बोला—मित्र! तुम आचार्य की निन्दा न

करो। वह ब्राह्मण तो अपने बल, शक्ति और उत्साह के अनुसार प्राणों का भी मोह छोड़कर युद्ध कर रहे हैं।

यद्येनं समतिक्रम्य प्रविष्टः श्वेतवाहनः।
नात्र सूक्ष्मोऽपि दोषः स्यादाचार्यस्य कथञ्चन ॥९॥

यदि श्वेतवाहन अर्जुन द्रोणाचार्य को लाँघकर सेना में घुस गये तो इसमें किसी प्रकार आचार्य का कोई सूक्ष्म-सा भी दोष नहीं है।

कृती दक्षो युवा शूरः कृतास्त्रो लघुविक्रमः।
यदर्जुनोऽभ्ययाद् द्रोणमुपपन्नं हि तस्य तत् ॥१०॥

अर्जुन अस्त्रविद्या के विद्वान्, दक्ष, युवावस्था से सम्पन्न, शूरवीर, अनेक दिव्यास्त्रों के ज्ञाता और शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले हैं। यदि वे आचार्य द्रोण को लाँघ गये तो वह उनके योग्य ही कर्म था।

आचार्यः स्थविरो राजञ्शीघ्रयाने तथाक्षमः।
बाहुव्यायामचेष्टायामशक्तस्तु नराधिप ॥११॥

राजन्! प्रजेश्वर! द्रोणाचार्य अब वृद्ध हो गये हैं, वे शीघ्रतापूर्वक चलने में भी असमर्थ हैं। भुजाओं द्वारा परिश्रमपूर्वक की जानेवाले प्रत्येक चेष्टा में अब उनकी शक्ति उतना काम नहीं देती।

अजेयान् पाण्डवान् मन्ये द्रोणेनास्त्रविदा मृधे।
तथा ह्येनमतिक्रम्य प्रविष्टः श्वेतवाहनः ॥१२॥

मैं तो ऐसा मानता हूँ कि अस्त्रवेत्ता होने पर भी द्रोण युद्ध में पाण्डवों को नहीं जीत सकते, तभी तो उन्हें लाँघकर श्वेतवाहन अर्जुन व्यूह में घुस गये।

दैवादिष्टेऽन्यथाभावो न मन्ये विद्यते क्वचित्।
यतो नो युध्यमानानां परं शक्त्या सुयोधन।
सैन्धवो निहतो युद्धे दैवमत्र परं स्मृतम् ॥१३॥

सुयोधन! दैव के विधान में कहीं कोई उलट-फेर नहीं हो सकता, ऐसा मेरा विश्वास है, क्योंकि हम लोग पूर्ण बल लगाकर युद्ध कर रहे थे, तो भी युद्धभूमि में सिन्धुराज मारे गये। इस विषय में दैव=प्रारब्ध को ही प्रधान माना गया है।

कुर्वतां च परं यत्नं त्वया सार्धं रणाजिरे।
हत्वा पौरुषमस्माकं दैवं पश्चात् करोति नः ॥१४॥

युद्धभूमि में तुम्हारे साथ हम लोग भी विजय के लिए महान् प्रयत्न करते हैं, परन्तु दैव=भाग्य हमारे पुरुषार्थ को नष्ट करके हमें पीछे धकेल देता है।

यत्कर्तव्यं मनुष्येण व्यवसायवता सदा।
तत् कार्यमविशंकेन सिद्धिर्दैवे प्रतिष्ठिता ॥१५॥

मनुष्य को सर्वदा उद्योगशील होकर निःशंकभाव से अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए, किन्तु उसकी सिद्धि दैव के ही अधीन है।

निकृत्या वञ्चिताः पार्था विषयोगैश्च भारत।
दग्धा जतुगृहे चापि द्यूतेन च पराजिताः ॥१६॥
राजनीतिंव्यपाश्रित्य प्रहिताश्चैव काननम्।
यत्नेन च कृतं तत्तद् दैवेन विनिपातितम् ॥१७॥

हे भारत! हम लोगों ने कपट द्वारा कुन्तीपुत्रों को छला, उन्हें मारने के लिए विप का प्रयोग किया, लाक्षागृह में जलाया, जूए में हराया और राजनीति का आश्रय लेकर उन्हें वन में भी पठाया, परन्तु यत्न-पूर्वक किये गये हमारे उन सभी कार्यों को दैव ने नष्ट कर दिया।

युध्यस्व यत्नमास्थाय दैवं कृत्वा निरर्थकम्।
यततस्तव तेषां च दैवं मार्गेण यास्यति ॥१८॥

फिर भी तुम दैव को व्यर्थ समझकर प्रयत्नपूर्वक युद्ध करो। तुम्हारे और पाण्डवों के अपनी-अपनी विजय के लिए प्रयत्न करते रहने पर दैव अपने गन्तव्य मार्ग से जाता रहेगा।

सञ्जय उवाच

तयोरेवं प्रवदतोर्बहु तत् तज्जनाधिप।
पाण्डवानामनीकानि समदृश्यन्त संयुगे ॥१९॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार जब कर्ण और दुर्योधन परस्पर वार्तालाप कर रहे थे, उसी समय युद्धस्थल में पाण्डवों की सेनाएँ दृष्टिगोचर हुईं।

ततः प्रववृते युद्धं व्यतिषिक्तरथद्विपम्।
तावकानां परैः सार्धं राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥२०॥

राजन्! तत्पश्चात् आपकी कुमन्त्रणा के अनुसार आपके पुत्रों का शत्रुओं के साथ घोर युद्ध छिड़ गया, जिसमें रथ-से-रथ तथा हाथी-से-हाथी भिड़ गये।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

रात्रियुद्ध में द्रोणाचार्य का पराक्रम

धृतराष्ट्र उवाच

प्राविशत् पाण्डवानीकमाचार्यः कुपितो बली ।
कथं द्रोणं महेष्वासं पाण्डवाः पर्यवारयन् ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय ! जब क्रोध में भरे हुए महाबली द्रोणाचार्य ने पाण्डव-सेना में प्रवेश किया उस समय महाधनुर्धर शूरवीर द्रोणाचार्य को पाण्डवों ने किस प्रकार रोका ?

सञ्जय उवाच

सायाह्ने सैन्धवं हत्वा राजा पार्थः समेत्य च ।
सात्यकिश्च महेष्वासो द्रोणमेवाभ्यधावताम् ॥२॥

सञ्जय बोले—राजन् ! सायंकाल सिन्धुराज जयद्रथ का वध करके राजा युधिष्ठिर से मिलकर कुन्तीपुत्र अर्जुन और महाधनुर्धर सात्यकि—दोनों ने द्रोणाचार्य पर ही धावा किया ।

धृष्टद्युम्नः सहानीको विराटश्च सकेकयः ।
मत्स्याः शाल्वाः ससेनाश्च द्रोणमेव ययुर्युधि ॥३॥

सेनासहित धृष्टद्युम्न, राजा विराट, केकयराजकुमार, मत्स्य और मालव देश के सैनिक अपनी सेनाओं के साथ रणभूमि में द्रोणाचार्य पर टूट पड़े ।

ततो द्रोणः केकयांश्च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजान् ।
सम्प्रैषयत् प्रेतलोकं सर्वानिषुभिराशुगैः ॥४॥

तब द्रोणाचार्य ने भी केकयों और धृष्टद्युम्न के समस्त पुत्रों को अपने शीघ्रगामी बाणों द्वारा यमलोक पठा दिया ।

तस्य प्रमुखतो राजन् येऽवर्तन्त महारथाः ।
तान् सर्वान् प्रेषयामास पितृलोकं स भारत ॥५॥

भरतभूषण ! जो-जो महारथी उनके समक्ष आये, उन सबको भी आचार्य ने पितृलोक में भेज दिया ।

प्रमथ्नन्तं तदा वीरान् भारद्वाजं महारथम् ।
अभ्यवर्तत संक्रुद्धः शिबी राजा प्रतापवान् ॥६॥

इस प्रकार शत्रुवीरों का संहार करते हुए महारथी द्रोणाचार्य का सामना करने के लिए प्रतापी राजा शिवि क्रुद्ध होकर उनके सम्मुख आये ।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य पाण्डवानां महारथम् ।
विव्याध दशभिर्बाणैः सर्वपारशवैः शितैः ॥७॥

पाण्डवपक्ष के उस महारथी वीर को आते देख आचार्य ने पूर्णरूप से लोह-निर्मित दस पैने बाणों से उसे घायल कर दिया ।

तं शिबिः प्रतिविव्याध त्रिंशता निशितैः शरैः ।
सारथिं चास्य भल्लेन स्मयमानो न्यपातयत् ॥८॥

तब शिवि ने द्रोणाचार्य को तीस तीखे सायकों से बेधकर अपना बदला चुकाया और मुस्कराते हुए उन्होंने एक भल्ल से उनके सारथि को मार गिराया ।

तस्य द्रोणो हयान् हत्वा सारथिं च महात्मनः ।
अथास्य सशिरस्त्राणं शिरः कायादपाहरत् ॥९॥

यह देख द्रोणाचार्य ने भी महामना शिवि के घोड़ों को मारकर सारथि का भी वध कर दिया, फिर उनके शिरस्त्राणसहित मस्तक को धड़ से अलग कर दिया ।

ततोऽस्य सारथिं क्षिप्रमन्यं दुर्योधनोऽदिशत् ।
स तेन संगृहीताश्वः पुनरभ्यद्रवद् रिपून् ॥१०॥

उधर दुर्योधन ने द्रोणाचार्य को शीघ्र ही दूसरा सारथि दे दिया । जब उस नये सारथि ने घोड़ों की रासें सँभाली, तब उन्होंने पुनः शत्रुओं पर धावा किया ।

यो यो हि प्रमुखे तस्य तस्थौ द्रोणस्य पूरुषः ।
तस्य तस्य शिरश्छित्वा ययुर्द्रोणशराः क्षितिम् ॥११॥

जो-जो वीर द्रोणाचार्य के सम्मुख खड़ा होता, उसी-उसी का सिर काटकर द्रोणाचार्य के बाण धरती में समा जाते थे ।

ततः समभवद् युद्धमतीव भयवर्धनम् ।
त्वदीयानां परेषां च घोरं विजयकांक्षिणाम् ॥१२॥

फिर तो विजय की पूर्ण अभिलाषा रखनेवाले आपके और शत्रुपक्ष के सैनिकों में भयंकर युद्ध छिड़ गया ।

ततो युधिष्ठिरः क्रुद्धस्तवानीकमशातयत् ।
मिषतः कुम्भयोनेस्तु पुत्राणां तव चानघ ॥१३॥

निष्पाप राजन् ! उस समय क्रोध में भरे हुए राजा युधिष्ठिर द्रोणाचार्य तथा आपके पुत्रों के देखते-देखते आपकी सेना का विनाश करने लगे ।

सैन्यानि द्रावयन्तं तं द्रोणो दृष्ट्वा युधिष्ठिरम् ।
नोदितस्तव पुत्रेण सायकैरभ्यवाकिरत् ॥१४

द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर को अपनी सेनाओं को खदेड़ते देख आपके पुत्र दुर्योधन से प्रेरित होकर उन-पर बाण-वृष्टि आरम्भ कर दी ।

द्रोणस्तु परमक्रुद्धो वायव्यास्त्रेण पार्थिवम् ।
विव्याध सोऽपि तद् दिव्यमस्त्रमस्त्रेण जघ्निवान् ॥१५

अत्यन्त कुपित हुए द्रोणाचार्य ने वायव्यास्त्र से राजा युधिष्ठिर को बींध डाला । युधिष्ठिर ने भी उनके दिव्यास्त्रों को अपने दिव्यास्त्रों से ही नष्ट कर दिया ।

तस्मिन् विनिहते चास्त्रे भारद्वाजो युधिष्ठिरे ।
वारुणं चिक्षेपाग्नेयं त्वाष्ट्रं सावित्रमेव च ॥१६॥

उस अस्त्र के नष्ट हो जाने पर द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर पर क्रमशः वारुण, आग्नेय, त्वाष्ट्र और सावित्र नामक दिव्य-अस्त्रों से प्रहार किया ।

क्षिप्तानि क्षिप्यमाणानि तानि चास्त्राणि धर्मजः ।
जघानास्त्रैर्महाबाहुः कुम्भयोनेरवित्रसन् ॥१७

परन्तु महाबाहु धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य से तनिक भी भय न खाकर उनके द्वारा चलाये गये और चलाये जानेवाले सभी अस्त्रों को अपने दिव्यास्त्रों से नष्ट कर दिया ।

विहन्यमानेष्वस्त्रेषु द्रोणः क्रोधसमन्वितः ।
युधिष्ठिरवधं प्रेप्सुर्ब्राह्ममस्त्रमुदैरयत् ॥१८॥

उन अस्त्रों के नष्ट हो जाने पर कुपित हुए द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर का वध करने की इच्छा से ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया ।

ततो नाज्ञासिषं किंचिद् घोरेण तमसाऽऽवृते ।
सर्वभूतानि च परं त्रासं जग्मुर्महीपते ॥१९॥

भूपाल ! फिर तो मैं घोर अन्धकार से ढके हुए उस रणक्षेत्र में कुछ भी न जान सका और समस्त प्राणी भयभीत हो उठे ।

ब्रह्मास्त्रमुद्यतं दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
ब्रह्मास्त्रेणैव राजेन्द्र तदस्त्रं प्रत्यवारयत् ॥२०॥

राजेन्द्र ! ब्रह्मास्त्र को उद्यत देखकर युधिष्ठिर ने ब्रह्मास्त्र से ही उस अस्त्र का निवारण कर दिया ।

ततः सैनिकमुख्यास्ते प्रशशंसुर्नरर्षभौ ।
द्रोणपार्थौ महेष्वासौ सर्वयुद्धविशारदौ ॥२१॥

उस समय प्रधान-प्रधान सैनिक सम्पूर्ण युद्ध-कलाओं में निपुण, महाधनुर्धर नरश्रेष्ठ द्रोणाचार्य और युधिष्ठिर की प्रभूत प्रशंसा करने लगे ।

ततः प्रमुच्य कौन्तेयं द्रोणो द्रुपदवाहिनीम् ।
व्यधमत् क्रोधताम्राक्षो वायव्यास्त्रेण भारत ॥२२॥

हे भारत ! अपने अस्त्रों को विफल हुआ देख द्रोणाचार्य ने कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर को छोड़ क्रोध से लाल आँखें किये वायव्यास्त्र के द्वारा द्रुपद की सेना का संहार आरम्भ किया ।

ते हन्यमाना द्रोणेन पाञ्चालाः प्राद्रवन् भयात् ।
पश्यतो भीमसेनस्य पार्थस्य च महात्मनः ॥२३

द्रोणाचार्य की मार खाकर पाञ्चाल सैनिक भीमसेन और महात्मा अर्जुन के देखते-देखते भयभीत होकर भाग खड़े हुए ।

ततः किरीटी भीमश्च सहसा संन्यवर्तताम् ।
महद्भ्यां रथवंशाभ्यां परिगृह्य बलं तदा ॥२४॥

यह देख किरीटधारी अर्जुन और भीमसेन विशाल रथसेनाओं के द्वारा अपनी सेना की रोक-थाम करते हुए सहसा उस ओर लौट पड़े ।

बीभत्सुर्दक्षिणं पार्श्वमुत्तरं च वृकोदरः ।
भारद्वाजं शरौघाभ्यां महद्भ्यामभ्यवर्षताम् ॥२५॥

अर्जुन ने द्रोणाचार्य के दाहिने पार्श्व में और भीमसेन ने बाएँ पार्श्व में बाण-समूह की प्रबल वर्षा आरम्भ कर दी ।

ततः सा भारती सेना वध्यमाना किरीटिना ।
तमसा निद्रया चैव पुनरेव व्यदीर्यत ॥२६॥

उस समय किरीटधारी अर्जुन की मार खाती हुई कौरवी-सेना अन्धकार और निद्रा से पीड़ित हो पुनः तितर-बितर हो गई ।

द्रोणेन वार्यमाणास्ते स्वयं तव सुतेन च ।
नाशक्यन्त महाराज योधा वारयितुं तदा ॥२७॥

महाराज ! द्रोणाचार्य और स्वयं आपके पुत्र दुर्योधन के रोकने पर भी उस समय आपके योद्धा रोके नहीं जा सके ।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

षड्विंशोऽध्यायः

दुर्योधन तथा कर्ण का वार्तालाप, कृपाचार्य का कर्ण को फटकारना और कर्ण द्वारा उनका अपमान

सञ्जय उवाच

उदीर्यमाणं तद् दृष्ट्वा पाण्डवानां महद् बलम् ।
अविषह्यं च मन्वानः कर्णं दुर्योधनोऽब्रवीत् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! पाण्डवों की उस विशाल सेना का जोर बढ़ते देख उसे असह्य मानकर दुर्योधन ने कर्ण से कहा—

अयं स कालः सम्प्राप्तो मित्राणां मित्रवत्सल ।
त्रायस्व समरे कर्ण सर्वान् योधान् महारथान् ॥२॥

"मित्रवत्सल कर्ण ! इस समय मित्रों के कर्तव्य-पालन का उचित अवसर आया है, अतः तुम मेरे समस्त महारथी योद्धाओं की रणभूमि में रक्षा करो।"

कर्ण उवाच

परित्रातुमिह प्राप्तो यदि पार्थं पुरन्दरः ।
तमप्याशु पराजित्य ततो हन्तास्मि पाण्डवम् ॥३॥

कर्ण बोला—राजन् ! यदि साक्षात् इन्द्र भी यहां अर्जुन की रक्षा के लिए आ गये हों तो मैं उन्हें भी शीघ्र परास्त करके पाण्डुपुत्र अर्जुन को अवश्य मार डालूंगा।

सत्यं ते प्रतिजानामि समाश्वसिहि भारत।
हन्तास्मि पाण्डुतनयान् पाञ्चालांश्च समागतान् ॥४॥

भरतभूषण ! तुम धीरज रखो। मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि मैं युद्धभूमि में आये हुए पाण्डवों और पाञ्चालों को अवश्य मारूँगा।

जयं ते प्रतिदास्यामि वासवस्येव पावकिः ।
प्रियं तव मया कार्यमिति जीवामि पार्थिव ॥५॥

भूपाल ! जैसे अग्निकुमार कार्तिकेय ने तारकासुर का वध करके इन्द्र को विजय प्रदान की थी, उसी प्रकार मैं आज तुम्हें विजय प्रदान करूँगा। मैं तुम्हारा प्रिय करने के लिए ही जीवित हूँ।

सर्वेषामेव पार्थानां फाल्गुनो बलवत्तमः ।
तस्यामोघां विमोक्ष्यामि शक्तिं शक्रविनिर्मिताम् ॥६॥

कुन्ती के सभी पुत्रों में अर्जुन ही शक्तिशाली हैं, अतः मैं इन्द्र द्वारा निर्मित और प्रदत्त अमोघ शक्ति को अर्जुन पर ही छोड़ूँगा।

तस्मिन् हते महेष्वासे भ्रातरस्तस्य मानद ।
तव वश्या भविष्यन्ति वनं यास्यन्ति वा पुनः ॥७॥

मानद ! महाधनुर्धर अर्जुन के मारे जाने पर उनके सभी भाई तुम्हारे वश में आ जाएँगे अथवा पुनः वन में चले जाएँगे।

मयि जीवति कौरव्य विषादं मा कृथाः क्वचित् ।
अहं जेष्यामि समरे सहितान् सर्वपाण्डवान् ॥८॥

कुरुनन्दन ! तुम मेरे जीते-जी कभी विषाद न करो। मैं युद्धभूमि में संगठित होकर आये हुए समस्त पाण्डवों को जीत लूंगा।

पाञ्चालान् केकयांश्चैव वृष्णींश्चापि समागतान् ।
बाणौघैः शकलीकृत्य तव दास्यामि मेदिनीम् ॥९॥

मैं अपने बाणसमूहों द्वारा युद्धभूमि में आये हुए पाञ्चालों, केकयों और वृष्णिवंशियों के भी टुकड़े-टुकड़े करके यह सारी पृथिवी तुम्हें दे दूंगा।

सञ्जय उवाच

एवं ब्रुवाणं कर्णं तु कृपः शारद्वतोऽब्रवीत् ।
स्मयन्निव महाबाहुः सूतपुत्रमिदं वचः ॥१०॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार की बातें करते हुए सूतपुत्र कर्ण से शरद्वान् के पुत्र महाबाहु कृपाचार्य ने मुस्कराते हुए-से यह बात कही—

शोभनं शोभनं कर्ण सनाथः कुरुपुङ्गवः ।
त्वया नाथेन राधेय वचसा यदि सिध्यति ॥११॥

"कर्ण ! वाह-वाह ! राधापुत्र ! यदि बात बनाने से ही कार्य सिद्ध हो जाए, तब तो तुम जैसे सहायक को पाकर कुरुराज दुर्योधन सनाथ हो गये।

बहुशः कत्थसे कर्ण कौरवस्य समीपतः ।
न तु ते विक्रमः कश्चिद् दृश्यते फलमेव च ॥१२॥

"कर्ण ! तुम कुरुनन्दन दुर्योधन के पास बहुत बढ़-चढ़कर बातें किया करते हो, परन्तु न तो कभी कोई तुम्हारा पराक्रम देखा जाता है और न उसका कोई फल ही सामने आता है।

समागमः पाण्डुसुतैर्दृष्टस्ते बहुशो युधि ।
सर्वत्र निर्जितश्चासि पाण्डवैः सूतनन्दन ॥१३॥

"सूतनन्दन! पाण्डु के पुत्रों से युद्धस्थल में तुम्हारी अनेकों बार मुठभेड़ हुई है, परन्तु सर्वत्र पाण्डवों से तुम परास्त ही हुए हो।

ह्रियमाणे तदा कर्ण गन्धर्वैर्धृतराष्ट्रजे।
तदायुध्यन्त सैन्यानि त्वमेकोऽग्रेऽपलायिथाः ॥१४॥

"कर्ण! जब गन्धर्व दुर्योधन को पकड़कर लिये जा रहे थे, उस समय सारी सेना तो युद्ध कर रही थी और केवल तुम ही सबसे पहले भाग खड़े हुए थे।

विराटनगरे चापि समेताः सर्वकौरवाः।
पार्थेन निर्जिता युद्धे त्वं च कर्ण सहानुजः ॥१५॥

"कर्ण! विराटनगर में भी सम्पूर्ण कौरव इकट्ठे हुए थे, किन्तु अर्जुन ने अकेले ही सबको हरा दिया था। तुम भी अपने भाइयों के साथ परास्त हुए थे।

एकस्याप्यसमर्थस्त्वं फाल्गुनस्य रणाजिरे।
कथमुत्सहसे जेतुं सकृष्णान् सर्वपाण्डवान् ॥१६॥

"रणभूमि में अकेले अर्जुन का सामना करने की भी तुममें शक्ति नहीं है, फिर श्रीकृष्णसहित समस्त पाण्डवों पर विजय पाने का उत्साह कैसे दिखाते हो?

अब्रुवन् कर्ण युध्यस्व कत्थसे बहु सूतज।
अनुक्त्वा विक्रमेद् यस्तु तद् वै सत्पुरुषव्रतम् ॥१७॥

"सूतपुत्र कर्ण! चुपचाप युद्ध करो। तुम बातें बहुत बनाते हो। जो बिना कुछ कहे ही पराक्रम दिखाये, वही वीर है और वैसा करना ही सत्पुरुषों का व्रत है।

गर्जित्वा सूतपुत्र त्वं शारदाभ्रमिवाफलम्।
निष्फलो दृश्यते कर्ण तच्च राजा न बुध्यते ॥१८॥

"सूतपुत्र कर्ण! तुम शरद्-ऋतु के निष्फल बादलों के समान गर्जना करके भी निष्फल ही दिखायी देते हो परन्तु राजा दुर्योधन इस बात को समझते नहीं हैं।

तावद् गर्जस्व राधेय यावत्पार्थं न पश्यसि।
आरात् पार्थं हि ते दृष्ट्वा दुर्लभं गर्जितं पुनः ॥१९॥

"राधापुत्र! जबतक तुम अर्जुन को नहीं देखते हो, तभी तक गर्जना कर लो। कुन्तीपुत्र अर्जुन को अपने पास देखकर यह गर्जना तुम्हारे लिए दुर्लभ हो जाएगी।

बाहुभिः क्षत्रियाः शूरा वाग्भिः शूरा द्विजातयः।
धनुषा फाल्गुनः शूरः कर्णः शूरो मनोरथैः ॥२०॥

"क्षत्रिय अपनी भुजाओं से शौर्य का परिचय देते हैं। ब्राह्मण वाणी द्वारा प्रवचन करने में वीर होते हैं। अर्जुन धनुष चलाने में वीर हैं, परन्तु कर्ण केवल मनोरथों में ही वीर है।"

एवं संरुषितस्तेन तदा शारद्वतेन ह।
कर्णः प्रहरतां श्रेष्ठः कृपं वाक्यमथाब्रवीत् ॥२१॥

शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य के ऐसा कहने पर योद्धाओं में श्रेष्ठ कर्ण ने उस समय रुष्ट होकर उनसे इस प्रकार कहा—

शूरा गर्जन्ति सततं प्रावृषीव बलाहकाः।
फलं चाशु प्रयच्छन्ति बीजमुप्तमृताविव ॥२२॥

"शूरवीर वर्षाकाल के मेघों की भाँति सदा गर्जते हैं और ठीक ऋतु में बोये हुए बीज के समान शीघ्र ही फल भी देते हैं।

दोषमत्र न पश्यामि शूराणां रणमूर्धनि।
तत्तद् विकत्थमानानां भारं चोद्वहतां मृधे ॥२३॥

"रणभूमि में महान् भार उठानेवाले शूरवीर यदि युद्ध के मुहाने पर अपनी प्रशंसा की भी बातें करते हैं तो इसमें मुझे उनका कोई दोष दिखाई नहीं देता।

यं भारं पुरुषो वोढुं मनसा हि व्यवस्यति।
दैवमस्य ध्रुवं तत्र साहाय्यायोपपद्यते ॥२४॥

"पुरुष अपने मन से जिस भार को ढोने का निश्चय करता है, उसमें दैव अवश्य ही उसकी सहायता करता है।

हन्तुं पाण्डुसुतानाजौ सकृष्णान् सह सात्वतान्।
गर्जामि यद्यहं विप्र तव किं तत्र नश्यति ॥२५॥

"विप्रवर! मैं कृष्ण और सात्यकिसहित समस्त पाण्डवों को युद्ध में मौत के घाट उतारने का निश्चय करके यदि गर्ज रहा हूँ तो उसमें आपकी क्या हानि हो रही है?

वृथा शूरा न गर्जन्ति शारदा इव तोयदाः।
पश्य त्वं गर्जितस्यास्य फलं मे विप्र सानुगान् ॥२६॥
हत्वा पाण्डुसुतानाजौ सहकृष्णान् ससात्वतान्।
दुर्योधनाय दास्यामि पृथिवीं हतकण्टकाम् ॥२७॥

"विप्रवर ! शरद्-ऋतु के बादलों के समान शूरवीर व्यर्थ नहीं गर्जते हैं। तुम मेरी इस गर्जना का फल देख लेना। मैं युद्ध में श्रीकृष्ण, सात्यकि और अनुगामियोंसहित पाण्डवों को मारकर इस भूमण्डल का निष्कण्टक राज्य दुर्योधन को सौंप दूंगा।"

कृप उवाच

मनोरथप्रलापा मे न ग्राह्यास्तव सूतज।
सदा क्षिपसि वै कृष्णौ धर्मराजं च पाण्डवम् ॥२८॥

कृपाचार्य बोले—सूतपुत्र ! तुम्हारे ये हवाई किले बनाने के निरर्थक प्रलाप मेरे लिए विश्वास के योग्य नहीं हैं। तुम सदा व्यर्थ ही श्रीकृष्ण, अर्जुन और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर पर आक्षेप किया करते हो।

ध्रुवस्तत्र जयः कर्ण यत्र युद्धविशारदौ।
देवगन्धर्वयक्षाणां अजेयौ कृष्णपाण्डवौ ॥२९॥

कर्ण ! विजय उसी पक्ष की होगी, जहाँ युद्ध-विशारद श्रीकृष्ण और अर्जुन विद्यमान हैं। यदि देवता, गन्धर्व और यक्ष भी युद्ध के लिए आ जाएँ तो भी वे श्रीकृष्ण और अर्जुन को जीत नहीं सकते।

ब्राह्मण्यः सत्यवाग् दान्तो गुरुदैवतपूजकः।□
धृतिमांश्च कृतज्ञश्च धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥३०॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिर ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, गुरु और देवताओं का सम्मान करनेवाले, धैर्यवान् और कृतज्ञ हैं।

बलिनो भ्रातरश्चास्य सर्वास्त्रेषु कृतश्रमाः।
गुरुवृत्तिरताः प्राज्ञा धर्मनित्या यशस्विनः ॥३१॥

इनके बलवान् भाई भी सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रों की कला में परिश्रम किये हुए हैं। वे गुरुसेवापरायण, विद्वान्, धर्मतत्पर और यशस्वी हैं।

कामं खलु जगत् सर्वं सदेवासुरमानुषम्।
निःशेषमस्त्रवीर्येण कुर्वाते भीमफाल्गुनौ ॥३२॥

भीमसेन और अर्जुन यदि चाहें तो अपने अस्त्रबल से देवता, असुर, और मनुष्योंसहित इस सम्पूर्ण जगत् का सर्वनाश कर सकते हैं।

अप्रमेयबलः शौरिर्येषामर्थे च दंशितः।
कथं तान् संयुगे कर्ण जेतुमुत्सहसे परान् ॥३३॥

कर्ण ! जिनके लिए असीम बलशाली श्रीकृष्ण भी कवच धारण करके लड़ने को तैयार हैं, तुम उन शत्रुओं को युद्ध में जीतने का साहस कैसे कर रहे हो ?

सञ्जय उवाच

एवमुक्तस्तु राधेयः प्रहसन् भरतर्षभ।
अब्रवीच्च तदा कर्णो गुरुं शारद्वतं कृपम् ॥३४॥

सञ्जय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! उनके ऐसा कहने पर राधापुत्र कर्ण ने हँसते हुए शरद्वान् के पुत्र गुरु कृपाचार्य से उस समय यूँ कहा—

कर्ण उवाच

सत्यमुक्तं त्वया ब्रह्मन् पाण्डवान् प्रति यद्वचः।
एते चान्ये च बहवो गुणाः पाण्डुसुतेषु वै ॥३५॥

कर्ण बोला—विप्रवर ! पाण्डवों के विषय में तुमने जो बात कही है, वह सब सत्य है। यही नहीं, पण्डवों में और भी बहुत-से गुण हैं।

अजेयाश्च रणे पार्था देवैरपि सवासवैः।
तथापि पार्थाञ्जेष्यामि शक्त्या वासवदत्तया ॥३६॥

यह भी सत्य है कि कुन्तीकुमारों को देवताओं-सहित इन्द्र भी नहीं जीत सकते, तथापि मैं इन्द्र की दी हुई शक्ति से कुन्तीपुत्रों को जीत लूंगा।

मम ह्यमोघा दत्तेयं शक्तिः शक्रेण वै द्विज।
एतया निहनिष्यामि सव्यसाचिनमाहवे ॥३७॥

ब्रह्मन् ! मुझे इन्द्र ने अमोघ-शक्ति प्रदान की है, इसके द्वारा मैं युद्ध में सव्यसाची अर्जुन को अवश्य मार डालूंगा।

हते तु पाण्डवे कृष्णे भ्रातरश्चास्य सोदराः।
अनर्जुना न शक्ष्यन्ति महीं भोक्तुं कथञ्चन ॥३८॥

पाण्डुपुत्र अर्जुन के मारे जाने पर उसके बिना उसके सहोदर भाई किसी भी प्रकार इस पृथिवी का राज्य नहीं भोग सकेंगे।

तेषु नष्टेषु सर्वेषु पृथिवीयं ससागरा।
अयत्नात् कौरवेन्द्रस्य वशे स्थास्यति गौतम ॥३९॥

गौतम ! उन सबके नष्ट हो जाने पर बिना किसी प्रयत्न के ही समुद्रसहित यह सम्पूर्ण पृथिवी कौरव-राज दुर्योधन के अधिकार में हो जाएगी।

सुनीतैरिह सर्वार्थाः सिध्यन्ते नात्र संशयः।
एतमर्थमहं ज्ञात्वा ततो गर्जामि गौतम ॥४०॥

गौतम ! इस लोक में सुनीतिसञ्चालित प्रयत्नों

में सारे कार्य सिद्ध होते हैं, इसमें संशय नहीं है। इस बात को समझकर ही मैं गर्जना करता हूँ।

त्वं तु विप्रश्च वृद्धश्च अशक्तश्चापि संयुगे।
कृतस्नेहश्च पार्थेषु मोहान्मामवमन्यसे ॥४१॥

तुम तो ब्राह्मण और उसपर भी वृद्ध हो। तुममें युद्ध करने की शक्ति है ही नहीं। इसके अतिरिक्त तुम कुन्तीकुमारों पर स्नेह रखते हो, अतः मोहवश मेरा अपमान कर रहे हो।

यद्येवं वक्ष्यसे भूयो ममाप्रियमिह द्विज।
ततस्ते खड्गमुद्यम्य जिह्वां छेत्स्यामि दुर्मते ॥४२॥

दुर्बुद्धि ब्राह्मण! यदि तुम यहाँ पुनः मुझे अप्रिय लगनेवाली ऐसी बात बोलोगे तो मैं अपनी तलवार उठाकर तुम्हारी जीभ काट लूँगा।

यांस्तान् बलवतो नित्यं मन्यसे त्वं द्विजाधम।
यतिष्येऽहं यथाशक्ति योद्धुं तैः सह संयुगे।
दुर्योधनहितार्थाय जयो दैवे प्रतिष्ठितः ॥४३॥

द्विजाधम! तुम जिन्हें सदा बलवान् मानते रहते हो, उन्हीं के साथ मैं रणभूमि में दुर्योधन के हित के लिए यथा-शक्ति युद्ध करने का प्रयत्न करूँगा। विजय तो दैव के अधीन है।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

अश्वत्थामा का कर्ण को मारने के लिए उद्यत होना, पाण्डवों द्वारा कर्ण पर आक्रमण और अर्जुन द्वारा कर्ण की पराजय

सञ्जय उवाच

तथा परुषितं दृष्ट्वा सूतपुत्रेण मातुलम्।
खड्गमुद्यम्य वेगेन द्रौणिरभ्यपतद् द्रुतम् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार अपने मामा के प्रति सूतपुत्र को कटु वचन सुनाते देख अश्वत्थामा बड़े वेग से तलवार उठाकर तुरन्त कर्ण पर टूट पड़ा।

अश्वत्थामोवाच

यदर्जुनगुणांस्तथ्यान् कीर्तयानं नराधम।
शूरं द्वेषात् सुदुर्बुद्धे त्वं भर्त्सयसि मातुलम् ॥२॥
विकत्थमानः शौर्येण सर्वलोकधनुर्धरम्।
दर्पोत्सेधगृहीतोऽद्य न कञ्चिद् गणयन् मृधे ॥३॥

अश्वत्थामा बोला—दुर्बुद्धे! नराधम! मेरे मामा समस्त संसार में श्रेष्ठ धनुर्धर और शूरवीर हैं। ये अर्जुन के सच्चे गुणों का बखान कर रहे थे, तो भी तू द्वेष के कारण अपनी वीरता की डींग हाँकता हुआ तथा अभिमान में भरकर आज युद्ध में किसी को कुछ न समझता हुआ जो इन्हें फटकार रहा है, इसका कारण क्या है?

क्व ते वीर्यं क्व चास्त्राणि यत्त्वां निर्जित्य संयुगे।
गाण्डीवधन्वा हतवान् प्रेक्षतस्ते जयद्रथम् ॥४॥

जब युद्धभूमि में गाण्डीवधारी अर्जुन ने तुझे परास्त करके तेरे देखते-देखते जयद्रथ को मार डाला था, उस समय तेरा पराक्रम कहाँ था? तेरे वे अस्त्र-शस्त्र कहाँ चले गये थे?

कर्ण पश्य सुदुर्बुद्धे तिष्ठेदानीं नराधम।
एष तेऽद्य शिरः कायादुद्धरामि सुदुर्मते ॥५॥

दुर्बुद्धे! नराधम कर्ण! तू देख और खड़ा रह। दुर्मते! मैं अभी तेरा सिर धड़ से अलग कर देता हूँ।

सञ्जय उवाच

तमुद्यतं तु वेगेन राजा दुर्योधनः स्वयम्।
न्यवारयन्महातेजाः कृपश्च द्विपदां वरः ॥६॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार वेगपूर्वक कर्ण को मारने के लिए उद्यत हुए अश्वत्थामा को महातेजस्वी स्वयं राजा दुर्योधन और मनुष्यों में श्रेष्ठ कृपाचार्य ने रोका।

कर्ण उवाच

शूरोऽयं समरश्लाघी दुर्मतिश्च द्विजाधमः।
आसादयतु मद्वीर्यं मुञ्चेमं कुरुसत्तम ॥७॥

कर्ण ने कहा—कुरुश्रेष्ठ! यह दुर्बुद्धि और नीच ब्राह्मण बड़ा शूरवीर बनता है और युद्ध की इच्छा रखता है। तुम इसे छोड़ दो। आज यह मेरे पराक्रम का सामना करे।

अश्वत्थामोवाच

तवैतत् क्षम्यतेऽस्माभिः सूतात्मज सुदुर्मते ।
दर्पमुत्सिक्तमेतत् ते फाल्गुनो नाशयिष्यति ।।८।।

अश्वत्थामा बोला—दुर्मते ! सूतपुत्र ! हम लोग तेरे इस अपराध को क्षमा करते हैं। तेरे इस बढ़े हुए अभिमान का नाश अर्जुन करेंगे ।

दुर्योधन उवाच

अश्वत्थामन् प्रसीदस्व क्षन्तुमर्हसि मानद ।
कोपः खलु न कर्तव्यः सूतपुत्रे कथञ्चन ।।९।।

दुर्योधन ने कहा—दूसरों को मान देनेवाले अश्वत्थामन् ! प्रसन्न होओ। इन्हें क्षमा कर दो। सूतपुत्र कर्ण पर तुम्हें किसी प्रकार भी क्रोध करना उचित नहीं है ।

त्वयि कर्णे कृपे द्रोणे मद्रराजेऽथ सौबले ।
महत् कार्यं समासक्तं प्रसीद द्विजसत्तम ।।१०।।

हे द्विजश्रेष्ठ ! तुमपर, कर्ण पर, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, मद्रराज शल्य और शकुनि पर महान् कार्यभार रखा गया है, अतः तुम प्रसन्न होओ ।

एते ह्यभिमुखाः सर्वे राधेयेन युयुत्सवः ।
आयान्ति पाण्डवा ब्रह्मन्नाह्वयन्तः समन्ततः ।।११।।

ब्रह्मन् ! ये सामने राधापुत्र कर्ण के साथ युद्ध की अभिलाषा से समस्त पाण्डव-सैनिक सब ओर से ललकारते हुए चले आ रहे हैं ।

सञ्जय उवाच

ततः प्रसाद्यमानस्तु राज्ञा द्रौणिर्महामनाः ।
प्रससाद महाराज क्रोधवेगसमन्वितः ।।१२।।

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! दुर्योधन के मनाने पर क्रोध के आवेग से युक्त महामना अश्वत्थामा शान्त एवं प्रसन्न हो गया ।

ततः कृपोऽप्युवाचेदमाचार्यः सुमहामनाः ।
सौम्यस्वभावाद् राजेन्द्र क्षिप्रमागतमार्दवः ।।१३।।

राजेन्द्र ! तदनन्तर सौम्य-स्वभाव के कारण शीघ्र ही कोमलता आ जाने से महामना कृपाचार्य भी शान्त हो गये और इस प्रकार बोले—

कृप उवाच

तवैतत् क्षम्यतेऽस्माभिः सूतात्मज सुदुर्मते ।
दर्पमुत्सिक्तमेतत् ते फाल्गुनो नाशयिष्यति ।।१४।।

कृपाचार्य बोले—दुर्बुद्धे ! सूतपुत्र ! हम लोग तो तेरे इस अपराध को क्षमा कर देते हैं, परन्तु अर्जुन तेरे इस बढ़े हुए अभिमान का अवश्य नाश करेंगे ।

सञ्जय उवाच

ततस्ते पाण्डवा राजन् पाञ्चालाश्च यशस्विनः ।
आजग्मुः सहिताः कर्णं तर्जयन्तः समन्ततः ।।१५

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! इतने में ही वे यशस्वी पाण्डव और पाञ्चाल एकत्र होकर गर्जन-तर्जन करते हुए चारों ओर से कर्ण पर चढ़ आये ।

कर्णोऽपि रथिनां श्रेष्ठश्चापमुद्यम्य वीर्यवान् ।
कौरवाग्र्यैः परिवृतः शक्रो देवगणैरिव ।।१६।।
पर्यतिष्ठत तेजस्वी स्वबाहुबलमाश्रितः ।
ततः प्रववृते युद्धं कर्णस्य सह पाण्डवैः ।।१७।।

रथियों में श्रेष्ठ, पराक्रमी तथा तेजस्वी वीर कर्ण भी देवताओं से घिरे हुए इन्द्र के समान प्रधान कौरव वीरों से घिरकर और अपने बाहुबल का भरोसा करके धनुष तानकर युद्ध के लिए खड़ा हो गया। तत्पश्चात् कर्ण के साथ पाण्डवों का भीषण युद्ध आरम्भ हुआ ।

आयान्तं पाण्डवं दृष्ट्वा गजं प्रतिगजो यथा ।
असम्भ्रान्तो रणे कर्णः प्रत्युदीयाद् धनञ्जयम् ।।१८।।

जैसे एक हाथी को आते देख दूसरा हाथी उसका सामना करने के लिए आगे बढ़े, वैसे ही पाण्डुपुत्र अर्जुन को आते देख कर्ण बिना किसी घबराहट के युद्ध में उनका सामने करने के लिए आगे बढ़ा ।

तमापतन्तं वेगेन वैकर्तनमजिह्मगैः ।
छादयामास पार्थोऽथ कर्णस्तु विजयं शरैः ।।१९।।

वेग से धावा करते हुए वैकर्तन कर्ण को अर्जुन ने अपने सीधे जानेवाले बाणों से ढक दिया और कर्ण ने भी अर्जुन को अपने बाणों से आच्छादित कर दिया ।

ततः पार्थो महेष्वासो दृष्ट्वा कर्णस्य विक्रमम् ।
मुष्टिदेशे धनुस्तस्य चिच्छेद त्वरयान्वितः ।।२०।।

फिर तो महाधनुर्धर अर्जुन ने कर्ण का पराक्रम देखकर उसके धनुष को मुट्ठी पकड़ने के स्थान से शीघ्रतापूर्वक काट दिया ।

अश्वांश्च चतुरो भल्लैरनयद् यमसादनम् ।
सारथेश्च शिरः कायादहरच्छत्रुतापनः ॥२१॥

साथ ही उसके चारों घोड़ों को चार भल्लों द्वारा यमलोक भेज दिया । तत्पश्चात् शत्रु-सन्तापी अर्जुन ने उसके सारथि का सिर भी धड़ से अलग कर दिया ।

अथैनं छिन्नधन्वानं हताश्वं हतसारथिम् ।
विव्याध सायकैः पार्थश्चतुर्भिः पाण्डुनन्दनः ॥२२॥

धनुष कट जाने और घोड़ों तथा सारथि के मारे जाने पर कर्ण को पाण्डुपुत्र अर्जुन ने चार बाणों द्वारा घायल कर दिया ।

हताश्वात् तु रथात् तूर्णमवप्लुत्य नरर्षभः ।
आरुरोह रथं तूर्णं कृपस्य शरपीडितः ॥२३॥

जिसके घोड़े मारे गये थे, उस रथ से तुरन्त ही कूदकर बाणपीड़ित कर्ण शीघ्रतापूर्वक कृपाचार्य के रथ पर चढ़ गया ।

राधेयं निर्जितं दृष्ट्वा तावका भरतर्षभ ।
धनञ्जयशरैर्नुन्नाः प्राद्रवन्त दिशो दश ॥२४॥

भरतभूषण ! राधापुत्र कर्ण को पराजित हुआ देख आपके सैनिक अर्जुन के बाणों से पीड़ित हो दसों दिशाओं में भाग खड़े हुए ।

द्रवतस्तान् समालोक्य राजा दुर्योधनो नृप ।
निवर्तयामास तदा वाक्यमेतदुवाच ह ॥२५॥

नरेश्वर ! अपने सैनिकों को भागते देख राजा दुर्योधन ने उन्हें लौटाया और उस समय उनसे यह बात कही—

अलं द्रुतेन वः शूरास्तिष्ठध्वं क्षत्रियर्षभाः ।
एष पार्थवधायाहं स्वयं गच्छामि संयुगे ॥२६॥

"क्षत्रियशिरोमणि शूरवीरो ! ठहरो, तुम्हें भागने की आवश्यकता नहीं है । मैं स्वयं अभी अर्जुन का वध करने के लिए युद्धभूमि में चलता हूँ ।

जेष्याम्यद्य रणे पार्थं सायकैर्नतपर्वभिः ।
तिष्ठध्वं समरे शूरा भयं त्यजत फाल्गुनात् ॥२७॥

"आज युद्धक्षेत्र में झुकी हुई गाँठवाले बाणों द्वारा मैं अर्जुन को जीत लूँगा । शूरवीरो ! तुम युद्ध-भूमि में डटे रहो और अर्जुन से भयभीत मत होओ ।"

इत्युक्त्वा प्रययौ राजा सैन्येन महता वृतः ।
फाल्गुनं प्रति दुर्धर्षः क्रोधात् संरक्तलोचनः ॥२८॥

ऐसा कहकर दुर्धर्ष राजा दुर्योधन ने क्रोध से लाल आँखें करके विशाल सेना के साथ अर्जुन पर धावा बोला ।

तं प्रयान्तं महाबाहुं दृष्ट्वा शारद्वतस्तदा ।
अश्वत्थामानमासाद्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥२९॥

महाबाहु दुर्योधन को अर्जुन के सामने जाते देख शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य ने उस समय अश्वत्थामा के पास पहुँचकर यह बात कही—

एष राजा महाबाहुरमर्षी क्रोधमूर्च्छितः ।
पतङ्गवृत्तिमास्थाय फाल्गुनं योद्धुमिच्छति ॥३०॥

"यह अमर्षशील महाबाहु राजा दुर्योधन क्रोध के कारण अपनी सुधबुध खो बैठा है और पतङ्गों की वृत्ति का आश्रय ले अर्जुन के साथ युद्ध करना चाहता है ।

यावन्नः पश्यमानानां प्राणान् पार्थेन संगतः ।
न जह्यात् पुरुषव्याघ्रस्तावद् वारय कौरवम् ॥३१॥

"यह पुरुषसिंह नरेश अर्जुन से भिड़कर हमारे देखते-देखते जबतक अपने प्राणों को त्याग न दे, उससे पूर्व ही तुम जाकर उस कुरुवंशी राजा को रोको ।

दुर्लभं जीवितं मन्ये कौरव्यस्य किरीटिना ।
युध्यमानस्य पार्थेन शार्दूलेनेव हस्तिनः ॥३२॥

"जैसे सिंह के साथ हाथी के युद्ध में उसका जीवित रहना असम्भव हो जाता है, वैसे ही किरीट-धारी कुन्तीपुत्र अर्जुन के साथ युद्ध में जूझने पर कुरुवंशी दुर्योधन के जीवन को मैं दुर्लभ ही मानता हूँ ।"

मातुलेनैवमुक्तस्तु द्रौणिः शस्त्रभृतां वरः ।
दुर्योधनमिदं वाक्यं त्वरितं समभाषत ॥३३॥

मामा के ऐसा कहने पर शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने तुरन्त ही दुर्योधन के पास जाकर इस प्रकार कहा—

मयि जीवति गान्धारे न युद्धं गन्तुमर्हसि ।
मामनादृत्य कौरव्य तव नित्यं हितैषिणम् ॥३४॥

"गान्धारीनन्दन ! कुरुकुलभूषण ! मैं सदा तुम्हारा

हित चाहनेवाला हूँ। तुम मेरे जीते-जी मेरा अनादर करके स्वयं युद्ध में न जाओ।

न हि ते सम्भ्रमः कार्यः पार्थस्य विजयं प्रति।
अहमावारयिष्यामि पार्थं तिष्ठ सुयोधन ॥३५॥

"सुयोधन ! अर्जुन पर विजय पाने के सम्बन्ध में तुम्हें किसी प्रकार सन्देह नहीं करना चाहिए। तुम खड़े रहो। मैं अर्जुन को रोकूंगा।"

दुर्योधन उवाच

आचार्यः पाण्डुपुत्रान् वै पुत्रवत् परिरक्षति।
त्वमप्युपेक्षां कुरुषे तेषु नित्यं द्विजोत्तम ॥३६॥

दुर्योनध ने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! हमारे आचार्य तो अपने पुत्र की भाँति पाण्डवों की रक्षा करते हैं और तुम भी सदा उनकी उपेक्षा ही करते हो।

मम वा मन्दभाग्यत्वान्मन्दस्ते विक्रमो युधि।
धर्मराजप्रियार्थं वा द्रौपद्या वा न विद्म तत् ॥३७॥

अथवा मेरे दुर्भाग्य से युद्ध में तुम्हारा पराक्रम मन्द पड़ गया है। तुम धर्मराज युधिष्ठिर अथवा द्रौपदी का प्रिय करने के लिए ऐसा करते हो, इसका मुझे पता नहीं।

धिगस्तु चातिलुब्धं मां यत्कृते सर्वबान्धवाः।
सुखार्हाः परमं दुःखं प्राप्नुवन्त्यपराजिताः ॥३८॥

मुझ लोभी को धिक्कार है, जिसके कारण किसी से पराजित न होनेवाले और सुख भोगने के योग्य मेरे सभी भाई-बन्धु दुःख उठा रहे हैं।

को हि शस्त्रविदां मुख्यो महेश्वरसमो युधि।
शत्रून्न क्षपयेच्छक्तो यो न स्याद् गौतमीसुतः ॥३९॥

कृपीकुमार अश्वत्थामा के सिवा अन्य कौन ऐसा वीर पुरुष है, जो शस्त्रवेत्ताओं में प्रधान, महादेव के समान पराक्रमी और शक्तिशाली होकर भी युद्ध में शत्रु का नाश नहीं करेगा ?

अश्वत्थामन् प्रसीदस्व नाशयैतान् ममाहितान्।
तवास्त्रगोचरे शक्ताः स्थातुं देवा न दानवाः ॥४०॥

अश्वत्थामन् ! प्रसन्न होओ। मेरे इन शत्रुओं का नाश करो। तुम्हारे अस्त्रों के मार्ग में देवता और दानव भी नहीं ठहर सकते।

पाञ्चालान् सोमकांश्चैव जहि द्रौणे सहानुगान्।
वयं शेषान् हनिष्यामस्त्वयैव परिरक्षिताः ॥४१॥

द्रोणपुत्र ! तुम अनुगामियोंसहित पाञ्चालों और सोमकों को मार डालो, फिर तुम्हीं से सुरक्षित होकर हम लोग अपने शेष शत्रुओं का भी संहार कर डालेंगे।

गच्छ गच्छ महाबाहो न नः कालात्ययो भवेत्।
इयं हि द्रवते सेना पार्थसायकपीडिता ॥४२॥

महाबाहो ! जाओ, जाओ। हमारे इस कार्य में विलम्ब नहीं होना चाहिए। देखो, अर्जुन के बाणों से पीड़ित होकर यह सेना भागी जा रही है।

शक्तो ह्यसि महाबाहो दिव्येन स्वेन तेजसा।
निग्रहे पाण्डुपुत्राणां पाञ्चालानां च मानद ॥४३॥

दूसरों को मान देनेवाले महाबाहु वीर ! तुम अपने दिव्य तेज से पाञ्चालों और पाण्डवों का निग्रह करने में समर्थ हो।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

अश्वत्थामा का अद्भुत पराक्रम, पाण्डवों की विजय

सञ्जय उवाच

दुर्योधनेनैवमुक्तो द्रौणिराहवदुर्मदः।
प्रत्युवाच महाबाहुस्तव पुत्रमिदं वचः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! दुर्योधन के ऐसा कहने पर रणदुर्मद महाबाहु अश्वत्थामा ने आपके पुत्र से यह वचन कहा—

अश्वत्थामोवाच

प्रिया हि पाण्डवा नित्यं मम चापि पितुश्च मे।
तथैवावां प्रियौ तेषां न तु युद्धे कुरूद्वह ॥२॥

अश्वत्थामा बोला—कुरुश्रेष्ठ ! पाण्डव मुझे तथा मेरे पिता को भी अत्यन्त प्रिय हैं। इसी प्रकार उनको भी हम दोनों पिता-पुत्र प्रिय हैं, परन्तु रणभूमि में

हमारा यह भाव नहीं रहता।

अहं कर्णश्च शल्यश्च कृपो हार्दिक्य एव च।
निमेषात् पाण्डवीं सेनां क्षपयेम नृपोत्तम ॥३॥

नृपश्रेष्ठ! मैं कर्ण, शल्य, कृपाचार्य और कृतवर्मा पलक मारते-मारते पाण्डव-सेना का संहार कर सकते हैं।

ते चापि कौरवीं सेनां निमेषार्धात् कुरूद्वह।
क्षपयेयुर्महाबाहो न स्याम यदि संयुगे ॥४॥

महाबाहु कुरुश्रेष्ठ! यदि रणभूमि में हम लोग न रहें तो पाण्डव भी आधे निमेष में ही सम्पूर्ण कौरव-सेना का संहार कर सकते हैं।

अशक्या तरसा जेतुं पाण्डवानामनीकिनी।
जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु तद्धि सत्यं ब्रवीमि ते ॥५॥

राजन्! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि पाण्डवों के जीते-जी उनकी सेना का बलपूर्वक जीतना असम्भव है।

त्वं तु लुब्धतमो राजन् निकृतिज्ञश्च कौरव।
सर्वाभिशङ्की मानी च ततोऽस्मानभिशङ्कसे ॥६॥

कौरव-नरेश! तुम तो अत्यन्त लोभी और छल-कपट की विद्या को जाननेवाले हो। तुम सबपर सन्देह करनेवाले और अभिमानी हो, अतः हम लोगों पर भी शंका करते हो।

मन्ये त्वं कुत्सितो राजन् पापात्मा पापपूरुषः।
अन्यानपि स नः क्षुद्र शङ्कसे पापभावितः ॥७॥

राजन्! मैं तुम्हें निन्दित, पापात्मा और पाप-पुरुष समझता हूँ। क्षुद्रनरेश! तुम्हारा अन्तःकरण पापभावना से पूर्ण है, अतः तुम हमपर तथा दूसरों पर भी सन्देह करते हो।

अहं तु यत्नमास्थाय त्वदर्थे त्यक्तजीवितः।
एष गच्छामि संग्रामं त्वत्कृते कुरुनन्दन ॥८॥

कुरुनन्दन! मैं अभी तुम्हारे लिए अपने जीवन का मोह छोड़कर और विजय के लिए पूर्ण प्रयत्नशील होकर युद्धभूमि में जा रहा हूँ।

ये मां युद्धेऽभियोत्स्यन्ति तान् हनिष्यामि भारत।
न हि ते वीर मोक्ष्यन्ते मद्बाह्वन्तरमागताः ॥९॥

भारत! जो लोग युद्धभूमि में मेरे साथ युद्ध करेंगे, उन्हें मैं मार डालूंगा। वीर! मेरी भुजाओं के भीतर आकर शत्रुसैनिक जीवित नहीं छूट सकेंगे।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा महाबाहुः पुत्रं दुर्योधनं तव।
अभ्यवर्तत युद्धाय त्रासयन् सर्वधन्विनः ॥१०॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! आपके पुत्र दुर्योधन से ऐसा कहकर महाबाहु अश्वत्थामा समस्त धनुर्धरों को त्रास देता हुआ युद्ध के लिए शत्रुओं के सामने डट गया।

ततोऽब्रवीत्सकैकेयान्पाञ्चालान्गौतमीसुतः।
प्रहरध्वमितः सर्वे मम गात्रे महारथाः ॥११॥

तत्पश्चात् गौतमीनन्दन अश्वत्थामा ने केकयों-सहित पाञ्चालों से कहा—"महारथियो! तुम सब लोग मिलकर मेरे शरीर पर प्रहार करो।"

एवमुक्तास्तु ते सर्वे शस्त्रवृष्टीरपातयन्।
द्रौणिं प्रति महाराज जलं जलधरा इव ॥१२॥

महाराज! अश्वत्थामा के ऐसा कहने पर वे सभी वीर उसपर उसी प्रकार अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करने लगे, जैसे मेघ पर्वत पर पानी बरसाते हैं।

तान् निहत्य शरान्द्रौणिर्दश वीरानपोथयत्।
प्रमुखे पाण्डुपुत्राणां धृष्टद्युम्नस्य च प्रभो ॥१३॥

प्रभो! द्रोणपुत्र ने उनके उन बाणों को नष्ट करके उनमें से दस वीरों को पाण्डवों और धृष्टद्युम्न के सामने ही मार गिराया।

ते हन्यमानाः समरे पाञ्चालाः सोमकास्तथा।
परित्यज्य रणे द्रौणिं व्यद्रवन्त दिशो दश ॥१४॥

युद्धभूमि में मारे जाते हुए पाञ्चाल और सोमक द्रोणपुत्र अश्वत्थामा को छोड़कर दसों दिशाओं में भाग गये।

तान्दृष्ट्वा द्रवतः शूरान्पाञ्चालांश्च ससोमकान्।
धृष्टद्युम्नो महाराज द्रौणिमभ्यद्रवद् रणे ॥१५॥

महाराज! शूरवीर पाञ्चालों और सोमकों को भागते देख धृष्टद्युम्न ने समराङ्गण में अश्वत्थामा पर आक्रमण किया।

धृष्टद्युम्न उवाच

आचार्यपुत्र दुर्बुद्धे किमन्यैर्निहतैस्तव।
समागच्छ मया सार्धं निहनिष्यामि त्वामहम् ॥१६॥

धृष्टद्युम्न बोला—खोटी बुद्धिवाले आचार्यपुत्र!

दूसरों को मारने से तुम्हें क्या लाभ ? रणभूमि में मेरे साथ भिड़ जाओ, मैं तुम्हें मार डालूँगा।

सञ्जय उवाच

ततस्तमाचार्यसुतं धृष्टद्युम्नः प्रतापवान्।
मर्मभिद्भिः शरैस्तीक्ष्णैर्जघान भरतर्षभ ॥१७॥

सञ्जय कहते हैं—भरतभूषण ! ऐसा कहकर प्रतापी धृष्टद्युम्न ने मर्मभेदी एवं तीखे तीरों द्वारा आचार्यपुत्र को घायल कर दिया।

सोऽतिविद्धो भृशं क्रुद्धः पदाक्रान्त इवोरगः।
मानी द्रौणिरसम्भ्रान्तो बाणपाणिरभाषत ॥१८॥

उन बाणों से अत्यन्त घायल होकर स्वाभिमानी द्रोणपुत्र पैर से कुचले गये सर्प के समान अत्यन्त कुपित हो उठा और हाथ में बाण लेकर संभ्रमरहित हो इस प्रकार बोला—

धृष्टद्युम्न स्थिरो भूत्वा मुहूर्तं प्रतिपालय।
यावत् त्वां निशितैर्बाणैः प्रेषयामि यमक्षयम् ॥१९॥

"धृष्टद्युम्न ! स्थिर होकर दो घड़ी और प्रतीक्षा कर लो, तबतक मैं तुम्हें अपने तीखे तीरों द्वारा यमलोक भेज देता हूँ।"

द्रौणिरेवमथाभाष्य पार्षतं परवीरहा।
छादयामास बाणौघैः समन्ताल्लघुहस्तवत् ॥२०॥

शूरवीरों का संहार करनेवाले अश्वत्थामा ने ऐसा कहकर शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले कुशल योद्धा की भाँति अपने बाण-समूह द्वारा धृष्टद्युम्न को सब ओर से ढक दिया।

स छाद्यमानः समरे द्रौणिना राजसत्तम।
सर्वपाञ्चालसेनाभिः संवृतो रथसत्तमः ॥२१॥
नाकम्पत महाबाहुः स्ववीर्यं समुपाश्रितः।
सायकांश्चैव विविधानश्वत्थाम्नि मुमोच ह ॥२२॥

नृपश्रेष्ठ ! युद्धभूमि में अश्वत्थामा के द्वारा आच्छादित होने पर भी समस्त पाञ्चाल सेनाओं से घिरे हुए महारथी महाबाहु धृष्टद्युम्न कम्पित नहीं हुए। उन्होंने अपने बल-पराक्रम का आश्रय लेकर अश्वत्थामा पर नाना प्रकार के बाणों का प्रहार किया।

नृत्यमानाविव रणे मण्डलीकृतकार्मुकौ।
परस्परवधे यत्तौ सर्वभूतभयंकरौ ॥२३॥

उस युद्धभूमि में धनुष को मण्डलाकार करके वे दोनों नृत्य-सा कर रहे थे। एक-दूसरे के वध के लिए तत्पर होकर वे समस्त प्राणियों के लिए भयंकर बन गये थे।

ततो द्रौणिर्महाराज पार्षतस्य महात्मनः।
ध्वजं धनुस्तथा छत्रमुभौ च पार्ष्णिसारथी।
सूतमश्वांश्च चतुरो निहत्याभ्यद्रवद् रणे ॥२४॥

महाराज ! लड़ते-लड़ते द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने महामना धृष्टद्युम्न के ध्वज, धनुष, छत्र, दोनों पार्श्वरक्षक, सारथि और चारों घोड़ों को नष्ट करके उस युद्ध में बड़े वेग से आक्रमण किया।

पाञ्चालांश्चैव तान् सर्वान् बाणैः संनतपर्वभिः।
व्यद्रावयदमेयात्मा शतशोऽथ सहस्रशः ॥२५॥

अपरिमित आत्मबल से सम्पन्न अश्वत्थामा ने झुकी हुई गाँठवाले सैकड़ों और सहस्रों बाणों द्वारा उन समस्त पाञ्चालों को दूर भगा दिया।

स जित्वा समरे शत्रून् द्रोणपुत्रो महारथः।
ननाद सुमहानादं तपान्ते जलदो यथा ॥२६॥

इस प्रकार रणभूमि में शत्रुओं को जीतकर महारथी द्रोणपुत्र वर्षाकाल के मेघ के समान जोर-जोर से सिंहनाद करने लगे।

ततो युधिष्ठिरश्चैव भीमसेनश्च पाण्डवः।
द्रोणपुत्रं महाराज समन्तात् पर्यवारयन् ॥२७॥

महाराज ! उस समय पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर और भीमसेन ने द्रोणपुत्र अश्वत्थामा को चारों ओर से घेर लिया।

ततो दुर्योधनो राजा भारद्वाजेन संवृतः।
अभ्ययात् पाण्डवान् संख्ये ततो युद्धमवर्तत ॥२८॥

यह देख द्रोणाचार्य की सेना से घिरे हुए राजा दुर्योधन ने भी रणभूमि में पाण्डवों पर आक्रमण किया, इस प्रकार वहाँ भयंकर युद्ध छिड़ गया।

वर्तमाने तथा युद्धे घोररूपे भयावहे।
तमसा संवृते लोके रजसा च महीपते ॥२९॥
नापश्यन्त रणे योद्धाः परस्परमवस्थिताः।
अनुमानेन संज्ञाभिर्युद्धं तद् ववृधे महत् ॥३०॥

जिस समय वह घोर युद्ध चल रहा था, उस समय सम्पूर्ण प्रदेश अन्धकार और धूल से आच्छादित

था, अतः रणभूमि में खड़े योद्धा एक-दूसरे को देख नहीं पाते थे। वह महान् युद्ध अनुमान से तथा नाम अथवा संकेतों द्वारा चलता हुआ उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था।

नरनागाश्वमथनं परमं लोमहर्षणम्।
अन्योन्यं क्षोभयामासुः सैन्यानि नृपसत्तम ॥३१॥

नृपश्रेष्ठ! उस समय अत्यन्त रोमाञ्चकारी युद्ध हो रहा था। उसमें मनुष्य, हाथी और घोड़े मथे जा रहे थे। कौरव-पाण्डव एक-दूसरे की सेनाओं में हलचल मचाये हुए थे।

वध्यमानानि सैन्यानि समन्तात् तैर्महारथैः।
तमसा संवृते चैव समन्ताद् विप्रदुद्रुवुः ॥३२॥

उन महारथियों द्वारा उस अन्धकाराच्छन्न प्रदेश में सब ओर से मारी जाती हुई सेनाएँ चारों ओर भागने लगीं।

धृतराष्ट्र उवाच

तेषां संलोड्यमानानां पाण्डवैर्विहतौजसाम्।
अन्धे तमसि मग्नानामासीत् किं वो मनस्तदा ॥३३॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय! जिस समय तुम लोग अन्धकार में डूबे हुए थे और पाण्डव तुम्हारे बल एवं पराक्रम को नष्ट करके तुम्हें मथ रहे थे, उस समय तुम्हारी और पाण्डवों की मनोदशा कैसी थी?

कथं प्रकाशस्तेषां वा मम सैन्यस्य वा पुनः।
बभूव लोके तमसा तथा सञ्जय संवृते ॥३४॥

सञ्जय! जब सारा संसार अन्धकार से ढका हुआ था, उस समय पाण्डवों को अथवा मेरी सेना को प्रकाश कैसे प्राप्त हुआ?

सञ्जय उवाच

ततः सर्वाणि सैन्यानि हतशिष्टानि यानि वै।
सेनागोप्तॄनथादिश्य पुनर्व्यूहमकल्पयत् ॥३५॥

सञ्जय ने कहा—राजन्! उस समय जितनी सेनाएँ मरने से बची हुई थीं, उन सबको तथा सेनापतियों को आदेश देकर दुर्योधन ने उनका पुनः व्यूह-निर्माण कराया।

द्रोणः पुरस्ताज्जघने तु शल्यो
द्रौणिस्तथा पार्श्वतः सौबलश्च।
स्वयं तु सर्वाणि बलानि राजन्
राजाभ्ययाद् गोपयन् वै निशायाम् ॥३६॥

राजन्! उस व्यूह के अग्रभाग में द्रोणाचार्य, मध्यभाग में शल्य तथा पार्श्वभाग में अश्वत्थामा और शकुनि थे। स्वयं राजा दुर्योधन उस रात्रि के समय सम्पूर्ण सेनाओं की रक्षा करता हुआ युद्ध के लिए आगे बढ़ रहा था।

उवाच सर्वांश्च पदातिसंघान्
दुर्योधनः पार्थिव सान्त्वपूर्वम्।
उत्सृज्य सर्वे परमायुधानि
गृह्णीत हस्तैर्ज्वलितान् प्रदीपान् ॥३७॥

हे भूपाल! उस समय दुर्योधन ने समस्त पैदल सैनिकों से सान्त्वनापूर्ण वचनों में कहा—"वीरो! तुम लोग उत्तम आयुध छोड़कर अपने हाथों में जलती हुई मशालें ले लो।"

ते नोदिताः पार्थिवसत्तमेन
ततः प्रहृष्टा जगृहुः प्रदीपान्।
रथे रथे पञ्च प्रदीपकास्तु
प्रदीपकास्तत्र गजे त्रयश्च ॥३८॥
प्रत्यश्वमेकश्च महाप्रदीपः
कृतास्तु तैः पाण्डवैः कौरवेयैः
क्षणेन सर्वे विहिताः प्रदीपा
व्यादीपयन्तो ध्वजिनीं तवाशु ॥३९॥

नृपश्रेष्ठ दुर्योधन की आज्ञा पाकर उन पैदल सैनिकों ने बड़े हर्ष के साथ हाथों में मशालें ले लीं। एक-एक रथ के पास पाँच-पाँच मशालें थीं। प्रत्येक हाथी के साथ तीन-तीन प्रदीप जलते थे। प्रत्येक घोड़े के साथ एक महाप्रदीप की व्यवस्था की गई थी। पाण्डवों और कौरवों द्वारा इस प्रकार व्यवस्थापूर्वक जलाये गये समस्त प्रदीप क्षणभर में आपकी सारी सेना को प्रकाशित करने लगे।

प्रकाशिते तदा लोके रजसा तमसाऽऽवृते।
समाजग्मुरथो वीराः परस्परवधैषिणः ॥४०॥

उस समय धूल और अन्धकार से ढकी हुई युद्ध-भूमि में इस प्रकार उजाला होने पर एक-दूसरे के वध की इच्छावाले वीर सैनिक आपस में भिड़ गये।

तव बलं नृपश्रेष्ठ वध्यमानं तदा निशि।
प्रदुद्राव दिशः सर्वा वीक्षमाणं भयार्दितम् ॥४१॥

नृपश्रेष्ठ! उस समय रात्रि में पाण्डवों द्वारा मारी जाती हुई आपकी सेना भय से पीड़ित हो सम्पूर्ण दिशाओं की ओर देखती हुई भाग चली।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि अष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

द्रोणाचार्य और कर्ण द्वारा घोर युद्ध

सञ्जय उवाच

विद्रुतं स्वबलं दृष्ट्वा वध्यमानं महात्मभिः ।
क्रोधेन महताऽऽविष्टः पुत्रस्तव विशाम्पते ॥१॥
अभ्येत्य सहसा कर्णं द्रोणं च जयतां वरम् ।
अमर्षवशमापन्नो वाक्यज्ञो वाक्यमब्रवीत् ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—नरेश्वर ! अपनी सेना को उन महामनस्वी वीरों की मार खाकर भागती देख आपके पुत्र दुर्योधन को महान् क्रोध हुआ । वाक्पटु दुर्योधन ने सहसा विजयी वीरों में श्रेष्ठ कर्ण और द्रोणाचार्य के पास जाकर अमर्ष के वशीभूत हो इस प्रकार कहा—

भवद्भ्यामिह संग्रामः क्रुद्धाभ्यां सम्प्रवर्तितः ।
आहवे निहतं दृष्ट्वा सैन्धवं सव्यसाचिना ॥३॥

"सव्यसाची अर्जुन द्वारा रणभूमि में सिन्धुराज जयद्रथ को मारा गया देख क्रोध में भरे हुए आप दोनों वीरों ने यहाँ रात्रि के समय इस युद्ध को जारी रखा था ।

निहन्यमानां शत्रूणां बलेन मम वाहिनीम् ।
भूत्वा तद्विजये शक्तावशक्ताविव पश्यतः ॥४॥

"परन्तु इस समय पाण्डव-सेना द्वारा मेरी विशाल वाहिनी का संहार हो रहा है और आप लोग उसे जीतने में समर्थ होकर भी असमर्थ की भाँति देख रहे हैं ।

यद्यहं भवतोस्त्याज्यो न वाच्योऽस्मि तदैव हि ।
आवां पाण्डुसुतान् संख्ये जेष्याव इति मानदौ ॥५॥

"दूसरों को मान देनेवाले वीरो ! यदि आप लोग मुझे त्याग देना ही उचित समझते थे तो आपको उस समय मुझसे यह नहीं कहना चाहिए था कि 'हम पाण्डवों को युद्ध में जीत लेंगे ।'

यदि नाहं परित्याज्यो भवद्भ्यां पुरुषर्षभौ ।
युध्यतामनुरूपेण विक्रमेण सुविक्रमौ ॥६॥

"अत्यन्त पराक्रमी पुरुषप्रवर वीरो ! यदि आप मुझे त्याग देना न चाहते हों तो अपने अनुरूप पराक्रम प्रकट करते हुए युद्ध कीजिए ।"

वाक्प्रतोदेन तौ वीरौ प्रणुन्नौ तनयेन ते ।
प्रावर्तयेतां संग्रामं घट्टिताविव पन्नगौ ॥७॥

इस प्रकार जब आपके पुत्र ने अपने वचनरूपी चाबुक से उन दोनों वीरों को पीड़ित किया, तब उन्होंने कुचले हुए सर्पों की भाँति क्रुद्ध हो पुनः घोर युद्ध आरम्भ किया ।

ततस्तौ रथिनां श्रेष्ठौ सर्वलोकधनुर्धरौ ।
शैनेयप्रमुखान् पार्थानभिदुद्रुवतू रणे ॥८॥

सम्पूर्ण लोकों में विख्यात धनुर्धर, रथियों में श्रेष्ठ उन द्रोणाचार्य और कर्ण ने युद्धभूमि में पुनः सात्यकि आदि पाण्डव महारथियों पर आक्रमण किया ।

तत्र द्रोणोऽहरत् प्राणान् क्षत्रियाणां विशाम्पते ।
रश्मिभिर्भास्करो राजंस्तमांसीव समन्ततः ॥९॥

नरेश्वर ! जैसे सूर्य अपनी किरणों द्वारा चारों ओर के अन्धकार को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार द्रोणाचार्य वहाँ क्षत्रियों के प्राण लेने लगे ।

द्रोणेन वध्यमानानां पञ्चालानां विशाम्पते ।
शुश्रुवे तुमुलः शब्दः क्रोशतामितरेतरम् ॥१०॥

प्रजेश्वर ! द्रोणाचार्य की मार खाकर परस्पर चीखते-चिल्लाते हुए पाञ्चालों का घोर आर्तनाद सुनाई देने लगा ।

सा तथा पाण्डवी सेना पीड्यमाना महात्मना ।
निशि सम्प्राद्रवद् राजन्नुत्सृज्योल्काः सहस्रशः ॥११॥

राजन् ! महामना द्रोणाचार्य द्वारा इस प्रकार पीड़ित हुई वह पाण्डव-सेना उस रात्रि के समय सहस्रों मशालें फेंक-फेंककर भाग खड़ी हुई ।

द्रवमाणं तु तत्सैन्यं द्रोणकर्णौ महारथौ ।
जघ्नतुः पृष्ठतो राजन् किरन्तौ सायकान्बहून् ॥१२॥

राजन् ! महारथी द्रोणाचार्य और कर्ण बहुत-से बाणों की वर्षा करते हुए उस भागती हुई पाण्डव सेना को पीछे से मार रहे थे ।

तां तु विद्रवतीं दृष्ट्वा ऊचतुः केशवार्जुनौ ।
मा विद्रवत वित्रस्ता भयं त्यजत पाण्डवाः ॥१३॥

अपनी सेना को भागती देख श्रीकृष्ण और अर्जुन ने उससे कहा—"पाण्डव वीरो ! भयभीत होकर भागो मत । भय छोड़ो ।"

तयोः संवदतोरेवं भीमकर्मा महाबलः ।
आयाद् वृकोदरः शीघ्रं पुनरावर्त्य वाहिनीम् ॥१४॥

वे दोनों इस प्रकार अपनी सेना से बातें कर ही रहे थे कि भयंकर कर्म करनेवाले महाबली भीम पुनः अपनी सेना को लौटाकर शीघ्र वहाँ आ पहुँचे ।

वृकोदरमथायान्तं दृष्ट्वा तत्र जनार्दनः ।
पुनरेवाब्रवीद् राजन् हर्षयन्निव पाण्डवम् ॥१५॥

राजन् ! भीमसेन को वहाँ आते देख श्रीकृष्ण पाण्डुपुत्र अर्जुन का हर्ष बढ़ाते हुए-से पुनः इस प्रकार बोले—

एष भीमो रणश्लाघी वृतः सोमकपाण्डवैः ।
अभ्यवर्तत वेगेन द्रोणकर्णौ महारथौ ॥१६॥

"ये युद्ध की अभिलाषा रखनेवाले भीमसेन सोमक और पाण्डव योद्धाओं से घिरकर महारथी द्रोण और कर्ण का सामना करने के लिए बड़े वेग से बढ़े आ रहे हैं ।

एतेन सहितो युद्धय पाञ्चालैश्च महारथैः ।
आश्वासनार्थं सैन्यानां सर्वेषां पाण्डनन्दन ॥१७॥

"पाण्डुनन्दन ! इनके और पाञ्चाल महारथियों के साथ रहकर तुम अपनी सारी सेनाओं को सान्त्वना देने के लिए यहाँ युद्ध करो ।"

ततस्तौ पुरुषव्याघ्रावुभौ माधवपाण्डवौ ।
द्रोणकर्णौ समासाद्याधिष्ठितौ रणमूर्धनि ॥१८॥

तब वे दोनों पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुन युद्ध के मुहाने पर द्रोणाचार्य और कर्ण के सामने जाकर खड़े हो गये ।

ततस्तत् पुनरावृत्तं यौधिष्ठिरबलं महत् ।
ततो द्रोणश्च कर्णश्च परान् ममृदतुर्युधि ॥१९॥

जब युधिष्ठिर की विशाल सेना पुनः लौट आई, तब द्रोणाचार्य और कर्ण युद्धभूमि में शत्रुओं को पुनः रौंदने लगे ।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥२९॥

त्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और अर्जुन का घटोत्कच को कर्ण के साथ युद्ध के लिए भेजना

सञ्जय उवाच

ततः कर्णो रणे दृष्ट्वा पार्षतं परवीरहा ।
आजघानोरसि शरैर्दशभिर्मर्मभेदिभिः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—हे राजन् ! युद्ध करते-करते शत्रुवीरों का संहार करनेवाले कर्ण ने युद्धभूमि में धृष्टद्युम्न को उपस्थित देख उनकी छाती में दस मर्मभेदी बाण मारे ।

प्रतिविव्याध तं तूर्णं धृष्टद्युम्नोऽपि मारिष ।
दशभिः सायकैर्हृष्टस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥२॥

आर्य ! तब धृष्टद्युम्न ने भी हर्ष और उत्साह में भरकर दस बाणों द्वारा तुरन्त ही कर्ण को घायल करके बदला चुकाया और कहा—"खड़ा रह, खड़ा रह ।"

ततः पाञ्चालमुख्यस्य धृष्टद्युम्नस्य संयुगे ।
सारथिं चतुरश्चाश्वान् कर्णो विव्याध सायकैः ॥३॥

फिर तो समराङ्गण में कर्ण ने भी अपने बाणों द्वारा पाञ्चाल देश के प्रमुख वीर धृष्टद्युम्न के सारथि और चारों घोड़ों को घायल कर दिया ।

कार्मुकप्रवरं चापि प्रचिच्छेद शितैः शरैः ।
सारथिं चास्य भल्लेन रथनीडादपातयत् ॥४॥

इतना ही नहीं, उसने अपने तीखे तीरों से धृष्टद्युम्न के श्रेष्ठ धनुष को भी काट दिया तथा एक भल्ल मारकर उसके सारथि को भी रथ की बैठक से नीचे गिरा दिया ।

दृष्ट्वा तं निर्जितं युद्धे पाञ्चालाः सोमकैःसह ।
प्रययुः कर्णमुद्दिश्य मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥५॥

युद्ध में धृष्टद्युम्न को परास्त हुआ देख पाञ्चाल और सोमक मृत्यु को ही युद्ध से निवृत्त होने की अवधि निश्चित करके कर्ण की ओर चल दिये ।

लब्धलक्ष्यस्तु राधेयः पाञ्चालानां महारथान् ।
अभ्यपीडयदायस्तः शरैर्मेघ इवाचलम् ॥६॥

राधापुत्र कर्ण का निशाना अचूक था । जैसे मेघ किसी पर्वत पर जल की धारा गिराता है, वैसे ही वह प्रयत्नपूर्वक बाणों की वर्षा करके पाञ्चाल-महारथियों को पीड़ा देने लगा ।

सा पीड्यमाना कर्णेन पाञ्चालानां महाचमूः ।
सम्प्राद्रवत् सुसंत्रस्ता सिंहेनेवार्दिता मृगी ॥७॥

कर्ण द्वारा पीड़ित पाञ्चालों की वह विशाल वाहिनी सिंह से सतायी गई हरिणी की भाँति अत्यन्त भयभीत होकर वेगपूर्वक भागने लगी ।

ततो युधिष्ठिरो राजा स्वसैन्यं प्रेक्ष्य विद्रुतम् ।
अपयाने मनः कृत्वा फाल्गुनं वाक्यमब्रवीत् ॥८॥

उस समय युधिष्ठिर ने अपनी सेना को भागते देख स्वयं भी रणभूमि से हट जाने का विचार करके अर्जुन से इस प्रकार कहा—

पश्य कर्णं महेष्वासं धनुष्पाणिमवस्थितम् ।
निशीथे दारुणे काले तपन्तमिव भास्करम् ॥९॥

"पार्थ ! महाधनुर्धर कर्ण को देखो । वह हाथ में धनुष लिये खड़ा है और इस भयंकर आधी रात के समय भी सूर्य के समान तप रहा है ।

यथा विसृजतश्चास्य संदधानस्य चाशुगान् ।
पश्यामि नान्तरं पार्थ क्षपयिष्यति नो ध्रुवम् ॥१०॥

"कर्ण कब तीरों को कमान पर चढ़ाता है और कब उन्हें छोड़ता है, इसमें तनिक भी अन्तर मुझे दिखाई नहीं देता । प्रतीत होता है यह निश्चय ही हमारी सेना का संहार कर डालेगा ।

यदत्रानन्तरं कार्यं प्राप्तकालं च पश्यसि ।
कर्णस्य वधसंयुक्तं तत् कुरुष्व धनञ्जय ॥११॥

"धनञ्जय ! अब यहाँ कर्ण के वध के सम्बन्ध में तुम्हें जो समयोचित कर्तव्य दिखाई देता हो, उसे करो ।"

एवमुक्तो महाराज पार्थः कृष्णमथाब्रवीत् ।
भीतः कुन्तीसुतो राजा राधेयस्याद्य विक्रमात् ॥१२॥

महाराज ! युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—'प्रभो ! आज कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर राधापुत्र कर्ण के पराक्रम से भयभीत हो गये हैं ।

एवं गते प्राप्तकालं कर्णानीके पुनः पुनः ।
भवान् व्यवस्यतु क्षिप्रं द्रवते हि वरूथिनी ॥१३॥

"ऐसी दशा में कर्ण की सेना के प्रति हमारा जो समयोचित कर्तव्य हो, उसका आप शीघ्र निश्चय करें, क्योंकि हमारी सेना बारम्बार भाग रही है ।

स भवाँस्तत्र यात्वाशु यत्र कर्णो महारथः ।
अहमेनं हनिष्यामि मां वैष मधुसूदन ॥१४॥

"मधुसूदन ! आप शीघ्र वहीं चलिए, जहाँ महारथी कर्ण है । आज मैं इसे मार डालूँगा अथवा वह मुझे मार डालेगा ।"

वासुदेव उवाच

न तु तावदहं मन्ये प्राप्तकालं तवानघ ।
समागमं महाबाहो सूतपुत्रेण संयुगे ॥१५॥

श्रीकृष्ण बोले—निष्पाप महाबाहु अर्जुन ! इस समय युद्धभूमि में सूतपुत्र कर्ण के साथ तुम्हारा युद्ध करना मैं उचित नहीं समझता ।

दीप्यमाना महोल्केव तिष्ठत्यस्य हि वासवी ।
त्वदर्थं हि महाबाहो सूतपुत्रेण संयुगे ॥१६॥

क्योंकि उसके पास इन्द्र द्वारा प्रदत्त प्रज्वलित महोल्का के समान प्रकाशित होनेवाली शक्ति है । महाबाहो ! सूतपुत्र ने इसे तुम्हारे ऊपर प्रयोग करने के लिए ही रखा हुआ है ।

घटोत्कचस्तु राधेयं प्रत्युद्यातु महाबलः ।
तस्मिन्नस्त्राणि दिव्यानि राक्षसान्यासुराणि च ॥१७॥

मेरी सम्मति में इस समय महाबली घटोत्कच ही राधापुत्र कर्ण का साम्मुख्य करने के लिए जाए । उसके पास राक्षस-सम्बन्धी और असुर-सम्बन्धी सभी प्रकार के दिव्य अस्त्र-शस्त्र हैं ।

सततं चानुरक्तो वो हितैषी च घटोत्कचः ।
विजेष्यति रणे कर्णमिति मे नात्र संशयः ॥१८॥

घटोत्कच तुम लोगों का हितैषी है और सदा तुम्हारे प्रति अनुराग रखता है । वह युद्ध-भूमि में कर्ण को जीत लेगा, इसमें मुझे सन्देह नहीं है ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो महाबाहुः पार्थः पुष्करलोचनः ।
आजुहावाथ तद् रक्षस्तच्चासीत् प्रादुरग्रतः ॥१९॥

सञ्जय कहते हैं—श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर कमलनयन अर्जुन ने राक्षस घटोत्कच को बुलाया और वह तत्काल उनके समक्ष उपस्थित हो गया।

कवची सशरः खड्गी सधन्वा च विशाम्पते।
अभिवाद्य ततः कृष्णं पाण्डवं च धनञ्जयम्।
अब्रवीत्तं तदा हृष्टस्त्वयमस्म्यनुशाधि माम्॥२०॥

प्रजेश्वर! उसने कवच, धनुष, बाण और तलवार धारण कर रखी थी। वह श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र धनञ्जय को प्रणाम करके उस समय श्रीकृष्ण से बोला—प्रभो! मैं सेवा में उपस्थित हूँ। मुझे आज्ञा दीजिए, मैं क्या करूँ।

वासुदेव उवाच

घटोत्कच विजानीहि यत् त्वां वक्ष्यामि पुत्रक।
प्राप्तो विक्रमकालोऽयं तव नान्यस्य कस्यचित्॥२१॥

श्रीकृष्ण बोले—बेटा घटोत्कच! मैं तुमसे जो कुछ कहा रहा हूँ, उसे सुनो और समझो। यह तुम्हारे लिए ही पराक्रम दिखाने का अवसर प्राप्त हुआ है, दूसरे किसी के लिए नहीं।

स भवान् मज्जमानानां बन्धूनां त्वं प्लवो भव।
विविधानि तवास्त्राणि सन्ति माया च राक्षसी॥२२॥

तुम्हारे ये बन्धु विपत्ति के सागर में डूब रहे हैं, तुम इनके लिए नौका बन जाओ। तुम्हारे पास नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र हैं, साथ ही तुममें राक्षसी माया का बल भी है।

पश्य कर्णेन हैडिम्बे पाण्डवानामनीकिनी।
काल्यमाना यथा गावः पालेन रणमूर्धनि॥२३॥

हिडिम्बानन्दन! देखो! जैसे चरवाहा गायों को हाँकता है, उसी प्रकार युद्ध के मुहाने पर खड़ा हुआ कर्ण पाण्डवों की इस विशाल सेना को खदेड़ रहा है।

एतस्यैवं प्रवृद्धस्य सूतपुत्रस्य संयुगे।
निषेद्धा विद्यते नान्यस्त्वामृते भीमविक्रम॥२४॥

भयंकर पराक्रमी वीर! इस रणभूमि में तुम्हें छोड़कर दूसरा ऐसा कोई योद्धा नहीं है, जो इस प्रकार आगे बढ़नेवाले कर्ण को रोक सके।

स त्वं कुरु महाबाहो कर्म युक्तमिहात्मनः।
मातुलानां पितॄणां च तेजसोऽस्त्रबलस्य च॥२५॥

महाबाहो! तुम अपने पिता, मामा, तेज, अस्त्र-बल और अपनी प्रतिष्ठा के अनुरूप युद्ध में पराक्रम प्रकट करो।

एतदर्थं हि हैडिम्बे पुत्रानिच्छन्ति मानवाः।□
कथं नरतारयेद् दुःखात् स त्वं तारय बान्धवान्॥२६॥

हिडिम्बाकुमार! मनुष्य इसीलिए पुत्र की इच्छा करते हैं कि वह किसी प्रकार हमें दुःख से छुड़ाएगा, अतः तुम अपने बन्धु-बान्धवों को उबारो।

इच्छन्ति पितरः पुत्रान् स्वार्थहेतोर्घटोत्कच।□
इहलोकात् परे लोके तारयिष्यन्ति ये हिताः॥२७॥

घटोत्कच! प्रत्येक पिता अपने इसी स्वार्थ के लिए पुत्रों की इच्छा करता है कि वे पुत्र मेरे हितैषी होकर मुझे इस लोक से परलोक में तार देंगे।

रात्रौ हि राक्षसा भूयो भवन्त्यमितविक्रमाः।
बलवन्तः सुदुर्धर्षाः शूरा विक्रान्तचारिणः॥२८॥

रात्रि के समय राक्षसों का अनन्त पराक्रम और भी बढ़ जाता है। वे बलवान्, परम दुर्धर्ष, शूरवीर और पराक्रमपूर्वक विचरनेवाले हो जाते हैं।

घटोत्कच उवाच

एवमेव महाबाहो यथा वदसि मां प्रभो।
त्वया नियुक्तो गच्छामि कर्णस्य वधकांक्षया॥२९॥

घटोत्कच ने कहा—महाबाहो! प्रभो! आप जैसा कह रहे हैं, वैसा ही है। मैं आपका भेजा हुआ कर्ण के वध की इच्छा से जा रहा हूँ।

अद्य दास्यामि संग्रामं सूतपुत्राय तं निशि।
यं जनाः सम्प्रवक्ष्यन्ति यावद् भूमिर्धरिष्यति॥३०॥

आज मैं इस रात्रि में सूतपुत्र कर्ण के साथ ऐसा संग्राम करूँगा, जिसकी चर्चा जबतक यह पृथिवी रहेगी, तबतक लोग करते रहेंगे।

न चात्र शूरान्मोक्ष्यामि न भीतान्न कृताञ्जलीन्।
सर्वानेव वधिष्यामि राक्षसं धर्ममास्थितः॥३१

इस संग्राम में मैं शूरवीरों, डरनेवालों और हाथ जोड़नेवालों—किसी को भी जीवित नहीं छोड़ूँगा, राक्षसधर्म का आश्रय ले मैं सबको मार डालूँगा।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा महाबाहुर्हैडिम्बिर्वरवीरहा।
अभ्ययात् तुमुले कर्णं तव सैन्यं विभीषयन्॥३२॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! श्रेष्ठ वीरों का संहार करनेवाला महाबाहु हिडिम्बाकुमार ऐसा कहकर उस भयंकर युद्ध में आपकी सेना को भयभीत करता हुआ कर्ण का सामना करने के लिए गया।

तमापतन्तं संक्रुद्धं दीप्तास्यं दीप्तमूर्धजम्।
प्रहसन् पुरुषव्याघ्रः प्रतिजग्राह सूतजः ॥३३॥

क्रोध में भरे हुए, प्रज्वलित मुख और चमकीले केशोंवाले राक्षस को आते देख पुरुषसिंह सूतपुत्र कर्ण ने हँसते हुए उसे अपने प्रतिद्वन्द्वी के रूप में ग्रहण किया।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

घटोत्कच द्वारा अलम्बुष का वध

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा घटोत्कचं राजन् सूतपुत्ररथं प्रति।
आयान्तं तु तथा युक्तं जिघांसुं कर्णमाहवे ॥१॥
अब्रवीत् तत्र पुत्रस्ते दुःशासनमिदं वचः।
अभियाति रक्षो कर्णं तद् वारय महारथम् ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! कर्ण को मारने की इच्छा से उद्यत हुए घटोत्कच को सूतपुत्र के रथ की ओर आते देख आपके पुत्र दुर्योधन ने दुःशासन से इस प्रकार कहा—"भाई ! यह राक्षस वेगपूर्वक कर्ण पर आक्रमण कर रहा है, अतः उस महारथी घटोत्कच को रोको।"

एतस्मिन्नन्तरे राजञ्जटासुरसुतो बली।
दुर्योधनमुपागम्य प्राह प्रहरतां वरः ॥३॥

राजन् ! इसी समय जटासुर का बलवान् पुत्र योद्धाओं में श्रेष्ठ एक राक्षस [अलम्बुष] दुर्योधन के पास आकर बोला—

दुर्योधन तवामित्रान् प्रख्यातान् युद्धदुर्मदान्।
पाण्डवान् हन्तुमिच्छामि त्वयाऽऽज्ञप्तः सहानुगान् ॥४

"दुर्योधन ! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं तुम्हारे विख्यात शत्रु रणदुर्मद पाण्डवों का उनके सेवकों-सहित वध करना चाहता हूँ।

जटासुरो मम पिता रक्षसां ग्रामणीः पुरा।
प्रयुज्य कर्म रक्षोघ्नं क्षुद्रैः पार्थैर्निपातितः ॥५॥

"मेरे पिता जटासुर राक्षसों के अगुआ थे। उन्हें पूर्वकाल में इन नीच कुन्तीकुमारों ने राक्षस-विनाशक कर्म करके मार गिराया।

तस्यापचितिमिच्छामि शत्रुशोणितपूजया।
शत्रुमांसैश्च राजेन्द्र मामनुज्ञातुमर्हसि ॥६॥

"राजेन्द्र ! मैं शत्रुओं के रक्त और मांस द्वारा पिता की पूजा करके उनके वध का बदला लेना चाहता हूँ। आप इसके लिए मुझे आज्ञा दें।"

दुर्योधन उवाच

द्रोणकर्णादिभिः सार्धं पर्याप्तोऽहं द्विषद्वधे।
त्वं तु गच्छ मयाऽऽज्ञप्तो जहि युद्धे घटोत्कचम् ॥७॥

दुर्योधन बोला—वीरवर ! द्रोणाचार्य और कर्ण आदि के साथ मिलकर मैं स्वयं ही तुम्हारे शत्रुओं का वध करने में समर्थ हूँ। तुम तो मेरी आज्ञा से घटोत्कच के पास जाओ और युद्ध में उसका काम तमाम कर दो।

पाण्डवानां हितं नित्यं हस्त्यश्वरथघातिनम्।
वैहायसगतं युद्धे प्रेषयेर्यमसादनम् ॥८॥

हाथियों, घोड़ों और रथों का विनाश करने-वाला आकाशचारी राक्षस घटोत्कच सदा पाण्डवों के हित में तत्पर रहता है। तुम युद्ध में उसे मारकर यमलोक पठा दो।

सञ्जय उवाच

तथेत्युक्त्वा महाकायः समाहूय घटोत्कचम्।
जटासुरिर्भैमसेनिं नानाशस्त्रैरवाकिरत् ॥९॥

सञ्जय कहते हैं—जटासुर के पुत्र [अलम्बुष] उस विशालकाय राक्षस ने दुर्योधन से 'तथास्तु' कह-कर घटोत्कच को ललकारा और उसपर नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा आरम्भ कर दी।

अलम्बुषं च कर्णं च कुरुसैन्यं च दुस्तरम्।
हैडिम्बिः प्रममाथैको महावातोऽम्बुदानिव ॥१०॥

परन्तु जैसे आँधी बादलों को छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अकेले हिडिम्बाकुमार घटोत्कच

ने अलम्बुष, कर्ण और उस दुर्लङ्घ्य कौरव-सेना को भी मथ डाला।

अलम्बुषस्ततः क्रुद्धो भैमसेनिं महामृधे।
आजघ्ने दशभिर्बाणैस्तोत्त्रैरिव महाद्विपम् ॥११॥

तब क्रोध में भरे हुए उस अलम्बुष ने उस महायुद्ध में भीमसेनकुमार घटोत्कच को दस बाणों से घायल कर दिया, मानो महावत ने महान् गजराज को अंकुशों से घायल कर दिया हो।

तिलशस्तस्य संवाहं सूतं सर्वायुधानि च।
घटोत्कचः प्रचिच्छेद प्रणदश्चातिदारुणम् ॥१२॥

यह देख अत्यन्त भयंकर गर्जना करते हुए घटोत्कच ने अलम्बुष के सारथि, घोड़ों और सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रों को तिल तिल-करके काट डाला।

जटासुरिर्महाराज विरथो हतसारथिः।
घटोत्कचं रणे क्रुद्धो मुष्टिनाभ्यहनद् दृढम् ॥१३॥

महाराज! उस समय सारथि के मारे जाने पर रथहीन हुए अलम्बुष ने रणभूमि में कुपित हो घटोत्कच को बड़े जोर से एक मुक्का मारा।

मुष्टिनाभ्याहतस्तेन प्रचचाल घटोत्कचः।
क्षितिकम्पे यथा शैलः सवृक्षस्तृणगुल्मवान् ॥१४॥

उस मुक्के की मार खाकर घटोत्कच उसी प्रकार काँप उठा, जैसे भूकम्प होने पर वृक्ष, तृण एवं गुल्मों-सहित पर्वत हिलने लगता है।

ततः स परिघाभेन द्विट्संघघ्नेन बाहुना।
जटासुरिं भैमसेनिरवधीन्मुष्टिना भृशम् ॥१५॥

तब भीमपुत्र घटोत्कच ने शत्रुसमूहों का नाश करनेवाली अपनी परिघ-जैसी मोटी बाँह के मुक्के से जटासुर के पुत्र को बहुत मारा।

तं प्रमथ्य ततः क्रुद्धस्तूर्णं हैडिम्बिराक्षिपत्।
दोर्भ्यामिन्द्रध्वजाभाभ्यां निष्पिपेष च भूतले ॥१६॥

क्रोध में भरे हुए हिडिम्बाकुमार ने उसे अच्छी प्रकार मथकर तुरन्त ही भूमि पर दे मारा और इन्द्र-ध्वजा के समान अपनी दोनों भुजाओं द्वारा उसे भूमि पर रगड़ना आरम्भ किया।

ततो घटोत्कचः खड्गमुद्धृत्याद्भुतदर्शनम्।
रौद्रस्य कायाद्धि शिरो भीमं विकृतदर्शनम् ॥१७॥

स्फुरतस्तस्य समरे नदतश्चातिभैरवम्।
निचकर्त महाराज शत्रोरमितविक्रमः ॥१८॥

महाराज! तदनन्तर महापराक्रमी घटोत्कच ने अद्भुत दिखाई देनेवाली अपनी तलवार उठाकर समराङ्गण में अत्यन्त भयंकर गर्जना करते और उछल-कूद मचाते हुए शत्रु अलम्बुष के भयंकर तथा विकराल मस्तक को उस भयानक राक्षस की काया से काटकर अलग कर दिया।

शिरस्तच्चापि संगृह्य केशेषु रुधिरोक्षितम्।
ययौ घटोत्कचस्तूर्णं दुर्योधनरथं प्रति ॥१९॥
शिरो रथेऽस्य निक्षिप्य विकृताननमूर्धजम्।
प्राणदद् भैरवं नादं प्रावृषीव बलाहकः ॥२०॥

रक्त से भीगे हुए उस मस्तक के केश पकड़कर महाबाहु राक्षस घटोत्कच दुर्योधन के रथ के पास गया और उस विकराल मुख एवं केशवाले सिर को उसके रथ पर फेंककर वर्षाकाल के मेघ की भाँति भयंकर गर्जना की।

हैडिम्बिरुवाच

एष ते निहतो बन्धुस्त्वया दृष्टोऽस्य विक्रमः।
पुनर्द्रष्टासि कर्णस्य निष्ठामेतां तथाऽऽत्मनः ॥२१॥
स्वधर्ममर्थं कामं च त्रितयं योऽभिवाञ्छति।
रिक्तपाणिर्न पश्येत राजानं ब्राह्मणं स्त्रियम् ॥२२॥

घटोत्कच बोला—राजन्! यह है तेरा सहायक बन्धु, इसे मैंने मार डाला। देख लिया तूने इसका पराक्रम? अब तू कर्ण की और अपनी भी ऐसी ही अवस्था देखेगा। जो अपने धर्म, अर्थ और काम तीनों की इच्छा रखता है, उसे राजा, ब्राह्मण और स्त्री के पास रिक्तहस्त नहीं जाना चाहिए [अतः तेरे मित्र का यह मस्तक मैं भेंटस्वरूप लाया हूँ]।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततः प्रायात् कर्णं प्रति नरेश्वर।
किरञ्छरगणाँस्तीक्ष्णान् रुषितो रणमूर्धनि ॥२३॥

सञ्जय कहते हैं—नरेश्वर! ऐसा कहकर क्रोध में भरा हुआ घटोत्कच तीखे बाणों की वर्षा करता हुआ युद्ध के मुहाने पर कर्ण के पास चला गया।

ततः समभवद् युद्धं घोररूपं भयानकम्।
विस्मापनं महाराज नरराक्षसयोर्मृधे ॥२४॥

महाराज ! तत्पश्चात् युद्धभूमि में सबको आश्चर्यचकित करनेवाला मनुष्य और राक्षस का वह घोर एवं भयानक युद्ध आरम्भ हो गया।

तौ प्रगृह्य महावेगे धनुषी भीमनिःस्वने ।
प्राच्छादयेतामन्योन्यं तक्षमाणौ महेषुभिः ॥२५॥

वे दोनों भयंकर टंकार करनेवाले अत्यन्त वेगशाली धनुष लेकर बड़े-बड़े बाणों द्वारा एक-दूसरे को क्षत-विक्षत करते हुए आच्छादित करने लगे।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि एकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

अलायुध का युद्धस्थल में प्रवेश और घटोत्कच द्वारा उसका वध

सञ्जय उवाच

तस्मिंस्तथा वर्तमाने कर्णराक्षसयोर्मृधे ।
अलायुधो राक्षसेन्द्रो वीर्यवानभ्यवर्तत ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार कर्ण और घटोत्कच का वह युद्ध चल ही रहा था कि पराक्रमी राक्षसराज अलायुध वहाँ उपस्थित हुआ।

स मत्त इव मातङ्गः संक्रुद्ध इव चोरगः ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमब्रवीद् युद्धलालसः ॥२॥

वह मतवाले हाथी और क्रोध में भरे हुए सर्प के समान युद्ध की अभिलाषा मन में रखकर दुर्योधन से इस प्रकार बोला—

विदितं ते महाराज यथा भीमेन राक्षसाः ।
हिडिम्बबककिर्मीरा निहता मम बान्धवाः ॥३॥

"महाराज ! यह तो आपको ज्ञात ही होगा कि भीमसेन ने हमारे राक्षस भाई-बन्धु हिडिम्ब, बक और किर्मीर का किस प्रकार वध किया था।

परामर्शश्च कन्याया हिडिम्बायाः कृतः पुरा ।
किमन्यद् राक्षसानन्यानस्मांश्च परिभूय ह ॥४॥

"इतना ही नहीं, उन्होंने मेरा और अन्य राक्षसों का अपमान करके पूर्वकाल में राक्षसकन्या हिडिम्बा के साथ भी बलात्कार किया था। इससे बढ़कर दूसरा अपराध क्या हो सकता है ?

तमहं सगणं राजन् सवाजिरथकुञ्जरम् ।
हैडिम्बं च सहामात्यं हन्तुमभ्यागतः स्वयम् ॥५॥

"राजन् ! मैं सैन्यसमूह, घोड़े, हाथी तथा रथियोंसहित भीमसेन को और मन्त्रियोंसहित हिडिम्बाकुमार घटोत्कच को मार डालने के लिए स्वयं यहाँ आया हूँ।

हत्वा सम्भक्षयिष्यामि सर्वानद्यैव पाण्डवान् ।
निवारय बलं सर्वं वयं योत्स्याम पाण्डवान् ॥६॥

"आज मैं सभी कुन्तीकुमारों को मारकर खा जाऊँगा। आप अपनी सारी सेना को रोक दीजिए। पाण्डवों के साथ हम लोग युद्ध करेंगे।"

तस्यैतद् वचनं श्रुत्वा हृष्टो दुर्योधनस्तदा ।
प्रतिगृह्याब्रवीद् वाक्यं भ्रातृभिः परिवारितः ॥७॥

उसकी यह बात सुनकर भाइयों से घिरे हुए राजा दुर्योधन को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने अलायुध का प्रस्ताव स्वीकार करते हुए कहा—

त्वां पुरस्कृत्य सगणं वयं योत्स्यामहे परान् ।
न हि वैरान्तमनसः स्थास्यन्ति मम सैनिकाः ॥८॥

"राक्षसराज ! सैनिकों-सहित तुम्हें आगे रखकर हम लोग भी शत्रुओं के साथ युद्ध करेंगे, क्योंकि जिनका मन वैर का अन्त करने में लगा हुआ है, मेरे वे सैनिक चुपचाप खड़े नहीं रह सकते।"

एवमस्त्विति राजानमुक्त्वा राक्षसपुङ्गवः ।
अभ्ययात् त्वरितो भैमिं सहितः पुरुषादकैः ॥९॥

"अच्छा, ऐसा ही सही।' राजा दुर्योधन से इस प्रकार कहकर राक्षसराज अलायुध तुरन्त ही नरभक्षी योद्धाओं के साथ घटोत्कच के पास गया।

ततः कर्णं समुत्सृज्य भैमसेनिरपि प्रभो ।
अमित्रं प्रत्युपायान्तमर्दयामास मार्गणैः ॥१०॥

प्रभो ! तब घटोत्कच ने भी कर्ण को छोड़कर अपने समीप आते हुए शत्रु को बाणों द्वारा पीड़ित करना आरम्भ किया।

तयोः सुतुमुलं युद्धं बभूव निशि रक्षसोः ।
अलायुधस्य चैवोग्रं हैडिम्बेश्चापि भारत ॥११॥

भरतभूषण ! उस रात्रि के समय अलायुध और हिडिम्बाकुमार घटोत्कच दोनों राक्षसों में अत्यन्त भयंकर एवं घमासान युद्ध होने लगा।

अलायुधस्तु संक्रुद्धो घटोत्कचमरिन्दमम्।
परिघेणातिकायेन ताडयामास मूर्धनि ॥१२॥

इसी बीच क्रोध में भरे हुए अलायुध ने एक विशाल परिघ के द्वारा शत्रुदमन घटोत्कच के मस्तक पर प्रहार किया।

स तु तेन प्रहारेण भैमसेनिर्महाबलः।
ईषन्मूर्छितमात्मानमस्तम्भयत वीर्यवान् ॥१३॥

उस आघात से भीमसेनपुत्र घटोत्कच को कुछ मूर्च्छा आ गई, परन्तु महाबली और पराक्रमी वीर ने पुनः अपने-आपको सँभाल लिया।

ततो दीप्ताग्निसंकाशां शतघण्टामलंकृताम्।
चिक्षेप तस्मै समरे गदां काञ्चनभूषिताम् ॥१४॥

तत्पश्चात् घटोत्कच ने रणभूमि में प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्विनी, एक सौ घण्टियों से सुभूषित और सुवर्णमण्डित अपनी गदा उसके ऊपर फेंकी।

सा हयांश्च रथं चास्य सारथिं च महास्वना।
चूर्णयामास वेगेन विसृष्टा भीमकर्मणा ॥१५॥

भयंकर कर्म करनेवाले उस राक्षस द्वारा वेगपूर्वक फेंकी गई उस भीषण आवाज करनेवाली गदा ने अलायुध के रथ, सारथि और घोड़ों को चूर-चूर कर दिया।

अथाभिपत्य वेगेन समुद्भ्राम्य च राक्षसम्।
बलेनाक्षिप्य हैडिम्बिश्चकर्तास्य शिरो महत् ॥१६॥

फिर बड़े वेग से झपटकर हिडिम्बाकुमार घटोत्कच ने उस राक्षस को पकड़ लिया और उसे घुमाकर बलपूर्वक पटक दिया। तत्पश्चात् उसके विशाल मस्तक को भी काट गिराया।

हतं दृष्ट्वा महाकायं बकज्ञातिमरिन्दमम्।
पञ्चालाः पाण्डवाश्चैव सिंहनादान् विनेदिरे ॥१७॥

बकासुर के विशालकाय भ्राता शत्रुदमन अलायुध को मारा गया देख पाञ्चाल और पाण्डव सिंहनाद करने लगे।

अलायुधस्य तु शिरो भैमसेनिर्महाबलः।
दुर्योधनस्य प्रमुखे चिक्षेप गतचेतसः ॥१८॥

महाबली घटोत्कच ने प्राणहीन हुए अलायुध का वह मस्तक भी दुर्योधन के आगे फेंक दिया।

अथ दुर्योधनो राजा दृष्ट्वा हतमलायुधम्।
बभूव परमोद्विग्नः सह सैन्येन भारत ॥१९॥

भारत ! अलायुध को मारा गया देख सेनासहित राजा दुर्योधन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥३२॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

घटोत्कच का घोर युद्ध और कर्ण द्वारा इन्द्रप्रदत्त शक्ति से उसका वध

सञ्जय उवाच

निहत्यालायुधं रक्षः प्रहृष्टात्मा घटोत्कचः।
ननाद विविधान् नादान् वाहिन्याः प्रमुखे तव ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! राक्षस अलायुध का वध करके घटोत्कच अत्यन्त प्रसन्न हुआ और वह आपकी सेना के समक्ष खड़ा होकर नाना प्रकार से सिंहनाद करने लगा।

तस्य तं तुमुलं शब्दं श्रुत्वा कुञ्जरकम्पनम्।
तावकानां महाराज भयमासीत् सुदारुणम् ॥२॥

महाराज ! उसकी वह भयंकर गर्जना हाथियों को भी कँपा देनेवाली थी। उसे सुनकर आपके योद्धाओं के मन में अत्यन्त दारुण भय समा गया।

अलायुधविषक्तं तु भैमसेनिं महाबलम्।
दृष्ट्वा कर्णो महाबाहुः पाञ्चालान् समुपाद्रवत् ॥३॥

जिस समय महाबली घटोत्कच अलायुध के साथ जूझ रहा था, उस समय उसे उस अवस्था में देखकर महाबाहु कर्ण ने पाञ्चालों पर धावा किया।

संछिन्नभिन्नध्वजिनश्च केचित्
केचिच्छरैरर्दितभिन्नदेहाः ।

केचिद् विसूता विहयाश्च केचिद्
वैकर्तनेनाशु कृता बभूवुः ॥४॥

वैकर्तन कर्ण ने वहाँ शीघ्र ही किन्हीं की ध्वजा के टुकड़े-टुकड़े कर दिये, किन्हीं के शरीरों को बाणों से विदीर्ण कर पीड़ित कर डाला, किन्हीं के सारथि नष्ट कर दिये और किन्हीं के घोड़े मार डाले।

अविन्दमानास्त्वथ शर्म संख्ये
यौधिष्ठिरं ते बलमभ्यपद्यन्।
तान् प्रेक्ष्य भग्नान् विमुखीकृतांश्च
घटोत्कचो रोषमतीव चक्रे ॥५॥

योद्धा लोग युद्ध में किसी प्रकार चैन न पाकर युधिष्ठिर की सेना में घुसने लगे। उन्हें तितर-बितर और युद्ध से विमुख हुआ देख घटोत्कच बहुत क्रुद्ध हुआ।

आस्थाय तं काञ्चनरत्नचित्रं
रथोत्तमं सिंहवत् संननाद।
वैकर्तनं कर्णमुपेत्य चापि
विव्याध वज्रप्रतिमैः पृषत्कैः ॥६॥

फिर तो वह सुवर्ण एवं रत्नजटित होने के कारण विचित्र शोभायुक्त अपने उत्तम रथ पर आरूढ़ हो सिंह के समान गर्जना करने लगा और वैकर्तन कर्ण के पास जाकर उसे वज्रतुल्य बाणों द्वारा बींधने लगा।

समाहितावप्रतिमप्रभावा-
वन्योन्यमाजघ्नतुरुत्तमास्त्रैः।
तयोर्हि वीरोत्तमयोर्न कश्चिद्
ददर्श तस्मिन् समरे विशेषम् ॥७॥

उन दोनों के ही चित्त एकाग्र थे, दोनों ही अनुपम प्रभावशाली थे, और उत्तम अस्त्रों द्वारा एक-दूसरे को चोट पहुँचा रहे थे। उन दोनों वीरशिरोमणियों में से कोई भी युद्ध में अपनी विशेषता न दिखा सका।

घटोत्कचं यदा कर्णो न विशेषयते नृपः।
ततः प्रादुश्चकारोग्रमस्त्रमस्त्रविदां वरः ॥८॥

जब अस्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ कर्ण घटोत्कच से अपनी विशेषता नहीं दिखा सका, तब उसने एक भयंकर अस्त्र प्रकट किया।

तेनास्त्रेणावधीत् तस्य रथं सहयसारथिम्।
विरथश्चापि हैडिम्बिः क्षिप्रमन्तरधीयत ॥९॥

उस अस्त्र के द्वारा उसने घटोत्कच के रथ को घोड़ों और सारथिसहित नष्ट कर दिया। रथहीन होने पर घटोत्कच शीघ्र ही वहाँ से अदृश्य हो गया।

अन्तर्हितं राक्षसेन्द्रं विदित्वा
सम्प्राक्रोशन् कुरवः सर्व एव।
कथं नायं राक्षसः कूटयोधी
हन्यात् कर्णं समरेऽदृश्यमानः ॥१०॥

राक्षसराज घटोत्कच को अदृश्य हुआ जानकर समस्त कौरव योद्धा चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे—"माया द्वारा युद्ध करनेवाला यह निशाचर जब युद्ध-भूमि में स्वयं दिखाई नहीं देता है, तब कर्ण को कैसे नहीं मार डालेगा ?"

ततः शराः प्रापतन् रुक्मपुङ्खाः
शक्त्यृष्टिप्रासमुसलायुधानि।
परश्वधास्तैलधौताश्च खड्गाः
प्रदीप्ताग्रास्तोमराः पट्टिशाश्च ॥११॥

ऐसी बातें हो ही रही थीं कि आकाश से सोने के पंखवाले बाण, शक्ति, ऋष्टि, प्रास, मुसल आदि आयुध, फरसे, तेल में साफ़ किये गये खड्ग, चमचमाती धारवाले तोमर, पट्टिश आदि गिरने लगे।

सुभीमनानाविधशस्त्रपातैर्-
घटोत्कचेनाभिहतं समन्तात्।
दौर्योधनं वै बलमार्तरूप-
मावर्तमानं ददृशे भ्रमत् तत् ॥१२॥

घटोत्कच द्वारा चलाये गये अत्यन्त भयंकर और नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के प्रहार से हताश हुई दुर्योधन की सेना आर्त होकर चारों ओर घूमती और चक्कर काटती दिखाई देने लगी।

तेनोत्सृष्टा चक्रयुक्ता शतघ्नी
समं सर्वांश्चतुरोऽश्वाञ्जघान।
ते जानुभिर्जगतीमन्वपद्यन्
गतासवो निर्दशनाक्षिजिह्वाः ॥१३॥

इसी समय घटोत्कच ने एक शतघ्नी छोड़ी, जिसमें पहिये लगे हुए थे। उस शतघ्नी ने कर्ण के चारों घोड़ों को एक-साथ ही मार डाला। उन घोड़ों

ने प्राणशून्य होकर धरती पर घुटने टेक दिये। उनके दाँत, नेत्र और जीभें बाहर निकल आयी थीं।

ततोऽब्रुवन् कुरवः सर्व एव
कर्णं दृष्ट्वा घोररूपां च मायां
शक्त्या रक्षो जहि कर्णाद्य तूर्णं
नश्यन्त्येते कुरवो धार्तराष्ट्राः ॥१४॥

राक्षसराज घटोत्कच की उस माया को देखकर सभी कौरव कर्ण से इस प्रकार बोले—"कर्ण! तुम आज [इन्द्रप्रदत्त] शक्ति से तुरन्त ही इस राक्षस को मार डालो, क्योंकि ये धृतराष्ट्र के पुत्र और कौरव नष्ट होते जा रहे हैं।

करिष्यतो नः किमु भीमपार्थौ
तपन्तमेनं जहि त्वं निशीथे।
यो नो हि समरात् घोराद् विमुच्येत्
पार्थान् स नः सबलान् योधयेत ॥१५॥

"भीमसेन और अर्जुन हमारा क्या कर लेंगे? आधी रात के समय सन्ताप देनेवाले इस पापी को मार डालो। हममें से जो भी इस भयानक संग्राम से छुटकारा पाएगा, वही सेनासहित पाण्डवों के साथ युद्ध करेगा।

तस्मादेनं राक्षसं घोररूपं
शक्त्या जहि दत्तया वासवेन।
मा कौरवाः सर्व एवेन्द्रकल्पा
रात्रि युद्धे कर्ण नेशुः सयोधाः ॥१६॥

"अतः तुम इन्द्र द्वारा प्रदत्त शक्ति से इस घोर रूपधारी राक्षस को मार डालो। कर्ण! कहीं ऐसा न हो कि इन्द्र के समान पराक्रमी समस्त कौरव रात्रियुद्ध में अपने योद्धाओं के साथ नष्ट हो जाएँ।"

वध्यमानो रक्षसा वै निशीथे
दृष्ट्वा राजंस्त्रास्यमानं बलं च।
श्रुत्वार्तनादं च हि कौरवाणां
मतिं दध्रे शक्तिमोक्षाय कर्णः ॥१७॥

राजन्! रात्रि में राक्षस के प्रहार से घायल होते हुए कर्ण ने अपनी सेना को भयभीत देख और कौरवों का महान् आर्तनाद सुनकर घटोत्कच पर शक्ति छोड़ने का निश्चय कर लिया।

यासौ राजन् रक्षिता वर्षपूगान्
घातायाजौ सत्कृता फाल्गुनस्य।
तां वै शक्तिं लेलिहानां प्रदीप्तां
वैकर्तनः प्राहिणोद् राक्षसाय ॥१८॥

राजन्! जिस शक्ति को कर्ण ने युद्ध में अर्जुन का वध करने के लिए कितने ही वर्षों से सत्कारपूर्वक रख छोड़ा था, सबको चाट जाने के लिए उद्यत हुई उस शक्ति को सूर्यपुत्र कर्ण ने घटोत्कच पर चला दिया।

सा तां मायां भस्म कृत्वा ज्वलन्ती
भित्त्वा गाढोरःस्थलं राक्षसस्य।
ऊर्ध्वं प्राप्ता दीप्यमाना निशायां
नक्षत्राणामन्तराण्याविवेश ॥१९॥

वह प्रज्वलित शक्ति राक्षस घटोत्कच की उस माया को भस्म करके उसके वक्षस्थल को गहराई तक चीरकर रात्रि के समय प्रकाशित होती हुई ऊपर को चली गई और नक्षत्रों में जाकर विलीन हो गई।

ततोऽन्तरिक्षादपतद् गतासुः
स राक्षसेन्द्रो भुवि भिन्नदेहः।
अवाक् शिराः स्तब्धगात्रो विजिह्वो
घटोत्कचो महदास्थाय रूपम् ॥२०॥

विशालरूप धारण करके विदीर्ण शरीरवाला राक्षस घटोत्कच नीचे सिर करके प्राणशून्य हो आकाश से पृथिवी पर गिर पड़ा। उस समय उसका अङ्ग-अङ्ग अकड़ गया था और जीभ बाहर निकल आई थी।

ततः कर्णः कुरुभिः पूज्यमानो
यथा शक्रो वृत्रवधे मरुद्भिः।
अन्वारूढस्तव पुत्रस्य यानं
हृष्टश्चापि प्राविशत् तत्स्वसैन्यम् ॥२१॥

घटोत्कच के वध के पश्चात् जैसे वृत्रासुर का वध होने पर देवताओं ने इन्द्र का सत्कार किया था, उसी प्रकार कौरवों से सत्कृत होते हुए कर्ण ने आपके पुत्र के रथ पर आरूढ़ हो अत्यन्त हर्ष के साथ अपनी उस सेना में प्रवेश किया।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

घटोत्कच के वध से पाण्डवों का शोक और श्रीकृष्ण की प्रसन्नता

सञ्जय उवाच

हैडिम्बं निहतं दृष्ट्वा विशीर्णमिव पर्वतम् ।
बभूवुः पाण्डवाः सर्वे शोकबाष्पाकुलेक्षणाः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! जैसे पर्वत ढह गया हो, उसी प्रकार हिडिम्बाकुमार घटोत्कच को मारा गया देख समस्त पाण्डवों के नेत्रों में शोक के आँसू भर आये ।

वासुदेवस्तु हर्षेण महताभिपरिप्लुतः ।
ननाद सिंहनादं वै पर्यष्वजत फाल्गुनम् ॥२॥

परन्तु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण अत्यन्त हर्षमग्न होकर सिंहनाद करने लगे । उन्होंने अर्जुन को छाती से लगा लिया ।

स विनद्य महानादमभीषून् संनियम्य च ।
ननर्त हर्षसंवीतो वातोद्धूत इव द्रुमः ॥३॥

वे बड़े जोर से गर्जना करके घोड़ों की रास को रोककर हवा से हिलाये हुए वृक्ष के समान हर्ष से झूमकर नाचने लगे ।

प्रहृष्टमनसं ज्ञात्वा वासुदेवं महाबलः ।
अर्जुनोऽथाब्रवीद् राजन्नातिहृष्टमना इव ॥४॥

राजन् ! श्रीकृष्ण के मन में अधिक प्रसन्नता हुई जानकर महाबली अर्जुन कुछ अप्रसन्न-से होकर बोले—

अतिहर्षोऽयमस्थाने तवाद्य मधुसूदन ।
शोकस्थाने तु सम्प्राप्ते हैडिम्बस्य वधेन तु ॥५॥

"मधुसूदन ! हिडिम्बाकुमार घटोत्कच के वध से आज हमारे लिए तो शोक का अवसर प्राप्त हुआ है, परन्तु आपको बेमौके अत्यन्त हर्ष हो रहा है ।

विमुखानीह सैन्यानि हतं दृष्ट्वा घटोत्कचम् ।
वयं तु भृशमुद्विग्ना हैडिम्बस्य निपातनात् ॥६॥

"घटोत्कच को मारा गया देख हमारी सेनाएँ युद्ध से विमुख होकर भागी जा रही हैं । हिडिम्बापुत्र के मारे जाने से हम लोग भी अत्यन्त उद्विग्न हो उठे हैं ।

नैतत्कारणमल्पं हि भविष्यति जनार्दन ।
तदद्य शंस मे पृष्टः सत्यं सत्यवतां वर ॥७॥

"परन्तु जनार्दन ! आपको जो इतनी प्रसन्नता हो रही है, इसका कोई छोटा-मोटा कारण नहीं होगा । वही मैं आपसे पूछना चाहता हूँ । वक्ताओं में श्रेष्ठ प्रभो ! आप मुझे इसका यथार्थ कारण बताइए ।"

वासुदेव उवाच

अतिहर्षमिमं प्राप्तं शृणु मे त्वं धनञ्जय ।
अतीव मनसः सद्यः प्रसादकरमुत्तमम् ॥८॥

श्रीकृष्ण ने कहा—धनञ्जय ! आज वास्तव में मुझे यह अत्यन्त हर्ष का कारण प्राप्त हुआ है । इसका कारण सुनो । मेरे मन को तत्काल अति-प्रसन्नता प्रदान करनेवाला वह उत्तम कारण इस प्रकार है ।

शक्तिं घटोत्कचेनेमां व्यंसयित्वा महाद्युते ।
कर्णं निहतमेवाजौ विद्धि सद्यो धनञ्जय ॥९॥

महातेजस्वी धनञ्जय ! इन्द्र-प्रदत्त शक्ति को घटोत्कच के द्वारा कर्ण के हाथ से दूर कराकर अब तुम युद्ध में कर्ण को शीघ्र मरा हुआ ही समझो ।

आशीविष इव क्रुद्धो जृम्भितो मन्त्रतेजसा ।
तथाद्य भाति मे कर्णः शान्तज्वाल इवानलः ॥१०॥

जैसे क्रोध में भरे हुए सर्प को मन्त्र के तेज से स्तब्ध कर दिया जाए और प्रज्वलित अग्नि की ज्वाला को बुझा दिया जाए, शक्ति से वञ्चित हुआ कर्ण भी आज मुझे वैसा ही प्रतीत होता है ।

कवचेन विहीनश्च कुण्डलाभ्यां च पाण्डव ।
सोऽद्य मानुषतां प्राप्तो विमुक्तः शक्रदत्तया ॥११॥

पाण्डुनन्दन ! कर्ण कवच और कुण्डल से हीन और इन्द्र की दी हुई शक्ति से शून्य होकर अब साधारण मनुष्य के समान हो गया है ।

हैडिम्बश्चाप्युपायेन शक्त्या कर्णेन घातितः ।
नाहनिष्यच्च यद्येनं कर्णः शक्त्या महामृधे ॥१२॥
मया वध्योऽभविष्यत् स भैमसेनिर्घटोत्कचः ।
मया न निहतः पूर्वमेव युष्मत्प्रियेप्सया ॥१३॥

घटोत्कच को मैंने ही युक्तिपूर्वक कर्ण की चलाई हुई शक्ति से मरवा दिया है। यदि महायुद्ध में कर्ण अपनी शक्ति द्वारा भीमसेनपुत्र घटोत्कच को नहीं मारता तो एक दिन मुझे उसका वध करना पड़ता। तुम लोगों का प्रिय करने की इच्छा से ही मैंने इसे पहले नहीं मारा था।

एष हि ब्राह्मणद्वेषी यज्ञद्वेषी च राक्षसः।
धर्मस्य लोप्ता पापात्मा तस्मादेष निपातितः ॥१४॥

यह ब्राह्मणों तथा यज्ञों से द्वेष रखनेवाला और धर्म का लोप करनेवाला पापात्मा राक्षस था, इसीलिए इसे मरवा दिया है।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३४॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

अर्जुन के कहने से उभयपक्ष की सेनाओं का विश्राम और चन्द्रोदय के पश्चात् पुनः युद्ध में लगना

सञ्जय उवाच

घटोत्कचे तु निहते सूतपुत्रेण तां निशाम्।
दुःखामर्षवशं प्राप्तो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! सूतपुत्र के द्वारा घटोत्कच के मारे जाने पर उस रात्रि में धर्मराज युधिष्ठिर दुःख और अमर्ष के वशीभूत हो गये।

दृष्ट्वा भीमेन महतीं वार्यमाणां चमूं तव।
धृष्टद्युम्नमुवाचेदं कुम्भयोनिं निवारय ॥२॥

भीमसेन के द्वारा आपकी विशाल सेना का निवारण होता देख उन्होंने धृष्टद्युम्न से कहा—"वीर! तुम द्रोणाचार्य को आगे बढ़ने से रोको।

जनमेजयः शिखण्डी च दौर्मुखिश्च यशोधरः।
अभिद्रवन्तु संहृष्टाः कुम्भयोनिं समन्ततः ॥३॥

"जनमेजय, शिखण्डी और दुर्मुखपुत्र यशोधर—ये हर्ष और उत्साह में भरकर चारों ओर से द्रोणाचार्य पर आक्रमण करें।"

तयाऽऽज्ञप्तास्तु ते सर्वे पाण्डवेन महात्मना।
अभ्यद्रवन्त वेगेन कुम्भयोनिवधेप्सया ॥४॥

पाण्डुपुत्र महात्मा युधिष्ठिर के इस प्रकार आदेश देने पर वे सब वीर द्रोणाचार्य के वध की इच्छा से वेगपूर्वक उनपर टूट पड़े।

तानागच्छतः सहसा सर्वोद्योगेन पाण्डवान्।
प्रतिजग्राह समरे द्रोणः शस्त्रभृतां वरः ॥५॥

उन समस्त पाण्डव-सैनिकों को पूरे उद्योग के साथ सहसा आक्रमण करते देख शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ द्रोणाचार्य ने समराङ्गण में आगे बढ़कर उनका सामना किया।

ततो दुर्योधनो राजा सर्वोद्योगेन पाण्डवान्।
अभ्यद्रवत् सुसंक्रुद्ध इच्छन् द्रोणस्य जीवितम् ॥६॥

उस समय द्रोणाचार्य के जीवन की रक्षा चाहते हुए राजा दुर्योधन ने अत्यन्त क्रुद्ध हो पूरे प्रयत्न के साथ पाण्डवों पर आक्रमण किया।

ततः प्रववृते युद्धं श्रान्तवाहनसैनिकम्।
पाण्डवानां कुरूणां च गर्जतामितरेतरम् ॥७॥

तत्पश्चात् एक-दूसरे को लक्ष्य करके गर्जते हुए पाण्डव तथा कौरव योद्धाओं में पुनः संग्राम आरम्भ हो गया। उस समय सभी वाहन और सैनिक थके हुए थे।

निद्रान्धास्ते महाराज परिश्रान्ताश्च संयुगे।
समरे नाभ्यपश्यन्त काञ्चिच्चेष्टां महारथाः ॥८॥

महाराज! युद्ध में अत्यन्त थके हुए महारथी योद्धा निद्रा से अन्धे हो रहे थे, अतः संग्राम में कोई भी चेष्टा नहीं कर पा रहे थे।

सर्वे ह्यासन् निरुत्साहाः क्षत्रिया दीनचेतसः।
तव चैव परेषां च गतास्त्रा विगतेषवः ॥९॥

उस समय आपकी और शत्रुओं की सेना के सभी क्षत्रिय उत्साहहीन और दीनचित्त हो गये थे। उनके हाथों से अस्त्र और बाण गिर गये थे।

अस्त्राण्यन्ये समुत्सृज्य निद्रान्धाः शेरते जनाः।
रथेष्वन्ये गजेष्वन्ये हयेष्वन्ये च भारत ॥१०॥

भारत! अन्य अनेक सैनिक अपने अस्त्र-शस्त्र छोड़कर निन्द्रा से अन्धे होकर सो गये थे। कुछ लोग रथों पर, कुछ हाथियों पर और कुछ लोग घोड़ों पर ही सो गये थे।

तेषामेतादृशीं चेष्टां विज्ञाय पुरुषर्षभः।
उवाच वाक्यं बीभत्सुरुच्चैः संनादयन् दिशः॥११॥

उनकी ऐसी अवस्था देखकर पुरुषप्रवर अर्जुन ने सम्पूर्ण दिशाओं को निनादित करते हुए इस प्रकार कहा—

श्रान्ता भवन्तो निद्रान्धाः सर्वे एव सवाहनाः।
तमसा च वृते सैन्ये रजसा बहुलेन च॥१२॥
ते यूयं यदि मन्यध्वमुपारमत सैनिकाः।
निमीलयत चात्रैव रणभूमौ मुहूर्तकम्॥१३॥

"सैनिको! तुम सब लोग अपने वाहनोंसहित थक गये हो और नींद से अन्धे हो रहे हो। इधर यह सारी सेना घोर अन्धकार और बहुत-सी धूल से ढक गई है, अतः यदि तुम ठीक समझो तो युद्ध बन्द कर दो और दो घड़ी तक इस युद्धभूमि में ही सो लो।

ततो विनिद्रा विश्रान्ताश्चन्द्रमस्युदिते पुनः।
संसाधयिष्यथान्योन्यं संग्रामं कुरुपाण्डवाः॥१४॥

"तदनन्तर विश्राम कर चुकने के पश्चात् निद्रा-रहित हो चन्द्रोदय होनेपर तुम समस्त कौरव-पाण्डव योद्धा परस्पर पूर्ववत् युद्ध आरम्भ कर देना।"

तद् वचः सर्वधर्मज्ञा धार्मिकस्य विशाम्पते।
अरोचयन्त सैन्यानि तथा चान्योन्यमब्रुवन्॥१५॥

प्रजेश्वर! धर्मात्मा अर्जुन का यह वचन समस्त धर्मज्ञों को उचित प्रतीत हुआ। सारी सेनाओं ने उसे पसन्द किया और सब लोग परस्पर यही बात कहने लगे।

चुक्रुशुः कर्ण कर्णेति तथा दुर्योधनेति च।
उपारमत पाण्डूनां विरता हि वरूथिनी॥१६॥

कौरव-सैनिक "हे कर्ण! हे कर्ण! हे राजा दुर्योधन!"—इस प्रकार पुकारते हुए उच्चस्वर से बोले—"आप लोग युद्ध बन्द कर दें, क्योंकि पाण्डव-सेना युद्ध से विरत हो गई है।"

तथा विक्रोशमानस्य फाल्गुनस्य ततस्ततः।
उपारमत पाण्डूनां सेना तव च भारत॥१७॥

हे भारत! जब अर्जुन ने सब ओर इधर-उधर उच्चस्वर से पूर्वोक्त प्रस्ताव उपस्थित किया, तब पाण्डवों की तथा आपकी सेना भी युद्ध से विरत हो गई।

तत् सम्पूज्य वचोऽक्रूरं सर्वसैन्यानि भारत।
मुहूर्तमस्वपन् राजञ्श्रान्तानि भरतर्षभ॥१८॥

भरतवंशी नरेश! भरतकुलभूषण! अर्जुन के उस क्रूरतारहित वचन का आदर करके थकी हुई सारी सेनाएँ दो घड़ी तक सोती रहीं।

सा तु सम्प्राप्य विश्रामं ध्वजिनी तव भारत।
सुखमाप्तवती वीरमर्जुनं प्रत्यपूजयत्॥१९॥

भारत! आपकी सेना विश्राम पाकर सुख का अनुभव करने लगी। उसने वीर अर्जुन की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा—

त्वयि वेदास्तथास्त्राणि त्वयि बुद्धिपराक्रमौ। □
धर्मस्त्वयि महाबाहो दयाभूतेषु चानघ॥२०॥

"महाबाहु निष्पाप अर्जुन! तुममें वेद और अस्त्रों का ज्ञान है। तुममें बुद्धि और पराक्रम है, साथ ही तुममें धर्म तथा सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति दया है।

यच्चाश्वस्तास्तवेच्छामः शर्म पार्थ तदस्तु ते।
मनसश्च प्रियानर्थान् वीर क्षिप्रमवाप्नुहि॥२१॥

"कुन्तीनन्दन! हम लोग तुम्हारी प्रेरणा से विश्राम पाकर सुखी हुए हैं, अतः तुम्हारा कल्याण चाहते हैं। तुम्हें सुख प्राप्त हो। वीर! तुम शीघ्र ही अपने मन को प्रिय लगनेवाले पदार्थ प्राप्त करो।"

इति ते तं नरव्याघ्रं प्रशंसन्तो महारथाः।
निद्रया समवाक्षिप्तास्तूष्णीमासन् विशाम्पते॥२२॥

प्रजेश्वर! इस प्रकार आपके महारथी नरश्रेष्ठ अर्जुन की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए निद्रा के वशीभूत हो मौन हो गये।

अश्वपृष्ठेषु चाप्यन्ये रथनीडेषु चापरे।
गजस्कन्धगताश्चान्ये शेरते चापरे क्षितौ॥२३॥

कुछ लोग घोड़ों की पीठों पर, दूसरे रथों की बैठकों में, कुछ अन्य योद्धा हाथियों पर और दूसरे बहुत-से सैनिक पृथिवी पर ही सो रहे।

तत्र हयाश्च नागाश्च योधाश्च भरतर्षभ।
युद्धाद् विरम्य सुषुपुः श्रमेण महतान्विताः॥२४॥

भरतकुलभूषण! वहाँ घोड़े, हाथी और सैनिक भारी थकावट से युक्त होने के कारण युद्ध से विरत हो सो गये।

तत्तथा निद्रया भग्नमबोधं प्रास्वपद् भृशम् ।
कुशलैः शिल्पिभिर्न्यस्तं पटे चित्रमिवाद्भुतम् ॥२५॥

इस प्रकार निद्रा से अभिभूत हुआ वह सैन्यसमूह गहरी नींद में सो रहा था। वह देखने में ऐसा जान पड़ता था, मानो किन्हीं कुशल कलाकारों ने पट पर अद्‌भुत चित्र अंकित कर दिया हो।

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता ॥२६॥

कुछ देर बाद कामिनियों के कपोलों के समान श्वेतपीत वर्णवाले, नेत्रों को आनन्द प्रदान करनेवाले कुमुदनाथ चन्द्रमा ने पूर्व दिशा को आलोकित किया।

प्रतिप्रकाशिते लोके दिवाभूते निशाकरे ।
विचेरुर्न विचेरुश्च राजन् नक्तञ्चरास्ततः ॥२७॥

चन्द्रदेव के पूर्णतः प्रकाशित हो जाने पर जगत् में दिन का-सा उजाला हो गया। राजन्! उस समय रात्रि में विचरनेवाले कुछ प्राणी विचरण करने लगे और कुछ जहाँ के तहाँ पड़े रहे।

बोध्यमानं तु तत्सैन्यं राजेंश्चन्द्रस्य रश्मिभिः ।
बुबुधे शतपत्राणां वनं सूर्यांशुभिर्यथा ॥२८॥

राजन्! चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से सारी सेना उसी प्रकार जाग उठी, जैसे सूर्यरश्मियों का स्पर्श पाकर कमलों का समूह खिल उठता है।

यथा चन्द्रोदयोद्धूतः क्षुभितः सागरो भवेत् ।
तथा चन्द्रोदयोद्धूतः स बभूव बलार्णवः ॥२९॥

जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा के उदय होने पर उससे प्रभावित होनेवाले महासागर में ज्वार उठने लगता है, वैसे ही उस समय चन्द्रोदय होने से उस सारे सैन्य-सागर में खलबली मच गई।

ततः प्रववृते युद्धं पुनरेव विशाम्पते ।
लोके लोकविनाशाय परं लोकमभीप्सताम् ॥३०॥

प्रजानाथ! तत्पश्चात् स्वर्गलोक के अभिलाषी कौरव-पाण्डव वीरों का संसार में प्रलय मचा देनेवाला युद्ध पुनः आरम्भ हो गया।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥३५॥

षट्‌त्रिंशोऽध्यायः

दुर्योधन का उपालम्भ और द्रोणाचार्य का व्यङ्ग्यपूर्ण उत्तर

सञ्जय उवाच

ततो दुर्योधनो द्रोणमभिगम्याब्रवीदिदम् ।
अमर्षवशमापन्नो जनयन् हर्षतेजसी ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! युद्ध आरम्भ हो जाने पर अमर्ष में भरे हुए दुर्योधन ने द्रोणाचार्य के पास जाकर उनमें हर्षोत्साह और उत्तेजना पैदा करते हुए इस प्रकार कहा—

दुर्योधन उवाच

न मर्षणीयाः संग्रामे विश्रमन्तः श्रमान्विताः ।
सपत्ना ग्लानमनसो लब्धलक्ष्या विशेषतः ॥२॥

दुर्योधन बोला—आचार्य! युद्ध में विशेषतः वे शत्रु, जो लक्ष्य वेधने में कभी चूकते न हों यदि थककर विश्राम कर रहे हों और मन में ग्लानि भरी होने से जिनका युद्ध-विषयक उत्साह मन्द पड़ गया हो, उनके प्रति कभी क्षमा नहीं दिखानी चाहिए।

यत्तु मर्षितमस्माभिर्भवतः प्रियकाम्यया ।
त एते परिविश्रान्ताः पाण्डवा बलवत्तराः ॥३॥

इस समय जो हमने क्षमा की है, सोते समय शत्रुओं पर प्रहार नहीं किया, वह केवल आपका प्रिय करने की इच्छा से ही हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ कि ये पाण्डव-सैनिक पूर्णतः विश्राम करके पुनः अत्यन्त प्रबल हो गये हैं।

सर्वथा परिहीनाः स्म तेजसा च बलेन च ।
भवता पाल्यमानास्ते विवर्धन्ते पुनः पुनः ॥४॥

हम लोग तेज और बल में सर्वथा हीन हो गये हैं और वे पाण्डव आपसे सुरक्षित होने के कारण बारम्बार बढ़ते जा रहे हैं।

दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणि ब्रह्मास्त्रादीनि यान्यपि ।
तानि सर्वाणि तिष्ठन्ति भवत्येव विशेषतः ॥५॥

ब्रह्मास्त्र आदि जितने भी दिव्यास्त्र हैं, वे सब-

के-सब विशेष रूप से आप में ही प्रतिष्ठित हैं।

न पाण्डवेया न वयं नान्ये लोके धनुर्धराः ।
युध्यमानस्य ते तुल्याः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥६॥

युद्ध करते समय आपकी समानता न तो पाण्डव, न हम कौरव और न संसार के दूसरे धनुर्धर ही कर सकते हैं, यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ।

स भवान् मर्षयत्येतांस्त्वत्तो भीतान् विशेषतः ।
शिष्यत्वं वा पुरस्कृत्य मम वा मन्दभाग्यताम् ॥७॥

फिर भी आप पाण्डवों को क्षमा करते जाते हैं। यद्यपि वे आपसे डरते हैं तथापि वे आपके शिष्य हैं, इस बात को सामने रखकर अथवा मेरे दुर्भाग्य का विचार करके आप उनकी उपेक्षा करते हैं।

द्रोण उवाच

स्थविरः सन् परं शक्त्या घटे दुर्योधनमाहवे ।
अतः परं मया कार्यं क्षुद्रं विजयगृद्धिना ॥८॥

द्रोणाचार्य ने कहा—दुर्योधन ! यद्यपि मैं वृद्ध हो गया, फिर भी रणभूमि में पूरी शक्ति लगाकर तुम्हारी विजय के लिए चेष्टा करता हूँ, परन्तु जान पड़ता है, अब तुम्हारी जीत की इच्छा से मुझे नीच कार्य भी करना पड़ेगा।

अनस्त्रविदयं सर्वो हन्तव्योऽस्त्रविदा जनः ।
यद् भवान्मन्यते चापि शुभं वा यदि वाशुभम् ।
तद् वै कर्तास्मि कौरव्य वचनात्तव नान्यथा ॥९॥

कुरुराज ! ये सब लोग जो मेरे सम्मुख स्थित हैं, दिव्यास्त्रों का प्रयोग नहीं जानते और मैं जानता हूँ। यद्यपि अस्त्रज्ञ को अस्त्रविद्या के न जाननेवालों पर प्रहार नहीं करना चाहिए, परन्तु तुम शुभ या अशुभ जो कुछ भी उचित समझो, तुम्हारे कहने से मैं वही करूँगा, उसके विपरीत कुछ नहीं करूँगा।

निहत्य सर्वपाञ्चालान् युद्धे कृत्वा पराक्रमम् ।
विमोक्ष्ये कवचं राजन् सत्येनायुधमालभे ॥१०॥

राजन् ! मैं सत्य की शपथ खाकर और अपने धनुष को छूकर करता हूँ कि 'युद्ध में पराक्रम करके समस्त पाञ्चालों का वध किये बिना कवच नहीं उतारूँगा।'

मन्यसे यच्च कौन्तेयमर्जुनं श्रान्तमाहवे ।
तस्य वीर्यं महाबाहो शृणु सत्येन कौरव ॥११॥

परन्तु तुम जो कुन्तीनन्दन अर्जुन को युद्ध में थका हुआ समझते हो, यह तुम्हारी भूल है। महाबाहु कुरुराज ! मैं उनके पराक्रम का सत्य-सत्य वर्णन करता हूँ, सुनो—

न तं देवा न गन्धर्वा न यक्षा न च राक्षसाः ।
उत्सहन्ते रणे जेतुं कुपितं सव्यसाचिनम् ॥१२॥

युद्ध में कुपित हुए सव्यसाची अर्जुन को न देवता, न गन्धर्व, न यक्ष और न राक्षस ही जीत सकते हैं।

सञ्जय उवाच

तं तदाभिप्रशंसन्तमर्जुनं कुपितस्तदा ।
द्रोणं तव सुतो राजन् पुनरेवेदमब्रवीत् ॥१३॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार अर्जुन की प्रशंसा करते हुए द्रोणाचार्य से उस समय आपके पुत्र ने क्रुद्ध होकर इस प्रकार कहा—

अहं दुःशासनः कर्णः शकुनिर्मातुलश्च मे ।
हनिष्यामोऽर्जुनं संख्ये द्विधा कृत्वाद्य भारतीम् ॥१४॥

"आचार्य ! आज अपनी सेना को दो भागों में बाँटकर मैं, दुःशासन, कर्ण और मेरे मामा शकुनि संग्राम में अर्जुन को मार गिराएँगे।"

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा भारद्वाजो हसन्निव ।
अन्ववर्तत राजानं स्वस्ति तेऽस्त्विति चाब्रवीत् ॥१५॥

दुर्योधन की यह बात सुनकर द्रोणाचार्य ने हँसते हुए-से उसके कथन का अनुमोदन किया और 'तुम्हारा कल्याण हो' ऐसा कहकर वे राजा दुर्योधन से पुनः इस प्रकार बोले—

को हि गाण्डीवधन्वानं ज्वलन्तमिव तेजसा ।
अक्षयं क्षपयेत् कश्चित् क्षत्रियः क्षत्रियर्षभम् ॥१६॥

"नरेश्वर ! अपने तेज से प्रज्वलित होनेवाले क्षत्रिय शिरोमणि, गाण्डीवधारी, नष्ट न होनेवाले अर्जुन को कौन क्षत्रिय मार सकता है ?

मूढास्त्वेतानि भाषन्ते यानीमान्यात्थ भारत ।
युद्धे ह्यर्जुनमासाद्य स्वस्तिमान्को व्रजेद् गृहान् ॥१७॥

"हे भारत ! तुम जो कुछ कह रहे हो, ऐसी बातें मूर्ख लोग ही कहते हैं। भला युद्ध में अर्जुन का सामना करके कौन कुशलपूर्वक घर लौट सकता है ?

गच्छ त्वमपि कौन्तेयमात्मार्थे जहि माचिरम् ।
इमान्कि क्षत्रियान्सर्वान्घातयिष्यस्यनागसः ॥१८॥

"तुम भी जाओ, अपने कल्याण के लिए कुन्तीपुत्र अर्जुन को शीघ्र मार डालो। इन सम्पूर्ण निरपराध क्षत्रियों का क्यों व्यर्थ वध कराते हो ?

एष ते मातुलो जिह्मो द्यूतकृत् कितवः शठः।
देविता निकृतिप्रज्ञो युधि जेष्यति पाण्डवान् ॥१६॥

"तुम्हारे इन मामाजी में कुटिलता, शठता और धूर्तता तो कूट-कूटकर भरी है। ये जुए के खिलाड़ी तो हैं ही, छलविद्या के भी अच्छे जानकार हैं, ये युद्ध में पाण्डवों को अवश्य जीत लेंगे।

त्वया कथितमत्यर्थं धृतराष्ट्रस्य शृण्वतः।
अहं च तात कर्णश्च भ्राता दुःशासनश्च मे ॥२०॥
पाण्डुपुत्रान् हनिष्यामः सहिता समरे त्रयः।
अनुतिष्ठ प्रतिज्ञां तां सत्यवाग् भव तैः सह ॥२१॥

"दुर्योधन! तुमने धृतराष्ट्र के सुनते हुए बारम्बार यह बात कही थी कि—'तात! मैं, कर्ण और भाई दुःशासन—ये तीन ही युद्धभूमि में एक-साथ मिलकर पाण्डवों का वध कर डालेंगे।' अपनी उस प्रतिज्ञा को पूर्ण करो और उन सबके साथ सत्यवादी बनो।

एष ते पाण्डवः शत्रुरविशङ्कोऽग्रतः स्थितः।
क्षत्रधर्ममवेक्षस्व श्लाघ्यस्तव वधो जयात् ॥२२॥

"ये तुम्हारे शत्रु पाण्डुपुत्र अर्जुन निर्भय होकर सामने खड़े हैं। अपने क्षत्रियधर्म की ओर दृष्टिपात करो। युद्ध में विजय की अपेक्षा अर्जुन के हाथ से तुम्हारा वध भी हो जाए तो वह तुम्हारे लिए प्रशंसा की बात होगी।

दत्तं भुक्तमधीतं च प्राप्तमैश्वर्यमीप्सितम्।
कृतकृत्योऽनृणश्चासि मा भैर्युध्यस्व पाण्डवम् ॥२३॥

"तुमने बहुत-सा दान कर लिया, भोग भोग लिये, स्वाध्याय भी कर लिया और इच्छित ऐश्वर्य भी पा लिया। तुम कृतकृत्य और देव, ऋषि तथा पितृ-ऋण से उऋण हो गये, अतः डरो मत। पाण्डुकुमार अर्जुन के साथ युद्ध करो।"

इत्युक्त्वा समरे द्रोणो न्यवर्तत यतः परे।
द्वैधीकृत्य ततः सेनां युद्धं समभवत् तदा ॥२४॥

ऐसा कहकर द्रोणाचार्य युद्धभूमि में जिस ओर शत्रुओं की सेना थी, उधर ही लौट पड़े। तदनन्तर सेना के दो विभाग करके उसी क्षण युद्ध आरम्भ हो गया।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥३६॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

पाण्डुवीरों का द्रोणाचार्य पर आक्रमण और दोनों दलों में घमासान युद्ध

सञ्जय उवाच

त्रिभागमात्रशेषायां रात्र्यां युद्धमवर्तत।
कुरूणां पाण्डवानां च संहृष्टानां विशाम्पते ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—प्रजापते! उस समय जब रात्रि के पन्द्रह मुहूर्तों में से तीन मुहूर्त ही शेष रह गये थे, हर्ष और उत्साह में भरे हुए कौरवों और पाण्डवों का युद्ध आरम्भ हुआ।

ततो द्वैधीकृते सैन्ये द्रोणः सोमकपाण्डवान्।
अभ्यद्रवत् सपाञ्चालान् दुर्योधनपुरोगमः ॥२॥

तदनन्तर सेना के दो भागों में विभक्त हो जाने पर द्रोणाचार्य ने दुर्योधन के आगे होकर सोमकों, पाण्डवों और पाञ्चालों पर धावा किया।

भ्राजमानं श्रियायुक्तं ज्वलन्तमिव तेजसा।
द्रोणं दृष्ट्वा परे त्रेसुश्चेरुर्मम्लुश्च भारत ॥३॥

हे भारत! तेज से प्रज्वलित हुए-से, श्रीसम्पन्न द्रोणाचार्य को वहाँ प्रकाशित होते देख शत्रुसैनिक थर्रा उठे। कितने ही वहाँ से भाग चले और बहुत-से उदास होकर खड़े रहे।

केचिदासन् निरुत्साहाः केचित् क्रुद्धामनस्विनः।
विस्मिताश्चाभवन् केचित् केचिदासन्नमर्षिताः ॥४॥

कुछ योद्धा लड़ने का उत्साह खो बैठे, कुछ मनस्वी वीर रोष में भर गये, कितने ही योद्धा उनका पराक्रम देख आश्चर्यचकित हो उठे और कितने ही अमर्ष के वशीभूत हो गये।

हस्तैर्हस्ताग्रमपरे प्रत्यपिषन् नराधिपाः।
अपरे दशनैरोष्ठानदशन् क्रोधमूर्च्छिताः ॥५॥

कोई-कोई नरेश हाथ-से-हाथ मलने लगे। कुछ क्रोध से आतुर हो दाँतों से ओठ चबाने लगे।

व्याक्षिपन्नायुधान्यन्ये ममृदुश्चापरे भुजान् ।
अन्ये चान्वपतन् द्रोणं त्यक्तात्मानो महौजसः ॥६॥

कुछ भूपाल अपने आयुधों को उछालने और धनुष की प्रत्यञ्चा को खींचने लगे। दूसरे योद्धा अपनी भुजाओं को मसलने लगे और अन्य बहुत-से महा-तेजस्वी वीर अपने प्राणों का मोह छोड़कर द्रोणाचार्य पर टूट पड़े।

ततो द्रोणोऽजयद् युद्धे चेदिकेकयसृञ्जयान् ।
मत्स्यांश्चैवाजयत्कृत्स्नान्भारद्वाजो महारथान् ॥७॥

फिर तो भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य ने युद्ध में चेदि, केकय, सृञ्जय तथा मत्स्य देश के समस्त महारथियों को परास्त कर दिया।

ततस्तु द्रुपदः क्रोधाच्छरवर्षमवासृजत् ।
द्रोणं प्रति महाराज विराटश्चैव संयुगे ॥८॥

महाराज ! द्रोणाचार्य का ऐसा पराक्रम देखकर द्रुपद और विराट ने द्रोणाचार्य पर युद्धभूमि में क्रोध-पूर्वक बाणों की वर्षा आरम्भ दी।

तं निहत्येषुवर्षं तु द्रोणः क्षत्रियमर्दनः ।
तौ शरैश्छादयामास विराटद्रुपदावुभौ ॥९॥

क्षत्रियमर्दन द्रोणाचार्य ने अपने बाणों द्वारा उस बाण-वर्षा को नष्ट करके विराट और द्रुपद दोनों को ढक दिया।

द्रोणेन च्छाद्यमानौ तु क्रुद्धौ संग्राममूर्धनि ।
द्रोणं शरैर्विव्यधतुः परमं क्रोधमास्थितौ ॥१०॥

द्रोणाचार्य के द्वारा आच्छादित किये जाने पर क्रोध में भरे हुए वे दोनों नरेश अत्यन्त क्रुद्ध हो युद्ध के मोर्चे पर बाणों द्वारा द्रोण को घायल करने लगे।

ततो द्रोणः सुपीताभ्यां भल्लाभ्यामरिमर्दनः ।
द्रुपदं च विराटं च प्रेषयामास मृत्यवे ॥११॥

तब शत्रुमर्दन आचार्य द्रोण ने दो पानीदार भल्लों द्वारा राजा द्रुपद और विराट को यमराज के घर भेज दिया।

हते विराटे द्रुपदे केकयेषु तथैव च ।
शशाप रथिनां मध्ये धृष्टद्युम्नो महामनाः ॥१२॥

विराट, द्रुपद और केकय आदि के मारे जाने पर महामनस्वी धृष्टद्युम्न ने रथियों के बीच में इस प्रकार शपथ खाई—

इष्टापूर्तात्तथा क्षात्राद् ब्राह्मण्याच्च स नश्यतु ।
द्रोणो यस्याद्य मुच्येत यं वा द्रोणः पराभवेत् ॥१३॥

"आज जिसके हाथ से द्रोणाचार्य जीवित छूट जाएँ अथवा जिसे वे परास्त कर दें, वह यज्ञ करने एवं कुआँ-बावली-बनवाने और बगीचे लगाने आदि पुण्यों से वञ्चित हो जाए। वह क्षत्रित्व और ब्राह्मणत्व से भी गिर जाए।"

इति तेषां प्रतिश्रुत्य मध्ये सर्वधनुष्मताम् ।
आससाद रणे द्रोणं तदाऽऽसीत् तुमुलं महत् ॥१४॥

इस प्रकार उन समस्त धनुर्धरों के बीच में प्रतिज्ञा करके धृष्टद्युम्न ने रणभूमि में द्रोणाचार्य पर आक्रमण किया। उस समय बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा।

नैव नस्तादृशं युद्धं दृष्टपूर्वं न च श्रुतम् ।
यथा सूर्योदये राजन् समुत्पिञ्जोऽभवन्महान् ॥१५॥

राजन् ! उस दिन सूर्योदय के समय जैसा महान् जनसंहारकारी संग्राम हुआ, वैसा हमने पहले न तो कभी देखा और न सुना ही था।

तथा संसक्तयुद्धं तदभवद् भृशदारुणम् ।
अथ सन्ध्यागतः सूर्यः क्षणेन समपद्यत ॥१६॥

इस प्रकार वह अति भयंकर घमासान युद्ध हो ही रहा था कि क्षणभर में प्रातःसन्ध्या की वेला में सूर्यदेव का पूर्णतः उदय हो गया।

ततो रथाश्वांश्च मनुष्ययाना-
न्युत्सृज्य सर्वे कुरुपाण्डुयोधाः ।
दिवाकरस्याभिमुखं जपन्तः
सन्ध्यागताः प्राञ्जलयो बभूवुः ॥१७॥

तब समस्त कौरव-पाण्डव-सैनिक रथ, घोड़े और पालकी आदि सवारियों को छोड़कर सन्ध्यावन्दन में तत्पर हो सूर्य के सम्मुख, हाथ जोड़कर वेदमन्त्रों का जप करते हुए खड़े हो गये।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

धृष्टद्युम्न का द्रोणाचार्य पर आक्रमण तथा दुर्योधन और सात्यकि का युद्ध

सञ्जय उवाच

उदिते तु सहस्रांशौ तप्तकाञ्चनसप्रभे ।
प्रकाशितेषु लोकेषु पुनर्युद्धमवर्तत ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्तिमान् सूर्य के उदय होने पर जब समस्त लोकों में प्रकाश छा गया, तब पुनः युद्ध होने लगा ।

द्वन्द्वानि तत्र यान्यासन् संसक्तानि पुरोदयात् ।
तान्येवाभ्युदिते सूर्ये समसज्जन्त भारत ॥२॥

भरतनन्दन ! सूर्योदय से पूर्व जिन लोगों में द्वन्द्वयुद्ध चल रहा था, सूर्योदय के पश्चात् भी पुनः वे ही लोग परस्पर जूझने लगे ।

दृष्ट्वा द्रोणाय पाञ्चाल्यं व्रजन्तं युद्धदुर्मदम् ।
दुर्योधनो महाराज तदन्तरमुपाद्रवत् ॥३॥

महाराज ! रणदुर्मद धृष्टद्युम्न को द्रोणाचार्य की ओर जाते देखकर राजा दुर्योधन उन दोनों के बीच में आ धमका ।

तं सात्यकिः शीघ्रतरं पुनरेवाभ्यवर्तत ।
हसमानौ नृशार्दूलावभीतौ समसज्जताम् ॥४॥

यह देख सात्यकि अति शीघ्रता के साथ दुर्योधन के सम्मुख आ गये । वे दोनों निर्भय हो हँसते हुए एक-दूसरे के साथ युद्ध करने लगे ।

बाल्यवृत्तानि सर्वाणि प्रीयमाणौ विचिन्त्य तौ ।
अन्योन्यं प्रेक्षमाणौ च स्मयमानौ पुनः पुनः ॥५॥

बचपन की सारी बातें स्मरण करके वे दोनों वीर एक-दूसरे की ओर देखते हुए बारम्बार प्रसन्नतापूर्वक मुस्करा उठते थे ।

अथ दुर्योधनो राजा सात्यकिं समभाषत ।
प्रियं सखायं सततं गर्हयन् वृत्तमात्मनः ॥६॥

फिर राजा दुर्योधन ने अपने बर्ताव की निरन्तर निन्दा करते हुए अपने प्रियमित्र सात्यकि से इस प्रकार कहा—

धिक् क्रोधं धिक्सखे लोभं धिङ्मोहं धिगमर्षितम् ।
धिगस्तु क्षत्रमाचारं धिगस्तु बलमौरसम् ।
यत्त्वं मामभिसंधत्से त्वां चाहं शिनिपुङ्गव ॥७॥

"मित्रवर ! क्रोध को धिक्कार है, लोभ, मोह और आवेश को धिक्कार है। इस क्षत्रियोचित आचार को धिक्कार है तथा औरस बल को भी धिक्कार है । शिनिप्रवर ! इन क्रोध, लोभ आदि के अधीन होकर तुम मुझे अपने बाणों का निशाना बनाते हो और मैं तुम्हें ।

त्वं हि प्राणैः प्रियतरो ममाहं च सदा तव ।
स्मरामि तानि सर्वाणि बाल्यवृत्तानि यानि नौ ॥८॥
तानि सर्वाणि जीर्णानि साम्प्रतं नौ रणाजिरे ।
किमन्यत्क्रोधलोभाभ्यां युद्धमेवाद्य सात्वत ॥९॥

"सात्वत वीर ! तुम मुझे सदा प्राणों से भी बढ़कर प्रिय रहे हो और मैं भी सदा ही तुम्हारा प्रिय था । बाल्यावस्था में तुम्हारे और हमारे जो प्रेमपूर्ण व्यवहार थे, वे आज भी मुझे स्मरण हैं, परन्तु अब इस युद्धभूमि में हमारे वे सभी सद्व्यवहार जीर्ण हो गये । आज का यह युद्ध क्रोध और लोभ के अतिरिक्त और क्या है ?"

तं तथावादिनं तत्र सात्यकिः प्रत्यभाषत ।
प्रहसन् विशिखाँस्तीक्ष्णानुद्यम्य परमास्त्रवित् ॥१०॥
नेयं सभा राजपुत्र नाचार्यस्य निवेशनम् ।
यत्र क्रीडितमस्माभिस्तदा राजन् समागतैः ॥११॥

उत्तम अस्त्रों के ज्ञाता सात्यकि ने हँसते हुए तीखे तीरों को ऊपर उठाकर वहाँ पूर्वोक्त बातें करनेवाले दुर्योधन को इस प्रकार उत्तर दिया—"राजकुमार ! कौरवनरेश ! यह न तो राजसभा है और न आचार्य का गुरुकुल ही है जहाँ एकत्र होकर हम सब लोग खेला करते थे ।"

दुर्योधन उवाच

क्व सा क्रीडा गतास्माकं बाल्ये वै शिनिपुङ्गव ।
क्व च युद्धमिदं भूयः कालो हि दुरतिक्रमः ॥१२॥

दुर्योधन बोला—शिनिप्रवर ! हमारा बाल्यकाल का वह खेल कहाँ चला गया और यह युद्ध कहाँ से आ टपका ? हाय ! काल का उल्लंघन करना अत्यन्त ही कठिन है ।

किं नु नो विद्यते कृत्यं धनेन धनलिप्सया ।
यत्र युद्धामहे सर्वे धनलोभात् समागताः ॥१३॥

हमें धन से अथवा धन पाने की इच्छा से क्या प्रयोजन है, जो हम सब लोग यहाँ धन के लालच से इकट्ठे होकर परस्पर जूझ रहे हैं ।

सञ्जय उवाच

तं तथावादिनं तत्र राजानं माधवोऽब्रवीत् ।
एवंवृत्तं सदा क्षात्रं युध्यन्तीह गुरूनपि ॥१४॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! ऐसी बात करनेवाले राजा दुर्योधन से सात्यकि ने कहा—"राजन् ! क्षत्रियों का सनातन आचार ही ऐसा है कि उन्हें अपने गुरुओं के साथ भी युद्ध करना पड़ता है ।

यदि तेऽहं प्रियो राजन् जहि मां मा चिरं कृथाः ।
त्वत्कृते सुकृताँल्लोकान् गच्छेयं भरतर्षभ ॥१५॥
या ते शक्तिर्बलं यच्च तत् क्षिप्रं मयि दर्शय ।
नेच्छामि तदहं द्रष्टुं मित्राणां व्यसनं महत् ॥१६॥

"राजन् ! यदि मैं तुम्हारा प्रिय हूँ तो तुम मुझे शीघ्र मार डालो, विलम्ब मत करो । भरतकुल-भूषण ! तुम्हारे ऐसा करने पर मैं पुण्यवान् लोकों में जाऊँगा । तुममें जितनी शक्ति और बल है, वह सब शीघ्र मेरे ऊपर दिखाओ, क्योंकि मैं अपने मित्रों का महान् संकट बहुत देर तक देखना नहीं चाहता ।"

इत्येवं व्यक्तमाभाष्य प्रतिभाष्य च सात्यकिः ।
अभ्ययात् तूर्णमव्यग्रो दयां नाकुरुतात्मनि ॥१७॥

इस प्रकार स्पष्ट भाषण करके दुर्योधन की बात का उत्तर दे सात्यकि निःशङ्क होकर तुरन्त आगे बढ़े । उन्होंने अपने ऊपर दया नहीं दिखाई—अपने-आपको बचाने की चेष्टा नहीं की ।

तमायान्तं महाबाहुं प्रत्यगृह्णात् तवात्मजः ।
शरैश्चावाकिरद् राजञ्शैनेयं तनयस्तव ॥१८॥

राजन् ! सामने आते हुए उन महाबाहु सात्यकि का आपके पुत्र ने बाणों से स्वागत किया और अपने बाणसमूह से उन्हें ढक दिया ।

तस्य संदधतश्चेषुं संहितेषु च कार्मुकम् ।
आच्छिनत् सात्यकिस्तूर्णं शरैश्चैवाप्यवीविधत् ॥१९॥

फिर तो सात्यकि ने भी धनुष पर चढ़ाते हुए दुर्योधन के बाण को और जिस धनुष पर वह बाण चढ़ाया जा रहा था उस धनुष को भी तुरन्त काट डाला और बहुत-से बाण मारकर दुर्योधन को भी घायल कर दिया ।

स गाढविद्धो व्यथितः प्रत्यपायाद् रथान्तरे ।
दुर्योधनो महाराज दाशार्हशरपीडितः ॥२०॥

महाराज ! उस समय दुर्योधन सात्यकि के बाणों से गहरी चोट खाकर पीड़ित तथा व्यथित हो उठा और रथ के भीतर चला गया ।

पाञ्चालानेव तु द्रोणो धृष्टद्युम्नपुरोगमान् ।
ममर्दुस्तरसा वीराः पञ्चमेऽहनि भारत ॥२१॥

हे भारत ! इधर दुर्योधन और सात्यकि का संग्राम चल रहा था, उधर से द्रोणाचार्य ने धृष्टद्युम्न आदि पाञ्चालों पर ही आक्रमण किया । उस पाँचवें दिन के युद्ध में सभी वीर वेगपूर्वक एक-दूसरे को रौंदने लगे ।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥३८॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार सुनकर द्रोणाचार्य का अस्त्रत्याग और धृष्टद्युम्न द्वारा उनका वध

सञ्जय उवाच

वध्यमानेषु संग्रामे पाञ्चालेषु महात्मना ।
उदीर्यमाणे द्रोणास्त्रे पाण्डवान् भयमाविशत् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! संग्राम में जब महामनस्वी द्रोणाचार्य के द्वारा पाञ्चाल-सैनिक मौत के घाट उतारे जाने लगे एवं द्रोणाचार्य के अस्त्र लगातार बरसने लगे, तब पाण्डवों के मन में भय समा गया ।

त्रस्तान् कुन्तीसुतान्दृष्ट्वा द्रोणसायकपीडितान् ।
मतिमान् श्रेयसे युक्तः केशवोऽर्जुनमब्रवीत् ॥२॥

कुन्तीकुमारों को द्रोणाचार्य के बाणों से पीड़ित और भयभीत देखकर उनके कल्याण में लगे हुए बुद्धिमान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से इस प्रकार कहा—

नैष युद्धेन संग्रामे जेतुं शक्यः कथञ्चन ।
सधनुर्धन्विनां श्रेष्ठो देवैरपि सवासवैः ॥३॥

"पार्थ ! ये द्रोणाचार्य सम्पूर्ण धनुर्धरों में श्रेष्ठ हैं। जबतक उनके हाथ में धनुष रहेगा, तबतक इन्हें युद्ध में इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता भी किसी प्रकार जीत नहीं सकते।

न्यस्तशस्त्रस्तु संग्रामे शक्यो हन्तुं भवेन्नृभिः।
आस्थीयतां जये योगो धर्ममुत्सृज्य पाण्डवाः ॥४॥

"जब ये संग्राम में हथियार डाल देंगे, तभी मनुष्यों द्वारा मारे जा सकते हैं, अतः पाण्डवो ! 'गुरु का वध करना उचित नहीं है' इस धर्मभावना को छोड़कर उनपर विजय पाने के लिए कोई यत्न करो।

अश्वत्थाम्नि हते नैष युध्येदिति मतिर्मम।
तं हतं संयुगे कश्चिदस्मै शंसतु मानवः ॥५॥

"मेरा विश्वास है कि अश्वत्थामा के मारे जाने पर ये युद्ध नहीं कर सकते, अतः कोई मनुष्य उनसे जाकर कहे कि 'युद्ध में अश्वत्थामा मारा गया'।"

एतन्नारोचयद् राजन् कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः।
अन्ये त्वरोचयन् सर्वे कृच्छ्रेण तु युधिष्ठिरः ॥६॥

राजन् ! कुन्तीपुत्र अर्जुन को यह सम्मति अच्छी नहीं लगी, किन्तु अन्य सब लोगों ने इसका स्वागत किया। राजा युधिष्ठिर भी बड़ी कठिनाई से इस बात पर सहमत हो गये।

ततो भीमो महाबाहुरनीके स्वे महागजम्।
जघान गदया राजन्नश्वत्थामानमित्युत ॥७॥

राजन् ! तब महाबाहु भीमसेन ने अपनी ही सेना के एक विशाल हाथी को गदा से मार डाला। उस हाथी का नाम अश्वत्थामा था।

भीमसेनस्तु सव्रीडमुपेत्य द्रोणमाहवे।
अश्वत्थामा हत इति शब्दमुच्चैश्चकार सः ॥८॥

उस हाथी को मारकर भीमसेन लजाते हुए रणभूमि में द्रोणाचार्य के पास गये और बड़े जोर से बोले—"अश्वत्थामा मारा गया।"

अश्वत्थामेति हि गजः ख्यातो नाम्ना हतोऽभवत्।
कृत्वा मनसि तं भीमो मिथ्या व्याहृतवांस्तदा ॥९॥

'अश्वत्थामा' नाम का हाथी मारा गया था, उसी को मन में रखकर भीमसेन ने वह मिथ्या भाषण किया था।

भीमसेनवचः श्रुत्वा द्रोणस्तत् परमाप्रियम्।
मनसा सन्नगात्रोऽभूद् यथा सैकतमम्भसि ॥१०॥

भीमसेन का वह अत्यन्त अप्रिय वचन सुनकर द्रोणाचार्य मन-ही-मन शोक से व्याकुल हो सन्न रह गये। जैसे पानी पड़ते ही बालू गल जाता है, वैसे ही उस दुःख-संवाद से उनका सारा शरीर शिथिल पड़ गया।

शङ्कमानः स तन्मिथ्या वीर्यज्ञः स्वसुतस्य वै।
हतः स इति च श्रुत्वा नैव धैर्यादकम्पयत् ॥११॥

फिर उनके मन में यह सन्देह हुआ कि सम्भव है, यह बात झूठी हो, क्योंकि वे अपने पुत्र के बल-पराक्रम को जानते थे, अतः उसके वध का वृत्तान्त सुनकर भी वे धैर्य से विचलित नहीं हुए।

स लब्ध्वा चेतनां द्रोणः क्षणेनैव समाश्वसत्।
अनुचिन्त्यात्मनः पुत्रमविषह्यमरातिभिः ॥१२॥

उनके मन में बारम्बार यही विचार आया कि मेरा पुत्र तो शत्रुओं के लिए असह्य है, अतः क्षणभर में ही सचेत होकर उन्होंने अपने-आपको सँभाल लिया।

संदिह्यमानो व्यथितः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
अहतं वा हतं वेति पप्रच्छ सुतमात्मनः ॥१३॥

वे सन्देह में पड़े हुए थे, अतः उन्होंने व्यथित होकर अपने पुत्र के मारे जाने अथवा जीवित होने का समाचार कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर से पूछा।

स्थिरा बुद्धिर्हि द्रोणस्य न पार्थो वक्ष्यतेऽनृतम्।
त्रयाणामपि लोकानामैश्वर्यार्थे कथञ्चन ॥१४॥

द्रोणाचार्य के मन में यह दृढ़ विश्वास था कि कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर तीनों लोकों का राज्य पाने के लिए भी झूठ नहीं बोलेंगे।

तस्मात् तं परिपप्रच्छ नान्यं कञ्चिद् द्विजर्षभः।
तस्मिंस्तस्य हि सत्याशा बाल्यात् प्रभृति पाण्डवे ॥१५॥

इसलिए उस द्विजश्रेष्ठ ने युधिष्ठिर से ही वह बात पूछी, दूसरे किसी से नहीं, क्योंकि बाल्यावस्था से ही पाण्डुपुत्र की सचाई में आचार्य का विश्वास था।

ततो निष्पाण्डवामुर्वीं करिष्यन्तं युधां पतिम्।
द्रोणं ज्ञात्वा धर्मराजं गोविन्दो व्यथितोऽब्रवीत् ॥१६॥

उस समय योद्धाओं में श्रेष्ठ द्रोणाचार्य इस पृथिवी को पाण्डवों से शून्य कर डालने के लिए उद्यत थे। उनका यह विचार जानकर श्रीकृष्ण ने व्यथित हो धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—

यद्यर्धदिवसं द्रोणो युध्यते मन्युमास्थितः।
सत्यं ब्रवीमि ते सेना विनाशं समुपैष्यति ॥१७॥

"राजन्! यदि क्रोध में भरे हुए द्रोणाचार्य आधे दिन भी युद्ध करते रहे, तो मैं सच कहता हूँ, तुम्हारी सम्पूर्ण सेना का विनाश हो जाएगा।

स भवाँस्त्रातु नो द्रोणात्सत्याज्ज्यायोऽनृतं वचः।
अनृतं जीवितस्यार्थे वदन्न स्पृश्यतेऽनृतैः ॥१८॥

"अतः तुम हम लोगों को द्रोणाचार्य से बचाओ। इस अवसर पर मिथ्याभाषण का महत्त्व सत्य से भी बढ़कर है। किसी की प्राणरक्षा के लिए यदि कभी असत्य बोलना पड़े तो उस असत्यभाषी को पाप नहीं लगता।"

भीमसेन उवाच

श्रुत्वैवं तु महाराज वधोपायं महात्मनः।
गाहमानस्य ते सेनां मालवस्येन्द्रवर्मणा ॥१९॥
अश्वत्थामेति विख्यातो गजः शक्रगजोपमः।
निहतो युधि विक्रम्य ततोऽहं द्रोणमब्रुवम् ॥२०॥
अश्वत्थामा हतो ब्रह्मन्निवर्तस्वाहवादिति।
नूनं नाश्रद्दधद् वाक्यमेष मे पुरुषर्षभः ॥२१॥

भीमसेन बोले—महाराज युधिष्ठिर! महामनस्वी द्रोण के वध का ऐसा उपाय सुनकर मैंने आपकी सेना में विचरनेवाले मालव-नरेश इन्द्रवर्मा के 'अश्वत्थामा' नाम से प्रसिद्ध गजराज को, जो ऐरावत के समान शक्तिशाली था, युद्ध में पराक्रम करके मार डाला। तत्पश्चात् द्रोणाचार्य के पास जाकर कहा—'ब्रह्मन्! अश्वत्थामा मारा गया, अब आप युद्ध से निवृत्त हो जाओ।' परन्तु इस पुरुषश्रेष्ठ द्रोणाचार्य ने निश्चय ही मेरी बात पर विश्वास नहीं किया है।

स त्वं गोविन्दवाक्यानि मानयस्व जयैषिणः।
द्रोणाय निहतं शंस राजञ्शारद्वतीसुतम् ॥२२॥

नरेश्वर! आप विजय चाहनेवाले श्रीकृष्ण की बात मान लीजिए और द्रोणाचार्य से कह दीजिए कि 'अश्वत्थामा मारा गया।'

त्वयोक्तो नैव युध्येत जातु राजन् द्विजर्षभः।
सत्यवान्हि नृलोकेऽस्मिन्भवान् ख्यातो जनाधिप ॥२३॥

राजन्! प्रजेश्वर! आपके कह देने पर द्विज-श्रेष्ठ द्रोणाचार्य कदापि युद्ध नहीं करेंगे, क्योंकि आप इस लोक में सत्यवादी के रूप में प्रसिद्ध हैं।

सञ्जय उवाच

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कृष्णवाक्यप्रणोदितः।
भावित्वाच्च महाराज वक्तुं समुपचक्रमे ॥२४॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! भीम की यह बात सुनकर और श्रीकृष्ण के आदेश से प्रेरित हो, होनहार को प्रबल मानकर युधिष्ठिर वह असत्य बात कहने के लिए उद्यत हो गये।

तमतथ्यभये मग्नो जये सक्तो युधिष्ठिरः।
अश्वत्थामा हत इति शब्दमुच्चैश्चकार ह।
अव्यक्तमब्रवीद् राजन् हतः कुञ्जर इत्युत ॥२५॥[1]

एक ओर तो वे असत्यभाषण के भय में डूबे हुए थे और दूसरी ओर विजय-प्राप्ति के लिए भी आसक्तिपूर्वक प्रयत्नशील थे, अतः राजन्! उन्होंने 'अश्वत्थामा मारा गया' यह बात तो उच्चस्वर से कही परन्तु 'हाथी मारा गया है' यह बात धीरे से और अस्पष्टरूप में कही।

---

१. द्रोणवध के सम्बन्ध में ऐसी मिथ्या धारणा प्रचलित है कि जब द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर से पूछा कि—"क्या अश्वत्थामा मारा गया?" तब युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—**'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा'** अर्थात् अश्वत्थामा मारा गया, यह पता नहीं कि वह मनुष्य था या हाथी। यह वाक्य महाभारत के किसी भी संस्करण में नहीं है। यह सब तो कथावाचक अम्बिकादत्त व्यास की कल्पना है।

महाभारत में तो इतना ही वर्णन है कि युधिष्ठिर ने **'अश्वत्थामा हतः'**, इन शब्दों को उच्च स्वर से बोला और **'हतः कुञ्जर इत्युत'**, इन शब्दों को धीरे से बोला।

यदि गम्भीरतापूर्वक देखें तो युधिष्ठिर ने छल का आश्रय लिया है, असत्य-भाषण नहीं किया।

युधिष्ठिरात्तु तद्वाक्यं श्रुत्वा द्रोणो महारथः ।
पुत्रव्यसनसन्तप्तो निराशो जीवितेऽभवत् ॥२६॥

युधिष्ठिर के मुख से ये वचन सुनकर महारथी द्रोणाचार्य पुत्रशोक से सन्तप्त हो अपने जीवन से निराश हो गये ।

सर्वाण्यस्त्राणि धर्मात्मा हातुकामोऽभ्यभाषत ।
कर्ण कर्ण महेष्वास कृप दुर्योधनेति च ॥२७॥
संग्रामे क्रियतां यत्नो ब्रवीम्येष पुनः पुनः ।
पाण्डवेभ्यः शिवं वोऽस्तु शस्त्रमभ्युत्सृजाम्यहम् ॥२८॥

फिर सब अस्त्र-शस्त्रों को त्याग देने की इच्छा से वे इस प्रकार बोले—"कर्ण ! कर्ण ! महाधनुर्धर कृपाचार्य ! दुर्योधन ! अब तुम लोग स्वयं ही युद्ध में विजय पाने के लिए प्रयत्न करो, यही मैं तुमसे बारम्बार कहता हूँ । पाण्डवों से तुम लोगों का कल्याण हो । अब मैं अस्त्र-शस्त्रों का त्याग कर रहा हूँ ।"

इति तत्र महाराज प्राक्रोशद् द्रौणिमेव च ।
उत्सृज्य च रणे शस्त्रं रथोपस्थे निविश्य च ॥२९॥
अभयं सर्वभूतानां प्रददौ योगमीयिवान् ।
तस्य तच्छिद्रमाज्ञाय धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ॥३०॥
सशरं तद् धनुर्घोरं संन्यस्याथ रथे ततः ।
खड्गी रथादवप्लुत्य सहसा द्रोणमभ्ययात् ॥३१॥

महाराज ! उनसे ऐसा कहकर उन्होंने वहाँ अश्वत्थामा का नाम ले-लेकर पुकारा । फिर वे अस्त्र-शस्त्रों को युद्धभूमि में फेंककर रथ के पिछले भाग में जा बैठे और सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान देकर समाधि लगा ली । उनपर प्रहार करने का अच्छा अवसर हाथ लगा जान प्रतापी धृष्टद्युम्न बाणसहित अपने धनुष को रथ पर ही रखकर तलवार हाथ में ले उस रथ से कूदकर सहसा द्रोणाचार्य के पास जा पहुँचे ।

हाहाकृतानि भूतानि मानुषाणीतराणि च ।
द्रोणं तयागतं दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नवशं गतम् ॥३२॥

उस दशा में द्रोणाचार्य को धृष्टद्युम्न के अधीन हुआ देख मनुष्य तथा अन्य प्राणी भी हाहाकार कर उठे ।

ततोऽस्य केशान् सव्येन गृहीत्वा पाणिना तदा ।
पार्षतः क्रोशमानानां वीराणामच्छिनच्छिरः ॥३३॥

वहाँ पहुँचकर द्रुपदपुत्र ने समस्त वीरों के पुकार-पुकारकर मना करने पर भी उनकी बातें अनसुनी करके बायें हाथ से आचार्य के केश पकड़ लिये और दाहिने हाथ से उनका सिर काट लिया ।

हर्षेण महता युक्तो भारद्वाजे निपातिते ।
सिंहनादरवं चक्रे भ्रामयन् खड्गमाहवे ॥३४॥

इस प्रकार द्रोणाचार्य का वध करके धृष्टद्युम्न को महान् हर्ष हुआ और वे समराङ्गण में तलवार घुमाते हुए जोर-जोर से सिंहनाद करने लगे ।

उक्तवांश्च महाबाहुः कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ।
जीवन्तमानयाचार्यं मा वधीर्द्रुपदात्मज ॥३५॥

यद्यपि उस समय महाबाहु कुन्तीकुमार ने बहुत कहा—"ओ द्रुपदकुमार ! तुम आचार्य को जीते-जी पकड़ लो । उनका वध मत करना ।"

न हन्तव्यो न हन्तव्य इति ते सैनिकाश्च ह ।
उत्क्रोशन्नर्जुनश्चैव सानुक्रोशस्तमाव्रजत् ॥३६॥
क्रोशमानेऽर्जुने चैव पार्थिवेषु च सर्वशः ।
धृष्टद्युम्नोऽवधीद् द्रोणं रथतल्पे नरर्षभम् ॥३७॥

आपके सैनिक भी बारम्बार कहते ही रह गये कि 'न मारो, न मारो ।' अर्जुन तो दयावश चिल्लाते हुए धृष्टद्युम्न के पास आने लगे, परन्तु उनके तथा अन्य भूपालों के पुकारते रहने पर भी धृष्टद्युम्न ने रथ की बैठक में बैठे नरश्रेष्ठ द्रोण का वध कर ही डाला ।

शोणितेन परिक्लिन्नो रथाद् भूमिमथापतत् ।
लोहिताङ्ग इवादित्यो दुर्धर्षः समपद्यत ॥३८॥

दुर्धर्ष द्रोणाचार्य का शरीर रक्त से लथपथ हो रथ से भूमि पर गिर पड़ा, मानो लाल अङ्गकान्ति-वाले सूर्य डूब गये हों ।

पाण्डवास्तु जयं लब्ध्वा हृष्टा ह्यासन् विशाम्पते ।
बाणशंखरवांश्चक्रुः सिंहनादांश्च पुष्कलान् ॥३९॥

प्रजेश्वर ! पाण्डव विजय पाकर हर्ष से खिल उठे । वे धनुष पर बाण चढ़ाकर उसकी टंकार करने लगे, शंख बजाने और बार-बार सिंहनाद करने लगे ।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥३९॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

अश्वत्थामा का क्रोध और नारायणास्त्र का प्रकटीकरण

सञ्जय उवाच

भास्करस्येव पतनं समुद्रस्येव शोषणम् ।
विपर्यासं यथा मेरोर्वासवस्येव निर्जयम् ॥१॥
अमर्षणीयं तद् दृष्ट्वा भारद्वाजस्य पातनम् ।
त्रस्तरूपतरा राजन् कौरवाः प्राद्रवन् भयात् ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! जैसे सूर्य का पृथिवी पर गिर पड़ना, समुद्र का सूख जाना, मेरुपर्वत का उल्टी दिशा में चले जाना और इन्द्र का परास्त हो जाना असम्भव है, वैसे ही आचार्य द्रोण का मारा जाना भी असम्भव समझा जाता था, परन्तु द्रोणाचार्य के उसी असम्भव वध को सम्भव हुआ देख सारे कौरव थर्रा उठे और भय के मारे भागने लगे ।

द्रवमाणं बलं दृष्ट्वा पलायनकृतक्षणम् ।
दुर्योधनं समासाद्य द्रोणपुत्रोऽब्रवीदिदम् ॥३॥

भागने में उत्साह दिखाती हुई कौरव-सेना को पलायन करते हुए देखकर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने दुर्योधन के पास जाकर पूछा—

किमयं द्रवते सेना त्रस्तरूपेव भारत ।
द्रवमाणां च राजेन्द्र नावस्थापयसे रणे ॥४॥

"भरतभूषण ! यह सेना भयभीत-सी होकर भागी क्यों जा रही है ? राजेन्द्र ! इस भागती हुई सेना को आप युद्ध में ठहराने का प्रयत्न क्यों नहीं करते ?

त्वं चापि न यथापूर्वं प्रकृतिस्थो नराधिप ।
कर्णप्रभृतयश्चेमे नावतिष्ठन्ति पार्थिवाः ॥५॥

"नरेश्वर ! आप भी पहले के समान स्वस्थ दिखाई नहीं देते । भूपाल ! ये कर्ण आदि वीर भी युद्धक्षेत्र में खड़े नहीं हो रहे हैं, इसका क्या कारण है ?

कस्मिन्निदं हते राजन् रथसिंहे बलं तव ।
एतामवस्थां सम्प्राप्तं तन्ममाचक्ष्व कौरव ॥६॥

"राजन् ! कुरुनन्दन ! किस सिंह के समान पराक्रमी रथी के मारे जाने पर आपकी यह सेना इस दुर्दशा को पहुँच गई है, यह मुझे बताइए ।"

तत्तु दुर्योधनः श्रुत्वा द्रोणपुत्रस्य भाषितम् ।
घोरमप्रियमाख्यातुं नाशक्नोत् पार्थिवर्षभः ॥७॥

द्रोणपुत्र अश्वत्थामा की वह बात सुनकर नृपश्रेष्ठ दुर्योधन वह घोर अप्रिय समाचार स्वयं उसे न कह सका ।

ततः शारद्वतं राजा सव्रीडमिदमब्रवीत् ।
शंसात्र भद्रं ते सर्वं यथा सैन्यमिदं द्रुतम् ॥८॥

उस समय राजा दुर्योधन ने कृपाचार्य से संकोच-पूर्वक कहा—"गुरुवर ! आपका कल्याण हो । आप ही वह समाचार बता दीजिए कि यह सेना क्यों भागी जा रही है ।"

अथ शारद्वतो राजन्नार्तिमार्च्छन् पुनः पुनः ।
शशंस द्रोणपुत्राय यथा द्रोणो निपातितः ॥९॥

हे राजन् ! तब शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य ने बारम्बार पीड़ा का अनुभव करते हुए जिस प्रकार द्रोणाचार्य मारे गये थे, वह समाचार अश्वत्थामा को कह सुनाया ।

छद्मना निहतं श्रुत्वा पितरं पापकर्मणा ।
बाष्पेणापूर्यत द्रौणी रोषेण च नरर्षभ ॥१०॥

नरश्रेष्ठ ! 'पापी धृष्टद्युम्न ने मेरे पिता को छलपूर्वक मार डाला है,' यह सुनकर अश्वत्थामा के नेत्रों में आँसू भर आये, फिर वह क्रोध से जल उठा

अश्रुपूर्णे ततो नेत्रे व्यपमृज्य पुनः पुनः ।
उवाच कोपान्निःश्वस्य दुर्योधनमिदं वचः ॥११॥

फिर अपने आँसूभरे नेत्रों को बारम्बार पोंछ-कर, क्रोध से दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए अश्वत्थामा ने दुर्योधन से इस प्रकार कहा—

पिता मम यथा क्षुद्रैर्न्यस्तशस्त्रो निपातितः ।
धर्मध्वजवता पापं कृतं तद् विदितं मम ॥१२॥

"राजन् ! मेरे पिता ने जिस प्रकार हथियार डाल दिये, जिस प्रकार उन नीचों ने उन्हें मार गिराया और धर्म का ढोंग करनेवाले युधिष्ठिर ने जो पाप किया है, वह सब मुझे ज्ञात हो गया है ।

युद्धेष्वपि प्रवृत्तानां ध्रुवं जयपराजयौ।
द्वयमेतद् भवेद् राजन् वधस्तत्र प्रशस्यते ॥१३॥

"राजन्! जो लोग युद्ध में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें विजय और पराजय अवश्य प्राप्त होती है, परन्तु युद्ध में होनेवाले वध की अधिक प्रशंसा की गई है।

न्यायवृत्तो वधो यस्तु संग्रामे युद्धतो भवेत्।
न स दुःखाय भवति तथा दृष्टो हि स द्विजैः ॥१४॥

"संग्राम में जूझते हुए वीर को यदि न्यायानुकूल वध प्राप्त हो जाए तो वह दुःख का कारण नहीं होता, क्योंकि द्विजों ने युद्ध के इस परिणाम को देखा है।

गतः स वीरलोकाय पिता मम न संशयः।
न शोच्यः पुरुषव्याघ्र यस्तदा निधनं गतः ॥१५॥

"पुरुषसिंह! इसमें संशय नहीं कि मेरे पिता वीरगति को प्राप्त हुए हैं। वे मारे गये हैं, इस बात को लेकर उनके लिए शोक करना उचित नहीं है।

यत्तु धर्मप्रवृत्तः सन् केशग्रहमवाप्तवान्।
पश्यतां सर्वसैन्यानां तन्मे मर्माणि कृन्तति ॥१६॥

"परन्तु धर्म में तत्पर रहने पर भी जो समस्त सैनिकों के समक्ष उनके केश पकड़े गये, वह अपमान ही मेरे मर्मस्थानों को विदीर्ण किये देता है।

मयि जीवति यत् तातः केशग्रहमवाप्तवान्।
कथमन्ये करिष्यन्ति पुत्रेभ्यः पुत्रिणः स्पृहाम् ॥१७॥

"मेरे जीते-जी यदि पिता को अपने केश पकड़े जाने का अपमान सहना पड़ा, तब दूसरे पुत्रवान् पुरुष किसलिए पुत्रों की अभिलाषा करेंगे?

कामात् क्रोधादविज्ञानाद्धर्षाद् बाल्येन वा पुनः।
विधर्मकाणि कुर्वन्ति तथा परिभवन्ति च ॥१८॥
तदिदं पार्षतेनेह महदाधर्मिकं कृतम्।
अवज्ञाय च मां नूनं नृशंसेन दुरात्मना ॥१९॥

"लोग काम, क्रोध, अज्ञान, हर्ष अथवा बालोचित चञ्चलता के कारण धर्मविरुद्ध कार्य करते और सज्जनों का अपमान भी कर बैठते हैं, परन्तु क्रूर एवं दुरात्मा द्रुपदकुमार ने निश्चय ही मेरी अवहेलना करके यह महान् पापकर्म कर डाला है।

तस्यानुबन्धं द्रष्टासौ धृष्टद्युम्नः सुदारुणम्।
अनार्यं परमं कृत्वा मिथ्यावादी च पाण्डवः ॥२०॥

यो ह्यसौ छद्मनाऽऽचार्यं शस्त्रं संन्यासयत् तदा।
तस्याद्य धर्मराजस्य भूमिः पास्यति शोणितम् ॥२१॥

"अतः उस धृष्टद्युम्न को उस पाप का अत्यन्त भयंकर परिणाम भोगना पड़ेगा, साथ ही मिथ्यावादी पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को भी यह अत्यन्त नीच कर्म करने के कारण इसका भीषण परिणाम देखना पड़ेगा। जिसने छल करके आचार्य से उस समय अस्त्र-शस्त्र रखवा दिये थे, आज यह पृथिवी उस धर्मराज युधिष्ठिर के रक्त का पान करेगी।

शपे सत्येन कौरव्य इष्टापूर्तेन चैव ह।
अहत्वा सर्वपाञ्चालान् जीवेयं न कथञ्चन ॥२२॥

"कुरुनन्दन! मैं अपने सत्य, इष्ट [यज्ञ-यागादि] और आपूर्त [वापी-तड़ागादि] कर्मों की शपथ खाकर कहता हूँ कि समस्त पाञ्चालों को मौत के घाट उतारे बिना मैं किसी प्रकार जीवित नहीं रह सकूँगा।

धृष्टद्युम्नं च समरे हन्ताहं पापकारिणम्।
कर्मणा येन तेनेह मृदुना दारुणेन च ॥२३॥

"युद्धभूमि में पापाचारी धृष्टद्युम्न को मैं कोमल अथवा कठोर जिस किसी भी उपाय द्वारा अवश्य मार डालूँगा।

धिङ्ममास्त्राणि दिव्यानि धिग्बाहू धिक्पराक्रमम्।
यं स्म द्रोणः सुतं प्राप्य केशग्रहमवाप्तवान् ॥२४॥

"मेरे दिव्यास्त्रों को धिक्कार है! मेरी इन दोनों भुजाओं को धिक्कार है! मेरे पराक्रम को भी धिक्कार है, जबकि मेरे जैसे पुत्र को पाकर पूज्य पिता को शत्रु द्वारा केश-ग्रहण का अपमान सहना पड़ा।

स तथाहं करिष्यामि यथा भरतसत्तम।
परलोकगतस्यापि भविष्याम्यनृणः पितुः ॥२५॥

"भरतश्रेष्ठ! अब मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे मैं परलोक में गये हुए पिता के ऋण से मुक्त हो सकूँ।

अद्य पश्यन्तु मे वीर्यं पाण्डवाः सजनार्दनाः।
मृद्नतः सर्वसैन्यानि युगान्तमिव कुर्वतः ॥२६॥

"आज मैं सारी सेनाओं को रौंदता हुआ प्रलय-काल का दृश्य उपस्थित करूँगा, अतः आज श्रीकृष्ण-सहित समस्त पाण्डव मेरा पराक्रम देखें।

सोऽहं नारायणास्त्रेण महता शत्रुतापनः ।
शत्रून् विध्वंसयिष्यामि कदर्थीकृत्य पाण्डवान् ॥२७॥

"शत्रुसन्तापक ! मैं महान् नारायण अस्त्र का प्रयोग करके पाण्डवों को पीड़ा देता हुआ अपने समस्त शत्रुओं का संहार कर डालूंगा ।

मित्रब्रह्मगुरुद्रोही जाल्मकः सुविगर्हितः ।
पाञ्चालापसदश्चाद्य न मे जीवन् विमोक्ष्यते ॥२८॥

"मित्र, ब्राह्मण और गुरु-द्रोही अत्यन्त निन्दित वह पाञ्चाल-कुल-कलङ्क, पामर धृष्टद्युम्न आज मेरे हाथ से जीवित नहीं छूट सकेगा ।

न हि जानाति बीभत्सुस्तदस्त्रं न जनार्दनः ।
न भीमसेनो न यमौ न च राजा युधिष्ठिरः ॥२९॥
न पार्षतो दुरात्मासौ न शिखण्डी न सात्यकिः ।
यदिदं मयि कौरव्य सकल्पं सनिवर्तनम् ॥३०॥

'आज मैं जिस नारायणास्त्र का प्रयोग करूँगा, उसे न अर्जुन जानते हैं न कृष्ण; भीमसेन, नकुल-सहदेव और राजा युधिष्ठिर को भी उसका ज्ञान नहीं है। वह दुरात्मा धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और सात्यकि भी उसके ज्ञान से रहित हैं । कुरुनन्दन ! वह तो प्रयोग और उपसंहारसहित केवल मेरे ही पास है ।"

तथोक्त्वा द्रोणपुत्रस्तु वार्युपस्पृश्य भारत ।
प्रादुश्चकार तद् दिव्यमस्त्रं नारायणं तदा ॥३१॥

हे भारत ! द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने पूर्वोक्त बात कहकर जल से आचमन करके उस समय दिव्य नारायणास्त्र को प्रकट किया ।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४०॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

भीमसेन के वीरोचित उद्‌गार और धृष्टद्युम्न द्वारा अपने कृत्य का समर्थन

सञ्जय उवाच

व्यथिताः सर्वराजानस्त्रस्ताश्चासन् विशाम्पते ।
तद् दृष्ट्वा घोररूपं वै द्रौणेरस्त्रं भयावहम् ॥१॥

सञ्जय बोला—महाराज ! अश्वत्थामा के उस घोर और भयंकर अस्त्र को देखकर सभी नरेश व्यथित तथा भयभीत हो गये ।

प्रागेव विद्रुतान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् युधिष्ठिरः ।
पुनश्च तुमुलं शब्दं श्रुत्वार्जुनमथाब्रवीत् ॥२॥

राजा युधिष्ठिर ने पहले तो आपके सैनिकों को भागते देखा था। तत्पश्चात् उन्होंने वह भयंकर शब्द सुनकर अर्जुन से पूछा—

क एष कौरवान् दीर्णानवस्थाप्य महारथाः ।
निवर्तयति युद्धार्थं मृधे देवेश्वरो यथा ॥३॥

"अर्जुन ! देवराज इन्द्र के समान यह कौन महारथी है, जो भागे हुए कौरवों को रोककर उन्हें पुनः युद्ध के लिए समराङ्गण में लौटा रहा है ?"

अर्जुन उवाच

यस्मिञ्जाते ददौ द्रोणो गवां दशशतं धनम् ।
ब्राह्मणेभ्यो महार्हेभ्यः सोऽश्वत्थामैष गर्जति ॥४॥

अर्जुन ने कहा—राजन् ! जिसके शुभ जन्म लेने पर द्रोणाचार्य ने परम सुयोग्य ब्राह्मणों को एक सहस्र गौएँ दान दी थीं, वही अश्वत्थामा यह गर्जना कर रहा है ।

गुरुं मे यत्र पाञ्चाल्यः केशपक्षे परामृशत् ।
तन्न जातु क्षमेद् द्रौणिर्जानन् पौरुषमात्मनः ॥५॥

पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न ने जो मेरे गुरु के केश पकड़कर खींचे थे, उसे अपने आत्मबल को जाननेवाला अश्वत्थामा कभी क्षमा नहीं कर सकता ।

उपचीर्णो गुरुर्मिथ्या भवता राज्यकारणात् ।
धर्मज्ञेन सता नाम सोऽधर्मः सुमहान् कृतः ॥६॥

आपने धर्मज्ञ होते हुए भी राज्य के लोभ से झूठ बोलकर जो अपने गुरु को धोखा दिया था, वह महान् पाप किया है ।

चिरं स्थास्यति चाकीर्तिस्त्रैलोक्ये सचराचरे ।
रामे वालिवधाद् यद्वदेवं द्रोणे निपातिते ॥७॥

छिपकर वाली का वध करने के कारण जैसे श्रीराम को अपयश मिला, वैसे ही मिथ्याभाषण करके द्रोणाचार्य को मरवा देने के कारण चराचर प्राणियों-

सहित तीनों लोकों में आपकी अपकीर्ति चिरस्थायी हो जाएगी।

रक्षत्विदानीं सामात्यो यदि शक्तोऽसि पार्षतम्।
ग्रस्तमाचार्यपुत्रेण क्रुद्धेन हतबन्धुना ॥८॥

जिसके पिता मारे गये हैं, वह आचार्यपुत्र अश्वत्थामा आज क्रुद्ध होकर धृष्टद्युम्न को काल का ग्रास बनाना चाहता है, अब यदि आपमें शक्ति है तो अपने मन्त्रियोंसहित पृषतकुमार धृष्टद्युम्न की रक्षा कीजिए।

ब्राह्मणं वृद्धमाचार्यं न्यस्तशस्त्रं महामुनिम्।
घातयित्वाद्य राज्यार्थे मृतं श्रेयो न जीवितम् ॥९॥

राजन्! शस्त्र त्यागकर मुनि की भाँति बैठे हुए, ब्राह्मणश्रेष्ठ, वृद्ध द्रोणाचार्य को राज्य के लिए मरवाकर मैं जीवित रहने की अपेक्षा मर जाना ही अच्छा समझता हूँ।

सञ्जय उवाच

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा नोचुस्तत्र महारथाः।
अप्रियं वा प्रियं वापि महाराज धनञ्जयम् ॥१०॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! अर्जुन के ये वचन सुनकर वहाँ उपस्थित सभी महारथी मौन रह गये। उनमें से किसी ने भी अच्छा या बुरा कुछ भी अर्जुन से नहीं कहा।

ततः क्रुद्धो महाबाहुर्भीमसेनोऽभ्यभाषत।
कुत्सयन्निव कौन्तेयमर्जुनं भरतर्षभ ॥११॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय महाबाहु भीमसेन कुपित हो गये। उन्होंने कुन्तीपुत्र अर्जुन को फटकारते हुए-से कहा—

मुनिर्यथारण्यगतो भाषसे धर्मसंहितम्।
न्यस्तदण्डो यथा पार्थ ब्राह्मणः संशितव्रतः ॥१२॥

"पार्थ! जैसे वनवासी मुनि [वानप्रस्थ] अथवा किसी भी प्राणी को दण्ड न देते हुए कठोर व्रत का पालन करनेवाला परमहंस ब्राह्मण [संन्यासी] धर्म का उपदेश करता है, आज तो तुम भी वैसा ही उपदेश कर रहे हो।

क्षतात्त्राता क्षताज्जीवन् क्षान्ता स्त्रीष्वपि साधुषु।
क्षत्रियः क्षितिमाप्नोति क्षिप्रं धर्मं यशः श्रियः ॥१३॥

"परन्तु जो क्षति=संकट से अपना और दूसरे का त्राण करता है, युद्ध में शत्रुओं को हानि पहुँचाना ही जिसकी जीविका है तथा जो स्त्रियों एवं साधुपुरुषों पर क्षमाभाव रखता है, वही क्षत्रिय है और उसे ही शीघ्र इस पृथिवी का राज्य, धर्म, यश और श्री की प्राप्ति होती है।

स भवान् क्षत्रियगुणैर्युक्तः सर्वैः कुलोद्वहः।
अविपश्चिद् यथा वाचं व्याहरन्नाद्य शोभसे ॥१४॥

"तुम समस्त क्षत्रियोचित गुणों से सम्पन्न और इस कुल का भार वहन करने में समर्थ होते हुए भी आज मूर्ख के समान बातें कर रहे हो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता।

धर्ममन्विच्छसि ज्ञातुं मिथ्या वचनमेव ते।
भयार्दितानामस्माकं वाचा मर्माणि कृन्तसि ॥१५॥

"तुम एक ओर तो धर्म का प्रवचन करना चाहते हो और दूसरी ओर धर्महीन वचन कह रहे हो। एक तो हम स्वयं ही भय से पीड़ित हो रहे हैं, ऊपर से तुम अपने वाग्बाणों द्वारा हमारे मर्म-स्थानों को छेदे डालते हो।

वासुदेवे स्थिते चापि द्रोणपुत्रं प्रशंससि।
यः कलां षोडशीं पूर्णां धनञ्जय न तेऽर्हति।
स्वयमेवात्मनो दोषान् ब्रुवाणः किन्न लज्जसे ॥१६॥

"धनञ्जय! श्रीकृष्ण की विद्यमानता में तुम द्रोणपुत्र अश्वत्थामा की प्रशंसा कर रहे हो जो पराक्रम में तुम्हारी पूरी सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है। स्वयं ही अपने दोषों का वर्णन करते हुए क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती?

दारयेयं महीं क्रोधाद् विकिरेयं च पर्वतान्।
आविध्यैतां गदां गुर्वीं भीमां काञ्चनमालिनीम् ॥१७

"अर्जुन! मैं अपनी सुवर्णमण्डित भयंकर एवं भारी गदा का क्रोधपूर्वक प्रहार कर इस पृथिवी को विदीर्ण कर सकता हूँ और पर्वतों को चूर-चूर करके बिखेर सकता हूँ।

द्रावयेयं शरैश्चापि सेन्द्रान् देवान् समागतान्।
सराक्षसगणान् पार्थ सासुरोरगमानवान् ॥१८॥

"पार्थ! असुर, नाग, मानव और राक्षसगणों-सहित सम्पूर्ण देवता और इन्द्र भी आ जाएँ तो मैं उन्हें बाणों द्वारा मारकर भगा सकता हूँ।

स त्वमेवंविधं जानन् भ्रातरं मां नरर्षभ ।
द्रोणपुत्राद् भयं कर्तुं नार्हस्यमितविक्रम ॥१९॥

"अमित पराक्रमी नरश्रेष्ठ अर्जुन ! मुझ अपने भ्राता को ऐसा शक्ति-सम्पन्न जानकर तुम्हें द्रोणपुत्र से भयभीत नहीं होना चाहिए ।

अथवा तिष्ठ बीभत्सो सह सर्वैः सहोदरैः ।
अहमेनं गदापाणिर्जेष्याम्येको महाहवे ॥२०॥

"अथवा अर्जुन ! तुम अपने समस्त भाइयों के साथ यहीं खड़े रहो । मैं अकेला ही हाथ में गदा लेकर इस महायुद्ध में अश्वत्थामा को परास्त करूँगा ।"

धृष्टद्युम्न उवाच

बीभत्सो विप्रकर्माणि विदितानि मनीषिणाम् ।
याजनाध्यापने दानं तथा यज्ञप्रतिग्रहौ ॥२१॥
षष्ठमध्ययनं नाम तेषां कस्मिन् प्रतिष्ठितः ।
हतो द्रोणो मया ह्येवं किं मां पार्थ विगर्हसे ॥२२॥
अपक्रान्तः स्वधर्माच्च क्षात्रधर्मं व्यपाश्रितः ।
अमानुषेण हन्त्यस्मानस्त्रेण क्षुद्रकर्मकृत् ॥२३॥

धृष्टद्युम्न बोला—अर्जुन ! यज्ञ करना और कराना, वेदों को पढ़ना और पढ़ाना तथा दान देना और लेना—ये छह कर्म ही ब्राह्मणों के लिए मनीषी लोगों में प्रसिद्ध हैं । द्रोणाचार्य इनमें से कौन-से कर्म में प्रतिष्ठित थे ? अपने धर्म से भ्रष्ट होकर उन्होंने क्षत्रिय धर्म का आश्रय ले रखा था । वह तुच्छ कर्म करनेवाला ब्राह्मण दिव्यास्त्रों द्वारा हम लोगों का संहार करता था । पार्थ ! ऐसी दशा में यदि मैंने द्रोणाचार्य को मार डाला तो तुम इसके लिए मेरी निन्दा क्यों करते हो ?

तथा मायां प्रयुञ्जानमसह्यं ब्राह्मणब्रुवम् ।
माययैव निहन्याद् यो न युक्तं पार्थ तत्र किम् ॥२४॥

पार्थ ! जो ब्राह्मण कहलाकर भी दूसरों के लिए माया का प्रयोग करता हो और असह्य हो उठा हो, उसे यदि माया से ही मार डाला जाए तो इसमें अनुचित क्या है ?

तस्मिंस्तथा मया शस्ते यदि द्रौणायनी रुषा ।
कुरुते भैरवं नादं किं मम तत्र हीयते ॥२५॥

मेरे द्वारा द्रोणाचार्य के इस दशा में मारे जाने-पर यदि द्रोणपुत्र क्रोधपूर्वक भयंकर गर्जना करता हो तो उसमें मेरी क्या हानि है ?

न चाद्भुतमिदं मन्ये यद् द्रौणिर्युद्धसंज्ञया ।
घातयिष्यति कौरव्यान् परित्रातुमशक्नुवन् ॥२६॥

यह कोई अद्भुत बात नहीं है, यदि अश्वत्थामा अपने वीरों को युद्ध के लिए प्रेरित कर रहा है । इस प्रकार तो वह कौरववीरों को मरवा डालेगा, क्योंकि वह स्वयं उनकी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकेगा ।

यो ह्यनस्त्रविदो हन्याद् ब्रह्मास्त्रैः क्रोधमूर्च्छितः ।
सर्वोपायैः कथं न सः वध्यः पुरुषसत्तम ॥२७॥

पुरुषश्रेष्ठ ! जो क्रोध से व्याकुल होकर ब्रह्मास्त्र न जाननेवालों को भी ब्रह्मास्त्र से ही मार डाले, उसका सभी उपायों से वध करना कैसे उचित नहीं है ?

स शत्रुर्निहतः संख्ये मया धर्मेण पाण्डव ।
यथा त्वया हतः शूरो भगदत्तः पितुः सखा ॥२८॥

पाण्डुनन्दन ! द्रोणाचार्य मेरे शत्रु थे, इसलिए मैंने युद्ध में धर्म के अनुसार ही उनका वध किया है, ठीक उसी प्रकार जैसे तुमने अपने पिता के मित्र शूरवीर भगदत्त का वध किया था ।

पितामहं रणे हत्वा मन्यसे धर्ममात्मनः ।
मया शत्रौ हते कस्मात् पापे धर्मं न मन्यसे ॥२९॥

तुम युद्ध में पितामह भीष्म को मारकर भी अपने लिए तो धर्म मानते हो, परन्तु मेरे द्वारा एक पापी शत्रु के मारे जाने पर भी इस कार्य को धर्म क्यों नहीं मानते ?

सहे सर्वमनुचितं वाग्व्यतिक्रममर्जुन ।
द्रौपद्या द्रौपदेयानां कृते नान्येन हेतुना ॥३०॥

अर्जुन ! मैं अपनी बहिन द्रौपदी और उसके पुत्रों के नाते ही तुम्हारी इन सारी उल्टी अथवा कड़वी बातों को सह लेता हूँ, दूसरे किसी कारण से नहीं ।

कुलक्रमागतं वैरं ममाचार्येण विश्रुतम् ।
तथा जानात्ययं लोको न यूयं पाण्डुनन्दनाः ॥३१॥

द्रोणाचार्य के साथ मेरा वंश-परम्परागत वैर चला आ रहा है, जो अति प्रसिद्ध है । उसे यह सारा संसार जानता है, क्या तुम पाण्डवों को इसका पता नहीं है ?

नानृती पाण्डवो ज्येष्ठो नाहं वाधार्मिकोऽर्जुन ।
शिष्यद्रोही हतः पापो युध्यस्व विजयस्तव ॥३२॥

अर्जुन ! न तो तुम्हारे बड़े भाई पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर असत्यवादी हैं और न मैं ही अधर्मी हूँ । द्रोणाचार्य पापी और शिष्यद्रोही थे, अतः मारे गये । अब तुम युद्ध करो, विजय तुम्हारी ही होगी ।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४१॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

सात्यकि और धृष्टद्युम्न का वाग्युद्ध

सञ्जय उवाच

श्रुत्वा द्रुपदपुत्रस्य ता वाचः क्रूरकर्मणः।
तूष्णीं बभूवू राजानः सर्वं एव विशाम्पते ॥१॥
अर्जुनस्तु कटाक्षेण जिह्मं विप्रेक्ष्य पार्षतम्।
सबाष्पमतिनिःश्वस्य धिग्धिगित्येव चाब्रवीत् ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—प्रजेश्वर ! क्रूरकर्मा द्रुपदपुत्र की वे बातें सुनकर वहाँ उपस्थित सभी नरेश मौन रह गये। केवल अर्जुन टेढ़ी नजरों से उसकी ओर देखकर आंसू बहाते हुए दीर्घ निःश्वास छोड़कर इतना ही बोले कि—"धिक्कार है ! धिक्कार है !!"

युधिष्ठिरश्च भीमश्च यमौ कृष्णस्तथापरे।
आसन् सुव्रीडिता राजन् सात्यकिस्त्वब्रवीदिदम् ॥३॥

राजन् उस समय युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल-सहदेव, श्रीकृष्ण और अन्य सब लोग भी अत्यन्त लज्जित हो चुप ही बैठे रहे, परन्तु सात्यकि इस प्रकार बोल उठे—

सात्यकिरुवाच

नेहास्ति पुरुषः कश्चिद् य इमं पापपूरुषम्।
भाषमाणमकल्याणं शीघ्रं हन्यान्नराधमम् ॥४॥

सात्यकि बोला—क्या यहाँ कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो इस प्रकार अभद्रतापूर्ण वचन बोलनेवाले इस पापी नराधम को शीघ्र ही मार डाले ?

एते त्वां पाण्डवाः सर्वे कुत्सयन्ति विकुत्सया।
कर्मणा तेन पापेन श्वपाकं ब्राह्मणा इव ॥५॥

धृष्टद्युम्न ! जैसे ब्राह्मण चाण्डाल की निन्दा करते हैं, वैसे ही ये सभी पाण्डव उस पापकर्म के कारण अत्यन्त घृणा प्रकट करते हुए तेरी निन्दा कर रहे हैं।

एतत् कृत्वा महत्पापं निन्दितः सर्वसाधुभिः।
न लज्जसे कथं वक्तुं समितिं प्राप्य शोभनाम् ॥६॥
कथं च शतधा जिह्वा न ते मूर्धा च दीर्यते।
गुरुमाक्रोशतः क्षुद्र न चाधर्मेण पात्यसे ॥७॥

यह महान् पाप करके तू समस्त श्रेष्ठ पुरुषों की दृष्टि में निन्दा का पात्र बन गया है। सज्जनों के इस भव्य समागम में पहुँचकर ऐसी बातें करते हुए तुझे लज्जा कैसे नहीं आती है ? तेरी जीभ के सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ? तेरा मस्तक क्यों नहीं फट जाता ? ओ नीच ! गुरु के निन्दारूपी पाप से तेरा पतन क्यों नहीं हो जाता ?

कस्त्वेतद् व्यवसेदार्यस्त्वदन्यः पुरुषाधम।
निगृह्य केशेषु वधं गुरोर्धर्मात्मनः सतः ॥८॥

पुरुषाधम ! तेरे सिवा दूसरा कौन श्रेष्ठ पुरुष धर्मात्मा सज्जन गुरु के केश पकड़कर उनके वध का विचार भी मन में लाएगा ?

पुनश्चेदीदृशीं वाचं मत्समीपे वदिष्यसि।
शिरस्ते पोथयिष्यामि गदया वज्रकल्पया ॥९॥

यदि तू फिर मेरे सामने ऐसी बात बोलेगा तो मैं अपनी इस वज्रतुल्य गदा से तेरा सिर कुचल दूंगा।

पाञ्चालक सुदुर्वृत्त ममैव गुरुमग्रतः।
गुरोर्गुरुं च भूयोऽपि क्षिपन्नैव हि लज्जसे ॥१०॥

दुराचारी पाञ्चाल ! तू मेरे आगे मेरे ही गुरु और मेरे गुरु के भी गुरु पर बारम्बार आक्षेप कर रहा है, तो भी तुझे लज्जा नहीं आती ?

धृष्टद्युम्न उवाच

श्रूयते श्रूयते चेति क्षम्यते चेति माधव।
सदानार्योऽशुभः साधुं पुरुषं क्षेप्तुमिच्छति ॥११॥

धृष्टद्युम्न ने कहा—माधव ! मैंने तुम्हारी बात सुन ली, अच्छी प्रकार सुन ली। मैं ऐसी बातों की परवाह नहीं करता। दुष्ट और अनार्य पुरुष साधु पुरुषों पर ऐसे ही मिथ्या आक्षेप किया करते हैं।

क्षमा प्रशस्यते लोके न तु पापोऽर्हति क्षमाम्।
क्षमावन्तं हि पापात्मा जितोऽयमिति मन्यते ॥१२॥

संसार में क्षमाभाव की बड़ी प्रशंसा है, परन्तु पापी मनुष्य कभी क्षमा के योग्य नहीं होता, क्योंकि पापी मनुष्य तो क्षमाशील पुरुष को यही समझता है कि 'मैंने इसे जीत लिया है।'

स त्वं क्षुद्रसमाचारो नीचात्मा पापनिश्चयः।
आकेशाग्रान्नखाग्राच्च वक्तव्यो वक्तुमिच्छसि ॥१३॥

तू स्वयं ही दुराचारी, पापपूर्ण और नीच विचार रखनेवाला है। नख से चोटी तक पाप में डूबा होने के कारण निन्दा के योग्य है, फिर भी दूसरों की निन्दा करना चाहता है।

यः स भूरिश्रवाश्छिन्नभुजः प्रायगतस्त्वया।
वार्यमाणेन हि हतस्ततः पापतरं नु किम् ॥१४॥

भूरिश्रवा की भुजा काट दी गई थी। वे आमरण उपवास का व्रत लेकर मौन बैठे हुए थे। उस अवस्था में सबके मना करने पर भी जो तूने उनका वध किया, इससे बढ़कर महान् पापकर्म और क्या हो सकता है?

गाहमानो मया द्रोणो दिव्येनास्त्रेण संयुगे।
विसृष्टशस्त्रो निहतः किं तत्र क्रूर दुष्कृतम् ॥१५॥

ओ क्रूर! मैंने तो पहले ही रणभूमि में दिव्यास्त्र द्वारा द्रोणाचार्य को मथ डाला था, फिर वे हथियार डालकर मारे गये, तो इसमें मैंने कौन-सा पाप कर डाला?

अयुध्यमानं यस्त्वाजौ तथा प्रायगतं मुनिम्।
छिन्नबाहुं परैर्हन्यात् सात्यके स कथं वदेत् ॥१६॥

सात्यके! जो रणभूमि में मुनिवृत्ति का आश्रय ले आमरण उपवास का निश्चय लेकर बैठ गया हो, जो अपने साथ युद्ध न कर रहा हो और जिसकी भुजा शत्रु द्वारा काट दी गई हो, ऐसे मनुष्य को जो मार सकता है, वह दूसरे की निन्दा कैसे कर सकता है?

निहत्य त्वां पदा भूमौ स विकर्षति वीर्यवान्।
किं तदा न निहंस्येनं भूत्वा पुरुषसत्तमः ॥१७॥

जिस समय पराक्रमी भूरिश्रवा तुझे लात मारकर भूमि पर घसीट रहे थे, तू बड़ा श्रेष्ठ पुरुष था, तो उसी समय उन्हें क्यों नहीं मार डाला?

त्वया पुनरनार्येण पूर्वं पार्थेन निर्जितः।
यदा तदा हतः शूरः सौमदत्तिः प्रतापवान् ॥१८॥

जब अर्जुन ने पहले ही प्रतापी शूरवीर सोमदत्त-कुमार भूरिश्रवा को परास्त कर दिया, उस समय तूने उसका वध किया। तू कितना नीच है?

जोषमास्स्व न मां भूयो वक्तुमर्हस्यतः परम्।
अधरोत्तरमेतद्धि यन्मां त्वं वक्तुमर्हसि ॥१९॥

चुपचाप बैठा रह। अब फिर ऐसी बातें मुंह से न निकालना। तू मुझसे जो कुछ कहना चाहता है, वह तेरी अत्यन्त नीचता है।

अथ वक्ष्यसि मां मौर्ख्याद् भूयः परुषमीदृशम्।
गमयिष्यामि बाणैस्त्वां युधि वैवस्वतक्षयम् ॥२०॥

यदि मूर्खतावश तू पुनः मुझसे ऐसी कठोर बातें कहेगा, तो युद्ध में बाणों द्वारा मैं तुझे यमलोक पठा दूंगा।

तौ वृषाविव नर्दन्तौ बलिनौ बाहुशालिनौ।
त्वरया वासुदेवश्च धर्मराजश्च मारिष।
यत्नेन महता वीरौ वारयामासतुस्ततः ॥२१॥

अपनी भुजाओं से सुशोभित होनेवाले वे दोनों वीर दो साँडों के समान गर्ज रहे थे। आर्य! उस समय श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिर ने शीघ्रतापूर्वक महान् प्रयत्न करके उन दोनों वीरों को रोका।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४२॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

अश्वत्थामा द्वारा नारायणास्त्र का प्रयोग, श्रीकृष्ण द्वारा बताये उपाय से सैनिकों की रक्षा, भीमसेन के वीरोचित उद्गार और उसपर अस्त्र का प्रबल आक्रमण

सञ्जय उवाच

प्रादुश्चक्रे यदा द्रौणिरस्त्रं नारायणं तदा।
अभिसन्धाय पाण्डूनां पाञ्चालानां च वाहिनीम् ॥१॥
प्रादुरासंस्ततो बाणा दीप्ताग्राः खे सहस्रशः।
पाण्डवान् क्षपयिष्यन्तो दीप्तास्याः पन्नगा इव ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—जब द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने पाण्डवों और पाञ्चालों की सेना को लक्ष्य करके नारायणास्त्र प्रकट किया तब उससे आकाश में सहस्रों बाण प्रकट हुए। उन सबके अग्रभाग प्रज्वलित हो रहे थे। वे सभी बाण प्रज्वलित मुखवाले सर्पों के समान आकर पाण्डव-सैनिकों का विनाश करने के लिए उद्यत थे।

ते दिशः खं च सैन्यं च समावृण्वन् महाहवे।
मुहूर्ताद् भास्करस्येव लोके राजन् गभस्तयः ॥३॥

राजन् ! जैसे दो ही घड़ी में सूर्य की किरणें सारे संसार में फैल जाती हैं, वैसे ही उस महायुद्ध में वे बाण समस्त दिशाओं, आकाश और सम्पूर्ण सेनाओं में छा गये।

तथापरे द्योतमाना ज्योतींषीवामलाम्बरे ।
प्रादुरासन् महाराज कार्ष्णायसमया गुडाः ॥४॥

महाराज ! इसी प्रकार वहाँ निर्मल आकाश में प्रकाशित होनेवाले ज्योतिर्मय ग्रह-नक्षत्रों के समान काले लोहे के जलते हुए गोले भी प्रकट हो-होकर गिरने लगे।

शस्त्राकृतिभिराकीर्णमतीव पुरुषर्षभ ।
दृष्ट्वान्तरिक्षमाविग्नाः पाण्डुपाञ्जालसृञ्जयाः ॥५॥

नरश्रेष्ठ ! उस समय आकाश को अनेक प्रकार के शस्त्रों के आकारवाले पदार्थों से अत्यधिक व्याप्त हुआ देख पाण्डव, पाञ्चाल और सृञ्जय योद्धा उद्विग्न हो उठे।

यथा यथा ह्ययुध्यन्त पाण्डवानां महारथाः ।
तथा तथा तदस्त्रं वै व्यवर्धत जनाधिप ॥६॥

प्रजेश्वर ! पाण्डव महारथी जैसे-जैसे युद्ध करते थे, वैसे-वैसे ही उस अस्त्र का वेग बढ़ता जाता था।[1]

यथा हि शिशिरापाये दहेत् कक्षं हुताशनः ।
तथा तदस्त्रं पाण्डूनां ददाह ध्वजिनीं प्रभो ॥७॥

प्रभो ! जैसे सर्दी बीतने पर गर्मी में लगी हुई आग सूखे काठ या जंगल को जला डाले, उसी प्रकार वह अस्त्र पाण्डव-सेना को भस्म करने लगा।

आपूर्यमाणेनास्त्रेण सैन्यं क्षीयति च प्रभो ।
जगाम परमं त्रासं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥८॥

राजन् ! जब वह अस्त्र सब ओर व्याप्त हो गया और उसके द्वारा पाण्डव-सेना क्षीण होने लगी, तब धर्मपुत्र युधिष्ठिर बहुत भयभीत हुए।

द्रवमाणं तु तत्सैन्यं दृष्ट्वा विगतचेतनम् ।
मध्यस्थतां च पार्थस्य धर्मपुत्रोऽब्रवीदिदम् ॥९॥

अपनी उस सेना को अचेत होकर भागते हुए और कुन्तीकुमार अर्जुन को तटस्थभाव से खड़ा हुआ देखकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने इस प्रकार कहा—

धृष्टद्युम्न पलायस्व सह पाञ्चालसेनया ।
सात्यके त्वं च गच्छस्व वृष्ण्यन्धकवृतो गृहान् ॥१०॥

"धृष्टद्युम्न ! तुम पाञ्चालों की सेना के साथ भाग जाओ। सात्यके ! तुम भी वृष्णिवंशी और अन्धकवंशी वीरों को साथ लेकर घर चले जाओ।"

एवं ब्रुवति कौन्तेये दाशार्हस्त्वरितस्ततः ।
निवार्य सैन्यं बाहुभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥११॥

जिस समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ऐसा कह रहे थे, उसी समय श्रीकृष्ण ने तुरन्त ही अपनी दोनों भुजाओं के संकेत से सारी सेना को इस प्रकार कहा—

शीघ्रं न्यस्यत शस्त्राणि वाहेभ्यश्चावरोहत ।
एष योगोऽत्र विहितः प्रतिघेधे महात्मना ॥१२॥

---

१. महाभारत काल चरित्र की दृष्टि से रामायण जैसा समुन्नत नहीं था, परन्तु अस्त्र-शास्त्र, कला-कौशल, वास्तुनिर्माण आदि की दृष्टि से महाभारत काल में इतनी उन्नति हुई थी कि बीसवीं शताब्दी का वैज्ञानिक भी अभी वहाँ नहीं पहुँच पाया है। क्या सारे संसार में पाण्डवों के दिव्य सभा-भवन जैसा कोई भवन है? राक्षसों के पास तो विमानों की बहुलता प्रतीत होती है। विमान भी छोटे-छोटे [Monoplane]। जब चाहा और जहाँ चाहा तुरन्त उड़ गये।

महाभारत काल में अस्त्र-शस्त्र विद्या कितनी बढ़ी चढ़ी थी, उसकी एक झलक यहाँ द्रष्टव्य है, नारायण-अस्त्र के रूप में। इसमें क्या वैज्ञानिकता थी। यदि इस अस्त्र के समक्ष हथियार डाल दिये जाएँ तो यह निष्प्रभाव हो जाता था और अस्त्र-शस्त्र न डालकर इसका विरोध किया जाए तो यह सम्पूर्ण शक्ति के साथ केवल उसी व्यक्ति पर आक्रमण करता था। जो लोग समर्पण कर देते थे [अस्त्र-शस्त्र डाल देते थे], उन्हें यह अस्त्र हानि नहीं पहुँचाता था। अस्त्र जड़ होते हुए भी चेतन मनुष्य के समान व्यवहार करता था, यह थी इस नारायण-अस्त्र की सबसे बड़ी विशेषता। जहाँ तक हमारा ज्ञान है, आज के वैज्ञानिक इस प्रकार का कोई अस्त्र [Missile] नहीं बना सके हैं।

इस अस्त्र की एक और विशेषता भी थी। यदि एक बार प्रयोग असफल हो जाने पर इसका पुनः प्रयोग कर दिया जाए तो यह प्रयोगकर्ता को ही मार डालता था।

"योद्धाओ ! अपने अस्त्र-शस्त्र शीघ्र नीचे डाल दो और सवारियों से नीचे उतर जाओ। महात्मा नारायण ने इस शस्त्र के निवारण के लिए यही उपाय निश्चित किया है।

द्विपाश्वस्यन्दनेभ्यश्च क्षितिं सर्वे समापतन्।
एवमेतन्न वो हन्यादस्त्रं भूमौ निरायुधान् ॥१३॥

"तुम सब लोग हाथी, घोड़े और रथों से उतरकर पृथिवी पर खड़े हो जाओ। इस प्रकार भूमि पर निहत्थे खड़े हुए तुम लोगों को यह अस्त्र नहीं मार सकेगा।

यथा यथा हि युध्यन्ते योधा ह्यस्त्रमिदं प्रति।
तथा तथा भवन्त्येते कौरवा बलवत्तराः ॥१४॥

"हमारे योद्धा जैसे-जैसे इस अस्त्र के विरुद्ध युद्ध करते हैं, वैसे-ही-वैसे ये कौरव प्रबलतर होते जा रहे हैं।

निक्षेप्स्यन्ति च शस्त्राणि वाहनेभ्योऽवरुह्य ये।
तान्नैतदस्त्रं संग्रामे निहनिष्यति मानवान् ॥१५॥

"जो लोग अपने वाहनों से उतरकर हथियार नीचे डाल देंगे, उन मनुष्यों को संग्राम-भूमि में यह अस्त्र नहीं मारेगा।

ये त्वेतत्प्रतियोत्स्यन्ति मनसापीह केचन।
निहनिष्यति तान् सर्वान् रसातलगतानपि ॥१६॥

"जो कोई मन से भी इस अस्त्र का सामना करेंगे, वे यदि रसातल में भी पहुँच जाएँ तो भी यह अस्त्र वहाँ पहुंचकर उन सबको मार डालेगा।"

ते वचस्तस्य तत् श्रुत्वा वासुदेवस्य भारत।
ईषुः सर्वे समुत्स्रष्टुं मनोभिः करणेन च ॥१७॥

भरतभूषण ! श्रीकृष्ण का वह वचन सुनकर सब योद्धाओं ने अन्यान्य इन्द्रियों और मन से हथियारों को त्याग देने का विचार कर लिया।

तत उत्स्रष्टुकामांस्तानस्त्राण्यालक्ष्य पाण्डवः।
भीमसेनोऽब्रवीद् राजन्निदं संहर्षयन् वचः ॥१८॥

राजन् ! उस समय उन सबको अस्त्र त्यागने के लिए उद्यत हुआ देख भीमसेन ने उनमें हर्ष और उत्साह उत्पन्न करते हुए इस प्रकार कहा—

न कथञ्चन शस्त्राणि मोक्तव्यानीह केनचित्।
अहमावारयिष्यामि द्रोणपुत्रास्त्रमाशुगैः ॥१९॥

"किसी भी वीर को किसी प्रकार भी अपने हथियार नहीं डालने चाहिएँ। मैं शीघ्रगामी बाणों द्वारा द्रोणपुत्र के अस्त्र का निवारण करूँगा।

न हि मे विक्रमे तुल्यः कश्चिदस्ति पुमानिह।
यथैव सवितुस्तुल्यं ज्योतिरन्यन्न विद्यते ॥२०॥

"इस जगत् में मेरे पराक्रम की समानता करनेवाला दूसरा कोई मनुष्य नहीं है। ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्य के समान अन्य कोई ज्योतिर्मय ग्रह नहीं है।

पश्यतेमौ मे बाहू नागराजकरोपमौ।
समर्थौ पर्वतस्यापि शैशिरस्य निपातने ॥२१॥

"हाथी की सूंड के समान मोटी मेरी इन भुजाओं को तो देखो, ये हिमालय पर्वत को भी धराशायी करने में समर्थ हैं।

अद्य पश्यत मे वीर्यं बाह्वोः पीनांसयोर्युधि।
ज्वलमानस्य दीप्तस्य द्रौणेरस्त्रस्य वारणे ॥२२॥

"आज रणभूमि में मोटे कन्धोंवाली मेरी इन दोनों भुजाओं का बल देखो कि ये किस प्रकार अश्वत्थामा के प्रज्वलित तथा दीप्तिमान् अस्त्र के निवारण में समर्थ होती हैं।

यदि नारायणास्त्रस्य प्रतियोद्धा न विद्यते।
अद्यैतत् प्रतियोत्स्यामि पश्यत्सु कुरुपाण्डुषु ॥२३॥

"यदि इस नारायणास्त्र का सामना करनेवाला दूसरा कोई योद्धा आज तक पैदा नहीं हुआ है, तो आज मैं कौरवों और पाण्डवों के देखते-देखते इसका सामना करूँगा।

अर्जुनार्जुन बीभत्सो न न्यस्यं गाण्डिवं त्वया।
शशाङ्कस्येव ते पङ्को नैर्मल्यं पातयिष्यति ॥२४॥

"अर्जुन ! अर्जुन ! बीभत्सो ! तुम अपने गाण्डीव को नीचे मत डाल देना अन्यथा तुममें भी चन्द्रमा के समान कलङ्क लग जाएगा और वह तुम्हारी निर्मलता को नष्ट कर देगा।"

अर्जुन उवाच

भीम नारायणास्त्रे मे गोषु च ब्राह्मणेषु च।
एतेषु गाण्डिवं न्यस्यमेतद्धि व्रतमुत्तमम् ॥२५॥

अर्जुन बोले—भीम ! नारायणास्त्र, गौ और ब्राह्मण—इनके समक्ष गाण्डीव धनुष को नीचे डाल दिया जाए, यही मेरा उत्तम व्रत है।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तस्ततो भीमो द्रोणपुत्रमरिन्दमम् ।
अभ्ययान्मेघघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ॥२६॥

सञ्जय कहते हैं—अर्जुन के ऐसा कहने पर भीमसेन अकेले ही सूर्य के समान तेजस्वी और मेघ-गर्जना के समान गम्भीर घोष करनेवाले रथ के द्वारा शत्रुदमन द्रोणपुत्र का सामना करने के लिए चल दिये।

तदस्त्रं द्रोणपुत्रस्य तस्मिन् प्रतिसमस्यति ।
अवर्धत महाराज यथाग्निरनिलोद्धतः ॥२७॥

महाराज ! भीमसेन जब द्रोणपुत्र के उस अस्त्र के सामने बाण मारने लगे, उस समय वह वायु का सहारा पाकर धधक उठनेवाली अग्नि की भाँति प्रचण्ड वेग से बढ़ने लगा।

विवर्धमानमालक्ष्य तदस्त्रं भीमविक्रमम् ।
पाण्डुसैन्यमृते भीमं सुमहद् भयमाविशत् ॥२८॥

उस अस्त्र को बढ़ते देख भयंकर पराक्रमी भीमसेन को छोड़कर शेष सारी पाण्डव-सेना पर भय छा गया।

ततः शस्त्राणि ते सर्वे समुत्सृज्य महीतले ।
अवारोहन् रथेभ्यश्च हस्त्यश्वेभ्यश्च सर्वशः ॥२९॥

तब वे समस्त सैनिक अपने अस्त्र-शस्त्रों को भूमि पर डालकर रथ, हाथी और घोड़े आदि सभी वाहनों से उतर गये।

तेषु निक्षिप्तशस्त्रेषु वाहनेभ्यश्च्युतेषु च ।
तदस्त्रवीर्यं विपुलं भीममूर्धन्यथापतत् ॥३०॥

उनके हथियार डाल देने और वाहनों से उतर जाने पर उस अस्त्र की विशाल शक्ति केवल भीमसेन के माथे पर आ पड़ी।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४३॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण का भीम को रथ से उतारकर नारायणास्त्र को शान्त करना

सञ्जय उवाच

भीमसेनं समाकीर्णं दृष्ट्वास्त्रेण धनञ्जयः ।
तेजसः प्रतिघातार्थं वारुणेन समावृणोत् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! भीमसेन को उस अस्त्र से घिरा हुआ देख अर्जुन ने उन्हें उसके तेज का निवारण करने के लिए वारुणास्त्र से ढक दिया।

अर्जुनो वासुदेवश्च त्वरमाणौ महाद्युती ।
अवप्लुत्य रथाद् वीरौ भीममाद्रवतां ततः ॥२॥

फिर महातेजस्वी अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों वीर बड़ी फुर्ती के साथ रथ से कूदकर भीमसेन की ओर दौड़े।

ततस्तद् द्रोणपुत्रस्य तेजोऽस्त्रबलसम्भवम् ।
विगाह्य तौ सुबलिनौ माययाऽऽविशतां तथा ॥३॥

वहाँ पहुँचकर वे दोनों अत्यन्त बलवान् वीर द्रोणपुत्र की अस्त्रशक्ति से प्रकट हुई उस आग में माया द्वारा प्रविष्ट हो गये।

न्यस्तशस्त्रौ ततस्तौ तु नादहत् सोऽस्त्रजोऽनलः ।
वारुणास्त्रप्रयोगाच्च वीर्यवत्त्वाच्च कृष्णयोः ॥४॥

उन दोनों ने अपने हथियार डाल दिये थे, वारुणास्त्र का प्रयोग किया था और वे दोनों कृष्ण अत्यन्त बलशाली थे, अतः वह अस्त्रजनित अग्नि उन्हें न जला सकी।

ततश्चकृषतुर्भीमं सर्वशस्त्रायुधानि च ।
नारायणास्त्रशान्त्यर्थं नरनारायणौ बलात् ॥५॥

भीम के पास पहुँचकर अर्जुन और श्रीकृष्ण ने उस नारायणास्त्र की शान्ति के लिए भीमसेन को और उनके सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रों को नीचे खींचा।

आकृष्यमाणः कौन्तेयो नदत्येव महारवम् ।
वर्धते चैव तद् घोरं द्रौणेरस्त्रं सुदुर्जयम् ॥६॥

खींचे जाते समय कुन्तीपुत्र भीमसेन और भी जोर-जोर से गर्जना करने लगे। इससे अश्वत्थामा का वह परम दुर्जय घोर अस्त्र और भी बढ़ने लगा।

तमब्रवीद् वासुदेवः किमिदं पाण्डुनन्दन ।
वार्यमाणोऽपि कौन्तेय यद् युद्धान्न निवर्तसे ॥७॥
यदि युद्धेन जेयाः स्युरिमे कौरवनन्दनाः ।
वयमप्यत्र युध्येम तथा चेमे नरर्षभाः ॥८॥

उस समय श्रीकृष्ण ने उनसे कहा—"पाण्डुनन्दन! कुन्तीकुमार ! यह क्या बात है कि तुम मना करने पर भी युद्ध से निवृत्त नहीं हो रहे हो ? यदि ये कौरवनन्दन इस समय युद्ध से ही जीते जा सकते तो हम और ये सभी नरश्रेष्ठ राजा लोग युद्ध ही करते।

रथेभ्यस्त्वतीर्णाः स्म सर्व एव हि तावकाः ।
तस्मात् त्वमपि कौन्तेय रथात् तूर्णमपाक्रम ॥९॥

"तुम्हारे सभी सैनिक रथ से उतर गये हैं। कुन्तीकुमार ! अब तुम भी तुरन्त रथ से उतरकर युद्ध से अलग हो जाओ।"

एवमुक्त्वा तु तं कृष्णो रथाद् भूमिमवर्तयत् ।
निःश्वसन्तं यथा नागं क्रोधसंरक्तलोचनम् ॥१०॥

ऐसा कहकर श्रीकृष्ण ने क्रोध से लाल आँखें करके साँप के समान फुंकारते हुए भीमसेन को रथ से भूमि पर उतार लिया।

यदापकृष्टः स रथान्न्यासितश्चायुधं भुवि ।
ततो नारायणास्त्रं तत् प्रशान्तं शत्रुतापनम् ॥११॥

जब भीम रथ से नीचे उतर गये और उनसे अस्त्र-शस्त्रों को भूमि पर डलवा दिया गया, तब वह शत्रुओं को सन्ताप देनेवाला नाराणास्त्र स्वयं शान्त हो गया।

तस्मिन् प्रशान्ते विधिना तेन तेजसि दुःसहे ।
बभूवुर्विमलाः सर्वा दिशः प्रदिश एव च ॥१२॥

राजन् ! उस विधि से उस दुःसह तेज के शान्त हो जाने पर सारी दिशाएँ और विदिशाएं निर्मल हो गईं।

प्रववुश्च शिवा वाताः प्रशान्ता मृगपक्षिणः ।
वाहनानि च हृष्टानि प्रशान्तेऽस्त्रे सुदुर्जये ॥१३॥

उस दुर्जय अस्त्र के शान्त होने पर शीतल सुखद वायु चलने लगी। पशु-पक्षियों का आर्तनाद बन्द हो गया और सारे वाहन भी सुखी हो गये।

हतशेषं बलं तत्तु पाण्डवानामतिष्ठत ।
अस्त्रव्युपरमाद्धृष्टं तव पुत्रजिघांसया ॥१४॥

पाण्डवों की जो सेना मरने से बच गई थी, वह उस अस्त्र के शान्त हो जाने से पुनः आपके पुत्र का विनाश करने के लिए हर्षित हो उठी।

व्यवस्थिते बले तस्मिन्नस्त्रे प्रतिहते तथा ।
दुर्योधनो महाराज द्रोणपुत्रमथाब्रवीत् ॥१५॥

महाराज ! उस अस्त्र के निष्फल और पाण्डु-सेना के सुव्यवस्थित हो जाने पर दुर्योधन ने द्रोणपुत्र से इस प्रकार कहा—

अश्वत्थामन् पुनः शीघ्रमस्त्रमेतत् प्रयोजय ।
अवस्थिता हि पाञ्चालाः पुनरेते जयैषिणः ॥१६॥

"अश्वत्थामन् ! तुम एक बार फिर शीघ्र इसी अस्त्र का प्रयोग करो, क्योंकि विजय-अभिलाषी ये पाञ्चाल सैनिक पुनः युद्ध के लिए आकर डट गये हैं।"

अश्वत्थामा तथोक्तस्तु तव पुत्रेण मारिष ।
सुदीनमभिनिःश्वस्य राजानमिदमब्रवीत् ॥१७॥

आर्य नरेश ! आपके पुत्र के ऐसा कहने पर अश्वत्थामा ने दीनभाव से लम्बी साँस छोड़कर राजा दुर्योधन से इस प्रकार कहा—

नैतदावर्तते राजन्नस्त्रं द्विर्नोपपद्यते ।
आवृत्तं हि निवर्तेत प्रयोक्तारं न संशयः ॥१८॥

"राजन् ! न तो यह अस्त्र दुबारा लौटता है और न इसका दूसरी बार प्रयोग ही हो सकता है। यदि इसका पुनः प्रयोग किया जाए तो यह प्रयोग कर्ता को ही मार डालता है, इसमें संशय नहीं है।

एष चास्त्रप्रतीघातं वासुदेवः प्रयुक्तवान् ।
अन्यथा विहितः संख्ये वधः शत्रोर्जनाधिप ॥१९॥

"जनेश्वर ! श्रीकृष्ण ने इस अस्त्र के निवारण का उपाय बता दिया है और उसका प्रयोग किया है, अन्यथा आज युद्ध में सम्पूर्ण शत्रुओं का वध हो ही गया होता।

पराजयो वा मृत्युर्वा श्रेयान् मृत्युर्न निर्जयः ।
विजिताश्चारयो ह्येते शस्त्रोत्सर्गान्मृतोपमाः ॥२०॥

"पराजय हो या मृत्यु, इनमें मृत्यु ही श्रेष्ठ है, पराजय नहीं। ये सारे शत्रु हार गये थे, हथियार डालकर मुर्दे के समान हो गये थे।"

एवमुक्त्वा धनुस्त्यक्त्वा रथात् प्रस्कन्द्य वेगतः ।
वरूथिनीमश्वत्थामा ह्यवहारमकारयत् ॥२१॥

ऐसा कहकर अश्वत्थामा धनुष त्यागकर रथ से

कूद पड़ा और अपनी सेना को छावनी में लौटने की आज्ञा दे दी।

ततः प्रत्यवहारोऽभूत् पाण्डवानां विशाम्पते।
कौरवाणां च दीनानां द्रोणे युधि निपातिते ॥२२॥

प्रजानाथ! युद्धस्थल में द्रोणाचार्य के मारे जाने के पश्चात् पाण्डवों तथा दीन कौरवों की सेनाएँ अपने-अपने शिविर की ओर चल दीं।

युद्धं कृत्वा दिनान् पञ्च द्रोणो हत्वा वरूथिनीम्।
ब्रह्मलोकं गतो राजन् ब्राह्मणो वेदपारगः ॥२३

राजन्! इस प्रकार वेदों के पारंगत विद्वान् द्रोणाचार्य पाँच दिन तक युद्ध और शत्रु-सेना का संहार करके ब्रह्मलोक को चले गये।

इति महाभारते द्रोणपर्वणि चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४४॥

इति द्रोणपर्व सम्पूर्णम् ॥

कर्णपर्व

प्रथमोऽध्यायः

कर्ण का सेनापति-पद पर अभिषेक और युद्ध आरम्भ

सञ्जय उवाच

हते द्रोणे महेष्वासे प्रविश्य शिविरं स्वकम् ।
कुरवः सुहितं मन्त्रं मन्त्रयाञ्चक्रिरे मिथः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! महाधनुर्धर द्रोणाचार्य के मारे जाने पर, अपने शिविर में प्रवेश करने के पश्चात् समस्त कौरव अपने हित के लिए परस्पर गुप्त मन्त्रणा करने लगे ।

दुर्योधन उवाच

मतं मतिमतां श्रेष्ठाः सर्वे प्रब्रूत माचिरम् ।
एवं गते तु किं कार्यं किं च कार्यतरं नृपाः ॥२॥

दुर्योधन बोला—बुद्धिमानों में श्रेष्ठ प्रजेश्वर-मण्डल ! तुम सब शीघ्र बोलो, देर मत करो । इस अवस्था में हमें क्या करना चाहिए और सबसे अधिक आवश्यक कर्तव्य क्या है ?

अश्वत्थामोवाच

रागो योगस्तथा दाक्ष्यं नयश्चेत्यर्थसाधकाः ।
उपायाः पण्डितैः प्रोक्तास्ते तु दैवमुपाश्रिताः ॥३॥

अश्वत्थामा ने कहा—विद्वानों ने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि देनेवाले चार उपाय बताये हैं—राग=राजा के प्रति सैनिकों की भक्ति, योग=साधन-सम्पत्ति, दक्षता=उत्साह, बल और कौशल तथा नीति—परन्तु ये सभी दैव के अधीन हैं ।

लोकप्रवीरा येऽस्माकं दक्षा रक्ताश्च ते हताः ।
न त्वेव कार्यं नैराश्यमस्माभिर्विजयं प्रति ॥४॥

यद्यपि हमारे पक्ष में जो विश्वविख्यात महारथी वीर, दक्ष और स्वामी के प्रति अनुरक्त थे, वे सब-के-सब मारे गये, तथापि हमें अपनी विजय के प्रति निराश नहीं होना चाहिए ।

सुनीतैरिह सर्वार्थैर्दैवमप्यनुलोम्यते ।
ते वयं प्रवरं नृणां सर्वैर्गुणगणैर्युतम् ॥५॥
कर्णमेवाभिषेक्ष्यामः सैनापत्येन भारत ।
कर्णं सेनापतिं कृत्वा प्रमथिष्यामहे रिपून् ॥६॥

हे भारत ! यदि समस्त कार्य उत्तम नीति के अनुसार किये जाएँ तो उनके द्वारा दैव को भी अनुकूल किया जा सकता है, अतः हम लोग सर्वगुण-सम्पन्न नरश्रेष्ठ कर्ण का सेनापति-पद पर अभिषेक करेंगे और इन्हीं के नेतृत्व में शत्रुओं को मथ डालेंगे ।

एष ह्यतिबलः शूरः कृतास्त्रो युद्धदुर्मदः ।
वैवस्वत इवासह्यः शक्तो जेतुं रणे रिपून् ॥७॥

ये कर्ण अत्यन्त बलवान्, शूरवीर, अस्त्रों के ज्ञाता, रणदुर्मद और यमराज के समान शत्रुओं के लिए असह्य हैं, अतः ये रणभूमि में हमारे शत्रुओं पर विजय पा सकते हैं ।

वृषो महेन्द्रो देवेषु वृषः कर्णो नरेष्वपि ।
तृतीयमन्यं लोकेषु वृषं नैवानुशुश्रुम ॥८॥

देवताओं में देवराज इन्द्र को वृष [जल-वृष्टि-कर्ता] कहा गया है, मनुष्यों में कर्ण वृष [दानशील] कहलाता है—इन दो के अतिरिक्त किसी तीसरे पुरुष को तीनों लोकों में 'वृष' नाम दिया गया हो, ऐसा मैंने नहीं सुना ।

उच्चैःश्रवा वरोऽश्वानां राज्ञां वैश्रवणो वरः ।
वरो महेन्द्रो देवानां कर्णः प्रहरतां वरः ॥९॥

जैसे घोड़ों में उच्चैःश्रवा, राजाओं में कुबेर और

देवताओं में इन्द्र श्रेष्ठ हैं, वैसे ही कर्ण भी योद्धाओं में श्रेष्ठ हैं।

सञ्जय उवाच

एतदाचार्यतनयात् श्रुत्वा राजँस्तवात्मजः।
आशां बहुमतीं चक्रे कर्णं प्रति स वै तदा ॥१०॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! उस समय आचार्य-पुत्र अश्वत्थामा के मुख से यह बात सुनकर आपके पुत्र दुर्योधन ने कर्ण के प्रति विशेष आशा बाँध ली।

हते भीष्मे च द्रोणे च कर्णो जेष्यति पाण्डवान्।
तामाशां हृदये कृत्वा स कर्णमिदमब्रवीत् ॥११॥

भीष्म और द्रोण के मारे जाने पर कर्ण पाण्डवों को जीत लेगा, इस आशा को हृदय में रखकर दुर्योधन ने कर्ण से इस प्रकार कहा—

कर्ण जानामि ते वीर्यं सौहृदं परमं मयि।
त्वत्समं समरे योधं नान्यं पश्यामि चिन्तयन् ॥१२॥

"कर्ण! मैं तुम्हारे पराक्रम को जानता हूँ और तुम्हारा मेरे प्रति जो अत्यधिक स्नेह है उसे भी अनुभव करता हूँ। मैं बहुत सोचने पर भी रणभूमि में तुम्हारे समान किसी दूसरे योद्धा को नहीं देखता।

भवानेव तु नः शक्तो विजयाय न संशयः।
पूर्वं मध्ये च पश्चाच्च तथैव विहितं हितम् ॥१३॥

"हममें से तुम्हीं शत्रुओं पर विजय पाने में समर्थ हो, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। तुमने पहले, बीच में और पीछे भी हमारा हित ही किया है।

स भवान् धुर्यवत् संख्ये धुरमुद्वोढुमर्हति।
अभिषेचय सैनान्ये स्वयमात्मानमात्मना ॥१४॥

"तुम धुरन्धर पुरुष की भाँति रणभूमि में सेना-सञ्चालन का भार वहन करने के योग्य हो, अतः तुम स्वयं ही अपने-आपको सेनापति-पद पर अभिषिक्त कराओ।

यथा ह्यभ्युदितः सूर्यः प्रतपन् स्वेन तेजसा।
व्यपोहति तमस्तीव्रं तथा शत्रून् प्रतापय ॥१५॥

"जैसे उदय होता हुआ सूर्य अपने तेज से तपता हुआ घोर अन्धकार को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार तुम भी शत्रुओं को सन्तप्त एवं नष्ट करो।"

कर्ण उवाच

उक्तमेतन्मया पूर्वं गान्धारे तव सन्निधौ।
जेष्यामि पाण्डवान्सर्वान्सपुत्रान् सजनार्दनान् ॥१६॥

कर्ण बोला—गान्धारीनन्दन! मैंने तुमसे पहले ही कहा था कि मैं पाण्डवों को उनके पुत्रों और श्रीकृष्ण के साथ ही परास्त कर दूँगा।

सेनापतिर्भविष्यामि तवाहं नात्र संशयः।
स्थिरो भव महाराज जितान् विद्धि च पाण्डवान् ॥१७॥

महाराज! आप धैर्य धारण करें। मैं आपका सेनापति बनूँगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अब आप पाण्डवों को परास्त हुआ ही समझो।

सञ्जय उवाच

ततोऽभिषिषिचुः कर्णं विधिदृष्टेन कर्मणा।
दुर्योधनमुखा राजन् राजानो विजयैषिणः ॥१८॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! कर्ण के ऐसा कहने पर विजयाभिलाषी दुर्योधन आदि राजाओं ने शास्त्रोक्त विधि के अनुसार कर्ण का सेनापति-पद पर अभिषेक किया।

सैनापत्ये तु राधेयमभिषिच्य सुतस्तव।
अमन्यत तदात्मानं कृतार्थं कालनोदितः ॥१९॥

काल से प्रेरित हुआ आपका पुत्र दुर्योधन राधा-पुत्र कर्ण को सेनापति के पद पर अभिषिक्त करके अपने-आपको कृतकृत्य मानने लगा।

कर्णोऽपि राजन् सम्प्राप्य सैनापत्यमरिन्दमः।
योगमाज्ञापयामास सूर्यस्योदयनं प्रति ॥२०॥

राजन्! शत्रुदमन कर्ण ने भी सेनापति का पद प्राप्त करके सूर्योदय के समय सेना को युद्ध के लिए तैयार होने की आज्ञा दे दी।

धृतराष्ट्र उवाच

सैनापत्यं तु सम्प्राप्य कर्णो वैकर्तनस्तदा।
अकरोत् किं महाप्राज्ञस्तन्ममाचक्ष्व सञ्जय ॥२१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय! सेनापति का पद प्राप्त करके महाबुद्धिमान् वैकर्तन कर्ण ने क्या किया? यह मुझे बताओ।

सञ्जय उवाच

कर्णस्य मतमाज्ञाय पुत्रास्ते पुरुषर्षभ।
योगमाज्ञापयामासुर्नन्दितूर्यपुरःसरम् ॥२२॥

सञ्जय ने कहा—भरतभूषण! कर्ण का मत

जानकर आपके पुत्रों ने आनन्दमय वाद्यों=वाजों के साथ सैना को तैयार होने का आदेश दे दिया ।

महत्यपररात्रे च तव सैन्यस्य मारिष ।
योगो योगेति सहसा प्रादुरासीन्महास्वनः ॥२३॥

आर्य ! बहुत भोर में ही आपकी सेना में सहसा "तैयार हो जाओ, तैयार हो जाओ" का महानाद गूंज उठा ।

ततो दिव्येन धनुषा बलाकावर्णवाजिना ।
रथेनाभिपताकेन सूतपुत्रोऽभ्यदृश्यत ॥२४॥

तत्पश्चात् सूतपुत्र कर्ण रणयात्रा के लिए उद्यत दिखाई दिया । उसके रथ पर ध्वजा फहरा रही थी, उसमें बगुलों के समान सफेद रंग के घोड़े जुते हुए थे और दिव्य धनुष रखा हुआ था ।

ध्मापयन् वारिजं राजन् हेमजालविभूषितम् ।
विधुन्वानो महच्चापं कार्तस्वरविभूषितम् ॥२५॥

राजन् ! कर्ण सोने की जालियों से मण्डित शंख को बजाता हुआ अपने सुवर्ण-जटित विशाल धनुष की टंकार कर रहा था ।

दृष्ट्वा कर्णं महेष्वासं मेनिरे तत्र कौरवाः ।
न भीष्मव्यसनं केचिन्नापि द्रोणस्य मारिष ॥२६॥

पूजनीय नरेश ! महाधनुर्धर कर्ण को देखकर कोई भी कौरव भीष्म और द्रोणाचार्य के मारे जाने के दुःख को कुछ भी नहीं समझते थे ।

ततस्तु त्वरयन् योधाञ्शंखशब्देन मारिष ।
कर्णो निष्कर्षयामास कौरवाणां महद् बलम् ॥२७॥

आर्य ! उस समय शंखध्वनि द्वारा योद्धाओं को शीघ्रता करने का आदेश देते हुए कर्ण ने कौरवों की विशाल वाहिनी को शिविरों से बाहर निकाला ।

व्यूहं व्यूह्य महेष्वासो मकरं शत्रुतापनः ।
प्रत्युद्ययौ तथा कर्णः पाण्डवान् विजिगीषया ॥२८॥

तदनन्तर शत्रुसन्तापक महाधनुर्धर कर्ण पाण्डवों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से अपनी सेना का मकर-व्यूह बनाकर आगे बढ़ा ।

तथा प्रयाते राजेन्द्र कर्णे नरवरोत्तमे ।
धनञ्जयमभिप्रेक्ष्य धर्मराजोऽब्रवीदिदम् ॥२९॥

राजेन्द्र ! मनुष्यों में श्रेष्ठ कर्ण को इस प्रकार युद्ध-यात्रा के लिए प्रस्थान करते देख धर्मराज युधिष्ठिर ने अर्जुन की ओर देखकर इस प्रकार कहा—

पश्य पार्थ यथा सेना धार्तराष्ट्रीह संयुगे ।
कर्णेन विहिता वीर गुप्ता वीरैर्महारथैः ॥३०॥

"वीर पार्थ ! देखो, इस समय रणक्षेत्र में धृतराष्ट्रपुत्रों की सेना कैसी स्थिति में है ? कर्ण ने वीर महारथियों द्वारा इसे किस प्रकार सुरक्षित कर दिया है ?

हतवीरतमा ह्येषा धार्तराष्ट्री महाचमूः ।
फल्गुशेषा महाबाहो तृणैस्तुल्या मता मम ॥३१॥

"महाबाहो ! कौरवों की इस विशाल वाहिनी के प्रमुख वीर तो मारे जा चुके हैं । अब इसके तुच्छ सैनिक ही शेष हैं । मुझे तो अब यह तिनकों के समान तुच्छ प्रतीत होती है ।

एको ह्यत्र महेष्वासः सूतपुत्रो विराजते ।
तं हत्वाद्य महाबाहो विजयस्तव फाल्गुन ॥३२॥
उद्धृतश्च भवेच्छल्यो मम द्वादशवार्षिकः ।
एवं ज्ञात्वा महाबाहो व्यूहं व्यूह यथेच्छसि ॥३३॥

"इस सेना में एकमात्र महाधनुर्धर सूतपुत्र कर्ण ही सुशोभित हो रहे हैं । महाबाहो ! आज उसी कर्ण को मारकर तुम्हारी विजय होगी और मेरे हृदय में बारह वर्षों से जो शल्य=कांटा कसक रहा है, वह निकल जाएगा । फाल्गुन ! ऐसा जानकर तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसे व्यूह की रचना करो ।"

भ्रातुरेतद् वचः श्रुत्वा पाण्डवः श्वेतवाहनः ।
अर्धचन्द्रेण व्यूहेन प्रत्यव्यूहत तां चमूम् ॥३४॥

राजन् ! भाई की यह बात सुनकर श्वेतवाहन पाण्डुकुमार अर्जुन ने उस कौरव-सेना के मुकाबले में अपनी सेना को अर्धचन्द्राकार व्यूह में व्यवस्थित किया ।

उभे सैन्ये महाराज प्रहृष्टनरसंकुले ।
योद्धुकामे स्थिते राजन् हन्तुमन्योन्यमोजसा ॥३५॥

महाराज ! वे दोनों सेनाएं हर्षोत्फुल्ल मनुष्यों से भरी थीं । राजन् ! वे बलपूर्वक एक-दूसरे पर प्रहार करने और जूझने की इच्छा से रणक्षेत्र में आकर खड़ी हो गईं ।

नृत्यमाने च ते सेने समेयातां परस्परम् ।
तयोः पक्षप्रपक्षेभ्यो निर्जग्मुस्ते युयुत्सवः ॥३६॥

वे दोनों सेनाएँ परस्पर नृत्य करती हुई-सी भिड़ गईं। युद्धाभिलाषी वीर उन दोनों व्यूहों के पक्ष और प्रपक्ष से निकलने लगे।

ततः प्रववृते युद्धं नरवारणवाजिनाम् ।
रथानां च महाराज अन्योन्यमभिनिघ्नताम् ॥३७॥

महाराज ! तत्पश्चात् एक-दूसरे पर आघात करनेवाले मनुष्यों, हाथी, घोड़ों और रथों का वह महान् युद्ध आरम्भ हो गया।

इति महाभारते कर्णपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

भीम द्वारा क्षेमधूर्ति का वध, अश्वत्थामा का भीम पर आक्रमण और दोनों का मूर्च्छित होना

सञ्जय उवाच

रथा रथैर्विमथिता मत्ता मत्तैर्द्विपा द्विपैः ।
सादिनः सादिभिश्चैव तस्मिन् परमसंकुले ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! उस घमासान युद्ध में रथों ने रथियों को मथ डाला, मतवाले हाथियों ने मदमत्त गजराजों को धराशायी कर दिया और घुड़सवारों ने घुड़सवारों को कुचल डाला।

रथैर्नरा रथा नागैरश्वारोहाश्च पत्तिभिः ।
अश्वारोहैः पदाताश्च निहता युधि शेरते ॥२॥

रथियों द्वारा मारे गये पैदल मनुष्य, हाथियों द्वारा रौंदे गये रथ और रथी, पैदलों द्वारा मौत के घाट उतारे गये घुड़सवार तथा घुड़सवारों द्वारा काल के गाल में भेजे गये पैदल सैनिक उस रणभूमि में सो रहे थे।

तया तस्मिन् बले शूरैर्वध्यमाने हतेऽपि च ।
अस्मानभ्याययुः पार्था वृकोदरपुरोगमाः ॥३॥

इस प्रकार जब शूरवीरों द्वारा वह सेना मारी जाने लगी और मारी गई, तब कुन्ती के पुत्रों ने भीमसेन को आगे रखकर हम लोगों पर आक्रमण किया।

तस्य सैन्यस्य महतो महामात्रवरैर्वृतः ।
मध्ये वृकोदरोऽभ्यायात् त्वदीयान् नागधूर्गतः ॥४॥

पाण्डवों की उस विशाल सेना के मध्य में हाथी की पीठ पर बड़े-बड़े महावतों से घिरकर बैठे हुए भीमसेन आपके सैनिकों की ओर बढ़े आ रहे थे।

तं दृष्ट्वा द्विरदं दूरात् क्षेमधूर्तिर्द्विपस्थितः ।
आह्वयन्नभिदुद्राव प्रमनाः प्रमनस्तरम् ॥५॥

उनके उस हाथी को दूर से ही देखकर हाथी पर ही बैठे हुए महामना क्षेमधूर्ति ने महामनस्वी भीमसेन को ललकारते हुए उनपर आक्रमण किया।

तयोः समभवद् युद्धं द्विपयोरुग्ररूपयोः ।
यदृच्छया द्रुमवतोर्महापर्वतयोरिव ॥६॥

जैसे वृक्षों से लदे हुए दो महान् पर्वत दैवेच्छा से आपस में टकरा रहे हों, वैसे ही भयानक रूपधारी उन दोनों गजराजों में भीषण युद्ध छिड़ गया।

समुद्यतकराभ्यां तौ द्विपाभ्यां कृतिनावुभौ ।
वातोद्धूतपताकाभ्यां युयुधाते महाबलौ ॥७॥

वे दोनों अत्यन्त बलवान् और विद्वान् योद्धा उन सूंड उठाये हुए दोनों हाथियों द्वारा युद्ध कर रहे थे। उस समय हाथियों पर लगी हुई पताकाएँ वायु के वेग से फहरा रही थीं।

तावन्योन्यस्य धनुषी छित्त्वान्योन्यं विनेदतुः ।
शक्तितोमरवर्षेण प्रावृण्मेघाविवाम्बुभिः ॥८॥

जैसे वर्षाकालीन दो मेघ जल बरसा रहे हों, वैसे ही वे दोनों शक्ति और तोमरों की वृष्टि से एक-दूसरे के धनुष को काटकर परस्पर गर्जन-तर्जन करने लगे।

ततः क्रुद्धो रणे भीमं क्षेमधूर्तिः पराभिनत् ।
जघान चास्य द्विरदं नाराचैः सर्वमर्मसु ॥९॥

इसी बीच क्षेमधूर्ति ने क्रुद्ध हो युद्धस्थल में भीमसेन पर गहरा आघात किया और अनेक नाराचों द्वारा उनके हाथी के समस्त मर्मस्थानों में चोट पहुँचाई।

स पपात महानागो भीमसेनस्य भारत।
पुरा नागस्य पतनादवप्लुत्य स्थितो महीम् ॥१०॥

हे भारत! उस आघात से भीमसेन का वह महागजराज पृथिवी पर गिर पड़ा। उसके गिरने से पूर्व ही भीमसेन हाथी से कूदकर भूमि पर खड़े हो गये।

तस्य भीमोऽपि द्विरदं गदया समपोथयत्।
तस्मात्प्रमथितान्नागात् क्षेमधूर्तिमवप्लुतम् ॥११॥
उद्यतायुधमायान्तं गदयाहन् वृकोदरः।
स पपात हतः सासिर्व्यसुस्तमभितो द्विपम् ॥१२॥

फिर भीमसेन ने अपनी गदा से क्षेमधूर्ति के हाथी को मार डाला। तत्पश्चात् जब उस मरे हुए हाथी से कूदकर क्षेमधूर्ति हाथ में तलवार उठाये आगे बढ़ने लगा, तब भीमसेन ने उसपर भी गदा से प्रहार किया। गदा की चोट से उसके प्राणपखेरू उड़ गये और वह तलवार पकड़े हुए अपने हाथी के पास ही गिर पड़ा।

तं हतं नृपतिं दृष्ट्वा कुलूतानां यशस्करम्।
प्राद्रवद् व्यथिता सेना त्वदीया भरतर्षभ ॥१३॥

भरतभूषण! कुलूतों का यश बढ़ानेवाले राजा क्षेमधूर्ति को मारा गया देख आपकी सेना व्यथित होकर भागने लगी।

द्रौणिस्ततोऽभ्ययात् तूर्णं भीमसेनं महाबलम्।
ततः समागमो घोरो बभूव सहसा तयोः ॥१४॥

कौरव-सेना को भागते हुए देख अश्वत्थामा ने तुरन्त ही महाबली भीम पर धावा किया, फिर तो उन दोनों वीरों में सहसा घोर युद्ध छिड़ गया।

तावन्योन्यं शरैर्घोरैश्छादयानौ महारथौ।
रथचर्यंगतौ वीरौ शुशुभाते बलोत्कटौ ॥१५॥

वे दोनों बलोन्मत्त महारथी वीर श्रेष्ठ रथों पर बैठकर एक-दूसरे को भयंकर बाणों द्वारा आच्छादित करते हुए अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे।

व्याघ्राविव च संग्रामे चेरतुस्तौ नरोत्तमौ।
शरदंष्ट्रौ दुराधर्षौ चापवक्त्रौ भयंकरौ ॥१६॥

वे दोनों ही पुरुषश्रेष्ठ रणभूमि में दो व्याघ्रों के समान विचर रहे थे, धनुष ही उन व्याघ्रों के मुख और बाण ही उनकी दाढ़ें थीं। वे दोनों ही दुर्धर्ष और भयंकर प्रतीत होते थे।

बभूव तुमुलं युद्धं तयोः पुरुषसिंहयोः।
चरित्वा विविधान् मार्गान् मण्डलस्थानमेव च ॥१७

उन दोनों पुरुषसिंहों में मण्डलाकार घूमकर भाँति-भाँति के पैंतरे दिखाते हुए भयंकर युद्ध होने लगा।

ततः क्रुद्धौ महाराज बाणौ गृह्य महाहवे।
उभौ चिक्षिपतुस्तूर्णमन्योन्यस्य वधैषिणौ ॥१८॥

महाराज! तत्पश्चात् उस महायुद्ध में क्रुद्ध हो उन दोनों ने एक-दूसरे को मार डालने की इच्छा से तुरन्त दो बाण लेकर चलाये।

तौ सायकौ महाराज द्योतमानौ चमूमुखे।
आजघ्नतुः समासाद्य वज्रवेगौ दुरासदौ ॥१९॥

राजन्! वे दोनों बाण सेना के मुहाने पर चमक उठे। उन दोनों का वेग वज्र के समान था। उन दुर्जय बाणों ने दोनों के पास पहुँचकर उन्हें घायल कर दिया।

तौ परस्परवेगाच्च शराभ्यां च भृशाहतौ।
निपेततुर्महावीर्यौ रथोपस्थे तयोस्तदा ॥२०॥

परस्पर के वेग से छूटे हुए उन बाणों द्वारा अत्यन्त घायल हो वे महापराक्रमी वीर अपने-अपने रथ की बैठक में तत्काल गिर पड़े।

ततस्तु सारथिर्ज्ञात्वा द्रोणपुत्रमचेतनम्।
अपोवाह रणाद् राजन् सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥२१॥

राजन्! उस समय सारथि द्रोणपुत्र को अचेत जानकर समस्त सेना के देखते-देखते उसे युद्धभूमि से हटाकर ले गया।

तथैव पाण्डवं राजन् विह्वलन्तं मुहुर्मुहुः।
अपोवाह रथेनाजौ सारथिः शत्रुतापनम् ॥२२॥

महाराज! इसी प्रकार बारम्बार विह्वल होते हुए शत्रुसन्तापक पाण्डुपुत्र भीमसेन को भी रथ द्वारा उनका सारथि विशोक रणभूमि से अन्यत्र हटा ले गया।

इति महाभारते कर्णपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

नकुल और कर्ण के घोर युद्ध में नकुल की पराजय

सञ्जय उवाच

नकुलं रभसं युद्धे द्रावयन्तं वरूथिनीम्।
कर्णो वैकर्तनो राजन् वारयामास वै रुषा ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! दूसरी ओर युद्धभूमि में कौरव-सेना को खदेड़ते हुए वेगशाली वीर नकुल को वैकर्तन कर्ण ने रोषपूर्वक रोका।

नकुलस्तु ततः कर्णं प्रहसन्निदमब्रवीत्।
चिरस्य बत दृष्टोऽहं दैवतैः सौम्यचक्षुषा ॥२॥
पश्य मां त्वं रणे पाप चक्षुर्विषयमागतम्।
त्वं हि मूलमनर्थानां वैरस्य कलहस्य च ॥३॥
त्वद्दोषात् कुरवः क्षीणाः समासाद्य परस्परम्।
त्वामद्य समरे हत्वा कृतकृत्योऽस्मि विज्वरः ॥४॥

तब नकुल ने कर्ण से हँसते हुए कहा—"पापी कर्ण! आज दीर्घकाल के पश्चात् देवताओं ने मुझे सौम्यदृष्टि से देखा है, यह बड़े हर्ष की बात है। मैं रणक्षेत्र में तेरी आँखों के समक्ष आ गया हूँ। तू मुझे भली-भाँति देख ले। तू ही सारे अनर्थों, वैर एवं कलह की जड़ है। तेरे ही अपराध से कौरव परस्पर लड़-भिड़कर क्षीण हो गये। आज मैं तुझे युद्धभूमि में मारकर कृतकृत्य और निश्चिन्त हो जाऊँगा।"

एवमुक्तः प्रत्युवाच नकुलं सूतनन्दनः।
सदृशं राजपुत्रस्य धन्विनश्च विशेषतः ॥५॥
प्रहरस्व च मे वीर पश्यामस्तव पौरुषम्।
कर्म कृत्वा रणे शूर ततः कत्थितुमर्हसि ॥६॥

नकुल के ऐसा कहने पर सूतनन्दन कर्ण ने उससे कहा—"वीर! तुम एक राजपुत्र के विशेषतः धनुर्धर योद्धा के योग्य कार्य करते हुए मुझपर वार करो। हम तुम्हारा बलाबल देखेंगे। शूर! पहले युद्धभूमि में पराक्रम प्रकट करके फिर उसके विषय में तुम्हें बढ़-चढ़कर बातें करनी चाहिएँ।

अनुक्त्वा समरे तात शूरा युध्यन्ति शक्तितः।
प्रयुध्यस्व मया शक्त्या हनिष्ये दर्पमेव ते ॥७॥

"तात! शूरवीर युद्धभूमि में बातें न बनाकर अपनी सामर्थ्य के अनुसार युद्ध करते हैं। तुम सम्पूर्ण शक्ति से मेरे साथ युद्ध करो, मैं तुम्हारा घमण्ड चूर्ण कर दूँगा।"

इत्युक्त्वा प्राहरत् तूर्णं पाण्डुपुत्राय सूतजः।
विव्याध चैनं समरे त्रिसप्तत्या शिलीमुखैः ॥८॥

ऐसा कहकर सूतपुत्र कर्ण ने पाण्डुपुत्र नकुल पर तुरन्त ही प्रहार किया और उसे रणभूमि में तिहत्तर बाणों से बींध डाला।

नकुलस्तु ततो विद्धः सूतपुत्रेण भारत।
अशीत्याशीविषप्रख्यैः सूतपुत्रमविध्यत ॥९॥

हे भारत! सूतपुत्र कर्ण के द्वारा घायल होकर नकुल ने भी उसे विषधर सर्पों के समान भयंकर अस्सी बाणों से क्षत-विक्षत कर दिया।

तस्य कर्णो धनुश्छित्त्वा स्वर्णपुंखैः शिलाशितैः।
त्रिंशता परमेष्वासः शरैः पाण्डवमार्दयत् ॥१०॥

तब महाधनुर्धर कर्ण ने शिला पर तेज किये हुए स्वर्णमय पंखवाले बाणों से नकुल के धनुष को काटकर उसे तीस बाणों से व्यथा पहुँचाई।

अथान्यद् धनुरादाय हेमपृष्ठं दुरासदम्।
कर्णं विव्याध सप्तत्या सारथिं च त्रिभिः शरैः ॥११॥

उधर नकुल ने सोने की पीठवाला दूसरा दुर्जय धनुष हाथ में लेकर कर्ण को सत्तर और उसके सारथि को तीन बाणों से बींध डाला।

ततः क्रुद्धो महाराज नकुलः परवीरहा।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन कर्णस्य धनुराच्छिनत् ॥१२॥

महाराज! फिर शत्रुवीरों के संहारक नकुल ने क्रुद्ध होकर एक अत्यन्त तीखे क्षुरप्र से कर्ण का धनुष काट दिया।

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय समरे वेगवत्तरम्।
नकुलस्य ततो बाणैः सर्वतोऽवारयद् दिशः ॥१३॥

तब कर्ण ने रणभूमि में दूसरा अत्यन्त वेगशाली धनुष लेकर नकुल के चारों ओर समस्त दिशाओं को बाणों से आच्छादित कर दिया।

संछाद्यमानः सहसा कर्णचापच्युतैः शरैः।
चिच्छेद स शरांस्तूर्णं शरैरेव महारथः ॥१४॥

कर्ण के धनुष से छूटे हुए बाणों द्वारा सहसा आच्छादित हो जाने पर महारथी नकुल ने तुरन्त ही उसके बाणों को अपने बाणों से काट गिराया।

ततः कर्णो महाराज धनुश्छित्त्वा महात्मनः।
सारथिं पातयामास रथनीडाद्धसन्निव ॥१५॥

महाराज! तत्पश्चात् हँसते हुए-से कर्ण ने महात्मा नकुल का धनुष काटकर उसके सारथि को रथ की बैठक से नीचे गिरा दिया।

ततोऽश्वांश्चतुरश्चास्य चतुर्भिर्निशितैः शरैः।
यमस्य भवनं तूर्णं प्रेषयामास भारत ॥१६॥

हे भारत! फिर चार तीखे बाणों से उसके चारों घोड़ों को भी तुरन्त ही यमलोक पठा दिया।

अथास्य तं रथं दिव्यं तिलशो व्यधमच्छरैः।
पताकां चक्ररक्षांश्च गदां खड्गं च मारिष ॥१७॥

आर्य नरेश! तत्पश्चात् उसने अपने बाणों द्वारा नकुल के उस दिव्य रथ को तिल-तिल करके काट दिया और पताका, चक्ररक्षकों, गदा एवं खड्ग को भी छिन्न-भिन्न कर दिया।

स हन्यमानः समरे कृतास्त्रेण बलीयसा।
प्राद्रवत् सहसा राजन् नकुलो व्याकुलेन्द्रियः ॥१८॥

महाबली और अस्त्र-विद्या के पारंगत विद्वान् कर्ण के द्वारा रणभूमि में आहत हो, नकुल सहसा वहाँ से भाग खड़ा हुआ। उस समय उसकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो रही थीं।

तमभिद्रुत्य राधेयः प्रहसन् वै पुनः पुनः।
सज्यमस्य धनुः कण्ठे व्यवासृजत भारत ॥१९॥

महाराज! राधापुत्र कर्ण ने बारम्बार हँसते हुए उसका पीछा करके उसके गले में प्रत्यञ्चासहित अपना धनुष डाल दिया।

ततः स शुशुभे राजन् कण्ठासक्तमहाधनुः।
परिवेषमनुप्राप्तो यथा स्याद् व्योम्नि चन्द्रमाः ॥२०॥

राजन्! गले में पड़े हुए उस महाधनुष से युक्त नकुल ऐसे सुशोभित हुए मानो आकाश में चन्द्रमा पर घेरा पड़ गया हो।

तमब्रवीत् ततः कर्णो व्यर्थं व्याहृतवानसि।
वदेदानीं पुनर्हृष्टो वध्यमानः पुनः पुनः ॥२१॥
मा योत्सीः कुरुभिः सार्धं बलवद्भिश्च पाण्डव।
सदृशैस्तात युध्यस्व व्रीडां मा कुरु भारत ॥२२॥
गृहं वा गच्छ माद्रेय यत्र वा कृष्णफाल्गुनौ।
एवमुक्त्वा महाराज व्यसर्जयत तं तदा ॥२३॥

उस समय कर्ण ने नकुल से कहा—"पाण्डुकुमार! तुमने व्यर्थ ही बढ़-चढ़कर डींगें मारी थीं। अब बारम्बार मेरे बाणों की मार खाकर पुनः उसी हर्ष के साथ तुम वैसी ही बातें करो न! बलवान् कौरव-योद्धाओं के साथ आज से युद्ध मत करना। तात! जो तुम्हारे समान हों, उन्हीं से युद्ध करना। भारत! लज्जित न होओ। माद्रीकुमार! इच्छा हो तो घर चले जाओ अथवा जहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं, वहाँ भाग जाओ।" ऐसा कहकर उस समय कर्ण ने नकुल को छोड़ दिया।

वधप्राप्तं तु तं शूरो नाहनद् धर्मवित्तदा।
स्मृत्वा कुन्त्या वचो राजंस्तत एनं व्यसर्जयत् ॥२४॥

राजन्! यद्यपि नकुल वध के योग्य दशा में आ पहुँचे थे, परन्तु कुन्ती को दिये वचन को स्मरण कर धर्मज्ञ वीर कर्ण ने उस समय उसे मारा नहीं, जीवित छोड़ दिया।

तं विजित्याथ कर्णोऽपि पाञ्चालांस्त्वरितो ययौ।
रथेनातिपताकेन चन्द्रवर्णहयेन च ॥२५॥

नकुल को पराजित करके कर्ण भी चन्द्रमा के समान श्वेत रंगवाले घोड़ों और ऊँची पताकाओं से युक्त रथ के द्वारा तुरन्त ही पाञ्चालों की ओर चला गया।

तत्राकरोन्महाराज कदनं सूतनन्दनः।
मध्यं प्राप्ते दिनकरे चक्रवद् विचरन् प्रभुः ॥२६॥

महाराज! दोपहर होते-होते शक्तिशाली सूतनन्दन कर्ण ने चक्र के समान चारों ओर विचरण करते हुए वहाँ पाण्डव-सैनिकों का भीषण संहार कर डाला।

तं वहन्तमनीकानि तत्र तत्र महारथम्।
क्षत्रिया वर्जयामासुर्युगान्ताग्निमिवोल्बणम् ॥२७॥

महारथी कर्ण प्रलयकाल की प्रचण्ड अग्नि के समान जहाँ-तहाँ पाण्डव-सेनाओं को भस्म कर रहा था। उस समय क्षत्रिय लोग उसे छोड़कर दूर हट जाते थे।

इति महाभारते कर्णपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

युधिष्ठिर द्वारा दुर्योधन की पराजय और अर्जुन द्वारा कौरव-सेना का संहार

सञ्जय उवाच

युधिष्ठिरं महाराज विसृजन्तं शरान् बहून्।
स्वयं दुर्योधनो राजा प्रत्यगृह्णादभीतवत् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! बहुसंख्यक बाणों की वृष्टि करते हुए युधिष्ठिर का स्वयं राजा दुर्योधन ने एक निर्भीक वीर की भाँति सामना किया।

तमापतन्तं सहसा तव पुत्रं महारथम्।
धर्मराजो द्रुतं विद्ध्वा तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥२॥

सहसा आते हुए आपके महारथी पुत्र को धर्मराज युधिष्ठिर ने तुरन्त ही घायल करके कहा—"अरे! खड़ा रह, खड़ा रह।"

स तु तं प्रतिविव्याध नवभिर्निशितैः शरैः।
सारथिं चास्य भल्लेन भृशं क्रुद्धोऽभ्यताडयत् ॥३॥

इससे दुर्योधन अत्यन्त कुपित हो उठा। उसने युधिष्ठिर को नौ तीखे तीरों से बींधकर बदला चुकाया और उसके सारथि पर भी एक भल्ल का प्रहार किया।

ततो युधिष्ठिरो राजन् स्वर्णपुंखाञ्छिलीमुखान्।
दुर्योधनाय चिक्षेप त्रयोदश शिलाशितान् ॥४॥

राजन्! तब युधिष्ठिर ने सान पर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले तेरह बाण दुर्योधन पर चलाये।

ततो दुर्योधनो राजा धर्मशीलस्य मारिष।
शिलाशितेन भल्लेन धनुश्चिच्छेद संयुगे ॥५॥

पूजनीय नरेश! तब रणभूमि में राजा दुर्योधन ने सान पर चढ़ाकर तेज किये हुए भल्ल से धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर का धनुष काट दिया।

अपविध्य धनुश्छिन्नमन्यदादाय कार्मुकम्।
दुर्योधनस्य चिच्छेद ध्वजं कार्मुकमेव च ॥६॥

युधिष्ठिर ने उस कटे हुए धनुष को फेंककर दूसरा धनुष हाथ में ले लिया और दुर्योधन के ध्वज और धनुष दोनों को काट डाला।

अथान्यद् धनुरादाय प्राविध्यत युधिष्ठिरम्।
सोऽतिविद्धो बलवता शत्रुणा शत्रुतापनः ॥७॥

दुर्योधनं समुद्दिश्य बाणं जग्राह सत्वरः।
चिक्षेप च महाराज ततः क्रुद्धः पराक्रमी ॥८॥

तब तो दुर्योधन ने भी दूसरा धनुष लेकर युधिष्ठिर को बींध डाला। बलवान् शत्रु के द्वारा अत्यन्त घायल किये जाने पर शत्रुसन्तापक महाबली युधिष्ठिर ने दुर्योधन को लक्ष्य करके एक बाण हाथ में लिया। महाराज! तदनन्तर पराक्रमी युधिष्ठिर ने उस बाण को क्रोधपूर्वक चला दिया।

स तु बाणः समासाद्य तवपुत्रं महारथम्।
व्यमोहयत राजानं धरणीं च ददार ह ॥९॥

उस बाण ने आपके महारथी पुत्र दुर्योधन को घायल करके उसे मूर्च्छित कर दिया और पृथिवी को भी विदीर्ण कर डाला।

ततो दुर्योधनः क्रुद्धो गदामुद्यम्य वेगितः।
विधित्सुः कलहस्यान्तं धर्मराजमुपाद्रवत् ॥१०॥

फिर तो क्रोध में भरे हुए दुर्योधन ने वेगपूर्वक गदा उठाकर कलह का अन्त कर देने की इच्छा से धर्मराज युधिष्ठिर पर आक्रमण किया।

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा दण्डहस्तमिवान्तकम्।
धर्मराजो महाशक्तिं प्राहिणोत् तव सूनवे ॥११॥

दण्डधारी यमराज के समान उसे हाथ में गदा उठाये देख धर्मराज ने आपके पुत्र पर महाशक्ति का प्रहार किया।

रथस्थः स तया विद्धो वर्म भित्त्वा महोरसि।
भृशं संविग्नहृदयः पपात च मुमोह च ॥१२॥

रथ पर बैठे हुए दुर्योधन का कवच फाड़कर वह शक्ति उसकी छाती में घुस गई। इससे अत्यन्त उद्विग्नचित्त होकर दुर्योधन गिरा और मूर्च्छित हो गया।

भीमस्तमाह च ततः प्रतिज्ञामनुचिन्तयन्।
नायं वध्यस्तव नृप इत्युक्तः स न्यवर्तत ॥१३॥

उस समय भीमसेन ने अपनी प्रतिज्ञा का विचार करते हुए युधिष्ठिर से कहा—"राजन्! यह दुर्योधन

आपका वध्य नहीं है।" भीम के ऐसा कहने पर युधिष्ठिर ने उसे छोड़ दिया।

ततस्त्वरितमागम्य कृतवर्मा तवात्मजम्।
प्रत्यपद्यत राजानं निमग्नं व्यसनार्णवे ॥१४॥

तब कृतवर्मा विपत्ति-सागर में डूबे हुए आपके पुत्र राजा दुर्योधन के पास तुरन्त पहुँचकर उसकी रक्षा के लिए तत्पर हो गया।

गदामादाय भीमोऽपि हेमपट्टपरिष्कृताम्।
अभिदुद्राव वेगेन कृतवर्माणमाहवे ॥१५॥

उधर भीमसेन भी सुवर्णपत्रजटित गदा हाथ में लेकर रणक्षेत्र में बड़े वेग से कृतवर्मा पर टूट पड़े।

एवं तदभवद् युद्धं त्वदीयानां परैः सह।
अपराह्णे महाराज कांक्षतां विजयं युधि ॥१६॥

महाराज ! इस प्रकार अपराह्ण के समय युद्ध-भूमि में विजय-अभिलाषी आपके योद्धाओं का शत्रुओं के साथ भीषण युद्ध होने लगा।

ततः कर्णं पुरस्कृत्य त्वदीया युद्धदुर्मदाः।
पुनरावृत्य संग्रामं चक्रुर्देवासुरोपमम् ॥१७॥

राजन् ! तत्पश्चात् आपके युद्धदुर्मद योद्धा पुनः लौटकर कर्ण को आगे करके देवताओं और असुरों के समान युद्ध करने लगे।

रथिनः समहामात्रान् गजानश्वान् ससादिनः।
पत्तिव्रातांश्च संक्रुद्धो निघ्नन् कर्णो व्यदृश्यत ॥१८॥

क्रोध में भरा हुआ कर्ण रथियों, महावतोंसहित हाथियों, सवारोंसहित घोड़ों और पैदल-समूहों का वध करता हुआ ही दिखाई देता था।

तद् वध्यमानं पाण्डूनां बलं कर्णास्त्रतेजसा।
विशस्त्रपत्रदेहासु प्राय आसीत् पराङ्मुखम् ॥१९॥

कर्ण के अस्त्रों के तेज से मारी जाती हुई पाण्डवों की सेना शस्त्र, वाहन, शरीर और प्राणों से रहित हो प्रायः रणक्षेत्र से विमुख होकर भाग चली।

अथ कर्णास्त्रमस्त्रेण प्रतिहत्यार्जुनः स्मयन्।
दिशं खं चैव भूमिं च प्रावृणोच्छरवृष्टिभिः ॥२०॥

तब अर्जुन ने मुस्कराते हुए अपने अस्त्र से कर्ण के अस्त्र को नष्ट करके बाणों की वर्षा द्वारा आकाश, पृथिवी और दिशाओं को ढक दिया।

तमसा च महाराज रजसा च विशेषतः।
न किंचित् प्रत्यपश्याम शुभं वा यदि वाशुभम् ॥२१॥

महाराज ! उस समय अन्धकार और विशेषतः धूल से सब-कुछ ढक जाने के कारण हम लोग किसी भी शुभ अथवा अशुभ वस्तु को नहीं देख पा रहे थे।

ते त्रस्यन्तो महेष्वासा रात्रियुद्धस्य भारत।
अपयानं ततश्चक्रुः सहिताः सर्वयोधिभिः ॥२२॥

हे भारत ! वे महाधनुर्धर योद्धा रात्रियुद्ध से डरते थे, अतः समस्त सैनिकों के साथ उन्होंने वहाँ से शिविर को प्रस्थान कर दिया।

कौरवेष्वपयातेषु तदा राजन् दिनक्षये।
जयं सुमनसः प्राप्य पार्थाः स्वशिबिरं ययुः ॥२३॥

राजन् ! सूर्यास्त के समय कौरवों के हट जाने पर पाण्डव भी विजय पाकर प्रसन्नचित्त हो अपने शिविरों को लौट गये।

कृतेऽवहारे तैर्वीरैः सैनिकाः सर्व एव ते।
आशीर्वाचः पाण्डवेषु प्रायुञ्जन्त नरेश्वराः ॥२४॥

उन वीरों द्वारा युद्ध का उपसंहार कर दिये जाने पर समस्त सैनिक और भूपाल पाण्डवों को आशीर्वाद देने लगे।

इति महाभारते कर्णपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

रात्रि में कौरवों की मन्त्रणा, कर्ण और दुर्योधन का वार्तालाप

सञ्जय उवाच

शिबिरस्थाः पुनर्मन्त्रं मन्त्रयन्ति स्म कौरवाः।
भग्नदंष्ट्रा हतविषाः पादाक्रान्ता इवोरगाः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! शिविर में आने पर वे कौरव पुनः गुप्तमन्त्रणा करने लगे। उस समय उनकी अवस्था पैरों से कुचले गये उन सर्पों के समान हो रही थी, जिनके दाँत तोड़ दिये गये हों और विष नष्ट कर दिया गया हो।

तानब्रवीत् ततः कर्णः क्रुद्धः सर्प इव श्वसन्।
करं करेण निष्पीड्य प्रेक्षमाणस्तवात्मजम् ॥२॥

उस समय क्रोध में भरकर फुफकारते हुए सर्प के समान कर्ण ने हाथ-से-हाथ दबाकर आपके पुत्र की ओर देखते हुए उन कौरव वीरों से इस प्रकार कहा—

यत्तो दृढश्च दक्षश्च धृतिमानर्जुनस्तदा ।
सम्बोधयति चाप्येनं यथाकालमधोक्षजः ॥३॥

"अर्जुन सावधान, दृढ़, चतुर और धैर्यवान् हैं। साथ ही उन्हें समय-समय पर श्रीकृष्ण भी कर्तव्य का ज्ञान कराते रहते हैं।

सहसास्त्रविसर्गेण वयं तेनाद्य वञ्चिताः ।
श्वस्त्वहं तस्य संकल्पं सर्वं हन्ता महीपते ॥४॥

"अतः उसने सहसा अस्त्रों का प्रयोग करके आज हमें ठग लिया है, परन्तु नरेश्वर! कल मैं उसके सारे संकल्पों को नष्ट कर दूँगा।"

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा सोऽनुजज्ञे नृपोत्तमान् ।
तेऽनुज्ञाता नृपाः सर्वे स्वानि वेश्मानि भेजिरे ॥५॥

कर्ण के ऐसा कहने पर दुर्योधन ने 'तथास्तु' कहकर समस्त श्रेष्ठ भूपालों को विश्राम के लिए जाने की आज्ञा दी। आज्ञा पाकर वे सब नरेश अपने-अपने शिविरों में चले गये।

प्रभातायां रजन्यां तु कर्णो राजानमभ्ययात् ।
समेत्य च महाबाहुर्दुर्योधनमथाब्रवीत् ॥६॥

जब रात्रि व्यतीत हुई और प्रातःकाल हो गया, तब महाबाहु कर्ण राजा दुर्योधन के पास आया और उनसे मिलकर इस प्रकार बोला—

कर्ण उवाच

अद्य राजन् समेष्यामि पाण्डवेन यशस्विना ।
हनिष्यामि च तं वीरं स वा मां निहनिष्यति ॥७॥

कर्ण बोला—राजन्! आज मैं यशस्वी पाण्डुपुत्र अर्जुन के साथ संग्राम करूँगा। या तो मैं ही उस वीर को मार डालूँगा या वही मेरा वध कर डालेगा।

बहुत्वान्मम कार्याणां तथा पार्थस्य भारत ।
नाभूत् समागमो राजन् मम चैवार्जुनस्य च ॥८॥

भरतवंशी नरेश! मेरे तथा अर्जुन के सामने बहुत-से कार्य आते गये, अतः अबतक मेरा और उनका द्वैरथ युद्ध न हो सका।

इदं तु मे यथाप्राज्ञं शृणु वाक्यं विशाम्पते ।
अनिहत्य रणे पार्थं नाहमेष्यामि भारत ॥९॥

प्रजेश्वर! भरतनन्दन! मैं अपनी बुद्धि के अनुसार निश्चय करके जो बात कह रहा हूँ, उसे ध्यान से सुनो। आज मैं युद्धक्षेत्र में अर्जुन का वध किये बिना नहीं लौटूँगा।

प्राणे शौर्येऽथ विज्ञाने विक्रमे चापि भारत ।
निमित्तज्ञानयोगे च सव्यसाची न मत्समः ॥१०॥

हे भारत! प्राणशक्ति [शारीरिक बल], शौर्य, अस्त्रविज्ञान, पराक्रम और शत्रुओं पर विजय पाने के उपायों को ढूँढ निकालने में सव्यसाची अर्जुन मेरी समानता नहीं कर सकते।

अवश्यं तु मया वाच्यं येन हीनोऽस्मि फाल्गुनात् ।
सारथिस्तस्य गोविन्दो मम तादृङ् न विद्यते ॥११

परन्तु जिस बात में मैं अर्जुन से कम हूँ, वह भी मुझे अवश्य ही बता देनी उचित है। अर्जुन के पास श्रीकृष्ण जैसे सारथि हैं, वैसा सारथि मेरे पास नहीं है।

अयं तु सदृशः शौरेः शल्यः समितिशोभनः ।
सारथ्यं यदि मे कुर्याद् ध्रुवस्ते विजयो भवेत् ॥१२॥

युद्ध में शोभा पानेवाले ये राजा शल्य श्रीकृष्ण के समान हैं; यदि ये मेरे सारथि का कार्य कर सकें तो तुम्हारी विजय निश्चित है।

यथाश्वहृदयं वेद दाशार्हः परवीरहा ।
तथा शल्यो विजानीते हयानां वै महारथः ॥१३॥

शत्रुवीरों का संहार करनेवाले दशार्हवंशी श्रीकृष्ण अश्वविद्या के रहस्य को जिस प्रकार जानते हैं, उसी प्रकार महारथी शल्य भी अश्वविज्ञान के विशेषज्ञ हैं।

बाहुवीर्ये समो नास्ति मद्रराजस्य कश्चन ।
तथास्त्रे मत्समो नास्ति कश्चिदेव धनुर्धरः ॥१४॥

बाहुबल में मद्रराज शल्य की समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, उसी प्रकार अस्त्रविद्या में मेरे समान कोई भी धनुर्धर नहीं है।

तथा शल्यसमो नास्ति हयज्ञाने हि कश्चन ।
सोऽयमभ्यधिकः कृष्णाद् भविष्यति रथो मम ॥१५॥
एवं कृते रथस्थोऽहं गुणैरभ्यधिकोऽर्जुनात् ।
भवे युधि जयेयं च फाल्गुनं कुरुसत्तम ॥१६॥

अश्वविज्ञान में निश्चय ही शल्य के समान कोई

नहीं है। शल्य के सारथि होने पर मेरा यह रथ अर्जुन के रथ से आगे बढ़ जाएगा। ऐसी व्यवस्था कर लेने पर जब मैं रथ में बैठूंगा, उस समय सभी गुणों द्वारा अर्जुन से बढ़ जाऊँगा। कुरुश्रेष्ठ ! फिर तो मैं युद्ध में अर्जुन को अवश्य जीत लूंगा।

एतत् कृतं महाराज त्वयेच्छामि परन्तप।
क्रियतामेष कामो मे मा वः कालोऽत्यगादयम् ॥१७॥

शत्रुसन्तापक महाराज ! मैं चाहता हूँ कि आपके द्वारा यह व्यवस्था हो जाए। मेरा यह मनोरथ पूरा किया जाए। अब आप लोगों का यह समय व्यर्थ नहीं बीतना चाहिए।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तस्तव सुतः कर्णेनाहवशोभिना।
सम्पूज्य सम्प्रहृष्टात्मा ततो राधेयमब्रवीत् ॥१८॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! युद्ध में शोभा पाने-वाले कर्ण के ऐसा कहने पर आपके पुत्र दुर्योधन का मन प्रसन्न हो गया। फिर उसने राधापुत्र कर्ण का पूर्णतः सम्मान करके उससे कहा—

दुर्योधन उवाच

एवमेतत्करिष्यामि यथा त्वं कर्ण मन्यसे।
सोपासङ्गा रथाः साश्वाः स्वनुयास्यन्ति संयुगे ॥१९॥

दुर्योधन बोला—कर्ण ! जैसा तुम ठीक समझते हो, उसी के अनुसार यह सारा कार्य मैं करूँगा। युद्धभूमि में अनेक तरकसों से भरे हुए बहुत-से अश्व-युक्त रथ तुम्हारे पीछे-पीछे जाएँगे।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा महाराज तव पुत्रः प्रतापवान्।
अभिगम्याब्रवीद् राजा मद्रराजमिदं वचः ॥२०॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! ऐसा कहकर आपके प्रतापी पुत्र राजा दुर्योधन ने मद्रराज शल्य के पास जाकर इस प्रकार कहा।

इति महाभारते कर्णपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

दुर्योधन की प्रार्थना पर शल्य द्वारा कर्ण का सारथ्य ग्रहण करना

दुर्योधन उवाच

मद्रेश्वर प्रयाचेऽहं शिरसा विनयेन च।
सारथ्यं रथिनां श्रेष्ठ कर्णस्य कर्तुमर्हसि ॥१॥

दुर्योधन बोला—रथियों में श्रेष्ठ मद्रराज ! मैं मस्तक झुकाकर विनयपूर्वक आपसे याचना करता हूँ कि आप कर्ण का सारथ्य कीजिए।

पार्थस्य समरे कृष्णो यथाभीषुग्रहो वरः।
तथा त्वमपि कर्णस्य रथेऽभीषुग्रहो भव ॥२॥

जैसे युद्धभूमि में अर्जुन के रथ की बागडोर सँभालनेवाले श्रेष्ठ सारथि श्रीकृष्ण हैं, उसी प्रकार आप भी कर्ण के रथ पर बैठकर उसकी बागडोर अपने हाथ में लीजिए।

उद्यन्तौ च यथा सूर्यौ बालसूर्यसमप्रभौ।
कर्णशल्यौ रणे दृष्ट्वा विद्रवन्तु महारथाः ॥३॥

प्रातःकालीन सूर्य के समान तेजस्वी कर्ण और शल्य को उदित होते हुए दो सूर्यों के समान रणभूमि में देखकर शत्रुसेना के महारथी भाग जाएँ।

रथिनां प्रवरः कर्णो यन्तॄणां प्रवरो भवान्।
संयोगो युवयोर्लोके नाभून्न च भविष्यति ॥४॥

कर्ण रथियों में श्रेष्ठ है और आप सारथियों के शिरोमणि हैं। संसार में आप दोनों का आज जो संयोग बन गया है, वह न तो कभी हुआ था और न आगे कभी होगा।

यथा सर्वास्ववस्थासु वार्ष्णेयः पाति पाण्डवम्।
तथा भवान् परित्रातुं कर्णं वैकर्तनं रणे ॥५॥

जैसे श्रीकृष्ण सभी अवस्थाओं में पाण्डुकुमार अर्जुन की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप भी युद्धक्षेत्र में वैकर्तन कर्ण की रक्षा करें।

सञ्जय उवाच

दुर्योधनवचः श्रुत्वा धुन्वन् हस्तौ पुनः पुनः।
कुलैश्वर्यश्रुतबलैर्दृप्तः शल्योऽब्रवीदिदम् ॥६॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! दुर्योधन की बात

सुनकर अपने कुल, ऐश्वर्य, शास्त्रज्ञान और बल के अभिमान में चूर शल्य अपने हाथों को बार-बार हिलाते हुए यह वचन बोला—

शल्य उवाच

अवमन्यसि गान्धारे ध्रुवं च परिशङ्कसे।
यन्मां ब्रवीषि विश्रब्धं सारथ्यं क्रियतामिति ॥७॥

शल्य बोला—गान्धारीकुमार! तुम मेरा अपमान कर रहे हो, निश्चय ही तुम्हारे मन में मेरे प्रति सन्देह है, तभी तुम निर्भय होकर कह रहे हो कि आप "सारथि का कार्य कीजिए।"

असमत्तोऽभ्यधिकं कर्णं मन्यमानः प्रशंससि।
न चाहं युधि राधेयं गणये तुल्यमात्मनः ॥८॥

तुम कर्ण को मुझसे श्रेष्ठ मानकर उसकी प्रशंसा कर रहे हो, परन्तु रणभूमि में मैं राधापुत्र कर्ण को अपने समान नहीं समझता।

पश्य पीनौ मम भुजौ वज्रसंहननौ दृढौ।
धनुः पश्य च मे चित्रं शरांश्चाशीविषोपमान् ॥९॥
रथं च पश्य मे क्लृप्तं सदश्वैर्वातवेगितैः।
गदां च पश्य गान्धारे हेमपट्टविभूषिताम् ॥१०॥

गान्धारीकुमार! तुम मेरी मोटी और वज्र के समान गँठीली इन सुदृढ़ भुजाओं को देखो। मेरे इस विचित्र धनुष और विषधर सर्प के समान इन विषैले बाणों को निहारो। वायु के समान वेगवान् उत्तम घोड़ों से जुते हुए मेरे इस समलंकृत रथ और सुवर्णपत्र से मढ़ी हुई गदा की ओर दृष्टिपात करो।

दारयेयं महीं कृत्स्नां विकिरेयं च पर्वतान्।
शोषयेयं समुद्रांश्च तेजसा स्वेन पार्थिव ॥११॥

प्रजेश्वर! मैं सारी पृथिवी को विदीर्ण कर सकता हूँ, पर्वतों को तोड़-फोड़कर बिखेर सकता हूँ और अपने तेज से समुद्रों को भी सुखा सकता हूँ।

तं मामेवंविधं राजन् समर्थमरिनिग्रहे।
कस्माद् युनंक्षि सारथ्ये नीचस्याधिरथे रणे ॥१२॥

राजन्! इस प्रकार शत्रुओं का दमन करने में पूर्णतया समर्थ होने पर भी तुम मुझे इस नीच सूतपुत्र कर्ण के सारथि के कार्य में कैसे नियुक्त कर रहे हो?

न मामधुरि राजेन्द्र नियोक्तुं त्वमिहार्हसि।
न हि पापीयसः श्रेयान् भूत्वा प्रेष्यत्वमुत्सहे ॥१३॥

राजेन्द्र! तुम्हें मुझे नीच कर्म में नहीं लगाना चाहिए। मैं श्रेष्ठ होकर अति नीच पापी पुरुष की दासता नहीं कर सकता।

अहं मूर्धाभिषिक्तो हि राजर्षिकुलजो नृपः।
महारथः समाख्यातः सेव्यः स्तुत्यश्च बन्दिनाम् ॥१४॥

मैं राजर्षियों के कुल में उत्पन्न मूर्द्धाभिषिक्त नरेश हूँ। विश्वविख्यात महारथी हूँ। मैं सूतों द्वारा सेव्य और बन्दीजनों द्वारा स्तुति के योग्य हूँ।

सोऽहमेतादृशो भूत्वा नेहारिबलसूदनः।
सूतपुत्रस्य संग्रामे सारथ्यं कर्तुमुत्सहे ॥१५॥

ऐसा प्रतिष्ठित और शत्रुसेना का संहार करने में समर्थ होकर मैं इस युद्धक्षेत्र में एक सूतपुत्र के सारथि का कार्य कदापि नहीं कर सकता।

अवमानमहं प्राप्य न योत्स्यामि कथञ्चन।
आपृच्छे त्वाद्य गान्धारे गमिष्यामि गृहाय वै ॥१६॥

गान्धारीकुमार! आज इस प्रकार अपमानित होकर अब मैं किसी प्रकार युद्ध नहीं करूँगा। मैं तुमसे आज्ञा चाहता हूँ। मैं आज ही अपने घर को लौट जाऊँगा।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा महाराज शल्यः समितिशोभनः।
उत्थाय प्रययौ तूर्णं राजमध्यादमर्षितः ॥१७॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! ऐसा कहकर युद्ध में सुशोभित होनेवाले शल्य अमर्ष में भर गये और राजाओं के बीच से उठकर तुरन्त चल दिये।

प्रणयाद् बहुमानाच्च तं निगृह्य सुतस्तव।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं साम्ना सर्वार्थसाधकम् ॥१८॥

तब आपके पुत्र ने अत्यन्त प्रेम और आदर से उन्हें रोका और सान्त्वनापूर्ण मधुर स्वर में उनसे यह सर्वार्थसाधक वचन कहा—

यथा शल्य विजानीषे एवमेतदसंशयम्।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तं निबोध जनेश्वर ॥१९॥

"नरेश्वर शल्य! आप अपने विषय में जैसा समझते हैं, ऐसी ही बात है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, परन्तु मेरा कुछ और ही अभिप्राय है, आप उसे ध्यानपूर्वक सुनें।

न कर्णोऽभ्यधिकस्त्वत्तो न शंके त्वाञ्च पार्थिव।
न हि मद्रेश्वरो राजा कुर्याद् यदनृतं भवेत् ॥२०॥

"प्रजेश्वर ! न तो कर्ण आपसे श्रेष्ठ है और न मुझे आपमें सन्देह है। मद्रदेश के स्वामी राजा शल्य कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकते, जो उनकी सत्य प्रतिज्ञा के विपरीत हो।

शल्यभूतस्तु शत्रूणां यस्मात्त्वं युधि मानद।
तस्माच्छल्यो हि ते नाम कथ्यते पृथिवीतले ॥२१॥

"मानद ! आप रणभूमि में शत्रुओं के लिए शल्य=काँटे के समान हैं, अतः इस भूतल पर आपका शल्य नाम विख्यात है।

न च त्वत्तो हि राधेयो न चाहमपि वीर्यवान्।
वृणेऽहं त्वां हयाग्र्याणां यन्तारमिह संयुगे ॥२२॥

"आपकी अपेक्षा न तो राधापुत्र कर्ण बलवान् है और न मैं ही। आप अश्वविद्या के सर्वोत्तम ज्ञाता हैं, अतः इस रणभूमि में मैं आपका वरण कर रहा हूँ।

मन्ये चाभ्यधिकं शल्य गुणैः कर्णं धनञ्जयात्।
भवन्तं वासुदेवाच्च लोकोऽयमिति मन्यते ॥२३॥

"शल्य ! मैं कर्ण को अर्जुन से अधिक गुणवान् मानता हूँ और यह सारा संसार आपको वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण से श्रेष्ठ मानता है।

कर्णो ह्यभ्यधिकः पार्थादस्त्रैरेव नरर्षभ।
भवानभ्यधिकः कृष्णादश्वज्ञाने बले तथा ॥२४॥

"नरश्रेष्ठ ! कर्ण तो अर्जुन से केवल अस्त्र-ज्ञान में ही बढ़ा-चढ़ा है, परन्तु आप श्रीकृष्ण से अश्व-विद्या और बल— दोनों में बढ़-चढ़कर हैं।

यथाश्वहृदयं वेद वासुदेवो महामनाः।
द्विगुणं त्वं तथा वेत्सि मद्रराजेश्वरात्मज ॥२५॥

"मद्रराजकुमार ! महामनस्वी श्रीकृष्ण जिस प्रकार अश्वविद्या का रहस्य जानते हैं, वैसा ही, अपितु उससे भी दुगुना आप जानते हैं।"

शल्य उवाच

यन्मां ब्रवीषि गान्धारे मध्ये सैन्यस्य कौरव।
विशिष्टं देवकीपुत्रात् प्रीतिमानस्म्यहं त्वयि ॥२६॥

शल्य बोले—कौरव ! गान्धारीपुत्र ! तुम मुझे सारी सेना के बीच में देवकीनन्दन श्रीकृष्ण से भी बढ़कर बता रहे हो, इससे मैं तुमपर अति प्रसन्न हूँ।

एष सारथ्यमातिष्ठे राधेयस्य यशस्विनः।
युध्यतः पाण्डवाग्र्येण यथा त्वं वीर मन्यसे ॥२७॥

वीर ! जैसा तुम चाहते हो उसके अनुसार मैं पाण्डवशिरोमणि अर्जुन के साथ युद्ध करते हुए यशस्वी कर्ण का सारथिकर्म अब स्वीकार किये लेता हूँ।

समयश्च हि मे वीर कश्चिद् वैकर्तनं प्रति।
उत्सृजेयं यथाश्रद्धमहं वाचोऽस्य सन्निधौ ॥२८॥

परन्तु वीरवर ! वैकर्तन कर्ण को मेरी एक शर्त का पालन करना होगा। मैं इसके समीप जो जी में आएगा, वैसी बातें करूँगा।

यत्तु कर्णमहं ब्रूयां हितकामः प्रियाप्रिये।
तद्धि मे क्षमतां सर्वं भवान् कर्णश्च सर्वशः ॥२९॥

मैं हित की कामना से कर्ण से जो भी प्रिय अथवा अप्रिय वचन कहूँ, वह सब आप और कर्ण को क्षमा करना होगा।

सञ्जय उवाच

तथेति राजन् पुत्रस्ते सह कर्णेन मारिष।
अब्रवीन्मद्रराजं तं सर्वक्षत्रस्य सन्निधौ ॥३०॥

सञ्जय कहते हैं—मान्यवर ! तब समस्त क्षत्रियों के मध्य कर्णसहित आपके पुत्र ने मद्रराज शल्य से कहा—"बहुत अच्छा, आपकी शर्त स्वीकार है।"

सारथ्यस्याभ्युपगमाच्छल्येनाश्वासितस्तदा।
दुर्योधनस्तदा हृष्टः कर्णं तमभिषस्वजे ॥३१॥

जब शल्य ने सारथ्य स्वीकार करने का आश्वासन दे दिया, तब राजा दुर्योधन ने बड़े हर्ष के साथ कर्ण को हृदय से लगा लिया।

अब्रवीच्च पुनः कर्णं स्तूयमानः सुतस्तव।
जहि पार्थान् रणे सर्वान् महेन्द्रो दानवानिव ॥३२॥

तदनन्तर बन्दीजनों द्वारा अपनी स्तुति सुनते हुए आपके पुत्र ने कर्ण से फिर कहा—"वीर ! तुम रणभूमि में सभी कुन्तीपुत्रों को उसी प्रकार मार डालो, जैसे देवराज इन्द्र दानवों का संहार करते हैं।

इति महाभारते कर्णपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

कर्ण का युद्ध के लिए प्रस्थान और शल्य से उसका वार्तालाप

सञ्जय उवाच

शल्येऽभ्युपगते कर्णः सारथिं सुमनाब्रवीत् ।
त्वं सूत स्यन्दनं मह्यं कल्पयेत्यसकृत् त्वरन् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! जब शल्य ने सारथि होना पूर्णरूप से स्वीकार कर लिया, तब कर्ण ने प्रसन्नचित्त होकर बारम्बार अपने पूर्वसारथि से शीघ्रतापूर्वक कहा—"सूत ! तुम मेरा रथ सजाकर तैयार करो ।"

ततो जैत्रं रथवरं गन्धर्वनगरोपमम् ।
विधिवत् कल्पितं भद्रं जयेत्युक्त्वा न्यवेदयत् ॥२॥

तब सारथि ने गन्धर्वनगर के समान विशाल, विजयशील, श्रेष्ठ और मङ्गलकारक रथ को विधिपूर्वक समलंकृत करके सूचित किया—"स्वामिन् ! आपकी जय हो ! रथ तैयार है ।"

तं रथं रथिनां श्रेष्ठः कर्णः कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
समीपस्थं मद्रराजमारोह त्वमथाब्रवीत् ॥३॥

रथियों में श्रेष्ठ कर्ण ने उस रथ की प्रदक्षिणा करके पास ही खड़े हुए मद्रराज से कहा—"पहले आप रथ पर सवार हों ।"

ततः कर्णस्य दुर्धर्षं स्यन्दनप्रवरं महत् ।
आरुरोह महातेजाः शल्यः सिंह इवाचलम् ॥४॥

तब जैसे सिंह पर्वत पर चढ़ता है, वैसे ही महातेजस्वी शल्य कर्ण के दुर्जय, विशाल तथा श्रेष्ठ रथ पर आरूढ़ हुए ।

ततः शल्याश्रितं दृष्ट्वा कर्णः स्वं रथमुत्तमम् ।
अध्यतिष्ठद् यथाम्भोदं विद्युत्वन्तं दिवाकरः ॥५॥

कर्ण अपने उस श्रेष्ठ रथ को सारथि शल्य से सनाथ हुआ देख स्वयं भी उसपर चढ़ा, मानो सूर्यदेव बिजलियों से युक्त मेघ पर प्रतिष्ठित हुए हों ।

तं रथस्थं महाबाहुं युद्धायामिततेजसम् ।
दुर्योधनस्तु राधेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥६॥
अकृतं द्रोणभीष्माभ्यां दुष्करं कर्म संयुगे ।
कुरुष्वाधिरथे वीर मिषतां सर्वधन्विनाम् ॥७॥

युद्ध के लिए रथ पर बैठे हुए अमित तेजस्वी महाबाहु राधाकुमार कर्ण से दुर्योधन ने इस प्रकार कहा—"हे वीर ! अधिरथकुमार ! युद्धस्थल में द्रोणाचार्य और भीष्म भी जिसे न कर सके, वही दुष्कर कर्म तुम समस्त धनुर्धरों के देखते-देखते कर डालो ।

गृहाण धर्मराजं वा जहि वा त्वं धनञ्जयम् ।
भीमसेनं च राधेय माद्रीपुत्रौ यमावपि ॥८॥

"राधानन्दन ! या तो तुम धर्मराज युधिष्ठिर को कैद कर लो या अर्जुन, भीमसेन और माद्रीकुमार नकुल-सहदेव को मार डालो ।

जयश्च तेऽस्तु भद्रं ते प्रयाहि पुरुषर्षभ ।
पाण्डुपुत्रस्य सैन्यानि कुरु सर्वाणि भस्मसात् ॥९॥

"पुरुषश्रेष्ठ ! तुम्हारी जय हो, तुम्हारा कल्याण हो । अब तुम प्रस्थान करो और पाण्डुपुत्र की सारी सेनाओं को भस्म करो ।"

प्रतिगृह्य तु तद् वाक्यं रथस्थो रथसत्तमः ।
अभ्यभाषत राधेयः शल्यं युद्धविशारदम् ॥१०॥
नोदयाश्वान् महाबाहो यावद्धन्मि धनञ्जयम् ।
भीमसेनं यमौ चोभौ राजानं च युधिष्ठिरम् ॥११॥

रथ पर आरूढ़ रथियों में श्रेष्ठ राधापुत्र कर्ण ने दुर्योधन के उस आदेश को शिरोधार्य करके युद्धकुशल राजा शल्य से कहा—"महाबाहो ! घोड़ों को आगे बढ़ाइए, जिससे कि मैं अर्जुन, भीमसेन, दोनों भाई नकुल-सहदेव तथा राजा युधिष्ठिर का वध कर सकूँ ।

अद्य पश्यतु मे शल्य बाहुवीर्यं धनञ्जयः ।
अस्यतः कङ्कपत्राणां सहस्राणि शतानि च ॥१२॥

"शल्य ! आज सैकड़ों और सहस्रों कङ्कपत्रयुक्त बाणों की वर्षा करते हुए मुझ कर्ण के बाहुबल को अर्जुन देखें ।"

शल्य उवाच

सूतपुत्र कथं नु त्वं पाण्डवानवमन्यसे ।
अपि संजनयेयुर्ये भयं साक्षाद्धतक्रतोः ॥१३॥
यदा श्रोष्यसि निर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
राधेय गाण्डिवस्याजौ तदा नैवं वदिष्यसि ॥१४॥

शल्य ने कहा—सूतपुत्र ! तुम पाण्डवों की अवहेलना कैसे करते हो ? वे साक्षात् इन्द्र के मन में भी भय उत्पन्न कर सकते हैं। राधापुत्र ! जब तुम रणभूमि में वज्र की गड़गड़ाहट के समान गाण्डीव धनुष का गम्भीर घोष सुनोगे, तब ऐसी बातें नहीं कहोगे।

यदा द्रक्ष्यसि भीमेन कुञ्जरानीकमाहवे ।
विशीर्णदन्तं निहतं तदा नैवं वदिष्यसि ॥१५॥

जब तुम देखोगे कि भीमसेन ने रणक्षेत्र में गजराजों की सेना के दाँत तोड़-तोड़कर उनका संहार कर डाला है, तब तुम इस प्रकार नहीं बोल सकोगे।

सञ्जय उवाच

अनादृत्य तु तद् वाक्यं मद्रराजेन भाषितम् ।
याहीत्येवाब्रवीत् कर्णो मद्रराजं तरस्विनम् ॥१६॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! मद्रराज की कही हुई उस बात की उपेक्षा करके कर्ण ने उन वेगशाली मद्रनरेश से कहा—"चलिए, चलिए।"

प्रस्थितं सूतपुत्रं च जयेत्यूचुर्नराधिपाः ।
निर्जितान् पाण्डवाँश्चैव मेनिरे तत्र कौरवाः ॥१७॥

सूतपुत्र के प्रस्थान करने पर सब राजा उनकी जय-जयकार करने लगे और कौरवों को यह विश्वास हो गया कि अब पाण्डव परास्त हो जाएँगे।

प्रयाणे च ततः कर्णो हर्षयन् वाहिनीं तव ।
एकैकं समरे दृष्ट्वा पाण्डवान् पर्यपृच्छत ॥१८॥

राजन् ! प्रस्थानकाल में आपकी सेना का हर्ष बढ़ाता हुआ कर्ण रणक्षेत्र में पाण्डव-सैनिकों को देखकर प्रत्येक से पूछने और कहने लगा—

यो मामद्य महात्मानं दर्शयेच्छ्वेतवाहनम् ।
तस्मै दद्यामभिप्रेतं धनं यन्मनसेच्छति ॥१९॥

"जो आज मुझे श्वेतवाहन अर्जुन को दिखा देगा, उसे मैं उसका अभीष्ट धन, जिसे वह मन से लेना चाहे, दे दूँगा।

हत्वा च सहितौ कृष्णौ तयोर्वित्तानि सर्वशः ।
तस्मै दद्यामहं यो मे प्रब्रूयात् केशवार्जुनौ ॥२०॥

"जो मुझे श्रीकृष्ण और अर्जुन का पता बता देगा, उसे मैं उन दोनों को मारकर उनका सारा धन-वैभव दे दूँगा।"

शल्य उवाच

बाल्यात्त्वमिह त्यजसि वसु वैश्रवणो यथा ।
अयत्नेनैव राधेय द्रष्टास्यद्य धनञ्जयम् ॥२१॥

शल्य बोले—राधापुत्र ! तुम मूर्खता से ही यहाँ कुबेर के समान धन लुटा रहे हो, आज अर्जुन को तो तुम बिना यत्न किये ही देख लोगे।

यच्च प्रार्थयसे हन्तुं कृष्णौ मोहाद् वृथैव तत् ।
न हि शुश्रुम सम्मर्दे क्रोष्ट्रा सिंही निपातितौ ॥२२॥

और जो तुम मोहवश श्रीकृष्ण एवं अर्जुन को मारने की बात कहते हो, वह मनोरथ भी व्यर्थ ही है, क्योंकि हमने यह कभी नहीं सुना कि किसी गीदड़ ने युद्ध में दो सिंहों को मार गिराया हो।

समुद्रतरणं दोर्भ्यां कण्ठे बद्ध्वा यथा शिलाम् ।
गिर्यग्राद् वा निपतनं तादृक् तव चिकीर्षितम् ॥२३॥

जैसे कोई गले में पत्थर बाँधकर दोनों हाथों से समुद्र पार करना चाहे अथवा पहाड़ की चोटी से नीचे कूदने की इच्छा करे, ऐसी ही तुम्हारी सारी चेष्टा और अभिलाषा है।

सहितः सर्वयोधैस्त्वं व्यूढानीकैः सुरक्षितः ।
धनञ्जयेन युध्यस्व श्रेयश्चेत् प्राप्तुमिच्छसि ॥२४॥

यदि तुम कल्याण चाहते हो तो व्यूहरचनापूर्वक खड़े हुए समस्त सैनिकों के साथ सुरक्षित रहकर अर्जुन के साथ युद्ध करो।

हितार्थं धार्तराष्ट्रस्य ब्रवीमि त्वां न हिंसया ।
श्रद्धत्स्वैतं मया प्रोक्तं यदि तेऽस्ति जिजीविषा ॥२५॥

दुर्योधन के हित के लिए ही मैं ऐसा कह रहा हूँ, हिंसाभाव से नहीं। यदि तुम्हें जीने की इच्छा है तो मेरे इस कथन पर विश्वास करो।

कर्ण उवाच

स्वबाहुवीर्यमाश्रित्य प्रार्थयाम्यर्जुनं रणे ।
त्वं तु मित्रमुखः शत्रुर्मां भीषयितुमिच्छसि ॥२६॥

कर्ण बोला—शल्य ! मैं अपने भुजबल का भरोसा करके युद्धभूमि में अर्जुन को पाना चाहता हूँ, परन्तु तुम तो मुँह से मित्र बने हुए वास्तव में शत्रु हो जो मुझे यहाँ डराना चाहते हो।

न मामस्मादभिप्रायात् कश्चिदद्य निवर्तयेत् ।
अपीन्द्रो वज्रमुद्यम्य किमु मर्त्यः कथञ्चन ॥२७॥

परन्तु मुझे आज इस अभिप्राय से कोई भी पीछे नहीं लौटा सकता। वज्रधारी इन्द्र भी मुझे किसी प्रकार इस निश्चय से विचलित नहीं कर सकते, फिर मनुष्य की तो बात ही क्या है !

सञ्जय उवाच

इति कर्णस्य वाक्यान्ते शल्यः प्राहोत्तरं वचः।
चुकोपयिषुरत्यर्थं कर्णं मद्रेश्वरः पुनः ॥२८॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! कर्ण की यह बात समाप्त होते ही मद्रराज शल्य उसे अत्यन्त कुपित करने की इच्छा से पुनः इस प्रकार उत्तर देने लगे—

ईषादन्तं महानागं प्रभिन्नकरटामुखम्।
शशको ह्वयसे युद्धे कर्ण पार्थं धनञ्जयम् ॥२९॥

कर्ण ! "जैसे कोई खरगोश ईषादण्ड के समान दाँतोंवाले महान् मदस्रावी गजराज को अपने साथ युद्ध के लिए बुलाता हो, उसी प्रकार तुम भी कुन्तीकुमार धनञ्जय का युद्धभूमि में आह्वान करते हो।

सिंहं केसरिणं क्रुद्धमतिक्रम्याभिनर्दसे।
शृगाल इव मूढस्त्वं नृसिंहं कर्ण पाण्डवम् ॥३०॥

"कर्ण ! तुम मूर्ख हो। जैसे गीदड़ क्रोध में भरे हुए केसरी सिंह का अनादर करके गर्जना करे, वैसे ही तुम भी पुरुषों में सिंह के समान पराक्रमी और क्रोध में भरे हुए पाण्डुपुत्र अर्जुन का उल्लंघन करके गरज रहे हो।

सुपर्णं पतगश्रेष्ठं वैनतेयं तरस्विनम्।
भोगीवाह्वयसे पाते कर्ण पार्थं धनञ्जयम् ॥३१॥

"कर्ण ! जैसे कोई सर्प अपने पतन के लिए ही पक्षियों में श्रेष्ठ वेगशाली विनतापुत्र गरुड़ का आह्वान करता है, वैसे ही तुम भी अपने विनाश के लिए ही कुन्तीपुत्र अर्जुन को ललकार रहे हो।

सर्वाम्भसां निधिं भीमं मूर्तिमन्तं झषायुतम्।
चन्द्रोदये विवर्धन्तमप्लवः संतितीर्षसि ॥३२॥

"अरे ! तुम चन्द्रोदय के समय बढ़ते हुए, जलजन्तुओं से पूर्ण तथा उत्ताल तरंगों से व्याप्त अगाध जलराशिवाले भयंकर समुद्र को बिना किसी नौका के केवल दोनों हाथों के सहारे पार करना चाहते हो।

यथा च स्वगृहस्थः श्वा व्याघ्रं वनगतं भषेत्।
तथा त्वं भषसे कर्ण नरव्याघ्रं धनञ्जयम् ॥३३॥

"कर्ण ! जैसे अपने घर में बैठा हुआ कोई कुत्ता वन में रहनेवाले बाघ की ओर भौंके, वैसे ही तुम भी नरव्याघ्र अर्जुन को लक्ष्य करके भौंक रहे हो।

शृगालोऽपि वने कर्ण शशैः परिवृतो वसन्।
मन्यते सिंहमात्मानं यावत् सिंहं न पश्यति ॥३४॥

"कर्ण ! वन में खरगोश के साथ रहनेवाला गीदड़ भी जबतक सिंह को नहीं देखता, तबतक अपने को सिंह ही मानता रहता है।

तथा त्वमपि राधेय सिंहमात्मानमिच्छसि।
अपश्यञ्शत्रुदमनं नरव्याघ्रं धनञ्जयम् ॥३५॥

"राधापुत्र ! उसी प्रकार तुम भी शत्रुओं का दमन करनेवाले पुरुषसिंह अर्जुन को न देखने के कारण ही अपने-आपको सिंह समझना चाहते हो।

मन्यसे त्वं स्वकं व्याघ्रं यावत् कृष्णौ न पश्यसि।
समास्थितावेकरथे सूर्याचन्द्रमसाविव ॥३६॥

"एक रथ पर बैठे हुए सूर्य और चन्द्रमा के समान सुशोभित श्रीकृष्ण और अर्जुन को जबतक तुम नहीं देख रहे हो, तभी तक अपने-आपको बाघ माने बैठे हो।

यावद् गाण्डीवघोषं त्वं न शृणोषि महाहवे।
तावदेव त्वया कर्ण शक्यं वक्तुं यथेच्छसि ॥३७॥

"कर्ण ! महायुद्ध में जबतक तुम गाण्डीव धनुष की टंकार नहीं सुनते हो, तबतक जैसा चाहो, वैसा बक सकते हो।

रथशब्दधनुःशब्दैर्नादयन्तं दिशो दश।
नर्दन्तमिव शार्दूलं दृष्ट्वा क्रोष्टा भविष्यसि ॥३८॥

"रथ की घर्घराहट और धनुष की टंकार से दसों दिशाओं को निनादित करते हुए सिंहतुल्य अर्जुन को जब तुम दहाड़ते हुए देखोगे [सुनोगे], तब तुरन्त गीदड़ बन जाओगे।

नित्यमेव शृगालस्त्वं नित्यं सिंहो धनञ्जयः।
वीरप्रद्वेषणान्मूढ तस्मात् क्रोष्टेव लक्ष्यसे ॥३९॥

"अरे मूढ़ ! तुम सदा से ही गीदड़ हो और अर्जुन सदा से ही सिंह हैं। वीरों के प्रति द्वेष रखने के कारण ही तुम गीदड़ जैसे दिखाई देते हो।

यथाखुः स्याद् बिडालश्च श्वा व्याघ्रश्च बलाबले।
यथा शृगालः सिंहश्च यथा च शशकुञ्जरौ ॥४०॥

"जैसे चूहा और बिलाव, कुत्ता और बाघ, गीदड़ और सिंह तथा खरगोश और हाथी अपनी निर्बलता और प्रबलता के लिए प्रसिद्ध हैं, वैसे ही तुम निर्बल हो और अर्जुन सबल है।

यथानृतं च सत्यं च यथा चापि विषामृते।
तथा त्वमपि पार्थश्च प्रख्यातावात्मकर्मभिः ॥४१॥

"जैसे सत्य और असत्य तथा विष और अमृत अपना पृथक्-पृथक् प्रभाव रखते हैं, उसी प्रकार तुम और अर्जुन भी अपने-अपने कर्मों के लिए सर्वत्र विख्यात हो।"

इति महाभारते कर्णपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

कर्ण का शल्य को फटकारना, शल्य का उसे हंस और कौए का दृष्टान्त सुनाकर श्रीकृष्ण और अर्जुन की शरण में जाने की सलाह देना

सञ्जय उवाच

अधिक्षिप्तस्तु राधेयः शल्येनामिततेजसा।
शल्यमाह सुसंक्रुद्धो वाक्शल्यमवधारयन् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! अमित तेजस्वी शल्य के इस प्रकार आक्षेप करने पर राधापुत्र कर्ण अति क्रुद्ध हो उठा और 'वचनरूपी शल्य=बाण छोड़ने के कारण ही इसका नाम शल्य पड़ा है', ऐसा निश्चय करके इस प्रकार बोला—

कर्ण उवाच

गुणान् गुणवतां शल्य गुणवान् वेत्ति नागुणः।
त्वं तु शल्य गुणैर्हीनः किं ज्ञास्यसि गुणागुणम् ॥२॥

कर्ण बोला—शल्य! गुणी पुरुषों के गुणों को गुणवान् ही जानता है, गुणहीन नहीं। तुम तो समस्त गुणों से हीन हो, फिर गुण-अवगुण क्या समझोगे?

अर्जुनस्य महास्त्राणि क्रोधं वीर्यं धनुः शरान्।
अहं शल्याभिजानामि विक्रमं च महात्मनः ॥३॥

शल्य! मैं महात्मा अर्जुन के महान् अस्त्र, क्रोध, बल, धनुष, बाण और पराक्रम को भली प्रकार जानता हूँ।

तथा कृष्णस्य माहात्म्यमृषभस्य महीक्षिताम्।
यथाहं शल्य जानामि न त्वं जानासि तत्तथा ॥४॥

शल्य! इसी प्रकार महीपाल-शिरोमणि श्रीकृष्ण के माहात्म्य को जैसा मैं जानता हूँ, वैसा तुम नहीं जानते।

एवमेवात्मनो वीर्यमहं वीर्यं च पाण्डवे।
जानन्नेवाह्वये युद्धे शल्य गाण्डीवधारिणम् ॥५॥

शल्य! मैं अपना और पाण्डुपुत्र अर्जुन का बल-पराक्रम समझकर ही गाण्डीवधारी पार्थ को युद्ध के लिए ललकार रहा हूँ।

अर्जुने गाण्डिवं कृष्णे चक्रं तार्क्ष्यकपिध्वजौ। □
भीरूणां त्रासजननं शल्य हर्षकरं मम ॥६॥

कपिध्वज अर्जुन के हाथ में गाण्डीव और गरुड़-ध्वज श्रीकृष्ण के हाथ में चक्र है। शल्य ये सब वस्तुएँ कायरों को भयभीत करनेवाली हैं, परन्तु मेरा हर्ष बढ़ानेवाली हैं।

त्वं तु दुष्प्रकृतिर्मूढो महायुद्धेष्वकोविदः।
भयावदीर्णः संत्रासादबद्धं बहु भाषसे ॥७॥

तुम तो दुष्ट स्वभाव के मूर्ख मनुष्य हो। महा-युद्धों में शत्रु का सामना कैसे किया जाता है, इस बात से अनभिज्ञ हो। भय से तुम्हारा हृदय विदीर्ण हो रहा है। भयभीत होकर तुम व्यर्थ ही अनाप-सनाप बोल रहे हो।

संस्तौषि तौ तु केनापि हेतुना त्वं कुदेशज।
तौ हत्वा समरे हन्ता त्वामद्य सहबान्धवम् ॥८॥

दुष्ट देश में उत्पन्न शल्य! तुम उन दोनों की किसी स्वार्थ-सिद्धि के लिए स्तुति करते हो, परन्तु मैं आज रणभूमि में उन दोनों को मारकर बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हारा भी वध कर डालूँगा।

नाहं बिभेमि कृष्णाभ्यां विजानन्नात्मनो बलम्।
वासुदेवसहस्रं वा फाल्गुनानां शतानि वा।
अहमेको हनिष्यामि जोषमास्स्व कुदेशज ॥९॥

मैं अपने बल को भली प्रकार जानता हूँ, अतः

श्रीकृष्ण और अर्जुन से कदापि नहीं डरता। नीच देश में उत्पन्न शल्य! तुम चुप रहो। मैं अकेला ही सहस्रों कृष्णों और सैकड़ों अर्जुनों को मार डालूंगा।

स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च या गाथाः प्रवदन्ति हि।
ता गाथाः शृणु मे शल्य मद्रकेषु दुरात्मसु ॥१०

शल्य! स्त्रियाँ, बालक और वृद्ध दुरात्मा मद्र-देशवासियों के विषय में जिन गाथाओं का गान किया करते हैं, उन गाथाओं को मुझसे सुनो।

दुरात्मा मद्रको नित्यं नित्यमानृतिकोऽनृजुः।
यावदन्त्यं हि दौरात्म्यं मद्रकेष्विति नः श्रुतम् ॥११॥

मद्रवासी मनुष्य सदा ही दुरात्मा, सर्वदा झूठ बोलनेवाला और सदा ही कुटिल होता है। हमने सुन रखा है कि मद्रनिवासियों में मरते दम तक दुष्टता बनी रहती है।

नापि वैरं न सौहार्दं मद्रकेण समाचरेत्।
मद्रके संगतं नास्ति मद्रको हि सदा मलः ॥१२॥

मद्रनिवासियों के साथ न तो वैर करे और न मित्रता ही स्थापित करे, क्योंकि उनमें सौहार्द की भावना नहीं होती। मद्रनिवासी सदा पाप में ही डूबा रहता है।

मद्रकाः सिन्धुसौवीरा धर्मं विद्युः कथं त्विह।
पापदेशोद्भवा म्लेच्छा धर्माणामविचक्षणाः ॥१३॥

मद्र तथा सिन्धु-सौवीर देश के लोग पापपूर्ण देश में उत्पन्न हुए म्लेच्छ हैं। उन्हें धर्म-कर्म का पता नहीं है। वे इस लोक में धर्म की बातें कैसे समझ सकते हैं?

एष मुख्यतमो धर्मः क्षत्रियस्येति नः श्रुतम्।
यदाजौ निहतः शेते सद्भिः समभिपूजितः ॥१४॥

हमने सुना है कि क्षत्रिय के लिए सबसे श्रेष्ठ धर्म यह है कि वह युद्ध में मारा जाकर रणभूमि में सो जाए और सज्जनों के आदर का पात्र बने।

आयुधानां सम्पराये यन्मुच्येयमहं ततः।
ममैष प्रथमः कल्पो निधने स्वर्गमिच्छतः ॥१५॥

मैं अस्त्र-शस्त्रों द्वारा किये जानेवाले युद्ध में अपने प्राणों का परित्याग करूँ, यही मेरे लिए प्रथम श्रेणी का कार्य है, क्योंकि मैं मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग पाने की अभिलाषा रखता हूँ।

सोऽयं प्रियः सखा चास्मि धार्तराष्ट्रस्य धीमतः।
तदर्थे हि मम प्राणा यच्च मे विद्यते वसु ॥१६॥
व्यक्तं त्वमप्युपहितः पाण्डवैः पापदेशज।
यथा चामित्रवत् सर्वं त्वमस्मासु प्रवर्तसे ॥१७॥

मैं बुद्धिमान् दुर्योधन का प्रिय मित्र हूँ, अतः मेरे पास जो कुछ धन-वैभव है, वह और मेरे प्राण भी उसी के लिए हैं। परन्तु पापदेश में उत्पन्न हुए शल्य! यह स्पष्ट जान पड़ता है कि पाण्डवों ने तुम्हें हमारा भेद लेने के लिए ही यहाँ छोड़ा हुआ है, क्योंकि तुम हमारे साथ शत्रु के समान ही सारा बर्ताव कर रहे हो।

कामं न खलु शक्योऽहं त्वद्विधानां शतैरपि।
संग्रामाद् विमुखः कर्तुं धर्मज्ञ इव नास्तिकैः ॥१८॥

जैसे सैकड़ों नास्तिक भी धर्मज्ञ पुरुषों को धर्म से विचलित नहीं कर सकते, वैसे ही तुम्हारे जैसे सैकड़ों मनुष्य भी मुझे संग्राम से विमुख नहीं कर सकते, यह निश्चित बात है।

सारङ्ग इव घर्मार्तः कामं विलप शुष्य च।
नाहं भीषयितुं शक्यः क्षत्रवृत्ते व्यवस्थितः ॥१९॥

तुम धूप से सन्तप्त हुए हरिण की भाँति चाहे विलाप करो चाहे सूख जाओ। क्षत्रियधर्म में स्थित हुए मुझ कर्ण को तुम डरा नहीं सकते।

न तद् भूतं प्रपश्यामि त्रिषु लोकेषु मद्रक।
यो मामस्मादभिप्रायाद् वारयेदिति मे मतिः ॥२०॥

मद्रराज! मैं तीनों लोकों में किसी भी ऐसे प्राणी को नहीं देखता, जो मुझे मेरे इस संकल्प से विचलित कर दे, यह मेरा दृढ़ निश्चय है।

एवं विद्वञ्जोषमास्स्व त्रासात् किं बहु भाषसे।
मा त्वां हत्वा प्रदास्यामि क्रव्याद्भ्यो मद्रकाधम ॥२१

विद्वन्! शल्य! ऐसा जानकर चुपचाप बैठे रहो। भय के कारण बहुत बड़बड़ाते क्यों हो? मद्र-देश के नराधम! यदि तुम चुप न हुए तो तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े करके मांसभक्षी प्राणियों के समक्ष डाल दूंगा।

मित्रप्रतीक्षया शल्य धृतराष्ट्रस्य चोभयोः।
अपवादतितिक्षाभ्यां त्रिभिरेतैर्हि जीवसि ॥२२॥

शल्य! एक तो मैं मित्र दुर्योधन और राजा

धृतराष्ट्र दोनों के कार्य की ओर दृष्टि रखता हूँ, दूसरे अपनी निन्दा से डरता हूँ, तीसरे मैंने क्षमा करने का वचन दिया हुआ है—इन्हीं तीन कारणों से तुम अभी तक जीवित हो।

पुनश्चेदीदृशं वाक्यं मद्रराज वदिष्यसि।
शिरस्ते पातयिष्यामि गदया वज्रकल्पया ॥२३॥

मद्रराज! यदि फिर तुम ऐसी बात बोलोगे तो मैं अपनी वज्र के समान गदा से तुम्हारा मस्तक चूर-चूर करके गिरा दूँगा।

श्रोतारस्त्विदमद्येह द्रष्टारो वा कुदेशज।
कर्णं वा जघ्नतुः कृष्णौ कर्णो वा निजघान तौ ॥२४॥

नीच देश में उत्पन्न शल्य! आज यहाँ सुननेवाले सुनेंगे और देखनेवाले देखेंगे कि "श्रीकृष्ण और अर्जुन ने कर्ण को मारा अथवा कर्ण ने ही उन दोनों को मार गिराया।"

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा तु राधेयः पुनरेव विशाम्पते।
अब्रवीन्मद्रराजं तं याहि याहीत्यसम्भ्रमम् ॥२५॥

सञ्जय कहते हैं—नरेश्वर! ऐसा कहकर राधापुत्र कर्ण ने बिना किसी घबराहट के पुनः मद्रराज शल्य से कहा—"चलो, चलो।"

मारिषाधिरथेः श्रुत्वा वाचो युद्धाभिनन्दिनः।
शल्योऽब्रवीत् पुनः कर्णं निदर्शनमिदं वचः ॥२६॥

मान्यवर नरेश! युद्ध का अभिनन्दन करनेवाले अधिरथ पुत्र कर्ण की पूर्वोक्त बातें सुनकर शल्य ने पुनः उससे यह दृष्टान्तयुक्त बात कही—

शल्य उवाच

जातोऽहं यज्वनां वंशे संग्रामेष्वनिवर्तिनाम्।
राज्ञां मूर्धाभिषिक्तानां स्वयं धर्मपरायणः ॥२७॥

शल्य बोला—सूतपुत्र! मैं युद्ध में पीठ न दिखानेवाले यज्ञपरायण, मूर्धाभिषिक्त नरेशों के कुल में उत्पन्न हुआ हूँ और स्वयं भी धर्म में तत्पर रहता हूँ।

यथैव मत्तो मद्येन त्वं तथा लक्ष्यसे वृष।
तथाद्य त्वां प्रमाद्यन्तं चिकित्सेयं सुहृत्तया ॥२८॥

वृषभस्वरूप कर्ण! जैसे कोई मदिरा से मतवाला हो गया हो, वैसे ही तुम भी उन्मत्त दिखाई दे रहे हो, अतः मैं हितैषी सुहृद् होने के नाते तुम जैसे प्रमत्त की आज चिकित्सा करूँगा।

इमां काकोपमां कर्ण प्रोच्यमानां निबोध मे।
श्रुत्वा यथेष्टं कुर्यास्त्वं निहीन कुलपांसन ॥२९॥

अरे नीच कुलाङ्गार कर्ण! मेरे द्वारा कहे जानेवाले कौए के इस दृष्टान्त को सुनो और सुनकर जैसी इच्छा हो, वैसा करो।

अवश्यं तु मया वाच्यं बुद्ध्यता त्वद्धिताहितम्।
विशेषतो रथस्थेन राज्ञश्चैव हितैषिणा ॥३०॥

मैं राजा दुर्योधन का हितैषी हूँ और विशेषतः रथ पर सारथि बनकर बैठा हूँ, अतः तुम्हारे हिताहित को जानते हुए मेरा आवश्यक कर्तव्य है कि तुम्हें वह सब [तुम्हारा हित-अहित] बता दूँ।

वैश्यः किल समुद्रान्ते प्रभूतधनधान्यवान्।
यज्वा दानपतिः क्षान्तः स्वकर्मस्थोऽभवच्छुचिः ॥३१॥
बहुपुत्रः प्रियापत्यः सर्वभूतानुकम्पकः।
राज्ञो धर्मप्रधानस्य राष्ट्रे वसति निर्भयः ॥३२॥

कहते हैं समुद्र के तट पर किसी धर्मप्रधान राजा के राज्य में प्रभूत धन-धान्य से सम्पन्न एक वैश्य रहता था। वह यज्ञ-याग आदि करनेवाला, दानी, क्षमाशील, अपने वर्णानुकूल कर्म में तत्पर, पवित्र, बहुत-से पुत्रवाला, सन्तानप्रेमी और समस्त प्राणियों पर दया करनेवाला था।

पुत्राणां तस्य बालानां कुमाराणां यशस्विनाम्।
काको बहूनामभवदुच्छिष्टकृतभोजनः ॥३३॥

उसके जो बहुत-से अल्पवयस्क यशस्वी पुत्र थे, उन सबकी जूठन खानेवाला एक कौआ भी वहाँ रहा करता था।

तस्मै सदा प्रयच्छन्ति वैश्यपुत्राः कुमारकाः।
मांसौदनं दधि क्षीरं पायसं मधुसर्पिषी ॥३४॥

वैश्य के बालक पुत्र उस कौए को सदा ही दाल-भात, दही, दूध, खीर, मधु और घी आदि दिया करते थे।

स चोच्छिष्टभृतः काको वैश्यपुत्रैः कुमारकैः।
सदृशान् पक्षिणो दृप्तः श्रेयसश्चाधिचिक्षिपे ॥३५॥

वैश्य बालकों की जूठन खा-खाकर पला हुआ वह कौआ बड़े घमण्ड में भरकर अपने समान तथा

अपने से श्रेष्ठ पक्षियों का भी अपमान करने लगा।

अथ हंसाः समुद्रान्ते कदाचिदतिपातिनः ।
गरुडस्य गतौ तुल्याश्चक्राङ्गा हृष्टचेतसः ।।३६।।

एक दिन की बात है, उस समुद्र-तट पर गरुड़ के समान लम्बी उड़ानें भरनेवाले मानसरोवरनिवासी राजहंस आये। उनके अङ्गों में चक्र के चिह्न थे और वे अति प्रसन्न थे।

कुमारकास्तदा हंसान् दृष्ट्वा काकमथाब्रुवन् ।
एभिस्त्वमपि शक्तो हि कामान्नोत्पतितं त्वया ।।३७।।

उस समय उन हंसों को देखकर कुमारों ने कौए से इस प्रकार कहा—"विहंगम ! तुम भी इन्हीं के समान दूर तक उड़ने में समर्थ हो। तुमने अपनी इच्छा से ही अबतक वैसी उड़ान नहीं भरी है।"

प्रतार्यमाणस्तैः सर्वैरल्पबुद्धिभिरण्डजः ।
तद्वचः सत्यमित्येव मौर्ख्याद् दर्पाच्च मन्यते ।।३८।।

उन सारे अल्पबुद्धि बालकों द्वारा ठगा गया वह पक्षी मूर्खता और अभिमान से उनकी बातों को सत्य मानने लगा।

तान् सोऽभिपत्य जिज्ञासुः क एषां श्रेष्ठभागिति ।
उच्छिष्टदर्पितः काको बहूनां दूरपातिनाम् ।।३९
तेषां यं प्रवरं मेने हंसानां दूरपातिनाम् ।
तमाह्वयत दुर्बुद्धिः पताव इति पक्षिणम् ।।४०।।

फिर वह जूठन पर घमण्ड करनेवाला कौआ "इन हंसों में सर्वश्रेष्ठ कौन है"—यह जानने की इच्छा से उड़कर उनके पास गया और दूर तक उड़ान भरनेवाले उन अनेक हंसों में से जिस पक्षी को उसने श्रेष्ठ समझा, उसी को उस मूर्ख ने ललकारते हुए कहा—"चलो, हम दोनों उड़ें।"

भाषमाणस्य काकस्य बलिनः पततां वराः ।
तत् श्रुत्वा प्राहसन् हंसा इदमूचुर्विहंगमाः ।।४१।।

बहुत काँव-काँव करनेवाले उस कौए की वह बात सुनकर पक्षियों में श्रेष्ठ आकाशचारी बलवान् हंस हँस पड़े और कौए से इस प्रकार बोले—

हंसा ऊचुः

वयं हंसाश्चरामेमां पृथिवीं मानसौकसः ।
पक्षिणां च वयं नित्यं दूरपातेन पूजिताः ।।४२।।

हंसों ने कहा—काक ! हम मानसरोवर निवासी हंस हैं। दूर तक उड़ने के कारण हम सदा सभी पक्षियों में सम्मानित होते आये हैं।

कथं हंसं नु बलिनं चक्राङ्गं दूरपातिनम् ।
काको भूत्वा निपतने समाह्वयसि दुर्मते ।।४३।।

अरे खोटी बुद्धिवाले काग ! तू कौआ होकर लम्बी उड़ान भरनेवाले और अपने अङ्गों में चक्र का चिह्न धारण करनेवाले एक बलवान् हंस को अपने साथ उड़ने के लिए कैसे ललकार रहा है ?

काक उवाच

शतमेकं च पातानां पतितास्मि न संशयः ।
शतयोजनमेकैकं विचित्रं विविधं तथा ।।४४।।

कौआ बोला—हंस ! मैं एक सौ एक प्रकार की उड़ानें उड़ सकता हूँ, इसमें संशय नहीं है। उनमें से प्रत्येक उड़ान सौ-सौ योजन की होती है और वे सभी विभिन्न प्रकार की और विचित्र हैं।

उड्डीनमवडीनं च प्रडीनं डीनमेव च ।
निडीनमथ संडीनं तिर्यग्डीनगतानि च ।।४५।।

उनमें से कुछ उड़ानों के नाम इस प्रकार हैं—उड्डीन [ऊँचा उड़ना], अवडीन [नीचा उड़ना], प्रडीन [चारों ओर उड़ना], डीन [साधारण उड़ना], निडीन [धीरे-धीरे उड़ना], संडीन [ललित गति से उड़ना], तिर्यग्डीन [तिरछा उड़ना] आदि।

हंस उवाच

शतमेकं च पातानां त्वं काक पतिता ध्रुवम् ।
एकमेव तु यं पातं विदुः सर्वे विहंगमाः ।।४६।।
तमहं पतिता काक नान्यं जानामि कञ्चन ।
पत त्वमपि ताम्राक्ष येन पातेन मन्यसे ।।४७।।

हंस बोला—काक ! तू अवश्य एक सौ एक उड़ानों द्वारा उड़ सकता है, परन्तु मैं तो जिस एक उड़ान को सारे पक्षी जानते हैं उसी से उड़ सकता हूँ, दूसरी किसी उड़ान का मुझे पता नहीं है। लालनेत्र काक ! तू भी जिस उड़ान को उचित समझे उसी से उड़।

शल्य उवाच

अथ काकाः प्रजहसुर्ये तत्रासन् समागताः ।
कथमेकेन पातेन हंसः पातशतं जयेत् ।।४८।।

शल्य ने कहा—उस समय वहाँ आये हुए सारे कौए जोर-जोर से हँसने लगे और आपस में बोले—

"भला यह हंस एक ही उड़ान से सौ प्रकार की उड़ानों को कैसे जीत सकता है ?"

प्रपेततुः स्पर्धया च ततस्तौ हंसवायसौ ।
एकपाती च चक्राङ्गः काकः पातशतेन च ॥४९॥

उधर हंस और कौआ दोनों होड़ लगाकर उड़े। चक्राङ्ग हंस एक ही गति से उड़नेवाला था और कौआ सौ उड़ानों से।

अथ काकस्य चित्राणि पतितानि मुहुर्मुहुः ।
दृष्ट्वा प्रमुदिताः काका विनेदुरधिकैः स्वरैः ॥५०॥

उस समय कौए की विचित्र उड़ानों को बार-बार देखकर दूसरे कौए बड़े प्रसन्न हुए और जोर-जोर से काँव-काँव करने लगे।

हंसांश्चावहसन्ति स्म प्रावदन्नप्रियाणि च ।
उत्पत्योत्पत्य च मुहुर्मुहूर्तमिति चेति च ॥५१॥

वे दो-दो घड़ी पर बार-बार उड़-उड़कर कहते —"देखो, कौए की यह उड़ान, वह उड़ान।" ऐसा कहकर वे हंसों का उपहास करते और उन्हें कटुवचन सुनाते थे।

हंसस्तु मृदुनैकेन विक्रान्तुमुपचक्रमे ।
प्रत्यहीयत काकाच्च मुहूर्तमिव मारिष ॥५२॥

आर्य ! हंस ने एक ही मृदुल गति से उड़ना आरम्भ किया था, अतः दो घड़ी तक वह कौए से हारता-सा प्रतीत हुआ।

अवमन्य च हंसांस्तानिदं वचनमब्रुवन् ।
योऽसावुत्पतितो हंसः सोऽसावेवं प्रहीयते ॥५३॥

तब कौओं ने हंसों का अपमान करते हुए इस प्रकार कहा—"वह जो हंस उड़ा था, वह तो इस प्रकार कौए से हारता जा रहा है।"

अथ हंसः स तत् श्रुत्वा प्रापतत् पश्चिमां दिशम् ।
उपर्युपरि वेगेन सागरं मकरालयम् ॥५४॥

उड़नेवाले हंस ने कौओं की यह बात सुनकर बड़े वेग से मकरालय समुद्र के ऊपर-ऊपर पश्चिम दिशा की ओर उड़ना आरम्भ किया।

ततो भीः प्राविशत् काकं तदा तत्र विचेतसम् ।
द्वीपद्रुमानपश्यन्तं निपातार्थे श्रमान्वितम् ॥५५॥

इधर कौआ थक गया था। उसे कहीं आश्रय लेने के लिए द्वीप या वृक्ष नहीं दिखाई दे रहे थे, अतः उसके मन में भय समा गया और वह घबराकर अचेत-सा हो उठा।

अथ हंसोऽप्यतिक्रम्य काकं तं समुदैक्षत ।
यावद् गत्वा पतत्येष काको मामिति चिन्तयन् ॥५६॥

उधर हंस कौए को लाँघकर आगे बढ़ चुका था तो भी यह सोचकर उसकी प्रतीक्षा करने लगा कि यह कौआ भी उड़कर मेरे समीप आ जाए।

ततः काको भृशं श्रान्तो हंसमभ्यागमत्तदा ।
तं तथा हीयमानं तु हंसो दृष्ट्वाब्रवीदिदम् ॥५७॥

तब कुछ देर में अत्यन्त थका-माँदा कौआ हंस के पास आया। कौए की शोचनीय दशा देखकर हंस ने उससे कहा—

हंस उवाच

बहूनि पतितानि त्वमाचक्षाणो मुहुर्मुहुः ।
पातस्य व्याहरंश्चेदं न नो गुह्यं प्रभाषसे ॥५८॥

हंस बोला—काक ! तू तो बारम्बार अपनी बहुत-सी उड़ानों का वर्णन कर रहा था, परन्तु उन उड़ानों का वर्णन करते समय उनमें से इस गोपनीय उड़ान की बात तो तूने बताई ही नहीं थी।

किं नाम पतितं काक यत्त्वं पतसि साम्प्रतम् ।
जलं स्पृशसि पक्षाभ्यां तुण्डेन च पुनः पुनः ॥५९॥

काग ! बता तो सही, तू इस समय जिस उड़ान से उड़ रहा है, उसका नाम क्या है ? इस उड़ान में तो तू अपने दोनों पंखों और चोंच के द्वारा बारम्बार जल का स्पर्श कर रहा है।

प्रब्रूहि कतमे तत्र पाते वर्तसि वायस ।
एह्येहि काक शीघ्रं त्वमेष त्वां प्रतिपालये ॥६०॥

कौए ! बता, बता ! इस समय तू कौन-सी उड़ान में स्थित है ? काक ! आ, शीघ्र आ। मैं अभी तेरी रक्षा करता हूं।

शल्य उवाच

अपश्यन्नम्भसः पारं निपतंश्च श्रमान्वितः ।
पातवेगप्रमथितो हंसं काकोऽब्रवीदिदम् ॥६१॥

शल्य कहते हैं—अरे दुष्टात्मा कर्ण ! वह कौआ उड़ान के वेग से थककर शिथिलांग हो गया था और जल का कहीं आर-पार न देखकर नीचे गिरता जा रहा था। उस समय उसने हंस से कहा—

वयं काकाः कुतो नाग चरामः काकवाशिकाः ।
उच्छिष्टदर्पितो हंस मन्येऽऽत्मानं सुपर्णवत् ।।६२।।

"भाई हंस ! हम तो कौए हैं । व्यर्थ काँव-काँव किया करते हैं । हम उड़ना क्या जानें ? मैं जूठन खा-खाकर घमण्ड में भर गया था और अपने-आपको गरुड़ के समान शक्तिशाली समझने लगा था ।

प्राणैर्हंस प्रपद्ये त्वां द्वीपान्तं प्रापयस्व माम् ।
यद्यहं स्वस्तिमान् हंस स्वं देशं प्राप्नुयां प्रभो ।
न कञ्चिदवमन्येऽहमापदो मां समुद्धर ।।६३।।

"हंस ! अब मैं अपने प्राणों के साथ आपकी शरण में आया हूँ । तुम मुझे द्वीप के पास पहुँचा दो । शक्तिशाली हंस ! यदि मैं कुशलतापूर्वक अपने देश में पहुँच जाऊँ तो अब कभी किसी का अपमान नहीं करूँगा । तुम इस विपत्ति से मेरा उद्धार करो ।"

तमेवंवादिनं दीनं विलपन्तमचेतनम् ।
काक काकेति वाशन्तं निमज्जन्तं महार्णवे ।।६४।।
कृपयाऽऽदाय हंसस्तं जलक्लिन्नं सुदुर्दृशम् ।
पद्भ्यामुत्क्षिप्य वेगेन पृष्ठमारोपयच्छनैः ।।६५।।

हे कर्ण ! इस प्रकार कहकर कौआ अचेत-सा होकर दीनभाव से विलाप करने और काँव-काँव करते हुए महासागर के जल में डूबने लगा । उस समय उसकी ओर देखना कठिन हो रहा था । वह पानी से भीग गया था । हंस ने कृपापूर्वक उसे पंजों से उठाकर बड़े वेग से ऊपर को उछाला और धीरे से अपनी पीठ पर बिठा लिया ।

आरोप्य पृष्ठं हंसस्तं काकं तूर्णं विचेतनम् ।
आजगाम पुनर्द्वीपं स्पर्धया पेततुर्यतः ।।६६।।

अचेत हुए कौए को अपनी पीठ पर बिठाकर हंस तुरन्त ही फिर उसी द्वीप में आ पहुँचा, जहाँ से होड़ लगाकर वे दोनों उड़े थे ।

संस्थाप्य तं पुनश्चापि समाश्वास्य च खेचरम् ।
गतो यथेप्सितं देशं हंसो मन इवाशुगः ।।६७।।

उस कौए को उसके स्थान पर छोड़ और उसे आश्वासन दे मन के समान शीघ्रगामी हंस पुनः अपने अभीष्ट देश को चला गया ।

एवमुच्छिष्टपुष्टः स काको हंसपराजितः ।
बलवीर्यमदं कर्ण त्यक्त्वा क्षान्तिमुपागतः ।।६८।।

कर्ण ! इस प्रकार जूठन खाकर पुष्ट हुआ वह कौआ उस हंस से परास्त हो अपने महान् बल-पराक्रम का घमण्ड छोड़कर शान्त हो गया ।

उच्छिष्टभोजनः काको यथा वैश्यकुले पुरा ।
त्वमुच्छिष्टभृतो ह्येवं धार्तराष्ट्रैर्न संशयः ।।६९।।

पूर्वकाल में वह कौवा जैसे वैश्यकुल में सबकी जूठन खाकर पला था, उसी प्रकार धृतराष्ट्र के पुत्रों ने तुम्हें जूठन खिला-खिलाकर पाला है, इसमें संशय नहीं है ।

द्रोणद्रौणिकृपैर्गुप्तो भीष्मेणान्यैश्च कौरवैः ।
विराटनगरे पार्थमेकं किं नावधीस्तदा ।।७०।।

विराटनगर में तो द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, भीष्म तथा अन्य कौरव वीर भी तुम्हारी रक्षा कर रहे थे, फिर उस समय तुमने अकेले सामने आये हुए अर्जुन का वध क्यों नहीं कर डाला ।

यत्र व्यस्ताः समस्ताश्च निर्जिताः स्थ किरीटिना ।
शृगाला इव सिंहेन क्व ते वीर्यमभूत् तदा ।।७१

वहाँ तो किरीटधारी अर्जुन ने अलग-अलग और सब लोगों से एक-साथ लड़कर भी तुम लोगों को उसी प्रकार परास्त कर दिया था, जैसे एक ही सिंह ने बहुत-से गीदड़ों को मार भगाया हो । कर्ण ! उस समय तुम्हारा पराक्रम कहाँ था ?

भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा समरे सव्यसाचिना ।
पश्यतां कुरुवीराणां प्रथमं त्वं पलायितः ।।७२।।

सव्यसाची अर्जुन के द्वारा रणभूमि में अपने भाई को मारा गया देखकर कौरव वीरों के समक्ष सबसे पूर्व तुम्हीं भागे थे ।

तथा द्वैतवने कर्ण गन्धर्वैः समभिद्रुतः ।
कुरून् समग्रानुत्सृज्य प्रथमं त्वं पलायितः ।।७३।।

कर्ण ! इसी प्रकार जब द्वैतवन में गन्धर्वों ने चढ़ाई की थी, उस समय समस्त कौरवों को छोड़कर पहले तुमने ही पीठ दिखाई थी ।

कियत् तत्तत् प्रवक्ष्यामि येन येन धनञ्जयः ।
त्वत्तोऽतिरिक्तः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ब्राह्मणो यथा ।।७४।।

मैं कहाँ तक गिन-गिनकर बताऊँ कि किन-किन गुणों के कारण अर्जुन तुमसे श्रेष्ठ हैं ! जैसे ब्राह्मण

समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार अर्जुन तुमसे श्रेष्ठ है।

यथाश्रयत चक्राङ्गं वायसो बुद्धिमास्थितः ।
तथाश्रयस्व वार्ष्णेयं पाण्डवं च धनञ्जयम् ॥७५॥

जैसे कौआ उत्तम बुद्धि का आश्रय लेकर चक्राङ्ग की शरण में गया था, उसी प्रकार तुम भी वृष्णि-नन्दन श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुन की शरण लो।

यदा शरशतैः पार्थो दर्पं तव वधिष्यति ।
तदा त्वमन्तरं द्रष्टा आत्मनश्चार्जुनस्य च ॥७६॥

जब अर्जुन अपने सैकड़ों बाणों द्वारा तुम्हारा अभिमान चूर-चूर कर देंगे, तब तुम स्वयं ही देख लोगे कि तुममें और अर्जुन में कितना अन्तर है।

देवासुरमनुष्येषु प्रख्यातौ यौ नरोत्तमौ ।
तौ मावमंस्था मौर्ख्यात् त्वं खद्योत इव रोचनौ ॥७७

जैसे जुगनू प्रकाशमान सूर्य और चन्द्रमा का तिरस्कार करे, उसी प्रकार तुम देवों, असुरों और मनुष्यों में विख्यात उन दोनों नरश्रेष्ठ वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन का मूर्खतावश अपमान मत करो।

सूर्याचन्द्रमसौ यद्वत् तद्वदर्जुनकेशवौ ।
प्राकाश्येनाभिविख्यातौ त्वं तु खद्योतवन्नृषु ॥७८॥

जैसे सूर्य और चन्द्रमा हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण और अर्जुन हैं। वे दोनों अपने तेज से सर्वत्र विख्यात हैं, परन्तु तुम तो मनुष्यों में जुगनू के ही समान हो।

एवं विद्वान् मावमंस्थाः सूतपुत्राच्युतार्जुनौ ।
नृसिंहौ तौ महात्मानौ जोषमास्स्व विकत्थने ॥७९॥

सूतपुत्र ! तुम महात्मा पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुन को ऐसा जानकर उनका अपमान न करो। बढ़-चढ़कर बातें बनाना बन्द करके चुपचाप बैठे रहो।

कर्ण उवाच

यत् त्वं निदर्शनार्थं मां शल्य जल्पितवानसि ।
नाहं शक्यस्त्वया वाचा विभीषयितुमाहवे ॥८०॥

कर्ण बोला—शल्य ! तुमने दृष्टान्त के लिए मेरे प्रति जो वाग्जाल फैलाया है, उसके उत्तर में निवेदन है कि तुम इस रणभूमि में मुझे अपनी बातों से नहीं डरा सकते।

यदि मां देवताः सर्वा योधयेयुः सवासवाः ।
तथापि मे भयं न स्यात् किमु पार्थात् सकेशवात् ॥८१

यदि इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता मुझसे युद्ध करने लगें तो भी मुझे उनसे कोई भय नहीं होगा, फिर श्रीकृष्णसहित अर्जुन से तो क्या भय हो सकता है ?

नाहं भीषयितुं शक्यो वाङ्मात्रेण कथञ्चन ।
अन्यं जानीहि यः शक्यस्त्वया भीषयितुं रणे ॥८२॥

मुझे केवल बातों से किसी प्रकार भी नहीं डराया जा सकता। जिसे तुम युद्धभूमि में डरा सको, ऐसे किसी दूसरे ही मनुष्य को ढूँढो।

नीचस्य बलमेतावत् पारुष्यं यत्त्वमात्थ माम् ।
अशक्तो मद्गुणान् वक्तुं वल्गसे बहु दुर्मते ॥८३॥

तुमने मेरे प्रति जो कटुवचन कहे हैं, इतना ही नीच पुरुष का बल है। दुर्बुद्धे ! तुम मेरे गुणों का वर्णन करने में असमर्थ होकर बहुत-सी ऊटपटाँग बातें बकते जा रहे हो।

न हि कर्णः समुद्भूतो भयार्थमिह मद्रक ।
विक्रमार्थमहं जातो यशोऽर्थं च तथाऽऽत्मनः ॥८४॥

मद्रनिवासी शल्य ! कर्ण इस संसार में भयभीत होने के लिए पैदा नहीं हुआ है। मैं तो पराक्रम प्रकट करने और अपने यश को फैलाने के लिए ही उत्पन्न हुआ हूँ।

सखिभावेन सौहार्दान्मित्रभावेन चैव हि ।
कारणैस्त्रिभिरेतैस्त्वं शल्य जीवसि साम्प्रतम् ॥८५॥

शल्य ! एक तो तुम सारथि बनकर मेरे मित्र हो गये हो, दूसरे सौहार्दवश मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया है और तीसरे मित्र दुर्योधन की अभीष्टसिद्धि का मुझे विचार है—इन्हीं तीन कारणों से तुम अब तक जीवित हो।

कृतश्च समयः पूर्वं क्षन्तव्यं विप्रियं तव ।
ऋते शल्यसहस्रेण विजयेयमहं परान् ।
मित्रद्रोहस्तु पापीयानिति जीवसि साम्प्रतम् ॥८६॥

इसके अतिरिक्त मैंने पहले ही वचन दे दिया था कि तुम्हारे अप्रिय वचनों को क्षमा करूँगा। वैसे तो हजारों शल्य न रहें तो भी मैं शत्रुओं पर विजय पा सकता हूँ, परन्तु मित्रद्रोह महापाप है, इसीलिए तुम अबतक जीवित हो।

सञ्जय उवाच

ततो दुर्योधनो राजा कर्णशल्याववारयत् ।
सखिभावेन राधेयं शल्यं स्वाञ्जलिकेन च ॥८७॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! जब वे दोनों एक-दूसरे पर आक्षेप-प्रत्याक्षेप कर रहे थे तब राजा दुर्योधन ने कर्ण तथा शल्य दोनों को रोका। उसने कर्ण को तो मित्रभाव से समझाकर मना किया और शल्य को हाथ जोड़कर रोका।

कर्णोऽपि नोत्तरं प्राह शल्योऽप्यभिमुखः परान् ।
ततः प्रहस्य राधेयः पुनर्याहीत्यनोदयत् ॥८८॥

दुर्योधन के रोकने पर कर्ण ने कोई उत्तर नहीं दिया और शल्य ने भी शत्रुओं की ओर मुंह फेर लिया। तब राधापुत्र कर्ण ने हँसकर शल्य को रथ बढ़ाने का आदेश देते हुए कहा—"चलो, चलो।"

इति महाभारते कर्णपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

अर्जुन का पराक्रम

सञ्जय उवाच

ततः परानीकसहं व्यूहमप्रतिमं कृतम् ।
समीक्ष्य कर्णः पार्थानां धृष्टद्युम्नाभिरक्षितम् ॥१॥
प्रययौ रथघोषेण सिंहनादरवेण च ।
वादित्राणां च निनदैः कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! उस समय यह देखकर कि कुन्तीपुत्रों की सेना का अनुपम व्यूह बनाया गया है, जो शत्रुपक्ष के आक्रमण को सह सकने में समर्थ और धृष्टद्युम्न द्वारा सुरक्षित है, कर्ण रथ की घर्घराहट, सिंह की-सी गर्जना और वाद्यों की गम्भीर ध्वनि से पृथिवी को कँपाता हुआ आगे बढ़ा।

ततः सेनामुखे कर्णं दृष्ट्वा राजा युधिष्ठिरः ।
धनञ्जयममित्रघ्नमेकवीरमुवाच ह ॥३॥

उधर सेना के मुहाने पर कर्ण को खड़ा देख राजा युधिष्ठिर ने शत्रुसंहारक, अद्वितीय वीर धनञ्जय से इस प्रकार कहा—

पश्यार्जुन महाव्यूहं कर्णेन विहितं रणे ।
युक्तं पक्षैः प्रपक्षैश्च परानीकं प्रकाशते ॥४॥

"अर्जुन ! रणभूमि में कर्ण द्वारा रचित उस महाव्यूह को देखो। पक्षों और प्रपक्षों से युक्त शत्रु की वह व्यूहाकार सेना कैसी सुशोभित हो रही है ?

तदेतद् वै समालोक्य प्रत्यमित्रं महद् बलम् ।
यथा नाभिभवत्यस्मांस्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥५॥

"अतः इस विशाल शत्रुसेना की ओर देखकर तुम ऐसी नीति का निर्माण करो, जिससे वह हमें पराजित न कर सके।"

इत्युक्तो धर्मराजेन तथेत्युक्त्वा धनञ्जयः ।
व्यादिदेश स्वसैन्यानि स्वयं चागाच्चमूमुखम् ॥६॥

धर्मराज के ऐसा कहने पर अर्जुन ने 'तथास्तु' कहकर अपनी सेनाओं को युद्ध के लिए आदेश दिया और स्वयं वे सेना के मुहाने पर जा पहुँचे।

ब्रह्मेशानेन्द्रवरुणान् क्रमशो योऽवहत् पुरा ।
तमाद्यं रथमास्थाय प्रयातौ केशवार्जुनौ ॥७॥

जो प्राचीनकाल में क्रमशः ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र और वरुण की सवारी में आ चुका था, उसी आदिरथ पर बैठकर श्रीकृष्ण और अर्जुन शत्रुओं की ओर बढ़े चले जा रहे थे।

अथ तं रथमायान्तं दृष्ट्वात्यद्भुतदर्शनम् ।
उवाचाधिरथिं शल्यः पुनस्तं युद्धदुर्मदम् ॥८॥

अत्यन्त अद्भुत दिखाई देनेवाले उस रथ को आते देख शल्य ने रणदुर्मद सूतपुत्र कर्ण से पुनः इस प्रकार कहा—

अयं स रथ आयातः श्वेताश्वः कृष्णसारथिः ।
निघ्नन्नमित्रान् कौन्तेयो यं कर्ण परिपृच्छसि ॥९॥

"कर्ण ! तुम जिन्हें बार-बार पूछ रहे थे, वे ही ये कुन्तीकुमार अर्जुन शत्रुओं का संहार करते हुए रथ के साथ आ पहुँचे। उनके घोड़े श्वेत रंग के हैं और श्रीकृष्ण उनके सारथि हैं।"

इति ब्रुवाणं मद्रेशं कर्णः प्राहातिमन्युना ।
पश्य संशप्तकैः क्रुद्धैः सर्वतः समभिद्रुतः ॥१०॥

ऐसा कहनेवाले मद्रराज शल्य से कर्ण ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर कहा—"तुम्हीं देखो न, रोष में भरे हुए संशप्तकों ने उनपर चारों ओर से आक्रमण कर दिया है।

एष सूर्य इवाम्भोदैश्छन्नः पार्थो न दृश्यते।
एतदन्तोऽर्जुनः शल्य निमग्नो योधसागरे ॥११॥

"यह लो, मेघों से ढके हुए सूर्य के समान अर्जुन अब दिखाई नहीं दे रहे हैं। शल्य! अब अर्जुन का यहीं अन्त हुआ समझो। वे योद्धाओं के समुद्र में डूब गये हैं।"

शल्य उवाच

वरुणं कोऽम्भसा हन्यादिन्धनेन च पावकम्।
को वानिलं निगृह्णीयात् पिबेद् वा को महार्णवम् ॥१२॥

शल्य बोले—कर्ण! कौन ऐसा वीर है, जो जल से वरुण को और ईंधन से अग्नि को मार सके? वायु को कौन कैद कर सकता है अथवा समुद्र को कौन पी सकता है?

ईदृग्रूपमहं मन्ये पार्थस्य युधि विग्रहम्।
न हि शक्योऽर्जुनो जेतुं युधि सेन्द्रैः सुरासुरैः ॥१३॥

'युद्धक्षेत्र में इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओं और असुरों द्वारा भी अर्जुन नहीं जीते जा सकते'—मैं युद्ध में अर्जुन के स्वरूप को ऐसा ही समझता हूँ।

अथवा परितोषस्ते वाचोक्त्वा सुमना भव।
न स शक्यो युधा जेतुमन्यं कुरु मनोरथम् ॥१४॥

अथवा यदि तुम्हें इसी से सन्तोष होता है तो वाणी मात्र से अर्जुन के वध की चर्चा करके मन-ही-मन प्रसन्न हो लो, परन्तु वास्तव में युद्ध के द्वारा कोई भी अर्जुन को जीत नहीं सकता, अतः अब तुम कोई और ही मनोरथ करो।

बाहुभ्यामुद्धरेद्भूमिं दहेत् क्रुद्ध इमाः प्रजाः।
पातयेत् त्रिदिवाद् देवान् योऽर्जुनं समरे जयेत् ॥१५॥

जो रणभूमि में अर्जुन को जीत ले, वह मानो अपनी दोनों भुजाओं से पृथिवी को उठा सकता है, क्रुद्ध होने पर इस सारी प्रजा को दग्ध कर सकता है और देवताओं को भी स्वर्ग से नीचे गिरा सकता है।

पश्य कुन्तीसुतं वीरं भीममक्लिष्टकारिणम्।
प्रभासन्तं महाबाहुं स्थितं मेरुमिवापरम् ॥१६॥

देखो, अनायास ही महान् कर्म करनेवाले, भयंकर वीर, महाबाहु कुन्तीकुमार अर्जुन दूसरे मेरुपर्वत के समान अविचल भाव से खड़े हुए सुशोभित हो रहे हैं।

सञ्जय उवाच

इति संवदतोरेव तयोः पुरुषसिंहयोः।
ते सेने समसज्जेतां गङ्गायमुनवद् भृशम् ॥१७॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! वे दोनों पुरुषसिंह शल्य और कर्ण इस प्रकार बातें कर ही रहे थे कि कौरवों और पाण्डवों की दोनों सेनाएँ गङ्गा और यमुना के समान एक-दूसरे से वेगपूर्वक जा मिलीं।

धृतराष्ट्र उवाच

तथा व्यूढेष्वनीकेषु संसक्तेषु च सञ्जय।
संशप्तकान् कथं पार्थो गतः कर्णश्च पाण्डवान् ॥१८॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय! इस प्रकार जब सारी सेनाओं की व्यूहरचना हो गई और दोनों दलों के योद्धा परस्पर युद्ध करने लगे, तब कुन्तीकुमार अर्जुन ने संशप्तकों पर और कर्ण ने पाण्डव योद्धाओं पर कैसे धावा किया?

सञ्जय उवाच

अथ व्यूढेष्वनीकेषु प्रेक्ष्य संशप्तकान् रणे।
क्रुद्धोऽर्जुनोऽभिदुद्राव व्याक्षिपन् गाण्डिवं धनुः ॥१९॥

सञ्जय कहते हैं—सेनाओं की व्यूहरचना हो जाने पर रणभूमि में संशप्तकों की ओर देखकर क्रोध में भरे हुए अर्जुन ने गाण्डीव धनुष की टंकार करते हुए उनपर धावा बोला।

अथ संशप्तकाः पार्थमभ्यधावन् वधैषिणः।
विजये धृतसंकल्पा मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥२०॥

उधर विजय का दृढ़संकल्प लेकर मृत्यु को ही युद्ध से निवृत्त होने का निमित्त बनाकर अर्जुन के वध की इच्छावाले संशप्तकों ने भी उनपर आक्रमण किया।

तन्नराश्वौघबहुलं मत्तनागरथाकुलम्।
पत्तिमच्छूरवीरौघं द्रुतमर्जुनमार्दयत् ॥२१॥

संशप्तकों की सेना में पैदल मनुष्यों और घुड़सवारों की संख्या बहुत थी। मदमस्त गजराज और रथ भी उसमें भरे हुए थे। पैदलोंसहित शूरवीरों के

समुदाय ने तुरन्त ही अर्जुन को पीड़ित करना आरम्भ किया।

रथानश्वान् ध्वजान् नागान् पत्तीन् रणगतानपि।
इषून् धनूँषि खड्गाँश्च चक्राणि च परश्वधान् ॥२२
सायुधानुद्यतान् बाहून् विविधान्यायुधानि च।
चिच्छेद द्विषतां पार्थः शिराँसि च सहस्रशः ॥२३

तब तो कुन्तीकुमार अर्जुन ने युद्धभूमि में आये हुए शत्रुदल के रथों, घोड़ों, ध्वजों, हाथियों और पैदलों को काट डाला। उन्होंने शत्रुओं के धनुष, बाण, खड्ग, चक्र, फरसे, हथियारोंसहित उठी हुई भुजा, नाना-प्रकार के अस्त्र-शस्त्र और सहस्रों मस्तक काट गिराये।

कर्णोऽपि निशितैर्बाणैर्विनिहत्य महाचमूम्।
प्रमृद्य च रथश्रेष्ठान् युधिष्ठिरमपीडयत् ॥२४॥

उधर कर्ण ने भी अपने पैने बाणों से पाण्डवों की विशाल वाहिनी को हताहत करके और बड़े-बड़े रथियों को धूल में मिलाकर युधिष्ठिर को पीड़ित करना आरम्भ किया।

विवस्त्रायुधदेहासून् कृत्वा शत्रून् सहस्रशः।
युक्त्वा स्वर्गयशोभ्यां च स्वेभ्यो मुदमुदावहत् ॥२५॥

वह सहस्रों शत्रुओं को वस्त्र, आयुध, शरीर और प्राणों से शून्य करके उन्हें स्वर्ग और सुयश से संयुक्त करता हुआ अपने आत्मीयजनों को आनन्द प्रदान करने लगा।

एवं मारिष संग्रामो नरवाजिगजक्षयः।
कुरूणां सृञ्जयानां च देवासुरसमोऽभवत् ॥२६॥

आर्य नरेश! इस प्रकार मनुष्यों, घोड़ों और हाथियों का विनाश करनेवाला वह कौरवों और सृञ्जयों का युद्ध देवासुर-संग्राम के समान भयंकर था।

इति महाभारते कर्णपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

कर्ण और युधिष्ठिर का युद्ध, कर्ण द्वारा युधिष्ठिर की पराजय और तिरस्कार

धृतराष्ट्र उवाच

यत्तत् प्रविश्य पार्थानां सैन्यं कुर्वञ्जनक्षयम्।
कर्णो राजानमभ्येत्य तन्ममाचक्ष्व सञ्जय ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय! कर्ण कुन्तीकुमारों की सेना में प्रवेश करके और राजा युधिष्ठिर के पास पहुँचकर जो जनसंहार कर रहा था, उसका समाचार मुझे सुनाओ।

सञ्जय उवाच

धृष्टद्युम्नमुखान् पार्थान् दृष्ट्वा कर्णो व्यवस्थितान्।
समभ्यधावत्त्वरितः पाञ्चालाञ्शत्रुकर्षिणः ॥२॥

सञ्जय बोला—राजन्! कर्ण ने धृष्टद्युम्न आदि पाण्डव-वीरों को खड़ा देख अत्यन्त उतावली के साथ शत्रुसंहारक पाञ्चालों पर आक्रमण किया।

तं तूर्णमभिधावन्तं पाञ्चाला जितकाशिनः।
प्रत्युद्ययुर्महात्मानं हंसा इव महार्णवम् ॥३॥

विजय से उल्लसित होनेवाले पाञ्चाल वीर शीघ्रतापूर्वक धावा करते हुए महात्मा कर्ण की अगवानी के लिए उसी प्रकार आगे बढ़े, जैसे हंस महासागर की ओर बढ़ते हैं।

ततः सुपुंखैर्निशितै रथश्रेष्ठो रथेषुभिः।
पाञ्चालानवधीद् वीरः शतशोऽथ सहस्रशः ॥४॥

तब रथियों में श्रेष्ठ वीर कर्ण ने सुन्दर पंखवाले पैने बाणों द्वारा सैकड़ों और सहस्रों पाञ्चालों का वध कर डाला।

पाञ्चालेषु च शूरेषु वध्यमानेषु सायकैः।
हाहाकारो महानासीत् पाञ्चालानां महाहवे ॥५॥

उस महासागर में बाणों द्वारा उन शूरवीर पाञ्चालों के मारे जाने पर पाञ्चालों की सेना में महान् हाहाकार मच गया।

विदीर्य कर्णस्तां सेनां युधिष्ठिरमथाद्रवत्।
रथहस्त्यश्वपत्तीनां सहस्रैः परिवारितः ॥६॥

राजन्! फिर सहस्रों रथ, हाथी, घोड़े और पैदलों से घिरे हुए कर्ण ने उस सेना को विदीर्ण करके युधिष्ठिर पर धावा किया।

स राजगृद्धिभी रुद्धः पाण्डुपाञ्चालकेकयैः ।
नाशकत् तानतिक्रान्तुं मृत्युर्ब्रह्मविदो यथा ।।७।।

राजा की रक्षा चाहनेवाले पाण्डवों, पाञ्चालों और केकयों ने कर्ण को रोक दिया। जैसे मृत्यु ब्रह्मवेत्ताओं को नहीं लाँघ सकती, उसी प्रकार कर्ण उन सबको लाँघकर आगे नहीं बढ़ सका।

ततो युधिष्ठिरः कर्णमदूरस्थं निवारितम् ।
अब्रवीत् परवीरघ्नं क्रोधसंरक्तलोचनः ।।८।।

उस समय युधिष्ठिर ने क्रोध से लाल आँखें करके शत्रुवीरों का संहार करनेवाले कर्ण से, जो पास ही रोक दिया गया था, इस प्रकार कहा—

कर्ण कर्ण वृथादृष्टे सूतपुत्र वचः शृणु ।
सदा स्पर्धसि संग्रामे फाल्गुनेन तरस्विना ।
तथास्मान् बाधसे नित्यं धार्तराष्ट्रमते स्थितः ।।९।।

"कर्ण ! कर्ण ! मिथ्यादर्शी सूतपुत्र ! मेरी बात सुनो। तुम संग्राम में वेगशाली वीर अर्जुन के साथ सदा डाह रखते हो तथा दुर्योधन के मत में रहकर सदा हमें बाधा पहुँचाते हो।

यद् बलं यच्च ते वीर्यं दर्शयाद्यसुनिर्भयम् ।
युद्धश्रद्धां च तेऽद्याहं विनेष्यामि महाहवे ।।१०।।

"आज तुम्हारे पास जितना बल हो, जो पराक्रम हो वह सब निर्भय होकर प्रकट कर लो। आज महायुद्ध में मैं तुम्हारा युद्ध का उत्साह मिटा दूंगा।"

एवमुक्त्वा महाराज कर्णं पाण्डुसुतस्तदा ।
सुवर्णपुंखैर्दशभिर्विव्याधायस्मयैः शरैः ।।११।।

महाराज ! ऐसा कहकर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ने लोहे के बने हुए सुवर्ण पंखयुक्त दस बाणों द्वारा कर्ण को बींध डाला।

तं सूतपुत्रो दशभिः प्रत्यविध्यदरिन्दमः ।
वत्सदन्तैर्महेष्वासः प्रहसन्निव भारत ।।१२।।

हे भारत ! तव शत्रुओं का दमन करनेवाले महाधनुर्धर सूतपुत्र ने हँसते-हुए से वत्सदन्त नामक दस बाणों द्वारा युधिष्ठिर को घायल कर दिया।

सोऽवज्ञाय तु निर्विद्धः सूतपुत्रेण मारिष ।
प्रजज्वाल ततः क्रोधाद्धविषेव हुताशनः ।।१३।।

मान्यवर ! सूतपुत्र के द्वारा अवज्ञापूर्वक घायल किये जाने पर राजा युधिष्ठिर घी की आहुति से प्रज्वलित हुई अग्नि के समान क्रोध से जल उठे।

ततो विस्फार्य सुमहच्चापं हेमपरिष्कृतम् ।
समाधत्त शितं बाणं गिरीणामपि दारणम् ।।१४।।

तत्पश्चात् उन्होंने अपने सुवर्णमण्डित विशाल धनुष को फैलाकर उसपर पर्वतों को भी विदीर्ण कर देनेवाले एक तीखे बाण का संधान किया।

स तु वेगवता मुक्तो बाणो वज्राशनिस्वनः ।
विवेश सहसा कर्णं सव्ये पार्श्वे महारथम् ।।१५।।

वेगवान् युधिष्ठिर का छोड़ा हुआ वज्र और विद्युत् के समान शब्द करनेवाला वह बाण सहसा महारथी कर्ण की बायीं पसली में घुस गया।

स तु तेन प्रहारेण पीडितः प्रमुमोह वै ।
स्रस्तगात्रो महाबाहुर्धनुरुत्सृज्य स्यन्दने ।।१६।।

उस प्रहार से पीड़ित हो महाबाहु कर्ण धनुष छोड़कर रथ पर ही मूर्च्छित हो गया। उसका सारा शरीर शिथिल हो गया था।

ततो हाहाकृतं सर्वं धार्तराष्ट्रबलं महत् ।
विवर्णमुखभूयिष्ठं कर्णं दृष्ट्वा तथागतम् ।।१७।।

उस समय कर्ण को उस अवस्था में देखकर दुर्योधन की सम्पूर्ण विशाल वाहिनी में हाहाकार मच गया और अधिकांश सैनिकों के मुख का रंग विषाद से फीका पड़ गया।

प्रतिलभ्य तु राधेयः संज्ञां नातिचिरादिव ।
दध्रे राजविनाशाय मनः क्रूरपराक्रमः ।।१८।।

उधर क्रूर पराक्रमी राधापुत्र कर्ण ने थोड़ी ही देर में होश में आकर राजा युधिष्ठिर को मार डालने का विचार किया।

स हेमविकृतं चापं विस्फार्य विजयं महत् ।
अवाकिरदमेयात्मा पाण्डवं निशितैः शरैः ।।१९।।

उस अमेय आत्मबल से सम्पन्न वीर कर्ण ने विजय नामक अपने विशाल सुवर्णमण्डित धनुष को खींचकर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को पैने बाणों से आच्छादित कर दिया।

ततो बाह्वोर्ललाटे च हृदि चैव युधिष्ठिरः ।
चतुर्भिस्तोमरैः कर्णं ताडयित्वानदन्मुदा ।।२०।।

तब तो युधिष्ठिर ने भी कर्ण की दोनों भुजाओं, ललाट और छाती में चार तोमरों का प्रहार करके आनन्दपूर्वक सिंहनाद किया।

ध्वजं चिच्छेद भल्लेन त्रिभिर्विव्याध पाण्डवम् ।
इषुधी चास्य चिच्छेद रथं च तिलशोऽच्छिनत् ।।२१।।

फिर तो कर्ण ने भी एक भल्ल से युधिष्ठिर की ध्वजा काट डाली और तीन बाणों से उस पाण्डुपुत्र को भी घायल कर दिया । उनके दोनों तरकस काट दिये और रथ के भी तिल-तिल करके टुकड़े कर डाले ।

कालवालास्तु ये पार्थं दन्तवर्णावहन् हयाः ।
तैर्युक्तं रथमास्थाय प्रायाद् राजा पराङ्मुखः ।।२२।।

उस समय दाँतों के समान श्वेत रंग और काली पूँछवाले जो घोड़े युधिष्ठिर की सवारी में थे, उन्हीं से जुते हुए दूसरे रथ पर बैठकर राजा युधिष्ठिर युद्धभूमि से विमुख हो अपने शिबिर की ओर चल दिये ।

अभिद्रुत्य तु राधेयः पाण्डुपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
ग्रहीतुमिच्छन् स बलात् कुन्तीवाक्यं च सोऽस्मरत् ।।२३

उस समय राधापुत्र कर्ण पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर का पीछा करके उन्हें बलपूर्वक पकड़ने की इच्छा करने लगा । उसी समय उसे कुन्तीदेवी को दिये हुए अपने वचन की स्मृति आ गई ।

शल्यस्तं प्राह मा कर्ण गृह्णीथाः पार्थिवोत्तमम् ।
गृहीतमात्रो हत्वा त्वां मा करिष्यति भस्मसात् ।।२४।।

उधर राजा शल्य ने कहा—"कर्ण ! इन नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिर को हाथ न लगाना, अन्यथा वे पकड़ते ही तुम्हारा वध करके अपनी क्रोधाग्नि से तुम्हें भस्म कर डालेंगे ।"

अब्रवीत् प्रहसन् राजन् कुत्सयन्निव पाण्डवम् ।
कथं नाम कुले जातः क्षत्रधर्मे व्यवस्थितः ।।२५।।
प्रजह्यात् समरं भीतः प्राणान् रक्षन् महाहवे ।
न भवान् क्षत्रधर्मेषु कुशलो हीति मे मतिः ।।२६।।

राजन् ! तब कर्ण जोर-जोर से हँस पड़ा और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर की निन्दा-सी करते हुए बोला—"युधिष्ठिर ! जो क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हो, क्षत्रिय-धर्म में तत्पर रहता हो, वह महायुद्ध में प्राणों की रक्षा के लिए भयभीत हो युद्ध छोड़कर भाग कैसे सकता है ? मेरा तो ऐसा विश्वास है कि तुम क्षत्रिय-धर्म में निपुण नहीं हो ।

ब्राह्मे बले भवान् युक्तः स्वाध्याये यज्ञकर्मणि ।
मा स्म युध्यस्व कौन्तेय मा स्म वीरान् समासदः ।।२७।।

"कुन्तीपुत्र ! तुम ब्राह्मबल, स्वाध्याय और यज्ञ-कर्म में ही कुशल हो, अतः न तो युद्ध किया करो और न वीरों के समक्ष ही जाओ ।

स्वगृहं गच्छ कौन्तेय यत्र तौ केशवार्जुनौ ।
न हि त्वां स्मरे राजन् हन्यात् कर्णः कथञ्चन ।।२८।।

"कुन्तीनन्दन ! अपने घर चले जाओ अथवा जहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन हों वहीं पधारो । राजन् ! कर्ण रणभूमि में किसी प्रकार भी तुम्हारा वध नहीं करेगा ।"

एवमुक्त्वा ततः पार्थं विसृज्य च महाबलः ।
न्यहनन् पाण्डवीं सेनां वज्रहस्त इवासुरीम् ।।२९।।

महाबली कर्ण ने युधिष्ठिर से ऐसा कहकर उन्हें छोड़ दिया और जैसे वज्रधारी इन्द्र असुर-सेना का संहार करते हैं, उसी प्रकार पाण्डव-सेना का विनाश आरम्भ कर दिया ।

ततोऽपायाद् द्रुतं राजन् व्रीडन्निव नरेश्वरः ।
प्राप्य सेनानिवेशं च मार्गणैः क्षतविक्षतः ।।३०।।
अवतीर्णो रथात्तूर्णमाविशच्छयनं शुभम् ।
भृशमपनीतशल्यः हृच्छल्याभिनिपीडितः ।।३१।।

राजन् ! कर्ण द्वारा मुक्त हुए राजा युधिष्ठिर लजाते हुए-से तुरन्त रणभूमि से भाग गये । अपनी छावनी में पहुँचकर वे रथ से उतर पड़े और सुन्दर शय्या पर लेट गये । उस समय उनका सारा शरीर बाणों से क्षत-विक्षत हो रहा था । वहाँ उनके शरीर से बाण निकाल दिये गये, तो भी हृदय में जो अपमान का काँटा गड़ गया था, उससे वे अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे ।

अथापयातं राजानं पाण्डवानां महारथाः ।
भीमसेनमुखाः सर्वे पुत्राँस्ते प्रत्युपाद्रवन् ।।३२।।

राजा युधिष्ठिर के युद्धक्षेत्र से हट जाने पर भीमसेन आदि समस्त पाण्डव महारथी आपके पुत्रों पर टूट पड़े ।

तेषामापततां वेगमविषह्यं निरीक्ष्य च ।
पुत्राणां ते महासैन्यमासीद् राजन् पराङ्मुखम् ।।३३।।

राजन् ! उन आक्रमणकारी वीरों के असह्य वेग को देखकर आपके पुत्रों की विशाल सेना युद्ध से विमुख होकर भाग चली ।

इति महाभारते कर्णपर्वणि दशमोऽध्यायः ।।१०।।

एकादशोऽध्यायः

कर्ण एवं भीम का युद्ध और कर्ण का पलायन

सञ्जय उवाच

कर्णोऽपि दृष्ट्वा द्रवतो धार्तराष्ट्रान्सराजकान् ।
मद्रराजमुवाचेदं याहि भीमरथं प्रति ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—उधर कर्ण ने भी राजा दुर्योधन और उसके सैनिकों को भागते देख मद्रराज शल्य से कहा—"भीमसेन के रथ की ओर चलो ।

एष शूरश्च वीरश्च क्रोधनश्च वृकोदरः ।
निरपेक्षः शरीरे च प्राणतश्च बलाधिकः ॥२॥

"ये भीमसेन शूरवीर, क्रोधी, अपने शरीर और प्राणों का मोह न करनेवाले तथा अत्यधिक बलशाली हैं ।"

ततः प्रायाद् रथेनाशु शल्यस्तत्र विशाम्पते ।
यत्र भीमो महेष्वासो व्यद्रावयत वाहिनीम् ॥३॥

नरेश्वर ! तब शल्य रथ के द्वारा तुरन्त ही वहाँ जा पहुँचे, जहाँ महाधनुर्धर भीमसेन आपकी सेना को खदेड़ रहे थे ।

तमापतन्तं संप्रेक्ष्य भीमसेनो महाबलः ।
आजघान सुसंक्रुद्धो नाराचेन महोरसि ॥४॥

कर्ण को अपनी ओर आते देख अत्यन्त क्रोध में भरे हुए महाबली भीमसेन ने एक नाराच द्वारा उनकी छाती में आघात किया ।

तस्य कर्णो धनुर्मध्ये द्विधा चिच्छेद पत्रिभिः ।
अथैनं छिन्नधन्वानं प्रत्यविध्यत् महोरसि ॥५॥

तब कर्ण ने कई बाण मारकर भीमसेन के धनुष के बीच से ही दो टुकड़े कर दिये । धनुष काटे जाने पर उसकी छाती पर आघात किया ।

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय सूतपुत्रं वृकोदरः ।
राजन् मर्मसु मर्मज्ञो विव्याध निशितैः शरैः ॥६॥

राजन् ! मर्मज्ञ भीमसेन ने दूसरा धनुष लेकर सूतपुत्र के मर्म-स्थानों में पैने बाणों द्वारा प्रहार किया ।

स भीमसेनाभिहतः सूतपुत्रः कुरूद्वह ।
निषसाद रथोपस्थे विसंज्ञः पृतनापतिः ॥७॥

कुरुश्रेष्ठ ! भीमसेन द्वारा गहरी चोट खाकर सेनापति सूतपुत्र कर्ण अचेत हो रथ की बैठक में धम्म से बैठ गया ।

ततो मद्राधिपो दृष्ट्वा विसंज्ञं सूतनन्दनम् ।
अपोवाह रथेनाजौ कर्णमाहवशोभिनम् ॥८॥

संग्राम में सुशोभित होनेवाले सूतपुत्र कर्ण को अचेत हुआ देख मद्रराज शल्य रथ के द्वारा उन्हें युद्धस्थल से दूर हटा ले गये ।

ततः पराजिते कर्णे धार्तराष्ट्रीं महाचमूम् ।
व्यद्रावयद् भीमसेनो यथेन्द्रो दानवान् पुरा ॥९॥

कर्ण के पराजित हो जाने पर भीमसेन दुर्योधन की विशाल सेना को पुनः खदेड़ने लगे, ठीक उसी प्रकार, जैसे पूर्वकाल में इन्द्र ने दानवों को मार भगाया था ।

धृतराष्ट्र उवाच

पराजितं तु राधेयं दृष्ट्वा भीमेन संयुगे ।
ततः परं किमकरोत् पुत्रो दुर्योधनो मम ॥१०॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय ! युद्धभूमि में राधापुत्र कर्ण को भीमसेन के द्वारा पराजित हुआ देखकर मेरे पुत्र दुर्योधन ने क्या किया ?

सञ्जय उवाच

विमुखं प्रेक्ष्य राधेयं सूतपुत्रं महाहवे ।
पुत्रस्तव महाराज सोदर्यान् समभाषत ॥११॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! सूतपुत्र राधानन्दन कर्ण को महासमर में पराङ्मुख हुआ देख आपका पुत्र अपने भाइयों से बोला—

शीघ्रं गच्छत भद्रं वो राधेयं परिरक्षत ।
भीमसेनभयागाधे मज्जन्तं व्यसनार्णवे ॥१२॥

"तुम्हारा कल्याण हो । तुम लोग शीघ्र जाओ और राधाकुमार कर्ण की रक्षा करो । वह भीमसेन के भय से भरे हुए संकट के अगाध समुद्र में डूब रहा है ।"

ते तु राज्ञा समादिष्टा भीमसेनं जिघांसवः ।
अभ्यवर्तन्त संक्रुद्धाः पतङ्गाः पावकं यथा ॥१३॥

राजा दुर्योधन की आज्ञा पाकर आपके पुत्र

अत्यन्त क्रुद्ध हो भीमसेन को मार डालने की इच्छा से उनके समक्ष गये, मानो पतङ्गे अग्नि के पास जा पहुँचे हों।

तेषामापततां क्षिप्रं भीमसेनो महाबलः।
रथैः पञ्चाशता सार्धं पञ्चाशदहनद् रथान् ॥१४॥

महाबली भीमसेन ने पचास रथों के साथ आये हुए आपके पुत्रों के उन पचासों रथियों को शीघ्र ही नष्ट कर दिया।

विवित्सोस्तु ततः क्रुद्धो भल्लेनापाहरच्छिरः।
भीमसेनो महाराज तत् पपात हतं भुवि ॥१५॥

महाराज! तदनन्तर क्रुद्ध हुए भीमसेन ने एक भल्ल से विवित्सु का सिर काट दिया। उसका वह मस्तक पृथिवी पर गिर पड़ा।

तं दृष्ट्वा निहतं शूरं भ्रातरः सर्वतः प्रभो।
अभ्यद्रवन्त समरे भीमं भीमपराक्रमम् ॥१६॥

प्रभो! उस शूरवीर को मारा गया देख उसके भाई रणभूमि में भयंकर पराक्रमी भीमसेन पर सब ओर से टूट पड़े।

ततोऽपराभ्यां भल्लाभ्यां पुत्रयोस्ते महाहवे।
जहार समरे प्राणान् भीमो भीमपराक्रमः ॥१७॥

तब भयानक पराक्रम से सम्पन्न भीमसेन ने उस महासमर में दूसरे दो भल्लों द्वारा रणभूमि में आपके दो पुत्रों के प्राण हर लिये।

तौ धरामन्वपद्येतां वातरुग्णाविव द्रुमौ।
विकटश्च समश्चोभौ देवपुत्रोपमौ नृप ॥१८॥

नरेश्वर! वे दोनों पुत्र थे—विकट [विकटानन] और सम। देवकुमारों के समान सुशोभित होनेवाले वे दोनों वीर आँधी से उखाड़े हुए दो वृक्षों के समान पृथिवी पर गिर पड़े।

ततस्तु त्वरितो भीमः क्राथं निन्ये यमक्षयम्।
नाराचेन सुतीक्ष्णेन स हतो न्यपतद् भुवि ॥१९॥

फिर लगे हाथ भीमसेन ने क्राथ [क्रथन] को भी एक तीखे नाराच से मारकर यमलोक पठा दिया। वह राजकुमार प्राणरहित होकर पृथिवी पर गिर पड़ा।

हाहाकारस्ततस्तीव्रः सम्बभूव जनेश्वर।
वध्यमानेषु वीरेषु तव पुत्रेषु धन्विषु ॥२०॥

प्रजेश्वर! आपके वीर धनुर्धर पुत्रों के इस प्रकार मारे जाने पर वहाँ भयंकर हाहाकार मच गया।

तेषां सुलुलिते सैन्ये पुनर्भीमो महाबलः।
नन्दोपनन्दौ समरे प्रैषयद् यमसादनम् ॥२१॥

तब उन कौरवों की सेना चञ्चल हो उठी। उधर महाबली भीम ने रणभूमि में नन्द और उपनन्द को भी मौत के घाट उतार दिया।

ततस्ते प्राद्रवन् भीताः पुत्रास्ते विह्वलीकृताः।
भीमसेनं रणे दृष्ट्वा कालान्तकयमोपमम् ॥२२॥

तदनन्तर आपके शेष पुत्र युद्धभूमि में काल, अन्तक और यम के समान भयानक भीमसेन को देखकर भय से व्याकुल हो वहाँ से भाग गये।

पुत्राँस्ते निहतान् दृष्ट्वा सूतपुत्रः सुदुर्मनाः।
हंसवर्णान् हयान् भूयः प्रैषयद् यत्र पाण्डवः ॥२३॥

आपके पुत्रों को मारा गया देख सूतपुत्र कर्ण के मन में बड़ा दुःख हुआ। उसने अपने हंस के समान श्वेत घोड़ों को पुनः वहीं पर हँकवाया, जहाँ पाण्डुपुत्र भीमसेन विद्यमान थे।

स संनिपातस्तुमुलो घोररूपो विशाम्पते।
आसीद् रौद्रो महाराज कर्णपाण्डवयोर्मृधे ॥२४॥

प्रजेश्वर! महाराज! रणभूमि में कर्ण और भीमसेन का वह संघर्ष घोर, रौद्र और अत्यन्त भयंकर था।

अथ कर्णो महाराज रोषामर्षसमन्वितः।
आजघ्ने पाण्डवं बाणैर्ध्वजमेकेषुणाहनत् ॥२५॥

महाराज! तब रोष और अमर्ष=क्रोध में भरे हुए कर्ण ने भीमसेन को बहुत-से बाणों द्वारा घायल कर दिया और एक बाण से उनकी ध्वजा काट डाली।

सारथिं चास्य भल्लेन प्रेषयामास मृत्यवे।
छित्त्वा च कार्मुकं तूर्णं पाण्डवस्याशु पत्रिणा ॥२६॥
ततो मुहूर्ताद् राजेन्द्र नातिकृच्छ्राद्धसन्निव।
विरथं भीमकर्माणं भीमं कर्णश्चकार ह ॥२७॥

हे राजेन्द्र! फिर एक भल्ल से उनके सारथि को यमलोक पहुँचा दिया और तुरन्त ही एक बाण से उनके धनुष को भी काटकर बिना विशेष परिश्रम

के ही मुहूर्तभर में हँसते हुए-से कर्ण ने भयंकर पराक्रमी भीमसेन को रथहीन कर दिया ।

विरथो भरतश्रेष्ठ प्रहसन्ननिलोपमः ।
गदां गृह्य महाबाहुरपतत् स्यन्दनोत्तमात् ।।२८।।

भरतभूषण ! रथहीन होने पर वायु के समान बलशाली महाबाहु भीमसेन गदा हाथ में लेकर हँसते हुए उस उत्तम रथ से कूद पड़े ।

अवप्लुत्य च वेगेन तव सैन्यं विशाम्पते ।
व्यधमद् गदया भीमः शरन्मेघानिवानिलः ।।२९।।

प्रजेश्वर ! जैसे वायु शरत्काल के बादलों को शीघ्र ही उड़ा देती है, वैसे ही भीमसेन ने बड़े वेग से कूदकर अपनी गदा की चोट से आपकी सेना का विध्वंस आरम्भ किया ।

प्रताप्यमानं सूर्येण भीमेन च महात्मना ।
संचुकोच च ते सैन्यं चर्माग्नावाहितं यथा ।।३०।।

ऊपर से सूर्य आपकी सेना को तपा रहा था और नीचे से महामनस्वी भीमसेन उसे सन्तप्त कर रहे थे । उस अवस्था में आपकी सेना अग्नि पर रखे हुए चमड़े के समान सिकुड़कर छोटी हो गई ।

ते भीमभयसंत्रस्तास्तावका भरतर्षभ ।
विहाय समरे भीमं दुद्रुवुर्वै दिशो दश ।।३१।।

भरतभूषण ! भीम के भय से भयभीत हुए आपके समस्त सैनिक रणभूमि में उनका सामना करना छोड़कर दसों दिशाओं में भाग खड़े हुए ।

इति महाभारते कर्णपर्वणि एकादशोऽध्यायः ।।११।।

द्वादशोऽध्यायः

संकुल युद्ध

सञ्जय उवाच

सूतपुत्रोऽथ समरे पाञ्चालान् केकयाँस्तथा ।
सृञ्जयाँश्च महेष्वासान् निजघान सहस्रशः ।।१।।

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! भीमसेन को रथहीन कर सूतपुत्र कर्ण ने समराङ्गण में सहस्रों पाञ्चाल, केकय तथा सृञ्जय योद्धाओं को जो महाधनुर्धर थे, मार डाला ।

संशप्तकेषु पार्थश्च कौरवेषु वृकोदरः ।
पाञ्चालेषु तथा कर्णः क्षयं चक्रुर्महारथाः ।।२।।

अर्जुन संशप्तकों की, भीमसेन कौरवों की और कर्ण पाञ्चालों की सेना में घुसकर युद्ध कर रहे थे । इन तीनों महारथियों ने बहुत-से शत्रुओं का संहार कर डाला ।

क्षत्रिया दह्यमानास्ते त्रिभिस्तैः पावकोपमैः ।
विनाशं समरे जग्मु राजन् दुर्मन्त्रिते तव ।।३।।

अग्नि के समान तेजस्वी इन तीनों वीरों द्वारा दग्ध होते हुए क्षत्रिय रणभूमि में विनाश को प्राप्त हो रहे थे । राजन् ! यह सब आपकी कुमन्त्रणा का फल है ।

ततो दुर्योधनः क्रुद्धो नकुलं नवभिः शरैः ।
विव्याध भरतश्रेष्ठ चतुरश्चास्य वाजिनः ।।४।।

भरतभूषण ! उस युद्ध में दुर्योधन ने कुपित होकर नौ बाणों से नकुल और उनके चारों घोड़ों को घायल कर दिया ।

ततः पुनरमेयात्मा तव पुत्रो जनाधिप ।
क्षुरेण सहदेवस्य ध्वजं चिच्छेद काञ्चनम् ।।५।।

नरेश्वर ! तत्पश्चात् अमेय आत्मबल से सम्पन्न आपके पुत्र ने क्षुर के द्वारा सहदेव की सुवर्णमयी-ध्वजा काट डाली ।

ततस्तौ रभसौ युद्धे भ्रातरौ भ्रातरं युधि ।
शरैर्ववर्षतुर्घोरैर्महामेघौ यथाचलम् ।।६।।

तब तो जैसे महामेघ किसी पर्वत पर जल-वृष्टि करते हों, वैसे ही दोनों वेगशाली बन्धु नकुल और सहदेव अपने भाई दुर्योधन पर युद्ध में भयंकर बाणों की वृष्टि करने लगे ।

ततः क्रुद्धो महाराज तव पुत्रो महारथः ।
पाण्डुपुत्रौ महेष्वासौ वारयामास पत्रिभिः ।।७।।

महाराज ! तब आपके महारथी पुत्र ने कुपित होकर उन दोनों महाधनुर्धर पाण्डुपुत्रों को बाणों द्वारा आगे बढ़ने से रोक दिया ।

ततः सेनापती राजन् पाण्डवस्य महारथः ।
पार्षतः प्रययौ तत्र यत्र राजा सुयोधनः ।।८।।

राजन् ! उस समय पाण्डव-सेनापति द्रुपदपुत्र महारथी धृष्टद्युम्न जहाँ राजा दुर्योधन था, वहाँ जा पहुँचे ।

माद्रीपुत्रौ ततः शूरौ व्यतिक्रम्य महारथौ ।
धृष्टद्युम्नस्तव सुतं वारयामास सायकैः ।।९।।

महारथी शूरवीर माद्रीकुमार नकुल-सहदेव को लाँघकर धृष्टद्युम्न ने अपने बाणों की मार से आपके पुत्र को रोक दिया ।

तमविध्यदमेयात्मा तव पुत्रो ह्यमर्षणः ।
पाञ्चाल्यं पञ्चविंशत्या प्रहसन् पुरुषर्षभः ।।१०।।

तब अमेय आत्मबल से सम्पन्न आपके अमर्षशील पुत्र पुरुषश्रेष्ठ दुर्योधन ने हँसते हुए पच्चीस बाण मारकर धृष्टद्युम्न को घायल कर दिया ।

ततो दुर्योधनस्याश्वान् हत्वा सूतं च पञ्चभिः ।
धनुश्चिच्छेद भल्लेन जातरूपपरिष्कृतम् ।।११।।

फिर तो धृष्टद्युम्न ने पाँच भल्लों द्वारा दुर्योधन के सारथि और घोड़ों को मारकर एक भल्ल से उसके सुवर्ण-मण्डित धनुष को काट डाला ।

रथं सोपस्करं छत्रं शक्तिं खड्गं गदां ध्वजम् ।
भल्लैश्चिच्छेद दशभिः पुत्रस्य तव पार्षतः ।।१२।।

तदनन्तर द्रुपदपुत्र ने दस भल्ल मारकर आपके पुत्र के सब सामग्रियोंसहित रथ, छत्र, शक्ति, खड्ग, गदा और ध्वज काट दिये ।

दुर्योधनं तु विरथं छिन्नवर्मायुधं रणे ।
भ्रातरः पर्यरक्षन्त सोदरा भरतर्षभ ।।१३।।

भरतभूषण ! युद्धभूमि में जिसके कवच और आयुध छिन्न-भिन्न हो गये थे, उस रथहीन दुर्योधन की उसके सहोदर भाई सब ओर से रक्षा करने लगे ।

तमारोप्य रथे राजन् दण्डधारो नराधिपम् ।
अपाहरदसम्भ्रान्तो धृष्टद्युम्नस्य पश्यतः ।।१४।।

राजन् ! इसी समय आपका पुत्र दण्डधार धृष्टद्युम्न के देखते-देखते अपने भाई राजा दुर्योधन को अपने रथ पर बिठाकर बिना किसी घबराहट के रणभूमि से दूर हटा ले गया ।

कर्णस्तु सात्यकिं जित्वा राजगृद्धी महाबलः ।
द्रोणहन्तारमुग्रेषुं ससाराभिमुखो रणे ।।१५।।

उधर राजा दुर्योधन का हित चाहनेवाला महाबली कर्ण सात्यकि को परास्त करके युद्धभूमि में भयंकर बाण धारण करनेवाले द्रोणहन्ता धृष्टद्युम्न के सामने गया ।

पाञ्चालास्तु महाराज त्वरिता विजिगीषवः ।
ते सर्वेऽभ्यद्रवन् कर्णं पतत्रिणा इव द्रुमम् ।।१६।।

महाराज ! उस समय विजय-अभिलाषी समस्त पाञ्चाल योद्धा कर्ण पर उसी प्रकार टूट पड़े, जैसे पक्षी वृक्ष की ओर उड़ जाते हैं ।

ताँस्तथाधिरथिः क्रुद्धो यतमानान् मनस्विनः ।
विचिन्वन्निव बाणौघैः समासादयदग्रगान् ।।१७।।

फिर तो अधिरथपुत्र कर्ण भी कुपित हो विजय के लिए प्रयत्नशील, मनस्वी एवं अग्रगामी वीरों को मानो चुन-चुनकर बाण-समूहों द्वारा मारने लगा ।

नैव भीष्मो न च द्रोणो नान्ये युधि च तावकाः ।
चक्रुः स्म तादृशं कर्म यादृशं वै कृतं रणे ।।१८।।

कर्ण ने उस समय युद्धक्षेत्र में जैसा पराक्रम प्रदर्शित किया था, वैसा न तो भीष्म, न द्रोणाचार्य और न आपके दूसरे कोई योद्धा ही कर सके थे ।

वर्तमाने तथा रौद्रे संग्रामेऽद्भुतदर्शने ।
निहत्य पृतनामध्ये संशप्तकगणान् बहून् ।।१९।।
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठो वासुदेवमथाब्रवीत् ।
तत्र याहि यतः कर्णो द्रावयत्येष नो बलम् ।।२०।।

जब इस प्रकार अद्भुत दिखाई देनेवाला वह भयंकर युद्ध चल ही रहा था, उस समय दूसरी ओर विजयी वीरों में श्रेष्ठ अर्जुन सेना के मध्यभाग में बहुत-से संशप्तकों का संहार करके श्रीकृष्ण से बोले—"श्रीकृष्ण ! जहाँ यह कर्ण हमारी सेना को खदेड़ रहा है, वहीं चलिए।"

एतत् श्रुत्वा वचस्तस्य गोविन्दः प्रहसन्निव ।
अब्रवीदर्जुनं तूर्णं कौरवाञ्जहि पाण्डव ।।२१।।

अर्जुन की यह बात सुनकर श्रीकृष्ण ने उनसे हँसते हुए-से कहा—"पाण्डुकुमार ! तुम शीघ्र ही कौरव-सैनिकों का संहार करो ।

ततस्तव महासैन्यं गोविन्दप्रेरिता हयाः ।
हंसवर्णाः प्रविविशुर्वहन्तः कृष्णपाण्डवौ ।।२२।।

राजन् ! तत्पश्चात् श्रीकृष्ण द्वारा हाँके गये हंस के समान श्वेत रंगवाले घोड़े श्रीकृष्ण और अर्जुन को लेकर आपकी विशाल सेना में घुस गये ।

विगाह्य तु रथानीकमश्वसंघाँश्च फाल्गुनः ।
व्यचरत् पृतनामध्ये पाशहस्त इवान्तकः ॥२३॥

अर्जुन रथसेना और अश्वारोहियों के समूह में घुसकर पाशधारी यमराज के समान कौरव-सेना के मध्य में विचरने लगे ।

प्रचिच्छेदाशु भल्लेन द्विषतामाततायिनाम् ।
शस्त्रपाणींस्तथा बाहूँस्तथापि च शिराँस्युत ॥२४॥

वे अपने भल्लों द्वारा आततायी शत्रुओं के शस्त्र, हाथ, भुजा और सिरों को बड़ी फुर्ती से काट रहे थे ।

तस्मिन् प्रपक्षे पक्षे च निहते सव्यसाचिना ।
अर्जुनं जयतां श्रेष्ठं त्वरितो द्रौणिरभ्ययात् ॥२५॥

उस महासमर में जब सव्यसाची अर्जुन ने शत्रुओं के पक्ष और प्रपक्ष दोनों को मार गिराया, तब द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा तुरन्त वीरों में श्रेष्ठ अर्जुन के सामने आ पहुँचा ।

ततः प्रासृजदुग्राणि शरवर्षाणि संघशः ।
तैर्विसृष्टैर्महाराज व्यद्रवत् पाण्डवी चमूः ॥२६॥

महाराज! फिर तो वह समूह-के समूह भयंकर बाणों की वर्षा करने लगा । उसके छोड़े हुए बाणों से व्यथित हो पाण्डव सेना भागने लगी ।

ततः शरशतैस्तीक्ष्णैरश्वत्थामा प्रतापवान् ।
निश्चेष्टौ तावुभौ युद्धे चक्रे माधवपाण्डवौ ॥२७॥

पाण्डव सेना को खदेड़कर प्रतापी अश्वत्थामा ने सैकड़ों तीखे तीरों द्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों को युद्धभूमि में निश्चेष्ट कर दिया ।

वर्धमाने च राजेन्द्र द्रोणपुत्रे महाबले ।
हीयमाने च कौन्तेये कृष्णे रोषः समाविशत् ।
ततः क्रुद्धोऽब्रवीत् कृष्णः पार्थं सप्रणयं तदा ॥२८॥

हे राजेन्द्र ! उस युद्ध में जब महाबली द्रोणपुत्र बढ़ने लगा और कुन्तीकुमार अर्जुन का पराक्रम मन्द पड़ने लगा, तब श्रीकृष्ण को बड़ा क्रोध हुआ । क्रोध में भरे हुए श्रीकृष्ण उस समय अर्जुन से प्रेमपूर्वक बोले—

अत्यद्भुतमिदं पार्थ तव पश्यामि संयुगे ।
अतिशेते हि यत्र त्वां द्रोणपुत्रोऽद्य भारत ॥२९॥

"पार्थ ! रणभूमि में मैं तुम्हारा यह उपेक्षायुक्त अद्भुत व्यवहार देख रहा हूँ । हे भारत ! आज द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तुमसे सर्वथा बढ़ता जा रहा है ।

कच्चिद्वीर्यं यथापूर्वं भुजयोर्वा बलं तव ।
कच्चित्ते गाण्डिवं हस्ते रथे तिष्ठसि चार्जुन ॥३०॥

"अर्जुन ! तुम्हारा पराक्रम पहले के समान ही ठीक है न ? अथवा तुम्हारी भुजाओं में पूर्ववत् बल तो है न ? तुम्हारे हाथ में गाण्डीव धनुष तो है न ? और तुम रथ पर ही खड़े हो न ?

कच्चित् कुशलिनौ बाहू मुष्टिर्वा न व्यशीर्यत ।
उदीर्यमाणं हि रणे पश्यामि द्रौणिमाहवे ॥३१॥

"क्या तुम्हारी दोनों भुजाएँ ठीक-ठाक हैं ? तुम्हारी मुट्ठी तो ढीली नहीं हो गई है ? अर्जुन ! मैं देखता हूँ कि रणभूमि में अश्वत्थामा तुमसे बढ़ता जा रहा है ।

गुरुपुत्र इति ह्येनं मानयन् भरतर्षभ ।
उपेक्षां कुरु मा पार्थ नायं काल उपेक्षितुम् ॥३२॥

"भरतश्रेष्ठ ! कुन्तीकुमार ! यह मेरे गुरु का पुत्र है, ऐसा मानकर तुम इसके प्रति उपेक्षा-भाव प्रदर्शित न करो । यह समय उपेक्षा करने का नहीं है ।"

एवमुक्तस्तु कृष्णेन गृह्य भल्लाँश्चतुर्दश ।
त्वरमाणस्त्वरा काले द्रौणेर्धनुरथाच्छिनत् ॥३३॥
ध्वजं क्षत्रं पताकाश्च खड्गं शक्तिं गदां तथा ।
जत्रुदेशे च सुभृशं वत्सदन्तैरताडयत् ॥३४॥

श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर अर्जुन ने चौदह भल्ल हाथ में लेकर शीघ्रता करने के अवसर पर फुर्ती दिखाते हुए अश्वत्थामा का धनुष काट डाला । फिर उसके ध्वज, क्षत्र, पताका, खड्ग, शक्ति और गदा के भी टुकड़े-टुकड़े कर दिये । तत्पश्चात् अश्वत्थामा के गले की हँसली पर 'वत्सदन्त' नामक बाणों के द्वारा गहरी चोट पहुँचाई ।

स मूर्च्छां परमां गत्वा ध्वजयष्टिं समाश्रितः ।
अपोवाह रणात् सूतो शत्रुणा भृशपीडितम् ॥३५॥

उस आघात से भारी मूर्च्छा में पड़कर अश्वत्थामा ध्वजदण्ड के सहारे लुढ़क गया । तब शत्रु से अत्यन्त पीड़ित अश्वत्थामा को उसका सारथि रणभूमि से दूर हटा ले गया ।

एतस्मिन्नेव काले च विजयः शत्रुतापनः ।
व्यहनत् तावकं सैन्यं तव पुत्रस्य पश्यतः ॥३६॥

राजन् ! इसी समय शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले अर्जुन ने आपके पुत्र के देखते-देखते आपकी सेना का संहार कर डाला ।

दुर्योधनस्ततः कर्णमुपेत्य भरतर्षभ ।
अब्रवीन्मद्रराजं च तथैवान्यांश्च पार्थिवान् ।।३७।।

भरतभूषण ! अपनी सेना को मारी जाती हुई देख दुर्योधन कर्ण के पास जाकर मद्रराज शल्य और अन्य राजाओं से बोला—

यदृच्छयैतत् सम्प्राप्तं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः कर्ण लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।३८।।

"कर्ण ! यह स्वर्ग का खुला हुआ द्वाररूप युद्ध बिना इच्छा के अपने-आप प्राप्त हुआ है । ऐसे युद्ध को सुखी क्षत्रियगण ही पाते हैं ।

सदृशैः क्षत्रियैः शूरैः शूराणां युद्धचतां युधि ।
इष्टं भवति राधेय तदिदं समुपस्थितम् ।।३९।।

"हे राधानन्दन ! अपने समान बली, शूरवीर क्षत्रियों के साथ युद्धभूमि में जूझनेवाले शूरवीरों को जो अभीष्ट होता है वही संग्राम हमारे समक्ष उपस्थित है ।

हत्वा च पाण्डवान् युद्धे स्फीतामुर्वीमवाप्स्यथ ।
निहता वा परैर्युद्धे वीरलोकमवाप्स्यथ ।।४०।।

"तुम सब लोग रणभूमि में पाण्डवों को मारकर भूतल का समृद्धिशाली राज्य प्राप्त करोगे अथवा शत्रुओं द्वारा युद्ध में मारे जाकर वीरगति को पाओगे ।"

दुर्योधनस्य तत् श्रुत्वा वचनं क्षत्रियर्षभाः ।
हृष्टा नादानुदक्रोशन् वादित्राणि च सर्वशः ।।४१।।

दुर्योधन की वह बात सुनकर क्षत्रियशिरोमणि वीर हर्ष में भरकर सिंहनाद करने लगे और अनेक प्रकार के बाजे बजाने लगे ।

ततः प्रमुदिते तस्मिन् दुर्योधनबले तदा ।
हर्षयंस्तावकान् योधान् द्रौणिर्वचनमब्रवीत् ।।४२।।

तत्पश्चात् आनन्दविभोर हुई दुर्योधन की उस सेना में अश्वत्थामा ने आपके योद्धाओं का हर्ष बढ़ाते हुए कहा—

प्रत्यक्षं सर्वसैन्यानां भवतां चापि पश्यताम् ।
न्यस्तशस्त्रो मम पिता धृष्टद्युम्नेन पातितः ।।४३।।

"समस्त सैनिकों के सामने, आप लोगों के देखते-देखते जिन्होंने हथियार डाल दिया था, उन मेरे पिता को धृष्टद्युम्न ने मार गिराया था ।

स तेनाहममर्षेण मित्रार्थे चापि पार्थिवाः ।
सत्यं वः प्रतिजानामि तद् वाक्यं मे निबोधत ।।४४।।

"भूपालो ! पितृवध से होनेवाले अमर्ष के कारण एवं मित्र दुर्योधन के कार्य की सिद्धि के लिए मैं आप लोगों से सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, आप लोग मेरी प्रतिज्ञा सुनिए—

धृष्टद्युम्नमहत्वाहं न विमोक्ष्यामि दंशनम् ।
अनृतायां प्रतिज्ञायां नाहं स्वर्गमवाप्नुयाम् ।।४५।।

"मैं धृष्टद्युम्न को मारे बिना अपना कवच नहीं उतारूँगा—यदि मेरी यह प्रतिज्ञा झूठी हो जाए तो मुझे स्वर्गलोक की प्राप्ति न हो ।

अर्जुनो भीमसेनश्च योधो यो रक्षिता रणे ।
धृष्टद्युम्नस्य तं संख्ये निहनिष्यामि सायकैः ।।४६।।

"अर्जुन और भीमसेन आदि जो योद्धा रणभूमि में धृष्टद्युम्न की रक्षा करेगा, उसे मैं रणभूमि में अपने बाणों से मार डालूँगा ।"

एवमुक्ते ततः सर्वा सहिता भारतीचमूः ।
अभ्यद्रवत कौन्तेयाँस्तथा ते चापि पाण्डवाः ।।४७।।

अश्वत्थामा के ऐसा कहने पर सारी कौरव-सेना एकत्र होकर कुन्तीपुत्रों के सैनिकों पर टूट पड़ी, उधर पाण्डवों ने भी कौरवों पर धावा बोल दिया ।

इति महाभारते कर्णपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ।।१२।।

त्रयोदशोऽध्यायः

अश्वत्थामा का धृष्टद्युम्न पर आक्रमण और अर्जुन द्वारा उसकी पराजय

सञ्जय उवाच

ततः प्रववृते भीमः संग्रामो लोमहर्षणः ।
कुरूणां पाण्डवानां च यमराष्ट्रविवर्धनः ।।१।।

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! उस समय कौरव और पाण्डवों का बड़ा भयंकर एवं रोमाञ्चकारी संग्राम आरम्भ हुआ, जो यमराज के राज्य की वृद्धि करनेवाला था ।

एतस्मिन्नन्तरे द्रौणिरभ्ययात् सुमहाबलम् ।
पार्षतं शत्रुदमनं शत्रुवीर्यासुनाशनम् ।।२।।

इसी समय द्रोणकुमार अश्वत्थामा शत्रुओं के बल

और प्राणों का नाश करनेवाले शत्रुसंहारक महाबली धृष्टद्युम्न के पास आ पहुँचा।

अभ्यभाषत संक्रुद्धो द्रौणिः परपुरञ्जयः।
तिष्ठ तिष्ठाद्य ब्रह्मघ्न न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ॥३॥

शत्रुओं की राजधानी पर विजय पानेवाला द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा वहाँ पहुँचते ही अत्यन्त क्रुद्ध होकर बोला—"ब्रह्महत्यारे ! खड़ा रह, खड़ा रह, आज तू मेरे हाथ से जीवित नहीं छूट सकेगा।

पाञ्चालापसदाद्य त्वां प्रेषयिष्यामि मृत्यवे।
एवमुक्तः प्रत्युवाच धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ॥४॥
प्रतिवाक्यं स एवासिर्मामको दास्यते तव।
येनैव ते पितुर्दत्तं यतमानस्य संयुगे ॥५॥

"पाञ्चालकुल-कलंक ! आज मैं तुझे मृत्यु के घाट उतार दूँगा।" अश्वत्थामा के ऐसा कहने पर प्रतापी धृष्टद्युम्न ने उसे इस प्रकार उत्तर दिया—"अरे ! तेरी इस बात का उत्तर तुझे मेरी वही तलवार देगी, जिसने युद्धभूमि में विजय के लिए प्रयत्नशील तेरे पिता को परलोक पठा दिया था।

यदि तावन्मया द्रोणो निहतो ब्राह्मणब्रुवः।
त्वामिदानीं कथं युद्धे न हनिष्यामि विक्रमात् ॥६॥

"यदि मैंने नाममात्र के ब्राह्मण द्रोणाचार्य को पहले युद्ध में मार डाला था, तो इस समय पराक्रम करके मैं तुझे भी क्यों नहीं मार डालूँगा ?"

एवमुक्त्वा महाराज सेनापतिरमर्षणः।
धृष्टद्युम्नस्तु समरे द्रौणेश्चिच्छेद कार्मुकम् ॥७॥

महाराज ! ऐसा कहकर अमर्षशील सेनापति धृष्टद्युम्न ने रणभूमि में अश्वत्थामा के धनुष को काट दिया।

तदपास्य धनुर्द्रौणिरन्यदादाय कार्मुकम्।
वेगवान् समरे घोरे शरांश्चाशीविषोपमान् ॥८॥
स पार्षतस्य राजेन्द्र धनुः शक्तिं गदां ध्वजम्।
हयान् सूतं रथं चैव निमेषाद् व्यधमच्छरैः ॥९॥

हे राजेन्द्र ! तब वेगवान् अश्वत्थामा ने उस कटे हुए धनुष को फेंककर दूसरा धनुष और विषधर सर्पों के समान भयंकर बाण हाथ में लेकर उनके द्वारा पलक मारते-मारते धृष्टद्युम्न के धनुष, शक्ति, गदा, ध्वज को काट, अश्व तथा सारथि को मार उसके रथ को तहस-नहस कर दिया।

स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः।
खड्गमादत्त विपुलं शतचन्द्रं च भानुमत् ॥१०॥

धनुष कट जाने और घोड़ों तथा सारथि के मर जाने पर रथहीन हुए धृष्टद्युम्न ने विशाल खड्ग और सौ चन्द्राकार चिह्नों से चमकती हुई ढाल हाथ में ले ली।

द्रौणिस्तदपि राजेन्द्र भल्लैः क्षिप्रं महारथः।
चिच्छेद समरे वीरः क्षिप्रहस्तो दृढायुधः ॥११॥

हे राजेन्द्र ! शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले, दृढ़ हथियारधारी वीर महारथी अश्वत्थामा ने रणभूमि में अनेक भल्लों द्वारा धृष्टद्युम्न की उस ढाल और तलवार को भी काट दिया।

धृष्टद्युम्नं हि विरथमस्त्रैश्च शकलीकृतम्।
नाशकद् भरतश्रेष्ठ यतमानो महारथः ॥१२॥

भरतभूषण ! यद्यपि धृष्टद्युम्न रथहीन और अस्त्र-शस्त्रों के आघात से जर्जर हो गये थे, तो भी महारथी अश्वत्थामा लाख प्रयत्न करने पर भी उन्हें मार न सका।

तस्यान्तमिषुभी राजन् यदा द्रौणिर्न जग्मिवान्।
अथ त्यक्त्वा धनुर्वीरः पार्षतं त्वरितोऽन्वगात् ॥१३

राजन् ! जब वीर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा बाणों द्वारा उसका वध न कर सका, तब वह धनुष फेंक-कर तुरन्त ही धृष्टद्युम्न की ओर दौड़ा।

एतस्मिन्नेव काले तु माधवोऽर्जुनमब्रवीत्।
पश्य पार्थ यथा द्रौणिः पार्षतस्य वधं प्रति ॥१४॥
यत्नं करोति विपुलं हन्याच्चैनं न संशयः।
तं मोचय महाबाहो पार्षतं शत्रुकर्षन ॥१५॥

इसी समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"पार्थ ! वह देखो ! द्रोणकुमार अश्वत्थामा धृष्टद्युम्न के वध के लिए कैसा महान् पुरुषार्थ कर रहा है। वह उन्हें मार सकता है, इसमें संशय नहीं है। महाबाहो ! शत्रुसूदन ! धृष्टद्युम्न को बचाओ।"

एवमुक्त्वा महाराज वासुदेवः प्रतापवान्।
प्रैषयत् तुरगांस्तत्र यत्र द्रौणिर्व्यवस्थितः ॥१६॥

महाराज ! ऐसा कहकर प्रतापी वसुदेवनन्दन

श्रीकृष्ण ने अपने घोड़ों को उसी ओर हाँका, जहाँ द्रोणकुमार अश्वत्थामा खड़ा था ।

दृष्ट्वाऽऽयातौ महावीर्यावुभौ कृष्णधनञ्जयौ ।
धृष्टद्युम्नवधे यत्नं चक्रे राजन् महाबलः ।।१७।।

राजन् ! महापराक्रमी श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों को आते देख महाबली अश्वत्थामा धृष्टद्युम्न के वध के लिए विशेष प्रयत्न करने लगा ।

विकृष्यमाणं दृष्ट्वैव धृष्टद्युम्नं नरेश्वर ।
शराँश्चिक्षेप वै पार्थो द्रौणिं प्रति महाबलः ।।१८।।

प्रजेश्वर ! धृष्टद्युम्न को खींचे जाते देख महाबली अर्जुन ने अश्वत्थामा पर बहुत-से बाण चलाये ।

स विद्धस्तैः शरैर्घोरैर्द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ।
उत्सृज्य समरे राजन् पाञ्चाल्यममितौजसम् ।।१९।।
रथमारुरुहे वीरो धनञ्जयशरार्दितः ।
प्रगृह्य च धनुः श्रेष्ठं पार्थं विव्याध सायकैः ।।२०।।

राजन् ! उन भयंकर बाणों से घायल हुआ प्रतापी वीर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा रणभूमि में अमित बलशाली धृष्टद्युम्न को छोड़कर अपने रथ पर जा चढ़ा । वह धनञ्जय के बाणों से अत्यन्त पीड़ित हो चुका था, अतः उसने भी श्रेष्ठ धनुष हाथ में लेकर बाणों द्वारा अर्जुन को घायल कर दिया ।

एतस्मिन्नन्तरे वीरः सहदेवो जनाधिप ।
अपोवाह रथेनाजौ पार्षतं शत्रुतापनम् ।।२१।।

प्रजेश्वर ! इसी बीच में वीर सहदेव शत्रुसंतापक धृष्टद्युम्न को अपने रथ के द्वारा युद्ध-क्षेत्र से अन्यत्र हटा ले गया ।

अर्जुनोऽपि महाराज द्रौणिं विव्याध पत्रिभिः ।
तं द्रोणपुत्रः संक्रुद्धो बाह्वोरुरसि चार्पयत् ।।२२।।

हे महाराज ! फिर तो अर्जुन ने भी अपने बाणों से अश्वत्थामा को घायल कर दिया । तब द्रोणपुत्र ने अत्यन्त क्रुद्ध हो अर्जुन की छाती और दोनों भुजाओं में प्रहार किया ।

क्रोधितस्तु रणे पार्थो नाराचं कालसम्मितम् ।
द्रोणपुत्राय चिक्षेप कालदण्डमिवापरम् ।।२३।।

तब युद्ध में क्रुद्ध हुए कुन्तीपुत्र अर्जुन ने द्रोणपुत्र पर द्वितीय कालदण्ड के समान साक्षात् कालस्वरूप नाराच नामक बाण चलाया ।

ब्राह्मणस्यांसदेशे स निपपात महाद्युतिः ।
स विह्वलो महाराज शरवेगेन संयुगे ।
निषसाद रथोपस्थे वैक्लव्यं च परं ययौ ।।२४।।

महाराज ! वह महातेजस्वी नाराच उस ब्राह्मण के कन्धे पर जा लगा । अश्वत्थामा उस युद्धभूमि में उस बाण के वेग से व्याकुल हो रथ की बैठक में धम्म से बैठ गया और अत्यन्त मूर्च्छित हो गया ।

विह्वलं तं तु वीक्ष्याथ द्रोणपुत्रं च सारथिः ।
अपोवाह रथेनाजौ त्वरमाणो रणाजिरात् ।।२५।।

द्रोणपुत्र को विह्वल देखकर उसका सारथि बड़ी उतावली के साथ उसे रथ के द्वारा समराङ्गण से दूर हटा ले गया ।

इति महाभारते कर्णपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ।।१३।।

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और अर्जुन का युधिष्ठिर के पास जाना, युधिष्ठिर का भ्रमवश कर्ण के मारे जाने का वृत्तान्त पूछना, अर्जुन का कर्ण को अबतक न मारने का कारण बताते हुए उसके वध की प्रतिज्ञा करना

सञ्जय उवाच

द्रोणपुत्रं पराजित्य जित्वा चान्यान् महारथान् ।
अब्रवीदर्जुनो राजन् वासुदेवमिदं वचः ।।१।।

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! द्रोणपुत्र एवं अन्यान्य महारथियों को हराकर और उनपर विजय पाकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहा—

अर्जुन उवाच

पश्य कृष्ण महाबाहो द्रवन्तीं पाण्डवीं चमूम् ।
कर्णं पश्य च संग्रामे कालयन्तं महारथम् ।।२।।

अर्जुन ने कहा—महाबाहु श्रीकृष्ण ! देखिए तो, वह पाण्डव-सेना भागी जा रही है और कर्ण रण-

भूमि में बड़े-बड़े महारथियों को काल के गाल में भेज रहा है।

न च पश्यामि दाशार्ह धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
नापि केतुर्युधां श्रेष्ठ धर्मराजस्य दृश्यते ॥३॥

दाशार्ह! इस समय मुझे धर्मराज युधिष्ठिर दिखाई नहीं दे रहे हैं। योद्धाओं में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण! धर्मराज के ध्वज का भी दर्शन नहीं हो रहा है।

नोदयाश्वान् हृषीकेश विहायैतद् बलार्णवम्।
अजातशत्रुं राजानं द्रष्टुमिच्छामि केशव ॥४॥

हृषीकेश! अब आप इस शत्रुसेनारूपी समुद्र को छोड़कर घोड़ों को यहाँ से हाँक ले चलें। केशव! मैं अजातशत्रु राजा युधिष्ठिर का दर्शन करना चाहता हूँ।

सञ्जय उवाच

ततो ययौ हृषीकेशो यत्र राजा युधिष्ठिरः।
शीघ्राच्छीघ्रतरं राजन् वाजिभिर्गरुडोपमैः ॥५॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! यह कहकर श्रीकृष्ण गरुड़ के समान वेगशाली घोड़ों द्वारा शीघ्र-से-शीघ्र वहाँ जा पहुँचे, जहाँ राजा युधिष्ठिर विश्राम कर रहे थे।

मुदाभ्युपगतौ कृष्णावश्विनाविव वासवम्।
तावभ्यनन्दद् राजापि विवस्वानश्विनाविव ॥६॥

दोनों कृष्णों को इन्द्र के पास गये हुए अश्विनीकुमारों के समान प्रसन्नतापूर्वक अपने समीप आया जान राजा युधिष्ठिर ने उनका उसी प्रकार अभिनन्दन किया, जैसे सूर्य दोनों अश्विनीकुमारों का स्वागत करते हैं।

मन्यमानो हतं कर्णं धर्मराजो युधिष्ठिरः।
हर्षगद्गदया वाचा प्रीतः प्राह परन्तपः ॥७॥

शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले धर्मराज युधिष्ठिर ने कर्ण को मारा गया मानकर हर्ष-गद्गदवाणी से प्रसन्नतापूर्वक वार्तालाप आरम्भ किया—

युधिष्ठिर उवाच

स्वागतं देवकीपुत्र स्वागतं ते धनञ्जय।
अक्षताभ्यामरिष्टाभ्यां हतः कर्णो महारथः ॥८॥

युधिष्ठिर बोले—देवकीनन्दन! तुम्हारा स्वागत हो। धनञ्जय! तुम्हारा भी स्वागत है, क्योंकि तुम दोनों ने स्वयं किसी प्रकार की क्षति न उठाकर, सकुशल रहते हुए महारथी कर्ण को मार डाला है।

अन्तकं मम मित्राणां हत्वा कर्णं महामृधे।
दिष्टया युवामनुप्राप्तौ जित्वासुरमिवामरौ ॥९॥

किसी असुर को जीतकर आये हुए दो देवताओं के समान तुम दोनों मित्र महायुद्ध में मेरे मित्रों के लिए यमराज के समान कर्ण को मारकर यहाँ आ गये, यह बड़े सौभाग्य की बात है।

घोरं युद्धमदीनेन मया ह्यद्याच्युतार्जुनौ।
कृतं तेनान्तकेनेव प्रजाः सर्वा जिघांसता ॥१०॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन! सम्पूर्ण प्रजा के संहार के इच्छुक काल के समान उस कर्ण ने आज मेरे साथ घोर युद्ध किया था, फिर भी मैंने उसमें दीनता नहीं दिखाई।

तेन केतुश्च मे छिन्नो हतौ च पार्ष्णिसारथी।
हतवाहस्ततश्चास्मि युयुधानस्य पश्यतः ॥११॥

उसने सात्यकि के देखते-देखते मेरी ध्वजा काट डाली, पार्श्वरक्षकों को मार डाला तथा मेरे घोड़ों का भी संहार कर डाला था।

अभिसृत्य च मां युद्धे परुषाण्युक्तवान् बहु।
तत्र तत्र युधां श्रेष्ठ परिभूय न संशयः ॥१२॥
भीमसेनप्रभावात्तु यज्जीवामि धनञ्जय।
बहुनात्र किमुक्तेन नाहं तत् सोढुमुत्सहे ॥१३॥

योद्धाओं में श्रेष्ठ वीर! उसने युद्ध में मेरा पीछा करके जहाँ-तहाँ मुझे अपमानित करते हुए बहुत-से कटु वचन सुनाये थे, इसमें सन्देह नहीं है। धनञ्जय! मैं इस समय भीमसेन के प्रभाव से ही जीवित हूँ। अधिक कहने से क्या लाभ! मैं उस अपमान को किसी प्रकार सह नहीं सकता।

त्रयोदशाहं वर्षाणि यस्माद्भीतो धनञ्जय।
रात्रौ लेभे स्म न निद्रां न चाहनि सुखं क्वचित् ॥१४॥

अर्जुन! मैं जिससे भयभीत होकर तेरह वर्षों तक न तो रात्रि में अच्छी प्रकार नींद ले सका और न दिन में ही कहीं सुख पा सका [उसी कर्ण ने मुझे परास्त कर दिया]।

यस्य द्वेषेण संयुक्तः परिदह्ये धनञ्जय।
सोऽहं तेनैव वीरेण जित्वा जीवन् विसर्जितः ॥१५॥

धनञ्जय ! जिसके द्वेष से मैं निरन्तर जलता रहा, उसी वीर कर्ण ने मुझे परास्त करके जीवित छोड़ दिया ।

को नु मे जीवितेनार्थो राज्येनार्थो भवेत् पुनः ।
ममैवं विक्षतस्याद्य कर्णेनाहवशोभिना ॥१६॥

अब मुझे इस जीवन से और राज्य से क्या प्रयोजन है, जबकि आज युद्ध में शोभा पानेवाले कर्ण ने मुझे इस प्रकार क्षत-विक्षत कर डाला है ।

स त्वां पृच्छामि कौन्तेय यथाद्य कुशलं तथा ।
तन्ममाचक्ष्व कात्स्न्येंन यथा कर्णो हतस्त्वया ॥१७॥

कुन्तीनन्दन ! मैं तुमसे पूछता हूँ कि आज जिस प्रकार सकुशल रहकर तुमने कर्ण को मारा है, वह सम्पूर्ण वृत्तान्त मुझे पूर्णरूप से बताओ ।

शक्रतुल्यबलो युद्धे यमतुल्यः पराक्रमे ।
रामतुल्यस्तथास्त्रेण स कथं वै निषूदितः ॥१८॥

जो युद्ध में इन्द्र के समान बलवान्, यमराज के समान पराक्रमी और परशुरामजी के समान अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञाता था, वह कर्ण कैसे मारा गया ?

महारथः समाख्यातः सर्वयुद्धविशारदः ।
धनुर्धराणां प्रवरः सर्वेषामेकपूरुषः ॥१९॥
पूजितो धृतराष्ट्रेण सपुत्रेण महाबल ।
त्वदर्थमेव राधेयः स कथं निहतस्त्वया ॥२०॥

जो सम्पूर्ण युद्ध की कला में कुशल, विख्यात महारथी, धनुर्धरों में श्रेष्ठ तथा सब शत्रुओं में प्रधान पुरुष था, जिसे पुत्रसहित धृतराष्ट्र ने तुम्हारा सामना करने के लिए ही सम्मानपूर्वक रखा था, वह महाबली राधानन्दन कर्ण तुम्हारे द्वारा कैसे मारा गया ?

तद् धर्मशीलस्य वचो निशम्य
उवाच जिष्णुस्तमदीनसत्त्वम् ।
श्रुत्वा तु कर्णेन प्रपीडितं त्वां
द्रष्टुं भवन्तं त्वरयाभियातः ॥२१॥

धर्मात्मा नरेश की वह बात सुनकर विजयशील अर्जुन ने उदारचित्त युधिष्ठिर से कहा—"मैं आपको कर्ण द्वारा पीड़ित किया हुआ जानकर उतावली के साथ आपका दर्शन करने के लिए चला आया हूँ ।

शैनेयो मे सात्यकिश्चक्ररक्षौ
धृष्टद्युम्नश्चापि तथैव राजन् ।
युधामन्युश्चोत्तमौजाश्च शूरौ
पृष्ठतो मां रक्षतां राजपुत्रौ ॥२२॥

"राजन् ! शिनिपौत्र सात्यकि और धृष्टद्युम्न मेरे चक्ररक्षक हों, युधामन्यु और उत्तमौजा—दोनों शूरवीर राजकुमार मेरे पृष्ठभाग की रक्षा करें [इनसे सुरक्षित होकर मैं कर्ण के साथ युद्ध करना चाहता हूँ] ।

योत्स्याम्यहं भारत सूतपुत्र-
मस्मिन् युधि यदि वै दृश्यतेऽद्य ।
आयाहि पश्याद्य युयुत्समानं
मां सूतपुत्रस्य रणे जयाय ॥२३॥

"भरतभूषण ! यदि इस संग्राम में आज कर्ण मुझे दृष्टिगोचर हो जाए तो मैं उसके साथ युद्ध करूँगा । आइए, देखिए, आज मैं युद्धक्षेत्र में सूतपुत्र पर विजय पाने के लिए संग्राम करना चाहता हूँ ।

कर्णं न चेदद्य निहन्मि राजन्
सबान्धवं युध्यमानं प्रसह्य ।
प्रतिश्रुत्याकुर्वतो वै गतिर्या
कष्टा याता तामहं राजसिंह ॥२४॥

"राजन् ! राजसिंह ! यदि आज मैं बन्धुओं-सहित युद्ध के लिए उद्यत हुए कर्ण को हठपूर्वक न मार डालूँ तो प्रतिज्ञा भंग करनेवाले को जो दुःखदायी गति प्राप्त होती है, मुझे भी वही गति मिले ।

पृच्छामि त्वां ब्रूहि जयं रणे मे
भीमं पुरा धार्तराष्ट्रा प्रसन्ते ।
सौतिं हनिष्यामि नरेन्द्रसिंह
सैन्यं तथा शत्रुगणाँश्च सर्वान् ॥२५॥

"मैं आपसे आज्ञा चाहता हूँ । आप रणभूमि में मेरी विजय का आशीर्वाद दीजिए । नरेन्द्रसिंह ! धृतराष्ट्र के पुत्र भीमसेन को ग्रस लेने की चेष्टा कर रहे हैं । वे उन्हें ग्रस लें इससे पूर्व ही मैं सूतपुत्र कर्ण को, उसकी सेना को तथा सम्पूर्ण शत्रुओं को मार डालूँगा ।

इति महाभारते कर्णपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

युधिष्ठिर द्वारा अर्जुन का अपमान, अर्जुन का उन्हें मारने के लिए उद्यत होना, श्रीकृष्ण का अर्जुन को समझाना

सञ्जय उवाच

श्रुत्वा कर्णं कल्यमुदारवीर्यं
क्रुद्धः पार्थः फाल्गुनस्यामितौजाः ।
धनञ्जयं वाक्यमुवाच चेदं
युधिष्ठिरः कर्णशराभितप्तः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! कर्ण के बाणों से सन्तप्त हुए अमित तेजस्वी कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर महाबलशाली कर्ण को सकुशल जानकर अर्जुन पर क्रुद्ध हो उनसे इस प्रकार बोले—

युधिष्ठिर उवाच

भीतो भीमं त्यज्य चायास्तथा त्वं
यन्नाशकः कर्णमथो निहन्तुम् ।
स्नेहस्त्वया पार्थ कृतः पृथाया
गर्भं समाविश्य यथा न साधु ॥२॥

युधिष्ठिर ने कहा—पार्थ ! जब तुम कर्ण को परास्त नहीं कर सके तो भयभीत हो भीमसेन को वहीं छोड़कर यहाँ चले आये । तुमने कुन्ती के गर्भ में निवास करके भी अपने सगे भाई के प्रति ऐसा स्नेह निभाया, जिसे कोई अच्छा नहीं कह सकता ।

यत् तद् वाक्यं द्वैतवने त्वयोक्तं
कर्णं हन्तास्म्येकरथेन सत्यम् ।
त्यक्त्वा तं वै कथमद्यापयातः
कर्णाद् भीतो भीमसेनं विहाय ॥३॥

तुमने द्वैतवन में जो सत्य प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं एकमात्र रथ के द्वारा युद्ध करके कर्ण को मार डालूँगा' उस प्रतिज्ञा को तोड़कर कर्ण से भयभीत हो भीमसेन को रणभूमि में छोड़कर आज तुम युद्धभूमि से लौट कैसे आये ?

इदं यदि द्वैतवनेऽप्यचक्षः
योद्धुं न कर्णं प्रशक्ष्ये नृपेति ।
वयं ततः प्राप्तकालं च सर्वे
कृत्यान्युपैष्याम तथैव पार्थ ॥४॥

पार्थ ! यदि तुमने द्वैतवन में यह कह दिया होता कि 'राजन् ! मैं कर्ण के साथ युद्ध नहीं कर सकूँगा' तो हम सब लोग समयोचित कर्त्तव्य का निश्चय करके उसी के अनुसार कार्य करते ।

मयि प्रतिश्रुत्य वधं हि तस्य
न वै कृतं तच्च तथैव वीर ।
आनीय नः शत्रुमध्यं स कस्मात्
समुत्क्षिप्य स्थण्डिले प्रत्यपिंष्ठाः ॥५॥

वीर ! तुमने मुझसे कर्ण के वध की प्रतिज्ञा करके उसका उसी रूप में पालन नहीं किया । यदि ऐसा ही करना था तो हमें शत्रुओं के मध्य में लाकर पत्थर की वेदी पर पटककर क्यों पीस डाला ?

अप्याशिष्म वयमर्जुन त्वयि
यियासवो बहु कल्याणमिष्टम् ।
तन्नः सर्वं विफलं राजपुत्र
फलार्थिनां विफल इवातिपुष्पः ॥६॥

राजकुमार अर्जुन ! हमने बहुत-से मङ्गलमय अभीष्ट पदार्थ प्राप्त करने की इच्छा रखकर तुमपर आशा लगा रखी थी, परन्तु फल-अभिलाषी मनुष्यों को अधिक फूलोंवाला फलहीन वृक्ष जैसे निराश कर देता है, उसी प्रकार तुमसे हमारी सारी आशाएँ निष्फल हो गईं ।

त्रयोदशेमा हि समाः सदा वयं
त्वामन्वजीविष्म धनञ्जयाशया ।
काले च वर्षं देवमिवोप्तबीजं
तन्नः सर्वान् नरके त्वं न्यमज्जयः ॥७॥

धनञ्जय ! जैसे बोया हुआ बीज समय पर मेघ द्वारा की हुई वर्षा की प्रतीक्षा में जीवित रहता है, उसी प्रकार हमने तेरह वर्षों तक सदा तुमपर ही आशा लगाकर जीवन धारण किया था, परन्तु तुमने हम लोगों को नरक में डुबो दिया [भारी संकट में डाल दिया] ।

धिगस्तु मज्जीवितमद्य कृष्ण
योऽहं वशं सूतपुत्रस्य यातः ।

मध्ये कुरूणां सुहृदां च मध्ये
ये चाप्यन्ये योद्धुकामाः समेताः ॥८॥

श्रीकृष्ण ! मैं कौरवों, सुहृदों तथा अन्य जो लोग युद्ध की इच्छा से एकत्र हुए हैं, उन सबके मध्य मैं आज सूतपुत्र कर्ण के अधीन हो गया। मेरे जीवन को धिक्कार है !

मम ह्यभाग्यानि पुरा कृतानि
पापानि नूनं बलवन्ति युद्धे ।
तृणं च कृत्वा समरे भवन्तं
मामेव स निकृतवान् दुरात्मा ॥९॥

पार्थ ! निश्चय ही मेरे अभाग्य और पूर्वकृत पाप इस युद्ध में प्रबल हो रहे हैं, तभी तो दुरात्मा कर्ण ने तुम्हें तिनके के समान समझकर मेरा घोर अपमान किया है।

त्वष्ट्रा कृतं वाहमकूजनाक्षं
शुभं समास्थाय कपिध्वजं तम् ।
प्रगृह्य खड्गञ्च सुवर्णबद्धं
धनुश्च तत् गाण्डिवं तालमात्रम् ।
स केशवेनोह्यमानः कथं त्वं
कर्णाद् भीतो व्यपयातोऽसि पार्थ ॥१०

कुन्तीकुमार ! तुम्हारा रथ साक्षात् विश्वकर्मा का बनाया हुआ है, उसके धुरे से कोई ध्वनि नहीं निकलती। उसपर वानरध्वजा फहराती रहती है, ऐसे शुभलक्षणयुक्त रथ पर आरूढ़ हो, सुवर्णजटित खड्ग और चार हाथ के श्रेष्ठ धनुष गाण्डीव को लेकर और श्रीकृष्ण जैसे सारथि के द्वारा संचालित होकर भी तुम कर्ण से भयभीत होकर भाग कैसे आये ?

धनुश्च तत् केशवाय प्रयच्छ
यन्ता भव त्वं खलु केशवस्य ।
हानिष्यति केशवः कर्णमुग्रं
मरुत्पतिर्वृत्रमिवात्तवज्रः ॥११॥

पार्थ ! तुम अपना गाण्डीव धनुष श्रीकृष्ण को दे दो और युद्धक्षेत्र में स्वयं इनके सारथि बन जाओ, फिर जैसे इन्द्र ने हाथ में वज्र लेकर वृत्रासुर का वध किया था, उसी प्रकार ये श्रीकृष्ण भयंकर वीर कर्ण को मार डालेंगे।

राधेयमेतं यदि नाद्य शक्त-
श्चरन्तमुग्रं प्रतिबाधनाय ।
प्रयच्छ गाण्डीवमिमं हि राज्ञे-
त्वत्तो बलास्त्रैरधिकश्च यः स्यात् ॥१२॥

यदि तुम आज समराङ्गण में विचरते हुए उस भयानक वीर राधापुत्र कर्ण का सामना करने की शक्ति नहीं रखते तो अब यह गाण्डीव धनुष किसी ऐसे राजा को दे दो, जो अस्त्रबल में तुमसे बढ़-चढ़-कर हो।

मासेऽपतिष्यः पञ्चमे सुकृच्छ्रे
न वा गर्भे आभविष्यः पृथायाः ।
तत् ते श्रेयो राजपुत्राभविष्यन्
न संग्रामादपयानं दुरात्मन् ॥१३॥

दुरात्मा राजपुत्र ! यदि तुम पाँचवें मास में ही माता के गर्भ से गिर गये होते अथवा माता कुन्ती के अत्यन्त कष्टदायक गर्भ में आये ही न होते तो वह तुम्हारे लिए अच्छा होता, क्योंकि उस अवस्था में तुम्हें युद्ध से भाग आने का कलंक तो नहीं प्राप्त होता।

धिग्गाण्डिवं धिक् च ते बाहुवीर्य-
मसंख्येयान् बाणगणाँश्च धिक् ते ।
धिक् ते केतुं केसरिणः सुतस्य
कृशानुदत्तं च रथं च धिक् ते ॥१४॥

अर्जुन ! तुम्हारे इस गाण्डीव धनुष को धिक्कार है ! तुम्हारी भुजाओं के पराक्रम को धिक्कार है ! धिक्कार है तुम्हारे इन असंख्य बाणों को ! धिक्कार है तुम्हारी वानरध्वजा को और धिक्कार है अग्निदेव के दिये हुए इस रथ को !

सञ्जय उवाच

युधिष्ठिरेणैवमुक्तः कौन्तेयः श्वेतवाहनः ।
असिं जग्राह संक्रुद्धो जिघांसुर्भरतर्षभम् ॥१५॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर श्वेतवाहन कुन्तीनन्दन अर्जुन को बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने भरतभूषण युधिष्ठिर को मार डालने की इच्छा से तलवार उठा ली।

तस्य कोपं समुद्वीक्ष्य चित्तज्ञः केशवस्तदा ।
उवाच किमिदं पार्थ गृहीतः खड्ग इत्युत ॥१६॥

उस समय उनका क्रोध देखकर उनके मन की

बात जाननेवाले श्रीकृष्ण ने पूछा—"पार्थ ! यह क्या ? तुमने तलवार कैसे उठा ली ?

न हि पश्यामि योद्धव्यं त्वया किंचिद् धनञ्जय ।
प्रहर्तुमिच्छसि कस्मात् किं वा ते चित्तविभ्रमः ।।१७

"धनञ्जय ! यहाँ तुम्हें किसी के साथ युद्ध करना हो, ऐसा तो दिखाई नहीं देता, फिर तुम किसपर क्यों प्रहार करना चाहते हो ? तुम्हारे चित्त में भ्रम तो नहीं हो गया है ?"

एवमुक्तस्तु कृष्णेन प्रेक्षमाणो युधिष्ठिरम् ।
अर्जुनः प्राह गोविन्दं क्रुद्धः सर्प इव श्वसन् ।।१८।।

श्रीकृष्ण के इस प्रकार पूछने पर अर्जुन ने क्रोध में भरकर फुकारते हुए सर्प के समान युधिष्ठिर की ओर देखकर श्रीकृष्ण से कहा—

अन्यस्मै देहि गाण्डिवमिति मां योऽभिनोदयेत् ।
भिन्द्यामहं शिरस्तस्य इत्युपांशुव्रतं मम ।।१९।।
तदुक्तं मम चानेन न तत् क्षन्तुमिहोत्सहे ।
तस्मादेनं वधिष्यामि राजानं धर्मभीरुकम् ।।२०।।

"गोविन्द ! 'जो मुझसे यह कह दे कि तुम अपना गाण्डीव धनुष दूसरे को दे दो, मैं उसका सिर काट लूंगा ।' मैंने मन-ही-मन यह प्रतिज्ञा कर रखी है । इन महाराज ने मुझसे वही बात कही है, अतः मैं इन्हें क्षमा नहीं कर सकता । मैं इस धर्मभीरु नरेश का वध करूँगा ।

एतदर्थं मया खड्गो गृहीतो यदुनन्दन ।
धिग्धिगित्येव गोविन्दः पार्थमुक्त्वाब्रवीत्पुनः ।।२१।।

"यदुनन्दन ! मैंने इनके वध के लिए ही खड्ग हाथ में ली है ।" राजन् ! यह सुनकर श्रीकृष्ण अर्जुन से "धिक्कार है, धिक्कार है !" ऐसा कहकर पुनः इस प्रकार बोले—

श्रीकृष्ण उवाच

इदानीं पार्थ जानामि न वृद्धाः सेवितास्त्वया ।
अकाले पुरुषव्याघ्र संरम्भं यद् भवानगात् ।।२२।।

श्रीकृष्ण बोले—पार्थ ! आज मुझे पता चला कि तुमने वृद्ध पुरुषों की सेवा नहीं की है । पुरुषसिंह ! इसीलिए तुम्हें बिना अवसर के क्रोध आ गया है ।

न हि धर्मविभागज्ञः कुर्यादेवं धनञ्जयः ।
यथा त्वं पाण्डवाद्येह धर्मभीरुरपण्डितः ।।२३।।

पाण्डुपुत्र धनञ्जय ! जो धर्म के पृथक्-पृथक् रहस्यों को जाननेवाला है, वह कभी ऐसा नहीं कर सकता, जैसा कि आज तुम यहाँ करना चाहते हो । वस्तुतः तुम धर्मभीरु होने के साथ ही बुद्धिहीन भी हो ।

अकार्याणां क्रियाणां च संयोगं यः करोति वै ।□
कार्याणामक्रियाणां च स पार्थ पुरुषाधमः ।।२४।।

पार्थ ! जो करने योग्य होने पर भी असाध्य हों और जो साध्य होने पर भी निषिद्ध हों ऐसे कर्मों से जो सम्बन्ध जोड़ता है, वह पुरुषों में अधम माना गया है ।

न हि कार्यमकार्यं वा सुखं ज्ञातुं कथञ्चन ।□
श्रुतेन ज्ञायते सर्वं तच्च त्वं नावबुध्यसे ।।२५।।

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान किसी प्रकार भी अनायास ही नहीं हो जाता, वह सब शास्त्र से जाना जाता है और शास्त्र का तुम्हें ज्ञान नहीं है ।

अविज्ञानाद् भवान् यच्च धर्मं रक्षति धर्मवित् ।
प्राणिनां त्वं वधं पार्थ धार्मिको नावबुध्यसे ।।२६।।

पार्थ ! तुम अज्ञानवश अपने-आपको धर्मज्ञ मानकर जो धर्म की रक्षा करने चले हो, उसमें प्राणिहिंसा का पाप है, यह बात तुम्हारे जैसे धार्मिक की समझ में नहीं आसकती ।

प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम ।□
अनृतां वा वदेद् वाचं न तु हिंस्यात् कथञ्चन ।।२७।।

तात ! मेरे विचार में प्राणियों की हिंसा न करना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है । किसी की प्राणरक्षा के लिए झूठ भी बोलना पड़े तो बोल दे, परन्तु उसकी हिंसा किसी प्रकार न होने दे ।

स कथं भ्रातरं ज्येष्ठं राजानं धर्मकोविदम् ।
हन्याद् भवान् नरश्रेष्ठ प्राकृतोऽन्यः पुमानिव ।।२८।।

नरश्रेष्ठ ! तुम दूसरे गँवार मनुष्य के समान अपने बड़े भाई धर्मज्ञ नरेश का वध कैसे करोगे ?

अयुध्यमानस्य वधस्तथाशत्रोश्च मानद ।
पराङ्मुखस्य द्रवतः शरणं चापि गच्छतः ।।२९।।
कृताञ्जलेः प्रपन्नस्य प्रमत्तस्य तथैव च ।
न वधः पूज्यते सद्भिस्तच्च सर्वं गुरौ तव ।।३०।।

मानद ! जो युद्ध न करता हो, शत्रुता न रखता

हो, युद्ध से मुँह मोड़कर भागा जा रहा हो, शरण में आता हो, हाथ जोड़कर आश्रय में आ पड़ा हो तथा असावधान हो, ऐसे मनुष्य का वध करना श्रेष्ठ पुरुष अच्छा नहीं समझते। तुम्हारे बड़े भाई में उपर्युक्त सभी बातें हैं।

त्वया चैवं व्रतं पार्थ बालेनैव कृतं पुरा।
तस्मादधर्मसंयुक्तं मौर्ख्यात् कर्म व्यवस्यति ।।३१।।

पार्थ ! तुमने नासमझ बालक के समान पहले कोई प्रतिज्ञा कर ली थी, इसीलिए तुम मूर्खतावश अधर्मयुक्त कार्य करने को उद्यत हो गये हो।

स गुरुं पार्थ कस्मात्त्वं हन्तुकामोऽभिधावसि।
असम्प्रधार्य धर्माणां गतिं सूक्ष्मां दुरत्ययाम् ।।३२।।

कुन्तीनन्दन ! बताओ तो तुम धर्म के सूक्ष्म और दुर्बोध स्वरूप का अच्छी प्रकार विचार किये बिना ही अपने ज्येष्ठ भ्राता का वध करने के लिए कैसे दौड़ पड़े ?

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम्। □
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम् ।।३३।।

सत्य बोलना उत्तम है। सत्य से बढ़कर दूसरा परमतत्त्व कुछ नहीं है, परन्तु यह समझ लो कि सत्पुरुषों द्वारा आचरण में लाये हुए सत्य के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त कठिन होता है।

भवेत् सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्। □
यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत् ।।३४।।

जहाँ झूठ बोलने का परिणाम सत्यभाषण के समान कल्याणकारक हो अथवा जहाँ सत्य बोलने का परिणाम असत्य बोलने के समान अमङ्गलकारी हो, वहाँ सत्य नहीं बोलना चाहिए। वहाँ असत्य बोलना ही उचित होगा।

सर्वस्वस्यापहारे तु वक्तव्यमनृतं भवेत्। □
तत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत् ।।३५।।

जब किसी का सर्वस्व छीना जा रहा हो तब उसे बचाने के लिए झूठ बोलना कर्तव्य है। वहाँ असत्य ही सत्य और सत्य ही असत्य हो जाता है।

यत् स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः। □
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।।३६।।

जिस कार्य में हिंसा न हो वही धर्म है। महर्षियों ने प्राणियों की हिंसा न होने देने के लिए ही उत्तम धर्म का प्रवचन किया है।

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः। □
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ।।३७।।

धर्म ही प्रजा को धारण करता है और धारण करने के कारण ही उसे धर्म कहते हैं, अतः जो धारण=प्राणरक्षा से युक्त हो, जिसमें किसी जीव की हिंसा न की जाती हो, वही धर्म है। ऐसा ही धर्मशास्त्रों का सिद्धान्त है।

यथाधर्मं यथाबुद्धि मयोद्दिष्टो हितार्थिना।
एतत् श्रुत्वा ब्रूहि पार्थ यदि वध्यो युधिष्ठिरः ।।३८।।

अर्जुन ! मैं तुम्हारा हित चाहता हूँ, अतः मैंने अपनी बुद्धि और धर्म के अनुसार तुम्हें धर्माधर्म का तत्त्व बताया है ? यह सुनकर अब तुम्हीं बताओ, क्या अब भी राजा युधिष्ठिर तुम्हारे वध्य हैं ?

अर्जुन उवाच

यथा ब्रूयान्महाप्राज्ञो यथा ब्रूयान्महामतिः।
हितं चैव यथास्माकं तथैतद् वचनं तव ।।३९।।

अर्जुन ने कहा—प्रभो ! कोई बहुत बड़ा विद्वान् एवं परम बुद्धिमान् मनुष्य जैसा उपदेश दे सकता है और जिसके अनुसार आचरण करने से हम लोगों का हित हो सकता है, वैसा ही आपका यह भाषण हुआ है।

भवान् मातृसमोऽस्माकं तथा पितृसमोऽपि च।
गतिश्च परमा कृष्ण त्वमेव च परायणम् ।।४०।।

श्रीकृष्ण ! आप हमारे माता-पिता के तुल्य हैं। आप ही हमारी परम गति और परम आश्रय हैं।

न हि ते त्रिषु लोकेषु विद्यतेऽविदितं क्वचित्।
तस्माद् भवान् परं धर्मं वेद सर्वं यथातथम् ।।४१।।

तीनों लोकों में कहीं कोई भी ऐसी बात नहीं है, जो आपको विदित न हो, अतः आप ही परम धर्म को सम्पूर्ण और यथार्थरूप से जानते हैं।

अवध्यं पाण्डवं मन्ये धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
अस्मिंस्तु मम संकल्पे ब्रूहि किंचिदनुग्रहम् ।।४२।।

मैं पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर को मारने योग्य नहीं समझता, परन्तु मेरी मानसिक प्रतिज्ञा के

विषय में आप ही कोई अनुग्रह [भ्रातृवध के बिना ही प्रतिज्ञा-पालन का उपाय] बताइए।

यो मां ब्रूयात् कश्चन मानुषेषु
अन्यस्मै त्वं गाण्डिवं देहि पार्थ।
यस्त्वत्तोऽस्त्रैर्वीर्यतो वा विशिष्टः
हन्यामहं केशव तं प्रसह्य ।।४३।।

केशव ! मनुष्यों में यदि कोई भी मुझसे यह कह दे कि "पार्थ ! तुम अपना गाण्डीव धनुष किसी दूसरे ऐसे मनुष्य को दे दो, जो अस्त्रों के ज्ञान अथवा बल में तुमसे बढ़कर हो तो मैं उसे बलपूर्वक मार डालूंगा ?"

तं हन्यां चेत् केशव जीवलोके
स्थाता नाहं कालमप्यल्पमात्रम्।
ध्यात्वा नूनं ह्येनसा चापि मुक्तो
वधं राज्ञो भ्रष्टवीर्यो विचेताः ।।४४।।

केशव ! यदि मैं युधिष्ठिर का वध कर दूँ तो इस संसार में थोड़ी देर भी जीवित नहीं रह सकता। यदि किसी प्रकार पाप से छूट जाऊँ तो भी राजा युधिष्ठिर के वध का चिन्तन करके जी नहीं सकता। निश्चय ही इस समय मैं किंकर्तव्यविमूढ होकर पराक्रमशून्य और अचेत-सा हो गया हूँ।

यथा प्रतिज्ञा मम लोकबुद्धौ
सत्या भवेत् धर्मभृतां वरिष्ठ।
जीवेत् यथा पाण्डवोऽहं च कृष्ण
बुद्धिं तथा दातुमप्यर्हसि त्वम् ।।४५।।

धर्मात्माओं में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! संसार के लोगों की दृष्टि में जिस प्रकार मेरी प्रतिज्ञा सच्ची हो जाए और जिस प्रकार पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर और मैं दोनों जीवित रह सकें, वैसी कोई सम्मति आप मुझे देने की कृपा करें।

वासुदेव उवाच

राजा श्रान्तो विक्षतो दुःखितश्च
कर्णेनाजौ दर्शितैर्बाणसंघैः।
अतस्त्वमेतेन सरोषमुक्तो
दुःखान्वितेनेदमयुक्तरूपम् ।।४६।।

श्रीकृष्ण ने कहा—अर्जुन ! राजा युधिष्ठिर थक गये हैं। कर्ण ने युद्धभूमि में अपने तीखे तीरों द्वारा इन्हें क्षत-विक्षत कर दिया है, अतः वे बहुत दुःखी हैं। दुःखी होने के कारण ही उन्होंने तुम्हारे प्रति ये रोषपूर्वक अनुचित बातें कही हैं।

ततो वधं नार्हति धर्मपुत्र-
स्त्वया प्रतिज्ञार्जुन पालनीया।
जीवन्नयं येन मृतो भवेद्धि
तन्मे निबोधेह तवानुरूपम् ।।४७।।

वीर ! धर्मपुत्र युधिष्ठिर वध के योग्य नहीं हैं। इधर तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा का पालन भी करना है, अतः जिस उपाय से ये जीवित रहते हुए भी मरे के समान हो जाएँ, वही तुम्हारे अनुरूप होगा। उसे बताता हूँ, सुनो।

मानं यदा लभते माननार्ह-
स्तदा स वै जीवति जीवलोके।
यदावमानं लभते महान्तं
जीवंस्तदैव मृत उच्यते सः ।।४८।।

इस संसार में माननीय पुरुष जबतक सम्मान पाता है, तभी तक वह वास्तव में जीवित है। जब वह भारी अपमान पाने लगता है, तब वह जीते-जी मरा हुआ कहलाता है।

सम्मानितः पार्थिवोऽयं सदैव
त्वया च भीमेन तथा यमाभ्याम्।
वृद्धैश्च लोके पुरुषैश्च शूरै-
स्तस्यापमानं कलया प्रयुङ्क्ष्व ।।४९।।

तुमने, भीमसेन ने, नकुल-सहदेव ने तथा अन्य वृद्ध पुरुषों और शूरवीरों ने लोक में राजा युधिष्ठिर का सदा आदर-सम्मान किया है, किन्तु इस समय तुम उनका थोड़ा-सा अपमान कर दो।

त्वमित्यत्रभवन्तं हि ब्रूहि पार्थ युधिष्ठिरम्। □
त्वमित्युक्तो हि निहतो गुरुर्भवति भारत ।।५०।।

पार्थ ! तुम युधिष्ठिर को सदा 'आप' कहते आये हो, आज इन्हें 'तू' कह दो। भारत ! यदि किसी गुरुजन को 'तू' कह दिया जाए तो साधुपुरुषों की दृष्टि में उसका वध ही हो जाता है।

वधं ह्ययं पाण्डव धर्मराज-
स्त्वत्तोऽयुक्तं वेत्स्यते चैवमेषः।

ततोऽस्य पादावभिवाद्य पश्चा-
च्छमं ब्रूयाः सान्त्वयित्वा च पार्थम् ।।५१

पाण्डुपुत्र ! तुम्हारे द्वारा किये गये इस अनुचित शब्द के प्रयोग को सुनकर ये धर्मराज अपना वध हुआ ही समझेंगे। तत्पश्चात् तुम इनके चरणों में प्रणाम करके इन्हें सान्त्वना देते हुए इनसे क्षमा माँग लेना और इनके प्रति न्यायोचित वचन बोलना।

प्राज्ञस्तव जातु क्रुधं न भ्राता
कुर्यान्नृपो धर्ममवेक्ष्य चापि ।
मुक्तोऽनृताद् भ्रातृवधाच्च पार्थ
मुदा जहि कर्णं सूतनन्दनम् ।।५२।।

पार्थ ! तुम्हारे भाई राजा युधिष्ठिर बुद्धिमान् हैं। ये धर्म का विचार करके तुमपर क्रुद्ध नहीं होगे। इस प्रकार तुम मिथ्या भाषण और भ्रातृवध के पाप से मुक्त हो बड़े हर्ष के साथ सूतपुत्र कर्ण का वध करना।

इति महाभारते कर्णपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ।।१५।।

षोडशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण का अर्जुन को आत्महत्या से बचाना और युधिष्ठिर को सान्त्वना देकर सन्तुष्ट करना

सञ्जय उवाच

इत्येवमुक्तस्तु जनार्दनेन
पार्थः प्रशस्याथ सुहृद्वचस्तत् ।
ततोऽब्रवीदर्जुनो धर्मराज-
मनुक्तपूर्वं परुषं प्रसह्य ।।१।।

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर कुन्तीनन्दन अर्जुन ने अपने हितैषी सखा के उस वचन की बहुत प्रशंसा की। फिर वे हठपूर्वक धर्मराज के प्रति ऐसे कठोर वचन कहने लगे, जैसे उन्होंने पहले कभी नहीं कहे थे।

अर्जुन उवाच

मा त्वं राजन् व्याहर व्याहरस्व
यस्तिष्ठसे क्रोशमात्रे रणाद् वै ।
भीमस्तु मामर्हति गर्हणाय
यो युध्यते सर्वलोकप्रवीरैः ।।२।।

अर्जुन ने कहा—राजन् ! तू स्वयं तो युद्ध से भागकर एक कोस दूर आ बैठा है, अतः तू मुझसे बुरे बोल न बोल। हाँ, भीमसेन को मेरी निन्दा करने का अधिकार है, जोकि समस्त संसार के प्रमुख योद्धाओं के साथ अकेले ही जूझ रहे हैं।

यते हि नित्यं तव कर्तुमिष्टं
दारैः सुतैरात्मसुजीवितेन ।
तथापि मां वाग्विशिखेन हंसि
त्वत्तः सुखं विद्म वयं न किञ्चित् ।।३।।

मैं सदा स्त्री, पुत्र, जीवन और यह शरीर लगाकर भी तेरा प्रिय कार्य सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील रहता हूँ। ऐसी अवस्था में भी तू मुझे अपने वाग्बाणों से बींध रहा है ? हम लोग तुमसे थोड़ा-सा भी सुख न पा सके।

सुखं त्वत्तो नाभिजानीम किंचिद्
यतस्त्वमक्षेषु दृढं प्रसक्तः ।
स्वयं कृत्वा व्यसनं पाण्डव त्व-
मस्माँस्तीव्राः श्रावयस्यद्य वाचः ।।४।।

पाण्डुकुमार ! तुमसे थोड़ा-सा भी सुख मिला हो—यह हम नहीं जानते हैं, क्योंकि तू जूआ खेलने के व्यसन में पड़ा हुआ है। स्वयं यह दुर्व्यसन करके तू हमें कठोर बातें सुना रहा है।

त्वं देविता त्वत्कृते राज्यनाश-
स्त्वत्सम्भवं नो व्यसनं नरेन्द्र ।
मास्मान् विषैर्वाक्प्रतोदैस्तुदत्वं
भूयो नृप कोपयेस्त्वल्पभाग्यः ।।५।।

नरेन्द्र ! तू भाग्यहीन जुआरी है। तेरे ही कारण हमारे राज्य का नाश हुआ और तुझसे ही हमें घोर संकट की प्राप्ति हुई। राजन् ! अब तू अपने विषभरे वचनरूपी चाबुकों से हमें पीड़ा देते हुए फिर कुपित न कर।

सञ्जय उवाच

एता वाचः परुषाः सव्यसाची
स्थिरप्रज्ञः श्रावयित्वा तु रूक्षाः ।

बभूवासौ विमना धर्मभीरुः
विनिःश्वनंश्चासिमथोद्बबर्ह ॥६॥
तमाह कृष्णः किमिदं पुनर्भवान्
विकोशमाकाशनिभं करोत्यसिम् ।
ब्रूहि च मां त्वं पुनरुत्तरं वच-
स्तथा प्रवक्ष्याम्यहमर्थसिद्धये ॥७॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! सव्यसाची अर्जुन धर्मभीरु हैं । उनकी बुद्धि स्थिर है । उस समय राजा युधिष्ठिर को वैसी रूखी और कठोर बातें सुनाकर वे अनमने और उदास हो गये । उन्होंने लम्बी साँस लेते हुए फिर से तलवार खींच ली । यह देख श्रीकृष्ण ने कहा—"अर्जुन ! यह क्या ? तुम आकाश के समान निर्मल इस तलवार को पुनः म्यान से बाहर क्यों निकाल रहे हो ? तुम मुझे मेरी बात का उत्तर दो । मैं तुम्हारी अभीष्ट सिद्धयर्थ पुनः कोई योग्य उपाय बताऊँगा ।"

इत्येवमुक्तः पुरुषोत्तमेन
सुदुःखितस्तमवदत् किरीटी ।
अहं हनिष्ये स्वशरीरमेव
प्रसह्य येनाहितमाचरं वै ॥८॥

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के इस प्रकार पूछने पर अर्जुन अत्यन्त दुःखी हो उनसे इस प्रकार बोले—"भगवन् ! मैंने जिसके द्वारा हठपूर्वक भाई का अपमानरूप अहितकर कार्य कर डाला है, अपने उस शरीर को ही समाप्त कर डालूंगा ।"

उवाच तत्पार्थवचो निशम्य
धनञ्जयं धर्मभृतां वरिष्ठः ।
राजानमेनं त्वमितीदमुक्त्वा
किं कश्मलं प्राविशः पार्थ घोरम् ॥९॥
त्वं चात्मानं हन्तुमिच्छस्यरिघ्न
नेदं सद्भिः सेवितं वै किरीटिन् ।
सूक्ष्मो धर्मो दुर्विदश्चापि पार्थ
विशेषतोऽज्ञैः कथितं निबोध ॥१०॥

अर्जुन का यह वचन सुनकर धर्मात्माओं में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ने उनसे कहा—"पार्थ ! राजा युधिष्ठिर को तू कहकर तुम इतने घोर दुःख में क्यों डूब गये ? शत्रुसंहारक ! क्या तुम आत्महत्या करने जा रहे हो ? किरीटधारी अर्जुन ! साधुपुरुषों ने कभी ऐसा कार्य नहीं किया है । कुन्तीनन्दन ! धर्म का स्वरूप सूक्ष्म है । उसे जानना या समझना अत्यन्त कठिन है । विशेषतः अज्ञानी पुरुषों के लिए तो उसका जानना और भी मुश्किल है । अब मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो ।

हत्वाऽऽत्मानमात्मना प्राप्नुयास्त्वं
भ्रातुर्वधान्नरकं चातिघोरम् ।
ब्रूहि च वाचाद्य गुणानिहात्मन-
स्तथा हतात्मा भवितासि पार्थ ॥११॥

"भाई का वध करने से जिस अत्यन्त घोर नरक की प्राप्ति होती है, उससे भी भयानक नरक तुम्हें आत्महत्या करने से प्राप्त हो सकता है, अतः पार्थ ! अब तुम यहाँ अपनी ही वाणी द्वारा अपने गुणों का वर्णन करो । ऐसा करने से यह मान लिया जाएगा कि तुमने अपने ही हाथों अपना वध कर लिया ।"

तथास्तु कृष्णेत्यभिनन्द्य वाचं
धनञ्जयः प्राह धनुर्विनाम्य ।
युधिष्ठिरं धर्मभृतां वरिष्ठं
शृणुष्व राजन्निति शक्रसूनुः ॥१२॥

यह सुनकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण की बात का अभिनन्दन करते हुए कहा—"श्रीकृष्ण ! ऐसा ही हो ।" फिर इन्द्रपुत्र अर्जुन ने अपने धनुष को नवाकर धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा—राजन् ! सुनिए—

अर्जुन उवाच

न मादृशोऽन्यो नरदेव विद्यते
धनुर्धरो देवमृते पिनाकिनम् ।
अहं हि तेनानुमतो महात्मना
क्षणेन हन्यां सचराचरं जगत् ॥१३॥

अर्जुन ने कहा—नरदेव ! पिनाकधारी शिव को छोड़कर दूसरा कोई भी मेरे समान धनुर्धर नहीं है । उस महात्मा ने भी मेरी वीरता का अनुमोदन किया है । मैं चाहूँ तो क्षणभर में चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण संसार को नष्ट कर डालूँ ।

मया हि राजन् सदिगीश्वरा दिशो
विजित्य सर्वा भवतः कृता वशे ।

स राजसूयश्च समाप्तदक्षिणः
सभा च दिव्या भवतो ममौजसा ॥१४॥

राजन्! मैंने सम्पूर्ण दिशाओं और दिक्पालों को जीतकर आपके अधीन कर दिया था। पर्याप्त दक्षिणाओं से युक्त राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान तथा आपकी दिव्य सभा का निर्माण मेरे ही बल से सम्भव हुआ है।

अद्यापुत्रा सूतमाता भवित्री
कुन्ती वाथो वा मया तेन वापि।
सत्यं वदाम्यद्य न कर्णमाजौ
शरैरहत्वा कवचं विमोक्ष्ये ॥१५॥

आज मेरे द्वारा सूत्रपुत्र की माता पुत्रहीन हो जाएगी अथवा मेरी माता कुन्ती ही कर्ण के द्वारा मुझ एक पुत्र से हीन हो जाएगी। मैं सत्य कहता हूँ, आज रणभूमि में अपने बाणों द्वारा कर्ण को मारे बिना मैं कवच नहीं उतारूँगा।

सञ्जय उवाच

इत्येवमुक्त्वा पुनरेव पार्थो
युधिष्ठिरं धर्मभृतां वरिष्ठम्।
विमुच्य शस्त्राणि धनुर्विसृज्य
कोशे च खड्गं विनिधाय तूर्णम् ॥१६॥
स व्रीडया नम्रशिराः किरीटी
युधिष्ठिरं प्राञ्जलिरभ्युवाच।
प्रसीद राजन् क्षम यन्मयोक्तं
काले भवान् वेत्स्यति तन्नमस्ते ॥१७॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! किरीटधारी कुन्तीनन्दन अर्जुन धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर से ऐसा कहकर शस्त्र खोल, धनुष नीचे पटक और तलवार को तुरन्त ही म्यान में रखकर लज्जा से नतमस्तक हो हाथ जोड़ उनसे पुनः इस प्रकार बोले—"राजन्! आप प्रसन्न हों। मैंने जो कुछ कहा है, उसके लिए मुझे क्षमा करें। समय पर आपको सब-कुछ ज्ञात हो जाएगा। मैं आपको नमस्ते[1] कहता हूँ।"

प्रसाद्य राजानममित्रसाहं
स्थितोऽब्रवीच्चैव पुनः प्रवीरः।
नेदं चिरात् क्षिप्रमिदं भविष्य-
त्यावर्ततेऽसावभियामि चैनम् ॥१८॥

इस प्रकार शत्रुओं का सामना करने में समर्थ राजा युधिष्ठिर को प्रसन्न करके प्रमुख वीर अर्जुन खड़े होकर फिर बोले—"महाराज! अब कर्ण के वध में देर नहीं है। यह कार्य शीघ्र ही होगा। वह इधर ही आ रहा है, अतः मैं भी उसी पर चढ़ाई कर रहा हूँ।"

एतत् श्रुत्वा पाण्डवो धर्मराजो
भ्रातुर्वाक्यं परुषं फाल्गुनस्य।
उत्थाय तस्माच्छयनादुवाच
पार्थं ततो दुःखपरीतचेताः ॥१९॥

अपने भाई अर्जुन के इस कठोर वचन को सुनकर पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर दुःख से व्याकुल-चित्त होकर उस शय्या से उठ खड़े हुए और अर्जुन से इस प्रकार बोले—

कृतं मया पार्थ यथा न साधु
येन प्राप्तं व्यसनं वः सुघोरम्।
तस्माच्छिरश्छिन्धि ममेदमद्य
कुलान्तकस्याधमपूरुषस्य ॥२०॥

"पार्थ! निश्चय ही मैंने अच्छा कर्म नहीं किया, इसी से तुम लोगों पर भयंकर संकट आ पड़ा है। तुम आज ही मुझ कुलान्तकारी, नराधम का मस्तक काट डालो।

---

१. कुछ शास्त्रज्ञान से शून्य लोगों की ऐसी धारणा है कि 'नमस्ते' पद से किसी का अभिवादन नहीं करना चाहिए। बड़ों को छोटों के लिए 'नमस्ते' का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि बड़ा छोटे को नमन नहीं कर सकता, तथा छोटों को बड़ों को 'नमस्ते' नहीं कहना चाहिए, क्योंकि बड़ों के लिए 'ते' पद का प्रयोग अनुचित है। ऐसे शास्त्रानभिज्ञ लोगों को इस स्थल को ध्यानपूर्वक देखना चाहिए। अर्जुन युधिष्ठिर के लिए 'त्वं' शब्द का प्रयोग करके उसके लिए खेद प्रकट कर रहा है और क्षमा माँग रहा है। यदि 'नमस्ते' पद में भी अपमान की बात होती तो अर्जुन अपने बड़े भाई युधिष्ठिर के लिए इस पद का प्रयोग कदापि न करते। आर्ष ग्रन्थों में बड़ों द्वारा छोटों को और छोटों द्वारा बड़ों को 'नमस्ते' द्वारा प्रणाम करने का अनेक स्थानों पर उल्लेख है।

वृद्धावमन्तुः परुषस्य चैव
किं ते चिरं मामनुसृत्य रूक्षम् ।
गच्छाम्यहमद्य वनं सुपापः
सुखं भवान् तिष्ठतु मद्विहीनः ॥२१॥

"मैं बड़े-बूढ़ों का अनादर करनेवाला और कठोर हूँ। तुम्हें मेरी रूखी बातों का दीर्घकाल तक अनुसरण करने की क्या आवश्यकता है। मैं पापी आज ही वन में चला जाता हूँ। तुम मुझसे अलग होकर आनन्द से रहो।

योग्यो नृपः भीमसेनो महात्मा
क्लीबस्य वा मम किं राज्यकृत्यम् ।
न चापि शक्तः परुषाणि सोढुं
पुनस्तवेमानि रुषान्वितस्य ॥२२॥

"मनस्वी भीमसेन सुयोग्य राजा है। मुझ कायर को राज्य लेने से क्या काम है? अब पुनः मुझमें तुम्हारे रोषपूर्वक कहे हुए इन कठोर वचनों को सहने की शक्ति नहीं है।"

इत्येवमुक्त्वा सहसोत्पपात
राजा ततस्तच्छयनं विहाय ।
इयेष निर्गन्तुमथो वनाय
तं वासुदेवः प्रणतोऽभ्युवाच ॥२३॥

ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर सहसा पलंग छोड़कर वहाँ से नीचे कूद पड़े और वन में जाने की इच्छा करने लगे। तब श्रीकृष्ण ने उनके चरणों में प्रणाम करके इस प्रकार कहा—

राजन् विदितमेवैतत् यथा गाण्डीवधन्वनः ।
प्रतिज्ञा सत्यसन्धश्च गाण्डीवं प्रति विश्रुता ॥२४॥

"राजन्! आपको यह तो विदित ही है कि गाण्डीवधारी सत्यप्रतिज्ञ अर्जुन ने गाण्डीव धनुष के विषय में कैसी प्रतिज्ञा कर रखी है। उनकी वह प्रतिज्ञा प्रसिद्ध है।

ब्रूयाद् य एवं गाण्डीवमन्यस्मै देयमित्युत ।
वध्योऽस्य स पुमाँल्लोके त्वया चोक्तोऽयमीदृशम् ॥२५

"जो अर्जुन से यह कह दे कि 'तुम्हें अपना गाण्डीव धनुष दूसरे को दे देना चाहिए, वह मनुष्य संसार में उनका वध्य है।' आपने आज अर्जुन से ऐसी ही बात कह दी है।

ततः सत्यां प्रतिज्ञां तां पार्थेन प्रतिरक्षता ।
मच्छन्दादवमानोऽयं कृतस्तव महीपते ॥२६॥

"अतः नरेश्वर! अर्जुन ने अपनी उसी सच्ची प्रतिज्ञा की रक्षा करते हुए मेरी आज्ञा से आपका यह अपमान किया है।

तस्मात् त्वं वै महाबाहो मम पार्थस्य चोभयोः ।
व्यतिक्रममिमं राजन् सत्यसंरक्षणं प्रति ॥२७॥

"इसलिए महाबाहो! राजन्! मेरे और अर्जुन दोनों के सत्य की रक्षा के लिए किये गये इस अपराध को आप क्षमा करें।

शरणं त्वां महाराज प्रपन्नौ स्व उभावपि ।
क्षन्तुमर्हसि मे राजन् प्रणतस्याभियाचतः ॥२८॥

"महाराज! हम दोनों आपकी शरण में आये हैं और मैं चरणों में गिरकर आपसे क्षमायाचना करता हूँ, आप मेरे अपराध को क्षमा करें।

सत्यं ते प्रतिजानामि हतं विद्ध्यद्य सूतजम् ।
यस्येच्छसि वधं तस्य गतमप्यस्य जीवितम् ॥२९॥

"मैं आपसे सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि अब आप सूतपुत्र कर्ण को मरा हुआ ही समझिए। आप जिसका वध चाहते हैं, उसका जीवन समाप्त हो गया।"

इति कृष्णवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
ससम्भ्रमं हृषीकेशमुत्थाप्य प्रणतं तदा ॥३०॥
कृताञ्जलिस्ततो वाक्यमुवाचानन्तरं वचः ।
एवमेव यथाऽऽत्थ त्वमस्त्येषोऽतिक्रमो मम ॥३१॥

श्रीकृष्ण का यह वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने पैरों में पड़े हुए हृषीकेश को वेगपूर्वक उठाकर और दोनों हाथ जोड़कर यह बात कही—"गोविन्द! आप जैसा कहते हैं, वह ठीक है। वास्तव में मुझसे यह नियम का उल्लंघन हो गया है।

अनुनीतोऽस्मि गोविन्द तारितश्चास्मि माधव ।
मोक्षिता व्यसनाद् घोराद् वयमद्य त्वयाच्युत ॥३२॥

"माधव! आपने अनुनय से मुझे सन्तुष्ट कर दिया और संकट के समुद्र में डूबने से बचा लिया। अच्युत! आज आपके द्वारा हम घोर विपत्ति से बच गये।

इति महाभारते कर्णपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन द्वारा कर्णवध की प्रतिज्ञा और युधिष्ठिर का आशीर्वाद

सञ्जय उवाच

इति स्म कृष्णवचनात् प्रत्युच्चार्य युधिष्ठिरम्।
बभूव विमनाः पार्थः किञ्चित् कृत्वेव पातकम् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—श्रीकृष्ण के कहने से अर्जुन ने युधिष्ठिर के प्रति जो तिरस्कारपूर्ण वचन कहे थे, उनके कारण वे मन-ही-मन ऐसे उदास हो गये थे, मानो कोई पाप कर बैठे हों।

ततोऽब्रवीद् वासुदेवः प्रहसन्निव पाण्डवम्।
कथं नाम भवेदेतद् यदि त्वं पार्थ धर्मजम् ॥२॥
असिना तीक्ष्णधारेण हन्या धर्मे व्यवस्थितम्।
त्वमित्युक्त्वाथ राजानमेवं कश्मलमाविशः ॥३॥

उनकी यह अवस्था देखकर श्रीकृष्ण हँसते हुए-से पाण्डुपुत्र अर्जुन से बोले—"पार्थ! तुम तो राजा के प्रति केवल 'तू' कह देने मात्र से ही इस प्रकार शोक-सागर में डूब गये हो। फिर यदि धर्म में स्थित रहनेवाले धर्मपुत्र युधिष्ठिर को तीखी धारवाली तलवार से मार डालते, तब तुम्हारी क्या दशा होती?

हत्वा तु नृपतिं पार्थ अकरिष्यः किमुत्तरम्।
एवं हि दुर्विदो धर्मो मन्दप्रज्ञैर्विशेषतः ॥४॥

"पार्थ! तुम राजा का वध करके क्या करते? इस प्रकार धर्म का स्वरूप सभी के लिए कठिनता से जानने योग्य है, विशेषतः उन लोगों के लिए जिनकी बुद्धि मन्द है।

स भवान् धर्मभीरुत्वाद् ध्रुवमैष्यन्महत्तमः।
नरकं घोररूपं च भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वै वधात् ॥५॥

"धर्मभीरु होने के कारण तुम अपने बड़े भाई के वध के लिए निश्चय ही घोर नरकरूप महान् अन्धकार [दुःख] में डूब जाते।

स त्वं धर्मभृतां श्रेष्ठं राजानं धर्मसंहितम्।
प्रसादय कुरुश्रेष्ठमेतदत्र मतं मम ॥६॥

"इस विषय में मेरा विचार यह है कि तुम धर्मात्माओं में श्रेष्ठ, धर्मपरायण, कुरुश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर को प्रसन्न करो।"

ततोऽर्जुनो महाराज लज्जया वै समन्वितः।
धर्मराजस्य चरणौ प्रपद्य शिरसा नतः ॥७॥
उवाच भरतश्रेष्ठं प्रसीदेति पुनः पुनः।
क्षमस्व राजन् यत्प्रोक्तं धर्मकामेन भीरुणा ॥८॥

महाराज! श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर अर्जुन लज्जित हो धर्मराज के चरणों में गिरकर और मस्तक नवाकर उन भरतभूषण नरेश से बारम्बार बोले—"राजन्! प्रसन्न होइए, प्रसन्न होइए। मैंने धर्म-पालन की इच्छा से भयभीत होकर जो अनुचित वचन कहा है, उसके लिए मुझे क्षमा कीजिए।"

पादयोः पतितं दृष्ट्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
धनञ्जयममित्रघ्नं रुदन्तं भरतर्षभ ॥९॥
उत्थाय भ्रातरं राजा धर्मराजो धनञ्जयम्।
समाश्लिष्य च सस्नेहं प्ररुरोद महीपतिः ॥१०॥

भरतभूषण! धर्मराज युधिष्ठिर ने शत्रुसूदन, भाई धनञ्जय को अपने चरणों पर गिरकर रोते देख बड़े स्नेह से उठाकर हृदय से लगा लिया। फिर वे भूपाल धर्मराज भी फूट-फूटकर रोने लगे।

रुदित्वा सुचिरं कालं भ्रातरौ सुमहाद्युती।
कृतशौचौ महाराज प्रीतिमन्तौ बभूवतुः ॥११॥

महाराज! वे दोनों महातेजस्वी भाई दीर्घकाल तक रोते रहे। इससे उनके मन की मैल धुल गई और वे दोनों भाई परस्पर प्रेम से भर गये।

तत आश्लिष्य तं प्रेम्णाब्रवीद् राजा धनञ्जयम्।
कर्णेन मे महाबाहो सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥१२॥
कवचं च ध्वजं चैव धनुः शक्तिर्हयाः शराः।
शरैः कृत्ता महेष्वास यतमानस्य संयुगे ॥१३॥

तब राजा युधिष्ठिर ने धनञ्जय को बड़े प्रेम से हृदय से लगाकर उनसे कहा—"महाधनुर्धर! महाबाहो! मैं युद्ध में यत्नपूर्वक लगा हुआ था, किन्तु कर्ण ने सारी सेना के देखते-देखते अपने बाणों द्वारा मेरे कवच, ध्वज, धनुष, शक्ति, घोड़े और बाणों के टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

सोऽहं ज्ञात्वा रणे तस्य कर्म दृष्ट्वा च फाल्गुन।
व्यवसीदामि दुःखेन न च मे जीवितं प्रियम् ॥१४

"फाल्गुन ! युद्धभूमि में उसके इस कर्म को देख और समझकर मैं दुःख से पीड़ित हो रहा हूँ। मुझे अपना जीवन प्रिय नहीं लग रहा है।

न चेदद्य हि तं वीरं निहनिष्यसि संयुगे।
प्राणानेव परित्यक्ष्ये जीवितार्थो हि को मम ॥१५॥

"यदि आज तुम रणभूमि में कर्ण का वध नहीं करोगे तो मैं अपने प्राणों का परित्याग कर दूंगा। कर्ण का वध न हुआ तो मेरे जीवन का प्रयोजन ही क्या है ?"

अर्जुन उवाच

सत्येन ते शपे राजन् प्रसादेन तथैव च।
भीमेन च नरश्रेष्ठ यमाभ्यां च महीपते ॥१६॥
यथाद्य समरे कर्णं हनिष्यामि हतोऽपि वा।
महीतले पतिष्यामि सत्येनायुधमालभे ॥१७॥

अर्जुन ने कहा—राजन् ! नररत्न भूपाल ! मैं आपसे सत्य की, आपके कृपापूर्ण प्रसाद की, भीमसेन तथा नकुल-सहदेव की शपथ खाकर, सत्य के द्वारा अपने धनुष को छूकर कहता हूँ कि आज युद्ध में या तो कर्ण को मार डालूंगा अथवा स्वयं ही मारा जाकर पृथिवी पर गिर जाऊँगा।

सञ्जय उवाच

एवमाभाष्य राजानमब्रवीन्माधवं वचः।
अद्य कर्णं रणे कृष्ण सूदयिष्ये न संशयः ॥१८॥

सञ्जय कहते हैं—हे भारत ! राजा युधिष्ठिर से ऐसा कहकर अर्जुन ने कृष्ण से कहा—"श्रीकृष्ण ! आज युद्धभूमि में मैं कर्ण का वध करूँगा, इसमें संशय नहीं है।"

एवमुक्तोऽब्रवीत् पार्थं केशवो राजसत्तम।
शक्तोऽसि भरतश्रेष्ठ हन्तुं कर्णं महाबलम् ॥१९॥

नृपश्रेष्ठ ! उनके ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण अर्जुन से बोले—"भरतभूषण ! तुम महाबली कर्ण का वध करने में समर्थ हो।"

भूयश्चोवाच मतिमान् माधवो धर्मनन्दनम्।
युधिष्ठिरेमं बीभत्सुं त्वं सान्त्वयितुमर्हसि ॥२०॥

फिर बुद्धिमान् कृष्ण ने धर्मपुत्र युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा—"युधिष्ठिर ! आप अर्जुन को सान्त्वना [कर्ण-वध के लिए आशीर्वाद] प्रदान करें।

श्रुत्वा ह्यहमयं चैव त्वां कर्णशरपीडितम्।
प्रवृत्तिं ज्ञातुमायाताविहावां पाण्डुनन्दन ॥२१॥

"पाण्डुपुत्र ! आप कर्ण के बाणों से पीड़ित हो गये हैं—यह सुनकर मैं और अर्जुन दोनों आपका समाचार जानने के लिए यहाँ आये थे।

दिष्टचासि राजन् न हतो दिष्टचा न ग्रहणं गतः।
परिसान्त्वय बीभत्सुं जयमाशाधि चानघ ॥२२॥

"निष्पाप नरेश ! सौभाग्य की बात है कि कर्ण द्वारा न तो आप मारे ही गये और न पकड़े ही गये। अब आप अर्जुन को सान्त्वना दें और उन्हें विजय के लिए आशीर्वाद प्रदान करें।"

युधिष्ठिर उवाच

एह्येहि पार्थ बीभत्सो मां परिष्वज पाण्डव।
वक्तव्यमुक्तोऽस्मि हितं त्वया क्षान्तं च तन्मया ॥२३॥

युधिष्ठिर बोले—पार्थ ! बीभत्सो ! आओ, आओ ! पाण्डुपुत्र ! मेरे हृदय से लग जाओ। तुमने तो मेरे प्रति कहने योग्य और हित की बात ही कही है और मैंने उसके लिए क्षमा भी कर दिया है।

अहं त्वामनुजानामि जहि कर्णं धनञ्जय।
मन्युं च मा कृथाः पार्थ यन्मयोक्तोऽसि दारुणम् ॥२४॥

धनञ्जय ! मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम कर्ण का वध करो। पार्थ ! मैंने तुमसे जो कठोर वचन कहा है, उसके लिए खेद मत करना।

सञ्जय उवाच

ततो धनञ्जयो राजन् शिरसा प्रणतोऽभवत्।
पादौ जग्राह पाणिभ्यां भ्रातुर्ज्येष्ठस्य मारिष ॥२५॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! आर्यश्रेष्ठ ! तब धनञ्जय ने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और दोनों हाथों से बड़े भाई के पैर पकड़ लिये।

तमुत्थाय ततो राजा परिष्वज्य च पीडितम्।
मूर्ध्न्युपाघ्राय चैवैनमिदं पुनरुवाच ह ॥२६॥

तब राजा युधिष्ठिर ने मन-ही-मन पीड़ा का अनुभव करनेवाले अर्जुन को उठाकर हृदय से लगा लिया और उनका मस्तक सूँघकर पुनः इस प्रकार कहा—

धनञ्जय महाबाहो मानितोऽस्मि दृढं त्वया ।
माहात्म्यं विजयं चैव भूयः प्राप्नुहि शाश्वतम् ॥२७॥

"महाबाहु धनञ्जय ! तुमने मेरा बहुत सम्मान किया है, अतः तुम्हारी महिमा बढ़े और तुम्हें पुनः सनातन विजय प्राप्त हो।"

अर्जुन उवाच

अद्य तं पापकर्माणं सानुबन्धं रणे शरैः ।
नयाम्यन्तं समासाद्य राधेयं बलगर्वितम् ॥२८॥

अर्जुन ने कहा—महाराज ! आज मैं अपने बल का घमण्ड रखनेवाले उस पापाचारी राधापुत्र कर्ण को युद्धभूमि में पाकर उसके बन्धु-बान्धवोंसहित यमलोक भेज दूँगा ।

येन त्वं पीडितो बाणैर्दृढमायम्य कार्मुकम् ।
तस्याद्य कर्मणः कर्णः फलमाप्स्यति दारुणम् ॥२९॥

राजन् ! जिसने धनुष को दृढ़तापूर्वक खेंचकर अपने बाणों द्वारा आपको पीड़ित किया है, वह कर्ण आज अपने उस पाप का अति दारुण फल पाएगा ।

नाहत्वा विनिवर्तिष्ये कर्णमद्य रणाजिरात् ।
इति सत्येन ते पादौ स्पृशामि जगतीपते ॥३०॥

पृथिवीपते ! आज मैं कर्ण को मारे बिना युद्ध-भूमि से नहीं लौटूँगा । सत्य की सौगन्ध खाकर मैं आपके दोनों चरण छूता हूँ ।

सञ्जय उवाच

इति ब्रुवाणं सुमनाः किरीटिनं
युधिष्ठिरः प्राह वचो बृहत्तरम् ।
यशोऽक्षयं जीवितमीप्सितं च ते
प्रयाहि शीघ्रं जहि कर्णमाहवे ॥३१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! ऐसी बातें कहनेवाले किरीटधारी अर्जुन से युधिष्ठिर ने प्रसन्नचित्त होकर यह महत्त्वपूर्ण बात कही—"वीर ! तुम्हें अक्षय यश, पूर्ण आयु और मनोवाञ्छित कामनाएँ प्राप्त होती रहें। तुम शीघ्र प्रयाण करो और समराङ्गण में कर्ण को मार डालो।

इति महाभारते कर्णपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को प्रोत्साहन, अर्जुन के वीरोचित उद्गार और कर्ण पर आक्रमण

सञ्जय उवाच

प्रयातस्याथ पार्थस्य महान् स्वेदो व्यजायत ।
चिन्ता च विपुला जज्ञे कथं चेदं भविष्यति ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! युद्ध के लिए प्रस्थान करने पर कुन्तीकुमार अर्जुन के शरीर में बड़े जोर से पसीना छूटने लगा तथा मन-ही-मन भारी चिन्ता होने लगी कि यह सब कैसे होगा ?

ततो गाण्डीवधन्वानमब्रवीन्मधुसूदनः ।
दृष्ट्वा पार्थं तथा यान्तं चिन्तापरिगतं तदा ॥२॥

रथ में बैठकर उस प्रकार यात्रा करते हुए गाण्डीवधारी अर्जुन को चिन्तामग्न देखकर श्रीकृष्ण ने उनसे इस प्रकार कहा—

वासुदेव उवाच

गाण्डीवधन्वन् संग्रामे ये त्वया धनुषा जिताः ।
न तेषां मनुषो जेता त्वदन्य इह विद्यते ॥३॥

श्रीकृष्ण बोले—गाण्डीवधारी अर्जुन ! तुमने अपने धनुष से जिन-जिन वीरों पर विजय पायी है, उन्हें जीतनेवाला इस जगत् में तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कोई मनुष्य नहीं है ।

दृष्टा हि बहवः शूराः शक्रतुल्यपराक्रमाः ।
त्वां प्राप्य समरे शूरं ते गताः परमां गतिम् ॥४॥

मैंने देखा है कि इन्द्र के समान पराक्रमी बहुत-से शूरवीर रणभूमि में तुम्ह शौर्य-सम्पन्न वीर के पास आकर परमगति को प्राप्त हो गये हैं ।

धनुर्ग्राहा हि ये केचित् क्षत्रिया युद्धदुर्मदाः ।
आ देवात् त्वत्समं तेषां न पश्यामि शृणोमि च ॥५॥

यहाँ से देवलोक तक धनुष-धारण करनेवाले जितने भी क्षत्रिय हैं, उनमें से किसी को भी मैं तुम्हारे समान न तो देखता हूँ न सुनता ही हूँ ।

अवश्यं तु मया वाच्यं यत्पथ्यं तव पाण्डव ।
मावमंस्था महाबाहो कर्णमाहवशोभिनम् ।।६।।

पाण्डुनन्दन ! फिर भी जो बात तुम्हारे लिए हितकर हो, उसे बता देना मैं आवश्यक समझता हूँ । महाबाहो ! संग्राम में शोभा पानेवाले कर्ण की अवहेलना मत करना ।

कर्णो हि बलवान् दृप्तः कृतास्त्रश्च महारथः ।
कृती च चित्रयोधी च देशकालस्य कोविदः ।।७।।

क्योंकि कर्ण बलवान्, अभिमानी, अस्त्रविद्या का विद्वान्, महारथी, युद्धकुशल, विचित्र रीति से युद्ध करनेवाला तथा देशकाल को समझनेवाला है ।

त्वत्समं त्वद्विशिष्टं वा कर्णं मन्ये महारथम् ।
परमं यत्नमास्थाय त्वया वध्यो महाहवे ।।८।।

मैं महारथी कर्ण को तुम्हारे समान अथवा तुमसे भी बढ़कर मानता हूँ, अतः महायुद्ध में महान् प्रयत्न करके तुम्हें उनका वध करना होगा ।

तेजसा वह्निसदृशो वायुवेगसमो जवे ।
अन्तकप्रतिमः क्रोधे सिंहसंहननो बली ।।९।।

कर्ण तेज में अग्नि के सदृश, वेग में वायु के समान, क्रोध में यमराज के तुल्य, सुदृढ़ शरीर में सिंह के सदृश तथा अत्यन्त बलवान् है ।

सर्वयोधगुणैर्युक्तो मित्राणामभयंकरः ।
सततं पाण्डवद्वेषी धार्तराष्ट्रहिते रतः ।।१०।।

उसमें योद्धाओं के सभी गुण हैं । वह अपने मित्रों को अभय देनेवाला और दुर्योधन के हित में तत्पर रहकर पाण्डवों से सदा द्वेष रखता है ।

सर्वैरवध्यो राधेयो दैवैरपि सवासवैः ।
ऋते त्वामिति मे बुद्धिस्तदद्य जहि सूतजम् ।।११।।

मेरा तो ऐसा विचार है कि राधानन्दन कर्ण तुम्हें छोड़कर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओं के लिए भी अवध्य है, अतः तुम आज सूतपुत्र का वध करो ।

आत्मानं मन्यते वीरं येन पापः सुयोधनः ।
तमद्य मूलं पापानां जहि सौतिं धनञ्जय ।।१२।।

धनञ्जय ! जिसके साथ होने से पापी दुर्योधन अपने-आपको वीर मानता है, वह सूतपुत्र कर्ण ही सारे पापों की जड़ है, अतः आज तुम उसे मार डालो ।

खड्गजिह्वं धनुरास्यं शरदंष्ट्रं तरस्विनम् ।
दृप्तं पुरुषशार्दूलं जहि कर्णं धनञ्जय ।।१३।।

अर्जुन ! कर्ण पुरुषसिंह है, तलवार ही उसकी जिह्वा है, धनुष ही उसका फैला हुआ मुख है, बाण उसकी दाढ़ें हैं । वह अत्यन्त वेगशाली और अभिमानी है । तुम उसका वध करो ।

अहं त्वामनुजानामि वीर्येण च बलेन च ।
जहि कर्णं रणे शूर मातङ्गमिव केसरी ।।१४।।

जैसे सिंह मतवाले हाथी को मार डालता है, उसी प्रकार तुम भी अपने बल और पराक्रम से युद्धभूमि में शूरवीर कर्ण को मौत के घाट उतार दो । इसके लिए मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ ।

सञ्जय उवाच

स केशवस्य बीभत्सुः श्रुत्वा भारत भाषितम् ।
विशोकः सम्प्रहृष्टश्च क्षणेन समपद्यत ।।१५।।

सञ्जय कहते हैं—भरतभूषण ! श्रीकृष्ण का यह भाषण सुनकर अर्जुन एक ही क्षण में शोकरहित एवं हर्ष और उत्साह से सम्पन्न हो गये ।

ततो ज्यामभिमृज्याशु व्याक्षिपद् गाण्डिवं धनुः ।
दध्रे कर्णविनाशाय केशवं चाभ्यभाषत ।।१६।।

फिर धनुष की डोरी को साफ करके उन्होंने शीघ्र ही गाण्डीव धनुष की टंकार की और कर्ण के विनाश का दृढ़ निश्चय कर लिया । फिर वे श्रीकृष्ण से इस प्रकार बोले—

त्वत्सहायो ह्यहं कृष्ण त्रींल्लोकान् वै समागतान् ।
प्रापयेयं परं लोकं किमु कर्णं महाहवे ।।१७

"श्रीकृष्ण ! आपकी सहायता मिलने पर तो मैं युद्ध के लिए सामने आये हुए तीनों लोकों को भी यमलोक भेज सकता हूँ, फिर इस महासमर में कर्ण को जीतना कौन बड़ी बात है ?

अद्य कृष्ण विकर्णा मे कर्णं नेष्यन्ति मृत्यवे ।
गाण्डीवमुक्ताः क्षिण्वन्तो मम हस्तप्रणोदिताः ।।१८।।

"श्रीकृष्ण ! आज मेरे हाथ से प्रेरित और गाण्डीव धनुष से मुक्त हुए 'विकर्ण' नामक बाण कर्ण को क्षत-विक्षत करते हुए उसे यमलोक पहुँचा देंगे ।

अद्याहमनुगान् कृष्ण कर्णस्य कृपणान् युधि ।
हन्ता ज्वलनसंकाशैः शरैः सर्पविषोपमैः ।।१९।।

"श्रीकृष्ण ! आज मैं युद्धस्थल में कर्ण के पीछे चलनेवाले दीन-हीन सैनिकों को सर्वविध और अग्नि के समान बाणों द्वारा भस्म कर डालूँगा।"

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तव सैन्यमरिन्दमः।
प्रविवेश महाबाहुर्मकरः सागरं यथा ॥२०॥

तत्पश्चात् जैसे मगर समुद्र में घुस जाता है, उसी प्रकार शत्रुओं का दमन करनेवाले पुरुषसिंह महाबाहु अर्जुन ने आपकी सेना के भीतर प्रवेश किया।

तं हृष्टास्तावका राजन् रथपत्तिसमन्विताः।
गजाश्वसादिबहुलाः पाण्डवं समुपाद्रवन् ॥२१॥

राजन् ! उस समय हर्ष में भरे हुए आपके रथियों और पैदलोंसहित हाथीसवार और घुड़सवार सैनिक जिनकी संख्या बहुत थी, पाण्डवनन्दन अर्जुन पर टूट पड़े।

तेषामापततां तत्र शरवर्षाणि मुञ्चताम्।
अर्जुनो व्यधमत् सैन्यं महावातो घनानिव ॥२२॥

परन्तु जैसे आँधी बादलों को छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अर्जुन ने बाणों की वर्षापूर्वक आक्रमण करनेवाले उन समस्त योद्धाओं का संहार कर डाला।

तां तु सेनां भृशं विद्ध्वा द्रावयित्वार्जुनः शरैः।
प्रायादभिमुखः पार्थः सूतानीकं हि मारिष ॥२३॥

आर्य नरेश ! उस सेना को अपने बाणों से अत्यन्त घायल करके भगा देने के पश्चात् कुन्तीनन्दन अर्जुन कर्ण की सेना के समक्ष चले।

श्रुत्वैव पार्थमायान्तं भीमसेनः प्रतापवान्।
त्यक्त्वा प्राणभयं राजन् तव सेनां ममर्द ह ॥२४॥

महाराज ! पार्थ का आना सुनते ही प्रतापी भीमसेन प्राणों का मोह छोड़कर आपकी सेना का मर्दन करने लगे।

यतो यतः पाण्डुसुतः प्रविष्टो रथसत्तमः।
ततस्ततोऽघातयत योधाञ्शतसहस्रशः ॥२५॥

रथियों में श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन भीमसेन जिस-जिस ओर घुसते उसी ओर सैकड़ों-हजारों योद्धाओं का संहार कर डालते।

ते वध्यमाना भीमेन धार्तराष्ट्राः पराङ्मुखाः।
कर्णमासाद्य समरे स्थिता राजन् समन्ततः ॥२६॥

राजन् ! युद्धभूमि में भीमसेन की मार खाकर युद्ध से विमुख हुए धृतराष्ट्र के पुत्र सब ओर से कर्ण के पास पहुँचकर खड़े हो गये।

ततः कर्णो महाराज ददाह रिपुवाहिनीम्।
कक्षमिद्धो यथा वह्निर्निदाघे ज्वलितो महान् ॥२७॥

महाराज ! जैसे ग्रीष्मकाल में अत्यन्त प्रज्वलित हुई आग सूखे काठ तथा घास-फूँस को जला देती है, उसी प्रकार कर्ण शत्रुसेना को दग्ध करने लगा।

शिरांसि च महाराज कर्णांश्चैव सकुण्डलान्।
बाहूंश्च वीरो वीराणां चिच्छेद लघु चेषुभिः ॥२८॥

महाराज ! वीर कर्ण ने बाणों द्वारा पाण्डव-पक्ष के वीरों के मस्तक, कुण्डलसहित कान और भुजाएँ शीघ्रतापूर्वक काट डालीं।

कृत्वा शून्यान् रथोपस्थान्वाजिपृष्ठांश्च भारत।
निर्मनुष्यान् गजस्कन्धान् पादातांश्चैव विद्रुतान् ॥२९॥

भरतभूषण ! उसने रथ की बैठकें सूनी कर दीं, घोड़ों की पीठें खाली कर दीं, हाथियों की पीठों और कन्धों पर कोई मनुष्य नहीं रहने दिया तथा पैदलों को भी मार भगाया।

आदित्य इव मध्याह्ने दुर्निरीक्ष्यः परन्तपः।
कालान्तकवपुः शूरः सूतपुत्रोऽभ्यराजत ॥३०॥

इस प्रकार शत्रुसन्तापक कर्ण मध्याह्नकाल के सूर्य की भाँति तप रहा था। उस समय उसकी ओर देखना भी कठिन था। शूरवीर सूतपुत्र कर्ण का शरीर काल और अन्तक के समान सुशोभित हो रहा था।

इति महाभारते कर्णपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

अर्जुन द्वारा कौरव सेना का विध्वंस

सञ्जय उवाच

अर्जुनस्तु महाराज दृष्ट्वा कर्णं महारणे।
शोणितोदां महीं कृत्वा मांसमज्जास्थिपंकिलाम् ॥१॥
नदीं प्रवर्तयित्वा च बीभत्सुः परवीरहा।
वासुदेवमिदं वाक्यमब्रवीत् पुरुषर्षभः ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! अर्जुन ने उस महासमर में कर्ण को देखकर वहाँ रक्त की नदी बहा दी, जिसमें जल के स्थान में इस पृथिवी पर रक्त बह रहा था, मांस-मज्जा और अस्थियाँ [हड्डियाँ] कीचड़ का काम दे रही थीं। उस नदी को बहाकर शत्रुवीरों के संहारक पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहा—

अर्जुन उवाच

एष केतू रणे कृष्ण सूतपुत्रस्य दृश्यते।
भीमसेनादयश्चैते योधयन्ति महारथम् ॥३॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण! युद्धभूमि में यह सूतपुत्र कर्ण की ध्वजा दिखाई दे रही है। ये भीमसेनादि वीर महारथी कर्ण से युद्ध कर रहे हैं।

एते द्रवन्ति पाञ्चालाः कर्णत्रस्ता जनार्दन।
तत्र मे बुद्धिरुत्पन्ना वाहयात्र महारथम् ॥४॥

जनार्दन! ये पाञ्चाल योद्धा कर्ण से भयभीत होकर भाग रहे हैं। यहाँ मेरा ऐसा विचार हो रहा है कि आप मेरे इस विशाल रथ को वहीं हाँक ले चलें [जहाँ कर्ण खड़ा है]।

राधेयो ह्यन्यथा पार्थान् सृञ्जयांश्च महारथान्।
निःशेषान् समरे कुर्यात् पश्यतां नौ जनार्दन ॥५॥

जनार्दन! अन्यथा राधानन्दन कर्ण हमारे देखते-देखते पाण्डव तथा सृञ्जय महारथियों को युद्धभूमि में निःशेष कर देगा—किसी को जीवित नहीं छोड़ेगा।

ततः प्रायाद् रथेनाशु केशवस्तव वाहिनीम्।
कर्णं प्रति महेष्वासं द्वैरथे सव्यसाचिना ॥६॥

तब श्रीकृष्ण रथ के द्वारा शीघ्र ही सव्यसाची अर्जुन के साथ कर्ण का द्वैरथ युद्ध कराने के लिए आपकी सेना में महाधनुर्धर कर्ण की ओर चले।

तमायान्तं समीक्ष्यैव श्वेताश्वं कृष्णसारथिम्।
मद्रराजोऽब्रवीत् कर्णं केतुं दृष्ट्वा महात्मनः ॥७॥

श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, उस श्वेतवाहन अर्जुन को आते देख और उस महात्मा की ध्वजा पर दृष्टि-पात करके मद्रराज शल्य ने कर्ण से कहा—

अयं स रथ आयाति श्वेताश्वः कृष्णसारथिः।
निघ्नन्नमित्रान् समरे यं कर्ण परिपृच्छसि ॥८॥

"कर्ण! तुम जिसके विषय में पूछ रहे थे, वही यह श्वेत घोड़ोंवाला रथ, जिसके सारथि श्रीकृष्ण हैं, रणभूमि में शत्रुओं का संहार करता हुआ इधर ही आ रहा है।

एष तिष्ठति कौन्तेयः संस्पृशन् गाण्डिवं धनुः।
तं हनिष्यसि चेदद्य तन्नः श्रेयो भविष्यति ॥९॥

"ये कुन्तीपुत्र अर्जुन हाथ में गाण्डीव धनुष लिये हुए खड़े हैं। यदि तुम आज इन्हें मार डालोगे तो वह हम लोगों के लिए कल्याणकर होगा।

न तं पश्यामि लोकेऽस्मिंस्त्वत्तो ह्यन्यं धनुर्धरम्।
अर्जुनं समरे क्रुद्धं यो वेलामिव धारयेत् ॥१०

"कर्ण! इस संसार में मैं तुम्हारे अतिरिक्त दूसरे किसी धनुर्धर को ऐसा नहीं समझता, जो समुद्र में उठे हुए ज्वार के समान रणक्षेत्र में कुपित हुए अर्जुन को रोक सके।

न चास्य रक्षां पश्यामि पार्श्वतो न च पृष्ठतः।
एक एवाभियाति त्वां पश्य साफल्यमात्मनः ॥११॥

"मैं देखता हूँ कि अगल-बगल अथवा पीछे की ओर से उनकी रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया है। वे अकेले ही तुमपर धावा कर रहे हैं, अतः देखो, तुम्हें अपनी सफलता के लिए कैसा सु-अवसर हाथ लगा है।

त्वं हि कृष्णौ रणे शक्तः संसाधयितुमाहवे।
तवैव भारो राधेय प्रत्युद्याहि धनञ्जयम् ॥१२॥

"राधानन्दन! युद्धक्षेत्र में तुम्हीं श्रीकृष्ण और अर्जुन को परास्त करने की शक्ति रखते हो, तुम्हारे

ऊपर ही यह भार रखा गया है, अतः तुम अर्जुन को रोकने के लिए आगे बढ़ो।

समानो ह्यसि भीष्मेण द्रोणद्रौणिकृपेण च।
सव्यसाचिनमायान्तं निवारय महारणे ॥१३॥

"तुम भीष्म, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य के समान पराक्रमी हो, इसलिए इस महायुद्ध में आक्रमण करते हुए सव्यसाची अर्जुन को रोको।

कर्ण उवाच

प्रकृतिस्थोऽसि मे शल्य इदानीं सम्मतस्तथा।
प्रतिभासि महाबाहो मा भैषीस्त्वं धनञ्जयात् ॥१४॥

कर्ण बोला—शल्य ! इस समय तुम अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो तथा मुझसे सहमत प्रतीत होते हो। महाबाहो ! तुम अर्जुन से डरो मत।

पश्य बाह्वोर्बलं मेऽद्य शिक्षितस्य च पश्य मे।
एकोऽद्य निहनिष्यामि पाण्डवानां महाचमूम् ॥१५॥

आज तुम मेरी इन दोनों भुजाओं का बल देखो और मेरी शिक्षा की शक्ति पर भी दृष्टिपात करो। आज मैं अकेला ही पाण्डवों की विशाल सेना का संहार कर डालूँगा।

कृष्णौ च पुरुषव्याघ्र ततः सत्यं ब्रवीमि ते।
नाहत्वा युधि तौ वीरौ व्यपयास्ये कथञ्चन ॥१६॥

पुरुषसिंह ! तुमसे सच्ची बात कहता हूँ कि रणभूमि में उन दोनों वीरों [श्रीकृष्ण और अर्जुन] का वध किये बिना मैं किसी भी प्रकार पीछे नहीं हटूँगा।

स्वप्स्ये वा निहतस्ताभ्यामनित्यो हि रणे जयः।
कृतार्थोऽद्य भविष्यामि हत्वा वाप्यथवा हतः ॥१७

अथवा उन्हीं दोनों के हाथों मारा जाकर सदा के लिए सो जाऊँगा, क्योंकि रण में विजय अनिश्चित होती है। आज मैं उन दोनों को मारकर अथवा उनके द्वारा मारा जाकर सर्वथा कृतार्थ हो जाऊँगा।

सञ्जय उवाच

तं प्रयान्तं महावेगैरश्वैः कपिवरध्वजम्।
युद्धायाभ्यद्रवन् वीराः कुरूणां नवती रथाः ॥१८॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! [उधर शल्य और कर्ण में इस प्रकार वार्तालाप हो ही रहा था, इधर] जिनकी ध्वजा में श्रेष्ठ वानर का चिह्न है, उन वीर अर्जुन को महावेगशाली अश्वों द्वारा आगे बढ़ते देख कौरव-दल के नव्वे वीर रथियों ने युद्ध के लिए उनपर आक्रमण किया।

कृत्वा संशप्तका घोरं शपथं पारलौकिकम्।
परिवव्रुर्नरव्याघ्रा नरव्याघ्रं रणेऽर्जुनम् ॥१९॥

उन नरव्याघ्र संशप्तक वीरों ने परलोक-सम्बन्धी घोर शपथ खाकर पुरुषसिंह अर्जुन को रणभूमि में चारों ओर से घेर लिया।

त्वरमाणाँस्तु तान् सर्वान् ससूतेष्वसनध्वजान्।
जघान नवतिं वीरानर्जुनो निशितैः शरैः ॥२०॥

तब सारथि, धनुष और ध्वजसहित उतावली के साथ आक्रमण करनेवाले उन सभी नव्वे वीरों को अर्जुन ने अपने पैने बाणों द्वारा मार गिराया।

ततः सरथनागाश्वाः कुरवः कुरुसत्तमम्।
निर्भया भरतश्रेष्ठमभ्यवर्तन्त फाल्गुनम् ॥२१॥

उन नव्वे वीरों के धराशायी हो जाने पर रथ, हाथी और घोड़ोंसहित बहुत-से कौरव वीर निर्भय हो भरतभूषण कुरुश्रेष्ठ अर्जुन का सामना करने के लिए चढ़ आये।

कर्णिनालीकनाराचैस्तोमरप्रासशक्तिभिः।
मुसलैर्भिन्दिपालैश्च रथस्थं पार्थमार्दयन् ॥२२॥

उन्होंने रथ पर बैठे हुए अर्जुन को कर्णी, नालीक, नाराच, तोमर, मुसल, प्रास, भिन्दिपाल और शक्तियों द्वारा गहरी चोट पहुँचाई।

ततो गाण्डीवनिर्घोषो महानासीद् विशाम्पते।
स्तनतां कूजतां चैव मनुष्यगजवाजिनाम् ॥२३॥

प्रजेश्वर ! फिर तो गाण्डीव धनुष की टंकार वहाँ बड़े जोर-जोर से सुनाई देने लगी। साथ ही चिंघाड़ते और आर्तनाद करते हुए हाथियों, मनुष्यों और घोड़ों की ध्वनि भी वहाँ गूँज उठी।

कुञ्जराश्च हता राजन् दुद्रुवुस्ते समन्ततः।
अश्वाश्च पर्यधावन्त हतारोहा दिशो दश ॥२४॥

राजन् ! उस समय घायल हाथी सब ओर भागने लगे। जिनके सवार मार दिये गये थे, वे घोड़े भी दसों दिशाओं में दौड़ लगाने लगे।

रथा हीना महाराज रथिभिर्वाजिभिस्तथा।
गन्धर्वनगराकारा दृश्यन्ते स्म सहस्रशः ॥२५॥

हे महाराज ! गन्धर्वनगरों के समान सहस्रों विशाल रथ रथियों और घोड़ों से हीन दिखाई देने लगे।

तस्मिन् क्षणे पाण्डवस्य बाह्वोर्बलमदृश्यत ।
यत् सादिनो वारणांश्च रथांश्चैकोऽजयद् युधि ॥२६॥

राजन् ! उस समय पाण्डुनन्दन अर्जुन की भुजाओं का बल देखा गया, उन्होंने अकेले ही युद्ध में रथों, सवारों और हाथियों को भी परास्त कर दिया।

दृष्ट्वा परिवृतं राजन् भीमसेनः किरीटिनम् ।
जवेनाभ्यद्रवच्छीघ्रं धनञ्जयरथं प्रति ॥२७॥

राजन् ! अर्जुन को चारों ओर से घिरा हुआ देखकर भीमसेन उतावली के साथ बड़े वेग से धनञ्जय के रथ की ओर दौड़े।

गदापाणिं ततो भीमं दृष्ट्वा भारत तावकाः ।
मेनिरे समनुप्राप्तं कालदण्डोद्यतं यमम् ॥२८॥

हे भारत ! भीमसेन को गदा हाथ में लिये देख आपके सैनिक उसे कालदण्ड लेकर आया हुआ यमराज ही मानने लगे।

ततः पराङ्मुखप्रायं निरुत्साहं बलं तव ।
व्यालम्बत महाराज प्रायशः शस्त्रवेष्टितम् ॥२९॥

महाराज ! उस समय भीमसेन और अर्जुन के अस्त्र-शस्त्रों से घिरी हुई आपकी अधिकांश सेना उत्साहशून्य, युद्ध-विमुख और जड़वत् हो गई।

विलम्बमानं तत् सैन्यमप्रगल्भमवस्थितम् ।
दृष्ट्वा प्राच्छादयद् बाणैरर्जुनः प्राणतापनैः ॥३०॥

उस सेना को जड़वत् एवं उद्योगशून्य हुई देख अर्जुन ने उसे प्राणों को सन्तप्त कर देनेवाले बाणों द्वारा आच्छादित कर दिया।

तं दृष्ट्वा कुरवस्तत्र विक्रान्तं सव्यसाचिनम् ।
निराशा समपद्यन्त सर्वे कर्णस्य जीविते ॥३१॥

सव्यसाची अर्जुन को इस प्रकार पराक्रम प्रकट करते देख समस्त कौरव सैनिक कर्ण के जीवन से निराश हो गये।

अविषह्यं तु पार्थस्य शरसम्पातमाहवे ।
मत्वा न्यवर्तन् कुरवो जिता गाण्डीवधन्वना ॥३२॥

गाण्डीवधारी अर्जुन के द्वारा परास्त हुए कौरव योद्धा रणभूमि में उनकी बाणवर्षा को अपने लिए असह्य मानकर युद्ध से पीछे हटने लगे।

प्रद्रुतान्तान्कुरून्दृष्ट्वा कर्णः शस्त्रभृतां वरः ।
संचिन्तयित्वा पार्थस्य वधे दध्रे मनः श्वसन् ॥३३॥

शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ कर्ण ने कौरव-सैनिकों को भागते देख खूब सोच-विचारकर लम्बी साँस लेते हुए मन-ही-मन अर्जुन के वध का निश्चय किया।

विस्फार्य सुमहच्चापं ततश्चाधिरथिर्वृषः ।
पाञ्चालान् पुनराधावत् पश्यतः सव्यसाचिनः ॥३४॥

तब धर्मात्मा सूतपुत्र कर्ण ने अपने विशाल धनुष को खींचकर अर्जुन के देखते-देखते पुनः पाञ्चाल योद्धाओं पर धावा किया।

ततः क्षणेन क्षितिपाः क्षतजप्रतिमेक्षणाः ।
कर्णं ववर्षुर्बाणौघैर्यथा मेघा महीधरम् ॥३५॥

यह देख पाञ्चालनरेशों के नेत्र क्रोध से लाल हो गये। जैसे बादल पर्वत पर पानी बरसाते हैं, वैसे ही वे भी क्षणभर में कर्ण पर बाणसमूहों की वर्षा करने लगे।

ततः शरसहस्राणि कर्णमुक्तानि मारिष ।
व्ययोजयन्त पाञ्चालान् प्राणैः प्राणभृतां वर ॥३६॥

प्राणधारियों में श्रेष्ठ माननीय नरेश ! तब कर्ण के छोड़े हुए सहस्रों बाण पाञ्चालों को प्राणहीन करने लगे।

इति महाभारते कर्णपर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशोऽध्यायः

भीमसेन द्वारा दुःशासन का रक्तपान और उसका वध

सञ्जय उवाच

तथागते भीममभीस्तवात्मजः
ससार राजावरजः किरञ्शरैः।
तमभ्यधावत् त्वरितो वृकोदरो
महारुरुं सिंह इवाभिपेदिवान् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! इस प्रकार जब वह भयंकर युद्ध चल रहा था, उसी समय राजा दुर्योधन का छोटा भाई आपका पुत्र दुःशासन निर्भय हो बाणों की वर्षा करता हुआ भीमसेन पर चढ़ आया। उसे देखते ही भीमसेन भी बड़ी उतावली के साथ उसकी ओर दौड़े और जिस प्रकार सिंह महारुरु नामक मृग पर आक्रमण करता है, उसी प्रकार उसके पास जा पहुँचे।

ततस्तयोर्युद्धमतीव दारुणं
प्रदीव्यतोः प्राणदुरोदरं द्वयोः।
परस्परेणाभिनिविष्टरोषयो-
रुदग्रयोः शम्बरशक्रयोर्यथा ॥२॥

उन दोनों के मन में एक-दूसरे के प्रति महान् रोष भरा हुआ था। दोनों ही प्राणों की बाजी लगाकर अति भयंकर युद्ध का जुआ खेल रहे थे। उन प्रचण्ड शूरवीरों का वह युद्ध शम्बरासुर और इन्द्र के समान हो रहा था।

क्रुद्धस्ततो भीमसेनस्तरस्वी
शक्तिं चोग्रां प्राहिणोत् ते सुताय।
आकर्णपूर्णैरिषुभिर्महात्मा
चिच्छेद पुत्रो दशभिः पृषत्कैः ॥३॥

युद्ध करते हुए क्रोध में भरे वेगशाली भीमसेन ने आपके पुत्र पर एक भयंकर शक्ति छोड़ी, परन्तु आपके महामनस्वी पुत्र दुःशासन ने कान तक खींचकर छोड़े हुए दस बाणों द्वारा उसे काट गिराया।

अथाशु भीमं च शरेण भूयो
गाढं स विव्याध सुतस्त्वदीयः।
चुक्रोध भीमः पुनराशु तस्मै
भृशं प्रजज्वाल रुषाभिवीक्ष्य ॥४॥

तत्पश्चात् आपके पुत्र ने तुरन्त एक बाण मारकर भीमसेन को गहरी चोट पहुँचायी। इससे भीम को बड़ा क्रोध आया। वे उसकी ओर देखकर तुरन्त क्रोध से प्रज्वलित हो उठे।

विद्धोऽस्मि वीराशु भृशं त्वयाद्य
सहस्व भूयोऽपि गदाप्रहारम्।
उक्त्वैवमुच्चैः कुपितोऽथ भीमो
जग्राह तां भीमगदां वधाय ॥५॥

"वीर! तूने आज मुझे शीघ्रतापूर्वक बाण मारकर अत्यन्त घायल कर दिया, परन्तु स्वयं भी मेरी गदा का प्रहार सहन कर"—उच्च स्वर से ऐसा कहकर कुपित हुए भीमसेन ने दुःशासन के वध के लिए एक भयंकर गदा हाथ में ले ली।

उवाच चाद्याहमहं दुरात्मन्
पास्यामि ते शोणितमाजिमध्ये।
अथैवमुक्तस्तनयस्तवोग्रां
शक्तिं वेगात् प्राहिणोन्मृत्युरूपाम् ॥६॥

फिर वे इस प्रकार बोले—"दुरात्मन्! आज इस संग्राम में मैं तेरा रक्तपान करूँगा।" भीमसेन के ऐसा कहते ही आपके पुत्र ने उनपर बड़े वेग से एक भयंकर शक्ति चलाई, जो मृत्युरूप जान पड़ती थी।

आविध्य भीमोऽपि गदां सुघोरां
विचिक्षिपे रोषपरीतमूर्तिः।
सा तस्य शक्तिं सहसा विरुज्य
प्राताडयत्तं समरे सुमूर्ध्नि ॥७॥

इधर रोष में भरे हुए भीमसेन ने भी अपनी अत्यन्त घोर गदा घुमाकर फेंकी। वह गदा युद्धभूमि में दुःशासन की उस शक्ति को खण्ड-खण्ड करती हुई सहसा उसके मस्तक में जा लगी।

तया हतः पतितो वेपमानो
दुःशासनो गदया वेगवत्या।
विध्वस्तवर्माभरणाम्बरस्रग्
विचेष्टमानोऽतिवेदनातुरः ॥८॥

दुःशासन उस वेगवती गदा के आघात से धरती पर गिरकर काँपने और अत्यन्त वेदना से व्याकुल हो छटपटाने लगा। उसका कवच टूट गया, आभूषण और हार बिखर गये तथा कपड़े फट गये थे।

भीमोऽपि वेगादवतीर्य यानाद्
दुःशासनं वेगवानभ्यधावत्।
ततः स्मरन् भीमसेनस्तरस्वी
सापत्नकं यच्च कृतं सुतैस्ते ॥९॥

फिर भीमसेन भी शीघ्रतापूर्वक रथ से उतरकर बड़े वेग से दुःशासन की ओर दौड़े। उस समय वेगशाली भीमसेन को आपके पुत्रों द्वारा किये गये शत्रुतापूर्ण दुर्व्यवहार स्मरण आने लगे थे।

स्मृत्वाथ केशग्रहणं च देव्या
वस्त्रापहारं च रजस्वलायाः।
जज्वाल क्रोधादथ भीमसेन
आज्यप्रसिक्तो हि यथा हुताशः ॥१०॥

दुःशासन द्वारा द्रौपदी के केश पकड़ना और भरी सभा में उस रजस्वला के वस्त्रों को खींचने की बात स्मरण करके भीमसेन घृत-आहुति से प्रज्वलित हुई अग्नि के समान क्रोध से जल उठे।

तत्राह कर्णं च सुयोधनं च
द्रौणिं कृपं कृतवर्माणमेव।
निहन्मि दुःशासनमद्य पापं
संरक्ष्यतामद्य समस्तयोधाः ॥११॥

उन्होंने वहाँ कर्ण, दुर्योधन, कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्मा को सम्बोधित करके कहा—"आज मैं पापी दुःशासन को मार डालता हूँ। तुम समस्त योद्धा मिलकर उसकी रक्षा कर सकते हो तो करो।

तथा तु विक्रम्य रणे स भीमः
महागजं केसरिको यथैव।
निगृह्य दुशासनमेकवीरः
सुयोधनस्याधिरथेः समक्षम् ॥१२॥

उन्होंने युद्ध में पराक्रम द्वारा दुर्योधन एवं कर्ण के सामने ही दुःशासन को उसी प्रकार धर दबाया, जैसे सिंह किसी विशाल हाथी पर आक्रमण कर रहा हो।

असिं समुद्यम्य सितं सुधारं
कण्ठे पदाऽऽक्रम्य च वेपमानम्।
उवाच तद्गौरिति यद् ब्रुवाणो
हृष्टो वदेः कर्णसुयोधनाभ्याम् ॥१३॥
ये राजसूयावभृथे पवित्रा
जाताः कचा याज्ञसेन्या दुरात्मन्।
ते पाणिना कतरेणावकृष्टा-
स्तद् ब्रूहि त्वां पृच्छति भीमसेनः ॥१४॥

उन्होंने उत्तम धारवाली श्वेत तलवार उठा ली और उसके गले पर लात मारी। उस समय दुःशासन थर-थर काँप रहा था। वे उससे इस प्रकार बोले—"दुरात्मन्! स्मरण है न वह दिन, जब तुमने कर्ण और दुर्योधन के साथ बड़े हर्ष में भरकर मुझे 'बैल' कहा था। राजसूय यज्ञ में अवभृथ स्नान से पवित्र हुए महारानी द्रौपदी के केश तूने किस हाथ से खींचे थे? बता, आज भीमसेन तुझसे यह पूछता और इसका उत्तर चाहता है।"

श्रुत्वा तु तद् भीमवचः सुघोरं
दुःशासनो भीमसेनं निरीक्ष्य।
उक्तस्तदाऽऽजौ स तथा सरोषं
जगाद भीमं परिवर्तनेत्रः ॥१५॥

भीमसेन का यह अत्यन्त भयंकर वचन सुनकर दुःशासन ने उनकी ओर देखा। युद्धस्थल में उनके वैसा कहने पर उसकी त्यौरी बदल गई थी, अतः वह रोषपूर्वक बोला—

अयं करिकराकारः क्षत्रियान्तकरः करः।
अनेन याज्ञसेन्या मे भीम केशा विकर्षिताः ॥१६॥

"भीमसेन! यह है हाथी की सूँड के समान मोटा मेरा हाथ जो क्षत्रियों का नाश करनेवाला है। इसी हाथ से मैंने द्रौपदी के केश खींचे थे।

एवं त्वसौ राजसुतं निशम्य
ब्रुवन्तमाजौ विनिपीड्य वक्षः।
भीमो बलात्तं प्रतिगृह्य दोर्भ्या-
मुच्चैर्ननादथ समस्तयोधान् ॥१७॥
उवाच यस्यास्ति बलं स रक्ष-
त्वसौ भवेदद्य निरस्तबाहुः।
दुःशासनं जीवितं प्रोत्सृजन्त-
माक्षिप्य योधाँस्तरसा महाबलः ॥१८॥
एवं क्रुद्धो भीमसेनः करेण
उत्पाटयामास भुजं महात्मा।

दुःशासनं तेन स वीरमध्ये
जघान वज्राशनिसंनिभेन ॥१९॥

रणभूमि में ऐसी बात कहते हुए राजकुमार दुःशासन की छाती पर चढ़कर भीमसेन ने उसे दोनों हाथों से बलपूर्वक पकड़ लिया और उच्च स्वर से सिंहनाद करते हुए समस्त योद्धाओं से कहा—"आज दुःशासन की भुजा उखाड़ी जा रही है। यह अब अपने प्राणों को त्यागना ही चाहता है। जिसमें बल हो, वह आकर इसे मेरे हाथ से बचा ले।" इस प्रकार समस्त योद्धाओं को ललकारकर महाबली, महा-मनस्वी क्रुद्ध भीमसेन ने एक ही हाथ से वेगपूर्वक दुःशासन की बाँह उखाड़ ली। उसकी वह बाँह वज्र के समान कठोर थी। भीमसेन समस्त योद्धाओं के मध्य उसी के द्वारा उसे पीटने लगे।

उत्कृत्य वक्षः पतितस्य भूमा-
वथापिबच्छोणितमस्य कोष्णम्।
ततो निपात्यास्य शिरोऽपकृत्य
तेनासिना तव पुत्रस्य राजन् ॥२०॥
सत्यां चिकीर्षुर्मतिमान् प्रतिज्ञां
भीमोऽपिबच्छोणितमस्य कोष्णम्।
आस्वाद्य चास्वाद्य च वीक्षमाणः
क्रुद्धो हि चैनं निजगाद वाक्यम् ॥२१॥

तत्पश्चात् भीमसेन धरती पर पड़े हुए दुःशासन की छाती फाड़कर उसका गर्म-गर्म रक्त पीने का उपक्रम करने लगे। राजन्! उठने का प्रयत्न करते हुए दुःशासन को पुनः गिराकर बुद्धिमान् भीमसेन ने अपनी प्रतिज्ञा सत्य करने के लिए तलवार से आपके पुत्र का मस्तक काट डाला और उसके कुछ-कुछ गर्म रक्त को वे स्वाद ले-लेकर पीने लगे। फिर क्रोध में भरकर उसकी ओर देखते हुए इस प्रकार बोले—

स्तन्यस्य मातुर्मधुसर्पिषोर्वा
माध्वीकपानस्य च सत्कृतस्य।
दिव्यस्य वा तोयरसस्य पानात्
पयोदधिभ्यां मथिताच्च मुख्यात् ॥२२॥
अन्यानि पानानि च यानि लोके
सुधामृतस्वादुरसानि तेभ्यः।
सर्वेभ्य एवाभ्यधिको रसोऽयं
ममाद्य चास्याहितलोहितस्य ॥२३॥

मैंने माता के दूध का, मधु और घी का, अच्छी प्रकार तैयार किये हुए मधूक पुष्पनिर्मित पेय पदार्थ का, दिव्य जल के रस का, दूध और दही से बिलोये हुए ताजा मक्खन का भी पान या रसास्वादन किया है, इन सबसे तथा इनके अतिरिक्त भी संसार में जो अमृत के समान स्वादिष्ट पीने योग्य पदार्थ हैं, उन सबसे भी मेरे इस शत्रु के रक्त का स्वाद अधिक है।

ये भीमसेनं ददृशुस्तदानीं
दौःशासनं तद् रुधिरं पिबन्तम्।
सर्वेऽपलायन्त भयाभिपन्ना
न वै मनुष्योऽयमिति ब्रुवाणाः ॥२४॥

उस समय जिन लोगों ने भीमसेन को दुःशासन का रक्तपान करते देखा, वे सभी भयभीत हो यह कहते हुए सब ओर भागने लगे कि "यह मनुष्य नहीं राक्षस है।"

भीमोऽपि हत्वा तत्रैव दुःशासनममर्षणम्।
शृण्वतां लोकवीराणामिदं वचनमब्रवीत् ॥२५॥

इधर भीमसेन भी अमर्ष में भरे हुए दुःशासन का वध करके विश्वविख्यात वीरों के वचन सुनते हुए इस प्रकार बोले—

दुःशासने यद् रणे संश्रुतं मे
तद् वै सत्यं कृतमद्येह वीराः।
अत्रैव दास्याम्यपरं द्वितीयं
दुर्योधनं यज्ञपशुं विशस्य ॥२६॥
शिरो मृदित्वा च पदा दुरात्मनः
शान्ति लप्स्ये कौरवाणां समक्षम्।
एतावदुक्त्वा वचनं प्रहृष्टो
ननाद चौच्चै रुधिरार्द्रगात्रः ॥२७॥

"वीरो! दुःशासन के विषय में मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसे आज यहाँ युद्धभूमि में सत्य कर दिखाया है। यहीं दूसरे यज्ञपशु दुर्योधन को काटकर उसकी बलि प्रदान करूँगा और समस्त कौरवों की आँखों के सामने उस दुरात्मा के मस्तक को पैर से कुचलकर शान्ति प्राप्त करूँगा।" ऐसा कहकर रक्त से लथपथ शरीरवाले प्रसन्नचित्त भीमसेन उच्च स्वर से गर्जना और सिंहनाद करने लगे।

इति महाभारते कर्णपर्वणि विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशोऽध्यायः

कर्ण का भय, शल्य का उसे आश्वासन देना, नकुल और वृषसेन का युद्ध तथा अर्जुन द्वारा उसका वध

सञ्जय उवाच

दुःशासने तु निहते पुत्रास्तवापलायिनः ।
दश राजन् महावीर्या भीमं प्राच्छादयञ्शरैः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! दुःशासन के मारे जाने पर युद्ध से कभी पीठ न दिखानेवाले आपके दस महापराक्रमी पुत्रों ने आकर भीमसेन को अपने बाणों द्वारा ढक दिया ।

तांस्तु भल्लैर्महावेगैर्दशभिर्दश भारतान् ।
रुक्माङ्गदान् रुक्मपुंखैः पार्थो निन्ये यमक्षयम् ॥२॥

फिर तो कुन्तीकुमार भीमसेन ने सोने के पंखवाले महान् वेगशाली दस भल्लों द्वारा सुवर्णमय अङ्गदों से विभूषित उन दसों भरतवंशी राजकुमारों को यमलोक पठा दिया ।

हतेषु तेषु वीरेषु प्रदुद्राव बलं तव ।
पश्यतः सूतपुत्रस्य पाण्डवस्य भयार्दितम् ॥३॥

उन वीरों के मारे जाने पर पाण्डुपुत्र भीमसेन के भय से पीड़ित हो आपकी सारी सेना सूतपुत्र के देखते-देखते भाग खड़ी हुई ।

ततः कर्णं महाराज प्रविवेश महद् भयम् ।
दृष्ट्वा भीमस्य विक्रान्तमन्तकस्य प्रजास्विव ॥४॥

महाराज ! जैसे प्रजावर्ग पर यमराज का बल काम करता है, उसी प्रकार भीमसेन का वह पराक्रम देखकर कर्ण के मन में महान् भय समा गया ।

तस्य त्वाकारभावज्ञः शल्यः समितिशोभनः ।
उवाच वचनं कर्णं प्राप्तकालमरिन्दमम् ॥५॥

युद्ध में शोभा पानेवाले शल्य कर्ण की आकृति देखकर ही उसके मन के भाव को ताड़ गये, अतः वे शत्रुदमन कर्ण से यह समयोचित वचन बोले—

मा व्यथां कुरु राधेय नैवं त्वय्युपपद्यते ।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य प्रत्युद्याहि धनञ्जयम् ॥६॥

"राधानन्दन ! तुम खेद मत करो, तुम्हें यह शोभा नहीं देता । तुम क्षत्रियधर्म को सामने रखते हुए अर्जुन पर चढ़ाई करो ।

भारो हि धार्तराष्ट्रेण त्वयि सर्वः समाहितः ।
तमुद्वह महाबाहो यथाशक्ति यथाबलम् ।
जये स्याद् विपुला कीर्तिर्ध्रुवः स्वर्गः पराजये ॥७॥

"महाबाहो ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन ने सारा भार तुम्हीं पर रख छोड़ा है । तुम अपने बल और शक्ति के अनुसार उस भार का वहन करो । यदि विजय हुई तो तुम्हारी बड़ी कीर्ति फैलेगी और पराजय होने पर अक्षय स्वर्ग की प्राप्ति निश्चित है ।

वृषसेनश्च राधेय संक्रुद्धस्तनयस्तव ।
त्वयि मोहं समापन्ने पाण्डवानभिधावति ॥८॥

"राधानन्दन ! तुम्हारे मोहग्रस्त हो जाने के कारण तुम्हारा पुत्र वृषसेन अत्यन्त क्रुद्ध होकर पाण्डवों पर आक्रमण कर रहा है ।"

एतत् श्रुत्वा तु वचनं शल्यस्यामिततेजसः ।
हृदि चावश्यकं भावं चक्रे युद्धाय सुस्थिरम् ॥९॥

अमित तेजस्वी शल्य की यह बात सुनकर कर्ण ने अपने हृदय में युद्ध के लिए आवश्यक भाव [उत्साह, अमर्ष आदि] को दृढ़ किया ।

ततः क्रुद्धो वृषसेनोऽभ्यधाव-
दवस्थितं प्रमुखे पाण्डवं तम् ।
वृकोदरं कालमिवात्तदण्डं
गदाहस्तं योधयन्तं त्वदीयान् ॥१०॥

उधर क्रोध में भरे हुए वृषसेन ने सामने खड़े हुए पाण्डुपुत्र भीमसेन पर धावा किया, जो दण्डधारी काल के समान हाथ में गदा लिये आपके सैनिकों के साथ युद्ध कर रहा था ।

तमभ्यधावन्नकुलः प्रवीरो
रोषादमित्रं प्रतुदन् पृषत्कैः ।
कर्णस्य पुत्रं समरे प्रहृष्टं
पुरा जिघांसुर्मघवेव जम्भम् ॥११॥

यह देख प्रमुख वीर नकुल ने अपने शत्रु कर्णपुत्र वृषसेन को, जो रणभूमि में अति हर्ष के साथ युद्ध कर रहा था, बाणों द्वारा पीड़ित करते हुए उसपर रोषपूर्वक आक्रमण किया । ठीक वैसे ही, जैसे प्राचीन काल में इन्द्र ने 'जम्भ' पर चढ़ाई की थी ।

तमापतन्तं नकुलं प्रपत्य
शरैः समन्तात्तमभिप्रविध्यत् ।
स तुद्यमानो नकुलः पृषत्कैर्
विव्याध वीरं स चुकोप विद्धः ॥१२॥

अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले नकुल के पास पहुँचकर वृषसेन ने अपने सायकों द्वारा उन्हें सब ओर से बींध डाला । बाणों से पीड़ित हुए नकुल अत्यन्त कुपित हो उठे और स्वयं घायल होने पर उन्होंने वीर वृषसेन को भी बींध डाला ।

ततः किरीटी परवीरघाती
हताश्वमालोक्य नरप्रवीरः ।
माद्रीसुतं नकुलं लोकमध्ये
समभ्यधावद् वृषसेनमाजौ ॥१३॥

उधर शत्रुवीरों का संहार करनेवाले मानवलोक के प्रमुख वीर किरीटधारी अर्जुन ने समस्त सेनाओं के बीच रणभूमि में माद्रीकुमार नकुल के घोड़ों को वृषसेन द्वारा मारा गया देख उसपर धावा किया ।

तमापतन्तं नरवीरमुत्तमं
महाहवे बाणसहस्रधारिणम् ।
अभ्यापतत् कर्णसुतो महारथं
यथा महेन्द्रं नमुचिः पुरा तथा ॥१४॥

महायुद्ध में सहस्रों बाणों को धारण करनेवाले सर्वोत्तम नरवीर महारथी अर्जुन को अपनी ओर आते देख कर्णपुत्र वृषसेन भी उनकी ओर उसी प्रकार दौड़ा, जैसे पूर्वकाल में नमुचि ने देवराज इन्द्र पर आक्रमण किया था ।

ततो द्रुतं चैकशरेण पार्थं
शितेन विद्ध्वा युधि कर्णपुत्रः ।
ननाद नादं सुमहानुभावो
विद्ध्वेव शक्रं नमुचिः प्रवीरः ॥१५॥

फिर महानुभाव कर्णपुत्र वीर वृषसेन रणभूमि में कुन्तीनन्दन अर्जुन को तुरन्त ही एक तीखे तीर से घायल करके बड़े जोर-जोर से गर्जना करने लगा । ठीक वैसे ही, जैसे नमुचि ने इन्द्र को बींधकर सिंह-नाद किया था ।

ततः किरीटी रणमूर्ध्नि कोपात्
कृत्वा त्रिशाखां भ्रुकुटिं ललाटे ।
मुमोच तूर्णं विशिखान् महात्मा
उवाच कर्णं भृशमुत्स्मयंश्च ॥१६॥
दुर्योधनं द्रौणिमुखांश्च सर्वा-
नहं रणे वृषसेनं तमुग्रम् ।
सम्पश्यतः कर्ण तवाद्य संख्ये
नयामि लोकं निशितैः पृषत्कैः ॥१७॥

तब किरीटधारी महात्मा अर्जुन ने युद्धस्थल में अपने ललाट में स्थित भौंहों को क्रोधपूर्वक तीन स्थानों से टेढ़ी करके शीघ्रतापूर्वक वृषसेन पर बाणों का प्रहार किया । उस समय उन्होंने मुस्कराते हुए वहाँ कर्ण, दुर्योधन और अश्वत्थामा आदि सब वीरों को लक्ष्य करके कहा—"कर्ण ! आज रणभूमि में मैं तुम्हारे देखते-देखते इस उग्रपराक्रमी वीर वृषसेन को अपने पैने बाणों द्वारा यमलोक भेज रहा हूँ ।

ऊचुं च तावद्धि जना वदन्ति
हतो भवद्भिर्मम वीरपुत्रः ।
एको रथो मद्विहीनस्तरस्वी
अहं हनिष्ये भवतां समक्षम् ॥१८॥

"मेरा वेगशाली वीर पुत्र महारथी अभिमन्यु अकेला था । मैं उसके साथ नहीं था । उस अवस्था में तुम सब लोगों ने मिलकर उसका वध किया था । तुम्हारे उस कर्म को सब लोग खोटा बताते हैं, परन्तु आज मैं तुम सब लोगों के सामने वृषसेन का वध करूँगा ।"

स एवमुक्त्वा विनिमृज्य चापं
लक्ष्यं हि कृत्वा वृषसेनमाजौ ।
ससर्ज बाणान् विशिखान् महात्मा
हन्तुं नृप कर्णसुतञ्च संख्ये ॥१९॥

राजन् ! ऐसा कहकर महात्मा अर्जुन ने अपने धनुष को पोंछा और कर्णपुत्र वृषसेन का वध करने के लिए युद्ध में उसी को लक्ष्य बनाकर बाणों का प्रहार किया ।

विव्याध चैनं दशभिः पृषत्कैर्
मर्मस्वशङ्कं प्रहसन् किरीटी ।
चिच्छेद चास्येष्वसनं भुजौ च
क्षुरैश्चतुर्भिर्निशितैः शिरश्च ॥२०॥

किरीटधारी अर्जुन ने हँसते हुए-से दस बाणों से

उसके मर्मस्थानों में निर्भीक होकर आघात किया। फिर चार तीखे छुरों से उसके धनुष को, दोनों भुजाओं को और मस्तक को भी काट डाला।

स पार्थबाणाभिहतः पपात
रथाद् विबाहुर्विशिरा धरायाम्।
सुपुष्पितो वृक्षवरोऽतिकायो
वातेरितः शाल इवाद्रिश्रृङ्गात् ॥२१॥

अर्जुन के बाणों से आहत बाहु और मस्तक से रहित होकर वृषसेन उसी प्रकार रथ से नीचे गिर पड़ा, जैसे सुन्दर फूलों से भरा हुआ श्रेष्ठ एवं विशाल शालवृक्ष हवा के झोंके खाकर पर्वतशिखर से नीचे आ गिरा हो।

इति महाभारते कर्णपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

कर्ण और अर्जुन का द्वैरथयुद्ध में समागम, कर्ण का शल्य से और अर्जुन का श्रीकृष्ण से वार्तालाप

सञ्जय उवाच

वृषसेनं हतं दृष्ट्वा शोकामर्षसमन्वितः।
पुत्रशोकोद्भवं वारि नेत्राभ्यां समवासृजत् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! जब कर्ण ने वृषसेन को मारा गया देखा, तब वह शोक और अमर्ष के वशीभूत हो अपने दोनों नेत्रों से पुत्र-शोकजनित आँसू बहाने लगा।

कर्णो रथेन तेजस्वी जगामाभिमुखो रिपुम्।
युद्धायामर्षताम्राक्षः समाहूय धनञ्जयम् ॥२॥

फिर तेजस्वी कर्ण लाल आँखें करके अपने शत्रु धनञ्जय को युद्ध के लिए ललकारता हुआ रथ के द्वारा उनके समक्ष आया।

तौ रथौ सूर्यसंकाशौ वैयाघ्रपरिवारितौ।
समेतौ ददृशुस्तत्र द्वाविवार्कौ समुद्गतौ ॥३॥

व्याघ्रचर्म से मण्डित और सूर्य के समान तेजस्वी वे दोनों रथ जब आमने-सामने हुए तब लोगों ने वहाँ उन्हें इस प्रकार देखा, मानो दो सूर्य उदित हुए हों।

दृष्ट्वा तु द्वैरथं ताभ्यां तत्र योद्धाः सहस्रशः।
चक्रुर्बाहुस्वनांश्चैव तथा चैलावधूननम् ॥४॥

उन दोनों वीरों का द्वैरथ युद्ध प्रस्तुत होते देख वहाँ खड़े सहस्रों योद्धा अपनी भुजाओं पर ताल ठोकने और वस्त्र हिलाने लगे।

आजघ्नुः कुरवस्तत्र वादित्राणि समन्ततः।
कर्णं प्रहर्षयन्तश्च शंखान् दध्मुश्च सर्वशः ॥५॥

तत्पश्चात् कर्ण का हर्ष बढ़ाने के लिए कौरव-सैनिक वहाँ सब ओर बाजे बजाने और शंखध्वनि करने लगे।

तथैव पाण्डवाः सर्वे हर्षयन्तो धनञ्जयम्।
तूर्यशंखनिनादेन दिशः सर्वा व्यनादयन् ॥६॥

इसी प्रकार समस्त पाण्डव भी अर्जुन का हर्ष बढ़ाते हुए वाद्यों और शंखों की ध्वनि से सम्पूर्ण दिशाओं को प्रतिध्वनित करने लगे।

सिंहस्कन्धौ दीर्घभुजौ रक्ताक्षौ हेममालिनौ।
प्रभिन्नाविव मातङ्गौ व्यूढोरस्कौ महाबलौ ॥७॥
देवगर्भौ देवबलौ देवतुल्यौ च रूपतः।
यदृच्छया समायातौ सूर्याचन्द्रमसौ यथा ॥८॥
तौ दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रौ शार्दूलाविव धिष्ठितौ।
बभूव परमो हर्षस्तावकानां विशाम्पते ॥९॥

उन दोनों महारथियों के कन्धे सिंह के समान, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और आँखें लाल थीं। दोनों ने स्वर्णमालाएँ धारण की हुई थीं। वे दो मतवाले गज-राजों के समान मदोन्मत्त थे। दोनों की छाती चौड़ी थी और दोनों ही महान् बलशाली थे। दोनों ही देव-कुमार, देवताओं के समान बली, देवतुल्य, रूपवान् थे। वे दैवेच्छा से पृथिवी पर उतरे हुए सूर्य एवं चन्द्र के समान सुशोभित थे। प्रजेश्वर! आमने-सामने खड़े हुए दो सिंहों के समान उन दोनों नरव्याघ्र वीरों को देखकर आपके सैनिकों को महान् हर्ष हुआ।

उभौ वरायुधधरावुभौ रणकृतश्रमौ।
उभौ च बाहुशब्देन नादयन्तौ नभस्तलम् ॥१०॥

दोनों ने श्रेष्ठ आयुध धारण किये हुए थे, दोनों ने ही युद्ध की कला सीखने में परिश्रम किया था और दोनों अपनी भुजाओं के शब्द से आकाश को निनादित कर रहे थे।

तव पुत्रास्ततः कर्णं सबला भरतर्षभ ।
परिवव्रुर्महात्मानं क्षिप्रमाहवशोभिनम् ॥११॥

भरतभूषण ! दोनों वीरों को आमने-सामने खड़े देख सेनासहित आपके पुत्र युद्ध में शोभा पानेवाले महामनस्वी कर्ण को शीघ्र ही सब ओर से घेरकर खड़े हो गये।

तथैव पाण्डवा हृष्टा धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ।
परिवव्रुर्महात्मानं पार्थमप्रतिमं युधि ॥१२॥

इसी प्रकार हर्ष में भरे हुए धृष्टद्युम्न आदि पाण्डव वीर युद्ध में अपना सानी—प्रतिद्वन्द्वी न रखनेवाले महात्मा कुन्तीनन्दन अर्जुन को घेरकर खड़े हुए।

तावकानां रणे कर्णो ग्लहो ह्यासीद् विशाम्पते ।
तथैव पाण्डवानां च ग्लहः पार्थोऽभवत्तदा ॥१३॥

प्रजेश्वर ! आपकी ओर से युद्धरूपी जुए में कर्ण को दाँव पर लगाया गया था। इसी प्रकार पाण्डव-पक्ष की ओर से कुन्तीपुत्र अर्जुन दाँव पर चढ़ गये थे।

तयोर्घोरतरे युद्धे द्वैरथे द्यूत आहिते ।
हया हयानभ्यहेषन् स्पर्धमानाः परस्परम् ॥१४॥

उन दोनों में घोरतर द्वैरथ युद्धरूपी जुए का अवसर उपस्थित था। एक के घोड़े दूसरे के घोड़ों को देखकर परस्पर लाग-डाँट रखते हुए-से हिनहिनाने लगे।

अविध्यत् पुण्डरीकाक्षः शल्यं नयनसायकैः ।
शल्यश्च पुण्डरीकाक्षं तथैवाभिसमैक्षत ॥१५॥
तत्राजयद् वासुदेवः शल्यं नयनसायकैः ।
कर्णं चाप्यजयद् दृष्टया कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥१६॥

इसी समय कमलनयन श्रीकृष्ण ने शल्य की ओर त्यौरी चढ़ाकर देखा, मानो वे उसे नेत्ररूपी बाण से बींध रहे हों। इसी प्रकार शल्य ने भी कमलनयन श्रीकृष्ण को घूरा, परन्तु वहाँ विजय श्रीकृष्ण की हुई। उन्होंने अपने नेत्ररूपी बाणों से शल्य को पराजित कर दिया। इसी प्रकार कुन्तीपुत्र अर्जुन ने भी अपनी दृष्टि द्वारा कर्ण को परास्त कर दिया।

अथाब्रवीत् सूतपुत्रः शल्यमाभाष्य सस्मितम् ।
यदि पार्थो रणे हन्यादद्य मामिह कर्हिचित् ।
किं करिष्यसि संग्रामे शल्य सत्यमथोच्यताम् ॥१७॥

दृष्टि मिलाने में अर्जुन से पराजित होकर कर्ण ने शल्य से मुस्कराते हुए कहा—"शल्य ! सच बताओ, यदि कदाचित् आज रणभूमि में कुन्तीनन्दन अर्जुन मुझे मार डाले तो तुम इस संग्राम में क्या करोगे ?"

शल्य उवाच

यदि कर्णं रणे हन्यादद्य त्वां श्वेतवाहनः ।
उभावेकरथेनाहं हन्यां माधवपाण्डवौ ॥१८॥

शल्य ने कहा—कर्ण ! यदि श्वेतवाहन अर्जुन आज युद्ध में तुम्हें मार डालें तो मैं एकमात्र रथ के द्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों का वध कर डालूँगा।

सञ्जय उवाच

एवमेव तु गोविन्दमर्जुनः प्रत्यभाषत ।
तं प्रहस्याब्रवीत् कृष्णः सत्यं पार्थमिदं वचः ॥१९॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! इसी प्रकार अर्जुन ने भी श्रीकृष्ण से पूछा। तब श्रीकृष्ण ने हँसकर अर्जुन से यह सत्य बात कही—

पतेद् दिवाकरः स्थानाच्छुष्येदपि महोदधिः ।
शैत्यमग्निरियान्न त्वां हन्यात् कर्णो धनञ्जय ॥२०॥

"धनञ्जय ! सूर्य अपने स्थान से गिर जाए, समुद्र सूख जाए और अग्नि सदा-सदा के लिए शीतल हो जाए, तो भी कर्ण तुम्हें नहीं मार सकता।

यदि चैतत् कथञ्चित् स्याल्लोकपर्यसनं भवेत् ।
हन्यां कर्णं तथा शल्यं बाहुभ्यामेव संयुगे ॥२१॥

"यदि किसी प्रकार ऐसा हो जाए तो संसार उलट जाएगा और मैं अपनी दोनों भुजाओं से ही कर्ण और शल्य को मसल डालूँगा।"

इति कृष्णवचः श्रुत्वा प्रहसन् कपिकेतनः ।
अर्जुनः प्रत्युवाचेदं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥२२॥

श्रीकृष्ण का यह वचन सुनकर कपिध्वज अर्जुन हँस पड़े और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीकृष्ण से इस प्रकार बोले—

मम तावदपर्याप्तौ कर्णशल्यौ जनार्दन ।
सपताकध्वजं कर्णं सशल्यरथवाजिनम् ॥२३॥
सच्छत्रकवचं चैव सशक्तिशरकार्मुकम् ।
द्रष्टास्यद्य रणे कृष्ण शरैश्छिन्नमनेकधा ॥२४॥

'जनार्दन ! ये कर्ण और शल्य तो मेरे ही लिए पर्याप्त नहीं है। श्रीकृष्ण ! आज युद्धभूमि में आप देखेंगे कि मैं कवच, छत्र, शक्ति, धनुष, बाण, ध्वजा,

पताका, रथ, घोड़े तथा राजा शल्य के सहित कर्ण को अपने बाणों से टुकड़े-टुकड़े कर डालूंगा।

न हि मे शाम्यते मन्युर्यदनेन पुरा कृतम्।
कृष्णां सभागतां दृष्ट्वा मूढेनादीर्घदर्शिना ॥२५॥

"इस अदूरदर्शी मूर्ख ने सभा में द्रौपदी को आई देख जो कुकृत्य [द्रौपदी को अपमानित किया और उसकी हँसी उड़ाई थी] किया था, उसे स्मरण करके मेरा क्रोध शान्त नहीं हो रहा है।

अद्याभिमन्युजननीमनृणः सान्त्वयिष्यसि।
कुन्तीं पितृष्वसारं च प्रहृष्टः सञ्जनार्दन ॥२६॥

"जनार्दन! आज आप अनृण एवं अत्यन्त प्रसन्न होकर अभिमन्यु की माता सुभद्रा और अपनी बुआ कुन्तीदेवी को सान्त्वना प्रदान करेंगे।"

इतिमहाभारते कर्णपर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

अश्वत्थामा का दुर्योधन से सन्धि का प्रस्ताव और दुर्योधन द्वारा उसकी अस्वीकृति

सञ्जय उवाच

ततः प्रहृष्टाः कुरुपाण्डुयोधा
वादित्रशंखस्वनसिंहनादैः।
निनादयन्तो वसुधां दिशश्च
स्वनेन सर्वान् द्विषतो निजघ्नुः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! अर्जुन और कर्ण दोनों के आमने-सामने होने पर कौरव और पाण्डव-पक्ष के समस्त योद्धा अत्यन्त हर्ष में भरकर वाद्य, शंखध्वनि, सिंहनाद और कोलाहल से रणभूमि और सम्पूर्ण दिशाओं को निनादित करते हुए समस्त शत्रुओं का संहार करने लगे।

तथा प्रवृत्ते तुमुले सुदारुणे
धनञ्जयस्याधिरथेश्च सायकैः।
दिशश्च सैन्यं च शितैरजिह्मगैः
परस्परं प्रावृणुतां सुदंशितौ ॥२॥

अर्जुन और कर्ण के बाणों से उस अत्यन्त दारुण तुमुल युद्ध के आरम्भ होने पर वे दोनों कवचधारी वीर अपने सीधे जानेवाले पैने बाणों द्वारा परस्पर सम्पूर्ण दिशाओं और सेना को आच्छादित करने लगे।

ततो महास्त्राणि महाधनुर्धरौ
विमुञ्चमानाविषुभिर्भयानकैः।
नराश्वनागानमितान् निजघ्नतुः
परस्परं चापि महारथौ नृप ॥३॥

राजन्! वे महाधनुर्धर और महारथी वीर महान् अस्त्रों का प्रयोग करते हुए अपने भयानक बाणों द्वारा असंख्य मनुष्यों, घोड़ों तथा हाथियों का संहार करते और आपस में भी एक-दूसरे को चोट पहुँचाते थे।

ततो विसस्रुः पुनरर्दिता नरा
नरोत्तमाभ्यां कुरुपाण्डवाश्रयाः।
सनागपत्त्यश्वरथा दिशो दश
तथा यथा सिंहहता वनौकसः ॥४॥

जैसे सिंह के द्वारा घायल किये हुए जंगली पशु सब ओर भागने लगते हैं, उसी प्रकार उन नरश्रेष्ठ शूरवीरों द्वारा बाणों से पीड़ित किये हुए कौरव और पाण्डव-सैनिक हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंसहित दशों दिशाओं में भाग खड़े हुए।

ततस्तु दुर्योधनभोजसौबलाः
कृपेण शारद्वतसूनुना सह।
महारथाः पञ्च धनञ्जयाच्युतौ
शरैः शरीरार्तिकरैरताडयन् ॥५॥

महाराज! तत्पश्चात् दुर्योधन, कृतवर्मा, शकुनि, शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य और कर्ण—ये पाँच महारथी शरीर को पीड़ा देनेवाले बाणों द्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुन को घायल करने लगे।

धनूंषि तेषामिषुधीन् ध्वजान् हयान्
रथांश्च सूतांश्च धनञ्जयः शरैः।
समं प्रमथ्याशु परान् समन्ततः
शरोत्तमैर्द्वादशभिश्च सूतजम् ॥६॥

यह देख अर्जुन ने उनके धनुष, तरकस, ध्वज, घोड़े, रथ और सारथि—इन सबको अपने बाणों द्वारा एक साथ ही मथकर अपने चारों ओर खड़े हुए शत्रुओं को शीघ्र ही बींध डाला और सूतपुत्र कर्ण पर भी बारह बाणों से प्रहार किया।

अथाभ्यधावंस्त्वरिताः शतं रथाः
शतं गजाश्चार्जुनमाततायिनः।
शकास्तुषारा यवनाश्च सादिनः
सहैव काम्बोजवरैर्जिघांसवः ॥७॥

तत्पश्चात् वहाँ सैकड़ों रथी और सैकड़ों गजारोही आततायी बनकर अर्जुन को मार डालने की इच्छा से दौड़ पड़े। उनके साथ शक, तुषार, यवन तथा काम्बोजदेशों के अच्छे घुड़सवार भी थे।

वरायुधान् पाणिगतैः शरैः सह
क्षुरैर्न्यकृन्तदपतन् शिरांसि च।
हयांश्च नागांश्च रथांश्च युध्यतो
धनञ्जयः शत्रुगणान् क्षितौ क्षिणोत् ॥८

परन्तु अर्जुन ने अपने हाथ के बाणों और क्षुरों द्वारा उन सबके उत्तम-उत्तम अस्त्रों को काट डाला। शत्रुओं के मस्तक कट-कटकर गिरने लगे। अर्जुन ने विपक्षियों के घोड़ों, हाथियों और रथों को एवं युद्ध में तत्पर हुए उन शत्रुओं को भी पृथिवी पर काट गिराया।

तदद्भुतं देवमनुष्यसाक्षिकं
समीक्ष्य भूतानि विसिस्मियुस्तदा।
तवात्मजः सूतसुतश्च न व्यथां
न विस्मयं जग्मतुरेकनिश्चयौ ॥९॥

विद्वानों और साधारण मनुष्यों के साक्षित्व में होनेवाले उस अद्भुत युद्ध को देखकर समस्त प्राणी उस समय आश्चर्यचकित हो उठे, परन्तु आपका पुत्र दुर्योधन और सूतपुत्र कर्ण—ये दोनों एक निश्चय पर पहुँच चुके थे, अतः इनके मन में न तो व्यथा हुई और न वे विस्मित ही हुए।

अथाब्रवीद् द्रोणसुतस्तवात्मजं
करं करेण प्रतिपीड्य सान्त्वयन्।
प्रसीद दुर्योधन शाम्य पाण्डवै-
रलं विरोधेन धिगस्तु विग्रहम् ॥१०॥

जब वह विस्मयकारी युद्ध चल रहा था, तब द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने दुर्योधन का हाथ अपने हाथ से दबाकर उसे सान्त्वना देते हुए कहा—"दुर्योधन ! अब प्रसन्न हो जाओ, पाण्डवों से सन्धि कर लो। विरोध से कोई लाभ नहीं है। आपके इस झगड़े को धिक्कार है!

धनञ्जयः शाम्यति वारितो मया
जनार्दनो नैव विरोधमिच्छति।
युधिष्ठिरो भूतहिते रतः सदा
वृकोदरस्तद्वशगस्तथा यमौ ॥११॥
त्वया तु पार्थैश्च कृते च संविदे
व्रजन्तु शेषाः स्वपुराणि बान्धवाः।
न चेद् वचः श्रोष्यसि मे नराधिप
ध्रुवं प्रतप्तासि हतोऽरिभिर्युधि ॥१२॥

"अर्जुन मेरे मना करने पर शान्त हो जाएंगे। श्रीकृष्ण भी तुम लोगों में विरोध नहीं चाहते। युधिष्ठिर तो सभी प्राणियों के हित में संलग्न रहते हैं [अतः वे भी मेरी बात मान लेंगे], शेष रहे भीमसेन और नकुल-सहदेव—ये भी धर्मराज के अधीन हैं [अतः उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं करेंगे]। पाण्डवों के साथ तुम्हारी सन्धि हो जाने पर शेष सगे-सम्बन्धी अपने-अपने नगरों को लौट जाएँ। नरेश्वर ! यदि मेरी बात नहीं सुनोगे तो निश्चय ही युद्ध में शत्रुओं के हाथ से मारे जाओगे और उस समय तुम्हें बड़ा पश्चात्ताप होगा।

ममापि मानः परमः सदा त्वयि
ब्रवीम्यतस्त्वां परमाच्च सौहृदात्।
निवारयिष्यामि च कर्णमप्यहं
यदा भवान् सप्रणयो भविष्यति ॥१३॥

"तुम्हारे प्रति मेरे मन में भी सदा बड़े आदर का भाव रहा है। हम दोनों की जो घनिष्ठ मित्रता है, उसी के कारण मैं तुमसे यह प्रस्ताव करता हूँ। यदि तुम प्रेमपूर्वक राजी हो जाओगे तो मैं कर्ण को भी युद्ध से रोक दूँगा।

वदन्ति मित्रं सहजं विचक्षणा-
स्तथैव साम्ना च धनेन चार्जितम्।
प्रतापतश्चोपनतं चतुर्विधं

तदस्ति सर्वं तव पाण्डवेषु च ॥१४॥

विद्वान् लोग चार प्रकार के मित्र बतलाते हैं। एक सहज मित्र होते हैं [जिनके साथ स्वाभाविक मैत्री होती है]। दूसरे सन्धि करके बनाये मित्र होते हैं। तीसरे धन देकर अपनाये मित्र होते हैं और जो किसी के प्रबल प्रताप से प्रभावित हो स्वतः शरण में आ जाते हैं, वे चौथे प्रकार के मित्र होते हैं। पाण्डवों के साथ तुम्हारी सभी प्रकार की मित्रता सम्भव है।

निसर्गतस्ते तव वीर बान्धवाः
पुनश्च साम्ना समवाप्नुहि प्रभो।
त्वयि प्रसन्ने यदि मित्रतां गते
हितं कृतं स्याज्जगतस्त्वयातुलम् ॥१५

"वीर! एक तो वे तुम्हारे जन्मजात भाई हैं, अतः सहज मित्र हैं। प्रभो! फिर तुम सन्धि करके उन्हें अपना मित्र बना लो। यदि तुम प्रसन्नता से पाण्डवों के साथ मित्रता स्वीकार कर लो तो तुम्हारे द्वारा संसार का अनुपम हित हो सकता है।"

स एवमुक्तः सुहृदा वचो हितं
विचिन्त्य निःश्वस्य च दुर्मनाब्रवीत्।
यथा भवानाह सखे तथैव त-
न्ममापि विज्ञापयतो वचः शृणु ॥१६॥

सुहृद् अश्वत्थामा ने जब इस प्रकार हित की बात कही, तब दुर्योधन उसपर विचार करके दीर्घ निःश्वास छोड़कर मन-ही-मन दुःखी हो इस प्रकार बोला—"सखे! तुम जैसा कहते हो, वह सब ठीक है, परन्तु इस विषय में मैं भी कुछ निवेदन करता हूँ, आप सुनें।

निहत्य दुःशासनमुक्तवान् वचः
प्रसह्य शार्दूलवदेष दुर्मतिः।
वृकोदरस्तद्धृदये मम स्थितं
न तत् परोक्षं भवतः कुतः शमः ॥१७॥

"इस दुर्बुद्धि भीमसेन ने सिंह के समान हठपूर्वक दुःशासन का वध करके जो बात कही थी, वह तुमसे छिपी नहीं है। वह इस समय भी मेरे हृदय में स्थिर होकर पीड़ा दे रही है। ऐसी अवस्था में सन्धि कैसे हो सकती है?

न चापि कर्णं प्रसहेद् रणेऽर्जुनो
महागिरिं मेरुमिवोग्रमारुतः।
न चाश्वसिष्यन्ति पृथात्मजा मयि
प्रसह्य वैरं बहुशो विचिन्त्य च ॥१८॥

"इसके अतिरिक्त भयंकर वायु भी जैसे महापर्वत मेरु का सामना नहीं कर सकती, उसी प्रकार अर्जुन इस युद्धभूमि में कर्ण का वेग नहीं सह सकते। हमने हठपूर्वक बारम्बार जो वैर किया है, उसे सोचकर कुन्ती के पुत्र मुझ पर विश्वास भी नहीं करेंगे।

न चापि कर्णं गुरुपुत्र संयुगा-
दुपारमेत्यर्हसि वक्तुमच्युत।
श्रमेण युक्तो महताद्य फाल्गुन-
स्तमेष कर्णः प्रसभं हनिष्यति ॥१९॥

"अपनी मर्यादा न छोड़नेवाले गुरुपुत्र! तुम्हें कर्ण से युद्ध बन्द करने के लिए कदापि नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इस समय अर्जुन महान् परिश्रम से थक गये हैं, अतः अब कर्ण उन्हें बलपूर्वक मार डालेगा।"

तमेवमुक्त्वाप्यनुनीय चासकृत्
तवात्मजः स्वाननुशास्ति सैनिकान्।
विनिघ्नताभिद्रवताहितान् मम
सबाणहस्ताः किमु जोषमासत ॥२०॥

अश्वत्थामा से ऐसा कहकर बारम्बार अनुनय-विनय द्वारा उसे प्रसन्न करके आपके पुत्र ने अपने सैनिकों को आदेश देते हुए कहा—"अरे! तुम लोग हाथों में बाण लिये चुपचाप बैठे क्यों हो? मेरे शत्रुओं पर टूट पड़ो और उन्हें मार डालो।"

इति महाभारते कर्णपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

कर्ण और अर्जुन का भयंकर युद्ध

संञ्जय उवाच

तौ शंखभेरीनिनदे समृद्धे
समीयतुः श्वेतहयौ नराग्र्यौ ।
वैकर्तनः सूतसुतोऽर्जुनश्च
दुर्मन्त्रिते ते हि सुतस्य राजन् ।।१।।

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! तत्पश्चात् आपके पुत्र की कुमन्त्रणा के फलस्वरूप जब युद्धभूमि में शंख और भेरियों की गम्भीर ध्वनि होने लगी, उस समय वहाँ सफेद घोड़ोंवाले दो नरश्रेष्ठ वैकर्तन कर्ण और अर्जुन युद्ध के लिए एक-दूसरे की ओर बढ़े ।

कर्णस्ततः प्रथमं तत्र पार्थं
महेषुभिर्दशभिः प्रत्यविध्यत् ।
तं चार्जुनः प्रत्यविद्धच्छिताग्रैः
कक्षान्तरे दशभिः सम्प्रहस्य ।।२।।

तब वहाँ कर्ण ने सर्वप्रथम दस विशाल बाणों द्वारा अर्जुन को बींध डाला । उधर अर्जुन ने भी हँसकर तीखी धारवाले दस बाणों से कर्ण की काँख में प्रहार किया ।

परस्परं तौ विशिखैः सुपुंखै-
स्ततक्षतुः सूतसुतोऽर्जुनश्च ।
परस्परं तौ विभिदुर्विमर्दे
सुभीममभ्यापततुश्च हृष्टौ ।।३।।

सूतपुत्र कर्ण और अर्जुन दोनों उस युद्ध में अत्यन्त हर्ष में भरकर सुन्दर पंखोंवाले बाणों द्वारा एक-दूसरे को क्षत-विक्षत करने लगे । वे परस्पर क्षति पहुँचाते हुए भयंकर आक्रमण कर रहे थे ।

यानर्जुनः सभ्रुकुटीकटाक्षं
कर्णाय राजन्नसृजज्जितारिः ।
तान् सायकैर्ग्रसते सूतपुत्रः
प्रप्रेषितान् पाण्डवस्येषुसंघान् ।।४।।

राजन् ! शत्रुविजयी अर्जुन भौंहे टेढ़ी करके कटाक्षपूर्वक देखते हुए कर्ण पर जिन-जिन बाणों का प्रहार करते थे, उन सभी बाणसमूहों को सूतपुत्र कर्ण शीघ्र ही नष्ट कर देता था ।

ततोऽस्त्रमाग्नेयममित्रसाधनं
मुमोच कर्णाय महेन्द्रसूनुः ।
योधाश्च सर्वे ज्वलिताम्बरा भृशं
प्रदुद्रुवुस्तत्र विदग्धवस्त्राः ।।५।।

तब इन्द्रकुमार अर्जुन ने कर्ण पर शत्रुनाशक आग्नेयास्त्र का प्रयोग किया । इससे वहाँ समस्त योद्धाओं के वस्त्र जलने लगे । कपड़ों के जलने के कारण वे सब-के-सब वहाँ से भाग चले ।

तद्वीक्ष्य कर्णो ज्वलनास्त्रमुद्यतं
स वारुणं तत्प्रशमार्थमाहवे ।
समुत्सृजन् सूतसुतः प्रतापवान्
स तेन वह्निं शमयाम्बभूव ह ।।६।।

प्रतापी सूतपुत्र कर्ण ने उस आग्नेय-अस्त्र को उद्दीप्त हुआ देखकर युद्धभूमि में उसकी शान्ति के लिए वरुणास्त्र का प्रयोग किया और उसके द्वारा उस आग को बुझा दिया ।

अस्त्र ततो देवपतेः प्रियं तत्-
प्रादुश्चकाराविषहं स वज्रम् ।
गाण्डीवज्याविशिखाँश्चानुमन्त्र्य
धनञ्जयः शत्रुभिरप्रधृष्यः ।।७।।

तब शत्रुओं के लिए अजेय अर्जुन ने गाण्डीव धनुष, उसकी प्रत्यञ्चा और बाणों को अभिमन्त्रित करके अत्यन्त प्रभावशाली वज्रास्त्र को प्रकट किया, जो देवराज इन्द्र का प्रिय अस्त्र है ।

ततः क्षुरप्राञ्जलिकार्धचन्द्रा
नालीकनाराचवराहकर्णाः ।
गाण्डीवतः प्राकटिताः सुतीक्ष्णाः
सहस्रशो वज्रसमानवेगाः ।।८।।

फिर तो उस गाण्डीव धनुष से क्षुरप्र, अञ्जलिक, अर्धचन्द्र, नालीक, नाराच और वराहकर्ण आदि तीखे अस्त्र सहस्रों की संख्या में छूटने लगे । वे सभी अस्त्र वज्र के समान वेगशाली थे ।

ते कर्णमासाद्य महाप्रभावाः
सुतेजना गार्ध्रयुताः सुवेगाः।

गात्रेषु सर्वेषु हयेषु चापि
शरासने चक्रयुगे ध्वजे च ॥९॥

वे महाप्रभावशाली, गीध के पंखों से युक्त, तीखी धारवाले और अतिशय वेगवान् अस्त्र कर्ण के पास पहुँचकर उसके समस्त अङ्गों में, घोड़ों पर, धनुष में और रथ के जूओं, पहियों और ध्वजाओं में जा लगे।

शराचिताङ्गो रुधिरार्द्रगात्रः
कर्णस्तदा रोषविवृत्तनेत्रः।
दृढज्यमानाम्य समुद्रघोषं
प्रादुश्चकार धनुः भार्गवास्त्रम् ॥१०॥
महेन्द्रशस्त्राभिमुखान् विमुक्तां-
श्चकर्त कर्णोऽर्जुनबाणसंघान्।
तस्यास्त्रमस्त्रेण निहत्य सोऽथ
जघान संख्ये रथनागपत्तीन् ॥११॥

जब कर्ण के सारे अङ्ग बाणों से भर गये, सम्पूर्ण शरीर रक्त से नहा उठा, और उसके नेत्र क्रोध से घूमने लगे, तब उस महामनस्वी वीर ने अपने धनुष को जिसकी प्रत्यञ्चा सुदृढ़ थी, झुकाकर समुद्र के समान गम्भीर गर्जना करनेवाले भार्गवास्त्र को प्रकट किया और अर्जुन के महेन्द्रास्त्र से प्रकट हुए बाण-समूहों के टुकड़े-टुकड़े करके अपने अस्त्र से उनके अस्त्र को शान्त करके रणभूमि में रथों, हाथियों और पैदल-सैनिकों का संहार कर डाला।

दृष्ट्वा च कर्णेन धनञ्जयस्य
तथाऽऽजिमध्ये निहतं तदस्त्रम्।
भीमोऽब्रवीदर्जुनं सत्यसंध-
मर्माषितो निःश्वसञ्जातमन्युः ॥१२॥

समराङ्गण में कर्ण द्वारा अर्जुन के उस अस्त्र को नष्ट हुआ देखकर भीमसेन के हृदय में अमर्ष और क्रोध का प्रादुर्भाव हो गया, अतः वे दीर्घनिःश्वास छोड़ते हुए सत्यप्रतिज्ञ अर्जुन से इस प्रकार बोले—

क्षिप्तांस्त्वया चाग्रसद् बाणसंघा-
नाश्चर्यमेतत् प्रतिभाति मेऽद्य।
कृष्णापरिक्लेशमनुस्मर त्वं
जह्याशु कर्णं युधि सव्यसाचिन् ॥१३॥

"सव्यसाची अर्जुन! तुम्हारे चलाये बाण-समूहों को इस कर्ण ने नष्ट कर दिया, यह तो आज मुझे बड़े आश्चर्य की बात जान पड़ती है। तुम कौरव-सभा में द्रौपदी को दिये गये क्लेशों का स्मरण करो और इस कर्ण को शीघ्र ही युद्ध में मार डालो।"

वासुदेव उवाच

अमीमृदत् सर्वपातेऽद्य कर्णो
ह्यस्त्रैरस्त्रं किमिदं भो किरीटिन्।
स वीर किं मुह्यसि नावधत्से
नदन्त्येते कुरवः सम्प्रहृष्टाः ॥१४॥

श्रीकृष्ण बोले—किरीटधारी अर्जुन! तुमने अब-तक जितनी बार प्रहार किये हैं, उन सबमें कर्ण ने तुम्हारे अस्त्र को अपने अस्त्रों द्वारा नष्ट कर दिया है, यह क्या बात है? वीर! आज तुमपर कैसा मोह छा रहा है? तुम सावधान क्यों नहीं होते? देखो, ये तुम्हारे शत्रु कौरव अत्यन्त हर्ष में भरकर सिंहनाद कर रहे हैं।

अनेन चास्य क्षुरनेमिनाद्य
संछिन्धि मूर्धानमरेः प्रसह्य।
मया विसृष्टेन सुदर्शनेन
वज्रेण शक्रो नमुचेरिवारेः ॥१५॥

वीर! तुम मेरे दिये हुए सुदर्शनचक्र द्वारा जिसके नेमिभाग [किनारे] में क्षुर लगे हुए हैं, आज बलपूर्वक शत्रु का मस्तक काट डालो, ठीक वैसे ही जैसे इन्द्र ने वज्र के द्वारा अपने शत्रु नमुचि का सिर काट दिया था।

सञ्जय उवाच

स एवमुक्तोऽतिबलो महात्मा
चकार बुद्धिं हि वधाय सौतेः।
स प्रेरितो भीमजनार्दनाभ्यां
सर्वं स्मरन् केशवमित्युवाच ॥१६॥

सञ्जय कहते हैं—भीमसेन और श्रीकृष्ण के इस प्रकार प्रेरणा देने और कहने पर अत्यन्त बलशाली महात्मा अर्जुन ने सूतपुत्र के वध का विचार किया। फिर बीती हुई सभी बातों को स्मरण कर वे श्रीकृष्ण से इस प्रकार बोले—

प्रादुष्करोम्येष महास्त्रमुग्रं
शिवाय लोकस्य वधाय सौतेः।

तदस्य हत्वा विरराज कर्णो
मुक्त्वा शरान् मेघ इवाम्बुधाराः ॥१७॥

"श्रीकृष्ण ! मैं संसार के कल्याण और सूतपुत्र कर्ण के वध के लिए एक महान् एवं भयंकर अस्त्र [ब्रह्मास्त्र] प्रकट कर रहा हूँ।" परन्तु जैसे मेघ जल की धारा गिराता है, उसी प्रकार बाणों की बौछार से कर्ण उस अस्त्र को नष्ट कर अति शोभित होने लगे।

तावुत्तमौ सर्वधनुर्धराणां
महाबलौ सर्वसपत्नसाहौ ।
निजघ्नतुश्चाहितसैन्यमुग्र-
मन्योन्यमप्यस्त्रविदौ महास्त्रैः ॥१८॥

वे दोनों सम्पूर्ण धनुर्धरों में श्रेष्ठ, महाबलशाली, समस्त शत्रुओं का सामना करने में समर्थ और अस्त्र-विद्या के विद्वान् थे, अतः वे भयंकर शत्रुसेना को तथा आपस में भी एक-दूसरे को महान् अस्त्रों द्वारा घायल करने लगे।

अथोपयातस्त्वरितो दिदृक्षुर्
मन्त्रौषधीभिर्निरुजो विशल्यः ।
कृतः सुहृद्भिर्भिषजां वरिष्ठैर्
युधिष्ठिरस्तत्र सुवर्णवर्मा ॥१९॥

उधर शिविर में हितैषी वैद्यशिरोमणियों ने मन्त्र और ओषधियों द्वारा राजा युधिष्ठिर के शरीर से बाण निकालकर उन्हें स्वस्थ कर दिया, अतः वे बड़ी उतावली के साथ सुवर्णमय कवच धारण करके वहाँ युद्ध देखने के लिए आये।

स कार्मुकज्यातलसंनिपातः
सुमुक्तबाणस्तुमुलो बभूव ।
घ्नतोस्तथान्योन्यमिषुप्रवेकैर्
धनञ्जयस्याधिरथेश्च तत्र ॥२०॥

उस समय वहाँ अर्जुन और कर्ण उत्तम बाणों द्वारा एक-दूसरे को चोट पहुँचा रहे थे। उनके धनुष, प्रत्यञ्चा और हथेली का संघर्ष बड़ा भयंकर होता जा रहा था और उससे उत्तमोत्तम बाण छूट रहे थे।

ततो धनुर्ज्या सहसातिकृष्टा
सुघोषमच्छिद्यत पाण्डवस्य ।
तस्मिन् क्षणे पाण्डवं सूतपुत्रः
समाचिनोत् क्षुद्रकाणां शतेन ॥२१॥

इसी समय पाण्डुपुत्र अर्जुन के धनुष की डोरी अधिक खींची जाने के कारण सहसा भारी आवाज के साथ टूट गई। उस समय सूतपुत्र कर्ण ने पाण्डुकुमार अर्जुन को सौ बाण मारे।

ततो धनुर्ज्यामवनाम्य शीघ्रं
शरांश्च तानाधिरथेर्विधम्य ।
संरब्धकर्णशरविक्षताङ्गः
पार्थो रणे कौरवान् प्रत्यगृह्णात् ॥२२॥

तब कर्ण के बाणों से जिनका अङ्ग-अङ्ग क्षत-विक्षत हो गया था, उस कुन्तीकुमार अर्जुन ने युद्ध-भूमि में अत्यन्त क्रुद्ध हो शीघ्र ही धनुष की प्रत्यञ्चा को झुकाकर चढ़ा दिया और कर्ण के चलाये हुए बाणों को छिन्न-भिन्न करके कौरवों को आगे बढ़ने से रोक दिया।

शल्यं च पार्थो दशभिः पृषत्कैर्
भृशं तनुत्रे प्रहसन्नविध्यत् ।
कर्णं ततो द्वादशभिः सुमुक्तैर्
विद्ध्वा पुनः सप्तभिरभ्यविद्ध्यत् ॥२३॥

इसी समय कुन्तीपुत्र अर्जुन ने हँसते-हँसते दस बाणों से शल्य को गहरी चोट पहुँचायी और उनके कवच को छिन्न-भिन्न कर डाला। फिर अच्छी प्रकार छोड़े हुए बारह बाणों से कर्ण को घायल करके पुनः उसे सात बाणों से बींध डाला।

इति महाभारते कर्णपर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

अर्जुन और कर्ण का घोर युद्ध, श्रीकृष्ण का अर्जुन को सर्पमुख बाण से बचाना

सञ्जय उवाच

ततो विमर्दः सुमहान् बभूव
तत्रर्जुनस्याधिरथेश्च राजन् ।
अन्योन्यमासादयतोः पृषत्कैर्
विषाणघातैर्द्विपयोरिवाग्रैः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—जैसे दो हाथी अपने भयंकर दाँतों से एक-दूसरे पर आघात करते हैं, उसी प्रकार अर्जुन और कर्ण एक-दूसरे पर बाणों का प्रहार कर रहे थे। उस समय उन दोनों में बड़ा भारी संग्राम होने लगा।

एवं तयोर्युद्ध्यतोराजिमध्ये
सूतात्मजोऽभूदधिकः कदाचित् ।
पार्थः कदाचित् त्वधिकः किरीटी
वीर्यास्त्रमायाबलपौरुषेण ॥२॥

इस प्रकार रणभूमि में जूझते समय उन दोनों वीरों में पराक्रम, अस्त्रसंचालन, मायाबल और पुरुषार्थ की दृष्टि से कभी सूतपुत्र कर्ण बढ़ जाता था और कभी किरीटधारी अर्जुन।

कर्णोऽथ पार्थं न विशेषयद् यद्
भृशं च पार्थेन शराभितप्तः ।
ततस्तु वीरः शरविक्षताङ्गो
दध्रे मनो ह्येकशयस्य तस्य ॥३॥

जब कर्ण किसी प्रकार भी युद्ध में अर्जुन से बढ़कर पराक्रम प्रकट न कर सका और अर्जुन ने अपने बाणों की मार से उसे अत्यन्त सन्तप्त कर दिया, तब बाणों के आघात से सारा शरीर क्षत-विक्षत हो जाने के कारण वीर कर्ण ने उसपर सर्पमुख बाण से प्रहार का विचार किया।

ततो रिपुघ्नं समधत्त कर्णः
सुसंचितं सर्पमुखं ज्वलन्तम् ।
रौद्रं शरं संनतमुग्रधौतं
पार्थार्थमत्यर्थचिराभिगुप्तम् ॥४॥

तब कर्ण ने पृथापुत्र अर्जुन को मारने के लिए ही जिसे सुदीर्घकाल से सुरक्षित रख छोड़ा था, उस शत्रुनाशक, झुकी हुई गाँठवाले, स्वच्छ, महातेजस्वी, सुसंचित, प्रज्वलित एवं भयानक सर्पमुख बाण को धनुष पर रखा और कान तक खींचकर अर्जुन की ओर सन्धान किया।

ततोऽब्रवीन्मद्रराजो महात्मा
दृष्ट्वा कर्णं प्रहितेषुं तमुग्रम् ।
न कर्ण ग्रीवामिषुरेष लप्स्यते
समीक्ष्य संधत्स्व शरं शिरोघ्नम् ॥५॥

उस समय महामनस्वी मद्रराज शल्य ने कर्ण को उस भयंकर बाण का प्रहार करने के लिए उद्यत देख उससे कहा—"कर्ण! तुम्हारा यह बाण शत्रु के कण्ठ में नहीं लगेगा, अतः सोच-विचारकर पुनः बाण का सन्धान करो, जिससे वह शत्रु का मस्तक काट सके।"

अथाब्रवीत् क्रोधसुरक्तनेत्रो
मद्राधिपं सूतसुतस्तरस्वी ।
न संधत्ते द्विः शरः शल्य कर्णो
न मादृशा जिह्मयुद्धा भवन्ति ॥६॥

यह सुनकर वेगशाली सूतपुत्र कर्ण के नेत्र क्रोध से लाल हो गये। उसने मद्रराज से कहा—"कर्ण दो बार बाण का सन्धान नहीं करता। मेरे जैसे वीर कपट-युद्ध नहीं करते।"

इतीदमुक्त्वा विससर्ज तं शरं
प्रयत्नतो वर्षगणाभिपूजितम् ।
हतोऽसि वै फाल्गुन इत्यधिक्षिप-
न्नुवाच चोच्चैर्गिरमूर्जितां वृषः ॥७॥

ऐसा कहकर कर्ण ने जिस बाण को वर्षों से सँभाल कर रखा हुआ था, उसे प्रयत्नपूर्वक शत्रु की ओर छोड़ दिया और आक्षेप करते हुए उच्चस्वर से कहा—"अर्जुन! अब तू निश्चय ही मारा गया।"

स सायकः कर्णभुजप्रसृष्टो
हुताशनार्कप्रतिमः सुघोरः ।
गुणच्युतः कर्णधनुः प्रमुक्तो
वियद्गतः प्राज्वलदन्तरिक्षे ॥८॥

अग्नि और सूर्य के समान तेजस्वी वह अति भयंकर बाण कर्ण की भुजाओं से प्रेरित हो उसके धनुष और प्रत्यञ्चा से छूटकर आकाश में पहुँचते ही प्रज्वलित हो उठा ।

तं प्रेक्ष्य दीप्तं युधि माधवस्तु
त्वरान्वितं च सपदि सलीलम् ।
पदा विनिष्पिष्य रथोत्तमं स
प्रावेशयत् धरणीं किञ्चिदेव ॥९॥
क्षितिं गता जानुभिरेव वाहाः
हेमच्छन्नाश्चन्द्रमरीचिवर्णाः ।
ततः शरः सोऽभ्यहनत् किरीटं
तस्येन्द्रदत्तं सुदृढं सुबुद्धेः ॥१०॥

उस प्रज्वलित बाण को अत्यन्त वेग से आते हुए देख श्रीकृष्ण ने युद्धस्थल में खेल-सा करते हुए अपने उत्तम रथ को तुरन्त ही पैर से दबाकर उसके पहियों का कुछ भाग भूमि में धँसा दिया । साथ ही सोने के आभूषणों से समलंकृत, चन्द्रमा की किरणों के समान श्वेतवर्णवाले उनके घोड़े भी धरती पर घुटने टेककर झुक गये । परिणामस्वरूप कर्ण का चलाया हुआ वह बाण रथ नीचा हो जाने के कारण इन्द्र द्वारा प्रदत्त बुद्धिमान् अर्जुन के किरीट में जा लगा ।

स वै किरीटं बहुरत्नभूषितं
जहार बाणोऽर्जुनमूर्धतो बलात् ।
समुज्जहाराशु पुनः ह्यधोगतं
रथं भुजाभ्यां पुरुषोत्तमस्ततः ॥११॥

उस बाण ने नाना प्रकार के रत्नों से विभूषित उस किरीट को अर्जुन के मस्तक से बलपूर्वक हर लिया [उसे पृथिवी पर गिरा दिया] । तब श्रीकृष्ण ने उस नीचे धँसे हुए रथ को पुनः अपनी दोनों भुजाओं से ऊपर उठा दिया ।

तस्मिन् मुहूर्ते दशभिः पृषत्कैः
शिलाशितैर्बर्हिणबर्हयुक्तैः ।
विव्याध कर्णः पुरुषप्रवीरो
धनञ्जयं तिर्यगवेक्षमाणः ॥१२॥

उस समय नरश्रेष्ठ कर्ण ने धनञ्जय की ओर तिरछी दृष्टि से देखते हुए मयूरपंख-युक्त, शिला पर तेज किये हुए दस बाणों से उन्हें घायल कर दिया ।

ततोऽर्जुनो द्वादशभिः सुमुक्तैर्
वराहकर्णैर्निशितैः समर्प्य ।
नाराचमाशीविषतुल्यवेग-
माकर्णपूर्णायतमुत्ससर्ज ॥१३॥

तब अर्जुन ने अच्छी प्रकार छोड़े हुए बारह वराहकर्ण नामक पैने बाणों द्वारा कर्ण को घायल करके पुनः विषधर सर्प के तुल्य एक वेगशाली नाराच को कान तक खींचकर उसकी ओर छोड़ दिया ।

स चित्रवर्मेषुवरो विदार्य
प्राणान्निरस्यन्निव साधुमुक्तः ।
कर्णस्य पीत्वा रुधिरं विवेश
वसुन्धरां शोणितदिग्धवाजः ॥१४॥

भली-भाँति छूटे हुए उस उत्तम नाराच ने कर्ण के विचित्र कवच को चीर-फाड़कर उसके प्राण निकालते हुए-से रक्तपान किया, फिर वह धरती में समा गया । उस समय उसके पंख रक्त से लथपथ हो रहे थे ।

ततो वृषो बाणनिपातकोपितो
महोरगो दण्डविघट्टितो यथा ।
तदाशुकारी व्यसृजच्छरोत्तमान्
महाविषः सर्प इवोत्तमं विषम् ॥१५॥

उस बाण के प्रहार से क्रोध में भरे हुए शीघ्रकारी कर्ण ने लाठी की चोट खाये हुए महान् सर्प के समान तिलमिलाकर उसी प्रकार उत्तम बाणों का प्रहार किया, जैसे महाविषैला सर्प अपने उत्तम विष का वमन करता है ।

जनार्दनं द्वादशभिः पराभिन-
न्नवैर्नवत्या च शरैस्तथार्जुनम् ।
शरेण घोरेण पुनश्च पाण्डवं
विदार्य कर्णो व्यनदज्जहास च ॥१६॥

उसने बारह बाणों से श्रीकृष्ण को और निन्यानवे बाणों से अर्जुन को अच्छी प्रकार घायल किया । तत्पश्चात् एक भयंकर बाण से पाण्डुपुत्र अर्जुन को पुनः क्षत-विक्षत करके कर्ण सिंह के समान दहाड़ने और हँसने लगा ।

तमस्य हर्षं ममृषे न पाण्डवो
बिभेद मर्माणि ततोऽस्य मर्मवित् ।

परःशतैः पत्रिभिरिन्द्रविक्रम-
स्तथा यथेन्द्रो बलमोजसा रणे ॥१७॥

उसके उस हर्ष को पाण्डुपुत्र अर्जुन सहन न कर सके। वे उसके मर्मस्थलों को जानते थे और इन्द्र के समान पराक्रमी थे, अतः जैसे इन्द्र ने समराङ्गण में बलासुर को बलपूर्वक मार गिराया था, उसी प्रकार अर्जुन ने भी सौ से अधिक बाणों द्वारा कर्ण के मर्म-स्थानों को विदीर्ण कर दिया।

ततः शरैर्भीमतरैरविध्यत् त्रिभिराहवे।
हस्ते कृष्णं तथा पार्थमभ्यविध्यच्च सप्तभिः ॥१८॥

फिर तो कर्ण ने भी तीन भयानक बाणों द्वारा रणभूमि में श्रीकृष्ण के हाथों में चोट पहुँचाई और अर्जुन को भी सात बाणों से बींध डाला।

ततोऽर्जुनः सप्तदश तिग्मवेगानजिह्मगान्।
इन्द्राशनिसमान् घोरानसृजत् पावकोपमान् ॥१९॥

तब अर्जुन ने इन्द्र के वज्र और अग्नि के समान प्रचण्ड वेगशाली, सीधे जानेवाले सत्रह घोर बाण कर्ण पर छोड़े।

तान् कर्णस्त्वग्रतो न्यस्तान् मोघाँश्चक्रे महारथः।
वैकर्तनः शितैर्बाणैर्ज्यां चिच्छेद सुतेजनैः ॥२०

महारथी वैकर्तन कर्ण ने अपने समक्ष आये हुए उन सभी बाणों को व्यर्थ कर दिया। तत्पश्चात् तेज किये हुए पैने बाणों से अर्जुन के धनुष की डोरी काट डाली।

द्वितीयां च तृतीयां च चतुर्थीं पञ्चमीं तथा।
षष्ठीमथास्य चिच्छेद सप्तमीं च तथाष्टमीम् ॥२१॥

उसने क्रमशः अर्जुन के धनुष की दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं और आठवीं डोरी भी काट डाली।

नवमीं दशमीं चास्य तथा चैकादशीं वृषः।
ज्याशतं शतसन्धानः स कर्णो नावबुध्यते ॥२२॥

इतना ही नहीं, नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं डोरी काटकर भी सौ बाणों का सन्धान करनेवाले कर्ण को यह पता नहीं चला कि अर्जुन के धनुष में सौ डोरियाँ लगी हैं।

ततो ज्यां विनिधायान्यामभिमन्त्र्य च पाण्डवः।
शरैरवाकिरत् कर्णं दीप्यमानैरिवाहिभिः ॥२३॥

तत्पश्चात् दूसरी डोरी चढ़ाकर पाण्डुपुत्र अर्जुन ने उसे भी अभिमन्त्रित किया और प्रज्वलित सर्पों के समान बाणों द्वारा कर्ण को आच्छादित कर दिया।

तस्य ज्याछेदनं कर्णो ज्यावधानं च संयुगे।
नान्वबुध्यत शीघ्रत्वात्तदद्भुतमिवाभवत् ॥२४॥

रणभूमि में अर्जुन के धनुष की डोरी काटना और पुनः दूसरी डोरी का चढ़ जाना इतनी शीघ्रता से होता था कि कर्ण को भी उसका पता नहीं चलता था। वह एक अद्भुत-सी बात थी।

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य प्रनिघ्नन् सव्यसाचिनः।
चक्रे चाप्यधिकं पार्थात् स्ववीर्यमतिदर्शयन् ॥२५॥

कर्ण ने अपने अस्त्रों द्वारा सव्यसाची अर्जुन के अस्त्रों का निवारण करके उन सबको नष्ट कर दिया और अपने पराक्रम का प्रदर्शन करते हुए उसने अपने-आपको अर्जुन से अधिक शक्तिशाली सिद्ध कर दिखाया।

ततः कृष्णोऽर्जुनं दृष्ट्वा कर्णास्त्रेण च पीडितम्।
अभ्यसेत्यब्रवीत् पार्थमातिष्ठास्त्रं व्रजेति च ॥२६॥

इधर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्ण के अस्त्र से पीड़ित हुआ देखकर कहा—"पार्थ! लगातार अस्त्र छोड़ो। उत्तम अस्त्रों का प्रयोग करो और आगे बढ़े चलो।"

ततोऽग्निसदृशं घोरं शरं सर्पविषोपमम्।
अश्मसारमयं दिव्यमभिमन्त्र्य परन्तपः ॥२७॥
रौद्रमस्त्रं समाधाय क्षेप्तुकामः किरीटवान्।
ततोऽग्रसन् मही चक्रं राधेयस्य तदा नृप ॥२८॥

तब शत्रुओं के सन्तापक अर्जुन ने अग्नि और सर्पविष के समान भयंकर लोहमय दिव्य बाण को अभिमन्त्रित करके उसमें रौद्रास्त्र का आधान किया और उसे कर्ण पर छोड़ने का विचार किया। राजन्! इतने में ही राधापुत्र कर्ण के रथ का पहिया पृथिवी में धँस गया।

ग्रस्तचक्रस्तु राधेयः क्रोधादश्रूण्यवर्तयत्।
अर्जुनं वीक्ष्य संरब्धमिदं वचनमब्रवीत् ॥२९॥

पहिया फँस जाने के कारण राधापुत्र कर्ण क्रोध से आँसू बहाने लगा और रोषावेश से युक्त अर्जुन

की ओर देखकर इस प्रकार बोला—

भो भोः पार्थ महेष्वास मुहूर्तं परिपालय।
यावच्चक्रमिदं ग्रस्तमुद्धरामि महीतलात् ॥३०॥

"महाधनुर्धर कुन्तीनन्दन! दो घड़ी प्रतीक्षा करो, जिससे मैं इस फँसे हुए पहिये को पृथिवीतल से निकाल लूँ।

सव्यं चक्रं महीग्रस्तं दृष्ट्वा दैवादिदं मम।
पार्थ कापुरुषाचीर्णमभिसन्धिं विसर्जय ॥३१॥

"पार्थ! दैवयोग से मेरे रथ के बायें पहिये को धरती में फंसा हुआ देखकर तुम कापुरुषोचित कपट-पूर्ण बर्ताव का परित्याग करो।

न त्वं कापुरुषाचीर्णं मार्गमास्थातुमर्हसि।
ख्यातस्त्वमसि कौन्तेय विशिष्टो रणकर्मसु।
विशिष्टतरमेव त्वं कर्तुमर्हसि पाण्डव ॥३२॥

"हे कुन्तीनन्दन! जिस मार्ग पर कायर चला करते हैं, तुम उस मार्ग पर मत चलो, क्योंकि तुम युद्धकर्म में विशिष्ट वीर के रूप में विख्यात हो। हे पाण्डुनन्दन! तुम्हें तो अपने-आपको और भी विशिष्ट ही सिद्ध करना चाहिए।

प्रकीर्णकेशे विमुखे ब्राह्मणेऽथ कृताञ्जलौ।
शरणागते न्यस्तशस्त्रे याचमाने तथाऽर्जुन ॥३३॥
अबाणे भ्रष्टकवचे भ्रष्टभग्नायुधे तथा।
न विमुंचन्ति शस्त्राणि शूराः साधुव्रते स्थिताः ॥३४॥

"अर्जुन! जो केश खोलकर खड़ा हो, युद्ध से मुँह मोड़ चुका हो, ब्राह्मण हो, हाथ जोड़कर शरण में आया हो, हथियार डाल चुका हो, प्राणों की भीख माँगता हो, जिसके बाण, कवच और अन्य आयुध नष्ट हो गये हों, ऐसे पुरुष पर उत्तम व्रत का पालन करनेवाले शूरवीर शस्त्रों का प्रहार नहीं करते।

त्वं च शूरतमो लोके साधुवृत्तश्च पाण्डव।
अभिज्ञो युद्धधर्माणां वेदान्तावभृथाप्लुतः ॥३५॥

"पाण्डुनन्दन! तुम लोक में महान् शूर और सदाचारी माने जाते हो। युद्ध के धर्मों को जानते हो। वेदान्त का अध्ययनरूपी यज्ञ समाप्त करके तुम उसमें अवभृथस्नान कर चुके हो [अतः तुम्हें उपर्युक्त स्थिति में पहुँचे हुए शत्रु पर प्रहार नहीं करना चाहिए]।

यावच्चक्रमिदं ग्रस्तमुद्धरामि महाभुज।
न मां रथस्थो भूमिष्ठं विकलं हन्तुमर्हसि ॥३६॥

"महाबाहो! जबतक मैं इस फँसे हुए पहिये को निकाल रहा हूँ, तबतक रथारूढ़ तुम मुझ भूमि पर खड़े हुए को बाण मारकर व्याकुल मत करो।

त्वं हि क्षत्रियदायादो महाकुलविवर्धनः।
अतस्त्वां प्रब्रवीम्येष मुहूर्तं क्षम पाण्डव ॥३७॥

"पाण्डुपुत्र! तुम क्षत्रिय के पुत्र हो, एक उच्च-कुल का गौरव बढ़ाते हो, अतः तुमसे ऐसी बात कहता हूँ। तुम दो घड़ी के लिए मुझे क्षमा करो।"

इति महाभारते कर्णपर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

षड्विंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण की कर्ण को चेतावनी और कर्ण का वध

सञ्जय उवाच

तमब्रवीद् वासुदेवो रथस्थो
राधेय दिष्ट्या स्मरसीह धर्मम्।
प्रायेण नीचा व्यसनेषु मग्ना
निन्दन्ति दैवं कुकृतं न तु स्वम् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! उस समय रथ पर बैठे हुए श्रीकृष्ण ने कर्ण से कहा—"राधानन्दन! सौभाग्य की बात है कि आज तुम्हें धर्म का स्मरण हो रहा है। प्रायः यह देखने में आता है कि नीच मनुष्य विपत्ति में फँसने पर दैव की निन्दा करते हैं, अपने किये हुए कुकर्मों की नहीं।

यद् द्रौपदीमेकवस्त्रां सभाया-
मानाययेस्त्वं च सुयोधनश्च।
दुःशासनः शकुनिः सौबलश्च
न ते कर्ण प्रत्यभात्तत्र धर्मः ॥२॥

"कर्ण! जब तुमने, दुर्योधन, दुःशासन तथा

सुबलपुत्र शकुनि ने एक वस्त्र धारण करनेवाली रजस्वला द्रौपदी को सभा में बुलवाया था, उस समय तुम्हारे मन में धर्म का विचार नहीं आया था ?

यदा सभायां राजानमनक्षज्ञं युधिष्ठिरम् ।
अजैषीच्छकुनिर्ज्ञानात् क्व ते धर्मस्तदा गतः ।।३।।

"जब कौरवसभा में जुए के खेल से अनभिज्ञ राजा युधिष्ठिर को शकुनि ने जानबूझकर छलपूर्वक हराया था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?

वनवासे व्यतीते च कर्ण वर्षे त्रयोदशे ।
न प्रयच्छसि यद् राज्यं क्व ते धर्मस्तदा गतः ।।४।।

"कर्ण ! वनवास का तेरहवाँ वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी जब तुमने पाण्डवों का राज्य उन्हें वापस नहीं दिया था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?

यद् भीमसेनं सर्पैश्च विषयुक्तैश्च भोजनैः ।
आचरत् त्वन्मते राजा क्व ते धर्मस्तदा गतः ।।५।।

"जब राजा दुर्योधन ने तुम्हारी सम्मति से भीमसेन को विषयुक्त अन्न खिलाया और उन्हें सर्पों से डँसवाया, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?

यद् वारणावते पार्थान् सुप्ताञ्जतुगृहे तदा ।
आदीपयस्त्वं राधेय क्व ते धर्मस्तदा गतः ।।६।।

"राधानन्दन ! उन दिनों वारणावतनगर में लाक्षाभवन के भीतर सोये हुए कुन्तीपुत्रों को जब तुमने जलाने का प्रयत्न कराया था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?

यदा रजस्वलां कृष्णां दुःशासनवशे स्थिताम् ।
सभायां प्राहसः कर्ण क्व ते धर्मस्तदा गतः ।।७।।

"कर्ण ! भरी सभा में दुःशासन के वश में पड़ी हुई रजस्वला द्रौपदी को लक्ष्य करके जब तुमने उपहास किया था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?

राज्यलुब्धः पुनः कर्ण समाह्वयसि पाण्डवान् ।
यदा शकुनिमाश्रित्य क्व ते धर्मस्तदा गतः ।।८।।

"कर्ण ! राज्य के लोभ में पड़कर तुमने शकुनि की सम्मति के अनुसार जब पाण्डवों को दुबारा जुए के लिए बुलवाया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ।

यदाभिमन्युं बहवो युद्धे जघ्नुर्महारथाः ।
परिवार्य रणे बालं क्व ते धर्मस्तदा गतः ।।९।।

"जब युद्ध में तुम बहुत-से महारथियों ने मिलकर बालक अभिमन्यु को चारों ओर से घेरकर मार डाला था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ?"

एवमुक्तस्तदा कर्णो वासुदेवेन भारत ।
लज्जयावनतो भूत्वा नोत्तरं किञ्चिदुक्तवान् ।।१०।।

भरतभूषण ! उस समय श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर कर्ण ने लज्जा से अपना सिर झुका लिया, उससे कुछ भी उत्तर देते नहीं बना ।

क्रोधात् प्रस्फुरमाणौष्ठो धनुरुद्यम्य भारत ।
योधयामास वै पार्थं महावेगपराक्रमः ।।११।।

हे भारत ! वह महान् वेग और पराक्रम से सम्पन्न हो, क्रोध से ओंठ फड़फड़ाता हुआ धनुष उठाकर युद्ध करने लगा ।

ततोऽब्रवीद् वासुदेवः फाल्गुनं पुरुषर्षभम् ।
दिव्यास्त्रेणैव निर्भिद्य पातयस्व महाबल ।।१२।।

कर्ण से उक्त बातें कहकर वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण ने पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन से कहा—"महाबली वीर ! तुम कर्ण को दिव्यास्त्र से घायल करके मार गिराओ ।"

एवमुक्तस्तु देवेन क्रोधमागात्तदार्जुनः ।
मन्युमभ्याविशद् घोरं स्मृत्वा तत्तु धनञ्जयः ।।१३।।

श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर अर्जुन उस समय कर्ण के प्रति अत्यन्त कुपित हो उठे । उसकी पिछली करतूतों को स्मरण करके उनके मन में भयानक रोष जाग उठा ।

तं समीक्ष्य ततः कर्णो ब्रह्मास्त्रेण धनञ्जयम् ।
अभ्यवर्षत् पुनर्यत्नमकरोद् रथसर्जने ।।१४।।

उन्हें कुपित देख कर्ण ने अर्जुन पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करके बाणों की झड़ी लगा दी और पुनः रथ के पहिये को निकालने का प्रयत्न किया ।

ब्रह्मास्त्रेणैव तं पार्थो ववर्ष शरवृष्टिभिः ।
तदस्त्रमस्त्रेणावार्य प्रजहार च पाण्डवः ।।१५।।

तब पाण्डुनन्दन अर्जुन ने भी ब्रह्मास्त्र से ही उसके अस्त्र को शान्त करके उसके ऊपर बाणों की

वर्षा प्रारम्भ कर दी और उसे अच्छी प्रकार घायल कर दिया।

ततः शरं महाघोरं ज्वलन्तमिव पावकम्।
आददे पाण्डुपुत्रस्य सूतपुत्रो जिघांसया ॥१६॥

तब सूतपुत्र ने पाण्डुनन्दन अर्जुन का वध करने के लिए प्रदीप्त हुई अग्नि के समान एक महाभयंकर बाण हाथ में लिया।

स सायकः कर्णभुजप्रमुक्तः
शक्राशनिप्रख्यरुचिः शिताग्रः।
भुजान्तरं प्राप्य धनञ्जयस्य
विवेश वल्मीकमिवोरगोत्तमः ॥१७॥

कर्ण के हाथ से छूटा हुआ वह बाण इन्द्र के वज्र के समान प्रकाशित हो रहा था। उसका अगला भाग बहुत तीखा था। वह अर्जुन की छाती में जा लगा और जैसे उत्तम सर्प बांबी में घुस जाता है, उसी प्रकार वह उनके वक्षस्थल में समा गया।

स गाढविद्धः समरे महात्मना:
विघूर्णमानः श्लथहस्तगाण्डिवः।
चचाल बीभत्सुरमित्रमर्दनः
क्षितेः प्रकम्पे च यथाचलोत्तमः ॥१८॥

रणभूमि में उस बाण की गहरी चोट खाकर महामना अर्जुन को चक्कर आ गया। गाण्डीव धनुष पर रखा हुआ उनका हाथ ढीला पड़ गया और वे शत्रुमर्दन अर्जुन भूकम्प के समय हिलते हुए श्रेष्ठ पर्वत के समान काँपने लगे।

तदन्तरं प्राप्य वृषः सुवीरः
रथाङ्गमुर्वीगतमुज्जिहीर्षुः।
रथादवप्लुत्य निगृह्य दोर्भ्यां
शशाक दैवान्न महाबलोऽपि ॥१९॥

इसी बीच में अवसर पाकर महावीर कर्ण ने धरती में धंसे हुए पहिये को निकालने का विचार किया। वह रथ से कूद पड़ा और दोनों हाथों से पकड़कर उसे ऊपर उठाने का प्रयत्न करने लगा, परन्तु महाबली होने पर भी वह दुर्दैव के कारण अपने प्रयास में सफल न हो सका।

ततः किरीटी प्रतिलभ्य संज्ञां
जग्राह बाणं यमदण्डकल्पम्।
ततोऽब्रवीद् वासुदेवोऽपि पार्थं
छिन्ध्यस्य मूर्धानमरेः शरेण ॥२०॥

उधर होश में आने पर किरीटधारी महात्मा अर्जुन ने यमदण्ड के समान भयंकर बाण हाथ में लिया। यह देख श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"पार्थ! अपने इस बाण से [रथ पर चढ़ने से पूर्व ही] अपने शत्रु का शिर काट डालो।"

तथैव सम्पूज्य वचः प्रभोः सः
ततः शरं प्रज्वलितं प्रगृह्य।
जघान कक्षाममलार्कवर्णां
महारथे स्यन्दनचक्रमग्ने ॥२१॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण की उस आज्ञा को सादर शिरोधार्य किया और उस प्रज्वलित बाण को हाथ में लेकर, जिसका पहिया फँसा हुआ था, कर्ण के उस विशाल रथ पर फहराती हुई सूर्य के समान प्रकाशमान ध्वजा पर प्रहार किया।

ततः क्षुरप्रेण सुसंशितेन
सुवर्णपंखेन हुताग्निभासा।
श्रिया ज्वलन्तं ध्वजमुन्ममाथ
महारथस्याधिरथेः किरीटी ॥२२॥

किरीटधारी अर्जुन ने सोने के पंखवाले और आहुति से प्रज्वलित हुई अग्नि के समान विभासित उस तीखे क्षुरप्र से महारथी कर्ण के उस ध्वज को नष्ट कर दिया, जो अपनी प्रभा से निरन्तर देदीप्यमान होता रहता था।

यशश्च दर्पश्च तथा प्रियाणि च
सर्वाणि कार्याणि च तेन केतुना।
साकं कुरूणां हृदयानि चापतन्
बभूव हाहेति च निःस्वनो महान् ॥२३॥

कटकर गिरते हुए उस ध्वजा के साथ ही कौरवों के यश, अभिमान, समस्त प्रिय कार्य और हृदय का भी पतन हो गया तथा चारों ओर महान् हाहाकार मच गया।

दृष्ट्वा ध्वजं पातितमाशुकर्त्रा
कुरुप्रवीरेण निकृत्तमाजौ।
नाशंसिरे सूतसुतस्य सर्वे
जयं तदा भारत ये त्वदीयाः ॥२४॥

भरतभूषण ! शीघ्रकारी कौरव-वीर अर्जुन के द्वारा रणभूमि में उस ध्वजा को काटकर गिराया हुआ देख उस समय आपके सभी सैनिकों ने सूतपुत्र कर्ण की विजय की आशा छोड़ दी।

अथ त्वरन् कर्णवधाय पार्थो
महेन्द्रवज्रानलदण्डकल्पम्
आदत्त चाथाञ्जलिकं निषङ्गात्
सहस्ररश्मेरिव रश्मिभासम् ॥२५॥

तत्पश्चात् कर्ण के वध के लिए शीघ्रता करते हुए अर्जुन ने अपने तरकस से अञ्जलिक नामक एक बाण निकाला, जो इन्द्र के वज्र और अग्नि के दण्ड के समान भयंकर एवं सूर्य की एक उत्तम किरण के समान कान्तिमान् था।

ततस्तु तं वै शरमप्रमेयं
गाण्डीवधन्वा धनुषि व्ययुंक्त।
युक्त्वा महास्त्रेण परेण चापं
विकृष्य गाण्डीवमुवाच शीघ्रम् ॥२६॥

तदनन्तर गाण्डीवधारी अर्जुन ने उस अप्रमेय शक्तिशाली बाण को धनुष पर रखा तथा उसे उत्तम एवं महान् दिव्यास्त्र से अभिमन्त्रित करके तुरन्त ही गाण्डीव को खींचते हुए कहा—

अयं महास्त्रप्रहितो महाशरः
शरीरहृच्चासुहरश्च दुर्हृदः।
तपोऽस्ति तप्तं गुरवश्च तोषिता
मया यदीष्टं सुहृदां श्रुतं तथा ॥२७॥
अनेन सत्येन निहन्त्वयं शरः
सुसंहितः कर्णमरिं ममोर्जितम्।
इत्यूचिवाँस्तं प्रमुमोच सायकं
धनञ्जयः कर्णवधाय सत्वरम् ॥२८॥

"यह महान् दिव्यास्त्र से प्रेरित महाबाण शत्रु के शरीर, हृदय और प्राणों का विनाश करनेवाला है। यदि मैंने तप किया हो, गुरुजनों को सेवा द्वारा सन्तुष्ट रखा हो, यज्ञ किया हो और हितैषी मित्रों की बातें ध्यानपूर्वक सुनी हों तो इस सत्य के प्रभाव से यह सम्यक् प्रकार से संधान किया हुआ बाण मेरे बलशाली शत्रु कर्ण का नाश कर डाले।" ऐसा कहकर धनञ्जय ने उस बाण को शीघ्र ही कर्ण के वध के लिए छोड़ दिया।

तथा विमुक्तो बलिनार्कतेजाः
प्रज्वालयामास दिशो नभश्च।
ततोऽर्जुनस्तस्य शिरो जहार
वृत्रस्य वज्रेण यथा महेन्द्रः ॥२९॥

महाबली अर्जुन के द्वारा इस प्रकार छोड़ा हुआ वह सूर्य के समान तेजस्वी बाण आकाश एवं दिशाओं को प्रकाशित करने लगा। जैसे इन्द्र ने अपने वज्र से वृत्रासुर का सिर काट गिराया था, उसी प्रकार अर्जुन ने उस बाण द्वारा कर्ण का मस्तक धड़ से अलग कर दिया।[1]

---

१. कर्ण की दानवीरता प्रसिद्ध है। लोक में ऐसा प्रवाद फैला हुआ है कि कर्ण की मृत्यु पर श्रीकृष्ण बहुत दुःखी हुए। अर्जुन ने उनके दुःखी होने का कारण पूछा तो उन्होंने कहा—"आज संसार से एक बहुत बड़ा दानी उठ गया।" अर्जुन को विश्वास नहीं हुआ। तब श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ब्राह्मण का वेश बनाकर रणभूमि में पहुँचे, जहाँ कर्ण अन्तिम साँस ले रहा था। दोनों ने उच्च स्वर से कहा—"दानवीर कर्ण की जय हो ! हम आपकी कीर्ति सुनकर कुछ प्राप्ति की इच्छा से आपके पास आये हैं।" कर्ण बोला—"मैं तो मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ हूँ। यहाँ मेरे पास कुछ नहीं है। आप मेरे घर पर चले जाइए, आपकी अभीष्ट वस्तु आपको प्राप्त हो जाएगी।" ब्राह्मण-वेशधारी श्रीकृष्ण और अर्जुन ने कहा—"क्या हम निराश लौट जाएँ ? हम घर नहीं जाएँगे, आप यदि कुछ दे सकें तो यहीं दे दें।" उनकी बात सुनकर कर्ण ने कुछ स्मरण करते हुए कहा—"मेरे मुख में एक स्वर्ण का दाँत लगा हुआ है। आप तोड़कर इसे निकाल लें।" छद्मवेशधारी ब्राह्मण बोले—"हम यह पाप नहीं कर सकते। आपको कुछ देना हो तो दें, अन्यथा हम लौटते हैं।" कर्ण बोला—"अच्छा आप यह पास में पड़ा हुआ पत्थर मुझे पकड़ा दें। मैं स्वयं ही अपना दाँत तोड़कर आपको दे दूँगा।" इसपर इन ब्राह्मणों ने कहा—"हम दान लेने आये हैं, नौकरी करने नहीं आये।" यह सुनकर कर्ण ने स्वयं सरक-सरककर वह पत्थर उठाया और उससे अपना सोने का दाँत तोड़कर कहा—"लीजिए।" ब्राह्मण बोले—"यह रक्त से सना हुआ

तत् प्रापतच्चाञ्जलिकेन छिन्न-
मथास्य कायो निपपात पश्चात् ।
तदद्भुतं सर्वमनुष्ययोधाः
संदृष्टवन्तो निहिते स्म कर्णे ॥३०॥

अञ्जलिक से कटा हुआ कर्ण का वह मस्तक पृथिवी पर गिर पड़ा। तत्पश्चात् उसका शरीर भी धराशायी हो गया। कर्ण के मारे जाने पर इस अद्भुत दृश्य को वहाँ खड़े हुए सब लोगों ने अपनी आँखों से देखा।

शंखांस्ततः पाण्डवा दध्मुरुच्चैर्
दृष्ट्वा कर्णं पातितं फाल्गुनेन ।
तूर्याणि सञ्जघ्नुरतीव हृष्टा
वासांसि चैवादुधुवुर्भुजांश्च ॥३१॥

कर्ण को अर्जुन द्वारा मार गिराया हुआ देख पाण्डवों ने उच्च स्वर से शंख बजाये। वे बड़े हर्ष में भरकर बाजे बजाने और कपड़े तथा हाथ हिलाने लगे।

कर्णं तु शूरं पतितं पृथिव्यां
शराचितं शोणितदिग्धगात्रम् ।
दृष्ट्वा शयानं भुवि मद्रराज-
श्छिन्नध्वजेनाथ ययौ रथेन ॥३२॥

शूरवीर कर्ण को बाणों से व्याप्त और खून से लथपथ होकर भूमि पर पड़ा हुआ देख मद्रराज शल्य उस कटी हुई ध्वजावाले रथ के द्वारा ही वहाँ से भाग खड़े हुए।

कर्णे हते कौरवाः प्राद्रवन्त
भयार्दिता गाढहताश्च संख्ये ।
अवेक्षमाणा मुहुरर्जुनस्य
ध्वजं महान्तं वपुषा ज्वलन्तम् ॥३३॥

कर्ण के मारे जाने पर युद्ध में अत्यन्त घायल हुए कौरव सैनिक अर्जुन के प्रज्वलित ध्वज को बारम्बार देखते हुए भय से पीड़ित हो भागने लगे।

निपातितस्यन्दनवाजिनागं
बलं च दृष्ट्वा हतसूतपुत्रम् ।
दुर्योधनोऽश्रुप्रतिपूर्णनेत्रो
दीनो मुहुर्निःश्वसंश्चार्तरूपः ॥३४॥

कौरव-सेना के रथ, घोड़े और हाथी मार डाले गये थे। सूतपुत्र का भी वध कर दिया गया था। उस दशा में उस सेना को देखकर दुर्योधन की आँखों में आँसू आ गये और वह बारम्बार लम्बी साँस खींचता हुआ दीन एवं दुःखी हो गया।

मद्राधिपश्चापि विमूढचेता-
स्तूर्णं रथेनापकृतध्वजेन ।
दुर्योधनस्यान्तिकमेत्य राजन्
सबाष्पदुःखाद् वचनं बभाषे ॥३५॥

राजन्! जिसकी ध्वजा काट दी गई थी, उस रथ के द्वारा मद्रराज शल्य भी विमूढ़-चित्त होकर तुरन्त दुर्योधन के पास गये और दुःख से आँसू बहाते हुए इस प्रकार बोले—

विशीर्णनागाश्वरथप्रवीरं
बलं त्वदीयं यमराष्ट्रकल्पम् ।
अन्योन्यमासाद्य हतं महद्भिर्-
नराश्वनागैर्गिरिकूटकल्पैः ॥३६॥

"नरेश्वर! तुम्हारी सेना के हाथी, घोड़े, रथ तथा प्रमुख वीर नष्ट-भ्रष्ट हो गये। सारी सेना में यमराज का राज्य-सा हो गया है। पर्वत-शिखरों के समान विशाल हाथी, घोड़े और पैदल मनुष्य एक-दूसरे से टक्कर लेकर अपने प्राण खो बैठे हैं।

नैतादृशं भारत युद्धमासीद्
यथा तु कर्णार्जुनयोर्बभूव ।

दाँत हम नहीं ले सकते।" तब कर्ण ने सरकते हुए अपना धनुष-बाण उठाया और भूमि में मारा जिससे जलधारा [फव्वारा] फूट पड़ी। उस दाँत को इस जलधारा में धोकर कर्ण ने उन्हें दे दिया। तब श्रीकृष्ण ने उन्हें अपना और अर्जुन का यथार्थ परिचय दिया।

कर्ण दानवीर थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है, परन्तु उपर्युक्त सारी घटना अनर्गल और कपोल-कल्पित है। 'महाभारत' में इसका उल्लेख नहीं है। यह सब तो राधेश्याम कथावाचक की कल्पना मात्र है। यहाँ स्पष्ट कहा है कि **'ततोऽर्जुनस्तस्य शिरो जहार'**—अर्जुन ने उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। जब सिर धड़ से अलग हो गया तब दाँत तोड़कर देने की बात कैसे सम्भव हो सकती है?

ग्रस्तौ हि कर्णेन समेत्य कृष्णा-
वन्ये च सर्वे तव शत्रवो ये ॥३७॥

"भरतभूषण ! आज कर्ण और अर्जुन में जैसा युद्ध हुआ है, वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। कर्ण ने धावा करके श्रीकृष्ण, अर्जुन तथा तुम्हारे अन्य सब शत्रुओं को भी प्रायः प्राणों के संकट में डाल दिया था, परन्तु कोई फल नहीं निकला।

दैवं ध्रुवं पार्थवशात् प्रवृत्तं
यत्पाण्डवान्पाति हिनस्ति चास्मान्।
तवार्थसिद्ध्यर्थकरास्तु सर्वे
प्रसह्य वीरा निहता द्विषद्भिः ॥३८॥

"निश्चय ही दैव कुन्तीपुत्रों के अधीन होकर कार्य कर रहा है, क्योंकि वह पाण्डवों की तो रक्षा कर रहा है और हमारा सत्यानाश। यही कारण है कि तुम्हारे अर्थ की सिद्धि के लिए प्रयत्न करनेवाले प्रायः सभी वीर शत्रुओं के हाथ से बलपूर्वक मारे गये।

कुबेरवैवस्वतवासवानां
तुल्यप्रभावा नृपते सुवीराः।
वीर्येण शौर्येण बलेन चैव
तैस्तैस्तु युक्ता विविधैर्गुणौघैः ॥३९॥

"राजन् ! तुम्हारी सेना के श्रेष्ठ वीर कुबेर, यम और इन्द्र के समान प्रभावशाली तथा बल, पराक्रम, शौर्य, और अन्य नाना प्रकार के गुण-समूहों से समलंकृत थे।

अवध्यकल्पा निहता नरेन्द्रा-
स्तवार्थकामा युधि पाण्डवैस्ते।
तन्मा शुचो भारत दिष्टमेतत्
पर्याश्वस त्वं न सदास्ति सिद्धिः ॥४०॥

"जो-जो राजा तुम्हारे स्वार्थ की सिद्धि चाहनेवाले और अवध्य के समान थे, उन सबको पाण्डवों ने युद्ध में मार डाला। भारत ! अब तुम शोक मत करो। यह सब प्रारब्ध का खेल है। सबको सदा ही सिद्धि नहीं मिलती, ऐसा जानकर धैर्य धारण करो।"

एतद् वचो मद्रपतेर्निशम्य
स्वं चाप्यनीतं मनसा निरीक्ष्य।
दुर्योधनो दीनमना विसंज्ञः
पुनः पुनर्न्यश्वसदार्तरूपः ॥४१॥

मद्रराज शल्य की ये बातें सुनकर और अपने अन्याय पर भी मन-ही-मन दृष्टि डालकर दुर्योधन बहुत उदास एवं दुःखी हो गया। वह अत्यन्त पीड़ित और अचेत-सा होकर बारम्बार लम्बी श्वासें भरने लगा।

इति महाभारते कर्णपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

कर्णवध से युधिष्ठिर का प्रसन्न हो श्रीकृष्ण और अर्जुन की प्रशंसा करना

सञ्जय उवाच

कर्णं तु निहतं दृष्ट्वा शत्रुभिः परमाहवे।
भीता दिशो व्यकीर्यन्त तावकाः क्षतविक्षताः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—शत्रुओं ने उस महायुद्ध में वैकर्तन कर्ण को मार डाला, यह देखकर आपके सैनिक भयभीत हो उठे थे। उनका सारा शरीर घावों से भर गया था, अतः वे भागकर सम्पूर्ण दिशाओं में बिखर गये।

ततोऽवहारं चक्रुस्ते योधाः सर्वे समन्ततः।
निवार्यमाणाश्चोद्विग्नास्तावका भृशदुःखिताः ॥२॥

तब आपके समस्त योद्धा जो अत्यन्त दुःखी और उद्विग्न हो रहे थे, मना करने पर सब ओर से युद्ध बन्द करके लौटने लगे।

तेषां तन्मतमाज्ञाय पुत्रो दुर्योधनस्तव।
अवहारं ततश्चक्रे शल्यस्यानुमते नृप ॥३॥

प्रजेश्वर ! उन सबका अभिप्राय जानकर राजा शल्य की अनुमति ले आपके पुत्र दुर्योधन ने सेना को लौटने की आज्ञा दी।

हते कर्णे महाराज निराशाः कुरवोऽभवन्।
जीवितेष्वपि राज्येषु दारेषु च धनेषु च ॥४॥

महाराज ! कर्ण के मारे जाने पर कौरव अपने राज्य से, धन से, स्त्रियों और जीवन से भी निराश हो गये।

तथा निपतिते कर्णे परसैन्ये च विद्रुते ।
आश्लिश्य पार्थं दाशार्हो हर्षाद् वचनमब्रवीत् ।।५।।

उधर जब कर्ण मारा गया और शत्रुसेना भाग खड़ी हुई तब दशार्हनन्दन श्रीकृष्ण अर्जुन को हृदय से लगाकर बड़े हर्ष के साथ इस प्रकार बोले—

हतो वज्रभृता वृत्रस्त्वया कर्णो धनञ्जय ।
वृत्रकर्णवधं घोरं कथयिष्यन्ति मानवाः ।।६।।

"धनञ्जय ! पूर्वकाल में वज्रधारी इन्द्र ने वृत्रासुर का वध किया था और आज तुमने कर्ण को मौत के घाट उतारा है। वृत्रासुर और कर्ण दोनों के वध का वृत्तान्त बड़ा भयंकर है। मनुष्य सदा इसकी चर्चा करते रहेंगे।

तमिमं विक्रमं लोके प्रथितं ते यशस्करम् ।
निवेदयावः कौन्तेय कुरुराजस्य धीमतः ।।७।।

"कुन्तीनन्दन ! चलो, हम दोनों तुम्हारे इस विश्वविख्यात और यशोवर्धक पराक्रम का वृत्तान्त बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिर को बताएँ।

वधं कर्णस्य संग्रामे दीर्घकालचिकीर्षितम् ।
निवेद्य धर्मराजाय त्वमानृण्यं गमिष्यसि ।।८।।

"उन्हें दीर्घकाल से युद्ध में कर्ण के वध की अभिलाषा थी। आज धर्मराज को यह समाचार बताकर तुम उऋण हो जाओगे।

वर्तमाने महायुद्धे तव कर्णस्य चोभयोः ।
द्रष्टुमायोधनं पूर्वमागतो धर्मनन्दनः ।।९।।

"जब यह महायुद्ध चल रहा था, उस समय तुम्हारा और कर्ण का युद्ध देखने के लिए धर्मराज युधिष्ठिर पहले यहाँ आये थे।

भृशं तु गाढविद्धत्वान्नाशकत् स्थातुमाहवे ।
ततः स शिबिरं गत्वा स्थितवान् पुरुषर्षभः ।।१०।।

"परन्तु गहरी चोट खाने के कारण वे देर तक रणभूमि में ठहर न सके। यहाँ से शिबिर में जाकर ये पुरुषरत्न युधिष्ठिर विश्राम कर रहे हैं।"

तथेत्युक्तः केशवस्तु पार्थेन यदुपुङ्गवः ।
पर्यावर्तयदव्यग्रो रथं रथवरस्य तम् ।।११।।

तब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। तदनन्तर यदुकुलभूषण श्रीकृष्ण ने शान्तभाव से रथिश्रेष्ठ अर्जुन के उस रथ को युधिष्ठिर के शिबिर की ओर लौटाया।

पार्थमादाय गोविन्दो ददर्श च युधिष्ठिरम् ।
शयानं राजशार्दूलं काञ्चने शयनोत्तमे ।
अगृह्णीतां च प्रमुदौ चरणौ पार्थिवस्य तौ ।।१२।।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को साथ लेकर राजा युधिष्ठिर का दर्शन किया। उस समय नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिर सोने के उत्तम पलंग पर सो रहे थे। उन दोनों ने वहाँ पहुँचकर बड़ी प्रसन्नता के साथ राजा की चरण-वन्दना की।

तयोः प्रहर्षमालक्ष्य हर्षादश्रूण्यवर्तयत् ।
राधेयं निहतं मत्वा समुत्तस्थौ युधिष्ठिरः ।।१३।।

उन दोनों के हर्षोल्लास को देखकर राजा युधिष्ठिर यह समझ गये कि राधानन्दन कर्ण मारा गया, अतः वे शय्या से उठ खड़े हुए और नेत्रों से आनन्दाश्रु बहाने लगे।

तत् तस्मै तद् यथावृत्तं वासुदेवः सहार्जुनः ।
कथयामास कर्णस्य निधनं यदुपुङ्गवः ।।१४।।

उस समय अर्जुनसहित यदुकुलभूषण वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण ने कर्ण के मारे जाने का समाचार उन्हें यथावत् रूप से कह सुनाया।

ईषदुत्स्मयमानस्तु कृष्णो राजानमब्रवीत् ।
युधिष्ठिरं हतामित्रं कृताञ्जलिरथाच्युतः ।।१५।।

फिर श्रीकृष्ण हाथ जोड़कर कुछ मुस्कराते हुए, जिसका शत्रु मारा गया था, उस राजा युधिष्ठिर से इस प्रकार बोले—

दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च पाण्डवश्च वृकोदरः ।
त्वं चापि कुशली राजन् माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।।१६।।

"राजन् ! बड़े सौभाग्य की बात है कि गाण्डीवधारी अर्जुन, पाण्डव भीमसेन, पाण्डुकुमार माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव और आप भी सकुशल हैं।

हतो वैकर्तनो राजन् सूतपुत्रो महारथः ।
दिष्ट्या जयसि राजेन्द्र दिष्ट्या वर्धसि भारत ।।१७।।

"राजन् ! महारथी सूतपुत्र वैकर्तन कर्ण मारा गया। राजन् ! सौभाग्य से आप विजयी हो रहे हैं।

हे भारत ! आपकी वृद्धि हो रही है, यह भी सौभाग्य की बात है।

यस्तु द्यूतजितां कृष्णां प्राहसत् पुरुषाधमः।
तस्याद्य सूतपुत्रस्य भूमिः पिबति शोणितम् ।।१८।।

"जिस नराधम ने जुए में जीती हुई द्रौपदी का उपहास किया था, आज पृथिवी उस सूतपुत्र कर्ण का रक्तपान कर रही है।

शेतेऽसौ शरपूर्णाङ्गः शत्रुस्ते कुरुपुङ्गव।
तं पश्य पुरुषव्याघ्र विभिन्नं बहुभिः शरैः ।।१९।।

"कुरुकुलश्रेष्ठ ! आपका वह शत्रु समराङ्गण में सो रहा है और उसके सारे शरीर में बाण धँसे हुए हैं। नरव्याघ्र ! अनेक बाणों से क्षत-विक्षत हुए उस कर्ण को आप देखिए।"

इति श्रुत्वा वचस्तस्य केशवस्य महात्मनः।
धर्मपुत्रः प्रहृष्टात्मा दाशार्हं वाक्यमब्रवीत् ।।२०।।

राजन् ! महात्मा कृष्ण का यह वचन सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर का चित्त प्रसन्न हो गया। उन्होंने दशार्हनन्दन श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

तव कृष्ण प्रसादेन पाण्डवोऽयं धनञ्जयः।
जिगायाभिमुखः शत्रून्न चासीद्विमुखः क्वचित् ।।२१।।

"श्रीकृष्ण ! आपके प्रसाद से ही ये पाण्डुपुत्र धनञ्जय सदा सामने रहकर युद्ध में शत्रुओं पर विजयी हुए हैं और कभी युद्ध से मुख नहीं मोड़ा है।

जयश्चैव ध्रुवोऽस्माकं न त्वस्माकं पराजयः।
यदा त्वं युधि पार्थस्य सारथ्यमुपजग्मिवान् ।।२२।।

"प्रभो ! जब आप युद्ध में अर्जुन के सारथि बने थे, तभी हमें यह विश्वास हो गया था कि हम लोगों की विजय निश्चित है, हमारी पराजय नहीं हो सकती।

भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च महात्मा गौतमः कृपः।
अन्ये च बहवः शूरा ये च तेषां पदानुगाः।
त्वद्बुद्ध्या निहते कर्णे हता गोविन्द सर्वथा ।।२३।।

"गोविन्द ! भीष्म, द्रोणाचार्य, कर्ण, महात्मा गौतमवंशी कृपाचार्य तथा इनके पीछे चलनेवाले जो और भी बहुत-से शूरवीर हैं एवं रहे हैं, आपकी बुद्धि से आज कर्ण के मारे जाने पर उन सबका वध हो गया, ऐसा मैं मानता हूँ।

अद्य राजास्मि गोविन्द पृथिव्यां भ्रातृभिः सह।
त्वया नाथेन वीरेण विदुषा परिपालितः ।।२४।।

"गोविन्द ! आप जैसे विद्वान् और वीर स्वामी एवं संरक्षक के द्वारा सुरक्षित होकर आज मैं भाइयों-सहित इस भूमण्डल का राजा हो गया।

दिष्ट्या जयसि गोविन्द दिष्ट्या शत्रुर्निपातितः।
दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च विजयी पाण्डुनन्दनः ।।२५।।

"गोविन्द ! बड़े भाग्य से आपकी विजय हुई है। भाग्य से ही हमारा शत्रु कर्ण आज मौत के घाट उतार दिया गया है और सौभाग्य से ही गाण्डीव-धारी पाण्डुपुत्र अर्जुन विजयी हुए हैं।

त्रयोदश समास्तीर्णा जागरेण सुदुःखिताः।
स्वप्स्यामोऽद्य सुखं रात्रौ त्वत्प्रसादान्महाभुज ।।२६।।

"महाबाहो ! अत्यन्त दुःखी होकर हम लोगों ने जागते हुए तेरह वर्ष व्यतीत किये हैं। आज की रात आपकी कृपा से हम लोग सुखपूर्वक सो सकेंगे।"

एवं स बहुशो राजा प्रशशंस जनार्दनम्।
अर्जुनं च कुरुश्रेष्ठं महाराजो युधिष्ठिरः ।।२७।।

राजन् ! इस प्रकार धर्मराज राजा युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण और कुरुश्रेष्ठ अर्जुन की बारम्बार प्रशंसा की।

दृष्ट्वा च निहतं कर्णं सपुत्रं पार्थसायकैः।
पुनर्जातमिवात्मानं मेने स च महीपतिः ।।२८।।

पुत्रसहित कर्ण को अर्जुन के बाणों से मारा गया देख राजा युधिष्ठिर ने अपना नया जन्म हुआ-सा माना।

समेत्य च महाराज कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
हर्षयन्ति स्म राजानं हर्षयुक्ता महारथाः ।।२९।।

महाराज ! उस समय हर्ष में भरे हुए पाण्डव-पक्ष के महारथी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर से मिलकर उनका हर्ष बढ़ाने लगे।

ते वर्धयित्वा नृपतिं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
जितकाशिनो लब्धलक्ष्या युद्धशौण्डाः प्रहारिणः ।।३०।।
स्तुवन्तः स्तवयुक्ताभिर्वाग्भिः कृष्णौ परन्तपौ।
जग्मुः स्वशिबिरायैव मुदा युक्ता महारथाः ।।३१।।

वे विजय से उल्लसित हो रहे थे। उनका लक्ष्य

सिद्ध हो गया था। वे युद्धकुशल महारथी योद्धा धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर को बधाई देकर और स्तुति-युक्त वचनों द्वारा शत्रुसन्तापक श्रीकृष्ण और अर्जुन की प्रशंसा करते हुए बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने-अपने शिबिरों को गये।

एवमेष क्षयो वृत्तः सुमहाँल्लोमहर्षणः।
तव दुर्मन्त्रिते राजन् किमर्थमनुशोचसि ॥३२॥

राजन्! इस प्रकार आपकी कुमन्त्रणा के कारण यह रोमाञ्चकारी महान् जनसंहार हुआ है। अब आप किसलिए बारम्बार शोक करते हैं?

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैतदप्रियं राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
पपात भूमौ निश्चेष्टश्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥३३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह अप्रिय समाचार सुनकर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र निश्चेष्ट हो कटे हुए वृक्ष की भाँति पृथिवी पर गिर पड़े।

तथा सा पतिता देवी गान्धारी दीर्घदर्शिनी।
शुशोच बहुलालापैः कर्णस्य निधनं युधि ॥३४॥

इसी प्रकार दूरदर्शिनी गान्धारीदेवी भी पछाड़ खाकर गिर पड़ी और बहुत विलाप करती हुई युद्ध में कर्ण की मृत्यु के लिए शोक करने लगी।

तां पर्यगृह्लाद् विदुरो नृपतिं सञ्जयस्तथा।
पर्याश्वासयतां चैव तावुभावेव भूमिपम् ॥३५॥

उस समय विदुरजी ने गान्धारीदेवी को और सञ्जय ने राजा धृतराष्ट्र को सँभाला। फिर दोनों ही मिलकर राजा को समझाने-बुझाने लगे।

इति महाभारते कर्णपर्वणि सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

॥ इति कर्णपर्व सम्पूर्णम् ॥

शल्यपर्व

प्रथमोऽध्यायः

शल्य तथा दुर्योधन के वध का वृत्तान्त सुनकर धृतराष्ट्र का मूर्च्छित होना और विदुर का उन्हें समझाना

जनमेजय उवाच

एवं निपातिते कर्णे समरे सव्यसाचिना ।
अल्पावशिष्टाः कुरवः किमकुर्वत वै द्विज ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—हे ब्रह्मन् ! जब सव्यसाची अर्जुन ने रणभूमि में कर्ण को मार गिराया, तब थोड़े-से बचे हुए सैनिकों ने क्या किया ?

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तदाचक्ष्व द्विजोत्तम ।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥२॥

द्विजश्रेष्ठ ! मैं यह सब वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ । मुझे अपने पूर्वजों का महान् चरित्र सुनते-सुनते तृप्ति नहीं हो रही है, अतः आप इसका वर्णन कीजिए ।

वैशम्पायन उवाच

ततः कर्णे हते राजन् धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ।
भृशं शोकार्णवे मग्नो निराशः सर्वतोऽभवत् ॥३॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! कर्ण के मारे जाने पर धृतराष्ट्रनन्दन राजा दुर्योधन शोकसागर में डूब गया और सब ओर से निराश हो गया ।

स दैवं बलवन्मत्वा भवितव्यं च पार्थिवः ।
संग्रामे निश्चयं कृत्वा पुनर्युद्धाय निर्ययौ ॥४॥

परन्तु राजा दुर्योधन ने दैव और भवितव्यता को प्रबल मानकर युद्ध जारी रखने का ही दृढ़ निश्चय करके अगले दिन युद्ध के लिए प्रस्थान किया ।

शल्यं सेनापतिं कृत्वा विधिवद् राजपुङ्गवः ।
रणाय निर्ययौ राजा हतशेषैर्नृपैः सह ॥५॥

नृपश्रेष्ठ राजा दुर्योधन शल्य को विधिपूर्वक सेनापति-पद पर अभिषिक्त कर मरने से बचे हुए राजाओं के साथ युद्ध के लिए निकला ।

ततः शल्यो महाराज कृत्वा कदनमाहवे ।
ससैन्योऽथ स मध्याह्ने धर्मराजेन घातितः ॥६॥

महाराज ! तब सेनासहित शल्य युद्ध में बड़ा भारी नरसंहार करके मध्याह्नकाल में धर्मराज युधिष्ठिर के हाथों मारे गये ।

ततो दुर्योधनो राजा हतबन्धू रणाजिरात् ।
अपसृत्य ह्रदं घोरं विवेश रिपुजाद् भयात् ॥७॥

तब राजा दुर्योधन अपने भाइयों के मारे जाने पर रणभूमि से दूर जाकर शत्रु के भय से एक भयंकर तालाब में घुस गया ।

अथापराह्णे तस्याह्नः परिवार्य सुयोधनः ।
ह्रदादाहूय युद्धाय भीमसेनेन पातितः ॥८॥

तत्पश्चात् उसी दिन अपराह्णकाल में दुर्योधन पर घेरा डालकर उसे युद्ध के लिए तालाब से बुलाकर भीमसेन ने मार गिराया ।

तस्मिन् हते महेष्वासे हतशिष्टास्त्रयो रथाः ।
संरम्भान्निशि राजेन्द्र जघ्नुः पाञ्चालसोमकान् ॥९॥

हे राजेन्द्र ! उस महाधनुर्धर दुर्योधन के मारे जाने पर मरने से बचे हुए तीन रथी कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा ने सोते हुए पाञ्चालों और सोमकों को रोषपूर्वक मार डाला ।

ततः पूर्वाह्णसमये शिबिरादेत्य सञ्जयः ।
ददर्श नृपतिश्रेष्ठं प्रज्ञाचक्षुमीश्वरम् ॥१०॥

तत्पश्चात् पूर्वाह्णकाल में सञ्जय ने शिबिर से लौटकर अपने स्वामी प्रज्ञाचक्षु नृपश्रेष्ठ धृतराष्ट्र का

दर्शन किया।

तदन्नेवाब्रवीद् वाक्यं राजानं जनमेजय।
सञ्जयोऽहं नरव्याघ्र नमस्ते भरतर्षभ ।।११।।

जनमेजय! उस समय सञ्जय ने रोते हुए ही धृतराष्ट्र से कहा—"नरव्याघ्र! भरतभूषण! मैं सञ्जय हूँ। आपको नमस्कार है।

मद्राधिपो हतः शल्यः शकुनिः सौबलस्तथा।
उलूकः पुरुषव्याघ्र कैतव्यो दृढविक्रमः ।।१२।।

"पुरुषसिंह! मद्रराज शल्य, सुबलपुत्र शकुनि और जुआरी का पुत्र सुदृढ़ पराक्रमी उलूक—ये सब-के-सब मारे गये।

दुर्योधनो हतो राजा यथोक्तं पाण्डवेन ह।
भग्नसक्थो महाराज शेते पांसुषु रूषितः ।।१३।।

"महाराज! जैसा पाण्डुपुत्र भीमसेन ने कहा था, उसी के अनुसार राजा दुर्योधन भी मारा गया। उसकी जाँघ टूट गई और वह धूल-धूसर होकर पृथिवी पर पड़ा है।

धृष्टद्युम्नो महाराज शिखण्डी चापराजितः।
उत्तमौजा युधामन्युस्तथा राजन् प्रभद्रकाः ।।१४।।
पाञ्चालाश्च नरव्याघ्र चेदयश्च निषूदिताः।
तव पुत्रा हताः सर्वे द्रौपदेयाश्च भारत ।।१५।।

"महाराज! नरव्याघ्र नरेश! धृष्टद्युम्न, अपराजित वीर शिखण्डी, उत्तमौजा, युधामन्यु, प्रभद्रकगण, पाञ्चाल और चेदिदेशीय योद्धाओं का भी संहार हो गया। भारत! आपके तथा द्रौपदी भी सभी पुत्र मारे गये।

नरा विनिहताः सर्वे गजाश्च विनिपातिताः।
रथिनश्च नरव्याघ्र हयाश्च निहता युधि ।।१६।।

"नरव्याघ्र! रणभूमि में समस्त पैदल मनुष्य, गजारोही, रथी और घुड़सवार भी मार गिराये गये।

किञ्चिच्छेषं च शिबिरं तावकानां कृतं प्रभो।
पाण्डवानां कुरूणां च समासाद्य परस्परम् ।।१७।।

प्रभो! पाण्डवों तथा कौरवों में परस्पर संघर्ष होकर आपके पुत्रों तथा पाण्डवों के शिबिर में किञ्चिन्मात्र ही शेष रह गया है।

प्रायः स्त्रीशेषमभवज्जगत् कालेन मोहितम्।
सप्त पाण्डवतः शेषा धार्तराष्ट्रास्त्रयो रथाः ।।१८।।

"काल से मोहित हुए सारे संसार में प्रायः स्त्रियाँ ही शेष रह गई हैं। पाण्डव-पक्ष में सात और आपके पक्ष में तीन रथी मरने से बचे हैं।

ते चैव भ्रातरः पञ्च वासुदेवोऽथ सात्यकिः।
कृपश्च कृतवर्मा च द्रौणिश्च जयतां वरः ।।१९।।

"उधर पाँचों भाई पाण्डव, श्रीकृष्ण और सात्यकि शेष हैं और इधर कृपाचार्य, कृतवर्मा और विजयी वीरों में श्रेष्ठ अश्वत्थामा जीवित हैं।

अक्षौहिणीनां सर्वासां समेतानां जनेश्वर।
एते शेषा महाराज सर्वेऽन्ये निधनं गताः ।।२०।।

"प्रजेश्वर! महाराज! उभय पक्ष में जो समस्त अट्ठारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं, उनमें से ये ही रथी शेष रह गये हैं, अन्य सब लोग काल के गाल में चले गये।"

वैशम्पायन उवाच

एतत् श्रुत्वा वचः क्रूरं धृतराष्ट्रो जनेश्वरः।
निपपात स राजेन्द्रो गतसत्त्वो महीतले ।।२१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह वचन सुनकर राजाधिराज प्रजेश्वर धृतराष्ट्र प्राणहीन-से होकर पृथिवी पर गिर पड़े।

लब्ध्वा तु स नृपः सञ्ज्ञां धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
पुनर्गावल्गणिं सूतं पर्यपृच्छद् यथातथम् ।।२२।।

अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र ने होश में आकर गवल्गणपुत्र सञ्जय से पुनः युद्ध का याथातथ्य समाचार पूछा।

धृतराष्ट्र उवाच

भीष्मद्रोणौ हतौ श्रुत्वा सूतपुत्रं च घातितम्।
सेनापतिं प्रणेतारं किमकुर्वत मामकाः ।।२३।।

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय! भीष्म तथा आचार्य द्रोण के वध का और युद्ध-संचालक सेनापति सूत्रपुत्र कर्ण के मारे जाने का समाचार सुनकर मेरे पुत्रों ने क्या किया?

को वा मुखमनीकानामासीत् कर्णे निपातिते।
अर्जुनं वासुदेवं च को वा प्रत्युद्ययौ रथी ।।२४।।

कर्ण के मारे जाने पर सेना के मुखस्थान पर खड़ा होनेवाला कौन था? कौन-सा रथी अर्जुन एवं

श्रीकृष्ण का सामना करने के लिए आगे बढ़ा ?

कथं च वः समेतानां मद्रराजो महारथः।
निहतः पाण्डवैः संख्ये पुत्रो वा मम सञ्जय ॥२५॥

सञ्जय ! तुम सब लोगों के एक-साथ रहते हुए भी महारथी मद्रराज शल्य अथवा मेरा पुत्र दुर्योधन दोनों ही तुम्हारे सामने पाण्डवों के हाथ से कैसे मारे गये ?

पाञ्चालाश्च यथा सर्वे निहताः सपदानुगाः।
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः ॥२६॥

समस्त पाञ्चाल-सैनिक अपने सेवकोंसहित कैसे मारे गये ? धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और द्रौपदी के पाँचों पुत्रों का संहार कैसे हुआ ?

पाण्डवाश्च यथा मुक्तास्तथोभौ माधवौ युधि।
कृपश्च कृतवर्मा च भारद्वाजस्य चात्मजः ॥२७॥

पाँचों पाण्डव, दोनों मधुवंशी वीर श्रीकृष्ण और सात्यकि, कृपाचार्य, कृतवर्मा तथा अश्वत्थामा—ये रणभूमि में किस प्रकार जीवित बच गये ?

ब्रूहि सर्वं यथातथ्यं भरतानां महाक्षयम्।
अखिलं श्रोतुमिच्छामि कुशलो ह्यसि सञ्जय ॥२८॥

तुम भरतवंशियों के विनाश का सारा वृत्तान्त यथार्थरूप से बताओ। मैं वह सब-कुछ सम्पूर्ण रूप से सुनना चाहता हूँ। तुम वह सब बताने में कुशल हो।

इति महाभारते शल्यपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

कृपाचार्य का दुर्योधन को सन्धि के लिए समझाना परन्तु दुर्योधन का युद्ध का निश्चय करना

सञ्जय उवाच

शृणु राजन्नवहितो यथा वृत्तो महान् क्षयः।
कुरूणां पाण्डवानां च समासाद्य परस्परम् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! कौरवों और पाण्डवों के आपस में भिड़ने से जिस प्रकार का महान् जन-संहार हुआ, वह सब सावधान होकर सुनो—

पतितान् रथनीडाँश्च रथाँश्चापि महात्मनाम्।
रणे च निहतान् नागान् दृष्ट्वा पत्तींश्च मारिष ॥२॥
विमुखे तव पुत्रे तु शोकोपहतचेतसि।
कृपाविष्टः कृपो राजन् वयःशीलसमन्वितः ॥३॥
अब्रवीत् तत्र तेजस्वी सोऽभिसृत्य जनाधिपम्।
दुर्योधनं मन्युवशाद् वाक्यं वाक्यविशारदः ॥४॥

मान्यवर नरेश ! उस समय रणभूमि में महामनस्वी वीरों के रथ और उनकी टूटी हुई बैठकों, सवारोंसहित हाथी और पैदल सैनिकों को मारा गया देखकर जब आपके पुत्र दुर्योधन का मन शोक में डूब गया और उसने युद्ध से मुँह मोड़ लिया, उस समय प्रौढ़-अवस्था और उत्तम-स्वभाव से युक्त तेजस्वी कृपाचार्य के मन में बड़ी दया आई। बातचीत करने में कुशल उन्होंने राजा दुर्योधन के पास जाकर उसकी दीनता देखकर इस प्रकार कहा—

कृप उवाच

दुर्योधन निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव।
श्रुत्वा कुरु महाराज यदि ते रोचतेऽनघ ॥५॥

कृपाचार्य बोले—कुरुवंशी महाराज दुर्योधन ! मैं इस समय तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो। निष्पाप ! मेरी बात सुनकर यदि तुम्हें रुचे तो उसके अनुसार कार्य करो।

युद्धधर्मान्न वै श्रेयान् पन्था राजेन्द्र विद्यते।
यं समाश्रित्य युद्ध्यन्ते क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥६॥

हे राजेन्द्र ! क्षत्रियशिरोमणे ! युद्धधर्म से बढ़-कर दूसरा कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है, जिसका आश्रय लेकर क्षत्रिय लोग युद्ध में तत्पर रहते हैं।

पुत्रो भ्राता पिता चैव स्वस्रीयो मातुलस्तथा।
सम्बन्धिबान्धवाश्चैव योद्ध्या वै क्षत्रजीविना ॥७॥

क्षत्रिय-धर्म से जीवन-निर्वाह करनेवाले पुरुष के लिए पुत्र, भ्राता, पिता, भानजा, मामा, सम्बन्धी और बन्धु-बान्धव—इन सबके साथ युद्ध करना कर्तव्य है।

वधे चैव परो धर्मस्तथाधर्मः पलायने।
ते स्म घोरां समापन्ना जीविकां जीवितार्थिनः ॥८॥

युद्ध में शत्रु को मारना अथवा उसके हाथ से

मारा जाना दोनों ही उत्तम धर्म हैं और युद्ध से पीठ दिखाना महापाप है। सभी क्षत्रिय जीवन-निर्वाह की इच्छा रखते हुए उसी घोर जीविका का आश्रय लेते हैं।

तदत्र प्रतिवक्ष्यामि किंचिदेव हितं वचः।
हते भीष्मे च द्रोणे च कर्णे चैव महारथे ॥९॥
जयद्रथे च निहते तव भ्रातृषु चानघ।
लक्ष्मणे तव पुत्रे च किं शेषं पर्युपास्महे ॥१०॥

ऐसी अवस्था में मैं तुम्हारे लिए कुछ हित की बात बताऊँगा। अनघ! भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, महारथी कर्ण, जयद्रथ और तुम्हारे सभी भाई काल के गाल में समा गये हैं। तुम्हारा पुत्र लक्ष्मण भी जीवित नहीं है। अब दूसरा कौन शेष है, जिसका हम लोग आश्रय ग्रहण करें?

येषु भारं समासाद्य राज्ये मतिमकुर्महि।
ते संत्यज्य तनूर्याताः शूरा ब्रह्मविदां गतिम् ॥११॥

जिनपर युद्ध का भार रखकर हम राज्य पाने की आशा करते थे, वे सभी शूरवीर शरीर छोड़कर ब्रह्मवेत्ताओं की गति को प्राप्त हो गये।

वयं त्विह विनाभूता गुणवद्भिर्महारथैः।
कृपणं वर्तयिष्याम पातयित्वा नृपान् बहून् ॥१२॥

इस समय हम लोग यहाँ भीष्म आदि गुणवान् महारथियों के सहयोग से वञ्चित हो गये हैं और बहुत-से नरेशों को मरवाकर दयनीय स्थिति में आ गये हैं।

सर्वैरथ च जीवद्भिर्बीभत्सुरपराजितः।
कृष्णनेत्रो महाबाहुर्देवैरपि दुरासदः ॥१३॥

जब सभी शूरवीर जीवित थे, तब भी अर्जुन किसी के द्वारा पराजित नहीं हुए। श्रीकृष्ण जैसे नेता के रहते हुए महाबाहु अर्जुन देवताओं के लिए भी दुर्जय हैं।

अद्य सप्तदशाहानि वर्तमानस्य भारत।
संग्रामस्यातिघोरस्य वध्यतां चाभितो युधि ॥१४॥

भरतभूषण! दोनों ओर से परस्पर मार-काट मचाते हुए योद्धाओं के इस अत्यन्त भयंकर संग्राम को आरम्भ हुए आज सत्रह दिन हो गये हैं।

वायुनेव विधूतानि तव सैन्यानि सर्वतः।
शरदम्भोदजालानि व्यशीर्यन्त समन्ततः ॥१५॥

जैसे हवा शरद्-ऋतु के बादलों को छिन्न-भिन्न कर देती है, वैसे ही अर्जुन की मार से आपकी सेनाएँ सब ओर तितर-बितर हो गई हैं।

तां नावमिव पर्यस्तां वातधूतां महार्णवे।
तव सेनां महाराज सव्यसाची व्यकम्पयत् ॥१६॥

हे महाराज! जैसे समुद्र में वायु के थपेड़े खाकर नाव डगमगाने लगती है, उसी प्रकार सव्यसाची अर्जुन ने तुम्हारी सेना को कँपा डाला है।

क्व नु ते सूतपुत्रोऽभूत क्व नु द्रोणः सहानुगः।
बाणगोचरसम्प्राप्तं प्रेक्ष्य चैव जयद्रथम् ॥१७॥

उस दिन जयद्रथ को अर्जुन के बाणों का निशाना बनते देखकर भी तुम्हारा कर्ण कहाँ चला गया था? और अपने अनुयायियों के साथ द्रोणाचार्य कहाँ थे?

सर्वान् विक्रम्य मिषतो लोकमाक्रम्य मूर्धनि।
जयद्रथो हतो राजन् किं नु शेषमुपास्महे ॥१८॥

राजन्! अर्जुन ने सभी महारथियों को अपने पराक्रम द्वारा सहज में ही परास्त करके सब लोगों के सिर पर पैर रखकर जयद्रथ को मार डाला। अब और कौन बचा है, जिसका हम आश्रय लें?

तस्य चास्त्राणि दिव्यानि विविधानि महात्मनः।
गाण्डीवस्य च निर्घोषो धैर्याणि हरते हि नः ॥१९॥

महात्मा अर्जुन के पास नाना प्रकार के दिव्यास्त्र हैं। उनके गाण्डीव धनुष का गम्भीर घोष हमारा धैर्य छीन लेता है।

सात्यकेश्चैव यो वेगो भीमसेनस्य चोभयोः।
दारयेच्च गिरीन् सर्वान् शोषयेच्चैव सागरान् ॥२०॥

उधर सात्यकि और भीमसेन दोनों वीरों का जो वेग है, वह सारे पर्वतों को विदीर्ण कर सकता है, समुद्रों को भी सुखा सकता है।

युष्माभिस्तानि चीर्णानि यान्यसाधूनि साधुषु।
अकारणकृतान्येव तेषां वः फलमागतम् ॥२१॥

पाण्डव साधु पुरुष हैं तो भी तुम लोगों ने अकारण ही उनके साथ ऐसे बहुत-से अनुचित व्यवहार किये हैं, जो साधु पुरुष के साथ नहीं करने चाहिएँ, उन्हीं का यह फल तुम्हें मिला है।

आत्मनोऽर्थे त्वया लोके यत्नतः सर्व आहृतः ।
स ते संशयितस्तात आत्मा वै भरतर्षभ ॥२२॥

भरतभूषण ! तुमने अपनी रक्षा के लिए ही प्रयत्नपूर्वक सारे संसार के लोगों को एकत्र किया था, किन्तु अब तुम्हारा ही जीवन संशय में पड़ गया है।

रक्ष दुर्योधनात्मानमात्मा सर्वस्य भाजनम् ।
भिन्ने हि भाजने तात दिशो गच्छति तद्गतम् ॥२३॥

दुर्योधन ! अब तुम अपने शरीर की रक्षा करो, क्योंकि शरीर ही आत्मा के समस्त सुखों का भाजन है। पात्र के फूट जाने पर उसका जल चारों ओर बह जाता है, उसी प्रकार आत्मा के आधार शरीर के नष्ट होने से उसपर अवलम्बित सुखों का भी अन्त हो जाता है।

हीयमानेन वै सन्धिः पर्येष्टव्यः समेन वा ।
विग्रहो वर्धमानेन मतिरेषा बृहस्पतेः ॥२४॥

बृहस्पति की नीति के अनुसार जब अपना बल कम या बराबर जान पड़े तो शत्रु के साथ सन्धि कर लेनी चाहिए। युद्ध उसी समय छेड़ना चाहिए, जब अपनी शक्ति शत्रु से बढ़ी-चढ़ी हो।

ते वयं पाण्डुपुत्रेभ्यो हीनाः स्म बलशक्तितः ।
तदत्र पाण्डवैः सार्धं सन्धिं मन्ये क्षमं प्रभो ॥२५॥

हम लोग बल तथा शक्ति में पाण्डवों से हीन हो गये हैं, अतः प्रभो ! इस अवस्था में मैं पाण्डवों के साथ सन्धि कर लेना ही उचित समझता हूँ।

न जानीते हि यः श्रेयः श्रेयसश्चावमन्यते ।
स क्षिप्रं भ्रश्यते राज्यान्न च श्रेयोऽनुविन्दते ॥२६॥

जो राजा अपनी भलाई की बात नहीं समझता और श्रेष्ठ पुरुषों का अपमान करता है, वह शीघ्र ही राज्य से भ्रष्ट हो जाता है तथा उसे कभी कल्याण की प्राप्ति नहीं होती।

प्रणिपत्य हि राजानं राज्यं यदि लभेमहि ।
श्रेयः स्यान्न तु मौढ्येन राजन् गन्तुं पराभवम् ॥२७॥

राजन् ! यदि राजा युधिष्ठिर के सामने नतमस्तक होकर हम अपना राज्य प्राप्त कर लें तो यही श्रेयस्कर होगा। मूर्खतावश पराजय स्वीकार कर लेनेवाले का कभी भला नहीं हो सकता।

वैचित्रवीर्यवचनात् कृपाशीलो युधिष्ठिरः ।
विनियुञ्जीत राज्ये त्वां गोविन्दवचनेन च ॥२८॥

युधिष्ठिर दयालु हैं। वे राजा धृतराष्ट्र और श्रीकृष्ण के कहने से तुम्हें राज्य पर प्रतिष्ठित कर सकते हैं।

यद् ब्रूयाद्धि हृषीकेशो राजानमपराजितम् ।
अर्जुनं भीमसेनं च सर्वे कुर्युरसंशयम् ॥२९॥

श्रीकृष्ण किसी से पराजित न होनेवाले राजा युधिष्ठिर, अर्जुन और भीमसेन से जो कुछ भी कहेंगे, वे सब लोग उसे निःसन्देह स्वीकार कर लेंगे।

नातिक्रमिष्यते कृष्णो वचनं कौरवस्य तु ।
धृतराष्ट्रस्य मन्येऽहं नापि कृष्णस्य पाण्डवः ॥३०॥

श्रीकृष्ण कुरुराज धृतराष्ट्र की बात को नहीं टालेंगे और श्रीकृष्ण की आज्ञा का उल्लंघन युधिष्ठिर नहीं कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

न त्वां ब्रवीमि कार्पण्यान्न प्राणपरिरक्षणात् ।
पथ्यं राजन् ब्रवीमि त्वां तत्परासुः स्मरिष्यसि ॥३१॥

राजन् ! मैं कायरता अथवा प्राणरक्षा की भावना से यह सब नहीं कह रहा हूँ। मैं तुम्हारे हित की बात कह रहा हूँ। तुम मरणासन्न अवस्था में मेरी यह बात याद करोगे।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तस्ततो राजा गौतमेन तपस्विना ।
निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च तूष्णीमासीद् विशाम्पते ॥३२॥

सञ्जय कहते हैं—प्रजेश्वर ! तपस्वी कृपाचार्य के ऐसा कहने पर दुर्योधन जोर-जोर से गरम श्वास छोड़ता हुआ कुछ देर चुपचाप बैठा रहा।

ततो मुहूर्तं स ध्यात्वा धार्तराष्ट्रो महामनाः ।
कृपं शारद्वतं वाक्यमित्युवाच परन्तपः ॥३३॥

दो घड़ी सोच-विचार करने के पश्चात् शत्रु-सन्तापक आपके उस महामनस्वी पुत्र ने शारद्वान् के पुत्र कृपाचार्य को इस प्रकार उत्तर दिया—

सुहृदा यदिदं वाक्यं भवता श्रावितो ह्यहम् ।
न मां प्रीणाति तत् सर्वं मुमूर्षोरिव भेषजम् ॥३४॥

"आप मेरे हितचिन्तक सुहृद् हैं फिर भी आपने मुझे जो बात सुनाई है, वह सब मेरे मन को उसी प्रकार नहीं रुचती, जैसे मरणासन्न रोगी को दवा अच्छी नहीं लगती।

हेतुकारणसंयुक्तं हितं वचनमुत्तमम् ।
उच्यमानं महाबाहो न मे विप्राग्र्य रोचते ॥३५॥

"महाबाहो ! विप्रवर ! आपने युक्ति और कारणों से सुसङ्गत, हितकारक एवं उत्तम बात कही है तो भी वह मुझे अच्छी नहीं लग रही है ।

राज्याद्विनिकृतोऽस्माभिः कथं सोऽस्मासु विश्वसेत् ।
अक्षद्यूते च नृपतिर्जितोऽस्माभिर्महाधनः ॥३६

"हम लोगों ने राजा युधिष्ठिर के साथ छल किया है । वे महाधनी थे, हमने उन्हें जुए में जीत, राज्य से निकालकर निर्धन बना दिया । ऐसी अवस्था में वे हम लोगों पर विश्वास कैसे कर सकते हैं ?

विललाप च यत् कृष्णा सभामध्ये समेयुषी ।
न तन्मर्षयते कृष्णो न राज्यहरणं तथा ॥३७॥

"सभा में बलपूर्वक लायी हुई द्रौपदी ने जो विलाप किया था और पाण्डवों का जो राज्य छीन लिया गया था, वह बर्ताव श्रीकृष्ण सहन नहीं कर सकते ।

एकप्राणावुभौ कृष्णावन्योन्यमभिसंश्रितौ ।
पुरा यत् श्रुतमेवासीदद्य पश्यामि तत्प्रभो ॥३८॥

"प्रभो ! श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों दो शरीर और एक प्राण हैं । वे दोनों एक-दूसरे के आश्रित हैं । पहले जो बात मैंने केवल सुन रखी थी, उसे अब प्रत्यक्ष देख रहा हूँ ।

स्वस्रीयं निहतं श्रुत्वा दुःखं स्वपिति केशवः ।
कृतागसो वयं तस्य स मदर्थं कथं क्षमेत् ॥३९॥

"अपने भानजे अभिमन्यु के मारे जाने का वृत्तान्त सुनकर श्रीकृष्ण सुख की नींद नहीं सोते हैं । हम सब लोग उनके अपराधी हैं, फिर वे हमें कैसे क्षमा कर सकते हैं ?

अभिमन्योर्विनाशेन न शर्म लभतेऽर्जुनः ।
स कथं मद्धिते यत्नं प्रकरिष्यति याचितः ॥४०॥

"अभिमन्यु के मारे जाने से अर्जुन को भी चैन नहीं है, फिर वे प्रार्थना करने पर भी मेरे हित के लिए कैसे यत्न करेंगे ?

मध्यमः पाण्डवस्तीक्ष्णो भीमसेनो महाबलः ।
प्रतिज्ञातं च तेनोग्रं भज्येतापि न संनमेत् ॥४१॥

"मँझले पाण्डव भीमसेन का स्वभाव बड़ा ही कठोर है । उन्होंने अति भयंकर प्रतिज्ञा की है । सूखे काठ की भाँति वे टूट भले ही जाएँ, झुक नहीं सकते ।

उभौ तौ बद्धनिस्त्रिंशावुभौ चाबद्धकङ्कटौ ।
कृतवैरावुभौ वीरौ यमावपि यमोपमौ ॥४२॥

"दोनों भाई नकुल और सहदेव तलवार बाँधे और कवच धारण किये हुए यमराज के समान भयंकर जान पड़ते हैं । वे दोनों वीर मुझसे वैर मानते हैं ।

कथं च राजा भुक्त्वेमां पृथिवीं सागराम्बराम् ।
पाण्डवानां प्रसादेन भोक्ष्ये राज्यमहं कथम् ॥४३॥

"और सबसे बड़ी बात यह है कि जब मैं समुद्र से घिरी हुई सारी पृथिवी का एकच्छत्र राजा के रूप में उपभोग कर चुका हूँ, तब इस समय पाण्डवों की कृपा का पात्र बनकर राज्य कैसे भोगूँगा ?

उपर्युपरि राज्ञां वै ज्वलित्वा भास्करो यथा ।
युधिष्ठिरं कथं पश्चादनुयास्यामि दासवत् ॥४४॥

"समस्त राजाओं के ऊपर सूर्य के समान प्रकाशित होकर अब दास की भाँति मैं युधिष्ठिर के पीछे-पीछे कैसे चलूँगा ?

कथं भुक्त्वा स्वयं भोगान् दत्त्वा दायांश्च पुष्कलान् ।
कृपणं वर्तयिष्यामि कृपणैः सह जीविकाम् ॥४५॥

"स्वयं बहुत-से भोग भोगकर और प्रचुर धन दान करके अब दीन-मनुष्यों के साथ दीनतापूर्ण जीविका का आश्रय ले मैं किस प्रकार निर्वाह कर सकूँगा ?

नाभ्यसूयामि ते वाक्यमुक्तं स्निग्धं हितं त्वया ।
न तु सन्धिमहं मन्ये प्राप्तकालं कथञ्चन ॥४६॥

"आपने स्नेहवश मेरे हित की जो बात कही है, मैं न तो उसमें दोष निकालता हूँ और न इसकी निन्दा करता हूँ । मेरा कथन तो इतना ही है कि अब किसी प्रकार भी सन्धि का अवसर नहीं रह गया है । ऐसी मेरी मान्यता है ।

सुनीतमनुपश्यामि सुयुद्धेन परन्तप ।
नायं क्लीबयितुं कालः संयोद्धुं काल एव नः ॥४७॥

"शत्रुसन्तापक वीर ! अब मैं अच्छी प्रकार युद्ध करने में ही उत्तम नीति का पालन समझ रहा हूँ ।

हमारा यह समय कायरता दिखाने का नहीं, उत्साह-पूर्वक युद्ध करने का है।

इष्टं मे बहुभिर्यज्ञैर्दत्ता विप्रेषु दक्षिणाः।
प्राप्ताः कामाः श्रुता वेदाः शत्रूणां मूर्ध्नि च स्थितम्॥
भृत्या मे सुभृतास्तात दीनश्चाभ्युद्धृतो जनः।
नोत्सहेऽद्य द्विजश्रेष्ठ पाण्डवान् वक्तुमीदृशम्॥४९॥

"तात ! मैंने बहुत-से यज्ञों का अनुष्ठान कर लिया। ब्राह्मणों को प्रचुर दक्षिणाएँ दे दीं। सारी कामनाएँ पूर्ण कर लीं। वेदों का श्रवण कर लिया। शत्रुओं के सिर पर पैर रखा और भरण-पोषण योग्य व्यक्तियों के पालन-पोषण की सुव्यवस्था कर दी। इतना ही नहीं, मैंने दीनों का उद्धारकार्य भी सम्पन्न कर दिया, अतः द्विजश्रेष्ठ ! अब मैं पाण्डवों से इस प्रकार याचना नहीं कर सकता।

न ध्रुवं सुखमस्तीति कुतो राष्ट्रं कुतो यशः। □
इह कीर्तिर्विधातव्या सा च युद्धेन नान्यथा॥५०॥

"संसार में कोई भी सुख स्थायी नहीं है। फिर राष्ट्र और यश भी कैसे स्थिर रह सकते हैं ? इस लोक में कीर्ति अर्जित करनी चाहिए और वह युद्ध के सिवा और किसी उपाय से नहीं मिल सकती।

गृहे यत् क्षत्रियस्यापि निधनं तद् विगर्हितम्। □
अधर्मः सुमहानेष यच्छय्यामरणं गृहे॥५१॥

"क्षत्रिय की यदि घर में मृत्यु हो जाए तो उसे निन्दित माना गया है। घर में खाट पर पड़े-पड़े मरना क्षत्रिय के लिए महान् पाप है।

अरण्ये यो विमुच्येत संग्रामे वा तनुं नरः।
क्रतूनाहृत्य महतो महिमानं स गच्छति॥५२॥

"जो बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान करके वन में या संग्राम में शरीर का त्याग करता है, वही क्षत्रिय महत्त्व को प्राप्त होता है।

कृपणं विलपन्नार्तो जरयाभिपरिप्लुतः। □
म्रियते रुदतां मध्ये ज्ञातीनां न स पूरुषः॥५३॥

"जिसका शरीर बुढ़ापे से जर्जर हो गया हो, जो रोग से पीड़ित हो, पारिवारिकजन जिसके आसपास बैठकर रो रहे हों और उन रोते हुए सम्बन्धियों के बीच में जो करुण-विलाप करते-करते अपने प्राणों का परित्याग करता है, वह पुरुष कहलाने योग्य नहीं है।

त्यक्त्वा तु विविधान् भोगान् प्राप्तानां परमां गतिम्।
अपीदानीं सुयुद्धेन गच्छेयं यत्सलोकताम्॥५४॥

"अतः जिन्होंने नाना प्रकार के भोगों का परित्याग करके उत्तम गति प्राप्त कर ली है, इस समय युद्ध के द्वारा मैं उन्हीं लोकों में जाऊँगा।

ये मदर्थे हताः शूरास्तेषां कृतमनुस्मरन्।
ऋणं तत् प्रतियुञ्जानो न राज्ये मन आदधे॥५५॥

"जो शूरवीर मेरे लिए मारे गये हैं, उनके उस उपकार का स्मरण करता हुआ उस ऋण को उतारने की चेष्टा में संलग्न होकर मैं राज्य में मन नहीं लगा सकता।

घातयित्वा वयस्यांश्च भ्रातॄनथ पितामहान्।
जीवितं यदि रक्षेयं लोको मां गर्हयेद् ध्रुवम्॥५६॥

"मित्रों, भाइयों और पितामहों को मरवाकर यदि मैं अपने प्राणों की रक्षा करूँ तो सारा संसार निश्चय ही मेरी निन्दा करेगा।

कीदृशं च भवेद् राज्यं मम हीनस्य बन्धुभिः।
सखिभिश्च विशेषेण प्रणिपत्य च पाण्डवम्॥५७॥

"बन्धु-बान्धवों और मित्रों से हीन हो युधिष्ठिर के पैरों में पड़ने पर मुझ जिस राज्य की प्राप्ति होगी, वह कैसा होगा ?

सोऽहमेतादृशं कृत्वा जगतोऽस्य पराभवम्।
सुयुद्धेन ततः स्वर्गं प्राप्स्यामि न तदन्यथा॥५८॥

"अतः मैं जगत् का ऐसा विनाश कराकर अब उत्तम युद्ध के द्वारा ही स्वर्गलोक प्राप्त करूँगा। मेरी सद्गति के लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है।"

एवं दुर्योधनेनोक्तं सर्वे सम्पूज्य तद्वचः।
साधु साध्विति राजानं क्षत्रियाः सम्बभाषिरे॥५९॥

इस प्रकार राजा दुर्योधन की यह बात सुनकर सब क्षत्रियों ने 'बहुत अच्छा, अति सुन्दर' कहकर उसका आदर किया और उसका धन्यवाद भी किया।

पराजयमशोचन्तः कृतचित्ताश्च विक्रमे।
सर्वे सुनिश्चिता योद्धुमुदग्रमनसोऽभवन्॥६०॥

सबने अपनी पराजय का शोक छोड़कर मन-ही-मन पराक्रम करने का निश्चय किया। युद्ध करने के विषय में सबका दृढ़ निश्चय हो गया तथा सबके हृदय में उत्साह भर गया।

इति महाभारते शल्यपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

शल्य का सेनापति-पद पर अभिषेक, श्रीकृष्ण का युधिष्ठिर को शल्यवध के लिए उत्साहित करना

सञ्जय उवाच

तव पुत्रकृतोत्साहाः क्षत्रियाः कालप्रेरिताः ।
अब्रुवन् सहितास्तत्र राजानं शल्यसन्निधौ ।।१।।

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! आपके पुत्र द्वारा उत्साहित किये जाने पर काल से प्रेरित वे समस्त क्षत्रिय एकसाथ शल्य के समक्ष राजा दुर्योधन से इस प्रकार बोले—

कृत्वा सेनाप्रणेतारं परांस्त्वं योद्धुमर्हसि ।
येनाभिगुप्ताः संग्रामे जयेमासुहृदो वयम् ।।२।।

"प्रजेश्वर ! तुम किसी को सेनापति बनाकर शत्रुओं के साथ युद्ध करो, जिससे सुरक्षित होकर हम लोग विपक्षियों पर विजय प्राप्त करें ।"

ततो दुर्योधनः स्थित्वा रथे रथवरोत्तमम् ।
सर्वयुद्धविभावज्ञमन्तकप्रतिमं युधि ।।३।।
पारगं सर्वविद्यानां गुणार्णवमनिन्दितम् ।
तमभ्येत्यात्मजो राजन्नश्वत्थामानमब्रवीत् ।।४।।

तब आपका पुत्र दुर्योधन रथ पर बैठकर महारथियों में श्रेष्ठ, युद्धविषयक सभी विभिन्न भावों के ज्ञाता, युद्ध में यमराज के समान भयंकर, सम्पूर्ण विद्याओं में पारङ्गत और गुणों के सागर अश्वत्थामा के पास गया और उससे इस प्रकार कहा—

गुरुपुत्रोऽद्य सर्वेषामस्माकं परमा गतिः ।
भवांस्तस्मान्नियोगात्ते कोऽस्तु सेनापतिर्मम ।।५।।

"ब्रह्मन् ! तुम हमारे गुरुपुत्र हो, और इस समय तुम्हीं हमारे सबसे बड़े सहारे हो, अतः मैं तुम्हारी आज्ञा से सेनापति का निर्वाचन करना चाहता हूँ । बताओ, अब कौन मेरा सेनापति हो ?"

द्रौणिरुवाच

अयं कुलेन रूपेण तेजसा यशसा श्रिया ।
सर्वैर्गुणैः समुदितः शल्यो नोऽस्तु चमूपतिः ।।६।।

अश्वत्थामा ने कहा—ये राजा शल्य उत्तम कुल, सुन्दर रूप, तेज, यश, श्री और समस्त सद्गुणों से सम्पन्न हैं, अतः ये ही हमारे सेनापति हों ।

भागिनेयान् निजांस्त्यक्त्वा कृतज्ञोऽस्मानुपागतः ।
महासेनो महाबाहुर्महासेन इवापरः ।।७।।

ये ऐसे कृतज्ञ हैं कि अपने सगे भानजों को भी छोड़कर हमारे पक्ष में आ गये हैं । ये महाबाहु शल्य दूसरे महासेन [कार्तिकेय] के समान महती सेना से सम्पन्न हैं ।

एनं सेनापतिं कृत्वा नृपतिं नृपसत्तम ।
शक्यः प्राप्तुं जयोऽस्माभिर्देवैः स्कन्दमिवाजितम् ।।८।।

नृपश्रेष्ठ ! जैसे देवताओं ने किसी से पराजित न होनेवाले स्कन्द को सेनापति बनाकर असुरों पर विजय प्राप्त की थी, वैसे ही हम लोग भी इन राजा शल्य को सेनापति बनाकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं ।

सञ्जय उवाच

तथोक्ते द्रोणपुत्रेण सर्व एव नराधिपाः ।
परिवार्य स्थिताः शल्यं जयशब्दांश्च चक्रिरे ।।९।।

सञ्जय कहते हैं—द्रोणपुत्र के ऐसा कहने पर सभी नरेश राजा शल्य को घेरकर खड़े हो गये और उनकी जय-जयकार करने लगे ।

ततो दुर्योधनो भूमौ स्थित्वा रथवरे स्थितम् ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा द्रोणभीष्मसमं रणे ।।१०।।
अयं स कालः सम्प्राप्तो मित्राणां मित्रवत्सल ।
यत्र मित्रममित्रं वा परीक्षन्ते बुधा जनाः ।।११।।

तत्पश्चात् राजा दुर्योधन ने भूमि पर खड़े हो रथ पर बैठे हुए रणभूमि में द्रोण और भीष्म के समान पराक्रमी राजा शल्य से हाथ जोड़कर कहा—"मित्रवत्सल ! आज आपके मित्रों के समक्ष वह समय आ गया है जबकि विद्वान् पुरुष शत्रु या मित्र की परीक्षा करते हैं ।

स भवानस्तु नः शूरः प्रणेता वाहिनीमुखे ।
रणं याते च भवति पाण्डवा मन्दचेतसः ।
भविष्यन्ति सहामात्याः पाञ्चालाश्च निरुद्यमाः ।।१२

"आप हमारे शूरवीर सेनापति होकर सेना के मुहाने पर खड़े हों । युद्धभूमि में आपके जाते ही

मन्दबुद्धि पाण्डव और पाञ्चाल अपने मन्त्रियोंसहित उद्योगशून्य हो जाएँगे।"

दुर्योधनवचः श्रुत्वा शल्यो मद्राधिपस्तदा।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञो राजानं राजसन्निधौ ॥१३॥

उस समय वचन के रहस्य को जाननेवाले मद्र-देश के स्वामी राजा शल्य दुर्योधन के वचन सुनकर समस्त राजाओं के सम्मुख राजा दुर्योधन से यह वचन बोले—

शल्य उवाच

यत्तु मां मन्यसे राजन् कुरुराज करोमि तत्।
त्वत्प्रियार्थं हि मे सर्वं प्राणा राज्यं धनानि च ॥१४॥

शल्य बोले—राजन्! कुरुराज! तुम मुझसे जो कुछ चाहते हो, मैं उसे पूर्ण करूँगा, क्योंकि मेरे प्राण, राज्य और धन सब-कुछ तुम्हारा प्रिय करने के लिए ही हैं।

दुर्योधन उवाच

सैनापत्येन वरये त्वामहं मातुलातुलम्।
सोऽस्मान् पाहि युधां श्रेष्ठ स्कन्दो देवानिवाहवे ॥१५॥

दुर्योधन ने कहा—योद्धाओं में श्रेष्ठ मामाजी! आप अनुपम वीर हैं, अतः मैं सेनापतिपद ग्रहण करने के लिए आपका वरण करता हूँ। जैसे स्कन्द ने रण-भूमि में देवताओं की रक्षा की थी, उसी प्रकार आप हमारी रक्षा कीजिए।

अभिषेचय राजेन्द्र देवानामिव पावकिः।
जहि शत्रून् रणे वीर महेन्द्रो दानवानिव ॥१६॥

हे राजेन्द्र! वीर! जैसे स्कन्द ने देवताओं का सेनापतित्व स्वीकार किया था, उसी प्रकार आप भी हमारे सेनापति के पद पर अपना अभिषेक कराइए और दानवों का वध करनेवाले देवराज इन्द्र के समान रणभूमि में हमारे शत्रुओं का संहार कीजिए।

सञ्जय उवाच

एतत् श्रुत्वा वचो राज्ञो मद्रराजः प्रतापवान्।
दुर्योधनं तदा राजन् वाक्यमेतदुवाच ह ॥१७॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! राजा दुर्योधन की यह बात सुनकर प्रतापी मद्रराज शल्य ने उससे इस प्रकार कहा—

यावेतौ मन्यसे कृष्णौ रथस्थौ रथिनां वरौ।
न मे तुल्यावुभावेतौ बाहुवीर्ये कथञ्चन ॥१८॥

"दुर्योधन! तुम रथ पर बैठे हुए जिन दोनों श्रीकृष्ण और अर्जुन को रथियों में श्रेष्ठ समझते हो, वे दोनों बाहुबल में किसी प्रकार भी मेरे समान नहीं हैं।

उद्यतां पृथिवीं सर्वां ससुरासुरमानवाम्।
योधयेयं रणमुखे संक्रुद्धः किमु पाण्डवान् ॥१९॥

"मैं युद्ध के मुहाने पर क्रुद्ध हो अपने समक्ष युद्ध के लिए आये हुए देवताओं, असुरों और मनुष्यों-सहित सारे भूमण्डल के साथ युद्ध कर सकता हूँ फिर पाण्डवों की तो बात ही क्या है?

विजेष्यामि रणे पार्थान् सोमकांश्च समागतान्।
अहं सेनाप्रणेता ते भविष्यामि न संशयः ॥२०॥
तं च व्यूहं विधास्यामि न तरिष्यन्ति यं परे।
इति सत्यं ब्रवीम्येष दुर्योधन न संशयः ॥२१॥

"मैं रणभूमि में कुन्ती के सभी पुत्रों और सामने आये हुए सोमकों पर भी विजय प्राप्त कर लूंगा। इसमें भी सन्देह नहीं है कि मैं तुम्हारा सेनापति बनूंगा और ऐसे व्यूह का निर्माण करूँगा, जिसे शत्रु लाँघ नहीं सकेंगे। दुर्योधन! यह मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ। इसमें कोई संशय नहीं है।"

एवमुक्तस्ततो राजा मद्राधिपतिमञ्जसा।
अभ्यषिञ्चत सेनाया मध्ये भरतसत्तम ॥२२॥

भरतभूषण! शल्य के ऐसा कहने पर राजा दुर्योधन ने सेना के मध्यभाग में मद्रराज शल्य का सेनापति के पद पर अभिषेक कर दिया।

अभिषिक्ते ततस्तस्मिन् सिंहनादो महानभूत्।
तव सैन्येऽभ्यवाद्यन्त वादित्राणि च भारत ॥२३॥

भारत! उनका अभिषेक हो जाने पर आपकी सेना में बड़े जोर से सिंहनाद होने लगा और भाँति-भाँति के बाजे बज उठे।

हृष्टाः सुमनसश्चैव बभूवुस्तत्र सैनिकाः।
मेनिरे निहतान् पार्थान् मद्रराजवशं गतान् ॥२४॥

सब-के-सब सैनिक प्रसन्नचित्त होकर हर्ष से भर गये और यह मानने लगे कि मद्रराज शल्य के वश में पड़कर कुन्ती के पुत्र अवश्य ही मारे जाएँगे।

प्रहर्षं प्राप्य सेना तु तावकी भरतर्षभ ।
तां रात्रिमुषिता सुप्ता हर्षचित्ता च साभवत् ॥२५॥

भरतकुलभूषण ! आपकी सेना अत्यन्त प्रसन्न होकर उस रात्रि में वहीं रही और सो गई । उसके मन में बड़ा उत्साह था ।

सैन्यस्य तव तं शब्दं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः ।
वार्ष्णेयमब्रवीद् वाक्यं सर्वक्षत्रस्य पश्यतः ॥२६॥

उस समय आपकी सेना का वह महान् हर्षनाद सुनकर राजा युधिष्ठिर ने समस्त क्षत्रियों के समक्ष श्रीकृष्ण से कहा—

मद्रराजः कृतः शल्यो धार्तराष्ट्रेण माधव ।
सेनापतिर्महेष्वासः सर्वसैन्येषु पूजितः ॥२७॥

"हे माधव ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन ने समस्त सेनाओं के द्वारा सम्मानित महाधनुर्धर मद्रराज शल्य का सेनापतिपद पर अभिषेक किया है ।

एतज्ज्ञात्वा यथाभूतं कुरु माधव यत्क्षमम् ।
भवान् नेता च गोप्ता च विधत्स्व यदनन्तरम् ॥२८॥

"माधव ! शल्य को सेनापति बनाया गया है, इस बात को जानकर आप जैसा उचित समझें वैसा करें, क्योंकि आप ही हमारे नेता और संरक्षक हैं, अतः अब जो कार्य आवश्यक हो, उसका सम्पादन कीजिए ।"

तमब्रवीन्महाराज वासुदेवो जनाधिपम् ।
आर्तायनिमहं जाने यथातत्त्वेन भारत ॥२९॥

महाराज ! तब श्रीकृष्ण ने राजा युधिष्ठिर से कहा—"भारत ! मैं ऋतायनकुमार राजा शल्य को अच्छी प्रकार जानता हूँ ।

वीर्यवांश्च महातेजा महात्मा च विशेषतः ।
कृती च चित्रयोधी च संयुक्तो लाघवेन च ॥३०॥

"वे बलवान्, महातेजस्वी, महामनस्वी, विद्वान्, विचित्र युद्ध करनेवाले तथा शीघ्रतापूर्वक अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करनेवाले हैं ।

यादृक् भीष्मस्तथा द्रोणो यादृक् कर्णश्च संयुगे ।
तादृशस्तद्विशिष्टो वा मद्रराजो मतो मम ॥३१॥

"पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण और कर्ण—ये सब लोग युद्ध में जैसे पराक्रमी थे, वैसे ही या उनसे भी बढ़कर पराक्रमी मैं मद्रराज शल्य को मानता हूँ ।

शिखण्ड्यर्जुनभीमानां सात्वतस्य च भारत ।
धृष्टद्युम्नस्य च तथा बलेनाभ्यधिको रणे ॥३२॥

"भरतभूषण ! शिखण्डी, अर्जुन, भीम, सात्यकि और धृष्टद्युम्न से भी वे युद्धभूमि में अधिक बलशाली हैं ।

मद्रराजो महाराज सिंहद्विरदविक्रमः ।
विचरिष्यत्यभीः काले कालः क्रुद्धः प्रजास्विव ॥३३॥

"महाराज ! सिंह और हाथी के समान पराक्रमी मद्रराज शल्य प्रलयकाल में प्रजा पर क्रुद्ध हुए काल के समान निर्भय होकर समराङ्गण में विचरेंगे ।

तस्याद्य न प्रपश्यामि प्रतियोद्धारमाहवे ।
त्वामृते पुरुषव्याघ्र शार्दूलसमविक्रमम् ॥३४॥

"पुरुषसिंह ! आप सिंह के समान पराक्रमी हैं । आज मैं आपके अतिरिक्त दूसरे किसी योद्धा को नहीं देखता जो रणभूमि में शल्य के सम्मुख होकर उससे युद्ध कर सके ।

सदेवलोके कृत्स्नेऽस्मिन्नान्यस्त्वत्तः पुमान्भवेत् ।
मद्रराजं रणे क्रुद्धं यो हन्यात् कुरुनन्दन ॥३५॥

"कुरुनन्दन ! देवताओंसहित इस सम्पूर्ण संसार में आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो रण में कुपित हुए मद्रराज शल्य को मार सके ।

अहन्यहनि युध्यन्तं क्षोभयन्तं बलं तव ।
तस्माज्जहि रणे शल्यं मघवानिव शम्बरम् ॥३६॥

"अतः प्रतिदिन रणभूमि में जूझते और आपकी सेना को विक्षुब्ध करते हुए राजा शल्य को युद्ध में आप वैसे ही मार डालिए, जैसे इन्द्र ने शम्बर को मारा था ।

अजेयश्चाप्यसौ वीरो धार्तराष्ट्रेण सत्कृतः ।
तवैव हि जयो नूनं हते मद्रेश्वरे युधि ॥३७॥

"वीर शल्य अजेय हैं । दुर्योधन ने उनका बड़ा सम्मान किया है । युद्ध में मद्रराज के मारे जाने पर निश्चय ही आपकी विजय होगी ।

तस्मिन् हते हतं सर्वं धार्तराष्ट्रबलं महत् ।
एतत् श्रुत्वा महाराज वचनं मम साम्प्रतम् ॥३८॥
प्रत्युद्याहि रणे पार्थ मद्रराजं महारथम् ।
जहि चैनं महाबाहो वासवो नमुचिं यथा ॥३९॥

"महाराज ! पार्थ ! उस शल्य के मारे जाने

पर आप समझ लें कि दुर्योधन की समस्त विशाल सेना ही मार डाली गई। इस समय मेरी इस बात को सुनकर आप महारथी मद्रराज पर आक्रमण कीजिए और महाबाहो! जैसे इन्द्र ने नमुचि का वध किया था, उसी प्रकार आप भी उन्हें मार डालिए।

न चैवात्र दया कार्या मातुलोऽयं ममेति वै।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य जहि मद्रजनेश्वरम् ॥४०॥

"ये मेरे मामा हैं, ऐसा समझकर आपको उनपर दया नहीं करनी चाहिए। आप क्षत्रियधर्म को सम्मुख रखते हुए मद्रराज शल्य को मार डालें।

द्रोणभीष्मार्णवं तीर्त्वा कर्णपातालसम्भवम्।
मा निमज्जस्व सगणः शल्यमासाद्य गोष्पदम् ॥४१॥

"भीष्म, द्रोण और कर्णरूपी महासागर को पार करके आप अपने सेवकोंसहित शल्यरूपी गाय की खुरी में मत डूब जाइए।

यच्च ते तपसो वीर्यं यच्च क्षात्रं बलं तव।
तद् दर्शय रणे सर्वं जहि चैनं महारथम् ॥४२॥

"राजन्! आपका जो तपोबल और क्षात्रबल है, वह सब समराङ्गण में प्रकट कीजिए और इस महारथी शल्य को मार डालिए।"

एतावदुक्त्वा वचनं केशवः परवीरहा।
जगाम शिबिरं सायं पूज्यमानोऽथ पाण्डवैः ॥४३॥

शत्रुवीरों का संहार करनेवाले श्रीकृष्ण यह बात कहकर सायंकाल पाण्डवों से सम्मानित हो अपने शिबिर में चले गये।

केशवे तु तदा याते धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
विसृज्य सर्वान्भ्रातॄंश्च पाञ्चालानथ सोमकान्।
सुष्वाप रजनीं तां तु विशल्य इव कुञ्जरः ॥४४॥

श्रीकृष्ण के चले जाने पर धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने अपने सब भाइयों तथा पाञ्चालों और सोमकों को भी विदा करके रात में अंकुशरहित हाथी के समान सुखपूर्वक शयन किया।

ते च सर्वे महेष्वासाः पाञ्चालाः पाण्डवास्तथा।
कर्णस्य निधने हृष्टाः सुषुपुस्तां निशां तदा ॥४५॥

वे सभी महाधनुर्धर पाञ्चाल और पाण्डव-योद्धा भी कर्ण के मारे जाने से हर्ष में भरकर रात्रि में सुख की नींद सोये।

इति महाभारते शल्यपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

उभय पक्ष की सेनाओं का रणभूमि में आना और नकुल द्वारा कर्ण के तीन पुत्रों का संहार

सञ्जय उवाच

व्यतीतायां रजन्यां तु राजा दुर्योधनस्तदा।
अब्रवीत् तावकान् सर्वान् संनह्यन्तां महारथाः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—जब रात्रि बीत गई, तब राजा दुर्योधन ने आपके समस्त सैनिकों से कहा—"महारथीगण कवच बाँधकर युद्ध के लिए तैयार हो जाएँ।"

राज्ञश्च मतमाज्ञाय समनह्यत सा चमूः।
अयोजयन् रथांस्तूर्णं पर्यधावंस्तथा परे ॥२॥
अकल्प्यन्त च मातङ्गाः समनह्यन्त पत्तयः।
रथानास्तरणोपेतांश्चक्रुरन्ये सहस्रशः ॥३॥

राजा दुर्योधन का अभिप्राय जानकर सारी सेना युद्ध के लिए सुसज्जित होने लगी। कुछ लोगों ने तुरन्त ही रथ जोत दिये, दूसरे चारों ओर दौड़ने लगे। हाथी समलंकृत किये जाने लगे। पैदल सैनिक कवच बाँधने लगे और अन्य सहस्रों सैनिकों ने रथों पर आवरण डाल दिये।

वादित्राणां च निनदः प्रादुरासीद् विशाम्पते।
आयोधनार्थं योधानां बलानां चाप्युदीर्यताम् ॥४॥

प्रजेश्वर! उस समय सब ओर से भाँति-भाँति के वाद्यों की गम्भीर ध्वनि प्रकट होने लगी। युद्ध के लिए उद्यत योद्धाओं और आगे बढ़ती हुई सेनाओं का महान् कोलाहल सुनाई देने लगा।

शल्यं सेनापतिं कृत्वा मद्रराजं महारथाः।
प्रविभज्य बलं सर्वमनीकेषु व्यवस्थिताः ॥५॥

सारे महारथी मद्रराज शल्य को सेनापति बना-

कर और समस्त-सेना को अनेक भागों में विभक्त करके भिन्न-भिन्न दलों में खड़े हो गये।

ततः सर्वे समागम्य समयं चक्रुरादृताः।
न न एकेन योद्धव्यं कथञ्चिदपि पाण्डवैः ॥६॥
यो ह्येकः पाण्डवैर्युध्येद्यो वा युध्यन्तमुत्सृजेत्।
स पञ्चभिर्भवेद् युक्तः पातकैश्चोपपातकैः ॥७॥

तत्पश्चात् सम्पूर्ण सैनिकों ने आदरपूर्वक यह नियम बनाया—हम लोगों में से कोई योद्धा अकेला रहकर किसी प्रकार भी पाण्डवों के साथ युद्ध न करे। जो अकेला ही पाण्डवों के साथ युद्ध करेगा अथवा जो पाण्डवों के साथ जूझते हुए वीर को अकेला छोड़ देगा, वह पाँच पातकों और उपपातकों से युक्त होगा।

एवं ते समयं कृत्वा सर्वे तत्र महारथाः।
मद्रराजं पुरस्कृत्य तूर्णमभ्यद्रवन् परान् ॥८॥

ऐसा नियम बनाकर वे समस्त महारथी मद्रराज शल्य को आगे करके तुरन्त ही शत्रुओं पर टूट पड़े।

तथैव पाण्डवा राजन् व्यूह्य सैन्यं महारणे।
अभ्ययुः कौरवान् देव योत्स्यमानाः समन्ततः ॥९॥

राजन्! देव! इसी प्रकार उस महायुद्ध में पाण्डव भी अपनी सेना का व्यूह बनाकर सब ओर से युद्ध के लिए तत्पर हो कौरवों पर चढ़ आये।

धृतराष्ट्र उवाच

द्रोणस्य चैव भीष्मस्य राधेयस्य च मे श्रुतम्।
पातनं शंस मे भूयः शल्यस्याथ सुतस्य मे ॥१०॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय! मैंने द्रोणाचार्य, भीष्म और राधापुत्र कर्ण के वध का सारा वर्णन सुन लिया है। अब मुझे शल्य तथा मेरे पुत्र दुर्योधन के मारे जाने का समाचार सुनाइए।

सञ्जय उवाच

क्षयं मनुष्यदेहानां तथा नागाश्वसंक्षयम्।
शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा संग्रामं शंसतो मम ॥११॥

सञ्जय ने कहा—राजन्! जहाँ हाथी, घोड़े और मनुष्यों के शरीरों का महान् संहार हुआ था, मैं उस संग्राम का वर्णन करता हूँ आप सुस्थिर होकर सुनिए।

आशा बलवती राजन् पुत्राणां तेऽभवत्तदा।
हते भीष्मे च द्रोणे च सूतपुत्रे च पातिते।
शल्यः पार्थान् रणे सर्वान् निहनिष्यति मारिष ॥१२॥

आर्यनरेश! भीष्म, द्रोणाचार्य और सूतपुत्र कर्ण के मारे जाने पर आपके पुत्रों के मन में यह प्रबल आशा हो गई कि शल्य युद्धक्षेत्र में सभी कुन्ती-पुत्रों का वध कर डालेंगे।

तामाशां हृदये कृत्वा समाश्रित्य महारथम्।
नाथवन्तं तदाऽऽत्मानममन्यन्त सुतास्तव ॥१३॥

भरतभूषण! उसी आशा को हृदय में रखकर आपके पुत्र महारथी शल्य का आश्रय ले अपने-आपको सनाथ समझने लगे।

व्यूह्य व्यूहं महाराज सर्वतोभद्रमृद्धिमत्।
प्रत्युद्ययौ रणे पार्थान् मद्रराजः प्रतापवान् ॥१४॥

महाराज! तब प्रतापी मद्रराज शल्य ने समृद्धि-शाली 'सर्वतोभद्र' नामक व्यूह बनाकर रण में पाण्डवों पर आक्रमण किया।

तथैव पाण्डवाः शूराः समरे जितकाशिनः।
उपयाता नरव्याघ्राः पाञ्चालाश्च यशस्विनः ॥१५॥

इसी प्रकार रणभूमि में विजय से सुशोभित होनेवाले शूरवीर पुरुषसिंह पाण्डव और यशस्वी पाञ्चाल वीर आपकी सेना के निकट आ पहुँचे।

इमे ते च बलौघेन परस्परवधैषिणः।
उपयाता नरव्याघ्राः पूर्वां सन्ध्यां प्रति प्रभो ॥१६॥

प्रभो! इस प्रकार आपस में एक-दूसरे के वध की इच्छावाले ये और वे पुरुषसिंह योद्धा प्रातःकाल एक-दूसरे पर चढ़ दौड़े।

ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयानकम्।
तावकानां परेषां च निघ्नतामितरेतरम् ॥१७॥

फिर तो परस्पर प्रहार करते हुए आपके और शत्रुपक्ष के सैनिकों में अति भयंकर घमासान युद्ध छिड़ गया।

समार्च्छच्चित्रसेनं तु नकुलो युद्धदुर्मदः।
तौ परस्परमासाद्य चित्रकार्मुकधारिणौ ॥१८॥
मेघाविव यथोद्वृत्तौ दक्षिणोत्तरवर्षिणौ।
शरतोयैः सिषिचतुस्तौ परस्परमाहवे ॥१९॥

इसी समय रणदुर्मद नकुल ने कर्णपुत्र चित्रसेन पर धावा किया। विचित्र धनुष धारण करनेवाले वे दोनों वीर एक-दूसरे से भिड़कर दक्षिण और उत्तर

की ओर से आते हुए दो बड़े जलवर्षक मेघों के समान परस्पर बाणरूपी जल की बौछार करने लगे।

चित्रसेनस्तु भल्लेन पीतेन निशितेन च।
नकुलस्य महाराज मुष्टिदेशेऽच्छिनद् धनुः ॥२०॥

महाराज! इतने में ही चित्रसेन ने एक पानीदार पैने भल्ल के द्वारा नकुल के धनुष को मुट्ठी पकड़ने के स्थान से काट दिया।

अथैनं छिन्नधन्वानं रुक्मपुंखैः शिलाशितैः।
त्रिभिः शरैरसम्भ्रान्तो ललाटे वै समार्पयत् ॥२१॥

धनुष कट जाने पर चित्रसेन ने उसके ललाट में शिला पर तेज किये हुए सुनहरे पंखवाले तीन बाणों द्वारा गहरी चोट पहुँचायी। उस समय उस [चित्रसेन] के चित्त में तनिक भी घबराहट नहीं हुई।

हयाँश्चास्य शरैस्तीक्ष्णैः प्रेषयामास मृत्यवे।
तथा ध्वजं सारथिं च त्रिभिस्त्रिभिरपातयत् ॥२२॥

फिर उसने अपने तीखे तीरों द्वारा नकुल के घोड़ों को भी मृत्यु के घाट उतार दिया और तीन-तीन बाणों से उसके ध्वज और सारथि को भी काट गिराया।

स च्छिन्नधन्वा विरथः खड्गमादाय चर्म च।
रथादवातरद् वीरः शैलाग्रादिव केसरी ॥२३॥

धनुष कट जाने पर रथहीन हुए नकुल हाथ में ढाल और तलवार लेकर पर्वत के शिखर से उतरनेवाले सिंह के समान रथ से नीचे आ गये।

चित्रसेनरथं प्राप्य चित्रयोधी जितश्रमः।
आरुरोह महाबाहुः सर्वसैन्यस्य पश्यतः ॥२४॥

फिर विचित्र रीति से युद्ध करनेवाले, महाबाहु, कभी न थकनेवाले नकुल सारी सेना के देखते-देखते चित्रसेन के रथ के समीप जा उसपर चढ़ गये।

सकुण्डलं समुकुटं सुनसं स्वायतेक्षणम्।
चित्रसेनशिरः कायादपाहरत पाण्डवः ॥२५॥

तदनन्तर पाण्डुपुत्र नकुल ने सुन्दर नासिका और विशाल नेत्रों से युक्त कुण्डल और मुकुटसहित चित्रसेन के मस्तक को धड़ से काट गिराया।

विशस्तं भ्रातरं दृष्ट्वा कर्णपुत्रौ महारथौ।
सुषेणः सत्यसेनश्च मुञ्चन्तौ विविधाञ्शरान् ॥२६॥
ततोऽभ्यधावतां तूर्णं पाण्डवं रथिनां वरम्।
जिघाँसन्तौ यथा नागं व्याघ्रौ राजन् महावने ॥२७॥

राजन्! अपने भाई को मारा गया देख कर्ण के दो महारथी पुत्र सुषेण और सत्यसेन नाना प्रकार के बाणों की वृष्टि करते हुए रथियों में श्रेष्ठ पाण्डुपुत्र नकुल पर तुरन्त ही चढ़ आये, जैसे विशाल वन में दो व्याघ्र किसी एक हाथी को मार डालने की इच्छा से उसकी ओर उठ दौड़ें।

स शरैः सर्वतो विद्धो रथमारुह्य वेगवान्।
अतिष्ठत रणे वीरः क्रुद्धरूप इवान्तकः ॥२८॥

सब ओर से बाणों से विद्ध होने पर भी नकुल बड़े वेग से दूसरे रथ पर जा चढ़े और कुपित हुए काल के समान रणभूमि में खड़े हो गये।

तस्य तौ भ्रातरौ राजञ्शरैः संनतपर्वभिः।
रथं विशकलीकर्तुं समारब्धौ विशाम्पते ॥२९॥

राजन्! प्रजेश्वर! उन दोनों भाइयों ने झुकी हुई गाँठवाले बाणों द्वारा नकुल के रथ के टुकड़े-टुकड़े करने की चेष्टा आरम्भ की।

सत्यसेनो रथेषां तु नकुलस्य धनुस्तथा।
पृथक् शराभ्यां चिच्छेद कृतहस्तः प्रतापवान् ॥३०॥

तब सिद्धहस्त और प्रतापी वीर सत्यसेन ने पृथक्-पृथक् दो बाणों द्वारा नकुल का धनुष और उनके रथ के ईषादण्ड को भी काट दिया।

स रथेऽतिरथस्तिष्ठन् रथशक्तिं परामृशत्।
स्वर्णदण्डामकुण्ठाग्रां तैलधौतां सुनिर्मलाम् ॥३१॥
लेलिहानामिव विभो नागकन्यां महाविषाम्।
समुद्यम्य च चिक्षेप सत्यसेनस्य संयुगे ॥३२॥

उधर रथ पर खड़े हुए अतिरथि वीर नकुल ने एक स्वर्णदण्डवाली रथशक्ति हाथ में ली। उसका अग्रभाग कहीं भी कुण्ठित होनेवाला नहीं था। प्रभो! तेल में धोकर स्वच्छ की हुई वह निर्मलशक्ति जीभ लपलपाती हुई महाविषैली नागिन के समान प्रतीत होती थी। नकुल ने युद्धभूमि में सत्यसेन को लक्ष्य करके ऊपर उठाकर वह रथशक्ति चला दी।

सा तस्य हृदयं संख्ये बिभेद च तथा नृप।
स पपात रथाद् भूमिं गतसत्त्वोऽल्पचेतसः ॥३३॥

राजन्! उस शक्ति ने समराङ्गण में उसके वक्षःस्थल को विदीर्ण कर दिया। सत्यसेन की चेतना

जाती रही और वह प्राणशून्य होकर पृथिवी पर गिर पड़ा ।

भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा सुषेणः क्रोधमूर्च्छितः ।
अभ्यवर्षच्छरैस्तूर्णं पादातं पाण्डुनन्दनम् ।।३४।।

भाई को मारा गया देख सुषेण क्रोध से व्याकुल हो उठा और तुरन्त ही ईषादण्ड [जुआ] कट जाने से पैदल-से हुए पाण्डुपुत्र नकुल पर बाणों की वर्षा करने लगा ।

चतुर्भिश्चतुरो वाहान् ध्वजं छित्त्वा च पञ्चभिः ।
त्रिभिर्वै सारथिं हत्वा कर्णपुत्रो ननाद ह ।।३५

उसने चार बाणों से उनके चारों घोड़ों को मार डाला और पाँच से उनकी ध्वजा काटकर तीन बाणों से सारथि को भी मार डाला, फिर कर्णपुत्र ने जोर-जोर से सिंहनाद किया ।

ततः क्रुद्धो महाराज नकुलः परवीरहा ।
शरैस्तस्य दिशः सर्वाश्छादयामास वीर्यवान् ।।३६।।

महाराज ! फिर तो शत्रुवीरों के संहारक पराक्रमी नकुल ने क्रुद्ध हो बाणों की वर्षा से सुषेण की सम्पूर्ण दिशाओं को आच्छादित कर दिया ।

ततो गृहीत्वा तीक्ष्णाग्रमर्धचन्द्रं सुतेजनम् ।
सुवेगवन्तं चिक्षेप कर्णपुत्राय संयुगे ।।३७।।

तत्पश्चात् तीखी धारवाले एक अत्यन्त तेज और वेगशाली अर्धचन्द्राकार बाण को लेकर उसे रणभूमि में कर्णपुत्र पर चला दिया ।

तस्य तेन शिरः कायाज्जहार नृपसत्तम ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां तदद्भुतमिवाभवत् ।।३८।।

नृपश्रेष्ठ ! उस बाण से नकुल ने सम्पूर्ण सेनाओं के देखते-देखते सुषेण का मस्तक धड़ से काट गिराया । वह अद्भुत-सी घटना हुई ।

स हतः प्रापतद् राजन् नकुलेन महात्मना ।
नदीवेगादिवारुग्णस्तीरजः पादपो महान् ।।३९।।

महामनस्वी नकुल के हाथ से मारा जाकर सुषेण भूतल पर गिर पड़ा, मानो नदी के वेग से कटकर महान् तटवर्ती वृक्ष धराशायी हो गया हो ।

कर्णपुत्रवधं दृष्ट्वा नकुलस्य च विक्रमम् ।
प्रदुद्राव भयात् सेना तावकी भरतर्षभ ।।४०।।

भरतभूषण ! कर्णपुत्र का वध और नकुल का पराक्रम देखकर आपकी सेना भय के कारण भाग खड़ी हुई ।

इति महाभारते शल्यपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

पञ्चमोऽध्यायः

शल्य का पराक्रम

सञ्जय उवाच

तां दृष्ट्वा सीदतीं सेनां पङ्के गामिव दुर्बलाम् ।
उज्जिहीर्षुस्तदा शल्यः प्रायात् पाण्डुसुतान् प्रति ।।१।।

सञ्जय कहते हैं—कीचड़ में फँसी हुई दुर्बल गौ के समान कौरव-सेना को अत्यन्त कष्ट पाते देख उसका उद्धार करने की इच्छा से राजा शल्य ने उस समय पाण्डवों पर धावा किया ।

पाण्डवा अपि भूपाल समरे जितकाशिनः ।
मद्रराजं समासाद्य बिभिदुर्निशितैः शरैः ।।२।।

भूपाल ! उधर रणभूमि में विजय से सुशोभित होनेवाले पाण्डव भी महाराज शल्य के समीप जाकर उन्हें अपने पैने बाणों से बींधने लगे ।

ततः शरशतैस्तीक्ष्णैर्मद्रराजो महारथः ।
अर्दयामास तां सेनां धर्मराजस्य पश्यतः ।।३।।

तब महारथी मद्रराज शल्य धर्मपुत्र युधिष्ठिर के देखते-देखते उनकी सेना को अपने सैकड़ों तीखे बाणों से सन्तप्त करने लगे ।

तां सम्मर्द्य ततः संख्ये लघुहस्तः शितैः शरैः ।
बाणवर्षेण महता युधिष्ठिरमताडयत् ।।४।।

शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले शल्य ने रणभूमि में पैने बाणों द्वारा पाण्डव-सेना को मथकर बड़ी भारी बाणवर्षा के द्वारा युधिष्ठिर को भी गहरी चोट पहुँचाई ।

ततो वृकोदरः क्रुद्धः संदश्य दशनच्छदम् ।
पोथयामास शल्यस्य चतुरोऽश्वान् महाजवान् ॥५॥

तब भीमसेन ने कुपित होकर ओठ चबाते हुए शल्य के महान् वेगशाली चारों घोड़ों को मार डाला ।

ततः शल्यो रणे क्रुद्धः पीने वक्षसि तोमरम् ।
निचखान नदन् वीरो वर्म भित्वा च सोऽभ्ययात् ॥६॥

तब तो समराङ्गण में कुपित हो गर्जना करते हुए वीर शल्य ने भीमसेन के विशाल वक्षःस्थल में एक तोमर धँसा दिया । वह उनके कवच को छेदकर उनकी छाती में गड़ गया ।

वृकोदरस्त्वसम्भ्रान्तस्तमेवोद्धृत्य तोमरम् ।
यन्तारं मद्रराजस्य निर्बिभेद ततो हृदि ॥७॥

इससे भीमसेन को तनिक भी घबराहट नहीं हुई । उन्होंने उसी तोमर को निकालकर उसके द्वारा मद्रराज शल्य के सारथि की छाती छेद डाली ।

स भिन्नमर्मा रुधिरं वमन् वित्रस्तमानसः ।
पपाताभिमुखो दीनो मद्रराजस्य पश्यतः ॥८॥

इससे सारथि का मर्मस्थल विदीर्ण हो गया और वह मुख से रक्तवमन करता हुआ दीन एवं भयभीत होकर शल्य के देखते हुए उनके सामने ही रथ से नीचे गिर पड़ा ।

पतितं प्रेक्ष्य यन्तारं शल्यः सर्वायसीं गदाम् ।
आदाय तरसा राजंस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥९॥

राजन् ! अपने सारथि को गिरा हुआ देख मद्रराज शल्य वेगपूर्वक लोहे की गदा हाथ में लेकर पर्वत के समान अविचल भाव से खड़े हो गये ।

तं दीप्तमिव कालाग्निं पाशहस्तमिवान्तकम् ।
जवेनाभ्यपतद् भीमः प्रगृह्य महतीं गदाम् ॥१०॥

वे प्रलयकाल की प्रज्वलित अग्नि और पाशधारी यमराज के समान भयंकर जान पड़ते थे । भीमसेन भी बहुत बड़ी गदा हाथ में लेकर वेगपूर्वक उनपर टूट पड़े ।

प्रेक्षन्तः सर्वतस्तौ हि योधा योधमहाद्विपौ ।
तावकाश्चापरे चैव साधु साध्वित्यपूजयन् ॥११॥

योद्धाओं में महान्, गजराज के समान पराक्रमी उन दोनों वीरों को देखकर आपके और शत्रुपक्ष के योद्धा सब ओर से वाह-वाह कहकर उनके प्रति सम्मान प्रकट करने लगे ।

न हि मद्राधिपादन्यो रामाद् वा यदुनन्दनात् ।
सोढुमुत्सहते वेगं भीमसेनस्य संयुगे ॥१२॥

संसार में मद्रराज शल्य अथवा यदुनन्दन बलराम के अतिरिक्त दूसरा कोई ऐसा योद्धा नहीं है, जो युद्ध में भीम का वेग सह सके ।

तथा मद्राधिपस्यापि गदावेगं महात्मनः ।
सोढुमुत्सहते नान्यो योधो युधि वृकोदरात् ॥१३॥

इसी प्रकार महामना मद्रराज शल्य की गदा का वेग भी समराङ्गण में भीमसेन के सिवा दूसरा कोई योद्धा नहीं सह सकता ।

तौ वृषाविव नर्दन्तौ मण्डलानि विचेरतुः ।
आवर्तितौ गदाहस्तौ मद्रराजवृकोदरौ ॥१४॥

शल्य और भीमसेन दोनों वीर हाथ में गदा लिये साँडों की भाँति गर्जते हुए चक्कर लगाने और पैंतरे देने लगे ।

मण्डलावर्तमार्गेषु गदाविहरणेषु च ।
निर्विशेषमभूद् युद्धं तयोः पुरुषसिंहयोः ॥१५॥

मण्डलाकार गति से घूमने में, विभिन्न प्रकार के पैंतरे दिखाने की कला में और गदा का प्रहार करने में उन दोनों पुरुषसिंहों में कोई भी अन्तर दिखाई नहीं देता था, वे दोनों एक-से जान पड़ते थे ।

दन्तैरिव महानागौ शृङ्गैरिव महर्षभौ ।
तोत्त्रैरिव तदान्योन्यं गदाग्राभ्यां निजघ्नतुः ॥१६॥

जैसे दो विशालकाय हाथी दाँतों से और दो प्रबल साँड सींगों से एक-दूसरे पर प्रहार करते हैं, वैसे ही अंकुशों जैसी श्रेष्ठ गदाओं से वे दोनों वीर परस्पर आघात करने लगे ।

तौ परस्परसंरम्भाद् गदाभ्यां सुभृशाहतौ ।
युगपत् पेततुर्वीरावुभाविन्द्रध्वजाविव ॥१७॥

वे एक-दूसरे पर क्रोधपूर्वक गदाओं का प्रहार करके अत्यन्त घायल हो गये और दो इन्द्रध्वजाओं के समान एक ही साथ पृथिवी पर गिर पड़े ।

ततः स्वरथमारोप्य मद्राणामृषभं रणे ।
अपोवाह कृपः शल्यं तूर्णमायोधनादथ ॥१८॥

इतने में कृपाचार्य मद्रराज शल्य को अपने रथ

पर बिठाकर तुरन्त ही रणभूमि से दूर हटा ले गये ।

क्षीणवद् विह्वलत्वात् तु निमेषात् पुनरुत्थितः ।
भीमसेनो गदापाणिः समाह्वयत मद्रपम् ॥१९॥

इधर गदाधारी भीमसेन पलक मारते-मारते पुनः होश में आकर उठ खड़े हुए और विह्वलता के कारण मतवाले पुरुष के समान मद्रराज को युद्ध के लिए ललकारने लगे ।

ततस्तु तावकाः शूरा नानाशस्त्रसमायुताः ।
नाना वादित्रशब्देन पाण्डुसेनामयोधयन् ॥२०॥

तब आपके सैनिक नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लेकर भाँति-भाँति के रणवाद्यों की गम्भीर ध्वनि के साथ पाण्डुसेना से युद्ध करने लगे ।

तदानीकमभिप्रेक्ष्य ततस्ते पाण्डुनन्दनाः ।
प्रययुः सिंहनादेन दुर्योधनपुरोगमान् ॥२१॥

उस कौरवदल को आक्रमण करते देख पाण्डव-वीर सिंह के समान गर्जना करके दुर्योधन आदि की ओर बढ़ चले ।

तेषामापततां तूर्णं पुत्रस्ते भरतर्षभ ।
प्रासेन चेकितानं वै विव्याध हृदये भृशम् ॥२२॥

भरतभूषण ! आपके पुत्र ने तुरन्त ही एक प्रास का प्रहार करके उन धावा करनेवाले पाण्डव योद्धाओं में से चेकितान की छाती पर गहरी चोट पहुँचाई ।

स पपात रथोपस्थे तव पुत्रेण ताडितः ।
रुधिरौघपरिक्लिन्नः प्रविश्य विपुलं तमः ॥२३॥

आपके पुत्र द्वारा ताड़ित होकर चेकितान अत्यन्त मूर्च्छित हो रथ की बैठक में गिर पड़ा । उस समय उसका सारा शरीर रक्त से लथपथ हो गया ।

चेकितानं हतं दृष्ट्वा पाण्डवानां महारथाः ।
असक्तमभ्यवर्षन्त शरवर्षाणि भागशः ॥२४॥

चेकितान को मारा गया देख पाण्डव महारथी पृथक्-पृथक् बाणों की लगातार वर्षा करने लगे ।

कृपश्च कृतवर्मा च सौबलश्च महारथाः ।
अयोधयन् धर्मराजं मद्रराजपुरस्कृताः ॥२५॥

उधर कृपाचार्य, कृतवर्मा और महारथी शकुनि मद्रराज शल्य को आगे करके धर्मराज युधिष्ठिर से युद्ध करने लगे ।

त्रिसाहस्रास्तथा राजँस्तव पुत्रेण प्रेरिताः ।
अयोधयन्त विजयं द्रोणपुत्रपुरस्कृताः ॥२६॥

राजन् ! आपके पुत्र से प्रेरित हो तीन सहस्र योद्धा अश्वत्थामा को आगे करके अर्जुन के साथ युद्ध करने लगे ।

विजये धृतसंकल्पाः समरे त्यक्तजीविताः ।
प्राविशंस्तावका राजन् हंसा इव महत् सरः ॥२७॥

राजन् ! जैसे हंस महान् सरोवर में प्रविष्ट होते हैं, वैसे ही आपके सैनिक रणभूमि में विजय का दृढ़ संकल्प ले प्राणों का मोह छोड़कर शत्रुसेना में जा घुसे ।

तथा प्रवृत्ते संग्रामे घोररूपे भयानके ।
तावकानां परेषां च नासीत्कश्चित्पराङ्मुखः ॥२८॥

इस प्रकार घोर एवं भयानक संग्राम चलने लगा। उस समय आपके और शत्रुपक्ष के योद्धाओं में से कोई भी विमुख नहीं हुआ ।

ब्रह्मलोकपरा भूत्वा प्रार्थयन्तो जयं युधि ।
सुयुद्धेन पराक्रान्ता नराः स्वर्गमभीप्सवः ॥२९॥

सबका लक्ष्य था ब्रह्मलोक की प्राप्ति । वे सभी सैनिक युद्ध में विजय चाहते और उत्तम युद्ध के द्वारा पराक्रम दिखाते हुए स्वर्गलोक पाने की अभिलाषा रखते थे ।

भर्तृपिण्डविमोक्षार्थं भर्तृकार्यविनिश्चिताः ।
स्वर्गसंसक्तमनसो योधा युयुधिरे तदा ॥३०॥

सभी योद्धा स्वामी के दिये हुए अन्न के ऋण से उऋण होने के लिए उनके कार्य को सिद्ध करने का दृढ़ निश्चय किये हुए मन में स्वर्ग-प्राप्ति की अभिलाषा रखकर उस समय उत्साहपूर्वक युद्ध कर रहे थे ।

नानारूपाणि शस्त्राणि विसृजन्तो महारथाः ।
अन्योन्यमभिगर्जन्तः प्रहरन्तः परस्परम् ॥३१॥

नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करके परस्पर प्रहार करनेवाले महारथी एक-दूसरे को लक्ष्य करके गर्जना करते थे ।

हत विध्यत गृह्णीत प्रहरध्वं निकृन्तत ।
इति स्म वाचः श्रूयन्ते तव तेषां च वै बले ॥३२॥

आपकी और पाण्डवों की सेना में 'मारो, बींध

डालो, पकड़ो प्रहार करो, और टुकड़े-टुकड़े कर डालो'—ये ही बातें सुनाई देती थीं।

ततः शल्यो महाराज धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्।
विव्याध निशितैर्बाणैर्हन्तुकामो महारथम् ॥३३॥

महाराज ! तत्पश्चात् स्वस्थचित्त होकर राजा शल्य ने महारथी धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर को मार डालने की इच्छा से उन्हें पैने बाणों से बींध डाला।

पीडिते धर्मराजे तु मद्रराजेन मारिष।
सात्यकिर्भीमसेनश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
परिवार्य रथैः शल्यं पीडयामासुराहवे ॥३४॥

मान्यवर ! जब मद्रराज शल्य धर्मराज युधिष्ठिर को पीड़ा देने लगे, तब सात्यकि, भीमसेन और माद्री-पुत्र पाण्डव नकुल और सहदेव ने रणभूमि में शल्य को रथों द्वारा घेरकर उन्हें पीड़ा देना आरम्भ किया।

स तु शूरो रणे यत्तः पीडितस्तैर्महारथैः।
विकृष्य कार्मुकं घोरं वेगघ्नं भारसाधनम् ॥३५॥
सात्यकिं पञ्चविंशत्या शल्यो विव्याध मारिष।
भीमसेनं तु सप्तत्या नकुलं सप्तभिस्तथा ॥३६॥

आर्यनरेश ! रणभूमि में शूरवीर शल्य ने उन महारथियों द्वारा पीड़ित होने पर भी विजय के लिए यत्नशील हो भार सहने में समर्थ तथा शत्रु के वेग का नाश करनेवाले एक भयंकर धनुष को खींचकर सात्यकि को पच्चीस, भीमसेन को सत्तर और नकुल को सात बाण मारे।

ततः सविशिखं चापं सहदेवस्य धन्विनः।
छित्त्वा भल्लेन समरे विव्याधैनं त्रिसप्तभिः ॥३७॥

तदनन्तर युद्धभूमि में एक भल्ल के द्वारा धनुर्धर सहदेव के बाणसहित धनुष को काटकर शल्य ने उन्हें इक्कीस बाणों से घायल कर दिया।

सहदेवस्तु समरे मातुलं भूरिवर्चसम्।
सज्यमन्यद् धनुःकृत्वा पञ्चभिः समताडयत् ॥३८॥

तब सहदेव ने रणभूमि में दूसरे धनुष पर डोरी चढ़ाकर अपने अत्यन्त तेजस्वी मामा को पाँच बाणों द्वारा घायल कर दिया।

सारथिं चास्य समरे शरेणानतपर्वणा।
विव्याध भृशसंक्रुद्धस्तं वै भूयस्त्रिभिः शरैः ॥३९॥

साथ ही अत्यन्त क्रुद्ध होकर उन्होंने झुकी हुई गाँठवाले बाण से उनके सारथि को भी बींध डाला और उन्हें भी पुनः तीन बाणों से घायल किया।

ततः शल्यो रणे राजन् सर्वांस्तान् दशभिः शरैः।
विव्याध भृशसंक्रुद्धस्तोत्त्रैरिव महाद्विपान् ॥४०॥

राजन् ! तब राजा शल्य रणभूमि में अत्यन्त कुपित हो उठे और जैसे महावत अंकुशों से बड़े-बड़े हाथियों को चोट पहुँचाते हैं, उसी प्रकार उन्होंने उन सब योद्धाओं को दस बाणों से घायल कर दिया।

ते वार्यमाणाः समरे मद्रराजेन धन्विनः।
न शेकुः सम्मुखे स्थातुं तस्य शत्रुनिषूदनाः ॥४१॥

रणभूमि में मद्रराज शल्य के द्वारा इस प्रकार रोके जाते हुए शत्रुसूदन पाण्डव-महारथी उनके सामने ठहर न सके।

ततो दुर्योधनो राजा दृष्ट्वा शल्यस्य विक्रमम्।
निहतान्पाण्डवान्मेने पाञ्चालानथ सृञ्जयान् ॥४२॥

उस समय राजा दुर्योधन शल्य का वह पराक्रम देखकर ऐसा समझने लगा कि अब पाण्डव, पाञ्चाल और सृंजय अवश्य मौत के घाट उतार दिये जाएँगे।

इति महाभारते शल्यपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

युधिष्ठिर द्वारा शल्य की पराजय

सञ्जय उवाच

ततः सैन्यास्तव विभो मद्रराजपुरस्कृताः।
पुनरभ्यद्रवन् पार्थान् वेगेन महता रणे ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—प्रभो ! पाण्डवों के पीछे हटने पर आपके सभी सैनिक युद्धभूमि में मद्रराज को आगे करके पुनः बड़े वेग से पाण्डवों पर टूट पड़े।

तत्र पश्याम्यहं कर्म शल्यस्यातिमहद्रणे।
यदेकः सर्वसैन्यानि पाण्डवानामयोधयत् ॥२॥

महाराज ! वहाँ युद्धक्षेत्र में मैंने राजा शल्य का बहुत बड़ा पराक्रम यह देखा कि वे अकेले ही पाण्डवों की सम्पूर्ण सेनाओं के साथ युद्ध कर रहे थे।

तस्य तल्लाघवं दृष्ट्वा तथैव च कृतास्त्रताम् ।
अपूजयन्ननीकानि परेषां तावकानि च ॥३॥

उनकी स्फूर्ति और अस्त्रविद्या का ज्ञान देखकर आपके और शत्रुपक्ष के सैनिकों ने भी उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ।

वध्यमानेष्वनीकेषु मद्रराजेन पाण्डवः ।
अमर्षवशमापन्नो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥४॥

जब मद्रराज द्वारा पाण्डव-सैनिकों का संहार होने लगा, तब पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर अमर्ष के वशीभूत हो गये ।

ततः पौरुषमास्थाय मद्रराजमताडयत् ।
जयो वास्तु वधो वास्तु कृतबुद्धिर्महारथः ॥५॥

तब उन्होंने अपने पुरुषार्थ का आश्रय ले मद्रराज पर प्रहार किया । महारथी युधिष्ठिर ने यह निश्चय कर लिया कि आज या तो मेरी विजय होगी अथवा मेरा वध हो जाएगा ।

समाहूयाब्रवीत् सर्वान् भ्रातॄन् कृष्णं च माधवम् ।
भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च ये चान्ये पृथिवीक्षितः ॥६॥
कौरवार्थे पराक्रान्ताः संग्रामे निधनं गताः ।
यथाभागं यथोत्साहं भवन्तः कृतपौरुषाः ॥७॥

उन्होंने अपने समस्त भाइयों, श्रीकृष्ण और सात्यकि को बुलाकर इस प्रकार कहा—"बन्धुओ ! भीष्म, द्रोण, कर्ण तथा अन्य जो-जो राजा दुर्योधन के लिए पराक्रम प्रकट करते थे, वे सब-के-सब संग्राम में मारे गये । तुम लोगों ने उत्साहपूर्वक अपने-अपने हिस्से का कार्य पूरा कर लिया ।

भागोऽवशिष्ट एकोऽयं मम शल्यो महारथः ।
सोऽहमद्य युधा जेतुमाशंसे मद्रकाधिपम् ॥८॥

"अब एकमात्र महारथी शल्य शेष रह गये हैं, जो मेरे हिस्से में आये हैं, अतः आज मैं इन मद्रराज शल्य को युद्ध में जीतने की आशा रखता हूँ ।

योत्स्येऽहं मातुलेनाद्य क्षात्रधर्मेण पार्थिवाः ।
स्वमंशमभिसंधाय विजयायेतराय च ॥९॥

"राजाओ ! मैं आज क्षत्रियधर्म के अनुसार अपने हिस्से का कार्य पूर्ण करने का संकल्प लेकर अपनी विजय अथवा वध के लिए मामा शल्य के साथ संग्राम करूँगा ।

तस्य मेऽभ्यधिकं शस्त्रं सर्वोपकरणानि च ।
संसज्जन्तु रथे क्षिप्रं शास्त्रवद् रथयोजकाः ॥१०॥

"रथ जोतनेवाले लोग शीघ्र ही मेरे रथ पर शास्त्रीय विधि के अनुसार अधिक-से-अधिक शस्त्र और अन्य समस्त आवश्यक सामग्री सजाकर रख दें ।

शैनेयो दक्षिणं चक्रं धृष्टद्युम्नस्तथोत्तरम् ।
पृष्ठगोपो भवत्वद्य मम पार्थो धनञ्जयः ॥११॥
पुरःसरो ममाद्यास्तु भीमः शस्त्रभृतां वरः ।
एवमभ्यधिकः शल्याद् भविष्यामि महामृधे ॥१२॥

"सात्यकि मेरे दाहिने चक्र की रक्षा करें और धृष्टद्युम्न बायें चक्र की । आज कुन्तीपुत्र अर्जुन मेरे पृष्ठभाग की रक्षा में तत्पर रहें तथा शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ भीमसेन मेरे आगे-आगे चलें । ऐसी व्यवस्था हो जाने पर मैं इस महासमर में शल्य से अधिक शक्तिशाली हो जाऊँगा ।"

एवमुक्तास्तथा चक्रुस्तदा राज्ञः प्रियैषिणः ।
ततः प्रहर्षः सैन्यानां पुनरासीत् तदा मृधे ॥१३॥

उनके ऐसा कहने पर राजा का प्रिय करने की इच्छा रखनेवाले भाइयों ने वैसा ही किया । तब उस रणभूमि में सैनिकों के मन में महान् हर्षोल्लास छा गया ।

युधिष्ठिरस्तु मद्रेशमभ्यधावदमर्षितः ।
स्वयं संनोदयन्नश्वान् दन्तवर्णान् मनोजवान् ॥१४॥

तब राजा युधिष्ठिर ने अमर्ष में भरकर दाँतों के समान श्वेत वर्णवाले और मन के तुल्य वेगवान् घोड़ों को स्वयं ही हाँकते हुए मद्रराज शल्य पर आक्रमण किया ।

तत्राश्चर्यमपश्याम कुन्तीपुत्रे युधिष्ठिरे ।
पुरा भूत्वा मृदुर्दान्तो यत्तदा दारुणोऽभवत् ॥१५॥

वहाँ हमने कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर में एक आश्चर्य की बात देखी । वे पहले से जितेन्द्रिय और कोमल स्वभाव के होकर भी उस समय कठोर बन गये ।

विवृत्ताक्षश्च कौन्तेयो वेपमानश्च मन्युना ।
चिच्छेद योधान् निशितैः शरैः शतसहस्रशः ॥१६॥

क्रोध से काँपते हुए तथा आँखें फाड़-फाड़कर देखते हुए कुन्तीपुत्र ने अपने पैने बाणों द्वारा सैकड़ों और सहस्रों शत्रु-सैनिकों का संहार कर डाला ।

साश्वारोहाँश्च तुरगान् पत्तींश्चैव सहस्रधा ।
व्यपोथयत संग्रामे क्रुद्धो रुद्रः पशूनिव ।।१७।।

जैसे क्रोध में भरे हुए रुद्रदेव पशुओं का संहार करते हैं, उसी प्रकार युधिष्ठिर ने भी इस संग्राम में कुपित हो घुड़सवारों, घोड़ों और पैदलों के सहस्रों टुकड़े कर डाले ।

शून्यमायोधनं कृत्वा शरवर्षैः समन्ततः ।
अभ्यद्रवत मद्रेशं तिष्ठ शल्येति चाब्रवीत् ।।१८।।

उन्होंने अपनी बाणों की वर्षा के द्वारा चारों ओर से युद्धस्थल को सूना करके मद्रराज शल्य पर आक्रमण किया और कहा—"शल्य ! खड़े रहो, खड़े रहो ।"

तस्य तच्चरितं दृष्ट्वा संग्रामे भीमकर्मणः ।
वित्रेसुस्तावकाः सर्वे शल्यस्त्वेनं समभ्ययात् ।।१९।।

भयंकर कर्म करनेवाले युधिष्ठिर का रणभूमि में वह पराक्रम देखकर आपके सारे सैनिक थर्रा उठे, परन्तु शल्य ने उनपर धावा बोल दिया ।

ततस्तौ भृशसंक्रुद्धौ प्रध्माय सलिलोद्भवौ ।
समाहूय तदान्योन्यं भर्त्सयन्तौ समीयतुः ।।२०।।

फिर वे दोनों वीर अत्यन्त क्रुद्ध हो शंख बजाकर एक-दूसरे को ललकारते और फटकारते हुए परस्पर भिड़ गये ।

शल्यस्तु शरवर्षेण पीडयामास पाण्डवम् ।
मद्रराजं तु कौन्तेयः शरवर्षैरवाकिरत् ।।२१।।

शल्य ने बाणों की झड़ी लगाकर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को पीड़ित कर दिया और कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ने भी बाणवृष्टि द्वारा मद्रराज शल्य को आच्छादित कर दिया ।

दीप्यमानौ महात्मानौ प्राणद्यूतेन दुर्मदौ ।
दृष्ट्वा सर्वाणि सैन्यानि नाध्यवस्यंस्तयोर्जयम् ।।२२।

प्राणों की बाजी लगाकर युद्ध का जुआ खेलते हुए उन मदमत्त महामनस्वी तथा दीप्तिमान वीरों को देखकर सारी सेनाएँ यह निश्चय नहीं कर पा रही थीं कि इन दोनों में किसकी विजय होगी ।

हत्वा मद्राधिपं पार्थो भोक्ष्यतेऽद्य वसुन्धराम् ।
शल्यो वा पाण्डवं हत्वा दद्याद् दुर्योधनाय गाम् ।।२३।।

आज कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर मद्रराज को मारकर इस भूमण्डल का राज्य भोगेंगे अथवा शल्य ही पाण्डुकुमार युधिष्ठिर को मारकर दुर्योधन को पृथिवी का राज्य सौंप देंगे ।

ततः शरशतं शल्यो मुमोचाथ युधिष्ठिरे ।
धनुश्चास्य शिताग्रेण बाणेन निरकृन्तत ।।२४।।

इधर ये बातें हो रही थीं उधर शल्य ने युधिष्ठिर पर सौ बाणों का प्रहार किया तथा तीखी धारवाले बाण से उनके धनुष को भी काट दिया ।

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय शल्यं शरशतैस्त्रिभिः ।
अविध्यत् कार्मुकं चास्य क्षुरेण निरकृन्तत ।।२५।।
अथास्य निजघानाश्वाँश्चतुरो नतपर्वभिः ।
द्वाभ्यामतिशिताग्राभ्यामुभौ तत्पार्ष्णिसारथी ।।२६।।
ततोऽस्य दीप्यमानेन पीतेन निशितेन च ।
प्रमुखे वर्तमानस्य भल्लेनापाहरत् ध्वजम् ।।२७।।

तब युधिष्ठिर ने दूसरा धनुष लेकर शल्य को तीन सौ बाणों से घायल कर दिया तथा एक क्षुर के द्वारा उनके धनुष के भी दो टुकड़े कर दिये । फिर झुकी हुई गाँठवाले बाणों से उनके चारों घोड़ों को मार डाला । तत्पश्चात् दो अत्यन्त तीखे तीरों से दोनों पार्श्व-रक्षकों को यमलोक पठा दिया । इसके अनन्तर एक चमकते हुए पानीदार पैने भल्ल से सामने खड़े हुए शल्य के ध्वज को भी काट गिराया ।

ततो मद्राधिपं द्रौणिरभ्यधावत् तथा कृतम् ।
आरोप्य चैनं स्वरथे त्वरमाणः प्रदुद्रुवे ।।२८।।

उस समय मद्रराज शल्य की ऐसी दुर्गति हुई देख अश्वत्थामा दौड़ा और उन्हें अपने रथ पर बिठाकर तुरन्त वहाँ से भाग गया ।

मुहूर्तमिव तौ गत्वा नर्दमाने युधिष्ठिरे ।
ततः स्मित्वा मद्रपतिरन्यं स्यन्दनमास्थितः ।।२९।।

युधिष्ठिर दो घड़ी तक उनका पीछा करके सिंह के समान दहाड़ते रहे । उधर मद्रराज शल्य मुस्करा-कर दूसरे रथ पर जा बैठे ।

इति महाभारते शल्यपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिर द्वारा राजा शल्य का वध

सञ्जय उवाच

अथान्यद् धनुरादाय बलवान् वेगवत्तरम् ।
युधिष्ठिरं मद्रपतिर्भित्वा सिंह इवानदत् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! तत्पश्चात् बलवान् मद्रराज शल्य दूसरा अत्यन्त वेगशाली धनुष हाथ में लेकर युधिष्ठिर को घायल करके सिंह के समान गर्जने लगे ।

ततः स शरवर्षेण पर्जन्य इव वृष्टिमान् ।
अभ्यवर्षदमेयात्मा क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः ॥२॥

तदनन्तर अमेय [असीम] आत्मबल से सम्पन्न क्षत्रिय-शिरोमणि शल्य वर्षा करनेवाले मेघ के समान क्षत्रिय वीरों पर बाणों की वृष्टि करने लगे ।

कुञ्जरान् कुञ्जरारोहानश्वानश्वप्रियायिनः ।
रथांश्च रथिनः सार्धं जघान रथिनां वरः ॥३॥

रथियों में श्रेष्ठ शल्य ने गजों [हाथियों] और गजारोहियों को, घोड़ों और घुड़सवारों को तथा रथों और रथियों को एकसाथ ही नष्ट कर दिया ।

बाहूंश्चिच्छेद तरसा सायुधान् केतनानि च ।
चकार च महीं योधैस्तीर्णां वेदीं कुशैरिव ॥४॥

उन्होंने आयुधोंसहित भुजाओं और ध्वजों को वेगपूर्वक काट डाला और भूतल पर उसी प्रकार योद्धाओं की लाशें बिछा दीं, जैसे वेदी पर कुश बिछाये जाते हैं ।

तथा तमरिसैन्यानि घ्नन्तं मृत्युमिवान्तकम् ।
परिवव्रुर्भृशं क्रुद्धाः पाण्डुपाञ्चालसोमकाः ॥५॥

इस प्रकार मृत्यु और यमराज के समान शत्रु-सेना का संहार करनेवाले राजा शल्य को अत्यन्त क्रोध में भरे हुए पाण्डव, पाञ्चाल और सोमक योद्धाओं ने चारों ओर से घेर लिया ।

तं भीमसेनश्च शिनेश्च नप्ता
माद्र्याश्च पुत्रौ पुरुषप्रवीरौ ।
समागतं भीमबलेन राज्ञा
पर्याप्तमन्योन्यमथाह्वयन्त ॥६॥

भीमसेन, शिनिपौत्र सात्यकि और माद्री के पुत्र नरश्रेष्ठ नकुल एवं सहदेव—ये भयंकर बलशाली राजा युधिष्ठिर के साथ भिड़े हुए सामर्थ्यशाली वीर शल्य को परस्पर युद्ध के लिए ललकारने लगे ।

संरक्षितो भीमसेनेन राजा
माद्रीसुताभ्यामथ माधवेन ।
मद्राधिपं पत्रिभिरुग्रवेगैः
स्तनान्तरे धर्मसुतो निजघ्ने ॥७॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर ने भीमसेन, नकुल-सहदेव और सात्यकि से सुरक्षित होकर मद्रराज शल्य की छाती में उग्रवेगशाली बाणों का प्रहार किया ।

ततो रणे तावकानां रथौघाः
समीक्ष्य मद्राधिपतिं शरार्तम् ।
पर्यावव्रुः प्रवरास्ते सुसज्जा
दुर्योधनस्यानुमते पुरस्तात् ॥८॥

उस समय रणभूमि में मद्रराज को बाणों से पीड़ित देख आपके श्रेष्ठ महारथी योद्धा दुर्योधन की आज्ञा से सुसज्जित हो उन्हें [शल्य को] घेरकर युधिष्ठिर के आगे खड़े हो गये ।

ततस्तु मद्राधिपतिर्महात्मा
युधिष्ठिरं भीमबलं प्रसह्य ।
विव्याध वीरं हृदयेऽतिवेगं
शरेण सूर्याग्निसमप्रभेण ॥९॥

तब महान् आत्मा मद्रराज शल्य ने सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी बाण से अत्यन्त वेगवान् और भयंकर बलशाली वीर युधिष्ठिर की छाती में चोट पहुँचाई ।

ततोऽतिविद्धोऽथ युधिष्ठिरोऽपि
सुसम्प्रयुक्तेन शरेण राजन् ।
जघान मद्राधिपतिं महात्मा
मुदं च लेभे ऋषभः कुरूणाम् ॥१०॥

राजन् ! उससे अत्यन्त घायल होने पर भी कुरुकुल-शिरोमणि महात्मा युधिष्ठिर ने अच्छी प्रकार चलाये हुए एक बाण द्वारा मद्रराज शल्य को आहत कर दिया । इससे उन्हें अति प्रसन्नता हुई ।

ततस्तु मद्राधिपतिः प्रकृष्टं
धनुर्विकृष्य व्यसृजत् पृषत्कान्।
द्वाभ्यां शराभ्यां च तथैव राज्ञ-
श्चिच्छेद चापं कुरुपुङ्गवस्य ॥११॥

फिर तो मद्रराज शल्य ने अपने उत्तम धनुष को खींचकर बहुत-से बाण छोड़े। उन्होंने दो बाणों से कुरुकुलशिरोमणि राजा युधिष्ठिर के धनुष को काट दिया।

नवं ततोऽन्यत् समरे प्रगृह्य
राजा धनुर्घोरतरं महात्मा।
शल्यं तु विव्याध शरैः समन्ताद्
यथा महेन्द्रो नमुचिं शिताग्रैः ॥१२॥

तब महात्मा राजा युधिष्ठिर ने रणभूमि में दूसरे नये और अतिभयंकर धनुष को हाथ में लेकर तीखी धारवाले बाण से शल्य को सब ओर से उसी प्रकार घायल कर दिया, जैसे देवराज इन्द्र ने नमुचि को घायल किया था।

ततस्तु शल्यो ज्वलनार्कतेजः
क्षुरेण राज्ञो धनुरुन्ममाथ।
कृपश्च तस्यैव जघान सूतं
षड्भिः शरैः सोऽभिमुखः पपात ॥१३॥

तब शल्य ने अग्नि और सूर्य के समान तेजस्वी क्षुर के द्वारा राजा युधिष्ठिर के धनुष को ध्वस्त कर दिया। फिर कृपाचार्य ने भी छह बाणों से उनके सारथि को मार डाला। सारथि उनके सामने ही भूमि पर गिर पड़ा।

मद्राधिपश्चापि युधिष्ठिरस्य
शरैश्चतुर्भिर्निजघान वाहान्।
वाहांश्च हत्वा व्यकरोन्महात्मा
योधक्षयं धर्मसुतस्य राज्ञः ॥१४॥

तत्पश्चात् मद्रराज ने चार बाणों से युधिष्ठिर के चारों घोड़ों का भी संहार कर डाला। घोड़ों को मारकर महामनस्वी शल्य ने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर के योद्धाओं का विनाश आरम्भ कर दिया।

तथा कृते राजनि भीमसेनो
मद्राधिपस्याशु ततो महात्मा।
छित्त्वा धनुर्वेगवता शरेण
द्वाभ्यामविध्यत् सुभृशं नरेन्द्रम् ॥१५॥

जब मद्रराज शल्य ने राजा युधिष्ठिर की ऐसी दशा कर दी, तब महामनस्वी भीमसेन ने शीघ्र ही एक वेगशाली बाण द्वारा उनके धनुष को काट दिया और दो बाणों से उस नरेश [शल्य] को भी अत्यन्त घायल कर दिया।

तथापरेणास्य जहार यन्तुः
कायाच्छिरः संहननीयमध्यात्।
जघान चाश्वांश्चतुरः सुशीघ्रं
तथा भृशं कुपितो भीमसेनः ॥१६॥

तत्पश्चात् अत्यन्त क्रोध में भरे हुए भीमसेन ने दूसरे बाण से शल्य के सारथि का मस्तक उसके धड़ से अलग कर दिया और उनके चारों घोड़ों को भी शीघ्र ही मार डाला।

तमग्रणीः सर्वधनुर्धराणा-
मेकं चरन्तं समरेऽतिवेगम्।
भीमः शतेन व्यकिरच्छराणां
माद्रीसुतः सहदेवस्तथैव ॥१७॥

तत्पश्चात् सम्पूर्ण धनुर्धरों में अग्रगण्य भीमसेन तथा माद्रीपुत्र सहदेव ने रणभूमि में बड़े वेग से एकाकी विचरनेवाले शल्य पर सैकड़ों बाणों की वर्षा की।

तैः सायकैर्मोहितं वीक्ष्य शल्यं
भीमः शरैरस्य चकर्त वर्म।
स भीमसेनेन निकृत्तवर्मा
मद्राधिपश्चर्म सहस्रतारम् ॥१८॥
प्रगृह्य खड्गं च रथान्महात्मा
प्रस्कन्द्य कुन्तीसुतमभ्यधावत्।
छित्त्वा रथेषां नकुलस्य सोऽथ
युधिष्ठिरं भीमबलोऽभ्यधावत् ॥१९॥

उन बाणों से शल्य को मोहित हुआ देख भीमसेन ने उनके कवच को भी काट डाला। भीमसेन के द्वारा अपना कवच कट जाने पर भयंकर बलशाली महामनस्वी मद्रराज शल्य अनेक तारों के चिह्न से सुशोभित ढाल और तलवार लेकर उस रथ से कूद पड़े और कुन्तीपुत्र की ओर दौड़े। उन्होंने नकुल के रथ का जुआ काटकर युधिष्ठिर पर धावा किया।

स धर्मराजो निहताश्वसूतः
जग्राह शक्तिं कनकप्रकाशाम् ।
चिक्षेप वेगात् सुभृशं महात्मा
हतोऽसि पापेत्यभिगर्जमानः ॥२०॥

धर्मराज महात्मा युधिष्ठिर ने, जिनके घोड़े और सारथि पहले ही मारे जा चुके थे, सोने के समान प्रकाशित होनेवाली शक्ति हाथ में ली और उसे बड़े वेग से शल्य पर चलाया तथा गर्जते हुए कहा—"ओ पापी ! तू मारा गया ।"

सा तस्य मर्माणि विदार्य शुभ्र-
मुरो विशालं च तथैव भित्त्वा ।
विवेश गां तोयमिवाप्रसक्ता
यशो विशालं नृपतेर्दहन्ती ॥२१॥

वह शक्ति राजा शल्य के मर्मस्थानों को विदीर्ण करके उनके उज्ज्वल एवं विशाल वक्षःस्थल को चीरती तथा विस्तृत यश को दग्ध करती हुई जल की भाँति धरती में समा गई । उसकी गति कहीं भी कुण्ठित नहीं होती थी ।

प्रसार्य बाहू च रथाद् गतो गां
संछिन्नवर्मा कुरुनन्दनेन ।
महेन्द्रवाहप्रतिमो महात्मा
वज्राहतं शृङ्गमिवाचलस्य ॥२२॥

राजन् ! भीमसेन ने जिनके कवच को छिन्न-भिन्न कर दिया था, वे इन्द्र के ऐरावत हाथी के समान विशालकाय राजा शल्य दोनों भुजाएँ फैलाकर वज्र द्वारा मारे हुए पर्वतशिखर की भाँति रथ से पृथिवी पर गिर पड़े ।

ततः शल्ये निपतिते मद्रराजानुजो युवा ।
भ्रातुस्तुल्यो गुणैः सर्वै रथी पाण्डवमभ्ययात् ॥२३॥

तत्पश्चात् मद्रराज शल्य के मारे जाने पर उनका छोटा भाई, जो अभी नवयुवक था और सभी गुणों में अपने भाई की समानता करता था, रथ पर आरूढ़ हो पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर पर चढ़ आया ।

विव्याध च नरश्रेष्ठो नाराचैर्बहुभिस्त्वरन् ।
हतस्यापचितिं भ्रातुश्चिकीर्षुर्युद्धदुर्मदः ॥२४॥

मारे गये भाई का बदला लेने की इच्छा से वह रणदुर्मद नरश्रेष्ठ वीर बड़ी उतावली के साथ उन्हें बहुत-से नाराचों द्वारा घायल करने लगा ।

तं विव्याधाशुगैः षड्भिर्धर्मराजस्त्वरन्निव ।
कार्मुकं चास्य चिच्छेद क्षुराभ्यां ध्वजमेव च ॥२५॥

तब धर्मराज ने उसे शीघ्रतापूर्वक छह बाणों से बींध डाला और दो क्षुरों से उसके धनुष और ध्वज को काट दिया ।

ततोऽस्य दीप्यमानेन सुदृढेन शितेन च ।
प्रमुखे वर्तमानस्य भल्लेनापाहरच्छिरः ॥२६॥

तत्पश्चात् एक चमकीले, सुदृढ़ और तीखे भल्ल से सामने खड़े हुए उस राजकुमार के मस्तक को काट गिराया ।

विचित्रकवचे तस्मिन् हते मद्रनृपानुजे ।
हाहाकारं प्रकुर्वाणाः कुरवोऽभिप्रदुद्रुवुः ॥२७॥

मद्रनरेश का वह छोटा भाई विचित्र कवच से सुशोभित था, उसके मारे जाने पर समस्त कौरव हाहाकार करते हुए भाग चले ।

इति महाभारते शल्यपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

कौरव-सेना का पलायन और दुर्योधन का उसे उत्साहित करना

सञ्जय उवाच

शल्येऽथ निहते राजन् मद्रराजपदानुगाः ।
युधिष्ठिरं जिघांसन्तः पाण्डूनां प्राविशन् बलम् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! मद्रराज शल्य के मारे जाने पर उसके अनुगामी योद्धा युधिष्ठिर के वध की इच्छा से पाण्डवों की सेना में जा घुसे ।

ततोऽर्जुनश्च भीमश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
अभ्यघ्नन् युयुधानश्च मद्रराजपदानुगान् ॥२॥

तब अर्जुन, भीमसेन, माद्रीपुत्र पाण्डुकुमार

नकुल-सहदेव और सात्यकि ने मद्रराज के अनुगामी वीरों को मारना आरम्भ किया।

ततो गान्धारराजस्य पुत्रः शकुनिरब्रवीत्।
दुर्योधनं महाराज वचनं वचनक्षमः ॥३॥

हे महाराज! मद्रराज के अनुगामियों को मारे जाते देख प्रवचन-पटु गान्धारराज-पुत्र शकुनि ने दुर्योधन से यह बात कही—

किं नः सप्रेक्षमाणानां मद्राणां हन्यते बलम्।
न युक्तमेतत् समरे त्वयि तिष्ठति भारत ॥४॥

"भरतभूषण! हम लोगों के देखते-देखते मद्रदेश की यह सेना क्यों मारी जा रही है? तुम्हारे रहते ऐसा कदापि नहीं होना चाहिए।

सहितैश्चापि योद्धव्यमित्येष समयः कृतः।
अथ कस्मात् परानेवं घ्नतो मर्षयसे नृप ॥५॥

"हम सब लोग इकट्ठे होकर लड़ेंगे"—ऐसी शपथ ली जा चुकी है। नरेश्वर! ऐसी अवस्था में शत्रुओं को अपनी सेना का संहार करते देखकर भी तुम क्यों सहन कर रहे हो?"

दुर्योधन उवाच

वार्यमाणा मया पूर्वं नैते चक्रुर्वचो मम।
एते विनिहताः सर्वे प्रस्कन्नाः पाण्डुवाहिनीम् ॥६॥

दुर्योधन बोला—मैंने पहले ही इन्हें बहुत मना किया था, परन्तु इन लोगों ने मेरी बात नहीं मानी और पाण्डुसेना में घुसकर ये प्रायः सब-के-सब मारे गये।

शकुनिरुवाच

न भर्तुः शासनं वीरा रणे कुर्वन्त्यमर्षिताः।
अलं क्रोद्धुमथैतेषां नायं काल उपेक्षितुम् ॥७॥
यामः सर्वे च सम्भूय सवाजिरथकुञ्जराः।
परित्रातुं महेष्वासान् मद्रराजपदानुगान् ॥८॥

शकुनि ने कहा—नरेश्वर! रणभूमि में क्रोध के वशीभूत हुए सैनिक स्वामी की आज्ञा का पालन नहीं करते, अतः उनपर कुपित होना उचित नहीं है और यह उनकी उपेक्षा करने का समय भी नहीं है। आओ, हम सब एकसाथ हो मद्रराज के महाधनुर्धर सेवकों की रक्षा के लिए हाथी, घोड़े और रथोंसहित चलें [तथा प्रयत्नपूर्वक एक-दूसरे की रक्षा करें]।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तस्तदा राजा बलेन महता वृतः।
प्रययौ सिंहनादेन कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥९॥

सञ्जय कहते हैं—शकुनि के वैसा कहने पर राजा दुर्योधन विशाल सेना के साथ सिंहनाद करता और पृथिवी को कँपाता हुआ-सा आगे बढ़ा।

हत विद्ध्यत गृह्णीत प्रहरध्वं निकृन्तत।
इत्यासीत् तुमुलः शब्दस्तव सैन्यस्य भारत ॥१०॥

हे भरतभूषण! उस समय आपकी सेना में "मार डालो, बींध डालो, पकड़ लो, प्रहार करो और टुकड़े-टुकड़े कर डालो" आदि भयंकर शब्द गूँज रहे थे।

पाण्डवास्तु रणे दृष्ट्वा मद्रराजपदानुगान्।
सहितानभ्यवर्तन्त गुल्ममास्थाय मध्यमम् ॥११॥

समराङ्गण में मद्रराज के सेवकों को एकसाथ धावा करते देख पाण्डवों ने मध्यम गुल्म [सेना] का आश्रय ले उनका सामना किया।

ते मुहूर्ताद् रणे वीरा हस्ताहस्ति विशाम्पते।
निहताः प्रत्यदृश्यन्त मद्रराजपदानुगाः ॥१२॥

प्रजेश्वर! वे मद्रराज के अनुगामी वीर युद्धभूमि में दो ही घड़ी के भीतर हाथों-हाथ मारे गये दिखाई दिये।

निहतेषु च शूरेषु मद्रराजानुगेषु वै।
दुर्योधनबलं सर्वं पुनरासीत् पराङ्मुखम् ॥१३॥

मद्रराज के उन शूरवीर सैनिकों के मारे जाने पर दुर्योधन की सारी सेना पुनः पीठ दिखाकर भाग चली।

ते रणाद् भरतश्रेष्ठ तावकाः प्राद्रवन् दिशः।
धावतश्चाप्यपश्याम श्वसमानाञ्शराहतान् ॥१४॥

भरतश्रेष्ठ! आपके वे सैनिक रणभूमि से सम्पूर्ण दिशाओं की ओर भागे थे। हमने देखा, वे बाणों से क्षत-विक्षत हो हाँफते हुए दौड़े जा रहे हैं।

तान्प्रभग्नान्द्रुतान्दृष्ट्वा हतोत्साहान्पराजितान्।
दुर्योधनः स्वकं सैन्यमब्रवीद् भृशविक्षतम् ॥१५॥

उन्हें हतोत्साह, पराजित, हताश और घायल होकर भागते हुए देख दुर्योधन ने अपने सैनिकों को पुकारकर कहा—

न तं देशं प्रपश्यामि पृथिव्यां पर्वतेषु च।
यत्र यातान्न वा हन्युः पाण्डवाः किं सृतेन वः ॥१६॥

"अरे ! इस प्रकार भागने से क्या लाभ है ? मैं पृथिवी में या पर्वतों पर ऐसा कोई स्थान नहीं देखता, जहाँ जाने पर पाण्डव तुम्हारा वध न कर सकें।

अल्पं च बलमेतेषां कृष्णौ च भृशविक्षतौ।
यदि सर्वेऽत्र तिष्ठामो ध्रुवं नो विजयो भवेत् ॥१७॥

"अब तो इनके पास बहुत थोड़ी सेना शेष रह गई है और कृष्ण तथा अर्जुन भी अत्यन्त घायल हो चुके हैं, ऐसी अवस्था में यदि हम लोग साहस करके डटे रहें तो हमारी विजय निश्चित है।

विप्रयातांस्तु वो भिन्नान् पाण्डवाः कृतविप्रियाः।
अनुसृत्य हनिष्यन्ति श्रेयान्नः समरे वधः ॥१८॥

"तुम पाण्डवों के प्रति अपराध तो कर ही चुके हो। यदि तुम अलग-अलग होकर भागोगे तो पाण्डव तुम्हारा पीछा करके तुम्हें अवश्य मार डालेंगे। ऐसी अवस्था में हमारे लिए संग्राम में मारा जाना ही श्रेयस्कर है।

यदा शूरं च भीरुं च मारयत्यन्तकः सदा।
को नु मूढो न युध्येत पुरुषः क्षत्रियो ध्रुवम् ॥१९॥

"जब शूरवीर और कायर सभी को सदा ही मृत्यु मार डालती है, तब ऐसा कौन मूर्ख मनुष्य है जो क्षत्रिय कहलाकर भी निश्चितरूप से युद्ध नहीं करेगा ?

श्रेयो नो भीमसेनस्य क्रुद्धस्याभिमुखे स्थितम्।
सुखः सांग्रामिको मृत्युः क्षत्रधर्मेण युध्यताम् ॥२०॥

"हमारे लिए क्रोध में भरे हुए भीमसेन के सामने डटे रहना ही कल्याणकारी होगा। क्षत्रिय-धर्म के अनुसार युद्ध करनेवाले वीर पुरुषों के लिए संग्राम में होनेवाली मृत्यु ही सुखद है।

मर्त्येनावश्यमर्तव्यं गृहेष्वपि कदाचन।
युध्यतः क्षत्रधर्मेण मृत्युरेष सनातनः ॥२१॥

"मरणधर्मा मनुष्य को कभी-न-कभी अवश्य मरना पड़ेगा। घर में भी उसे मृत्यु से छुटकारा नहीं है, अतः क्षत्रिय-धर्म के अनुसार युद्ध करते हुए ही जो मृत्यु होती है, यही क्षत्रिय के लिए सनातन मृत्यु है।

हत्वेह सुखमाप्नोति हतः प्रेत्य महत् फलम्।
न युद्धधर्माच्छ्रेयान् वै पन्थाः स्वर्गस्य कौरवाः ॥२२॥

"कौरवो ! वीर पुरुष शत्रु को मारकर इहलोक में सुख भोगता है और यदि मारा गया तो वह परलोक में जाकर महान् फल का भागी होता है, अतः धर्मयुद्ध से बढ़कर स्वर्ग की प्राप्ति के लिए दूसरा कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है।"

श्रुत्वा तद् वचनं तस्य पूजयित्वा च पार्थिवाः।
पुनरेवाभ्यवर्तन्त पाण्डवानाततायिनः ॥२३॥

दुर्योधन की यह बात सुनकर सब राजा उसका आदर करते हुए पुनः आततायी पाण्डवों का सामना करने के लिए लौट पड़े।

तानापतत एवाशु व्यूढानीकाः प्रहारिणः।
प्रत्युद्ययुस्तदा पार्था जयगृद्धाः प्रमन्यवः ॥२४॥

उनके आक्रमण करते ही अपनी सेना का व्यूह बनाकर प्रहारकुशल, विजयाभिलाषी तथा बढ़े हुए क्रोधवाले पाण्डव शीघ्र ही उनका सामना करने के लिए आगे बढ़े।

धनञ्जयो रथेनाजावभ्यवर्तत वीर्यवान्।
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु व्यक्षिपन् गाण्डिवं धनुः ॥२५॥

पराक्रमी अर्जुन अपने विश्वविख्यात गाण्डीव धनुष की टंकार करते हुए रथ के द्वारा युद्ध के लिए वहाँ आ पहुँचे।

इति महाभारते शल्यपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

अर्जुन और भीम द्वारा कौरव-सेना का संहार, सात्यकि द्वारा सञ्जय का पकड़ा जाना, भीम द्वारा आपके पुत्रों का वध

सञ्जय उवाच

तत्सैन्यं भरतश्रेष्ठ वध्यमानं किरीटिना ।
सम्प्रदुद्राव संग्रामात् तव पुत्रस्य पश्यतः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—हे भरतश्रेष्ठ ! किरीटधारी अर्जुन की मार खाकर वह बची हुई सेना आपके पुत्र के देखते-देखते युद्धभूमि से भाग चली ।

दृष्ट्वा तु हतविक्रान्तं स्वमनीकं महाबलः ।
तव पुत्रो महाराज प्रययौ यत्र सौबलः ॥२॥

महाराज ! अपनी सेना का पराक्रम नष्ट हुआ देख आपका महाबली पुत्र दुर्योधन वहीं चला गया, जहाँ सुबलपुत्र शकुनि खड़ा था ।

अदृष्ट्वा तु रथानीके दुर्योधनमरिन्दमम् ।
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
अपृच्छन् क्षत्रियांस्तत्र क्व नु दुर्योधनो गतः ॥३॥

उधर शत्रुदमन दुर्योधन को रथसेना में न देखकर अश्वत्थामा, कृपाचार्य और सात्वतवंशी कृतवर्मा ने समस्त क्षत्रियों से पूछा—"राजा दुर्योधन कहाँ चले गये ?"

आहुः केचिद्धते सूते प्रयातो यत्र सौबलः ।
अपरे त्वब्रुवंस्तत्र क्षत्रिया भृशविक्षताः ॥४॥
दुर्योधनेन किं कार्यं द्रक्ष्यध्वं यदि जीवति ।
युद्धयध्वं सहिताः सर्वे किं वो राजा करिष्यति ॥५॥

कुछ लोगों ने कहा—"सारथि के मारे जाने पर राजा दुर्योधन वहीं गये हैं, जहाँ शकुनि हैं ।" दूसरे अत्यन्त घायल हुए क्षत्रिय वहाँ इस प्रकार कहने लगे—'अरे ! दुर्योधन से यहाँ क्या काम है ? यदि वे जीवित होंगे तो तुम सब लोग उन्हें देख ही लोगे । इस समय तो सब लोग एकसाथ होकर केवल युद्ध करो । राजा तुम्हारी क्या सहायता करेंगे ?"

श्रुत्वा तु वचनं तेषामश्वत्थामा महाबलः ।
कृपश्च कृतवर्मा च प्रययौ यत्र सौबलः ॥६॥

उनकी बात सुनकर महाबली अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा—ये सब वहीं जा पहुँचे जहाँ शकुनि था ।

ततस्तेषु प्रयातेषु धृष्टद्युम्नपुरस्कृताः ।
आययुः पाण्डवा राजन्विनिघ्नन्तः स्म तावकम् ॥७॥

राजन् ! उन अश्वत्थामा आदि के आगे बढ़ जाने पर धृष्टद्युम्न आदि पाण्डव आपकी सेना का संहार करते हुए वहाँ आ पहुँचे ।

दृष्ट्वा तु तानापततः सम्प्रहृष्टान् महारथान् ।
पराक्रान्तांस्ततो वीरा निराशा जीविते तदा ॥८॥

हर्ष और उत्साह में भरे हुए उन महारथियों को आक्रमण करते देख आपके पराक्रमी वीर उस समय जीवन से निराश हो गये ।

विवर्णमुखभूयिष्टमभवत् तावकं बलम् ।
परिक्षीणायुधान् दृष्ट्वा तानहं परिवारितान् ॥९॥
राजन्बलेन द्व्यङ्गेन त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ।
आत्मना पञ्चमोऽयुद्धयं पाञ्चालस्य बलेन ह ॥१०॥

आपकी सेना के अधिकांश योद्धाओं का मुख उदास हो गया । उन सबके हथियार नष्ट हो गये थे और वे चारों ओर से घिर गये थे । राजन् ! उन सबकी वह दुर्दशा देख मैं जीवन का मोह छोड़कर अन्य चार महारथियों को साथ ले हाथी और घोड़े—दो अङ्गोंवाली सेना से मिलकर धृष्टद्युम्न की सेना के साथ युद्ध करने लगा ।

धृष्टद्युम्नबलेन वै तत्र नोऽभूद् रणो महान् ।
जितास्तेन वयं सर्वे व्यपयाम रणात् ततः ॥११॥

वहाँ धृष्टद्युम्न की सेना के साथ हम लोगों का बड़ा भारी युद्ध हुआ, परन्तु उन्होंने हम सबको परास्त कर दिया । तब हम वहाँ से भाग चले ।

अथापश्यं सात्यकिं तमुपायान्तं महारथम् ।
रथैश्चतुःशतैर्वीरो मामभ्यद्रवदाहवे ॥१२॥

इतने में ही मैंने महारथी सात्यकि को अपने पास आते देखा । वीर सात्यकि ने रणभूमि में चार सौ रथियों के साथ मुझपर आक्रमण किया ।

धृष्टद्युम्नादहं मुक्तः कथञ्चिच्छ्रान्तवाहनात् ।
पतितो माधवानीकं दुष्कृती नरकं यथा ॥१३॥

थके हुए वाहनोंवाले धृष्टद्युम्न से मैं किसी प्रकार छूटा तो सात्यकि की सेना में आ फंसा; जैसे कोई पापी नरक में गिर गया हो ।

तत्र युद्धमभूद् घोरं मुहूर्तमतिदारुणम् ।
सात्यकिस्तु महाबाहुर्मम हत्वा परिच्छदम् ।
जीवग्राहमगृह्णान्मां मूर्च्छितं पतितं भुवि ॥१४॥[1]

वहाँ दो घड़ी तक बड़ा भयंकर एवं घोर युद्ध हुआ । महाबाहु सात्यकि ने मेरी सारी युद्ध-सामग्री नष्ट कर दी और जब मैं मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़ा, तब मुझे जीवित ही पकड़ लिया ।

अदृश्यमाने कौरव्ये पुत्रे दुर्योधने तव ।
सोदर्याः सहिता भूत्वा भीमसेनमुपाद्रवन् ॥१५॥

उधर जब आपका पुत्र कुरुवंशी दुर्योधन कहीं दिखाई नहीं दिया, तब मरने से बचे आपके सभी पुत्र एकसाथ एकट्ठे होकर भीमसेन पर टूट पड़े ।

ततो भीमो महाराज स्वरथं पुनरास्थितः ।
मुमोच निशितान् बाणान् पुत्राणां तव मर्मसु ॥१६॥

महाराज ! तब भीमसेन पुनः अपने रथ पर आरूढ़ हो, आपके पुत्रों के मर्मस्थानों में तीखे बाणों का प्रहार करने लगे ।

ते हता न्यपतन् भूमौ स्यन्दनेभ्यो महारथाः ।
वसन्ते पुष्पशबला निकृत्ता इव किंशुकाः ॥१७॥

उन बाणों द्वारा मारे गये वे महारथी वसन्त ऋतु में कटे हुए पुष्पयुक्त पलाश के वृक्षों की भाँति रथों से पृथिवी पर गिर पड़े ।

भीमसेनस्तु कौन्तेयो हत्वा युद्धे सुतांस्तव ।
मेने कृतार्थमात्मानं सफलं जन्म च प्रभो ॥१८॥

प्रभो ! इस प्रकार कुन्तीपुत्र भीमसेन ने युद्ध में आपके पुत्रों का वध करके अपने-आपको कृतार्थ माना और अपने जन्म को सफल समझा ।

इति महाभारते शल्यपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥९॥

---

१. सञ्जय के सम्बन्ध में ऐसा प्रसिद्ध है कि व्यासजी ने इन्हें दिव्यदृष्टि प्रदान की थी। यह दिव्यदृष्टि इन्हें क्यों दी गई, इस विषय में ऐसा कहा जाता है कि जब कौरव-पाण्डवों का युद्ध होने लगा तब धृतराष्ट्र की यह इच्छा हुई कि वे तत्काल युद्ध का समाचार जानते रहें। उनकी इच्छापूर्ति के लिए व्यासजी ने यह प्रस्ताव किया कि "मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि प्रदान कर देता हूँ। तुम यहीं बैठे युद्ध के समाचार देखते रहोगे।" धृतराष्ट्र ने कहा—"मैं अपनी आँखों से अपने कुटुम्बियों का वध देखना नहीं चाहता। आप सञ्जय को दिव्यदृष्टि प्रदान कर दें। वे मुझे युद्ध के समाचार सुनाते रहेंगे।" धृतराष्ट्र के प्रस्ताव पर व्यासजी ने सञ्जय को दिव्यदृष्टि दे दी और वे हस्तिनापुर में बैठे हुए ही धृतराष्ट्र को युद्ध के समाचार सुनाते रहे। इसी प्रसङ्ग को लेकर यह कल्पना भी कर ली गई कि महाभारत-युग में दूरदर्शन [Television] भी था तभी तो सञ्जय हस्तिनापुर में बैठे हुए कुरुक्षेत्र के समाचार सुनाते रहते थे।

महाभारतकाल में ज्ञान-विज्ञान पराकाष्ठा की चोटी पर पहुँचा हुआ था, इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु महाभारतकाल में 'दूरदर्शन' नहीं था। साथ ही सञ्जय को दिव्यदृष्टि प्रदान करने की बात भी गप्प है।

वास्तविक बात यह है कि वर्तमान पत्रकारों की भाँति सञ्जय सन्देशवाहक था। वह युद्धभूमि में जाकर वहाँ के समाचार संग्रह करता था और हस्तिनापुर लौटकर धृतराष्ट्र को सुना देता था।

इस स्थल से यह स्पष्ट है कि सञ्जय रणक्षेत्र में जाता था। इतना ही नहीं, यहाँ तो उसके युद्ध करने का और युद्ध में मूर्च्छित होने पर उसे बन्दी बनाने का भी स्पष्ट उल्लेख है।

यदि सञ्जय युद्ध के समाचार दिव्यदृष्टि के द्वारा बताता था तो क्या वह समाचार सुनाते-सुनाते युद्ध भी करने लगा और बन्दी भी बना लिया गया ?

दशमोऽध्याय।

अर्जुन द्वारा सेना और पुत्रोंसहित सुशर्मा का वध

सञ्जय उवाच

दुर्योधनो महाराज सुदर्शश्चापि ते सुतः।
हतशेषौ तदा संख्ये वाजिमध्ये व्यवस्थितौ ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! उस समय आपके पुत्र दुर्योधन और सुदर्शन—ये दो ही बच गये थे। ये दोनों ही घुड़सवारों के बीच में खड़े थे।

ततो दुर्योधनं दृष्ट्वा वाजिमध्ये व्यवस्थितम्।
उवाच देवकीपुत्रः कुन्तीपुत्रं धनञ्जयम् ॥२॥

उस समय दुर्योधन को घुड़सवारों के बीच खड़ा देख देवकीनन्दन श्रीकृष्ण ने कुन्तीपुत्र अर्जुन से इस प्रकार कहा—

असौ दुर्योधनः पार्थ वाजिमध्ये व्यवस्थितः।
छत्रेण ध्रियमाणेन प्रेक्षमाणो मुहुर्मुहुः ॥३॥

"पार्थ! वह रहा दुर्योधन, जो छत्र धारण किये हुए घुड़सवारों के बीच में खड़ा है, और बारम्बार इधर ही देख रहा है।

प्रतिव्यूह्य बलं सर्वं रणमध्ये व्यवस्थितः।
एनं हत्वा शितैर्बाणैः कृतकृत्यो भविष्यसि ॥४॥

"वह अपनी सारी सेना का व्यूह बनाकर युद्ध-भूमि में खड़ा है। तुम इसे पैने बाणों से मारकर कृतकृत्य हो जाओगे।

गजानीकं हतं दृष्ट्वा त्वां च प्राप्तमरिन्दम।
यावन्न विद्रवन्त्येते तावज्जहि सुयोधनम् ॥५॥

"शत्रुदमन! गजसेना का वध और तुम्हारा आगमन हुआ देख ये कौरव योद्धा जबतक भाग नहीं जाते तभी तक दुर्योधन को मार डालो।"

अर्जुन उवाच

धृतराष्ट्रसुताः सर्वे हता भीमेन माधव।
यावेतावास्थितौ कृष्ण तावद्य न भविष्यतः ॥६॥

अर्जुन ने कहा—माधव! धृतराष्ट्र के सभी पुत्र भीमसेन के हाथ से मारे गये हैं। श्रीकृष्ण! ये जो दो पुत्र खड़े हैं, इनका भी आज अन्त हो जाएगा।

अद्य ता अपि रोत्स्यन्ति सर्वा नागपुरे स्त्रियः।
श्रुत्वा पतींश्च पुत्रांश्च पाण्डवैर्निहतान् युधि ॥७॥

आज हस्तिनापुर में रहनेवाली वे सारी स्त्रियाँ भी फूट-फूटकर रोएँगी, जिनके पतियों और पुत्रों को पाण्डवों ने मार डाला है।

समाप्तमद्य वै कर्म सर्वं कृष्ण भविष्यति।
अद्य दुर्योधनो दीप्तां श्रियं प्राणांश्च मोक्ष्यति ॥८॥

श्रीकृष्ण! आज हम लोगों का सारा कार्य समाप्त हो जाएगा। आज दुर्योधन अपनी उज्ज्वल राज्यलक्ष्मी और प्राणों को भी खो बैठेगा।

मम ह्येतदशक्तं वै वाजिवृन्दमरिन्दम।
सोढुं ज्यातलनिर्घोषं याहि यावन्निहन्म्यहम् ॥९॥

शत्रुदमन! यह घुड़सवारों की सेना मेरे गाण्डीव धनुष की टंकार को नहीं सह सकेगी। आप घोड़े बढ़ाइए, मैं अभी इन सबको मार डालता हूँ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तस्तु दाशार्हः पाण्डवेन यशस्विना।
अनोदयद्धयान् राजन् दुर्योधनबलं प्रति ॥१०॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! यशस्वी पाण्डुकुमार अर्जुन के ऐसा कहने पर दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्ण ने दुर्योधन की सेना की ओर घोड़ों को बढ़ाया।

भीमसेनोऽर्जुनश्चैव सहदेवश्च मारिष।
प्रययुः सिंहनादेन दुर्योधनजिघांसया ॥११॥

आर्यनरेश! भीमसेन, अर्जुन और सहदेव—ये तीनों दुर्योधन के वध की इच्छा से सिंहनाद करते हुए आगे बढ़े।

तान्प्रेक्ष्य सहितान्सर्वाञ्जवेनोद्यतकार्मुकान्।
सौबलोऽभ्यद्रवद् युद्धे पाण्डवानाततायिनः ॥१२॥

उन सब महारथियों को बड़े वेग से धनुष उठाये एकसाथ धावा बोलते देख सुबलपुत्र शकुनि युद्धभूमि में आततायी पाण्डवों की ओर दौड़ा।

सुदर्शनस्तव सुतो भीमसेनं समभ्ययात्।
सुशर्मा शकुनिश्चैव युयुधाते किरीटिना ॥१३॥

आपका पुत्र सुदर्शन भीम का सामना करने लगा। सुशर्मा और शकुनि ने किरीटधारी अर्जुन के साथ युद्ध छेड़ दिया।

तदानीकं तदा पार्थो व्यधमद् बहुभिः शरैः ।
पातयित्वा हयान्सर्वांस्त्रिगर्तानां रथान् ययौ ॥१४॥

पार्थ ने अपने बहुसंख्यक बाणों द्वारा घुड़सवारों की उस सेना को छिन्न-भिन्न कर डाला तथा समस्त घोड़ों को धराशायी करके त्रिगर्तदेशीय रथियों पर आक्रमण किया ।

ततस्ते सहिता भूत्वा त्रिगर्तानां महारथाः ।
अर्जुनं वासुदेवं च शरवर्षैरवाकिरन् ॥१५॥

फिर तो वे त्रिगर्तदेशीय महारथी एक साथ इकट्ठे होकर अर्जुन और श्रीकृष्ण को अपने बाणों की वर्षा से आच्छादित करने लगे ।

सत्यकर्माणमाक्षिप्य क्षुरप्रेण महायशाः ।
ततोऽस्य स्यन्दनस्येषां चिच्छेद पाण्डुनन्दनः ॥१६॥
शिलाशितेन च विभो क्षुरप्रेण महायशाः ।
शिरश्चिच्छेद सहसा तप्तकुण्डलभूषणम् ॥१७॥

प्रभो ! उस समय महायशस्वी पाण्डुपुत्र अर्जुन ने क्षुरप्र द्वारा सत्यकर्मा पर प्रहार करके उसके रथ के जुए को काट डाला। तदनन्तर उस महायशस्वी वीर ने शिला पर तेज किये हुए क्षुरप्र द्वारा उसके तपाये हुए सुवर्ण के कुण्डलों से विभूषित मस्तक को भी सहसा काट लिया ।

सत्येषुमथ चादत्त योधानां मिषतां ततः ।
यथा सिंहो वने राजन् मृगं परिबुभुक्षितः ॥१८॥

राजन् ! जैसे वन में भूखा सिंह किसी मृग को दबोच लेता है, उसी प्रकार अर्जुन ने समस्त योद्धाओं के देखते-देखते सत्येषु के भी प्राण हर लिये ।

तं निहत्य ततः पार्थः सुशर्माणं त्रिभिः शरैः ।
विद्ध्वा तानहनत्सर्वान्रथान्रुक्मविभूषितान् ॥१९॥

सत्येषु का वध करके अर्जुन ने सुशर्मा को तीन बाणों से घायल कर दिया और उन समस्त सुवर्ण-भूषित रथों का विध्वंस कर डाला ।

ततः शरं समादाय यमदण्डोपमं तदा ।
सुशर्माणं समुद्दिश्य चिक्षेपाशु धनुर्धरः ॥२०॥

तत्पश्चात् यमदण्ड के समान भयंकर बाण हाथ में लेकर धनुर्धर अर्जुन ने सुशर्मा को लक्ष्य करके शीघ्र ही छोड़ दिया ।

स शरः प्रेषितस्तेन क्रोधदीप्तेन धन्विना ।
सुशर्माणं समासाद्य बिभेद हृदयं रणे ॥२१॥

क्रोध से तमतमाये हुए धनुर्धर अर्जुन के द्वारा चलाये गये उस बाण ने सुशर्मा पर चोट करके उसकी छाती छेद डाली ।

स गतासुर्महाराज पपात धरणीतले ।
नन्दयन् पाण्डवान्सर्वान्व्यथयंश्चापि तावकान् ॥२२॥

महाराज ! सुशर्मा आपके पुत्रों को व्यथित और समस्त पाण्डवों को आनन्दित करता हुआ प्राणशून्य होकर पृथिवी पर गिर पड़ा ।

सुशर्माणं रणे हत्वा पुत्रानस्य महारथान् ।
सप्त चाष्टौ च त्रिंशच्च सायकैरनयत् क्षयम् ॥२३॥

युद्धभूमि में सुशर्मा का वध करके अर्जुन ने अपने बाणों द्वारा उसके पैंतालीस महारथी पुत्रों को भी यमलोक की राह दिखा दी ।

ततोऽस्य निशितैर्बाणैः सर्वान् हत्वा पदानुगान् ।
अभ्यगाद् भारतीं सेनां हतशेषां महारथः ॥२४॥

तत्पश्चात् पैने बाणों द्वारा उसके सारे सेवकों का संहार करके महारथी अर्जुन ने मरने से बची हुई कौरवी-सेना पर आक्रमण किया ।

भीमस्तु समरे क्रुद्धः पुत्रं तव जनाधिप ।
सुदर्शनमदृश्यं तं शरैश्चक्रे हसन्निव ॥२५॥
ततोऽस्य प्रहसन् क्रुद्धः शिरः कायादपाहरत् ।
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन स हतः प्रापतद् भुवि ॥२६॥

जनेश्वर ! दूसरी ओर क्रुद्ध हुए भीमसेन ने हँसते-हँसते बाणों की वर्षा करके सुदर्शन को ढक दिया, फिर क्रोधपूर्वक अट्टहास करते हुए उन्होंने उसके मस्तक को तीखे क्षुरप्र द्वारा धड़ से काट लिया। सुदर्शन मरकर पृथिवी पर गिर पड़ा।

इति महाभारते शल्यपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

सहदेव द्वारा उलूक और शकुनि का वध तथा कौरव-सेना का पलायन

सञ्जय उवाच

तस्मिन् प्रवृत्ते संग्रामे गजवाजिनरक्षये ।
शकुनिः सौबलो राजन् सहदेवं समभ्ययात् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! हाथी-घोड़ों और मनुष्यों का संहार करनेवाले भयंकर युद्ध का आरम्भ होने पर सुबलपुत्र शकुनि ने सहदेव पर आक्रमण किया ।

उलूकोऽपि महाराज भीमं विव्याध सप्तभिः ।
सहदेवं च सप्तत्या परीप्सन् पितरं रणे ॥२॥

महाराज ! शकुनि के साथ उलूक भी विद्यमान था । समराङ्गण में पिता की रक्षा करते हुए उलूक ने भीमसेन को सात और सहदेव को सत्तर बाणों से क्षत-विक्षत कर दिया ।

ततोऽस्यापततः शूरः सहदेवः प्रतापवान् ।
उलूकस्य महाराज भल्लेनापाहरच्छिरः ॥३॥

महाराज ! तब प्रतापी शूरवीर सहदेव ने एक भल्ल मारकर अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले उलूक का मस्तक काट डाला ।

पुत्रं तु निहतं दृष्ट्वा शकुनिस्तत्र भारत ।
सहदेवं समासाद्य त्रिभिर्विव्याध सायकैः ॥४॥

भरतभूषण ! अपने पुत्र उलूक को मारा गया देख शकुनि ने सहदेव के पास पहुँचकर तीन बाणों द्वारा उसपर प्रहार किया ।

तानपास्य शरान् मुक्ताञ्शरसंघैः प्रतापवान् ।
सहदेवो महाराज धनुश्चिच्छेद संयुगे ॥५॥

उसके छोड़े हुए उन बाणों को अपने शरसमूह से निवारण करके प्रतापी सहदेव ने रणभूमि में उसका धनुष काट डाला ।

छिन्ने धनुषि राजेन्द्र शकुनिः सौबलस्तदा ।
प्रगृह्य विपुलं खड्गं सहदेवाय प्राहिणोत् ॥६॥

राजेन्द्र ! धनुष कट जाने पर उस समय सुबलपुत्र शकुनि ने एक बहुत बड़ी तलवार लेकर उसे सहदेव पर दे मारा ।

तमापतन्तं सहसा घोररूपं विशाम्पते ।
द्विधा चिच्छेद समरे सौबलस्य हसन्निव ॥७॥

प्रजेश्वर ! शकुनि के उस घोर खड्ग को सहसा अपने ऊपर आते देख रणभूमि में सहदेव ने हँसते हुए-से उसके दो टुकड़े कर डाले ।

ततः शक्तिं महाघोरां कालरात्रिमिवोद्यताम् ।
प्रेषयामास संक्रुद्धः पाण्डवं प्रति सौबलः ॥८॥

अपनी तलवार के वार को विफल देख सुबलपुत्र क्रोध से जल उठा, अतः इस बार उसने उठी हुई कालरात्रि के समान एक महाभयंकर शक्ति सहदेव को लक्ष्य करके चलाई ।

तामापतन्तीं सहसा शरैः कनकभूषणैः ।
त्रिधा चिच्छेद समरे सहदेवो हसन्निव ॥९॥

अपने ऊपर आती हुई उस शक्ति को सहदेव ने रणभूमि में हँसते हुए-से अपने सुवर्णविभूषित बाणों से काटकर सहसा उसके तीन टुकड़े कर दिये ।

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा सौबलं च भयार्दितम् ।
दुद्रुवुस्तावकाः सर्वे भये जाते ससौबलाः ॥१०॥

उस शक्ति को नष्ट हुई देख और सुबलपुत्र शकुनि को भी भयभीत जानकर आपके सभी सैनिक भयभीत हो शकुनिसहित वहाँ से भाग खड़े हुए ।

स्वमंशमवशिष्टं तं संस्मृत्य शकुनिं नृप ।
रथेन काञ्चनाङ्गेन सहदेवः समभ्ययात् ॥११॥

राजन् ! शकुनि को अपना अवशिष्ट भाग मानकर सहदेव ने सुवर्णमय अङ्गोंवाले रथ के द्वारा उसका पीछा किया ।

अभिगम्य सुदुर्धर्षः सहदेवो युधां पतिः ।
विकृष्य बलवच्चापं क्रोधेन प्रज्वलन्निव ॥१२॥
शकुनिं दशभिर्विद्ध्वा चतुर्भिश्चास्य वाजिनः ।
छत्रं ध्वजं धनुश्चास्य छित्त्वा सिंह इवानदत् ॥१३॥

योद्धाओं में श्रेष्ठ सहदेव अत्यन्त दुर्जय वीर हैं। उन्होंने क्रोध से जलते हुए-से शकुनि के पास पहुँचकर अपने धनुष को बलपूर्वक खींचा और दस बाणों से उसे घायल करके चार बाणों से उसके चारों घोड़ों को भी बींध डाला । तदनन्तर उसके छत्र, ध्वज

और धनुष को भी काटकर सिंह के समान गर्जना की।

तस्याशुकारी सुसमाहितेन
सुवर्णपुंखेन दृढायसेन।
भल्लेन सर्वावरणातिगेन
शिरः शरीरात् प्रममाथ भूयः ॥१४॥

तदनन्तर शीघ्रकारी सहदेव ने अच्छी प्रकार सन्धान करके छोड़े गये सुवर्णमय पंखवाले लोहे के बने हुए सुदृढ़ भल्ल के द्वारा, जो समस्त आवरणों को छेद डालनेवाला था, शकुनि के मस्तक को धड़ से काट गिराया।

हृतोत्तमाङ्गं शकुनिं समीक्ष्य
भूमौ शयानं रुधिरार्द्रगात्रम्।
योधास्त्वदीया भयनष्टसत्त्वा
दिशः प्रजग्मुः प्रगृहीतशस्त्राः ॥१५॥

शकुनि को मस्तक से रहित तथा खून से लथपथ होकर भूमि पर पड़ा देख आपके योद्धा भय के कारण अपना धैर्य खो बैठे और हथियार लिये हुए सम्पूर्ण दिशाओं में भाग गये।

ततो रथाच्छकुनिं पातयित्वा
मुदान्विता भारत पाण्डवेयाः।
शंखान् प्रदध्मुः समरेऽतिहृष्टाः
सकेशवाः सैनिकान् हर्षयन्तः ॥१६॥

भरतभूषण! शकुनि को रथ से गिराकर [मारकर] रणभूमि में श्रीकृष्णसहित समस्त पाण्डव हर्ष में भरकर सैनिकों का हर्ष बढ़ाते हुए प्रसन्नतापूर्वक शंखनाद करने लगे।

इति महाभारते शल्यपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

शेष कौरव-सेना का वध, सञ्जय का छुटकारा, दुर्योधन का सरोवर में प्रवेश और युयुत्सु का राजमहिलाओं के साथ हस्तिनापुर में आना

सञ्जय उवाच

ततः क्रुद्धा महाराज सौबलस्य पदानुगाः।
त्यक्त्वा जीवितमाक्रन्दे पाण्डवान् पर्यवारयन् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! शकुनि के मारे जाने पर उसके अनुचर क्रोध में भर गये और प्राणों का मोह छोड़कर उन्होंने उस महासमर में पाण्डवों को चारों ओर से घेर लिया।

तानर्जुनः प्रत्यगृह्णात् सहदेवजये धृतः।
भीमसेनश्च तेजस्वी क्रुद्धाशीविषदर्शनः ॥२॥

उस समय सहदेव की विजय को सुरक्षित रखने का दृढ़ निश्चय लेकर अर्जुन ने उन समस्त सैनिकों को आगे बढ़ने से रोका। उनके साथ तेजस्वी भीमसेन भी थे, जो क्रुद्ध हुए विषधर सर्प के समान जान पड़ते थे।

संगृहीतायुधान् बाहून् योधानामभिधावताम्।
भल्लैश्चिच्छेद बीभत्सुः शिरांस्यपि हयानपि ॥३॥

सहदेव पर धावा करनेवाले उन योद्धाओं की अस्त्र-शस्त्रयुक्त भुजाओं, मस्तकों और उनके घोड़ों को भी अर्जुन ने भल्लों से काट गिराया।

ते हयाः प्रत्यपद्यन्त वसुधां विगतासवः।
चरता लोकवीरेण प्रहताः सव्यसाचिना ॥४॥

समराङ्गण में विचरते हुए विश्वप्रसिद्ध वीर सव्यसाची अर्जुन के द्वारा मारे गये वे घोड़े और घुड़सवार प्राणहीन होकर पृथिवी पर गिर पड़े।

ततो दुर्योधनो राजा दृष्ट्वा स्वबलसंक्षयम्।
हतशेषान् समानीय क्रुद्धो रथगणान् बहून् ॥५॥
कुञ्जरांश्च हयांश्चैव पादातांश्च समन्ततः।
उवाच सहितान् सर्वान् धार्तराष्ट्र इदं वचः ॥६॥

अपनी सेना का इस प्रकार विनाश होता देख राजा दुर्योधन अत्यन्त कुपित हुए। उसने मरने से बचे हुए बहुत-से रथियों, हाथीसवारों, घुड़सवारों और पैदलों को सब ओर से एकत्र करके उन सबसे इस प्रकार कहा—

समासाद्य रणे सर्वान् पाण्डवान् ससुहृद्गणान् ।
पाञ्चाल्यं चापि सबलं हत्वा शीघ्रं न्यवर्तत ।।७।।

"वीरो ! तुम सब लोग युद्धभूमि में समस्त पाण्डवों तथा उनके मित्रों से भिड़कर उन्हें मार डालो तथा पाञ्चालराज धृष्टद्युम्न का भी सेनासहित संहार करके शीघ्र लौट आओ ।"

तस्य ते शिरसा गृह्य वचनं युद्धदुर्मदाः ।
अभ्युद्ययू रणे पार्थांस्तव पुत्रस्य शासनात् ।।८।।

राजन् ! आपके पुत्र के वचन को शिरोधार्य करके उसकी आज्ञा से वे रणदुर्मद योद्धा पाण्डुपुत्रों से युद्ध करने के लिए आगे बढ़े ।

ततस्तु पाण्डवानीकान्निःसृत्य बहवो जनाः ।
अभ्यघ्नंस्तावकान् युद्धे मुहूर्तादिव भारत ।।९।।

हे भारत ! कौरव-सैनिकों के आगे बढ़ने पर पाण्डुसेना में से बहुत-से सैनिकों ने निकलकर युद्ध में एक ही मुहूर्त के भीतर आपके सम्पूर्ण योद्धाओं का संहार कर डाला ।

अक्षौहिण्यः समेतास्तु तव पुत्रस्य भारत ।
एकादश हता युद्धे ताः प्रभो पाण्डुसृञ्जयैः ।।१०।।

प्रभो ! भरतवंशी नरेश ! आपके पुत्र के पास ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ थीं, परन्तु युद्ध में पाण्डवों और सृञ्जयों ने उन सबका संहार कर डाला ।

तेषु राजसहस्रेषु तावकेषु महात्मसु ।
एको दुर्योधनो राजन्नदृश्यत भृशं क्षतः ।।११।।

राजन् ! आपके दल के सहस्रों महामनस्वी राजाओं में एकमात्र दुर्योधन ही उस समय दिखाई देता था, परन्तु वह भी अत्यन्त घायल हो चुका था ।

ततो वीक्ष्य दिशः सर्वा दृष्ट्वा शून्यां च मेदिनीम् ।
अपयाने मनश्चक्रे विहीनबलवाहनः ।।१२

उस समय उसे सम्पूर्ण दिशाएँ और सारी पृथिवी सूनी दिखाई दे रही थी। उसके पास न तो सेना थी और न कोई सवारी ही, अतः उसने वहाँ से भाग जाने का विचार किया ।

धृतराष्ट्र उवाच

निहते मामके सैन्ये निःशेषे शिबिरे कृते ।
पाण्डवानां बले सूत किं नु शेषमभूत् तदा ।।१३।।

धृतराष्ट्र ने पूछा—सूत ! जब मेरी सेना मार डाली गई और सारी छावनी सूनी कर दी गई, उस समय पाण्डवों की सेना में कितने सैनिक शेष रह गये थे ?

यच्च दुर्योधनो मन्दः कृतवाँस्तनयो मम ।
बलक्षयं तथा दृष्ट्वा स एकः पृथिवीपतिः ।।१४।।

सञ्जय ! अपनी सेना का संहार हुआ देखकर अकेले बचे हुए मेरे मूर्ख पुत्र राजा दुर्योधन ने क्या किया ?

सञ्जय उवाच

रथानां द्वे सहस्रे तु सप्त नागशतानि च ।
पञ्च चाश्वसहस्राणि पत्तीनां च शतं शताः ।।१५।।

सञ्जय ने कहा—हे राजेन्द्र ! पाण्डवों की विशाल सेना में से केवल दो सहस्र रथ, सात सौ हाथी, पाँच हजार घोड़े और दस सहस्र पैदल बचे थे ।

परिगृह्य हि यद् युद्धे धृष्टद्युम्नो व्यवस्थितः ।
एकाकी भरतश्रेष्ठ ततो दुर्योधनो नृपः ।।१६।।

इनको साथ लेकर सेनापति धृष्टद्युम्न रणभूमि में खड़े हुए थे । उधर राजा दुर्योधन अकेला रह गया था ।

नापश्यत् समरे कञ्चित् सहायं रथिनां वरः ।
नर्दमानान् परान् दृष्ट्वा स्वबलस्य च संक्षयम् ।।१७।।
तथा दृष्ट्वा महाराज एकः स पृथिवीपतिः ।
हतं स्वहयमुत्सृज्य प्राङ्मुखः प्राद्रवद् भयात् ।।१८।।

महाराज ! रथियों में श्रेष्ठ दुर्योधन ने जब समर-भूमि में अपने किसी सहायक को न देखकर शत्रुओं को गर्जते देखा और अपनी सेना के विनाश पर दृष्टिपात किया, तब वह अकेला नरेश अपने मरे हुए घोड़े को वहीं छोड़कर भय के मारे पूर्व दिशा की ओर भाग चला ।

एकादशचमूभर्त्ता पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
गदामादाय तेजस्वी पदातिः प्रस्थितो ह्रदम् ।।१९।।

जो किसी समय ग्यारह अक्षौहिणी सेना का स्वामी था, वही आपका तेजस्वी पुत्र दुर्योधन अब गदा हाथ में लेकर पैदल ही सरोवर की ओर भागा जा रहा था ।

नातिदूरं ततो गत्वा पद्भ्यामेव नराधिपः ।
सस्मार वचनं क्षत्तुर्धर्मशीलस्य धीमतः ।।२०।।

पैदल ही थोड़ी दूर जाने के पश्चात् राजा दुर्योधन को धर्मशील बुद्धिमान् विदुरजी की कही हुई बातें स्मरण आने लगीं।

इदं नूनं महाप्राज्ञो विदुरो दृष्टवान् पुरा।
महद् वैशसमस्माकं क्षत्रियाणां च संयुगे ॥२१॥

वह मन-ही-मन सोचने लगा कि हमारा और इन क्षत्रियों का जो भीषण विनाश हुआ है इसे महाज्ञानी विदुरजी ने निश्चय ही पहले ही देख और समझ लिया था।

एवं विचिन्तयानस्तु प्रविविक्षुर्ह्रदं नृपः।
दुःखसंतप्तहृदयो दृष्ट्वा राजन् बलक्षयम् ॥२२॥

राजन् ! अपनी सेना का संहार देखकर इस प्रकार सोच-विचार करते हुए राजा दुर्योधन का हृदय दुःख और शोक से सन्तप्त हो उठा था। उसने सरोवर में प्रवेश करने का विचार किया।

पाण्डवास्तु महाराज धृष्टद्युम्नपुरोगमाः।
अभ्यद्रवन्त संक्रुद्धास्तव राजन् बलं प्रति ॥२३॥
शक्त्यृष्टिप्रासहस्तानां बलानामभिगर्जताम्।
संकल्पमकरोन्मोघं गाण्डीवेन धनञ्जयः ॥२४॥

महाराज ! धृष्टद्युम्न आदि पाण्डवों ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर आपकी सेना पर धावा किया था तथा शक्ति, ऋष्टि और प्रास हाथ में लेकर गर्जना करनेवाले आपके योद्धाओं का सारा संकल्प अर्जुन ने अपने गाण्डीव धनुष से व्यर्थ कर दिया था।

तान् हत्वा निशितैर्बाणैः सामात्यान्सह बन्धुभिः।
रथे श्वेतहये तिष्ठिन्नर्जुनो बह्वशोभत ॥२५॥

अपने पैने बाणों द्वारा बन्धु और मन्त्रियोंसहित उन योद्धाओं का संहार करके श्वेत घोड़ोंवाले रथ पर स्थित हुए अर्जुन अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे।

अनेकशतसाहस्रे बले दुर्योधनस्य तु।
नान्यो महारथो राजन् जीवमानो व्यदृश्यत ॥२६॥
द्रोणपुत्रादृते वीरात् तथैव कृतवर्मणः।
कृपाच्च गौतमाद् राजन् पार्थिवाच्च तवात्मजात् ॥२७

राजन् ! दुर्योधन की कई लाख सेना में से द्रोणपुत्र वीर अश्वत्थामा, कृतवर्मा, गौतमवंशी कृपाचार्य और आपके पुत्र राजा दुर्योधन के अतिरिक्त अन्य कोई महारथी जीवित नहीं दिखाई देता था।

धृष्टद्युम्नस्तु मां दृष्ट्वा हसन्सात्यकिमब्रवीत्।
किमनेन गृहीतेन नानेनार्थोऽस्ति जीवता ॥२८॥

उस समय मुझे कैद में पड़ा हुआ देखकर धृष्टद्युम्न ने हँसते हुए सात्यकि से कहा—"इसे कैद करके क्या करना है ? इसके जीवित रहने से अपना कोई लाभ नहीं है।"

धृष्टद्युम्नवचः श्रुत्वा शिनेर्नप्ता महारथः।
उद्यम्य निशितं खड्गं हन्तु मामुद्यतस्तदा ॥२९॥

धृष्टद्युम्न की बात सुनकर शिनिपौत्र महारथी सात्यकि तीखी तलवार उठाकर उसी क्षण मुझे मार डालने के लिए उद्यत हो गये।[1]

तमागम्य महाप्राज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्।
मुच्यतां सञ्जयो जीवन्न हन्तव्यः कथञ्चन ॥३०॥

उस समय महाज्ञानी श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यासजी सहसा आकर बोले—"सञ्जय को जीवित छोड़ दो। ये किसी भी प्रकार वध के योग्य नहीं हैं।"

द्वैपायनवचः श्रुत्वा शिनेर्नप्ता कृताञ्जलिः।
ततो मामब्रवीन्मुक्त्वा स्वस्ति सञ्जय साधय ॥३१॥

हाथ जोड़े हुए शिनिपौत्र सात्यकि ने व्यासजी की वह बात सुनकर मुझे बन्धन से मुक्त करके कहा, "सञ्जय ! तुम्हारा कल्याण हो ! जाओ, अपना अभीष्ट साधन करो।"

अनुज्ञातस्त्वहं तेन न्यस्तवर्मा निरायुधः।
प्रातिष्ठं येन नगरं सायाह्ने रुधिरोक्षितः ॥३२॥

उनके इस प्रकार आज्ञा देने पर मैंने कवच उतार दिया और हथियाररहित हो सायंकाल नगर की ओर प्रस्थित हुआ। उस समय मेरा सारा शरीर रक्त से भीगा हुआ था।

क्रोशमात्रमपक्रान्तं गदापाणिमवस्थितम्।
एकं दुर्योधनं राजन्नपश्यं भृशविक्षतम् ॥३३॥

राजन् ! एक कोस चलने पर मैंने भागे हुए

---

१. इस स्थल को ध्यानपूर्वक पढ़िए। इस स्थल के अवलोकन से भी यह बात स्पष्ट है कि सञ्जय को व्यास से दिव्यदृष्टि प्राप्त नहीं हुई थी। यदि वे दिव्यदृष्टि की सहायता से समाचार सुना रहे थे तो क्या सात्यकि इन्हें मारने के लिए हस्तिनापुर आ पहुँचे थे ?

दुर्योधन को गदा हाथ में लिये अकेले खड़ा देखा। उसका शरीर बहुत क्षत-विक्षत हो गया था।

स तु मामश्रुपूर्णाक्षो नाशक्नोदभिवीक्षितुम्।
उपप्रैक्षत मां दृष्ट्वा तथा दीनमवस्थितम् ॥३४॥

मुझे देखते ही उसकी आँखों में आँसू भर आये। वह अच्छी प्रकार मेरी ओर देख न सका। मैं उस समय दीन-भाव से खड़ा था। वह मेरी उस दशा पर दृष्टिपात करता रहा।

तं चाहमपि शोचन्तं दृष्ट्वैकाकिनमाहवे।
मुहूर्तं नाशकं वक्तुमतिदुःखपरिप्लुतः ॥३५॥

मैं भी रणभूमि में अकेले शोकमग्न हुए दुर्योधन को देखकर गहरे दुःखसागर में डूब गया और दो घड़ी तक कोई बात मुख से न निकाल सका।

ततोऽस्मै तदहं सर्वमुक्तवान् ग्रहणं तदा।
द्वैपायनप्रसादाच्च जीवतो मोक्षमाहवे ॥३६॥

कुछ देर पश्चात् मैंने युद्ध में अपने पकड़े जाने और व्यासजी की कृपा से जीवित छूट जाने का सारा समाचार उन्हें कह सुनाया।

स दीर्घमिव निःश्वस्य प्रत्यवेक्ष्य पुनः पुनः।
असौ मां पाणिना स्पृष्ट्वा पुत्रस्ते पर्यभाषत ॥३७॥
त्वदन्यो नेह संग्रामे कश्चिज्जीवति सञ्जय।
द्वितीयं नेह पश्यामि ससहायाश्च पाण्डवाः ॥३८॥

यह सुनकर आपके पुत्र ने लम्बी साँस छोड़कर बारम्बार मेरी ओर देखा और हाथ से मेरा स्पर्श करके इस प्रकार कहा—"सञ्जय! इस युद्ध में तुम्हारे सिवा दूसरा कोई मेरा बन्धु-बान्धव सम्भवतः जीवित नहीं है, क्योंकि मैं यहाँ दूसरे किसी स्वजन को देख नहीं रहा हूँ। उधर पाण्डव अपने सहायकों से सम्पन्न हैं।

ब्रूयाः सञ्जय राजानं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम्।
दुर्योधनस्तव सुतः प्रविष्टो ह्रदमित्युत ॥३९॥
सुहृद्भिस्तादृशैर्हीनः पुत्रैर्भ्रातृभिरेव च।
पाण्डवैश्च हृते राज्ये को नु जीवेत मादृशः ॥४०॥

"सञ्जय! तुम प्रज्ञाचक्षु ऐश्वर्यशाली महाराज धृतराष्ट्र से कहना कि आपका पुत्र दुर्योधन अपने पराक्रमी सुहृदों, पुत्रों और भाइयों से हीन होकर सरोवर में प्रविष्ट हो गया है। जब पाण्डवों ने मेरा राज्य हर लिया, तब इस दीन-हीन दशा में मेरे-जैसा कौन मनुष्य जीवित रह सकता है?"

एवमुक्त्वा महाराज प्राविशत् तं महाह्रदम्।
अस्तम्भयत तोयं च मायया मनुजाधिपः ॥४१॥

महाराज! ऐसा कहकर राजा दुर्योधन ने उस महान् सरोवर में प्रवेश किया और माया—कौशल से उसका पानी बाँध दिया।

तस्मिन्ह्रदं प्रविष्टे तु त्रीन्रथाञ्श्रान्तवाहनान्।
अपश्यं सहितानेकस्तं देशं समुपेयुषः ॥४२॥

जब दुर्योधन सरोवर में प्रविष्ट हो गया तत्पश्चात् अकेले खड़े हुए मैंने अपने पक्ष के तीन महारथियों को वहाँ उपस्थित देखा, जो एकसाथ उस स्थान पर आ पहुँचे थे। उन तीनों के घोड़े थक चुके थे।

कृपं शारद्वतं वीरं द्रौणिं च रथिनां वरम्।
भोजं च कृतवर्माणं सहिताञ्शरविक्षतान् ॥४३॥

वे थे—शरद्वान् के पुत्र वीर कृपाचार्य, रथियों में श्रेष्ठ द्रोणपुत्र अश्वत्थामा और भोजवंशी कृतवर्मा। ये सब लोग एकसाथ थे, और बाणों से अत्यन्त घायल थे।

ते सर्वे मामभिप्रेक्ष्य तूर्णमश्वानचोदयन्।
उपागम्य तु मामूचुर्दिष्ट्या जीवसि सञ्जय ॥४४॥

मुझे देखते ही उन तीनों ने शीघ्रतापूर्वक अपने घोड़ों को बढ़ाया और मेरे निकट आकर मुझसे कहा—"सञ्जय! सौभाग्य की बात है कि तुम जीवित हो।"

अपृच्छंश्चैव मां सर्वे पुत्रं तं जनाधिपम्।
कच्चिद् दुर्योधनो राजा स नो जीवति सञ्जय ॥४५॥

तत्पश्चात् उन सबने आपके पुत्र राजा दुर्योधन का समाचार पूछा—"सञ्जय! क्या हमारे राजा जीवित हैं?"

आख्यातवानहं तेभ्यस्तदा कुशलिनं नृपम्।
ह्रदं चैवाहमाचक्षं यं प्रविष्टो नराधिपः ॥४६॥

तब मैंने उन लोगों को दुर्योधन का कुशल समाचार बताया और जिस सरोवर में वह प्रविष्ट हुआ था, उसका भी पता बता दिया।

अश्वत्थामा तु तद् राजन् निशम्य वचनं मम ।
तं ह्रदं विपुलं प्रेक्ष्य करुणं पर्यदेवयत् ॥४७॥
अहो धिक्स न जानाति जीवतोऽस्मान्नराधिपः ।
पर्याप्ता हि वयं तेन सह योधयितुं परान् ॥४८॥

राजन् ! मेरी बात सुनकर अश्वत्थामा ने उस विशाल सरोवर की ओर देखा और करुण विलाप करते हुए कहा—"अहो ! धिक्कार है, राजा दुर्योधन नहीं जानते हैं कि हम सब जीवित हैं। उनके साथ रहकर हम लोग शत्रुओं से जूझने के लिए पर्याप्त हैं।"

ते तु तत्र चिरं कालं विलप्य च महारथाः ।
प्राद्रवन्रथिनां श्रेष्ठा दृष्ट्वा पाण्डुसुतान्रणे ॥४९॥

वे महारथी दीर्घकाल तक वहाँ विलाप करते रहे। फिर रणक्षेत्र में पाण्डवों को आते देख वे रथियों में श्रेष्ठ तीनों वीर वहाँ से भाग निकले।

ते तु मां रथमारोप्य कृपस्य सुपरिष्कृतम् ।
सेनानिवेशमाजग्मुर्हतशेषास्त्रयो रथाः ॥५०॥
तत्र गुल्माः परित्रस्ताः सूर्ये चास्तमिते सति ।
सर्वे विचुक्रुशुः श्रुत्वा पुत्राणां तव संक्षयम् ॥५१॥

मरने से बचे हुए वे तीनों रथी मुझे भी कृपाचार्य के समलंकृत रथ पर बिठाकर छावनी तक ले आये। सूर्य अस्ताचल को जा चुके थे। वहाँ छावनी के पहरेदार भय से घबराये हुए थे। आपके पुत्रों के विनाश का समाचार सुनकर वे सभी फूट-फूटकर रोने लगे।

ततो वृद्धा महाराज योषितां रक्षिणो नराः ।
राजदारानुपादाय प्रययुर्नगरं प्रति ॥५२॥

महाराज ! उस समय स्त्रियों की रक्षा में नियुक्त हुए वृद्ध पुरुषों ने राजकुल की महिलाओं को साथ लेकर नगर की ओर प्रस्थान किया।

आ गोपालाविपालेभ्यो द्रवन्तो नगरं प्रति ।
ययुर्मनुष्याः सम्भ्रान्ता भीमसेनभयार्दिताः ॥५३॥

उधर भीमसेन के भय से पीड़ित हो सभी मनुष्य, गायों और भेड़ों के चरवाहे तक घबराकर नगर की ओर भाग रहे थे।

तस्मिंस्तथा वर्तमाने विद्रवे भृशदारुणे ।
युयुत्सुः शोकसम्मूढः प्राप्तकालमचिन्तयत् ॥५४॥

जब इस प्रकार अतिभयंकर भगदड़ मची हुई थी, उस समय आपके पुत्र युयुत्सु शोक से मूर्च्छित हो मन-ही-मन समयोचित कर्तव्य का विचार करने लगे—

जितो दुर्योधनः संख्ये पाण्डवैर्भीमविक्रमैः ।
एकादशचमूभर्ता भ्रातरश्चास्य सूदिताः ॥५५॥

'भयंकर पराक्रमी पाण्डवों ने ग्यारह अक्षौहिणी सेना के स्वामी राजा दुर्योधन को युद्ध में परास्त कर दिया और उसके भाइयों को भी मार डाला।

विद्रुतानि च सर्वाणि शिबिराणि समन्ततः ।
इतस्ततः पलायन्ते हतनाथा हतौजसः ॥५६॥

'सारे शिबिर के लोग सब ओर भाग गये। स्वामी के मारे जाने से हतोत्साह होकर सभी सेवक इधर-उधर पलायन कर रहे हैं।

दुर्योधनस्य सचिवा ये केचिदवशेषिताः ।
राजदारानुपादाय प्रययुर्नगरं प्रति ॥५७॥

'दुर्योधन के मन्त्रियों में से जो कोई बच गये हैं, वे राजमहिलाओं को साथ लेकर नगर की ओर जा रहे हैं।

प्राप्तकालमहं मन्ये प्रवेशं तैः सह प्रभुम् ।
युधिष्ठिरमनुज्ञाप्य वासुदेवं तथैव च ॥५८॥

'मैं राजा युधिष्ठिर और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण की आज्ञा लेकर उन मन्त्रियों के साथ ही नगर में प्रवेश करूँ, यही मुझे समयोचित कर्तव्य जान पड़ता है।'

एतमर्थं महाबाहुरुभयोः स न्यवेदयत् ।
तस्य प्रीतोऽभवद् राजा नित्यं करुणवेदिता ।
परिष्वज्य महाबाहुर्वैश्यापुत्रं व्यसर्जयत् ॥५९॥

ऐसा सोचकर महाबाहु ययुत्सु ने उन दोनों के सामने अपना विचार प्रकट किया। उसकी बात सुनकर करुणा का अनुभव करनेवाले महाबाहु राजा युधिष्ठिर अति प्रसन्न हुए और उन्होंने वैश्यकुमारी के पुत्र युयुत्सु को हृदय से लगाकर विदा किया।

ततः स रथमास्थाय द्रुतमश्वानचोदयत् ।
संवाहयितवांश्चापि राजदारान् पुरं प्रति ॥६०॥

विदा होने पर उसने रथ पर बैठकर तुरन्त ही अपने घोड़े बढ़ाये और राजकुल की स्त्रियों को राजधानी में पहुँचा दिया।

तैश्चैव सहितः क्षिप्रमस्तं गच्छति भास्करे ।
प्रविष्टो हास्तिनपुरं बाष्पकण्ठोऽश्रुलोचनः ॥६१॥

सूर्यास्त होते-होते नेत्रों से अश्रु बहाते हुए उसने उन सबके साथ हस्तिनापुर में प्रवेश किया । उस समय उसका गला भरा हुआ था ।

अपश्यत महाप्राज्ञं विदुरं साश्रुलोचनम् ।
राज्ञः समीपान्निष्क्रान्तं शोकोपहतचेतसम् ॥६२॥

राजन् ! वहाँ उसने आपके पास से निकलते हुए महाज्ञानी विदुरजी का दर्शन किया, जिनके नेत्रों में आँसू भरे हुए थे और मन शोक में डूबा हुआ था ।

तमब्रवीत् सत्यधृतिः प्रणतं त्वग्रतः स्थितम् ।
दिष्ट्या कुरुक्षये वृत्ते अस्मिंस्त्वं पुत्र जीवसि ॥६३॥

सत्यवादी धैर्यव्रती विदुरजी ने प्रणाम करके सामने खड़े हुए युयुत्सु से कहा—'बेटा ! बड़े सौभाग्य की बात है कि कौरवों के इस भीषण संहार में भी तुम जीवित बच गये हो ।

अन्धस्य नृपतेर्यष्टिर्लुब्धस्यादीर्घदर्शिनः ।
त्वमेको व्यसनार्तस्य ध्रियसे पुत्र सर्वथा ॥६४॥

"पुत्र ! लोभी, अदूरदर्शी और अन्धे राजा के लिए तुम्हीं लाठी के समान हो । सभी पुत्रों के मारे जाने से संकट से पीड़ित अवस्था में एकमात्र तुम्हीं उन्हें सहारा देने के लिए जीवित हो ।"

एतावदुक्त्वा वचनं विदुरः साश्रुलोचनः ।
युयुत्सुं समनुप्राप्य प्रविवेश नृपक्षयम् ॥६५॥

ऐसा कहकर नेत्रों में आँसू भरे हुए विदुरजी ने युयुत्सु को साथ लेकर राजमहल में प्रवेश किया ।

वन्द्यमानः स्वकैश्चापि नाभ्यनन्दत् सुदुःखितः ।
चिन्तयानः क्षयं तीव्रं भरतानां परस्परम् ॥६६॥

उनके मन में दुःख का आवेग था, अतः वे स्वजनों द्वारा सत्कृत होने पर भी प्रसन्न नहीं हुए । इस पारस्परिक युद्ध से भरतवंशियों का जो घोर संहार हुआ था, उसी की चिन्ता में वे व्यथित हो गये थे ।

इति महाभारते शल्यपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

अश्वत्थामादि का सरोवर पर जाकर दुर्योधन से युद्धविषयक वार्तालाप, व्याधों से पता पाकर युधिष्ठिर का सेनासहित वहाँ पहुँचना और अश्वत्थामा आदि का वहाँ से दूर हटना

धृतराष्ट्र उवाच

हतेषु सर्वसैन्येषु पाण्डुपुत्रै रणाजिरे ।
अवशिष्टा हि सैन्या मे किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय ! जब पाण्डु के पुत्रों ने रणभूमि में समस्त सेनाओं का संहार कर डाला, उस समय मेरी सेना के शेष वीरों ने क्या किया ?

कृतवर्मा कृपश्चैव द्रौणपुत्रश्च वीर्यवान् ।
दुर्योधनश्च मन्दात्मा राजा किमकरोत्तदा ॥२॥

कृतवर्मा, कृपाचार्य, पराक्रमी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तथा मन्दबुद्धि राजा दुर्योधन ने उस समय क्या किया ?

सञ्जय उवाच

सम्प्राद्रवत्सु दारेषु क्षत्रियाणां महात्मनाम् ।
विद्रुते शिबिरे शून्ये भृशोद्विग्नास्त्रयो रथाः ॥३॥

सञ्जय कहते हैं—हे राजन् ! जब महामनस्वी क्षत्रिय राजाओं की पत्नियाँ भाग चलीं और सब लोगों के पलायन करने से सारा शिबिर सूना हो गया, उस समय पूर्वोक्त तीनों रथी अत्यन्त उद्विग्न हो गये ।

विद्रुतं शिबिरं दृष्ट्वा सायाह्ने राजगृद्धिनः ।
स्थानं नारोचयंस्तत्र ततस्ते ह्रदमभ्ययुः ॥४॥

सायंकाल में अपने सारे शिबिर के लोगों को भागा हुआ देखकर राजा दुर्योधन को चाहनेवाले उन तीनों महारथियों को वहाँ ठहरना अच्छा न लगा, अतः वे उसी सरोवर के तट पर गये ।

युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा भ्रातृभिः सहितो रणे ।
हृष्टः पर्यचरद् राजन् दुर्योधनवधेप्सया ॥५॥

नृपश्रेष्ठ ! इधर धर्मात्मा युधिष्ठिर भी युद्धभूमि में दुर्योधन के वध की इच्छा से बड़े हर्ष के साथ भाइयोंसहित विचर रहे थे ।

मार्गमाणास्तु संक्रुद्धास्तव पुत्रं जयैषिणः ।
यत्नतोऽन्वेषमाणास्ते नैवापश्यञ्जनाधिपम् ।।६।।

विजय के अभिलाषी पाण्डव अत्यन्त कुपित होकर आपके पुत्र का पता लगाने लगे, परन्तु यत्नपूर्वक खोज करने पर भी उन्हें राजा दुर्योधन कहीं दिखाई नहीं दिया ।

यदा तु पाण्डवाः सर्वे सुपरिश्रान्तवाहनाः ।
ततः स्वशिबिरं प्राप्य व्यतिष्ठन्त ससैनिकाः ।।७।।

दुर्योधन की खोज करते-करते जब पाण्डवों के वाहन बहुत थक गये, तब सभी पाण्डव सैनिकोंसहित अपने शिविर में आकर ठहर गये ।

ततः कृपश्च द्रौणिश्च कृतवर्मा च सात्वतः ।
संनिविष्टेषु पार्थेषु प्रयातास्तं ह्रदं शनैः ।।८।।

उधर जब कुन्ती के सभी पुत्र थककर शिबिर में विश्राम करने लगे, तब कृपाचार्य, अश्वत्थामा और सात्वतवंशी कृतवर्मा धीरे-धीरे उस सरोवर के तट पर जा पहुँचे ।

ते तं ह्रदं समासाद्य यत्र शेते जनाधिपः ।
अभ्यभाषन्त दुर्धर्षं राजानं सुप्तमम्भसि ।।९।।
राजन्नुत्तिष्ठ युद्धचस्व सहास्माभिर्युधिष्ठिरम् ।
जित्वा वा पृथिवीं भुङ्क्ष्व हतो वा स्वर्गमाप्नुहि ।।१०।।

जिसमें राजा दुर्योधन सो रहा था, उस सरोवर के समीप पहुँचकर, वे जल में सोये हुए उस दुर्धर्ष नरेश से इस प्रकार बोले—"राजन् ! उठो तथा हमारे साथ चलकर युधिष्ठिर से युद्ध करो । युद्ध में विजयी होकर पृथिवी का राज्य भोगो अथवा मारे जाकर स्वर्गलोक प्राप्त करो ।"

दुर्योधन उवाच

दिष्टचा पश्यामि वो मुक्तानीदृशात्पुरुषक्षयात् ।
पाण्डुकौरवसम्मर्दाज्जीवमानान् नरर्षभान् ।।११।।

दुर्योधन बोला—महानुभावो ! मैं ऐसे जनसंहारकारी पाण्डव-कौरव-संग्राम से आप सभी नरश्रेष्ठ वीरों को जीवित बचा हुआ देख रहा हूँ, यह बड़े सौभाग्य की बात है ।

भवन्तश्च परिश्रान्ता वयं च भृशविक्षताः ।
उदीर्णं च बलं तेषां तेन युद्धं न रोचये ।।१२।।

आप लोग अत्यन्त थके हुए हैं और हम भी बहुत घायल हो चुके हैं । उधर पाण्डवों का बल बढ़ा हुआ है, अतः इस समय युद्ध करना मुझे अच्छा नहीं लग रहा ।

न त्वेतदद्भुतं वीरा यद् वो महदिदं मनः ।
अस्मासु च परा भक्तिर्न तु कालः पराक्रमे ।।१३।।

वीरो ! आपके मन में युद्ध के लिए जो उत्साह बना हुआ है, यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है । आप लोगों का मुझपर महान् प्रेम भी है, परन्तु यह पराक्रम प्रकट करने का समय नहीं है ।

विश्रम्यैकां निशामद्य भवद्भिः सहितो रणे ।
प्रतियोत्स्याम्यहं शत्रूञ्श्वो न मेऽस्त्यत्र संशयः ।।१४।।

आज रात्रिभर विश्राम करके प्रातः युद्धभूमि में आप लोगों के साथ रहकर मैं शत्रुओं के साथ युद्ध करूँगा, इसमें संशय नहीं है ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तोऽब्रवीद् द्रौणी राजानं युद्धदुर्मदम् ।
उत्तिष्ठ राजन् भद्रं ते विजेष्यामो वयं परान् ।।१५।।

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! दुर्योधन के कहने पर द्रोणपुत्र ने उस रणदुर्मद राजा से कहा—"महाराज ! उठो ! आपका कल्याण हो । हम शत्रुओं पर विजय प्राप्त करेंगे ।

इष्टापूर्तेन दानेन सत्येन च जपेन च ।
शपे राजन् यथा ह्यद्य निहनिष्यामि सोमकान् ।।१६।।

"राजन् ! मैं अपने इष्टापूर्त, कर्म, दान, सत्य और जप की शपथ खाकर कहता हूँ कि सोमकों का संहार कर डालूँगा ।

मा स्म यज्ञकृतां प्रीतिमाप्नुयां सज्जनोचिताम् ।
यदीमां रजनीं व्युष्टां न हि हन्मि परान् रणे ।।१७।।

"यदि यह रात्रि व्यतीत होते ही प्रातःकाल युद्धभूमि में शत्रुओं को न मार डालूँ तो मुझे सज्जन पुरुषों के योग्य और यज्ञकर्ताओं को प्राप्त होनेवाली प्रसन्नता प्राप्त न हो ।

नाहत्वा सर्वपाञ्चालान् विमोक्ष्ये कवचं विभो ।
इति सत्यं ब्रवीम्येतत्तन्मे शृणु जनाधिप ।।१८।।

"प्रभो ! जनेश्वर ! मैं समस्त पाञ्चालों का संहार किये बिना अपना कवच नहीं उतारूँगा, यह

तुमसे सच्ची बात कहता हूँ। मेरे इस कथन को ध्यान से सुनो।"

तेषु सम्भाषमाणेषु व्याधास्तं देशमाययुः।
मांसभारपरिश्रान्ताः पानीयार्थं यदृच्छया ॥१९॥

वे इस प्रकार बात कर ही रहे थे कि मांस के भार से थके हुए बहुत-से व्याध उस स्थान पर पानी पीने के लिए अकस्मात् आ पहुँचे।

तेषां श्रुत्वा च संवादं राज्ञश्च सलिले सतः।
अभ्यजानन् नृप व्याधाः सलिलस्थं सुयोधनम् ॥२०॥

जल में छिपे नरेश के साथ उन तीनों का संवाद सुनकर व्याध यह समझ गये कि "दुर्योधन इसी सरोवर के जल में छिपा हुआ है।"

ते पूर्वं पाण्डुपुत्रेण पृष्टा ह्यासन् सुतं तव।
यदृच्छोपगतास्तत्र राजानं परिमार्गता ॥२१॥

पहले राजा दुर्योधन की खोज करते हुए पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ने दैववश अपने पास पहुँचे हुए उन व्याधों से आपके पुत्र का पता पूछा था।

ततस्ते पाण्डुपुत्रस्य स्मृत्वा तद् भाषितं तदा।
अन्योन्यमब्रुवन् राजन् मृगव्याधाः शनैरिव ॥२२॥

राजन्! उस समय पाण्डुकुमार की कही हुई बात स्मरण करके वे व्याध आपस में धीरे-धीरे बोले—

दुर्योधनं ख्यापयामो धनं दास्यति पाण्डवः।
सुव्यक्तमिह नः ख्यातो ह्रदे दुर्योधनो नृपः ॥२३॥

"यदि हम दुर्योधन का पता बता दें तो पाण्डुकुमार युधिष्ठिर हमें धन देंगे। हमें तो यहाँ यह स्पष्टरूप से ज्ञात हो गया कि राजा दुर्योधन इसी सरोवर में छिपा हुआ है।

तस्माद् गच्छामहे सर्वे यत्र राजा युधिष्ठिरः।
आख्यातुं सलिले सुप्तं दुर्योधनममर्षणम् ॥२४॥

"अतः जल में सोये हुए अमर्षशील दुर्योधन का पता बताने के लिए हम सब लोग उस स्थान पर चलें, जहाँ राजा युधिष्ठिर विद्यमान हैं।

धृतराष्ट्रात्मजं तस्मै भीमसेनाय धीमते।
शयानं सलिले सर्वे कथयामो धनुर्भृते ॥२५॥

"बुद्धिमान् धनुर्धर भीमसेन को हम सब यह बता दें कि धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन जल में सो रहा है।

स नो दास्यति सुप्रीतो धनानि बहुलान्युत।
किं नो मांसेन शुष्केण परिक्लिष्टेन शोषिणा ॥२६॥

"इससे अत्यन्त प्रसन्न होकर वे हमें बहुत-सा धन देंगे। फिर हमें शरीर का रक्त सुखा देनेवाले इस सूखे मांस को ढोकर व्यर्थ कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता है!"

एवमुक्त्वा तु ते व्याधाः सम्प्रहृष्टा धनार्थिनः।
आजग्मुः शिबिरं क्षिप्रं दृष्ट्वा दुर्योधनं नृपम् ॥२७॥
वार्यमाणाः प्रविष्टाश्च भीमसेनस्य पश्यतः।
तस्मै तत् सर्वमाचख्युर्यद् वृत्तं यच्च वै श्रुतम् ॥२८॥

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करके धन की अभिलाषा रखनेवाले वे व्याध राजा दुर्योधन को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होते हुए शीघ्र ही पाण्डवों के शिबिर में आ पहुँचे। द्वारपालों के रोकने पर भी वे भीमसेन के देखते-देखते अन्दर घुस गये और सरोवर के तट पर जो कुछ हुआ था और जो कुछ सुनने में आया था, वह सब कह सुनाया।

ततो वृकोदरो राजन् दत्त्वा तेषां धनं बहु।
धर्मराजाय तत्सर्वमाचचक्षे परन्तपः ॥२९॥

राजन्! तत्पश्चात् शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले भीम ने उन व्याधों को बहुत-सा धन देकर [उन्हें विदा किया और फिर] धर्मराज से सारा समाचार कह सुनाया।

असौ दुर्योधनो राजन् विज्ञातो मम लुब्धकैः।
संस्तभ्य सलिलं शेते यस्यार्थे परितप्यसे ॥३०॥

वे बोले—"धर्मराज! मेरे व्याधों ने राजा दुर्योधन का पता लगा लिया है। आप जिसके लिए सन्तप्त हैं, वह माया=कौशल से पानी को बाँधकर सरोवर में सो रहा है।"

तद् वचो भीमसेनस्य प्रियं श्रुत्वा विशाम्पते।
अजातशत्रुः कौन्तेयो हृष्टोऽभूत् सह सोदरैः ॥३१॥

प्रजेश्वर! भीमसेन का वह प्रिय वचन सुनकर अजातशत्रु कुन्तीकुमार युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ बड़े प्रसन्न हुए।

तं च श्रुत्वा महेष्वासं प्रविष्टं सलिलह्रदे।
क्षिप्रमेव ततोऽगच्छन् पुरस्कृत्य जनार्दनम् ॥३२॥

महाधनुर्धर दुर्योधन को पानी से भरे हुए सरोवर

में घुसा सुनकर राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्ण को आगे करके शीघ्र ही वहाँ से चल दिये ।

सिंहनादांस्ततश्चक्रुः क्ष्वेडांश्च भरतर्षभ ।
त्वरिताः क्षत्रिया राजञ्जग्मुर्द्वैपायनं ह्रदम् ॥३३॥

भरतभूषण नरेश ! वे सभी क्षत्रिय सिंहनाद एवं गर्जना करने लगे और तुरन्त ही द्वैपायन नामक सरोवर के पास जा पहुँचे ।

महता शंखनादेन रथनेमिस्वनेन च ।
ऊर्ध्वं धुन्वन् महारेणुं कम्पयंश्चापि मेदिनीम् ॥३४॥
यौधिष्ठिरस्य सैन्यस्य श्रुत्वा शब्दं महारथाः ।
कृतवर्मा कृपो द्रौणी राजानमिदमब्रुवन् ॥३५॥

वे महान् शंखनाद और रथ के पहियों की घर्घराहट से पृथिवी को कँपाते और धूल का महान् ढेर ऊपर उड़ाते हुए वहाँ आये थे । युधिष्ठिर की सेना का कोलाहल सुनकर कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा तीनों महारथी राजा दुर्योधन से इस प्रकार बोले—

इमे ह्यायान्ति संहृष्टाः पाण्डवा जितकाशिनः ।
अपयास्यामहे तावदनुजानातु नो भवान् ॥३६॥

"ये विजय से उल्लसित होनेवाले पाण्डव अत्यन्त हर्ष में भरकर इधर ही आ रहे हैं, अतः हम लोग यहाँ से हट जाएँगे । इसके लिए आप हमें आज्ञा प्रदान करें ।"

दुर्योधनस्तु तत् श्रुत्वा तेषां तत्र तरस्विनाम् ।
तथेत्युक्त्वा ह्रदं तं वै माययास्तम्भयत् प्रभो ॥३७॥

प्रभो ! उन वेगशाली वीरों की वह बात सुनकर दुर्योधन ने 'तथास्तु' कहकर उस सरोवर के जल को पुनः माया द्वारा स्तम्भित कर दिया ।

ते त्वनुज्ञाप्य राजानं भृशं शोकपरायणाः ।
जग्मुर्दूरे महाराज कृपप्रभृतयो रथाः ॥३८॥

महाराज ! राजा की आज्ञा लेकर अत्यन्त शोक में डूबे हुए कृपाचार्य आदि महारथी वहाँ से दूर चले गये ।

ते गत्वा दूरमध्वानं न्यग्रोधं प्रेक्ष्य मारिष ।
न्यविशन्त भृशं श्रान्ताश्चिन्तयन्तो नृपं प्रति ॥३९॥

आर्यनरेश ! दूर के मार्ग पर जाकर उन्हें एक बरगद का वृक्ष दिखाई दिया । वे अत्यन्त थके होने के कारण राजा दुर्योधन के विषय में चिन्ता करते हुए उसी के नीचे बैठ गये ।

विष्टभ्य सलिलं सुप्तो धार्तराष्ट्रो महाबलः ।
पाण्डवाश्चापि सम्प्राप्तास्तं देशं युद्धमीप्सवः ॥४०॥

इधर महाबली धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन पानी बाँधकर सो गया । इतने में ही युद्ध की अभिलाषा रखनेवाले पाण्डव भी वहाँ आ पहुँचे ।

इति महाभारते शल्यपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

पाण्डवों का द्वैपायन सरोवर पर पहुँचना, वहाँ युधिष्ठिर और कृष्ण का वार्तालाप तथा सरोवर में छिपे दुर्योधन के साथ युधिष्ठिर का संवाद

सञ्जय उवाच

आसाद्य च कुरुश्रेष्ठ तदा द्वैपायनं ह्रदम् ।
वासुदेवमिदं वाक्यमब्रवीत् कुरुनन्दनः ॥१॥
पश्येमां धार्तराष्ट्रेण मायामप्सु प्रयोजिताम् ।
विष्टभ्य सलिलं शेते नास्य मानुषतो भयम् ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—कुरुश्रेष्ठ ! द्वैपायन-कुण्ड पर पहुँचकर कुरुनन्दन युधिष्ठिर ने वासुदेव श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहा—"प्रभो ! देखिए तो सही, दुर्योधन ने जल के भीतर इस माया का कैसा प्रयोग किया है ? यह पानी को बाँधकर सो रहा है । इसे यहाँ मनुष्य से किसी प्रकार का भय नहीं है ।

निकृत्या निकृतिप्रज्ञो न मे जीवन् विमोक्ष्यते ।
यद्यस्य समरे साह्यं कुरुते वज्रभृत् स्वयम् ॥३॥

"यद्यपि यह छल-कपट की विद्या में बहुत प्रवीण है, तथापि कपट करके यह मेरे हाथ से छूट नहीं सकता, चाहे रणभूमि में साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी इसकी सहायता करें ।"

वासुदेव उवाच

मायाविन इमां मायां मायया जहि भारत ।
मायावी मायया वध्यः सत्यमेतद् युधिष्ठिर ॥४॥

श्रीकृष्ण बोले—हे भारत ! मायावी दुर्योधन की इस माया को आप माया द्वारा ही नष्ट कर डालिए। युधिष्ठिर ! मायावी का वध माया द्वारा ही करना चाहिए, यह सच्ची नीति है।

क्रियाभ्युपायैर्बहुभिर्मायामप्सु प्रयोज्य च ।
जहि त्वं भरतश्रेष्ठ मायात्मानं सुयोधनम् ॥५॥

भरतभूषण ! आप बहुत-से रचनात्मक उपायों द्वारा जल में माया का प्रयोग करके मायावी दुर्योधन का वध कर डालिए।

क्रियाभ्युपायैरिन्द्रेण निहता दैत्यदानवाः ।
क्रिया बलवती राजन्नान्यत्किञ्चिद् युधिष्ठिर ॥६॥

राजन् ! रचनात्मक उपायों से ही इन्द्र ने बहुत-से दैत्य और दानवों का संहार किया था। युधिष्ठिर ! कार्यकौशल ही बलवान् है, दूसरी कोई वस्तु नहीं।

सञ्जय उवाच

इत्युक्तो वासुदेवेन तव पुत्रं महाबलम् ।
अभ्यभाषत कौन्तेयः प्रहसन्निव भारत ॥७॥

सञ्जय कहते हैं—भरतभूषण ! श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ने [जल में स्थित] आपके महाबली पुत्र से हँसते हुए-से कहा—

सुयोधन किमर्थोऽयमारम्भोऽप्सु कृतस्त्वया ।
सर्वं क्षत्रं घातयित्वा स्वकुलं च विशाम्पते ॥८॥
जलाशयं प्रविष्टोऽद्य वाञ्छञ्जीवितमात्मनः ।
उत्तिष्ठ राजन् युध्यस्व सहास्माभिः सुयोधन ॥९॥

"प्रजेश्वर सुयोधन ! तुमने पानी में यह अनुष्ठान किसलिए आरम्भ किया है ? सम्पूर्ण क्षत्रियों तथा अपने कुल का विनाश कराकर अपनी जान बचाने की इच्छा से तुम जलाशय में घुसे बैठे हो ? राजा सुयोधन ! उठो और हम लोगों के साथ युद्ध करो।

स ते दर्पो नरश्रेष्ठ स च मानः क्व ते गतः ।
यस्त्वं संस्तभ्य सलिलं भीतो राजन्व्यवस्थितः ॥१०॥

"राजन् ! नरश्रेष्ठ ! तुम्हारा पहले का वह दर्प और अभिमान कहाँ गया जो डर के मारे जल का स्तम्भन करके यहाँ छिपे हुए हो ?

सर्वे त्वां शूर इत्येवं जना जल्पन्ति संसदि ।
व्यर्थं तद् भवतो मन्ये शौर्यं सलिलशायिनः ॥११॥

"सभा में सब लोग तुम्हें शूरवीर कहते हैं। जब तुम भयभीत होकर पानी में सो रहे हो, तब मैं तुम्हारे उस तथाकथित शौर्य को व्यर्थ समझता हूँ।

उत्तिष्ठ राजन्युध्यस्व क्षत्रियोऽसि कुलोद्भवः ।
कौरवेयो विशेषेण कुलं जन्म च संस्मर ॥१२॥

"राजन् ! उठो, युद्ध करो क्योंकि तुम कुलीन क्षत्रिय हो, विशेषतः कुरुकुल की सन्तान हो, अतः अपने कुल और जन्म की याद तो करो।

अयुद्धमव्यवस्थानं नैष धर्मः सनातनः ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं रणे राजन् पलायनम् ॥१३॥

"प्रजेश्वर ! युद्ध न करना अथवा युद्ध में स्थिर न रहकर वहाँ से पीठ दिखाकर भागना—यह सनातनधर्म नहीं है। नीच पुरुष ही ऐसे कुमार्ग का आश्रय लेते हैं। इससे स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती।

कथं पारमगत्वा हि युद्धे त्वं वै जिजीविषुः ।
इमान्निपतितान्दृष्ट्वा पुत्रान्भ्रातॄन्पितॄंस्तथा ॥
सम्बन्धिनो वयस्यांश्च मातुलान्बान्धवांस्तथा ।
घातयित्वा कथं तात ह्रदे तिष्ठसि साम्प्रतम् ॥१५॥

"युद्ध से पार पाये बिना ही तुम्हें जीवित रहने की इच्छा कैसे हो गई ? तात ! युद्धभूमि में गिरे हुए इन पुत्रों, भाइयों तथा चाचा-ताऊ आदि सम्बन्धियों को मरते देख तथा सम्बन्धियों, मित्रों, मामाओं एवं बन्धु-बान्धवों का वध कराकर इस समय सरोवर में क्यों छिपे बैठे हो ?

शूरमानी न शूरस्त्वं मृषा वदसि भारत ।
शूरोऽहमिति दुर्बुद्धे सर्वलोकस्य शृण्वतः ॥१६॥

"तुम अपने को शूरवीर तो मानते हो परन्तु शूर हो नहीं। भरतवंश के खोटी बुद्धिवाले नरेश ! तुम सब लोगों के सुनते हुए व्यर्थ ही कहा करते हो कि मैं शूरवीर हूँ।

न हि शूराः पलायन्ते शत्रून् दृष्ट्वा कथञ्चन ।
ब्रूहि वा त्वं यया वृत्त्या शूर त्यजसि संगरम् ॥१७॥

"जो वस्तुतः शूरवीर हैं, वे शत्रुओं को देखकर किसी भी प्रकार भागते नहीं हैं। अपने को शूर

कहनेवाले सुयोधन ! बताओ तो सही, तुम किस वृत्ति का आश्रय लेकर युद्ध छोड़ रहे हो ?

स त्वमुत्तिष्ठ युध्यस्व विनीय भयमात्मनः ।
कथं हि त्वद्विधो मोहाद् रोचयेत पलायनम् ।।१८।।

"सुयोधन ! तुम अपना भय दूर करके उठो और युद्ध करो । तुम्हारे-जैसा वीरपुरुष मोहवश पीठ दिखाकर भागना कैसे पसन्द करेगा ?

क्व ते तत् पौरुषं यातं क्व च मानः सुयोधन ।
क्व च विक्रान्तता याता क्व च विस्फूर्जितं महत् ।।१९।।
क्व ते कृतास्त्रता याता किञ्च शेषे जलाशये ।
स त्वमुत्तिष्ठ युध्यस्व क्षत्रधर्मेण भारत ।।२०।।

"सुयोधन ! तुम्हारा वह पौरुष कहाँ चला गया ? कहाँ गया तुम्हारा वह अभिमान ? कहाँ गया तुम्हारा पराक्रम ? कहाँ गई महान् गर्जना-तर्जना ? कहाँ गया तुम्हारा अस्त्रविद्या का ज्ञान ? इस समय इस सरोवर में तुम्हें नींद कैसे आ रही है ? हे भारत ! उठो और क्षत्रियधर्म के अनुसार युद्ध करो ।

अस्माँस्तु वा पराजित्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ।
अथवा निहतोऽस्माभिर्भूमौ स्वप्स्यसि भारत ।।२१।।

"भरतभूषण ! हम सब लोगों को परास्त करके तुम इस पृथिवी का शासन करो अथवा हमारे हाथों मारे जाकर सदा के लिए युद्धभूमि में सो जाओ ।"

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो महाराज धर्मपुत्रेण धीमता ।
सलिलस्थस्तव सुत इदं वचनमब्रवीत् ।।२२।।

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर जल के भीतर स्थित हुए आपके पुत्र ने यह बात कही—

दुर्योधन उवाच

नैतच्चित्रं महाराज यद्भीः प्राणिनमाविशेत् ।
न च प्राणभयाद् भीतो व्यपयातोऽस्मि भारत ।।२३।।

दुर्योधन बोला—महाराज ! किसी भी प्राणी के मन में भय उत्पन्न हो जाए, यह आश्चर्य की बात नहीं है, परन्तु हे भारत ! मैं प्राणों के भय से भागकर यहाँ नहीं आया हूँ ।

अरथश्चानिषङ्गी च निहतः पार्ष्णिसारथिः ।
एकश्चाप्यगणः संख्ये प्रत्याश्वासमरोचयम् ।।२४।।

मेरे पास न तो रथ है और न तरकस । मेरे पार्श्व रक्षक भी मारे जा चुके हैं । मेरी सेना नष्ट हो गई और रणभूमि में मैं अकेला रह गया था, इस दशा में मुझे कुछ देर तक विश्राम करने की इच्छा हुई ।

न प्राणहेतोर्न भयान्न विषादाद् विशाम्पते ।
इदमम्भः प्रविष्टोऽस्मि श्रमात्त्विदमनुष्ठितम् ।।२५।।

नरेश्वर ! मैं न तो प्राणों की रक्षा के लिए, न किसी भय से और न विषाद के कारण ही इस जल में आ घुसा हूँ । केवल थक जाने के कारण मैंने ऐसा किया है ।

त्वं चाश्वसिहि कौन्तेय ये चाप्यनुगतास्तव ।
अहमुत्थाय वः सर्वान् प्रतियोत्स्यामि संयुगे ।।२६।।

कुन्तीकुमार ! तुम भी कुछ देर विश्राम कर लो । तुम्हारे अनुगामी सेवक भी थोड़ी देर आराम कर लें । फिर मैं उठकर युद्धभूमि में तुम सब लोगों के साथ युद्ध करूँगा ।

युधिष्ठिर उवाच

आश्वस्ता एव सर्वे स्म चिरं त्वां मृगयामहे ।
तदिदानीं समुत्तिष्ठ युध्यस्वेह सुयोधन ।।२७।।

युधिष्ठिर बोले—सुयोधन ! हम सब लोग तो विश्राम कर ही चुके हैं और बहुत देर से तुम्हें खोज रहे हैं, अतः अब तुम उठो और यहीं युद्ध करो ।

हत्वा वा समरे पार्थान् स्फीतं राज्यमवाप्नुहि ।
निहतो वा रणेऽस्माभिर्वीरलोकमवाप्स्यसि ।।२८।।

संग्राम में समस्त पाण्डवों को मारकर समृद्धिशाली राज्य प्राप्त करो अथवा रणभूमि में हमारे हाथों मारे जाकर वीरों को प्राप्त होने योग्य पुण्यलोकों में चले जाओ ।

दुर्योधन उवाच

यदर्थं राज्यमिच्छामि कुरूणां कुरुनन्दन ।
त इमे निहताः सर्वे भ्रातरो मे जनेश्वर ।।२९।।
क्षीणरत्नां च पृथिवीं हतक्षत्रियपुङ्गवाम् ।
नाभ्युत्सहाम्यहं भोक्तुं विधवामिव योषितम् ।।३०।।

दुर्योधन बोला—कुरुनन्दन जनेश्वर ! मैं जिनके लिए कौरवों का राज्य चाहता था, वे मेरे सभी भाई मारे जा चुके हैं । भूमण्डल के सभी क्षत्रिय शिरो-

मणियों का संहार हो गया है। यहाँ के सभी रत्न नष्ट हो गये हैं, अतः विधवा स्त्री के समान श्रीहीन हुई इस पृथिवी का उपभोग करने के लिए मेरे मन में तनिक भी उत्साह नहीं है।

अद्यापि त्वहमाशंसे त्वां विजेतुं युधिष्ठिर।
भङ्क्त्वा पाञ्चालपाण्डूनामुत्साहं भरतर्षभ ॥३१॥

भरतभूषण युधिष्ठिर! मैं आज भी पाञ्चालों और पाण्डवों का उत्साह भङ्ग करके तुम्हें जीतने का हौसला रखता हूँ।

न त्विदानीमहं मन्ये कार्यं युद्धेन कर्हिचित्।
द्रोणे कर्णे च संशान्ते निहते च पितामहे ॥३२॥

परन्तु जब द्रोण और कर्ण शान्त हो गये और भीष्म पितामह भी मार डाले गये तो अब मेरी सम्मति में इस युद्ध की कुछ भी आवश्यकता नहीं रही।

अस्त्विदानीमियं राजन् केवला पृथिवी तव।
असहायो हि को राजा राज्यमिच्छेत्प्रशासितुम् ॥३३॥

राजन्! अब यह सूनी पृथिवी तुम्हारी ही रहे। सहायकों से रहित होकर कौन राजा राज्य-शासन की इच्छा करेगा?

सुहृदस्तादृशान् हित्वा पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄनपि।
भवद्भिश्च हृते राज्ये को नु जीवेत मादृशः ॥३४॥

अपने हितैषी सुहृदों, पुत्रों, भाइयों और पिताओं को छोड़कर तथा तुम लोगों के द्वारा राज्य का अपहरण हो जाने पर मेरे-जैसा कौन पुरुष जीवित रहेगा?

अहं वनं गमिष्यामि ह्यजिनैः प्रतिवासितः।
रतिर्हि नास्ति मे राज्ये हतपक्षस्य भारत ॥३५॥

भरतभूषण! मैं मृगचर्म धारण करके वन में चला जाऊँगा। अपने पक्ष के लोगों के मारे जाने से अब इस राज्य के प्रति मेरा कोई लगाव नहीं है।

हतबान्धवभूयिष्ठा हताश्वा हतकुञ्जरा।
एषा ते पृथिवी राजन् भुङ्क्ष्वैनां विगतज्वरः ॥३६॥

राजन्! यह पृथिवी, जहाँ मेरे अधिक-से-अधिक भाई-बन्धु, घोड़े और हाथी मारे गये हैं, अब तुम्हारे ही अधिकार में रहे। तुम निश्चिन्त होकर इसका उपभोग करो।

युधिष्ठिर उवाच

आर्तप्रलापान्मा तात सलिलस्थः प्रभाषिथाः।
नैतन्मनसि मे राजन् वाशितं शकुनेरिव ॥३७॥

युधिष्ठिर ने कहा—प्रजेश्वर! तुम जल में स्थित होकर दुःखी मनुष्यों के समान प्रलाप मत करो। तात! चिड़ियों के चहचहाने के समान तुम्हारी यह बात मेरे मन में कोई अर्थ नहीं रखती।

यदि वापि समर्थः स्यास्त्वं दानाय सुयोधन।
नाहमिच्छेयमवनिं त्वया दत्तां प्रशासितुम् ॥३८॥

सुयोधन! यदि तुम इस पृथिवी को देने में समर्थ होते, तो भी मैं तुम्हारी दी हुई इस पृथिवी पर शासन करने की इच्छा नहीं रखता।

अधर्मेण न गृह्णीयां त्वया दत्तां महीमिमाम्।
न हि धर्मः स्मृतो राजन् क्षत्रियस्य प्रतिग्रहः ॥३९॥

राजन्! तुम्हारी दी हुई इस पृथिवी को मैं अधर्मपूर्वक नहीं ले सकता, क्षत्रिय के लिए दान लेना धर्म नहीं बताया गया है।

त्वया दत्तां न चेच्छेयं पृथिवीमखिलामहम्।
त्वां तु युद्धे विनिर्जित्य भोक्तास्मि वसुधामिमाम् ॥४०

तुम्हारे देने पर इस सम्पूर्ण पृथिवी को भी मैं लेने की इच्छा नहीं रखता। तुम्हें युद्ध में परास्त करके ही मैं इस वसुधा का उपभोग करूँगा।

अनीश्वरश्च पृथिवीं कथं त्वं दातुमिच्छसि।
त्वयेयं पृथिवी राजन् किन्न दत्ता तदैव हि ॥४१॥
धर्मतो याचमानानां प्रशमार्थं कुलस्य नः।
सूच्यग्रं नात्यजः पूर्वं स कथं त्यजसि क्षितिम् ॥४२॥

अब तो तुम स्वयं ही इस पृथिवी के स्वामी नहीं रहे, फिर इसका दान कैसे करना चाहते हो? राजन्! जब हम लोग कुल में शान्ति बनाये रखने के लिए पहले धर्म के अनुसार अपना ही राज्य माँग रहे थे, उसी समय तुमने हमें यह पृथिवी क्यों नहीं दे दी? पहले तो तुम सूई की नोक के बराबर भी भूमि नहीं दे रहे थे, अब सम्पूर्ण पृथिवी को कैसे त्याग रहे हो?

त्वं तु केवलमौर्ख्येण विमूढो नावबुद्धयसे।
पृथिवीं दातुकामोऽपि जीवितेन विमोक्ष्यसे ॥४३॥

तुम तो केवल मूर्खतावश विवेक खो बैठे हो,

अतः यह नहीं समझते कि भूमि देने की इच्छा करनेवाले तुम्हें अपने जीवन से हाथ धोना पड़ेगा।

आवयोर्जीवितो राजन्मयि च त्वयि च ध्रुवम्।
संशयः सर्वभूतानां विजये नौ भविष्यति ॥४४॥

राजन्! मेरे और तुम्हारे दोनों के जीते-जी हमारी विजय के विषय में समस्त प्राणियों को सन्देह बना रहेगा।

जीवितं तव दुष्प्रज्ञ मयि सम्प्रति वर्तते।
जीवयेयमहं कामं न तु त्वं जीवितुं क्षमः ॥४५॥

दुर्मते! इस समय तुम्हारा जीवन मेरे हाथ में है। मैं इच्छानुसार तुम्हें जीवनदान दे सकता हूँ, परन्तु तुम स्वेच्छापूर्वक जीवित रहने में समर्थ नहीं हो।

दहने हि कृतो यत्नस्त्वयास्मासु विशेषतः।
आशीविषैर्विषैश्चापि जले चापि प्रवेशनैः ॥४६॥
त्वया विनिकृता राजन् राज्यस्य हरणेन च।
अप्रियाणां च वचनैर्द्रौपद्याः कर्षणेन च ॥४७॥
एतस्मात् कारणात् पाप जीवितं ते न विद्यते।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ युध्यस्व युद्धे श्रेयो भविष्यति ॥४८॥

तुमने हम लोगों को जला डालने के लिए विशेष यत्न किया था। भीम को विषधर सर्पों से डसवाया, विष खिलाकर उन्हें जल में फेंका, हमारा राज्य छीनकर हमें अपने कपटजाल का शिकार बनाया, द्रौपदी को कटु-वचन सुनाये और उसके केश खींचे। पापी! इन सब कारणों से तुम्हारा जीवन नष्ट-सा हो चुका है। उठो-उठो, अब तुम युद्ध करो, इसी से तुम्हारा कल्याण होगा।

इति महाभारते शल्यपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

दुर्योधन का किसी एक पाण्डव के साथ गदा-युद्ध के लिए तैयार होना

सञ्जय उवाच

तर्ज्यमानस्तदा राजन्नुदकस्थस्तवात्मजः।
मनश्चकार युद्धाय राजानं चाभ्यभाषत ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! युधिष्ठिर ने जब दुर्योधन को इस प्रकार फटकारा, तब जल में स्थित आपके पुत्र ने मन-ही-मन युद्ध का निश्चय किया और राजा युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा—

यूयं ससुहृदः पार्थाः सर्वे सरथवाहनाः।
अहमेकः परिद्यूनो विरथो हतवाहनः ॥२॥

"तुम सभी पाण्डव अपने हितैषी मित्रों से युक्त हो। तुम्हारे पास रथ और वाहन भी विद्यमान हैं। मैं अकेला, थका-माँदा, रथहीन और वाहन-शून्य हूँ।

आत्तशस्त्रै रथोपेतैर्बहुभिः परिवारितः।
कथमेकः पदातिः सन्नशस्त्रो योद्धुमुत्सहे ॥३॥

"तुम्हारी संख्या बहुत है। तुमने रथ पर बैठकर नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लेकर मुझे घेर रखा है। फिर तुम्हारे साथ मैं अकेला, पैदल और अस्त्र-शस्त्रों से रहित होकर कैसे युद्ध कर सकता हूँ?

एकैकेन तु मां यूयं योधयध्वं युधिष्ठिर।
न ह्येको बहुभिर्वीरैर्न्याय्यो योधयितुं युधि ॥४॥

"युधिष्ठिर! तुम लोग एक-एक करके मुझसे युद्ध करो। युद्ध में बहुत-से वीरों के साथ किसी एक को लड़ने के लिए विवश करना न्यायोचित नहीं है।

विशेषतो विकवचः श्रान्तश्चापत्समाश्रितः।
भृशं विक्षतगात्रश्च श्रान्तवाहनसैनिकः ॥५॥

"विशेषतः उस अवस्था में जिसके शरीर पर कवच न हो, जो थका-माँदा, आपत्ति में पड़ा और अत्यन्त घायल हो एवं जिसके वाहन और सैनिक भी थक गये हों, उसे युद्ध के लिए विवश करना न्यायसंगत नहीं है।

न मे त्वत्तो भयं राजन् न च पार्थाद् वृकोदरात्।
फाल्गुनाद् वासुदेवाद् वा पाञ्चालेभ्योऽथवा पुनः ॥६॥
यमाभ्यां युयुधानाद्वा ये चान्ये तव सैनिकाः।
एकः सर्वानहं क्रुद्धो वारयिष्ये युधि स्थितः ॥७॥

"राजन्! मुझे न तो तुमसे, न कुन्ती के पुत्र भीमसेन से, न अर्जुन से, न श्रीकृष्ण से अथवा

पाञ्चालों से ही कोई भय है। नकुल-सहदेव, सात्यकि तथा अन्य जो-जो तुम्हारे सैनिक हैं, उनसे भी मैं नहीं डरता। युद्ध में कुपित होकर खड़ा होने पर मैं अकेला ही तुम सब लोगों को आगे बढ़ने से रोक दूँगा।

धर्ममूला सतां कीर्तिर्मनुष्याणां जनाधिप।
धर्मं चैवेह कीर्तिं च पालयन् प्रब्रवीम्यहम् ॥८॥

"प्रजेश्वर! साधुपुरुषों की कीर्ति का मूल कारण धर्म ही है। मैं यहाँ उस धर्म और कीर्ति का पालन करता हुआ ही यह बात कह रहा हूँ।

अद्य वः सरथान् साश्वानशस्त्रो विरथोऽपि सन्।
अहमुत्थाय सर्वान् वै प्रतियोत्स्यामि संयुगे ॥९॥

"आज मैं उठकर अस्त्र-शस्त्र और रथ से हीन होकर भी घोड़ों और रथ पर चढ़कर आये हुए तुम सब लोगों के साथ रणभूमि में युद्ध करूँगा।

आनृण्यमद्य गच्छामि हत्वा त्वां भ्रातृभिः सह।
एतावदुक्त्वा वचनं विरराम जनाधिपः ॥१०॥

"राजन्! आज मैं भाइयोंसहित तुम्हारा वध करके [यशस्वी क्षत्रियों के ऋण से] उऋण हो जाऊँगा।" राजा दुर्योधन इतना कहकर चुप हो गया।

युधिष्ठिर उवाच

दिष्ट्या त्वमपि जानीषे क्षत्रधर्मं सुयोधन।
दिष्ट्या ते वर्तते बुद्धिर्युद्धायैव महाभुज ॥११॥
दिष्ट्या शूरोऽसि कौरव्य दिष्ट्या जानासि संगरम्।
यस्त्वमेको हि नः सर्वान् संगरे योद्धुमिच्छसि ॥१२॥
एक एकेन संगम्य यत्ते सम्मतमायुधम्।
तत् त्वमादाय युध्यस्व प्रेक्षकास्ते वयं स्थिताः ॥१३॥

युधिष्ठिर बोले—सुयोधन! सौभाग्य की बात है कि तुम भी धर्म को जानते हो। महाबाहो! यह जानकर प्रसन्नता हुई कि अभी तुम्हारा विचार युद्ध करने का ही है। कुरुनन्दन! तुम शूरवीर हो और युद्ध करना जानते हो—यह हर्ष और सौभाग्य की बात है। तुम युद्धभूमि में अकेले ही एक-एक के साथ भिड़कर हम सब लोगों से युद्ध करना चाहते हो तो ऐसा ही सही। जो हथियार तुम्हें पसन्द हो, उसी को लेकर हम लोगों में से एक-एक के साथ युद्ध करो। हम सब लोग दर्शक बनकर खड़े रहेंगे।

इष्टं च ते कामं वीर भूयो ददाम्यहम्।
हत्वैकं भवतो राज्यं हतो वा स्वर्गमाप्नुहि ॥१४॥

वीर! मैं स्वयं ही पुनः तुम्हें यह अभीष्ट वर देता हूँ—"हममें से एक का भी वध कर देने पर सारा राज्य तुम्हारा हो जाएगा, अथवा यदि तुम्हीं मारे गये तो स्वर्गलोक प्राप्त करोगे।"

दुर्योधन उवाच

एकश्चेद् योद्धुमाक्रन्दे शूरोऽद्य मम दीयताम्।
आयुधानामियं चापि वृता त्वत्सम्मते गदा ॥१५॥

दुर्योधन बोला—राजन्! यदि ऐसी बात है तो इस महायुद्ध में मेरे साथ लड़ने के लिए आज किसी भी एक शूरवीर को दे दो और तुम्हारी सम्मति के अनुसार हथियारों में से मैंने एकमात्र इस गदा का ही वरण किया है।

हन्तैकं भवतामेकः शक्यं मां योऽभिमन्यते।
पदातिर्गदया संख्ये स युध्यतु मया सह ॥१६॥

हन्त! तुममें से कोई भी एक वीर जो मुझ अकेले को जीत सकने का अभिमान रखता हो, वह युद्धभूमि में पैदल ही गदा द्वारा मेरे साथ युद्ध करे।

वृत्तानि रथयुद्धानि विचित्राणि पदे पदे।
इदमेकं गदायुद्धं भवत्वद्याद्भुतं महत् ॥१७॥

रथ के विचित्र युद्ध तो पग-पग पर हुए हैं, आज यह एक अत्यन्त अद्भुत गदायुद्ध भी हो जाए।

गदया त्वां महाबाहो विजेष्यामि सहानुजम्।
न हि मे सम्भ्रमो जातु शक्रादपि युधिष्ठिर ॥१८॥

महाबाहो! मैं गदा द्वारा भाइयोंसहित तुम्हें जीत लूँगा। युधिष्ठिर! मुझे युद्ध करने में इन्द्र से भी कभी घबराहट नहीं होती।

युधिष्ठिर उवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गान्धारे मां योधय सुयोधन।
एक एकेन संगम्य संयुगे गदया बली ॥१९॥
पुरुषो भव गान्धारे युध्यस्व सुसमाहितः।
अद्य ते जीवितं नास्ति यद्यपीन्द्रोऽपि तवाश्रयः ॥२०॥

युधिष्ठिर बोले गान्धारीनन्दन! सुयोधन! उठो; उठो और मेरे साथ युद्ध करो। बलवान् तो तुम हो ही। युद्ध में गदा के द्वारा अकेले किसी एक वीर के साथ भिड़कर अपने पुरुषत्व का परिचय

दो। एकाग्रचित्त होकर युद्ध करो। यदि इन्द्र भी तुम्हारे आश्रयदाता हो जाएँ तो भी आज तुम्हारे प्राण नहीं बच सकते।

सञ्जय उवाच

तथासौ वाक्प्रतोदेन तुद्यमानः पुनः पुनः।
वचो न ममृषे राजन्नुत्तमाश्वः कशामिव ॥२१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! जैसे उत्तम घोड़ा कोड़े की मार नहीं सह सकता, वैसे ही वचनरूपी चाबुक से बारम्बार पीड़ित किया जाता हुआ दुर्योधन युधिष्ठिर की बात को सहन न कर सका।

संक्षोभ्य सलिलं वेगाद् गदामादाय वीर्यवान्।
उदतिष्ठत पुत्रस्ते प्रतपन् रश्मिवानिव ॥२२॥

आपका वह पराक्रमी वीर पुत्र बड़े वेग से गदा लेकर पानी को चीरता हुआ प्रतापी सूर्य के समान ऊपर उठा [बाहर निकला]।

तमुत्तीर्णं महाबाहुं गदाहस्तमरिन्दमम्।
मेनिरे सर्वभूतानि दण्डपाणिमिवान्तकम् ॥२३॥

शत्रुओं का दमन करनेवाले महाबाहु दुर्योधन को हाथ में गदा लिये जल से निकला हुआ देख समस्त प्राणी ऐसा मानने लगे, मानो दण्डधारी यमराज प्रकट हो गये हों।

तमुत्तीर्णं तु सम्प्रेक्ष्य समहृष्यन्त सर्वशः।
पाञ्चालाः पाण्डवेयाश्च तेऽन्योन्यस्य तलान्ददुः ॥२४॥

उसे जल से बाहर निकला देख समस्त पाञ्चाल और पाण्डव हर्ष से खिल उठे और एक-दूसरे से हस्तालिंगन करने [हाथ मिलाने] लगे।

अवहासं तु तं मत्वा पुत्रो दुर्योधनस्तव।
उद्वृत्य नयने क्रुद्धः पाण्डवानब्रवीद्वचः ॥२५॥

राजन्! उनके इस हाथ मिलाने को दुर्योधन ने अपना उपहास समझा, अतः उसने क्रोधपूर्वक आँखें घुमाकर पाण्डवों से इस प्रकार कहा—

दुर्योधन उवाच

फलमस्यावहासस्य प्रतिभोक्ष्यथ पाण्डवाः।
गमिष्यथ हताः सद्यः सपाञ्चाला यमक्षयम् ॥२६॥

दुर्योधन बोला—पाञ्चालो और पाण्डवो! इस उपहास का फल तुम्हें अभी भोगना पड़ेगा, मेरे हाथ से मारे जाकर तुम तत्काल यमलोक में पहुँच जाओगे।

एकैकेन च मां यूयमासीदत युधिष्ठिर।
न ह्येको बहुभिर्न्याय्यो वीरो योधयितुं युधि ॥२७॥

युधिष्ठिर! तुम लोग एक-एक करके मेरे साथ युद्ध के लिए आते जाओ। युद्धभूमि में किसी एक वीर को बहुसंख्यक वीरों के साथ युद्ध के लिए विवश करना न्यायसंगत नहीं है।

युधिष्ठिर उवाच

यद्येकस्तु न हन्तव्यो बहुभिर्धर्म एव तु।
तदाभिमन्युं बहवो निजघ्नुस्त्वन्मते कथम् ॥२८॥

युधिष्ठिर बोले—'बहुत-से योद्धा मिलकर किसी एक वीर को न मारें' यदि यही धर्म है तो तुम्हारी सम्मति से अनेक महारथियों ने अभिमन्यु का वध कैसे किया?

सर्वो विमृशते जन्तुः कृच्छ्रस्थो धर्मदर्शनम्।
पदस्थः पिहितं द्वारं परलोकस्य पश्यति ॥२९॥

प्रायः सभी प्राणी जब स्वयं संकट में पड़ जाते हैं तब अपनी रक्षा के लिए धर्मशास्त्र की दुहाई देने लगते हैं और जब अपने उच्च-पद पर प्रतिष्ठित होते हैं, उस समय उन्हें परलोक का द्वार बन्द दिखाई देता है।

आमुञ्च कवचं वीर मूर्धजान् यमयस्व च।
यच्चान्यदपि ते नास्ति तदप्यादत्स्व भारत ॥३०॥

वीर भरतनन्दन! तुम कवच धारण कर लो, अपने केशों को अच्छी प्रकार बाँध लो तथा युद्ध की और कोई आवश्यक सामग्री जो तुम्हारे पास न हो, वह भी ले लो।

इममेकं च ते कामं वीर भूयो ददाम्यहम्।
पञ्चानां पाण्डवानां हि येन त्वं योद्धुमिच्छसि ॥३१॥
तं हत्वा वै भवान् राजा हतो वा स्वर्गमाप्नुहि।
ऋते च जीविताद्वीर युद्धे किं कर्म ते प्रियम् ॥३२॥

वीर! मैं पुनः तुम्हें एक अभीष्ट वर देता हूँ—'पाँचों पाण्डवों में से तुम जिसके साथ युद्ध करना चाहो, उस एक का ही वध कर देने पर तुम राजा हो सकते हो अथवा यदि स्वयं मारे गये तो स्वर्गलोक प्राप्त कर लोगे। शूरवीर! बताओ, युद्ध में प्राणों की रक्षा के सिवा तुम्हारा और कौन-सा प्रिय कार्य हम कर सकते हैं?'

सञ्जय उवाच

ततस्तव सुतो राजन् वर्म जग्राह काञ्चनम् ।
विचित्रं च शिरस्त्राणं जाम्बुनदपरिष्कृतम् ।।३३।।

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर आपके पुत्र ने स्वर्णमय कवच और स्वर्ण-जटित विचित्र शिरस्त्राण धारण किया ।

संनद्धः सगदो राजन् सज्जः संग्राममूर्धनि ।
अब्रवीत् पाण्डवान् सर्वान् पुत्रो दुर्योधनस्तव ।।३४।।

राजन् ! युद्ध के मुहाने पर सुसज्जित हो कवच बाँधे और गदा हाथ में लिये आपके पुत्र दुर्योधन ने समस्त पाण्डवों से कहा—

भ्रातॄणां भवतामेको युध्यतां गदया मया ।
सहदेवेन वा योत्स्ये भीमेन नकुलेन वा ।
अथवा फाल्गुनेनाद्य त्वया वा भरतर्षभ ।।३५।।

"भरतभूषण ! तुम्हारे भाइयों में से कोई एक मेरे साथ गदा द्वारा युद्ध करे । मैं सहदेव, नकुल, भीमसेन, अर्जुन अथवा स्वयं तुमसे भी युद्ध कर सकता हूँ ।

गदायुद्धे न मे कश्चित् सदृशोऽस्तीति चिन्तये ।
गदया वो हनिष्यामि सर्वानेव समागतान् ।।३६।।

"मैं ऐसा समझता हूँ कि 'गदायुद्ध में मेरी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ।' गदा के द्वारा सामने आने पर मैं तुम सभी लोगों को मार डालूँगा ।

न युक्तमात्मना वक्तुमेवं गर्वोद्धतं वचः ।
अथवा सफलं ह्येतत् करिष्ये भवतां पुरः ।।३७।।

"मुझे स्वयं ही अपने विषय में ऐसे गर्वीले वचन नहीं बोलने चाहिएँ तथापि कहना पड़ा है, अथवा कहने की क्या आवश्यकता ? मैं तुम्हारे सामने ही यह सब सत्य कर दिखाऊँगा ।

अस्मिन्मुहूर्ते सत्यं वा मिथ्या वैतद् भविष्यति ।
गृह्णातु च गदां यो वै योत्स्यतेऽद्य मया सह ।।३८।।

"मेरा वचन सत्य है या मिथ्या, यह इसी मुहूर्त में स्पष्ट हो जाएगा । आज मेरे साथ युद्ध करने को जो भी उद्यत हो, वह गदा उठाए ।"

इति महाभारते शल्यपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ।।१५।।

षोडशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण का युधिष्ठिर को फटकारना, भीम की प्रशंसा, भीम और दुर्योधन में वाग्युद्ध

सञ्जय उवाच

एवं दुर्योधने राजन् गर्जमाने मुहुर्मुहुः ।
युधिष्ठिरस्य संक्रुद्धो वासुदेवोऽब्रवीदिदम् ।।१।।

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! जब ऐसा कहकर दुर्योधन बारम्बार गर्जना करने लगा, उस समय श्रीकृष्ण अत्यन्त कुपित होकर युधिष्ठिर से बोले—

यदि नाम ह्ययं युद्धे वरयेत् त्वां युधिष्ठिर ।
अर्जुनं नकुलं चैव सहदेवमथापि वा ।।२।।

"युधिष्ठिर ! यदि यह दुर्योधन युद्ध में तुमको, अर्जुन को अथवा नकुल या सहदेव को ही युद्ध के लिए वरण कर ले, तब क्या होगा ?

किमिदं साहसं राजंस्त्वया व्याहृतमीदृशम् ।
एकमेव निहत्याजौ भव राजा कुरुष्विति ।।३।।

"राजन् ! आपने ऐसी दुःसाहसपूर्ण बात क्यों कह डाली कि 'तुम हममें से एक को ही मारकर कौरवों के राजा हो जाओ ।'

एतेन हि कृता योग्या वर्षाणीह त्रयोदश ।
आयसे पुरुषे राजन् भीमसेनजिघांसया ।।४।।

"राजन् ! इसने भीमसेन का वध करने की इच्छा से उनकी लोहे की मूर्ति के साथ तेरह वर्ष तक गदायुद्ध का अभ्यास किया है ।

नान्यमस्यानुपश्यामि प्रतियोद्धारमाहवे ।
ऋते वृकोदरात् पार्थात् स च नातिकृतश्रमः ।।५।।

"मैं कुन्तीकुमार भीमसेन के सिवा, दूसरे किसी को ऐसा नहीं समझता, जो गदायुद्ध में दुर्योधन का सामना कर सके, परन्तु भीमसेन ने भी अधिक परिश्रम नहीं किया है ।

तदिदं द्यूतमारब्धं पुनरेव यथा पुरा ।
विषमं शकुनेश्चैव तव चैव विशाम्पते ।।६।।

"इस समय आपने पहले के समान ही पुनः यह जुए का खेल आरम्भ कर दिया है । नरेश्वर ! आपका यह जुआ शकुनि के जुए से कहीं भयंकर है ।

बली भीमः समर्थश्च कृती राजा सुयोधनः ।
बलवान् वा कृती वेति कृती राजन् विशिष्यते ।।७।।

"राजन् ! भीम बलवान् और समर्थ है परन्तु राजा दुर्योधन ने अभ्यास अधिक किया है। एक ओर बलवान् हो और दूसरी ओर युद्ध का अभ्यासी, तो उनमें अभ्यासी बड़ा माना जाता है।

सोऽयं राजँस्त्वया शत्रुः समे पथि निवेशितः ।
न्यस्तश्चात्मा सुविषमे कृच्छ्रमापादिता वयम् ।।८।।

"महाराज ! आपने अपने शत्रु को समान धरातल पर ला दिया है। इस प्रकार अपने-आपको तो भारी संकट में फँसाया ही है, हम लोगों को भी भारी कठिनाई में डाल दिया है।

को नु सर्वान् विनिर्जित्य शत्रूनेकेन वैरिणा ।
कृच्छ्रप्राप्तेन च तथा हारयेद् राज्यमागतम् ।।९।।

"भला ऐसा कौन मनुष्य होगा, जो सब शत्रुओं को जीत लेने के पश्चात् जब एक ही शत्रु शेष रह जाए और वह भी संकट में पड़ा हो तब उसके साथ अपने हाथ में आये हुए राज्य को दाँव पर लगाकर हार जाए ?

न हि पश्यामि तं लोके योऽद्य दुर्योधनं रणे ।
गदाहस्तं विजेतुं वै शक्तः स्यादमरोऽपि हि ।।१०।।

"मैं संसार में किसी भी शूरवीर को, चाहे वह देवता ही क्यों न हो, ऐसा नहीं देखता, जो आज रणभूमि में गदाधारी दुर्योधन को परास्त करने में समर्थ हो।

न त्वं भीमो न नकुलः सहदेवोऽथ फाल्गुनः ।
जेतुं न्यायेन शक्तो वै कृती राजा सुयोधनः ।।११।।

"आप, भीमसेन, नकुल, सहदेव अथवा अर्जुन—कोई भी न्यायपूर्वक युद्ध करके दुर्योधन पर विजय नहीं पा सकता, क्योंकि राजा दुर्योधन ने गदायुद्ध का अधिक अभ्यास किया है।

स कथं वदसि शत्रुं युध्यस्व गदयेति हि ।
एकं च नो निहत्याजौ भव राजेति भारत ।।१२।।

"भरतभूषण ! जब ऐसी दशा है, तब आपने अपने शत्रु से यह कैसे कह दिया कि 'तुम गदा द्वारा युद्ध करो और हममें से किसी एक को मारकर राजा हो जाओ ?'

वृकोदरं समासाद्य संशयो वै जये हि नः ।
न्यायतो युध्यमानानां कृती ह्येष महाबलः ।।१३।।

"भीमसेन पर युद्ध का भार रखा जाए तो भी हमें विजय मिलने में सन्देह है, क्योंकि न्यायपूर्वक युद्ध करनेवाले योद्धाओं में महाबली सुयोधन का अभ्यास सबसे अधिक है।

एकं वास्मान् निहत्य त्वं भव राजेति वै पुनः ।
नूनं न राज्यभागेषा पाण्डोः कुन्त्याश्च सन्ततिः ।
अत्यन्तवनवासाय सृष्टा भैक्ष्याय वा पुनः ।।१४

"फिर भी आपने बारम्बार कहा है कि 'तुम हम लोगों में से एक को भी मारकर राजा हो जाओ।' निश्चय ही राजा पाण्डु और कुन्तीदेवी की सन्तान राज्य भोगने की अधिकारिणी नहीं है। विधाता ने इसे अनन्तकाल तक बनवास भोगने अथवा भीख माँगने के लिए ही पैदा किया है।"

भीमसेन उवाच

मधुसूदन मा कार्षीर्विषादं यदुनन्दन ।
अद्य पारं गमिष्यामि वैरस्य भृशदुर्गमम् ।।१५।।

भीम बोले—मधुसूदन ! आप विषाद न करें। यदुनन्दन ! मैं आज वैर की उस अन्तिम सीमा पर पहुँच जाऊँगा, जहाँ जाना दूसरों के लिए अत्यन्त कठिन है।

अहं सुयोधनं संख्ये हनिष्यामि न संशयः ।
विजयो वै ध्रुवः कृष्ण धर्मराजस्य दृश्यते ।।१६।।

श्रीकृष्ण ! इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि मैं युद्ध में सुयोधन को मार डालूँगा। मुझे तो धर्मराज की निश्चय ही विजय दिखाई देती है।

अध्यर्धेन गुणेनेयं गदा गुरुतरी मम ।
अहमेनं हि गदया संयुगे योद्धुमुत्सहे ।।१७।।

मेरी यह गदा दुर्योधन की गदा से डेढ़गुणी भारी है। मैं रणभूमि में इस गदा द्वारा इससे भिड़ने का उत्साह रखता हूँ।

सञ्जय उवाच

तथा सम्भाषमाणं तु वासुदेवो वृकोदरम् ।
हृष्टः सम्पूजयामास वचनं चेदमब्रवीत् ।।१८।।

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! भीमसेन ने जब ऐसी बात कही, तब श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न होकर उनकी

प्रशंसा करने लगे और इस प्रकार बोले—

त्वामाश्रित्य महाबाहो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
निहतारिः स्वकां दीप्तां श्रियं प्राप्तो न संशयः ॥१९॥
त्वया विनिहताः सर्वे धृतराष्ट्रसुता रणे।
हत्वा दुर्योधनं चापि प्रयच्छोर्वीं ससागराम् ॥२०॥

"महाबाहो ! इसमें सन्देह नहीं कि धर्मराज युधिष्ठिर ने तुम्हारा आश्रय लेकर ही शत्रुओं का नाश करके पुनः अपनी उज्ज्वल राज्यलक्ष्मी को प्राप्त कर लिया है। धृतराष्ट्र के सभी पुत्र तुम्हारे ही हाथ से युद्ध में मारे गये हैं। अब तुम दुर्योधन का भी वध करके समुद्रोंसहित यह सम्पूर्ण वसुन्धरा धर्मराज युधिष्ठिर को समर्पित कर दो।

त्वां च प्राप्य रणे पापो धार्तराष्ट्रो विनङ्क्ष्यति।
त्वमस्य सक्थिनी भङ्क्त्वा प्रतिज्ञां पालयिष्यसि ॥२१

"अवश्य ही रणभूमि में तुमसे टक्कर लेकर पापी दुर्योधन नष्ट हो जाएगा और तुम उसकी दोनों जाँघें तोड़कर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करोगे।

यत्नेन तु सदा पार्थ योद्धव्यो धृतराष्ट्रजः।
कृती च बलवाँश्चैव युद्धशौण्डश्च नित्यदा ॥२२॥

"किन्तु पार्थ ! तुम्हें दुर्योधन के साथ सदा प्रयत्नपूर्वक युद्ध करना चाहिए, क्योंकि वह अभ्यास-कुशल, बलवान् और युद्ध की कला में सदा चतुर है।"

ततो भीमबलो भीमो युधिष्ठिरमथाब्रवीत्।
सृञ्जयैः सह तिष्ठन्तं तपन्तमिव भास्करम् ॥२३॥

श्रीकृष्ण के वचनों को सुनकर भयंकर बलशाली भीमसेन ने सृंजयों के साथ खड़े हुए तपते हुए सूर्य के समान तेजस्वी युधिष्ठिर से कहा—

अहमेतेन संगम्य संयुगे योद्धुमुत्सहे।
न हि शक्तो रणे जेतुं मामेष पुरुषाधमः ॥२४॥

"भैया ! मैं रणाङ्गण में इस दुर्योधन के साथ भिड़कर लड़ने का उत्साह रखता हूँ। यह नराधम मुझे युद्ध में परास्त नहीं कर सकता।

अद्य क्रोधं विमोक्ष्यामि निहितं हृदये भृशम्।
सुयोधने धार्तराष्ट्रे खाण्डवेऽग्निमिवार्जुनः ॥२५॥

"मेरे हृदय में बहुत समय से जो क्रोध संचित है, उसे आज मैं धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन पर इसी प्रकार छोड़ूँगा, जैसे अर्जुन ने खाण्डव वन में अग्निदेव को छोड़ा था।

शल्यमद्योद्धरिष्यामि तव पाण्डव हृच्छयम्।
निहत्य गदया पापमद्य राजन् सुखी भव ॥२६॥

"पाण्डुनन्दन ! नरेश ! आज मैं गदा द्वारा पापी दुर्योधन का वध करके आपके हृदय का काँटा निकाल दूँगा, अतः आप सुखी होइए।

अद्य कीर्तिमयीं मालां प्रतिमोक्ष्ये तवानघ।
प्राणाञ्छ्रियं च राज्यं च मोक्ष्यतेऽद्य सुयोधनः ॥२७॥

"निष्पाप नरेश ! आज आपके गले में मैं कीर्ति-मयी माला पहनाऊँगा और आज यह दुर्योधन अपनी राज्यलक्ष्मी तथा प्राणों का परित्याग करेगा।

राजा च धृतराष्ट्रोऽद्य श्रुत्वा पुत्रं मया हतम्।
स्मरिष्यत्यशुभं कर्म यत् तच्छकुनिबुद्धिजम् ॥२८॥

"आज मेरे द्वारा अपने पुत्र को मारा गया सुनकर राजा धृतराष्ट्र शकुनि की सम्मति से किये हुए अपने अशुभ कर्मों को स्मरण करेंगे।"

इत्युक्त्वा भरतश्रेष्ठो गदामुद्यम्य वीर्यवान्।
उदतिष्ठत युद्धाय शक्रो वृत्रमिवाह्वयन् ॥२९॥

ऐसा कहकर भरतवंशी वीरों में श्रेष्ठ पराक्रमी भीमसेन गदा लेकर युद्ध के लिए उठ खड़े हुए तथा जैसे इन्द्र ने वृत्रासुर को ललकारा था, उसी प्रकार उन्होंने दुर्योधन का आह्वान किया।

तदाह्वानममृष्यन् वै तव पुत्रोऽतिवीर्यवान्।
प्रत्युपस्थित एवाशु मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥३०॥

हे राजेन्द्र ! उस समय आपका अत्यन्त पराक्रमी पुत्र दुर्योधन भीमसेन की उस ललकार को न सह सका। वह तुरन्त ही उनका सामना करने के लिए आ डटा, मानो एक मतवाला हाथी दूसरे मदोन्मत्त गजराज से भिड़ने को उद्यत हो गया हो।

समुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम्।
भीमसेनस्तदा राजन् दुर्योधनमथाब्रवीत् ॥३१॥

राजन् ! शृङ्गधारी कैलास पर्वत के समान गदा उठाये दुर्योधन को देखकर भीमसेन ने उससे कहा—

राज्ञापि धृतराष्ट्रेण त्वया चास्मासु यत्कृतम्।
स्मर तद् दुष्कृतं कर्म यद् भूतं वारणावते ॥३२॥

"दुर्योधन ! तूने तथा राजा धृतराष्ट्र ने भी हम

लोगों पर जो-जो अत्याचार किया था और वारणावतनगर में जो कुछ हुआ था, उन सारे पापकर्मों को स्मरण कर ले ।

द्रौपदी च परिक्लिष्टा सभामध्ये रजस्वला ।
द्यूते यद् विजितो राजा शकुनेर्बुद्धिनिश्चयात् ।।३३।।
यानि चान्यानि दुष्टात्मन् पापानि कृतवानसि ।
अनागःसु च पार्थेषु तस्य पश्य सुदुष्फलम् ।।३४।।

"दुरात्मन् ! तूने भरी सभा में रजस्वला द्रौपदी को क्लेश पहुँचाया, शकुनि की सलाह से राजा युधिष्ठिर को कपटपूर्वक जूए में हराया और निरपराध कुन्तीपुत्रों पर अन्य जो-जो पाप एवं अत्याचार किये थे, उन सबका महान् अशुभ फल आज तू अपनी आँखों से देख ले ।

अद्य तेऽहं रणे दर्पं सर्वं नाशयिता नृप ।
राज्याशां विपुलां राजन् पाण्डवेषु च दुष्कृतम् ।।३५।।

"नरेश्वर ! आज युद्धभूमि में तेरा सारा गर्व खर्व कर दूँगा । राजन् ! तेरे मन में राज्य पाने की जो बड़ी भारी अभिलाषा है, उसका और पाण्डवों पर तेरे द्वारा किये जानेवाले अत्याचारों का भी मैं अन्त कर डालूँगा ।"

दुर्योधन उवाच

किं कत्थितेन बहुना युद्ध्यस्वाद्य मया सह ।
अद्य तेऽहं विनेष्यामि युद्धश्रद्धां वृकोदर ।।३६।।

दुर्योधन बोला—वृकोदर ! बहुत बढ़-चढ़कर बातें बनाने से क्या लाभ ? आज मेरे साथ भिड़ तो सही । मैं युद्ध का तेरा सारा हौसला मिटा दूँगा ।

गदिनं कोऽद्य मां पाप हन्तुमुत्सहते रिपुः ।
न्यायतो युद्ध्यमानश्च देवेष्वपि पुरन्दरः ।।३७।।

ओ पापी ! आज कौन ऐसा शत्रु है जो मेरे हाथ में गदा रहते हुए भी मुझे मार सके ? न्यायपूर्वक युद्ध करते हुए देवताओं के राजा इन्द्र भी मुझे परास्त नहीं कर सकते ।

मा वृथा गर्ज कौन्तेय शारदाभ्रमिवाजलम् ।
दर्शयस्व बलं युद्धे यावत् तत् तेऽद्य विद्यते ।।३८।।

कुन्तीकुमार ! शरद् ऋतु के जलहीन मेघ की भाँति व्यर्थ की गर्जना न कर । तेरे पास जितना बल हो, वह सब आज युद्ध में प्रदर्शित कर ।

इति महाभारते शल्यपर्वणि षोडशोऽध्यायः ।।१६।।

सप्तदशोऽध्यायः

बलरामजी का आगमन और स्वागत तथा भीम और दुर्योधन का गदायुद्ध आरम्भ

सञ्जय उवाच

तस्मिन् युद्धे महाराज सुसंवृत्ते सुदारुणे ।
उपविष्टेषु सर्वेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।।१।।
ततस्तालध्वजो रामस्तयोर्युद्ध उपस्थिते ।
श्रुत्वा तच्छिष्ययो राजन्नाजगाम हलायुधः ।।२।।

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! जिस समय वह भयंकर युद्ध आरम्भ होने लगा और समस्त महात्मा पाण्डव उसे देखने के लिए बैठ गये, उस समय अपने दोनों शिष्यों के युद्ध होने का समाचार पाकर तालचिह्नित ध्वजवाले—हलधारी बलरामजी वहाँ आ पहुँचे ।

तं दृष्ट्वा परमप्रीताः पाण्डवाः सहकेशवाः ।
उपगम्योपसंगृह्य विधिवत् प्रत्यपूजयन् ।।३।।

उन्हें देखकर श्रीकृष्णसहित पाण्डव अति प्रसन्न हुए । उन्होंने निकट जाकर उनका चरणस्पर्श किया और विधिपूर्वक उनकी पूजा की, सम्मान किया ।

पूजयित्वा ततः पश्चादिदं वचनमब्रुवन् ।
शिष्ययोः कौशलं युद्धे पश्य रामेति पार्थिव ।।४।।

राजन् ! उनका सत्कार करने के पश्चात् उन लोगों ने इस प्रकार कहा—"बलरामजी ! अपने दोनों शिष्यों का युद्ध-कौशल देखिए ।"

अब्रवीच्च तदा रामो दृष्ट्वा कृष्णं सपाण्डवम् ।
दुर्योधनं च कौरव्यं गदापाणिमवस्थितम् ।।५।।

उस समय बलरामजी ने श्रीकृष्ण, पाण्डव तथा हाथ में गदा लेकर खड़े हुए कुरुवंशी दुर्योधन की ओर देखकर कहा—

चत्वारिंशदहान्यद्य द्वे च मे निःसृतस्य वै ।
पुष्येण सम्प्रयातोऽस्मि श्रवणे पुनरागतः ।
शिष्ययोर्वै गदायुद्धं द्रष्टुकामोऽस्मि माधव ॥६॥

"माधव ! तीर्थयात्रा के लिए निकले हुए आज मुझे बयालीस दिन हो गये । मैं पुष्य नक्षत्र में चला था और श्रवण नक्षत्र में पुनः वापस आया हूँ । मैं अपने दोनों शिष्यों का गदायुद्ध देखना चाहता हूँ ।"

ततोऽब्रवीद् धर्मसुतो रौहिणेयमरिन्दमम् ।
इदं भ्रात्रोर्महायुद्धं पश्य रामेति भारत ॥७॥

हे भारत ! उस समय धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने शत्रुदमन रोहिणीकुमार से कहा—"बलरामजी ! आप दोनों भाइयों का यह महान् युद्ध देखिए ।"

तेषां मध्ये महाबाहुः श्रीमान् केशवपूर्वजः ।
न्यविशत् परमप्रीतः पूज्यमानो महारथैः ॥८॥

उनके ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण के बड़े भाई महाबाहु श्रीबलरामजी उन महारथियों से सत्कृत होकर उनके बीच में अत्यन्त प्रसन्न होकर बैठे ।

ततस्तयोः संन्निपातस्तुमुलो लोमहर्षणः ।
आसीदन्तकरो राजन् वैरस्य तव पुत्रयोः ॥९॥

राजन् ! तत्पश्चात् आपके उन दोनों पुत्रों में वैर का अन्त कर देनेवाला भयंकर एवं रोमाञ्च-कारी संग्राम होने लगा ।

समापेततुरन्योन्यं शृङ्गिणौ वृषभाविव ।
महानिर्घातघोषश्च प्रहाराणामजायत ॥१०॥

वे दोनों बड़े-बड़े दो सींगोंवाले दो साँडों के समान एक-दूसरे से भिड़ गये । उनके प्रहारों की आवाज महान् वज्रपात के समान भयंकर जान पड़ती थी ।

अभवच्च तयोर्युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
उभावपि परिश्रान्तौ युध्यमानावरिन्दमौ ॥११॥

उन दोनों में भयंकर एवं रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा । लड़ते-लड़ते वे दोनों शत्रुदमन वीर बहुत थक गये ।

तौ मुहूर्तं समाश्वस्य पुनरेव परन्तपौ ।
सम्प्रहारयतां चित्रे सम्प्रगृह्य गदे शुभे ॥१२॥

फिर उन दोनों ने दो घड़ी तक विश्राम किया । तत्पश्चात् शत्रुसन्तापक वे दोनों योद्धा फिर विचित्र एवं सुन्दर गदाएं हाथ में लेकर एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे ।

प्रगृहीतगदौ दृष्ट्वा दुर्योधनवृकोदरौ ।
संशयः सर्वभूतानां विजये समपद्यत ॥१३॥

दुर्योधन और भीमसेन को पुनः गदा उठाये देख उनमें से किसी एक की विजय के सम्बन्ध में समस्त प्राणियों के हृदय में संशय उत्पन्न हो गया ।

समागम्य ततो भूयो भ्रातरौ बलिनां वरौ ।
अन्योन्यस्यान्तरप्रेप्सू प्रचक्रातेऽन्तरं प्रति ॥१४॥

उधर बलवानों में श्रेष्ठ उन दोनों भाइयों में जब पुनः युद्ध आरम्भ हुआ तब वे दोनों ही दोनों के चूकने का अवसर देखते हुए पैंतरे बदलने लगे ।

तौ परस्परमासाद्य यत्तावन्योन्यरक्षणे ।
मार्जाराविव भक्ष्यार्थे ततक्षाते मुहुर्मुहुः ॥१५॥

वे दोनों परस्पर भिड़कर एक-दूसरे से अपनी रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो रोटी के टुकड़ों के लिए लड़नेवाले दो बिलावों के समान बारम्बार आघात-प्रतिघात कर रहे थे ।

तौ दर्शयन्तौ समरे युद्धक्रीडां समन्ततः ।
गदाभ्यां सहसान्योन्यमाजघ्नतुररिन्दमौ ॥१६॥

रणभूमि में सब ओर युद्ध की क्रीड़ा का प्रदर्शन करते हुए उन दोनों शत्रुदमन वीरों ने सहसा अपनी गदाओं द्वारा एक-दूसरे पर प्रहार किया ।

तौ परस्परमासाद्य दंष्ट्राभ्यां द्विरदौ यथा ।
अशोभेतां महाराज शोणितेन परिप्लुतौ ॥१७॥

महाराज ! जैसे दो गजराज अपने दाँतों से परस्पर प्रहार करके लहूलुहान हो जाते हैं, वैसे ही वे दोनों एक-दूसरे पर चोट करके खून से लथपथ हो अद्भुत शोभा पाने लगे ।

दृष्ट्वा व्यवस्थितं भीमं तव पुत्रो महाबलः ।
चरंश्चित्रतरान् मार्गान् कौन्तेयमभिदुद्रुवे ॥१८॥

तत्पश्चात् विचित्र पैंतरे बदलते हुए आपके महाबली पुत्र ने कुन्तीकुमार भीमसेन को खड़ा देख उनपर सहसा आक्रमण किया ।

तस्य भीमो महावेगां जाम्बूनदपरिष्कृताम् ।
अतिक्रुद्धस्य क्रुद्धस्तु ताडयामास तां गदाम् ॥१९॥

यह देख क्रोध में भरे हुए भीमसेन ने अत्यन्त

कुपित हुए दुर्योधन की सुवर्णजटित उस महावेग-शालिनी गदा पर ही अपनी गदा से आघात किया।

तां नामृष्यत कौरव्यो गदां प्रतिहतां रणे।
मत्तो द्विप इव क्रुद्धः प्रतिकुञ्जरदर्शनात् ॥२०॥

जैसे क्रोध में भरा हुआ मतवाला हाथी अपने प्रतिद्वन्द्वी गजराज को देखकर सहन नहीं कर पाता, वैसे ही रणभूमि में अपनी गदा को प्रतिहत हुई देख कुरुवंशी दुर्योधन नहीं सह सका।

स सव्यं मण्डलं राजा उद्भ्राम्य कृतनिश्चयः।
आजघ्ने मूर्ध्नि कौन्तेयं गदया भीमवेगया ॥२१॥

तब राजा दुर्योधन ने अपने मन में दृढ़ निश्चय लेकर बायें मण्डल से चक्कर लगाते हुए अपनी भयंकर वेगशाली गदा से कुन्तीपुत्र भीमसेन के मस्तक पर प्रहार किया।

तया त्वभिहतो भीमः पुत्रेण तव पाण्डवः।
नाकम्पत महाराज तदद्भुतमिवाभवत् ॥२२॥

महाराज! आपके पुत्र के आघात से पीड़ित होने पर भी पाण्डुकुमार भीमसेन विचलित नहीं हुए। वह अद्भुत-सी बात हुई।

ततो गुरुतरां दीप्तां गदां हेमपरिष्कृताम्।
दुर्योधनाय व्यसृजद् भीमो भीमपराक्रमः ॥२३॥

तब भयंकर पराक्रमी भीमसेन ने दुर्योधन पर अपनी सुवर्णजटित तेजस्विनी एवं भारी गदा फेंकी।

तं प्रहारमसम्भ्रान्तो लाघवेन महाबलः।
मोघं दुर्योधनश्चक्रे तत्राभूद् विस्मयो महान् ॥२४॥

परन्तु महाबली दुर्योधन को इससे तनिक भी घबराहट नहीं हुई। उसने फुर्ती से इधर-उधर होकर उस प्रहार को व्यर्थ कर दिया। यह देख वहाँ सब लोगों को महान् आश्चर्य हुआ।

वञ्चयित्वा तदा भीमं गदया कुरुसत्तमः।
ताडयामास संक्रुद्धो वक्षोदेशे महाबलः ॥२५॥

फिर क्रोध में भरे हुए महाबली कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन ने भीमसेन को धोखा दे उनकी छाती में गदा मारी।

गदया निहतो भीमो मुह्यमानो महारणे।
नाभ्यमन्यत कर्तव्यं पुत्रेणाभ्याहतस्तव ॥२६॥

उस महायुद्ध में आपके पुत्र की गदा की चोट खाकर भीमसेन मूर्च्छित-से हो गये और एक क्षण तक उन्हें अपने कर्तव्य का ज्ञान तक नहीं रहा।

स तु तेन प्रहारेण मातङ्ग इव रोषितः।
हस्तिवद्धस्तिसंकाशमभिदुद्राव ते सुतम् ॥२७॥

उस प्रहार से भीमसेन मतवाले हाथी के समान कुपित हो उठे और जैसे एक हाथी दूसरे हाथी पर धावा करता है, उसी प्रकार उन्होंने आपके पुत्र पर आक्रमण किया।

उपसृत्य तु राजानं गदामोक्षविशारदः।
अताडयद् भीमसेनः पार्श्वे दुर्योधनं तदा ॥२८॥

राजन्! गदा का प्रहार करने में कुशल भीमसेन ने आपके पुत्र राजा दुर्योधन के पास पहुँचकर उसकी पसली में आघात किया।

स विह्वलः प्रहारेण जानुभ्यामगमन्महीम्।
उदतिष्ठत् ततो नादः सृञ्जयानां जगत्पते ॥२९॥

उस प्रहार से व्याकुल होकर आपका पुत्र घुटने टेककर पृथिवी पर बैठ गया। राजन्! उस समय सृञ्जयों ने बड़े जोर से हर्षध्वनि की।

तेषां तु निनदं श्रुत्वा सृञ्जयानां नरर्षभः।
अमर्षाद् भरतश्रेष्ठ पुत्रस्ते समकुप्यत ॥३०॥
उत्थाय तु महाबाहुर्महानाग इव श्वसन्।
दिधक्षन्निव नेत्राभ्यां भीमसेनमवैक्षत ॥३१॥

भरतश्रेष्ठ! उन सृञ्जयों का वह सिंहनाद सुनकर पुरुषप्रवर आपका महाबाहु पुत्र दुर्योधन अमर्ष से कुपित हो उठा और खड़ा हो सर्प के समान फुंकारने लगा। उसने दोनों आँखों से भीमसेन की ओर ऐसे देखा, मानो उन्हें भस्म कर डालना चाहता हो।

ततः स भरतश्रेष्ठो गदापाणिरभिद्रवत्।
प्रमथिष्यन्निव शिरो भीमसेनस्य संयुगे ॥३२॥

फिर भरतवंश का वह श्रेष्ठ वीर हाथ में गदा लेकर युद्धभूमि में भीमसेन का मस्तक कुचल डालने के लिए उनकी ओर दौड़ा।

स महात्मा महात्मानं भीमं भीमपराक्रमम्।
अताडयच्छंखदेशे न चचालाचलोपमः ॥३३॥

उस महामनस्वी वीर ने भयंकर पराक्रमी महामना भीम के ललाट पर गदा से आघात किया, परन्तु भीमसेन पर्वत के समान अविचल भाव से खड़े रहे, तनिक भी विचलित नहीं हुए।

इति महाभारते शल्यपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

भीमसेन का गदा से दुर्योधन की जाँघें तोड़कर उसे धराशायी करना

सञ्जय उवाच

समुदीर्णं ततो दृष्ट्वा संग्रामं कुरुमुख्ययोः ।
अथाब्रवीदर्जुनस्तु वासुदेवं यशस्विनम् ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! कुरुकुल के उन दोनों प्रमुख वीरों के उस संग्राम को उत्तरोत्तर बढ़ता देख अर्जुन ने यशस्वी श्रीकृष्ण से पूछा—

अनयोर्वीरयोर्युद्धे को ज्यायान् भवतो मतः ।
कस्य वा को गुणो भूयानेतद् वद जनार्दन ॥२॥

"जनार्दन ! आपकी सम्मति में इन दोनों वीरों में से इस रणभूमि में कौन बड़ा है अथवा किसमें कौन-सा गुण अधिक है ? यह मुझे बताइए ।"

वासुदेव उवाच

उपदेशोऽनयोस्तुल्यो भीमस्तु बलवत्तरः ।
कृती यत्नपरस्त्वेष धार्तराष्ट्रो वृकोदरात् ॥३॥

श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन ! इन दोनों को शिक्षा तो एक-सी मिली है, परन्तु भीमसेन बल में अधिक हैं और दुर्योधन उनकी अपेक्षा अभ्यास और प्रयत्न में बढ़ा-चढ़ा है ।

भीमसेनस्तु धर्मेण युद्धयमानो न जेष्यति ।
अन्यायेन तु युध्यन् वै हन्यादेव सुयोधनम् ॥४॥

यदि भीमसेन धर्मपूर्वक युद्ध करते रहे तो कदापि नहीं जीतेंगे और अन्यायपूर्वक युद्ध करने पर निश्चय ही दुर्योधन का वध कर डालेंगे ।

मायया निर्जिता देवैरसुरा इति नः श्रुतम् ।
तस्मान्मायामयं भीम आतिष्ठतु पराक्रमम् ॥५॥

हमने सुना है कि देवताओं ने पूर्वकाल में माया से ही असुरों पर विजय पाई थी, अतः भीमसेन भी यहाँ मायामय पराक्रम का ही आश्रय लें ।

प्रतिज्ञातं च भीमेन द्यूतकाले धनञ्जय ।
ऊरू भेत्स्यामि ते संख्ये गदयेति सुयोधनम् ॥६॥

धनञ्जय ! जुए के समय भीमसेन ने प्रतिज्ञा करते हुए दुर्योधन से यहा था कि 'मैं युद्ध में गदा मारकर तेरी दोनों जाँघें तोड़ डालूँगा ।'

सोऽयं प्रतिज्ञां तां चाऽपि पालयत्वरिकर्षणः ।
मायाविनं तु राजानं माययैव निकृन्ततु ॥७॥

अतः शत्रुसूदन भीमसेन अपनी उसी प्रतिज्ञा का पालन करें और मायावी राजा दुर्योधन को माया से ही नष्ट कर डालें ।

यद्येष बलमास्थाय न्यायेन प्रहरिष्यति ।
विषमस्थस्ततो राजा भविष्यति युधिष्ठिरः ॥८॥

यदि ये बल का सहारा लेकर न्यायपूर्वक प्रहार करेंगे, तब राजा युधिष्ठिर पुनः अत्यन्त विषम परिस्थिति में पड़ जाएँगे ।

पुनरेव तु वक्ष्यामि पाण्डवेय निबोध मे ।
धर्मराजापराधेन भयं नः पुनरागतम् ॥९॥

पाण्डुनन्दन ! मैं पुनः यह बात कहे देता हूँ, तुम उसे ध्यान देकर सुनो । धर्मराज के अपराध से हम लोगों पर फिर भय आ पहुँचा है ।

अबुद्धिरेषा महती धर्मराजस्य पाण्डव ।
यदेकविजये युद्धं पणितं घोरमीदृशम् ॥१०॥

पाण्डुनन्दन ! एक की ही हार-जीत से सबकी हार-जीत की शर्त लगाकर जो इन्होंने इस भयंकर युद्ध को जुए का दाँव बना डाला, यह धर्मराज की बड़ी भारी नासमझी है ।

सुयोधनः कृती वीर एकायनगतस्तथा ।
अपि चोशनसा गीतः श्रूयतेऽयं पुरातनः ॥११॥

दुर्योधन युद्ध की कला जानता है, वीर है और एक निश्चय पर डटा हुआ है । इस विषय में शुक्राचार्य का कहा हुआ यह प्राचीन श्लोक सुनने में आता है—

पुनरावर्तमानानां भग्नानां जीवितैषिणाम् ।
भेतव्यमरिशेषाणामेकायनगता हि ते ॥१२॥

"मरने से बचे हुए शत्रुगण यदि युद्ध में जान बचाने की इच्छा से भाग गये हों और पुनः युद्ध के लिए लौटने लगे हों तो उनसे डरते रहना चाहिए, क्योंकि वे एक निश्चय पर पहुँचे हुए होते हैं [उस समय वे मृत्यु से भी नहीं डरते] ।"

साहसोत्पतितानां च निराशानां च जीविते ।
न शक्यमग्रतः स्थातुं शक्रेणापि धनञ्जय ॥१३॥

धनञ्जय ! जो जीवन की आशा छोड़कर साहस-पूर्वक युद्ध में कूद पड़े हों, उनके समक्ष इन्द्र भी नहीं ठहर सकता ।

एनं चेन्न महाबाहुरन्यायेन हनिष्यति ।
एष वः कौरवो राजा धार्तराष्ट्रो भविष्यति ॥१४॥

यदि महाबाहु भीमसेन इसे अन्यायपूर्वक नहीं मारेंगे तो यह धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन ही आपका और समस्त कुरुकुल का राजा होगा ।

सञ्जय उवाच

धनञ्जयस्तु श्रुत्वैतत् केशवस्य महात्मनः ।
प्रेक्षतो भीमसेनस्य सव्यमूरुमताडयत् ॥१५॥

सञ्जय कहते हैं—महात्मा केशव का यह वचन सुनकर अर्जुन ने भीमसेन के देखते हुए अपनी बायीं जाँघ को ठोंका ।

गृह्य संज्ञां ततो भीमो गदया व्यचरद् रणे ।
मण्डलानि विचित्राणि यमकानीतराणि च ॥१६॥

इससे संकेत पाकर भीमसेन युद्धभूमि में गदा द्वारा यमक और अन्य प्रकार के विचित्र मण्डल दिखाते हुए विचरने लगे ।

तथैव तव पुत्रोऽपि गदामार्गविशारदः ।
व्यचरल्लघु चित्रं च भीमसेनजिघांसया ॥१७॥

इसी प्रकार गदायुद्ध की प्रणाली का विशेषज्ञ आपका पुत्र भी भीमसेन को मार डालने की इच्छा से शीघ्रतापूर्वक विचित्र पैंतरे लेता हुआ विचरने लगा ।

अन्योन्यं तौ जिघांसन्तौ प्रवीरौ पुरुषर्षभौ ।
युयुधाते गरुत्मन्तौ यथा नागामिषैषिणौ ॥१८॥

जैसे दो गरुड़ किसी सर्प के मांस को पाने की इच्छा से परस्पर लड़ रहे हों, वैसे ही एक-दूसरे के वध की इच्छावाले वे दोनों पुरुषप्रवर प्रमुख वीर भीमसेन तथा दुर्योधन आपस में जूझ रहे थे ।

जर्जरीकृतसर्वाङ्गौ रुधिरेणाभिसम्प्लुतौ ।
ददृशाते हिमवति पुष्पिताविव किंशुकौ ॥१९॥

उन दोनों के सारे अङ्ग गदा के प्रहार से जर्जर हो गये थे और वे दोनों ही रक्त से नहा उठे थे । उस अवस्था में वे दोनों हिमालय पर खिले हुए दो पलाश वृक्षों के समान दिखाई देते थे ।

तस्मिंस्तदा सम्प्रहारे दारुणे संकुले भृशम् ।
उभावपि परिश्रान्तौ युध्यमानावरिन्दमौ ॥२०॥

उस समय उस अत्यन्त भयंकर घमासान युद्ध में शत्रुओं का दमन करनेवाले वे दोनों वीर परस्पर युद्ध करते हुए बहुत थक गये ।

ततो मुहूर्तमाश्वस्य दुर्योधनमुपस्थितम् ।
वेगेनाभ्यपतद् राजन् भीमसेनः प्रतापवान् ॥२१॥

राजन् ! तत्पश्चात् दो घड़ी सुस्ताकर [वे पुनः युद्ध करने लगे उस समय] प्रतापी भीमसेन ने निकट आये हुए दुर्योधन पर बड़े वेग से आक्रमण किया ।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य संरब्धममितौजसम् ।
मोघमस्य प्रहारं तं चिकीर्षुर्भरतर्षभ ॥२२॥
अवस्थाने मतिं कृत्वा पुत्रस्तव महामनाः ।
इयेषोत्पतितुं राजञ्छलयिष्यन् वृकोदरम् ॥२३॥

भरतश्रेष्ठ ! अमित तेजस्वी भीमसेन को क्रोध-पूर्वक धावा करते देख आपके पुत्र ने उनके उस प्रहार को व्यर्थ कर देने की इच्छा की । राजन् ! भीमसेन को छलने के लिए आपके महामनस्वी पुत्र ने पहले वहाँ स्थिरतापूर्वक खड़े रहने का विचार करके फिर उछल-कर दूर हट जाने की इच्छा की ।

अबुद्ध्यद् भीमसेनस्तु राज्ञस्तस्य चिकीर्षितम् ।
अथास्य समभिद्रुत्य समुत्क्रुश्य च सिंहवत् ॥२४॥
सृत्या वञ्चयतो राजन् पुनरेवोत्पतिष्यतः ।
ऊरुभ्यां प्राहिणोद् राजन् गदां वेगेन पाण्डवः ॥२५॥

राजन् ! भीमसेन समझ गये कि राजा दुर्योधन क्या करना चाहता है, अतः पैंतरे से ऊपर उछलने की इच्छावाले दुर्योधन के ऊपर आक्रमण करके भीमसेन ने सिंह के समान गर्जना की और उसकी जाँघों पर बड़े वेग से गदा चला दी ।

सा वज्रनिष्पेषसमा प्रहिता भीमकर्मणा ।
ऊरू दुर्योधनस्याथ बभञ्ज प्रियदर्शनौ ॥२६॥

भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेन के द्वारा चलाई हुई वह गदा वज्रपात के समान गिरी और दुर्योधन की सुन्दर दिखाई देनेवाली जाँघों को उसने तोड़ दिया ।

स पपात नरव्याघ्रो वसुधामनुनादयन् ।
भग्नोरुर्भीमसेनेन पुत्रस्तव महीपते ॥२७॥

पृथिवीनाथ ! इस प्रकार जब भीमसेन ने उसकी जाँघें तोड़ डालीं, तब आपका पुत्र पुरुषसिंह दुर्योधन पृथिवी को प्रतिध्वनित करता हुआ गिर पड़ा ।

इति महाभारते शल्यपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्याय।

भीमसेन द्वारा दुर्योधन का तिरस्कार, युधिष्ठिर का भीमसेन को रोकना और दुर्योधन को सान्त्वना देते हुए खेद प्रकट करना

सञ्जय उवाच

ततो दुर्योधनं हत्वा भीमसेनः प्रतापवान् ।
पातितं कौरवेन्द्रं तमुपगम्येदमब्रवीत् ।।१।।

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! उस समय दुर्योधन का वध करके प्रतापी भीमसेन उस गिराये गये कौरव-राज के पास जाकर बोले—

गौर्गौरिति पुरा मन्द द्रौपदीमेकवाससाम् ।
यत् सभायां हसन्नस्मांस्तदा वदसि दुर्मते ।
तस्यावहासस्य फलमद्य त्वं समवाप्नुहि ।।२।।

"खोटी बुद्धिवाले मूर्ख ! तूने पहले मुझे 'बैल-बैल' कहकर और एकवस्त्रधारिणी रजस्वला द्रौपदी को सभा में लाकर जो हम लोगों का उपहास किया था और हम सबके प्रति कटुवचन सुनाये थे, उस उपहास का फल आज तू प्राप्त कर ले।"

एवमुक्त्वा स वामेन पदा मौलिमुपास्पृशत् ।
शिरश्च राजसिंहस्य पादेन समलोडयत् ।।३।।

ऐसा कहकर भीमसेन ने अपने बायें पैर से उसके मुकुट को ठुकराया और उस राजसिंह के मस्तक पर भी पैर से ठोकर मारी।

तथैव क्रोधसंरक्तो भीमः परबलार्दनः ।
पुनरेवाब्रवीद् वाक्यं यत्तच्छृणु जनाधिप ।।४।।

प्रजेश्वर ! इसी प्रकार शत्रुसेना का संहार करनेवाले भीमसेन ने क्रोध से लाल आँखें करके फिर जो बात कही उसे भी सुन लीजिए—

येऽस्मान् पुरोऽपनृत्यन्त मूढा गौरिति गौरिति ।
तान् वयं प्रतिनृत्यामः पुनर्गौरिति गौरिति ।।५।।

"जिन मूर्खों ने पहले हमें 'बैल-बैल' कहकर नृत्य किया था, आज उन्हें 'बैल-बैल' कहकर उस अपमान का बदला लेते हुए हम भी प्रसन्नता से नाच रहे हैं।

नास्माकं निकृतिर्वह्निर्नाक्षद्यूतं न वञ्चना ।
स्वबाहुबलमाश्रित्य प्रबाधामो वयं रिपून् ।।६।।

"छल-कपट करना, घर में आग लगाना, जुआ खेलना अथवा ठगी करना हमारा काम नहीं है। हम तो अपने बाहुबल का भरोसा करके शत्रुओं को सन्ताप देते हैं।"

तव पुत्रं तथा हत्वा कत्थमानं वृकोदरम् ।
नृत्यमानं च बहुशो धर्मराजोऽब्रवीदिदम् ।।७।।

आपके पुत्र को मारकर बहुत बढ़-बढ़कर बातें बनाते और बारम्बार नाचते-कूदते हुए भीमसेन से युधिष्ठिर ने इस प्रकार कहा—

गतोऽसि वैरस्यानृण्यं प्रतिज्ञा पूरिता त्वया ।
शुभेनाथाशुभेनैव कर्मणा विरमाधुना ।।८।।

"हे भीम ! तुम वैर से उऋण हुए। तुमने शुभ अथवा अशुभ कर्म से अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली। अब इस कार्य से विरत हो जाओ।

मा शिरोऽस्य पदा मार्दीर्मा धर्मस्तेऽतिगो भवेत् ।
राजा ज्ञातिर्हतश्चायं नैतन्न्याय्यं तवानघ ।।९।।

"तुम इसके सिर को पैर से मत ठुकराओ। तुम्हें धर्म का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। अनघ ! दुर्योधन राजा और हमारा बन्धु है। यह मार डाला गया, अब तुम्हें इसके साथ ऐसा व्यवहार करना उचित नहीं।

एकादशचमूनाथं कुरूणामधिपं तथा ।
मा स्प्राक्षीर्भीम पादेन राजानं ज्ञातिमेव च ।।१०।।

"भीम ! ग्यारह अक्षौहिणी सेना के स्वामी और अपने ही बन्धु कुरुराज राजा दुर्योधन को पैर से न ठुकराओ।

हतबन्धुर्हतामात्यो भ्रष्टसैन्यो हतो मृधे ।
सर्वाकारेण शोच्योऽयं नावहास्योऽयमीश्वरः ।।११।।

"इसके भाई और मन्त्री मारे गये, सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गई, आज यह स्वयं भी युद्ध में मारा गया। ऐसी अवस्था में राजा दुर्योधन सर्वथा शोक के योग्य है, उपहास का पात्र नहीं।

धार्मिको भीमसेनोऽसावित्याहुस्त्वां पुरा जनाः ।
स कस्माद् भीमसेन त्वं राजानमधितिष्ठसि ।।१२।।

"भीम ! तुम्हारे विषय में लोग पहले कहा करते

थे कि भीमसेन बड़े धर्मात्मा हैं। वही तुम आज राजा दुर्योधन को पैर से क्यों ठुकराते हो ?"

इत्युक्त्वा भीमसेनं तु साश्रुकण्ठो युधिष्ठिरः।
उपसृत्याब्रवीद् दीनो दुर्योधनमरिन्दमम् ॥१३॥

भीमसेन से ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर दीन-भाव से शत्रुदमन दुर्योधन के पास पहुँचकर अश्रु-गद्गद कण्ठ से इस प्रकार बोले—

तात मन्युर्न ते कार्यो नात्मा शोच्यस्त्वया तथा।
नूनं पूर्वकृतं कर्म सुघोरमनुभूयते ॥१४॥

"तात ! तुम्हें खेद अथवा क्रोध नहीं करना चाहिए। साथ ही अपने लिए शोक करना भी उचित नहीं है। निश्चय ही सब लोग पहले किये हुए अत्यन्त भयंकर कर्मों का ही फल भोगते हैं।

धात्रोपदिष्टं विषमं नूनं फलमसंस्कृतम्।
यद् वयं त्वां जिघांसामस्त्वं चास्मान् कुरुसत्तम ॥१५॥

"कुरुश्रेष्ठ ! इस समय जो हम लोग तुम्हें और तुम हमें मारना चाहते थे, यह अवश्य ही विधाता का दिया हुआ हमारे ही पाप-कर्मों का विषम फल है।

आत्मनो ह्यपराधेन महद् व्यसनमीदृशम्।
प्राप्तवानसि यल्लोभान्मदाद् बाल्याच्च भारत ॥१६॥

"भरतभूषण ! तुमने लोभ, मद और अविवेक के कारण अपने ही अपराध से ऐसा भारी संकट प्राप्त किया है।

तवापराधादस्माभिर्भ्रातरस्ते निपातिताः।
निहता ज्ञातयश्चापि दिष्टं मन्ये दुरत्ययम् ॥१७॥

"तुम्हारे अपराध से ही हम लोगों ने तुम्हारे भाइयों को मारा और कुटुम्बियों को परलोक पठाया है। मैं इसे दैव का दुर्लङ्घ्य विधान ही मानता हूँ।

आत्मा न शोचनीयस्ते श्लाघ्यो मृत्युस्तवानघ।
वयमेवाधुना शोच्याः सर्वावस्थासु कौरव।
कृपणं वर्तयिष्यामस्तैर्हीना बन्धुभिः प्रियैः ॥१८॥

"निष्पाप ! तुम्हें अपने लिए शोक नहीं करना चाहिए। तुम्हारी तो प्रशंसनीय मृत्यु हो रही है, कुरुराज ! अब तो सभी अवस्थाओं में इस समय हमीं लोग शोचनीय हो गये हैं, क्योंकि अपने प्रिय बन्धु-बान्धवों से रहित होकर हमें दीनतापूर्ण जीवन बिताना पड़ेगा।

भ्रातॄणां चैव पुत्राणां तथा वै शोकविह्वलाः।
कथं द्रक्ष्यामि विधवा वधूः शोकपरिप्लुताः ॥१९॥

"भला, मैं भाइयों और पुत्रों की उन शोक-विह्वला और दुःख में डूबी हुई विधवा बहुओं को कैसे देख सकूँगा ?

त्वमेकः सुस्थितो राजन् स्वर्गे ते निलयो ध्रुवः।
वयं नरकसंज्ञं वै दुःखं प्राप्स्याम दारुणम् ॥२०॥

"राजन् ! तुम अकेले सुखी हो। निश्चय ही तुम्हें स्वर्ग में स्थान मिलेगा और हमें यहाँ नरकतुल्य दारुण दुःख भोगना पड़ेगा।"

एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो निशश्वास स पार्थिवः।
विललाप चिरं चापि धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥२१॥

राजन् ! ऐसा कहकर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर दुःख से अत्यन्त आतुर होकर लम्बा श्वास छोड़ते हुए बहुत देर तक विलाप करते रहे।

इति महाभारते शल्यपर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशोऽध्यायः

क्रोध में भरे हुए बलराम को श्रीकृष्ण का समझाना, युधिष्ठिर के साथ श्रीकृष्ण एवं भीमसेन का वार्तालाप

धृतराष्ट्र उवाच

अधर्मेण हतं दृष्ट्वा राजानं माधवोत्तमः।
कृतवान् रौहिणेयो यत्तन्ममाचक्ष्व सञ्जय ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय ! राजा दुर्योधन को अधर्मपूर्वक मारा गया देख मधुकुल-शिरोमणि रोहिणीनन्दन बलरामजी ने वहाँ जो कुछ किया वह मुझे बताओ।

सञ्जय उवाच

शिरस्यभिहतं दृष्ट्वा भीमसेनेन ते सुतम्।
रामः प्रहरतां श्रेष्ठश्चुक्रोध बलवद् बली ॥२॥

सञ्जय ने कहा—राजन् ! भीमसेन के द्वारा आपके पुत्र के मस्तक को पैर से ठुकराया जाता देख योद्धाओं में श्रेष्ठ महाबली बलरामजी अत्यन्त कुपित हुए।

ततो मध्ये नरेन्द्राणामूर्ध्वबाहुर्हलायुधः ।
कुर्वन्नार्तस्वरं घोरं धिग् धिग् भीमेत्युवाच ह ॥३॥

फिर वहाँ राजाओं की मण्डली में अपनी दोनों भुजाएँ उठाकर हलधर बलराम ने भयंकर आर्तनाद करते हुए कहा, "भीम ! तुम्हें धिक्कार है ! धिक्कार है ! !

अहो धिक् यदधो नाभेः प्रहृतं धर्मविग्रहे ।
नैतद् दृष्टं गदायुद्धे कृतवान् यद् वृकोदरः ॥४॥

"अहो ! इस धर्मयुद्ध में नाभि से नीचे जो प्रहार किया गया है और जिसे भीमसेन ने स्वयं किया है, वह गदायुद्ध में कभी नहीं देखा गया ।

अधो नाभ्या न हन्तव्यमिति शास्त्रस्य निश्चयः ।
अयं त्वशास्त्रविन्मूढः स्वच्छन्दात् सम्प्रवर्तते ॥५॥

"नाभि से नीचे आघात नहीं करना चाहिए—यह गदायुद्ध के सम्बन्ध में शास्त्र का सिद्धान्त है। परन्तु यह शास्त्रज्ञान से शून्य मूर्ख भीमसेन यहाँ स्वेच्छाचार कर रहा है ।

न चैष पातितः कृष्ण केवलं मत्समोऽसमः ।
आश्रितस्य तु दौर्बल्यादाश्रयः परिभत्स्यंते ॥६॥

"श्रीकृष्ण ! राजा दुर्योधन मेरे समान बलवान् था। गदायुद्ध में उसकी समानता करनेवाला कोई न था। यहाँ अन्याय करके केवल दुर्योधन ही नहीं गिराया गया है [मेरा भी अपमान किया गया है], शरणागत की दुर्बलता के कारण शरण देनेवाले का तिरस्कार किया जा रहा है ।"

ततो लाङ्गलमुद्यम्य भीममभ्यद्रवद् बली ।
तमुत्पतन्तं जग्राह केशवो विनयान्वितः ॥७॥

ऐसा कहकर महाबली बलराम अपना हल उठाकर भीमसेन की ओर दौड़े। उस समय विनयशील श्रीकृष्ण ने आक्रमण करते हुए बलरामजी को पकड़कर रोका ।

उवाच चैनं संरब्धं शमयन्निव केशवः ।
आत्मवृद्धिर्मित्रवृद्धिर्मित्रमित्रोदयस्तथा ।
विपरीतं द्विषत्स्वेतत् षड्विधा वृद्धिरात्मनः ॥८॥

उस समय श्रीकृष्ण ने कुपित हुए बलरामजी को शान्त करते हुए-से कहा—"भैया ! अपनी उन्नति छह प्रकार की होती है—अपनी वृद्धि, मित्र की वृद्धि तथा मित्र के मित्र की वृद्धि और शत्रुपक्ष में इसके विपरीत स्थिति अर्थात् शत्रु की हानि, शत्रु के मित्र की हानि और शत्रु के मित्र के मित्र की हानि ।

आत्मन्यपि च मित्रे च विपरीतं यदा भवेत् ।
तदा विद्यान्मनोग्लानिमाशु शान्तिकरो भवेत् ॥९॥

"अपनी और अपने मित्र की यदि इसके विपरीत परिस्थिति हो तो मन-ही-मन ग्लानि का अनुभव करना चाहिए और मित्रों की उस हानि के निवारण के लिए शीघ्र प्रयत्नशील होना चाहिए।

सहजमित्राण्यस्माकं पाण्डवाः शुद्धपौरुषाः ।
स्वकाः पितृष्वसुः पुत्रास्ते परैर्निकृता भृशम् ॥१०॥

"शुद्ध पुरुषार्थ का आश्रय लेनेवाले पाण्डव हमारे सहज मित्र हैं। बुआ के पुत्र होने के कारण सर्वथा अपने हैं। शत्रुओं ने इनके साथ बहुत छल-कपट किया था।

प्रतिज्ञापालनं धर्मः क्षत्रियस्येह वेद्म्यहम् ।
सुयोधनस्य गदया भङ्क्तास्म्यूरू महाहवे ॥११॥
इति पूर्वं प्रतिज्ञातं भीमेन हि सभातले ।
अतो दोषं न पश्यामि मा क्रुद्धचस्व प्रलम्बहन् ॥१२॥

"मैं समझता हूँ कि इस संसार में अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना क्षत्रिय के लिए धर्म ही है। पहले सभा में भीमसेन ने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं महासमर में अपनी गदा से दुर्योधन की दोनों जाँघें तोड़ डालूँगा', अतः प्रलम्बहन्ता बलरामजी ! मैं इसमें भीमसेन का कोई दोष नहीं देखता। आप भी क्रोध न करें।

यौनैः स्वैः सुखहार्दैश्च सम्बन्धः सह पाण्डवैः ।
तेषां वृद्धचा हि वृद्धिर्नो मा क्रुधः पुरुषर्षभ ॥१३॥

'पुरुषप्रवर ! हमारा पाण्डवों के साथ यौन सम्बन्ध तो है ही, परस्पर सुख देनेवाले सौहार्द से भी हम लोग बँधे हुए हैं। इन पाण्डवों की वृद्धि से हमारी भी वृद्धि है, अतः आप क्रोध न करें।

वासुदेववचः श्रुत्वा सीरभृत् प्राह धर्मवित् ।
धर्मः सुचरितः सद्भिः स च द्वाभ्यां नियच्छति ॥१४॥

श्रीकृष्ण की यह बात सुनकर धर्मज्ञ हलधर ने इस प्रकार कहा—"श्रीकृष्ण ! श्रेष्ठ पुरुषों ने धर्म का भली प्रकार आचरण किया है किन्तु वह अर्थ

श्रौर काम—इन दो वस्तुश्रों से संकुचित हो जाता है।

श्रर्थश्चात्यर्थलुब्धस्य कामश्चातिप्रसङ्गिणः ।□
धर्मार्थौ धर्मकामौ च कामार्थौ चाप्यपीडयन् ।
धर्मार्थकामान् योऽभ्येति सोऽत्यन्तं सुखमश्नुते ।।१५।।

"श्रत्यन्त लोभी का श्रर्थ श्रौर श्रधिक श्रासक्ति रखनेवाले का काम—ये दोनों ही धर्म को हानि पहुँचाते हैं। जो मनुष्य काम से धर्म श्रौर श्रर्थ को, श्रर्थ से धर्म श्रौर काम को तथा धर्म से अर्थ श्रौर काम को हानि न पहुँचाकर धर्म, श्रर्थ श्रौर काम—तीनों का यथोचित रूप से सेवन करता है, वह श्रत्यन्त सुख का भागी होता है।

तदिदं व्याकुलं सर्वं कृतं धर्मस्य पीडनात् ।
भीमसेनेन गोविन्द कामं त्वं तु यथाऽऽत्थ माम् ।।१६।।

"गोविन्द ! भीमसेन ने [श्रर्थ के लोभ से] धर्म को हानि पहुँचाकर इन सबको विकृत कर दिया है। तुम मुझसे इस कार्य को जिस प्रकार धर्म-संगत बता रहे हो, वह सब तुम्हारी मनमानी कल्पना है।"

श्रीकृष्ण उवाच

श्ररोषणो हि धर्मात्मा सततं धर्मवत्सलः ।
भवान् प्रख्यायते लोके तस्मात् संशाम्य मा क्रुधः ।।१७

श्रीकृष्ण बोले—भैया ! श्राप संसार में क्रोध-रहित, धर्मात्मा श्रौर निरन्तर धर्म पर श्रनुग्रह रखने-वाले सत्पुरुष के रूप में प्रसिद्ध हैं, श्रतः शान्त हो जाइए, क्रोध मत कीजिए।

प्राप्तं कलियुगं विद्धि प्रतिज्ञां पाण्डवस्य च ।
श्रानृण्यं यातु वैरस्य प्रतिज्ञायाश्च पाण्डवः ।।१८।।

समझ लीजिए कि कलियुग श्रा गया। पाण्डुपुत्र भीमसेन की प्रतिज्ञा पर भी ध्यान दीजिए। श्राज पाण्डुकुमार भीम वैर श्रौर प्रतिज्ञा के ऋण से मुक्त हो जाएँ।

सञ्जय उवाच

धर्मच्छलमपि श्रुत्वा केशवात् स विशाम्पते ।
नैव प्रीतमना रामो वचनं प्राह संसदि ।।१९।।

सञ्जय कहते हैं—नरेश्वर ! श्रीकृष्ण से यह छलरूप धर्म का विवेचन सुनकर बलदेवजी के मन को सन्तोष नहीं हुश्रा। उन्होंने भरी सभा में कहा—

हत्वाधर्मेण राजानं धर्मात्मानं सुयोधनम् ।
जिह्मयोधीति लोकेऽस्मिन्ख्यातिं यास्यति पाण्डवः ।।२०

"धर्मात्मा राजा दुर्योधन को श्रधर्मपूर्वक मारकर पाण्डुपुत्र भीमसेन इस संसार में कपटपूर्ण युद्ध करने-वाले योद्धा के रूप में विख्यात होंगे।

दुर्योधनोऽपि धर्मात्मा गतिं यास्यति शाश्वतीम् ।
ऋजुयोधी हतो राजा धार्तराष्ट्रो नराधिपः ।।२१

"धृतराष्ट्र का पुत्र धर्मात्मा राजा दुर्योधन सर-लता से युद्ध कर रहा था, वह उस दशा में मारा गया है, श्रतः वह सनातन सद्गति को प्राप्त होगा।"

इत्युक्त्वा रथमास्थाय रौहिणेयः प्रतापवान् ।
श्वेताभ्रशिखराकारः प्रययौ द्वारकां प्रति ।।२२।।

ऐसा कहकर प्रतापी रोहिणीनन्दन बलरामजी, जो श्वेत बादलों के श्रग्रभाग की भाँति गौर कान्ति से सुशोभित हो रहे थे, रथ पर श्रारूढ़ हो द्वारका की श्रोर चल दिये।

रामे द्वारावतीं याते चिन्तापरमधोमुखम् ।
प्रोवाच भीमसेनोऽपि धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।।२३।।

राजन् ! बलरामजी के द्वारका चले जाने पर भीमसेन ने चिन्ता में डूबे हुए धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—

तवाद्य पृथिवी सर्वा क्षेमा निहतकण्टका ।
तां प्रशाधि महाराज स्वधर्ममनुपालय ।।२४।।

"महाराज ! श्राज यह सारी पृथिवी श्रापकी हो गई। इसके काँटे नष्ट कर दिये गये, श्रतः यह मङ्गलमयी हो गई है। श्राप इसका शासन श्रौर श्रपने धर्म का पालन कीजिए।"

इति महाभारते शल्यपर्वणि विंशोऽध्यायः ।।२०।।

एकविंशोऽध्यायः

पाण्डव-सैनिकों द्वारा भीम की स्तुति, श्रीकृष्ण का दुर्योधन पर आक्षेप, दुर्योधन का उत्तर

धृतराष्ट्र उवाच

हतं दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनेन संयुगे ।
पाण्डवाः सृञ्जयाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय ! रणभूमि में भीमसेन के द्वारा दुर्योधन को मारा गया देख पाण्डवों और सृञ्जयों ने क्या किया ?

सञ्जय उवाच

पाञ्चालाः सृञ्जयाश्चैव निहते कुरुनन्दने ।
आविद्धयन्नुत्तरीयाणि सिंहनादांश्च नेदिरे ॥२॥

सञ्जय बोले—राजन् ! कुरुनन्दन दुर्योधन के मारे जाने पर पाञ्चाल और सृञ्जय अपने दुपट्टे उछालने और सिंहनाद करने लगे ।

धनूंष्यन्ये व्यक्षिपन्त ज्याश्चाप्यन्ये तथाक्षिपन् ।
दध्मुरन्ये महाशंखानन्ये जघ्नुश्च दुन्दुभीन् ॥३॥

किसी ने धनुष टंकारा, किसी ने प्रत्यञ्चा खींची, कुछ लोग बड़े-बड़े शंख बजाने लगे और दूसरे बहुत-से सैनिक डंके पीटने लगे ।

चिक्रीडुश्च तथैवान्ये जहसुश्च तवाहिताः ।
अब्रुवंश्चासकृद् वीरा भीमसेनमिदं वचः ॥४॥

आपके बहुत-से शत्रु भाँति-भाँति के खेल खेलने और हास-परिहास करने लगे। कितने ही वीर भीमसेन के पास जाकर इस प्रकार कहने लगे—

दुष्करं भवता कर्म रणेऽद्य सुमहत् कृतम् ।
कौरवेन्द्रं रणे हत्वा गदयातिकृतश्रमम् ॥५॥

"कौरवराज दुर्योधन ने गदायुद्ध में बड़ा भारी परिश्रम किया था। आज युद्धभूमि में उसका वध करके आपने महान् एवं दुष्कर पराक्रम कर दिखाया है।

कुञ्जरेणेव मत्तेन वीर संग्राममूर्धनि ।
दुर्योधनशिरो दिष्ट्या पादेन मृदितं त्वया ॥६॥

"वीर ! मतवाले गजराज की भाँति आपने युद्ध के मुहाने पर अपने पैर से दुर्योधन के मस्तक को कुचल दिया है, यह बड़े सौभाग्य की बात है।

सिंहेन महिषस्येव कृत्वा सङ्गरमुत्तमम् ।
दुःशासनस्य रुधिरं दिष्ट्या पीतं त्वयानघ ॥७॥

"निष्पाप ! जैसे सिंह ने भैंसे का रक्तपान कर लिया हो, वैसे ही आपने महान् युद्ध ठानकर दुःशासन के रक्त का पान किया है, यह भी सौभाग्य की ही बात है।

ये विप्रकुर्वन् राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
मूर्ध्नि तेषां कृतः पादो दिष्ट्या ते स्वेन कर्मणा ॥८॥

"जिन लोगों ने धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर का अपराध किया था, उन सबके मस्तक पर आपने अपने पराक्रम द्वारा पैर रख दिया, यह कितने सौभाग्य की बात है !"

तान्हृष्टान्पुरुषव्याघ्रान्पाञ्चालान्पाण्डवैः सह ।
ब्रुवतोऽसदृशं तत्र प्रोवाच मधुसूदनः ॥९॥

श्रीकृष्ण ने जब देखा कि पुरुषसिंह पाञ्चाल और पाण्डव अयोग्य बातें कह रहे हैं, तब वे वहाँ उन सबसे बोले—

न न्याय्यं निहतं शत्रुं भूयो हन्तुं नराधिपाः ।
असकृद् वाग्भिरुग्राभिर्निहतो ह्येष मन्दधीः ॥१०॥

"भूपालो ! मरे हुए शत्रु को पुनः मारना उचित नहीं है। तुम लोगों ने इस मन्दबुद्धि दुर्योधन को बारम्बार कठोर वचनों द्वारा घायल किया है।

तदैवैष हतः पापो यदैव निरपत्रपः ।
लुब्धः पापसहायश्च सुहृदां शासनातिगः ॥११॥

"यह निर्लज्ज पापी तो उसी समय मर चुका था जब लोभ में फँसकर और पापियों को अपना सहायक बनाकर सुहृदों के शासन से दूर रहने लगा था।

नैष योग्योऽद्य मित्रं वा शत्रुर्वा पुरुषाधमः ।
किमनेनातिभुग्नेन वाग्भिः काष्ठसधर्मणा ॥१२॥

'यह नराधम अब किसी योग्य नहीं है। न यह किसी का मित्र है और न शत्रु। यह तो सूखे काष्ठ के समान है। इसे कटुवचनों से अधिक झुकाने की चेष्टा करने से क्या लाभ ?"

इति श्रुत्वा त्वधिक्षेपं कृष्णाद् दुर्योधनो नृपः ।
अमर्षवशमापन्न उदतिष्ठद् विशाम्पते ॥१३॥

स्फिग्देशेनोपविष्टः स दोर्भ्यां विष्टभ्य मेदिनीम् ।
दृष्टिं भ्रूसङ्कटां कृत्वा वासुदेवे न्यपातयत् ॥१४॥

नरेश्वर ! श्रीकृष्ण के मुख से ये आक्षेप-युक्त वचन सुनकर राजा दुर्योधन अमर्ष के वशीभूत होकर उठा और दोनों हाथ पृथिवी पर टेककर नितम्बों के सहारे बैठ गया, फिर उसने श्रीकृष्ण की ओर भौंहें टेढ़ी करके देखा ।

प्राणान्तकारिणीं घोरां वेदनामप्यचिन्तयन् ।
दुर्योधनो वासुदेवं वाग्भिरुग्राभिरार्दयत् ॥१५॥

उसे प्राणों का अन्त कर देनेवाली भयंकर वेदना हो रही थी, तो भी उसकी परवाह न करते हुए दुर्योधन ने अपने कठोर वचनों द्वारा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण को पीड़ा देना प्रारम्भ किया ।

कंसदासस्य दायाद न ते लज्जास्त्यनेन वै ।
अधर्मेण गदायुद्धे यदहं विनिपातितः ॥१६॥

"ओ कंस के दास के पुत्र ! मैं जो गदायुद्ध में अधर्म से मारा गया हूँ, इस कुकृत्य के कारण क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती ?

ऊरू भिन्धीति भीमस्य स्मृतिं मिथ्या प्रयच्छता ।
किं न विज्ञातमेतन्मे यदर्जुनमवोचथाः ॥१७॥

"भीमसेन को मेरी जाँघें तोड़ने का मिथ्या स्मरण दिलाते हुए तुमने अर्जुन से जो कुछ कहा था, क्या वह मुझे ज्ञात नहीं है ?

घातयित्वा महीपालानृजुयुद्धान् सहस्रशः ।
जिह्मैरुपायैर्बहुभिर्न ते लज्जा न ते घृणा ॥१८॥

"सरलता से धर्मानुकूल युद्ध करनेवाले सहस्रों भूपालों को बहुत-से कुटिल उपायों द्वारा मरवाकर न तुम्हें लज्जा आती है और न बुरे कर्म से घृणा होती है ।

अहन्यहनि शूराणां कुर्वाणः कदनं महत् ।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य घातितस्ते पितामहः ॥१९॥

"जो प्रतिदिन शूरवीरों का भारी संहार कर रहे थे, उन पितामह भीष्म का तुमने शिखण्डी को आगे रखकर वध कराया ।

अश्वत्थाम्नः सनामानं हत्वा नागं सुदुर्मते ।
आचार्यो न्यासितः शस्त्रं किं तन्न विदितं मया ॥२०॥

"दुर्मते ! अश्वत्थामा के सदृश नामवाले एक हाथी को मारकर तुम लोगों ने द्रोणाचार्य के हाथ से शस्त्र नीचे डलवा दिये थे, क्या वह मुझे ज्ञात नहीं है ?

छिन्नहस्तः प्रायगतस्तथा भूरिश्रवा बली ।
त्वयाभिसृष्टेन हतः शैनेयेन महात्मना ॥२१॥

"बलवान् भूरिश्रवा का हाथ कट गया था और वे आमरण अनशन का व्रत लेकर बैठे हुए थे । उस अवस्था में तुमसे ही प्रेरित होकर महामना सात्यकि ने उनका वध किया ।

पुनश्च पतिते चक्रे व्यसनार्तः पराजितः ।
पातितः समरे कर्णश्चक्रव्यग्रोऽग्रणीर्नृणाम् ॥२२॥

"फिर जब कर्ण के रथ का पहिया गढ़े में गिर गया और वह उसे उठाने में व्यग्रतापूर्वक संलग्न हुआ, उस समय उसे संकट से पीड़ित एवं पराजित जानकर तुम लोगों ने मार डाला ।

यदि मां चापि कर्णं च भीष्मद्रोणौ च संयुतौ ।
ऋजुना प्रतियुध्येथा न ते स्याद् विजयो ध्रुवम् ॥२३॥

"यदि मेरे, कर्ण के तथा भीष्म और द्रोणाचार्य के साथ मायारहित, सरलभाव से तुम युद्ध करते तो निश्चय ही तुम्हारे पक्ष की विजय नहीं होती ।

त्वया पुनरनार्येण जिह्ममार्गेण पार्थिवाः ।
स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो वयं चान्ये च घातिताः ॥२४॥

"परन्तु तुम-जैसे अनार्य ने कुटिल मार्ग का सहारा लेकर स्वधर्मपालन में लगे हुए हम लोगों का तथा दूसरे राजाओं का भी वध करवाया है।"

वासुदेव उवाच

हतस्त्वमसि गान्धारे सभ्रातृसुतबान्धवः ।
सगणः ससुहृच्चैव पापं मार्गमनुष्ठितः ॥२५॥
तवैव दुष्कृतैर्वीरौ भीष्मद्रोणौ निपातितौ ।
कर्णश्च निहतः संख्ये तव शीलानुवर्तकः ॥२६॥

श्रीकृष्ण बोले—गान्धारीनन्दन ! तुमने पाप के मार्ग पर पैर रखा था, अतः तुम भाई, पुत्र, बान्धव, सेवक और सुहृद्गणोंसहित मारे गये हो । वीर भीष्म और द्रोणाचार्य भी तुम्हारे दुष्कर्मों से ही मारे गये हैं । कर्ण भी तुम्हारे स्वभाव का ही अनुसरण करनेवाला था, अतः वह भी युद्ध में मारा गया ।

याच्यमानं मया मूढ पित्र्यमंशं न दित्ससि।
पाण्डवेभ्यः स्वराज्यं च लोभाच्छकुनिनिश्चयात् ॥२७॥

ओ मूर्ख ! तुम शकुनि की सलाह मानकर मेरे माँगने पर भी पाण्डवों को उनकी पैतृकसम्पत्ति, उनका अपना राज्य लोभवश नहीं देना चाहते थे।

विषं ते भीमसेनाय दत्तं सर्वे च पाण्डवाः।
प्रदीपिता जतुगृहे मात्रा सह सुदुर्मते ॥२८॥
सभायां याज्ञसेनी च कृष्टा द्यूते रजस्वला।
तदैव तावद् दुष्टात्मन् वध्यस्त्वं निरपत्रप ॥२९॥

ओ खोटी बुद्धिवाले ! तुमने जब भीमसेन को विष दिया, समस्त पाण्डवों को उनकी माता के साथ लाक्षागृह में जला डालने का प्रयत्न किया और निर्लज्ज ! दुष्टात्मन् ! द्यूतक्रीड़ा के समय जब तुम लोग भरी-सभा में रजस्वला द्रौपदी को घसीट लाये थे, तभी तुम वध के योग्य हो गये थे।

अनक्षज्ञं च धर्मज्ञं सौवलेनाक्षवेदिना।
निकृत्या यत् पराजैषीस्तस्मादसि हतो रणे ॥३०॥

तुमने द्यूतक्रीड़ा के जानकार सुबलपुत्र शकुनि के द्वारा उस कला को न जाननेवाले धर्मज्ञ युधिष्ठिर को जो छल से पराजित किया था, उसी पाप से तुम युद्धभूमि में मारे गये हो।

अभिमन्युश्च यद् बाल एको बहुभिराहवे।
त्वद्दोषैर्निहतः पाप तस्मादसि हतो रणे ॥३१॥

पापात्मन् ! तुम्हारे ही अपराध से बहुत-से योद्धाओं ने मिलकर जो अकेले बालक अभिमन्यु का वध किया था, इन्हीं सब कारणों से आज तुम भी युद्धभूमि में मारे गये हो।

यान्यकार्याणि चास्माकं कृतानीति प्रभाषसे।
वैगुण्येन तवात्यर्थं सर्वं हि तदनुष्ठितम् ॥३२॥

तुम जिन्हें हमारे किये हुए अनुचित कार्य बता रहे हो, वे सब तुम्हारे महान् दोष से ही किये गये हैं।

बृहस्पतेरुशनसो नोपदेशः श्रुतस्त्वया।
वृद्धा नोपासिताश्चैव हितं वाक्यं न ते श्रुतम् ॥३३॥

तुमने बृहस्पति और शुक्राचार्य के नीति-सम्बन्धी उपदेशों को नहीं सुना है, बड़े-बूढ़ों की उपासना—सत्सङ्ग नहीं की है और उनके हितकर वचन भी नहीं सुने हैं।

लोभेनातिबलेन त्वं तृष्णया च वशीकृतः।
कृतवानस्यकार्याणि विपाकस्तस्य भुज्यताम् ॥३४॥

तुमने अत्यन्त प्रबल लोभ और तृष्णा के वशीभूत होकर न करने योग्य कार्य किये हैं, अतः अब तुम उनका परिणाम भोगो।

दुर्योधन उवाच

अधीतं विधिवद् दत्तं भूः प्रशास्ता ससागरा।
मूर्ध्नि स्थितममित्राणां को नु स्वन्ततरो मया ॥३५॥

दुर्योधन बोला—मैंने विधिपूर्वक वेद अध्ययन किया, दान दिये, समुद्रोंसहित पृथिवी का शासन किया और शत्रुओं के मस्तक पर पैर रखकर खड़ा रहा, मेरे समान उत्तम अन्त किसका हुआ है ?

यदिष्टं क्षत्रबन्धूनां स्वधर्ममनुपश्यताम्।
तदिदं निधनं प्राप्तं को नु स्वन्ततरो मया ॥३६॥

अपने धर्म पर दृष्टि रखनेवाले क्षत्रिय-बन्धुओं को जो अभीष्ट है, वैसी ही मृत्यु मुझे प्राप्त हुई है, अतः मुझसे अच्छा अन्त और किसका हुआ है ?

विषादो मे न भीमेन पादेन शिर आहतम्।
काका वा कङ्कगृध्रा वा निधास्यन्ति पदं क्षणात् ॥३७॥

भीम ने अपने पैर से जो मेरे सिर को ठुकराया है, इसका भी मुझे दुःख नहीं है, क्योंकि अभी क्षण-भर पश्चात् कौए, कङ्क तथा गीध भी तो इस शरीर पर अपने पञ्जे गाड़ेंगे।

इति महाभारते शल्यपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

पाण्डवों का शिबिर में पहुँचना, युधिष्ठिर की प्रेरणा से श्रीकृष्ण का हस्तिनापुर में जाकर धृतराष्ट्र और गान्धारी को आश्वासन देना

सञ्जय उवाच

हृष्टा दुर्योधनं दृष्ट्वा निहतं पुरुषर्षभ।
ततस्ते प्रययुः सर्वे निवासाय महीक्षितः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—पुरुषप्रवर! दुर्योधन को मारा गया देख सभी नरेश हर्ष में भरकर शिबिर में विश्राम करने के लिए चल दिये।

ततस्ते प्राविशन् पार्था हतत्विट्कं हतेश्वरम्।
दुर्योधनस्य शिबिरं रङ्गवद्विसृते जने ॥२॥

वहाँ पहुँचकर सर्वप्रथम कुन्ती के पुत्रों ने दुर्योधन के शिबिर में प्रवेश किया जो दर्शकों के चले जाने पर सूने रङ्गमण्डप के समान शोभाहीन दिखाई देता था।

शिबिरं समनुप्राप्य कुरुराजस्य पाण्डवाः।
अवतेरुर्महाराज रथेभ्यो रथसत्तमाः ॥३॥

महाराज! कुरुराज के शिबिर में पहुँचकर रथियों में श्रेष्ठ पाण्डव अपने रथों से नीचे उतरे।

प्रविश्य प्रत्यपद्यन्त कोशरत्नर्द्धिसंचयान्।
रजतं जातरूपं च मणीनथ च मौक्तिकान् ॥४॥

राजन्! शिबिर में प्रवेश करके उन्होंने चाँदी, सोना, मोती, मणि, खजाना, रत्नों के ढेर और भण्डार-घर पर अधिकार कर लिया।

ते प्राप्य धनमक्षय्यं त्वदीयं भरतर्षभ।
उदक्रोशन्महाभागा नरेन्द्र विजितारयः ॥५॥

भरतश्रेष्ठ! जनेश्वर! आपके धन का अक्षय भण्डार पाकर शत्रुविजेता महाभाग पाण्डव जोर-जोर से हर्षध्वनि करने लगे।

ते तु वीराः समाश्वस्य वाहनान्यवमुच्य च।
अतिष्ठन्त मुहुः सर्वे पाण्डवाः सात्यकिस्तथा ॥६॥

वे सभी वीर अपने वाहनों को खोलकर वहीं विश्राम करने लगे। समस्त पाण्डव और सात्यकि वहाँ एकसाथ बैठे हुए थे।

अथाब्रवीन्महाराज वासुदेवो महायशाः।
अस्माभिर्मङ्गलार्थाय वस्तव्यं शिबिराद् बहिः ॥७॥

महाराज! उस समय महायशस्वी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण ने कहा—"आज की रात्रि में हम लोगों को अपने मङ्गल के लिए शिबिर से बाहर ही रहना चाहिए।"

तथेत्युक्त्वा हि ते सर्वे पाण्डवाः सात्यकिस्तथा।
वासुदेवेन सहिता मङ्गलार्थं बहिर्ययुः ॥८॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर समस्त पाण्डव और सात्यकि श्रीकृष्ण के साथ अपने मङ्गल के लिए शिबिर से बाहर चले गये।

ते समासाद्य सरितं पुण्यामोघवतीं नृप।
न्यवसन्नथ रात्रिं तां पाण्डवा हतशत्रवः ॥९॥

राजन्! जिनके शत्रु मारे गये थे, उन पाण्डवों ने उस रात में पुण्यसलिला ओघवती नदी के तट पर जाकर निवास किया।

हतं दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनेन संयुगे।
युधिष्ठिरं महाराज महद् भयमथाविशत् ॥१०॥

हे महाराज! उस समय दुर्योधन को भीमसेन द्वारा [अन्यायपूर्वक] मारा गया देख युधिष्ठिर के मन में बड़ा भारी भय समा गया।

चिन्तयानो महाभागां गान्धारीं तपसान्विताम्।
घोरेण तपसा युक्तां त्रैलोक्यमपि सा दहेत् ॥११

वे घोर तपस्या से युक्त महाभागा तपस्विनी गान्धारीदेवी का चिन्तन करने लगे। उन्होंने सोचा—'गान्धारीदेवी क्रुद्ध होने पर तीनों लोकों को जलाकर भस्म कर सकती हैं।'

तस्य चिन्तयमानस्य बुद्धिः समभवत्तदा।
गान्धार्याः क्रोधदीप्तायाः पूर्वं प्रशमनं भवेत् ॥१२॥

सोचते-सोचते उस समय राजा युधिष्ठिर के हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि पहले क्रोध से प्रज्वलित गान्धारीदेवी को शान्त कर देना चाहिए।

सा हि पुत्रवधं श्रुत्वा कृतमस्माभिरीदृशम्।
मानसेनाग्निना क्रुद्धा भस्मसान्नः करिष्यति ॥१३॥

वे हम लोगों द्वारा अन्यायपूर्वक पुत्र का वध किया गया सुनकर क्रुद्ध हो अपनी सङ्कल्पजनित

अग्नि से हमें भस्म कर डालेंगी ।

एवं विचिन्त्य बहुधा भयशोकसमन्वितः ।
वासुदेवमिदं वाक्यं धर्मराजोऽभ्यभाषत ॥१४॥

इस प्रकार अनेक प्रकार से विचार करके धर्मराज युधिष्ठिर भय एवं शोक में डूब गये और वसुदेव-नन्दन श्रीकृष्ण से बोले—

तव प्रसादाद् गोविन्द राज्यं निहतकण्टकम् ।
अप्राप्यं मनसापीदं प्राप्तमस्माभिरच्युत ॥१५॥

"गोविन्द ! अच्युत ! जिसे मन के द्वारा भी प्राप्त करना असम्भव था, वही यह निष्कण्टक राज्य हमें आपकी कृपा से प्राप्त हो गया ।

सन्देहदोलां प्राप्तं नश्चेतः कृष्ण जये सति ।
गान्धार्या हि महाबाहो क्रोधं बुद्धचस्व माधव ॥१६॥

"परन्तु कृष्ण ! आज विजय हो जाने पर भी हमारा मन सन्देह के झूले पर झूल रहा है । महाबाहु माधव ! आप गान्धारीदेवी के क्रोध पर तो ध्यान दीजिए ।

सा हि नित्यं महाभागा तपसोग्रेण कर्शिता ।
पुत्रपौत्रवधं श्रुत्वा ध्रुवं नः सम्प्रधक्ष्यति ॥१७॥

"महाभागा गान्धारी प्रतिदिन उग्र तपस्या से अपने शरीर को दुर्बल करती जा रही हैं । वे पुत्रों और पौत्रों का वध हुआ सुनकर निश्चय ही हमें भस्म कर डालेंगी ।

तस्याः प्रसादनं वीर प्राप्तकालं मतं मम ।
तत्र मे गमनं प्राप्तं रोचते तव माधव ॥१८॥

"वीर ! इस समय मुझे उन्हें प्रसन्न करने का कार्य ही समयोचित प्रतीत होता है और उन्हें शान्त करने के लिए आपका वहाँ जाना ही मुझे उचित जान पड़ता है ।"

वचनं धर्मराजस्य श्रुत्वा यदुकुलोद्वहः ।
जगाम हास्तिनपुरं त्वरितः केशवो विभुः ॥१९॥

धर्मराज युधिष्ठिर की यह बात सुनकर यदुकुल-भूषण भगवान् श्रीकृष्ण तुरन्त ही हस्तिनापुर की ओर चल दिये ।

प्रविश्य नगरं वीरो सोऽवतीर्य रथोत्तमात् ।
अभ्यगच्छददीनात्मा धृतराष्ट्रनिवेशनम् ॥२०॥

नगर में प्रविष्ट होकर वीर श्रीकृष्ण अपने उत्तम रथ से उतरकर मन में दीनता न लाते हुए धृतराष्ट्र के महल में गये ।

पादौ प्रपीडच कृष्णस्य राज्ञश्चापि जनार्दनः ।
अभ्यवादयदव्यग्रो गान्धारीं चापि केशवः ॥२१॥

महर्षि व्यास [जो वहाँ पहले ही विद्यमान थे] और राजा धृतराष्ट्र दोनों के चरण स्पर्श कर जनार्दन श्रीकृष्ण ने बिना किसी घबराहट के गान्धारीदेवी को प्रणाम किया ।

ततस्तु यादवश्रेष्ठो धृतराष्ट्रमधोक्षजः ।
पाणिमालम्ब्य राजेन्द्र सुस्वरं प्ररुरोद ह ॥२२॥

हे राजेन्द्र ! तत्पश्चात् यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र का हाथ अपने हाथ में लेकर उन्मुक्त स्वर से फूट-फूटकर रोने लगे ।

स मुहूर्तादिवोत्सृज्य बाष्पं शोकसमुद्भवम् ।
उवाच प्रस्तुतं वाक्यं धृतराष्ट्रमरिन्दमः ॥२३॥
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चिद् वृद्धस्य तव भारत ।
कालस्य च यथावृत्तं तत् ते सुविदितं प्रभो ॥२४॥

शत्रुदमन श्रीकृष्ण ने दो घड़ी तक शोक के आँसू बहाकर राजा धृतराष्ट्र से प्रस्तुत वचन कहा—"हे भारत ! आप वृद्ध हैं, अतः काल के द्वारा जो कुछ भी संघटित हुआ और हो रहा है, वह कुछ भी आप से छिपा नहीं है । प्रभो ! आपको सब-कुछ अच्छी प्रकार ज्ञात है ।

यतितं पाण्डवैः सर्वैस्तव चित्तानुरोधिभिः ।
कथं कुलक्षयो न स्यात्तथा क्षत्रस्य भारत ॥२५॥

"हे भारत ! सभी पाण्डव सदा से ही आपकी इच्छा के अनुसार बर्ताव करनेवाले हैं । उन्होंने बहुत प्रयत्न किया कि किसी प्रकार हमारे कुल का और क्षत्रियसमूह का विनाश न हो ।

मया च स्वयमागम्य युद्धकाल उपस्थिते ।
सर्वलोकस्य सांनिध्ये ग्रामाँस्त्वं पञ्च याचितः ॥२६॥
त्वया कालोपसृष्टेन लोभतो नापवर्जिताः ।
तवापराधान्नृपते सर्वं क्षत्रं क्षयं गतम् ॥२७॥

"युद्ध का अवसर उपस्थित होने पर मैंने स्वयं आकर शान्ति स्थापित करने के लिए सब लोगों के समक्ष आपसे केवल पाँच गाँव माँगे थे, परन्तु काल से प्रेरित हो आपने लोभवश वे पाँच गाँव भी नहीं

दिये। प्रजेश्वर ! आपके अपराध से समस्त क्षत्रियों का विनाश हो गया।

द्रोणेन च सपुत्रेण भीष्मेण विदुरेण च।
याचितस्त्वं शमं नित्यं न च तत्कृतवानसि ॥२८॥

"द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, भीष्म और विदुरजी ने भी सदा आपसे शान्ति की याचना की थी, परन्तु आपने किसी की बात नहीं मानी।

अल्पोऽप्यतिक्रमो नास्ति पाण्डवानां महात्मनाम्।
धर्मतो न्यायतश्चैव स्नेहतश्च परन्तप ॥२९॥

"परन्तप ! धर्म, न्याय और स्नेह की दृष्टि से महात्मा पाण्डवों का इसमें थोड़ा-सा भी अपराध नहीं है।

एतत् सर्वं तु विज्ञाय ह्यात्मदोषकृतं फलम्।
असूयां पाण्डुपुत्रेषु न भवान् कर्तुमर्हति ॥३०॥

"यह सब अपने ही अपराधों का फल है, ऐसा समझकर आपको पाण्डवों के प्रति दोष-दृष्टि नहीं करनी चाहिए।

त्वं चैव कुरुशार्दूल गान्धारी च यशस्विनी।
मा शुचो नरशार्दूल पाण्डवान् प्रति किल्बिषम् ॥३१॥

"कुरुप्रवर ! पुरुषसिंह ! आप और यशस्विनी गान्धारीदेवी कभी पाण्डवों की बुराई करने की बात न सोचें।

एतत् सर्वमनुध्याय आत्मनश्च व्यतिक्रमम्।
शिवेन पाण्डवान् पाहि नमस्ते भरतर्षभ ॥३२॥

"भरतश्रेष्ठ ! इन सब बातों और अपने अपराधों का चिन्तन करके आप पाण्डवों के प्रति कल्याण-भावना रखते हुए उनकी रक्षा करें। आपको नमस्कार है।

जानासि च महाबाहो धर्मराजस्य या त्वयि।
भक्तिर्भरतशार्दूल स्नेहश्चापि स्वभावतः ॥३३॥

"महाबाहो ! भरतवंश के सिंह ! आप जानते हैं कि धर्मराज युधिष्ठिर के मन में आपके प्रति कितनी भक्ति और कितना स्वाभाविक स्नेह है।

एतच्च कदनं कृत्वा शत्रूणामपकारिणाम्।
दह्यते स दिवारात्रौ न च शर्माधिगच्छति ॥३४॥

"अपने अपराधी शत्रुओं का संहार करके वे दिन-रात शोक की अग्नि में जलते हैं, उन्हें कभी चैन नहीं मिलता।

त्वां चैव नरशार्दूल गान्धारीं च यशस्विनीम्।
स शोचन् नरशार्दूलः शान्तिं नैवाधिगच्छति ॥३५॥

"पुरुषसिंह ! आप और यशस्विनी गान्धारी-देवी के लिए निरन्तर शोक करते हुए नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर को शान्ति नहीं मिल रही है।

ह्रिया च परयाऽऽविष्टो भवन्तं नाधिगच्छति।
पुत्रशोकाभिसन्तप्तं बुद्धिव्याकुलेन्द्रियम् ॥३६॥

"आप पुत्रशोक से अतिसन्तप्त हैं, आपकी बुद्धि और इन्द्रियाँ शोक से व्याकुल हैं। ऐसी स्थिति में अत्यन्त लज्जित होने के कारण वे आपके सामने नहीं आ रहे हैं।"

एवमुक्त्वा महाराज धृतराष्ट्रं यदूत्तमः।
उवाच परमं वाक्यं गान्धारीं शोककर्शिताम् ॥३७॥

महाराज ! यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण राजा धृतराष्ट्र से ऐसा कहकर शोक से दुर्बल हुई गान्धारी देवी से यह उत्तम वचन बोले—

सौबलेयि निबोध त्वं यत्त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु।
त्वत्समा नास्ति लोकेऽस्मिन्नद्य सीमन्तिनी शुभे ॥३८॥

"सुबलनन्दिनि ! मैं आपसे जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो और समझो। शुभे ! इस जगत् में तुम-जैसी तपोबल-सम्पन्न स्त्री दूसरी कोई नहीं है।

जानासि च यथा राज्ञि सभायां मम संन्निधौ।
धर्मार्थसहितं वाक्यमुभयोः पक्षयोर्हितम्।
उक्तवत्यसि कल्याणि न च ते तनयैः कृतम् ॥३९॥

"रानी ! आपको स्मरण होगा, उस दिन सभा में मेरे सामने ही तुमने दोनों पक्षों का हित करने-वाला धर्म और अर्थयुक्त वचन कहा था, परन्तु कल्याणि ! तुम्हारे पुत्रों ने उसे नहीं माना।

दुर्योधनस्त्वया चोक्तो जयार्थी परुषं वचः।
शृणु मूढ वचो मह्यं यतो धर्मस्ततो जयः ॥४०॥

"आपने विजय के अभिलाषी दुर्योधन को सम्बो-धित करके उससे अत्यन्त रुखाई के साथ कहा था—'ओ मूढ़ ! मेरी बात सुन ले, जहाँ धर्म होता है, उसी पक्ष की विजय होती है।'

तदिदं समनुप्राप्तं तव वाक्यं नृपात्मजे ।
एवं विदित्वा कल्याणि मा स्म शोके मनः कृथाः ।।४१।।

"कल्याणमयी राजपुत्री ! तुम्हारी वही बात आज सत्य सिद्ध हुई है, ऐसा समझकर तुम मन में शोक मत करो ।

पाण्डवानां विनाशाय मा ते बुद्धिः कदाचन ।
शक्ता चासि महाभागे पृथिवीं सचराचराम् ।
चक्षुषा क्रोधदीप्तेन निर्दग्धुं तपसो बलात् ।।४२।।

"पाण्डवों के विनाश का विचार आपके मन में कभी नहीं आना चाहिए । महाभागे ! तुम अपने तपोबल और क्रोधभरी दृष्टि द्वारा चराचर प्राणियों-सहित सम्पूर्ण पृथिवी को भस्म कर डालने की शक्ति रखती हो ।"

वासुदेववचः श्रुत्वा गान्धारी वाक्यमब्रवीत् ।
एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि केशव ।।४३।।
आधिभिर्दह्यमानाया मतिः संचलिता मम ।
सा मे व्यवस्थिता श्रुत्वा तव वाक्यं जनार्दन ।।४४।।

श्रीकृष्ण की यह बात सुनकर गान्धारी ने कहा—"महाबाहु केशव ! तुम जैसा कहते हो, वह बिलकुल सत्य है । मानसिक व्यथाओं से दग्ध होने के कारण मेरी बुद्धि विचलित हो गई थी [अतः मैं पाण्डवों के अनिष्ट की बात सोचने लगी थी], परन्तु जनार्दन ! इस समय तुम्हारी बात सुनकर मेरी बुद्धि स्थिर हो गई है—क्रोध का आवेश उतर गया है ।

राज्ञस्त्वन्धस्य वृद्धस्य हतपुत्रस्य केशव ।
त्वं गतिः सहितैर्वीरैः पाण्डवैर्द्विपदां वर ।।४५।।

"मनुष्यों में श्रेष्ठ केशव ! ये राजा अन्धे और बूढ़े हैं तथा इनके सभी पुत्र मारे गये हैं । अब समस्त वीर पाण्डवों के साथ तुम्हीं इनके आश्रयदाता हो ।"

एतावदुक्त्वा वचनं मुखं प्रच्छाद्य वाससा ।
पुत्रशोकाभिसन्तप्ता गान्धारी प्ररुरोद ह ।।४६।।

इतनी बात कहकर पुत्रशोक से सन्तप्त हुई गान्धारी देवी अपने मुख को आँचल से ढककर फूट-फूटकर रोने लगीं ।

तत एनां महाबाहुः केशवः शोककर्शिताम् ।
हेतुकारणसंयुक्तैर्वाक्यैराश्वासयत् प्रभुः ।।४७।।

तब महाबाहु केशव ने शोक से दुर्बल हुई गान्धारी को कितने ही कारण बताकर युक्तियुक्त वचनों द्वारा आश्वासन दिया—धैर्य बँधाया ।

समाश्वास्य च गान्धारीं धृतराष्ट्रं च माधवः ।
प्रायात् ततस्तु त्वरितो दारुकेण सहाच्युतः ।।४८।।

गान्धारी और धृतराष्ट्र को सान्त्वना देकर माधव श्रीकृष्ण दारुक के साथ वहाँ से शीघ्र ही चल दिये ।

आगम्य शिबिरं रात्रौ सोऽभ्यगच्छत पाण्डवान् ।
तच्च तेभ्यः समाख्याय सहितस्तैः समाहितः ।।४९।।

शिविर में आकर रात्रि में वे पाण्डवों से मिले और उन्हें सारा वृत्तान्त सुनाकर उन्हींके साथ सावधान होकर रहे ।

इति महाभारते शल्यपर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः ।।२२।।

त्रयर्विशोऽध्याय:

दुर्योधन का सञ्जय के समक्ष विलाप तथा वाहकों द्वारा अपने साथियों को सन्देश भेजना

धृतराष्ट्र उवाच

अधिष्ठितः पदा मूर्ध्नि भग्नसक्थो महीं गतः ।
शौर्याभिमानी पुत्रो मे किमभाषत सञ्जय ।।१।।

धृतराष्ट्र ने पूछा—सञ्जय ! जिसे अपने बल पर बड़ा अभिमान था, जब जाँघें टूट जाने के कारण मेरा वह पुत्र पृथिवी पर गिर पड़ा और भीमसेन ने उसके मस्तक पर पैर रख दिया, तब उसने क्या कहा ?

सञ्जय उवाच

भग्नसक्थो नृपो राजन् पाँसुना सोऽवगुण्ठितः ।
गर्हयन् पाण्डवं ज्येष्ठं निःश्वस्येदमथाब्रवीत् ।।२।।

सञ्जय ने कहा—राजन् ! टूटी हुई जाँघोंवाले और धरती पर गिरकर धूल में सने हुए राजा दुर्योधन ने ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर की निन्दा करते हुए दीर्घ निःश्वास छोड़, इस प्रकार कहा—

भीष्मे शान्तनवे नाथे कर्णे शस्त्रभृतां वरे ।

गौतमे शकुनौ चापि द्रोणे चास्त्रभृतां वरे ।।३।।
अश्वत्थाम्नि तथा शल्ये शूरे च कृतवर्मणि ।
इमामवस्थां प्राप्तोऽस्मि कालो हि दुरतिक्रमः ।।४।।

"शान्तनुनन्दन भीष्म, शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ कर्ण, कृपाचार्य, शकुनि, अस्त्रधारियों में सर्वश्रेष्ठ द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, शूरवीर शल्य और कृतवर्मा मेरे रक्षक थे, तो भी मैं इस अवस्था को प्राप्त हो गया। निश्चय ही काल का उल्लङ्घन करना किसी के लिए भी अत्यन्त कठिन है।

एकादशचमूभर्ता सोऽहमेतां दशां गतः ।
कालं प्राप्य महाबाहो न कश्चिदतिवर्तते ।।५।।

"महाबाहो सञ्जय ! मैं एक दिन ग्यारह अक्षौहिणी सेना का स्वामी था, परन्तु आज इस अवस्था में आ पड़ा हूँ। वस्तुतः काल को पाकर कोई उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता।

आख्यातव्यं मदीयानां येऽस्मिञ्जीवन्ति संयुगे ।
यथाहं भीमसेनेन व्युत्क्रम्य समयं हतः ।।६।।

"मेरे पक्ष के वीरों में जो लोग इस युद्ध में जीवित बच गये हों, उन्हें यह बताना कि भीमसेन ने किस प्रकार गदायुद्ध के नियम का उल्लङ्घन करके मुझे मारा है।

किन्तु चित्रमितस्त्वद्य भग्नसक्थस्य यन्मम ।
क्रुद्धेन भीमसेनेन पादेन मृदितं शिरः ।।७।।

"आज जब मेरी जाँघें टूट गई थीं, ऐसी अवस्था में कुपित हुए भीमसेन ने मेरे मस्तक को जो पैर से ठुकराया है, इससे बढ़कर दुःखभरे आश्चर्य की बात और क्या हो सकती है ?

प्रतपन्तं श्रिया जुष्टं वर्तमानं च बन्धुषु ।
एवं कुर्यान्नरो यो हि स वै सञ्जय पूजितः ।।८।।

"सञ्जय ! जो अपने तेज से तप रहा हो, राज्य-लक्ष्मी से सेवित हो और अपने सहायक बन्धु-बान्धवों के बीच में विद्यमान हो, ऐसे शत्रु के साथ जो उक्त व्यवहार करे, वही वीर पुरुष सम्मानित होता है [मरे हुए को मारने में क्या बड़ाई है !]

अभिज्ञौ युद्धधर्मस्य मम माता पिता च मे ।
तौ हि सञ्जय दुःखार्तौ विज्ञाप्यौ वचनाद्धि मे ।।९।।
इष्टं भृत्या भृताः सम्यग् भूः प्रशास्ता ससागरा ।
अमित्रा बाधिताः सर्वे को नु स्वन्ततरो मया ।।१०।।

"सञ्जय ! मेरे माता-पिता युद्धधर्म के ज्ञाता हैं। वे दोनों मेरी मृत्यु का समाचार सुनकर दुःख से आतुर हो जाएँगे। तुम मेरे कहने से उन्हें यह सन्देश देना कि मैंने यज्ञ किये, जो भरण-पोषण करने योग्य थे, उनका पालन किया और समुद्रपर्यन्त पृथिवी का अच्छी प्रकार शासन किया। साथ ही सम्पूर्ण शत्रुओं को सदा ही क्लेश पहुँचाया। संसार में कौन ऐसा पुरुष है, जिसका अन्त मेरे समान सुन्दर हुआ हो ?

मानिता बान्धवाः सर्वे वश्यः सम्पूजितो जनः ।
त्रितयं सेवितं सर्वं को नु स्वन्ततरो मया ।।११।।

"मैंने सभी इष्ट-मित्रों को सम्मान दिया। अपनी आज्ञा के अधीन रहनेवाले लोगों का आदर-सत्कार किया और धर्म, अर्थ तथा काम—सबका सेवन किया, अतः मेरे समान सुन्दर अन्त किसका हुआ होगा ?

आज्ञप्तं नृपमुख्येषु मानः प्राप्तः सुदुर्लभः ।
आजानेयैस्तथा यातं को नु स्वन्ततरो मया ।।१२।।

"राजाओं में प्रमुख महाराजाओं पर हुक्म चलाया, अत्यन्त दुर्लभ सम्मान प्राप्त किया और आजानेय [उत्तम, अरबी] घोड़ों पर सवारी की, अतः मुझसे श्रेष्ठ अन्त और किसका हुआ होगा ?

अधीतं विधिवद् दत्तं प्राप्तमायुर्निरामयम् ।
स्वधर्मेण जिता लोकाः को नु स्वन्ततरो मया ।।१३।।

मैंने विधिवत् वेदों का स्वाध्याय किया, अनेक प्रकार के दान दिये और रोगरहित आयु प्राप्त की। इन सबके अतिरिक्त मैंने पुण्यलोकों पर विजय पाई है, अतः मेरे समान उत्तम अन्त और किसका हुआ होगा ?

दिष्टया नाहं जितः संख्ये परान् प्रेष्यवदाश्रितः ।
दिष्टया मे विपुला लक्ष्मीर्मृते त्वन्यगता विभो ।।१४।।

"विभो ! सौभाग्य की बात है कि मैं न तो युद्ध में कभी पराजित हुआ और न दास की भाँति कभी शत्रुओं की शरण ली। सौभाग्य से मेरे अधिकार में विशाल राज्यलक्ष्मी रही है, जो मेरे मरने के पश्चात् ही दूसरे के हाथ में गई है।

अश्वत्थामा महाभागः कृतवर्मा च सात्वतः।
कृपः शारद्वतश्चैव वक्तव्या वचनान्मम ॥१५॥
अधर्मेण प्रवृत्तानां पाण्डवानामनेकशः।
विश्वासं समयघ्नानां न यूयं गन्तुमर्हथ ॥१६॥

"महाभाग अश्वत्थामा, सात्वतवंशी कृतवर्मा और कृपाचार्य—इन सबको मेरी यह बात सुना देना कि पाण्डवों ने अधर्म में प्रवृत्त होकर अनेक बार युद्ध की मर्यादा तोड़ी है, अतः आप लोग कभी उनका विश्वास न करें।"

वार्तिकाँश्चाब्रवीद् राजा पुत्रस्ते सत्यविक्रमः।
अधर्माद् भीमसेनेन निहतोऽहं यथा रणे ॥१७॥
सोऽहं स्वर्गगतं द्रोणं कर्णशल्यावुभौ तथा।
दुःशासनपुरोगाँश्च भ्रातृनात्मसमाँस्तथा ॥१८॥
एताँश्चान्याँश्च सुबहून् मदीयाँश्च सहस्रशः।
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सार्थहीनो यथाध्वगः ॥१९॥

मुझ-[सञ्जय]-से ऐसा कहकर आपके सत्य-पराक्रमी पुत्र राजा दुर्योधन ने सन्देशवाहक दूतों से इस प्रकार कहा—"भीमसेन ने युद्धभूमि में अधर्म से मेरा वध किया है। अब मैं स्वर्ग में गये हुए द्रोणाचार्य, कर्ण, शल्य, अपने ही समान पराक्रमी दुःशासन आदि बन्धुगण—इन सबके तथा और भी जो बहुत-से मेरे पक्ष के सहस्रों योद्धा मारे गये हैं, उन सबके पीछे स्वर्ग में जाऊँगा। मेरी अवस्था उस पथिक के समान है, जो अपने साथियों से बिछुड़ गया हो।

कथं भ्रातृन् हताञ्श्रुत्वा भर्तारं च स्वसा मम।
रोरूयमाणा दुःखार्ता दुःशला सा भविष्यति ॥२०॥

"हाय! अपने भाइयों और पति की मृत्यु का समाचार सुनकर दुःख से व्याकुल हो अत्यन्त रुदन करती हुई मेरी बहिन दुःशला की क्या दशा होगी?

स्नुषाभिः प्रस्नुषाभिश्च वृद्धो राजा पिता मम।
गान्धारीसहितश्चैव कां गतिं प्रतिपत्स्यति ॥२१॥

"पुत्रों और पौत्रों की बिलखती हुई बहुओं के साथ मेरे बूढ़े पिता राजा धृतराष्ट्र माता गान्धारी-सहित किस अवस्था को पहुँच जाएँगे?

नूनं लक्ष्मणमातापि हतपुत्रा हतेश्वरा।
विनाशं यास्यति क्षिप्रं कल्याणी पृथुलोचना ॥२२॥

"निश्चय ही जिसके पति और पुत्र मारे गये हैं, वह कल्याणमयी विशाल नेत्रोंवाली लक्ष्मण की माता भी सारा समाचार सुनकर तुरन्त ही प्राण दे देगी।

समन्तपञ्चके पुण्ये त्रिषु लोकेषु विश्रुते।
अहं निधनमासाद्य लोकान्प्राप्स्यामि शाश्वतान् ॥२३॥

"तीनों लोकों में विख्यात पुण्यमय समन्त पञ्चक क्षेत्र में मृत्यु को प्राप्त होकर अब मैं सनातन लोकों में जाऊँगा।"

ते द्रोणपुत्रमासाद्य यथावृत्तं न्यवेदयन्।
व्यवहारं गदायुद्धे पार्थिवस्य च पातनम् ॥२४॥

उन सन्देशवाहकों ने गदायुद्ध में भीमसेन का जैसा व्यवहार हुआ और राजा दुर्योधन को जिस प्रकार धराशायी किया गया, वह सारा वृत्तान्त द्रोणपुत्र अश्वत्थामा को यथावत् कह सुनाया।

इति महाभारते शल्यपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

दुर्योधन की अवस्था देखकर अश्वत्थामा का विषाद, उसकी प्रतिज्ञा और दुर्योधन द्वारा उसका सेनापति-पद पर अभिषेक

सञ्जय उवाच

वार्तिकाणां सकाशात्तु श्रुत्वा दुर्योधनं हतम्।
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ॥१॥
त्वरिता जवनैरश्वैरायोधनमुपागमन्।
तत्रापश्यन् महात्मानं धार्तराष्ट्रं निपातितम् ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! सन्देशवाहकों के मुख से दुर्योधन के मारे जाने का समाचार सुनकर अश्वत्थामा, कृपाचार्य और सात्वतवंशी कृतवर्मा—शीघ्रगामी घोड़ों से जुते हुए रथ पर सवार हो तुरन्त ही युद्धभूमि में आये। वहाँ आकर उन्होंने देखा कि महामनस्वी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन धराशायी कर दिया गया है।

ते तं दृष्ट्वा महेष्वासं भूतले पतितं नृपम् ।
मोहमभ्यागमन् सर्वे कृपप्रभृतयो रथाः ।।३।।

महाधनुर्धर राजा दुर्योधन को पृथिवी पर पड़ा हुआ देख कृपाचार्य आदि सभी महारथी शोक के वशीभूत हो गये ।

अवतीर्य रथेभ्यश्च प्राद्रवन् राजसन्निधौ ।
दुर्योधनं च सम्प्रेक्ष्य सर्वे भूमावुपाविशन् ।।४।।

वे अपने रथों से उतरकर राजा के पास दौड़े हुए गये और दुर्योधन को देखकर सब लोग उसके पास ही भूमि पर बैठ गये।

ततो द्रोणिर्महाराज बाष्पपूर्णेक्षणः श्वसन् ।
उवाच भरतश्रेष्ठं सर्वलोकेश्वरेश्वरम् ।।५।।

महाराज ! उस समय अश्वत्थामा की आँखों में आँसू भर आये। वह सिसकता हुआ सम्पूर्ण जगत् के राजाधिराज भरतभूषण दुर्योधन से इस प्रकार बोला—

न नूनं विद्यते सत्यं मानुषे किञ्चिदेव हि ।
यत्र त्वं पुरुषव्याघ्र शेषे पाँसुषु रूषितः ।।६।।

"पुरुषसिंह ! निश्चय ही इस संसार में कुछ भी सत्य नहीं है, सभी नाशवान् है, जहाँ तुम्हारे-जैसा राजा धूल में सना हुआ लोट रहा है ।

दुर्विज्ञेया गतिर्नूनं कार्याणां कारणान्तरे ।
यद् वै लोकगुरुर्भूत्वा भवानेतां दशां गतः ।।७।।

"किस कारण से कौन-सा कार्य होगा, इसको समझ लेना निश्चय ही बहुत कठिन है, क्योंकि सम्पूर्ण संसार के सम्माननीय नरेश होकर भी आज आप इस अवस्था को पहुँच गये ।

अध्रुवा सर्वमर्त्येषु श्रीरुपलक्ष्यते भृशम् ।
भवतो व्यसनं दृष्ट्वा शक्रविस्पर्धिनो भृशम् ।।८।।

"आप अपनी साम्राज्य-लक्ष्मी के द्वारा इन्द्र की समानता करनेवाले थे । आज आपपर यह संकट आया हुआ देखकर निश्चय हो गया कि किसी भी मनुष्य की सम्पत्ति सदा स्थिर नहीं देखी जा सकती ।"

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा दुःखितस्य विशेषतः ।
उवाच राजन् पुत्रस्ते प्राप्तकालमिदं वचः ।।९।।

राजन् ! अत्यन्त दुःखी हुए अश्वत्थामा की वह बात सुनकर आपके पुत्र राजा दुर्योधन ने यह समयोचित वचन कहा—

ईदृशो लोकधर्मोऽयं धात्रा निर्दिष्ट उच्यते ।
विनाशः सर्वभूतानां कालपर्यायमागतः ।।१०।।

"मित्रो ! इस मर्त्यलोक का ऐसा ही धर्म=नियम है । विधाता ने ही इसका निर्देश किया है, ऐसा कहा जाता है, अतः कालक्रम से एक-न-एक दिन सब प्राणियों के विनाश की घड़ी आ ही जाती है ।

सोऽयं मां समनुप्राप्तः प्रत्यक्षं भवतां हि यः ।
पृथिवीं पालयित्वाहमेतां निष्ठामुपागतः ।।११।।

"वही यह विनाश का समय अब मुझे भी प्राप्त हुआ है, जिसे आप लोग प्रत्यक्ष देख रहे हैं। एक दिन मैं सारी पृथिवी का पालक था और आज इस दशा को पहुँच गया हूँ ।

दिष्टया नाहं परावृत्तो युद्धे कस्यांचिदापदि ।
दिष्टयाहं निहतः पापैश्छलेनैव विशेषतः ।।१२।।

"तो भी मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि कैसी ही आपत्ति क्यों न आई, मैंने युद्ध से कभी मुख नहीं मोड़ा । यह भी मेरे लिए सौभाग्य की बात है कि पापियों ने मुझे छल से मारा है ।

उत्साहश्च कृतो नित्यं मया दिष्टया युयुत्सता ।
दिष्टया चास्मिन्हतो युद्धे निहतज्ञातिबान्धवः ।।१३।।

"यह भी सौभाग्य की बात है कि मैंने युद्धभूमि में जूझने की इच्छा रखकर सदा उत्साह ही दिखाया है तथा बन्धु-बान्धवों के मारे जाने पर स्वयं भी युद्ध में ही प्राण त्याग रहा हूँ, यह भी मेरे लिए सन्तोष एवं सौभाग्य की बात है ।

दिष्टया च वोऽहं पश्यामि मुक्तानस्माज्जनक्षयात् ।
स्वस्तियुक्तांश्च कल्यांश्च तन्मे प्रियमनुत्तमम् ।।१४।।

यह भी सौभाग्य की बात है कि मैं आप लोगों को इस नर-संहार से मुक्त देख रहा हूँ । इतना ही नहीं कि आप बच गये हैं अपितु आप लोग सकुशल और कुछ करने में समर्थ हैं—यह मेरे लिए और भी अधिक प्रसन्नता और सन्तोष की बात है ।

मा भवन्तोऽत्र तप्यन्तां सौहृदान्निधनेन मे ।
यदि वेदाः प्रमाणं वो जिता लोका मयाक्षयाः ।।१५।।

"आप लोगों का मुझपर स्वाभाविक स्नेह है,

परन्तु मेरी मृत्यु से आप लोगों को दुःख और सन्ताप नहीं होना चाहिए। यदि आपकी दृष्टि में वेदशास्त्र प्रामाणिक हैं तो मैंने अक्षय लोकों पर अधिकार प्राप्त कर लिया है।

मन्यमानः प्रभावं च कृष्णस्यामिततेजसः।
तेन न च्यावितश्चाहं क्षत्रधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स मया समनुप्राप्तो नास्मि शोच्यः कथञ्चन ॥१६॥

"अमित तेजस्वी श्रीकृष्ण के अद्भुत प्रभाव को मानते हुए भी, मैं उनकी उत्तेजना से उत्तम प्रकार से पालन किये हुए सनातन क्षत्रियधर्म से कभी विचलित नहीं हुआ। मैंने उस धर्मपालन का फल प्राप्त किया है, अतः मैं किसी प्रकार भी शोक करने के योग्य नहीं हूँ।"

कृतं भवद्भिः सदृशमनुरूपमिवात्मनः।
यतितं विजये नित्यं दैवं तु दुरतिक्रमम् ॥१७॥

"आप लोगों ने अपने स्वरूप के अनुरूप योग्य पराक्रम प्रकट किया और सदा मुझे विजय दिलाने का प्रयत्न किया, तथापि दैव के विधान का उल्लङ्घन करना किसी के लिए भी सर्वथा कठिन है।"

एतावदुक्त्वा वचनं बाष्पव्याकुललोचनः।
तूष्णीं बभूव राजेन्द्र रुजासौ विह्वलो भृशम् ॥१८॥

हे राजेन्द्र! इतना कहते-कहते दुर्योधन की आँखें आँसुओं से भर आयीं और वह वेदना से अत्यन्त व्याकुल होकर चुप हो गया—उससे कुछ बोला नहीं गया।

तथा दृष्ट्वा तु राजानं बाष्पशोकसमन्वितम्।
द्रौणिः क्रोधेन जज्वाल यथा वह्निर्जगत्क्षये ॥१९॥

राजा दुर्योधन को शोक के आँसू बहाते देख अश्वत्थामा प्रलयकाल की अग्नि के समान क्रोध से प्रज्वलित हो उठा।

स च क्रोधसमाविष्टः पाणौ पाणिं निपीड्य च।
बाष्पविह्वलया वाचा राजानमिदमब्रवीत् ॥२०॥

रोष के आवेश में भरकर उसने हाथ को हाथ से दबाकर और अश्रुगद्गद वाणी द्वारा राजा दुर्योधन से इस प्रकार कहा—

पिता मे निहतः क्षुद्रैः सुनृशंसेन कर्मणा।
न तथा तेन तप्यामि यथा राजँस्त्वयाद्य वै ॥२१॥

"राजन्! नीच पाण्डवों ने अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कर्म के द्वारा मेरे पिता का वध किया था, परन्तु उसके कारण भी मैं उतना सन्तप्त नहीं हूँ, जैसा कि आज तुम्हारे वध से दुःखी हो रहा हूँ।

शृणु चेदं वचो मे त्वं सत्येन वदतः प्रभो।
अद्याहं सर्वपाञ्चालान् वासुदेवस्य पश्यतः ॥२२॥
सर्वोपायैर्हि नेष्यामि प्रेतराजनिवेशनम्।
अनुज्ञां तु महाराज भवान् मे दातुमर्हति ॥२३॥

"प्रभो! मैं सत्य की शपथ खाकर जो कह रहा हूँ, मेरी इस बात को सुनो। मैं आज श्रीकृष्ण के देखते-देखते सम्पूर्ण पाञ्चालों को सभी उपायों द्वारा यमराज के लोक में भेज दूँगा। महाराज! इसके लिए आप मुझे आज्ञा प्रदान करें।"

इति श्रुत्वा तु वचनं द्रोणपुत्रस्य कौरवः।
मनसः प्रीतिजननं कृपं वचनमब्रवीत्।
आचार्य शीघ्रं कलशं जलपूर्णं समानय ॥२४॥

द्रोणपुत्र अश्वत्थामा का यह मन को प्रसन्न करनेवाला वचन सुनकर कुरुराज दुर्योधन ने कृपाचार्य से कहा—"आचार्य! आप शीघ्र ही जल से भरा हुआ कलश ले आइए।"

स तद् वचनमाज्ञाय राज्ञो ब्राह्मणसत्तमः।
कलशं पूर्णमादाय राज्ञोऽन्तिकमुपागमत् ॥२५॥

राजा की यह बात सुनकर ब्राह्मण-शिरोमणि कृपाचार्य जल से भरा हुआ कलश ले उसके समीप आये।

तमब्रवीन्महाराज पुत्रस्तव विशाम्पते।
ममाज्ञया द्विजश्रेष्ठ द्रोणपुत्रोऽभिषिच्यताम्।
सैनापत्येन भद्रं ते मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥२६॥

महाराज! प्रजानाथ! तब आपके पुत्र ने उससे कहा—"द्विजश्रेष्ठ! आपका कल्याण हो। यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो मेरी आज्ञा से द्रोणपुत्र का सेनापति के पद पर शीघ्र अभिषेक कीजिए।"

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा कृपः शारद्वतस्तथा।
द्रौणिं राज्ञो नियोगेन सैनापत्येऽभ्यषेचयत् ॥२७॥

राजा की यह बात सुनकर शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य ने उसकी आज्ञा के अनुसार—अश्वत्थामा का सेनापति के पद पर अभिषेक किया।

सोऽभिषिक्तो महाराज परिष्वज्य नृपोत्तमम् ।
प्रययौ सिंहनादेन दिशः सर्वा निनादयन् ॥२८॥

महाराज ! अभिषेक हो जाने पर अश्वत्थामा ने नृपश्रेष्ठ दुर्योधन को हृदय से लगाया और अपने सिंहनाद से सम्पूर्ण दिशाओं को निनादित करते हुए वहाँ से प्रस्थान किया।

दुर्योधनोऽपि राजेन्द्र शोणितेन परिप्लुतः ।
तां निशां प्रतिपेदेऽथ सर्वभूतभयावहाम् ॥२९॥

हे राजेन्द्र ! रक्त से लथपथ दुर्योधन ने भी सम्पूर्ण प्राणियों के मन में भय उत्पन्न करनेवाली वह रात्रि वहीं व्यतीत की।

अपक्रम्य तु ते तूर्णं तस्मादायोधनान्नृप ।
शोकसंविग्नमनसश्चिन्ताध्यानपराभवन् ॥३०॥

नरेश्वर ! शोक से व्याकुलचित्त हुए वे तीनों महारथी उस युद्धभूमि से तुरन्त ही दूर हट गये और चिन्ता एवं कर्तव्य के विचार में निमग्न हो गये।

इति महाभारते शल्यपर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

॥ इति शल्यपर्व सम्पूर्णम् ॥

सौप्तिकपर्व

प्रथमोऽध्यायः

तीन महारथियों का एक वन में विश्राम, कौओं पर उलूक का आक्रमण देख अश्वत्थामा के मन में क्रूर सङ्कल्प का उदय और अपने साथियों से विचार-विमर्श

धृतराष्ट्र उवाच

अधर्मेण हते तात पुत्रे दुर्योधने मम।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिः किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—तात! सञ्जय! मेरे पुत्र दुर्योधन के अधर्मपूर्वक मारे जाने पर कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा ने क्या किया?

सञ्जय उवाच

गत्वा तु तावका राजन् नातिदूरमवस्थिताः।
अपश्यन्त वनं घोरं नानाद्रुमलतावृतम् ॥२॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! आपके पक्ष के वे तीनों वीर वहाँ से थोड़ी ही दूर जाकर खड़े हो गये। वहाँ उन्होंने नाना प्रकार के वृक्षों और लताओं से भरा हुआ एक भयंकर वन देखा।

ते मुहूर्तं तु विश्रम्य लब्धतोयैर्हयोत्तमैः।
सूर्यास्तमनवेलायां समासेदुर्महद् वनम् ॥३॥

उस स्थान पर थोड़ी देर विश्राम करके उन सब लोगों ने अपने उत्तम घोड़ों को पानी पिलाया और सूर्यास्त होते-होते वे उस विशाल तथा घोर वन में जा पहुँचे।

प्रविश्य तद् वनं घोरं वीक्षमाणाः समन्ततः।
शाखासहस्रसंछन्नं न्यग्रोधं ददृशुस्ततः ॥४॥

उस भयंकर वन में प्रवेश करके सब ओर दृष्टि डालने पर उन्हें सहस्रों शाखाओं से आच्छादित एक बरगद का वृक्ष दिखाई दिया।

तेऽवतीर्य रथेभ्यश्च विप्रमुच्य च वाजिनः।
उपस्पृश्य यथान्यायं सन्ध्यामन्वासत प्रभो ॥५॥

प्रभो! वहाँ रथों से उतरकर उन तीनों ने अपने घोड़ों को खोल दिया और यथोचितरूप से स्नान आदि करके सन्ध्योपासना की।

ततोऽस्तं पर्वतश्रेष्ठमनुप्राप्ते दिवाकरे।
सर्वस्य जगतो धात्री शर्वरी समपद्यत ॥६॥

तत्पश्चात् सूर्यदेव के पर्वतश्रेष्ठ अस्ताचल पर पहुँच जाने पर धाय की भाँति सम्पूर्ण संसार को अपनी गोद में विश्राम देनेवाली रात्रि-देवी का सर्वत्र आधिपत्य हो गया।

तस्मिन् रात्रिमुखे घोरे दुःखशोकसमन्विताः।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिरुपोपविविशुः समम् ॥७॥

रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत हो रहा था। उस भयंकर वेला में दुःख और शोक से सन्तप्त हुए कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा एक साथ ही आस-पास बैठ गये।

तत्रोपविष्टाः शोचन्तः कुरुपाण्डवयोः क्षयम्।
निद्रया च परीताङ्गा निषेदुर्धरणीतले ॥८॥

वहाँ बैठकर कौरव और पाण्डव योद्धाओं के विनाश के लिए शोक करते हुए वे तीनों वीर निद्रा से सारे अङ्ग शिथिल हो जाने के कारण पृथिवी पर लेट गये।

ततो निद्रावशं प्राप्तौ कृपभोजौ महारथौ।
सुखोचितावदुःखार्हौ निषण्णौ धरणीतले ॥९॥

तब कृपाचार्य और कृतवर्मा—इन दोनों महारथियों को गाढ निद्रा ने आ दबाया। वे सुख भोगने के योग्य थे, दुःख पाने योग्य कदापि नहीं थे, तो भी धरती पर ही सो गये थे।

क्रोधामर्षवशं प्राप्तो द्रोणपुत्रस्तु भारत ।
न वै स्म स जगामाथ निद्रां सर्प इव श्वसन् ।।१०।।

हे भारत ! अश्वत्थामा क्रोध और अमर्ष के वशीभूत था, अतः उस समय उसे नींद नहीं आई । वह सर्प के समान लम्बी साँसें छोड़ता रहा ।

न लेभे स तु निद्रां वै दह्यमानो हि मन्युना ।
वीक्षाञ्चक्रे महाबाहुस्तद् वनं घोरदर्शनम् ।।११।।

क्रोध से जलते रहने के कारण नींद उसके पास फटक नहीं पा रही थी । उस महाबाहु वीर ने भयंकर दिखाई देनेवाले उस वन की ओर बारम्बार दृष्टि-पात किया ।

वीक्षमाणो वनोद्देशं नानासत्त्वैर्निषेवितम् ।
अपश्यत महाबाहुर्न्यग्रोधं वायसैर्युतम् ।।१२।।

नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं से सेवित वनस्थली का निरीक्षण करते हुए महाबाहु अश्वत्थामा ने कौओं से भरे हुए वटवृक्ष पर दृष्टिपात किया ।

तत्र काकसहस्राणि तां निशां पर्यणामयन् ।
सुखं स्वपन्ति कौरव्य पृथक् पृथगुपाश्रयाः ।।१३।।

कुरुनन्दन ! उस वृक्ष पर सहस्रों कौए रात में बसेरा ले रहे थे । वे पृथक्-पृथक् घोंसलों का आश्रय लेकर सुख की नींद सो रहे थे ।

सुप्तेषु तेषु काकेषु विश्रब्धेषु समन्ततः ।
सोऽपश्यत् सहसायान्तमुलूकं घोरदर्शनम् ।।१४।।

उन कौओं के सब ओर निर्भय होकर सो जाने पर अश्वत्थमा ने देखा कि सहसा एक भयानक उल्लू उधर आ निकला ।

सन्निपत्य तु शाखायां न्यग्रोधस्य विहङ्गमः ।
सुप्ताञ्जघान सुबहून् वायसान् वायसान्तकः ।।१५।।

कौओं के लिए कालरूपी उस पक्षी ने वटवृक्ष की उस शाखा पर बड़े वेग से आक्रमण किया और सोये हुए बहुत-से कौओं को मार डाला ।

केषाँचिदच्छिनत् पक्षाञ्छिरांसि च चकर्त ह ।
चरणाँश्चैव केषाँचिद् बभञ्ज चरणायुधः ।।१६।।

उसने अपने पञ्जों से ही अस्त्र का काम लेकर किन्हीं कौओं के पंख नोच डाले, किन्हीं के सिर काट लिये और किन्हीं के पाँव तोड़ डाले ।

तांस्तु हत्वा ततः काकान् कौशिको मुदितोऽभवत् ।
प्रतिकृत्य यथाकामं शत्रूणां शत्रुसूदनः ।।१७।।

वह शत्रुओं का संहारक उलूक उन कौओं का वध करके अपने शत्रुओं से इच्छानुसार भरपूर बदला लेकर बहुत प्रसन्न हुआ

तद् दृष्ट्वा सोपधं कर्म कौशिकेन कृतं निशि ।
तद्भावकृतसङ्कल्पो द्रौणिरेकोऽन्वचिन्तयत् ।।१८।।

रात्रि में उलूक द्वारा किये गये उस कपटपूर्ण क्रूरकर्म को देखकर स्वयं भी वैसा ही करने का सङ्कल्प लेकर अश्वत्थमा अकेला ही विचार करने लगा—

उपदेशः कृतोऽनेन पक्षिणा मम संयुगे ।
शत्रूणां क्षपणे युक्तः प्राप्तः कालश्च मे मतः ।।१९।।

'मुझे युद्ध में क्या करना चाहिए, इस पक्षी ने इसका उपदेश कर दिया । मैं समझता हूँ कि मेरे लिए इसी प्रकार शत्रुओं के संहार करने का समय प्राप्त हुआ है ।

नाद्य शक्या मया हन्तुं पाण्डवा जितकाशिनः ।
बलवन्तः कृतोत्साहाः प्राप्तलक्ष्याः प्रहारिणः ।।२०।।

'पाण्डव विजय से उल्लसित, बलवान्, उत्साही और प्रहार करने में कुशल हैं । उन्हें अपना लक्ष्य प्राप्त हो गया है । ऐसी दशा में आज मैं अपनी शक्ति से उनका वध नहीं कर सकता ।

न्यायतो युद्धमानस्य प्राणत्यागो न संशयः ।
छद्मना च भवेत् सिद्धिः शत्रूणां च क्षयो महान् ।।२१।।
तत्र संशयितादर्थाद् योऽर्थो निःसंशयो भवेत् ।
तं जना बहु मन्यन्ते ये च शास्त्रविशारदाः ।।२२।।

'इसमें सन्देह नहीं कि यदि मैं न्याय के अनुसार युद्ध करूँगा तो मुझे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा । यदि छल से काम लूं तो निश्चय ही मेरे अभीष्ट मनोरथ की सिद्धि हो सकती है । शत्रुओं का महान् संहार भी तभी सम्भव होगा । जहाँ सिद्धि मिलने में सन्देह हो, उसकी अपेक्षा उस उपाय का आश्रय लेना उत्तम है, जिसमें संशय के लिए स्थान न हो । साधारण लोग तथा शास्त्रज्ञ पुरुष भी उसी का अधिक आदर करते हैं ।

अस्मिन्नर्थे पुरा गीताः श्रूयन्ते धर्मचिन्तकैः ।
श्लोका न्यायमवेक्षद्भिस्तत्त्वार्थास्तत्त्वदर्शिभिः ।।२३।।

'इस विषय में न्याय पर दृष्टि रखनेवाले धर्म-चिन्तक एवं तत्त्वदर्शी पुरुषों ने प्राचीनकाल में ऐसे श्लोकों का गान किया है, जो तात्त्विक अर्थों का प्रतिपादन करनेवाले हैं। वे श्लोक इस प्रकार सुने जाते हैं—

परिश्रान्ते विदीर्णे वा भुञ्जाने वापि शत्रुभिः ।
प्रस्थाने वा प्रवेशे वा प्रहर्तव्यं रिपोर्बलम् ॥२४॥

"शत्रुओं की सेना यदि बहुत थक गयी हो, तितर-बितर हो गई हो, भोजन कर रही हो, कहीं जा रही हो, अथवा किसी स्थान विशेष में प्रवेश कर रही हो तो भी विपक्षियों को उसपर प्रहार करना ही चाहिए।

निद्रार्तमर्धरात्रे च तथा नष्टप्रणायकम् ।
भिन्नयोधं बलं यच्च द्विधा युक्तं च यद् भवेत् ॥२५॥

"जो सेना अर्धरात्रि में निद्रा में अचेत पड़ी हो, जिसका सेनापति मारा गया हो, जिसके योद्धाओं में फूट पड़ी हो, और जो दुविधा में पड़ी हो, उसपर शत्रु को अवश्य प्रहार करना चाहिए।"

इत्येवं निश्चयं चक्रे सुप्तानां निशि मारणे ।
पाण्डूनां सह पाञ्चालैर्द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ॥२६॥

इस प्रकार विचार करके प्रतापी द्रोणपुत्र ने रात्रि में सोते समय पाञ्चालोंसहित पाण्डवों के वध का निश्चय किया।

स क्रूरां मतिमास्थाय विनिश्चित्य मुहुर्मुहुः ।
सुप्तौ प्राबोधयत् तौ तु मातुलं भोजमेव च ॥२७॥

क्रूरतापूर्ण बुद्धि का सहारा ले, बारम्बार उपर्युक्त निश्चय करके अश्वत्थामा ने सोये हुए अपने मामा कृपाचार्य और भोजवंशी कृतवर्मा को जगाया।

तौ प्रबुद्धौ महात्मानौ कृपभोजौ महाबलौ ।
नोत्तरं प्रतिपद्येतां तत्र युक्तं ह्रिया वृतौ ॥२८॥

जागने पर महामनस्वी महाबली कृपाचार्य और कृतवर्मा ने जब अश्वत्थामा का निश्चय सुना, तब वे लज्जा से गड़ गये और उन्हें कोई उत्तर नहीं सूझा।

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा बाष्पविह्वलमब्रवीत् ।
भवतोस्तु यदि प्रज्ञा न मोहादपनीयते ।
व्यापन्नेऽस्मिन् महत्यर्थे यन्नः श्रेयस्तदुच्यताम् ॥२९

तब अश्वत्थामा दो घड़ी तक चिन्तामग्न रहकर अश्रुगद्गद वाणी में इस प्रकार बोला—"यदि आपकी बुद्धि मोह से नष्ट न हो गई हो तो इस महान् संकट के समय अपने बिगड़े हुए कार्य को बनाने के उद्देश्य से हमारे लिए क्या करना श्रेष्ठ होगा, यह बताइए।"

कृप उवाच

श्रुतं ते वचनं सर्वं यद्यदुक्तं त्वया विभो ।
ममापि तु वचः किञ्चिच्छृणुष्वाद्य महाभुज ॥३०॥

कृपाचार्य ने कहा—शक्तिशाली महाबाहो! तुमने जो-जो बात कही है, वह सब मैंने सुन ली। अब कुछ मेरी भी बात सुनो।

आबद्धा मानुषाः सर्वे निबद्धाः कर्मणोर्द्वयोः ।
दैवे पुरुषकारे च परं ताभ्यां न विद्यते ॥३१॥

सभी मनुष्य प्रारब्ध और पुरुषार्थ दो प्रकार के कर्मों से बँधे हुए हैं। इन दो के सिवा दूसरा कुछ नहीं है।

न हि दैवेन सिध्यन्ति कार्याण्येकेन सत्तम ।
न चापि कर्मणैकेन द्वाभ्यां सिद्धिस्तु योगतः ॥३२॥

सत्पुरुषों में श्रेष्ठ अश्वत्थामन्! केवल दैव या प्रारब्ध से अथवा अकेले पुरुषार्थ से भी कार्यों की सिद्धि नहीं होती है। दोनों के संयोग से ही सिद्धि प्राप्त होती है।

पर्जन्यः पर्वते वर्षन् किन्नु साधयते फलम् ।
कृष्टे क्षेत्रे तथा वर्षन् किन्न साधयते फलम् ॥३३॥

मेघ पर्वत पर वर्षा करके किस फल की सिद्धि करता है? वही मेघ यदि जोते हुए खेत में वर्षा करे तो वह कौन-सा फल नहीं उत्पन्न कर सकता?

उत्थानं चाप्यदैवस्य ह्यनुत्थानं च दैवतम् ।
व्यर्थं भवति सर्वत्र पूर्वस्तत्र विनिश्चयः ॥३४॥

दैवरहित पुरुष का पुरुषार्थ व्यर्थ है और पुरुषार्थ शून्य दैव भी व्यर्थ हो जाता है। सर्वत्र ये दो ही पक्ष उठाये जाते हैं। इन दोनों में पहला पक्ष ही सिद्धान्त-भूत एवं श्रेष्ठ है [अर्थात् दैव के सहयोग के बिना पुरुषार्थ काम नहीं देता]।

सुवृष्टे च यथा देवे सम्यक् क्षेत्रे च कर्षिते ।
बीजं महागुणं भूयात् तथा सिद्धिर्हि मानुषी ॥३५॥

जैसे मेघ ने अच्छी प्रकार वर्षा की हो और खेत को भी भली-भांति जोता गया हो, तब उसमें बोया

हुआ बीज अधिक लाभदायक हो सकता है। इसी प्रकार मनुष्यों की सारी सिद्धि दैव और पुरुषार्थ के सहयोग पर ही अवलम्बित है।

कृतः पुरुषकारश्च सोऽपि दैवेन सिध्यति।
तथास्य कर्मणः कर्तुरभिनिर्वर्तते फलम् ॥३६॥

किया हुआ पुरुषार्थ भी दैव के सहयोग से ही सफल होता है तथा दैव की अनुकूलता से ही कर्ता को उसके कर्म का फल प्राप्त होता है।

उत्थानं च मनुष्यणां दक्षाणां दैववर्जितम्।
अफलं दृश्यते लोके सम्यगप्युपपादितम् ॥३७॥

चतुर मनुष्यों द्वारा अच्छी प्रकार सम्पादित किया हुआ पुरुषार्थ भी यदि दैव के सहयोग से रहित है तो वह संसार में निष्फल होता दिखाई देता है।

तत्रालसा मनुष्याणां ये भवन्त्यमनस्विनः।
उत्थानं ते विगर्हन्ति प्राज्ञानां तन्न रोचते ॥३८॥

मनुष्यों में जो आलसी और मन पर काबू न रखनेवाले होते हैं, वे पुरुषार्थ की निन्दा करते हैं, परन्तु विद्वानों को यह बात अच्छी नहीं लगती।

प्रायशो हि कृतं कर्म नाफलं दृश्यते भुवि।
अकृत्वा च पुनर्दुःखं कर्म पश्येन्महाफलम् ॥३९॥

प्रायः किया हुआ कर्म इस संसार में कभी व्यर्थ होता नहीं देखा जाता, परन्तु कर्म न करने से दुःख की प्राप्ति ही देखने में आती है, अतः कर्म को महान् फलदायक समझना चाहिए।

चेष्टामकुर्वल्लँभते यदि किञ्चिद् यदृच्छया।
यो वा न लभते कृत्वा दुर्दर्शौ तावुभावपि ॥४०॥

यदि कोई पुरुषार्थ न करके दैवेच्छा से ही कुछ पा जाता है अथवा जो पुरुषार्थ करके भी कुछ नहीं पाता, इन दोनों प्रकार के मनुष्यों का मिलना बहुत कठिन है।

शक्नोति जीवितुं दक्षो नालसः सुखमेधते।
दृश्यन्ते जीवलोकेऽस्मिन् दक्षाः प्रायो हितैषिणः ॥४१

पुरुषार्थ में लगा हुआ दक्ष पुरुष सुख से जीवन-निर्वाह कर सकता है, परन्तु आलसी मनुष्य कभी सुखी नहीं होता। इस संसार में प्रायः तत्परतापूर्वक कर्म करनेवाले ही अपना हित साधन करते देखे जाते हैं।

यदि दक्षः समारम्भात् कर्मणो नाश्नुते फलम्।
नास्य वाच्यं भवेत्किंचिल्लब्धव्यं वाधिगच्छति ॥४२॥

यदि कार्यदक्ष मनुष्य कर्म का आरम्भ करके भी उसका कोई फल नहीं पाता है तो उसके लिए उसकी कोई निन्दा नहीं की जाती अथवा वह अपने प्राप्तव्य लक्ष्य को पा ही लेता है।

अकृत्वा कर्म यो लोके फलं विन्दति धिष्ठितः।
स तु वक्तव्यतां याति द्वेष्यो भवति भूयशः ॥४३॥

परन्तु जो इस संसार में कोई कर्म न करके बैठा-बैठा फल भोगता है, वह प्रायः निन्दित होता है और दूसरों के द्वेष का पात्र बन जाता है।

हीनं पुरुषकारेण यदि दैवेन वा पुनः।
कारणाभ्यामथैताभ्यामुत्थानमफलं भवेत् ॥४४॥

पुरुषार्थहीन दैव अथवा दैवहीन पुरुषार्थ—इन दो ही कारणों से मनुष्य का उद्योग निष्फल होता है।

दैवतेभ्यो नमस्कृत्य यस्त्वर्थान् सम्यगीहते।
दक्षो दाक्षिण्यसम्पन्नो न स मोघैर्विहन्यते ॥४५॥

जो दैव को मस्तक झुकाकर सभी कार्यों के लिए भली-भाँति चेष्टा करता है, वह दक्ष एवं उदार मनुष्य असफलताओं का शिकार नहीं होता।

सम्यगीहा पुनरियं यो वृद्धानुपसेवते।
आपृच्छति च यच्छ्रेयः करोति च हितं वचः ॥४६॥

यह भली-भाँति चेष्टा उसी की मानी जाती है जो बड़े-बूढ़ों की सेवा करता है, उनसे अपने कल्याण की बात पूछता है और उनके बताये हुए हितकारक वचनों का पालन करता है।

उत्थायोत्थाय हि सदा प्रष्टव्या वृद्धसम्मताः।
ते स्म योगे परं मूलं तन्मूला सिद्धिरुच्यते ॥४७॥

प्रतिदिन प्रातःकाल उठ-उठकर वृद्धजनों द्वारा सम्मानित पुरुषों से अपने हित की बात पूछनी चाहिए, क्योंकि वे अप्राप्त की प्राप्ति करानेवाले उपाय के मुख्य कारण हैं। उनके द्वारा निर्दिष्ट उपाय ही सिद्धि का मूलकारण कहा जाता है।

वृद्धानां वचनं श्रुत्वा योऽभ्युत्थानं प्रयोजयेत्।
उत्थानस्य फलं सम्यक् तदा स लभतेऽचिरात् ॥४८॥

जो वृद्ध पुरुषों का वचन सुनकर उसके अनुसार कार्यारम्भ करता है, वह उस कार्य का उत्तम फल

शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है ।

रागात्क्रोधाद्भयाल्लोभाद्योऽर्थानीहेत मानवः ।
अनीशश्चावमानी च स शीघ्रं भ्रश्यते श्रियः ।।४६।।

अपने मन को वश में न रखते हुए दूसरों की अवहेलना करनेवाला जो मानव राग, क्रोध, भय और लोभ से किसी कार्य की सिद्धि के लिए चेष्टा करता है, वह अति शीघ्र अपने ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है ।

सोऽयं दुर्योधनेनार्थो लुब्धेनादीर्घदर्शिना ।
असमर्थ्य समारब्धो मूढत्वादविचिन्तितः ।।५०।।
हितबुद्धीननादृत्य सम्मन्त्र्यासाधुभिः सह ।
वार्यमाणोऽकरोद् वैरं पाण्डवैर्गुणवत्तरैः ।।५१।।

दुर्योधन लोभी और अदूरदर्शी था । उसने मूर्खता-वश न तो किसी का समर्थन प्राप्त किया और न स्वयं ही अधिक सोच-विचार किया । उसने अपना हित चाहनेवाले लोगों का अनादर करके दुष्टों के साथ सलाह की और सबके मना करने पर भी अधिक गुणवान् पाण्डवों के साथ वैर बाँध लिया ।

पूर्वमप्यतिदुःशीलो न धैर्यं कर्तुमर्हति ।
तपत्यर्थे विपन्ने हि मित्राणां न कृतं वचः ।।५२।।

पहले भी वह अति दुष्ट स्वभाव का था । धैर्य रखना तो वह जानता ही न था । उसने अपने मित्रों की बात नहीं मानी, अतः अब काम बिगड़ जाने पर पश्चात्ताप करता है ।

अनुवर्तामहे यत्तु तं वयं पापपूरुषम् ।
अस्मानप्यनयस्तस्मात् प्राप्तोऽयं दारुणो महान् ।।५३।।

हम लोग जो उस पापी का अनुसरण कर रहे हैं, अतः हमें भी यह अत्यन्त दारुण अनर्थ प्राप्त हुआ है ।

अनेन तु ममाद्यापि व्यसनेनोपतापिता ।
बुद्धिश्चिन्तयते किंचित् स्वं श्रेयो नावबुद्ध्यते ।।५४।।

इस संकट से सर्वथा सन्तप्त होने के कारण मेरी बुद्धि आज बहुत विचार-विमर्श करने पर भी अपने लिए किसी हितकर कार्य का निर्णय नहीं कर पाती है ।

मुह्यता तु मनुष्येण प्रष्टव्याः सुहृदो जनाः ।
तत्रास्य बुद्धिर्विनयस्तत्र श्रेयश्च पश्यति ।।५५।।

जब मनुष्य मोह के वशीभूत हो अपने हित और अहित का निर्णय करने में असमर्थ हो, तब उसे अपने मित्रों से सलाह लेनी चाहिए । वहीं उसे बुद्धि और विनय की प्राप्ति हो सकती है और वहीं उसे अपने हित का साधन भी दिखाई देता है ।

ते वयं धृतराष्ट्रं च गान्धारीं च समेत्य ह ।
उपपृच्छामहे गत्वा विदुरं च महामतिम् ।।५६।।

अतः हम लोग राजा धृतराष्ट्र, देवी गान्धारी और परम बुद्धिमान् विदुरजी के पास चलकर पूछें ।

ते पृष्टास्तु वदेयुर्यच्छ्रेयो नः समनन्तरम् ।
तदस्माभिः पुनः कार्यमिति मे नैष्ठिकी मतिः ।।५७।।

हमारे पूछने पर वे लोग अब हमारे लिए जो श्रेयस्कर कार्य बताएँ, वही हमें करना चाहिए, मेरी बुद्धि का तो यही दृढ़ निश्चय है ।

इति महाभारते सौप्तिकपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

द्वितीयोऽध्यायः

अश्वत्थामा का कृपाचार्य और कृतवर्मा को उत्तर देते हुए रात्रि में सोते हुए पाण्डवों को मारने का आग्रह करना और तीनों का पाण्डव-शिबिर की ओर प्रस्थान

सञ्जय उवाच

कृपस्य वचनं श्रुत्वा धर्मार्थसहितं शुभम् ।
अश्वत्थामा महाराज दुःखशोकसमन्वितः ।।१।।
दह्यमानस्तु शोकेन प्रदीप्तेनाग्निना यथा ।
क्रूरं मनस्ततः कृत्वा तावुभौ प्रत्यभाषत ।।२।।

सञ्जय कहते हैं—महाराज ! कृपाचार्य के धर्म और अर्थ से युक्त मङ्गलकारी वचनों का सुनकर अश्वत्थामा दुःख और शोक में डूब गया । उसके हृदय में शोक की अग्नि प्रज्वलित हो उठी । वह उस अग्नि से जलने लगा और अपने मन को कठोर बनाकर कृपाचार्य और कृतवर्मा दोनों से इस प्रकार बोला—

अश्वत्थामोवाच

पुरुषे पुरुषे बुद्धिर्या या भवति शोभना।
तुष्यन्ति च पृथक् सर्वे प्रज्ञया ते स्वया स्वया ॥३॥

अश्वत्थामा ने कहा—मामाजी ! प्रत्येक मनुष्य में जो पृथक्-पृथक् बुद्धि होती है, वही उसे सुन्दर जान पड़ती है। अपनी-अपनी उसी बुद्धि से सब लोग अलग-अलग सन्तुष्ट रहते हैं।

सर्वो हि मन्यते लोक आत्मानं बुद्धिमत्तरम् ।
सर्वस्यात्मा बहुमतः सर्वात्मानं प्रशंसति ॥४॥

सभी लोग अपने-आपको अधिक बुद्धिमान् समझते हैं। सबको अपनी ही बुद्धि अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ती है और सब लोग अपनी ही बुद्धि की प्रशंसा करते हैं।

सर्वस्य हि स्वका प्रज्ञा साधुवादे प्रतिष्ठिता ।
परबुद्धिं च निन्दन्ति स्वां प्रशंसन्ति चासकृत् ॥५॥

सबकी दृष्टि में अपनी ही बुद्धि धन्यवाद पाने के योग्य ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित जान पड़ती है। सब लोग दूसरों की बुद्धि की निन्दा और अपनी बुद्धि की निरन्तर प्रशंसा करते हैं।

सर्वो हि पुरुषो भोज साध्वेतदिति निश्चितः ।
कर्तुमारभते प्रीतो मारणादिषु कर्मसु ॥६॥

कृतवर्मन् ! सभी मनुष्य "यह श्रेष्ठ कार्य है"—ऐसा निश्चय करके प्रसन्नतापूर्वक कार्य-आरम्भ करते हैं और हिंसा आदि कर्मों में भी लग जाते हैं।

सर्वे हि बुद्धिमाज्ञाय प्रज्ञां वापि स्वकां नराः ।
चेष्टन्ते विविधां चेष्टां हितमित्येव जानते ॥७॥

सब लोग अपनी ही बुद्धि अथवा विवेक का आश्रय लेकर भाँति-भाँति की चेष्टाएँ करते हैं और उन्हें अपने लिए हितकर ही समझते हैं।

उपजाता व्यसनजा येयमद्य मतिर्मम ।
युवयोस्तां प्रवक्ष्यामि मम शोकविनाशिनीम् ॥८॥

आज संकट में पड़ने से मेरे अन्दर जो बुद्धि उत्पन्न हुई है, उसे मैं आप दोनों को बता रहा हूँ। वह मेरे शोक का विनाश करनेवाली है।

अदान्तो ब्राह्मणोऽसाधुर्निस्तेजाः क्षत्रियोऽधमः ।
अदक्षो निन्द्यते वैश्यः शूद्रश्च प्रतिकूलवान् ॥९॥

मन और इन्द्रियों को वश में न रखनेवाला ब्राह्मण अच्छा नहीं माना जाता। तेजहीन क्षत्रिय अधम समझा जाता है, व्यापार में अकुशल वैश्य की निन्दा की जाती है और अन्य वर्णों के प्रतिकूल चलनेवाले शूद्र को भी निन्दनीय माना जाता है।

सोऽस्मि जातः कुले श्रेष्ठे ब्राह्मणानां सुपूजिते ।
मन्दभाग्यतयास्म्येतं क्षत्रधर्ममनुष्ठितः ॥१०॥

मैंने ब्राह्मणों के परम सम्मानित श्रेष्ठ कुल में जन्म लिया है, तथापि दुर्भाग्य के कारण मैं इस क्षत्रियधर्म का अनुष्ठान कर रहा हूँ।

सोऽहमद्य यथाकामं क्षत्रधर्ममुपास्य तम् ।
गन्तास्मि पदवीं राज्ञः पितुश्चापि महात्मनः ॥११॥

अतः आज मैं अपनी रुचि के अनुसार उस क्षत्रियधर्म का सहारा लेकर अपने महात्मा पिता और राजा दुर्योधन के पथ का अनुसरण करूँगा।

अद्य स्वप्स्यन्ति पाञ्चाला विश्वस्ता जितकाशिनः ।
विमुक्तयुग्यकवचा हर्षेण च समन्विताः ॥१२॥

आज अपनी विजय से सुशोभित होनेवाले पाञ्चाल योद्धा अत्यन्त हर्ष में भरकर कवच उतार, जूओं में जुते हुए घोड़ों को खोलकर बेखटके सो रहे होंगे।

अद्य पाञ्चालसेनां तां निहत्य निशि सौप्तिके ।
कृतकृत्यः सुखी चैव भविष्यामि महामते ॥१३॥

महामते ! आज रात्रि में सोते समय उस पाञ्चाल सेना का वध करके मैं कृतकृत्य एवं सुखी हो जाऊँगा।

कृप उवाच

दिष्ट्या ते प्रतिकर्तव्ये मतिर्जातेयमच्युत ।
न त्वां वारयितुं शक्तो वज्रपाणिरपि स्वयम् ॥१४॥

कृपाचार्य बोले—तात ! तुम अपने निश्चय से डिगनेवाले नहीं हो। सौभाग्य की बात है कि तुम्हारे मन में बदला लेने का दृढ़ विचार उत्पन्न हुआ है। तुम्हें साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी इस कार्य से रोक नहीं सकते।

अनुयास्यावहे त्वां तु प्रभाते सहितावुभौ ।
अद्य रात्रौ विश्रमस्व विमुक्तकवचध्वजः ॥१५॥

आज रात्रि में कवच और ध्वजा खोलकर विश्राम करो। कल प्रातः हम दोनों [मैं तथा कृतवर्मा]

एकसाथ होकर तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे।

शक्तस्त्वमसि विक्रान्तुं विश्रमस्व निशामिमाम्।
चिरं ते जाग्रतस्तात स्वप तावन्निशामिमाम् ॥१६॥

तात! तुम पराक्रम प्रकट करके शत्रुओं का वध करने में समर्थ हो, अतः इस रात्रि में विश्राम कर लो। तुम्हें जागते हुए बहुत देर हो गई है, अब इस रात में सो लो।

विश्रान्तश्च विनिद्रश्च स्वस्थचित्तश्च मानद।
समेत्य समरे शत्रून् वधिष्यसि न संशयः ॥१७॥

मानद! थकान दूर करके निद्रा पूरी कर लेने से तुम्हारा चित्त स्वस्थ हो जाएगा। फिर तुम समरभूमि में जाकर शत्रुओं का वध कर सकोगे, इसमें संशय नहीं है।

न हि त्वां रथिनां श्रेष्ठं प्रगृहीतवरायुधम्।
जेतुमुत्सहते शश्वदपि देवेषु वासवः ॥१८॥

तुम रथियों में श्रेष्ठ हो। तुमने अपने हाथ में उत्तम आयुध ले रखा है। तुम्हें देवताओं के राजा इन्द्र भी कभी जीतने का साहस नहीं कर सकते।

न चाहं समरे तात कृतवर्मा न चैव हि।
अनिर्जित्य रणे पाण्डून् व्यपयास्याव कर्हिचित् ॥१९॥

तात! समरभूमि में मैं और कृतवर्मा भी पाण्डवों को परास्त किये बिना कभी पीछे नहीं हटेंगे।

हत्वा च समरे क्रुद्धान्पाञ्चालान्पाण्डुभिः सह।
निर्वर्तिष्यामहे सर्वे हता वा स्वर्गगा वयम् ॥२०॥

रणभूमि में क्रुद्ध हुए पाञ्चालों को पाण्डवोंसहित मारकर ही हम सब लोग पीछे हटेंगे अथवा स्वयं ही मारे जाकर स्वर्गलोक की राह लेंगे।

सर्वोपायैः सहायास्ते प्रभाते वयमाहवे।
सत्यमेतन्महाबाहो प्रब्रवीमि तवानघ ॥२१॥

निष्पाप महाबाहु वीर! कल प्रातःकाल हम लोग सभी उपायों से युद्ध में तुम्हारे सहायक होंगे। मैं तुमसे यह सच्ची बात कह रहा हूँ।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तस्ततो द्रौणिर्मातुलेन हितं वचः।
अब्रवीन्मातुलं राजन् क्रोधसंरक्तलोचनः ॥२२॥

सञ्जय कहते हैं—राजन्! मामा के इस प्रकार हितकारक वचन कहने पर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने क्रोध से लाल आँखें करके उनसे कहा—

आतुरस्य कुतो निद्रा नरस्यामर्षितस्य च।
अर्थांश्चिन्तयतश्चापि कामयानस्य वा पुनः ॥२३॥

"मामाजी! जो मनुष्य शोकातुर हो, अमर्ष—क्रोध से भरा हो, नाना प्रकार के कार्यों की चिन्ता कर रहा हो तथा किसी कामना में आसक्त हो, इन चारों दुःखों से अभिभूत व्यक्ति को निद्रा कैसे आ सकती है?

यस्य भागश्चतुर्थो मे स्वप्नमह्नाय नाशयेत्।
किं नाम दुःखं लोकेऽस्मिन् पितुर्वधमनुस्मरन्।
हृदयं निर्दहन्मेऽद्य रात्र्यहनि न शाम्यति ॥२४॥

"इन चारों का चौथाई भाग जो शोक है, वही मेरी निद्रा को तत्काल नष्ट किये देता है। अपने पिता के वध की घटना का बार-बार स्मरण करके इस संसार में कौन-सा ऐसा दुःख है, जिसका मुझे अनुभव न होता हो! वह शोकाग्नि रात-दिन मेरे हृदय को जलाती हुई अबतक बुझ नहीं पा रही है।

विलापो भग्नसक्थस्य यस्तु राज्ञो मया श्रुतः।
स पुनर्हृदयं कस्य क्रूरस्यापि न निर्दहेत् ॥२५॥

"दूसरी ओर, जिसकी जाँघें तोड़ डाली गई हैं, उस राजा दुर्योधन का जो विलाप मैंने अपने कानों से सुना है, वह किस क्रूर मनुष्य के हृदय को शोक-सन्तप्त नहीं कर देगा?

अहं तु कदनं कृत्वा शत्रूणामद्य सौप्तिके।
ततो विश्रमिता चैव स्वप्ता च विगतज्वरः ॥२६॥

"मैं तो आज सोते समय शत्रुओं का संहार करके निश्चिन्त होने पर ही विश्राम करूँगा और नींद लूँगा।"

कृप उवाच

न वधः पूज्यते लोके सुप्तानामिह धर्मतः।
तथैवापास्तशस्त्राणां विमुक्तरथवाजिनाम् ॥२७॥
ये च ब्रूयुस्तवास्मीति ये च स्युः शरणागताः।
विमुक्तमूर्धजा ये च ये चापि हतवाहनाः ॥२८॥

कृपाचार्य बोले—हे तात! जो सोये हुए हों, जिन्होंने अस्त्र-शस्त्र रख दिये हों, रथ और घोड़े खोल दिये हों, जो 'मैं आपका हूँ"—ऐसा कह रहे हों, जो शरण में आ गये हों, जिनके बाल खले हुए

हों और जिनके वाहन नष्ट हो गये हों, इस संसार में ऐसे लोगों का वध करना धर्म की दृष्टि से अच्छा नहीं समझा जाता।

अद्य स्वप्स्यन्ति पाञ्चाला विमुक्तकवचा विभो।
विश्वस्ता रजनीं सर्वे प्रेता इव विचेतसः॥२९॥
यस्तेषां तदवस्थानां द्रुह्येत पुरुषोऽनृजुः।
व्यक्तं स नरके मज्जेदगाधे विपुलेऽप्लवे॥३०॥

प्रभो! आज रात्रि में समस्त पाञ्चाल कवच उतारकर निश्चिन्त हो मुर्दों के समान अचेत होकर सो रहे होंगे। ऐसी दशा में जो क्रूर मनुष्य उनके साथ द्रोह करेगा, वह निश्चय ही नौकारहित अगाध एवं विशाल नरक के समुद्र में गिर पड़ेगा।

सर्वास्त्रविदुषां लोके श्रेष्ठस्त्वमसि विश्रुतः।
न च ते जातु लोकेऽस्मिन्सुसूक्ष्ममपि किल्बिषम्॥३१॥

संसार के समस्त अस्त्रवेत्ताओं में तुम श्रेष्ठ हो। तुम्हारी सर्वत्र प्रसिद्धि है। इस संसार में अबतक कभी तुम्हारा छोटे-से-छोटा दोष भी देखने में नहीं आया है।

त्वं पुनः सूर्यसंकाशः श्वोभूत उदिते रवौ।
प्रकाशे सर्वभूतानां विजेता युधि शात्रवान्॥३२॥

कल प्रातः सूर्योदय होने पर तुम सूर्य के समान प्रकाशित हो, उजाले में युद्ध छेड़कर समस्त प्राणियों के सामने पुनः शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना।

असम्भावितरूपं हि त्वयि कर्म विगर्हितम्।
शुक्ले रक्तमिव न्यस्तं भवेदिति मतिर्मम॥३३॥

जैसे श्वेत वस्त्र में लाल रंग का धब्बा लग जाए, वैसे ही तुममें निन्दित कर्म का होना सम्भावना से परे की बात है, ऐसा मेरा विश्वास है।

अश्वत्थामोवाच

एवमेव यथाऽऽत्थ त्वं मातुलेह न संशयः।
तैस्तु पूर्वमयं सेतुः शतधा विदलीकृतः॥३४॥

अश्वत्थामा बोला—मामाजी! आप जैसा कहते हैं, निःसन्देह वही ठीक है, परन्तु पाण्डवों ने ही पहले इस धर्ममर्यादा के सैकड़ों टुकड़े कर डाले हैं।

प्रत्यक्षं भूमिपालानां भवतां चापि सन्निधौ।
न्यस्तशस्त्रो मम पिता धृष्टद्युम्नेन घातितः॥३५॥

धृष्टद्युम्न ने सम्पूर्ण राजाओं के समक्ष और आप लोगों के निकट ही मेरे उस पिता को मार गिराया जिसने अस्त्र-शस्त्र रख दिये थे।

दुर्योधनश्च भीमेन समेत्य गदया रणे।
पश्यतां भूमिपालानामधर्मेण निपातितः॥३६॥

भीमसेन ने भी सम्पूर्ण राजाओं के देखते-देखते युद्धभूमि में गदायुद्ध करते समय दुर्योधन को अधर्म-पूर्वक गिराया था।

विलापो भग्नसक्थस्य यो मे राज्ञः परिश्रुतः।
वार्तिकाणां कथयतां स मे मर्माणि कृन्तति॥३७॥

टूटी जाँघवाले राजा दुर्योधन का जो विलाप मैंने सुना है और सन्देशवाहक दूतों के मुख से जो समाचार मुझे ज्ञात हुआ है, वह सब मेरे मर्मस्थानों को विदीर्ण किये देता है।

पितृहन्तॄनहं हत्वा पाञ्चालान् निशि सौप्तिके।
कामं कीटः पतङ्गो वा जन्म प्राप्य भवामि वै॥३८॥

पिता की हत्या करनेवाले पाञ्चालों का रात्रि में सोते समय वध करके मैं भले ही दूसरे जन्म में कीट या पतङ्ग हो जाऊँ, सब-कुछ स्वीकार है।

त्वरे चाहमनेनाद्य यदिदं मे चिकीर्षितम्।
तस्य मे त्वरमाणस्य कुतो निद्रा कुतः सुखम्॥३९॥

इस समय मैं जो कुछ करना चाहता हूँ, उसी को पूर्ण करने के उद्देश्य से उतावला हो रहा हूँ। इतनी उतावली में रहते हुए मुझे नींद कहाँ और सुख कहाँ?

न स जातः पुमाँल्लोके कश्चिन्न स भविष्यति।
यो मे व्यावर्तयेदेतां वधे तेषां कृतां मतिम्॥४०॥

इस संसार में ऐसा कोई पुरुष न तो पैदा हुआ है और न होगा ही, जो उन पाञ्चालों को मौत के घाट उतारने के लिए किये गये मेरे इस दृढ़ निश्चय को पलट दे।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा महाराज द्रोणपुत्रः प्रतापवान्।
एकान्ते योजयित्वाश्वान् प्रायादभिमुखः परान्॥४१॥

सञ्जय कहते हैं—महाराज! ऐसा कहकर प्रतापी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा एकान्त में घोड़ों को जोतकर शत्रुओं की ओर चल दिया।

तमब्रूतां महात्मानौ भोजशारद्वतावुभौ ।
किमर्थं स्यन्दनो युक्तः किञ्च कार्यं चिकीर्षितम् ।।४२।।

उस समय भोजवंशी कृतवर्मा और शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य दोनों महामनस्वी वीरों ने उससे कहा—"अश्वत्थामन् ! तुमने रथ को क्यों जोता है ? तुम इस समय क्या करना चाहते हो ?

एकसार्थप्रयातौ स्वस्त्वया सह नरर्षभ ।
समदुःखसुखौ चापि नावां शङ्कितुमर्हसि ।।४३।।

"नरश्रेष्ठ ! हम दोनों एकसाथ तुम्हारी सहायता के लिए चले हैं । तुम्हारे दुःख-सुख में हमारा समान भाग होगा । तुम्हें हम दोनों पर सन्देह नहीं करना चाहिए ।"

अश्वत्थामा तु संक्रुद्धः पितुर्वधमनुस्मरन् ।
ताभ्यां तथ्यं तथाऽऽचख्यौ यदस्यात्मचिकीर्षितम् ।।४४

उस समय अश्वत्थामा अपने पिता के वध का स्मरण कर अति कुपित हो रहा था । उसके मन में जो कुछ करने की इच्छा थी, वह सब उसने दोनों से ठीक-ठीक कह सुनाया ।

हत्वा शतसहस्राणि योधानां निशितैः शरैः ।
न्यस्तशस्त्रो मम पिता धृष्टद्युम्नेन घातितः ।।४५।।

वह बोला—"मेरे पिता अपने तीखे बाणों से लाखों योद्धाओं का वध करके जब अस्त्र-शस्त्र नीचे डाल चुके थे, उस अवस्था में धृष्टद्युम्न ने उनका वध किया था ।

तं तथैव हनिष्यामि न्यस्तधर्माणमद्य वै ।
पुत्रं पाञ्चालराजस्य पापं पापेन कर्मणा ।।४६।।

"अतः धर्म का परित्याग करनेवाले उस पापी पाञ्चाल-राजकुमार को भी मैं उसी प्रकार पापकर्म द्वारा ही मार डालूँगा ।

क्षिप्रं संनद्धकवचौ सखड्गावात्तकार्मुकौ ।
मामास्थाय प्रतीक्षेतां रथवर्यौ परन्तपौ ।।४७।।

"आप दोनों रथियों में श्रेष्ठ और शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले वीर हैं । आप शीघ्र ही कवच बाँधकर खड्ग और धनुष हाथ में लेकर रथ पर आरूढ़ होकर मेरी प्रतीक्षा कीजिए ।"

इत्युक्त्वा रथमास्थाय प्रायादभिमुखः परान् ।
तमन्वगात् कृपो राजन् कृतवर्मा च सात्वतः ।।४८।।

राजन् ! ऐसा कहकर अश्वत्थामा रथ पर आरूढ़ हो शत्रुओं की ओर चल दिया । कृपाचार्य और सात्वतवंशी कृतवर्मा भी उसी के मार्ग का अनुसरण करने लगे ।

ते प्रयाता व्यरोचन्त परानभिमुखास्त्रयः ।
हूयमाना यथा यज्ञे समिद्धा हव्यवाहनाः ।।४९।।

शत्रुओं की ओर जाते समय वे तीनों तेजस्वी वीर यज्ञ में आहुति पाकर प्रज्वलित हुए तीन अग्नियों की भाँति प्रकाशित हो रहे थे ।

ययुश्च शिबिरं तेषां सम्प्रसुप्तजनं विभो ।
द्वारदेशं तु सम्प्राप्य द्रौणिस्तस्थौ महारथः ।।५०।।

प्रभो ! वे तीनों पाण्डवों और पाञ्चालों के उस शिबिर के पास गये, जहाँ सब लोग सो गये थे । शिबिर के द्वार पर पहुँचकर महारथी अश्वत्थामा खड़ा हो गया ।

इति महाभारते सौप्तिकपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ।।२।।

तृतीयोऽध्यायः

अश्वत्थामा द्वारा रात्रि में सोये हुए पाञ्चाल आदि समस्त वीरों का संहार

सञ्जय उवाच

तस्मिन् प्रयाते शिबिरं द्रोणपुत्रे महात्मनि ।
कृपश्च कृतवर्मा च शिबिरद्वार्यतिष्ठताम् ।।१।।

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! महामनस्वी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा जब शिबिर के भीतर जाने लगा, तब कृपाचार्य एवं कृतवर्मा भी द्वार पर जा खड़े हुए ।

अश्वत्थामा तु तौ दृष्ट्वा यत्नवन्तौ महारथौ ।
प्रहृष्टः शनकै राजन्निदं वचनमब्रवीत् ।।२।।

महाराज ! उन दोनों महारथियों को अपना साथ देने के लिए उद्यत देखकर अश्वत्थामा को बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने उनसे धीरे से इस प्रकार कहा—

यत्तौ भवन्तौ पर्याप्तौ सर्वक्षत्रस्य नाशने ।
किं पुनर्योधशेषस्य प्रसुप्तस्य विशेषतः ।।३।।

"यदि आप दोनों सावधान होकर चेष्टा करें तो सम्पूर्ण क्षत्रियों का विनाश करने के लिए पर्याप्त हैं। फिर इन बचे-खुचे और विशेषतः सोये हुए योद्धाओं को मारना कौन-सी बड़ी बात है !

अहं प्रवेक्ष्ये शिबिरं चरिष्यामि च कालवत् ।
यथा न कश्चिदपि वा जीवन् मुच्येत मानवः ।।४।।
तथा भवद्भ्यां कार्यं स्यादिति मे निश्चिता मतिः ।
इत्युक्त्वा प्राविशद् द्रौणिः पार्थानां शिबिरं महत् ।।५।।

"मैं इस शिबिर के भीतर प्रविष्ट हो जाऊँगा और वहाँ काल के समान विचरूँगा। आप लोग ऐसा करें जिससे कोई भी मनुष्य आप दोनों के हाथों से जीवित न बच सके, यही मेरा दृढ़ विचार है।" ऐसा कहकर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा पाण्डवों के विशाल शिबिर में प्रविष्ट हो गया।

स प्रविश्य महाबाहुरुद्देशज्ञश्च तस्य ह ।
धृष्टद्युम्नस्य निलयं शनकैरभ्युपागमत् ।।६।।

वह महाबाहु वीर शिबिर के प्रत्येक स्थान से परिचित था, अतः शनैः-शनैः वह धृष्टद्युम्न के खेमे में जा पहुँचा।

तं शयानं महात्मानं विश्रब्धमकुतोभयम् ।
प्राबोधयत पादेन शयनस्थं महीपते ।।७।।

पृथिवीपते ! अश्वत्थामा ने निश्चिन्त एवं निर्भय होकर शय्या पर सोये हुए महामनस्वी धृष्टद्युम्न को पैर से ठोकर मारकर जगाया।

सम्बुध्य चरणस्पर्शादुत्थाय रणदुर्मदः ।
अभ्यजानादमेयात्मा द्रोणपुत्रं महारथम् ।।८।।

अमेय आत्मबल से सम्पन्न युद्धदुर्मद धृष्टद्युम्न उसका पैर लगते ही जाग उठा और जागते ही उसने महारथी द्रोणपुत्र को पहचान लिया।

तमुत्पतन्तं शयनादश्वत्थामा महाबलः ।
केशेष्वालभ्य पाणिभ्यां निष्पिपेष महीतले ।।९।।

जब वह शय्या से उठने की चेष्टा करने लगा तब महाबली अश्वत्थामा ने दोनों हाथों से उसके बाल पकड़कर भूमि पर दे मारा और उसे अच्छी प्रकार रगड़ने लगा।

तमाक्रम्य पदा राजन् कण्ठे चोरसि चोभयोः ।
नदन्तं विस्फुरन्तं च पशुमारममारयत् ।।१०।।

राजन् ! उसने पैर से उसकी छाती और गला दोनों को दबा दिया और उसे पशु की भाँति मारना आरम्भ किया। वह बेचारा चीखता और छटपटाता रह गया।

तुदन्नखैस्तु स द्रौणिं नातिव्यक्तमुदाहरत् ।
आचार्यपुत्र शस्त्रेण जहि मां माचिरं कृथाः ।।११।।
त्वत्कृते सुकृताँल्लोकान् गच्छेयं द्विपदां वर ।
एवमुक्त्वा तु वचनं विरराम परन्तपः ।।१२।।

उसने अपने नखों से द्रोणपुत्र को बकोटते हुए अस्पष्ट वाणी में कहा—"मनुष्यों में श्रेष्ठ आचार्य-पुत्र ! अब देरी न करो। मुझे किसी शस्त्र से मार डालो, जिससे तुम्हारे कारण मैं पुण्यलोकों में जा सकूँ।" ऐसा कहकर शत्रुसन्तापी धृष्टद्युम्न चुप हो गया।

अश्वत्थामोवाच

आचार्यघातिनां लोका न सन्ति कुलपांसन ।
तस्माच्छस्त्रेण निधनं न त्वमर्हसि दुर्मते ।।१३।।

अश्वत्थामा ने कहा—रे कुलकलंक ! अपने आचार्य की हत्या करनेवाले लोगों के लिए पुण्यलोक नहीं है, अतः दुर्मते ! तू शस्त्र के द्वारा मारे जाने के योग्य नहीं है।

सञ्जय उवाच

एवं ब्रुवाणस्तं वीरं सिंहो मत्तमिव द्विपम् ।
मर्मस्वभ्यवधीत् क्रुद्धः पादाष्ठीलैः सुदारुणैः ।।१४।।

सञ्जय कहते हैं—उस वीर से ऐसा कहते हुए क्रूर अश्वत्थामा ने मतवाले हाथी पर चोट करने-वाले सिंह के समान अपनी अत्यन्त भयंकर एड़ियों से उसके मर्मस्थानों पर प्रहार किया।

तस्य वीरस्य शब्देन मार्यमाणस्य वेश्मनि ।
अबुध्यन्त महाराज स्त्रियो ये चास्य रक्षिणः ।।१५।।

हे महाराज ! उस समय मारे जाते हुए वीर धृष्टद्युम्न के आर्तनाद से उस शिबिर की स्त्रियाँ और सारे रक्षक जाग उठे।

धृष्टद्युम्नं च हत्वा स ताँश्चैवास्य पदानुगान् ।
अपश्यच्छयने सुप्तमुत्तमौजसमन्तिके ।।१६।।

अश्वत्थामा ने धृष्टद्युम्न और उसके सेवकों को मौत के घाट उतारकर पास के ही खेमे में पलंग पर सोये हुए उत्तमौजा को देखा।

तमप्याक्रम्य पादेन कण्ठे चोरसि तेजसा।
तथैव मारयामास विनर्दन्तमरिन्दमम् ॥१७॥

फिर तो शत्रुदमन उत्तमौजा के भी कण्ठ और छाती को बलपूर्वक पैर से दबाकर उसने उसी प्रकार पशु की भाँति उसे मार डाला। वह बेचारा भी चीखता-चिल्लाता रह गया था।

स घोररूपो व्यचरत् कालवच्छिबिरे ततः।
द्रौपदेयानभिद्रुत्य खड्गेन व्यधमद् बली ॥१८॥

उन दोनों वीरों का संहार कर वह भयानक रूपधारी द्रोणकुमार सारे शिबिर में काल के समान विचरने लगा। वहाँ विचरते हुए उस बलवान् वीर ने द्रौपदी के पुत्रों पर आक्रमण करके उन्हें खड्ग से काट डाला।

ततो भीष्मनिहन्तारं द्रोणपुत्रो महाबलः।
शिखण्डिनं समासाद्य द्विधा चिच्छेद सोऽसिना ॥१९॥

तत्पश्चात् महाबली द्रोणकुमार ने भीष्महन्ता शिखण्डी के पास पहुँचकर अपनी तलवार से उसके दो टुकड़े कर डाले।

द्रुपदस्य च पुत्राणां पौत्राणां सुहृदामपि।
चकार कदनं घोरं दृष्ट्वा दृष्ट्वा महाबलः ॥२०॥

उस महाबली वीर ने द्रुपद के पुत्रों, पौत्रों और सुहृदों को ढूंढ-ढूंढकर उनका घोर संहार कर डाला।

अन्यानन्यांश्च पुरुषानभिसृत्याभिसृत्य च।
न्यकृन्तदसिना द्रौणिरसिमार्गविशारदः ॥२१॥

तलवार के पैंतरों में कुशल द्रोणपुत्र ने दूसरे-दूसरे पुरुषों के पास पहुँचकर तलवार से ही उनके टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

सोऽच्छिनत्कस्यचित्पादौ जघनं चैव कस्यचित्।
कांश्चिद् बिभेद पार्श्वेषु कालसृष्ट इवान्तकः ॥२२॥

उस समय कालप्रेरित यमराज के समान उसने किसी के पैर काट डाले, किसी की कमर के टुकड़े-टुकड़े कर डाले और किन्हीं की पसलियों में तलवार भोंककर उन्हें चीर डाला।

क्रोशतां किमिदं कोऽयं कः शब्दः किं नु किं कृतम्।
एवं तेषां तथा द्रौणिरन्तकः समपद्यत ॥२३॥

घायल वीर चिल्ला-चिल्लाकर कहते थे कि—"यह क्या है ? यह कौन है ? यह कैसा कोलाहल हो रहा है ? यह क्या कर डाला ?" इस प्रकार चीखते हुए उन सब योद्धाओं के लिए द्रोणपुत्र अश्वत्थामा काल बन गया था।

तत्रापरे वध्यमाना मुहुर्मुहुरचेतसः।
शिबिरान्निष्पतन्ति स्म क्षत्रिया भयपीडिताः ॥२४॥

बारम्बार अश्वत्थामा की मार खाते हुए अन्य बहुत-से क्षत्रिय भय से पीड़ित और अचेत हो शिबिर से बाहर निकलने लगे।

तांस्तु निष्पतितांस्त्रस्ताञ्शिबिराज्जीवितैषिणः।
कृतवर्मा कृपश्चैव द्वारदेशे निजघ्नतुः ॥२५॥

प्राण बचाने की इच्छा से भयभीत हो शिबिर से निकले हुए उन क्षत्रियों को कृतवर्मा और कृपाचार्य द्वार पर ही मार डालते थे।

प्रत्यूषकाले शिबिरात् निश्चक्राम नरर्षभः।
आचख्यौ कर्म तत् सर्वं हृष्टः संहर्षयन् विभो ॥२६॥

प्रातःकाल पौ फटने पर नरश्रेष्ठ अश्वत्थामा शिबिर से बाहर निकला। स्वयं हर्षमग्न हो उन दोनों का हर्ष बढ़ाते हुए उसने अपना किया हुआ सारा कर्म उन्हें कह सुनाया।

पाञ्चाला निहताः सर्वे द्रौपदेयाश्च सर्वशः।
सोमका मत्स्यशेषाश्च सर्वे विनिहता मया ॥२७॥

वह बोला—"सारे पाञ्चाल, द्रौपदी के सभी पुत्र, सोमकवंशी क्षत्रिय और मत्स्य देश के अवशिष्ट सैनिक—ये सभी मेरे हाथों मारे गये।

इदानीं कृतकृत्याः स्म याम तत्रैव माचिरम्।
यदि जीवति नो राजा तस्मै शंसामहे वयम् ॥२८॥

"इस समय हम कृतकृत्य हो गये। अब हमें शीघ्र वहीं चलना चाहिए। यदि हमारे राजा दुर्योधन जीवित हों तो हम उन्हें भी यह समाचार कह सुनाएँ।"

इति महाभारते सौप्तिकपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

पाञ्चालों के वध का वृत्तान्त जानकर दुर्योधन का प्रसन्न होकर प्राणत्याग करना

सञ्जय उवाच

ते हत्वा सर्वपाञ्चालान् द्रौपदेयाँश्च सर्वशः ।
आगच्छन् सहितास्तत्र यत्र दुर्योधनो हतः ॥१॥

सञ्जय कहते हैं—राजन् ! वे तीनों महारथी समस्त पाञ्चालों और द्रौपदी के सभी पुत्रों का वध करके एक-साथ उस स्थान पर आये, जहाँ राजा दुर्योधन मृतप्राय पड़ा था ।

तं भग्नसक्थं राजेन्द्र कृच्छ्रप्राणमचेतसम् ।
वमन्तं रुधिरं वक्त्रादपश्यन् वसुधातले ॥२॥

हे राजेन्द्र ! वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि टूटी हुई जाँघवाले राजा बड़े कष्ट से प्राण धारण किये हुए हैं । उनकी चेतना लुप्त हो गई है और वे अपने मुख से पृथिवी पर रक्त वमन कर रहे हैं ।

ते तं शयानं सम्प्रेक्ष्य राजानमतथोचितम् ।
अविषह्येन दुःखेन कृपणं पर्यदेवयन् ॥३॥

राजा दुर्योधन को इस प्रकार अनुचित अवस्था में सोया देख वे तीनों असह्य दुःख से पीड़ित हो, दीन वाणी में विलाप करने लगे ।

कृप उवाच

न दैवस्यातिभारोऽस्ति यदयं रुधिरोक्षितः ।
एकादशचमूभर्ता शेते दुर्योधनो हतः ॥४॥

कृपाचार्य बोले—हाय ! विधाता के लिए कुछ भी करना कठिन नहीं है । जो कभी ग्यारह अक्षौहिणी सेना का स्वामी था, वही राजा दुर्योधन मारा जाकर रक्त से लथपथ हुआ यहाँ पड़ा है ।

योऽयं मूर्धाभिषिक्तानामग्रे यातः परन्तपः ।
स हतो ग्रसते पांसून् पश्य कालस्य पर्ययम् ॥५॥

समय का उलट-फेर तो देखो, जो ये शत्रुसन्तापक नरेश सभी मूर्धाभिषिक्त राजाओं के आगे चला करते थे, वे ही आज मारे जाकर धरती पर पड़े-पड़े धूल फाँक रहे हैं ।

येनाजौ निहता भूमावशेरत पुरा द्विषः ।
स भूमौ निहतः शेते कुरुराजः परैरयम् ॥६॥

पूर्वकाल में जिनके द्वारा युद्ध में मारे गये शत्रु पृथिवी पर सोया करते थे, वे ही ये कुरुराज आज शत्रुओं द्वारा स्वयं मारे जाकर भूमि पर शयन कर रहे हैं ।

भयान्नमन्ति राजानो यस्य स्म शतसंघशः ।
स वीरशयने शेते क्रव्याद्भिः परिवारितः ॥७॥

जिसके समक्ष सैकड़ों राजा भय से सिर झुकाते थे, वे ही आज हिंसक जन्तुओं से घिरे हुए वीर-शय्या पर सो रहे हैं ।

उपासत द्विजाः पूर्वमर्थहेतोर्यमीश्वरम् ।
उपासते च तं ह्यद्य क्रव्यादा मांसहेतवः ॥८॥

पहले बहुत-से ब्राह्मण धन की प्राप्ति के लिए जिस नरेश के पास बैठे रहते थे, उन्हीं के समीप आज मांस के लिए मांसाहारी जन्तु बैठे हुए हैं ।

अश्वत्थामोवाच

कालो नूनं महाराज लोकेऽस्मिन् बलवत्तरः ।
पश्यामो निहतं त्वां च भीमसेनेन संयुगे ॥९॥

अश्वत्थामा बोला—महाराज ! निश्चय ही इस संसार में समय महाबलवान् है, तभी तो रणभूमि में हम आपको भीमसेन के द्वारा मारा गया देखते हैं ।

कथं त्वां सर्वधर्मज्ञं क्षुद्रः पापी वृकोदरः ।
निकृत्या हतवान् मन्दो नूनं कालो दुरत्ययः ॥१०॥

आप तो सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता थे, आपको उस मूर्ख, नीच और पापी भीम ने किस प्रकार धोखे से मार डाला ? अवश्य ही काल का उल्लंघन करना सर्वथा कठिन है ।

धर्मयुद्धे ह्यधर्मेण समाहूयौजसा मृधे ।
गदया भीमसेनेन निर्भग्ने सक्थिनी तव ॥११॥

भीमसेन ने आपको धर्मयुद्ध के लिए बुलाकर रणभूमि में अधर्म के बल से गदा द्वारा आपकी दोनों जाँघें तोड़ डालीं ।

अधर्मेण हतस्याजौ मृद्यमानं पदा शिरः ।
य उपेक्षितवान् क्षुद्रं धिक् कृष्णं धिग्युधिष्ठिरम् ॥१२

एक तो आप रणभूमि में अधर्मपूर्वक मारे गये, दूसरे भीम ने आपके मस्तक पर ठोकर मारी । इतने

पर भी जिन्होंने उस नीच की उपेक्षा की, उसे कोई दण्ड नहीं दिया, उन कृष्ण और युधिष्ठिर को धिक्कार है !

ननु रामोऽब्रवीद् राजँस्त्वां सदा यदुनन्दनः ।
दुर्योधनसमो नास्ति गदया इति वीर्यवान् ॥१३॥

राजन् ! पराक्रमी यदुनन्दन बलरामजी आपके विषय में सदा कहा करते थे कि "गदायुद्ध की शिक्षा में दुर्योधन की समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है।"

युद्धेष्वपवदिष्यन्ति योधा नूनं वृकोदरम् ।
यावत् स्थास्यन्ति भूतानि निकृत्या ह्यसि पातितः ॥१४

आपको धोखे से मारा गया है, अतः इस जगत् में जबतक प्राणियों की स्थिति रहेगी, तबतक सभी युद्धों में सम्पूर्ण योद्धा भीमसेन की निन्दा ही करेंगे।

यां गतिं क्षत्रियस्याहुः प्रशस्तां परमर्षयः ।
हतस्याभिमुखस्याजौ प्राप्तस्त्वमसि तां गतिम् ॥१५॥

महर्षियों ने युद्ध में शत्रु का सामना करते हुए मारे जानेवाले क्षत्रिय के लिए जो उत्तम गति बताई है, आपने वही गति प्राप्त की है।

धिगस्तु कृतवर्माणं मां कृपं च महारथम् ।
ये वयं न गताः स्वर्गं त्वां पुरस्कृत्य पार्थिवम् ॥१६॥

मुझे, कृतवर्मा और महारथी कृपाचार्य को भी धिक्कार है कि हम आप-जैसे महाराज को आगे करके स्वर्गलोक में नहीं गये ।

किं नाम तद्भवेत् कर्म येन त्वां न व्रजाम वै ।
हीनानां नस्त्वया राजन् कुतः शान्तिः कुतः सुखम् ॥१७

राजन् ! न जाने वह कौन-सा कर्म है, जिससे विवश होकर हम आपके साथ नहीं चल रहे हैं। आपसे बिछुड़कर हमें शान्ति और सुख कैसे मिल सकते हैं !

दुर्योधन जीवसि चेद् वाक्यं श्रोत्रसुखं शृणु ।
सप्त पाण्डवतः शेषा धार्तराष्ट्रास्त्रयो वयम् ॥१८॥

महाराज दुर्योधन ! यदि आप जीवित हैं तो कानों को सुख देनेवाली इन बातों को सुनो। पाण्डव-पक्ष में केवल सात और कौरवपक्ष में मात्र हम तीन ही व्यक्ति बच गये हैं ।

ते चैव भ्रातरः पञ्च वासुदेवोऽथ सात्यकिः ।
अहं च कृतवर्मा च कृपः शारद्वतस्तथा ॥१९॥

उधर तो पाँचों भाई पाण्डव, श्रीकृष्ण और सात्यकि बचे हैं और इधर मैं, कृतवर्मा तथा शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य शेष रह गये हैं ।

द्रौपदेया हताः सर्वे धृष्टद्युम्नस्य चात्मजाः ।
पाञ्चाला निहताः सर्वे मत्स्यशेषं च भारत ॥२०॥

भरतभूषण ! द्रौपदी तथा धृष्टद्युम्न के सभी पुत्र मारे गये, समस्त पाञ्चालों का संहार कर दिया गया और मत्स्यदेश की अवशिष्ट सेना भी समाप्त हो गई ।

कृते प्रतिकृतं पश्य हतपुत्रा हि पाण्डवाः ।
सौप्तिके शिबिरं तेषां हतं सनरवाहनम् ॥२१॥

राजन् ! देखिए, शत्रुओं की करनी का कैसा बदला चुकाया गया । पाण्डवों के भी सारे पुत्र मार डाले गये । रात में सोते समय मनुष्यों और वाहनों-सहित उनके सारे शिबिर का नाश कर दिया गया ।

मया च पापकर्मासौ धृष्टद्युम्नो महीपते ।
प्रविश्य शिबिरं रात्रौ पशुमारेण मारितः ॥२२॥

हे भूपाल ! मैंने स्वयं रात के समय शिबिर में प्रविष्ट होकर पापाचारी धृष्टद्युम्न को पशुओं की भाँति गला घोंटकर मार डाला है ।

सञ्जय उवाच

दुर्योधनस्तु तां वाचं निशम्य मनसः प्रियाम् ।
प्रतिलभ्य पुनश्चेत इदं वचनमब्रवीत् ॥२३॥

सञ्जय कहते हैं—यह मन को प्रिय लगनेवाली बात सुनकर दुर्योधन को पुनः होश आ गया और वह इस प्रकार बोला—

न मेऽकरोत् तद् गाङ्गेयो न कर्णो न च ते पिता ।
यत् त्वया कृपभोजाभ्यां सहितेनाद्य मे कृतम् ॥२४॥

"मित्रवर ! आज आचार्य कृप और कृतवर्मा के साथ तुमने जो कार्य कर दिखाया है, उसे न गङ्गा-नन्दन भीष्म, न कर्ण और न तुम्हारे पिताजी ही कर सके थे ।

स च सेनापतिः क्षुद्रो हतः सार्धं शिखण्डिना ।
तेन मन्ये मघवता सममात्मानमद्य वै ॥२५॥

"शिखण्डीसहित वह नीच सेनापति धृष्टद्युम्न मार डाला गया, इससे आज निश्चय ही मैं अपने को

इन्द्र के समान समझता हूँ।

स्वस्ति प्राप्नुत भद्रं वः स्वर्गे नः संगमः पुनः।
इत्येवमुक्त्वा तूष्णीं स कुरुराजो महामनाः ॥२६॥
प्राणानुपासृजद् वीरः सुहृदां दुःखमुत्सृजन्।
अपाक्रामद् दिवं पुण्यां शरीरं क्षितिमाविशत् ॥२७॥

"तुम सब लोगों का कल्याण हो! तुम्हें सुख प्राप्त हो! अब स्वर्ग में ही हम लोगों का पुनर्मिलन होगा।" ऐसा कहकर महामनस्वी वीर कुरुराज दुर्योधन चुप हो गया और अपने सुहृदों के लिए दुःख छोड़कर उसने अपने प्राण त्याग दिये। वह स्वयं तो पुण्यधाम स्वर्गलोक में चला गया परन्तु उसका पार्थिव शरीर पृथिवी पर ही पड़ा रह गया।

एवं ते निधनं यातः पुत्रो दुर्योधनो नृप।
अग्रे यात्वा रणे शूरः पश्चाद् विनिहतः परैः ॥२८॥

प्रजेश्वर! इस प्रकार आपका पुत्र दुर्योधन मृत्यु को प्राप्त हुआ। वह समराङ्गण में सबसे पहले गया था और सबसे पीछे शत्रुओं द्वारा मारा गया।

एवमेष क्षयो वृत्तः कुरुपाण्डवसेनयोः।
घोरो विशसनो रौद्रो राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥२९॥

राजन्! इस प्रकार आपकी कुमन्त्रणा के कारण कौरव और पाण्डवों की सेनाओं का यह घोर एवं भयंकर विनाश-कार्य सम्पन्न हुआ है।

इति महाभारते सौप्तिकपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्न के वध का वृत्तान्त सुनकर युधिष्ठिर का विलाप, द्रौपदी का शिबिर में आकर मारे हुए पुत्रादि को देखकर शोकातुर होना, भीमसेन का अश्वत्थामा को मारने के लिए प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां धृष्टद्युम्नस्य सारथिः।
शशंस धर्मराजाय सौप्तिके कदनं कृतम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उस रात्रि के व्यतीत होने पर धृष्टद्युम्न के सारथि ने, रात्रि में सोते समय जो नरसंहार किया गया था, उसका समाचार धर्मराज से कह सुनाया।

सूत उवाच

द्रौपदेया हता राजन् द्रुपदस्यात्मजैः सह।
प्रमत्ता निशि विश्वस्ताः स्वपन्तः शिबिरे स्वके ॥२॥

सारथि ने कहा—राजन्! द्रुपद के पुत्रोंसहित देवी द्रौपदी के भी सारे पुत्र मारे गये। वे रात्रि में अपने शिबिर में निश्चिन्त एवं असावधान होकर सो रहे थे।

कृतवर्मणा नृशंसेन गौतमेन कृपेण च।
अश्वत्थाम्ना च पापेन हतं वः शिबिरं निशि ॥३॥

क्रूर कृतवर्मा, गौतमवंशी कृपाचार्य और पापी अश्वत्थामा ने रात्रि में आक्रमण करके आपके सारे शिबिर का विनाश कर डाला।

अहमेकोऽवशिष्टस्तु तस्मात् सैन्यान्महामते।
मुक्तः कथंचिद् धर्मात्मन् व्यग्रस्य कृतवर्मणः ॥४॥

महामते! धर्मात्मन्! उस विशाल सेना में से अकेला मैं ही किसी प्रकार बचकर निकल आया हूँ। कृतवर्मा दूसरों को मारने में लगा हुआ था, इसलिए मैं उस संकट से बच सका हूँ।

तत् श्रुत्वा वाक्यमशिवं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
पपात मह्यां दुर्धर्षः पुत्रशोकसमन्वितः ॥५॥

वह अमङ्गल वचन सुनकर दुर्धर्ष कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर पुत्रशोक से सन्तप्त हो पृथिवी पर गिर पड़े।

लब्धचेतास्तु कौन्तेयः शोकविह्वलया गिरा।
जित्वा शत्रून् जितः पश्चात् पर्यदेवयदार्तवत् ॥६॥

फिर होश में आने पर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर शोकाकुलवाणी द्वारा आर्त की भाँति विलाप करने लगे—"हाय! मैं शत्रुओं को पहले जीतकर पीछे परास्त हो गया।

दुर्विदा गतिरर्थानामपि ये दिव्यचक्षुषः।
जीयमाना जयन्त्यन्ये जयमाना वयं जिताः ॥७॥

"जो लोग दिव्यदृष्टि से सम्पन्न हैं, उनके लिए भी पदार्थों की गति को समझना अत्यन्त दुष्कर है।

हाय ! दूसरे लोग तो हारकर जीतते हैं, परन्तु हम लोग जीतकर हार गये हैं !

हत्वा भ्रातॄन्वयस्यांश्च पितॄन्पुत्रान्सुहृद्गणान् ।
बन्धूनमात्यान्पौत्रांश्च जित्वा सर्वाञ्जिता वयम् ।।८।।

"हमने भाइयों, समवयस्क मित्रों, पितृतुल्य पुरुषों, पुत्रों, सुहृद्गणों, बन्धुओं, मन्त्रियों और पौत्रों की हत्या करके उन सबको जीतकर विजय प्राप्त की थी, किन्तु अब शत्रुओं द्वारा हम ही पराजित हो गये।

कर्णिनालीकदंष्ट्रस्य खड्गजिह्वस्य संयुगे ।
चापव्यात्तस्य रौद्रस्य ज्यातलस्वननादिनः ।।९।।
क्रुद्धस्य नरसिंहस्य संग्रामेष्वपलायिनः ।
ये व्यमुञ्चन्त कर्णस्य प्रमादात् त इमे हताः ।।१०।।

"क्रोध में भरा हुआ कर्ण मनुष्यों में सिंह के समान था। कर्णि और नालीक नामक बाण उसकी दाढ़ें और युद्ध में उठी हुई तलवार उसकी जिह्वा थी। धनुष का खींचना ही उसका मुँह फैलाना था। प्रत्यञ्चा की टंकार ही उसकी दहाड़ के समान थी। युद्ध में कभी पीठ न दिखानेवाले उस भयंकर पुरुष-सिंह के हाथ से जो जीवित छूट गये, वे ही ये मेरे सगे-सम्बन्धी अपनी असावधानी के कारण मार डाले गये हैं।

न हि प्रमादात् परमस्ति कश्चिद्
वधो नराणामिह जीवलोके । □
प्रमत्तमर्था हि नरं समन्तात्
त्यजन्त्यनर्थाश्च समाविशन्ति ।।११।।

"इस संसार में मनुष्यों के लिए प्रमाद से बढ़कर दूसरी कोई मृत्यु नहीं है। प्रमादी मनुष्य को सारे अर्थ सब ओर से त्याग देते हैं और अनर्थ विना बुलाये ही उसके पास चले आते हैं।

न हि प्रमत्तेन नरेण शक्यं
विद्या तपः श्रीर्विपुलं यशो वा । □
पश्याप्रमादेन निहत्य शत्रून्
सर्वान् महेन्द्रं सुखमेधमानम् ।।१२।।

"प्रमादी मनुष्य कभी विद्या, तप, वैभव अथवा महान् यश नहीं प्राप्त कर सकता। देखो, देवराज इन्द्र प्रमाद त्याग देने के ही कारण अपने सारे शत्रुओं का संहार करके सुखपूर्वक उन्नति कर रहे हैं।

अमर्षितैर्ये निहताः शयाना
निःसंशयं ते त्रिदिवं प्रपन्नाः ।
कृष्णां तु शोचामि कथं नु साध्वी
शोकार्णवे साद्य विनंक्ष्यतीति ।।१३।।

"शत्रुओं ने अमर्ष के वशीभूत होकर जिन्हें सोते समय ही मार डाला है, वे तो निःसन्देह स्वर्गलोक में पहुँच गये हैं। मुझे तो उस सती साध्वी द्रौपदी की चिन्ता हो रही है जो आज शोक-सागर में डूबकर नष्ट हो जाने की दशा में पहुँच गई है।

भ्रातॄंश्च पुत्रांश्च हतान् निशम्य
पाञ्चालराजं पितरं च वृद्धम् ।
ध्रुवं विसंज्ञा पतिता पृथिव्यां
सा शोष्यते शोककृशाङ्गयष्टिः ।।१४।।

"एक तो पहले ही निरन्तर शोक के कारण क्षीण होकर उसकी देह सूखी लकड़ी के समान हो गई है। दूसरे जब वह अपने भाइयों, पुत्रों और बूढ़े पिता पाञ्चालराज द्रुपद की मृत्यु का समाचार सुनेगी तब और भी सूख जाएगी और निश्चय ही अचेत होकर भूमि पर गिर पड़ेगी।"

इत्येवमार्तः परिदेवयन् स
राजा कुरूणां नकुलं बभाषे ।
गच्छानयैनामिह मन्दभाग्यां
समातृपक्षामिति राजपुत्रीम् ।।१५।।

इस प्रकार आर्तस्वर से विलाप करते हुए कुरुराज युधिष्ठिर ने नकुल से कहा—"भाई ! जाओ, मन्दभागिनी राजकुमारी द्रौपदी को उसके मातृपक्ष की स्त्रियों के साथ यहाँ लिवा लाओ।"

माद्रीसुतस्तत् परिगृह्य वाक्यं
धर्मेण धर्मप्रतिमस्य राज्ञः ।
ययौ रथेनालयमाशु देव्याः
पाञ्चालराजस्य च यत्र दाराः ।।१६।।

माद्रीकुमार नकुल ने धर्माचरण के द्वारा साक्षात् धर्मराज की समानता करनेवाले राजा युधिष्ठिर की आज्ञा शिरोधार्य करके रथ के द्वारा तुरन्त ही महारानी द्रौपदी के उस भवन की ओर प्रस्थान किया, जहाँ पाञ्चालराज के घर की भी महिलाएँ रहती थीं।

प्रस्थाप्य माद्रीसुतमाजमीढः
शोकार्दितस्तैः सहितः सुहृद्भिः ।
ददर्श पुत्रान् सुहृदः सखींश्च
भूमौ शयानान् रुधिरार्द्रगात्रान् ॥१७॥

माद्रीकुमार को वहाँ भेजकर अजमीढ़कुलभूषण युधिष्ठिर ने शोकाकुल हो सभी सुहृदों के साथ [शिविर में जाकर] अपने पुत्रों, सुहृदों और सखाओं को देखा जो रक्त से लथपथ होकर पृथिवी पर पड़े थे ।

स दृष्ट्वा निहतान्संख्ये पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।
महादुःखपरीतात्मा बभूव जनमेजयः ॥१८॥

जनमेजय ! अपने पुत्रों, पौत्रों और मित्रों को युद्ध में मारा गया देख राजा युधिष्ठिर का हृदय महान् दुःख से सन्तप्त हो उठा ।

तमश्रुपरिपूर्णाक्षं वेपमानमचेतसम् ।
सुहृदो भृशसंविग्नाः सान्त्वयाञ्चक्रिरे तदा ॥१९॥

उनकी आँखें आँसुओं से भर आईं, शरीर काँपने लगा और चेतना लुप्त होने लगी। उनकी ऐसी दशा देख उनके सुहृद् अत्यन्त व्याकुल हो उस समय उन्हें सान्त्वना देने लगे ।

ततस्तस्मिन् क्षणे कल्पो रथेनादित्यवर्चसा ।
नकुलः कृष्णया सार्धमुपायात् परमार्तया ॥२०॥

इसी समय सामर्थ्यशाली नकुल सूर्य के समान तेजस्वी रथ के द्वारा शोक से अत्यन्त पीड़ित हुई द्रौपदी को साथ लेकर वहाँ आ पहुँचा ।

उपप्लव्यं गता सा तु श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
तदा विनाशं सर्वेषां पुत्राणां व्यथिताभवत् ॥२१॥

उस समय द्रौपदी उपप्लव्य नगर में गई हुई थी, वहाँ अपने सारे पुत्रों के मारे जाने का अत्यन्त अप्रिय वृत्तान्त सुनकर वह व्यथित हो उठी थी ।

कम्पमानेव कदली वातेनाभिसमीरिता ।
कृष्णा राजानमासाद्य शोकार्ता न्यपतद् भुवि ॥२२॥

राजा युधिष्ठिर के पास पहुँचकर शोक से व्याकुल हुई द्रौपदी हवा से हिलाई गई कदली के समान कम्पित हो भूमि पर गिर पड़ी ।

ततस्तां पतितां दृष्ट्वा संरम्भी सत्यविक्रमः ।
बाहुभ्यां परिजग्राह समुत्पत्य वृकोदरः ॥२३॥

सा समाश्वासिता तेन भीमसेनेन भामिनी ।
रुदती पाण्डवं कृष्णा सा हि भारतमब्रवीत् ॥२४॥

उसे गिरी हुई देख क्रोध में भरे हुए सत्यपराक्रमी भीमसेन ने उछलकर दोनों बाहों से सँभाला और उस मानिनी को धीरज बँधाया । उस समय रोती हुई कृष्णा ने भरतनन्दन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर से कहा—

शोकस्तपति मां पार्थ हुताशन इवाश्रयम् ।
तस्य पापकृतो द्रौणेर्न चेदद्य त्वया रणे ॥२५॥
ह्रियते सानुबन्धस्य युधि विक्रम्य जीवितम् ।
इहैव प्रायमासिष्ये तन्निबोधत पाण्डवाः ॥२६॥

"पार्थ ! शोक मुझे उसी प्रकार सन्तप्त कर रहा है, जैसे आग अपने आधारभूत काष्ठ को ही जला डालती है । यदि आज आप रणभूमि में पराक्रम प्रकट करके सगे-सम्बन्धियों सहित पापी द्रोणपुत्र के प्राण नहीं हर लेते हैं, तो मैं यहीं अनशन करके अपने जीवन का अन्त कर दूँगी ! पाण्डवो ! आप सब लोग इस बात को कान खोलकर सुन लें ।"

एवमुक्त्वा ततः कृष्णा पाण्डवं प्रत्युपाविशत् ।
युधिष्ठिरं याज्ञसेनी धर्मराजं यशस्विनी ॥२७॥

ऐसा कहकर यशस्विनी द्रुपदकुमारी कृष्णा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर के सामने ही अनशन के लिए बैठ गई ।

दृष्ट्वोपविष्टां राजर्षिः पाण्डवो महिषीं प्रियाम् ।
प्रत्युवाच स धर्मात्मा द्रौपदीं चारुदर्शनाम् ॥२८

अपनी प्रिय महाराणी परम सुन्दरी द्रौपदी को अनशन के लिए बैठी देख धर्मात्मा राजर्षि युधिष्ठिर ने उससे कहा—

धर्म्यं धर्मेण धर्मज्ञे प्राप्तास्ते निधनं शुभे ।
पुत्रास्ते भ्रातरश्चैव तान्न शोचितुमर्हसि ॥२९॥

"शुभे ! तुम धर्म को जाननेवाली हो । तुम्हारे पुत्रों और भाइयों ने धर्मपूर्वक युद्ध करके धर्मानुकूल मृत्यु प्राप्त की है, अतः तुम्हें उनके लिए शोक नहीं करना चाहिए ।

स कल्याणि वनं दुर्गं दूरं द्रौणिरितो गतः ।
तस्य त्वं पातनं संख्ये कथं ज्ञास्यसि शोभने ॥३०॥

"कल्याणि ! द्रोणपुत्र तो यहाँ से भागकर दुर्गम वन में चला गया है । शोभने ! यदि उसे युद्ध में मार

गिराया जाए तो भी तुम्हें इसका विश्वास कैसे होगा ?"

द्रौपद्युवाच

द्रोणपुत्रस्य सहजो मणिः शिरसि मे श्रुतः ।
निहत्य संख्ये तं पापं पश्येयं मणिमाहृतम् ।
राजञ्शिरसि ते कृत्वा जीवेयमिति मे मतिः ॥३१॥

द्रौपदी बोली—महाराज ! मैंने सुना है कि द्रोणपुत्र के मस्तक में एक मणि है जो उसके जन्म के साथ ही उत्पन्न हुई है । उस पापी को युद्ध में मारकर यदि वह मणि ला दी जाएगी तो मुझे उसकी मृत्यु का विश्वास हो जाएगा । राजन् ! उस मणि को आपके सिर पर धारण कराकर ही मैं जीवन धारण कर सकूँगी, ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है ।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा पाण्डवं कृष्णा राजानं चारुदर्शना ।
भीमसेनमथागत्य परमं वाक्यमब्रवीत् ॥३२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर से ऐसा कहकर सुन्दरी कृष्णा भीमसेन के पास आई और यह उत्तम वचन बोली—

त्रातुमर्हसि मां भीम क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ।
जहि तं पापकर्माणं शम्बरं मघवानिव ॥३३॥

"प्रिय भीम ! आप क्षत्रियधर्म का स्मरण करके मेरे जीवन की रक्षा कर सकते हैं । वीर ! जैसे इन्द्र ने शम्बर का विनाश किया था, वैसे ही आप भी पापी अश्वत्थामा का वध करें ।"

तस्या बहुविधं दुःखान्निशम्य परिदेवितम् ।
नामर्षयत कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः ॥३४॥

दुःख के कारण द्रौपदी का यह भाँति-भाँति का विलाप सुनकर महाबली कुन्तीपुत्र भीमसेन इसे सहन नहीं कर सके ।

स काञ्चनविचित्राङ्गमारुरोह महारथम् ।
आदाय रुचिरं चित्रं समार्गणगुणं धनुः ॥३५॥
नकुलं सारथिं कृत्वा द्रोणपुत्रवधे धृतः ।
विस्फार्य सशरं चापं तूर्णमश्वाननोदयत् ॥३६॥

वे द्रोणपुत्र के वध का निश्चय करके सुवर्णमण्डित विचित्र अङ्गोंवाले रथ पर आरूढ़ हुए । उन्होंने बाण और प्रत्यञ्चासहित एक सुन्दर एवं विचित्र धनुष हाथ में लेकर नकुल को सारथि बनाया तथा बाणसहित धनुष को फैलाकर तुरन्त ही घोड़ों को हँकवाया ।

इति महाभारते सौप्तिकपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्याय

अश्वत्थामा की चपलता और क्रूरता के प्रसङ्ग में सुदर्शन चक्र माँगने की बात सुनाते हुए श्रीकृष्ण का भीमसेन की रक्षा के लिए प्रयत्न करने का आदेश देना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् प्रयाते दुर्धर्षे यदूनामृषभस्ततः ।
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! दुर्धर्ष वीर भीमसेन के प्रस्थान कर देने पर यदुकुलतिलक कमलनयन श्रीकृष्ण ने कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर से कहा—

एष पाण्डव ते भ्राता पुत्रशोकपरायणः ।
जिघांसुर्द्रौणिमाक्रन्दे एक एवाभिधावति ॥२॥

"पाण्डुपुत्र ! ये आपके भाई भीमसेन पुत्रशोक से शोकाकुल होकर युद्ध में द्रोणकुमार के वध की इच्छा से अकेले ही उसपर धावा बोल रहे हैं ।

भीमः प्रियस्ते सर्वेभ्यो भ्रातृभ्यो भरतर्षभ ।
तं कृच्छ्रगतमद्य त्वं कस्मान्नाभ्युपपद्यसे ॥३॥

"भरतभूषण ! भीमसेन आपको अपने समस्त भाइयों में सबसे अधिक प्रिय हैं । आज वे संकट में पड़ गये हैं फिर आप उनकी सहायता के लिए क्यों नहीं जाते ?

यत् तदाचष्ट पुत्राय द्रोणः परपुरञ्जयः ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम दहेत पृथिवीमपि ॥४॥

"शत्रुओं की नगरी पर विजय पानेवाले द्रोणाचार्य ने अपने पुत्र को जिस ब्रह्मशिर नामक अस्त्र का उपदेश किया है वह सम्पूर्ण भूमण्डल को दग्ध कर

सकता है।

तन्महात्मा महाभागः केतुः सर्वधनुष्मताम् ।
प्रत्यपादयदाचार्यः प्रीयमाणो धनञ्जयम् ।।५।।

"सम्पूर्ण धनुर्धरों के शिरोमणि महाभाग महात्मा द्रोणाचार्य ने प्रसन्न होकर वह अस्त्र पहले अर्जुन को दिया था।

तं पुत्रोऽप्येक एवैनमन्वयाचदमर्षणः ।
ततः प्रोवाच पुत्राय नातिहृष्टमना इव ।।६।।

"उनका इकलौता पुत्र अश्वत्थामा इसे सहन नहीं कर सका, अतः उसने भी अपने पिता से उसी अस्त्र के लिए प्रार्थना की, तब आचार्य ने अनमनेपन से अपने पुत्र को भी उस अस्त्र का उपदेश कर दिया।

विदितं चापलं ह्यासीदात्मजस्य दुरात्मनः ।
सर्वधर्मविदाचार्यः सोऽन्वशासत् सुतं ततः ।।७।।

"उन्हें अपने दुरात्मा पुत्र की चपलता ज्ञात थी, अतः सब धर्मों के ज्ञाता आचार्य ने अपने पुत्र को इस प्रकार शिक्षा प्रदान की—

परमापद्गतेनापि न स्म तात त्वया रणे ।
इदमस्त्रं प्रयोक्तव्यं मानुषेषु विशेषतः ।।८।।

"पुत्र ! बड़ी-से-बड़ी विपत्ति में पड़ने पर भी तुम्हें युद्धभूमि में, विशेषतः मनुष्यों पर इस अस्त्र का प्रयोग नहीं करना चाहिए।"

इत्युक्तवान् गुरुः पुत्रं द्रोणः पश्चादथोक्तवान् ।
न त्वं जातु सतां मार्गे स्थातेति पुरुषर्षभ ।।९।।

"नरश्रेष्ठ ! अपने पुत्र से ऐसा कहकर गुरु द्रोण पुनः उससे बोले—"पुत्र ! मुझे सन्देह है कि तुम कभी सत्पुरुषों के मार्ग पर स्थिर नहीं रहोगे।"

स तदाज्ञाय दुष्टात्मा पितुर्वचनमप्रियम् ।
निराशः सर्वकल्याणैः शोकात् पर्यचरन्महीम् ।।१०।।

"पिता के इस अप्रिय वचन को सुन और समझकर दुरात्मा द्रोणपुत्र सब प्रकार के कल्याण की आशा छोड़ बैठा और शोक से पीड़ित हो पृथिवी पर विचरने लगा।

ततस्तदा कुरुश्रेष्ठ वनस्थे त्वयि भारत ।
अवसद् द्वारकामेत्य वृष्णिभिः परमार्चितः ।।११।।

"भरतभूषण ! कुरुश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् जब तुम वन में थे, उन्हीं दिनों अश्वत्थामा द्वारका में आकर रहने लगा। वहाँ वृष्णिवंशियों ने उसका बड़ा सत्कार किया।

स कदाचित् समुद्रान्ते वसन् द्वारवतीमनु ।
एक एकं समागम्य मामुवाच हसन्निव ।।१२।।

"एक दिन द्वारका में समुद्र-तट पर रहते समय उसने अकेले ही मुझ अकेले के पास आकर हँसते हुए-से कहा—

यत् तदुग्रं तपः कृष्ण चरन् सत्यपराक्रमः ।
अगस्त्याद् भारताचार्यः प्रत्यपद्यत मे पिता ।।१३।।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम देवगन्धर्वपूजितम् ।
तदद्य मयि दाशार्ह यथा पितरि मे तथा ।।१४।।
अस्मत्तस्तदुपादाय दिव्यमस्त्रं यदूत्तम ।
ममाप्यस्त्रं प्रयच्छ त्वं चक्रं रिपुहणं रणे ।।१५।।

"दशार्हनन्दन ! श्रीकृष्ण ! भरतवंश के आचार्य मेरे सत्यपराक्रमी पिता ने कठोर तप करके महर्षि अगस्त्य से जो ब्रह्मास्त्र प्राप्त किया था, वह देवों और गन्धर्वों द्वारा सम्मानित अस्त्र इस समय पिता के समान मेरे पास भी विद्यमान है, अतः यदुश्रेष्ठ ! आप मुझसे वह दिव्यास्त्र लेकर उसके बदले में युद्ध-भूमि में शत्रुसंहारक अपना 'सुदर्शन चक्र' नामक अस्त्र मुझे दे दीजिए।"

स राजन् प्रीयमाणेन मयाप्युक्तः कृताञ्जलिः ।
याचमानः प्रयत्नेन मत्तोऽस्त्रं भरतर्षभ ।।१६।।

"भरतभूषण ! वह हाथ जोड़ बड़े प्रयत्न के द्वारा मुझसे अस्त्र की याचना कर रहा था, तब मैंने भी प्रसन्नतापूर्वक ही उससे कहा—

देवदानवगन्धर्वमनुष्यपतगोरगाः ।
न समा मम वीर्यस्य शतांशेनापि पिण्डिताः ।।१७।।

"ब्रह्मन् ! देवता, दानव, गन्धर्व, मनुष्य, पक्षी और नाग—ये सब मिलकर भी मेरे पराक्रम के सौवें अंश की भी समानता नहीं कर सकते।

इदं धनुरियं शक्तिरिदं चक्रमियं गदा ।
यद्यदिच्छसि चेदस्त्रं मत्तस्तत् तद् ददामि ते ।।१८।।

"यह मेरा धनुष है, यह शक्ति है, यह चक्र है और यह गदा है। तुम जो-जो अस्त्र मुझसे लेना चाहते हो, वही वह तुम्हें दिये देता हूँ।

यच्छक्नोसि समुद्यन्तुं प्रयोक्तुमपि वा रणे ।
तद्गृहाण विनास्त्रेण यन्मे दातुमभीप्ससि ।।१९।।

"तुम मुझे जो अस्त्र देना चाहते हो, उसे दिये बिना ही युद्धक्षेत्र में मेरे जिस हथियार को उठा अथवा चला सको, उसे ही ले लो।"

स सुनाभं सहस्रारं वज्रनाभमयस्मयम् ।
वव्रे चक्रं महाभागो मत्तः स्पर्धन्मया सह ।।२०।।

"तब उस महाभाग ने मेरे साथ स्पर्धा रखते हुए मुझसे मेरा वह लोहमय चक्र माँगा, जिसकी सुन्दर नाभि में वज्र लगा हुआ है और जो एक सहस्र अरों से सुशोभित होता है।

गृहाण चक्रमित्युक्तो मया तु तदनन्तरम् ।
जग्राहोत्पत्य सहसा चक्रं सव्येन पाणिना ।।२१।।

"मैंने भी कह दिया—'ले लो चक्र,' मेरे इतना कहते ही उसने सहसा उछलकर बाएँ हाथ से चक्र को पकड़ लिया।

न चैनमशकत्स्थानात् संचालयितुमप्युत ।
अथैनं दक्षिणेनापि गृहीतुमुपचक्रमे ।।२२।।

"परन्तु वह उसे अपने स्थान से हिला भी नहीं सका। तब उसने उसे दाहिने हाथ से उठाने का प्रयत्न आरम्भ किया।

सर्वयत्नबलेनापि गृह्णन्नैतदकल्पयत् ।
ततः सर्वबलेनापि यदैतन्न शशाक सः ।।२३।।
उद्यन्तुं वा चालयितुं द्रौणिः परमदुर्मनाः ।
कृत्वा यत्नं परिश्रान्तः स न्यवर्तत भारत ।।२४।।

"सारा प्रयत्न और सारी शक्ति लगाकर भी जब वह उस चक्र को पकड़कर उठा या हिला न सका, तब अश्वत्थामा मन-ही-मन अत्यन्त दुःखी हुआ। हे भारत ! प्रयत्न करके थक जाने पर वह उसे प्राप्त करने की चेष्टा से निवृत्त हो गया।

निवृत्तमनसं तस्मादभिप्रायाद् विचेतसम् ।
अहमामन्त्र्य संविग्नमश्वत्थामानमब्रुवम् ।।२५।।

"जब उस संकल्प से उसका मन हट गया और वह दुःख से अचेत एवं उद्विग्न हो गया, तब मैंने अश्वत्थामा को बुलाकर कहा—

यः सदैव मनुष्येषु प्रमाणं परमं गतः ।
गाण्डीवधन्वा श्वेताश्वः कपिप्रवरकेतनः ।।२६।।

तेनापि सुहृदा ब्रह्मन् पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा ।
नोक्तपूर्वमिदं वाक्यं यत् त्वं मामभिभाषसे ।।२७।।

"ब्रह्मन् ! जो मनुष्य-समाज में सदा ही परम प्रामाणिक समझे जाते हैं, जिनके पास गाण्डीव धनुष और श्वेत घोड़े हैं, जिनकी ध्वजा पर श्रेष्ठ वानर विराजमान होता है, अनायास ही महान् कर्म करनेवाले मेरे उस प्रिय सुहृद् कुन्तीकुमार अर्जुन ने भी पहले कभी ऐसी बात नहीं कही थी, जो आज तुम मुझसे कह रहे हो।

ब्रह्मचर्यं महद्घोरं चीर्त्वा द्वादशवार्षिकम् ।
हिमवत्पार्श्वमास्थाय यो मया तपसार्जितः ।।२८।।
समानव्रतचारिण्यां रुक्मिण्यां योऽन्वजायत ।
सनत्कुमारस्तेजस्वी प्रद्युम्नो नाम मे सुतः ।।२९।।
तेनाप्येतन्महद् दिव्यं चक्रमप्रतिमं रणे ।
न प्रार्थितमभून्मूढ यदिदं प्रार्थितं त्वया ।।३०।।

"मूढ़ ब्राह्मण ! मैंने बारह वर्ष तक घोर ब्रह्मचर्य का पालन करके हिमालय की घाटी में रहकर बड़े भारी तप के द्वारा जिसे प्राप्त किया था, मेरे समान व्रतपालन करनेवाली रुक्मणीदेवी के गर्भ से जिसका जन्म हुआ है, जिसके रूप में साक्षात् तेजस्वी सनत्कुमार ने ही मेरे यहाँ जन्म लिया है, वह प्रद्युम्न मेरा प्रिय पुत्र है। रणभूमि में जिसकी कहीं तुलना नहीं है, मेरे इस परम दिव्य चक्र को कभी उस प्रद्युम्न ने भी नहीं माँगा था, जिसकी आज तुमने माँग की है।

रामेणातिबलेनैतन्नोक्तपूर्वं कदाचन ।
न गदेन न साम्बेन यदिदं प्रार्थितं त्वया ।।३१।।

"अत्यन्त बलशाली बलरामजी ने भी पहले कभी ऐसी बात नहीं कही है। जिसे तुमने माँगा है, उसे गद और साम्ब ने भी कभी लेने की इच्छा नहीं की।

भारताचार्यपुत्रस्त्वं मानितः सर्वयादवैः ।
चक्रेण रथिनां श्रेष्ठ कं नु तात युयुत्ससे ।।३२।।

"तात ! रथियों में श्रेष्ठ ! तुम तो भरतकुल के आचार्य के पुत्र हो। समस्त यादवों ने तुम्हारा बड़ा सम्मान किया है, फिर बताओ तो सही, इस चक्र के द्वारा तुम किसके साथ युद्ध करना चाहते हो ?

एवमुक्तो मया द्रौणिर्मामिदं प्रत्युवाच ह।
प्रयुज्य भवते पूजां योत्से कृष्ण त्वया सह ।।३३।।
प्रार्थितं ते मया चक्रं देवदानवपूजितम् ।
अजेयः स्यामिति विभो सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।।३४।।

''जब मैंने इस प्रकार पूछा, तब द्रोणपुत्र ने मुझे यह उत्तर दिया—'श्रीकृष्ण ! मैं आपकी पूजा करके फिर आपके साथ युद्ध करूँगा। प्रभो ! मैं सच कहता हूँ कि मैंने इस देव-दानवपूजित चक्र को आपसे इसीलिए माँगा था, कि इसे पाकर मैं अजेय हो जाऊँ।

त्वत्तोऽहं दुर्लभं काममनवाप्यैव केशव।
प्रतियास्यामि गोविन्द शिवेनाभिवदस्व माम् ।।३५।।

'''परन्तु केशव ! अब मैं अपनी इस दुर्लभ कामना को आपसे प्राप्त किये बिना ही लौट जाऊँगा। गोविन्द ! आप मुझे केवल इतना कह दें कि तेरा कल्याण हो।'

एतत् सुभीमं भीमानामृषभेण त्वया धृतम् ।
चक्रमप्रतिचक्रेण भुवि नान्योऽभिपद्यते ।।३६।।

'''यह चक्र अत्यन्त भयंकर है और आप भी भयानक वीरों के शिरोमणि हैं। आपके किसी विरोधी के पास ऐसा भयानक चक्र नहीं है। आपने ही इसे धारण कर रखा है। इस भूतल पर दूसरा कोई मनुष्य इसे नहीं उठा सकता।'

एतावदुक्त्वा द्रौणिर्मां युग्यानश्वान् धनानि च।
आदायोपययौ काले रत्नानि विविधानि च ।।३७।।

''मुझसे इतना ही कहकर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा रथ में जोतने योग्य घोड़े, धन और नाना प्रकार के रत्न लेकर वहाँ से यथासमय लौट गया।

स संरम्भी दुरात्मा च चपलः क्रूर एव च।
वेद चास्त्रं ब्रह्मशिरस्तस्माद् रक्ष्यो वृकोदरः ।।३८।।

''वह क्रोधी, दुष्टात्मा, चपल और क्रूर है। साथ ही उसे ब्रह्मास्त्र का भी ज्ञान है, अतः उससे भीमसेन की रक्षा करनी चाहिए।''

इति महाभारते सौप्तिकपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

सप्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण आदि का भीम के पीछे जाना, भीम का गङ्गातट पर पहुँचकर अश्वत्थामा को ललकारना, अश्वत्थामा द्वारा ब्रह्मास्त्र का प्रयोग, जिसके निवारणार्थ अर्जुन का भी ब्रह्मास्त्र छोड़ना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा युधां श्रेष्ठः सर्वयादवनन्दनः।
सर्वायुधवरोपेतमारुरोह रथोत्तमम् ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—समस्त यादवकुल को आनन्दित करनेवाले योद्धाओं में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ऐसा कहकर सम्पूर्ण श्रेष्ठ आयुधों [शस्त्रों] से सम्पन्न उत्तम रथ पर आरूढ़ हुए।

अर्जुनः सत्यकर्मा च कुरुराजो युधिष्ठिरः।
अशोभेतां महात्मानौ दाशार्हमभितः स्थितौ ।।२।।

सत्यपराक्रमी अर्जुन और कुरुराज युधिष्ठिर—ये दोनों महात्मा श्रीकृष्ण के दोनों ओर बैठे हुए अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे।

ते समार्छंन्नरव्याघ्राः क्षणेन भरतर्षभ।
भीमसेनं महेष्वासं समनुद्रुत्य वेगिताः ।।३।।

भरतभूषण ! वे तीनों नरश्रेष्ठ बड़े वेग से पीछे-पीछे रथ दौड़ाकर क्षणभर में महाधनुर्धर भीमसेन के पास जा पहुँचे।

क्रोधदीप्तं तु कौन्तेयं द्विषदर्थे समुद्यतम्।
नाशक्नुवन् वारयितुं समेत्यापि महारथाः ।।४।।

उस समय कुन्तीकुमार भीमसेन क्रोध से प्रज्वलित हो शत्रु का संहार करने पर तुले हुए थे, अतः वे तीनों महारथी उनसे मिलकर भी उन्हें रोक न सके।

स तेषां प्रेक्षतामेव श्रीमतां दृढधन्विनाम्।
ययौ भागीरथीतीरं यत्र द्रौणिः स्म श्रूयते ।।५।।

उन सुदृढ़ धनुर्धर तेजस्वी वीरों के देखते-देखते वे भागीरथी के तट पर जा पहुँचा जहाँ अश्वत्थामा बैठा सुना गया था।

स ददर्श महात्मानमुदकान्ते यशस्विनम्।
कृष्णद्वैपायनं व्यासमासीनमृषिभिः सह ।।६।।

तं चैव क्रूरकर्माणं घृताक्तं कुशचीरिणम् ।
रजसा ध्वस्तमासीनं ददर्श द्रौणिमन्तिके ॥७॥

वहाँ जाकर उन्होंने गङ्गा के किनारे परम यशस्वी महात्मा श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास को अनेक महर्षियों के साथ बैठे देखा। उनके समीप ही क्रूरकर्मा द्रोणपुत्र भी बैठा दिखाई दिया। उसने अपने शरीर में घी लगाकर कुश का चीर पहन रखा था। उसके सारे अङ्गों पर धूल छा रही थी।

तमभ्यधावत् कौन्तेयः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
भीमसेनो महाबाहुस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥८॥

कुन्तीपुत्र महाबाहु भीमसेन बाणसहित धनुष लिये हुए उसकी ओर दौड़े और बोले—"अरे खड़ा रह, खड़ा रह।"

स दृष्ट्वा भीमधन्वानं प्रगृहीतशरासनम् ।
व्यथितमभवद् द्रौणिः प्राप्तं चेदममन्यत ॥९॥

भयंकर धनुर्धर भीमसेन को हाथ में धनुषबाण लिये देखकर अश्वत्थामा के हृदय में बड़ी व्यथा हुई और उस घबराहट में उसने यही करना उचित समझा।

स तद् दिव्यमदीनात्मा परमास्त्रमचिन्तयत् ।
जग्राह च स चैषीकां द्रौणिः सव्येन पाणिना ॥१०॥

उसने दीन न होकर उस दिव्य एवं उत्तम अस्त्र का चिन्तन किया, साथ ही बायें हाथ से एक सींक उठा ली।

स तामापदमासाद्य दिव्यमस्त्रमुदैरयत् ।
अपाण्डवायेति रुषा व्यसृजद् दारुणं वचः ॥११॥

उस आपत्ति में पड़कर उसने रोषपूर्वक उस दिव्यास्त्र का प्रयोग किया और मुख से इस कठोर वचन का उच्चारण किया—"यह अस्त्र समस्त पाण्डवों का विनाश कर डाले।"

इत्युक्त्वा राजशार्दूल द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ।
सर्वलोकप्रमोहार्थं तदस्त्रं प्रमुमोच ह ॥१२॥

नृपश्रेष्ठ! ऐसा कहकर प्रतापी अश्वत्थामा ने सम्पूर्ण लोकों को मोह में डालने के लिए वह अस्त्र छोड़ दिया।

इङ्गितेनैव दाशार्हस्तमभिप्रायमादितः ।
द्रौणेर्बुद्ध्वा महाबाहुरर्जुनं प्रत्यभाषत ॥१३॥

हे राजन्! दशार्हनन्दन महाबाहु श्रीकृष्ण अश्वत्थामा की चेष्टा से उसके मन का भाव पहले ही ताड़ गये थे, अतः वे अर्जुन से कहने लगे—

अर्जुनार्जुन यद्दिव्यमस्त्रं ते हृदि वर्तते ।
द्रोणोपदिष्टं तस्यायं कालः सम्प्रति पाण्डव ॥१४॥

"अर्जुन! अर्जुन! पाण्डवनन्दन! आचार्य द्रोण द्वारा उपदिष्ट जो दिव्यास्त्र तुम्हारे हृदय में विद्यमान है, उसके प्रयोग का अब यह समय आ गया है।

भ्रातृणामात्मनश्चैव परित्राणाय भारत ।
विसृजैतत् त्वमप्याजावस्त्रमस्त्रनिवारणम् ॥१५॥

"भरतनन्दन! भाइयों की और अपनी रक्षा के लिए तुम भी युद्ध में इस ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करो। अश्वत्थामा के अस्त्र का निवारण इसी के द्वारा हो सकता है।"

केशवेनैवमुक्तोऽथ पाण्डवः परवीरहा ।
अवातरद् रथात् तूर्णं प्रगृह्य सशरं धनुः ॥१६॥

श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर शत्रुवीरों के संहारक पाण्डुकुमार अर्जुन धनुष-बाण हाथ में लेकर तुरन्त ही रथ से नीचे उतर गये।

पूर्वमाचार्यपुत्राय ततोऽनन्तरमात्मने ।
भ्रातृभ्यश्चैव सर्वेभ्यः स्वस्तीत्युक्त्वा परन्तपः ॥१७॥
देवताभ्यो नमस्कृत्य गुरुभ्यश्चैव सर्वशः ।
उत्ससर्ज शिवं ध्यायन्नस्त्रमस्त्रेण शाम्यताम् ॥१८॥

शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले अर्जुन ने सबसे पहले यह कहा कि 'आचार्यपुत्र का कल्याण हो' तत्पश्चात् अपने और सम्पूर्ण भाइयों के लिए मङ्गल-कामना करके उन्होंने देवों और गुरुजनों को नमस्कार किया। तत्पश्चात् 'इस ब्रह्मास्त्र से शत्रु का ब्रह्मास्त्र शान्त हो जाए' ऐसा संकल्प करके सबके कल्याण की भावना करते हुए अपना दिव्यास्त्र छोड़ दिया।

ततस्तदस्त्रं सहसा सृष्टं गाण्डीवधन्वना ।
प्रजज्वाल महार्चिष्मद् युगान्तानलसन्निभम् ॥१९॥

गाण्डीवधारी अर्जुन के द्वारा छोड़ा गया वह ब्रह्मास्त्र सहसा प्रज्वलित हो उठा। उससे प्रलयाग्नि के समान बड़ी-बड़ी लपटें उठने लगीं।

तथैव द्रोणपुत्रस्य तदस्त्रं तिग्मतेजसा ।
प्रजज्वाल महाज्वालं तेजोमण्डलसंवृतम् ॥२०॥

इसी प्रकार प्रचण्ड तेजस्वी द्रोणपुत्र का वह अस्त्र भी तेजोमण्डल से घिरकर बड़ी-बड़ी ज्वालाओं के साथ जलने लगा।

सशब्दमभवद् व्योम ज्वालामालाकुलं भृशम्।
चचाल च मही कृत्स्ना सपर्वतवनद्रुमा ॥२१॥

सम्पूर्ण आकाश अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं से व्याप्त हो गया तथा वहाँ जोर-जोर से शब्द होने लगा। पर्वत, वन और वृक्षोंसहित सारी पृथिवी हिलने लगी।

महर्षी सहिता तत्र दर्शयामासतुस्तदा।
नारदः सर्वभूतात्मा भरतानां पितामहः ॥२२॥

उस समय वहाँ सम्पूर्ण भूतों के आत्मा [सबसे आत्मवत् प्रेम करनेवाले] नारद और भरतवंश के पितामह व्यास इन दो महर्षियों ने एक-साथ दर्शन दिया।

उभौ शमयितुं वीरौ भारद्वाजधनञ्जयौ।
दीप्तयोरस्त्रयोर्मध्ये स्थितौ परमतेजसौ ॥२३॥

वे दोनों परम तेजस्वी मुनि अश्वत्थामा और अर्जुन—इन दोनों वीरों को शान्त करने के लिए इनके प्रज्वलित अस्त्रों के बीच में खड़े हो गये।

ऋषी ऊचतुः

नानाशस्त्रविदः पूर्वे येऽप्यतीता महारथाः।
नैतदस्त्रं मनुष्येषु तैः प्रयुक्तं कथञ्चन।
किमिदं साहसं वीरौ कृतवन्तौ महात्ययम् ॥२४॥

दोनों ऋषि बोले—वीरो! पूर्वकाल में भी जो बहुत-से महारथी हो चुके हैं, वे नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के जानकार थे, परन्तु उन्होंने किसी प्रकार भी मनुष्यों पर इस अस्त्र का प्रयोग नहीं किया था। तुम दोनों ने यह महाविनाशकारी दुःसाहस क्यों किया है?

इति महाभारते सौप्तिकपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

व्यासजी की आज्ञा से अर्जुन द्वारा अपने अस्त्र का उपसंहार, अश्वत्थामा का अपनी मणि देकर पाण्डवों के गर्भों पर दिव्यास्त्र छोड़ना, पाण्डवों का मणि देकर द्रौपदी को शान्त करना

वैशम्पायन उवाच

दृष्ट्वैव नरशार्दूल तावग्निसमतेजसौ।
संजहार शरं दिव्यं त्वरमाणो धनञ्जयः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ! उन अग्नि के समान तेजस्वी महर्षियों को देखते ही धनञ्जय ने बड़ी फुर्ती से अपने दिव्यास्त्र का उपसंहार आरम्भ किया।

उवाच भरतश्रेष्ठ तावृषी प्राञ्जलिस्तदा।
प्रयुक्तमस्त्रमस्त्रेण शाम्यतामिति वै मया ॥२॥
संहृते परमास्त्रेऽस्मिन् सर्वानस्मानशेषतः।
पापकर्मा ध्रुवं द्रौणिः प्रधक्ष्यत्यस्त्रतेजसा ॥३॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय उन्होंने हाथ जोड़कर उन दोनों महर्षियों से कहा—"मुनिवरो! मैंने तो यह अस्त्र इस उद्देश्य से छोड़ा था कि इसके द्वारा शत्रु का छोड़ा हुआ ब्रह्मास्त्र शान्त हो जाए। अब इस श्रेष्ठ अस्त्र को लौटा लेने पर पापाचारी अश्वत्थामा अपने अस्त्र के तेज से निश्चय ही हम सब लोगों को भस्म कर डालेगा।

यदत्र हितमस्माकं लोकानां चैव सर्वथा।
भवन्तौ देवसंकाशौ तथा सम्मन्तुमर्हतः ॥४॥

"आप दोनों देवताओं के तुल्य हैं, अतः इस समय जिस कार्य के करने से हमारा और सब लोगों का सर्वथा हित हो, उसी के लिए आप हमें परामर्श दें।"

इत्युक्त्वा संजहारास्त्रं पुनरेवं धनञ्जयः।
संहारो दुष्करस्तस्य देवैरपि हि संयुगे ॥५॥
विसृष्टस्य रणे तस्य परमास्त्रस्य संग्रहे।
अशक्तः पाण्डवादन्यः साक्षादपि शतक्रतुः ॥६॥

ऐसा कहकर अर्जुन ने उस अस्त्र को वापस लौटा लिया। युद्ध में उसे लौटा लेना देवताओं के लिए भी दुष्कर था। संग्राम में एक बार उस दिव्य अस्त्र को छोड़ देने पर पुनः उसे लौटा लेने में पाण्डुपुत्र अर्जुन के सिवा इन्द्र भी समर्थ नहीं था।

ब्रह्मतेजोद्भवं तद्धि विसृष्टमकृतात्मना ।
न शक्यमावर्तयितुं ब्रह्मचारिव्रतादृते ।।७।।

वह ब्रह्मास्त्र ब्रह्मतेज से उत्पन्न हुआ था । यदि अजितेन्द्रिय पुरुष के द्वारा इस अस्त्र का प्रयोग किया गया हो तो उसके लिए इसे पुनः लौटाना असम्भव है, क्योंकि ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किये बिना कोई इसे लौटा नहीं सकता ।

अचीर्णब्रह्मचर्यो यः सृष्ट्वावर्तयते पुनः ।
तदस्त्रं सानुबन्धस्य मूर्धानं तस्य कृन्तति ।।८।।

ब्रह्मचर्य का पालन न करनेवाला जो मनुष्य उसका एक बार प्रयोग करके उसे वापस लौटाने का प्रयत्न करे तो यह अस्त्र सगे-सम्बन्धियोंसहित उसका सिर काट लेता है ।

ब्रह्मचारी व्रती चापि दुरवापमवाप्य तत् ।
परमव्यसनार्तोऽपि नार्जुनोऽस्त्रं व्यमुञ्चत ।।९।।

अर्जुन ने ब्रह्मचारी एवं व्रतधारी रहकर ही उस दुर्लभ अस्त्रको प्राप्त किया था । वे बड़े-से-बड़े संकटों में पड़ने पर भी कभी उस अस्त्र का प्रयोग नहीं करते थे ।

सत्यव्रतधरः शूरो ब्रह्मचारी च पाण्डवः ।
गुरुवर्ती च तेनास्त्रं संजहारार्जुनः पुनः ।।१०।।

सत्यव्रतधारी, ब्रह्मचारी, शूरवीर पाण्डव अर्जुन गुरु की आज्ञा का पालन करनेवाले थे, अतः उन्होंने उस अस्त्र को लौटा लिया ।

द्रोणिरप्यथ सम्प्रेक्ष्य तावृषी पुरतः स्थितौ ।
न शशाक पुनर्घोरमस्त्रं संहर्तुमोजसा ।।११।।

अश्वत्थामा ने भी उन दोनों ऋषियों को अपने सामने खड़ा देखकर उस घोर अस्त्र को बलपूर्वक लौटा लेने का प्रयत्न किया, किन्तु वह उसमें सफल न हो सका ।

अशक्तः प्रतिसंहारे परमास्त्रस्य संयुगे ।
द्रौणिर्दीनमना राजन् द्वैपायनमभाषत ।।१२।।

राजन् ! युद्ध में उस दिव्य-अस्त्र का उपसंहार करने में समर्थ न होने के कारण अश्वत्थामा मन-ही-मन बहुत दुःखी हुआ और व्यासजी से इस प्रकार बोला—

उत्तमव्यसनार्तेन प्राणत्राणमभीप्सुना ।
मयैतदस्त्रमुत्सृष्टं भीमसेनभयान्मुने ।।१३।।

"मुने ! मैंने भीमसेन के भय से भारी संकट में पड़कर अपने प्राणों की रक्षा के लिए ही यह अस्त्र छोड़ा था ।

अधर्मश्च कृतोऽनेन धार्तराष्ट्रं जिघांसता ।
मिथ्याचारेण भगवन् भीमसेनेन संयुगे ।।१४।।

"भगवन् ! दुर्योधन के वध की इच्छा से इस भीमसेन ने युद्धभूमि में मिथ्याचार का आश्रय लेकर महान् अधर्म किया था ।

अतः सृष्टमिदं ब्रह्मन् मयास्त्रमकृतात्मना ।
तस्य भूयोऽद्य संहारं कर्तुं नाहमिहोत्सहे ।।१५।।

"ब्रह्मन् ! यद्यपि मैं जितेन्द्रिय नहीं हूँ फिर भी मैंने इस अस्त्र का प्रयोग कर दिया है । अब इसे लौटा लेने की शक्ति मुझमें नहीं है ।

विसृष्टं हि मया दिव्यमेतदस्त्रं दुरासदम् ।
अपाण्डवायेति मुने वह्नितेजोऽनुमन्त्र्य वै ।।१६।।

"मुने ! मैंने इस दुर्जय दिव्यास्त्र को अग्नि के तेज से युक्त और अभिमन्त्रित करके इस उद्देश्य से छोड़ा था कि पाण्डवों का नाम निःशेष हो जाए ।

तदिदं पाण्डवेयानामन्तकायाभिसंहितम् ।
अद्य पाण्डुसुतान् सर्वाञ्जीविताद् भ्रंशयिष्यति ।।१७।।

"पाण्डवों के विनाश का संकल्प करके छोड़ा गया यह अस्त्र आज समस्त पाण्डवों को जीवनशून्य कर देगा ।

कृतं पापमिदं ब्रह्मन् रोषाविष्टेन चेतसा ।
वधमाशास्य पार्थानां मयास्त्रं सृजता रणे ।।१८।।

"ब्रह्मन् ! मैंने मन में रोष भरकर रणभूमि में कुन्तीकुमारों के वध की इच्छा से इस अस्त्र का प्रयोग करके निश्चय ही बड़ा भारी पाप किया है ।"

व्यास उवाच

अस्त्रं ब्रह्मशिरस्तात विद्वान् पार्थो धनञ्जयः ।
उत्सृष्टवान्न रोषेण न नाशाय तवाहवे ।।१९।।

व्यासजी ने कहा—तात ! कुन्तीपुत्र अर्जुन भी तो इस ब्रह्मास्त्र के ज्ञाता हैं, परन्तु उन्होंने रोष में भरकर तुम्हें मारने के लिए उसे नहीं छोड़ा ।

अस्त्रमस्त्रेण तु रणे तव संशमयिष्यता ।
विसृष्टमर्जुनेनेदं पुनश्च प्रतिसंहृतम् ।।२०।।

देखो ! युद्धभूमि में अपने अस्त्र द्वारा तुम्हारे अस्त्र को शान्त करने के उद्देश्य से ही अर्जुन ने उसका प्रयोग किया था और अब उसे लौटा भी लिया है।

ब्रह्मास्त्रमप्यवाप्यैतदुपदेशात् पितुस्तव।
क्षत्रधर्मान्महाबाहुर्नाकम्पत धनञ्जयः ॥२१॥

इस ब्रह्मास्त्र को पाकर भी महाबाहु अर्जुन तुम्हारे पिताजी का उपदेश मानकर कभी क्षात्रधर्म से विचलित नहीं हुए हैं।

एवं धृतिमतः साधोः सर्वास्त्रविदुषः सतः।
सभ्रातृबन्धोः कस्मात्त्वं वधमस्य चिकीर्षसि ॥२२॥

ये ऐसे धैर्यवान्, सज्जन, सम्पूर्ण अस्त्रों के ज्ञाता और सत्पुरुष हैं फिर भी तुम भाई-बन्धुओंसहित इनका वध करने की इच्छा क्यों रखते हो ?

अस्त्रं ब्रह्मशिरो यत्र परमस्त्रेण वध्यते।
समा द्वादश पर्जन्यस्तद्राष्ट्रं नाभिवर्षति ॥२३॥

जिस देश में एक ब्रह्मास्त्र को दूसरे श्रेष्ठ अस्त्र से दबा दिया जाता है, उस राष्ट्र में बारह वर्षों तक वर्षा नहीं होती है।

एतदर्थं महाबाहुः शक्तिमानपि पाण्डवः।
न विहन्त्येतदस्त्रं ते प्रजाहितचिकीर्षया ॥२४॥

इसीलिए प्रजागण के हित की इच्छा से महाबाहु अर्जुन शक्तिशाली होते हुए भी तुम्हारे इस अस्त्र को नष्ट नहीं कर रहे हैं।

पाण्डवास्त्वं च राष्ट्रं च सदा संरक्ष्यमेव हि।
तस्मात् संहर दिव्यं त्वमस्त्रमेतन्महाभुज ॥२५॥

महाबाहो ! तुम्हें पाण्डवों की, अपनी और इस राष्ट्र की भी सदा रक्षा ही करनी चाहिए, अतः तुम अपने इस दिव्यास्त्र को लौटा लो।

अरोषस्तव चैवास्तु पार्थाः सन्तु निरामयाः।
न ह्यधर्मेण राजर्षिः पाण्डवो जेतुमिच्छति ॥२६॥

तुम्हारा रोष शान्त हो और पाण्डव भी स्वस्थ रहें। पाण्डुपुत्र राजर्षि युधिष्ठिर किसी को भी अधर्म से नहीं जीतना चाहते हैं।

मणिं चैव प्रयच्छाद्य यस्ते शिरसि तिष्ठति।
एतमादाय ते प्राणान् प्रतिदास्यन्ति पाण्डवाः ॥२७॥

तुम्हारे सिर में जो मणि है, इसे आज पाण्डवों को प्रदान कर दो। इस मणि को लेकर ये बदले में तुम्हें प्राणदान देंगे।

द्रौणिरुवाच

पाण्डवैर्यानि रत्नानि यच्चान्यत् कौरवैर्धनम्।
अवाप्तमिह तेभ्योऽयं मणिर्मम विशिष्यते ॥२८॥

अश्वत्थामा बोला—पाण्डवों ने अबतक जो-जो रत्न प्राप्त किये हैं और कौरवों ने भी यहाँ जो धन पाया है, मेरी यह मणि उन सबसे अधिक मूल्यवान् है।

यमाबध्य भयं नास्ति शस्त्रव्याधिक्षुधाश्रयम्।
देवेभ्यो दानवेभ्यो वा नागेभ्यो वा कथञ्चन ॥२९॥

इसे बाँध लेने पर शस्त्र, व्याधि, क्षुधा, देवता, दानव अथवा नाग किसी से भी किसी प्रकार का भय नहीं रहता।

न च रक्षोगणभयं न तस्करभयं तथा।
एवंवीर्यो मणिरयं न मे त्याज्यः कथञ्चन ॥३०॥

इसे बाँध लेने पर न राक्षसों का भय रहता है, न चोरों का, मेरी इस मणि का ऐसा अद्भुत प्रभाव है, अतः मुझे इसका त्याग किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिए।

यत्तु मे भगवानाह तन्मे कार्यमनन्तरम्।
अयं मणिरयं चाहमीषिका तु पतिष्यति ॥३१॥
गर्भेषु पाण्डवेयानाममोघं चैतदुत्तमम्।
न च शक्तोऽस्मि भगवन् संहर्तुं पुनरुद्यतम् ॥३२॥

परन्तु आप पूज्यपाद महर्षि मुझे जो आज्ञा देते हैं, उसी का अब मुझे पालन करना है, अतः यह रही मणि और यह रहा मैं, परन्तु यह दिव्यास्त्र से अभिमन्त्रित की हुई सींक तो पाण्डवों के गर्भस्थ शिशुओं पर गिरेगी ही, क्योंकि यह उत्तम अस्त्र अमोघ है। भगवन् ! इस उठे हुए अस्त्र को मैं पुनः लौटा लेने में असमर्थ हूँ।

एतदस्त्रमतश्चैव गर्भेषु विसृजाम्यहम्।
न च वाक्यं भगवतो न करिष्ये महामुने ॥३३॥

महामुने ! यह अस्त्र मैं पाण्डवों के गर्भों पर ही छोड़ रहा हूँ। आपकी आज्ञा का मैं कदापि उल्लंघन नहीं करूँगा।

व्यास उवाच

एवं कुरु न चान्या तु बुद्धिः कार्या त्वयानघ ।
गर्भेषु पाण्डवेयानां विसृज्यैतदुपारम ॥३४॥

व्यासजी ने कहा—निष्पाप ! अच्छा ऐसा ही हो। अब अपने मन में दूसरा कोई विचार मत लाना। इस अस्त्र को पाण्डवों के गर्भों पर ही छोड़कर शान्त हो जाओ।

वैशम्पायन उवाच

ततः परममस्त्रं तु द्रौणिरुद्यतमाहवे ।
द्वैपायनवचः श्रुत्वा गर्भेषु मुमोच ह ॥३५॥

वैशम्पायजी कहते हैं—राजन् ! व्यासजी का यह वचन सुनकर अश्वत्थामा ने युद्ध में उठे हुए उस दिव्यास्त्र को पाण्डवों के गर्भों पर ही छोड़ दिया।

तदाज्ञाय हृषीकेशो विसृष्टं पापकर्मणा ।
हृष्यमाण इदं वाक्यं द्रौणिं प्रत्यब्रवीत्तदा ॥३६॥

पापी अश्वत्थामा ने अपना अस्त्र पाण्डवों के गर्भ पर छोड़ दिया है, यह जानकर श्रीकृष्ण को बड़ी प्रसन्नता हुई। उस समय उन्होंने अश्वत्थामा से इस प्रकार कहा—

विराटस्य सुतां पूर्वं स्नुषां गाण्डीवधन्वनः ।
उपप्लव्यगतां दृष्ट्वा व्रतवान् ब्राह्मणोऽब्रवीत् ॥३७॥

"पहले की बात है, राजा विराट की कन्या और गाण्डीवधारी अर्जुन की पुत्रवधू जब उपप्लव्यनगर में रहती थी, उस समय किसी व्रतधारी ब्राह्मण ने उसे देखकर कहा—

परिक्षीणेषु कुरुषु पुत्रस्तव भविष्यति ।
एतदस्य परिक्षित्वं गर्भस्थस्य भविष्यति ॥३८॥

"पुत्री ! जब कौरववंश परिक्षीण हो जाएगा, तब तुम्हें एक पुत्र प्राप्त होगा और इसीलिए उस गर्भस्थ शिशु का नाम परिक्षित् होगा।"

तस्य तद् वचनं साधोः सत्यमेतद् भविष्यति ।
परिक्षिद् भवता ह्येषां पुनर्वंशकरः सुतः ॥३९॥

"उस साधु ब्राह्मण का वह वचन सत्य होगा। उत्तरा का पुत्र परिक्षित् ही पुनः पाण्डववंश का प्रवर्तक होगा।"

एवं ब्रुवाणं गोविन्दं सात्वतां प्रवरं तदा ।
द्रौणिः परमसंरब्धः प्रत्युवाचेदमुत्तरम् ॥४०॥

सात्वतवंश शिरोमणि श्रीकृष्ण जब ऐसा कह रहे थे, उस समय अश्वत्थामा अत्यन्त कुपित हो उठा और उत्तर देते हुए बोला—

नैतदेवं यथाऽऽत्थ त्वं पक्षपातेन केशव ।
वचनं पुण्डरीकाक्ष न च मद्वाक्यमन्यथा ॥४१॥

"कमलनयन केशव ! तुम पाण्डवों का पक्षपात करते हुए इस समय जैसी बात कह गये हो, वह कभी नहीं हो सकती। मेरा वचन मिथ्या नहीं होगा।

पतिष्यति तदस्त्रं हि गर्भे तस्या मयोद्यतम् ।
विराटदुहितुः कृष्ण यं त्वं रक्षितुमिच्छसि ॥४२॥

"श्रीकृष्ण ! मेरे द्वारा चलाया गया वह अस्त्र विराटपुत्री उत्तरा के गर्भ पर ही, जिसकी तुम रक्षा करना चाहते हो गिरेगा।"

श्रीकृष्ण उवाच

अमोघः परमास्त्रस्य पातस्तस्य भविष्यति ।
स तु गर्भो मृतो जातो दीर्घमायुरवाप्स्यति ॥४३॥

श्रीकृष्ण बोले—द्रोणपुत्र ! उस दिव्यास्त्र का प्रहार तो अमोघ ही होगा। उत्तरा का वह गर्भ मरा हुआ ही उत्पन्न होगा, फिर उसे दीर्घायु प्राप्त हो जाएगी।

वयः प्राप्य परिक्षित् तु वेदव्रतमवाप्य च ।
कृपाच्छारद्वताच्छूरः सर्वास्त्राण्युपपत्स्यते ॥४४॥

परिक्षित् दीर्घायु प्राप्त करके ब्रह्मचर्यपालन तथा वेदाध्ययन का व्रत धारण करेगा और वह शूरवीर बालक शरद्वान् के पुत्र कृपाचार्य से ही सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान प्राप्त करेगा।

अहं तं जीवयिष्यामि दग्धं शस्त्राग्नितेजसा ।
पश्य मे तपसो वीर्यं सत्यस्य च नराधम ॥४५॥

पापी ! तेरी शस्त्राग्नि के तेज से दग्ध हुए उस बालक को मैं जीवित करूँगा। उस समय तू मेरे सत्य और तप का प्रभाव देख लेना।

वैशम्पायन उवाच

प्रदायाथ मणिं द्रौणिः पाण्डवानां महात्मनाम् ।
जगाम विमनास्तेषां सर्वेषां पश्यतां वनम् ॥४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस वार्तालाप के पश्चात् द्रोणपुत्र अश्वत्थामा महात्मा पाण्डवों

को मणि देकर उदास मन से उन सबके देखते-देखते वन में चला गया।

ततस्ते पुरुषव्याघ्राः सदश्वैरनिलोपमैः।
अभ्ययुश्चः सदाशार्हाः शिबिरं पुनरेव हि ।।४७।।

मणि लेकर श्रीकृष्णसहित वे पुरुषसिंह पाण्डव वहाँ से वायु के समान वेगशाली उत्तम घोड़ों के द्वारा पुनः अपने शिबिर में आ पहुँचे।

अवतीर्य रथेभ्यस्तु त्वरमाणा महारथाः।
ददृशुर्द्रौपदीं कृष्णामार्तामार्ततराः स्वयम् ।।४८।।

वहाँ रथों से उतरकर वे महारथी वीर अत्यन्त उतावली के साथ आकर शोक-पीड़ित द्रुपदकुमारी कृष्णा से मिले। उस समय वे स्वयं भी शोक से अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे।

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातो भीमसेनो महाबलः।
प्रददौ तं मणिं दिव्यं वचनं चेदमब्रवीत् ।।४९।।

कृष्णा के पास पहुँचकर राजा युधिष्ठिर की आज्ञा से महाबली भीमसेन ने वह दिव्य मणि द्रौपदी के हाथ में दे दी और इस प्रकार कहा—

अयं भद्रे तव मणिः पुत्रहन्तुर्जितः स ते।
उत्तिष्ठ शोकमुत्सृज्य क्षात्रधर्ममनुस्मर ।।५०।।

"भद्रे! यह तुम्हारे पुत्रों का वध करनेवाले अश्वत्थामा की मणि है। तुम्हारे उस शत्रु को हमने जीत लिया। अब शोक छोड़कर उठो और क्षत्रिय-धर्म का स्मरण करो।

जित्वा मुक्तो द्रोणपुत्रो ब्राह्मण्याद् गौरवेण च।
यशोऽस्य पतितं देवि शरीरं त्ववशेषितम्।
वियोजितश्च मणिना भ्रंशितश्चायुधं भुवि ।।५१।।

"देवि! हमने द्रोणपुत्र अश्वत्थामा को जीतकर केवल ब्राह्मण और गुरुपुत्र होने के कारण ही उसे जीवित छोड़ दिया है। उसका सारा यश धूल में मिल गया, केवल शरीर शेष रह गया है। उसकी मणि छीन ली गई और उससे पृथिवी पर हथियार डलवा दिये गये हैं।"

द्रौपद्युवाच

केवलानृण्यमाप्तास्मि गुरुपुत्रो गुरुर्मम।
शिरस्येतं मणिं राजा प्रतिबध्नातु भारत ।।५२।।

द्रौपदी बोली—भरतभूषण! गुरुपुत्र तो मेरे लिए भी गुरु के ही समान हैं। मैं तो केवल पुत्रों के वध का प्रतिशोध लेना चाहती थी, वह पा गई। अब महाराज इस मणि को अपने मस्तक पर धारण करें।

तं गृहीत्वा ततो राजा शिरस्येवाकरोत् तदा।
गुरोरुच्छिष्टमित्येव द्रौपद्या वचनादपि ।।५३।।

तब राजा युधिष्ठिर ने उस मणि को लेकर द्रौपदी के कथनानुसार उसे अपने मस्तक पर धारण कर लिया। उन्होंने उस मणि को गुरु का प्रसाद ही समझा।

ततो दिव्यं मणिवरं शिरसा धारयन् प्रभो।
शुशुभे स तदा राजा सचन्द्र इव पर्वतः।
उत्तस्थौ पुत्रशोकार्ता ततः कृष्णा मनस्विनी ।।५४।।

उस दिव्य एवं उत्तम मणि को मस्तक पर धारण करके शक्तिशाली राजा युधिष्ठिर चन्द्रोदय की शोभा से युक्त उदयाचल के समान सुशोभित हुए और पुत्रशोक से पीड़ित हुई मनस्विनी कृष्णा भी अनशन छोड़कर उठ गई।

इति महाभारते सौप्तिकपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ।।८।।

।। इति सौप्तिकपर्व सम्पूर्णम् ।।

स्त्रीपर्व

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र का विलाप और सञ्जय तथा विदुर का उन्हें सान्त्वना देना

जनमेजय उवाच

हते दुर्योधने चैव हते सैन्ये च सर्वशः ।
धृतराष्ट्रो महाराजः श्रुत्वा किमकरोन्मुने ।।१।।

जनमेजय ने पूछा—मुने ! दुर्योधन और उसकी सारी सेना का संहार हो जाने पर महाराज धृतराष्ट्र ने इस वृत्तान्त को सुनकर क्या किया ?

तथैव कौरवो राजा धर्मपुत्रो महामनाः ।
कृपप्रभृतयश्चैव किमकुर्वत ते त्रयः ।।२।।

इसी प्रकार कुरुवंशी राजा महामनस्वी धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने तथा कृपाचार्य आदि तीनों महारथियों ने भी क्या किया ?

वैशम्पायन उवाच

हते पुत्रशते दीनं छिन्नशाखमिव द्रुमम् ।
पुत्रशोकाभिसन्तप्तं धृतराष्ट्रं महीपतिम् ।।३।।
ध्यानमूकत्वमापन्नं चिन्तया समभिप्लुतम् ।
अभिगम्य महाराज सञ्जयो वाक्यमब्रवीत् ।।४।।

वैशम्पायनजी ने कहा—राजन् ! अपने पुत्रों के मारे जाने पर राजा धृतराष्ट्र की अवस्था ऐसी दयनीय हो गई, जैसे शाखाओं के कट जाने पर वृक्ष की हो जाती है। वे पुत्रों के शोक से सन्तप्त हो उठे। महाराज ! उन्हीं पुत्रों का ध्यान करते-करते वे मौन हो गये, चिन्ता में डूब गये। ऐसी दशा में उनके पास जाकर सञ्जय ने इस प्रकार कहा—

किं शोचसि महाराज नास्ति शोके सहायता ।
अक्षौहिण्यो हताश्चाष्टौ दश चैव विशाम्पते ।।५।।

"महाराज ! आप शोक क्यों कर रहे हैं ? इस शोक में आपकी सहायता करनेवाला, आपका दुःख बाँटनेवाला भी तो कोई नहीं बचा है। प्रजेश्वर ! इस युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ मारी गई हैं।

निर्जनेयं वसुमती शून्या सम्प्रति केवला ।
नानादिग्भ्यः समागम्य नानादेश्या नराधिपाः ।
सहैव तव पुत्रेण सर्वे वै निधनं गताः ।।६।।

"इस समय यह पृथिवी निर्जन होकर केवल सूनी-सी दिखाई पड़ती है। विभिन्न देशों के भूपाल नाना दिशाओं से आकर आपके पुत्र के साथ ही सब-के-सब काल के करालगाल में समा गये हैं।

पितॄणां पुत्रपौत्राणां ज्ञातीनां सुहृदां तथा ।
गुरूणां चानुपूर्व्येण प्रेतकार्याणि कारय ।।७।।

"महाराज ! अब आप क्रमशः अपने चाचा, ताऊ, पुत्र-पौत्र, भाई-बन्धु, सुहृद् तथा गुरुजनों के प्रेतकार्य सम्पन्न कराइए।"

तत् श्रुत्वा करुणं वाक्यं पुत्रपौत्रवधार्दितः ।
पपात भुवि दुर्धर्षो वाताहत इव द्रुमः ।।८।।

राजन् ! सञ्जय की यह करुणाभरी बात सुनकर पुत्र और पौत्रों के वध से व्याकुल हुए दुर्जय राजा धृतराष्ट्र आँधी से उखाड़े हुए वृक्ष की भाँति पृथिवी पर गिर पड़े।

धृतराष्ट्र उवाच

हतपुत्रो हतामात्यो हतसर्वसुहृज्जनः ।
दुःखं नूनं गमिष्यामि विचरन् पृथिवीमिमाम् ।।९।।

धृतराष्ट्र बोले—सञ्जय ! मेरे पुत्र, मन्त्री और समस्त बन्धु-बान्धव मारे गये। अब तो अवश्य ही मैं इस संसार में भटकता हुआ केवल दुःख ही भोगूंगा।

किं नु बन्धुविहीनस्य जीवितेन ममाद्य वै ।
लूनपक्षस्य इव मे जराजीर्णस्य पक्षिणः ।।१०।।

जिसके पंख काट लिये गये हों, उस जराजीर्ण पक्षी के समान बन्धु-बान्धवों से हीन हुए मुझ वृद्ध को अब इस जीवन से क्या प्रयोजन है ?

नूनं व्यपकृतं किञ्चिन्मया पूर्वेषु जन्मसु ।
येन मां दुःखभागेषु धाता कर्मसु युक्तवान् ।।११।।

निश्चय ही मैंने पूर्वजन्म में कोई ऐसा महान् पाप किया है, जिससे विधाता ने मुझे इन दुःखमय कर्मों में नियुक्त कर दिया है ।

हृतराज्यो हतबन्धुर्हतचक्षुश्च वै तथा ।
कोऽन्योऽस्ति दुःखिततरो मत्तोऽन्यो हि पुमान्भुवि ।।१२

मेरा राज्य छिन गया, बन्धु-बान्धव मारे गये और आँखें पहले से ही नष्ट हो चुकी थीं । भला, अब इस भू-मण्डल में मुझसे बढ़कर महान् दुःखी और कौन होगा ?

तन्मामद्यैव पश्यन्तु पाण्डवाः संशितव्रताः ।
विवृतं ब्रह्मलोकस्य दीर्घमध्वानमास्थितम् ।।१३।।

अतः कठोर व्रत का पालन करनेवाले पाण्डव लोग मुझे आज ही ब्रह्मलोक के खुले हुए विशाल मार्ग पर आगे बढ़ते देखें ।

सञ्जय उवाच

शोकं राजन् व्यपनुद श्रुतास्ते वेदनिश्चयाः ।
शास्त्रागमाश्च विविधा वृद्धेभ्यो नृपसत्तम ।।१४।।

सञ्जय बोले—नृपश्रेष्ठ राजन् ! आपने बड़े-बूढ़ों के मुख से वेदों के सिद्धान्त, नाना प्रकार के शास्त्र एवं आगम सुने हैं, अतः आप शोक को त्याग दीजिए ।

श्रुतवानसि मेधावी सत्यवांश्चैव नित्यदा ।
न मुह्यन्तीदृशाः सन्तो बुद्धिमन्तो भवादृशाः ।।१५।।

आप स्वयं शास्त्रों के विद्वान्, मेधावी और सदा सत्य में तत्पर रहनेवाले हैं । आप-जैसे बुद्धिमान् तथा श्रेष्ठ पुरुष मोह के वशीभूत नहीं होते हैं ।

पुत्रगृद्ध्या त्वया राजन् प्रियं तस्य चिकीर्षितम् ।
पश्चात्तापमिमं प्राप्तो न त्वं शोचितुमर्हसि ।।१६।।

राजन् ! पुत्र के प्रति आसक्ति रखने के कारण आपने सदा उसी [दुर्योधन] का प्रिय करना चाहा, अतः इस समय आपको पश्चात्ताप का अवसर प्राप्त हुआ है, इसलिए अब आप शोक न करें ।

मधु यः केवलं दृष्ट्वा प्रपातं नानुपश्यति ।
स भ्रष्टो मधुलोभेन शोचत्येवं यथा भवान् ।।१७।।

जो मनुष्य ऊँचे स्थान पर लगे हुए मधु को देखकर वहाँ से नीचे गिरने की सम्भावना की ओर से आँखें बन्द कर लेता है, वह उस मधु के लोभ से नीचे गिरकर ऐसे ही शोक करता है, जैसा आप कर रहे हैं ।

अर्थान्न शोचन्प्राप्नोति न शोचन्विन्दते फलम् ।
न शोचञ्श्रियमाप्नोति न शोचन्विन्दते परम् ।।१८।।

शोकग्रस्त मनुष्य अपने अभीष्ट पदार्थों को नहीं पाता, शोक करनेवाला किसी फल को भी हस्तगत नहीं कर सकता । शोकपरायण पुरुष को न धन ही मिलता है और न परमात्मा ही ।

स्वयमुत्पादयित्वाग्निं वस्त्रेण परिवेष्टयन् ।
दह्यमानो मनस्तापं भजते न स पण्डितः ।।१९।।

जो मनुष्य स्वयं आग जलाकर उसे कपड़े में लपेट लेता है और जलने पर मन-ही-मन सन्ताप का अनुभव करता है, वह बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता ।

त्वयैव ससुतेनायं वाक्यवायुसमीरितः ।
लोभाज्येन च संसिक्तो ज्वलितः पार्थपावकः ।।२०।।

पुत्रसहित आपने ही अपने लोभरूपी घी से सींचकर और वचनरूपी वायु से प्रेरित करके पार्थरूपी अग्नि को प्रज्वलित किया था ।

तस्मिन् समिद्धे पतिताः शलभा इव ते सुताः ।
तान् वै शराग्निनिर्दग्धान्न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२१।।

उसी प्रज्वलित अग्नि में आपके सारे पुत्र पतङ्गों के समान गिरकर जल गये हैं । बाणों की अग्नि में जलकर भस्म हुए उन पुत्रों के लिए आपको शोक नहीं करना चाहिए ।

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितस्तेन सञ्जयेन महात्मना ।
विदुरो भूय एवाह बुद्धिपूर्वं परन्तप ।।२२।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुसन्तापक जनमेजय! महात्मा सञ्जय के इस प्रकार आश्वासन दे चुकने

पर विदुरजी ने भी राजा धृतराष्ट्र को पुनः आश्वासन देते हुए उनसे यह विचारपूर्ण वचन कहा—

विदुर उवाच

उत्तिष्ठ राजन् किं शेषे धारयात्मानमात्मना ।
एषा वै सर्वसत्त्वानां लोकेश्वर परा गतिः ॥२३॥

विदुरजी बोले—राजन् ! आप भूमि पर क्यों पड़े हैं ? उठकर बैठिए और बुद्धि द्वारा अपने मन को स्थिर कीजिए । लोकेश्वर ! समस्त प्राणियों की यही अन्तिम गति है ।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः । □
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥२४॥

समस्त संग्रहों का अन्त उनके क्षय में ही है । भौतिक उन्नतियों का अन्त पतन में ही है । सारे संयोगों का अन्त वियोग में ही है । इसी प्रकार सम्पूर्ण जीवनों का अन्त मृत्यु में ही होनेवाला है ।

अयुध्यमानो म्रियते युध्यमानश्च जीवति ।
कालं प्राप्य महाराज न कश्चिदतिवर्तते ॥२५॥

महाराज ! युद्ध न करनेवाला भी मर जाता है और रण में जूझनेवाला भी जीवित बच जाता है । काल को पाकर कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता ।

न शोचन् मृतमन्वेति न शोचन् म्रियते नरः ।
एवं सांसिद्धिके लोके किमर्थमनुशोचसि ॥२६॥

शोकपरायण पुरुष न तो मरनेवाले के साथ जा सकता है और न मर ही सकता है । जब संसार की ऐसी ही स्वाभाविक स्थिति है, तब आप किसके लिए शोक कर रहे हैं ?

कालः कर्षति भूतानि सर्वाणि विविधान्युत ।
न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम ॥२७॥

कुरुकुलभूषण ! काल नाना प्रकार के सब प्राणियों को खींच लेता है । काल को न तो कोई प्रिय है और न कोई उसके द्वेष का ही पात्र है ।

यथा वायुस्तृणाग्राणि संवर्तयति सर्वशः ।
तथा कालवशं यान्ति भूतानि भरतर्षभ ॥२८॥

भरतभूषण ! जैसे वायु तिनकों को सब ओर उड़ाती और डालती रहती है, वैसे ही समस्त प्राणी काल के अधीन होकर आते-जाते हैं ।

एकसार्थप्रयातानां सर्वेषां तत्र गामिनाम् ।
यस्य कालः प्रयात्यग्रे तत्र का परिदेवना ॥२९॥

जो एक साथ संसार की यात्रा में आये हैं, उन सबको एक दिन वहीं—परलोक में जाना है । उनमें से जिसका समय पहले आ गया, वह पहले चला जाता है । ऐसी अवस्था में किसी के लिए शोक क्या करना ?

न चाप्येतान् हतान् युद्धे राजञ्शोचितुमर्हसि ।
प्रमाणं यदि शास्त्राणि गतास्ते परमां गतिम् ॥३०॥

राजन् ! युद्ध में मारे गये इन वीरों के लिए तो आपको शोक करना ही नहीं चाहिए । यदि आप शास्त्रों का प्रमाण मानते हैं तो वे निश्चय ही परम गति को प्राप्त हुए हैं ।

सर्वे स्वाध्यायवन्तो हि सर्वे च चरितव्रताः ।
सर्वे चाभिमुखाः क्षीणास्तत्र का परिदेवना ॥३१॥

वे सभी वीर वेदों का स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करनेवाले थे । वे सभी युद्ध में शत्रु का सामना करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए हैं, अतः उनके लिए शोक करने की क्या बात है ?

न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिर्न तपोभिर्न विद्यया ।
स्वर्गं यान्ति तथा मर्त्या यथा शूरा रणे हताः ॥३२॥

युद्ध में मारे गये शूरवीर जितनी सरलता से स्वर्गलोक में जाते हैं, उतनी सुगमता से मनुष्य प्रचुर दक्षिणा देनेवाले यज्ञ, तपस्या और विद्या द्वारा भी नहीं जा सकते ।

क्षत्रियास्ते महात्मानः शूराः समितिशोभनाः ।
आशिषः परमाः प्राप्ता न शोच्याः सर्व एव हि ॥३३॥

वे महामनस्वी वीर क्षत्रिय युद्ध में शोभा पानेवाले थे, अतः उन्होंने अपनी कामनाओं के अनुरूप उत्तम लोक प्राप्त किये हैं । उन सबके लिए शोक करना तो किसी भी प्रकार उचित नहीं है ।

आत्मानमात्मनाऽऽश्वास्य मा शुचः पुरुषर्षभ ।
नाद्य शोकाभिभूतस्त्वं कायमुत्स्रष्टुमर्हसि ॥३४॥

पुरुषश्रेष्ठ ! आप स्वयं ही अपने मन को सान्त्वना देकर शोक को त्याग दीजिए । आज शोक से व्याकुल होकर आपको अपने शरीर का त्याग नहीं करना चाहिए ।

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥३५॥

हम लोगों ने बारम्बार संसार में जन्म लेकर सहस्रों माता-पिताग्रों ग्रौर सैकड़ों स्त्री-पुरुषों के सुख का ग्रनुभव किया है किन्तु ग्राज वे किसके हैं ग्रथवा हम उनमें से किसके हैं ?

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥३६॥

शोक के सहस्रों स्थान हैं ग्रौर भय के भी सैकड़ों स्थान हैं, परन्तु वे प्रतिदिन ग्रज्ञानी मनुष्य पर ही ग्रपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान् पुरुष पर नहीं।

ग्रनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसञ्चयः।
ग्रारोग्यं प्रियसंवासो गृद्ध्येदेषु न पण्डितः ॥३७॥

यौवन, सौन्दर्य, जीवन, धन का संग्रह, ग्रारोग्य ग्रौर प्रियजनों का एकसाथ निवास, ये सभी ग्रनित्य हैं, ग्रतः विद्वान् पुरुष को चाहिए कि वह कभी इनमें ग्रासक्त न हो।

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हसि।
ग्रप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ॥३८॥

जो दुःख सारे देश पर पड़ा है, उसके लिए ग्रकेले ग्रापको ही शोक करना उचित नहीं है। शोक करते-करते कोई मर जाए तो भी उसका वह शोक दूर नहीं होता है।

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते ॥३९॥

दुःख को दूर करने की सर्वश्रेष्ठ ग्रोषधि यही है कि उसका चिन्तन छोड़ दिया जाए। चिन्तन करने से दुःख कभी कम नहीं होता, ग्रपितु ग्रौर भी बढ़ जाता है।

नार्थो न धर्मो न सुखं यदेतदनुशोचसि।
न च नापैति कार्यार्थात्त्रिवर्गाच्चैव हीयते ॥४०॥

जो ग्राप यह शोक कर रहे हैं, यह न ग्रर्थ का साधक है, न धर्म का ग्रौर न सुख का ही। इससे मनुष्य ग्रपने कर्तव्यपथ से तो भ्रष्ट होता ही है धर्म, ग्रर्थ ग्रौर कामरूपी त्रिवर्ग से भी वञ्चित हो जाता है।

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद्विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥४१॥

मनुष्य को चाहिए कि वह मानसिक दुःख को बुद्धि एवं विचार द्वारा ग्रौर शारीरिक कष्ट को ग्रोषधियों द्वारा दूर करे, यही विज्ञान की शक्ति है। मनुष्य को बालकों के समान मूर्खतापूर्ण व्यवहार नहीं करना चाहिए।

शयानं चानुशेते हि तिष्ठन्तं चानुतिष्ठति।
ग्रनुधावति धावन्तं कर्मपूर्वकृतं नरम् ॥४२॥

मनुष्य का पूर्वकृत कर्म उसके सोने पर उसके साथ ही सोता है, उठने पर साथ ही उठता है ग्रौर दौड़ने पर भी साथ-ही-साथ दौड़ता है।

ग्रात्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
ग्रात्मैव ह्यात्मनः साक्षी कृतस्यापकृतस्य च ॥४३॥

मनुष्य ग्राप ही ग्रपना बन्धु है, ग्राप ही ग्रपना शत्रु है ग्रौर ग्राप ही ग्रपने शुभ या ग्रशुभ कर्मों का साक्षी है।

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा।
कृतं भवति सर्वत्र नाकृतं लभते क्वचित् ॥४४॥

शुभकर्म से सुख मिलता है ग्रौर पापकर्म से दुःख। सर्वत्र किये हुए कर्म का ही फल प्राप्त होता है, कहीं भी बिना किये कर्म का फल नहीं मिलता।

न हि ज्ञानविरुद्धेषु बह्वपायेषु कर्मसु।
मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥४५॥

ग्राप-जैसे बुद्धिमान् पुरुष ग्रनेक विनाशकारी दोषों से युक्त ग्रौर मूलभूत शरीर का भी नाश करने-वाले बुद्धिविरुद्ध कर्मों में ग्रासक्त नहीं होते।

इति महाभारते स्त्रीपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

विदुरजी का संसाररूपी गहन वन का वर्णन करते हुए उससे निस्तार का उपाय बताना

धृतराष्ट्र उवाच

सुभाषितैर्महाप्राज्ञ शोकोऽयं विगतो मम ।
भूय एव तु वाक्यानि श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले—परम बुद्धिमान् विदुर ! आपके सुभाषितों से मेरा शोक दूर हो गया, फिर भी मैं तुम्हारे सात्त्विक वचनों को अभी और सुनना चाहता हूँ ।

अनिष्टानां च संसर्गादिष्टानां च विसर्जनात् ।
कथं हि मानसैर्दुःखैः प्रमुच्यन्ते तु पण्डिताः ॥२॥

विद्वान् मनुष्य अनिष्ट के संयोग और इष्ट के वियोग से होनेवाले मानसिक दुःखों से किस प्रकार छुटकारा पा सकते हैं ?

विदुर उवाच

यतो यतो मनो दुःखात् सुखाद् वा विप्रमुच्यते ।
ततस्ततो नियम्यैतच्छान्तिं विन्देत वै बुधः ॥३॥

विदुरजी ने कहा—महाराज ! विद्वान् मनुष्य को चाहिए कि जिन-जिन साधनों में लगने से मन दुःख अथवा सुख से मुक्त होता हो, उन्हीं में इसे नियमपूर्वक लगाकर शान्ति प्राप्त करे ।

अशाश्वतमिदं सर्वं चिन्त्यमानं नरर्षभ ।
कदलीसंनिभो लोकः सारो ह्यस्य न विद्यते ॥४॥

पुरुषश्रेष्ठ ! विचार करने पर यह सारा संसार अनित्य ही जान पड़ता है। सारा संसार केले के समान सारहीन है, इसमें सार-तत्त्व कुछ भी नहीं है ।

गृहाणीव हि मर्त्यानामाहुर्देहानि पण्डिताः ।
कालेन विनियुज्यन्ते सत्त्वमेकं तु शाश्वतम् ॥५॥

पण्डित लोग मरणधर्मा प्राणियों के शरीर को घर के समान बतलाते हैं, क्योंकि सारे शरीर समय पर नष्ट हो जाते हैं, परन्तु उनके भीतर जो एकमात्र सत्त्वस्वरूप आत्मा है, वह नित्य है ।

यथा जीर्णमजीर्णं वा वस्त्रं त्यक्त्वा तु पूरुषः ।
अन्यद् रोचयते वस्त्रमेवं देहाः शरीरिणाम् ॥६॥

जैसे मनुष्य नये अथवा पुराने वस्त्र को उतारकर नये वस्त्र पहनने की इच्छा रखता है, वैसे ही देहधारियों के शरीर उनके द्वारा समय-समय पर त्यागे और ग्रहण किये जाते हैं ।

वैचित्रवीर्य प्राप्यं हि दुःखं वा यदि वा सुखम् ।
प्राप्नुवन्तीह भूतानि स्वकृतेनैव कर्मणा ॥७॥

विचित्रवीर्यकुमार ! यदि दुःख या सुख प्राप्त होनेवाला है तो प्राणी उसे अपने किये हुए कर्म के अनुसार ही पाते हैं ।

कर्मणा प्राप्यते स्वर्गं सुखं दुःखं च भारत ।
ततो वहति तं भारमवशः स्ववशोऽपि वा ॥८॥

भरतनन्दन ! कर्म के अनुसार ही परलोक में स्वर्ग या नरक और इस लोक में सुख एवं दुःख प्राप्त होते हैं, फिर मनुष्य सुख या दुःख के उस भार को स्वाधीन या विवश होकर ढोता रहता है ।

यथा च मृन्मयं भाण्डं चक्रारूढं विपद्यते । □
किंचित् प्रक्रियमाणं वा कृतमात्रमथापि वा ॥९॥
गर्भस्थो वा प्रसूतो वाप्यथ वा दिवसान्तरः । □
अर्धमासगतो वापि मासमात्रगतोऽपि वा ॥१०॥
संवत्सरगतो वापि द्विसंवत्सर एव वा । □
यौवनस्थोऽथ मध्यस्थो वृद्धो वापि विपद्यते ॥११॥

जैसे मिट्टी का बर्तन बनाये जाने के समय कभी चाक पर चढ़ाते ही नष्ट हो जाता है, कभी कुछ-कुछ बनने पर और कभी पूरा बन जाने पर नष्ट हो जाता है, वैसे ही कोई मनुष्य गर्भ में रहते समय, कोई उत्पन्न हो जाने पर, कोई कई दिनों का होने पर, कोई पन्द्रह दिन का, कोई एक मास का तथा कोई एक अथवा दो वर्ष का होने पर, कोई युवावस्था में, कोई मध्यावस्था में अथवा कोई वृद्धावस्था में पहुँचने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ।

प्राक्कर्मभिस्तु भूतानि भवन्ति न भवन्ति च ।
एवं सांसिद्धिके लोके किमर्थमनुतप्यसे ॥१२॥

प्राणी पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार ही इस संसार में रहते और यहाँ से चले जाते हैं । जब संसार की ऐसी ही स्वाभाविक स्थिति है, तब आप किसलिए शोक कर रहे हैं ?

यथा तु सलिले राजन् क्रीडार्थमनुसन्तरन् ।
उन्मज्जेच्च निमज्जेच्च किंचित्सत्त्वं नराधिप ॥१३॥
एवं संसारगहने उन्मज्जननिमज्जने ।
कर्मभोगेन बध्यन्ते क्लिश्यन्ते चाल्पबुद्धयः ॥१४॥

राजन् ! प्रजेश्वर ! जैसे क्रीड़ा के लिए पानी में तैरता हुआ कोई प्राणी कभी डूबता और कभी ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार इस अगाध संसार-समुद्र में जीवों का जन्म लेना और मरना लगा रहता है। मन्दबुद्धि मनुष्य ही यहाँ कर्म-भोग से बँधते और कष्ट पाते हैं।

ये तु प्राज्ञाः स्थिताः सत्त्वे संसारेऽस्मिन् हितैषिणः ।
समागमज्ञा भूतानां ते यान्ति परमां गतिम् ॥१५॥

जो बुद्धिमान् मनुष्य इस संसार में सत्त्वगुण से युक्त, सबका हित चाहनेवाले और प्राणियों के समागम को कर्मानुसार समझनेवाले हैं, वे परमगति को प्राप्त होते हैं।

धृतराष्ट्र उवाच

कथं संसारगहनं विज्ञेयं वदतां वर ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वमाख्याहि पृच्छतः ॥१६॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—वक्ताओं में श्रेष्ठ विदुर ! इस गहन संसार के स्वरूप का ज्ञान कैसे हो—यह मैं सुनना चाहता हूँ। मेरे प्रश्न के अनुसार आप इस विषय का यथार्थरूप से वर्णन करो।

विदुर उवाच

अहो विनिकृतो लोको लोभेन च वशीकृतः । □
लोभक्रोधमदोन्मत्तो नात्मानमवबुध्यते ॥१७॥

विदुरजी बोले—अहो राजन् ! लोभ के वशीभूत होकर यह सारा संसार ठगा जा रहा है। लोभ, क्रोध और अभिमान से यह इतना पागल हो गया है कि अपने-आपको भी नहीं जानता।

अत्र ते वर्तयिष्यामि नमस्कृत्य स्वयंभुवे ।
यथा संसारगहनं वदन्ति परमर्षयः ॥१८॥

मैं स्वयंभू परमेश्वर को नमस्कार करके संसाररूप गहन वन के उस स्वरूप का वर्णन करता हूँ, जिसका निरूपण बड़े-बड़े महर्षि करते हैं।

कश्चिन्महति कान्तारे वर्तमानो द्विजः किल ।
महद् दुर्गमनुप्राप्तो वनं क्रव्यादसंकुलम् ॥१९॥

कहते हैं कि किसी विशाल एवं दुर्गम वन में कोई ब्राह्मण यात्रा कर रहा था। वह वन के अत्यन्त दुर्गम प्रदेश में जा पहुँचा, जो हिंसक प्राणियों से परिपूर्ण था।

तदस्य दृष्ट्वा हृदयमुद्वेगमगमत् परम् ।
अभ्युच्छ्रयश्च रोम्णां वै विक्रियाश्च परन्तप ॥२०॥

शत्रुसन्तापक नरेश ! वह स्थान देखकर ब्राह्मण का हृदय अत्यन्त उद्विग्न हो उठा। उसे रोमाञ्च हो आया और मन में अन्य प्रकार के विकार भी उत्पन्न होने लगे।

स तद् वनं व्यनुसरन् सम्प्रधावन्नितस्ततः ।
वीक्षमाणो दिशः सर्वाः शरणं क्व भवेदिति ॥२१॥

वह उस वन का अनुसरण करता इधर-उधर दौड़ता तथा सम्पूर्ण दिशाओं में ढूंढता फिरता था कि कहीं उसे शरण मिले।

स तेषां छिद्रमन्विच्छन् प्रद्रुतो भयपीडितः ।
न च निर्याति वै दूरं न वा तैर्विप्रमोच्यते ॥२२॥

वह उन हिंसक प्राणियों से बचने को आतुर, भय से पीड़ित हो भागने लगा, परन्तु न तो वहाँ से दूर निकल पाता था और न वे हिंसक जन्तु ही उसका पीछा छोड़ते थे।

अथापश्यद् वनं घोरं समन्ताद् वागुरावृतम् ।
बाहुभ्यां सम्परिक्षिप्तं स्त्रिया परमघोरया ॥२३॥

इतने में ही उसने देखा कि वह भयानक वन चारों ओर से जल से घिरा हुआ है और एक बड़ी भयानक स्त्री ने अपनी दोनों भुजाओं से उसे आवेष्टित किया हुआ है।

पञ्चशीर्षधरैर्नागैः शैलैरिव समुन्नतैः ।
नभःस्पृशैर्महावृक्षैः परिक्षिप्तं महावनम् ॥२४॥

पर्वतों के समान ऊंचे और पांच सिरोंवाले नागों और बड़े-बड़े गगनचुम्बी वृक्षों से वह विशाल वन व्याप्त हो रहा है।

वनमध्ये च तत्राभूदुदपानः समावृतः ।
वल्लीभिस्तृणछन्नाभिर्दृढाभिरभिसंवृतः ॥२५॥

उस वन के भीतर एक कुआँ था, जो घासों से ढकी हुई सुदृढ़ लताओं द्वारा सब ओर से आच्छादित हो गया था।

पपात स द्विजस्तत्र निगूढे सलिलाशये ।
विलग्नश्चाभवत् तस्मिन् लतासंतानसंकुले ॥२६॥

वह ब्राह्मण उस छिपे हुए कुएँ में गिर पड़ा, परन्तु लताओं से व्याप्त होने के कारण वह उसमें फँसकर नीचे नहीं गिरा, ऊपर ही लटका रह गया ।

पनसस्य यथा जातं वृन्तबद्धं महाफलम् ।
स तथा लम्बते तत्र ह्यूर्ध्वपादो ह्यधःशिराः ॥२७॥

जैसे कटहल का विशाल फल डंठल में बँधा हुआ लटकता रहता है, उसी प्रकार वह ब्राह्मण ऊपर को पैर और नीचे को सिर किये उस कुएं में लटक गया ।

अथ तत्रापि चान्योऽस्य भूयो जात उपद्रवः ।
कूपमध्ये महानागमपश्यत् स महाबलम् ॥२८॥
कूपवीनाहवेलायामपश्यत् स महागजम् ।
षड्वक्त्रं कृष्णशुक्लं च द्विषट्कपदचारिणम् ॥२९॥

वहाँ भी उसके समक्ष पुनः दूसरा उपद्रव खड़ा हो गया । उसने कुएँ में एक महाबली नाग बैठा हुआ देखा और कूप के ऊपरी तट पर उसके मुखबन्ध के पास एक विशाल हाथी को खड़ा देखा, जिसके छह मुख थे । वह सफेद एवं काले रंग का था और बारह पैरों से चलता था ।

क्रमेण परिसर्पन्तं वल्लीवृक्षसमावृतम् ।
तस्य चापि प्रशाखासु वृक्षशाखावलम्बिनः ॥३०॥
नानारूपा मधुकरा घोररूपा भयावहाः ।
आसते मधु संवृत्य पूर्वमेव निकेतजाः ॥३१॥

वह गजराज लताओं और वृक्षों से घिरे हुए उस कूप की ओर क्रमशः बढ़ा आ रहा था । वह ब्राह्मण, जिस वृक्ष की शाखा पर लटका था, उसकी छोटी-छोटी टहनियों पर पहले से ही मधु के छत्तों से उत्पन्न हुई अनेक रूपवाली, घोर एवं भयंकर मधुमक्खियाँ मधु को घेरकर बैठी हुई थीं ।

भूयो भूयः समीहन्ते मधूनि भरतर्षभ ।
स्वादनीयानि भूतानां यैर्बालो विप्रकृष्यते ॥३२॥

भरतकुलभूषण ! समस्त प्राणियों को स्वादिष्ट प्रतीत होनेवाले उस मधु को, जिसपर बालक आकृष्ट हो जाते हैं, वे मक्खियाँ बारम्बार पीना चाहती थीं ।

तेषां मधूनां बहुधा धारा प्रस्रवते तदा ।
आलम्बमानः स पुमान् धारां पिबति सर्वदा ॥३३॥

उस समय उस मधु की अनेक धाराएँ वहाँ झर रही थीं और वह लटका हुआ पुरुष निरन्तर उस मधुधारा को पी रहा था ।

न चास्य तृष्णा विरता पिबमानस्य संकटे ।
अभीप्सति तदा नित्यमतृप्तः स पुनः पुनः ॥३४॥

यद्यपि वह आपत्ति में पड़ा हुआ था तथापि उस मधु को पीते-पीते उसकी तृष्णा शान्त नहीं होती थी । वह सदा अतृप्त रहकर ही बारम्बार उसे पीने की इच्छा रखता था ।

न चास्य जीविते राजन् निर्वेदः समजायत ।
तत्रैव च मनुष्यस्य जीविताशा प्रतिष्ठिता ॥३५॥

राजन् ! उसे अपने उस संकटपूर्ण जीवन से वैराग्य नहीं हुआ था । उस मनुष्य के मन में वहीं उसी अवस्था में जीवित रहकर मधु पीने की आशा जड़ जमाये हुए थी ।

कृष्णाः श्वेताश्च तं वृक्षं कुट्टयन्ति च मूषकाः ।
व्यालैश्च वनदुर्गान्ते स्त्रिया च परमोग्रया ॥३६॥
कूपाधस्ताच्च नागेन वीनाहे कुञ्जरेण च ।
वृक्षप्रपाताच्च भयं मूषकेभ्यश्च पञ्चमम् ।
मधुलोभान्मधुकरैः षष्ठमाहुर्महद् भयम् ॥३७॥

जिस वृक्ष के सहारे वह लटका हुआ है, उसे काले और सफेद चूहे निरन्तर काट रहे हैं । सर्वप्रथम तो उसे वन के दुर्गम प्रदेश के भीतर ही अनेक सर्पों से भय है, दूसरा भय सीमा पर खड़ी हुई उस भयंकर स्त्री से है, तीसरा कुएँ के नीचे बैठे हुए नाग से है, चौथा कुएँ के मुखबन्ध के पास खड़े हुए हाथी से है, और पाँचवाँ भय चूहों के काट देने पर उस वृक्ष से गिर जाने का है । इनके अतिरिक्त, मधु के लोभ से मधुमक्खियों की ओर से जो उसको महान् भय प्राप्त होनेवाला है, वह छठा भय बताया गया है ।

एवं स वसते तत्र क्षिप्तः संसारकानने ।
न चैव जीविताशायां निर्वेदमुपगच्छति ॥३८॥

इस प्रकार संसार-वन में गिरा हुआ वह मनुष्य इतने भयों से घिरकर वहाँ निवास करता है, तो भी उसे जीने की आशा बनी हुई है और उसके मन में वैराग्य उत्पन्न नहीं होता है ।

धृतराष्ट्र उवाच

अहो खलु महद् दुःखं कृच्छ्रवासश्च तस्य ह ।
कथं तस्य रतिस्तत्र तुष्टिर्वा वदतां वर ॥३९॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—वक्ताओं में श्रेष्ठ विदुर ! यह तो बड़े आश्चर्य की बात है। उस ब्राह्मण को तो महान् दुःख प्राप्त हुआ था। वह अति कष्ट से वहाँ रह रहा था, फिर भी उसका मन वहाँ कैसे लगता था और कैसे उसे सन्तोष होता था ?

स देशः क्व नु यत्रासौ वसते धर्मसंकटे ।
कथं वा स विमुच्येत नरस्तस्मान्महाभयात् ॥४०॥

कहाँ है वह स्थान, जहाँ बेचारा ब्राह्मण ऐसे धर्मसंकट में रहता है ? उस महान् भय से उसका छुटकारा कैसे हो सकता है ?

एतन्मे सर्वमाचक्ष्व साधु चेष्टामहे तदा ।
कृपा मे महती जाता तस्याभ्युद्धरणेन हि ॥४१॥

मुझे सारा वृत्तान्त बताओ, फिर हम सब लोग उसे वहाँ से निकालने की पूरी चेष्टा करेंगे। उसके उद्धार के लिए मुझे बड़ी दया आ रही है।

विदुर उवाच

उपमानमिदं राजन् मोक्षविद्भिरुदाहृतम् ।
सुकृतं विन्दते येन परलोकेषु मानवः ॥४२॥

विदुरजी बोले—राजन् ! मोक्षतत्त्व के विद्वानों द्वारा बताया गया यह एक दृष्टान्त है, जिसे समझकर वैराग्य धारण करने से मनुष्य परलोक में पुण्य का फल पाता है।

उच्यते यत्तु कान्तारं महासंसार एव सः ।
वनं दुर्गं हि यच्चैतत् संसारगहनं हि तत् ॥४३॥

जिसे दुर्गम स्थान बताया गया है, वह महासंसार ही है और जो यह दुर्गम वन कहा गया है यह संसार का ही गहन स्वरूप है।

ये च ते कथिता व्याला व्याधयस्ते प्रकीर्तिताः ।
या सा नारी बृहत्काया अध्यतिष्ठत तत्र वै ॥४४॥
तामाहुस्तु जरां प्राज्ञा रूपवर्णविनाशिनीम् ।
यस्तत्र कूपो नृपते स तु देहः शरीरिणाम् ॥४५॥
यस्तत्र वसतेऽधस्तान्महाहिः काल एव सः ।
अन्तकः सर्वभूतानां देहिनां सर्वहार्यसौ ॥४६॥

जो सर्प कहे गये हैं, वे नाना प्रकार के रोग हैं। उस वन की सीमा पर जो विशालकाय नारी खड़ी थी, उसे विद्वान् लोग रूप और कान्ति का विनाश करनेवाली वृद्धावस्था बताते हैं। नरेश्वर ! उस वन में जो कूप बताया गया है, वह मनुष्यों का शरीर है। उसमें नीचे जो महानाग रहता है, वह काल ही है। वही सम्पूर्ण प्राणियों का अन्त करनेवाला और प्राणियों का सर्वस्व हर लेनेवाला है।

कूपमध्ये च या जाता वल्ली यत्र स मानवः ।
प्रताने लम्बते लग्नो जीविताशा शरीरिणाम् ॥४७॥

कुएँ के मध्यभाग में जो लता उत्पन्न हुई बतायी गई है, जिसे पकड़कर वह मनुष्य लटक रहा है, वह प्राणियों के जीवन की आशा ही है।

स यस्तु कूपवीनाहे तं वृक्षं परिसर्पति ।
षड्वक्त्रः कुञ्जरो राजन् स तु संवत्सरः स्मृतः ॥४८॥

राजन् ! जो कुएँ के मुखबन्ध के समीप छह मुखोंवाला हाथी उस वृक्ष की ओर बढ़ रहा है उसे संवत्सर माना गया है।

मुखानि ऋतवो मासाः पादा द्वादश कीर्तिताः ।
ये तु वृक्षं निकृन्तन्ति मूषकाः सततोत्थिताः ॥४९॥
रात्र्यहानि तु तान्याहुर्भूतानां परिचिन्तकाः ।
ये ते मधुकरास्तत्र कामास्ते परिकीर्तिताः ॥५०॥
यास्तु ता बहुशो धाराः स्रवन्ति मधुनिस्रवम् ।
तांस्तु कामरसान् विद्याद्यत्र मज्जन्ति मानवाः ॥५१॥

छह ऋतुएँ ही उसके छह मुख हैं तथा बारह मास ही उसके पैर बताये गये हैं। जो चूहे सदा उद्यत रहकर उस वृक्ष को काटते हैं, उन चूहों को विचारक लोग प्राणियों के दिन और रात बताते हैं और जो वहाँ मधुमक्खियाँ बताई गईं हैं, वे सब कामनाएँ हैं। जो बहुत-सी धाराएँ मधु के झरने झरती रहती हैं, उन्हें कामरस जानना चाहिए, जहाँ सभी मनुष्य डूब जाते हैं।

यतेन्द्रियो नरो राजन् क्रोधलोभनिराकृतः ।□
सन्तुष्टः सत्यवादी यः स शान्तिमधिगच्छति ॥५२॥

राजन् ! जो मनुष्य जितेन्द्रिय, क्रोध और लोभ से शून्य, सन्तोषी एवं सत्यवादी होता है वही [संसार-बन्धन को काटकर] शान्ति को प्राप्त करता है।

ज्ञानौषधमवाप्येह दूरपारं महौषधम् ।
छिन्द्याद् दुःखमहाव्याधिं नरः संयतमानसः ॥५३॥

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन को वश में करके ज्ञानरूपी महौषधि प्राप्त करे, जो परम दुर्लभ है। उस ज्ञानरूपी औषधि से दुःखरूपी महान् व्याधि का नाश कर डाले।

न विक्रमो न चाप्यर्थो न मित्रं न सुहृज्जनः ।
तथोन्मोचयते दुःखाद् यथाऽऽत्मा स्थिरसंयमः ॥५४॥

पराक्रम, धन, मित्र और सुहृद् भी उस प्रकार दुःख से छुटकारा नहीं दिला सकते, जैसा कि दृढ़तापूर्वक संयम में रहनेवाला अपना मन दिला सकता है।

तस्मान्मैत्रं समास्थाय शीलमापद्य भारत ।□
दमस्त्यागोऽप्रमादश्च ते त्रयो ब्रह्मणो हयाः ॥५५॥
शीलरश्मिसमायुक्तः स्थितो यो मानसे रथे ।□
त्यक्त्वा मृत्युभयं राजन् ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥५६॥

भरतभूषण ! सर्वत्र मैत्री-भाव रखते हुए शील प्राप्त करना चाहिए। दम, त्याग और अप्रमाद—ये तीन परमात्मा के धाम में ले जानेवाले घोड़े हैं। जो मनुष्य शीलरूपी लगाम को पकड़कर इन तीनों घोड़ों से जुते हुए मनरूपी रथ पर सवार होता है, वह मृत्यु का भय छोड़कर ब्रह्मलोक में चला जाता है।

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति महीपते ।
स गच्छति परं स्थानं विष्णोः पदमनामयम् ॥५७॥

हे भूपाल ! जो सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान देता है, वह भगवान् विष्णु के अविनाशी परमधाम में चला जाता है।

एवं ज्ञात्वा महाप्राज्ञ स तेषामौर्ध्वदैहिकम् ।
कर्तुमर्हति तेनैव फलं प्राप्स्यति वै भवान् ॥५८॥

महाप्राज्ञ ! ऐसा जानकर आप अपने मरे हुए सगे-सम्बन्धियों का और्ध्वदैहिक संस्कार कीजिए। इसी से आपको उत्तम फल की प्राप्ति होगी।

इति महाभारते स्त्रीपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

स्त्रियों और प्रजासहित धृतराष्ट्र का रणभूमि के लिए प्रस्थान, पाण्डवों का धृतराष्ट्र से मिलना, धृतराष्ट्र का भीम की लोहमयी प्रतिमा को तोड़ना, श्रीकृष्ण का उन्हें फटकारना

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य तु तद् वाक्यं श्रुत्वा तु पुरुषर्षभः ।
युज्यतां यानमित्युक्त्वा पुनर्वचनमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! विदुर की यह बात सुनकर पुरुषश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्र ने रथ जोतने की आज्ञा देकर पुनः इस प्रकार कहा—

धृतराष्ट्र उवाच

शीघ्रमानय गान्धारीं सर्वाश्च भरतस्त्रियः ।
वधूं कुन्तीमुपादाय याश्चान्यास्तत्र योषितः ॥२॥

धृतराष्ट्र बोले—गान्धारी को और भरतवंश की अन्य सब स्त्रियों को शीघ्र ले आओ तथा वधू कुन्ती को साथ लेकर वहाँ जो दूसरी स्त्रियाँ हों, उन्हें भी बुला लो।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा विदुरं धर्मवित्तमम् ।
शोकविप्रहतज्ञानो यानमेवान्वपद्यत ॥३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—परम धर्मज्ञ विदुरजी से ऐसा कहकर शोक से जिनकी शक्ति नष्ट-सी हो गई थी, वे धर्मात्मा राजा धृतराष्ट्र रथ पर सवार हुए।

गान्धारी पुत्रशोकार्ता भर्तुर्वचननोदिता ।
सह कुन्त्या यतो राजा सह स्त्रीभिरुपाद्रवत् ॥४॥

गान्धारी पुत्रशोक से पीड़ित हो रही थीं, पति की आज्ञा पाकर वे कुन्ती तथा अन्य स्त्रियों के साथ जहाँ राजा धृतराष्ट्र थे, वहाँ आईं।

ताः समासाद्य राजानं भृशं शोकसमन्विताः ।
आमन्त्र्यान्योन्यमीयुः स्म भृशमुच्चुक्रुशुस्ततः ॥५॥

वहाँ राजा के पास पहुँचकर अत्यन्त शोक में मग्न वे सभी स्त्रियाँ एक-दूसरी को पुकार-पुकारकर परस्पर गले से लग गईं और जोर-जोर से फूट-फूटकर रोने लगीं।

ताः समाश्वासयत् क्षत्ता ताभ्यश्चार्ततरः स्वयम् ।
अश्रुकण्ठीः समारोप्य ततोऽसौ निर्ययौ पुरात् ॥६॥

विदुरजी स्वयं भी अत्यन्त आर्त हो रहे थे, फिर भी उन्होंने उन सब स्त्रियों को आश्वासन दिया। आँसुओं से गद्गद कण्ठ हुई उन सबको रथ पर बैठाकर वे नगर से बाहर निकले।

ततः प्रणादः संजज्ञे सर्वेषु कुरुवेश्मसु ।
आकुमारं पुरं सर्वमभवच्छोककर्षितम् ॥७॥

उस समय कौरवों के सभी घरों में बड़ा भारी आर्तनाद होने लगा। वृद्धों से लेकर बच्चों तक सारा नगर व्याकुल हो उठा।

अदृष्टपूर्वा या नार्यः पुरा देवगणैरपि ।
पृथग्जनेन दृश्यन्ते तास्तदा निहतेश्वराः ॥८॥

जिन नारियों को पहले कभी देवताओं ने भी नहीं देखा था, उन्हीं को उस समय पतियों के मारे जाने पर साधारण लोग देख रहे थे।

प्रकीर्य केशान् सुशुभान् भूषणान्यवमुच्य च ।
एकवस्त्रधरा नार्यः परिपेतुरनाथवत् ॥९॥

वे स्त्रियाँ अपने सुन्दर केशों को खोलकर, सारे आभूषण उतारकर तथा एक वस्त्र धारण किये अनाथ की भाँति रणभूमि की ओर जा रही थीं।

विलपन्त्यो रुदन्त्यश्च धावमानास्ततस्ततः ।
शोकेनोपहतज्ञानाः कर्तव्यं न प्रजज्ञिरे ॥१०॥

शोक के कारण उनकी ज्ञानशक्ति लुप्त-सी हो गई थी। वे रोती और विलाप करती हुई इधर-उधर दौड़ रही थीं। उन्हें कोई कर्तव्य नहीं सूझ रहा था।

ताभिः परिवृतो राजा रुदतीभिः सहस्रशः ।
निर्ययौ नगराद् दीनस्तूर्णमायोधनं प्रति ॥११॥

उन रोती हुई बहुत-सी स्त्रियों से घिरे हुए दुःखी राजा धृतराष्ट्र नगर से रणभूमि में जाने के लिए तुरन्त निकल पड़े।

शिल्पिनो वणिजो वैश्याः सर्वकर्मोपजीविनः ।
ते पार्थिवं पुरस्कृत्य निर्ययुर्नगराद् बहिः ॥१२॥

कारीगर, व्यापारी, वैश्य और अनेक प्रकार के कर्मों से जीवन-निर्वाह करनेवाले लोग राजा को आगे करके नगर से बाहर निकले।

हतेषु सर्वसैन्येषु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
शुश्रुवे पितरं वृद्धं निर्यान्तं गजसाह्वयात् ॥१३॥
सोऽभ्ययात् पुत्रशोकार्तः पुत्रशोकपरिप्लुतम् ।
शोचमानं महाराज भ्रातृभिः सहितस्तदा ॥१४॥

महाराज जनमेजय ! उधर समस्त सेनाओं का संहार हो जाने पर धर्मराज युधिष्ठिर ने जब सुना कि उसके वृद्ध ताऊ संग्राम में मरे हुए वीरों का अन्त्येष्टि कर्म कराने के लिए हस्तिनापुर से चल दिये हैं, तब वे स्वयं पुत्रशोक से आतुर हो पुत्रों के ही शोक में डूबकर चिन्तामग्न हुए राजा धृतराष्ट्र के पास अपने सब भाइयों के साथ गये।

अन्वीयमानो वीरेण दाशार्हेण महात्मना ।
सार्धं च युयुधानेन तथैव च युयुत्सुना ॥१५॥

उस समय दशार्हकुलनन्दन वीर महात्मा श्रीकृष्ण, सात्यकि और युयुत्सु भी उनके साथ हो लिये थे।

तमन्वगात् सुदुःखार्ता द्रौपदी शोककर्शिता ।
सह पाञ्चालयोषिद्भिर्यास्तत्रासन् समागताः ॥१६॥

अत्यन्त दुःख से आतुर और शोक से दुर्बल हुई द्रौपदी ने भी वहाँ आई हुई पाञ्चाल महिलाओं के साथ उनका अनुसरण किया।

स गङ्गामनु वृन्दानि स्त्रीणां भरतसत्तम ।
कुररीणामिवार्तानां क्रोशन्तीनां ददर्श ह ॥१७॥

भरतकुलभूषण ! गङ्गातट पर पहुँचकर युधिष्ठिर ने कुररी की भाँति आर्तस्वर से विलाप करती हुई स्त्रियों के कई दल देखे।

अतीत्य ता महाबाहुः क्रोशन्तीः कुररीरिव ।
ववन्दे पितरं ज्येष्ठं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥१८॥

धर्मराज महाबाहु युधिष्ठिर ने कुररी की भाँति रोती हुई उन स्त्रियों के घेरे को लाँघकर अपने ताऊ धृतराष्ट्र को प्रणाम किया।

ततोऽभिवाद्य पितरं धर्मेणामित्रकर्षणाः ।
न्यवेदयन्त नामानि पाण्डवास्तेऽपि सर्वशः ॥१९॥

तदनन्तर सभी शत्रुसंहारक पाण्डवों ने धर्मानुसार ताऊजी को प्रणाम करके अपने नाम बताये।

तमात्मजान्तकरणं पिता पुत्रवधार्दितः ।
अप्रीयमाणः शोकार्तः पाण्डवं परिषस्वजे ॥२०॥

पुत्रवध से पीड़ित हुए पिता ने शोक से व्याकुल हो अपने पुत्रों का अन्त करनेवाले पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर

का आलिंगन किया, परन्तु उस समय उनका मन प्रसन्न नहीं था।

धर्मराजं परिष्वज्य सान्त्वयित्वा च भारत।
दुष्टात्मा भीममन्वैच्छद् दिधक्षुरिव पावकः ॥२१॥

भरतभूषण ! धर्मराज का आलिंगन कर तथा उन्हें सान्त्वना देकर धृतराष्ट्र भीम को इस प्रकार खोजने लगे, मानो आग बनकर उन्हें जला डालना चाहते हों। उस समय उनके मन में दुष्ट भावना जाग उठी थी।

तस्य संकल्पमाज्ञाय भीमं प्रत्यशुभं हरिः।
भीममाक्षिप्य पाणिभ्यां प्रददौ भीममायसम् ॥२२॥

भीमसेन के प्रति उनके अशुभ संकल्प को जानकर श्रीकृष्ण ने भीमसेन को झटका देकर हटा दिया और दोनों हाथों से भीम की लोहमयी मूर्ति धृतराष्ट्र के आगे कर दी।

प्रागेव तु महाबुद्धिर्बुद्ध्वा तस्येङ्गितं हरिः।
संविधानं महाप्राज्ञस्तत्र चक्रे जनार्दनः ॥२३॥

महाज्ञानी और परम बुद्धिमान् श्रीकृष्ण को पहले से ही उनका अभिप्राय ज्ञात हो गया था, अतः उन्होंने वहाँ यह व्यवस्था कर ली थी।

तं गृहीत्वैव पाणिभ्यां भीमसेनमयस्मयम्।
बभञ्ज बलवान् राजा मन्यमानो वृकोदरम् ॥२४॥

बलवान् राजा धृतराष्ट्र ने उस लोहमय भीमसेन को ही वास्तविक भीम समझा और उसे दोनों बाहों से दबाकर तोड़ डाला।

स तु कोपं समुत्सृज्य गतमन्युर्महामनाः।
हा हा भीमेति चुक्रोश नृपः शोकसमन्वितः ॥२५॥

जब रोष का आवेग दूर हो गया, तब वे महामना नरेश क्रोध छोड़कर शोक में डूब गये और "हा भीम ! हा भीम !" कहते हुए विलाप करने लगे।

तं विदित्वा गतक्रोधं भीमसेनवधार्दितम्।
वासुदेवो वरः पुंसामिदं वचनमब्रवीत् ॥२६॥

उन्हें भीमसेन के वध की आशंका से पीड़ित और क्रोधशून्य हुआ जान पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा—

मा शुचो धृतराष्ट्र त्वं नैष भीमस्त्वया हतः।
आयसी प्रतिमा ह्येषा त्वया निपातिता विभो ॥२७॥

"महाराज धृतराष्ट्र ! आप शोक न करें। ये भीम आपके हाथ से नहीं मारे गये हैं। प्रभो ! यह तो लोहे की प्रतिमा थी, जिसे आपने चकनाचूर कर डाला।

त्वां क्रोधवशमापन्नं विदित्वा भरतर्षभ।
मयापकृष्टः कौन्तेयो मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतः ॥२८॥

"भरतश्रेष्ठ ! आपको क्रोध के वशीभूत हुआ जान मैंने मृत्यु की दाढ़ों में फँसे हुए कुन्तीपुत्र भीमसेन को पीछे खींच लिया था।

न हि ते राजशार्दूल बले तुल्योऽस्ति कश्चन।
कः सहते महाबाहो बाह्वोर्विग्रहणं नरः ॥२९॥

"हे राजसिंह ! बल में आपकी समानता करनेवाला कोई नहीं है। महाबाहो ! आपकी दोनों भुजाओं की पकड़ को कौन मनुष्य सह सकता है ?

यथान्तकमनुप्राप्य जीवन् कश्चिन्न मुच्यते।
एवं बाह्वन्तरं प्राप्य तव जीवेन्न कश्चन ॥३०॥

"जैसे यमराज के पास पहुँचकर कोई भी जीवित नहीं छूट सकता, वैसे ही आपकी भुजाओं में पड़कर किसी के प्राण नहीं बच सकते।

तस्मात्पुत्रेण या तेऽसौ प्रतिमा कारिताऽऽयसी।
भीमस्य सेयं कौरव्य तवैवोपहृता मया ॥३१॥

"कुरुनन्दन ! इसीलिए आपके पुत्र ने जो भीमसेन की लोहमयी प्रतिमा बनवा रखी थी, वही मैंने आपके समक्ष कर दी थी।

पुत्रशोकाभिसन्तप्तं धर्मादपकृतं मनः।
तव राजेन्द्र तेन त्वं भीमसेनं जिघाँससि ॥३२॥

"हे राजेन्द्र ! आपका मन पुत्रशोक से सन्तप्त हो धर्म से विचलित हो गया है, अतः आप भीमसेन को मार डालना चाहते हैं।

न त्वेतत्ते क्षमं राजन्हन्यास्त्वं यद् वृकोदरम्।
न हि पुत्रा महाराज जीवेयुस्ते कथञ्चन ॥३३॥

"राजन् ! आपके लिए यह कदापि उचित नहीं होगा कि आप भीमसेन का वध करें। महाराज ! [यदि भीमसेन न मारते तो भी] आपके पुत्र किसी प्रकार जीवित नहीं रह सकते थे [क्योंकि उनकी आयु पूर्ण हो चुकी थी]।

आत्मापराधादापन्नस्तत् किं भीमं जिघांससि ।
तस्मात् संयच्छ कोपं त्वं स्वमनुस्मर दुष्कृतम् ।।३४।।

"अपने ही अपराध से विपत्ति में पड़कर आप भीमसेन को क्यों मार डालना चाहते हैं ? आप अपने क्रोध को रोकिए और अपने दुष्कर्मों को स्मरण कीजिए ।

यस्तु तां स्पर्धया क्षुद्रः पाञ्चालीमानयत्सभाम् ।
स हतो भीमसेनेन वैरं प्रतिजिहीर्षता ।।३५।।

"जिस नीच दुर्योधन ने मन में ईर्ष्या रखने के कारण पाञ्चाल-राजकुमारी द्रौपदी को भरी सभा में बुलाकर अपमानित किया, उसे वैर का बदला लेने की इच्छा से भीमसेन ने मार डाला ।

आत्मनोऽतिक्रमं पश्य पुत्रस्य च दुरात्मनः ।
यदनागसि पाण्डूनां परित्यागस्त्वया कृतः ।।३६।।

"आप अपने और अपने दुरात्मा पुत्र दुर्योधन के उस अत्याचार पर तो दृष्टि डालिए, जबकि बिना किसी अपराध के ही आपने पाण्डवों का परित्याग कर दिया था ।"

एवमुक्तः स कृष्णेन सर्वं सत्यं जनाधिप ।
उवाच देवकीपुत्रं धृतराष्ट्रो महीपतिः ।।३७।।

नरेश्वर जनमेजय ! जब इस प्रकार श्रीकृष्ण ने सच्ची-सच्ची बातें कह डालीं, तब पृथिवीपति धृतराष्ट्र ने देवकीनन्दन श्रीकृष्ण से कहा—

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि माधव ।
पुत्रस्नेहस्तु बलवान् धैर्यान्मां समचालयत् ।।३८।।

"महाबाहो ! माधव ! आप जैसा कह रहे हैं, ठीक ऐसी ही बात है, परन्तु पुत्र का स्नेह प्रबल होता है, उसने मुझे धैर्य से विचलित कर दिया था ।

दिष्ट्या तु पुरुषव्याघ्रो बलवान् सत्यविक्रमः ।
त्वद्गुप्तो नागमत् कृष्ण भीमो बाह्वन्तरं मम ।।३९।।

"श्रीकृष्ण ! सौभाग्य की बात है कि आपसे सुरक्षित होकर बलवान्, सत्यपराक्रमी, पुरुषसिंह भीमसेन मेरी भुजाओं के बीच में नहीं आये ।

इदानीं त्वहमव्यग्रो गतमन्युर्गतज्वरः ।
मध्यमं पाण्डवं वीरं द्रष्टुमिच्छामि माधव ।।४०।।

"माधव ! अब इस समय मैं शान्त हूँ । मेरा क्रोध उतर गया है और चिन्ता भी दूर हो गई है, अतः मैं मध्यम पाण्डव अर्जुन को देखना चाहता हूँ ।

हतेषु पार्थिवेन्द्रेषु पुत्रेषु निहतेषु च ।
पाण्डुपुत्रेषु वै शर्म प्रीतिश्चाप्यवतिष्ठते ।।४१।।

"समस्त राजाओं और अपने पुत्रों के मारे जाने पर अब मेरा प्रेम और हित-चिन्तन पाण्डु के इन पुत्रों पर ही आश्रित है ।"

ततः स भीमं च धनञ्जयं च
माद्र्याश्च पुत्रौ पुरुषप्रवीरौ ।
पस्पर्श गात्रैः प्ररुदन् सुगात्रा-
नाश्वास्य कल्याणमुवाच चैतान् ।।४२।।

तत्पश्चात् रोते हुए धृतराष्ट्र ने सुन्दर शरीरों-वाले भीमसेन, अर्जुन एवं माद्री के दोनों पुत्र नरवीर नकुल-सहदेव का आलिंगन किया और उन्हें सान्त्वना देकर कहा—"तुम्हारा कल्याण हो !"

इति महाभारते स्त्रीपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

चतुर्थोऽध्याय।

गान्धारी का क्रोध

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातास्ततस्ते कुरुपाण्डवाः ।
अभ्ययुर्भ्रातरः सर्वे गान्धारीं सहकेशवाः ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धृतराष्ट्र से आज्ञा लेकर वे कुरुवंशी पाण्डव सब भाई श्रीकृष्ण के साथ गान्धारी के पास गये ।

ततो ज्ञात्वा हतामित्रं युधिष्ठिरमुपागतम् ।
गान्धारी पुत्रशोकार्ता शप्तुमैच्छदनिन्दिता ।।२।।

पुत्रशोक से पीड़ित हुई गान्धारी को जब यह ज्ञात हुआ कि युधिष्ठिर अपने शत्रुओं का संहार करके मेरे पास आये हैं, तब उस सती-साध्वी देवी ने उन्हें शाप देने की इच्छी की ।

तस्याः पापमभिप्रायं विदित्वा पाण्डवान् प्रति ।
ऋषिः सत्यवतीपुत्रः प्रागेव समबुध्यत ॥३॥

पाण्डवों के प्रति गान्धारी के मन में पापपूर्ण संकल्प है, इस बात को सत्यवती-कुमार महर्षि व्यास पहले ही ताड़ गये [अतः वे बोले—]

व्यास उवाच

न कोपः पाण्डवे कार्यो गान्धारि शममाप्नुहि ।
वचो निगृह्यतामेतच्छृणु चेदं वचो मम ॥४॥

व्यासजी बोले—गान्धारि ! शान्त हो जाओ। तुम्हें पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर पर क्रोध नहीं करना चाहिए। जो बात कहना चाहती हो उसे रोको और मेरी बात सुनो।

उक्तास्यष्टादशाहानि पुत्रेण जयमिच्छता ।
शिवमाशास्व मे मातर्युध्यमानस्य शत्रुभिः ॥५॥

गत अठारह दिनों में विजय-अभिलाषी तुम्हारा पुत्र प्रतिदिन तुमसे जाकर कहता था कि "माँ ! मैं शत्रुओं के साथ युद्ध करने जा रहा हूँ, आप मेरे कल्याण के लिए आशीर्वाद दो।"

सा तथा याच्यमाना त्वं काले काले जयैषिणा ।
उक्तवत्यसि गान्धारि यतो धर्मस्ततो जयः ॥६॥

जब विजय-अभिलाषी दुर्योधन समय-समय पर आपसे इस प्रकार प्रार्थना करता था, तब तुम सदा यही उत्तर देती थीं कि—"जहाँ धर्म है, वहीं विजय है।"

क्षमाशीला पुरा भूत्वा साद्य न क्षमसे कथम् ।
अधर्मं जहि धर्मज्ञे यतो धर्मस्ततो जयः ॥७॥

धर्मज्ञे ! तुम पहले बड़ी क्षमाशील थी, अब क्षमा क्यों नहीं करती हो ? अधर्म छोड़ो, क्योंकि जहाँ धर्म है, वहीं विजय है।

स्वं च धर्मं परिस्मृत्य वाचं चोक्तां मनस्विनि ।
कोपं संयच्छ गान्धारि मैवं भूः सत्यवादिनि ॥८॥

मनस्विनि गान्धारि ! अपने धर्म तथा कही हुई बात का स्मरण करके क्रोध को रोको। सत्यवादिनि ! अब फिर तुम्हारा ऐसा व्यवहार नहीं होना चाहिए।

गान्धार्युवाच

भगवन्नाभ्यसूयामि नैतानिच्छामि नश्यतः ।
पुत्रशोकेन तु बलान्मनो विह्वलतीव मे ॥९॥

गान्धारी बोली—भगवन् ! मैं पाण्डवों के प्रति न तो कोई दुर्भाव ही रखती हूँ और न इनका विनाश ही चाहती हूँ, परन्तु क्या करूँ, पुत्रशोक से मेरा मन हठात् व्याकुल-सा हो जाता है।

यथैव कुन्त्या कौन्तेया रक्षितव्यास्तथा मया ।
तथैव धृतराष्ट्रेण रक्षितव्या यथा त्वया ॥१०॥

कुन्ती के ये पुत्र जिस प्रकार कुन्ती द्वारा रक्षणीय हैं, उसी प्रकार मेरे द्वारा भी। जैसे आप इनकी रक्षा चाहते हैं, वैसे ही महाराज धृतराष्ट्र का भी कर्तव्य है कि वे इनकी रक्षा करें।

दुर्योधनापराधेन शकुनेः सौबलस्य च ।
कर्णदुःशासनाभ्यां च कृतोऽयं कुरुसंक्षयः ॥११॥

कुरुकुल का यह विनाश तो दुर्योधन, मेरे भाई शकुनि, कर्ण और दुःशासन के अपराध से ही हुआ है।

नापराध्यति बीभत्सुर्न च पार्थो वृकोदरः ।
नकुलः सहदेवश्च नैव जातु युधिष्ठिरः ॥१२॥

इसमें न तो अर्जुन का दोष है और न कुन्ती-कुमार भीमसेन का। नकुल-सहदेव और युधिष्ठिर का भी इसमें कोई अपराध नहीं है।

युध्यमाना हि कौरव्याः कृन्तमानाः परस्परम् ।
निहताः सहिताश्चान्यैस्तत्र नास्त्यप्रियं मम ॥१३॥

कौरव आपस में ही जूझकर मार-काट मचाते हुए अपने दूसरे साथियों के साथ मारे गये हैं, अतः इसमें मुझे अप्रिय लगनेवाली कोई भी बात नहीं है।

किं तु कर्माकरोद् भीमो वासुदेवस्य पश्यतः ।
दुर्योधनं समाहूय गदायुद्धे महामनाः ॥१४॥
शिक्षयाभ्यधिकं ज्ञात्वा चरन्तं बहुधा रणे ।
अधो नाभ्याः प्रहृतवाँस्तन्मे कोपमवर्धयत् ॥१५॥

परन्तु महामनस्वी भीम ने गदा-युद्ध के लिए दुर्योधन को ललकारकर श्रीकृष्ण के देखते-देखते उसके प्रति जो व्यवहार किया वह मुझे अच्छा नहीं लगा। दुर्योधन युद्धभूमि में अनेक प्रकार के पैंतरे दिखाता हुआ विचर रहा था, अतः शिक्षा में उसे अपने से बढ़ा-चढ़ा जानकर भीम ने जो उसकी नाभि के नीचे प्रहार किया, इनके इसी व्यवहार ने मेरी क्रोधाग्नि को बढ़ाया है।

कथं नु धर्मं धर्मज्ञैः समुद्दिष्टं महात्मभिः ।
त्यजेयुराहवे शूराः प्राणहेतोः कथञ्चन ।।१६।।

धर्मज्ञ महात्माओं ने गदायुद्ध के लिए जिन नियमों का निर्धारण किया है, उसे शूरवीर योद्धा युद्धभूमि में अपने प्राण बचाने के लिए कैसे छोड़ सकते हैं ?

वैशम्पायन उवाच

तत् श्रुत्वा वचनं तस्या भीमसेनोऽथ भीतवत् ।
गान्धारीं प्रत्युवाचेदं वचः सानुनयं तदा ।।१७।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! गान्धारी की यह बात सुनकर भीमसेन ने डरे हुए की भाँति विनयपूर्वक उनकी बात का उत्तर देते हुए कहा—

भीमसेन उवाच

अधर्मो यदि वा धर्मस्त्रासात् तत्र मया कृतः ।
आत्मानं त्रातुकामेन तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ।।१८।।

भीमसेन बोले—माताजी ! वह धर्म था या अधर्म, मैंने दुर्योधन से डरकर अपने प्राण बचाने के लिए ही वहाँ ऐसा किया था, अतः आप मेरे उस अपराध को क्षमा कर दें ।

न हि युद्धेन पुत्रस्ते धर्म्येण स महाबलः ।
शक्यः केनचिदुद्यन्तुमतो विषममाचरम् ।।१६।।

आपके उस महाबली पुत्र को कोई भी धर्मानुकूल युद्ध करके मारने का साहस नहीं कर सकता था, अतः मैंने विषमतापूर्ण व्यवहार किया था ।

अधर्मेण जितः पूर्वं तेन चापि युधिष्ठिरः ।
निकृताश्च सदैव स्म ततो विषममाचरम् ।।२०।।

पहले उसने भी [जुए में] अधर्म से ही राजा युधिष्ठिर को जीता था और हम लोगों के साथ सदा ही धोखा किया था, अतः मैंने भी उसके साथ विषम व्यवहार किया था ।

सैन्यस्यैकोऽवशिष्टोऽयं गदायुद्धेन वीर्यवान् ।
मां हत्वा न हरेद् राज्यमिति वै तत्कृतं मया ।।२१।।

कौरव सेना का एकमात्र बचा हुआ यह पराक्रमी महावीर गदायुद्ध के द्वारा मुझे मारकर पुनः सारे साम्राज्य का हरण न कर ले, इसी आशंका से मैंने वह विषम व्यवहार किया था ।

राजपुत्रीं च पाञ्चालीमेकवस्त्रां रजस्वलाम् ।
भवत्या विदितं सर्वमुक्तवान् यत् सुतस्तव ।।२२।।

राजकुमारी द्रौपदी से, जो एक वस्त्र धारण किये हुए रजस्वला अवस्था में थी, आपके पुत्र ने जो कुछ कहा था, वह सब आपको ज्ञात है ।

सुयोधनमसंगृह्य न शक्या भूः ससागरा ।
केवला भोक्तुमस्माभिरतश्चैतत् कृतं मया ।।२३।।

दुर्योधन का वध किये बिना हम लोग निष्कण्टक पृथिवी का राज्य नहीं भोग सकते थे, अतः मैंने वह अनुचित कार्य किया था ।

तथाप्यप्रियमस्माकं पुत्रस्ते समुपाचरत् ।
द्रौपद्या यत् सभामध्ये सव्यमूरुमदर्शयत् ।।२४।।

आपके पुत्र ने तो हम सब लोगों का इससे भी बढ़कर अप्रिय किया था कि उसने भरी सभा में द्रौपदी को अपनी बायीं जाँघ दिखाई थी ।

तदैव वध्यः सोऽस्माकं दुराचारश्च ते सुतः ।
धर्मराजाज्ञया चैव स्थिताः स्म समये तदा ।।२५।।

आपके उस दुराचारी पुत्र का तो हमें उसी समय वध कर देना चाहिए था, परन्तु धर्मराज की आज्ञा से हम लोग प्रतिज्ञा के बन्धन में बँधकर चुप रह गये ।

वैरमुद्दीपितं राज्ञि पुत्रेण तव तन्महत् ।
क्लेशिताश्च वने नित्यं तत एतत् कृतं मया ।।२६।।

महारानी ! आपके पुत्र ने उस महान् वैर की अग्नि को और भी प्रचण्ड कर दिया और हमें वन में भेजकर सदा क्लेश पहुँचाया, अतः मुझे उसके साथ ऐसा व्यवहार करना पड़ा ।

वैरस्यास्य गताः पारं हत्वा दुर्योधनं रणे ।
राज्यं युधिष्ठिरः प्राप्तो वयं च गतमन्यवः ।।२७।।

युद्धभूमि में दुर्योधन को मारकर हम लोग इस वैर से पार हो गये । राजा युधिष्ठिर को राज्य मिल गया और हम लोगों का क्रोध शान्त हो गया ।

गान्धार्युवाच

न तस्यैष वधस्तात यत् प्रशंससि मे सुतम् ।
कृतवांश्चापि तत् सर्वं यदिदं भाषसे मयि ।।२८।।

गान्धारी ने कहा—तात ! तुम मेरे पुत्र की इतनी प्रशंसा कर रहे हो, अतः उसका वध नहीं हुआ

[वह अपने यशोमय शरीर से अमर है] । हाँ, मेरे समक्ष तुम जो कुछ कह रहे हो, वह सारा अपराध दुर्योधन ने अवश्य किया है ।

हताश्वे नकुले यत्तु वृषसेनेन भारत ।
अपिबः शोणितं संख्ये दुःशासनशरीरजम् ॥२६॥
सद्भिर्विगर्हितं घोरमनार्यजनसेवितम् ।
क्रूरं कर्माकृथाः स्कस्मात्तदयुक्तं वृकोदर ॥३०॥

परन्तु भारत ! वृषसेन ने जब नकुल के घोड़ों को मारकर उसे रथहीन कर दिया था, उस समय तुमने युद्ध में दुःशासन को मारकर उसका रक्त पिया था, वह सज्जनों द्वारा निन्दित और नीच पुरुषों द्वारा सेवित घोर क्रूरतापूर्ण कर्म है । वृकोदर ! तुमने वही क्रूर कार्य किया है, अतः तुम्हारे द्वारा अत्यन्त अयोग्यकर्म बन गया है ।

भीमसेन उवाच

अन्यस्यापि न पातव्यं रुधिरं किं पुनः स्वकम् ।
यथैवात्मा तथा भ्राता विशेषो नास्ति कश्चन ॥३१॥

भीमसेन बोले—माताजी ! दूसरे का भी रक्त नहीं पीना चाहिए, फिर अपना ही खून कोई कैसे पी सकता है ? जैसे अपना शरीर है, वैसे ही भाई का शरीर है । अपने में और भाई में कोई अन्तर नहीं है ।

रुधिरं न व्यतिक्रामद् दन्तोष्ठं मेऽम्ब मा शुचः ।
वैवस्वतस्तु तद् वेद हस्तौ मे रुधिरोक्षितौ ॥३२॥

माँ ! आप शोक न करें । वह रक्त मेरे दाँतों और ओठों को लाँघकर आगे नहीं जा सका था । इस बात को सूर्यपुत्र यमराज जानते हैं कि केवल मेरे दोनों हाथ ही रक्त में सने हुए थे ।

हताश्वं नकुलं दृष्ट्वा वृषसेनेन संयुगे ।
भ्रातृणां सम्प्रहृष्टानां त्रासः संजनितो मया ॥३३॥

युद्ध में वृषसेन के द्वारा नकुल के घोड़ों को मारा गया देख जो दुःशासन के सभी भाई हर्ष से विभोर हो उठे थे, उनके मन में वैसा करके मैंने त्रास उत्पन्न किया था ।

केशपक्षपरामर्शे द्रौपद्या द्यूतकारिते ।
क्रोधाद् यदब्रुवं चाहं तच्च मे हृदि वर्तते ॥३४॥

जुए के समय जब द्रौपदी के केश खींचे गये थे, उस समय क्रोध में भरकर मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी स्मृति मेरे हृदय में निरन्तर बनी रहती थी ।

क्षत्रधर्माच्च्युतो राज्ञि भवेयं शाश्वतीः समाः ।
प्रतिज्ञां तामनिस्तीर्य ततस्तत् कृतवानहम् ॥३५॥

महारानीजी ! यदि मैं उस प्रतिज्ञा को पूर्ण न करता तो सदा के लिए क्षत्रिय-धर्म से गिर जाता, इसलिए मैंने वह कार्य किया था ।

न मामर्हसि गान्धारि दोषेण परिशंकितुम् ।
अनिगृह्य पुरा पुत्रानस्मास्वनपकारिषु ।
अधुना किं नु दोषेण परिशंकितुमर्हसि ॥३६॥

हे माता गान्धारी ! आपको मुझमें दोष की आशंका नहीं करनी चाहिए । पहले जब हम लोगों ने कोई अपराध नहीं किया था, उस समय हमपर अत्याचार करनेवाले अपने पुत्रों को तो आपने रोका नहीं, फिर इस समय आप मुझपर दोषारोपण क्यों करती हैं ?

गान्धार्युवाच

वृद्धस्यास्य शतं पुत्रान् निघ्नंस्त्वमपराजितः ।
कस्मान्नाशेषयः कंचिद् येनाल्पमपराधितम् ॥३७॥

गान्धारी बोली—पुत्र ! तुम अपराजित वीर हो । तुमने इस वृद्ध महाराज के सौ पुत्रों को मारते समय किसी एक को भी, जिसने बहुत थोड़ा अपराध किया था, क्यों नहीं जीवित छोड़ दिया ?

सन्तानमावयोस्तात वृद्धयोर्हृतराज्ययोः ।
कथमन्धद्वयस्यास्य यष्टिरेका न वर्जिता ॥३८॥

तात ! हम दोनों वृद्ध हुए । हमारा राज्य भी तुमने छीन लिया । ऐसी अवस्था में हमारी एक ही सन्तान को—हम दो अन्धों के लिए एक ही लाठी के सहारे को तुमने क्यों नहीं जीवित छोड़ दिया ?

शेषे ह्यवस्थिते तात पुत्राणामन्तके त्वयि ।
न मे दुःखं भवेदेतद् यदि त्वं धर्ममाचरेः ॥३९॥

तात ! तुम मेरे सारे पुत्रों के लिए यमराज बन गये । यदि तुम धर्म का आचरण करते और मेरा एक पुत्र भी रह जाता तो मुझे इतना दुःख नहीं होता ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु गान्धारी युधिष्ठिरमपृच्छत ।
क्व स राजेति सक्रोधा पुत्रपौत्रवधार्दिता ॥४०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भीमसेन से ऐसा कहकर अपने पुत्रों और पौत्रों के वध से पीड़ित हुई गान्धारी ने क्रुद्ध होकर पूछा—"कहाँ है वह राजा युधिष्ठिर ?"

तामभ्यगच्छद् राजेन्द्रो वेपमानः कृताञ्जलिः ।
युधिष्ठिरस्त्विदं तत्र मधुरं वाक्यमब्रवीत् ।।४१।।
पुत्रहन्ता नृशंसोऽहं तव देवि युधिष्ठिरः ।
शापार्हः पृथिवीनाशे हेतुभूतः शपस्व माम् ।।४२।।

यह सुनकर महाराज युधिष्ठिर काँपते हुए, हाथ जोड़े उनके सम्मुख आये और अत्यन्त मधुरवाणी में बोले—"देवि ! आपके पुत्रों का संहार करनेवाला क्रूरकर्मा युधिष्ठिर मैं हूँ । भू-मण्डल के राजाओं का नाश कराने में मैं ही हेतु हूँ, अतः शाप के योग्य हूँ । आप मुझे शाप दीजिए ।

न हि मे जीवितेनार्थो न राज्येन धनेन वा ।
तादृशान् सुहृदो हत्वा मूढस्यास्य सुहृद्द्रुहः ।।४३।।

"मैं अपने सुहृदों का द्रोही और अविवेकी हूँ । अपने उन-जैसे श्रेष्ठ सुहृदों का वध करके अब मुझे जीवन, राज्य अथवा धन से कोई प्रयोजन नहीं है ।"

तमेवं वादिनं भीतं संनिकर्षगतं तदा ।
गान्धारी विगतक्रोधा सान्त्वयामास मातृवत् ।।४४।।

जब निकट आकर भयभीत हुए राजा युधिष्ठिर ने ऐसी बातें कहीं, तब गान्धारी का क्रोध उतर गया और उसने एक स्नेहमयी माता के समान उसे सान्त्वना प्रदान की ।

तया ते समनुज्ञाता मातरं वीरमातरम् ।
अभ्यगच्छन्त सहिताः पृथां पृथुलवक्षसः ।।४५।।

तत्पश्चात् उनकी आज्ञा ले चौड़ी छातीवाले सभी पाण्डव एकसाथ वीरजननी माता कुन्ती के पास गये ।

सा तानेकैकशः पुत्रान् संस्पृशन्ती पुनः पुनः ।
अन्वशोचत दुःखार्ता द्रौपदीं च हृतात्मजाम् ।।४६।।

बारी-बारी से पुत्रों के शरीर पर बारम्बार हाथ फेरती हुई कुन्ती दुःख से आतुर हो उस द्रौपदी के लिए शोक करने लगीं, जिसके सभी पुत्र मारे गये थे ।

द्रौपद्युवाच

आर्ये पौत्राः क्व ते सर्वे सौभद्रसहिता गताः ।
किं नु राज्येन वै कार्यं विहीनायाः सुतैर्मम ।।४७।।

द्रौपदी बोली—आर्ये ! अभिमन्यु सहित वे आपके सभी पौत्र कहाँ चले गये ? अपने पुत्रों से हीन होकर अब इस राज्य से हमें क्या कार्य है ?

वैशम्पायन उवाच

तां समाश्वासयामास पृथा पृथुललोचना ।
उत्थाप्य याज्ञसेनीं तु रुदतीं शोककर्शिताम् ।।४८।।
तयैव सहिता चापि पुत्रैरनुगता नृप ।
अभ्यगच्छत गान्धारीमार्तामार्ततरा स्वयम् ।।४९।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! विशाल नेत्रोंवाली कुन्ती ने शोक से कातर हो रोती हुई द्रुपद-कुमारी को उठाकर धीरज बँधाया और उनके साथ ही वे स्वयं भी अत्यन्त आर्त होकर शोकाकुल गान्धारी के पास गईं । उस समय उसके पुत्र पाण्डव भी उनके पीछे-पीछे गये ।

तामुवाचाथ गान्धारी सह वध्वा यशस्विनीम् ।
मैवं पुत्रीति शोकार्ता पश्य मामपि दुःखिताम् ।।५०।।
मन्ये लोकविनाशोऽयं कालपर्यायनोदितः ।
अवश्यम्भावी सम्प्राप्तः स्वभावाल्लोमहर्षणः ।।५१।।

गान्धारी ने बहू द्रौपदी और यशस्विनी कुन्ती से कहा—"पुत्री ! इस प्रकार शोकाकुल मत होओ । देखो, मैं भी तो दुःख में डूबी हुई हूँ । मैं समझती हूँ समय के उलट-फेर से प्रेरित होकर सम्पूर्ण जगत् का विनाश हुआ है, जो स्वभाव से ही रोमाञ्चकारी है । यह काण्ड अवश्यम्भावी था, इसीलिए प्राप्त हुआ है ।

तस्मिन्नपरिहार्येऽर्थे व्यतीते च विशेषतः ।
मा शुचो न हि शोच्यास्ते संग्रामे निधनं गताः ।।५२।।
यथैवाहं तथैव त्वं को नावाश्वासयिष्यति ।
ममैव ह्यपराधेन कुलमग्र्यं विनाशितम् ।।५३।।

जब यह विनाश किसी प्रकार टल नहीं सकता था, विशेषतः जब सब-कुछ होकर समाप्त हो गया, तो अब तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए । वे सभी वीर युद्ध में मारे गये हैं, अतः शोक करने के योग्य नहीं हैं । आज जैसी मैं हूँ, वैसी ही तुम भी हो । हम दोनों को कौन धैर्य प्रदान करेगा ? मेरे ही अपराध से इस श्रेष्ठ कुल का संहार हुआ है ।

इतिमहाभारते स्त्रीपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

पञ्चमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण के समक्ष गान्धारी का विलाप

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यासाभ्यनुज्ञातो धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
पाण्डुपुत्राश्च ते सर्वे युधिष्ठिरपुरोगमाः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! समाश्वासन आदि के पश्चात् व्यासजी की आज्ञा से महाराज धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर आदि सब पाण्डुपुत्र युद्धभूमि की ओर चले ।

वासुदेवं पुरस्कृत्य हतबन्धुं च पार्थिवम् ।
कुरुस्त्रियः समासाद्य जग्मुरायोधनं प्रति ॥२॥

जिनके बन्धु-बान्धव मारे गये थे, उन राजा धृतराष्ट्र और श्रीकृष्ण को आगे करके कुरुकुल की स्त्रियों को साथ लेकर वे सब लोग रणभूमि में गये ।

समासाद्य कुरुक्षेत्रं ताः स्त्रियो निहतेश्वराः ।
अपश्यन्त हतांस्तत्र पुत्रान्भ्रातॄन्पितॄन्पतीन् ।
क्रव्यादैर्भक्ष्यमाणान् वै गोमायुबलवायसैः ॥३॥

कुरुक्षेत्र में पहुँचकर उन अनाथ स्त्रियों ने वहाँ मारे गये अपने पुत्रों, भाइयों, पिताओं और पतियों की लाशों को देखा, जिन्हें मांसभक्षी जीव-जन्तु, गीदड़-समूह और कौए नोच-नोचकर खा रहे थे ।

रुद्राक्रीडनिभं दृष्ट्वा तदा विशसनं स्त्रियः ।
महार्हेभ्योऽथ यानेभ्यो विक्रोशन्त्यो निपेतिरे ॥४॥

रुद्र की कीड़ास्थली के समान उस रणभूमि को देखकर वे स्त्रियाँ रोती और विलाप करती हुई अपने बहुमूल्य रथों से नीचे गिर पड़ीं ।

दुःखोपहतचित्ताभिः समन्तादनुनादितम् ।
दृष्ट्वाऽऽयोधनमत्युग्रमब्रवीत् सुबलात्मजा ॥५॥

दुःख से व्याकुलचित्त हुई युवतियों के करुण-क्रन्दन से वह अत्यन्त भयंकर युद्धस्थल सब ओर से गूंज उठा । यह देखकर सुबलपुत्री गान्धारी बोली—

पश्यैताः पुण्डरीकाक्ष स्नुषा मे निहतेश्वराः ।
प्रकीर्णकेशाः क्रोशन्तीः कुररीरिव माधव ॥६॥

"कमलनयन माधव ! मेरी इन विधवा पुत्र-वधुओं की ओर देखो, जो केश खोले हुए कुररी की भाँति विलाप कर रही हैं ।

एता दीर्घमिवोच्छ्वस्य विक्रुश्य च विलप्य च ।
विस्पन्दमाना दुःखेन वीरा जहति जीवितम् ॥७॥

"ये वीर वनिताएँ दीर्घ निःश्वास छोड़कर स्वजनों को पुकार-पुकारकर करुण विलाप करके दुःख से छटपटाती हुई अपने प्राण त्याग देना चाहती हैं ।

बह्व्यो दृष्ट्वा शरीराणि क्रोशन्ति विलपन्ति च ।
पाणिभिश्चापरा घ्नन्ति शिरांसि मृदुपाणयः ॥८॥

"बहुत-सी स्त्रियाँ स्वजनों की लाशों को देखकर रोती, चिल्लाती और विलाप करती हैं । कितनी ही कोमल हाथोंवाली कामिनियाँ अपने हाथों से सिर पीट रही हैं ।

अतो दुःखतरं किं नु केशव प्रतिभाति मे ।
यदिमाः कुर्वते सर्वा रवमुच्चावचं स्त्रियः ॥९॥

"केशव ! मेरे लिए इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या होगा कि ये सारी बहुएँ यहाँ आकर अनेक प्रकार से आर्तनाद कर रही हैं ।

नूनमाचरितं पापं मया पूर्वेषु जन्मसु ।
या पश्यामि हतान्पुत्रान्पौत्रान्भ्रातॄंश्च माधव ॥१०॥

"माधव ! निश्चय ही मैंने पूर्वजन्मों में कोई बड़ा भारी पाप किया है, जिससे आज अपने पुत्रों, पौत्रों और भाइयों को यहाँ मारा गया देख रही हूँ ।"

एवमार्ता विलपती समाभाष्य जनार्दनम् ।
गान्धारी पुत्रशोकार्ता ददर्श निहतं सुतम् ॥११॥

"श्रीकृष्ण को सम्बोधित करके पुत्रशोक से व्याकुल हो इस प्रकार आर्तस्वर से विलाप करती हुई गान्धारी ने युद्ध में मारे गये अपने पुत्र दुर्योधन को देखा ।

दुर्योधनं हतं दृष्ट्वा गान्धारी शोककर्शिता ।
सहसा न्यपतद् भूमौ छिन्नेव कदली वने ॥१२॥

दुर्योधन को मारा गया देखकर शोक से पीड़ित हुई गान्धारी वन में कटे हुए केले के वृक्ष की भाँति सहसा पृथिवी पर गिर पड़ी ।

सा तु लब्ध्वा पुनः संज्ञां विक्रुश्य च विलप्य च ।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य शयानं रुधिरोक्षितम् ॥१३॥

परिष्वज्य च गान्धारी कृपणं पर्यदेवयत् ।
हा हा पुत्रेति शोकार्ता विललापाकुलेन्द्रिया ।।१४।।

थोड़ी देर में होश में आने पर वे अपने पुत्र को पुकार-पुकारकर रोने लगीं। दुर्योधन को रक्त से लथपथ होकर सोया देख उसे हृदय से लगाकर गान्धारी दीन होकर रोने लगी। उस समय उनकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठी थीं। वे शोकातुर हो "हा पुत्र! हा पुत्र!" कहकर विलाप करने लगीं।

समीपस्थं हृषीकेशमिदं वचनमब्रवीत् ।
उपस्थितेऽस्मिन्संग्रामे ज्ञातीनां संक्षये विभो ।।१५।।
मामयं प्राह वार्ष्णेय प्राञ्जलिर्नृपसत्तमः ।
अस्मिन् ज्ञातिसमुद्धर्षे जयमम्बा ब्रवीतु मे ।।१६।।

फिर वे पास ही खड़े हुए श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहने लगीं—"वृष्णिनन्दन! प्रभो! भाई-बन्धुओं का विनाश करनेवाला जब यह भीषण युद्ध उपस्थित हुआ था, उस समय इस नृपश्रेष्ठ दुर्योधन ने मुझसे हाथ जोड़कर कहा था—"माताजी! कुटुम्बीजनों के इस संग्राम में आप मुझे मेरी विजय के लिए आशीर्वाद दें।"

इत्युक्ते जानती सर्वमहं स्वव्यसनागमम् ।
अब्रुवं पुरुषव्याघ्र यतो धर्मस्ततो जयः ।।१७।।

"पुरुषसिंह कृष्ण! उसके ऐसा कहने पर मैं यह सब जानती थी कि मुझपर विपत्ति का पहाड़ टूटनेवाला है, तथापि मैंने उससे यही कहा—"जहाँ धर्म है, वहीं विजय है।"

इत्येवमब्रुवं पूर्वं नैनं शोचामि वै प्रभो ।
धृतराष्ट्रं तु शोचामि कृपणं हतबान्धवम् ।।१८।।

"प्रभो! यह बात मैंने पहले ही कह दी थी, अतः मुझे इस दुर्योधन के लिए शोक नहीं हो रहा है। मैं तो इन दीनहीन महाराज धृतराष्ट्र के लिए शोकाकुल हो रही हूँ, जिनके सारे बन्धु-बान्धव मार डाले गये।

अमर्षणं युधां श्रेष्ठं कृतास्त्रं युद्धदुर्मदम् ।
शयानं वीरशयने पश्य माधव मे सुतम् ।।१९।।

"माधव! अमर्षशील! योद्धाओं में श्रेष्ठ, अस्त्र-विद्या के ज्ञाता, रणदुर्मद और वीर शय्या पर सोये हुए मेरे इस पुत्र को देखो तो सही।

योऽयं मूर्धाभिषिक्तानामग्रे याति परन्तपः ।
सोऽयं पांसुषु शेतेऽद्य पश्य कालस्य पर्ययम् ।।२०।।

"शत्रुओं को सन्ताप देनेवाला जो दुर्योधन मूर्धाभिषिक्त राजाओं के आगे-आगे चलता था, वही यह आज धूल में लोट रहा है। काल का यह उलट-फेर तो देखो!

ध्रुवं दुर्योधनो वीरो गतिं नसुलभां गतः ।
तथा ह्यभिमुखः शेते शयने वीरसेविते ।।२१।।

"निश्चय ही शूरवीर दुर्योधन उस गति को प्राप्त हुआ है, जो सबके लिए सुलभ नहीं है, क्योंकि यह वीरशय्या पर सामने मुँह किये सो रहा है।

यं पुरा पर्युपासीना रमयन्ति वरस्त्रियः ।
तं वीरशयने सुप्तं रमयन्त्यशिवाः शिवाः ।।२२।।

"पूर्वकाल में जिसके समीप बैठकर सुन्दर रमणियाँ उसका मनोरञ्जन करती थीं, वीरशय्या पर सोये हुए उसी वीर का मन आज ये अमङ्गलकारिणी गीदड़ियाँ बहलाती हैं।

यं पुरा पर्युपासीना रमयन्ति महीक्षितः ।
महीतलस्थं निहतं गृध्रास्तं पर्युपासते ।।२३।।

"पहले राजा लोग जिसके पास बैठकर उसे आनन्द प्रदान करते थे, आज मरकर धरती पर पड़े हुए उसी वीर के पास गीध बैठे हुए हैं।

यं पुरा व्यजनै रम्यैरुपवीजन्ति योषितः ।
तमद्य पक्षव्यजनैरुपवीजन्ति पक्षिणः ।।२४।।

"पहले जिसके पास खड़ी होकर युवतियाँ सुन्दर पंखे झला करती थीं, आज उसी को पक्षीगण अपने पंखों से हवा करते हैं।

अक्षौहिणीर्महाबाहुर्दश चैकां च केशव ।
आनयद् यः पुरा संख्ये सोऽनयान्निधनं गतः ।।२५।।

"केशव! जिस महाबाहु वीर ने पहले ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओं को जुटा लिया था, वही अपनी अनीति के कारण युद्ध में मार डाला गया।

एष दुर्योधनः शेते महेष्वासो महाबलः ।
शार्दूल इव सिंहेन भीमसेनेन पातितः ।।२६।।

"सिंह द्वारा मारे गये दूसरे सिंह के समान भीमसेन के हाथों मारा गया यह महाबली, महाधनुर्धर दुर्योधन सो रहा है।

इदं कष्टतरं पश्य पुत्रस्यापि वधान्मम।
यदिमाः पर्युपासन्ते हताञ्शूरान् रणे स्त्रियः ।।२७।।

"मेरे लिए पुत्र-वध से भी अधिक कष्ट देनेवाली बात यह है कि ये स्त्रियाँ युद्ध में मारे गये अपने शूर-वीर पतियों के पास बैठी रो रही हैं। इनकी दयनीय दशा तो देखो!

प्रकीर्णकेशां सुश्रोणीं दुर्योधनशुभाङ्कगाम्।
रुक्मवेदीनिभां पश्य कृष्ण लक्ष्मणमातरम् ।।२८।।

"श्रीकृष्ण! सुवर्ण की वेदी के समान तेजस्विनी और सुन्दर कटिप्रदेशवाली उस लक्ष्मण की माता को तो देखो, जो दुर्योधन के शुभ-अङ्क में स्थित हो केश खोले रो रही है।

कथं नु शतधा नेदं हृदयं मम दीर्यते।
पश्यन्त्या निहतं पुत्रं पुत्रेण सहितं रणे ।।२९।।

"युद्धभूमि में मेरा पुत्र [दुर्योधन] अपने पुत्र [लक्ष्मण] के साथ ही मार डाला गया है। इसे इस अवस्था में देखकर मेरे इस हृदय के सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते?

पश्य माधव पुत्रान्मे शतसंख्याञ्जितक्लमान्।
गदया भीमसेनेन भूयिष्ठं निहतान् रणे ।।३०।।

"माधव! जो परिश्रम को जीत चुके थे, उन मेरे सौ पुत्रों को देखो, जिन्हें युद्धस्थल में प्रायः भीमसेन ने अपनी गदा से मार डाला है।

इदं दुःखतरं मेऽद्य यदिमा मुक्तमूर्धजाः।
हतपुत्रा रणे बालाः परिधावन्ति मे स्नुषाः ।।३१।।

"सबसे अधिक दुःख मुझे आज यह देखकर हो रहा है कि मेरी बालवधुएँ, जिनके पुत्र भी मारे जा चुके हैं, रणभूमि में बाल बिखेरे चारों ओर अपने स्वजनों की खोज में दौड़ रही हैं।

पूर्वजातिकृतं पापं मन्ये नाल्पमिवानघ।
एताभिर्निरवद्याभिर्मया चैवाल्पमेधया ।।३२।।
यदिदं धर्मराजेन पातितं नो जनार्दन।
न हि नाशोऽस्ति वार्ष्णेय कर्मणोः शुभपापयोः ।।३३।।

"निष्पाप! मैं समझती हूँ कि इन अनिन्द्य सुन्दरी अबलाओं ने और मन्दमति मैंने भी पूर्वजन्म में कोई बड़ा भारी पाप किया है, जिसके फलस्वरूप धर्मराज ने हम लोगों को बड़ी भारी विपत्ति में डाल दिया है। जनार्दन! वृष्णिनन्दन! जान पड़ता है कि किये हुए पुण्य और पापकर्मों का उनके फल का उपभोग किये बिना नाश नहीं होता है।

एष दुःशासनः शेते शूरेणामित्रघातिना।
पीतशोणितसर्वाङ्गो युधि भीमेन पातितः ।।३४।।

"शत्रुसंहारक शूरवीर भीमसेन ने युद्ध में जिसे मार गिराया और जिसके सारे अङ्गों का रक्तपान कर लिया, वही यह दुःशासन यहाँ सो रहा है।

अध्यर्धगुणमाहुर्यं बले शौर्ये च केशव।
पित्रा त्वया च दाशार्ह दृप्तं सिंहमिवोत्कटम् ।।३५।।
यो बिभेद चमूमेको मम पुत्रस्य दुर्भिदाम्।
स भूत्वा मृत्युरन्येषां स्वयं मृत्युवशं गतः ।।३६।।

"दशार्हनन्दन! केशव! जिसे बल और शौर्य में अपने पिता से और तुमसे भी डेढ़ गुना बताया जाता था, जो प्रचण्ड सिंह के समान अभिमान में भरा रहता था, जिसने अकेले ही मेरे पुत्र के दुर्भेद्य व्यूह को तोड़ डाला था, वही अभिमन्यु दूसरों की मृत्यु बनकर स्वयं भी मृत्यु के अधीन हो गया है।

पश्य वैकर्तनं कर्णं निहत्यातिरथान् बहून्।
शोणितौघपरीताङ्गं शयानं पतितं भुवि ।।३७।।

"माधव! देखो, वैकर्तन कर्ण बहुत-से अतिरथी वीरों का संहार करके स्वयं भी खून से लथपथ होकर पृथिवी पर सोया पड़ा है।

अमर्षी दीर्घरोषश्च महेष्वासो महाबलः।
रणे विनिहतः शेते शूरो गाण्डीवधन्वना ।।३८।।

"शूरवीर कर्ण महान् बलवान् और महाधनुर्धर था। यह दीर्घकाल तक रोष में भरा रहनेवाला और अमर्षशील था, परन्तु गाण्डीवधारी अर्जुन के हाथ से मारा जाकर यह वीर युद्धभूमि में सो गया है।

पुत्रशोकाभितप्तेन प्रतिज्ञां चाभिरक्षता।
पाकशासनिना संख्ये वार्धक्षत्रिर्निपातितः ।।३९।।
एकादश चमूर्भित्वा रक्ष्यमाणं महात्मना।
सत्यं चिकीर्षता पश्य हतमेनं जयद्रथम् ।।४०।।

"श्रीकृष्ण! पुत्रशोक से सन्तप्त हो अपनी की हुई प्रतिज्ञा का पालन करते हुए इन्द्रकुमार अर्जुन ने रणभूमि में वृद्धक्षत्र के पुत्र जयद्रथ को मार गिराया है। यद्यपि उसकी रक्षा की पूरी व्यवस्था की गई

थी, तब भी अपनी प्रतिज्ञा को सत्य कर दिखाने की इच्छावाले महात्मा अर्जुन ने ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओं को लाँघकर जिसे मार डाला था, वही यह जयद्रथ यहाँ पड़ा है। इसे देखो।

यदा कृष्णामुपादाय प्राद्रवत् केकयैः सह।
तदैव वध्यः पाण्डूनां जनार्दन जयद्रथः॥४१॥
दुःशलां मानयद्भिस्तु तदा मुक्तो जयद्रथः।
कथमद्य न तां कृष्ण मानयन्ति स्म ते पुनः॥४२॥

"जनार्दन! जिस दिन जयद्रथ द्रौपदी का अपहरण करके केकयों के साथ भागा था, उसी दिन यह पाण्डवों का वध्य हो गया था, परन्तु उस समय दुःशला का सम्मान करते हुए उन्होंने जयद्रथ को जीवित छोड़ दिया था। श्रीकृष्ण! उन्हीं पाण्डवो ने आज फिर क्यों नहीं उसका सम्मान किया?

सैषा मम सुता बाला विलपन्ती च दुःखिताः।
आत्मना हन्ति चात्मानमाक्रोशन्ती च पाण्डवान्॥४३

"देखो, वही मेरी यह पुत्री दुःशला जो अभी बालिका है, किस प्रकार दुःखी होकर विलाप कर रही है! यह पाण्डवों को कोसती हुई स्वयं ही अपनी छाती पीट रही है।

किं नु दुःखतरं कृष्ण परं मम भविष्यति।
यत् सुता विधवा बाला स्नुषाश्च निहतेश्वराः॥४४॥

"श्रीकृष्ण! मेरे लिए इससे बढ़कर महान् दुःख की बात और क्या होगी कि मेरी छोटी अवस्था की यह पुत्री विधवा हो गई और मेरी सारी पुत्रवधुएँ भी अनाथा हो गईं।

सोमदत्तसुतं पश्य युयुधानेन पातितम्।
वितुद्यमानं विहगैर्बहुभिर्माधवान्तिके॥४५॥

"माधव! देखो, सात्यकि ने जिन्हें मार गिराया था, वे ही ये सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा पास ही दिखाई दे रहे हैं। इन्हें बहुत-से पक्षी चोंच मार-मारकर नोच रहे हैं।

गान्धारराजः शकुनिर्बलवान् सत्यविक्रमः।
निहतः सहदेवेन भागिनेयेन मातुलः॥४६॥

"यह गान्धार देश का राजा महाबली सत्यपराक्रमी शकुनि पड़ा हुआ है। इसे सहदेव ने मारा है। भानजे ने मामा के प्राण लिये हैं।

मायया निकृतिप्रज्ञो जितवान् यो युधिष्ठिरम्।
सभायां विपुलं राज्यं स पुनर्जीवितं जितः॥४७॥

"जो छलविद्या का पण्डित था, जिसने द्यूतसभा में माया द्वारा युधिष्ठिर और उनके विशाल राज्य को जीत लिया था, वही फिर अपना जीवन भी हार गया।

शकुन्ताः शकुनिं कृष्ण समन्तात् पर्युपासते।
कैतवं मम पुत्राणां विनाशायोपशिक्षितम्॥४८॥

"श्रीकृष्ण! आज शकुनि [पक्षी] ही इस शकुनि की चारों ओर से उपासना करते हैं। इसने मेरे पुत्रों के विनाश के लिए ही द्यूतविद्या अथवा धूर्तता सीखी थी।

एष चेदिपतिः शूरो धृष्टकेतुर्महारथः।
शेते विनिहतः संख्ये हत्वा शत्रून् सहस्रशः॥४९॥

"यह चेदिराज शूरवीर महारथी धृष्टकेतु सहस्रों शत्रुओं को मारकर मारा गया और रणशय्या पर सदा के लिए सो गया।

ये हन्युः शस्त्रवेगेन देवानपि नरर्षभाः।
त इमे निहताः संख्ये पश्य कालस्य पर्ययम्॥५०॥

"जो नरश्रेष्ठ अपने शस्त्र के वेग से देवताओं को भी नष्ट कर सकते थे, वे ही ये युद्ध में मार डाले गये हैं, यह काल का उलट-फेर तो देखो।

नातिभारोऽस्ति दैवस्य ध्रुवं माधव कश्चन।
यदिमे निहताः शूराः क्षत्रियैः क्षत्रियर्षभाः॥५१॥

"माधव! निश्चय ही दैव के लिए कोई भी कार्य कठिन नहीं है, क्योंकि उसने क्षत्रियों द्वारा ही इन शूरवीर क्षत्रियशिरोमणियों का संहार करा डाला है।

तदैव निहताः कृष्ण मम पुत्रास्तरस्विनः।
यदैवाकृतकामस्त्वमुपप्लव्यं गतः पुनः॥५२॥

"श्रीकृष्ण! मेरे बलशाली पुत्र तो उसी दिन मार डाले गये, जिस दिन तुम भग्नमनोरथ होकर उपप्लव्य नगर को लौट गये थे।

शान्तनोश्चैव पुत्रेण प्राज्ञेन विदुरेण च।
तदैवोक्तास्मि मा स्नेहं कुरुष्वात्मसुतेष्विति॥५३॥

"श्रीकृष्ण! मुझे तो शान्तनुनन्दन भीष्म और ज्ञानी विदुरजी ने उसी दिन कह दिया था कि "अब

तुम अपने पुत्रों पर स्नेह न करो।"

तयोर्हि दर्शनं नैतन्मिथ्या भवितुमर्हति।
अचिरेणैव मे पुत्रा भस्मीभूता जनार्दन ॥५४॥

"जनार्दन! उन दोनों की यह दृष्टि मिथ्या नहीं हो सकती थी, अतः थोड़े ही समय में मेरे सारे पुत्र युद्ध की अग्नि में जलकर भस्म हो गये।"

इत्युक्त्वा न्यपतद् भूमौ गान्धारी शोकमूर्च्छिता।
दुःखोपहतविज्ञाना धैर्यमुत्सृज्य भारत ॥५५॥

भरतकुलभूषण जनमेजय! ऐसा कहकर शोक से मूर्च्छित हुई गान्धारी धैर्य छोड़कर पृथिवी पर गिर पड़ीं, दुःख से उनकी विवेकशक्ति नष्ट हो गई।

ततः कोपपरीताङ्गी पुत्रशोकपरिप्लुता।
जगाम शौरिं दोषेण गान्धारी व्यथितेन्द्रिया ॥५६॥

तत्पश्चात् उनके समस्त अंगों में क्रोध व्याप्त हो गया। पुत्रशोक में डूब जाने के कारण उनकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं। उस समय उसने सारा दोष श्रीकृष्ण के ही माथे मढ़ दिया।

गान्धार्युवाच

पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च दग्धाः कृष्ण परस्परम्।
उपेक्षिता विनश्यन्तस्त्वया कस्माज्जनार्दन ॥५७॥

गान्धारी बोली—श्रीकृष्ण! जनार्दन! पाण्डव और धृतराष्ट्र के पुत्र आपस में लड़कर भस्म हो गये। तुमने इन्हें नष्ट होते देखकर भी इनकी उपेक्षा कैसे कर दी?

शक्तेन बहुभृत्येन विपुले तिष्ठता बले।
उभयत्र समर्थेन श्रुतवाक्येन चैव ह ॥५८॥

इच्छतोपेक्षितो नाशः कुरूणां मधुसूदन।
यस्मात् त्वया महाबाहो फलं तस्मादवाप्नुहि ॥५९॥

महाबाहु मधुसूदन! तुम शक्तिशाली थे। तुम्हारे पास बहुत-से सेवक और सैनिक थे। तुम महान् बल में प्रतिष्ठित थे। तुममें दोनों पक्षों से अपनी बात मनवा लेने की सामर्थ्य थी। तुमने वेद-शास्त्रों और महात्माओं की बातें सुनी और जानी थीं। यह सब होते हुए भी तुमने स्वेच्छा से कुरुकुल के नाश की उपेक्षा की। यह तुम्हारा महान् दोष है, अतः तुम इसका फल चखो।

पति-शुश्रूषया यन्मे तपः किंचिदुपार्जितम्।
तेन त्वां दुरवापेन शप्स्ये चक्रगदाधर ॥६०॥

चक्र और गदा धारण करनेवाले केशव! मैंने पति की सेवा से जो कुछ भी तप—शक्ति उपार्जित की है, उस दुर्लभ तपोबल से तुम्हें शाप देती हूँ।

यस्मात् परस्परं घ्नन्तो ज्ञातयः कुरुपाण्डवाः।
उपेक्षितास्ते गोविन्द तस्माज्ज्ञातीन् वधिष्यसि ॥६१॥

गोविन्द! तुमने परस्पर मार-काट मचाते हुए कुटुम्बी कौरवों और पाण्डवों की उपेक्षा की है, अतः तुम अपने भाई-बन्धुओं का भी विनाश कर डालोगे।

कृष्ण उवाच

जानेऽहमेतदप्येवं चीर्णं चरसि क्षत्रिये।
दैवादेव विनश्यन्ति वृष्णयो नात्र संशयः ॥६२॥

श्रीकृष्ण ने कहा—क्षत्राणी! मैं जानता हूँ, यह ऐसा ही होनेवाला है। तुम तो किये हुए को ही कर रही हो। इसमें सन्देह नहीं कि वृष्णिवंश के यादव दैवगति से ही नष्ट होंगे।

इति महाभारते स्त्रीपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

युधिष्ठिर की आज्ञा से सभी मृतकों का दाह-संस्कार

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्तु राजर्षिर्निगृह्याबुद्धिजं तमः।
पर्यपृच्छत धर्मज्ञो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय धर्मज्ञ राजर्षि धृतराष्ट्र ने अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले शोक और मोह को रोककर धर्मराज युधिष्ठिर से पूछा—

धृतराष्ट्र उवाच

अनाथानां जनानां च सनाथानां च भारत।
कच्चित्तेषां शरीराणि धक्ष्यसे विधिपूर्वकम् ॥२॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—भारत ! यहाँ जो अनाथ और सनाथ योद्धा मरे पड़े हैं, क्या तुम उनके शरीरों का विधिपूर्वक दाह-संस्कार करा दोगे ?

न येषामस्ति संस्कर्ता न च येऽत्राहिताग्नयः ।
वयं च कस्य कुर्यामो बहुत्वात् तात कर्मणाम् ।।३।।

जिनका कोई संस्कार करनेवाला नहीं है और जो अग्निहोत्री नहीं रहे हैं, उनका भी प्रेतकर्म कराना होगा । तात ! यहाँ तो बहुतों के अन्त्येष्टिकर्म करने हैं, हम किस-किसका करें ?

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो महाराज कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आदिदेश सुधर्माणं धौम्यं सूतं च सञ्जयम् ।।४।।
विदुरं च महाबुद्धिं युयुत्सुं चैव कौरवम् ।
इन्द्रसेनमुखाँश्चैव भृत्यान् सूताँश्च सर्वशः ।।५।।
भवन्तः कारयन्त्वेषां प्रेतकार्याण्यशेषतः ।
यथा चानाथवत् किंचिच्छरीरं न विनश्यति ।।६।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! धृतराष्ट्र के ऐसा कहने पर कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ने सुधर्मा, धौम्य, सारथि सञ्जय, परमबुद्धिमान् विदुर, कुरुवंशी युयुत्सु और इन्द्रसेन आदि सेवकों तथा समस्त सूतों को यह आज्ञा दी कि "आप लोग इन सब मृतकों के प्रेतकार्य सम्पन्न कराएँ । ऐसा न हो कि कोई भी लाश अनाथ के समान नष्ट हो जाए ।"

शासनाद् धर्मराजस्य क्षत्ता सूतश्च सञ्जयः ।
सुधर्मा धौम्यसहित इन्द्रसेनादयस्तथा ।।७।।
चन्दनागुरुकाष्ठानि तथा कालीयकान्युत ।
घृतं तैलं च गन्धाँश्च क्षौमाणि वसनानि च ।।८।।
समाहृत्य महार्हाणि दारूणां चैव सञ्चयान् ।
रथाँश्च मृदिताँस्तत्र नानाप्रहरणानि च ।।९।।
चिताः कृत्वा प्रयत्नेन यथामुख्यान् नराधिपान् ।
दाहयामासुरव्यग्राः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।।१०।।

धर्मराज के आदेश से विदुरजी, सारथि सञ्जय, सुधर्मा, धौम्य तथा इन्द्रसेन आदि ने चन्दन और अगर की लकड़ी, कालीयक, घी, तेल, सुगन्धित पदार्थ और बहुमूल्य रेशमी वस्त्र आदि वस्तुएँ एकत्र कीं, लकड़ियों का संग्रह किया, टूटे हुए रथादि और नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों को भी एकत्र कर लिया । फिर उन सबके द्वारा प्रयत्नपूर्वक कई चिताएँ बनाकर बड़े-छोटे के क्रम से सभी राजाओं का शास्त्रीय विधि के अनुसार उन्होंने शान्तभाव से अन्त्येष्टि-संस्कार सम्पन्न कराया ।

कारयित्वा क्रियास्तेषां कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गङ्गामभिमुखोऽगमत् ।।११।।

उन सबका दाह-संस्कार कराकर कुरुराज युधिष्ठिर धृतराष्ट्र को आगे करके गङ्गा की ओर चल दिये ।

ते समासाद्य गङ्गां तु शिवां पुण्यजलोचिताम् ।
उदकं चक्रिरे सर्वा रुदन्त्यो भृशदुःखिताः ।।१२।।

कल्याणमयी, पुण्यसलिला गङ्गा के तट पर पहुँचकर युधिष्ठिर आदि सब लोगों ने अत्यन्त दुःखी होकर रोते हुए स्नान किया ।

इति महाभारते स्त्रीपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

।। इति स्त्रीपर्व सम्पूर्णम् ।।

महाभारतकालीन अस्त्र-शस्त्र

ढाल

शमशीर

महातोप

गदा
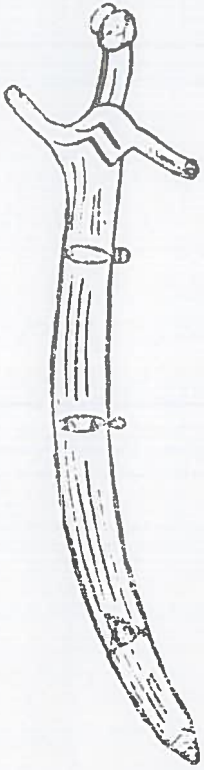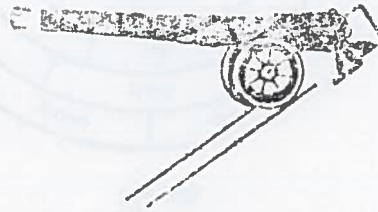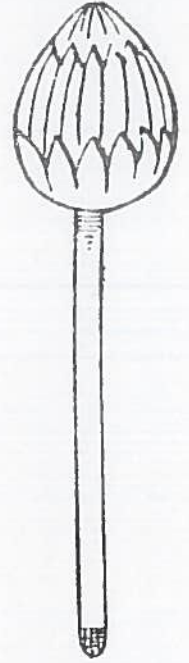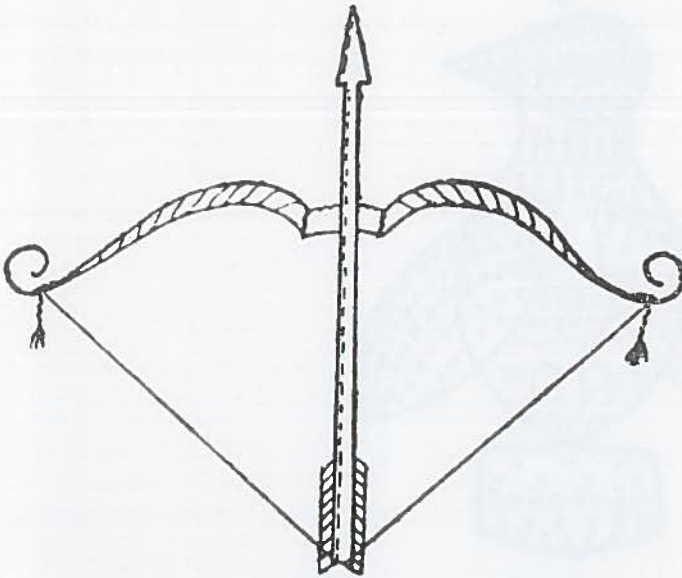
धनुषबाण
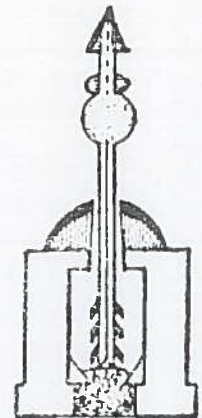
अग्निबाण

महाभारतकालीन व्यूह रचना

चक्र व्यूह
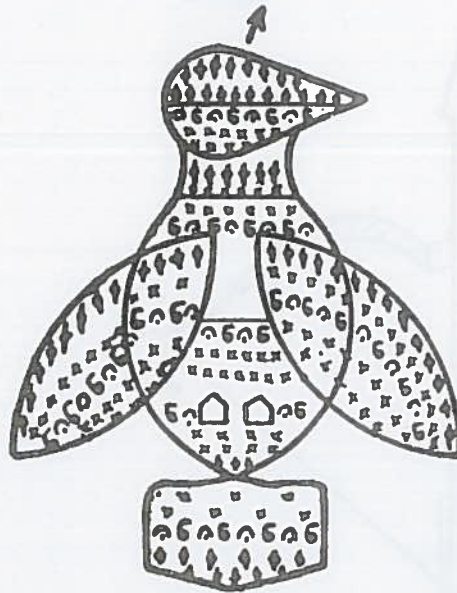
गरुड़ व्यूह
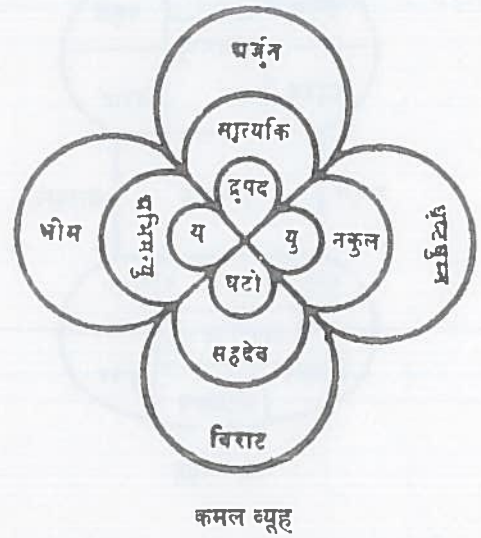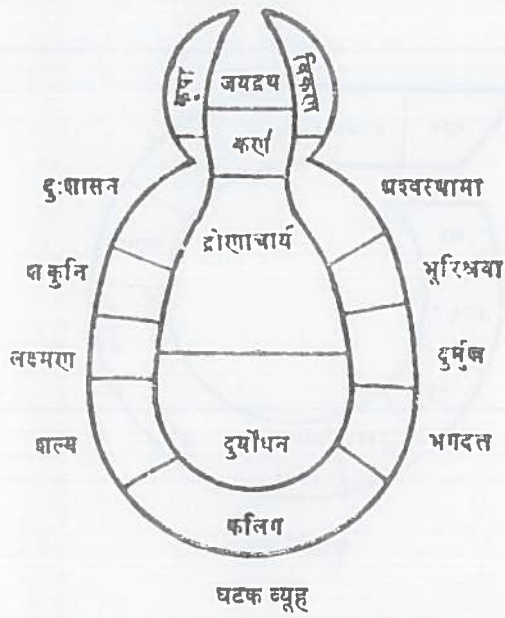
धृष्टद्युम्न | भीम | नकुल
अभिमन्यु
सहदेव | विराट
अर्जुन | युधिष्ठिर | सात्यकि
कुन्ती भोज | चेकितान
द्रौपदी के पुत्र
शिखण्डी | घटोत्कच | द्रुपद

शटक व्यूह

अर्जुन | सात्यकि | सहदेव | शिखण्डी | विराट | चेकितान | काशीराज | युधिष्ठिर | पुरुजित | अभिमन्यु | द्रुपद | नकुल | धृष्टद्युम्न | भीम

सुदर्शन व्यूह

भीम
घटोत्कच
धृष्टद्युम्न | शिखण्डी
नकुल | सहदेव
कुन्ती भोज | चेकितान
अभिमन्यु | युधिष्ठिर
पुरुजित | द्रुपद
द्रौपदी के पुत्र

सूची व्यूह

अर्जुन
सात्यकि
भीम | नकुल
घटोत्कच
द्रुपद | विराट
काशीराज | युधिष्ठिर | चेकितान
सहदेव
द्रौपदी के पुत्र
अभिमन्यु | शिखण्डी
धृष्टद्युम्न
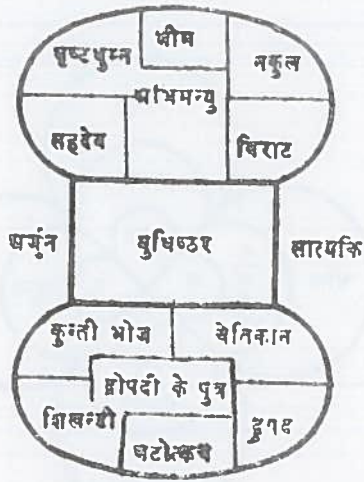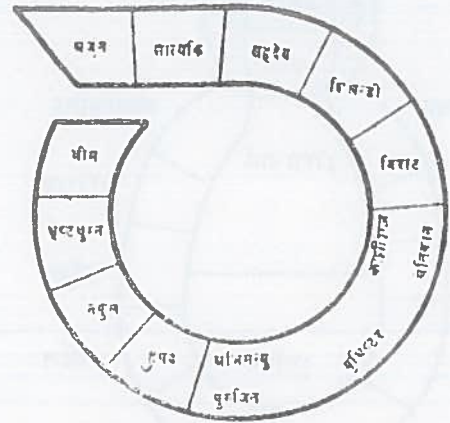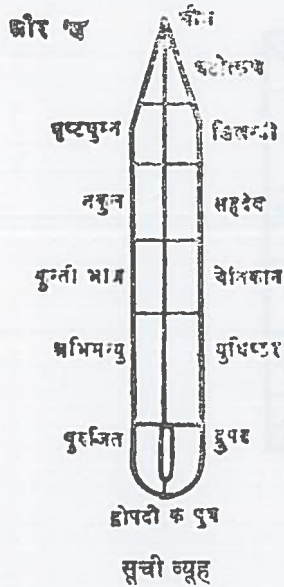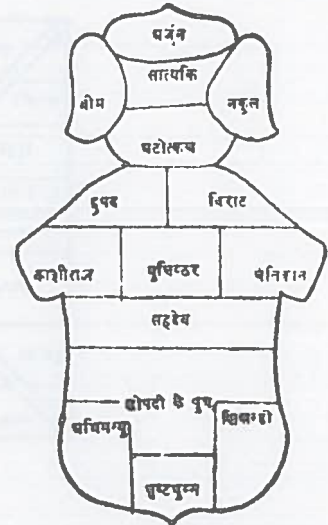
गज व्यूह

शान्तिपर्व

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिर का परिताप

वैशम्पायन उवाच

कृतोदकास्ते सुहृदां सर्वेषां पाण्डुनन्दनाः ।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च सर्वाश्च भरतस्त्रियः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! पाण्डव, विदुर, धृतराष्ट्र और भरतकुल की सभी स्त्रियों ने अपने समस्त बन्धु-बान्धवों का अन्त्येष्टि-संस्कार करके स्नानादि किया ।

तत्र ते सुमहात्मानो न्यवसन् पाण्डुनन्दनाः ।
शौचं निवर्तयिष्यन्तो मासमात्रं बहिः पुरात् ॥२॥

तत्पश्चात् वे महामनस्वी पाण्डव आत्मशुद्धि के लिए एक मास तक वहीं [गङ्गा के किनारे] नगर से बाहर टिके रहे ।

कृतोदकं तु राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अभिजग्मुर्महात्मानः सिद्धा ब्रह्मर्षिसत्तमाः ॥३॥

स्नान-सन्ध्या-आचमनादि करके बैठे हुए धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर के पास बहुत-से ब्रह्मर्षि और सिद्ध-महात्मा पधारे ।

तेऽभिगम्य महात्मानः पूजिताश्च यथाविधि ।
आसनेषु महार्हेषु विविशुस्ते महर्षयः ॥४॥

वे महात्मा और महर्षि वहाँ पहुँचकर और विधिपूर्वक सम्मानित होकर राजा द्वारा प्रदत्त बहुमूल्य आसनों पर विराजमान हुए ।

नारदस्त्वब्रवीत् काले धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
सम्भाष्य मुनिभिः सार्धं कृष्णद्वैपायनादिभिः ॥५॥

उस समय व्यास आदि ऋषियों के साथ विचार-विमर्श कर सर्वप्रथम देवर्षि नारदजी ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—

भवतो बाहुवीर्येण प्रसादान्माधवस्य च ।
जितेयमवनिः कृत्स्ना धर्मेण च युधिष्ठिर ॥६॥

"हे युधिष्ठिर ! आपने अपने बाहुबल से, श्रीकृष्ण की कृपा और धर्म के प्रभाव से इस समस्त पृथिवी पर विजय पाई है ।

दिष्टया मुक्तस्तु संग्रामादस्माल्लोकभयंकरात् ।
क्षत्रधर्मरतश्चापि कच्चिन्मोदसि पाण्डव ॥७॥

"हे पाण्डुनन्दन ! सौभाग्य से आप सारे संसार को भय में डालनेवाले इस युद्ध से छुटकारा पा गये । अब क्षत्रिय-धर्म के पालन में तत्पर रहकर आप प्रसन्न तो हैं ?

कच्चिच्च निहतामित्रः प्रीणासि सुहृदो नृप ।
कच्चिच्छ्रियमिमां प्राप्य न त्वां शोकः प्रबाधते ॥८॥

"हे प्रजेश्वर ! आपके शत्रु नष्ट हो गये । अब आप अपने हितैषियों को तो प्रसन्न रखते हैं न ? इस राज्यलक्ष्मी को पाकर अब कोई शोक तो आपको नहीं सता रहा है ?"

युधिष्ठिर उवाच

विजितेयं मही कृत्स्ना कृष्णबाहुबलाश्रयात् ।
ब्राह्मणानां प्रसादेन भीमार्जुनबलेन च ॥९॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण के बाहुबल के आश्रय, ब्राह्मणों की कृपा और भीम तथा अर्जुन के बल से मुझे इस सम्पूर्ण पृथिवी पर विजय प्राप्त हुई है ।

इदं मम महद्दुःखं वर्तते हृदि नित्यदा ।
कृत्वा ज्ञातिक्षयमिमं महान्तं लोभकारितम् ॥१०॥

परन्तु मेरे हृदय में सदा यह महान् दुःख बना

रहता है कि मैंने लोभ के वशीभूत होकर अपने बन्धु-बान्धवों का भीषण संहार करा डाला।

सौभद्रं द्रौपदेयाँश्च घातयित्वा सुतान् प्रियान्।
जयोऽयमजयाकारो भगवन् प्रतिभाति मे ॥११॥

भगवन्! सुभद्राकुमार अभिमन्यु तथा द्रौपदी के प्रियपुत्रों को मरवाकर मिली हुई यह विजय भी मुझे पराजय-सी प्रतीत हो रही है।

वैशम्पायन उवाच

ततः शोकपरीतात्मा निःश्वसंश्च पुनः पुनः।
दृष्ट्वार्जुनमुवाचेदं राजा सन्तापपीडितः ॥१२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नारद से ऐसा कहकर शोक से व्याकुल हो युधिष्ठिर बारम्बार लम्बी साँस खींचने लगे और अर्जुन को देखकर सन्ताप से पीड़ित हो इस प्रकार बोले—

युधिष्ठिर उवाच

धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलपौरुषम्।
धिगस्त्वमर्षं येनेमामापदं गमिता वयम् ॥१३॥

युधिष्ठिर बोले—हे अर्जुन! क्षत्रियों के आचार, बल, पराक्रम और अमर्ष=क्रोध को धिक्कार है जिनके कारण हम ऐसी विपत्ति में फँस गये।

साधु क्षमा दमः शौचं वैराग्यं चाप्यमत्सरः।
अहिंसा सत्यवचनं नित्यानि वनचारिणाम् ॥१४॥

क्षमा, दम=मनोनिग्रह, बाहर-भीतर की पवित्रता, वैराग्य, ईर्ष्या का अभाव, अहिंसा और सत्य भाषण—ये वनवासियों के नित्यधर्म ही श्रेष्ठ हैं।

वयं तु लोभान्मोहाच्च दम्भं मानं च संश्रिताः।
इमामवस्थां सम्प्राप्ता राज्यलाभबुभुक्षया ॥१५॥

हम लोग लोभ और मोह के कारण राज्यप्राप्ति के सुख का अनुभव करने की इच्छा से दम्भ और अभिमान का आश्रय लेकर इस दुर्दशा को प्राप्त हुए हैं।

आमिषे गृध्यमानानामशुभं वै शुनामिव।
आमिषं चैव नो हीष्टमामिषस्य विवर्जनम् ॥१६॥

जैसे मांसलोभी कुत्तों को अशुभ की प्राप्ति होती है, वैसे ही राज्य में आसक्त हुए हम लोगों को भी अनिष्ट प्राप्त हुआ है, अतः हमारे लिए मांस-तुल्य राज्य की प्राप्ति अभीष्ट नहीं है अपितु उसका परित्याग ही अभीष्ट है।

न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः।
न गवाश्वेन सर्वेण ते त्याज्या य इमे हताः ॥१७॥

हमारे जिन बन्धु-बान्धवों का संहार हुआ है उनका त्याग तो हमें सम्पूर्ण पृथिवी, स्वर्ण-राशि और समस्त गाय-घोड़े पाकर भी नहीं करना चाहिए था।

दुर्योधनकृते ह्येतत् कुलं नो विनिपातितम्।
अवध्यानां वधं कृत्वा लोके प्राप्ताः स्म वाच्यताम् ॥१८॥

दुर्योधन के कारण हमारे इस कुल का नाश हो गया और हम लोग अवध्य नरेशों का वध करके संसार में निन्दा के पात्र हो गये।

हताः शूराः कृतं पापं विषयः स्वो विनाशितः।
हत्वा नो विगतो मन्युः शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥१९॥

हमने शूरवीरों को मौत के घाट उतारा, पाप किया और अपने ही राष्ट्र का विनाश कर डाला। शत्रुओं को मारकर हमारा क्रोध तो दूर हो गया परन्तु बन्धु-बान्धवों के मारे जाने का शोक मुझे निरन्तर घेरे रहता है।

ख्यापनेनानुतापेन दानेन तपसाऽपि वा।
पापकृन्मुच्यते पापात् श्रुतिस्मृतिजपेन वा ॥२०॥

हे अर्जुन! पाप करनेवाला अपने पाप का बखान करने से, पश्चात्ताप करने से, दान देने, तप करने, वेद और स्मृतियों का स्वाध्याय तथा जप करने से पाप से छूट जाता है [भविष्य में पाप-कर्म करने से बच जाता है]।

वनमामन्त्र्य वः सर्वान् गमिष्यामि परन्तपः।
न हि कृत्स्नतमो धर्मः शक्यः प्राप्तुमिति श्रुतिः।
परिग्रहवता तन्मे प्रत्यक्षमरिसूदन ॥२१॥

शत्रुसन्तापक अर्जुन! मैं तुम सब लोगों से विदा लेकर वन में चला जाऊँगा। शत्रुसंहारक! श्रुति कहती है कि "संग्रह-परिग्रह में फँसा हुआ मनुष्य पूर्णतम धर्म=प्रभुदर्शन प्राप्त नहीं कर सकता।" इस तथ्य का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है।

प्रशाधि त्वमिमामुर्वीं क्षेमां निहतकण्टकाम्।
न ममार्थोऽस्ति राज्येन भोगैर्वा कुरुनन्दन ॥२२॥

कुरुकुलनन्दन! तुम इस निष्कण्टक और कुशल-

क्षेम से युक्त पृथिवी का शासन करो। मुझे राज्य और भोगों से कोई प्रयोजन नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनं कुरुराजो युधिष्ठिरः।
उपारमत् ततः पार्थः कनीयानभ्यभाषत ॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इतना कहकर कुरुराज युधिष्ठिर चुप हो गये। तत्पश्चात् कुन्ती के सबसे छोटे पुत्र अर्जुन ने अपना वक्तव्य आरम्भ किया।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

धन का महत्त्व बताते हुए अर्जुन का युधिष्ठिर को यज्ञानुष्ठान के लिए प्रेरित करना

अर्जुन उवाच

अहो दुःखमहो कृच्छ्रमहो वैक्लब्यमुत्तमम्।
यत्कृत्वामानुषं कर्म त्यजेथाः श्रियमुत्तमाम् ॥१॥

अर्जुन बोले—राजन्! यह तो अत्यन्त दुःख और महान् कष्ट की बात है! आपकी विह्वलता पराकाष्ठा को पहुँच गई है। आश्चर्य की बात यह है कि आप अलौकिक पराक्रम करके प्राप्त की हुई इस श्रेष्ठ राज्यलक्ष्मी को तिलाञ्जलि दे रहे हैं।

शत्रून् हत्वा महीं लब्ध्वा स्वधर्मेणोपपादिताम्।
एवंविधं कथं सर्वं त्यजेथा बुद्धिलाघवात् ॥२॥

आपने अपने शत्रुओं को मौत के घाट उतारकर पृथिवी पर अधिकार प्राप्त किया है। यह राज्य-लक्ष्मी आपको अपने धर्म के अनुसार प्राप्त हुई है। इस प्रकार अपने अधिकार में प्राप्त हुई इस पृथिवी को आप अपनी अल्पबुद्धि के कारण क्यों त्याग रहे हैं?

क्लीबस्य हि कुतो राज्यं दीर्घसूत्रस्य वा पुनः।
किमर्थं च महीपालानवधीः क्रोधमूर्च्छितः ॥३॥

किसी कायर अथवा आलसी को राज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि आपको वन में ही जाना था तो आपने क्रोध के वशीभूत होकर इतने राजाओं का वध क्यों किया और कराया?

कापालीं नृप पापिष्ठां वृत्तिमासाद्य जीवतः।
संत्यज्य राज्यमृद्धं ते लोकोऽयं किं वदिष्यति ॥४॥

हे राजन्! जब आप इस वैभवपूर्ण राज्य को छोड़कर, हाथ में भिक्षापात्र [खपड़ा] लेकर घर-घर भीख माँगने की अत्यन्त नीचवृत्ति का आश्रय लेकर जीवन-यापन करेंगे, तब लोग आपके सम्बन्ध में क्या कहेंगे?

सर्वारम्भान् समुत्सृज्य हतस्वस्तिरकिञ्चनः।
कस्मादाशंससे भैक्ष्यं चर्तुं प्राकृतवत् प्रभो ॥५॥

प्रभो! आप सारे पुरुषार्थों को त्यागकर कल्याण के साधनों से रहित और अकिञ्चन हुए साधारण मनुष्यों के समान भीख माँगने की इच्छा क्यों करते हैं?

अस्मिन् राजकुले जातो जित्वा कृत्स्नां वसुन्धराम्।
धर्मार्थावखिलौ हित्वा वनं मौढ्यात् प्रतिष्ठसे ॥६॥

इस राजकुल में जन्म लेकर और सारे भूमण्डल को जीतकर अब आप सम्पूर्ण धर्म और अर्थ दोनों का परित्याग कर मोह के कारण ही वन में जाने के लिए तैयार हुए हैं।

आकिञ्चन्यं मुनीनां च इति वै नहुषोऽब्रवीत्।
कृत्वा नृशंसं ह्यधने धिगस्त्वधनतामिह ॥७॥

राजा नहुष ने निर्धन-अवस्था में क्रूरतापूर्ण कर्म करके यह दुःखपूर्ण उद्गार प्रकट किया था—"इस संसार में निर्धनता को धिक्कार है! सब-कुछ त्यागकर निर्धन या अकिञ्चन हो जाना यह मुनियों का धर्म है, राजाओं का नहीं।"

अश्वस्तनमृषीणां हि विद्यते वेद तद् भवान्।
यं त्विमं धर्ममित्याहुर्धनादेष प्रवर्तते ॥८॥

आप भी इस तथ्य को भली-भाँति जानते हैं कि दूसरे दिन के लिए संग्रह न करके प्रतिदिन माँगकर खाना यह ऋषियों का ही धर्म है। जो राजाओं का धर्म बताया गया है, वह तो धन से ही सम्पन्न होता है।

धर्मं संहरते तस्य धनं हरति यस्य सः।
ह्रियमाणे धने राजन् वयं कस्य क्षमेमहि ॥९॥

राजन्! जो मनुष्य जिसका धन हरण करता है,

वह उसके धर्म का भी संहार कर देता है । यदि हमारे धन का अपहरण होने लगे तो हम किसी को कैसे क्षमा कर सकते हैं ?

अभिशप्तं प्रपश्यन्ति दरिद्रं पार्श्वतः स्थितम् ।
दारिद्र्यं पातकं लोके न तच्छंसितुमर्हति ॥१०॥

पास खड़े हुए दरिद्र को लोग इस प्रकार देखते हैं, मानो वह कोई पापी या कलङ्कित हो, अतः दरिद्रता इस संसार में एक पातक है । आपको उसकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए ।

पतितः शोच्यते राजन् निर्धनश्चापि शोच्यते ।
विशेषं नाधिगच्छामि पतितस्याधनस्य च ॥११॥

नरेश्वर ! पतित और निर्धन दोनों ही मनुष्य शोचनीय होते हैं, मुझे तो पतित और निर्धन में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता ।

अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः सम्भृतेभ्यस्ततस्ततः ।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः ॥१२॥

जैसे पर्वतों से बहुत-सी नदियाँ निकलती रहती हैं, वैसे ही बढ़े हुए सञ्चित धन से सब प्रकार के शुभ कर्मों का अनुष्ठान होता रहता है ।

अर्थाद् धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप । □
प्राणयात्रापि लोकस्य विना ह्यर्थं न सिद्ध्यति ॥१३॥

हे राजन् ! धन से ही धर्म, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है । धन के बिना तो लोगों का जीवन-निर्वाह भी नहीं हो सकता ।

अर्थेन हि विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥१४॥

धनहीन हुए मन्दबुद्धि मनुष्य की सारी क्रियाएँ वैसे ही छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, जैसे गरमी में छोटी-छोटी नदियाँ सूख जाती हैं ।

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः । □
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥१५॥

जिसके पास धन होता है, उसी के बहुत-से मित्र होते हैं, धनी के ही भाई-बन्धु हैं । संसार में जिसके पास धन है वही पुरुष कहलाता है और धनी ही पण्डित माना जाता है ।

अधनेनार्थकामेन नार्थः शक्यो विधित्सितुम् ।
अर्थैरर्था निबध्यन्ते गजैरिव महागजाः ॥१६॥

निर्धन मनुष्य यदि धन की इच्छा करता है तो उसके लिए धन की व्यवस्था असम्भव हो जाती है [परन्तु धनी का धन बढ़ता रहता है] । जैसे वन में एक हाथी के पीछे बहुत-से हाथी चले आते हैं, उसी प्रकार धन से ही धन बँधा चला आता है ।

धर्मः कामश्च स्वर्गश्च हर्षः क्रोधः श्रुतं दमः । □
अर्थादेतानि सर्वाणि प्रवर्तन्ते नराधिप ॥१७॥

हे राजन् ! धर्म का अनुष्ठान, कामनाओं की पूर्ति, मोक्ष की सिद्धि, हर्ष की वृद्धि, क्रोध की सफलता, शास्त्रों का श्रवण और अध्ययन तथा शत्रुओं का दमन—ये सभी कार्य धन से ही सिद्ध होते हैं ।

धनात्कुलं प्रभवति धनाद् धर्मः प्रवर्धते ।
नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः पुरुषोत्तम ॥१८॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! धन से कुल की प्रतिष्ठा बढ़ती है तथा धन से ही धर्म की वृद्धि होती है । निर्धन के लिए तो न यह लोक सुखदायक है और न परलोक ।

नाधनो धर्मकृत्यानि यथावदनुतिष्ठति ।
धनाद्धि धर्मः स्रवति शैलादभि नदी यथा ॥१९॥

निर्धन मनुष्य धर्मकार्यों का ठीक प्रकार अनुष्ठान नहीं कर सकता । जैसे पर्वत से नदी बहती है, वैसे ही धन से धर्म का स्रोत बहता रहता है ।

यः कृशार्थः कृशगवः कृशभृत्यः कृशातिथिः । □
स वै राजन् कृशो नाम न शरीरकृशः कृशः ॥२०॥

राजन् ! जिसके पास धन की न्यूनता है, जिसके पास गौएँ और नौकर-चाकर भी कम हैं, जिसके यहाँ अतिथियों का आगमन भी कम हो गया है, वस्तुतः वही कृश=दुर्बल कहलाने योग्य है । जो केवल शरीर से कृश है, उसे कृश नहीं कहा जा सकता ।

एतावानेव वेदेषु निश्चयः कविभिः कृतः ।
अध्येतव्या त्रयी नित्यं भवितव्यं विपश्चिता ।
सर्वथा धनमाहार्यं यष्टव्यं चापि यत्नतः ॥२१॥

ऋग्वेदादि चारों वेदों में कवि=क्रान्तदर्शी परमात्मा ने [कविभिः=बहुवचन आदरार्थ है] यही निर्णय दिया है—'प्रतिदिन वेदों का स्वाध्याय करो, विद्वान् बनो, सब प्रकार से धन का संग्रह करके धन लाओ और प्रयत्नपूर्वक यज्ञ का अनुष्ठान करो ।'

स त्वां द्रव्यमयो यज्ञः सम्प्राप्तः सर्वदक्षिणः ।
तं चेन्न यजसे राजन् प्राप्तस्त्वं राज्यकिल्बिषम् ।।२२।।

राजन् ! आपके समक्ष सर्वस्व की दक्षिणा देकर द्रव्यमय यज्ञ के अनुष्ठान का अवसर प्राप्त हुआ है, यदि आप इस समय यज्ञ नहीं करेंगे तो सारे राज्य का पाप आपको लगेगा ।

शाश्वतोऽयं भूतिपथो नास्यान्तमनुशुश्रुम ।
महान् दाशरथः पन्था मा राजन् कुपथं गमः ।।२३।।

यह [यज्ञानुष्ठान] क्षत्रियों के लिए कल्याण का सनातन मार्ग है । इसका कभी अन्त नहीं सुना गया है । राजन् ! यह वह महान् मार्ग है जिसपर दशरथ-नन्दन श्रीराम चले थे । आप भी इसी मार्ग का अनुसरण करें; किसी कुत्सित मार्ग का आश्रय न लें ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ।।२।।

तृतीयोऽध्यायः

युधिष्ठिर का वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने का निश्चय

युधिष्ठिर उवाच

मुहूर्तं तावदेकाग्रो मनः श्रोत्रेऽन्तरात्मनि ।
धारयन्नपि तत् श्रुत्वा रोचते वचनं मम ।।१।।

युधिष्ठिर बोले—अर्जुन ! तुम अपने मन और कानों को अन्तःकरण में स्थापित करके दो घड़ी तक एकाग्र हो जाओ, तब मेरी बात सुनकर तुम उसे पसन्द करोगे ।

साधुगम्यमहं मार्गं न जातु त्वत्कृते पुनः ।
गच्छेयं तद् गमिष्यामि हित्वा ग्राम्यसुखान्युत ।।२।।

मैं ग्राम्य सुखों को छोड़कर श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा गमन किये हुए मार्ग पर तो चल सकता हूँ, परन्तु तुम्हारे आग्रह के कारण राज्य को कदापि स्वीकार नहीं करूँगा ।

हित्वा ग्राम्यसुखाचारं तप्यमानो महत् तपः ।
अरण्ये फलमूलाशी चरिष्यामि मृगैः सह ।।३।।

मैं ग्राम्यसुख=भोगविलासमय जीवन और आचार को लात मारकर वन में रहता हुआ अत्यन्त कठोर तप करूँगा और फलमूल खाकर मृगों के साथ विचरूँगा ।

जुह्वानोऽग्निं यथाकालमुभौ कालावुपस्पृशन् ।
कृशः परिमिताहारश्चर्मचीरजटाधरः ।।४।।

मैं दोनों समय स्नान करके यथासमय अग्निहोत्र करूँगा और परिमित भोजन करके शरीर को सुखा डालूँगा । मृगचर्म तथा वल्कल-वस्त्र धारण करके सिर पर जटा बढ़ा लूँगा ।

अथवैकोऽहमेकाहमेकैकस्मिन् वनस्पतौ ।
चरन् भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डः क्षपयिष्ये कलेवरम् ।।५।।

अथवा मैं मूँड मुँडाकर मननशील संन्यासी हो जाऊँगा और एक-एक दिन एक-एक वृक्ष से भिक्षा माँगकर अपने शरीर को सुखाता रहूँगा ।

पांसुभिः समभिच्छन्नः शून्यागारप्रतिश्रयः ।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ।।६।।

मेरा शरीर धूल से धूसरित होगा तथा सूने घर में मेरा निवास होगा अथवा किसी वृक्ष के नीचे उसकी जड़ में पड़ रहूँगा । प्रिय और अप्रिय का सारा विचार छोड़ दूँगा ।

न शोचन्न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।।७।।

मैं न किसी के लिए शोक करूँगा न हर्ष; निन्दा और स्तुति को समान समझूँगा; आशा और ममता को त्यागकर निर्द्वन्द्व हो जाऊँगा तथा वस्तुओं का संग्रह नहीं करूँगा ।

आत्मारामः प्रसन्नात्मा जडान्धवधिराकृतिः ।
अकुर्वाणः परैः काञ्चित् संविदं जातु कैरपि ।।८।।

मैं आत्मचिन्तन में ही सुख अनुभव करूँगा; मन को सदा प्रसन्न रखूँगा; दूसरे के साथ कभी कोई वार्तालाप नहीं करूँगा; गूँगों, अन्धों, और बहरों के समान न किसी से कुछ कहूँगा; न किसी को देखूँगा और न किसी की सुनूँगा ।

न चाप्यवहसन् कञ्चिन्न कुर्वन् भ्रुकुटीः क्वचित् ।
प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वेन्द्रियसुसंयतः ।।९।।

न तो मैं किसी की हँसी उड़ाऊँगा और न किसी के प्रति भौंहें ही टेढ़ी करूँगा। मेरे मुख पर सदा प्रसन्नता छाई रहेगी और मैं समस्त इन्द्रियों को पूर्णतः वश में रक्खूंगा।

स्वभावस्तु प्रयात्यग्रे प्रभवन्त्यशनान्यपि ।
द्वन्द्वानि च विरुद्धानि तानि सर्वाण्यचिन्तयन् ।।१०।।

स्वभाव आगे-आगे चलता है, भोजन भी स्वयमेव प्रकट हो जाते हैं। सरदी-गरमी आदि विरोधी द्वन्द्व भी आते-जाते रहते हैं, अतः इन सबकी चिन्ता छोड़ दूँगा।

अल्पं वा स्वादु वा भोज्यं पूर्वालाभेन जातुचित् ।
अन्येष्वपि चरँल्लाभमलाभे सप्त पूरयन् ।।११।।

भिक्षा थोड़ी मिले या स्वादहीन मिले, इसका विचार न करके उसे खा लूँगा। यदि कभी एक घर से भिक्षा नहीं मिली तो दूसरे घरों में भी जाऊंगा। मिल गई तो अत्युत्तम, न मिलने पर क्रमशः सात घरों में जाऊँगा, आठवें में कदापि नहीं।

अलाभे सति वा लाभे समदर्शी महातपाः ।
न जिजीविषुवत् किञ्चिन्न मुमूर्षुवदाचरन् ।।१२।।

कुछ मिले या न मिले, दोनों ही अवस्थाओं में मेरी दृष्टि समान होगी। मैं महान् तप में संलग्न रहकर ऐसा कोई आचरण नहीं करूँगा जिसे जीने या मरने के इच्छुक लोग करते हैं।

जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन्न च द्विषन् ।
वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः ।
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः ।।१३।।

न तो मैं जीवन का अभिनन्दन करूँगा और न मृत्यु से द्वेष ही करूँगा। यदि एक मनुष्य मेरी एक भुजा को बसूले से काटता हो और दूसरा दूसरे बाहु को चन्दनमिश्रित जल से सींचता हो तो न पहले का अमङ्गल सोचूंगा और न दूसरे के लिए मङ्गल-कामना करूँगा। मैं उन दोनों के प्रति समान भाव रक्खूंगा।

विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो व्यतीतः सर्ववागुराः ।
न वशे कस्यचित्तिष्ठन् सधर्मा मातरिश्वनः ।।१४।।

सब प्रकार की आसक्तियों से मुक्त रहकर मैं स्नेह के सारे बन्धनों को लाँघ जाऊँगा; किसी के अधीन न रहकर वायु के समान सर्वत्र विचरूँगा।

वीतरागश्चरन्नेवं तुष्टिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम् ।
तृष्णया हि महत्पापमज्ञानादस्मि कारितः ।।१५।।

इस प्रकार वीतराग होकर विचरने से मुझे शाश्वत सन्तोष प्राप्त होगा। अज्ञान में फँसे होने के कारण तृष्णा ने मुझसे बड़े-बड़े पाप कराये हैं।

जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम् ।
अपारमिव चास्वस्थं संसारं त्यजतः सुखम् ।।१६।।

इस संसार में जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, शारीरिक रोग और मानसिक वेदनाओं का आक्रमण होता ही रहता है, जिससे यहाँ का जीवन कभी स्वस्थ नहीं रहता; जो अपार-सा प्रतीत होनेवाले इस संसार को त्याग देता है, उसी को सुख मिलता है।

अद्य प्रज्ञामृतमिदं चिरान्मां प्रत्युपस्थितम् ।
तत्प्राप्य प्रार्थये स्थानमव्ययं शाश्वतं ध्रुवम् ।।१७।।

आज दीर्घकाल के पश्चात् मुझे यह विवेकरूपी अमृत प्राप्त हुआ है। इसे पाकर मैं अक्षय, अविकारी और सनातनपद [मोक्ष] को प्राप्त करना चाहता हूँ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

चतुर्थोऽध्यायः

भीम, नकुल और सहदेव का युधिष्ठिर को समझाना

भीम उवाच

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः ।
अनुवाकहताबुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ।।१।।

भीमसेन बोले—राजन्! जैसे मन्द और अर्थ-ज्ञान से शून्य श्रोत्रिय की बुद्धि केवल मन्त्रपाठ द्वारा नष्ट हो जाती है, वैसे ही आपकी बुद्धि भी तात्त्विक अर्थ को देखने-[जानने]-वाली नहीं है।

आलस्ये कृतचित्तस्य राजधर्मानसूयतः ।
विनाशे धार्तराष्ट्राणां किं फलं भरतर्षभ ।।२।।

भरतश्रेष्ठ! यदि राजधर्म की निन्दा करते हुए

आपने आलस्यपूर्ण जीवन बिताने का ही निश्चय किया था तो धृतराष्ट्र के पुत्रों का वध कराने से क्या फल मिला ?

यदीमां भवतो बुद्धिं विद्याम वयमीदृशीम् ।
शस्त्रं नैव ग्रहीष्यामो न वधिष्याम कञ्चन ॥३॥

यदि हमें पहले पता चल जाता कि आपके विचार इस प्रकार के हैं, तब न तो हम हथियार ही उठाते और न किसी का वध ही करते ।

भैक्ष्यमेवाचरिष्याम शरीरस्या विमोक्षणात् ।
न चेदं दारुणं युद्धमभविष्यन्महीक्षिताम् ॥४॥

हम भी आपकी भाँति यावज्जीवन भीख माँगकर ही निर्वाह कर लेते और राजाओं का भयंकर नरसंहारवाला युद्ध भी न होता ।

यथा हि पुरुषः खात्वा कूपमप्राप्य चोदकम् ।
पङ्कदिग्धो निवर्तेत कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥५॥

जैसे कोई मनुष्य परिश्रमपूर्वक कुँआ खोदे और उसमें पानी न मिलने पर शरीर में कीचड़ लपेटकर वहाँ से निराश लौट आये, वैसे ही हमारा किया-कराया सारा पराक्रम व्यर्थ होना चाहता है ।

यथाऽऽरुह्य महावृक्षमपहृत्य ततो मधु ।
अप्राश्य निधनं गच्छेत् कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥६॥

जैसे कोई मनुष्य विशाल वृक्ष पर चढ़कर वहाँ से मधु तो उतार लाये परन्तु उसे खाने से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो जाए, हमारा यह पुरुषार्थ भी वैसा ही हो रहा है ।

यथा शत्रून् घातयित्वा पुरुषः कुरुनन्दन ।
आत्मानं घातयेत्पश्चात् कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥७॥

हे कुरुकुलभूषण ! जैसे कोई मनुष्य शत्रुओं का संहार करने के पश्चात् अपना भी वध कर डाले, हमारा यह कर्म भी वैसा ही है ।

आपत्काले हि संन्यासः कर्तव्य इति शिष्यते ।
जरयाभिपरीतेन शत्रुभिर्व्यंसितेन वा ॥८॥

शास्त्र का उपदेश यह है कि आपत्तिकाल में अथवा वृद्धावस्था के कारण शरीर के जर्जर हो जाने या शत्रुओं द्वारा धन-सम्पत्ति से वञ्चित कर दिये जाने पर मनुष्य को संन्यास ग्रहण करना चाहिए ।

शक्यं तु मौनमास्थाय बिभ्रताऽऽत्मानमात्मना ।
धर्मच्छद्म समास्थाय च्यवितुं न तु जीवितुम् ॥९॥

धर्म की आड़ लेकर केवल अपना पेट पालते हुए मौनी बाबा बनकर बैठ जाने से कर्तव्य से भ्रष्ट होना ही सम्भव है, जीवन को सार्थक बनाना असम्भव है ।

नेमे मृगाः स्वर्गजितो न वराहा न पक्षिणः ।
अथान्येन प्रकारेण पुण्यमाहुर्न तं जनाः ॥१०॥

सदा ही वन में विचरने पर भी मृग, सूअर और पक्षी स्वर्गलोक के अधिकारी नहीं हो जाते । पुण्य की प्राप्ति तो दूसरे ही मार्ग से होती है। श्रेष्ठ पुरुष केवल वनवास को पुण्यदायक नहीं मानते ।

यदि संन्यासतः सिद्धिं राजा कश्चिदवाप्नुयात् ।
पर्वताश्च द्रुमाश्चैव क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥११॥

यदि कोई राजा केवल संन्यास से ही सिद्धि प्राप्त कर ले, तब तो पर्वत और वृक्ष भी बहुत शीघ्र सिद्धि पा सकते हैं !

एते हि नित्यसंन्यासा दृश्यन्ते निरुपद्रवाः ।
अपरिग्रहवन्तश्च सततं ब्रह्मचारिणः ॥१२॥

क्योंकि ये नित्यसंन्यासी, उपद्रवशून्य, संग्रह-रहित और निरन्तर ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले देखे जाते हैं ।

अवेक्षस्व यथा स्वैः स्वैः कर्मभिर्व्यापृतं जगत् ।
तस्मात् कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः ॥१३॥

देखिए और विचारिए कि सारा संसार किस प्रकार अपने कर्मों में लगा हुआ है । आपको भी क्षत्रियोचित कर्तव्य का ही पालन करना चाहिए । अकर्मण्य पुरुष को कभी कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होती ।

नकुल उवाच

आश्रमांस्तुलया सर्वान् धृतानाहुर्मनीषिणः ।
एकतश्च त्रयो राजन् गृहस्थाश्रम एकतः ॥१४॥
समीक्ष्य तुलया पार्थ कामं स्वर्गं च भारत ।
अयं पन्था महर्षीणामियं लोकविदां गतिः ॥१५॥

नकुल बोले—राजन् ! कहते हैं कि एक समय मनीषी पुरुषों ने चारों आश्रमों को विवेक-तुला पर तोला था । एक ओर तो अन्य तीन आश्रम थे और दूसरी ओर अकेला गृहस्थाश्रम था । हे पार्थ !

भारत ! इस प्रकार विवेक की तुला पर तोलने पर गृहस्थाश्रम ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ, क्योंकि वहाँ भोग और स्वर्ग दोनों सुलभ थे। तब उन्होंने निश्चय किया कि 'यही मुनियों का मार्ग है और यही लोकवेत्ताओं की गति है'।

कुटुम्बमास्थिते त्यागं न पश्यामि नराधिप।
राजसूयाश्वमेधेषु सर्वमेधेषु वा पुनः ॥१६॥

हे नरेश्वर ! जिसपर कुटुम्ब का भार हो उसके लिए त्याग का विधान देखने में नहीं आता, उसे तो राजसूय, अश्वमेध अथवा सर्वमेध यज्ञों में प्रवृत्त होना चाहिए।

राज्ञः प्रमाददोषेण दस्युभिः परिमुष्यताम्।
अशरण्यः प्रजानां यः स राजा कलिरुच्यते ॥१७॥

राजा के प्रमाददोष से लुटेरे प्रबल होकर प्रजा को लूटने लगते हैं, ऐसी दशा में जो राजा प्रजा को शरण नहीं देता, उसे मूर्तिमान् कलियुग कहा जाता है।

अन्तर्बहिश्च यत्किञ्चिन्मनोव्यासङ्गकारकम्।
परित्यज्य भवेत् त्यागी न हित्वा प्रतितिष्ठति ॥१८॥

बाहर और भीतर जो कुछ भी मन को फँसानेवाली वस्तुएँ या विषय हैं, उन सबको छोड़ देने से मनुष्य त्यागी होता है, केवल घर छोड़ देने से त्याग की सिद्धि नहीं होती।

सहदेव उवाच

लब्ध्वापि पृथिवीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम्।
न भुंक्ते यो नृपः सम्यङ् निष्फलं तस्य जीवितम् ॥१९

जो राजा जड़ और चेतन प्राणियों से परिपूर्ण इस पृथिवी को पाकर इसका ठीक प्रकार से उपभोग नहीं करता, उसका जीवन निष्फल है।

अथवा वसतो राजन् वने वन्येन जीवतः।
द्रव्येषु यस्य ममता मृत्योरास्ये स वर्तते ॥२०॥

अथवा हे राजन् ! वन में रहकर वन के कन्द-मूल, फलों से जीवन-निर्वाह करते हुए भी जिस मनुष्य की द्रव्यों में ममता बनी रहती है, वह मौत के ही मुख में है।

द्वयक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥२१॥

दो अक्षरों का 'मम' [यह मेरा है, ऐसा भाव] मृत्यु है और तीन अक्षरों का 'न मम' [यह मेरा नहीं है, ऐसा भाव] अमृत—सनातन ब्रह्म है।

बाह्यान्तरं च भूतानां स्वभावं पश्य भारत।
ये तु पश्यन्ति तद् भूतं मुच्यन्ते ते महाभयात् ॥२२॥

हे भरतनन्दन ! प्राणियों का बाह्य स्वभाव कुछ और होता है तथा आन्तरिक स्वभाव कुछ और। आप उसपर चिन्तन और मनन कीजिए। जो सबके भीतर विराजमान परमात्मा को देखते हैं, वे महान् भय से मुक्त हो जाते हैं।

भवान्पिता भवान्माता भवान्भ्राता भवान् गुरुः।
दुःखप्रलापानार्तस्य तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥२३॥

प्रभो ! आप मेरे पिता, माता, भ्राता और गुरु हैं। मैंने आर्त होकर दुःख में जो-जो प्रलाप किये हैं, उन सबको आप क्षमा करें।

तथ्यं वा यदि वातथ्यं यन्मयैतत् प्रभाषितम्।
तद् विद्धि पृथिवीपाल भक्त्या भरतसत्तम ॥२४॥

हे भरतवंशभूषण भूपाल ! मैंने जो कुछ भी कहा है वह यथार्थ हो या अयथार्थ हो, आपके प्रति भक्ति होने के कारण ही वे बातें मेरे मुख से निकली हैं, यह आप भली-भाँति समझ लें।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

द्रौपदी का युधिष्ठिर को राज्यशासन के लिए प्रेरित करना

द्रौपद्युवाच

इमे ते भ्रातरः पार्थ शुष्यन्ते स्तोकका इव।
वावाश्यमानास्तिष्ठन्ति न चैनानभिनन्दसे ॥१॥

द्रौपदी ने कहा—कुन्तीनन्दन ! आपके ये भाई आपका संकल्प सुनकर सूख गये हैं और पपीहों के समान आपसे राज्य-शासन करने की टेर लगा रहे हैं, फिर भी आप इनका अभिनन्दन क्यों नहीं कर रहे हैं?

कथं द्वैतवने राजन् पूर्वमुक्त्वा तथा वचः ।
वयं दुर्योधनं हत्वा मृधे भोक्ष्याम मेदिनीम् ।।२।।
यजतां विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः ।
वनवासकृतं दुःखं भविष्यति सुखाय वः ।।३।।
इत्येतानेवमुक्त्वा त्वं स्वयं धर्मभृतां वर ।
कथमद्य पुनर्वीर विनिहंसि मनांसि नः ।।४।।

हे राजन् ! द्वैतवन में सभी भाइयों को धैर्य देते हुए आपने कहा था—'हम युद्ध में दुर्योधन को मारकर इस पृथिवी का उपभोग करेंगे । उस समय पर्याप्त दक्षिणावाले नाना प्रकार के समृद्धिशाली यज्ञों के अनुष्ठान से तुम लोगों का यह वनवास-जनित दुःख सुखरूप में परिवर्तित हो जाएगा ।' धर्मात्माओं में श्रेष्ठ ! वीर महाराज ! पहले द्वैतवन में इन भाइयों से स्वयं ही ऐसी बातें कहकर आज आप हम लोगों का दिल क्यों तोड़ रहे हैं ?

न क्लीबो वसुधां भुङ्क्ते न क्लीबो धनमश्नुते । □
न क्लीबस्य गृहे पुत्रा मत्स्याः पङ्क इवासते ।।५।।

जो कायर और नपुंसक है, वह पृथिवी का उपभोग नहीं कर सकता । कायर धन का उपार्जन और भोग भी नहीं कर सकता । जैसे केवल कीचड़ में मछलियाँ नहीं होतीं, वैसे ही नपुंसक के घर में पुत्र नहीं होते ।

नादण्डः क्षत्रियो भाति नादण्डो भूतिमश्नुते ।
नादण्डस्य प्रजा राज्ञः सुखमेधन्ति भारत ।।६।।

दण्ड देने में अशक्त क्षत्रिय की शोभा नहीं होती, दण्ड न देनेवाला राजा ऐश्वर्य का उपभोग नहीं कर सकता । हे भारत ! दण्डहीन राजा की प्रजाओं को कभी सुख नहीं मिलता ।

मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः ।
ब्राह्मणस्यैव धर्मः स्यान्न राज्ञो राजसत्तम ।।७।।

हे नृपश्रेष्ठ ! सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव, दान देना और लेना, अध्ययन और तप—यह ब्राह्मण का ही धर्म है, राजा का नहीं ।

असतां प्रतिषेधश्च सतां च परिपालनम् ।
एष राज्ञां परो धर्मः समरे चापलायनम् ।।८।।

राजाओं का तो यही परम धर्म है कि वे दुष्टों को दण्ड दें और सज्जनों का पालन करें तथा युद्ध में कभी पीठ न दिखाएँ ।

यस्मिन् क्षमा च क्रोधश्च दानादाने भयाभये । □
निग्रहानुग्रहौ चोभौ स वै धर्मविदुच्यते ।।९।।

जिसमें समयानुसार क्षमा और क्रोध दोनों प्रकट हों, जो दान देता और कर लेता है, जिसमें शत्रु को भय दिखाने और शरणागत को अभय देने की शक्ति है, जो दुष्टों को दण्ड देता और दीनों पर अनुग्रह करता है, वही धर्मज्ञ कहलाता है ।

न श्रुतेन न दानेन न सान्त्वेन न चेज्यया ।
त्वयेयं पृथिवी लब्धा न संकोचेन चाप्युत ।।१०।।

आपको यह पृथिवी न तो शास्त्रों के श्रवण से मिली है, न दान में प्राप्त हुई है, न किसी को समझाने-बुझाने से, न यज्ञ करने से और न भीख माँगने से उपलब्ध हुई है ।

यत्तद् बलममित्राणां तथा वीर्यसमुद्यतम् ।
हस्त्यश्वरथसम्पन्नं त्रिभिरङ्गैरनुत्तमम् ।।११।।
रक्षितं द्रोणकर्णाभ्यामश्वत्थाम्ना कृपेण च ।
तत्त्वया निहतं वीर तस्माद् भुंक्ष्व वसुन्धराम् ।।१२।।

शत्रुओं की पराक्रमसम्पन्न, हाथी, घोड़े और रथ—इन तीनों अङ्गों से युक्त तथा द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य से रक्षित श्रेष्ठ सेना का वध करके यह पृथिवी आपके अधिकार में आई है, अतः वीर ! आप इसका उपभोग करें ।

अनृतं नाब्रवीच्छ्वश्रूः सर्वज्ञा सर्वदर्शिनी ।
युधिष्ठिरस्त्वां पाञ्चालि सुखे धास्यत्यनुत्तमे ।।१३।।
हत्वा राजसहस्राणि बहून्याशुपराक्रमः ।
तद्व्यर्थं सम्प्रपश्यामि मोहात्तव जनाधिप ।।१४।।

महाराज ! मेरी सास कभी झूठ नहीं बोलीं । वे सब-कुछ जानने और देखनेवाली हैं । उन्होंने मुझसे कहा था—'पाञ्चालराजकुमारी ! युधिष्ठिर शीघ्र ही पराक्रम दिखानेवाले हैं । वे सहस्रों राजाओं का संहार करके तुम्हें सुख के सिंहासन पर प्रतिष्ठित करेंगे'—परन्तु नरेश्वर ! आज आपका यह मोह देखकर मुझे अपनी सास की कही हुई बात भी असत्य होती दिखाई देती है ।

प्रशाधि पृथिवीं देवीं प्रजा धर्मेण पालयन् ।
सपर्वतवनद्वीपां मा राजन् विमना भव ।।१५।।

राजन्! आप धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते हुए पर्वत, वन और द्वीपों सहित दिव्यगुणोंवाली पृथिवी का शासन कीजिए। इस प्रकार उदासीन मत होइए।

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्युध्यस्वारीन् प्रयच्छ च।
धनानि भोगान् वासांसि द्विजातिभ्यो नृपोत्तम ॥१६॥

हे नृपश्रेष्ठ! आप नाना प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान और शत्रुओं के साथ युद्ध कीजिए, ब्राह्मणों को धन, भोगसामग्री और वस्त्रों का दान कीजिए।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

अर्जुन द्वारा राजदण्ड की महत्ता का प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत्।
अनुमान्य महाबाहुं ज्येष्ठं भ्रातरमच्युतम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! द्रुपदपुत्री के इन वचनों को सुनकर अपनी मर्यादा से कभी च्युत न होनेवाले बड़े भाई महाबाहु युधिष्ठिर का सम्मान करते हुए अर्जुन ने—उनसे पुनः इस प्रकार कहा—

अर्जुन उवाच

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥२॥

अर्जुन बोले—हे राजन्! दण्ड समस्त प्रजाओं पर शासन करता है, दण्ड ही उनकी सब ओर से रक्षा करता है, सबके सो जाने पर भी दण्ड जागता रहता है, अतः विद्वानों ने दण्ड को राजा का धर्म माना है।

दण्डः संरक्षते धर्मं तथैवार्थं जनाधिप।
कामं संरक्षते दण्डस्त्रिवर्गो दण्ड उच्यते ॥३॥

हे नरेश्वर! दण्ड ही धर्म और अर्थ की रक्षा करता है, वही काम का भी रक्षक है, अतः दण्ड त्रिवर्गरूप कहा जाता है।

दण्डेन रक्ष्यते धान्यं धनं दण्डेन रक्ष्यते।
एवं विद्वानुपाधत्स्व स्वभावं पश्य लौकिकम् ॥४॥

दण्ड से धान्य की रक्षा होती है, उसी से धन की भी रक्षा होती है, ऐसा जानकर आप भी दण्ड धारण कीजिए और संसार के व्यवहार पर दृष्टिपात कीजिए।

राजदण्डभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि ॥५॥
परस्परभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम् ॥६॥

कितने ही पापी राजदण्ड के भय से पाप नहीं करते, कुछ लोग यमदण्ड के भय से, कोई परलोक के भय से और कितने ही पापी परस्पर एक-दूसरे के भय से पाप में प्रवृत्त नहीं होते। संसार की ऐसी ही स्वाभाविक स्थिति है, अतः सब-कुछ दण्ड में ही प्रतिष्ठित है।

दण्डस्यैव भयादेके न निघ्नन्ति परस्परम्।
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डो न पालयेत् ॥७॥

बहुत-से लोग दण्ड के भय से ही एक-दूसरे का वध नहीं करते हैं। यदि दण्ड रक्षा न करे तो सब लोग अन्धकार में डूब जाएँ।

यस्माददान्तान् दमयत्यशिष्टान् दण्डयत्यपि।
दमनाद् दण्डनाच्चैव तस्माद् दण्डं विदुर्बुधाः ॥८॥

यह उद्दण्ड मनुष्यों का दमन करता है और दुष्टों को दण्ड देता है, अतः दण्ड और दमन के कारण विद्वान् लोग इसे 'दण्ड' कहते हैं।

वाचा दण्डो ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां भुजार्पणम्।
दानदण्डाः स्मृता वैश्या निर्दण्डः शूद्र उच्यते ॥९॥

अपराध करने पर वाणी से अपमानित करना ही ब्राह्मण का दण्ड है, क्षत्रिय को भोजन-वस्त्रमात्र के लिए वेतन देकर उससे कार्य लेना ही उसका दण्ड है, वैश्यों से अर्थदण्ड [जुरमाने] के रूप में धन ग्रहण करना उनका दण्ड है, परन्तु शूद्र दण्डरहित कहा गया है। सेवा लेने के अतिरिक्त उसके लिए और कोई दण्ड नहीं है।

असम्मोहाय मर्त्यानामर्थसंरक्षणाय च।
मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशाम्पते ॥१०॥

हे नरेश्वर ! मनुष्यों को प्रमाद से बचाने और उनके धन की सुरक्षा के लिए लोक में जो मर्यादा स्थापित की गई है, उसी का नाम दण्ड है।

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति सूद्यतः।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ते नेता चेत्साधु पश्यति ॥११॥

जहाँ काला [मार के कारण दण्डनीय की आँखों के समक्ष अँधेरा छा जाता है] और लाल आँखोंवाला [दण्ड देनेवाले की आँखें क्रोध से लाल रहती हैं] दण्ड शासन के लिए सदा सावधान होकर विचरता है और नेता या शासक अपराधों पर तीक्ष्ण दृष्टि रखता है, वहाँ प्रजा प्रमाद नहीं करती।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकाः।
दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिताः ॥१२॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये सभी मनुष्य दण्ड के भय से ही अपने-अपने मार्ग [आश्रमधर्म-पालन] में स्थिर रहते हैं।

नाभीतो यजते राजन् नाभीतो दातुमिच्छति।
नाभीतः पुरुषः कश्चित् समये स्थातुमिच्छति ॥१३॥

राजन् ! बिना भय कोई यज्ञ नहीं करता, बिना भय के कोई दान नहीं करना चाहता और दण्ड का भय न हो तो कोई मनुष्य मर्यादा या प्रतिज्ञा-पालन पर भी स्थिर नहीं रहना चाहता।

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥१४॥

मछलीमारों के समान दूसरों के मर्मस्थानों का उच्छेद और दुष्कर कर्म किये बिना तथा बहुसंख्यक प्राणियों को मारे बिना कोई बहुत बड़ी सम्पत्ति प्राप्त नहीं करता।

नाघ्नतः कीर्तिरस्तीह न वित्तं न पुनः प्रजाः।
इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत ॥१५॥

जो युद्ध में दूसरों का वध नहीं करता, उसे इस संसार में न यश मिलता है, न धन प्राप्त होता है और न प्रजा ही मिलती है। इन्द्र ने वृत्रासुर का वध करके ही महेन्द्र की पदवी पायी थी।

न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कञ्चिदहिंसया।
सत्त्वैः सत्त्वा हि जीवन्ति दुर्बलैर्बलवत्तराः ॥१६॥

मैं संसार में किसी भी ऐसे मनुष्य को नहीं देखता जो अहिंसा से जीवन-निर्वाह करता हो, क्योंकि प्रबल जीव दुर्बल जीवों द्वारा ही जीवन-यापन करते हैं।

नकुलो मूषकानत्ति बिडालो नकुलं तथा।
बिडालमत्ति श्वा राजन् श्वानं व्यालमृगस्तथा ॥१७॥

राजन् ! नेवला चूहे को खा जाता है और नेवले को बिलाव, बिलाव को कुत्ता और कुत्ते को चीता अपना ग्रास बना लेता है।

विधानं दैवविहितं तत्र विद्वान् न मुह्यति।
यथा सृष्टोऽसि राजेन्द्र तथा भवितुमर्हसि ॥१८॥

हे राजेन्द्र ! यह सब दैव का विधान है, इसमें विद्वान् पुरुष को मोह नहीं होता। आपको विधाता ने जैसा बनाया है आपको अपनी जाति और कुल के अनुसार वैसा ही होना चाहिए।

विनीतक्रोधहर्षा हि मन्दा वनमुपाश्रिताः।
विना वधं न कुर्वन्ति तापसाः प्राणयापनम् ॥१९॥

क्रोध और हर्ष से शून्य मन्दबुद्धि क्षत्रिय ही वन में जाकर तपस्वी बनते हैं, परन्तु बिना हिंसा किये वे भी निर्वाह नहीं कर सकते।

उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु च।
न च कश्चिन्न तान्हन्ति किमन्यत्प्राणयापनात् ॥२०॥

जल में बहुत-से जीव हैं, पृथिवी पर तथा वृक्षों के फलों में भी बहुत-से कीड़े होते हैं। संसार में कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है जो इनमें से किसी को कभी न मारता हो। यह सब जीवन-निर्वाह के सिवा और क्या है ?

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः ॥२१॥

कितने ही ऐसे सूक्ष्म योनि के जीव हैं जो अनुमान से ही जाने जाते हैं। मनुष्यों के पलक झपकने से ही जिनके कन्धे टूट जाते हैं [ऐसे जीवों की हिंसा से कोई कहाँ तक बच सकता है] ?

दण्डनीत्यां प्रणीतायां सर्वे सिद्ध्यन्त्युपक्रमाः।
कौन्तेय सर्वभूतानां तत्र मे नास्ति संशयः ॥२२॥

हे पार्थ ! दण्डनीति का ठीक-ठीक प्रयोग होने

पर समस्त प्राणियों के सभी कार्य ठीक प्रकार सिद्ध होते हैं, इसमें मुझे संशय नहीं है।

दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमाः प्रजाः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥२३॥

यदि संसार में दण्ड न रहे तो सारी प्रजा नष्ट हो जाए और जैसे जल में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं; वैसे ही बलवान् निर्बलों को अपना ग्रास बना लें।

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्जनः।
दण्डस्य हि भयाद्भीतो भोगायैव प्रवर्तते ॥२४॥

सारा संसार दण्ड से विवश होकर ही सुमार्ग में स्थित रहता है, क्योंकि स्वभावतः सर्वथा निष्पाप मनुष्य मिलना कठिन है। दण्ड के भय से डरा हुआ मनुष्य ही मर्यादा-पालन में प्रवृत्त होता है।

चातुर्वर्ण्यप्रमोदाय सुनीतिनयनाय च।
दण्डो विधात्रा विहितो धर्मार्थौ भुवि रक्षितुम् ॥२५॥

विधाता ने दण्ड का विधान इस प्रयोजन से किया है कि ब्राह्मणादि चारों वर्णों के लोग आनन्द से रहें, सबमें अच्छी नीति का बर्ताव हो तथा भूमण्डल पर धर्म और अर्थ की रक्षा होती रहे।

यज देहि प्रजां रक्ष धर्मं समनुपालय।
अमित्राञ्जहि कौन्तेय मित्राणि परिपालय ॥२६॥

हे कुन्तीनन्दन ! यज्ञ करो, दान दो, प्रजाओं की रक्षा करो और निरन्तर धर्म का पालन करो। आप शत्रुओं का वध और मित्रों का पालन करो।

मा च ते निघ्नतः शत्रून् मन्युर्भवतु पार्थिव।
न तत्र किल्बिषं किञ्चित् कर्तुर्भवति भारत ॥२७॥

हे राजन् ! शत्रुओं का वध करते समय आपके मन में दीनता नहीं आनी चाहिए। भारत ! शत्रुओं का वध करने से कर्ता को कोई पाप नहीं लगता।

आततायी हि यो हन्यादाततायिनमागतम्।
न तेन भ्रूणहा स स्यान्मन्युस्तं मन्युमार्छति ॥२८॥

जो हथियार लेकर मारने आया हो, उस आततायी को जो स्वयं भी आततायी बनकर मार डाले, वह भ्रूणहत्या का भागी नहीं होता, क्योंकि मारने के लिए आये हुए उस मनुष्य का क्रोध ही उसका वध करनेवाले के मन में भी क्रोध उत्पन्न कर देता है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

भीम का युधिष्ठिर को राज्यशासन और यज्ञ करने के लिए प्रेरित करना, युधिष्ठिर द्वारा मुनिवृत्ति और ज्ञानियों की प्रशंसा

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः।
धैर्यमास्थाय तेजस्वी ज्येष्ठं भ्रातरमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अर्जुन की बात सुनकर अत्यन्त अमर्षशील तेजस्वी भीमसेन ने धैर्य धारण करके अपने बड़े भाई से कहा—

भीम उवाच

राजन् विदितधर्मोऽसि न तेऽस्त्यविदितं क्वचित्।
उपशिक्षाम ते वृत्तं सदैव न च शक्नुमः ॥२॥

भीमसेन बोले—राजन् ! आप सब धर्मों के ज्ञाता हैं, आपसे कुछ भी अज्ञात नहीं है। हम लोग सदा ही आपसे सदाचार की शिक्षा पाते हैं, हम आपको शिक्षा दे नहीं सकते।

न वक्ष्यामि न वक्ष्यामीत्येवं मे मनसि स्थितम्।
अति दुःखात्तु वक्ष्यामि तन्निबोध जनाधिप ॥३॥

हे नरेश्वर ! मैंने कई बार मन में निश्चय किया है कि 'अब नहीं बोलूंगा, नहीं बोलूंगा', परन्तु अतिकष्ट होने के कारण बोलना ही पड़ता है। आप मेरी बात सुनें।

दृष्ट्वा सभागतां कृष्णामेकवस्त्रां रजस्वलाम्।
मिषतां पाण्डुपुत्राणां न तस्य स्मर्तुमर्हसि ॥४॥

कौरव-सभा में पाण्डुपुत्रों के देखते-देखते जो एक वस्त्रधारिणी रजस्वला द्रौपदी को लाया गया

था, उसे आपने अपनी आँखों से देखा था। क्या आपको उस घटना का स्मरण नहीं है?

प्रव्राजनं च नगरादजिनैश्च विवासनम्।
महारण्यनिवासश्च न तस्य स्मर्तुमर्हसि ॥५॥

आप नगर से निकाले गये, आपको मृगचर्म पहनाकर वनवास दे दिया गया और भीषण वनों में आपको रहना पड़ा, क्या इन सब बातों का आपको स्मरण नहीं है?

जटासुरात् परिक्लेशं चित्रसेनेन चाहवम्।
सैन्धवाच्च परिक्लेशं कथं विस्मृतवानसि ॥६॥

जटासुर से जो कष्ट प्राप्त हुआ, चित्रसेन गन्धर्व के साथ जो युद्ध करना पड़ा और सिन्धुराज जयद्रथ के कारण जो अपमानजनक दुःख भोगना पड़ा—ये सारी बातें आप कैसे भूल गये?

पुनरज्ञातचर्यायां कीचकेन पदा वधम्।
द्रौपद्या राजपुत्र्याश्च कथं विस्मृतवानसि ॥७॥

फिर अज्ञातवास के समय कीचक ने जो आपके सामने ही राजकुमारी द्रौपदी को लात मारी थी, उस घटना को आप कैसे भुला बैठे?

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिंदम।
मनसैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥८॥

शत्रुसंहारक नरेश! द्रोणाचार्य और भीष्म के साथ जो आपका युद्ध हुआ था, वैसा ही दूसरा युद्ध आपके सामने उपस्थित है, इस समय आपको केवल अपने मन के साथ युद्ध करना है।

यत्र नास्ति शरैः कार्यं न मित्रैर्न च बन्धुभिः।
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥९॥

इस संग्राम में न तो बाणों की आवश्यकता है, न मित्रों और बन्धुओं की सहायता की। इस समय जो युद्ध आपके समक्ष उपस्थित है, वह आपको अकेले ही लड़ना है।

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे प्राणान् यदि विमोक्ष्यसे।
अन्यं देहं समास्थाय ततस्तैरपि योत्स्यसे ॥१०॥

यदि इस युद्ध में विजय पाये बिना आप प्राणों को त्याग देंगे तो दूसरा शरीर धारण करके पुनः उन्हीं शत्रुओं के साथ आपको युद्ध करना होगा।

तस्मादद्यैव गन्तव्यं युध्यस्व भरतर्षभ।
परमव्यक्तरूपस्य व्यक्तं त्यक्त्वा स्वकर्मभिः ॥११॥

भरतभूषण! प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले साकार शत्रु को छोड़कर अव्यक्त=सूक्ष्म शत्रु मन के साथ युद्ध करने के लिए आपको अभी चल देना चाहिए। विचार आदि बौद्धिक क्रियाओं द्वारा आप उसके साथ अवश्य युद्ध करें।

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे कामवस्थां गमिष्यसि।
एतज्जित्वा महाराज कृतकृत्यो भविष्यसि ॥१२॥

महाराज! यदि इस युद्ध में आपने अपने मन को नहीं जीता तो पता नहीं आप किस अवस्था को प्राप्त होंगे और मन को जीत लिया तो कृतकृत्य हो जाएँगे।

एतां बुद्धिं विनिश्चित्य भूतानामागतिं गतिम्।
पितृपैतामहे वृत्ते शाधि राज्यं यथोचितम् ॥१३॥

प्राणियों के जन्म और मृत्यु को देखते हुए इस विचारधारा को बुद्धि में निश्चित करके आप पिता-पितामहों के आचरण में प्रतिष्ठित होकर यथोचित रूप से राज्य का संचालन कीजिए।

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता।
वयं ते किंकराः पार्थ वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥१४॥

पार्थ! आप विधिपूर्वक दक्षिणा देते हुए अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करें। हम सभी भाई और पराक्रमी श्रीकृष्ण आपके आज्ञापालक हैं।

युधिष्ठिर उवाच

असन्तोषः प्रमादश्च मदो रागोऽप्रशान्तता।
बलं मोहोऽभिमानश्चाप्युद्वेगश्चैव सर्वशः ॥१५॥
एभिः पाप्मभिराविष्टो राज्यं त्वमभिकांक्षसे।
निरामिषो विनिर्मुक्तः प्रशान्तः सुसुखी भव ॥१६॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन! असन्तोष, प्रमाद, मद, राग, अशान्ति, बल, मोह, अभिमान और उद्वेग—ये सभी पाप तुम्हारे भीतर घुस गये हैं, अतः तुम्हें राज्य की इच्छा होती है। भाई! सकाम कर्म और आमिष[1]=बन्धन से रहित होकर सर्वथा मुक्त, शान्त एवं सुखी हो जाओ।

---

१. **आमिषं बन्धनं लोके**: इसी अध्याय का २१वाँ श्लोक देखें।

य इमामखिलां भूमिं शिष्यादेको महीपतिः ।
तस्याप्युदरमेकं वै किमिदं त्वं प्रशंससि ।।१७।।

जो सम्राट् इस सम्पूर्ण वसुन्धरा का अकेला ही शासन करता है, उसके पास भी पेट तो एक ही होता है, फिर तुम क्यों इस राज्य की प्रशंसा कर रहे हो ?

यथेद्धः प्रज्वलत्यग्निरसमिद्धः प्रशाम्यति ।
अल्पाहारतया त्वग्निं शमयौदर्यमुत्थितम् ।।१८।।

जैसे अग्नि में ईंधन डालने से वह प्रज्वलित होती है और ईंधन न डालने पर अपने-आप बुझ जाती है, वैसे ही तुम भी अपना भोजन कम करके इस प्रदीप्त जठराग्नि को शान्त करो ।

मानुषान् कामभोगाँस्त्वमैश्वर्यं च प्रशंससि ।
अभोगिनोऽबलाश्चैव यान्ति स्थानमुत्तमम् ।।१९।।

भीम ! तुम मनुष्यों के कामभोग और ऐश्वर्य की बहुत प्रशंसा करते हो परन्तु जो भोगरहित हैं तथा तप करते-करते निर्बल हो गये हैं, वे ऋषि-मुनि ही सर्वोत्तम पद को प्राप्त करते हैं ।

तपसा ब्रह्मचर्येण स्वाध्यायेन महर्षयः ।
विमुच्य देहाँस्ते यान्ति मृत्योरविषयं गताः ।।२०।।

महर्षिगण तप, ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय के बल से देहत्याग के पश्चात् ऐसे लोक में पहुँच जाते हैं, जहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं है ।

आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथामिषम् ।
ताभ्यां विमुक्तः पाशाभ्यां पदमाप्नोति तत् परम् ।।२१

इस संसार में ममता और आसक्ति के बन्धन को आमिष कहा गया है। सकाम कर्म भी आमिष कहलाता है । इन दोनों आमिषरूप प.शों से जो मुक्त हो गया है, वही परमपद को प्राप्त होता है ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ।।७।।

अष्टमोऽध्यायः

मुनिवर देवस्थान का युधिष्ठिर को यज्ञानुष्ठान के लिए प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन्वाक्यान्तरे वक्ता देवस्थानो महातपाः ।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरम् ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! युधिष्ठिर की यह बात समाप्त होने पर प्रवचन-पटु महातपस्वी देवस्थान ने युक्तियुक्त वाणी में राजा युधिष्ठिर से कहा—

देवस्थान उवाच

अजातशत्रो धर्मेण कृत्स्ना ते वसुधा जिता ।
तां जित्वा च वृथा राजन् न परित्यक्तुमर्हसि ।।२।।

देवस्थान ने कहा—राजन् ! आपने धर्म के अनुसार इस सारी पृथिवी को जीता है । इसे जीतकर व्यर्थ ही त्याग देना आपके लिए उचित नहीं है ।

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येव प्रतिष्ठिता ।
तां क्रमेण महाबाहो यथावज्जय पार्थिव ।।३।।

महाबाहु पृथिवीनाथ ! ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चारों आश्रम ब्रह्म को प्राप्त कराने की चार सीढ़ियाँ हैं जो वेद में ही प्रतिष्ठित हैं । इन्हें क्रमशः यथोचितरूप से पार करो ।

तस्मात्पार्थ महायज्ञैर्यजस्व बहुदक्षिणैः ।
स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथापरे ।।४।।

कुन्तीकुमार ! अब आप बहुत-सी दक्षिणावाले बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान करो। स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ करना तो ऋषियों का कर्तव्य है ।

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा
यज्ञोद्दिष्टः पुरुषश्च रक्षिता ।
सर्वं ततो यज्ञ एवोपयोज्यं
धनं ततोऽनन्तर एव कामः ।।५।।

परमात्मा ने यज्ञ के लिए धन की सृष्टि की है और यज्ञ के उद्देश्य से ही उसकी रक्षा करनेवाले पुरुष को उत्पन्न किया है। अतः यज्ञ में ही सम्पूर्ण धन का विनियोग कर देना चाहिए, फिर शीघ्र ही [यज्ञ से] यजमान की सम्पूर्ण कामनाओं की सिद्धि हो जाती है ।

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
इन्द्रेण समये पृष्टो यदुवाच बृहस्पतिः ॥६॥

हे राजन् ! इस विषय में लोग उस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं जो किसी समय इन्द्र के पूछने पर बृहस्पति ने कहा था—

सन्तोषो वैः स्वर्गतमः सन्तोषः परमं सुखम् । □
तुष्टेर्न किञ्चित् परतः सा सम्यक् प्रतितिष्ठति ॥७॥

"राजन् ! सन्तोष स्वर्ग-सुख से भी बढ़कर है। सन्तोष ही सबसे बड़ा सुख है। यदि मन में सन्तोष भली-भाँति प्रतिष्ठित हो जाए तो उससे बढ़कर संसार में कुछ भी नहीं है।

यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
तदात्मज्योतिरचिरात् स्वात्मन्येव प्रसीदति ॥८॥

जैसे कछुआ अपने अङ्गों को सब ओर से सिकोड़ लेता है, वैसे ही जब मनुष्य अपनी सब कामनाओं को सब ओर से समेट लेता है, उस समय तत्काल ही ज्योतिःस्वरूप आत्मा अन्तःकरण में प्रकाशित हो उठता है।

न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
कामद्वेषौ च जयति तदात्मानं च पश्यति ॥९॥

जब मनुष्य किसी से भय नहीं मानता और जब उससे भी अन्य प्राणी भय अनुभव नहीं करते तब वह काम=राग और द्वेष को जीत लेता है और अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है।

यदासौ सर्वभूतानां न द्रुह्यति न काङ्क्षति ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्मसम्पद्यते तदा ॥१०॥

जब मनुष्य मन, वचन और कर्म से समस्त प्राणियों में से किसी के साथ न तो द्रोह करता है और न किसी वस्तु की अभिलाषा रखता है, तब उसे परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दया दमः । □
प्रजननं स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम् ।
एवं धर्मं प्रधानेष्टं त्वमेतत् प्रतिपालय ॥११॥

किसी के प्रति वैरभाव न रखना, सत्य बोलना, बलिवैश्वदेवयज्ञ द्वारा समस्त प्राणियों को यथायोग्य उनका भाग समर्पित करना, सबके प्रति दयाशील होना, मन को वश में रखना, अपनी पत्नी से ही सन्तान उत्पन्न करना तथा मृदुता, लज्जा और सरलता आदि गुणों को अपनाना—ये श्रेष्ठ एवं अभीष्ट धर्म हैं। कुन्तीनन्दन ! तुम भी इनका पालन करो।

यो हि राज्ये स्थितः शश्वद् वशी तुल्यप्रियाप्रियः ।
क्षत्रियो यज्ञशिष्टाशी राजा शास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥१२॥
धर्मवर्त्मनि संस्थाप्य प्रजा वर्तेत धर्मतः ।
तस्यायं च परश्चैव लोकः स्यात्सफलोदयः ॥१३॥

जो क्षत्रिय नरेश राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हो अपनी समस्त इन्द्रियों को सदा अपने वश में रखता है, प्रिय और अप्रिय को समान दृष्टि से देखता है, यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाता है, शास्त्रों के यथार्थ रहस्य को जानता है, सारी प्रजा को धर्ममार्ग में स्थापित करके स्वयं भी धर्मानुकूल आचरण करता है—उसका यह लोक और परलोक दोनों सफल हो जाते हैं।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

अर्जुन और व्यास का युधिष्ठिर को समझाना और युधिष्ठिर के द्वारा धन के त्याग की महत्ता का प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन्नेवान्तरे वाक्यं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत् ।
निर्विण्णमनसं ज्येष्ठमिदं भ्रातरमच्युतम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी बीच में [देवस्थान की वक्तृता समाप्त होते ही] अर्जुन ने खिन्नचित्त होकर बैठे हुए तथा धर्म से च्युत न होनेवाले अपने बड़े भाई युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा—

अर्जुन उवाच

क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ प्राप्य राज्यं सुदुर्लभम् ।
जित्वा चारीन् नरश्रेष्ठ तप्यते किं भृशं भवान् ॥२॥

अर्जुन बोले—धर्मज्ञ नरश्रेष्ठ ! आप क्षत्रिय धर्म के अनुसार इस परमदुर्लभ राज्य को पाकर और शत्रुओं को जीतकर भी इतने अधिक सन्तप्त क्यों हो रहे हैं ?

क्षत्रियाणां महाराज संग्रामे निधनं मतम् ।
विशिष्टं बहुभिर्यज्ञैः क्षत्रधर्ममनुस्मर ।।३।।

महाराज ! आप क्षत्रियधर्म का स्मरण कीजिए। क्षत्रियों के लिए युद्धभूमि में मर जाना तो बहुत-से यज्ञों को करने से भी बढ़कर माना गया है ।

ब्राह्मणानां तपस्त्यागः प्रेत्य धर्मविधिः स्मृतः ।
क्षत्रियाणां च निधनं संग्रामे विहितं प्रभो ।।४।।

राजन् ! तप और त्याग ब्राह्मणों के धर्म हैं, जो मृत्यु के पश्चात् परलोक में धर्मजनित फल देनेवाले हैं। क्षत्रियों के लिए रणक्षेत्र में प्राप्त हुई मृत्यु ही पारलौकिक पुण्यफल प्रदान करनेवाली है ।

क्षात्रधर्मो महारौद्रः शस्त्रनित्य इति स्मृतः ।
वधश्च भरतश्रेष्ठ काले शस्त्रेण संयुगे ।।५।।

भारतभूषण ! क्षत्रियों का धर्म बड़ा भयङ्कर है, उसमें सदा शस्त्र से ही काम पड़ता है और समय आने पर रण में ही शस्त्र द्वारा उनका वध भी हो जाता है [अतः उनके लिए शोक नहीं करना चाहिए] ।

न त्यागो न पुनर्याच्ञा न तपो मनुजेश्वर ।
क्षत्रियस्य विधीयन्ते न परस्योपजीवनम् ।।६।।

प्रजेश्वर ! क्षत्रियों के लिए त्याग, भीख माँगना, तप और दूसरे के धन से जीवन-यापन करने का विधान नहीं है ।

स भवान् सर्वधर्मज्ञो धर्मात्मा भरतर्षभ ।
राजा मनीषी निपुणो लोके दृष्टपरावरः ।।७।।

भरतश्रेष्ठ ! आप तो सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता, धर्मात्मा, राजा, मनीषी, कर्मकुशल और संसार में आगे-पीछे की सभी बातों पर दृष्टि रखनेवाले हैं [संसार के सारे उतार-चढ़ाव जानते हैं] ।

त्यक्त्वा सन्तापजं शोकं दंशितो भव कर्मणि ।
क्षत्रियस्य विशेषेण हृदयं वज्रसन्निभम् ।।८।।

आप शोक-सन्ताप का परित्याग कर क्षत्रियोचित कर्म करने के लिए उद्यत हो जाइए। क्षत्रिय का हृदय तो विशेषरूप से वज्र के समान कठोर होता है ।

जित्वारीन् क्षत्रधर्मेण प्राप्य राज्यमकण्टकम् ।
विजितात्मा मनुष्येन्द्र यज्ञदानपरो भव ।।९।।

नरेन्द्र ! आपने क्षत्रिय धर्म के अनुसार शत्रुओं को जीतकर निष्कण्टक राज्य प्राप्त किया है । अब आप अपने मन को वश में करके यज्ञ और दान में तत्पर हो जाइए ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयो गुडाकेशेन पाण्डवः ।
नोवाच किञ्चित्कौरव्यस्ततो द्वैपायनोऽब्रवीत् ।।१०।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! निद्राविजयी अर्जुन के ऐसा कहने पर जब कुरुकुलनन्दन पाण्डुपुत्र कुन्तीकुमार युधिष्ठिर कुछ न बोले, तब व्यासजी ने कहा—

व्यास उवाच

बीभत्सोर्वचनं सौम्य सत्यमेतद् युधिष्ठिर ।
शास्त्रदृष्टः परो धर्मः स्थितो गार्हस्थ्यमाश्रितः ।।११।।

व्यासजी ने कहा—सौम्य युधिष्ठिर ! अर्जुन ने जो बात कही है, वह यथार्थ है । शास्त्रोक्त परमधर्म गृहस्थाश्रम के ही आधार पर टिका हुआ है ।

स्वधर्मं चर धर्मज्ञ यथाशास्त्रं यथाविधि ।
न हि गार्हस्थ्यमुत्सृज्य तवारण्यं विधीयते ।।१२।।

धर्मज्ञ युधिष्ठिर ! तुम शास्त्र के वचनानुसार विधिपूर्वक अपने धर्म का ही आचरण करो। तुम्हारे लिए गृहस्थ को त्यागकर वन में जाने का विधान नहीं है ।

गृहस्थं हि सदा देवाः पितरोऽतिथयस्तथा ।
भृत्याश्चैवोपजीवन्ति तान् भरस्व महीपते ।।१३।।

भूपाल ! देवता, पितर, अतिथि और भृत्यगण सदा गृहस्थ का ही आश्रय लेकर जीवनयापन करते हैं, अतः तुम उनका भरण-पोषण करो ।

वयांसि पशवश्चैव भूतानि च जनाधिप ।
गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्मात् श्रेष्ठो गृहाश्रमी ।।१४।।

नरेश्वर ! पशु-पक्षी तथा अन्य प्राणी भी गृहस्थाश्रमियों द्वारा ही पालित-पोषित होते हैं, अतः गृहस्थ-आश्रम सबसे श्रेष्ठ है ।

**तपो यज्ञस्तथा विद्या भैक्ष्यमिन्द्रियसंयमः ।
ध्यानमेकान्तशीलत्वं तुष्टिर्ज्ञानं च शक्तितः ।
ब्राह्मणानां महाराज चेष्टाः संसिद्धिकारिकाः ॥१५॥**

महाराज ! तप, यज्ञ, विद्या, भिक्षा, इन्द्रिय-संयम, ध्यान, एकान्तवास का स्वभाव, सन्तोष और यथाशक्ति शास्त्रज्ञान—ये समस्त गुण तथा चेष्टाएँ ब्राह्मणों के लिए सिद्धि देनेवाली हैं ।

**यज्ञो विद्या समुत्थानमसन्तोषः श्रियं प्रति ।
दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम् ॥१६॥
वेदज्ञानं तथा कृत्स्नं तपः सुचरितं तथा ।
द्रविणोपार्जनं भूरि पात्रे च प्रतिपादनम् ॥१७॥
एतानि राज्ञां कर्माणि सुकृतानि विशाम्पते ।
इमं लोकममुं चैव साधयन्तीति नः श्रुतम् ॥१८॥**

हे नरेश्वर ! यज्ञ, विद्याभ्यास, शत्रुओं पर आक्रमण, राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति से कभी सन्तुष्ट न होना, दुष्टों को दण्ड देने के लिए उद्यत रहना, क्षत्रियोचित तेज से युक्त रहना, प्रजा की सब प्रकार से रक्षा करना, समस्त वेदों का ज्ञान प्राप्त करना, तप करना, सदाचार का पालन करना, विपुल धन-उपार्जन करना और सत्पात्र को दान देना—ये सब राजाओं के कर्म हैं, जो ठीक ढंग से किये जाने पर उनके इहलोक और परलोक दोनों को सफल बनाते हैं—ऐसा हमने सुना है ।

**एषां ज्यायस्तु कौन्तेय दण्डधारणमुच्यते ।
बलं हि क्षत्रिये नित्यं बले दण्डः समाहितः ॥१९॥**

कुन्तीकुमार ! इन [यज्ञ, विद्याभ्यास आदि] में भी दण्ड धारण करना राजा का प्रधान धर्म कहा गया है, क्योंकि क्षत्रिय में बल की नित्य स्थिति है और बल में ही दण्ड प्रतिष्ठित होता है ।

**भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥२०॥**

जैसे साँप बिल में रहनेवाले चूहे आदि को निगल जाता है, वैसे ही विरोध न करनेवाले राजा और प्रचारार्थ प्रवास न करनेवाले ब्राह्मण—इन दो व्यक्तियों को भूमि निगल जाती है ।

**अरण्ये वसतामासन् भ्रातॄणां ये मनोरथाः ।
तानिमे भरतश्रेष्ठ प्राप्नुवन्तु महारथाः ॥२१॥**

भरतश्रेष्ठ ! वन में रहते समय तुम्हारे भाइयों के मन में जो-जो मनोरथ उत्पन्न हुए थे, उन्हें ये महारथी वीर प्राप्त करें ।

**अरण्ये दुःखवसतिरनुभूता तपस्विभिः ।
दुःखस्यान्ते नरव्याघ्र सुखान्यनुभवन्तु वै ॥२२॥**

तुम्हारे इन भाइयों ने वनवास के समय बड़े दुःख उठाये हैं । नरव्याघ्र ! अब ये उस दुःख के पश्चात् सुख का अनुभव करें ।

**धर्मार्थौ च कामं च भ्रातृभिः सह भारत ।
अनुभूय ततः पश्चात् प्रस्थातासि विशाम्पते ॥२३॥**

भारत ! नरेश्वर ! इस समय भाइयों के साथ तुम धर्म, अर्थ और काम का उपभोग करो, तत्पश्चात् वन में चले जाना ।

**अर्थिनां च पितॄणां च देवतानां च भारत ।
आनृण्यं गच्छ कौन्तेय तत्सर्वं च करिष्यसि ॥२४॥**

भरतनन्दन ! कुन्तीकुमार ! पहले याचकों, पितरों [माता-पिता, दादा-दादी आदि] और देवताओं [जड़ और चेतन] के ऋण से उऋण हो लो, फिर वह सब [वन में जाकर तप आदि] करना ।

**सर्वमेधाश्वमेधाभ्यां यजस्व कुरुनन्दन ।
ततः पश्चान्महाराज गमिष्यसि परां गतिम् ॥२५॥**

कुरुनन्दन ! महाराज ! पहले तुम सर्वमेध और अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करो । उनसे तुम्हें परमगति की प्राप्ति होगी ।

**भ्रातॄंश्च सर्वान् क्रतुभिः संयोज्य बहुदक्षिणैः ।
सम्प्राप्तः कीर्तिमतुलां पाण्डुपुत्र भविष्यसि ॥२६॥**

पाण्डुपुत्र ! अपने सभी भाइयों को बहुत-सी दक्षिणावाले यज्ञों में लगाकर तुम अनुपम कीर्ति प्राप्त करोगे ।

युधिष्ठिर उवाच

**न पार्थिवमिदं राज्यं न भोगाश्च पृथग्विधाः ।
प्रीणयन्ति मनो मेऽद्य शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥२७॥**

युधिष्ठिर ने कहा—मुने ! यह भूतल का राज्य और ये विभिन्न प्रकार के भोग आज मेरे मन को प्रसन्न नहीं कर रहे हैं; [अपितु यह बन्धुओं के वध कराने का] शोक मुझे चारों ओर से घेरे हुए है ।

श्रुत्वा वीरविहीनानामपुत्राणां च योषिताम् ।
परिदेवयमानानां शान्तिं नोपलभे मुने ।।२८।।

मुनिवर ! पति और पुत्रों से हीन हुई युवतियों का करुण क्रन्दन सुनकर मुझे शान्ति नहीं मिल रही है ।

व्यास उवाच

घ्नन्ति चान्यान् नरा राजँस्तानप्यन्ये तथा नराः ।
संज्ञैषा लौकिकी भूप न हिनस्ति न हन्यते ।।२९।।

व्यासजी बोले—राजन् ! मनुष्य दूसरों को मारते हैं, फिर उन्हें भी अन्य लोग मार डालते हैं । भूपाल ! यह मरना-मारना लौकिक संज्ञामात्र है, वस्तुतः न कोई मारता है और न कोई मारा ही जाता है ।

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते ।
अहो दुःखमिति ध्यायन् दुःखस्यापचितिं चरेत् ।।३०।।

धन के नष्ट होने पर अथवा स्त्री, पुत्र या पिता की मृत्यु होने पर मनुष्य 'हाय ! मुझपर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा'—इस प्रकार चिन्ता करते हुए उस दुःख की निवृत्ति का उपाय करता है ।

स किं शोचसि मूढः सञ्शोच्यान्किमनुशोचसि ।
पश्य दुःखेषु दुःखानि भयेषु च भयान्यपि ।।३१।।

तुम मूढ़ बनकर शोक क्यों कर रहे हो ? उन मरे हुए शोचनीय जनों का बारम्बार स्मरण ही क्यों करते हो ? देखो, शोक करने से दुःख में दुःख और भय में भय की वृद्धि होती है ।

आत्मापि चायं न मम सर्वापि पृथिवी मम ।
यथा मम तथान्येषामिति पश्यन्न मुह्यति ।।३२।।

यह शरीर भी अपना नहीं है तथा सम्पूर्ण पृथिवी भी अपनी नहीं है । यह जैसी मेरी है, वैसी ही दूसरों की भी है, ऐसा सोचनेवाला कभी मोह में नहीं फँसता ।

शोकस्थानसहस्राणि हर्षस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ।।३३।।

शोक के सहस्रों स्थान हैं और हर्ष के भी सैकड़ों अवसर हैं । वे प्रतिदिन मूर्ख मनुष्य पर ही अपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान् पर नहीं ।

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ।।३४।।

सुख के पश्चात् दुःख और दुःख के पश्चात् सुख क्रमशः आते रहते हैं । कोई भी न तो सदा दुःख पाता है और न निरन्तर सुख ही प्राप्त करता है ।

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम् ।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ।।३५।।

अतः सुख हो या दुःख, प्रिय हो या अप्रिय, जब जो कुछ आ पड़े, उसे प्रसन्नतापूर्वक सहन करे । अपने हृदय से उसके समक्ष पराजय स्वीकार न करे, हिम्मत न हारे ।

ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः ।
त एव सुखमेधन्ते मध्यमः क्लिश्यते जनः ।।३६।।

संसार में जो अत्यन्त मूर्ख हैं अथवा जो बुद्धि से परे पहुँच गये हैं [जिन्हें आत्मज्ञान हो गया है] वे ही सुखी होते हैं, मध्यम कोटि के लोग दुःख उठाते हैं ।

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च ।
पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति
तस्माद् धीरो नैव हृष्येन्न शोचेत् ।।३७।।

सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये समय-समय पर क्रमशः सभी को प्राप्त होते हैं, अतः धीर पुरुष इनके लिए हर्ष और शोक न करे ।

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन्नेव प्रकरणे धनञ्जयमुदारधीः ।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरः ।।३८।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी प्रसङ्ग में उदारबुद्धि महाराज युधिष्ठिर ने अर्जुन से ये युक्ति-युक्त वचन कहने आरम्भ किये—

युधिष्ठिर उवाच

यदेतन्मन्यसे पार्थ न ज्यायोऽस्ति धनादिति ।
न स्वर्गो न सुखं नार्थो निर्धनस्येति तन्मृषा ।।३९।।

युधिष्ठिर बोले—पार्थ ! तुम जो यह समझते हो कि धन से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है तथा निर्धन को स्वर्ग, सुख और धन की प्राप्ति नहीं हो सकती—यह ठीक नहीं है ।

स्वाध्याययज्ञसंसिद्धा दृश्यन्ते बहवो जनाः ।
तपोरताश्च मुनयो येषां लोकाः सनातनाः ।।४०।।

बहुत-से मनुष्य केवल स्वाध्याय करके सिद्धि को प्राप्त हुए देखे जाते हैं। तप में लगे हुए अनेक मुनि ऐसे हो गये हैं, जिन्होंने सनातन लोकों की प्राप्ति की है।

ये वित्तमभिपद्यन्ते सम्यक्त्वं तेषु दुर्लभम्।
द्रुह्यतः प्रैति तत् प्राहुः प्रतिकूलं यथातथम् ॥४१॥

जो धन के पीछे पड़े हुए हैं, उनमें साधुता दुर्लभ है, क्योंकि ऐसा कहा जाता है जो लोग दूसरों से द्रोह करते हैं, उन्हीं को धन प्राप्त होता है और वह मिला हुआ धन प्रकारान्तर से प्रतिकूल ही होता है।

अधनः कस्य किं वाच्यो विमुक्तः सर्वशः सुखी।
देवस्वमुपगृह्यैव धनेन न सुखी भवेत् ॥४२॥

निर्धन को कोई क्या कह सकता है? वह सब प्रकार के भय से मुक्त होकर सुखी रहता है। देवताओं की सम्पत्ति लेकर भी कोई धन से सुखी नहीं रह सकता।

विज्ञा बुद्ध्यन्ति पुरुषा न हि तत्कस्यचिद्ध्रुवम्।
श्रद्दधानस्ततो लोको दद्याच्चैव यजेत च ॥४३

बुद्धिमान् लोग यह समझते हैं कि धन कभी किसी एक के पास स्थिर होकर नहीं रहता, अतः श्रद्धालु मनुष्य को चाहिए कि वह उस धन का दान करे और उसे यज्ञ में लगाये।

लब्धस्य त्यागमित्याहुर्न भोगं न च संचयम्।
तस्य किं संचयेनार्थः कार्ये ज्यायसि तिष्ठति ॥४४॥

प्राप्त किये हुए धन का दान कर देना चाहिए, उसे भोग-विलास में लगाना अथवा उसका संग्रह करना उचित नहीं है। जिसके समक्ष यज्ञ-अनुष्ठान आदि का महान् कार्य उपस्थित हो, उसे धन को संग्रह करके रखने की क्या आवश्यकता है?

लब्धानामपि वित्तानां बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥४५॥

प्राप्त किये हुए धन का उपयोग करने में दो प्रकार की भूलें हुआ करती हैं, जिन्हें ध्यान में रखना चाहिए। पहली भूल है—अपात्र को धन देना और दूसरी सुपात्र को धन न देना।

ग्रामो धान्यैर्यथा शून्यो यथा कूपश्च निर्जलः।
यथा हुतमनग्नौ च तथैव स्यान्निराकृतौ ॥४६॥

जिस प्रकार अन्न-हीन ग्राम, जल से रहित कुंआ और राख में दी हुई आहुति व्यर्थ होती है, उसी प्रकार वेदादि शास्त्रों के अध्ययन से शून्य ब्राह्मण को दिया हुआ दान व्यर्थ होता है।

न दद्याद् यशसे दानं न भयान्नोपकारिणे।□
न नृत्यगीतशीलेषु हासकेषु च धार्मिकः ॥४७॥

धर्मात्मा पुरुष को चाहिए कि वह यश-प्राप्ति के लिए, भय के कारण अथवा अपना उपकार करनेवाले को, नाचने-गानेवाले और हँसी-मजाक करनेवाले [भाँड आदि] को दान न दे अर्थात् इन्हें दिया गया धन दान नहीं कहलाता।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

व्यास का शोकवश शरीर-त्याग के लिए उद्यत हुए युधिष्ठिर को समझाना

युधिष्ठिर उवाच

न विमुञ्चति मां शोको ज्ञातिघातिनमातुरम्।
राज्यकामुकमत्युग्रं स्ववंशोच्छेदकारिणम् ॥१॥

युधिष्ठिर ने व्यासजी से कहा—मुनिवर! मैं जाति-भाइयों का घातक, राज्य का लोभी, अत्यन्त क्रूर और अपने कुल का नाश करानेवाला निकला—यही सब सोचकर मुझे शोक नहीं छोड़ रहा है और मैं अत्यन्त दुःखी हो रहा हूँ।

यस्याङ्के क्रीडमानेन मया वै परिवर्तितम्।
स मया राज्यलुब्धेन गाङ्गेयो युधि पातितः ॥२॥

जिनकी गोद में खेलता हुआ मैं लोटपोट हो जाता था, उन्हीं पितामह गङ्गानन्दन भीष्मजी को मैंने राज्य के लोभ से मरवा डाला।

आचार्यश्च महेष्वासः सर्वपार्थिवपूजितः।
अभिगम्य रणे मिथ्या पापेनोक्तः सुतं प्रति ॥३॥

समस्त राजाओं से पूजित, महाधनुर्धर द्रोणाचार्य

के पास जाकर मुझ पापी ने उनके पुत्र के सम्बन्ध में झूठी बात कही।

अभिमन्युं च यद् बालं जातं सिंहमिवाद्रिषु।
प्रावेशयमहं लुब्धो वाहिनीं द्रोणपालिताम् ॥४॥
तदाप्रभृति बीभत्सुं न शक्नोमि निरीक्षितुम्।
कृष्णं च पुण्डरीकाक्षं किल्बिषी भ्रूणहा यथा ॥५॥

मैंने राज्य के लोभ में फँसकर जब से पर्वतों पर उत्पन्न हुए सिंह के समान पराक्रमी अभिमन्यु को द्रोणाचार्य द्वारा सुरक्षित कौरव सेना में झोंक दिया, तभी से भ्रूणहत्या करनेवाले पापी के समान मैं अर्जुन और कमलनेत्र श्रीकृष्ण की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख पाता हूँ।

सोऽहमागस्करः पापः पृथिवीनाशकारकः।
आसीन एवमेवेदं शोषयिष्ये कलेवरम् ॥६॥

मैं पापी, अपराधी और सारे भूमण्डल का विनाश करनेवाला हूँ, अतः अब मैं यहीं इसी रूप में बैठा हुआ अपने शरीर को सुखा डालूंगा।

प्रायोपविष्टं जानीध्वमथ मां गुरुघातिनम्।
जातिष्वन्यास्वपि यथा न भवेयं कुलान्तकृत् ॥७॥

आप लोग मुझ गुरुघाती को आमरण अनशन के लिए बैठा हुआ समझें, जिससे दूसरे जन्म में मैं पुनः अपने कुल का विनाश करनेवाला न होऊँ।

न च भोक्ष्ये न पानीयमुपयोक्ष्ये कथञ्चन।
शोषयिष्ये प्रियान् प्राणानिहस्थोऽहं तपोधनाः ॥८॥

हे तपोधनो! अब मैं किसी प्रकार न तो अन्न खाऊँगा और न पानी ही पीऊँगा। यहीं बैठा रहकर मैं अपने प्राणों को सुखा दूंगा।

यथेष्टं गम्यतां काममनुजाने प्रसाद्य वः।
सर्वे मामनुजानीत त्यक्ष्यामीदं कलेवरम् ॥९॥

मैं आप लोगों को प्रसन्न करके अपनी ओर से चले जाने की अनुमति देता हूँ। जिसकी जहाँ इच्छा हो वह अपनी रुचि के अनुसार वहाँ चला जाए। आप सब लोग भी मुझे आज्ञा दें कि मैं अनशन के द्वारा इस शरीर को त्याग दूं।

वैशम्पायन उवाच

तमेवंवादिनं पार्थं बन्धुशोकेन विह्वलम्।
मैवमित्यब्रवीद् व्यासो निगृह्य मुनिसत्तमः ॥१०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय! अपने बन्धुजनों के शोक से व्याकुल होकर युधिष्ठिर को ऐसी बातें करते देख मुनिवर व्यास ने उन्हें रोककर कहा—'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।'

व्यास उवाच

अतिवेलं महाराज न शोकं कर्तुमर्हसि।
पुनरुक्तं तु वक्ष्यामि दिष्टमेतदिति प्रभो ॥११॥

व्यासजी बोले—महाराज! तुम बहुत शोक करना बन्द करो! प्रभो! मैं पहले कही हुई बात ही पुनः कह रहा हूँ कि यह सब प्रारब्ध=भाग्य का ही खेल है।

संयोगा विप्रयोगान्ता जातानां प्राणिनां ध्रुवम्।
बुद्बुदा इव तोयेषु भवन्ति न भवन्ति च ॥१२॥

जैसे पानी में बुलबुले उठते हैं और मिट जाते हैं, इसी प्रकार संसार में उत्पन्न हुए प्राणियों के जो आपस में संयोग होते हैं उनका अन्त निश्चय ही वियोग में होता है।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥१३॥

समस्त संचयों का अन्त विनाश है, सारी उन्नतियों का अन्त पतन है, संयोगों का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त मरण है।

जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव।
बलिनां दुर्बलानां च लघूनां महतामपि ॥१४॥

वृद्धावस्था और मृत्यु—ये दोनों दो भेड़ियों के समान हैं जो बलवान् और दुर्बल, छोटे और बड़े सभी प्राणियों को खा जाते हैं।

न कश्चिज्जात्वतिक्रामेज्जरामृत्यू हि मानवः।
अपि सागरपर्यन्तां विजित्येमां वसुन्धराम् ॥१५॥

कोई भी मनुष्य बुढ़ापे और मृत्यु को कभी लाँघ नहीं सकता, भले ही वह समुद्रपर्यन्त सारी पृथिवी को जीत चुका हो।

सुखं वा यदि वा दुःखं भूतानां पर्युपस्थितम्।
प्राप्तव्यमवशैः सर्वं परिहारो न विद्यते ॥१६॥

प्राणियों को जो सुख या दुःख प्राप्त होता है, वह सब उन्हें विवश होकर सहना ही पड़ता है, क्योंकि उसके टालने का कोई उपाय नहीं है।

अप्रियैः सह संयोगो विप्रयोगश्च सुप्रियैः ।
अर्थानर्थौ सुखं दुःखं विधानमनुवर्तते ॥१७॥

अप्रिय वस्तुओं के साथ संयोग और अतिप्रिय वस्तुओं का वियोग, अर्थ-अनर्थ, सुख तथा दुःख—इन सबकी प्राप्ति प्रारब्ध के विधान के अनुसार ही है।

आसनं शयनं यानमुत्थानं पानभोजनम् ।
नियतं सर्वभूतानां कालेनैव भवत्युत ॥१८॥

सभी प्राणियों के लिए बैठना, सोना, चलना-फिरना, उठना और खाना-पीना—ये सभी कार्य समय के अनुसार ही नियत रूप से होते रहते हैं ।

वैद्याश्चाप्यातुराः सन्ति बलवन्तश्च दुर्बलाः ।
श्रीमन्तश्चापरे षण्ढा विचित्रः कालपर्ययः ॥१९॥

कभी-कभी वैद्य भी रोगी, बलवान् भी दुर्बल और श्रीमान् भी असमर्थ हो जाते हैं—समय का उलट-फेर अत्यन्त अनोखा है ।

कुले जन्म तथा वीर्यमारोग्यं रूपमेव च ।
सौभाग्यमुपभोगश्च भवितव्येन लभ्यते ॥२०॥

उत्तम कुल में जन्म, बल-पराक्रम, आरोग्य, रूप-सम्पदा, सौभाग्य और उपभोग की सामग्री—ये सब प्रारब्ध के अनुसार ही प्राप्त होते हैं ।

सन्ति पुत्राः सुबहवो दरिद्राणामनिच्छताम् ।
नास्ति पुत्रः समृद्धानां विचित्रं विधिचेष्टितम् ॥२१॥

जो दरिद्र हैं और जिन्हें सन्तान की इच्छा नहीं होती उनके तो बहुत-से पुत्र हो जाते हैं और जो धनवान् हैं, उनमें से किसी-किसी को एक पुत्र भी प्राप्त नहीं होता, विधाता की लीला बड़ी विचित्र है ।

अकिञ्चनाश्च दृश्यन्ते पुरुषाश्चिरजीविनः ।
समृद्धे च कुले जाता विनश्यन्ति पतङ्गवत् ॥२२॥

जिनके पास कुछ नहीं है, ऐसे दरिद्र भी दीर्घ-जीवी देखे जाते हैं, दूसरी ओर धनवान् कुल में उत्पन्न हुए मनुष्य भी कीट-पतङ्गों के समान नष्ट हो जाते हैं ।

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।
काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः ॥२३॥

संसार में प्रायः धनवानों में खाने और पचाने की शक्ति ही नहीं होती और दरिद्र लोग लक्कड़ों को भी हजम कर [पचा] जाते हैं ।

मृगयाक्षाः स्त्रियः पानं प्रसङ्गा निन्दिता बुधैः ।
दृश्यन्ते पुरुषाश्चात्र सम्प्रसक्ता बहुश्रुताः ॥२४॥

विद्वान् लोग शिकार और जुआ खेलने, स्त्रियों के संसर्ग में रहने और मद्यपान [शराब पीने] के प्रसङ्गों की बड़ी निन्दा करते हैं, परन्तु शास्त्रों के श्रवण और अध्ययन से सम्पन्न पुरुष भी पाप-कर्मों में लिप्त देखे जाते हैं ।

इति कालेन सर्वार्थानीप्सितानीप्सितानिह ।
स्पृशन्ति सर्वभूतानि निमित्तं नोपलभ्यते ॥२५॥

इस प्रकार काल के प्रभाव से समस्त प्राणी इष्ट और अनिष्ट पदार्थों को प्राप्त करते रहते हैं । इस इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति का अदृष्ट के अतिरिक्त और कोई कारण दिखाई नहीं देता ।

शीतमुष्णं तथा वर्षं कालेन परिवर्तते ।
एवमेव मनुष्याणां सुख-दुःखे नरर्षभ ॥२६॥

सर्दी, गर्मी और वर्षा का चक्र भी काल से ही चलता है । नरश्रेष्ठ ! इसी प्रकार मनुष्यों को सुख-दुःख भी काल से ही प्राप्त होते हैं ।

नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः ।
त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया चापि मानवम् ॥२७॥

वृद्धावस्था और मृत्यु के मुख में पड़े हुए मनुष्य को औषध, मन्त्र, होम और जप—कुछ भी नहीं बचा सकते ।

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः ॥२८॥

जैसे समुद्र में एक लक्कड़ एक ओर से, दूसरा दूसरी ओर से आकर, दोनों कुछ देर के लिए मिल जाते हैं और मिलकर पुनः बिछुड़ जाते हैं, इसी प्रकार यहाँ प्राणियों के संयोग-वियोग होते रहते हैं ।

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥२९॥

हमने संसार में अनेक बार जन्म लेकर सहस्रों माता-पिताओं तथा सैकड़ों स्त्री-पुत्रों के सुख का अनुभव किया है, परन्तु अब वे किसके हैं अथवा हम उनमें से किसके हैं ?

नैवास्य कश्चिद् भविता नायं भवति कस्यचित् ।
पथि सङ्गतमेवेदं दारबन्धुसुहृज्जनैः ॥३०॥

इस जीव का न तो कोई सम्बन्धी होगा और न यह किसी का सम्बन्धी है। जैसे मार्ग में चलनेवालों को दूसरे पथिकों का साथ मिल जाता है, वैसे ही यहाँ भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र और सुहृदों का समागम होता है।

क्वासे क्व च गमिष्यामि को न्वहं किमिहास्थितः।
कस्मात् किमनुशोचेयमित्येवं स्थापयेन्मनः ॥३१॥

विवेकी पुरुष को अपने मन में चिन्तन करना चाहिए कि "मैं कहाँ हूँ, कहाँ जाऊँगा, मैं कौन हूँ, मैं यहाँ किस लिए आया हूँ और किस लिए किसका शोक करूँ"।

सुखं दुःखान्तमालस्यं दाक्ष्यं दुःखं सुखोदयम्।
भूतिः श्रीर्ह्रीर्धृतिः कीर्तिर्दक्षे वसति नालसे ॥३२॥

आलस्य सुखरूप प्रतीत होता है परन्तु उसका अन्त दुःख है और कार्यदक्षता दुःखरूप प्रतीत होती है परन्तु वह सुख-उदय का कारण है तथा ऐश्वर्य, लक्ष्मी, लज्जा, धृति और कीर्ति—ये कार्यदक्ष पुरुष में ही निवास करती हैं, आलसी में नहीं।

नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः।
न च प्रजालमर्थेभ्यो न सुखेभ्योऽप्यलं धनम् ॥३३॥

न तो सुहृद् सुख देने में समर्थ हैं और न शत्रु दुःख देने में। इसी प्रकार न तो प्रजा धन दे सकती है और न धन सुख दे सकता है।

यथा सृष्टोऽसि कौन्तेय धात्रा कर्मसु तत्कुरु।
अत एव हि सिद्धिस्ते नेशस्त्वं कर्मणां नृप ॥३४॥

हे पार्थ! विधाता ने जैसे कर्मों के लिए तुम्हारी सृष्टि की है, तुम उन्हीं का अनुष्ठान करो, उन्हीं से तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी। नरेश्वर! तुम कर्म-फल के स्वामी या नियन्ता नहीं हो।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण द्वारा नारद-सृञ्जय संवाद को संक्षेप में सुनाकर युधिष्ठिर के शोक-निवरण का प्रयत्न

वैशम्पायन उवाच

अव्याहरति राजेन्द्रे धर्मपुत्रे युधिष्ठिरे।
गुडाकेशो हृषीकेशमभ्यभाषत पाण्डवः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सबके समझाने-बुझाने पर भी जब धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिर मौन ही रह गये, तब पाण्डुपुत्र निद्राविजयी अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—

अर्जुन उवाच

ज्ञातिशोकाभिसन्तप्तो धर्मपुत्रः परन्तपः।
एष शोकार्णवे मग्नस्तमाश्वासय माधव ॥२॥

अर्जुन ने कहा—हे माधव! शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले ये धर्मपुत्र युधिष्ठिर स्वयं भाई-बन्धुओं के शोक से सन्तप्त हो शोक के सागर में डूब गये हैं, आप इन्हें धीरज बँधाइए।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गोविन्दो विजयेन महात्मना।
सम्प्रगृह्य भुजं शौरिरुवाचाभिविनोदयन् ॥३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन्! महामना अर्जुन के ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर की भुजा को अपने हाथ में लेकर उनका मनोरञ्जन करते हुए इस प्रकार बोलना आरम्भ किया—

वासुदेव उवाच

मा कृथाः पुरुषव्याघ्र शोकं त्वं गात्रशोषणम्।
न हि ते सुलभा भूयो ये हतास्मिन् रणाजिरे ॥४॥

श्रीकृष्ण बोले—पुरुषसिंह! तुम शोक न करो। शोक तो शरीर को सुखा देता है। इस युद्ध में जो वीर मारे गये हैं उनका पुनः मिल पाना सम्भव नहीं है।

स्वप्नलब्धा यथा लाभा वितथाः प्रतिबोधने।
एवं ते क्षत्रिया राजन् ये व्यतीता महारणे ॥५॥

राजन्! जैसे स्वप्न में मिले हुए धन जागने पर मिथ्या हो जाते हैं, उसी प्रकार जो क्षत्रिय संग्राम में मारे गये अब उनका दर्शन दुर्लभ है।

सर्वे त्यक्त्वात्मनः प्राणान्युद्ध्वा वीरा महामृधे।
शस्त्रपूता दिवं प्राप्ता न ताञ्छोचितुमर्हसि ॥६॥

वे सभी वीर महायुद्ध में जूझते हुए अपने प्राणों का परित्याग करके अस्त्र-शस्त्रों से पवित्र हो स्वर्ग-लोक में गये हैं, अतः तुम्हें उनके लिए शोक नहीं करना चाहिए।

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
सृञ्जयं पुत्रशोकार्तं यथायं नारदोऽब्रवीत् ॥७॥

इस विषय में एक प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है, जैसाकि इन देवर्षि नारदजी ने पुत्र-शोक से पीड़ित सृञ्जय से कहा था—

सुखदुःखैरहं त्वं च प्रजाः सर्वाश्च सृञ्जय।
अविमुक्ता मरिष्यामस्तत्र का परिदेवना ॥८॥

"सृञ्जय! मैं, तुम और ये समस्त प्रजा वर्ग के लोग कोई भी सुख तथा दुःख के बन्धन से मुक्त नहीं हुए हैं और एक दिन हम सब लोग मरेंगे भी, फिर इसके लिए शोक क्यों करते हो?

महाभाग्यं पुरा राज्ञां कीर्त्यमानं मया शृणु।
गच्छावधानं नृपते ततो दुःखं प्रहास्यसि ॥९॥

"हे प्रजेश्वर! मैं पूर्ववर्ती राजाओं के महान् सौभाग्य का वर्णन करता हूँ। सुनो और सावधान हो जाओ। इसे सुनकर तुम्हारा दुःख दूर हो जाएगा।

आविक्षितं मरुत्तं च मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
यः स्पर्धयायजच्छक्रं देवराजं पुरन्दरम् ॥१०॥

"हे सृञ्जय! हमने सुना है कि अविक्षित् के पुत्र राजा मरुत्त भी मर गये जिन्होंने देवराज इन्द्र से स्पर्धा रखने के कारण अपने यज्ञ-वैभव द्वारा उन्हें पराजित कर दिया था।

यस्मिन् प्रशासति महीं नृपतौ राजसत्तम।
अकृष्टपच्या पृथिवी विबभौ चैत्यमालिनी ॥११॥

"नृपश्रेष्ठ! जिस समय राजा मरुत्त इस पृथिवी पर शासन करते थे, उस समय यह बिना जोते-बोये ही अन्न उत्पन्न करती थी और सम्पूर्ण भूमण्डल में भव्य भवन-माला-सी दृष्टिगोचर होती थी, जिससे इस पृथिवी की बड़ी शोभा होती थी।

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१२॥

"सृञ्जय! धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—इन चारों बातों में राजा मरुत्त तुमसे बढ़-चढ़कर थे और तुम्हारे पुत्र से भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये तब औरों की तो बात ही क्या है, अतः तुम अपने पुत्र के लिए शोक मत करो।

शिबिमौशीनरं चैव मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
य इमां पृथिवीं सर्वां चर्मवत्समवेष्टयत् ॥१३॥

"सृञ्जय! जिन्होंने इस सम्पूर्ण पृथिवी को चमड़े की भाँति लपेट लिया था अर्थात् सर्वथा अपने अधीन कर लिया था, वे उशीनर-पुत्र राजा शिबि भी काल का ग्रास बन गये, यह हमने सुना है।

महता रथघोषेण पृथिवीमनुनादयन्।
एकछत्रां महीं चक्रे जैत्रेणैकरथेन यः ॥१४॥

"वे [शिबि] अपने रथ की गम्भीर ध्वनि से पृथिवी को प्रतिध्वनित करते हुए एकमात्र विजयशील रथ के द्वारा इस भूमण्डल का एकछत्र शासन करते थे।

भरतं चैव दौष्यन्तिं मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
शाकुन्तलं महात्मानं भूरिद्रविणसंचयम् ॥१५॥

"सृञ्जय! दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र महा-धनी और महामनस्वी भरत भी मृत्यु के अधीन हो गये, यह हमने सुना है।

अश्वमेधसहस्रेण[1] राजसूयशतेन[1] च।
इष्टवान् स महातेजा दौष्यन्तिर्भरतः पुरा ॥१६॥

"उन महातेजस्वी दुष्यन्तकुमार भरत ने पूर्व-काल में अनेक अश्वमेध और राजसूय यज्ञ सम्पन्न किये थे।

भरतस्य महत्कर्म सर्वराजसु पार्थिवाः।
खं मर्त्या इव बाहुभ्यां नानुगन्तुमशक्नुवन् ॥१७॥

"जैसे मनुष्य दोनों भुजाओं से आकाश को नहीं तैर सकते, वैसे ही सम्पूर्ण राजाओं में भरत का जो महान् कर्म है, उसका दूसरे राजा अनुकरण नहीं कर सके।

दिलीपं च महात्मानं मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
यस्य कर्माणि भूरीणि कथयन्ति द्विजातयः ॥१८॥

"सृञ्जय! महामना राजा दिलीप भी कालधर्म [मृत्यु] को प्राप्त हो गये, यह हमने सुना है। उनके

१. **सहस्र और शत**—ये दोनों शब्द वैदिक निघण्टु में बहु-अर्थवाची हैं।

महान् कर्मों का ब्राह्मण लोग आज भी वर्णन करते हैं।

त्रयः शब्दा न जीर्यन्ते दिलीपस्य निवेशने।
स्वाध्यायघोषो ज्याघोषो दीयतामिति वै त्रयः ॥१९॥

"महाराज दिलीप के राजप्रासाद में तीन प्रकार के शब्द सदा गूंजते रहते थे—वेदों के स्वाध्याय का गम्भीर घोष, शूरवीरों के धनुष की टङ्कार और 'दान दो' की पुकार।

रामं दाशरथिं चैव मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
योऽन्वकम्पत वै नित्यं प्रजाः पुत्रानिवौरसान् ॥२०॥

"सृञ्जय! हमने सुना है कि दशरथनन्दन श्रीराम जो सदा अपनी प्रजा पर वैसी ही कृपा रखते थे, जैसे पिता अपने औरस पुत्रों पर, भी परलोक सिधार गये।

विधवा यस्य विषये नानाथाः काश्चनाभवन्।
सदैवासीत् पितृसमो रामो राज्यं यदान्वशात् ॥२१॥

"उनके राज्य में कोई भी स्त्री विधवा और कोई बच्चा अनाथ नहीं हुआ। श्रीराम ने जबतक राज्य किया तबतक वे अपनी प्रजा के लिए सदा ही पिता के समान कृपालु बने रहे।

कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि समपादयत्।
नित्यं सुभिक्षमेवासीद् रामे राज्यं प्रशासति ॥२२॥

"बादल समय पर वर्षा करके खेती को अच्छे ढंग से सम्पन्न करता था—उसे बढ़ने और फूलने-फलने का अवसर देता था। राम के राज्य-शासन-काल में सदा प्रभूत धान्य उत्पन्न होता था—कभी अकाल नहीं पड़ता था।

अदंशमशका देशा नष्टव्यालसरीसृपाः।
नाप्सु प्राणभृतां मृत्युर्नाकाले ज्वलनोऽदहत् ॥२३॥

"राम-राज्य में किसी भी प्रदेश में मच्छर और डाँस नहीं थे।[1] साँप और बिच्छू नष्ट हो गये थे। जल में [बाढ़ आदि में] डूबकर भी प्राणियों की मृत्यु नहीं होती थी अर्थात् नदियों में बाढ़ नहीं आती थी। चिता की अग्नि ने किसी भी मनुष्य को असमय में नहीं जलाया था अर्थात् अकाल-मृत्यु नहीं होती थी।

नित्यपुष्पफलाश्चैव पादपा निरुपद्रवाः।
सर्वा द्रोणदुघा गावो रामे राज्यं प्रशासति ॥२४॥

"श्रीराम के राज्य-शासन-काल में सभी वृक्ष बिना किसी विघ्न-बाधा के नित्य फूले-फले रहते थे और सभी गौएँ न्यूनतम एक-एक द्रोण [लगभग पन्द्रह लीटर] दूध देती थीं।

रन्तिदेवं च सांकृत्यं मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
सम्यगाराध्य यः शक्राद् वरं लेभे महातपाः ॥२५॥
अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि।
श्रद्धा च नो मा व्यगमन्मा च याचिष्म कञ्चन ॥२६॥

"सृञ्जय! संकृति के पुत्र राजा रन्तिदेव भी काल के गाल में समा गये, ऐसा हमने सुना है। उस महातपस्वी नरेश ने इन्द्र की सम्यक् आराधना करके यह वर माँगा था—हमारे पास अन्न बहुत हो, हम सदा अतिथियों की सेवा का अवसर प्राप्त करते रहें। हमारी श्रद्धा में कमी न आये और हम किसी से कुछ भी न माँगें।"

स त्वं राजेन्द्र सञ्जातं शोकमेनं निवर्तय।
इष्ट्वा पुण्यैर्महायज्ञैरिष्टं लोकमवाप्स्यसि ॥२७॥

[मृत्यु अवश्यम्भावी है, अतः] हे राजेन्द्र! तुम भी अपने हृदय में उत्पन्न हुए इस शोक [बन्धु-बान्धवों के मृत्युजन्यशोक] को दूर कर पुण्यदायक महायज्ञों का अनुष्ठान करके अभीष्टलोकों [उत्तम योनियों] को प्राप्त करोगे।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥११॥

---

१. मच्छर राजा के पाप के कारण पैदा होते हैं। बिहार और बंगाल में मच्छली बहुत खाते हैं, अतः वहाँ तो मच्छर पाला जाता है।

द्वादशोऽध्यायः

युधिष्ठिर का नगर में प्रवेश, पुरवासियों द्वारा उनका सत्कार, राज्य-व्यवस्था के लिए अपने भाइयों और अन्य लोगों की नियुक्ति

वैशम्पायन उवाच

तूष्णींभूतं तु राजानं शोचमानं युधिष्ठिरम् ।
तपस्वी धर्मतत्त्वज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर को चुपचाप शोक में डूबा हुआ देख धर्म के तत्त्व को जाननेवाले तपोधन व्यासजी ने कहा—

व्यास उवाच

प्रजानां पालनं धर्मो राज्ञां राजीवलोचन ।
धर्मः प्रमाणं लोकस्य नित्यं धर्मानुवर्तिनः ॥२॥

व्यासजी ने कहा—कमलनेत्र युधिष्ठिर ! राजाओं का धर्म प्रजाओं का पालन करना ही है। धर्म का अनुसरण करनेवालों के लिए सदा धर्म ही प्रमाण है।

स्वधर्मे वर्तमानस्त्वं किं नु शोचसि पाण्डव ।
राजा हि हन्याद् दद्याच्च प्रजा रक्षेच्च धर्मतः ॥३॥

पाण्डुनन्दन ! अपने धर्म पर आरूढ़ रहते हुए भी तुम शोक क्यों करते हो ? राजा का यह कर्तव्य है कि वह धर्मद्रोहियों का वध करे, सुपात्रों को दान दे और धर्मानुसार प्रजा की रक्षा करे।

अनुतिष्ठस्व तद् राजन् पितृपैतामहं पदम् ।
ब्राह्मणेषु तपो धर्मः स नित्यो वेदनिश्चितः ॥४॥

राजन् ! तुम अपने पिता-पितामहों के राज्य को ग्रहण करके उसका धर्मानुसार पालन करो। तपस्या तो ब्राह्मणों का नित्य-धर्म है। यही वेद का निश्चित सिद्धान्त है।

युधिष्ठिर उवाच

श्रोतुमिच्छामि भगवन् विस्तरेण महामुने ।
राजधर्मान् द्विजश्रेष्ठ चातुर्वर्ण्यस्य चाखिलान् ॥५॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! द्विजश्रेष्ठ ! महामुने ! मैं चारों वर्णों के सम्पूर्ण धर्मों और राजधर्म का विस्तारपूर्वक वर्णन सुनना चाहता हूँ।

आपत्सु च यथा नीतिः प्रणेतव्या द्विजोत्तम ।
धर्म्यमालक्ष्य पन्थानं विजयेयं कथं महीम् ॥६॥

द्विजश्रेष्ठ ! आपत्तिकाल में मुझे कैसी नीति से काम लेना चाहिए ? धर्मानुकूल मार्ग पर दृष्टि रखते हुए मैं किस प्रकार इस पृथिवी पर विजय पा सकता हूँ।

धर्मचर्या च राज्यं च नित्यमेव विरुध्यते ।
एवं मुह्यति मे चेतश्चिन्तयानस्य नित्यशः ॥७॥

एक ओर धर्म का आचरण तथा दूसरी ओर राज्य का पालन—ये दोनों सदा एक-दूसरे के विरुद्ध हैं। यह सोचकर मुझे सदा चिन्ता बनी रहती है और मेरे चित्त पर मोह छा रहा है।

व्यास उवाच

श्रोतुमिच्छसि चेद्धर्मं निखिलेन नराधिप ।
प्रैहि भीष्मं महाबाहो वृद्धं कुरुपितामहम् ॥८॥

व्यासजी ने कहा—महाबाहु नरेश्वर ! यदि तुम पूर्णरूप से धर्म का विवेचन सुनना चाहते हो तो कुरुकुल के वृद्ध पितामह भीष्म के पास जाओ।

स ते धर्मरहस्येषु संशयान् मनसि स्थितान् ।
छेत्ता भागीरथीपुत्रः सर्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥९॥

गङ्गापुत्र भीष्म सब धर्मों के ज्ञाता और सर्वज्ञ [धर्म, अर्थ, काम को जाननेवाले] हैं। वे धर्मरहस्यों के विषय में तुम्हारे मन में स्थित हुए सारे सन्देहों का समाधान कर देंगे।

युधिष्ठिर उवाच

घातयित्वा तमेवाजौ छलेनाजिह्मयोधिनम् ।
उपसम्प्रष्टुमर्हामि तमहं केन हेतुना ॥१०॥

युधिष्ठिर बोले—सरलतापूर्वक [बिना छल-कपट के] युद्ध करनेवाले भीष्मजी को मरवाकर क्या मैं उन्हीं से अपनी शंकाओं का निवारण कराने के योग्य रह गया हूँ ? मैं उन्हें अपना मुँह कैसे दिखा सकता हूँ ?

वासुदेव उवाच

नेदानीमतिनिर्बन्धं शोके त्वं कर्तुमर्हसि ।
यदाह भगवान् व्यासस्तत् कुरुष्व नृपोत्तम ॥११॥

श्रीकृष्ण बोले—नृपश्रेष्ठ ! अब आप हठपूर्वक

शोक को ही न पकड़े रहें [शोक में डूबे न रहें]। भगवान् व्यास जो आज्ञा देते हैं, वही करें।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स कृष्णेन राजा राजीवलोचनः।
हितार्थं सर्वलोकस्य समुत्तस्थौ महामनाः ॥१२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर कमलनेत्र महामनस्वी राजा युधिष्ठिर समस्त जगत् के हित के लिए उठ खड़े हुए।

श्रुतवाक्यः श्रुतनिधिः श्रुतश्रव्यविशारदः।
व्यवस्य मनसः शान्तिमगच्छत् पाण्डुनन्दनः ॥१३॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने श्रेष्ठ पुरुषों के उपदेश को सुना था। वे वेद-शास्त्रों के ज्ञान की निधि थे। वे सुने हुए शास्त्रों और सुनने-योग्य नीति-ग्रन्थों के विचार में कुशल थे, अतः उन्होंने अपने कर्तव्य का निश्चय करके मन में पूर्ण शान्ति पा ली।

स तैः परिवृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य स्वपुरं प्रविवेश ह ॥१४॥

नक्षत्रों से घिरे हुए चन्द्रमा के समान राजा **युधिष्ठिर** ने वहाँ **आये** हुए सब लोगों से घिरकर, धृतराष्ट्र को आगे करके अपनी राजधानी हस्तिनापुर में प्रवेश किया।

प्रवेशने तु पार्थानां जनानां पुरवासिनाम्।
दिदृक्षूणां सहस्राणि समाजग्मुः सहस्रशः ॥१५॥

जनमेजय! कुन्तीकुमारों के हस्तिनापुर में प्रवेश करते समय उन्हें देखने के लिए दस लाख नगर-निवासी राजमार्गों पर एकत्र हो गये।

स राजमार्गः शुशुभे समलंकृतचत्वरः।
यथा चन्द्रोदये राजन् वर्धमानो महोदधिः ॥१६॥

राजन्! जैसे चन्द्रोदय होने पर समुद्र उमड़ने लगता है, वैसे ही जिसके चौराहे खूब सजाये गये थे, वह राजमार्ग मनुष्यों की उमड़ती हुई भीड़ से अत्यन्त शोभा पा रहा था।

गृहाणि राजमार्गेषु रत्नवन्ति महान्ति च।
प्राकम्पन्तेव भारेण स्त्रीणां पूर्णानि भारत ॥१७॥

भरतनन्दन! राजमार्गों के आस-पास जो रत्न-विभूषित विशाल भवन थे, वे स्त्रियों से भरे होने के कारण उनके भारी भार से काँपते हुए-से प्रतीत होते थे।

ताः शनैरिव सव्रीडं प्रशशंसुर्युधिष्ठिरम्।
भीमसेनार्जुनौ चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥१८॥

भवनों में विद्यमान वे नारियाँ लजाती हुई-सी धीरे-धीरे युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन और पाण्डुपुत्र माद्रीकुमार नकुल-सहदेव की प्रशंसा कर रही थीं।

तमतीत्य यथायुक्तं राजमार्गं युधिष्ठिरः।
अलंकृतं शोभमानमुपायाद् राजवेश्म ह ॥१९॥

राजन्! उस समलंकृत शोभासम्पन्न राजमार्ग को लाँघकर राजा युधिष्ठिर राजभवन के समीप जा पहुँचे।

ततः प्रकृतयः सर्वाः पौरा जानपदास्तदा।
ऊचुः कर्णसुखा वाचः समुपेत्य ततस्ततः ॥२०॥

तत्पश्चात् मन्त्री-सेनापति आदि प्रकृतिवर्ग के सभी लोग, नगरनिवासी और जनपदवासी मनुष्य इधर-उधर से आकर कर्णप्रिय—कानों को सुख देने-वाली बातें कहने लगे—

दिष्ट्या जयसि राजेन्द्र शत्रूञ्छत्रुनिषूदन।
दिष्ट्या राज्यं पुनः प्राप्तं धर्मेण च बलेन च ॥२१॥

शत्रुहन्ता नरेश! बड़े सौभाग्य की बात है कि आप विजयी हुए हैं। आपने धर्म के प्रभाव और बल से अपना राज्य पुनः पा लिया—यह भी अत्यन्त हर्ष का विषय है।

भव नस्त्वं महाराज राजेह शरदां शतम्।
प्रजाः पालय धर्मेण यथेन्द्रस्त्रिदिवं तथा ॥२२॥

महाराज! आप सैकड़ों वर्षों तक हमारे राजा बने रहें। जैसे इन्द्र स्वर्गलोक का पालन करते हैं, वैसे ही आप भी धर्मपूर्वक प्रजा का पालन और रक्षण करें।

उपवेश्य महात्मानं कृष्णां च द्रुपदात्मजाम्।
जुहाव पावकं धौम्यो विधिवन्मन्त्रपुरस्कृतम् ॥२३॥

पुरोहित धौम्य ने महात्मा युधिष्ठिर और द्रुपद-पुत्री कृष्णा [द्रौपदी] को आसन पर बिठाकर विधि और मन्त्र के साथ अग्निहोत्र सम्पन्न कराया।

ततः कुन्तीसुतो राजा गतमन्युर्गतज्वरः।
काञ्चने प्राङ्मुखो हृष्टो न्यसीदत् परमासने ॥२४॥

तत्पश्चात् कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर खेद और

चिन्ता से रहित हो पूर्व की ओर मुख करके प्रसन्नतापूर्वक स्वर्ण के सुन्दर सिंहासन पर विराजमान हुए।

तत उत्थाय दाशार्हः शंखमादाय पूजितम्।
अभ्यषिञ्चत् पतिं भूमेः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥२५॥

तदनन्तर दशार्हवंशी श्रीकृष्ण ने श्रेष्ठ पाञ्चजन्य शंख हाथ में ले उसके जल से भूपाल कुन्तीकुमार युधिष्ठिर का अभिषेक किया।

पौरजानपदान् सर्वान् विसृज्य कुरुनन्दनः।
यौवराज्येन कौन्तेयं भीमसेनमयोजयत् ॥२६॥

राज्याभिषेक के पश्चात् नगर और जनपद के निवासियों को विदा करके कुरुनन्दन युधिष्ठिर ने कुन्तीकुमार भीमसेन को युवराज के पद पर प्रतिष्ठित किया।

मन्त्रे च निश्चये चैव षाड्गुण्यस्य च चिन्तने।
विदुरं बुद्धिसम्पन्नं प्रीतिमान् स समादिशत् ॥२७॥

तदनन्तर उन्होंने अति प्रसन्नता के साथ बुद्धिमान् विदुर को मन्त्रणा,[1] कर्तव्य-निश्चय और छहों[2] गुणों के चिन्तनकार्य में नियुक्त किया।

कृताकृतपरिज्ञाने तथाऽऽयव्ययचिन्तने।
सञ्जयं योजयामास वृद्धं सर्वगुणैर्युतम् ॥२८॥

कौन-सा कार्य सम्पन्न हुआ और कौन-सा करना शेष है—इसकी जाँच करने तथा आय-व्यय पर विचार करने के कार्य में उन्होंने सर्वगुणसम्पन्न वयोवृद्ध सञ्जय की नियुक्ति की।

बलस्य परिमाणे च भक्तवेतनयोस्तथा।
नकुलं व्यादिशद् राजा कर्मणां चान्ववेक्षणे ॥२९॥

सेना की गणना करना, उसे भोजन तथा वेतन देना और उसके काम की देख-भाल करना—इन सब कार्यों का भार राजा युधिष्ठिर ने नकुल को सौंप दिया।

परचक्रोपरोधे च दुष्टानां चावमर्दने।
युधिष्ठिरो महाराज फाल्गुनं व्यादिदेश ह ॥३०॥

महाराज! शत्रु-देशों पर आक्रमण करने और दुष्टों का दमन करने के लिए युधिष्ठिर ने अर्जुन को नियुक्त किया।

द्विजानां देवकार्येषु कार्येष्वन्येषु चैव ह।
धौम्यं पुरोधसां श्रेष्ठं नित्यमेव समादिशत् ॥३१॥

ब्राह्मणों की देख-भाल, यज्ञ-कार्यों और पूजापाठ, उपासना, पञ्चयज्ञादि कार्यों पर सदा के लिए पुरोहितों में श्रेष्ठ महर्षि धौम्य की नियुक्ति की गई।

सहदेवं समीपस्थं नित्यमेव समादिशत्।
तेन गोप्यो हि नृपतिः सर्वावस्थो विशाम्पते ॥३२॥

प्रजेश्वर! सहदेव को राजा युधिष्ठिर ने सर्वदा अपने पास रहने का आदेश दिया। उन्हें सभी अवस्थाओं में राजा की रक्षा का काम सौंपा गया।

यानमन्यत योग्यांश्च येषु येष्विह कर्मसु।
तांस्तांस्तेष्वेव युयुजे प्रीयमाणो महीपतिः ॥३३॥

प्रसन्न हुए महाराज युधिष्ठिर ने जिन-जिन लोगों को जिन-जिन कार्यों के योग्य समझा, उन-उनको उन्हीं कार्यों पर नियुक्त किया।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

युधिष्ठिर का भीष्म के पास जाना और भीष्म का उन्हें प्रश्न पूछने की आज्ञा देना

जनमेजय उवाच

प्राप्य राज्यं महाबाहुर्धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
यदन्यदकरोद् विप्र तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—विप्रवर! राज्य-प्राप्ति के पश्चात् धर्मपुत्र महाबाहु युधिष्ठिर ने कौन-कौन-सा कार्य किया था; आप मुझे वह सब बताने की कृपा करें।

वैशम्पायन उवाच

प्राप्य राज्यं महाराज कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
चातुर्वर्ण्यं यथायोग्यं स्वे स्वे स्थाने न्यवेशयत् ॥२॥

---

१. राजकार्य के सम्बन्ध में गुप्त परामर्श देने का नाम 'मन्त्रणा' है।

२. सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—ये छह राजा के नीतिसम्बन्धी गुण कहलाते हैं।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने राज्य प्राप्त करने के पश्चात् सर्वप्रथम चारों वर्णों को योग्यतानुसार अपने-अपने स्थान [कर्तव्यपालन] में स्थिर किया ।

कृपाय च महाराज गुरुवृत्तिमवर्तत ।
विदुराय च राजासौ पूजां चक्रे यतव्रतः ॥३॥

महाराज ! राजा ने कृपाचार्य के साथ वही बर्ताव किया जो एक शिष्य को अपने गुरु के प्रति करना चाहिए । नियमपूर्वक व्रतपालक युधिष्ठिर ने विदुरजी का भी पूजनीय पुरुष की भाँति आदर-सत्कार किया ।

तथा सर्वं स नगरं प्रसाद्य भरतर्षभ ।
उवाच मधुरं राजा गोविन्दमभिगम्य च ॥४॥

भरतश्रेष्ठ ! समस्त नगर की प्रजा को प्रसन्न करके राजा युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण के पास जाकर मधुरवाणी में कहा—

वयं राज्यमनुप्राप्ताः पृथिवी च वशे स्थिता ।
तव प्रसादाद् भगवन्न च धर्मच्युता वयम् ॥५॥

"भगवन् ! हमने आपकी ही कृपा से राज्य पाया है और यह पृथिवी हमारे अधिकार में आई है । आपकी कृपा से ही हम धर्म से भ्रष्ट नहीं हुए हैं ।

यदि त्वनुग्रहवती बुद्धिस्ते मयि माधव ।
त्वामग्रतः पुरस्कृत्य भीष्मं यास्यामहे वयम् ॥६॥

"माधव ! यदि आपका विचार मुझपर अनुग्रह करने का है तो हम लोग आपको ही आगे करके भीष्मजी के पास चलेंगे ।"

श्रुत्वैवं धर्मराजस्य वचनं मधुसूदनः ।
पार्श्वस्थं सात्यकिं प्राह रथो मे युज्यतामिति ॥७॥

जनमेजय ! धर्मराज का यह वचन सुनकर मधुसूदन श्रीकृष्ण ने पास ही खड़े हुए सात्यकि से कहा, "मेरा रथ जोतकर तैयार किया जाए ।"

ततः स च हृषीकेशः स च राजा युधिष्ठिरः ।
कृपादयश्च ते सर्वे चत्वारः पाण्डवाश्च ते ॥८॥
रथैस्तैर्नगरप्रख्यैः पताकाध्वजशोभितैः ।
ययुराशु कुरुक्षेत्रं वाजिभिः शीघ्रगामिभिः ॥९॥

राजन् ! रथ तैयार हो जाने पर श्रीकृष्ण, राजा युधिष्ठिर, कृपाचार्य आदि सब लोग तथा शेष चारों पाण्डव ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित और शीघ्रगामी घोड़ों द्वारा संचालित नगराकार विशाल रथों से शीघ्रतापूर्वक कुरुक्षेत्र की ओर बढ़े ।

तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं केशमज्जास्थिसंकुलम् ।
देहन्यासः कृतो यत्र क्षत्रियैस्तैर्महात्मभिः ॥१०॥

वे सब लोग केश, मज्जा और हड्डियों से भरे हुए कुरुक्षेत्र में उतरे जहाँ महामनस्वी क्षत्रियों ने अपने शरीर का त्याग किया था ।

तत्र ते ददृशुर्भीष्मं शरप्रस्तरशायिनम् ।
स्वरश्मिजालसंवीतं सायंसूर्यसमप्रभम् ॥११॥

वहाँ उन्होंने देखा कि भीष्मजी शरशय्या पर सो रहे हैं और अपने तेज की किरणों से घिरे हुए सायंकालीन सूर्य की भाँति देदीप्यमान हो रहे हैं ।

उपास्यमानं मुनिभिर्देवैरिव शतक्रतुम् ।
देशे परमधर्मिष्ठे नदीमोघवतीमनु ॥१२॥

जैसे देवता इन्द्र की उपासना करते हैं, वैसे ही बहुत-से ऋषि ओघवती नदी के किनारे परम धर्ममय स्थान में उनके समीप बैठे हुए थे ।

दूरादेव तमालोक्य संयम्य प्रचलं मनः ।
एकीकृत्येन्द्रियग्राममुपतस्थुर्महामुनीन् ॥१३॥

वे सब लोग दूर से ही भीष्म पितामह को देखकर, चञ्चल मन को वश में करके और समस्त इन्द्रियों को एकाग्र कर वहाँ बैठे हुए महामुनियों की सेवा में उपस्थित हुए ।

अभिवाद्य तु गोविन्दः सात्यकिस्ते च पार्थिवाः ।
व्यासादीनृषिमुख्यांश्च गाङ्गेयमुपतस्थिरे ॥१४॥

श्रीकृष्ण, सात्यकि एवं अन्य राजाओं ने व्यास आदि महर्षियों को प्रणाम करके गङ्गानन्दन भीष्म के निकट पहुँचकर उन्हें मस्तक झुकाया ।

ततो वृद्धं तथा दृष्ट्वा गाङ्गेयं यदुकौरवाः ।
परिवार्य ततः सर्वे निषेदुः पुरुषर्षभाः ॥१५॥

तत्पश्चात् वे सभी यदुवंशी तथा कौरवश्रेष्ठ वृद्ध गङ्गानन्दन भीष्मजी का दर्शन करके उन्हें चारों ओर से घेरकर बैठ गये ।

ततो निशाम्य गाङ्गेयं शाम्यमानमिवानलम् ।
किञ्चिद् दीनमना भीष्ममिति होवाच केशवः ॥१६॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण ने मन-ही-मन कुछ दुःखी हो

बुझती हुई अग्नि के समान दिखाई देनेवाले गङ्गा-नन्दन भीष्म को सुनाकर इस प्रकार कहा—

कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि यथा पुरा।
कच्चिन्न व्याकुला चैव बुद्धिस्ते वदतां वर ।।१७।।

"वक्ताओं में श्रेष्ठ भीष्मजी! क्या आपकी सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ पहले की भाँति प्रसन्न हैं? आपकी बुद्धि व्याकुल तो नहीं हुई है?

शराभिघातदुःखात् ते कच्चिद् गात्रं न दूयते।
मानसादपि दुःखाद्धि शारीरं बलवत्तरम् ।।१८।।

"आपको बाणों की चोट सहने का जो कष्ट उठाना पड़ा है, उससे आपके शरीर में विशेष कष्ट तो नहीं हो रहा है, क्योंकि मानसिक दुःख से शारीरिक दुःख अधिक प्रबल होता है—उसे सहन करना कठिन हो जाता है।

सुसूक्ष्मोऽपि तु देहे वै शल्यो जनयते रुजम्।
किं पुनः शरसंघातैश्चितस्य तव पार्थिव ।।१९।।

"राजन्! यदि शरीर में कोई अत्यन्त छोटा-सा काँटा भी गड़ जाए तो वह भी भारी वेदना उत्पन्न कर देता है, फिर जो बाण-समूह से पाट दिया गया है, उस आपके शरीर की पीड़ा के विषय में तो कहना ही क्या है?

कामं नैतत् तवाख्येयं प्राणिनां प्रभवाप्ययौ।
उपदेष्टुं भवाञ्छक्तो देवानामपि भारत ।।२०।।

"भरतनन्दन! अवश्य ही आपके समक्ष यह कहना व्यर्थ होगा कि 'सभी प्राणियों के जन्म और मरण प्रारब्ध के अनुसार निश्चित हैं, अतः आपको दैव का विधान समझकर अपने मन में दुःखी नहीं होना चाहिए।' आपको कोई क्या उपदेश करेगा! आप तो देवताओं को भी उपदेश देने में समर्थ हैं।

यच्च भूतं भविष्यं च भवच्च पुरुषर्षभ।
सर्वं तज्ज्ञानवृद्धस्य तव भीष्म प्रतिष्ठितम् ।।२१।।

"पुरुषप्रवर भीष्म! आप ज्ञान में सबसे बढ़े-चढ़े हैं। आपकी बुद्धि में भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कुछ प्रतिष्ठित है।

सत्ये तपसि दाने च यज्ञाधिकरणे तथा।
धनुर्वेदे च वेदे च नीत्यां चैवानुरक्षणे ।।२२।।
अनृशंसं शुचिं दान्तं सर्वभूतहिते रतम्।
महारथं त्वत्सदृशं न कञ्चिदनुशुश्रुम ।।२३।।

"सत्य, तप, दान और यज्ञ के अनुष्ठान में, वेद, धनुर्वेद एवं नीतिशास्त्र के ज्ञान में, प्रजा के पालन में, कोमलतापूर्ण व्यवहार, अन्तः-बाह्य पवित्रता, मन और इन्द्रियों के संयम तथा समस्त प्राणियों के हित-साधन में आपके समान मैंने दूसरे किसी महारथी को नहीं सुना है।

मनुष्येषु मनुष्येन्द्र न दृष्टो न च मे श्रुतः।
भवतो वा गुणैर्युक्तः पृथिव्यां पुरुषः क्वचित् ।।२४।।

"मनुजेन्द्र! मनुष्यों में आपके समान गुणों से युक्त पुरुष इस पृथिवी पर न तो मैंने कहीं देखा है और न सुना ही है।

तदस्य तप्यमानस्य ज्ञातीनां संक्षयेन वै।
ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य शोकं भीष्म व्यपानुद ।।२५।।

"अतः भीष्मजी! मैं आपसे यह निवेदन करता हूँ कि ये ज्येष्ठ पाण्डव अपने कुटुम्बीजनों के वध से बहुत सन्तप्त हो रहे हैं, आप इनके शोक को दूर करें।

ये च केचन लोकेऽस्मिन्नर्थाः संशयकारकाः।
तेषां छेत्ता नास्ति लोके त्वदन्यः पुरुषर्षभ ।।२६।।

पुरुषश्रेष्ठ! संसार में जितने भी सन्देहग्रस्त विषय हैं, उनका समाधान करनेवाला आपको छोड़-कर और कोई नहीं है।"

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु वचनं भीष्मो वासुदेवस्य धीमतः।
किञ्चिदुन्नाम्य वदनं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।।२७।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! परम बुद्धिमान् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण का वचन सुनकर भीष्मजी ने अपना मुख कुछ ऊपर उठाया और हाथ जोड़कर कहा—

भीष्म उवाच

शराभितापाद् व्यथितं मनो मे मधुसूदन।
गात्राणि चावसीदन्ति न च बुद्धिः प्रसीदति ।।२८।।

भीष्मजी बोले—मधुसूदन! इन बाणों के गड़ने से जो जलन हो रही है, उसके कारण मेरे मन में बड़ी व्यथा है। सारा शरीर पीड़ा के कारण शिथिल हो गया है और बुद्धि कुछ काम नहीं दे रही है।

न च मे प्रतिभा काचिदस्ति किञ्चित्प्रभाषितुम्।
पीड्यमानस्य गोविन्द विषानलसमैः शरैः ॥२९॥

गोविन्द ! ये बाण विष और अग्नि के समान मुझे पीड़ा दे रहे हैं, अतः मुझमें कुछ भी कहने की शक्ति नहीं रह गई है।

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा मां धर्माननुपृच्छतु।
एवं प्रीतो भविष्यामि धर्मान्वक्ष्यामि चाखिलान् ॥३०॥

फिर भी धर्मात्मा युधिष्ठिर मुझसे एक-एक करके धर्मों के विषय में प्रश्न करें, इससे मुझे प्रसन्नता होगी और मैं सम्पूर्ण धर्मों का उपदेश कर सकूँगा।

वासुदेव उवाच

लोकस्य कदनं कृत्वा लज्जया च युधिष्ठिरः।
अभिशापभयाद् भीतो भवन्तं नोपसर्पति ॥३१॥

श्रीकृष्ण बोले—प्रजानाथ ! युधिष्ठिर जगत् का संहार करके बहुत लज्जित हैं, वे शाप के भय से भयभीत होने के कारण आपके निकट नहीं आ रहे हैं।

भीष्म उवाच

ब्राह्मणानां यथा धर्मो दानमध्ययनं तपः।
क्षत्रियाणां तथा कृष्ण समरे देहपातनम् ॥३२॥

भीष्म पितामह ने कहा—श्रीकृष्ण ! जैसे दान, अध्ययन और तप ब्राह्मणों का धर्म है, उसी प्रकार युद्धभूमि में शत्रुओं के शरीर को मार गिराना क्षत्रियों का धर्म है।

पितॄन्पितामहान्भ्रातॄन् गुरून्सम्बन्धिबान्धवान्।
मिथ्याप्रवृत्तान् यः संख्ये निहन्याद् धर्म एव सः ॥३३॥

जो असत्य के मार्ग पर चलनेवाले पिता [ताऊ-चाचा], दादा, भाई, गुरुजन, सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धवों को संग्राम में मार डालता है, उसका वह कार्य धर्म ही है।

लोहितोदां केशतृणां गजशैलां ध्वजद्रुमाम्।
महीं करोति युद्धेषु क्षत्रियो यः स धर्मवित् ॥३४॥

जो क्षत्रिय युद्धभूमि में रक्तरूपी जल, केशरूपी तृण, हाथीरूपी पर्वत और ध्वजरूपी वृक्षों से युक्त रक्त की नदी बहा देता है, वह धर्म का ज्ञाता है।

आहूतेन रणे नित्यं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना।
धर्म्यं स्वर्ग्यं च लोक्यं च युद्धं हि मनुरब्रवीत् ॥३५॥

संग्राम में शत्रु के ललकारने पर क्षत्रियबन्धु को सदा ही युद्ध के लिए उद्यत रहना चाहिए। महर्षि मनु ने कहा है कि युद्ध क्षत्रिय के लिए धर्म का पोषक, स्वर्ग की प्राप्ति करानेवाला और लोक में कीर्ति फैलानेवाला है।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भीष्मेण धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
विनीतवदुपागम्य तस्थौ संदर्शनेऽग्रतः ॥३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भीष्मजी के ऐसा कहने पर धर्मपुत्र युधिष्ठिर उनके निकट जाकर एक विनम्र मनुष्य के समान उनकी दृष्टि के सामने खड़े हो गये।

अथास्य पादौ जग्राह भीष्मश्चापि ननन्द तम्।
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय निषीदेत्यब्रवीत् तदा ॥३७॥

फिर उन्होंने भीष्मजी के दोनों चरण छूकर उन्हें प्रणाम किया। तब भीष्मजी ने उन्हें आश्वासन देकर प्रसन्न किया और उनका मस्तक सूँघकर कहा—"बेटे ! बैठ जाओ।"

तमुवाचाथ गाङ्गेयो वृषभः सर्वधन्विनाम्।
मां पृच्छ तात विश्रब्धं मा भैस्त्वं कुरुसत्तम ॥३८॥

तत्पश्चात् सम्पूर्ण धनुर्धरों में श्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मजी ने उनसे कहा—"तात ! मैं इस समय स्वस्थ हूँ, तुम मुझसे निर्भय होकर प्रश्न करो। कुरुश्रेष्ठ ! तुम डरो मत।"

इति महाभारते शान्तिपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

भीष्मजी द्वारा राजधर्म का कथन

युधिष्ठिर उवाच

राज्ञां वै परमो धर्म इति धर्मविदो विदुः ।
महान्तमेतं भारं च मन्ये तद् ब्रूहि पार्थिव ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! धर्मज्ञ विद्वानों की यह मान्यता है कि राजाओं का धर्म श्रेष्ठ है, परन्तु मैं तो इसे बहुत बड़ा भार मानता हूँ, अतः भूपाल ! आप मुझे राजधर्म का उपदेश कीजिए ।

भीष्म उवाच

शृणु कात्स्न्येंन मत्तस्त्वं राजधर्मान् युधिष्ठिर ।
निरुच्यमानान् नियतो यच्चान्यदपि वाञ्छसि ।।२।।

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! अब तुम विनयपूर्वक एकाग्र हो मुझसे सम्पूर्णरूप से राजधर्मों का वर्णन सुनो तथा और भी जो कुछ सुनना चाहते हो, उसका श्रवण करो ।

उत्थानेन सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर ।
न ह्युत्थानमृते दैवं राज्ञामर्थं प्रसादयेत् ।।३।।

पुत्र युधिष्ठिर ! तुम सदा पुरुषार्थ के लिए प्रयत्नशील रहना । पुरुषार्थ के बिना केवल प्रारब्ध राजाओं के प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकता ।

साधारणं द्वयं ह्येतद् दैवमुत्थानमेव च ।
पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चितमुच्यते ।।४।।

यद्यपि कार्य की सिद्धि में प्रारब्ध और पुरुषार्थ —ये दोनों साधारण कारण माने गये हैं, तथापि मैं पुरुषार्थ को ही प्रधान मानता हूँ, क्योंकि प्रारब्ध तो पहले से ही निश्चित बताया गया है ।

विपन्ने च समारम्भे सन्तापं मा स्म वै कृथाः ।
घटस्वैव सदाऽऽत्मानं राज्ञामेष परो नयः ।।५।।

यदि आरम्भ किया हुआ कार्य पूर्ण न हो सके अथवा उसमें विघ्न उपस्थित हो जाए तो उसके लिए तुम्हें दुःखी नहीं होना चाहिए। तुम सदा अपने-आपको पुरुषार्थ में लगाये रखो । यही राजाओं की सर्वोत्तम नीति है ।

न हि सत्यादृते किञ्चिद् राज्ञां वै सिद्धिकारकम् ।
सत्ये हि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति ।।६।।

सत्य के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु राजाओं के लिए सिद्धिदायक नहीं है । सत्यपरायण राजा इहलोक और परलोक में सुख पाता है ।

ऋषीणामपि राजेन्द्र सत्यमेव परं धनम् ।
तथा राज्ञां परं सत्यान्नान्यद् विश्वासकारणम् ।।७।।

हे राजेन्द्र ! ऋषियों के लिए भी सत्य ही परम धन है। इसी प्रकार राजाओं के लिए सत्य से बढ़कर दूसरा कोई ऐसा साधन नहीं है, जो प्रजा में उसके प्रति विश्वास उत्पन्न करा सके ।

गुणवाञ्छीलवान् दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः ।□
सुदर्शः स्थूललक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रियः ।।८।।

जो मनुष्य [अथवा राजा] गुणवान्, शीलयुक्त, मन को वश में रखनेवाला, कोमलस्वभाव, धर्मपरायण, जितेन्द्रिय, प्रसन्नमुख और दानशील होता है वह कभी लक्ष्मी [या राजलक्ष्मी] से भ्रष्ट नहीं होता।

आर्जवं सर्वकार्येषु श्रयेथाः कुरुनन्दन ।
पुनर्नयविचारेण त्रयीसंवरणेन च ।।९।।

कुरुनन्दन ! तुम सभी कार्यों में सरलता एवं कोमलता का आश्रय लेना, परन्तु नीतिशास्त्र के चिन्तन एवं मनन से यह विदित होता है कि अपने छिद्र, अपनी मन्त्रणा और अपने कार्यकौशल—इन तीन बातों को गुप्त रखने में सरलता का अवलम्बन लेना उचित नहीं है ।

मृदुर्हि राजा सततं लङ्घ्यो भवति सर्वशः ।
तीक्ष्णाच्चोद्विजते लोकस्तस्मादुभयमाश्रय ।।१०।।

सदा कोमलतापूर्ण व्यवहार करनेवाले राजा की आज्ञा का लोग उल्लङ्घन कर देते हैं और सर्वदा कठोर बर्ताव करने से लोग उद्विग्न हो उठते हैं, अतः तुम आवश्यकता-अनुसार कोमलता और कठोरता दोनों को अपनाओ ।

उद्यम्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे ।
निगृह्णीयात् स्वधर्मेण धर्मापेक्षी नराधिपः ।।११।।

वेदान्त का पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण भी यदि शस्त्र उठाकर युद्ध में सामना करने के लिए आ रहा

हो तो धर्मपालन की इच्छा रखनेवाले राजा को अपने धर्म के अनुसार ही युद्ध करके उसे बन्दी बना लेना चाहिए ।

विनश्यन्तञ्च धर्मं हि योऽभिरक्षेत् स धर्मवित् ।
न तेन धर्महा स स्यान्मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ।।१२।।

जो राजा उस [आततायी ब्राह्मण] के द्वारा नष्ट होते हुए धर्म की रक्षा करता है, वह धर्मज्ञ है। उसे मौत के घाट उतारने से वह [राजा] धर्म का नाशक नहीं माना जाता। वस्तुतः क्रोध ही उसके क्रोध से टक्कर लेता है ।

राज्ञा नित्यं दया कार्या चातुर्वर्ण्ये विपश्चिता ।
धर्मात्मा सत्यवाक् चैव राजा रञ्जयति प्रजाः ।।१३।।

बुद्धिमान् राजा को चारों वर्णों पर सदा दया करनी चाहिए, क्योंकि धर्मात्मा और सत्यवादी नरेश ही प्रजा को प्रसन्न रख सकता है ।

न च क्षान्तेन ते नित्यं भाव्यं पुत्र समन्ततः ।
अधर्मो हि मृदू राजा क्षमावानिव कुञ्जरः ।।१४।।

बेटे ! तुम्हें सदा और सब ओर [सबके प्रति] क्षमाशील ही नहीं बने रहना चाहिए, क्योंकि क्षमाशील हाथी के समान कोमल स्वभाववाला राजा दूसरों को भयभीत न कर सकने के कारण अधर्म के प्रसार में ही सहायक होता है ।

क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः ।
हस्तियन्ता गजस्येव शिर एवारुरुक्षति ।।१५।।

नीच मनुष्य क्षमाशील राजा का सदा उसी प्रकार तिरस्कार करते रहते हैं, जैसे हाथी का महावत उसके सिर पर ही चढ़े रहना चाहता है ।

तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः ।
वासन्तार्क इव श्रीमान् न शीतो न च घर्मदः ।।१६।।

जैसे वसन्त ऋतु का तेजस्वी सूर्य न तो बहुत ठण्डक पहुँचाता है और न कड़ी धूप ही देता है, वैसे ही राजा को भी न तो बहुत कोमल होना चाहिए और न अधिक कठोर ही ।

प्रत्यक्षेणानुमानेन तथौपम्यागमैरपि ।
परीक्ष्यास्ते महाराज स्वे परे चैव नित्यशः ।।१७।।

महाराज ! प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम—इन चारों प्रमाणों के द्वारा सदा अपने-पराये की पहचान करते रहना चाहिए ।

व्यसनानि च सर्वाणि त्यजेथा भूरिदक्षिण ।
लोकस्य व्यसनी नित्यं परिभूतो भवत्युत ।।१८।।

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले नरेश ! तुम्हें सभी प्रकार के व्यसनों[1] को त्याग देना चाहिए, क्योंकि व्यसनों में आसक्त हुआ राजा सब लोगों के द्वारा तिरस्कृत [अपमानित] होता है ।

भवितव्यं सदा राज्ञा गर्भिणीसहधर्मिणा ।
कारणं च महाराज शृणु येनेदमिष्यते ।।१९।।

महाराज ! राजा का प्रजा के साथ गर्भिणी स्त्री का-सा व्यवहार होना चाहिए, क्यों, कारण बताता हूँ, सुनो ।

यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम् ।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम् ।।२०।।
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना ।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत् ।।२१।।

जैसे गर्भवती स्त्री अपने मनचाहे प्रिय भोजन आदि को छोड़कर केवल गर्भस्थ बालक के हित का ध्यान रखती है, वैसे ही धर्मात्मा राजा को भी निःसन्देह वैसा ही बर्ताव करना चाहिए। कुरुकुल-भूषण ! राजा अपने को प्रिय लगनेवाले विषय को तिलाञ्जलि देकर जिसमें सब लोगों का हित हो वही कार्य करे ।

---

१. महर्षि मनु ने काम और क्रोध से उत्पन्न होनेवाले अट्ठारह व्यसन गिनाये हैं—

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ।।
पैशुन्यं साहसं द्रोहं ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ।।

—मनु० ७।४७-४८

शिकार करना, जुआ खेलना, दिन में सोना, परनिन्दा, परस्त्रीसेवन, मद्यादि का सेवन, नाचना, गाना, बजाना और व्यर्थ इधर-उधर घूमना—ये दस कामज व्यसन हैं ।

चुगलखोरी, दुःसाहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया [डाह], अर्थदूषण, कठोर वचन और कठोर दण्ड—ये आठ क्रोध से उत्पन्न होनेवाले व्यसन हैं ।

न सन्त्याज्यं च ते धैर्यं कदाचिदपि पाण्डव ।
धीरस्य स्पष्टदण्डस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥२२॥

पाण्डुपुत्र ! तुम्हें कभी भी धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए । जो अपराधियों को दण्ड देने में संकोच नहीं करता और सदा धैर्य रखता है, उस राजा को कभी भय नहीं होता ।

परिहासश्च भृत्यैस्ते नात्यर्थं वदतां वर ।
कर्तव्यो राजशार्दूल दोषमत्र हि मे शृणु ॥२३॥

वक्ताओं में श्रेष्ठ राजसिंह ! तुम्हें सेवकों के साथ अधिक मनोविनोद [हँसी-मजाक] नहीं करना चाहिए । इसमें जो दोष हैं, वह बताता हूँ, सुनो ।

अवमन्यन्ति भर्तारं संघर्षादुपजीविनः ।
स्वे स्थाने न च तिष्ठन्ति लङ्घयन्ति च तद्वचः ॥२४॥

राजा से जीविका चलानेवाले सेवक अधिक मुँह लगने पर स्वामी का अपमान कर बैठते हैं । वे अपनी मर्यादा में स्थिर नहीं रहते और स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन करने लगते हैं ।

प्रेष्यमाणा विकल्पन्ते गुह्यं चाप्यनुयुञ्जते ।
अयाच्यं चैव याचन्ते भोज्यान्याहारयन्ति च ॥२५॥

किसी कार्य के लिए भेजे जाने पर वे उसकी सिद्धि में सन्देह उत्पन्न कर देते हैं । राजा की गोपनीय त्रुटियों को भी सबके समक्ष ला देते हैं । न माँगने योग्य वस्तु को भी माँग बैठते हैं और राजा के लिए रखे हुए भोज्य पदार्थों को स्वयं खा जाते हैं ।

क्रुध्यन्ति परिदीप्यन्ति भूमिपायाधितिष्ठते ।
उत्कोचैर्वञ्चनाभिश्च कार्याण्यनुविहन्ति च ॥२६॥

राज्य के स्वामी राजा को कोसते हैं, उसके प्रति क्रोध से तमतमा उठते हैं, घूस लेकर तथा धोखा देकर राजा के कार्यों में विघ्न डालते हैं ।

जर्जरं चास्य विषयं कुर्वन्ति प्रतिरूपकैः ।
स्त्रीरक्षिभिश्च सज्जन्ते तुल्यवेषा भवन्ति च ॥२७॥

वे बनावटी [जाली] आज्ञापत्र प्रसारित करके राजा के राज्य को जर्जर कर देते हैं । रनवास के रक्षकों से मिल जाते हैं अथवा उन-जैसी वेशभूषा धारण करके वहाँ घूमते-फिरते हैं ।

वान्तं निष्ठीवनं चैव कुर्वते चास्य सन्निधौ ।
निर्लज्जा राजशार्दूल व्याहरन्ति च तद्वचः ॥२८॥

राजा के समीप ही मुँह फाड़कर जँभाई लेते और थूकते हैं । नृपश्रेष्ठ ! वे मुँहलगे नौकर लाज त्यागकर मनमानी बातें बोलते हैं ।

हयं वा दन्तिनं वापि रथं वा नृपसत्तम ।
अभिरोहन्त्यनादृत्य हर्षुले पार्थिवे मृदौ ॥२९॥

नृपशिरोमणे ! परिहासशील कोमल स्वभाववाले राजा के सेवक उसकी अवहेलना करते हुए उसके हाथी, घोड़े और रथादि को अपनी सवारी के काम में लाते हैं ।

निन्दन्ते स्वानधिकारान् संत्यजन्ते च भारत ।
न वृत्त्या परितुष्यन्ति राजदेयं हरन्ति च ॥३०॥

हे भारत ! उनके अधिकार में जो कार्य सौंपा जाता है, उसे वे बुरा बताते और छोड़ देते हैं । उन्हें जो वेतन दिया जाता है उससे सन्तुष्ट नहीं होते और राजकीय धन को हड़पते रहते हैं ।

क्रीडितुं तेन चेच्छन्ति ससूत्रेणेव पक्षिणा ।
अस्मत्प्रणेयो राजेति लोकांश्चैवं वदन्त्युत ॥३१॥

जैसे लोग डोर में बँधी हुई चिड़ियों के साथ खेलते हैं, वैसे ही वे राजा के साथ क्रीड़ा करना चाहते हैं और साधारण लोगों से कहते हैं कि—"राजा तो हमारा दास है ।"

एते चैवापरे चैव दोषाः प्रादुर्भवन्त्युत ।
नृपतौ मार्दवोपेते हर्षुले च युधिष्ठिर ॥३२॥

युधिष्ठिर ! राजा जब परिहासशील तथा कोमल स्वभाव का हो जाता है, तब ये ऊपर कथित तथा अन्य दूसरे बहुत-से दोष उत्पन्न हो जाते हैं ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

राजा के धर्मानुकूल नीतिपूर्ण व्यवहार का वर्णन

भीष्म उवाच

नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठिर ।
प्रशस्यते न राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः ।।१।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! राजा को सदा उद्योगी होना चाहिए। जो पुरुषार्थ छोड़कर स्त्री की भाँति निठल्ला बैठा रहता है, ऐसे राजा की प्रशंसा नहीं होती ।

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ।।२।।

जैसे साँप बिल में रहनेवाले चूहों को खा जाता है, ऐसे ही दूसरों से युद्ध न करनेवाले राजा और वेद-अध्ययन तथा प्रचार के लिए प्रवास न करनेवाले ब्राह्मण को भूमि निगल जाती है ।

तदेतन्नरशार्दूल हृदि त्वं कर्तुमर्हसि ।
सन्धेयानभिसन्धत्स्व विरोध्यांश्च विरोधय ।।३।।

नृपश्रेष्ठ ! तुम इस बात को अपने हृदय में धारण कर लो—जो सन्धि करने के योग्य हों उनसे सन्धि करो तथा जो विरोध के पात्र हों उनका डटकर विरोध करो ।

सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य विपरीतं य आचरेत् ।
गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रतिहन्तव्य एव सः ।।४।।

जो सात अङ्गों [राजा, मन्त्री, मित्र, कोष, देश, दुर्ग, सेना] से युक्त राज्य के विपरीत आचरण करे, वह गुरु हो या मित्र, मार डालने के ही योग्य है ।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शाश्वतः ।।५।।

घमण्ड में भरकर कर्तव्य तथा अकर्तव्य का ज्ञान न रखनेवाला और कुमार्ग पर चलनेवाला मनुष्य यदि अपना गुरु हो, तो उसे भी दण्ड देने का सनातन विधान है ।

लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः ।
सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चार्जवम् ।।६।।

लोक में प्रजा को प्रसन्न रखना ही राजाओं का सनातन धर्म है । सत्य की रक्षा और व्यवहार की सरलता भी राजोचित कर्तव्य हैं ।

न हिंस्यात् परवित्तानि देयं काले च दापयेत् ।
विक्रान्तः सत्यवाक् क्षान्तो नृपो न चलते पथः ।।७।।

दूसरों के धन का नाश न करे। जिसको जो कुछ देना हो, उसे वह समय पर दिलाने की व्यवस्था करे। पराक्रमी, सत्यवादी और क्षमाशील बना रहे —ऐसा करनेवाला राजा कभी पथभ्रष्ट नहीं होता।

आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः ।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः ।।८।।
त्रय्यां[1] संवृतमन्त्रश्च राजा भवितुमर्हति ।
वृजिनं च नरेन्द्राणां नान्यच्चारक्षणात् परम् ।।९।।

जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, क्रोध को जीत लिया है और शास्त्रों के सिद्धान्त का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-प्राप्ति के प्रयत्न में लगा रहता है, जिसे चारों वेदों का ज्ञान है और जो अपने गुप्त विचारों को दूसरों पर प्रकट नहीं होने देता, वही राजा होने योग्य होता है । प्रजा की रक्षा न करने से बढ़कर राजाओं के लिए दूसरा कोई पाप नहीं है ।

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता ।
धर्मसंकररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः ।।१०।।

राजा को ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के धर्मों की रक्षा करनी चाहिए। प्रजा को धर्मसंकरता से बचाना राजाओं का सनातन धर्म है ।

न विश्वसेच्च नृपतिर्न चात्यर्थं च विश्वसेत् ।
षाड्गुण्यगुणदोषांश्च नित्यं बुद्ध्यावलोकयेत् ।।११।।

---

१. **त्रय्याम्**—वेद चार हैं ऋग्यजुः, साम और अथर्व, परन्तु चारों वेदों में तीन प्रकार के मन्त्र हैं—पद्यात्मक, गद्यात्मक और गद्यपद्यात्मक अथवा ऋक्, गीति और यजुस्, अतः वेदों को 'वेदत्रयी' भी कहते हैं । संख्या की दृष्टि से वेद चार ही हैं ।

राजा किसी पर भी विश्वास न करे। विश्वसनीय व्यक्ति का भी अत्यन्त विश्वास न करे। राजनीति के छः गुणों [सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय] के गुण-दोषों का अपनी बुद्धि द्वारा सदा निरीक्षण करे।

द्विट्छिद्रदर्शी नृपतिर्नित्यमेव प्रशस्यते।
त्रिवर्गे विदितार्थश्च युक्तचारोपधिश्च यः ॥१२॥

शत्रुओं के छिद्र देखनेवाले राजा की सदा प्रशंसा होती है। जिसे धर्म, अर्थ और काम के तत्त्व का ज्ञान है, जिसने शत्रु के रहस्यों को जानने और उसके मन्त्री आदि में फूट डालने के लिए गुप्तचर लगा रखा है, वह भी प्रशंसा के योग्य है।

कोशस्योपार्जनरतिर्यमवैश्रवणोपमः।
वेत्ता च दशवर्गस्य स्थानवृद्धिक्षयात्मनः ॥१३॥

राजा को चाहिए कि वह अपने कोष को भरा-पूरा रखने का प्रयत्न करता रहे। वह न्याय करने में यमराज और धन-संग्रह करने में कुबेर के समान हो। उसे स्थान, वृद्धि तथा क्षय के कारण दस वर्गों[1] का सदा ज्ञान रखना चाहिए।

अभृतानां भवेद् भर्ता भृतानामन्ववेक्षकः।
नृपतिः सुमुखश्च स्यात् स्मितपूर्वाभिभाषिता ॥१४॥

जिनके भरण-पोषण का प्रबन्ध न हो उनका भरण-पोषण राजा स्वयं करे तथा जिनका भरण-पोषण हो रहा हो उन सबकी देखभाल रखे। राजा को सदा हँसमुख रहना चाहिए और मुस्कराते हुए वार्तालाप करना चाहिए।

उपासिता च वृद्धानां जिततन्द्रिरलोलुपः।
सतां वृत्ते स्थितमतिः सन्तोष्यश्चारुदर्शनः ॥१५॥

राजा को वृद्धों की सेवा या सङ्ग करना चाहिए। वह आलस्य को जीते और लोलुपता को त्याग दे, सत्पुरुषों के व्यवहार में मन लगाये और सन्तुष्ट होने योग्य स्वभाव बनाए रखे। वेष-भूषा ऐसी हो जिससे वह [राजा] देखने में सुन्दर जान पड़े।

न चाददीत वित्तानि सतां हस्तात् कदाचन।
असद्भ्यश्च समादद्यात् सद्भ्यस्तु प्रतिपादयेत् ॥१६॥

श्रेष्ठ मनुष्यों के हाथ से कभी धन न छीने। दुष्टों से दण्ड के रूप में धन लेना चाहिए और सज्जनों को धन देना चाहिए।

स्वयं प्रहर्ता दाता च वश्यात्मा रम्यसाधनः।
काले दाता च भोक्ता च शुद्धाचारस्तथैव च ॥१७॥

स्वयं दुष्टों पर प्रहार करे, दानशील बने, मन को वश में रखे, सुरम्य साधन से युक्त रहे, यथा-अवसर धन का दान और उपभोग भी करे और सतत शुद्ध एवं सदाचारी बना रहे।

शूरान् भक्तानसंहार्यान् कुले जातानरोगिणः।
शिष्टान् धर्मरतान् साधूनचलानचलानिव ॥१८॥
सहायान् सततं कुर्याद् राजा भूतिपुरस्कृतः।
तैश्च तुल्यो भवेद् भोगैश्छत्रमात्राज्ञयाधिकः ॥१९॥

जो शूरवीर तथा भक्त हों, जिन्हें विपक्षी फोड़ न सकें, जो कुलीन, नीरोग और शिष्ट हों, जो धर्म-परायण तथा साधु-स्वभाव के हों, जो पर्वतों के समान अटल रहनेवाले हों—ऐसे लोगों को ही राजा सदा अपना सहायक बनाए और उन्हें ऐश्वर्य का पुरस्कार दे। उन्हें अपने समान ही सुखभोग की सुविधा प्रदान करे। केवल राजोचित छत्र धारण करना और सबको आज्ञा प्रदान करना—इन दो बातों में ही वह उन सहायकों की अपेक्षा अधिक रहे।

सर्वाभिशङ्की नृपतिर्यश्च सर्वहरो भवेत्।
स क्षिप्रमनृजुर्लुब्धः स्वजनेनैव बध्यते ॥२०॥

जो राजा सबपर सन्देह करनेवाला और सबका सर्वस्व हरण करनेवाला होता है ऐसा कुटिल और लोभी राजा एक दिन अपने ही लोगों के हाथों शीघ्र मारा जाता है।

शुचिस्तु पृथिवीपालो लोकचित्तग्रहे रतः।
न पतत्यरिभिर्ग्रस्तः पतितश्चावतिष्ठते ॥२१॥

जो नरेश बाहर-भीतर से पवित्र रहकर प्रजा के

---

१. मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और दण्ड—ये पांच 'प्रकृति' कहलाते हैं। अपने और शत्रुपक्ष—दोनों को मिलाकर ये ही दस वर्ग कहलाते हैं। यदि दोनों के मन्त्र आदि समान हों तो ये स्थान के हेतु होते हैं अर्थात् दोनों पक्षों की स्थिति स्थिर रहती है। यदि अपने पक्ष में इनकी अधिकता हो तो ये वृद्धि के साधक होते हैं और कमी हो तो क्षय के कारण बनते हैं।

हृदय को जीतने का प्रयत्न करता है, वह शत्रुओं का आक्रमण होनेपर भी उनके वश में नहीं पड़ता। यदि उसका पतन भी हो जाए तो वह सहायकों को पाकर शीघ्र उठ खड़ा होता है।

अक्रोधनो ह्यव्यसनी मृदुदण्डो जितेन्द्रियः।
राजा भवति भूतानां विश्वास्यो हिमवानिव ॥२२॥

क्रोधशून्य, निर्व्यसनी, कठोर दण्ड न देनेवाला और जितेन्द्रिय राजा हिमालय के समान सम्पूर्ण प्राणियों का विश्वासपात्र बन जाता है।

प्राज्ञस्त्यागगुणोपेतः पररन्ध्रेषु तत्परः।
सुदर्शः सर्ववर्णानां नयापनयवित् तथा ॥२३॥
क्षिप्रकारी जितक्रोधः सुप्रसादो महामनाः।
अरोषप्रकृतिर्युक्तः क्रियावानविकत्थनः ॥२४॥
आरब्धान्येव कार्याणि सुपर्यवसितानि च।
यस्य राज्ञः प्रदृश्यन्ते स राजा राजसत्तमः ॥२५॥

जो बुद्धिमान्, त्यागी, शत्रुओं के छिद्रों [दोषों] को जानने में तत्पर, देखने में सुन्दर, सभी वर्णों के न्याय और अन्याय को समझनेवाला, शीघ्र कार्य करने में समर्थ, क्रोधविजयी, आश्रितों पर कृपालु, महामनस्वी, कोमल स्वभावयुक्त, उद्योगी, कर्मठ और आत्म-प्रशंसा से दूर रहनेवाला है, जिस राजा के आरम्भ किये हुए सभी कार्य सुन्दर रूप से समाप्त होते दिखाई देते हैं—वह समस्त राजाओं में श्रेष्ठ है।

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥२६॥

जैसे पुत्र अपने पिता के घर में निर्भय होकर रहते हैं, वैसे ही जिस राजा के राज्य में मनुष्य निर्भय होकर विचरते हैं, वह सब राजाओं में श्रेष्ठ है।

न यस्य कूटं कपटं न माया न च मत्सरः।
विषये भूमिपालस्य तस्य धर्मः सनातनः ॥२७॥

जिस राजा के राज्य में कूटनीति, कपट, माया और ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो, उसी के द्वारा सनातन धर्म का पालन होता है।

यः सत्करोति ज्ञानानि ज्ञेये परहिते रतः।
सतां वर्त्मानुगस्त्यागी स राजा राज्यमर्हति ॥२८॥

जो ज्ञान और ज्ञानियों का सत्कार करता है, शास्त्र के ज्ञातव्य विषयों के समझने और परोपकार करने में संलग्न रहता है, सत्पुरुषों के मार्ग पर चलनेवाला और स्वार्थ-त्यागी है, वही राजा राज्य-संचालन के योग्य समझा जाता है।

यस्य चाराश्च मन्त्राश्च नित्यं चैव कृताकृताः।
न ज्ञायन्ते हि रिपुभिः स राजा राज्यमर्हति ॥२९॥

जिस राजा के गुप्तचर, गुप्त विचार, निश्चय किये हुए करने योग्य कर्म [निर्णय] और न किये [अधूरे छोड़े] हुए कर्म शत्रुओं द्वारा कभी जाने न जा सकें, वही राजा राज्य पाने का अधिकारी है।

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम्।
राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम् ॥३०॥

मनुष्य पहले राजा को प्राप्त करें। तत्पश्चात् पत्नी का परिग्रह और धन का सञ्चय करें। लोक-रक्षक राजा के न होने पर कैसे पत्नी सुरक्षित रहेगी और कैसे धन की रक्षा हो सकेगी!

तद्राज्ये राज्यकामानां नान्यो धर्मो सनातनः।
ऋते रक्षां तु विस्पष्टां रक्षा लोकस्य धारिणी ॥३१॥

राज्य चाहनेवाले राजाओं के लिए राज्य में प्रजा की भली-भाँति रक्षा को छोड़कर और कोई सनातन धर्म नहीं है। प्रजा की रक्षा ही जगत् को धारण करनेवाली है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

भीष्मजी द्वारा राज्य-रक्षा के साधनों का वर्णन, सायंकाल युधिष्ठिर आदि का हस्तिनापर में प्रवेश

भीष्म उवाच

कथितं राजधर्माणां नवनीतं युधिष्ठिर।
रक्षामेव प्रशंसन्ति साधनं चात्र मे शृणु ॥१॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! मैंने तुम्हारे समक्ष राजधर्मरूपी दूध के नवनीत [सार] का कथन कर दिया। नीति के सभी आचार्य राजा के लिए प्रजापालनरूप धर्म की ही प्रशंसा करते हैं, अतः इस रक्षात्मक धर्म के साधनों का वर्णन करता हूँ, सुनो!

चारश्च प्रणिधिश्चैव काले दानममत्सरात्।
युक्त्यादानं न चादानमयोगेन युधिष्ठिर ॥२॥
सतां संग्रहणं शौर्यं दाक्ष्यं सत्यं प्रजाहितम्।
अनार्जवैरार्जवैश्चैव शत्रुपक्षस्य भेदनम् ॥३॥
साधूनामपरित्यागः कुलीनानां च धारणम्।
निचयश्च निचेयानां सेवा बुद्धिमतामपि ॥४॥
बलानां हर्षणं नित्यं प्रजानामन्ववेक्षणम्।
कार्येष्वखेदः कोशस्य तथैव च विवर्धनम् ॥५॥
नीतिधर्मानुसरणं नित्यमुत्थानमेव च।
रिपूणामनवज्ञानं नित्यं चानार्यवर्जनम् ॥६॥

युधिष्ठिर! गुप्तचरों की नियुक्ति, दूसरे राष्ट्रों में राजदूत भेजना, सेवकों को उनके प्रति ईर्ष्या न रखते हुए समय पर वेतन और भत्ता देना, युक्तिपूर्वक कर लेना, अन्याय से प्रजा के धन को न हड़पना, सत्पुरुषों का संग्रह करना, शूरवीरता, कार्यदक्षता, सत्यभाषण, प्रजा का हितचिन्तन, सरल अथवा कुटिल उपायों से शत्रुपक्ष में फूट डालना, साधु पुरुषों का त्याग न करना, कुलीन मनुष्यों को अपने पास रखना, संग्रह करने योग्य वस्तुओं का संग्रह करना, बुद्धिमानों की सेवा करना, पुरस्कार प्रदान आदि द्वारा सेना का हर्ष और उत्साह बढ़ाना, सदा प्रजा की देखभाल करना, कार्य करने में कष्ट का अनुभव न करना, कोष की वृद्धि करना, नीतिधर्म का अनुसरण करना, सदा ही उद्योगशील बने रहना, शत्रुओं की ओर से सावधान रहना तथा नीच कर्मों और दुष्ट पुरुषों को सदा के लिए त्याग देना—ये सभी राज्य की रक्षा के साधन हैं।

उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत।
राजधर्मस्य तन्मूलं श्लोकांश्चात्र निबोध मे ॥७॥

बृहस्पति ने राजाओं के लिए उद्योग के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। उद्योग ही राजधर्म का मूल है। इस विषय में जो श्लोक हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो—

उत्थानेनामृतं लब्धमुत्थानेनासुरा हताः।
उत्थानेन महेन्द्रेण श्रैष्ठ्यं प्राप्तं दिवीह च ॥८॥

"देवराज इन्द्र ने उद्योग से ही अमृत प्राप्त किया, उद्योग से ही असुरों का संहार किया और उद्योग से ही देवलोक [त्रिविष्टप=तिब्बत] और इहलोक में श्रेष्ठता प्राप्त की।

उत्थानवीरः पुरुषो वाग्वीरानधितिष्ठति।
उत्थानवीरान् वाग्वीरा रमयन्त उपासते ॥९॥

"जो उद्योग में वीर [पुरुषार्थी] है, वह पुरुष वाग्वीर [वाचाल] पुरुषों पर अपना आधिपत्य जमा लेता है। वाग्वीर विद्वान् उद्योगवीर पुरुषों का मनोरंजन करते हुए उनकी उपासना करते हैं।

उत्थानहीनो राजा हि बुद्धिमानपि नित्यशः।
प्रधर्षणीयः शत्रूणां भुजङ्ग इव निर्विषः ॥१०॥

"जो राजा उद्योगहीन होता है, वह बुद्धिमान् होने पर भी विषरहित साँप की भाँति सदैव शत्रुओं द्वारा पराजित होता रहता है।

न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा।
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च ॥११॥

बलवान् पुरुष को चाहिए कि वह दुर्बल शत्रु की भी अवहेलना न करे, उसे छोटा न समझे, क्योंकि आग थोड़ी-सी भी हो तो भी जला डालती है और विष अल्प मात्रा में होने पर भी मार डालता है।

एकाङ्गेनापि सम्भूतः शत्रुर्दुर्गमुपाश्रितः।
सर्वं तापयते देशमपि राज्ञः समृद्धिनः ॥१२॥

चतुरङ्गिणी सेना [रथ, हाथी, घोड़े, पैदल] के एक अङ्ग से भी सम्पन्न हुआ शत्रु दुर्ग का आश्रय लेकर समृद्धिशाली राजा के सम्पूर्ण देश को सन्तप्त कर डालता है।

राज्यं हि सुमहत्तन्त्रं धार्यते नाकृतात्मभिः।
न शक्यं मृदुना बोढुमायासस्थानमुत्तमम् ॥१३॥

राज्य एक बहुत बड़ा तन्त्र है। जिन्होंने अपनी आत्मा को वश में नहीं किया है और जो बहुत कोमल प्रकृति के होते हैं, वे इसका भार वहन नहीं कर सकते। उनके लिए राज्य बहुत बड़ा जञ्जाल हो जाता है।

राज्यं सर्वामिषं नित्यमार्जवेनेह धार्यते।
तस्मान्मिश्रेण सततं वर्तितव्यं युधिष्ठिर ॥१४॥

युधिष्ठिर! राज्य सबके उपभोग की वस्तु है, अतः सदा सरलभाव से ही उसका सञ्चालन किया जा सकता है। इसलिए राजा में क्रूरता और कोमलता [तीक्ष्णता और मृदुता] दोनों भावों का सम्मिश्रण होना चाहिए।

यद्यप्यस्य विपत्तिः स्याद् रक्षमाणस्य वै प्रजाः।
सोऽप्यस्य विपुलो धर्म एवंवृत्ता हि भूमिपाः ॥१५॥

प्रजा की रक्षा करते हुए राजा के प्राण चले जाएँ तो भी वह उसके लिए महान् धर्म है। राजाओं के व्यवहार और बर्ताव ऐसे ही होने चाहिएँ।

एष ते राजधर्माणां लेशः समनुवर्णितः।
भूयस्ते यत्र सन्देहस्तद् ब्रूहि कुरुसत्तम ॥१६॥

कुरुश्रेष्ठ! यह मैंने तुम्हारे समक्ष राजधर्मों का लेशमात्र [थोड़ा-सा] वर्णन किया है। अब तुम्हें जिस बात में सन्देह हो वह पूछ लो।

वैशम्पायन उवाच

ततो दीनमना भीष्ममुवाच कुरुसत्तमः।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां पादौ तस्य शनैः स्पृशन् ॥१७॥
श्व इदानीं स्वसन्देहं प्रक्ष्यामि त्वां पितामह।
उपैति सविता ह्यस्तं रसमापीय पार्थिवम् ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मजी के ऐसा कहने पर कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर ने मन-ही-मन दुःखी हो दोनों आँखों में आँसू भरकर धीरे से भीष्मजी के चरणों का स्पर्श किया और कहा—"पितामह! इस समय सूर्य अपनी किरणों द्वारा पृथिवी के रस का पान करके अस्ताचल को जा रहा है, अतः अब मैं कल आपसे अपना सन्देह निवारण करूँगा।"

ततो द्विजातीनभिवाद्य केशवः
कृपश्च ते चैव युधिष्ठिरादयः।
प्रदक्षिणीकृत्य महानदीसुतं
ततो रथानारुरुहुर्मुदान्विताः ॥१९॥

तत्पश्चात् ब्राह्मणों को प्रणाम करके श्रीकृष्ण, कृपाचार्य और युधिष्ठिर आदि ने गङ्गानन्दन भीष्मजी की प्रदक्षिणा की। फिर वे प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने रथों पर आरूढ़ हो गये।

दृषद्वतीं चाप्यवगाह्य सुव्रताः
कृतोदकार्थाः कृतजप्यमङ्गलाः।
उपास्य सन्ध्यां विधिवत्परन्तपा-
स्ततः पुरं ते विविशुर्गजाह्वयम् ॥२०॥

मार्ग में दृषद्वती नदी में स्नान करके उत्तम व्रतों का पालन करनेवाले वे शत्रुसन्तापी वीर विधिपूर्वक आचमन, सन्ध्या और जप आदि मङ्गल कार्यों का अनुष्ठान करके वहाँ से हस्तिनापुर में लौट आये।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

वर्णाश्रम-धर्मों का वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः काल्यं समुत्थाय कृतपूर्वाह्णिकक्रियाः।
ययुस्ते नगराकारैः रथैः पाण्डवयादवाः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृप जनमेजय! रात्रि व्यतीत होने पर दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर पाण्डव और यदुवंशी वीर प्रातःकालीन कर्मों से निवृत्त हो नगराकार विशाल रथों पर सवार होकर हस्तिनापुर से चल दिये।

प्रतिपद्य कुरुक्षेत्रं भीष्ममासाद्य चानघ ।
निषेदुरभितो भीष्मं परिवार्य समन्ततः ।।२।।

निष्पाप नरेश ! कुरुक्षेत्र में जा भीष्मजी के पास पहुँचकर वे सब उन्हें चारों ओर से घेरकर उनके पास ही बैठ गये ।

ततो राजा महातेजा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्भीष्मं प्रतिपूज्य यथाविधि ।।३।।

तब महातेजस्वी धर्मराज राजा युधिष्ठिर ने भीष्मजी का विधिवत् सत्कार कर [चरण-स्पर्श और सुखपूर्वक रात्रि व्यतीत करने का समाचार पूछकर] उनसे दोनों हाथ जोड़कर कहा—

के धर्माः सर्ववर्णानां चातुर्वर्ण्यस्य के पृथक् ।
चातुर्वर्ण्याश्रमाणां च राजधर्माश्च के मताः ।।४।।

"पितामह ! कौन-से ऐसे धर्म हैं, जो सभी वर्णों के लिए उपयोगी हो सकते हैं ? चारों वर्णों के पृथक्-पृथक् धर्म कौन-से हैं ? चारों वर्णों के साथ चारों आश्रमों के धर्म कौन-से हैं तथा राजा द्वारा पालनीय धर्म कौन-कौन-से माने गये हैं ?"

भीष्म उवाच

अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः ।
अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम् ।।५।।

भीष्मजी बोले—बिना दी हुई वस्तु को न लेना, दान देना, वेद का अध्ययन करना, द्वन्द्वों का सहना, किसी भी प्राणी के प्रति वैर की भावना न रखना, सत्य बोलना, क्रोध न करना तथा यज्ञ करना—ये सब धर्म के लक्षण हैं ।

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा ।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च ।
आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः ।।६।।

किसी पर क्रोध न करना, सत्य बोलना, धन को बाँटकर भोग करना, क्षमाभाव रखना, अपनी ही पत्नी के गर्भ से सन्तान उत्पन्न करना, बाहर-भीतर से पवित्र रहना, किसी से द्रोह न करना, सरल भाव रखना, अपने आश्रित नौकर-चाकरों का भरण-पोषण करना—ये नौ धर्म सभी वर्णों के लिए समान उपयोगी हैं ।

ब्राह्मणस्य तु यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि केवलम् ।
दममेव महाराज धर्ममाहुः पुरातनम् ।।७।।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव तत्र कर्म समाप्यते ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।।८।।

अब मैं केवल ब्राह्मणों का जो धर्म है, उसे बता रहा हूँ । महाराज ! मनोनिग्रह को ब्राह्मणों का सनातन धर्म बताया गया है । वह दूसरा कर्म करे या न करे, उसे सदा वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए, क्योंकि इसी से उसके सब कामों की पूर्ति हो जाती है । सब जीवों के प्रति मैत्री-भाव रखने के कारण वह 'मैत्र' कहलाता है ।

क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत ।
दद्याद् राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत् ।।९।।
नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत् ।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात् पराक्रमम् ।।१०।।

भरतनन्दन ! अब क्षत्रिय का जो धर्म है वह बताता हूँ । राजन् ! क्षत्रिय दान दे परन्तु किसी से याचना न करे । वह स्वयं यज्ञ करे परन्तु पुरोहित बनकर दूसरों का यज्ञ न कराए । वह अध्ययन करे परन्तु दूसरों को न पढ़ाए और प्रजाओं का सब प्रकार से पालन करे । वह लुटेरे और डाकुओं का वध करने के लिए सदा तैयार रहे तथा रणभूमि में पराक्रम प्रकट करे ।

अविक्षतेन देहेन समराद् यो निवर्तते ।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ।।११।।

जो क्षत्रिय क्षत-विक्षत [शरीर पर घाव] हुए बिना ही युद्धभूमि से लौट आता है, उसके इस कर्म की सनातन धर्म को जाननेवाले विद्वान् प्रशंसा नहीं करते ।

दानमध्ययनं यज्ञो राज्ञां क्षेमो विधीयते ।
नास्य कृत्यतमं किञ्चिदन्यद् दस्युनिबर्हणात् ।।१२।।

यद्यपि दान, अध्ययन और यज्ञ—इनके अनुष्ठान से भी राजाओं का कल्याण होता है, तथापि लुटेरों के संहार से बढ़कर उनके लिए दूसरा कोई श्रेष्ठ कर्म नहीं है ।

परिनिष्ठितकार्यस्तु नृपतिः परिपालनात् ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यादैन्द्रो राजन्य उच्यते ।।१३।।

राजा दूसरा कर्म करे या न करे, प्रजा की रक्षा करनेमात्र से वह कृतकृत्य हो जाता है। उसमें इन्द्र [ऐश्वर्य-सम्बन्धी] बल की प्रधानता होने से राजा 'ऐन्द्र' कहलाता है।

वैश्यस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम्।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः ॥१४॥

अब वैश्य का जो सनातन धर्म है, वह तुम्हें बता रहा हूँ। दान देना, स्वाध्याय और यज्ञ करना तथा पवित्रतापूर्वक [ईमानदारी से] धन कमाना—ये वैश्य के कर्म हैं।

पितृवत् पालयेद् वैश्यो युक्तः सर्वान् पशूनिह।
विकर्म तद् भवेदन्यत् कर्म यत् स समाचरेत् ॥१५॥

वैश्य सदा प्रयत्नशील रहकर पुत्रों की रक्षा करनेवाले पिता के समान सब प्रकार के पशुओं का पालन करे। इन कर्मों के अतिरिक्त वह और जो कुछ भी करेगा, वह उसके लिए विपरीत कर्म ही होगा।

रक्षया स हि तेषां वै महत्सुखमवाप्नुयात्।
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून् ॥१६॥

पशु-पालन से वैश्य को महान् सुख की प्राप्ति होती है। प्रजापति ने पशुओं की सृष्टि करके उनके पालन का भार वैश्य को सौंप दिया था।

शूद्रस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत।
एतेषामेव वर्णानां परिचर्या विधीयते ॥१७॥

हे भारत! अब मैं तुम्हें शूद्र का धर्म बताता हूँ। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णों की सेवा करना ही शूद्र का शास्त्रविहित कर्म है।

तेषां शुश्रूषणाच्चैव महत् सुखमवाप्नुयात्।
शूद्र एतान् परिचरेत् त्रीन् वर्णाननुपूर्वशः ॥१८॥

वह उन तीनों वर्णों की सेवा से ही महान् सुख प्राप्त करता है, अतः शूद्र इन तीनों वर्णों की क्रमशः सेवा करे।

आश्रमाणां महाबाहो शृणु सत्यपराक्रम।
चतुर्णामपि नामानि कर्माणि च युधिष्ठिर ॥१९॥

सत्यपराक्रमी महाबाहु युधिष्ठिर! अब तुम चारों आश्रम के नाम और उनके कर्म सुनो।

वानप्रस्थं भैक्ष्यचर्यं गार्हस्थ्यं च महाश्रमम्।
ब्रह्मचर्याश्रमं प्राहुश्चतुर्थं ब्राह्मणैर्वृतम् ॥२०॥

ब्रह्मचर्य, महान् आश्रम गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, और भैक्ष्यचर्य [संन्यास]—ये चार आश्रम हैं। चतुर्थ आश्रम संन्यास का अवलम्बन केवल ब्राह्मणों ने किया है।

जटाधारणसंस्कारं द्विजातित्वमवाप्य च।
आधानादीनि कर्माणि प्राप्य वेदमधीत्य च ॥२१॥
सदारो वाप्यदारो वा आत्मवान् संयतेन्द्रियः।
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् कृतकृत्यो गृहाश्रमात् ॥२२॥

[ब्रह्मचर्य आश्रम में] चूड़ाकर्म संस्कार और उपनयन के पश्चात् द्विजत्व को प्राप्त हो वेदाध्ययन को समाप्त कर [समावर्तन के बाद विवाह करे, फिर] गृहस्थ-आश्रम में अग्निहोत्र आदि कर्म सम्पन्न करके इन्द्रियों को वश में रखते हुए मनस्वी पुरुष स्त्री को साथ लेकर अथवा बिना स्त्री के ही गृहस्थाश्रम से कृतकृत्य हो वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करे।

तत्रारण्यकशास्त्राणि समधीत्य स धर्मवित्।
ऊर्ध्वरेताः प्रव्रजित्वा गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥२३॥

वहाँ धर्मज्ञ मनुष्य आरण्यकशास्त्रों का अध्ययन करते हुए वानप्रस्थ धर्म का पालन करे। तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक उस आश्रम से निकल जाए तथा विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण कर ले। इस प्रकार संन्यास लेनेवाला मनुष्य अविनाशी परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

चरितब्रह्मचर्यस्य ब्राह्मणस्य विशाम्पते।
भैक्षचर्यास्वधीकारः प्रशस्त इह मोक्षिणः ॥२४॥

हे प्रजापाल! जिसने ब्रह्मचर्य का पालन किया है, उस ब्रह्मचारी ब्राह्मण के मन में यदि मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न हो जाए तो उसे ब्रह्मचर्य से ही संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने का उत्तम अधिकार प्राप्त हो जाता है।

यत्रास्तमितशायी स्यान्निराशीरनिकेतनः।
यथोपलब्धजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥२५॥

संन्यासी को चाहिए कि वह मन और इन्द्रियों को वश में रखते हुए मुनिवृत्ति से रहे। वह किसी वस्तु की कामना न करे। अपने लिए मठ या कुटी न बनवाए। निरन्तर घूमता रहे और जहाँ सूर्यास्त हो

वहीं ठहर जाए। प्रारब्धवश जो कुछ मिल जाए, उसी से जीवन-यापन करे।

निराशीः स्यात्सर्वसमो निर्भोगो निर्विकारवान्।
विप्रः क्षेमाश्रमं प्राप्तो गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥२६॥

आशा-तृष्णा का सर्वथा परित्याग करके सबके प्रति समभाव रखे। भोगों से दूर रहे और हृदय में किसी प्रकार का विकार न आने दे। इन्हीं सब धर्मों के कारण इस आश्रम को 'मोक्षाश्रम' कहते हैं। इस आश्रम में आया हुआ ब्राह्मण अविनाशी ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त कर लेता है।

स्वदारतुष्टस्त्वृतुकालगामी
नियोगसेवी न शठो न जिह्मः।
मिताशनो देवरतः कृतज्ञः
सत्यो मृदुश्चानृशंसः क्षमावान् ॥२७॥

गृहस्थ को चाहिए कि वह अपनी ही स्त्री के प्रति अनुराग रखता हुआ सन्तुष्ट रहे। ऋतुकाल में ही पत्नी के साथ गमन करे। शास्त्रों की आज्ञा का पालन करे। शठता और कुटिलता से दूर रहे, परि-मित भोजन करे, ब्रह्म एवं देवयज्ञ का अनुष्ठान करे, उपकार करनेवालों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करे, सत्य बोले, सबके प्रति मृदुभाव रखे। किसी के प्रति क्रूरता न करे और सदा क्षमाशील रहे।

शुश्रूषां सततं कुर्वन् गुरोः सम्प्रणमेत च।
षट्कर्मसु निवृत्तश्च न प्रवृत्तश्च सर्वशः ॥२८॥

ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह निरन्तर गुरु की सेवा में संलग्न रहता हुआ विनयशील बना रहे। जीवन-निर्वाह के उद्देश्य से किये जानेवाले यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन और दान तथा प्रतिग्रह—इन छह कर्मों से अलग रहे एवं कभी भी किसी असत् [खोटे] कर्म में प्रवृत्त न हो।

न चाऽऽत्यधिकारेण सेवेत द्विषतो न च।
एषाश्रमपदस्तात ब्रह्मचारिण इष्यते ॥२९॥

अपने अधिकार का प्रदर्शन करते हुए व्यवहार न करे, द्वेष रखनेवालों का सङ्ग न करे। तात युधिष्ठिर! ब्रह्मचारी के लिए यही आश्रम-धर्म अभीष्ट है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

राजा की आवश्यकता और उत्पत्ति का प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

चातुराश्रम्यमुक्तं ते चातुर्वर्ण्यं तथैव च।
राष्ट्रस्य यत् कृत्यतमं ततो ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! आपने आश्रमों और वर्णों के धर्म बतलाये। अब आप मुझे यह बताइए कि सम्पूर्ण राष्ट्र का—राष्ट्र में रहनेवाले प्रत्येक नागरिक का मुख्य कर्तव्य क्या है?

भीष्म उवाच

राष्ट्रस्यैतत् कृत्यतमं राज्ञ एवाभिषेचनम्।
अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवन्त्युत ॥२॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! राष्ट्र अथवा राष्ट्र-वासी प्रजा का सबसे प्रथम कार्य यह है कि वह किसी योग्य राजा का अभिषेक करे, क्योंकि राजारहित राष्ट्र निर्बल होता है। उसे डाकू और लुटेरे लूटते और सताते हैं।

अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम् ॥३॥

अराजक राष्ट्र में धर्म की स्थिति नहीं रहती, अतः वहाँ के लोग एक-दूसरे को हड़पने लगते हैं। अराजक देश को सर्वथा धिक्कार है!

नाराजकेषु राष्ट्रेषु वस्तव्यमिति रोचये।
न हि पापात्परतरमस्ति किञ्चिदराजकात् ॥४॥

मेरी रुचि तो यह है कि राजा से हीन देश में निवास नहीं करना चाहिए, क्योंकि पापपूर्ण अराजकता से बढ़कर और कोई पाप नहीं है।

प्रीयते हि हरन् पापः परवित्तमराजके।
यदास्य उद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति ॥५॥

अराजक राष्ट्र में दूसरे के धन का अपहरण करनेवाला पापाचारी मनुष्य बड़ा प्रसन्न होता है, परन्तु जब दूसरे लुटेरे उसका भी धन लूट लेते हैं,

तब वह राजा की ग्रावश्यकता ग्रनुभव करता है।

पापा ह्यपि तदा क्षेमं न लभन्ते कदाचन।
एकस्य हि द्वौ हरतो द्वयोश्च बहवोऽपरे ॥६॥

ग्रराजक देश में पापी मनुष्य भी कभी कुशलतापूर्वक नहीं रह सकते। एक का धन दो मिलकर उठा ले जाते हैं ग्रौर उन दोनों के धन को ग्रन्य बहुत-से लुटेरे लूटकर ले जाते हैं।

ग्रदासः क्रियते दासो ह्रियन्ते च बलात्स्त्रियः।
एतस्मात्कारणाद् देवाः प्रजापालान् प्रचक्रिरे ॥७॥

ग्रराजक राष्ट्र में जो दास नहीं है उसे दास बना लिया जाता है, स्त्रियों को बलपूर्वक हर लिया जाता है, ग्रतः विद्वानों ने प्रजापालक नरेशों की सृष्टि की।

राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः ॥८॥

यदि इस जगत् में पृथिवी पर राजा न हो तो बलवान् मनुष्य निर्बलों को ऐसे ही लूटकर खा जाएँ जैसे जल में बड़ी मछली छोटी को खा जाती है।

ग्रराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।
सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्ताः पितामहम् ॥६॥
ग्रनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश।
यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत्।
ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्द ताः ॥१०॥

हमने सुना है कि पूर्वकाल में राजा के न रहने पर प्रजावर्ग के लोग परस्पर एक-दूसरे को लूटते हुए नष्ट हो रहे थे, तब दुःख से पीड़ित हुई सारी प्रजाएँ एक-साथ मिलकर ब्रह्माजी के पास गईं ग्रौर उनसे कहने लगीं—"राजा के बिना तो हम लोग नष्ट हो रहे हैं। ग्राप हमें कोई ऐसा राजा दीजिए जो शासन करने में समर्थ हो। हम सब लोग मिलकर जिसकी पूजा करें ग्रौर जो निरन्तर हमारा पालन करता रहे।" तब ब्रह्माजी ने मनु को राजा होने की ग्राज्ञा दी परन्तु मनु ने उन प्रजाग्रों को स्वीकार नहीं किया।

मनुरुवाच

बिभेमि कर्मणः पापाद् राज्यं हि भृशदुस्तरम्।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा ॥११॥

महर्षि मनु ने कहा—भगवन्! मैं पापकर्म से बहुत डरता हूँ। राज्य-संचालन ग्रत्यन्त कठिन कर्म है—विशेषरूप से सदा मिथ्याचार में प्रवृत्त रहनेवाले मनुष्यों पर शासन करना तो ग्रौर भी कठिन है।

भीष्म उवाच

तमब्रुवन् प्रजा मा भैः कर्तृनेनो गमिष्यति।
पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च।
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्धनम् ॥१२॥

भीष्मजी कहते हैं—तब समस्त प्रजाग्रों ने मनु से कहा—"महाराज! ग्राप भयभीत न हों। पाप तो उन्हीं को लगेगा, जो उसे करेंगे। हम लोग ग्रापकी कोशवृद्धि के लिए पचास पशुग्रों पर एक पशु तथा स्वर्ण का भी पचासवाँ भाग देते रहेंगे ग्रौर ग्रनाज का दसवाँ भाग कर के रूप में देंगे।

यं च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति ॥१३॥

ग्राप जैसे राजा के द्वारा सुरक्षित हुई प्रजाएँ जो-जो धर्म करेंगी, उसका चौथा भाग ग्रापको मिलता रहेगा।

ततो महीं परिययौ पर्जन्य इव वृष्टिमान्।
शमयन् सर्वतः पापान् स्वकर्मसु च योजयन् ॥१४॥

तब प्रजा के निवेदन को स्वीकार करके मनु महाराज वर्षा करनेवाले मेघ के समान पापाचारियों को शान्त करते हुए ग्रौर उन्हें वर्णाश्रमोचित कर्मों में लगाते हुए भूमण्डल पर चारों ग्रोर विचरने लगे।

एवं ये भूतिमिच्छेयुः पृथिव्यां मानवाः क्वचित्।
कुर्युः राजानमेवाग्रे प्रजानुग्रहकारणात् ॥१५॥

इस प्रकार जो मनुष्य ऐश्वर्य-वृद्धि की कामना रखते हों, उन्हें सर्वप्रथम इस भूमण्डल में प्रजाग्रों पर ग्रनुग्रह करने के लिए कोई राजा ग्रवश्य बना लेना चाहिए।

कृतज्ञो दृढभक्तिः स्यात् संविभागी जितेन्द्रियः।
ईक्षितः प्रतिवीक्षेत मृदु वल्गु च सुष्ठु च ॥१६॥

राजा उपकार करनेवालों के प्रति कृतज्ञ तथा ग्रपने भक्तों पर सुदृढ़ स्नेह रखनेवाला हो। वह उपभोग में ग्रानेवाली वस्तुग्रों का यथायोग्य विभाजन करके उन्हें उपयोग में ले। इन्द्रियों को वशमें रखे।

जो उसकी ओर देखे [उससे कुछ आशा रखे] उसे वह भी देखे [उसकी आशा को पूर्ण करे] तथा स्वभाव से मृदु, मधुर और सरल रहे।

युधिष्ठिर उवाच

किमाहुर्दैवतं विप्रा राजानं भरतर्षभ।
मनुष्याणामधिपतिं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१७॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतश्रेष्ठ पितामह! जो मनुष्यों का अधिपति है, उस राजा को ब्राह्मण लोग देवतास्वरूप क्यों बतलाते हैं? कृपया यह मुझे बताएँ।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
बृहस्पतिं वसुमना यथा पप्रच्छ भारत ॥१८॥

भीष्मजी बोले—हे भारत! इस विषय में जानकार लोग उस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं, जिसके अनुसार राजा वसुमना ने बृहस्पतिजी से यही बात पूछी थी।

राजा वसुमना नाम कौसल्यो धीमतां वरः।
महर्षिं किल पप्रच्छ कृतप्रज्ञं बृहस्पतिम् ॥१९॥

कहते हैं, प्राचीनकाल में बुद्धिमानों में श्रेष्ठ कोसल नरेश वसुमना ने शुद्ध बुद्धिवाले महर्षि बृहस्पति से पूछा—

वसुमना उवाच

केन भूतानि वर्धन्ते क्षयं गच्छन्ति केन वा।
कमर्चन्तो महाप्राज्ञ सुखमव्ययमाप्नुयुः ॥२०॥

वसुमना ने पूछा—महाप्राज्ञ! राज्य में रहनेवाले प्राणियों की वृद्धि कैसे होती है? उनका ह्रास कैसे होता है? किस देवता की पूजा करनेवाले लोगों को अक्षय सुख की प्राप्ति हो सकती है?

बृहस्पतिरुवाच

राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ॥२१॥

बृहस्पतिजी ने कहा—महामते! संसार में जो धर्म देखा जाता है, उसका मूल कारण राजा ही है। राजा के भय से ही प्रजा एक-दूसरे को हड़प नहीं कर पाती है।

यथा ह्यनुदये राजन् भूतानि शशिसूर्ययोः।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम् ॥२२॥
एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः।
अन्धे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा ॥२३॥

राजन्! जैसे सूर्य और चन्द्रमा का उदय न होने पर समस्त प्राणी घोर अन्धकार में डूब जाते हैं और एक-दूसरे को देख नहीं पाते, वैसे ही राजा के बिना ये सारी प्रजाएँ परस्पर लड़-झगड़कर नष्ट हो जाएँगी और बिना चरवाहे के पशुओं की भाँति दुःख के घोर अन्धकार में डूब जाएँगी।

हरेयुर्बलवन्तोऽपि दुर्बलानां परिग्रहान्।
हन्युर्व्यायच्छमानाँश्च यदि राजा न पालयेत् ॥२४॥

यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे तो बलवान् मनुष्य दुर्बलों की बहू-बेटियों तथा धन को हर ले जाएँ और अपने घर-बार की रक्षा का प्रयत्न करनेवालों को मार डालें।

न दारा न च पुत्रः स्यान्न धनं न परिग्रहः।
विष्वग्लोपः प्रवर्तेत यदि राजा न पालयेत् ॥२५॥

यदि राजा रक्षा न करे तो संसार में स्त्री, पुत्र, धन अथवा घरबार—कुछ भी किसी का नहीं हो सकता, सब ओर सबकी सारी सम्पत्ति का लोप हो जाए।

यानं वस्त्रमलङ्कारान् रत्नानि विविधानि च।
हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत् ॥२६॥

यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो पापाचारी लुटेरे सहसा आक्रमण करके वाहन, वस्त्र, आभूषण और नाना प्रकार के रत्न लूट ले जाएँ।

न योनिदोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक्पथः।
मज्जेद्धर्मस्त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत् ॥२७॥

यदि राजा राष्ट्र का पालन न करे तो व्यभिचार से किसी को घृणा न हो, खेती नष्ट हो जाए, व्यापार चौपट हो जाए, धर्म रसातल को चला जाए और वेदों का कहीं पता भी न चले।

त्रस्तमुद्विग्नहृदयं हाहाभूतमचेतनम्।
क्षणेन विनशेत् सर्वं यदि राजा न पालयेत् ॥२८॥

यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे तो सारा जगत् भयभीत, उद्विग्नचित्त, हाहाकारपरायण और अचेत होकर क्षणभर में नष्ट हो जाए।

हस्ताद्धस्तं परिमुषेद् भिद्येरन् सर्वसेतवः ।
भयार्तं विद्रवेत् सर्वं यदि राजा न पालयेत् ॥२६॥

यदि राजा राष्ट्र का पालन न करे तो चोर और लुटेरे हाथ में रखी हुई वस्तु को भी हाथ से छीन ले जाएँ, सारी मर्यादाएँ नष्ट हो जाएँ और सब लोग भय से पीड़ित हो चारों ओर भागते फिरें।

अनयाः सम्प्रवर्तेरन् भवेद् वै वर्णसंकरः ।
दुर्भिक्षमाविशेद् राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत् ॥३०॥

यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे तो सर्वत्र अन्याय एवं अत्याचार फैल जाए, वर्णसंकर सन्तानें उत्पन्न होने लगें और सारे देश में अकाल पड़ जाए।

विवृत्य हि यथाकामं गृहद्वाराणि शेरते ।
मनुष्या रक्षिता राज्ञा समन्तादकुतोभयाः ॥३१॥

राजा के द्वारा रक्षित मनुष्य सब ओर से निर्भय हो जाते हैं, वे अपनी इच्छा के अनुसार घर के दरवाजे खोलकर सोते हैं।

स्त्रियाश्चापुरुषा मार्गं सर्वालङ्कारभूषिताः ।
निर्भयाः प्रतिपद्यन्ते यदि रक्षति भूमिपः ॥३२॥

यदि पृथिवी का पालन करनेवाला राजा अपने राज्य की रक्षा करता है तो समस्त आभूषणों से अलंकृत सुन्दरी स्त्रियाँ किसी पुरुष को साथ लिये बिना भी निर्भय होकर मार्ग से आती-जाती हैं।

धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंसन्ति परस्परम् ।
अनुगृह्णन्ति चान्योऽन्यं यदा रक्षति भूमिपः ॥३३॥

जब राष्ट्र राजा द्वारा रक्षित होता है तब लोग धर्म का ही पालन करते हैं, कोई किसी की हिंसा नहीं करता और सभी एक-दूसरे पर अनुग्रह रखते हैं।

यजन्ते च महायज्ञैस्त्रयो वर्णाः पृथग्विधैः ।
युक्ताश्चाधीयते विद्यां यदा रक्षति भूमिपः ॥३४॥

जब राजा रक्षा करता है तब तीनों वर्णों के लोग पञ्चमहायज्ञों [ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ] का अनुष्ठान करते हैं और मनोयोगपूर्वक विद्याध्ययन में लगे रहते हैं।

यस्याभावेन भूतानामभावः स्यात् समन्ततः ।
भावे च भावो नित्यं स्यात् कस्तं न प्रतिपूजयेत् ॥३५॥

जिसके न रहने पर सब ओर से समस्त प्राणियों का अभाव होने लगता है और जिसके रहने पर सदा सबका अस्तित्व बना रहता है, उस राजा का पूजन [आदर-सत्कार] कौन नहीं करेगा ?

न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥३६॥

'यह भी एक मनुष्य है'—ऐसा समझकर पृथिवीपालक नरेश की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि राजा मनुष्यरूप में एक महान् देवता है।

युधिष्ठिर उवाच

य एष राजन् राजेति शब्दश्चरति भारत ।
कथमेष समुत्पन्नस्तन्मे ब्रूहि परन्तप ॥३७॥

युधिष्ठिर ने पूछा—शत्रुसन्तापक भरतवंशी नरश्रेष्ठ ! लोक में जो यह 'राजा' शब्द प्रचलित है, इसकी उत्पत्ति कैसे हुई ? यह मुझे बताने की कृपा करें।

भीष्म उवाच

नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः ।
यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत् ॥३८॥

भीष्मजी बोले—पुरुषसिंह ! आदि सत्ययुग में जिस प्रकार राजा और राज्य की उत्पत्ति हुई वह सारा वृत्तान्त तुम एकाग्र होकर सुनो।

न वै राज्यं न राजासीन्न च दण्डो न दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥३९॥

पहले न कोई राज्य था, न राजा, न दण्ड था और न दण्ड देनेवाला, सम्पूर्ण प्रजा धर्म के द्वारा ही एक-दूसरे की रक्षा करती थी।

पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत ।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत् ॥४०॥

हे भारत ! सब मनुष्य धर्म के द्वारा परस्पर पालित और पोषित होते थे। कुछ समय पश्चात् लोग परस्पर संरक्षण-कार्य में महान् कष्ट का अनुभव करने लगे, फिर उन सबपर मोह छा गया।

ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ ।
प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत् ॥४१॥

नरश्रेष्ठ ! जब सभी मनुष्य मोह के वशीभूत हो गये, तब कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से शून्य होने के कारण उनके धर्म का नाश हो गया।

नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा।
लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥४२॥

भरतश्रेष्ठ ! कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान नष्ट हो जाने पर मोह के वशीभूत हुए सब मनुष्य लोभ के अधीन हो गये।

अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः।
कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो ॥४३॥

तत्पश्चात् जो वस्तु उन्हें प्राप्त नहीं थी, उसे पाने का वे प्रयत्न करने लगे। प्रभो ! इतने में ही काम नामक दूसरे दोष ने उन्हें घेर लिया।

तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नाम समस्पृशत्।
रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्ये युधिष्ठिर ॥४४॥

युधिष्ठिर ! काम के अधीन हुए उन मनुष्यों पर राग नामक शत्रु ने आक्रमण कर दिया। राग के चंगुल में फँसकर वे ये न जान सके कि कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है ?

अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च।
भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन् ॥४५॥

राजेन्द्र ! उन्होंने अगम्यागमन, वाच्य-अवाच्य, भक्ष्य-अभक्ष्य और दोष-अदोष— कुछ भी नहीं छोड़ा।

विप्लुते नरलोके वै ब्रह्म चैव ननाश ह।
नाशाच्च ब्रह्मणो राजन् धर्मो नाशमथागमत् ॥४६॥

इस प्रकार मनुष्यलोक में धर्म का नाश हो जाने पर वेदों के स्वाध्याय का भी लोप हो गया। राजन् ! वैदिक ज्ञान का लोप होने से यज्ञादि कर्मों का भी नाश हो गया।

नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवांस्त्रासः समाविशत्।
ते त्रस्ता नरशार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥४७॥

इस प्रकार जब वेद और धर्म का नाश होने लगा तब विद्वानों के मन में भय समा गया। पुरुष-सिंह ! वे भयभीत होकर ब्रह्माजी की शरण में गये।

प्रसाद्य भगवन्तं ते देवं लोकपितामहम्।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे दुःखवेगसमाहताः ॥४८॥

लोकपितामह भगवान् ब्रह्मा को प्रसन्न [आदर-सत्कार] करके दुःख के वेग से पीड़ित हुए समस्त देव [विद्वान्] हाथ जोड़कर उनसे बोले—

भगवन् नरलोकस्थं ग्रस्तं ब्रह्म सनातनम्।
लोभमोहादिभिर्भावैस्ततो नो भयमाविशत् ॥४९॥

"भगवन् ! मनुष्यलोक में लोभ, मोह आदि दूषित भावों ने सनातन वैदिक ज्ञान को लुप्त कर डाला है, अतः हमारे हृदयों में भय समा गया है।"

तानुवाच सुरान् सर्वान् स्वयम्भूर्भगवांस्ततः।
श्रेयोऽहं चिन्तयिष्यामि व्येतु वो भीः सुरर्षभाः ॥५०॥

तब भगवान् ब्रह्मा ने उन सब देवों=विद्वानों से कहा—"श्रेष्ठ सुरगण ! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिए। मैं तुम्हारे कल्याण का उपाय सोचूँगा।"

ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्।
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः ॥५१॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजी ने अपनी बुद्धि से एक लाख अध्यायों का एक ऐसा नीतिशास्त्र रचा, जिसमें धर्म, अर्थ और काम का विस्तारपूर्वक वर्णन था।

देवानुवाच संहृष्टस्ततः स भगवान् प्रभुः।
उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च।
नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता ॥५२॥

इस शास्त्र का निर्माण करके ब्रह्माजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—"देवगण ! समस्त जगत् के उपकार और धर्म, अर्थ तथा काम की स्थापना के लिए वाणी का सारभूत यह विचार यहाँ प्रकट किया गया है।

दण्डेन नीयते चेदं दण्डं नयति वा पुनः।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रींल्लोकानभिवर्तते ॥५३॥

इस शास्त्र के अनुसार दण्ड के द्वारा जगत् का सन्मार्ग पर स्थापन किया जाता है तथा राजा इसके अनुसार प्रजावर्ग में दण्ड की स्थापना करता है, अतः यह विद्या दण्डनीति के नाम से विख्यात है। इसका तीनों लोकों में विस्तार होगा।"

ततस्तां भगवान् नीतिं पूर्वं जग्राह शङ्करः।
बहुरूपो विशालाक्षः शिवः स्थाणुरुमापतिः ॥५४॥

तत्पश्चात् सबसे पूर्व भगवान् शङ्कर ने इस नीतिशास्त्र को ग्रहण किया। वे बहुरूप, विशालाक्ष, शिव, स्थाणु, उमापति आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

प्रजानामायुषो ह्रासं विज्ञाय भगवाञ्छिवः।
संचिक्षेप ततः शास्त्रं महार्थं ब्रह्मणा कृतम्।
वैशालाक्षमिति प्रोक्तं तदिन्द्रः प्रत्यपद्यत ॥५५॥

भगवान् शिव ने प्रजावर्ग की आयु का ह्रास होता जानकर ब्रह्माजी द्वारा रचित उस महान् अर्थ से भरे हुए शास्त्र का संक्षेप किया था, अतः इसका नाम 'वैश लाक्ष' हो गया। फिर इसे इन्द्र ने ग्रहण किया।

दशाध्यायसहस्राणि सुब्रह्मण्यो महातपाः।
भगवानपि तच्छास्त्रं संञ्चिक्षेप पुरन्दरः।
सहस्रैः पञ्चभिस्तात यदुक्तं बाहुदन्तकम् ॥५६॥

महातपस्वी सुब्रह्मण्य भगवान् पुरन्दर ने जब इसे ग्रहण किया तब इसमें दस सहस्र अध्याय थे। फिर उन्होंने भी इसका संक्षेप किया, जिससे यह पाँच सहस्र अध्यायों का ग्रन्थ हो गया। तात ! यही ग्रन्थ 'बाहुदन्तक' नामक नीतिशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

अध्यायानां सहस्रैस्तु त्रिभिरेव बृहस्पतिः।
संचिक्षेपेश्वरो बुद्ध्या बार्हस्पत्यं तदुच्यते ॥५७॥

तदनन्तर सामर्थ्यशाली बृहस्पति ने अपनी बुद्धि से उसका संक्षेप किया, तब इसमें तीन सहस्र अध्याय रह गये। यही 'बार्हस्पत्य' नीतिशास्त्र कहलाता है।

अध्यायानां सहस्रेण काव्यः संक्षेपमब्रवीत्।
तच्छास्त्रममितप्रज्ञो योगाचार्यो महायशाः ॥५८॥

तत्पश्चात् महायशस्वी, योगशास्त्र के आचार्य और अमित बुद्धिमान् शुक्राचार्य ने एक हजार अध्यायों में इस शास्त्र का संक्षेप किया।

एवं लोकानुरोधेन शास्त्रमेतन्महर्षिभिः।
संक्षिप्तमायुर्विज्ञाय मर्त्यानां ह्रासमेव च ॥५९॥

इस प्रकार मनुष्यों की आयु का ह्रास होता जानकर संसार के कल्याण के लिए महर्षियों ने इस शास्त्र का संक्षेप किया है।

अथ देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम्।
एकोऽयोऽर्हति मर्त्येभ्यः श्रैष्ठ्यं वै तं समादिश ॥६०॥

तदनन्तर देवों [विद्वानों] ने प्रजापति विष्णु के पास जाकर उनसे निवेदन किया—"भगवन् ! मनुष्यों में जो एक पुरुष सबसे श्रेष्ठ पद प्राप्त करने का अधिकारी हो, उसका नाम निर्देश कीजिए।"

मुहूर्तं सञ्चिन्त्य विष्णुस्तानुवाच ततः सुरान्।
राजा भवतु सर्वेषां पृथुर्वैन्यः प्रतापवान् ॥६१॥

विष्णुजी एक मुहूर्त तक सोच-विचारकर उन देवों [विद्वानों] से बोले—"वेन के पुत्र महाप्रतापी पृथु आप सबके राजा होने योग्य हैं।"

रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते।
ब्राह्मणानां क्षतत्राणात् ततः क्षत्रिय उच्यते ॥६२॥

उन्होंने समस्त प्रजा का रञ्जन किया था, अतः वे राजा कहलाते थे और ब्राह्मणों का क्षत से त्राण करने के कारण वे क्षत्रिय कहलाने लगे।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

राजा के प्रधान कर्तव्यों और दण्डनीति द्वारा युगों के निर्माण का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

पार्थिवेन विशेषेण किं कार्यमवशिष्यते।
कथं रक्ष्यो जनपदः कथं जेयाश्च शत्रवः ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! राजा के द्वारा विशेषरूप से पालन करने योग्य और कौन-सा कार्य शेष है ? उसे ग्रामों की रक्षा कैसे करनी चाहिए तथा शत्रुओं को किस प्रकार जीतना चाहिए ?

कथं चारं प्रयुञ्जीत वर्णान् विश्वासयेत्कथम्।
कथं भृत्यान् कथं दारान् कथं पुत्रांश्च भारत ॥२॥

हे भारत ! राजा गुप्तचर की नियुक्ति कैसे करे ? सब वर्णों के मन में विश्वास कैसे उत्पन्न करे ? वह सेवकों, स्त्रियों और पुत्रों को कैसे कार्य में लगाए और उनके मन में कैसे विश्वास पैदा करे ?

भीष्म उवाच

राजवृत्तं महाराज शृणुष्वावहितोऽखिलम्।
यत् कार्यं पार्थिवेनादौ पार्थिवप्रकृतेन वा ॥३॥

भीष्मजी ने कहा—महाराज ! क्षत्रिय राजा अथवा राजकार्य करनेवाले अन्य पुरुष को सबसे

प्रथम जो कार्य करना चाहिए, वह सारा राजकीय आचार-व्यवहार सावधान होकर सुनो।

आत्मा जेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः।
अजितात्मा नरपतिर्विजयेत कथं रिपून् ॥४॥

राजा को सर्वप्रथम सदा अपने आपपर विजय प्राप्त करनी चाहिए, तत्पश्चात् शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए। जिस राजा ने अपने-आप पर विजय नहीं पाई, वह शत्रुओं पर विजय कैसे पा सकता है?

एतावानात्मविजयः पञ्चवर्गविनिग्रहः।
जितेन्द्रियो नरपतिर्बाधितुं शक्नुयादरीन् ॥५॥

आँख-कान आदि पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना ही स्वयं पर विजय पाना है। जितेन्द्रिय राजा ही शत्रुओं का दमन कर सकता है।

न्यसेत गुल्मान् दुर्गेषु सन्धौ च कुरुनन्दन।
नगरोपवने चैव पुरोद्यानेषु चैव हि ॥६॥

कुरुनन्दन! राजा को दुर्गों [किलों], राज्य की सीमा पर तथा नगर और गाँवों के मध्य में सेना रखनी चाहिए।

संस्थानेषु च सर्वेषु पुरेषु नगरेषु च।
मध्ये च नरशार्दूल तथा राजनिवेशने ॥७॥

नरसिंह! इसी प्रकार सभी पड़ावों पर, बड़े-बड़े ग्रामों और नगरों में, अन्तःपुर में तथा राजमहल के आसपास भी रक्षक सैनिकों की नियुक्ति करनी चाहिए।

प्रणिधींश्च ततः कुर्याज्जडान्धबधिराकृतीन्।
पुंसः परीक्षितान् प्राज्ञान् क्षुत्पिपासाश्रमक्षमान् ॥८॥

तत्पश्चात् सुपरीक्षित, जो बुद्धिमान् होने पर भी देखने में गूंगे, अन्धे तथा बहरे-से प्रतीत हों, जो भूख-प्यास और परिश्रम सहने की शक्ति रखते हों, ऐसे लोगों को गुप्तचर बनाकर आवश्यक कार्यों में नियुक्त करना चाहिए।

अमात्येषु च सर्वेषु मित्रेषु विविधेषु च।
पुत्रेषु च महाराज प्रणिदध्यात् समाहितः ॥९॥

महाराज! राजा को चाहिए कि वह एकाग्रचित्त हो सब मन्त्रियों, नाना प्रकार के मित्रों और पुत्रों पर भी गुप्तचर नियुक्त करे।

पुरे जनपदे चैव तथा सामन्तराजसु।
यथा न विद्युरन्योन्यं प्रणिधेयास्तथा हि ते ॥१०॥

नगर, जनपद तथा जहाँ मल्ल लोग व्यायाम करते हों उन स्थानों में ऐसी युक्ति से गुप्तचर नियुक्त करने चाहिएँ, जिससे वे आपस में भी एक-दूसरे को न पहचान सकें।

चारांश्च विद्यात् प्रहितान् परेण भरतर्षभ।
आपणेषु विहारेषु समाजेषु च भिक्षुषु ॥११॥
आरामेषु तथोद्याने पण्डितानां समागमे।
देशेषु चत्वरे चैव सभास्वावसथेषु च ॥१२॥

भरतभूषण! राजा को अपने गुप्तचरों द्वारा बाजारों, लोगों के घूमने-फिरने के स्थानों, सामाजिक उत्सवों, भिक्षुओं की टोलियों, बगीचों, उद्यानों, विद्वानों की सभाओं, विभिन्न प्रान्तों, चौराहों, सभाओं और धर्मशालाओं में शत्रुओं के भेजे हुए गुप्तचरों का पता लगाते रहना चाहिए।

एवं विचिनुयाद् राजा परचारं विचक्षणः।
चारे हि विदिते पूर्वं हितं भवति पाण्डव ॥१३॥

पाण्डुपुत्र! इस प्रकार बुद्धिमान् राजा शत्रु के गुप्तचरों का पता लगाता रहे। यदि वह शत्रु के गुप्तचरों का पहले ही पता लगा लेता है, तो इससे उसका बहुत बड़ा हित होता है।

यदा तु हीनं नृपतिर्विद्यादात्मानमात्मना।
अमात्यैः सह सम्मन्त्र्य कुर्यात्सन्धिं बलीयसा ॥१४॥

यदि राजा को अपना पक्ष स्वयं ही निर्बल जान पड़े तो अपने मन्त्रियों के साथ परामर्श करके बलवान् शत्रु के साथ सन्धि कर लेनी चाहिए।

उच्छिद्यमानमात्मानं ज्ञात्वा राजा महामतिः।
पूर्वापकारिणो हन्याल्लोकद्विष्टांश्च सर्वशः ॥१५॥

यदि यह पता लग जाए कि कोई हमारी जड़ उखाड़ रहा है तो परम बुद्धिमान् राजा पहले के अपकारियों को और जनता के साथ द्वेष रखनेवालों को सर्वथा नष्ट कर दे।

व्यासक्तं यदि विज्ञातं दुर्बलं च विचक्षणः।
यात्रामाज्ञापयेद् वीरः कल्यः पुष्टबलः सुखी ॥१६॥

यदि शत्रु दूसरों के साथ युद्ध में लगा हुआ तथा

दुर्बल जान पड़े और इधर अपनी सेना प्रबल हो तो युद्धनिपुण, सुख के साधनों से सम्पन्न तथा वीर राजा को उचित है कि वह अपनी सेना को शत्रु पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दे।

न च वश्यो भवेदस्य नृपो यश्चातिवीर्यवान्।
हीनश्च बलवीर्याभ्यां कर्षयंस्तत्परो वसेत् ॥१७॥

बल और पराक्रम से हीन राजा को चाहिए कि वह अपने से अत्यन्त शक्तिशाली नरेश के अधीन भी न रहे। उसे चाहिए कि वह गुप्तरूप से प्रबल शत्रु को क्षीण करने का प्रयत्न करता रहे।

राष्ट्रं च पीडयेत्तस्य शस्त्राग्निविषमूर्च्छनैः।
अमात्यवल्लभानां च विवादांस्तस्य कारयेत् ॥१८॥

उसे चाहिए कि शस्त्रों के प्रहार से घायल करके, आग लगाकर तथा विष के प्रयोग द्वारा मूर्च्छित करके शत्रु के राष्ट्र में रहनेवाले लोगों को पीड़ा दे। मन्त्रियों तथा राजा के प्रिय व्यक्तियों में कलह करा दे।

वर्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धीमता।
उपायैस्त्रिभिरादानमर्थस्याह बृहस्पतिः ॥१९॥
सान्त्वेन तु प्रदानेन भेदेन च नराधिप।
यदर्थं शक्नुयात्प्राप्तं तेन तुष्येद्धि पण्डितः ॥२०॥

जो बुद्धिमान् राजा राज्य का हित चाहे, उसे सदा युद्ध को टालने का ही प्रयत्न करना चाहिए। नरेश्वर! बृहस्पतिजी ने साम, दान और भेद—इन तीन उपायों से ही राजा के लिए धन की आय बताई है। इन उपायों से जो धन प्राप्त हो सके, विद्वान् राजा को उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए।

आददीत बलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन।
स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये ॥२१॥

कुरुनन्दन! बुद्धिमान् नरेश प्रजाजनों से उन्हीं की रक्षा के लिए उनकी आय का छठा भाग कर के रूप में ग्रहण करे।

दशधर्मगतेभ्यो यद् वसु बह्वल्पमेव च।
तन्नाददीत सहसा पौराणां रक्षणाय वै ॥२२॥

मत्त-उन्मत्त आदि जो दस[1] प्रकार के दण्डनीय मनुष्य हैं, उनसे थोड़ा या अधिक जो धन दण्ड के रूप में प्राप्त हो, उसे नगरवासियों की रक्षा के लिए ही सहसा ग्रहण कर ले।

यथा पुत्रास्तथा पौत्रा द्रष्टव्यास्ते न संशयः।
भक्तिश्चैषां न कर्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते ॥२३॥

राजा को चाहिए कि वह अपनी प्रजा को पुत्रों और पौत्रों की भाँति स्नेह-दृष्टि से देखे, परन्तु न्याय करते समय स्नेहवश किसी के साथ पक्षपात नहीं करना चाहिए।

आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान्वा पुरुषान्हितान् ॥२४॥

स्वर्ण आदि की खान, नमक, अनाजादि की मण्डी, नाव के घाट और हाथियों के यूथ—इन सब स्थानों पर होनेवाली आय के निरीक्षण के लिए मन्त्रियों को अथवा अपना हित चाहनेवाले विश्वसनीय पुरुषों को राजा नियुक्त करे।

नित्यमुद्यतदण्डः स्यादाचरेदप्रमादतः।
लोके चायव्ययौ दृष्ट्वा बृहद्वृक्षमिवास्रवत् ॥२५॥

वह सदा अपराधियों को दण्ड देने के लिए उद्यत रहे, प्रत्येक कार्य सावधानी के साथ करे। लोगों का आय-व्यय देखकर ताड़ के वृक्ष से रस निकालने की भाँति उससे धनरूपी रस ले अर्थात् जैसे रस-प्राप्ति के लिए पेड़ को नहीं काटा जाता उसी प्रकार कर-प्राप्ति के लिए प्रजा का उच्छेद न करे।

दण्डे त्रिवर्गः सततं सुप्रणीते प्रवर्तते।
दैवं हि परमो दण्डो रूपतोऽग्निरिवोत्थितः ॥२६॥

दण्ड का ठीक-ठीक प्रयोग होने पर राजा के धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि सदा होती रहती है, अतः दण्ड महान् देवता है। यह अग्नि के समान तेजस्वी रूप से प्रकट हुआ है।

न स्याद् यदीह दण्डो वै प्रमथेयुः परस्परम्।
भयाद्दण्डस्य नान्योऽन्यं घ्नन्ति चैव युधिष्ठिर ॥२७॥

युधिष्ठिर! यदि संसार में दण्ड की व्यवस्था

---

[1] दस प्रकार के अपराधी निम्न हैं—१. मत्त, २. उन्मत्त, ३. दस्यु, ४. तस्कर=चोर, ५. प्रतारक=ठग ६. शठ, ७. लम्पट, ८. जुआरी, ९. कृत्रिम लेखक, और १०. घूसखोर।

न होती तो सब लोग एक-दूसरे को नष्ट कर डालते। दण्ड के भय से ही मनुष्य आपस में मार-काट नहीं मचाते हैं।

दण्डेन रक्ष्यमाणा हि राजन्नहरहः प्रजाः।
राजानं वर्धयन्तीह तस्माद् दण्डः परायणम् ॥२८॥

राजन्! दण्ड से सुरक्षित रहती हुई प्रजा ही इस लोक में अपने राजा को प्रतिदिन धन-धान्य से सम्पन्न करती रहती है, अतः दण्ड ही सबको आश्रय देनेवाला है।

माता पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥२९॥

माता, पिता, भाई, स्त्री तथा पुरोहित कोई भी क्यों न हो, जो अपने धर्म में स्थिर नहीं रहता, उसे राजा अवश्य दण्ड दे, राजा के लिए कोई भी अदण्डनीय नहीं है।

विभज्य दण्डः कर्तव्यो धर्मेण न यदृच्छया।
दुष्टानां निग्रहो दण्डो हिरण्यं बाह्यतः क्रिया ॥३०॥

परन्तु धर्म के अनुसार न्याय-अन्याय का विचार करके ही दण्ड का विधान करना चाहिए, मनमानी नहीं करनी चाहिए। दण्ड का मुख्योद्देश्य है—दुष्टों का दमन करना, न कि स्वर्णमुद्राएं लेकर कोष को भरना। दण्ड के रूप में धन लेना तो गौण कर्म है।

व्यङ्गत्वं च शरीरस्य वधो नाल्पस्य कारणात्।
शरीरपीडास्तास्ताश्च देहत्यागो विवासनम् ॥३१॥

किसी छोटे-से अपराध पर प्रजा का अङ्ग-भङ्ग करना, उसका वध कर देना, उसे नाना प्रकार की यातनाएँ देना, उसे देहत्याग के लिए विवश करना अथवा देश से निकाल देना कदापि उचित नहीं है।

सम्यग्दण्डधरो नित्यं राजा धर्ममवाप्नुयात्।
नृपस्य सततं दण्डः सम्यग्धर्मः प्रशस्यते ॥३२॥

भली-भाँति दण्ड धारण करनेवाला राजा सदा धर्म का भागी होता है। सदा दण्ड धारण किये रहना राजा के लिए श्रेष्ठ धर्म है और इसकी प्रशंसा की गई है।

वेदवेदाङ्गवित् प्राज्ञः सुतपस्वी नृपो भवेत्।□
दानशीलश्च सततं यज्ञशीलश्च भारत ॥३३॥

हे भारत! राजा को वेद और वेदाङ्गों का विद्वान्, बुद्धिमान्, तपस्वी, सदा दानशील और यज्ञ-परायण होना चाहिए।

एते गुणाः समस्ताः स्युर्नृपस्य सततं स्थिराः।
व्यवहारलोपे नृपतेः कुतो स्वर्गः कुतो यशः ॥३४॥

ये सारे गुण राजा में स्थिरभाव से रहने चाहिएँ। यदि राजा का न्यायोचित व्यवहार ही लुप्त हो गया तो उसे न स्वर्ग की ही प्राप्ति हो सकती है और न यश की।

यदा तु पीडितो राजा भवेद् राज्ञा बलीयसा।
तदाभिसंश्रयेद् दुर्गं बुद्धिमान् पृथिवीपतिः ॥३५॥

बुद्धिमान् पृथिवीपालक नरेश जब किसी अत्यन्त बलवान् राजा से पीड़ित होने लगे, तब उसे दुर्ग का आश्रय लेना चाहिए।

ये गुप्ताश्चैव दुर्गाश्च देशास्तेषु प्रवेशयेत्।
धनिनो बलमुख्यांश्च सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ॥३६॥

राज्य में जो धनी और सेना के प्रधान-प्रधान अधिकारी हों अथवा जो प्रमुख सेनाएँ हों उन सबको बारम्बार सान्त्वना देकर ऐसे स्थानों में रख दे जो अत्यन्त गुप्त और दुर्गम हों।

सस्याभिहारं कुर्याच्च स्वयमेव नराधिपः।
असम्भवे प्रवेशस्य दाहयेदग्निना भृशम् ॥३७॥

राजा स्वयं ही ध्यान देकर खेतों में तैयार हुई अन्न की फसल को कटवाकर किले के भीतर रखवा ले। यदि किले में लाना सम्भव न हो तो उन फसलों को आग लगाकर जला दे।

क्षेत्रस्थेषु च सस्येषु शत्रोरुपजपेन्नरान्।
विनाशयेद् वा तत्सर्वं बलेनाथ स्वकेन वा ॥३८॥

शत्रु के खेतों में जो अन्न हों, उन्हें नष्ट करने के लिए वहीं के लोगों में फूट डाल दे अथवा अपनी ही सेना द्वारा उस सबको नष्ट करा दे, जिससे शत्रु के पास खाद्य-सामग्री का अभाव हो जाए।

नदीमार्गेषु च तथा संक्रमानवसादयेत्।
जलं विस्रावयेत् सर्वमविस्राव्यं च दूषयेत् ॥३९॥

नदी के मार्गों पर जो पुल पड़ते हों उन सबको तुड़वा दे। शत्रु के मार्ग में जो जलाशय हों उनका सारा जल इधर-उधर बहा दे। जो जल बहाया न

जा सके उसे दूषित कर दे, जिससे वह पीने योग्य न रह जाए।

द्वारेषु च गुरूण्येव यन्त्राणि स्थापयेत्सदा।
आरोपयेच्छतघ्नीश्च स्वाधीनानि च कारयेत् ॥४०॥

किले अथवा नगर के सभी द्वारों पर भारी-भारी यन्त्र और तोप सदा लगाए रखे और उन सबको अपने अधिकार में रखे।

काष्ठानि चाभिहार्याणि तथा कूपांश्च खानयेत्।
संशोधयेत् तथा कूपान्कृतपूर्वान्पयोऽर्थिभिः ॥४१॥

किले के भीतर बहुत-सा ईंधन इकट्ठा कर ले और कुएँ खुदवाए। जल पीने की इच्छावालों ने पहले जो कुएँ बना रखे हों उनको भी पानी निकलवा-कर शुद्ध करा ले।

नक्तमेव च भक्तानि पाचयेत नराधिपः।
न दिवा ज्वालयेदग्निं वर्जयित्वाऽग्निहोत्रकम् ॥४२॥

राजा को चाहिए कि वह युद्ध के अवसरों पर नगर के लोगों को रात्रि में ही भोजन बनाने की आज्ञा दे। दिन में अग्निहोत्र को छोड़कर और किसी काम के लिए कोई आग न जलाए।

महादण्डश्च तस्य स्याद्यस्याग्निर्वै दिवा भवेत्।
प्रघोषयेदथैवं च रक्षणार्थं पुरस्य वै ॥४३॥

नगर की रक्षा के लिए यह घोषणा करा दे कि—"जिसके यहाँ दिन में आग जलती हुई पाई जाएगी, उसे बड़ा भारी दण्ड दिया जाएगा।"

भिक्षुकांश्चाक्रिकांश्चैव क्लीबोन्मत्तान् कुशीलवान्।
बाह्यान् कुर्यान्नरश्रेष्ठ दोषाय स्युर्हि तेऽन्यथा ॥४४॥

नरश्रेष्ठ! जब युद्ध छिड़ रहा हो उस समय राजा को चाहिए कि वह भीख माँगनेवालों, गाड़ी-वानों, हीजड़ों, पागलों और नाटक करनेवालों को नगर से बाहर निकाल दे, अन्यथा वे बहुत बड़ी विपत्ति ला सकते हैं।

चत्वरेष्वथ तीर्थेषु सभास्वावसथेषु च।
यथार्थवर्णं प्रणिधिं कुर्यात्सर्वस्य पार्थिवः ॥४५॥

राजा को चाहिए कि वह चौराहों पर, तीर्थों में और धर्मशालाओं में सबकी मनोवृत्ति को जानने के लिए किसी उत्तम वर्णवाले पुरुष को गुप्तचर नियुक्त करे।

विशालान् राजमार्गांश्च कारयीत नराधिपः।
प्रपाश्च विपणांश्चैव यथोद्देशं समाविशेत् ॥४६॥

प्रत्येक नरेश को बड़ी-बड़ी सड़कें बनवानी चाहिएँ और जहाँ जैसी आवश्यकता हो उसी के अनुसार जलक्षेत्र [प्याऊ] और बाजारों की व्यवस्था करनी चाहिए।

भाण्डागारायुधागारान् योधागारांश्च सर्वशः।
न जात्वन्यः प्रपश्येत गुह्यमेतद् युधिष्ठिर ॥४७॥

युधिष्ठिर! अन्न के भण्डार, शस्त्रागार और योद्धाओं के निवासस्थान—इन सब स्थानों को गुप्त रीति से बनवाना चाहिए, जिससे दूसरे इन्हें देख न सकें।

अर्थसंनिचयं कुर्याद् राजा परबलार्दितः।
तैलं वसा मधु घृतमौषधानि च सर्वशः ॥४८॥

शत्रुओं की सेना से पीड़ित हुआ राजा धन-सञ्चय तथा तेल, चर्बी, मधु, घी, सब प्रकार के औषध आदि आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करके रखे।

आयुधानां च सर्वेषां शक्त्यृष्टिप्रासवर्मणाम्।
संचयानेवमादीनां कारयीत नराधिपः ॥४९॥

इसी प्रकार राजा को चाहिए कि वह शक्ति, ऋष्टि और प्रास आदि सब प्रकार के आयुधों, कवचों और ऐसी ही अन्य आवश्यक वस्तुओं का संग्रह कराए।

औषधानि च सर्वाणि मूलानि च फलानि च।
चतुर्विधांश्च वैद्यान् वै संगृह्णीयाद् विशेषतः ॥५०॥

सब प्रकार के औषध, मूल, फल और चार प्रकार के वैद्यों [(१) आथर्वणी=मन्त्रबल से चिकित्सा करनेवाले, (२) आङ्गीरसी=संकल्पशक्ति से चिकित्सा करनेवाले, (३) दैवी=अग्नि, जल सूर्य आदि से चिकित्सा करनेवाले और (४) मनुष्यजा=चूर्ण, अवलेह, भस्म आदि से चिकित्सा करनेवाले] का विशेषरूप से संग्रह करे।

नटांश्च नर्तकांश्चैव मल्लान् मायाविनस्तथा।
शोभयेयुः पुरवरं मोदयेयुश्च सर्वशः ॥५१॥

साधारण स्थिति में राजा को नटों, नर्तकों, मल्लों और ऐन्द्रजालिकों [जादूगरों] को भी अपने यहाँ आश्रय देना चाहिए, क्योंकि ये राजधानी की शोभा

बढ़ाते हैं और अपने खेलों से सबको आनन्द-प्रदान करते हैं।

यतः शङ्का भवेच्चापि भृत्यतोऽथापि मन्त्रितः।
पौरेभ्यो नृपतेर्वापि स्वाधीनान् कारयीत तान् ॥५२॥

यदि राजा को अपने किसी नौकर पर, मन्त्री पर, पुरवासियों पर अथवा किसी पड़ोसी राजा पर कोई सन्देह हो जाए तो समयोचित उपायों से उन सबको अपने वश में कर ले।

कृते कर्मणि राजेन्द्र पूजयेद् धनसञ्चयैः।
दानेन च यथार्हेण सान्त्वेन विविधेन च ॥५३॥

हे राजेन्द्र ! जब कोई अभीष्ट कार्य पूरा हो जाए तो उसमें सहयोग देनेवालों का प्रभूत धन, यथायोग्य पुरस्कार-प्रदान और अनेक प्रकार के मधुर वचनों से सत्कार करना चाहिए।

राज्ञा सप्तैव रक्ष्याणि तानि चैव निबोध मे।
आत्मामात्याश्च कोशाश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ॥५४
तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन।
एतत् सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः ॥५५॥

कुरुनन्दन ! राजा को उचित है कि सात वस्तुओं की अवश्य रक्षा करे। वे सात वस्तुएँ कौन-सी हैं, यह मुझसे सुनो ! राजा का अपना शरीर, मन्त्री, कोष, दण्ड [सेना], मित्र, राष्ट्र तथा नगर—ये राज्य के सात अङ्ग हैं। राजा को इन सबका प्रयत्न-पूर्वक पालन करना चाहिए।

षाड्गुण्यं च त्रिवर्गं च त्रिवर्गपरमं तथा।
यो वेत्ति पुरुषव्याघ्र स भुंक्ते पृथिवीमिमाम् ॥५६॥

पुरुषसिंह ! जो राजा छह गुण, तीन वर्ग और तीन परम वर्ग—इन सबको भली-भाँति जानता है, वही इस पृथिवी का उपभोग कर सकता है।

षाड्गुण्यमिति यत्प्रोक्तं तन्निबोध युधिष्ठिर।
सन्धायासनमित्येव यात्रासन्धानमेव च ॥५७॥
विगृह्यासनमित्येव यात्रां सम्परिगृह्य च।
द्वैधीभावस्तथान्येषां संश्रयोऽथ परस्य च ॥५८॥

युधिष्ठिर ! इनमें छह गुणों का परिचय सुनो—शत्रु से सन्धि करके शान्ति से बैठ जाना, शत्रु पर चढ़ाई करना, वैर करके बैठ जाना, शत्रु को भयभीत करने के लिए आक्रमण का प्रदर्शनमात्र करके बैठ जाना, शत्रुओं में भेद डलवा देना और किसी दुर्ग या दुर्जय राजा का आश्रय लेना, ये छह गुण हैं।

त्रिवर्गश्चापि यः प्रोक्तस्तमिहैकमनाः शृणु।
क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गः परमस्तथा ॥५९॥
धर्मश्चार्थश्च कामश्च सेवितव्योऽथ कालतः।
धर्मेण च महीपालश्चिरं पालयते महीम् ॥६०॥

जिन वस्तुओं को त्रिवर्ग में गिना जाता है, उनको भी ध्यानपूर्वक सुनो—क्षय, स्थान और वृद्धि—ये ही तीन वर्ग हैं तथा धर्म, अर्थ एवं काम—इन्हें परम त्रिवर्ग कहते हैं। इन सबका समयानुसार सेवन करना चाहिए। राजा धर्मानुसार आचरण करे तो वह पृथिवी का दीर्घकाल तक पालन कर सकता है।

किं तस्य तपसा राज्ञः किं च तस्याध्वरैरपि।
सुपालितप्रजो यः स्यात् सर्वधर्मविदेव सः ॥६१॥

जिस राजा ने अपनी प्रजा का भली-भाँति पालन किया है, उसे तप करने की क्या आवश्यकता है और यज्ञों के अनुष्ठान से भी क्या प्रयोजन है ? वह तो स्वयं ही सम्पूर्ण धर्मों का ज्ञाता है।

युधिष्ठिर उवाच

दण्डनीतिश्च राजा च समस्तौ तावुभावपि।
कस्य किं कुर्वतः सिद्ध्येत् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥६२॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! दण्डनीति तथा राजा दोनों मिलकर ही कार्य करते हैं। इनमें किसके क्या करने से कार्यसिद्धि होती है ? यह मुझे बताइए—

भीष्म उवाच

महाभाग्यं दण्डनीत्याः सिद्धैः शब्दैः सहेतुकैः।
शृणु मे शंसतो राजन् यथावदिह भारत ॥६३॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! भरतनन्दन ! दण्ड-नीति से राजा और प्रजा के जिस महान् सौभाग्य का उदय होता है, उसका वर्णन मैं लोकप्रसिद्ध और युक्तियुक्त शब्दों द्वारा करता हूँ। तुम यथावत् रूप से सुनो—

दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति ॥६४॥

यदि राजा दण्डनीति का उत्तम रीति से प्रयोग करे तो वह चारों वर्णों को अपने-अपने धर्म में बल-

पूर्वक लगाती है और उन्हें अधर्म की ओर जाने से रोक देती है।

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥६५॥

काल राजा का कारण है अथवा राजा काल का—ऐसा संशय तुम्हें नहीं होना चाहिए। यह ध्रुव सत्य है कि राजा ही काल का कारण होता है।

दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कात्स्न्र्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्तते ॥६६॥

जिस समय राजा दण्डनीति का पूरा-पूरा एवं ठीक प्रयोग करता है, उस समय पृथिवी पर पूर्णरूप से सत्ययुग का आरम्भ हो जाता है। राजा से प्रभावित हुआ समय ही सत्ययुग की सृष्टि कर देता है।

ततः कृतयुगे धर्मो नाधर्मो विद्यते क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां नाधर्मे रमते मनः ॥६७॥

उस सत्ययुग में धर्म-ही-धर्म रहता है, अधर्म का कहीं लेश भी दिखाई नहीं देता और किसी भी वर्ण की अधर्म में रुचि नहीं होती।

व्याधयो न भवन्त्यत्र नाल्पायुर्दृश्यते नरः ।
विधवा न भवन्त्यत्र कृपणो न तु जायते ॥६८॥

उस समय संसार में रोग नहीं होते, कोई भी मनुष्य अल्पायु दिखाई नहीं देता, स्त्रियाँ विधवा नहीं होतीं और कोई भी मनुष्य दीन-दुःखी नहीं होता।

दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्तते ।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्तते ॥६९॥

जब राजा दण्डनीति के एक-चौथाई अंश को छोड़कर केवल तीन अंशों का अनुसरण करता है, तब त्रेतायुग आरम्भ हो जाता है।

अर्धं त्यक्त्वा यदा राजा नीत्यर्धमनुवर्तते ।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सम्प्रवर्तते ॥७०॥

जब राजा दण्डनीति के आधे भाग को त्यागकर आधे का अनुसरण करता है, तब द्वापर नामक युग का आरम्भ हो जाता है।

दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कात्स्न्र्येन भूमिपः ।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्तेत तदा कलिः ॥७१॥

जब राजा सम्पूर्ण दण्डनीति का परित्याग करके अयोग्य उपायों द्वारा प्रजा को पीड़ित करने लगता है, तब कलियुग का आरम्भ हो जाता है।

कलावधर्मो भूयिष्ठं नृशंसा जायते प्रजा ।
व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते च गतायुषः ॥७२॥

कलियुग में अधर्म अधिक होता है, प्रजा क्रूर हो जाती है। सबको रोग-व्याधि सताने लगती हैं और लोग छोटी अवस्था में ही मरने लगते हैं।

राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च ।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥७३॥

राजा ही सत्ययुग की सृष्टि करनेवाला होता है तथा राजा ही त्रेता, द्वापर और चौथे कलियुग की सृष्टि का कारण है।

दण्डनीतिं पुरस्कृत्य विजानन् क्षत्रियः सदा ।
अनवाप्तं च लिप्सेत लब्धं च परिपालयेत् ॥७४॥

अतः विज्ञ क्षत्रिय नरेश को चाहिए कि वह सदा दण्डनीति को सामने रखकर उसके द्वारा अप्राप्त वस्तु को पाने की इच्छा करे और प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा करे।

लोकस्य सीमन्तकरी मर्यादा लोकभाविनी ।
सम्यङ्नीता दण्डनीतिर्यथा माता तथा पिता ॥७५॥

यदि दण्डनीति का भली-भाँति प्रयोग किया जाए तो वह बालक की रक्षा करनेवाले माता-पिता के समान लोक की सुन्दर व्यवस्था करनेवाली तथा धर्ममर्यादा और जगत् की रक्षा करने में समर्थ होती है।

यस्यां भवन्ति भूतानि तद् विद्धि मनुजर्षभ ।
एष एव परो धर्मो यद् राजा दण्डनीतिमान् ॥७६॥

नरश्रेष्ठ! तुम्हें यह पता होना चाहिए कि सारे प्राणी दण्डनीति के आधार पर ही टिके हुए हैं। राजा दण्डनीति से युक्त होकर उसी के अनुसार चले—यही उसका परम धर्म है।

तस्मात् कौरव्य धर्मेण प्रजाः पालय नीतिमान् ।
एवंवृत्तः प्रजा रक्षन् स्वर्गं जेतासि दुर्जयम् ॥७७॥

अतः कुरुनन्दन! तुम दण्डनीति का आश्रय ले धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करो। यदि नीतियुक्त व्यवहार का पालन करते हुए प्रजा की रक्षा करोगे तो तुम दुर्जय स्वर्ग को जीत लोगे।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशोऽध्यायः

राजा को उभयलोक में सुख-प्राप्ति करानेवाले छत्तीस गुणों का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वर्तमानो महीपतिः।
सुखेनार्थान् सुखोदर्कानिह च प्रेत्य चाप्नुयात् ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—आचार के ज्ञाता पितामह! कैसा आचरण करने से राजा इहलोक और परलोक में भविष्य में सुख देनेवाले पदार्थों को सरलता से प्राप्त कर सकता है?

भीष्म उवाच

अयं गुणानां षट्त्रिंशत्षट्त्रिंशद्गुणसंयुतः।
यान् गुणाँस्तु गुणोपेतः कुर्वन् गुणमवाप्नुयात् ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन्! जिन गुणों को आचरण में लाकर राजा उत्कर्ष-लाभ करता है, वे गुण छत्तीस हैं। राजा को चाहिए कि वह इन गुणों से युक्त होने का प्रयत्न करे।

चरेद्धर्मानकटुको मुञ्चेत्स्नेहं न चास्तिकः।
अनृशंसश्चरेदर्थं चरेत् काममनुद्धतः ॥३॥

[मैं उन गुणों का क्रमशः वर्णन करता हूँ—] (१) राजा स्वधर्मों [कर्तव्यों] का आचरण करे परन्तु जीवन में कटुता न आने दे। (२) आस्तिक रहते हुए दूसरे के साथ प्रेम का व्यवहार न छोड़े। (३) क्रूरता का आश्रय लिये बिना ही अर्थ-संग्रह करे। (४) मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए ही विषयों को भोगे।

प्रियं ब्रूयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः।
दाता नापात्रवर्षी स्यात् प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः ॥४॥

(५) दीनता न दिखाते हुए ही प्रिय भाषण करे। (६) शूरवीर बने परन्तु बढ़-चढ़कर बातें न करे। (७) दानशील हो किन्तु अपात्र को दान न दे। (८) साहसी हो परन्तु निष्ठुर न बने।

सन्दधीत न चानार्यैर्विगृह्णीयान्न बन्धुभिः।
नाभक्तं कारयेच्चारं कुर्यात् कार्यमपीडया ॥५॥

(९) दुष्टों के साथ मेल न करे। (१०) बन्धु-बान्धवों के साथ लड़ाई-झगड़ा न ठाने। (११) जो राजभक्त न हो ऐसे गुप्तचर से काम न ले। (१२) किसी को पीड़ा पहुँचाये बिना ही अपना काम करे।

अर्थं ब्रूयान्न चासत्सु गुणान् ब्रूयान्न चात्मनः।
आदद्यान्न च साधुभ्यो नासत्पुरुषमाश्रयेत् ॥६॥

(१३) दुष्टों से अपना अभीष्ट कार्य न कहे। (१४) अपने गुणों का स्वयं ही वर्णन न करे। (१५) श्रेष्ठ पुरुषों से उनका धन न छीने। (१६) नीच पुरुषों का आश्रय न ले।

नापरीक्ष्य नयेद्दण्डं न च मन्त्रं प्रकाशयेत्।
विसृजेन्न च लुब्धेभ्यो विश्वसेन्नापकारिषु ॥७॥

(१७) जाँच-पड़ताल किये बिना किसी को दण्ड न दे। (१८) गुप्त मन्त्रणा को प्रकट न करे। (१९) लोभियों को धन न दे। (२०) जिन्होंने कभी अपकार किया हो, उनपर विश्वास न करे।

अनीर्षुर्गुप्तदारः स्याच्चोक्षः स्यादघृणी नृपः।
स्त्रियः सेवेत नात्यर्थं मृष्टं भुञ्जीत नाहितम् ॥८॥

(२१) ईर्ष्यारहित होकर अपनी स्त्री की रक्षा करे। (२२) राजा शुद्ध रहे परन्तु किसी से घृणा न करे। (२३) स्त्रियों का अधिक सेवन न करे। (२४) शुद्ध और स्वादिष्ट भोजन करे परन्तु अहित-कर भोजन न करे।

अस्तब्धः पूजयेन्मान्यान् गुरून् सेवेदमायया।
अर्चेद् देवानदम्भेन श्रियमिच्छेदकुत्सिताम् ॥९॥

(२५) उद्दण्डता छोड़कर विनीतभाव से माननीय पुरुषों का सम्मान करे। (२६) निष्कपट भाव से गुरुजनों की सेवा करे। (२७) दम्भहीन होकर विद्वानों का सत्कार करे। (२८) ईमानदारी से धन पाने की इच्छा करे।

सेवेत प्रणयं हित्वा दक्षः स्यान्न त्वकालवित्।
सान्त्वयेन्न च मोक्षाय अनुगृह्णन्न चाक्षिपेत् ॥१०॥

(२९) हठ छोड़कर प्रीति का पालन करे। (३०) कार्य-कुशल हो परन्तु अवसर के ज्ञान से शून्य न हो। (३१) केवल पिण्ड छुड़ाने के लिए किसी को सान्त्वना या भरोसा न दे। (३२) किसी पर कृपा करते समय आक्षेप न करे।

प्रहरेन्न त्वविज्ञाय हत्वा शत्रून् न शोचयेत्।
क्रोधं कुर्यान्न चाकस्मान्मृदुः स्यान्नापकारिषु ॥११॥

(३३) बिना जाने किसी पर प्रहार न करे। (३४) शत्रुओं को मारकर शोक न करे। (३५) अकस्मात् किसी पर क्रोध न करे और (३६) कोमल हो, परन्तु अपकार करनेवालों के लिए नहीं।

एवं चरस्व राज्यस्थो यदि श्रेय इहेच्छसि।
अतोऽन्यथा नरपतिर्भयमृच्छत्यनुत्तमम् ॥१२॥

युधिष्ठिर! यदि इस लोक में कल्याण चाहते हो तो राजसिंहासन पर बैठकर ऐसा ही आचरण करो, क्योंकि इसके विपरीत आचरण करनेवाला राजा भारी विपत्ति में पड़ जाता है।

इति सर्वान् गुणानेतान् यथोक्तान् योऽनुवर्तते।
अनुभूयेह भद्राणि प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥१३॥

जो राजा यथार्थरूप से बताये गये इन सभी गुणों का अनुवर्तन करता है, वह इस संसार में सुख का अनुभव करके मरने के पश्चात् स्वर्गलोक [श्रेष्ठ मनुष्य-योनि] में प्रतिष्ठित होता है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशोऽध्यायः

राजा के धर्मपूर्वक प्रजापालनरूपी परम धर्म का प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

कथं राजा प्रजा रक्षन्नाधिबन्धेन युज्यते।
धर्मेण नापराध्नोति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! किस प्रकार प्रजापालक नरेश चिन्ता में नहीं पड़ता और धर्म के विषय में अपराधी नहीं होता—यह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

अर्चयित्वा यजेथास्त्वं गृहे गुणवतो द्विजान्।
प्रत्युत्थायोपसंगृह्य चरणावभिवाद्य च ॥२॥

भीष्मजी बोले—जब गुणवान् ब्राह्मण घर पर पधारें, उस समय उन्हें देखते ही खड़े होकर उनका स्वागत करो। उनका चरणस्पर्श कर प्रणाम करो और विधिपूर्वक उनका आदर-सत्कार करो।

धर्मकार्याणि निर्वर्त्य मङ्गलानि प्रयुज्य च।
ब्राह्मणान् वाचयेथास्त्वमर्थसिद्धिजयाशिषः ॥३॥

सर्वप्रथम सन्ध्या-वन्दन आदि धर्म-कृत्यों को पूर्ण करके माङ्गलिक वस्तुओं का दर्शन करने के पश्चात् ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराओ और अर्थ-सिद्धि तथा विजय-प्राप्ति के लिए उनका आशीर्वाद ग्रहण करो।

आर्जवेन च सम्पन्नो धृत्या बुद्ध्या च भारत।
यथार्थं प्रतिगृह्णीयात् कामक्रोधौ च वर्जयेत् ॥४॥

भरतनन्दन! राजा को चाहिए कि वह सरल-स्वभाव हो, धैर्य तथा बुद्धि के बल से सत्य को ही ग्रहण करे और काम-क्रोध का परित्याग कर दे।

कामक्रोधौ पुरस्कृत्य योऽर्थं राजानुतिष्ठति।
न स धर्मं न चाप्यर्थं प्रतिगृह्णाति बालिशः ॥५॥

जो राजा काम और क्रोध का आश्रय लेकर धन का उपार्जन करना चाहता है, वह मूर्ख न तो धर्म को पाता है और न धन ही उसके हाथ आता है।

मा स्म लुब्धांश्च मूर्खांश्च कामार्थे च प्रयूयुजः।
अलुब्धान् बुद्धिसम्पन्नान् सर्वकर्मसु योजयेत् ॥६॥

तुम लोभी और मूर्ख मनुष्यों को काम और अर्थ के साधनों में न लगाओ। जो लोभ-शून्य और बुद्धि-मान् हों, उन्हें ही समस्त कार्यों में नियुक्त करना चाहिए।

मूर्खो ह्यधिकृतोऽर्थेषु कार्याणामविशारदः।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन कामक्रोधसमन्वितः ॥७॥

जो कार्यसाधन में कुशल नहीं है तथा जो क्रोध के वशीभूत है, ऐसे मूर्ख मनुष्य को यदि धन-संग्रह का अधिकारी बना दिया जाए तो वह अनुचित उपायों से प्रजा को पीड़ा पहुँचाता है।

दापयित्वा करं धर्म्यं राष्ट्रं नीत्या यथाविधि।
तथैतं कल्पयेद् राजा योगक्षेममतन्द्रितः ॥८॥

प्रजा से धर्मानुकूल [आय का छठा भाग] कर लेकर, राज्य का नीति के अनुसार विधिपूर्वक पालन करते हुए, राजा को आलस्यरहित होकर प्रजा के योगक्षेम की व्यवस्था करनी चाहिए।

गोपायितारं दातारं धर्मनित्यमतन्द्रितम्।
अकामद्वेषसंयुक्तमनुरज्यन्ति मानवाः ॥९॥

जो राजा आलस्य छोड़, राग-द्वेष से रहित हो सदा प्रजा की रक्षा करता है, दान देता है और निरन्तर धर्म तथा न्याय में तत्पर रहता है, उसके प्रति प्रजा के सभी लोग अनुरक्त होते हैं।

मा स्माधर्मेण लोभेन लिप्सेथास्त्वं धनागमम्।
धर्मार्थावध्रुवौ तस्य यो न शास्त्रपरो भवेत् ॥१०॥

राजन्! तुम लोभवश अधर्ममार्ग से कभी धन पाने की इच्छा मत करना, क्योंकि जो लोग शास्त्र के अनुसार नहीं चलते, उनके धर्म तथा अर्थ दोनों ही अनिश्चित एवं अस्थिर होते हैं।

अपशास्त्रपरो राजा धर्मार्थान्नाधिगच्छति।
अस्थाने चास्य तद् वित्तं सर्वमेव विनश्यति ॥११॥

शास्त्र से विपरीत चलनेवाला राजा न तो धर्म की सिद्धि कर पाता है और न अर्थ की ही। यदि उसे धन की प्राप्ति हो भी जाए तो वह सारा ही बुरे कामों में नष्ट हो जाता है।

अर्थमूलोऽपि हिंसां च कुरुते स्वयमात्मनः।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात्सम्पीडयन् प्रजाः ॥१२॥

जो धन का लोभी राजा मोहवश प्रजा से शास्त्र-विरुद्ध अधिक कर लेकर उसे कष्ट पहुँचाता है, वह अपने ही हाथों अपना विनाश करता है।

ऊधश्छिन्द्यात्तु यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत्पयः।
एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्धते ॥१३॥

जैसे दूध चाहनेवाला मनुष्य यदि गाय की औड़ी काट ले तो इससे दूध नहीं पा सकता, वैसे ही राज्य में रहनेवाली प्रजा का अनुचित उपाय से शोषण किया जाए तो उससे राज्य की उन्नति नहीं होती।

यो हि दोग्ध्रीमुपास्ते च स नित्यं विन्दते पयः।
एवं राष्ट्रमुपायेन भुञ्जानो लभते फलम् ॥१४॥

जो दूध देनेवाली गौ की प्रतिदिन सेवा करता है, वही दूध पाता है; इसी प्रकार उचित उपाय से राष्ट्र की रक्षा करनेवाला राजा ही उससे लाभ उठाता है।

अथ राष्ट्रमुपायेन भुज्यमानं सुरक्षितम्।
जनयत्यतुलां नित्यं कोशवृद्धिं युधिष्ठिर ॥१५॥

युधिष्ठिर! यदि न्याय-सङ्गत उपाय से राष्ट्र को सुरक्षित रखते हुए उस-[प्रजा]-का उपभोग किया [कर के रूप में उससे धन लिया] जाए तो वह सदा राजा के कोश की अनुपम वृद्धि करती है।

दोग्ध्री धान्यं हिरण्यं च मही राज्ञा सुरक्षिता।
नित्यं स्वेभ्यः परेभ्यश्च तृप्ता माता यथा पयः ॥१६॥

जैसे माता तृप्त रहने पर ही बालक को यथेष्ट दूध पिलाती है, वैसे ही राजा से सुरक्षित होने पर ही दुधारू गौ के समान यह पृथिवी राजा के स्वजनों और दूसरे लोगों को सदा अन्न और स्वर्ण देती है।

मालाकारोपमो राजन् भव माऽऽङ्गारिकोपमः।
तथा युक्तश्चिरं राज्यं भोक्तुं शक्ष्यसि पालयन् ॥१७॥

युधिष्ठिर! तुम माली के समान बनो, कोयला बनानेवाले के समान नहीं [माली वृक्ष की जड़ को सींचता है, उसकी रक्षा करता है तब उससे फल और फूल ग्रहण करता है, परन्तु कोयला बनानेवाला वृक्ष को जड़ से काट देता है। तुम भी माली के समान राज्यरूपी उद्यान को सींचकर सुरक्षित रखो और न्यायोचित कर लो, कोयला बनानेवालों की भाँति सारे राज्य को जलाकर भस्म न करो]। ऐसा करके प्रजापालन में तत्पर रहकर तुम दीर्घकाल तक राज्य का उपभोग कर सकोगे।

एवं धर्मेण वृत्तेन प्रजास्त्वं परिपालय।
स्वन्तं पुण्यं यशो नित्यं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ॥१८॥

कुरुनन्दन! इस प्रकार तुम धर्मानुकूल व्यवहार करते हुए प्रजा का पालन करो। ऐसा करने से तुम परिणाम में सुखद पुण्य और चिरस्थायी यश प्राप्त कर लोगे।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

राजा के लिए सदाचारी पुरोहित की आवश्यकता, ऋत्विजों के लक्षण, यज्ञ और दक्षिणा का महत्त्व तथा तप की श्रेष्ठता

भीष्म उवाच

य एव तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्तयेत्।
स एव राज्ञा कर्तव्यो राजन् राजपुरोहितः ॥१॥

भीष्मजी बोले—राजन्! राजा को चाहिए कि वह एक ऐसे विद्वान् ब्राह्मण को अपना पुरोहित बनाए जो उसके सब सत्कर्मों की रक्षा करे और उसे असत्कर्मों से दूर रखे।

धर्मात्मा मन्त्रविद्येषां राज्ञां राजन् पुरोहितः।
राजा चैवंगुणो येषां कुशलं तेषु सर्वशः ॥२॥

राजन्! जिन राजाओं का पुरोहित धर्मात्मा तथा परामर्श देने में कुशल होता है और जिनका राजा भी ऐसे ही गुणों से सम्पन्न होता है, उन राजा और प्रजाओं का सब प्रकार से कल्याण होता है।

ब्रह्मक्षत्रस्य सम्मानात् प्रजाः सुखमवाप्नुयात्।
विमाननात् तयोरेव प्रजा नश्येयुरेव हि ॥३॥

ब्राह्मण [पुरोहित] और क्षत्रिय [राजा] का सम्मान करने से प्रजा को सुख की प्राप्ति होती है और उनका अनादर करने से प्रजा का विनाश ही होता है।

युधिष्ठिर उवाच

क्वसमुत्थाः कथं शीला ऋत्विजः स्युः पितामह।
कथं विधाश्च राजेन्द्र तद् ब्रूहि वदतां वर ॥४॥

युधिष्ठिर ने पूछा—वक्ताओं में श्रेष्ठ पितामह! हे राजेन्द्र! ऋत्विजों की उत्पत्ति किस निमित्त से हुई है? उनके स्वभाव कैसे होने चाहिएँ और वे किस-किस प्रकार के होते हैं? ये सब बातें मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

प्रतिकर्म पराचार ऋत्विजां स्म विधीयते।
छन्दः सामादि विज्ञाय द्विजानां श्रुतमेव च ॥५॥

भीष्मजी बोले—राजन्! जो ब्राह्मण छन्दशास्त्र, 'ऋक्', 'साम' और 'यजुः' नामक तीनों वेद और ऋषि-प्रणीत स्मृति एवं दर्शन-शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, वे ही ऋत्विज होने योग्य हैं। उन ऋत्विजों का मुख्य आचार है—राजा के लिए 'शान्ति', व 'पौष्टिक' आदि कर्मों का अनुष्ठान।

ये त्वेकरतयो नित्यं धीराश्च प्रियवादिनः। □
परस्परस्य सुहृदः समन्तात् समदर्शिनः।
अनृशंसाः सत्यवाक्या अकुसीदा अथर्जवः ॥६॥

जो सदा एकमात्र यजमान के ही हितसाधन में तत्पर रहनेवाले, धीर, प्रियवादी, एक-दूसरे के सुहृद् और सब ओर समान दृष्टि रखनेवाले हैं, जो क्रूरता-रहित, सत्यवादी और सरल हैं, जो ब्याज नहीं लेते तथा—

अद्रोहोऽनभिमानो ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः।
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते स पुरोहित उच्यते ॥७॥

जिनमें द्रोह और अभिमान का अभाव है, जिनमें लज्जा, सहनशीलता, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह आदि सद्गुण देखे जाते हैं, वे ही पुरोहित कहलाते हैं।

धीमान् सत्यधृतिर्दान्तो भूतानामविहिंसकः। □
अकामाद्वेषसंयुक्तस्त्रिभिः शुक्लैः समन्वितः।
ज्ञानतृप्तो ह्रीमांस्तथा स ब्रह्मासनमर्हति ॥८॥

जो बुद्धिमान् सत्य को धारण करनेवाला, जितेन्द्रिय, किसी भी प्राणी की हिंसा न करनेवाला और राग-द्वेषादि दोष से दूर रहनेवाला है, जिनके शास्त्रज्ञान, सदाचार तथा कुल—ये तीनों अत्यन्त शुद्ध एवं निर्दोष हैं, जो ज्ञान-विज्ञान से तृप्त तथा लज्जाशील है—वही ब्रह्मा के आसन पर बैठने का अधिकारी है।

युधिष्ठिर उवाच

श्रद्धावता च यष्टव्यमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
मिथ्योपेतस्य यज्ञस्य किमु श्रद्धा करिष्यति ॥९॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! 'प्रत्येक श्रद्धालु को यज्ञ करना चाहिए'—ऐसी वेद की आज्ञा है। यदि दरिद्र श्रद्धा के बल पर यज्ञ में लग जाए और

उचित दक्षिणा न दे सका तो वह यज्ञ मिथ्याभाव से युक्त होगा, ऐसी स्थिति में उस न्यूनता की पूर्ति श्रद्धा से कैसे होगी ?

भीष्म उवाच

न वेदानां परिभवान्न शाठ्येन न मायया ।
कश्चिन्महदवाप्नोति मा ते भूद् बुद्धिरीदृशी ।।१०।।

भीष्मजी ने कहा—युधिष्ठिर ! वेदों की निन्दा करने से, शठतापूर्ण व्यवहार से और छल-कपट से कोई भी महान् पद नहीं पा सकता, अतः तुम्हारी बुद्धि ऐसी नहीं होनी चाहिए ।

यज्ञाङ्गं दक्षिणा तात वेदानां परिबृंहणम् ।
न यज्ञा दक्षिणाहीनास्तारयन्ति कथञ्चन ।।११।।

तात ! दक्षिणा यज्ञों का अङ्ग है । वही वेदोक्त यज्ञों का विस्तार एवं उनकी न्यूनता की पूर्ति करनेवाली है । दक्षिणाहीन यज्ञ किसी प्रकार भी यजमान का उद्धार नहीं कर सकते ।

शक्तिस्तु पूर्णपात्रेण सम्मिता न समाभवत् ।
अवश्यं तात यष्टव्यं त्रिभिवर्णैर्यथाविधि ।।१२।।

धनी और दरिद्र के लिए समान दक्षिणा का विधान नहीं है । दरिद्र की शक्ति को पूर्णपात्र[1] से नापा गया है [जहाँ धनी के लिए बहुत देने का विधान है, वहाँ दरिद्र के लिए एक पूर्णपात्र ही दक्षिणा में देने का विधान कर दिया है], अतः तात ! ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों को अवश्य ही विधिपूर्वक यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए ।

तपो यज्ञादपि श्रेष्ठमित्येषा परमा श्रुतिः ।
तत्ते तपः प्रवक्ष्यामि विद्वंस्तदपि मे शृणु ।।१३।।

यज्ञ की अपेक्षा भी तप श्रेष्ठ है, यह वेद का परमोत्तम वचन है । विद्वान् युधिष्ठिर ! मैं तुम्हें तप का स्वरूप बताता हूँ, तुम मुझसे उसके विषय में सुनो !

अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा ।□
एतत् तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ।।१४।।

किसी भी प्राणी के प्रति वैर की भावना न रखना, सत्य बोलना, क्रूरता का न होना, मनोनिग्रह और सबके प्रति दयालु होना—इन्हीं को धीर पुरुषों ने तप माना है । शरीर को सुखाने का नाम तप नहीं है ।

अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चाभिलङ्घनम् ।
अव्यवस्था च सर्वत्र तद् वै नाशनमात्मनः ।।१५।।

वेदों को अप्रामाणिक बताना, शास्त्रों की आज्ञा का उल्लङ्घन करना और सर्वत्र अव्यवस्था उत्पन्न करना—ये सब दुर्गुण अपना ही नाश करनेवाले हैं ।

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावाञ्ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ।।१६।।

सब प्रकार की कुटिलता मृत्यु का स्थान है और सरलता परब्रह्म की प्राप्ति का स्थान है । इतना ही ज्ञान का विषय है, अन्य सब प्रलापमात्र है, वह किस काम आएगा ?

इति महाभारते शान्तिपर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः ।।२२।।

त्रयोविंशोऽध्याय

राजा के कर्तव्यों का वर्णन, युधिष्ठिर की राज्य से विरक्ति, भीष्मजी द्वारा पुनः राज्य की महत्ता का प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

यया वृत्त्या महीपालो विवर्धयति मानवान् ।
पुण्यांश्च लोकान् जयति तन्मे ब्रूहि पितामह ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! राजा जिस वृत्ति से रहने पर अपनी प्रजा की उन्नति करता है और स्वयं भी विशुद्ध लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह मुझे बताइए—

१. पूर्णपात्र का परिमाण निम्न है—आठ मुट्ठी अन्न को 'किञ्चित्' कहते हैं । आठ किञ्चित् का एक 'पुष्कल' होता है और चार पुष्कल का एक 'पूर्णपात्र' होता है । इस प्रकार दो सौ छप्पन [२५६] मुट्ठी का एक पूर्णपात्र होता है ।

भीष्म उवाच

दानशीलो भवेद् राजा यज्ञशीलश्च भारत ।
उपवासतपःशीलः प्रजानां पालने रतः ।।२।।

भीष्मजी ने कहा—भरतनन्दन ! राजा को सदा ही दानशील, यज्ञशील, उपवास तथा तपस्या में तत्पर और प्रजापालन में संलग्न रहना चाहिए ।

सर्वाश्चैव प्रजा नित्यं राजा धर्मेण पालयन् ।
उत्थानेन प्रदानेन पूजयेच्चापि धार्मिकान् ।।३।।

समस्त प्रजाओं का सर्वदा धर्मपूर्वक पालन करनेवाले राजा को घर पर आये हुए धर्मात्मा पुरुषों का खड़े होकर स्वागत करना चाहिए तथा उत्तम वस्तुएँ प्रदान कर उनका मान-सम्मान करना चाहिए।

राज्ञा हि पूजितो धर्मस्ततः सर्वत्र पूज्यते ।
यद् यदाचरते राजा तत्प्रजानां स्म रोचते ।।४।।

राजा द्वारा जिस धर्म का आदर किया जाता है, उसी का निःसन्देह सर्वत्र आदर होने लगता है, क्योंकि राजा जो-जो कार्य करने लगता है, प्रजावर्ग को वही करना अच्छा लगता है ।

नित्यमुद्यतदण्डश्च भवेन्मृत्युरिवारिषु ।
निहन्यात् सर्वतो दस्यून् न कामात् कस्यचित् क्षमेत् ।।५

राजा को चाहिए कि वह शत्रुओं को दण्ड देने के लिए सदा यमराज की भाँति उद्यत रहे । वह डाकुओं और लुटेरों को सब ओर से पकड़कर मार डाले, स्वार्थवश किसी दुष्ट के अपराध को क्षमा न करे ।

यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा भारत विन्दति ।।६।।

हे भरतकुमार ! राजा द्वारा सुरक्षित हुई प्रजा राज्य में जिस धर्म का आचरण करती है, उसका चौथा भाग राजा को भी मिल जाता है ।

यद् राष्ट्रेऽकुशलं किञ्चिद् राज्ञोऽरक्षयतः प्रजाः ।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा भारत विन्दति ।।७।।

हे भारत ! यदि राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता तो उसके राज्य में प्रजा जो कुछ भी अशुभ कार्य करती है, उस पाप-कर्म का एक चौथाई भाग राजा को भोगना पड़ता है ।

अप्याहुः सर्वमेवेति भूयोऽर्धमिति निश्चयः ।
कर्मणः पृथिवीपाल नृशंसोऽनृतवागपि ।।८।।

भूपाल ! कुछ लोगों का मत है कि उपर्युक्त अवस्था में राजा को पूरे पाप का भागी होना पड़ता है और कुछ लोगों का दृढ़मत है कि उसे आधा पाप लगता है । ऐसा राजा क्रूर और मिथ्यावादी समझा जाता है ।

तादृशात्किल्बिषाद् राजा शृणु येन प्रमुच्यते ।
प्रत्याहर्तुमशक्यं स्याद् धनं चोरैर्हृतं यदि ।
तत्स्वकोशात्प्रदेयं स्यादशक्तेनोपजीवता ।।९।।

ऐसे पाप से राजा को किस प्रकार छुटकारा मिल सकता है, वह बताता हूँ, सुनो ! चोरों या लुटेरों ने यदि किसी के धन का अपहरण कर लिया हो और राजा पता लगाकर उस धन को लौटा न सके तो उस असमर्थ नरेश को चाहिए कि वह अपने आश्रय में रहनेवाले उस व्यक्ति को उतना ही धन राजकीय कोष से प्रदान कर दे ।

न हि कामात्मना राज्ञा सततं कामबुद्धिना ।
नृशंसेनातिलुब्धेन शक्यं पालयितुं प्रजाः ।।१०।।

जो राजा कामासक्त हो सदा काम का ही चिन्तन करनेवाला, क्रूर तथा अत्यन्त लोभी होता है, वह प्रजा का पालन नहीं कर सकता ।

युधिष्ठिर उवाच

नाहं राज्यसुखान्वेषी राज्यमिच्छाम्यपि क्षणम् ।
धर्मार्थं रोचये राज्यं धर्मश्चात्र न विद्यते ।।११।।

युधिष्ठिर ने कहा—पितामह ! मैं राज्य से सुख पाने की आशा रखकर एक क्षण के लिए भी राज्य करने की इच्छा नहीं करता । मैं तो धर्म के लिए ही राज्य की कामना करता था, परन्तु इसमें धर्म है ही नहीं ।

तदलं मम राज्येन यत्र धर्मो न विद्यते ।
वनमेव गमिष्यामि तस्माद् धर्मचिकीर्षया ।।१२।।

जिसमें धर्म ही नहीं उस राज्य से मुझे क्या लेना है ! अतः अब मैं धर्म करने की इच्छा से वन चला जाऊँगा ।

तत्र मेध्येष्वरण्येषु न्यस्तदण्डो जितेन्द्रियः ।
धर्ममाराधयिष्यामि मुनिर्मूलफलाशनः ।।१३।।

वहाँ वन के पावन प्रदेशों में हिंसा को छोड़

दूँगा और जितेन्द्रिय हो मुनिवृत्ति से रहकर फल-मूल खाते हुए धर्म की आराधना करूँगा।

भीष्म उवाच

वेदाहं तव या बुद्धिरानृशंस्यगुणैव सा।
न च शुद्धानृशंस्येन शक्यं राज्यमुपासितुम् ॥१४॥

भीष्मजी बोले—हे राजन्! मैं जानता हूँ कि तुम्हारी बुद्धि में दया तथा कोमलतारूपी गुण ही भरा है, परन्तु केवल दया और कोमलता से राज्य का सञ्चालन नहीं किया जा सकता।

अपि तु त्वां मृदुप्रज्ञमत्यार्यमतिधार्मिकम्।
क्लीबं धर्मघृणायुक्तं न लोको बहु मन्यते ॥१५॥

तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त कोमल है। तुम आर्य—सज्जन और बड़े धर्मात्मा हो। धर्म के प्रति तुम्हारा महान् आग्रह है। यह सब होने पर भी संसार के लोग तुम्हें कायर समझकर अधिक मान-सम्मान नहीं करेंगे।

वृत्तं तु स्वमपेक्षस्व पितृपैतामहोचितम्।
नैव राज्यं तथा वृत्तं यथा त्वं स्थातुमिच्छसि ॥१६॥

तुम्हारे बाप-दादाओं ने जिस आचार-व्यवहार को अपनाया था, तुम भी उसे ही प्राप्त करने की इच्छा रखो। तुम जिस प्रकार रहना चाहते हो, वह राजाओं का आचरण नहीं है।

शौर्यं बलं च सत्यं च पिता तव सदाब्रवीत्।
माहात्म्यं च महौदार्यं भवतः कुन्त्ययाचत ॥१७॥

तुम्हारे पिता पाण्डु तुम्हारे लिए सदा कहा करते थे कि मेरे पुत्र में शूरता, बल और सत्य की वृद्धि हो। तुम्हारी माता कुन्ती भी यही इच्छा किया करती थी कि तुम्हारी महत्ता और उदारता बढ़े।

दानमध्ययनं यज्ञं प्रजानां परिपालनम्।
धर्ममेतमधर्मं वा जन्मनैवाभ्यजायथाः ॥१८॥

दान देना, स्वाध्याय करना, यज्ञानुष्ठान और प्रजा का पालन—ये धर्मरूप हों या अधर्मरूप, तुम्हारा जन्म इन्हीं कर्मों को करने के लिए हुआ है।

नैकान्तविनिपातेन विचचारेह कश्चन।
धर्मी गृही वा राजा वा ब्रह्मचारी यथा पुनः ॥१९॥

कोई धर्मनिष्ठ हो, गृहस्थ हो, राजा हो या ब्रह्मचारी हो—पूर्णरूपेण धर्म का आचरण नहीं कर सकता [कुछ-न-कुछ पाप हो ही जाता है]।

अल्पं हि सारभूयिष्ठं यत् कर्मोदारमेव तत्।
कृतमेवाकृताच्छ्रेयो न पापीयोऽस्त्यकर्मणः ॥२०॥

कोई कार्य देखने में छोटा होने पर भी यदि उसमें सार अधिक हो तो वह महान् ही है। न करने की अपेक्षा कुछ करना ही उत्तम है, क्योंकि कर्तव्य-कर्म न करनेवाले से बढ़कर दूसरा कोई पापी नहीं है।

दानेनान्यं बलेनान्यमन्यं सूनृतया गिरा।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् राज्यं प्राप्येह धार्मिकः ॥२१॥

धर्मात्मा राजा राज्य पाने के पश्चात् किसी को दान से, किसी को बल से और किसी को मधुर वाणी द्वारा सब ओर से अपने वश में कर ले।

युधिष्ठिर उवाच

किं तात परमं स्वर्ग्यं का ततः प्रीतिरुत्तमा।
किं ततः परमैश्वर्यं ब्रूहि मे यदि पश्यसि ॥२२॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे तात! स्वर्ग-प्राप्ति का उत्तम साधन क्या है? उससे कौन-सी उत्तम प्रसन्नता प्राप्त होती है और उसकी अपेक्षा महान् ऐश्वर्य क्या है? यदि आप इन बातों को जानते हैं तो मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

यस्मिन् भयार्दितः सम्यक् क्षेमं विन्दत्यपि क्षणम्।
स स्वर्गजित्तमोऽस्माकं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥२३

भीष्मजी बोले—राजन्! भयभीत मनुष्य जिसके पास पहुँचकर एक क्षण के लिए भी भली-भाँति शान्ति पा लेता है, वही हम लोगों में स्वर्ग-प्राप्ति का सबसे बड़ा अधिकारी है, यह मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ।

त्वमेव प्रीतिमाँस्तस्मात् कुरूणां कुरुसत्तम।
भव राजा जय स्वर्गं सतो रक्षासतो जहि ॥२४॥

अतः कुरुश्रेष्ठ! तुम्हीं प्रसन्नतापूर्वक कुरुदेश की प्रजा के स्वामी बनो। सत्पुरुषों की रक्षा और दुष्टों का संहार करो। इस प्रकार अपने कर्तव्य का पालन करके स्वर्गलोक को जीत लो।

अनु त्वां तात जीवन्तु सुहृदः साधुभिः सह।
पर्जन्यमिव भूतानि स्वादुद्रुममिव द्विजाः ॥२५॥

तात ! जैसे सब प्राणी मेघ के और पक्षी मीठे फलवाले वृक्ष के सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं, वैसे ही साधु पुरुषोंसहित सारे सुहृद्‌गण तुम्हारे आश्रय में रहकर अपना जीवन-यापन करें ।

धृष्टं शूरं प्रहर्तारमनृशंसं जितेन्द्रियम् ।
वत्सलं संविभक्तारमुपजीवन्ति तं नराः ॥२६॥

जो राजा निर्भय, शूरवीर, प्रहार करने में कुशल, दयालु, जितेन्द्रिय, प्रजावत्सल और दानी होता है, उसी का आश्रय लेकर मनुष्य जीवन-निर्वाह करते हैं ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

राजा के लिए मित्र-अमित्र की पहचान, उनके साथ नीतिपूर्ण व्यवहार का तथा मन्त्री और सभासद् आदि के लक्षणों का निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

यदप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
पुरुषेणासहायेन किमु राज्ञा पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! छोटे-से-छोटा कार्य भी बिना किसी की सहायता के अकेले मनुष्य के द्वारा किया जाना कठिन हो जाता है, फिर राजा दूसरे की सहायता के बिना महान् राज्य का सञ्चालन कैसे कर सकता है ?

किंशीलः किंसमाचारो राज्ञोऽथ सचिवो भवेत् ।
कीदृशे विश्वसेद् राजा कीदृशे न च विश्वसेत् ॥२॥

अतः राजा की सहायता के लिए जो सचिव [मन्त्री] हो, उसका स्वभाव और आचरण कैसा होना चाहिए ? राजा कैसे मन्त्री पर विश्वास करे और कैसे पर न करे ?

भीष्म उवाच

सत्यं प्रशास्तुं राज्यं न शक्यमेकेन भारत ।
असहायवता तात नैवार्थाः केचिदप्युत ॥३॥

भीष्मजी बोले—तात ! भरतनन्दन ! यह सत्य है कि कोई भी सहायकों के बिना अकेले राज्य नहीं चला सकता । राज्य ही क्या, सहायकों के बिना किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती ।

चतुर्विधानि मित्राणि राज्ञां राजन् भवन्त्युत ।
सहार्थो भजमानश्च सहजः कृत्रिमस्तथा ॥४॥

राजन् ! राजा के सहायक अथवा मित्र चार प्रकार के होते हैं—(१) सहार्थ, (२) भजमान, (३) सहज और (४) कृत्रिम ।[1]

चतुर्णां मध्यमौ श्रेष्ठौ नित्यं शंक्यौ तथापरौ ।
सर्वे नित्यं शङ्कितव्याः प्रत्यक्षं कार्यमात्मनः ॥५॥

उपर्युक्त चार प्रकार के मित्रों में भजमान और सहज—ये मध्यवाले दो मित्र श्रेष्ठ समझे जाते हैं, किन्तु शेष दो की ओर से सदा सशंक रहना चाहिए । वास्तव में तो अपने कार्य को दृष्टि में रखकर सभी मित्रों से सदा सावधान रहना चाहिए ।

न हि राज्ञा प्रमादो वै कर्तव्यो मित्ररक्षणे ।
प्रमादिनं हि राजानं लोकाः परिभवन्त्युत ॥६॥

राजा को अपने मित्रों की रक्षा में कभी असावधानी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि असावधान राजा का सभी लोग तिरस्कार करते हैं ।

असाधुः साधुतामेति साधुर्भवति दारुणः ।
अरिश्च मित्रं भवति मित्रं चापि प्रदुष्यति ॥७॥
अनित्यचित्तः पुरुषस्तस्मिन् को जातु विश्वसेत् ।
तस्मात्प्रधानं यत् कार्यं प्रत्यक्षं तत्समाचरेत् ॥८॥

समय पाकर दुष्ट मनुष्य श्रेष्ठ और श्रेष्ठ मनुष्य दुष्ट हो जाया करता है । शत्रु भी मित्र बन जाता है

---

१. 'सहार्थ' मित्र वे होते हैं जो किसी शर्त पर एक-दूसरे की सहायता के लिए मित्रता करते हैं । 'भजमान' मित्र वे होते हैं जिनके साथ वंश-परम्परागत मित्रता हो । 'सहज' मित्र वे कहलाते हैं जिनमें जन्म से ही साथ रहने अथवा घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण मित्रता हो जाती है । 'कृत्रिम' मित्र वे होते हैं जिन्हें धनादि देकर मित्र बनाया जाता है ।

और मित्र भी बिगड़ जाता है, क्योंकि मनुष्य का चित्त सदैव एक-सा नहीं रहता, अतः उसपर सदा कौन विश्वास करेगा ? इसलिए जो प्रधान कार्य हो उसे अपनी आँखों के सामने पूरा करा देना चाहिए।

एकान्तेन हि विश्वासः कृत्स्नो धर्मनाशकः ।
अविश्वासश्च सर्वत्र मृत्युना च विशिष्यते ॥९॥

किसी पर भी किया हुआ अत्यन्त विश्वास धर्म तथा अर्थ दोनों का नाशक हो जाता है और सर्वत्र अविश्वास करना भी मृत्यु से बढ़कर है।

अकालमृत्युर्विश्वासो विश्वसन् हि विपद्यते ।
यस्मिन् करोति विश्वासमिच्छतस्तस्य जीवति ॥१०॥

दूसरों पर किया हुआ पूर्ण विश्वास अकाल मृत्यु के समान है, क्योंकि अधिक विश्वास करनेवाला मनुष्य भारी विपत्ति में पड़ जाता है। वह जिसपर विश्वास करता है, उसी की इच्छा पर उसका जीवन निर्भर होता है।

तस्माद् विश्वसितव्यं च शङ्कितव्यं च केषुचित् ।
एषा नीतिगतिस्तात लक्ष्या चैव सनातनी ॥११॥

अतः राजा को कुछ चुने हुए व्यक्तियों पर विश्वास तो करना चाहिए, परन्तु उनकी ओर से सतर्क भी रहना चाहिए। तात ! यह प्राचीन नीति की गति है, इसे सदा दृष्टि में रखना चाहिए।

यस्तु वृद्ध्या न तृप्येत क्षये दीनतरो भवेत् ।
एतदुत्तममित्रस्य निमित्तमिति चक्षते ॥१२॥

जो राजा की उन्नति से कभी तृप्त न हो—उसकी अधिकाधिक उन्नति ही चाहता रहे और अवनति होने पर अत्यन्त दुःखी हो जाए, यही उत्तम मित्र की पहचान बताई गई है।

यन्मन्येत ममाभावादस्याभावो भवेदिति ।
तस्मिन् कुर्वीत विश्वासं यथा पितरि वै तथा ॥१३॥

जिसके विषय में ऐसी मान्यता हो कि मेरे न रहने [मर जाने] पर यह भी नहीं रहेगा, उसपर पिता के समान विश्वास करना चाहिए।

रूपवर्णस्वरोपेतस्तितिक्षुरनसूयकः ।
कुलीनः शीलसम्पन्नः स ते स्यात्प्रत्यनन्तरः ॥१४॥

जिसका रंग-रूप सुन्दर और स्वर मधुर हो, जो क्षमाशील हो, निन्दक न हो तथा कुलीन एवं शीलसम्पन्न हो—ऐसा व्यक्ति तुम्हारा प्रधान सचिव होना चाहिए।

कुलीनं शिक्षितं प्राज्ञं ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं सहिष्णुं देशजं तथा ॥१५॥
कृतज्ञं बलवन्तं च क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम् ।
अलुब्धं लब्धसन्तुष्टं स्वामिमित्रबुभूषकम् ॥१६॥
सचिवं देशकालज्ञं सत्त्वसंग्रहणे रतम् ।
सततं युक्तमनसं हितैषिणमतन्द्रितम् ॥१७॥

राजा उसी को मन्त्री बनाए जो कुलीन, शिक्षित, विद्वान्, ज्ञान-विज्ञान में पारङ्गत, सब शास्त्रों के रहस्य को जाननेवाला, सहनशील, अपने देश का निवासी, कृतज्ञ, बलवान्, क्षमाशील, मन का दमन करनेवाला, जितेन्द्रिय, निर्लोभ, जो मिल जाए उसी में सन्तुष्ट रहनेवाला, स्वामी तथा उसके मित्र की उन्नति चाहनेवाला, देशकाल का ज्ञाता, आवश्यक वस्तुओं के संग्रह करने में तत्पर, सदा मन को वश में रखनेवाला, स्वामी का हितैषी और आलस्यरहित हो।

सचिवं यः प्रकुरुते न चैनमवमन्यते ।
तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव ॥१८॥

जो राजा ऐसे योग्य व्यक्ति को सचिव [मन्त्री] बनाता है और उसका कभी अनादर नहीं करता, उसका राज्य चन्द्रमा की चन्द्रिका की भाँति चारों ओर फैल जाता है।

एतैरेव गुणैर्युक्तो राजा शास्त्रविशारदः ।
एष्टव्यो धर्मपरमः प्रजापालनतत्परः ॥१९॥

राजा को भी ऐसे ही गुणों से युक्त होना चाहिए। साथ ही उसमें शास्त्रज्ञान, धर्मपरायणता और प्रजा-पालन की लगन भी होनी चाहिए; ऐसा ही राजा प्रजा के लिए वाञ्छनीय होता है।

धीरो मर्षी शुचिस्तीक्ष्णः काले पुरुषकारवित् ।
शुश्रूषुः श्रुतवान् श्रोता ऊहापोहविशारदः ॥२०॥

राजा धीर, क्षमाशील, पवित्र, समय-समय पर तीक्ष्ण, पुरुषार्थ को जाननेवाला, सेवा करने के लिए उत्सुक, ज्ञान-श्रवणपरायण और तर्क-वितर्क में कुशल हो।

मेधावी धारणायुक्तो यथान्यायोपपादकः ।
दान्तः सदा प्रियभाषी क्षमावांश्च विपर्यये ॥२१॥

वह मेधावी, धारणशक्ति-सम्पन्न, यथोचित कार्य करनेवाला, इन्द्रिय-संयमी, प्रियवचन बोलनेवाला और शत्रु को भी क्षमा प्रदान करनेवाला हो।

आलस्यं चैव निद्रा च व्यसनान्यतिहास्यता ।
यस्यैतानि न विद्यन्ते तस्यैव सुचिरं मही ॥२२॥

जिस राजा में आलस्य, निद्रा, दुर्व्यसन और अत्यन्त हास्यप्रियता—ये दुर्गण नहीं हैं, उसी के अधिकार में यह पृथिवी दीर्घकाल तक रहती है।

वृद्धसेवी महोत्साहो वर्णानां चैव रक्षिता ।
धर्मचर्याः सदा यस्य तस्येयं सुचिरं मही ॥२३॥

जो वृद्धों की सेवा करनेवाला, महान् उत्साही, चारों वर्णों का रक्षक और सदा धर्माचरण में तत्पर रहता है, उसी के अधिकार में यह पृथिवी चिरकाल तक रहती है।

युधिष्ठिर उवाच

सभासदः सहायाश्च सुहृदश्च विशाम्पते ।
परिच्छदास्तथामात्याः कीदृशाः स्युः पितामह ॥२४॥

युधिष्ठिर ने पूछा—प्रजापालक पितामह! राजा के सभासद्, सहायक, सुहृद्, परिच्छद [सेनापति आदि] और अमात्य [मन्त्री] कैसे होने चाहिएँ।

भीष्म उवाच

ह्रीनिषेवास्तथा दान्ताः सत्यार्जवसमन्विताः ।
शक्ताः कथयितुं सम्यक् ते तव स्युः सभासदः ॥२५॥

भीष्मजी बोले—तात! जो व्यक्ति लज्जाशील, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सरल और किसी विषय पर अच्छी प्रकार प्रवचन करने में समर्थ हों, ऐसे लोग तुम्हारे सभासद् होने चाहिएं।

अमात्यांश्चातिशूरांश्च ब्राह्मणांश्च परिश्रुतान् ।
एतान् सहायाँल्लिप्सेथाः सर्वास्वापत्सु भारत ॥२६॥

भरतनन्दन! कुन्तीकुमार! मन्त्रियों को, अत्यन्त शूरवीर पुरुषों को, विद्वान् ब्राह्मणों को, पूर्णतया सन्तुष्ट रहनेवालों को और सभी कार्यों के लिए उत्साह रखनेवालों को—इन सब लोगों को तुम सभी आपत्तियों में सहायक बनाने की इच्छा करना।

कुलीनः पूजितो नित्यं न हि शक्तिं निगूहति ।
प्रसन्नमप्रसन्नं वा पीडितं हतमेव वा ।
आवर्तयति भूयिष्ठं तदेव ह्यनुपालितम् ॥२७॥

जो कुलीन हो, जिसका सदा सन्मान किया जाए, जो अपनी शक्ति को छिपाये नहीं, तथा राजा प्रसन्न हो या अप्रसन्न, पीड़ित हो या हताहत हो—प्रत्येक अवस्था में जो सदा उसका अनुसरण करता हो, वही सुहृद् होने योग्य है।

कुलीना देशजाः प्राज्ञा रूपवन्तो बहुश्रुताः ।
प्रगल्भाश्चानुरक्ताश्च ते तव स्युः परिच्छदाः ॥२८॥

जो कुलीन हों, अपने ही देश में उत्पन्न हुए हों, बुद्धिमान्, रूपवान्, बहुश्रुत, निर्भय और अनुरक्त हों, वे ही तुम्हारे परिच्छद [सेनापति आदि] होने चाहिएँ।

दौष्कुलेयाश्च लुब्धाश्च नृशंसा निरपत्रपाः ।
ते त्वां तात निषेवेयुर्यावदार्द्रकपाणयः ॥२९॥

हे तात! जो निन्दित कुल में उत्पन्न, लोभी, क्रूर और निर्लज्ज हैं, वे तभी तक तुम्हारी सेवा करेंगे जबतक उनकी पाँचों अंगुलियाँ घी में रहेंगी।

कुलीनान् शीलसम्पन्नानिङ्गितज्ञाननिष्ठुरान् ।
देशकालविधानज्ञान् भर्तृकार्यहितैषिणः ।
नित्यमर्थेषु सर्वेषु राजा कुर्वीत मन्त्रिणः ॥३०॥

अच्छे कुल में उत्पन्न, शीलसम्पन्न, संकेतों को समझनेवाले, दयालु, देशकाल के विधान को समझनेवाले और स्वामी के अभीष्टकार्य की सिद्धि एवं हित चाहनेवाले मनुष्यों को राजा सदा सभी कार्यों के लिए अपना मन्त्री बनाए।

नैकमिच्छेद् गणं हित्वा स्याच्चेदन्यतरग्रहः ।
यस्त्वेको बहुभिः श्रेयान् कामं तेन गणं त्यजेत् ॥३१॥

व्यक्ति और समूह में से चयन करना हो तो समूह को छोड़कर एक व्यक्ति को ग्रहण करने की इच्छा न करे, परन्तु यदि एक व्यक्ति बहुत मनुष्यों की अपेक्षा गुणों में श्रेष्ठ हो और इन दोनों में से एक को चुनना पड़े तो ऐसी स्थिति में कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को एक के लिए समूह को छोड़ देना चाहिए।

अमानी सत्यवान् क्षान्तो जितात्मा मानसंयुतः ।
स ते मन्त्रसहायः स्यात् सर्वावस्थापरीक्षितः ॥३२॥

जो निरभिमानी, सत्यवादी, क्षमाशील, जितात्मा और सम्मानित हो तथा जिसकी सभी अवस्थाओं में परीक्षा कर ली गई हो, ऐसा पुरुष ही तुम्हारी गुप्त मन्त्रणा में सहायक होना चाहिए।

कुलीनः कुलसम्पन्नस्तितिक्षुर्दक्ष आत्मवान्।
शूरः कृतज्ञः सत्यश्च श्रेयसः पार्थ लक्षणम् ॥३३॥

कुन्तीकुमार ! उत्तम कुल में जन्म होना, सदा श्रेष्ठ कुल के सम्पर्क में रहना, सहनशीलता, कार्य-दक्षता, मनस्विता, शूरवीरता, कृतज्ञता और सत्य-भाषण—ये ही श्रेष्ठ पुरुष के लक्षण हैं।

अलुब्धाञ्शिक्षितान्दान्तान्धर्मेषु परिनिष्ठितान्।
स्थापयेत् सर्वकार्येषु राजा धर्मार्थरक्षिणः ॥३४॥

जो निर्लोभी, शिक्षित, जितेन्द्रिय, धर्मनिष्ठ तथा धर्म और अर्थ की रक्षा करनेवाले हों, उन्हीं को राजा अपने समस्त कार्यों में लगाए।

येषां वैनयिकी बुद्धिः प्रकृतिश्चैव शोभना।
तेजो धैर्यं क्षमा शौचमनुरागः स्थितिर्धृतिः ॥३५॥
परीक्ष्य च गुणान्नित्यं प्रौढभावान्धुरंधरान्।
पञ्चोपधाव्यतीतांश्च कुर्याद् राजार्थकारिणः ॥३६॥

जिनमें विनययुक्त बुद्धि, सुन्दर स्वभाव, तेज, वीरता, क्षमा, पवित्रता, प्रेम, धैर्य और स्थिरता हो, उनके इन गुणों की परीक्षा करके यदि वे राजकीय कार्य-भार को सँभालने में प्रौढ़ और निष्कपट सिद्ध हों तो राजा उनमें से पाँच व्यक्तियों को चुनकर अर्थमन्त्री बनाए।

मन्त्रिण्यननुरक्ते तु विश्वासो नोपपद्यते।
तस्मादननुरक्ताय नैव मन्त्रं प्रकाशयेत् ॥३७॥

जिस मन्त्री का राजा के प्रति प्रेम न हो, उसका विश्वास करना ठीक नहीं है, अतः अनुरागरहित मन्त्री के समक्ष अपने गुप्त विचार को प्रकट न करे।

व्यथयेद्धि स राजानं मन्त्रिभिः सहितोऽनृजुः।
मारुतोपहितच्छिद्रैः प्रविश्याग्निरिव द्रुमम् ॥३८॥

वह कपटी मन्त्री यदि गुप्त विचारों को जान ले तो अन्य मन्त्रियों के साथ मिलकर राजा को उसी प्रकार पीड़ा पहुँचाता है जैसे अग्नि हवा से भरे हुए छिद्रों में घुसकर सारे वृक्ष को भस्म कर डालती है।

अनृजुस्त्वनुरक्तोऽपि सम्पन्नश्चेतरैर्गुणैः।
राज्ञः प्रज्ञानयुक्तोऽपि न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥३९॥

जो अनुरक्त हो, अन्यान्य गुणों से सम्पन्न हो और बुद्धिमान् हो, वह भी यदि सरल स्वभाव न हो तो राजा के गुप्त परामर्श को सुनने का अधिकारी नहीं है।

योऽमित्रैः सह सम्बद्धो न पौरान् बहु मन्यते।
असुहृत् तादृशो ज्ञेयो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥४०॥

जिसका शत्रुओं के साथ सम्बन्ध हो और अपने राज्य के नागरिकों के प्रति जिसकी उदारबुद्धि न हो, ऐसा स्नेहहीन मनुष्य भी गुप्त मन्त्रणा को सुनने का अधिकारी नहीं है।

अविद्वानशुचिः स्तब्धः शत्रुसेवी विकत्थनः।
असुहृत् क्रोधनो लुब्धो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥४१॥

जो मूर्ख, अपवित्र, निष्ठुर, शत्रु के साथ मेल-जोल रखनेवाला, क्रोधी तथा लोभी है और मित्र नहीं है, उसे गुप्त मन्त्रणा सुनने का अधिकार नहीं है।

कृतप्रज्ञश्च मेधावी बुधो जानपदः शुचिः।
सर्वकर्मसु यः शुद्धः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥४२॥

जिसकी बुद्धि तीव्र हो, धारणशक्ति प्रबल हो, जो अपने ही देश में उत्पन्न, विद्वान् और शुद्ध आचार-वाला हो और सब प्रकार के कार्यों में परीक्षा करने पर निर्दोष सिद्ध हुआ हो, वह गुप्त मन्त्रणा सुनने का अधिकारी है।

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः प्रकृतिज्ञः परात्मनोः।
सुहृदात्मसमो राज्ञः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥४३॥

जो ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न, अपने और शत्रुपक्ष के लोगों की प्रकृति को जाननेवाला तथा राजा का अपने आत्मा के समान प्रिय मित्र हो, वह गुप्त मन्त्रणा सुनने का अधिकारी है।

सत्यवाक् शीलसम्पन्नो गम्भीरः सत्रपो मृदुः।
पितृपैतामहो यः स्यात् स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥४४॥

जो सत्यवादी, शीलयुक्त, गम्भीर, लज्जाशील, कोमल स्वभाव का और बाप-दादाओं के समय से ही राजा की सेवा करता आया है, वह गुप्त मन्त्रणा सुनने का अधिकारी है।

सन्तुष्टः सम्मतः सत्यः शौटीरो द्वेष्यपापकः ।
मन्त्रवित् कालविच्छूरः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥४५॥

जो सन्तोषी, सज्जनों द्वारा सम्मानित, सत्य-परायण, शूरवीर, पाप से घृणा करनेवाला, राजकीय मन्त्रणा को समझनेवाला, समय को पहचाननेवाला और शौर्यसम्पन्न है, वह गुप्त मन्त्रणा को सुनने का अधिकारी है ।

पौरजानपदा यस्मिन् विश्वासं धर्मतो गताः ।
योद्धा नयविपश्चिच्च स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥४६॥

नगर और जनपद के मनुष्य जिसपर धर्मतः विश्वास करते हों, जो कुशल योद्धा और नीतिशास्त्र का पण्डित हो, वही गुप्त मन्त्रणा सुनने का अधिकारी है ।

तस्मात् सर्वगुणैरेतैरुपपन्नाः सुपूजिताः ।
मन्त्रिणः प्रकृतिज्ञाः स्युस्त्र्यवरा महदीप्सवः ॥४७॥

अतः जो उपर्युक्त सभी गुणों से समलंकृत, सभी के द्वारा सम्मानित, प्रकृति को परखनेवाले और महत्त्वाकांक्षी हों, ऐसे पुरुषों को मन्त्रिपद पर नियुक्त करना चाहिए । राजा के मन्त्रियों की संख्या कम-से-कम तीन होनी चाहिए ।

स्वासु प्रकृतिषुच्छिद्रं लक्षयेरन् परस्य च ।
मन्त्रिणां मन्त्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्धते ॥४८॥

मन्त्रियों को अपनी और शत्रु की प्रकृतियों में जो दोष या दुर्बलता हो उसपर ध्यान देना चाहिए, क्योंकि मन्त्रियों द्वारा प्रदत्त परामर्श ही राजा के राष्ट्र का मूल है, उसी के आधार पर राज्य की उन्नति होती है ।

नास्य छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेषु परमन्वियात् ।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः ॥४९॥

राजा ऐसा प्रयत्न करे कि शत्रु उसके छिद्रों को न जान सके परन्तु वह शत्रु की सारी दुर्बलताओं को जान ले । जैसे कछुआ अपने सब अङ्गों को समेटे रहता है, वैसे ही राजा को भी अपने गुप्त विचारों और छिद्रों को छिपाये रखना चाहिए ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

राजा की व्यवहारनीति, दण्ड का औचित्य, दूत आदि के गुण

युधिष्ठिर उवाच

कथं स्विदिह राजेन्द्र पालयन् पार्थिवः प्रजाः ।
प्रीतिं धर्मविशेषेण कीर्तिमाप्नोति शाश्वतीम् ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे राजेन्द्र ! इस संसार में राजा किस प्रकार धर्मविशेष के द्वारा प्रजा का पालन करे, जिससे वह लोगों का प्रेम और अक्षय कीर्ति प्राप्त कर सके ।

भीष्म उवाच

व्यवहारेण शुद्धेन प्रजापालनतत्परः ।
प्राप्य धर्मं च कीर्तिं च लोकानाप्नोत्युभौ शुचिः ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! जो राजा बाहर-भीतर से पवित्र रहकर शुद्ध-व्यवहार से प्रजापालन में तत्पर रहता है, वह धर्म और कीर्ति प्राप्त करके अपने दोनों लोकों को सुधार लेता है ।

प्रजाः पालयतोऽसम्यगधर्मेणेह भूपतेः ।
हार्दं भयं सम्भवति स्वर्गश्चास्य विरुध्यते ॥३॥

जो राजा अन्याय और अधर्मपूर्वक प्रजा का पालन करता है, उसके हृदय में भय बना रहता है और उसका परलोक भी बिगड़ जाता है ।

विनयेच्चापि दुर्वृत्तान् प्रहारैरपि पार्थिवः ।
सान्त्वेनोपप्रदानेन शिष्टांश्च परिपालयेत् ॥४॥

राजा को चाहिए कि जो दुराचारी हों, उन्हें मार-पीटकर भी सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न करे और जो श्रेष्ठ पुरुष हों उन्हें मीठी वाणी से सान्त्वना देते हुए सुख-सुविधा की वस्तुएँ प्रदान कर उनका पालन करे ।

राज्ञो वधं चिकीर्षेद् यस्तस्य चित्रो वधो भवेत् ।
आदीपकस्य स्तेनस्य वर्णसंकरकस्य च ॥५॥

जो राजा के वध की इच्छा करे, जो ग्राम या गृह में आग लगाए, चोरी करे या व्यभिचार द्वारा

वर्णसंकरता फैलाये, ऐसे अपराधी का वध अनेक प्रकार से करना चाहिए।

सम्यक् प्रणयतो दण्डं भूमिपस्य विशाम्पते।
युक्तस्य वा नास्त्यधर्मो धर्म एव हि शाश्वतः ॥६॥

नरेश्वर! जो भली-भाँति विचारकर अपराधी को उचित दण्ड देता है तथा अपने कर्तव्यपालन के लिए सदा उद्यत रहता है, उस राजा को पाप नहीं लगता, अपितु उसे सनातन धर्म की ही प्राप्ति होती है।

कामकारेण दण्डं तु यः कुर्यादविचक्षणः।
स इहाकीर्तिसंयुक्तो मृतो नरकमृच्छति ॥७॥

जो अज्ञानी राजा बिना विचारे स्वेच्छापूर्वक दण्ड देता है, वह इस लोक में अपयश का भागी होता है और मरने पर नरक में जाता है।

न परस्य प्रवादेन परेषां दण्डमर्पयेत्।
आगमानुगमं कृत्वा बध्नीयान्मोक्षयीत वा ॥८॥

राजा एक के अपराध पर दूसरे को दण्ड न दे अपितु शास्त्र के अनुसार विचार करके अपराध सिद्ध होने पर अपराधी को कारागार में डाल दे और निरपराध हो तो मुक्त कर दे।

न तु हन्यान्नृपो जातु दूतं कस्याञ्चिदापदि।
दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत् सचिवैः सह ॥९॥

राजा कभी किसी विपत्ति में भी किसी के दूत का वध न करे। दूत की हत्या करनेवाला नरेश अपने मन्त्रियोंसहित नरक में गिरता है, कष्ट उठाता है।

कुलीनः शीलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः।
यथोक्तवादी स्मृतिमान्दूतः स्यात्सप्तभिर्गुणैः ॥१०॥

कुलीन, शीलयुक्त, वाक्पटु, चतुर, मधुरभाषी, सन्देश को ज्यों-का-त्यों कहनेवाला और स्मरणशक्ति से सम्पन्न—इन सात गुणों से युक्त [राजा का] दूत होना चाहिए।

एतैरेव गुणैर्युक्तः प्रतीहारोऽस्य रक्षिता।
शिरोरक्षश्च भवति गुणैरेतैः समन्वितः ॥११॥

राजा के द्वाररक्षक प्रतिहारी [द्वारपाल] में भी ये ही गुण होने चाहिएँ। उसका शिरोरक्षक [अथवा अङ्गरक्षक] भी इन्हीं गुणों से युक्त होना चाहिए।

धर्मशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः सन्धिविग्रहिको भवेत्।
मतिमान् धृतिमान् ह्रीमान् रहस्यविनिगूहिता ॥१२॥

कुलीनः सत्त्वसम्पन्नः शुक्लोऽमात्यः प्रशस्यते।
एतैरेव गुणैर्युक्तस्तथा सेनापतिर्भवेत् ॥१३॥

धर्मशास्त्र का तत्त्वज्ञ, सन्धि-विग्रह के अवसरों को जाननेवाला, बुद्धिमान्, धैर्यशाली, लज्जाशील, रहस्य को गुप्त रखनेवाला, कुलीन, साहसी और शुद्ध हृदयवाला मन्त्री ही उत्तम माना जाता है। सेनापतियों को भी इन्हीं गुणों से सम्पन्न होना चाहिए।

व्यूहयन्त्रायुधानां च तत्त्वज्ञो विक्रमान्वितः।
वर्षशीतोष्णवातानां सहिष्णुः पररन्ध्रवित् ॥१४॥

वह [सेनापति] व्यूहरचना, यन्त्रों के प्रयोग और नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों को चलाने की कला का मर्मज्ञ हो, पराक्रमी हो, सर्दी-गर्मी और आँधी-वर्षा के कष्ट को धैर्यपूर्वक सहनेवाला तथा शत्रु के छिद्र [दुर्बलता, त्रुटि] आदि को जाननेवाला हो।

विश्वासयेत् परांश्चैव विश्वसेच्च न कस्यचित्।
पुत्रेष्वपि हि राजेन्द्र विश्वासो न प्रशस्यते ॥१५॥

राजा दूसरों के मन में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करे परन्तु स्वयं कभी किसी का विश्वास न करे। नरेश्वर! अपने पुत्रों पर भी पूरा-पूरा विश्वास करना उत्तम नहीं माना गया है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

षड्विंशोऽध्यायः

राजा के निवासयोग्य नगरादि का वर्णन, प्रजापालन-सम्बन्धी व्यवहार तथा तपस्वियों के सम्मान का निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

कथंविधं पुरं राजा स्वयमावस्तुमर्हति ।
कृतं वा कारयित्वा वा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! राजा को स्वयं कैसे नगर में निवास करना चाहिए ? वह पूर्व-निर्मित राजधानी में रहे अथवा नये नगर का निर्माण कराकर उसमें निवास करे, यह मुझे बताने की कृपा करें ।

भीष्म उवाच

वस्तव्यं यत्र कौन्तेय सपुत्रज्ञातिबन्धुना ।
न्याय्यं तत्र परिप्रष्टुं वृत्तिं गुप्तिं च भारत ॥२॥

भीष्मजी बोले—भरतभूषण ! कुन्तीकुमार ! पुत्र, पारिवारिक जन और बन्धुवर्ग के साथ राजा जिस नगर में निवास करे, उसमें जीवन-यापन तथा रक्षा की व्यवस्था के सम्बन्ध में तुम्हारा प्रश्न करना न्यायोचित है ।

तस्मात्ते वर्तयिष्यामि दुर्गकर्म विशेषतः ।
श्रुत्वा तथा विधातव्यमनुष्ठेयं च यत्नतः ॥३॥

अतः मैं तुम्हारे समक्ष दुर्गनिर्माण की क्रिया का विशेष रूप से वर्णन करूँगा । तुम इस विषय को सुनकर वैसा ही करना और यत्नपूर्वक दुर्ग का निर्माण कराना ।

षड्विधं दुर्गमास्थाय पुराण्यथ निवेशयेत् ।
सर्वसम्पत्प्रधानं यद् बाहुल्यं चापि सम्भवेत् ॥४॥

जहाँ सब प्रकार की सम्पत्ति प्रचुरमात्रा में उपलब्ध हो, साथ ही जो स्थान बहुत विस्तृत हो, वहाँ छह प्रकार के दुर्गों का आश्रय लेकर राजा को नये नगर बसाने चाहिएँ ।

धन्वदुर्गं महीदुर्गं गिरिदुर्गं तथैव च ।
मनुष्यदुर्गमब्दुर्गं वनदुर्गं च तानि षट् ॥५॥

उन छह दुर्गों के नाम ये हैं—धन्वदुर्ग,[1] महीदुर्ग,[2] गिरिदुर्ग,[3] मनुष्यदुर्ग,[4] जलदुर्ग[5] और वनदुर्ग[6] ।

यत्पुरं दुर्गसम्पन्नं धान्यायुधसमन्वितम् ।
दृढप्राकारपरिखं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ॥६॥
विद्वांसः शिल्पिनो यत्र निचयाश्च सुसञ्चिताः ।
धार्मिकाश्च जना यत्र चत्वरापणशोभितम् ॥७॥
प्रसिद्धव्यवहारं च सुप्रशस्तनिवेशनम् ।
शूराढ्यजनसम्पन्नं ब्रह्मघोषानुनादितम् ॥८॥
समाजोत्सवसम्पन्नं सदापूजितदैवतम् ।
वश्यामात्यबलो राजा तत्पुरं स्वयमाविशेत् ॥९॥

जिस नगर में इनमें से कोई-न-कोई दुर्ग हो, जहाँ अन्न और अस्त्र-शस्त्रों का बाहुल्य हो, जिसके चारों ओर दृढ़ परकोटा [चारदीवारी] तथा गहरी एवं चौड़ी खाई बनी हो, जहाँ हाथी-घोड़े और रथों की बहुतायत हो, जहाँ विद्वान् और कारीगर बसे हों, जहाँ आवश्यक वस्तुओं के भण्डार भरे हों, जहाँ धार्मिक मनुष्य रहते हों, चौराहे और बाजार जिस नगर की शोभा बढ़ा रहे हों, जहाँ का न्याय-विचार और न्यायालय सुप्रसिद्ध हो, जहाँ का प्रत्येक घर सुन्दर और सुशोभित हो, जिसमें योद्धा और धनाढ्य लोग निवास करते हों, जहाँ वेदमन्त्रों की ध्वनि गूँजती रहती हो, जहाँ सदा ही सामाजिक उत्सव

---

१. जिसके चारों ओर बालू का घेरा हो उस किले को 'धन्व-[अथवा मरु]-दुर्ग' कहते हैं ।
२. समतल भूमि पर बना किला 'महीदुर्ग' कहलाता है ।
३. पर्वत-शिखर पर बना और चारों ओर से ऊँची-ऊँची पर्वतमालाओं से घिरा हुआ किला 'गिरिदुर्ग' कहलाता है ।
४. सैनिक किले का नाम 'मनुष्यदुर्ग' है ।
५. जिसके चारों ओर जल हो, वह 'जलदुर्ग' कहलाता है ।
६. जो स्थान विशाल और भयंकर वनों से घिरा हुआ हो, उसे 'वनदुर्ग' कहते हैं ।

और हवन-यज्ञ का क्रम चलता रहता हो, ऐसे नगर में अपने वश में रहनेवाले मन्त्रियों तथा सेना के साथ राजा को स्वयं निवास करना चाहिए।

तत्र कोशं बलं मित्रं व्यवहारं च वर्धयेत्।
पुरे जनपदे चैव सर्वदोषान् निवर्तयेत् ॥१०॥

राजा को चाहिए कि वह उस नगर में कोष, सेना, मित्रों की संख्या और व्यवहार को बढ़ाए। नगर और ग्रामों में जो दोष हों, उन्हें भी दूर करे।

भाण्डागारायुधागारं प्रयत्नेनाभिवर्धयेत्।
निचयान् वर्धयेत्सर्वांस्तथा यन्त्रायुधालयान् ॥११॥

अन्नभण्डार और अस्त्र-शस्त्रों के संग्रहालय को प्रयत्नपूर्वक बढ़ाए। सब प्रकार की वस्तुओं के भण्डारों की भी वृद्धि करे, यन्त्रों और अस्त्र-शस्त्रों की निर्माणशालाओं की उन्नति करे।

प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता दक्षाः शूरा बहुश्रुताः।
कुलीनाः सत्त्वसम्पन्ना युक्ताः सर्वेषु कर्मसु ॥१२॥

राजा को चाहिए कि वह विद्वान्, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, कार्यकुशल, शूर, बहुज्ञ, कुलीन तथा साहस और धैर्य से सम्पन्न पुरुषों को यथायोग्य समस्त कर्मों में नियुक्त करे।

पूजयेद् धार्मिकान् राजा निगृह्णीयादधार्मिकान्।
नियुञ्ज्याच्च प्रयत्नेन सर्ववर्णान् स्वकर्मसु ॥१३॥

राजा को चाहिए कि वह धार्मिक पुरुषों का सत्कार करे एवं दुष्टों को दण्ड दे और यत्नपूर्वक सभी वर्णों को अपने-अपने कार्यों में लगाए।

बाह्यमाभ्यन्तरं चैव पौरजानपदं तथा।
चारैः सुविदितं कृत्वा ततः कर्म प्रयोजयेत् ॥१४॥

राजा को चाहिए कि गुप्तचरों द्वारा नगर और ग्रामों के बाहरी तथा भीतरी समाचारों को भली-भाँति जानकर, उनके अनुसार कार्य करे।

चारान्मन्त्रं च कोशं च दण्डं चैव विशेषतः।
अनुतिष्ठेत् स्वयं राजा सर्वं ह्यत्र प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

गुप्तचरों से मिलने, गुप्तमन्त्रणा करने, कोष की जाँच-पड़ताल करने और विशेषरूप से अपराधियों को दण्ड देने का कार्य राजा स्वयं करे, क्योंकि इन्हीं पर सारा राज्य प्रतिष्ठित होता है।

उदासीनारिमित्राणां सर्वमेव चिकीर्षितम्।
पुरे जनपदे चैव ज्ञातव्यं चारचक्षुषा ॥१६॥

राजा को गुप्तचररूपी नेत्रों द्वारा देखकर सदा इस बात की जानकारी रखनी चाहिए कि उसके शत्रु, मित्र और तटस्थ व्यक्ति नगर तथा ग्रामों में कब क्या करना चाहते हैं।

ततस्तेषां विधातव्यं सर्वमेवाप्रमादतः।
भक्तान् पूजयता नित्यं द्विषतश्च निगृह्णता ॥१७॥

उनकी चेष्टाएँ जान लेने के पश्चात् उनके प्रतिकार के लिए सारा कार्य अत्यन्त सावधानी से करना चाहिए। राजा को उचित है कि वह अपने भक्तों का सदा आदर करे और द्वेष रखनेवालों को कारागार में डाल दे।

यष्टव्यं क्रतुभिर्नित्यं दातव्यं चाप्यपीडया।
प्रजानां रक्षणं कार्यं न कार्यं धर्मबाधकम् ॥१८॥

राजा को प्रतिदिन यज्ञ करना और दूसरों को कष्ट न देते हुए दान देना चाहिए। उसे प्रजा की रक्षा करनी चाहिए और ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे धर्म में बाधा उपस्थित होती हो।

कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम्।
योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत् ॥१९॥

दीन, अनाथ, वृद्ध और विधवा स्त्रियों के योग-क्षेम तथा जीविका आदि का प्रबन्ध राजा को सदा करते रहना चाहिए।

आश्रमेषु यथाकालं चैलभाजनभोजनम्।
सदैवोपहरेद् राजा सत्कृत्याभ्यर्च्य मान्य च ॥२०॥

राजा को चाहिए कि आश्रमों में यथासमय वस्त्र, पात्र और भोजनादि सामग्री सदा ही भेजा करे। सबको सत्कार, पूजन तथा सम्मानपूर्वक वे वस्तुएँ अर्पित करे।

आत्मानं सर्वकार्याणि तापसे राष्ट्रमेव च।
निवेदयेत् प्रयत्नेन तिष्ठेत् प्रह्वश्च सर्वदा ॥२१॥

अपने राज्य में जो तपस्वी हों उन्हें अपने निजी सभी कार्य और राष्ट्र-सम्बन्धी समाचार प्रयत्नपूर्वक बताया करे तथा उनके सामने सदा विनीतभाव से रहे।

सर्वार्थत्यागिनं राजा कुले जातं बहुश्रुतम्।
पूजयेत् तादृशं दृष्ट्वा शयनासनभोजनैः ॥२२॥

जिसने सब-कुछ त्याग दिया है, ऐसे कुलीन और विद्वान् तपस्वी को देखकर राजा शय्या, आसन और भोजन प्रदान कर उसका सम्मान करे।

तस्मिन् कुर्वीत विश्वासं राजा कस्याञ्चिदापदि।
तापसेषु हि विश्वासमपि कुर्वन्ति दस्यवः ॥२३॥

कैसी भी आपत्ति का समय क्यों न हो, राजा को तपस्वी पर विश्वास करना चाहिए, क्योंकि चोर-डाकू भी तपस्वी महात्माओं पर विश्वास करते हैं।

एष ते लक्षणोद्देशः संक्षेपेण प्रकीर्तितः।
यादृशे नगरे राजा स्वयमावस्तुमर्हति ॥२४॥

युधिष्ठिर! तुम्हारे प्रश्न के अनुसार राजा को स्वयं जैसे नगर में निवास करना चाहिए, उसका लक्षण मैंने यहाँ संक्षेप से बता दिया है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

राष्ट्र की रक्षा और वृद्धि तथा प्रजा से कर लेने का प्रकार

युधिष्ठिर उवाच

राष्ट्रगुप्तिं च मे राजन् राष्ट्रस्यैव तु संग्रहम्।
सम्यग्जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतश्रेष्ठ नरेश! अब भली-भाँति जानने के इच्छुक मुझे यह बताइए कि राष्ट्र की रक्षा और उसकी वृद्धि कैसे हो सकती है?

भीष्म उवाच

राष्ट्रगुप्तिं च ते सम्यग् राष्ट्रस्यैव तु संग्रहम्।
हन्त सर्वं प्रवक्ष्यामि तत्त्वमेकमनाः शृणु ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन्! मैं तुम्हें राष्ट्र की रक्षा और उसके विकास का सम्पूर्ण रहस्य बताता हूँ। तुम ध्यानपूर्वक सुनो!

ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यस्तथापरः।
द्विगुणायाः शतस्यैवं सहस्रस्य च कारयेत् ॥३॥

एक ग्राम का, दस ग्रामों का, बीस ग्रामों का, सौ ग्रामों का और एक सहस्र ग्रामों का पृथक्-पृथक् एक-एक अधिपति बनाना चाहिए।

ग्रामीयान् ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत्।
तान् ब्रूयाद् दशपायासौ स तु विंशतिपाय वै ॥४॥
सोऽपि विंशत्यधिपतिर्वृत्तं जानपदे जने।
ग्रामाणां शतपालाय सर्वमेव निवेदयेत् ॥५॥

ग्राम के स्वामी का यह कर्तव्य है कि वह ग्राम-वासियों के मामलों और अपराधों का वहीं रहकर पता लगाए और उनका पूर्ण विवरण दस ग्राम के अधिपति के पास भेज दे। इसी प्रकार दस ग्रामवाला बीस गाँववाले के पास और बीस गाँववाला अपने अधीनस्थ जनपद के लोगों का सम्पूर्ण वृत्तान्त सौ ग्रामवाले अधिकारी को सूचित कर दे। [इसी प्रकार सौ ग्रामों का स्वामी अपने अधिकृत क्षेत्रों की सूचना एक सहस्र ग्रामों के अधिपति को भेज दे, फिर सहस्र-ग्रामाधिपति स्वयं राजा के समक्ष जाकर अपने यहाँ आये हुए सभी विवरणों को उसके समक्ष प्रस्तुत करे।]

यानि ग्राम्याणि भोज्यानि ग्रामिकस्तान्युपाश्रियात्।
दशपस्तेन भर्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधिपः ॥६॥

ग्राम में जो आय अथवा उपज हो, उस सबको ग्राम-अधिपति अपने ही पास रखे [तथा उसमें से नियत अंश का वेतनरूप में उपभोग करे]। उसी में से नियत वेतन देकर उसे दस ग्राम-अधिपति का भी भरण-पोषण करना चाहिए और उसे बीस ग्रामों के अधिपति का भरण-पोषण करना चाहिए।

ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः।
महान्तं भरतश्रेष्ठ सुस्फीतं जनसंकुलम् ॥७॥

सम्मानित सौ ग्रामों का अधिपति एक ग्राम की आय का उपभोग कर सकता है। भरतश्रेष्ठ! वह ग्राम बहुत बड़ी बस्तीवाला, मनुष्यों से भरपूर और धन-धान्य से सम्पन्न हो।

शाखानगरमर्हस्तु सहस्रपतिरुत्तमः।
धान्यहैरण्यभोगेन भोक्तुं राष्ट्रियसङ्गतः ॥८॥

सहस्र ग्रामों का श्रेष्ठ अधिपति एक शाखानगर

[कस्बे] की आय प्राप्त करने का अधिकारी है। वहाँ जो अन्न और स्वर्ण की आय हो, उसका वह उपभोग कर सकता है। उसे राष्ट्रवासियों के साथ मिलकर रहना चाहिए।

तेषां संग्रामकृत्यं स्याद् ग्रामकृत्यं च तेषु यत्।
धर्मज्ञः सचिवः कश्चित् तत् तत्पश्येदतन्द्रितः ॥९॥

इन अधिपतियों के अधिकार में जो युद्ध-सम्बन्धी और ग्राम के प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्य सौंपे गये हों, उनकी देख-भाल कोई आलस्यरहित धर्मज्ञ मन्त्री किया करे।

विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिच्छदम्।
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजां कारयेत् करान् ॥१०॥

राजा को माल के क्रय, विक्रय, उसके मँगाने का खर्च, उसमें काम करनेवाले नौकरों का वेतन, बचत और योगक्षेम के निर्वाह को दृष्टि में रखकर ही व्यापारियों पर कर लगाना चाहिए।

उत्पत्तिं दानवृत्तिं च शिल्पं सम्प्रेक्ष्य चासकृत्।
शिल्पं प्रतिकरानेवं शिल्पिनः प्रति कारयेत् ॥११॥

इसी प्रकार माल की उपज, उसकी खपत और शिल्प की उत्तम-मध्यम आदि श्रेणियों का बार-बार निरीक्षण करके शिल्प और शिल्पकारों पर कर लगाए।

उच्चावचकरा दाप्याः सुनृपेण युधिष्ठिर।
यथा यथा न सीदेरंस्तथा कुर्यान्महीपतिः ॥१२॥

युधिष्ठिर! राजा को चाहिए कि वह लोगों की सामर्थ्य के अनुसार भारी और हल्के कर लगाए। भूपाल को उतना ही कर लेना चाहिए, जितने से प्रजा संकट में न पड़ जाए।

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया।
प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम् ॥१३॥

राजा को चाहिए कि तृष्णा के वशीभूत होकर अपने जीवन के मूलाधार प्रजाओं के जीवनभूत खेती आदि का उच्छेद न करे। यदि राजा अधिक शोषण करनेवाला प्रसिद्ध हो जाए तो समस्त प्रजा उससे द्वेष करने लगती है।

प्रद्विष्टस्य कुतः श्रेयो नाप्रियो लभते फलम्।
वत्सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना ॥१४॥

जिससे सब लोग द्वेष करते हों, उसका कल्याण कैसे हो सकता है? जो प्रजावर्ग का प्रिय नहीं होता, उसे कोई लाभ नहीं मिलता। बुद्धिमान् राजा को चाहिए कि वह गाय के बछड़े की भाँति राष्ट्र से धीरे-धीरे अपने उदर की पूर्ति करे।

भृतो वत्सो जातबलः पीडां सहति भारत।
न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धो युधिष्ठिर।
राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि न कर्म कुरुते महत् ॥१५॥

भरतनन्दन युधिष्ठिर! जिस गौ का दूध अधिक नहीं दुहा जाता, उसका बछड़ा अधिक समय तक उसके दूध से पुष्ट और बलवान् होकर भारी बोझ ढोने का कष्ट सहन कर लेता है, परन्तु जिसका दूध अधिक दुह लिया गया है, उसका बछड़ा निर्बल होने के कारण वैसा काम नहीं कर सकता। इसी प्रकार राष्ट्र का भी अधिक दोहन करने से वह दरिद्र हो जाता है और कोई महान् कर्म नहीं कर पाता।

आपदर्थं च निर्यातं धनं त्विह विवर्धयेत्।
राष्ट्रं च कोशभूतं स्यात् कोशो वेश्मगतस्तथा ॥१६॥

राजा को चाहिए कि वह अपने देश में लोगों के पास संग्रहीत धन को आपत्ति के समय काम आने के लिए बढ़ाए तथा अपने राष्ट्र को घर में रखा हुआ कोष समझे।

प्रागेव तु धनादानमनुभाष्य ततः पुनः।
सन्निपत्य स्वविषये भयं राष्ट्रे प्रदर्शयेत् ॥१७॥

राजा पहले ही धन लेने की आवश्यकता बताकर फिर अपने राज्य में सर्वत्र दौरा करे तथा राष्ट्र पर आनेवाले भय की ओर सबका ध्यान आकर्षित करे।

इयमापत्समुत्पन्ना परचक्रभयं महत्।
अपि चान्ताय कल्पन्ते वेणोरिव फलागमाः ॥१८॥
अरयो मे समुत्थाय बहुभिर्दस्युभिः सह।
इदमात्मवधायैव राष्ट्रमिच्छन्ति बाधितुम् ॥१९॥

वह राष्ट्रवासियों से कहे—"सज्जनो! अपने देश पर यह बहुत बड़ी आपत्ति आ पहुँची है। शत्रु-दल के आक्रमण का महान् भय उपस्थित है। जैसे बाँस में फल लगना उसके विनाश का कारण होता है, वैसे ही हमारे शत्रु बहुत-से लुटेरों को साथ लेकर अपने ही विनाश के लिए उठकर हमारे इस राष्ट्र

को पीड़ित करना चाहते हैं।

अस्यामापदि घोरायां सम्प्राप्ते दारुणे भये।
परित्राणाय भवतां प्रार्थयिष्ये धनानि वः ॥२०॥

"इस घोर आपत्ति और दारुण भय के समय मैं आप लोगों की रक्षा के लिए [ऋण रूप में] आपसे धन माँग रहा हूँ।

प्रतिदास्ये च भवतां सर्वं चाहं भयक्षये।
नारयः प्रतिदास्यन्ति यद्धरेयुर्बलादितः ॥२१॥

'जब यह संकट दूर हो जाएगा, तब मैं आप लोगों का सारा धन आपको लौटा दूँगा। शत्रु आकर यहाँ से बलपूर्वक जो धन लूट ले जाएँगे, उसे वे कभी वापस नहीं करेंगे।

कलत्रमादितः कृत्वा सर्वं वो विनशेदिति।
अपि चेत् पुत्रदारार्थमर्थसञ्चय इष्यते ॥२२॥

"शत्रुओं का आक्रमण होने पर आपकी स्त्रियों पर पहले संकट आएगा, फिर आपका सारा धन भी नष्ट हो जाएगा। स्त्री और पुत्रों की रक्षा के लिए धन की आवश्यकता होती है।

नन्दामि वः प्रभावेण पुत्राणामिव प्रेरये।
यथाशक्त्युपगृह्णामि राष्ट्रस्यापीडया च वः ॥२३॥

"जैसे पुत्रों की उन्नति से पिता को प्रसन्नता होती है, वैसे ही आपकी बढ़ती हुई समृद्धि से मुझे भी प्रसन्नता होती है। इस समय राष्ट्र पर आये हुए संकट को टालने के लिए मैं आप लोगों से आपकी शक्ति के अनुसार ही धन ग्रहण करूँगा, जिससे राष्ट्र-वासियों को किसी प्रकार का कष्ट न हो।"

इति वाचा मधुरया श्लक्ष्णया सोपचारया।
स्वरश्मीनभ्यवसृजेद् योगमाधाय कालवित् ॥२४॥

समय की गतिविधि पहचाननेवाले राजा को चाहिए कि वह इस प्रकार स्नेहसिक्त और विनयपूर्ण मधुर वचनों द्वारा समझा-बुझाकर उपयुक्त उपाय का आश्रय ले और अपने पैदल सैनिकों या सेवकों को प्रजावर्ग के घर पर धनसंग्रह के लिए भेजे।

प्राकारं भृत्यभरणं व्ययं संग्रामतो भयम्।
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य गोमिनः कारयेत्करम् ॥२५॥

नगर की रक्षा के लिए परकोटा बनवाना है, सेवकों और सैनिकों का भरण-पोषण करना है, अन्य आवश्यक व्यय करने हैं, युद्ध के संकट को टालना है तथा सबके योगक्षेम की चिन्ता करनी है—इन सब बातों की आवश्यकता दिखाकर राजा धनवान् वैश्यों से कर ग्रहण करे।

उपेक्षिता हि नश्येयुर्गोमिनोऽरण्यवासिनः।
तस्मात् तेषु विशेषेण मृदुपूर्वं समाचरेत् ॥२६॥

यदि राजा वैश्यों के हानिलाभ की परवा न करके उन्हें कर-भार से पीड़ित करता है तो वे राज्य छोड़कर भाग जाते हैं और वन में रहने लगते हैं, इसलिए उनके साथ कोमलता का व्यवहार करना चाहिए।

सान्त्वनं रक्षणं दानमवस्था चाप्यभीक्ष्णशः।
गोमिनां पार्थ कर्तव्यः संविभागः प्रियाणि च ॥२७॥

कुन्तीकुमार! वैश्यों को सान्त्वना दे, उनकी रक्षा करे, उन्हें धन की सहायता दे, उनकी स्थिति को सुदृढ़ रखने का सदा प्रयत्न करे, उन्हें आवश्यक-वस्तुएँ प्रदान करे तथा सदा उनका प्रिय कार्य करता रहे।

युधिष्ठिर उवाच

यदि राजा समर्थोऽपि कोशार्थी स्यान्महामते।
कथं तदा प्रवर्तेत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥२८॥

युधिष्ठिर ने पूछा—परम बुद्धिमान् पितामह! जब राजा पूर्णतः समर्थ हो—उसपर कोई संकट न आया हो, फिर भी वह अपने कोष की वृद्धि करना चाहे तो उसे किस प्रकार के उपाय काम में लाने चाहिएँ, यह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

मधुदोहं दुहेद् राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम्।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत् ॥२९॥

भीष्मजी बोले—जैसे भौंरा धीरे-धीरे फूल एवं वृक्ष का रस लेता है, वृक्ष को काटता नहीं है, जैसे मनुष्य बछड़े को कष्ट न देकर शनैः-शनैः गाय को दुहता है, उसके थनों को कुचलता नहीं है, वैसे ही राजा कोमलता के साथ ही राष्ट्ररूपी गौ का दोहन करे, उसे कुचले नहीं।

जलौकावत् पिबेद् राष्ट्रं मृदुनैव नराधिपः।
व्याघ्रीव च हरेत् पुत्रान् संदशेन्न च पीडयेत् ॥३०॥

जैसे जोंक धीरे-धीरे शरीर का रक्त चूसती है, जैसे बाघिन अपने बच्चों को दाँतों से पकड़कर इधर-उधर ले जाती है, परन्तु न तो उन्हें काटती है और न उनके शरीर को पीड़ा पहुँचाती है, वैसे ही राजा कोमल उपायों द्वारा राष्ट्र का दोहन करे।

अल्पेनाल्पेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत्।
ततो भूयस्ततो भूयः क्रमवृद्धिं समाचरेत् ॥३१॥

राजा पहले थोड़ा-थोड़ा कर ले, फिर धीरे-धीरे उसे बढ़ाये तथा उस बढ़े हुए कर को ग्रहण करे। तत्पश्चात् समयानुसार पुनः उसमें थोड़ी-थोड़ी वृद्धि करते हुए क्रमशः बढ़ाता रहे।

दमयन्निव दम्यानि शश्वद् भारं विवर्धयेत्।
मृदुपूर्वं प्रयत्नेन पाशानभ्यवहारयेत् ॥३२॥

जैसे बछड़ों को पहले-पहल भार ढोने का अभ्यास करानेवाला पुरुष उन्हें प्रयत्नपूर्वक नाथता है, फिर शनैः-शनैः उनपर अधिक भार लादता है, उसी प्रकार प्रजा पर भी पहले कर का भार कम रखे, फिर उसे धीरे-धीरे बढ़ाये।

पानागारनिवेशाश्च वेश्याः प्रापणिकास्तथा।
कुशीलवाः सकितवा ये चान्ये केचिदीदृशाः ॥३३॥
नियम्याः सर्व एवैते ये राष्ट्रस्योपघातकाः।
एते राष्ट्रेऽभितिष्ठन्तो बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥३४॥

मधु-[शराब]-शाला खोलनेवाले, वेश्याएँ, कुट्टनियाँ, वेश्याओं के दलाल, जुआरी और ऐसे ही निकृष्ट व्यवसाय करनेवाले जितने लोग हों, वे सम्पूर्ण राष्ट्र को हानि पहुँचानेवाले हैं, अतः इन सबको दण्ड देकर दबाये रखना चाहिए। यदि ये राज्य में टिके रहते हैं तो कल्याण-मार्ग पर चलनेवाली प्रजा को अत्यन्त पीड़ित करते हैं।

स्थानान्येतानि संयम्य प्रसङ्गो भूतिनाशनः।
कामे प्रसक्तः पुरुषः किमकार्यं विवर्जयेत् ॥३५॥

उपर्युक्त मदिरालय आदि स्थानों पर रोक लगा देनी चाहिए, क्योंकि इनसे कामविषयक आसक्ति बढ़ती है, जो धन-वैभव और कल्याण का नाश करनेवाली है। काम में आसक्त मनुष्य किसी कुकर्म को नहीं छोड़ता।

मद्यमांसपरस्वानि तथा दारा धनानि च।
आहरेद् रागवशगस्तथा शास्त्रं प्रदर्शयेत् ॥३६॥

आसक्ति में फँसा हुआ मनुष्य मांस खाता है मदिरा पीता है और पर-धन तथा पर-स्त्री का अपहरण करता है, साथ ही दूसरों को भी यही सब-कुछ करने की प्रेरणा देता है।

मा ते राष्ट्रे याचनका भूवन्मा चापि दस्यवः।
एषां दातार एवैते नैते भूतस्य भावकाः ॥३७॥

तुम्हारे राज्य में भिखमंगे और लुटेरे न हों, क्योंकि ये सब प्रजा के धन को केवल छीननेवाले हैं, उनके ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले नहीं हैं।

ये भूतान्यनुगृह्णन्ति वर्धयन्ति च ये प्रजाः।
ते ते राष्ट्रेषु वर्तन्तां या भूतानामभावकाः ॥३८॥

जो सब प्राणियों पर दया करते और प्रजा की उन्नति में योग देते हैं, वे तुम्हारे राष्ट्र में निवास करें। जो लोग प्राणियों की हिंसा करनेवाले हैं, वे न रहें।

धनिनः पूजयेन्नित्यं पानाच्छादनभोजनैः।
वक्तव्याश्चानुगृह्णीध्वं प्रजाः सह मयेति वै ॥३९॥

राजा को चाहिए कि वह देश के धनी व्यक्तियों का सदा भोजन, वस्त्र और अन्नदान आदि द्वारा सत्कार करे तथा उनसे विनयपूर्वक कहे—"आप लोग मेरे सहित मेरी इन प्रजाओं पर कृपादृष्टि रखें।"

अङ्गमेतन्महद् राज्ये धनिनो नाम भारत।
ककुदं सर्वभूतानां धनस्थो नात्र संशयः ॥४०॥

भरतनन्दन! धनीजन राष्ट्र के मुख्य अङ्ग हैं। धनवान् मनुष्य समस्त प्राणियों में प्रधान होता है, इसमें संशय नहीं है।

प्राज्ञः शूरो धनस्थश्च स्वामी धार्मिक एव च।
तपस्वी सत्यवादी च बुद्धिमांश्चापि रक्षति ॥४१॥

विद्वान्, शूरवीर, धनी, धर्मनिष्ठ, स्वामी, तपस्वी, सत्यवादी और बुद्धिमान् मनुष्य ही प्रजा की रक्षा करते हैं।

तस्मात् सर्वेषु भूतेषु प्रीतिमान् भव पार्थिव।
सत्यमार्जवमक्रोधमानृशंस्यं च पालय ॥४२॥

अतः भूपाल! तुम समस्त प्राणियों से प्रेम रखो और सत्य, सरलता, अक्रोध और दयालुता आदि सद्धर्मों का पालन करो।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

राजा के कर्तव्यों का वर्णन तथा उसके लिए धर्मपालन की आवश्यकता

भीष्म उवाच

शत्रून् जय प्रजा रक्ष यजस्व क्रतुभिर्नृप ।
युध्यस्व समरे वीरो भूत्वा कौरवनन्दन ॥१॥

भीष्मजी बोले—नरेश्वर ! कौरवनन्दन ! तुम शत्रुओं को जीतो, प्रजा की रक्षा करो, नाना प्रकार के यज्ञ करते रहो और समरभूमि में वीरतापूर्वक लड़ो ।

संरक्ष्यान् पालयेद् राजा स राजा राजसत्तमः ।
ये केचित्तान् न रक्षन्ति तैरर्थो नास्ति कश्चन ॥२॥

जो रक्षा करने योग्य मनुष्यों की रक्षा करता है, वही राजा समस्त राजाओं में शिरोमणि है । जो रक्षा के पात्र मनुष्यों की रक्षा नहीं करते ऐसे राजाओं की संसार को कोई आवश्यकता नहीं है ।

आत्मानं सर्वतो रक्षन् राजन् रक्षस्व मेदिनीम् ।
आत्ममूलमिदं सर्वमाहुर्वै विबुधाः जनाः ॥३॥

राजन् ! तुम चहुँ ओर से अपनी रक्षा करते हुए ही इस सम्पूर्ण पृथिवी की रक्षा करो, क्योंकि बुद्धिमान् लोगों का कहना है कि इन सबका मूल अपना सुरक्षित शरीर ही है ।

किं छिद्रं को नु सङ्गो मे किं वास्त्यविनिपातितम् ।
कुतो मामाश्रयेद् दोष इति नित्यं विचिन्तयेत् ॥४॥

मुझमें कौन-सी दुर्बलता है, किस प्रकार की आसक्ति है और कौन-सा ऐसा दोष है, जो अबतक दूर नहीं हुआ है और किस कारण से मुझपर दोष आता है ? इन सब बातों का राजा को सदा विचार करते रहना चाहिए ।

अतीतदिवसे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः ।
गुप्तैश्चारैरनुमतैः पृथिवीमनुसारयेत् ॥५॥

'कल तक मेरा जैसा आचार-व्यवहार रहा है, उसकी प्रजा प्रशंसा करती है या नहीं'—इस बात का पता लगाने के लिए अपने विश्वासपात्र गुप्तचरों को पृथिवी पर सब ओर घुमाते रहना चाहिए ।

ये च त्वाभिप्रशंसेयुर्निन्देयुरथवा पुनः ।
सर्वान् सुपरिणीतांस्तान् कारयेथा युधिष्ठिर ॥६॥

युधिष्ठिर ! जो लोग तुम्हारी प्रशंसा करें और जो तुम्हारी निन्दा करें, तुम्हें उन सबका सत्कार ही करना चाहिए ।

एकान्तेन हि सर्वेषां न शक्यं तात रोचितुम् ।
मित्रामित्रमथो मध्यं सर्वभूतेषु भारत ॥७॥

तात ! किसी का कोई भी काम सबको सर्वथा अच्छा ही लगे, ऐसा सम्भव नहीं है । भरतनन्दन ! सभी प्राणियों के मित्र, शत्रु और मध्यस्थ [उदासीन] होते हैं ।

यानङ्गिराः क्षत्रधर्मान्मान्धात्रे प्रत्यभाषत ।
तत्ते सर्वं प्रवक्ष्यामि निखिलेन युधिष्ठिर ॥८॥

युधिष्ठिर! अङ्गिरा के पुत्र उतथ्य ने मान्धाता से जिन-जिन क्षत्रियधर्मों का वर्णन किया था, वह सारा प्रसङ्ग पूरा-का-पूरा तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो !

उतथ्य उवाच

धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु ।
मान्धातरिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता ॥९॥

उतथ्य ने कहा—मान्धाता ! राजा धर्म का पालन और प्रचार करने के लिए ही होता है, विषय-सुखों का उपभोग करने के लिए नहीं । तुम्हें यह भी जानना चाहिए कि राजा सारे संसार का रक्षक होता है ।

राजा चरति चेद्धर्मं देवत्वायैव कल्पते ।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ॥१०॥

यदि राजा धर्माचरण करता है, तो देवता बन जाता है और यदि वह अधर्माचरण करता है तो नरक में जा गिरता है ।

धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति ।
तं राजा साधु यः शास्ति स राजा पृथिवीपतिः ॥११

समस्त प्राणी धर्म के आधार पर स्थित हैं और धर्म राजा में प्रतिष्ठित है । जो राजा सम्यक् रूप से धर्म का पालन और उसके अनुकूल शासन करता है, वही दीर्घकाल तक इस पृथिवी का स्वामी बना रहता है ।

यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते ।
यस्मिन् विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः ॥१२॥

जिसमें धर्म विद्यमान हो उसी को राजा कहते हैं तथा जिसमें धर्म [वृष] का लय हो गया हो उसे विद्वान् लोग 'वृषल' मानते हैं ।

वृषो हि भगवान् धर्मो तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धं न लोपयेत् ॥१३॥

वृष नाम है भगवान् धर्म का । जो धर्म के विषय में 'अलम्' [बस] कह देता है, धर्म का लोप कर देता है, उसे विद्वान् वृषल समझते हैं । इसलिए धर्म की सदा वृद्धि ही करनी चाहिए लोप नहीं ।

धर्मे वर्धति वर्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा ।
तस्मिन् ह्रसति हीयन्ते तस्माद् धर्मं न लोपयेत् ॥१४

धर्म की वृद्धि होने पर सदा सभी प्राणियों की उन्नति और वृद्धि होती है तथा ह्रास होने पर सबका ह्रास हो जाता है, अतः धर्म का कभी लोप नहीं होने देना चाहिए ।

धनात् स्रवति धर्मो हि धारणाद् वेति निश्चयः ।
अकार्याणां मनुष्येन्द्र स सीमान्तकरः स्मृतः ॥१५

नरेन्द्र ! धन से धर्म की उत्पत्ति होती है, सबको धारण करने के कारण वह निश्चित रूप से धर्म कहा गया है । वह धर्म अकर्तव्य=पाप की सीमा का अन्त करनेवाला माना गया है ।

कामक्रोधावनादृत्य धर्ममेवानुपालय ।
धर्मः श्रेयस्करतमो राज्ञां भरतसत्तम ॥१६॥

भरतभूषण ! तुम भी काम और क्रोध को त्याग-कर धर्म का पालन करो । धर्म ही राजाओं के लिए सबसे बढ़कर कल्याण करनेवाला है ।

अथाददानः कल्याणमनसूयुर्जितेन्द्रियः ।
वर्धते मतिमान् राजा स्रोतोभिरिव सागरः ॥१७॥

जो कल्याणकारी गुणों का ग्रहण करनेवाला, अनिन्दक, जितेन्द्रिय तथा बुद्धिमान् होता है, वह राजा उसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त होता है, जैसे नदियों के प्रवाह से समुद्र ।

दर्पो नाम श्रियः पुत्रो जज्ञेऽधर्मादिति श्रुतिः ।
तेन देवासुरा राजन् नीताः सुबहवो व्ययम् ॥१८॥
राजर्षयश्च बहवस्तथा बध्यस्व पार्थिव ।
राजा भवति तं जित्वा दासस्तेन पराजितः ॥१९॥

राजन् ! सम्पत्ति का पुत्र है दर्प, जो अधर्म के अंश से उत्पन्न हुआ है, यह श्रुति का कथन है । उस दर्प ने बहुत-से देवों, असुरों और राजर्षियों को नष्ट कर दिया है । अतः भूपाल ! अब भी चेतो । जो दर्प को जीत लेता है, वह राजा होता है और जो उससे पराजित हो जाता है, वह दास बन जाता है ।

स यथा दर्पसहितमधर्मं नानुसेवते ।
तथा वर्तस्व मान्धातश्चिरं चेत्स्थातुमिच्छसि ॥२०॥

मान्धाता ! यदि तुम चिरकाल तक राजसिंहा-सन पर आरूढ़ रहना चाहते हो तो ऐसा बर्ताव करो, जिससे तुम्हारे द्वारा दर्प और अधर्म का सेवन न हो ।

दुर्बलस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च ।□
अविषह्यतमं मन्ये मा स्म दुर्बलमासदः ॥२१॥

दुर्बल मनुष्य, मुनि और विषधर सर्प—इन सबकी दृष्टि को मैं अत्यन्त दुःसह मानता हूँ, अतः तुम किसी दुर्बल प्राणी को मत सताना ।

संविभज्य यदा भुङ्क्ते नामात्यानवमन्यते ।
निहन्ति बलिनं दृप्तं स राज्ञो धर्म उच्यते ॥२२॥

राजा जब सबको यथायोग्य विभाग देकर स्वयं उपभोग करता है, मन्त्रियों का अनादर नहीं करता और बल के घमण्ड में चूर रहनेवाले दुष्ट पुरुष या शत्रु को मार डालता है, तब उसका यह सब कार्य राजधर्म कहलाता है ।

त्रायते हि यदा सर्वं वाचा कायेन कर्मणा ।
पुत्रस्यापि न मृष्येच्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥२३॥

जब वह मन, वाणी और शरीर के द्वारा सबकी रक्षा करता है तथा अपराध करने पर पुत्र को भी क्षमा नहीं करता, तब राजा का यह व्यवहार राज-धर्म कहलाता है ।

यदा रक्षति राष्ट्राणि यदा दस्यूनपोहति ।
यदा जयति संग्रामे स राज्ञो धर्म उच्यते ॥२४॥

जब राजा सम्पूर्ण राष्ट्र की रक्षा करता है, डाकू और लुटेरों को मार भगाता है तथा संग्राम में विजयी होता है, तब यह सब राजधर्म कहा जाता है ।

कृपणानाथवृद्धानां यदाश्रु परिमार्जति ।
हर्षं संजनयन् नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥२५॥

जब राजा दीन, अनाथ और वृद्धों के आँसू पोंछता है और इस व्यवहार द्वारा सब मनुष्यों के हृदय में हर्ष उत्पन्न करता है, तब उसका यह सद्-भाव राजधर्म कहलाता है।

विवर्धयति मित्राणि तथारींश्च विकर्षति।
सम्पूजयति साधूँश्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥२६॥

जो राजा अपने मित्रों की वृद्धि, शत्रुओं का नाश और सज्जनों का समादर करता है, उसे राजधर्म कहते हैं।

सत्यं पालयति प्रीत्या नित्यं भूमिं प्रयच्छति।
पूजयेदतिथीन् भृत्यान् स राज्ञो धर्म उच्यते ॥२७॥

प्रेम-[श्रद्धा]-पूर्वक सत्य का पालन करना, प्रति दिन भूमिदान करना और अतिथियों तथा भरण-पोषण करने योग्य व्यक्तियों का सत्कार करना—यह सब राजधर्म कहलाता है।

न जात्वदक्षो नृपतिः प्रजाः शक्नोति रक्षितुम्।
भारो हि सुमहाँस्तात राज्यं नाम सुदुष्करम् ॥२८॥

तात! जो दक्ष नहीं है, वह राजा कभी प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता, क्योंकि राज्य का सञ्चा-लन अत्यन्त दुष्कर कार्य और बहुत बड़ा भार है।

तद्दण्डविन्नृपः प्राज्ञः शूरः शक्नोति रक्षितुम्।
न हि शक्यमदण्डेन क्लीबेनाबुद्धिनापि वा ॥२९॥

राज्य की रक्षा वही राजा कर सकता है जो बुद्धिमान् और शूरवीर होने के साथ-साथ ही दण्ड देने की नीति को भी जानता है। जो दण्ड देने में हिचकिचाता है, वह नपुंसक और बुद्धिहीन राजा राज्य की रक्षा नहीं कर सकता।

धर्ममेवानुवर्तस्व न धर्माद् विद्यते परम्।
धर्मे स्थिता हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम् ॥३०॥

राजन्! तुम धर्म का ही अनुसरण करो। धर्म से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। धर्म में स्थित रहनेवाले राजा इस सारी पृथिवी को जीत लेते हैं।

मृषावादं परिहरेत् कुर्यात्प्रियमयाचितः।□
न कामान्न च संरम्भान्न द्वेषाद् धर्ममुत्सृजेत् ॥३१॥

मिथ्या भाषण करना छोड़ दे, बिना प्रार्थना किये ही दूसरों का प्रिय करे। किसी कामना से, क्रोध से या भय से कभी धर्म का त्याग न करे।

संग्रहश्चैव भूतानां दानं च मधुरा च वाक्।
अप्रमादश्च शौचं च राज्ञो भूतिकरं महत् ॥३२॥

समस्त प्राणियों को अपने पक्ष में मिलाये रखना, दान देना, मधुर भाषण, प्रमाद का त्याग करना और अन्तः-बाह्य पवित्रता—ये राजा का ऐश्वर्य बढ़ाने-वाले बहुत बड़े साधन हैं।

दातारं संविभक्तारं मार्दवोपगतं शुचिम्।
असंत्यक्तमनुष्यं च तं जनाः कुर्वते नृपम् ॥३३॥

जो पुरुष दानशील, सबके लिए ठीक-ठीक विभागपूर्वक आवश्यक वस्तुओं का वितरण करने-वाला, मृदुस्वभाव, शुद्ध आचार-विचारवाला और मनुष्यों का त्याग न करनेवाला होता है, उसी को लोग राजा बनाते हैं।

मूढमैन्द्रियकं लुब्धमनार्यचरितं शठम्।
अनतीतोपधं हिंस्रं दुर्बुद्धिमबहुश्रुतम् ॥३४॥
त्यक्तोदात्तं मद्यरतं द्यूतस्त्रीमृगयापरम्।
कार्ये महति युञ्जानो हीयते नृपतिः श्रियः ॥३५॥

जो राजा मूर्ख, इन्द्रियलोलुप, लोभी, दुराचारी, शठ, कपटी, हिंसक, दुर्बुद्धि, अनेक शास्त्रों के ज्ञान से शून्य, महत्त्वाकांक्षारहित, शराबी, जुआरी, स्त्री-लम्पट और मृगयासक्त पुरुषों को महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करता है, वह लक्ष्मी से हीन हो जाता है।

रक्षाधिकरणं युद्धं तथा धर्मानुशासनम्।
मन्त्रचिन्ता सुखं काले पञ्चभिर्वर्धते मही ॥३६॥

रक्षा के साधन दुर्गादि, युद्ध, धर्मानुसार राज्य का शासन, मन्त्रचिन्तन और यथा-समय सबको सुख प्रदान करना—इन पाँचों साधनों द्वारा राज्य की वृद्धि होती है।

यदार्यजनविद्विष्टं कर्म तन्नाचरेद् बुधः।
यत् कल्याणमभिध्यायेत् तत्रात्मानं नियोजयेत् ॥३७॥

जिसे सज्जन बुरा समझते हों, बुद्धिमान् राजा वैसा कार्य कभी न करे। जिस कार्य को सबके लिए हितकारी समझे, उसी में अपने-आपको लगाए।

प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत्।
न तप्येदर्थकृच्छ्रेषु प्रजाहितमनुस्मरन् ॥३८॥

यदि अपना प्रिय हो जाए तो प्रसन्न न हो और अप्रिय हो जाए तो अत्यन्त चिन्ता न करे। यदि

आर्थिक संकट आ पड़े तो प्रजा के हित का चिन्तन करते हुए तनिक भी सन्तप्त न हो।

अदाता ह्यनतिस्नेहो दण्डेनावर्तयन् प्रजाः।
साहसप्रकृती राजा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥३९॥

जो दुःसाहसी, दान न देनेवाला और स्नेहशून्य एवं दण्ड के द्वारा प्रजा को बार-बार सताता है, वह राजा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

अथ मानयितुर्दाम्नः श्लक्ष्णस्य वशवर्तिनः।
व्यसनं स्वमिवोत्पन्नं विजिघांसन्ति मानवाः ॥४०॥

जो सबका मान करनेवाला, दानी, स्नेहयुक्त और दूसरों के वशवर्ती होकर रहता है, उसपर यदि कोई संकट आ जाए तो सब लोग उसे अपना ही संकट मानकर उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

भीष्म उवाच

स एवमुक्तो मान्धाता तेनोतथ्येन भारत।
कृतवानविशङ्कश्च एकः प्राप च मेदिनीम् ॥४१॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन! उतथ्य के इस प्रकार उपदेश करने पर मान्धाता ने निःशङ्क होकर उनकी आज्ञा का पालन किया और पृथिवी का चक्रवर्ती राज्य पा लिया।

भवानपि तथा सम्यङ् मान्धातेव महीपते।
धर्मं कृत्वा महीं रक्ष स्वर्गे स्थानमवाप्स्यसि ॥४२॥

भूपाल! मान्धाता की भाँति तुम भी भली-भाँति धर्म का पालन करते हुए इस पृथिवी की रक्षा करो, फिर तुम भी स्वर्गलोक में स्थान पा लोगे।

युधिष्ठिर उवाच

अथ यः क्षत्रियो राजा क्षत्रियं प्रत्युपाव्रजेत्।
कथं सम्प्रति योद्धव्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥४३॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! यदि कोई क्षत्रिय राजा किसी अन्य क्षत्रिय राजा पर आक्रमण कर दे तब उसे उसके साथ किस प्रकार युद्ध करना चाहिए, यह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

नैवासन्नद्धकवचो योद्धव्यः क्षत्रियो रणे।
एक एकेन वाच्यश्च विसृजेति क्षिपामि च ॥४४॥

भीष्मजी बोले—राजन्! जो कवच बाँधे हुए न हो, उस क्षत्रिय के साथ रणभूमि में युद्ध नहीं करना चाहिए। एक योद्धा दूसरे अकेले योद्धा से कहे—"तुम मुझपर शस्त्र छोड़ो [प्रहार करो], मैं भी तुमपर प्रहार करता हूँ।"

स चेत्सन्नद्ध आगच्छेत्सन्नद्धव्यं ततो भवेत्।
स चेत्ससैन्य आगच्छेत् ससैन्यस्तमथाह्वयेत् ॥४५॥

यदि वह कवच बाँधकर सामने आ जाए तो स्वयं भी कवच धारण कर ले। यदि विपक्षी सेना को साथ लेकर आक्रमण करे तो स्वयं भी सेना के साथ आकर शत्रु को ललकारे।

स चेन्निकृत्या युद्ध्येत निकृत्या प्रतियोधयेत्।
अथ चेद् धर्मतो युद्ध्येद् धर्मेणैव निवारयेत् ॥४६॥

यदि वह छल से युद्ध करे तो स्वयं भी उसी रीति से उसका सामना करे और यदि वह धर्म से युद्ध आरम्भ करे तो धर्म से ही उसका सामना करना चाहिए।

नाश्वेन रथिनं यायादुदियाद् रथिनं रथी।
व्यसने न प्रहर्तव्यं न भीताय जिताय च ॥४७॥

घोड़े के द्वारा रथी पर आक्रमण न करे। रथी का सामना रथी को करना चाहिए। यदि शत्रु किसी संकट में पड़ जाए तो उसपर प्रहार न करे। डरे और पराजित हुए शत्रु पर भी कभी प्रहार नहीं करना चाहिए।

विशीर्णकवचं चैव तवास्मीति च वादिनम्।
कृताञ्जलिं न्यस्तशस्त्रं गृहीत्वा न हि हिंसयेत् ॥४८॥

जिसका कवच छिन्न-भिन्न हो गया हो, जो "मैं तुम्हारा हूँ"—ऐसा कह रहा हो, जो हाथ जोड़े हुए खड़ा हो, जिसने शस्त्र भूमि पर रख दिये हों—ऐसे विपक्षी योद्धा को बन्दी बनाकर मौत के घाट न उतारे।

इषुर्लिप्तो न कर्णी स्यादसतामेतदायुधम्।
यथार्थमेव योद्धव्यं न क्रुद्ध्येत जिघांसतः ॥४९॥

युद्ध में विषलिप्त और कर्णी बाण का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ये दुष्टों के अस्त्र हैं। यथार्थ रीति [सरल नीति] से ही युद्ध करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति युद्ध में किसी का वध करना चाहता हो तो उसपर क्रोध नहीं करना चाहिए।

कर्म चैतदसाधूनामसाधून् साधुना जयेत् ।
धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा ।।५०।।

यह [क्रोध करना] तो दुष्टों का काम है । श्रेष्ठ-पुरुषों को तो दुष्टों पर भी धर्म से ही विजय पानी चाहिए। धर्मपूर्वक युद्ध करते हुए मर जाना भी अच्छा है, परन्तु पापकर्म के द्वारा विजय पाना अच्छा नहीं है ।

नाधर्मश्चरितो राजन् सद्यः फलति गौरिव ।
मूलानि च प्रशाखाश्च दहन् समधिगच्छति ।।५१।।

जैसे भूमि में बोये हुए बीज का फल तुरन्त नहीं मिलता, वैसे ही किये हुए पाप का फल भी तत्काल नहीं मिलता परन्तु जब वह फल मिलता है, तब मूल और शाखा दोनों को जलाकर भस्म कर देता है ।

पापेन कर्मणा वित्तं लब्ध्वा पापः प्रहृष्यति ।
स वर्धमानः स्तेयेन पापः पापे प्रसज्जति ।।५२।।
न धर्मोऽस्तीति मन्वानः शुचीनवहसन्निव ।
अश्रद्दधानश्च भवेद् विनाशमुपगच्छति ।।५३।।

पापी मनुष्य पापकर्म द्वारा धन पाकर हर्षित हो जाता है । वह पापी चोरी से ही बढ़ता हुआ पाप में आसक्त हो जाता है और यह समझकर कि धर्म है ही नहीं, पवित्रात्मा पुरुषों की हँसी उड़ाता है । धर्म में उसकी तनिक भी श्रद्धा नहीं रह जाती और पाप के द्वारा वह विनाश के मुख में जा पड़ता है ।

महादृतिरिवाध्मातः सुकृते नैव वर्तते ।
ततः समूलो ह्रियते नदीं कूलादिव द्रुमः ।।५४।।

जैसे चमड़े की थैली हवा भरने से फूल जाती है, वैसे ही पापी भी पाप से फूल उठता है । वह धर्म में कभी प्रवृत्त नहीं होता, परिणामस्वरूप जैसे नदी के किनारे पर खड़ा वृक्ष वहाँ से जड़सहित उखड़कर नदी में बह जाता है, उसी प्रकार वह पापी भी समूल नष्ट हो जाता है ।

अथैनमभिनिन्दन्ति भिन्नं कुम्भमिवाश्मनि ।
तस्माद् धर्मेण विजयं कोशं लिप्सेत भूमिपः ।।५५।।

पत्थर पर पटके हुए घड़े के समान उस [अधर्म-शील] के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और सभी लोग उसकी निन्दा करते हैं, अतः राजा को चाहिए कि वह धर्मपूर्वक ही धन और विजय प्राप्त करने की इच्छा करे ।

नाधर्मेण महीं जेतुं लिप्सेत जगतीपतिः ।
अधर्मविजयं लब्ध्वा को नु मन्येत भूमिपः ।।५६।।

किसी भी राजा को अधर्म के द्वारा पृथिवी पर विजय प्राप्त करने की इच्छा कभी नहीं करनी चाहिए । अधर्म से विजय पाकर कौन भूपाल सम्मानित हो सकता है ?

अधर्मयुक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च ।
सादयत्येष राजानं महीं च भरतर्षभ ।।५७।।

अधर्म से प्राप्त की हुई विजय अस्थायी और स्वर्ग से गिरानेवाली होती है । भरतश्रेष्ठ ! ऐसी विजय राजा एवं राज्य दोनों का विनाश कर देती है ।

युधिष्ठिर उवाच

क्षत्रधर्माद्धि पापीयान्न धर्मोऽस्ति नराधिप ।
अपयानेन युद्धेन राजा हन्ति महाजनम् ।।५८।।

युधिष्ठिर ने पूछा—नरेश ! क्षत्रिय-धर्म से बढ़कर पापपूर्ण दूसरा कोई धर्म नहीं है, क्योंकि राजा किसी देश पर आक्रमण करके तथा युद्ध छेड़-कर महान् जनसंहार कर डालता है ।

अथ स्म कर्मणा केन लोकान् जयति पार्थिवः ।
विद्वन् जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ।।५९।।

हे विद्वन् ! भरतभूषण ! अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि राजा को किस कर्म से पुण्य लोकों [उत्तम योनियों] की प्राप्ति होती है, यही मुझे बताइए ।

भीष्म उवाच

निग्रहेण च पापानां साधूनां संग्रहेण च ।
यज्ञैर्दानैश्च राजानो भवन्ति शुचयोऽमलाः ।।६०।।

भीष्मजी बोले—राजन् ! पापियों को दण्ड देने से, सत्पुरुषों को श्रद्धापूर्वक अपनाने से तथा यज्ञों का अनुष्ठान और दान करने से राजा लोग सब प्रकार के दोषों से छूटकर निर्मल तथा शुद्ध हो जाते हैं ।

उपरुन्धन्ति राजानो भूतानि विजयार्थिनः ।
त एव विजयं प्राप्य वर्धयन्ति पुनः प्रजाः ।।६१।।

जो राजा विजय की कामना रखकर युद्ध के समय प्राणियों को कष्ट पहुँचाते हैं, वे ही विजयप्राप्ति के पश्चात् पुनः सारी प्रजा की उन्नति करते हैं ।

अभीतो विकिरञ्छत्रून् प्रतिगृह्य शरांस्तथा ।
न तस्मात्त्रिदशाः श्रेयो भुवि पश्यन्ति किञ्चन ।।६२।।

जो निर्भय होकर शत्रुओं पर बाण-वृष्टि करता है और स्वयं भी बाणों का आघात सहता है, उस क्षत्रिय के लिए उस कर्म से बढ़कर विद्वान् लोग इस भूमण्डल पर दूसरा कोई कल्याणकारी कार्य नहीं देखते हैं ।

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत् ।
विसृजञ्श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन् ।।६३।।

अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति ।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ।।६४।।

शय्या पर लेटे हुए मरना क्षत्रिय के लिए अधर्म है । जो क्षत्रिय कफ और मल-मूत्र त्यागता हुआ तथा दुःखी होकर विलाप करता हुआ बिना घायल हुए शरीर से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसके इस कर्म की प्राचीन धर्म के ज्ञाता विद्वान् लोग प्रशंसा नहीं करते ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि अष्टाविंशोऽध्यायः ।।२८।।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

गणतन्त्र राज्य का वर्णन और उसकी नीति

युधिष्ठिर उवाच

गणानां वृत्तिमिच्छामि श्रोतुं मतिमतां वर ।
यथा गणाः प्रवर्धन्ते न भिद्यन्ते च भारत ।
अरींश्च विजिगीषन्ते सुहृदः प्राप्नुवन्ति च ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—बुद्धिमानों में श्रेष्ठ पितामह ! अब मैं गणतन्त्र राज्यों का व्यवहार और वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ । हे भारत ! गणराज्यों की जनता जिस प्रकार अपनी उन्नति करती है, जिस प्रकार आपस में मतभेद नहीं होने देती, जिस प्रकार शत्रुओं पर विजय पाना चाहती है और जिस उपाय से उसे सुहृदों की प्राप्ति होती है—ये सारी बातें सुनने की मेरी प्रबल इच्छा है ।

भीष्म उवाच

गणानां च कुलानां च राज्ञां भरतसत्तम ।
वैरसन्दीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप ।।२।।

भीष्मजी बोले—भरतभूषण ! नरेश्वर ! गणों में, कुलों में तथा राजाओं में वैर की अग्नि प्रज्वलित करनेवाले ये दो ही दोष हैं—लोभ और अमर्ष ।

लोभमेको हि वृणुते ततोऽमर्षमनन्तरम् ।
तौ क्षयव्ययसंयुक्तावन्योन्यं च विनाशिनौ ।।३।।

पहले एक मनुष्य लोभ का वरण करता है [लोभ के वशीभूत होकर दूसरे का धन हड़पना चाहता है], तदनन्तर दूसरे के मन में अमर्ष [क्रोध] उत्पन्न होता है, फिर लोभ और अमर्ष से प्रभावित हुए वे दोनों व्यक्ति समुदाय, धन और जन की बड़ी भारी हानि उठाकर एक-दूसरे के विनाशक बन जाते हैं ।

चारमन्त्रबलादानैः सामदानविभेदनैः ।
क्षयव्ययभयोपायैः प्रकर्षन्तीतरेतरम् ।।४।।

वे भेद लेने के लिए गुप्तचरों को भेजते हैं, गुप्त-मन्त्रणाएँ करते हैं और सेना एकत्र करने में जुट जाते हैं । साम, दाम और भेद नीति का प्रयोग करते हैं । इतना ही नहीं, जनसंहार, अपार धन राशि का व्यय तथा अनेक प्रकार के भय उपस्थित करनेवाले विविध उपायों द्वारा एक-दूसरे को दुर्बल कर देते हैं ।

तत्रादानेन भिद्यन्ते गणाः संघातवृत्तयः ।
भिन्ना विमनसः सर्वे गच्छन्त्यरिवशं भयात् ।।५।।

संघबद्ध होकर जीवन-निर्वाह करनेवाले सैनिकों को भी यदि समय पर भोजन और वेतन न मिले तो वे भी फूट जाते हैं । फूट जाने पर सबके मन एक-दूसरे के विपरीत हो जाते हैं और वे सब-के-सब भय के कारण शत्रु के अधीन हो जाते हैं ।

भेदे गणा विनेशुर्हि भिन्नास्तु सुजयाः परैः ।
तस्मात्संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा ।।६।।

आपस में फूट पड़ने से ही संघ या गणराज्य नष्ट हुए हैं । फूट होने पर शत्रु उन्हें सरलता से जीत लेते हैं, अतः गणों को चाहिए कि वे सदा

संघबद्ध—एकमत होकर ही विजय के लिए प्रयत्न करें।

अर्थाश्चैवाधिगम्यन्ते संघातबलपौरुषैः।
बाह्याश्च मैत्रीं कुर्वन्ति तेषु संघातवृत्तिषु ॥७॥

जो सामूहिक बल-पुरुषार्थ से सम्पन्न हैं, उन्हें अनायास ही सब प्रकार के अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति हो जाती है। संघबद्ध होकर जीवन-यापन करनेवालों के साथ संघ से बाहर के लोग भी मैत्री करना चाहते हैं।

ज्ञानवृद्धाः प्रशंसन्ति शुश्रूषन्तः परस्परम्।
विनिवृत्ताभिसंधानाः सुखमेधन्ति सर्वशः ॥८॥

ज्ञानवृद्ध लोग गणराज्य के नागरिकों की प्रशंसा करते हैं। संघबद्ध लोगों के मन में एक-दूसरे को ठगने की दुर्भावना नहीं होती। वे सभी एक-दूसरे की सेवा करते हुए सुखपूर्वक उन्नति करते हैं।

धर्मिष्ठान् व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः।
यथावत् प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥९॥

गणराज्य के श्रेष्ठ नागरिक-शास्त्र के अनुसार ही धर्मानुकूल व्यवहारों की स्थापना करते हैं। वे यथोचित दृष्टि से सबको देखते हुए उन्नति की दिशा में आगे बढ़ते हैं।

पुत्रान्भ्रातॄन्निगृह्णन्तो विनयन्तश्च तान्सदा।
विनीतांश्च प्रगृह्णन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥१०॥

गणराज्य के श्रेष्ठ पुरुष कुमार्गगामी अपने पुत्रों और भाइयों को भी दण्ड देते हैं। वे उन्हें सदा उत्तम शिक्षा प्रदान करते हैं और शिक्षित हो जाने पर उन सबको अति आदर से अपनाते हैं, अतः वे विशेष उन्नति करते हैं।

प्राज्ञाञ्छूरान्महोत्साहान्कर्मसु स्थिरपौरुषान्।
मानयन्तः सदा युक्ता विवर्धन्ते गणा नृप ॥११॥

नरेश्वर! संघराज्यके सदस्य सदा बुद्धिमान्, शूरवीर, महान् उत्साही और सभी कार्यों में दृढ़ उत्साह का परिचय देनेवाले लोगों का सदा आदर करते हुए राज्य की उन्नति के लिए पुरुषार्थी बने रहते हैं, अतः वे शीघ्र आगे बढ़ जाते हैं।

क्रोधो भेदो भयं दण्डः कर्षणं निग्रहो वधः।
नयत्यरिवशं सद्यो गणान् भरतसत्तम ॥१२॥

भरतश्रेष्ठ! संघ-राज्य के लोगों में यदि क्रोध, फूट, भय, दण्डप्रहार, दूसरों को निर्बल बनाने, बन्धन में डालने या मार डालने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाए तो वह उन्हें तत्काल शत्रुओं के वश में डाल देती है।

मन्त्रगुप्तिः प्रधानेषु चारश्चामित्रकर्षण।
न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत ॥१३॥

शत्रुसंहारक! हे भारत! गण अथवा संघ के सभी लोग गुप्तमन्त्रणा सुनने के अधिकारी नहीं हैं। मन्त्रणा को गुप्त रखने और गुप्तचरों की नियुक्ति का कार्य प्रधान-प्रधान व्यक्तियों के ही अधीन होता है।

जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
न चोद्योगेन बुद्ध्या वा रूपद्रव्येण वा पुनः ॥१४॥
भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः।
तस्मात्संघातमेवाहुर्गणानां शरणं महत् ॥१५॥

जाति और कुल में सभी एकसमान हो सकते हैं परन्तु उद्योग, बुद्धि और रंग-सौन्दर्य में सबका एक-सा होना असम्भव है। शत्रु लोग गणराज्य के लोगों में भेद-बुद्धि पैदा करके और उनमें से कुछ लोगों को धन देकर भी सम्पूर्ण संघ में फूट डाल देते हैं, अतः संघबद्ध रहना ही गणराज्य के नागरिकों का महान् आश्रय है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥२९॥

त्रिंशोऽध्यायः

माता-पिता तथा गुरु की सेवा का महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत।
किं स्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम् ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भारत! धर्म का मार्ग बहुत बड़ा है और इसकी शाखाएँ भी बहुत हैं। इन धर्मों [कर्तव्यों] में से किसको आप विशेषरूप से आचरण में लाने योग्य समझते हैं?

किं कार्यं सर्वधर्माणां गरीयो भवतो मतम्।
यथाहं परमं धर्ममिह च प्रेत्य चाप्नुयाम् ॥२॥

सब धर्मों में कौन-सा कार्य आपको श्रेष्ठ जान पड़ता है, जिसका अनुष्ठान करके मैं इहलोक और परलोक में भी परम धर्म का फल प्राप्त कर सकूँ?

भीष्म उवाच

मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम।
इह युक्तो नरो लोकान् यशश्च महदश्नुते ॥३॥

भीष्मजी बोले—राजन्! मुझे तो माता-पिता और गुरुजनों का सम्मान ही अधिक महत्त्वपूर्ण धर्म जान पड़ता है। संसार में इस पुण्य कार्य में संलग्न होकर मनुष्य महान् यश और श्रेष्ठ लोक [योनि] को पाता है।

एत एव त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रयः।□
एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः ॥४॥

ये माता-पिता और गुरुजन ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों आश्रम हैं, ये ही तीनों वेद हैं और ये ही तीनों अग्नियां हैं।

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥५॥

पिता गार्हपत्य अग्नि है, माता दक्षिणाग्नि मानी गई है और गुरु आहवनीय अग्नि का रूप है। लौकिक अग्नियों से माता-पिता आदि अग्नियों का गौरव कहीं अधिक है।

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकांश्च विजेष्यसि।
पितृवृत्त्या त्विमं लोकं मातृवृत्त्या तथा परम्।
ब्रह्मलोकं गुरोर्वृत्त्या नियमेन चरिष्यसि ॥६॥

यदि तुम इन तीनों की सेवा में कोई भूल नहीं करोगे तो तीनों लोकों को जीत लोगे। पिता की सेवा से इस लोक को, माता की सेवा से परलोक को और नियमपूर्वक गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक=मोक्ष को प्राप्त कर लोगे।

नैतानतिशयेज्जातु नात्यश्नीयान्न दूषयेत्।
नित्यं परिचरेच्चैव तद् वै सुकृतमुत्तमम्।
कीर्तिं पुण्यं यशो लोकान् प्राप्स्यसे राजसत्तम ॥७॥

इन तीनों की आज्ञा का कभी उल्लंघन न करे, इनको भोजन कराने के पूर्व स्वयं भोजन न करे, इनपर कोई दोषारोपण न करे तथा सदा इनकी सेवा में संलग्न रहे, यही सर्वोत्तम पुण्यकर्म है। हे राजेन्द्र! इनकी सेवा से तुम कीर्ति, पवित्र यश और उत्तम लोक सब-कुछ प्राप्त कर लोगे।

सर्वे तस्यावृता लोका यस्यैते त्रय आवृताः।
अनावृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥८॥

जिसने इन तीनों का आदर-सत्कार कर लिया, उसके द्वारा सम्पूर्ण लोकों का आदर हो गया और जिसने इनका अपमान किया, उसके सम्पूर्ण शुभकर्म निष्फल हो जाते हैं।

दशाचार्यानुपाध्याय उपाध्यायान् पिता दश।□
पितॄन् दश तु मातैका नास्ति मातृसमो गुरुः ॥९॥

उपाध्याय [विद्यागुरु] दस आचार्यों से अधिक महत्त्व रखता है। पिता दस उपाध्यायों से बढ़कर है और माता का महत्त्व दस पिताओं से भी अधिक है। माता के समान दूसरा कोई गुरु नहीं है।

गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः।
उभौ हि मातापितरौ जन्मन्येवोपयुज्यतः।
आचार्यशिष्टा या जातिः सा दिव्या साजरामरा ॥१०॥

मेरा विश्वास यह है कि गुरु का पद माता और पिता से भी बढ़कर है, क्योंकि माता-पिता तो केवल इस शरीर को जन्म देने के ही उपयोग में आते हैं परन्तु आचार्य का उपदेश प्राप्त करके जो दूसरा जन्म प्राप्त होता है, वह दिव्य है, अजर-अमर है।

विद्यां श्रुत्वा ये गुरुं नाद्रियन्ते
प्रत्यासन्ना कर्मणा मानसेन ।
तेषां पापं भ्रूणहत्या विशिष्टं
नान्यस्तेभ्यः पापकृदस्ति लोके ॥११॥

जो लोग विद्या पढ़कर गुरु का आदर नहीं करते, निकट रहकर मन, वचन और कर्म से गुरु की सेवा नहीं करते, उन्हें भ्रूण-[गर्भ के बालक की]-हत्या से भी बढ़कर पाप लगता है। संसार में उनसे बड़ा पापी दूसरा कोई नहीं है।

तस्मात् पूजयितव्याश्च संविभज्याश्च यत्नतः ।
गुरवो ह्यर्चितव्याश्च पुराणं धर्ममिच्छता ॥१२॥

अतः जो पुरातन [वैदिक] धर्म का फल पाना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे गुरुओं का सम्मान करें और प्रयत्नपूर्वक उन्हें आवश्यक वस्तुएँ लाकर दें।

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः ।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता ॥१३॥

मनुष्य जिस कर्म से पिता को प्रसन्न करता है, उसी के द्वारा प्रजापति परमेश्वर भी प्रसन्न होते हैं और जिस व्यवहार से वह माता को प्रसन्न कर लेता है, उसी के द्वारा सम्पूर्ण पृथिवी की भी पूजा हो जाती है।

मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य स्त्रीघ्नस्य गुरुघातिनः ।
चतुर्णां वयमेतेषां निष्कृतिं नानुशुश्रुमः ॥१४॥

मित्रद्रोही, कृतघ्न, स्त्रीघाती और गुरु-हत्यारा—इन चारों के पाप का प्रायश्चित्त हमारे सुनने में नहीं आया है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

सत्य-असत्य का विवेचन, धर्म का लक्षण तथा व्यावहारिक नीति का कथन

युधिष्ठिर उवाच

कथं धर्मे स्थातुमिच्छन् नरो वर्तेत भारत ।
विद्वन् जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भारत! धर्म में स्थित रहने के इच्छुक मनुष्य को कैसा व्यवहार करना चाहिए? विद्वन्! मैं इस विषय में जानना चाहता हूँ। भरतभूषण! आप मेरे लिए इसका वर्णन कीजिए।

सत्यं चैवानृतं चोभे लोकानावृत्य तिष्ठतः ।
तयोः किमाचरेद् राजन् पुरुषो धर्मनिश्चितः ॥२॥

राजन्! सत्य और असत्य—ये दोनों सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके स्थित हैं, परन्तु धर्म पर विश्वास करनेवाला मनुष्य इन दोनों में से किसका आचरण करे?

किं स्वित्सत्यं किमनृतं किं स्विद्धर्म्यं सनातनम् ।
कस्मिन्काले वदेत्सत्यं कस्मिन्कालेऽनृतं वदेत् ॥३॥

सत्य क्या है और झूठ क्या है? कौन-सा कार्य सनातनधर्म के अनुकूल है? किस समय सत्य बोलना चाहिए और झूठ कब बोलना चाहिए?

भीष्म उवाच

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम् ।
यत्तु लोकेषु दुर्ज्ञानं तत्प्रवक्ष्यामि भारत ॥४॥

भीष्मजी ने कहा—भरतनन्दन! सत्य बोलना अच्छा है। सत्य से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है, परन्तु लोक में जिसे जानना अत्यन्त कठिन है, उसी को मैं बता रहा हूँ।

भवेत्सत्यं न वक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत् ।
यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं वाप्यनृतं भवेत् ॥५॥

जहाँ असत्य ही सत्य का काम करे [किसी प्राणी को संकट से बचाए] अथवा सत्य ही झूठ बन जाए [किसी के जीवन को संकट में डाल दे], ऐसे अवसरों पर सत्य नहीं बोलना चाहिए, वहाँ झूठ बोलना ही उचित है।

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥६॥

प्राणियों के अभ्युदय और कल्याण के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है, अतः जो इस उद्देश्य से युक्त हो अर्थात् जिससे लोक और परलोक दोनों

सिद्ध होते हों, वही धर्म है, ऐसा शास्त्रवेत्ताओं का मत है ।

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥७॥

सबको धारण [अधोगति से बचाने और जीवन की रक्षा] करने के कारण धर्म को 'धर्म' कहते हैं । धर्म ने ही सारी प्रजा को धारण कर रखा है, अतः जिससे धारण तथा पोषण होता हो, वही धर्म है, ऐसा धर्मवेत्ताओं का मत है ।

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यत्स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥८॥

प्राणियों की हिंसा न हो, इसलिए धर्म का उपदेश किया गया है, अतः जो अहिंसा से युक्त हो, उसी का नाम धर्म है, ऐसा धर्मवेत्ताओं का निश्चय है ।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्तपो दानं दमो मतिः ।
अनसूयाप्यमात्सर्यमनीर्ष्या शीलमेव च ।
एष धर्मः कुरुश्रेष्ठ कथितः परमेष्ठिना ॥९॥

कुरुश्रेष्ठ ! अहिंसा, सत्य, अक्रोध, तप, दान, मनोनिग्रह, विशुद्ध बुद्धि, किसी के दोष न देखना, किसी से डाह और जलन न रखना तथा उत्तम शीलस्वभाव का परिचय देना—ये धर्म हैं । प्रजापति परमेश्वर ने इसी को सनातन धर्म बताया है ।

येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धनमिच्छन्ति कस्यचित् ।
तेभ्यस्तु न तदाख्येयं स धर्म इति निश्चयः ॥१०॥

जो अन्याय से अपहरण करने की इच्छा रखकर किसी धनी के धन का पता लगाना चाहते हों, उन लुटेरों को उसका पता न बताना यहाँ धर्म है, ऐसा धर्मवेत्ताओं का मत है ।

प्राणात्यये विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत् ।
अर्थस्य रक्षणार्थाय परेषां धर्मकारणात् ॥११॥

प्राण-संकट के समय, विवाह के अवसर पर, दूसरे के धन की रक्षा के लिए और धर्म की रक्षा के लिए असत्य बोला जा सकता है ।

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः
तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया बाधितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥१२॥

जो मनुष्य जिसके साथ जैसा व्यवहार करे, उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, यह धर्म है । कपटपूर्ण आचरण करनेवाले को वैसे ही आचरण के द्वारा दबाना उचित है और सदाचारी को सद्व्यवहार के द्वारा अपनाना चाहिए ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

द्वात्रिंशोऽध्याय:

सदाचार और ईश्वर-भक्ति का महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

क्लिश्यमानेषु भूतेषु तैस्तैर्भावैस्ततस्ततः ।
दुर्गाण्यतितरेद् येन तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! संसार के प्राणी भिन्न-भिन्न भावों द्वारा जहाँ-तहाँ अनेक प्रकार के कष्ट उठा रहे हैं, अतः जिस उपाय से मनुष्य इन दुःखों से छुटकारा पा सके वह मुझे बताइए ।

भीष्म उवाच

आश्रमेषु यथोक्तेषु यथोक्तं ये द्विजातयः ।
वर्तन्ते संयतात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! जो द्विज [ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य] अपने मन का निग्रह करके शास्त्रोक्त चारों आश्रमों में रहते हुए उनके अनुसार ठीक-ठीक आचरण करते हैं, वे दुःखों से छूट जाते हैं ।

ये दम्भान्नाचरन्ति स्म येषां वृत्तिश्च संयता ।
विषयांश्च निगृह्णन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥३॥

जो दम्भयुक्त आचरण नहीं करते, जिनकी जीविका नियमानुकूल चलती है और जो विषयों की बढ़ती हुई इच्छा को रोक लेते हैं, वे दुःखसागर को लाँघ जाते हैं ।

प्रत्याहुर्नोच्यमाना ये न हिंसन्ति च हिंसिताः ।
प्रयच्छन्ति न याचन्ते दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥४॥

जो दूसरों के बुरा-भला कहने पर भी स्वयं उन्हें उत्तर नहीं देते, मार खाकर भी किसी को मारते नहीं, स्वयं दान देते हैं परन्तु किसी से माँगते नहीं, वे भी भीषण कष्टों से पार हो जाते हैं।

वासयन्त्यतिथीन् नित्यं नित्यं ये चानसूयकाः।
नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।५।।

जो प्रतिदिन सत्कारपूर्वक अतिथियों को अपने घर में ठहराते हैं, कभी किसी के दोष नहीं देखते और नित्य नियमपूर्वक वेद का स्वाध्याय करते हैं, वे दुर्गम दुःखों से छूट जाते हैं।

माता पित्रोश्च ये वृत्तिं वर्तन्ते धर्मकोविदाः।
वर्जयन्ति दिवास्वप्नं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।६।।

जो धर्मज्ञ पुरुष सदा माता-पिता की सेवा में लगे रहते हैं और केवल विचारों की दुनिया में नहीं रहते, वे सभी कष्टों को लाँघ जाते हैं।

ये वा पापं न कुर्वन्ति कर्मणा मनसा गिरा।
निक्षिप्तदण्डा भूतेषु दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।७।।

जो मन, वचन और कर्म से कभी पाप नहीं करते और किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाते, वे भी दुःखों के पार हो जाते हैं।

स्वेषु दारेषु वर्तन्ते न्यायवृत्तिमृतावृतौ।
अग्निहोत्रपराः सन्तो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।८।।

जो गृहस्थ प्रतिदिन अग्निहोत्र करते हैं तथा ऋतुकाल में अपनी ही पत्नी के साथ सन्तान के लिए धर्मानुकूल समागम करते हैं—वे दुःखों से छूट जाते हैं।

ये वदन्तीह सत्यानि प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते।
प्रमाणभूता भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।९।।

जो लोग प्राण जाने का अवसर उपस्थित होने पर भी सत्य बोलना नहीं छोड़ते, वे समस्त प्राणियों के विश्वासपात्र बने रहकर सभी दुःखों को लाँघ जाते हैं।

कर्माण्यकुहकार्थानि येषां वाचश्च सूनृताः।
येषामर्थाश्च सम्बद्धा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।१०।।

जिनके शुभकर्म दिखावे के लिए नहीं होते, जो सदा मधुर वचन बोलते हैं तथा जिनका धन सत्कर्मों में व्यय होता है, वे भीषण कष्टों से पार हो जाते हैं।

ये तपश्च तपस्यन्ति कौमारब्रह्मचारिणः।
विद्यावेदव्रतस्नाता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।११।।

जो तप करते, कुमारावस्था से ही ब्रह्मचर्यपालन में तत्पर रहते और विद्या तथा वेदों के अध्ययन-सम्बन्धी व्रत को पूर्ण करके स्नातक बनते हैं, वे दुर्गम विपत्तियों से छुटकारा पा जाते हैं।

परश्रिया न तप्यन्ति ये सन्तः पुरुषर्षभाः।
ग्राम्यादर्थान्निवृत्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।१२।।

जो ईर्ष्यावश दूसरों की सम्पत्ति से जलते नहीं हैं और ग्राम्य विषय-भोगों से निवृत्त हो गये हैं, वे मनुष्यों में श्रेष्ठ साधु पुरुष दुस्तर विपत्ति से छुटकारा पा जाते हैं।

ये न मानित्वमिच्छन्ति मानयन्ति च ये परान्।
मान्यमानान् नमस्यन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।१३।।

जो दूसरों से सम्मान नहीं चाहते, जो स्वयं ही दूसरों का सम्मान करते हैं तथा सम्माननीय जनों को नमस्कार करते हैं, वे भीषण कष्टों से छूट जाते हैं।

ये क्रोधं सन्नियच्छन्ति क्रुद्धान् संशमयन्ति च।
न च कुप्यन्ति भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।१४।।

जो क्रोध को वश में रखते हैं, क्रोधी मनुष्यों को शान्त करते और स्वयं किसी भी प्राणी पर कुपित नहीं होते, वे दुस्तर दुःखों के पार हो जाते हैं।

यात्रार्थं भोजनं येषां सन्तानार्थं च मैथुनम्।
वाक्सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।१५।।

जिनका भोजन स्वाद के लिए न होकर जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए होता है, जो विषय-वासना की तृप्ति के लिए नहीं, सन्तान की इच्छा से मैथुन में प्रवृत्त होते हैं और जिनकी वाणी केवल सत्य बोलने के लिए है—वे समस्त दुःखों से छूट जाते हैं।

ईश्वरं सर्वभूतानां जगतः प्रभवाप्ययम्।
भक्ता नारायणं देवं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।१६।।

जो समस्त प्राणियों के स्वामी और जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय के कारण भगवान् नारायण में भक्तिभाव रखते हैं, वे घोर कष्टों और आपत्तियों से छूट जाते हैं।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि द्वात्रिंशोऽध्यायः ।।३२।।

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

आलस्य का दुष्परिणाम, नम्र होने और निन्दा सह लेने का लाभ

युधिष्ठिर उवाच

किं पार्थिवेन कर्तव्यं किं च कृत्वा सुखी भवेत् ।
एतदाचक्ष्व तत्त्वेन सर्वधर्मभृतां वर ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—समस्त धर्मात्माओं में श्रेष्ठ पितामह ! राजा को क्या करना चाहिए ? क्या करने से वह सुखी हो सकता है ? यह मुझे यथार्थ-रूप से बताइए ।

भीष्म उवाच

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि शृणु कार्यैकनिश्चयम् ।
यथा राज्ञेह कर्तव्यं यच्च कृत्वा सुखी भवेत् ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! राजा के जो कर्तव्य हैं और जो-कुछ करके वह सुखी हो सकता है, उस कार्य का निश्चय करके अब मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो !

न चैवं वर्तितव्यं स्म यथेदमनुशुश्रुम: ।
उष्ट्रस्य च महद् वृत्तं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥३॥

युधिष्ठिर ! हमने एक ऊँट का जो महान् वृत्तान्त सुन रखा है, तुम उसका श्रवण करो । राजा को वैसा आचरण नहीं करना चाहिए ।

जातिस्मरो महानुष्ट्रः प्राजापत्ये युगेऽभवत् ।
तपः सुमहदातिष्ठदरण्ये संशितव्रतः ॥४॥

प्राजापत्य [सत्य] युग में एक महान् ऊँट था । उसे अपने पूर्वजन्म की स्मृति थी । उसने कठोर व्रत के पालन का नियम लेकर वन में भीषण तप आरम्भ किया ।

तपसस्तस्य चान्तेऽथ प्रीतिमानभवद् विभुः ।
वरेण च्छन्दयामास ततश्चैनं पितामहः ॥५॥

उस तपस्या के अन्त में पितामह भगवान् ब्रह्मा अत्यन्त प्रसन्न हुए । उन्होंने उससे वर माँगने के लिए कहा ।

उष्ट्र उवाच

भगवंस्त्वत्प्रसादान्मे दीर्घा ग्रीवा भवेदियम् ।
योजनानां शतं साग्रं गच्छामि चरितुं विभो ॥६॥

ऊँट बोला—भगवन् ! आपकी कृपा से मेरी यह गर्दन बहुत लम्बी हो जाए, जिससे जब मैं चरने के लिए जाऊँ तो सौ योजन से भी अधिक दूरी तक की खाद्य वस्तुएँ ग्रहण कर सकूँ ।

भीष्म उवाच

एवमस्त्विति चोक्तः स वरदेन महात्मना ।
प्रतिलभ्य वरं श्रेष्ठं ययावुष्ट्रः स्वकं वनम् ॥७॥

भीष्मजी कहते हैं—वरदायक महात्मा ब्रह्माजी ने 'एवमस्तु—ऐसा ही हो' कहकर उसे मुँहमाँगा वर दे दिया । वह उत्तम वर पाकर ऊँट अपने वन में चला गया ।

स चकार तदाऽऽलस्यं वरदानात् सुदुर्मतिः ।
न चैच्छच्चरितुं गन्तुं दुरात्मा कालमोहितः ॥८॥

वह खोटी बुद्धिवाला ऊँट यह वरदान पाकर आलसी बन गया । वह दुरात्मा काल से मोहित होकर चरने के लिए कहीं जाना ही नहीं चाहता था ।

स कदाचित्प्रसार्यैवं तां ग्रीवां शतयोजनाम् ।
चचाराश्रान्तहृदयो वातश्चागात्ततो महान् ॥९॥

एक समय की बात है, वह अपनी सौ योजन लम्बी गर्दन फैलाकर चर रहा था । उसका मन चरने से कभी थकता ही नहीं था । इतने में ही बड़े जोर से हवा चलने लगी ।

स गुहायां शिरो ग्रीवां निधाय पशुरात्मनः ।
आस्ते तु वर्षमभ्यागात् सुमहत्प्लावयज्जगत् ॥१०॥

वह पशु किसी गुफा में अपनी गर्दन डालकर चर रहा था कि इतने में सारे संसार को जल से आप्लावित करती हुई बड़ी भारी वर्षा होने लगी ।

अथ शीतपरीताङ्गो जम्बुकः क्षुच्छ्रमान्वितः ।
सदारस्तां गुहामाशु प्रविवेश जलार्दितः ॥११॥

वर्षा आरम्भ होने पर भूख और थकावट से कष्ट पाता हुआ एक गीदड़ अपनी गीदड़ी के साथ शीघ्र ही उस गुहा में आ घुसा । वह जल से पीड़ित था और सर्दी के कारण उसके सारे अङ्ग अकड़ गये थे ।

स दृष्ट्वा मांसजीवी तु सुभृशं क्षुच्छ्रमान्वितः ।
अभक्षयत् ततो ग्रीवामुष्ट्रस्य भरतर्षभ ॥१२॥

भरतश्रेष्ठ ! वह मांसजीवी गीदड़ अत्यन्त भूख के कारण कष्ट पा रहा था, अतः वह ऊँट की गर्दन का मांस काट-काटकर खाने लगा ।

यदा त्वबुध्यतात्मानं भक्ष्यमाणं स वै पशुः ।
तदा संकोचने यत्नमकरोद् भृशदुःखितः ॥१३॥

जब उस पशु को यह पता चला कि उसकी गर्दन खाई जा रही है, तब वह अत्यन्त दुःखी हो उसे समेटने का प्रयत्न करने लगा ।

यावदूर्ध्वमधश्चैव ग्रीवां संक्षिपते पशुः ।
तावत्तेन सदारेण जम्बुकेन स भक्षितः ॥१४॥

जबतक वह पशु अपनी गर्दन को ऊपर-नीचे समेटने का प्रयत्न करता रहा, तबतक गीदड़ीसहित सियार ने उसे काटकर खा लिया ।

स हत्वा भक्षयित्वा च तमुष्ट्रं जम्बुकस्तदा ।
विगते वातवर्षे तु निश्चक्राम गुहामुखात् ॥१५॥

इस प्रकार ऊँट को मारकर खा जाने के पश्चात् जब आँधी और वर्षा बन्द हो गई, तब वह गीदड़ गुफा के मुख से बाहर निकल गया ।

एवं दुर्बुद्धिना प्राप्तमुष्ट्रेण निधनं तदा ।
आलस्यस्य क्रमात्पश्य महान्तं दोषमागतम् ॥१६॥

इस प्रकार उस मूर्ख ऊँट की मृत्यु हो गई । देखो, उसके आलस्य के क्रम से कितना महान् दोष प्राप्त हो गया ![1]

त्वमप्येवंविधं हित्वा योगेन नियतेन्द्रियः ।
वर्तस्व बुद्धिमूलं तु विजयं मनुरब्रवीत् ॥१७॥

अतः तुम्हें भी ऐसे आलस्य को छोड़कर इन्द्रियों को वश में रखते हुए बुद्धिपूर्वक बर्ताव करना उचित है । 'विजय का मूल बुद्धि ही है'—ऐसा मनु महाराज का कथन है ।

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत ।
तानि जंघाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥१८॥

भरतनन्दन ! बुद्धिबल से किये गये कार्य श्रेष्ठ होते हैं । बाहुबल से किये जानेवाले कार्य मध्यम हैं । जांघ और पैर के बल से किये गये कर्म जघन्य=अधमकोटि के हैं और सिर पर भार ढोने के कार्य सबसे निम्न श्रेणी के हैं ।

राज्यं तिष्ठति दक्षस्य संगृहीतेन्द्रियस्य च ।
आर्तस्य बुद्धिमूलं हि विजयं मनुरब्रवीत् ॥१९॥

जो जितेन्द्रिय और कार्यदक्ष है, उसी का राज्य स्थिर रहता है । महर्षि मनु का कथन है कि संकट में पड़े हुए राजा की विजय का मूल कारण बुद्धिबल ही है ।

परीक्ष्यकारिणो ह्यर्थास्तिष्ठन्तीह युधिष्ठिर ।
सहाययुक्तेन मही कृत्स्ना शक्या प्रशासितुम् ॥२०॥

युधिष्ठिर ! जो भली-भाँति परीक्षा करके कोई कार्य करता है, उसके पास ही धन स्थिर रहता है । सहायकों से सम्पन्न नरेश ही सम्पूर्ण पृथिवी का शासन कर सकता है ।

युधिष्ठिर उवाच

राजा राज्यमनुप्राप्य दुर्लभं भरतर्षभ ।
अमित्रस्यातिवृद्धस्य कथं तिष्ठेदसाधनः ॥२१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतभूषण ! राजा एक दुर्लभ राज्य को पाकर भी सेना और कोष आदि साधनों से हीन हो तो सभी दृष्टियों से अत्यन्त बढ़े-चढ़े हुए शत्रु के सामने कैसे टिक सकता है ?

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सरितां चैव संवादं सागरस्य च भारत ॥२२॥

भीष्मजी बोले—भरतकुमार ! इस विषय में बुद्धिमान् लोग नदियों और समुद्र के संवादरूप एक प्राचीन उपाख्यान का दृष्टान्त दिया करते हैं ।

सुरारिनिलयः शश्वत्सागरः सरिताम्पतिः ।
पप्रच्छ सरितः सर्वाः संशयं जातमात्मनः ॥२३॥

एक समय की बात है, असुरों के निवासस्थान और सरिताओं के स्वामी समुद्र ने सम्पूर्ण नदियों से अपने मन का एक सन्देह पूछा ।

सागर उवाच

समूलशाखान् पश्यामि निहतान् कायिनो द्रुमान् ।
युष्माभिरिह पूर्णाभिर्नद्यस्तत्र न वेतसम् ॥२४॥

---

१. कहानी सत्य नहीं होतीं, वे किसी विषय का प्रतिपादन करने के लिए घड़ी जाती हैं । पाठक कहानी पर विचार न कर उसके तथ्य की ओर ध्यान दें । कहानी में जीवन का तथ्य भरा हुआ है ।

समुद्र ने पूछा—नदियो ! मैं देखता हूँ कि जब बाढ़ आने के कारण तुम लबालब भर जाती हो, तब विशालकाय वृक्षों को जड़मूल और शाखाओंसहित उखाड़कर अपने प्रवाह में बहा लाती हो, परन्तु उनमें बेंत का कोई पेड़ दिखाई नहीं देता।

अकायश्चाल्पसारश्च वेतसः कूलजश्च वः ।
अवज्ञया वा नानीतः किं च वा तेन वः कृतम् ॥२५॥

बेंतों का शरीर तो नहीं के बराबर बहुत पतला है। उसमें कुछ दम नहीं होता और वह तुम्हारे किनारे पर जमता है, फिर भी तुम उसे नहीं लातीं, इसका क्या कारण है ? क्या तुम उसे अहेवलनावश कभी नहीं लाईं अथवा उसने तुम्हारा कोई उपकार किया है ?

तदहं श्रोतुमिच्छामि सर्वासामेव वो मतम् ।
यथा चेमानि कूलानि हित्वा नायाति वेतसः ॥२६॥

इस विषय में तुम सबका विचार मैं सुनना चाहता हूँ। क्या कारण है कि बेंत का वृक्ष तुम्हारे इन तटों को छोड़कर नहीं आता है ?

गङ्गोवाच

तिष्ठन्त्येते यथास्थानं नगा ह्येकनिकेतनाः ।
ते त्यजन्ति ततः स्थानं प्रातिलोम्यान्न वेतसः ॥२७॥

गङ्गा बोली—नदीश्वर ! ये वृक्ष अपने-अपने स्थान पर अकड़कर खड़े रहते हैं, हमारे प्रवाह के सामने मस्तक नहीं झुकाते। इसी प्रतिकूल व्यवहार के कारण उन्हें नष्ट होकर अपना स्थान छोड़ना पड़ता है, परन्तु बेंत ऐसा नहीं है।

वेतसो वेगमायान्तं दृष्ट्वा नमति नापरे ।
सरिद्वेगेऽव्यतिक्रान्ते स्थानमासाद्य तिष्ठति ॥२८॥

बेंत नदी के वेग को आते हुए देखकर झुक जाता है, परन्तु दूसरे वृक्ष ऐसा नहीं करते, [अतः वे उखड़ जाते हैं परन्तु] सरिताओं का वेग शान्त होने पर बेंत पुनः अपने स्थान में ही स्थित हो जाता है।

कालज्ञः समयज्ञश्च सदा वश्यश्च नोद्धतः ।
अनुलोमस्तथास्तब्धस्तेन नाभ्येति वेतसः ॥२६॥

बेंत समय को पहचानता है तथा उसके अनुसार व्यवहार करता है, सदा हमारे वश में रहता है, कभी उद्दण्डता नहीं दिखाता। वह सदा अनुकूल बना रहता है, उसमें कभी अकड़ नहीं आती, अतः उसे स्थान छोड़कर यहाँ नहीं आना पड़ता।

मारुतोदकवेगेन ये नमन्त्युन्नमन्ति च ।
ओषध्यः पादपा गुल्मा न ते यान्ति पराभवम् ॥३०॥

जो पौधे, वृक्ष या लता-गुल्म हवा और पानी के वेग से झुक जाते हैं और वेग शान्त होने पर सिर उठाते हैं, उनका कभी पराभव नहीं होता।

भीष्म उवाच

यो हि शत्रोर्विवृद्धस्य प्रभोर्बन्धविनाशने ।
पूर्वं न सहते वेगं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥३१॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इसी प्रकार जो राजा बल में बढ़े-चढ़े तथा बन्धन में डालने और विनाश करने में समर्थ शत्रु के प्रथम वेग को सिर झुकाकर नहीं सहता है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

सारासारं बलं वीर्यमात्मनो द्विषतश्च यः ।
जानन् विचरति प्राज्ञो न स याति पराभवम् ॥३२॥

जो बुद्धिमान् राजा अपने तथा शत्रु के सार-असार, बल तथा पराक्रम को जानकर उसके अनुसार व्यवहार करता है, वह कभी पराजित नहीं होता।

एवमेव यदा विद्वान् मन्यतेऽतिबलं रिपुम् ।
संश्रयेद् वैतसीं वृत्तिमेतत् प्रज्ञानलक्षणम् ॥३३॥

इसी प्रकार बुद्धिमान् राजा जब शत्रु के बल को अपने से अधिक समझे, तब बेंत का ही ढंग अपना ले, अर्थात् उसके समक्ष नतमस्तक हो जाए। यही बुद्धिमानी का लक्षण है।

युधिष्ठिर उवाच

विद्वान् मूर्खप्रगल्भेन मृदुतीक्ष्णेन भारत ।
आक्रुश्यमानः सदसि कथं कुर्यादरिन्दम ॥३४॥

युधिष्ठिर ने पूछा—शत्रुमर्दन भारत ! यदि कोई ढीठ मूर्ख मधुर अथवा तीखे शब्दों में भरी सभा में किसी विद्वान् की निन्दा करने लगे, तो वह उसके साथ कैसा व्यवहार करे ?

भीष्म उवाच

श्रूयतां पृथिवीपाल यथैषोऽर्थोऽनुगीयते ।
सदा सुचेताः सहते नरस्येहाल्पमेधसः ॥३५॥

भीष्मजी ने कहा—भूपाल ! सुनो, इस विषय में

सदा से जैसी बात कही जाती है, वह बताता हूँ। विशुद्धचित्त-मनुष्य इस संसार में सदा ही मूर्खों के कठोर वचनों को सहन करता है।

टिट्टिभं तमुपेक्षेत वाशमानमिवातुरम्।
लोकविद्वेषमापन्नो निष्फलं प्रतिपद्यते ।।३६।।

श्रेष्ठ पुरुष को चाहिए कि वह टिटिहरी अथवा रोगी की भाँति टाँय-टाँय करते हुए उस निन्दा करनेवाले की उपेक्षा कर दे। इससे वह सब लोगों के द्वेष का पात्र बन जाएगा और उसके सभी मनोरथ निष्फल हो जाएँगे।

प्राकृतो हि प्रशंसन् वा निन्दन् वा किं करिष्यति।
वने काक इवाबुद्धिर्वाशमानो निरर्थकम् ।।३७

जैसे वन में कौआ व्यर्थ ही काँव-काँव किया करता है, उसी प्रकार मूर्ख भी अकारण ही निन्दा करता है। वह प्रशंसा करे या निन्दा, किसी का क्या भला या बुरा करेगा? [कुछ भी तो नहीं]।

उपेक्षितव्यो यत्नेन तादृशः पुरुषाधमः।
यद् यद् ब्रूयादल्पमतिस्तत्तदस्य सहेद् बुधः ।।३८।।

ऐसे नराधम की प्रयत्नपूर्वक उपेक्षा कर देनी चाहिए। मूर्ख मनुष्य जो कुछ भी कह दे, विद्वान् पुरुष को वह सब सह लेना चाहिए।

निषेकं विपरीतं स आचष्टे वृत्तचेष्टया।
मयूर इव कौपीनं नृत्यं सन्दर्शयन्निव ।।३९।।

मोर जब नाचता है, तब वह अपने गुप्त अङ्गों को भी प्रकट कर देता है। इसी प्रकार जो मूर्ख अनुचित आचरण करता है, वह उस कुचेष्टा द्वारा अपने छिपे हुए दोषों को भी प्रकट कर देता है।

यस्यावाच्यं न लोकेऽस्ति नाकार्यं चापि किञ्चन।
वाचं तेन न संदध्याच्छुचिः संश्लिष्टकर्मणा ।।४०

संसार में जिसके लिए कुछ भी कह देना या कर डालना असम्भव नहीं है, ऐसे मनुष्य से उस भले पुरुष को बात भी नहीं करनी चाहिए, जो अपने सत्कर्म के द्वारा विशुद्ध समझा जाता है।

प्रत्यक्षं गुणवादी यः परोक्षे चापि निन्दकः।
स मानवः श्ववल्लोके नष्टलोकपरावरः ।।४१।।

जो सामने तो प्रशंसा करता है और परोक्ष में निन्दा करता है, वह मनुष्य संसार में कुत्ते के समान है। उसके लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं।

मनुष्यशालावृकमप्रशान्तं
जनापवादे सततं निविष्टम्।
मातङ्गमुन्मत्तमिवोन्नदन्तं
त्यजेत तं श्वानमिवातिरौद्रम् ।।४२।।

जो सदा लोगों की निन्दा में ही तत्पर रहता है, वह मनुष्य के शरीररूप घर में रहनेवाला भेड़िया है। वह सदा अशान्त बना रहता है। वह मतवाले हाथी के समान चीत्कार करता है और महाभयंकर कुत्ते के समान काटने को दौड़ता है। श्रेष्ठ पुरुष को चाहिए कि उसे सदा के लिए त्याग दे।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ।।३३।।

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

त्रिवर्ग का विचार, पदच्युत राजा के पुनरुत्थान के उपाय तथा शील का महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

तात धर्मार्थकामानां श्रोतुमिच्छामि निश्चयम्।
लोकयात्रा हि कात्स्न्र्येन तिष्ठेत् केषु प्रतिष्ठिता ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—तात! मैं धर्म, अर्थ और काम के सम्बन्ध में आपका निश्चित मत सुनना चाहता हूँ। किनपर आश्रित होने पर संसारयात्रा का पूर्णरूप से निर्वाह होता है।

धर्मार्थकामाः किं मूलास्त्रयाणां प्रभवश्च कः।
अन्योऽन्यं चानुषज्जन्ते वर्तन्ते च पृथक् पृथक् ।।२।।

धर्म, अर्थ और काम का मूल क्या है? इन तीनों की उत्पत्ति का कारण क्या है? ये कहीं एकसाथ मिले हुए और कहीं पृथक्-पृथक् क्यों रहते हैं?

भीष्म उवाच

यदा ते स्युः सुमनसो लोके धर्मार्थनिश्चये।
कालप्रभवसंस्थासु सज्जन्ते च त्रयस्तदा ।।३।।

भीष्मजी बोले—राजन्! संसार में जब मनुष्यों

का चित्त शुद्ध होता है और वे धर्मपूर्वक किसी अर्थ की प्राप्ति का निश्चय करके प्रवृत्त होते हैं, उस समय उचित काल, कारण और कर्मानुष्ठानवश धर्म, अर्थ और काम—तीनों एकसाथ मिले हुए प्रकट होते हैं।

धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते।
संकल्पमूलास्ते सर्वे संकल्पो विषयात्मकः ॥४॥

इनमें धर्म सदा ही अर्थ [धन] की प्राप्ति का कारण है और काम अर्थ का फल कहलाता है, परन्तु इन तीनों का मूल कारण है संकल्प। संकल्प विषय-रूप है।

विषयाश्चैव कात्स्र्न्येन सर्व आहारसिद्धये।
मूलमेतत् त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते ॥५॥

सारे विषय पूर्णरूप से इन्द्रियों के उपभोग में आने के लिए हैं। संकल्प ही धर्म, अर्थ और काम का मूल है, इससे निवृत्त होना ही 'मोक्ष' कहलाता है।

धर्माच्छरीरसंगुप्तिर्धर्मार्थं चार्थ उच्यते।
कामो रतिफलाश्चात्र सर्वे ते च रजस्वलाः ॥६॥

धर्म से शरीर की रक्षा होती है, धर्म का उपार्जन करने के लिए ही अर्थ की आवश्यकता बताई जाती है और काम का फल है रति। ये सभी रजोगुणमय हैं।

अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम्।
सम्प्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्जितः ॥७॥

फल की इच्छा धर्म का मल है, संग्रह करके रखना अर्थ का मल है और आमोद-प्रमोद काम का मल है, परन्तु यह त्रिवर्ग यदि अपने दोषों से रहित हो तो कल्याणकारक होता है।

यो धर्मार्थौ परित्यज्य काममेवानुवर्तते।
स धर्मार्थपरित्यागात् प्रज्ञानाशमिहार्च्छति ॥८॥

राजन्! जो धर्म और अर्थ को तिलाञ्जलि देकर केवल काम का सेवन करता है, उन दोनों के त्याग से संसार में उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है।

प्रज्ञानाशात्मको मोहस्तथा धर्मार्थनाशकः।
तस्मान्नास्तिकता चैव दुराचारश्च जायते ॥९॥

बुद्धि का नाश ही मोह है। वह धर्म तथा अर्थ दोनों का विनाशक है। इसी से मनुष्य में नास्तिकता आ जाती है और वह दुराचारी बन जाता है।

दुराचारान् यदा राजा प्रदुष्टान्न नियच्छति।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥१०॥

जब राजा दुराचारियों और दुष्टों को दण्ड देकर वश में नहीं करता है, तब सारी प्रजा घर में रहने-वाले सर्प की भाँति उस राजा से उद्विग्न हो उठती है।

तं प्रजा नानुवर्तन्ते ब्राह्मणा न च साधवः।
ततः संशयमाप्नोति तथा वध्यत्वमेति च ॥११॥

उस अवस्था में प्रजा उसका अनुसरण नहीं करती। साधु और ब्राह्मण भी साथ नहीं देते। फिर तो उसका जीवन संकट में पड़ जाता है और अन्त में वह प्रजा के ही हाथों मारा जाता है।

अपध्वस्तस्त्ववमतो दुःखं जीवितमृच्छति।
जीवेच्च यदपध्वस्तस्तच्छुद्धं मरणं भवेत् ॥१२॥

वह अपने पद से भ्रष्ट और अपमानित होकर दुःखमय जीवन बिताता है। यदि पदभ्रष्ट होकर भी वह जीता है तो उसका वह जीवन स्पष्टरूप में मृत्यु के ही समान है।

अत्रैतदाहुराचार्याः पापस्य परिगर्हणम्।
सेवितव्या त्रयी विद्या सत्कारो ब्राह्मणेषु च ॥१३॥

उस दशा में आचार्यगण उसके लिए यह कर्तव्य बताते हैं कि वह अपने पापों की निन्दा करे, नित्य वेदों का स्वाध्याय करे और ब्राह्मणों का सत्कार करे।

महामना भवेद्धर्मे विवहेच्च महाकुले।
ब्राह्मणाँश्चापि सेवेत क्षमायुक्तान् मनस्विनः ॥१४॥

धर्माचरण में विशेष मन लगाए। उत्तम कुल में विवाह करे। उदार तथा क्षमाशील ब्राह्मणों की सेवा में तत्पर रहे।

जपेदुदकशीलः स्यात् सततं सुखमास्थितः।
धर्मान्वितान्सम्प्रविशेद् बहिः कृत्वेह दुष्कृतीन् ॥१५॥

वह जल में खड़ा होकर गायत्री का जप करे। सदा प्रसन्न रहे। पापियों को राज्य से बाहर निकाल-कर धर्मात्मा पुरुषों का सङ्ग करे।

प्रसादयेन्मधुरया वाचा वाप्यथ कर्मणा।
तवास्मीति वदेन्नित्यं परेषां कीर्तयन् गुणान् ॥१६॥

मीठी वाणी तथा उत्तम कर्म के द्वारा सबको प्रसन्न रखे, दूसरों के गुणों का गान करे और सबसे

यही कहे—'मैं आपका ही हूँ, आप मुझे अपना ही समझें।'

अपापो ह्येवमाचारः क्षिप्रं बहुमतो भवेत्।
पापान्यपि हि कृच्छ्राणि शमयेन्नात्र संशयः ॥१७॥

जो राजा इस प्रकार अपना आचरण बना लेता है, वह शीघ्र ही निष्पाप होकर सबके सम्मान का पात्र बन जाता है। वह अपने कठिन-से-कठिन पापों का भी प्रक्षालन कर लेता है—इसमें सन्देह नहीं है।

युधिष्ठिर उवाच

कथं हि प्राप्यते शीलं श्रोतुमिच्छामि भारत।
किंलक्षणं च तत् प्रोक्तं ब्रूहि मे वदतां वर ॥१८॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भारत! शील की प्राप्ति कैसे होती है, यह सुनने की मेरी प्रबल अभिलाषा है। वक्ताओं में श्रेष्ठ पितामह! उस शील का लक्षण क्या है? यह भी मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः।
न हि किञ्चिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत् ॥१९॥

भीष्मजी बोले—शील के द्वारा तीनों लोकों पर विजय पाई जा सकती है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। शीलवानों के लिए संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है।

धर्मः सत्यं तथा वृत्तं लक्ष्मी चैव बलं तथा। □
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः ॥२०॥

महाप्राज्ञ! धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मी—ये सब सदा शील के ही आधार पर रहते हैं [शील ही इनकी जड़ है], इसमें संशय नहीं है।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत्प्रशस्यते ॥२१॥

मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी के प्रति द्रोह न करना, सब प्राणियों पर दया करना और दान देना—यह शील कहलाता है, जिसकी सब प्रशंसा करते हैं।

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथञ्चन ॥२२॥

अपना जो भी पुरुषार्थ और कर्म दूसरों के लिए हितकर न हो अथवा जिसे करने में संकोच अनुभव होता हो, उसे किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिए।

तत्तु कर्म तथा कुर्याद् येन श्लाघ्येत संसदि।
शीलं समासेनैतत् ते कथितं कुरुसत्तम ॥२३॥

कुरुश्रेष्ठ! किसी भी कर्म को इस प्रकार करना चाहिए कि भरी सभा में मनुष्य की प्रशंसा हो। यह संक्षेप में शील का स्वरूप बताया गया है।

यद्यप्यशीला नृपते प्राप्नुवन्ति श्रियं क्वचित्।
न भुञ्जते चिरं तात समूलाश्च न सन्ति ते ॥२४॥

राजन्! तात! यद्यपि कहीं-कहीं शीलहीन मनुष्य भी राज्यलक्ष्मी को प्राप्त कर लेते हैं, तथापि वे चिरकाल तक उसका उपभोग नहीं कर पाते और जड़मूलसहित नष्ट हो जाते हैं।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३४॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

आपत्ति के समय राजा का धर्म

युधिष्ठिर उवाच

मित्रैः प्रहीयमाणस्य बह्वमित्रस्य का गतिः।
राज्ञः संक्षीणकोशस्य बलहीनस्य भारत ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भारत! यदि राजा के शत्रु अधिक हो जाएँ, मित्र उसका साथ छोड़ने लगें, सेना और कोष भी नष्ट हो जाए तो उसके लिए कौन-सा मार्ग हितकर है?

भीष्म उवाच

गुह्यं धर्मज्ञ मा प्राक्षीरतीव भरतर्षभ।
अपृष्टो नोत्सहे वक्तुं धर्ममेतं युधिष्ठिर ॥२॥

भीष्मजी बोले—धर्मज्ञ! भरतभूषण युधिष्ठिर! यह तो तुमने मुझसे अति गोपनीय विषय पूछा है। यदि तुम्हारे द्वारा यह प्रश्न न किया गया होता तो

मैं इस समय इस आपद्धर्म के विषय में कुछ भी नहीं कह सकता था।

राज्ञः कोशक्षयादेव जायते बलसंक्षयः।
कोशं च जनयेद् राजा निर्जलेभ्यो यथा जलम् ॥३॥
कालं प्राप्यानुगृह्णीयादेष धर्मः सनातनः।
उपायधर्मं प्राप्येमं पूर्वैराचरितं जनैः ॥४॥

कोष के नष्ट होने से ही राजा के बल का नाश होता है, अतः जैसे मनुष्य निर्जल स्थानों से भी खोदकर जल निकाल लेता है, वैसे ही राजा संकट-काल में निर्धन प्रजा से भी यथासाध्य धन लेकर अपना कोष बढ़ाए, फिर अच्छा समय आने पर उस धन के द्वारा प्रजा पर अनुग्रह करे—यही सनातन धर्म है। पूर्वकाल के राजाओं ने भी आपत्तिकाल में इस उपायधर्म को पाकर इसका आचरण किया है।

सर्वात्मनैव धर्मस्य न परस्य न चात्मनः।
सर्वोपायैरुज्जिहीर्षेदात्मानमिति निश्चयः ॥५॥

संकटकाल में मनुष्य अपने या दूसरे के धर्म की ओर न देखे, अपितु सम्पूर्ण हृदय से सभी उपायों द्वारा अपने ही उद्धार की अभिलाषा करे, यही सबका निश्चय है।

क्षत्रियो वृत्तिसंरोधे कस्य नादातुमर्हति।
अन्यत्र तापसस्वाच्च ब्राह्मणस्वाच्च भारत ॥६॥

भरतनन्दन! क्षत्रिय यदि आजीविका से रहित हो जाए तो वह तपस्वी और ब्राह्मण का धन छोड़कर और किसका धन नहीं ले सकता अर्थात् सभी का ले सकता है।

यथा वै ब्राह्मणः सीदन्नयाज्यमपि याजयेत्।
अभोज्यान्नानि चाश्नीयात् तथेदं नात्र संशयः ॥७॥

जैसे जीविका के अभाव में कष्ट पाता हुआ ब्राह्मण यज्ञ के अनधिकारी का भी यज्ञ करा सकता है और प्राणरक्षा के लिए अभक्ष्य अन्न भी खा सकता है, वैसे ही यह [पूर्वश्लोक में] क्षत्रिय के लिए भी सन्देहरहित कर्तव्य का निर्देश किया गया है।

भैक्ष्यचर्या न विहिता न च विट्शूद्रजीविका।
आददीत विशिष्टेभ्यो नावसीदेत् कथञ्चन ॥८॥

क्षत्रिय के लिए भीख माँगना अथवा वैश्य या शूद्र की जीविका अपनाने का विधान नहीं है। वह आपत्तिकाल में विशिष्ट अर्थात् धनवानों से बलपूर्वक धन ग्रहण कर ले। धन के अभाव में वह किसी प्रकार का कष्ट न भोगे।

अन्यत्र राजन् हिंसाया वृत्तिर्नेहास्ति कस्यचित्।
अप्यरण्यसमुत्थस्य एकस्य चरतो मुनेः ॥९॥

राजन्! इस संसार में किसी की भी ऐसी वृत्ति नहीं है, जो हिंसा से शून्य हो। औरों की तो बात ही क्या है, वन में रहकर एकाकी विचरनेवाले तपस्वी मुनि की भी वृत्ति सर्वथा हिंसारहित नहीं है।

न शङ्खलिखितां वृत्तिं शक्यमास्थाय जीवितुम्।
विशेषतः कुरुश्रेष्ठ प्रजापालनमीप्सया ॥१०॥

कुरुश्रेष्ठ! कोई भी ललाट में लिखी हुई वृत्ति का ही भरोसा करके जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता, विशेषरूप से प्रजापालन के इच्छुक राजा का भाग्य के भरोसे निर्वाह करना तो सर्वथा असम्भव है।

परस्परं हि संरक्षा राज्ञा राष्ट्रेण चापदि।
नित्यमेव हि कर्तव्या एष धर्मः सनातनः ॥११॥

संकट के समय राजा और राज्य की प्रजा दोनों को निरन्तर एक-दूसरे की रक्षा करनी चाहिए—यही प्राचीन धर्म है।

राजा राष्ट्रं यथाऽऽपत्सु द्रव्यौघैरपि रक्षति।
राष्ट्रेण राजा व्यसने रक्षितव्यस्तथा भवेत् ॥१२॥

प्रजा पर आपत्ति आने पर जैसे राजा राशि-राशि धन लुटाकर भी उसकी रक्षा करता है, वैसे ही राजा पर संकट आने पर राष्ट्र की प्रजा को भी उसकी रक्षा करनी चाहिए।

कोशं दण्डं बलं मित्रं यदन्यदपि संचितम्।
न कुर्वीतान्तरं राष्ट्रे राजा परिगतः क्षुधा।
बीजं भक्तेन सम्पाद्यमिति धर्मविदो विदुः ॥१३॥

राजा भूख से पीड़ित होने [जीविका के लिए कष्ट पाने] पर भी कोष, राजदण्ड, सेना, मित्र और अन्य सञ्चित साधनों को कभी राज्य से दूर न करे। धर्मज्ञ पुरुषों का कथन है कि मनुष्य को अपने भोजन के लिए संगृहीत अन्न में से भी बीज के लिए बचाकर रखना चाहिए।

राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम्।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः ॥१४॥

राजा का मूलाधार है सेना और कोष। इनमें भी कोष सेना की जड़ है। सेना सम्पूर्ण धर्मों की रक्षा का मूल कारण है और धर्म प्रजा की जड़ है।

नान्यानपीडयित्वेह कोशः शक्यः कुतो बलम्।
तदर्थं पीडयित्वा च दोषं प्राप्तुं न सोऽर्हति ॥१५॥

दूसरों को पीड़ा दिये बिना धन का संग्रह नहीं किया जा सकता तथा धन-संग्रह के बिना सेना-संग्रह कैसे हो सकता है? अतः आपत्तिकाल में कोष-संग्रह के लिए प्रजा को पीड़ा देकर भी राजा दोष का भागी नहीं हो सकता।

धनेन जयते लोकावुभौ परमिमं तथा।
सत्यं च धर्मवचनं यथा नास्त्यधनस्तथा ॥१६॥

धन से मनुष्य इहलोक और परलोक दोनों पर विजय पाता है, साथ ही धर्म एवं अर्थ का भी सम्पादन कर लेता है परन्तु निर्धन को इन कार्यों में वैसी सफलता नहीं मिलती। उसका अस्तित्व नहीं के बराबर होता है।

न च राज्यसमो धर्मः कश्चिदस्ति परन्तप।
धर्मः संशब्दितो राज्ञामापदर्थमतोऽन्यथा ॥१७॥

परन्तप! राजा के लिए राज्य की रक्षा के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। अभी जिस धर्म की चर्चा की गई है, वह केवल राजाओं के लिए आपत्तिकाल में ही आचरण में लाने योग्य है, अन्यथा नहीं।

दानेन कर्मणा चान्ये तपसान्ये तपस्विनः।
बुद्ध्या दाक्ष्येण चैवान्ये विन्दन्ति धनसञ्चयान् ॥१८॥

कुछ लोग दान से, कुछ लोग यज्ञानुष्ठान करने से, कुछ तपस्वी तप करने से, कुछ लोग बुद्धि से और अन्य बहुत-से मनुष्य कार्य-कौशल से धन प्राप्त कर लेते हैं।

अधनं दुर्बलं प्राहुर्धनेन बलवान् भवेत्।
सर्वं धनवता प्राप्यं सर्वं तरति कोशवान् ॥१९॥

निर्धन को दुर्बल कहा गया है। धन से मनुष्य बलवान् बनता है। धनवान् को सब-कुछ मिल जाता है। जिसके पास कोष है, वह समस्त संकटों से पार हो जाता है।

कोशेन धर्मश्च कामश्च परलोकस्तथा ह्ययम्।
तं च धर्मेण लिप्सेत नाधर्मेण कदाचन ॥२०॥

धन-संग्रह [कोष] से धर्म, काम, लोक और परलोक की सिद्धि होती है, परन्तु उस धन को धर्मपूर्वक ही उपार्जित करने की इच्छा करे, अधर्म से कभी नहीं।

युधिष्ठिर उवाच

क्षीणस्य दीर्घसूत्रस्य भिन्नामात्यस्य सर्वशः।
आपन्नचेतसो ब्रूहि किं कार्यमवशिष्यते ॥२१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! जिसका कोष और सेना क्षीण हो गई है, जो आलसी है, जिसके मन्त्री शत्रुओं द्वारा फोड़ लिये गये हैं और विपत्ति में पड़कर जिसका चित्त व्याकुल हो गया हो, उसे संकट से मुक्त होने के लिए क्या करना चाहिए?

भीष्म उवाच

बाह्यश्चेद्विजिगीषुः स्याद्धर्मार्थकुशलः शुचिः।
जवेन सन्धिं कुर्वीत पूर्वभुक्तान् विमोचयेत् ॥२२॥

भीष्मजी बोले—राजन्! यदि विजयाभिलाषी आक्रमणकारी राजा बाहर का हो, उसका आचार-विचार शुद्ध और वह धर्म तथा अर्थ के साधन में कुशल हो तो शीघ्रतापूर्वक उसके साथ सन्धि कर लेनी चाहिए तथा जो ग्राम एवं नगर अपने पूर्वजों के अधिकार में रहे हों, वे यदि आक्रमणकारी के अधिकार में चले गये हों तो उसे मधुर वचनों से समझा-बुझाकर उन्हें उसके हाथ से छुड़ाने की चेष्टा करे।

योऽधर्मविजिगीषुः स्याद् बलवान्पापनिश्चयः।
आत्मनः सन्निरोधेन सन्धिं तेनापि रोचयेत् ॥२३॥

जो विजय चाहनेवाला शत्रु अधर्मपरायण हो और बलवान् होने के साथ-साथ पापपूर्ण विचार रखता हो, उसके साथ अपना कुछ खोकर भी सन्धि कर लेने की इच्छा रखे।

अपास्य राजधानीं वा तरेद् द्रव्येण चापदम्।
तद्भावयुक्तो द्रव्याणि जीवन् पुनरुपार्जयेत् ॥२४॥

अथवा आवश्यकता हो तो अपनी राजधानी को भी छोड़कर तथा बहुत-सा धन देकर उस विपत्ति से पार हो जाए। यदि वह जीवित रहे तो राजोचित गुणों से युक्त होने पर पुनः धन का उपार्जन कर सकता है।

यास्तु कोशबलत्यागाच्छक्यास्तरितुमापदः ।
कस्तत्राधिकमात्मानं संत्यजेदर्थधर्मवित् ।।२५।।

कोष और सेना का त्याग कर देने से ही जहाँ विपत्तियों को पार किया जा सके, ऐसी स्थिति में कौन धर्म और अर्थ का ज्ञाता मनुष्य अपनी सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु शरीर का त्याग करेगा ?

अवरोधान् जुगुप्सेत का सपत्नधने दया ।
न त्वेवात्मा प्रदातव्यः शक्ये सति कथञ्चन ।।२६।।

शत्रु का आक्रमण होने पर राजा को सर्वप्रथम अपने अन्तःपुर की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए। यदि वहाँ शत्रु का अधिकार हो जाए तो उधर से अपनी मोह-ममता हटा लेनी चाहिए, क्योंकि शत्रु के अधिकार में गये हुए धन तथा परिवार पर दया—ममता प्रदर्शित करना किस काम का ? जहाँ तक सम्भव हो अपने-आपको किसी प्रकार भी शत्रु के चंगुल में नहीं फँसने देना चाहिए ।

युधिष्ठिर उवाच

आभ्यन्तरे प्रकुपिते बाह्ये चोपनिपीडिते ।
क्षीणे कोशे श्रुते मन्त्रे किं कार्यमवशिष्यते ।।२७।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! यदि बाहर से राष्ट्र और दुर्गादि पर आक्रमण करके शत्रु उसे पीड़ा दे रहे हों तथा भीतर से मन्त्री आदि भी प्रकुपित हों, कोष खाली हो गया हो और राजा का गुप्त रहस्य सबके कानों में पड़ गया हो, तब उसे क्या करना चाहिए ?

भीष्म उवाच

क्षिप्रं वा सन्धिकामः स्यात्क्षिप्रं वा तीक्ष्णविक्रमः ।
तदापनयनं क्षिप्रमेतावत् साम्परायिकम् ।।२८

भीष्मजी बोले—राजन् ! उस दशा में राजा या तो तुरन्त सन्धि का विचार कर ले अथवा शीघ्राति-शीघ्र दुःसह पराक्रम प्रकट करके शत्रु को राज्य से बाहर खदेड़ दे। ऐसा उद्योग करते हुए यदि मृत्यु भी हो जाए तो वह परलोक में मङ्गलकारी होती है।

अनुरक्तेन चेष्टेन हृष्टेन जगतीपतिः ।
अल्पेनापि हि सैन्येन महीं जयति भूमिपः ।।२९।।

यदि सेना स्वामी के प्रति अनुराग रखनेवाली, प्रिय और हृष्ट-पुष्ट हो तो उस थोड़ी-सी सेना के द्वारा भी राजा भूमण्डल पर विजय पा सकता है।

हतो वा दिवमारोहेद्धत्वा वा क्षितिमावसेत् ।
युद्धे हि सन्त्यजन्प्राणाञ्छक्रस्यैति सलकोताम् ।।३०।।

यदि वह युद्ध में मारा जाए तो स्वर्गलोक के शिखर पर आरूढ़ हो सकता है अथवा यदि उसने शत्रु को मार गिराया तो वह पृथिवी का राज्य भोग सकता है। जो युद्ध में प्राण त्यागता है वह स्वर्गलोक में जाता है।

सर्वलोकागमं कृत्वा मृदुत्वं गन्तुमेव च ।
विश्वासाद् विनयं कुर्याद् विश्वसेच्चाप्युपायतः ।।३१।।

अथवा निर्बल राजा शत्रु में कोमलता लाने के लिए विपक्ष के सभी लोगों को सन्तुष्ट करके उनके मन में विश्वास जमाकर उनसे युद्ध बन्द करने के लिए अनुनय-विनय करे और स्वयं भी उपायपूर्वक उनपर विश्वास करे।

अपचिक्रमिषुः क्षिप्रं साम्ना वा परिसान्त्वयन् ।
विलङ्घयित्वा मन्त्रेण ततः स्वयमुपक्रमेत् ।।३२।।

अथवा वह मधुर वचनों द्वारा विपक्ष के मन्त्री आदि को प्रसन्न करके दुर्ग से निकल भागने का प्रयत्न करे। तत्पश्चात् कुछ समय व्यतीत करके श्रेष्ठ पुरुषों की सम्मति ले अपनी खोई हुई सम्पत्ति अथवा राज्य को पुनः प्राप्त करने का यत्न करे।

युधिष्ठिर उवाच

सर्वत्र प्रार्थ्यमानेन दुर्बलेन महाबलैः ।
एकेनैवासहायेन शक्यं स्थातुं भवेत् कथम् ।।३३।।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भारत ! जब अनेक महाबली शत्रु किसी दुर्बल राजा को सब ओर से हड़प जाने के लिए तैयार हो जाएँ, तब उस एकमात्र असहाय राजा को उस परिस्थिति का सामना कैसे करना चाहिए ?

विग्रहं केन वा कुर्यात् सन्धिं वा केन योजयेत् ।
कथं वा शत्रुमध्यस्थो वर्तेत बलवानपि ।।३४।।

वह किसके साथ विग्रह करे ? किसके साथ सन्धि करे और बलवान् पुरुष भी यदि शत्रुओं से मिल जाए तो उसके साथ कैसा व्यवहार करे ?

भीष्म उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो युधिष्ठिर सुखोदयः ।
शृणु मे पुत्र कात्स्न्येन गुह्यमापत्सु भारत ।।३५।।

भीष्मजी बोले—भरतनन्दन वत्स युधिष्ठिर ! तुम्हारा यह विस्तारपूर्वक पूछना अति उचित और सुख की प्राप्ति करानेवाला है। आपत्ति के समय क्या करना चाहिए, यह विषय गोपनीय होने से सबको ज्ञात नहीं है। तुम यह सब रहस्य मुझसे सुनो !

अमित्रं मित्रतां याति मित्रं चापि प्रदुष्यति ।
सामर्थ्ययोगात्कार्याणामनित्या वै सदा गतिः ।।३६।।

भिन्न-भिन्न कार्यों का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि उनके कारण कभी शत्रु भी मित्र बन जाता है और कभी मित्र का मन भी द्वेषभावना से दूषित हो जाता है। वस्तुतः शत्रु-मित्र की परिस्थिति सदा एक-सी नहीं रहती।

तस्माद्विश्वसितव्यं च विग्रहं च समाचरेत् ।
देशं कालं च विज्ञाय कार्याकार्यविनिश्चये ।।३७।।

अतः देशकाल को समझकर कर्तव्य-अकर्तव्य का निश्चय करके किसी पर विश्वास और किसी के साथ युद्ध करना चाहिए।

सन्धातव्यं बुधैर्नित्यं व्यवस्य च हितार्थिभिः ।
अमित्रैरपि सन्धेयं प्राणा रक्ष्या हि भारत ।।३८।।

भरतकुमार ! कर्तव्य का विचार करके सदा हितैषी विद्वान् मित्रों के साथ सन्धि करनी चाहिए एवं आवश्यकता पड़ने पर शत्रु से भी सन्धि कर लेनी चाहिए, क्योंकि प्राणों की रक्षा सदा ही कर्तव्य है।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मार्जारस्य च संवादं न्यग्रोधे मूषकस्य च ।।३९।।

इस विषय में विद्वान् लोग वटवृक्ष के आश्रय में रहनेवाले एक बिलाव और चूहे के संवादरूप एक प्राचीन कथानक का दृष्टान्त दिया करते हैं।

वने महति कस्मिंश्चिन्न्यग्रोधः सुमहानभूत् ।
लताजालपरिच्छिन्नो नानाद्विजगणान्वितः ।।४०।।

किसी विशाल वन में एक बहुत बड़ा बरगद का वृक्ष था। वह लतासमूहों से आच्छादित और नाना-प्रकार के पक्षियों से सुशोभित था।

तस्य मूलं समाश्रित्य कृत्वा शतमुखं बिलम् ।
वसति स्म महाप्राज्ञः पलितो नाम मूषकः ।।४१।।

उस वृक्ष की जड़ में सौ द्वारोंवाला बिल बनाकर एक परम बुद्धिमान् चूहा निवास करता था, जिसका नाम पलित था।

शाखां तस्य समाश्रित्य वसति स्म सुखं पुरा ।
लोमशो नाम मार्जारः पक्षिसंघातखादकः ।।४२।।

उसी वटवृक्ष की एक शाखा पर पहले कभी लोमश नाम का एक बिलाव भी बड़े सुख से रहता था। वह पक्षियों के समूह का भक्षक था।

तत्र चागत्य चाण्डालो ह्यरण्ये कृतकेतनः ।
प्रयोजयति चोन्माथं नित्यमस्तं गते रवौ ।।४३।।
तत्र स्नायुमयान्पाशान्यथावत्संविधाय सः ।
गृहं गत्वा सुखं शेते प्रभातामेति शर्वरीम् ।।४४।।

उसी विशाल वन में एक चाण्डाल भी अपना घर बनाकर रहता था। वह प्रतिदिन सायंकाल सूर्यास्त हो जाने पर वहाँ आकर जाल फैला देता और उसकी ताँत की डोरियों को यथास्थान बाँधकर घर जाकर आनन्दपूर्वक सोता था; फिर प्रातःकाल होने पर वहाँ आ जाता था।

तत्र स्म नित्यं बध्यन्ते नक्तं बहुविधा मृगाः ।
कदाचिदत्र मार्जारस्त्वप्रमत्तो व्यबध्यत ।।४५।।

रात्रि में उस जाल में अनेक प्रकार के पशु फँस जाते थे [उन्हीं को लेने के लिए वह प्रातःकाल वहाँ आता था]। एक दिन अपनी असावधानी के कारण पूर्वोक्त बिलाव भी उस जाल में फँस गया।

तस्मिन् बद्धे महाप्राणे शत्रौ नित्याततायिनि ।
तं कालं पलितो ज्ञात्वा प्रचचार सुनिर्भयः ।।४६।।

अत्यन्त शक्तिशाली और सदा का आततायी शत्रु के जाल में फँस गया है, यह बात जब पलित को ज्ञात हुई, तब वह बिल से बाहर निकलकर, निर्भय हो चहुँ ओर विचरने लगा।

तेनानुचरता तस्मिन् वने विश्वस्तचारिणा ।
भक्ष्यं मृगयमाणेन चिराद् दृष्टं तदामिषम् ।
स तमुन्माथमारुह्य तदामिषमभक्षयत् ।।४७।।

विश्वस्त होकर उस वन में विचरते और आहार की खोज करते हुए उस चूहे ने बहुत देर के पश्चात्

वह मांस देखा जो जाल पर बिखेरा गया था। फिर तो चूहा जाल पर चढ़कर उस मांस को खाने लगा।

तस्योपरि सपत्नस्य बद्धस्य मनसा हसन्।
आमिषे तु प्रसक्तः स कदाचिदवलोकयन् ॥४८॥

जाल पर चढ़ मांस-भक्षण में लगा हुआ वह चूहा अपने शत्रु की अवस्था पर मन-ही-मन हँस रहा था। इतने में ही उसकी दृष्टि दूसरी ओर घूम गई।

अपश्यदपरं घोरमात्मनः शत्रुमागतम्।
नकुलं हरिणं नाम चपलं ताम्रलोचनम् ॥४९॥

फिर तो उसने एक दूसरे भयंकर शत्रु को वहाँ आया हुआ देखा। वह जाति का नेवला था। वह चपल नेवला हरिण के नाम से प्रसिद्ध था। उसकी आँखें तांबे के समान दिखाई देती थीं।

शाखागतमरिं चान्यमपश्यत् कोटरालयम्।
उलूकं चन्द्रकं नाम तीक्ष्णतुण्डं क्षपाचरम् ॥५०॥

दूसरी ओर दृष्टि घुमाने पर उसे बरगद की शाखा पर बैठा हुआ एक और शत्रु दिखाई दिया, जो वृक्ष की खोखल में निवास करता था। वह चन्द्रक नाम से प्रसिद्ध उल्लू था। उसकी चोंच अत्यन्त तीखी थी। वह रात्रि में विचरनेवाला पक्षी था।

गतस्य विषयं तत्र नकुलोलूकयोस्तथा।
अथास्यासीदियं चिन्ता तत्प्राप्य सुमहद्भयम् ॥५१॥

नेवले और उल्लू दोनों का लक्ष्य बने हुए उस चूहे को महान् भय उत्पन्न हुआ। अब उसे इस प्रकार चिन्ता होने लगी—

गतं मां सहसा भूमिं नकुलो भक्षयिष्यति।
उलूकश्चेह तिष्ठन्तं मार्जारः पाशसंक्षयात् ॥५२॥

'यदि मैं पृथिवी पर उतरकर भागता हूँ तो सहसा नेवला मुझे पकड़कर खा जाएगा। यदि यहीं ठहरा रहता हूँ तो उल्लू मुझे मार डालेगा और यदि जाल काटकर भीतर घुसता हूँ तो बिलाव जीवित नहीं छोड़ेगा।

न त्वेवास्मद्विधः प्राज्ञः सम्मोहं गन्तुमर्हति।
करिष्ये जीविते यत्नं यावद् युक्त्या प्रतिग्रहात् ॥५३॥

'परन्तु मेरे जैसे बुद्धिमान् को घबराना नहीं चाहिए, अतः जहाँ तक युक्ति से काम निकलेगा, परस्पर सहयोग का आदान-प्रदान करके मैं जीवन-रक्षा के लिए प्रयत्न करूँगा।

न हि बुद्ध्यान्वितः प्राज्ञो नीतिशास्त्रविशारदः।
निमज्जत्यापदं प्राप्य महतीं दारुणामपि ॥५४॥

'बुद्धिमान्, विद्वान् और नीतिशास्त्र का ज्ञाता पुरुष भारी और भयंकर विपत्ति में पड़ने पर भी उसमें डूब नहीं जाता है, उससे छूटने की चेष्टा करता है।

न त्वन्यामिह मार्जाराद् गतिं पश्यामि साम्प्रतम्।
विषमस्थो ह्ययं शत्रुः कृत्यं चास्य महन्मया ॥५५॥

'इस समय इस बिलाव का आश्रय लेने के सिवा मुझे कोई दूसरा मार्ग दिखाई नहीं देता। यद्यपि यह मेरा प्रबल शत्रु है, तथापि इस समय यह स्वयं भी भारी संकट में पड़ा हुआ है। मेरे द्वारा इसका भी बड़ा भारी काम निकल सकता है।

जीवितार्थी कथं त्वद्य शत्रुभिः प्रार्थितस्त्रिभिः।
तस्मादेनमहं शत्रुं मार्जारं संश्रयामि वै ॥५६॥

'इधर मैं अपने जीवन की रक्षा चाहता हूँ, उधर तीन-तीन शत्रु मुझपर घात लगाये बैठे हैं, अतः क्यों न आज मैं अपने शत्रु इस बिलाव का ही सहारा लूँ!

बलिना संनिकृष्टस्य शत्रोरपि परिग्रहः।
कार्य इत्याहुराचार्या विषमे जीवितार्थिना ॥५७॥

'आचार्यों का कथन है कि संकट उपस्थित होने पर जीवन की रक्षा चाहनेवाले महाबली पुरुष को भी अपने निकटवर्ती शत्रु से सन्धि—मेल कर लेनी चाहिए।

श्रेष्ठो हि पण्डितः शत्रुर्न च मित्रमपण्डितः।
मम त्वमित्रे मार्जारे जीवितं सम्प्रतिष्ठितम् ॥५८॥

'विद्वान् शत्रु भी उत्तम होता है परन्तु मूर्ख मित्र कभी अच्छा नहीं होता। मेरा जीवन तो आज मेरे शत्रु बिलाव के ही अधीन है।

हन्तास्मै सम्प्रवक्ष्यामि हेतुमात्माभिरक्षणे।
अपीदानीमयं शत्रुः सङ्गत्या पण्डितो भवेत् ॥५९॥

'अच्छा, अब मैं इसे आत्मरक्षा के लिए एक युक्ति बताता हूँ। सम्भव है, इस समय यह शत्रु मेरी सङ्गति से विद्वान् हो जाए—विवेक से काम ले!'

ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः सन्धिविग्रहकालवित् ।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यं मार्जारं मूषकोऽब्रवीत् ॥६०॥

ऐसा विचार करके अर्थसिद्धि के उपाय को यथार्थ-रूप से जाननेवाले तथा सन्धि और विग्रह के अवसर को समझनेवाले चूहे ने उस बिलाव को सान्त्वना देते हुए मधुरवाणी में कहा—

सौहृदेनाभिभाषे त्वां कच्चिन्मार्जार जीवसि ।
जीवितं हि तवेच्छामि श्रेयः साधारणं हि नौ ॥६१॥

"भाई बिलाव ! मैं तुम्हारे प्रति मैत्री का भाव रखकर वार्तालाप कर रहा हूँ । तुम अभी जीवित तो हो न ? मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा जीवन सुरक्षित रहे, क्योंकि इसमें मेरा और तुम्हारा दोनों का एक-सा कल्याण है ।

न ते सौम्य भयं कार्यं जीविष्यसि यथासुखम् ।
अहं त्वामुद्धरिष्यामि यदि मां न जिघांससि ॥६२॥

"सौम्य ! तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिए । तुम सुखपूर्वक जीवित रह सकोगे । यदि तुम मुझे मार डालने की इच्छा छोड़ दो तो मैं इस आपत्ति से तुम्हें छुटकारा दिला दूँगा ।

सतां साप्तपदं मैत्रं स सखा मेऽसि पण्डितः ।
सांवास्यकं करिष्यामि नास्ति ते भयमद्य वै ॥६३॥

"सज्जनों में सात पग साथ-साथ चलने से ही मित्रता हो जाती है । हम और तुम तो यहाँ सदा से ही साथ रहते आये हैं, अतः तुम मेरे विद्वान् मित्र हो । मैं इतने दिन तक साथ रहने के अपने मित्रोचित धर्म को अवश्य निभाऊँगा, अतः अब तुम्हें कोई भय नहीं है ।

न हि शक्तोऽसि मार्जार पाशं छेत्तुं मया विना ।
अहं छेत्स्यामि पाशांस्ते यदि मां त्वं न हिंससि ॥६४॥

"भाई बिलाव ! तुम मेरी सहायता के बिना अपना यह बन्धन नहीं काट सकते । यदि तुम मेरी हिंसा न करो तो मैं तुम्हारे सारे बन्धन काट डालूंगा ।

कश्चित्तरति काष्ठेन सुगम्भीरां महानदीम् ।
स तारयति तत्काष्ठं स च काष्ठेन तार्यते ॥६५॥

"कोई मनुष्य जब किसी लकड़ी के सहारे किसी गहरी तथा विशाल नदी को पार करता है, तब उस लकड़ी को भी किनारे लगा देता है और वह लकड़ी भी उसे तारने में सहायक होती है ।

ईदृशो नौ समायोगो भविष्यति सुविस्तरः ।
अहं त्वां तारयिष्यामि मां च त्वं तारयिष्यसि ॥६६॥

इसी प्रकार हम दोनों का संयोग भी चिरस्थायी होगा । मैं तुम्हें विपत्ति से पार कर दूंगा और तुम मुझे आपत्ति से बचा लोगे ।"

अथ सुव्याहृतं श्रुत्वा तस्य शत्रोर्विचक्षणः ।
हेतुमद् ग्रहणीयार्थं मार्जारो वाक्यमब्रवीत् ॥६७॥

अपने उस शत्रु का यह युक्तियुक्त और मान लेने योग्य उत्तम भाषण सुनकर बुद्धिमान् बिलाव ने कहा—

नन्दामि सौम्य भद्रं ते यो मां जीवितुमिच्छसि ।
श्रेयश्च यदि जानीषे क्रियतां मा विचारय ॥६८॥

"सौम्य ! मैं तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ । तुम्हारा मङ्गल हो, जोकि तुम मुझे जीवन प्रदान करना चाहते हो । यदि तुम मेरे कल्याण का कोई उपाय जानते हो तो इसे अवश्य करो, कोई अन्यथा विचार मन में मत लाओ ।

अहं हि भृशमापन्नस्त्वमापन्नतरो मया ।
द्वयोरापन्नयोः सन्धिः क्रियतां मा चिराय च ॥६९॥

"मैं भारी संकट में फँसा हुआ हूँ और तुम मुझसे भी भारी विपत्ति में पड़े हुए हो । इस प्रकार आपत्ति में पड़े हुए हम दोनों को सन्धि कर लेनी चाहिए । इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिए ।

न्यस्तमानोऽस्मि भक्तोऽस्मि शिष्यस्त्वद्धितकृत्तथा ।
निदेशवशवर्ती च भवन्तं शरणं गतः ॥७०॥

"इस समय मेरा मान भङ्ग हो चुका है । मैं तुम्हारा भक्त तथा शिष्य बन गया हूँ । मैं सदा तुम्हारे हित का साधन करूँगा और सदा तुम्हारी आज्ञा के अधीन रहूँगा । मैं सब प्रकार से तुम्हारी शरण में आ गया हूँ ।"

इत्येवमुक्तः पलितो मार्जारं वशमागतम् ।
वाक्यं हितमुवाचेदमभिनीतार्थमर्थवत् ॥७१॥

बिलाव के ऐसा कहने पर अपने प्रयोजन को समझनेवाले उस पलित नामक चूहे ने वश में आये उस बिलाव से यह अभिप्रायपूर्ण हितकर बात कही—

उदारं यद् भवानाह नैतच्चित्रं भवद्विधे ।
विहितो यस्तु मार्गो मे हितार्थं शृणु तं मम ॥७२॥

"भाई बिलाव ! आपने जो उदारतापूर्ण वचन कहा है, यह आप-जैसे बुद्धिमान् के लिए आश्चर्य की बात नहीं है । मैंने दोनों के हित के लिए जो मार्ग निर्धारित किया है, वह मुझसे सुनो—

अहं त्वानुप्रवेक्ष्यामि नकुलान्मे महद् भयम् ।
त्रायस्व भो मा वधीस्त्वं शक्तोऽस्मि तव रक्षणे ॥७३॥

"भाई ! इस नेवले से मुझे बहुत भय लग रहा है, अतः मैं तुम्हारे पीछे इस जाल में प्रवेश कर जाऊँगा, परन्तु तुम मुझे मार न डालना, बचा लेना; क्योंकि जीवित रहने पर ही मैं तुम्हारी रक्षा कर सकूँगा ।

उलूकाच्चैव मां रक्ष क्षुद्रः प्रार्थयते हि माम् ।
अहं छेत्स्यामि ते पाशान् सखे सत्येन ते शपे ॥७४॥

"इधर यह नीच उल्लू भी मेरे प्राणों का ग्राहक बना हुआ है । इससे भी तुम मुझे बचा लो । सखे ! मैं तुमसे सत्य की शपथ खाकर कहता हूँ, मैं तुम्हारे बन्धन काट दूँगा ।"

तद्वचः संगतं श्रुत्वा लोमशो युक्तमर्थवत् ।
हर्षादुद्वीक्ष्य पलितं स्वागतेनाभ्यपूजयत् ॥७५॥

चूहे की यह युक्तियुक्त, सुसंगत और अभिप्रायपूर्ण बात सुनकर लोमश [बिलाव] ने उसकी ओर हर्ष-भरी दृष्टि से देखा और स्वागतपूर्वक उसका अभिनन्दन किया ।

तं सम्पूज्याथ पलितं मार्जारः सौहृदे स्थितः ।
स विचिन्त्याब्रवीद् धीरः प्रीतस्त्वरित एव च ॥७६॥

इस प्रकार पलित की प्रशंसा और सम्मान करके सौहार्द में प्रतिष्ठित हुए धीरबुद्धि बिलाव ने भलीभाँति सोचविचारकर तुरन्त ही प्रसन्नतापूर्वक कहा—

शीघ्रमागच्छ भद्रं ते त्वं मे प्राणसमः सखा ।
तव प्राज्ञ प्रसादाद्धि प्रायः प्राप्स्यामि जीवितम् ॥७७॥

"भाई ! शीघ्र आओ ! तुम्हारा कल्याण हो ! तुम तो मेरे प्राणों के समान प्रिय मित्र हो । विद्वन् ! इस समय मुझे प्रायः तुम्हारी ही कृपा से जीवन प्राप्त होगा ।

यद् यदेवंगतेनाद्य शक्यं कर्तुं मया तव ।
तदाज्ञापय कर्तास्मि सन्धिरेवास्तु नौ सखे ॥७८॥

"मित्रवर ! इस अवस्था में पड़े हुए मुझ सेवक द्वारा तुम्हारा जो-जो कार्य किया जा सकता हो, उसके लिए मुझे आज्ञा दो, मैं अवश्य करूँगा । हम दोनों में सन्धि रहनी चाहिए ।"

एवमाश्वासितो विद्वान् मार्जारेण स मूषकः ।
मार्जारोरसि विस्रब्धः सुष्वाप पितृमातृवत् ॥७९॥

बिलाव ने जब उस विद्वान् चूहे को पूर्वोक्तरूप से आश्वासन प्रदान कर दिया, तब वह माता-पिता की गोद के समान उस बिलाव की छाती पर निर्भय होकर सो गया ।

लीनं तु तस्य गात्रेषु मार्जारस्य च मूषकम् ।
दृष्ट्वा तौ नकुलोलूकौ निराशौ प्रत्यपद्यताम् ॥८०॥

चूहे को बिलाव के अङ्गों में छिपा हुआ देखकर नेवला और उल्लू दोनों निराश हो गये ।

लीनः स तस्य गात्रेषु पलितो देशकालवित् ।
चिच्छेद पाशान् नृपते कालापेक्षी शनैः शनैः ॥८१॥

नरेश्वर ! चूहा देशकाल की गति को भलीभाँति जानता था, अतः वह बिलाव के अङ्गों में ही छिपा रहकर चाण्डाल के आने की प्रतीक्षा करता हुआ धीरे-धीरे उस जाल को काटने लगा ।

अथ बन्धपरिक्लिष्टो मार्जारो वीक्ष्य मूषकम् ।
छिन्दन्तं वै तदा पाशानत्वरन्तं त्वरान्वितः ॥८२॥
तमत्वरन्तं पलितं पाशानां छेदने तदा ।
सन्नोदयितुमारेभे मार्जारो मूषकं तथा ॥८३॥

बिलाव जाल के बन्धन से तंग आ गया था । जब उसने देखा कि चूहा जाल तो काट रहा है, परन्तु इस कार्य में शीघ्रता नहीं कर रहा है, तब वह उतावला होकर बन्धन काटने में शीघ्रता न करनेवाले पलित नामक चूहे को प्रेरित करता हुआ बोला—

किं सौम्य नातित्वरसे किं कृतार्थोऽवमन्यसे ।
छिन्धि पाशानमित्रघ्न पुरा श्वपच एति च ॥८४॥

"सौम्य ! तुम शीघ्रता क्यों नहीं करते हो ? क्या तुम्हारा कार्य सिद्ध हो गया, इसलिए मेरी अवहेलना करते हो ? शत्रुघातक ! देखो, अब चाण्डाल आ रहा होगा । उसके आने से पूर्व ही मेरे बन्धनों को काट दो ।"

इत्युक्तस्त्वरता तेन मतिमान् पलितोऽब्रवीत्।
मार्जारमकृतप्रज्ञं पथ्यमात्महितं वचः ॥८५॥

उतावले हुए बिलाव के ऐसा कहने पर बुद्धिमान् पलित ने दूषित विचार रखनेवाले उस बिलाव से अपने लिए हितकर और लाभदायक बात कही—

तूष्णीं भव न ते सौम्य त्वरा कार्या न सम्भ्रमः।
वयमेवात्र कालज्ञा न कालः परिहास्यते ॥८६॥

"सौम्य ! चुप रहो, तुम्हें शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं समय को भली-भाँति पहचानता हूँ, ठीक अवसर आने पर मैं कभी नहीं चूकूंगा।

अकाले कृत्यमारब्धं कर्तुर्नार्थाय कल्पते।
तदेव काल आरब्धं महतेऽर्थाय कल्पते ॥८७॥

"बिना अवसर के आरम्भ किया हुआ कार्य करनेवाले के लिए लाभदायक नहीं होता और वही कार्य उपयुक्त समय पर प्रारम्भ किया जाए तो महान् अर्थ का साधक हो जाता है।

अकाले विप्रमुक्तान्मे त्वत्त एव भयं भवेत्।
तस्मात्कालं प्रतीक्षस्व किमिति त्वरसे सखे ॥८८॥

"यदि तुम असमय में ही छूट गये तो मुझे तुम्हीं से भय प्राप्त हो सकता है, अतः मेरे मित्र ! थोड़ी देर और प्रतीक्षा करो, इतनी शीघ्रता क्यों कर रहे हो ?

यदा पश्यामि चाण्डालमायान्तं शस्त्रपाणिनम्।
ततश्छेत्स्यामि ते पाशान् प्राप्ते साधारणे भये ॥८९॥

"जब मैं देखूंगा कि चाण्डाल हाथ में हथियार लिये आ रहा है, तब तुमपर साधारण-सा भय उपस्थित होने पर मैं शीघ्र ही तुम्हारे बन्धन काट डालूंगा।

ततो भवत्यपक्रान्ते त्रस्ते भीते च लोमश।
अहं बिलं प्रवेक्ष्यामि भवान् शाखां भजिष्यति ॥९०॥

"लोमशजी ! जब आप त्रास और भय से आक्रान्त हो भाग खड़े होंगे, उस समय मैं बिल में प्रविष्ट हो जाऊँगा और आप वृक्ष की शाखा पर जा बैठेंगे।"

एवमुक्तस्तु मार्जारो मूषकेणात्मनो हितम्।
उवाच लोमशो वाक्यं जीवितार्थी महामतिः ॥९१॥

चूहे के ऐसा कहने पर अपने जीवन की रक्षा चाहनेवाला परम बुद्धिमान् लोमश नामक बिलाव अपने हित की बात बताता हुआ चूहे से इस प्रकार बोला—

न ह्येवं मित्र कार्याणि प्रीत्या कुर्वन्ति साधवः।
यथा त्वं मोक्षितः कृच्छ्रात्त्वरमाणेन वै मया ॥९२॥
तथा हि त्वरमाणेन त्वया कार्यं हितं मम।
यत्नं कुरु महाप्राज्ञ यथा रक्षाऽऽवयोर्भवेत् ॥९३॥

"श्रेष्ठ पुरुष मित्रों के कार्य बड़े प्रेम और प्रसन्नता के साथ किया करते हैं, तुम्हारी भाँति नहीं। जैसे मैंने तुरन्त ही तुम्हें संकट से छुड़ा लिया था, इसी प्रकार तुम्हें भी शीघ्र ही मेरे हित का कार्य करना चाहिए। महाप्राज्ञ ! तुम ऐसा प्रयत्न करो जिससे हम दोनों की रक्षा हो सके।

यदि किञ्चिन्मयाज्ञानात्पुरस्ताद् दुष्कृतं कृतम्।
न तन्मनसि कर्तव्यं क्षामये त्वां प्रसीद मे ॥९४॥

"यदि मैंने अज्ञानवश पहले कभी तुम्हारा कोई अपराध किया हो तो तुम्हें उसे मन में नहीं लाना चाहिए, उसके लिए मैं क्षमा माँगता हूँ। तुम मुझपर प्रसन्न हो जाओ।"

तमेवंवादिनं प्राज्ञः शास्त्रबुद्धिसमन्वितः।
उवाचेदं वचः श्रेष्ठं मार्जारं मूषकस्तदा ॥९५॥

चूहा महाविद्वान् और नीतिशास्त्र को जाननेवाली बुद्धि से सम्पन्न था। उसने उस समय इस प्रकार कहनेवाले बिलाव से यह उत्तम प्रिय वचन कहा—

यन्मित्रं भीतवत्साध्यं यन्मित्रं भयसंहितम्।
सुरक्षितव्यं तत्कार्यं पाणिः सर्पमुखादिव ॥९६॥

"जो किसी डरे हुए प्राणी द्वारा मित्र बनाया गया हो और जो स्वयं भी भयभीत होकर ही उसका मित्र बना हो—इन दोनों प्रकार के मित्रों की वैसे ही रक्षा होनी चाहिए जैसे सपेरा सर्प के मुख से हाथ बचाकर ही उसे खिलाता है।

कृत्वा बलवता सन्धिमात्मानं यो न रक्षति।
अपथ्यमिव तद् भुक्तं तस्य नार्थाय कल्पते ॥९७॥

"जो व्यक्ति बलवान् से सन्धि करके अपनी रक्षा

का ध्यान नहीं रखता, उसका वह मेल-जोल खाये हुए अपथ्य अन्न के समान हितकारी नहीं होता ।

न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः ।
अर्थतस्तु निबद्धयन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ।।९८।।

"न तो कोई किसी का मित्र है और न कोई किसी का शत्रु । स्वार्थ को लेकर ही मित्र और शत्रु एक-दूसरे से बंधे हैं ।

न च कश्चित्कृते कार्ये कर्तारं समवेक्षते ।
तस्मात्सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत् ।।९९।।

"काम पूरा हो जाने पर कोई भी उसके करने-वाले को नहीं देखता—उसके हितपर ध्यान नहीं देता, अतः सभी कार्यों को अधूरा ही रखना चाहिए ।

तस्मिन् कालेऽपि च भवान्दिवाकीर्तिभयार्दितः ।
मम न ग्रहणे शक्तः पलायनपरायणः ।।१००।।

"जब चाण्डाल आ पहुँचेगा, उस समय तुम उसके भय से भयभीत हो भागने लग जाओगे, मुझे न पकड़ सकोगे ।

छिन्नं तु तन्तुबाहुल्यं तन्तुरेकोऽवशेषितः ।
छेत्स्याम्यहं तमप्याशु निर्वृत्तो भव लोमश ।।१०१।।

"मैंने बहुत-से तन्तु काट डाले हैं, केवल एक तन्तु शेष छोड़ा हुआ है। उसे भी मैं शीघ्र ही काट डालूंगा, अतः लोमशजी ! तुम शान्त रहो, घबराओ मत ।"

तयोः संवदतोरेवं तथैवापन्नयोर्द्वयोः ।
क्षयं जगाम सा रात्रिर्लोमशं त्वाविशद् भयम् ।।१०२।।

इस प्रकार संकट में पड़े हुए उन दोनों के वार्तालाप करते-करते ही वह रात्रि व्यतीत हो गई । अब लोमश के मन में बड़ा भारी भय समा गया ।

ततः प्रभातसमये श्वयूथपरिवारितः ।
परिघो नाम चाण्डालः शस्त्रपाणिरदृश्यत ।।१०३।।

तदनन्तर प्रातःकाल कुत्तों के समूह से घिरा हुआ परिघ नामक चाण्डाल हाथ में हथियार लेकर आता दिखाई दिया ।

तं दृष्ट्वा यमदूताभं मार्जारस्त्रस्तचेतनः ।
उवाच वचनं भीतः किमिदानीं करिष्यसि ।।१०४।।

यमदूत के समान उस चाण्डाल को आते देख बिलाव का चित्त भय से व्याकुल हो गया । उसने डरते-डरते यही कहा—"भाई चूहे ! अब क्या करोगे ?"

अथ तावपि सन्त्रस्तौ तं दृष्ट्वा घोरसंकुलम् ।
क्षणेन नकुलोलूकौ नैराश्यमुपजग्मतुः ।।१०५।।

एक ओर वे दोनों भयभीत थे, दूसरी ओर भयानक प्राणियों से घिरा हुआ चाण्डाल आ रहा था। उन सबको देखकर नेवला और उल्लू क्षणभर में ही निराश हो गये ।

बलिनौ मतिमन्तौ च संघाते चाप्युपागतौ ।
अशक्तौ सुनयात्तस्मात् सम्प्रधर्षयितुं बलात् ।।१०६।।

वे दोनों बलवान् और बुद्धिमान् तो थे ही । वे चूहे की घात में समीप ही बैठे हुए थे, परन्तु अच्छी नीति से संगठित हो जाने के कारण चूहे और बिलाव पर वे बलपूर्वक आक्रमण न कर सके ।

कार्यार्थे कृतसन्धानौ दृष्ट्वा मार्जारमूषकौ ।
उलूकनकुलौ तत्र जग्मतुः स्वं स्वमालयम् ।।१०७।।

चूहे और बिलाव को कार्यवश सन्धिसूत्र में बँधे देख उल्लू और नेवला दोनों अपने-अपने निवास को चले गये ।

ततश्चिच्छेद तं पाशं मार्जारस्य च मूषकः ।
विप्रमुक्तोऽथ मार्जारस्तमेवाभ्यपतद् द्रुमम् ।।१०८।।
स तस्मात्सम्भ्रमावर्तान्मुक्तो घोरेण शत्रुणा ।
बिलं विवेश पलितः शाखां लेभे स लोमशः ।।१०९।।

तत्पश्चात् चूहे ने बिलाव का बन्धन काट दिया । जाल से छूटते ही बिलाव उसी पेड़ पर चढ़ गया । उस घोर शत्रु और उस भारी घबराहट से छुटकारा पाकर पलित अपने बिल में घुस गया और लोमश वृक्ष की शाखा पर जा बैठा ।

उन्माथञ्च समादाय चाण्डालो वीक्ष्य सर्वशः ।
विहताशः क्षणेनास्ते तस्माद् देशादपाक्रमत् ।
जगाम स स्वभवनं चाण्डालो भरतर्षभ ।।११०।।

भरतकुलभूषण ! चाण्डाल ने उस जाल को लेकर उसे सब ओर से उलट-पलटकर देखा तथा निराश होकर क्षणभर में उस स्थान से हट गया और अन्त में अपने घर चला गया ।

ततस्तस्माद्भयान्मुक्तो दुर्लभं प्राप्य जीवितम् ।
बिलस्थं पादपाग्रस्थः पलितं लोमशोऽब्रवीत् ।।१११।।

उस भारी भय से छूट, दुर्लभ जीवन पाकर वृक्ष की शाखा पर बैठे हुए लोमश ने बिल के भीतर विराजमान चूहे से कहा—

अकृत्वा संविदं काञ्चित् सहसा समवप्लुतः ।
कृतज्ञं कृतकर्माणं कच्चिन्मां नाभिशंकसे ॥११२॥

"भाई ! तुम मुझसे कोई वार्तालाप किये बिना ही इस प्रकार सहसा बिल में क्यों घुस गये ? मैं तो तुम्हारा अति कृतज्ञ हूँ । मैंने तुम्हारे प्राणों की रक्षा करके तुम्हारा भी बहुत बड़ा कार्य किया है । तुम्हें मेरी ओर से कोई शंका तो नहीं है ?

गत्वा च मम विश्वासं दत्त्वा च मम जीवितम् ।
मित्रोपभोगसमये किं मां त्वं नोपसर्पसि ॥११३॥

"मित्रवर ! तुमने आपत्ति के समय मेरा विश्वास किया और मुझे जीवनदान दिया । अब तो मित्रता के उपभोग का समय है, ऐसे समय तुम मेरे पास क्यों नहीं आते हो ?

कृत्वा हि पूर्वं मित्राणि यः पश्चान्नानुतिष्ठति ।
न स मित्राणि लभते कृच्छ्रास्वापत्सु दुर्मतिः ॥११४॥

"जो दुष्टबुद्धिवाला मनुष्य पहले बहुत-से मित्र बनाकर पीछे उस मित्रभाव में स्थिर नहीं रहता, वह कष्टदायिनी विपत्ति में पड़ने पर उन मित्रों का विश्वास नहीं पाता अर्थात् उनसे उसे कोई सहायता नहीं मिलती ।

अमात्यो भव मे प्राज्ञ पितेवेह प्रशाधि माम् ।
न तेऽस्ति भयमस्मत्तो जीवितेनात्मनः शपे ॥११५॥

"विद्वन् ! तुम मेरे मन्त्री बन जाओ और पिता की भाँति मुझे कर्तव्य का उपदेश दो । मैं अपने जीवन की शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हें हम लोगों की ओर से कोई भय नहीं है ।"

एवमुक्तः परं शान्तिं मार्जारेण स मूषकः ।
उवाच परमन्त्रज्ञः श्लक्ष्णमात्महितं वचः ॥११६॥

बिलाव की ऐसी परम शान्तिपूर्ण बातें सुनकर उत्तम मन्त्रणा के ज्ञाता चूहे ने मधुर वाणी में अपने लिए हितकर यह वचन कहा—

यद् भवानाह तत्सर्वं मया ते लोमश श्रुतम् ।
ममापि तावद् ब्रुवतः शृणु यत् प्रतिभाति मे ॥११७॥

"लोमश ! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब मैंने ध्यानपूर्वक सुना है । अब मेरी बुद्धि में जो विचार स्फुरित हो रहा है, उसे बताता हूँ, मेरे कथन को भी सुन लो ।

वेदितव्यानि मित्राणि विज्ञेयाश्चापि शत्रवः ।
एतत्सुसूक्ष्मं लोकेऽस्मिन्दृश्यते प्राज्ञसम्मतम् ॥११८॥

"अपने मित्रों को जानना चाहिए और शत्रुओं को भी अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए—इस संसार में मित्र और शत्रु की यह पहचान अत्यन्त सूक्ष्म और विज्ञजनों को अभिमत है ।

शत्रुरूपा हि सुहृदो मित्ररूपाश्च शत्रवः ।
सन्धितास्ते न बुद्ध्यन्ते कामक्रोधवशं गतः ॥११९॥

"अवसर आने पर कितने ही मित्र शत्रु बन जाते हैं और कितने ही शत्रु मित्र बन जाते हैं । परस्पर सन्धि कर लेने के पश्चात् जब वे काम तथा क्रोध के वशीभूत हो जाते हैं, तब यह समझना कठिन हो जाता है कि वे मित्रभाव से युक्त हैं या शत्रुभाव से ।

नास्ति जातु रिपुर्नाम मित्रं नाम न विद्यते ।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥१२०॥

"न कभी कोई शत्रु होता है और न मित्र होता है । कार्यवश ही लोग एक-दूसरे के मित्र और शत्रु हुआ करते हैं ।

नास्ति मैत्री स्थिरा नाम न च ध्रुवमसौहृदम् ।
अर्थयुक्त्यानुजायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥१२१॥

"मैत्री और शत्रुता कोई सदा स्थिर रहनेवाली वस्तु नहीं है । स्वार्थ के सम्बन्ध से मित्र और शत्रु होते रहते हैं ।

अर्थयुक्त्या हि जायन्ते पिता माता सुतस्तथा ।
मातुला भागिनेयाश्च तथा सम्बन्धिबान्धवाः ॥१२२॥

"माता-पिता, पुत्र, मामा, भाँजे, सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धव—इन सब में स्वार्थ के कारण ही प्रेम होता है ।

पुत्रं हि मातापितरौ त्यजतः पतितं प्रियम् ।
लोको रक्षति चात्मानं पश्य स्वार्थस्य सारताम् ॥१२३

"अपना प्रिय पुत्र भी यदि पतित हो जाता है तो माता-पिता उसे भी त्याग देते हैं और सब लोग सदा अपनी ही रक्षा करना चाहते हैं । देखो, सोचो और विचारो, इस संसार में स्वार्थ ही सार है ।

कारणात्प्रियतामेति द्वेष्यो भवति कारणात् ।
अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित्कस्यचित्प्रियः ॥१२४॥
सख्यं सोदर्ययोर्भ्रात्रोर्दम्पत्योर्वा परस्परम् ।
कस्यचिन्नाभिजानामि प्रीतिं निष्कारणामिह ॥१२५॥

"मनुष्य कारण से ही प्रेम-पात्र और कारणवश ही द्वेषभाजन बनता है। यह जीव-जगत् स्वार्थ का ही साथी है। कोई किसी का प्रिय नहीं है। दो सगे भाइयों और पति एवं पत्नी में भी जो परस्पर प्रेम होता है, वह भी स्वार्थवश ही है। मैं इस संसार में किसी के भी प्रेम को निष्कारण=स्वार्थ-रहित नहीं समझता।

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।□
मन्त्रहोमजपैरन्यः कार्यार्थं प्रीयते जनः ॥१२६॥

"कोई दान देने से प्रिय होता है, कोई मधुर-वचन बोलने से प्रीतिपात्र बन जाता है और कोई कार्य-सिद्धि के लिए मन्त्र, होम तथा जप करने से प्रेम का भाजन बन जाता है।

उत्पन्ना कारणे प्रीतिरासीन्नौ कारणान्तरे ।
प्रध्वस्ते कारणस्थाने सा प्रीतिर्विनिवर्तते ॥१२७॥

"हम दोनों की प्रीति विशेष कारण से उत्पन्न हुई थी, उस कारण के समाप्त हो जाने से अब वह स्थिर नहीं रह सकती, क्योंकि कारण का स्थान नष्ट होने पर उससे उत्पन्न हुई प्रीति भी स्वयं नष्ट हो जाती है।

किन्नु तत्कारणं मन्ये येनाहं भवतः प्रियः ।
अन्यत्राभ्यवहारार्थं तत्रापि च बुधा वयम् ॥१२८॥

"अब मेरे शरीर को खा जाने के सिवा दूसरा कौन-सा ऐसा कारण रह गया है, जिससे मैं यह मान लूँ कि वास्तव में तुम्हारा मुझपर प्रेम है? इस समय तुम्हारा जो स्वार्थ है, उसे मैं भली-भाँति समझता हूँ।

आसीन्मैत्री तु तावन्नौ यावद्धेतुरभूत् पुरा ।
सा गता सह तेनैव कालयुक्तेन हेतुना ॥१२९॥

"पहले जब उपयुक्त कारण था, तब हम दोनों में मैत्री हो गई थी, परन्तु काल द्वारा उपस्थित उस कारण के निवृत्त होने के साथ ही वह मैत्री भी चली गई।

त्वं तु मे जातितः शत्रुः सामर्थ्यान्मित्रतां गतः ।
तत्कृत्यमभिनिर्वर्त्य प्रकृतिः शत्रुतां गता ॥१३०॥

"तुम जाति से ही मेरे शत्रु हो, विशेष प्रयोजन से मित्र बन गये थे। वह प्रयोजन सिद्ध कर लेने के पश्चात् तुम्हारी प्रकृति पुनः सहज शत्रु-भाव को प्राप्त हो गई है।

त्वद्वीर्येण प्रमुक्तोऽहं मद्वीर्येण तथा भवान् ।
अन्योन्यानुग्रहे वृत्ते नास्ति भूयः समागमः ॥१३१॥

"तुम्हारे पराक्रम से मैं प्राणसंकट से मुक्त हुआ और मेरी शक्ति से तुमने छुटकारा पाया। जब एक-दूसरे पर अनुग्रह करने का काम पूरा हो गया, तब हमें परस्पर मिलने की आवश्यकता नहीं है।

त्वं हि सौम्य कृतार्थोऽद्य निर्वृत्तार्थास्तथा वयम् ।
न तेऽस्त्यद्य मया कृत्यं किञ्चिदन्यत्र भक्षणात् ॥१३२

"सौम्य! अब तुम्हारा कार्य सिद्ध हो गया और मेरा प्रयोजन भी पूरा हो गया, अतः अब मुझे खा लेने के सिवा मेरे द्वारा तुम्हारा अन्य कोई प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं है।

अहमन्नं भवान्भोक्ता दुर्बलोऽहं भवान् बली ।
नावयोर्विद्यते सन्धिर्वियुक्ते विषमे बले ॥१३३॥

"मैं अन्न हूँ और तुम मुझे खानेवाले हो। मैं दुर्बल हूँ और तुम बलवान् हो। मेरे और तुम्हारे बल में कोई समानता नहीं है, दोनों में बहुत अन्तर है, अतः हम दोनों में सन्धि नहीं हो सकती।

जानामि क्षुधितं तु त्वामाहारसमयश्च ते ।
स त्वं मामभिसन्धाय भक्ष्यं मृगयसे पुनः ॥१३४॥

"मैं जानता हूँ कि तुम भूखे हो और यह तुम्हारे भोजन का समय है, अतः तुम मुझसे पुनः सन्धि करके अपने लिए भोजन खोज रहे हो।

नाहं त्वया समेष्यामि वृत्तो हेतुः समागमे ।
शिवं ध्यायस्व मे स्वस्थः सुकृतं स्मरसे यदि ॥१३५॥

"अब मैं तुमसे नहीं मिलूँगा। हम दोनों के मिलने का जो उद्देश्य था, वह पूरा हो गया। यदि तुम्हें मेरे शुभ कर्म=उपकार का स्मरण है तो स्वयं नीरोग रहकर मेरे भी कल्याण का चिन्तन करो।

शत्रोरनार्यभूतस्य क्लिष्टस्य क्षुधितस्य च ।
भक्ष्यं मृगयमाणस्य कः प्राज्ञो विषयं व्रजेत् ॥१३६॥

"जो अपना शत्रु हो, दुष्ट हो, विपत्ति में पड़ा हो, भूखा हो और अपने लिए भोजन खोज रहा हो, उसके समक्ष कोई भी बुद्धिमान् [जो उसका भोज्य हो] कैसे जा सकता है ?

कामं सर्वं प्रदास्यामि न त्वाऽऽत्मानं कदाचन ।
आत्मार्थे सन्ततिस्त्याज्या राज्यं रत्नं धनानि च ॥१३७॥

"मैं तुम्हें इच्छानुसार सब-कुछ दे सकता हूँ, परन्तु अपने-आपको कभी नहीं दूँगा। अपनी रक्षा के लिए तो सन्तति, राज्य, रत्न और धन—सबका त्याग किया जा सकता है।

ऐश्वर्यधनरत्नानां प्रत्यमित्रे निवर्तताम् ।
दृष्टा हि पुनरावृत्तिर्जीवतामिति नः श्रुतम् ॥१३८॥

"हमने सुना है कि यदि प्राणी जीवित रहे तो वह शत्रुओं द्वारा अपने अधिकार में किये हुए ऐश्वर्य, धन और रत्नों को पुनः लौटा सकता है। यह बात प्रत्यक्ष देखी भी गई है।"

इत्यभिव्यक्तमेवं स पलितेनाभिभर्त्सितः ।
मार्जारो व्रीडितो भूत्वा मूषकं वाक्यमब्रवीत् ॥१३९॥

पलित ने जब इस प्रकार स्पष्टरूप से बिलाव की भर्त्सना की, तब उसने लज्जित होकर चूहे से इस प्रकार कहा—

लोमश उवाच

सत्यं शपे त्वयाहं वै मित्रद्रोहो विगर्हितः ।
तन्मन्येऽहं तव प्रज्ञां यस्त्वं मम हिते रतः ॥१४०॥

लोमश बोला—भाई ! मैं तुमसे सत्य की शपथ खाकर कहता हूँ—मित्र से द्रोह करना तो अत्यन्त घृणित है। तुम जो सदा मेरे हित में तत्पर रहते हो इसे मैं तुम्हारी उत्तम बुद्धि का परिणाम समझता हूँ।

उक्तवानर्थतत्त्वेन मया सम्भिन्नदर्शनः ।
न तु मामन्यथा साधो त्वं गृहीतुमिहार्हसि ॥१४१॥

श्रेष्ठ पुरुष ! तुमने तो यथार्थरूप से नीतिशास्त्र का सार ही कह दिया। मुझसे तुम्हारा विचार पूरा-पूरा मिलता है। किन्तु मित्रवर ! तुम मुझे गलत मत समझो। मेरा भाव तुमसे विपरीत नहीं है।

प्राणप्रदानजं त्वत्तो मयि सौहृदमागतम् ।
धर्मज्ञोऽस्मि गुणज्ञोऽस्मि कृतज्ञोऽस्मि विशेषतः ॥१४२॥
मित्रेषु वत्सलश्चास्मि त्वद्भक्तश्च विशेषतः ।
तस्मादेवं पुनः साधो मय्याचरितुमर्हसि ॥१४३॥

तुमने मुझे प्राणदान दिया है, इसी से मुझपर तुम्हारे सौहार्द का प्रभाव पड़ा। मैं धर्म के मर्म को जानता हूँ, गुणों का मूल्य समझता हूँ और विशेषतः तुम्हारे प्रति कृतज्ञ हूँ। मैं मित्रवत्सल हूँ और विशेष-रूप से तुम्हारा भक्त बन गया हूँ, अतः मेरे अच्छे मित्र ! तुम पुनः मेरे साथ वैसा ही बर्ताव करो—मेल-जोल बढ़ाकर मेरे साथ घूमो-फिरो।

त्वया हि वाच्यमानोऽहं जह्यां प्राणान्सबान्धवः ।
तदेतत् धर्मतत्त्वज्ञ न त्वं शंकितुमर्हसि ॥१४४॥

यदि तुम कहो तो मैं बन्धु-बान्धवोंसहित अपने प्राण भी तुम्हारे लिए दे सकता हूँ। धर्म के तत्त्व को जाननेवाले पलित ! तुम्हें मुझपर सन्देह नहीं करना चाहिए।

मूषक उवाच

संस्तवैर्वा धनौघैर्वा नाहं शक्यः पुनस्त्वया ।
न हि ह्यमित्रे वशं यान्ति प्राज्ञा निष्कारणं सखे ।
अस्मिन्नर्थे च गाथे द्वे निबोधोशनसा कृते ॥१४५॥

मूषक बोला—सखे ! तुम मेरी कितनी ही स्तुति क्यों न करो, मेरे लिए कितनी ही धनराशि क्यों न लुटा दो, परन्तु अब मैं तुम्हारे साथ मिल नहीं सकता। बुद्धिमान् और विद्वान् पुरुष बिना किसी विशेष कारण के अपने शत्रु के वश में नहीं जाते हैं। इस विषय में शुक्राचार्य ने दो गाथाएँ कहीं हैं, उन्हें ध्यानपूर्वक सुनो—

शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा सन्धिं बलीयसा ।
समाहितश्चरेद् युक्त्या कृतार्थश्च न विश्वसेत् ॥१४६॥

"जब अपने और शत्रु पर एक-जैसा संकट आया हो, तब निर्बल को सबल शत्रु के साथ मेल करके बड़ी सावधानी और युक्ति से अपना काम निकालना चाहिए और जब काम निकल जाए, तब उस शत्रु पर विश्वास नहीं करना चाहिए [यह प्रथम गाथा है।]

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
नित्यं विश्वासयेदन्यान्परेषां तु न विश्वसेत् ॥१४७॥

[दूसरी गाथा यह है—] "जो विश्वासपात्र न

हो उसपर विश्वास न करे और जो विश्वासपात्र हो उसपर भी अधिक विश्वास न करे। अपने प्रति सदा दूसरों में विश्वास उत्पन्न करे परन्तु स्वयं दूसरों का विश्वास न करे।"

संक्षेपो नीतिशास्त्राणामविश्वासः परो मतः।
नृषु तस्मादविश्वासः पुष्कलं हितमात्मनः ॥१४८॥

संक्षेप में नीतिशास्त्र का सार यह है—किसी का भी विश्वास न करना ही सर्वोत्तम है। इसलिए दूसरे लोगों पर विश्वास न करने में ही अपना विशेष हित है।

वध्यन्ते न ह्यविश्वस्ताः शत्रुभिर्दुर्बला अपि।
विश्वस्तास्तेषु वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ॥१४९॥

जो विश्वास न करके सावधान रहते हैं, वे दुर्बल होने पर भी शत्रुओं द्वारा नहीं मारे जाते, परन्तु जो उनपर विश्वास करते हैं, वे बलशाली होने पर भी दुर्बल शत्रुओं द्वारा मार डाले जाते हैं।

त्वद्विधेभ्यो मया ह्यात्मा रक्ष्यो मार्जार सर्वदा।
रक्ष त्वमपि चात्मानं चाण्डालाज्जातिकिल्बिषात् ॥

"भाई बिलाव! तुम-जैसे लोगों से मुझे सदा अपनी रक्षा करनी चाहिए और तुम भी अपने जन्म-जात शत्रु चाण्डाल से अपने को बचाये रखो।

भीष्म उवाच

स तस्य ब्रुवतस्त्वेवं सन्त्रासाज्जातसाध्वसः।
शाखां हित्वा जवेनाशु मार्जारः प्रययौ ततः ॥१५१॥

भीष्मजी कहते हैं—चूहे के इस प्रकार कहते समय चाण्डाल का नाम सुनते ही बिलाव बहुत डर गया और उस शाखा को छोड़कर अत्यन्त शीघ्रता से तुरन्त दूसरी ओर चला गया।

ततः शास्त्रार्थतत्त्वज्ञो बुद्धिसामर्थ्यमात्मनः।
विश्राव्य पलितः प्राज्ञो बिलमन्यज्जगाम ह ॥१५२॥

तत्पश्चात् नीतिशास्त्र के अर्थ और तत्त्व को जाननेवाला बुद्धिमान् पलित अपनी बौद्धिक शक्ति का परिचय दे दूसरे बिल में चला गया।

एवं प्राज्ञवता बुद्ध्या दुर्बलेन महाबलाः।
एकेन बहवोऽमित्राः पलितेनाभिसन्धिताः ॥१५३॥
अरिणापि समर्थेन सन्धिं कुर्वीत पण्डितः।
मूषकश्च बिडालश्च मुक्तावन्योन्यसंश्रयात् ॥१५४॥

इस प्रकार दुर्बल और अकेला होने पर भी बुद्धिमान् पलित चूहे ने अपने बुद्धि-बल से अनेक प्रबल शत्रुओं को परास्त कर दिया, अतः संकट के समय विद्वान् पुरुष को चाहिए कि बलवान् शत्रु के साथ भी सन्धि कर ले। देखो, चूहा और बिलाव दोनों एक-दूसरे का आश्रय लेकर आपत्ति से छुटकारा पा गये थे।

कालेन रिपुणा सन्धिः काले मित्रेण विग्रहः।
कार्य इत्येव सन्धिज्ञाः प्राहुर्नित्यं नराधिप ॥१५५॥

नरेश्वर! समय के अनुसार शत्रु के साथ भी सन्धि और मित्र के साथ भी युद्ध करना उचित है। सन्धि-तत्त्व के मर्मज्ञ विद्वान् पुरुष इसी बात को सदा कहते हैं।

न भयं विद्यते राजन् भीतस्यानागते भये।
अभीतस्य च विश्रम्भात् सुमहज्जायते भयम् ॥१५६॥

राजन्! जो मनुष्य भय उपस्थित होने से पूर्व ही उसकी ओर से सशङ्क रहता है, उसके सामने प्रायः भय का अवसर ही नहीं आता है, परन्तु जो निःशङ्क होकर दूसरों पर विश्वास कर लेता है, उसे सहसा महान् भय का सामना करना पड़ता है।

अभीश्चरति यो नित्यं मन्त्रोऽदेयः कथञ्चन।
अविज्ञानाद्धि विज्ञातो गच्छेदास्पददर्शिषु ॥१५७॥

जो मनुष्य अपने को बुद्धिमान् समझकर निर्भय विचरता है, उसे कभी कोई परामर्श नहीं देना चाहिए, क्योंकि वह दूसरे की सम्मति सुनता ही नहीं है। भय को न जानने की अपेक्षा भय को जाननेवाला ठीक है, क्योंकि वह उससे बचने के लिए उपाय जानने की इच्छा से परिणामदर्शी पुरुषों के पास जाता है।

तस्मादभीतवद् भीतो विश्वस्तवदविश्वसन्।
कार्याणां गुरुतां प्राप्य नानृतं किञ्चिदाचरेत् ॥१५८॥

अतः बुद्धिमान् पुरुष को डरते हुए भी निर्भय के समान रहना चाहिए तथा भीतर से विश्वास न करते हुए भी ऊपर से विश्वासी पुरुष के समान बर्ताव करना चाहिए। कार्यों की कठिनता को देखकर कभी कोई मिथ्या-आचरण नहीं करना चाहिए।

शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा सन्धिं बलीयसा।
समागतश्चरेद् युक्त्या कृतार्थो न च विश्वसेत् ॥१५९॥

अपने और शत्रु के प्रयोजन यदि समान हों तो बलवान् शत्रु के साथ सन्धि करके उससे मिलकर युक्तिपूर्वक अपना काम बनाये और कार्य पूरा हो जाने पर फिर कभी उसका विश्वास न करे।

अविरुद्धां त्रिवर्गेण नीतिमेतां महीपते।
अभ्युत्तिष्ठ श्रुतादस्माद् भूयः संरक्षयन् प्रजाः॥१६०॥

भूपाल! यह नीति धर्म, अर्थ और काम के अनुकूल है। तुम इसका आश्रय लो। मुझसे सुने हुए इस उपदेश के अनुसार कर्तव्यपालन में तत्पर हो समस्त प्रजा की रक्षा करते हुए अपनी उन्नति के लिए उठकर खड़े हो जाओ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चत्रिंशोऽध्यायः॥३५॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

शत्रु से सदा सावधान रहने के विषय में राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी चिड़िया का संवाद

युधिष्ठिर उवाच

उक्तो मन्त्रो महाबाहो विश्वासो नास्ति शत्रुषु।
कथं हि राजा वर्तेत यदि सर्वत्र नाश्वसेत्॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—महाबाहो! आपने परामर्श दिया है कि शत्रुओं पर विश्वास नहीं करना चाहिए। साथ ही आपने यह भी कहा है कि कहीं भी विश्वास करना उचित नहीं है, परन्तु यदि राजा सर्वत्र अविश्वास ही करे तो वह राजकार्यों को कैसे चला सकता है?

भीष्म उवाच

शृणु राजन् यद् वृत्तं ब्रह्मदत्तनिवेशने।
पूजन्या सह संवादं ब्रह्मदत्तस्य भूपतेः॥२॥

भीष्मजी ने कहा—राजन्! महाराज ब्रह्मदत्त के घर में पूजनी चिड़िया के साथ उनका जो संवाद हुआ था, उसे तुम्हारे समाधान के लिए सुनाता हूँ, सुनो!

काम्पिल्ये ब्रह्मदत्तस्य त्वन्तःपुरनिवासिनी।
पूजनी नाम शकुनिर्दीर्घकालं सहोषिता॥३॥

काम्पिल्य नगर में ब्रह्मदत्त नामक एक राजा राज्य करता था। उसके अन्तःपुर में पूजनी नाम की चिड़िया दीर्घकाल तक निवास करती रही।

अभिप्रजाता सा तत्र पुत्रमेकं सुवर्चसम्।
समकालं च राज्ञोऽपि देव्यां पुत्रो व्यजायत॥४॥

एक दिन उसने रनिवास में ही एक बच्चा दिया। वह बड़ा तेजस्वी था। उसी दिन उसके साथ ही राजा की रानी के गर्भ से भी एक बालक उत्पन्न हुआ।

तयोरर्थे कृतज्ञा सा खेचरी पूजनी सदा।
समुद्रतीरं गत्वा सा त्वाजहार फलद्वयम्॥५॥

आकाश में उड़नेवाली वह कृतज्ञ पूजनी चिड़िया प्रतिदिन समुद्रतट पर जाकर वहाँ से उन दोनों बच्चों के लिए दो फल ले आया करती थी।

पुष्ट्यर्थं स्वपुत्रस्य राजपुत्रस्य चैव ह।
फलमेकं सुतायादाद् राजपुत्राय चापरम्॥६॥

अपने बच्चे की पुष्टि के लिए एक फल तो वह उसे दे देती और दूसरा राजा के बेटे की पुष्टि के लिए उस राजकुमार को अर्पित कर देती थी।

ततोऽगच्छत् परां वृद्धिं राजपुत्रः फलाशनात्।
ततः स धात्र्या कक्षेण ऊह्यमानो नृपात्मजः॥७॥
ददर्श तं पक्षिसुतं बाल्यादागत्य बालकः।
ततो बाल्याच्च यत्नेन तेनाक्रीडत पक्षिणा॥८॥

राजकुमार उस फल को खा-खाकर अत्यन्त पुष्ट हो गया। एक दिन धाय उस राजकुमार को गोद में लिये हुए घूम रही थी। वह बालक ही तो ठहरा, बाल-स्वभाववश आकर उसने उस चिड़िया के बच्चे को देखा और रुचिपूर्वक उसके साथ खेलने लगा।

शून्ये च तमुपादाय पक्षिणं समजातकम्।
हत्वा ततः स राजेन्द्र धात्र्या हस्तमुपागतः॥९॥

हे राजेन्द्र! राजकुमार ने अपने साथ ही उत्पन्न हुए उस पक्षी को सूने स्थान में ले-जाकर मार डाला और उसे मारकर वह धाय की गोद में आ बैठा।

अथ सा पूजनी राजन्नागमत् फलहारिणी।
अपश्यन्निहतं पुत्रं तेन बालेन भूतले॥१०॥

राजन्! कुछ समय पश्चात् जब पूजनी फल लेकर लौटी तो उसने देखा कि राजकुमार ने उसके बच्चे को मार डाला है और वह धरती पर पड़ा है।

बाष्पपूर्णमुखी दीना दृष्ट्वा तं रुदती सुतम्।
पूजनी दुःखसन्तप्ता रुदती वाक्यमब्रवीत् ॥११॥

अपने बच्चे की ऐसी दुर्गति देखकर पूजनी के मुख पर आँसुओं की धारा बह निकली तथा वह दुःख से सन्तप्त हो रोती हुई इस प्रकार कहने लगी—

क्षत्रिये संगतं नास्ति न प्रीतिर्न च सौहृदम्।
कारणात्सान्त्वयन्त्येते कृतार्थाः सन्त्यजन्ति च ॥१२॥

"क्षत्रिय में संगति निभाने की भावना नहीं होती। उसमें न तो प्रेम होता है, न सौहार्द। ये किसी हेतु अथवा स्वार्थ से ही दूसरों को सान्त्वना देते हैं। जब इनका काम निकल जाता है, तब ये आश्रित व्यक्ति को त्याग देते हैं।

अहमस्य करोम्यद्य सदृशीं वैरयातनाम्।
कृतघ्नस्य नृशंसस्य भृशं विश्वासघातिनः ॥१३॥

"यह राजकुमार कृतघ्न, अत्यन्त क्रूर और विश्वासघाती है। अच्छा, आज मैं इससे इस वैर का बदला लेकर ही रहूँगी।"

इत्युक्त्वा चरणाभ्यां तु नेत्रे नृपसुतस्य सा।
भित्त्वा स्वस्था तत इदं पूजनी वाक्यमब्रवीत् ॥१४॥

ऐसा कहकर पूजनी ने अपने दोनों पञ्जों से राजकुमार की दोनों आँखें फोड़ डालीं। तत्पश्चात् आकाश में स्थिर होकर वह बोली—

इच्छयेह कृतं पापं सद्यस्तं चोपसर्पति।
कृतं प्रतिकृतं येषां न नश्यति शुभाशुभम् ॥१५॥

"संसार में इच्छापूर्वक जो पाप किया जाता है, उसका फल तत्काल ही कर्ता को मिल जाता है। जिनके पाप का बदला मिल जाता है, उनके पूर्वकृत शुभाशुभ नष्ट नहीं होते हैं।

पापं कर्म कृतं किञ्चिद् यदि तस्मिन्न दृश्यते।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु ॥१६॥

"नरेश्वर! यदि यहाँ किये हुए पापकर्म का कोई फल कर्ता को मिलता न दिखाई दे तो यह समझना चाहिए कि उसका फल उसके बेटे, पोते और नातियों को भोगना पड़ेगा।"

ब्रह्मदत्तः सुतं दृष्ट्वा पूजन्या हृतलोचनम्।
कृते प्रतिकृतं मत्वा पूजनीमिदमब्रवीत् ॥१७॥

राजा ब्रह्मदत्त ने देखा कि पूजनी ने उसके पुत्र की आँखें निकाल ली हैं, तब उन्होंने यह समझ लिया कि राजपुत्र को उसके कुकर्म का फल मिल गया है। यह सोचकर राजा ने क्रोध को त्याग दिया और पूजनी से कहा—

ब्रह्मदत्त उवाच

अस्ति वै कृतमस्माभिरस्ति प्रतिकृतं त्वया।
उभयं तत् समीभूतं वस पूजनि मा गमः ॥१८॥

ब्रह्मदत्त ने कहा—पूजनी! हमने तेरा अपराध किया और तूने उसका बदला चुका लिया। हम दोनों का हिसाब चुकता हो गया, अतः अब तू यहीं रह, अन्यत्र मत जा।

पूजन्युवाच

सकृत् कृतापराधस्य तत्रैव परिलम्बतः।
न तद् बुधाः प्रशंसन्ति श्रेयस्तत्रापसर्पणम् ॥१९॥

पूजनी बोली—राजन्! एक बार किसी का अपराध करके पुनः उसी स्थान पर टिके रहने के कार्य को विद्वान् अच्छा नहीं बताते। वहाँ से भाग जाने में ही उसका कल्याण है।

पूर्वं सम्मानना यत्र पश्चाच्चैव विमानना।
जह्यात्तत्सत्ववान्स्थानं शत्रोः सम्मानितोऽपि सन् ॥२०

जहाँ पहले सम्मान मिला हो, वहीं पीछे अपमान होने लगे तो प्रत्येक शक्तिशाली मनुष्य को पुनः सम्मान मिलने पर भी उस स्थान को छोड़ देना चाहिए।

उषितास्मि तवागारे दीर्घकालं समर्चिता।
तदिदं वैरमुत्पन्नं सुखमाशु व्रजाम्यहम् ॥२१॥

राजन्! मैं बहुत समय तक बड़े आदर के साथ आपके घर में रही हूँ, परन्तु अब यह वैर उत्पन्न हो गया, अतः मैं अति शीघ्र यहाँ से सुखपूर्वक चली जाऊँगी।

ब्रह्मदत्त उवाच

संवासाज्जायते स्नेहो जीवितान्तकरेष्वपि।
अन्योन्यस्य च विश्वासः श्वपचेन शुनो यथा ॥२२॥

ब्रह्मदत्त बोले—पूजनी! एकसाथ रहने से एक-

दूसरे के घातक प्राणियों में भी परस्पर स्नेह उत्पन्न हो जाता है और वे एक-दूसरे का विश्वास करने लगते हैं, जैसे चाण्डाल के साथ रहने से कुत्ते का उसके प्रति स्नेह और विश्वास उत्पन्न हो जाता है।

अन्योन्यकृतवैराणां संवासान्मृदुतां गतम्।
नैव तिष्ठति तद् वैरं पुष्करस्थमिवोदकम् ॥२३॥

जिनका परस्पर वैर हो गया हो, एक साथ रहने से उनका वह वैर भी मृदु हो जाता है। जैसे कमल-पत्र पर जल नहीं ठहरता, वैसे ही वह वैर भी टिक नहीं पाता।

पूजन्युवाच

वैरं पञ्चसमुत्थानं तच्च बुध्यन्ति पण्डिताः। □
स्त्रीकृतं वास्तुजं वाग्जं ससापत्नापराधजम् ॥२४॥

पूजनी बोली—नरेश्वर! वैर पाँच कारणों से हुआ करता है, इस बात को बुद्धिमान् लोग भली-भाँति जानते हैं—१. स्त्री के लिए, २. गृह और भूमि के लिए, ३. कठोर वाणी के कारण, ४. जातिगत द्वेष के कारण तथा ५. किसी समय किये हुए अपराध के कारण।

कृतवैरे न विश्वासः कार्यस्त्विह सुहृद्यपि।
छन्नं सन्तिष्ठते वैरं गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥२५॥

जिसने वैर बाँध लिया हो, इस संसार में ऐसे मित्र पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि जैसे लकड़ी में आग छिपी रहती है, वैसे ही उसके हृदय में वैरभाव छिपा रहता है।

न वित्तेन न पारुष्यैर्न सान्त्वेन न च श्रुतैः।
कोपाग्निः शाम्यते राजंस्तोयाग्निरिव सागरे ॥२६॥

राजन्! जैसे बड़वानल समुद्र में किसी प्रकार शान्त नहीं होता, वैसे ही क्रोधाग्नि भी न धन से, न कठोरता दिखाने से, न मधुर वचनों द्वारा समझाने-बुझाने से और न शास्त्र-ज्ञान से ही शान्त होती है।

न हि वैराणि शाम्यन्ति कुले दुःखगतानि च।
आख्यातारश्च विद्यन्ते कुले वै ध्रियते पुमान् ॥२७॥

जब किसी कुल में दुःखदायी वैर बँध जाता है, तब वह शान्त नहीं होता। उसे स्मरण करानेवाले बने ही रहते हैं, अतः जबतक कुल में एक भी पुरुष जीवित रहता है, तबतक वह वैर नहीं मिटता।

उपगृह्य तु वैराणि सान्त्वयन्ति नराधिप।
अथैनं प्रतिपिंषन्ति पूर्णं घटमिवाश्मनि ॥२८॥

प्रजेश्वर! दुष्ट प्रकृति के लोग मन में वैर रखकर ऊपर से शत्रु को मीठे वचनों द्वारा सान्त्वना देते रहते हैं, परन्तु अवसर पाते ही उसे उसी प्रकार पीस डालते हैं जैसे कोई पानी से भरे हुए घड़े को पत्थर पर पटककर चूर-चूर कर देता है।

तस्मादन्यत्र यास्यामि वस्तुं नाहमिहोत्सहे।
कृतमेतदनार्यं मे तव पुत्रे च पार्थिव ॥२९॥

राजन्! मैंने तुम्हारे पुत्र के साथ दुष्टतापूर्ण व्यवहार किया है, अतः अब मैं यहाँ रहने का साहस नहीं कर सकती, दूसरे स्थान पर चली जाऊँगी।

कुभार्यां च कुपुत्रं च कुराजानं कुसौहृदम्। □
कुसम्बन्धं कुदेशं च दूरतः परिवर्जयेत् ॥३०॥

दुराचारिणी स्त्री, आज्ञा न माननेवाले पुत्र, अन्यायी राजा, विश्वासघाती मित्र और दुष्ट देश को दूर से ही त्याग देना चाहिए।

कुपुत्रे नास्ति विश्वासः कुभार्यायां कुतो रतिः। □
कुराज्ये निर्वृतिर्नास्ति कुदेशे नास्ति जीविका ॥३१॥

कुपुत्र पर कभी विश्वास नहीं हो सकता। दुष्टा भार्या पर प्रेम कैसे हो सकता है? कुटिल राजा के राज्य में कभी शान्ति नहीं मिल सकती और दुष्ट देश में जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता।

सा भार्या या प्रियं ब्रूते स पुत्रो यत्र निर्वृतिः। □
तन्मित्रं यत्र विश्वासः स देशो यत्र जीव्यते ॥३२॥

पत्नी वह है जो प्रिय वचन बोले। पुत्र वह है जिससे सुख मिले। मित्र वही श्रेष्ठ है जिसपर विश्वास बना रहे और देश वह उत्तम है जहाँ जीविका चल सके।

यत्र नास्ति बलात्कारः स राजा तीव्रशासनः।
भीरवे नास्ति सम्बन्धो दरिद्रं यो बुभूषते ॥३३॥

उग्रशासनवाला राजा वही श्रेष्ठ है, जिसके राज्य में बलात्कार न हो, किसी प्रकार का भय न रहे, जो दरिद्र का पालन करना चाहता हो और प्रजा के साथ जिसका पाल्य-पालक-सम्बन्ध सदा बना रहे।

बलिषड्भागमुद्धृत्य बलिं समुपयोजयेत्।
न रक्षति प्रजाः सम्यग्यः स पार्थिवतस्करः ॥३४॥

जो प्रजा की आय का छठा भाग कररूप में लेकर उसका उपभोग करता है परन्तु प्रजा का भलीभाँति पालन नहीं करता, वह तो राजाओं में चोर है।

नित्योद्विग्नाः प्रजा यस्य करभारप्रपीडिताः ।
अनर्थैर्विप्रलुप्यन्ते स गच्छति पराभवम् ॥३५॥

जिसकी प्रजा सर्वदा कर के भार से पीड़ित हो नित्य व्याकुल रहती है तथा नाना प्रकार के अनर्थ उसे सताते रहते हैं, वह राजा पराभव को प्राप्त होता है।

बलिना विग्रहो राजन् न कदाचित्प्रशस्यते ।
बलिना विग्रहो यस्य कुतो राज्यं कुतः सुखम् ॥३६॥

नरेश्वर ! शक्तिशाली के साथ युद्ध छेड़ना कभी अच्छा नहीं माना जाता। जिसने बलवान् के साथ झगड़ा मोल ले लिया उसका राज्य और सुख स्थिर नहीं रह सकते।

भीष्म उवाच

सैवमुक्त्वा शकुनिका ब्रह्मदत्तं नराधिप ।
राजानं समनुज्ञाप्य जगामाभीप्सितां दिशम् ॥३७॥

भीष्मजी कहते हैं—प्रजेश्वर ! पूजनी चिड़िया राजा ब्रह्मदत्त से ऐसा कहकर उनसे विदा ले अपनी अभीष्ट दिशा को चली गई।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥३६॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

प्राचीन इतिहास द्वारा युधिष्ठिर को कूटनीति का उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

युगक्षयात् परिक्षीणे धर्मे लोके च भारत ।
दस्युभिः पीड्यमाने च कथं स्थेयं पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भारत ! पितामह ! सत्ययुग, त्रेता और द्वापर—ये तीनों युग समाप्त हो गये हैं, अतः जगत् में धर्म का भी क्षय हो चला है। डाकू और लुटेरे इस धर्म में और भी बाधा डाल रहे हैं, ऐसे समय में कैसे रहना चाहिए ?

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि नीतिमापत्सु भारत ।
उत्सृज्यापि घृणां काले यथा वर्तेत भूमिपः ॥२॥

भीष्मजी ने कहा—भरतकुमार ! ऐसे समय में तुम्हें आपत्तिकाल की वह नीति बता रहा हूँ, जिसके अनुसार राजा द्वारा दया को तिलाञ्जलि देकर समयोचित व्यवहार करना चाहिए।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
भारद्वाजस्य संवादं राज्ञः शत्रुञ्जयस्य च ॥३॥

इस विषय में भारद्वाज कणिक और राजा शत्रुञ्जय के संवादरूप एक प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है।

राजा शत्रुञ्जयो नाम सौवीरेषु महारथः ।
भारद्वाजमुपागम्य पप्रच्छार्थविनिश्चयम् ॥४॥

सौवीर देश में उत्पन्न महारथी राजा शत्रुञ्जय ने भारद्वाज कणिक के पास जाकर अपने कर्तव्य का निश्चय करने के लिए उनसे इस प्रकार प्रश्न किया—

अलब्धस्य कथं लिप्सा लब्धं केन विवर्धते ।
वर्धितं पाल्यते केन पालितं प्रणयेत् कथम् ॥५॥

"अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति कैसे होती है ? प्राप्त द्रव्य की वृद्धि कैसे हो सकती है ? बढ़े हुए द्रव्य की रक्षा किससे की जाती है और उस सुरक्षित द्रव्य का सदुपयोग कैसे किया जाना चाहिए ?"

भारद्वाज उवाच

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी च परेषां विवरानुगः ॥६॥

भारद्वाज कणिक बोले—राजा को सदा दण्ड देने के लिए उद्यत और पुरुषार्थी होना चाहिए। राजा अपने में निर्बलता न रहने दे परन्तु शत्रु की निर्बलता पर सदा ही दृष्टि रखे और यदि शत्रुओं की दुर्बलता का पता चल जाए तो उनपर आक्रमण कर दे।

नित्यमुद्यतदण्डस्य भृशमुद्विजते नरः ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥७॥

जो सदा दण्ड देने के लिए उद्यत रहता है, उससे प्रजा बहुत डरती है, अतः समस्त प्राणियों को दण्ड के द्वारा ही वश में करना चाहिए।

छिन्नमूले त्वधिष्ठाने सर्वेषां जीवनं हतम् ।
कथं हि शाखास्तिष्ठेयुश्छिन्नमूले वनस्पतौ ।।८।।

यदि मूल-आधार नष्ट हो जाए तो उसके आश्रय से जीवन-यापन करनेवाले सभी शत्रुओं का जीवन नष्ट हो जाता है । यदि वृक्ष की जड़ काट दी जाए तो उसकी शाखाएँ कैसे रह सकती हैं !

मूलमेवादितश्छिन्द्यात् परपक्षस्य पण्डितः ।
ततः सहायान् पक्षं च मूलमेवानुसाधयेत् ।।९।।

बुद्धिमान् मनुष्य पहले शत्रुपक्ष के मूल को ही उखाड़ फेंके, तत्पश्चात् उसके सहायकों और पक्षपातियों को भी उसके मूल के पथ का ही अनुसरण कराये ।

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ।
आपदास्पदकाले तु कुर्वीत न विचारयेत् ।।१०।।

संकटकाल उपस्थित होने पर राजा उत्तम मन्त्रणा, महान् पराक्रम और उत्साहपूर्वक युद्ध करे तथा अवसर आने पर चतुरता से पलायन भी करे । आपत्काल के समय आवश्यक कर्म झटपट कर डालना चाहिए, अधिक सोच-विचार नहीं करना चाहिए ।

वाङ्मात्रेण विनीतः स्याद्धृदयेन यथा क्षुरः ।
श्लक्ष्णपूर्वाभिभाषी च कामक्रोधौ विवर्जयेत् ।।११।।

राजा केवल वार्तालाप में ही विनीत हो परन्तु हृदय को छुरे के समान तीक्ष्ण बनाये रखे, पहले मुस्कराकर मीठे वचन बोले और काम-क्रोध को त्याग दे ।

सपत्नसहिते कार्ये कृत्वा सन्धिं न विश्वसेत् ।
अपक्रामेत् ततः शीघ्रं कृतकार्यो विचक्षणः ।।१२।।

शत्रु के साथ किये जानेवाले समझौते आदि कार्य में सन्धि करके भी उसपर विश्वास न करे । अपना काम बना लेने पर बुद्धिमान् मनुष्य वहाँ से शीघ्र हट जाए ।

शत्रुं च मित्ररूपेण सान्त्वेनैवाभिसान्त्वयेत् ।
नित्यशश्चोद्विजेत्तस्माद् गृहात्सर्पयुतादिव ।।१३।।

शत्रु को उसका मित्र बनकर मधुर वचनों से सान्त्वना प्रदान करता रहे, परन्तु जैसे सर्पयुक्त गृह से मनुष्य डरता है उसी प्रकार उस शत्रु से भी सदा व्याकुल [सावधान] रहे ।

अञ्जलिं शपथं सान्त्वं प्रणम्य शिरसा वदेत् ।
अश्रुप्रमार्जनं चैव कर्तव्यं भूतिमिच्छता ।।१४।।

ऐश्वर्य-अभिलाषी राजा को चाहिए कि वह अवसर देखकर शत्रु के सामने हाथ जोड़े, शपथ खाये, आश्वासन दे और चरणों में सिर झुकाकर वार्तालाप करे । इतना ही नहीं, वह धीरज देकर उसके आँसू तक पोंछे ।

कोकिलस्य वराहस्य मेरोः शून्यस्य वेश्मनः ।
नटस्य भक्तिमित्रस्य यच्छ्रेयस्तत् समाचरेत् ।।१५।।

राजा को चाहिए कि कोयल, सूअर, सुमेरु पर्वत, शून्य घर, नट और अनुरक्त सुहृद—इनमें जो श्रेष्ठ गुण तथा विशेषताएँ हैं, उन्हें काम में लाये ।[1]

उत्थायोत्थाय गच्छेत नित्ययुक्तो रिपोर्गृहान् ।
कुशलं चास्य पृच्छेत यद्यप्यकुशलं भवेत् ।।१६।।

राजा को चाहिए कि वह प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर तथा पूर्ण सावधान होकर शत्रु के घर जाए और चाहे उसका अमङ्गल ही क्यों न हो रहा हो, सदा उसकी कुशल पूछे तथा मङ्गल-कामना करे ।

नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्न क्लीबा नाभिमानिनः ।
न च लोकरवाद् भीता न वै शश्वत् प्रतीक्षिणः ।।१७।।

जो आलसी, भीरु [कायर, डरपोक], अभिमानी, लोक-निन्दा से डरनेवाले और सदा समय की प्रतीक्षा में बैठे रहनेवाले हैं, ऐसे लोग अपने अभीष्ट अर्थ को नहीं पा सकते ।

बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ।।१८।।

राजा बगुले के समान एकाग्रचित्त होकर कर्तव्य-विषय का चिन्तन करे । सिंह के समान पराक्रम प्रकट करे । भेड़िये की भाँति सहसा आक्रमण करके

---

१. कोयल का श्रेष्ठ गुण है—उसके कण्ठ का माधुर्य, सूअर के आक्रमण को रोकना कठिन है—यही उसकी विशेषता है, मेरुपर्वत का गुण है सबसे उन्नत होना, सूने घर की विशेषता है बहुतों को आश्रय देना, नट का गुण है अपने प्रदर्शन द्वारा दूसरों को प्रसन्न एवं सन्तुष्ट करना तथा अनुरक्त मित्र की विशेषता है मित्र का हित-साधन—ये सारे गुण राजा को धारण करने चाहिएँ ।

शत्रु का धन लूट ले और बाण की भाँति शत्रुओं पर टूट पड़े ।

पानमक्षास्तथा नार्यो मृगया गीतवादितम् ।
एतानि युक्त्या सेवेत प्रसङ्गो ह्यत्र दोषवान् ।।१९।।

मद्यपान, जूआ, स्त्री-सहवास, शिकार खेलना और गाना-बजाना—इन सबका संयमपूर्वक अनासक्ति भाव से सेवन करे, क्योंकि इनमें आसक्त होना अनिष्टकारक है ।

कुर्यात्तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम् ।
अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि संश्रयेत् ।।२०।।

राजा तिनकों से ही धनुष बना ले, हिरण के समान चौकन्ना होकर सोये, अन्धा बने रहने का समय हो तो अन्धे का भाव धारण किये रहे और अवसर पड़ने पर बहरा भी बन जाए ।

देशकालौ समासाद्य विक्रमेत विचक्षणः ।
देशकालव्यतीतो हि विक्रमो निष्फलो भवेत् ।।२१।।

बुद्धिमान् नरेश देश और काल को अपने अनुकूल पाकर पराक्रम प्रकट करे । देश-काल की अनुकूलता न होने पर किया गया पराक्रम निष्फल होता है ।

दण्डेनोपनतं शत्रुं यो राजा न नियच्छति ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ।।२२।।

जो राजा दण्ड से नतमस्तक हुए शत्रु को पाकर भी उसे नष्ट नहीं कर देता, वह अपनी मृत्यु को निमन्त्रण देता है, ठीक वैसे ही जैसे खच्चरी मृत्यु के लिए ही गर्भ धारण करती है ।

सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान् स्याद् दुरारुहः ।
आमः स्यात्पक्वसंकाशो न च शीर्येत कस्यचित् ।।२३।।

नीतिज्ञ राजा को ऐसे वृक्ष के समान होना चाहिए जिसमें फूल तो खूब लगे हों परन्तु फल न हो । फल लगने पर भी उसपर चढ़ना अत्यन्त कठिन हो, कच्चा होने पर भी पके-जैसा दिखाई दे और स्वयं कभी जीर्ण-शीर्ण न हो ।

आशां कालवतीं कुर्यात्तां च विघ्नेन योजयेत् ।
विघ्नं निमित्ततो ब्रूयान्निमित्तं चापि हेतुतः ।।२४।।

राजा शत्रु की आशा पूर्ण होने में विलम्ब उत्पन्न करे, उसमें विघ्न डाल दे । उस विघ्न का कोई कारण बता दे और उस कारण को युक्तियुक्त सिद्ध कर दे ।

भीतवत् संविधातव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ।।२५।।

जबतक अपने ऊपर भय न आया हो तबतक डरे हुए की भाँति उसे टालने का प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु जब भय को सामने आया हुआ देखे तब निडर होकर शत्रु पर आक्रमण करना चाहिए ।

अनागतं विजानीयाद् यच्छेद् भयमुपस्थितम् ।
पुनर्वृद्धिभयात् किंचिदनिवृत्तं निशामयेत् ।।२६।।

भविष्य में जो संकट आनेवाले हों, उन्हें पहले से ही जानने का प्रयत्न करे और जो भय सामने उपस्थित हो जाए, उसे दबाने की चेष्टा करे । दबा हुआ भय भी पुनः बढ़ सकता है, इस डर से यही समझे कि अभी वह दबा नहीं है [अतः सदा सावधान रहे] ।

प्रत्युपस्थितकालस्य सुखस्य परिवर्जनम् ।
अनागतसुखाशा च नैव बुद्धिमतां नयः ।।२७।।

जिसके सुलभ होने का समय आ गया हो उस सुख को त्याग देना और भविष्य में मिलनेवाले सुख की आशा करना—यह बुद्धिमानों की नीति नहीं है ।

योऽरिणा सह संधाय सुखं स्वपिति विश्वसन् ।
स वृक्षाग्रे प्रसुप्तो वा पतितः प्रतिबुध्यते ।।२८।।

जो शत्रु के साथ सन्धि करके विश्वासपूर्वक सुख से सोता है, वह उस मनुष्य के समान है जो वृक्ष की शाखा पर गाढ़ निद्रा में सो गया हो । ऐसा मनुष्य नीचे गिरने [शत्रु द्वारा संकट में फँसने पर] ही होश में आता है ।

कर्मणा येन तेनैव मृदुना दारुणेन च ।
उद्धरेद् दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ।।२९।।

मनुष्य कोमल अथवा कठोर—जिस किसी भी उपाय से सम्भव हो सके, दीन-अवस्था से अपना उद्धार करे, फिर समर्थ होकर धर्म का आचरण करे ।

अशंक्यमपि शङ्केत नित्यं शङ्केत शङ्कितात् ।
भयं ह्यशङ्किताज्जातं समूलमपि कृन्तति ।।३०।।

जो सन्देह करने योग्य न हो ऐसे व्यक्ति पर भी सन्देह करे—उसकी ओर से सावधान रहे तथा

जिसकी ओर से भय की आशङ्का हो, उसकी ओर से तो सदा सब प्रकार से चौकन्ना रहे ही। जिसकी ओर से भय की आशङ्का नहीं है, उसकी ओर से यदि भय उत्पन्न होता है, तो वह जड़मूलसहित नष्ट कर देता है।

अवधानेन मौनेन काषायेण जटाजिनैः।
विश्वासयित्वा द्वेष्टारमवलुम्पेद् यथा वृकः ॥३१॥

शत्रु के हित के प्रति मनोयोग दिखाकर, मौन-व्रत लेकर, गेरुए वस्त्र पहनकर तथा जटा एवं मृग-चर्म धारण करके अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करे और जब विश्वास हो जाए तब अवसर देखकर भूखे भेड़िये की भाँति शत्रु पर टूट पड़े।

पुत्रो वा यदि वा भ्राता पिता वा यदि वा सुहृत्।
अर्थस्य विघ्नं कुर्वाणा हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥३२

पुत्र, भाई, पिता अथवा मित्र जो भी अर्थ-प्राप्ति [प्रयोजन-सिद्धि] में बाधक हों, उन्हें ऐश्वर्य-अभिलाषी राजा अवश्य मार डाले।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शासनम् ॥३३॥

यदि गुरु भी अभिमान के वशीभूत होकर कर्तव्य और अकर्तव्य को नहीं समझ रहा हो तथा बुरे मार्ग पर चलता हो, तो उसे भी दण्ड देना उचित है, दण्ड ही उसे सुमार्ग पर लाता है।

अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां सम्प्रदानेन केनचित्।
प्रतिपुष्पफलाघाती तीक्ष्णतुण्ड इव द्विजः ॥३४॥

शत्रु के आने पर उठकर उसका स्वागत करे, उसे प्रणाम करे तथा कोई अपूर्व उपहार दे। इन सब व्यवहारों से पहले उसे वश में करे, तत्पश्चात् उसके साधन और साध्य पर ठीक वैसे ही आघात करे जैसे तीखी चोंचवाला पक्षी वृक्ष के प्रत्येक फूल और फल पर चोंच मारता है।

अमित्रं नैव मुञ्चेत वदन्तं करुणान्यपि।
दुःखं तत्र न कर्तव्यं हन्यात् पूर्वापकारिणम् ॥३५॥

शत्रु करुणाजनक वचन बोल रहा हो, गिड़गिड़ा रहा हो, तो भी उसे मारे बिना न छोड़े। जिसने पहले अपना अपकार किया हो, उसे अवश्य मार डाले और उसमें दुःख न माने।

प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहृत्यैव प्रियोत्तरम्।
असिनापि शिरश्छित्वा शोचेत च रुदेत च ॥३६॥

प्रहार करने के लिए उद्यत होकर भी मधुर वचन बोले, प्रहार करने के पश्चात् भी मीठी वाणी ही बोले, तलवार से शत्रु का मस्तक काटकर भी उसके लिए शोक करे और रोये।

ऋणशेषमग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च।
पुनः पुनः प्रवर्धन्ते तस्माच्छेषं न धारयेत् ॥३७॥

ऋण, अग्नि और शत्रु—इनमें से कोई भी शेष रह जाए तो वह निरन्तर बढ़ता रहता है, अतः इनमें से किसी को भी शेष नहीं छोड़ना चाहिए।

वर्धमानमृणं तिष्ठेत् परिभूताश्च शत्रवः।
जनयन्ति भयं तीव्रं व्याधयश्चाप्युपेक्षिताः ॥३८॥

यदि बढ़ता हुआ ऋण शेष रह जाए, अपमानित शत्रु जीवित रह जाएँ और उपेक्षित रोग शेष रह जाए तो ये सब महान् भय उपस्थित करते हैं।

नासम्यक्कृतकारी स्यादप्रमत्तः सदा भवेत्।
कण्टकोऽपि हि दुश्छिन्नो विकारं कुरुते चिरम् ॥३९॥

किसी कार्य को अधूरा न छोड़े और सदा साव-धान रहे। शरीर में गड़ा हुआ काँटा भी यदि पूर्णरूप से न निकाल दिया जाए—उसका कुछ भाग शरीर में ही रह जाए तो वह दीर्घकाल तक विकार उत्पन्न करता है।

वधेन च मनुष्याणां मार्गाणां दूषणेन च।
आगाराणां विनाशैश्च परराष्ट्रं विनाशयेत् ॥४०॥

मनुष्यों को मौत के घाट उतारकर, सड़कों को तोड़-फोड़कर और घरों को नष्ट-भ्रष्ट करके शत्रु के राष्ट्र का विध्वंस करना चाहिए।

गृध्रदृष्टिर्बकालीनः श्वचेष्टः सिंहविक्रमः।
अनुद्विग्नः काकशङ्की भुजङ्गचरितं चरेत् ॥४१॥

राजा गीध के समान दूरदर्शी हो, बगुले के समान लक्ष्य पर दृष्टि जमाए, कुत्ते के समान चौकन्ना रहे, सिंह के समान पराक्रम प्रकट करे, मन में उद्वेग=व्याकुलता को स्थान न दे, कौए की भाँति सशंक रहकर दूसरों की चेष्टा पर ध्यान रखे और दूसरों के बिल में प्रवेश करनेवाले सर्प की भाँति शत्रु का छिद्र देखकर उसपर प्रहार करे।

शूरमञ्जलिपातेन भीरुं भेदेन भेदयेत् ।
लुब्धमर्थप्रदानेन समं तुल्येन विग्रहः ॥४२॥

शूरवीर को हाथ जोड़कर वश में करे, डरपोक को भय दिखाकर फोड़ ले, लोभी को धन देकर वश में कर ले और जो बराबर का हो उसके साथ युद्ध छेड़ दे ।

मृदुरित्यवजानन्ति तीक्ष्ण इत्युद्विजन्ति च ।
तीक्ष्णकाले भवेत्तीक्ष्णो मृदुकाले मृदुर्भवेत् ॥४३॥

राजा सदा कोमल रहे तो लोग उसकी अवहेलना करते हैं और सदा कठोर बना रहे तो उससे उद्विग्न हो उठते हैं, अतः जब कठोरता दिखाने का समय हो तब वह कठोर बने और जब कोमलतापूर्ण व्यवहार करने का अवसर हो तब वह कोमल बन जाए ।

मृदुनैव मृदुं हन्ति मृदुना हन्ति दारुणम् ।
नासाध्यं मृदुना किञ्चित् तस्मात्तीक्ष्णतरो मृदुः ॥४४॥

बुद्धिमान् राजा कोमल उपाय से कोमल शत्रु का नाश करता है तथा कोमल उपाय से ही प्रचण्ड शत्रु का भी संहार कर डालता है। कोमल उपाय से कुछ भी असाध्य नहीं है, इसलिए कोमलता ही अत्यन्त तीक्ष्ण है ।

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ।
प्रसाधयति कृत्यानि शत्रुं चाप्यधितिष्ठति ॥४५॥

जो समय पर कोमल होता है और समय पर कठोर बन जाता है, वह अपने सारे कार्य सिद्ध कर लेता है तथा शत्रु पर भी उसका अधिकार हो जाता है ।

न तत्तरेद् यस्य न पारमुत्तरे-
न्न तद्धरेद् यत्पुनराहरेत् परः ।
न तत्खनेद् यस्य न मूलमुद्धरे-
न्न तं हन्याद् यस्य शिरो न पातयेत् ॥४६॥

जिसके पार न उतर सके उस नदी को तैरने का साहस न करे । शत्रु जिसे बलपूर्वक पुनः छीन ले ऐसे धन का अपहरण ही न करे । ऐसे वृक्ष या शत्रु को उखाड़ने अथवा नष्ट करने का प्रयत्न न करे जिसकी जड़ को उखाड़ फेंकना सम्भव न हो और उस वीर पर आक्रमण न करे, जिसके सिर को काटकर पृथिवी पर न गिरा सके ।

इतीदमुक्तं वृजनाभिसंहितं
न चैतदेवं पुरुषः समाचरेत् ।
परप्रयुक्ते न कथं विभावये-
दथो मयोक्तं भवतो हितार्थिना ॥४७॥

मैंने शत्रु के प्रति जो पापपूर्ण व्यवहार का उपदेश किया है, इसे समर्थ पुरुष सम्पत्ति के समय कभी आचरण में न लाये, परन्तु जब शत्रु ऐसे ही व्यवहारों द्वारा अपने ऊपर संकट उपस्थित कर दे तब उसके प्रतिकार के लिए वह इन्हीं उपायों को काम में लाने का विचार क्यों न करे ! यह सब-कुछ मैंने तुम्हारे हित की इच्छा से ही बताया है ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

शरणागत की रक्षा-विषय में एक बहेलिये और कपोत एवं कपोती की कथा

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
शरणं पालयानस्य यो धर्मस्तं वदस्व मे ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—सर्वशास्त्रों के मर्मज्ञ, परम बुद्धिमान् पितामह ! आप मुझे यह बताइए कि शरणागत की रक्षा करनेवाले प्राणी को किस धर्म [फल] की प्राप्ति होती है ?

भीष्म उवाच

महान् धर्मो महाराज शरणागतपालने ।
अर्हः प्रष्टुं भवांश्चैव प्रश्नं भरतसत्तम ॥२॥

भीष्मजी बोले—महाराज ! शरणागत की रक्षा करने में महान् धर्म है। भरतकुलभूषण ! तुम्हीं ऐसा पूछने के अधिकारी हो ।

शिबिप्रभृतयो राजन् राजानः शरणागतान् ।

परिपाल्य महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।।३।।

राजन् ! शिबि आदि महात्मा राजाओं ने शरणागतों की रक्षा करके ही परम सिद्धि=मोक्ष प्राप्त कर ली थी ।

श्रूयते च कपोतेन शत्रुः शरणमागतः ।
पूजितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः ।।४।।

यह भी सुना जाता है कि एक कबूतर ने शरण में आये हुए शत्रु का यथायोग्य सत्कार किया था और अपना मांस खाने के लिए उसे आमन्त्रित किया था ।

युधिष्ठिर उवाच

कथं पुरा कपोतेन शत्रुः शरणमागतः ।
स्वमांसं भोजितः कां च जातिं लेभे स भारत ।।५।।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भारत ! प्राचीनकाल में कबूतर ने शरणागत शत्रु को किस प्रकार अपना मांस खिलाया तथा ऐसा करने से उसे कौन-सी सद्गति प्राप्त हुई ?

भीष्म उवाच

कश्चित् क्षुद्रसमाचारः पृथिव्यां कालसन्निभः ।
विचचार महारण्ये घोरः शकुनिलुब्धकः ।।६।।

भीष्मजी बोले—एक समय की बात है किसी महावन में कोई भयंकर बहेलिया चारों ओर विचर रहा था । वह अत्यन्त खोटे आचार-विचार का था और पृथिवी पर काल के समान जान पड़ता था ।

स वै क्षारकमादाय द्विजान् हत्वा वने सदा ।
चकार विक्रयं तेषां पतङ्गानां जनाधिप ।।७।।

प्रजेश्वर ! वह प्रतिदिन जाल लेकर वन में जाता और बहुत-से पक्षियों को मारकर उन्हें बाजार में बेच दिया करता था ।

ततः कदाचित् तस्याथ वनस्थस्य समन्ततः ।
पातयन्निव वृक्षाँस्तान् सुमहान् वातसम्भ्रमः ।।८।।

एक दिन जब वह वन में घूम रहा था, उसी समय चारों ओर से बड़े जोर की आँधी उठी और वायु का प्रचण्ड वेग वहाँ के समस्त वृक्षों को धराशायी करता हुआ-सा जान पड़ा ।

मेघसंकुलमाकाशं विद्युन्मण्डलमण्डितम् ।
क्षणेन पूरयामास सलिलेन वसुन्धराम् ।।९।।

आकाश में मेघों की घटाएँ घिर आईं और विद्युन्मण्डल से उसकी अपूर्व शोभा होने लगी, फिर उन घटाओं ने क्षणभर में ही इस पृथिवी को जलराशि से भर दिया ।

ततो धाराकुले काले सम्भ्रमन् नष्टचेतनः ।
शीतार्तस्तद्वनं सर्वमाकुलेनान्तरात्मना ।।१०।।

उस समय मूसलाधार वृष्टि हो रही थी । बहेलिया शीत से पीड़ित हो अचेत-सा हो गया और व्याकुल हृदय से सारे वन में भटकने लगा ।

नैव निम्नं स्थलं वापि सोऽविन्दत विहङ्गहा ।
पूरितो हि जलौघेन तस्य मार्गो वनस्य च ।।११।।

वन का मार्ग, जिसपर वह आता-जाता था, जल के प्रवाह में डूब गया था, अतः उस बहेलिये को ऊँची-नीची भूमि का कुछ भी पता नहीं चलता था ।

पक्षिणो वर्षवेगेन हता लीनास्तदाभवन् ।
मृगाःसिंहवराहाश्च स्थलमाश्रित्य शेरते ।।१२।।

वर्षा के वेग से बहुत-से पक्षी मरकर भूमि पर लोट गये थे और कितने ही अपने घोंसलों में छिपे बैठे थे । मृग, सिंह और सूअर स्थलभूमि का आश्रय लेकर सो रहे थे ।

स तु शीतहतैर्गात्रैर्न जगाम न तस्थिवान् ।
ददर्श पतितां भूमौ कपोतीं शीतविह्वलाम् ।।१३।।

उधर बहेलिये के सारे अङ्ग सर्दी से ठिठुर गये थे, अतः वह न तो चल पाता था और न खड़ा ही हो पाता था । इसी अवस्था में उसने भूमि पर गिरी हुई एक कबूतरी को देखा, जो सर्दी के कारण व्याकुल हो रही थी ।

दृष्ट्वाऽऽर्तोऽपि हि पापात्मा स तां पञ्जरकेऽक्षिपत् ।
स्वयं दुःखाभिभूतोऽपि दुःखमेवाकरोत् परे ।।१४।।

वह पापी व्याध यद्यपि स्वयं भी अति कष्ट में था, तथापि उसने उस कबूतरी को उठाकर पिंजरे में डाल लिया । स्वयं दुःख से पीड़ित होने पर भी उसने दूसरे प्राणी को दुःख ही पहुंचाया ।

सोऽपश्यत् तरुखण्डेषु मेघनीलवनस्पतिम् ।
सेव्यमानं विहङ्गौघैश्छायावासफलार्थिभिः ।।१५।।

इतने में ही उसे वृक्षों के समूह में एक मेघ के समान सघन तथा नील विशाल वृक्ष दिखाई दिया,

जिसपर बहुत-से पक्षी छाया, निवास और फल की इच्छा से आश्रय लेते थे।

अथाभवद् क्षणेनैव वियद् विमलतारकम्।
घनैर्मुक्तं नभो दृष्ट्वा लुब्धकः शीतविह्वलः ॥१६॥
दिशो विलोकयामास विगाढां प्रेक्ष्य शर्वरीम्।
दूरतो मे निवेशश्च अस्माद् देशादिति प्रभो ॥१७॥

प्रभो! वर्षा समाप्त हुई। एक क्षण में ही आकाश के बादल फट गये तथा निर्मल तारे चमक उठे। आकाश को मेघों से मुक्त हुआ देख शीत से काँपते हुए उस बहेलिये ने सम्पूर्ण दिशाओं की ओर दृष्टि-पात किया और गाढ़े अन्धकार से भरी हुई रात्रि को देखकर मन-ही मन सोचा, 'मेरा घर तो यहाँ से बहुत दूर है।'

कृतबुद्धिर्द्रुमे तस्मिन् वस्तुं तां रजनीं ततः।
स शिलायां शिरः कृत्वा तत्र सुष्वाप पक्षिहा ॥१८॥

फिर उसने रात्रि में उस वृक्ष के नीचे ही रहने का निश्चय किया और एक शिला पर सिर रखकर वह बहेलिया वहीं सो गया।

अथ वृक्षस्य शाखायां विहङ्गः ससुहृज्जनः।
दीर्घकालोषितो राजंस्तत्र चित्रतनूरुहः ॥१९॥

राजन्! उस वृक्ष पर बहुत दिनों से एक कबूतर अपने मित्रों के साथ निवास करता था। उसके शरीर के रोएँ चितकबरे थे।

तस्य कल्यगता भार्या चरितुं नाभ्यवर्तत।
प्राप्तां च रजनीं दृष्ट्वा स पक्षी पर्यतप्यत ॥२०॥

उसकी प्राणप्रिया प्रातः से ही दाना चुगने के लिए गई थी, जो लौटकर नहीं आई। अब रात हुई देखकर वह कबूतर उसके लिए अत्यन्त व्याकुल होने लगा।

वातवर्षं महच्चासीन्न चागच्छति मे प्रिया।
किं नु तत्कारणं येन साद्यापि न निवर्तते ॥२१॥

वह कबूतर दुःखी होकर इस प्रकार विलाप करने लगा—"अहो! आज बड़ी भारी आँधी आई और वर्षा हुई है, परन्तु अब तक मेरी भार्या लौटकर नहीं आई। ऐसा कौन-सा कारण हो गया, जिससे वह अभी तक नहीं लौट सकी है।

अपि स्वस्ति भवेत् तस्यै प्रियायै मम कानने।
तया विरहितं हीदं शून्यमद्य गृहं मम ॥२२॥

"क्या इस वन में मेरी प्राणप्रिया सकुशल होगी? उसके बिना आज मेरा यह घर—यह घोंसला सूना लग रहा है।

पुत्रपौत्रवधूभृत्यैराकीर्णमपि सर्वतः।
भार्याहीनं गृहस्थस्य शून्यमेव गृहं भवेत् ॥२३॥

"पुत्र, पौत्र, पुत्रवधू और अन्य भरण-पोषण के योग्य कुटुम्बीजनों से भरा होने पर भी गृहस्थ का घर उसकी पत्नी के बिना सूना ही रहता है।

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम् ॥२४॥

"वास्तव में ईंट-पत्थरों से बने घर को घर नहीं कहते, घरवाली का नाम ही घर है। गृह-पत्नी से शून्य घर को तो जंगल के समान ही माना गया है।

न भुङ्क्ते मय्यभुक्ते या नास्नाते स्नाति सुव्रता।
नातिष्ठत्युपतिष्ठेत शेते च शयिते मयि ॥२५॥

"उत्तम व्रत का पालन करनेवाली वह मुझे भोजन कराये बिना भोजन नहीं करती, स्नान कराये बिना स्नान नहीं करती, मुझे बिठाये बिना बैठती नहीं और मेरे सो जाने पर सोती है।

हृष्टे भवति सा हृष्टा दुःखिते मयि दुःखिता।
प्रोषिते दीनवदना क्रुद्धे च प्रियवादिनी ॥२६॥

"मेरे प्रसन्न होने पर वह हर्ष से खिल उठती है और मेरे दुःखी होने पर स्वयं भी दुःख में डूब जाती है। मेरे बाहर के लिए तैयार होने पर उसके मुख पर दीनता छा जाती है और मुझे क्रोध आने पर वह मधुर वचनों द्वारा शान्त कर देती है।

पतिव्रता पतिगतिः पतिप्रियहिते रता।
यस्य स्यात्तादृशी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि ॥२७॥

"वह पतिव्रता है। पति के सिवा अन्य कोई उसकी गति नहीं है। वह सदा ही पति के प्रिय एवं हित में तत्पर रहती है। जिसको ऐसी पत्नी मिल जाए, वह पुरुष इस संसार में धन्य है!

वृक्षमूलेऽपि दयिता यस्य तिष्ठति तद् गृहम्।
प्रासादोऽपि तथा हीनः कान्तार इति निश्चितम् ॥२८

"वृक्ष के नीचे भी जिसकी पत्नी साथ हो, उसके लिए वही घर है और बहुत बड़ी अट्टालिका भी यदि

स्त्री से शून्य है तो वह निश्चय ही घोर घने जंगल के समान है।

धर्मार्थकामकालेषु भार्या पुंसः सहायिनी ।
विदेशगमने चास्य सैव विश्वासकारिका ॥२९॥

"पुरुष के धर्म, अर्थ और काम के अवसरों पर उसकी पत्नी ही उसकी मुख्य सहायिका होती है। परदेश जाने पर भी वही उसके लिए विश्वसनीय मित्र का कार्य करती है।

भार्या हि परमो ह्यर्थः पुरुषस्येह पठ्यते ।
असहायस्य लोकेऽस्मिंल्लोकयात्रा सहायिनी ॥३०॥

"पुरुष की प्रधान सम्पत्ति उसकी पत्नी ही बताई जाती है। इस संसार में जो असहाय है, उसे भी संसार-यात्रा में सहायता देनेवाली उसकी पत्नी ही है।

तथा रोगाभिभूतस्य नित्यं कृच्छ्रगतस्य च ।
नास्ति भार्यासमं किञ्चिन्नरस्यार्तस्य भेषजम् ॥३१॥

"जो मनुष्य रोग से पीड़ित हो और बहुत समय से संकट में फँसा हो, उस पीड़ित मनुष्य के लिए भी पत्नी के समान दूसरी कोई औषधि नहीं है।

नास्ति भार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्यासमा गतिः ।
नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे ॥३२॥

"संसार में पत्नी के समान कोई बन्धु नहीं है, पत्नी के समान कोई आश्रय नहीं है और पत्नी के समान धर्मसंग्रह में सहायक भी दूसरा कोई नहीं है।

यस्य भार्या गृहे नास्ति साध्वी च प्रियवादिनी ।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम् ॥३३॥

"जिसके घर में सती-साध्वी और मधुर-वचन बोलनेवाली भार्या नहीं है, उसे वन में चले जाना चाहिए, क्योंकि उसके लिए जैसा घर है, वैसा ही वन है।"

एवं विलपतस्तस्य श्रुत्वा तु करुणं वचः ।
गृहीता शकुनिघ्नेन कपोती वाक्यमब्रवीत् ॥३४॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार विलाप करते हुए कबूतर का वह करुणाजनक वचन सुनकर व्याध के द्वारा पकड़ी हुई उस कबूतरी ने कहा—

कपोत्युवाच

अहोऽतीवसुभाग्याहं यस्या मे दयितः पतिः ।
असतो वा सतो वापि गुणानेवं प्रभाषते ॥३५॥

कबूतरी बोली—अहो ! मेरा महान् सौभाग्य है कि मेरे प्रियतम पतिदेव इस प्रकार मेरे गुणों का, चाहे वे मुझमें हों या न हों, गान कर रहे हैं।

न सा स्त्रीत्यभिमन्तव्या यस्यां भर्ता न तुष्यति ।
तुष्टे भर्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥३६॥

उस स्त्री को स्त्री नहीं समझना चाहिए, जिसका पति उससे सन्तुष्ट नहीं रहता। पति के सन्तुष्ट रहने से स्त्रियों पर सारे देवता सन्तुष्ट रहते हैं।

इति संचिन्त्य दुःखार्ता भर्तारं दुःखितं तदा ।
कपोती लुब्धकेनापि गृहीता वाक्यमब्रवीत् ॥३७॥

ऐसा सोचकर दुःख से व्याकुल हो बहेलिये के बन्धन में पड़ी हुई कबूतरी ने अपने दुःखी पति से उस समय ये वचन कहे—

हन्त वक्ष्यामि ते श्रेयः श्रुत्वा तु कुरु तत्तथा ।
शरणागतसंत्राता भव कान्त विशेषतः ॥३८॥

प्राणनाथ ! मैं आपके कल्याण की बात बता रही हूँ, उसे सुनकर आप वैसा ही कीजिए। इस समय विशेष प्रयत्न करके एक शरणागत प्राणी की रक्षा कीजिए।

एष शाकुनिकः शेते तव वासं समाश्रितः ।
शीतार्तश्च क्षुधार्तश्च पूजामस्मै समाचर ॥३९॥

यह बहेलिया आपके निवास-स्थान पर आकर सर्दी और भूख से व्याकुल होकर सो रहा है। आप इसकी यथोचित सेवा कीजिए।

यो हि कश्चिद् द्विजं हन्याद् गां च लोकस्य मातरम् ।
शरणागतं च यो हन्यात् तुल्यं तेषां च पातकम् ॥४०॥

जो कोई मनुष्य ब्राह्मण की, लोकमाता गाय की और शरणागत की हत्या करता है, उन तीनों को समान रूप से पाप लगता है।

यस्तु धर्मं यथाशक्ति गृहस्थो ह्यनुवर्तते ।
स प्रेत्य लभते लोकानक्षयानिति शुश्रुम ॥४१॥

जो गृहस्थ यथाशक्ति अपने धर्म का पालन करता है, वह मरने के पश्चात् अक्षय लोकों में जाता है, ऐसा हमने सुना है।

स त्वं सन्तानवानद्य पुत्रवानसि च द्विज ।
तत्स्वदेहे दयां त्यक्त्वा धर्मार्थौ परिगृह्य च ॥४२॥

पूजामस्मै प्रयुङ्क्ष्व त्वं प्रीयेतास्य मनो यथा ।
इति दुःखान्विता प्रोक्त्वा भर्तारं समुदैक्षत ।।४३।।

पक्षिप्रवर ! आप अब सन्तानवान् तथा पुत्रवान् हो चुके हो, अतः आप अपने शरीर पर दया न करके धर्म और अर्थ पर ही दृष्टि रखते हुए इस व्याध का ऐसा सत्कार करें, जिससे इसका मन प्रसन्न हो जाए। ऐसा कहकर अत्यन्त दुःखी हो वह पति के मुँह की ओर ताकने लगी।

भीष्म उवाच

स पत्न्या वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तिसमन्वितम् ।
हर्षेण महता युक्तो वाक्यं व्याकुललोचनः ।।४४।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! अपनी पत्नी की वह धर्मानुकूल तथा युक्तियुक्त बात सुनकर कबूतर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसकी आँखों में आनन्द के आंसू छलक आये।

तं वै शाकुनिकं दृष्ट्वा विधिदृष्टेन कर्मणा ।
स पक्षी पूजयामास यत्नात्तं पक्षिजीविनम् ।।४५।।
उवाच स्वागतं तेऽद्य ब्रूहि किं करवाणि ते ।
सन्तापश्च न कर्तव्यः स्वगृहे वर्तते भवान् ।।४६।।

उस पक्षी [कबूतर] ने पक्षियों की हिंसा से जीवन-यापन करनेवाले उस व्याध की ओर देखकर शास्त्र-विधि के अनुसार यत्नपूर्वक उसका पूजन किया और बोला—"आज आपका स्वागत है। बहेलिये ! मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? आपको सन्ताप नहीं करना चाहिए, आप अपने ही घर में हैं।

प्रणयेन ब्रवीमि त्वां त्वं हि नः शरणागतः ।
अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।।४७।।

"मैं अति प्रेमपूर्वक पूछ रहा हूँ, क्योंकि आप हमारे घर पधारे हैं। यदि शत्रु भी घर पर आ जाए तो उसका उचित आदर-सत्कार करना चाहिए।

शरणागतस्य कर्तव्यमातिथ्यं हि प्रयत्नतः ।
पञ्चयज्ञप्रवृत्तेन गृहस्थेन विशेषतः ।।४८।।

यूँ तो घर पर आये हुए अतिथि का सभी को प्रयत्नपूर्वक आदर-सत्कार करना चाहिए, परन्तु पञ्चयज्ञों के अधिकारी गृहस्थ का यह प्रधान धर्म है।

पञ्चयज्ञांस्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमे ।
तस्य नायं न च परो लोको भवति धर्मतः ।।४९।।

जो गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी मोहवश पञ्च-महायज्ञों का अनुष्ठान नहीं करता, उसे धर्म के अनुसार न तो इस लोक की प्राप्ति होती है और न परलोक की ही।

तद् ब्रूहि मां सुविश्रब्धो यत्त्वं वाचा वदिष्यसि ।
तत्करिष्याम्यहं सर्वं मा त्वं शोके मनः कृथाः ।।५०।।

"तुम पूर्ण विश्वास रखकर मुझे अपनी बात बताओ। तुम अपने मुख से जो कुछ कहोगे, मैं वही सब-कुछ करूँगा, तुम अपने मन में चिन्ता न करो।"

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शकुनेर्लुब्धकोऽब्रवीत् ।
बाधते खलु मे शीतं संत्राणं हि विधीयताम् ।।५१।।

कबूतर की यह बात सुनकर बहेलिये ने कहा—"इस समय मुझे ठण्ड लग रही है, अतः इससे बचने का कोई उपाय करो।"

एवमुक्तस्ततः पक्षी पर्णान्यास्तीर्य भूतले ।
यथाशक्ति हि पर्णेन ज्वलनार्थं द्रुतं ययौ ।।५२।।

उसके ऐसा कहने पर उस पक्षी ने बहुत-से पत्ते लाकर भूमि पर रख दिये और अग्नि लाने के लिए अपने पंखों द्वारा यथाशक्ति बड़ी तेजी से उड़ान लगाई।

स गत्वाङ्गारकर्मान्तं गृहीत्वाग्निमथागमत् ।
ततः शुष्केषु पर्णेषु पावकं सोऽप्यदीपयत् ।।५३।।

वह लुहार के घर जाकर आग ले आया और उसे सूखे पत्तों पर रखकर उसने वहाँ अग्नि प्रज्वलित कर दी।

स संदीप्तं महत्कृत्वा तमाह शरणागतम् ।
प्रतापय सुविश्रब्धः स्वगात्राण्यकुतोभयः ।।५४।।

प्रचण्ड अग्नि प्रदीप्त करके कबूतर ने शरणागत अतिथि से कहा—"आप भयरहित और निश्चिन्त होकर अपने सारे अङ्गों को आग से तपाओ।"

स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा लुब्धो गात्राण्यतापयत् ।
अग्निं प्रत्यागतप्राणस्ततः प्राह विहङ्गमम् ।
दत्तमाहारमिच्छामि त्वया क्षुद् बाधते हि माम् ।।५५।।

तब उस व्याध ने 'बहुत अच्छा' कहकर अपने सारे अङ्गों को आग से सेका। अग्नि के सेक से उसकी जान में जान आई। तत्पश्चात् वह कबूतर से

बोला—"भाई ! अब मुझे भूख सता रही है, अतः तुम्हारा दिया हुआ कुछ भोजन करना चाहता हूँ ।"

स तद्वचः प्रतिश्रुत्य वाक्यमाह विहङ्गमः ।
न मेऽस्ति विभवो येन नाशयेयं क्षुधां तव ॥५६॥
उत्पन्नेन हि जीवामो वयं नित्यं वनौकसः ।
सञ्चयो नास्ति चास्माकं मुनीनामिव भोजने ॥५७॥

उसकी बात सुनकर कबूतर बोला—"भैया ! मेरे पास सम्पत्ति तो है नहीं, जिससे मैं तुम्हारी भूख मिटा सकूँ । हम वनवासी पक्षी हैं और प्रतिदिन चुगे हुए अन्न से ही अपना निर्वाह करते हैं । मुनियों की भाँति हमारे पास भोजन का संग्रह नहीं रहता ।"

इत्युक्त्वा तं तदा तत्र विवर्णवदनोऽभवत् ।
कथं नु खलु कर्तव्यमिति चिन्तापरस्तदा ॥५८॥

ऐसा कहकर कबूतर का मुख कुछ उदास हो गया । वह इस चिन्ता में डूब गया कि मुझे क्या करना चाहिए ?

मुहूर्ताल्लब्धसंज्ञस्तु स पक्षी पक्षिघातिनम् ।
उवाच तर्पयिष्ये त्वां मुहूर्तं प्रतिपालय ॥५९॥

थोड़ी देर में उसे कुछ स्मरण आया और उस पक्षी ने व्याध से कहा—"अच्छा, थोड़ी देर ठहरिए । मैं आपकी तृप्ति करूँगा ।"

इत्युक्त्वा शुष्कपर्णैस्तु समुज्ज्वाल्य हुताशनम् ।
हर्षेण महताविष्टः स पक्षी वाक्यमब्रवीत् ॥६०॥

ऐसा कहकर उसने सूखे पत्तों से पुनः अग्नि प्रज्वलित की और अत्यन्त हर्ष में भरकर बहेलिये से कहा—

ऋषीणां देवतानां च पितृणां च महात्मनाम् ।
श्रुतः पूर्वं मया धर्मो महानतिथिपूजने ॥६१॥

"मैंने ऋषियों, देवताओं, पितरों और महात्माओं के मुख से पहले ही सुन रखा है कि अतिथि की पूजा करने में महान् धर्म है ।

कुरुष्वानुग्रहं सौम्य सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
निश्चिता खलु मे बुद्धिरतिथिप्रतिपूजने ॥६२॥

"सौम्य ! अतिथि-पूजा के महत्त्व को समझकर मैंने भी आज आपके सम्यक् आतिथ्य का निश्चय कर लिया है । आप मुझे ही ग्रहण करके मुझे कृतार्थ कीजिए । यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ ।"

ततः कृतप्रतिज्ञो वै स पक्षी प्रहसन्निव ।
तमग्निं त्रिः परिक्रम्य प्रविवेश महामतिः ॥६३॥

ऐसा कहकर अतिथि-पूजन के लिए दृढ़प्रतिज्ञ उस परम बुद्धिमान् पक्षी ने तीन बार अग्निदेव की परिक्रमा की और हँसता हुआ-सा अग्नि में प्रविष्ट हो गया ।

अग्निमध्ये प्रविष्टं तं लुब्धो दृष्ट्वा तु पक्षिणम् ।
चिन्तयामास मनसा किमिदं वै मया कृतम् ॥६४॥

पक्षी को आग के भीतर प्रविष्ट हुआ देखकर व्याध ने मन-ही-मन सोचा कि मैंने यह क्या कर डाला ?

किमीदृशं नृशंसेन मया कृतमबुद्धिना ।
भविष्यति हि मे नित्यं पातकं कृतजीविनः ॥६५॥

"हाय ! मुझ क्रूर और बुद्धिहीन ने कैसा पाप कर डाला ? मैंने अपना जीवन ही ऐसा बना रखा है कि मुझसे सदा पाप होता ही रहेगा ।"

स विनिन्दंस्तथाऽऽत्मानं पुनः पुनरुवाच ह ।
अविश्वास्यः सुदुर्बुद्धिः सदा निकृतिनिश्चयः ॥६६॥

इस प्रकार बारम्बार अपनी निन्दा करता हुआ वह पुनः बोला—"मैं अति दुष्टबुद्धि मनुष्य हूँ । मुझपर किसी को विश्वास नहीं करना चाहिए । शठता और क्रूरता ही मेरे जीवन का सिद्धान्त बन गया है ।

नृशंसस्य ममाद्यायं प्रत्यादेशो न संशयः ।
दत्तः स्वमांसं दहता कपोतेन महात्मना ॥६७॥

"मुझ क्रूर और कुकर्मी को महात्मा कबूतर ने अपने शरीर की आहुति देकर अपना मांस अर्पित किया है । इसमें सन्देह नहीं कि इस अपूर्व त्याग के द्वारा उसने मुझे धर्माचरण का उपदेश दिया है ।

सोऽहं त्यक्ष्ये प्रियान्प्राणान्पुत्रान्दारांस्तथैव च ।
उपदिष्टो हि मे धर्मः कपोतेन महात्मना ॥६८॥

"अब मैं पाप से मुख मोड़कर स्त्री, पुत्र और अपने प्रिय प्राणों का भी परित्याग कर दूँगा । महात्मा कबूतर ने मुझे विशुद्ध धर्म का उपदेश किया है ।

अद्य प्रभृति देहं स्वं सर्वभोगैर्विवर्जितम् ।
यथा स्वल्पं सरो ग्रीष्मे शोषयिष्याम्यहं तथा ॥६९॥

"आज से मैं अपने शरीर को सम्पूर्ण भोगों से वञ्चित करके वैसे ही सुखा डालूंगा, जैसे गर्मी में छोटा-सा सरोवर सूख जाता है ।

अहो देहप्रदानेन दर्शितातिथिपूजना ।
तस्माद् धर्मं चरिष्यामि धर्मो हि परमा गतिः ।।७०।।

"अहो ! महात्मा कबूतर ने अपने शरीर का दान करके मेरे समक्ष अतिथि-सत्कार का उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया है, अतः मैं भी अब धर्म का ही आचरण करूँगा, क्योंकि धर्म ही परम गति है ।"

एवमुक्त्वा विनिश्चित्य रौद्रकर्मा स लुब्धकः ।
महाप्रस्थानमाश्रित्य प्रययौ संशितव्रतः ।।७१।।

ऐसा कह और धर्माचरण का निश्चय कर वह भयानक कर्म करनेवाला व्याध कठोरव्रत का आश्रय ले महाप्रस्थान के पथ पर चल दिया ।

ततो यष्टिं शलाकां च क्षारकं पञ्जरं तथा ।
तां च बद्धां कपोतीं स प्रमुच्य विससर्ज ह ।।७२।।

उस समय उसने कैद की हुई कबूतरी को पींजरे से मुक्त करके अपनी लाठी, शलाका, जाल और पिंजरा सब-कुछ छोड़ दिया ।

ततो गते शाकुनिके कपोती प्राह दुःखिता ।
संस्मृत्य च भर्तारं रुदती शोककर्शिता ।।७३।।

युधिष्ठिर ! उस बहेलिये के चले जाने पर कबूतरी अपने पति का स्मरण करके शोकाकुल हो उठी और दुःखी हो रोती हुई विलाप करने लगी ।

नाहं ते विप्रियं कान्त कदाचिदपि संस्मरे ।
लालिताहं त्वया नित्यं बहुमानाच्च पूजिता ।।७४।।

"प्रियतम ! आपने कभी मेरा अप्रिय किया हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है । आपने सदा ही मेरे साथ दुलार किया और बड़े सम्मान के साथ मुझे आदर-पूर्वक रखा ।

कन्दरेषु च शैलानां नदीनां निर्झरेषु च ।
द्रुमाग्रेषु च रम्येषु रमिताहं त्वया सह ।।७५।।
आकाशगमने चैव विहृताहं त्वया सुखम् ।
रमामि स्म पुरा कान्त तन्मे नास्त्यद्य किंचन ।।७६।।

"मैंने आपके साथ पर्वतों की गुहाओं में, नदियों के तटों पर, झरनों के आसपास तथा वृक्षों की सुरम्य शाखाओं पर रमण किया है । आकाश-यात्रा में भी मैं सदा आपके साथ रमण करती रही हूँ । प्राणेश्वर ! जैसे मैं पहले आपके साथ आनन्दपूर्वक रमण करती थी, अब उन सब सुखों में से कुछ भी मेरे लिए शेष नहीं रह गया है ।

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ।।७७।।

"पिता, भ्राता और पुत्र—ये सब लोग नारी को परिमित सुख देते हैं । केवल पति ही उसे अपरिमित या असीम सुख देता है—ऐसे पति का कौन स्त्री आदर-सत्कार नहीं करेगी !

नास्ति भर्तृसमो नाथो नास्ति भर्तृसमं सुखम् ।
विसृज्य धनसर्वस्वं भर्ता वै शरणं स्त्रियाः ।।७८।।

"स्त्री के लिए पति के समान कोई रक्षक नहीं है और पति के तुल्य कोई सुख भी नहीं है । उसके लिए तो धन और सर्वस्व को त्यागकर पति ही गति है ।

न कार्यमिह मे नाथ जीवितेन त्वया विना ।
पतिहीना तु का नारी सती जीवितुमुत्सहेत् ।।७९।।

"प्राणनाथ ! इस संसार में आपके बिना जीवन से भी क्या प्रयोजन है ? ऐसी कौन-सी पतिव्रता स्त्री होगी, जो पति के बिना जीवित रह सकेगी ?"

एवं विलप्य बहुधा करुणं सा सुदुःखिता ।
पतिव्रता सम्प्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम् ।।८०।।

इस प्रकार अनेक प्रकार से करुणाजनक विलाप करके अत्यन्त दुःख में डूबी हुई वह पतिव्रता कबूतरी उसी प्रज्वलित अग्नि में समा गई ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि अष्टात्रिंशोऽध्यायः ।।३८।।

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

लोभ से होनेवाले पापों का वर्णन, दम और तप की महिमा

युधिष्ठिर उवाच

पापस्य यदधिष्ठानं यतः पापं प्रवर्तते।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतभूषण ! मैं यथार्थरूप से यह सुनना चाहता हूँ कि पाप का अधिष्ठान क्या है और उसकी प्रवृत्ति किससे होती है ?

भीष्म उवाच

पापस्य यदधिष्ठानं तच्छृणुष्व नराधिपः।
एको लोभो महाग्राहो लोभात् पापं प्रवर्तते ॥२॥

भीष्मजी बोले—नृप ! पाप का जो अधिष्ठान है, उसे सुनो। एकमात्र लोभ ही पाप का कारण है। वह मनुष्य को निगल जाने के लिए एक बड़ा ग्राह है। लोभ से ही पाप की प्रवृत्ति होती है।

अतः पापमधर्मश्च तथा दुःखमनुत्तमम्।
निकृत्या मूलमेतद्धि येन पापकृतो जनाः ॥३॥

लोभ से ही पाप, अधर्म तथा महान् दुःख की उत्पत्ति होती है। शठता और छलकपट का मूल कारण भी लोभ ही है। इसी के कारण मनुष्य पापाचारी हो जाते हैं।

लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रवर्तते।□
लोभान्मोहश्च माया च मानः स्तम्भः परासुता ॥४॥

लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है, लोभ से ही काम की प्रवृत्ति होती है तथा लोभ से ही माया, मोह, अभिमान, उद्दण्डता और पराधीनता आदि दोष प्रादुर्भूत होते हैं।

अक्षमा ह्रीपरित्यागः श्रीनाशो धर्मसंक्षयः।□
अभिध्याप्रख्यता चैव सर्वं लोभात्प्रवर्तते ॥५॥

असहनशीलता, निर्लज्जता, धन का नाश, धर्म की हानि, चिन्ता और अपयश—ये सब लोभ के ही कारण प्रकट होते हैं।

दम्भो द्रोहश्च निन्दा च पैशुन्यं मत्सरस्तथा।
भवन्त्येतानि कौरव्य लुब्धानामकृतात्मनाम् ॥६॥

हे कुरुनन्दन ! दम्भ, द्रोह, निन्दा, चुगली और मत्सरता—ये सभी दोष अजितात्मा लोभी पुरुषों में ही होते हैं।

दर्पः क्रोधो मदः स्वप्नो हर्षः शोकोऽतिमानिता।□
एत एव हि कौरव्य दृश्यन्ते लुब्धबुद्धिषु ॥७॥

हे कुरुनन्दन ! जिनकी बुद्धि लोभ में फँसी हुई है, उन मनुष्यों में दर्प, क्रोध, मद, दुःस्वप्न, हर्ष, शोक और अतिमान=स्वार्थ—ये ही दोष दिखाई देते हैं।

युधिष्ठिर उवाच

अनर्थानामधिष्ठानमुक्तो लोभः पितामह।
अज्ञानमपि वै तात श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥८॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! आपने सब अनर्थों के आधारभूत लोभ का वर्णन तो किया, अब अज्ञान का भी यथार्थरूप से वर्णन कीजिए, मैं उसके परिणाम को भी सुनना चाहता हूँ।

भीष्म उवाच

करोति पापं योऽज्ञानान्नात्मनो वेत्ति च क्षयम्।
प्रद्वेष्टि साधुवृत्तांश्च स लोकस्यैति वाच्यताम् ॥९॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! जो मनुष्य अज्ञानवश पाप करता है और उससे होनेवाली अपनी ही हानि को नहीं समझता एवं श्रेष्ठ पुरुषों से द्वेष करता है, उसकी संसार में बड़ी निन्दा होती है।

अज्ञानान्निरयं याति तथाज्ञानेन दुर्गतिम्।
अज्ञानात् क्लेशमाप्नोति तथापत्सु निमज्जति ॥१०॥

अज्ञान के कारण जीव नरक में पड़ता है। अज्ञान से ही उसकी दुर्गति होती है। अज्ञान से वह कष्ट उठाता है और विपत्तियों के सागर में डूब जाता है।

रागो द्वेषस्तथा मोहो हर्षः शोकोऽभिमानिता।
कामः क्रोधश्च दर्पश्च तन्द्रा चालस्यमेव च ॥११॥
इच्छा द्वेषस्तथा तापः परवृद्ध्युपतापिता।
अज्ञानमेतन्निर्दिष्टं पापानां चैव याः क्रियाः ॥१२॥

राजन् ! राग, द्वेष, मोह, हर्ष, शोक, अभिमान, काम, क्रोध, दर्प, तन्द्रा, आलस्य, इच्छा, वैर, ताप, दूसरों की उन्नति देखकर जलना और पाप में प्रवृत्त होना—इन सबको अज्ञान बताया गया है, [क्योंकि ये अज्ञान से ही प्रकट होते हैं]।

युधिष्ठिर उवाच

महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत ।
किं स्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम् ।।१३।।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भारत ! धर्म का मार्ग बहुत बड़ा है । इससे बहुत-सी शाखाएँ निकली हुई हैं । इन धर्मों में कौन-सा धर्म सर्वोत्तम और अवश्य पालन करने योग्य माना गया है ?

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि येन श्रेयो ह्यवाप्स्यसि ।
पीत्वामृतमिव प्राज्ञो ज्ञानतृप्तो भविष्यसि ।।१४।।

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! मैं अति प्रसन्नता-पूर्वक तुम्हें वह उपाय बताता हूँ, जिससे तुम्हें कल्याण की प्राप्ति होगी । जैसे अमृत का पान कर पूर्ण तृप्ति हो जाती है, उसी प्रकार तुम ज्ञानी होकर इस ज्ञानामृत से पूर्णतः तृप्त हो जाओगे ।

धर्मस्य विधयो नैके ये वै प्रोक्ता महर्षिभिः ।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम् ।।१५।।

महर्षियों ने अपने-अपने ज्ञान के अनुसार धर्म की एक नहीं अनेक विधियाँ बताई हैं, परन्तु उन सबका आधार दम [मनोनिग्रह] ही है ।

दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः ।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ।।१६।।

धर्म के सिद्धान्त को जाननेवाले वृद्धजन दम को परम कल्याण का साधन बताते हैं । विशेषरूप से ब्राह्मणों के लिए तो दम ही सनातन धर्म है ।

दमात् तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते ।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते ।।१७।।

दम से ही उसे अपने शुभ कर्मों की यथावत् सिद्धि प्राप्त होती है । दम उसके लिए दान, यज्ञ-अनुष्ठान और स्वाध्याय से भी बढ़कर है ।

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम् ।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ।।१८।।

दम से तेज की वृद्धि होती है, दम परम पवित्र साधन है, दम से पापरहित हुआ तेजस्वी मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम ।
दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम् ।।१९।।

हमने संसार में दम के समान दूसरा कोई धर्म नहीं सुना । लोक में सभी धर्मावलम्बियों के यहाँ दम को उत्कृष्ट बताया गया है । सबने उसकी प्रभूत प्रशंसा की है ।

सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं पर्येति लोकाँश्च मनश्चास्य प्रसीदति ।।२०।।

दम का सेवी सुख से सोता है, सुख से जागता है और सुखपूर्वक ही लोकों में विचरता है । उसका मन सदा प्रसन्न रहता है ।

अदान्तः पुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते ।
अनर्थांश्च बहूनन्यान् प्रसृजत्यात्मदोषजान् ।।२१।।

अदान्त [जिसका मन वश में नहीं है—वह पुरुष] निरन्तर क्लेश उठाता है । साथ ही वह अपने ही दोषों से अन्य बहुत-से दोषों की सृष्टि कर लेता है ।

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम् ।□
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।।२२।।
अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः प्रियवादिता ।□
अविहिंसानसूया चाप्येषां समुदयो दमः ।।२३।।

क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्यभाषण, सरलता, इन्द्रिय-विजय, दक्षता, कोमलता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, क्रोधहीनता, सन्तोष, मधुर भाषण का स्वभाव, किसी भी प्राणी को कष्ट न देना और दूसरों के दोष न देखना—इन सद्गुणों का उदय होना ही दम कहलाता है ।

गुरुपूजा च कौरव्य दया भूतेष्वपैशुनम् ।
जनवादं मृषावादं स्तुतिनिन्दाविसर्जनम् ।।२४।।
कामं क्रोधं च लोभं च दर्पं स्तम्भं विकत्थनम् ।
रोषमीर्ष्यावमानं च नैव दान्तो निषेवते ।।२५।।

हे कुरुनन्दन ! मनोनिग्रही में गुरुजनों के प्रति आदर का भाव, समस्त प्राणियों के प्रति दया और किसी की भी चुगली न खाने की प्रवृत्ति होती है । वह लोकापवाद, असत्य-भाषण, निन्दा-स्तुति की प्रवृत्ति, काम, क्रोध, लोभ, दर्प, जड़ता, डींग हाँकना, रोष, ईर्ष्या और दूसरों का अपमान—इन दुर्गुणों का कभी सेवन नहीं करता ।

अनिन्दितो ह्यकामात्मा नाल्पेष्वर्थ्यनसूयकः ।
समुद्रकल्पः स नरो न कथञ्चन पूर्यते ।।२६।।

दान्त [दमनशील] पुरुष की कभी निन्दा नहीं होती। उसके मन में कोई कामना नहीं होती। वह छोटी-छोटी वस्तुओं के लिए किसी के समक्ष हाथ नहीं फैलाता अथवा तुच्छ विषय-भोगों की अभिलाषा नहीं रखता, दूसरों के दोष नहीं देखता। वह समुद्र के समान अगाध और गम्भीर होता है। जैसे समुद्र अनन्त जलराशि पाकर भी भरता नहीं है, वैसे ही वह भी निरन्तर धर्म-सञ्चय से कभी तृप्त नहीं होता।

सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविद् बुधः।
प्राप्येह लोके सत्कारं सुगतिं प्रतिपद्यते ॥२७॥

जो सदाचारी, शीलसम्पन्न, प्रसन्नचित्त और आत्मतत्त्व को जाननेवाला है, वह विद्वान् पुरुष इस लोक में मान-सम्मान पाकर परलोक में परमगति पाता है।

एक एव दमे दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥२८॥

दम [मनोनिग्रह] में एक ही दोष है, दूसरा नहीं। वह यह कि क्षमाशील होने के कारण उसे लोग असमर्थ समझने लगते हैं।

एकोऽस्य सुमहाप्राज्ञ दोषः स्यात्सुमहान्गुणः।
क्षमायां विपुला लोकाः सुलभा हि सहिष्णुता ॥२९॥

महाप्राज्ञ युधिष्ठिर! उसका यह एक दोष ही महान् गुण हो सकता है। क्षमा धारण करने से उसे अनेक पुण्यलोक [श्रेष्ठ योनियाँ] सुलभ होते हैं। साथ ही क्षमा से सहिष्णुता भी आ जाती है।

दान्तस्य किमरण्येन तथादान्तस्य भारत।
यत्रैव निवसेद् दान्तस्तदरण्यं स चाश्रमः ॥३०॥

भारत! संयमी पुरुष को वन में जाने की क्या आवश्यकता है और जो असंयमी है, उसे वन में रहने से भी क्या लाभ है? संयमी मनुष्य जहाँ रहे वहीं उसके लिए वन और आश्रम है।

वैशम्पायन उवाच

एतद् भीष्मस्य वचनं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः।
अमृतेनेव संतृप्तः प्रहृष्टः समपद्यत ॥३१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मजी की यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिर अति प्रसन्न हुए, मानो अमृत पीकर तृप्त हो गये हों।

पुनश्च परिपप्रच्छ भीष्मं धर्मभृतां वरम्।
तपः प्रति स चोवाच तस्मै सर्वं कुरूद्वह ॥३२॥

कुरुश्रेष्ठ! तत्पश्चात् उन्होंने धर्मात्माओं में श्रेष्ठ भीष्मजी से पुनः तप के विषय में प्रश्न किया। तब भीष्मजी ने उन्हें उसके विषय में सब-कुछ बताना आरम्भ किया।

भीष्म उवाच

सर्वमेतत् तपोमूलं कवयः परिचक्षते।
न ह्यतप्ततपा मूढः क्रियाफलमवाप्नुते ॥३३॥

भीष्मजी बोले—राजन्! इस सम्पूर्ण जगत् का मूलकारण तप ही है, ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं। जिस मूढ़ ने तप नहीं किया, उसे अपने शुभ कर्मों का फल नहीं मिलता।

प्रजापतिरिदं सर्वं तपसैवासृजत् प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥३४॥

भगवान् प्रजापति ने तप से ही इस सारे संसार की सृष्टि की है और ऋषियों ने तप करके ही वेदों का ज्ञान प्राप्त किया है।

औषधान्यगदादीनि क्रियाश्च विविधास्तथा।
तपसैव हि सिद्ध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम् ॥३५॥

औषध, आरोग्यादि की प्राप्ति तथा नाना प्रकार की क्रियाएँ तप से ही सिद्ध होती हैं, क्योंकि प्रत्येक साधन की जड़ तपस्या ही है।

यद्दुरापं भवेत्किंचित्तत्सर्वं तपसो भवेत्।
ऐश्वर्यमृषयः प्राप्तास्तपसैव न संशयः ॥३६॥

संसार में जो कुछ भी दुर्लभ वस्तु है, वह सब तपस्या से सुलभ हो सकती है। ऋषियों ने तपस्या से ही अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्य [आठ प्रकार की सिद्धियों] को प्राप्त किया है, इसमें सन्देह नहीं है।

न दुष्करतरं दानान्नातिमातरमाश्रयः।
त्रैविद्येभ्यः परं नास्ति संन्यासः परमं तपः ॥३७॥

दान से बढ़कर कोई दुष्कर धर्म नहीं है, माता से बड़ा कोई दूसरा आश्रय नहीं है, वेदों के विद्वानों से श्रेष्ठ कोई विद्वान् नहीं है और संन्यास सबसे बड़ा तप है।

अहिंसा सत्यमक्रोधः सर्वाश्रमगतं तपः ।
तपसा शक्यते प्राप्तुं देवत्वमपि निश्चयात् ।।३८।।

किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना और मन में क्रोध न आने देना—यह सभी आश्रमियों के लिए उपयोगी तप है। इस तप से निश्चय ही देवत्व भी प्राप्त किया जा सकता है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ।।३९।।

चत्वारिंशोऽध्यायः

सत्य के लक्षण, स्वरूप और महत्त्व का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं धर्मं प्रशंसन्ति विप्रर्षिपितृदेवताः ।
सत्यमिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि पितामह ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! ब्राह्मण, ऋषि, पितर और देवता—ये सभी सत्य-भाषणरूप धर्म की प्रशंसा करते हैं, अतः मैं यह सुनना चाहता हूँ कि सत्य क्या है ? मुझे उसका उपदेश कीजिए।

सत्यं किं लक्षणं राजन् कथं वा तदवाप्यते ।
सत्यं प्राप्य भवेत्किं च कथं चैव तदुच्यताम् ।।२।।

राजन् ! सत्य का लक्षण क्या है ? उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? सत्य का पालन करने से क्या लाभ होता है और कैसे होता है ? यह बताइए।

भीष्म उवाच

सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः ।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः ।।३।।

भीष्मजी ने कहा—राजन् ! सत्पुरुषों में सदा सत्यरूप धर्म ही दृष्टिगोचर होता है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्य को ही सदा सिर झुकाना चाहिए, क्योंकि सत्य ही जीव की परम गति है।

सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम् ।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।।४।।

सत्य ही धर्म, तप और योग है। सत्य ही सनातन ब्रह्म है। सत्य को ही परम यज्ञ कहा गया है और सब-कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है।

आचारानिह सत्यस्य प्रवक्ष्यामि च लक्षणम् ।
प्राप्यते च यथा सत्यं तच्च श्रोतुमिहार्हसि ।।५।।

अब मैं तुम्हें सत्य के आचार और लक्षण बताऊँगा। साथ ही यह भी बताऊँगा कि सत्य की प्राप्ति कैसे होती है ? तुम ध्यान देकर सुनो।

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः । □
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता ।।६।।
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा । □
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ।।७।।

हे राजेन्द्र ! सत्य, समता, दम=मनोनिग्रह, मत्सरता [डाह] का अभाव, क्षमा, लज्जा, सहनशीलता, अनसूया [दूसरों के दोष न देखना], त्याग, परमात्मा का ध्यान, आर्यता=श्रेष्ठ आचरण, सदा स्थिर रहनेवाला धैर्य और अहिंसा—ये तेरह सत्य के ही रूप हैं, इसमें संशय नहीं है।

सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च ।
सर्वधर्माविरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते ।।८।।

सदा एकरस, अविनाशी और अविकारी होना ही सत्य का लक्षण है। समस्त धर्मों के अनुकूल कर्तव्यपालनरूप योग के द्वारा इस सत्य की प्राप्ति होती है।

आत्मनीष्टे तथानिष्टे रिपौ च समता तथा ।
इच्छाद्वेषक्षयं प्राप्य कामक्रोधक्षयं तथा ।।९।।

अपने प्रिय मित्र और अप्रिय शत्रु में भी समान-भाव रखना 'समता' है। इच्छा, द्वेष, काम और क्रोध को मिटा देना ही समता की प्राप्ति का उपाय है।

दमो नान्यस्पृहा नित्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च ।
अभयं रोगशमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते ।।१०।।

दूसरे की वस्तु को लेने की इच्छा न करना, सदा गम्भीरता और धीरता धारण करना, भय को त्याग देना और मनोविकारों का शमन=यह 'दम' [मनोनिग्रह] का लक्षण है। इसकी प्राप्ति ज्ञान से होती है।

अमात्सर्यं बुधाः प्राहुर्दाने धर्मे च संयमः ।
अवस्थितेन नित्यं च सत्येनामत्सरी भवेत् ॥११॥

दान और धर्म करते समय मन पर संयम रखना अर्थात् इस विषय में दूसरों से ईर्ष्या न करना इसे विद्वान् लोग 'मत्सरता का अभाव' कहते हैं। सदा सत्य का पालन करने से मनुष्य मत्सरता से रहित हो जाता है।

अक्षमायाः क्षमायाश्च प्रियाणीहाप्रियाणि च ।
क्षमते सम्मतः साधुः साध्वाप्नोति च सत्यवाक् ॥१२॥

जो सहने और न सहने योग्य व्यवहारों तथा प्रिय और अप्रिय वचनों को भी समानरूप से सहन कर लेता है, वही सर्वसम्मत श्रेष्ठ क्षमाशील मनुष्य है। सत्यवादी मनुष्य को ही उत्तम रीति से क्षमाभाव की प्राप्ति होती है।

कल्याणं कुरुते बाढं धीमान्न ग्लायते क्वचित् ।
प्रशान्तवाङ्मना नित्यं ह्रीस्तु धर्मादवाप्यते ॥१३॥

जो बुद्धिमान् मनुष्य भली-भाँति दूसरों का कल्याण करता है और मन में कभी खिन्न नहीं होता, जो मन और वाणी से सदा शान्त रहता है, वही लज्जाशील माना जाता है। यह लज्जा नामक गुण धर्म के आचरण से प्राप्त होता है।

धर्मार्थहेतोः क्षमते तितिक्षा क्षान्तिरुच्यते ।
लोकसंग्रहणार्थं वै सा तु धैर्येण लभ्यते ॥१४॥

धर्म और अर्थ के लिए मनुष्य जो कष्ट सहन करता है, उसकी वह सहनशीलता 'तितिक्षा' कहलाती है। लोगों के समक्ष आदर्श उपस्थित करने के लिए उसका अवश्य पालन करना चाहिए। इसकी प्राप्ति धैर्य से होती है।

त्यागः स्नेहस्य यत्त्यागो विषयाणां तथैव च ।
रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा ॥१५॥

विषयों की आसक्ति का त्याग ही वास्तविक त्याग है। राग-द्वेष से रहित होने पर ही त्याग की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।

आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः ।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च ॥१६॥

जो मनुष्य अपने को प्रकट न करके प्रयत्नपूर्वक प्राणियों की भलाई का काम करता है, उसके उस श्रेष्ठ भाव और आचरण का नाम ही 'आर्यता' है। यह गुण आसक्ति के त्याग से प्राप्त होता है।

धृतिर्नाम सुखे दुःखे यथा नाप्नोति विक्रियाम् ।
तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥१७॥

सुख अथवा दुःख प्राप्त होने पर मन में विकार न होना 'धृति' है। अपनी उन्नति चाहनेवाले बुद्धिमान् पुरुष को सदा ही 'धृति' का सेवन करना चाहिए।

सर्वथा क्षमिणा भाव्यं तथा सत्यपरेण च ।
वीतहर्षभयक्रोधो धृतिमाप्नोति पण्डितः ॥१८॥

मनुष्य को सदा क्षमाशील और सत्य में तत्पर रहना चाहिए। जिसने हर्ष, भय और क्रोध तीनों को त्याग दिया है उस बुद्धिमान् मनुष्य को 'धैर्य' की प्राप्ति होती है।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥१९॥

मन, वचन और कर्म द्वारा सभी प्राणियों के साथ कभी द्रोह न करना तथा दया और दान—यह श्रेष्ठ पुरुषों का सनातन धर्म है।

सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं सत्यं विसृजते प्रजाः ।
सत्येन धार्यते लोकः स्वर्गं सत्येन गच्छति ॥२०॥

सत्य ही ब्रह्म है, सत्य ही तप है, सत्य ही प्रजा की सृष्टि करता है, सत्य के ही आधार पर संसार टिका हुआ है और सत्य के ही प्रभाव से मनुष्य स्वर्ग में जाता है।

नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत् ॥२१॥

सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं है। सत्य ही धर्म की आधार-शिला है, अतः सत्य का लोप नहीं करना चाहिए।

अनृतं तमसो रूपं तमसा नीयते ह्यधः ।
तमोग्रस्ता न पश्यन्ति प्रकाशं तमसाऽऽवृताः ॥२२॥

असत्य अन्धकार का रूप है। वह मनुष्य को नीचे गिराता है। अज्ञानान्धकार से घिरे हुए मनुष्य तमोगुण से ग्रस्त होकर ज्ञान के प्रकाश को नहीं देख पाते हैं।

उपैति सत्याद् दानं हि तथा यज्ञाः सदक्षिणाः ।
त्रेताग्निहोत्रं वेदाश्च ये चान्ये धर्मनिश्चयः ॥२३॥

दान का, दक्षिणासहित यज्ञ का, त्रिविध [दक्षिण, आहवनीय और गार्हपत्य] अग्नियों में हवन का, वेदों के स्वाध्याय का तथा अन्य जो धर्म का निर्णय करनेवाले शास्त्र हैं, उनके भी अध्ययन का फल मनुष्य सत्य से प्राप्त कर लेता है।

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ।।२४।।

यदि एक ओर एक सहस्र अश्वमेध यज्ञों को और दूसरी ओर केवल सत्य को तराजू पर रखा जाए तो एक सहस्र अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा सत्य का पलड़ा ही भारी होगा।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि चत्वारिंशोऽध्यायः ।।४०।।

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

काम-क्रोधादि तेरह दोषों का निरूपण तथा उनके नाश का उपाय

युधिष्ठिर उवाच

यतः प्रभवति क्रोधः कामश्च भरतर्षभ।
शोकमोहौ विधित्सा च परासुत्वं तथा मदः ।।१।।
लोभो मात्सर्यमीर्ष्या च कुत्सासूया कृपा तथा।
एतत् सर्वं महाप्राज्ञ याथातथ्येन मे वद ।।२।।

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतश्रेष्ठ! महाबुद्धिमान् पितामह! काम, क्रोध, शोक, मोह, विधित्सा [शास्त्र-विरुद्ध कार्य करने की इच्छा], परासुता [दूसरों के वध की इच्छा], मद, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, निन्दा, दोषदृष्टि और कंजूसी—ये सब दोष किससे उत्पन्न होते हैं? यह ठीक-ठीक बताने की कृपा करें।

भीष्म उवाच

त्रयोदशैतेऽतिबलाः शत्रवः प्राणिनां स्मृताः।
उपासन्ते महाराज समन्तात् पुरुषानिह ।।३।।

भीष्मजी बोले—महाराज युधिष्ठिर! तुम्हारे द्वारा कथित ये तेरह दोष मनुष्यों के अत्यन्त प्रबल शत्रु माने गये हैं। ये संसार में मनुष्यों को सब ओर से घेरे रहते हैं।

वृका इव विलुम्पन्ति दृष्ट्वैते पुरुषं बलात्।
एभ्यः प्रवर्तते दुःखमेभ्यः पापं प्रवर्तते ।।४।।

ये मनुष्य को देखते ही भेड़ियों की भाँति बल-पूर्वक उनपर टूट पड़ते हैं। इन्हीं से सबको दुःख प्राप्त होता है और इन्हीं की प्रेरणा से मनुष्य की पापों में प्रवृत्ति होती है।

एतेषामुदयं स्थानं क्षयं च पृथिवीपते।
हन्त ते कथयिष्यामि क्रोधस्योत्पत्तिमादितः।
यथातत्त्वं क्षितिपते तदिहैकमनाः शृणु ।।५।।

भूपाल! अब मैं यह बताता हूँ कि इनकी उत्पत्ति कैसे होती है? ये किस प्रकार स्थिर रहते हैं और कैसे इनका नाश होता है? सर्वप्रथम क्रोध की उत्पत्ति का यथार्थरूप से वर्णन करता हूँ। तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर इस विषय को सुनो!

लोभात् क्रोधः प्रभवति परदोषैरुदीर्यते।
क्षमया तिष्ठते राजन् क्षमया विनिवर्तते ।।६।।

राजन्! क्रोध लोभ से उत्पन्न होता है, दूसरों के दोष देखने से बढ़ता है, क्षमा करने से स्थिर हो जाता और क्षमा से ही निवृत्त हो जाता है।

संकल्पाज्जयते कामः सेव्यमानो विवर्धते।
यदा प्राज्ञो विरमते तदा सद्यः प्रणश्यति ।।७।।

काम संकल्प से उत्पन्न होता है, सेवन करने से बढ़ता है और जब बुद्धिमान् मनुष्य उससे विरक्त हो जाता है, तब वह तत्काल नष्ट हो जाता है।

प्रीत्या शोकः प्रभवति वियोगात्तस्य देहिनः।
यदा निरर्थकं वेत्ति तदा सद्यः प्रणश्यति ।।८।।

जिसपर प्रेम हो उस प्राणी के वियोग से शोक प्रकट होता है, परन्तु जब मनुष्य यह समझ लेता है कि शोक व्यर्थ है—उससे कोई लाभ नहीं है तो तुरन्त ही उस शोक की निवृत्ति हो जाती है।

अज्ञानप्रभवो मोहः पापाभ्यासात्प्रवर्तते।
यदा प्राज्ञेषु रमते तदा सद्यः प्रणश्यति ।।९।।

मोह अज्ञान से उत्पन्न होता है और पाप की आवृत्ति करने से बढ़ता है। जब मनुष्य विद्वानों का

सत्सङ्ग करता है, तब उसका मोह तत्काल नष्ट हो जाता है ।

विरुद्धानीह शास्त्राणि ये पश्यन्ति कुरूद्वह ।
विधित्सा जायते तेषां तत्त्वज्ञान्निवर्तते ।।१०।।

कुरुश्रेष्ठ ! जो लोग धर्म के विरोधी शास्त्रों का अवलोकन करते हैं, उनके मन में विधित्सा [अनुचित कार्य करने की इच्छा] उत्पन्न होती है, यह तत्त्व-ज्ञान से दूर होती है ।

परासुता क्रोधलोभादभ्यासाच्च प्रवर्तते ।
दयया सर्वभूतानां निर्वेदात्सा निवर्तते ।।११।।

परासुता [दूसरों के वध की इच्छा] क्रोध, लोभ और अभ्यास के कारण उत्पन्न होती है । समस्त प्राणियों के प्रति दया और वैराग्य होने से उसकी निवृत्ति हो जाती है ।

कुलाज्ज्ञानात्तथैश्वर्यान्मदो भवति देहिनाम् ।
एभिरेव तु विज्ञातैः स च सद्यः प्रणश्यति ।।१२।।

अपने उत्तम कुल, उत्कृष्ट ज्ञान और ऐश्वर्य का अभिमान होने से देहाभिमानी मनुष्यों पर मद सवार हो जाता है परन्तु इनके यथार्थस्वरूप का ज्ञान होते ही वह मद तत्काल उतर जाता है ।

अज्ञानप्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा ।
अस्थिरत्वं च भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा निवर्तते ।।१३।।

प्राणियों का भोगों के प्रति जो लोभ दृष्टिगोचर होता है, वह अज्ञान के ही कारण है । भोगों की क्षण-भंगुरता को देखने तथा जानने से वह शान्त हो जाता है ।

सत्यत्यागात्तु मात्सर्यमहितानां च सेवया ।
एतत्तु क्षीयते तात साधूनामुपसेवनात् ।।१४।।

सत्य के त्याग और दुष्टों का सङ्ग करने से मात्सर्य-दोष की उत्पत्ति होती है । तात ! श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा और उनका सङ्ग करने से उसका नाश होता है ।

ईर्ष्या कामात्प्रभवति सहर्षाच्चैव जायते ।
इतरेषां तु सत्त्वानां प्रज्ञया सा प्रणश्यति ।।१५।।

मन में कामना उत्पन्न होने से तथा दूसरे प्राणियों की प्रसन्नता को देखने से ईर्ष्या की उत्पत्ति होती है और विवेकशील बुद्धि के द्वारा उसका नाश होता है ।

विभ्रमाल्लोकबाह्यानां द्वेष्यैर्वाक्यैरसम्मतैः ।
कुत्सा सञ्जायते राजन्नुपेक्षाभिः प्रशाम्यति ।।१६।।

राजन् ! समाज से बहिष्कृत हुए नीच मनुष्यों के द्वेषपूर्ण तथा अप्रामाणिक वचनों को सुनकर भ्रम में पड़ जाने से निन्दा करने का स्वभाव बन जाता है, उपेक्षा से उसकी शान्ति हो जाती है ।

प्रतिकर्तुं न शक्ता ये बलस्थायापकारिणे ।
असूया जायते तीव्रा कारुण्याद्विनिवर्तते ।।१७।।

जो लोग अपकार करनेवाले बलवान् मनुष्य से बदला लेने में असमर्थ होते हैं, उनके हृदय में तीव्र असूया [दोषदर्शन की प्रवृत्ति] उत्पन्न होती है । दया का भाव जाग्रत् होने से उसकी निवृत्ति हो जाती है ।

कृपणान् सततं दृष्ट्वा ततः सञ्जायते कृपा ।
धर्मनिष्ठां यदा वेत्ति तदा शाम्यति सा कृपा ।।१८।।

सदा कृपण=कंजूस लोगों को देखने से अपने में भी कृपणता का भाव उत्पन्न हो जाता है । धर्मनिष्ठ पुरुषों के उदारभाव को जान लेने पर कृपणता का भाव नष्ट हो जाता है ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकचत्वारिंशोऽध्यायः ।।४१।।

द्विचत्वारिंशोऽध्याय।

नीच और श्रेष्ठ पुरुषों के लक्षण

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यं विजानामि दर्शनेन सतां सदा ।
नृशंसान्न विजानामि तेषां कर्म च भारत ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतनन्दन ! सदा सज्जनों के सङ्ग और दर्शन से मैं इस बात को जानता हूँ कि कोमलतापूर्ण व्यवहार कैसे किया जाता है परन्तु नृशंस मनुष्यों और उनके कर्मों का मुझे विशेष ज्ञान नहीं है ।

कण्टकान् कूपमग्निं च वर्जयन्ति यथा नराः ।
तथा नृशंसकर्माणं वर्जयन्ति नरा नरम् ।।२।।

जैसे मनुष्य मार्ग में आनेवाले काँटों, कुएँ और आग को बचाकर चलते हैं, उसी प्रकार मनुष्य नृशंस [क्रूरतापूर्ण] कर्म करनेवाले पुरुष को भी दूर से ही त्याग देते हैं।

नृशंसो दह्यते नित्यं प्रेत्य चेह च भारत।
तस्मात्त्वं ब्रूहि कौरव्य तस्य धर्मविनिश्चयम् ॥३॥

भारत! कुरुनन्दन! नृशंस मनुष्य दोनों लोकों में सदा शोक की अग्नि से जलता रहता है, अतः आप मुझे नृशंस मनुष्य और उसके धर्म-कर्म का यथार्थ परिचय दीजिए।

भीष्म उवाच

स्पृहा स्याद् गर्हिता चैव विधित्सा चैव कर्मणाम्।
आक्रोष्टा क्रुश्यते चैव वञ्चितो बुद्ध्यते च सः ॥४॥
दत्तानुकीर्तिर्विषमः क्षुद्रो नैकृतिकः शठः।
असंविभागी मानी च तथा सङ्गी विकत्थनः ॥५॥
सर्वातिशङ्की पुरुषो बलीशः कृपणोऽथवा।
वर्गप्रशंसी सततमाश्रमद्वेषसंकरी ॥६॥
हिंसाविहारः सततमविशेषगुणागुणः।
बह्वलीकोऽमनस्वी च लुब्धोऽत्यर्थं नृशंसकृत् ॥७॥

भीष्मजी बोले—राजन्! जिसके मन में अत्यन्त घृणित इच्छाएँ रहती हैं, जो हिंसा-प्रधान कुत्सित कर्मों को प्रारम्भ करना चाहता है, स्वयं दूसरों की निन्दा करता है और दूसरे उसकी निन्दा करते हैं, जो अपने को दैव [भाग्य] से वञ्चित समझता है तथा पाप में प्रवृत्त होता है, अपने द्वारा प्रदत्त दान का बारम्बार बखान करता है, जिसके मन में विषमता भरी रहती है, जो नीच कर्म करनेवाला, दूसरों की जीविका को नष्ट करनेवाला और शठ है, जो भोग्य वस्तुओं को दूसरों को दिये बिना ही अकेले भोगता है, जो अभिमानी है, जो विषयों में आसक्त और अपनी प्रशंसा के लिए व्यर्थ ही बढ़-चढ़कर बातें बनानेवाला है, जिसके मन में सबके प्रति सन्देह बना रहला है, जो कौए की भाँति वञ्चक दृष्टि रखनेवाला है, जो अति कृपण है, जो अपने ही वर्ग के लोगों की प्रशंसा करता, सदा आश्रमों से द्वेष रखता और वर्णसंकरता फैलाता है, जिसका घूमना-फिरना हिंसा के लिए होता है, जो गुण को भी अवगुण के समान समझता है और अत्यन्त झूठ बोलता है, जिसके मन में उदारता नहीं है और जो अत्यन्त लोभी है, ऐसा मनुष्य ही नृशंस कर्म करनेवाला कहा गया है।

धर्मशीलं गुणोपेतं पापमित्यवगच्छति।
आत्मशीलप्रमाणेन न विश्वसिति कस्यचित् ॥८॥

वह धर्मात्मा और गुणवान् पुरुषों को ही पापी मानता है तथा अपने स्वभाव को आदर्श मानकर किसी पर विश्वास नहीं करता।

परेषां यत्र दोषः स्यात्तद् गुह्यं सम्प्रकाशयेत्।
समानेष्वेव दोषेषु वृत्त्यर्थमुपघातयेत् ॥९॥

वह जहाँ दूसरों की निन्दा होती है, वहाँ उनके गुप्त दोषों को भी प्रकट कर देता है तथा अपने और दूसरे के अपराध बराबर होने पर भी वह आजीविका के लिए दूसरों का ही सर्वनाश करता है।

तथोपकारिणं चैव मन्यते वञ्चितं परम्।
दत्त्वापि च धनं काले संतपत्युपकारिणे ॥१०॥

जो उसका उपकार करता है, उसे वह अपने जाल में फँसा हुआ समझता है और उपकारी को भी यदि कभी धन देता है तो उसके लिए बहुत समय तक पश्चात्ताप करता रहता है।

भक्ष्यं पेयमथो लेह्यं यच्चान्यत्साधु भोजनम्।
प्रेक्षमाणेषु योऽश्नीयान्नृशंसमिति तं वदेत् ॥११॥

जो मनुष्य दूसरों के देखते रहने पर भी उत्तम भक्ष्य, पेय, लेह्य [चाटने योग्य] तथा अन्य भोज्य पदार्थों को अकेला ही खा जाता है, उसे भी नृशंस ही कहना चाहिए।

ब्राह्मणेभ्यः प्रदायाग्रं यः सुहृद्भिः सहाश्नुते।
स प्रेत्य लभते स्वर्गमिह चानन्त्यमश्नुते ॥१२॥

जो पहले ब्राह्मणों को दे-[खिला]-कर तत्पश्चात् अपने सुहृदों के साथ स्वयं भोजन करता है, वह इस लोक में अनन्त सुख भोगता है और मृत्यु के पश्चात् स्वर्गलोक [उत्कृष्ट मानव-योनि] में जाता है।

एष ते भरतश्रेष्ठ नृशंसः परिकीर्तितः।
शिष्टांस्तु परिपृच्छेथा यान्वक्ष्यामि शुचिव्रतान् ॥१३॥

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार तुम्हारे प्रश्न के अनुसार यहाँ नृशंस मनुष्य का परिचय दिया गया है। तुम्हें

शिष्ट पुरुषों से ही अपनी शंकाओं का समाधान करना चाहिए। पवित्र नियमों का पालन करनेवाले उन शिष्ट पुरुषों का मैं परिचय दे रहा हूँ।

शिष्टाचारः प्रियो येषु दमो येषु प्रतिष्ठितः।
सुखं दुःखं समं येषां सत्यं येषां परायणम् ॥१४॥
दातारो न ग्रहीतारो दयावन्तस्तथैव च।
पितृदेवातिथेयाश्च नित्योद्युक्तास्तथैव च ॥१५॥
सर्वोपकारिणो वीराः सर्वधर्मानुपालकाः।
सर्वभूतहिताश्चैव सर्वदेयाश्च भारत ॥१६॥
न ते चालयितुं शक्या धर्मव्यापारकारिणः।
न तेषां भिद्यते वृत्तं यत्पुरा साधुभिः कृतम् ॥१७॥
कामक्रोधव्यपेता ये निर्ममा निरहंकृताः।
सुव्रताः स्थिरमर्यादास्तानुपास्व च पृच्छ च ॥१८॥

जिन्हें शिष्टाचार प्रिय है, जिनमें इन्द्रिय-संयम प्रतिष्ठित है, जिनके लिए सुख और दुःख समान हैं, सत्य ही जिनका परम आश्रय है; जो दान देते हैं, लेते नहीं, उनमें स्वभाव से ही दया भरी रहती है, जो देवताओं, पितरों और अतिथियों के सेवक होते हैं, जो सत्कर्म करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं, भरतनन्दन! जो वीर पुरुष सबका उपका करने-वाले, सम्पूर्ण धर्मों के रक्षक और सम्पूर्ण प्राणियों के हितैषी होते हैं, जो परहित के लिए सर्वस्व न्यौछा-वर कर देते हैं, जिन्हें सत्कर्म से विचलित नहीं किया जा सकता, जो धर्म के अनुष्ठान में तत्पर रहते हैं, जो पहले के श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरित सदाचार का पालन करते हैं, उनका वह आचार कभी नष्ट नहीं होता। जो काम और क्रोध से रहित, ममता और अहंकार से शून्य, उत्तम व्रत का पालन करने-वाले और धर्ममर्यादा को स्थिर रखनेवाले हैं, उन्हीं महापुरुषों का सङ्ग करो, उन्हीं से अपने सन्देह पूछो।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४२॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

शोकाकुल मन की शान्ति के लिए राजा सेनजित् एवं ब्राह्मण के संवाद का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
यया बुद्ध्या नुदेच्छोकं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! धन के नष्ट हो जाने पर अथवा स्त्री, पुत्र या पिता के मर जाने पर जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य अपने शोक का निवारण करे, वह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
अहो दुःखमिति ध्यायञ्शोकस्यापचितिं चरेत् ॥२॥

भीष्मजी बोले—वत्स! जब धन नष्ट हो जाए अथवा स्त्री, पुत्र या पिता की मृत्यु हो जाए, तब "अहो! संसार कैसा दुःखमय है"—ऐसा सोचकर मनुष्य शोक को दूर करनेवाले शम-दम आदि साधनों का अनुष्ठान करे।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यथा सेनजितं विप्रः कश्चिदेत्याब्रवीत्सुहृत् ॥३॥

इस विषय में किसी हितैषी ब्राह्मण ने राजा सेनजित् के पास आकर उन्हें जैसा उपदेश किया था, उसी प्राचीन इतिहास को विद्वान् लोग दृष्टान्त के रूप में कथन किया करते हैं।

पुत्रशोकाभिसन्तप्तं राजानं शोकविह्वलम्।
विषण्णमनसं दृष्ट्वा विप्रो वचनमब्रवीत् ॥४॥

राजा सेनजित् का पुत्र कालधर्म को प्राप्त हो गया था। वे उसी की शोकाग्नि से जल रहे थे। उनका मन विषाद में डूबा हुआ था। उस शोक से व्याकुल नरेश को देखकर ब्राह्मण ने इस प्रकार कहा—

ब्राह्मण उवाच

किं नु मुह्यसि मूढस्त्वं शोच्यः किमनुशोचसि।
यदा त्वामपि शोचन्तः शोच्या यास्यन्ति तां गतिम् ॥५

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! तुम मूढ मनुष्य की भाँति क्यों मोहित हो रहे हो? तुम स्वयं ही शोक के योग्य हो, फिर दूसरों के लिए शोक क्यों करते

हो ? अहो ! एक दिन ऐसा आएगा जबकि दूसरे शोचनीय मनुष्य तुम्हारे लिए भी शोक करते हुए उसी गति को प्राप्त होंगे।

त्वं चैवाहं च ये चान्ये त्वामुपासन्ति पार्थिव ।
सर्वे तत्र गमिष्यामो यत एवागता वयम् ॥६॥

भूपाल ! तुम, मैं और ये अन्य सब लोग जो इस समय तुम्हारे समीप विराजमान हैं—सब वहीं जाएँगे, जहाँ से आये हैं।

पश्य भूतानि दुःखेन व्यतिषिक्तानि सर्वशः ।
उत्तमाधममध्यानि तेषु तेष्विह कर्मसु ॥७॥

राजन् ! देखो इस संसार में उत्तम, मध्यम और अधम—सभी प्राणी भिन्न-भिन्न कामों में आसक्त हो दुःख से ग्रस्त हो रहे हैं।

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥८॥

जिस प्रकार समुद्र में बहते हुए दो काष्ठ कभी-कभी एक-दूसरे से मिल जाते हैं तथा मिलकर फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार संसार में प्राणियों का समागम होता है।

एवं पुत्राश्च पौत्राश्च ज्ञातयो बान्धवास्तथा ।
तेषां स्नेहो न कर्तव्यो विप्रयोगो ध्रुवो हि तैः ॥९॥

इसी प्रकार पुत्र, पौत्र, जाति-बान्धव तथा सम्बन्धी भी मिल जाते हैं। उनके प्रति आसक्ति नहीं बढ़ानी चाहिए, क्योंकि एक दिन उनसे वियोग होना अवश्यम्भावी है।

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
न त्वासौ वेद न त्वं तं कः सन्किमनुशोचसि ॥१०॥

तुम्हारा पुत्र किसी अज्ञात स्थिति से आया था और पुनः अज्ञात स्थिति में चला गया है। न तो वह तुम्हें जानता था और न तुम उसे जानते थे, फिर तुम उसके कौन होकर किसलिए शोकाकुल हो रहे हो ?

तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ।
सुखात्सञ्जायते दुःखं दुःखमेवं पुनः पुनः ॥११॥

संसार में विषयों की तृष्णा से व्याकुलता होती है, उसी का नाम दुःख है तथा उस दुःख का विनाश ही सुख है। उस सुख के पश्चात् [पुनः कामना-जनित] दुःख होता है। इस प्रकार बारम्बार दुःख की प्राप्ति होती रहती है।

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
सुखदुःखे मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्ततः ॥१२॥

सुख के पश्चात् दुःख और दुःख के बाद सुख आता है। मनुष्यों के सुख और दुःख चक्र की भाँति घूमते रहते हैं।

सुखात्त्वं दुःखमापन्नः पुनरापत्स्यते सुखम् ।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ॥१३॥

इस समय तुम सुख से दुःख में आ पड़े हो। अब फिर तुम्हें सुख प्राप्त होगा। यहाँ किसी भी प्राणी को न तो सदा सुख ही प्राप्त होता है और न सदा दुःख ही।

स्नेहपाशैर्बहुविधैराविष्टविषया जनाः ।
अकृतार्थाश्च सीदन्ते जलैः सैकतसेतवः ॥१४॥

मनुष्य नाना प्रकार के स्नेह-बन्धनों में बँधे हुए हैं, अतः वे सदा विषयों की आसक्ति से घिरे रहते हैं। जैसे बालू से बनाये हुए पुल जल के वेग से बह जाते हैं, उसी प्रकार उन मनुष्यों की विषय-कामना सफल नहीं होती, अतः वे दुःख पाते रहते हैं।

स्नेहेन तिलवत् सर्वं सर्गचक्रे निपीड्यते ।
तिलपीडैरिवाक्रम्य क्लेशैरज्ञानसम्भवैः ॥१५॥

तेली लोग तेल के लिए जैसे तिलों को कोल्हू में पेरते हैं, वैसे ही स्नेह के कारण सब लोग अज्ञान-जनित क्लेशों द्वारा सृष्टिचक्र में पीसे जा रहे हैं।

सञ्चिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः ।
एकः क्लेशानवाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥१६॥

मनुष्य स्त्री-पुत्रादि परिवार के लिए चोरी आदि पापकर्मों का संग्रह करता है, परन्तु इस लोक और परलोक में उसे अकेले ही उन समस्त कर्मों का दुःखदायी फल भोगना पड़ता है।

किञ्चिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम् ।
तदेव परितापार्थं सर्वं सम्पद्यते तथा ॥१७॥

मनुष्य जिस-जिस भी पदार्थ में ममत्व कर लेता है, तब वे ही सब पदार्थ उसके दुःख का कारण बन जाते हैं।

यद्यस्त्यजति कामानां तत्सुखस्याभिपूर्यते ॥
कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति ॥१८॥

मनुष्य कामनाओं में से जिस-जिसका परित्याग कर देता है, वही उसके सुख की पूर्ति करनेवाली हो जाती है। जो मनुष्य कामनाओं के पीछे भागता है, वह उन्हीं के पीछे नष्ट हो जाता है।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥१९॥

संसार में जो कुछ लौकिक भोगों का सुख है और जो स्वर्ग का महान् सुख है—वे दोनों तृष्णा के क्षय से होनेवाले सुख की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं।

यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
तदाऽऽत्मज्योतिरात्मायमात्मन्येव प्रपश्यति ॥२०॥

कछुआ जैसे अपने अङ्गों को सब ओर से समेट लेता है, वैसे ही यह जीव जब अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को समेट लेता है, तब वह अपने विशुद्ध अन्तःकरण में स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा का दर्शन कर लेता है।

न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥२१॥

जब मनुष्य किसी से भय नहीं मानता और इससे भी कोई भयभीत नहीं होता तथा जब यह न तो किसी वस्तु को चाहता है और न किसी से द्वेष ही करता है, तब परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ भयाभये।
प्रियाप्रिये परित्यज्य प्रशान्तात्मा भविष्यति ॥२२॥

जब साधक सत्य और असत्य, शोक और हर्ष, भय और अभय तथा प्रिय और अप्रिय आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वों का परित्याग कर देता है, तब उसका, चित्त शान्त हो जाता है।

यदा न कुरुते धीरः सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥२३॥

जब धीर पुरुष किसी भी प्राणी के प्रति मन, वचन और कर्म से पापपूर्ण व्यवहार नहीं करता, तब परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥२४

खोटी बुद्धिवाले मनुष्य के लिए जिसका त्याग करना कठिन है, जो मनुष्य के जीर्ण=वृद्ध हो जाने पर भी कभी जीर्ण नहीं होती, जो प्राणों के साथ जानेवाला रोग है, उस तृष्णा को जो त्याग देता है, उसी को सुख मिलता है।

भीष्म उवाच

एतैश्चान्यैश्च विप्रस्य हेतुमद्भिः प्रभाषितैः।
पर्यवस्थापितो राजा सेनजिन्मुमुदे सुखी ॥२५॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मण के कहे हुए इन पूर्वोक्त तथा अन्य युक्तियुक्त वचनों से राजा सेनजित् का चित्त स्थिर हो गया। वे शोक त्यागकर सुखी हो गये तथा प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४३॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

स्वकल्याण-इच्छुक पुरुष के कर्तव्य विषय में पिता के प्रति पुत्र द्वारा ज्ञान का उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

अतिक्रामति कालेऽस्मिन् सर्वभूतक्षयावहे।
किं श्रेयः प्रतिपद्येत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! समस्त प्राणियों का संहार करनेवाला यह काल निरन्तर व्यतीत हो रहा है, ऐसी स्थिति में मनुष्य क्या करने से कल्याण का भागी हो सकता है, यह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पितुः पुत्रेण संवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥२॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! इस विषय में ज्ञानी पुरुष पिता एवं पुत्र के संवादरूप इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं। तुम उस संवाद को ध्यान देकर सुनो!

द्विजातेः कस्यचित्पार्थ स्वाध्यायनिरतस्य वै।
पुत्रो बभूव मेधावी मेधावी नाम नामतः ॥३॥

कुन्तीकुमार! प्राचीन समय में एक ब्राह्मण थे जो सदा वेदशास्त्रों के स्वाध्याय में तत्पर रहते थे।

उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो नाम से तो मेधावी था ही, गुणों से भी मेधावी ही था।

सोऽब्रवीत्पितरं पुत्रः स्वाध्यायकरणे रतम् ।
मोक्षधर्मार्थकुशलो लोकतत्त्वविचक्षणः ॥४॥

वह पुत्र मोक्ष, धर्म तथा अर्थ में कुशल और लोकव्यवहार का मर्मज्ञ था। एक दिन उस पुत्र ने अपने स्वाध्याय में संलग्न पिता से कहा—

पुत्र उवाच

धीरः किं स्वित्तात कुर्यात्प्रजानन्
क्षिप्रं ह्यायुर्भ्रश्यते मानवानाम् ।
पितस्तदाचक्ष्व यथार्थयोगं
ममानुपूर्व्या यद् धर्मं चरेयम् ॥५॥

पुत्र बोला—पिताजी ! मनुष्यों की आयु तीव्र गति से बीती जा रही है । यह जानते हुए धीरपुरुष को क्या करना चाहिए ? तात ! आप मुझे उस यथार्थ उपाय का उपदेश कीजिए, जिसके अनुसार मैं धर्म-मार्ग का अनुसरण कर सकूँ ।

पितोवाच

वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र
पुत्रानिच्छेत्पावनार्थं पितॄणाम् ।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो
वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥६॥

पिता ने कहा—वत्स ! मनुष्य को चाहिए कि वह ब्रह्मचर्य-व्रतपूर्वक सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करे, फिर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर माता-पितादि के कल्याण के लिए सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा करे, विधिपूर्वक तीनों अग्नियों की स्थापना करके यज्ञों का अनुष्ठान करे। तत्पश्चात् वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करे और मौनभाव से रहते हुए अन्त में संन्यासी होने की इच्छा करे ।

पुत्र उवाच

एवमभ्याहते लोके समन्तात् परिवारिते ।
अमोघासु पतन्तीषु किं धीर इव भाषसे ॥७॥

पुत्र बोला— पिताजी ! यह लोक जब इस प्रकार [आयु-क्षय] से मृत्यु द्वारा मारा जा रहा है, वृद्धावस्था द्वारा चारों ओर से घेर लिया गया है, दिन और रात्रि सफलतापूर्वक जीवन की डोर को काट रहे हैं, ऐसी अवस्था में भी आप धीर की भाँति कैसी बातें कर रहे हैं ?

पितोवाच

कथमभ्याहतो लोकः केन वा परिवारितः ।
अमोघाः काः पतन्तीह किन्नु भीषयसीव माम् ॥८॥

पिता ने पूछा—पुत्र ! तुम मुझे भयभीत-सा क्यों कर रहे हो ? बताओ तो सही, यह लोक किसके द्वारा मारा जा रहा है, किसने इसे घेर रखा है और कौन-से ऐसे व्यक्ति हैं जो सफलतापूर्वक अपना कार्य करके व्यतीत हो रहे हैं ?

पुत्र उवाच

मृत्युनाभ्याहतो लोको जरया परिवारितः ।
अहोरात्राः पतन्त्येते ननु कस्मान्न बुध्यसे ॥९॥

पुत्र बोला—पिताजी ! यह समस्त संसार मृत्यु के द्वारा मारा जा रहा है। बुढ़ापे ने इसे चारों ओर से घेर लिया है तथा दिन-रात ही वे व्यक्ति हैं जो सफलतापूर्वक प्राणियों की आयु का अपहरणरूप अपना कार्य करके व्यतीत हो रहे हैं, इस बात को आप समझते क्यों नहीं हैं ?

स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव ।
आयुरादाय मर्त्यानां रात्र्यहानि पुनः पुनः ॥१०॥

जैसे नदियों का प्रवाह आगे की ओर ही बढ़ता चला जाता है, पीछे की ओर नहीं लौटता, वैसे ही रात और दिन भी मनुष्य की आयु का अपहरण करते हुए बारम्बार आते और व्यतीत होते चले जाते हैं ।

यदाहमेतज्जानामि न मृत्युस्तिष्ठतीति ह ।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये जालेनापिहितश्चरन् ॥११॥

जब मैं इस बात को जानता हूँ कि मृत्यु क्षणभर के लिए भी रुक नहीं सकती और मैं उसके जाल में फँसकर ही विचर रहा हूँ, तब मैं थोड़ी देर भी प्रतीक्षा कैसे कर सकता हूँ ?

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं यदा ।
गाधोदके मत्स्य इव सुखं विन्देत कस्तदा ॥१२॥

जब एक-एक रात्रि व्यतीत होने के साथ ही आयु क्षीण होती चली जा रही है, तब छिछले जल में रहनेवाली मछली की भाँति कौन सुख पा सकता है ?

यस्यां रात्र्यां व्यतीतायां न किञ्चिच्छुभमाचरेत् ।
तदैव वन्ध्यं दिवसमिति विद्याद् विचक्षणः ।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ।।१३

जिस रात्रि के व्यतीत होने पर मनुष्य कोई शुभ कर्म न करे, उस दिन को विद्वान् मनुष्य व्यर्थ ही गया समझे। मनुष्य की कामनाएँ पूर्ण भी नहीं होने पाती हैं कि मृत्यु उसके पास आ पहुँचती है।

शष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगतमानसम् ।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ।।१४।।

जैसे घास चरती हुई भेड़ों के पास सहसा व्याघ्री पहुँच जाती है और उन्हें दबोचकर चल देती है, वैसे ही मनुष्य का मन जब दूसरी ओर लगा होता है, उस समय अकस्मात् मृत्यु आ जाती है और उसे लेकर चल देती है।

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयम् ।
अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति ।।१५।।

अतः जो कल्याणकारी कार्य हो उसे आज ही कर डालिए। आपका यह समय हाथ से न निकल जाए, क्योंकि समस्त कार्य अधूरे ही पड़े रह जाएँगे और मृत्यु आपको घसीटकर ले जाएगी।

श्वःकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम् ।।१६।।

कल किये जानेवाले काम को आज ही पूरा कर लेना चाहिए। जिसे सायंकाल करना हो उसे प्रातः-काल ही कर डालना चाहिए, क्योंकि मृत्यु यह नहीं देखती कि इसका काम अभी पूरा हुआ या नहीं।

युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम् ।
कृते धर्मे भवेत्कीर्तिरिह प्रेत्य च वै सुखम् ।।१७।।

यौवनावस्था में ही सबको धर्म का आचरण करना चाहिए, क्योंकि जीवन निःसन्देह अनित्य है। धर्माचरण से संसार में मनुष्य की कीर्ति का विस्तार होता है और परलोक में भी उसे सुख मिलता है।

दुर्बलं बलवन्तं च शूरं भीरुं जडं कविम् ।
अप्राप्ते सर्वकामार्थान् मृत्युरादाय गच्छति ।।१८।।

कोई दुर्बल हो या बलवान्, शूरवीर हो या कायर और मूर्ख हो या विद्वान्, मृत्यु उसकी समस्त काम-नाओं के पूर्ण होने से पहले ही उसे उठा ले जाती है।

मृत्युर्जरा च व्याधिश्च दुःखं चानेककारणम् ।
अनुषक्तं यदा देहे किं स्वस्थ इव तिष्ठसि ।।१९।।

पिताजी! जब इस शरीर में मृत्यु, बुढ़ापा, रोग और अनेक कारणों से होनेवाले दुःखों का आक्रमण होता ही रहता है, तब आप स्वस्थ-से होकर क्यों बैठे हैं?

जातमेवान्तकोऽन्ताय जरा चान्वेति देहिनम् ।
अनुषक्ता द्वयेनैते भावाः स्थावरजङ्गमाः ।।२०।।

देहधारी जीव के जन्म लेते ही मृत्यु और बुढ़ापा उसका अन्त करने के लिए उसके पीछे लग जाते हैं। ये समस्त चराचर प्राणी इन दोनों से बँधे हुए हैं।

न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित् प्रबाधते ।
ऋते सत्यमसत्याज्यं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम् ।।२१।।

सत्य के बिना कोई भी मनुष्य सामने आती हुई मृत्यु की सेना का कभी सामना नहीं कर सकता, अतः असत्य को त्याग देना चाहिए, क्योंकि अमृतत्व सत्य में ही स्थित है।

तस्मात् सत्यव्रताचारः सत्ययोगपरायणः ।
सत्यागमः सदा दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत् ।।२२।।

सत्य में अमृतत्व है, अतः मनुष्य को सत्यव्रत का आचरण करना चाहिए, सत्ययोग में तत्पर रहना और शास्त्रों की बातों को सत्य मानकर श्रद्धापूर्वक सदा मन और इन्द्रियों का संयम करना चाहिए। इस प्रकार सत्य के द्वारा ही मनुष्य मृत्यु पर विजय पा सकता है।

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ।
मृत्युमापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम् ।।२३।।

अमृत और मृत्यु दोनों इसी शरीर में स्थित हैं। मनुष्य मोह के कारण मृत्यु को और सत्य के आचरण से अमृत को प्राप्त होता है।

सोऽहं ह्यहिंस्रः सत्यार्थी कामक्रोधबहिष्कृतः ।
समदुःखसुखः क्षेमी मृत्युं हास्याम्यमर्त्यवत् ।।२४।।

मैं भी हिंसा से दूर रहकर सत्य की खोज करूँगा, काम और क्रोध को हृदय से निकालकर दुःख और सुख में समान-भाव रखूँगा तथा सबके लिए कल्याण-कारी बनकर देवताओं के समान मृत्यु के भय से मुक्त हो जाऊँगा।

यस्य वाङ्मनसी स्यातां सम्यक् प्रणिहिते सदा ।
तपस्त्यागश्च सत्यं च स वै सर्वमवाप्नुयात् ।।२५।।

जिसकी वाणी ग्रौर मन दोनों सदा भली-भाँति एकाग्र रहते हैं ग्रौर जो त्याग, तप तथा सत्य से सम्पन्न होता है, वह निश्चय ही सब-कुछ प्राप्त कर सकता है ।

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ।।२६।।

संसार में विद्या=ज्ञान के समान कोई नेत्र नहीं है, सत्य के समान कोई तप नहीं है, राग के समान कोई दुःख नहीं है ग्रौर त्याग के समान कोई सुख नहीं है ।

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च ।
शीलं स्थितिरार्जवं दण्डत्यागः
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ।।२७।।

परमात्मा के साथ एकता एवं समता, सत्य-भाषण, सदाचार, ब्रह्मनिष्ठा, दण्ड का परित्याग (ग्रहिंसा), सरलता तथा सब प्रकार के सकाम कर्मों से निवृत्ति—इनके समान ब्राह्मण के लिए दूसरा कोई धन नहीं है ।

किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते
किं दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि ।
ग्रात्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गताः पिता च ।।२८।।

ब्राह्मणदेव ! जब ग्राप एक दिन मृत्यु का ग्रास बन ही जाएंगे तब ग्रापको इस धन से क्या लेना है ग्रथवा बन्धु-बान्धग्रों से ग्रापका क्या प्रयोजन है ग्रौर स्त्री ग्रादि से ग्रापका कौन-सा कार्य सिद्ध होनेवाला है ? ग्राप ग्रपनी हृदयरूपी गुफा में स्थित हुए परमात्मा को खोजिए । तनिक सोचिए तो सही, ग्रापके पिता ग्रौर पितामह कहाँ चले गये ?

भीष्म उवाच

पुत्रस्यैतद्वचः श्रुत्वा यथाकार्षीत्पिता नृप ।
तथा त्वमपि वर्तस्व सत्यधर्मपरायणः ।।२९।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पुत्र का यह वचन सुनकर पिता ने जैसे सत्य धर्म का ग्रनुष्ठान किया था, उसी प्रकार तुम भी सत्यधर्म में तत्पर रहकर यथायोग्य व्यवहार करो ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ।।४४।।

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

मङ्कि-गीता—धन की तृष्णा से दुःख तथा उसकी कामना-त्याग से परम सुख की प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

ईहमानः समारम्भान् यदि नासादयेद् धनम् ।
धनतृष्णाभिभूतश्च किं कुर्वन् सुखमाप्नुयात् ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! यदि कोई मनुष्य धन की तृष्णा से ग्रस्त होकर नाना प्रकार के उद्योग करने पर भी धन न पा सके तो वह क्या करे, जिससे उसे सुख की प्राप्ति हो सके ?

भीष्म उवाच

सर्वसाम्यमनायासं सत्यवाक्यं च भारत ।
निर्वेदश्चाविधित्सा च यस्य स्यात्स सुखी नरः ।।२।।

भीष्मजी बोले—हे भारत ! सबमें समता का भाव, व्यर्थ परिश्रम का ग्रभाव, सत्यभाषण, संसार से वैराग्य ग्रौर कर्मासक्ति का ग्रभाव—ये पाँचों जिस मनुष्य में होते हैं, वह सुखी होता है ।

एतान्येव पदान्याहुः पञ्च वृद्धाः प्रशान्तये ।
एष स्वर्गश्च धर्मश्च सुखं चानुत्तमं मतम् ।।३।।

ज्ञानवृद्ध पुरुष इन्हीं पाँच वस्तुग्रों को शान्ति का कारण बताते हैं । यही स्वर्ग है ग्रौर यही धर्म है तथा यही परमोत्तम सुख माना गया है ।

ग्रत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
निर्वेदान्मङ्किना गीतं तन्निबोध युधिष्ठिर ।।४।।

युधिष्ठिर ! इस विषय में जानकार पुरुष एक प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं । मङ्कि नामक मुनि ने भोगों से विरक्त होकर जो उद्गार

प्रकट किया था, वही इस इतिहास में वर्णित है। उसे सुनाता हूँ, सुनो !

ईहमानो धनं मङ्किर्भग्नेहश्च पुनः पुनः ।
केनचिद्धनशेषेण क्रीतवान् दम्यगोयुगम् ।।५।।

मुनिवर मङ्कि धन-प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करते थे, परन्तु हर बार उनका प्रयत्न व्यर्थ हो जाता था। अन्त में जब बहुत थोड़ा धन शेष रह गया तब उस धन से उन्होंने दो नये बछड़े खरीदे।

सुसम्बद्धौ तु तौ दम्यौ दमनायाभिनिःसृतौ ।
आसीनमुष्ट्रं मध्येन सहसैवाभ्यधावताम् ।।६।।

एक दिन वे उन दोनों बछड़ों को परस्पर जोड़कर हल चलाने की शिक्षा देने के लिए ले-जा रहे थे। जब वे दोनों बछड़े ग्राम से बाहर निकले तो मार्ग में बैठे हुए एक ऊँट को बीच में करके सहसा दौड़ पड़े।

तयोः सम्प्राप्तयोरुष्ट्रः स्कन्धदेशममर्षणः ।
उत्थायोत्क्षिप्य तौ दम्यौ प्रससार महाजवः ।।७।।

जब वे उसकी गर्दन के पास पहुँचे तो ऊँट के लिए यह असह्य हो उठा, अतः वह क्रुद्ध होकर खड़ा हो गया और उन दोनों बछड़ों को लटकाये अति वेग से भागने लगा।

ह्रियमाणौ तु तौ दम्यौ तेनोष्ट्रेण प्रमाथिना ।
म्रियमाणौ च सम्प्रेक्ष्य मङ्किस्तत्राब्रवीदिदम् ।।८।।

बलपूर्वक अपहरण करनेवाले उस ऊँट के द्वारा उन दोनों बछड़ों को अपहृत होते और मरते देख मङ्कि ने इस प्रकार कहा—

न चैवाविहितं शक्यं दक्षेणापीहितुं धनम् ।
युक्तेन श्रद्धया सम्यगीहां समनुतिष्ठता ।।९।।

"मनुष्य कैसा ही चतुर क्यों न हो, जो उसके भाग्य में नहीं है, उस धन को वह श्रद्धापूर्वक सम्यक् प्रयत्न करके भी नहीं पा सकता।

कृतस्य पूर्वं चानर्थैर्युक्तस्याप्यनुतिष्ठतः ।
इमं पश्यत संगत्या मम दैवमुपप्लवम् ।।१०।।

"पहले मैंने जो प्रयत्न किया था, उसमें अनेक प्रकार के विघ्न खड़े हो गये। उन अनर्थों से युक्त होने पर भी मैं धनोपार्जन की चेष्टा में लगा रहा, परन्तु यह देखो, आज इन बछड़ों की सङ्गति से मुझ पर कैसा दैवी प्रकोप आ गया है !

उद्यम्योद्यम्य मे दम्यौ विषमेणेव गच्छति ।
उत्क्षिप्य काकतालीयमुत्पथेनैव धावतः ।।११।।
मणी वोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम ।
शुद्धं हि दैवमेवेदं हठेनैवास्ति पौरुषम् ।।१२।।

"यह ऊँट मेरे बछड़ों को उछाल-उछालकर विषम मार्ग से लिये जा रहा है। काकतालीयन्याय[1] [दैवयोग] से इन्हें गर्दन पर उठाकर बुरे मार्ग से ही दौड़ रहा है। इस ऊँट के गले में मेरे दोनों प्यारे बछड़े दो मणियों के समान लटक रहे हैं। यह केवल भाग्य का ही खेल है। हठपूर्वक किये हुए पुरुषार्थ से क्या होता है ?

तस्मान्निर्वेद एवेह गन्तव्यः सुखमिच्छता ।
सुखं स्वपिति निर्विण्णो निराशश्चार्थसाधने ।।१३।।

"इसलिए सुख के इच्छुक मनुष्य को धन आदि की ओर से वैराग्य का ही आश्रय लेना चाहिए। धनोपार्जन की चेष्टा से निराश होकर जो विरक्त हो जाता है, वह सुख की नींद सोता है।

यः कामानाप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलाँस्त्यजेत् ।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ।।१४।।

"जो मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण कर लेता है और जो इन सबका केवल त्याग कर देता है—इन दोनों के कार्यों में समस्त कामनाओं को प्राप्त करने की अपेक्षा उनका त्याग ही श्रेष्ठ है।

निवर्तस्व विधित्साभ्यः शाम्य निर्विद्य कामुक ।
असकृच्चासि निकृतो न च निर्विद्यसे ततः ।।१५।।

१. कोई यात्री एक ताड़ के वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था। उसी वृक्ष पर एक काक भी आ बैठा। कौए के आते ही ताड़ का एक पका हुआ फल नीचे गिर पड़ा। यद्यपि फल पककर स्वयमेव गिरा था परन्तु पथिक ने दोनों बातों को साथ होते देख यही समझा कि कौए के आने से ही ताड़ का फल गिरा है, अतः जहाँ संयोगवश अकस्मात् कोई घटना घट जाए, वहाँ उसे काकतालीय-न्याय से घटित हुई कहा जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में बछड़ों का आना और ऊँट का मार्ग में बैठे रहना—ये बातें संयोगवश हो गई थीं।

"अरे कामनाओं के दास मन ! तू सब प्रकार की चेष्टाओं से निवृत्त हो जा और वैराग्यपूर्ण शान्ति धारण कर। तू धन-प्राप्ति के प्रयत्न में बारम्बार ठगा गया है, तो भी उसकी ओर से तुझे वैराग्य नहीं होता है।

न पूर्वे नापरे जातु कामानामन्तमाप्नुवन्।
त्यक्त्वा सर्वसमारम्भान्प्रतिबुद्धोऽस्मि जागृमि ॥१६॥

"पूर्वकाल के तथा पीछे के मनुष्य भी कभी कामनाओं का पार नहीं पा सके, अतः मैं सम्पूर्ण कर्मों का आयोजन त्यागकर सावधान हो गया हूँ तथा मैं पूर्णतया जग गया हूँ।

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि समूलो न भविष्यसि ॥१७॥

"हे काम ! मैं तेरे मूल [आधार, जड़] को जानता हूँ। निश्चय ही तू संकल्प से उत्पन्न होता है। अब मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा, जिससे तू समूल नष्ट हो जाएगा।

ईहा धनस्य न सुखा लब्ध्वा चिन्ता च भूयसी।
लब्धनाशे यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा ॥१८॥

"धन की इच्छा सुखदायिनी नहीं है। धन की प्राप्ति पर उसकी रक्षा आदि के लिए बड़ी भारी चिन्ता बढ़ जाती है। यदि धन की प्राप्ति होकर वह नष्ट हो जाए तब तो मनुष्य को मृत्यु के समान ही भयंकर कष्ट होता है तथा पुरुषार्थ करने पर भी धन मिलेगा या नहीं यह निश्चय नहीं होता।

धननाशेऽधिकं दुःखं मन्ये सर्वमहत्तरम्।
ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते मित्राणि च धनाच्च्युतम् ॥१९॥

"मैं समझता हूँ कि धन नष्ट होने पर जो दुःख होता है, वही सबसे बढ़कर है, क्योंकि धनहीन को अपने भाई-बन्धु और मित्र भी अपमानित करने लगते हैं।

परित्यागे न लभते ततो दुःखतरं नु किम्।
न च तुष्यति लब्धेन भूय एव च मार्गति ॥२०॥

"शरीर को न्यौछावर कर देने पर भी जब मनुष्य को धन की प्राप्ति नहीं होती तो उसे इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या हो सकता है ? यदि धन मिल भी जाए तो उतने से ही वह सन्तुष्ट नहीं होता, अपितु अधिक धन की खोज करने में जुट जाता है।

अनुतर्षुल एवार्थः स्वादु गाङ्गमिवोदकम्।
मद्विलापनमेतत्तु प्रतिबुद्धोऽस्मि संत्यज ॥२१॥

"हे काम ! स्वादिष्ट गङ्गाजल के समान यह धन तृष्णा की ही वृद्धि करनेवाला है। मैं भली-भाँति जान गया हूँ कि यह तृष्णा की वृद्धि मेरे नाश का कारण है, अतः तू मेरा पिण्ड छोड़ दे।

अर्थलोलुपता दुःखमिति बुद्धं चिरान्मया।
यद् यदालम्बसे काम तत्तदेवानुरुध्यसे ॥२२॥

"धनलोलुपता दुःख का कारण है, यह बात बहुत देर के पश्चात् मेरी समझ में आई है। हे काम ! तू जिस-जिसका आश्रय लेता है, उसी-उसी के पीछे पड़ जाता है।

अतत्त्वज्ञोऽसि बालश्च दुस्तोषोऽपूरणोऽनलः।
नैव त्वं वेत्थ सुलभं नैव त्वं वेत्थ दुर्लभम् ॥२३॥

"हे काम ! तू तत्त्वज्ञान से रहित तथा बालक के समान हठी है। तुझे सन्तुष्ट करना कठिन है और अग्नि के समान तेरा पेट भरना असम्भव है। तू यह नहीं जानता कि कौन-सी वस्तु सुलभ है और कौन-सी दुर्लभ है।

पाताल इव दुष्पूरो मां दुःखैर्योक्तुमिच्छसि।
नाहमद्य समावेष्टुं शक्यः काम पुनस्त्वया ॥२४॥

"हे काम ! पाताल के समान तुझे भरना कठिन है। तू मुझे दुःखों में फँसाना चाहता है परन्तु अब तू पुनः मेरे भीतर प्रविष्ट नहीं हो सकता।

निर्वेदमहमासाद्य द्रव्यनाशाद् यदृच्छया।
निर्वृत्ति परमां प्राप्य नाद्य कामान्विचिन्तये ॥२५॥

"अकस्मात् धन नाश हो जाने से वैराग्य को प्राप्त होकर मुझे परम सुख मिल गया है, अतः अब मैं भोगों का चिन्तन नहीं करूँगा।

अतिक्लेशान् सहे चात्र नाहं बुद्ध्याम्यबुद्धिमान्।
निकृतो धननाशेन शये सर्वाङ्गविज्वरः ॥२६॥

"पहले मैं बड़े-बड़े दुःख उठाता था, क्योंकि ऐसा बुद्धिहीन हो गया था कि 'धन की कामना में दुःख है', इस बात को समझ ही नहीं पाता था, परन्तु अब धन का नाश होने से उससे वञ्चित होकर मैं सम्पूर्ण

अङ्गों के क्लेश और चिन्ताओं से मुक्त होकर सुख से सोता हूँ।

परित्यजामि काम त्वां हित्वा सर्वमनोगतीः।
न त्वं मया पुनः काम वत्स्यसे न च रंस्यसे ।।२७।।

"हे काम! मैं अपनी समस्त मनोवृत्तियों को दूर हटाकर तुझे छोड़ रहा हूँ। अब तू न तो मेरे साथ रह सकेगा और न मौज ही उड़ा सकेगा।

निर्वेदं निर्वृत्तिं तृप्तिं शान्तिं सत्यं दमं क्षमाम्।
सर्वभूतदयां चैव विद्धि मां समुपागतम् ।।२८।।

"हे काम! तू भली-भाँति समझ ले कि मुझे वैराग्य, सुख, तृप्ति, शान्ति, सत्य, दम, क्षमा और समस्त प्राणियों के प्रति दयाभाव—ये सभी सद्गुण प्राप्त हो गये हैं।

आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी ।।२९।।

"काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और ममता—ये देहधारियों के सात शत्रु हैं। इनमें सातवाँ कामरूपी शत्रु सबसे प्रबल है। उन सबके साथ इस महान् शत्रु काम का नाश करके मैं अविनाशी ब्रह्मपुर में स्थित हो राजा के समान सुखी होऊँगा।"

एतां बुद्धिं समास्थाय मङ्किर्निर्वेदमागतः।
सर्वान् कामान्परित्यज्य प्राप्य ब्रह्म महत्सुखम् ।।३०।।

राजन्! इसी बुद्धि का आश्रय लेकर मङ्कि धन और भोगों से विरक्त हो गये, तथा समस्त कामनाओं को त्यागकर उन्होंने परमानन्दस्वरूप परब्रह्म को प्राप्त कर लिया।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ।।४५।।

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

नहुष के प्रश्नों के उत्तर में बोध्यगीता

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं विदेहराजेन जनकेन प्रशाम्यता ।।१।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इसी विषय में शान्त भाव को प्राप्त हुए विदेहराज जनक ने जो उद्गार प्रकट किया था, उस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है।

अनन्तमिव मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ।।२।।

[जनक ने कहा था—] मेरे पास अनन्त-सा धन-वैभव है; फिर भी मेरा कुछ नहीं है। इस मिथिलापुरी में आग लग जाए तो भी मेरा कुछ नहीं जलता।

अत्रैवोदाहरन्तीमं बोध्यस्य पदसञ्चयम्।
निर्वेदं प्रति विन्यस्तं तं निबोध युधिष्ठिर ।।३।।

युधिष्ठिर! इसी प्रसङ्ग में वैराग्य को लक्ष्य करके मुनिवर बोध्यजी ने जो वचन कहे हैं, उन्हें बताता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो!

बोध्यं शान्तमृषिं राजा नाहुषः पर्यपृच्छत।
निर्वेदाच्छान्तिमापन्नं शास्त्रप्रज्ञानतर्पितम् ।।४।।

कहते हैं, किसी समय नहुषनन्दन राजा ययाति ने वैराग्य से शान्तभाव को प्राप्त हुए शास्त्र के उत्कृष्ट ज्ञान से पूर्ण तृप्त, परम शान्त बोध्य ऋषि से पूछा—

उपदेशं महाप्राज्ञ शमस्योपदिशस्व मे।
कां बुद्धिं समनुध्याय शान्तश्चरसि निर्वृतः ।।५।।

"महाप्राज्ञ! आप मुझे ऐसा उपदेश कीजिए, जिससे मुझे शान्ति मिले। कौन-सी ऐसी बुद्धि है, जिसका आश्रय लेकर आप शान्ति और सन्तोषपूर्वक विचरते हैं?

बोध्य उवाच

उपदेशेन वर्तेऽहं नानुशास्मीह कञ्चन।
लक्षणं तस्य वक्ष्येऽहं तत्स्वयं परिमृश्यताम् ।।६।।

बोध्य ऋषि ने कहा—राजन्! मैं किसी को उपदेश नहीं देता, अपितु स्वयं दूसरों से प्राप्त हुए उपदेश के अनुसार आचरण करता हूँ। मैं अपने को मिले हुए उपदेश का लक्षण बता रहा हूँ [जिन गुरुओं से उपदेश मिला है, उनका संकेतमात्र कर रहा हूँ] उसपर तुम स्वयं विचार करो।

पिङ्गला कुररः सर्पः सारङ्गान्वेषणं वने।
इषुकारः कुमारी च षडेते गुरवो मम ।।७।।

पिङ्गला, कुरर पक्षी, सर्प, वन में सारङ्ग का

अन्वेषण, बाण बनानेवाला और कुमारी कन्या—ये छह मेरे गुरु हैं।

भीष्म उवाच

आशा बलवती राजन् नैराश्यं परमं सुखम्।
आशां निराशां कृत्वा तु सुखं स्वपिति पिङ्गला ॥८॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! [बोध्यऋषि को अपने गुरुओं से जो उपदेश प्राप्त हुआ था, उसे इस प्रकार समझना चाहिए—] आशा अति प्रबल है। वही सबको दुःख देती है। निराशा ही परम सुख है। आशा को निराशा के रूप में परिणत करके पिङ्गला वेश्या[1] सुख से सो गई। [आशा के त्याग का उपदेश देने के कारण पिङ्गला गुरु हुई।]

सामिषं कुररं दृष्ट्वा बध्यमानं निरामिषैः।
आमिषस्य परित्यागात् कुररः सुखमेधते ॥९॥

अपनी चोंच में मांस का टुकड़ा लिये उड़ते हुए कुरर [क्रौञ्च] पक्षी को देखकर दूसरे पक्षी जो मांस नहीं लिये हुए थे, उसे मारने लगे। तब उस कुरर ने उस मांस के टुकड़े को त्याग दिया, फलस्वरूप पक्षियों ने उसका पीछा करना छोड़ दिया। इस प्रकार आमिष के त्याग से क्रौञ्च पक्षी सुखी हो गया। [भोगों के परित्याग का उपदेश देने के कारण क्रौञ्च पक्षी गुरु हुआ।]

गृहारम्भो हि दुःखाय न सुखाय कदाचन।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥१०॥

घर बनाने का झंझट करना दुःख का ही कारण है, उससे कभी सुख नहीं मिलता। देखो, साँप दूसरों के बनाये हुए घर [बिल] में प्रवेश करके सुख से रहता है, [अतः अनिकेत रहने—घर-द्वार बनाने के चक्कर में न पड़ने का उपदेश देने के कारण सर्प गुरु हुआ।]

सुखं जीवन्ति मुनयो भैक्ष्यवृत्तिं समाश्रिताः।
अद्रोहेणैव भूतानां सारङ्गा इव पक्षिणः ॥११॥

जिस प्रकार पपीहा पक्षी किसी भी प्राणी से वैर न करके याचनावृत्ति से अपना निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार मुनिजन भिक्षावृत्ति का आश्रय लेकर सुख से जीवन-यापन करते हैं। [अद्रोह का उपदेश देने के कारण पपीहा गुरु हुआ।]

इषुकारो नरः कश्चिदिषावासक्तमानसः।
समीपेनापि गच्छन्तं राजानं नावबुद्धवान् ॥१२॥

एक बार एक बाण-निर्माता को देखा गया। वह अपने कार्य में ऐसा तल्लीन था कि उसके पास से निकली हुई राजा की सवारी का भी उसे कुछ पता नहीं लगा। [इषुकार के द्वारा एकाग्रचित्तता का उपदेश प्राप्त होने के कारण वह गुरु हो गया।]

बहूनां कलहो नित्यं द्वयोः संकथनं ध्रुवम्।
एकाकि विचरिष्यामि कुमारी शंखको यथा ॥१३॥

बहुत-से मनुष्य एकसाथ रहें तो उनमें प्रतिदिन कलह होता है और दो व्यक्ति साथ-साथ रहें तो भी उनमें बातचीत तो अवश्य ही होती है, अतः मैं कुमारी कन्या[2] की कलाई में धारण की हुई शंख की एक-एक चूड़ी के समान अकेला ही विचरण करूँगा।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४६॥

---

१. पिङ्गला नाम की कोई वेश्या थी। वह अपने प्रेमी की प्रतीक्षा में रात-रातभर बैठी रहती। वह इस आशा में रहती कि वह अब आया और अब आया। इसी आशा में उसकी रात्रि व्यतीत हो जाती। प्रेमी के न आने पर वह अत्यन्त दुःख का अनुभव करती। जब अनेक बार उसके साथ ऐसा हुआ तो उसके मन में खेद उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगी—'मैं जो कुछ करती हूँ वह अनुचित है। मुझे इस घृणित कार्य से विरत हो जाना चाहिए।' उसकी यह भावना दृढ़ होती गई और उस आशा की जड़ उखड़ गई जिसके कारण उसकी सारी रात आँखों में कट जाती थी और भारी दुःख उठाती थी। आशारहित होकर अब वह रातभर आराम से सोती है।

२. किसी सद्गृहस्थ के घर कुछ अतिथि आ गये। घर के सभी सदस्य बाहर गये हुए थे। घर में एक कुमारी कन्या ही थी, अतः उन अतिथियों के भोजन आदि का भार उसी पर आ पड़ा। वह उनके निमित्त भोजन बनाने के लिए धान कूटने लगी। उसने अपने हाथों में शंख-निर्मित चूड़ियाँ पहनी हुई थीं। धान कूटते समय वे बज उठीं। इनके घर में कुटा हुआ धान नहीं है, अतिथियों को इस बात का पता न चल जाए, इसलिए एक-एक करके उसने सभी चूड़ियाँ निकाल दीं। दोनों हाथों में केवल एक-एक चूड़ी ही शेष रह गई, तब उनका बजना बन्द हो गया। इस प्रकार एकाकी रहने का उपदेश देने के कारण वह कुमारी गुरु हुई।

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

आत्महत्यादि पापकर्म से बचने के सम्बन्ध में काश्यप ब्राह्मण और इन्द्र का संवाद

युधिष्ठिर उवाच

बान्धवाः कर्म वित्तं वा प्रज्ञा वेह पितामह ।
नरस्य का प्रतिष्ठा स्यादेतत् पृष्टो हि मे वद ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! अब मेरे प्रश्न के अनुसार मुझे यह बताइए कि मनुष्य को बन्धुवर्ग, कर्म, धन अथवा बुद्धि, इनमें से किसका आश्रय लेना चाहिए ?

भीष्म उवाच

प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां प्रज्ञा लाभः परो मतः ।
प्रज्ञा निःश्रेयसी लोके प्रज्ञा स्वर्गो मतः सताम् ।।२।।

भीष्मजी बोले—राजन् ! प्राणियों का प्रमुख आश्रय बुद्धि है। बुद्धि ही उनका सबसे बड़ा लाभ है। संसार में बुद्धि ही उनका कल्याण करनेवाली है। श्रेष्ठ पुरुषों के मत में बुद्धि ही स्वर्ग है।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
इन्द्रकाश्यपसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ।।३।।

युधिष्ठिर ! इस विषय में इतिहासवेत्ता इन्द्र और काश्यप के संवादरूप प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो !

वैश्यः कश्चिदृषिसुतं काश्यपं संशितव्रतम् ।
रथेन पातयामास श्रीमान् दृप्तस्तपस्विनम् ।।४।।

प्राचीनकाल में धन के मद में चूर किसी धनी वैश्य ने कठोर व्रत का पालन करनेवाले तपस्वी ऋषिकुमार काश्यप को अपने रथ से धक्का देकर नीचे गिरा दिया।

आर्तः स पतितः क्रुद्धस्त्यक्त्वाऽऽत्मानमथाब्रवीत् ।
मरिष्याम्यधनस्येह जीवितार्थो न विद्यते ।।५।।

वह पीड़ा से कराहकर गिर पड़ा और कुपित होकर आत्महत्या के लिए उद्यत हो इस प्रकार बोला—"अब मैं प्राण त्याग दूंगा, क्योंकि इस संसार में धनहीन मनुष्य का जीवन व्यर्थ है।"

तथा मुमूर्षुमासीनमकूजन्तमचेतसम् ।
इन्द्रः शृगालरूपेण बभाषे लुब्धमानसम् ।।६।।

उसे इस प्रकार मरने की इच्छा से बैठे हुए, मूर्च्छा से अचेत हो कुछ न बोलते तथा मन-ही-मन धन के लिए ललचाते देखकर इन्द्रदेव सियार का रूप धारण करके वहाँ आये और उससे इस प्रकार कहने लगे—

मनुष्ययोनिमिच्छन्ति सर्वभूतानि सर्वशः ।
मनुष्यत्वे च विप्रत्वं सर्व एवाभिनन्दति ।।७।।

'मुने ! सभी प्राणी सब उपायों से मनुष्ययोनि पाने की अभिलाषा रखते हैं। उसमें भी ब्राह्मणत्व की प्रशंसा तो सभी लोग करते हैं।

मनुष्यो ब्राह्मणश्चासि श्रोत्रियश्चासि काश्यप ।
सुदुर्लभमवाप्यैतन्न दोषान्मर्तुमर्हसि ।।८।।

"काश्यप ! आप तो मनुष्य हैं, ब्राह्मण हैं तथा श्रोत्रिय भी हैं। ऐसा परम दुर्लभ शरीर पाकर आपको उसमें दोषदृष्टि करके स्वयं ही मरने के लिए उद्यत होना किसी भी प्रकार उचित नहीं है।

अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः ।
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणयः ।।९।।

"अहो ! जिनके पास प्रभु-प्रदत्त हाथ हैं, उन्हें मैं कृतार्थ मानता हूँ। इस लोक में जिनके पास एक से अधिक हाथ हैं, उनके जैसा सौभाग्य पाने की इच्छा मुझे बारम्बार होती है।

पाणिमद्भ्यः स्पृहास्माकं यथा तव धनस्य,वै ।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते ।।१०।।

"जैसे आपके मन में धन-प्राप्ति की अभिलाषा है, वैसे ही हम पशुओं को हाथवाले मनुष्यों से हाथ पाने की लालसा रहती है। हमारी दृष्टि में हाथों की प्राप्ति से अधिक दूसरा कोई लाभ नहीं है।

अपाणित्वाद् वयं ब्रह्मन् कण्टकान्नोद्धरामहे ।
जन्तूनुच्चावचानङ्गे दशतो न कषाम वा ।।११।।

"ब्रह्मन् ! हाथ न होने के कारण हम अपने शरीर में गड़े हुए काँटों को भी नहीं निकाल पाते। जो छोटे-बड़े जीव-जन्तु हमारे शरीर में डँसते हैं, उन्हें भी हम हटा नहीं पाते।

अथ येषां पुनः पाणी देवदत्तौ दशाङ्गुली ।
उद्धरन्ति कृमीनङ्गाद् दशतो निकषन्ति च ।।१२।।

"जिनके पास प्रभु-प्रदत्त दस अङ्गुलियों से युक्त दो हाथ हैं, वे अपने अङ्गों से उन कृमियों को हटाते या नष्ट कर देते हैं, जो उन्हें डँसते हैं ।

वर्षाहिमातपानां च परित्राणानि कुर्वते ।
चैलमन्नं सुखं शय्यां निवातं चोपभुञ्जते ।।१३।।

"हाथवाले मनुष्य वर्षा, सर्दी और धूप से अपनी रक्षा कर लेते हैं, वस्त्र पहनते हैं, सुखपूर्वक अन्न खाते हैं, शय्या बिछाकर सोते हैं और एकान्त स्थान का उपभोग करते हैं ।

ये खल्वजिह्वाः कृपणा अल्पप्राणा अपाणयः ।
सहन्ते तानि दुःखानि दिष्टया त्वं न तथा मुने ।।१४।।

"मुने ! जो दुःख बिना हाथवाले दीन, दुर्बल और बेजुबान प्राणी सहते हैं, सौभाग्यवश वे तो आपको नहीं सहने पड़ते ।

दिष्टया त्वं न शृगालो वै न कृमिर्न च मूषकः ।
न सर्पो न च मण्डूको न चान्यः पापयोनिजः ।।१५।।

"यह भी सौभाग्य की बात है कि आप गीदड़, कीट, चूहा, साँप, मेढक या अन्य किसी पापयोनि में उत्पन्न नहीं हुए ।

इमे मां कृमयोऽदन्ति येषामुद्धरणाय मे ।
नास्ति शक्तिरपाणित्वात् पश्यावस्थामिमां मम ।।१६।।

"मुझे ये कीड़े-मकोड़े खा रहे हैं, जिन्हें निकाल फेंकने की शक्ति मुझमें नहीं है । हाथ न होने के कारण मेरी दुर्दशा को आप प्रत्यक्ष देख लें ।

अकार्यमिति चैवेमं नात्मानं सन्त्यजाम्यहम् ।
नातः पापीयसीं योनिं पतेयमपरामिति ।।१७।।

'आत्महत्या करना पाप है'—ऐसा सोचकर ही मैं अपने शरीर का परित्याग नहीं करता हूँ । मुझे भय है कि आत्महत्या करके मैं इससे भी बढ़कर अन्य किसी पापयोनि में न गिर जाऊँ ।

जात्यैवैके सुखितराः सन्त्यन्ये भृशदुःखिताः ।
नैकान्तं सुखमेवेह क्वचित्पश्यामि कस्यचित् ।।१८।।

"कुछ प्राणी जन्म से ही सुखी होते हैं, कुछ जन्म से ही अत्यन्त दुःखी होते हैं, परन्तु मैं कहीं किसी को ऐसा नहीं देखता जिसको सर्वथा सुख ही सुख हो ।

मनुष्या ह्याढ्यतां प्राप्य राज्यमिच्छन्त्यनन्तरम् ।
राज्याद् देवत्वमिच्छन्ति देवत्वादिन्द्रतामपि ।।१९।।

"मनुष्य धनी हो जाने पर राज्य पाना चाहते हैं, राज्य पाकर फिर देवत्व की इच्छा करते हैं और देवत्व से फिर इन्द्र का पद पाना चाहते हैं ।

भवेस्त्वं यद्यपि त्वाढ्यो न राजा न च दैवतम् ।
देवत्वं प्राप्य चेन्द्रत्वं नैव तुष्येस्तथा सति ।।२०।।

"यदि आप धनी हो जाएँ तो भी ब्राह्मण होने के कारण राजा नहीं हो सकते और कदाचित् राजा हो जाएँ तो देवता नहीं हो सकते । देवता और इन्द्र का पद भी पा जाएँ तो भी आप उससे सन्तुष्ट नहीं हो सकेंगे ।

न तृप्तिः प्रियलाभेऽस्ति तृष्णा नाद्भिः प्रशाम्यति ।
सम्प्रज्वलति सा भूयः समिद्भिरिव पावकः ।।२१

"प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति होने से कभी तृप्ति नहीं होती । बढ़ी हुई तृष्णा जल से नहीं बुझती, ईंधन पाकर जलनेवाली अग्नि के समान वह और भी भड़क उठती है ।

वधबन्धपरिक्लेशैः क्लिश्यन्ते च पुनः पुनः ।
ते खल्वपि रमन्ते च मोदन्ते च हसन्ति च ।।२२।।

"कितने ही मनुष्य बारम्बार वध [आघात] और बन्धन के क्लेश भोगते रहते हैं, परन्तु वे भी [आत्महत्या नहीं करते अपितु] परस्पर कीड़ा करते, आनन्दित होते और हँसते हैं ।

न पुल्कसो न चाण्डाल आत्मानं त्यक्तुमिच्छति ।
तया तुष्टः स्वया योन्या मायां पश्येह यादृशीम् ।।२३।।

"भङ्गी अथवा चाण्डाल भी अपने शरीर को त्यागना नहीं चाहता, वह अपनी उसी योनि से सन्तुष्ट रहता है । देखिए, प्रभु की कैसी विचित्र लीला है ।

दृष्ट्वा कुणीन् पक्षहतान् मनुष्यानामयाविनः ।
सुसम्पूर्णः स्वया योन्या लब्धलाभोऽसि काश्यप ।।२४।।

"काश्यप ! कुछ मनुष्य लूले और लँगड़े हैं, कुछ को लकवा मार गया है, बहुत-से मनुष्य निरन्तर रोगी ही रहते हैं, उन सबकी ओर देखकर यह कहना पड़ता है कि आप अपनी योनि के अनुसार नीरोग

ग्रौर पूर्ण ग्रङ्गवाले हैं। ग्रापको मानव-शरीर का लाभ प्राप्त हो चुका है।

यदि ब्राह्मण देहस्ते निरातङ्को निरामयः।
ग्रङ्गानि च समग्राणि न च लोकेषु धिक्कृतः ।।२५।।

"ब्राह्मणदेव! यदि ग्रापका शरीर व्याधि-भय से रहित ग्रौर नीरोग है, ग्रापके सभी ग्रङ्ग ठीक हैं, किसी ग्रङ्ग में कोई विकार नहीं है, तो संसार में ग्राप धिक्कार के पात्र नहीं हो सकते।

न केनचित् प्रवादेन सत्येनैवापहारिणा।
धर्मायोत्तिष्ठ विप्रर्षे नात्मानं त्यक्तुमर्हसि ।।२६।।

"यदि ग्रापपर जातिच्युत करनेवाला कोई सच्चा कलंक लगा हो तो भी ग्रापको प्राणों का त्याग [ग्रात्महत्या] करना उचित नहीं हैं। ब्राह्मणदेव! ग्राप धर्मपालन के लिए उठ खड़े होइए।

यदि ब्रह्मन् शृणोष्येतच्छ्रद्दधासि च मे वचः।
वेदोक्तस्यैव धर्मस्य फलं मुख्यमवाप्स्यसि ।।२७।।

"ब्रह्मन्! यदि ग्राप मेरे वचनों को सुनेंगे ग्रौर उनपर श्रद्धा करेंगे तो ग्रापको वेदोक्त धर्म के पालन का ही प्रधान फल प्राप्त होगा।

स्वाध्यायमग्निसंस्कारमप्रमत्तोऽनुपालय ।□
सत्यं दमं च दानं च स्पर्धिष्ठा मा च केनचित् ।।२८।।

"ग्राप सावधान होकर स्वाध्याय, ग्रग्निहोत्र, सत्य, मनोनिग्रह ग्रौर दानधर्म का पालन करो ग्रौर किसी के साथ स्पर्धा मत करो।

पण्डितोऽहं पुरा चासं हैतुको वेदनिन्दकः।
ग्रान्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम् ।।२९।।

"पूर्वजन्म में मैं पण्डित था ग्रौर कुतर्क का ग्राश्रय लेकर वेदों की निन्दा करता था। प्रत्यक्ष के ग्राधार पर ग्रनुमान को प्रमुखता देनेवाली थोथी तर्कविद्या पर ही उस समय मेरा ग्रत्यधिक ग्रनुराग था।

नास्तिकः सर्वशङ्की च मूर्खः पण्डितमानिकः।
तस्येयं फलनिर्वृत्तिः शृगालत्वं मम द्विज ।।३०।।

"मैं नास्तिक, सबपर सन्देह करनेवाला ग्रौर मूर्ख होकर भी ग्रपने-ग्रापको पण्डित मानता था। हे द्विज! यह सियार की योनि मेरे उसी कुकर्म का फल है।

ग्रपि जातु तथा तस्मादहोरात्रशतैरपि।
यदहं मानुषीं योनिं शृगालः प्राप्नुयां पुनः ।।३१।।

"ग्रब मैं सैकड़ों दिन ग्रौर रात साधन करके भी क्या कभी वह उपाय कर सकता हूँ जिससे ग्राज गीदड़ की योनि में पड़ा हुग्रा मैं पुनः मनुष्ययोनि पा सकूँ?

सन्तुष्टश्चाप्रमत्तश्च यज्ञदानतपोरतिः।
ज्ञेयज्ञाता भवेयं वै वर्ज्यवर्जयिता तथा ।।३२।।

"जिस मनुष्ययोनि में सन्तुष्ट ग्रौर सावधान रहकर यज्ञ, दान ग्रौर तप-ग्रनुष्ठान में लगा रह सकूँ, जिसमें मैं जानने योग्य वस्तु को जान लूँ ग्रौर त्यागने योग्य वस्तु का परित्याग कर दूँ।"

ततस्तं मुनिरुत्थायावैक्षत ज्ञानचक्षुषा।
ग्रनुज्ञातस्तु तेनाथ प्रविवेश स्वमालयम् ।।३३।।

यह सब सुनकर काश्यप मुनि ने उसकी ग्रोर ज्ञानदृष्टि से देखा। [उन्हें इन्द्र जानकर] उनकी ग्राज्ञा ले वे [ग्रात्महत्या का विचार त्यागकर] पुनः ग्रपने घर को लौट ग्राये।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ।।४७।।

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

शुभाशुभ कर्मों के फलभोग का प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा तपस्तप्तं तथैव च।
गुरूणां वापि शुश्रूषा तन्मे ब्रूहि पितामह ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! यदि दान, यज्ञ, तप ग्रौर गुरुग्रों की सेवा पुण्यकर्म है ग्रौर उसका कुछ फल होता है, तो वह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

ग्रात्मनानर्थयुक्तेन पापे निविशते मनः।
स्वकर्मकलुषं कृत्वा कृच्छ्रे लोके विधीयते ।।२।।

भीष्मजी बोले—राजन्! काम, क्रोधादि दोषों से युक्त बुद्धि की प्रेरणा से मन पापकर्म में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार मनुष्य ग्रपने ही कर्मों द्वारा पाप

करके दुःखमय लोक [नीच योनियों] में गिराया जाता है ।

दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात् क्लेशं भयाद् भयम् ।
मृतेभ्यः प्रमृतं यान्ति दरिद्राः पापकारिणः ॥३॥

पापाचारी दरिद्र मनुष्य दुर्भिक्ष से दुर्भिक्षग्रस्त, दुःख से दुःखी तथा भय से भयभीत होते हुए मरे हुओं से भी अधिक मृततुल्य हो जाते हैं ।

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात्स्वर्गं सुखात्सुखम् ।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनाढ्याः शुभकारिणः ॥४॥

जो सदाचारी, जितेन्द्रिय, धनसम्पन्न और शुभकर्मकारी होते हैं, वे उत्सव से अधिक उत्सव को, स्वर्ग से अधिक स्वर्ग को और सुख से अधिक सुख को प्राप्त करते हैं ।

पुलाका इव धान्येषु पुत्तिका इव पक्षिषु ।
तद्विधास्ते मनुष्याणां येषां धर्मो न कारणम् ॥५॥

जिनका उद्देश्य धर्म नहीं है, ऐसे मनुष्य मानव-समाज में वैसे ही समझे जाते हैं जैसे धान्यों [अन्नों] में थोथा अन्न और पंखोंवाले जीवों में मच्छर या पतंगे ।

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति ।
शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम् ॥६॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति ।
करोति कुर्वतः कर्म च्छायेवानुविधीयते ॥७॥

जिस-जिस मनुष्य ने जैसा कर्म किया होता है वह उसके पीछे लगा रहता है। यदि कर्मकर्ता शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है तो वह भी उतनी ही तेजी के साथ उसके पीछे दौड़ता है। जब वह सो जाता है तो उसका कर्मफल भी उसके साथ सो जाता है। जब वह खड़ा होता है तो वह भी पास ही खड़ा रहता है और जब मनुष्य चलता है तो वह भी उसके पीछे-पीछे चलने लगता है। इतना ही नहीं, कोई कार्य करते समय भी कर्म-संस्कार उसका साथ नहीं छोड़ता, सदा छाया के समान पीछे लगा रहता है।

येन येन यथा यद्यत् पुरा कर्म समीहितम् ।
तत्तदेकतरो भुङ्क्ते नित्यं विहितमात्मना ॥८॥

जिस-जिस मनुष्य ने अपने-अपने पूर्वजन्म में जैसे-जैसे कर्म किये हैं, वह अपने किये हुए उन कर्मों का फल अकेला ही भोगता है ।

स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम् ।
भूतग्राममिमं कालः समन्तात् परिकर्षति ॥९॥

अपने-अपने कर्म का फल एक धरोहर के समान है, जो कर्मजनित अदृष्ट के द्वारा सुरक्षित रहता है। उपयुक्त अवसर आने पर काल [समय] इस कर्मफल को प्राणिवर्ग के पास खींच लाता है ।

अप्रेर्यमाणानि यथा पुष्पाणि च फलानि च ।
स्वकालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम् ॥१०॥

जैसे फूल और फल किसी की प्रेरणा के बिना ही अपने समय पर वृक्षों में लग जाते हैं, उसी प्रकार पहले किये कर्म भी अपने फलभोग के समय का उल्लंघन नहीं करते ।

सम्मानश्चावमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ ।
प्रवृत्ता विनिवर्तन्ते विधानान्ते पुनः पुनः ॥११॥

सम्मान और अपमान, लाभ और हानि तथा उन्नति एवं अवनति—ये पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार बार-बार प्राप्त होते हैं और प्रारब्धभोग के पश्चात् निवृत्त हो जाते हैं ।

आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम् ।
गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम् ॥१२॥

दुःख अपने ही किये हुए कर्मों का फल है और सुख भी अपने ही पहले किये हुए कर्मों का परिणाम है। जीव माता की गर्भशय्या में आते ही पूर्वशरीर द्वारा उपार्जित सुख-दुःख का उपभोग करने लगता है ।

बालो युवा च वृद्धश्च यत्करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते ॥१३॥

कोई बालक हो, युवक हो या वृद्ध हो, वह जो भी शुभ या अशुभ कर्म करता है, दूसरे जन्म में उसी-उसी अवस्था में उस-उस कर्म का फल उसे प्राप्त होता है ।

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥१४॥

जैसे बछड़ा सहस्रों गौओं में से अपनी माँ को पहचानकर उसे पा लेता है, वैसे ही पहले का किया हुआ कर्म भी अपने कर्ता के पास पहुँच जाता है ।

अलमन्यैरुपालम्भैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः । □
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः ।।१५।।

दूसरों को उपालम्भ [उलाहना] देना बन्द करो। लोगों के अन्यान्य अपराधों की चर्चा करने का कोई प्रयोजन नहीं है। जो कार्य उत्तम, अनुकूल और अपने लिए हितकर जान पड़े वही कर्म करना चाहिए।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ।।४८।।

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

आश्रम धर्मों और शिष्टाचार का फलसहित वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

दानस्य किं फलं प्राहुर्धर्मस्य चरितस्य च ।
तपसश्च सुतप्तस्य स्वाध्यायस्य हुतस्य वा ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! आचरण में लाये हुए दानरूप धर्म का, भली-भाँति की हुई तपस्या का तथा स्वाध्याय और अग्निहोत्र का क्या फल बताया गया है ?

भीष्म उवाच

हुतेन शाम्यते पापं स्वाध्यायैः शान्तिरुत्तमा ।
दानेन भोगानित्याहुस्तपसा स्वर्गमाप्नुयात् ।।२।।

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! अग्निहोत्र[1] से पाप का निवारण किया जाता है, स्वाध्याय से उत्तम शान्ति मिलती है, दान से भोगों की प्राप्ति बताई गई है और तपस्या से मनुष्य स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है।

युधिष्ठिर उवाच

किं कस्य धर्माचरणं किं वा धर्मस्य लक्षणम् ।
धर्मः कतिविधो वापि तद् भवान् वक्तुमर्हति ।।३।।

युधिष्ठिर ने पूछा—राजन् ! किसका धर्माचरण कैसा होता है अथवा धर्म का लक्षण क्या है ? अथवा धर्म के कितने भेद हैं, यह सब आप मुझे बताने की कृपा करें।

भीष्म उवाच

स्वधर्माचरणे युक्ता ये भवन्ति मनीषिणः ।
तेषां स्वर्गफलावाप्तिर्योऽन्यथा स विमुह्यते ।।४।।

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! जो मनीषी लोग अपने वर्णाश्रमोचित धर्म के आचरण में सावधानी के साथ लगे रहते हैं, उन्हें स्वर्गरूपी फल की प्राप्ति होती है। जो इसके विपरीत अधर्म का आचरण करता है, वह मोह के फंदे में फँस जाता है।[2]

---

१. महर्षि मनु ने लिखा है—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ।।
—मनु० ३।६८

गृहस्थियों के लिए चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली और पानी का घड़ा रखने का स्थान—ये पांच पाप के स्थान हैं। इन्हें प्रयोग में लाता हुआ गृहस्थ हिंसा के पाप से बँध जाता है।

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ।।
—मनु० ३।६६

उन सब हिंसा-दोषों की निवृत्ति के लिए महर्षियों ने पञ्च महायज्ञ करने का विधान गृहस्थाश्रमियों के लिए बताया है।

इस विषय में महर्षि दयानन्द के विचार भी पठनीय हैं—

प्रश्न—क्या इस होम करने के विना पाप होता है ?

उत्तर—हाँ, क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध पैदा होके वायु और जल को विगाड़कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त होता है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिए उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिए।

—सत्यार्थ प्रकाश, तीसरा समुल्लास

२. इस श्लोक में पूर्वोक्त तीनों प्रश्नों के उत्तर एक-साथ दे दिये हैं। जो जिसका वर्ण या आश्रम है, उसका धर्माचरण भी वैसा ही है। धर्म का लक्षण है—स्वर्ग की प्राप्ति करानेवाला वर्णाश्रमोचित आचार। वर्ण और आश्रम के जितने भेद हैं उतने ही भेद उनके धर्म के भी हैं।

अवज्ञानमहंकारो दम्भश्चैव विगर्हितः। □
अहिंसा सत्यमक्रोधः सर्वाश्रमगतं तपः ॥५॥

किसी का अनादर करना, अहंकार-प्रदर्शन और दम्भ करना—इन दुर्गुणों की विशेष निन्दा की गई है। किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना और मन में क्रोध न आने देना—यह सभी आश्रम-वासियों के लिए उपयोगी तप है।

वात्सल्यात्सर्वभूतेभ्यो वाच्याःश्रोत्रसुखा गिरः।
परितापोपघातश्च पारुष्यं चात्र गर्हितम् ॥६॥

वाणी ऐसी बोलनी चाहिए, जिसमें सब प्राणियों के प्रति स्नेह भरा हो और जो सुनते समय कानों को सुखद जान पड़े। दूसरों को पीड़ा देना, मारना और कटुवचन सुनाना—ये सब निन्दित कार्य हैं।

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥७॥

जिस गृहस्थ के द्वार से कोई अतिथि भिक्षा न पाने के कारण निराश होकर लौट जाता है, वह उस गृहस्थ को अपना पाप दे उसका पुण्य लेकर चला जाता है।

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥८॥

जो मुनि सब प्राणियों को अभयदान देकर विचरता है, उसे सम्पूर्ण प्राणियों में किसी से कहीं भय प्राप्त नहीं होता।

युधिष्ठिर उवाच

आचारस्य विधिं तात प्रोच्यमानं त्वयानघ।
श्रोतुमिच्छामि धर्मज्ञ सर्वज्ञो ह्यपि मे मतः ॥९॥

युधिष्ठिर ने पूछा—धर्मज्ञ पितामह! अब मैं आपके मुख से सदाचार की विधि सुनना चाहता हूँ, क्योंकि आप सर्वज्ञ [धर्म, अर्थ और काम के रहस्यों को जाननेवाले] हैं।

भीष्म उवाच

दुराचारा दुर्विचेष्टा दुष्प्रज्ञाः प्रियसाहसाः।
असन्तस्त्विति विख्याताः सन्तश्चाचारलक्षणाः ॥१०॥

भीष्मजी बोले—राजन्! जो दुराचारी, बुरी चेष्टावाले और दुर्बुद्धि हैं तथा दुःसाहस को प्रिय माननेवाले हैं वे, 'दुष्टात्मा' नाम से विख्यात होते हैं; श्रेष्ठ पुरुष वे हैं जिनमें सदाचार दृष्टिगोचर हो—सदाचार ही उनका लक्षण है।

पुरीषं यदि वा मूत्रं ये न कुर्वन्ति मानवाः।
राजमार्गे गवां मध्ये धान्यमध्ये च ते शुभाः ॥११॥

जो मनुष्य राजमार्गों [सड़कों], गौओं के मध्य में और अन्न में मल-मूत्र का त्याग नहीं करते, वे श्रेष्ठ पुरुष समझे जाते हैं।

सूर्यं सदोपतिष्ठेत न च सूर्योदये स्वपेत्।
सायं प्रातर्जपन्सन्ध्यां तिष्ठेत्पूर्वां तथेतराम् ॥१२॥

प्रतिदिन सूर्य का उपस्थान करे। सूर्योदय के समय कभी न सोये। सायं और प्रातः दोनों समय सन्ध्योपासना करके गायत्री मन्त्र का जप करे।

पञ्चार्द्रो भोजनं भुञ्ज्यात्प्राङ्मुखो मौनमास्थितः।
न निन्द्यादन्नभक्ष्यांश्च स्वाद्वस्वादु च भक्षयेत् ॥१३॥

दोनों हाथ, दोनों पैर और मुख—इन पाँच अङ्गों को धोकर[1] पूर्व की ओर को मुख करके भोजन करे। भोजन करते समय मौन रहे। परोसे हुए अन्न की निन्दा न करे।

आर्द्रपाणिः समुत्तिष्ठेन्नार्द्रपादः स्वपेन्निशि।
देवर्षिर्नारदः प्राह एतदाचारलक्षणम् ॥१४॥

भोजन के पश्चात् हाथ धोकर उठे। रात्रि में गीले पैरों से न सोये। देवर्षि नारद इसी को सदाचार का लक्षण कहते हैं।

अतिथीनां च सर्वेषां प्रेष्याणां स्वजनस्य च।
सामान्यं भोजनं भृत्यैः पुरुषस्य प्रशस्यते ॥१५॥

गृहस्थ पुरुष को घर में अतिथियों, सेवकों और स्वजनों के लिए भी एक-जैसा भोजन बनवाना श्रेष्ठ माना गया है।

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम्।
नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत् ॥१६॥

प्रातः और सायं, दो समय भोजन करना ही देवनिर्दिष्ट है। बीच में भोजन करने का विधान नहीं है। इस नियम के पालन करनेवाले को उपवास का फल प्राप्त होता है।

---

१. भोजन से तुरन्त पूर्व हाथ, पैर और मुँह धो लेने चाहिएँ।

होमकाले तथा जुह्वन्नृतुकाले तथा व्रजन् ।
अनन्यस्त्रीजनः प्राज्ञो ब्रह्मचारी तथा भवेत् ।।१७।।

जो यज्ञ करने के समय प्रतिदिन हवन करता है, ऋतुकाल में ही स्त्री-सहवास करता है और परस्त्री पर कभी दृष्टि नहीं डालता, वह बुद्धिमान् मनुष्य ब्रह्मचारी के समान माना जाता है ।

लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी तु यो नरः ।
नित्योच्छिष्टः शंकुशुको नेहायुर्विन्दते महत् ।।१८।।

जो मनुष्य मिट्टी के ढेले फोड़ता, तिनके तोड़ता, नख चबाता, सदा जूठे हाथ और जूठे मुँह रहता है तथा खूँटी में बँधे हुए तोते के समान पराधीन जीवन बिताता है, उसे इस संसार में दीर्घायुष्य की प्राप्ति नहीं होती ।

गुरुभ्य आसनं देयं कर्तव्यं चाभिवादनम् ।
गुरूनभ्यर्च्य युज्यन्ते आयुषा यशसा श्रिया ।।१९।।

गुरुजनों के पधारने पर उन्हें बैठने के लिए आसन देना चाहिए तथा चरणस्पर्श-पूर्वक प्रणाम करना चाहिए । गुरुजनों का आदर-सत्कार करने से मनुष्य आयु, यश और धन से सम्पन होते हैं ।

तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः ।
सर्वमार्यकृतं चौक्ष्यं वालसंस्पर्शनानि च ।।२०।।

तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ निर्मल हृदय है, पवित्र वस्तुओं में अति पवित्र भी विशुद्ध हृदय ही है । शिष्टों द्वारा व्यवहार में लाया गया आचरण सर्व-श्रेष्ठ है । चँवर आदि में लगे हुए गौ की पूँछ के बालों का स्पर्श भी शिष्टाचार-अनुमोदित होने के कारण शुद्ध है ।

प्रत्यादित्यं न मेहेत नं पश्येदात्मनः शकृत् ।
सह स्त्रियाथ शयनं सहभोज्यं च वर्जयेत् ।।२१।।

सूर्य की ओर मुंह करके लघुशंका [पेशाब] न करे । अपनी विष्ठा पर दृष्टि न डाले । स्त्री के साथ एक शय्या पर सोना और एक थाली में भोजन करना छोड़ दे ।

त्वंकारं नामधेयं च ज्येष्ठानां परिवर्जयेत् ।
अवराणां समानानामुभयेषां न दुष्यति ।।२२।।

अपने से बड़ों का नाम लेकर अथवा 'तू' कहकर न पुकारे । जो अपने से छोटे या बराबरवाले हों, उनके लिए वैसा करना दोष की बात नहीं है ।

हृदयं पापवृत्तानां पापमाख्याति वैकृतम् ।
ज्ञानपूर्वं विनश्यन्ति गूहमाना महाजने ।।२३।।

पापियों का हृदय तथा उनके नेत्र और मुखादि का विचार ही उनके पापों को बता देता है । जो लोग जानबूझकर किये हुए पाप को महापुरुषों से छिपाते हैं, वे गिर जाते हैं ।

पापेनापिहितं पापं पापमेवानुवर्तते ।
धर्मेणापिहितो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते ।।२४।।

पापी मनुष्य का पाप के द्वारा छिपाया हुआ पाप उसे पुनः पाप में ही लगाता है तथा धर्मात्मा का धर्म द्वारा गुप्त रखा हुआ धर्म उसे पुनः धर्म में ही प्रवृत्त करता है ।

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत् ।।२५।।

मनीषी लोगों का कथन है कि सभी प्राणियों के लिए मन द्वारा किया हुआ धर्म ही श्रेष्ठ है, अतः मनुष्य को चाहिए कि वह मन से सम्पूर्ण जीवों का कल्याण सोचता रहे ।

धर्मो योनिर्मनुष्याणां देवानाममृतं दिवि ।
प्रेत्यभावे सुखं धर्माच्छश्वत्तैरुपभुज्यते ।।२६।।

धर्म ही मनुष्य की योनि है । वही स्वर्ग में देवताओं का अमृत है । धर्मात्मा मनुष्य मरने के पश्चात् धर्म के ही बल से सदा सुख भोगते हैं ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।।४९।।

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धर्माधर्म के स्वरूप का निर्णय, जाजलि मुनि का उपाख्यान

युधिष्ठिर उवाच

इमे वै मानवाः सर्वे धर्मं प्रति विशङ्किताः ।
कोऽयं धर्मः कुतो धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! संसार के सभी मनुष्य प्रायः धर्म के विषय में शंकित हैं, अतः मैं जानना चाहता हूँ कि धर्म क्या है ? उसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई है ? यह मुझे बताइए ।

धर्मस्त्वयमिहार्थः किममुत्रार्थोऽपि वा भवेत् ।
उभयार्थो हि वा धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥२॥

पितामह ! इस लोक में सुख पाने के लिए जो कर्म किया जाता है, वही धर्म है अथवा पारलौकिक कल्याण के लिए जो कुछ किया है, उसे धर्म कहते हैं ? अथवा दोनों लोकों के सुधार के लिए किया जाने-वाला कर्म ही धर्म कहलाता है ? यह मुझे बताइए ।

भीष्म उवाच

सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम् ।
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम् ॥३॥

भीष्मजी ने कहा—युधिष्ठिर ! वेद, स्मृति और सदाचार—ये तीन धर्म के स्वरूप को लक्षित कराने-वाले हैं । कुछ विचारक अर्थ को भी धर्म का चौथा लक्षण बताते हैं ।

उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च ।
अलब्ध्वा निपुणं धर्मं पापः पापेन युज्यते ॥४॥

धर्म का पालन करने से लोक और परलोक मे सुख मिलता है । पापी मनुष्य विचारपूर्वक धर्म का आश्रय न लेने से पाप में प्रवृत्त हो उसके दुःखरूप फल का भागी होता है ।

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम् ।
सत्येन विधृतं सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥५॥

सत्य बोलना उत्तम कर्म है । सत्य से बढ़कर दूसरा कोई कार्य नहीं है । सत्य ने ही सबको धारण कर रखा है और सत्य में ही सब-कुछ प्रतिष्ठित है ।

अपि पापकृतो रौद्राः सत्यं कृत्वा पृथक् पृथक् ।
अद्रोहमविसंवादं प्रवर्तन्ते तदाश्रयाः ॥६॥

क्रूर स्वभाववाले पापी भी पृथक्-पृथक् सत्य की सौगन्ध खाकर ही आपस में वैरभाव से बचे रहते हैं । इतना ही नहीं, प्रत्युत वे सत्य का आश्रय लेकर ही अपने-अपने कार्यों में संलग्न होते हैं ।

मन्यन्ते बलवन्तस्तं दुर्बलैः सम्प्रवर्तितम् ।
यदा नियतिदौर्बल्यमथैषामेव रोचते ॥७॥

कुछ बलवान् लोग धर्म को दुर्बलों का चलाया हुआ मानते हैं, किन्तु जब भाग्यवश वे भी दुर्बल हो जाते हैं, तब अपनी रक्षा के लिए उन्हें भी धर्म का ही आश्रय लेना अच्छा जान पड़ता है ।

असाधुभ्योऽस्य न भयं न चौरेभ्यो न राजतः ।
अकिंचित्कस्यचित्कुर्वन्निर्भयः शुचिरावसेत् ॥८॥

जो किसी का कुछ बिगाड़ता नहीं है उसे दुष्टों, चोरों अथवा राजा से भय नहीं होता । शुद्ध आचार और विचारवाला मनुष्य सदा निर्भय रहता है ।

सर्वतः शङ्कते स्तेनो मृगो ग्राममिवेयिवान् ।
बहुधाऽऽचरितं पापमन्यत्रैवानुपश्यति ॥९॥

ग्राम में आये हुए हिरण की भाँति चोर सबसे शंकित रहता है । वह अनेकों बार दूसरों के साथ जैसा पापपूर्ण व्यवहार कर चुका है, दूसरों को भी वह वैसा ही पापाचारी समझता है ।

मुदितः शुचिरभ्येति सर्वतो निर्भयः सदा ।
न हि दुश्चरितं किञ्चिदात्मनोऽन्येषु पश्यति ॥१०॥

जिसका आचार शुद्ध है, उसे कहीं से कोई भय नहीं होता । वह सदा प्रसन्न और सब ओर से निर्भय बना रहता है और वह अपना कोई दुष्कर्म दूसरों में नहीं देखता है ।

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥११॥

मनुष्य दूसरों द्वारा किये हुए जिस व्यवहार को अपने लिए उचित नहीं समझता, दूसरों के प्रति भी वह वैसा व्यवहार न करे । उसे यह जानना चाहिए कि जो बर्ताव अपने लिए अप्रिय है, वह दूसरों के लिए भी प्रिय नहीं हो सकता ।

जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् ।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ।।१२।।

जो मनुष्य स्वयं जीवित रहना चाहता हो, वह दूसरों के प्राण कैसे ले सकता है ? मनुष्य अपने लिए जो-जो सुख-सुविधा चाहे, वही दूसरे के लिए भी सुलभ कराने की बात सोचे ।

सर्वं प्रियाभ्युपगतं धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
पश्यैतं लक्षणोद्देशं धर्माधर्मे युधिष्ठिर ।।१३।।

हे युधिष्ठिर ! सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करने से जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब धर्म है, ऐसा विचारशील लोगों का कथन है और जो इसके विपरीत है वह अधर्म है । तुम धर्म और अधर्म का संक्षेप से यही लक्षण समझो ।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
तुलाधारस्य वाक्यानि धर्मे जाजलिना सह ।।१४।।

राजन् ! धर्म के विषय में जाजलि के साथ तुलाधार वैश्य का जो वार्तालाप हुआ था, उसी प्राचीन इतिहास का विद्वान् लोग उदाहरण दिया करते हैं ।

वने वनचरः कश्चिज्जाजलिर्नाम वै द्विजः ।
सागरोद्देशमागम्य तपस्तेपे महातपाः ।।१५।।

प्राचीनकाल में जाजलि नाम से विख्यात एक ब्राह्मण था । वह वन में ही रहता और वन में ही विचरता था । उस महातपस्वी जाजलि ने समुद्र-तट पर जाकर महान् तप किया ।

स कदाचिन्निराहारो वायुभक्षो महातपाः ।
तस्थौ काष्ठवदव्यग्रो न चचाल च कर्हिचित् ।।१६।।

एक समय की बात है, वे महातपस्वी जाजलि निराहार रहकर वायुभक्षण करते हुए ठूँठ की भाँति खड़े हो गये । उस समय उनके मन में तनिक भी व्यग्रता नहीं थी और वे क्षणभर के लिए कभी विचलित नहीं होते थे ।

तस्य स्म स्थाणुभूतस्य निर्विचेष्टस्य भारत ।
कुलिङ्गशकुनौ राजन् नीडं शिरसि चक्रतुः ।।१७।।

भरतनन्दन ! चेष्टाशून्य होने के कारण वे ठूँठ-से जान पड़ते थे । राजन् ! उस समय उनके सिर पर गौरैया पक्षी के एक जोड़े ने अपने रहने के लिए एक घोंसला बना लिया ।

अतीतास्वथ वर्षासु शरत्काल उपस्थिते ।
प्राजापत्येन विधिना विश्वासात्काममोहितौ ।।१८।।
तत्रापातयतां राजन् शिरस्यण्डानि खेचरौ ।
तान्यबुध्यत तेजस्वी स विप्रः संशितव्रतः ।।१९।।

हे राजन् ! शनैः-शनैः वर्षा-ऋतु व्यतीत हो गई और शरत्काल आ पहुँचा । उस समय काम से मोहित होकर उन गौरैयों ने सन्तानोत्पादन की विधि से परस्पर समागम किया और विश्वास के कारण महर्षि के सिर पर ही अण्डे दे दिये । कठोर व्रत का आचरण करनेवाले उन तेजस्वी ब्राह्मण को भी यह ज्ञात हो गया कि पक्षियों ने मेरी जटाओं में अण्डे दिये हैं ।

बुद्ध्वा च स महातेजा न चचाल स जाजलिः ।
धर्मे कृतमना नित्यं नाधर्मं स त्वरोचयत् ।।२०।।

इस बात को जानकर भी महातेजस्वी जाजलि विचलित नहीं हुए । उनका मन सदा धर्म में लगा रहता था, अतः उन्हें अधर्म का कार्य पसन्द नहीं था ।

अहन्यहनि चागत्य ततस्तौ तस्य मूर्धनि ।
आश्वासितौ निवसतः सम्प्रहृष्टौ तदा विभो ।।२१।।

प्रभो ! गौरैयों का वह जोड़ा प्रतिदिन दाना चुगने के लिए जाता और फिर लौटकर उनके सिर पर ही बसेरा लेता था । वे आश्वस्त [रक्षा और सुरक्षा की गारंटी] और प्रसन्न होकर वहाँ निवास करते थे ।

अण्डेभ्यस्त्वथ पुष्टेभ्यः प्राजायन्त शकुन्तकाः ।
व्यवर्धन्त च तत्रैव न चाकम्पत जाजलिः ।।२२।।

अण्डों के पकने और परिपुष्ट होने पर उन्हें फोड़-कर बच्चे बाहर निकले तथा वहीं पलकर बड़े होने लगे, तथापि जाजलि मुनि हिले-डुले नहीं ।

जातपक्षांश्च सोऽपश्यदुड्डीनान्पुनरागतान् ।
सायं सायं द्विजान्विप्रो न चाकम्पत जाजलिः ।।२३।।

बच्चों के पंख निकल आये, अतः वे दिन में दाना चुगने के लिए निकल जाते तथा प्रतिदिन सायंकाल फिर वहीं लौट आते थे । विप्रवर जाजलि उन पक्षियों को आते-जाते देखते, परन्तु हिलते-डुलते नहीं थे ।

कदाचिद् दिवसान्पञ्च समुत्पत्य विहङ्गमाः ।
षष्ठेऽहनि समाजग्मुर्न चाकम्पत जाजलिः ॥२४॥

कभी-कभी वे पक्षी उड़कर पांच-पांच दिन तक बाहर ही रह जाते और छठे दिन वापस आते थे, तबतक भी जाजलि मुनि हिले-डुले नहीं ।

कदाचिन्मासमात्रेण समुत्पत्य विहङ्गमाः ।
नैवागच्छंस्ततो राजन्प्रातिष्ठत स जाजलिः ॥२५॥

राजन् ! एक समय वे आकाशचारी पक्षी उड़ जाने के पश्चात् एक मास तक लौटकर नहीं आये, तब मुनिवर जाजलि वहाँ से अन्यत्र चले गये ।

ततस्तेषु प्रलीनेषु जाजलिर्जातविस्मयः ।
सिद्धोऽस्मीति मतिं चक्रे ततस्तं मान आविशत् ॥२६॥

उन पक्षियों के अदृश्य हो जाने पर जाजलि को अत्यन्त आश्चर्य हुआ । वे मन-ही-मन यह सोचने लगे कि मैं सिद्ध हो गया हूँ । फिर तो उनके भीतर अहंकार आ गया ।

सम्भाव्य चटकान्मूर्ध्नि जाजलिर्जपतां वरः ।
आस्फोटयत्तथाऽऽकाशे धर्मः प्राप्तो मयेति वै ॥२७॥

जपकर्ताओं में श्रेष्ठ जाजलि अपने मस्तक पर चिड़ियों के उत्पन्न होने और बढ़ने आदि की बातें स्मरण करके अपने को महान् धर्मात्मा समझने लगे और आकाश में ताल ठोकते हुए स्पष्टवाणी में बोले —"मैंने धर्म को पा लिया है ।"

अथान्तरिक्षे वागासीत्तां च शुश्राव जाजलिः ।
धर्मेण न समस्त्वं वै तुलाधारस्य जाजले ॥२८॥
वाराणस्यां महाप्राज्ञस्तुलाधारः प्रतिष्ठितः ।
सोऽप्येवं नार्हते वक्तुं यथा त्वं भाषसे द्विज ॥२९॥

इतने में ही आकाशवाणी[1] हुई—"जाजलि ! तुम धर्म में तुलाधार वैश्य के समान नहीं हो । काशी नगरी में तुलाधार वैश्य प्रतिष्ठित हैं । विप्रवर ! वे तुलाधार वैश्य भी ऐसी बात नहीं कह सकते, जैसी तुम कह रहे हो ।" जाजलि ने इस आकाशवाणी को सुना ।

सोऽमर्षवशमापन्नस्तुलाधारदिदृक्षया ।
पृथिवीमचरद् राजन् यत्रसायंगृहो मुनिः ॥३०॥

राजन् ! इससे वे अमर्ष [क्रोध] के वशीभूत हो गये और तुलाधार का दर्शन करने के लिए पृथिवी पर विचरने लगे । जहाँ सन्ध्या होती, वे मुनि वहीं टिक जाते थे ।

कालेन महतागच्छत्स तु वाराणसीं पुरीम् ।
विक्रीणन्तं च पण्यानि तुलाधारं ददर्श सः ॥३१॥

इस प्रकार दीर्घकाल के पश्चात् वे वाराणसी नगरी में जा पहुँचे । वहाँ उन्होंने तुलाधार वैश्य को वस्तुओं की बिक्री करते हुए देखा ।

सोऽपि दृष्ट्वैव तं विप्रमायान्तं भाण्डजीवनः ।
समुत्थाय सुसंहृष्टः स्वागतेनाभ्यपूजयत् ॥३२॥

विविध वस्तुओं के क्रय-विक्रय से जीवन-यापन करनेवाला तुलाधार भी ब्राह्मण को आते देख तुरन्त ही उठकर खड़ा हो गया और अति हर्ष के साथ आगे बढ़कर उसने ब्राह्मण का स्वागत-सत्कार किया ।

तुलाधार उवाच

आयानेवासि विदितो मम ब्रह्मन् न संशयः ।
करवाणि प्रियं किं ते तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥३३॥

तुलाधार बोला—ब्रह्मन् ! आप मेरे पास आ रहे हैं, यह बात मुझे पहले ही ज्ञात हो गई थी, इसमें संशय नहीं है । द्विजश्रेष्ठ ! बताइए, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?

जाजलिरुवाच

विक्रीणतः सर्वरसान् सर्वगन्धांश्च वाणिज ।
वनस्पतीनोषधींश्च तेषां मूलफलानि च ॥३४॥
अध्यगा नैष्ठिकीं बुद्धिं कुतस्त्वामिदमागतम् ।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं निखिलेन महामते ॥३५॥

जाजलि ने कहा—वैश्यपुत्र ! तुम तो सब प्रकार के रस, गन्ध, वनस्पति, ओषधि, मूल और फल आदि बेचते हो । महामते ! तुम्हें यह धर्म में निष्ठा रखनेवाली बुद्धि कहाँ से प्राप्त हुई ? तुम्हें यह ज्ञान कैसे सुलभ हुआ ? यह सारा वृत्तान्त मुझे बताओ ।

---

१. संस्कृत में हृदय को भी आकाश कहते हैं । हृदय के निर्मल होने पर उसमें परमात्मा की जो प्रेरणा सुन पड़ती है उसी का नाम आकाशवाणी है । जड़ आकाश कुछ नहीं बोल सकता । अथवा, बात को रोचक ढंग से कहने का यह काव्यमय प्रकार हो सकता है ।

तुलाधार उवाच

वेदाहं जाजले धर्मं सरहस्यं सनातनम् ।
सर्वभूतहितं मैत्रं पुराणं यं जना विदुः ॥३६॥

तुलाधार बोला—जाजले ! जो समस्त प्राणियों के लिए हितकारी तथा सबके प्रति मैत्रीभाव स्थापित करनेवाला है, जिसे सब लोग सनातन धर्म के रूप में जानते हैं, गूढ़ रहस्योंसहित उस सनातन धर्म का मुझे भी ज्ञान है ।

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले ॥३७॥

जिसमें किसी भी प्राणी के प्रति द्रोह न करना पड़े अथवा कम-से-कम द्रोह करने से काम चल जाए, ऐसी जीवन-वृत्ति ही उत्तम धर्म है । जाजले ! मैं उसी से जीवन-निर्वाह करता हूँ ।

परच्छिन्नैः काष्ठतृणैर्मयेदं शरणं कृतम् ।
अलक्तं पद्मकं तुङ्गं गन्धांश्चोच्चावचांस्तथा ॥३८॥

मैंने दूसरों के द्वारा काटे गये काठ और घास-फूंस से यह घर तैयार किया है । अलक्तक [राल, महावर, लाक्षारस], पद्माख, तुङ्गकाष्ठ तथा चन्दन-कस्तूरी आदि गन्ध द्रव्य [एवं अन्य छोटी-बड़ी वस्तुओं को मैं दूसरों से खरीदकर बेचता हूँ]।

रसांश्च तांश्च विप्रर्षे मद्यवर्ज्यान् बहूनहम् ।
क्रीत्वा वै प्रतिविक्रीणे परहस्तादमायया ॥३९॥

हे विप्र ! ऋषिवर ! मेरे यहाँ मदिरा नहीं बेची जाती, उसे छोड़कर मैं बहुत-से पीने योग्य रसों को दूसरों से खरीदकर बेचता हूँ । माल बेचने में मैं छल-कपट और असत्य से काम नहीं लेता ।

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः ।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ॥४०॥

जाजले ! जो प्राणिमात्र का मित्र होता है, जो मन, वचन और कर्म से सदा सबके हितसाधन में लगा रहता है, वही वास्तव में धर्म को जानता है ।

समोऽहं सर्वभूतेषु पश्य मे जाजले व्रतम् ।
तुला मे सर्वभूतेषु समातिष्ठति जाजले ॥४१॥

जाजले ! समस्त प्राणियों के प्रति मेरा समभाव है । यही मेरा व्रत और नियम है । इसपर दृष्टिपात करो । मुने ! मेरी तराजू सब मनुष्यों के लिए सम है—सबके लिए बराबर तोलती है ।

अहिंसादि कृतं कर्म इह चैव परत्र च ।
श्रद्धां निहन्ति वै ब्रह्मन् सा हता हन्ति तं नरम् ॥४२॥

अहिंसा और दयादि भावों से प्रेरित होकर किया हुआ कर्म दोनों लोकों में उत्तम फल देनेवाला है । ब्रह्मन् ! यदि मन में हिंसा की भावना हो तो वह श्रद्धा का नाश कर देती है । फिर नष्ट हुई श्रद्धा कर्मकर्ता इस हिंसक मनुष्य का ही सर्वनाश कर डालती है ।

अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचिनी ।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णमिव त्वचम् ॥४३॥

अश्रद्धा सबसे बड़ा पाप है और श्रद्धा पाप से मुक्ति दिलानेवाली है । जैसे साँप अपनी पुरानी केंचुली को छोड़ देता है, वैसे ही श्रद्धालु मनुष्य पाप का परित्याग कर देता है ।

श्रद्धां कुरु महाप्राज्ञ ततः प्राप्स्यसि यत् परम् ।
श्रद्धावान् श्रद्दधानश्च धर्मश्चैव हि जाजले ॥४४॥

महाज्ञानी जाजले ! तुम जीवन में श्रद्धा धारण करो, तब तुम्हें परमगति की प्राप्ति होगी । श्रद्धा करनेवाला श्रद्धालु मनुष्य साक्षात् धर्म का स्वरूप है ।

भीष्म उवाच

तस्य विख्यातवीर्यस्य श्रुत्वा वाक्यानि स द्विजः ।
तुलाधारस्य कौन्तेय शान्तिमेवान्वपद्यत ॥४५॥

भीष्मजी कहते हैं—हे कौन्तेय ! ब्राह्मण जाजलि ने विख्यात प्रभावशाली तुलाधार के वचन सुनकर उन्हें हृदयङ्गम किया और शान्ति [मोक्ष] के मार्ग का अवलम्बन लिया ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५०॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजा विचख्नु द्वारा अहिंसा धर्म की प्रशंसा

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रजानामनुकम्पार्थं गीतो भूपविचख्नुना ॥१॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! प्राचीनकाल में राजा विचख्नु ने सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करने के लिए जो उद्‌गार प्रकट किया था, उस प्राचीन इतिहास का इस प्रसङ्ग में विज्ञ पुरुष उदाहरण दिया करते हैं ।

छिन्नस्थूणं वृषं दृष्ट्वा विरावं च गवां भृशम् ।
गोग्रहे यज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिवः ॥२॥

एक समय किसी यज्ञशाला में राजा ने देखा कि एक बैल की गर्दन कटी हुई है और वहाँ बहुत-सी गौएँ आर्तनाद कर रही हैं । यज्ञशाला के प्राङ्गण में कितनी ही गौएँ खड़ी हैं । यह सब देखकर राजा बोले—

स्वस्ति गोभ्योऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचनं कृतम् ।
हिंसायां हि प्रवृत्तायामाशीरेषा तु कल्पिता ॥३॥

जब उन गौओं की हिंसा होने जा रही थी, उस समय उन्होंने—"संसार में समस्त गौओं का कल्याण हो"—गौओं के लिए यह शुभ कामना प्रकट की और उस हिंसा का निषेध करते हुए कहा—

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति ।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत यः ॥४॥

वेद में गौओं का अघ्न्या [अवध्य] कहा गया है, फिर कौन उन्हें मारने का विचार करेगा ? जो मनुष्य गाय और बैल को मारता है, वह महान् पाप करता है ।

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता ॥५॥

जो धर्म की मर्यादा से पतित हो चुके हैं, मूर्ख हैं, नास्तिक हैं और जिन्हें आत्मा के विषय में सन्देह है तथा जिनकी कहीं प्रसिद्धि नहीं है, ऐसे लोगों ने ही हिंसा का समर्थन किया है ।

सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
कामकाराद्विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून्नराः ॥६॥

धर्मात्मा मनु महाराज ने सम्पूर्ण कर्मों में अहिंसा का ही प्रतिपादन किया है । मनुष्य अपनी ही इच्छा से यज्ञ की बाह्यवेदी पर पशुओं का बलिदान करते हैं ।

तस्मात्प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥७॥

अतः बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि वह वैदिक प्रमाण से धर्म के सूक्ष्म स्वरूप का निर्णय करे । सम्पूर्ण भूतों के लिए जिन धर्मों का विधान किया गया है, उनमें अहिंसा ही सबसे बड़ी मानी गई है ।

यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः ।
वृथा मांसं न खादन्ति नैष धर्मः प्रशस्यते ॥८॥

यदि यह तर्क दिया जाए कि मनुष्य यूप-निर्माण के उद्देश्य से जो वृक्ष काटते और यज्ञ के उद्देश्य से पशुबलि देकर मांस खाते हैं, वह व्यर्थ नहीं है, अपितु धर्म है, तो ऐसा तर्क ठीक नहीं, क्योंकि ऐसे धर्म की कोई प्रशंसा नहीं करता ।

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम् ।□
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ।
मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम् ॥९॥

सुरा, आसव, मधु, मांस और मछली तथा तिल एवं चावल की खिचड़ी—इन सब वस्तुओं को धूर्तों ने यज्ञ में प्रचलित कर दिया है। वेद में इनके प्रयोग का विधान नहीं है । धूर्तों ने अभिमान, मोह और लोभ के वशीभूत होकर उन वस्तुओं के प्रति अपनी लोलुपता ही प्रकट की है ।

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।□
अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ ॥१०॥

यज्ञों में बीजों द्वारा यजन करना चाहिए, ऐसी वैदिकी श्रुति है । बीजों का नाम अज है, अतः बकरे का वध करना हमें उचित नहीं है ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५१॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दीर्घकाल तक सोच-विचारकर कार्य करने की प्रशंसा : महर्षि गौतम और चिरकारी का उपाख्यान

युधिष्ठिर उवाच

कथं कार्यं परीक्षेत शीघ्रं वाथ चिरेण वा ।
सर्वथा कार्यदुर्गेऽस्मिन् भवान्नः परमो गुरुः ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! आप हमारे परम गुरु हैं, अतः यह बताने की कृपा करें कि यदि ऐसा कार्य उपस्थित हो जाए जो गुरुजनों की आज्ञा के कारण अवश्य कर्तव्य हो, परन्तु हिंसायुक्त होने के कारण दुष्कर एवं अनुचित हो तो ऐसे अवसर पर उस कार्य की परीक्षा कैसे करनी चाहिए ? उसे शीघ्र कर डालना चाहिए अथवा देर तक उसपर विचार करना चाहिए।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
चिरकारेस्तु यत्पूर्वं वृत्तमाङ्गिरसे कुले ॥२॥

भीष्मजी बोले—वत्स ! इस विषय में इतिहास-वेत्ता इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं, जो पहले आङ्गिरस-कुलोत्पन्न चिरकारी पर बीत चुका है।

चिरकारी महाप्राज्ञो गौतमस्याभवत् सुतः ।
चिरेण सर्वकार्याणि विमृश्यार्थान् प्रपद्यते ॥३॥

महर्षि गौतम के एक महाज्ञानी पुत्र था, जिसका नाम चिरकारी था। वह कर्तव्य-कार्यों का भली-भाँति विचार करके सभी कार्य विलम्ब से किया करता था।

चिरं स चिन्तयत्यर्थांश्चिरं जाग्रच्चिरं स्वपन् ।
चिरं कार्याभिपत्तिं च चिरकारी तथोच्यते ॥४॥

वह सभी विषयों पर दीर्घकाल तक विचार करता था, चिरकाल तक जागता तथा चिरकाल तक सोता था और पर्याप्त विलम्ब से ही कार्य को पूर्ण करता था, अतः सब लोग उसे चिरकारी कहने लगे।

अलसग्रहणं प्राप्तो दुर्मेधावी तथोच्यते ।
बुद्धिलाघवयुक्तेन जनेनादीर्घदर्शिना ॥५॥

अदूरदर्शी और मन्दबुद्धिवाले लोगों ने उसे आलसी की उपाधि दी। उसे दुर्बुद्धि कहा जाने लगा।

व्यभिचारे तु कस्मिंश्चिद् व्यतिक्रम्यापरान् सुतान् ।
पित्रोक्तः कुपितेनाथ जहीमां जननीमिति ॥६॥

एक दिन गौतमजी ने अपनी पत्नी द्वारा किये गये किसी व्यभिचार पर क्रुद्ध हो अपने दूसरे पुत्रों को न कहकर चिरकारी से कहा—"पुत्र ! तू अपनी इस पापिनी माता को मौत के घाट उतार दे।"

इत्युक्त्वा स तदा विप्रो गौतमो जपतां वरः ।
अविमृश्य महाभागो वनमेव जगाम सः ॥७॥

उस समय बिना विचारे ही ऐसी आज्ञा प्रदान कर जप करनेवालों में श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि महाभाग गौतम वन में चले गये।

स तथेति चिरेणोक्त्वा स्वभावाच्चिरकारिकः ।
विमृश्य चिरकारित्वाच्चिन्तयामास वै चिरम् ॥८॥

चिरकारी ने अपने स्वभाव के अनुसार देर करके कहा—"बहुत अच्छा।" चिरकारी तो वह था ही, बहुत देर तक उस बात पर विचार करता रहा।

पितुराज्ञां कथं कुर्यां न हन्यां मातरं कथम् ।
कथं धर्मच्छलेनास्मिन् निमज्जेयमसाधुवत् ॥९॥

उसने सोचा कि 'मैं किस उपाय से कार्य करूँ जिससे पिता की आज्ञा का पालन भी हो जाए और माता का वध भी न करना पड़े। धर्म के बहाने यह मुझपर महान् संकट आ गया है। दुष्टों की भाँति मैं इसमें डूबने का साहस कैसे करूँ ?

पितुराज्ञा परो धर्मः स्वधर्मो मातृरक्षणम् ।
अस्वतन्त्रं च पुत्रत्वं किं नु मां नानुपीडयेत् ॥१०॥

'पिता की आज्ञा का पालन करना परम धर्म है और माता की रक्षा करना भी स्वधर्म है। पुत्र कभी स्वतन्त्र नहीं होता। वह सदा माता-पिता के अधीन रहता है, अतः मैं क्या करूँ जिससे मुझे धर्म की हानिरूप पीड़ा न हो ?

स्त्रियं हत्वा मातरं च को हि जातु सुखी भवेत् ।
पितरं चाप्यवज्ञाय कः प्रतिष्ठामवाप्नुयात् ॥११॥

'एक तो नारी-जाति और उसमें भी माता का वध करके कौन पुत्र सुखी हो सकता है ? पिता की

आज्ञा की अवहेलना करके भी कौन प्रतिष्ठा=आदर-सम्मान पा सकता है ?

प्रीतिमात्रं पितुः पुत्रः सर्वं पुत्रस्य वै पिता ।
शरीरादीनि देयानि पिता त्वेकः प्रयच्छति ।।१२।।

'पुत्र पिता का सम्पूर्ण प्रीतिरूप है और पिता पुत्र का सर्वस्व है। केवल पिता ही पुत्र को देहादि सम्पूर्ण देने योग्य वस्तुओं को देता है।

तस्मात्पितुर्वचः कार्यं न विचार्यं कदाचन ।
पातकान्यपि पूयन्ते पितुः शासनकारिणः ।।१३।।

"अतः पिता के आदेश का पालन करना चाहिए, उसपर कभी विचार नहीं करना चाहिए। जो पिता की आज्ञा का पालन करता है, उसके पातक भी नष्ट हो जाते हैं।

भोग्ये भोज्ये प्रवचने सर्वलोकनिदर्शने ।
भर्त्रा चैव समायोगे सीमन्तोन्नयने तथा ।।१४।।

'पुत्र के भोग्य [वस्त्रादि], भोज्य [अन्नादि], वेदाध्ययन, सम्पूर्ण लोक-व्यवहार की शिक्षा तथा गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन आदि समस्त संस्कारों के सम्पादन में पिता ही प्रभु है।

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः । □
पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीयन्ति देवताः ।।१५।।

'पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है और पिता ही सबसे बड़ी तपस्या है। पिता के प्रसन्न होने पर समस्त देवता प्रसन्न हो जाते हैं।

एतद्विचिन्तितं तावत्पुत्रस्य पितृगौरवम् ।
पिता नाल्पतरं स्थानं चिन्तयिष्यामि मातरम् ।।१६।।

'पुत्र के विषय में पिता का जितना गौरव है, उसपर मैंने विचार कर लिया—पिता पुत्र के लिए कोई साधारण आश्रय नहीं है। अब मैं माता के विषय में सोचता हूँ।

यो ह्ययं मयि संघातो मर्त्यत्वे पाञ्चभौतिकः ।
अस्य मे जननी हेतुः पावकस्य यथारणिः ।।१७।।

'मुझे जो यह पाञ्चभौतिक शरीर मिला है, इसके उत्पन्न होने में मेरी माता ही प्रमुख कारण है, जैसे अग्नि के प्रकट होने का मुख्य आधार अरणी नामक काष्ठ होता है।

माता देहारणिः पुंसां सर्वस्यार्तस्य निर्वृत्तिः ।
मातृलाभे सनाथत्वमनाथत्वं विपर्यये ।।१८।।

'माता मनुष्यों के शरीररूपी अरणी को प्रकट करनेवाली अरणी है। संसार के समस्त दुःखी प्राणियों को सुख और सान्त्वना प्रदान करनेवाली माता ही है। जबतक माता जीवित रहती है, मनुष्य अपने को सनाथ समझता है और उसके न रहने पर वह अनाथ हो जाता है।

समर्थं वासमर्थं वा कृशं वाप्यकृशं तथा ।
रक्षत्येव सुतं माता नान्यः पोष्टा विधानतः ।।१९।।

'पुत्र असमर्थ हो या समर्थ, दुर्बल हो या हृष्ट-पुष्ट, माता उसका पालन करती ही है। माता के सिवा दूसरा कोई विधिपूर्वक पुत्र का पालन-पोषण नहीं कर सकता।

तदा स वृद्धो भवति तथा भवति दुःखितः ।
तदा शून्यं जगत्तस्य यदा मात्रा वियुज्यते ।।२०।।

'जब माता से विछोह हो जाता है, तभी मनुष्य अपने-आपको वृद्ध समझने लगता है। वह दुःखी हो जाता है और उसके लिए सारा संसार सूना प्रतीत होने लगता है।

नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः । □
नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया ।।२१।।

'माता के समान दूसरी कोई छाया=शरण नहीं है, माता के समान कोई आश्रय नहीं है। माता के समान अन्य कोई रक्षक नहीं है और बच्चे के लिए माता के समान दूसरी कोई प्रिय वस्तु नहीं है।

कुक्षीसंधारणाद् धात्री जननाज्जननी स्मृता । □
अङ्गानां वर्धनादम्बा वीरसूत्वेन वीरसूः ।।२२।।

'वह गर्भाशय में धारण करने के कारण 'धात्री', जन्म देने के कारण 'जननी', शिशु के अङ्गों का वर्धन [पालन-पोषण] करने के कारण 'अम्बा' और वीर सन्तान का प्रसव करने के कारण 'वीरसू' कहलाती है।

शिशोः शुश्रूषणाच्छुश्रूर्माता देहमनन्तरम् ।
चेतनावान्नरो हन्याद् यस्य नासुषिरं शिरः ।।२३।।

'वह शिशु की शुश्रूषा करके 'शुश्रू' नाम धारण करती है। माता अपना निकटतम शरीर है। जिसका मस्तिष्क विचारशून्य नहीं हो गया है, ऐसा कोई

चेतन मनुष्य अपनी माता का वध कभी नहीं कर सकता।'

एवं विमृशतस्तस्य चिरकारितया बहु।
दीर्घः कालो व्यतिक्रान्तस्ततोऽस्याभ्यागमत्पिता ।।२४

विलम्ब करने का स्वभाव होने के कारण चिरकारी इस प्रकार सोचता-विचारता रहा। इसी चिन्तन में बहुत अधिक समय व्यतीत हो गया। इतने में ही उसके पिता वन से लौट आये।

विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम्।
सोऽब्रवीद् भृशसंतप्तो दुःखेनाश्रूणि वर्तयन् ।।२५।।

उस समय अपनी पत्नी के वध के अनौचित्य पर विचार करके वे अत्यन्त सन्तप्त हो गये। वे दुःख के आंसू बहाते हुए मन-ही-मन इस प्रकार कहने लगे—

हत्वा साध्वीं च नारीं च व्यसनित्वाच्च वासिताम्।
भर्तव्यत्वेन भार्यां च को नु मां तारयिष्यति ।।२६

'जिसे मैंने पत्नी के रूप में अपने घर में शरण दी थी, जो सती-साध्वी नारी थी और भार्या होने के कारण मुझसे भरण-पोषण पाने की अधिकारिणी थी, उसी का मैंने प्रमादरूपी व्यसन के वशीभूत होने के कारण वध करा डाला। अब इस पाप से मेरा कौन उद्धार करेगा?

अन्तरेण मयाऽऽज्ञप्तश्चिरकारीत्युदारधीः।
यद्यद्य चिरकारी स्यात्स मां त्रायते पातकात् ।।२७।।

'परन्तु मैंने उदारबुद्धि चिरकारी को उसकी माता के वध की आज्ञा दी थी। यदि उसने इस कार्य में विलम्ब करके अपने नाम को सार्थक किया हो तो वही मुझे स्त्रीवध के पाप से बचा सकता है।

चिरकारिक भद्रं ते भद्रं ते चिरकारिकः।
यद्यद्य चिरकारी त्वं ततोऽसि चिरकारिकः ।।२८।।

'पुत्र चिरकारी! तेरा कल्याण हो। चिरकारी! तेरा मङ्गल हो। यदि आज भी तूने विलम्ब करने के अपने स्वभाव का अनुसरण किया हो, तभी तेरा चिरकारी नाम सफल हो सकता है।

त्राहि मां मातरं चैव तपो यच्चार्जितं मया।
आत्मानं पातकेभ्यश्च भवाद्य चिरकारिकः ।।२९।।

'पुत्र! आज विलम्ब करके तू वस्तुतः चिरकारी बन और मेरी, अपनी माता की तथा मैंने जो तप-अर्जन किया है, उसकी भी रक्षा कर। साथ ही अपने-आपको भी पाप से बचा ले।

चिरमाशंसितो मात्रा चिरं गर्भेण धारितः।
सफलं चिरकारित्वं कुरु त्वं चिरकारिक ।।३०।।

'तेरी माता चिरकाल से तेरे जन्म की आशा लगाये बैठी थी। उसने चिरकाल तक तुझे गर्भ में धारण किया है, अतः बेटे चिरकारी! आज तू अपनी माता की रक्षा करने के लिए चिरकारिता को सफल कर ले।'

एवं स दुःखितो राजन् महर्षिर्गौतमस्तदा।
चिरकारिं ददर्शाथ पुत्रं स्थितमथान्तिके ।।३१।।

राजन्! इस प्रकार दुःखी हुए महर्षि गौतम ने घर आने पर अपने पुत्र चिरकारी को समीप ही खड़े हुए देखा।

चिरकारी तु पितरं दृष्ट्वा परमदुःखितः।
शस्त्रं त्यक्त्वा ततो मूर्ध्ना प्रसादायोपचक्रमे ।।३२।।

पिता को उपस्थित देख चिरकारी अत्यन्त दुःखी हुआ। वह शस्त्र फेंककर उनके चरणों में मस्तक झुका उन्हे प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगा।

गौतमस्तु सुतं दृष्ट्वा शिरसा पतितं भुवि।
पत्नीं चैव निराकारां परामभ्यागमन्मुदम् ।।३३।।

गौतम ने देखा कि चिरकारी पृथिवी पर माथा टेककर पड़ा है और पत्नी लज्जा के कारण निश्चेष्ट [बुझी हुई-सी] खड़ी है। यह देखकर उन्हें अति प्रसन्नता हुई।

ततः पित्रा चिरं स्तुत्वा चिरं चाघ्राय मूर्धनि।
चिरं दोर्भ्यां परिष्वज्य चिरं जीवेत्युदाहृतः ।।३४।।

फिर पिता ने चिरकाल तक उसकी प्रशंसा करके देर तक उसका मस्तक सूंघा और दोनों भुजाओं से खींचकर चिरकाल तक उसे हृदय से लगाये रखा तथा आशीर्वाद देते हुए कहा—"पुत्र! चिरञ्जीवी हो!"

एवं स गौतमः पुत्रं प्रीतिहर्षगुणैर्युतः।
अभिनन्द्य महाप्राज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ।।३५।।

महामते! इस प्रकार प्रेम और हर्ष से भरे हुए गौतम ने पुत्र का अभिनन्दन करके यह बात कही—

चिरेण मित्रं बध्नीयाच्चिरेण च कृतं त्यजेत् ।
चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारणमर्हति ।।३६।।

'चिरकाल तक सोच-विचारकर किसी के साथ मैत्री करनी चाहिए और जिसे मित्र बना लिया, उसे सहसा नहीं छोड़ना चाहिए। यदि छोड़ने की आवश्यकता पड़ ही जाए तो उसके परिणाम पर चिरकाल तक विचार करना चाहिए। चिरकाल तक सोच-विचारकर बनाये हुए मित्र की मैत्री चिरकाल तक टिकी रहती है।

रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि ।
अप्रिये चैव कर्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते ।।३७।।

राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापाचरण तथा किसी का अप्रिय करने में जो विलम्ब करता है, उसकी प्रशंसा की जाती है।

बन्धूनां सुहृदां चैव भृत्यानां स्त्रीजनस्य च ।
अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते ।।३८।।

'बन्धुओं, सुहृदों, सेवकों और स्त्रियों के छिपे हुए अपराधों के विषय में कुछ निर्णय करने में जो शीघ्रता न करके चिरकाल तक सोच-विचार करता है, उसकी प्रशंसा की जाती है।'

एवं स गौतमस्तत्र प्रीतः पुत्रस्य भारत ।
कर्मणा तेन कौरव्य चिरकारितया तथा ।।३९।।

कुरुनन्दन ! हे भारत ! इस प्रकार गौतम अपने पुत्र के विलम्ब से कार्य करने के कारण अत्यन्त हर्षित हुए थे।

एवं सर्वेषु कार्येषु विमृश्य पुरुषस्ततः ।
चिरेण निश्चयं कृत्वा चिरं न परितप्यते ।।४०।।

इस प्रकार सभी कार्यों में विचार करके चिरकाल के पश्चात् किसी निश्चय पर पहुँचनेवाले पुरुष को दीर्घकाल तक पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता।

चिरं धारयते रोषं चिरं कर्म नियच्छति ।
पश्चात्तापकरं कर्म न किञ्चिदुपपद्यते ।।४१।।

जो क्रोध को चिरकाल तक अपने भीतर दबाये रखता है तथा रोषपूर्वक किये जानेवाले कर्म को देर तक रोके रहता है, उसके द्वारा कोई कर्म ऐसा नहीं बनता जो पश्चात्ताप करानेवाला हो।

चिरं वृद्धानुपासीत चिरमन्वास्य पूजयेत् ।
चिरं धर्मं निषेवेत कुर्याच्चान्वेषणं चिरम् ।।४२।।

दीर्घकाल तक वृद्धों की सेवा करे। चिरकाल तक उनकी सङ्गति करके उनका आदर-सत्कार करे। चिरकाल तक धर्म का सेवन करे और दीर्घकाल तक उसका अनुसन्धान करे।

चिरमन्वास्य विदुषश्चिरं शिष्टान् निषेव्य च ।
चिरं विनीय चात्मानं चिरं यात्यनवज्ञताम् ।।४३।।

दीर्घकाल तक विद्वानों का सङ्ग करे और चिरकाल तक शिष्ट पुरुषों की सेवा में संलग्न रहे तथा चिरकाल तक मन को अपने वश में रखे। इससे मनुष्य चिरकाल तक अवज्ञा का नहीं अपितु सम्मान का भागी बनता है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।।५२।।

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

आत्मसंयम और ब्रह्म-प्राप्ति के साधनों का निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

अविरोधेन भूतानां योगः षाड्गुण्यकारकः ।
यः स्यादुभयभाग्धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! प्राणियों का अहित न करते हुए मनुष्यों को शम-दम आदि छह गुणों की प्राप्ति करानेवाला जो योग है और भोग तथा मोक्ष दोनों फलों को प्राप्त करानेवाला जो धर्म है, वह मुझे बताइए।

गार्हस्थ्यस्य च धर्मस्य योगधर्मस्य चोभयोः ।
अदूरसम्प्रस्थितयोः किं स्विच्छ्रेयः पितामह ।।२।।

पितामह ! गार्हस्थ्यधर्म और योगधर्म—दोनों एक-दूसरे से दूर नहीं हैं, फिर भी दोनों में से कौन-सा श्रेष्ठ है? यह भी बताने की कृपा करें।

भीष्म उवाच

उभौ धर्मौ महाभागावुभौ परमदुश्चरौ ।
उभौ महाफलौ तौ तु सद्भिराचरितावुभौ ।।३।।

भीष्मजी बोले—राजन् ! गार्हस्थ्य और योग-धर्म—दोनों महान् सौभाग्य प्रदान करनेवाले हैं। दोनों अत्यन्त दुष्कर हैं। दोनों के ही फल महान् हैं तथा श्रेष्ठ पुरुषों ने दोनों का ही आचरण किया है।

अत्र ते वर्तयिष्यामि प्रामाण्यमुभयोस्तयोः।
शृणुष्वैकमनाः पार्थ छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥४॥

कुन्तीकुमार ! मैं तुम्हारे लिए इन दोनों धर्मों की प्रामाणिकता का प्रतिपादन करूँगा तथा तुम्हारे धर्म एवं अर्थविषयक सन्देह को मिटा दूँगा। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो !

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्तिजन्तवः।
एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः ॥५॥

जैसे समस्त प्राणी माता की गोद का आश्रय पाकर ही जीवन-धारण करते हैं, वैसे ही गृहस्थाश्रम का आश्रय लेकर ही दूसरे आश्रम टिके हुए हैं।

गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः।
गार्हस्थ्यमस्य धर्मस्य मूलं यत्किंचिदेजते ॥६॥

गृहस्थ ही यज्ञ करता है, गृहस्थ ही तप करता है। मनुष्य जो कुछ भी चेष्टा करता है—जिस किसी भी शुभ कर्म का आचरण करता है, उस धर्म का मूल कारण गृहस्थ आश्रम ही है।

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासंस्तेषु धर्मः सनातनः ॥७॥

बुद्धिमान् गृहस्थ के लिए दर्श, पौर्णमास, अग्निहोत्र और चातुर्मास्य आदि के अनुष्ठान का विधान है, क्योंकि उनमें सनातनधर्म की स्थिति है।

अनारम्भाः सुधृतयः शुचयो ब्रह्मसंज्ञिताः।
ब्रह्मणैव स्म ते देवांस्तर्पयन्त्यमृतैषिणः ॥८॥

परन्तु जो संन्यास ग्रहण करके कर्म-अनुष्ठान से निवृत्त हो गये हैं तथा धीर, पवित्र और ब्रह्मस्वरूप में स्थित हैं, वे अविनाशी ब्रह्म को चाहनेवाले महात्मा पुरुष ब्रह्मज्ञान से ही देवताओं को तृप्त करते हैं।

चतुर्द्वारं पुरुषं चतुर्मुखं
चतुर्धा चैनमुपयाति वाचा।
बाहुभ्यां वाच उदरादुपस्थात्
तेषां द्वारं द्वारपालो बुभूषेत् ॥९॥

मनुष्यों के हाथ-पैर, वाणी, उदर और उपस्थ-ये चार द्वार हैं। इनका द्वारपाल होने की इच्छा करे अर्थात् इनपर संयम रखे। वह शास्त्रवाक्यों के अनुसार इन चारों द्वारों के संयम से प्राप्त होनेवाले ऋक्, यजुः, साम, अथर्वरूप—चार मुखों से युक्त परमपुरुष परमात्मा को भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा अष्टाङ्गयोग—इन चार उपायों से प्राप्त करता है।

नाक्षैर्दीव्येन्नाददीतान्यवित्तं
न वायोनीयस्य शृतं प्रगृह्णात्।
क्रुद्धो न चैव प्रहरेत धीमाँ-
स्तथास्य तत्पाणिपादं सुगुप्तम् ॥१०

बुद्धिमान् पुरुष जूआ न खेले, दूसरों के धन का अपहरण न करे। नीच पुरुष का बनाया हुआ अन्न ग्रहण न करे और क्रोध में आकर किसी को मार न बैठे—ऐसा करने से उसके हाथ-पैर सुरक्षित रहते हैं।

नाक्रोशमृच्छेन्न वृथा वदेच्च
न पैशुनं जनवादं च कुर्यात्।
सत्यव्रतो मितभाषोऽप्रमत्त-
स्तथास्य वाग्द्वारमथो सुगुप्तम् ॥११

किसी को गाली न दे, व्यर्थ न बोले, दूसरों की चुगली या निन्दा न करे, मितभाषी हो, सत्य वचन बोले और सत्यभाषण के लिए सदा सावधान रहे—ऐसा आचरण करने से वाक्-इन्द्रियरूपी द्वार की रक्षा होती है।

नानाशनः स्यान्न महाशनः स्या-
दलोलुपः साधुभिरागतः स्यात्।
यात्रार्थमाहारमिहाददीत
तथास्य स्याज्जाठरी द्वारगुप्तिः ॥१२॥

उपवास न करे, परन्तु ठूँस-ठूँसकर भी न खाये, सदा भोजन के लिए लालायित न रहे। सज्जनों का सङ्ग करे और जीवन-निर्वाह के लिए जितना आवश्यक हो, उतना ही अन्न पेट में डाले—ऐसा करने से उदरद्वार की सुरक्षा होती है।

न वीर पत्नीं विहरेत नारीं
न चाऽपि पत्नीमनृतौ हि गच्छेत्।

भार्याव्रतं ह्यात्मनि धारयीत
उपस्थद्वारे गुप्तिस्तथा भवेत् ॥१३॥

वीर युधिष्ठिर ! मनुष्य को चाहिए कि अपनी धर्मपत्नी के साथ ही विहार करे, पर-स्त्री के साथ नहीं। अपनी पत्नी को भी जबतक वह ऋतुस्नाता न हुई हो, समागम के लिए अपने पास न बुलाये तथा मन में एकपत्नीव्रत धारण करे। ऐसा करने से उसके उपस्थद्वार की रक्षा होती है।

द्वाराणि यस्य सर्वाणि सुगुप्तानि मनीषिणः।
उपस्थमुदरं बाहू वाक् चतुर्थी स वै द्विजः ॥१४॥

जिस मनीषी मनुष्य के उपस्थ, उदर, हाथ-पैर और वाणी—ये सभी द्वार पूर्णतः रक्षित हैं, वही वास्तव में ब्राह्मण है।

मोघान्यगुप्तद्वारस्य सर्वाण्येव भवन्त्युत।
किं तस्य तपसा कार्यं किं यज्ञेन किमात्मना ॥१५॥

जिसके ये द्वार सुरक्षित नहीं हैं, उसके सारे शुभ कर्म निष्फल होते हैं। ऐसे मनुष्य को तपस्या, यज्ञ और आत्मचिन्तन से क्या लाभ हो सकता है?

अनुत्तरीयवसनमनुपस्तीर्णशायिनम् ।□
बाहूपधानं शाम्यन्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥१६॥

जिसके पास वस्त्र के नाम पर एक लंगोटीमात्र है, ओढ़ने के लिए एक चादर तक नहीं है, जो बिना बिछौने के ही सोता है, बाँहों का तकिया लगाता है और सदा शान्तभाव से रहता है, उसी को विद्वान् लोग ब्राह्मण मानते हैं।

न वेदानां परिभवान्न शाठ्येन न मायया।
महत्प्राप्नोति पुरुषो ब्रह्मणि ब्रह्मविन्दति ॥१७॥

वेदों का अनादर करने से, शठता से और छल-कपटपूर्ण व्यवहार से कोई भी मनुष्य परब्रह्म-परमात्मा को नहीं पा सकता। वेदों तथा उसमें बताये हुए कर्मों का आश्रय लेने पर ही उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

सर्वं विदुर्वेदविदो वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
वेदे हि निष्ठा सर्वस्य यद्यदस्ति च नास्ति च ॥१८॥

वेदज्ञ पुरुष सभी विषयों को जानते हैं क्योंकि वेदों में सब-कुछ प्रतिष्ठित है। जो-जो वस्तु है और जो नहीं है, उन सबकी स्थिति वेद में बताई गई है।

तपस्विनो धृतिमन्तः श्रुतिविज्ञानचक्षुषः।
सर्वमार्षं हि मन्यन्ते व्याहृतं विदितात्मनः ॥१९॥

तपस्वी, धैर्यवान्, वेद एवं विज्ञानरूप दृष्टि से सम्पन्न ऋषि-मुनि वेद को नित्यज्ञान-सम्पन्न परमेश्वर की निःश्वासभूत वाणी मानते हैं।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥२०॥

ब्रह्म के दो रूप समझने चाहिएँ—शब्दब्रह्म [वेद] और परब्रह्म [सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा]। जो मनुष्य शब्दब्रह्म में पारंगत है, वह परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

ज्ञानं प्लावयते सर्वं यो ज्ञानं ह्यनुवर्तते।
ज्ञानादपेत्य या वृत्तिः सा विनाशयति प्रजाः ॥२१॥

जो ज्ञान का अनुसरण करता है, ज्ञान उसके समस्त संसार-बन्धन का नाश कर देता है। जो ज्ञान-रहित प्रवृत्ति होती है, वह प्रजा को जन्म और मरण के चक्र में डालकर उसका विनाश कर देती है।

आनृशंस्यं क्षमा शान्तिरहिंसा सत्यमार्जवम् ।□
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा शमस्तथा।
पन्थानो ब्रह्मणस्त्वेते एतैः प्राप्नोति यत्परम् ॥२२॥

सम्पूर्ण प्राणियों पर दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्यभाषण, सरलता, निर्वैरता, निरभिमानता, लज्जा, तितिक्षा [सहनशीलता] और शम—ये पर-ब्रह्म-परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग हैं। इनके द्वारा मनुष्य परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५३॥

चतु:पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धर्म, अधर्म, वैराग्य और मोक्ष के सम्बन्ध में युधिष्ठिर के प्रश्न और उनका उत्तर, मोक्ष के साधनों का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कथं भवति पापात्मा कथं धर्मं करोति वा ।
केन निर्वेदमादत्ते मोक्षं वा केन गच्छति ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! मनुष्य पापी कैसे बन जाता है ? वह धर्माचरण कैसे करता है ? उसे वैराग्य कैसे प्राप्त होता है और वह मोक्ष की प्राप्ति किस साधन से करता है ?

भीष्म उवाच

विदिताः सर्वधर्मास्ते स्थित्यर्थं त्वं तु पृच्छसि ।
शृणु मोक्षं सनिर्वेदं पापं धर्मं च मूलतः ।।२।।

भीष्मजी बोले—राजन् ! तुम्हें सब धर्मो [आचरणीय कर्तव्यों] का ज्ञान है। तुम तो लोक-मर्यादा की रक्षा और मेरी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए मुझसे प्रश्न कर रहे हो। अच्छा, अब तुम मोक्ष, वैराग्य, पाप और धर्म का मूल क्या है, इन विषयों का श्रवण करो।

विज्ञानार्थं हि पञ्चानामिच्छा पूर्वं प्रवर्तते ।
प्राप्यैकं जायते कामो द्वेषो वा भरतर्षभ ।।३।।

भरतश्रेष्ठ ! मनुष्य को सर्वप्रथम [शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन] पाँचों विषयों का अनुभव करने की इच्छा उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् उन पाँचों विषयों में से किसी एक को प्राप्त करके उसके प्रति राग या द्वेष हो जाता है।

ततस्तदर्थं यतते कर्म चारभते महत् ।
इष्टानां रूपगन्धानामभ्यासं च चिकीर्षति ।।४।।

फिर जिसके प्रति राग होता है, उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करता है। बड़े-बड़े कार्यों का आरम्भ करता है। वह अपने इच्छित रूप और गन्ध आदि का बारम्बार सेवन करना चाहता है।

ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनन्तरम् ।
ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनन्तरम् ।।५।।

इससे उन विषयों के प्रति उसके मन में राग उत्पन्न हो जाता है। फिर प्रतिकूल विषय से द्वेष होता है। तत्पश्चात् अनुकूल विषय के लिए लोभ होता है और लोभ के पश्चात् उसके मन पर मोह अधिकार जमा लेता है।

लोभमोहाभिभूतस्य रागद्वेषान्वितस्य च ।
न धर्मे जायते बुद्धिर्व्याजाद् धर्मं करोति च ।।६।।

लोभ और मोह से घिरे हुए तथा राग-द्वेष के वशीभूत हुए मनुष्य की बुद्धि धर्म में प्रवृत्त नहीं होती। वह किसी-न-किसी बहाने से [दिखावे-मात्र के लिए] धर्माचरण किया करता है।

व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते ।
व्याजेन सिद्धयमानेषु धनेषु कुरुनन्दन ।।७।।
तत्रैव कुरुते बुद्धिं ततः पापं चिकीर्षति ।
सुहृद्भिर्वार्यमाणोऽपि पण्डितैश्चापि भारत ।।८।।

कुरुनन्दन ! वह किसी बहाने से ही धर्म करता है, छल-कपट से धन कमाने में रुचि रखता है और यदि कपट से धन-प्राप्ति में सफलता मिल गई तो वह उसी में अपनी सारी बुद्धि लगा देता है। भारत ! फिर तो वह सुहृदों और विद्वानों के मना करने पर भी केवल पाप ही करना चाहता है।

अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्धते रागमोहजः ।
पापं चिन्तयते चैव प्रब्रवीति करोति च ।।९।।

फिर उसका राग तथा मोहजनित तीन प्रकार का अधर्म बढ़ता है। वह मन से पाप की ही बात सोचता है, वाणी से पाप की बात ही बोलता है और क्रिया द्वारा भी पाप ही करता है।

स नेह सुखमाप्नोति कुत एव परत्र वै ।
एवं भवति पापात्मा धर्मात्मानं तु मे शृणु ।।१०।।

ऐसा मनुष्य इस लोक में भी सुख नहीं पा सकता, फिर परलोक में तो पा ही कैसे सकता है ! इस प्रकार मनुष्य पापी हो जाता है। अब धर्मात्मा के विषय में मुझसे सुनो !

यथा कुशलधर्मा स कुशलं प्रतिपद्यते ।
कुशलेनैव धर्मेण गतिमिष्टां प्रपद्यते ।।११।।

धर्मात्मा मनुष्य जैसे परहित-साधक कल्याणकारी धर्म का आचरण करता है, वैसे ही कल्याण का भागी होता है। वह कल्याणकारक धर्म के प्रभाव से ही अभीष्ट गति को प्राप्त होता है।

य एतान् प्रज्ञया दोषान् पूर्वमेवानुपश्यति।
कुशलः सुखदुःखानां साधूंश्चाप्यथ सेवते।
तस्य साधुसमाचारादभ्यासाच्चैव वर्धते ॥१२॥

जो मनुष्य अपनी बुद्धि से राग आदि दोषों को पहले ही देख लेता है, वह सुख-दुःख को समझने में प्रवीण हो जाता है। फिर वह श्रेष्ठ पुरुषों का सङ्ग करता है। उनके सत्सङ्ग और उत्तम कर्मों के आचरण से उसकी बुद्धि बढ़ती है।

प्रज्ञा धर्मे च रमते धर्मं चैवोपजीवति।
सोऽथ धर्मादवाप्तेषु धनेषु कुरुते मनः ॥१३॥

वह बढ़ी हुई बुद्धि धर्म में ही सुख मानती और उसी का आश्रय लेती है। वह मनुष्य धर्म से प्राप्त होनेवाले धन में ही मन लगाता है।

तस्यैव सिञ्चते मूलं गुणान् पश्यति यत्र वै।
धर्मात्मा भवति ह्येवं मित्रं च लभते शुभम् ॥१४॥

वह जहाँ गुण देखता है, उसी के मूल को सींचता है। ऐसा करने से वह पुरुष धर्मात्मा बन जाता है और शुभकारक मित्र प्राप्त कर लेता है।

स मित्रधनलाभात्तु प्रेत्य चेह च नन्दति।
शब्दे स्पर्शे रसे रूपे तथा गन्धे च भारत ॥१५॥
प्रभुत्वं लभते जन्तुर्धर्मस्यैतत् फलं विदुः।
स तु धर्मफलं लब्ध्वा न हृष्यति युधिष्ठिर ॥१६॥

भरतनन्दन! श्रेष्ठ मित्र और धन की प्राप्ति से वह इहलोक और परलोक—दोनों में आनन्दित होता है। ऐसा पुरुष शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—इन पाँचों विषयों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। इसे धर्म का फल माना जाता है। युधिष्ठिर! वह धर्म का फल पाकर भी हर्ष से फूलकर कुप्पा नहीं हो जाता।

अतृप्यमानो निर्वेदमादत्ते ज्ञानचक्षुषा।
प्रज्ञाचक्षुर्यदा कामे रसे गन्धे न रज्यते ॥१७॥
शब्दे स्पर्शे तथा रूपे न च भावयते मनः।
विमुच्यते यदा कामान्न च धर्मं विमुञ्चति ॥१८॥

इससे तृप्त न होनेवाला विवेकदृष्टि से वैराग्य को ही ग्रहण करता है। बुद्धिरूपी नेत्र खुल जाने के कारण जब वह कामोपभोग, रस और गन्ध में अनुरक्त नहीं होता और शब्द, स्पर्श तथा रूप में भी उसका चित्त चलायमान नहीं होता, तब वह सब कामनाओं से मुक्त हो जाता है और धर्म का त्याग नहीं करता।

सर्वत्यागे च यतते दृष्ट्वा लोकं क्षयात्मकम्।
ततो मोक्षाय यतते नानुपायादुपायतः ॥१९॥
शनैर्निर्वेदमादत्ते पापं कर्म जहाति च।
धर्मात्मा चैव भवति मोक्षं च लभते परम् ॥२०॥

फिर वह सम्पूर्ण लोकों को नाशवान् समझकर मन से सर्वस्व को त्याग देने का प्रयत्न करता है। तत्पश्चात् वह अनुचित उपाय से नहीं, अपितु योग्य उपाय से मोक्षप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। इस प्रकार शनैः-शनैः मनुष्य को वैराग्य की प्राप्ति होने पर वह पापकर्म तो छोड़ देता है और धर्मात्मा बन जाता है। अन्त में वह अपने परम लक्ष्य [मोक्ष] को प्राप्त कर लेता है।

तस्माद् धर्मे प्रवर्तेथाः सर्वावस्थं युधिष्ठिर।
धर्मे स्थितानां कौन्तेय सिद्धिर्भवति शाश्वती ॥२१॥

कुन्तीकुमार युधिष्ठिर! तुम सभी अवस्थाओं में धर्म का ही आचरण करो, क्योंकि जो लोग धर्म में स्थित रहते हैं, उन्हें सदा [परान्तकाल तक] रहनेवाली मोक्षरूपी परम सिद्धि प्राप्त होती है।

युधिष्ठिर उवाच

मोक्षः पितामहेनोक्त उपायान्नानुपायतः।
तमुपायं यथान्यायं श्रोतुमिच्छामि भारत ॥२२॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! आपने उचित उपाय से मोक्ष-प्राप्ति की बात बताई, अनुचित उपाय से नहीं। भरतनन्दन! वह यथायोग्य उपाय क्या है? यह मैं सुनना चाहता हूँ।

भीष्म उवाच

पूर्वे समुद्रे यः पन्थाः स न गच्छति पश्चिमम्।
एकः पन्था हि मोक्षस्य तन्मे निगदतः शृणु ॥२३॥

भीष्मजी ने कहा—देखो, जो मार्ग पूर्व-समुद्र की ओर जाता है, वह पश्चिम-समुद्र की ओर नहीं

जा सकता। इसी प्रकार मोक्ष का भी एक ही मार्ग है। मैं उसे बताता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो !

कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम्।
परित्यज्य निषेवेत यतवाग्योगसाधनम् ॥२४॥

काम, क्रोध, लोभ, भय और निद्रा—इन पाँचों दोषों का परित्याग करके वाणी को वश में रखते हुए योग-साधनों का सेवन करना चाहिए।

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा।
शौचमाहारतः शुद्धिरिन्द्रियाणां च संयमः ॥२५॥
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानमुपहन्ति च।
सिध्यन्ति चास्य संकल्पा विज्ञानं च प्रवर्तते ॥२६॥

ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, बाहर-भीतर की पवित्रता, आहार-शुद्धि तथा इन्द्रियों का वशीकरण—ये ही योग के साधन हैं। इन सबके द्वारा साधक का तेज बढ़ता है। वह अपने पापों का प्रक्षालन करता है। उसके संकल्प सिद्ध होने लगते हैं और हृदय में विज्ञान का आविर्भाव हो जाता है।

धूतपापः स तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ॥२७॥

इस प्रकार जब जीवन के दोष दूर हो जाएँ और साधक तेजस्वी, मिताहारी तथा जितेन्द्रिय हो जाए तब वह काम और क्रोध को अपने वश में करके अपने-आपको ब्रह्मपद में प्रतिष्ठित करने की इच्छा करे।

अमूढत्वमसंगित्वं कामक्रोधविवर्जनम्।
अदैन्यमनुदीर्णत्वमनुद्वेगो व्यवस्थितिः ॥२८॥
एष मार्गो हि मोक्षस्य प्रसन्नो विमलः शुचिः।
तथा वाक्कायमनसां नियमः कामतोऽन्यथा ॥२९॥

मूढ़ता और आसक्ति का अभाव, काम और क्रोध का परित्याग, दीनता, उद्दण्डता तथा उद्वेग से रहित होना, चित्त की स्थिरता और निष्काम भाव से मन, वाणी एवं इन्द्रियों का संयम—यह मोक्ष का स्वच्छ, निर्मल और पवित्र मार्ग है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५४॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

तृष्णा-परित्याग के विषय में माण्डव्य मुनि और जनक का संवाद

युधिष्ठिर उवाच

भ्रातरः पितरः पौत्रा ज्ञातयः सुहृदः सुताः।
अर्थहेतोर्हताः क्रूरैरस्माभिः पापकर्मभिः ॥१॥
येयमर्थोद्भवा तृष्णा कथमेतां पितामह।
निवर्तयेयं पापानि तृष्णया कारिता वयम् ॥२॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हमने धन के लिए ही भाई, पिता, पौत्र, सम्बन्धी, सुहृद् और पुत्र—इन सबका संहार करा डाला, अतः हम लोग बड़े पापी और क्रूर हैं। पितामह ! यह जो धनजनित तृष्णा है, इसी ने हमसे बड़े-बड़े पाप कराये हैं। हम इस तृष्णा को कैसे जीतें ?

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं विदेहराजेन माण्डव्यायानुपृच्छते ॥३॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! एक बार माण्डव्य मुनि ने विदेहराज जनक से यही प्रश्न पूछा था, उसके उत्तर में विदेहराज ने जो उद्गार प्रकट किया था, ऐसे अवसरों पर विद्वान् लोग उसी प्राचीन इतिहास का दृष्टान्त देते हैं।

सुसुखं बत जीवामि यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ॥४॥

राजा जनक ने कहा था—मैं बड़े सुख से जीवन व्यतीत करता हूँ, क्योंकि इस संसार की कोई भी वस्तु मेरी नहीं है—किसी पर भी मेरा ममत्व नहीं है। यदि सारी मिथिला नगरी भी भस्म हो जाए, तो भी मेरा कुछ नहीं जलता है।

अर्थाः खलु समृद्धा हि बाढं दुःखं विजानताम्।
असमृद्धास्त्वपि सदा मोहयन्त्यविचक्षणान् ॥५॥

अत्यन्त समृद्धिसम्पन्न विषय भी विवेकियों को

दुःखरूप ही जान पड़ते हैं परन्तु अज्ञानियों को तुच्छ विषय भी सदा मोह में डाले रहते हैं।

यथैव शृङ्गं गोः काले वर्धमानस्य वर्धते।
तथैव तृष्णा वित्तेन वर्धमानेन वर्धते॥६॥

जैसे समयानुसार बढ़ते हुए बछड़े का सींग भी उसके शरीर के साथ ही बढ़ता जाता है, वैसे ही बढ़ते हुए धन के साथ मनुष्य की तृष्णा भी बढ़ती जाती है।

किञ्चिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम्।
तदेव परितापाय नाशे सम्पद्यते पुनः॥७॥

कोई भी वस्तु क्यों न हो, जब उसके प्रति ममता कर ली जाती है—उसे अपना मान लिया जाता है, तब वही नष्ट होने पर सन्ताप का कारण बन जाती है।

न कामाननुरुद्ध्येत दुःखं कामेषु वै रतिः।
प्राप्यार्थमुपयुञ्जीत धर्मे कामान् विसर्जयेत्॥८॥

कामनाओं अथवा भोगों की वृद्धि के लिए आग्रह नहीं रखना चाहिए। भोगों में जो आसक्ति होती है, वह दुःखरूप ही है। धन प्राप्त करके भी उसे धर्म में ही लगा देना चाहिए। काम-भोगों को तो सर्वथा त्याग देना चाहिए।

विद्वान् सर्वेषु भूतेषु आत्मना सोपमो भवेत्।
कृतकृत्यो विशुद्धात्मा सर्वं त्यजति चैव हि॥६॥

बुद्धिमान् मनुष्य सभी प्राणियों के प्रति अपने समान ही भाव रखे। इससे वह कृतकृत्य और शुद्ध-चित्त होकर समस्त दोषों को त्याग देता है।

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ प्रियाप्रिये।
भयाभये च सन्त्यज्य स प्रशान्तो निरामयः॥१०॥

वह [बुद्धिमान् मनुष्य] सत्य-असत्य हर्ष-शोक, प्रिय-अप्रिय और भय-अभय आदि सभी द्वन्द्वों को त्यागकर अत्यन्त शान्त और निर्विकार हो जाता है।

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥११

दुर्बुद्धियों के लिए जिसका त्याग अत्यन्त कठिन है, जो शरीर के वृद्ध हो जाने पर भी स्वयं जीर्ण न होकर नई-नवेली ही बनी रहती है, जिसे प्राणान्त-काल तक रहनेवाला रोग माना गया है, उस तृष्णा को जो त्याग देता है, उसी को परमसुख की प्राप्ति होती है।

चारित्रमात्मनः पश्यंश्चन्द्रशुद्धमनामयम्।
धर्मात्मा लभते कीर्तिं प्रेत्य चेह यथासुखम्॥१२॥

जो अपने आचार को चन्द्रमा के समान विशुद्ध, उज्ज्वल और निर्विकार देखता है, वह धर्मात्मा पुरुष इहलोक और परलोक में कीर्ति तथा उत्तम सुख पाता है।

राज्ञस्तद् वचनं श्रुत्वा प्रीतिमानभवद् द्विजः।
पूजयित्वा च तद्वाक्यं माण्डव्यो मोक्षमाश्रितः॥१३॥

राजा जनक के ये उत्तम वचन सुनकर मुनिवर माण्डव्य अति प्रसन्न हुए। उनके कथन की प्रशंसा करके उन्होंने [मुनि ने] मोक्षमार्ग का आश्रय लिया।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥५५॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संन्यासी के स्वभाव, आचरण और धर्मों का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किंशीलः किंसमाचारः किंविद्यः किंपरायणः।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत् परं प्रकृतेर्ध्रुवम्॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! प्रकृति से परे जो परब्रह्म का अविनाशी परमधाम=मोक्षपद है, उसे कैसे स्वभाव, किस प्रकार के आचरण, कैसी विद्या तथा किन कर्मों में तत्पर रहनेवाला मनुष्य प्राप्त कर सकता है?

भीष्म उवाच

मोक्षधर्मेषु निरतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
प्राप्नोति परमं स्थानं यत् परं प्रकृतेर्ध्रुवम्॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन्! जो मनुष्य मोक्ष-

साधक कर्मों में तत्पर, मिताहारी तथा जितेन्द्रिय होता है, वह उस प्रकृति से परे परब्रह्म परमात्मा के मोक्षधाम को प्राप्त कर लेता है।

स्वगृहादभिनिःसृत्य लाभेऽलाभे समो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥३॥

मुमुक्षु [मोक्ष-अभिलाषी] को चाहिए कि लाभ-हानि में समान भाव रखकर मुनिवृत्ति से रहे और भोगों के उपलब्ध होने पर भी उनके भोगने की इच्छा से रहित हो अपने घर से निकलकर संन्यास ग्रहण कर ले।

न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेदपि।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दूषणं व्याहरेत् क्वचित् ॥४॥

वह नेत्र, मन और वाणी से दूसरों के दोष न देखे, न सोचे और न कहे। किसी के सामने या परोक्ष में पराये दोषों की चर्चा भी कहीं न करे।

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥५॥

समस्त प्राणियों में से किसी की भी हिंसा न करे—किसी के प्रति वैरभाव न रखे। सबके प्रति मित्रभाव रखकर विचरता रहे। इस क्षणभङ्गुर जीवन को लेकर किसी के साथ शत्रुता न करे।

अतिवादाँस्तितिक्षेत नाभिमन्येत कञ्चन।
क्रोध्यमानः प्रियं ब्रूयादाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ॥६॥

यदि कोई निन्दा करे या कटुवचन कहे तो उन्हें चुपचाप सह ले। किसी के प्रति अहंकार अथवा घमण्ड प्रकट न करे। कोई क्रोध भी करे तो उससे प्रियवचन ही बोले। यदि कोई गाली दे, तो भी उसके प्रति कल्याणकारी वचन ही बोले।

अवकीर्णः सुगुप्तश्च न वाचा ह्यप्रियं वदेत्।
मृदुः स्यादप्रतिक्रूरो विस्रब्धः स्यादकत्थनः ॥७॥

कोई धूल या कीचड़ फेंके तो मुमुक्षु उससे आत्मरक्षा मात्र करे। मुख से कोई अप्रियवचन न बोले। सर्वदा मृदुता का व्यवहार करे। किसी के प्रति कठोरता न करे। निश्चिन्त रहे और बहुत बढ़-बढ़कर बातें न बनाये।

न चान्नदोषान् निन्देत न गुणानभिपूजयेत्।
शय्यासने विविक्ते च नित्यमेवाभिपूजयेत् ॥८॥

भिक्षा में प्राप्त अन्न के दोष बताकर उसकी निन्दा न करे और न उसके गुण बताकर उन गुणों की प्रशंसा ही करे। सोने और बैठने के लिए सदा एकान्त का ही आदर करे।

नित्यतृप्तः सुसन्तुष्टः प्रसन्नवदनेन्द्रियः।
विभीर्जप्यपरो मौनी वैराग्यं समुपाश्रितः ॥९॥

सर्वदा तृप्त और सन्तुष्ट रहे। मुख और इन्द्रियों को प्रसन्न रखे। निर्भीक रहे। प्रणव [ओम्] का जप करता रहे और वैराग्य का आश्रय लेकर मौन रहे।

विजानतां मोक्ष एष श्रमः स्यादविजानताम्।
मोक्षयानमिदं कृत्स्नं विदुषां हारितोऽब्रवीत् ॥१०॥

यह संन्यासाश्रम ज्ञानियों के लिए तो मोक्षरूप है परन्तु अज्ञानियों के लिए श्रमरूप ही है। हारीत मुनि ने विद्वानों के लिए इस सम्पूर्ण धर्म को मोक्ष का विमान बताया है।

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद् गृहात्।
लोकास्तेजोमयास्तस्य तथाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥११॥

जो मनुष्य सबको अभयदान देकर घर से निकल जाता है, उसे तेजोमय लोकों की प्राप्ति होती है तथा वह अनन्त परमात्मपद को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५६॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सङ्कम का नारदजी से शोकहीन स्थिति का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

शोकाद् दुःखाच्च मृत्योश्च त्रसन्ते प्राणिनः सदा ।
उभयं नो यथा न स्यात् तन्मे ब्रूहि पितामह ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! संसार के सभी प्राणी सदा शोक-दुःख तथा मृत्यु से डरते रहते हैं, अतः आप हमें ऐसा उपदेश दें, जिससे हम लोगों को उन दोनों का भय न रहे ।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादं सङ्कमस्य च भारत ।।२।।

भीष्मजी बोले—भरतकुमार ! इस विषय में विज्ञ लोग देवर्षि नारद और सङ्कमजी के संवादरूप प्राचीन इतिहास का कथन किया करते हैं ।

नारद उवाच

उरसेव प्रणमसे बाहुभ्यां तरसीव च ।
सम्प्रहृष्टमना नित्यं विशोक एव लक्ष्यसे ।।३।।

नारद ने पूछा—सङ्कमजी ! अन्य लोग तो सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं, परन्तु आप हृदय से प्रणाम करते जान पड़ते हैं । प्रतीत होता है, आप इस संसार-समुद्र को अपनी दोनों भुजाओं से ही तैरकर पार हो जाएँगे । आपका मन सदा प्रसन्न रहता है और आप सदा शोकशून्य-से दिखाई देते हैं ।

उद्वेगं न हि ते किञ्चित्सुसूक्ष्ममपि लक्षये ।
नित्यतृप्त इव स्वस्थो बालवच्च विचेष्टसे ।।४।।

मैं आपके मन में कभी कोई थोड़ा-सा भी उद्वेग नहीं देख पाता हूँ । आप सदा तृप्त की भाँति अपने में ही स्थित रहकर बालकों के समान चेष्टा करते हैं [इसका क्या कारण है] ?

सङ्कम उवाच

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वमेतत्तु मानद ।
तेषां तत्त्वानि जानामि ततो न विमना ह्यहम् ।।५।।

सङ्कमजी बोले—दूसरों को मान देनेवाले नारद ! मैं भूत, वर्तमान और भविष्य—इन सबके स्वरूप तथा तत्त्व को जानता हूँ, अतः मेरे मन में कभी दुःख और शोक नहीं होता ।

अगाधाश्चाप्रतिष्ठाश्च गतिमन्तश्च नारद ।
अन्धा जड़ाश्च जीवन्ति पश्यास्मानपि जीवतः ।।६।।

नारदजी ! देखिए, जैसे संसार में गम्भीर, अप्रतिष्ठित, प्रगतिशील, अन्धे और मूर्ख मनुष्य भी जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जी रहे हैं ।

सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा ।
शाकेन चान्ये जीवन्ति पश्यास्मानपि जीवतः ।।७।।

जो सहस्र-पति हैं, वे भी जीते हैं । जो सैकड़ों के स्वामी हैं, वे भी जीवन-यापन करते हैं । बहुत-से लोग साग [शाकभाजी] से ही जीवन-निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार हमें भी जीवित समझिए ।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नायोगाद् विन्दते सुखम् ।
धृतिश्च दुःखत्यागश्चेत्युभयं तु सुखं नृप ।।८।।

जिसका चित्त योगयुक्त नहीं है, उसे समत्व-बुद्धि प्राप्त नहीं होती । योग के बिना कोई सुख नहीं पाता । राजन् ! धैर्य तथा दुःखों के सम्बन्ध का त्याग—ये ही दोनों सुख के कारण हैं ।

प्रियं हि हर्षजननं हर्ष उत्सेकवर्धनः ।
उत्सेको नरकायैव तस्मात्तान्संत्यजाम्यहम् ।।९।।

प्रिय वस्तु हर्षजनक होती है । हर्ष अभिमान को बढ़ाता है और अभिमान नरक=दुःख में गिरानेवाला है, अतः मैंने इन तीनों का त्याग किया हुआ है ।

एतान् शोकभयोत्सेकान्मोहनान् सुखदुःखयोः ।
पश्यामि साक्षिवल्लोके देहस्यास्य विचेष्टनात् ।।१०।।

शोक, भय और अभिमान—ये प्राणियों को सुख-दुःख में फँसाकर मोहित करनेवाले हैं, अतः जबतक यह शरीर चेष्टा कर रहा है, तबतक मैं इन सबको साक्षी की भाँति देखता हूँ ।

अर्थकामौ परित्यज्य विशोको विगतज्वरः ।
तृष्णामोहौ तु सन्त्यज्य चरामि पृथिवीमिमाम् ।।११।।

अर्थ तथा काम का परित्याग कर और तृष्णा एवं मोह को सर्वथा छोड़कर मैं शोक और सन्ताप से रहित हुआ इस पृथिवी पर विचरता ।

न च मृत्योर्न चाधर्मान्न लोभान्न कुतश्चन ।
पीतामृतस्येवात्यन्तमिह वामुत्र च भयम् ।।१२।।

जैसे अमृतपान कर लेनेवाले को मृत्यु से भय नहीं होता, वैसे ही मुझे भी इहलोक या परलोक में मृत्यु, अधर्म, लोभ तथा अन्य किसी भी बात से कोई भय नहीं है ।

एतद् ब्रह्मन् विजानामि महत्कृत्वा तपोऽव्ययम् ।
तेन नारद सम्प्राप्तो न मां शोकः प्रबाधते ।।१३।।

ब्रह्मन् ! मैंने महान् तथा अक्षय तप करके यही ज्ञान उपलब्ध किया है, अतः नारदजी ! शोक की परिस्थिति उपस्थित होकर भी मुझे व्याकुल नहीं कर सकती ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।।५७।।

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मजी द्वारा श्रेयः मार्ग का निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

अतत्त्वज्ञस्य शास्त्राणां सततं संशयात्मनः ।
अकृतव्यवसायस्य श्रेयो ब्रूहि पितामह ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! जिसे शास्त्रों के तत्त्व का ज्ञान नहीं है, जिसका मन सदा संशय में उलझा रहता है और जिसने परमार्थ के लिए कोई निश्चित ध्येय नहीं बनाया है, ऐसे मनुष्य का कल्याण कैसे हो सकता है, यह मुझे बताइए ।

भीष्म उवाच

गुरुपूजा च सततं वृद्धानां पर्युपासनम् ।
श्रवणं चैव शास्त्राणां कूटस्थं श्रेय उच्यते ।।२।।

भीष्मजी बोले—हे युधिष्ठिर ! गुरुजनों का सम्मान, वृद्धों की सेवा तथा शास्त्रों का श्रवण—ये तीन कल्याण के अमोघ साधन बताये गये हैं ।

अनुग्रहं च मित्राणाममित्राणां च निग्रहम् ।□
संग्रहं च त्रिवर्गस्य श्रेय आहुर्मनीषिणः ।।३।।

सुहृदों पर कृपा करना, शत्रुओं को दण्ड देना तथा धर्म, अर्थ और काम—इस त्रिवर्ग का संग्रह करना—इसे मनीषी पुरुष श्रेय कहते हैं ।

निवृत्तिः कर्मणः पापात्सततं पुण्यशीलता ।□
सद्भिश्च समुदाचारः श्रेय एतदसंशयम् ।।४।।

पापकर्मों से दूर रहना, सदा पुण्यकार्यों में ही लगे रहना तथा सज्जनों के साथ रहकर सदाचार का ठीक-ठीक पालन करना—यह निःसन्देह कल्याण का मार्ग है ।

मार्दवं सर्वभूतेषु व्यवहारेषु चार्जवम् ।□
वाक् चैव मधुरा प्रोक्ता श्रेय एतदसंशयम् ।।५।।

समस्त प्राणियों के प्रति कोमलता का व्यवहार करना, व्यवहार में सरल होना और मधुर भाषण—यह भी संशयरहित कल्याण का मार्ग है ।

देवतेभ्यः पितृभ्यश्च संविभागोऽतिथिष्वपि ।
असंत्यागश्च भृत्यानां श्रेय एतदसंशयम् ।।६।।

विद्वानों, पितरों [विशेष ज्ञानी, माता-पिता आदि] और अतिथियों को उनका भाग देना तथा भरण-पोषण करने योग्य सेवकों का त्याग न करना—यह कल्याण-प्राप्ति का निश्चित साधन है ।

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यज्ञानं तु दुष्करम् ।□
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं ब्रवीम्यहम् ।।७।।

सत्यभाषण भी कल्याण का साधक है परन्तु सत्य को यथार्थ रूप से जानना कठिन है । मैं तो उसी को सत्य कहता हूँ जिससे प्राणियों का अत्यन्त हित होता हो ।

अहंकारस्य च त्यागः प्रणयस्य च निग्रहः ।
सन्तोषश्चैकचर्या च कूटस्थं श्रेय उच्यते ।।८।।

अहंकार का त्याग, अनुराग का निग्रह, सन्तोष तथा एकान्तवास—यह सुनिश्चित श्रेय कहलाता है ।

धर्मेण वेदाध्ययनं वेदान्तानां तथैव च ।
ज्ञानार्थानां च जिज्ञासा श्रेय एतदसंशयम् ।।९।।

धर्माचरणपूर्वक वेद तथा वेद के अङ्गों का स्वाध्याय करना और उनके सिद्धान्तों को जानने की इच्छा को जाग्रत् रखना निःसन्देह कल्याण का साधन है ।

नक्तंचर्यां दिवास्वप्नमालस्यं पैशुनं मदम् ।□
अतियोगमयोगं च श्रेयसोऽर्थी परित्यजेत् ।।१०।।

कल्याण का इच्छुक रात्रि में घूमना, दिन में सोना, आलस्य, चुगली, मादक वस्तुओं का सेवन, अधिक भोजन और बहुत कम भोजन करना—इन सब बातों को त्याग दे।

न लोके दीप्यते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया।
अपि चापिहितः श्वभ्रे कृतविद्यः प्रकाशते ॥११॥

मूर्ख मनुष्य केवल अपनी प्रशंसा करने से संसार में यश नहीं पा सकता। विद्वान् पुरुष गुफा में छिपा रहे तो भी उसकी प्रसिद्धि हो जाती है।

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्नाप्यन्यायेन पृच्छतः।
ज्ञानवानपि मेधावी जडवत् समुपाविशेत् ॥१२॥

बुद्धिमान् मनुष्य ज्ञानी होने पर भी बिना पूछे किसी को कोई उपदेश न करे। अन्यायपूर्वक पूछने पर भी किसी के प्रश्न का उत्तर न दे; जड़ [मूर्ख] की भाँति चुपचाप बैठा रहे।

एवं प्रवर्तमानस्य वृत्तिं प्राणिहितात्मनः।
तपसंवेह बहुलं श्रेयो व्यक्तं भविष्यति ॥१३॥

जो पूर्वोक्त प्रकार की वृत्ति से रहकर जीविका चलाता है तथा प्राणियों के हित-साधन में मन लगाये रहता है, उस मनुष्य को स्वधर्मरूप तप के अनुष्ठान से इस लोक में परमकल्याण की प्राप्ति अवश्य हो जाएगी।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५८॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

अरिष्टनेमि का सगर को वैराग्योत्पादक मोक्षप्राप्ति का उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

कथं नु युक्तः पृथिवीं चरेदस्मद्विधो नृपः।
नित्यं कैश्च गुणैर्युक्तः सङ्गपाशाद् विमुच्यते ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! मेरे-जैसा राजा किस साधन और कैसे व्यवहार से युक्त होकर पृथिवी पर विचरे तथा सदा किन गुणों से सम्पन्न होकर वह आसक्ति के बन्धनों से छूट सकता है ?

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
अरिष्टनेमिना प्रोक्तं सगरायानुपृच्छते ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! इस विषय में राजा सगर के पूछने पर अरिष्टनेमि ने जो उत्तर दिया था, वही प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें सुनाऊँगा।

सगर उवाच

किं श्रेयः परमं ब्रह्मन् कृत्वेह सुखमश्नुते।
कथं न शोचेन्न क्षुभ्येदेतदिच्छामि वेदितुम् ॥३॥

सगर ने पूछा—ब्रह्मन् ! इस लोक में मनुष्य किस परम कल्याणकारी कर्म का अनुष्ठान करके सुख का भागी होता है और किस उपाय से उसे शोक और क्षोभ प्राप्त नहीं होता—यह मैं जानना चाहता हूँ।

अरिष्टनेमिरुवाच

सुखं मोक्षसुखं लोके न च मूढोऽवगच्छति।
प्रसक्तः पुत्रपशुषु धनधान्यसमाकुलः ॥४॥

अरिष्टनेमि ने कहा—सगर ! संसार में वास्तविक सुख तो मोक्ष-सुख ही है, परन्तु जो धनधान्य के उपार्जन में व्यग्र तथा पुत्र और पशुओं में आसक्त है, उस मूढ़ मनुष्य को उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

सक्तबुद्धिरशान्तात्मा न शक्यं तच्चिकित्सितुम्।
स्नेहपाशसितो मूढो न स मोक्षाय कल्पते ॥५॥

जिसकी बुद्धि विषयों में आसक्त है, जिसका मन अशान्त रहता है, ऐसे मनुष्य की चिकित्सा करनी कठिन है, क्योंकि जो स्नेह के बन्धन में बँधा हुआ है, वह मूढ मोक्षप्राप्ति का अधिकारी नहीं होता।

सक्तभावा विनश्यन्ति नरास्तत्र न संशयः।
आहारसंचयाश्चैव तथा कीटपिपीलिकाः।
असक्ताः सुखिनो लोके सक्ताश्चैव विनाशिनः ॥६॥

जिनका चित्त विषयों में आसक्त होता है, वे कीड़े-मकोड़ों की भाँति आहार का संग्रह करते-करते ही नष्ट हो जाते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। जो आसक्ति से रहित हैं, वे ही इस संसार में सुखी हैं। आसक्त मनुष्यों का तो नाश ही होता है।

मृते वा जीविते वाऽपि यदि भोक्ष्यति वै जनः ।
स्वकृतं ननु बुद्ध्वैवं कर्तव्यं हितमात्मनः ।।७।।

तुम जीवित रहो या मर जाओ, तुम्हारा प्रत्येक स्वजन जब अपने-अपने किये हुए कर्मों का ही फल भोगेगा, तब इस तथ्य को जानकर तुम्हें भी अपने कल्याण के साधन में जुट जाना चाहिए ।

क्षुत्पिपासादयो भावा जिता यस्येह देहिनः ।
क्रोधो लोभस्तथा मोहः सत्त्ववान्मुक्त एव सः ।।८।।

जिसने भूख, प्यास, क्रोध, लोभ और मोह आदि भावों पर विजय प्राप्त कर ली है, ऐसा सत्त्व-सम्पन्न मनुष्य सदा मुक्त ही है ।

द्यूते पाने तथा स्त्रीषु मृगयायां च यो नरः ।
न प्रमाद्यति सम्मोहात् सततं मुक्त एव सः ।।९।।

जो मोहवश जुआ, मद्यपान, परस्त्रीगमन और शिकार खेलना आदि व्यसनों में आसक्त होने का प्रमाद नहीं करता है, वह भी सदा मुक्त ही है ।

सम्भवं च विनाशं च भूतानां चेष्टितं तथा ।
यस्तत्त्वतो विजानाति लोकेऽस्मिन् मुक्त एव सः ।।१०

जो प्राणियों के जन्म, मृत्यु तथा चेष्टाओं को ठीक-ठीक जानता है, वह भी इस संसार में मुक्त ही है ।

क्षौमं च कुशचीरं च कौशेयं वल्कलानि च ।
आविकं च समं चर्म यस्य स्यान्मुक्त एव सः ।।११।।

जिसके लिए सन के वस्त्र, कुश के चीर, रेशमी वस्त्र, वल्कल, ऊनी वस्त्र और मृगचर्म—सब समान हैं, वह भी मुक्त ही है ।

सुखदुःखे समे यस्य लाभालाभौ जयाजयौ ।
इच्छाद्वेषौ भयोद्वेगौ सर्वथा मुक्त एव सः ।।१२।।

जिसकी दृष्टि में सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय—सब समान हैं और जिसके इच्छा-द्वेष, भय और उद्वेग सर्वथा नष्ट हो गये हैं, वह भी मुक्त ही है ।

वलिपलितसंयोगे कार्श्यं वैवर्ण्यमेव च ।
कुब्जभावं च जरया यः पश्यति स मुच्यते ।।१३।।

वृद्धावस्था आने पर इस शरीर में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, सिर के बाल श्वेत हो जाते हैं, देह कृश एवं कान्तिहीन हो जाती है और कमर झुक जाने के कारण मनुष्य कुबड़ा हो जाता है—इन सब बातों की ओर जिसकी सदा ही दृष्टि रहती है, वह मुक्त हो जाता है ।

पुंस्त्वोपघातं कालेन दर्शनोपरमं तथा ।
बाधिर्यं प्राणमन्दत्वं यः पश्यति स मुच्यते ।।१४।।

समय आने पर पुरुषत्व नष्ट हो जाता है, आँखों से दिखाई नहीं देता, कान बहरे हो जाते हैं और प्राणशक्ति क्षीण हो जाती है—इन बातों पर जो सदा विचार करता रहता है, वह संसार-बन्धन से छूट जाता है ।

इतिमहाभारते शान्तिपर्वणि एकोनषष्टितमोऽध्यायः ।।५९।।

षष्टितमोऽध्यायः

पराशरगीता—कल्याण-प्राप्ति के साधन, कर्मफल की अनिवार्यता, सदाचार, धर्मपालन, तपोबल की महिमा और नाना प्रकार के धर्म तथा कर्तव्यों का उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

अतः परं महाबाहो यच्छ्रेयस्तद् वदस्व मे ।
न तृप्याम्यमृतस्येव वचसस्ते पितामह ।।१।।

युधिष्ठिर बोले—महाबाहु पितामह ! अब इसके पश्चात् जो भी कल्याणप्राप्ति का मार्ग हो, वह मुझे बताइए । जैसे अमृत का पान करने से मन नहीं भरता, वैसे ही आपके वचन-श्रवण से मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ।

किं कर्म पुरुषः कृत्वा शुभं पुरुषसत्तम ।
श्रेयः परमवाप्नोति प्रेत्य चेह च तद्वद ।।२।।

पुरुषप्रवर ! मनुष्य कौन-सा शुभ कर्म करके इस लोक और परलोक में परम-कल्याण की प्राप्ति कर सकता है, यह मुझे बताने की कृपा करें ।

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथापूर्वं महायशाः ।
पराशरं महात्मानं पप्रच्छ जनको नृपः ।।३।।

भीष्मजी ने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषय में भी मैं तुम्हें पूर्ववत् एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा। एकबार महायशस्वी राजा जनक ने महात्मा पराशर मुनि से पूछा—

किं श्रेयः सर्वभूतानामस्मिल्लोके परत्र च ।
यद्भवेत्प्रतिपत्तव्यं तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ॥४॥

"मुने ! कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो सभी प्राणियों के लिए इस लोक और परलोक में भी कल्याणकारी तथा जानने योग्य है ? उसे आप मुझे बताइए।

ततः स तपसा युक्तः सर्वधर्मविधानवित् ।
नृपायानुग्रहमना मुनिर्वाक्यमथाब्रवीत् ॥५॥

तब सम्पूर्ण धर्मों के विधान को जाननेवाले वे तपस्वी मुनि महाराज जनक पर अनुग्रह करने की इच्छा से इस प्रकार बोले—

पराशर उवाच

धर्म एव कृतः श्रेयानिहलोके परत्र च ।
तस्माद्धि परमं नास्ति यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥६॥

पराशरजी बोले—राजन् ! मननशील लोगों का कथन है कि धर्म का विधिपूर्वक अनुष्ठान किया जाए तो वह इहलोक और परलोक में कल्याणकारी होता है। धर्म से बढ़कर श्रेय का उत्तम साधन अन्य कोई नहीं है।

प्रतिपद्य नरो धर्मं स्वर्गलोके महीयते ।
धर्मात्मकः कर्मविधिर्देहिनां नृपसत्तम ॥७॥

नृपश्रेष्ठ ! धर्म को जानकर उसका आश्रय लेनेवाला मनुष्य स्वर्ग में गौरव पाता है। शास्त्रों में जो 'सत्यं वद, धर्मं चर—सत्य बोलो, धर्माचरण करो', दान दो, यज्ञ करो—आदि वाक्यों द्वारा मनुष्यों का कर्तव्य-विधान किया गया है वही धर्म का लक्षण है।

चतुर्विधा हि लोकेऽस्मिन् यात्रा तात विधीयते ।
मर्त्या यत्रावतिष्ठन्ते सा च कामात्प्रवर्तते ॥८॥

तात ! संसार में चार प्रकार की आजीविका का विधान है [ब्राह्मण की यज्ञादि के द्वारा, क्षत्रिय के लिए कर लेकर, वैश्य के लिए खेती आदि करना और शूद्र के लिए इन तीनों वर्णों की सेवा करना]। मनुष्य इन्हीं चार प्रकार की आजीविकाओं का आश्रय लेकर रहते हैं। यह जीविका दैव-इच्छा से चलती है।

सुकृतासुकृतं कर्म निषेव्य विविधैः क्रमैः ।
दशार्धप्रविभक्तानां भूतानां बहुधा गतिः ॥९॥

जो प्राणी नाना प्रकार के पाप-पुण्य कर्म करके पञ्चत्व को प्राप्त हो जाते हैं, देह त्याग देते हैं, उनको मिलनेवाली गतियाँ अनेक प्रकार की बताई गई हैं। [पापियों को तिर्यग् योनि, पुण्यात्माओं को श्रेष्ठ मानव योनि, पाप-पुण्य समान रहने पर साधारण मनुष्य-जन्म और तत्त्वज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है।]

नाबीजाज्जायते किञ्चिन्नाकृत्वा सुखमेधते ।
सुकृतैर्विन्दते सौख्यं प्राप्य देहक्षयं नरः ॥१०॥

जैसे बिना बीज के कोई अंकुर पैदा नहीं होता, वैसे ही पुण्यकर्म के बिना कोई सुखी या समृद्धिशाली नहीं हो सकता, अतः मनुष्य मृत्यु के पश्चात् पुण्यकर्मों के फल से ही सुख पाता है।

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
कुरुते यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥११॥

मनुष्य नेत्र, मन, वाणी और कर्म द्वारा चार प्रकार के कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसका फल पाता है।

निरन्तरं च मिश्रं च लभते कर्म पार्थिव ।
कल्याणं यदि वा पापं न तु नाशोऽस्य विद्यते ॥१२॥

भूपाल ! मनुष्य कर्म के फलरूप में कभी केवल सुख और कभी सुख-दुःख दोनों एक-साथ प्राप्त करता है। पुण्य अथवा पाप कोई भी कर्म क्यों न हो, फल भोगे बिना उसका नाश नहीं होता।

दमः क्षमा धृतिस्तेजः सन्तोषः सत्यवादिता ।
ह्रीरहिंसाव्यसनिता दाक्ष्यं चेति सुखावहाः ॥१३॥

मनो-निग्रह, क्षमाशीलता, धैर्य, तेज, सन्तोष, सत्य बोलना, लज्जा, अहिंसा, दुर्व्यसनों का अभाव और दक्षता—ये सब सुख के देनेवाले हैं।

दुष्कृते सुकृते चापि न जन्तुर्नियतो भवेत् ।
नित्यं मनःसमाधाने प्रयतेत विचक्षणः ॥१४॥

मनुष्य को जीवनभर पाप या पुण्य-कर्मों में आसक्त नहीं होना चाहिए। बुद्धिमान् मनुष्य को अपने मन को परमात्मा के ध्यान में लगाने का प्रयत्न करना चाहिए।

नायं परस्य सुकृतं दुष्कृतं चापि सेवते ।
करोति यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥१५॥

कोई भी प्राणी किसी दूसरे के द्वारा किये गये शुभ अथवा अशुभ कर्म के फल को नहीं भोगता। मनुष्य स्वयं जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है।

सुखदुःखे समाधाय पुमानन्येन गच्छति ।
अन्येनैव जनः सर्वः संगतो यश्च पार्थिवः ॥१६॥

विवेकी मनुष्य सुख और दुःख को अपने भीतर विलीन करके अन्य [मोक्षप्राप्ति के] मार्ग द्वारा चलता है। जो स्त्री, पुत्र और धन आदि में आसक्त हैं, वे सब संसारी जीव उससे भिन्न दूसरे ही मार्ग पर चलते हैं [अतः जन्मते और मरते रहते हैं]।

परेषां यदसूयेत न तत्कुर्यात् स्वयं नरः ।
यो ह्यसूयुस्तथायुक्तः सोऽवहासं नियच्छति ॥१७॥

मनुष्य दूसरे के जिस कर्म की निन्दा करे, स्वयं उस कर्म को कभी न करे। जो दूसरे की निन्दा करते हुए भी स्वयं उसी निन्दनीय कर्म में लगा रहता है, वह उपहास का पात्र होता है।

भीरू राजन्यो ब्राह्मणः सर्वभक्षो
वैश्योऽनीहावान् हीनवर्णोऽलसश्च ।
विद्वाँश्चाशीलो वृत्तहीनः कुलीनः
सत्याद् विभ्रष्टो धार्मिकः स्त्री च दुष्टा ॥१८॥
रागी युक्तः पचमानोऽऽत्महेतोर्-
मूर्खो वक्ता नृपहीनं च राष्ट्रम् ।
एते सर्वे शोच्यतां यान्ति राजन्
यश्चायुक्तः स्नेहहीनः प्रजासु ॥१९॥

राजन् ! भीरु [डरपोक] क्षत्रिय, [भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करके] सब-कुछ खानेवाला ब्राह्मण, धनोपार्जन की चेष्टा से हीन अथवा अकर्मण्य वैश्य, आलसी शूद्र, उत्तम गुणों से रहित विद्वान्, सदाचार का पालन न करनेवाला कुलीन पुरुष, सत्य से भ्रष्ट हुआ धार्मिक मनुष्य, दुराचारिणी स्त्री, विषयासक्त योगी, केवल अपने लिए भोजन बनानेवाला गृहस्थ, मूर्ख वक्ता, राजा से रहित राष्ट्र और अजितेन्द्रिय होकर प्रजा के प्रति स्नेह न रखनेवाला राजा—ये सब-के-सब शोचनीय [निन्दा के योग्य] हैं।

अब कर्मफल की अनिवार्यता का वर्णन करते हैं—

मनोमयरथं प्राप्य इन्द्रियाख्यहयं नरः ।
रश्मिभिर्ज्ञानसम्भूतैर्यो गच्छति स बुद्धिमान् ॥२०॥

राजन् ! इन्द्रियरूप घोड़ों से युक्त मनोमय [सूक्ष्म] शरीर एक रथ है। ज्ञानमयी वृत्तियाँ ही इस रथ के घोड़ों की बागडोर हैं। इन उपकरणों से युक्त रथ पर आरूढ़ होकर जो मनुष्य यात्रा करता है, वह बुद्धिमान् है।

आयुर्न सुलभं लब्ध्वा नावकर्षेद् विशाम्पते ।
उत्कर्षार्थं प्रयतेत नरः पुण्येन कर्मणा ॥२१॥

नरेश्वर ! मनुष्य-जीवन का मिलना सरल नहीं है, वह दुर्लभ वस्तु है। उसे पाकर आत्मा को गिराना नहीं चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह पुण्य कर्मों के अनुष्ठान द्वारा आत्मोत्थान के लिए सदा प्रयत्नशील रहे।

वर्णोत्कर्षमवाप्नोति नरः पुण्येन कर्मणा ।
दुर्लभं तमलब्ध्वा हि हन्यात् पापेन कर्मणा ॥२२॥

मनुष्य शुभकर्म से ही उत्तम मानव-योनि को प्राप्त करता है। पापी के लिए वह अत्यन्त दुर्लभ है। वह उसे न पाकर अपने पापकर्म द्वारा अपना ही नाश करता है।

स्वयं कृत्वा तु यः पापं शुभमेवानुतिष्ठति ।
प्रायश्चित्तं नरः कर्तुमुभयं सोऽश्नुते पृथक् ॥२३॥

जो मनुष्य जान-बूझकर पाप करने के पश्चात् उसके प्रायश्चित्त के उद्देश्य से शुभ कर्म का अनुष्ठान करता है, वह शुभ और अशुभ दोनों का अलग-अलग फल भोगता है।

सञ्चिन्त्य मनसा राजन्विदित्वा शक्यमात्मनः ।
करोति यः शुभं कर्म स वै भद्राणि पश्यति ॥२४॥

राजन् ! जो मनुष्य मन में खूब सोच-विचारकर 'अशुभ कार्य मुझसे हो सकेगा या नहीं' इसका निश्चय करके शुभ कर्म ही करता है, वह निश्चय ही अपना कल्याण देखता है।

राज्ञा जेतव्याः शत्रवश्चोन्नताश्च
सम्यक् कर्तव्यं पालनं च प्रजानाम् ।

अग्निश्चेयो बहुविधैश्चापि यज्ञै-
रन्त्ये मध्ये वा वनमाश्रित्य स्थेयम् ॥२५॥

भूपाल ! राजा को चाहिए कि वह बढ़े हुए शत्रुओं को जीते । प्रजा का न्यायपूर्वक पालन करे । नाना प्रकार के यज्ञों द्वारा अग्नि को तृप्त करे और वैराग्य होने पर मध्यम अथवा अन्तिम अवस्था में वन में जाकर रहे ।

दयान्वितः पुरुषो धर्मशीलो
भूतानि चात्मानमिवानुपश्येत् ।
गरीयसः पूजयेदात्मशक्त्या
सत्येन शीलेन सुखं नरेन्द्र ॥२६॥

नरेन्द्र ! प्रत्येक मनुष्य को मनो-निग्रही और धर्मात्मा होकर समस्त प्राणियों को अपने ही समान समझना चाहिए । जो विद्या, तप तथा अवस्था में अपने से बड़े हों—उनका आदर-सत्कार करना चाहिए । सत्यभाषण एवं श्रेष्ठ आचार-विचार से ही सुख मिलता है ।

अब धर्मोपार्जित धनादि का वर्णन करते हैं—

कः कस्य चोपकुरुते कश्च कस्मै प्रयच्छति ।
प्राणी करोत्ययं कर्म सर्वमात्मार्थमात्मना ॥२७॥

राजन् ! कौन किसका उपकार करता है और कौन किसको देता है ! यह मनुष्य सारा कार्य स्वयं अपने लिए ही करता है ।

गौरवेण परित्यक्तं निःस्नेहं परिवर्जयेत् ।
सोदर्यं भ्रातरमपि किमुतान्यं पृथग्जनम् ॥२८॥

अपना सगा भाई भी यदि अपने श्रेष्ठ स्वभाव और स्नेह को छोड़ दे तो लोग उसे भी त्याग देते हैं, फिर अन्य साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है !

न्यायागतं धनं चैव न्यायेनैव विवर्धितम् ।
संरक्ष्यं यत्नमास्थाय धर्मार्थमिति निश्चयः ॥२९॥

जो धन न्यायपूर्वक कमाया गया हो और न्याय से ही बढ़ाया गया हो, उसे प्रयत्नपूर्वक धर्म के उद्देश्य से बचाये रखना चाहिए । यही धर्मशास्त्र का निश्चय है ।

न धर्मार्थी नृशंसेन कर्मणा धनमर्जयेत् ।
शक्तितः सर्वकार्याणि कुर्यान्नर्द्धिमनुस्मरेत् ॥३०॥

धर्म चाहनेवाले पुरुष को क्रूर कर्म के द्वारा धन का उपार्जन नहीं करना चाहिए । अपनी शक्ति के अनुसार सदा शुभ कर्म ही करने चाहिएँ तथा धन बढ़ाने की चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिए ।

देवतातिथिभृत्येभ्यः पितृभ्यश्चात्मनस्तथा ।
ऋणवाञ्जायते मर्त्यस्तस्मादनृणतां व्रजेत् ॥३१॥

प्रत्येक मनुष्य देवता, अतिथि, भरण-पोषण के योग्य पारिवारिकजन, पितर और अपने-आपका भी ऋणी होकर जन्म लेता है, अतः उसे ऋण से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए ।

स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञकर्मणा ।
पितृभ्यः श्राद्धदानेन नृणामभ्यर्चनेन च ॥३२॥

वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय करके ऋषियों के, यज्ञों का अनुष्ठान करके देवों [विद्वानों और अग्नि, वायु, सूर्य-चन्द्र आदि जड़ देवों] के, श्रद्धापूर्वक सेवा से पितरों [माता-पिता, दादा-दादी आदि] के और भोजन-वस्त्र आदि द्वारा स्वागत-सत्कार करके अतिथियों के ऋण से छुटकारा होता है ।

वाचा शेषावहार्येण पालनेनात्मनोऽपि च ।
यथावद् भृत्यवर्गस्य चिकीर्षेत् कर्म आदितः ॥३३॥

इसी प्रकार वेद-वाणी के पठन, श्रवण तथा मनन से, यज्ञशेष अन्न के भोजन से और जीवों की रक्षा करने से मनुष्य अपने ऋण से छूट जाता है । भरणीय पारिवारिकजनों के पालन-पोषण का आरम्भ से ही प्रबन्ध करना चाहिए । इससे उनके ऋण से भी मुक्ति मिल जाती है ।

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान् ।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद् धनकाङ्क्षया ॥३४॥

धर्म का पालन करते हुए ही जो धन प्राप्त होता है, वही सच्चा धन है । जो धन अधर्म से प्राप्त होता है, वह तो धिक्कार देने योग्य है । संसार में धन की इच्छा से शाश्वत धर्म का त्याग कभी नहीं करना चाहिए ।

आहिताग्निर्हि धर्मात्मा यः स पुण्यकृदुत्तमः ।
वेदा हि सर्वे राजेन्द्र स्थितास्त्रिष्वग्निषु प्रभो ॥३५॥

राजेन्द्र ! जो प्रतिदिन यज्ञ करता है, वही धर्मात्मा है और वही पुण्यकर्माओं में श्रेष्ठ है । प्रभो ! सम्पूर्ण

वेद दक्षिण, आहवनीय और गार्हपत्य—इन तीनों अग्नियों में ही स्थित हैं।

स चाप्यग्न्याहितो विप्रः क्रिया यस्य न हीयते।
श्रेयो ह्यनाहिताग्नित्वमग्निहोत्रं न निष्क्रियम् ॥३६॥

जिसका सदाचार एवं सत्यकर्म कभी लुप्त नहीं होता, वह ब्राह्मण [अग्निहोत्र न करने पर भी] अग्निहोत्री ही है। सदाचार का ठीक-ठीक पालन होने पर अग्निहोत्र न हो सके तो भी उत्तम है, परन्तु सदाचार का त्याग करके केवल अग्निहोत्र करना कदापि कल्याणकारी नहीं है।

अग्निरात्मा च माता च पिता जनयिता तथा।
गुरुश्च नरशार्दूल परिचर्या यथातथम् ॥३७॥

पुरुषसिंह! अग्नि [परमात्मा, अग्निहोत्र], आत्मा, माता, जन्म देनेवाला पिता और गुरु—इन सबकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए।

मानं त्यक्त्वा यो नरो वृद्धसेवी
विद्वान् क्लीबः पश्यति प्रीतियोगात्।
दाक्ष्येण हीनो धर्मयुक्तो नदान्तो
लोकेऽस्मिन् वै पूज्यते सद्भिरार्यः ॥३८॥

जो अभिमान का त्याग करके वृद्धों की सेवा करता है, जो विद्वान् बनकर तथा कामभोग में अनासक्त होकर सबको प्रेमभाव से देखता है, मन में चतुराई न रखकर [सरलता से] धर्म में संलग्न रहता है तथा दूसरों का दमन अथवा हिंसा नहीं करता—वह मनुष्य इस संसार में आर्य=श्रेष्ठ कहलाता है और सत्पुरुष भी उसका समादर करते हैं।

सद्भिस्तु सह संसर्गः शोभते धर्मदर्शिभिः।
नित्यं सर्वास्ववस्थासु नासद्भिरिति मे मतिः ॥३९॥

धर्म पर दृष्टि रखनेवाले सत्पुरुषों के संसर्ग में रहना सदा ही श्रेष्ठ है, परन्तु किसी भी अवस्था में कभी दुर्जनों=दुष्टों का सङ्ग अच्छा नहीं है, यह मेरा [पराशर का] दृढ़ निश्चय है।

यथोदयगिरौ द्रव्यं सन्निकर्षेण दीप्यते।
तथा सत्सन्निकर्षेण हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥४०॥

जैसे सूर्य का सामीप्य प्राप्त होने पर उदयाचल की प्रत्येक वस्तु चमक उठती है, वैसे ही सज्जनों के समीप रहने से निम्न वर्ण का मनुष्य भी सद्‌गुणों से सुशोभित होने लगता है।

यादृशेन हि वर्णेन भाव्यते शुक्लमम्बरम्।
तादृशं कुरुते रूपमेतदेवमवेहि मे ॥४१॥

श्वेत वस्त्र को जैसे रंग में रँगा जाता है, वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार जैसा सङ्ग किया जाता है, वैसा ही रंग अपने ऊपर चढ़ता है, यह बात मुझसे भली-भाँति समझ लो।

तस्माद् गुणेषु रज्येथा मा दोषेषु कदाचन।
अनित्यमिह मर्त्यानां जीवितं हि चलाचलम् ॥४२॥

अतः तुम सदा गुणों में ही अनुराग रखो, दोषों में कभी नहीं, क्योंकि संसार में मनुष्यों का जीवन अनित्य और चञ्चल है।

सुखे वा यदि वा दुःखे वर्तमानो विचक्षणः।
यश्चिनोति शुभान्येव स तन्त्राणीह पश्यति ॥४३॥

जो विद्वान् सुख अथवा दुःख में रहकर भी सदा शुभ कर्म का ही अनुष्ठान करता है, वही इस लोक में शास्त्रों को देखता [—पढ़ता] और समझता है।

धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत्सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते ॥४४॥

धर्म के विरुद्ध कर्म यदि लौकिक दृष्टि से बहुत लाभदायक हो, तो भी बुद्धिमान् मनुष्य को उसका सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसे इस लोक में हितकर नहीं बताया गया है।

अवज्ञया दीयते यत्तथैवाश्रद्धयापि वा।
तमाहुरधमं दानं मुनयः सत्यवादिनः ॥४५॥

अवहेलना अथवा अश्रद्धा से जो कुछ दिया जाता है, उसे सत्यवादी मुनियों ने निकृष्ट कोटि का दान बताया है।

अतिक्रामेन्मज्जमानो विविधेन नरः सदा।
तथा प्रयत्नं कुर्वीत यथा मुच्येत संश्रयात् ॥४६॥

डूबता हुआ मनुष्य जिस प्रकार विविध उपायों द्वारा समुद्र से पार हो जाता है, वैसे ही तुम्हें भी सदा ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे संसार-सागर से छुटकारा मिल जाए।

दमेन शोभते विप्रः क्षत्रियो विजयेन तु।
धनेन वैश्यः शूद्रस्तु नित्यं दाक्ष्येण शोभते ॥४७॥

ब्राह्मण मनो-निग्रह से, क्षत्रिय युद्ध में विजय

पाने से, वैश्य न्यायपूर्वक उपार्जित धन से और शूद्र सदा सेवाकार्य में कुशलता का परिचय देने से सुशोभित होता है।

तपः सर्वगतं तात हीनस्यापि विधीयते ।
जितेन्द्रियस्य दान्तस्य स्वर्गमार्गप्रवर्तकम् ॥४८॥

तात ! तपस्या में सभी का अधिकार है। जितेन्द्रिय और मनोनिग्रह-सम्पन्न हीन वर्ण के लिए भी तप का विधान है, क्योंकि तप मनुष्य को स्वर्ग के मार्ग पर लानेवाला है।

सुखितो दुःखितो वापि नरो लोभं परित्यजेत् ।
अवेक्ष्य मनसा शास्त्रं बुद्ध्या च नृपसत्तम ॥४६॥

नृपश्रेष्ठ ! मनुष्य सुख में हो या दुःख में, उसे चाहिए कि मन तथा बुद्धि से शास्त्र का तत्त्व समझकर लोभ का परित्याग कर दे।

असन्तोषोऽसुखायेति लोभादिन्द्रियसम्भ्रमः ।
ततोऽस्य नश्यति प्रज्ञा विद्येवाभ्यासवर्जिता ॥५०॥

असन्तोष दुःख का कारण है। लोभ से मन तथा इन्द्रियाँ चञ्चल हो जाती हैं, उससे मनुष्य की बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे बिना अभ्यास के विद्या।

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रु-
रज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन् ।
येनावृतः कुरुते सम्प्रयुक्तो
घोराणि कर्माणि सुदारुणानि ॥५१॥

राजन् ! मनुष्य का एक ही शत्रु है, उसके समान अन्य कोई शत्रु नहीं है। वह शत्रु है अज्ञान जिससे आवृत्त और प्रेरित होकर मनुष्य अत्यन्त घोर और क्रूरतापूर्ण कर्म करने लगता है।

उपभोगैरपि त्यक्तं नात्मानं सादयेन्नरः ।
चाण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्वथा तात शोभनम् ॥५२॥

तात ! उपभोग के साधनों से वञ्चित होने पर भी मनुष्य अपने-आपको हीन न समझे। चाण्डाल की योनि में भी यदि मनुष्य-जन्म प्राप्त हो तो वह मानवेतर प्राणियों की अपेक्षा सर्वथा उत्तम है।

इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते ।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः ॥५३॥

भूपाल ! मनुष्य-योनि ही वह अद्वितीय योनि है, जिसे पाकर शुभकर्मों के अनुष्ठान से आत्मा का उद्धार किया जा सकता है।

यो दुर्लभतरं प्राप्य मानुषं द्विषते नरः ।
धर्मावमन्ता कामात्मा भवेत् स खलु वञ्च्यते ॥५४॥

जो मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यशरीर को पाकर भी दूसरों से द्वेष करता है तथा धर्म का अनादर करता है और मन से कामनाओं में आसक्त हो जाता है, वह महान् लाभ से वञ्चित हो जाता है।

सान्त्वेनान्नप्रदानेन प्रियवादेन चाप्युत ।
समदुःखसुखो भूत्वा स परत्र महीयते ॥५५॥

जो सब लोगों को सान्त्वना=धैर्य प्रदान करता, भूखों को भोजन देता और प्रिय-वचन बोलकर सबका सत्कार करता है, वह सुख-दुःख में सम रहकर इहलोक और परलोक में प्रतिष्ठित होता है।

असङ्गः श्रेयसो मूलं ज्ञानं चैव परा गतिः ।
चीर्णं तपो न प्रणश्येद्वापः क्षेत्रे न नश्यति ॥५६॥

राजन् ! आसक्ति का अभाव ही कल्याण का मूल कारण है। ज्ञान ही सबसे उत्तम गति है। स्वयं किया हुआ तप और खेत में बोया हुआ बीज [सुपात्र को दिया हुआ दान]—ये कभी नष्ट नहीं होते।

छित्त्वाधर्ममयं पाशं यदा धर्मेऽभिरज्यते ।
दत्त्वाभयकृतं दानं तदा सिद्धिमवाप्नुते ॥५७॥

जो मनुष्य अधर्ममय बन्धन को काटकर जिस समय धर्म में अनुरक्त हो जाता है और समस्त प्राणियों को अभयदान दे देता है, उसे उसी समय उत्तम सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

मरणं जन्मनि प्रोक्तं जन्म वै मरणाश्रितम् ।
अविद्वान् मोक्षधर्मेषु बद्धो भ्रमति चक्रवत् ॥५८॥

जन्म में मृत्यु की स्थिति बताई गई है और मृत्यु में जन्म निहित है। जो मोक्ष-धर्म को नहीं जानता, वह अज्ञानी मनुष्य संसार में आबद्ध होकर जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है।

नीहारेण हि संवीतः शिश्नोदरपरायणः ।
जात्यन्ध इव पन्थानमावृतात्मा न बुद्धयते ॥५६॥

जैसे जन्म का अन्धा मार्ग को नहीं देख पाता, वैसे ही शिश्नोदरपरायण [भोग-विलास में आसक्त] और अज्ञान से आवृत [ढका हुआ] जीव मायारूप

कुहरे से आच्छन्न होने के कारण मोक्ष-मार्ग को नहीं समझ पाता है।

स्वयंकृतानि कर्माणि जातो जन्तुः प्रपद्यते ।
नाकृत्वा लभते कश्चित्किंचिदत्र प्रियाप्रियम् ।।६०।।

मनुष्य संसार में जन्म लेकर अपने पूर्वकृत कर्मों का ही फल भोगता है; पूर्वजन्म में किये बिना यहाँ कोई भी किसी इष्ट अथवा अनिष्ट फल को नहीं पाता।

न माता न पिता किंचित्कस्यचित्प्रतिपद्यते ।
दानपथ्यौदनो जन्तुः स्वकर्मफलमश्नुते ।।६१।।

माता और पिता भी परलोक-साधन में किसी की कुछ सहायता नहीं कर सकते। परलोक-मार्ग में तो अपना किया हुआ दान ही पाथेय [राह-खर्च] का काम देता है। प्रत्येक प्राणी अपने कर्म का ही फल भोगता है।

व्यवसायं समाश्रित्य सहायान्योऽधिगच्छति ।
न तस्य कश्चिदारम्भः कदाचिदवसीदति ।।६२।।

जो मनुष्य दृढ़ निश्चय और पूर्ण पुरुषार्थ का सहारा लेकर तदनुकल सहायकों का संग्रह करता है, उसका कोई भी कार्य कभी भी व्यर्थ नहीं होता।

अद्वैधमनसं युक्तं शूरं धीरं विपश्चितम् ।
न श्रीः संत्यजते नित्यमादित्यमिव रश्मयः ।।६३।।

जिसके मन में दुविधा नहीं होती, जो पुरुषार्थी, धीर, वीर तथा विद्वान् होता है, उसे सम्पत्ति उसी प्रकार कभी नहीं छोड़ती जैसे किरणें सूर्य को।

आस्तिक्यव्यवसायाभ्यामुपायाद्विस्मयाद्धिया ।
समारभेदनिन्द्यात्मा न सोऽर्थः परिसीदति ।।६४।।

अनिन्द्यात्मा [अनिन्दनीय स्वभाव से युक्त, जिसका हृदय उदार और प्रशस्त है] आस्तिक भाव, दृढ़ निश्चय और आवश्यक उपाय से, गर्वहीनता के साथ, उत्तम बुद्धिपूर्वक जिस कार्य को आरम्भ करता है, वह अपने कार्य में कभी असफल नहीं होता।

भीष्म उवाच

इत्युक्तो जनको राजन् याथातथ्यं मनीषिणा ।
श्रुत्वा धर्मविदां श्रेष्ठः परां मुदामवाप ह ।।६५।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ज्ञानी महात्मा पराशर मुनि के मुख से इस यथार्थ उपदेश को सुनकर धर्मज्ञों में श्रेष्ठ राजा जनक अत्यन्त प्रसन्न हुए।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि षष्टितमोऽध्यायः ।।६०।।

एकषष्टितमोऽध्यायः

हंसगीता—हंसरूपधारी[1] ब्रह्मा का साध्यगणों को उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं दमं क्षमां प्रज्ञां प्रशंसन्ति पितामह ।
विद्वाँसो मनुजा लोके कथमेतन्मतं तव ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! संसार में बहुत-से विद्वान् सत्य, मनोनिग्रह, क्षमा और प्रज्ञा की प्रशंसा करते हैं। इस विषय में आपका क्या मत है?

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम् ।
साध्यानामिह संवादं हंसस्य च युधिष्ठिर ।।२।।

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! इस विषय में साध्यगणों का हंस के साथ जो संवाद हुआ था, वही प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें सुनाता हूँ।

हंसो भूत्वाथ सौवर्णस्त्वजो नित्यः प्रजापतिः ।
स वै पर्येति लोकाँस्त्रीनथ साध्यानुपागमत् ।।३।।

एक समय की बात है, नित्य, अजन्मा प्रजापति—ब्रह्मा स्वर्णमय हंस का रूप धारण करके तीनों लोकों में विचर रहे थे। घूमते-फिरते वे साध्यगणों के पास जा पहुँचे।

साध्या ऊचुः

श्रुतोऽसि नः पण्डितो धीरवादी
साधुशब्दश्चरते ते पतत्रिन् ।

१. मनुष्य पशु या पक्षी नहीं बन सकता। किसी बात को कहने की यह साहित्यिक शैली है। संवाद में जो तात्त्विक उपदेश है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

किं मन्यसे श्रेष्ठतमं द्विज त्वं
कस्मिन् मनस्ते रमते महात्मन् ।।४।।

साध्यगण बोले—महात्मन् ! हमने सुना है कि आप पण्डित और धीरवक्ता हैं। पक्षिप्रवर ! आपकी उत्तम वाणी का सर्वत्र प्रसार है। पतत्रिन् ! आपके मत में सर्वश्रेष्ठ वस्तु क्या है ? आपका मन किसमें रमता है ?

तन्नः कार्यं पक्षिवर प्रशाधि
यत्कार्याणां मन्यसे श्रेष्ठमेकम् ।
यत्कृत्वा वै पुरुषः सर्वबन्धैर्-
विमुच्यते विहगेन्द्रेह शीघ्रम् ।।५।।

पक्षिराज ! खगश्रेष्ठ ! समस्त कार्यों में से जिस एक कार्य को आप सबसे उत्तम समझते हों और जिसे करने से मनुष्य को सब प्रकार के बन्धनों से शीघ्र छुटकारा मिल सके, उसी का हमें उपदेश दीजिए।

हंस उवाच

इदं कार्यममृताशाः शृणोमि
तपो दमः सत्यमात्माभिगुप्तिः ।
ग्रन्थीन् विमुच्य हृदयस्य सर्वान्
प्रियाप्रिये स्वं वशमानयीत ।।६।।

हंस बोला—अमृतभोजी देवो ! मैंने सुना है कि तप, इन्द्रिय-मनोनिग्रह, सत्यभाषण, आत्मिक अस्मिता की सुरक्षा आदि कार्य ही सर्वोत्तम हैं। मनुष्य को चाहिए कि हृदय की सारी गाँठों को खोलकर प्रिय और अप्रिय को अपने वश में करे अर्थात् उनके लिए हर्ष और शोक न करे।

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेद् रुषतीं पापलोक्याम् ।।७।।

किसी के मर्म में आघात न पहुँचाए, दूसरों के प्रति निष्ठुर वचन न बोले, किसी नीच मनुष्य से अध्यात्मशास्त्र का उपदेश ग्रहण न करे और जिसे सुनकर दूसरे लोग व्याकुल हो उठें, ऐसी नरक में डालनेवाली अमङ्गलमयी बात कभी मुँह से न निकाले।

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ।।८।।

वचनरूपी बाण जब मुख से निकल पड़ते हैं, तब उनके द्वारा घायल हुआ मनुष्य रात-दिन शोक में डूबा रहता है, क्योंकि वे दूसरों के मर्म पर आघात पहुँचाते हैं, अतः विद्वान् मनुष्य को किसी दूसरे पर वाग्बाणों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

परश्चेदेनमतिवादबाणैर्-
भृशं विध्येच्छम एवेह कार्यः ।
संरोष्यमाणः प्रतिहृष्यते यः
स आदत्ते सुकृतं वै परस्य ।।९।।

दूसरा कोई भी यदि किसी विद्वान् पुरुष को कटुवचनरूपी बाणों से बहुत अधिक चोट पहुँचाए तो भी उसे शान्त ही रहना चाहिए। जो दूसरों के क्रोध करने पर भी स्वयं बदले में प्रसन्न ही रहता है, वह उसके पुण्य को ग्रहण कर लेता है।

क्षेपायमाणाभिषङ्गव्यलीकं
निगृह्णाति ज्वलितं यश्च मन्युम् ।
अदुष्टचेता मुदितोऽनसूयुः
स आदत्ते सुकृतं वै परेषाम् ।।१०।।

जो संसार में निन्दा करानेवाले तथा आवेश में डालने के कारण अप्रिय प्रतीत होनेवाले प्रज्वलित क्रोध को रोक लेता है, चित्त में कोई विकार या दोष नहीं आने देता, सदा प्रसन्न रहता तथा दूसरों के दोष नहीं देखता—ऐसा मनुष्य अपने प्रति शत्रुभाव रखनेवाले लोगों के पुण्य ले लेता है।

आक्रुश्यमानो न वदामि किञ्चित्
क्षमाम्यहं ताडयमानश्च नित्यम् ।
श्रेष्ठं ह्येतद् यत्क्षमामाहुरार्याः
सत्यं तथैवार्जवमानृशंस्यम् ।।११।।

यदि मुझे कोई दुर्वचन कहे [गाली दे] तो भी मैं बदले में कुछ नहीं कहता, कोई मुझे मारे तो उसे सदा क्षमा ही करता हूँ, क्योंकि आर्य=श्रेष्ठ लोग क्षमा, सत्य, सरलता और दया को ही उत्तम बताते हैं।

वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम् ॥१२॥

वेदाध्ययन का सार है सत्यभाषण, सत्यभाषण का सारतत्त्व है मनोनिग्रह और मनोनिग्रह का फल है मोक्ष । यही सम्पूर्ण शास्त्रों का उपदेश है ।

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
तृष्णावेगमुदरोपस्थवेगम् ।
एतान्वेगान् यो विषहेदुदीर्णां-
स्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च ॥१३॥

जो मनुष्य वाणी के वेग, मन और क्रोध के वेग, तृष्णा के वेग तथा पेट और जननेन्द्रिय के वेग—इन सब प्रचण्ड वेगों को सह लेता है, उसी को मैं ब्रह्मवेत्ता और मुनि मानता हूँ ।

अक्रोधनः क्रुध्यतां वै विशिष्ट-
स्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः ।
अमानुषान्मानुषो वै विशिष्ट-
स्तथाज्ञानाज्ज्ञानविद् वै विशिष्टः ॥१४॥

क्रोधी मनुष्यों की अपेक्षा क्रोध न करनेवाला मनुष्य श्रेष्ठ है । असहनशील से सहनशील बड़ा है । मनुष्येतर प्राणियों से मनुष्य बढ़कर है और अज्ञानी से ज्ञानवान् श्रेष्ठ है ।

आक्रुश्यमानो नाक्रुश्येन्मन्युरेनं तितिक्षतः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥१५॥

जो दूसरों के दुर्वचन कहने [गाली देने] पर भी बदले में उसे गाली नहीं देता, उस क्षमाशील मनुष्य का दबा हुआ क्रोध ही उस गाली देनेवाले को भस्म कर देता है और उसके पुण्य को भी ले लेता है ।

यो नात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियं वा
यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात् ।
पापं च यो नेच्छति तस्य हन्तु-
स्तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम् ॥१६॥

जो दूसरों द्वारा अपने लिए कड़वी बात कही जाने पर भी उनके प्रति कठोर या प्रिय कुछ भी नहीं कहता और किसी के द्वारा प्रताड़ित किये जाने पर धैर्य के कारण बदले में न तो प्रताड़क को प्रताड़ना देता है और न उसकी बुराई ही चाहता है, उस महात्मा से मिलने के लिए देवता भी सदा लालायित रहते हैं ।

पापीयसः क्षमेतैव श्रेयसः सदृशस्य च ।
विमानितो हतोऽऽक्रुष्टः एवं सिद्धिं गमिष्यति ॥१७॥

पाप करनेवाला अपराधी अवस्था में अपने से बड़ा हो अथवा बराबर, उसके द्वारा अपमानित होकर, मार खाकर और गाली सुनकर भी उसे क्षमा ही कर देना चाहिए । ऐसा करनेवाला पुरुष परम-सिद्धि को प्राप्त होता है ।

नाहं शप्तः प्रतिशपामि कंचिद्
दमं द्वारं ह्यमृतस्येह वेद्मि ।
गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि
न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ॥१८॥

कोई मुझे शाप=गाली दे तो मैं उसे बदले में शाप नहीं देता । मैं इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह को ही मोक्ष का द्वार मानता हूँ । हे साध्यगणो ! इस समय मैं तुम्हें एक रहस्य की बात बता रहा हूँ, सुनो ! मनुष्ययोनि से बढ़कर कोई उत्तम योनि नहीं है ।

यस्य वाङ्मनसी गुप्ते सम्यक् प्रणिहिते सदा ।
वेदास्तपश्च त्यागश्च स इदं सर्वमाप्नुयात् ॥१९॥

जिसकी वाणी और मन सुरक्षित होकर सदा सब प्रकार से परमात्मा में लगे रहते हैं, वह वेदाध्ययन, तप और त्याग—इन सबके फल को पा लेता है ।

अमृतस्येव संतृप्येदवमानस्य पण्डितः ।
सुखं ह्यवमतः शेते योऽवमन्ता स नश्यति ॥२०॥

विद्वान् को चाहिए कि वह अपमानित होकर अमृत पीने की भाँति सन्तुष्ट हो, क्योंकि अपमानित पुरुष तो सुख से सोता है किन्तु अपमान करनेवाले का नाश हो जाता है ।

यत्क्रोधनो यजति यद् ददाति
यद्वा तपस्तप्यति यज्जुहोति ।
वैवस्वतस्तद्धरतेऽस्य सर्वं
मोघः श्रमो भवति क्रोधनस्य ॥२१॥

क्रोधी मनुष्य जो पुण्य कर्म करता है, दान देता है, तप करता है, अथवा जो यज्ञ करता है, उसके उन सब कर्मों के फल को यमराज हर लेते हैं । क्रोध करनेवाले का वह किया हुआ सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है ।

चत्वारि यस्य द्वाराणि सुगुप्तान्यमरोत्तमाः ।
उपस्थमुदरं हस्तौ वाक् चतुर्थी स धर्मवित् ।।२२।।

देवेश्वरो ! जिस मनुष्य के उपस्थ, उदर, दोनों हाथ और वाणी—ये चारों द्वार सुरक्षित होते हैं, वही धर्मज्ञ है ।

सत्यं दमं ह्यार्जवमानृशंस्यं
धृतिं तितिक्षामतिसेवमानः ।
स्वाध्यायनित्योऽस्पृहयन् परेषा-
मेकान्तशील्यूर्ध्वगतिर्भवेत्सः ।।२३।।

जो मनुष्य सत्य व्यवहार, मनोनिग्रह, सरलता, दया, धैर्य और क्षमा का पूर्ण सेवन करता है, सदा स्वाध्याय में लगा रहता है, दूसरे की वस्तुओं को नहीं लेना चाहता और एकान्त में निवास करता है, वह जीवन में सदा उन्नत होता है ।

सर्वाश्चैनाननुचरन् वत्सवच्चतुरः स्तनान् ।
न पावनतमं किञ्चित् सत्यादध्यगतं क्वचित् ।।२४।।

जैसे बछड़ा अपनी माता के चारों स्तनों का पान करता है, उसी प्रकार मनुष्य को उपर्युक्त सभी सद्गुणों का सेवन करना चाहिए । मैंने अबतक सत्य से बढ़कर परम-पावन वस्तु कहीं पर कुछ भी नहीं देखी-समझी है ।

आचक्षेऽहं मनुष्येभ्यो देवेभ्यः प्रतिसंचरन् ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ।।२५।।

मैं चारों ओर घूमकर मनुष्यों और देवताओं से कहा करता हूँ कि जैसे जहाज समुद्र से पार होने का साधन है, उसी प्रकार सत्य ही स्वर्गलोक में पहुँचने की सीढ़ी है ।

यादृशैः संनिवसति यादृशाँश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ।।२६।।

मनुष्य जैसे लोगों के साथ रहता है, जैसे मनुष्यों का सेवन करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही हो जाता है ।

यदि सन्तं सेवते यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव ।
वासो यथा रंगवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति ।।२७।।

जैसे वस्त्र को जिस रंग में रँगा जाए, वह वैसा ही हो जाता है, वैसे ही कोई सज्जन, दुष्ट, तपस्वी अथवा चोर—जिसका सेवन करता है, वैसा ही हो जाता है अर्थात् उसपर उन्हीं का रंग चढ़ जाता है ।

न वै देवा हीनसत्त्वेन तोष्याः
सर्वाशिना दुष्कृतकर्मणा वा ।
सत्यव्रता ये तु नराः कृतज्ञा
धर्मे रतास्तैः सह सम्भजन्ते ।।२८।।

सत्त्वगुण से रहित तथा सब-कुछ भक्षण करने-वाले पापाचारी मनुष्य देवताओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकते । जो मनुष्य नियमपूर्वक सत्य बोलनेवाले, कृतज्ञ और धर्म में तत्पर रहते हैं, उन्हीं के साथ देवता—विद्वान् लोग स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करते हैं ।

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम् ।
धर्मं वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं
प्रियं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ।।२९।।

व्यर्थ बोलने की अपेक्षा मौन रहना श्रेष्ठ कहा गया है [यह वाणी की पहली विशेषता है], सत्य बोलना वाणी की दूसरी विशेषता है, धर्मसम्मत बोलना वाणी की तीसरी विशेषता है एवं प्रिय बोलना वाणी की चौथी विशेषता है ।

साध्या ऊचुः

केनायमावृतो लोकः केन वा न प्रकाशते ।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ।।३०।।

साध्यगणों ने पूछा—हे पक्षिप्रवर ! इस संसार को किसने आवृत कर रखा है ? किस कारण से उसका सत्यस्वरूप प्रकाशित नहीं होता ? मनुष्य किस हेतु से मित्रों का त्याग करता है ? और किस दोष के कारण वह स्वर्ग में नहीं जा पाता ?

हंस उवाच

अज्ञानेनावृतो लोको मात्सर्यान्न प्रकाशते ।
लोभात् त्यजति मित्राणि संगात्स्वर्गं न गच्छति ।।३१।।

हंस बोला—हे साध्यो ! अज्ञान ने इस लोक को आवृत कर [ढक] रखा है । आपस में डाह होने के कारण इसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता । मनुष्य लोभ के कारण मित्रों को त्याग देता है और आसक्ति-दोष के कारण वह स्वर्ग में नहीं जा पाता ।

साध्या ऊचुः

कः स्विदेको रमते ब्राह्मणानां
कः स्विदेको बहुभिर्जोषमास्ते ।
कः स्विदेको बलवान् दुर्बलोऽपि
कः स्विदेषां कलहं नान्ववैति ।।३२।।

साध्यों ने पूछा—हंस ! ब्राह्मणों में कौन एकमात्र सुख का अनुभव करता है ? वह कौन ऐसा एक मनुष्य है जो बहुतों के साथ रहकर भी चुप रहता है ? और वह कौन-सा एक मनुष्य है जो निर्बल होने पर भी बलवान् है और इनमें कौन ऐसा है जो किसी के साथ कलह नहीं करता ?

हंस उवाच

प्राज्ञ एको रमते ब्राह्मणानां
प्राज्ञश्चैको बहुभिर्जोषमास्ते ।
प्राज्ञ एको बलवान् दुर्बलोऽपि
प्राज्ञ एषां कलहं नान्ववैति ।।३३।।

हंस ने कहा—देवताओ ! ब्राह्मणों में जो ज्ञानी है, केवल वही सुख का अनुभव करता है। ज्ञानी ही बहुतों के साथ रहकर भी मौन रहता है। एकमात्र ज्ञानी ही निर्बल होने पर भी बलवान् है और इनमें ज्ञानी ही किसी के साथ कलह नहीं करता ।

साध्या ऊचुः

किं ब्राह्मणानां देवत्वं किं च साधुत्वमुच्यते ।
असाधुत्वं च किं तेषां किमेषां मानुषं मतम् ।।३४।।

साध्यों ने पूछा—हंस ! ब्राह्मणों का देवत्व क्या है ? उनमें साधुता क्या बताई जाती है ? उनमें असाधुता और मनुष्यता क्या मानी गई है ?

हंस उवाच

स्वाध्याय एषां देवत्वं व्रतं साधुत्वमुच्यते ।
असाधुत्वं परीवादो मृत्युर्मानुष्यमुच्यते ।।३५।।

हंस बोला—हे साध्यगणो ! वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय ही ब्राह्मणों का देवत्व है। उत्तम व्रतों का पालन ही उनमें साधुता बताई जाती है। दूसरों की निन्दा करना ही उनकी असाधुता है और मृत्यु को प्राप्त होना ही उनकी मनुष्यता कही गई है।

भीष्म उवाच

संवाद इत्ययं श्रेष्ठः साध्यानां परिकीर्तितः ।
क्षेत्रं वै कर्मणां योनिः सद्भावः सत्यमुच्यते ।।३६।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार साध्यों के साथ हंस का जो श्रेष्ठ संवाद हुआ था, वह मैंने तुम्हें सुना दिया। यह शरीर ही कर्मों की योनि है और सद्भाव को ही सत्य कहते हैं।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकषष्टितमोऽध्यायः ।।६१।।

द्विषष्टितमोऽध्यायः

नारदजी का शुकदेव को वैराग्य तथा ज्ञान का उपदेश

नारद उवाच

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ।।१।।

नारदजी कहते हैं—विद्या के समान कोई नेत्र नहीं है। सत्य के समान कोई तप नहीं है। राग [मोह या आसक्ति] के समान कोई दुःख नहीं है और त्याग के समान कोई सुख नहीं है।

निवृत्तिः कर्मणः पापात्सततं पुण्यशीलता ।
सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम् ।।२।।

पापकर्मों से दूर रहना, सदा शुभकर्मों का अनुष्ठान करना, श्रेष्ठ पुरुषों के साथ व्यवहार और सदाचार का पालन करना— यही सर्वोत्तम कल्याण का साधन है।

सर्वोपायात्तु कामस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः ।
कार्यः श्रेयोऽर्थिना तौ हि श्रेयोघातार्थमुद्यतौ ।।३।।

जिसे कल्याण-प्राप्ति की इच्छा हो, उसे सभी उपायों द्वारा काम और क्रोध का दमन करना चाहिए, क्योंकि ये दोनों दोष कल्याण का नाश करने के लिए उद्यत रहते हैं।

नित्यं क्रोधात्तपो रक्षेच्छ्रियं रक्षेच्च मत्सरात् ।
विद्यां मानावमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ।।४।।

मनुष्य को चाहिए कि सदा तप की क्रोध से,

लक्ष्मी की डाह से, विद्या की मान और अपमान से तथा अपने आत्मा की प्रमाद से रक्षा करे।

आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं न सत्याद्विद्यते परम् ॥५॥

क्रूर स्वभाव का परित्याग सबसे बड़ा धर्म है। क्षमा सबसे बड़ा बल है। आत्मा का ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है और सत्य से बढ़कर तो कुछ है ही नहीं।

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम ॥६॥

सत्य बोलना सबसे उत्तम है परन्तु सत्य बोलने से भी श्रेष्ठ है हितकारक वचन बोलना। जिससे प्राणियों का अत्यन्त हित होता हो, वही मेरे विचार से सत्य है।

सर्वारम्भपरित्यागी निराशीर्निष्परिग्रहः।
येन सर्वं परित्यक्तं स विद्वान् स च पण्डितः ॥७॥

जो कार्य आरम्भ करने के सभी संकल्पों को त्याग चुका है, जिसके मन में कोई कामना नहीं है, जो किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता और जिसने सब-कुछ त्याग दिया है वही विद्वान् है और वही पण्डित है।

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जन्म समासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥८॥

किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। सबके प्रति मित्रभाव रखते हुए विचरे और इस मनुष्य-जन्म को प्राप्त करके किसी के साथ वैर न करे।

परिग्रहं परित्यज्य भव तात जितेन्द्रियः।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाभयम् ॥९॥

तात शुकदेव! तुम संग्रह का त्याग करके जितेन्द्रिय हो जाओ और उस पद को प्राप्त करो—जो लोक और परलोक दोनों में निर्भय और सर्वथा शोकरहित है।

निरामिषा न शोचन्ति त्यजेदामिषमात्मनः।
परित्यज्यामिषं सौम्य दुःखतापाद्विमोक्ष्यसे ॥१०॥

जिन्होंने भोगों का परित्याग कर दिया है, वे कभी शोक में नहीं पड़ते, अतः प्रत्येक मनुष्य को भोगासक्ति का त्याग करना चाहिए। सौम्य! भोगों का परित्याग कर देने पर तुम दुःख और सन्ताप से मुक्त हो जाओगे।

शुभैर्लभते देवत्वं व्यामिश्रैर्जन्म मानुषम्।
अशुभैश्चाप्यधोजन्म कर्मभिर्लभतेऽवशः ॥११॥

जीव सदा कर्मों के अधीन रहता है। वह शुभ-कर्मों के अनुष्ठान से देवता बनता है, दोनों के सम्मिश्रण [पाप-पुण्य के मेल] से मनुष्य-जन्म प्राप्त करता है और केवल अशुभ कर्मों से पशु-पक्षी आदि नीच योनियों में जाता है।

अलं परिग्रहेणेह दोषवान् हि परिग्रहः।
कृमिर्हि कोषकारस्तु बध्यते स परिग्रहात् ॥१२॥

संसार में विविधप्रकार की वस्तुओं के संग्रह की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि संग्रह से महान् दोष उत्पन्न होता है। रेशम का कीड़ा अपने संग्रह-दोष के कारण ही बन्धन में पड़ता है।

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम्।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥१३॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यज ॥१४॥

यह शरीर पञ्चभूतों का घर है। इसमें हड्डियों के खम्भे लगे हैं। यह नस-नाड़ियों से बंधा हुआ, रक्त-मांस से लिपा और चमड़े से मँढा हुआ है। इसमें मल-मूत्र भरा हुआ है, जिससे दुर्गन्ध आती रहती है। यह बुढ़ापे और शोक से व्याप्त, रोगों का घर, दुःखरूप, रजोगुणरूपी धूल से ढका हुआ और नाशवान् है, अतः तुम्हें इसकी आसक्ति त्याग देनी चाहिए।

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥१५॥

जीवन में शोक के सहस्रों और भय के सैकड़ों स्थान [अवसर] हैं, जो प्रतिदिन मूढ मनुष्यों पर ही अपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान् पर नहीं।

नार्थो न धर्मो न यशो योऽतीतमनुशोचति।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ॥१६॥

जो बीती बात के लिए शोक करता है, उसे न तो अर्थ की प्राप्ति होती है, न धर्म की। उसे कीर्ति भी नहीं मिलती। वह उसके अभाव का अनुभव करके

केवल दुःख ही उठाता है। उससे अभाव दूर नहीं होता।

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते ।।१७।।

दुःख दूर करने की सबसे श्रेष्ठ ओषधि यही है कि उसका बार-बार चिन्तन न किया जाए। चिन्तन करने से वह घटता नहीं अपितु बढ़ता जाता है।

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद्विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ।।१८।।

मानसिक दुःख को बुद्धि के द्वारा विचार से और शारीरिक रोग को औषध-सेवन द्वारा नष्ट करना चाहिए। शास्त्रज्ञान के प्रभाव से ही ऐसा होना सम्भव है। दुःख आने पर बालकों की भाँति रोना उचित नहीं है।

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसञ्चयः।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः ।।१९।।

रूप, यौवन, जीवन, धन-संग्रह, नीरोगता और प्रियजनों का सम्मिलन (समागम) अनित्य हैं। विद्वान् मनुष्य को इनमें आसक्त नहीं होना चाहिए।

अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।
तस्मात्सन्तोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः ।।२०।।

तृष्णा का कभी अन्त नहीं होता। सन्तोष ही परम सुख है, अतः पण्डित लोग संसार में सन्तोष को ही उत्तम धन समझते हैं।

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा।
चक्षुः श्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च विद्यया ।।२१।।

मनुष्य को चाहिए कि वह धैर्य के द्वारा शिश्न और उदर की, नेत्र के द्वारा हाथ और पैर की, मन के द्वारा आँख और कान की तथा सद्विद्या के द्वारा मन एवं वाणी की रक्षा करे।

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन यश्चरेत् स सुखी भवेत् ।।२२।।

जो अध्यात्मविद्या में अनुरक्त, कामना-शून्य, और भोगासक्ति से दूर है, जो [आत्मवान् होकर] विचरण करता है, वही सुखी होता है।

अहं कस्य कुतो वापि कः को मे ह भवेदिति।
प्रयोजनमतिर्नित्यमेवं मोक्षाश्रमे वसेत् ।।२३।।

'मैं किस स्वरूप का हूँ? कहाँ से आया हूँ? मेरा कौन है? इस जीवन का प्रयोजन क्या है?'—इत्यादि बातों का सदा विचार करते हुए संन्यासी को संन्यास-आश्रम में रहना चाहिए।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि द्विषष्टितमोऽध्यायः ।।६२।।

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

शान्तिपर्व का सार : विविध विषयों पर मनोरम, सारगर्भित तथा मार्मिक उपदेश

व्यास उवाच

अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः।
अहिंसा सत्यमक्रोधः इज्या धर्मस्य लक्षणम् ।।१।।

व्यासजी कहते हैं—बिना दी हुई वस्तु को न लेना, दान देना, वेदाध्ययन में तत्पर रहना, किसी भी प्राणी के प्रति वैर की भावना न रखना, सत्य बोलना, क्रोध न करना तथा यज्ञ करना—ये सब धर्म के लक्षण हैं।

यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ।।२।।

जैसे लकड़ी का हाथी और चर्म-निर्मित मृग होते हैं, वैसे ही वेद-शास्त्रों से शून्य ब्राह्मण होता है। ये तीनों नाममात्र धारण करते हैं [नाम के अनुसार काम नहीं देते]।

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
शकुनिर्वाप्यपक्षः स्यान्निर्मन्त्रो ब्राह्मणस्तथा ।।३।।

जैसे नपुंसक मनुष्य स्त्रियों से समागम करके निष्फल होता है, गाय गाय से ही संयुक्त होने पर कोई फल नहीं दे सकती और बिना पंख का पक्षी उड़ नहीं सकता, वैसे ही वेदमन्त्रों के ज्ञान से शून्य ब्राह्मण भी व्यर्थ होता है।

ग्रामो धान्यैर्यथा शून्यो यथा कूपश्च निर्जलः ।
यथा हुतमनग्नौ च तथैव स्यान्निराकृतौ ।।४।।

जैसे अन्न से रहित ग्राम, जलहीन कुँआ और राख में दी हुई आहुति व्यर्थ होती है, वैसे ही मूर्ख ब्राह्मण को दिया हुआ दान भी व्यर्थ होता है ।

भीष्म उवाच

यः स्याद् दान्तः सोमपश्चार्यशीलः
सानुक्रोशः सर्वसहो निराशीः ।
ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान्
स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा ।।५।।

भीष्मजी कहते हैं—जो मन और इन्द्रियों को संयम में रखनेवाला, सोमयाग करके सोमरस पीनेवाला, सदाचारी, दयालु, सब-कुछ सहन करनेवाला, निष्काम, सरल, मृदु, [कोमल], क्रूरतारहित और क्षमाशील हो, वही ब्राह्मण कहलाने योग्य है । इन गुणों से रहित जो पापाचारी है, उसे ब्राह्मण नहीं समझना चाहिए ।

यज्ञः श्रुतमपैशुन्यमहिंसातिथिपूजनम् ।
दमः सत्यं तपो दानमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ।।६।।

यज्ञ करना-कराना, वेदों का अध्ययन, किसी की चुगली न करना, मन, वचन तथा कर्म द्वारा किसी प्राणी को कष्ट न देना, अतिथियों का सत्कार करना, मन को वश में रखना, सत्य बोलना, तप करना तथा दान देना—यह सब ब्राह्मण का लक्षण है ।

नारद उवाच

शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षार्जवमार्दवम् ।
यथार्हप्रतिपूजा च शस्त्रमेतदनायसम् ।।७।।

नारदजी कहते हैं—अपनी शक्ति के अनुसार सदा अन्नदान करना, सहनशीलता, सरलता, कोमलता और सभी का यथायोग्य आदर-सत्कार करना—यह बिना लोहे का बना शस्त्र है [जो किसी पर भी विजय पाने में समर्थ है] ।

भीष्म उवाच

निग्रहेण च पापानां साधूनां संग्रहेण च ।
यज्ञैर्दानैश्च राजानो भवन्ति शुचयोऽमलाः ।।८।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पापियों को दण्ड देने तथा सज्जनों को आदरपूर्वक अपनाने से और यज्ञों का अनुष्ठान एवं दान करने से राजा लोग सब प्रकार के दोषों से छूटकर निर्मल तथा शुद्ध हो जाते हैं ।

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत् ।
विसृजञ्श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन् ।।९।।
अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति ।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ।।१०।।

खाट पर सोकर मरना क्षत्रिय के लिए अधर्म है । जो क्षत्रिय कफ और मल-मूत्र त्यागता हुआ तथा दुःखी होकर विलाप करता हुआ बिना घायल हुए शरीर से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसके इस कर्म की प्राचीन धर्म को जाननेवाले विद्वान् लोग प्रशंसा नहीं करते ।

इन्द्र उवाच

वृद्धबालौ न हन्तव्यौ न च स्त्री नैव पृष्ठतः ।
तृणपूर्णमुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत् ।।११।।

इन्द्रदेव कहते हैं—युद्ध में वृद्ध, बालक तथा स्त्री का वध नहीं करना चाहिए । किसी भागते हुए की पीठ पर भी वार नहीं करना चाहिए । जो मुँह में तिनका लेकर शरण में आ जाए और यह कहे कि 'मैं आपका ही हूँ'—उसका भी वध नहीं करना चाहिए ।

भीष्म उवाच

शूरबाहुषु लोकोऽयं लम्बते पुत्रवत्सदा ।
तस्मात्सर्वास्ववस्थासु शूरः सम्मानमर्हति ।।१२।।

भीष्मजी कहते हैं—जैसे पुत्र सदा पिता पर आश्रित होता है, वैसे ही सारा संसार शूरवीर की भुजाओं पर टिका हुआ है, अतः सभी अवस्थाओं में शूरवीर सम्मान पाने के योग्य है ।

न हि शौर्यात्परं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शूरः सर्वं पालयति सर्वं शूरे प्रतिष्ठितम् ।।१३।।

तीनों लोकों में शूरवीरता से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है । शूरवीर सबका पालन करता है और सारा जगत् उसी के आधार पर टिका हुआ है ।

द्वेष्यो भवति भूतानामुग्रो राजा युधिष्ठिर ।
मृदुमप्यवमन्यन्ते तस्मादुभयमाचरेत् ।।१४।।

युधिष्ठिर ! राजा यदि उग्र स्वभाव का बन जाए तो वह समस्त प्राणियों के द्वेष का पात्र बन

जाता है और अत्यन्त कोमल हो जाए तो सभी उसकी अवहेलना करने लगते हैं, अतः उसे आवश्यकतानुसार उग्रता तथा कोमलता दोनों से ही काम लेना चाहिए।

बृहस्पतिरुवाच

प्रियमेव वदेन्नित्यं नाप्रियं किञ्चिदाचरेत्।
विरमेच्छुष्कवैरेभ्यः कण्ठायासांश्च वर्जयेत्॥१५॥

बृहस्पतिजी कहते हैं—मनुष्य को चाहिए कि सदा मधुर वचन ही बोले, कभी कोई अप्रिय व्यवहार न करे। सूखे वैर से अलग रहे और कण्ठ को पीड़ा देनेवाले वाद-विवाद को त्याग दे।

मृदुमप्यवमन्यन्ते तीक्ष्णादुद्विजते जनाः।
मा तीक्ष्णो मा मृदुर्भूस्त्वं तीक्ष्णो भव मृदुर्भव॥१६॥

मनुष्य कोमल स्वभाववाले राजा का अपमान करते हैं, और अति कठोर स्वभाववाले से भी उद्विग्न हो जाते हैं, अतः तुम न कठोर बनो न कोमल। यथावसर कठोरता भी धारण करो और कोमल भी हो जाओ।

परोक्षमगुणानाह सद्गुणानभ्यसूयते।
परैर्वा कीर्त्यमानेषु तूष्णीमास्ते पराङ्मुखः॥१७॥

जो परोक्ष में किसी व्यक्ति के दोष-ही-दोष बताता है, उसके गुणों में भी दोषारोपण करता है और यदि अन्य लोग उसके गुणों का कीर्तन करें तो वह मुँह फेरकर चुपचाप बैठ जाता है—वह दुष्ट माना जाता है।

मुनिरुवाच

धनं वा पुरुषो राजन् पुरुषं वा पुनर्धनम्।
अवश्यं प्रजहात्येव तद्विद्वान् कोऽनुसंज्वरेत्॥१८॥

कालकवृक्षीय मुनि कहते हैं—राजन्! चाहे मनुष्य धन को छोड़ दे अथवा धन ही मनुष्य को छोड़ दे—एक दिन अवश्य ऐसा होता है। इस बात को जाननेवाला कौन मनुष्य धन की चिन्ता करेगा!

नियच्छ यच्छ संयच्छ इन्द्रियाणिमनोगिरम्।
प्रतिषेद्धा न चाप्येषु दुर्बलेष्वहितेष्वपि॥१९॥

इन्द्रियों को संयम में रखो, मन को वश में करो और वाणी का संयम करके मौन रहा करो। ये मन, वाणी और इन्द्रियाँ दुर्बल हों अथवा अहितकारक, इन्हें विषयों की ओर जाने से रोकनेवाला अपने आत्मा के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

हित्वा दम्भं च कामं च क्रोधं हर्षं भयं तथा।
अप्यमित्राणि सेवस्व प्रणिपत्य कृताञ्जलिः॥२०॥

राजन्! तुम दम्भ, काम, क्रोध, हर्ष और भय को त्यागकर हाथ जोड़, मस्तक झुकाकर शत्रुओं की भी सेवा करो।

वर्तमानः स्वशास्त्रेण संयतात्मा जितेन्द्रियः।
अभ्युद्धरति चात्मानं प्रसादयति च प्रजाः॥२१॥

जो मनुष्य शास्त्र के अनुकूल आचरण करता हुआ अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखता है, वह अपना तो उद्धार करता ही है, प्रजा को भी प्रसन्न कर लेता है।

भीष्म उवाच

शुचेरपि हि युक्तस्य दोष एव निपात्यते।
मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः॥२२॥

भीष्मजी कहते हैं—कोई कितना ही शुद्ध और महात्मा क्यों न हो, लोग उसपर भी दोषारोपण कर ही देते हैं। अपने धार्मिक कर्मों में लगे हुए वनवासी मुनि के भी शत्रु, मित्र और उदासीन—ये तीन पक्ष पैदा हो जाते हैं।

लुब्धानां शुचयो द्वेष्याः कातराणां तरस्विनः।
मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्याः दरिद्राणां महाधनाः।
अधार्मिकाणां धर्मिष्ठा विरूपाणां सुरूपिणः॥२३॥

लोभी लोग निर्लोभी से, भीरु [कायर] बलवानों से, मूर्ख विद्वानों से, दरिद्र बड़े-बड़े धनिकों से, पापी धर्मात्माओं से और कुरूप सुन्दर रूपवालों से द्वेष करते हैं।

न दुष्करमिदं पुत्र यत्प्रभुर्घातयेत् परम्।
श्लाघनीया यशस्या च लोके प्रभवतां क्षमा॥२४॥

पुत्र! यदि शक्तिशाली राजा किसी का वध करा दे तो यह उसके लिए कोई कठिन काम नहीं है परन्तु शक्तिशाली मनुष्यों में यदि क्षमा का भाव हो तो संसार में उनकी प्रशंसा होती है और उसी से उनका यश बढ़ता है।

दुःखेन श्लिष्यते भिन्नं श्लिष्टं दुःखेन भिद्यते ।
भिन्ना श्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्तते ।।२५।।

प्रेम का बन्धन बड़ी कठिनाई से टूटता है, परन्तु एक बार टूट जाने पर वह अत्यन्त कठिनाई से जुड़ पाता है। जो प्रेम बारम्बार टूटता और जुड़ता रहता है, उसमें स्नेह नहीं होता।

नाविद्यो नानृजुः पार्श्वे नाप्राज्ञो नामहाधनः ।
संग्राह्यो वसुधापालैर्भृत्यो भृत्यवतां वर ।।२६।।

भृत्यवानों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! भूपालों को चाहिए कि अपने पास ऐसे किसी भृत्य का संग्रह न करें, जो विद्याहीन, कुटिल, मूर्ख और दरिद्र हो।

कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः ।
कोशमूला हि राजानः कोशो वृद्धिकरो भवेत् ।।२७।।

राजाओं को पूर्ण प्रयत्न करके निरन्तर अपने कोष की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि कोष ही उनका मूलाधार है और कोष ही उन्हें आगे बढ़ानेवाला होता है।

कोष्ठागारं च ते नित्यं स्फीतैर्धान्यैः सुसंवृतम् ।
सदास्तु सत्सु संन्यस्तं धनधान्यपरो भव ।।२८।।

युधिष्ठिर ! तुम्हारा अन्न-भण्डार सदा पुष्टिकारक अन्नों से भरा रहना चाहिए तथा उसकी रक्षा का भार श्रेष्ठ पुरुषों को सौंप देना चाहिए। तुम सदा धन-धान्य की वृद्धि करनेवाले बनो।

मृजावान्स्यात्स्वयूथ्येषु भौमानि चरणैः क्षिपेत् ।
जातपक्षः परिस्पन्देत्प्रेक्षेद् वैकल्यमात्मनः ।।२९।।

राजा अपने दल के लोगों के प्रति निष्कपट व्यवहार करे। शत्रु के राज्य में जो फसलें खड़ी हों, उन्हें अपने दल के घोड़ों तथा बैलों के पैरों से कुचलवा दे। अपना पक्ष बलवान् होने पर ही शत्रुओं पर आक्रमण करे और अपनी दुर्बलताओं का भलीभांति निरीक्षण करता रहे।

नाशयेद् बलबर्हाणि संनिवासान् निवासयेत् ।
सदा बर्हिनिभः कामं प्रशस्तं कृतमाचरेत् ।
सर्वतश्चाददेत् प्रज्ञां पतङ्गं गहनेष्विव ।।३०।।

शत्रु-सेना के पंख काट डाले—उसे निर्बल कर दे। श्रेष्ठ पुरुषों को अपने निकट बसाये। मोर के समान स्वेच्छानुसार उत्तम कार्य करे [जैसे मोर अपने पंखों को फैलाता है, वैसे ही अपने पक्ष=सेना और सहायकों का विस्तार करे]। सबसे बुद्धि=सद्विचार ग्रहण करे तथा जैसे टिड्डी-दल जंगल में जहाँ गिरता है, वहाँ वृक्षों पर पत्ते तक नहीं छोड़ता, वैसे ही शत्रुओं पर आक्रमण करके उनका सर्वस्व नष्ट कर दे।

कुलप्रकृतिदेशानां धर्मज्ञान् मृदुभाषिणः ।
मध्ये वयसि निर्दोषान् हिते युक्तानविक्लवान् ।।३१।।
अलुब्धान् शिक्षितान्दान्तान्धर्मेषु परिनिष्ठितान् ।
स्थापयेत्सर्वकार्येषु राजा धर्मार्थरक्षिणः ।।३२।।

जो लोग कुल, स्वभाव तथा देश के धर्म को जानते हों, मधुरभाषी हों, यौवन में जिनका जीवन निष्कलङ्क रहा हो, जो हितसाधन में संलग्न तथा धैर्यशील [घबराहट से रहित] हों, जो निर्लोभ, शिक्षित, जितेन्द्रिय, धर्मनिष्ठ तथा धर्म और अर्थ की रक्षा करनेवाले हों, उन्हीं को राजा अपने समस्त कार्यों में नियुक्त करे।

माता पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः ।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।।३३।।

माता, पिता, भाई, स्त्री तथा पुरोहित—कोई भी क्यों न हो, जो अपने धर्म में स्थिर नहीं रहता, उसे राजा अवश्य दण्ड दे। राजा के लिए कोई भी अदण्ड्य नहीं है।

युधिष्ठिर उवाच

आशां महत्तरां मन्ये पर्वतादपि सद्रुमात् ।
आकाशादपि वा राजन्नप्रमेयैव वा पुनः ।।३४।।

युधिष्ठिरजी कहते हैं—राजन् ! मैं आशा को वृक्षों से भरे पर्वत से भी बहुत बड़ी मानता हूँ अथवा वह आकाश से भी बढ़कर अप्रमेय है।

यम उवाच

तपःशौचवता नित्यं सत्यधर्मरतेन च ।
मातापित्रोरहरहः पूजनं कार्यमञ्जसा ।।३५।।

यमराज कहते हैं—मनुष्य तप करे, बाहर-भीतर से पवित्र रहे और सदा सत्यभाषणरूप धर्म के पालन में तत्पर रहे। यह सब करते हुए ही उसे प्रतिदिन माता-पिता की सेवा करनी चाहिए।

भीष्म उवाच

न वाच्यः परीवादोऽयं न श्रोतव्यः कथञ्चन ।
कर्णावथ पिधातव्यौ प्रस्थेयं चान्यतो भवेत् ॥३६॥

भीष्मजी कहते हैं—किसी की भी निन्दा नहीं करनी चाहिए और न किसी भी रूप में किसी की निन्दा सुननी ही चाहिए। यदि कोई दूसरे की निन्दा करता हो तो वहाँ या तो अपने कान बन्द कर लेने चाहिएँ अथवा वहाँ से उठकर अन्यत्र चले जाना चाहिए।

असतां शीलमेतद् वै परिवादोऽथ पैशुनम् ।
गुणानामेव वक्तारः सन्तः सत्सु नराधिप ॥३७॥

राजन्! दूसरों की निन्दा अथवा चुगली करना—यह दुष्टों का स्वभाव होता है। श्रेष्ठ मनुष्य तो सज्जनों के समीप दूसरों के गुणों का ही बखान करते हैं।

अबलस्य कुतः कोशो ह्यकोशस्य कुतो बलम् ।
अबलस्य कुतो राज्यमराज्ञः श्रीर्भवेत् कुतः ॥३८॥

बलहीन राजा के पास कोष कैसे रह सकता है? कोषहीन के पास सेना कैसे टिक सकती है? सेना से रहित राजा का राज्य कैसे स्थिर रह सकता है और राज्यहीन के पास लक्ष्मी कैसे ठहर सकती है?

उच्चैर्वृत्तेः श्रियो हानिर्यथैव मरणं तथा ।
तस्मात् कोशं बलं मित्रमथ राजा विवर्धयेत् ॥३९॥

जो धन के कारण उच्च तथा महत्त्वपूर्ण पद पर पहुँचा हुआ है, यदि उसके धन की हानि हो जाए तो उसे मृत्यु के समान कष्ट होता है, अतः राजा को कोष, सेना और मित्रों की संख्या बढ़ानी चाहिए।

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित् ॥४०॥

राजा को सदा उद्यम ही करना चाहिए, किसी के समक्ष झुकना नहीं चाहिए, उद्यम ही पुरुषत्व है। जैसे सूखी लकड़ी बिना गाँठ के ही टूट जाती है परन्तु झुकती नहीं है, वैसे ही राजा नष्ट भले ही हो जाए परन्तु उसे झुकना नहीं चाहिए।

श्रियो बलममात्यांश्च बलवानिह विन्दति ।
यो ह्यनाढ्यः स पतितस्तदुच्छिष्टं यदल्पकम् ॥४१॥

बलवान् राजा इस संसार में सम्पत्ति, सेना और मन्त्री आदि सभी कुछ पा लेता है। जो दरिद्र है, वह पतित समझा जाता है तथा जिसके पास बहुत थोड़ा धन है वह उच्छिष्ट या जूठन समझा जाता है।

अतिधर्माद् बलं मन्ये बलाद् धर्मः प्रवर्तते ।
बले प्रतिष्ठितो धर्मो धरण्यामिव जङ्गमम् ॥४२॥

मैं धर्म से बल को श्रेष्ठ मानता हूँ, क्योंकि बल से ही धर्म की प्रवृत्ति होती है। जैसे चलने-फिरनेवाले सभी प्राणी पृथिवी पर स्थित हैं, वैसे ही धर्म बल पर टिका हुआ है।

वशे बलवतां धर्मः सुखं भोगवतामिव ।
नास्त्यसाध्यं बलवतां सर्वं बलवतां शुचि ॥४३॥

जैसे भोग-सामग्री से सम्पन्न मनुष्यों के अधीन सुख-भोग होता है, वैसे ही धर्म बलवानों के वश में रहता है। बलवानों के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। बलवानों का सब-कुछ शुद्ध और निर्दोष होता है।

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नमपि मूलानि कृन्तति ॥४४॥

जो विश्वासपात्र न हो उसपर कभी विश्वास न करे तथा जो विश्वास-भाजन हो उसपर भी अधिक विश्वास न करे, क्योंकि विश्वास से उत्पन्न हुआ भय मनुष्य का समूलोच्छेद कर डालता है।

आत्मनश्चपलो नास्ति कुतोऽन्येषां भविष्यति ।
तस्मात्सर्वाणि कार्याणि चपलो हन्त्यसंशयम् ॥४५॥

चपल मनुष्य जब अपना ही कल्याण नहीं कर सकता, तब वह दूसरे की भलाई क्या करेगा? यह निश्चित है कि चञ्चल मनुष्य सब कार्यों को चौपट कर डालता है।

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित्कस्यचित्प्रियः ।
सख्यं सोदर्ययोर्भ्रात्रोर्दम्पत्योर्वा परस्परम् ।
कस्यचिन्नाभिजानामि प्रीतिं निष्कारणामिह ॥४६॥

यह जीव-जगत् स्वार्थ का ही साथी है। कोई किसी का प्रिय नहीं है। दो सगे भाइयों और पति तथा पत्नी का पारस्परिक प्रेम भी स्वार्थवश ही होता है इस संसार में मैं किसी के प्रेम को निष्कारण [स्वार्थरहित] नहीं देखता।

शौनक उवाच

यज्ञो दानं दया वेदाः सत्यं च पृथिवीपते ।
पञ्चैतानि पवित्राणि षष्ठं सुचरितं तपः ॥४७॥

शौनकजी कहते हैं—भूपाल ! यज्ञ, दान, दया, वेद तथा सत्य—ये पाँचों पवित्र बताये गये हैं। इनके साथ अच्छी प्रकार आचरण में लाया हुआ तप भी छठा पवित्र कर्म माना गया है।

भीष्म उवाच

सर्वस्य दयिताः प्राणाः सर्वः स्नेहं च विन्दति ।
तिर्यग्योनिष्वपि सतां स्नेहं पश्यत यादृशम् ।।४८।।

भीष्मजी कहते हैं—सबको अपने प्राण प्यारे होते हैं तथा सभी दूसरों से स्नेह पाते हैं। पशु-पक्षी की योनि में जो प्राणी रहते हैं, उनका भी अपनी सन्तानों पर कैसा प्रेम होता है, इसे देखो।

न कर्मणा पितुः पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा ।
मार्गेणान्येन गच्छन्ति बद्धाः सुकृतदुष्कृतैः ।।४९।।

पिता के कर्म से पुत्र का और पुत्र के कर्म से पिता का कोई सम्बन्ध नहीं है। अपने-अपने पुण्य और पाप के बन्धन में बंधे हुए जीव कर्मानुसार भिन्न-भिन्न मार्गों से जाते हैं।

अनिर्वेदः सदा कार्यो निर्वेदाद्धि कुतः सुखम् ।
प्रयत्नात्प्राप्यते ह्यर्थः शोकं दैन्यं परित्यज ।।५०।।

खेद और शिथिलता को कभी अपने मन में स्थान नहीं देना चाहिए। निराश होने पर सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है? प्रयत्न से ही अभीष्ट अर्थ [प्रयोजन] की सिद्धि हो सकती है, अतः शोक और दीनता को त्याग देना चाहिए।

अप्रियं परुषं चापि परद्रोहं परस्त्रियम् ।
अधर्ममनृतं चैव दूरात् प्राज्ञो विवर्जयेत् ।।५१।।

बुद्धिमान् मनुष्य को अप्रिय आचरण, कठोर वचन, दूसरों के साथ द्रोह, परायी स्त्री, अधर्म-आचरण तथा असत्य भाषण का दूर से ही परित्याग कर देना चाहिए।

धर्मं सत्यं श्रुतं न्याय्यं महतीं प्राणिनां दयाम् ।
अजिह्मत्वमशाठ्यं च यत्नतः परिमार्गत ।।५२।।

तुम लोग धर्म, सत्य, शास्त्रज्ञान, न्यायपूर्ण व्यवहार, सम्पूर्ण प्राणियों पर अत्यन्त दयालुता, कुटिलता का अभाव तथा शठता का त्याग—इन सद्गुणों का यत्नपूर्वक अनुसरण करो।

मातरं पितरं चापि बान्धवान् सुहृदस्तथा ।
जीवतो ये न पश्यन्ति तेषां धर्मविपर्ययः ।।५३।।

जो लोग जीवित माता-पिता, सुहृदों तथा भाई-बन्धुओं की देख-भाल नहीं करते हैं, उनके धर्म की हानि होती है।

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
सुखदुःखावृते लोके नेहास्त्येकमनन्तरम् ।।५४।।

सुख के पश्चात् दुःख और दुःख के बाद सुख आता है। सुख तथा दुःख से घिरे हुए इस संसार में निरन्तर सुख या दुःख अकेला नहीं बना रहता है।

क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ।
धनैर्वैश्यश्च शूद्रश्च मन्त्रैर्होमैश्च वै द्विजः ।।५५।।

क्षत्रिय को अपने भुजबल से, वैश्य और शूद्र को धन के बल से तथा ब्राह्मण को मन्त्र एवं यज्ञ की शक्ति से अपनी विपत्ति से पार उतरना चाहिए।

पुण्यानि यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
अनाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्न यजेत कथञ्चन ।।५६।।

मनुष्य जो भी पुण्यकर्म करे उसे श्रद्धापूर्वक तथा जितेन्द्रिय भाव से करे। पर्याप्त दक्षिणा दिये बिना किसी प्रकार यज्ञ न करे।

प्रजाः पशूंश्च स्वर्गं च हन्ति यज्ञो ह्यदक्षिणः ।
इन्द्रियाणि यशः कीर्तिमायुश्चाप्यवकृन्तति ।।५७।।

बिना दक्षिणा का यज्ञ प्रजा और पशु का नाश करता है तथा स्वर्ग=सुख की प्राप्ति में भी बाधा डाल देता है। इतना ही नहीं दक्षिणाहीन यज्ञ इन्द्रियों की शक्ति, यश, कीर्ति और आयु को भी क्षीण करता है।

श्रद्दधानः शुभां विद्यां हीनादपि समाप्नुयात् ।
सुवर्णमपि चामेध्यवाददीताविचारयन् ।।५८।।

नीच पुरुष के पास भी उत्तम विद्या हो तो उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिए जैसे सोना अपवित्र स्थान में भी पड़ा हो तो उसे बिना झिझक के उठा लेना चाहिए।

स्त्रीरत्नं दुष्कुलाच्चापि विषादप्यमृतं पिबेत् ।
अदूष्या हि स्त्रियो रत्नमाप इत्येव धर्मतः ।।५९।।

नीच कुल से भी उत्तम स्त्री को ग्रहण कर ले, विष के स्थान से भी अमृत मिले तो पी ले, क्योंकि

स्त्रियां, रत्न और जल—ये धर्मतः दूषितः नहीं होते।

विदुर उवाच

बाहुश्रुत्यं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा।
भावशुद्धिर्दया सत्यं संयमश्चात्मसम्पदः ।।६०।।

विदुरजी बोले—राजन्! बहुत-से शास्त्रों का अनुशीलन, तपस्या, त्याग, श्रद्धा, यज्ञकर्म, क्षमा, भावशुद्धि, दया, सत्य तथा संयम—ये सब आत्मा की सम्पत्ति हैं।

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः।
धर्मेण देवा ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः ।।६१।।

धर्म से ही ऋषियों ने संसार-समुद्र को पार किया है। धर्म पर ही सम्पूर्ण लोक टिके हुए हैं। धर्म से ही देवताओं=विद्वानों की उन्नति हुई है तथा धर्म से ही अर्थ की भी स्थिति है।

धर्मं समाचरेत् पूर्वं ततोऽर्थं धर्मसंयुतम्।
ततः कामं चरेत्पश्चात्सिद्धार्थः स हि तत्परम् ।।६२।।

मनुष्य सर्वप्रथम धर्म का आचरण करे, फिर धर्मपूर्वक धन का सञ्चय करे। तत्पश्चात् दोनों की अनुकूलता रखते हुए काम का सेवन करे। इस प्रकार त्रिवर्ग का संग्रह करनेवाला मनुष्य सफलमनोरथ हो जाता है।

युधिष्ठिर उवाच

स्नेहेन युक्तस्य न चास्ति मुक्ति-
रिति स्वयम्भूर्भगवानुवाच।
बुधाश्च निर्वाणपरा भवन्ति
तस्मान्न कुर्यात्प्रियमप्रियं च ।।६३।।

युधिष्ठिरजी कहते हैं—स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माजी का कथन है जिसके मन में आसक्ति है, उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। आसक्तिरहित ज्ञानी मनुष्य ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं, इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह किसी का प्रिय अथवा अप्रिय न करे।

भीष्म उवाच

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता राजन्कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ।।६४।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ब्रह्महत्यारे, शराबी, चोर और व्रतभङ्ग करनेवालों के लिए शास्त्र में प्रायश्चित्त का विधान है, परन्तु कृतघ्न के उद्धार के लिए कोई उपाय नहीं बताया गया है।

नैवास्याग्निर्न चारिष्टो न मृत्युर्न च दस्यवः।
प्रभवन्ति धनत्यागाद् विमुक्तस्य निराशिषः ।।६५।।

जो मनुष्य धन का परित्याग कर उसकी आसक्ति से मुक्त हो गया है तथा मन में भी किसी प्रकार की कामनाएँ नहीं रखता, उसपर न अग्नि का वश चलता है, न अरिष्ट=मृत्युसूचक लक्षणों का, न मृत्यु उसका कुछ बिगाड़ सकती है, न डाकू और लुटेरे ही।

नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम्।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव ।।६६

कोई भी मनुष्य त्याग किये बिना सुख नहीं पाता, त्याग किये बिना परमात्मा को भी नहीं पाता तथा त्याग किये बिना निर्भय होकर सो भी नहीं सकता, अतः तुम भी सब-कुछ त्यागकर सुखी बनो।

भृगुरुवाच

घनानामपि वृक्षाणामाकाशोऽस्ति न संशयः।
तेषां पुष्पफलव्यक्तिर्नित्यं समुपपद्यते ।।६७।।

भृगुजी कहते हैं—यद्यपि वृक्ष ठोस जान पड़ते हैं, फिर भी उनमें आकाश है, इसमें सन्देह नहीं है। आकाश होने से ही उनमें नित्यप्रति फूल-फल आदि की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है।

ऊष्मतो म्लायते पर्णं त्वक्फलं पुष्पमेव च।
म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ।।६८।।

वृक्षों के भीतर जो ऊष्मा=गर्मी होती है, उससे उनके पत्ते, छाल, फूल, फल कुम्हला जाते हैं, मुरझाकर झड़ जाते हैं, अतः उनमें स्पर्श का होना भी सिद्ध होता है।

वाय्वग्न्यशनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ।।६९।।

वायु, अग्नि और विद्युत् की कड़क आदि भीषण शब्द होने पर वृक्षों के फूल-फल झड़ जाते हैं। शब्द का ग्रहण श्रवणेन्द्रिय=कान से ही होता है, अतः यह सिद्ध है कि वृक्ष सुनते भी हैं।

वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति।
न ह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात्पश्यन्ति पादपाः ।।७०।।

लता वृक्ष को चारों ओर से लपेट लेती है तथा

उसके ऊपरी भाग तक चढ़ जाती है। बिना देखे किसी को अपने जाने का मार्ग नहीं मिल सकता, इससे सिद्ध है कि वृक्ष देखते भी हैं।

पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि ।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः ।।७१

पवित्र तथा अपवित्र गन्ध से तथा नानाप्रकार की धूपों की सुगन्ध से वृक्ष नीरोग होकर फूलने-फलने लग जाते हैं, अतः वृक्षों में सूंघने की शक्ति भी सिद्ध है।

पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनां चापि दर्शनात् ।
व्याधिप्रतिक्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ।।७२।।

वृक्ष अपनी जड़ से जल पीते हैं तथा कोई रोग हो जाने पर उनकी जड़ में ओषधि डालकर उनकी चिकित्सा भी की जाती है, इससे प्रमाणित होता है कि वृक्ष में रसनेन्द्रिय भी है।

सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात् ।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ।।७३।।[1]

वृक्ष के कट जाने पर उनमें नया अंकुर फूट जाता है तथा वे सुख-दुःख को ग्रहण करते हैं। इससे मैं समझता हूँ कि वृक्षों में जीव है, वे अचेतन=जड़ नहीं हैं।

श्रितो मूर्धानमात्मा तु शरीरं परिपालयन् ।
प्राणो मूर्धनि चाग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते ।।७४।।

आत्मा मस्तक के रन्ध्र-स्थान में स्थित होकर सारे शरीर की रक्षा करता है तथा प्राण मस्तक और अग्नि दोनों में स्थित होकर शरीर को चेष्टाशील बनाता है।

न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे
मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः ।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति
दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ।।७५।।

देह का नाश होने पर भी जीव का नाश नहीं होता। जो आत्मा की मृत्यु मानते हैं वे अज्ञानी हैं और उनका वह कथन मिथ्या है। जीव तो इस मृत देह को छोड़कर दूसरे शरीर में चला जाता है। शरीर के पाँच तत्त्वों का अलग-अलग हो जाना ही शरीर का नाश है।

तं पूर्वापररात्रेषु युञ्जानः सततं बुधः ।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि ।।७६।।

जो विद्वान् परिमित आहार करके रात के पहले तथा पिछले प्रहर में सदा ध्यानयोग का अभ्यास करता है, वह अन्तःकरण शुद्ध होने पर अपने हृदय में ही उस आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है।

ब्राह्मण उवाच

सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यमेकाक्षरं तपः ।
सत्यमेकाक्षरो यज्ञः सत्यमेकाक्षरं श्रुतम् ।।७७।।

ब्राह्मण ने कहा—सत्य ही एकमात्र अविनाशी ब्रह्म है, सत्य ही एकमात्र अविनाशी तप है, सत्य ही अविनाशी यज्ञ है और सत्य ही एकमात्र नाश-रहित अविनाशी वेद है।

सत्यं वेदेषु जागर्ति फलं सत्ये परं स्मृतम् ।
सत्याद् धर्मो दमश्चैव सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।।७८।।

वेदों में सत्य ही जागता है—सत्य की ही महिमा गाई गई है। सत्य का फल ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। धर्म तथा इन्द्रिय-संयम की सिद्धि भी सत्य से ही होती है और सत्य के आधार पर ही सब-कुछ टिका हुआ है।

सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रविः ।
सत्येन चाग्निर्दहति स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः ।।७९।।

सत्य से ही वायु चलती है, सत्य से ही सूर्य तपता है, सत्य से अग्नि जलती है और सत्य पर ही स्वर्गलोक प्रतिष्ठित है।

मनुरुवाच

धर्माद्युत्कृष्यते श्रेयस्तथाश्रेयोऽप्यधर्मतः ।
रागवान्प्रकृतिं ह्येति विरक्तो ज्ञानवान् भवेत् ।।८०।।

मनुजी कहते हैं—धर्माचरण से श्रेय की वृद्धि होती है और अधर्म करने से मनुष्य का विनाश होता

---

१. सर जगदीशचन्द्र वसु से सहस्रों वर्ष पूर्व महाभारत में प्रबल युक्तियों से यह सिद्ध कर दिया गया था कि वृक्षों में जीव है। पाठकगण ६७ से ७३ तक श्लोकों का मनन-पूर्वक पाठ करें।

है। विषयासक्त मनुष्य प्रकृति को प्राप्त होता है और विरक्त आत्मज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है।

स्निग्धत्वात्तिलवत्सर्वं चक्रेऽस्मिन्पीड्यते जगत्।
तिलपीडैरिवाक्रम्य भोगैरज्ञानसम्भवैः ॥८१॥

जैसे तेली तेल से युक्त होने के कारण तिल को कोल्हू में पेरते हैं, वैसे ही यह समस्त संसार आसक्ति-ग्रस्त होने के कारण अज्ञानजनित भोगों के द्वारा दबा-दबाकर संसारचक्र में पेरा=पीसा जा रहा है।

भीष्म उवाच

सर्वेषामेव भूतानां पुरुषः श्रेष्ठ उच्यते।
पुरुषेभ्यो द्विजानाहुर्द्विजेभ्यो मन्त्रदर्शिनः ॥८२॥

भीष्मजी कहते हैं—समस्त प्राणियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ कहलाता है। मनुष्यों में द्विजों को और द्विजों में भी मन्त्रद्रष्टा वेदज्ञ ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ बताते हैं।

वाग्देहमनसां शौचं क्षमा सत्यं धृतिः स्मृतिः।
सर्वधर्मेषु धर्मज्ञा ज्ञापयन्ति गुणाञ्छुभान् ॥८३॥

मन, वाणी और शरीर की पवित्रता, क्षमा, सत्य, धैर्य और स्मृति—इन गुणों को प्रायः सभी धर्मों के धर्मज्ञ पुरुष कल्याणकारी बताते हैं।

सुदुष्करं ब्रह्मचर्यमुपायं तत्र मे शृणु।
सम्प्रदीप्तमुदीर्णं च निगृह्णीयाद् द्विजो रजः ॥८४॥

ब्रह्मचर्य का पालन अत्यन्त कठिन है। उसके पालन का उपाय मुझसे सुनो। ब्राह्मण को चाहिए कि वह जैसे ही रजोगुण की वृत्ति प्रकट हो और बढ़ने लगे तभी उसे रोक दे।

योषितां न कथाः श्राव्या न निरीक्ष्या निराम्बराः।
कथञ्चिद् दर्शनादासां दुर्बलानां विशेद्रजः ॥८५

स्त्रियों की चर्चा न सुने। उन्हें नंगी अवस्था में न देखे, क्योंकि यदि किसी प्रकार नग्नावस्थाओं में उनपर दृष्टि चली जाती है तो दुर्बलहृदय मनुष्य के मन में रजोगुण—राग या काम का प्रवेश हो जाता है।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्व्याधिभिर्मानसक्लमैः ।
दृष्ट्वैव सततं लोकं घटेन्मोक्षाय बुद्धिमान् ॥८६॥

यह संसार जन्म, मृत्यु तथा वृद्धावस्था के दुःखों, नानाप्रकार के रोगों तथा मानसिक चिन्ताओं से व्याप्त है, ऐसा समझकर बुद्धिमान् मनुष्य को मोक्ष-प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

यत्कृतं स्याच्छुभं कर्म पापं वा तदुपाश्नुते।
तस्माच्छुभानि कर्माणि कुर्याद् वाग्बुद्धिकर्मभिः ॥८७॥

मनुष्य अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म करता है, उसका फल उसे स्वयं ही भोगना पड़ता है, अतः वाणी, बुद्धि और कर्म द्वारा सदा शुभ कर्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिए।

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
क्षमा चैवाप्रमादश्च यस्यैते स सुखी भवेत् ॥८८॥

अहिंसा, सत्यभाषण, सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति सरलता का व्यवहार, क्षमाशीलता और प्रमाद-शून्यता—ये गुण जिस मनुष्य में विद्यमान होते हैं, वही सुखी होता है।

अनसूया क्षमा शान्तिः सन्तोषः प्रियवादिता।
सत्यं दानमनायासो नैष मार्गो दुरात्मनाम् ॥८९॥

किसी के दोष न देखना, क्षमाशीलता, शान्ति, सन्तोष, मधुर वचन बोलना, सत्यभाषण, दानशीलता और अनायास=सरलता—ये सद्गुण हैं। दुष्ट लोग इस मार्ग पर नहीं चल सकते।

प्रह्लाद उवाच

आर्जवेनाप्रमादेन प्रसादेनात्मवत्तया।
वृद्धशुश्रूषया शक्र पुरुषो लभते महत् ॥९०॥

प्रह्लादजी कहते हैं—इन्द्र! सरलता, सावधानी, बुद्धि की निर्मलता, चित्त की स्थिरता और वृद्धजनों की सेवा करने से मनुष्य को उच्च पद की प्राप्ति होती है।

बलिरुवाच

न हि दुःखेषु शोचन्ते न प्रहृष्यन्ति चर्द्धिषु।
कृतप्रज्ञा ज्ञानतृप्ताः क्षान्ताः सन्तो मनीषिणः ॥९१॥

बलिजी कहते हैं—शुद्ध बुद्धिसम्पन्न और ज्ञान से तृप्त, क्षमाशील मनीषी सत्पुरुष दुःख आने पर शोक नहीं करते और समृद्धि प्राप्त होने पर हर्ष से फूल नहीं उठते हैं।

बुद्धिलाभात्तु पुरुषः सर्वं नुदति किल्बिषम्।
विपाप्मा लभते सत्त्वं सत्त्वस्थः सम्प्रसीदति ॥९२॥

जिसे सद्बुद्धि प्राप्त होती है, वह मनुष्य उस श्रेष्ठ बुद्धि द्वारा सारे दोषों और दुर्गुणों को दूर कर देता है। पापहीन होने पर उसे सत्त्वगुण की प्राप्ति होती है तथा सत्त्वगुण में स्थित होकर वह सात्त्विक प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है।

कालः सर्वं समादत्ते कालः सर्वं प्रयच्छति।
कालेन विहितं सर्वं मा कृथाः शक्र पौरुषम् ॥९३॥

इन्द्र! काल ही सबको ग्रहण करता है, काल ही सब-कुछ देता है और काल ने ही सब-कुछ किया है, इसलिए अपने पुरुषार्थ का गर्व मत करो।

नमुचिरुवाच

यमर्थसिद्धिः परमा न मोहयेत्
तथैव काले व्यसनं न मोहयेत्।
सुखं च दुःखं च तथैव मध्यमं
निषेवते यः स धुरन्धरो नरः ॥९४॥

नमुचि कहते हैं—जिसे उत्तम अर्थसिद्धि [विपुल धन की प्राप्ति] मोह में नहीं डालती, इसी प्रकार संकट आने पर जो धैर्य अथवा विवेक नहीं खो बैठता तथा सुख-दुःख और दोनों के बीच की अवस्था का समानभाव से सेवन करता है, वही मनुष्य धुरन्धर [महान् कार्यभार को सँभालनेवाला] माना जाता है।

भीष्म उवाच

पुत्रदारैः सुखैश्चैव वियुक्तस्य धनेन वा।
मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे धृतिः श्रेयस्करी नृप ॥९५॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! जिसके स्त्री-पुत्र मर गये हों, सुख छिन गया हो अथवा धन नष्ट हो गया हो तथा इन कारणों से जो भीषण संकटों में फँस गया हो, उसका तो धैर्य धारण करने में ही कल्याण है।

विशोकता सुखं धत्ते धत्ते चारोग्यमुत्तमम्।
आरोग्याच्च शरीरस्य स पुनर्विन्दते श्रियम् ॥९६॥

शोकहीनता सुख और उत्तम आरोग्य=स्वास्थ्य की जनक है। शरीर के नीरोग होने से मनुष्य पुनः धन-सम्पत्ति का उपार्जन कर लेता है।

बलिरुवाच

शोककाले शुचो मा त्वं हर्षकाले च मा हृषः।
अतीतानागतं हित्वा प्रत्युत्पन्नेन वर्तय ॥९७॥

बलिजी कहते हैं—इन्द्र! तुम शोक का अवसर आने पर शोक मत करो तथा हर्ष का समय आने पर हर्षित मत होओ। भूत और भविष्य की चिन्ता छोड़कर वर्तमान काल में जो वस्तु प्राप्त हो उसी से जीवन-यापन करो।

लाभालाभौ सुखं दुःखं कामक्रोधौ भवाभवौ।
वधबन्धप्रमोक्षं च सर्वं कालेन लभ्यते ॥९८॥

पुरुष को लाभ-हानि, सुख-दुःख, काम-क्रोध, जन्म-मृत्यु, वध, बन्धन तथा बन्धन से छुटकारा—ये सब काल=प्रारब्ध से ही प्राप्त होते हैं।

भीष्म उवाच

मोक्षधर्मेषु नियतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थान तत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥९९॥

भीष्मजी कहते हैं—जो मनुष्य मितभोजी और जितेन्द्रिय होकर मोक्ष-प्राप्ति में सहायक धर्मों के पालन में संलग्न रहता है, वही प्रकृति से परे अविनाशी ब्रह्मपद को प्राप्त होता है।

अमृतस्येव संतृप्येदवमानस्य तत्त्ववित्।
विषस्येवोद्विजेन्नित्यं सम्मानस्य विचक्षणः ॥१००॥

तत्त्वज्ञमनुष्य को चाहिए कि वह अपमान को अमृत के समान समझकर उससे सन्तुष्ट हो और विद्वान् मनुष्य सम्मान को विष के तुल्य समझकर उससे सदा डरता रहे।

पञ्चभिः सततं यज्ञैः श्रद्दधानो यजेत च।
धृतिमानप्रमत्तश्च दान्तो धर्मविदात्मवान् ॥१०१॥

मनुष्य को चाहिए कि श्रद्धापूर्वक पाँच यज्ञों का अनुष्ठान करे। सदा धैर्य धारण करे, प्रमाद से बचे, इन्द्रियों को वश में रखे, धर्म के मर्म को जाने और मन को अपने अधीन रखे।

दानमध्ययनं यज्ञस्तपो ह्रीरार्जवं दमः।
एतैर्वर्धयते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ॥१०२॥

दानशीलता, वेदाध्ययन, यज्ञ करना, तप-अनुष्ठान, लज्जा, सरलता तथा इन्द्रिय-संयम—इन सद्गुणों से ब्राह्मण अपने तेज की वृद्धि और पाप का नाश करता है।

क्रियावाञ्श्रद्दधानो हि दान्तः प्राज्ञोऽनसूयकः ।
धर्माधर्मविशेषज्ञः सर्वं तरति दुस्तरम् ।।१०३।।

जो अपने धर्म के अनुसार कार्य करनेवाला, श्रद्धालु, मन और इन्द्रियों को वश में रखनेवाला, विद्वान्, किसी के दोष न देखनेवाला और धर्म एवं अधर्म के मर्म को जाननेवाला है—वह सारे दुःखों से पार हो जाता है।

धृतिमानप्रमत्तश्च दान्तो धर्मविदात्मवान् ।
वीतहर्षमदक्रोधो ब्राह्मणो नावसीदति ।।१०४।।

जो धैर्यवान्, प्रमादरहित, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ, मनस्वी तथा हर्ष, मद और क्रोध से रहित है, वह ब्राह्मण कभी विषाद=दुःख को प्राप्त नहीं होता।

व्यास उवाच

नैवेच्छति न चानिच्छो यात्रामात्रव्यवस्थितः ।
अलोलुपोऽव्यथो दान्तो न कृती न निराकृतिः ।।१०५।।
नास्येन्द्रियमनेकाग्रं न विक्षिप्तमनोरथः ।
सर्वभूतसदृङ्मैत्रः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।।१०६।।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।
अस्पृहः सर्वकामेभ्यो ब्रह्मचर्यदृढव्रतः ।
अहिंस्रः सर्वभूतानामीदृक् सांख्यो विमुच्यते ।।१०७।।

व्यासजी कहते हैं—जो किसी वस्तु की इच्छा अथवा अनिच्छा नहीं करता, जीवन-निर्वाह के लिए जो कुछ मिल जाता है उसी पर सन्तोष कर लेता है, जो लोभरहित, व्यथाशून्य और जितेन्द्रिय है, जिसे न तो कुछ करने से ही प्रयोजन है और न कुछ न करने से ही, जिसकी मनसहित इन्द्रियाँ कभी चञ्चल नहीं होतीं, जिसका मनोरथ पूर्ण हो गया है, जो सभी प्राणियों पर समदृष्टि तथा मैत्रीभाव रखता है, जो मिट्टी के ढेले, पत्थर तथा स्वर्ण को एक-जैसा समझता है, जिसकी दृष्टि में प्रिय और अप्रिय का भेद नहीं है, जो धीर है और अपनी निन्दा-स्तुति में सम रहता है, जिसे भोगों को भोगने की इच्छा नहीं है, जो दृढ़तापूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित है, जो सभी प्राणियों के प्रति वैर-भाव से रहित है—ऐसा सांख्य-योगी [ज्ञानी] संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र सर्वसंत्यागात्सिद्धिं विन्दति कश्चन ।।१०८।।

विद्या, तप, इन्द्रियों के निग्रह तथा सर्वस्व-त्याग के बिना कोई भी मनुष्य सिद्धि=जीवन में सफलता नहीं पा सकता।

विद्याभिजनसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।१०९।।

पण्डितजन विद्या से सम्पन्न तथा उत्तम कुल में उत्पन्न ब्राह्मण में और गौ, हाथी, कुत्ते एवं चाण्डाल में भी समभाव से स्थित ब्रह्म [आत्मा-परमात्मा] का दर्शन करनेवाले होते हैं।

स हि सर्वेषु भूतेषु जङ्गमेषु ध्रुवेषु च ।
वसत्येको महानात्मा येन सर्वमिदं ततम् ।।११०।।

जिससे यह सम्पूर्ण संसार आच्छादित=व्याप्त है, वह एक परमात्मा ही समस्त चराचर प्राणियों के भीतर निवास करता है।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
यदा पश्यति भूतात्मा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।१११।।

जब जीवात्मा समस्त प्राणियों में अपने को और अपने में सम्पूर्ण प्राणियों को स्थित देखता है, तब उसे परमेश्वर की प्राप्ति होती है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।११२।।

उस परमेश्वर के सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर नेत्र, सिर और मुख हैं एवं सब ओर कान हैं। वह संसार में सबमें प्रविष्ट होकर स्थित है।

तदेवाणोरणुतरं तन्महद्भ्यो महत्तरम् ।
तदन्तः सर्वभूतानां ध्रुवं तिष्ठन्न दृश्यते ।।११३।।

वह अणु से भी अणु और महान् से भी अत्यन्त महान् (महत्तर) है। वह निश्चय ही समस्त प्राणियों के भीतर स्थित है, फिर भी किसी को दिखाई नहीं देता।

योगदोषान्समुच्छिद्य पञ्च यान्कवयो विदुः ।
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम् ।।११४।।
क्रोधं शमेन जयति कामं संकल्पवर्जनात् ।
सत्त्वसंसेवनाद्धीरो निद्रामुच्छेत्तुमर्हति ।।११५।।
अप्रमादाद् भयं जह्याद् दम्भं प्राज्ञोपसेवनात् ।
एवमेतान् योगदोषान् जयेन्नित्यमतन्द्रितः ।।११६।।

साधक=योगाभ्यासी को चाहिए कि वह विद्वानों

द्वारा कथित काम, क्रोध, लोभ, भय और स्वप्न=निद्रा—इन पाँचों दोषों का समूलोच्छेद कर दे। इनमें से क्रोध को शम [मनोनिग्रह] के द्वारा जीते, काम को संकल्प के त्याग द्वारा पराजित करे और धीर पुरुष सत्त्वगुण के सेवन से निद्रा को जीत सकता है। सावधानी के द्वारा भय का और विद्वानों की सेवा से दम्भ का त्याग कर दे। इस प्रकार आलस्य छोड़कर इन योग-सम्बन्धी दोषों को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए।

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा।
शौचमाचारसंशुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः।
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ॥११७॥

ध्यान, वेदाध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, शौच, आचारशुद्धि और इन्द्रियों का निग्रह—इनसे तेज की वृद्धि होती है और पापों का नाश होता है।

समः सर्वेषु भूतेषु लब्धालब्धेन वर्तयन्।
धूतपाप्मा तु तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ॥११८॥

योगी को चाहिए कि वह समस्त प्राणियों में समभाव रखे। जो कुछ भी मिले या न मिले, सन्तोष-पूर्वक निर्वाह करे। पापों को धो डाले और तेजस्वी, मिताहारी तथा जितेन्द्रिय होकर काम एवं क्रोध को वश में करके ब्रह्मपद को पाने की अभिलाषा करे।

मनस्तु पूर्वमादद्यात् कुमीनमिव मत्स्यहा।
ततः श्रोत्रं ततश्चक्षुर्जिह्वां घ्राणं च योगवित् ॥११९॥

जैसे मछलीमार जाल काटनेवाली मछली को सबसे पहले पकड़ता है, वैसे ही योगवेत्ता साधक सर्वप्रथम अपने मन को वश में करे। तत्पश्चात् कान का, फिर नेत्र, जिह्वा और घ्राण=नासिका आदि का निग्रह करे।

अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकांक्षिणी। □
तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥१२०॥

चाहे कोई नीच वर्ण का पुरुष और स्त्री ही क्यों न हो, यदि उसके मन में धर्म-सम्पादन की अभिलाषा है तो इस योगमार्ग का सेवन करने से उन्हें भी परमगति की प्राप्ति हो सकती है।

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः।
अमृतं यज्ञशेषं स्याद् भोजनं हविषा समम् ॥१२१॥

गृहस्थ को सदा विघस [परिजनों को खिलाने के बाद शेष] और अमृत-अन्न का भोजन करना चाहिए। यज्ञ से बचा हुआ भोजन हविष्य के समान तथा अमृत माना गया है।

भृत्यशेषं तु योऽश्नाति तमाहुर्विघसाशिनम्।
विघसं भृत्यशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम् ॥१२२॥

कुटुम्ब में भरण-पोषण के योग्य जितने लोग हैं, उनको भोजन कराने के पश्चात् बचे हुए अन्न का सेवन करनेवाला विघसाशी बताया गया है। पोष्य-वर्ग से बचे हुए अन्न को विघस और पञ्चमहायज्ञों से बचे हुए अन्न को अमृत कहते हैं।

स्वदारनिरतो दान्तो ह्यनसूयुर्जितेन्द्रियः।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ॥१२३॥
वृद्धबालातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः।
मातापितृभ्यां जामिभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥१२४॥

गृहस्थ मनुष्य सदा अपनी स्त्री से ही प्रेम करे। मन को वश में रखे। किसी के गुणों में दोष न ढूंढे। जितेन्द्रिय बने। वह ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, शरणागत, वृद्ध, बालक, रोगी, वैद्य, जाति-भाई, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव, माता-पिता, कुटुम्ब की स्त्री, भाई, पुत्र, पत्नी, पुत्री तथा सेवक-समूह के साथ कभी विवाद न करे।

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः।
यत्रक्वचनशायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥१२५॥

जो जिस किसी भी [वस्त्र, वल्कल आदि] वस्तु से अपना शरीर ढक लेता है, समय पर जो भी रूखा-सूखा मिल जाए, उससे भूख मिटा लेता है तथा जहाँ कहीं भी सो रहता है, उसे विद्वान् ब्रह्मज्ञानी समझते हैं।

अहेरिव गणाद् भीतः सौहित्यान्नरकादिव।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥१२६॥

जो जनसमुदाय को सर्प-सा समझकर उसके समीप जाने से डरता है, स्वादिष्ट भोजनजनित तृप्ति

को नरक के समान मानकर उससे दूर रहता है तथा स्त्रियों को मुर्दों के समान जानकर उनकी ओर से विरक्त रहता है, उसे विद्वान् लोग ब्रह्मज्ञानी समझते हैं।

जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मो हर्यर्थमेव च।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।१२७।।

जिसका जीवन धर्म के लिए होता है और धर्म प्रभु-प्राप्ति के लिए होता है, जिसके दिन और रात धर्म-अनुष्ठान में ही व्यतीत होते हैं, उसे विद्वान् ब्रह्मज्ञानी मानते हैं।

प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः साम्यं स्वस्थात्मचित्तता।
अकस्माद्यदि वा कस्माद्वर्तन्ते सात्विका गुणाः ।।१२८

जब अत्यन्त हर्ष, प्रेम, आनन्द, समता तथा स्वस्थचित्तता—ये शुभ गुण अकस्मात् अथवा किसी कारणवश विकसित हो जाएँ, तब समझना चाहिए कि ये सात्त्विक गुण हैं।

अभिमानो मृषावादो लोभो मोहस्तथाक्षमा।
लिङ्गानि रजसस्तानि वर्तन्ते हेत्वहेतुतः ।।१२९।।

अभिमान, असत्यभाषण, लोभ, मोह तथा असहनशीलता—ये दोष चाहे किसी कारण से प्रकट हुए हों अथवा अकारण, प्रत्येक स्थिति में रजोगुण के ही चिह्न माने गये हैं।

तथा मोहः प्रमादश्च निद्रा तन्द्राप्रबोधिता।
कथञ्चिदभिवर्तन्ते विज्ञेयास्तामसा गुणाः ।।१३०।।

इसी प्रकार मोह, प्रमाद, निद्रा, तन्द्रा और अज्ञान—ये चाहे जिस कारण से प्रकट हो जाएँ इन्हें तमोगुण का कारण जानना चाहिए।

भूमिष्ठानीव भूतानि पर्वतस्थो निशामय।
अक्रुध्यन्नप्रहृष्यंश्च न नृशंसमतिस्तथा ।।१३१।।

जैसे पर्वत-शिखर पर खड़ा हुआ मनुष्य भूमि पर रहनेवाले प्राणियों को सुस्पष्ट देखता है, वैसे ही तुम भी ज्ञानरूपी पर्वत पर आरूढ़ होकर प्राणियों की अवस्था पर दृष्टिपात करो और क्रोध, हर्ष तथा बुद्धि की क्रूरता से रहित हो जाओ।

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।१३२।।

जब मनुष्य [साधक, योगी, संन्यासी] दूसरे प्राणियों से नहीं डरता तथा दूसरे प्राणी भी उससे भयभीत नहीं होते और जब वह इच्छा एवं द्वेष का सर्वथा परित्याग कर देता है, तब उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।।१३३।।

जब योगी मन, वाणी और कर्म द्वारा किसी भी प्राणी का अनिष्ट करने का विचार भी अपने मन में नहीं करता, तब वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषद् दानं दानस्योपनिषत् तपः ।।१३४।।

वेद का सार है सत्यवचन, सत्य का सार है इन्द्रियों का संयम, इन्द्रिय-संयम का सार है दान और दान का सार है तप-अनुष्ठान।

तपस्योपनिषत्त्यागस्त्यागस्योपनिषत्सुखम्।
सुखस्योपनिषत् स्वर्गः स्वर्गस्योपनिषच्छमः ।।१३५।।

तप का सार है त्याग, त्याग का सार है सुख, सुख का सार है स्वर्ग और स्वर्ग का सार है शान्ति।

विशोको निर्ममः शान्तः प्रसन्नात्मा विमत्सरः।
षड्भिर्लक्षणवानेतैः समग्रः पुनरेष्यति ।।१३६।।

शोकशून्य, ममतारहित, शान्त, प्रसन्नचित्त, मात्सर्यहीन और सन्तोषी—इन छह लक्षणों से युक्त मनुष्य पूर्णरूपेण ज्ञान से तृप्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

हृदि कामद्रुमश्चित्रो मोहसञ्चयसम्भवः।
क्रोधमानमहास्कन्धो विधित्सापरिषेचनः ।।१३७।।
तस्य चाज्ञानमाधारः प्रमादः परिषेचनम्।
सोऽभ्यसूयापलाशो हि पुरादुष्कृतसारवान् ।।१३८।।
सम्मोहचिन्ताविटपः शोकशाखो भयाङ्कुरः।
मोहिनीभिः पिपासाभिर्लताभिरनुवेष्टितः ।।१३९।।

मनुष्य की हृदयरूपी भूमि में मोह-बीज से उत्पन्न हुआ एक विचित्र वृक्ष है, जिसका नाम है काम। क्रोध तथा अभिमान उसके महान् स्कन्ध हैं। कुछ करने की इच्छा उसमें जल सींचने का पात्र [फव्वारा] है। अज्ञान उसकी जड़ है। प्रमाद उसको सींचनेवाला जल है। दूसरों के दोष देखने की प्रवृत्तियाँ उस वृक्ष के पत्ते हैं और पूर्वजन्म में किये

हुए पाप उसका सार-भाग मूलस्तम्भ है। शोक उसकी शाखा, मोह और चिन्ताउपशाखाएँ [डालियाँ] तथा भय उसके अङ्कुर हैं। मोह में डालनेवाली तृष्णा-रूपी लताएँ उसमें लिपटी हुई हैं।

उपासते महावृक्षं सुलुब्धास्तत्फलेप्सवः।
आयसैः संयुताः पाशैः फलदं परिवेष्टय तम् ॥१४०॥

लोभी मनुष्य लोहे की जंजीरों के समान वासना के बन्धन में बँधकर उस फलदायक महान् वृक्ष को चारों ओर से घेरकर उसके आस-पास बैठे हैं तथा उसके फल प्राप्त करना चाहते हैं।

यस्तान् पाशान्वशे कृत्वा तं वृक्षमपकर्षति।
गतः स दुःखयोरन्तं जरामरणयोर्द्वयोः ॥१४१॥

जो उन वासना के बन्धनों को वश में करके वैराग्यरूपी शस्त्र द्वारा उस कामवृक्ष को काट डालता है, वह मनुष्य जरा=वृद्धावस्था और मृत्युजनित दोनों प्रकार के दुःखों से छूट जाता है।

भीष्म उवाच

देवता ब्राह्मणाः सन्तो यक्षा मानुषचारणाः।
धार्मिकान् पूजयन्तीह न धनाढ्यान् न कामिनः॥१४२

भीष्मजी कहते हैं—विद्वान् ब्राह्मण, साधु-सन्त, यक्ष, मनुष्य और चारण—ये सभी इस संसार में धर्मात्माओं का ही आदर-सत्कार करते हैं, धनियों और भोगियों का नहीं।

भवेत् सत्यव्रताचारः सत्यव्रतपरायणः।
सत्यकामो समो दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत् ॥१४३॥

मनुष्य को चाहिए कि वह सत्यव्रत का आचरण करे और सत्यरूपी व्रत के पालन में तत्पर रहे। वह सत्य की कामना करे। सबके प्रति समान-भाव रखे। जितेन्द्रिय बने और सत्य के द्वारा ही मृत्यु पर विजय प्राप्त करे।

नेशोऽयं सततं देही नृपते पुण्यपापयोः।
तत एव समुत्थेन तमसा रुध्यतेऽपि च ॥१४४॥

नरेश्वर ! यह जीवात्मा पुण्य तथा पाप के फल सुख और दुःख भोगने में स्वतन्त्र नहीं है। उन पुण्य एवं पापों से उत्पन्न संस्काररूप अन्धकार से यह आच्छन्न हो [ढक] जाता है।

कामक्रोधौ भयं निद्रा पञ्चमः श्वास उच्यते।
एते दोषाः शरीरेषु दृश्यन्ते सर्वदेहिनाम् ॥१४५॥

काम, क्रोध, भय, निद्रा और श्वास—ये पाँच दोष सभी देहधारियों के शरीरों में देखे जाते हैं।

अज्ञानसागरो घोरो ह्यव्यक्तोऽगाध उच्यते।
अहन्यहनि मज्जन्ति यत्र भूतानि भारत ॥१४६॥

भरतनन्दन ! अज्ञानरूपी समुद्र अव्यक्त, अगाध और भयंकर बताया जाता है। इसमें असंख्य प्राणी प्रतिदिन गोते खाते रहते हैं।

मनसोऽप्रतिकूलानि प्रेत्य चेह च वाञ्छसि।
भूतानां प्रतिकूलेभ्यो निवर्तस्व यतेन्द्रियः ॥१४७॥

यदि तुम इस लोक और परलोक में अपने मनो-अनुकूल वस्तुएँ पाना चाहते हो तो अपनी इन्द्रियों को संयम में रखकर समस्त प्राणियों के प्रतिकूल आचरणों से दूर हट जाओ।

नित्यं च बहु दातव्यं साधुभ्यश्चानसूयता।
प्रार्थितं व्रतशौचाभ्यां सत्कृतं देशकालयोः ॥१४८॥

प्रतिदिन व्रत और शौच-आचार का पालन करते हुए उत्तम देश और काल में सज्जनों को प्रार्थना एवं सत्कारपूर्वक अधिक-से-अधिक दान देना चाहिए तथा उनमें दोषदृष्टि नहीं रखनी चाहिए।

शुभेन विधिना लब्धमर्हाय प्रतिपादयेत्।
क्रोधमुत्सृज्य दद्याच्च नानुतप्येन्न कीर्तयेत् ॥१४९॥

ईमानदारी से कमाया हुआ धन सत्पात्र को दान देना चाहिए। दान क्रोध को त्यागकर देना चाहिए। दान देकर न तो उसके लिए पश्चात्ताप करना चाहिए और न उसे दूसरों को बताना ही चाहिए।

अनृशंसः शुचिर्दान्तः सत्यवागार्जवे स्थितः।
योनिकर्मविशुद्धश्च पात्रं स्याद्वेदविद् द्विजः ॥१५०॥

दयालु, पवित्र, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सरल व निष्कपट व्यवहारी, जन्म और कर्म से शुद्ध वेदवेत्ता ब्राह्मण ही दान पाने का उत्तम पात्र है।

तपस्विनां धर्मवतां विदुषां चोपसेवनात्।
प्राप्स्यसे विपुलां बुद्धिं तथा श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥१५१॥

तपस्वी, धर्मात्मा और विद्वानों की सेवा करने से तुम्हें विशाल बुद्धि प्राप्त होगी, जिससे तुम कल्याण के भागी बन जाओगे।

याज्ञवल्क्य उवाच

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्।
तावुभावेकचर्यौ तावुभावनिधनौ स्मृतौ ॥१५२॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—सांख्य के समान कोई ज्ञान नहीं है और योग के समान कोई बल नहीं है। इन दोनों का लक्ष्य एक है और ये दोनों ही मृत्यु का निवारण करनेवाले माने गये हैं।

यदेव योगाः पश्यन्ति तत्सांख्यैरपि दृश्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥१५३॥

योगी जिस तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं, वही सांख्यों द्वारा भी देखा जाता है, अतः जो सांख्य और योग को एक समझता है, वही ज्ञानी है।

साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते ।
वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः ॥१५४॥

छह अङ्गोंसहित वेद पढ़कर भी जो वेदों के द्वारा जानने योग्य परमेश्वर को नहीं जानता, वह मूढ़ केवल वेदों का भार ढोनेवाला ही है।

भीष्म उवाच

जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव ।
बलिनां दुर्बलानां च लघूनां महतामपि ॥१५५॥

भीष्मजी कहते हैं—कोई बलवान् हो या दुर्बल, बड़ा हो या छोटा—सब प्राणियों को वृद्धावस्था और मृत्यु व्याघ्र की भाँति खा जाती है।

जनक उवाच

राज्ञां हि बलमैश्वर्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
रूपयौवनसौभाग्यं स्त्रीणां बलमनुत्तमम् ॥१५६॥

जनकजी कहते हैं—राजाओं का बल ऐश्वर्य है, वेदज्ञ ब्राह्मणों का बल वेद है और रूप, यौवन तथा सौभाग्य स्त्रियों का सर्वश्रेष्ठ बल है।

व्यास उवाच

धर्मं पुत्र निषेवस्व सुतीक्ष्णौ च हिमातपौ ।
क्षुत्पिपासे च वायुं च जय नित्यं जितेन्द्रियः ॥१५७॥

व्यासजी कहते हैं—पुत्र! तुम सदा धर्म का सेवन करते रहो तथा जितेन्द्रिय होकर कड़ी-से-कड़ी सर्दी, गर्मी, भूख-प्यास को सहन करते हुए प्राणवायु पर विजय प्राप्त करो।

सत्यमार्जवमक्रोधमनसूयां दमं तपः ।
अहिंसां चानृशंस्यं च विधिवत्परिपालय ॥१५८॥

तुम सत्य, सरलता, अक्रोध, दोष-दर्शन का अभाव, इन्द्रिय-संयम, तप, अहिंसा और दया आदि धर्मों का विधिपूर्वक पालन करो।

सत्ये तिष्ठ रतो धर्मे हित्वा सर्वमनार्जवम् ।
देवतातिथिशेषेण यात्रां प्राणस्य संलिह ॥१५९॥

सत्य पर डटे रहो और सब प्रकार का छल-कपट छोड़कर धर्म में अनुराग करो। विद्वानों तथा अतिथियों का सत्कार करके जो अन्न बचे, उसी का प्राणरक्षा के लिए आस्वादन करो।

फेनमात्रोपमे देहे जीवे शकुनिवत् स्थिते ।
अनित्ये प्रियसंवासे कथं स्वपिषि पुत्रक ॥१६०॥

बेटे! यह शरीर पानी के बुलबुले की भाँति नश्वर तथा क्षणभंगुर है। इसमें जीव पक्षी की भाँति बसा हुआ है। यहाँ प्रियजनों का सहवास भी सदा रहनेवाला नहीं है। फिर भी तुम सोये क्यों पड़े हो, असावधान क्यों हो?

अहःसु गण्यमानेषु क्षीयमाणे तथाऽऽयुषि ।
जीविते लिख्यमाने च किमुत्थाय न धावसि ॥१६१॥

तुम्हारी आयु के दिन गिने जा रहे हैं। आयु क्षीण होती जा रही है और जीवन मानो कहीं लिखा जा रहा है [समाप्त हो रहा है]। फिर भी तुम उठकर भागते क्यों नहीं [शीघ्रतापूर्वक अपने कर्तव्यपालन में क्यों नहीं लगते]?

कामं क्रोधं च मृत्युं च पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥१६२॥

जिसमें काम, क्रोध, मृत्यु और पाँच इन्द्रियरूपी जल भरा हुआ है—ऐसी विषयासक्तिरूपी नदी को तुम धैर्यरूपी नौका का आश्रय लेकर पार कर लो और इस प्रकार जन्म-मृत्युरूपी भीषण संकट से पार हो जाओ।

मृत्युनाभ्याहते लोके जरया परिपीडिते ।
अमोघासु पतन्तीषु धर्मपोतेन सन्तर ॥१६३॥

सारा संसार मृत्यु के थपेड़े खाता हुआ वृद्धावस्था से पीड़ित हो रहा है। ये रात्रियाँ प्राणियों की आयु का अपहरण करके अपने को सफल बनाती हुई बीत रही हैं, अतः तुम सावधान होकर धर्मरूपी नौका पर आरूढ़ हो भवसागर से पार हो जाओ।

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न कामार्थाय जायते ।
इह क्लेशाय तपसे प्रेत्य त्वनुपमं सुखम् ।।१६४।।

ब्राह्मण का यह शरीर भोगों के भोगने के लिए नहीं मिलता है। यह तो यहाँ क्लेश उठाकर तपस्या करने और मृत्यु के पश्चात् अनुपम सुख भोगने के लिए प्राप्त होता है।

धनस्य राजतो यस्य भयं न चास्ति चोरतः ।
मृतं च यन्न मुञ्चति समर्जयस्व तद्धनम् ।।१६५।।

जिस धन को न तो राजा से भय है और न चोर से, तथा जो मर जाने पर भी जीव का साथ नहीं छोड़ता, उस धर्मरूपी धन का उपार्जन करो।

नास्तिकान्निरनुक्रोशान्नरान्पापमते स्थितान् ।
वामतः कुरु विस्रब्धं परं प्रेप्सुरतन्द्रितः ।।१६६।।

तुम परमात्मा की प्राप्ति के इच्छुक होकर आलस्य को त्याग नास्तिक, निर्दय और पापबुद्धि मनुष्यों को बिना किसी हिचक के बायें [परे] कर दो—कभी भूलकर भी उनका साथ मत दो।

सोपानभूतं स्वर्गस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
तथाऽऽत्मानं समादध्याद् भ्रश्येत न पुनर्यथा ।।१६७।।

यह दुर्लभ मानव-शरीर स्वर्गलोक में पहुँचने की सीढ़ी के समान है। इसे पाकर अपने-आपको इस प्रकार धर्म में स्थापित करो कि पुनः उस स्वर्ग से नीचे न गिरना पड़े।

अनेन किं यन्न ददाति नाश्नुते
बलेन किं येन रिपुं न बाधते ।
श्रुतेन किं येन न धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो वशी ।।१६८।।

उस धन से क्या लाभ, जिसे न दान दे सके, न ही उपभोग कर सके? उस बल से क्या लाभ, जिससे शत्रु का दमन न हो सके। उस शास्त्र-ज्ञान से क्या लाभ, जिसके द्वारा मनुष्य धर्माचरण न कर सके? उस जीवात्मा से क्या लाभ जो न तो जितेन्द्रिय है और न मन को ही वश में रख सकता है?

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात्स्वर्गं सुखात्सुखम् ।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनस्थाः शुभकारिणः ।।१६९।।

जो श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, धर्म-धन-सम्पन्न और शुभ कर्म करनेवाले होते हैं, वे प्रसन्नता से अधिक प्रसन्नता को, स्वर्ग से अधिक स्वर्ग और सुख से अधिक सुख को पाते हैं।

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ।।१७०।।

कोई अधिक वर्षों [की अवस्था हो जाने] से, बाल पक जाने से, अधिक धन होने से और बन्धु-बान्धवों की संख्या बढ़ जाने से बड़ा नहीं होता। ऋषियों ने यह नियम बनाया है कि हम लोगों में से जो वेद का प्रवचन कर सकेगा, वही महान् माना जाएगा।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव सिद्धिमाप्नोति मानवः ।।१७१।।

'मनुष्य इन्द्रियों की विषयासक्ति के कारण दोष को प्राप्त होता है और उन्हीं इन्द्रियों को वश में कर लेने पर वह सिद्धि प्राप्त कर लेता है'—इस तथ्य में तनिक भी सन्देह नहीं है।

व्यास उवाच

यथा हि कनकं शुद्धं तापच्छेदनिकर्षणैः ।
परीक्षेत तथा शिष्यानीक्षेत् कुलगुणादिभिः ।।१७२।।

व्यासजी कहते हैं—जैसे आग में तपाने, काटने और कसौटी पर कसने से शुद्ध सोने की परख की जाती है, उसी प्रकार कुल तथा गुण आदि के द्वारा शिष्यों की परीक्षा करनी चाहिए।

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ।
वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत्स्मृतम् ।।१७३।।

ब्राह्मण को आगे रखकर चारों वर्णों को उपदेश करना चाहिए। यह वेदाध्ययन महान् कार्य माना गया है। इसे अवश्य करना चाहिए।

नारद उवाच

अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ।
मलं पृथिव्या वाहीकाः स्त्रीणां कौतूहलं मलम् ।।१७४।।

नारदजी कहते हैं—वेद पढ़कर उसपर आचरण न करना, वेदाध्ययन का दूषण है। व्रत का पालन न करना ब्राह्मण का दूषण है। वाहीक देश के लोग पृथिवी के दूषण हैं तथा नये-नये खेल-तमाशे देखने की अभिलाषा स्त्री के लिए दूषण हैं।

ब्रह्मोवाच

वेदा मे परमं चक्षुर्वेदा मे परमं बलम् ।
वेदा मे परमं धाम वेदा मे ब्रह्म चोत्तरम् ॥१७५॥

ब्रह्माजी कहते हैं—वेद ही मेरे उत्तम नेत्र हैं, वेद ही मेरे परम बल हैं। वेद ही मेरे परमाश्रय तथा वेद ही मेरे सर्वोत्तम उपास्य देव हैं।

भीष्म उवाच

अग्नेर्दुर्धर्षता ज्योतिस्तापः पाकः प्रकाशनम् ।
शोको रागो लघुस्तैक्ष्ण्यं सततं चोर्ध्वभासिता ॥१७६॥

भीष्मजी कहते हैं—दुर्धर्ष होना, जलना, ताप देना, पकाना, प्रकाश करना, शोक, राग, हलकापन, तीक्ष्णता और अग्नि की ज्वालाओं का सदा ऊपर की ओर उठना तथा प्रकाशित होना—ये दस अग्नि के गुण हैं।

धैर्योपपत्तिर्व्यक्तिश्च विसर्गः कल्पना क्षमा ।
सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः ॥१७७॥

धैर्य, तर्क-वितर्क में कुशलता, स्मरण, भ्रान्ति, कल्पना, क्षमा, शुभ तथा अशुभ संकल्प—ये नौ मन के गुण हैं।

इष्टानिष्टविपत्तिश्च व्यवसायः समाधिता ।
संशयः प्रतिपत्तिश्च बुद्धेः पञ्चगुणान् विदुः ॥१७८॥

इष्ट और अनिष्ट वृत्तियों का नाश, विचार, समाधान, सन्देह और निश्चय—ये पाँच बुद्धि के गुण माने गये हैं।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥६३॥

॥ इति शान्तिपर्व सम्पूर्णम् ॥

अनुशासनपर्व

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिर की सान्त्वनार्थ भीष्म द्वारा गौतमी ब्राह्मणी के उपाख्यान का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

शमो बहुविधाकारः सूक्ष्म उक्तः पितामह।
न च मे हृदये शान्तिरस्ति श्रुत्वेदमीदृशम् ॥१॥

युधिष्ठिर बोले—हे पितामह ! आपने अनेक प्रकार से शोक से मुक्त होने के अनेक उपायों का वर्णन किया, परन्तु आपका ऐसा उपदेश सुनकर भी मेरे हृदय में शान्ति नहीं है ।

रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रस्रवन्तं यथाचलम् ।
त्वां दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्र सीदे वर्षास्विवाम्बुजम् ॥२॥

हे पुरुषसिंह ! निरन्तर जल लेकर बहनेवाले निर्झरों के कारण जलहीन हुए पर्वत के समान निरन्तर बहती रक्तधाराओं से रक्तहीन देह लिये आपको देखकर मैं वर्षाकालीन कमल की भाँति—मन से विगलित [व्यथित] हो रहा हूँ ।

सोऽहं तव ह्यन्तकरः सुहृद्वधकरस्तथा ।
न शान्तिमधिगच्छामि पश्यंस्त्वां दुःखितं क्षितौ ॥३॥

मैं ही आपकी जीवन-लीला का अन्त करनेवाला हूँ और मैं ही अन्य बन्धु-बान्धवों का वध करनेवाला हूँ । आपको इस कष्टमयी अवस्था में भूमि पर पड़ा देख मुझे शान्ति नहीं मिलती है ।

अन्यस्मिन्नपि लोके वै यथा मुच्येम किल्बिषात् ।
तथा प्रशाधि मां राजन्मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥४॥

हे राजन् ! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो मुझे कोई ऐसा उपदेश दीजिए, जिससे परलोक में भी मुझे इस पाप से छुटकारा मिल सके ।

भीष्म उवाच

परतन्त्रं कथं हेतुमात्मानमनुपश्यसि ।
कर्मणां हि महाभाग सूक्ष्मं ह्येतदतीन्द्रियम् ॥५॥

भीष्मजी ने कहा—हे महाभाग ! तुम तो परतन्त्र हो, फिर अपने को शुभाशुभ कर्मों का कारण क्यों समझते हो ? वास्तव में कर्मों का कारण क्या है, यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म और इन्द्रियों की पहुँच से परे है ।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं मृत्युगौतम्योः काललुब्धकपन्नगैः ॥६॥

इस विषय में विद्वान् लोग गौतमी ब्राह्मणी, व्याध=शिकारी, सर्प, मृत्यु और काल के संवादरूप इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं ।

गौतमी नाम कौन्तेय स्थविरा शमसंयुता ।
सर्पेण दष्टं पुत्रं स्वमपश्यत् गतचेतनम् ॥७॥

कुन्तीकुमार ! प्राचीनकाल में गौतमी नामक एक वृद्धा ब्राह्मणी थी, जो शान्ति के साधनों में संलग्न रहती थी । एक दिन उसने देखा कि उसके पुत्र को साँप ने डस लिया और उसकी चेतना लुप्त हो गई ।

अथ तं स्नायुपाशेन बद्ध्वा सर्पममर्षितः ।
लुब्धकोऽर्जुनको नाम गौतम्याः समुपानयत् ॥८॥

इतने में ही अर्जुनक व्याध ने उस सर्प को ताँत के फाँस में बाँध लिया और क्रोध में भरा हुआ वह उसे गौतमी के पास ले आया ।

तां चाब्रवीदयं ते स पुत्रहा पन्नगाधमः ।
ब्रूहि क्षिप्रं महाभागे वध्यतां केन हेतुना ॥९॥

सर्प को लाकर वह गौतमी से बोला—"महाभागे ! यही वह नीच सर्प है जिसने तुम्हारे पुत्र को मार डाला है । जल्दी बोलो, मैं किस प्रकार इसका वध करूँ ?

अग्नौ प्रक्षिप्यतामेष च्छिद्यतां खण्डशोऽपि वा।
न ह्ययं बालहा पापश्चिरं जीवितुमर्हति ॥१०॥

मैं इसे आग में झोंक दूँ अथवा इसके टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ। बालक की हत्या करनेवाला यह पापी सर्प अब अधिक समय तक जीवित रहने योग्य नहीं है।

गौतम्युवाच

विसृजैनमबुद्धिस्त्वमवध्योऽर्जुनक त्वया।
को ह्यात्मानं गुरुं कुर्यात्प्राप्तव्यमविचिन्तयन् ॥११॥

गौतमी बोली—अर्जुनक! इस सर्प को छोड़ दे। तू अभी नादान है। तुझे इस सर्प को नहीं मारना चाहिए। होनहार को कोई टाल नहीं सकता—इस तथ्य को जानते हुए भी, इसकी उपेक्षा करके कौन अपने ऊपर पाप का भारी बोझ लादेगा?

प्लवन्ते धर्मलघवो लोकेऽम्भसि यथा प्लवाः।
मज्जन्ति पापगुरवः शस्त्रं स्कन्नमिवोदके ॥१२॥

जो लोग धर्माचरण के द्वारा अपने-आपको हल्का रखते हैं, वे पानी पर चलनेवाली नौका के समान संसार-सागर से पार उतर जाते हैं, परन्तु जो पाप के भार से अपने को बोझिल बना लेते हैं, वे जल में फेंके हुए हथियार की भाँति भवसागर में डूब जाते हैं।

भीष्म उवाच

असकृत् प्रोच्यमानापि गौतमी भुजगं प्रति।
लुब्धकेन महाभागा पापे नैवाकरोन्मतिम् ॥१३॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! व्याध के बारबार कहने और उकसाने पर भी महाभागा गौतमी ने सर्प को मारने का विचार नहीं किया।

ईषदुच्छ्वसमानस्तु कृच्छ्रात् संस्तभ्य पन्नगः।
उत्ससर्ज गिरं मन्दां मानुषीं पाशपीडितः ॥१४॥

उस समय बन्धन से पीड़ित, धीरे-धीरे श्वास लेता हुआ वह सर्प अत्यन्त कठिनता से अपने को सँभालकर मन्द स्वर से मनुष्य की वाणी में बोला—

सर्प उवाच

को न्वर्जुनक दोषोऽत्र विद्यते मम बालिश।
अस्वतन्त्रं हि मां मृत्युर्विवशं यदचूचुदत् ॥१५॥

सर्प बोला—अरे मूर्ख अर्जुनक! इस बालक को डसने में मेरा क्या दोष है? मैं तो पराधीन हूँ। मृत्यु ने मुझे विवश करके इस कार्य के लिए प्रेरित किया था।

तस्यायं वचनाद् दष्टो न कोपेन न काम्यया।
तस्य तत्किल्बिषं लुब्ध विद्यते यदि किल्बिषम् ॥१६॥

उसके [मृत्यु के] कहने से ही मैंने बालक को डसा है, क्रोध और कामना से नहीं। हे व्याध! यदि इसमें कोई अपराध है तो वह मेरा नहीं, मृत्यु का है।

लुब्धक उवाच

यद्यन्यवशगेनेदं कृतं ते पन्नगाशुभम्।
कारणं वै त्वमप्यत्र तस्मात् त्वमपि किल्बिषी ॥१७॥

व्याध बोला—हे सर्प! यद्यपि तूने दूसरे के अधीन होकर यह पाप किया है, तथापि तू भी तो इसमें कारण है ही, अतः तू भी अपराधी है।

किल्बिषी चापि मे वध्यः किल्बिषी चासि पन्नग।
आत्मानं कारणं ह्यत्र त्वमाख्यासि भुजङ्गम ॥१८

हे सर्प! जो भी अपराधी हो, वही मेरे लिए वध्य है। पन्नग! तू भी तो अपराधी है ही, क्योंकि तू स्वयं अपने-आपको इसके वध में कारण बताता है।

सर्प उवाच

सर्वे एते ह्यस्ववशा दण्डचक्रादयो यथा।
तथाहमपि तस्मान्मे नैष दोषो मतस्तव ॥१९॥

सर्प ने कहा—हे व्याध! जैसे मिट्टी का बर्तन बनाने में दण्ड-चक्र आदि सभी कारण पराधीन होते हैं, उसी प्रकार मैं भी मृत्यु के अधीन हूँ, अतः तुम्हारा मुझपर दोषारोपण करना उचित नहीं।

भीष्म उवाच

तथा ब्रुवति तस्मिंस्तु पन्नगे मृत्युनोदिते।
आजगाम ततो मृत्युः पन्नगं चाब्रवीदिदम् ॥२०॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! मृत्यु की प्रेरणा से बालक को डसनेवाला सर्प जब बारम्बार अपने को निर्दोष और मृत्यु को दोषी बताने लगा, तब मृत्यु भी वहाँ आ पहुँची और सर्प से इस प्रकार कहने लगी—

मृत्युरुवाच

प्रचोदितोऽहं कालेन पन्नग त्वामचूचुदम्।
विनाशहेतुर्नास्य त्वमहं न प्राणिनः शिशोः ॥२१॥

मृत्यु ने कहा—हे सर्प ! काल से प्रेरित होकर ही मैंने तुझे इस बालक को डसने के लिए प्रेरणा दी थी, अतः इस शिशु बालक की मृत्यु में न तो तू कारण है और न मैं ही कारण हूँ।

भीष्म उवाच

सर्पोऽथार्जुनकं प्राह श्रुतं ते मृत्युभाषितम्।
नानागसं मां पाशेन संतापयितुमर्हसि ॥२२॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर सर्प ने अर्जुनक से कहा—"तुमने मृत्यु की बात तो सुन ली न ? अब मुझ निरपराध को बन्धन में बाँधकर कष्ट देना तुम्हारे लिए उचित नहीं है।"

लुब्धक उवाच

मया श्रुतं वचः मृत्योः तव चैव भुजङ्गम।
नैव तावददोषस्त्वं भवति त्वयि पन्नग ॥२३॥

व्याध बोला—हे सर्प ! मैंने मृत्यु की और तेरी—दोनों की बातें सुन लीं, किन्तु पन्नग ! इससे तेरी निर्दोषता सिद्ध नहीं होती।

मृत्युस्त्वं चैव हेतुर्हि बालस्यास्य विनाशने।
उभयं कारणं मन्ये न कारणमकारणम् ॥२४॥

इस बालक की मौत में तू और मृत्यु—दोनों ही कारण हो, अतः मैं तुम दोनों को ही कारण या अपराधी मानता हूँ, किसी एक को दोषी या अदोषी नहीं मानता।

मृत्युरुवाच

विवशौ कालवशगावावां निर्दिष्टकारिणौ।
नावां दोषेण गन्तव्यौ यदि सम्यक् प्रपश्यसि ॥२५॥

मृत्यु बोली—व्याध ! हम दोनों काल के अधीन होने के कारण विवश हैं। हम तो केवल उसके आदेशपालक हैं। यदि तुम अच्छी प्रकार विचार करोगे तो हमपर दोषारोपण नहीं कर सकोगे।

भीष्म उवाच

अथोपगम्य कालस्तु तस्मिन्धर्मार्थसंशये।
अब्रवीत् पन्नगं मृत्युं लुब्धं चार्जुनकं तथा ॥२६॥

भीष्मजी कहते हैं—हे युधिष्ठिर ! तदनन्तर धार्मिक विषय में सन्देह उपस्थित होने पर काल भी वहाँ आ पहुँचा और सर्प, मृत्यु तथा अर्जुनक व्याध से इस प्रकार बोला—

काल उवाच

न ह्यहं नाप्ययं मृत्युर्नायं लुब्धक पन्नगः।
किल्बिषी जन्तुमरणे न वय हि प्रयोजकाः ॥२७॥

काल ने कहा—हे व्याध ! इस जीव की मृत्यु में न तो मैं, न यह मृत्यु और न यह सर्प ही अपराधी है। हम लोग किसी की मृत्यु के प्रेरक या प्रयोजक भी नहीं हैं।

अकरोद् यदयं कर्म तन्नोऽर्जुनक प्रेरकम्।
विनाशहेतुर्नान्योऽस्य बध्यतेऽयं स्वकर्मणा ॥२८॥

अर्जुनक ! इस बालक ने जो कर्म किया है वही इसकी मृत्यु में प्रेरक हुआ है, दूसरा कोई इसके विनाश का कारण नहीं है। यह प्राणी अपने कर्म से ही मरता है।

यदनेन कृतं कर्म तेनायं निधनं गतः।
विनाशहेतुः कर्मास्य सर्वे कर्मवशा वयम् ॥२९॥

इस बालक ने जो कर्म किया है, उसी से यह मृत्यु को प्राप्त हुआ है। इसका कर्म ही इसकी मृत्यु का कारण है। हम सब लोग कर्म के ही अधीन हैं।

यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद् यदिच्छति।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥३०॥

जैसे कुम्हार मिट्टी के लौंदे से जैसे बर्तन बनाना चाहता है, वैसे ही बना लेता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने किये हुए कर्म के अनुसार ही सब-कुछ पाता है।

यथा च्छायातपौ नित्यं सुसम्बद्धौ निरन्तरम्।
तथा कर्म च कर्ता च सम्बद्धावात्मकर्मभिः ॥३१॥

जैसे धूप और छाया दोनों सदा एक-दूसरे से मिले रहते हैं, वैसे ही कर्म और कर्ता दोनों अपने कर्मानुसार एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं।

एवं नाहं न वै मृत्युर्न सर्पो न तथा भवान्।
न चेयं ब्राह्मणी वृद्धा शिशुरेवात्र कारणम् ॥३२॥

इस प्रकार विचार करने से न तो मैं, न मृत्यु, न सर्प, न तुम [व्याध] और न यह वृद्धा ब्राह्मणी ही इस बालक की मृत्यु में कारण है। वस्तुतः यह

बालक स्वयं ही अपने कर्मानुसार अपनी मौत का कारण हुआ है।

तस्मिंस्तथा ब्रुवाणे तु ब्राह्मणी गौतमी नृप।
स्वकर्मप्रत्ययाँल्लोकान् मत्वार्जुनकमब्रवीत् ॥३३॥

राजन्! काल के ऐसा कहने पर गौतमी ब्राह्मणी को यह निश्चय हो गया कि मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार ही फल मिलता है। फिर वह अर्जुनक से बोली—

गौतम्युवाच

नैव कालो न भुजगो न मृत्युरिह कारणम्।
स्वकर्मभिरयं बालः कालेन निधनं गतः ॥३४॥

गौतमी बोली—हे व्याध! इस बालक की मृत्यु में काल, सर्प और मृत्यु कोई भी कारण नहीं है। यह बालक अपने कर्मों से ही प्रेरित होकर काल के द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुआ है।

मया च तत्कृतं कर्म येनायं मे मृतः सुतः।
यातु कालस्तथा मृत्युर्मुञ्चार्जुनक पन्नगम् ॥३५॥

हे अर्जुनक! मैंने भी वैसा ही कर्म किया था, जिससे मेरा पुत्र मर गया है। अब काल और मृत्यु अपने-अपने स्थान को पधारें और तू भी इस सर्प को छोड़ दे।

भीष्म उवाच

ततो यथागतं जग्मुर्मृत्युः कालोऽथ पन्नगः।
अभूद् विशोकोऽर्जुनको विशोका चैव गौतमी ॥३६॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् काल, मृत्यु और सर्प जैसे आये थे वैसे ही चले गये और अर्जुनक एवं गौतमी ब्राह्मणी का भी शोक दूर हो गया।

एतत् श्रुत्वा शमं गच्छ मा भूः शोकपरो नृप।
कालेनैतत् कृतं विद्धि निहता येन पार्थिवाः ॥३७॥

राजन्! इस उपाख्यान को सुनकर तुम शान्त हो जाओ, शोक मत करो। इस सबको काल की ही करतूत समझो, जिससे समस्त भूपाल मारे गये हैं।

वैशम्पायन उवाच

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा बभूव विगतज्वरः।
युधिष्ठिरो महातेजाः पप्रच्छेदं च धर्मवित् ॥३८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्म की यह बात सुनकर महातेजस्वी धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिर की चिन्ता दूर हो गई, फिर उन्होंने इस प्रकार प्रश्न किया।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

स्वामिभक्ति और दयालुता-प्रतिपादनार्थ इन्द्र और शुक-संवाद का उल्लेख

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यस्य धर्मज्ञ गुणान् भक्तजनस्य च।
श्रोतुमिच्छामि धर्मज्ञ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर बोले—धर्मज्ञ पितामह! अब मैं दयालु और भक्तपुरुषों के गुण सुनना चाहता हूँ, कृपा करके मुझे उनके गुण बताइए।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वासवस्य च संवादं शुकस्य च महात्मनः ॥२॥

भीष्मजी ने कहा—युधिष्ठिर! इस विषय में भी महामनस्वी तोते और इन्द्र का जो संवाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है।

विषये काशिराजस्य ग्रामान्निष्क्रम्य लुब्धकः।
सविषं काण्डमादाय मृगयामास वै मृगम् ॥३॥

काशिराज के राज्य की बात है, एक शिकारी विष में बुझा हुआ बाण लेकर गाँव से निकला और शिकार के लिए किसी मृग को खोजने लगा।

तत्र चामिषलुब्धेन लुब्धकेन महावने।
अविदूरे मृगान् दृष्ट्वा बाणः प्रतिसमाहितः ॥४॥

उस विशाल वन में थोड़ी ही दूर जाने पर मांस-लोभी व्याध ने कुछ मृगों को देखा और उनपर बाण चला दिया।

तेन दुर्वारितास्त्रेण निमित्तचपलेषुणा।
महान् वनतरुस्तत्र विद्धो मृगजिघांसया ॥५॥

निशाना चूक जाने के कारण मृग को मारने की इच्छा से छोड़े गये उस अमोघ बाण ने एक विशाल वृक्ष को वेध दिया।

स तीक्ष्णविषदिग्धेन शरेणातिबलात् क्षतः।
उत्सृज्य फलपत्राणि पादपः शोषमागतः ॥६॥

कालकूट-विष से बुझे हुए उस बाण से बड़े जोर का आघात लगने के कारण उस वृक्ष में विष फैल गया। उसके फल और पत्ते झड़ गये और धीरे-धीरे वह सूखने लगा।

तस्मिन् वृक्षे तथाभूते कोटरेषु चिरोषितः।
न जहाति शुको वासं तस्य भक्त्या वनस्पतेः ॥७॥

उस वृक्ष के सूख जाने पर भी [उस वृक्ष के] खोखलों में बहुत समय से निवास करनेवाला एक तोता उस वृक्ष के प्रति प्रेम होने के कारण, उसे नहीं छोड़ रहा था।

निष्प्रचारो निराहारो ग्लानः शिथिलवागपि।
कृतज्ञः सह वृक्षेण धर्मात्मा सोऽप्यशुष्यत ॥८॥

उस धर्मात्मा एवं कृतज्ञ तोते ने कहीं आना-जाना और दाना चुगना भी छोड़ दिया था। वह इतना शिथिल हो गया था कि उससे बोला भी न जाता था। उस वृक्ष के साथ वह स्वयं भी सूखता जा रहा था।

तमुदारं महासत्त्वमतिमानुषचेष्टितम्।
समदुःखसुखं दृष्ट्वा विस्मितः पाकशासनः ॥९॥

धैर्य के धनी, अलौकिक चेष्टावाले, दुःख और सुख में समानभाव रखनेवाले उस उदार तोते को देखकर इन्द्र को महान् आश्चर्य हुआ।

ततो ब्राह्मणवेषेण मानुषं रूपमास्थितः।
अवतीर्य महीं शक्रस्तं पक्षिणमुवाच ह ॥१०॥

तब इन्द्र ब्राह्मण के वेश में मनुष्य का रूप धारण करके पृथिवी पर उतरे और उस तोते के पास जाकर बोले—

इन्द्र उवाच

निष्पत्रमफलं शुष्कमशरण्यं पतत्रिणाम्।
किमर्थं सेवसे वृक्षं यदा महदिदं वनम् ॥११॥

इन्द्र ने कहा—हे शुक! इस वृक्ष के पत्ते झड़ गये, फल भी नहीं रहे। सूख जाने के कारण यह पक्षियों के बसेरा लेने योग्य भी नहीं रहा। जब यह विशाल वन पड़ा हुआ है, तब तुम इस ठूँठ का आश्रय क्यों ले रहे हो?

अन्येऽपि बहवो वृक्षाः पत्रसंछन्नकोटराः।
शुभाः पर्याप्तसंचारा विद्यन्तेऽस्मिन् महावने ॥१२॥

इस विशाल वन में और भी बहुत-से वृक्ष हैं, जिनके खोखल हरे-भरे पत्तों से आच्छादित हैं, जो सुन्दर हैं और जिनपर पक्षियों के सञ्चार के लिए पर्याप्त स्थान हैं।

गतायुषमसामर्थ्यं क्षीणसारं हतश्रियम्।
विमृश्य प्रज्ञया धीर जहीमं स्थविरं द्रुमम् ॥१३॥

धीर शुक! इस वृक्ष की आयु समाप्त हो गई, शक्ति नष्ट हो गई। इसका सार [जीवन-रस] क्षीण हो गया और इसकी शोभा भी छिन गई, अतः अपनी बुद्धि द्वारा इन सब बातों पर विचार करके तुम इस बूढ़े वृक्ष को त्याग दो।

भीष्म उवाच

तदुपश्रुत्य धर्मात्मा शुकः शक्रेण भाषितम्।
सुदीर्घमतिनिःश्वस्य दीनो वाक्यमुवाच ह ॥१४॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इन्द्र की यह बात सुनकर धर्मात्मा शुक ने दीर्घ निःश्वास छोड़कर दीन भाव से यह बात कही—

अनतिक्रमणीयानि दैवतानि शचीपते।
यत्राभवत् तव प्रश्नस्तन्निबोध सुराधिप ॥१५॥

"हे शचीपते! दैव का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। देवराज! जिसके विषय में आपने प्रश्न किया है, उसकी बात सुनिए!

अस्मिन्नहं द्रुमे जातः साधुभिश्च गुणैर्युतः।
बालभावेन संगुप्तः शत्रुभिश्च न धर्षितः ॥१६॥

"मैंने इसी वृक्ष पर जन्म लिया तथा यहीं रहकर उत्तम-उत्तम गुण सीखे हैं। इस वृक्ष ने अपने बालक की भाँति मुझे सुरक्षित रखा और मुझपर शत्रुओं का आक्रमण नहीं होने दिया।

किमनुक्रोश्य वैफल्यमुत्पादयसि मेऽनघ।
आनृशंस्याभियुक्तस्य भक्तस्यानन्यगस्य च ॥१७॥

"निष्पाप देवेन्द्र! इन्हीं सब कारणों से मेरी इस वृक्ष के प्रति भक्ति है। मैं दयारूपी धर्म के पालन में

लगा हूँ और यहाँ से अन्यत्र नहीं जाना चाहता। ऐसी अवस्था में आप मेरी सद्भावना को व्यर्थ बनाने की चेष्टा क्यों करते हैं?

अनुक्रोशो हि साधूनां महद्धर्मस्य लक्षणम्।
अनुक्रोशश्च साधूनां सदा प्रीतिं प्रयच्छति ॥१८॥

"श्रेष्ठ पुरुषों के लिए दूसरों पर दया करना ही महान् धर्म का सूचक है। दयाभाव श्रेष्ठ पुरुषों को सदा ही आनन्द प्रदान करता है।

नार्हसे मां सहस्राक्ष द्रुमं त्याजयितुं चिरात्।
समर्थमुपजीव्येमं त्यजेयं कथमद्य वै ॥१९॥

"हे सहस्राक्ष! आप मुझसे इस वृक्ष को छुड़वाने का प्रयत्न मत कीजिए। जब यह समर्थ था, तब मैंने दीर्घकाल से इसके आश्रय में रहकर जीवन धारण किया है और आज जब यह शक्तिहीन हो गया, तब इसे छोड़कर चल दूँ—यह कैसे हो सकता है?"

तस्य वाक्येन सौम्येन हर्षितः पाकशासनः।
शुकं प्रोवाच धर्मात्मा आनृशंस्येन तोषितः ॥२०॥

तोते की इस कोमल वाणी से इन्द्र को बड़ी प्रसन्नता हुई। धर्मात्मा इन्द्र ने शुक की दयालुता से सन्तुष्ट हो उससे कहा—

वरं वृणीष्वेति तदा स च वव्रे वरं शुकः।
आनृशंस्यपरो नित्यं तस्य वृक्षस्य सम्भवम् ॥२१॥

"शुक! तुम मुझसे कोई वर माँगो।" तब दया-परायण शुक ने यह वर माँगा कि—"यह वृक्ष पहले की भाँति हरा-भरा हो जाए।"

विदित्वा च दृढां भक्तिं तां शुके शीलसम्पदम्।
प्रीतः क्षिप्रमथो वृक्षममृतेनावसिक्तवान् ॥२२॥

तोते की इस दृढ़ भक्ति और शील-सम्पत्ति को जानकर इन्द्र को और भी प्रसन्नता हुई। उन्होंने तुरन्त उस वृक्ष को अमृत से सींच दिया।

ततः फलानि पत्राणि शाखाश्चापि मनोहराः।
शुकस्य दृढभक्तित्वाच्छ्रीमत्तां प्राप स द्रुमः ॥२३॥

फिर तो उस वृक्ष में नये-नये पत्ते, फल और मनोहर शाखाएँ निकल आईं। तोते की दृढ़भक्ति के कारण वह वृक्ष पूर्ववत् श्रीसम्पन्न हो गया।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

भाग्य की अपेक्षा पुरुषार्थ की श्रेष्ठता का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
दैवे पुरुषकारे च किंस्विच्छ्रेष्ठतरं भवेत् ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—सम्पूर्णशास्त्रों के विशेषज्ञ! महाप्राज्ञ पितामह! दैव—भाग्य और पुरुषार्थ में कौन श्रेष्ठ है?

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वसिष्ठस्य च संवादं ब्रह्मणश्च युधिष्ठिर ॥२॥

भीष्मजी बोले—हे युधिष्ठिर! इस विषय में वसिष्ठ और ब्रह्माजी के संवादरूप एक प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है।

दैवमानुषयोः किंस्वित् कर्मणोः श्रेष्ठमित्युत।
पुरा वसिष्ठो भगवान् पितामहमपृच्छत ॥३॥

प्राचीनकाल की बात है, भगवान् वसिष्ठ ने लोकपितामह ब्रह्माजी से पूछा—"प्रभो! दैव और पुरुषार्थ में कौन श्रेष्ठ है?"

ब्रह्मोवाच

नाबीजं जायते किञ्चिन्न बीजेन विना फलम्।
बीजाद् बीजं प्रभवति बीजादेव फलं स्मृतम् ॥४॥

ब्रह्माजी बोले—बीज के बिना कुछ भी पैदा नहीं होता, बीज के बिना फल भी नहीं लगता। बीज से बीज प्रकट होता है तथा बीज से ही फल की उत्पत्ति मानी गई है।

यादृशं वपते बीजं क्षेत्रमासाद्य कर्षकः।
सुकृते दुष्कृते वापि तादृशं लभते फलम् ॥५॥

किसान खेत में पहुँचकर जैसा बीज बोता है, वैसा ही उसे फल मिलता है। इसी प्रकार पुण्य अथवा

पाप, जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है।

यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम्।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥६॥

जैसे खेत में बोये बिना बीज फल नहीं दे सकता, उसी प्रकार भाग्य भी पुरुषार्थ के बिना सिद्ध नहीं होता।

क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम्।
क्षेत्रबीजसमायोगात् ततः सस्यं समृद्धयते ॥७॥

पुरुषार्थ खेत है और दैव को बीज कहा गया है। खेत और बीज दोनों के संयोग से ही अन्न उत्पन्न होता है।

कर्मणः फलनिर्वृत्तिं स्वयमश्नाति कारकः।
प्रत्यक्षं दृश्यते लोके कृतस्यापकृतस्य च ॥८॥

'कर्म करनेवाला मनुष्य अपने शुभ अथवा अशुभ कर्म का फल स्वयं ही भोगता है'—यह बात संसार में प्रत्यक्ष दिखाई देती है।

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित् ॥९॥

शुभकर्म करने से सुख और पापकर्म करने से दुःख मिलता है। अपना किया हुआ कर्म सर्वत्र ही फल देता है। बिना किये हुए कर्म का फल कहीं नहीं भोगा जाता।

कृती सर्वत्र लभते प्रतिष्ठां भाग्यसंयुताम्।
अकृती लभते भ्रष्टः क्षते क्षारावसेचनम् ॥१०॥

पुरुषार्थी मनुष्य सर्वत्र भाग्य के अनुसार प्रतिष्ठा पाता है, परन्तु जो अकर्मण्य है वह सम्मान से भ्रष्ट होकर घाव पर नमक छिड़कने के समान असह्य दुःख भोगता है।

तपसा रूपसौभाग्यं रत्नानि विविधानि च।
प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना ॥११॥

मनुष्य को तपस्या से सौन्दर्य, सौभाग्य और नानाप्रकार के रत्न प्राप्त होते हैं, इस प्रकार कर्म से सब-कुछ मिल सकता है, परन्तु भाग्य के भरोसे निकम्मे बैठे रहनेवाले को कुछ नहीं मिलता।

तथा स्वर्गश्च भोगश्च निष्ठा या च मनीषिता।
सर्वं पुरुषकारेण कृतेनेहोपलभ्यते ॥१२॥

इस जगत् में पुरुषार्थ करने से स्वर्ग=सुख-विशेष, भोग, धर्म में निष्ठा और बुद्धिमत्ता—इन सबकी उपलब्धि होती है।

अर्थो वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितम्।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः ॥१३॥

जो लोग पुरुषार्थ नहीं करते, वे धन, मित्रवर्ग, ऐश्वर्य, उत्तम कुल तथा दुर्लभ लक्ष्मी का भी उपभोग नहीं कर सकते।

शौचेन लभते विप्रः क्षत्रियो विक्रमेण तु।
वैश्यः पुरुषकारेण शूद्रः शुश्रूषया श्रियम् ॥१४॥

ब्राह्मण शौचाचार से, क्षत्रिय पराक्रम से, वैश्य उद्योग से और शूद्र तीनों वर्णों की सेवा से सम्पत्ति पाता है।

नादातारं भजन्त्यर्था न क्लीबं नापि निष्क्रियम्।
नाकर्मशीलं नाशूरं तथा नैवातपस्विनम् ॥१५॥

न तो दान न देनेवाले कंजूस को धन प्राप्त होता है, न नपुंसक को, न अकर्मण्य को, न काम से जी चुरानेवाले को, न शौर्यहीन को और न तपस्या न करनेवाले को ही धन मिलता है।

स्वं चेत्कर्मफलं न स्यात् सर्वमेवाफलं भवेत्।
लोको दैवं समालक्ष्य उदासीनो भवेन्ननु ॥१६॥

यदि अपने किये हुए कर्मों का फल प्राप्त न हो तो सारा कर्म ही निष्फल हो जाए और सब लोग भाग्य को ही देखते हुए कर्म करने से उदासीन हो जाएं।

अकृत्वा मानुषं कर्म यो दैवमनुवर्तते।
वृथा श्राम्यति सम्प्राप्य पतिं क्लीबमिवाङ्गना ॥१७॥

मनुष्य द्वारा करने योग्य कर्म को न करके जो पुरुष केवल भाग्य का अनुसरण करता है, वह भाग्य का सहारा लेकर व्यर्थ ही कष्ट उठाता है, जैसे स्त्री नपुंसक पति को पाकर कष्ट ही भोगती है।

कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते।
न दैवमकृते किञ्चित्कस्यचिद् दातुमर्हति ॥१८॥

किया हुआ पुरुषार्थ ही दैव का अनुसरण करता है, परन्तु पुरुषार्थ न करने पर दैव=भाग्य किसी को कुछ भी नहीं दे सकता।

कृतं चाप्यकृतं किञ्चित् कृते कर्मणि सिद्धयति।
सुकृतं दुष्कृतं कर्म न यथार्थं प्रपद्यते ॥१९॥

प्रबल पुरुषार्थ करने से पहले का किया हुआ कर्म भी बिना किया हुआ-सा हो जाता है और वह प्रबल कर्म ही सिद्ध होकर फल देता है। इस प्रकार पुण्य या पाप-कर्म अपने यथार्थ फल को नहीं दे पाते हैं।

यथाग्निः पवनोद्धूतः सुसूक्ष्मोऽपि महान् भवेत्।
तथा कर्मसमायुक्तं दैवं साधु विवर्धते ।।२०।।

जैसे थोड़ी-सी भी अग्नि वायु का सहारा पाकर बहुत बड़ी हो जाती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ का सहारा पाकर दैव का बल विशेष बढ़ जाता है।

यथा तैलक्षयाद् दीपः प्रह्लासमुपगच्छति।
तथा कर्मक्षयाद् दैवं प्रह्लासमुपगच्छति ।।२१।।

जैसे तेल समाप्त हो जाने पर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार कर्म के क्षीण हो जाने पर दैव भी नष्ट हो जाता है।

विपुलमपि धनौघं प्राप्य भोगान् स्त्रियो वा
पुरुष इह न शक्तः कर्महीनो हि भोक्तुम्।
सुनिहितमपि चार्थं दैवतै रक्ष्यमाणं
पुरुष इह महात्मा प्राप्नुते नित्ययुक्तः ।।२२।।

उद्योगहीन मनुष्य धन का बहुत बड़ा भण्डार, नाना प्रकार के भोग और स्त्रियों को पाकर भी उनका उपभोग नहीं कर सकता, परन्तु उद्योगी महामनस्वी पुरुष देवताओं द्वारा सुरक्षित और गाड़कर रखे हुए धन को भी प्राप्त कर लेता है।

न च फलति विकर्मा जीवलोके न दैवं
व्यपनयति विमार्गं नास्ति दैवे प्रभुत्वम्।
गुरुमिव कृतमग्र्यं कर्म संयाति दैवं
नयति पुरुषकारः संचितस्तत्र तत्र ।।२३।।

इस संसार में उद्योगहीन मनुष्य कभी फूलता-फलता दिखाई नहीं देता। दैव में इतनी शक्ति नहीं है कि वह उसे कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगा दे। जैसे शिष्य गुरु को आगे करके चलता है, उसी प्रकार दैव पुरुषार्थ को आगे करके स्वयं उसके पीछे चलता है। सञ्चित किया हुआ पुरुषार्थ ही दैव को जहां चाहता है, वहां-वहां ले जाता है।

एतत् ते सर्वमाख्यातं मया वै मुनिसत्तम।
फलं पुरुषकारस्य सदा सन्दृश्य तत्त्वतः ।।२४।।

मुनिश्रेष्ठ! मैंने सदा पुरुषार्थ के ही फल को प्रत्यक्ष देखकर यथार्थरूप से ये सारी बातें तुम्हें बताई हैं।

अभ्युत्थानेन दैवस्य समारब्धेन कर्मणा।
विधिना कर्मणा चैव स्वर्गमार्गमवाप्नुयात् ।।२५।।

मनुष्य दैव के उत्थान से आरम्भ किये हुए पुरुषार्थ से, उत्तम विधि और शास्त्रोक्त कर्म से ही स्वर्ग=सुखविशेष को प्राप्त कर सकता है।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

चतुर्थोऽध्यायः

विविध कर्मों के फल का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कर्मणां च समस्तानां शुभानां भरतर्षभ।
फलानि महतां श्रेष्ठ प्रब्रूहि परिपृच्छतः ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—महापुरुषों में प्रधान भरतश्रेष्ठ! मैं पूछता हूँ कि समस्त शुभ कर्मों के फल क्या हैं? यह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां पृच्छसि भारत।
या गतिः प्राप्यते येन तच्छृणुष्व युधिष्ठिर ।।२।।

भीष्मजी बोले—हे भरतनन्दन युधिष्ठिर! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, मैं तुम्हें बतलाता हूँ। मरने के पश्चात् जिसको जो गति मिलती है, उसका भी वर्णन करता हूँ, सुनो!

येन येन शरीरेण यद् यत् कर्म करोति यः।
तेन तेन शरीरेण तत् तत् फलमुपाश्नुते ।।३।।

मनुष्य जिस-जिस [स्थूल अथवा सूक्ष्म] शरीर से जो-जो कर्म करता है, उसी-उसी शरीर से उस-उस कर्म का फल भोगता है।

यस्यां यस्यामवस्थायां यत् करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां भुंक्ते जन्मनि जन्मनि ।।४।।

मनुष्य जिस-जिस अवस्था में जो-जो शुभ या अशुभ कर्म करता है, प्रत्येक जन्म की उसी-उसी अवस्था में वह उसका फल भोगता है।

न नश्यति कृतं कर्म सदा पञ्चेन्द्रियैरिह।
ते ह्यस्य साक्षिणो नित्यं षष्ठ आत्मा तथैव च ॥५॥

पाँचों इन्द्रियों द्वारा किया हुआ कर्म कभी नष्ट नहीं होता। वे पाँचों इन्द्रियाँ और छठा मन—ये उसके कर्म के साक्षी होते हैं।

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम्।□
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥६॥

मनुष्य को उचित है कि यदि कोई अतिथि घर पर आ जाए तो उसको प्रसन्न दृष्टि से देखे। मन से उसकी सेवा करे। मधुरवाणी द्वारा उसे सन्तुष्ट करे। जब वह जाने लगे तो उसके पीछे-पीछे कुछ दूर तक जाए और जबतक वह रहे तबतक उसके स्वागत-सत्कार में लगा रहे—ये **पाँच** कर्म करना गृहस्थ के लिए **पाँच प्रकार की दक्षिणाओं से युक्त यज्ञ** कहलाता है।

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत् ॥७॥

जो थके-माँदे अपरिचित पथिक को प्रसन्नता-पूर्वक अन्न प्रदान करता है, उसे महान् पुण्यफल की प्राप्ति होती है।

पाद्यमासनमेवाथ दीपमन्नं प्रतिश्रयम्।
दद्यादतिथिपूजार्थं स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥८॥

जो अतिथि को पैर धोने के लिए जल, बैठने के लिए आसन, प्रकाश के लिए दीपक, खाने के लिए अन्न और ठहरने के लिए स्थान देता है, इस प्रकार अतिथि-सत्कार के लिए इन पाँच वस्तुओं का दान 'पञ्चदक्षिण' यज्ञ कहलाता है।

धनं लभेत दानेन मौनेनाज्ञां विशाम्पते।□
उपभोगांश्च तपसा ब्रह्मचर्येण जीवितम् ॥९॥

नरेश्वर! मनुष्य दान करने से धन पाता है, मौन-व्रत से दूसरों से आज्ञापालन कराने की शक्ति प्राप्त करता है, तपस्या से भोग और ब्रह्मचर्य-पालन से दीर्घायु की प्राप्ति होती है।

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥१०॥

जैसे बछड़ा सहस्रों गौओं के बीच में भी अपनी माता को ढूँढ लेता है, उसी प्रकार पहले का किया हुआ कर्म भी कर्ता को पहचानकर उसका अनुसरण करता है।

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्वकालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम् ॥११॥

जैसे फूल और फल किसी की प्रेरणा न होने पर भी अपने समय का उल्लंघन नहीं करते—ठीक समय पर फूलने-फलने लगते हैं, वैसे ही पहले किया हुआ कर्म भी समय पर फल देता ही है।

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता।
येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम् ॥१२॥

मनुष्य जिस व्यवहार से पिता को प्रसन्न करता है, उससे प्रजापति परमात्मा प्रसन्न होते हैं; जिस बर्ताव से वह माता को सन्तुष्ट करता है, उससे पृथिवी देवी की पूजा हो जाती है; जिस सेवा से वह उपाध्याय को तृप्त करता है, उसके द्वारा परब्रह्म परमात्मा की पूजा सम्पन्न हो जाती है।

वैशम्पायन उवाच

भीष्मस्यैतद् वचः श्रुत्वा विस्मिताः कुरुपुङ्गवाः।
आसन् प्रहृष्टमनसः प्रीतिमन्तोऽभवंस्तदा ॥१३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मजी की यह बात सुनकर समस्त श्रेष्ठ कुरुवंशी आश्चर्य-चकित हो उठे। सबके मन में हर्षजनित उल्लास भर गया। उस समय सभी अति प्रसन्न हुए।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

लक्ष्मी के निवास करने योग्य स्त्री-पुरुष एवं स्थानों का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशे पुरुषे तात स्त्रीषु वा भरतर्षभ ।
श्रीः पद्मा वसते नित्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—तात ! भरतश्रेष्ठ ! लक्ष्मी किन गुणों से युक्त स्त्री और पुरुषों में नित्य निवास करती है ? पितामह ! यह मुझे बताइए ।

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्णयिष्यामि यथावृत्तं यथाश्रुतम् ।
रुक्मिणी देवकीपुत्रसंन्निधौ पर्यपृच्छत ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! इस विषय में एक यथार्थ वृत्तान्त को जैसा मैंने सुना है, वैसा ही तुम्हें बता रहा हूँ। देवकीनन्दन श्रीकृष्ण के समक्ष रुक्मिणी देवी ने लक्ष्मीजी से जो कुछ पूछा था, वह मुझसे सुनो ।

कानीह भूतान्युपसेवसे त्वं
संतिष्ठसे कानि च सेवसे त्वम् ।
एवं तदा श्रीरभिभाष्यमाणा
उवाच सा चन्द्रमुखी प्रसन्ना ॥३॥

[**रुक्मिणी ने पूछा**—] देवि ! तुम इस संसार में किन प्राणियों पर कृपा करके उनके यहाँ रहती हो ? कहाँ निवास करती हो और किन-किन का सेवन करती हो ? रुक्मिणी के इस प्रकार पूछने पर चन्द्रमुखी लक्ष्मीदेवी प्रसन्न होकर बोली—

श्रीरुवाच

वसामि नित्यं सुभगे प्रगल्भे
दक्षे नरे कर्मणि वर्तमाने ।
अक्रोधने देवपरे कृतज्ञे
जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्णसत्त्वे ॥४॥

लक्ष्मी बोली—देवि ! मैं प्रतिदिन ऐसे पुरुष में निवास करती हूँ जो सौभाग्यशाली, निर्भीक, कार्य-कुशल, कर्मपरायण, क्रोधरहित, देवाराधन-तत्पर, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय तथा बढ़े हुए सत्त्वगुण से युक्त हो ।

नाकर्मशीले पुरुषे वसामि
न नास्तिके साङ्करिके कृतघ्ने ।
न भिन्नवृत्ते न नृशंसवर्णे
न चापि चौरे न गुरुष्वसूये ॥५॥

जो मनुष्य अकर्मण्य, नास्तिक, वर्णसंकर, कृतघ्न, दुराचारी, क्रूर, चोर तथा गुरुद्वेषी होता है, उनके भीतर मैं निवास नहीं करती ।

ये चाल्पतेजोबलसत्त्वमानाः
क्लिश्यन्ति कुप्यन्ति च यत्र तत्र ।
न चैव तिष्ठामि तथाविधेषु
नरेषु संगुप्तमनोरथेषु ॥६॥

जिनमें तेज, बल, सत्त्व और गौरव की मात्रा बहुत थोड़ी है, जो जहाँ-तहाँ हर बात में खिन्न हो जाते हैं, जो मन में कुछ और भाव रखते हैं तथा ऊपर कुछ और ही दिखाते हैं, ऐसे मनुष्यों में मैं निवास नहीं करती ।

यश्चात्मनि प्रार्थयते न किञ्चिद्
यश्च स्वभावोपहतान्तरात्मा ।
तेष्वल्पसन्तोषपरेषु नित्यं
नरेषु नाहं निवसामि सम्यक् ॥७॥

जो अपने लिए कुछ नहीं चाहता, जिसका अन्तः-करण मूढ़ता से ग्रसित है, जो थोड़े में ही सन्तोष कर लेते हैं, ऐसे मनुष्यों में मैं कभी निवास नहीं करती

स्वधर्मशीलेषु च धर्मवित्सु
वृद्धोपसेवानिरते च दान्ते ।
सत्यस्वभावार्जवसंयुतासु
वसामि देवद्विजपूजिकासु ॥८॥

जो स्वभावतः स्वधर्मपरायण, धर्मज्ञ, वृद्धों की सेवा में तत्पर और जितेन्द्रिय हैं—ऐसे पुरुषों औ स्वभावतः सत्यवादिनी और सरलता से युक्त, विद्वान और ब्राह्मणों का आदर-सत्कार करनेवाली स्त्रियं में भी मैं निवास करती हूँ ।

प्रकीर्णभाण्डामनवेक्ष्यकारिणीं
सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम् ।
परस्य वेश्माभिरतामलज्जा-
मेवंविधां तां परिवर्जयामि ॥९॥

जिसके घर के बर्तन इधर-उधर बिखरे पड़े रह हैं, जो सोच-समझकर कार्य नहीं करती, जो सव अपने पति के प्रतिकूल ही बोलती हैं, जो दूसरों

घर में घूमने-फिरने में आसक्त रहती हैं और लज्जा को सर्वथा त्याग देती हैं, मैं भी उन स्त्रियों को छोड़ देती हूँ।

पापामचोक्षामवलेहिनीं च
व्यपेतधैर्यां कलहप्रियां च।
निद्राभिभूतां सततं शयाना-
मेवंविधां तां परिवर्जयामि ।।१०।।

जो स्त्री निर्दयतापूर्वक पापाचार में तत्पर रहनेवाली, अपवित्र, चटोरी, धैर्यहीन, कलहप्रिय, नींद में बेसुध होकर सदा खाट पर पड़ी रहनेवाली होती है, ऐसी नारी से मैं सदा दूर ही रहती हूँ।

सत्यासु नित्यं प्रियदर्शनासु
सौभाग्ययुक्तासु गुणान्वितासु।
वसामि नारीषु पतिव्रतासु
कल्याणशीलासु विभूषितासु ।।११।।

जो स्त्रियाँ सत्यवादिनी और अपनी सौम्य वेश-भूषा के कारण देखने में प्रिय होती हैं, जो सौभाग्यशालिनी, सद्गुणवती, पतिव्रता और कल्याणमय आचार-विचारवाली होती हैं तथा जो सदा वस्त्राभूषणों से विभूषित रहती हैं, मैं सदा ऐसी स्त्रियों में निवास करती हूँ।

मत्ते गजे गोवृषभे नरेन्द्रे
सिंहासने सत्पुरुषेषु नित्यम्।
यस्मिञ्जनो हव्यभुजं जुहोति
तस्मिन् गृहे नित्यमुपैमि वासम् ।।१२।।

मदमस्त हाथी, साँड, राजा, सिंहासन और सत्पुरुषों में मैं सदा रहती हूँ। जिस घर में लोग अग्निहोत्र करते हैं, उस घर में भी मैं नित्य निवास करती हूँ।

स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु
क्षत्रे च धर्माभिरते सदैव।
वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि
शूद्रे च शुश्रूषणनित्ययुक्ते ।।१३।।

सदा वेदों के स्वाध्याय में तत्पर रहनेवाले ब्राह्मणों, स्वधर्मपरायण क्षत्रियों, कृषिकर्म में लगे हुए वैश्यों और सदा सेवाकार्य में लगे रहनेवाले शूद्रों के यहाँ भी मैं नित्य निवास करती हूँ।

नाहं शरीरेण वसामि देवि
नैवं मया शक्यमिहाभिधातुम्।
भावेन यस्मिन् निवसामि पुंसि
स वर्धते धर्मयशोऽर्थकामैः ।।१४।।

हे देवि! मैं शरीर से निवास नहीं करती हूँ। शरीर से सर्वत्र निवास करना मेरे लिए सम्भव भी नहीं है। जिस पुरुष में मैं भावना के द्वारा निवास करती हूँ, वह धर्म, यश, धन और कामना से सम्पन्न होकर सदा बढ़ता रहता है।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ।।५।।

षष्ठोऽध्यायः

कृतघ्न की गति और त्रिविध पापों के त्याग का उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

प्रायश्चित्तं कृतघ्नानां प्रतिब्रूहि पितामह।
मातापितॄन् गुरूंश्चैव येऽवमन्यन्ति मोहिताः ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! जो लोग मोहवश माता-पिता तथा गुरुजनों का अपमान करते हैं, उन कृतघ्नों के लिए क्या प्रायश्चित्त है, यह बतलाइए।

भीष्म उवाच

कृतघ्नानां गतिस्तात नरके शाश्वतीः समाः।
मातापितृगुरूणां च ये न तिष्ठन्ति शासने ।।२।।
कृमिकीटपिपीलेषु जायन्ते स्थावरेषु च।
दुर्लभो हि पुनस्तेषां मानुष्ये पुनरुद्भवः ।।३।।

भीष्मजी बोले—तात! कृतघ्नों की एक ही गति है—सदा के लिए नरक=दुःखविशेष में पड़े रहना। जो माता-पिता और गुरुजनों की आज्ञा के अधीन नहीं रहते, वे कृमि, कीट, चींटी और वृक्षादि की योनियों में जन्म लेते हैं। उनके लिए पुनः मनुष्ययोनि में जन्म लेना दुर्लभ हो जाता है।

युधिष्ठिर उवाच

किं कर्तव्यं मनुष्येण लोकयात्राहितार्थिना ।
कथं वै लोकयात्रां तु किंशीलश्च समाचरेत् ।।४।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! संसारयात्रा का भली प्रकार निर्वाह करने की इच्छा रखनेवाले मनुष्य को क्या करना चाहिए ? मनुष्य को कैसा स्वभाव बनाकर और किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए ?

भीष्म उवाच

कायेन त्रिविधं कर्म वाचा चापि चतुर्विधम् ।
मनसा त्रिविधं चैव दशकर्मपथाँस्त्यजेत् ।।५।।

भीष्मजी ने कहा—राजन् ! मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर से होनेवाले तीन, वाणी से चार प्रकार के और मन से तीन प्रकार के कर्म—इस प्रकार कुल दस प्रकार के कर्मों को त्याग दे ।

प्राणातिपातः स्तैन्यं च परदारानथापि च ।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत् ।।६।।

प्राणियों को मारना=हिंसा, चोरी करना और पर-स्त्री से संसर्ग करना—ये तीन शरीर से होनेवाले पाप हैं । इन सबका परित्याग कर देना उचित है ।

असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा ।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत् ।।७।।

व्यर्थ बोलना, कठोर बोलना, चुगली करना और झूठ बोलना—ये चार वाणी से होनेवाले पाप हैं । राजेन्द्र ! इन्हें न तो कभी जिह्वा पर लाना चाहिए और न मन में ही सोचना चाहिए ।

अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम् ।
कर्मणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसा चरेत् ।।८।।

दूसरों के धन को हड़पने की बात न सोचना, सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखना और 'कर्मों का फल अवश्य मिलता है', इस बात पर विश्वास रखना—ये तीन मन से करनेयोग्य कार्य हैं । इन्हें सदा करना चाहिए । [इनके विपरीत दूसरों के धन की प्राप्ति का लोभ, प्राणियों के प्रति वैर-भावना और कर्मफल पर अविश्वास—ये तीन मानसिक पाप हैं—इनसे सदा बचना चाहिए]।

तस्माद् वाक्कायमनसा नाचरेदशुभं नरः ।
शुभाशुभान्याचरन् हि तस्य तस्याश्नुते फलम् ।।९।।

मनुष्य का कर्तव्य है कि मन, वाणी और शरीर से कभी अशुभ कर्म न करे, क्योंकि वह शुभ या अशुभ जैसा कर्म करता है, उसका वैसा ही फल उसे भोगना पड़ता है ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिर के विविध प्रश्नों का उत्तर नरक और स्वर्गगामी पुरुषों के चिह्न

युधिष्ठिर उवाच

अनेकान्तं बहुद्वारं धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
किं निमित्तं भवेदत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! विद्वानों का कहना है कि धर्म के साधन और फल अनेक प्रकार के हैं । पात्र के कौन-कौन-से गुण उसकी दानपात्रता में कारण होते हैं—यह मुझे बताइए—

भीष्म उवाच

अहिंसा सत्यमक्रोध आनृशंस्यं दमस्तथा ।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम् ।।२।।

भीष्मजी बोले—हे राजेन्द्र ! अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कोमलता, इन्द्रियसंयम और सरलता—ये धर्म के निश्चित लक्षण हैं ।

ये तु धर्मं प्रशंसन्तश्चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।
अनाचरन्तस्तद् धर्मं संकरेऽभिरताः प्रभो ।।३।।

राजन् ! जो लोग इस पृथिवी पर धर्म की प्रशंसा करते हुए विचरते हैं, परन्तु स्वयं उस धर्म का आचरण नहीं करते, वे ढोंगी हैं और धर्मसंकरता फैलाने में लगे हैं ।

तेभ्यो हिरण्यं रत्नं वा गामश्वं वा ददाति यः ।
दश वर्षाणि विष्ठां स भुङ्क्ते निरयमास्थितः ।।४।।

ऐसे लोगों को जो सुवर्ण, रत्न, गौ अथवा घोड़े

आदि वस्तुओं का दान करता है, वह नरक में पड़कर दस वर्ष तक विष्ठा खाता है।

युधिष्ठिर उवाच

किं परं ब्रह्मचर्यस्य किं परं धर्मलक्षणम्।
किं च श्रेष्ठतरं शौचं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥५॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! ब्रह्मचर्य से उत्तम क्या है? धर्म का सबसे श्रेष्ठ लक्षण क्या है? सर्वोत्तम पवित्रता किसे कहते हैं? यह सब मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

ब्रह्मचर्यात् परं तात मधुमांसस्य वर्जनम्।
मर्यादायां स्थितो धर्मः शमश्चैवास्य लक्षणम् ॥६॥

भीष्मजी बोले—हे तात! मांस और मदिरा [अथवा शहद] का परित्याग ब्रह्मचर्य से भी श्रेष्ठ है—वही उत्तम ब्रह्मचर्य है। वेदोक्त मर्यादा में स्थिर रहना सबसे श्रेष्ठ धर्म है और मन तथा इन्द्रियों को वश में रखना ही सर्वोत्तम पवित्रता है।

युधिष्ठिर उवाच

कस्मिन् काले चरेद् धर्मं कस्मिन् कालेऽर्थमाचरेत्।
कस्मिन् काले सुखी च स्यात् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥७॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! मनुष्य किस समय धर्म का आचरण करे? कब धनोपार्जन में लगे और किस समय सुख-भोग में प्रवृत्त हो—यह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

काल्यमर्थं निषेवेत ततो धर्ममनन्तरम्।
पश्चात्कामं निषेवेत न च गच्छेत् प्रसङ्गिताम् ॥८॥

भीष्मजी ने कहा—राजन्! पूर्वाह्न में धन का उपार्जन करना चाहिए, तत्पश्चात् धर्म का और उसके बाद काम का सेवन करे परन्तु काम में आसक्त न हो।

ब्राह्मणाँश्चैव मन्येत गुरूँश्चाप्यभिपूजयेत्।
सर्वभूतानुलोमश्च मृदुशीलः प्रियंवदः ॥९॥

मनुष्य को चाहिए कि ब्राह्मणों का सम्मान करे, गुरुजनों की सेवा-सुश्रूषा में संलग्न रहे, सब प्राणियों के अनुकूल रहे, नम्रता का बर्ताव करे और सबसे मीठे वचन बोले।

अधिकारे यदनृतं यच्च राजसु पैशुनम्।
गुरोश्चालीककरणं तुल्यं तद् ब्रह्महत्यया ॥१०॥

न्याय का अधिकार पाकर झूठा निर्णय देना, राजाओं के पास किसी की चुगली करना और गुरु के साथ कपटपूर्ण बर्ताव करना—ये तीन ब्रह्महत्या के समान पाप हैं।

नाग्निं परित्यजेज्जातु न च वेदान् परित्यजेत्।
न च ब्राह्मणमाक्रोशेत् समं तद् ब्रह्महत्यया ॥११॥

यज्ञ=अग्निहोत्र का कभी त्याग न करे, वेदों का स्वाध्याय न छोड़े तथा ब्राह्मण की निन्दा न करे—क्योंकि ये तीनों दोष ब्रह्महत्या के समान हैं।

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशाः साधवो विप्राः केभ्यो दत्तं महाफलम्।
कीदृशानां च भोक्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१२॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! कैसे ब्राह्मणों को श्रेष्ठ समझना चाहिए? किनको दिया हुआ दान महान् फल देनेवाला होता है और कैसे ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए—यह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

अक्रोधना धर्मपराः सत्यनित्या दमे रताः।
तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥१३॥

भीष्मजी बोले—राजन्! जो क्रोधरहित, धर्मपरायण, सत्यवादी और इन्द्रियसंयम में तत्पर हैं, ऐसे ब्राह्मणों को श्रेष्ठ समझना चाहिए और उन्हीं को दान देने से महान् फल की प्राप्ति होती है [अतः उन्हीं को भोजन कराना चाहिए]।

अमानिनः सर्वसहा दृढार्था विजितेन्द्रियाः।
सर्वभूतहिता मैत्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥१४॥

जो अभिमानरहित हैं, जो सब-कुछ सह लेते हैं, जिनके विचार दृढ़ हैं, जो जितेन्द्रिय, सब प्राणियों के हित में तत्पर और सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाले हैं, उनको दिया हुआ दान महान् फल देनेवाला होता है।

अलुब्धाः शुचयो वैद्या ह्रीमन्तः सत्यवादिनः।
स्वकर्मनिरता ये च तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥१५॥

जो निर्लोभ, पवित्र, विद्वान्, लज्जाशील, सत्य बोलनेवाले तथा अपने कर्तव्य का पालन करनेवाले

हैं, उनको दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है।

साङ्गाँश्च चतुरो वेदानधीते यो द्विजर्षभः।
षड्भ्यः प्रवृत्तः कर्मभ्यस्तं पात्रमृषयो विदुः॥१६॥

जो श्रेष्ठ ब्राह्मण अङ्गोंसहित चारों वेदों का अध्ययन करता और ब्राह्मणोचित छह कर्मों [अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ करना-कराना और दान देना तथा लेना] में प्रवृत्त रहता है, उसे ऋषि लोग दान का उत्तम पात्र समझते हैं।

चारित्रनिरता राजन् ये कृशाः कृशवृत्तयः।
अर्थिनश्चोपगच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम्॥१७॥

हे राजन्! जो सदाचारपरायण हों, जिनकी जीविका का साधन नष्ट हो गया हो, अतः भोजन न मिलने के कारण जो अत्यन्त दुर्बल हो गये हों—ऐसे लोग यदि याचक बनकर दाता के पास आएँ तो उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है।

तस्करेभ्यः परेभ्यो वा ये भयार्ता युधिष्ठिर।
अर्थिनो भोक्तुमिच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम्॥१८॥

युधिष्ठिर! चोरों और शत्रुओं के भय से पीड़ित होकर आये हुए जो याचक केवल भोजन चाहते हैं, उन्हें दिया दान महान् फलदायक होता है।

महाफलविधिर्दाने श्रुतस्ते भरतर्षभ।
निरयं येन गच्छन्ति स्वर्गं चैव हि तच्छृणु॥१९॥

भरतश्रेष्ठ! किनको दान देने से महान् फल की प्राप्ति होती है, यह विषय तुमने सुन लिया। अब जिन कर्मों से मनुष्य नरक या स्वर्ग में जाते हैं, उन्हें सुनो।

परदाराभिहर्तारः परदाराभिमर्शिनः।
परदारप्रयोक्तारस्ते वै निरयगामिनः॥२०॥

दूसरों की स्त्री का अपहरण करनेवाले, पर-स्त्री का सतीत्व नष्ट करनेवाले तथा दूत बनकर पर-स्त्री को दूसरों से मिलानेवाले—निश्चय ही नरक में जाते हैं।

ये परस्वापहर्त्तारः परस्वानां च नाशकाः।
सूचकाश्च परेषां ये ते वै निरयगामिनः॥२१॥

जो दूसरों के धन को हड़पनेवाले तथा नष्ट करनेवाले हैं और जो दूसरों की चुगली खानेवाले हैं, उन्हें निश्चय ही नरक में गिरना पड़ता है।

अनाथां प्रमदां बालां वृद्धां भीतां तपस्विनीम्।
वञ्चयन्ति नरा ये च ते वै निरयगामिनः॥२२॥

जो लोग अनाथ, वृद्धा, तरुणी, बालिका, भयभीत और तपस्विनी स्त्रियों को धोखे में डालते हैं, वे निश्चय ही घोर नरक में गिरते हैं।

वृत्तिच्छेदं गृहच्छेदं दारच्छेदं च भारत।
मित्रच्छेदं तथाऽऽशायास्ते वै निरयगामिनः॥२३॥

भरतनन्दन! दूसरों की जीविका नष्ट करनेवाले, घर उजाड़नेवाले, पति-पत्नी को पृथक् करनेवाले, मित्रों में विरोध उत्पन्न करनेवाले और किसी की आशा को भङ्ग करनेवाले मनुष्य निश्चय ही नरक में जाते हैं।

उपाध्यायाँश्च भृत्याँश्च भक्ताँश्च भरतर्षभ।
ये त्यजन्त्यविकाराँस्त्रींस्ते वै निरयगामिनः॥२४॥

भरतभूषण! जो अध्यापक, सेवक और अपने भक्त—इन तीनों को बिना किसी अपराध के ही त्याग देते हैं, उन्हें भी नरक में ही गिरना पड़ता है।

बालानामथ वृद्धानां दासानां चैव ये नराः।
अदत्त्वा भक्षयन्त्यग्रे ते वै निरयगामिनः॥२५॥

जो बालकों, वृद्धों और सेवकों को दिये बिना ही पहले स्वयं भोजन कर लेते हैं, वे भी निःसन्देह नरक में पड़ते हैं।

दानेन तपसा चैव सत्येन च युधिष्ठिर।
ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥२६॥

युधिष्ठिर! जो मनुष्य दान, तप और सत्य के द्वारा धर्म का अनुष्ठान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं।

भयात्पापात्तथा बाधाद् दारिद्र्याद् व्याधिधर्षणात्।
यत्कृते प्रतिमुच्यन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥२७

जिनके प्रयत्न से मनुष्य भय, पाप, बाधा, दरिद्रता और व्याधिजनित पीड़ा से छुटकारा पा जाते हैं, वे लोग स्वर्ग में जाते हैं।

क्षमावन्तश्च धीराश्च धर्मकार्येषु चोत्थिताः।
मङ्गलाचारसम्पन्नाः पुरुषाः स्वर्गगामिनः॥२८॥

जो क्षमाशील, धैर्यशाली, धर्मकार्य के लिए तत्पर

रहनेवाले और श्रेष्ठ आचार से सम्पन्न हैं, ऐसे मनुष्य स्वर्ग में प्रवेश करते हैं।

निवृत्ता मधुमांसेभ्यः परदारेभ्य एव च।
निवृत्ताश्चैव मद्येभ्यस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२९॥

जो मद्य, मांस, परस्त्री-संसर्ग और मादक द्रव्यों से दूर रहते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं।

वस्त्राभरणदातारो भक्तपानान्नदास्तथा।
कुटम्बानां च दातारः पुरुषा स्वर्गगामिनः ॥३०॥

जो वस्त्र, आभूषण, भोजन, पानी तथा अन्न दान करते हैं और अन्य परिवारों की वृद्धि में सहायक होते हैं, वे स्वर्ग में जाते हैं।

सर्वहिंसानिवृत्ताश्च नराः सर्वसहाश्च ये।
सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३१॥

जो सब प्रकार की हिंसाओं से दूर रहते हैं, सब-कुछ सहते हैं और सबको आश्रय प्रदान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं।

मातरं पितरं चैव शुश्रूषन्ति जितेन्द्रियाः।
भ्रातॄणां चैव सस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३२॥

जो जितेन्द्रिय होकर माता-पिता की सेवा करते हैं और भाइयों पर स्नेह रखते हैं, वे जन स्वर्ग में निवास करते हैं।

आढ्याश्च बलवन्तश्च यौवनस्थाश्च भारत।
ये वै जितेन्द्रिया धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३३॥

भरतनन्दन ! जो धनी, बलशाली और नवयौवन से युक्त होने पर भी अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हैं, वे धीरपुरुष स्वर्ग में प्रवेश करते हैं।

अपराधिषु सस्नेहा मृदवो मृदुवत्सलाः।
आराधनसुखाश्चापि पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥३४॥

जो अपराधियों के प्रति दयालु, कोमल स्वभाव और मृदु स्वभाववाले व्यक्तियों पर प्रेम करते हैं और जिन्हें दूसरों की सेवा में सुख मिलता है, वे मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं।

सहस्रपरिवेष्टारस्तथैव च सहस्रदाः।
त्रातारश्च सहस्राणां ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३५॥

जो लोग सहस्रों मनुष्यों को भोजन परोसते, सहस्रों को दान देते और सहस्रों की रक्षा करते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं।

विहारावसथोद्यानकूपारामसभाप्रपाः।
वप्राणां चैव कर्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३६॥

जो दूसरों के लिए आश्रम, गृह, उद्यान, कूप, बगीचा, धर्मशाला, प्याऊ तथा चहारदीवारी बनवाते हैं, वे लोग स्वर्ग में जाते हैं।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

ब्रह्महत्या के समान पापों का निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

इदं मे तत्त्वतो राजन् वक्तुमर्हसि भारत।
अहिंसयित्वापि कथं ब्रह्महत्या विधीयते ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतवंशी नरेश ! ब्राह्मण की हिंसा न करने पर भी मनुष्य को ब्रह्महत्या का पाप कैसे लगता है, यह आप मुझे ठीक-ठीक बताने की कृपा करें।

भीष्म उवाच

ब्राह्मणं स्वयमाहूय भिक्षार्थे कृशवृत्तिनम्।
ब्रूयान्नास्तीति यः पश्चात्तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥२॥

भीष्मजी ने कहा—राजन् ! जिसकी जीविका-वृत्ति नष्ट हो गई हो, ऐसे ब्राह्मण को भिक्षा देने के लिए स्वयं बुलाकर जो बाद में भिक्षा नहीं देता, उसे ब्रह्महत्यारा जानना चाहिए।

मध्यस्थस्येह विप्रस्य योऽनूचानस्य भारत।
वृत्तिं हरति दुर्बुद्धिस्तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥३॥

भरतनन्दन ! जो दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य तटस्थ रहनेवाले विद्वान् ब्राह्मण की आजीविका छीन लेता है, उसे ब्रह्महत्यारा जानो।

गोकुलस्य तृषार्तस्य जलार्थे वसुधाधिप।
उत्पादयति यो विघ्नं तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥४॥

पृथिवीनाथ ! जो प्यास से पीड़ित हुई गौओं के

पानी पीने में विघ्न डालता है, उसे भी ब्रह्महत्यारा जानना चाहिए ।

यः प्रवृत्तां श्रुतिं सम्यक् शास्त्रं वा मुनिभिः कृतम् ।
दूषयत्यनभिज्ञाय तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ।।५।।

जो मनुष्य श्रेष्ठ कर्मों का विधान करनेवाले वेदों और ऋषिप्राणीत शास्त्रों पर बिना समझे-बूझे वृथा दोषारोपण करता है, उसे ब्रह्महत्यारा समझना चाहिए ।

आत्मजां रूपसम्पन्नां महतीं सदृशे वरे ।
न प्रयच्छति यः कन्यां तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ।।६।।

जो अपनी रूपवती कन्या की बड़ी अवस्था हो जाने पर भी उसके योग्य वर के साथ विवाह नहीं करता, उसे ब्रह्मघाती समझना चाहिए ।

अधर्मनिरतो मूढो मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
दद्यान्मर्मातिगं शोकं तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ।।७।।

जो पापपरायण मूर्ख मनुष्य ब्राह्मणों को अकारण ही मर्मभेदी शोक प्रदान करता है, उसे ब्रह्महत्यारा जानो ।

चक्षुषा विप्रहीनस्य पंगुलस्य जडस्य वा ।
हरते यो वै सर्वस्वं तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ।।८।।

जो अन्धे,लूले और गूंगे मनुष्यों का सर्वस्व हर लेता है, उसे ब्रह्महत्यारा जानना चाहिए ।

आश्रमे वा वने वापि ग्रामे वा यदि वा पुरे ।
अग्निं समुत्सृजेन्मोहात्तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ।।९।।

जो मोहवश आश्रम, वन, गाँव अथवा नगर में आग लगा देता है, उसे ब्रह्महत्यारा समझना चाहिए ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ।।८।।

नवमोऽध्यायः

पूजनीय पुरुषों के लक्षण और उनके आदर-सत्कार का फल

युधिष्ठिर उवाच

के पूज्या वै त्रिलोकेऽस्मिन् मानवा भरतर्षभ ।
विस्तरेण तदाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यतः ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! तीनों लोकों में कौन-कौन-से मनुष्य पूज्य होते हैं—यह विस्तार-पूर्वक बताइए । आपकी बातें सुनते-सुनते मुझे तृप्ति नहीं होती है ।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादं वासुदेवस्य चोभयोः ।।२।।

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! विज्ञ पुरुष इस विषय में देवर्षि नारद और श्रीकृष्ण के संवादरूप निम्न इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं ।

नारदं प्राञ्जलिं दृष्ट्वा पूजयानं द्विजर्षभान् ।
केशवः परिपप्रच्छ भगवन् कान् नमस्यसि ।।३।।

पहले कभी देवर्षि नारद को उत्तम ब्राह्मणों की पूजा करते हुए देखकर श्रीकृष्ण ने पूछा—"भगवन् ! आप किनको नमस्कार कर रहे हैं ?"

नारद उवाच

शृणु गोविन्द यानेतान् पूजयाम्यरिमर्दन ।
त्वत्तोऽन्यः कः पुमाँल्लोके श्रोतुमेतदिहार्हति ।।४।।

नारदजी बोले— शत्रुमर्दन गोविन्द ! मैं जिनका पूजन करता हूं, उनका परिचय सुनने के लिए इस संसार में आपसे बढ़कर दूसरा कौन पुरुष अधिकारी है !

तपोधनान् वेदविदो नित्यं वेदपरायणान् ।
महार्हान् वृष्णिशार्दूल सदा सम्पूजयाम्यहम् ।।५।।

वृष्णिसिंह ! तपस्या ही जिनका धन है, जो वेदों के ज्ञाता तथा वेदोक्त धर्म का ही आश्रय लेनेवाले हैं, उन परमपूजनीय पुरुषों की ही मैं सदा वन्दना करता हूँ ।

अभुक्त्वा देवकार्याणि कुर्वते येऽविकत्थनाः ।
सन्तुष्टाश्च क्षमायुक्तास्तान् नमस्याम्यहं विभो ।।६।।

प्रभो ! जो सन्ध्या-यज्ञ के पश्चात् भोजन करते हैं, अपनी झूठी बड़ाई नहीं करते, सन्तुष्ट रहते और क्षमाशील होते हैं, मैं उनको प्रणाम करता हूँ ।

सम्यग्यजन्ति ये चेष्टीः क्षान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः ।
सत्यं धर्मं क्षितिं गाश्च तान् नमस्यामि यादव ।।७।।

यदुनन्दन ! जो विधिपूर्वक यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं, जो क्षमाशील, जितेन्द्रिय तथा मन को वश में करनेवाले हैं, जो सत्य, धर्म, पृथिवी तथा गौओं की पूजा करते हैं, मैं उनको प्रणाम करता हूँ।

ये वै तपसि वर्तन्ते वने मूलफलाशनाः ।
असंचयाः क्रियावन्तस्तान् नमस्यामि यादव ।।८।।

यादव ! जो लोग वन में फल-मूल खाकर तपस्या में लगे रहते हैं, किसी प्रकार का संग्रह नहीं रखते और क्रियानिष्ठ होते हैं, मैं उन्हीं की पूजा करता हूँ।

ये भृत्यभरणे शक्ताः सततं चातिथिव्रताः ।
भुञ्जते देवशेषाणि तान् नमस्यामि यादव ।।९।।

जो सेवकों के पालन-पोषण में समर्थ हैं, जिन्होंने सदा अतिथि-सेवा का व्रत लिया हुआ है और जो देवयज्ञ से बचे हुए अन्न का ही भोजन करते हैं, मैं उन्हीं को मस्तक झुकाता हूँ।

ये वेदं प्राप्य दुर्धर्षा वाग्मिनो ब्रह्मचारिणः ।
याजनाध्यापने युक्ता नित्यं तान् पूजयाम्यहम् ।।१०।।

जो वेद का स्वाध्याय करके दुर्धर्ष और बोलने में कुशल हो गये हैं, जो ब्रह्मचर्य का पालन, यज्ञ कराने और वेद पढ़ाने में लगे रहते हैं, मैं सदा उन्हीं की वन्दना करता हूँ।

भैक्ष्यचर्यासु निरताः कृशा गुरुकुलाश्रयाः ।
निःसुखा निर्धना ये तु तान् नमस्यामि यादव ।।११।।

यदुकुलश्रेष्ठ ! जो गुरुकुल में रहकर भिक्षा से जीवन-निवाह करते हैं, तप करने के कारण जिनका शरीर निर्बल हो गया है और जो कभी धन तथा सुख की परवाह नहीं करते, मैं उनको प्रणाम करता हूँ।

अहिंसानिरता ये च ये च सत्यव्रता नराः ।
दान्ताः शमपराश्चैव तान् नमस्यामि केशव ।।१२।।

जो अहिंसा में तत्पर हैं, जिन्होंने सदा सत्यभाषण का व्रत ले रखा है, जो इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह की साधना में संलग्न रहते हैं, मैं उनको नमस्कार करता हूँ।

देवतातिथिपूजायां युक्ता ये गृहमेधिनः ।
कपोतवृत्तयो नित्यं तान् नमस्यामि यादव ।।१३।।

यादव ! जो गृहस्थाश्रमी ब्राह्मण सदा कपोत-[सञ्चयहीन]-वृत्ति से रहते हुए देवता और अतिथियों की पूजा में संलग्न रहते हैं, मैं उनका अभिवादन करता हूँ।

ब्राह्मणाः श्रुतिसम्पन्ना ये त्रिवर्गमनुष्ठिताः ।
अलोलुपाः पुण्यशीलास्तान् नमस्यामि केशव ।।१४।।

केशव ! जो ब्राह्मण वेद-शास्त्रों के ज्ञान से सम्पन्न, धर्म, अर्थ और काम का सेवन करनेवाले, लोलुपता से रहित और स्वभावतः पुण्यात्मा हैं, मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ।

तस्मात्त्वमपि वार्ष्णेय द्विजान् पूजय नित्यदा ।
पूजिताः पूजनार्हा हि सुखं दास्यन्ति तेऽनघ ।।१५।।

वार्ष्णेय ! आप भी सदा ब्राह्मणों की पूजा करो। निष्पाप कृष्ण ! वे पूजनीय ब्राह्मण सत्कृत होने पर आपको अपने आशीर्वाद से सुख प्रदान करेंगे।

ये सर्वातिथयो नित्यं गोषु च ब्राह्मणेषु च ।
नित्यं सत्ये चाभिरता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।१६।।

जो सबका आतिथ्य करते तथा गो, ब्राह्मण और सत्य पर प्रेम रखते हैं, वे बड़े-बड़े संकटों से पार हो जाते हैं।

नित्यं शमपरा ये च तथा ये चानसूयकाः ।
नित्यस्वाध्यायिनो ये च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।१७।।

जो सदा मन को वश में रखते, किसी के दोष पर दृष्टि नहीं डालते और प्रतिदिन स्वाध्याय में लगे रहते हैं, वे भीषण संकटों से पार हो जाते हैं।

सर्वान् देवान् नमस्यन्ति ये चैकं देवमाश्रिताः ।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।१८।।

जो सब विद्वानों को प्रणाम करते हैं, एकमात्र प्रभु का आश्रय लेते हैं, जो श्रद्धायुक्त और मन व इन्द्रियों को वश में रखते हैं, वे भी दुस्तर संकटों से छूट जाते हैं।

तपस्विनश्च ये नित्यं कौमारब्रह्मचारिणः ।
तपसा भावितात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।१९।।

जो तपस्वी, बालब्रह्मचारी और तपस्या से शुद्ध अन्तःकरणवाले हैं, वे महान् संकटों से पार हो जाते हैं।

देवतातिथिभृत्यानां पितृणां चार्चने रताः ।
शिष्टान्नभोजिनो ये च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥२०॥

जो विद्वान्, अतिथि, नौकर-चाकर तथा माता-पिता आदि के पूजन में तत्पर रहते हैं और यज्ञ-शिष्ट अन्न का भोजन करते हैं, वे भी भीषण कष्टों से पार हो जाते हैं ।

अग्निमाधाय विधिवत् प्रयता धारयन्ति ये ।
प्राप्ताः सोमाहुतिं चैव दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥२१॥

जो विधिपूर्वक अग्नि की स्थापना करके प्रतिदिन यज्ञ करते हुए प्रयत्नपूर्वक उस अग्नि की रक्षा करते हैं और उसमें सोमरस की आहुति देते हैं, वे महान् दुःखों से पार हो जाते हैं ।

गुरुषु मातृपित्रोश्च सम्यग्वर्तन्ति ये सदा ।
यथा त्वं वृष्णिशार्दूलेत्युक्त्वैवं विरराम सः ॥२२॥

वृष्णिसिंह ! जो आपकी ही भाँति माता-पिता और गुरु के प्रति ठीक-ठीक बर्ताव करते हैं, वे भी संकटों से पार हो जाते हैं । ऐसा कहकर नारदजी चुप हो गये ।

भीष्म उवाच

तस्मात्त्वमपि कौन्तेय पितृदेवद्विजातिथीन् ।
सम्यक् पूजय येन त्वं गतिमिष्टामवाप्स्यसि ॥२३॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन ! यदि तुम भी सदा माता-पिता, विद्वान्, ब्राह्मण और अतिथियों का आदर-सत्कार करोगे तो अभीष्ट गति को प्राप्त कर लोगे ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

शरणागत की रक्षा का फल, वृषदर्भ द्वारा शरणागत कपोत की रक्षा

युधिष्ठिर उवाच

शरणागतं ये रक्षन्ति भूतग्रामं चतुर्विधम् ।
किं तस्य भरतश्रेष्ठ फलं भवति तत्त्वतः ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! जो लोग शरण में आये हुए उद्भिज, अण्डज, स्वेदज और जरायुज—इन चार प्रकार के प्राणियों की रक्षा करते हैं, उन्हें क्या फल मिलता है, मुझे यह बताने की कृपा कीजिए ।

भीष्म उवाच

इदं शृणु महाप्राज्ञ धर्मपुत्र महायशः ।
इतिहासं पुरावृत्तं शरणार्थं महाफलम् ॥२॥

भीष्मजी बोले—महाबुद्धिमन् ! महायशस्वी धर्मपुत्र युधिष्ठिर ! शरणागत की रक्षा करने से जो महान् फल प्राप्त होता है, इस विषय में तुम यह प्राचीन इतिहास सुनो ।

प्रपात्यमानः श्येनेन कपोतः प्रियदर्शनः ।
वृषदर्भं महाभागं नरेन्द्रं शरणं गतः ॥३॥

एक बार कोई सुन्दर कबूतर किसी बाज से पीड़ित होकर महाभाग राजा वृषदर्भ [उशीनर] की शरण में गया ।

स तं दृष्ट्वा विशुद्धात्मा त्रासादङ्कमुपागतम् ।
आश्वास्याश्वसिहीत्याह न तेऽस्ति भयमण्डज ॥४॥

भय के कारण अपनी गोद में आकर पड़े हुए उस कबूतर को देखकर शुद्ध अन्तःकरणवाले राजा उशीनर ने उस पक्षी को सान्त्वना प्रदान करते हुए कहा—'हे अण्डज ! शान्त रह । यहाँ तुझे कोई भय नहीं है ।

भयं ते सुमहत् कस्मात् कुत्र किं वा कृतं त्वया ।
येन त्वमिह सम्प्राप्तो विसंज्ञो भ्रान्तचेतनः ॥५॥

'बता, तुझे यह महान् भय कहाँ और किससे प्राप्त हुआ है ? तूने क्या अपराध किया है जिससे तेरी चेतना भ्रान्त-सी हो रही है और तू बेसुध-सा होकर यहाँ आया है ?

मत्सकाशमनुप्राप्तं न त्वां कश्चित् समुत्सहेत् ।
मनसा ग्रहणं कर्तुं रक्षाध्यक्षपुरस्कृतम् ॥६॥

'अब तू मेरे पास आ गया है, अतः रक्षाध्यक्ष के सामने है । यहाँ तुझे कोई मन से भी पकड़ने का साहस नहीं कर सकता ।

काशिराज्यं तवद्यैव त्वदर्थं जीवितं तथा।
त्यजेयं भव विश्रब्धः कपोत न भयं तव ॥७॥

'कबूतर ! आज ही मैं तेरी रक्षा के लिए यह काशी देश का राज्य और अपना जीवन भी न्यौछावर कर दूंगा। तू इस बात पर विश्वास करके निश्चिन्त हो जा। अब तुझे कोई भय नहीं है।'

श्येन उवाच

ममैतद् विहितं भक्ष्यं न राजंस्त्रातुमर्हसि।
अतिक्रान्तं च प्राप्तं च प्रयत्नाच्चोपपादितम् ॥८॥

बाज बोला—राजन् ! विधाता ने इस कबूतर को मेरा भोजन नियत किया है। आप इसकी रक्षा न करें। इसका जीवन समाप्त ही है, क्योंकि अब यह मुझे मिल गया है। इसे मैंने बहुत प्रयत्न करके पाया है।

मांसं च रुधिरं चास्य मज्जा मेदश्च मे हितम्।
परितोषकरो ह्येष मम मास्याग्रतो भव ॥९॥

राजन् ! इसका रक्त, मांस, मेद और मज्जा सभी मेरे लिए हितकर हैं। यह कबूतर मेरी क्षुधा मिटाकर मुझे पूर्णतः तृप्त कर देगा, अतः आप मेरे आहार के आगे आकर विघ्न मत डालिए।

तृष्णा मे बाधतेऽत्युग्रा क्षुधा निर्दहतीव माम्।
मुञ्चैनं न हि शक्ष्यामि राजन् मन्वयितुं क्षुधाम् ॥१०॥

मुझे बड़े जोर की प्यास लगी है और भूख की ज्वाला मुझे जला-सी रही है। राजन् ! इसे छोड़ दीजिए। मैं अपनी भूख की ज्वाला को नहीं दबा सकूंगा।

यदि स्वविषये राजन् प्रभुस्त्वं रक्षणे नृणाम्।
खेचरस्य तृषार्तस्य न त्वं प्रभुरथोत्तम ॥११॥

श्रेष्ठ नरेश्वर ! अपने देश में रहनेवाले मनुष्यों की रक्षा के लिए ही आपको राजा बनाया गया है, भूख-प्यास से पीड़ित पक्षी के आप स्वामी नहीं हैं।

यदि वैरिषु भृत्येषु स्वजनव्यवहारयोः।
विषयेष्विन्द्रियाणां च आकाशे मा पराक्रम ॥१२॥

यदि आपमें शक्ति है तो वैरियों, सेवकों, स्वजनों, वादी-प्रतिवादी के व्यवहारों तथा इन्द्रियों के विषयों पर पराक्रम प्रकट कीजिए। आकाश में रहनेवालों पर अपने बल का प्रयोग न कीजिए।

प्रभुत्वं हि पराक्रम्य सम्यक् पक्षहरेषु ते।
यदि त्वमिह धर्मार्थी मामपि द्रष्टुमर्हसि ॥१३॥

जो लोग आपकी आज्ञा भङ्ग करनेवाले शत्रु-कोटि के अन्तर्गत हैं, उनपर पराक्रम करके अपनी प्रभुता प्रकट करना आपके लिए उचित हो सकता है। यदि आप धर्मोपार्जन की दृष्टि से कबूतर की रक्षा करते हो तो मुझ भूखे पक्षी पर भी आपको दृष्टि डालनी चाहिए।

राजोवाच

गोवृषो वा वराहो वा मृगो वा महिषोऽपि वा।
त्वदर्थमद्य क्रियतां क्षुधाप्रशमनाय ते ॥१४॥

राजा ने कहा—बाज ! तुम चाहो तो तुम्हारी भूख मिटाने के लिए आज तुम्हारे भोजन के निमित्त बैल, भैंसा, सूअर अथवा मृग प्रस्तुत कर दिया जाए।

शरणागतं न त्यजेयमिति मे व्रतमाहितम्।
न मुञ्चति ममाङ्गानि द्विजोऽयं पश्य वै द्विज ॥१५॥

हे पक्षिराज ! मैं शरणागत का त्याग नहीं कर सकता—यह मेरा व्रत है। देखो, यह पक्षी भय के मारे मेरे अङ्गों को नहीं छोड़ रहा है।

श्येन उवाच

न वराहं न चोक्षाणं न चान्यान्विविधान्द्विजान्।
भक्षयामि महाराज किमन्याद्येन तेन मे ॥१६॥

बाज बोला—राजन् ! मैं न तो सूअर, न बैल और न दूसरे ही नाना प्रकार के पक्षियों का मांस खाऊँगा। जो दूसरों का भोजन है, उसे लेकर मैं क्या करूँगा ?

यस्तु मे विहितो भक्ष्यः स्वयं देवैः सनातनः।
श्येनाः कपोतान् खादन्ति स्थितिरेषा सनातनी ॥१७॥

साक्षात् देवताओं ने सनातनकाल से मेरे लिए जो भोजन निश्चित कर दिया है, वही मुझे मिलना चाहिए। प्राचीनकाल से लोग इस बात को जानते हैं कि बाज कबूतरों को खाते हैं।

उशीनर कपोते तु यदि स्नेहस्तवानघ।
ततस्त्वं मे प्रयच्छाद्य स्वमांसं तुलया धृतम् ॥१८॥

निष्पाप महाराज उशीनर ! यदि आपको इस कबूतर के साथ प्रेम है तो आप मुझे इसके बराबर अपना ही मांस तराजू पर तोलकर दे दीजिए।

राजोवाच

महाननुग्रहो मेऽद्य यस्त्वमेवमिहात्थ माम् ।
बाढमेवं करिष्यामीत्युक्त्वासौ राजसत्तमः ॥१६॥
उत्कृत्योत्कृत्य मांसानि तुलया समतोलयत् ।
स राजा पार्श्वतश्चैव बाहुभ्यामूरुतश्च यत् ॥२०॥
तानि मांसानि संछिद्य तुलां पूरयतेऽशनैः ।
तथापि न समस्तेन कपोतेन बभूव ह ॥२१॥

राजा ने कहा—'बाज ! तुमने ऐसी बात कहकर मुझपर बड़ा अनुग्रह किया है । बहुत अच्छा, मैं ऐसा ही करूँगा ।' यह कहकर नृपश्रेष्ठ उशीनर ने अपना मांस काट-काटकर तराजू पर रखना आरम्भ किया । राजा अपनी पसलियों, भुजाओं और जांघों से मांस काट-काटकर जल्दी-जल्दी तराजू भरने लगे परन्तु वह मांस-राशि उस कबूतर के बराबर नहीं हुई ।

अस्थिभूतो यदा राजा निर्मांसो रुधिरस्रवः ।
तुलां ततः समारूढः स्वं मांसक्षयमुत्सृजन् ॥२२॥

जब राजा के शरीर का मांस समाप्त हो गया **और रक्त की धारा** बहाता हुआ केवल हड्डियों का **ढांचा** रह गया, तब वे मांस काटने का काम बन्द करके स्वयं ही तराजू पर चढ़ गये ।

भीष्म उवाच

स राजर्षिर्गतः स्वर्गं कर्मणा तेन शाश्वतम् ।
शरणागतेषु चैवं त्वं कुरु सर्वं युधिष्ठिर ॥२३॥
भक्तानामनुरक्तानामाश्रितानां च रक्षिता ।
दयावान् सर्वभूतेषु परत्र सुखमेधते ॥२४॥

भीष्मजी कहते हैं—राजर्षि उशीनर ने उस पुण्यकर्म के प्रभाव से सनातन स्वर्गलोक को प्राप्त किया । युधिष्ठिर ! तुम भी शरणागतों के लिए इसी प्रकार अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दो । जो मनुष्य अपने भक्त, प्रेमी और शरणागत पुरुषों की रक्षा करता है तथा सब प्राणियों पर दया करता है, वह परलोक में सुख पाता है ।

साधुवृत्तो हि यो राजा सद्वृत्तमनुतिष्ठति ।
किं न प्राप्तं भवेत् तेन स्वव्याजेनेह कर्मणा ॥२५॥

जो राजा सदाचारी होकर सबके साथ उत्तम व्यवहार करता है, वह अपने निश्छल कर्म से क्या-कुछ प्राप्त नहीं कर लेता, अर्थात् सबकुछ प्राप्त कर लेता है ।

स राजर्षिर्विशुद्धात्मा धीरः सत्यपराक्रमः ।
काशीनामीश्वरः ख्यातस्त्रिषु लोकेषु कर्मणा ॥२६॥

सत्यपराक्रमी, धीर, शुद्ध हृदयवाले काशीराज राजर्षि उशीनर अपने पुण्य कर्म से तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो गये ।

योऽप्यन्यः कारयेदेवं शरणागतरक्षणम् ।
सोऽपि गच्छेत तामेव गतिं भरतसत्तम ॥२७॥

भरतश्रेष्ठ ! यदि अन्य कोई भी मनुष्य इस प्रकार शरणागत की रक्षा करेगा तो वह भी उसी गति को प्राप्त करेगा ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

दानपात्र की परीक्षा

युधिष्ठिर उवाच

अपूर्वश्च भवेत् पात्रमथवापि चिरोषितः ।
दूरादभ्यागतं चापि किं पात्रं स्यात् पितामह ॥१॥

युधिष्ठिरजी ने पूछा—पितामह ! अपरिचित पुरुष अथवा बहुत समय तक अपने साथ रहा हुआ मनुष्य या किसी दूर देश से आया हुआ व्यक्ति—इनमें से दान का उत्तम पात्र किसे समझना चाहिए ?

भीष्म उवाच

क्रिया भवति केषांचिदुपांशुव्रतमुत्तमम् ।
यो यो याचेत यत् किञ्चित् सर्वं दद्याम इत्यपि ॥२॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! कितने ही याचकों का तो यज्ञ अथवा परिवार का पालन-पोषण आदि कार्य ही मनोरथ होता है और किन्हीं का मौनव्रती रहकर निर्वाह करना प्रयोजन होता है । इनमें से

जो-जो याचक जिस किसी वस्तु की याचना करे, उन सबके लिए यही कहना चाहिए—'हम देंगे' अर्थात् किसी को निराश न करे।

अपीडयन् भृत्यवर्गमित्येवमनुशुश्रुम ।
पीडयन् भृत्यवर्गं हि आत्मानमपकर्षति ॥३॥

हमने सुना है कि 'जिनके पालन-पोषण का अपने ऊपर भार है, उस समुदाय को कष्ट दिये बिना ही दाता को दान देना चाहिए।' जो पोष्य-वर्ग को कष्ट देकर या उन्हें भूखा रखकर दान करता है, वह अपने-आपको नीचे गिराता है।

अपूर्वं भावयेत् पात्रं यच्चापि स्याच्चिरोषितम् ।
दूरादभ्यागतं चापि तत्पात्रं च विदुर्बुधाः ॥४॥

इस दृष्टि से विचार करने पर जो पूर्व-परिचित नहीं है अथवा जो चिरकाल तक साथ रह चुका है या जो दूर देश से आया हुआ है—इन तीनों को ही विद्वान् लोग दानपात्र समझते हैं।

युधिष्ठिर उवाच

अपीडया च भूतानां धर्मस्याहिंसया तथा ।
पात्रं विद्यात्तु तत्त्वेन यस्मै दत्तं न संतपेत् ॥५॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाई जाए और धर्म में भी बाधा न आने पाए, इस प्रकार दान देना उचित है, परन्तु सच्चे पात्र=अधिकारी की पहचान कैसे हो जिससे दिया हुआ दान पीछे सन्ताप का कारण न बने ?

भीष्म उवाच

ऋत्विक्पुरोहिताचार्याः शिष्यसम्बन्धिबान्धवाः ।
सर्वे पूज्याश्च मान्याश्च श्रुतवन्तोऽनसूयकाः ॥६॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, शिष्य, सम्बन्धी, बान्धव, विद्वान् और दोष-दृष्टि से रहित मनुष्य—ये सभी पूजनीय और माननीय हैं।

अतोऽन्यथा वर्तमानाः सर्वे नार्हन्ति सत्क्रियाम् ।
तस्मान्नित्यं परीक्षेत पुरुषान् प्रणिधाय वै ॥७॥

इनसे भिन्न प्रकार के तथा भिन्न व्यवहारवाले जो मनुष्य हैं, वे सब सत्कार के पात्र नहीं हैं, अतः एकाग्रचित्त होकर प्रतिदिन सुपात्र पुरुष की परीक्षा करनी चाहिए।

अक्रोधः सत्यवचनमहिंसा दम आर्जवम् ।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ॥८॥
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते न चाकार्याणि भारत ।
स्वभावतो निविष्टानि तत्पात्रं मानमर्हति ॥९॥

भरतनन्दन ! क्रोध का अभाव, सत्यभाषण, अहिंसा, इन्द्रिय-संयम, सरलता, निर्वैरता, अभिमान-शून्यता, लज्जा, सहनशीलता, दम और मनोनिग्रह—ये गुण जिसमें स्वभावतः दिखाई दें और धर्मविरुद्ध कार्य दृष्टिगोचर न हों—वे ही दान के उत्तमपात्र और सम्मान के अधिकारी हैं।

तथा चिरोषितं चापि सम्प्रत्यागतमेव च ।
अपूर्वं चैव पूर्वं च तत्पात्रं मानमर्हति ॥१०॥

जो व्यक्ति बहुत दिनों तक अपने साथ रहा हो और जो कहीं से तत्काल आया हो, वह पूर्वपरिचित हो या अपरिचित, वह दान का पात्र और सम्मान का अधिकारी है।

अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चाभिलंघनम् ।
अव्यवस्था च सर्वत्र एतन्नाशनमात्मनः ॥११॥

वेदों को अप्रामाणिक मानना, शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन करना तथा सर्वत्र अव्यवस्था फैलाना—ये सब अपना ही नाश करनेवाले हैं।

सर्वाभिशङ्की मूढश्च बालः कटुकवागपि ।
बोद्धव्यस्तादृशस्तात नरं श्वानं हि तं विदुः ॥१२॥

जो सबपर सन्देह करता है, जो बालकों और मूर्खों जैसा व्यवहार करता है तथा कड़वे वचन बोलता है, तात ! विद्वान् लोगों ने ऐसे मनुष्यों को कुत्ता माना है।

यथा श्वा भषितुं चैव हन्तुं चैवावसज्जते ।
एवं सम्भाषणार्थाय सर्वशास्त्रवधाय च ॥१३॥

जैसे कुत्ता भौंकने और काटने के लिए निकट आ जाता है, उसी प्रकार वह बहस करने और सब शास्त्रों का खण्डन करने के लिए इधर-उधर दौड़ता-फिरता है [ऐसा व्यक्ति दान का अधिकारी नहीं है।]

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

कन्या-विवाह के सम्बन्ध में पात्रविषयक-विचार और नारी-सम्मान का महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

यन्मूलं सर्वधर्माणां स्वजनस्य गृहस्य च ।
कीदृशस्य प्रदेया स्यात् कन्येति वसुधाधिप ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पृथिवीनाथ ! जो समस्त धर्मों की, कुटुम्बीजनों की और घर की मूल है, उस कन्या को कैसे पात्र को देना चाहिए ?

भीष्म उवाच

शीलवृत्ते समाज्ञाय विद्यां योनिं च कर्म च ।
सद्भिरेवं प्रदातव्या कन्या गुणयुते वरे ॥२॥

भीष्मजी बोले—पुत्र ! सत्पुरुषों को चाहिए कि वे पहले वर के शील-स्वभाव, सदाचार, विद्या, कुल, मर्यादा और कार्यों की जाँच करें। यदि वह सभी दृष्टियों से गुणवान् प्रतीत हो तो उसे कन्या प्रदान करें।

ब्राह्मणानां सतामेष ब्राह्मो धर्मो युधिष्ठिर ।
आवाह्यमावहेदेवं यो दद्यादनुकूलतः ॥३॥
शिष्टानां क्षत्रियाणां च धर्म एष सनातनः ।
आत्माभिप्रेतमुत्सृज्य कन्याभिप्रेत एव यः ॥४॥
अभिप्रेता च या यस्य तस्मै देया युधिष्ठिर ।
गान्धर्वमिति तं धर्मं प्राहुर्वेदविदो जनाः ॥५॥

युधिष्ठिर ! विवाह करने योग्य वर को बुलाकर उसके साथ कन्या का विवाह करना उत्तम ब्राह्मणों का धर्म [ब्राह्मविवाह] है। जो धनादि के द्वारा वर-पक्ष को अपने अनुकूल करके कन्यादान किया जाता है, वह शिष्ट ब्राह्मण और क्षत्रियों का सनातनधर्म [प्राजापत्य विवाह] कहा जाता है। युधिष्ठिर ! जब कन्या के माता-पिता द्वारा पसन्द किये हुए वर को छोड़कर जिसे कन्या पसन्द करती हो तथा जो कन्या को चाहता हो, ऐसे वर के साथ कन्या के विवाह को वेदवेत्ता गान्धर्वधर्म [गान्धर्व विवाह] कहते हैं।

धनेन बहुधा क्रीत्वा सम्प्रलोभ्य च बान्धवान् ।
असुराणां नृपैतं वै धर्ममाहुर्मनीषिणः ॥६॥

राजन् ! कन्या के बन्धु-बान्धवों को लोभ में डालकर, उन्हें बहुत-सा धन देकर जो कन्या को खरीद लिया जाता है, इसे मनीषी लोग असुरों का धर्म [आसुर विवाह] कहते हैं।

हत्वा छित्त्वा च शीर्षाणि रुदतां रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य हरणं तात राक्षसो विधिरुच्यते ॥७॥

तात ! कन्या के रोते हुए अभिभावकों को मारकर, उनके मस्तक काटकर रोती हुई कन्या को उसके घर से बलपूर्वक अपहरण कर लेना राक्षसों का काम [राक्षस विवाह] कहलाता है।

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ युधिष्ठिर ।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कथञ्चन ॥८॥

युधिष्ठिर ! इन पाँच [ब्राह्म, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर और राक्षस] विवाहों में से पूर्वकथित तीन विवाह धर्मानुकूल हैं और शेष दो धर्मविरुद्ध हैं। आसुर और राक्षस-विवाह किसी प्रकार भी नहीं करने चाहिए।

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
इत्येतामनुगच्छेत तं धर्मं मनुरब्रवीत् ॥९॥

जो कन्या माता की सपिण्ड और पिता के गोत्र की न हो, उसी कन्या से विवाह करे, इसे मनुजी ने धर्मानुकूल बताया है।

अनुकूलामनुवंशां भ्रात्रा दत्तामुपाग्निकाम् ।
परिक्रम्य यथान्यायं भार्यां विन्देद् द्विजोत्तमः ॥१०॥

जो अनुकूल हो, अपने वंश के अनुरूप हो, उसके माता-पिता अथवा भाई के द्वारा दी गई हो और प्रज्वलित अग्नि के समीप बैठी हो, ऐसी पत्नी को द्विजश्रेष्ठ अग्नि की परिक्रमा करके शास्त्रविधि के अनुसार ग्रहण करे।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चापि श्वशुरैरथ देवरैः ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥११॥

बहुविध कल्याण की कामना रखनेवाले पिता, भाई, श्वशुर और देवरों को उचित है कि वे वधुओं का वस्त्राभूषणों द्वारा सत्कार करें।

यदि वै स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनो न प्रवर्धते ॥१२॥

यदि स्त्री की रुचि पूर्ण न की जाए तो वह अपने पति को प्रसन्न नहीं कर सकती, और मनुष्य के अप्रसन्न रहने से उसकी सन्तानवृद्धि नहीं हो सकती ।

स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
अपूजिताश्च यत्रैताः सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥१३॥

जहाँ स्त्रियों का आदर-सत्कार होता है, वहाँ देवता=विद्वान् लोग प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं और जहाँ इनका अपमान होता है, वहाँ की सारी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ।

तदा चैतत् कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामयः ।
जामिशप्तानि गेहानि भिया हीनानि पार्थिव ॥१४॥

पृथिवीनाथ ! जब कुल की बहू-बेटियाँ दुःख मिलने के कारण शोकमग्न होती हैं, तब उस कुल का नाश हो जाता है । वे खिन्न होकर जिन घरों को शाप देती हैं, वे घर श्री से हीन हो जाते हैं ।

अबलाः स्वल्पकौपीनाः सुहृदः सत्यजिष्णवः ।
विदेहराजदुहिता चात्र श्लोकमगायत ॥१५॥
नास्ति यज्ञक्रिया काचिन्न श्राद्धं नोपवासकम् ।
धर्मः स्वभर्तृशुश्रूषा तया स्वर्गं जयन्त्युत ॥१६॥

स्त्रियाँ अबला, थोड़े वस्त्रों से काम चलानेवाली, अकारण हितसाधन करनेवाली और सत्यपरायणा होती हैं । विदेहराज जनक की पुत्री ने [स्त्रियों के कर्तव्य के विषय में] एक श्लोक का गान किया है, जिसका भाव है—स्त्री के लिए पृथक् से कोई यज्ञ आदि कर्म, श्राद्ध और उपवास करना आवश्यक नहीं है । उसका धर्म है अपने पति की सेवा । उसी से स्त्रियाँ स्वर्गलोक पर विजय पा लेती हैं ।

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥१७॥

कुमारावस्था में स्त्री की रक्षा उसका पिता करता है, यौवन में पति उसका रक्षक होता है और बुढ़ापे में पुत्र उसकी रक्षा करते हैं, अतः नारी को कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिए ।

श्रिय एताः स्त्रियो नाम सत्कार्या भूतिमिच्छता ।
पालिता निगृहीता च स्त्री श्रीर्भवति भारत ॥१८॥

भरतकुमार ! स्त्रियाँ ही घर की लक्ष्मी हैं । ऐश्वर्य और उन्नति चाहनेवाले मनुष्य को उनका भली-भाँति सत्कार करना चाहिए । अपने वश में रखकर उनका पालन करने से स्त्री श्री=लक्ष्मीरूप बन जाती है ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

गो-महिमा के प्रसङ्ग में च्यवन मुनि का उपाख्यान

युधिष्ठिर उवाच

दर्शने कीदृशः स्नेहः संवासे च पितामह ।
महाभाग्यं गवां चैव तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! किसी का दर्शन करने और उसके साथ रहने पर कैसा स्नेह होता है तथा गौओं का माहात्म्य क्या है ? आप यह सब मुझे बताने की कृपा करें ।

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि पुरावृत्तं महाद्युते ।
नहुषस्य च संवादं महर्षेश्च्यवनस्य च ॥२॥

भीष्मजी बोले—महातेजस्वी राजन् ! इस विषय में मैं तुम्हें महर्षि च्यवन और राजा नहुष का संवाद-रूप प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ ।

पुरा महर्षिश्च्यवनो भार्गवो भरतर्षभ ।
उदवासकृतारम्भो बभूव स महाव्रतः ॥३॥

भरतश्रेष्ठ ! प्राचीनकाल की बात है, भृगु के पुत्र महर्षि च्यवन ने महान् व्रत का आश्रय लेकर जल के भीतर रहना आरम्भ किया ।

तत्र तस्यासतः कालः समतीतोऽभवन्महान् ।
ततः कदाचित् समये कस्मिंश्चिन्मत्स्यजीविनः ॥४॥
तं देशं समुपाजग्मुर्जालहस्ता महाद्युते ।
निषादा बहवस्तत्र मत्स्योद्धरणनिश्चयाः ॥५॥

महातेजस्वी नरेश ! महर्षि च्यवन को पानी में रहते हुए बहुत समय व्यतीत हो गया। तदनन्तर एक दिन मछलियों से निर्वाह चलानेवाले बहुत-से मल्लाह मछली पकड़ने का निश्चय करके जाल हाथ में लिये हुए उस स्थान पर आये।

जालं ते योजयामासुर्निःशेषेण जनाधिप।
मत्स्योदकं समासाद्य तदा भरतसत्तम ॥६॥

भरतवंशशिरोमणि राजन् ! उस समय जहाँ मछलियाँ रहती थीं, उतने गहरे जल में उतरकर उन्होंने अपने जाल को पूर्णरूप से फैला दिया।

ततस्ते मत्स्यकांक्षिणो जालं चकृषिरे तदा।
बबन्धुस्तत्र मत्स्याँश्च तथान्यान् जलचारिणः ॥७॥

फिर मछली-प्राप्ति के इच्छुक उन निषादों ने जाल को खींचना आरम्भ किया। उस जाल में उन्होंने मछलियों के साथ ही दूसरे जल-जन्तुओं को भी बाँध लिया था।

तथा मत्स्यैः परिवृतं च्यवनं भृगुनन्दनम्।
आकर्षयन्महाराज जालेनाथ यदृच्छया ॥८॥

महाराज ! जाल खींचते समय केवटों ने दैवेच्छा से उस जाल के द्वारा मछलियों से घिरे हुए भृगु के पुत्र महर्षि च्यवन को भी खींच लिया।

तं जालेनोद्धृतं दृष्ट्वा ते तदा वेदपारगम्।
सर्वे प्राञ्जलयो दाशाः शिरोभिः प्रापतन् भुवि ॥९॥

वेदों के महान् विद्वान् महर्षि को जाल के साथ खिंचा देख सभी मल्लाह हाथ जोड़ मस्तक झुका पृथिवी पर लेट गये।

परिखेदपरित्रासाज्जालस्याकर्षणेन च।
मत्स्या बभूवुर्व्यापन्नाः स्थलसंस्पर्शनेन च ॥१०॥
स मुनिस्तत्तदा दृष्ट्वा मत्स्यानां कदनं कृतम्।
बभूव कृपयाविष्टो निःश्वसंश्च पुनः पुनः ॥११॥

उधर जाल के खींचे जाने के कष्ट, भय और भूमि का स्पर्श होने के कारण बहुत-सी मछलियाँ मारी गईं। मुनि ने जब मत्स्यों का यह विनाश देखा तब वे दयार्द्र हो गये और बारम्बार लम्बे-लम्बे श्वास छोड़ने लगे।

निषादा ऊचुः

अज्ञानाद् यत् कृतं पापं प्रसादं तत्र नः कुरु।
करवाम प्रियं किं ते तन्नो ब्रूहि महामुने ॥१२॥

निषाद बोले—महामुने ! हमसे अज्ञानवश जो पाप हो गया है, उसके लिए आप हमें क्षमा कर दें और हमपर प्रसन्न हों। साथ ही यह भी बताएँ कि हम आपका कौन-सा प्रिय कार्य करें ?

भीष्म उवाच

इत्युक्तो मत्स्यमध्यस्थश्च्यवनो वाक्यमब्रवीत्।
यो मेऽद्य परमः कामस्तं शृणुध्वं समाहिताः ॥१३॥

भीष्मजी बोले—मल्लाहों के ऐसा कहने पर मछलियों के बीच में बैठे हुए महर्षि च्यवन ने कहा—"निषादो ! इस समय जो मेरी सबसे बड़ी इच्छा है, उसे ध्यानपूर्वक सुनो !

प्राणोत्सर्गं विसर्गं वा मत्स्यैर्यास्याम्यहं सह।
संवासान्नोत्सहे त्यक्तुं सलिलेऽध्युषितानहम् ॥१४॥

"मैं इन मछलियों के साथ ही अपने प्राणों का त्याग या रक्षण करूँगा। ये मेरे सहवासी रहे हैं। मैं बहुत समय तक इनके साथ जल में रहा हूँ, अतः मैं इन्हें त्याग नहीं सकता।"

इत्युक्तास्ते निषादास्तु सुभृशं भयकम्पिताः।
सर्वे विवर्णवदना नहुषाय न्यवेदयन् ॥१५॥

मुनि की यह बात सुनकर मल्लाह अत्यन्त भयभीत होकर थर-थर काँपने लगे। उन सबके मुख का रंग फीका पड़ गया और उसी अवस्था में उन्होंने राजा नहुष के पास जाकर सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

नहुषस्तु ततः श्रुत्वा च्यवनं तं तथागतम्।
त्वरितः प्रययौ तत्र सहामात्यपुरोहितः ॥१६॥

राजन् ! महर्षि च्यवन को ऐसी दशा में अपने नगर के निकट आया जान राजा नहुष अपने पुरोहित और मन्त्रियों को साथ लेकर शीघ्र वहाँ आ पहुँचे।

शौचं कृत्वा यथान्यायं प्राञ्जलिः प्रयतो नृपः।
आत्मानमाचचक्षे च च्यवनाय महात्मने ॥१७॥

उन्होंने पवित्रभाव से हाथ जोड़कर मन को एकाग्र रखते हुए न्यायोचित रीति से महर्षि च्यवन को अपना परिचय दिया। फिर—

नहुष उवाच

करवाणि प्रियं किं ते तन्मे ब्रूहि द्विजोत्तम।
सर्वं कर्तास्मि भगवन् यद्यपि स्यात्सुदुष्करम् ॥१८॥

राजा नहुष बोले—द्विजश्रेष्ठ ! बताइए, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? भगवन् ! कितना ही कठिन कार्य क्यों न हो, आपकी आज्ञा से मैं उसे अवश्य पूरा करूँगा ।

च्यवन उवाच

श्रमेण महता युक्ताः कैवर्ता मत्स्यजीविनः ।
मम मूल्यं प्रयच्छैभ्यो मत्स्यानां विक्रयैः सह ।।१९।।

महर्षि च्यवन ने कहा—राजन् ! मछलियों से जीवन-निर्वाह करनेवाले इन मल्लाहों ने आज परिश्रम से मुझे अपने जाल में फँसाकर निकाला है, अतः आप इन्हें इन मछलियों के साथ-साथ मेरा भी मूल्य चुका दीजिए ।

नहुष उवाच

सहस्रं दीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहित ।
निष्क्रयार्थं भगवतो यथाऽऽह भृगुनन्दनः ।।२०।।

नहुष बोले—पुरोहितजी ! भृगुनन्दन महर्षि च्यवन जैसी आज्ञा दे रहे हैं, उसके अनुसार इन पूजनीय महर्षि के मूल्य के रूप में मल्लाहों को एक सहस्र सुवर्ण मुद्राएँ [गिन्नियाँ] दे दीजिए ।

च्यवन उवाच

सहस्रं नाहमर्हामि किं वा त्वं मन्यसे नृप ।
सदृशं दीयतां मूल्यं स्वबुद्ध्या निश्चयं कुरु ।।२१।।

च्यवन ने कहा—राजन् ! मैं एक सहस्र मुद्राओं पर बेचने योग्य नहीं हूँ । क्या आप मेरा इतना ही मूल्य समझते हैं ? मेरे योग्य मूल्य दीजिए और वह मूल्य कितना होना चाहिए—यह अपनी बुद्धि से विचारकर निश्चित कीजिए ।

नहुष उवाच

सहस्राणां शतं विप्र निषादेभ्यः प्रदीयताम् ।
स्यादिदं भगवन् मूल्यं किं वान्यन्मन्यते भवान् ।।२२।।

नहुष बोले—विप्रवर ! इन निषादों को एक लाख मुद्रा दे दीजिए । भगवन् ! क्या यह आपका उचित मूल्य हो सकता है अथवा आप अपना क्या मूल्य समझते हैं ?

च्यवन उवाच

नाहं शतसहस्रेण निमेयः पार्थिवर्षभ ।
दीयतां सदृशं मूल्यममात्यैः सह चिन्तय ।।२३।।

च्यवन बोले—नृपश्रेष्ठ ! मुझे एक लाख मुद्राओं में मत बेचिए । मेरा उचित मूल्य चुकाइए । इस विषय में आप अपने मन्त्रियों के साथ विचार-विमर्श कीजिए ।

नहुष उवाच

कोटिः प्रदीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहित ।
यदेतदपि नो मूल्यमतो भूयः प्रदीयताम् ।।२४।।

नहुष ने कहा—पुरोहितजी ! आप इन निषादों को एक करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ मूल्य के रूप में दीजिए और यदि यह भी ठीक न हो तो और अधिक दीजिए ।

च्यवन उवाच

राजन् नार्हाम्यहं कोटिं भूयो वापि महाद्युते ।
सदृशं दीयतां मूल्यं ब्राह्मणैः सह चिन्तय ।।२५।।

च्यवन बोले—महातेजस्वी नृप ! मैं एक करोड़ अथवा उससे भी अधिक मुद्राओं में बेचने योग्य नहीं हूँ । मेरा उचित मूल्य चुकाइए और इस विषय में ब्राह्मणों के साथ परामर्श कीजिए ।

नहुष उवाच

अर्धं राज्यं समग्रं वा निषादेभ्यः प्रदीयताम् ।
एतन्मूल्यमहं मन्ये किं वान्यन्मन्यसे द्विज ।।२६।।

नहुष बोले—ब्रह्मन् ! यदि ऐसी बात है तो इन मल्लाहों को मेरा आधा या सारा राज्य प्रदान कर दिया जाए । इसे ही मैं आपका उचित मूल्य समझता हूँ । आप इसके अतिरिक्त और क्या चाहते हैं ?

च्यवन उवाच

अर्धं राज्यं समग्रं च मूल्यं नार्हामि पार्थिव ।
सदृशं दीयतां मूल्यमृषिभिः सह चिन्त्यताम् ।।२७।।

च्यवन ने कहा—राजन् ! आपका आधा या सारा राज्य भी मेरा उचित मूल्य नहीं है । आप उचित मूल्य दीजिए और इस विषय में ऋषियों के साथ परामर्श कीजिए ।

भीष्म उवाच

महर्षेर्वचनं श्रुत्वा नहुषो दुःखकर्षितः ।
स चिन्तयामास तदा सहामात्यपुरोहितः ।।२८।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! महर्षि का यह वचन सुन राजा नहुष दुःखी हो गये और मन्त्री तथा पुरोहित के साथ इस विषय में परामर्श करने लगे ।

तत्र त्वन्यो वनचरः कश्चिन्मूलफलाशनः ।
नहुषस्य समीपस्थः सोऽब्रवीद् द्विजसत्तमः ।।२९।।

इतने ही में फल-मूल भक्षण करनेवाले कोई वनवासी विप्रवर राजा नहुष के पास आये और उन्हें सम्बोधित करके कहने लगे—

तोषयिष्याम्यहं क्षिप्रं यथा तुष्टो भविष्यसि ।
भवतो यदहं ब्रूयां तत्कार्यमविशङ्कया ।।३०।।

"राजन् ! ये मुनि किस प्रकार सन्तुष्ट होंगे—इस रहस्य को मैं जानता हूँ । मैं इन्हें शीघ्र सन्तुष्ट कर दूंगा । मैं आपसे जो कहूँ आप निःसंकोच होकर वैसा ही कीजिए ।

अनर्घेया महाराज द्विजा वर्णेषु चोत्तमाः ।
गावश्च पुरुषव्याघ्र गौर्मूल्यं परिकल्प्यताम् ।।३१।।

"पुरुषसिंह ! ब्राह्मण सब वर्णों में उत्तम हैं और गौएँ भी । इन दोनों का कोई मूल्य नहीं लगाया जा सकता, अतः आप इन मुनि के मूल्य में एक गौ प्रदान कर दीजिए ।"

नहुषस्तु ततः श्रुत्वा महर्षेर्वचनं नृप ।
हर्षेण महता युक्तः सहामात्यपुरोहितः ।।३२।।

राजन् ! महर्षि का यह वचन सुनकर मन्त्री और पुरोहितसहित राजा नहुष को महती प्रसन्नता हुई ।

अभिगम्य भृगोः पुत्रं च्यवनं संशितव्रतम् ।
इदं प्रोवाच नृपते वाचा सन्तर्पयन्निव ।।३३।।

नरेश्वर ! राजा नहुष कठोर व्रत का पालन करनेवाले भृगुपुत्र महर्षि च्यवन के पास जाकर उन्हें अपनी वाणी द्वारा तृप्त करते हुए-से बोले—

नहुष उवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ विप्रर्षे गवा क्रीतोऽसि भार्गव ।
एतन्मूल्यमहं मन्ये तव धर्मभृतां वर ।।३४।।

नहुष ने कहा—धर्मात्माओं में श्रेष्ठ ! भृगुनन्दन ! मैंने एक गौ देकर आपको खरीद लिया है, अतः उठिए, उठिए । मैं यही आपका उचित मूल्य समझता हूँ ।

च्यवन उवाच

उत्तिष्ठाम्येष राजेन्द्र सम्यक् क्रीतोऽस्मि तेऽनघ ।
गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किंचिदिहाच्युत ।।३५।।

च्यवन बोले—निष्पाप नरेश ! अब मैं उठता हूँ । आपने उचित मूल्य देकर मुझे खरीदा है । मर्यादा से च्युत न होनेवाले राजन् ! मैं इस संसार में गौओं के समान दूसरा कोई धन नहीं देखता ।

कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव ।
गवां प्रशस्यते वीर सर्वदोषहरं शिवम् ।।३६।।

वीर भूपाल ! गौओं के गुणों का कीर्तन तथा श्रवण करना, गौओं का दान देना और उनका दर्शन करना—इनकी शास्त्रों में बड़ी प्रशंसा गाई गई है । गौ के दुग्ध आदि का सेवन सभी शारीरिक दोषों को दूर करके कल्याण करनेवाला है ।

गावो लक्ष्म्याः सदा मूलं गोषु पाप्मा न विद्यते ।
अन्नमेव सदा गावो देवानां परमं हविः ।।३७।।

गौएँ सदा ही ऐश्वर्य का मूल हैं । उनमें पाप का लेश भी नहीं है । गौएँ ही सदा मनुष्यों को अन्न और देवताओं को हविष्य देनेवाली हैं ।

स्वाहाकारवषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम् ।।३८।।

स्वाहा और वषट्कार सदा गौओं में ही प्रतिष्ठित होते हैं । गौएँ ही यज्ञ का सञ्चालन करनेवाली तथा उसका मुख हैं ।

अमृतं ह्यव्ययं दिव्यं क्षरन्ति च वहन्ति च ।
अमृतायतनं चैताः सर्वलोकनमस्कृताः ।।३९।।

गौएँ विकाररहित दिव्य अमृत धारण करती हैं और दुहने पर अमृत ही प्रदान करती हैं । वे अमृत का केन्द्र हैं । सारा संसार उनके आगे सिर झुकाता है ।

निविष्टं गोकुलं यत्र श्वासं मुञ्चति निर्भयम् ।
विराजयति तं देशं पापं चास्यापकर्षति ।।४०।।

गौओं का समुदाय जहाँ बैठकर निर्भयतापूर्वक श्वास लेता है, उस स्थान की शोभा बढ़ा देता है और वहाँ के सारे दोषों को खींच लेता है ।

गावः स्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः ।
गावः कामदुहो देव्यो नान्यत्किंचित्परं स्मृतम् ।।४१।।

गौएँ स्वर्ग की सीढ़ी हैं । गौओं की स्वर्ग में भी पूजा होती है । गौएँ समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेवाली देवियाँ हैं, उनसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ।

मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः।
वृद्धिमाकांक्षता नित्यं गावः कार्याः प्रदक्षिणाः ॥४२॥

गौएँ सम्पूर्ण प्राणियों की माता कहलाती हैं। वे सबको सुख देनेवाली हैं। जिसे अपनी उन्नति और वृद्धि की इच्छा हो उसे गौओं का सम्मान करना चाहिए।

सन्ताड्या न तु पादेन गवां मध्ये न च व्रजेत्।
मङ्गलायतनं देव्यस्तस्मात् पूज्याः सदैव हि ॥४३॥

गौओं को लात न मारे। उनके बीच से होकर न निकले। वे मङ्गल की आधारभूत देवियाँ हैं, अतः उनकी सदा ही पूजा करनी चाहिए।

कल्मषं गुरुशुश्रूषा हन्ति मानो महद् यशः।
अपुत्रतां त्रयः पुत्रा अवृत्तिं दश धेनवः ॥४४॥

गुरुजनों की सेवा सारे पापों को नष्ट कर देती है। अभिमान महान् यश को नष्ट कर देता है। तीन पुत्र पुत्रहीनता के दोष को दूर कर देते हैं और दूध देनेवाली दस गौएँ जीविका के अभाव को दूर कर देती हैं।

इत्येतद् गोषु मे प्रोक्तं माहात्म्यं भरतर्षभ।
गुणैकदेशवचनं शक्यं पारायणं न तु ॥४५॥

भरतश्रेष्ठ! यह मैंने गौओं का माहात्म्य बताया है। इसमें उनके गुणों का दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। गौओं के सम्पूर्ण गुणों का वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता।

निषादा ऊचुः

दर्शनं कथनं चैव सहास्माभिः कृतं मुने।
सतां साप्तपदं मैत्रं प्रसादं नः कुरु प्रभो ॥४६॥

निषाद बोले—मुने! सज्जनों के साथ सात पग चलनेमात्र से मित्रता हो जाती है। हमने तो आपका दर्शन किया तथा हमारे साथ आपका वार्तालाप भी हुआ, अतः प्रभो! हम लोगों पर कृपा कीजिए।

प्रसादयामहे विद्वन् भवन्तं प्रणता वयम्।
अनुग्रहार्थमस्माकमियं गौः प्रतिगृह्यताम् ॥४७॥

विद्वन्! हम आपके चरणों में सिर झुकाकर आपको प्रसन्न करना चाहते हैं। आप हम लोगों पर अनुग्रह करने के लिए हमारी दी हुई यह गौ स्वीकार कीजिए।

च्यवन उवाच

प्रतिगृह्णामि वो धेनुं कैवर्ता मुक्तकिल्बिषाः।
गृहं गच्छत वै क्षिप्रं मत्स्यैर्जालोद्धृतैः सह ॥४८॥

च्यवन बोले—हे मल्लाहो! मैं तुम्हारी दी हुई गौ को स्वीकार करता हूँ। तुम दोष से मुक्त हो गये। अब जाल में पकड़ी हुई मछलियों के साथ शीघ्र घर जाओ।

भीष्म उवाच

एतत्ते कथितं तात यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
दर्शने यादृशः स्नेहः संवासे वा युधिष्ठिर ॥४९॥

भीष्मजी ने कहा—हे तात युधिष्ठिर! तुम्हारे प्रश्न के अनुसार मैंने यह सारा वृत्तान्त सुनाया है कि दर्शन और सहवास से कैसा स्नेह होता है।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

विविध प्रकार के तप और दानों का फल

युधिष्ठिर उवाच

मुह्यामीव निशम्याद्य चिन्तयानः पुनः पुनः।
हीनां पार्थिवसंघातैः श्रीमद्भिः पृथिवीमिमाम् ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! इस पृथिवी को जब मैं सम्पत्तिशाली नरेशों से रहित देखता हूँ, तब मैं भारी चिन्ता में पड़कर बारम्बार मूर्च्छित-सा होने लगता हूँ।

वयं हि तान् कुरून् हत्वा ज्ञातींश्च सुहृदोऽपि वा।
अवाक्शीर्षाः पतिष्यामो नरके नात्र संशयः ॥२॥

अपने ही पारिवारिक जन कौरवों तथा अन्य सुहृदों का वध करके हम नीचा मुँह किये हुए नरक में गिरेंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

शरीरं योक्तुमिच्छामि तपसोग्रेण भारत।
उपविष्टमिहेच्छामि तत्त्वतोऽहं विशाम्पते ॥३॥

भारत ! प्रजानाथ ! मैं अपने शरीर को भीषण तप के द्वारा सुखा डालना चाहता हूँ और इस विषय में आपका यथार्थ उपदेश ग्रहण करना चाहता हूँ ।

भीष्म उवाच

रहस्यमद्भुतं चैव शृणु वक्ष्यामि यत् त्वयि ।
या गतिः प्राप्यते येन प्रेत्यभावे विशाम्पते ॥४॥

भीष्मजी बोले—नरेश्वर ! मैं तुम्हें एक अद्भुत रहस्य की बात बताता हूँ । मनुष्य को मरने पर किस कर्म से कौन-सी गति प्राप्त होती है, यह सुनो !

तपसा प्राप्यते स्वर्गस्तपसा प्राप्यते यशः ।
आयुःप्रकर्षो भोगाश्च लभ्यन्ते तपसा विभो ॥५॥

प्रभो ! तप से स्वर्ग मिलता है, तप से सुयश की प्राप्ति होती है । तप से दीर्घायु, उच्चपद और उत्तमोत्तम भोग प्राप्त होते हैं ।

ज्ञानं विज्ञानमारोग्यं रूपं सम्पत् तथैव च ।
सौभाग्यं चैव तपसा प्राप्यते भरतर्षभ ॥६॥

भरतश्रेष्ठ ! ज्ञान, विज्ञान, आरोग्य, रूप, सम्पत्ति तथा सौभाग्य भी तपस्या से प्राप्त होते हैं ।

युधिष्ठिर उवाच

आरामाणां तडागानां यत् फलं कुरुपुङ्गव ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तोऽद्य भरतर्षभ ॥७॥

युधिष्ठिर ने पूछा—कुरुकुलश्रेष्ठ ! भरतभूषण ! बगीचे लगाने और जलाशय निर्माण कराने का जो फल होता है, वह अब मैं आपके मुखारविन्द से सुनना चाहता हूँ ।

भीष्म उवाच

तडागानां च वक्ष्यामि कृतानां चापि ये गुणाः ।
त्रिषु लोकेषु सर्वत्र पूजनीयस्तडागवान् ॥८॥

भीष्मजी बोले—हे राजन् ! तडाग=तालाब बनवाने से जो लाभ होते हैं, मैं उनका वर्णन करता हूँ । तालाब बनवानेवाला मनुष्य तीनों लोकों में सर्वत्र पूजनीय होता है ।

स कुलं तारयेत्सर्वं यस्य खाते जलाशये ।
गावः पिबन्ति सलिलं साधवश्च नराः सदा ॥९॥

जिसके खुदवाये हुए जलाशय में सदा सज्जन पुरुष और गौएँ पानी पीती हैं, वह अपने समस्त कुल का उद्धार कर देता है ।

तडागे यस्य गावस्तु पिबन्ति तृषिता जलम् ।
मृगपक्षिमनुष्याश्च सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥१०॥

जिसके तालाब में प्यासी गौएँ पानी पीती हैं तथा पशु, पक्षी और मनुष्यों को भी जल सुलभ होता है, वह अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है ।

तिलान् ददत पानीयं दीपान् ददत जाग्रत ।
ज्ञातिभिः सह मोदध्वमेतत् प्रेत्य सुदुर्लभम् ॥११॥

बन्धुओ ! तिल=अन्न-दान करो, जल-दान करो, दीप-दान करो, सदा धर्म करने के लिए जागते रहो । सदा धर्म पालन करते हुए बन्धु-बान्धवों के साथ आनन्द का अनुभव करो । मरने पर इन शुभ कर्मों से परलोक में अत्यन्त दुर्लभ फल की प्राप्ति होती है ।

सर्वदानैर्गुरुतरं सर्वदानैर्विशिष्यते ।
पानीयं नरशार्दूल तस्माद् दातव्यमेव हि ॥१२॥

पुरुषसिंह ! जलदान सब दानों से महान् और बढ़कर है, अतः जलदान अवश्य करना चाहिए ।

एवमेतत् तडागस्य कीर्तितं फलमुत्तमम् ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वृक्षाणामवरोपणम् ॥१३॥

यह मैंने तालाब निर्माण कराने के उत्तम फल का वर्णन किया । अब मैं वृक्षारोपण करने का माहात्म्य बतलाता हूँ ।

स्थावराणां च भूतानां जातयः षट् प्रकीर्तिताः ।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारास्तृणजातयः ॥१४॥

स्थावर प्राणियों की छह जातियाँ बताई गई हैं—वृक्ष=बड़-पीपल आदि, गुल्म=कुश आदि, लता=वृक्ष पर चढ़नेवाली बेलें, वल्ली=पृथिवी पर फैलनेवाली बेलें, त्वक्सार=बाँस आदि और तृण=घास आदि ।

एता जात्यस्तु वृक्षाणां तेषां रोपे गुणास्त्विमे ।
कीर्तिश्च मानुषे लोके प्रेत्य चैव फलं शुभम् ॥१५॥

ये वृक्षों की जातियाँ हैं । इनके लगाने का फल यह है कि वृक्षारोपण करनेवाले मनुष्य की इस लोक में कीर्ति होती है और मरने पर उसे शुभ फलों की प्राप्ति होती है ।

पुष्पिताः फलवन्तश्च तर्पयन्तीह मानवान् ।
वृक्षदं पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र तु ॥१६॥

फूले-फले वृक्ष इस संसार में मनुष्य को तृप्त करते हैं और जो वृक्ष का दान करता है, उसे वे वृक्ष पुत्र की भाँति परलोक में तार देते हैं।

तस्मात्तडागे सद्वृक्षा रोप्याः श्रेयोऽर्थिना सदा ।
पुत्रवत् परिपाल्याश्च पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः ॥१७॥

अतः अपने कल्याण के इच्छुक मनुष्य को सदा ही उचित है कि वह अपने खुदवाये हुए तालाब के किनारे अच्छे-अच्छे वृक्ष लगाये और उनका पुत्र के समान पालन करे, क्योंकि वे वृक्ष धर्म की दृष्टि से पुत्र ही माने गये हैं।

तडागकृद् वृक्षरोपी इष्टयज्ञश्च यो द्विजः ।
एते स्वर्गे महीयन्ते ये चान्ये सत्यवादिनः ॥१८॥

जो तालाब खुदवाता, वृक्ष लगाता, यज्ञों का अनुष्ठान करता और सत्य बोलता है, ये सभी द्विज स्वर्गलोक में सम्मानित होते हैं।

तस्मात् तडागं कुर्वीत आरामाँश्चैव रोपयेत् ।
यजेच्च विविधैर्यज्ञैः सत्यं च सततं वदेत् ॥१९॥

मनुष्य को चाहिए कि वह तालाब खुदवाये, बगीचे लगाये, भाँति-भाँति के यज्ञों का अनुष्ठान करे और सदा सत्य बोले।

युधिष्ठिर उवाच

यानीमानि बहिर्वेद्यां दानानि परिचक्षते ।
तेभ्यो विशिष्टं किं दानं मतं ते कुरुपुङ्गव ॥२०॥

युधिष्ठिर ने पूछा—कुरुश्रेष्ठ ! यज्ञवेदी से भिन्न जो दान बताये गये हैं, उनमें आपके मत में सर्वश्रेष्ठ दान कौन-सा है ?

भीष्म उवाच

अभयं सर्वभूतेभ्यो व्यसने चाप्यनुग्रहः ।
यच्चाभिलषितं दद्यात् तद्दानं श्रेष्ठमुच्यते ॥२१॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! सभी प्राणियों को अभय प्रदान करना, संकट के समय उनपर अनुग्रह करना और याचक को उसकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करना यह सर्वश्रेष्ठ दान है।

हिरण्यदानं गोदानं पृथिवीदानमेव च ।
एतानि वै पवित्राणि तारयन्त्यपि दुष्कृतम् ॥२२॥

सुवर्णदान, गोदान और भूमिदान—ये तीन पवित्र दान हैं, ये पापी मनुष्य का भी उद्धार कर देते हैं।

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चास्य दयितं गृहे ।
तत्तद् गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ॥२३॥

संसार में जो-जो पदार्थ अत्यन्त प्रिय माना जाता है और अपने घर में भी जो प्रिय वस्तु विद्यमान हो, वही-वही वस्तु गुणवान् मनुष्य को देनी चाहिए। जो अपने दान को अक्षय बनाना चाहता हो, उसके लिए ऐसा करना आवश्यक है।

प्रियाणि लभते नित्यं प्रियदः प्रियकृत्तथा ।
प्रियो भवति भूतानामिह चैव परत्र च ॥२४॥

जो दूसरों को प्रिय वस्तु का दान देता है और उनका प्रिय कार्य ही करता है, वह सदा प्रिय वस्तुओं को ही पाता है और वह इहलोक तथा परलोक में भी समस्त प्राणियों का प्रिय होता है।

अमित्रमपि चेद्दीनं शरणैषिणमागतम् ।
व्यसने योऽनुगृह्णाति स वै पुरुषसत्तमः ॥२५॥

शत्रु भी यदि दीन होकर शरण पाने के लिए घर पर आ जाए तो संकट के समय जो उसपर दया करता है, वही मनुष्यों में श्रेष्ठ है।

कृशाय कृतविद्याय वृत्तिक्षीणाय सीदते ।
अपहन्यात् क्षुधां यस्तु न तेन पुरुषः समः ॥२६॥

विद्वान् होने पर भी जिसकी आजीविका क्षीण हो गई है, जो दीन, दुर्बल और दुःखी है, ऐसे मनुष्य की जो भूख मिटा देता है, उस मनुष्य के समान पुण्यात्मा कोई नहीं है।

श्रेयो वै याचतः पार्थ दानमाहुरयाचते ।
अर्हत्तमो वै धृतिमान् कृपणादधृतात्मनः ॥२७॥

याचना करनेवाले की अपेक्षा याचना न करनेवाले को दिया हुआ दान ही श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी बताया गया है और अधीर हृदयवाले कृपण मनुष्य की अपेक्षा धैर्य धारण करनेवाला ही विशेष सम्मान का पात्र है।

क्षत्रियो रक्षणधृतिर्ब्राह्मणोऽनर्थनाधृतिः ।
ब्राह्मणो धृतिमान्विद्वान्देवान्प्रीणाति तुष्टिमान् ॥२८॥

रक्षा के कार्य में धैर्य धारण करनेवाला क्षत्रिय

एवं याचना न करने में दृढ़ता रखनेवाला ब्राह्मण श्रेष्ठ है। जो ब्राह्मण धैर्यवान्, विद्वान् और सन्तोषी होता है, वह देवताओं को भी अपने व्यवहार से सन्तुष्ट कर लेता है।

म्रियते याचमानो वै न जातु म्रियते ददत्।
ददत् संजीवयत्येनमात्मानं च युधिष्ठिर॥२९॥

युधिष्ठिर! याचक मर जाता है परन्तु दाता कभी नहीं मरता। दाता याचक को और अपने-आपको—दोनों को जीवित रखता है।

आनृशंस्यं परो धर्मो याचते यत् प्रदीयते।
अयाचतः सीदमानान् सर्वोपायैर्निमन्त्रयेत्॥३०॥

याचक को जो दान दिया जाता है, वह दयारूप परम धर्म है, परन्तु जो लोग कष्ट उठाकर भी याचना नहीं करते उन ब्राह्मणों को प्रत्येक उपाय से अपने पास बुलाकर दान देना चाहिए।

अहिंसा सर्वभूतेभ्यः संविभागश्च भागशः।
दमस्त्यागो धृतिः सत्यं भवत्यवभृथाय ते॥३१॥

समस्त प्राणियों के प्रति वैर का त्याग, सबको यथायोग्य भाग अर्पण करना, इन्द्रिय-संयम, त्याग, धैर्य और सत्य—ये सब गुण तुम्हें यज्ञ के पश्चात् किये जानेवाले अवभृथ-स्नान का फल देंगे।

युधिष्ठिर उवाच

दानं यज्ञं क्रिया चेह किंस्वित्प्रेत्य महाफलम्।
कस्य ज्यायः फलं प्रोक्तं कीदृशेभ्यः कथं कदा॥३२॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! दान और यज्ञ-कर्म—इन दोनों में से कौन-सा मृत्यु के पश्चात् महान् फल देनेवाला है? किसका फल श्रेष्ठ बताया गया है? कैसे ब्राह्मण को कब दान देना चाहिए और किस प्रकार कब यज्ञ करना चाहिए?

भीष्म उवाच

रौद्रं कर्म क्षत्रियस्य सततं तात वर्तते।
तस्य वैतानिकं कर्म दानं चैवेह पावनम्॥३३॥

भीष्मजी बोले—तात! क्षत्रिय को सदा कठोर कर्म करने पड़ते हैं, अतः संसार में यज्ञ और दान ही उसे पवित्र करनेवाले हैं।

न तु पापकृतां राज्ञां प्रतिगृह्णन्ति साधवः।
एतस्मात् कारणाद् यज्ञैर्यजेद्राजाऽऽप्तदक्षिणैः॥३४॥

श्रेष्ठजन पापी राजा का दान नहीं लेते, अतः राजा को पर्याप्त दक्षिणा देकर यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए।

अथ चेत् प्रतिगृह्णीयुर्दद्यादहरहर्नृपः।
श्रद्धामास्थाय परमां पावनं ह्येतदुत्तमम्॥३५॥

श्रेष्ठ पुरुष यदि दान स्वीकार करें तो राजा को उन्हें प्रतिदिन बड़ी श्रद्धा के साथ दान देना चाहिए, क्योंकि श्रद्धापूर्वक दिया हुआ दान आत्मशुद्धि का सर्वोत्तम साधन है।

ब्राह्मणाँस्तर्पयन् द्रव्यैस्ततो यज्ञे यतव्रतः।
मैत्रान् साधून् वेदविदः शीलवृत्ततपोऽन्वितान्॥३६॥

तुम नियमपूर्वक यज्ञ में सुशील, सदाचारी, तपस्वी, वेदवेत्ता, सबके साथ मित्रता रखनेवाले तथा साधु स्वभाववाले ब्राह्मणों को धन देकर सन्तुष्ट करो।

यदा परिनिषिच्येत निहितो वै यथाविधि।
तदा राजा महायज्ञैर्यजेत बहुदक्षिणैः॥३७॥

जब राजा का विधिपूर्वक राज्याभिषेक हो जाए और वह राज्यसिंहासन पर बैठ जाए, तब राजा बहुत-सी दक्षिणाओं से युक्त महान् यज्ञ का अनुष्ठान करे।

वृद्धबालधनं रक्ष्यमन्धस्य कृपणस्य च।
न खातपूर्वं कुर्वीत न रुदन्तीधनं हरेत्॥३८॥

राजा वृद्ध, बालक, दीन और अन्धे मनुष्य के धन की रक्षा करे। वर्षा न होने पर जब प्रजा कुआँ खोदकर किसी प्रकार सिंचाई करके कुछ अन्न उत्पन्न करके जीविका चलाती हो तो राजा को वह धन नहीं लेना चाहिए और किसी कष्ट में पड़कर रोती हुई स्त्री का धन भी न ले।

हृतं कृपणवित्तं हि राष्ट्रं हन्ति नृपश्रियम्।
दद्याच्च महतो भोगान् क्षुद्भयं प्रणुदेत् सताम्॥३९॥

यदि किसी दीन-दरिद्र का धन छीन लिया जाए तो वह राजा के राज्य का और लक्ष्मी का विनाश कर देता है, अतः राजा को चाहिए कि दीनों का धन न छीनकर उन्हें महान् भोग अर्पित करे और श्रेष्ठ पुरुषों को भूख का कष्ट न होने दे।

येषां स्वादूनि भोज्यानि समवेक्ष्यन्ति बालकाः ।
नाश्नन्ति विधिवत् तानि किं नु पापतरं ततः ॥४०॥

जिसके स्वादिष्ट भोजन की ओर छोटे-छोटे बच्चे तरसती आँखों से देखते हों और वह भोजन उन्हें न्यायतः खाने को न मिलता हो, उस पुरुष के द्वारा इससे बढ़कर पाप और क्या हो सकता है !

यदि ते तादृशो राष्ट्रे विद्वान्सीदेत्क्षुधा द्विजः ।
भ्रूणहत्यां च गच्छेथाः कृत्वा पापमिवोत्तमम् ॥४१॥

राजन् ! यदि तुम्हारे राज्य में कोई वैसा विद्वान् ब्राह्मण भूख से कष्ट पा रहा हो तो तुम्हें भ्रूण-हत्या का पाप लगेगा तथा कोई बहुत बड़ा पाप करने से मनुष्य की जो दुर्गति होती है, वही तुम्हारी भी होगी ।

धिक् तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रे यस्यावसीदति ।
द्विजोऽन्यो वा मनुष्योऽपि शिबिराह वचो यथा ॥४२॥

राजा शिबि का कथन है कि "जिसके राज्य में ब्राह्मण या कोई और मनुष्य भूख से पीड़ित हो रहा हो, उस राजा के जीवन को धिक्कार है !"

यस्य स्म विषये राज्ञः स्नातकः सीदति क्षुधा ।
अवृद्धिमेति तद्राष्ट्रं विन्दते सह राजकम् ॥४३॥

जिस राजा के राज्य में स्नातक ब्राह्मण भूख से कष्ट पाता है, उसके राज्य की उन्नति रुक जाती है, साथ ही वह राज्य शत्रु राजाओं के अधीन हो जाता है ।

क्रोशन्त्यो यस्य वै राष्ट्राद् ध्रियन्ते तरसा स्त्रियः ।
क्रोशतां पतिपुत्राणां मृतोऽसौ न च जीवति ॥४४॥

जिसके राज्य से रोती-चिल्लाती स्त्रियों का बलपूर्वक हरण हो जाता हो और उनके पति-पुत्र रोते-पीटते रह जाते हों, वह राजा जीता नहीं, मुर्दा है—जीते-जी मुर्दे के समान है ।

अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम् ।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम् ॥४५॥

जो प्रजा की रक्षा नहीं करता, केवल उसके धन को लूटता रहता है और जिसके पास कोई सेनापति अथवा नेतृत्व करनेवाला मन्त्री नहीं है, वह राजा नहीं, कलियुग है । समस्त प्रजा को चाहिए कि ऐसे निर्दयी राजा को बाँधकर मार डाले ।

अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः ।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः ॥४६॥

जो राजा प्रजा से यह प्रतिज्ञा करके कि 'मैं तुम लोगों की रक्षा करूँगा', उनकी रक्षा नहीं करता, वह पागल और रोगी कुत्ते की भाँति सबके द्वारा मार डालने योग्य है ।

पापं कुर्वन्ति यत्किंचित् प्रजा राज्ञा ह्यरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा विन्दति भारत ॥४७॥

भरतनन्दन ! राजा से अरक्षित होकर प्रजा जो कुछ भी पाप करती है, उस पाप का चौथाई भाग राजा को भी प्राप्त होता है ।

शुभं वा यच्च कुर्वन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य पुण्यस्य राजा चाप्नोति भारत ॥४८॥

भारत ! राजा से भली-भाँति सुरक्षित होकर प्रजा जो भी शुभ कर्म करती है, उसके पुण्य का चौथाई भाग राजा प्राप्त कर लेता है ।

युधिष्ठिर उवाच

इदं देयमिदं देयमितीयं श्रुतिरादरात् ।
बहुदेयाश्च राजानः किंस्विद् दानमनुत्तमम् ॥४९॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! यह देना चाहिए, वह देना चाहिए, ऐसा कहकर यह श्रुति बड़े आदर के साथ दान का विधान करती है और शास्त्रों में राजाओं के लिए बहुत-कुछ दान करने के लिए कहा गया है, परन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ कि सब दानों में सर्वोत्तम दान कौन-सा है ?

भीष्म उवाच

अति दानानि सर्वाणि पृथिवीदानमुच्यते ।
अचला ह्यक्षया भूमिर्दोग्ध्री कामानिहोत्तमान् ॥५०॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! भूमिदान सब दानों से बढ़कर बताया गया है । पृथिवी अचल और अक्षय है । वह इस लोक में सम्पूर्ण उत्तम भोगों को देनेवाली है ।

दोग्ध्री वासांसि रत्नानि पशून् व्रीहियवाँस्तथा ।
भूमिदः सर्वभूतेषु शाश्वतीरेधते समाः ॥५१॥

वस्त्र, रत्न, पशु, धान, जौ आदि नाना प्रकार के अन्न—इन सबको देनेवाली भूमि ही है, अतः

भूमिदान करनेवाला मनुष्य सदा सब प्राणियों में सबसे अधिक उन्नत होता है।

यावद्भूमेरायुरिह तावद् भूमिद एधते।
न भूमिदानादस्तीहि परं किञ्चिद् युधिष्ठिर ॥५२॥

युधिष्ठिर! इह जगत् में जबतक भूमि की आयु है, तबतक भूमिदान करनेवाला मनुष्य समृद्धिशाली रहकर सुख भोगता है, अतः संसार में भूमिदान से बढ़कर कोई दान नहीं है।

सुवर्णं रजतं वस्त्रं मणिमुक्तावसूनि च।
सर्वमेतन्महाप्राज्ञो ददाति वसुधां ददत् ॥५३॥

जो महाबुद्धिमान् मनुष्य भूमि का दान करता है, वह सोना, चाँदी, वस्त्र, मणि, मोती तथा रत्न—इन सबका दान कर देता है अर्थात् इन सभी दानों का फल प्राप्त कर लेता है।

तपो यज्ञः श्रुतं शीलमलोभः सत्यसंधता।
गुरुदैवतपूजा च एता वर्तन्ति भूमिदम् ॥५४॥

पृथिवी का दान करनेवाले मनुष्य को तप, यज्ञ, विद्या, सुशीलता, लोभ का अभाव, सत्यवादिता, गुरु-सेवा और प्रभुभक्ति—इन सबका फल मिल जाता है।

यथा जनित्री स्वं पुत्रं क्षीरेण भरते सदा।
अनुगृह्णाति दातारं तथा सर्वरसैर्मही ॥५५॥

जैसे माता सदा अपने बच्चे को दूध पिलाकर पालती-पोसती है, उसी प्रकार पृथिवी सब प्रकार के रस देकर भूमिदाता पर अनुग्रह करती है।

यथा चन्द्रमसो वृद्धिरहन्यहनि जायते।
तथा भूमिकृतं दानं सस्ये सस्ये विवर्धते ॥५६॥

जैसे चन्द्रमा की कलाएँ प्रतिदिन बढ़ती जाती हैं, उसी प्रकार दान दी हुई भूमि में जितनी बार फसल उत्पन्न होती है, उतना ही उसके भूमिदान का फल बढ़ता जाता है।

स कुलीनः स पुरुषः स बन्धुः स च पुण्यकृत्।
स दाता स च विक्रान्तो यो ददाति वसुन्धराम् ॥५७॥

वही कुलीन, वही पुरुष, वही बन्धु, वही पुण्यात्मा, वही दाता और वही पराक्रमी है, जो भूमि-दान करता है।

न भूमिदानाद् राजेन्द्र परं किञ्चिदिति प्रभो।
विशिष्टमिति मन्यामि यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥५८॥

हे प्रभो! मनीषी लोग भूमिदान से बढ़कर और किसी दान को नहीं मानते। राजेन्द्र! मैं भी बिल्कुल ऐसा ही मानता हूँ।

नास्ति भूमिसमं दानं नास्ति मातृसमो गुरुः।
नास्ति सत्यसमो धर्मो नास्ति दानसमो निधिः ॥५९॥

भूमि के समान कोई दान नहीं है, माता के समान कोई गुरु नहीं है, सत्य के समान कोई धर्म नहीं है और दान के समान कोई निधि नहीं है।

युधिष्ठिर उवाच

कानि दानानि लोकेऽस्मिन् दातुकामो महीपतिः।
गुणाधिकेभ्यो विप्रेभ्यो दद्याद् भरतसत्तम ॥६०॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतश्रेष्ठ! जिस राजा को दान करने की इच्छा हो, वह इस संसार में गुणी ब्राह्मणों को किन-किन वस्तुओं का दान करे।

भीष्म उवाच

इममर्थं पुरा पृष्टो नारदो देवदर्शनः।
यदुक्तवानसौ वाक्यं तन्मे निगदतः शृणु ॥६१॥

भीष्मजी बोले—राजन्! यही बात मैंने पहले एक बार देवर्षि नारद से पूछी थी। उस समय उन्होंने मुझे जो कुछ कहा था, वही तुम्हें बताता हूँ, सुनो!

नारद उवाच

अन्नमेव प्रशंसन्ति देवा ऋषिगणास्तथा।
लोकतन्त्रं हि संज्ञाश्च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥६२॥

नारदजी ने कहा—देवता और ऋषि अन्न की ही प्रशंसा करते हैं, अन्न से ही संसार-यात्रा का निर्वाह होता है। उसी से बुद्धि को स्फूर्ति मिलती है और अन्न में ही सब-कुछ प्रतिष्ठित है।

अन्नं वै प्रथमं द्रव्यमन्नं श्रीश्च परा मता।
अन्नात् प्राणाः प्रभवन्ति तेजो वीर्यं बलं तथा ॥६३॥

अन्न प्रथम द्रव्य है। वह उत्तम लक्ष्मी का स्वरूप माना गया है। अन्न से ही प्राण, तेज, वीर्य और बल की पुष्टि होती है।

अन्नेन सदृशं दानं न भूतं न भविष्यति।
तस्मादन्नं विशेषेण दातुमिच्छन्ति मानवाः ॥६४॥

अन्न के समान उपयोगी न कोई दान था और न होगा, अतः मनुष्य विशेषरूप से अन्न का ही दान करना चाहते हैं।

अन्नमूर्जस्करं लोके प्राणाश्चान्ने प्रतिष्ठिताः ।
अन्नेन धार्यते सर्वं विश्वं जगदिदं प्रभो ॥६५॥

प्रभो ! संसार में अन्न ही शरीर के बल को बढ़ानेवाला है । अन्न के ही आधार पर प्राण टिके हुए हैं और सारे संसार को अन्न ने ही धारण किया हुआ है ।

अन्नाद् गृहस्था लोकेऽस्मिन्भिक्षवस्तापसास्तथा ।
अन्नाद् भवन्ति वै प्राणाः प्रत्यक्षं नात्र संशयः ॥६६॥

संसार में गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षा माँगनेवाले भी अन्न से ही जीते हैं । अन्न से ही सबके प्राणों की रक्षा होती है, इस बात का प्रत्येक को प्रत्यक्ष अनुभव है, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है ।

कुटुम्बिने सीदते च ब्राह्मणाय महात्मने ।
दातव्यं भिक्षवे चान्नमात्मनो भूतिमिच्छता ॥६७॥

अपने कल्याण के इच्छुक मनुष्य को चाहिए कि वह अन्न के लिए दुःखी, बालबच्चोंवाले, महामनस्वी ब्राह्मण और भिक्षा माँगनेवाले को अन्नदान करे ।

ब्राह्मणायाभिरूपाय यो दद्यादन्नमर्थिने ।
विदधाति निधिं श्रेष्ठं पारलौकिकमात्मनः ॥६८॥

जो याचना करनेवाले सुपात्र ब्राह्मण को अन्नदान देता है, वह परलोक में अपने लिए एक उत्तम कोश [खजाना] बना लेता है ।

श्रान्तमध्वनि वर्तन्तं वृद्धमर्हमुपस्थितम् ।
अर्चयेद् भूतिमन्विच्छन् गृहस्थो गृहमागतम् ॥६९॥

मार्ग का थका-मांदा कोई वृद्ध पथिक [राहगीर] यदि घर पर आ जाए तो अपना कल्याण चाहनेवाले गृहस्थ को उस आदरणीय अतिथि का सत्कार करना चाहिए ।

नावमन्येदभिगतं न प्रणुद्यात् कदाचन ।
अपि श्वपाके शुनि वा न दानं विप्रणश्यति ॥७०॥

अपने घर पर कोई भी आ जाए, उसका न तो अपमान करना चाहिए और न ही उसे ताड़ना देनी चाहिए, क्योंकि चाण्डाल अथवा कुत्ते को दिया हुआ अन्नदान भी कभी व्यर्थ नहीं जाता ।

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।
आर्तायादृष्टपूर्वाय स महद्धर्ममाप्नुयात् ॥७१॥

जो मनुष्य संकट में पड़े हुए अपरिचित पथिक को प्रसन्नतापूर्वक अन्न देता है, उसे महान् धर्म की प्राप्ति होती है ।

अन्नं प्राणा नराणां हि सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ।
अन्नदः पशुमान् पुत्री धनवान् भोगवानपि ॥७२॥
प्राणवांश्चापि भवति रूपवांश्च तथा नृप ।
अन्नदः प्राणदो लोके सर्वदः प्रोच्यते तु सः ॥७३॥

राजन् ! अन्न ही मनुष्यों का प्राण है, अन्न में ही सब-कुछ प्रतिष्ठित है, अतः अन्नदाता पशु, पुत्र, धन, भोग, बल और रूप—सभी-कुछ प्राप्त कर लेता है । अन्नदानी संसार में प्राणदाता और सर्वस्व देनेवाला कहलाता है ।

प्रत्यक्षं प्रीतिजननं भोक्तुर्दातुर्भवत्युत ।
सर्वाण्यन्यानि दानानि परोक्षफलवन्त्युत ॥७४॥

अन्न का दान ही ऐसा दान है जो दाता और भोक्ता दोनों को प्रत्यक्षरूप से सन्तुष्ट करनेवाला होता है । इसके अतिरिक्त अन्य जितने दान हैं, उन सबका फल परोक्ष है ।

आवाहाश्च विवाहाश्च यज्ञाश्चान्नमृते तथा ।
निवर्तन्ते नरश्रेष्ठ ब्रह्म चात्र प्रलीयते ॥७५॥

निमन्त्रण, विवाह और यज्ञ—ये सब अन्न के बिना बन्द हो जाते हैं । नरश्रेष्ठ ! अन्न न हो तो वेदों का ज्ञान भी भूल जाता है ।

अन्नदस्य मनुष्यस्य बलमोजो यशांसि च ।
कीर्तिश्च वर्धते शश्वत् त्रिषु लोकेषु पार्थिव ॥७६॥

प्रजेश्वर ! अन्नदान करनेवाले मनुष्य के बल, ओज, यश और कीर्ति का तीनों लोकों में सदा ही विस्तार होता रहता है ।

प्राणान् ददाति भूतानां तेजश्च भरतर्षभ ।
गृहमभ्यागतायाथ यो दद्यादन्नमर्थिने ॥७७॥

भरतश्रेष्ठ ! जो घर पर आये हुए याचक को अन्न देता है, वह सब प्राणियों को प्राण और तेज का दान करता है ।

भीष्म उवाच

नारदेनैवमुक्तोऽहमदामन्नं सदा नृप ।
अनसूयुस्त्वमप्यन्नं तस्माद् देहि गतज्वरः ॥७८॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! जब नारदजी ने मुझे इस प्रकार अन्नदान का माहात्म्य बतलाया,

तब से मैं नित्य अन्न का दान किया करता था, अतः तुम भी ईर्ष्या और द्वेष छोड़कर सदा अन्न का दान करते रहना।

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं दानफलं तात यत् त्वया परिकीर्तितम्।
अन्नदानं विशेषेण प्रशस्तमिह भारत ॥७९॥

युधिष्ठिर ने कहा—तात! भरतभूषण! आपने जो दानों का फल बताया है, वह मैंने सुन लिया। इन दानों में अन्नदान की विशेषरूप से प्रशंसा की गई है।

पानीयदानमेवैतत् कथं चेह महाफलम्।
इत्येतच्छ्रोतुमिच्छामि विस्तरेण पितामह ॥८०॥

पितामह! अब जलदान करने से कैसे महान् फल की प्राप्ति होती है, इस विषय को मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ।

भीष्म उवाच

हन्त ते वर्तयिष्यामि यथावद् भरतर्षभ।
गदतस्तन्ममाद्येह शृणु सत्यपराक्रम ॥८१॥

भीष्मजी बोले—सत्यपराक्रमी भरतभूषण! मैं तुम्हें सब-कुछ यथार्थरूप से बताऊँगा। तुम अब मेरी बातों को ध्यानपूर्वक सुनो!

पानीयदानात्प्रभृति सर्वं वक्ष्यामि तेऽनघ।
यदन्नं यच्च पानीयं सम्प्रदायाश्नुते नरः ॥८२॥

निष्पाप नरेश! मैं जलदान से लेकर सब प्रकार के दानों का फल तुम्हें बताऊँगा। मनुष्य अन्न और जल का दान करके जिस फल को प्राप्त करता है, उसे सुनो!

अन्नात् प्राणभृतस्तात प्रवर्तन्ते हि सर्वशः।
तस्मादन्नं परं लोके सर्वलोकेषु कथ्यते ॥८३॥
अन्नाद् बलं च तेजश्च प्राणिनां वर्धते सदा।
अन्नदानमतस्तस्माच्छ्रेष्ठमाह प्रजापतिः ॥८४॥

अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते और जीवन धारण करते हैं, अतः संसार में और सम्पूर्ण मनुष्यों में अन्न को ही सबसे उत्तम कहा गया है। अन्न से ही सदा प्राणियों के तेज और बल की वृद्धि होती है, इसलिए प्रजापति ने अन्न के दान को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है।

अन्नमेव मनुष्याणां प्राणानाहुर्मनीषिणः।
तच्च सर्वं नरव्याघ्र पानीयात् सम्प्रवर्तते ॥८५॥
तस्मात् पानीयदानाद् वै न परं विद्यते क्वचित्।
तच्च दद्यान्नरो नित्यं यदीच्छेद् भूतिमात्मनः ॥८६॥

मनीषी जनों ने अन्न को ही मनुष्यों का प्राण बतलाया है। पुरुषसिंह! सब प्रकार का अन्न [खाद्यपदार्थ] जल से ही उत्पन्न होता है, अतः जलदान से श्रेष्ठ और कोई दान नहीं है। जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसे प्रतिदिन जलदान करना चाहिए।

धन्यं यशस्यमायुष्यं जलदानमिहोच्यते।
शत्रूंश्चाप्यधि कौन्तेय सदा तिष्ठति तोयदः ॥८७॥

जलदान इस संसार में धन, यश और आयु की वृद्धि करनेवाला बताया जाता है। कुन्तीपुत्र! जलदान करनेवाला मनुष्य अपने शत्रुओं को भी वश में [अधिकार] में रखता है।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

व्रत, नियम, सत्य, ब्रह्मचर्य, माता-पिता आदि की सेवा का महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

विस्रम्भितोऽहं भवता धर्मान् प्रवदता विभो।
प्रवक्ष्यामि तु सन्देहं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने कहा—प्रभो! आपने धर्मोपदेश करके उसमें मेरा दृढ़विश्वास उत्पन्न कर दिया है। पितामह! अब मैं आपसे एक और सन्देह पूछ रहा हूँ, उसके विषय में मुझे बताइए।

व्रतानां किं फलं प्रोक्तं कीदृशं वा महाद्युते।
नियमानां फलं किं च स्वधीतस्य च किं फलम् ॥२॥

महातेजस्वी! व्रतों का क्या और कैसा फल बताया गया है? नियमों के पालन और स्वाध्याय का क्या फल है?

दत्तस्येह फलं किं च वेदानां धारणे च किम्।
अध्यापने फलं किं च सर्वमिच्छामि वेदितुम् ॥३॥

दान देने, वेदों को धारण=कण्ठस्थ करने और उन्हें पढ़ाने का क्या फल होता है? यह सब मैं जानना चाहता हूँ।

अप्रतिग्राहके किं च फलं लोके पितामह।
तस्य किं च फलं दृष्टं श्रुतं यस्तु प्रयच्छति ॥४॥

पितामह! संसार में जो दान नहीं लेता, उसे क्या फल मिलता है? जो वेदों का ज्ञान प्रदान करता है, उसे कौन-से फल की प्राप्ति होती है?

स्वकर्मनिरतानां च शूराणां चापि किं फलम्।
शौचं च किंफलं प्रोक्तं ब्रह्मचर्ये च किं फलम् ॥५॥

अपने कर्तव्य-पालन में तत्पर रहनेवाले शूरवीरों को किस फल की प्राप्ति होती है? पवित्रता और ब्रह्मचर्यपालन का क्या फल बताया गया है?

पितृशुश्रूषणे किं च मातृशुश्रूषणे तथा।
आचार्यगुरुशुश्रूषास्वनुक्रोशानुकम्पने ॥६॥

माता-पिता की सेवा से कौन-से फल की प्राप्ति होती है? आचार्य और गुरु की सेवा से तथा प्राणियों पर अनुग्रह और दयाभाव बनाये रखने से किस फल की प्राप्ति होती है?

एतत् सर्वमशेषेण पितामह यथातथम्।
वेत्तुमिच्छामि धर्मज्ञ परं कौतूहलं हि मे ॥७॥

धर्मज्ञ पितामह! ये सभी बातें मैं यथार्थरूप से जानना चाहता हूँ। इसके लिए मेरे मन में बड़ी उत्कण्ठा है।

भीष्म उवाच

यो व्रतं वै यथोद्दिष्टं तथा सम्प्रतिपद्यते।
अखण्डं सम्यगारभ्य तस्य लोकाः सनातनाः ॥८॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! जो मनुष्य शास्त्रोक्त विधि से किसी व्रत को आरम्भ करके पूर्ण रीति से समाप्त करते हैं, उन्हें सनातन लोकों की प्राप्ति होती है।

नियमानां फलं राजन् प्रत्यक्षमिह दृश्यते।
नियमानां क्रतूनां च त्वयावाप्तमिदं फलम् ॥९॥

राजन्! इस लोक में नियमों के पालन का फल तो प्रत्यक्ष ही है। तुमने यह नियमों और यज्ञों का फल ही प्राप्त किया है।

स्वधीतस्यापि च फलं दृश्यतेऽमुत्र चेह च।
इहलोकेऽथवा नित्यं ब्रह्मलोके च मोदते ॥१०॥

वेदों के स्वाध्याय का फल इहलोक और परलोक दोनों में देखा जाता है। स्वाध्यायशील द्विज इहलोक और ब्रह्मलोक=मोक्ष में सदा आनन्द भोगता है।

दमस्य तु फलं राजञ्छृणु त्वं विस्तरेण मे।
दान्ताः सर्वत्र सुखिनो दान्ताः सर्वत्र निर्वृताः ॥११॥

राजन्! अब तुम मेरे द्वारा विस्तारपूर्वक कथित दम [इन्द्रिय-संयम] का फल सुनो! जितेन्द्रिय पुरुष सर्वत्र सुखी और सन्तुष्ट रहते हैं।

यत्रेच्छागामिनो दान्ताः सर्वशत्रुनिषूदनाः।
प्रार्थयन्ति च यद् दान्ता लभन्ते तन्न संशयः ॥१२॥

इन्द्रिय-संयमी जहाँ चाहते हैं, वहीं चले जाते हैं और जिस वस्तु की इच्छा करते हैं, वही उन्हें प्राप्त हो जाती है। वे सम्पूर्ण शत्रुओं को नष्ट कर देते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

दानाद् दमो विशिष्टो हि ददत्किञ्चिद् द्विजातये।
दाता कुप्यति नो दान्तस्तस्माद् दानात् परो दमः ॥१३

दान से दम का स्थान ऊंचा है। दानी मनुष्य ब्राह्मणों को कुछ दान करते समय कभी क्रोध भी कर सकता है परन्तु जितेन्द्रिय कभी क्रोध नहीं करता, अतः दम दान से श्रेष्ठ है।

अध्यापकः परिक्लेशादक्षयं फलमश्नुते।
विधिवत् पावकं हुत्वा ब्रह्मलोके नराधिप ॥१४॥

नरेश्वर! शिष्यों को वेद पढ़ानेवाला अध्यापक कष्ट सहन करने के कारण अक्षय फल का भागी होता है। अग्नि में विधिपूर्वक हवन करके ब्राह्मण ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है।

अधीत्यापि हि यो वेदान् न्यायविद्भ्यः प्रयच्छति।
गुरुकर्मप्रशंसी च सोऽपि स्वर्गे महीयते ॥१५

जो वेदों का अध्ययन करके न्यायपरायण शिष्यों को विद्यादान करता है और गुरु के कार्यों की प्रशंसा करनेवाला है, वह स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है।

क्षत्रियोऽध्ययने युक्तो यजने दानकर्मणि।
युद्धे यश्च परित्राता सोऽपि स्वर्गे महीयते ॥१६॥

वेदाध्ययन, यज्ञ तथा दान देने में तत्पर रहनेवाला और युद्ध में दूसरों की रक्षा करनेवाला क्षत्रिय भी स्वर्गलोक में पूजित होता है।

वैश्यः स्वकर्मनिरतः प्रदानाल्लभते महत् ।
शूद्रः स्वकर्मनिरतः स्वर्गं शुश्रूषयार्च्छति ॥१७॥

अपने कर्तव्यपालन में लगा हुआ वैश्य दान देने से उच्चपद को प्राप्त होता है । अपने कर्म में तत्पर रहनेवाला शूद्र सेवा के द्वारा स्वर्ग में जाता है ।

शूरा बहुविधाः प्रोक्तास्तेषामर्थांस्तु मे शृणु ।
शूरान्वयानां निर्दिष्टं फलं शूरस्य चैव हि ॥१८॥

शूरवीरों के अनेक भेद बताये गये हैं । उन सबके तात्पर्य मुझसे सुनो ! उन शूरों के वंशजों तथा शूरों के लिए जो फल बताया गया है, उसे बताता हूँ ।

यज्ञशूरा दमे शूराः सत्यशूरास्तथापरे ।
युद्धशूरास्तथैवोक्ता दानशूराश्च मानवाः ॥१९॥

कुछ लोग यज्ञशूर होते हैं, कोई इन्द्रियसंयमी होने के कारण दमशूर कहलाते हैं । इसी प्रकार कितने ही मनुष्य सत्यशूर, युद्धशूर तथा दानशूर कहे गये हैं ।

बुद्धिशूरास्तथैवान्ये क्षमाशूरास्तथापरे ।
आर्जवे च तथा शूराः शमे वर्तन्ति मानवाः ॥२०॥
तैस्तैश्च नियमैः शूरा बहवः सन्ति चापरे ।
वेदाध्ययनशूराश्च शूराश्चाध्यापने रताः ॥२१॥
गुरुशुश्रूषया शूराः पितृशुश्रूषयापरे ।
मातृशुश्रूषया शूरा भैक्ष्यशूरास्तथापरे ॥२२॥

कोई बुद्धिशूर है तो कोई क्षमाशूर है । कितने ही मनुष्य सरलता दिखाने में शूर हैं, तो बहुत-से शम [मनोनिग्रह] में शूरता प्रकट करते हैं । विभिन्न नियमों द्वारा अपना शौर्य प्रकट करनेवाले और भी बहुत-से शूरवीर हैं । कितने ही वेदाध्ययन-शूर, अध्यापन-शूर, गुरुसेवा-शूर, पितृसेवा-शूर, मातृसेवा-शूर और कितने ही भिक्षा माँगने में शूर हैं ।

अरण्ये गृहवासे च शूराश्चातिथिपूजने ।
सर्वे यान्ति परांल्लोकान् स्वकर्मफलनिर्जितान् ॥२३॥

कुछ लोग वनवासशूर, कुछ गृहवास में शूर और कुछ लोग अतिथियों के सेवा-सत्कार में शूरवीर होते हैं । ये सब-के-सब अपने कर्मफलों द्वारा उपार्जित उत्तम लोकों—योनियों में जाते हैं ।

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥२४॥

यदि तराजू के एक पलड़े पर एक सहस्र अश्वमेध यज्ञों का पुण्य और दूसरे पलड़े पर केवल सत्य रखा जाए तो एक सहस्र अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा सत्य का ही पलड़ा भारी रहेगा ।

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते ।
सत्येन मरुतो वान्ति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥२५॥

सत्य के प्रभाव से सूर्य तपता है, सत्य से अग्नि प्रज्वलित होती है, सत्य से ही वायु का सर्वत्र संचार होता है और सब-कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है ।

सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणास्तथा ।
सत्यमाहुः परो धर्मस्तस्मात्सत्यं न लंघयेत् ॥२६॥

देवता, पितर और ब्राह्मण सत्य से ही प्रसन्न होते हैं । सत्य को ही परम धर्म बताया गया है, अतः सत्य का कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिए ।

मुनयः सत्यनिरता मुनयः सत्यविक्रमाः ।
मुनयः सत्यशपथास्तस्मात् सत्यं विशिष्यते ॥२७॥

ऋषि-मुनि सत्यपरायण, सत्यपराक्रमी और सत्यप्रतिज्ञ होते हैं, अतः सत्य सबसे श्रेष्ठ है ।

सत्यवन्तः स्वर्गलोके मोदन्ते भरतर्षभ ।
दमः सत्यफलावाप्तिरुक्ता सर्वात्मना मया ॥२८॥

भरतश्रेष्ठ ! सत्यवादी स्वर्गलोक में आनन्द भोगते हैं परन्तु दम [इन्द्रिय-संयम] उस सत्य के फल की प्राप्ति में कारण है । यह बात मैंने हृदय से कही है ।

असंशयं विनीतात्मा स वै स्वर्गे महीयते ।
ब्रह्मचर्यस्य च गुणाञ्छृणु त्वं वसुधाधिप ॥२९॥

जिसने अपने मन को वश में करके विनयशील बना दिया है, वह निश्चय ही स्वर्गलोक में सम्मानित होता है । पृथिवीनाथ ! अब तुम ब्रह्मचर्य के गुण सुनो ।

आजन्ममरणाद् यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ।
न तस्य किंचिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप ॥३०॥

प्रजेश्वर ! जो इस संसार में जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त ब्रह्मचारी रहता है, उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है, इस बात को जान लो ।

शुश्रूषते यः पितरं न चासूयेत् कदाचन ।
मातरं भ्रातरं वापि गुरुमाचार्यमेव च ॥३१॥

**तस्य राजन् फलं विद्धि स्वर्लोके स्थानमर्चितम् ।
न स पश्येत नरकं गुरुशुश्रूषयाऽऽत्मवान् ॥३२॥**

राजन् ! जो मनुष्य माता-पिता, बड़े भाई, गुरु और आचार्य की सेवा करता है और उनके गुणों में कभी दोषदृष्टि नहीं करता, उसको मिलनेवाले फल को जान लो—उसे स्वर्गलोक में सबके द्वारा सम्मानित स्थान प्राप्त होता है। मन को वश में रखनेवाला वह मनुष्य गुरुसेवा के प्रभाव से कभी नरक का दर्शन नहीं करता।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

गृहस्थ-धर्मों का रहस्य

युधिष्ठिर उवाच

**यदिदं तप इत्याहुरुपवासं पृथग्जनाः ।
तपः स्यादेतदेवेह तपोऽन्यद् वापि किं भवेत् ॥१॥**

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! साधारण लोग जो उपवास को ही तप कहा करते हैं, उसके सम्बन्ध में आपकी क्या धारणा है ? मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या वास्तव में उपवास ही तप है या उसका और कोई स्वरूप है ?

भीष्म उवाच

**मासार्धमासोपवासाद् यत् तपो मन्यते जनः ।
आत्मतन्त्रोपघाती यो न तपस्वी न धर्मवित् ॥२॥**

भीष्मजी बोले—राजन् ! जो लोग पन्द्रह दिन अथवा एक मास तक उपवास करके उसे तपस्या मानते हैं, वे व्यर्थ ही अपने शरीर को कष्ट देते हैं। वास्तव में केवल उपवास करनेवाले न तपस्वी हैं, न धर्मज्ञ।

**त्यागस्य चापि सम्पत्तिः शिष्यते तप उत्तमम् ।
सदोपवासी च भवेद् ब्रह्मचारी तथैव च ॥३॥**

त्याग का सम्पादन ही सबसे श्रेष्ठ तप है। व्रतचारी मनुष्य को सदा उपवासी [व्रतपरायण] और ब्रह्मचारी होना चाहिए।

**मुनिश्च स्यात्सदा विप्रो वेदांश्चैव सदा जपेत् ।
कुटुम्बिको धर्मकामः सदास्वप्नश्च मानवः ॥४॥**

ब्राह्मण को सदा वेदों का स्वाध्यायी और मुनि होना चाहिए। धर्मपालन की इच्छा से ही उसे स्त्री आदि कुटुम्ब का संग्रह करना चाहिए [विषयभोग के लिए नहीं] और सदा जागरूक रहना चाहिए।

**अमांसाशी सदा च स्यात् पवित्रं च सदा पठेत् ।
ऋतवादी सदा च स्यान्नियतश्च सदा भवेत् ॥५॥
विघसाशी सदा च स्यात् सदा चैवातिथिप्रियः ।
अमृताशी सदा च स्यात् पवित्री च सदा भवेत् ॥६॥**

व्रतचारी मनुष्य को उचित है कि वह मांस कभी न खाये, पवित्रभाव से सदा वेद का स्वाध्याय करे, सदा सत्यभाषण करे और इन्द्रियों को संयम में रखे। उसे सदा विघसाशी, अमृताशी, अतिथिप्रिय और सदा पवित्र रहना चाहिए।

युधिष्ठिर उवाच

**कथं सदोपवासी स्याद् ब्रह्मचारी च पार्थिव ।
विघसाशी कथं च स्यात् कथं चैवातिथिप्रियः ॥७॥**

युधिष्ठिर ने पूछा—महाराज ! ब्राह्मण कैसे सदा उपवासी और ब्रह्मचारी हो और किस प्रकार वह विघसाशी और अतिथिप्रिय हो सकता है ?

भीष्म उवाच

**अन्तरा सायमाशं च प्रातराशं च यो नरः ।
सदोपवासी भवति यो न भुङ्क्तेऽन्तरा पुनः ॥८॥**

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! जो मनुष्य केवल प्रातःकाल और सायंकाल ही भोजन करता है, बीच में कुछ नहीं खाता, उसे सदा उपवासी समझना चाहिए।

**भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति चैव ह ।
ऋतवादी सदा च स्यात् दानशीलश्च मानवः ॥९॥**

जो केवल ऋतुकाल में अपनी धर्मपत्नी के साथ सहवास करता है, वह ब्रह्मचारी ही माना जाता है।

सदा दान देनेवाला मनुष्य सत्यवादी ही समझने योग्य है।

अभक्षयन् वृथा मांसममांसाशी भवत्युत।
दानं ददत् पवित्री स्यादस्वप्नश्च दिवास्वपन् ॥१०॥

जो मांस नहीं खाता, वह अमांसाशी होता है और जो सदा दान देनेवाला है, वह पवित्र माना जाता है। जो दिन में नहीं सोता, वह सदा जागनेवाला माना जाता है।

भृत्यातिथिषु यो भुङ्क्ते भुक्तवत्सु नरः सदा।
अमृतं केवलं भुंक्ते इति विद्धि युधिष्ठिर ॥११॥

युधिष्ठिर! जो सदा नौकर-चाकरों और अतिथियों के भोजन कर लेने के पश्चात् ही स्वयं भोजन करता है, उसे ही अमृतभोजन करनेवाला समझना चाहिए।

अभुक्तवत्सु नाश्नाति ब्राह्मणेषु तु यो नरः।
अभोजनेन तेनास्य जितः स्वर्गो भवत्युत ॥१२॥

जबतक ब्राह्मण भोजन न कर लें, तबतक जो अन्न ग्रहण नहीं करता, वह मनुष्य अपने उस व्रत के द्वारा स्वर्गलोक पर विजय पा लेता है।

देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च संश्रितेभ्यस्तथैव च।
अवशिष्टानि यो भुंक्ते तमाहुर्विघसाशिनम् ॥१३॥

राजन्! जो विद्वानों, पितरों=वृद्धजनों और आश्रितों को भोजन कराने के पश्चात् बचे हुए अन्न का ही स्वयं भोजन करता है, उसे विघसाशी कहते हैं।

देवतातिथिभिः सार्धं पितृभ्यश्चोपभुञ्जते।
रमन्ते पुत्रपौत्रैश्च तेषां गतिरनुत्तमा ॥१४॥

जो विद्वानों, अतिथियोंसहित पितरों=माता-पिता, वृद्धजनों के लिए अन्न का भाग देकर स्वयं भोजन करते हैं, वे इस संसार में पुत्र-पौत्रों के साथ रहकर आनन्द भोगते हैं और मृत्यु के पश्चात् परम गति को पाते हैं।

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छन्ति दानानि विविधानि च।
दातृप्रतिग्रहीत्रोर्वै को विशेषः पितामह ॥१५॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! लोग ब्राह्मणों को नानाप्रकार की वस्तुएँ दान देते हैं। मैं यह जानना चाहता हूँ कि दान देने और दान लेनेवाले मनुष्यों में क्या विशेषता होती है?

भीष्म उवाच

साधोर्यः प्रतिगृह्णीयात् तथैवासाधुतो द्विजः।
गुणवत्यल्पदोषः स्यान्निर्गुणे तु निमज्जति ॥१६॥

भीष्मजी बोले—हे राजन्! जो ब्राह्मण साधु [सदाचारी] और असाधु [दुराचारी] पुरुष से दान लेता है, उनमें सद्गुणी पुरुष से दान लेना अल्प दोष है किन्तु दुराचारी से दान लेनेवाला पाप में डूब जाता है।

युधिष्ठिर उवाच

गार्हस्थ्यं धर्ममखिलं प्रब्रूहि भरतर्षभ।
ऋद्धिमाप्नोति किं कृत्वा मनुष्य इह पार्थिव ॥१७॥

युधिष्ठिर बोले—भरतश्रेष्ठ! भूपाल! अब आप मुझे गृहस्थ-आश्रम के सम्पूर्ण धर्मों का उपदेश कीजिए। मनुष्य कौन-सा कर्म करके इस संसार में समृद्धि का भागी होता है?

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि पुरावृत्तं जनाधिप।
वासुदेवस्य संवादं पृथिव्याश्चैव भारत ॥१८॥

भीष्म ने कहा—प्रजेश्वर! भरतभूषण! इस विषय में मैं तुम्हें श्रीकृष्ण और पृथिवी का संवादरूप एक प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ।

संस्तुत्य पृथिवीं देवीं वासुदेवः प्रतापवान्।
पप्रच्छ भरतश्रेष्ठ मां त्वं यत्पृच्छसेऽद्य वै ॥१९॥

भरतश्रेष्ठ! प्रतापी श्रीकृष्ण ने पृथिवीदेवी की स्तुति करके उनसे यही बात पूछी थी, जो बात आज तुम मुझसे पूछ रहे हो।

वासुदेव उवाच

गार्हस्थ्यं धर्ममाश्रित्य मया वा मद्विधेन वा।
किमवश्यं धरे कार्यं किं वा कृत्वा कृतं भवेत् ॥२०॥

श्रीकृष्ण ने पूछा—वसुन्धरे! मुझे या मेरे जैसे किसी अन्य मनुष्य को गार्हस्थ्य-धर्म का आश्रय लेकर किस कर्म का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए? क्या करने से गृहस्थ को सफलता मिलती है?

पृथिव्युवाच

ऋषयः पितरो देवा मनुष्याश्चैव माधव।
इज्याश्चैवार्चनीयाश्च यथा चैव निबोध मे ॥२१॥

पृथिवी बोली—माधव ! गृहस्थ को सदा ही देवताओं, पितरों, ऋषियों और अतिथियों का पूजन एवं सत्कार करना चाहिए। उसकी विधि क्या है ? सो बताती हूँ, सुनो !

सदा यज्ञेन देवाश्च सदाऽऽतिथ्येन मानुषाः।
छन्दतश्च यथा नित्यमर्हान् भुञ्जीत नित्यशः ॥२२॥

प्रतिदिन यज्ञ के द्वारा देवताओं का, अतिथि-सत्कार के द्वारा मनुष्यों का [श्रद्धापूर्वक सेवा द्वारा पितरों=माता-पिता आदि का] तथा वेदों का नित्य स्वाध्याय करके पूजनीय ऋषि-महर्षियों का यथाविधि पूजन और सत्कार करना चाहिए। इसके पश्चात् भोजन करना उचित है।

नित्यमग्निं परिचरेदभुक्त्वा बलिकर्म च।
कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन च ॥२३॥

प्रतिदिन भोजन से पूर्व ही अग्निहोत्र और बलिवैश्वदेव यज्ञ करे। माता-पिता की प्रसन्नता और तृप्ति के लिए प्रतिदिन अन्न और जल आदि द्वारा उनकी सेवा करे।

सिद्धान्नाद् वैश्वदेवं वै कुर्यादग्नौ यथाविधि।
गृहस्थः पुरुषः कृष्ण शिष्टाशी च सदा भवेत् ॥२४॥

भोजन तैयार होने पर उसमें से अन्न लेकर विधिपूर्वक बलिवैश्वदेव यज्ञ करना चाहिए। हे कृष्ण! गृहस्थ को सदा यज्ञशेष का ही भोजन करना चाहिए।

राजर्त्विजं स्नातकं च गुरुं श्वशुरमेव च।
अर्चयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरोषितान् ॥२५॥

राजा, ऋत्विज, स्नातक, गुरु और श्वशुर—ये यदि एक वर्ष के पश्चात् घर आएँ तो मधुपर्क द्वारा इनका आदर-सत्कार करना चाहिए।

श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद् भुवि।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायंप्रातर्विधीयते ॥२६॥

कुत्तों, चाण्डालों और पक्षियों के लिए भूमि पर अन्न रख देना चाहिए। यह बलिवैश्वदेव नामक यज्ञ है। इसका प्रातः और सायंकाल अनुष्ठान किया जाता है।

भीष्म उवाच

इति भूमेर्वचः श्रुत्वा वासुदेवः प्रतापवान्।
तथा चकार सततं त्वमप्येवं समाचर ॥२७॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! भूमि माता के ये वचन सुनकर प्रतापी श्रीकृष्ण ने उन्हीं के अनुसार गृहस्थ-धर्मों का विधिवत् पालन किया। तुम भी सदा इन धर्मों का अनुष्ठान करते रहो।

एतद् गृहस्थधर्मं त्वं चेष्टमानो जनाधिप।
इहलोके यशः प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि ॥२८॥

नरेश्वर ! इस गृहस्थ-धर्म का पालन करते रहने पर तुम इस लोक में सुयश और मरने पर स्वर्ग=सुखविशेष को प्राप्त कर लोगे।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्याय।

शुभाशुभ कर्मों और सदाचार का निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

शतायुरुक्तः पुरुषः शतवीर्यश्च जायते।
कस्मान्म्रियन्ते पुरुषा बाला अपि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! शास्त्रों में कहा गया है कि 'मनुष्य की आयु सौ वर्ष है।' वह सैकड़ों प्रकार की शक्ति लेकर उत्पन्न होता है। परन्तु कितने ही मनुष्य बाल्यकाल में ही मर जाते हैं। ऐसा क्यों होता है ?

आयुष्मान् केन भवति अल्पायुर्वापि मानवः।
केन वा लभते कीर्तिं केन वा लभते श्रियम् ॥२॥

मनुष्य दीर्घायु किस उपाय से होता है और किस कारण से शीघ्र मर जाता है ? वह किस कर्म से कीर्ति पाता है और किस अनुष्ठान से उसे सम्पत्ति प्राप्त होती है ?

तपसा ब्रह्मचर्येण जपहोमैस्तथौषधैः।
कर्मणा मनसा वाचा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥३॥

पितामह ! मनुष्य मन, वाणी अथवा शरीर के द्वारा तप, ब्रह्मचर्य, जप, होम तथा औषध आदि में से किसका आश्रय ले जिससे वह कल्याण-मार्ग का पथिक बने, यह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

अत्र तेऽहं प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वमनुपृच्छसि ।
अल्पायुर्येन भवति दीर्घायुर्वापि मानवः ।।४।।
येन वा लभते कीर्तिं येन वा लभते श्रियम् ।
यथा वर्तयन् पुरुषः श्रेयसा सम्प्रयुज्यते ।।५।।

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! तुमने जो कुछ मुझसे पूछा है, उसका उत्तर देता हूँ। मनुष्य जिस कारण से अल्पायु होता है, जिस उपाय से दीर्घायु होता है, जिससे वह कीर्ति और सम्पत्ति का भागी होता है और जिस व्यवहार से वह कल्याण-मार्ग का पथिक बनता है, वह सब बताता हूँ, सुनो !

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम् ।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ।।६।।

सदाचार से मनुष्य दीर्घायु होता है, सदाचार से ही वह सम्पत्ति पाता है और सदाचार से ही उसे इहलोक और परलोक में कीर्ति की प्राप्ति होती है।

दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत् ।
त्रसन्ति यस्माद् भूतानि तथा परिभवन्ति च ।।७।।

दुराचारी पुरुष, जिससे समस्त प्राणी डरते और तिरस्कृत होते हैं, इस संसार में दीर्घायु नहीं पाता।

आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः ।
साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम् ।।८।।

सदाचार ही धर्म का लक्षण है। सच्चरित्रता ही श्रेष्ठ पुरुषों की पहचान है। श्रेष्ठ पुरुष जैसा बर्ताव करते हैं, वही सदाचार का लक्षण है।

ये नास्तिका निष्क्रियाश्च गुरुशास्त्राभिलंघिनः ।
अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्ति गतायुषः ।।९।।

जो नास्तिक, शुभकर्मों से हीन, गुरु और शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले, धर्म को न जाननेवाले और दुराचारी हैं, उन मनुष्यों की आयु क्षीण हो जाती है।

विशीला भिन्नमर्यादा नित्यं संकीर्णमैथुनाः ।
अल्पायुषो भवन्तीहि नरा निरयगामिनः ।।१०।।

जो मनुष्य शीलरहित, सदा धर्म की मर्यादा का भङ्ग करनेवाले और अन्य वर्ण की स्त्रियों के साथ सम्पर्क रखनेवाले होते हैं, वे इस लोक में अल्पायु होते हैं, और मरने के पश्चात् नरक में पड़ते हैं।

सर्वलक्षणहीनोऽपि समुदाचारवान् नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयुश्च शतं वर्षाणि जीवति ।।११।।

सब प्रकार के शुभ लक्षणों से हीन होने पर भी जो मनुष्य सदाचारी, श्रद्धालु और दोषदृष्टिरहित होता है, वह सौ वर्षों तक जीवित रहता है।

अक्रोधनः सत्यवादी भूतानामविहिंसकः ।
अनसूयुरजिह्मश्च शतं वर्षाणि जीवति ।।१२।।

जो क्रोधरहित, सत्यवादी, किसी भी प्राणी की हिंसा न करनेवाला, किसी के गुणों में दोष न देखनेवाला और छल-कपटरहित है, वह सौ वर्षों तक जीता है।

लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।
नित्योच्छिष्टः संकुसुको नेहायुर्विन्दते महत् ।।१३।।

व्यर्थ में ढेले फोड़नेवाला, तृण तोड़नेवाला, नखों को चबानेवाला, सदा जूठा खानेवाला अथवा अशुद्ध रहनेवाला और जो चञ्चल होता है, ऐसे कुलक्षणी को दीर्घायु प्राप्त नहीं होती।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
उत्थायाचम्य तिष्ठेत पूर्वां सन्ध्यां कृताञ्जलिः ।।१४।।

प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में [सूर्योदय से एक घण्टा पूर्व] जागे तथा धर्म और अर्थ के विषय में विचार करे। फिर शय्या से उठकर शौच-स्नान के पश्चात् आचमन करके हाथ जोड़े हुए प्रातःकाल की सन्ध्या करे।

एवमेवापरां सन्ध्यां समुपासीत वाग्यतः ।
ऋषयो नित्यसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुवन् ।
तस्मात् तिष्ठेत् सदा पूर्वां पश्चिमां चैव वाग्यतः ।।१५।।

इसी प्रकार सायंकाल भी मौन होकर सन्ध्या-उपासना करे। ऋषियों ने प्रतिदिन सन्ध्योपासना करने से ही दीर्घायु प्राप्त की थी, अतः सदा मौन रहकर द्विजमात्र को प्रातःकाल और सायंकाल सन्ध्या अवश्य करनी चाहिए।

ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः सन्ध्यां न पश्चिमाम् ।
सर्वांस्तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत् ॥१६॥

जो द्विज न तो प्रातःकाल की सन्ध्या करते हैं और न सायंकाल सन्ध्यानुष्ठान करते हैं, उन सबसे धार्मिक राजा शूद्रोचित कर्म कराए।

परदारा न गन्तव्या सर्ववर्णेषु कर्हिचित् ।
न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥१७॥

किसी भी वर्ण के मनुष्य को कभी भी पर-स्त्री से संसर्ग नहीं करना चाहिए। पर-स्त्री-संसर्ग से मनुष्य की आयु शीघ्र समाप्त हो जाती है। संसार में पर-स्त्री के साथ मैथुन के समान मनुष्य की आयु को नष्ट करनेवाला दूसरा कोई कार्य नहीं है।

पुरीषमूत्रे नोदीक्षेन्नाधितिष्ठेत् कदाचन ।
नाज्ञातैः सह गच्छेत नैको न वृषलैः सह ॥१८॥

मल-मूत्र की ओर न देखे, उसपर कभी पैर न रखे। अपरिचित पुरुषों के साथ यात्रा न करे, पतितों के साथ भी यात्रा न करे और न अकेला ही।

पन्था देयो ब्राह्मणाय गोभ्यो राजभ्य एव च ।
वृद्धाय भारतप्ताय गर्भिण्यै दुर्बलाय च ॥१९॥

ब्राह्मण, गौ, राजा, बूढ़े मनुष्य, भार से पीड़ित, गर्भिणी स्त्री और दुर्बल मनुष्य यदि सामने से आते हों तो स्वयं एक ओर हटकर उन्हें जाने के लिए मार्ग दे देना चाहिए।

उपानहौ च वस्त्रं च धृतमन्यैर्न धारयेत् ।
ब्रह्मचारी च नित्यं स्यात् पादं पादेन नाक्रमेत् ॥२०॥

दूसरों के पहने हुए वस्त्र और जूते न पहने। सदा ब्रह्मचर्य का पालन करे; [ऋतुकालगामी हो] पैर से पैर को न रगड़े।

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेत् रुशतीं पापलोक्याम् ॥२१॥

दूसरों के मर्म पर आघात न करे। कटुवाणी न बोले, दूसरों को नीचा न दिखाये। जिसके कहने से दूसरों को कष्ट होता हो, वह रुखाई से भरी हुई बात पापियों के लोक में ले-जानेवाली होती है, अतः वैसी बात कभी न बोले।

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य वा मर्मसु ये पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥२२॥

वचनरूपी बाण मुख से निकलते हैं, जिनसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोक में पड़ा रहता है। विद्वान् मनुष्य को चाहिए कि दूसरों के मर्मस्थलों पर चोट करनेवाले वचन कभी न बोले।

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥२३॥

बाणों से बिंधा और फरसे से कटा हुआ वन फिर से फूट आता है परन्तु दुर्वचनरूप शस्त्र से किया हुआ भयंकर घाव कभी नहीं भरता।

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥२४॥

कर्णि, नालीक और नाराच—ये यदि शरीर में गड़ जाएँ तो चिकित्सक उन्हें शरीर से निकाल देते हैं, किन्तु वचनरूपी बाण को निकालना असम्भव होता है, क्योंकि वह हृदय में धँसा होता है।

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्विगर्हितान् ।
रूपद्रविणहीनाँश्च सत्त्वहीनाँश्च नाक्षिपेत् ॥२५॥

हीनाङ्ग [अन्धे-काने आदि], अधिकाङ्ग [छह अंगुलीवाले], विद्याहीन, निन्दित, कुरूप, निर्धन और निर्बल मनुष्यों पर आक्षेप करना उचित नहीं है।

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषस्तम्भोऽभिमानं च तैक्ष्ण्यं च परिवर्जयेत् ॥२६॥

नास्तिकता, वेदों की निन्दा, विद्वानों को अपशब्द कहना, द्वेष, उद्दण्डता, अभिमान और कठोरता—इन दुर्गुणों को त्याग देना चाहिए।

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत् क्रुद्धो नैनं निपातयेत् ।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याच्च शिक्षार्थं ताडनं स्मृतम् ॥२७॥

क्रोध में भरकर पुत्र अथवा शिष्य के सिवा न तो किसी को दण्डा मारे और न पृथिवी पर गिराये। हाँ, शिक्षा के लिए पुत्र या शिष्य को ताड़ना देना उचित माना गया है।

कृत्वा मूत्रपुरीषे तु रथ्यामाक्रम्य वा पुनः ।
पादप्रक्षालनं कुर्यात् स्वाध्याये भोजने तथा ।।२८।।

मल-मूत्र त्यागने और मार्ग चलने के पश्चात् तथा स्वाध्याय और भोजन करने से पूर्व हाथ-पैर धो लेने चाहिएं ।

नित्यमग्निं परिचरेद् भिक्षां दद्याच्च नित्यदा ।
वाग्यतो दन्तकाष्ठं च नित्यमेव समाचरेत् ।।२९।।

प्रतिदिन अग्निहोत्र करे, नित्यप्रति भिक्षुक को भिक्षा दे और मौन होकर प्रतिदिन दन्तधावन किया करे ।

मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत् ।
आचार्यमथवाप्यन्यं तथायुर्विन्दते महत् ।।३०।।

प्रतिदिन प्रातःकाल सोकर उठने के पश्चात् माता-पिता को चरणस्पर्शपूर्वक प्रणाम करे । फिर आचार्य तथा अन्य गुरुजनों का अभिवादन करे । ऐसा करने से दीर्घायु की प्राप्ति होती है ।

उदक्शिरा न स्वपेत तथा प्रत्यक्शिरा न च ।
प्राक्शिरास्तु स्वपेद् विद्वानथवा दक्षिणाशिराः ।।३१।।

उत्तर तथा पश्चिम की ओर सिर करके न सोये । विद्वान् मनुष्य को पूर्व अथवा दक्षिण की ओर सिर करके ही सोना चाहिए ।

न भग्ने नावशीर्णे च शयने प्रस्वपीत च ।
नान्तर्धाने न संयुक्ते न च तिर्यक् कदाचन ।।३२।।

टूटी और ढीली शय्या पर नहीं सोना चाहिए । अन्धेरे में पड़ी हुई शय्या पर भी सहसा सोना उचित नहीं है [प्रकाश करके देख लेना चाहिए] । किसी दूसरे के साथ एक खाट पर न सोये । इसी प्रकार शैय्या पर सदा सीधे ही सोना चाहिए, तिरछा होकर नहीं ।

न चापि गच्छेत् कार्येण समयाद् वापि नास्तिकैः ।
आसनं तु पदाऽऽकृष्य न प्रसज्जेत् तथा नरः ।।३३।।

काम पड़ने पर भी नास्तिकों के साथ न जाए । उनके शपथ खाने पर भी उनके साथ यात्रा न करे । आसन को पैर से खींचकर मनुष्य उसपर न बैठे ।

न नग्नः कर्हिचित् स्नायान्न निशायां कदाचन ।
स्नात्वा च नावमृज्येत गात्राणि सुविचक्षणः ।।३४।।

विद्वान् पुरुष कभी नग्न होकर स्नान न करे । रात्रि में भी नग्न स्नान न करे । स्नान के पश्चात् अपने अङ्गों में तेल आदि की मालिश न कराये ।

न चानुलिम्पेदस्नात्वा स्नात्वा वासो न निर्धुनेत् ।
न चैवार्द्राणि वासांसि नित्यं सेवेत मानवः ।।३५।।

स्नान किये बिना अपने अङ्गों में चन्दन अथवा अङ्गराग न लगाये । स्नान करने के पश्चात् वस्त्र न धोये और गीले वस्त्र कभी न पहने ।

स्रजश्च नावकृष्येत न बहिर्धारयीत च ।
उदक्यया च सम्भाषां न कुर्वीत कदाचन ।।३६।।

गले में पड़ी हुई माला को कभी न खींचे । कपड़े के ऊपर माला धारण न करे । रजस्वला स्त्री के साथ कभी समागम न करें ।

नोत्सृजेत पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके ।
उभे मूत्रपुरीषे तु नाप्सु कुर्यात् कदाचन ।।३७।।

बोये हुए खेत में, ग्राम के आस-पास तथा पानी [नदी आदि] में कभी मलमूत्र का त्याग न करे ।

अन्नं बुभुक्षमाणस्तु त्रिर्मुखेन स्पृशेदपः ।
भुक्त्वा चान्नं तथैव त्रिर्द्विः पुनः परिमार्जयेत् ।।३८।।

भोजन की इच्छा करनेवाला मनुष्य भोजन से पूर्व तीन आचमन करे । भोजन के पश्चात् भी तीन आचमन करे, फिर अंगूठे के मूलभाग से दो बार मुख को पोंछे ।

नाधितिष्ठेत् तुषं जातु केशभस्मकपालिकाः ।
अन्यस्य चाप्यवस्नातं दूरतः परिवर्जयेत् ।।३९।।

भूसी, भस्म, बाल और मुर्दे की खोपड़ी आदि पर कभी न बैठे । दूसरे के द्वारा स्नान किये हुए जल को दूर से ही त्याग दे ।

शान्तिहोमांश्च कुर्वीत सावित्राणि च धारयेत् ।
निषण्णश्चापि खादेत न तु गच्छन् कदाचन ।।४०।।

शान्ति-होम करे । सावित्री नामक मन्त्रों का जप और स्वाध्याय करे । बैठकर ही भोजन करे, चलते-फिरते कदापि भोजन नहीं करना चाहिए ।

मूत्रं नोत्तिष्ठता कार्यं भस्मनि न च गोव्रजे ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ।।४१।।

खड़ा होकर पेशाब न करे । भस्म [राख] और गो-शाला में भी मूत्र-त्याग न करे । भीगे पैर भोजन तो करे, परन्तु सोये नहीं ।

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ।।४२।।

वृद्ध पुरुष के आने पर युवक मनुष्य के प्राण ऊपर की ओर उठने लगते हैं। ऐसी अवस्था में जब वह खड़ा होकर वृद्ध पुरुषों का स्वागत और उनको चरणस्पर्शपूर्वक प्रणाम करता है, तब वे प्राण पुनः पूर्वावस्था में आ जाते हैं।

अभिवादयीत वृद्धाँश्च दद्याच्चैवासनं स्वयम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वियात् ।।४३।।

जब कोई वृद्धपुरुष अपने पास आये, तब उसे नमस्कार करके बैठने के लिए आसन दे और स्वयं हाथ जोड़कर उसकी सेवा में उपस्थित रहे। जब वह जाने लगे, तब कुछ दूर तक उसके पीछे-पीछे जाए।

न चासीतासने भिन्ने भिन्नकाँस्यं च वर्जयेत् ।
स्वप्तव्यं नैव नग्नेन न नग्नः स्नातुमर्हति ।।४४।।

कटे-फटे, टूटे आसन पर न बैठे। फूटी हुई कांसी की थाली को काम में न ले। नग्न होकर न सोये और नग्न होकर स्नान भी न करे।

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।
न चाभीक्ष्णं शिरः स्नायात् तथास्यायुर्न रिष्यते ।।४५।।

दोनों हाथों को मिलाकर उनसे अपना सिर न खुजाये। सिर पर बारबार पानी न डाले। इन सब बातों से मनुष्य की आयु क्षीण नहीं होती।

नाध्यापयेत् तथोच्छिष्टो नाधीयीत कदाचन ।
वाते च पूतिगन्धे च मनसापि न चिन्तयेत् ।।४६।।

जूठे मुख कभी न पढ़ाये और उच्छिष्ट अवस्था में स्वयं भी कभी स्वाध्याय न करे। यदि दुर्गन्धयुक्त वायु चले, तब तो मन से भी स्वाध्याय का चिन्तन नहीं करना चाहिए।

प्रत्यादित्यं प्रत्यनलं प्रति गां च प्रति द्विजान् ।
ये मेहन्ति च पन्थानं ते भवन्ति गतायुषः ।।४७।।

जो सूर्य, अग्नि, गौ और ब्राह्मण की ओर मुख करके मूत्र त्यागते हैं और जो मार्ग में पेशाब करते हैं, वे सब गतायु हो जाते हैं।

त्रीन्कृशान्नावजानीयाद् दीर्घमायुर्जिजीविषुः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं सर्पं सर्वे ह्याशीविषास्त्रयः ।।४८।।

जिसे दीर्घ समय तक जीवित रहने की इच्छा हो, उसे चाहिए कि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और सर्प—इन तीनों के दुर्बल होने पर भी इन्हें न छेड़े, क्योंकि ये सभी अत्यन्त विषैले होते हैं।

गुरुणा चैव निर्बन्धो न कर्तव्यः कदाचन ।
अनुमान्यः प्रसाद्यश्च गुरुः क्रुद्धो युधिष्ठिर ।।४९।।

गुरु के साथ कभी हठ नहीं करना चाहिए। युधिष्ठिर! गुरु कभी अप्रसन्न हों तो उन्हें हर प्रकार से मान देकर मनाने और प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए।

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात् पादावसेचनम् ।
उच्छिष्टोत्सर्जनं चैव दूरे कार्यं हितैषिणा ।।५०।।

अपना हित चाहनेवाले मनुष्य को घर से दूर जाकर मूत्र-त्याग करना चाहिए, दूर ही पैर धोवे और दूर पर ही जूठन फेंके।

रक्तमाल्यं न धार्यं स्याच्छुक्लं धार्यं तु पण्डितैः ।
काञ्चनीयापि माला या न सा दुष्यति कर्हिचित्।।५१

विद्वान् पुरुषों को [कमल को छोड़कर] लाल-पुष्पों की नहीं अपितु श्वेत पुष्पों की माला धारण करनी चाहिए। सोने की माला पहनने से कभी अशुद्ध नहीं होती।

विपर्ययं न कुर्वीत वाससो बुद्धिमान् नरः ।
तथा नान्यधृतं धार्यं न चापदशमेव च ।।५२।।
अन्यदेव भवेद् वासः शयनीये नरोत्तम ।
अन्यद् रथ्यासु देवानामर्चायामन्यदेव हि ।।५३।।

बुद्धिमान् मनुष्य को वस्त्रों में उलट-फेर नहीं करना चाहिए अर्थात् दुपट्टे या चादर को धोती के रूप में और धोती को दुपट्टे के रूप में नहीं पहनना चाहिए। नरश्रेष्ठ! दूसरे के पहने हुए वस्त्र नहीं पहनने चाहिएँ। जिसके किनारे फट गये हों, उसे भी नहीं पहनना चाहिए। सोने के लिए अन्य वस्त्र होना चाहिए, सड़कों पर घूमने-फिरने के लिए दूसरा और देव पूजा=सन्ध्या एवं यज्ञ के लिए दूसरे ही वस्त्र होने चाहिएँ।

समानमेकपात्रे तु भुञ्जेन्नान्नं जनेश्वर ।
नालीढया परिहृतं प्रेक्ष्यते नाप्रदाय च ।।५४।।

राजन्! किसी के साथ भी एक थाली में भोजन नहीं करना चाहिए। रजस्वला के स्पर्श से दूषित

अन्न का भोजन न करे। जो तरसती हुई दृष्टि से अन्न की ओर देख रहा हो, उसे दिये बिना भी भोजन न करे।

न पाणौ लवणं विद्वान् प्राश्नीयान्न च रात्रिषु।
दधिसक्तून् न भुञ्जीत वृथा मांसं च वर्जयेत् ॥५५॥

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि हाथ में नमक लेकर न चाटे। रात्रि में दही और सत्तू न खाए। मांस अखाद्य वस्तु है, उसे सर्वथा छोड़ दे।

सायंप्रातश्च भुञ्जीत नान्तराले समाहितः।
भूमौ सदैव नाश्नीयान्नासीनो न च शब्दवत् ॥५६॥

प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल—दो ही समय एकाग्रचित्त होकर भोजन करे। भोजन के पदार्थ को भूमि पर रखकर कदापि न खाये। खड़े होकर तथा 'चप-चप' शब्द करते हुए भोजन नहीं करना चाहिए।

समानमेकपंक्त्यां तु भोज्यमन्नं नरेश्वर।
विषं हालाहलं भुंक्ते योऽप्रदाय सुहृज्जने ॥५७॥

प्रजेश्वर! एक पंक्ति में बैठकर सबको एक-समान भोजन करना चाहिए। जो अपने सुहृद्जनों को न देकर अकेला ही भोजन करता है, वह हलाहल विष ही खाता है।

परापवादं न ब्रूयान्नाप्रियं च कदाचन।
न मन्युः कश्चिदुत्पाद्यः पुरुषेण भवार्थिना ॥५८॥

अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को दूसरों की निन्दा तथा अप्रियवचन मुँह से नहीं निकालने चाहिएँ और किसी को क्रोध भी नहीं दिलाना चाहिए।

न दिवा मैथुनं गच्छेन्न कन्यां न च बन्धकीम्।
न चास्नातां स्त्रियं गच्छेत् तथायुर्विन्दते महत् ॥५९॥

दिन में कभी मैथुन न करे। कुमारी कन्या और कुलटा के साथ कभी समागम न करे। अपनी पत्नी भी जबतक ऋतुस्नाता न हो तबतक उसके साथ भी समागम न करे। ऐसा करने से मनुष्य को दीर्घायु प्राप्त होती है।

वृद्धो ज्ञातिस्तथा मित्रं दरिद्रो यो भवेदपि।
गृहे वासयितव्यास्ते धन्यमायुष्यमेव च ॥६०॥

वृद्ध कुटुम्बी, और दरिद्र मित्र को अपने घर पर ठहराना चाहिए, इससे धन और आयु की वृद्धि होती है।

सन्ध्यायां न स्वपेद् राजन्विद्यां न च समाचरेत्।
न भुञ्जीत च मेधावी तथायुर्विन्दते महत् ॥६१॥

हे नरेश्वर! बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि सन्ध्याकाल में [सूर्यास्त के समय] न तो सोये, न विद्या पढ़े और न भोजन ही करे—ऐसा करने से वह दीर्घायु प्राप्त करता है।

सौहित्यं न च कर्तव्यं रात्रौ न च समाचरेत्।
द्विजच्छेदं न कुर्वीत भुक्त्वा न च समाचरेत् ॥६२॥

रात्रि में स्वयं डटकर भोजन न करे और न दूसरे को ही डटकर भोजन कराये। भोजन करके दौड़े नहीं। पक्षियों का वध कभी न करे।

महाकुले प्रसूतां च प्रशस्तां लक्षणैस्तथा।
वयःस्थां च महाप्राज्ञः कन्यामावोढुमर्हति ॥६३॥

जो श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुई हो, उत्तम लक्षणों से युक्त हो और विवाह के योग्य अवस्था को प्राप्त हो गई हो—ऐसी शुभ लक्षणवाली कन्या के साथ महाबुद्धिमान् मनुष्य को विवाह करना चाहिए।

वर्जयेद् व्यङ्गिनीं नारीं तथा कन्यां नरोत्तम।
समार्षां व्यङ्गितां चैव मातुः स्वकुलजां तथा ॥६४॥

नरश्रेष्ठ! जो कन्या किसी अङ्ग से हीन हो, जो अधिक अङ्गवाली हो, जिसके गोत्र और प्रवर अपने ही समान हों तथा जो माता के कुल [नाना के वंश] में उत्पन्न हुई हो, उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिए।

वृद्धां प्रव्रजितां चैव तथैव च पतिव्रताम्।
तथा निकृष्टवर्णां च वर्णोत्कृष्टां च वर्जयेत् ॥६५॥

जो बूढ़ी, संन्यासिनी, पतिव्रता, नीच वर्ण की तथा ऊँचे वर्ण की स्त्री हो, उसके सम्पर्क से दूर रहना चाहिए।

अयोनिञ्च वियोनिञ्च कुष्ठिनीं चैव पिङ्गलाम्।
अपस्मारिकुले जातां वर्जयेन्मनुजेश्वर ॥६६॥

राजन्! जिसकी योनि अर्थात् कुल का पता न हो, जो नीच कुल में उत्पन्न हुई हो, जिसके शरीर का रङ्ग पीला हो, जो कुष्ठ रोगवाली हो, जो मृगी रोग-दूषित कुल में पैदा हुई हो—विवाह-सम्बन्ध के लिए इन्हें छोड़ देना चाहिए।

महाकुले निवेष्टव्यं सदृशे वा युधिष्ठिर।
अवरा पतिता चैव न ग्राह्या भूतिमिच्छता ॥६७॥

युधिष्ठिर ! अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को अपनी अपेक्षा महान् अथवा अपने समान कुल में विवाह करना चाहिए। नीच जातिवाली तथा पतिता कन्या से विवाह कभी न करना चाहिए।

न चेर्ष्या स्त्रीषु कर्तव्या रक्ष्या दाराश्च सर्वशः।
अनायुष्या भवेदीर्ष्या तस्मादीर्ष्यां विवर्जयेत् ॥६८॥

सभी उपायों से अपनी स्त्री की रक्षा करनी चाहिए। स्त्रियों से ईर्ष्या रखना उचित नहीं है। ईर्ष्या से आयु क्षीण होती है, अतः उसे त्याग देना चाहिए।

अनायुष्यं दिवास्वप्नं तथाभ्युदितशायिता।
प्रगे निशामाशु तथा नैवोच्छिष्टाः स्वपन्ति वै ॥६९॥

दिन में एवं सूर्योदय के पश्चात् सोना आयु को क्षीण करनेवाला है। प्रातःकाल और रात्रि के आरम्भ में नहीं सोना चाहिए। श्रेष्ठ पुरुष रात्रि में अपवित्र अवस्था में नहीं सोते।

पारदार्यमनायुष्यं नापितोच्छिष्टता तथा।
यत्नतो वै न कर्तव्यमभ्यासश्चैव भारत ॥७०॥

पर-स्त्री से व्यभिचार करना और हजामत बनवाकर बिना स्नान किये रह जाना भी आयु का नाश करनेवाला है। भरतभूषण ! अपवित्र अवस्था में वेदों का अध्ययन यत्नपूर्वक त्याग देना चाहिए।

सन्ध्यायां न च भुञ्जीत न स्नायेन्न तथा पठेत्।
प्रयतश्च भवेत् तस्यां न च किञ्चित् समाचरेत् ॥७१॥

सन्ध्याकाल में स्नान, भोजन और स्वाध्याय कुछ भी न करे। उस समय शुद्धचित्त होकर ध्यान एवं उपासना करनी चाहिए, दूसरा कोई कार्य नहीं करना चाहिए।

अनिमन्त्रितो न गच्छेत यज्ञं गच्छेत दर्शकः।
अनर्चिते ह्यनायुष्यं गमनं तत्र भारत ॥७२॥

हे भारत ! बिना बुलाये कहीं न जाए। हाँ, यज्ञ देखने के लिए बिना बुलाये भी जा सकता है। जहाँ अपना आदर न होता हो, वहाँ जाने से आयु का नाश होता है।

न चैकेन परिव्राज्यं न गन्तव्यं तथा निशि।
अनागतायां सन्ध्यायां पश्चिमायां गृहे वसेत् ॥७३॥

अकेले परदेश नहीं जाना चाहिए और न रात्रि में यात्रा करनी चाहिए। यदि किसी कार्य के लिए बाहर जाए तो सन्ध्या से पूर्व ही घर लौट आना चाहिए।

मातुः पितुर्गुरूणां च कार्यमेवानुशासनम्।
हितं चाप्यहितं चापि न विचार्यं नरर्षभ ॥७४॥

नरश्रेष्ठ ! माता, पिता और गुरुजनों की आज्ञा का तुरन्त पालन करना चाहिए। इनकी आज्ञा हित-कर है या अहितकर, इसका विचार नहीं करना चाहिए।

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्धनः।
आचाराद् वर्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम् ॥७५॥

सदाचार ही कल्याण का जनक और सदाचार ही कीर्ति बढ़ानेवाला है। सदाचार से आयु की वृद्धि होती है और सदाचार ही बुरे लक्षणों का नाश करता है।

आगमानां हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्धते ॥७६॥

सम्पूर्ण आगमों=वेद-शास्त्रों में सदाचार ही श्रेष्ठ बताया गया है। सदाचार से धर्म की उत्पत्ति होती है और धर्म से आयु बढ़ती है।

एतद् यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत्।
अनुकम्प्य सर्ववर्णान् ब्रह्मणा समुदाहृतम् ॥७७॥

प्राचीनकाल में सब वर्णों के मनुष्यों पर दया करके ब्रह्माजी ने इस सदाचार-धर्म का उपदेश दिया था। यह यश, दीर्घायु और स्वर्ग=सुखविशेष की प्राप्ति करानेवाला तथा कल्याण का परम आधार है।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

पारिवारिक व्यवहार-वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

यथा ज्येष्ठः कनिष्ठेषु वर्तेत भरतर्षभ ।
कनिष्ठाश्च यथा ज्येष्ठे वर्तेरंस्तद् ब्रवीहि मे ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतभूषण ! बड़ा भाई अपने छोटे भाइयों के साथ और छोटे भाई अपने बड़े भाई के साथ कैसा व्यवहार करें, यह मुझे बताइए ।

भीष्म उवाच

ज्येष्ठवत् तात वर्तस्व ज्येष्ठोऽसि सततं भवान् ।
गुरोर्गरीयसी वृत्तिर्या च शिष्यस्य भारत ॥२॥

भीष्मजी बोले—तात ! भारत ! तुम अपने भाइयों में सबसे बड़े हो, अतः सदा बड़े के अनुरूप ही बर्ताव करो । गुरु का अपने शिष्य के प्रति जैसा गौरवयुक्त व्यवहार होता है, वैसा ही तुम्हें भी अपने भाइयों के साथ करना चाहिए ।

अन्धः स्यादन्धवेलायां जडः स्यादपि वा बुधः ।
परिहारेण तद्ब्रूयाद् यस्तेषां स्याद् व्यतिक्रमः ॥३॥

बड़े भाई को चाहिए कि वह समय के अनुसार अन्धा, जड़=मूर्ख और विद्वान् बने अर्थात् छोटे भाइयों से कोई अपराध हो जाए तो उसे देखते हुए भी न देखे, जानकर भी अनजान बना रहे और उनसे ऐसी बात करे जिससे उनकी अपराध करने की प्रवृत्ति दूर हो जाए ।

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।
हन्ति सर्वमपि ज्येष्ठः कुलं यत्रावजायते ॥४॥

बड़ा भाई अपनी सुनीति से कुल की वृद्धि करता है और कुनीति का आश्रय लेकर उसे नष्ट कर देता है । खोटे विचार से बड़ा भाई जिस कुल में उत्पन्न हुआ है, उसे ही चौपट कर देता है ।

अथ यो विनिकुर्वीत ज्येष्ठो भ्राता यवीयसः ।
अज्येष्ठः स्यादभागश्च नियम्यो राजभिश्च सः ॥५॥

जो बड़ा भाई होकर छोटे के साथ छल-कपटपूर्ण बर्ताव करता है, वह न तो ज्येष्ठ कहलाने के योग्य है और न ज्येष्ठांश पाने का अधिकारी है । ऐसे भाई को तो राजाओं द्वारा दण्ड दिया जाना चाहिए ।

न ज्येष्ठो वावमन्येत दुष्कृतः सुकृतोऽपि वा ।
यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयश्चेत् तत् तदाचरेत् ॥६॥

बड़ा भी अच्छा काम करनेवाला हो या बुरा, छोटे भाई को उसका अपमान नहीं करना चाहिए । इसी प्रकार यदि स्त्री वा छोटे भाई कुमार्ग पर चल रहे हों तो श्रेष्ठ पुरुष को वही उपाय करना चाहिए जिससे उनकी भलाई हो ।

ज्येष्ठो भ्राता पितृसमो मृते पितरि भारत ।
स ह्येषां वृत्तिदाता स्याद् स चैतान् प्रतिपालयेत् ॥७॥
कनिष्ठास्तं नमस्येरन् सर्वे छन्दानुवर्तिनः ।
तमेव चोपजीवेरन् यथैव पितरं तथा ॥८॥

हे भारत ! पिता की मृत्यु हो जाने पर बड़े भाई को ही पिता के समान समझना चाहिए । बड़े भाई को उचित है कि वह अपने छोटे भाइयों को जीविका प्रदान करे और उनका पालन-पोषण करे । छोटे भाइयों का कर्तव्य है कि वे सब बड़े भाई के सामने नतमस्तक हों तथा उसकी इच्छा के अनुसार चलें और बड़े भाई को ही पिता मानकर उसके आश्रय में जीवन व्यतीत करें ।

शरीरमेतौ सृजतः पिता माता च भारत ।
आचार्यशास्ता या जातिः सा सत्या साजरामरा ॥९॥

भरतनन्दन ! माता और पिता केवल शरीर की सृष्टि करते हैं किन्तु आचार्य के उपदेश से जो ज्ञान-रूप नया जीवन प्राप्त होता है, वह सत्य, अजर और अमर होता है ।

ज्येष्ठा मातृसमा चापि भगिनी भरतर्षभ ।
भ्रातुर्भार्या च तद्वत्स्याद्यस्या बाल्ये स्तनं पिबेत् ॥१०॥

भरतभूषण ! बड़ी बहन भी माता के समान है । इसी प्रकार बड़े भाई की पत्नी और बचपन में जिस-का दुग्धपान किया वह धाय भी माता के समान है ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः

सच्चा तीर्थ

युधिष्ठिर उवाच

यद् वरं सर्वतीर्थानां तन्मे ब्रूहि पितामह ।
यत्र चैव परं शौचं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! जो सब तीर्थों में श्रेष्ठ हो और जहाँ जाने से परम शुद्धि हो जाती हो, मुझे उस तीर्थ के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक बताइए ।

भीष्म उवाच

सर्वाणि खलु तीर्थानि गुणवन्ति मनीषिणः ।
यत्तु तीर्थं च शौचं च तन्मे शृणु समाहितः ॥२॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! इस पृथिवी पर जितने तीर्थ हैं, वे सब मनीषी लोगों के लिए गुणकारी होते हैं, किन्तु उन सबमें जो परम पवित्र और प्रधान तीर्थ है, उसका वर्णन करता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो !

अगाधे विमले शुद्धे सत्यतोये धृतिह्रदे ।
स्नातव्यं मानसे तीर्थे सत्त्वमालम्ब्य शाश्वतम् ॥३॥

जिस धैर्यरूपी कुण्ड में सत्यरूप जल भरा हुआ है तथा जो अगाध, निर्मल और अत्यन्त शुद्ध है, उस मानस तीर्थ में परमात्मा का आश्रय लेकर स्नान करना चाहिए ।

तीर्थशौचमनर्थित्वमार्जवं सत्यमार्दवम् ।
अहिंसा सर्वभूतानामानृशंस्यं दमः शमः ॥४॥

कामना और याचना का अभाव, सरलता, सत्य, मृदुता, अहिंसा, समस्त प्राणियों के प्रति वैर-त्याग, इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह—ये ही मानस तीर्थ के सेवन से प्राप्त होनेवाली पवित्रता के लक्षण हैं ।

निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ।
शुचयस्तीर्थभूतास्ते ये भैक्ष्यमुपभुञ्जते ॥५॥

जो ममता, अहंकार, राग-द्वेषादि द्वन्द्व और परिग्रह से रहित तथा भिक्षा द्वारा जीवन-निर्वाह करते हैं, वे विशुद्ध अन्तःकरणवाले सज्जन तीर्थ-स्वरूप हैं ।

नोदकक्लिन्नगात्रस्तु स्नात इत्यभिधीयते ।
स स्नातो यो दमस्नातः स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥६॥

शरीर को पानी से भिगो लेना स्नान नहीं कहलाता । वस्तुतः सच्चा स्नान तो उसने किया है जिसने मन-इन्द्रियों के संयमरूपी जल में गोता लगाया है, वही बाहर और भीतर से भी पवित्र माना गया है ।

वृत्तशौचं मनःशौचं तीर्थशौचमतः परम् ।
ज्ञानोत्पन्नं च यच्छौचं तच्छौचं परमं स्मृतम् ॥७॥

आचारशुद्धि, मनःशुद्धि, तीर्थशुद्धि और ज्ञान-शुद्धि—यह चार प्रकार की शुद्धि मानी गई है । इनमें भी ज्ञान से प्राप्त होनेवाली शुद्धि सर्वश्रेष्ठ मानी गई है ।

मनसा च प्रदीप्तेन ब्रह्मज्ञानजलेन च ।
स्नाति यो मानसे तीर्थे तत्स्नानं तत्त्वदर्शिनः ॥८॥

जो मनुष्य प्रसन्न और शुद्ध मन से ब्रह्मज्ञानरूपी जल के द्वारा मानस तीर्थ में स्नान करता है, उसका वह स्नान ही तत्त्वदर्शी ज्ञानी का स्नान माना गया है ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशोऽध्यायः

धर्म का महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
श्रोतुमिच्छामि मर्त्यानां संसारविधिमुत्तमम् ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—सर्वशास्त्रों के ज्ञान में निष्णात महाप्राज्ञ पितामह ! अब मैं मनुष्यों की संसारयात्रा को पूर्ण करने की श्रेष्ठ विधि सुनना चाहता हूँ ।

केन वृत्तेन राजेन्द्र वर्तमाना नरा भुवि ।
प्राप्नुवन्त्युत्तमं स्वर्गं कथं च नरकं नृप ॥२॥

हे राजेन्द्र ! नरेश्वर ! संसार में रहनेवाले मनुष्य

किस आचरण [व्यवहार] से उत्तम स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं और किस व्यवहार से नरक में गिरते हैं।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः।
प्रयान्त्यमुं लोकमितः को वै ताननुगच्छति ॥३॥

जब लोग अपने मृतक शरीर को काठ और मिट्टी के ढेले के समान छोड़कर परलोक में जाते हैं, उस समय कौन उनके साथ जाता है ?

भीष्म उवाच

अयमायाति भगवान् बृहस्पतिरुदारधीः।
पृच्छैनं सुमहाभागमेतद् गुह्यं सनातनम् ॥४॥

भीष्मजी बोले—तात ! ये उदारबुद्धि भगवान् बृहस्पतिजी यहाँ पधार रहे हैं। तुम इन्हीं महाभाग से इस सनातन गूढ़ विषय के सम्बन्ध में पूछो।

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मसुतो राजा भगवन्तं बृहस्पतिम्।
उपगम्य यथान्यायं प्रश्नं पप्रच्छ तत्त्वतः ॥५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भीष्मजी के ऐसा कहने पर और बृहस्पति के पधारने पर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर ने भगवान् बृहस्पति के पास जाकर यथोचित रीति से यह तात्त्विक प्रश्न उपस्थित किया—

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
मर्त्यस्य कः सहायो वै पिता माता सुतो गुरुः ॥६॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः।
गच्छन्त्यमुत्रलोकं वै क एनमनुगच्छति ॥७॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भगवन् ! आप सब धर्मों के ज्ञाता और सब शास्त्रों के विद्वान् हैं, अतः बताइए, माता, पिता, पुत्र, गुरु आदि में से मनुष्य का सच्चा सहायक कौन है ? जब सब लोग अपने मृतक शरीर को काठ और मिट्टी के ढेले के समान छोड़कर चल देते हैं, तब इस जीव के साथ परलोक में कौन जाता है ?

बृहस्पतिरुवाच

एकः प्रसूयते राजन्नेक एव विनश्यति।
एकस्तरति दुर्गाणि गच्छत्येकस्तु दुर्गतिम् ॥८॥

बृहस्पतिजी बोले—राजन् ! प्राणी अकेला ही जन्म लेता, अकेला ही मरता, अकेला ही दुःखसागर से पार होता और अकेला ही दुःख भोगता है।

असहायः पिता माता तथा भ्राता सुतो गुरुः।
ज्ञातिसम्बन्धिवर्गश्च मित्रवर्गस्तथैव च ॥९॥

पिता, माता, भाई, पुत्र, गुरु, ज्ञाति, सम्बन्धी और मित्रवर्ग—इनमें से कोई भी मृतक का सहायक नहीं हो सकता।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः।
मुहूर्तमिव रोदित्वा ततो यान्ति पराङ्मुखाः ॥१०॥

लोग उसके मृतक शरीक को काठ और मिट्टी के ढेले की भाँति परे फेंककर दो घड़ी रोते हैं और फिर उसकी ओर से मुँह मोड़कर चल देते हैं।

तैस्तच्छरीरमुत्सृष्टं धर्म एकोऽनुगच्छति।
तस्माद् धर्मः सहायश्च सेवितव्यः सदा नृभिः ॥११॥

वे पारिवारिक जन तो उसके शरीर को छोड़कर चले जाते हैं, तब एकमात्र धर्म ही उस जीवात्मा का अनुसरण करता है, अतः धर्म ही सच्चा सहायक है। इसलिए मनुष्यों को सदा धर्म का ही सेवन करना चाहिए।

प्राणी धर्मसमायुक्तो गच्छेत् स्वर्गगतिं पराम्।
तथैवाधर्मसंयुक्तो नरकं चोपपद्यते ॥१२॥

धर्मयुक्त प्राणी को स्वर्ग में श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है और अधर्मपरायण जीव नरक में पड़ता है।

तस्मान्न्यायागतैरर्थैर्धर्मं सेवेत पण्डितः।
धर्म एको मनुष्याणां सहायः पारलौकिकः ॥१३॥

अतः विद्वान् मनुष्य को चाहिए कि न्याय से प्राप्त [ईमानदारी और परिश्रम से प्राप्त] धन के द्वारा धर्म का अनुष्ठान करे। एकमात्र धर्म ही परलोक में मनुष्यों का सहायक है।

लोभान्मोहादनुक्रोशाद् भयाद् वाप्यबहुश्रुतः।
नरः करोत्यकार्याणि परार्थे लोभमोहितः ॥१४॥

जो बहुश्रुत नहीं है, ऐसा मनुष्य लोभ और मोह के वशीभूत होकर दूसरे के लिए लोभ, मोह, दया अथवा भय से न करने योग्य पापकर्म कर बैठता है।

धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रितयं जीविते फलम्।
एतत् त्रयमवाप्तव्यमधर्मपरिवर्जितम् ॥१५॥

धर्म, अर्थ और काम—ये तीन जीवन के फल हैं,

अतः मनुष्य को अधर्म को त्यागकर इन तीनों को प्राप्त करना चाहिए।

वर्जयन्ति च पापानि जन्मप्रभृति ये नराः।
अरोगा रूपवन्तस्ते धनिनश्च भवन्त्युत ।।१६।।

जो मनुष्य जन्म से ही पाप का परित्याग कर देते हैं, वे नीरोग, रूपवान् और धनी होते हैं।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि विंशोऽध्यायः ।।२०।।

एकविंशोऽध्यायः

हिंसा और मांसभक्षण की घोर निन्दा

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा शरतल्पे पितामहम्।
पुनरेव महातेजाः पप्रच्छ वदतां वरः ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् महातेजस्वी और वक्ताओं में श्रेष्ठ नृप युधिष्ठिर ने शरशय्या पर लेटे हुए पितामह भीष्म से पुनः पूछा—

युधिष्ठिर उवाच

ऋषयो ब्राह्मणा देवाः प्रशंसन्ति महामते।
अहिंसालक्षणं धर्मं वेदप्रामाण्यदर्शनात् ।।२।।
कर्मणा मनुजः कुर्वन् हिंसां पार्थिवसत्तम।
वाचा च मनसा चैव कथं दुःखात् प्रमुच्यते ।।३।।

युधिष्ठिर ने पूछा—महामते ! ऋषि, देवता और ब्राह्मण वैदिक प्रमाण के अनुसार सदा अहिंसा-धर्म की प्रशंसा करते हैं, अतः नृपश्रेष्ठ ! मैं जानना चाहता हूँ कि मन, वचन अथवा कर्म से हिंसा का आचरण करनेवाला मनुष्य उसके दुःख से छुटकारा कैसे पा सकता है ?

भीष्म उवाच

चतुर्विधेयं निर्दिष्टा ह्यहिंसा ब्रह्मवादिभिः।
एकैकतोऽपि विभ्रष्टा न भवत्यरिसूदन ।।४।।

भीष्मजी बोले—शत्रुसूदन ! ब्रह्मवादी लोग [मन, वचन और कर्म से हिंसा न करना तथा मांस न खाना—इन] चार उपायों से अहिंसाधर्म का पालन बतलाते हैं। इनमें से किसी एक अंश की भी कमी रह जाए तो अहिंसाधर्म का पूर्णरूप से पालन नहीं होता।

यथा सर्वश्चतुष्पाद् वै त्रिभिः पादैर्न तिष्ठति।
तथैवेयं महीपाल कारणैः प्रोच्यते त्रिभिः ।।५।।

राजन् ! जैसे चार पैरोंवाला पशु तीन पैरों से खड़ा नहीं रह सकता, वैसे ही केवल तीन ही कारणों से पालित हुई अहिंसा पूर्णतः अहिंसा नहीं कही जा सकती।

कर्मणा लिप्यते जन्तुर्वाचा च मनसाऽपि च।
पूर्वं तु मनसा त्यक्त्वा तथा वाचाथ कर्मणा।
न भक्षयति यो मांसं त्रिविधं स विमुच्यते ।।६।।

मनुष्य मन, वाणी और कर्म द्वारा हिंसा के दोष से लिप्त होता है परन्तु जो पहले मन से, फिर वाणी से और अन्त में कर्म से हिंसा का त्याग करके कभी मांस नहीं खाता, वह पूर्वोक्त तीनों प्रकार की हिंसा के दोष से मुक्त हो जाता है।

त्रिकारणं तु निर्दिष्टं श्रूयते ब्रह्मवादिभिः।
मनो वाचि तथाऽऽस्वादे दोषा ह्येषु प्रतिष्ठिताः ।।७।।

ब्रह्मवादी महात्माओं ने हिंसा-दोष के प्रधान तीन कारण बताये हैं—मन [मांस खाने की इच्छा], वाणी [मांस खाने का उपदेश] और आस्वाद [प्रत्यक्ष रूप में मांस का स्वाद लेना]—ये तीनों ही हिंसा-दोष के आधार हैं।

मांसस्याभक्षणाद् राजन् यो धर्मः कुरुनन्दन।
तन्मे शृणु यथातत्त्वं यथास्य विधिरुत्तमः ।।८।।

राजन् ! कुरुनन्दन ! मांस न खाने से जो धर्म होता है, उसका मुझसे यथार्थ वर्णन सुनो तथा उस धर्म की जो श्रेष्ठ विधि है, उसे भी जान लो।

रूपमव्यङ्गतामायुर्बुद्धिं सत्त्वं बलं स्मृतिम्।
प्राप्तुकामैर्नरैर्हिंसा वर्जिता वै महात्मभिः ।।९।।

जो सुन्दर रूप, पूर्णाङ्गता, पूर्ण-आयु, उत्तम बुद्धि, सत्त्व, बल और स्मरण-शक्ति प्राप्त करना चाहते थे, उन महात्माओं ने हिंसा का सर्वथा त्याग कर दिया था।

ऋषीणामत्र संवादो बहुशः कुरुनन्दन ।
बभूव तेषां तु मतं यत्तच्छृणु युधिष्ठिर ॥१०॥

कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! इस विषय [मांस-भक्षण] को लेकर ऋषियों में अनेक बार प्रश्नोत्तर हो चुका है। अन्त में उन सबकी सम्मति से जो सिद्धान्त निश्चित हुआ है, उसे बताता हूँ, सुनो !

यो यजेताश्वमेधेन मासि मासि यतव्रतः ।
वर्जयेन्मधु मांसं च सममेतद् युधिष्ठिर ॥११॥

युधिष्ठिर ! जो मनुष्य नियमपूर्वक व्रत का पालन करता हुआ प्रतिमास अश्वमेध यज्ञ करता है, और जो केवल मद्य और मांस को त्याग देता है, उन दोनों को एक-सा ही फल मिलता है।

न भक्षयति यो मांसं न च हन्यान्न घातयेत् ।
तन्मित्रं सर्वभूतानां मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥१२॥

स्वायम्भुव मनु का कथन है—"जो मनुष्य न मांस खाता है, न पशु-हिंसा करता और न दूसरे से ही हिंसा कराता है, वह सभी प्राणियों का मित्र होता है।"

अधृष्यः सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु ।
साधूनां सम्मतो नित्यं भवेन्मांसं विवर्जयन् ॥१३॥

जो मनुष्य मांस का परित्याग कर देता है, वह सब प्राणियों में आदरणीय, सब जीवों का विश्वसनीय और सदा साधुओं से सम्मानित होता है।

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात्स नृशंसतरो नरः ॥१४॥

जो दूसरे के मांस से अपना मांस बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर नीच और निर्दयी मनुष्य दूसरा कोई नहीं है।

ददाति यजते चापि तपस्वी च भवत्यपि ।
मधुमांसनिवृत्येति प्राह चैवं बृहस्पतिः ॥१५॥

बृहस्पतिजी का कथन है—"जो मद्य और मांस त्याग देता है, वह दान देता, यज्ञ और तप करता है अर्थात् उसे इन तीनों का फल मिलता है।"

सर्वभूतेषु यो विद्वान् ददात्यभयदक्षिणाम् ।
दाता भवति लोके स प्राणानां नात्र संशयः ॥१६॥

जो विद्वान् सब जीवों को अभयदान देता है, वह इस संसार में निश्चय ही प्राणदाता माना जाता है।

एवं वै परमं धर्मं प्रशंसन्ति मनीषिणः ।
प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि वै तथा ॥१७॥

इस प्रकार मनीषी पुरुष अहिंसारूप परमधर्म की प्रशंसा करते हैं। जैसे मनुष्य को अपने प्राण प्रिय होते हैं, वैसे ही सभी प्राणियों को अपने-अपने प्राण प्रिय जान पड़ते हैं।

तस्माद् विद्धि महाराज मांसस्य परिवर्जनम् ।
धर्मस्यायतनं श्रेष्ठं स्वर्गस्य च सुखस्य च ॥१८॥

अतः महाराज ! आपको यह ज्ञात होना चाहिए कि मांस का परित्याग ही धर्म, स्वर्ग और सुख का सर्वोत्तम आधार है।

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः ।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ॥१९॥

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है और अहिंसा परम सत्य है, क्योंकि उसी से धर्म की प्रवृत्ति होती है।

न हि मांसं तृणात् काष्ठादुपलाद् वापि जायते ।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद् दोषस्तु भक्षणे ॥२०॥

मांस तृण से, काष्ठ [लकड़ी] से अथवा पत्थर से पैदा नहीं होता, वह प्राणी की हत्या करने पर ही उपलब्ध होता है, अतः उसके खाने में महान् दोष है।

स्वाहास्वधामृतभुजो देवाः सत्यार्जवप्रियाः ।
क्रव्यादान् राक्षसान् विद्धि जिह्मानृतपरायणान् ॥२१॥

जो लोग स्वाहा [देवयज्ञ] और स्वधा [पितृ-यज्ञ] का अनुष्ठान करके यज्ञशेष अमृत का भोजन करनेवाले और सत्य एवं सरलता-प्रिय होते हैं, वे देव हैं, परन्तु जो कुटिलता और असत्य-भाषण में प्रवृत्त होकर सदा मांसभक्षण करते हैं, उन्हें राक्षस समझना चाहिए।

कान्तारेष्वथ घोरेषु दुर्गेषु गहनेषु च ।
अमांसभक्षणे राजन् भयमन्यैर्न गच्छति ॥२२॥

हे राजन् ! जो मनुष्य मांस नहीं खाता वह संकटपूर्ण स्थानों, भयंकर दुर्गों और गहन वनों में भी दूसरों से नहीं डरता।

शरण्यः सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु ।
अनुद्वेगकरो लोके न चाप्युद्विजते सदा ॥२३॥

वह समस्त प्राणियों को शरण देनेवाला और उन

सबका विश्वासपात्र होता है। संसार में वह न तो दूसरों को उद्वेग में डालता है और न स्वयं ही कभी किसी से उद्विग्न होता है।

यदि चेत् खादको न स्यान्न तदा घातको भवेत्।
घातकः खादकार्थाय तद् घातयति वै नरः ॥२४॥

यदि कोई मांसभक्षक न रहे तो पशुहिंसक भी कोई न रहे, क्योंकि हत्यारा मनुष्य मांस खानेवालों के लिए ही पशुओं की हिंसा करता है।

अभक्ष्यमेतदिति वै इति हिंसा निवर्तते।
खादकार्थमतो हिंसा मृगादीनां प्रवर्तते ॥२५॥

यदि मांस को अभक्ष्य समझकर लोग उसका परित्याग कर दें, तो पशुहिंसा स्वतः ही बन्द हो जाए, क्योंकि मांस खानेवालों के लिए ही मृग आदि पशुओं की हिंसा की जाती है।

यस्माद् ग्रसति चैवायुर्हिंसकानां महाद्युते।
तस्माद् विवर्जयेन्मांसं य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥२६॥

महातेजस्वी राजन्! हिंसकों की आयु को उनका पाप ग्रस लेता है, अतः अपने कल्याण के इच्छुक को मांसभक्षण सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत्।
मांसस्याभक्षणं प्राहुर्नियताः परमर्षयः ॥२७॥

नियमपरायण महर्षियों ने मांसभक्षण के त्याग को ही धन, यश, दीर्घायु और स्वर्ग=सुख-प्राप्ति का प्रधान उपाय तथा परमकल्याण का साधन बताया है।

इदं तु खलु कौन्तेय श्रुतमासीत् पुरा मया।
मार्कण्डेयस्य वदतो ये दोषा मांसभक्षणे ॥२८॥

कुन्तीकुमार! मांसभक्षण में जो दोष हैं, उन्हें बतलाते हुए मार्कण्डेयजी के मुख से मैंने पूर्वकाल में ऐसा सुना था—

यो हि खादति मांसानि प्राणिनां जीवितैषिणाम्।
हतानां वा मृतानां वा यथा हन्ता तथैव सः ॥२९॥

"जो जीवित रहने की इच्छावाले प्राणियों को मारकर अथवा उनके स्वयं मर जाने पर उनका मांस खाता है, वह न मारने पर भी उन प्राणियों का हत्यारा ही समझा जाता है।

धनेन क्रयिको हन्ति खादकश्चोपभोगतः।
घातको वधबन्धाभ्यामित्येष त्रिविधो वधः ॥३०॥

"खरीदनेवाला धन के द्वारा, खानेवाला उपभोग के द्वारा और हिंसक वध तथा बन्धन के द्वारा पशुओं की हिंसा करता है। इस प्रकार यह तीन प्रकार से प्राणियों का वध होता है।

अखादन्ननुमोदंश्च भावदोषेण मानवः।
योऽनुमोदति हन्यन्तं सोऽपि दोषेण लिप्यते ॥३१॥

"जो स्वयं तो मांस नहीं खाता परन्तु खानेवाले का अनुमोदन करता है, वह भी भाव-दोष के कारण मांसभक्षण के पाप का भागी होता है। इसी प्रकार जो मारनेवाले का अनुमोदन करता है, वह भी हिंसा के दोष से लिप्त होता है।

अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान् नीरुजः सदा।
भवत्यभक्षयन्मांसं दयावान् प्राणिनामिह ॥३२॥

"जो मनुष्य मांस नहीं खाता और संसार में सब प्राणियों पर दया करता है, वह सब प्राणियों में आदरणीय, सदा दीर्घायु और नीरोग होता है।

हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वशः।
मांसस्याभक्षणे धर्मो विशिष्टः स्यादिति श्रुतिः ॥३३॥

"सुवर्णदान, गोदान और भूमिदान करने से जो धर्म प्राप्त होता है, मांसभक्षण न करने से उसकी अपेक्षा भी विशिष्ट धर्म की प्राप्ति होती है, ऐसा सुना जाता है।

इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः।
हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः स वै नरकभाङ् नरः ॥३४॥

"जो मांसलोभी मूर्ख एवं अधम मनुष्य यज्ञ-याग आदि वैदिक मार्गों के नाम पर प्राणियों की हिंसा करता है, वह नरकगामी होता है।

भक्षयित्वापि यो मांसं पश्चादपि निवर्तते।
तस्यापि सुमहान् धर्मो यः पापाद्विनिवर्तते ॥३५॥

"जो पहले मांस खाने के पश्चात् उसे छोड़ देता है, उसे भी बड़े भारी धर्म की प्राप्ति होती है, क्योंकि वह पाप से निवृत्त हो गया है।

आहर्ता चानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपभोक्ता च खादकाः सर्व एव ते ॥३६॥

"जो मनुष्य वध करने के लिए पशु लाता है, जो उसे मारने की अनुमति देता है, जो उसका वध करता

है तथा जो उसे खरीदता, बेचता, पकाता, और खाता है—ये सब-के-सब खानेवाले ही माने जाते हैं, अर्थात् ये सब खानेवाले के समान ही पाप के भागी होते हैं।"

मधुमांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह धार्मिकाः ।
जन्मप्रभृति मद्यं च सर्वे ते मुनयः स्मृताः ॥३७॥

जो धर्मात्मा पुरुष इस संसार में जन्म से ही मद्य और मांस का सदा के लिए परित्याग कर देते हैं, वे सब-के-सब मुनि माने गये हैं।

न हि प्राणात् प्रियतरं लोके किंचन विद्यते ।
तस्माद् दयां नरः कुर्याद् यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥३८॥

संसार में अपने प्राणों से बढ़कर प्रिय दूसरी कोई वस्तु नहीं है, अतः मनुष्य जैसे अपने ऊपर दया चाहता है, वैसे ही दूसरों पर भी दया करे।

शुक्राच्च तात सम्भूतिर्मांसस्येह न संशयः ।
भक्षणे तु महान् दोषो निवृत्त्या पुण्यमुच्यते ॥३९॥

तात ! मांस की उत्पत्ति वीर्य से होती है, इसमें सन्देह नहीं है, अतः मांसभक्षण में महान् दोष है और मांस न खाना पुण्य बताया गया है।

न ह्यतः सदृशं किंचिदिह लोके परत्र च ।
यत् सर्वेष्विह भूतेषु दया कौरवनन्दन ॥४०॥

कौरवनन्दन ! इहलोक और परलोक में समस्त प्राणियों पर दया करने के समान दूसरा कोई पुण्य-कार्य नहीं है।

न भयं विद्यते जातु नरस्येह दयावतः ।
दयावतामिमे लोकाः परे चापि तपस्विनाम् ॥४१॥

इस संसार में दयालु मनुष्य को कभी भय का सामना नहीं करना पड़ता। दयालु और तपस्वी पुरुषों के लिए यह लोक और परलोक दोनों ही सुख प्रदान करते हैं।

अहिंसालक्षणो धर्म इति धर्मविदो विदुः ।
यदहिंसात्मकं कर्म तत्कुर्यादात्मवान् नरः ॥४२॥

धर्मज्ञ लोग यह जानते हैं कि अहिंसा ही धर्म का लक्षण है, अतः मनस्वी मनुष्य वही कर्म करे जो अहिंसात्मक हो।

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः ।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुमः ॥४३॥

जो दयालु मनुष्य सभी प्राणियों को अभयदान देता है, उसे भी सब प्राणी अभयदान देते हैं, ऐसा हमने सुना है।

प्राणदानात्परं दानं न भूतं न भविष्यति ।
न ह्यात्मनः प्रियतरं किञ्चिदस्तीह निश्चितम् ॥४४॥

प्राणदान से बढ़कर दूसरा कोई दान न हुआ है और न होगा। अपने आत्मा से बढ़कर प्रियतर वस्तु दूसरी कोई नहीं है, यह निश्चित बात है।

अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत ।
मृत्युकाले हि भूतानां सद्यो जायते वेपथुः ॥४५॥

भरतकुमार ! किसी भी प्राणी को मृत्यु अभीष्ट नहीं है, क्योंकि मृत्यु के समय सभी प्राणियों का शरीर तुरन्त काँप उठता है।

जातिजन्मजरादुःखैर्नित्यं संसारसागरे ।
जन्तवः परिवर्तन्ते मरणादुद्विजन्ति च ॥४६॥

इस संसार-सागर में समस्त प्राणी सदा गर्भवास, जन्म और बुढ़ापा आदि के दुःखों से दुःखी होकर चारों ओर भटकते रहते हैं, साथ ही मृत्यु-भय से उद्विग्न रहते हैं।

नात्मनोऽस्ति प्रियतरः पृथिवीमनुसृत्य ह ।
तस्मात्प्राणिषु सर्वेषु दयावानात्मवान् भवेत् ॥४७॥

इस भूमण्डल पर अपने आत्मा से बढ़कर कोई प्रिय पदार्थ नहीं है, अतः मनुष्य को चाहिए कि सब प्राणियों पर दया करे और सबको अपना ही आत्मा समझे।

न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥४८॥

जो बात अपने को अच्छी न लगे, वह दूसरों के प्रति भी नहीं करनी चाहिए। यह संक्षेप में धर्म का लक्षण है, इससे भिन्न व्यवहार कामनामूलक है।

सर्वमांसानि यो राजन् यावज्जीवं न भक्षयेत् ।
स्वर्गे स विपुलं स्थानं प्राप्नुयान्नात्र संशयः ॥४९॥

राजन् ! जो जीवनभर किसी भी प्राणी का मांस नहीं खाता, वह स्वर्ग में श्रेष्ठ एवं विशाल स्थान पाता है, इसमें संशय नहीं है।

ये भक्षयन्ति मांसानि भूतानां जीवितैषिणाम् ।
भक्ष्यन्ते तेऽपि भूतैस्तैरिति मे नास्ति संशयः ॥५०॥

जो जीवित रहने की इच्छावाले प्राणियों का मांस खाते हैं, वे दूसरे जन्म में उन्हीं प्राणियों द्वारा भक्षण किये जाते हैं, इस विषय में मुझे तनिक भी संशय नहीं है।

मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनुबुद्ध्यस्व भारत ॥५१॥

हे भारत! [वध्य प्राणी कहता है—] 'आज मुझे वह खाता है, तो कभी मैं भी उसे खाऊँगा'—यही मांस का मांसत्व है—यही मांस शब्द का तात्पर्य है।

घातको वध्यते नित्यं तथा वध्यति भक्षिता।
आक्रोष्टा क्रुध्यते राजंस्तथा द्वेष्यत्वमाप्नुते ॥५२॥

राजन्! इस जन्म में जिस जीव की हिंसा होती है, वह दूसरे जन्म में सदा ही अपने घातक का वध करता है, फिर भक्षण करनेवाले को भी मार डालता है। जो दूसरों की निन्दा करता है, वह स्वयं भी दूसरों के क्रोध और द्वेष का पात्र होता है।

येन येन शरीरेण यद् यत्कर्म करोति यः।
तेन तेन शरीरेण तत्तत् फलमुपाश्नुते ॥५३॥

जो जिस-जिस शरीर से जो-जो कर्म करता है, वह दूसरे जन्म में उस-उस शरीर से ही उस-उस कर्म का फल भोगता है।

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥५४॥

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है और अहिंसा परम तप है।

अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥५५॥

अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम फल है, अहिंसा परम मित्र है तथा अहिंसा परम सुख है।

सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वाऽऽप्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत्तुल्यमहिंसया ॥५६॥

सम्पूर्ण यज्ञों में दिया हुआ दान, समस्त तीर्थों में किया हुआ स्नान और समस्त दानों का जो फल है—यह सब मिलकर भी अहिंसा के बराबर नहीं हो सकता।

अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा।
अहिंस्रः सर्वभूतानां यथा माता यथा पिता ॥५७॥

जो हिंसा नहीं करता, उसका तप अक्षय होता है, वह सदा यज्ञ करनेवाले का फल पाता है। हिंसा न करनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों के माता-पिता के समान होता है।

एतत् फलमहिंसाया भूयश्च कुरुपुङ्गव।
न हि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि ॥५८॥

कुरुश्रेष्ठ! यह अहिंसा का फल है। यही क्या, अहिंसा का तो इससे भी अधिक फल है। अहिंसा से होनेवाले लाभों का वर्णन तो सौ वर्षों में भी नहीं किया जा सकता।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

दान-प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

विद्या तपश्च दानं च किमेतेषां विशिष्यते।
पृच्छामि त्वां सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—सज्जनों में श्रेष्ठ पितामह! विद्या, तप और दान—इनमें से कौन-सा श्रेष्ठ है? यह मैं आपसे पूछता हूँ, मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मैत्रेयस्य च संवादं कृष्णद्वैपायनस्य च ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन्! इस विषय में श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास और मैत्रेय के संवादरूप इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है।

कृष्णद्वैपायनो राजन्नज्ञातचरितं चरन्।
वाराणस्यामुपातिष्ठन्मैत्रेयं स्वैरिणीकुले ॥३॥

हे नरेश्वर! एक बार व्यासजी गुप्तरूप से विचरते हुए वाराणसी में पहुँचे। वहाँ वे मुनियों की मण्डली में बैठे हुए मैत्रेयमुनि के यहाँ उपस्थित हुए।

तमुपस्थितमासीनं ज्ञात्वा स मुनिसत्तमम्।
अर्चित्वा भोजयामास मैत्रेयोऽशनमुत्तमम् ॥४॥

पास आकर बैठे हुए मुनिवर व्यासजी को

पहचानकर मैत्रेयजी ने उनका आदर-सत्कार किया और उन्हें उत्तम भोजन कराया।

तदन्नमुत्तमं भुक्त्वा गुणवत् सार्वकामिकम्।
प्रतिष्ठमानोऽस्मयत प्रीतः कृष्णो महामनाः ॥५॥

उस उत्तम, सुगन्धित और सबकी रुचि के अनुकूल भोजन का सेवन करके महामना व्यासजी अति सन्तुष्ट हुए और वहाँ से प्रस्थान करते समय मुस्कराए।

तमुत्स्मयन्तं सम्प्रेक्ष्य मैत्रेयः कृष्णमब्रवीत्।
कारणं ब्रूहि धर्मात्मन् व्यस्मयिष्ठाः कुतश्च ते ॥६॥

उन्हें मुस्कराते देख मैत्रेयजी ने व्यासजी से पूछा—"धर्मात्मन्! आप अभी-अभी जो मुस्कराये हैं, उसका कारण क्या है? आपको हँसी कैसे आई?"

व्यास उवाच

अतिच्छन्दातिवादाभ्यां स्मयोऽयं समुपागतः।
असत्यं वेदवचनं कस्माद् वेदोऽनृतं वदेत् ॥७॥

व्यासजी बोले—मुझे यहाँ अतिच्छन्द[1] और अतिवाद[2] दोनों प्राप्त हुए हैं, अतः मेरा यह विस्मय एवं हर्षोल्लास प्रकट हुआ है। [दान और आतिथ्य का महत्त्व वेदों द्वारा प्रतिपादित हुआ है]। वेदों का वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। भला, वेद मिथ्या क्यों कहेगा?

त्रीण्येव तु पदान्याहुः पुरुषस्योत्तमं व्रतम्। □
न द्रुह्येच्चैव दद्याच्च सत्यं चैव परं वदेत् ॥८॥

वेद मनुष्यों के लिए तीन बातों को उत्तम व्रत बताते हैं—किसी के प्रति द्रोह=वैरभाव न रखे, दान दे और दूसरों से सदा सत्य-वचन बोले।

अल्पोऽपि तादृशो दायो भवत्युत महाफलः।
तृषिताय च ते दत्तं हृदयेनानसूयता ॥९॥

शास्त्रविधि के अनुसार दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान महान् फल देनेवाला होता है। तुमने ईर्ष्या-रहित हृदय से भूखे-प्यासे अतिथि को अन्न-जल का दान किया है।

ततो दानपवित्रेण प्रीतोऽस्मि तपसैव च।
पुण्यस्यैव हि ते सत्त्वं पुण्यस्यैव च दर्शनम् ॥१०॥

इस दान के द्वारा पवित्र हुई तुम्हारी तपस्या से मैं बहुत सन्तुष्ट हुआ हूँ। तुम्हारा बल पुण्य का बल है और तुम्हारा दर्शन भी पुण्य का ही दर्शन है।

पुण्यस्यैवाभिगन्धस्ते मन्ये कर्मविधानजम्।
अधिकं मार्जनात् तात तथा चैवानुलेपनात् ॥११॥

तुम्हारे शरीर से जो सदा पुण्य की सुगन्ध फैलती रहती है, इसे मैं तुम्हारे दानरूप पुण्यकर्म के अनुष्ठान का ही फल मानता हूँ। तात! दान करना तीर्थ-स्नान तथा वैदिक-व्रत की पूर्ति से भी बढ़कर है।

शुभं सर्वपवित्रेभ्यो दानमेव परं द्विज।
न चेत् सर्वपवित्रेभ्यो दानमेव परं भवेत् ॥१२॥

ब्रह्मन्! जितने पवित्र कर्म हैं, उन सबमें दान ही सबसे बढ़कर पवित्र और कल्याणकारी है। यदि दान ही समस्त पवित्र वस्तुओं में श्रेष्ठ न होता तो शास्त्रों में उसकी इतनी प्रशंसा न गाई जाती।

दानकृद्भिः कृतः पन्था येन यान्ति मनीषिणः।
ते हि प्राणस्य दातारस्तेषु धर्मः प्रतिष्ठितः ॥१३॥

दाताओं ने जो मार्ग बना दिया है, मनीषी लोग उसीसे चलते हैं। दानदाता प्राणदाता समझे जाते हैं। उन्हीं में धर्म प्रतिष्ठित है।

यथा वेदाः स्वधीतास्च यथा चेन्द्रियसंयमः।
सर्वत्यागो यथा चेह तथा दानमनुत्तमम् ॥१४॥

जैसे वेदों का स्वाध्याय, इन्द्रियों का संयम और सर्वस्व-त्याग उत्तम है, वैसे ही इस संसार में दान भी उत्तम माना गया है।

त्वं हि तात महाबुद्धे सुखमेष्यसि शोभनम्।
सुखात् सुखतरप्राप्तिमाप्नुते मतिमान्नरः ॥१५॥

तात! महाबुद्धे! तुम्हें इस दान के कारण उत्तम सुख की प्राप्ति होगी। बुद्धिमान् मनुष्य दान करके उत्तरोत्तर सुख प्राप्त करता है।

तन्नः प्रत्यक्षमेवेदमुपलभ्यमसंशयम्।
श्रीमन्तः प्राप्नुवन्त्यर्थान् दानं यज्ञं तथा सुखम् ॥१६॥

यह बात हम लोगों के सामने प्रत्यक्ष और सन्देह-

---

१. अतिथि को अत्यन्त गौरव प्रदान करते हुए उसकी इच्छा के अनुसार सत्कार करना 'अतिच्छन्द' कहलाता है।

२. वाणी द्वारा अतिथि के गौरव का प्रकाशन करना 'अतिवाद' कहलाता है।

रहित है कि आप-जैसे श्रीसम्पन्न मनुष्य जब धन पाते हैं, तब उससे दान, यज्ञ और सुख-भोग करते हैं।

त्रिविधानीहि वृत्तानि नरस्याहुर्मनीषिणः।
पुण्यमन्यत् पापमन्यन्न पुण्यं न च पापकम् ॥१७॥

इस संसार में मनीषियों ने मनुष्य के तीन प्रकार के आचरण बताये हैं—पुण्यमय, पापमय और पुण्य-पाप दोनों से रहित।

यज्ञदानतपःशीला नरा वै पुण्यकर्मिणः।
येऽभिद्रुह्यन्ति भूतानि ते वै पापकृतो जनाः ॥१८॥

जो यज्ञ, दान और तपस्या में संलग्न रहते हैं, वे मनुष्य पुण्य-कर्म करनेवाले हैं और जो प्राणियों से द्रोह करते हैं, वे पापी समझे जाते हैं।

द्रव्याण्याददते चैव दुःखं यान्ति पतन्ति च।
ततोऽन्यत् कर्म यत्किञ्चिन्न पुण्यं न च पातकम् ॥१९॥

जो दूसरों का धन चुराते हैं, वे दुःख पाते और नरक में पड़ते हैं। इन उपर्युक्त शुभाशुभ कर्मों से भिन्न जो साधारण चेष्टा है, वह न तो पुण्य है और न पाप ही है।

रमस्वैधस्व मोदस्व देहि चैव यजस्व च।
न त्वामभिभविष्यन्ति वैद्या न च तपस्विनः ॥२०॥

महर्षे! तुम आनन्दपूर्वक स्वधर्मपालन में रत रहो, तुम्हारी निरन्तर उन्नति हो, तुम प्रसन्न रहो, दान दो और यज्ञ करो। विद्वान् और तपस्वी तुम्हारा पराभव नहीं कर सकेंगे।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

पतिव्रता स्त्रियों के कर्तव्य

युधिष्ठिर उवाच

सत्स्त्रीणां समुदाचारं सर्वधर्मविदां वर।
श्रोतुमिच्छाम्यहं त्वत्तस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—समस्त धर्मज्ञों में श्रेष्ठ पितामह! साध्वी स्त्रियों के सदाचार का क्या स्वरूप है? यह मैं आपके मुखारविन्द से सुनना चाहता हूँ, कृपया मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

सर्वज्ञां सर्वतत्त्वज्ञां देवलोके मनस्विनीम्।
कैकेयी सुमना नाम शाण्डिलीं पर्यपृच्छत ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन्! देवलोक में सम्पूर्ण तत्त्वों को जाननेवाली सर्वज्ञा तथा मनस्विनी शाण्डिलीदेवी से केकेयराज की पुत्री सुमना ने पूछा—

केन वृत्तेन कल्याणि समाचारेण केन वा।
विधूय सर्वपापानि देवलोकं त्वमागता ॥३॥

"कल्याणि! तुमने किस व्यवहार अथवा सदाचार के प्रभाव से समस्त पापों का नाश करके देवलोक में पदार्पण किया है?"

इति पृष्टा सुमनया मधुरं चारुहासिनी।
शाण्डिली निभृतं वाक्यं सुमनामिदमब्रवीत् ॥४॥

मधुरवाणी में सुमना के इस प्रकार पूछने पर मनोहर मुस्कानवाली शाण्डिली ने उससे नम्रतापूर्ण शब्दों में इस प्रकार कहा—

नाहं काषायवसना नापि वल्कलधारिणी।
न च मुण्डा च जटिला भूत्वा देवत्वमागता ॥५॥

"देवि! मैंने गेरुआवस्त्र धारण नहीं किया, वल्कलवस्त्र नहीं पहना, मूँड नहीं मुँडाया और बड़ी-बड़ी जटाएँ भी नहीं रखीं। वह सब करके मैं देवलोक में नहीं आई हूँ।

अहितानि च वाक्यानि सर्वाणि परुषाणि च।
अप्रमत्ता च भर्तारं कदाचिन्नाहमब्रुवम् ॥६॥

"मैंने सदा सावधान रहकर अपने पति के प्रति मुख से कभी अहितकर एवं कठोर वचन नहीं निकाले हैं।

देवतानां पितॄणां च ब्राह्मणानां च पूजने।
अप्रमत्ता सदा युक्ता श्वश्रूश्वशुरवर्तिनी ॥७॥

"मैं सदा सास-ससुर की आज्ञा में रहती और विद्वान्, ज्ञाना तथा ब्राह्मणों की पूजा में सावधान होकर तत्पर रहती थी।

पैशुन्ये न प्रवर्तामि न ममैतन्मनोगतम् ।
अद्वारि न च तिष्ठामि चिरं न कथयामि च ।।८।।

"न मैं किसी की चुगली करती थी और न चुगली करना मुझे पसन्द था। मैं घर का दरवाजा छोड़कर अन्यत्र कहीं खड़ी नहीं होती थी और न देर तक किसी से बात करती थी।

असद् वा हसितं किंचिदहितं वापि कर्मणा ।
रहस्यमरहस्यं वा न प्रवर्तामि सर्वथा ।।९।।

"मैंने कभी एकान्त में अथवा सबके सामने किसी के साथ अश्लील परिहास नहीं किया और मेरे किसी कर्म द्वारा किसी को हानि भी नहीं पहुँची। मैं दूसरों के लिए हानिप्रद कार्यों में कभी प्रवृत्त नहीं होती थी।

कार्यार्थे निर्गतं चापि भर्तारं गृहमागतम् ।
आसनेनोपसंयोज्य पूजयामि समाहिता ।।१०।।

"यदि मेरे पतिदेव किसी कार्य से बाहर जाकर फिर घर को लौटते तो मैं उठकर उन्हें बैठने के लिए आसन देती और एकाग्रचित्त हो उनकी पूजा करती थी।

यदन्नं नाभिजानाति यद् भोज्यं नाभिनन्दति ।
भक्ष्यं वा यदि वा लेह्यं तत्सर्वं वर्जयाम्यहम् ।।११।।

"मेरे पतिदेव जिस अन्न को ग्रहण करने के अयोग्य समझते थे और जिस भक्ष्य, भोज्य अथवा लेह्य आदि को वे पसन्द नहीं करते थे, उन सबको मैं भी त्याग देती थी।

कुटुम्बार्थे समानीतं यत्किंचित् कार्यमेव तु ।
प्रातरुत्थाय तत्सर्वं कारयामि करोमि च ।।१२।।

"सारे परिवार के लिए जो कुछ कार्य आ पड़ता, वह सब मैं प्रातः उठकर ही कर-करा लेती थी।

प्रवासं यदि मे याति भर्ता कार्येण केनचित् ।
मङ्गलैर्बहुभिर्युक्ता भवामि नियता तदा ।।१३।।

"यदि मेरे पतिदेव किसी आवश्यक कार्यवश कभी परदेश जाते तो मैं नियम से रहकर उनके कल्याण के लिए नाना प्रकार के माङ्गलिक कार्य किया करती थी।

अञ्जनं रोचनां चैव स्नानं माल्यानुलेपनम् ।
प्रसाधनं च निष्क्रान्ते नाभिनन्दामि भर्तरि ।।१४।।

"पति के बाहर चले जाने पर मैं आँखों में अञ्जन, ललाट में गोरोचन का तिलक, तेलमर्दनपूर्वक स्नान, पुष्पमाला का धारण, अङ्गों में अङ्गराग लगाना और शृङ्गार करना पसन्द नहीं करती थी।

नोत्थापयामि भर्तारं सुखसुप्तमहं सदा ।
आन्तरेष्वपि कार्येषु तेन तुष्यति मे मनः ।।१५।।

"मैं सुखपूर्वक सोये हुए स्वामी को आवश्यक कार्य आ जाने पर भी कभी जगाती नहीं थी। इससे मेरे मन को विशेष सन्तोष प्राप्त होता था।

नायासयामि भर्तारं कुटुम्बार्थेऽपि सर्वदा ।
गुप्तगुह्या सदा चास्मि सुसम्मृष्टनिवेशना ।।१६।।

"परिवार के पालन-पोषण के कार्य के लिए भी मैं उन्हें कभी तंग नहीं करती थी। घर की गुप्त बातों को सदा छिपाये रखती और घर को सदा झाड़-बुहारकर स्वच्छ रखती थी।

इमं धर्मपथं नारी पालयन्ती समाहिता ।
अरुन्धतीव नारीणां स्वर्गलोके महीयते ।।१७।।

"जो स्त्री सदा सावधान रहकर इस धर्ममार्ग पर आचरण करती है, वह नारियों में अरुन्धती के समान आदरणीय होकर स्वर्गलोक में विशेष प्रतिष्ठा पाती है।"

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ।।२३।।

चतुर्विंशोऽध्यायः

पाँच प्रकार के दानों का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

दानं कतिविधं देयं किं तस्य च फलं लभेत् ।
कथं केभ्यश्च धर्म्यं च श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! दान के कितने भेद हैं? जो दान दिया जाता है, उसका क्या फल मिलता है? कैसे और किन लोगों को दान देना धर्म के अनुकूल है? यह सब मैं यथार्थरूप से सुनना चाहता हूँ।

भीष्म उवाच

शृणु तत्त्वेन कौन्तेय दानं प्रति ममानघ ।
यथा दानं प्रदातव्यं सर्ववर्णेषु भारत ॥२॥

भीष्मजी बोले—निष्पाप कुन्तीकुमार ! भरत-भूषण ! दान के सम्बन्ध में मैं यथार्थरूप से जो कुछ कहता हूँ, सुनो ! सभी वर्ण के लोगों को दान कैसे देना चाहिए—यह बताता हूँ ।

धर्मादर्थाद् भयात्कामात्कारुण्यादिति भारत ।
दानं पञ्चविधं ज्ञेयं कारणैर्यैर्निबोध तत् ॥३॥

भारत ! धर्म, अर्थ, भय, कामना और दया—इन पाँच हेतुओं से दान को पाँच प्रकार का समझना चाहिए । अब जिन कारणों से दान देना उचित है उन्हें सुनो !

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ।
इति दानं प्रदातव्यं ब्राह्मणेभ्योऽनसूयता ॥४॥

दानी मनुष्य इस संसार में कीर्ति और परलोक में सर्वोत्तम सुख पाता है, अतः मनुष्य ईर्ष्यारहित होकर ब्राह्मणों को अवश्य दान करे । [यह धर्ममूलक दान है ।]

ददाति वा दास्यति वा मह्यं दत्तमनेन वा ।
इत्यर्थिभ्यो निशम्यैव सर्वं दातव्यमर्थिने ॥५॥

'ये दान देते हैं', 'ये दान देंगे' अथवा 'इन्होंने मुझे दान दिया है'—याचकों के मुख से ऐसी बातें सुनकर अपने यश की इच्छा से प्रत्येक याचक को उसकी इच्छा के अनुसार सब-कुछ देना चाहिए । [यह अर्थ-मूलक दान है ।]

नास्याहं न मदीयोऽयं पापं कुर्याद् विमानितः ।
इति दद्याद् भयादेव दृढं मूढाय पण्डितः ॥६॥

'न मैं इसका हूँ, न यह मेरा है, तो भी यदि इसको कुछ न दूँ तो अपमानित होकर यह मेरा अनिष्ट कर डालेगा'—इस भय से ही विद्वान् पुरुष जब किसी मूर्ख को दान दे तो यह भयमूलक दान है ।

प्रियो मेऽयं प्रियोऽस्याहमिति सम्प्रेक्ष्य बुद्धिमान् ।
वयस्यायैवमक्लिष्टं दानं दद्यादतन्द्रितः ॥७॥

'यह मेरा प्रिय है और मैं इसका प्रिय हूँ'—ऐसा विचारकर जो बुद्धिमान् मनुष्य आलस्य छोड़कर अपने मित्र को प्रसन्नतापूर्वक दान देता है [यह कामनामूलक दान है ।]

दीनश्च याचते चायमल्पेनापि हि तुष्यति ।
इति दद्याद् दरिद्राय कारुण्यादिति सर्वथा ॥८॥

'यह बेचारा बड़ा गरीब है और मुझसे याचना कर रहा है, साथ ही थोड़ा देने से भी सन्तुष्ट हो जाएगा'—ऐसा सोचकर दरिद्र मनुष्य के लिए सर्वथा दयावश दान देना चाहिए ।

इति पञ्चविधं दानं पुण्यकीर्तिविवर्धनम् ।
यथाशक्त्या प्रदातव्यमेवमाह प्रजापतिः ॥९॥

यह पाँच प्रकार का दान पुण्य और कीर्ति को बढ़ानेवाला है । 'यथाशक्ति सभी को दान देना चाहिए'—ऐसा प्रजापति का कथन है ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

वर्णाश्रमधर्म का निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

धर्मः किंलक्षणः प्रोक्तः कथं वाचरितुं नरैः ।
शक्यो धर्ममविन्दद्भिर्धर्मज्ञ वद मे प्रभो ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—प्रभो ! धर्मज्ञ ! धर्म का क्या लक्षण बताया गया है ? जो धर्म को नहीं जानते, ऐसे मनुष्य धर्म का आचरण कैसे कर सकते हैं ? यह मुझे बताइए ।

भीष्म उवाच

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम् ।
शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! किसी भी जीव की हिंसा न करना, सत्य बोलना, सब प्राणियों पर दया करना, मन और इन्द्रियों को वश में रखना और

अपनी शक्ति के अनुसार दान देना—गृहस्थाश्रम का उत्तम धर्म है।

परदारेष्वसंसर्गो न्यासस्त्रीपरिरक्षणम्।
अदत्तादानविरमो मधुमांसस्य वर्जनम् ॥३॥
एष पञ्चविधो धर्मो बहुशाखः सुखोदयः।
देहिभिर्धर्मपरमैश्चर्तव्यो धर्मसम्भवः ॥४॥

[उपर्युक्त गृहस्थ-धर्मों का पालन करना,] पर-स्त्री के संसर्ग से दूर रहना, धरोहर और स्त्री की रक्षा करना, बिना दिये किसी की वस्तु न लेना और मद्य तथा मांस का परित्याग—ये पाँच धर्म के भेद हैं, जो सुख की प्राप्ति करानेवाले हैं। इनमें से एक-एक धर्म की अनेक शाखाएँ हैं। धर्म को श्रेष्ठ मानने-वाले मनुष्य को चाहिए कि वे पुण्यप्रद धर्म का पालन अवश्य करें।

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् संशयो मेऽस्ति तन्मे व्याख्यातुमर्हसि।
चातुर्वर्ण्यस्य धर्मं वै नैपुण्येन प्रकीर्तय ॥५॥

युधिष्ठिर ने कहा—भगवन्! मेरे मन में अभी संशय रह गया है, अतः उसकी व्याख्या करके मुझे समझाइए। आप चारों वर्णों के धर्मों का पूर्णरूप से प्रतिपादन कीजिए।

भीष्म उवाच

रहस्यश्रवणं धर्मो वेदव्रतनिषेवणम्।
अग्निकार्यं तथा धर्मो गुरुकार्यप्रसाधनम् ॥६॥

भीष्मजी बोले—धर्म का रहस्य सुनना, वेदोक्त-व्रत का पालन करना, यज्ञ और गुरुसेवा करना—यह ब्रह्मचर्याश्रम का धर्म है।

भैक्षचर्या परो धर्मो नित्यं यज्ञोपवीतिता।
नित्यं स्वाध्यायिता धर्मो ब्रह्मचर्याश्रमस्तथा ॥७॥

ब्रह्मचारी के लिए भिक्षा माँगना परमधर्म है। सदा यज्ञोपवीत धारण किये रहना, प्रतिदिन वेद का स्वाध्याय करना तथा ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों के पालन में लगे रहना—ब्रह्मचारी का प्रधान धर्म है।

गुरुणा चाभ्यनुज्ञातः समावर्तेत वै द्विजः।
विन्देतानन्तरं भार्यामनुरूपां यथाविधि ॥८॥

ब्रह्मचर्य की अवधि समाप्त होने पर द्विज अपने गुरु की आज्ञा से समावर्तन करे और घर आकर अपने अनुरूप स्त्री से विधिपूर्वक विवाह करे।

आहिताग्निरधीयानो जुह्वानः संयतेन्द्रियः।
विघसाशी यताहारो गृहस्थः सत्यवाक् शुचिः ॥९॥

गृहस्थ को अग्नि-स्थापनपूर्वक नित्य यज्ञ करने-वाला, स्वाध्यायशील, होमपरायण, जितेन्द्रिय, विघसाशी [पारिवारिक जनों को भोजन कराने के पश्चात् ही बचे अन्न का भोजन करना], मिताहारी, सत्यवादी और पवित्र होना चाहिए।

स्वाध्यायो यजनं दानं तस्य धर्म इति स्थितिः।
कर्माण्यध्यापनं चैव याजनं च प्रतिग्रहः ॥१०॥

वेदों का स्वाध्याय, यज्ञ और दान—यह ब्राह्मण का धर्म है, ऐसा शास्त्रों का निर्णय है। वेदों को पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना—ये उसकी आजीविका के साधनभूत कर्म हैं।

क्षत्रियस्य स्मृतो धर्मः प्रजापालनमादितः।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥११॥

क्षत्रिय का सर्वप्रथम धर्म है प्रजा का पालन करना। प्रजा की आय के छठे भाग का उपभोग करनेवाला राजा धर्म का फल पाता है।

प्रजाः पालयते यो हि धर्मेण मनुजाधिपः।
तत्र धर्मार्जिता लोकाः प्रजापालनसंचिताः ॥१२॥

जो राजा धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करता है, उसके प्रजापालनरूपी धर्म के प्रभाव से उसे उत्तम लोक [पर-जन्म में श्रेष्ठ योनियाँ] प्राप्त होते हैं।

तत्र राज्ञः परो धर्मो दमः स्वाध्याय एव च।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ॥१३॥
यज्ञोपवीतधरणं यज्ञो धर्मक्रियास्तथा।
भृत्यानां भरणं धर्मः कृते कर्मण्यमोघता ॥१४॥
सम्यग्दण्डे स्थितिर्धर्मो धर्मो वेदक्रतुक्रियाः।
व्यवहारस्थितिर्धर्मः सत्यवाक्यरतिस्तथा ॥१५॥

राजा का परम धर्म है—इन्द्रिय-संयम, स्वाध्याय, यज्ञ करना, दान देना, अध्ययन करना, यज्ञोपवीत-धारण, यज्ञानुष्ठान, धार्मिक कार्य का सम्पादन, सेवकवर्ग का पालन-पोषण, आरम्भ किये हुए कार्य को सफल बनाना, अपराध के अनुसार उचित दण्ड देना, वैदिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करना, व्यवहार

में न्याय की रक्षा करना तथा सत्यभाषण में अनुरक्त होना। ये सभी कर्म राजा के लिए धर्म हैं।

वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ॥१६॥
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः ॥१७॥

पशुओं का पालन, खेती, व्यापार, यज्ञ करना, दान देना, अध्ययन करना, सन्मार्ग का आश्रय लेकर सदाचार का पालन, अतिथि-सत्कार, शम, दम, ब्राह्मणों का स्वागत और त्याग—ये सब वैश्यों के सनातन धर्म हैं।

शूद्रधर्मः परो नित्यं शुश्रूषा च द्विजातिषु।
तपः संचिनुते महत् सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥१८॥

शूद्र का परमधर्म है तीनों वर्णों की सेवा। जो शूद्र सत्यवादी और जितेन्द्रिय है, वह महान् तप का संचय कर लेता है।

युधिष्ठिर उवाच

उक्तस्त्वया पृथग्धर्मश्चातुर्वर्ण्यहितः शुभः।
सर्वव्यापी तु यो धर्मो भगवंस्तद् ब्रवीहि मे ॥१९॥

युधिष्ठिर ने कहा—भगवन्! आपने चारों वर्णों के लिए हितकारी और शुभ धर्म का पृथक्-पृथक् वर्णन किया। अब मुझे वह धर्म बताइए जो सब वर्णों के लिए समानरूप से उपयोगी हो।

भीष्म उवाच

पञ्चयज्ञविशुद्धात्मा सत्यवागनसूयकः।
दाता ब्राह्मणसत्कर्ता सुसंसृष्टनिवेशनः ॥२०॥
अमानी च सदाजिह्मः स्निग्धवाणीप्रदस्तथा।
अतिथ्यभ्यागतरतिः शेषान्नकृतभोजनः ॥२१॥
पाद्यमर्घ्यं यथान्यायमासनं शयनं तथा।
दीपं प्रतिश्रयं चैव यो ददाति स धार्मिकः ॥२२॥

भीष्मजी बोले—गृहस्थ पुरुष को पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान करके अपने मन को शुद्ध बनाना चाहिए। जो गृहस्थ सदा सत्य बोलता, किसी के दोष नहीं देखता, दान देता, ब्राह्मणों का सत्कार करता, अपने घर को झाड़-बुहारकर स्वच्छ रखता, अभिमान नहीं करता, कुटिलता नहीं करता, स्नेहयुक्त वचन बोलता, अतिथि और अभ्यागतों की सेवा में मन लगाता, यज्ञशिष्ट अन्न का भोजन करता और अतिथि को शास्त्राज्ञा के अनुसार पाद्य, अर्घ्य, आसन, शय्या, दीपक और ठहरने के लिए गृह प्रदान करता है, उसे धार्मिक समझना चाहिए।

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो गृहस्थेषु विधीयते।
तमहं वर्तयिष्यामि सर्वभूतहितं शुभम् ॥२३॥

गृहस्थों के लिए प्रवृत्तिरूप धर्म का विधान किया गया है। वह सब प्राणियों के लिए हितकारी और शुभ है। अब मैं उसी का वर्णन करता हूँ।

दातव्यमसकृच्छक्त्या यष्टव्यमसकृत् तथा। □
पुष्टिकर्मविधानं च कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥२४॥

अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को सदा अपनी शक्ति के अनुसार दान देना चाहिए, सदा यज्ञ करना चाहिए और निर्माणात्मक कर्म करते रहना चाहिए।

धर्मेणार्थः समाहार्यो धर्मलब्धं त्रिधा धनम्।
कर्तव्यं धर्मपरमं मानवेन प्रयत्नतः ॥२५॥

मनुष्य को धर्म के द्वारा धन का उपार्जन करना चाहिए। उस धर्म से उपार्जित धन के तीन भाग करने चाहिएँ तथा प्रयत्नपूर्वक धर्मप्रधान कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए।

एकेनांशेन धर्मार्थौ कर्तव्यौ भूतिमिच्छता।
एकेनांशेन कामार्थ एकमंशं विवर्धयेत् ॥२६॥

अपनी उन्नति चाहनेवाले मनुष्य को धन के उपर्युक्त तीन भागों में से एक भाग के द्वारा धर्म और अर्थ की सिद्धि करनी चाहिए। दूसरे भाग को उपभोग में लगाना चाहिए और तीसरे अंश को बढ़ाना चाहिए। [यह प्रवृत्तिरूप धर्म का वर्णन किया गया]

निवृत्तिलक्षणस्त्वन्यो धर्मो मोक्षाय तिष्ठति।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि शृणु मे तात तत्त्वतः ॥२७॥

इससे भिन्न निवृत्तिरूप धर्म है। वह मोक्ष का साधन है। तात! मैं यथार्थरूप से उसका स्वरूप बताता हूँ, उसे सुनो!

सर्वभूतदया धर्मो न चैकग्रामवासिता।
आशापाशविमोक्षश्च शस्यते मोक्षकांक्षिणाम् ॥२८॥

मुमुक्षुओं को सभी प्राणियों पर दया करनी चाहिए—यही उनका धर्म है। उन्हें सदा एक ही

गांव में नहीं रहना चाहिए और अपने आशारूपी बन्धन को तोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। यही मोक्षाभिलाषी के लिए प्रशंसा की बात है।

न कुट्यां नोदके सङ्गो न वाससि न चासने।
न त्रिदण्डे न शयने नाग्नौ न शरणालये ॥२६॥

मुमुक्षु को न तो कुटी में आसक्ति रखनी चाहिए, न जल में, न वस्त्र में, न आसन में, न त्रिदण्ड में, न शय्या में, न यज्ञ में और न किसी निवास-स्थान में ही आसक्त होना चाहिए।

अध्यात्मगतिचित्तो यस्तन्मनास्तत्परायणः।
युक्तो योगं प्रति सदा प्रतिसंख्यानमेव च ॥३०॥

मोक्ष के इच्छुक को अध्यात्मज्ञान का ही चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। उसे उसी में सदा स्थित रहना चाहिए। निरन्तर योगाभ्यास प्रवृत्त होकर तत्त्व का विचार करते रहना चाहिए।

वृक्षमूलपरो नित्यं शून्यागारनिवेशनः।
नदीपुलिनशायी च नदीतीररतिश्च यः ॥३१॥
विमुक्तः सर्वसङ्गेषु स्नेहबन्धेषु च द्विजः।
आत्मन्येवात्मनो भावं समासज्जेत वै द्विजः ॥३२॥

संन्यासी द्विज को उचित है कि वह सब प्रकार की आसक्तियों और स्नेहबन्धनों से मुक्त होकर सदा वृक्ष के नीचे, सूने घर में अथवा नदी के किनारे रहता हुआ अपने अन्तःकरण में ही परमेश्वर का ध्यान करे।

न चैकत्र समासक्तो न चैकग्रामगोचरः।
मुक्तो ह्यटति निर्मुक्तो न चैकपुलिनेशयः ॥३३॥

संन्यासी किसी एक स्थान में आसक्ति न रखे, एक ही ग्राम में न बसे और किसी एक ही नदी-तीर पर सर्वदा शयन न करे। उसे सब प्रकार की आसक्तियों से मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरना चाहिए।

एष मोक्षविदां धर्मो वेदोक्तः सत्पथः सताम्।
यो मार्गमनुयातीमं पदं तस्य च विद्यते ॥३४॥

यह मोक्षधर्म के ज्ञाता पुरुषों का वेदप्रतिपादित धर्म एवं सन्मार्ग है। जो इस मार्ग पर चलता है, उसे ब्रह्मपद=मोक्ष की प्राप्ति होती है।

चतुर्विधा भिक्षवस्ते कुटीचकबहूदकौ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात्स उत्तमः ॥३५॥

संन्यासी चार प्रकार के होते हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

षड्विंशोऽध्यायः

स्वर्ग में ले-जानेवाले शुभ कर्मों का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

केन शीलेन वृत्तेन कर्मणा कीदृशेन वा।
समाचारैर्गुणैः कैर्वा स्वर्गं यान्तीह मानवाः ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—प्रभो ! किस शील-स्वभाव से, किस आचरण से, कैसे कर्म से तथा किन सदाचारों अथवा गुणों द्वारा मनुष्य बन्धन-मुक्त होते एवं स्वर्ग में जाते हैं ?

भीष्म उवाच

सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु।
त्यक्तहिंसासमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२॥

भीष्मजी बोले—जो सब प्राणियों पर दया करनेवाले, सब जीवों के विश्वासपात्र एवं हिंसामय आचरणों को त्याग देनेवाले हैं, वे मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं।

परस्वे निर्ममा नित्यं परदारविवर्जकाः।
धर्मलब्धान्नभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३॥

जो दूसरे के धन पर ममता नहीं रखते, पर-स्त्री से सदा दूर रहते और धर्म से प्राप्त अन्न का ही भोजन करते हैं, वे मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं।

मातृवत् स्वसृवच्चैव नित्यं दुहितृवच्च ये।
परदारेषु वर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥४॥

जो मनुष्य पर-स्त्रियों को माता, बहन और पुत्री के समान समझकर तदनुरूप व्यवहार करते हैं, वे स्वर्गलोक में जाते हैं, सुखविशेष को प्राप्त होते हैं।

स्तैन्यान्निवृत्ताः सततं सन्तुष्टाः स्वधनेन च ।
स्वभाग्यान्युपजीवन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥५॥

जो सदा अपने ही धन से सन्तुष्ट रहकर चोरी आदि से पृथक् रहते हैं और जो अपने ही भाग्य पर भरोसा रखकर जीवन-निर्वाह करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ।

स्वदारनिरता ये च ऋतुकालाभिगामिनः ।
अग्राम्यसुखभोगाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥६॥

जो अपनी ही स्त्री में अनुरक्त रहकर ऋतुकाल में ही उसके साथ समागम करते हैं और ग्राम्य सुख-भोगों में आसक्त नहीं होते—ऐसे मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं ।

परदारेषु ये नित्यं चारित्रावृतलोचनाः ।
जितेन्द्रियाः शीलपरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥७॥

जो अपने सदाचार के द्वारा सदा ही पर-स्त्रियों की ओर से अपनी आँख बन्द किये रहते हैं, वे जितेन्द्रिय और शीलपरायण मनुष्य स्वर्गलोक में जाते हैं ।

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात् तथा ।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः ॥८॥

जो हँसी-मजाक का सहारा लेकर भी अपने या दूसरे के लिए कभी झूठ नहीं बोलते, वे मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं ।

वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा कामकारात् तथैव च ।
अनृतं ये न भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥९॥

जो आजीविका अथवा धर्म के लिए और स्वेच्छाचार से भी कभी असत्यभाषण नहीं करते, वे लोग स्वर्गलोक को जाते हैं ।

श्लक्ष्णां वाणीं निराबाधां मधुरां पापवर्जिताम् ।
स्वागतेनाभिभाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१०॥

जो स्निग्ध, मधुर, बाधारहित, पापशून्य और स्वागत-सत्कार के भाव से युक्त वाणी बोलते हैं, वे लोग स्वर्ग में जाते हैं ।

परुषं ये न भाषन्ते कटुकं निष्ठुरं तथा ।
अपैशुन्यरताः सन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥११॥

जो किसी की चुगली नहीं करते और कभी मुख से किसी के प्रति रूखी, कड़वी और निष्ठुरतापूर्ण बात नहीं निकालते, वे सज्जन पुरुष स्वर्ग में जाते हैं ।

पिशुनां न प्रभाषन्ते मित्रभेदकरीं गिरम् ।
ऋतं मैत्रं तु भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१२॥

जो दो मित्रों में फूट डालनेवाली चुगली की बातें नहीं करते, सत्य और मैत्रीभाव से युक्त वचन बोलते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोक में जाते हैं ।

ये वर्जयन्ति परुषं परद्रोहं च मानवाः ।
सर्वभूतसमा दान्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१३॥

जो मनुष्य दूसरों से तीखी बातें बोलना और वैर करना छोड़ देते हैं, सब प्राणियों के प्रति समान भाव रखते और जितेन्द्रिय होते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं ।

शठप्रलापाद् विरता विरुद्धपरिवर्जकाः ।
सौम्यप्रलापिनो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१४॥

जिनके मुख से कभी शठतापूर्ण बात नहीं निकलती, जो विरोधयुक्त वाणी का परित्याग कर देते हैं और सदा सौम्य वाणी बोलते हैं, वे लोग स्वर्ग में जाते हैं ।

न कोपाद् व्याहरन्ति ये वाचं हृदयदारणीम् ।
सान्त्वं वदन्ति क्रुद्धाऽपि ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१५॥

जो क्रोध में आकर भी हृदय दुखानेवाली बात मुंह से नहीं निकालते, अपितु क्रुद्ध होने पर भी सान्त्वनापूर्ण वचन ही बोलते हैं, वे लोग स्वर्ग में जाते हैं ।

अरण्ये विजने न्यस्तं परस्वं दृश्यते यदा ।
मनसापि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१६॥

जब दूसरे का धन निर्जन वन में पड़ा हुआ दिखाई दे, उस समय भी जो मनुष्य उसे उठाने के लिए मन से भी कामना नहीं करते, वे मनुष्य स्वर्ग-गामी होते हैं ।

ग्रामे गृहे वा ये द्रव्यं पारक्यं विजने स्थितम् ।
नाभिनन्दन्ति वै नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१७॥

गाँव अथवा घर के एकान्त स्थान में पड़े हुए पराये धन का जो कभी अभिनन्दन नहीं करते, वे मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं ।

तथैव परदारान् ये कामवृत्तान् रहोगतान् ।
मनसापि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१८॥

इसी प्रकार जो मनुष्य एकान्त में प्राप्त हुई कामासक्त पर-स्त्रियों के साथ मन से भी अन्याय करने का विचार नहीं करते, वे लोग स्वर्गलोक में जाते हैं।

शत्रुं मित्रं च ये नित्यं तुल्येन मनसा नराः।
भजन्ति मैत्राः संगम्य ते नराः स्वर्गगामिनः ।।१९।।

जो सबके प्रति मैत्री भाव रखकर सबसे मिलते और शत्रु एवं मित्र दोनों को सदा समान हृदय से अपनाते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं।

श्रुतवन्तो दयावन्तः शुचयः सत्यसंगराः।
स्वैरर्थैः परिसन्तुष्टास्ते नराः स्वर्गगामिनः ।।२०।।

जो शास्त्रज्ञ, दयालु, पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ और अपने ही धन से सन्तुष्ट रहते हैं, वे लोग स्वर्गगामी होते हैं।

अवैरा ये त्वनायासा मैत्रीचित्तरताः सदा।
सर्वभूतदयावन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः ।।२१।।

जिनके मन में किसी के प्रति वैर नहीं है, जो किसी कार्य को करके आसक्तियुक्त नहीं होते, जो मैत्रीभाव से पूर्ण हृदयवाले तथा सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति सदा ही दया का भाव रखनेवाले हैं, वे लोग स्वर्ग में जाते हैं।

श्रद्धावन्तो दयावन्तश्चोक्षाश्चोक्षजनप्रियाः।
धर्माधर्मविदो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ।।२२।।

जो श्रद्धालु, दयालु, शुद्ध, शुद्धजनों के प्रेमी तथा धर्म और अधर्म के ज्ञाता हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ।।२६।।

सप्तविंशोऽध्यायः

गायत्री-जप का फल

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
किं जप्यं जपतो नित्यं भवेद् धर्मफलं महत् ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे महाज्ञानी, सर्वशास्त्र-विशेषज्ञ पितामह! प्रतिदिन किस मन्त्र का जप करने से धर्म के महान् फल की प्राप्ति होती है?

शान्तिकं पौष्टिकं रक्षा शत्रुघ्नं भयनाशनम्।
जप्यं यद् ब्रह्मसमितं तद्भवान् वक्तुमर्हति ।।२।।

शान्ति, पुष्टि, रक्षा, शत्रु का नाश और भय-निवारण करनेवाला कौन-सा ऐसा जपनीय मन्त्र है, जो वेदों के समान माननीय है? आप उसे बताने की कृपा करें।

भीष्म उवाच

रात्रावहनि धर्मज्ञ जपन् पापैर्न लिप्यते।
तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकमना नृप ।।३।।

भीष्मजी बोले—धर्मज्ञ नरेश! दिन-रात जिस मन्त्र का जप करने से मनुष्य पापों से लिप्त नहीं होता, वही मन्त्र मैं तुम्हें बता रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो!

गायत्र्या न परं जप्यं गायत्र्या न परं तपः।
गायत्र्या न परं ध्यानं गायत्र्या न परं हुतम् ।।४।।

गायत्री मन्त्र से बढ़कर कोई जप नहीं है, गायत्री से श्रेष्ठ कोई तप नहीं है। गायत्री से बढ़कर न कोई ध्यान है और न कोई यज्ञानुष्ठान है।

आयुष्मान् भवते चैव यं श्रुत्वा पार्थिवात्मज।
पुरुषस्तु सुसिद्धार्थः प्रेत्य चेह च मोदते ।।५।।

राजकुमार! जो इस मन्त्र को सुनता है, वह दीर्घजीवी एवं सफल मनोरथ होता है। वह इहलोक और परलोक में आनन्द भोगता है।

सेवितं सततं राजन् पुरा राजर्षिसत्तमैः।
क्षत्रधर्मपरैर्नित्यं सत्यव्रतपरायणैः ।।६।।

राजन्! पूर्वकाल में क्षात्र धर्म का पालन करने-वाले और सदा सत्यव्रत के आचरण में संलग्न रहने-वाले राजर्षि-शिरोमणि इस मन्त्र का ही जप किया करते थे।

इदमाह्निकमव्यग्रं कुर्वद्भिर्नियतैः सदा।
नृपैर्भरतशार्दूल प्राप्यते श्रीरनुत्तमा ।।७।।

भरतसिंह! जो राजा मन और इन्द्रियों को

वश में करके शान्तिपूर्वक प्रतिदिन इस मन्त्र का जप करते हैं, उन्हें सर्वोत्तम सम्पत्ति प्राप्त होती है ।

यानपात्रे च याने च प्रवासे राजवेश्मनि ।
परां सिद्धिमवाप्नोति सावित्रीं ह्युत्तमां पठन् ।।८।।

जो मनुष्य जलयान अथवा किसी सवारी में बैठने पर, विदेश में अथवा राजदरबार में जाने पर मन-ही-मन श्रेष्ठ गायत्री-मन्त्र का जप करता है, वह परमसिद्धि को प्राप्त होता है ।

न च राजभयं तेषां न पिशाचान्न राक्षसात् ।
नाग्न्यम्बुपवनव्यालाद् भयं तस्योपजायते ।।९।।

गायत्री का जप करने से मनुष्य को राजा, पिशाच, राक्षस, अग्नि, जल, वायु और सर्प आदि का भय नहीं होता ।

चतुर्णामपि वर्णानामाश्रमस्य विशेषतः ।
करोति सततं शान्तिं सावित्रीमुत्तमां पठन् ।।१०।।

जो उत्तम गायत्री-मन्त्र का जप करता है, वह मनुष्य चारों वर्णों और विशेषतः चारों आश्रमों में सदा शान्ति स्थापित करता है ।

नाग्निर्दहति काष्ठानि सावित्री यत्र पठ्यते ।
न बालो म्रियते तत्र न च तिष्ठन्ति पन्नगाः ।।११।।

जहाँ गायत्री का जाप किया जाता है, उस घर के काष्ठों में आग नहीं लगती । वहाँ बाल-मृत्यु नहीं होती और उस घर में साँप नहीं टिकते ।

न तेषां विद्यते दुःखं गच्छन्ति परमां गतिम् ।
ये शृण्वन्ति महद् ब्रह्म सावित्रीगुणकीर्तनम् ।।१२।।

जिस घर के निवासी परब्रह्मस्वरूप गायत्री-मन्त्र के गुणों का कीर्तन सुनते हैं, उन्हें कभी दुःख नहीं होता और वे परमगति=मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।

गवां मध्ये तु पठतो गावोऽस्य बहुवत्सलाः ।
प्रस्थाने प्रवासे वा सर्वावस्थां गतः पठेत् ।।१३।।

गौओं के बीच गायत्री का जप करनेवाले पुरुष पर गौओं का वात्सल्य=प्रेम बहुत बढ़ जाता है । प्रस्थानकाल में अथवा प्रदेश में—सभी अवस्थाओं में मनुष्य को इस [गायत्री] का जप करना चाहिए ।

जपतां जुह्वतां चैव नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
ऋषीणां परमं जप्यं गुह्यमेतन्नराधिप ।।१४।।

भूपाल ! सदा शुद्धचित्त होकर जप करे । होम करनेवाले ऋषियों के लिए यह परम गोपनीय मन्त्र है ।

सोमादित्यान्वयाः सर्वे राघवाः कुरवस्तथा ।
पठन्ति शुचयो नित्यं सावित्रीं प्राणिनां गतिम् ।।१५।।

चन्द्र, सूर्य, रघु और कुरुवंश में उत्पन्न हुए सभी राजा पवित्रभाव से प्रतिदिन गायत्री-मन्त्र का जप करते आये हैं । गायत्री संसार के प्राणियों की परम-गति है ।

एषा ते कथिता राजन् सावित्री ब्रह्म शाश्वती ।
विवक्षुरसि यच्चान्यत् तत्ते वक्ष्यामि भारत ।।१६।।

राजन् ! यह मैंने सनातन ब्रह्मरूपा गायत्री का माहात्म्य तुमसे कहा है । भारत ! अब और जो कुछ भी तुम पूछना चाहते हो, वह भी तुम्हें बताऊँगा ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तविंशोऽध्यायः ।।२७।।

अष्टाविंशोऽध्यायः

शिष्टाचार, धर्माधर्म के फल और साधु-असाधु के लक्षण

युधिष्ठिर उवाच

प्रत्यक्षं लोकतः सिद्धिर्लोकश्चागमपूर्वकः ।
शिष्टाचारो बहुविधस्तन्मे ब्रूहि पितामह ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! प्रत्यक्ष प्रमाण जो लोक में प्रसिद्ध है, अनुमान, आगम और भाँति-भाँति के शिष्टाचार—ये बहुत से प्रमाण उपलब्ध होते हैं । इनमें कौन-सा प्रबल है, यह बताने की कृपा कीजिए ।

भीष्म उवाच

धर्मस्य ह्रियमाणस्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः ।
संस्था यत्नैरपि कृता कालेन प्रतिभिद्यते ।।२।।

भीष्मजी बोले—पुत्र ! जब बलवान् पुरुष दुरा-

चारी होकर धर्म को हानि पहुँचाते हैं, तब साधारण मनुष्यों द्वारा प्रयत्नपूर्वक की गई रक्षा की व्यवस्था भी कुछ समय में भङ्ग हो जाती है।

अधर्मो धर्मरूपेण तृणैः कूप इवावृतः।
ततस्तैर्भिद्यते वृत्तं शृणु चैव युधिष्ठिर ॥३॥

जब घास-फूंस से ढके हुए कुएं की भाँति अधर्म ही धर्म का चोला पहनकर सामने आता है, हे युधिष्ठिर! उस अवस्था में वे दुराचारी लोग शिष्टाचार की मर्यादा तोड़ डालते हैं। तुम इस विषय को ध्यानपूर्वक सुनो!

अवृत्ता ये तु भिन्दन्ति श्रुतित्यागपरायणाः।
धर्मविद्वेषिणो मन्दा इत्युक्तस्तेषु संशयः ॥४॥

जो आचारहीन हैं, वेद-शास्त्रों का त्याग करनेवाले हैं, वे धर्मद्रोही मन्दबुद्धि मानव सज्जनों द्वारा स्थापित धर्म और आचार की मर्यादा को भङ्ग कर देते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और शिष्टाचार—इन तीनों में सन्देह बताया गया है।

अतृप्यन्तस्तु साधूनां य एवागमबुद्धयः।
परमित्येव सन्तुष्टास्तानुपास्स्व च पृच्छ च ॥५॥
कामार्थौ पृष्ठतः कृत्वा लोभमोहानुसारिणौ।
धर्म इत्येव सम्बुद्धास्तानुपास्स्व च पृच्छ च ॥६॥

ऐसी अवस्था में जो साधुसङ्ग के लिए सदा उत्कण्ठित रहते हैं, उससे कभी तृप्त नहीं होते, जिनकी बुद्धि आगम-प्रमाण को ही श्रेष्ठ मानती हो, जो सदा सन्तुष्ट रहते और लोभ तथा मोह का अनुसरण करनेवाले अर्थ और काम की उपेक्षा करके धर्म को ही उत्तम समझते हों—ऐसे महापुरुषों की सेवा में रहो और उनसे अपना सन्देह पूछो।

न तेषां भिद्यते वृत्तं यज्ञाः स्वाध्यायकर्म च।
आचारः कारणं चैव धर्मश्चैकस्त्रयं पुनः ॥७॥

उन सज्जनों के सदाचार, यज्ञ और स्वाध्याय आदि शुभ कर्मों के अनुष्ठान में कभी बाधा नहीं पड़ती। उनमें आचार, उसको बतानेवाले वेद-शास्त्र और धर्म—इन तीनों की एकरूपता होती है।

युधिष्ठिर उवाच

पुनरेव हि मे बुद्धिः संशये परिमुह्यति।
अपारे मार्गमाणस्य परं तीरमपश्यतः ॥८॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! मेरी बुद्धि संशय के अपार सागर में डूब रही है। मैं इसके पार जाना चाहता हूँ, परन्तु ढूँढने पर भी मुझे इसका कोई किनारा दिखाई नहीं देता।

वेदाः प्रत्यक्षमाचारः प्रमाणं तत्त्रयं यदि।
पृथक्त्वं लभ्यते चैषां धर्मश्चैकस्त्रयं कथम् ॥९॥

यदि प्रत्यक्ष, आगम—वेद और शिष्टाचार—ये तीनों ही प्रमाण हैं तो इनकी तो पृथक्-पृथक् उपलब्धि हो रही है और धर्म एक है, फिर ये तीनों धर्म कैसे हो सकते हैं?

भीष्म उवाच

धर्मस्य ह्रियमाणस्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः।
यद्येवं मन्यसे राजंस्त्रिधा धर्मविचारणा ॥१०॥

भीष्मजी बोले—राजन्! बलवान् दुराचारियों द्वारा जिसे हानि पहुँचाई जाती है, उस धर्म का स्वरूप यदि तुम प्रमाण-भेद से तीन प्रकार का मानते हो तो तुम्हारा यह विचार ठीक नहीं है। वास्तव में धर्म एक ही है, जिसपर तीन प्रकार से विचार किया जाता है—तीनों प्रमाणों द्वारा उसकी समीक्षा की जाती है।

एक एवेति जानीहि त्रिधा धर्मस्य दर्शनम्।
पृथक्त्वे न च मे बुद्धिस्त्रयाणामपि वै तथा ॥११॥

यह निश्चय समझो कि धर्म एक ही है। तीनों प्रमाणों द्वारा एक ही धर्म का दर्शन होता है। मैं यह नहीं मानता कि ये तीनों प्रमाण भिन्न-भिन्न धर्म का प्रतिपादन करते हैं।

उक्तो मार्गस्त्रयाणां च तत्तथैव समाचार।
जिज्ञासा न तु कर्तव्या धर्मस्य परितर्कनात् ॥१२॥

उक्त तीनों प्रमाणों द्वारा जो धर्ममय मार्ग बताया गया है, उसी पर चलते रहो। तर्क का सहारा लेकर धर्म की जिज्ञासा करना कदापि उचित नहीं है।

सदैव भरतश्रेष्ठ मा तेऽभूदत्र संशयः।
अन्धो जड इवाशंको यद् ब्रवीमि तदाचर ॥१३॥

भरतभूषण! मेरी इस बात में तुम्हें कभी सन्देह नहीं होना चाहिए। मैं जो कुछ कहता हूँ उसे अन्धों

और गूंगों की भांति बिना ननु-नच के मानकर उसके अनुसार आचरण करो।

अहिंसा सत्यमक्रोधो दानमेतच्चतुष्टयम्।
अजातशत्रो सेवस्व धर्म एष सनातनः ॥१४॥

अजातशत्रो! अहिंसा, सत्य, अक्रोध और दान—इन चारों का सदा सेवन करो। यह सनातन धर्म है।

ब्राह्मणेषु च वृत्तिर्या पितृपैतामहोचिता।
तामन्वेहि महाबाहो धर्मस्यैते हि देशिकाः ॥१५॥

महाबाहो! तुम्हारे पिता-पितामह आदि ने ब्राह्मणों के साथ जैसे व्यवहार किया है, तुम भी उसी का अनुसरण करो, क्योंकि ब्राह्मण धर्म के उपदेशक हैं।

प्रमाणमप्रमाणं वै यः कुर्यादबुधो जनः।
न स प्रमाणतामर्हो विवादजननो हि सः ॥१६॥

जो मूर्ख मनुष्य प्रमाण को भी अप्रमाण बनाता है, उसकी बात को प्रामाणिक नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह केवल विवाद करनेवाला है।

ब्राह्मणानेव सेवस्व सत्कृत्य बहुमन्य च।
एतेष्वेव त्विमे लोकाः कृत्स्ना इति निबोध तान् ॥१७॥

तुम ब्राह्मणों का विशेष आदर-सत्कार करके उनकी सेवा में लगे रहो और यह जान लो कि ये सम्पूर्ण लोक ब्राह्मणों के ही आधार पर टिके हुए हैं।

युधिष्ठिर उवाच

ये च धर्ममसूयन्ते ये चैनं पर्युपासते।
ब्रवीतु मे भवानेतत् क्व ते गच्छन्ति तादृशाः ॥१८॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! जो मनुष्य धर्म की निन्दा करते हैं और जो धर्म का आचरण करते हैं, वे किन लोकों में जाते हैं? आप इस विषय का उपदेश कीजिए।

भीष्म उवाच

रजसा तमसा चैव समवस्तीर्णचेतसः।
नरकं प्रतिपद्यन्ते धर्मविद्वेषिणो जनाः ॥१९॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! जो मनुष्य रजोगुण और तमोगुण से मलिनचित्त होने के कारण धर्म से द्रोह करते हैं, वे नरक में पड़ते हैं, दुःख भोगते हैं।

ये तु धर्मं महाराज सततं पर्युपासते।
सत्यार्जवपराः सन्तस्ते वै स्वर्गभुजो नराः ॥२०॥

महाराज! जो सत्य और सरलता में तत्पर होकर सदा धर्म का पालन करते हैं, वे लोग स्वर्गलोक को प्राप्त होते हैं, सुख पाते हैं।

धर्म एव गतिस्तेषामाचार्योपासनाद् भवेत्।
देवलोकं प्रपद्यन्ते ये धर्मं पर्युपासते ॥२१॥

आचार्य की सेवा करने से मनुष्य को केवल धर्म का ही सहारा रहता है और जो धर्म की उपासना करते हैं, वे देवलोक में जाते हैं।

मनुष्या यदि वा देवाः शरीरमुपताप्य वै।
धर्मिणः सुखमेधन्ते लोभद्वेषविवर्जिताः ॥२२॥

मनुष्य हों या देव=विद्वान्, जो शरीर को कष्ट देकर भी धर्माचरण में लगे रहते हैं तथा लोभ एवं द्वेष को त्याग देते हैं, वे सुखी होते हैं।

युधिष्ठिर उवाच

असतां कीदृशं रूपं साधवः किं च कुर्वते।
ब्रवीतु मे भवानेतत् सन्तोऽसन्तश्च कीदृशाः ॥२३॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! असाधु पुरुषों का रूप कैसा होता है? साधु पुरुष कौन-सा कर्म करते हैं? साधु और असाधु कैसे होते हैं? मुझे इस तत्त्व का उपदेश कीजिए।

भीष्म उवाच

दुराचाराश्च दुर्धर्षा दुर्मुखाश्चाप्यसाधवः।
साधवः शीलसम्पन्नाः शिष्टाचारस्य लक्षणम् ॥२४॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! असाधु अथवा दुष्ट मनुष्य दुराचारी, उद्दण्ड और कटु वचन बोलनेवाले होते हैं और साधु=सज्जन पुरुष सुशील होते हैं। अब शिष्टाचार का लक्षण बताया जाता है।

अतिथीनां च सर्वेषां प्रेष्याणां स्वजनस्य च।
तथा शरणकामानां गोप्ता स्यात्स्वागतप्रदः ॥२५॥

सत्पुरुष को चाहिए कि वह सभी अतिथियों, सेवकों, स्वजनों तथा शरणार्थियों का रक्षक तथा स्वागत-सत्कार करनेवाला बने।

वृद्धान् नाभिभवेज्जातु न चैतान् प्रेषयेदिति।
नासीनः स्यात् स्थितेष्वेवमायुरस्य न रिष्यते ॥२६

वृद्ध पुरुषों का कभी तिरस्कार न करे। उन्हें किसी कार्य के लिए न भेजे और यदि वे खड़े हों तो

स्वयं बैठा न रहे। ऐसा करने से उस मनुष्य की आयु क्षीण नहीं होती।

सायं प्रातश्च वृद्धानां शृणुयात् पुष्कला गिरः।
श्रुतमाप्नोति हि नरः सततं वृद्धसेवया ॥२७॥

सायं और प्रातः वृद्ध पुरुषों की कही हुई बातें खूब सुननी चाहिएँ। सदा वृद्ध पुरुषों की सेवा से मनुष्य को शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त होता है।

न जातु त्वमिति ब्रूयादापन्नोऽपि महत्तरम्।
त्वंकारो वा वधो वेति विद्वत्सु न विशिष्यते ॥२७॥

भीषण संकट आ पड़ने पर भी किसी श्रेष्ठ पुरुष को 'तू' नहीं कहना चाहिए। किसी को तू कहकर पुकारना अथवा उसका वध कर डालना—इन दोनों में विद्वान् पुरुष कोई भेद नहीं समझते।

अवराणां समानानां शिष्याणां च समाचरेत्।
पापमाचक्षते नित्यं हृदयं पापकर्मिणः ॥२६॥

जो अपने बराबर के हों, अपने से छोटे हों अथवा शिष्य हों उनको तू कहने में कोई हर्ज नहीं है। पाप-कर्मी मनुष्य का हृदय ही उसके पाप को प्रकट कर देता है।

ज्ञानपूर्वं कृतं कर्म च्छादयन्ते ह्यसाधवः।
ज्ञानपूर्वं विनश्यन्ति गूहमाना महाजने ॥३०॥

दुष्ट मनुष्य जान-बूझकर किये हुए पापकर्मों को भी दूसरे से छिपाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु महापुरुषों के समक्ष अपने किये हुए पापों को गुप्त रखने के कारण वे नष्ट हो जाते हैं।

तस्मात् पापं न गूहेत गूहमानं विवर्धते।
कृत्वा तत् साधुष्वाख्येयं ते तत् प्रशमयन्त्युत ॥३१॥

अतः अपने पाप को छिपाना नहीं चाहिए। छिपाया हुआ पाप बढ़ता है। यदि कभी कोई पाप हो गया हो तो उसे श्रेष्ठ पुरुषों के सामने कह देना चाहिए। वे उसकी शान्ति कर देते हैं।

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि धर्ममेव समासते ॥३२॥

मनीषी लोग धर्म को समस्त प्राणियों का हृदय कहते हैं, अतः सभी प्राणियों को धर्म का ही आश्रय लेना चाहिए।

एक एव चरेद् धर्मं न धर्मध्वजिको भवेत्।
धर्मवाणिजका ह्येते ये धर्ममुपभुञ्जते ॥३३॥

मनुष्य को चाहिए कि वह अकेला ही धर्म का आचरण करे। धर्मध्वजी [धर्म का दिखावा करनेवाला] न बने। जो धर्म को जीविका का साधन बनाते हैं, वे धर्म के व्यवसायी हैं।

अर्चेद् देवानदम्भेन सेवेतामायया गुरून्।
निधिं निदध्यात् पारत्र्यं यात्रार्थं दानशब्दितम् ॥३४॥

दम्भ का परित्याग करके विद्वानों का सत्कार करे। छल-कपट छोड़कर गुरुजनों की सेवा करे और परलोक की यात्रा के लिए दान नामक निधि का संग्रह करे अर्थात् पारलौकिक कल्याण के लिए मुक्त-हस्त होकर दान करे।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

भीष्मजी द्वारा भाग्य की प्रधानता का खण्डन

युधिष्ठिर उवाच

नाभागधेयं प्राप्नोति धनं सुबलवानपि।
भागधेयान्वितस्त्वर्थान् कृशो बालश्च विन्दति ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! भाग्यहीन मनुष्य बलवान् हो, तो भी उसे धन नहीं मिलता और जो भाग्यवान् है, वह बालक और दुर्बल होने पर भी बहुत-सा धन प्राप्त कर लेता है।

नालाभकाले लभते प्रयत्नेऽपि कृते सति।
लाभकालेऽप्रयत्नेन लभते विपुलं धनम् ॥२॥

जबतक धन-प्राप्ति का समय नहीं आ जाता तबतक पुरुषार्थ करने पर भी कुछ हाथ नहीं लगता, परन्तु लाभ का समय आने पर मनुष्य बिना यत्न के भी बहुत बड़ी सम्पत्ति पा लेता है।

कृतयत्नाफलाश्चैव दृश्यन्ते शतशो नराः।
अयत्नेनैधमानाश्च दृश्यन्ते बहवो जनाः ॥३॥

ऐसे सैकड़ों मनुष्य देखे जाते हैं, जिन्हें धन की

प्राप्ति के लिए यत्न करने पर भी सफलता नहीं मिलती और बहुत-से ऐसे मनुष्य भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिनका धन अनायास ही दिनों-दिन बढ़ रहा है।

यदि यत्नो भवेन्मर्त्यः स सर्वं फलमाप्नुयात्।
नालभ्यं चोपलभ्येत नृणां भरतसत्तम ॥४॥

भरतश्रेष्ठ! यदि प्रयत्न करने पर सफलता मिलनी अनिवार्य होती तो मनुष्य सम्पूर्ण फल प्राप्त कर लेता, परन्तु जो वस्तु प्रारब्धवश मनुष्य के लिए अलभ्य है, वह उद्योग करने पर भी नहीं मिल सकती।

प्रयत्नं कृतवन्तोऽपि दृश्यन्ते ह्यफला नराः।
मार्गन्नयशतैरर्थानमार्गंश्चापरः सुखी ॥५॥

प्रयत्न करनेवाले मनुष्य भी असफल होते हुए दिखाई देते हैं। कोई सैकड़ों नीति-वचनों के सहारे धन की खोज करता है और कोई कुमार्ग पर चलकर भी धन की दृष्टि से सुखी देखा जाता है।

अकार्यमसकृत् कृत्वा दृश्यन्ते ह्यधना नराः।
धनयुक्ताः स्वकर्मस्था दृश्यन्ते चापरेऽधनाः ॥६॥

कितने ही मनुष्य अनेक बार कुकर्म करके भी निर्धन ही देखे जाते हैं। कितने ही अपने धर्मानुकूल कर्तव्य का पालन करके धनवान् हो जाते हैं और कितने ही निर्धन रह जाते हैं।

अधीत्य नीतिशास्त्राणि नीतियुक्तो न दृश्यते।
अनभिज्ञश्च साचिव्यं गमितः केन हेतुना ॥७॥

कुछ लोग नीतिशास्त्र का अध्ययन करके भी नीतिमान् दिखाई नहीं देते और कोई नीति से अनभिज्ञ होने पर भी मन्त्री के पद पर पहुँच जाता है। इसका क्या कारण है?

विद्यायुक्तो ह्यविद्यश्च धनवान् दुर्मतिस्तथा।
यदि विद्यामुपाश्रित्य नरो हि सुखमाप्नुयात्।
न विद्वान् विद्यया हीनं वृत्त्यर्थमुपसंश्रयेत् ॥८॥

कभी-कभी विद्वान् और मूर्ख दोनों एक-जैसे धनी दिखाई देते हैं। कभी-कभी खोटी बुद्धिवाले मनुष्य धनवान् हो जाते हैं [और उत्तम बुद्धिवाले को थोड़ा-सा भी धन नहीं मिलता]। यदि विद्या पढ़कर मनुष्य अवश्य ही सुख पा लेता तो विद्वान् को जीविका के लिए किसी मूर्ख धनी का आश्रय न लेना पड़ता।

यथा पिपासां जयति पुरुषः प्राप्य वै जलम्।
दृष्टार्थो विद्यया ह्येव न विद्यां प्रजहेन्नरः ॥९॥

जैसे पानी पीने से मनुष्य की प्यास अवश्य बुझ जाती है, वैसे ही यदि विद्या से अभीष्ट वस्तु की सिद्धि होती तो कोई भी मनुष्य विद्या की उपेक्षा न करता।

नाप्राप्तकालो म्रियते विद्धः शरशतैरपि।
तृणाग्रेणापि संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥१०॥

जिसकी मृत्यु का समय न आया हो वह सैकड़ों बाणों से बिंधकर भी नहीं मरता, परन्तु जिसका काल आ पहुँचा हो वह तिनके के अग्रभाग से छू जाने पर भी प्राणों का परित्याग कर देता है।

भीष्म उवाच

ईहमानः समारम्भान् यदि नासादयेद् धनम्।
उग्रं तपः समारोहेन्न ह्यनुप्तं प्ररोहति ॥११॥

भीष्मजी ने कहा—तात! यदि नाना प्रकार की चेष्टा और अनेक उद्योग करने पर भी मनुष्य धन न पा सके तो उसे उग्र तपस्या करनी चाहिए, क्योंकि बीज बोये बिना अंकुर पैदा नहीं होता।

दानेन भोगी भवति मेधावी वृद्धसेवया। □
अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः ॥१२॥

मनुष्य दान देने से उपभोग की वस्तुएँ पाता है, वृद्धों की सेवा से उत्तम बुद्धि की प्राप्ति होती है और अहिंसाधर्म के पालन से दीर्घायु प्राप्त होती है—ऐसा मनीषी लोग कहते हैं।

तस्माद् दद्यान्न याचेत पूजयेद् धार्मिकानपि।
सुभाषी प्रियकृच्छान्तः सर्वसत्त्वाविहिंसकः ॥१३॥

अतः स्वयं दान दे, दूसरों से याचना न करे। धर्मात्माओं का आदर करे, उत्तम वचन बोले, सबका भला करे, शान्तभाव से रहे और किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।

यदा प्रमाणं प्रसवः स्वभावश्च सुखासुखे।
दंशकीटपिपीलानां स्थिरो भव युधिष्ठिर ॥१४॥

युधिष्ठिर! डाँस, कीड़े और चींटी आदि जीवों को उन-उन योनियों में उत्पन्न करके उन्हें सुख-दुःख की प्राप्ति कराने में उनका अपने किये हुए कर्मानुसार बना हुआ स्वभाव ही कारण है। यह सोचकर स्थिर हो जाओ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥२९॥

त्रिंशोऽध्यायः

धर्मानुष्ठान की आवश्यकता

भीष्म उवाच

कार्यते यच्च क्रियते सच्चासच्च कृताकृतम् ।
तत्राश्वसीत सत्कृत्वा असत्कृत्वा न विश्वसेत् ।।१।।

भीष्मजी ने कहा—हे तात ! मनुष्य शुभ और अशुभ कर्म करता या करवाता है, उन दोनों प्रकार के कर्मों में से शुभकर्म का अनुष्ठान करके उसे यह विश्वास करना चाहिए कि इस कर्म का उत्तम फल ही मुझे मिलेगा, परन्तु अशुभ कर्म करके उसे शुभ-फलप्राप्ति की आशा नहीं करनी चाहिए ।

काल एव सर्वकाले निग्रहानुग्रहौ ददत् ।
बुद्धिमाविश्य भूतानां धर्माधर्मौ प्रवर्तते ।।२।।

काल ही सदा निग्रह और अनुग्रह करता हुआ प्राणियों की बुद्धि में प्रविष्ट हो धर्म और अधर्म का फल देता रहता है ।

यदा त्वस्य भवेद् बुद्धिर्धर्मार्थस्य प्रदर्शनात् ।
तदाश्वसीत धर्मात्मा दृढबुद्धिर्न विश्वसेत् ।।३।।

जब धर्म का फल देखकर मनुष्य की बुद्धि में धर्म की श्रेष्ठता का निश्चय हो जाता है, तभी उसका धर्म के प्रति विश्वास बढ़ता है और तभी उसका मन धर्म में लगता है । जबतक मनुष्य की बुद्धि धर्म में दृढ़ नहीं होती तबतक कोई उसपर विश्वास नहीं करता ।

एतावन्मात्रमेतद्धि भूतानां प्राज्ञलक्षणम् ।
कालयुक्तोऽप्युभयविच्छेषं युक्तं समाचरेत् ।।४।।

प्राणियों की बुद्धिमत्ता की यही पहचान है कि वे धर्म के फल में विश्वास करके उसके आचरण में लग जाएँ । जिसे कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान है उसे प्रारब्ध के प्रतिकूल होने पर भी यथायोग्य धर्म का ही आचरण करना चाहिए ।

यथा ह्युपस्थितैश्वर्याः प्रजायन्ते न राजसाः ।
एवमेवात्मनाऽऽत्मानं पूजयन्तीह धार्मिकाः ।।५।।

जो अतुल ऐश्वर्य के स्वामी हैं, वे यह सोचकर कि कहीं रजोगुणी होकर पुनः जन्म-मृत्यु के चक्कर में न पड़ जाएँ, धर्म का अनुष्ठान करते हैं और इस प्रकार अपने ही प्रयत्न से आत्मा को महत् पद की प्राप्ति कराते हैं ।

न ह्यधर्मतयाधर्मं दद्यात् कालः कथञ्चन ।
तस्माद् विशुद्धमात्मानं जानीयाद् धर्मचारिणम् ।।६।।

काल किसी प्रकार धर्म को अधर्म नहीं बना सकता अर्थात् धार्मिक को दुःख नहीं दे सकता, अतः धर्माचरण करनेवाले मनुष्य को विशुद्धात्मा ही समझना चाहिए ।

स्प्रष्टुमप्यसमर्थो हि ज्वलन्तमिव पावकम् ।
अधर्मः सन्ततो धर्मं कालेन परिरक्षितम् ।।७।।

धर्म का स्वरूप प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी है, काल उसकी सब ओर से रक्षा करता है, अतः अधर्म में इतनी शक्ति नहीं है कि वह फैलकर धर्म को छू भी सके ।

कार्यावितौ हि धर्मेण धर्मो हि विजयावहः ।
त्रयाणामपि लोकानामालोकः कारणं भवेत् ।।८।।

विशुद्धता और पाप के स्पर्श का अभाव—ये दोनों धर्म के कार्य हैं । धर्म विजय की प्राप्ति करानेवाला और तीनों लोकों में प्रकाश फैलानेवाला है । धर्म ही इस लोक की रक्षा का कारण है ।

न तु कश्चिन्नयेत् प्राज्ञो गृहीत्वैव करे नरम् ।
उच्यमानस्तु धर्मेण धर्मलोकभयच्छले ।।९।।

परन्तु कोई कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, वह किसी मनुष्य का हाथ पकड़कर उसे बलपूर्वक धर्म में नहीं लगा सकता, किन्तु न्यायानुसार धर्मभय तथा लोकभय का बहाना लेकर किसी पुरुष को धर्माचरण के लिए प्रेरित कर सकता है ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ।।३०।।

एकत्रिंशोऽध्यायः

भीष्म की आज्ञा से युधिष्ठिर का सपरिवार हस्तिनापुर लौटना

जनमेजय उवाच

शरतल्पगते भीष्मे पाण्डवैः समुपस्थितैः ।
युधिष्ठिरो महाप्राज्ञो मम पूर्वपितामहः ॥१॥
धर्माणामागमं श्रुत्वा विदित्वा सर्वसंशयान् ।
यदन्यदकरोद् विप्र तन्मे शंसितुमर्हसि ॥२॥

जनमेजय ने पूछा—विप्रवर ! भीष्मजी के बाण-शय्या पर लेट जाने पर और पाण्डवों के उनकी सेवा में उपस्थित रहने पर, मेरे पूर्वपितामह महाज्ञानी राजा युधिष्ठिर ने उनके मुख से धर्मों का उपदेश सुनकर तथा अपने समस्त संशयों का समाधान हो जाने पर, जो और कोई कार्य किया हो, उसे मुझे बताने की कृपा करें ।

वैशम्पायन उवाच

अभून्मुहूर्तं स्तिमितं सर्वं तद्राजमण्डलम् ।
तूष्णींभूते ततस्तस्मिन् पटे चित्रमिवार्पितम् ॥३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! सब धर्मों का उपदेश करके जब भीष्मजी चुप हो गये, तब दो घड़ी तक सारा राजमण्डल पट पर अंकित किये हुए चित्र के समान स्तब्ध-सा हो गया ।

मुहूर्तमिव च ध्यात्वा व्यासः सत्यवतीसुतः ।
नृपं शयानं गाङ्गेयमिदमाह वचस्तदा ॥४॥

तब दो घड़ी तक ध्यान करने के पश्चात् सत्यवती-नन्दन व्यासजी ने वहाँ सोये हुए गङ्गानन्दन महाराज भीष्मजी से इस प्रकार कहा—

राजन् प्रकृतिमापन्नः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः पार्थिवैश्चानुयायिभिः ॥५॥
उपास्ते त्वां नरव्याघ्र सह कृष्णेन धीमता ।
तमिमं पुरयानाय समनुज्ञातुमर्हसि ॥६॥

"राजन् ! नरश्रेष्ठ ! अब कुरुराज युधिष्ठिर प्रकृतिस्थ [शान्त और सन्देहरहित] हो चुके हैं और अपना अनुसरण करनेवाले सभी भाइयों, राजाओं तथा बुद्धिमान् श्रीकृष्ण के साथ आपकी सेवा में उपस्थित हैं । अब आप इन्हें हस्तिनापुर में जाने की आज्ञा दीजिए ।"

एवमुक्तो भगवता व्यासेन पृथिवीपतिः ।
युधिष्ठिरं सहामात्यमनुजज्ञे नदीसुतः ॥७॥

भगवान् व्यास के ऐसा कहने पर पृथिवीपालक गङ्गानन्दन भीष्मजी ने मन्त्रियोंसहित राजा युधिष्ठिर को जाने की आज्ञा प्रदान की ।

उवाच चैनं मधुरं नृपं शान्तनवो नृपः ।
प्रविशस्व पुरीं राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥८॥

उस समय शान्तनुकुमार भीष्म ने मधुरवाणी में राजा युधिष्ठिर से कहा—"राजन् ! अब तुम पुरी में प्रवेश करो । अब तुम्हारे मन की सारी व्यथा दूर हो जानी चाहिए ।

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्बह्वन्नैः स्वाप्तदक्षिणैः ।
ययातिरिव राजेन्द्र श्रद्धादमपुरःसरः ॥९॥

"हे राजेन्द्र ! तुम महाराज ययाति की भाँति श्रद्धा और इन्द्रिय-संयमपूर्वक बहुत-से अन्न और पर्याप्त दक्षिणाओं से युक्त भाँति-भाँति के यज्ञों का अनुष्ठान करो ।

रञ्जयस्व प्रजाः सर्वाः प्रकृतीः परिसान्त्वय ।
सुहृदः फलसत्कारैरर्चयस्व यथार्हतः ॥१०॥

"समस्त प्रजाओं को प्रसन्न रखो । मन्त्री आदि प्रकृतियों को सान्त्वना प्रदान करो । सुहृदों का फल और सत्कारों द्वारा यथायोग्य सम्मान करते रहो ।

अनु त्वां तात जीवन्तु मित्राणि सुहृदस्तथा ।
चैत्यस्थाने स्थितं वृक्षं फलवन्तमिव द्विजाः ॥११॥

"तात ! जैसे मन्दिर के आस-पास के फले हुए वृक्ष पर बहुत-से पक्षी आकर आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे मित्र और हितैषी तुम्हारे आश्रय में रहकर जीवन-निर्वाह करें ।

आगन्तव्यं च भवता समये मम पार्थिव ।
विनिवृत्ते दिनकरे प्रवृत्ते चोत्तरायणे ॥१२॥

"भूपाल ! जब सूर्य दक्षिणायन से निवृत्त होकर उत्तरायण पर आ जाए, उस समय तुम फिर मेरे पास आना ।"

तथेत्युक्त्वा च कौन्तेयः सोऽभिवाद्य पितामहम् ।
प्रययौ सपरीवारो नगरं नागसाह्वयम् ।।१३।।

तब 'बहुत-अच्छा' कहकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर पितामह को चरणस्पर्शपूर्वक प्रणाम करके परिवार-सहित हस्तिनापुर की ओर चल दिये।

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गान्धारीं च पतिव्रताम् ।
सह तैर्ऋषिभिः सर्वैर्भ्रातृभिः केशवेन च ।।१४।।
पौरजानपदैश्चैव मन्त्रिवृद्धैश्च पार्थिव ।
प्रविवेश कुरुश्रेष्ठः पुरं वारणसाह्वयम् ।।१५।।

राजन् ! कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर ने राजा धृतराष्ट्र और पतिव्रता गान्धारी देवी को आगे करके समस्त ऋषियों, भाइयों, श्रीकृष्ण, नगर और जनपद के लोगों तथा बड़े-बूढ़े मन्त्रियों के साथ हस्तिनापुर में प्रवेश किया।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि एकत्रिंशोऽध्यायः ।।३१।।

द्वात्रिंशोऽध्यायः

भीष्मजी का धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर को कर्तव्य का उपदेश

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्तीसुतो राजा पौरजानपदं जनम् ।
पूजयित्वा यथान्यायमनुजज्ञे गृहान् प्रति ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! हस्तिनापुर में प्रविष्ट होने के पश्चात् कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने नगर और जनपद के लोगों का यथोचित सम्मान करके उन्हें अपने-अपने घर जाने की आज्ञा दी।

सान्त्वयामास नारीश्च हतवीरा हतेश्वराः ।
विपुलैरर्थदानैः स तदा पाण्डुसुतो नृपः ।।२।।

तत्पश्चात् जिन स्त्रियों के पति और वीर पुत्र युद्ध में मारे गये थे, उन सबको बहुत-सा धन देकर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर ने धैर्य बँधाया।

सोऽभिषिक्तो महाप्राज्ञः प्राप्य राज्यं युधिष्ठिरः ।
अवस्थाप्य नरश्रेष्ठः सर्वाः स्वप्रकृतीस्तथा ।।३।।
द्विजेभ्यो गुणमुख्येभ्यो नैगमेभ्यश्च सर्वशः ।
प्रतिगृह्याशिषो मुख्यास्तदा धर्मभृतां वरः ।।४।।

महाज्ञानी और धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ने राज्याभिषेक हो जाने के पश्चात् अपना राज्य पाकर मन्त्री आदि समस्त प्रकृतियों को अपने-अपने पद पर स्थापित करके वेदवेत्ता एवं गुणवान् ब्राह्मणों से उत्तम आशीर्वाद ग्रहण किया।

उषित्वा शर्वरीः श्रीमान् पञ्चाशन्नगरोत्तमे ।
समयं कौरवाग्र्यस्य सस्मार पुरुषर्षभः ।।५।।

पचास रात्रि तक उस उत्तम नगर में निवास करके श्रीमान् पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिर को कुरुकुल-शिरोमणि भीष्मजी के बताये हुए समय का ध्यान हो आया।

स निर्ययौ गजपुराद् याजकैः परिवारितः ।
दृष्ट्वा निवृत्तमादित्यं प्रवृत्तं चोत्तरायणम् ।।६।।

वे यह देखकर कि सूर्य दक्षिणायन से निवृत्त होकर उत्तरायण पर आ गया है, याजकों से घिरकर हस्तिनापुर से बाहर निकले।

घृतं माल्यं च गन्धांश्च क्षौमानि च युधिष्ठिरः ।
प्रस्थाप्य पूर्वं कौन्तेयो भीष्मसंस्करणाय वै ।।७।।

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने भीष्मजी का दाह-संस्कार करने के लिए पहले ही घृत, माल्य, गन्ध और रेशमी वस्त्र आदि भेज दिये थे।

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गान्धारीं च यशस्विनीम् ।
मातरं च पृथां धीमान् भ्रातॄंश्च पुरुषर्षभान् ।।८।।
जनार्दनेनानुगतो विदुरेण च धीमता ।
युयुत्सुना च कौरव्यो युयुधानेन वा विभो ।।९।।

विभो ! कुरुकुलनन्दन बुद्धिमान् युधिष्ठिर राजा धृतराष्ट्र, यशस्विनी गान्धारी, माता कुन्ती तथा पुरुषश्रेष्ठ भाइयों को आगे करके और जनार्दन श्रीकृष्ण, बुद्धिमान् विदुर, युयुत्सु तथा सात्यकि को पीछे रखकर चल रहे थे।

महता राजभोगेन पारिबर्हेण संवृतः ।
स्तूयमानो महातेजा भीष्मस्याग्नीननुव्रजन् ।।१०।।

वे महातेजस्वी नरेश विशाल राजोचित उपकरण और वैभव के भारी ठाठ-बाट से सम्पन्न थे। उनकी

स्तुति की जा रही थी और वे भीष्मजी के द्वारा स्थापित की हुई त्रिविध अग्नियों को आगे रखकर स्वयं पीछे-पीछे चल रहे थे ।

निश्चक्राम पुरात् तस्माद् यथा देवपतिस्तथा ।
आससाद कुरुक्षेत्रे ततः शान्तनवं नृपम् ॥११॥

वे देवराज इन्द्र की भाँति अपनी राजधानी से बाहर निकले और यथासमय कुरुक्षेत्र में शान्तनुनन्दन भीष्मजी के पास जा पहुंचे ।

उपास्यमानं व्यासेन पाराशर्येण धीमता ।
नारदेन च राजर्षे देवलेनासितेन च ॥१२॥

राजर्षे ! उस समय वहाँ पराशरकुमार बुद्धिमान् व्यास, देवर्षि नारद और असित देवल ऋषि उनके पास विराजमान थे ।

शयानं वीरशयने ददर्श नृपतिस्ततः ।
ततो रथादवतीर्य भ्रातृभिः सह धर्मराट् ॥१३॥

धर्मराज महाराज युधिष्ठिर दूर से ही शरशय्या पर लेटे हुए भीष्मजी को देखकर भाइयोंसहित रथ से उतर पड़े ।

अभिवाद्याथ कौन्तेयः पितामहमरिंदम ।
द्वैपायनादीन् विप्रांश्च तैश्च प्रत्यभिनन्दितः ॥१४॥

शत्रुदमन राजन् ! कुन्तीपुत्र ने सबसे पहले पितामह को चरणस्पर्शपूर्वक नमस्कार किया । तत्पश्चात् व्यास आदि ब्राह्मणों को प्रणाम किया । फिर उन सबने भी उनका अभिनन्दन किया ।

अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सह कौरव्यः शयानं निम्नगासुतम् ॥१५॥

युधिष्ठिर बाणशय्या पर लेटे हुए भरतभूषण गंगापुत्र भीष्मजी से भाइयोंसहित इस प्रकार बोले—

युधिष्ठिरोऽहं नृपते नमस्ते जाह्नवीसुत ।
शृणोषि चेन्महाबाहो ब्रूहि किं करवाणि ते ॥१६॥

"गङ्गानन्दन ! नरेश्वर ! महाबाहो ! मैं युधिष्ठिर आपकी सेवा में उपस्थित हूँ और आपको नमस्कार करता हूँ । यदि आपको मेरी बात सुनाई देती हो तो आज्ञा कीजिए, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?

प्राप्तोऽस्मि समये राजन्नग्नीनादाय ते विभो ।
आचार्यान् ब्राह्मणांश्चैव ऋत्विजो भ्रातरश्च मे ॥१७॥

"राजन ! प्रभो ! आपकी अग्नियों और आचार्यों, ब्राह्मणों तथा ऋत्विजों को साथ लेकर मैं अपने भाइयोंसहित ठीक समय पर आ गया हूँ ।

पुत्रश्च ते महातेजा धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
उपस्थितः सहामात्यो वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥१८॥

"आपके पुत्र महातेजस्वी राजा धृतराष्ट्र भी अपने मन्त्रियोंसहित उपस्थित हैं और महाबली श्रीकृष्ण भी यहाँ पधारे हुए हैं ।

हतशिष्टाश्च राजानः सर्वे च कुरुजांगलाः ।
तान् पश्य नरशार्दूल समुन्मीलय लोचने ॥१९॥

"पुरुषसिंह ! युद्ध में मरने से बचे हुए सभी राजा और कुरुजाङ्गल देश की प्रजा भी यहाँ उपस्थित है । आप आँखें खोलिए और इन सबको देखिए ।

यच्चेह किंचित् कर्तव्यं तत्सर्वं प्रापितं मया ।
यथोक्तं भवता काले सर्वमेव च तत् कृतम् ॥२०॥

"आपके आदेशानुसार इस समय के लिए जो कुछ एकत्र करना आवश्यक था, वह सब संग्रहीत कर मैंने यहाँ पहुँचा दिया है । सभी उपयोगी वस्तुओं का प्रबन्ध कर दिया गया है ।"

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयः कुन्तीपुत्रेण धीमता ।
ददर्श भारतान् सर्वान् स्थितान् सम्परिवार्य ह ॥२१॥

जनमेजय ! महाबुद्धिमान् कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर गङ्गानन्दन भीष्म ने आँखें खोलकर अपने को सब ओर से घेरकर खड़े हुए सम्पूर्ण भरतवंशियों को देखा ।

ततश्च तं बली भीष्मः प्रगृह्य विपुलं भुजम् ।
उद्यन्मेघस्वरो वाग्मी काले वचनमब्रवीत् ॥२२॥

तत्पश्चात् प्रवचनकुशल बलवान् भीष्मजी ने युधिष्ठिर की विशाल भुजा हाथ में लेकर मेघ के समान गम्भीर वाणी में यह समयोचित वचन कहा—

दिष्ट्या प्राप्तोऽसि कौन्तेय सहामात्यो युधिष्ठिर ।
परिवृत्तो हि भगवान् सहस्रांशुर्दिवाकरः ॥२३

"कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ! सौभाग्य की बात है कि तुम मन्त्रियोंसहित यहाँ आ गये । सहस्रों रश्मियों से सुशोभित सूर्य अब दक्षिणायन से उत्तरायण की ओर लौट चुका है ।

अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः शयानस्याद्य मे गताः ।
शरेषु निशिताग्रेषु यथा वर्षशतं तथा ॥२४॥

"इन तीखे अग्रभागवाले बाणों की शय्या पर शयन करते हुए आज मुझे अट्ठावन दिन हो गये, परन्तु ये दिन मेरे लिए सौ वर्षों के समान बीते हैं।

माघोऽयं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर।
त्रिभागशेषं पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति ।।२५।।

"युधिष्ठिर! इस समय चन्द्रमास के अनुसार माघ का महीना प्राप्त हुआ है। इसका यह शुक्लपक्ष चल रहा है, जिसका एक भाग बीत चुका है और तीन भाग शेष हैं।"

एवमुक्त्वा तु गाङ्गेयो धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्।
धृतराष्ट्रमथामन्त्र्य काले वचनमब्रवीत् ।।२६।।

धर्मपुत्र युधिष्ठिर से ऐसा कहकर गङ्गानन्दन भीष्म ने धृतराष्ट्र को पुकारकर उनसे यह समयोचित वचन कहा—

भीष्म उवाच

राजन् विदितधर्मोऽसि सुनिर्णीतार्थसंशयः।
बहुश्रुता हि ते विप्रा बहवः पर्युपासिताः ।।२७।।

भीष्मजी ने कहा—राजन्! तुम धर्म को भली-भाँति जानते हो। तुमने अर्थतत्त्व का भी ठीक प्रकार निर्णय कर लिया है। अब तुम्हारे मन में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, क्योंकि तुमने अनेक शास्त्रों का ज्ञान रखनेवाले बहुत-से विद्वान् ब्राह्मणों की सेवा की है, उनके सत्सङ्ग से लाभ उठाया है।

वेदशास्त्राणि सर्वाणि निखिलेनानुबुद्ध्यसे।
न शोचितव्यं कौरव्य भवितव्यं हि तत् तथा ।।२८।।

कुरुनन्दन! तुम वेदशास्त्रों को पूर्णरूप से जानते और समझते हो। तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए। जो कुछ हुआ है, वह अवश्यम्भावी था।

यथा पाण्डोः सुता राजंस्तथैव तव धर्मतः।
तान् पालय स्थितो धर्मे गुरुशुश्रूषणे रतान् ।।२९।।

ये पाण्डव जैसे राजा पाण्डु के पुत्र हैं, वैसे ही धर्म की दृष्टि से तुम्हारे भी पुत्र हैं। ये सदा गुरुजनों की सेवा में संलग्न रहते हैं। तुम धर्म में स्थित रहकर अपने पुत्रों के समान ही इनका पालन करना।

धर्मराजो हि शुद्धात्मा निदेशे स्थास्यते तव।
आनृशंस्यपरं ह्येनं जानामि गुरुवत्सलम् ।।३०।।

धर्मराज युधिष्ठिर का हृदय अति शुद्ध है। ये सदा तुम्हारी आज्ञा के अधीन रहेंगे। मैं जानता हूँ, इनका स्वभाव अत्यन्त कोमल है और ये गुरुजनों के प्रति बड़ी भक्ति रखते हैं।

तव पुत्रा दुरात्मानः क्रोधलोभपरायणाः।
ईर्ष्याभिभूता दुर्वृत्तास्तान् न शोचितुमर्हसि ।।३१।।

तुम्हारे पुत्र बड़े दुरात्मा, क्रोधी, लोभी, ईर्ष्या के वशीभूत और दुराचारी थे, अतः उनके लिए तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनं धृतराष्ट्रं मनीषिणम्।
वासुदेवं महाबाहुमभ्यभाषत कौरवः ।।३२।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मनीषी धृतराष्ट्र से ऐसा वचन कहकर कुरुवंशी भीष्म ने महाबाहु श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहा—

भीष्म उवाच

अनुजानीहि मां कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम।
पाण्डवा रक्षणीयास्ते भवान् येषां परायणम् ।।३३।।

श्रीकृष्ण! वैकुण्ठ! पुरुषोत्तम! अब मुझे जाने की आज्ञा प्रदान कीजिए। आप ही जिनके परमाश्रय हैं, उन पाण्डवों की सदा रक्षा करना।

उक्तवानस्मि दुर्बुद्धिं मन्दं दुर्योधनं सदा।
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः ।।३४।।
वासुदेवेन तीर्थेन पुत्र संशाम्य पाण्डवैः।
सन्धानस्य परः कालस्तवेति च पुनः पुनः ।।३५।।
न च मे तद् वचो मूढः कृतवान् स सुमन्दधीः।
घातयित्वेह पृथिवीं ततः स निधनं गतः ।।३६।।

मैंने दुर्बुद्धि एवं मूर्ख दुर्योधन से कहा था—'जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है, और जहाँ धर्म है, उसी पक्ष की जय होगी, अतः बेटा दुर्योधन! श्रीकृष्ण की सहायता से पाण्डवों के साथ सन्धि कर लो। यह सन्धि के लिए उत्तम अवसर है।' इस प्रकार बार-बार कहने पर भी उस मन्दबुद्धि मूढ ने मेरी वह बात नहीं मानी, परिणामस्वरूप सारी पृथिवी के वीरों का नाश कराकर अन्त में वह स्वयं भी काल के गाल में चला गया।

वासुदेव उवाच

अनुजानामि भीष्म त्वां वसून् प्राप्नुहि पार्थिव।
न तेऽस्ति वृजिनं किञ्चिदिहलोके महाद्युते ।।३७।।

श्रीकृष्ण बोले—पृथिवीपालक महातेजस्वी भीष्म ! मैं आपको आज्ञा देता हूँ। आप वसुलोक को जाइए। इस लोक में आपके द्वारा अणुमात्र भी पाप नहीं हुआ है।

पितृभक्तोऽसि राजर्षे मार्कण्डेय इवापरः।
तेन तव वशे मृत्युः स्थितो भृत्य इवानतः ॥३८॥

राजर्षे ! आप दूसरे मार्कण्डेय के समान पितृ-भक्त हैं, अतः मृत्यु विनीत दासी के समान आपके वश में हो गई है।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयः पाण्डवानिदमब्रवीत्।
धृतराष्ट्रमुखाँश्चापि सर्वांश्च सुहृदस्तथा ॥३९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर गङ्गानन्दन भीष्म ने पाण्डवों तथा धृतराष्ट्र आदि सभी सुहृदों से कहा—

प्राणानुत्स्रष्टुमिच्छामि तत्रानुज्ञातुमर्हथ।
सत्येषु यतितव्यं वः सत्यं हि परमं बलम् ॥४०॥

"अब मैं प्राणों का परित्याग करना चाहता हूँ। तुम सब लोग इसके लिए मुझे आज्ञा दो। तुम्हें सदा सत्यधर्म के पालन का प्रयत्न करते रहना चाहिए, क्योंकि सत्य ही सबसे बड़ा बल है।

आनृशंस्यपरैर्भाव्यं सदैव नियतात्मभिः।
ब्राह्मणैर्धर्मशीलैश्च तपोनित्यैश्च भारताः ॥४१॥

"भरतवंशियो ! तुम लोगों को सबके साथ कोमलता का बर्ताव करना चाहिए। तुम्हें सदा अपने मन को और इन्द्रियों को अपने वश में रखना एवं ब्राह्मणभक्त, धर्मनिष्ठ तथा तपस्वी होना चाहिए।"

इत्युक्त्वा सुहृदः सर्वान् सम्परिष्वज्य चैव ह।
पुनरेवाब्रवीद् धीमान् युधिष्ठिरमिदं वचः ॥४२॥
ब्राह्मणाश्च हि ते नित्यं प्राज्ञाश्चैव विशेषतः।
आचार्या ऋत्विजश्चैव पूजनीया जनाधिप ॥४३॥

ऐसा कहकर बुद्धिमान् भीष्मजी ने अपने सब सुहृदों को गले लगाया और युधिष्ठिर से पुनः इस प्रकार कहा—"युधिष्ठिर ! तुम्हें सामान्यतः सभी ब्राह्मणों का, विशेषतः विद्वानों, आचार्यों और ऋत्विजों का सदा ही आदर-सत्कार करना चाहिए।"

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥३२॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

भीष्मजी का प्राणत्याग और उनकी अन्त्येष्टि

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा कुरून्सर्वान्भीष्मः शान्तनवस्तदा।
तूष्णीं बभूव कौरव्यः स मुहूर्तमरिंदम ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुमर्दन जनमेजय ! समस्त कौरवों से ऐसा कहकर कुरुश्रेष्ठ शान्तनुनन्दन भीष्मजी दो घड़ी तक चुपचाप पड़े रहे।

धारयामास चात्मानं धारणासु यथाक्रमम्।
तस्योर्ध्वमगमन् प्राणाः संनिरुद्धा महात्मनः ॥२॥

तत्पश्चात् वे मनसहित प्राणवायु को क्रमशः भिन्न-भिन्न धारणाओं में स्थापित करने लगे। इस प्रकार यौगिक क्रिया के द्वारा रोके हुए महामना भीष्मजी के प्राण क्रमशः ऊपर चढ़ने लगे।

संनिरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु च।
जगाम भित्वा मूर्धानं दिवमभ्युत्पपात ह ॥३॥

भीष्मजी ने अपने शरीर के सभी द्वारों को बन्द करके प्राणों को सब ओर से रोक लिया था, अतः वे उनके मस्तक [ब्रह्मरन्ध्र] को भेदकर आकाश में चले गये।

एवं स राजशार्दूल नृपः शान्तनवस्तदा।
समयुज्यत कालेन भरतानां कुलोद्वहः ॥४॥

नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार भरतवंश का भार-वहन करनेवाले शान्तनुनन्दन राजा भीष्म कालधर्म को प्राप्त हुए।

ततस्त्वादाय दारूणि गन्धांश्च विविधान् बहून्।
चितां चक्रुर्महात्मानः पाण्डवा विदुरस्तथा ॥५॥

कुरुनन्दन ! तत्पश्चात् बहुत-से काष्ठ और नाना प्रकार के सुगन्धित द्रव्य लेकर महात्मा पाण्डवों और विदुर ने चिता तैयार की।

युधिष्ठिरश्च गाङ्गेयं विदुरश्च महामतिः ।
छादयामासतुरुभौ क्षौमैर्माल्यैश्च कौरवम् ॥६॥

राजा युधिष्ठिर और बुद्धिमान् विदुर—इन दोनों ने रेशमी वस्त्रों और मालाओं से कुरुनन्दन गङ्गापुत्र भीष्म को आच्छादित किया और चिता पर सुलाया।

धारयामास तस्याथ युयुत्सुश्छत्रमुत्तमम् ।
चामरव्यजने शुभ्रे भीमसेनार्जुनावुभौ ।
उष्णीषे पर्यगृह्णीतां माद्रीपुत्रावुभौ तथा ॥७॥

उस समय युयुत्सु ने उनपर उत्तम छत्र ताना और भीमसेन तथा अर्जुन श्वेत चँवर एवं व्यजन [पंखे] डुलाने लगे। माद्रीकुमार नकुल और सहदेव ने पगड़ी हाथों में लेकर भीष्मजी के मस्तक पर रखी।

स्त्रियः कौरवनाथस्य भीष्मं कुरुकुलोद्वहम् ।
तालवृन्तान्युपादाय पर्यवीजन्त सर्वशः ॥८॥

कौरवराज के रनिवास की स्त्रियाँ ताड़ के पंखे हाथों में लेकर कुरुकुल-धुरन्धर भीष्मजी के शव को सब ओर से हवा करने लगीं।

ततोऽस्य विधिवच्चक्रुः पितृमेधं महात्मनः ।
यजनं बहुशश्चाग्नौ जगुः सामानि सामगाः ॥९॥

तत्पश्चात् पाण्डवों ने विधिपूर्वक महात्मा भीष्म का पितृमेध कर्म सम्पन्न किया। अग्नि में बहुत-सी आहुतियाँ दी गईं और साम-गान करनेवाले ब्राह्मणों ने साम-मन्त्रों का गान किया।

संस्कृत्य च कुरुश्रेष्ठं गाङ्गेयं कुरुसत्तमाः ।
जग्मुर्भागीरथीं पुण्यामृषिजुष्टां कुरूद्वहाः ।
उदकं चक्रिरे चैव ये च पौराः समागताः ॥१०॥

इस प्रकार कुरुश्रेष्ठ भीष्मजी का दाहसंस्कार करके समस्त कौरव ऋषि-मुनियों से सेवित परम पवित्र भागीरथी [गङ्गा] के तट पर गये। वहाँ पहुँचकर पाण्डवों और समागत नगरनिवासियों ने स्नान किया।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

॥ इति अनुशासनपर्व सम्पूर्णम् ॥

आश्वमेधिकपर्व

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिर का शोक, श्रीकृष्ण और व्यास का उन्हें समझाते हुए अश्वमेधयज्ञ के लिए प्रेरित करना, युधिष्ठिर का हस्तिनापुर-आगमन और उनके धर्मराज्य का वर्णन

वैशम्पायन उवाच

कृतोदकं तु राजानं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरः।
पुरस्कृत्य महाबाहुरुत्ताराकुलेन्द्रियः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब धृतराष्ट्र भीष्मजी की अन्त्येष्टि के पश्चात् स्नान कर चुके, तब महाबाहु युधिष्ठिर उन्हें आगे करके जल से बाहर निकले। उस समय उनकी सभी इन्द्रियाँ शोक से व्याकुल हो रही थीं।

उत्तीर्य तु महाबाहुर्बाष्पव्याकुललोचनः।
पपात तीरे गङ्गाया व्याधविद्ध इव द्विपः ॥२॥

जल से बाहर निकलकर महाबाहु युधिष्ठिर व्याध के बाणों से बिंधे हुए गजराज के समान गङ्गा के तट पर गिर पड़े। उस समय उनके दोनों नेत्रों से आँसुओं की धारा बह रही थी।

तं दृष्ट्वा दीनमनसं गतसत्त्वं नरेश्वरम्।
भूयः शोकसमाविष्टाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥३॥

राजा युधिष्ठिर को दीनचित्त और हतोत्साह देखकर पाण्डव फिर शोक में डूब गये और उन्हीं के पास बैठ गये।

राजा तु धृतराष्ट्रश्च पुत्रशोकाभिपीडितः।
वाक्यमाह महाबुद्धिः प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरम् ॥४॥

उस समय पुत्रशोक से पीड़ित हुए महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र ने महाराज युधिष्ठिर से कहा—

उत्तिष्ठ कुरुशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम्।
क्षत्रधर्मेण कौन्तेय जितेयमवनी त्वया ॥५॥

"कुरुवंश के सिंह ! कुन्तीपुत्र ! उठो और आगे जो कार्य प्राप्त है, उसे पूर्ण करो। तुमने क्षत्रियधर्म के अनुसार इस पृथिवी को जीता है।

भुंक्ष्व भोगान्भ्रातृभिश्च सुहृद्भिश्च मनोनुगान्।
शोचितव्यं न पश्यामि त्वया धर्मभृतां वर ॥६॥

"धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! अब तुम अपने भाइयों और सुहृदों के साथ यथेच्छ भोग भोगो। तुम्हारे लिए शोक करने का कोई कारण मुझे दिखाई नहीं देता।

शोचितव्यं मया चैव गान्धार्या च महीपते।
ययोः पुत्रशतं नष्टं स्वप्नलब्धं यथा धनम् ॥७॥

"भूपाल ! शोक तो मुझे और गान्धारी को करना चाहिए, जिनके सौ पुत्र स्वप्न में प्राप्त हुए धन की भाँति नष्ट हो गये हैं।"

एवमुक्तस्तु राज्ञा स धृतराष्ट्रेण धीमता।
तूष्णीं बभूव मेधावी तमुवाचाथ केशवः ॥८॥

जनमेजय ! बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र के ऐसा कहने पर भी मेधावी युधिष्ठिर चुप ही रहे। तब श्रीकृष्णजी बोले—

अतीव मनसा शोकः क्रियमाणो जनाधिप।
संतापयति चैतस्य पूर्वप्रेतान् पितामहान् ॥९॥

"प्रजेश्वर ! यदि मनुष्य मरे हुए प्राणी के लिए अपने मन में अधिक शोक करता है तो उसका वह शोक उसके पहले मरे हुए पितामहों को भारी सन्ताप में डाल देता है।

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः।
देवांस्तर्पय सोमेन स्वधया च पितृनपि ॥१०॥

"आप बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले नाना प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान कीजिए और सोमरस के द्वारा देवताओं तथा स्वधा द्वारा पितरों को तृप्त कीजिए।

अतिथीनन्नपानेन कामैरन्यैरकिंचनान्।
पितृपैतामहं वृत्तमास्थाय धुरमुद्वह ॥११॥

"अतिथियों को अन्न और जल देकर एवं सामान्य [निर्धन] मनुष्यों को उनकी मनचाही वस्तुएँ देकर सन्तुष्ट कीजिए। अपने पिता-पितामहों के बर्ताव का आश्रय लेकर राजकार्य का भार सँभालिए।

त्यज शोकं महाराज भवितव्यं हि तत्तथा।
न शक्यास्ते पुनर्द्रष्टुं त्वया येऽस्मिन् रणे हताः ॥१२॥

"महाराज! शोक त्याग दीजिए, क्योंकि जो कुछ हुआ है, वैसी ही होनहार थी। इस युद्ध में जो लोग मारे गये हैं, उन्हें आप पुनः नहीं देख सकते।"

एतावदुक्त्वा गोविन्दो धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
विरराम महातेजास्तमुवाच युधिष्ठिरः ॥१३॥

धर्मराज युधिष्ठिर से ऐसा कहकर महातेजस्वी श्रीकृष्ण चुप हो गये। उस समय युधिष्ठिर ने उनसे कहा—

युधिष्ठिर उवाच

गोविन्द मयि या प्रीतिस्तव सा विदिता मम।
सौहृदेन तथा प्रेम्णा सदा मय्यनुकम्पसे ॥१४॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण! आपका मुझपर जो प्रेम है, वह मुझे भली-भाँति ज्ञात है। आप स्नेह और सौहार्दवश सदा ही मुझपर कृपा करते रहते हैं।

प्रियं तु मे स्यात् सुमहत्कृतं चक्रगदाधर।
यदि मामनुजानीयाद् भवान् गन्तुं तपोवनम् ॥१५॥

चक्र और गदाधारी कृष्ण! यदि आप मुझे तपोवन में जाने की आज्ञा प्रदान कर दें तो मेरा महान् प्रिय कार्य सम्पन्न हो जाए।

न हि शान्तिं प्रपश्यामि पातयित्वा पितामहम्।
कर्णं च पुरुषव्याघ्रं संग्रामेष्वपलायिनम् ॥१६॥

मैं पितामह भीष्म और युद्ध से कभी पीठ न दिखानेवाले नरश्रेष्ठ कर्ण को मरवाकर कभी शान्ति नहीं पा सकता।

वैशम्पायन उवाच

तमेवंवादिनं पार्थं व्यासः प्रोवाच धर्मवित्।
अकृता ते मतिस्तात पुनर्बाल्येन मुह्यसे ॥१७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर को ऐसी बातें कहते देख धर्म के मर्मज्ञ व्यासजी ने कहा, "तात! तुम्हारी बुद्धि अभी शुद्ध नहीं हुई। तुम पुनः बालोचित अविवेक के कारण मोह में पड़ गये।

आत्मानं मन्यसे चाथ पापकर्माणमन्ततः।
शृणु तत्र यथा पापमपकृष्येत भारत ॥१८॥

"भरतनन्दन! यदि तुम अन्ततोगत्वा अपने-आपको ही युद्धरूपी पापकर्म का प्रधान हेतु मानते हो तो वह पाप जिस प्रकार नष्ट हो सकता है, वह उपाय बताता हूँ, सुनो!

तपोभिः क्रतुभिश्चैव दानेन च युधिष्ठिर।
तरन्ति नित्यं पुरुषा ये स्म पापानि कुर्वते ॥१९॥

"युधिष्ठिर! जो लोग पापकर्म करते हैं, वे तप, यज्ञ और दान के द्वारा ही सदा अपना उद्धार करते हैं।

यज्ञेन तपसा चैव दानेन च नराधिप।□
पूयन्ते नरशार्दूल नरा दुष्कृतकारिणः ॥२०॥

"नरेश्वर! पुरुषसिंह! पापाचारी मनुष्य यज्ञ, दान और तपस्या से ही पवित्र होते हैं।

असुराश्च सुराश्चैव पुण्यहेतोर्मखक्रियाम्।
प्रयतन्ते महात्मानस्तस्माद् यज्ञाः परायणम् ॥२१॥

"देव और दानव पुण्य के लिए यज्ञ करने का ही प्रयत्न करते हैं, अतः यज्ञ परम आश्रय है।

यज्ञैरेव महात्मानो बभूवुरधिकाः सुराः।
ततो देवाः क्रियावन्तो दानवानभ्यधर्षयन् ॥२२॥

"यज्ञों के द्वारा ही महामनस्वी देवों का महत्त्व अधिक हुआ है और यज्ञों से ही कर्मशील देवों ने दानवों को परास्त किया है।

राजसूयाश्वमेधौ च सर्वमेधं च भारत।
नरमेधं च नृपते त्वमाहर युधिष्ठिर ॥२३॥

"भरतवंशी नरेश युधिष्ठिर! तुम राजसूय, अश्वमेध, सर्वमेध और नरमेध यज्ञ करो।

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता।
बहुकामान्नवित्तेन रामो दाशरथिर्यथा ॥२४॥

"विधिवत् दक्षिणा देकर बहुत-से मनोवाञ्छित पदार्थ, अन्न और धन से सम्पन्न अश्वमेध यज्ञ का तुम दशरथनन्दन श्रीराम की भाँति अनुष्ठान करो।"

युधिष्ठिर उवाच

असंशयं वाजिमेधः पावयेत् पृथिवीमपि।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तं त्वं श्रोतुमिहार्हसि ॥२५॥

युधिष्ठिर बोले—द्विजश्रेष्ठ! इसमें सन्देह नहीं कि अश्वमेध यज्ञ सम्पूर्ण भूमण्डल को भी पवित्र कर सकता है, किन्तु इस विषय में मेरा एक निवेदन है, उसे आप सुन लें।

इमं ज्ञातिवधं कृत्वा सुमहान्तं द्विजोत्तम।
दानमल्पं न शक्नोमि दातुं वित्तं च नास्ति मे ॥२६॥

विप्रवर! अपने सगोत्री भाइयों का यह महान् संहार करके अब मुझमें थोड़ा-सा भी दान देने की शक्ति नहीं रह गई है, क्योंकि मेरे पास धन नहीं है।

न तु बालानिमान् दीनानुत्सहसे वसु याचितुम्।
तथैवार्द्रव्रणान् कृच्छ्रे वर्तमानान् नृपात्मजान् ॥२७॥

यहाँ जो राजकुमार विद्यमान हैं, वे सभी बालक एवं दीन हैं, महान् संकट में पड़े हुए हैं और इनके शरीर के घाव भी अभी सूखने नहीं पाये हैं, अतः इन नृपों से मैं धन की याचना नहीं कर सकता।

स्वयं विनाश्य पृथिवीं यज्ञार्थं द्विजसत्तम।
करमाहारयिष्यामि कथं शोकपरायणः ॥२८॥

विप्रवर! स्वयं ही सारी पृथिवी का विनाश कराकर शोक-निमग्न मैं इनसे यज्ञ के लिए कर किस प्रकार प्राप्त कर सकूँगा!

दुर्योधनेन पृथिवी क्षयिता वित्तकारणात्।
कोशश्चापि विशीर्णोऽसौ धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥२९॥

दुर्योधन ने धन के लोभ से सारे भूमण्डल का संहार करा डाला, परन्तु धन मिलना तो दूर रहा, उस दुर्बुद्धि का अपना कोश भी खाली हो गया।

पृथिवी दक्षिणा चात्र विधिः प्रथमकल्पितः।
विद्वद्भिः परिदृष्टोऽयं शिष्टो विधिविपर्ययः ॥३०॥

अश्वमेध यज्ञ में सम्पूर्ण पृथिवी दक्षिणा में देनी चाहिए। यही विद्वानों ने मुख्य कल्प माना है। इसके अतिरिक्त जो कुछ किया जाता है, वह सब विधि के विपरीत है।

न च प्रतिनिधिं कर्तुं चिकीर्षामि तपोधन।
अत्र मे भगवन् सम्यक् साचिव्यं कर्तुमर्हसि ॥३१॥

तपोधन! मुख्य वस्तु के अभाव में जो अन्य कोई वस्तु दी जाती है, वह प्रतिनिधि दक्षिणा कहलाती है, परन्तु प्रतिनिधि दक्षिणा देने की मेरी इच्छा नहीं होती, अतः भगवन्! इस विषय में आप मुझे उचित परामर्श देने की कृपा करें।

व्यास उवाच

कोशश्चापि विशीर्णोऽयं परिपूर्णो भविष्यति।
विद्यते द्रविणं पार्थ गिरौ हिमवति स्थितम् ॥३२॥
उत्सृष्टं ब्राह्मणैर्यज्ञे मरुत्तस्य महात्मनः।
तदानयस्व कौन्तेय पर्याप्तं तद् भविष्यति ॥३३॥

व्यासजी ने कहा—पार्थ! यद्यपि तुम्हारा कोश इस समय खाली हो गया है तथापि वह बहुत शीघ्र भर जाएगा। हिमालय पर्वत पर महात्मा मरुत्त के यज्ञ में ब्राह्मणों ने जो धन छोड़ दिया था, वह वहीं पड़ा हुआ है। कुन्तीपुत्र! उसे ले आओ, वह तुम्हारे लिए पर्याप्त होगा।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्ते नृपतौ तस्मिन् व्यासेनाद्भुतकर्मणा।
वासुदेवो महातेजास्ततो वचनमाददे ॥३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अद्भुतकर्मा वेदव्यासजी ने युधिष्ठिर से जब इस प्रकार कहा, तब महातेजस्वी श्रीकृष्ण कुछ कहने को उद्यत हुए।

वासुदेव उवाच

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥३५॥

श्रीकृष्ण ने कहा—धर्मराज! कुटिलता मृत्यु का कारण है और सरलता ब्रह्म-प्राप्ति का साधन है। इस बात को ठीक-ठीक समझ लेना ही ज्ञान का विषय है, इसके विपरीत जो कुछ कहा जाता है वह प्रलाप है, उससे किसी का क्या कल्याण होगा!

नैव तेऽनुष्ठितं कर्म नैव ते शत्रवो जिताः।
कथं शत्रुं शरीरस्थमात्मनो नावबुध्यसे ॥३६॥

आपने अपने कर्तव्यकर्म को पूरा नहीं किया और न अभी तक अपने शत्रुओं पर विजय पाई है। आपका शत्रु तो आपके शरीर के भीतर बैठा है।

आप अपने उस शत्रु को पहचान क्यों नहीं रहे हैं ?

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिंदम ।
मनसैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥३७॥

हे शत्रुदमन ! द्रोणाचार्य और भीष्म के साथ आपका जो युद्ध हुआ था, वही युद्ध आपके सामने पुनः उपस्थित है। इस समय आपको अकेले अपने मन के साथ युद्ध करना होगा।

तस्मादभ्युपगन्तव्यं युद्धाय भरतर्षभ ।
परमव्यक्तरूपस्य पारं युक्त्या स्वकर्मभिः ॥३८॥

भरतभूषण ! उस युद्ध के लिए आपको तैयार हो जाना चाहिए। अपने कर्तव्य का पालन करते हुए योग के द्वारा मन को वशीभूत करके आप माया से परे परब्रह्म को प्राप्त कीजिए।

न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत ।
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा न वा ॥३९॥

हे भारत ! केवल राज्यादि बाह्य पदार्थों का परित्याग करने से ही सिद्धि नहीं प्राप्त होती। शारीरिक द्रव्य [काम-क्रोधादि] का त्याग करके भी सिद्धि प्राप्त होती है अथवा नहीं, कहना कठिन है।

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥४०॥

'मम=मेरा' ये दो अक्षर ही मृत्युरूप हैं और 'न मम'=मेरा नहीं है—ये तीन अक्षर सनातन ब्रह्म की प्राप्ति का कारण हैं। ममता मृत्यु है और उसका त्याग सनातन अमृतत्व है।

ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव व्यवस्थितौ ।
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम् ॥४१॥

राजन् ! मृत्यु और अमृत दोनों अपने भीतर ही स्थित हैं। ये दोनों अदृश्य रहकर प्राणियों को लड़ाते हैं अर्थात् 'किसी को अपना मानना और किसी को अपना न मानना' यह भाव ही युद्ध का कारण है, इसमें संशय नहीं है।

लब्ध्वापि पृथिवीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम् ।
ममत्वं यस्य नैव स्यात् किं तया स करिष्यति ॥४२॥

चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण भूमण्डल को पाकर भी जिसकी उसमें ममता नहीं होती, वह उसको लेकर क्या करेगा अर्थात् उस सम्पत्ति से उसका कोई अनर्थ नहीं हो सकता।

अथवा वसतः पार्थ वने वन्येन जीवतः ।
ममता यस्य द्रव्येषु मृत्योरास्ये स वर्तते ॥४३॥

परन्तु कुन्तीकुमार ! जो वन में रहकर जंगली फल-मूलों से ही जीवन-निर्वाह करता है, उसकी भी यदि द्रव्य में ममता है तो वह मृत्यु के मुख में ही विद्यमान है।

तस्मात्त्वमपि तं कामं यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ।
धर्मे कुरु महाराज तत्र ते स भविष्यति ॥४४॥

अतः महाराज ! आप भी नाना प्रकार की दक्षिणावाले यज्ञों द्वारा अपनी उस कामना को धर्म में लगा दीजिए। वहाँ आपकी वह कामना सफल होगी।

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता ।
अन्यैश्च विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः ॥४५॥

विधिपूर्वक दक्षिणा देकर आप अश्वमेध का तथा पर्याप्त दक्षिणावाले अन्यान्य समृद्धिशाली यज्ञों का अनुष्ठान कीजिए।

वैशम्पायन उवाच

तेषां तु वचनं श्रुत्वा हतबन्धुर्युधिष्ठिरः ।
व्यजहाच्छोकजं दुःखं सन्तापं चैव मानसम् ॥४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उन [धृतराष्ट्र, व्यास और श्रीकृष्ण] के वचनों को सुनकर जिनके भाई-बन्धु मारे गये थे, उन राजर्षि युधिष्ठिर ने शोक-जनित दुःख और मानसिक सन्ताप को त्याग दिया।

ततो दत्त्वा बहुधनं विप्रेभ्यः पाण्डवर्षभः ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विवेश गजसाह्वयम् ॥४७॥

तत्पश्चात् ब्राह्मणों को बहुत-सा धन देकर पाण्डवशिरोमणि युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र को आगे करके हस्तिनापुर में प्रवेश किया।

स समाश्वास्य पितरं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ।
अन्वशासत् तु धर्मात्मा पृथिवीं भ्रातृभिः सह ॥४८॥

धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर प्रज्ञाचक्षु अपने ताऊ महाराज धृतराष्ट्र को सान्त्वना देकर भाइयों के साथ पृथिवी का शासन करने लगे।

नाधर्म्यमभवत् तत्र सर्वो धर्मरुचिर्जनः ।
बभूव नरशार्दूल यथा कृतयुगे तथा ॥४९॥

उनके राज्य में कहीं कोई अधर्मयुक्त कार्य नहीं होता था। सब लोग धर्म में रुचि रखते थे। पुरुषसिंह! जैसे सत्ययुग में समस्त प्रजा धर्मपरायण रहती थी, उसी प्रकार उस समय द्वापर में भी हो गई थी।

ववर्ष भगवान् देवः काले देशे यथेप्सितम्।
निरामयं जगदभूत् क्षुत्पिपासे न किञ्चन ॥५०॥

पर्जन्यदेव उनके राज्य के प्रत्येक प्रदेश में यथेष्ट वर्षा करते थे। सारा जगत् राग-शोक से रहित हो गया था, किसी को भी भूख-प्यास का थोड़ा-सा भी कष्ट नहीं रह गया था।

नार्यः पतिव्रताः सर्वा रूपवत्यः स्वलंकृताः।
यथोक्तवृत्ताः स्वगुणैर्बभूवुः प्रीतिहेतवः ॥५१॥

उनके राज्य की सभी स्त्रियाँ पतिव्रता, रूपवती, आभूषणों से विभूषित और शास्त्रोक्त सदाचार से सम्पन्न होती थीं। वे अपने उत्तम गुणों के द्वारा पति की प्रसन्नता को बढ़ाने में कारण होती थीं।

पुमांसः पुण्यशीलाढ्याः स्वं स्वं धर्ममनुव्रताः।
सुखिनः सूक्ष्ममप्येनो कुर्वन्ति न कदाचन ॥५२॥

पुरुष पुण्यशील, अपने-अपने धर्म में अनुरक्त और सुखी थे। वे कभी छोटे-से छोटा पाप भी नहीं करते थे।

सर्वे नराश्च नार्यश्च सततं प्रियवादिनः।
अजिह्ममनसः शुक्लाः बभूवुः श्रमवर्जिताः ॥५३॥

सभी स्त्री-पुरुष सदा मधुर बोलते थे, मन में कुटिलता नहीं आने देते थे, शुद्ध रहते थे और कभी थकावट का अनुभव नहीं करते थे।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीकृष्ण का अर्जुन से द्वारका जाने का प्रस्ताव करना, अर्जुन का श्रीकृष्ण से गीता का विषय पूछना और श्रीकृष्ण का अपनी असमर्थता प्रकट करना

जनमेजय उवाच

विजिते पाण्डवेयैस्तु प्रशान्ते च द्विजोत्तम।
राष्ट्रे किं चक्रतुर्वीरौ वासुदेवधनञ्जयौ ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—विप्रवर! जब पाण्डवों ने अपने राष्ट्र पर विजय पा ली और राज्य में सब ओर शान्ति स्थापित हो गई, तब श्रीकृष्ण और अर्जुन इन दोनों वीरों ने क्या किया?

वैशम्पायन उवाच

विजिते पाण्डवै राजन् प्रशान्ते च विशाम्पते।
राष्ट्रे बभूवतुर्हृष्टौ वासुदेवधनञ्जयौ ॥२॥

वैशम्पायनजी बोले—भूपाल! नरेश्वर! जब पाण्डवों ने राष्ट्र पर विजय पा ली और सर्वत्र शान्ति स्थापित हो गयी, तब श्रीकृष्ण और अर्जुन को अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

विजह्राते मुदा युक्तौ दिवि देवेश्वराविव।
तौ वनेषु विचित्रेषु पर्वतेषु ससानुषु ॥३॥

स्वर्गलोक में विहार करनेवाले दो देवेश्वरों की भाँति वे दोनों मित्र आनन्दमग्न हो विचित्र-विचित्र वनों में और पर्वतों के सुरम्य शिखरों पर विचरते थे।

इन्द्रप्रस्थे महात्मानौ रेमतुः कृष्णपाण्डवौ।
प्रविश्य तां सभां रम्यां विजह्राते च भारत ॥४॥

भरतभूषण! इन्द्रप्रस्थ में रहते हुए महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन मय-निर्मित रमणीय सभा में प्रविष्ट होकर आनन्दपूर्वक मनोविनोद करते थे।

मधुरास्तु कथाश्चित्राश्चित्रार्थपदनिश्चयाः।
निश्चयज्ञः स पार्थाय कथयामास केशवः ॥५॥

श्रीकृष्ण सब प्रकार के सिद्धान्तों को जाननेवाले थे। उन्होंने अर्जुन को विचित्र पद, अर्थ एवं सिद्धान्तों से युक्त बड़ी विलक्षण और मधुर कथाएँ सुनायीं।

पुत्रशोकाभिसन्तप्तं ज्ञातीनां च सहस्रशः।
कथाभिः शमयामास पार्थं शौरिर्जनार्दनः ॥६॥

कुन्तीकुमार अर्जुन पुत्रशोक से पीड़ित थे। सहस्रों भाई-बन्धुओं के मारे जाने का भी उनके मन

में बड़ा दुःख था। वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण ने अनेक प्रकार की कथाएँ सुनाकर उस समय पार्थ को शान्त किया।

स तमाश्वास्य विधिवद् विज्ञानज्ञो महातपाः।
अपहृत्यात्मनो भारं विशश्रामेव सात्वतः ॥७॥

महातपस्वी मनोविज्ञानवेत्ता श्रीकृष्ण ने विधिपूर्वक अर्जुन को सान्त्वना देकर अपना भार उतार दिया और वे सुखपूर्वक विश्राम-सा करने लगे।

ततः कथान्ते गोविन्दो गुडाकेशमुवाच ह।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा हेतुयुक्तमिदं वचः ॥८॥

बातचीत के अन्त में श्रीकृष्ण ने निद्राविजयी अर्जुन को अपनी मधुर वाणी द्वारा सान्त्वना प्रदान करते हुए उनसे यह युक्तियुक्त बात कही।

वासुदेव उवाच

विजितेयं धरा कृत्स्ना सव्यसाचिन् परन्तप।
त्वद्बाहुबलमाश्रित्य राज्ञा धर्मसुतेन ह ॥९॥

श्रीकृष्ण बोले—शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले अर्जुन! धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने तुम्हारे बाहुबल का आश्रय लेकर सम्पूर्ण पृथिवी पर विजय प्राप्त कर ली।

असपत्नां महीं भुङ्क्ते धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भीमसेनानुभावेन यमयोश्च नरोत्तम ॥१०॥

नरश्रेष्ठ! भीमसेन और नकुल तथा सहदेव के प्रभाव से धर्मराज युधिष्ठिर इस पृथिवी का निष्कण्टक राज्य भोग रहे हैं।

रमे चाहं त्वया सार्धमरण्येष्वपि पाण्डव।
किमु यत्र जनोऽयं वै पृथा चामित्रकर्षण ॥११॥

शत्रुसूदन पाण्डुपुत्र! तुम्हारे साथ रहने पर निर्जन वन में भी मुझे सुख और आनन्द मिल सकता है। फिर जहाँ इतने लोग और मेरी बुआ कुन्ती हों, वहाँ की तो बात ही क्या है!

यत्र धर्मसुतो राजा यत्र भीमो महाबलः।
यत्र माद्रवतीपुत्रौ रतिस्तत्र परा मम ॥१२॥

जहाँ धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर हों, महाबली भीमसेन तथा माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव हों, वहाँ मुझे परम आनन्द प्राप्त होता है।

रमणीयेषु पुण्येषु सहितस्य त्वयानघ।
कालो महाँस्त्वतीतो मे शूरसूनुमपश्यतः ॥१३॥
सोऽहं गन्तुमभीप्सामि पुरीं द्वारवतीं प्रति।
रोचतां गमनं तुभ्यं ममापि पुरुषर्षभ ॥१४॥

निष्पाप कुरुनन्दन! रमणीय और पुण्य स्थानों में तुम्हारे साथ विचरते हुए पर्याप्त समय व्यतीत हो गया। इतने दिनों तक मैं अपने पिता शूरसेनकुमार वसुदेवजी का दर्शन न कर सका, अतः अब मैं द्वारकापुरी को जाना चाहता हूँ। पुरुषश्रेष्ठ! तुम्हें भी मेरे इस यात्रा-सम्बन्धी प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए।

अर्जुन उवाच

यत् तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात्।
तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः ॥१५॥

अर्जुन ने कहा—केशव! आपने सौहार्दवश पहले मुझे जो ज्ञान का उपदेश [गीता-ज्ञान] दिया था, मेरा वह सब ज्ञान विचलितचित्त होने के कारण नष्ट हो गया [भूल गया] है।

मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः।
भवाँस्तु द्वारकां गन्ता नचिरादिव माधव ॥१६॥

माधव! उन विषयों को सुनने के लिए मेरे मन में बारम्बार लालसा उत्पन्न होती है। इधर आप शीघ्र ही द्वारका जानेवाले हैं, अतः पुनः वह सब विषय मुझे सुना दीजिए।

वासुदेव उवाच

श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम्।
अबुद्ध्या नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम् ॥१७॥

श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन! उस समय मैंने तुम्हें अत्यन्त गोपनीय ज्ञान का श्रवण कराया था, परन्तु तुमने अपनी नासमझी के कारण उस उपदेश को स्मरण नहीं रखा, यह मुझे बहुत अप्रिय है।

नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनञ्जय ॥१८॥

पाण्डुकुमार! निश्चय ही तुम बड़े श्रद्धाहीन हो। तुम्हारी बुद्धि बहुत मन्द जान पड़ती है। धनञ्जय! अब मैं उस उपदेश को ज्यों-का-त्यों पुनः नहीं कह सकता।

परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया ।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः ।।१९।।

उस समय योगयुक्त होकर मैंने परमात्मतत्त्व का वर्णन किया था। वह सारा-का-सारा उपदेश उसी रूप में फिर दोहरा देना अब मेरे वश की भी बात नहीं है।

तं मया सह गत्वाद्य राजानं कुरुवर्धनम् ।
आपृच्छ कुरुशार्दूल गमनं द्वारकां प्रति ।।२०।।

कुरुश्रेष्ठ ! अब तो तुम मेरे साथ चलकर राजा को बधाई दो और मेरे द्वारका जाने के विषय में उनसे पूछकर आज्ञा दिला दो।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तौ रथमास्थाय प्रयातौ कृष्णपाण्डवौ ।
विकुर्वाणौ कथाश्चित्राः प्रीयमाणौ विशाम्पते ।।२१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—प्रजेश्वर ! तब श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों रथ में बैठकर आपस में भाँति-भाँति की विचित्र बातें करते हुए प्रसन्नतापूर्वक वहाँ से चल दिये।

समासाद्य तु राजानं वार्ष्णेयकुरुपुङ्गवौ ।
निषेदतुरनुज्ञातौ प्रीयमाणेन तेन तौ ।।२२।।

श्रीकृष्ण और अर्जुन जब राजा युधिष्ठिर के पास पहुँचे, तब उन्हें देख उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर उनके आज्ञा देने पर वे दोनों मित्र आसन पर बैठे।

ततः स राजा मेधावी विवक्षू प्रेक्ष्य तावुभौ ।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठो वचनं राजसत्तमः ।।२३।।

तत्पश्चात् वक्ताओं में श्रेष्ठ नृपश्रेष्ठ मेधावी युधिष्ठिर ने उन्हें कुछ कहने के लिए इच्छुक देख उनसे इस प्रकार कहा—

युधिष्ठिर उवाच

विवक्षू हि युवां मन्ये वीरौ यदुकुरूद्वहौ ।
ब्रूतं कर्तास्मि सर्वं वां न चिरान्मा विचार्यताम् ।।२४।।

युधिष्ठिर बोले—यदुकुल और कुरुकुल को अलंकृत करनेवाले वीरो ! प्रतीत होता है, तुम लोग मुझसे कुछ कहना चाहते हो। तुम जो भी कहना चाहो, कहो; मैं तुम्हारी सभी इच्छाओं को शीघ्र पूर्ण करूँगा। तुम मन में कुछ भी अन्यथा विचार मत करो।

अर्जुन उवाच

अयं चिरोषितो राजन् वासुदेवः प्रतापवान् ।
भवन्तं समनुज्ञाप्य पितरं द्रष्टुमिच्छति ।।२५।।

अर्जुन ने कहा—राजन् ! परम प्रतापी वसुदेव-नन्दन श्रीकृष्ण को यहाँ रहते हुए पर्याप्त समय हो गया। अब ये आपकी आज्ञा लेकर अपने पिता का दर्शन करना चाहते हैं।

युधिष्ठिर उवाच

पुण्डरीकाक्ष भद्रं ते गच्छ त्वं मधुसूदन ।
पुरीं द्वारवतीमद्य द्रष्टुं शूरसुतं प्रभो ।।२६।।

युधिष्ठिर बोले—कमलनेत्र मधुसूदन ! आपका कल्याण हो। प्रभो ! आप शूरनन्दन वसुदेवजी का दर्शन करने के लिए आज ही द्वारका को प्रस्थान कीजिए।

रोचते मे महाबाहो गमनं तव केशव ।
मातुलश्चिरदृष्टो मे त्वया देवी च देवकी ।।२७।।

महाबाहु केशव ! मुझे आपका जाना इसलिए ठीक लगता है कि आपने मेरे मामाजी और मामी देवकी देवी को बहुत दिनों से नहीं देखा है।

समेत्य मातुलं गत्वा बलदेवं च मानद ।
पूजयेथा महाप्राज्ञ मद्वाक्येन यथार्हतः ।।२८।।

मानद महाप्राज्ञ ! आप मामाजी तथा भाई बलदेवजी के पास जाकर उनसे मिलिए और मेरी ओर से उनका यथायोग्य सत्कार कीजिए।

स्मरेथाश्चापि मां नित्यं भीमं च बलिनां वरम् ।
फाल्गुनं सहदेवं च नकुलं चैव मानद ।।२९।।

सेवकों को मान देनेवाले श्रीकृष्ण ! द्वारका में पहुँचकर आप मुझको, बलवानों में श्रेष्ठ भीमसेन को, अर्जुन, नकुल और सहदेव को सदा स्मरण रखें।

आनर्तानवलोक्य त्वं पितरं च महाभुज ।
वृष्णींश्च पुनरागच्छेर्हयमेधे ममानघ ।।३०।।

महाबाहु निष्पाप श्रीकृष्ण ! आनर्त देश की प्रजा, अपने माता-पिता और वृष्णिवंशी बन्धु-बान्धवों से मिलकर आप पुनः मेरे अश्वमेध यज्ञ में पधारिएगा।

स गच्छ रत्नान्यादाय विविधानि वसूनि च ।
यच्चाप्यन्यन्मनोज्ञं ते तदप्यादत्स्व सात्वत ।।३१।।

इयं च वसुधा कृत्स्ना प्रसादात् तव केशव ।
अस्मानुपगता वीर निहताश्चापि शत्रवः ॥३२॥

यदुनन्दन केशव ! ये भाँति-भाँति के रत्न और धन प्रस्तुत हैं। इन्हें तथा अन्यान्य वस्तुएँ जो आपको पसन्द हों लेकर यात्रा कीजिए। वीर ! आपकी कृपा से ही इस सम्पूर्ण भूमण्डल का राज्य हमारे हाथ में आया है, और हमारे शत्रु भी मारे गये हैं।

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति कौरव्ये धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
वासुदेवो वरः पुंसामिदं वचनमब्रवीत् ॥३३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दम धर्मराज युधिष्ठिर जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण ने उनसे यह बात कही—

तवैव रत्नानि धनं च केवलं
धरा च कृत्स्ना तु महाभुजाद्य वै ।
यदस्ति चान्यद् द्रविणं गृहे मम
त्वमेव तस्येश्वर नित्यमीश्वरः ॥३४॥

"महाबाहो ! ये रत्न, धन और सम्पूर्ण पृथिवी अब केवल आपकी ही है। इतना ही नहीं, मेरे घर में भी जो कुछ धन-वैभव है, उसको भी आप अपना ही समझिए। प्रजेश्वर ! आप ही सदा उसके भी स्वामी हैं।"

तथेत्यथोक्तः प्रतिपूजितस्तदा
गदाग्रजो धर्मसुतेन वीर्यवान् ।
पितृष्वसारं त्ववदद् यथाविधि
सम्पूजितश्चाप्यगमत् प्रदक्षिणम् ॥३५॥

उनके ऐसा कहने पर धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने 'जो आज्ञा' कहकर उनके वचनों का आदर किया। उनसे सम्मानित हो पराक्रमी श्रीकृष्ण ने अपनी बुआ कुन्ती के पास जाकर बातचीत की और उनसे यथोचित सत्कार पाकर उनकी प्रदक्षिणा की।

रथे सुभद्रामधिरोप्य भामिनीं
युधिष्ठिरस्यानुमते जनार्दनः ।
पितृष्वसुश्चापि तथा महाभुजो
विनिर्ययौ पौरजनाभिसंवृतः ॥३६॥

बुआ कुन्ती और राजा युधिष्ठिर की आज्ञा से भामिनी सुभद्रा को भी रथ पर बिठाकर महाबाहु जनार्दन पुरवासियों से घिरे हुए नगर से बाहर निकले।

तमन्वयाद् वानरवर्यकेतनः
ससात्यकिर्माद्रवतीसुतावपि ।
अगाधबुद्धिर्विदुरश्च माधवं
स्वयं च भीमो गजराजविक्रमः ॥३७॥

उस समय श्रीकृष्ण के पीछे कपिध्वज अर्जुन, सात्यकि, नकुल-सहदेव, अगाधबुद्धि विदुर और गजराज के समान पराक्रमी स्वयं भीमसेन भी कुछ दूर तक पहुँचाने के लिए गये।

निवर्तयित्वा कुरुराष्ट्रवर्धनां-
स्ततः स सर्वान् विदुरं च वीर्यवान् ।
जनार्दनो दारुकमाह सत्वरः
प्रणोदयाश्वानिति सात्यकिं तथा ॥३८॥

कुछ दूर जाने पर पराक्रमी कृष्ण ने कौरवराज्य की वृद्धि करनेवाले उन समस्त पाण्डवों तथा विदुरजी को लौटाकर दारुक तथा सात्यकि से कहा—'अब घोड़ों को तेजी से हाँको।'

तथा प्रयान्तं वार्ष्णेयं द्वारकां भरतर्षभाः ।
परिष्वज्य न्यवर्तन्त सानुयात्राः परन्तपाः ॥३९॥

जनमेजय ! इस प्रकार द्वारका जाते हुए श्रीकृष्ण को हृदय से लगाकर भरतवंश के श्रेष्ठ वीर शत्रु-सन्तापी पाण्डव अपने सेवकोंसहित पीछे लौटे।

पुनः पुनश्च वार्ष्णेयं पर्यष्वजत फाल्गुनः ।
आचक्षुर्विषयाच्चैनं स ददर्श पुनः पुनः ॥४०॥

अर्जुन ने वृष्णिवंशी प्यारे सखा श्रीकृष्ण को बारम्बार हृदय से लगाया और जबतक वे आँखों से ओझल नहीं हुए, तबतक वे बारम्बार उन्हीं की ओर देखते रहे।

कृच्छ्रेणैव तु तां पार्थो गोविन्दे विनिवेशिताम् ।
संजहार ततो दृष्टिं कृष्णश्चाप्यपराजितः ॥४१॥

जब रथ दूर चला गया, तब अर्जुन ने बड़े कष्ट से श्रीकृष्ण की ओर लगी हुई अपनी दृष्टि को पीछे लौटाया। किसी से परास्त न होनेवाले श्रीकृष्ण की भी ऐसी ही अवस्था थी।

सरांसि सरितश्चैव वनानि च गिरींस्तथा ।
अतिक्रम्याससादाथ रम्यां द्वारवतीं पुरीम् ॥४२॥

मार्ग में अनेकानेक सरोवरों, सरिताओं, वनों और पर्वतों को लाँघकर श्रीकृष्ण परम रमणीय द्वारका नगरी में जा पहुँचे।

उपयान्तं तु वार्ष्णेयं भोजवृष्ण्यन्धकास्तथा।
अभ्यगच्छन् महात्मानं देवा इव शतक्रतुम् ॥४३॥

भोज, वृष्णि और अन्धकवंश के यादवों ने अपने निकट आते हुए महात्मा श्रीकृष्ण का आगे बढ़कर उसी प्रकार स्वागत किया जैसे देवता देवराज इन्द्र की अगवानी करते हैं।

स तानभ्यर्च्य मेधावी पृष्ट्वा च कुशलं तदा।
अभ्यवादयत प्रीतः पितरं मातरं तथा ॥४४॥

मेधावी श्रीकृष्ण ने उन सबका आदर करके उनका कुशल-समाचार पूछा और प्रसन्नतापूर्वक अपने माता-पिता के चरणों में प्रणाम किया।

ताभ्यां स सम्परिष्वक्तः सान्त्वितश्च महाभुजः।
उपोपविष्टः सर्वैस्तैर्वृष्णिभिः परिवारितः ॥४५॥

उन दोनों ने उन महाबाहु श्रीकृष्ण को अपनी छाती से लगा लिया और मीठे वचनों द्वारा उन्हें सान्त्वना दी। फिर सभी वृष्णिवंशी उन्हें घेरकर आसपास बैठ गये।

स विश्रान्तो महातेजाः कृतपादावसेचनः।
कथयामास तत्सर्वं पृष्टः पित्रा महाहवम् ॥४६॥

महातेजस्वी श्रीकृष्ण जब हाथ-पैर धोकर विश्राम कर चुके, तब पिता के पूछने पर उन्होंने उस महा-युद्ध का सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

युधिष्ठिर का हिमालय से धन लाना और श्रीकृष्ण का हस्तिनापुर में आगमन

जनमेजय उवाच

श्रुत्वा तु वचनं ब्रह्मन् व्यासेनोक्तं महात्मना।
अश्वमेधं प्रति तदा किं भूयः प्रचकार ह ॥१॥
रत्नं च यन्मरुत्तेन निहितं वसुधातले।
तदवाप कथं चेति तन्मे ब्रूहि द्विजोत्तम ॥२॥

जनमेजय ने पूछा—ब्रह्मन्! महात्मा व्यास का कहा हुआ वह वचन सुनकर राजा युधिष्ठिर ने अश्वमेध के सम्बन्ध में फिर क्या किया? राजा मरुत्त ने जो रत्न पृथिवीतल पर रख छोड़ा था, उसे उन्होंने किस प्रकार प्राप्त किया? द्विजश्रेष्ठ! यह सब मुझे बताइए।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा द्वैपायनवचो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातॄन् सर्वान् समानाय्य काले वचनमब्रवीत् ॥३॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन्! व्यासजी की बात सुनकर [स्मरण करके] धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने सभी भाइयों को बुलाकर यह समयोचित वचन कहा—

इयं हि वसुधा सर्वा क्षीणरत्ना कुरूद्वहाः।
तच्चाचष्ट तदा व्यासो मरुत्तस्य धनं नृपाः ॥४॥

"कौरवो! इस समय इस समस्त भूमण्डल पर रत्नों एवं धन का नाश हो गया है, अतः हमारी आर्थिक कठिनाई दूर करने के लिए व्यासजी ने उस दिन हमें मरुत्त के धन का पता बताया था।

यद्येतद् वो बहुमतं मन्यध्वं वा क्षमं यदि।
तथा यथाऽऽह धर्मेण कथं वा भीम मन्यसे ॥५॥

"यदि तुम लोग उस धन को पर्याप्त समझो और उसे ले-आने की अपने में सामर्थ्य देखो तो व्यासजी ने जैसा कहा है उसी के अनुसार धर्मतः उसे प्राप्त करने का यत्न करो। अथवा भीमसेन! तुम्हारा इस सम्बन्ध में क्या विचार है?

भीमसेन उवाच

रोचते मे महाबाहो यदिदं भाषितं त्वया।
व्यासाख्यातस्य वित्तस्य समुपानयनं प्रति ॥६॥

भीमसेन बोले—महाबाहो! आपने जो कुछ कहा है, व्यासजी के बताये हुए धन को लाने के विषय में जो विचार व्यक्त किया है, वह मुझे बहुत पसन्द है।

यदि तत्प्राप्नुयामहे धनमाविक्षितं प्रभो।
कृतमेव महाराज भवेदिति मतिर्मम ॥७॥

प्रभो! महाराज! यदि हमें मरुत्त का धन प्राप्त हो जाए तब तो हमारा सारा काम बन ही जाएगा। यही मेरा मत है।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैवं वदतस्तस्य वाक्यं भीमस्य भारत।
प्रीतो धर्मात्मजो राजा बभूवातीव हि प्रभो ॥८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—प्रभो! भारत! भीमसेन का यह कथन सुनकर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर बहुत ही प्रसन्न हुए।

कृत्वा तु पाण्डवाः सर्वे रत्नाहरणनिश्चयम्।
सेनामाज्ञापयामासुर्नक्षत्रेऽहनि च ध्रुवे ॥९॥

सभी पाण्डवों ने रत्न लाने का निश्चय करके ध्रुवसंज्ञक नक्षत्र एवं दिन [उत्तरा नक्षत्र और रविवार के दिन] में सेना तैयार होने के लिए आज्ञा प्रदान की।

ततः प्रदक्षिणीकृत्य शिरोभिः प्रणिपत्य च।
ब्राह्मणानग्निसहितान् प्रययुः पाण्डुनन्दनाः ॥१०॥

निश्चित दिन आने पर पाण्डवों ने अग्निसहित ब्राह्मणों की परिक्रमा करके उनके चरणों में मस्तक झुकाकर वहाँ से प्रस्थान किया।

सरांसि सरितश्चैव वनान्युपवनानि च।
अत्यक्रामन्महाराजो गिरिं चाप्यन्वपद्यत ॥११॥

राजन्! अनेकानेक सरोवरों, सरिताओं, वनों, उपवनों और पर्वतों को लांघकर महाराज युधिष्ठिर उस पर्वत पर जा पहुँचे [जहाँ राजा मरुत्त का धन संचित था]।

चक्रे निवेशनं राजा पाण्डवः सह सैनिकैः।
शिवे देशे समे चैव तदा भरतसत्तम ॥१२॥

कुरुवंशी भरतश्रेष्ठ! वहाँ एक समतल एवं सुखद स्थान में पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर ने सैनिकों के साथ पड़ाव डाला।

अर्चयित्वा द्विजाग्र्यान् स स्वस्ति वाच्य च वीर्यवान्।
प्रीतिमान् स कुरुश्रेष्ठः खानयामास तद्धनम् ॥१३

एक दिन ब्राह्मणों का सत्कार कर और उनसे स्वस्तिवाचन कराकर शक्तिशाली कुरुश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर बड़ी प्रसन्नता के साथ उस धन को खुदवाने लगे।

ततः पात्रीः सकरका बहुरूपा मनोरमाः।
भृङ्गाराणि कटाहानि कलशान् वर्धमानकान् ॥१४॥
बहूनि च विचित्राणि भाजनानि सहस्रशः।
उद्धारयामास तदा धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥१५॥

कुछ ही देर में अनेक प्रकार के विचित्र, मनोरम और बहुसंख्यक [सहस्रों] सुवर्णमय पात्र निकल आये। कठौते, सुराही, गडुआ, कड़ाह, कलश तथा कटोरे—सभी प्रकार के बर्तन उपलब्ध हुए। धर्मराज युधिष्ठिर ने उस समय उन सब बर्तनों को भूमि खोदकर निकलवाया।

ययौ द्रव्यं तदादाय पुरं प्रति युधिष्ठिरः।
द्वैपायनाभ्यनुज्ञातः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ॥१६॥

व्यासजी की आज्ञा लेकर उस धन को लदवाकर पुरोहित धौम्यमुनि को आगे करके युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर को प्रस्थान किया।

एतस्मिन्नेव काले तु वासुदेवोऽपि वीर्यवान्।
उपायाद् वृष्णिभिः सार्धं पुरं वारणसाह्वयम् ॥१७॥

जनमेजय! इसी बीच में महापराक्रमी श्रीकृष्ण भी वृष्णिवंशियों को साथ लेकर हस्तिनापुर में आ गये।

समयं वाजिमेधस्य विदित्वा पुरुषर्षभः।
यथोक्तो धर्मपुत्रेण प्रव्रजन् स्वपुरीं प्रति ॥१८॥

उनके द्वारका जाते समय धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने जैसी बात कही थी, उसके अनुसार अश्वमेध यज्ञ का समय निकट जानकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण पहले ही उपस्थित हो गये।

तानागतान् समीक्ष्यैव धृतराष्ट्रो महीपतिः।
प्रत्यगृह्णद् यथान्यायं विदुरश्च महामनाः ॥१९॥

उनके आगमन का समाचार सुनते ही राजा धृतराष्ट्र और महामना विदुरजी खड़े हो गये और आगे बढ़कर उन्होंने सबका स्वागत किया।

तत्रैव न्यवसत् कृष्णः स्वर्चितः पुरुषोत्तमः।
विदुरेण महातेजास्तथैव च युयुत्सुना ॥२०॥

विदुर और युयुत्सु द्वारा भली-भाँति सत्कृत हो महातेजस्वी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण वहीं रहने लगे।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

उत्तरा के मृतप्रायः बालक को जिलाने के लिए कुन्ती, सुभद्रा तथा उत्तरा की श्रीकृष्ण से प्रार्थना और कृष्ण का उसे जीवनदान देना

वैशम्पायन उवाच

वसत्सु वृष्णिवीरेषु तत्राथ जनमेजय।
जज्ञे तव पिता राजन् परिक्षित् परवीरहा ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजन्! उन वृष्णिवीरों के वहाँ निवास करते समय ही तुम्हारे पिता शत्रुवीरहन्ता परिक्षित् का जन्म हुआ था।

स तु राजा महाराज ब्रह्मास्त्रेणावपीडितः।
शवो बभूव निश्चेष्टो हर्षशोकविवर्धनः ॥२॥

हे महाराज! वे राजा परिक्षित् ब्रह्मास्त्र से पीड़ित होने के कारण चेष्टाहीन मुर्दे के रूप में उत्पन्न हुए, अतः स्वजनों का हर्ष एवं शोक बढ़ानेवाले हो गये थे।

हृष्टानां सिंहनादेन जनानां तत्र निःस्वनः।
प्रविश्य प्रदिशः सर्वाः पुनरेव व्युपारमत् ॥३॥

पहले पुत्र-जन्म का समाचार सुनकर हर्ष में भरे हुए लोगों के सिंहनाद रूप में एक महान् कोलाहल सुनाई पड़ा, जो सम्पूर्ण दिशाओं में प्रविष्ट हो, पुनः शान्त हो गया।

ततः सोऽतित्वरः कृष्णो विवेशान्तःपुरं तदा।
युयुधानद्वितीयो वै व्यथितेन्द्रियमानसः ॥४॥

इससे श्रीकृष्ण के मन और इन्द्रियों में व्यथा-सी उत्पन्न हो गई, अतः वे सात्यकि को साथ ले बड़ी उतावली से अन्तःपुर में जा पहुँचे।

ततस्त्वरितमायान्तीं ददर्श स्वां पितृष्वसाम्।
क्रोशन्तीमभिधावेति वासुदेवं पुनः पुनः ॥५॥

वहाँ उन्होंने अपनी बुआ कुन्ती को बड़े वेग से आते हुए देखा, जो बारम्बार उन्हीं का नाम लेकर "वासुदेव! दौड़ो, दौड़ो" की पुकार मचा रही थी।

पृष्ठतो द्रौपदीं चैव सुभद्रां च यशस्विनीम्।
सविक्रोशं सकरुणं बान्धवानां स्त्रियो नृप ॥६॥

राजन्! उनके पीछे द्रौपदी, यशस्विनी सुभद्रा तथा अन्य बन्धु-बान्धवों की स्त्रियाँ भी थीं, जो बड़े करुणस्वर से बिलख-बिलखकर रो रही थीं।

ततः कृष्णं समासाद्य कुन्तिभोजसुता तदा।
प्रोवाच राजशार्दूल बाष्पगद्गदया गिरा ॥७॥

नृपश्रेष्ठ! उस समय श्रीकृष्ण के समीप पहुँचकर कुन्तिभोजकुमारी कुन्ती आँखों से आँसू बहाती हुई गद्गद वाणी में बोली—

वासुदेव महाबाहो सुप्रजा देवकी त्वया।
त्वं नो गतिः प्रतिष्ठा च त्वदायत्तमिदं कुलम् ॥८॥

"महाबाहु वसुदेवकुमार! तुम्हें पाकर ही तुम्हारी माता देवकी उत्तम पुत्रवाली मानी जाती हैं। तुम्हीं हमारे अवलम्ब और तुम्हीं हम लोगों के आधार हो। इस कुल की रक्षा तुम्हारे ही अधीन है।

यदुप्रवीर योऽयं ते स्वस्त्रीयस्यात्मजः प्रभो।
अश्वत्थाम्ना हतो जातस्तमुज्जीवय केशव ॥९॥

"यदुवीर! प्रभो! यह जो तुम्हारे भानजे अभिमन्यु का बालक है, अश्वत्थामा के अस्त्र से मृतक ही उत्पन्न हुआ है। केशव! इसे जीवन-दान दो।

त्वया ह्येतत् प्रतिज्ञातमैषीके यदुनन्दन।
अहं संजीवयिष्यामि मृतं जातमिति प्रभो ॥१०॥

"यदुनन्दन! प्रभो! अश्वत्थामा ने जब सींक के बाण का प्रयोग किया था, उस समय तुमने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं उत्तरा के मरे हुए बालक को भी जीवित कर दूंगा।

सोऽयं जातो मृतस्तात पश्यैनं पुरुषर्षभ।
उत्तरां च सुभद्रां च द्रौपदीं मां च माधव ॥११॥

"तात! यह बालक मरा हुआ ही पैदा हुआ है। पुरुषोत्तम! इसपर अपनी कृपादृष्टि डालो। माधव! इसे जीवन प्रदान करके उत्तरा, सुभद्रा और द्रौपदी-सहित मेरी रक्षा करो।

धर्मपुत्रं च भीमं च फाल्गुनं नकुलं तथा।
सहदेवं च दुर्धर्ष सर्वान् नस्त्रातुमर्हसि ॥१२॥

"दुर्धर्ष वीर! धर्मपुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव की भी रक्षा करो। तुम हम सबका इस संकट से उद्धार करने में समर्थ हो।"

एवमुक्त्वा तु वार्ष्णेयं पृथा पृथुललोचना ।
उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्ता ताश्चान्याः प्रापतन् भुवि ।।१३

श्रीकृष्ण से ऐसा कहकर विशाल नेत्रोंवाली कुन्ती दोनों बाहें ऊपर उठाकर दुःख से आर्त हो पृथिवी पर गिर पड़ी। अन्य स्त्रियों की भी यही अवस्था हुई।

अब्रुवंश्च महाराज सर्वाः सास्राविलेक्षणाः ।
स्वस्रीयो वासुदेवस्य मृतो जात इति प्रभो ।।१४।।

समर्थ महाराज ! उन सबके नेत्रों से अश्रुधारा बह रही थी और वे सभी रो-रोकर कह रही थीं कि "हाय ! श्रीकृष्ण के भानजे का बालक मरा हुआ उत्पन्न हुआ है ।"

एवमुक्ते ततः कुन्तीं पर्यगृह्णाज्जनार्दनः ।
भूमौ निपतितां चैनां सान्त्वयामास भारत ।।१५।।

भरतनन्दन ! उन सबके ऐसा कहने पर जनार्दन श्रीकृष्ण ने कुन्ती देवी को सहारा देकर बैठाया और पृथिवी पर पड़ी हुई अपनी बुआ को वे धैर्य बँधाने लगे।

उत्थितायां पृथायां तु सुभद्रा भ्रातरं तदा ।
दृष्ट्वा चुक्रोश दुःखार्ता वचनं चेदमब्रवीत् ।।१६।।

जनमेजय ! कुन्ती देवी को उठाकर बैठा देने के पश्चात् सुभद्रा अपने भाई श्रीकृष्ण की ओर देखकर फूट-फूटकर रोने लगी और दुःख से आर्त होकर यों बोली—

पुण्डरीकाक्ष पश्य त्वं पौत्रं पार्थस्य धीमतः ।
परिक्षीणेषु कुरुषु परिक्षीणं गतायुषम् ।।१७।।

"कमलनयन भैया ! तुम अपने मित्र बुद्धिमान् पार्थ के इस पौत्र की अवस्था तो देखो। कौरवों के नष्ट हो जाने पर इसका जन्म हुआ, परन्तु यह भी क्षीणायु होकर नष्ट हो गया।

यदा द्रोणसुतो गर्भान् पाण्डूनां हन्ति माधव ।
तदा किल त्वया द्रौणिः क्रुद्धेनोक्तोऽरिमर्दन ।।१८।।

"शत्रुमर्दन माधव ! जब द्रोणपुत्र अश्वत्थामा पाण्डवों के गर्भों की भी हत्या करने का प्रयत्न कर रहा था, उस समय तुमने क्रुद्ध होकर उससे कहा था--

अकामं त्वां करिष्यामि ब्रह्मबन्धो नराधम ।
अहं संजीवयिष्यामि किरीटितनयात्मजम् ।।१९।।

'ब्रह्मबन्धो ! नराधम ! मैं तेरी इच्छा पूर्ण नहीं होने दूँगा। अर्जुन के पौत्र को मैं अपने प्रभाव से जीवित कर दूँगा।'

यद्येतत् त्वं प्रतिश्रुत्य न करोषि वचः शुभम् ।
सफलं वृष्णिशार्दूल मृतां मामवधारय ।।२०।।

"वृष्णिवंश के सिंह ! यदि तुम ऐसी प्रतिज्ञा करके अपने कल्याणमय वचन का पालन नहीं करोगे तो यह समझ लो सुभद्रा जीवित नहीं रहेगी—मैं अपने प्राण दे दूँगी।

अभिमन्योः सुतो वीर न संजीवति यद्ययम् ।
जीवति त्वयि दुर्धर्ष किं करिष्याम्यहं त्वया ।।२१।।

"दुर्धर्ष वीर ! यदि तुम्हारे जीते-जी अभिमन्यु के इस बालक को जीवनदान न मिला तो तुम मेरे किस काम आओगे ?

संजीवयैनं दुर्धर्ष मृतं त्वमभिमन्युजम् ।
सदृशाक्षसुतं वीर सस्यं वर्षन्निवाम्बुदः ।।२२।।

"अजेय वीर ! जैसे मेघ जल बरसाकर सूखी खेती को हरी-भरी कर देता है, उसी प्रकार तुम अपने ही समान नेत्रोंवाले अभिमन्यु के इस मरे हुए पुत्र को जीवित कर दो।

त्वं हि केशव धर्मात्मा सत्यवान् सत्यविक्रमः ।
स तां वाचमृतां कर्तुमर्हसि त्वमरिन्दम ।।२३।।

"शत्रुदमन केशव ! तुम धर्मात्मा, सत्यवादी और सत्यपराक्रमी हो, अतः तुम्हें अपनी कही हुई बात को सत्य कर दिखाना चाहिए।

प्रभावज्ञास्मि ते कृष्ण तस्मात् त्वां याचयाम्यहम् ।
कुरुष्व पाण्डुपुत्राणामिमं परमनुग्रहम् ।।२४

"श्रीकृष्ण ! मैं तुम्हारे प्रभाव को जानती हूँ, अतः तुमसे याचना करती हूँ। इस बालक को जीवनदान देकर तुम पाण्डवों पर महान् अनुग्रह करो।

स्वसेति वा महाबाहो हतपुत्रेति वा पुनः ।
प्रपन्ना मामियं चेति दयां कर्तुमिहार्हसि ।।२५।।

"महाबाहो ! तुम यह समझकर कि यह मेरी बहिन है, अथवा जिसका पुत्र मर गया है, वह दुखिया है, अथवा शरण में आई हुई एक दयनीय अबला है, मुझपर दया करने योग्य हो।"

एवमुक्तस्तु राजेन्द्र केशिहा दुःखमूर्च्छितः ।
तथेति व्याजहारोच्चैर्ह्लादयन्निव तं जनम् ।।२६।।

हे राजेन्द्र ! सुभद्रा के ऐसा कहने पर केशिहन्ता केशव दुःख से व्याकुल हो उसे प्रसन्न करते हुए-से उच्चस्वर में बोले—"बहिन ! ऐसा ही होगा ।"

ततः स प्राविशत् तूर्णं जन्मवेश्म पितुस्तव ।
अर्चितं पुरुषव्याघ्र सितैर्माल्यैर्यथाविधि ।।२७।।

"पुरुषसिंह ! सुभद्रा से ऐसा कहकर श्रीकृष्ण तुरन्त ही तुम्हारे पिता के जन्मस्थान प्रसूतिकागृह में गये, जो श्वेत पुष्पमालाओं से यथाविधि सजाया गया था ।

अपां कुम्भैः सुपूर्णैश्च विन्यस्तैः सर्वतोदिशम् ।
घृतेन तिन्दुकालातैः सर्षपैश्च महाभुज ।।२८।।

महाबाहो ! उसके चारों ओर जल से भरे हुए कलश रखे गये थे। घी से तर किये हुए तेन्दुक नामक काष्ठ के कई टुकड़े जल रहे थे और यत्र-यत्र सरसों बिखेरी गई थी ।

ददर्श च स तेजस्वी रक्षोघ्नान्यपि सर्वशः ।
द्रव्याणि स्थापितानि स्म विधिवत् कुशलैर्जनैः ।।२९।।

तेजस्वी श्रीकृष्ण ने देखा कि व्यवस्था-कुशल मनुष्यों द्वारा वहाँ सब ओर राक्षसों=रोगकृमियों का निवारण करनेवाली नाना प्रकार की वस्तुएँ विधिपूर्वक रखी गई थीं ।

तथायुक्तं च तद् दृष्ट्वा जन्मवेश्म पितुस्तव ।
हृष्टोऽभवद्धृषीकेशः साधु साध्विति चाब्रवीत् ।।३०।।

तुम्हारे पिता के जन्मस्थान को इस प्रकार आवश्यक वस्तुओं से सुसज्जित देखकर श्रीकृष्ण अति प्रसन्न हुए और "बहुत सुन्दर" कहकर उस प्रबन्ध की प्रशंसा करने लगे।

तथा ब्रुवति वार्ष्णेये वैराटी वाक्यमब्रवीत् ।
पुण्डरीकाक्ष पश्यावां बालेन हि विनाकृतौ ।
अभिमन्युं च मां चैव हतौ तुल्यं जनार्दन ।।३१।।

जब श्रीकृष्ण उस सुप्रबन्ध की प्रशंसा कर रहे थे, उस समय विराटपुत्री उत्तरा बोली—"कमल-नयन ! जनार्दन ! देखिए, आज मैं और मेरे पति दोनों ही सन्तानहीन हो गये । आर्यपुत्र तो युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए हैं, परन्तु मैं पुत्रशोक से मारी गई। इस प्रकार हम दोनों समान रूप से ही मृत्यु के ग्रास बन गये हैं।

वार्ष्णेय मधुहन् वीर शिरसा त्वां प्रसादये ।
द्रोणपुत्रास्त्रनिर्दग्धं जीवयैनं ममात्मजम् ।।३२।।

"हे वृष्णिनन्दन ! वीर मधुसूदन ! मैं आपके चरणों में मस्तक रखकर आपका कृपाप्रसाद प्राप्त करना चाहती हूँ । द्रोणपुत्र अश्वत्थामा के अस्त्र से दग्ध हुए मेरे इस पुत्र को जीवित कर दीजिए ।

सा त्वां प्रसाद्य शिरसा याचे शत्रुनिबर्हणम् ।
प्राणांस्त्यक्ष्यामि गोविन्द नायं संजीवते यदि ।।३३।।

"गोविन्द ! मैं शत्रुसंहारक आपके चरणों में मस्तक रखकर आपको प्रसन्न करके आपसे इस बालक के प्राणों की भीख माँगती हूँ । यदि यह जीवित नहीं हुआ तो मैं भी अपने प्राण दे दूंगी ।

आसीन्मम मतिः कृष्ण पुत्रोत्सङ्गा जनार्दन ।
अभिवादयिष्ये हृष्टेति तदिदं वितथीकृतम् ।।३४।।

"श्रीकृष्ण ! जनार्दन ! मेरी बड़ी अभिलाषा थी कि अपने इस बच्चे को गोद में लेकर मैं प्रसन्नता-पूर्वक आपके चरणों में अभिवादन करूँगी, किन्तु अब वह व्यर्थ हो गई ।

कृतघ्नोऽयं नृशंसोऽयं यथास्य जनकस्तथा ।
यः पाण्डवीं श्रियं त्यक्त्वा गतोऽद्य यमसादनम् ।।३५।।

"यह बालक भी अपने पिता के ही समान कृतघ्न और नृशंस है, जो पाण्डवों की राज्यलक्ष्मी को त्याग-कर आज अकेला ही यमलोक सिधार गया ।"

सैवं विलप्य करुणं सोन्मादेव तपस्विनी ।
उत्तरा न्यपतद् भूमौ कृपणा पुत्रगृद्धिनी ।।३६।।

जनमेजय ! पुत्र का जीवन चाहनेवाली तपस्विनी उत्तरा उन्मादिनी-सी होकर और दीनभाव से करुण विलाप करके भूमि पर गिर पड़ी ।

तां तु दृष्ट्वा निपतितां हतपुत्रपरिच्छदाम् ।
चुक्रोश कुन्ती दुःखार्ता सर्वाश्च भरतस्त्रियः ।।३७।।

जिसका पुत्ररूपी परिवार नष्ट हो गया था, उस उत्तरा को पृथिवी पर पड़ी हुई देख दुःख से व्याकुल कुन्ती एवं भरतवंश की सभी स्त्रियाँ फूट-फूटकर रोने लगीं ।

प्रतिलभ्य तु सा संज्ञामुत्तरा भरतर्षभ ।
अङ्कमारोप्य तं पुत्रमिदं वचनमब्रवीत् ।।३८।।

भरतभूषण ! थोड़ी देर पश्चात् जब उत्तरा होश में आई, तब उस मरे हुए पुत्र को गोद में लेकर यूँ कहने लगी—

धर्मज्ञस्य सुतः स त्वमधर्मं नावबुध्यसे ।
यस्त्वं वृष्णिप्रवीरस्य कुरुषे नाभिवादनम् ।।३९।।

"बेटा ! तू तो धर्मज्ञ पिता का पुत्र है, फिर तेरे द्वारा जो अधर्म कार्य हो रहा है, उसे तू क्यों नहीं समझता ? वृष्णिवंश के श्रेष्ठ वीर श्रीकृष्ण तेरे सामने खड़े हैं, तो भी तू इनका अभिवादन क्यों नहीं करता ।

उत्तिष्ठ पुत्र पश्येमां दुःखितां प्रपितामहीम् ।
आर्तामुपप्लुतां दीनां निमग्नां शोकसागरे ।।४०।।

"पुत्र ! तू उठकर खड़ा हो जा । देख ! ये तेरी परदादी [कुन्ती] कितनी दुःखी हैं । ये तेरे लिए आर्त, व्यथित और दीन होकर शोकसागर में डूब गई हैं ।

आर्यां च पश्य पाञ्चालीं सात्वतीं च तपस्विनीम् ।
मां च पश्य सुदुःखार्तां व्याधविद्धां मृगीमिव ।।४१

"आर्या पाञ्चाली [द्रौपदी] की ओर निहार, अपनी दादी तपस्विनी सुभद्रा की ओर दृष्टिपात कर और व्याध के बाणों से बिंधी हुई हरिणी की भांति दुःख से अत्यन्त पीड़ित हुई मुझ अपनी मां को भी टुक देख ले ।"

एवं विप्रलपन्तीं तु दृष्ट्वा निपतितां पुनः ।
उत्तरां तां स्त्रियः सर्वाः पुनरुत्थापयंस्ततः ।।४२।।

इस प्रकार विलाप करती हुई उत्तरा को पुनः भूमि पर गिरी हुई देख सब स्त्रियों ने उसे फिर उठाकर बैठाया ।

उत्थाय च पुनर्धैर्यात् तदा मत्स्यपतेः सुता ।
प्राञ्जलिः पुण्डरीकाक्षं भूमावेवाभ्यवादयत् ।।४३।।

पुनः उठकर और धैर्य धारण करके मत्स्य-राजकुमारी उत्तरा ने पृथिवी पर ही हाथ जोड़कर कमलनयन श्रीकृष्ण को प्रणाम किया ।

श्रुत्वा स तस्या विपुलं विलापं पुरुषर्षभः ।
उपस्पृश्य ततः कृष्णो ब्रह्मास्त्रं प्रत्यसंहरत् ।।४४।।

उसका महान् विलाप सुनकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने आचमन करके अश्वत्थामा के चलाये हुए ब्रह्मास्त्र को शान्त कर दिया ।

प्रतिजज्ञे च दाशार्हस्तस्य जीवितमच्युतः ।
अब्रवीच्च विशुद्धात्मा सर्वं विश्रावयञ्जगत् ।।४५।।

तत्पश्चात् विशुद्ध हृदयवाले और अपनी महिमा से कभी विचलित न होनेवाले श्रीकृष्ण ने उस बालक को जीवित करने की प्रतिज्ञा की और सम्पूर्ण जगत् को सुनाते हुए इस प्रकार कहा—

न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतद् भविष्यति ।
एष संजीवयाम्येनं पश्यतां सर्वदेहिनाम् ।।४६।।

"पुत्री उत्तरा ! मैं असत्य नहीं बोलता । मैंने जो प्रतिज्ञा की है, वह सत्य होकर ही रहेगी । देखो, मैं समस्त प्राणियों के देखते-देखते अभी इस बालक को जिलाये देता हूं ।

नोक्तपूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन ।
न च युद्धात्परावृत्तस्तथा संजीवतामयम् ।।४७।।

"मैंने खेल-कूद में भी कभी मिथ्या भाषण नहीं किया है और न कभी युद्ध में पीठ दिखाई है । इस शक्ति के प्रभाव से अभिमन्यु का यह बालक जीवित हो जाए ।

यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणाश्च विशेषतः ।
अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयं तथा ।।४८।।

"यदि धर्म और ब्राह्मण मुझे विशेष प्रिय हों तो अभिमन्यु का यह पुत्र, जो उत्पन्न होते ही मर गया था, पुनः जीवित हो जाए ।

यथाहं नाभिजानामि विजये तु कदाचन ।
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः ।।४९।।

"मैंने कभी अर्जुन से विरोध किया हो, मुझे इसका स्मरण नहीं, इस सत्य के प्रभाव से यह मरा हुआ बालक तुरन्त जीवित हो जाए ।

यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः ।।५०।।

"यदि मुझमें सत्य और धर्म की निरन्तर स्थिति बनी रहती हो तो अभिमन्यु का यह मरा हुआ बालक जी उठे ।

यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया ।
तेन सत्येन बालोऽयं पुनः संजीवतामयम् ।।५१।।

"मैंने कंस और केशी का धर्म के अनुसार वध किया है, इस सत्य के प्रभाव से यह बालक पुनः जीवित हो जाए ।"

इत्युक्तो वासुदेवेन स बालो भरतर्षभ ।
शनैः शनैर्महाराज प्रास्पन्दत सचेतनः ।।५२।।

भरतभूषण ! महाराज ! श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर उस बालक में चेतना आ गई और वह धीरे-धीरे अङ्गसंचालन करने लगा ।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

पञ्चमोऽध्याय।

श्रीकृष्ण द्वारा राजा परिक्षित् का नामकरण, पाण्डवों का हस्तिनापुर के समीप आगमन और स्वागत, व्यास और श्रीकृष्ण का युधिष्ठिर को यज्ञ के लिए आज्ञा देना

वैशम्पायन उवाच

व्यचेष्टत च बालोऽसौ यथोत्साहं यथाबलम् ।
बभूवुर्मुदिता राजंस्ततस्ता भरतस्त्रियः ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उत्तरा का वह बालक अपने उत्साह और बल के अनुसार हाथ-पैर हिलाने लगा, यह देख भरतवंश की उन सभी स्त्रियों को अति प्रसन्नता हुई ।

उत्थाय तु यथाकालमुत्तरा यदुनन्दनम् ।
अभ्यवादयत प्रीता सह पुत्रेण भारत ।।२।।

भरतनन्दन ! फिर प्रसन्न हुई उत्तरा यथासमय उठकर पुत्र को गोद में लिये हुए यदुनन्दन श्रीकृष्ण के समीप आई और उन्हें प्रणाम किया ।

बहुरत्नं ददौ कृष्णो नाम चास्याकरोत् प्रभुः ।
पितुस्तव महाराज सत्यसंधो जनार्दनः ।।३।।
परिक्षीणे कुले यस्माज्जातोऽयमभिमन्युजः ।
परिक्षिदिति नामास्य भवत्वित्यब्रवीत् तदा ।।४।।

श्रीकृष्ण ने बालक को बहुत-से रत्न उपहार में दिये । महाराज ! तत्पश्चात् सत्यप्रतिज्ञ श्रीकृष्ण ने तुम्हारे पिता का नामकरण किया—"कुरुकुल के परिक्षीण हो जाने पर यह अभिमन्यु का पुत्र उत्पन्न हुआ है, अतः इसका नाम परिक्षित् होना चाहिए" ऐसा उन्होंने कहा ।

सोऽवर्धत यथाकालं पिता तव जनाधिप ।
मनः प्रह्लादनश्चासीत् सर्वलोकस्य भारत ।।५।।

प्रजेश्वर ! इस प्रकार नामकरण हो जाने के पश्चात् तुम्हारे पिता परिक्षित् कालक्रम से बड़े होने लगे । हे भारत ! वे सब लोगों के मन को आनन्द-मग्न किये रहते थे ।

मासजातस्तु ते वीर पिता भवति भारत ।
अथाजग्मुः सुबहुलं रत्नमादाय पाण्डवाः ।।६।।

वीर भरतनन्दन ! जब तुम्हारे पिता की अवस्था एक मास की हो गई, उस समय पाण्डव लोग अतुल रत्न-राशि लेकर लौटे ।

तान् समीपागताञ्श्रुत्वा निर्ययुर्वृष्णिपुङ्गवाः ।
अलंचक्रुश्च माल्यौघैः पुरुषा नागसाह्वयम् ।।७।।

वृष्णिवंश के प्रमुख वीरों ने जब सुना कि पाण्डव लोग नगर के समीप आ गये हैं, तब वे उनके स्वागत के लिए बाहर निकले और पुरवासी पुरुषों ने हस्तिनापुर को पुष्पमालाओं से सजाया ।

वासुदेवः सहामात्यः प्रययौ ससुहृद्गणः ।
ते समेत्य यथान्यायं प्रत्युद्यता दिदृक्षया ।।८।।

श्रीकृष्ण अपने मित्रों और मन्त्रियों के साथ उनसे मिलने के लिए चले । उन सब लोगों ने पाण्डवों का आगे बढ़कर स्वागत किया और सब यथायोग्य एक-दूसरे से मिले ।

ते समेत्य यथान्यायं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
कीर्तयन्तः स्वनामानि तस्य पादौ ववन्दिरे ।।९।।

वे यथायोग्य सबसे मिलकर राजा धृतराष्ट्र के पास गये और अपना-अपना नाम बताते हुए धृतराष्ट्र के चरणों में प्रणाम करने लगे ।

धृतराष्ट्रादनु च ते गान्धारीं सुबलात्मजाम् ।
कुन्तीं च राजशार्दूल तदा भरतसत्तम ।।१०।।

नृपश्रेष्ठ ! भरतभूषण ! धृतराष्ट्र से मिलने के पश्चात् वे सुबलपुत्री गान्धारी और कुन्ती से मिले ।

ततस्तत् परमाश्चर्यं विचित्रं महदद्भुतम् ।
शुश्रुवुस्ते तदा वीराः पितुस्ते जन्म भारत ।।११।।

भारत ! सबसे मिलने के पश्चात् उन वीरों ने तुम्हारे पिता के जन्म का वह आश्चर्यपूर्ण, विचित्र, महान् एवं अद्भुत वृत्तान्त सुना ।

तदुपश्रुत्य तत्कर्म वासुदेवस्य धीमतः ।
पूजार्हं पूजयामासुः कृष्णं देवकिनन्दनम् ॥१२॥

परम बुद्धिमान् श्रीकृष्ण का वह अलौकिक कर्म सुनकर पाण्डवों ने उन पूजनीय देवकीनन्दन श्रीकृष्ण का विशेष आदर-सत्कार किया ।

ततः कतिपयाहस्य व्यासः सत्यवतीसुतः ।
आजगाम महातेजा नगरं नागसाह्वयम् ॥१३॥

कुछ दिनों के पश्चात् महातेजस्वी सत्यवती-कुमार व्यासजी हस्तिनापुर में पधारे ।

तस्य सर्वे यथान्यायं पूजां चक्रुः कुरूद्वहाः ।
सह वृष्ण्यन्धकव्याघ्रैरुपासांचक्रिरे तदा ॥१४॥

कुरुकुल-तिलक समस्त पाण्डवों ने उनका यथोचित स्वागत-सत्कार किया । फिर वृष्णि तथा अन्धक-वंशी वीरों के साथ वे उनकी सेवा में बैठ गये ।

तत्र नानाविधाकाराः कथाः समभिकीर्त्य वै ।
युधिष्ठिरो धर्मसुतो व्यासं वचनमब्रवीत् ॥१५॥

वहाँ नाना प्रकार की बातें करके धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने व्यासजी से इस प्रकार कहा—

भवत्प्रसादाद् भगवन् यदिदं रत्नमाहृतम् ।
उपयोक्तुं तदिच्छामि वाजिमेधे महाक्रतौ ॥१६॥

"भगवन् ! आपकी कृपा से जो रत्न-राशि लाई गई है, उसका अश्वमेध नामक महायज्ञ में मैं उपयोग करना चाहता हूँ ।

तदनुज्ञातुमिच्छामि भवता मुनिसत्तम ।
त्वदधीना वयं सर्वे कृष्णस्य च महात्मनः ॥१७॥

"मुनिश्रेष्ठ ! मैं चाहता हूँ कि इसके लिए आपकी आज्ञा प्राप्त हो जाए, क्योंकि हम सब लोग आप और महात्मा श्रीकृष्ण के अधीन हैं ।"

व्यास उवाच

अनुजानामि राजंस्त्वां क्रियतां तदनन्तरम् ।
यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता ॥१८॥

व्यासजी ने कहा—राजन् ! मैं तुम्हें यज्ञ के लिए आज्ञा देता हूँ । अब जो भी आवश्यक कार्य हो उसे आरम्भ करो । विधिपूर्वक दक्षिणा देते हुए अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करो ।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तु धर्मात्मा कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
अश्वमेधस्य कौरव्य चकाराहरणे मतिम् ॥१९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! व्यासजी के ऐसा कहने पर धर्मात्मा कुरुराज युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ आरम्भ करने का विचार किया ।

समनुज्ञाप्य तत् सर्वं कृष्णद्वैपायनं नृपः ।
वासुदेवमथाभ्येत्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥२०॥

श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी से सब बातों के लिए आज्ञा ले, बोलने में चतुर राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्ण के पास जाकर इस प्रकार बोले—

त्वत्प्रभावार्जितान् भोगानश्नीम यदुनन्दन ।
दीक्षयस्व त्वमात्मानं त्वं हि नः परमो गुरुः ॥२१॥

"यदुनन्दन ! हम आपके ही प्रभाव से प्राप्त भोगों को भोग रहे हैं, अतः आप ही इस यज्ञ की दीक्षा ग्रहण करें, क्योंकि आप हमारे परम गुरु हैं ।"

वासुदेव उवाच

त्वमेवैतन्महाबाहो वक्तुमर्हस्यरिन्दम ।
गुणीभूताः स्म ते राजंस्त्वं नो राजा गुरुर्मतः ॥२२॥

श्रीकृष्ण बोले—महाबाहो ! ऐसा कथन आपकी महिमा प्रकट करता है । हम लोग तो आपके अनुयायी हैं और आपको अपना राजा एवं गुरु मानते हैं ।

यजस्व मदनुज्ञातः प्राप्य एष क्रतुस्त्वया ।
युनक्तु नो भवान् कार्ये यत्र वाञ्छसि भारत ॥२३॥

अतः हे भारत ! हमारी अनुमति से आप स्वयं ही इस यज्ञ का अनुष्ठान कीजिए तथा हम लोगों में से जिसको जिस काम पर लगाना चाहें, उसे उस काम की आज्ञा दीजिए ।

सत्यं ते प्रतिजानामि सर्वं कर्तास्मि तेऽनघ ।
भीमसेनार्जुनौ चैव तथा माद्रवतीसुतौ ।
इष्टवन्तो भविष्यन्ति त्वयीष्टवति पार्थिवे ॥२४॥

निष्पाप नरेश ! मैं आपके सामने सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ कि आप जो कुछ कहेंगे, मैं वह सब करूँगा । आप राजा हैं । आपके द्वारा यज्ञ होने पर भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव को भी यज्ञानुष्ठान का फल मिल जाएगा ।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

व्यासजी की आज्ञा से अश्व की रक्षा के लिए अर्जुन की, राज्यरक्षा के लिए भीम और नकुल तथा कुटुम्बपालन के लिए सहदेव की नियुक्ति

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कृष्णेन धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
व्यासमामन्त्र्य मेधावी ततो वचनमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर मेधावी धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने व्यासजी को सम्बोधित करके कहा—

यदा कालं भवान् वेत्ति हयमेधस्य तत्त्वतः ।
दीक्षयस्व तदा मां त्वं त्वय्यायत्तो हि मे क्रतुः ॥२॥

"भगवन् ! जब आपको अश्वमेध यज्ञ आरम्भ करने का ठीक समय जान पड़े, तभी आकर मुझे उसकी दीक्षा दें, क्योंकि मेरा यज्ञ आपके ही अधीन है।"

व्यास उवाच

अहं पैलोऽथ कौन्तेय याज्ञवल्क्यस्तथैव च ।
विधानं यद् यथाकालं तत् कर्तारो न संशयः ॥३॥

व्यासजी बोले—कुन्तीकुमार ! जब यज्ञ का समय आएगा, उस समय मैं, पैल और याज्ञवल्क्य—ये सब आकर तुम्हारे यज्ञ का सारा विधि-विधान सम्पन्न करेंगे, इसमें संशय नहीं है ।

चैत्र्यां हि पौर्णमास्यां तु तव दीक्षा भविष्यति ।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां च यज्ञार्थं पुरुषर्षभ ॥४॥

पुरुषश्रेष्ठ ! आगामी चैत्र की पूर्णिमा को तुम्हें यज्ञ की दीक्षा दी जाएगी, तबतक तुम उसके लिए सामग्री एकत्र करो ।

अश्वविद्याविदश्चैव सूता विप्राश्च तद्विदः ।
मेध्यमश्वं परीक्षन्तां तव यज्ञार्थसिद्धये ॥५॥

अश्वविद्या के ज्ञाता सूत और ब्राह्मण यज्ञ के प्रयोजन की सिद्धि के लिए पवित्र अश्व की परीक्षा करें ।

तमुत्सृज यथाशास्त्रं पृथिवीं सागराम्बराम् ।
स पर्येतु यशो दीप्तं तव पार्थिव दर्शयन् ॥६॥

भूपाल ! जो अश्व चुना जाए, उसे शास्त्रीय विधि के अनुसार छोड़ो और वह तुम्हारे दीप्तिमान् यश का विस्तार करता हुआ समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथिवी पर विचरे ।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा पाण्डवः पृथिवीपतिः ।
चकार सर्वं राजेन्द्र यथोक्तं ब्रह्मवादिना ॥७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजेन्द्र ! यह सुनकर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर ने "बहुत अच्छा" कहकर ब्रह्मवादी व्यासजी के कथनानुसार सारा कार्य सम्पन्न किया ।

ततोऽब्रवीन्महातेजा व्यासो धर्मात्मजं नृपम् ।
यथाकालं यथायोगं सज्जाः स्म तव दीक्षणे ॥८॥

सारी तैयारी हो जाने पर महातेजस्वी व्यास ने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर से कहा—"राजन् ! हम लोग यथासमय उत्तम योग आने पर तुम्हें दीक्षा देने को तैयार हैं ।

स्फ्यश्च कूर्चश्च सौवर्णो यच्चान्यदपि कौरव ।
यत्र योग्यं भवेत्किञ्चद्रौक्मं तत्क्रियतामिति ॥९॥

"कुरुनन्दन ! इस बीच में तुम सोने के स्फ्य[1] और कूर्च[2] बनवा लो तथा यज्ञ के अन्य भी जो सुवर्णमय सामान आवश्यक हों, उन्हें तैयार करा डालो ।

अश्वोत्सृज्यतामद्य पृथ्व्यामथ यथाक्रमम् ।
सुगुप्तं चरतां चापि यथाशास्त्रं यथाविधि ॥१०॥

"आज शास्त्रीय विधि के अनुसार यज्ञ-सम्बन्धी अश्व को क्रमशः सारी पृथिवी पर विचरने के लिए छोड़ना चाहिए और ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे वह सुरक्षित रूप से सब ओर विचरण करे ।

युधिष्ठिर उवाच

अयमश्वो यथा ब्रह्मन्नुत्सृष्टः पृथिवीमिमाम् ।
चरिष्यति यथाकामं तत्र वै संविधीयताम् ॥११॥

---

१. यज्ञों में प्रयुक्त होनेवाला तलवार के आकार का एक उपकरण ।

२. यज्ञ-स्थल की सफाई के लिए झाड़ू अथवा मुट्ठीभर कुशा ।

पृथिवीं पर्यटन्तं हि तुरगं कामचारिणम् ।
कः पालयेदिति मुने तद् भवान् वक्तुमर्हति ।।१२।।

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन् ! यह घोड़ा उपस्थित है। इसे किस प्रकार छोड़ा जाए जिससे यह सम्पूर्ण पृथिवी पर इच्छानुसार विचरण कर आये—इसकी व्यवस्था आप ही कीजिए। मुने ! साथ ही यह भी बताइए कि भूमण्डल में इच्छानुसार विचरनेवाले इस घोड़े की रक्षा कौन करे ?

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तु राजेन्द्र कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
भीमसेनादवरजः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ।।१३।।
जिष्णुः सहिष्णुर्धृष्णुश्च स एनं पालयिष्यति ।
शक्तः स हि महीं जेतुं निवातकवचान्तकः ।।१४।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजेन्द्र ! युधिष्ठिर के इस प्रकार पूछने पर श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास ने कहा—"राजन् ! अर्जुन सब धनुर्धारियों में श्रेष्ठ हैं। वे विजय में उत्साह रखनेवाले, सहनशील और धैर्यवान् हैं, अतः वे ही इस अश्व की रक्षा करेंगे। निवातकवचों का विनाश करनेवाले अर्जुन सम्पूर्ण भूमण्डल को जीतने की शक्ति रखते हैं।

भीमसेनोऽपि तेजस्वी कौन्तेयोऽमितविक्रमः ।
समर्थो रक्षितुं राष्ट्रं नकुलश्च विशाम्पते ।।१५।।

"नरेश्वर ! कुन्तीपुत्र भीमसेन भी अत्यन्त तेजस्वी और अमित पराक्रमी हैं। नकुल में भी वे ही गुण हैं। ये दोनों ही राज्य की रक्षा करने में पूर्ण समर्थ हैं [अतः ये राज्य-कार्य की देख-भाल करें]।

सहदेवस्तु कौरव्य समाधास्यति बुद्धिमान् ।
कुटुम्बतन्त्रं विधिवत् सर्वमेव महायशाः ।।१६।।

"कुरुनन्दन ! महायशस्वी बुद्धिमान् सहदेव कुटुम्ब के पालन-पोषण सम्बन्धी समस्त कार्यों की देख-भाल करेंगे।"

वैशम्पायन उवाच

तत्तु सर्वं यथान्यायमुक्तः कुरुकुलोद्वहः ।
चकार फाल्गुनं चापि संदिदेश हयं प्रति ।।१७।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! व्यासजी के इस प्रकार बतलाने पर कुरुकुलतिलक युधिष्ठिर ने सारा कार्य उसी प्रकार यथोचित रीति से सम्पन्न किया और अर्जुन को बुलाकर घोड़े की रक्षा के लिए इस प्रकार आदेश दिया—

युधिष्ठिर उवाच

एह्यर्जुन त्वया वीर हयोऽयं परिपाल्यताम् ।
त्वमर्हो रक्षितुं ह्येनं नान्यः कश्चन मानवः ।।१८।।

युधिष्ठिर ने कहा—वीर अर्जुन ! यहाँ आओ। तुम इस घोड़े की रक्षा करो, क्योंकि तुम्हीं इसकी रक्षा करने में समर्थ हो। दूसरा कोई मनुष्य इसकी रक्षा करने के योग्य नहीं है।

ये चापि त्वां महाबाहो प्रत्युद्यान्ति नराधिपाः ।
तैर्विग्रहो यथा न स्यात् तथा कार्यं त्वयानघ ।।१९।।

महाबाहो ! निष्पाप अर्जुन ! अश्व की रक्षा के समय जो राजा तुम्हारे समक्ष आएँ, उनके साथ युद्ध न करना पड़े, इसकी तुम्हें भरसक चेष्टा करनी चाहिए।

आख्यातव्यश्च भवता यज्ञोऽयं मम सर्वशः ।
पार्थिवेभ्यो महाबाहो समये गम्यतामिति ।।२०।।

महाबाहो ! मेरे इस यज्ञ का समाचार तुम समस्त भूपालों का सुनाना और उनसे यह कहना कि आप लोग यथासमय यज्ञ में पधारें।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा भ्रातरं सव्यसाचिनम् ।
भीमं च नकुलं चैव पुरगुप्तौ समादधात् ।।२१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अपने भाई सव्यसाची अर्जुन से ऐसा कहकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ने भीमसेन और नकुल को नगर की रक्षा पर नियुक्त कर दिया।

कुटुम्बतन्त्रे च तदा सहदेवं युधां पतिम् ।
अनुमान्य महीपालं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरः ।।२२।।

फिर महाराज धृतराष्ट्र की अनुमति लेकर युधिष्ठिर ने योद्धाओं के स्वामी सहदेव को कुटुम्ब-पालन-सम्बन्धी कार्य सौंप दिया।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

सप्तमोऽध्यायः

सेनासहित अर्जुन द्वारा घोड़े का अनुसरण, त्रिगर्तों और प्राग्ज्योतिषपुर के राजा वज्रदत्त के साथ युद्ध और उनकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

दीक्षाकाले तु सम्प्राप्ते ततस्ते सुमहर्त्विजः ।
विधिवद् दीक्षयामासुरश्वमेधाय पार्थिवम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब दीक्षा का समय आया, तब उन व्यासजी आदि महान् ऋत्विजों ने राजा युधिष्ठिर को विधिपूर्वक अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा दी ।

हयश्च हयमेधार्थं स्वयं स ब्रह्मवादिना ।
उत्सृष्टः शास्त्रविधिना व्यासेनामिततेजसा ॥२॥

अमित तेजस्वी ब्रह्मवादी व्यासजी ने अश्वमेध यज्ञ के लिए चुने गये अश्व को स्वयं ही शास्त्रीय विधि के अनुसार छोड़ा ।

श्वेताश्वः कृष्णसारं तं ससाराश्वं धनञ्जयः ।
विधिवत् पृथिवीपाल धर्मराजस्य शासनात् ॥३॥

भूपाल जनमेजय ! श्वेत घोड़ोंवाले अर्जुन ने धर्मराज युधिष्ठिर के आदेश से उस यज्ञीय घोड़े का विधिपूर्वक अनुसरण किया ।

स हयः पृथिवीं राजन् प्रदक्षिणमवर्तत ।
ससारोत्तरतः पूर्वं तन्निबोध महीपते ॥४॥
अवमृद्नन् स राष्ट्राणि पार्थिवानां हयोत्तमः ।
शनैस्तदा परिययौ श्वेताश्वश्च महारथः ॥५॥

भूपाल ! वह घोड़ा पृथिवी की प्रदक्षिणा करने लगा । सबसे पहले वह उत्तर दिशा की ओर गया । फिर राजाओं के अनेक राज्यों को रौंदता हुआ वह श्रेष्ठ घोड़ा पूर्व की ओर मुड़ गया । उस समय श्वेत-वाहन महारथी अर्जुन धीरे-धीरे उस घोड़े के पीछे जा रहे थे ।

तत्र संगणना नास्ति राज्ञामयुतशस्तदा ।
येऽयुध्यन्त महाराज क्षत्रिया हतबान्धवाः ॥६॥

महाराज ! महाभारत-युद्ध में जिनके भाई-बन्धु मारे गये थे, ऐसे जिन-जिन क्षत्रियों ने उस समय अर्जुन के साथ युद्ध किया, उन सहस्रों नरेशों की कोई गिनती नहीं थी ।

किराता यवना राजन् बहवोऽसिधनुर्धराः ।
म्लेच्छाश्चान्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृता रणे ॥७॥

हे राजन् ! तलवार और धनुषधारी बहुत-से किरात, यवन और म्लेच्छ—जो पहले महाभारत-युद्ध में पाण्डवों द्वारा परास्त किये गये थे, अर्जुन का सामना करने के लिए आये ।

आर्याश्च पृथिवीपालाः प्रहृष्टनरवाहनाः ।
समीयुः पाण्डुपुत्रेण बहवो युद्धदुर्मदाः ॥८॥

हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों और वाहनों से युक्त बहुत-से रण-दुर्मद आर्यनरेश भी पाण्डुपुत्र अर्जुन से भिड़े थे ।

एवं वृत्तानि युद्धानि तत्र तत्र महीपते ।
अर्जुनस्य महीपालैर्नानादेशसमागतैः ॥९॥

भूपाल ! इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों में नाना देशों से आये हुए राजाओं के साथ अर्जुन को अनेक बार युद्ध करने पड़े ।

यानि तूभयतो राजन् प्रतप्तानि महान्ति च ।
तानि युद्धानि वक्ष्यामि कौन्तेयस्य तवानघ ॥१०॥

निष्पाप नरेश ! जो युद्ध दोनों पक्ष के योद्धाओं के लिए अधिक कष्टदायक और महान् थे, अर्जुन के उन्हीं युद्धों का मैं यहाँ तुम्हारे लिए वर्णन करूँगा ।

त्रिगर्तैरभवद् युद्धं कृतवैरैः किरीटिनः ।
महारथसमाज्ञातैर्हतानां पुत्रनप्तृभिः ॥११॥

राजन् ! महाभारत-युद्ध में जो त्रिगर्त वीर मारे गये थे, उनके महारथी पुत्रों और पौत्रों ने किरीट-धारी अर्जुन के साथ वैर बाँध लिया था । त्रिगर्त देश में जाने पर अर्जुन का उन त्रिगर्तों के साथ घोर युद्ध हुआ था ।

ते समाज्ञाय सम्प्राप्तं यज्ञियं तुरगोत्तमम् ।
विषयान्तं ततो वीरा दंशिताः पर्यवारयन् ॥१२॥
रथिनो बद्धतूणीराः सदश्वैः समलंकृतैः ।
परिवार्य हयं राजन् ग्रहीतुं सम्प्रचक्रमुः ॥१३॥

"पाण्डवों का यज्ञ-सम्बन्धी श्रेष्ठ घोड़ा हमारे राज्य की सीमा में आ पहुँचा है" यह जानकर त्रिगर्त-

वीर कवच आदि से सुसज्जित हो, पीठ पर तरकस बाँधे सजे-सजाये उत्तम घोड़ों से जुते हुए रथों पर बैठकर निकले और उस घोड़े को उन्होंने चारों ओर से घेर लिया। राजन्! घोड़े को घेरकर वे उसे पकड़ने का प्रयत्न करने लगे।

ततः किरीटी संचिन्त्य तेषां तत्र चिकीर्षितम्।
तान् निवर्तध्वमित्याह न न्यवर्तन्त चापि ते ॥१४॥

किरीटधारी अर्जुन यह जान गये कि वे क्या करना चाहते हैं। उनके मनोभाव को जानकर अर्जुन ने त्रिगर्तों को कहा—"लौट जाओ" परन्तु वे नहीं लौटे।

ततस्त्रिगर्तराजानं सूर्यवर्माणमाहवे।
विचित्य शरजालेन प्रजहास धनञ्जयः ॥१५॥

तब उस युद्धस्थल में त्रिगर्तराज सूर्यवर्मा के सारे अङ्गों में बाण धँसाकर अर्जुन हँसने लगे।

ततो योधान् जघानाशु तेषां स दश चाष्ट च।
महेन्द्रवज्रप्रतिमैरायसैर्बहुभिः शरैः ॥१६॥

तत्पश्चात् उन्होंने इन्द्र के वज्र की भाँति दुःसह लौहनिर्मित बहुसंख्यक बाणों द्वारा बात-की-बात में उन [त्रिगर्तों] के अठारह प्रमुख योद्धाओं को यमलोक पठा दिया।

तान्सम्प्रभग्नान्सम्प्रेक्ष्य त्वरमाणो धनञ्जयः।
शरैराशीविषाकारैर्जघान स्वनवद्धसन् ॥१७॥

फिर तो त्रिगर्तों में भगदड़ मच गई। उन्हें भागते देख अर्जुन ने जोर-जोर से हँसते हुए अत्यन्त उतावली के साथ सर्पाकार बाणों के द्वारा उन सबको मारना आरम्भ किया।

ते भग्नमनसः सर्वे त्रैगर्तमहारथाः।
दिशोऽभिदुद्रुवू राजन् धनञ्जयशरार्दिताः ॥१८॥

राजन्! अर्जुन के बाणों से पीड़ित हुए समस्त त्रिगर्तदेशीय महारथियों का युद्धविषयक उत्साह नष्ट हो गया; अतः वे चहुँ ओर भाग खड़े हुए।

त ऊचुः पुरुषव्याघ्रं संशप्तकनिषूदनम्।
तव स्म किंकराः सर्वे सर्वे वै वशगास्तव ॥१९॥

उनमें से कितने ही संशप्तकसूदन पुरुषसिंह अर्जुन से इस प्रकार कहने लगे—"कुन्तीकुमार! हम सब आपके आज्ञाकारी सेवक हैं और सभी सदा आपके अधीन रहेंगे।"

एतदाज्ञाय वचनं सर्वांस्तानब्रवीत् तदा।
जीवितं रक्षत नृपाः शासनं प्रतिगृह्यताम् ॥२०॥

उनकी ये बातें सुनकर अर्जुन ने उनसे कहा—"राजाओ! अपने प्राणों की रक्षा करो। इसका एक ही उपाय है, हमारा शासन स्वीकार कर लो।"

प्राग्ज्योतिषमथाभ्येत्य व्यचरत् स हयोत्तमः।
भगदत्तात्मजस्तत्र निर्ययौ रणकर्कशः ॥२१॥
स हयं पाण्डुपुत्रस्य विषयान्तमुपागतम्।
युयुधे भरतश्रेष्ठ वज्रदत्तो महीपतिः ॥२२॥

जनमेजय! त्रिगर्तों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् वह घोड़ा प्राग्ज्योतिषपुर के पास पहुँचकर विचरने लगा। वहाँ भगदत्त का पुत्र वज्रदत्त राज्य करता था, जो युद्ध में अति कठोर था। भरतभूषण! जब उसे पता लगा कि पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर का घोड़ा मेरे राज्य की सीमा में आ गया है, तब वह युद्ध के लिए तैयार होकर नगर से बाहर निकला।

सोऽभिनिर्याय नगराद् भगदत्तसुतो नृपः।
अश्वमायन्तमुन्मथ्य नगराभिमुखो ययौ ॥२३॥

नगर से बाहर निकलकर भगदत्तपुत्र राजा वज्रदत्त ने अपनी ओर आते हुए घोड़े को बलपूर्वक पकड़ लिया और उसे साथ लेकर वह नगर की ओर चला।

तमालक्ष्य महाबाहुः कुरूणामृषभस्तदा।
गाण्डीवं विक्षिपंस्तूर्णं सहसा समुपाद्रवत् ॥२४॥

उसको ऐसा करते देख कुरुश्रेष्ठ महाबाहु अर्जुन ने गाण्डीव धनुष को टंकारते हुए सहसा वेगपूर्वक उसपर आक्रमण किया।

स वारणं नगप्रख्यं प्रभिन्नकरटामुखम्।
प्रेषयामास संक्रुद्धः श्वेताश्वं प्रति पार्थिवः ॥२५॥

तब क्रोध में भरे हुए राजा वज्रदत्त ने भी श्वेतवाहन अर्जुन की ओर अपने पर्वताकार विशालकाय गजराज को, जिसके गण्डस्थल से मद की धार चू रही थी, बढ़ाया।

तस्मै बाणांस्ततो जिष्णुर्निर्मुक्ताशीविषोपमान्।
प्रेषयामास संक्रुद्धो ज्वलितज्वलनोपमान् ॥२६॥

यह देख अर्जुन अत्यन्त कुपित हुआ। उसने

उस हाथी पर केंचुली से निकले हुए सर्पों के समान भयङ्कर तथा प्रज्वलित अग्नि के तुल्य प्रज्वलित बाणों का प्रहार किया ।

एवं त्रिरात्रमभवत् तद् युद्धं भरतर्षभ ।
अर्जुनस्य नरेन्द्रेण वृत्रेणेव शतक्रतोः ॥२७॥

भरतश्रेष्ठ ! जैसे इन्द्र का वृत्रासुर के साथ युद्ध हुआ था, उसी प्रकार अर्जुन का राजा वज्रदत्त के साथ तीन दिन और तीन रात युद्ध होता रहा ।

ततश्चतुर्थे दिवसे वज्रदत्तो महाबलः ।
जहास सस्वनं हासं वाक्यं चेदमथाब्रवीत् ॥२८॥

तत्पश्चात् चौथे दिन महाबली वज्रदत्त ठहाका मारकर हँसने लगा और इस प्रकार बोला—

अर्जुनार्जुन तिष्ठस्व न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ।
त्वां निहत्य करिष्यामि पितुस्तोयं यथाविधि ॥२९॥

"अर्जुन ! अर्जुन ! खड़ा रह । आज मैं तुम्हें जीवित नहीं छोड़ूँगा । तुम्हें मारकर मैं पिता का विधिवत् तर्पण करूँगा ।"

इत्येवमुक्त्वा संक्रुद्धो वज्रदत्तो नराधिपः ।
प्रेषयामास कौरव्य वारणं पाण्डवं प्रति ॥३०॥

कुरुनन्दन ! ऐसा कहकर क्रोध में भरे हुए राजा वज्रदत्त ने पुनः पाण्डुपुत्र अर्जुन की ओर अपने हाथी को हाँक दिया ।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य बलवत् पाकशासनिः ।
नाराचमग्निसंकाशं प्राहिणोद् वारणं प्रति ॥३१॥

उसे बलपूर्वक आक्रमण करते देख इन्द्रकुमार अर्जुन ने उस हाथी पर एक अग्नि के समान तेजस्वी नाराच का प्रहार किया ।

स तेन वारणो राजन् मर्मस्वभिहतो भृशम् ।
पपात सहसा भूमौ वज्ररुग्ण इवाचलः ॥३२॥

राजन् ! उस नाराच ने हाथी के मर्मस्थानों में गहरी चोट पहुँचाई । उस चोट से वह हाथी वज्र के मारे हुए पर्वत की भाँति सहसा पृथिवी पर गिर पड़ा ।

तस्मिन् निपातिते नागे वज्रदत्तस्य पाण्डवः ।
तं न भेतव्यमित्याह ततो भूमिगतं नृपम् ॥३३॥

वज्रदत्त के उस हाथी के भूमि पर गिरते ही राजा वज्रदत्त स्वयं भी पृथिवी पर जा पड़ा । उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुन ने उससे कहा—"राजन् ! डरो मत ।

अब्रवीद्धि महातेजाः प्रस्थितं मां युधिष्ठिरः ।
राजानस्ते न हन्तव्या धनञ्जय कथञ्चन ॥३४॥

"जब मैं घर से निकला था, उस समय महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर ने मुझसे कहा था—'धनञ्जय ! तुम्हें किसी प्रकार भी राजाओं का वध नहीं करना चाहिए ।'

इति भ्रातृवचः श्रुत्वा न हन्मि त्वां नराधिप ।
उत्तिष्ठ न भयं तेऽस्ति स्वस्तिमान्गच्छ पार्थिव ॥३५॥

"नरेश्वर ! भाई के इस वचन को सुनकर और इसे शिरोधार्य करके मैं तुम्हारे प्राण नहीं ले रहा हूँ । भूपाल ! उठो, तुम्हें कोई भय नहीं है । तुम सकुशल अपने घर को लौट जाओ ।

आगच्छेथा महाराज परां चैत्रीमुपस्थिताम् ।
यदाश्वमेधो भविता धर्मराजस्य धीमतः ॥३६॥

"महाराज ! आगामी चैत्रमास की उत्तम पूर्णिमा तिथि उपस्थित होने पर तुम हस्तिनापुर में आना । उस समय बुद्धिमान् धर्मराज का वह उत्तम यज्ञ होगा ।"

एवमुक्तः स राजा तु भगदत्तात्मजस्तदा ।
तथेत्येवाब्रवीद् वाक्यं पाण्डवेनाभिनिर्जितः ॥३७॥

अर्जुन के ऐसा कहने पर उनसे परास्त हुए भगदत्तकुमार राजा वज्रदत्त ने कहा—"बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा ।"

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन का सैन्धवों के साथ युद्ध और दुःशला के अनुरोध से उसकी समाप्ति

वैशम्पायन उवाच

सैन्धवैरभवद् युद्धं ततस्तस्य किरीटिनः।
हतशेषैर्महाराज हतानां च सुतैरपि ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ततः=वज्रदत्त को पराजित करने के पश्चात् जब अर्जुन का घोड़ा सिन्धु देश में गया, तब महाभारत-युद्ध में मरने से बचे हुए सिन्धुदेशीय योद्धाओं और मारे गये नरेशों के पुत्रों के साथ किरीटधारी अर्जुन का घोर संग्राम हुआ।

तेऽवतीर्णमुपश्रुत्य विषयं श्वेतवाहनम्।
प्रत्युद्ययुरमृष्यन्तो राजानः पाण्डवर्षभम् ॥२॥

यज्ञ के घोड़े और श्वेतवाहन अर्जुन को अपने राज्य में आया हुआ सुनकर वे सिन्धुदेशीय क्षत्रिय अमर्ष में भरकर उन पाण्डवप्रवर अर्जुन का सामना करने के लिए आगे बढ़े।

ते किरन्तः शरव्रातान् वारणप्रतिवारणान्।
रणे जयमभीप्सन्तः कौन्तेयं पर्यवारयन् ॥३॥

वे ऐसे बाणसमूहों की वर्षा करते थे, जो गजराजों को भी आगे बढ़ने से रोक देनेवाले थे। उन्होंने रणभूमि में विजय की अभिलाषा रखकर कुन्तीनन्दन को घेर लिया।

विचकर्ष धनुर्दिव्यं ततः कौरवनन्दनः।
यन्त्रस्येवेह शब्दोऽभून्महाँस्तस्य पुनः पुनः ॥४॥

फिर तो कौरवनन्दन अर्जुन ने अपने दिव्य धनुष की प्रत्यञ्चा खींची। उस समय उससे बार-बार मशीन की भाँति बड़े जोर-जोर से टङ्कार-ध्वनि होने लगी।

ततः स शरवर्षाणि प्रत्यमित्रान् प्रति प्रभुः।
ववर्ष धनुषा पार्थो वर्षाणीव पुरन्दरः ॥५॥

तत्पश्चात् जैसे इन्द्र जल की वृष्टि करते हैं, उसी प्रकार प्रभावशाली पार्थ ने अपने धनुष द्वारा शत्रुओं पर बाणों की झड़ी लगा दी।

ततस्ते फाल्गुनेनाजौ शरैः संनतपर्वभिः।
कृता विसंज्ञा भूयिष्ठाः क्लान्तवाहनसैनिकाः ॥६॥

थोड़ी ही देर में अर्जुन ने युद्धस्थल में झुकी हुई गाँठवाले बाणों द्वारा अधिकांश सैन्धव वीरों को संज्ञाशून्य कर दिया। उनके वाहन और सैनिक भी थकावट से खिन्न हो रहे थे।

ताँस्तु सर्वान्परिग्लानान्विदित्वा धृतराष्ट्रजा।
दुःशला बालमादाय नप्तारं प्रययौ तदा ॥७॥
सुरथस्य सुतं वीरं रथेनाथागमत् तदा।
शान्त्यर्थं सर्वयोधानामभ्यगच्छत पाण्डवम् ॥८॥

समस्त सैन्धव वीरों को कष्ट पाते जान धृतराष्ट्र की पुत्री दुःशला अपने पुत्र सुरथ के वीर बालक को जो उसका पौत्र था, साथ ले रथ पर सवार हो युद्धक्षेत्र में पाण्डुपुत्र अर्जुन के पास आई। उसके आने का उद्देश्य था कि सब योद्धा युद्ध छोड़कर शान्त हो जाएँ।

सा धनञ्जयमासाद्य रुरोदार्तस्वरं तदा।
धनञ्जयोऽपि तां दृष्ट्वा धनुर्विससृजे प्रभुः ॥९॥

वह अर्जुन के पास आकर आर्त स्वर से फूट-फूटकर रोने लगी। शक्तिशाली अर्जुन ने भी उसे सामने देख अपना धनुष नीचे डाल दिया।

समुत्सृज्य धनुः पार्थो विधिवद् भगिनीं तदा।
प्राह किं करवाणीति सा च तं प्रत्युवाच ह ॥१०॥

धनुष त्यागकर कुन्तीनन्दन अर्जुन ने विधिपूर्वक बहिन का स्वागत-सत्कार किया और पूछा—"बहिन! बताओ, मैं तुम्हारा कौन-सा कार्य करूँ?" तब दुःशला ने उत्तर दिया—

एष ते भरतश्रेष्ठ स्वस्रीयस्यात्मजः शिशुः।
अभिवादयते पार्थ तं पश्य पुरुषर्षभ ॥११॥

"भैया! भरतभूषण! यह तुम्हारे भानजे सुरथ का औरस पुत्र है। पुरुषश्रेष्ठ पार्थ! इसकी ओर देखो, यह तुम्हें प्रणाम करता है।"

स्वसारं समवेक्षस्व स्वस्रीयात्मजमेव च।
कर्तुमर्हसि धर्मज्ञ दयां कुरुकुलोद्वह ॥१२॥

"भैया! तुम कुरुकुल में श्रेष्ठ और धर्म को जाननेवाले हो, अतः दया करो। अपनी इस दुखिया

बहिन की ओर देखो और भानजे के बेटे पर भी कृपादृष्टि करो।

एष प्रसाद्य शिरसा प्रशमार्थमरिंदम।
याचते त्वां महाबाहो शमं गच्छ धनञ्जय ।।१३।।

"शत्रुदमन महाबाहु धनञ्जय! यह बालक तुम्हारे चरणों में सिर रखकर तुम्हें प्रसन्न करके तुमसे शान्ति के लिए याचना करता है, अतः अब तुम शान्त हो जाओ।

बालस्य हतबन्धोश्च पार्थ किंचिदजानतः।
प्रसादं कुरु धर्मज्ञ मा मन्युवशमन्वगाः ।।१४।।

"यह अबोध बालक है, कुछ नहीं जानता है। इसके भाई-बन्धु नष्ट हो चुके हैं, अतः धर्मज्ञ अर्जुन! तुम इसपर कृपा करो, क्रोध के वशीभूत मत होओ।

तमनार्यं नृशंसं च विस्मृत्यास्य पितामहम्।
आगस्कारिणमत्यर्थं प्रसादं कर्तुमर्हसि ।।१५।।

"इस बालक का पितामह [जयद्रथ] अनार्य, क्रूर और तुम्हारा अपराधी था। उसको भूल जाओ और इस बालक पर कृपा करो।"

एवं ब्रुवत्यां करुणं दुःशलायां धनञ्जयः।
संस्मृत्य देवीं गान्धारीं धृतराष्ट्रं च पार्थिवम् ।।१६।।
प्रोवाच दुःखशोकार्तः क्षत्रधर्मं व्यगर्हयत्।
यत्कृते बान्धवाः सर्वे मया नीता यमक्षयम् ।।१७।।

जब दुःशला इस प्रकार करुणायुक्त वचन कहने लगी, तब अर्जुन धृतराष्ट्र और गान्धारी देवी का स्मरण करके दुःख और शोक से पीड़ित हो क्षत्रिय-धर्म की निन्दा करने लगे। उन्होंने कहा—"उस क्षात्रधर्म को धिक्कार है, जिसके लिए मैंने अपने सारे बान्धवों को यमलोक पहुँचा दिया!"

इत्युक्त्वा बहु सान्त्वादि प्रसादमकरोज्जयः।
परिष्वज्य च तां प्रीतो विससर्ज गृहान् प्रति ।।१८।।

ऐसा कहकर अर्जुन ने दुःशला को बहुत सान्त्वना दी और उसके प्रति अपने कृपाप्रसाद का परिचय दिया। फिर प्रसन्नतापूर्वक उससे गले मिलकर उसे घर की ओर विदा किया।

दुःशला चापि तान्योधान्निवार्य महतो रणात्।
सम्पूज्य पार्थं प्रययौ गृहानेव शुभानना ।।१९।।

तत्पश्चात् सुमुखी दुःशला ने उस महान् संग्राम से अपने समस्त योद्धाओं को पीछे लौटाया और अर्जुन की प्रशंसा करती हुई वह अपने घर को लौट गई।

एवं निर्जित्य तान् वीरान्सैन्धवान्स धनञ्जयः।
अन्वधावत धावन्तं हयं कामविचारिणम् ।।२०।।

इस प्रकार सैन्धव वीरों को परास्त करके अर्जुन इच्छानुसार विचरने और दौड़नेवाले उस घोड़े के पीछे स्वयं भी दौड़ने लगे।

स च वाजी यथेष्टेन तांस्तान् देशान् यथाक्रमम्।
विचचार यथाकामं कर्म पार्थस्य वर्धयन् ।।२१।।

वह अश्व यथेष्टगति से क्रमशः सभी देशों में घूमता हुआ और अर्जुन के पराक्रम का विस्तार करता हुआ इच्छानुसार विचरने लगा।

क्रमेण स हयस्त्वेवं विचरन् पुरुषर्षभ।
मणिपूरपतेर्देशमुपायात् सहपाण्डवः ।।२२।।

पुरुषश्रेष्ठ जनमेजय! इस प्रकार क्रमशः विचरता हुआ वह घोड़ा अर्जुनसहित मणिपुर-नरेश के राज्य में जा पहुँचा।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ।।८।।

नवमोऽध्यायः

अर्जुन और बभ्रुवाहन का युद्ध, अर्जुन की मृत्यु तथा उलूपी के प्रयत्न से संजीवनी मणि के द्वारा अर्जुन का पुनः जीवित होना

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु नृपतिः प्राप्तं पितरं बभ्रुवाहनः।
निर्ययौ विनयेनाथ ब्राह्मणार्थपुरःसरः ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मणिपुर-नरेश बभ्रुवाहन ने जब सुना कि मेरे पिता आये हैं, तब वह ब्राह्मणों को आगे करके तथा बहुत-सा धन साथ में लेकर बड़ी विनय के साथ उनके दर्शन के लिए नगर से बाहर निकला।

मणिपूरेश्वरं त्वेवमुपयातं धनञ्जयः ।
नाभ्यनन्दत् स मेधावी क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ।।२।।

मणिपुर-नरेश को इस प्रकार आया देख परम बुद्धिमान् धनञ्जय ने क्षत्रियधर्म का आश्रय लेकर उसका आदर नहीं किया ।

उवाच स च धर्मात्मा समन्युः फाल्गुनस्तदा ।
प्रक्रियेयं न ते युक्ता बहिस्त्वं क्षत्रधर्मतः ।।३।।

उस समय धर्मात्मा अर्जुन कुछ कुपित होकर बोले—"पुत्र ! तेरा यह ढंग ठीक नहीं है । प्रतीत होता है, तू क्षत्रियधर्म से बहिष्कृत हो गया है ।

धिक् त्वामस्तु सुदुर्बुद्धिं क्षत्रधर्मबहिष्कृतम् ।
यो मां युद्धाय सम्प्राप्तं साम्नैव प्रत्यगृह्णथाः ।।४।।

"तुझ दुर्बुद्धि को धिक्कार है ! तू निश्चय ही क्षत्रियधर्म से च्युत हो गया है, क्योंकि युद्ध के लिए आये हुए मेरा स्वागत-सत्कार तू सामनीति से कर रहा है ।

यद्यहं न्यस्तशस्त्रस्त्वामागच्छेयं सुदुर्मते ।
प्रक्रियेयं भवेद् युक्ता तावत् तव नराधम ।।५।।

"दुर्बुद्धे ! नराधम ! यदि मैं हथियार रखकर खाली हाथ तेरे पास आता तो तेरा इस प्रकार मिलना ठीक हो सकता था ।"

तमेवमुक्तं भर्त्रा तु विदित्वा पन्नगात्मजा ।
उलूपी प्राह वचनं धर्म्यं धर्मविशारदम् ।।६।।

पतिदेव अर्जुन जब अपने पुत्र बभ्रुवाहन से ऐसी बात कह रहे थे, उस समय नागकन्या उलूपी धर्म-निपुण बभ्रुवाहन से यह धर्मयुक्त वचन बोली—

युध्यस्वैनं कुरुश्रेष्ठं पितरं युद्धदुर्मदम् ।
एवमेष हि ते प्रीतो भविष्यति न संशयः ।।७।।

"तुम्हारे पिता कुरुकुल के श्रेष्ठ वीर और युद्ध के मद से उन्मत्त रहनेवाले हैं, अतः इनके साथ अवश्य युद्ध करो । ऐसा करने से ये तुमपर प्रसन्न होंगे, इसमें संशय नहीं है ।"

एवं दुर्मर्षितो राजा स मात्रा बभ्रुवाहनः ।
मनश्चक्रे महातेजा युद्धाय भरतर्षभ ।।८।।

भरतभूषण ! माता के द्वारा इस प्रकार अमर्ष दिलाये जाने पर महातेजस्वी बभ्रुवाहन ने मन-ही-मन युद्ध करने का निश्चय किया ।

संनह्य काञ्चनं वर्म शिरस्त्राणं च भानुमत् ।
तूणीरशतसम्बाधमारुरोह रथोत्तमम् ।।९।।

सुवर्णमय कवच पहनकर और तेजस्वी शिरस्त्राण [टोप] धारण करके वह सैकड़ों तरकसों से भरे हुए उत्तम रथ पर आरूढ़ हुआ ।

ततोऽभ्येत्य हयं वीरो यज्ञियं पार्थरक्षितम् ।
ग्राहयामास पुरुषैर्हयशिक्षाविशारदैः ।।१०।।

तत्पश्चात् अर्जुन द्वारा सुरक्षित उस यज्ञसम्बन्धी घोड़े के पास पहुँचकर उस वीर ने अश्वविद्याविशारद पुरुषों द्वारा उसे पकड़वा लिया ।

गृहीतं वाजिनं दृष्ट्वा प्रीतात्मा स धनञ्जयः ।
पुत्रं रथस्थं भूमिष्ठः संन्यवारयदाहवे ।।११।।

घोड़े को पकड़ा गया देख अर्जुन मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हुए । यद्यपि वे भूमि पर खड़े थे, तो भी वे रथ पर बैठे हुए अपने पुत्र को युद्धभूमि में आगे बढ़ने से रोकने लगे ।

स तत्र राजा तं वीरं शरसंघैरनेकशः ।
अर्दयामास निशितैर्बाणैराशीविषोपमैः ।।१२।।

राजा बभ्रुवाहन ने वहाँ अपने वीर पिता को विषैले साँपों के समान विषैले और तीक्ष्ण किये हुए सैकड़ों बाणसमूहों द्वारा बींधकर अनेक बार पीड़ित किया ।

सम्प्रीयमाणः पार्थानामृषभः पुत्रविक्रमात् ।
नात्यर्थं पीडयामास पुत्रं वज्रधरात्मजः ।।१३।।

कुन्तीपुत्रों में श्रेष्ठ इन्द्रकुमार अर्जुन अपने पुत्र के पराक्रम से प्रसन्न थे, अतः वे उसे अधिक पीड़ा नहीं देते थे ।

स मन्यमानो विमुखं पितरं बभ्रुवाहनः ।
शरैराशीविषाकारैः पुनरेवार्दयद् बली ।।१४।।

महाबली बभ्रुवाहन पिता को युद्ध से विरत मानकर विषधर सर्पों के समान विषैले बाणों के द्वारा उन्हें पुनः पीड़ा देने लगा ।

ततः स बाल्यात् पितरं विव्याध हृदि पत्रिणा ।
निशितेन सुपुङ्खेन बलवद् बभ्रुवाहनः ।।१५।।

फिर उसने बालोचित अविवेक के कारण परिणाम पर विचार किये बिना ही सुन्दर पाँखवाले एक तीखे बाण से पिता की छाती में एक गहरा आघात किया ।

स तेनातिभृशं विद्धः पुत्रेण कुरुनन्दनः ।
महीं जगाम मोहार्तस्ततो राजन् धनञ्जयः ।।१६।।

राजन् ! पुत्र द्वारा चलाये हुए उस बाण से अत्यन्त घायल होकर कुरुनन्दन अर्जुन मूर्च्छित हो पृथिवी पर गिर पड़े ।

तस्मिन् निपतिते वीरे कौरवाणां धुरन्धरे ।
सोऽपि मोहं जगामाथ ततश्चित्राङ्गदासुतः ।।१७।।

कौरव-धुरंधर वीर अर्जुन के धराशायी होने पर चित्राङ्गदाकुमार बभ्रुवाहन भी मूर्च्छित हो गया ।

भर्तारं निहतं दृष्ट्वा पुत्रं च पतितं भुवि ।
चित्राङ्गदा परित्रस्ता प्रविवेश रणाजिरे ।।१८।।

पतिदेव मारे गये और पुत्र भी संज्ञाशून्य होकर पृथिवी पर पड़ा है । यह देख चित्राङ्गदा ने संतप्त हृदय से समराङ्गण में प्रवेश किया ।

ततो बहुतरं भीरुर्विलप्य कमलेक्षणा ।
उलूपीं पन्नगसुतां दृष्ट्वेदं वाक्यमब्रवीत् ।।१९।।

जनमेजय ! युद्धभूमि में प्रविष्ट होकर भीरु स्वभाववाली कमलनयनी चित्राङ्गदा ने बहुत विलाप किया, फिर नागकन्या उलूपी को सामने खड़ी देख उससे बोली—

उलूपि पश्य भर्तारं शयानं निहतं रणे ।
त्वत्कृते मम पुत्रेण बाणेन समितिंजयम् ।।२०।।

"उलूपी ! देखो, हम दोनों के स्वामी मारे जाकर युद्धभूमि में सो रहे हैं । तुम्हारी प्रेरणा से ही मेरे बेटे ने संग्रामविजयी अर्जुन का वध किया है ।

ननु त्वमार्यधर्मज्ञा ननु चासि पतिव्रता ।
यत्त्वत्कृतेऽयं पतितः पतिस्ते निहतो रणे ।।२१।।

"बहिन ! तुम तो आर्यधर्म को जाननेवाली और पतिव्रता हो, तथापि तुम्हारी ही करतूत से ये तुम्हारे पति इस समय युद्धभूमि में मरे पड़े हैं ।

किन्तु सर्वापराधोऽयं यदि तेऽद्य धनञ्जयः ।
क्षमस्व याच्यमाना वै जीवयस्व धनञ्जयम् ।।२२।।

"परन्तु यदि ये अर्जुन सर्वथा तुम्हारे अपराधी हों, तो भी आज क्षमा कर दो । मैं तुमसे इनके प्राणों की भीख माँगती हूँ । तुम धनञ्जय को जीवित कर दो ।

नाहं शोचामि तनयं हतं पन्नगनन्दिनि ।
पतिमेव तु शोचामि यस्यातिथ्यमिदं कृतम् ।।२३।।

"नागकुमारी ! मेरा पुत्र भी मरा पड़ा है, फिर भी मैं उसके लिए शोक नहीं करती । मुझे केवल पति के लिए शोक हो रहा है, जिनका मेरे यहां इस प्रकार आतिथ्य [अतिथिसत्कार] किया गया है ।

पुत्रेण घातयित्वैनं पतिं यदि न मेऽद्य वै ।
जीवन्तं दर्शयस्यद्य परित्यक्ष्यामि जीवितम् ।।२४।।

"तुम्हीं ने बेटे को लड़ाकर उसके द्वारा इन पति-देव की हत्या करवायी है । यह सब करके यदि आज तुम पुनः इन्हें जीवित करके न दिखा दोगी तो मैं भी अपने प्राण त्याग दूंगी ।"

इत्युक्त्वा पन्नगसुतां सपत्नी चैत्रवाहनी ।
ततः प्रायमुपासीना तूष्णीमासीज्जनाधिप ।।२५।।

नरेश्वर ! नागकन्या से ऐसा कहकर उसकी सौत चित्रवाहनकुमारी चित्राङ्गदा आमरण उपवास का संकल्प लेकर चुपचाप बैठ गई ।

ततः संज्ञां पुनर्लब्ध्वा स राजा बभ्रुवाहनः ।
मातरं तामथालोक्य रणभूमावथाब्रवीत् ।।२६।।

उधर थोड़ी देर पश्चात् राजा बभ्रुवाहन को चेत हुआ । वह अपनी माता को युद्धभूमि में बैठी देख इस प्रकार विलाप करने लगा—

इतो दुःखतरं किं नु यन्मे माता सुखैधिता ।
भूमौ निपतितं वीरमनुशेते मृतं पतिम् ।।२७।।

"हाय ! जोअबतक सुखों में पली थी, वही मेरी माता चित्राङ्गदा आज मृत्यु के अधीन होकर पृथिवी पर पड़े हुए अपने वीर पति के साथ मरने का निश्चय करके बैठी हुई है । इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या हो सकती है ?

हा हा धिक् कुरुवीरस्य संनाहं काञ्चनं भुवि ।
अपविद्धं हतस्येह मया पुत्रेण पश्यतः ।।२८।।

"हाय ! हाय ! मुझे धिक्कार है । लोगो ! देख लो, मुझ पुत्र के द्वारा मारे गये कुरुवीर अर्जुन का सुनहरा कवच यहां पृथिवी पर लुढ़क रहा है ।

भो भो पश्य मे वीरं पितरं ब्राह्मणा भुवि ।
शयानं वीरशयने मया पुत्रेण पातितम् ।।२९।।

"ब्राह्मणो ! देखो, मुझ पुत्र के द्वारा मार गिराये गये मेरे वीर पिता अर्जुन वीरशय्या पर सो रहे हैं ।

शृण्वन्तु सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च ।
त्वं च मातर्यथा सत्यं ब्रवीमि भुजगोत्तमे ।।३०।।

"संसार के समस्त चराचर प्राणियो ! आप मेरी बात सुनें । नागराजकुमारी माता उलूपी ! तुम भी सुन लो । मैं सत्य कहता हूँ—

यदि नोत्तिष्ठति जयः पिता मे नरसत्तमः ।
अस्मिन्नेव रणोद्देशे शोषयिष्ये कलेवरम् ।।३१।।

"यदि मेरे पिता नरश्रेष्ठ अर्जुन आज जीवित हो पुनः उठकर खड़े नहीं हो जाते तो मैं इस रणभूमि में ही उपवास करके अपने शरीर को सुखा डालूंगा ।

एष एको महातेजाः पाण्डुपुत्रो धनञ्जयः ।
पिता च मम धर्मात्मा तस्य मे निष्कृतिः कुतः ।।३२।।

"ये पाण्डुपुत्र धनञ्जय अद्वितीय वीर, महान् तेजस्वी, धर्मात्मा तथा मेरे पिता थे । इनका वध करके मैंने महान् पाप किया है । अब मेरा उद्धार कैसे हो सकता है ?"

इत्येवमुक्त्वा नृपते धनञ्जयसुतो नृपः ।
उपस्पृश्याभवत् तूष्णीं प्रायोपेतो महामतिः ।।३३।।

राजन् ! ऐसा कहकर धनञ्जयपुत्र महामति राजा बभ्रुवाहन पुनः आचमन करके आमरण अनशन का व्रत लेकर चुपचाप बैठ गया ।

वैशम्पायन उवाच

प्रायोपविष्टे नृपतौ मणिपूरेश्वरे यदा ।
उलूपी चिन्तयामास तदा संजीवनं मणिम् ।।३४।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! मणिपुरनरेश बभ्रुवाहन जब आमरण अनशन का व्रत लेकर बैठ गया, तब उसकी माता उलूपी ने संजीवन मणि का स्मरण किया ।

सं गृहीत्वा तु कौरव्य नागराजपतेः सुता ।
मनः प्रह्लादनीं वाचं सैनिकानामथाब्रवीत् ।।३५।।

कुरुनन्दन ! उस मणि को लेकर नागराजकुमारी उलूपी सैनिकों के मन को आनन्द प्रदान करनेवाले वचन बोली—

उत्तिष्ठ मा शुचः पुत्र नैव जिष्णुस्त्वया जितः ।
अजेयः पुरुषैरेष तथा देवैः सवासवैः ।।३६।।

"पुत्र बभ्रुवाहन ! उठो, शोक मत करो । ये अर्जुन तुम्हारे द्वारा परास्त नहीं हुए हैं । ये तो सभी मनुष्यों और इन्द्रसहित समस्त देवताओं के लिए भी अजेय हैं ।

मया तु मोहनी नाम मायैषा सम्प्रदर्शिता ।
प्रियार्थं पुरुषेन्द्रस्य पितुस्तेऽद्य यशस्विनः ।।३७।।

"यह तो मैंने आज तुम्हारे यशस्वी पिता पुरुषश्रेष्ठ धनञ्जय का प्रिय करने के लिए मोहिनी माया का प्रदर्शन किया था ।

जिज्ञासुर्ह्येष पुत्रस्य बलस्य तव कौरवः ।
संग्रामे युद्धचतो राजन्नागतः परवीरहा ।।३८।।
तस्मादसि मया पुत्र युद्धाय परिनोदितः ।
मा पापमात्मनः पुत्र शङ्केथा ह्यण्वपि प्रभो ।।३९।।

"राजन् ! तुम इनके पुत्र हो । शत्रुवीरों का संहार करनेवाले ये कुरुकुलभूषण अर्जुन युद्ध में जूझते हुए तुम-जैसे पुत्र का बल-पराक्रम जानना चाहते थे । वत्स ! इसीलिए मैंने तुम्हें युद्ध के लिए प्रेरित किया था । शक्तिशाली पुत्र ! तुम अपने मन में लेशमात्र भी पाप की आशंका मत करो ।

अयं तु मे मणिर्दिव्यः समानीतो विशाम्पते ।
एनमस्योरसि त्वं च स्थापयस्व पितुः प्रभो ।
संजीवितं तदा पार्थं स त्वं द्रष्टासि पाण्डवम् ।।४०।।

"प्रजेश्वर ! मैं यह दिव्यमणि ले आई हूँ । प्रभो ! तुम इसे लेकर अपने पिता के वक्षःस्थल [छाती] पर रख दो । फिर तुम पाण्डुपुत्र कुन्तीकुमार अर्जुन को जीवित हुआ देखोगे ।"

इत्युक्तः स्थापयामास तस्योरसि मणिं तदा ।
पार्थस्यामिततेजाः स पितुः स्नेहादपापकृत् ।।४१।।

उलूपी के ऐसा कहने पर निष्पाप कर्म करनेवाले अमिततेजस्वी बभ्रुवाहन ने वह मणि स्नेहपूर्वक अपने पिता पार्थ की छाती पर रख दी ।

तस्मिन्न्यस्ते मणौ वीरो जिष्णुरुज्जीवितः प्रभुः ।
चिरसुप्त इवोत्तस्थौ मृष्टलोहितलोचनः ।।४२।।

उस मणि के रखते ही सामर्थ्यशाली वीर अर्जुन देर तक सोकर उठे हुए मनुष्य की भाँति अपनी लाल आँखें मलते हुए जीवित हो उठे ।

तमुत्थितं महात्मानं लब्धसंज्ञं मनस्विनम् ।
समीक्ष्य पितरं स्वस्थं ववन्दे बभ्रुवाहनः ।।४३।।

अपने मनस्वी पिता महात्मा अर्जुन को सचेत

और स्वस्थ होकर उठा हुआ देख बभ्रुवाहन ने उनकी चरणवन्दना की।

उत्थाय च महाबाहुः पर्याश्वस्तो धनञ्जयः।
बभ्रुवाहनमालिङ्ग्य समाजिघ्रत मूर्धनि ॥४४॥

महाबाहु अर्जुन भली-भांति स्वस्थ होकर उठे तथा बभ्रुवाहन को हृदय से लगाकर उसका मस्तक सूंघने लगे।

तमुवाच तदा पुत्रं मणिपूरपतिं जयः।
युधिष्ठिरस्याश्वमेधः परिचैत्रीं भविष्यति।
तत्रागच्छेः सहामात्यो मातृभ्यां सहितो नृप ॥४५॥

तत्पश्चात् वे अपने पुत्र मणिपुरनरेश बभ्रुवाहन से बोले—"नरेश्वर! आगामी चैत्रमास की पूर्णिमा को महाराज युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ का आरम्भ होगा। उसमें तुम अपनी दोनों माताओं और मन्त्रियों के साथ अवश्य आना।

इत्येवमुक्तः पार्थेन स राजा बभ्रुवाहनः।
उवाच पितरं धीमानिदमस्राविलेक्षणः ॥४६॥

अर्जुन के ऐसा कहने पर बुद्धिमान् राजा बभ्रुवाहन ने नेत्रों में आंसू भरकर पिता से इस प्रकार कहा—

उपयास्यामि धर्मज्ञ भवतः शासनादहम्।
अश्वमेधे महायज्ञे द्विजातिपरिवेषकः ॥४७॥

"धर्मज्ञ! आपकी आज्ञा से मैं अश्वमेध महायज्ञ में अवश्य उपस्थित होऊँगा तथा ब्राह्मणों को भोजन परोसने का कार्य करूँगा।

स तु वाजी समुद्रान्तां पर्येत्य वसुधामिमाम्।
निवृत्तोऽभिमुखो राजन् येन वारणसाह्वयम् ॥४८॥

राजन्! इसके पश्चात् वह घोड़ा समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथिवी की प्रदक्षिणा करके उस दिशा की ओर मुंह करके लौटा, जिधर हस्तिनापुर था।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

यज्ञभूमि की तैयारी, भिन्न-भिन्न देशों के राजाओं का आगमन, अश्वमेधयज्ञ का आरम्भ, युधिष्ठिर का ब्राह्मणों को दक्षिणा देना और राजाओं को भेंट देकर विदा करना

वैशम्पायन उवाच

तं निवृत्तं तु शुश्राव चारेणैव युधिष्ठिरः।
श्रुत्वार्जुनं कुशलिनं स च हृष्टमनाऽभवत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब राजा युधिष्ठिर को एक जासूस के द्वारा यह समाचार मिला कि घोड़ा हस्तिनापुर की ओर लौट रहा है तथा अर्जुन भी सकुशल आ रहे हैं तब यह सब सुनकर उनके मन में आनन्द की लहर दौड़ गई।

एतस्मिन्नेव काले तु द्वादशीं माघमासिकीम्।
समानीय महातेजाः सर्वान् भ्रातॄन् महीपतिः।
प्रोवाचेदं वचः काले भीमं प्रहरतां वरम् ॥२॥

राजन्! उस दिन माघ की शुक्लपक्ष की द्वादशी तिथि थी। उस समय महातेजस्वी युधिष्ठिर ने अपने समस्त भाइयों को बुलाया और प्रहार करने-वालों में श्रेष्ठ भीमसेन को सम्बोधित करके यह समयोचित बात कही—

आयाति भीमसेनासौ सहाश्वेन तवानुजः।
यथा मे पुरुषाः प्राहुर्ये धनञ्जयसारिणः ॥३॥

"भीमसेन! तुम्हारे छोटे भाई अर्जुन घोड़े के साथ आ रहे हैं, जैसा कि उनका समाचार लाने के लिए गये चरों [जासूसों] ने मुझे बताया है।

उपस्थितश्च कालोऽयमभितो वर्तते हयः।
माघी च पौर्णमासीयं मासः शेषो वृकोदर ॥४॥

"वृकोदर! इधर यज्ञ आरम्भ होने का समय भी निकट आ गया है। घोड़ा भी समीप ही है। यह माघ मास की पूर्णिमा आ रही है, अब केवल फाल्गुन का एक मास शेष रह गया है।

प्रस्थाप्यन्तां हि विद्वांसो ब्राह्मणा वेदपारगाः।
वाजिमेधार्थसिद्ध्यर्थं देशं पश्यन्तु यज्ञियम् ॥५॥

"अतः वेद के पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणों को भेजना चाहिए जिससे वे अश्वमेधयज्ञ की सिद्धि के लिए उपयुक्त स्थान देखें [चुनें]।"

इत्युक्तः स तु तच्चक्रे भीमो नृपतिशासनम् ।
हृष्टः श्रुत्वा गुडाकेशमायान्तं पुरुषर्षभम् ॥६॥

ऐसी आज्ञा पाकर भीमसेन ने उस राजाज्ञा का तुरन्त पालन किया। वे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन का आगमन सुनकर अत्यन्त प्रसन्न थे।

ततो ययौ भीमसेनः प्राज्ञैः स्थपतिभिः सह ।
ब्राह्मणानग्रतः कृत्वा कुशलान् यज्ञकर्मणि ॥७॥

तत्पश्चात् भीमसेन यज्ञकर्म में कुशल ब्राह्मणों को आगे करके शिल्पकर्म के विशेषज्ञ [जानकार] कारीगरों के साथ नगर से बाहर गये।

तं सशालचयं श्रीमत् सप्रतोलीसुघट्टितम् ।
मापयामास कौरव्यो यज्ञवाटं यथाविधि ॥८॥

उन्होंने शालवृक्षों से भरे हुए एक सुन्दर स्थान को पसन्द करके उसे चारों ओर से नपवाया। तदनन्तर कुरुनन्दन भीम ने वहाँ उत्तम मार्गों से सुशोभित यज्ञभूमि का विधिपूर्वक निर्माण कराया।

प्रासादशतसम्बाधं मणिप्रवरकुट्टिकम् ।
कारयामास विधिवद्धेमरत्नविभूषितम् ॥९॥

उस भूमि में सैकड़ों महल बनवाये गये, जिनके फर्शों में उत्तम कोटि के रत्न जड़े हुए थे। वह यज्ञ-शाला सोने और रत्नों से सजाई गई थी तथा उसका निर्माण शास्त्रीय विधि के अनुसार कराया गया था।

स्तम्भान् कनकचित्रांश्च तोरणानि बृहन्ति च ।
यज्ञायतनदेशेषु दत्त्वा शुद्धं च काञ्चनम् ॥१०॥
अन्तःपुराणां राज्ञां च नानादेशसमीयुषाम् ।
कारयामास धर्मात्मा तत्र तत्र यथाविधि ॥११॥
ब्राह्मणानां च वेश्मानि नानादेशसमीयुषाम् ।
कारयामास कौन्तेयो विधिवत्तान्यनेकशः ॥१२॥

वहाँ सुवर्णमय विचित्र खम्भे और बड़े-बड़े तोरण [फाटक] बने हुए थे। धर्मात्मा भीम ने यज्ञमण्डप के सभी स्थानों में शुद्ध सुवर्ण का उपयोग किया था। उन्होंने अन्तःपुर की स्त्रियों, विभिन्न देशों से आनेवाले राजाओं और भिन्न-भिन्न स्थानों से आनेवाले ब्राह्मणों के रहने के लिए भी अनेकानेक उत्तम भवनों का निर्माण कराया। उन सबका निर्माण कुन्तीनन्दन भीम ने शिल्पशास्त्र की विधि के अनुसार कराया था।

तथा सम्प्रेषयामास दूतान् नृपतिशासनात् ।
भीमसेनो महाबाहो राज्ञामक्लिष्टकर्मणाम् ॥१३॥

महाबाहो ! इन सब कार्यों के सम्पन्न हो जाने पर भीमसेन ने महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले विभिन्न राजाओं को निमन्त्रण देने के लिए बहुत-से दूत भेजे।

ते प्रियार्थं कुरुपतेराययुर्नृपसत्तम ।
रत्नान्यनेकान्यादाय स्त्रियोऽश्वानायुधानि च ॥१४॥

नृपश्रेष्ठ ! निमन्त्रण प्राप्त करके वे सभी नरेश कुरुराज युधिष्ठिर का प्रिय करने के लिए अनेक प्रकार के रत्न, परिचारिकाएँ, घोड़े तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लेकर वहाँ उपस्थित हुए।

तेषामभ्यागतानां च स राजा कुरुवर्धनः ।
व्यादिदेशान्नपानानि शय्याश्चाप्यतिमानुषाः ॥१५॥

कुरुकुल की वृद्धि करनेवाले राजा युधिष्ठिर ने इन नवागत अतिथियों का सत्कार करने के लिए अन्न, पेय पदार्थ और अलौकिक शय्याओं का प्रबन्ध किया।

वाहनानां च विविधाः शालाः शालीक्षुगोरसैः ।
उपेता भरतश्रेष्ठ व्यादिदेश स धर्मराट् ॥१६॥

भरतभूषण ! धर्मराज युधिष्ठिर ने उन राजाओं के वाहनों [हाथी, घोड़े आदि] के लिए भी धान, ईख और गोरस से भरे-पूरे घर प्रदान किये।

तथा तस्मिन् महायज्ञे धर्मराजस्य धीमतः ।
समाजग्मुर्मुनिगणा बहवो ब्रह्मवादिनः ॥१७॥

बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर के उस महायज्ञ में बहुत-से वेदवेत्ता मुनिगण भी पधारे थे।

ये च द्विजातिप्रवरास्तत्रासन् पृथिवीपते ।
समाजग्मुः सशिष्यास्तान् प्रतिजग्राह कौरवः ॥१८॥

पृथिवीनाथ ! ब्राह्मणों में जो श्रेष्ठ पुरुष थे, वे सब अपने शिष्यों से घिरे हुए वहाँ आये। कुरुराज युधिष्ठिर ने उन सबको स्वागतपूर्वक अपनाया।

समागतान् वेदविदो राज्ञश्च पृथिवीश्वरान् ।
दृष्ट्वा युधिष्ठिरो राजा भीमसेनमभाषत ॥१९॥

जनमेजय ! वहाँ पधारे हुए वेदवेत्ता विद्वानों और पृथिवी का शासन करनेवाले राजाओं को देखकर राजा युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा—

उपयाता नरव्याघ्रा य एते पृथिवीश्वराः ।
एतेषां क्रियतां पूजा पूजार्हा हि नराधिपाः ॥२०॥

"भाई ! ये जो भूमण्डल का शासन करनेवाले नृपगण यहाँ पधारे हुए हैं, सभी पुरुषों में श्रेष्ठ तथा पूजा [आदर-सत्कार] के योग्य हैं, अतः तुम इनका यथोचित आदर-सत्कार करो।"

इत्युक्तः स तथा चक्रे नरेन्द्रेण यशस्विना ।
भीमसेनो महातेजा यमाभ्यां सह पाण्डवः ॥२१॥

यशस्वी महाराज युधिष्ठिर के इस प्रकार आज्ञा प्रदान करने पर महातेजस्वी पाण्डुपुत्र भीमसेन ने नकुल और सहदेव को साथ लेकर सब राजाओं का यथोचित सत्कार किया।

अथाभ्यगच्छद् गोविन्दो वृष्णिभिः सह धर्मजम् ।
बलदेवं पुरस्कृत्य सर्वप्राणभृतां वरः ॥२२॥
युयुधानेन सहितः प्रद्युम्नेन गदेन च ।
निशठेनाथ साम्बेन तथैव कृतवर्मणा ॥२३॥

तत्पश्चात् सब मनुष्यों में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण बलदेवजी को आगे करके सात्यकि, प्रद्युम्न, गद, निशठ, साम्ब तथा कृतवर्मा आदि वृष्णिवंशियों के साथ युधिष्ठिर के यहाँ पधारे।

तेषामपि परां पूजां चक्रे भीमो महारथः ।
विविशुस्ते च वेश्मानि रत्नवन्ति च सर्वशः ॥२४॥

महारथी भीम ने उन लोगों का भी विधिवत् सत्कार किया। तदनन्तर वे सब रत्नों से भरे-पूरे घरों में प्रविष्ट होकर निवास करने लगे।

युधिष्ठिरसमीपे तु कथान्ते मधुसूदनः ।
अर्जुनं कथयामास बहुसंग्रामकर्शितम् ॥२५॥

श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के पास बैठकर थोड़ी देर तक वार्तालाप करते रहे। बातचीत में उन्होंने बताया कि—"अर्जुन बहुत-से युद्धों में शत्रुओं का सामना करने के कारण दुर्बल हो गये हैं।"

तेषां कथयतामेव पुरुषोऽर्जुनसंकथाः ।
उपायाद् वचनाद् दूतो विजयस्य महात्मनः ॥२६॥

उन लोगों में अर्जुन के सम्बन्ध में इस प्रकार की बातें हो ही रही थीं कि महात्मा अर्जुन का भेजा हुआ दूत वहाँ आ पहुँचा।

सोऽभिगम्य कुरुश्रेष्ठं नमस्कृत्य च बुद्धिमान् ।
उपायातं नरव्याघ्रं फाल्गुनं प्रत्यवेदयत् ॥२७॥

वह बुद्धिमान् दूत कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर के पास जा उन्हें नमस्कार करके बोला—"पुरुषसिंह अर्जुन निकट आ गये हैं।"

तत् श्रुत्वा नृपतिस्तस्य हर्षबाष्पाकुलेक्षणः ।
प्रियाख्याननिमित्तं वै ददौ बहुधनं तदा ॥२८॥

यह शुभ समाचार सुनकर राजा युधिष्ठिर की आँखों में आनन्द के अश्रु छलक आये तथा यह प्रिय वृत्तान्त निवेदन करने के कारण उन्होंने उस दूत को पुरस्काररूप में बहुत-सा धन प्रदान किया।

ततो द्वितीये दिवसे महाञ्शब्दो व्यवर्धत ।
आगच्छति नरव्याघ्रे कौरवाणां धुरन्धुरे ॥२९॥

तत्पश्चात् दूसरे दिन कौरव-धुरन्धर नरव्याघ्र अर्जुन के आते समय नगर में महान् कोलाहल बढ़ गया।

तत्र हर्षकरी वाचो नराणां शुश्रुवेऽर्जुनः ।
दिष्टचासि पार्थ कुशली धन्यो राजा युधिष्ठिरः ॥३०॥

वहाँ अर्जुन ने लोगों के मुख से हर्ष बढ़ानेवाली बातें इस प्रकार सुनीं—"पार्थ ! यह सौभाग्य की बात है कि तुम सकुशल लौट आये। राजा युधिष्ठिर धन्य हैं !"

कोऽन्यो हि पृथिवीं कृत्स्नां जित्वा हि युधि पार्थिवान् ।
चारयित्वा हयश्रेष्ठमुपागच्छेदृतेऽर्जुनात् ॥३१॥

"अर्जुन को छोड़कर दूसरा कौन ऐसा वीर पुरुष है, जो सम्पूर्ण पृथिवी को जीतकर, युद्ध में राजाओं को परास्त करके तथा अपने श्रेष्ठ अश्व को सर्वत्र घुमाकर उसके साथ सकुशल लौट आये !

नैतदन्ये करिष्यन्ति भविष्या वसुधाधिपाः ।
यत्त्वं कुरुकुलश्रेष्ठ दुष्करं कृतवानसि ॥३२॥

"कुरुकुलश्रेष्ठ ! आपने जो दुष्कर पराक्रम कर दिखाया है, उसे भविष्य में होनेवाले दूसरे भूपाल नहीं कर सकेंगे।"

इत्येवं वदतां तेषां पुंसां कर्णसुखा गिरः ।
शृण्वन् विवेश धर्मात्मा फाल्गुनो यज्ञसंस्तरम् ॥३३॥

इस प्रकार वार्तालाप करते हुए तथा लोगों की श्रवणसुखद बातें सुनते हुए धर्मात्मा अर्जुन ने यज्ञ-मण्डप में प्रवेश किया।

ततो राजा सहामात्यः कृष्णश्च यदुनन्दनः ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य ते तं प्रत्युद्ययुस्तदा ।।३४।।

उस समय मन्त्रियोंसहित राजा युधिष्ठिर और यदुनन्दन श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र को आगे करके उनके स्वागत के लिए आगे बढ़ आये थे ।

सोऽभिवाद्य पितुः पादौ धर्मराजस्य धीमतः ।
भीमादींश्चापि सम्पूज्य पर्यष्वजत केशवम् ।।३५।।

अर्जुन ने पिता धृतराष्ट्र और महामति धर्मराज युधिष्ठिर के चरणों में प्रणाम करके भीमसेन आदि का भी सम्मान किया और श्रीकृष्ण को हृदय से लगाया ।

तैः समेत्यार्चितस्तांश्च प्रत्यर्च्याथ यथाविधि ।
विशश्राम महाबाहुस्तीरं लब्ध्वेव पारगः ।।३६।।

उन सबने मिलकर अर्जुन का प्रभूत स्वागत-सत्कार किया । महाबाहु अर्जुन ने भी उनका विधि-पूर्वक सम्मान करके उसी प्रकार विश्राम किया, जैसे समुद्र के पार जाने की इच्छावाला मनुष्य किनारे पर पहुँचकर विश्राम करता है ।

एतस्मिन्नेव काले तु स राजा बभ्रुवाहनः ।
मातृभ्यां सहितो धीमान् कुरूनेव जगाम ह ।।३७।।

इसी समय बुद्धिमान् राजा बभ्रुवाहन अपनी दोनों माताओं के साथ कुरुदेश में जा पहुँचा ।

तत्र वृद्धान्यथावत्स कुरूनन्यांश्च पार्थिवान् ।
अभिवाद्य महाबाहुस्तैश्चापि प्रतिनन्दितः ।।३८।।

वहाँ पहुँचकर वह महाबाहु नरेश कुरुकुल के वृद्ध पुरुषों तथा अन्य राजाओं को विधिवत् प्रणाम करके तथा स्वयं भी उनके द्वारा सत्कृत होकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ ।

प्रविवेश पितामह्याः कुन्त्या भवनमुत्तमम् ।
पितामहीमभ्यवन्दत् साम्ना परमवल्गुना ।।३९।।

तत्पश्चात् वह अपनी पितामही कुन्ती के सुन्दर महल में गया । वहाँ पहुँचकर उसने अत्यन्त मधुर वचन बोलकर अपनी दादी कुन्ती के चरणों में प्रणाम किया ।

ततस्तृतीये दिवसे सत्यवत्यात्मजो मुनिः ।
युधिष्ठिरं समभ्येत्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ।।४०।।

बभ्रुवाहन के आगमन के तीसरे दिन सत्यवती-नन्दन, प्रवचनकुशल महर्षि व्यास युधिष्ठिर के पास आकर बोले—

अद्यप्रभृति कौन्तेय यजस्व समयो हि ते ।
मुहूर्तो यज्ञियः प्राप्तः प्रेरयन्तीह याजकाः ।।४१।।

"कुन्तीनन्दन ! तुम आज से यज्ञ आरम्भ कर दो । उसका समय आ गया है । यज्ञ का शुभ मुहूर्त उपस्थित है और याजकगण तुम्हें बुला रहे हैं ।

अहीनो नाम राजेन्द्र क्रतुस्तेऽयं च कल्पताम् ।
बहुत्वात्काञ्चनाख्यस्य ख्यातो बहुसुवर्णकः ।।४२।।

"हे राजेन्द्र ! तुम्हारे इस यज्ञ में किसी बात की कमी नहीं रहेगी । किसी भी अङ्ग से हीन न होने के कारण यह यज्ञ अहीन [सर्वाङ्गपूर्ण] कहलाएगा । इसमें सुवर्ण नामक द्रव्य की अधिकता रहेगी, अतः यह यज्ञ बहुसुवर्णक नाम से प्रसिद्ध होगा ।

एवमत्र महाराज दक्षिणां त्रिगुणां कुरु ।
त्रित्वं व्रजतु ते राजन् ब्राह्मणा ह्यत्र कारणम् ।।४३।।

"महाराज ! यज्ञ के प्रधान कारण ब्राह्मण ही हैं, अतः तुम उन्हें तिगुनी दक्षिणा देना । ऐसा करने से तुम्हारा यह एक ही यज्ञ तीन यज्ञों के समान हो जाएगा ।

पवित्रं परमं चैतत् पावनं चैतदुत्तमम् ।
यदाश्वमेधावभृथं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ।।४४।।

"कुरुनन्दन ! तुम्हें जो अश्वमेध यज्ञ का अवभृथ स्नान प्राप्त होगा, वह परम पवित्र, पावन तथा उत्तम है ।"

इत्युक्तः स तु तेजस्वी व्यासेनामितबुद्धिना ।
दीक्षां विवेश धर्मात्मा वाजिमेधाप्तये ततः ।।४५।।

परम बुद्धिमान् व्यासजी के ऐसा कहने पर धर्मात्मा तथा तेजस्वी राजा युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ की सिद्धि के लिए उसी दिन दीक्षा ग्रहण कर ली ।

ततो यज्ञं महाबाहुर्वाजिमेधं महाक्रतुम् ।
बह्वन्नदक्षिणं राजा सर्वकामगुणान्वितम् ।।४६।।

तत्पश्चात् महाबाहु राजा युधिष्ठिर ने बहुत-से अन्न की दक्षिणा से युक्त तथा सम्पूर्ण कामना और गुणों से सम्पन्न उस अश्वमेध नामक महायज्ञ का अनुष्ठान आरम्भ कर दिया ।

तत्र वेदविदो राजंश्चक्रुः कर्माणि याजकाः ।
परिक्रमन्तः सर्वज्ञा विधिवत् साधुशिक्षितम् ॥४७॥

उस यज्ञ में वेदों के ज्ञाता और सर्वज्ञ [धर्म, अर्थ, काम को जाननेवाले] याजकों ने सम्पूर्ण कर्म किये-कराये। वे सब ओर घूम-घूमकर साधु पुरुषों द्वारा उपदिष्ट कर्म का सम्पादन करते-कराते थे।

न तेषां स्खलितं किञ्चिदासीच्चाप्यकृतं तथा ।
क्रमयुक्तं च युक्तं च चक्रुस्तत्र द्विजर्षभाः ॥४८॥

उन विद्वानों द्वारा उस यज्ञ में कहीं भी कोई भूल या त्रुटि नहीं होने पाई। कोई भी कर्म न तो छूटा और न अधूरा रहा। श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने प्रत्येक कार्य को क्रम के अनुसार उचित रीति से पूरा किया।

कृत्वा प्रवर्ग्यं धर्माख्यं यथावद् द्विजसत्तमाः ।
चक्रुस्ते विधिवद् राजंस्तथैवाभिषवं द्विजाः ॥४९॥

राजन् ! वहाँ ब्राह्मणशिरोमणियों ने प्रवर्ग्य नामक धर्मानुकूल कर्म को यथोचित रीति से सम्पन्न करके विधिपूर्वक सोमाभिषव [सोमलता का रस निकालने का कार्य] किया।

अभिषूय ततो राजन् सोमं सोमपसत्तमाः ।
सवनान्यानुपूर्व्येण चक्रुः शास्त्रानुसारिणः ॥५०॥

महाराज ! सोमपान करनेवालों में श्रेष्ठ और शास्त्र की आज्ञानुसार आचरण करनेवाले विद्वानों नें सोमरस निकालकर उसके द्वारा क्रमशः तीनों समय के सवनों का सम्पादन किया।

न तत्र कृपणः कश्चिन्न दरिद्रो बभूव ह ।
क्षुधितो दुःखितो वापि प्राकृतो वापि मानवः ॥५१॥

उस यज्ञ में आया हुआ कोई भी मनुष्य, चाहे वह निम्न-से-निम्न श्रेणी का क्यों न था, दीन-दरिद्र, भूखा अथवा दुखिया नहीं रह गया था।

भोजनं भोजनार्थिभ्यो दापयामास शत्रुहा ।
भीमसेनो महातेजाः सततं राजशासनात् ॥५२॥

शत्रुनाशक महातेजस्वी भीमसेन महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से भोजन-इच्छुकों को भोजन दिलाने के काम पर सदा डटे रहते थे।

संस्तरे कुशलाश्चापि सर्वकार्याणि याजकाः ।
दिवसे दिवसे चक्रुर्यथाशास्त्रानुदर्शनात् ॥५३॥

यज्ञ की वेदी बनाने में निपुण याजकगण प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधि के अनुसार सब कार्यों को सम्पन्न किया करते थे।

नाषडङ्गविदत्रासीत् सदस्यस्तस्य धीमतः ।
नाव्रतो नानुपाध्यायो न च वादाविचक्षणः ॥५४॥

बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर के यज्ञ का कोई भी सदस्य ऐसा नहीं था, जो छहों अङ्गों [वेदाङ्गों] का विद्वान्, ब्रह्मचर्यव्रत का पालक, अध्यापनकर्म में कुशल और वादविवाद=शास्त्रार्थ में प्रवीण न हो।

संस्थाप्यैवं तस्य राज्ञस्तं यज्ञं शक्रतेजसः ।
व्यासः सशिष्यो भगवान् वर्धयामास तं नृपम् ॥५५॥

इन्द्र के समान तेजस्वी राजा युधिष्ठिर के उस यज्ञ को विधि-विधानपूर्वक समाप्त कराके शिष्यों-सहित व्यासजी ने उन्हें अभ्युदयसूचक आशीर्वाद साधुवाद दिया [बधाई दी]।

ततो युधिष्ठिरः प्रादाद् ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि ।
कोटीसहस्रं निष्काणां व्यासाय तु वसुन्धराम् ॥५६॥

यज्ञ की समाप्ति पर युधिष्ठिर ने सब ब्राह्मणों को विधिपूर्वक एक सहस्र करोड़ [एक खर्व] सुवर्ण मुद्राएँ दक्षिणा में देकर व्यासजी को सम्पूर्ण पृथिवी दान कर दी।

प्रतिगृह्य धरां राजन् व्यासः सत्यवतीसुतः ।
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥५७॥

राजन् ! सत्यवतीनन्दन व्यास ने उस भूमिदान को ग्रहण करके भरतश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—

वसुधा भवतस्त्वेषा संन्यस्ता राजसत्तम ।
निष्क्रयो दीयतां मह्यं ब्राह्मणा हि धनार्थिनः ॥५८॥

"नृपश्रेष्ठ ! तुम्हारी दी हुई इस पृथिवी को मैं पुनः तुम्हारे ही अधिकार में छोड़ता हूँ। तुम मुझे इसका मूल्य दे दो, क्योंकि ब्राह्मण धन के इच्छुक होते हैं [राज्य के नहीं]।"

युधिष्ठिरस्तु तान् विप्रान्प्रत्युवाच महामनाः ।
भ्रातृभिः सहितो धीमान् मध्ये राज्ञां महात्मनाम् ॥५९॥

तब महामनस्वी नरेशों के बीच में भाइयोंसहित बुद्धिमान् महामना युधिष्ठिर ने उन ब्राह्मणों से कहा—

अश्वमेधे महायज्ञे पृथिवी दक्षिणा स्मृता ।
अर्जुनेन जिता चेयमृत्विग्भ्यः प्रापिता मया ।।६०।।
वनं प्रवेक्ष्ये विप्राग्र्या विभजध्वं महीमिमाम् ।
चतुर्धा पृथिवीं कृत्वा चातुर्होत्रप्रमाणतः ।।६१।।
नाहमादातुमिच्छामि ब्रह्मस्वं द्विजसत्तमाः ।
इदं नित्यं मनो विप्रा भ्रातॄणां चैव मे सदा ।।६२।।

"विप्रवरो ! अश्वमेध नामक महायज्ञ में पृथिवी की दक्षिणा देने का विधान है, अतः मैंने अर्जुन द्वारा विजित यह सम्पूर्ण पृथिवी ऋत्विजों को दे दी है। अब मैं वन में चला जाऊँगा । आप लोग चातुर्होत्र यज्ञ के प्रमाणानुसार पृथिवी के चार भाग करके इसे आपस में बाँट लें । हे द्विजश्रेष्ठो ! मैं ब्राह्मणों का धन नहीं लेना चाहता। ब्राह्मणो ! मेरे भाइयों का भी सदा ऐसा ही विचार रहा है।"

इत्युक्तवति तस्मिंस्तु भ्रातरो द्रौपदी च सा ।
एवमेतदिति प्राहुस्तदभूल्लोमहर्षणम् ।।६३।।

उनके ऐसा कहने पर भीमसेन आदि भाइयों और महारानी द्रौपदी ने एकस्वर से कहा—"हाँ, महाराज का कथन सत्य है ।" इस महान् त्याग की बात सुनकर सबके रोंगटे खड़े हो गये ।

द्वैपायनस्तथा कृष्णः पुनरेव युधिष्ठिरम् ।
प्रोवाच मध्ये विप्राणामिदं सम्पूजयन् मुनिः ।।६४।।

तब मुनिवर द्वैपायन कृष्ण ने पुनः ब्राह्मणों के मध्य में युधिष्ठिर की प्रशंसा करते हुए कहा—

दत्तैषा भवता मह्यं तां ते प्रतिददाम्यहम् ।
हिरण्यं दीयतामेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो धरास्तु ते ।।६५।।

"राजन् ! तुमने तो यह पृथिवी मुझे प्रदान कर दी । अब मैं अपनी ओर से इसे तुम्हें वापस करता हूँ। तुम इन ब्राह्मणों को सुवर्ण दे दो और यह पृथिवी तुम्हारे ही अधिकार में रहे ।"

ततोऽब्रवीद् वासुदेवो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
यथाऽऽह भगवान् व्यासस्तथा त्वं कर्तुमर्हसि ।।६६।।

तब श्रीकृष्ण ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—"धर्मराज ! भगवान् व्यास जैसा कहते हैं, वैसा ही तुम्हें करना चाहिए ।"

इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठः प्रीतात्मा भ्रातृभिः सह ।
कोटिकोटिकृतां प्रादाद् दक्षिणां त्रिगुणां क्रतोः ।।६७।।

यह सुनकर भाइयोंसहित कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर अति प्रसन्न हुए और उन्होंने यज्ञ के लिए प्रत्येक ब्राह्मण को तीन-तीन करोड़ सुवर्णमुद्राओं की दक्षिणा दी ।

न करिष्यति तल्लोके कश्चिदन्यो नराधिपः ।
यत्कृतं कुरुराजेन मरुत्तस्यानुकुर्वता ।।६८।।

महाराज मरुत्त के मार्ग का अनुसरण करनेवाले राजा युधिष्ठिर ने उस समय जैसा महान् त्याग किया था, वैसा इस संसार में दूसरा कोई नहीं कर सकेगा ।

प्रतिगृह्य तु तद्रत्नं कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
ऋत्विग्भ्यः प्रददौ विद्वाँश्चतुर्धा व्यभजंश्च ते ।।६९।।

विद्वान् महर्षि व्यास ने वह सुवर्णराशि लेकर ब्राह्मणों को दे दी और उन्होंने चार भाग करके उसे आपस में बाँट लिया ।

यज्ञवाटे च यत्किञ्चिद्धिरण्यं सविभूषणम् ।
तोरणानि च यूपांश्च घटान् पात्रीस्तथेष्टकाः ।
युधिष्ठिराभ्यनुज्ञाताः सर्वं तद् व्यभजन् द्विजाः ।।७०।।

यज्ञशाला में जो भी कुछ सुवर्ण अथवा सोने के आभूषण, तोरण, यूप [खम्भे], घड़े, पात्र और ईंटें थीं, उन सबको भी युधिष्ठिर की आज्ञा लेकर ब्राह्मणों ने आपस में बाँट लिया ।

अनन्तरं द्विजातिभ्यः क्षत्रिया जह्रिरे वसु ।
तथा विट्शूद्रसंघाश्च तथान्ये म्लेच्छजातयः ।।७१।।

ब्राह्मणों के लेने के पश्चात् जो धन वहाँ पड़ा रह गया था, उसे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और म्लेच्छ जाति के लोग उठाकर ले गये ।

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे मुदिता जग्मुरालयान् ।
तर्पिता वसुना तेन धर्मराजेन धीमता ।।७२।।

तत्पश्चात् सभी ब्राह्मण प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने घरों को चले गये। बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर ने उन सबको उस धन के द्वारा तृप्त कर दिया था ।

स्वमंशं भगवान् व्यासः कुन्त्यै प्रादाद्धि मानतः ।
प्रददौ तस्य महतो हिरण्यस्य महाद्युतिः ।।७३।।

उस महान् सुवर्णराशि में से महातेजस्वी भगवान् व्यास ने जो अपना भाग प्राप्त किया था, उसे उन्होंने अत्यन्त आदरपूर्वक कुन्ती को भेंट कर दिया ।

श्वशुरात् प्रीतिदायं तं प्राप्य सा प्रीतमानसा ।
चकार पुण्यकं तेन सुमहत् संघशः पृथा ॥७४॥

श्वसुर की ओर से प्रेमपूर्वक मिले हुए उस धन को पाकर कुन्तीदेवी मन-ही-मन अति प्रसन्न हुईं और उसके द्वारा उन्होंने बड़े-बड़े सामूहिक पुण्य कार्य किये ।

गत्वा त्ववभृथं राजा महीपालैश्च संवृतः ।
अशोभत महाराज महेन्द्रस्त्रिदशैरिव ॥७५॥

यज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान करके भूपालों से घिरे हुए महाराज युधिष्ठिर ऐसी शोभा पा रहे थे, जैसे देवताओं से पूजित देवराज इन्द्र सुशोभित होते हैं ।

राजभ्योऽपि ततः प्रादाद् रत्नानि विविधानि च ।
गजानश्वानलङ्कारान्स्त्रियो वासांसि काञ्चनम् ॥७६

तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने यज्ञ में पधारे हुए राजाओं को भी अनेक प्रकार के रत्न, हाथी, घोड़े, आभूषण, स्त्रियाँ [—दासियाँ], वस्त्र और सुवर्ण [सुवर्ण-मुद्राएँ] भेंट कीं ।

आनीय च तथा वीरं राजानं बभ्रुवाहनम् ।
प्रदाय विपुलं वित्तं गृहान् प्रास्थापयत् तदा ॥७७॥

तदनन्तर वीर राजा बभ्रुवाहन को अपने पास बुलाकर महाराज युधिष्ठिर ने उसे बहुत-सा धन देकर विदा किया ।

दुःशलायाश्च तं पौत्रं बालकं भरतर्षभः ।
स्वराज्येऽथ पितुर्धीमान् स्वसुः प्रीत्या न्यवेशयत् ॥७८

भरतश्रेष्ठ ! अपनी बहिन दुःशला की प्रसन्नता के लिए बुद्धिमान् युधिष्ठिर ने उसके बालक पौत्र को पिता के राज्य पर अभिषिक्त कर दिया ।

नृपतींश्चैव तान्सर्वान्सुविभक्तान्सुपूजितान् ।
प्रस्थापयामास वशी कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥७९॥

जितेन्द्रिय कुरुराज युधिष्ठिर ने सब राजाओं को विपुल धन देकर और उनका विशेष सत्कार करके उन्हें विदा कर दिया ।

गोविन्दं च महात्मानं बलदेवं महाबलम् ।
तथान्यान्वृष्णिवीरांश्च प्रद्युम्नादीन् सहस्रशः ॥८०॥

पूजयित्वा महाराज यथाविधि महाद्युतिः ।
भ्रातृभिः सहितो राजा प्रास्थापयदरिन्दमः ॥८१॥

महाराज ! तत्पश्चात् महात्मा श्रीकृष्ण, महाबली बलदेव तथा प्रद्युम्न आदि अन्यान्य सहस्रों वीरों का विधिवत् आदर-सत्कार कर भाइयोंसहित शत्रु-दमन महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर ने उन सबको विदा किया ।

एवं बभूव यज्ञः स धर्मराजस्य धीमतः ।
बह्वन्नधनरत्नौघः बभूवुश्चान्नपर्वताः ॥८२॥

इस प्रकार बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर का वह यज्ञ पूर्ण हुआ । उसमें अन्न, धन और रत्नों के ढेर लगे हुए थे । अन्न के तो मानो पहाड़ ही खड़े थे ।

मत्तप्रमत्तमुदितं सुप्रीतयुवतीजनम् ।
मृदङ्गशंखनादैश्च मनोरममभूत् तदा ॥८३॥

उस यज्ञ में पधारे हुए सभी लोग मत्त-प्रमत्त और आनन्दविभोर हो रहे थे । युवतियाँ अति प्रसन्नता के साथ वहाँ विचरण करती थीं । मृदङ्गों और शंखों की ध्वनियों से उस यज्ञशाला की मनोरमता और भी बढ़ गई थी ।

दीयतां भुज्यतां चेष्टं दिवारात्रमवारितम् ।
तं महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनाकुलम् ।
कथयन्ति स्म पुरुषा नानादेशनिवासिनः ॥८४॥

'जिसकी जैसी इच्छा हो, उसको वही वस्तु प्रदान की जाए, सबको इच्छानुसार भोजन कराया जाए'—यह घोषणा दिन-रात निरन्तर होती रहती थी—कभी बन्द नहीं होती थी । हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों से भरे हुए उस यज्ञ-महोत्सव की चर्चा नाना देशों के निवासी मनुष्य बहुत दिनों तक करते रहे ।

वर्षित्वा धनधाराभिः कामै रत्नै रसैस्तथा ।
विपाप्मा भरतश्रेष्ठः कृतार्थः प्राविशत् पुरम् ॥८५॥

भरतभूषण राजा युधिष्ठिर ने उस यज्ञ में धन की मूसलाधार वर्षा की । उन्होंने सब प्रकार की कामनाओं, रत्नों और रसों की भी वर्षा की । इस प्रकार पवित्र और कृतार्थ होकर उन्होंने अपने नगर में प्रवेश किया ।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

युधिष्ठिर के यज्ञ में एक नेवले का उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मण के सत्तूदान को अश्वमेधयज्ञ से भी बढ़कर बतलाना

जनमेजय उवाच

पितामहस्य मे यज्ञे धर्मराजस्य धीमतः।
यदाश्चर्यमभूत्किञ्चित्तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—ब्रह्मन्! मेरे पितामह बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर के यज्ञ में यदि कोई आश्चर्यजनक घटना घटी हो तो आप उसे बताने की कृपा करें।

वैशम्पायन उवाच

श्रूयतां राजशार्दूल महदाश्चर्यमुत्तमम्।
अश्वमेधे महायज्ञे निवृत्ते यदभूत् प्रभो ॥२॥

वैशम्पायनजी ने कहा—नृपश्रेष्ठ! प्रभो! युधिष्ठिर का वह महान् अश्वमेध यज्ञ जब पूर्ण हो गया, उसी समय एक अत्युत्तम परन्तु महान् आश्चर्य में डालनेवाली घटना घटित हुई, उसे बताता हूँ, सुनो!

तर्पितेषु द्विजाग्र्येषु ज्ञातिसम्बन्धिबन्धुषु।
दीनान्धकृपणे वापि तदा भरतसत्तम ॥३॥
घुष्यमाणे महादाने दिक्षु सर्वासु भारत।
पतत्सु पुष्पवर्षेषु धर्मराजस्य मूर्धनि ॥४॥
नीलाक्षस्तत्र नकुलो रुक्मपार्श्वस्तदानघ।
वज्राशनिसमं नादममुञ्चद् वसुधाधिप ॥५॥

भरतकुलभूषण! उस यज्ञ में श्रेष्ठ ब्राह्मणों, जातिवालों, सम्बन्धियों, बन्धु-बान्धवों, अन्धों और दीन-दरिद्रों के तृप्त हो जाने पर जब युधिष्ठिर के महान् दान का डंका चारों ओर पिट गया तथा धर्मराज के मस्तक पर फूलों की वर्षा होने लगी, उसी समय एक नेवला वहाँ आया। हे अनघ! भारत! उसकी आँखें नीली थीं और उसके शरीर के एक ओर का भाग सोने का था। पृथिवीनाथ! उसने आते ही एक बार वज्र के समान भयंकर गर्जना की।

सकृदुत्सृज्य तन्नादं त्रासयानो मृगद्विजान्।
मानुषं वचनं प्राह धृष्टो बिलशयो महान् ॥६॥

बिल में निवास करनेवाले उस धृष्ट और महान् नेवले ने एक बार वैसी भीषण गर्जना करके समस्त मृगों और पक्षियों को भयभीत कर दिया और फिर मनुष्य की भाषा[1] में कहा—

सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो नराधिपाः।
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥७॥

"राजाओ! तुम्हारा यह यज्ञ कुरुक्षेत्र-निवासी एक उञ्छव्रतधारी[2] उदार ब्राह्मण के सेरभर [लगभग ९४० ग्राम] सत्तू दान करने के बराबर भी नहीं हुआ है।"

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा नकुलस्य विशाम्पते।
विस्मयं परमं जग्मुः सर्वे ते ब्राह्मणर्षभाः ॥८॥

प्रजानाथ! नेवले का वह कथन सुनकर समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ।

ततः समेत्य नकुलं पर्यपृच्छन्त ते द्विजाः।
कुतस्त्वं समनुप्राप्तो यज्ञं साधुसमागमम् ॥९॥

तब उन ब्राह्मणों ने उस नेवले के पास जाकर उसे चारों ओर से घेर लिया और उससे पूछा—"नकुल! इस यज्ञ में तो श्रेष्ठ पुरुषों का ही समागम हुआ है, तुम कहाँ से आये हो?

किं बलं परमं तुभ्यं किं श्रुतं किं परायणम्।
कथं भवन्तं विद्याम यो नो यज्ञं विगर्हसे ॥१०॥

"तुममें क्या शक्ति है? तुम्हारा शास्त्रज्ञान

१. पशु-पक्षी बोलते नहीं हैं। कवि अथवा लेखक अपनी बात उनके मुख से कहलाता है। सारा 'पञ्चतन्त्र' इसी शैली में लिखा गया है। पशु-पक्षियों के माध्यम से राजनीति का उत्तम उपदेश कर दिया गया है। यहाँ भी महर्षि व्यास नेवले के मिष [बहाने] से युधिष्ठिर को एक उत्तम शिक्षा देना चाहते हैं।

२. खेत कटकर फसल उठ जाने के पश्चात् जो दाने पड़े रह जाते हैं, उन्हें बीनकर उससे जीवन-निर्वाह करने को 'उञ्छवृत्ति' कहते हैं।

कितना है ? तुम्हारा आश्रय क्या है ? हमें तुम्हारा परिचय किस प्रकार प्राप्त होगा ? तुम कौन हो जो हमारे इस यज्ञ की निन्दा कर रहे हो ?

अविलुप्यागमं कृत्स्नं विविधैर्यज्ञियैः कृतम् ।
यथागमं यथान्यायं कर्तव्यं च तथाकृतम् ।।११।।

"हमने नाना प्रकार की यज्ञसामग्री इकट्ठी करके शास्त्रीय विधि-विधान के अनुसार, शास्त्रीय विधि की अवहेलना न करते हुए इस यज्ञ को पूर्ण किया है । इसमें शास्त्रसंगत और न्याययुक्त प्रत्येक कर्तव्य-कर्म का यथोचित पालन और अनुष्ठान किया गया है ।

पूजार्हाः पूजिताश्चात्र विधिवच्छास्त्रदर्शनात् ।
मन्त्राहुतिहुतश्चाग्निर्दत्तं देयममत्सरम् ।।१२।।

"इस यज्ञ में शास्त्रीय दृष्टि से पूजनीय पुरुषों की विधिवत् पूजा की गई है—मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्नि में आहुति दी गई है और देने योग्य वस्तुओं का ईर्ष्यारहित होकर दान दिया गया है ।

यदत्र तथ्यं तद् ब्रूहि सत्यं सत्यं द्विजातिषु ।
यथाश्रुतं यथादृष्टं पृष्टो ब्राह्मणकाम्यया ।।१३।।
श्रद्धेयवाक्यः प्राज्ञस्त्वं दिव्यं रूपं बिभर्षि च ।
समागतश्च विप्रैस्त्वं तद् भवान् वक्तुमर्हति ।।१४।।

"यह सब होने पर भी तुमने क्या देखा अथवा सुना है, जिससे तुम इसपर आक्षेप कर रहे हो ? इन ब्राह्मणों के निकट इनकी इच्छानुसार पूछे जाने पर तुम सच-सच बताओ, क्योंकि तुम्हारी बातें विश्वास के योग्य जान पड़ती हैं । तुम स्वयं भी बुद्धिमान् प्रतीत होते हो और दिव्यरूप धारण किये हुए हो । इस समय तुम्हारा ब्राह्मणों के साथ समागम हुआ है, अतः तुम्हें हमारे प्रश्न का उत्तर अवश्य देना चाहिए ।"

इति पृष्ठो द्विजैस्तैः स प्रहसन् नकुलोऽब्रवीत् ।
नैषा मृषा मया वाणी प्रोक्ता दर्पेण वा द्विजाः ।।१५।।

इन ब्राह्मणों के इस प्रकार पूछने पर नेवले ने हँसकर कहा—"हे ब्राह्मणो ! मैंने आप लोगों के समक्ष न तो मिथ्या बात कही है और न घमण्ड में आकर ही कोई बात कही है ।

यन्मयोक्तमिदं वाक्यं युष्माभिश्चाप्युपश्रुतम् ।
सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो द्विजर्षभाः ।।१६।।

"मैंने जो कहा है कि 'द्विजवरो ! आप लोगों का यह यज्ञ उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मण द्वारा किये हुए सेर-भर सत्तूदान के बराबर भी नहीं है'—इसे आपने ठीक-ठीक सुना है ।

इत्यवश्यं मयैतत्तु वक्तव्यं द्विजसत्तमाः ।
शृणुताव्यग्रमनसः शंसतो मे यथातथम् ।।१७।।

"हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! मैंने जो कहा है, इसका कारण अवश्य आप लोगों को बताने योग्य है । अब मैं यथार्थरूप से जो कुछ कहने लगा हूं, उसे आप सब लोग शान्तचित्त होकर सुनें !

अनुभूतं च दृष्टं च यन्मयाद्भुतमुत्तमम् ।
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ।।१८।।

"कुरुक्षेत्र-निवासी उञ्छवृत्तिवाले दानी ब्राह्मण के विषय में मैंने जो कुछ देखा और अनुभव किया है, वह अत्युत्तम और अद्भुत है ।

स्वर्गं येन द्विजाः प्राप्तः सभार्यः ससुतस्नुषः ।
यथा चार्धं शरीरस्य ममेदं काञ्चनीकृतम् ।।१९।।

"ब्राह्मणो ! उस दान के प्रभाव से पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूसहित उस द्विजश्रेष्ठ ने स्वर्गलोक पर अधिकार पा लिया तथा वहाँ जिस प्रकार उन्होंने मेरा यह आधा शरीर सुवर्णमय कर दिया, वह सब कथा सुनाता हूँ ।"

नकुल उवाच

हन्त वो वर्तयिष्यामि दानस्य फलमुत्तमम् ।
न्यायलब्धस्य सूक्ष्मस्य विप्रदत्तस्य यद् द्विजाः ।।२०।।

नकुल बोला—ब्राह्मणो ! कुरुक्षेत्रनिवासी द्विज के द्वारा दिये गये न्यायोपार्जित थोड़े-से अन्न के दान से जो उत्तम फल देखने में आया है, उसे मैं आप लोगों को बताता हूँ ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे धर्मज्ञैर्बहुभिर्वृते ।
उञ्छवृत्तिर्द्विजः कश्चित् कापोतिरभवत्तदा ।।२१।।

कुछ समय पहले की बात है, धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में, जहाँ बहुत-से धर्मशील महात्मा रहते हैं, कोई ब्राह्मण रहते थे । वे उञ्छवृत्ति से अपना जीवन-निर्वाह करते थे । कबूतर के समान अन्न के दाने चुनकर लाते और उसी से कुटुम्ब का पालन करते थे ।

सभार्यः सह पुत्रेण सस्नुषस्तपसि स्थितः ।
बभूव शुक्लवृत्तः स धर्मात्मा नियतेन्द्रियः ॥२२॥

वे अपनी स्त्री, पुत्र और पुत्रवधू के साथ रहकर तपस्या में संलग्न रहते थे। वे ब्राह्मणदेवता शुद्ध आचार-विचार से रहनेवाले, धर्मात्मा और जितेन्द्रिय थे।

षष्ठे काले सदा विप्रो भुङ्क्ते तैः सह सुव्रतः ।
षष्ठे काले कदाचित्तु तस्याहारो न विद्यते ॥२३॥
भुङ्क्तेऽन्यस्मिन्कदाचित्स षष्ठे काले द्विजोत्तमः ।

वे उत्तम व्रतधारी द्विज सदा छठे काल में अर्थात् तीन-तीन दिन पर ही स्त्री-पुत्र आदि के साथ भोजन किया करते थे। यदि कभी उस दिन उस समय भोजन न मिला तो दूसरा छठा काल आने पर ही वे द्विजश्रेष्ठ अन्न ग्रहण करते थे।

कदाचिद् धर्मिणस्तस्य दुर्भिक्षे सति दारुणे ॥२४॥
नाविद्यत तदा विप्राः सञ्चयस्तन्निबोधत ।
क्षीणौषधिसमावेशे द्रव्यहीनोऽभवत्तदा ॥२५॥

ब्राह्मणो ! सुनो, एक समय उस प्रदेश में बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। उस धर्मात्मा ब्राह्मण के पास अन्न का संग्रह तो था नहीं, दुर्भिक्ष के कारण खेतों का अन्न भी सूख गया था, अतः वे सर्वथा निर्धन हो गये थे।

काले कालेऽस्य सम्प्राप्ते नैव विद्येत भोजनम् ।
क्षुधापरिगताः सर्वे प्रातिष्ठन्त तदा तु ते ।
उञ्छं तदा शुक्लपक्षे मध्यं तपति भास्करे ॥२६॥

बारम्बार छठा काल आता, परन्तु उन्हें भोजन नहीं मिलता था, अतः वे सब-के-सब भूखे ही रह जाते थे। एक दिन ज्येष्ठ मास के शुक्लपक्ष की दोपहरी में उस परिवार के सभी सदस्य उञ्छ लाने के लिए चले।

उष्णार्तश्च क्षुधार्तश्च विप्रस्तपसि संस्थितः ।
उञ्छमप्राप्तवानेव ब्राह्मणः क्षुच्छ्रमान्वितः ॥२७॥
स तथैव क्षुधाविष्टः सार्धं परिजनेन ह ।
क्षपयामास तं कालं कृच्छ्रप्राणो द्विजोत्तमः ॥२८॥

तपस्या में लगे हुए वे ब्राह्मणदेवता गर्मी और भूख दोनों से कष्ट पा रहे थे। भूख और परिश्रम से पीड़ित होने पर भी वे उञ्छ न पा सके। उन्हें अन्न का एक दाना भी नहीं मिला, अतः परिवार के सभी सदस्यों के साथ उसी प्रकार भूख से पीड़ित रहकर ही उन्होंने वह समय काटा। वे श्रेष्ठ ब्राह्मण बड़े कष्ट से अपने प्राणों की रक्षा करते थे।

अथ षष्ठे गते काले यवप्रस्थमुपार्जयत् ।
यवप्रस्थं तु तं सक्तूनकुर्वन्त तपस्विनः ॥२९॥
कृतजप्याह्निकास्ते तु हुत्वा चाग्निं यथाविधि ।
कुडवं कुडवं सर्वे व्यभजन्त तपस्विनः ॥३०॥

तत्पश्चात् एक दिन पुनः छठा काल आने तक उन्होंने सेरभर जौ का उपार्जन किया। उन तपस्वी ब्राह्मणों ने उस जौ का सत्तू तैयार किया और जप एवं नैत्यिक नियम पूर्ण करके अग्नि में विधिपूर्वक आहुति देने के पश्चात् वे सब लोग एक-एक पाव सत्तू बाँटकर खाने के लिए तैयार हुए।

अथागच्छद् द्विजः कश्चिदतिथिर्भुञ्जतां तदा ।
ते तं दृष्ट्वातिथिं तत्र प्रहृष्टमनसोऽभवन् ॥३१॥
तेऽभिवाद्य सुखप्रश्नं पृष्ट्वा तमतिथिं तदा ।
कुटीं प्रवेशयामासुर्धर्मज्ञा द्विजसत्तमाः ॥३२॥

वे भोजन करने के लिए अभी बैठे ही थे कि कोई ब्राह्मण अतिथि उनके यहाँ आ पहुँचा। उस अतिथि को वहाँ आया देख वे मन-ही-मन अति प्रसन्न हुए। उस अतिथि को प्रणाम कर उन्होंने उसका कुशल-मङ्गल पूछा। हे विप्रवरो ! फिर वे धर्मज्ञ उसे कुटी में ले गये।

इदमर्घ्यं च पाद्यं च बृसी चेयं तवानघ ।
शुचयः सक्तवश्चेमे नियमोपार्जिताः प्रभो ।
प्रतिगृह्णीष्व भद्रं ते मया दत्तान् द्विजर्षभ ॥३३॥

तत्पश्चात् उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मण ने कहा— "भगवन् ! अनघ ! आपके लिए यह अर्घ्य, पाद्य तथा आसन उपस्थित है और न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए ये परम पवित्र सत्तू आपकी सेवा में प्रस्तुत हैं। द्विजश्रेष्ठ ! मैंने प्रसन्नतापूर्वक इन्हें आपको अर्पण किया है। आप स्वीकार करें।"

इत्युक्तः प्रतिगृह्याथ सक्तूनां कुडवं द्विजः ।
भक्षयामास राजेन्द्र न च तुष्टिं जगाम सः ॥३४॥

हे राजेन्द्र ! ब्राह्मण के ऐसा कहने पर उस

अतिथि ने एक पाव [लगभग २४० ग्राम] सत्तू लेकर खा लिया, परन्तु इतने से वह तृप्त नहीं हुआ।

स उञ्छवृत्तिस्तं प्रेक्ष्य क्षुधापरिगतं द्विजम्।
आहारं चिन्तयामास कथं तुष्टो भवेदिति ॥३५॥

उन उञ्छवृत्तिशील द्विज ने देखा कि ब्राह्मण-अतिथि तो अभी भूखे ही रह गये हैं। तब वे उनके लिए आहार के सम्बन्ध में सोचने लगे कि यह ब्राह्मण कैसे सन्तुष्ट हो?

तस्य भार्याब्रवीद् वाक्यं मद्भागो दीयतामिति।
गच्छत्वेष यथाकामं परितुष्टो द्विजोत्तमः ॥३६॥

तब ब्राह्मण की पत्नी ने कहा—"नाथ! यह मेरा भाग इन्हें प्रदान कर दीजिए जिससे ये ब्राह्मण-देवता इच्छानुसार तृप्त होकर यहाँ से पधारें।"

इति ब्रुवन्तीं तां साध्वीं भार्यां स द्विजसत्तमः।
क्षुधापरिगतां ज्ञात्वा तान् सक्तून् नाभ्यनन्दत ॥३७॥

अपनी पतिव्रता पत्नी की यह बात सुनकर उस द्विजश्रेष्ठ ने उसे क्षुधातुर जानकर उसके दिये हुए सत्तू को लेने की इच्छा नहीं की।

आत्मानुमानतो विद्वान् स तु विप्रर्षभस्तदा।
जानन्वृद्धां क्षुधार्तां च श्रान्तां ग्लानां तपस्विनीम्।
त्वगस्थिभूतां वेपन्तीं ततो भार्यामुवाच ह ॥३८॥

उस विद्वान् विप्रवर ने अपने अनुमान से ही यह जान लिया कि यह मेरी वृद्धा पत्नी स्वयं भी क्षुधा से कष्ट पा रही है। यह थक गई है और अत्यन्त दुर्बल हो गई है। इस तपस्विनी के शरीर में चमड़े से ढकी हुई हड्डियों का ढाँचामात्र रह गया है। यह निर्बलता के कारण काँप रही है। उसकी अवस्था पर दृष्टिपात करके उन्होंने अपनी स्त्री से कहा—

अपि कीटपतङ्गानां मृगाणां चैव शोभने।
स्त्रियो रक्ष्याश्च पोष्याश्च न त्वेवं वक्तुमर्हसि ॥३९॥

"शोभने! अपनी पत्नी की रक्षा और पालन-पोषण करना तो कीट-पतङ्ग तथा पशुओं का भी कर्तव्य है, अतः तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए।

अनुकम्प्यो नरः पत्न्या पुष्टो रक्षित एव च।
प्रपतेद् यशसो दीप्तात्स च लोकान्न चाप्नुयात् ॥४०॥

"जो पुरुष होकर भी स्त्री के द्वारा अपना पालन-पोषण और संरक्षण करता है, ऐसा मनुष्य दया का पात्र है। वह उज्ज्वल कीर्ति से भ्रष्ट हो जाता है और उसे उत्तम लोकों की प्राप्ति नहीं होती।

न वेत्ति कर्मतो भार्यारक्षणे योऽक्षमः पुमान्।
अयशो महदाप्नोति नरकाँश्चैव गच्छति ॥४१॥

"जो पुरुष स्त्री की रक्षा करना अपना कर्तव्य नहीं मानता अथवा जो अपनी पत्नी की रक्षा करने में असमर्थ है, वह संसार में महान् अपयश का भागी होता है और परलोक [पुनर्जन्म] में जाने पर उसे नरक=दुःख में गिरना पड़ता है।"

इत्युक्ता सा ततः प्राह धर्मार्थौ नौ समौ द्विज।
सक्तुप्रस्थचतुर्भागं गृहाणेमं प्रसीद मे ॥४२॥

पति के ऐसा कहने पर ब्राह्मणी बोली—"ब्रह्मन्! हम दोनों के धर्म और अर्थ समान हैं, अतः आप मुझपर प्रसन्न हों और मेरे भाग का यह पाव-भर सत्तू लेकर अतिथि को दे दें।

सत्यं रतिश्च धर्मश्च स्वर्गश्च गुणनिर्जितः।
स्त्रीणां पतिसमाधीनं कांक्षितं च द्विजर्षभ ॥४३॥

"द्विजश्रेष्ठ! स्त्रियों का सत्य, धर्म, रति=प्रेम, अपने गुणों से मिला हुआ स्वर्ग और उनकी सारी अभिलाषा पति के ही अधीन है।

ऋतुर्मातुः पितुर्बीजं दैवतं परमं पतिः।
भर्तुः प्रसादान्नारीणां रतिपुत्रफलं तथा ॥४४॥

"माता का रज और पिता का वीर्य—इन दोनों के मिलने से ही वंश-परम्परा चलती है। स्त्री के लिए पति ही सबसे बड़ा देवता है। नारियों को जो रति और पुत्ररूप फल की प्राप्ति होती है, वह पति का ही प्रसाद है।

पालनाद्धि पतिस्त्वं मे भर्तासि भरणाच्च मे।
पुत्रप्रदानाद् वरदस्तस्माद् सक्तून् प्रयच्छ मे ॥४५॥

"आप पालन करने के कारण मेरे पति, भरण-पोषण करने से भर्ता और पुत्र प्रदान करने के कारण वरदाता हैं, अतः मेरे हिस्से का सत्तू अतिथि को दे दीजिए।

जरापरिगतो वृद्धः क्षुधार्तो दुर्बलो भृशम्।
उपवासपरिश्रान्तो यदा त्वमपि कर्शितः ॥४६॥

"आप भी तो जराजीर्ण [वृद्धावस्था के कारण

दुर्बल और क्षीण], वृद्ध, क्षुधातुर, अत्यन्त दुर्बल, उपवास से थके हुए और क्षीणकाय हो रहे हैं [अतः जिस प्रकार आप भूख का कष्ट सहन करते हैं, वैसे ही मैं भी सह लूंगी]।"

इत्युक्तः स तया सक्तून् प्रगृह्येदं वचोऽब्रवीत्।
द्विजः सक्तूनिमान् भूयः प्रतिगृह्णीष्व सत्तम ॥४७॥

पत्नी के ऐसा कहने पर ब्राह्मण ने उस सत्तू को लेकर अतिथि से कहा—"साधु पुरुषों में श्रेष्ठ ब्राह्मण! आप यह सत्तू भी पुनः ग्रहण कीजिए।"

स तान् प्रगृह्य भुक्त्वा च न तुष्टिमगमद् द्विजः।
तमुञ्छवृत्तिरालक्ष्य ततश्चिन्तापरोऽभवत् ॥४८॥

अतिथि ब्राह्मण उस सत्तू को भी लेकर खा गया फिर भी उसकी तृप्ति नहीं हुई। यह देखकर उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मण बहुत चिन्तित हुआ।

पुत्र उवाच

सक्तूनिमान् प्रगृह्य त्वं देहि विप्राय सत्तम।
इत्येवं सुकृतं मन्ये तस्मादेतत्करोम्यहम् ॥४९॥

तब उसके पुत्र ने कहा—सत्पुरुषों में श्रेष्ठ पिताजी! आप मेरे हिस्से [भाग] का यह सत्तू लेकर ब्राह्मण को दे दीजिए। मैं इसी में पुण्य समझता हूँ, इसलिए ऐसा कर रहा हूँ।

भवान् हि परिपाल्यो मे सर्वदैव प्रयत्नतः।
साधूनां कांक्षितं यस्मात्पितुर्वृद्धस्य पालनम् ॥५०॥

मुझे सदा प्रयत्नपूर्वक आपका पालन करना चाहिए, क्योंकि साधुपुरुष सदा ही इस बात की अभिलाषा रखते हैं कि वे अपने वृद्ध पिता का पालन-पोषण करें।

पुत्रार्थो विहितो ह्येष वार्धके परिपालनम्।
श्रुतिरेषा हि विप्रर्षे त्रिषु लोकेषु शाश्वती ॥५१॥

पुत्र होने का यही फल है कि वह वृद्धावस्था में पिता की रक्षा करे। ब्रह्मर्षे! तीनों लोकों में यह सनातन श्रुति प्रसिद्ध है।

पितोवाच

अपि वर्षसहस्री त्वं बाल एव मतो मम।
उत्पाद्य पुत्रं हि पिता कृतकृत्यो भवेत्सुतात् ॥५२॥

पिता ने कहा—पुत्र! तुम सहस्र वर्ष के हो जाओ, तो भी हमारे लिए बालक ही हो। पिता पुत्र को जन्म देकर ही उससे अपने-आपको कृतार्थ समझता है।

बलवती क्षुद् बालानां जानाम्येतदहं प्रभो।
वृद्धोऽहं धारयिष्यामि त्वं बली भव पुत्रक ॥५३॥

शक्तिसम्पन्न बेटे! 'बच्चों की भूख अत्यन्त प्रबल होती है'—मैं इस बात को भली-भाँति जानता हूँ। मैं तो वृद्ध हूँ, भूखा रहकर भी प्राणधारण कर सकता हूँ। तुम यह सत्तू खाकर बलवान् होओ—अपने प्राणों की रक्षा करो।

जीर्णेन वयसा पुत्र न मां क्षुद् बाधतेऽपि च।
दीर्घकालं तपस्तप्तं न मे मरणतो भयम् ॥५४॥

पुत्र! जीर्णावस्था हो जाने के कारण मुझे भूख अधिक कष्ट नहीं देती। इसके अतिरिक्त मैं दीर्घकाल तक तपस्या कर चुका हूँ, अतः अब मुझे मरने का भय नहीं है।

पुत्र उवाच

अपत्यमस्मि ते पुंसस्त्राणात्पुत्र इति स्मृतः।
आत्मा पुत्रः स्मृतस्तस्मात्त्राह्यात्मानमिहात्मना ॥५५॥

पुत्र बोला—तात! मैं आपका पुत्र हूँ, पुरुष का त्राण करने के कारण ही सन्तान को पुत्र कहा गया है। इसके सिवा पुत्र पिता का अपना ही आत्मा माना गया है, अतः आप अपने आत्मभूत पुत्र के द्वारा अपनी रक्षा कीजिए।

पितोवाच

रूपेण सदृशस्त्वं मे शीलेन च दमेन च।
परीक्षितश्च बहुधा सक्तूनादपि ते सुत ॥५६॥

पिता ने कहा—प्रिय पुत्र! तुम रूप, शील [सदाचार एवं सद्भाव] और इन्द्रियसंयम के द्वारा मेरे ही समान हो। तुम्हारे इन गुणों की मैंने अनेक बार परीक्षा की है, अतः मैं तुम्हारा सत्तू ले लेता हूँ।

नकुल उवाच

इत्युक्त्वादाय तान्सक्तून्प्रीतात्मा द्विजसत्तमः।
प्रहसन्निव विप्राय स तस्मै प्रददौ तदा ॥५७॥

नेवले ने कहा—ऐसा कहकर उस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने प्रसन्नतापूर्वक वह सत्तू ले लिया और हँसते हुए-से उस ब्राह्मण अतिथि को अर्पित कर दिया।

भुक्त्वा तानपि सक्तून् स नैव तुष्टो बभूव च ।
उच्छवृत्तिस्तु धर्मात्मा व्रीडामनुजगाम ह ।।५८।।

वह सत्तू खाकर भी ब्राह्मणदेवता का पेट नहीं भरा। यह देखकर उञ्छव्रतधारी ब्राह्मण बड़े संकोच में पड़ गये।

तं वै वधूः स्थिता साध्वी ब्राह्मणप्रियकाम्यया ।
सक्तूनादाय संहृष्टा श्वशुरं वाक्यमब्रवीत् ।।५९।।

उनकी पुत्रवधू भी अति सुशीला थी। वह ब्राह्मण का प्रिय करने की इच्छा से उनके समीप जा बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने उन श्वशुर से बोली—

सन्तानात्तव सन्तानं मम विप्र भविष्यति ।
सक्तूनिमानतिथये गृहीत्वा सम्प्रयच्छ मे ।।६०।।

"विप्रवर! आपकी सन्तान से मुझे सन्तान प्राप्त होगी, अतः आप मेरे परम पूज्य हैं। आप मेरे हिस्से के इस सत्तू को लेकर इसे भी अतिथिदेव को प्रदान कर दीजिए।"

श्वशुर उवाच

वातातपविशीर्णाङ्गीं त्वां विवर्णां निरीक्ष्य वै ।
कर्शितां सुव्रताचारे क्षुधाविह्वलचेतसम् ।।६१।।
कथं सक्तून् ग्रहीष्यामि भूत्वा धर्मोपघातकः ।
कल्याणवृत्ते कल्याणि नैवं च वक्तुमर्हसि ।।६२।।

श्वशुर ने कहा—पुत्री! लू और धूप के मारे तुम्हारा सारा शरीर सूख रहा है—शिथिल होता जा रहा है। तुम्हारी कान्ति फीकी पड़ गई है। उत्तम व्रत तथा आचार का पालन करनेवाली बेटी! तुम बहुत दुर्बल हो गई हो। क्षुधा के कष्ट से तुम्हारा चित्त अत्यन्त व्याकुल है। तुम्हें ऐसी अवस्था में देखकर भी मैं तुम्हारा सत्तू कैसे ले सकता हूँ? ऐसा करने से तो मैं धर्म की हानि करनेवाला हो जाऊँगा, अतः कल्याणमय आचरण करनेवाली कल्याणि! तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए।

षष्ठे काले व्रतवतीं शौचशीलतपोन्विताम् ।
कृच्छ्रवृत्तिं निराहारां द्रक्ष्यामि त्वां कथं शुभे ।।६३।।

शुभे! तुम प्रतिदिन शौच, सदाचार और तपस्या में संलग्न रहकर छठे काल में भोजन करने का व्रत लिये हुए हो। तुम्हारी भोजनचर्या अत्यन्त कठिनाई से चलती है। आज तुम्हारा सत्तू लेकर मैं तुम्हें निराहार कैसे देख सकूँगा?

बाला क्षुधार्ता नारी च रक्ष्या त्वं सततं मया ।
उपवास-परिश्रान्ता त्वं हि बान्धवनन्दिनी ।।६४।।

एक तो तुम अभी बालिका हो, दूसरे भूख से पीड़ित हो रही हो, तीसरे नारी हो और चौथे उपवास करते-करते अत्यन्त दुबली हो गई हो, अतः मुझे सदा तुम्हारी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि तुम अपनी सेवाओं द्वारा बन्धु-बान्धवों को आनन्दित करनेवाली हो।

स्नुषोवाच

गुरोर्मम गुरुस्त्वं वै यतो दैवतदैवतम् ।
देवातिदेवस्तस्मात्त्वं सक्तूनादत्स्व मे प्रभो ।।६५।।

पुत्रवधू बोली—भगवन्! आप मेरे गुरु के भी गुरु, देवताओं के भी देवता और सामान्य देवताओं की अपेक्षा भी अतिशय श्रेष्ठ देवता हैं, अतः मेरे दिये हुए इस सत्तू को स्वीकार कीजिए।

देहः प्राणश्च धर्मश्च शुश्रूषार्थमिदं गुरोः ।
तव विप्र प्रसादेन लोकान् प्राप्स्यामहे शुभान् ।।६६।।

मेरा यह शरीर, प्राण और धर्म—सब-कुछ बड़ों की सेवा के लिए ही है। विप्रवर! आपके प्रसाद से मुझे उत्तम लोकों की प्राप्ति हो सकती है।

अवेक्ष्या इति कृत्वाहं दृढभक्तेति वा द्विज ।
चिन्त्या ममेयमिति वा सक्तूनादातुमर्हसि ।।६७।।

आप मुझे अपनी दृढ़ भक्त, रक्षणीय, पालनीय [देख-भाल करने योग्य] समझकर अतिथि को देने के लिए यह सत्तू स्वीकार कर लीजिए।

श्वशुर उवाच

अनेन नित्यं साध्वी त्वं शीलवृत्तेन शोभसे ।
या त्वं धर्मव्रतोपेता गुरुवृत्तिमवेक्षसे ।।६८।।
तस्मात्सक्तून् ग्रहीष्यामि वधु नार्हसि वञ्चनाम् ।
गणयित्वा महाभागे त्वां हि धर्मभृतां वरे ।।६९।।

श्वशुर ने कहा—पुत्री! तुम सती-साध्वी नारी हो तथा सदा ऐसे ही शील और सदाचार का पालन करने से तुम्हारी शोभा है। तुम धर्म तथा व्रत के आचरण में संलग्न होकर सदा गुरुजनों की सेवा पर दृष्टि रखती हो, अतः बहू! मैं तुम्हें पुण्य से वञ्चित नहीं होने दूँगा। धर्मात्माओं में श्रेष्ठ महाभागे!

पुण्यात्माओं में तुम्हारी गिनती करके मैं तुम्हारा दिया हुआ सत्तू अवश्य स्वीकार करूँगा।

नकुल उवाच

इत्युक्त्वा तानुपादाय सक्तून् प्रादाद् द्विजातये।
ततस्तुष्टोऽभवद् विप्रस्तस्य साधोर्महात्मनः ॥७०॥

नेवले ने कहा—ऐसा कहकर ब्राह्मण ने उसके हिस्से का भी सत्तू लेकर उस अतिथि को दे दिया। इससे वह अतिथि ब्राह्मण उस उञ्छव्रतधारी साधु महात्मा से बहुत सन्तुष्ट हुआ।

प्रीतात्मा स तु तं वाक्यमिदमाह द्विजर्षभम्।
वाग्मी तदा द्विजश्रेष्ठो धर्मः पुरुषविग्रहः ॥७१॥

वस्तुतः उस श्रेष्ठ द्विज के रूप में मानव-विग्रह-[शरीर]-धारी साक्षात् धर्म ही वहाँ उपस्थित थे। वे प्रवचनपटु धर्म सन्तुष्टचित्त होकर उन उञ्छव्रत-धारी श्रेष्ठ ब्राह्मण से इस प्रकार बोले—

शुद्धेन तव दानेन न्यायोपात्तेन धर्मतः।
यथाशक्ति विसृष्टेन प्रीतोऽस्मि द्विजसत्तम ॥७२॥

"द्विजश्रेष्ठ! तुमने अपनी शक्ति के अनुसार धर्मपूर्वक जो न्यायोपार्जित शुद्ध अन्न का दान दिया है, इससे मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ।

क्षुधा निर्णुदति प्रज्ञां धर्मबुद्धिं व्यपोहति।□
क्षुधापरिगतज्ञानो धृतिं त्यजति चैव ह।
बुभुक्षां जयते यस्तु स स्वर्गं जयते ध्रुवम् ॥७३॥

"भूख मनुष्य की बुद्धि को चौपट कर देती है, धार्मिक विचार को मिटा देती है। भूख से ज्ञान लुप्त हो जाने के कारण मनुष्य धीरज खो देता है। जो भूख को जीत लेता है, वह निश्चय ही स्वर्ग पर विजय पाता है।

यदा दानरुचिः स्याद् वै तदा धर्मो न सीदति।
अनवेक्ष्य सुतस्नेहं कलत्रस्नेहमेव च।
धर्ममेव गुरुं ज्ञात्वा तृष्णा न गणिता त्वया ॥७४॥

"जब मनुष्य में दानविषयक रुचि जाग्रत् होती है, उस समय उसके धर्म का ह्रास नहीं होता। तुमने पत्नी के प्रेम और पुत्र के स्नेह पर भी दृष्टिपात न करके धर्म को ही श्रेष्ठ माना है तथा उसके समक्ष भूख-प्यास को भी कुछ नहीं गिना है।

द्रव्यागमो नृणां सूक्ष्मः पात्रे दानं ततः परम्।
कालः परतरो दानाच्छ्रद्धा चैव ततः परा ॥७५॥

"मनुष्य के लिए सबसे प्रथम तो न्यायपूर्वक धन की प्राप्ति का उपाय जानना ही सूक्ष्म विषय है। उस न्यायोपार्जित धन को सत्पात्र की सेवा में अर्पण करना उससे भी श्रेष्ठ है। साधारण समय में दान देने की अपेक्षा उत्तम समय पर दान देना और भी श्रेष्ठ है, परन्तु श्रद्धा का महत्त्व काल से भी बढ़कर है।

स्वर्गद्वारं सुसूक्ष्मं हि नरैर्मोहान्न दृश्यते।□
स्वर्गार्गलं लोभबीजं रागगुप्तं दुरासदम् ॥७६॥
तं तु पश्यन्ति पुरुषा जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।□
ब्राह्मणास्तपसा युक्ता यथाशक्तिप्रदायिनः ॥७७॥

"स्वर्ग का द्वार अत्यन्त सूक्ष्म है। मनुष्य मोह-वश उसे देख नहीं पाते। उस स्वर्गद्वार की अर्गला [आगल] लोभरूपी बीज से बनी हुई है। वह द्वार राग के द्वारा गुप्त है, अतः उसमें प्रविष्ट होना बहुत कठिन है। जो लोग क्रोध को जीत चुके हैं, इन्द्रियों को वश में कर चुके हैं, वे यथाशक्ति दान देनेवाले ब्राह्मण ही उस द्वार को देख पाते हैं।

सहस्रशक्तिश्च शतं शतशक्तिर्दशापि च।
दद्यादपश्च यः शक्त्या सर्वे तुल्यफलाः स्मृताः ॥७८॥

"श्रद्धापूर्वक दान देनेवाले मनुष्य में यदि एक सहस्र देने की सामर्थ्य हो तो वह सौ का दान करे, सौ देने की शक्तिवाला दस का दान करे और जिसके पास कुछ न हो, वह यदि अपनी शक्ति के अनुसार जल ही दान कर दे तो इन सबका फल बराबर माना गया है।

अन्यायोपगतं द्रव्यमभीक्ष्णं यो ह्यपण्डितः।
धर्माभिशङ्की यजते न स धर्मफलं लभेत् ॥७९॥

जो मूर्ख अन्याय-उपार्जित धन का बारम्बार संग्रह करके धर्म के विषय में संशय रखते हुए यजन करता है, उसे धर्म का फल नहीं मिलता।

न धर्मः प्रीयते तात दानैर्दत्तैर्महाफलैः।
न्यायलब्धैर्यथा सूक्ष्मैः श्रद्धापूतैः स तुष्यति ॥८०॥

"तात! अन्यायपूर्वक प्राप्त हुए द्रव्य [धन] के द्वारा महान् फल देनेवाले बड़े-बड़े दान करने से धर्म को उतनी प्रसन्नता नहीं होती, जितनी न्यायपूर्वक

कमाये हुए थोड़े-से अन्न का भी श्रद्धापूर्वक दान करने से होती है।

विभवो न नृणां पुण्यं स्वशक्त्या स्वर्जितं सताम्।
न यज्ञैर्विविधैर्विप्र यथान्यायेन सञ्चितैः ॥८१

"हे विप्र! मनुष्य के लिए धन ही पुण्य का हेतु नहीं है। साधु पुरुष अपनी शक्ति=तप से ही स्वर्ग को जीत लेते हैं, पुण्य अर्जन कर लेते हैं। न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए अन्न के दान से जैसा उत्तम फल प्राप्त होता है, वैसा नाना प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान करने से भी प्राप्त नहीं होता।

एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा।□
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम् ॥८२॥

"दान देना, प्राणियों पर दया करना, ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन, सत्यभाषण, करुणा, धैर्य, क्षमा-शीलता—यही धर्म है, यही महान् योग है। ये सनातन धर्म के सनातन मूल हैं।

क्रोधाद् दानफलं हन्ति लोभात् स्वर्गं न गच्छति।□
न्यायवृत्तिर्हि तपसा दानवित् स्वर्गमश्नुते ॥८३॥

"मनुष्य क्रोध से अपने दान के फल को नष्ट कर देता है, लोभ के कारण वह स्वर्ग में नहीं जाने पाता। न्यायोपार्जित धन से जीवन-निर्वाह करनेवाला तथा दान के महत्त्व को समझनेवाला पुरुष दान और तप के द्वारा स्वर्ग [सुखविशेष] को प्राप्त कर लेता है।

सक्तुप्रस्थेन विजितो ब्रह्मलोकस्त्वयाक्षयः।
विरजो ब्रह्मसदनं गच्छ विप्र यथासुखम् ॥८४॥

"विप्रवर! तुमने सेरभर सत्तू का दान करके अक्षय ब्रह्मलोक को जीत लिया है। अब तुम सुख-पूर्वक रजोगुणरहित ब्रह्मलोक=मोक्ष में जाओ।" [अक्षय का अर्थ है 'जितनी मोक्ष की अवधि है'; मोक्ष से भी लौटना तो पड़ता ही है।]

ततस्तु सक्तुगन्धेन तज्जलस्यावगाहनात्।
विप्रस्य तपसा तस्य शिरो मे काञ्चनीकृतम् ॥८५॥

उन दोनों के वार्तालाप के पश्चात् सत्तू की गन्ध सूंघने, अतिथि द्वारा कुल्ला करने से गिरे हुए जल में लोटने और उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मण की तपस्या के प्रभाव से मेरा मस्तक सोने का हो गया।

तस्य सत्याभिसन्धस्य सक्तुदानेन चैव ह।
शरीरार्धं च मे विप्राः शातकुम्भमयं कृतम् ॥८६॥

हे विप्रवरो! उस सत्यप्रतिज्ञ ब्राह्मण के सत्तू-दान से मेरा यह आधा शरीर भी सुवर्णमय हो गया।

पश्यतेदं सुविपुलं तपसा तस्य धीमतः।
कथमेवंविधं स्याद्वै पार्श्वमन्यदिति द्विजाः ॥८७॥

उस बुद्धिमान् ब्राह्मण की तपस्या से मुझे जो यह महान् फल प्राप्त हुआ है, इसे आप लोग अपनी आँखों से देख लीजिए। ब्राह्मणो! जब मेरा आधा शरीर सोने का हो गया तब मैं इस चिन्ता में पड़ा कि मेरे शरीर का दूसरा पार्श्व भी ऐसा ही कैसे हो सकता है?

तपोवनानि यज्ञांश्च हृष्टोऽभ्येमि पुनः पुनः।
यज्ञं त्वहमिमं श्रुत्वा कुरुराजस्य धीमतः।
आशया परया प्राप्तो न चाहं काञ्चनीकृतः ॥८८॥

मेरा शेष आधा शरीर भी सुवर्णमय हो जाए इसी उद्देश्य से मैं अत्यन्त हर्ष एवं उत्साह के साथ बारम्बार अनेक तपोवनों और यज्ञस्थलों में जाया-आया करता हूँ। परम बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिर के इस यज्ञ का बड़ा भारी शोर सुनकर मैं बड़ी आशा लेकर यहाँ आया था, परन्तु मेरा शरीर सोने का न हो सका।

ततो मयोक्तं तद् वाक्यं प्रहस्य ब्राह्मणर्षभाः।
सक्तुप्रस्थेन यज्ञोऽयं सम्मितो नेति सर्वथा ॥८९॥

ब्राह्मणशिरोमणियो! इसी से मैंने हँसकर कहा था कि यह यज्ञ ब्राह्मण के दिये हुए सेरभर सत्तू के बराबर भी नहीं है। बात सर्वथा ऐसी ही है।

सक्तुप्रस्थलवैस्तैर्हि तदहं काञ्चनीकृतः।
न हि यज्ञो महानेष सदृशस्तैर्मतो मम ॥९०॥

क्योंकि उस समय सेरभर सत्तुओं में से गिरे हुए कुछ कणों के प्रभाव से ही मेरा आधा शरीर सुवर्ण-मय हो गया था, परन्तु यह महान् यज्ञ भी मुझे वैसा नहीं बना सका, अतः मेरी सम्मति में यह यज्ञ उन सेरभर सत्तू के कणों के समान भी नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा नकुलः सर्वान् यज्ञे द्विजवरांस्तदा।
जगामादर्शनं तेषां विप्रास्ते च ययुर्गृहान् ॥९१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यज्ञस्थल में उन समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणों से ऐसा कहकर वह नेवला वहाँ से अन्तर्धान हो गया और वे ब्राह्मण भी अपने-अपने घरों को चले गये ।

एतत् ते सर्वमाख्यातं मया परपुरञ्जय ।
यदाश्चर्यमभूत् तत्र वाजिमेधे महाक्रतौ ॥९२॥

शत्रुनगरी पर विजय पानेवाले जनमेजय ! उस अश्वमेध नामक महायज्ञ में जो आश्चर्यजनक घटना घटित हुई थी, वह सारा प्रसङ्ग मैंने आपको सुना दिया ।

न विस्मयस्ते नृपते यज्ञे कार्यः कदाचन ।
ऋषिकोटिसहस्राणि तपोभिर्ये दिवं गताः ॥९३॥

नरेश्वर ! उस यज्ञ के सम्बन्ध में ऐसी घटना सुनकर तुम्हें आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि सहस्रों कोटि ऐसे ऋषि हो गये हैं, जो यज्ञ न करके केवल तपोबल से ही दिव्यलोक को प्राप्त हो चुके हैं ।

अद्रोहः सर्वभूतेषु सन्तोषः शीलमार्जवम् ।
तपो दमश्च सत्यं च प्रदानं चेति सम्मितम् ॥९४॥

किसी भी प्राणी के प्रति वैर की भावना न रखना, मन में सन्तोष रखना, शील और सदाचार का पालन करना, सबके प्रति सरलतापूर्ण व्यवहार रखना, तप [द्वन्द्व-सहन] करना, मन और इन्द्रियों को वश में रखना, सत्य बोलना और न्यायोपार्जित वस्तु का श्रद्धापूर्वक दान करना—इनमें से एक-एक गुण भी बड़े-बड़े यज्ञों के समान है ।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥११॥

॥ इति आश्वमेधिकपर्व सम्पूर्णम् ॥

आश्रमवासिकपर्व

प्रथमोऽध्यायः

भाइयोंसहित युधिष्ठिर और कुन्ती आदि देवियों के द्वारा धृतराष्ट्र एवं गान्धारी की सेवा

जनमेजय उवाच

प्राप्य राज्यं महात्मानः पाण्डवा मे पितामहाः ।
कथमासन् महाराज्ञि धृतराष्ट्रे महात्मनि ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—ब्रह्मन् ! मेरे प्रपितामह महात्मा पाण्डव अपने राज्य पर अधिकार प्राप्त कर लेने के पश्चात् महाराज धृतराष्ट्र के प्रति कैसा व्यवहार करते थे ?

स तु राजा हतामात्यो हतपुत्रो निराश्रयः ।
कथमासीद्धतैश्वर्यो गान्धारी च यशस्विनी ॥२॥

महाराज धृतराष्ट्र अपने मन्त्री तथा पुत्रों के मारे जाने से निराश्रय हो गये थे । उनका ऐश्वर्य नष्ट हो गया था । ऐसी दशा में वे और यशस्विनी गान्धारीदेवी किस प्रकार जीवनयापन करते थे ?

कियन्तं चैव कालं ते मम पूर्वपितामहाः ।
स्थिता राज्ये महात्मानस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥३॥

मेरे पूर्वपितामह महात्मा पाण्डव कितने समय तक अपने राज्य पर प्रतिष्ठित रहे ? ये सभी बातें मुझे विस्तारपूर्वक बताने की कृपा करें ।

वैशम्पायन उवाच

प्राप्य राज्यं महात्मानः पाण्डवा हतशत्रवः ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य पृथिवीं पर्यपालयन् ॥४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जिनके शत्रु मारे गये थे, वे महात्मा पाण्डव राज्य पाने के अनन्तर राजा धृतराष्ट्र को आगे रखकर [प्रमुख मानकर] पृथिवी का पालन करने लगे ।

धृतराष्ट्रमुपातिष्ठद् विदुरः सञ्जयस्तथा ।
वैश्यापुत्रश्च मेधावी युयुत्सुः कुरुसत्तम ॥५॥

कुरुकुलभूषण ! महात्मा विदुर, सञ्जय और वैश्यापुत्र बुद्धिमान् युयुत्सु—ये सब लोग सदा धृतराष्ट्र की सेवा में उपस्थित रहते थे ।

पाण्डवाः सर्वकार्याणि सम्पृच्छन्ति स्म तं नृपम् ।
चक्रुस्तेनाभ्यनुज्ञाता वर्षाणि दश पञ्च च ॥६॥

पाण्डव लोग सभी कार्यों में महाराज धृतराष्ट्र की सम्मति पूछा करते थे तथा उनकी आज्ञा लेकर ही प्रत्येक कार्य करते थे । इस प्रकार उन्होंने पन्द्रह वर्ष तक राज्य का शासन किया ।

सदा हि गत्वा ते वीराः पर्युपासन्त तं नरम् ।
पादाभिवादनं कृत्वा धर्मराजमते स्थिताः ॥७॥

वीर पाण्डव प्रतिदिन राजा धृतराष्ट्र के समीप जा उनके चरणों में प्रणाम करके कुछ समय तक उनकी सेवा में बैठे रहते थे तथा सदा धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा के अधीन रहते थे ।

ते मूर्ध्नि समुपाघ्राताः सर्वकार्याणि चक्रिरे ।
कुन्तिभोजसुता चैव गान्धारीमन्ववर्तत ॥८॥

राजा धृतराष्ट्र भी स्नेहवश पाण्डवों का मस्तक सूँघकर जब उन्हें जाने की आज्ञा देते, तब वे लौटकर सब कार्य किया करते थे । कुन्तीदेवी भी सदा गान्धारी की सेवा में लगी रहती थीं ।

द्रौपदी च सुभद्रा च याश्चान्याः पाण्डवस्त्रियः ।
समां वृत्तिमवर्तन्त तयोः श्वश्र्वोर्यथाविधि ॥९॥

द्रौपदी, सुभद्रा तथा पाण्डवों की अन्य स्त्रियाँ भी कुन्ती तथा गान्धारी—दोनों सासुओं (सासों) की समान भाव से विधिपूर्वक सेवा करती थीं ।

शयनानि महार्हाणि वासांस्याभरणानि च ।
राजार्हाणि च सर्वाणि भक्ष्यभोज्यान्यनेकशः ॥१०॥
युधिष्ठिरो महाराज धृतराष्ट्रेऽभ्युपाहरत् ।
तथैव कुन्ती गान्धार्यां गुरुवृत्तिमवर्तत ॥११॥

महाराज ! राजा युधिष्ठिर बहुमूल्य शय्या, वस्त्र, आभूषण तथा राजा के उपभोग में आने योग्य सब प्रकार के उत्तम पदार्थ और नाना प्रकार के भक्ष्य, भोज्य पदार्थ धृतराष्ट्र को अर्पण किया करते थे। इसी प्रकार कुन्तीदेवी भी गान्धारी की गुरु [सास] की भाँति सेवा तथा आदर-सम्मान करती थीं।

विहारयात्रासु पुनः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
सर्वान् कामान् महातेजाः प्रददावम्बिकासुते ॥१२॥

महातेजस्वी कुरुराज युधिष्ठिर विहार एवं यात्रा के अवसरों पर राजा धृतराष्ट्र को सभी मनोवाञ्छित वस्तुओं की सुविधा देते थे।

आरालिकाः सूपकारा रागखाण्डविकास्तथा ।
उपातिष्ठन्त राजानं धृतराष्ट्रं यथा पुरा ॥१३॥

उक्त अवसरों पर राजा धृतराष्ट्र की सेवा में पहले की ही भाँति भोजन बनाने के कार्य में निपुण आरालिक[1], सूपकार[2] और रागखाण्डविक[3] उपस्थित रहते थे।

वासांसि च महार्हाणि माल्यानि विविधानि च ।
उपाजह्रुर्यथान्यायं धृतराष्ट्रस्य पाण्डवाः ॥१४॥

वे पाण्डुपुत्र महाराज धृतराष्ट्र को यथोचित रूप से बहुमूल्य वस्त्र और अनेक प्रकार की मालाएँ भेंट करते थे।

ये चापि पृथिवीपालाः समाजग्मुस्ततस्ततः ।
उपातिष्ठन्त ते सर्वे कौरवेन्द्रं यथा पुरा ॥१५॥

भिन्न-भिन्न देशों से जो राजा वहाँ पधारते थे, वे सब पहले की ही भाँति कौरवराज धृतराष्ट्र की सेवा में उपस्थित होते थे।

यथा पुत्रवियुक्तोऽयं न किञ्चिद् दुःखमाप्नुयात् ।
इति तानन्वशाद् भ्रातॄन्नित्यमेव युधिष्ठिरः ॥१६॥

राजा युधिष्ठिर अपने भाइयों को सदा यह उपदेश देते थे कि—'बन्धुओ ! तुम ऐसा व्यवहार करो, जिससे अपने पुत्रों से बिछुड़े हुए इन राजा धृतराष्ट्र को किञ्चिन्मात्र भी दुःख प्राप्त न हो।'

एवं ते धर्मराजस्य श्रुत्वा वचनमर्थवत् ।
सविशेषमवर्तन्त भीममेकं तदा विना ॥१७॥

धर्मराज का यह सार्थक वचन सुनकर भीमसेन को छोड़ अन्य सभी भाई धृतराष्ट्र का विशेष मान-सम्मान करते थे।

न हि तत् तस्य वीरस्य हृदयादपसर्पति ।
धृतराष्ट्रस्य दुर्बुद्धया यद् वृत्तं द्यूतकारितम् ॥१८॥

महावीर भीमसेन के हृदय से कभी भी यह बात दूर नहीं होती थी कि जुए के समय जो कुछ भी अनर्थ हुआ था, वह धृतराष्ट्र की ही खोटी बुद्धि का परिणाम था।

इति महाभारते आश्रमवासिकपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

---

१. 'अरा' नामक शस्त्र से काटकर बनाये जाने के कारण साग-भाजी को 'अरालु' कहते हैं। इनको सुन्दर रीति से तैयार करनेवाले रसोइए 'आरालिक' नाम से पुकारे जाते हैं।

२. दाल आदि बनानेवाले सभी रसोइए सामन्यतः 'सूपकार' कहलाते हैं।

३. पीपल, सोंठ और चीनी मिलाकर मूँग का रसा तैयार करनेवाले रसोइए 'रागखाण्डविक' कहे जाते हैं।

द्वितीयोऽध्यायः

राजा धृतराष्ट्र का गान्धारी के साथ वन में जाने के लिए युधिष्ठिर से अनुमति माँगना तथा महर्षि व्यास के समझाने पर युधिष्ठिर का उन्हें वनगमन के लिए अनुमति देना

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्य नृपतेर्दुर्योधनपितुस्तदा ।
नान्तरं ददृशू राज्ये पुरुषाः प्रणयं प्रति ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाराज युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र में जो पारस्परिक प्रेम था, उसमें राज्य के लोगों ने कभी कोई अन्तर नहीं देखा ।

यदा तु कौरवो राजा पुत्रं सस्मार दुर्मतिम् ।
तदा भीमं हृदा राजन्नपध्याति स पार्थिवः ॥२॥

परन्तु राजन् ! वे कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र जब अपने खोटी बुद्धिवाले पुत्र दुर्योधन का स्मरण करते थे, तब मन-ही-मन भीमसेन का अनिष्टचिन्तन किया करते थे ।

तथैव भीमसेनोऽपि धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
नामर्षयत राजेन्द्र सदैव दुष्टवद्धृदा ॥३॥

हे राजेन्द्र ! उसी प्रकार भीमसेन भी सदा ही नरेश्वर धृतराष्ट्र के प्रति अपने मन में दुर्भावना रखते थे । वे कभी उन्हें क्षमा नहीं कर पाते थे ।

अप्रकाशान्यप्रियाणि चकारास्य वृकोदरः ।
आज्ञां प्रत्यहरच्चापि कृतज्ञैः पुरुषैः सदा ॥४॥

भीमसेन लुके-छुपे धृतराष्ट्र को अप्रिय लगनेवाले कार्य किया करते थे तथा अपने द्वारा नियुक्त किये हुए कृतज्ञ पुरुषों से उनकी आज्ञा भी भङ्ग करा दिया करते थे ।

स्मरन् दुर्मन्त्रितं तस्य वृत्तान्यप्यस्य कानिचित् ।
अथ भीमः सुहृन्मध्ये बाहुशब्दं तथाकरोत् ॥५॥
संश्रवे धृतराष्ट्रस्य गान्धार्याश्चाप्यमर्षणः ।
स्मृत्वा दुर्योधनं शत्रुं कर्णदुःशासनावपि ।
प्रोवाचाथ सुसंरब्धो भीमः स परुषं वचः ॥६॥

महाराज धृतराष्ट्र की जो दुष्टतापूर्ण मन्त्रणाएँ होती थीं और तदनुसार ही उनके जो अनेक दुर्व्यवहार हुए थे, उन्हें स्मरण करते हुए एक दिन अमर्ष में भरे हुए भीमसेन ने अपने मित्रों के बीच में अपनी भुजाओं पर बारम्बार ताल ठोकी और अपने शत्रु दुर्योधन, कर्ण तथा दुःशासन को याद करके धृतराष्ट्र तथा गान्धारी को सुनाते हुए रोषपूर्वक ये कठोर वचन कहने लगे—

अन्धस्य नृपतेः पुत्रा मया परिघबाहुना ।
नीता लोकममुं सर्वे नानाशस्त्रास्त्रयोधिनः ॥७॥

"मित्रो ! मेरी भुजाएँ परिघ [मुद्गर] के समान मोटी हैं । मैंने ही उस अन्धे राजा के समस्त पुत्रों को, जो अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से युद्ध करते थे, यमलोक पठाया है ।

इमौ तौ परिघप्रख्यौ भुजौ मम दुरासदौ ।
ययोरन्तरमासाद्य धार्तराष्ट्राः क्षयं गताः ॥८॥

"देखो, ये हैं मेरी परिघ के समान सुदृढ़ और दुर्जय दोनों भुजाएँ । इनके बीच में पड़कर धृतराष्ट्र के सभी पुत्र काल के गाल में समा गये हैं ।

ताविमौ चन्दनेनाक्तौ चन्दनार्हौ च मे भुजौ ।
याभ्यां दुर्योधनो नीतः क्षयं ससुतबान्धवः ॥९॥

"ये मेरी दोनों भुजाएँ चन्दन से चर्चित और चन्दन लगाने के ही योग्य हैं, जिनके द्वारा पुत्रों तथा बन्धु-बान्धवोंसहित राजा दुर्योधन नष्ट कर दिया गया ।"

एताश्चान्याश्च विविधाः शल्यभूता नराधिपः ।
वृकोदरस्य ता वाचः श्रुत्वा निर्वेदमागमत् ॥१०॥

भीमसेन द्वारा कही हुई इन तथा और भी नाना प्रकार की कठोर बातों को, जो हृदय में काँटे की भाँति कसक पैदा करनेवाली थीं, राजा धृतराष्ट्र ने सुना; सुनकर उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ ।

सा च बुद्धिमती देवी कालपर्यायवेदिनी ।
गान्धारी सर्वधर्मज्ञा तान्यलीकानि शुश्रुवे ॥११॥

समय के उलट-फेर को समझनेवाली और समस्त धर्मों [कर्तव्यों] को जाननेवाली बुद्धिमती गान्धारीदेवी ने भी इन कठोर वचनों को सुना था ।

ततः पञ्चदशे वर्षे समतीते नराधिपः ।
राजा निर्वेदमापेदे भीमवाग्बाणपीडितः ।।१२।।

उस समय तक उन्हें नरेश्वर युधिष्ठिर के आश्रय में रहते हुए पन्द्रह वर्ष व्यतीत हो चुके थे। पन्द्रहवाँ वर्ष व्यतीत होने पर भीमसेन के वाग्बाणों से पीड़ित हुए राजा धृतराष्ट्र को खेद और वैराग्य हुआ।

नान्वबुध्यत तद् राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
श्वेताश्वो वाथ कुन्ती वा द्रौपदी वा यशस्विनी ।।१३।।

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर को इस बात [भीम के द्वारा धृतराष्ट्र के अपमान] की जानकारी नहीं थी। अर्जुन, कुन्ती और यशस्विनी द्रौपदी को भी इसका पता नहीं था।

ततः समानयामास धृतराष्ट्रः सुहृज्जनम् ।
बाष्पसन्दिग्धमत्यर्थमिदमाह च तान् भृशम् ।।१४।।

उन कठोर वचनों को सुनने के पश्चात् धृतराष्ट्र ने अपने मित्रों को बुलवाया और नेत्रों में आँसू भरकर रुंधे हुए कण्ठ से इस प्रकार कहा—

धृतराष्ट्र उवाच

विदितं भवतामेतद् यथा वृत्तः कुरुक्षयः ।
ममापराधात् तत्सर्वमनुज्ञातं च कौरवैः ।।१५।।

धृतराष्ट्र बोले—मित्रो ! आप लोगों को यह तो ज्ञात ही है कि कुरुवंश का नाश किस प्रकार हुआ है। सभी कौरव इस बात को जानते हैं कि मेरे ही अपराध से सारा अनर्थ हुआ है।

योऽहं दुष्टमतिं मन्दो ज्ञातीनां भयवर्धनम् ।
दुर्योधनं कौरवाणामाधिपत्येऽभ्यषेचयम् ।।१६।।

दुर्योधन खोटी बुद्धि का था। वह ज्ञाति-भाइयों का भय बढ़ानेवाला था। यह जानते हुए भी मुझ मूर्ख ने उसे कौरवों के राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया।

यच्चाहं पाण्डुपुत्रेषु पितृपैतामहीमिमाम् ।
न दत्तवाञ्छ्रियं दीप्तां तदिदं तप्यते च माम् ।।१७।।

मैंने पाण्डुपुत्रों को उनके बाप-दादाओं की उज्ज्वल सम्पत्ति नहीं सौंपी, यह भूल मुझे सदा सन्ताप देती रहती है।

विनाशं पश्यमानो हि सर्वराज्ञां गदाग्रजः ।
एतच्छ्रेयस्तु परमममन्यत जनार्दनः ।।१८।।

सम्पूर्ण राजाओं का विनाश देखते हुए गदाग्रज श्रीकृष्ण ने भी यही कल्याणकारी माना था कि **मैं** पाण्डवों का राज्य उन्हें लौटा दूँ, परन्तु **मैं** वैसा नहीं कर सका।

सोऽहमेतान्यलीकानि निवृत्तान्यात्मनस्तदा ।
हृदये शल्यभूतानि धारयामि सहस्रशः ।।१९।।

इस प्रकार अपनी की हुई सहस्रों भूलों को **मैं** अपने हृदय में धारण करता हूँ। वे इस समय मेरे हृदय में काँटे के समान कसक उत्पन्न कर रही हैं।

विशेषतस्तु पश्यामि वर्षे पञ्चदशेऽद्य वै ।
अस्य पापस्य शुद्धयर्थं नियतोऽस्मि सुदुर्मतिः ।।२०।।

विशेषतः पन्द्रहवें वर्ष में आज मुझ दुर्बुद्धि की आँखें खुली हैं तथा अब मैं इस पाप के प्रायश्चित्त के लिए नियम [कठोर व्रतों] का पालन करने लगा हूँ।

चतुर्थे नियते काले कदाचिदपि चाष्टमे ।
तृष्णाविनयनं भुञ्जे गान्धारी वेद तन्मम ।
करोत्याहारमिति मां सर्वः परिजनः सदा ।।२१।।

कभी चौथे समय [दो दिन पश्चात्] और कभी आठवें समय [चार दिन व्यतीत होने पर] केवल भूख की आग बुझाने के लिए **मैं** थोड़ा-सा आहार लेता हूँ। मेरे इस नियम को केवल गान्धारी देवी जानती हैं। अन्य सब लोगों को तो यही ज्ञान है कि मैं प्रतिदिन पूरा भोजन करता हूँ।

भूमौ शये जप्यपरो दर्भेष्वजिनसंवृतः ।
नियमव्यपदेशेन गान्धारी च यशस्विनी ।।२२।।

मैं और यशस्विनी गान्धारी दोनों नियम-पालन के बहाने से मृगचर्म पहन, कुशासन पर बैठकर मन्त्र-जप करते हुए भूमि पर सोते हैं।

इत्युक्त्वा धर्मराजानमभ्यभाषत कौरवः ।
भद्रं ते यादवीमातर्वचश्चेदं निबोध मे ।।२३।।

अपने सुहृदों से ऐसा कहकर धृतराष्ट्र ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—"कुन्तीनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरे इन वचनों को सुनो—

सुखमस्म्युषितः पुत्र त्वया सुपरिपालितः ।
महादानानि दत्तानि पुण्यं चीर्णं यथाबलम् ।।२४।।

"पुत्र ! तुम्हारे द्वारा सुरक्षित होकर **मैं** यहाँ

अत्यन्त सुखपूर्वक रहा हूँ। मैंने बड़े-बड़े दान किये हैं और अपनी शक्ति के अनुसार पुण्य का अनुष्ठान किया है।

आत्मनस्तु हितं पुण्यं प्रतिकर्तव्यमद्य वै।
गान्धार्याश्चैव राजेन्द्र तदनुज्ञातुमर्हसि ।।२५।।

"हे राजेन्द्र ! अब तो मुझे तथा गान्धारीदेवी को अपने हित के लिए पुण्यकर्म=तपोऽनुष्ठान करना है, अतः उसके लिए हमें [वन में जाने की] अनुमति प्रदान करो।

राजा गुरुः प्राणभृतां तस्मादेतद् ब्रवीम्यहम्।
अनुज्ञातस्त्वया वीर संश्रयेयं वनान्यहम् ।।२६।।

"राजा सम्पूर्ण प्राणियों के लिए गुरुजन की भाँति आदरणीय होता है, इसीलिए मैं तुमसे ऐसा अनुरोध कर रहा हूँ। वीर ! तुम्हारी अनुमति मिल जाने पर मैं वन में चला जाऊँगा।

चीरवल्कलभृद् राजन् गान्धार्या सहितोऽनया।
तवाशिषः प्रयुञ्जानो भविष्यामि वनेचरः ।।२७।।

"राजन् ! अब मैं चीर तथा वल्कल धारण करके इस गान्धारी के साथ वन में विचरूँगा और तुम्हें आशीर्वाद देता रहूँगा।

उचितं नः कुले तात सर्वेषां भरतर्षभ।
पुत्रेष्वैश्वर्यमाधाय वयसोऽन्ते वनं नृप ।।२८।।

"तात ! भरतकुलभूषण ! हमारे कुल के सभी राजाओं के लिए यही उचित है कि वे अन्तिम अवस्था में राज-पाट पुत्रों को सौंपकर स्वयं वन में पधारें।

तत्राहं वायुभक्षो वा निराहारोऽपि वा वसन्।
पत्न्या सहानया वीर चरिष्यामि तपः परम् ।।२६।।

"वीर ! वहाँ मैं वायु का भक्षण करके अथवा उपवास करके रहूँगा और अपनी इस धर्मपत्नी के साथ परम तप तपूँगा।

त्वं चापि फलभाक् तात तपसः पार्थिवो ह्यसि।
फलभाजो हि राजानः कल्याणस्येतरस्य वा ।।३०।।

"तात ! तुम भी उस तपस्या के उत्तम फल के भागी बनोगे; क्योंकि तुम राजा हो और राजा अपने राज्य में होनेवाले अच्छे और बुरे सभी कर्मों के फल-भागी होते हैं।"

युधिष्ठिर उवाच

न मां प्रीणयते राज्यं त्वय्येवं दुःखिते नृप।
धिङ् मामस्तु सुदुर्बुद्धिं राज्यसक्तं प्रमादिनम् ।।३१।।

युधिष्ठिर बोले—महाराज ! आप यहाँ रहकर इस प्रकार दुःख उठा रहे थे और मुझे इसकी जानकारी नहीं हो सकी, अतः अब यह राज्य मुझे प्रसन्न नहीं रख सकता। हाय ! मेरी बुद्धि कितनी खोटी है। मुझ जैसे प्रमादी और राज्यासक्त पुरुष को धिक्कार है !

योऽहं भवन्तं दुःखार्तमुपवासकृशं भृशम्।
जिताहारं क्षितिशयं न विन्दे भ्रातृभिः सह ।।३२।।

आप दुःख से आतुर तथा उपवास करने के कारण अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं, पृथिवी पर शयन कर रहे हैं एवं भोजन पर भी संयम कर लिया है और भाइयोंसहित मैं आपकी इस अवस्था का पता नहीं पा सका।

अहोऽस्मि वञ्चितो मूढो भवता गूढबुद्धिना।
विश्वासयित्वा पूर्वं मां यदिदं दुःखमश्नुथाः ।।३३।।

अहो ! आपने अपने विचारों को छिपाकर मुझ मूर्ख को अबतक धोखे में ही डाल रखा था। पहले मुझे यह विश्वास दिलाकर कि मैं सुखी हूँ, आप आज तक यह दुःख भोगते रहे।

किं मे राज्येन भोगैर्वा किं यज्ञैः किं सुखेन वा।
यस्य मे त्वं महीपाल दुःखान्येतान्यवाप्तवान् ।।३४।।

महाराज ! इस राज्य से, इन भोगों से, इन यज्ञों से अथवा इस सुख-सामग्री से मुझे क्या लाभ हुआ, जबकि मेरे ही पास रहकर आपको इतने कष्ट सहने पड़े ?

पीडितं चापि जानामि राज्यमात्मानमेव च।
अनेन वचसा तुभ्यं दुःखितस्य जनेश्वर ।।३५।।

नरेश्वर ! आप दुःखी होकर जो ऐसी बात कह रहे हो, इससे मैं सम्पूर्ण राज्य को और अपने-आपको भी दुःखित अनुभव कर रहा हूँ।

भवान्पिता भवान्माता भवान्नः परमो गुरुः।
भवता विप्रहीणा वै क्व नु तिष्ठामहे वयम् ।।३६।।

आप ही हमारे पिता, आप ही हमारी माता

और आप ही हमारे परम गुरु हैं। आपसे अलग होकर हम कहाँ रहेंगे ?

औरसो भवतः पुत्रो युयुत्सुर्नृपसत्तम।
अस्तु राजा महाराज यमन्यं मन्यते भवान् ॥३७॥
अहं वनं गमिष्यामि भवान् राज्यं प्रशास्तु।
न मामयशसा दग्धं भूयस्त्वं दग्धुमर्हसि ॥३८॥

नृपश्रेष्ठ ! महाराज ! युयुत्सु आपके औरस पुत्र हैं, आप इनको राज्यगद्दी पर बिठा दीजिए अथवा और किसी को जिसे आप उचित समझते हों राजा बना दीजिए अथवा आप स्वयं ही राज्य का सञ्चालन कीजिए। मैं ही वन को चला जाऊंगा। पिताजी ! मैं पहले ही अपयश की अग्नि में जल चुका हूँ, अब पुनः आप भी मुझे मत जलाइए।

नाहं राजा भवान् राजा भवतः परवानहम्।
कथं गुरुं त्वां धर्मज्ञमनुज्ञातुमिहोत्सहे ॥३९॥

मैं राजा नहीं, आप ही राजा हैं। मैं तो आपकी आज्ञा के अधीन रहनेवाला सेवक हूँ। आप धर्म के जाननेवाले गुरु हैं। मैं आपको आज्ञा कैसे दे सकता हूँ ?

न मन्युर्हृदि नः कश्चित् सुयोधनकृतेऽनघ।
भवितव्यं तथा तद्धि वयं चान्ये च मोहिताः ॥४०॥

निष्पाप नरेश ! दुर्योधन ने जो कुछ किया था, उसके लिए हमारे हृदय में तनिक भी क्रोध नहीं है। जो कुछ हुआ है, वैसी ही घटना घटनेवाली थी। हम और अन्य लोग उसी से मोहित थे।

वयं पुत्रा हि भवतो यथा दुर्योधनादयः।
गान्धारी चैव कुन्ती च निर्विशेषे मते मम ॥४१॥

जैसे दुर्योधन आदि आपके पुत्र थे, वैसे ही हम भी आपके पुत्र हैं। मेरे लिए गान्धारी और कुन्ती में कोई भी अन्तर नहीं है।

स मां त्वं यदि राजेन्द्र परित्यज्य गमिष्यसि।
पृष्ठतस्त्वनुयास्यामि सत्यमात्मानमालभे ॥४२॥

हे राजेन्द्र ! यदि आप मुझे छोड़कर वन में चले जाएँगे तो मैं अपनी सौगन्ध खाकर सत्य कहता हूँ कि मैं भी आपके पीछे-पीछे चल दूंगा।

इयं हि वसुसम्पूर्णा मही सागरमेखला।
भवता विप्रहीणस्य न मे प्रीतिकरी भवेत् ॥४३॥

आपके त्याग देने पर धन-धान्य से परिपूर्ण और समुद्र से घिरी हुई इस सम्पूर्ण पृथिवी का राज्य भी मुझे प्रसन्न नहीं रख सकता।

भवदीयमिदं सर्वं शिरसा त्वां प्रसादये।
त्वदधीनाः स्म राजेन्द्र व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥४४॥

हे राजेन्द्र ! यह सब-कुछ आपका है। मैं आपके चरणों में सिर झुकाकर प्रार्थना करता हूँ कि आप प्रसन्न हो जाइए। हम सब लोग आपके अधीन हैं। आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिए।

धृतराष्ट्र उवाच

तापस्ये मे मनस्तात वर्तते कुरुनन्दन।
उचितं च कुलेऽस्माकमरण्यगमनं प्रभो ॥४५॥

धृतराष्ट्र बोले—तात ! कुरुनन्दन ! अब मेरा मन तपस्या में ही लग रहा है। प्रभो ! जीवन की अन्तिम अवस्था में वन में जाना हमारे कुल के लिए उचित भी है।

चिरमस्म्युषितः पुत्र चिरं शुश्रूषितस्त्वया।
वृद्धं मामप्यनुज्ञातुमर्हसि त्वं नराधिप ॥४६॥

पुत्र ! जनेश्वर ! मैं दीर्घकाल तक तुम्हारे पास रह चुका और तुमने भी बहुत समय तक मेरी सेवा-शुश्रूषा की। अब मेरा बुढ़ापा आ गया। अब तो मुझे वन में जाने की अनुमति देनी ही चाहिए।

वैशम्पायन उवाच

इति ब्रुवति राजेन्द्रे धृतराष्ट्रे युधिष्ठिरम्।
ऋषिः सत्यवतीपुत्रो व्यासोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ॥४७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज धृतराष्ट्र युधिष्ठिर से ये बातें कह ही रहे थे कि सत्यवती-नन्दन महर्षि व्यास वहाँ आ पहुँचे और इस प्रकार कहने लगे—

व्यास उवाच

युधिष्ठिर महाबाहो यथाह कुरुनन्दनः।
धृतराष्ट्रो महातेजास्तत् कुरुष्वाविचारयन् ॥४८॥

व्यासजी बोले—महाबाहु युधिष्ठिर ! कुरुकुल को आनन्दित करनेवाले महातेजस्वी धृतराष्ट्र जो कुछ कह रहे हैं, उसे बिना विचारे पूर्ण करो।

अयं हि वृद्धो नृपतिर्हतपुत्रो विशेषतः।
नेदं कृच्छ्रं चिरतरं सहेदिति मतिर्मम ॥४९॥

अब ये महाराज वृद्ध हो गये हैं, विशेषत: इनके सभी पुत्र नष्ट हो गये हैं। मेरा ऐसा निश्चित विश्वास है कि अब ये इस कष्ट को अधिक समय तक नहीं सह सकेंगे।

सोऽयं मयाभ्यनुज्ञातस्त्वया च पृथिवीपतिः।
करोतु स्वमभिप्रायं मास्य विघ्नकरो भव ॥५०॥

अत: अब ये भूपाल मेरी और तुम्हारी अनुमति लेकर तपस्या के द्वारा अपना मनोरथ सिद्ध करें। तुम इनके शुभ कार्य में विघ्न मत डालो।

एष एव परो धर्मो राजर्षीणां युधिष्ठिर।
समरे वा भवेन्मृत्युर्वने वा विधिपूर्वकम् ॥५१॥

युधिष्ठिर! राजर्षियों का यही परम धर्म है कि या तो वे युद्ध में लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हों अथवा वन में उनकी शास्त्रोक्त विधिपूर्वक [योग-अभ्यास करते हुए] मृत्यु हो।

अनुजानीहि पितरं समयोऽस्य तपोविधौ।
न मन्युर्विद्यते चास्य सुसूक्ष्मोऽपि युधिष्ठिर ॥५२॥

तुम अपने ताऊजी को वन में जाने की अनुमति प्रदान कर दो, क्योंकि अब इनके तप करने का समय आ गया है। युधिष्ठिर! इनके मन में तुम्हारे प्रति तनिक भी रोष नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनमनुमान्य च पार्थिवम्।
तथास्त्विति च तेनोक्तः कौन्तेयेन ययौ वनम् ॥५३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर महर्षि व्यास ने राजा युधिष्टिर को सहमत=राजी कर लिया और 'बहुत अच्छा' कहकर जब युधिष्ठिर ने उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली, तब वे वन में अपने आश्रम पर चले गये।

इति महाभारते आश्रमवासिकपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

धृतराष्ट्र द्वारा युधिष्ठिर को राजनीति का उपदेश

वैशम्पायन उवाच

गते भगवति व्यासे सर्वे ते विदुरादयः।
पाण्डवाश्च कुरुश्रेष्ठमुपातिष्ठन्त तं नृपम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् व्यास के चले जाने पर पाण्डव तथा विदुर आदि सब लोग धृतराष्ट्र की सेवा में उपस्थित हुए।

ततोऽब्रवीन्महाराज कुन्तीपुत्रमुपह्वरे।
निषण्णं पाणिना पृष्ठे संस्पृशन्नम्बिकासुतः ॥२॥

महाराज! उस समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर को एकान्त में अपने निकट बैठा जान धृतराष्ट्र ने उनकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—

धृतराष्ट्र उवाच

अप्रमादस्त्वया कार्यः सर्वथा कुरुनन्दन।
अष्टाङ्गे राजशार्दूल राज्ये धर्मपुरस्कृते ॥३॥

धृतराष्ट्र बोले—कुरुनन्दन! राजसिंह! आठ अङ्गोंवाले राज्य[1] में तुम सदा धर्म को ही आगे रखना तथा इसके संरक्षण और सञ्चालन में कभी किसी प्रकार भी प्रमाद मत करना।

तत्तु शक्यं महाराज रक्षितुं पाण्डुनन्दन।
राज्यं धर्मेण कौन्तेय विद्वानसि निबोध तत् ॥४॥

महाराज पाण्डुनन्दन! कुन्तीकुमार! राज्य की रक्षा धर्म से ही हो सकती है। इस बात को तुम स्वयं भी जानते हो, तथापि मुझसे भी सुनो!

विद्यावृद्धान् सदैव त्वमुपासीथा युधिष्ठिर।
शृणुयास्ते च यद् ब्रूयुः कुर्याश्चैवाविचारयन् ॥५॥

युधिष्ठिर! तुम विद्या में बढ़े-चढ़े विद्वान् पुरुषों का सदा ही सङ्ग किया करो। वे जो कुछ कहें उसे ध्यानपूर्वक सुनो तथा बिना विचारे उसका पालन करो।

---

१. राज्य के आठ अङ्ग निम्न हैं—
१. स्वामी, २. अमात्य, ३. सुहृत्, ४. कोष, ५. राष्ट्र, ६. दुर्ग, ७. बल, और ८. नागरिकों की श्रेणियाँ।

प्रातरुत्थाय तान् राजन् पूजयित्वा यथाविधि ।
कृत्यकाले समुत्पन्ने पृच्छेथाः कार्यमात्मनः ।।६।।

राजन् ! प्रातःकाल उठकर उन विद्वानों का यथायोग्य आदर-सत्कार करके कोई कार्य उपस्थित होने पर उनसे अपना कर्तव्य पूछो ।

इन्द्रियाणि च सर्वाणि वाजिवत् परिपालय ।
हितायैव भविष्यन्ति रक्षितं द्रविणं यथा ।।७।।

जैसे सारथि घोड़ों को वश में रखता है, वैसे ही तुम अपनी समस्त इन्द्रियों को अपने वश में रखकर उनकी रक्षा करो । ऐसा करने से वे इन्द्रियाँ सुरक्षित धन की भाँति भविष्य में तुम्हारे लिए निश्चय ही हितकर होंगी ।

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्शुचीन् ।
दान्तान् कर्मसु पुण्याँश्च पुण्यान्सर्वेषु योजयेः ।।८।।

जो [निष्ठा, निर्लिप्तता, संयम और साहस] में सुपरीक्षित, निष्कपटभाव से काम करनेवाले, जो बाप-दादाओं के समय से काम देखते आ रहे हों, जो बाहर-भीतर से शुद्ध, संयमी और जन्म तथा कर्म से भी पवित्र हों, ऐसे मन्त्रियों को ही सब प्रकार के उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों में नियुक्त करना ।

चारयेथाश्च सततं चारैरविदितः परैः ।
परीक्षितैर्बहुविधैः स्वराष्ट्रप्रतिवासिभिः ।।९।।

जिनकी अनेक बार अनेक प्रकार से भली-भाँति परीक्षा कर ली गई हो और जो अपने ही राज्य में निवास करनेवाले हों, ऐसे अनेक गुप्तचरों [जासूसों] को भेजकर उनके द्वारा शत्रुओं के गुप्त भेद लेते रहना चाहिए और प्रयत्नपूर्वक ऐसी चेष्टा करनी चाहिए जिससे शत्रु तुम्हारा भेद न पा सके ।

पुरं च ते सुगुप्तं स्याद् दृढप्राकारतोरणम् ।
अट्टाट्टालकसम्बाधं षट्पदं सर्वतोदिशम् ।।१०।।

तुम्हारे नगर की रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध रहना चाहिए । उसके चारों ओर की दीवारें और मुख्य द्वार अत्यन्त सुदृढ़ होने चाहिएँ । मध्य का सारा नगर ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं और भव्य भवनों से सुशोभित होना चाहिए, सब दिशाओं में छह चहार-दीवारियाँ बनवानी चाहिएँ ।

तस्य द्वाराणि सर्वाणि पर्याप्तानि बृहन्ति च ।
सर्वतः सुविभक्तानि यन्त्रैरारक्षितानि च ।।११।।

नगर के सभी द्वार विशाल और विस्तृत होने चाहिएँ । वे द्वार विभागपूर्वक सुन्दर ढंग से निर्मित होने चाहिएँ तथा नगर की रक्षा के लिए उनके ऊपर यन्त्र लगे हुए होने चाहिएँ ।

स्त्रियश्च ते सुगुप्ताः स्युर्वृद्धैराप्तैरधिष्ठिताः ।
शीलवद्भिः कुलीनैश्च विद्वद्भिश्च युधिष्ठिर ।।१२।।

युधिष्ठिर ! अन्तःपुर की स्त्रियों को कुलीन, शीलयुक्त, विद्वान्, विश्वासपात्र और वृद्ध पुरुषों की अध्यक्षता में रखकर तुम्हें उनकी रक्षा का सुप्रबन्ध करना चाहिए ।

मन्त्रिणश्चैव कुर्वीथा द्विजान्विद्याविशारदान् ।
विनीतांश्च कुलीनांश्च धर्मार्थकुशलानृजून् ।
तैः सार्धं मन्त्रयेथास्त्वं नात्यर्थं बहुभिः सह ।।१३।।

राजन् ! तुम उन्हीं ब्राह्मणों को अपना मन्त्री बनाओ जो विद्या में प्रवीण, विनयशील, कुलीन, धर्म और अर्थ में कुशल एवं सरल स्वभाववाले हों। उन्हीं के साथ तुम गूढ़ विषयों पर मन्त्रणा करो, परन्तु अधिक लोगों को साथ लेकर बहुत देर तक मन्त्रणा=विचार-विमर्श नहीं करनी चाहिए ।

वानराः पक्षिणश्चैव ये मनुष्यानुकारिणः ।
सर्वे मन्त्रगृहे वर्ज्या ये चापि जडपङ्गवः ।।१४।।

मनुष्यों का अनुकरण करनेवाले जो वानर और पक्षी आदि हैं, उन सबको तथा मूर्ख और पङ्गु=लूले-लँगड़े मनुष्यों को भी मन्त्रणा-गृह में नहीं आने देना चाहिए ।

मन्त्रभेदे हि ये दोषा भवन्ति पृथिवीक्षिताम् ।
न ते शक्याः समाधातुं कथञ्चिदिति मे मतिः ।।१५।।

गुप्त मन्त्रणा के दूसरों पर प्रकट हो जाने से नरेशों को जो संकट और आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं, उनका किसी भी प्रकार समाधान नहीं किया जा सकता—ऐसा मेरा विश्वास है ।

पौरजानपदानां च शौचाशौचे युधिष्ठिर ।
यथा स्याद् विदितं राजंस्तथा कार्यं कुरूद्वह ।।१६।।

राजन् ! कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! नगर और जनपद के निवासियों का हृदय तुम्हारे प्रति शुद्ध है

या अशुद्ध, इस बात का तुम्हें जैसे भी ज्ञान प्राप्त हो सके, वैसा उपाय करना चाहिए।

व्यवहारश्च ते राजन् नित्यमाप्तैरधिष्ठितः।
योज्यस्तुष्टैर्हितैः शीलयुक्तैश्चारैरनुष्ठितः ॥१७॥

राजन्! न्याय करने के काम पर तुम सदा ऐसे ही पुरुषों को नियुक्त करना जो विश्वासपात्र, सन्तोषी, हितैषी और सदाचारी हों तथा गुप्तचरों के द्वारा सदा उनके कार्यों पर दृष्टि रखना।

आदानरुचयश्चैव परदाराभिमर्शिनः।
आक्रोष्टारश्च लुब्धाश्च हर्तारः साहसप्रियाः।
हिरण्यदण्ड्या वध्याश्च कर्तव्या देशकालतः ॥१८॥

जो दूसरों से घूस लेने में रुचि रखते हों, जो पर-स्त्रियों के साथ मैथुन करते हों, जो कटुभाषी, लोभी, दूसरों का धन हड़पनेवाले और दुस्साहसी हों, उन न्यायाधिकारियों को देश-काल का ध्यान रखते हुए सुवर्ण अथवा प्राणदण्ड के द्वारा दण्डित करना चाहिए।

प्रातरेव हि पश्येथा ये कुर्युर्व्ययकर्म ते।
अलङ्कारमथो भोज्यमत ऊर्ध्वं समाचरेः ॥१९॥

प्रातःकाल उठकर [नित्यकर्मों से निवृत्त होने के पश्चात्] सर्वप्रथम तुम्हें उन लोगों से मिलना चाहिए जो तुम्हारे आय-व्यय के कार्य पर नियुक्त हों। तत्पश्चात् अलंकार धारण करने और भोजन करने के काम पर ध्यान देना चाहिए।

पश्येथाश्च ततो योधान् सदा त्वं प्रतिहर्षयन्।
दूतानां च चराणां च प्रदोषस्ते सदा भवेत् ॥२०॥

तत्पश्चात् सैनिकों का हर्ष तथा उत्साह बढ़ाते हुए उनसे मिलना चाहिए। दूत और गुप्तचरों से भेंट करने का तुम्हारे लिए सर्वोत्तम समय सन्ध्या-काल ही है।

सदा चापररात्रान्ते भवेत् कार्यार्थनिर्णयः।
मध्यरात्रे विहारस्ते मध्याह्ने च सदा भवेत् ॥२१॥

प्रहर रात्रि शेष रहते ही उठकर अगले दिन के कार्यक्रम का निश्चय कर लेना चाहिए। आधी रात और दोपहर के समय तुम्हें स्वयं घूम-फिरकर प्रजा की अवस्था का निरीक्षण करना उचित है।

कोशस्य निचये यत्नं कुर्वीथा न्यायतः सदा।
विविधस्य महाराज विपरीतं विवर्जयेः ॥२२॥

महाराज! नाना प्रकार के कोष का संग्रह करने के लिए तुम्हें सदा न्यायानुकूल प्रयत्न करना चाहिए। इसके विपरीत अन्यायपूर्ण उपायों को त्याग देना चाहिए।

चारैर्विदित्वा शत्रूंश्च ये राज्ञामन्तरैषिणः।
तानाप्तैः पुरुषैर्दूराद् घातयेथा नराधिप ॥२३॥

हे नरेश्वर! राजाओं के छिद्र [दोष, दुर्बलता] देखनेवाले राजद्रोही शत्रुओं का गुप्तचरों द्वारा पता लगाकर विश्वसनीय पुरुषों द्वारा उन्हें दूर से ही मरवा डालना चाहिए।

सेनाप्रणेता च भवेत् तव तात दृढव्रतः।
शूरः क्लेशसहश्चैव हितो भक्तश्च पूरुषः ॥२४॥

तात! तुम्हारा सेनापति ऐसा होना चाहिए जो दृढ़प्रतिज्ञ, शूरवीर, भूख-प्यास आदि क्लेश सह सकनेवाला, हितैषी, पुरुषार्थी और स्वामिभक्त हो।

सर्वे जानपदाश्चैव तव कर्माणि पाण्डव।
गोवद्रासभवच्चैव कुर्युर्ये व्यवहारिणः ॥२५॥

पाण्डुकुमार! तुम्हारे राज्य में रहनेवाले जो कारीगर और शिल्पी तुम्हारा काम करें, तुम्हें उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध उसी प्रकार करना चाहिए जैसे गधों और बैलों से काम लेनेवाले लोग उनको खिलाते-पिलाते हैं।

स्वरन्ध्रं पररन्ध्रं च स्वेषु चैव परेषु च।
समुपलक्षितव्यं ते नित्यमेव युधिष्ठिर ॥२६॥

युधिष्ठिर! तुम्हें स्वजनों और शत्रुओं के छिद्रों [दोषों, त्रुटियों, कमियों] पर सदा ही दृष्टि रखनी चाहिए।

तथामात्या जनपदा दुर्गाणि विविधानि च।
बलानि च कुरुश्रेष्ठ भवत्येषां यथेच्छकम् ॥२७॥

कुरुश्रेष्ठ! अमात्य [मन्त्री], जनपद [देश], नाना प्रकार के दुर्ग और सेना—इनपर शत्रुओं का यथेष्ट लक्ष्य रहता है [अतः इनकी रक्षा के लिए सदा सावधान रहना चाहिए]।

यदा स्वपक्षो बलवान् परपक्षस्तथाबलः।
विगृह्य शत्रून् कौन्तेय जेयः क्षितिपतिस्तदा ॥२८॥

कुन्तीनन्दन! जब अपना पक्ष बलवान् और

शत्रु का पक्ष बलहीन प्रतीत हो, उस समय शत्रु के साथ युद्ध छेड़कर विपक्षी राजा पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

यदा परे च बलिनः स्वपक्षश्चैव दुर्बलः।
सार्धं विद्वाँस्तदा क्षीणः परैः सन्धिं समाश्रयेत् ॥२९॥

जिस समय शत्रु-पक्ष प्रबल और अपना पक्ष निर्बल हो, उस समय क्षीणशक्ति विद्वान् पुरुष [राजा] शत्रुओं के साथ सन्धि कर ले।

यदा समर्थो यानाय नचिरेणैव भारत।
तदा सर्वं विधेयं स्यात्स्थानं न स विचारयेत् ॥३०॥

भारत! जब राजा शत्रु पर आक्रमण करने में समर्थ हो, तब तुरन्त ही उसपर आक्रमण करे, इस विषय में कुछ भी पौर्वापर्य का विचार न करे।

भूमिरल्पफला देया विपरीतस्य भारत।
हिरण्यं कुप्यभूयिष्ठं मित्रं क्षीणमथो बलम् ॥३१॥

भरतकुलभूषण! यदि अपनी विपरीत अवस्था हो तो शत्रु को कम उपजाऊ भूमि, थोड़ा-सा सोना तथा अधिक मात्रा में जस्ता-पीतल आदि धातु और दुर्बल मित्र एवं सेना देकर उसके साथ सन्धि कर ले।

विपरीतान्निगृह्णीयात्स्वं हि सन्धिविशारदः।
सन्ध्यर्थं राजपुत्रं वा लिप्सेथा भरतर्षभ ॥३२॥

भरतश्रेष्ठ! यदि शत्रु की विपरीत दशा हो और वह सन्धि के लिए प्रार्थना करे तो सन्धिविशारद राजा उससे उपजाऊ भूमि, सोना, चाँदी आदि धातु और बलवान् मित्र तथा सेना लेकर उसके साथ सन्धि करे अथवा प्रतिद्वन्द्वी राजा के राजकुमार को ही अपने यहाँ प्रतिभू=जमानत के रूप में रखने की चेष्टा करनी चाहिए।

यद्येनमभियायाच्च बलवान् दुर्बलं नृपः।
सामादिभिरुपायैस्तं क्रमेण विनिवर्तयेः ॥३३॥

यदि किसी दुर्बल राजा पर कोई बलवान् राजा आक्रमण कर दे तो क्रमशः साम आदि उपायों द्वारा उस बलवान् राजा को लौटाने का प्रयत्न करना चाहिए।

अशक्नुवंश्च युद्धाय निष्पतेत् सह मन्त्रिभिः।
कोशेन पौरैर्दण्डेन ये चास्य प्रियकारिणिः ॥३४॥

यदि अपने में युद्ध करने की शक्ति न हो तो मन्त्रियों के साथ उस आक्रमणकारी राजा की शरण में जाए तथा कोष, पुरवासी मनुष्य, दण्डशक्ति तथा अन्य जो उसको प्रसन्न करनेवाले पदार्थ हों, उन सबको अर्पित करके उस प्रतिद्वन्द्वी को लौटाने की चेष्टा करे।

असम्भवे तु सर्वस्य यथामुख्येन निष्पतेत्।
क्रमेणानेन मुक्तिः स्याच्छरीरमिति केवलम् ॥३५॥

यदि किसी भी उपाय से सन्धि न हो सके तो मुख्य साधन को लेकर शत्रु पर युद्ध के लिए टूट पड़े। इस क्रम से शरीर चला जाए तो भी वीर पुरुष की मुक्ति ही होती है। केवल शरीर दे देना ही उसका मुख्य साधन है।

बलं प्रसादयेद् राजा निक्षिपेद् बलिनो नरान्।
ज्ञात्वा स्वविषयं तत्र सामादिभिरुपक्रमेत् ॥३६॥

राजा को चाहिए कि वह पारितोषिक आदि के द्वारा सेना को सन्तुष्ट रखे और उसमें शूरवीर पुरुषों की भर्ती करे। अपने बलाबल को भली-भाँति समझकर साम आदि उपायों द्वारा सन्धि अथवा विग्रह=युद्ध के लिए उद्योग करे।

एवं त्वया कुरुश्रेष्ठ वर्तितव्यं प्रजाहितम्।
उभयोर्लोकयोस्तात प्राप्तये नित्यमेव हि ॥३७॥

तात! कुरुश्रेष्ठ! इस प्रकार तुम्हें इस लोक और परलोक में सुख पाने के लिए सदा ही प्रजावर्ग के हितसाधन में संलग्न रहना चाहिए।

भीष्मेण सर्वमुक्तोऽसि कृष्णेन विदुरेण च।
मयाप्यवश्यं वक्तव्यं प्रीत्या ते नृपसत्तम ॥३८॥

नृपश्रेष्ठ! भीष्मजी, श्रीकृष्ण और विदुरजी ने तुम्हें सभी बातों का उपदेश कर दिया है। मेरा भी तुमपर स्नेह है, अतः मैंने भी तुम्हें कुछ बताना आवश्यक समझा है।

एतत् सर्वं यथान्यायं कुर्वीथा भूरिदक्षिण।
प्रियस्तथा प्रजानां त्वं स्वर्गे सुखमवाप्स्यसि ॥३९॥

यज्ञ में प्रचुर दक्षिणा देनेवाले महाराज! तुम इन सब बातों का यथोचित रूप से पालन करना। इससे जहाँ तुम प्रजा के प्रीतिपात्र बनोगे, वहाँ स्वर्ग में भी तुम्हें सुख मिलेगा।

**अश्वमेधसहस्रेण यो यजेत् पृथिवीपतिः ।
पालयेद् वापि धर्मेण प्रजास्तुल्यं फलं भवेत् ॥४०॥**

जो राजा एक सहस्र अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करता है अथवा दूसरा जो नरेश धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करता है, उन दोनों को समान फल प्राप्त होता है।

इति महाभारते आश्रमवासिकपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

कुरुजाङ्गल देश की प्रजा से आज्ञा माँगकर गान्धारीसहित धृतराष्ट्र का वन के लिए प्रस्थान

युधिष्ठिर उवाच

**एवमेतत् करिष्यामि यथाऽऽत्थ पृथिवीपते ।
भूयश्चैवानुशास्योऽहं भवता पार्थिवर्षभ ॥१॥**

युधिष्ठिर ने कहा—पृथिवीनाथ ! नृपश्रेष्ठ ! आप जैसा कहते हैं, मैं उसी के अनुकूल आचरण करूँगा, परन्तु अभी आप मुझे कुछ और उपदेश कीजिए।

वैशम्पायन उवाच

**एवमुक्तः स राजर्षिर्धर्मराजेन धीमता ।
कौन्तेयं समनुज्ञातुमियेष भरतर्षभ ॥२॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर राजर्षि धृतराष्ट्र ने कुन्तीपुत्र से जाने के लिए अनुमति लेने की इच्छा की और कहा—

**पुत्र संशाम्यतां तावन्ममापि बलवाञ्श्रमः ।
इत्युक्त्वा प्राविशद् राजा गान्धार्या भवनं तदा ॥३॥**

'पुत्र ! अब शान्त रहो। मुझे बोलने में बहुत कष्ट हो रहा है [अब तो मैं वनगमन की ही अनुमति चाहता हूँ]।' ऐसा कहकर महाराज धृतराष्ट्र ने उस समय गान्धारी के भवन में प्रवेश किया।

**तमासनगतं देवी गान्धारी धर्मचारिणी ।
उवाच काले कालज्ञा प्रजापतिसमं पतिम् ॥४॥**

वहाँ पहुँचकर जब वे आसन पर विराजमान हुए, तब समय को पहचाननेवाली धर्मपरायणा गान्धारीदेवी ने उस समय प्रजापति के समान अपने पति से इस प्रकार पूछा—

**अनुज्ञातः स्वयं तेन व्यासेन त्वं महर्षिणा ।
युधिष्ठिरस्यानुमते कदारण्यं गमिष्यसि ॥५॥**

'महाराज ! स्वयं महर्षि व्यास ने आपको वन में जाने की आज्ञा प्रदान कर दी है, साथ ही युधिष्ठिर की भी अनुमति मिल गई है। अब आप वन में कब चलेंगे ?

धृतराष्ट्र उवाच

**गान्धार्यहमनुज्ञातः स्वयं पित्रा महात्मना ।
युधिष्ठिरस्यानुमते गन्तास्मि नचिराद् वनम् ॥६॥**

धृतराष्ट्र बोले—गान्धारि ! मेरे पिता महात्मा व्यास ने स्वयं तो आज्ञा दे ही दी है, युधिष्ठिर की भी अनुमति मिल गई है, अतः अब मैं शीघ्र ही वन को चलूँगा।

वैशम्पायन उवाच

**ततः प्रतीतमनसो ब्राह्मणाः कुरुजाङ्गलाः ।
क्षत्रियाश्चैव वैश्याश्च शूद्राश्चैव समाययुः ॥७॥**

वैशम्पायनजी कहते हैं—उधर राजा का सन्देश पाकर कुरुजाङ्गल देश के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वहाँ आये। उन सबके हृदय में बड़ी प्रसन्नता थी।

**ततो निष्क्रम्य नृपतिस्तस्मादन्तःपुरात् तदा ।
ददृशे तं जनं सर्वं सर्वाश्च प्रकृतीस्तथा ॥८॥**

उनके आने का समाचार सुनकर महाराज धृतराष्ट्र अन्तःपुर से बाहर निकले और नगर तथा जनपद की समस्त प्रजा को दर्शन दिया [अथवा प्रजा से मिले]।

**समवेतांश्च तान्सर्वान्पौरान् जानपदांस्तथा ।
तानागतानभिप्रेक्ष्य समस्तं च सुहृज्जनम् ॥९॥
ब्राह्मणांश्च महीपाल नानादेशसमागतान् ।
उवाच मतिमान् राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥१०॥**

पृथिवीपालक जनमेजय ! राजा ने देखा [सुहृदों के द्वारा जाना] कि समस्त पुरवासी और जनपद के लोग वहाँ आ गये हैं। सुहृद्-वर्ग के सभी लोग भी

उपस्थित हैं और नाना देशों के ब्राह्मण भी पधारे हैं। तब बुद्धिमान् अम्बिकाकुमार राजा धृतराष्ट्र ने उन सभी को सम्बोधित करते हुए कहा—

भवन्तः कुरवश्चैव चिरकालं सहोषिताः।
परस्परस्य सुहृदः परस्परहिते रताः ॥११॥

"सज्जनो ! आप और कौरव चिरकाल से एक-साथ रहते आये हैं। आप सब एक-दूसरे के सुहृद् हैं और सभी सदा एक-दूसरे के हित में तत्पर रहते आये हैं।

यदिदानीमहं ब्रूयामस्मिन् काल उपस्थिते।
तथा भवद्भिः कर्तव्यमविचार्य वचो मम ॥१२॥

"इस समय मैं आप लोगों से वर्तमान समय के अनुरूप जो कुछ कहूँ, मेरे उस कथन को आप बिना सोचे-विचारे स्वीकार करें, ऐसी मेरी प्रार्थना है।

अरण्यगमने बुद्धिर्गान्धारीसहितस्य मे।
व्यासस्यानुमते राज्ञस्तथा कुन्तीसुतस्य च ॥१३॥

"मैंने गान्धारी के साथ वन में जाने का निश्चय किया है, इसके लिए मुझे महर्षि व्यास और कुन्ती-कुमार राजा युधिष्ठिर की अनुमति मिल गई है।

भवन्तोऽप्यनुजानन्तु मा च वोऽभूद्विचारणा।
अस्माकं भवतां चैव येयं प्रीतिर्हि शाश्वती।
न च सान्येषु देशेषु राज्ञामिति मतिर्मम ॥१४॥

"अब आप लोग भी मुझे वन में जाने की आज्ञा प्रदान करें। इस विषय में आपके मन में कोई अन्यथा विचार नहीं होना चाहिए। आप लोगों का हमारे साथ जो यह प्रेम-सम्बन्ध सदा से चला आ रहा है, ऐसा सम्बन्ध दूसरे देश के राजाओं के साथ वहाँ की प्रजा का नहीं होगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

शान्तोऽस्मि वयसानेन तथा पुत्रविनाकृतः।
उपवासकृशश्चास्मि गान्धारीसहितोऽनघाः ॥१५॥

"निष्पाप प्रजाजन ! इस वृद्धावस्था ने गान्धारी-सहित मुझे बहुत थका दिया है। पुत्रों के मारे जाने का दुःख भी बना ही रहता है और निरन्तर उपवास करने के कारण भी हम दोनों बहुत दुर्बल हो गये हैं।

युधिष्ठिरगतेराज्ये प्राप्तश्चास्मि सुखं महत्।
मन्ये दुर्योधनैश्वर्याद् विशिष्टमिति सत्तमाः ॥१६॥

"सज्जनो ! युधिष्ठिर के राज्य में मुझे अत्यन्त सुख मिला है। मैं समझता हूँ कि दुर्योधन के राज्य से भी बढ़कर सुख मुझे प्राप्त हुआ है।

मम चान्धस्य वृद्धस्य हतपुत्रस्य का गतिः।
ऋते वनं महाभागास्तन्मानुज्ञातुमर्हथ ॥१७॥

"एक तो मैं जन्म से अन्धा हूँ, दूसरा वृद्ध हो गया हूँ, तीसरे मेरे सभी पुत्र मारे गये हैं। महाभाग प्रजा-जन ! अब आप ही बताएँ, वन में जाने के अतिरिक्त मेरे लिए दूसरी कौन-सी गति है ? अतः अब आप सब मुझे वन में जाने की अनुमति प्रदान करें।

वृद्धोऽयं हतपुत्रोऽयं दुःखितोऽयं नराधिपः।
पूर्वराज्ञां च पुत्रोऽयमिति कृत्वानुजानत ॥१८॥

"यह राजा धृतराष्ट्र बूढ़ा है, इसके सभी पुत्र मारे गये हैं, अतः यह दुःख में डूबा हुआ है तथा यह अपने प्राचीन राजाओं का वंशज है'—ऐसा समझ-कर आप लोग मेरे अपराधों को क्षमा करते हुए मुझे वन में जाने की आज्ञा दें।

इयं च कृपणा वृद्धा हतपुत्रा तपस्विनी।
गान्धारी पुत्रशोकार्ता युष्मान्याचति वै मया ॥१९॥

"यह बेचारी वृद्धा तपस्विनी गान्धारी, जिसके सभी पुत्र मारे गये हैं और जो पुत्रशोक से व्यथित रहती है, मेरे साथ आप लोगों से क्षमायाचना करती है।

हतपुत्राविमौ वृद्धौ विदित्वा दुःखितौ तथा।
अनुजानीत भद्रं वो व्रजावः शरणं च वः ॥२०॥

"हम दोनों बृद्धों को पुत्रों के मारे जाने से दुःखी जानकर आप लोग हमें वन में जाने की अनुमति प्रदान करें। आपका कल्याण हो ! हम दोनों आपकी शरण में आये हैं।

अयं च कौरवो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
सर्वैर्भवद्भिर्द्रष्टव्यः समेषु विषमेषु च ॥२१॥

"यह कुरुकुलभूषण कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर आप लोगों के पालक और रक्षक हैं। अच्छी और बुरी सभी स्थितियों में आप सब लोग इनपर कृपा-दृष्टि रखें।

चत्वारः सचिवा यस्य भ्रातरो विपुलौजसः।
युधिष्ठिरो महातेजा भवतः पालयिष्यति ॥२२॥

"भीम आदि महातेजस्वी चार भाई जिनके

सचिव [मन्त्री] हैं, वे महातेजस्वी युधिष्ठिर आप लोगों का पालन करेंगे।

अवश्यमेव वक्तव्यमिति कृत्वा ब्रवीमि वः।
एष न्यासो मया दत्तः सर्वेषां वो युधिष्ठिरः।
भवन्तोऽस्य च वीरस्य न्यासभूताः कृता मया ॥२३॥

"मुझे ये बातें अवश्य कहनी चाहिए थीं, ऐसा सोचकर ही मैं आप लोगों से यह सब कहता हूँ। मैं इन राजा युधिष्ठिर को धरोहर के रूप में आप लोगों के हाथों में सौंप रहा हूँ और आप लोगों को भी इन वीर नरेश के हाथ में धरोहर की भाँति रख रहा हूँ।

यदेव तैः कृतं किञ्चिद् व्यलीकं वः सुतैर्मम।
यदन्येन मदीयेन तदनुज्ञातुमर्हथ ॥२४॥

"मेरे पुत्रों ने और मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य किसी ने आप लोगों का जो कुछ भी अपराध किया हो, उसके लिए मुझे क्षमा करें और वन में जाने की अनुमति दें।

भवद्भिर्न हि मे मन्युः कृतपूर्वः कथञ्चन।
अत्यन्तगुरुभक्तानामेषोऽञ्जलिरिदं नमः ॥२५॥

"आप लोगों ने पहले मुझपर किसी प्रकार का कोई रोष प्रकट नहीं किया है। आप सभी अत्यन्त गुरुभक्त हैं, अतः आपके सामने मेरे ये दोनों हाथ जुड़े हुए हैं और मैं आप सबको यह प्रणाम करता हूँ।"

तत् श्रुत्वा कुरुराजस्य वाक्यानि करुणानि ते।
रुरुदुः सर्वशो राजन् समेताः कुरुजाङ्गलाः ॥२६॥
उत्तरीयैः करैश्चापि संच्छाद्य वदनानि ते।
रुरुदुः शोकसन्तप्ता मुहूर्तं पितृमातृवत् ॥२७॥

राजन्! कुरुराज धृतराष्ट्र की ये करुणाभरी बातें सुनकर वहाँ इकट्ठे हुए कुरुजाङ्गल देश के सब लोग दुपट्टों और हाथों से अपना-अपना मुँह ढककर रोने लगे। अपनी सन्तान को विदा करते समय दुःख से कातर हुए पिता-माता की भाँति वे दो घड़ी तक शोक से व्याकुल होकर रोते रहे।

ततः सन्धाय ते सर्वे वाक्यान्यथ समासतः।
एकस्मिन्ब्राह्मणे राजन्निवेश्योचुर्नराधिपम् ॥२८॥

राजन्! तत्पश्चात् आपस में वार्तालाप कर और एकमत होकर उन सब लोगों ने थोड़े में अपनी सारी बातें कहने का भार एक ब्राह्मण पर रखा और उसके द्वारा ही उन्होंने राजा से अपनी बात कही।

ततः स्वाचरणो विप्रः सम्मतोऽर्थविशारदः।
साम्बाख्यो बह्वृचो राजन् वक्तुं समुपचक्रमे ॥२९॥

हे राजन्! वे ब्राह्मण देवता सदाचारी, सबके माननीय, अर्थज्ञान में निपुण और वेदों के विद्वान् थे। उनका नाम था साम्ब। उन्होंने इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

राजन् वाक्यं जनस्यास्य मयि सर्वं समर्पितम्।
वक्ष्यामि तदहं वीर तज्जुषस्व नराधिप ॥३०॥

"राजन्! वीर नरेश! यहाँ उपस्थित हुए समस्त जनसमुदाय ने अपना मन्तव्य प्रकट करने का सारा भार मुझे सौंपा है, अतः मैं इन्हीं की बातें आपकी सेवा में निवेदन करूँगा। आप प्रीतिपूर्वक सुनने की कृपा करें।

यथा वदसि राजेन्द्र सर्वमेतत्तथा विभो।
नात्र मिथ्या वचः किञ्चित्सुहृत्त्वं नः परस्परम् ॥३१॥

"हे राजन्! प्रभो! आप जो कुछ कहते हैं, वह सब ठीक है। उसमें असत्य का लेश भी नहीं है। वास्तव में इस राजवंश में और हम लोगों में परस्पर दृढ़ सौहार्द स्थापित हो चुका है।

न जात्वस्य च वंशस्य राज्ञां कश्चित्कदाचन।
राजाऽऽसीद्यः प्रजापालः प्रजानामप्रियोऽभवत् ॥३२॥

"इस राजवंश में कभी कोई ऐसा राजा नहीं हुआ, जो प्रजापालन करते समय सम्पूर्ण प्रजाओं का प्रीतिपात्र न रहा हो।

पितृवद् भ्रातृवच्चैव भवन्तः पालयन्ति नः।
न च दुर्योधनः किञ्चिदयुक्तं कृतवान्नृपः ॥३३॥

"आप लोग पिता तथा बड़े भाई के समान हमारा पालन करते आये हैं। राजा दुर्योधन ने भी हमारे साथ कोई अनुचित व्यवहार नहीं किया था।

उषिताः स्म सुखं नित्यं भवता परिपालिताः।
सुसूक्ष्मं च व्यलीकं ते सपुत्रस्य न विद्यते ॥३४॥

"आपके द्वारा सुरक्षित होकर हम लोग सदा सुख से रहते आये हैं। पुत्रसहित आपका कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अपराध भी हमारे देखने में नहीं आया।

यथा ब्रवीति धर्मात्मा मुनिः सत्यवतीसुतः।
तथा कुरु महाराज स हि नः परमो गुरुः ॥३५॥

"महाराज! परम धर्मात्मा सत्यवतीनन्दन मुनिवर व्यासजी आपको जैसा परामर्श देते हैं, आप वैसा ही कीजिए, क्योंकि वे हम सब लोगों के परम गुरु हैं।

प्राप्स्यते च भवान्पुण्यं धर्मे च परमां स्थितिम्।
वेद धर्मं च कृत्स्नेन सम्यक् त्वं भव सुव्रतः ॥३६॥

"आप पुण्य और धर्म में ऊँची स्थिति प्राप्त करें। आप सम्पूर्ण धर्मों को ठीक-ठीक जानते हैं, अतः आप उत्तम व्रतों के अनुष्ठान में लग जाइए।

दीर्घदर्शी मृदुर्दान्तः सदा वैश्रवणो यथा। □
अक्षुद्रसचिवश्चायं कुन्तीपुत्रो महामनाः ॥३७॥

'ये कुन्तीनन्दन सदा कुबेर के समान दीर्घदर्शी, कोमल स्वभाववाले तथा जितेन्द्रिय हैं। इनके मन्त्री भी उच्च विचार के हैं। इनका हृदय अत्यन्त विशाल है।

अप्यमित्रे दयावांश्च शुचिश्च भरतर्षभः। □
ऋजु पश्यति मेधावी पुत्रवत् पाति नः सदाः ॥३८॥

"ये भरतकुलभूषण युधिष्ठिर शत्रुओं पर भी दया करनेवाले तथा परम पवित्र हैं। बुद्धिमान् होने के साथ ही ये सबको सरलभाव से देखनेवाले हैं और हम लोगों का सदा पुत्र के समान पालन करते हैं।

स राजन् मानसं दुःखमपनीय युधिष्ठिरात्।
कुरु कार्याणि धर्म्याणि नमस्ते पुरुषर्षभ ॥३९॥

"पुरुषप्रवर महाराज! आप युधिष्ठिर की ओर से अपने मानसिक दुःख को हटाकर धार्मिक कार्यों के अनुष्ठान में लग जाइए। आपको समस्त प्रजा का नमस्कार है!"

तस्य तद्वचनं धर्म्यमनुमान्य गुणोत्तरम्।
साधु साध्विति सर्वः स जनः प्रतिगृहीतवान् ॥४०॥

जनमेजय! साम्ब के धर्मानुकूल तथा उत्तम गुणयुक्त वचन सुनकर समस्त प्रजा उन्हें सादर साधुवाद देने लगी तथा सबने उनकी बात का अनुमोदन किया।

धृतराष्ट्रश्च तद्वाक्यमभिपूज्य पुनः पुनः।
विसर्जयामास तदा प्रकृतीस्तु शनैः शनैः ॥४१॥

महाराज धृतराष्ट्र ने भी साम्ब के वचनों की सराहना की और सारी प्रजा को धीरे-धीरे विदा किया।

ततो विवेश भवनं गान्धार्या सहितो निजम्।
व्युष्टायां चैव शर्वर्यां यच्चकार निबोध तत् ॥४२॥

तत्पश्चात् महाराज धृतराष्ट्र गान्धारी के साथ अपने महल में चले गये। जब रात्रि व्यतीत हुई और प्रभात हुआ, तब उन्होंने जो कुछ किया, वह बताता हूँ, सुनो!

ततः प्रभाते राजा स धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
आहूय पाण्डवान् वीरान् वनवासे कृतक्षणः ॥४३॥
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य वल्कलाजिनसंवृतः।
वधूजनवृतो राजा निर्ययौ भवनात् ततः ॥४४॥

जनमेजय! तदनन्तर प्रातःकाल अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्र ने वनवास की तैयारी करके वीर पाण्डवों को बुलाया। उन्होंने वल्कल और मृगचर्म धारण किये तथा अग्निहोत्र को आगे करके पुत्र-वधुओं से घिरे हुए राजा धृतराष्ट्र राजभवन से बाहर निकले।

ततः प्रासादहर्म्येषु वसुधायां च पार्थिव।
नारीणां च नराणां च निःस्वनः सुमहानभूत् ॥४५॥

पृथिवीपाल! उस समय महलों, अट्टालिकाओं और पृथिवी पर [राजधानी में] भी रोते हुए नर-नारियों का महान् कोलाहल छा गया।

स राजा राजमार्गेण नृनारीसंकुलेन च।
कथञ्चिन्निर्ययौ धीमान् वेपमानः कृताञ्जलिः ॥४६॥

पुरुषों और स्त्रियों की भीड़ से भरे हुए राजमार्ग पर चलते हुए बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र बड़ी कठिनाई से आगे बढ़ पाते थे। उनके दोनों हाथ जुड़े हुए थे और शरीर काँप रहा था।

स वर्धमानद्वारेण निर्ययौ गजसाह्वयात्।
तं च विसर्जयामास जनौघं स मुहुर्मुहुः ॥४७॥

महाराज धृतराष्ट्र वर्धमान द्वार से होते हुए हस्तिनापुर से बाहर निकले। वहाँ पहुँचकर उन्होंने बारम्बार आग्रह करके अपने साथ आये हुए जनसमूह को विदा किया।

विदुरो च वनं गन्तुं राज्ञा सह कृतक्षणः।
सञ्जयश्च महामात्रः सूतो गावल्गणिस्तथा ॥४८॥

महात्मा विदुर तथा गवल्गणकुमार महामात्र सूत सञ्जय ने राजा के साथ ही वन में जाने का निश्चय कर लिया था।

कृपं निवर्तयास युयुत्सुं च महारथम्।
धृतराष्ट्रो महीपालः परिदाप्य युधिष्ठिरे ॥४६॥

महाराज धृतराष्ट्र ने कृपाचार्य तथा महारथी युयुत्सु को युधिष्ठिर के हाथों में सौंपकर लौटाया।

निवृत्ते पौरवर्गे च राजा सान्तःपुरस्तथा।
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातो निर्वर्तितुमियेष ह ॥५०॥

पुरवासियों के लौट जाने पर अन्तःपुर की रानियोंसहित राजा युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र की आज्ञा लेकर लौट जाने का विचार किया।

सोऽब्रवीन्मातरं कुन्तीं वनं तमनुजग्मुषीम्।
अहं राजानमन्विष्ये भवती विनिवर्तताम् ॥५१॥
वधूपरिवृता राज्ञि नगरं गन्तुमर्हसि।
राजा यात्वेष धर्मात्मा तापस्ये कृतनिश्चयः ॥५२॥

उस समय उन्होंने वन की ओर जाती हुई अपनी माता कुन्ती से कहा—"माताजी! आप अपनी पुत्र-वधुओं के साथ लौटिए, नगर को चलिए। मैं राजा के पीछे-पीछे जाऊँगा, क्योंकि ये धर्मात्मा नरेश तपस्या के लिए निश्चय करके वन में जा रहे हैं, अतः इन्हें जाने दीजिए।"

इत्युक्ता धर्मराजेन बाष्पव्याकुललोचना।
जगामैव तदा कुन्ती गान्धारीं परिगृह्य ह ॥५३॥

धर्मराज युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर कुन्तीदेवी की आँखों में आंसू भर आये, फिर भी वे गान्धारी का हाथ पकड़े चलती ही रहीं।

कुन्त्युवाच

श्वश्रूश्वशुरयोः पादान् शुश्रूषन्ती वने त्वहम्।
गान्धारीसहिता वत्स्ये तापसी मलपङ्किनी ॥५४॥

चलते-चलते कुन्ती ने कहा—वत्स! अब मैं वन में गान्धारी के साथ शरीर पर मैल तथा कीचड़ धारण किये तपस्विनी बनकर रहूँगी और अपने इन सास-ससुर के चरणों की सेवा में लगी रहूँगी।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स धर्मात्मा भ्रातृभिः सहितो वशी।
विषादमगमद् धीमान् न च किञ्चिदुवाच ह ॥५५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! माता के ऐसा कहने पर अपने मन को वश में रखनेवाले धर्मात्मा और बुद्धिमान् युधिष्ठिर भाइयोंसहित अत्यन्त दुःखी हुए। उस समय वे कुछ भी बोल नहीं सके।

मुहूर्तमिव तु ध्यात्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
उवाच मातरं दीनश्चिन्ताशोकपरायणः ॥५६॥

दो घड़ी तक कुछ सोच-विचारकर चिन्ता और शोक में डूबे हुए धर्मराज युधिष्ठिर ने दीन होकर माताजी से कहा—

किमिदं ते व्यवसितं नैवं त्वं वक्तुमर्हसि।
न त्वामभ्यनुजानामि प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥५७॥

"माताजी! आपने यह क्या निश्चय कर लिया? आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। मैं आपको वन में जाने की अनुमति नहीं दे सकता। आप मुझपर कृपा करें।

पुरोद्यतान् पुरा ह्यस्मानुत्साह्य प्रियदर्शने।
विदुलाया वचोभिस्त्वं नास्मान् संत्यक्तुमर्हसि ॥५८॥

"प्रियदर्शने! पहले जब हम लोग नगर से बाहर [वन में] जाने के लिए उद्यत थे, उस समय आपने विदुला के वचनों द्वारा हमें क्षत्रिय धर्म के पालन के लिए उत्साहित किया था, अतः आज हमें त्याग-कर आपका वन में जाना आपके लिए उचित नहीं है।

निहत्य पृथिवीपालान् राज्यं प्राप्तमिदं मया।
तव प्रज्ञामुपश्रुत्य वासुदेवान्नरर्षभात् ॥५९॥

"पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के मुख से आपका सन्देश सुनकर ही मैंने अनेक राजाओं का संहार करके इस राज्य को प्राप्त किया है।

क्व सा बुद्धिरियं चाद्य भवत्या यत् श्रुतं मया।
क्षत्रधर्मे स्थितिं चोक्त्वा तस्याश्च्यवितुमिच्छसि ॥६०

"कहाँ आपकी वह बुद्धि और कहाँ आपका यह विचार! मैंने आपका जो विचार सुना है, उसके अनुसार हमें क्षत्रियधर्म में स्थित रहने का उपदेश देकर आप स्वयं उससे गिरना चाहती हैं!

अस्मानुत्सृज्य राज्यं च स्नुषा हीमा यशस्विनि।
कथं वत्स्यसि दुर्गेषु वनेष्वद्य प्रसीद मे ॥६१॥

"यशस्विनी माताजी! भला आप हमें, अपनी

इन वधुओं तथा राज्य को छोड़कर अब उन दुर्गम वनों में कैसे रह सकेंगी ? अतः हम लोगों पर कृपा करके यहीं रहिए।"

इति बाष्पाकुला वाचः कुन्ती पुत्रस्य शृण्वती ।
सा जगामाश्रुपूर्णाक्षी भीमस्तामिदमब्रवीत् ॥६२॥

अपने पुत्र के रुँधे हुए कण्ठ से निकले वचनों को सुनकर कुन्ती के नेत्रों में आँसू उमड़ आये, तो भी वे रुक न सकीं—आगे ही बढ़ती गईं। तब भीमसेन ने उनसे कहा—

यदा राज्यमिदं मातर्भोक्तव्यं पुत्रनिर्जितम् ।
प्राप्तव्या राजधर्माश्च तदेयं ते कुतो मतिः ॥६३॥

"माताजी ! जब पुत्रों के द्वारा जीते हुए इस राज्य के भोगने का अवसर आया तथा राजधर्म के पालन की सुविधा प्राप्त हुई, तब आपकी बुद्धि ऐसी कैसे हो गई ?

अस्माभिः कारितं किन्तत् भवत्या पृथिवीक्षयम् ।
कस्य हेतोः परित्यज्य वनं गन्तुमभीप्ससि ॥६४॥

"यदि ऐसा ही करना था तो आपने इस भूमण्डल का विनाश क्यों कराया ? आप हमारा परित्याग करके वन में क्यों जाना चाहती हैं ?

वनाच्चापि किमानीता भवत्या बालका वयम् ।
दुःखशोकसमाविष्टौ माद्रीपुत्राविमौ तथा ॥६५॥

"जब आपको वन में ही जाना था, तब आप हमें तथा दुःख और शोक में डूबे हुए इन माद्रीकुमारों को बाल्यावस्था में वन से नगर में क्यों लाई थीं ?

प्रसीद देवि मा गास्त्वं वनमद्य यशस्विनि ।
श्रियं यौधिष्ठिरीं मातर्भुङ्क्ष्व तावद्बलार्जिताम् ॥६६॥

"मेरी यशस्विनी माँ ! आप प्रसन्न हों। आप हमें छोड़कर वन में न जाएँ। हे देवि ! पराक्रम द्वारा प्राप्त हुई राजा युधिष्ठिर की इस राज्यलक्ष्मी का उपभोग करें।"

इति सा निश्चितैवाशु वनवासाय भाविनो ।
लालप्यतां बहुविधं पुत्राणां नाकरोद् वचः ॥६७॥

शुद्ध अन्तःकरणवाली कुन्तीदेवी वन में जाने का दृढ़ निश्चय कर चुकी थीं, अतः नाना प्रकार से विलाप करते हुए अपने पुत्रों का अनुरोध उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

द्रौपदी चान्वयाच्छ्वश्रूं विषण्णवदना तदा ।
वनवासाय गच्छन्तीं रुदती भद्रया सह ॥६८॥

सास को इस प्रकार वनवास के लिए जाती देख द्रौपदी के मुख पर भी विषाद छा गया। वह सुभद्रा के साथ रोती हुई स्वयं भी कुन्ती के पीछे-पीछे जाने लगी।

सा पुत्रान् रुदतः सर्वान् मुहुर्मुहुरवेक्षती ।
जगामैव महाप्राज्ञा वनाय कृतनिश्चया ॥६९॥

महाबुद्धिमती कुन्ती वनवास का निश्चय कर चुकी थीं, अतः अपने रोते हुए समस्त पुत्रों की ओर बारम्बार देखती हुई वे आगे ही बढ़ती जाती थीं।

अन्वयुः पाण्डवास्तां तु सभृत्यान्तःपुरस्तथा ।
ततः प्रमृज्य साश्रूणि पुत्रान् वचनमब्रवीत् ॥७०॥

पाण्डव भी अपने सेवकों तथा अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ उनके पीछे-पीछे चलने लगे। तब कुन्ती ने आँसू पोंछकर अपने पुत्रों से इस प्रकार कहा—

कुन्त्युवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव ।
कृतमुद्धर्षणं पूर्वं मया वः सीदतां नृपाः ॥७१॥

कुन्ती ने कहा—महाबाहु पाण्डुनन्दन ! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह सब ठीक है। राजाओ ! पूर्वकाल में हम नाना प्रकार के कष्ट उठाकर शिथिल हो गये थे, अतः मैंने तुम्हें युद्ध के लिए प्रेरित और उत्साहित किया था।

द्यूतापहृतराज्यानां पतितानां सुखादपि ।
ज्ञातिभिः परिभूतानां कृतमुद्धर्षणं मया ॥७२॥

जुए में तुम्हारा राज्य छीन लिया गया था। तुम सुख से भ्रष्ट हो चुके थे तथा तुम्हारे बन्धु-बान्धव तुम्हारा तिरस्कार करते थे, अतः मैंने तुम्हें युद्ध के लिए उत्साह प्रदान किया था।

कथं पाण्डोर्न नश्येत संततिः पुरुषर्षभाः ।
यशश्च वो न नश्येत इति चोद्धर्षणं कृतम् ॥७३॥

श्रेष्ठ पुरुषो ! मेरी अभिलाषा थी कि पाण्डु की सन्तान किसी प्रकार नष्ट न हो तथा तुम्हारे यश का भी नाश न होने पाये, इसीलिए मैंने तुम्हें युद्ध करने के लिए उत्साहित किया था।

यूयमिन्द्रसमाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः ।
मा परेषां मुखप्रेक्षा स्थेत्येवं तत्कृतं मया ।।७४।।

तुम सभी देवराज इन्द्र के समान शक्तिशाली तथा देवताओं के तुल्य पराक्रमशाली होकर जीविका के लिए दूसरों का मुंह न ताको, अतः मैंने वह सब किया था।

कथं न राजवंशोऽयं नश्येत् प्राप्य सुतान्मम ।
पाण्डोरिति मया पुत्रास्तस्मादुद्धर्षणं कृतम् ।।७५।।

पुत्रो ! मेरे तथा पाण्डु के पुत्रों तक पहुँचकर यह राजवंश किसी प्रकार नष्ट न हो जाए, अतः मैंने तुम्हारे उत्साह का वर्धन किया था।

भुक्तं राज्यफलं पुत्रा भर्तुर्मे विपुलं पुरा ।
महादानानि दत्तानि पीतः सोमो यथाविधि ।।७६।।

पुत्रो ! मैंने पूर्वकाल में अपने स्वामी महाराज पाण्डु के विशाल राज्य का सुख भोग लिया है, बड़े-बड़े दान दिये हैं तथा यज्ञ में विधिपूर्वक सोमपान भी किया है।

नाहमात्मफलार्थं वै वासुदेवमचूचुदम् ।
विदुलायाः प्रलापैस्तैः पालनार्थं च तत्कृतम् ।।७७।।

मैंने अपने लाभ के लिए श्रीकृष्ण को प्रेरित नहीं किया था। मैंने विदुला का उपाख्यान और वचन सुनाकर उन-[श्रीकृष्ण]-के द्वारा तुम्हारे पास जो सन्देश भेजा था, वह सब तुम लोगों की रक्षा के उद्देश्य से ही किया था।

निवर्तस्व कुरुश्रेष्ठ भीमसेनादिभिः सह ।
धर्मे ते धीयतां बुद्धिर्मनस्तु महदस्तु च ।।७८।।

कुरुश्रेष्ठ ! अब तुम भीमसेन आदि के साथ लौट जाओ। तुम्हारी बुद्धि सदा धर्म में लगी रहे और तुम्हारा हृदय अत्यन्त विशाल [उदार] हो।

वैशम्पायन उवाच

कुन्त्यास्तु वचनं श्रुत्वा पाण्डवा राजसत्तम ।
व्रीडिताः संन्यवर्तन्त पाञ्चाल्या सहिताऽनघाः ।।७९।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! कुन्ती की बात सुनकर निष्पाप पाण्डव बहुत लज्जित एवं दुःखित हुए और द्रौपदी के साथ वहाँ से लौटने लगे।

उपावृत्तेषु पार्थेषु सर्वास्वेव वधूषु च ।
ययौ राजा महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो वनं तदा ।।८०।।

जब कुन्तीदेवी के सभी पुत्र और सारी बहुएँ लौट गईं, तब महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र वन की ओर चले।

पाण्डवाश्चातिदीनास्ते दुःखशोकपरायणाः ।
यानैः स्त्रीसहिताः सर्वे पुरं प्रविविशुस्तदा ।।८१।।

उस समय पाण्डव अत्यन्त दीन तथा दुःख और शोक में डूब रहे थे। उन्होंने वाहनों पर बैठकर स्त्रियोंसहित नगर में प्रवेश किया।

तदहृष्टमनानन्दं गतोत्सवमिवाभवत् ।
नगरं हास्तिनपुरं सस्त्रीवृद्धकुमारकम् ।।८२।।

उस दिन बालक, वृद्ध और स्त्रियोंसहित सारा हस्तिनापुर नगर हर्ष और आनन्द से रहित तथा उत्सवशून्य-सा हो रहा था।

सर्वे चासन् निरुत्साहाः पाण्डवा जातमन्यवः ।
कुन्त्या हीनाः सुदुःखार्ता वत्सा इव विनाकृताः ।।८३।।

सभी पाण्डवों का उत्साह नष्ट हो चुका था। वे दीन और दुःखी हो गये थे। माता कुन्ती से बिछुड़कर दुःख से अत्यन्त दुःखी हो वे बिना गाय के बछड़ों के समान व्याकुल हो गये थे।

धृतराष्ट्रस्तु तेनाह्ना गत्वा सुमहदन्तरम् ।
ततो भागीरथीतीरे निवासमकरोत्प्रभुः ।।८४।।

उधर महाराजा धृतराष्ट्र ने उस दिन बहुत दूर तक यात्रा करके सन्ध्या के समय गङ्गा के तट पर निवास किया।

प्रादुष्कृता यथान्यायमग्नयो वेदपारगैः ।
व्यराजन्त द्विजश्रेष्ठैस्तत्र तत्र तपोवने ।।८५।।

वहाँ के तपोवन में वेदों के पारंगत श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने जहाँ-तहाँ विधिपूर्वक जो यज्ञाग्नियाँ प्रज्वलित की थीं, वे अत्यन्त शोभा पा रही थीं।

प्रादुष्कृताग्निरभवत् स च वृद्धो नराधिपः ।
स राजाग्नीन् पर्युपास्य हुत्वा च विधिवत्तदा ।
सन्ध्यागतं सहस्रांशुमुपातिष्ठत भारत ।।८६।।

भरतनन्दन ! वृद्ध राजा धृतराष्ट्र ने भी [अपने साथ लाई हुई] अग्नि को प्रज्वलित किया, फिर त्रिविध [दक्षिण, गार्हपत्य और आहवनीय] अग्नियों की उपासना करके उनमें विधिपूर्वक आहुति प्रदान

कर राजा ने सायंकालिक सूर्य का उपस्थान किया, सन्ध्योपासना की।

विदुरः सञ्जयश्चैव राज्ञः शय्यां कुशैस्ततः।
चक्रतुः कुरुवीरस्य गान्धार्याश्चाविदूरतः ॥८७॥

तत्पश्चात् विदुर और सञ्जय ने कुरुप्रवीर राजा धृतराष्ट्र के लिए कुशों की शय्या बिछा दी। उनके समीप ही गान्धारी के लिए भी एक पृथक् शय्या लगा दी गई।

गान्धार्याः सन्निकर्षे तु निषसाद कुशे सुखम्।
युधिष्ठिरस्य जननी कुन्ती साधुव्रते स्थिता ॥८८॥

उत्तम व्रताचारण में स्थित महाराजा युधिष्ठिर की माता कुन्ती देवी ने भी गान्धारी के निकट ही कुशासन पर ही सुखपूर्वक शयन किया।

तेषां संश्रवणे चापि निषेदुर्विदुरादयः।
याजकाश्च यथोद्देशं द्विजा ये चानुयायिनः ॥८९॥

विदुर आदि अन्य सभी लोग राजा से उतनी दूर पर सोये, जहाँ से उनकी आवाज सुनाई दे सके। यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण तथा राजा के साथ आये हुए अन्य द्विजगण भी यथायोग्य स्थानों पर सोये।

ततो राश्यां व्यतीतायां कृतपूर्वाह्णिकक्रियाः।
हुत्वाग्निं विधिवत्सर्वे प्रययुस्ते यथाक्रमम् ॥९०॥

सुखपूर्वक सोकर रात्रि व्यतीत होने पर पूर्वाह्ण-कालिक क्रिया [शौच, स्नान आदि] पूरी करके, विधिपूर्वक अग्निहोत्र [हवन] करने के पश्चात् वे सब लोग क्रमशः आगे बढ़ने लगे।

इति महाभारते आश्रमवासिकपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र आदि का शतयूप के आश्रम पर निवास
पाण्डवों और पुरवासियों की धृतराष्ट्र आदि के लिए चिन्ता

वैशम्पायन उवाच

ततो भागीरथीतीरे मध्ये पुण्यजनोचिते।
निवासमकरोद् राजा विदुरस्य मते स्थितः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तत्पश्चात् दूसरा दिन व्यतीत होने पर राजा धृतराष्ट्र ने विदुरजी की बात मानकर पवित्रात्मा पुरुषों के रहने योग्य भागीरथी [गङ्गा] के पावन तट पर निवास किया।

तत्रैनं पर्युपातिष्ठन् ब्राह्मणा वनवासिनः।
क्षत्रविट्शूद्रसंघाश्च बहवो भरतर्षभ ॥२॥

भरतकुलभूषण! वहाँ वनवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र बहुत बड़ी संख्या में इकट्ठे होकर राजा से मिलने के लिए आये।

सायाह्ने स महीपालस्ततो गङ्गामुपेत्य च।
चकार विधिवच्छौचं गान्धारी च यशस्विनी ॥३॥

तत्पश्चात् सायंकाल के समय राजा धृतराष्ट्र और यशस्विनी गान्धारी देवी ने गङ्गा के जल में प्रविष्ट होकर स्नान-कार्य सम्पन्न किया।

राज्ञस्तु याजकैस्तत्र कृतो वेदीपरिस्तरः।
जुहाव तत्र वह्निं स नृपतिः सत्यसङ्गरः ॥४॥

यज्ञ करानेवाले ब्राह्मणों ने राजा के लिए वहाँ एक वेदी तैयार की, जिसपर अग्नि स्थापित करके उस सत्यप्रतिज्ञ नरेश ने विधिपूर्वक यज्ञकार्य सम्पन्न किया।

ततो भागीरथीतीरात्कुरुक्षेत्रं जगाम सः।
सानुगो नृपतिर्वृद्धो नियतः संयतेन्द्रियः ॥५॥

इस प्रकार नित्यकर्म से निवृत्त हो वृद्ध महाराज धृतराष्ट्र इन्द्रियसंयमपूर्वक नियमपरायण हो सेवकों-सहित गङ्गातट से चलकर कुरुक्षेत्र में जा पहुँचे।

तत्राश्रमपदं धीमानभिगम्य स पार्थिवः।
आससादाथ राजर्षिः शतयूपं मनीषिणम् ॥६॥

वहाँ वे महामति भूपाल एक आश्रम पर जाकर वहाँ के मनीषी राजर्षि शतयूप से मिले।

स हि राजा महानासीत् केकयेषु परन्तपः।
स्वपुत्रं मनुजैश्वर्ये निवेश्य वनमाविशत् ॥७॥

वे परमतपस्वी राजा शतयूप कभी केकय देश के

महाराज थे। अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठाकर वे वन में चले आये थे।

तेनासौ सहितो राजा ययौ व्यासाश्रमं प्रति।
तत्रैनं विधिवद् राजा प्रत्यगृह्णात् कुरूद्वहः ॥८॥

महाराज धृतराष्ट्र उन्हें साथ लेकर महर्षि व्यास के आश्रम पर गये। वहाँ कुरुकुलभूषण धृतराष्ट्र ने विधिपूर्वक व्यासजी की पूजा [आदर-सत्कार] की।

स दीक्षां तत्र सम्प्राप्य राजा कौरवनन्दनः।
शतयूपाश्रमे तस्मिन् निवासमकरोत्तदा ॥९॥

तदनन्तर उन्हीं से वनवास की दीक्षा लेकर कौरवनन्दन महाराज धृतराष्ट्र पूर्वोक्त शतयूप के आश्रम में लौट आये तथा वहीं निवास करने लगे।

तस्मै सर्वं विधिं राज्ञे राजाऽऽचख्यौ महामतिः।
आरण्यकं महाराज व्यासस्यानुमते तदा ॥१०॥

महाराज! वहाँ परम बुद्धिमान् राजा शतयूप ने व्यासजी की आज्ञा से धृतराष्ट्र को वन में रहने की सम्पूर्ण विधि—जीवनचर्या बता दी।

एवं स तपसा राजन् धृतराष्ट्रो महामनाः।
योजयामास चात्मानं तांश्चाप्यनुचरांस्तदा ॥११॥

राजन्! इस प्रकार महामनस्वी राजा धृतराष्ट्र ने अपने-आपको तथा साथ आये हुए सभी सेवकों को भी तपस्या में लगा दिया।

तथैव देवी गान्धारी वल्कलाजिनधारिणी।
कुन्त्या सह महाराज समानव्रतचारिणी ॥१२॥

महाराज! इसी प्रकार वल्कल वस्त्र और मृगचर्म धारण करनेवाली गान्धारी देवी भी कुन्ती के साथ रहकर धृतराष्ट्र के समान ही व्रत का पालन करने लगीं।

कर्मणा मनसा वाचा चक्षुषा चैव ते नृप।
संनियम्येन्द्रियग्राममास्थिते परमं तपः ॥१३॥

नरेश्वर! वे दोनों देवियाँ इन्द्रियों को अपने वश में करके मन, वाणी, कर्म और नेत्रों के द्वारा भी उत्तम तपस्या में संलग्न हो गईं।

त्वगस्थिभूतः परिशुष्कमांसो
जटाजिनी वल्कलसंवृताङ्गः।
स पार्थिवस्तत्र तपश्चचार
महर्षिवत्तीव्रमपेतमोहः ॥१४॥

तप एवं व्रत-पालन करते हुए राजा धृतराष्ट्र के शरीर का मांस सूख गया। वे हड्डी और चमड़े का ढाँचा मात्र रहकर मस्तक पर जटा और शरीर पर मृगछाला तथा वल्कल वस्त्र धारण किये महर्षियों की भाँति तीव्र तपस्या में प्रवृत्त हो गये। उनके चित्त का सम्पूर्ण मोह दूर हो गया था।

क्षत्ता च धर्मार्थविदग्र्यबुद्धिः
ससञ्जयस्तं नृपतिं सुसेव्यम्।
उपाचरद् घोरतपो जितात्मा
तदा कृशो वल्कलचीरवासाः ॥१५॥

धर्म और अर्थ के ज्ञाता तथा श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न विदुरजी भी सञ्जयसहित वल्कल और चीरवस्त्र धारण किये गान्धारी एवं धृतराष्ट्र की सेवा करने लगे। वे मन को वश में करके अपने दुर्बल शरीर से घोर तपोऽनुष्ठान में संलग्न रहते थे।

वनं गते कौरवेन्द्रे दुःखशोकसमन्विताः।
बभूवुः पाण्डवा राजन् मातृशोकेन चार्दिताः ॥१६॥

महाराज जनमेजय! इधर तो ये तप-अनुष्ठान में संलग्न थे, उधर कौरवराज धृतराष्ट्र के वन में चले जाने पर पाण्डव दुःख और शोक से सन्तप्त रहने लगे। माता के विछोह का शोक उनके हृदय को दग्ध किये देता था।

तथा पौरजनः सर्वः शोचन्नास्ते जनाधिपम्।
कुर्वाणाश्च कथास्तत्र ब्राह्मणा नृपतिं प्रति ॥१७॥

इसी प्रकार समस्त पुरवासी मनुष्य भी राजा धृतराष्ट्र के लिए निरन्तर शोकमग्न रहते थे तथा ब्राह्मण लोग सदा उन वृद्ध नरेश के विषय में वहाँ इस प्रकार वार्तालाप किया करते थे—

कथं नु राजा वृद्धः स वने वसति निर्जने।
गान्धारी च महाभागा सा च कुन्ती पृथा कथम् ॥१८॥

'हाय! हमारे बूढ़े महाराज उस निर्जन वन में कैसे रहते होंगे? महाभागा गान्धारी और कुन्ती-देवी भी किस प्रकार वहाँ अपने दिन बिताती होंगी?

विदुरः किमवस्थश्च भ्रातुः शुश्रूषुरात्मवान्।
स च गावल्गणिर्धीमान् भर्तृपिण्डानुपालकः ॥१९॥

'अपने भाई की सेवा में लगे रहनेवाले मनस्वी विदुरजी किस अवस्था में होंगे? अपने स्वामी के

शरीर की रक्षा करनेवाले महामति सञ्जय भी कैसे होंगे ?'

आकुमारं च पौरास्ते चिन्ताशोकसमाहताः ।
तत्र तत्र कथाश्चक्रुः समासाद्य परस्परम् ॥२०॥

बच्चे से लेकर बूढ़े तक सभी पुरवासी चिन्ता और शोक से पीड़ित हो जहाँ-तहाँ एक-दूसरे से मिलकर उपर्युक्त बातें ही किया करते थे ।

पाण्डवाश्चैव ते सर्वे भृशं शोकपरायणाः ।
शोचन्तो मातरं वृद्धामूषुर्नातिचिरं पुरे ॥२१॥

समस्त पाण्डव तो निरन्तर अत्यन्त शोक में ही डूबे रहते थे । वे अपनी वृद्धा माता के लिए इतने चिन्तामग्न हो गये कि अधिक समय तक नगर में नहीं रह सके ।

तथैव वृद्धं पितरं हतपुत्रं जनेश्वरम् ।
गान्धारीं च महाभागां विदुरं च महामतिम् ॥२२॥
नैषां बभूव सम्प्रीतिस्तान् विचिन्तयतां तदा ।
न राज्ये न च नारीषु न वेदाध्ययनेषु च ॥२३॥

जिनके पुत्र मारे गये थे, उन वृद्ध पिता [ताऊ] महाराज धृतराष्ट्र की, सौभाग्यशालिनी गान्धारी की और महामति विदुर की अधिक चिन्ता करने के कारण उन्हें कभी चैन नहीं पड़ता था । उनका मन न तो राजकार्य में लगता था, न स्त्रियों के साथ आमोद-प्रमोद में । वेदों के स्वाध्याय में भी उनकी रुचि नहीं होती थी ।

परं निर्वेदमगमंश्चिन्तयन्तो नराधिपम् ।
तं च ज्ञातिवधं घोरं संस्मरन्तः पुनः पुनः ॥२४॥

महाराज धृतराष्ट्र को स्मरण करके वे अत्यन्त खिन्न और विरक्त हो उठते थे । बन्धु-बान्धवों के उस महाविनाश का उन्हें बारम्बार स्मरण हो आता था ।

वैराटचास्तनयं दृष्ट्वा पितरं ते परिक्षितम् ।
धारयन्ति स्म ते प्राणाँस्तव पूर्वपितामहाः ॥२५॥

जनमेजय ! उन दिनों तुम्हारे पूर्वपितामह पाण्डव उत्तरा के पुत्र और तुम्हारे पिता परीक्षित् को देखकर ही अपने प्राणों को धारण करते थे ।

इति महाभारते आश्रमवासिकपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

माता के लिए पाण्डवों की चिन्ता और युधिष्ठिर का रनिवास तथा सेनासहित वन के लिए प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

अचिन्तयंश्च जननीं ततस्ते पाण्डुनन्दनाः ।
कथं नु वृद्धमिथुनं वहत्यतिकृशा पृथा ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! एक दिन पाण्डव अपनी माता के लिए इस प्रकार चिन्ता करने लगे—'हाय ! हमारी माता कुन्ती अत्यन्त दुर्बल हो गई होंगी । वे उन बूढ़े पति-पत्नी धृतराष्ट्र और गान्धारी की सेवा-शुश्रूषा कैसे करती होंगी ?

कथं स च महीपालो हतपुत्रो निराश्रयः ।
पत्न्या सह वसत्येको वने श्वापदसेविते ॥२॥

'हिंसक जन्तुओं से आक्रान्त [भरे हुए] उस वन में आश्रयहीन तथा पुत्ररहित राजा धृतराष्ट्र अपनी पत्नी के साथ अकेले कैसे रहते होंगे ?

सा च देवी महाभागा गान्धारी हतबान्धवा ।
पतिमन्धं कथं वृद्धमन्वेति विजने वने ॥३॥

'जिनके बन्धु-बान्धव मारे गये हैं, वह महाभागा गान्धारी देवी, उस निर्जन वन में अपने वृद्ध और अन्धे पति का अनुसरण कैसे करती होगी ?'

एवं तेषां कथयतामौत्सुक्यमभवत् तदा ।
गमने चाभवद् बुद्धिर्धृतराष्ट्रदिदृक्षया ॥४॥

इस प्रकार परस्पर सोचते-विचारते हुए उनके मन में बड़ी उत्कण्ठा हो गई और उन्होंने धृतराष्ट्र के दर्शन की इच्छा से वन में जाने का विचार कर लिया ।

सहदेवस्तु राजानं प्रणिपत्येदमब्रवीत् ।
मयाहो भवतो दृष्टं हृदयं गमनं प्रति ॥५॥

उस समय सहदेव ने राजा युधिष्ठिर को प्रणाम करके कहा—"भैया ! मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आपका हृदय तपोवन में जाने के लिए उत्सुक है—यह अत्यन्त हर्ष का विषय है ।

न हि त्वां गौरवेणाहमशकं वक्तुमञ्जसा ।
गमनं प्रति राजेन्द्र तदिदं समुपस्थितम् ।।६।।

"हे राजेन्द्र ! मैं आपके गौरव का विचार करके संकोचवश वहाँ जाने की बात स्पष्टरूप से आपके समक्ष कह नहीं पाता था । आज सौभाग्यवश वह अवसर अपने-आप उपस्थित हो गया ।

प्रासादहर्म्यसंवृद्धामत्यन्तसुखभागिनीम् ।
कदा नु जननीं श्रान्तां द्रक्ष्यामि भृशदुःखिताम् ।।७।।

"जो राजप्रासादों और अट्टालिकाओं में पलकर बड़ी हुई हैं, जो अत्यन्त सुख की भागिनी रही हैं, वे ही माता कुन्ती अब थककर अत्यन्त दुःख और कष्ट उठाती होंगी ! मुझे कब उनके दर्शन होंगे ?"

सहदेववचः श्रुत्वा द्रौपदी योषितां वरा ।
उवाच देवी राजानमभिपूज्याभिनन्द्य च ।।८।।

सहदेव की बात सुनकर नारियों में श्रेष्ठ महारानी द्रौपदी राजा युधिष्ठिर का सम्मान करके उन्हें प्रसन्न करते हुए बोलीं—

कदा द्रक्ष्यामि तां देवीं यदि जीवति सा पृथा ।
जीवन्त्या ह्यद्य मे प्रीतिर्भविष्यति जनाधिप ।।९।।

"प्रजेश्वर ! मैं अपनी सास कुन्ती देवी का दर्शन कब करूँगी ? क्या वे अबतक जीवित होंगी ? यदि वे जीवित हों तो आज उनका दर्शन करके मुझे परम प्रसन्नता होगी ।

अग्रपादस्थितं चेमं विद्धि राजन् वधूजनम् ।
काङ्क्षन्तं दर्शनं कुन्त्या गान्धार्याः श्वशुरस्य च ।।१०।।

"राजन् ! आपको विदित होना चाहिए कि अन्तःपुर की समस्त बहुएँ वन में जाने के लिए तैयार खड़ी हैं । वे सब-की-सब कुन्ती, गान्धारी और ससुरजी के दर्शन करना चाहती हैं ।"

इत्युक्तः स नृपो देव्या द्रौपद्या भरतर्षभ ।
सेनाध्यक्षान् समानाय्य सर्वानिदमुवाच ह ।।११।।

भरतकुलभूषण ! द्रौपदी के ऐसा कहने पर राजा युधिष्ठिर ने समस्त सेनापतियों को बुलाकर कहा—

निर्यातयत मे सेनां प्रभूतरथकुञ्जराम् ।
द्रक्ष्यामि वनसंस्थं च धृतराष्ट्रं महीपतिम् ।।१२।।

"तुम लोग बहुत-से रथ और हाथी-घोड़ों से सुसज्जित मेरी सेना को कूच करने का आदेश दो । मैं वनवासी महाराज धृतराष्ट्र के दर्शन करने के लिए चलूँगा ।"

स्त्र्यध्यक्षाँश्चाब्रवीद् राजा यानानि विविधानि मे ।
सज्जीक्रियतां सर्वाणि शिबिकाश्च सहस्रशः ।।१३।।

तत्पश्चात् राजा ने रनिवास के अध्यक्षों को आज्ञा दी—"तुम सब लोग हमारे लिए भाँति-भाँति के वाहन तथा पालकियों को सहस्रों की संख्या में तैयार करो ।

यश्च पौरजनः कश्चिद् द्रष्टुमिच्छति पार्थिवम् ।
अनावृतः सुविहितः स च यातु सुरक्षितः ।।१४।।

"नगरवासियों में से जो कोई भी महाराज का दर्शन करना चाहता हो, उसे बिना रोकटोक, सुविधापूर्वक सुरक्षित रूप से चलने दिया जाए ।

प्रयाणं घुष्यतां चैव श्वोभूत इति मा चिरम् ।
क्रियतां पथि चाप्यद्य वेश्मानि विविधानि च ।।१५।।

"नगर में यह घोषणा करा दी जाए कि—'कल प्रातःकाल यात्रा की जाएगी, अतः चलनेवालों को विलम्ब नहीं करना चाहिए ।' मार्ग में हम लोगों के ठहरने के लिए आज ही अनेक प्रकार के डेरे तैयार कर दिये जाएँ ।"

एवमाज्ञाप्य राजा स भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
श्वोभूते निर्ययौ राजन् सस्त्रीवृद्धपुरःसरः ।।१६।।

राजन् ! इस प्रकार आज्ञा देकर प्रातःकाल होते ही अपने भाई पाण्डवोंसहित राजा युधिष्ठिर ने स्त्री और बूढ़ों को आगे करके नगर से वन की ओर प्रस्थान किया ।

नदीतीरेषु रम्येषु सरःसु च विशाम्पते ।
वासान् कृत्वा क्रमेणाथ जग्मुस्ते कुरुपुङ्गवाः ।।१७।।

प्रजानाथ ! वे कुरुश्रेष्ठ वीर नदियों के रमणीय तटों तथा अनेक सरोवरों पर पड़ाव डालते हुए क्रमशः आगे बढ़ते गये ।

युयुत्सुश्च महातेजा धौम्यश्चैव पुरोहितः ।
युधिष्ठिरस्य वचनात् पुरगुप्तिं प्रचक्रतुः ।।१८।।

महातेजस्वी युयुत्सु तथा पुरोहित धौम्य मुनि महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से हस्तिनापुर में ही रहकर राजधानी की रक्षा कर रहे थे ।

ततो युधिष्ठिरो राजा कुरुक्षेत्रमवातरत्।
क्रमेणोत्तीर्य यमुनां नदीं परमपावनीम् ॥१९॥

उधर राजा युधिष्ठिर क्रमशः आगे बढ़ते हुए परम पवित्र यमुना नदी को पार करके कुरुक्षेत्र में जा पहुँचे।

स ददर्शाश्रम दूराद् राजर्षेस्तस्य धीमतः।
शतयूपस्य कौरव्य धृतराष्ट्रस्य चैव ह ॥२०॥

कुरुनन्दन! वहाँ पहुँचकर उन्होंने दूर से ही बुद्धिमान् राजर्षि शतयूप और धृतराष्ट्र के आश्रम को देखा।

ततस्ते पाण्डवा दूरादवतीर्य पदातयः।
अभिजग्मुर्नरपतेराश्रमं विनयानताः ॥२१॥

तब तो वे समस्त पाण्डव दूर से ही अपनी सवारियों से उतर पड़े और पैदल चलकर अत्यन्त विनय के साथ राजा के आश्रम पर आये।

स च योधजनः सर्वो ये च राष्ट्रनिवासिनः।
स्त्रियश्च कुरुमुख्यानां पद्भिरेवान्वयुस्तदा ॥२२॥

साथ आये हुए समस्त सैनिक, राज्य के निवासी मनुष्य और कुरुवंश के प्रधान पुरुषों की स्त्रियाँ भी पैदल ही आश्रम तक गईं।

आश्रमं ते ततो जग्मुर्धृतराष्ट्रस्य पाण्डवाः।
शून्यं मृगगणाकीर्णं कदलीवनशोभितम् ॥२३॥
ततस्तत्र समाजग्मुस्तापसा नियतव्रताः।
पाण्डवानागतान् द्रष्टुं कौतूहलसमन्विताः ॥२४॥

धृतराष्ट्र का वह पवित्र आश्रम मनुष्यों से सूना था। उसमें सब ओर मृगों के झुण्ड विचर रहे थे। साथ ही केलों का सुन्दर उद्यान उस आश्रम की शोभा में चार चाँद लगा रहा था। पाण्डव लोग ज्योंही उस आश्रम में पहुँचे, त्योंही नियमपूर्वक व्रतों का पालन करनेवाले बहुत-से तपस्वी वहाँ पधारे हुए पाण्डवों को देखने के लिए कौतूहलवश वहाँ आ गये।

तानपृच्छत्ततो राजा क्वासौ कौरववंशभृत्।
पिता ज्येष्ठो गतोऽस्माकमिति बाष्पपरिप्लुतः ॥२५॥

उस समय राजा युधिष्ठिर ने उन सबको प्रणाम करके, नेत्रों में आँसू भरकर उन सबसे पूछा—"मुनिवरो! कुरुवंश का पालन करनेवाले हमारे ज्येष्ठ पिता इस समय कहाँ गये हैं?"

ते तमूचुस्ततो वाक्यं यमुनामवगाहितुम्।
पुष्पाणामुदकुम्भस्य चार्थे गत इति प्रभो ॥२६॥

उन्होंने उत्तर दिया—"प्रभो! वे यमुना में स्नान करने, फूल लाने और पानी का घड़ा भरने के लिए गये हुए हैं।"

तैराख्यातेन मार्गेण ततस्ते जग्मुरञ्जसा।
ददृशुश्चाविदूरे तान् सर्वानथ पदातयः ॥२७॥

यह सुनकर उन्हीं के बताये हुए मार्ग से वे सब-के-सब पैदल ही यमुना-तट की ओर चल दिये। कुछ ही दूर जाने पर उन्होंने उन सब लोगों को वहाँ से लौटते हुए देखा।

ततस्ते सत्वरा जग्मुः पितुर्दर्शनकांक्षिणः।
सहदेवस्तु वेगेन प्राधावद् यत्र सा पृथा।
सुस्वरं रुरुदे धीमान् मातुः पादावुपस्पृशन् ॥२८॥

फिर तो समस्त पाण्डव अपने ताऊ के दर्शन की इच्छा से अत्यन्त उतावली के साथ आगे बढ़े। महामति सहदेव तो बड़े वेग से दौड़े और जहाँ कुन्ती थी, वहाँ पहुँचकर माता के दोनों चरण पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगे।

सा च बाष्पाकुलमुखी ददर्श दयितं सुतम्।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य समुन्नाम्य च पुत्रकम्।
गान्धार्याः कथयामास सहदेवमुपस्थितम् ॥२९॥

कुन्तीदेवी ने भी जब अपने प्रिय पुत्र सहदेव को देखा तो उनके मुख पर आनन्दाश्रुओं की धारा बह चली। उन्होंने दोनों हाथों से उठाकर पुत्र को छाती से लगा लिया और गान्धारी से कहा—"बहिन! सहदेव आपकी सेवा में उपस्थित है।"

अनन्तरं च राजानं भीमसेनमथार्जुनम्।
नकुलं च पृथा दृष्ट्वा त्वरमाणोपचक्रमे ॥३०॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन और नकुल को देखकर कुन्तीदेवी बड़ी उतावली के साथ उनकी ओर चलीं।

सा ह्यग्रे गच्छति तयोर्दम्पत्योर्हतपुत्रयोः।
कर्षन्ती तौ ततस्ते तां दृष्ट्वा संन्यपतन् भुवि ॥३१॥

वे आगे-आगे चल रही थीं तथा उन पुत्रहीन दम्पती को अपने साथ खींचे लाती थीं। उन्हें देखते ही पाण्डव उनके चरणों में भूमि पर गिर पड़े।

राजा तान् स्वरयोगेन स्पर्शेन च महामनाः ।
प्रत्यभिज्ञाय मेधावी समाश्वासयत प्रभुः ।।३२।।

महामना परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र ने बोलने के स्वर से और स्पर्श से पाण्डवों को पहचान-कर उन सबको आश्वासन दिया [ढारस बँधाया] ।

ततस्ते बाष्पमुत्सृज्य गान्धारीसहितं नृपम् ।
उपतस्थुर्महात्मानो मातरं च यथाविधि ।।३३।।

तत्पश्चात् अपने नेत्रों से आँसू पोंछकर महात्मा पाण्डवों ने गान्धारीसहित राजा धृतराष्ट्र तथा माता कुन्ती को विधिपूर्वक [चरणस्पर्श करके] प्रणाम किया ।

सर्वेषां तोयकलशाञ्जगृहुस्ते स्वयं तदा ।
पाण्डवा लब्धसंज्ञास्ते मात्रा चाश्वासिताः पुनः ।।३४।।

तत्पश्चात् माता से बार-बार सान्त्वना पाकर जब पाण्डव कुछ स्वस्थ एवं सचेत हुए, तब उन्होंने उन सबके हाथ से जल के भरे हुए कलश स्वयं ले लिये ।

तथा नार्यो नृसिंहानां सावरोधजनस्तदा ।
पौरजानपदाश्चैव ददृशुस्तं जनाधिपम् ।।३५।।

तदनन्तर उन पुरुषसिंहों की स्त्रियों तथा अन्तः-पुर की अन्य स्त्रियों ने और नगर एवं जनपद के लोगों ने भी क्रमशः राजा धृतराष्ट्र का दर्शन किया ।

निवेदयामास तदा जनं तन्नामगोत्रतः ।
युधिष्ठिरो नरपतिः स चैनान्प्रत्यपूजयत् ।।३६।।

उस समय स्वयं राजा युधिष्ठिर ने एक-एक व्यक्ति का नाम और गोत्र [कुल] बताकर उनका परिचय दिया । उन सबका परिचय पाकर धृतराष्ट्र ने वाणी द्वारा उनका सत्कार किया ।

स तैः परिवृतो मेने हर्षबाष्पाविलेक्षणः ।
राजाऽऽत्मानं गृहगतं पुरेव गजसाह्वये ।।३७।।

उन सबसे घिरे हुए राजा धृतराष्ट्र अपने नेत्रों से हर्ष के आँसू बहाने लगे । उस समय उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो वे पहले की ही भाँति हस्तिनापुर के राजमहल में बैठे हैं ।

ततश्चाश्रममागच्छत् सिद्धचारणसेवितम् ।
दिदृक्षुभिः समाकीर्णं नभस्तारागणैरिव ।।३८।।

तत्पश्चात् वे सबके साथ सिद्ध और चारणों से सेवित अपने आश्रम पर आये । उस समय उनका आश्रम तारों से व्याप्त हुए आकाश की भाँति दर्शकों से भरा था ।

स तैः सह नरव्याघ्रैर्भ्रातृभिर्भरतर्षभ ।
राजा रुचिरपद्माक्षैरासांचक्रे तदाश्रमे ।।३९।।
तापसैश्च महाभागैर्नानादेशसमागतैः ।
द्रष्टुं कुरुपतेः पुत्रान्पाण्डवान्पृथुवक्षसः ।।४०।।

हे जनमेजय ! जब महाराज धृतराष्ट्र सुन्दर कमल के समान नेत्रोंवाले पुरुषसिंह युधिष्ठिर आदि पाँचों भाइयों के साथ आश्रम में विराजमान हुए, उस समय वहाँ अनेक देशों से आये हुए महाभाग तपस्वीगण कुरुराज पाण्डु के पुत्रों—विशाल वक्षः-स्थलवाले पाण्डवों को देखने के लिए पहले से उपस्थित थे ।

तेऽब्रुवञ्ज्ञातुमिच्छामः कतमोऽत्र युधिष्ठिरः ।
भीमार्जुनौ यमौ चैव द्रौपदी च यशस्विनी ।।४१।।

उन्होंने पूछा—"हम लोग यह जानना चाहते हैं कि यहाँ आये हुए लोगों में महाराज युधिष्ठिर कौन-से हैं ? भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और यशस्विनी द्रौपदीदेवी कौन हैं ?"

तानाचख्यौ तदा सूतः सर्वांस्तानभिनामतः ।
सञ्जयो द्रौपदीं चैव सर्वाश्चान्याः कुरुस्त्रियः ।।४२।।

उनके इस प्रकार पूछने पर सूत सञ्जय ने उन सबके नाम बताकर पाण्डवों, द्रौपदी और कुरुकुल की अन्य स्त्रियों का परिचय दिया ।

इति महाभारते आश्रमवासिकपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

सप्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर की बातचीत, युधिष्ठिर आदि का ऋषियों के आश्रम देखना, व्यासजी की आज्ञा से धृतराष्ट्र आदि का पाण्डवों को विदा करना और उनका दलबलसहित हस्तिनापुर लौटना

धृतराष्ट्र उवाच

युधिष्ठिर महाबाहो कच्चित्त्वं कुशली ह्यसि ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः पौरजानपदैस्तथा ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—महाबाहो युधिष्ठिर ! तुम नगर तथा जनपद की समस्त प्रजाओं और भाइयों-सहित कुशलपूर्वक तो हो न ?

ये च त्वामनुजीवन्ति कच्चित्तेऽपि निरामयाः ।
सचिवा भृत्यवर्गाश्च गुरवश्चैव ते नृप ॥२॥

प्रजेश्वर ! जो तुम्हारे आश्रित रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं, वे मन्त्री, भृत्यवर्ग और गुरुजन भी सुखी और स्वस्थ तो हैं न ?

कच्चिन्न्यायाननुच्छिद्य कोशस्तेऽभिप्रपूर्यते ।
अरिमध्यस्थमित्रेषु वर्तसे चानुरूपतः ॥३॥

क्या तुम्हारा कोश न्यायमार्ग का उल्लंघन किये बिना ही भरा जाता है ? क्या तुम शत्रु, मित्र और उदासीन पुरुषों के प्रति यथायोग्य व्यवहार करते हो ?

कच्चित्स्त्रीबालवृद्धं ते न शोचति न याचते ।
जामयः पूजिताः कच्चित् तव गेहे नरर्षभ ॥४॥

नरश्रेष्ठ ! तुम्हारे राज्य में स्त्रियों, बालकों और वृद्धों को दुःख तो नहीं भोगना पड़ता ? वे जीविका के लिए भीख तो नही माँगते हैं ? तुम्हारे घर में सौभाग्यवती बहू-बेटियों का आदर-सत्कार तो होता है न ?

वैशम्पायन उवाच

इत्येवं वादिनं तं स न्यायवित् प्रत्यभाषत ।
कुशलप्रश्नसंयुक्तं कुशलो वाक्यकर्मणि ॥५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृतराष्ट्र के इस प्रकार कुशल-समाचार पूछने पर बातचीत करने में कुशल न्यायवेत्ता राजा युधिष्ठिर ने इस प्रकार कहा—

युधिष्ठिर उवाच

कच्चिद्ते वर्धते राजंस्तपो दमशमौ च ते ।
अपि मे जननी चेयं शुश्रूषुर्विगतक्लमा ।
अथास्याः सफलो राजन् वनवासो भविष्यति ॥६॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! [मेरे यहाँ सब कुशल हैं] । आपके तप, इन्द्रियसंयम और मनो-निग्रह आदि गुणों की वृद्धि तो हो रही है **न** ? ये मेरी माता कुन्ती आपकी सेवा-शुश्रूषा करने में क्लेश का अनुभव तो नहीं करतीं ? क्या इनका वनवास सफल होगा ?

इयं च माता ज्येष्ठा मे शीतवाताध्वकर्शिता ।
घोरेण तपसा युक्ता हतान् कच्चिन्न शोचति ॥७॥

ये मेरी बड़ी माता गान्धारी देवी सर्दी, हवा और मार्ग चलने के परिश्रम से कष्ट पाकर अत्यन्त दुबली हो गई हैं तथा घोर तपस्या में लगी हुई हैं। ये युद्ध में मारे गये अपने पुत्रों के लिए शोक तो नहीं करतीं ?

क्व चासौ विदुरो राजन् नैनं पश्यामहे वयम् ।
सञ्जयः कुशली चायं कच्चिन्नु तपसि स्थिरः ॥८॥

राजन् ! ये सञ्जय तो कुशलपूर्वक स्थिरभाव से तपस्या में लगे हुए हैं न ? इस समय विदुरजी कहाँ हैं ? उन्हें हम लोग नहीं देख पा रहे हैं ?

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं धृतराष्ट्रो जनाधिपम् ।
कुशली विदुरः पुत्र तपो घोरं समाश्रितः ॥९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजा युधिष्ठिर के इस प्रकार पूछने पर धृतराष्ट्र ने उनसे कहा—"पुत्र ! विदुरजी कुशलपूर्वक हैं। वे भीषण तपस्या में लगे हुए हैं।

वायुभक्षो निराहारः कृशो धमनिसन्ततः ।
कदाचिद् दृश्यते विप्रैः शून्येऽस्मिन्कानने क्वचित् ॥१०

"वे निरन्तर उपवास करते और वायु पीकर रहते हैं, अतः अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं। उनके सारे शरीर में व्याप्त हुई नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखाई देती

हैं। इस निर्जन वन में ब्राह्मणों को कभी-कभी उनके दर्शन हो जाते हैं।

आपो मूलं फलं चैव ममेदं प्रतिगृह्यताम्।
यदर्थो हि नरो राजंस्तदर्थोऽस्यातिथिः स्मृतः ॥११॥

"राजन्! अब तुम मेरे दिये हुए इन फल-मूल और जल को ग्रहण करो। मनुष्य जिन वस्तुओं का स्वयं उपयोग करता है, उन्हीं वस्तुओं से वह अतिथि का भी सत्कार करे—ऐसी शास्त्र की मर्यादा है।"

इत्युक्तः स तथेत्येवं प्राह धर्मात्मजो नृपम्।
फलं मूलं च बुभुजे राज्ञा दत्तं सहानुजः ॥१२॥
ततस्ते वृक्षमूलेषु कृतवासपरिग्रहाः।
तां रात्रिमवसन् सर्वे फलमूलजलाशनाः ॥१३॥

उनके ऐसा कहने पर धर्मराज युधिष्ठिर ने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की और उनके दिये हुए फल-मूल का भाइयोंसहित भोजन किया। तत्पश्चात् उन सब लोगों ने फल-मूल और जल का ही आहार करके वृक्षों के नीचे ही रहने का निश्चय कर वहीं वह रात्रि व्यतीत की।

व्यतीतायां तु शर्वर्यां कृतपौर्वाह्णिकक्रियः।
भ्रातृभिः सहितो राजा ददर्शाश्रममण्डलम् ॥१४॥
सान्तःपुरपरीवारः सभृत्यः सपुरोहितः।
यथासुखं यथोद्देशं धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञया ॥१५॥

रात्रि व्यतीत होने पर पूर्वाह्णकालिक नित्यकर्मों [शौच, स्नान, सन्ध्या, यज्ञादि] से निवृत्त हो राजा युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र की आज्ञा ले भाइयों, अन्तः-पुर की स्त्रियों, सेवकों और पुरोहितों के साथ सुख-पूर्वक भिन्न-भिन्न स्थानों में घूम-फिरकर मुनियों के आश्रम देखे।

ददर्श तत्र वेदीश्च संप्रज्वलितपावकाः।
कृताभिषेकैर्मुनिभिर्हुताग्निभिरुपस्थिताः ॥१६॥

उन्होंने देखा—आश्रमों में यज्ञ की वेदियाँ बनी हैं, जिनमें अग्नि प्रज्वलित हो रही है। मुनिगण स्नान आदि से निवृत्त हो उन वेदियों के पास बैठे हैं और अग्नि में आहुतियाँ दे रहे हैं।

मृगयूथैरनुद्विग्नैस्तत्र तत्र समाश्रितैः।
अशङ्कितैः पक्षिगणैः प्रगीतैरिव च प्रभो ॥१७॥

प्रभो! उन आश्रमों में जहाँ-तहाँ मृगों के झुण्ड निर्भय तथा शान्तचित्त होकर सुखपूर्वक बैठे हुए थे। पक्षियों के समुदाय निःशङ्क होकर उच्च स्वर से कलरव करते थे।

ततः स राजा प्रददौ तापसार्थमुपाहृतान्।
कलशान् काञ्चनान् राजंस्तथैवौदुम्बरानपि ॥१८॥
अजिनानि प्रवेणीश्च स्रुक् स्रुवं च महीपतिः।
कमण्डलूंश्च स्थालीश्च पिठराणि च भारत ॥१९॥
भाजनानि च लौहानि पात्रीश्च विविधा नृप।
यद् यदिच्छति यावच्च यच्चान्यदपि भाजनम् ॥२०॥

राजन्! उस समय राजा युधिष्ठिर ने तपस्वियों को प्रदान करने के लिए लाये हुए सोने तथा तांबे के कलश, मृगछाला, कम्बल, स्रुक्, स्रुवा, कमण्डलु, बटलोई, कड़ाही, अन्य अनेक लोह-निर्मित बर्तन तथा और भी अनेक प्रकार के पात्र बाँटे। जो जितने और जो-जो पात्र चाहता था, उसे उतने ही और वे ही बर्तन दे दिये गये। अन्य आवश्यक पात्र भी दे दिये गये।

एवं स राजा धर्मात्मा परीत्याश्रममण्डलम्।
वसु विश्राण्य तत् सर्वं पुनरायन्महीपतिः ॥२१॥

इस प्रकार धर्मात्मा पृथिवीपति महाराज युधिष्ठिर आश्रमों में घूम-घूमकर वह सारा धन वितरित करने [बाँटने] के पश्चात् धृतराष्ट्र के आश्रम पर लौट आये।

कृताह्निकं च राजानं धृतराष्ट्रं महीपतिम्।
ददर्शासीनमव्यग्रं गान्धारीसहितं तदा ॥२२॥
मातरं चाविदूरस्थां शिष्यवत्प्रणतां स्थिताम्।
कुन्तीं ददर्श धर्मात्मा शिष्टाचारसमन्विताम् ॥२३॥

वहाँ आकर उन्होंने देखा कि पृथिवीपति महा-राज धृतराष्ट्र नित्यकर्म से निवृत्त हो गान्धारी के साथ शान्तभाव से बैठे हुए हैं तथा उनसे थोड़ी ही दूर पर शिष्टाचार का पालन करनेवाली माता कुन्ती शिष्या की भाँति विनीत भाव से खड़ी हैं।

स तमभ्यर्च्य राजानं नाम संश्राव्य चात्मनः।
निषीदेत्यभ्यनुज्ञातो बृस्यामुपविवेश ह ॥२४॥

युधिष्ठिर ने अपना नाम सुनाकर राजा धृतराष्ट्र का प्रणामपूर्वक सम्मान किया और 'बैठो' यह आज्ञा मिलने पर वे कुश के आसन पर बैठ गये।

भीमसेनादयश्चैव पाण्डवा भरतर्षभ ।
अभिवाद्योपसंगृह्य निषेदुः पार्थिवाज्ञया ॥२५॥

भरतभूषण ! भीमसेन आदि पाण्डव भी महाराज के चरणस्पर्शपूर्वक प्रणाम करने के पश्चात् उनकी आज्ञा से बैठ गये ।

तथा तेषूपविष्टेषु समाजग्मुर्महर्षयः ।
शतयूपप्रभृतयः कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥२६॥

वे सब लोग इस प्रकार बैठे ही थे कि कुरुक्षेत्र-निवासी शतयूप आदि महर्षि भी वहाँ आ पहुँचे ।

व्यासश्च भगवान् विप्रो देवर्षिगणसेवितः ।
वृतः शिष्यैर्महातेजा दर्शयामास पार्थिवम् ॥२७॥

देवर्षियों से सेवित महातेजस्वी विप्रवर भगवान् व्यास ने भी शिष्योंसहित आकर महाराज को दर्शन दिया ।

ततः स राजा कौरव्यः कुन्तीपुत्रश्च वीर्यवान् ।
भीमसेनादयश्चैव प्रत्युत्थायाभिवादयन् ॥२८॥

उस समय कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र, पराक्रमशील कुन्तीकुमार युधिष्ठिर और भीमसेन आदि ने उठकर समस्त महर्षियों को चरणस्पर्शपूर्वक प्रणाम किया ।

समागतस्ततो व्यासः शतयूपादिभिर्वृतः ।
धृतराष्ट्रं महीपालमास्यतामित्यभाषत ॥२९॥

अभिवादन कर चुकने के पश्चात् शतयूप आदि महर्षियों से घिरे हुए नवागत महर्षि व्यास राजा धृतराष्ट्र से बोले—'बैठ जाओ ।'

वरं तु विष्टरं कौश्यं कृष्णाजिनकुशोत्तरम् ।
प्रतिपेदे तदा व्यासस्तदर्थमुपकल्पितम् ॥३०॥

तत्पश्चात् व्यासजी स्वयं एक सुन्दर आसन पर, जो काले मृगचर्म से आच्छादित था और उन्हीं के लिए बिछाया गया था, विराजमान हुए ।

ते च सर्वे द्विजश्रेष्ठा विष्टरेषु समन्ततः ।
द्वैपायनाभ्यनुज्ञाता निषेदुर्विपुलौजसः ॥३१॥

तदनन्तर व्यासजी की आज्ञा से अन्य सभी महातेजस्वी श्रेष्ठ द्विज भी चारों ओर बिछे हुए कुशासनों पर बैठ गये ।

तथा समुपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
व्यासः सत्यवतीपुत्रो धृतराष्ट्रमभाषत ॥३२॥

द्विजगणों और तत्पश्चात् महात्मा पाण्डवों के बैठ जाने पर सत्यवतीनन्दन महर्षि व्यास ने धृतराष्ट्र से कहा—

युधिष्ठिरस्त्वयं धीमान् भवन्तमनुरुध्यते ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः सदारः ससुहृज्जनः ॥३३॥

"ये बुद्धिमान् महाराज युधिष्ठिर अपने सभी भाइयों, घर की स्त्रियों तथा सुहृदों के साथ आपकी सेवा में लगे हुए हैं ।

विसर्जयैनं यात्वेष स्वराज्यमनुशासताम् ।
मासः समधिकस्तेषामतीतो वसतां वने ॥३४॥

"अब इन्हें विदा कर दो । ये जाएँ और अपने राज्य-कार्य की देख-भाल करें । इन लोगों को वन में रहते हुए एक मास से अधिक हो गया है ।

एतद्धि नित्यं यत्नेन पदं रक्ष्यं नराधिप ।
बहुप्रत्यर्थिकं ह्येतद् राज्यं नाम कुरूद्वह ॥३५॥

"कुरुश्रेष्ठ ! नरेश्वर ! राज्य के बहुत-से शत्रु होते हैं, अतः इसकी सदा ही प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए ।"

इत्युक्तः कौरवो राजा व्यासेनातुलतेजसा ।
युधिष्ठिरमथाहूय वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥३६॥

अनुपम तेजस्वी व्यासजी के ऐसा कहने पर प्रवचनकुशल कुरुराज धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को बुलाकर इस प्रकार कहा—

अजातशत्रो भद्रं ते शृणु मे भ्रातृभिः सह ।
त्वत्प्रसादान्महीपाल शोको नास्मान्प्रबाधते ॥३७॥

"अजातशत्रो ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम अपने भाइयोंसहित मेरी बात सुनो ! भूपाल ! तुम्हारी कृपा से अब हम लोगों को किसी प्रकार का शोक कष्ट नहीं दे रहा ।

रमे चाहं त्वया पुत्र पुरेव गजसाह्वये ।
नाथेनानुगतो विद्वन् प्रियेषु परिवर्तिना ॥३८॥
प्राप्तं पुत्रफलं त्वत्तः प्रीतिर्मे परमा त्वयि ।
न मे मन्युर्महाबाहो गम्यतां पुत्र मा चिरम् ॥३९॥

"वत्स ! तुम्हारे साथ रहकर और तुम-जैसे रक्षकों से सुरक्षित होकर मैं उसी प्रकार आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ, जैसे पहले हस्तिनापुर में करता था । विद्वन् ! प्रियजनों की सेवा में लगे रहनेवाले तुम्हारे द्वारा मुझे पुत्र का फल प्राप्त हो गया । तुम-

पर मेरा अत्यधिक स्नेह है। पुत्र! महाबाहो! तुम्हारे प्रति मेरे मन में किञ्चित् भी क्रोध नहीं है, अतः अब तुम राजधानी को लौट जाओ, विलम्ब मत करो।

भवन्तं चेह सम्प्रेक्ष्य तपो मे परिहीयते।
तपोयुक्तं शरीरं च त्वां दृष्ट्वा धारितं पुनः ॥४०॥

"तुम्हें यहाँ देखकर मेरे तप में बाधा पड़ रही है। मैंने अपने शरीर को तपस्या में लगा दिया था, परन्तु तुम्हें देखकर पुनः इसकी रक्षा में लग गया हूँ।

मातरौ ते तथैवेमे शीर्णपर्णकृताशने।
मम तुल्यव्रते पुत्र न चिरं वर्तयिष्यतः ॥४१॥

"पुत्र! मेरी ही भाँति तुम्हारी ये दोनों माताएँ भी व्रतधारणपूर्वक सूखे पत्ते चबाकर निर्वाह करती हैं। अब ये अधिक दिनों तक जीवन धारण नहीं कर सकतीं।

प्रयोजनं च निर्वृत्तं जीवितस्य ममानघ।
उग्रं तपः समास्थास्ये त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥४२॥

"निष्पाप नरेश! मेरे जीवन का प्रयोजन भी पूर्ण हो गया। अब मैं कठोर तपस्या में संलग्न होऊँगा। इसके लिए तुम मुझे अनुमति प्रदान करो।

राजनीतिः सुबहुशः श्रुता ते भरतर्षभ।
सन्देष्टव्यं न पश्यामि कृतं मे भवता विभो ॥४३॥

"भरतभूषण! प्रभो! तुमने राजनीति बहुत बार सुनी है, अतः तुम्हें सन्देश देने योग्य कोई बात मुझे दिखाई नहीं देती। तुमने मेरे लिए बहुत-कुछ किया है।"

इत्युक्तवचनं तं तु नृपो राजानमब्रवीत्।
न मामर्हसि धर्मज्ञ परित्यक्तुमनागसम् ॥४४॥

जब राजा धृतराष्ट्र ने यह बात कही, तब युधिष्ठिर ने उनसे इस प्रकार कहा—"धर्म के ज्ञाता महाराज! आप मेरा परित्याग न करें, क्योंकि मैं सर्वथा निरपराध हूँ।

कामं गच्छन्तु मे सर्वे भ्रातरोऽनुचरास्तथा।
भवन्तमहमन्विष्ये मातरौ च यतव्रतः ॥४५॥

"मेरे ये सभी भाई और सेवक—इनकी इच्छा हो तो चले जाएँ, परन्तु मैं नियम और व्रत का पालन करते हुए आपकी तथा इन दोनों माताओं की सेवा करूँगा।"

तमुवाचाथ गान्धारी त्वय्यधीनं कुरुकुलम्।
राजा यदाह तत्कार्यं त्वया पुत्र पितुर्वचः ॥४६॥

यह सुनकर गान्धारी ने कहा—"पुत्र! यह सारा कुरुकुल तुम्हारे ही अधीन है, अतः इस समय महाराज जो आज्ञा दे रहे हैं, वही करो [तुम वापस जाओ], क्योंकि पिता का वचन मानना तुम्हारा कर्त्तव्य है।"

इत्युक्तः स तु गान्धार्या कुन्तीमिदमभाषत।
स्नेहबाष्पाकुले नेत्रे प्रमृज्य रुदतीं वचः ॥४७॥

गान्धारी के इस प्रकार आदेश देने पर राजा युधिष्ठिर ने अपने आनन्द-अश्रुओं से भरे हुए नेत्रों को पोंछकर रोती हुई कुन्तीदेवी से कहा—

विसर्जयति मां राजा गान्धारी च यशस्विनी।
भवत्यां बद्धचित्तस्तु कथं यास्यामि दुःखितः ॥४८॥

"माताजी! महाराज धृतराष्ट्र और यशस्विनी गान्धारी मुझे घर लौटने की आज्ञा दे रहे हैं, परन्तु मेरा चित्त आपमें लगा हुआ है। जाने का नाम सुनकर मैं व्याकुल हो उठता हूँ। ऐसी अवस्था में मैं कैसे जा सकूँगा?

न चोत्सहे तपोविघ्नं कर्तुं ते धर्मचारिणि।
तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ॥४९॥

"धर्मचारिणि! मैं आपकी तपस्या में विघ्न नहीं डालना चाहता। संसार में तप से बढ़कर कुछ नहीं है, क्योंकि तप से परब्रह्म परमात्मा की भी प्राप्ति हो जाती है।

ममापि न तथा राज्ञि राज्ये बुद्धिर्यथा पुरा।
तपस्येवानुरक्तं मे मनः सर्वात्मना तथा ॥५०॥

"महारानी माँ! अब मेरा मन भी पहले की भाँति राजकाज में नहीं लगता है। अब तो मेरा मन हर प्रकार से तपोऽनुष्ठान में ही लगना चाहता है।

तमुवाच ततः कुन्ती परिष्वज्य महाभुजम्।
गम्यतां पुत्र मैवं त्वं वोचः कुरु वचो मम।
आगमा वः शिवाः सन्तु स्वस्था भवत पुत्रकाः ॥५१॥

यह सुनकर कुन्तीदेवी ने महाबाहु युधिष्ठिर को हृदय से लगा लिया और कहा—"पुत्र! ऐसा न कहो। तुम मेरी बात मानो और वापस लौट

जाओ। पुत्रो! तुम्हारे मार्ग कल्याणकारी हों और तुम सदा स्वस्थ रहो।"

ते मात्रा समनुज्ञाता राज्ञा च कुरुपुङ्गवाः।
अभिवाद्य कुरुश्रेष्ठमामन्त्रयितुमारभन् ॥५२॥

माता और धृतराष्ट्र की आज्ञा पाकर कुरुश्रेष्ठ पाण्डवों ने कुरुकुलभूषण धृतराष्ट्र को प्रणाम किया और उनसे विदा लेने के लिए इस प्रकार कहा—

युधिष्ठिर उवाच

राज्यं प्रतिगमिष्यामः शिवेन प्रतिनन्दिताः।
अनुज्ञातास्त्वया राजन् गमिष्यामो विकल्मषाः ॥५३॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महाराज! हम लोग आपके आशीर्वाद से आनन्दित होकर कुशलपूर्वक राजधानी को लौट जाएँगे। राजन्! इसके लिए आप हमें आज्ञा दें। आपकी आज्ञा पाकर हम अपराधरहित होकर यहाँ से यात्रा करेंगे।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स राजर्षिर्धर्मराजमहात्मना।
अनुजज्ञे स कौरव्यमभिनन्द्य युधिष्ठिरम् ॥५४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महात्मा धर्मराज के ऐसा कहने पर राजर्षि धृतराष्ट्र ने कुरुनन्दन युधिष्ठिर का अभिनन्दन करके उन्हें जाने की आज्ञा प्रदान की।

भीमं च बलिनां श्रेष्ठं सान्त्वयामास पार्थिवः।
स चास्य सम्यङ्मेधावी प्रत्यपद्यत वीर्यवान् ॥५५॥

तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्र ने बलवानों में श्रेष्ठ भीमसेन को सान्त्वना प्रदान की। बुद्धिमान् तथा पराक्रमी भीमसेन ने भी उनकी बातों को यथार्थरूप से ग्रहण [हृदय से स्वीकार] किया।

अर्जुनं च समाश्लिष्य यमौ च पुरुषर्षभौ।
अनुजज्ञे स कौरव्यः परिष्वज्याभिनन्द्य च ॥५६॥

तदनन्तर धृतराष्ट्र ने अर्जुन और पुरुषश्रेष्ठ नकुल-सहदेव को हृदय से लगा उनका अभिनन्दन करके विदा किया।

गान्धार्या चाभ्यनुज्ञाताः कृतपादाभिवादनाः।
जनन्या समुपाघ्राताः परिष्वक्ताश्च ते नृपम् ॥५७॥
चक्रुः प्रदक्षिणं सर्वे वत्सा इव निवारणे।
पुनः पुनर्निरीक्षन्तः प्रचक्रुस्ते प्रदक्षिणम् ॥५८॥

फिर उन सभी पाण्डवों ने गान्धारी के चरणों में प्रणाम करके उनकी आज्ञा ली। तत्पश्चात् माता कुन्ती ने उन्हें हृदय से लगाकर उनका मस्तक सूँघा। जैसे बछड़े अपनी माता का दूध पीने से रोके जाने पर बार-बार उसकी ओर देखते हुए उसके चारों ओर चक्कर लगाते हैं, वैसे ही पाण्डवों ने राजा तथा माता की ओर बार-बार देखते हुए उनकी परिक्रमा की।

द्रौपदीप्रमुखाश्चैव सर्वाः कौरवयोषितः।
न्यायतः श्वशुरे वृत्तिं प्रयुज्य प्रययुस्ततः ॥५९॥
श्वश्रूभ्यां समनुज्ञाताः परिष्वज्याभिनन्दिताः।
सन्दिष्टाश्चेतिकर्तव्यं प्रययुर्भर्तृभिः सह ॥६०॥

द्रौपदी आदि सभी प्रमुख कौरवस्त्रियों ने अपने श्वसुर को न्यायपूर्वक [चरणस्पर्श करके] प्रणाम किया। फिर दोनों सासुओं ने उन्हें गले से लगाकर आशीर्वाद दे जाने की आज्ञा दी तथा उन्हें उनके कर्तव्य का उपदेश भी दिया। तदनन्तर वे अपने पतियों के साथ चली गईं।

ततः प्रजज्ञे निनदः सूतानां युज्यतामिति।
उष्ट्राणां क्रोशतां चापि हयानां हेषतामपि ॥६१॥
ततो युधिष्ठिरो राजा सदारः सहसैनिकः।
नगरं हास्तिनपुरं पुनरायात् स बान्धवः ॥६२॥

आज्ञा ले चुकने के पश्चात् सारथियों ने 'रथ जोतो, रथ जोतो' की पुकार मचाई। फिर ऊँटों के चिंघाड़ने और घोड़ों के हिनहिनाने की आवाजें आने लगीं। यानों के जुत जाने पर राजा युधिष्ठिर घर की स्त्रियों, भाइयों और सैनिकों के साथ हस्तिनापुर लौट आये।

इति महाभारते आश्रमवासिकपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

वैशम्पायन उवाच

द्विवर्षोपनिवृत्तेषु पाण्डवेषु यदृच्छया ।
देवर्षिर्नारदो राजन्नाजगाम युधिष्ठिरम् ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवों को वन से लौटे जब दो वर्ष व्यतीत हो गये, तब एक दिन देवर्षि नारद दैवेच्छा से घूमते-घामते राजा युधिष्ठिर के यहाँ आ पहुँचे ।

तमभ्यर्च्य महाबाहुः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
आसीनं परिविश्वस्तं प्रोवाच वदतां वरः ।।२।।

महाबाहु कुरुराज युधिष्ठिर ने उनका स्वागत-सत्कार करके उन्हें आसन पर बिठाया । जब वे आसन पर बैठकर थोड़ी देर विश्राम कर चुके, तब वक्ताओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ने उनसे इस प्रकार पूछा—

चिरात्तु नानुपश्यामि भगवन्तमुपस्थितम् ।
कच्चित्ते कुशलं विप्र शुभं वा प्रत्युपस्थितम् ।।३।।

"भगवन् ! दीर्घकाल के पश्चात् मैंने आज आपके दर्शन किये हैं । ब्रह्मन् ! आप कुशल तो हैं न ? अथवा आपको शुभ की प्राप्ति तो होती है न ?

के देशाः परिदृष्टास्ते किं च कार्यं करोमि ते ।
तद् ब्रूहि द्विजमुख्य त्वं त्वं ह्यस्माकं परा गतिः ।।४।।

"विप्रवर ! इस बीच में आपने कौन-कौनसे देशों का भ्रमण किया है ? कहिए, इस समय मैं आपकी क्या सेवा करूँ, क्योंकि आप हम लोगों के परम आश्रय हैं ।"

नारद उवाच

चिरदृष्टो मयेत्येवमागतोऽहं तपोवनात् ।
परिदृष्टानि तीर्थानि गङ्गा चैव मया नृप ।।५।।

नारदजी बोले—नरेश्वर ! तुमसे भेंट हुए बहुत दिन हो गये थे, अतः तुमसे मिलने के लिए तपोवन से सीधे यहाँ चला आ रहा हूँ । मार्ग में मैंने बहुत-से तीर्थों और गङ्गा का भी दर्शन किया है ।

युधिष्ठिर उवाच

वदन्ति पुरुषा मेऽद्य गङ्गातीरनिवासिनः ।
धृतराष्ट्रं महात्मानमास्थितं परमं तपः ।।६।।

युधिष्ठिर ने पूछा—भगवन् ! गङ्गा के तट पर निवास करनेवाले मनुष्य मेरे पास आकर कहा करते हैं कि महामनस्वी महाराज धृतराष्ट्र इन दिनों बड़ी कठोर तपस्या में लगे हुए हैं ।

अपि दृष्टस्त्वया तत्र कुशली स कुरूद्वहः ।
गान्धारी च पृथा चैव सूतपुत्रश्च सञ्जयः ।।७।।

क्या आपने भी उन्हें देखा है ? वे कुरुश्रेष्ठ वहाँ कुशल से तो हैं न ? गान्धारी, कुन्ती तथा सूतपुत्र सञ्जय भी सकुशल हैं न ?

कथं च वर्तते चाद्य पिता मम स पार्थिवः ।
श्रोतुमिच्छामि भगवन् यदि दृष्टस्त्वया नृपः ।।८।।

आजकल मेरे बड़े पिता [ताऊ] राजा धृतराष्ट्र कैसे रहते हैं ? भगवन् ! यदि आपने उन्हें देखा हो तो मैं उनका समाचार सुनना चाहता हूं ।

नारद उवाच

स्थिरीभूय महाराज शृणु वृत्तं यथातथम् ।
यथा श्रुतं च दृष्टं च मया तस्मिंस्तपोवने ।।९।।

नारदजी बोले—महाराज ! मैंने उस तपोवन में जो कुछ देखा और सुना है, वह सम्पूर्ण वृत्तान्त ठीक-ठीक बतला रहा हूँ । तुम मन लगाकर सुनो !

वनवासनिवृत्तेषु भवत्सु कुरुनन्दन ।
कुरुक्षेत्रात् पिता ते हि गङ्गाद्वारं ययौ नृप ।।१०।।
गान्धार्या सहितो धीमान्वध्वा कुन्त्या समन्वितः ।
सञ्जयेन च सूतेन साग्निहोत्रः सयाजकः ।।११।।

कुरुकुल को आनन्दित करनेवाले नरेश ! जब तुम लोग वन से वापस आ गये, तब तुम्हारे बुद्धिमान् ताऊ राजा धृतराष्ट्र गान्धारी, बहू कुन्ती, सूतपुत्र सञ्जय, अग्निहोत्र और पुरोहित के साथ कुरुक्षेत्र से गङ्गाद्वार [हरद्वार] को चले गये ।

आतस्थे स तपस्तीव्रं पिता तव तपोधनः ।
त्वगस्थिमात्रशेषः स षण्मासानभवन्नृपः ।।१२।।

वहाँ पहुँचकर तपस्या के धनी तुम्हारे ताऊ ने कठोर तप आरम्भ किया। उस तप के कारण उनके शरीर पर चमड़े से ढकी हुई हड्डियों का ढांचामात्र रह गया था। उस अवस्था में उन्होंने छह मास व्यतीत किये।

ततः कदाचिद् गङ्गायाः कच्छे स नृपसत्तमः ।
गङ्गायामाप्लुतो धीमानाश्रमाभिमुखोऽभवत् ।।१३।।

तदनन्तर एक दिन की बात है, नृपश्रेष्ठ बुद्धिमान् धृतराष्ट्र ने गङ्गा के कछार में जाकर उसके जल में डुबकी लगाई और स्नान करके वे अपने आश्रम की ओर चल पड़े।

अथ वायुः समुद्भूतो दावाग्निरभवन्महान् ।
ददाह तद्वनं सर्वं परिगृह्य समन्ततः ।।१४।।

इतने में ही वहाँ बड़े जोर की हवा चली, जिससे उस वन में बड़ी भारी दावाग्नि प्रज्वलित हो उठी। उसने उस सारे वन को चारों ओर से जलाना आरम्भ कर दिया।

दहत्सु मृगयूथेषु द्विजिह्वेषु समन्ततः ।
वराहाणां च यूथेषु संश्रयत्सु जलाशयान् ।।१५।।

उस अग्नि की लपटों में सब ओर मृगों के झुण्ड और सर्प दग्ध होने लगे। वनैले सूअर भाग-भागकर जलाशयों की शरण लेने लगे।

समाविद्धे वने तस्मिन् प्राप्ते व्यसन उत्तमे ।
निराहारतया राजन् मन्दप्राणविचेष्टितः ।
असमर्थोऽपसरणे सुकृशे मातरौ च ते ।।१६।।

राजन्! सम्पूर्ण वन आग से घिर गया और उन लोगों पर भारी संकट आ गया। उपवास करने से प्राणशक्ति क्षीण हो जाने के कारण राजा धृतराष्ट्र वहाँ से भागने में असमर्थ थे। तुम्हारी दोनों माताएँ भी अत्यन्त दुर्बल हो गई थीं, अतः वे भी भागने में असमर्थ थीं।

ततः स नृपतिर्दृष्ट्वा वह्निमायान्तमन्तिकात् ।
इदमाह ततः सूतं सञ्जयं जयतां वरम् ।।१७।।

तदनन्तर विजयी पुरुषों में श्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्र ने उस अग्नि को निकट आती जान सूत सञ्जय से इस प्रकार कहा—

गच्छ सञ्जय यत्राग्निर्न त्वां दहति कर्हिचित् ।
वयमत्राग्निना युक्ता गमिष्यामः परां गतिम् ।।१८।।

"सञ्जय! तुम किसी ऐसे स्थान में भाग जाओ, जहाँ यह दावाग्नि तुम्हें किसी भी प्रकार जला न सके। हम लोग तो अब यहीं अपने-आपको अग्नि में होमकर परमगति प्राप्त करेंगे।"

इत्युक्त्वा सञ्जयं राजा समाधाय मनस्तथा ।
प्राङ्मुखः सह गान्धार्या कुन्त्या चोपाविशत्तदा ।।१९।।

सञ्जय से ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्र ने अपने मन को एकाग्र किया और गान्धारी तथा कुन्ती के साथ वे पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये।

सञ्जयस्तं तथा दृष्ट्वा प्रदक्षिणमथाकरोत् ।
उवाच चैनं मेधावी युङ्क्ष्वात्मानमिति प्रभो ।।२०।।

उन्हें उस अवस्था में देख मेधावी सञ्जय ने उनकी परिक्रमा की और कहा—"महाराज! अब अपने को योगयुक्त कीजिए।"

ऋषिपुत्रो मनीषी स राजा चक्रेऽस्य तद्वचः ।
सन्निरुध्येन्द्रियग्राममासीत् काष्ठोपमस्तदा ।।२१।।

महर्षि व्यास के पुत्र मनीषी राजा धृतराष्ट्र ने सञ्जय की वह बात मान ली। वे अपनी सभी इन्द्रियों को रोककर काष्ठ की भाँति निश्चेष्ट हो गये।

गान्धारी च महाभागा जननी च पृथा तव ।
दावाग्निना समायुक्ते स च राजा पिता तव ।।२२।।

सञ्जयस्तु महामात्रस्तस्माद् दावादमुच्यत ।
गङ्गाकूले मया दृष्टस्तापसैः परिवारितः ।।२३।।

तदनन्तर महाभागा गान्धारी, तुम्हारी माता कुन्तीदेवी और तुम्हारे ताऊ महाराज धृतराष्ट्र—ये तीनों ही दावाग्नि में जलकर भस्म हो गये। महामात्य सञ्जय उस दावाग्नि से जीवित बच गये। मैंने उन्हें गङ्गातट पर तपस्वियों से घिरे हुए देखा है।

स तानामन्त्र्य तेजस्वी निवेद्यैतच्च सर्वशः ।
प्रययौ सञ्जयो धीमान् हिमवन्तं महीधरम् ।।२४।।

बुद्धिमान् और तेजस्वी सञ्जय तापसों को यह सब समाचार बताकर हिमालय पर चले गये।

एवं स निधनं प्राप्तः कुरुराजो महामनाः।
गान्धारी च पृथा चैव जनन्यौ ते विशाम्पते ॥२५॥

प्रजेश्वर! इस प्रकार महामनस्वी धृतराष्ट्र और तुम्हारी दोनों माताएँ गान्धारी और कुन्ती मृत्यु को प्राप्त हो गईं।

वैशम्पायन उवाच

एतत् श्रुत्वा च सर्वेषां पाण्डवानां महात्मनाम्।
निर्याणं धृतराष्ट्रस्य शोकः समभवन्महान् ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्र के इस परलोकगमन का समाचार सुनकर उन सभी महामना पाण्डवों को अत्यन्त शोक हुआ।

अन्तःपुरेषु च तदा सुमहान् रुदितस्वनः।
प्रादुरासीन्महाराज पृथां श्रुत्वा तथागताम् ॥२७॥

महाराज! कुन्ती देवी की इस प्रकार की मृत्यु का समाचार सुनकर अन्तःपुर में भी रोने-बिलखने का महान् स्वर सुनाई देने लगा।

तस्मिन्नुपरते शब्दे मुहूर्तादिव भारत।
निगृह्य बाष्पं धैर्येण धर्मराजोऽब्रवीदिदम् ॥२८॥

भरतभूषण! दो घड़ी पश्चात् जब रोने-धोने की आवाज बन्द हुई, तब धर्मराज युधिष्ठिर अपने आँसू पोंछकर धैर्यपूर्वक इस प्रकार कहने लगे—

युधिष्ठिर उवाच

तथा महात्मनस्तस्य तपस्युग्रे च वर्ततः।
अनाथस्येव निधनं तिष्ठत्स्वस्मासु बन्धुषु ॥२९॥

युधिष्ठिर ने कहा—भगवन्! हम जैसे बन्धु-बान्धवों के रहते हुए भी कठोर तपस्या में लगे हुए महामना धृतराष्ट्र की अनाथ के समान मृत्यु हुई, यह कितने दुःख की बात है!

दुर्विज्ञेया गतिर्ब्रह्मन् पुरुषाणां मतिर्मम।
यत्र वैचित्रवीर्योऽसौ दग्ध एवं वनाग्निना ॥३०॥

ब्रह्मन्! मेरा तो ऐसा मत है कि मनुष्यों की दैवगति का ठीक-ठीक ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है, जब कि विचित्रवीर्यकुमार धृतराष्ट्र को इस प्रकार दावानल से दग्ध होकर मरना पड़ा।

न च शोचामि गान्धारीं हतपुत्रां यशस्विनीम्।
पतिलोकमनुप्राप्तां तथा भर्तृव्रते स्थिताम् ॥३१॥

मुझे पुत्रहीना यशस्विनी गान्धारी के लिए इतना शोक नहीं है, क्योंकि वे पतिव्रतधर्म का पालन करती थीं, अतः वे पतिलोक में गई हैं।

पृथामेव च शोचामि या पुत्रैश्वर्यमृद्धिमत्।
उत्सृज्य सुमहद् दीप्तं वनवासमरोचयत् ॥३२॥

मैं उन माता कुन्ती के लिए ही अधिक शोकाकुल हूँ, जिन्होंने पुत्रों के समृद्धिशाली और परम समुज्ज्वल ऐश्वर्य को ठुकराकर वन में रहना पसन्द किया था।

धिग् राज्यमिदमस्माकं धिग्बलं धिवपराक्रमम्।
क्षत्रधर्मं च धिग्यस्मान्मृता जीवामहे वयम् ॥३३॥

हमारे इस राज्य को धिक्कार है, बल और पराक्रम को धिक्कार है, और इस क्षत्रिय धर्म को भी धिक्कार है जिसके कारण आज हम लोग मृतक-तुल्य जीवन बिता रहे हैं।

नारद उवाच

मा शोचिथास्त्वं नृपतिं गतः स परमां गतिम्।
गुरुशुश्रूषया चैव जननी ते जनाधिप।
प्राप्ता सुमहतीं सिद्धिमिति मे नात्र संशयः ॥३४॥

नारदजी बोले—जनेश्वर! तुम महाराज धृतराष्ट्र के लिए शोक मत करो। वे परम उत्तम गति को प्राप्त हुए हैं। तुम्हारी माता कुन्तीदेवी भी गुरुजनों की सेवा के प्रभाव से बहुत बड़ी सिद्धि को प्राप्त हुई हैं, इस विषय में मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

समाश्वास्य तु राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
नारदोऽप्यगमद् राजन् परमर्षिर्यथेप्सितम् ॥३५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! देवर्षि नारदजी धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर को इस प्रकार आश्वासन प्रदान कर अपने अभीष्ट स्थान को चले गये।

एवं वर्षाण्यतीतानि धृतराष्ट्रस्य धीमतः।
वनवासे तथा त्रीणि नगरे दश पञ्च च ॥३६॥
हतपुत्रस्य संग्रामे दानानि ददतः सदा।
ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणां भ्रातृणां स्वजनस्य च ॥३७॥

इस प्रकार जिनके सभी पुत्र युद्धक्षेत्र में मारे गये थे, उन राजा धृतराष्ट्र ने अपने सगोत्र-भाई, सम्बन्धी, मित्र, बन्धु और स्वजनों के निमित्त सदा दान देते हुए [युद्धसमाप्ति के पश्चात्] पन्द्रह वर्ष हस्तिनापुर में और तीन वर्ष वन में तप करते हुए व्यतीत किये थे ।

युधिष्ठिरस्तु नृपतिर्नातिप्रीतिमनास्तदा ।
धारयामास तद् राज्यं निहतज्ञातिबान्धवः ॥३८॥

जिनके बन्धु-बान्धव नष्ट हो गये थे, वे महाराजा युधिष्ठिर भी मन में सदा खिन्न रहते हुए जिस किसी प्रकार राज्य का भार संभाल रहे थे ।

इति महाभारते आश्रमवासिकपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

॥ इति आश्रमवासिकपर्वं सम्पूर्णम् ॥

मौसलपर्व

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिर का यादवों के विनाश का समाचार सुनना, ऋषियों का यादवकुमारों को शाप, श्रीकृष्ण का यदुवंशियों को तीर्थयात्रा के लिए आदेश देना और यादवों का परस्पर संहार

वैशम्पायन उवाच

षट्त्रिंशे त्वथ सम्प्राप्ते वर्षे कौरवनन्दनः ।
ददर्श विपरीतानि निमित्तानि युधिष्ठिरः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाभारत-युद्ध के पश्चात् जब छत्तीसवाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ तब कौरवनन्दन राजा युधिष्ठिर को कई प्रकार के अपशकुन दिखाई देने लगे ।

कस्यचित्त्वथ कालस्य कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
शुश्राव वृष्णिचक्रस्य मौसलैः कदनं कृतम् ॥२॥
वियुक्तं वासुदेवं च श्रुत्वा रामं च पाण्डवः ।
समानीयाब्रवीद्भ्रातॄन् किं करिष्याम इत्युत ॥३॥

कुछ ही दिनों के पश्चात् कुरुराज युधिष्ठिर ने यह समाचार सुना कि समस्त वृष्णिवंशी मूसलों[1] के द्वारा आपस में लड़ मरे । श्रीकृष्ण और बलराम की भी मृत्यु का समाचार सुनकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने अपने सभी भाइयों को बुलाया और पूछा—"अब हमें क्या करना चाहिए ?"

परस्परं समासाद्य ब्रह्मदण्डबलात् कृतान् ।
वृष्णीन्विनष्टांस्ते श्रुत्वा व्यथिताः पाण्डवाभवन् ॥४॥
निधनं वासुदेवस्य समुद्रस्येव शोषणम् ।
वीरा न श्रद्दधुस्तस्य विनाशं शार्ङ्गधन्वनः ॥५॥

'ब्राह्मणों के शाप के बल से विवश हो आपस में लड़-भिड़कर समस्त वृष्णिवंशी नष्ट हो गये'—यह बात सुनकर पाण्डवों को अत्यन्त वेदना हुई । श्रीकृष्ण का वध तो समुद्र को सोख लेने के समान असम्भव था, अतः उन वीरों ने श्रीकृष्ण की मृत्यु की बात पर विश्वास नहीं किया ।

मौसलं ते समाश्रित्य दुःखशोकसमन्विताः ।
विषण्णा हतसङ्कल्पाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥६॥

इस मौसलकाण्ड की बात को लेकर सारे पाण्डव दुःख और शोकसागर में डूब गये । उनके मन में विषाद छा गया और वे हताश हो मन मारकर बैठ गये ।

जनमेजय उवाच

कथं विनष्टा भगवन्नन्धका वृष्णिभिः सह ।
पश्यतो वासुदेवस्य भोजाश्चैव महारथाः ॥७॥

जनमेजय ने पूछा—भगवन् ! श्रीकृष्ण के देखते-देखते वृष्णिवंशियोंसहित अन्धक और महारथी भोजवंशी क्षत्रिय कैसे नष्ट हो गये ?

वैशम्पायन उवाच

विश्वामित्रं च कण्वं च नारदं च तपोधनम् ।
सारणप्रमुखा वीरा ददृशुर्द्वारकां गतान् ॥८॥
ते तान्साम्बं पुरस्कृत्य भूषयित्वा स्त्रियं यथा ।
अब्रुवन्नुपसंगम्य दैवदण्डनिपीडिताः ॥९॥

---

१. मुद्गर की भाँति बना हुआ, मूसल के आकार का शस्त्र; गदाओं से लड़ा जानेवाला युद्ध । मूसल का अर्थ मुष्टि भी हो सकता है । भागवत [१।१५।२२] में इसी प्रसङ्ग में कहा है—**निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः।**—वृष्णिवंशी परस्पर घूँसों से लड़ मरे । मूसल का एक अर्थ अरा भी होता है ।

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! एक समय की बात है, महर्षि विश्वामित्र, कण्व और तपस्या के धनी नारदजी द्वारका में गये हुए थे। उस समय दैव के मारे हुए सारण आदि वीर साम्ब को स्त्री के वेश में सुभूषित करके उनके पास ले गये। उन सबने उन मुनियों का दर्शन किया और इस प्रकार पूछा—

इयं स्त्री पुत्रकामस्य बभ्रोरमिततेजसः ।
ऋषयः साधु जानीत किमयं जनयिष्यति ॥१०॥

"महर्षियो ! यह स्त्री अमित तेजस्वी बभ्रु की पत्नी है। बभ्रु के मन में पुत्र-प्राप्ति की तीव्र उत्कण्ठा है। आप लोग ऋषि हैं, अतः भली-भाँति सोच-विचारकर बताएँ कि इसके गर्भ से क्या उत्पन्न होगा ?"

इत्युक्तास्ते तदा राजन् विप्रलम्भप्रधर्षिताः ।
प्रत्यब्रुवंस्तान् मुनयो यत्तत् शृणु नराधिप ॥११॥

राजन् ! नरेश्वर ! ऐसी बात कहकर उन यादवों ने जब ऋषियों को धोखा दिया और इस प्रकार उनका तिरस्कार किया, तब उन्होंने उन बालकों को जो उत्तर दिया उसे सुनो !

वृष्ण्यन्धकविनाशाय मुसलं घोरमायसम् ।
वासुदेवस्य दायादः साम्बोऽयं जनिष्यति ॥१२॥
येन यूयं सुदुर्वृत्ता नृशंसा जातमन्यवः ।
उच्छेत्तारः कुलं कृत्स्नमृते रामजनार्दनौ ॥१३॥

"दुराचारी, क्रोधी और क्रूर यादवकुमारो ! श्रीकृष्ण का यह पुत्र साम्ब एक भयंकर लोहे का मूसल उत्पन्न करेगा[1], जो वृष्णि और अन्धकवंश के नाश का कारण बनेगा। उसी से तुम लोग बलराम और श्रीकृष्ण के सिवा अपने शेष समस्त कुल का संहार कर डालोगे।"

तथोक्त्वा मुनयस्ते तु ततः केशवमभ्ययुः ।
अथाब्रवीत् तदा वृष्णीन्भवितव्यं तथेति तान् ॥१४॥

उन यादवकुमारों से ऐसा कहकर वे मुनि श्रीकृष्ण के पास चले गये [वहाँ उन्होंने उन्हें सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया]। यह सुनकर श्रीकृष्ण ने वृष्णिवंशियों से कहा—"ऋषियों ने जैसा कहा है, वैसा ही होगा अर्थात् वृष्णि, अन्धक और भोजवंशियों का नाश अवश्यम्भावी है।"

अघोषयंश्च नगरे वचनादाहुकस्य ते ।
जनार्दनस्य रामस्य बभ्रोश्चैव महात्मनः ॥१५॥
अद्यप्रभृति सर्वेषु वृष्ण्यन्धककुलेष्विह ।
सुरासवो न कर्तव्यः सर्वैर्नगरवासिभिः ॥१६॥

सावधानी के नाते आहुक [महाराज उग्रसेन], श्रीकृष्ण, बलराम और महामना बभ्रु के आदेश से राजपुरुषों ने नगर में यह घोषणा करा दी कि आज से समस्त वृष्णि और अन्धकवंशी क्षत्रियों के यहाँ कोई भी नगर-निवासी सुरा और आसव तैयार न करे।

यश्च नोऽविदितं कुर्यात्पेयं कश्चिन्नरः क्वचित् ।
जीवन् स शूलमारोहेत् स्वयं कृत्वा सबान्धवः ॥१७॥

यदि कोई मनुष्य हम लोगों से छिपकर कहीं भी कोई मादक पेय तैयार करेगा तो वह अपराधी अपने बन्धु-बान्धवोंसहित जीवित अवस्था में शूली पर चढ़ा दिया जाएगा।

एवं प्रयतमानानां वृष्णीनामन्धकैः सह ।
कालो गृहाणि सर्वेषां परिचक्राम नित्यशः ॥१८॥

जनमेजय ! इस प्रकार वृष्णि और अन्धकवंशी अपने ऊपर आनेवाले संकट का निवारण करने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न कर रहे थे और उधर काल सबके घरों में चक्कर लगाया करता था।

उत्पेदिरे महावाता दारुणाश्च दिने दिने ।
वृष्ण्यन्धकविनाशाय बहवो लोमहर्षणाः ॥१९॥

अब प्रतिदिन अनेक बार भयंकर आंधी उठने लगी, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी। उससे वृष्णियों और अन्धकों के विनाश की सूचना मिल रही थी।

विवृद्धमूषका रथ्या विभिन्नमणिकास्तथा ।
केशा नखाश्च सुप्तानामद्यन्ते मूषकैर्निशि ॥२०॥

---

1. मनुष्य के पेट से लोहे का मूसल पैदा होना सर्वथा असम्भव है। इस कथानक में सार की बात इतनी ही है कि ऋषि-मुनियों, महापुरुषों और वृद्धों से हँसी-मजाक नहीं करना चाहिए, उसका परिणाम भयंकर हो सकता है।

चूहे इतने बढ़ गये थे कि वे राजमार्गों [सड़कों] पर छाये रहते थे। वे मिट्टी के बर्तनों में छेद कर डालते थे और रात्रि में सोये हुए मनुष्यों के केश और नख कुतरकर खा जाया करते थे।

एवं पश्यन् हृषीकेशः सम्प्राप्तं कालपर्ययम्।
त्रयोदश्याममावास्यां तान् दृष्ट्वा प्राब्रवीदिदम् ॥२१॥

इस प्रकार काल का उलट-फेर प्राप्त हुआ देख और त्रयोदशी तिथि को अमावास्या का संयोग जान श्रीकृष्ण ने सब लोगों से कहा—

चतुर्दशी पञ्चदशी कृतेयं राहुणा पुनः।
प्राप्ते वै भारते युद्धे प्राप्ता चाद्य क्षयाय नः ॥२२॥

"वीरो ! इस समय राहु ने फिर चतुर्दशी को ही अमावास्या बना दिया है। महाभारत युद्ध के समय नक्षत्रों का जैसा योग था, वैसा ही आज भी है।[1] यह सब हम लोगों के विनाश का सूचक है।

पुत्रशोकाभिसन्तप्ता गान्धारी हतबान्धवा।
यदनुव्याजहारार्ता तदिदं समुपागमत् ॥२३॥

"बन्धु-बान्धवों के मारे जाने पर पुत्रशोक से सन्तप्त हुई गान्धारी देवी ने अत्यन्त व्यथित होकर हमारे कुल के लिए जो शाप दिया था, उसके सफल होने का यह समय आ गया है।"

इत्युक्त्वा वासुदेवस्तु चिकीर्षुः सत्यमेव तत्।
आज्ञापयामास तदा तीर्थयात्रामरिन्दमः ॥२४॥

ऐसा कहकर शत्रुमर्दन श्रीकृष्ण ने गान्धारी के उस कथन को सत्य सिद्ध करने की इच्छा से यदुवंशियों को उस समय तीर्थयात्रा के लिए आदेश दिया।

अघोषयन्त पुरुषास्तत्र केशवशासनात्।
तीर्थयात्रा समुद्रे वः कार्येति पुरुषर्षभाः ॥२५॥

श्रीकृष्ण के आदेश से राजपुरुषों ने उस नगर में यह घोषणा कर दी कि—"पुरुषप्रवर यादवो ! तुम्हें समुद्र पर ही तीर्थयात्रा के लिए चलना चाहिए, अर्थात् सबको प्रभासक्षेत्र में उपस्थित होना चाहिए।"

ततः सैनिकवर्गाश्च निर्ययुर्नगराद् बहिः।
यानैरश्वैर्गजैश्चैव श्रीमन्तस्तिग्मतेजसः ॥२६॥

उस घोषणा के पश्चात् सैनिकों के समुदाय, जो शोभासम्पन्न और प्रचण्ड तेजस्वी थे, रथ, घोड़े और हाथियों पर आरूढ़ होकर नगर से बाहर निकले।

ततः प्रभासे न्यवसन् यथोद्दिष्टं यथागृहम्।
प्रभूतभक्ष्यपेयास्ते सदारा यादवास्तदा ॥२७॥

उस समय स्त्रियोंसहित सभी यदुवंशी प्रभासक्षेत्र में पहुँचकर अपने-अपने अनुकूल घरों में ठहर गये। उनके पास खाने-पीने की विपुल सामग्री थी।

निविष्टांस्तान्निशम्याथ समुद्रान्ते स योगवित्।
जगामामन्त्र्य तान् वीरानुद्धवोऽर्थविशारदः ॥२८॥

परमार्थ-ज्ञान में निपुण और योग के रहस्यों को जाननेवाले उद्धवजी ने जब यह देखा कि समस्त यदुवंशी वीर समुद्रतट पर डेरा डाले बैठे हैं तब वे उन सबसे पूछकर=विदा लेकर वहाँ से चल दिये।

ततस्तूर्यशताकीर्णं नटनर्तकसंकलम्।
प्रावर्तत महापानं प्रभासे तिग्मतेजसाम् ॥२९॥

उद्धवजी के प्रस्थान करने के पश्चात् वहाँ सैकड़ों प्रकार के बाजे बजने लगे। सब ओर नटों और नर्तकों का नृत्य होने लगा। इस प्रकार प्रभासक्षेत्र में प्रचण्ड तेजस्वी यादवों का महापान आरम्भ हुआ।

कृष्णस्य सन्निधौ रामः सहितः कृतवर्मणा।
अपिबद् युयुधानश्च गदो बभ्रुस्तथैव च ॥३०॥

श्रीकृष्ण के समीप ही कृतवर्मासहित बलराम, सात्यकि, गद और बभ्रु—सभी सुरापान करने लगे।

ततः परिषदो मध्ये युयुधानो मदोत्कटः।
अब्रवीत् कृतवर्माणमवहास्यावमन्य च ॥३१॥

पीते-पीते सात्यकि मद से मतवाले हो गये और यादवों की उस सभा में कृतवर्मा का उपहास एवं अपमान करते हुए इस प्रकार बोले—

कः क्षत्रियोऽहन्यमानः सुप्तान् हन्यान्मृतानिव।
तन्न मृष्यन्ति हार्दिक्य यादवा यत्त्वया कृतम् ॥३२॥

"हार्दिक्य ! तेरे सिवा दूसरा ऐसा कौन क्षत्रिय होगा, जो अपने ऊपर आघात न होते हुए भी रात्रि में मृतक के समान अचेत पड़े हुए मनुष्यों की हत्या

१. इस वर्णन से यह सिद्ध है कि महाभारत इतिहास-ग्रन्थ है, यह काल्पनिक कथा (Myth) नहीं है। महाकाव्यों, उपन्यासों आदि में इतना सूक्ष्म ध्यान नहीं रखा जाता है।

करेगा ! तूने जो अन्याय किया है, उसे यदुवंशी कभी क्षमा नहीं करेंगे ।"

इत्युक्ते युयुधानेन पूजयामास तद्वचः ।
प्रद्युम्नो रथिनां श्रेष्ठो हार्दिक्यमवमन्य च ।।३३।।

सात्यकि के ऐसा कहने पर रथियों में श्रेष्ठ प्रद्युम्न नें कृतवर्मा का तिरस्कार करके सात्यकि के उपर्युक्त वचन की प्रशंसा की और उसका अनुमोदन किया ।

ततः परमसंक्रुद्धः कृतवर्मा तमब्रवीत् ।
निर्दिशन्निव सावज्ञं तदा सव्येन पाणिना ।।३४।।

यह सुनकर कृतवर्मा अत्यन्त क्रोधित हो उठा और बायें हाथ से अंगुली का संकेत करके सात्यकि का अपमान करता हुआ बोला—

भूरिश्रवाश्छिन्नबाहुर्युद्धे प्रायगतस्त्वया ।
वधेन सुनृशंसेन कथं वीरेण पातितः ।।३५।।

"अरे ! जब युद्ध में भूरिश्रवा की भुजा कट गई थी और वे मरणान्त उपवास का निश्चय करके भूमि पर बैठ गये थे, उस अवस्था में तूने वीर कहलाकर भी उनकी क्रूरतापूर्ण हत्या क्यों की थी ?"

इति तस्य वचः श्रुत्वा केशवस्य समीपतः ।
अभिद्रुत्य शिरः क्रुद्धश्चिच्छेद कृतवर्मणः ।।३६।।

कृतवर्मा की यह बात सुनकर सात्यकि ने श्रीकृष्ण के पास से दौड़कर तलवार के एक ही वार से कृतवर्मा का सिर काट डाला ।

तथान्यानपि निघ्नन्तं युयुधानं समन्ततः ।
अभ्यधावद्धृषीकेशो विनिवारयितुं तदा ।।३७।।

तत्पश्चात् वे सब ओर घूम-घूमकर दूसरे-दूसरे लोगों का भी वध करने लगे । यह देख श्रीकृष्ण उन्हें रोकने के लिए दौड़े ।

एकीभूतास्ततः सर्वे कालपर्यायनोदिताः ।
भोजान्धका महाराज शैनेयं पर्यवारयन् ।।३८।।

महाराज ! इतने में ही काल की प्रेरणा से भोज और अन्धकवंश के समस्त वीरों ने एक-मत होकर सात्यकि को चारों ओर से घेर लिया ।

ते तु पानमदाविष्टाश्चोदिताः कालधर्मणा ।
युयुधानमथाभ्यघ्नन्नुच्छिष्टैर्भाजनैस्तथा ।।३९।।

वे सब-के-सब मदिराजनित मद के आवेश से उन्मत्त हो उठे थे । दूसरी ओर कालधर्मा मृत्यु भी उन्हें प्रेरित कर रहा था, अतः वे जूठे बर्तनों से सात्यकि पर आघात करने लगे ।

हन्यमाने तु शैनेये क्रुद्धो रुक्मिणिनन्दनः ।
तदनन्तरमागच्छन्मोक्षयिष्यन् शिनेः सुतम् ।।४०।।

जब सात्यकि की इस प्रकार से धुनाई होने लगी, तब क्रोध में भरे हुए रुक्मिणिनन्दन प्रद्युम्न उन्हें संकट से बचाने के लिए स्वयं उनके और आक्रमणकारियों के बीच में कूद पड़े ।

स भोजैः सह संयुक्तः सात्यकिश्चान्धकैः सह ।
व्यायच्छमानौ तौ वीरौ बाहुद्रविणशालिनौ ।
बहुत्वान्निहतौ तत्र उभौ कृष्णस्य पश्यतः ।।४१।।

प्रद्युम्न भोजों से भिड़ गये और सात्यकि अन्धकों के साथ जूझने लगे । अपनी भुजाओं के बल से सुशोभित होनेवाले वे दोनों वीर बड़े परिश्रम के साथ विरोधियों का सामना करते रहे । परन्तु विपक्षियों की संख्या बहुत अधिक थी, अतः वे दोनों श्रीकृष्ण के देखते-देखते उनके हाथों मार डाले गये ।

ततोऽन्धकाश्च भोजाश्च शैनेया वृष्णयस्तथा ।
जघ्नुरन्योन्यमाक्रन्दे मुसलैः कालनोदिताः ।।४२।।

फिर तो काल से प्रेरित हुए अन्धक, भोज, शिनि तथा वृष्णिवंश के लोगों ने उस भीषण मारकाट में एक-दूसरे को घूंसों से मारना आरम्भ किया ।

अवधीत् पितरं पुत्रः पिता पुत्रं च भारत ।
मत्ताः परिपतन्ति स्म योधयन्तः परस्परम् ।
पतङ्गा इव चाग्नौ ते निपेतुः कुकुरान्धकाः ।।४३।।

भरतभूषण ! मूसलों [मुष्टियों, घूंसों] के आघात-प्रत्याघात से पिता ने पुत्र को और पुत्र ने पिता को मार डाला । जैसे पतंगे आग में कूद पड़ते हैं, उसी प्रकार कुकुर तथा अन्धकवंश के लोग परस्पर जूझते हुए एक-दूसरे पर मतवाले होकर टूट रहे थे ।

तत्रापश्यन्महाबाहुर्जनान् कालस्य पर्ययम् ।
मुसलं समवष्टभ्य तस्थौ च मधुसूदनः ।।४४।।

वहाँ मारे जानेवाले किसी भी योद्धा के मन में वहाँ से भाग जाने का विचार नहीं आता था । कालचक्र के इस परिवर्तन को जानते हुए महाबाहु

मधुसूदन वहाँ चुपचाप सब-कुछ देखते रहे और मूसल [गदा] का सहारा लेकर खड़े रहे।

साम्बं च निहतं दृष्ट्वा चारुदेष्णं च माधवः।
प्रद्युम्नं चानिरुद्धं च ततश्चुक्रोध भारत ॥४५॥

भरतभूषण! जब श्रीकृष्ण ने देखा कि उनके पुत्र साम्ब, चारुदेष्ण एवं प्रद्युम्न तथा पोता अनिरुद्ध भी मार डाला गया है, तब उनकी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी।

गदं वीक्ष्य शयानं च भृशं कोपसमन्वितः।
स निःशेषं तदा चक्रे शार्ङ्गचक्रगदाधरः ॥४६॥

अपने छोटे भाई गद को रणभूमि में मारा गया देख वे क्रोध से आगबगूला हो उठे। फिर तो शार्ङ्ग धनुष, चक्र और गदा धारण करनेवाले श्रीकृष्ण ने उस समय शेष बचे हुए समस्त यादवों का संहार कर डाला।

तन्निघ्नन्तं महातेजा बभ्रुः परपुरञ्जयः।
दारुकश्चैव दाशार्हमूचतुर्यन्निबोध तत् ॥४७॥

शत्रुओं की नगरी पर विजय पानेवाले महातेजस्वी बभ्रु और दारुक ने उस समय यादवों को मौत के घाट उतारते हुए श्रीकृष्ण से जो कुछ कहा, उसे सुनो!

भगवन्निहताः सर्वे त्वया भूयिष्ठशो नराः।
रामस्य पदमन्विच्छ तत्र गच्छाम यत्र सः ॥४८॥

"भगवन्! अब सबका विनाश हो गया। इनमें से अधिकांश तो आपके हाथों ही मारे गये हैं। अब हम तीनों उधर ही चलें, जिधर बलरामजी गये हैं।"

इति महाभारते मौसलपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

दारुक का अर्जुन को सूचना देने के लिए हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान, बभ्रु, बलराम और श्रीकृष्ण का देहावसान

वैशम्पायन उवाच

ततो ययुर्दारुककेशवौ च
बभ्रुश्च रामस्य पदं पतन्तः।
अथापश्यन् राममनन्तवीर्यं
वृक्षे स्थितं चिन्तयानं विविक्ते ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यादवों का संहार हो जाने पर दारुक, बभ्रु और श्रीकृष्ण तीनों ही बलरामजी के पदचिह्नों को देखते हुए वहाँ से चल पड़े। थोड़ी ही देर पश्चात् उन्होंने अत्यन्त पराक्रमी बलरामजी को एक वृक्ष के नीचे विराजमान देखा। वे एकान्त में बैठे हुए ध्यानमग्न थे।

ततः समासाद्य महानुभावं
कृष्णस्तदा दारुकमन्वशास्त्।
गत्वा कुरून् सर्वमिमं महान्तं
पार्थाय शंसस्व वधं यदूनाम् ॥२॥

उन महानुभाव बलरामजी के पास पहुंचकर श्रीकृष्ण ने तत्काल दारुक को आज्ञा दी कि—"तुम शीघ्र ही कुरुदेश की राजधानी हस्तिनापुर में जाकर अर्जुन को यादवों के इस भीषण संहार का सारा वृत्तान्त कह सुनाओ।

ततोऽर्जुनः क्षिप्रमिहोपयातु
श्रुत्वा मृतान् यादवान्मुष्टिघातात्।
इत्येवमुक्तः स ययौ रथेन
कुरूंस्तदा दारुको नष्टचेताः ॥३॥

"मुष्टियों [घूंसों] के आघात से यदुवंशियों की मृत्यु का समाचार पाकर अर्जुन शीघ्र ही द्वारका चले आएँ।" श्रीकृष्ण के इस प्रकार आज्ञा देने पर दारुक रथ पर सवार हो तत्काल कुरुदेश को चला गया। वह इस महान् शोक से अचेत-सा हो रहा था।

ततो गते दारुके केशवोऽथ
दृष्ट्वान्तिके बभ्रुमुवाच वाक्यम्।
स्त्रियो भवान् रक्षितुं यातु शीघ्रं
नैता हिंस्युर्दस्यवो वित्तलोभात् ॥४॥

दारुक के चले जाने पर श्रीकृष्ण ने अपने निकट खड़े हुए बभ्रु से कहा—"तुम स्त्रियों की रक्षा के

लिए शीघ्र ही द्वारका चले जाओ। कहीं ऐसा न हो कि डाकू लोग धन के लालच में उनकी हत्या कर डालें।"

तं वै यान्तं केशवेनानुशिष्टं
दुरन्तमेकं सहसैव बभ्रुम्।
ब्रह्मानुशप्तमवधीन्महद् वै
कूटोन्मुक्तं मुसलं लुब्धकस्य ॥५॥

श्रीकृष्ण की आज्ञा पाकर वे जा ही रहे थे कि ऋषियों के शाप के कारण किसी व्याध द्वारा धोखे से चलाया गया बाण उसके ऊपर आकर गिरा और उसने तुरन्त ही उसके प्राण हर लिये।

ततो दृष्ट्वा निहतं बभ्रुमाह
कृष्णोऽग्रजं भ्रातरमुग्रतेजाः।
इहैव त्वं मां प्रतीक्षस्व राम
यावत्स्त्रियो ज्ञातिवशाः करोमि ॥६॥

बभ्रु को मारा गया देख उग्र तेजस्वी श्रीकृष्ण ने अपने भाई से कहा—"भैया बलराम! जबतक मैं कुलस्त्रियों को स्वजनों के संरक्षण में रखकर वापस न लौटूँ, तबतक आप यहीं रहकर मेरी प्रतीक्षा कीजिए।

ततः पुरीं द्वारवतीं प्रविश्य
जनार्दनः पितरं प्राह वाक्यम्।
स्त्रियो भवान् रक्षतु नः समग्रा
धनञ्जयस्यागमनं प्रतीक्षन् ॥७॥

बलरामजी से ऐसा कहकर श्रीकृष्ण द्वारकापुरी में गये और वहाँ अपने पिता वसुदेवजी से बोले—"पिताजी! आप अर्जुन के आगमन की प्रतीक्षा करते हुए हमारे कुल की समस्त स्त्रियों की रक्षा करें।

रामो वनान्ते प्रतिपालयन्मा-
मास्तेऽद्याहं तेन समागमिष्ये।
दृष्टं मयेदं निधनं यदूनां
राज्ञां च पूर्वं कुरुपुङ्गवानाम् ॥८॥

"इस समय बलरामजी मेरी प्रतीक्षा करते हुए वन में बैठे हैं। मैं आज ही वहाँ जाकर उनसे मिलूँगा। मैंने इस समय यह यदुवंशियों का विनाश देखा है और पूर्वकाल में कुरुकुल के श्रेष्ठ राजाओं का संहार भी देख चुका हूँ।

नाहं विना यदुभिर्यादवानां
पुरीमिमामशकं द्रष्टुमद्य।
तपश्चरिष्यामि निबोध तन्मे
रामेण सार्धं वनमभ्युपेत्य ॥९॥

"अब मैं उन यादव वीरों के बिना उनके इस नगर को देखने में भी सर्वथा असमर्थ हूँ। अब मैं क्या करूँगा, यह भी सुन लीजिए। मैं वन में जाकर बलरामजी के साथ तपस्या करूँगा।"

इतीदमुक्त्वा शिरसा च पादौ
संस्पृश्य कृष्णस्त्वरितो जगाम।
ततो महान् निनदः प्रादुरासीत्
सस्त्रीकुमारस्य पुरस्य तस्य ॥१०॥

ऐसा कहकर उन्होंने अपने पिता के चरणों में सिर रखकर उन्हें प्रणाम किया। फिर श्रीकृष्ण तुरन्त वहाँ से चल दिये। इतने में ही उस पुरी की स्त्रियों और बालकों के रोने का महान् आर्तनाद सुनाई पड़ा।

अथाब्रवीत् केशवः सन्निवर्त्य
शब्दं श्रुत्वा योषितां क्रोशतीनाम्।
पुरीमिमामेष्यति सव्यसाची
स वो दुःखान्मोचयिता नराग्र्यः ॥११॥

विलाप करती हुई उन स्त्रियों के करुणक्रन्दन को सुनकर श्रीकृष्ण पुनः लौट आये और उन्हें सान्त्वना प्रदान करते हुए बोले—"देखो! नरश्रेष्ठ अर्जुन शीघ्र ही इस नगर में आनेवाले हैं, वे ही तुम्हारा इस संकट से उद्धार करेंगे।"

ततो गत्वा केशवस्तं ददर्श
रामं वने स्थितमेकं विविक्ते।
अथापश्यद् योगयुक्तस्य तस्य
नागं मुखान्निश्चरन्तं महान्तम् ॥१२॥

पुर की नारियों से ऐसा कहकर श्रीकृष्ण वहाँ से चल दिये। वन में पहुँचकर उन्होंने वन के एकान्त प्रदेश में बैठे हुए बलरामजी का दर्शन किया। बलरामजी योग-युक्त हो समाधि लगाये बैठे थे। इसी समय उन्होंने देखा कि बलरामजी के मुख से

महानाग[1] निकल गया। [अन्तिम हिचकी आई और उनका प्राणान्त हो गया]।

ततो गते भ्रातरि वासुदेवो
दैवीगतिज्ञानसुदिव्यदृष्टिः।
शून्ये वने विचरंश्चिन्तयानो
विवेश भूमावथ दिव्यतेजाः ॥१३॥

भाई बलराम के परलोक सिधारने के पश्चात् सम्पूर्ण दैवगतियों को जाननेवाले, दिव्य दृष्टि से सम्पन्न श्रीकृष्ण कुछ सोचते-विचारते हुए उस निर्जन वन में विचरने लगे। फिर वे महातेजस्वी भूमि पर बैठ गये।

मेने ततः संक्रमणस्य कालं
ततश्चकारेन्द्रियसन्निरोधम्।
स सन्निरुध्येन्द्रियवाङ्मनांसि
शिश्ये महायोगमुपेत्य कृष्णः ॥१४॥

श्रीकृष्णजी ने अब अपनी मृत्यु का समय सन्निकट ही समझा, अतः उन्होंने अपनी सम्पूर्ण इन्द्रिय-वृत्तियों का निरोध किया। अपने मन, वाणी और इन्द्रियों का निरोध करके महायोग [समाधि] का आश्रय ले वे पृथिवी पर लेट गये।

जराथ तं देशमुपाजगाम
लुब्धस्तदानीं मृगलिप्सुरुग्रः।
स केशवं योगयुतं शयानं
मृगाशङ्की लुब्धकः सायकेन ॥१५॥

जराविध्यत् पादतले त्वरावान्
यावज्जिघृक्षुस्तमभिजगाम।
अथापश्यत् पुरुषं योगयुक्तं
पीताम्बरं लुब्धकस्तेजराशिम् ॥१६॥

उसी समय जरा नामक एक भयंकर व्याध [शिकारी] मृगों को मारकर ले-जाने की इच्छा से उस स्थान पर आया। उस समय श्रीकृष्ण योगयुक्त होकर सो रहे थे। मृगों में आसक्त हुए उस व्याध ने श्रीकृष्ण को भी कोई मृग ही समझा और अत्यन्त उतावली के साथ बाण मारकर उनके पैर के तलवे में घाव कर दिया।[2] फिर उस मृग को पकड़ने के लिए जब वह निकट आया तब उसने योग में स्थित, पीताम्बरधारी और महातेजस्वी श्रीकृष्ण को देखा।

मत्वाऽऽत्मानं त्वपराद्धं स तस्य
पादौ जरा जगृहे शंकितात्मा।
आश्वासयंस्तं निभृतं महात्मा
अगच्छदूर्ध्वं दिवि व्याप्य लक्ष्म्या ॥१७॥

अब तो वह जरा नामक व्याध अपने-आपको अपराधी मानकर मन-ही-मन बहुत डर गया। उसने श्रीकृष्ण के दोनों पैर पकड़ लिये। तब महात्मा श्रीकृष्ण ने उसे आश्वासन दिया और अपनी कान्ति=यश से पृथिवी और आकाश को व्याप्त करके ऊर्ध्वलोक=मोक्षधाम को चले गये।

इति महाभारते मौसलपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन का द्वारका पहुँचना और वासुदेवजी से उनका वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

दारुकोऽपि कुरून्गत्वा दृष्ट्वा पार्थान्महारथान्।
आचष्ट मौसले वृष्णीनन्योऽन्येनोपसंहृतान् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दारुक ने भी कुरुदेश में जाकर महारथी कुन्तीकुमारों का दर्शन किया और उन्हें यह सूचना दी कि समस्त वृष्णिवंशी मौसल युद्ध में एक-दूसरे के द्वारा मौत के घाट उतार दिये गये।

---

१. हमारे शरीर में प्राण दस भागों में विभक्त होकर रहता है—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच प्राण हैं। पाँच उपप्राण हैं—देवदत्त, कृकल, कर्म, नाग और धनञ्जय। इनमें से प्रत्येक का स्थान और कार्य भी नियत है। नाग का कार्य है उद्गार=डकार लाना। हिक्का [हिचकी लाना] भी इसी का कार्य है।

२. श्रीकृष्ण की मृत्यु की यह घटना महाभारत के ऐतिहासिक ग्रन्थ होने का प्रबल प्रमाण है। यदि महाभारत काल्पनिक गाथा होती तो उसका लेखक अपने नायक को ऐसी बे-मौत न मरवाता; वह उसके लिए कोई आदर्श कल्पना करता। घटनाओं का याथातथ्य वर्णन होने से महाभारत इतिहास-ग्रन्थ ही सिद्ध होता है।

श्रुत्वा विनष्टान्वार्ष्णेयान्सभोजान्धककौकुरान् ।
पाण्डवाः शोकसन्तप्ता वित्रस्तमनसोऽभवन् ॥२॥

वृष्णि, भोज, अन्धक और कुकुरवंश के वीरों के विनाश का वृत्तान्त सुनकर समस्त पाण्डव शोक से सन्तप्त हो उठे। वे मन-ही-मन सन्त्रस्त हो गये।

ततोऽर्जुनस्तानामन्त्र्य केशवस्य प्रियः सखा ।
प्रययौ मातुलं द्रष्टुं नेदमस्तीति चाब्रवीत् ॥३॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण के प्रिय सखा अर्जुन अपने भाइयों से आज्ञा लेकर अपने मामा वसुदेवजी से मिलने के लिए चल दिये और बोले—ऐसा नहीं हो सकता अर्थात् समस्त यदुवंशियों का एकसाथ विनाश असम्भव है।

स वृष्णिनिलयं गत्वा दारुकेण सह प्रभो ।
ददर्श द्वारकां वीरो मृतनाथामिव स्त्रियम् ॥४॥

प्रभो! दारुक के साथ वृष्णियों के निवासस्थान पर पहुँचकर वीर अर्जुन ने देखा कि द्वारकापुरी विधवा स्त्री की भाँति श्रीहीन हो गई है।

याः स्म ता लोकनाथेन नाथवत्यः पुराभवन् ।
तास्त्वनाथास्तदा नाथं पार्थं दृष्ट्वा विचुक्रुशुः ॥५॥

जो पहले लोकनाथ श्रीकृष्ण के द्वारा सुरक्षित होने के कारण सबसे अधिक सनाथा थीं, वे अनाथा स्त्रियाँ इस समय कृष्ण-सखा अर्जुन को रक्षक के रूप में आया देख उच्चस्वर से करुणक्रन्दन करने लगीं।

तास्तु दृष्ट्वैव कौरव्यो बाष्पेणापिहितेक्षणः ।
हीनाः कृष्णेन पुत्रैश्च नाशकत्सोऽभिवीक्षितुम् ॥६॥

उन सबपर दृष्टि पड़ते ही अर्जुन की आँखों में भी आँसू भर आये। पुत्रों और श्रीकृष्ण से हीन हुई उन अनाथ-अबला यादव स्त्रियों की ओर उनसे देखा भी नहीं गया।

तां दृष्ट्वा द्वारकां पार्थस्ताश्च यादवयोषितः ।
सस्वनं बाष्पमुत्सृज्य निपपात महीतले ॥७॥

श्रीहीन और आनन्दशून्य उस द्वारका को और उन यादव-स्त्रियों को देखकर अर्जुन आँसू बहाते हुए फूट-फूटकर रोने लगे और मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़े।

ततस्तं काञ्चने पीठे समुत्थाप्योपवेश्य च ।
अब्रुवन्त्यो महात्मानं परिवार्योपतस्थिरे ॥८॥

तब उन सबने अर्जुन को उठाकर सोने की चौकी पर बैठाया और उन महात्मा को घेरकर बिना कुछ बोले उनके पास बैठ गईं।

ततः संस्तूय गोविन्दं कथयित्वा च पाण्डवः ।
आश्वास्य ताः स्त्रियश्चापि मातुलं द्रष्टुमभ्यगात् ॥९॥

उस समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए उनकी यशोगाथा का गान किया और उन स्त्रियों को आश्वासन देकर वे अपने मामा से मिलने के लिए गये।

तं शयानं महात्मानं वीरमानकदुन्दुभिम् ।
पुत्रशोकेन सन्तप्तं ददर्श कुरुपुङ्गवः ॥१०॥

कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ने अपने मामा आनकदुन्दुभि—वसुदेव के महल में जाकर देखा कि वे वीर महात्मा पुत्रशोक से व्याकुल हो भूमि पर पड़े हुए हैं।

तस्याश्रुपरिपूर्णाक्षो व्यूढोरस्को महाभुजः ।
आर्तस्यार्ततरः पार्थः पादौ जग्राह भारत ॥११॥

भरतभूषण! चौड़ी छाती और विशाल भुजाओं-वाले कुन्तीकुमार अर्जुन अपने शोक-सन्तप्त मामा की वह अवस्था देखकर अत्यन्त व्याकुल हो उठे। उनके नेत्रों में आँसू भर आये। फिर उन्होंने आर्तभाव से उनके दोनों चरण पकड़ लिये।

समालिङ्ग्यार्जुनं वृद्धः स भुजाभ्यां महाभुजः ।
रुदन्पुत्रान् स्मरन् सर्वान्विललाप सुविह्वलः ॥१२॥

महाबाहु वृद्ध वसुदेवजी ने अपनी दोनों भुजाओं से अर्जुन को खींचकर अपनी छाती से लगा लिया। फिर वे अपने समस्त पुत्रों का स्मरण कर रोने और अत्यन्त व्याकुल होकर विलाप करने लगे।

वसुदेव उवाच

यैर्जिता भूमिपालाश्च दैत्याश्च शतशोऽर्जुन ।
तान् दृष्ट्वा नेह पश्यामि जीवामि पार्थ दुर्मरः ॥१३॥

वसुदेव बोले—अर्जुन! जिन वीरों ने सैकड़ों दैत्यों और राजाओं पर विजय प्राप्त की थी, उन्हें आज मैं यहाँ नहीं देख पा रहा हूँ, तो भी मेरे प्राण नहीं निकलते। पार्थ! मैं समझता हूँ, मेरे लिए मृत्यु दुर्लभ है।

यौ तावर्जुनशिष्यौ ते प्रियौ बहुमतौ सदा ।
तयोरपनयात् पार्थ वृष्णयो निधनं गताः ॥१४॥

अर्जुन ! जो तुम्हारे प्रिय शिष्य थे और जिनका तुम बहुत सम्मान किया करते थे, उन्हीं दोनों [सात्यकि और प्रद्युम्न] के अन्याय से समस्त वृष्णिवंशी मारे गये हैं।

ततः पुत्रांश्च पौत्रांश्च भ्रातॄनथ सखींस्तथा।
शयानान् निहतान् दृष्ट्वा ततो मामब्रवीदिदम् ॥१५॥

जब मौसलयुद्ध में पुत्र, पौत्र, भाई और मित्र सभी एक-दूसरे के हाथ से मरकर धराशायी हो गये, तब उन्हें उस अवस्था में देखकर श्रीकृष्ण मेरे पास आये थे और मुझसे यह कहा था—

आगमिष्यति बीभत्सुरिमां द्वारवतीं पुरीम्।
आख्येयं तस्य यद् वृत्तं वृष्णीनां वैशसं महत् ॥१६॥

"पिताजी ! अर्जुन द्वारकापुरी में आनेवाले हैं। आने पर उनसे वृष्णिवंशियों के इस महान् विनाश का समाचार सुनाइएगा।

योऽहं तमर्जुनं विद्धि योऽर्जुनः सोऽहमेव तु।
यद् ब्रूयात्तत्तथा कार्यमिति बुद्ध्यस्व माधव ॥१७॥

"जो मैं हूँ, उसे अर्जुन समझिए और जो अर्जुन है, वह मैं ही हूँ। माधव ! अर्जुन जो कुछ भी कहें, वैसा ही आप लोगों को करना चाहिए। इस बात को आप अच्छी प्रकार समझ लें।

स स्त्रीषु प्राप्तकालासु पाण्डवो बालकेषु च।
प्रतिपत्स्यति बीभत्सुर्भवतश्चौर्ध्वदेहिकम् ॥१८॥

"जिन स्त्रियों का प्रसवकाल समीप हो, उनपर और छोटे बालकों पर अर्जुन विशेषरूप से ध्यान देंगे और वे ही आपका और्ध्वदेहिक=अन्त्येष्टि-संस्कार भी करेंगे।

अहं देशे तु कस्मिंश्चित्पुण्ये नियममास्थितः।
कालं कांक्षे सद्य एव रामेण सह धीमता ॥१९॥

"मैं किसी पवित्र स्थान में रहकर शौच-सन्तोष आदि नियमों का पालन करते हुए बुद्धिमान् बलरामजी के साथ शीघ्र ही काल की प्रतीक्षा करूँगा।"

एवमुक्त्वा हृषीकेशो मामचिन्त्यपराक्रमः।
हित्वा मां बालकैः सार्धं दिशं कामप्यगात्प्रभुः ॥२०॥

मुझसे ऐसा कहकर अचिन्त्य पराक्रमी और प्रभावशाली श्रीकृष्ण बालकों के साथ मुझे यहीं छोड़कर किसी अज्ञात दिशा को चले गये हैं।

सोऽहं तौ च महात्मानौ चिन्तयन्भ्रातरौ तव।
घोरं ज्ञातिवधं चैव न भुञ्जे शोककर्शितः।
न भोक्ष्ये न च जीविष्ये दिष्ट्या प्राप्तोऽसि पाण्डव।

तबसे मैं तुम्हारे दोनों भाई महात्मा बलराम और श्रीकृष्ण का तथा कुटुम्बीजनों के इस महाविनाश का चिन्तन करके शोक में घुला जा रहा हूँ। मुझसे भोजन नहीं किया जाता। अब मैं न तो भोजन करूँगा और न इस जीवन को ही रखूँगा। पाण्डुनन्दन ! यह सौभाग्य की बात है कि तुम यहाँ आ गये।

यदुक्तं पार्थ कृष्णेन तत्सर्वमखिलं कुरु।
एतत्ते पार्थ राज्यं च स्त्रियो रत्नानि चैव हि।
इष्टान् प्राणानहं हीमांस्त्यक्ष्यामि रिपुसूदन ॥२२॥

पार्थ ! श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा है, तुम वैसा ही करो। यह राज्य, ये स्त्रियाँ और ये रत्न—सब तुम्हारे अधीन हैं। शत्रुमर्दन ! अब मैं निश्चिन्त होकर अपने इन प्यारे प्राणों का परित्याग करूँगा।

इति महाभारते मौसलपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

वसुदेवजी और मौसल युद्ध में मरे हुए यादवों का अन्त्येष्टि-संस्कार करके अर्जुन का द्वारकावासी स्त्री-पुरुषों को अपने साथ ले जाना, मार्ग में अर्जुन पर डाकुओं का आक्रमण, अर्जुन की पराजय, शेष यादवों को अपनी राजधानी में बसा देना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स बीभत्सुर्मातुलेन परन्तप।
दुर्मना दीनवदनो वसुदेवमुवाच ह ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—परन्तप ! अपने मामा वसुदेवजी के ऐसा कहने पर अर्जुन मन-ही-मन बहुत दुःखी हुए। उनका मुख मलिन हो गया। फिर वे वसुदेवजी से इस प्रकार बोले—

नाहं वृष्णिप्रवीरेण बन्धुभिश्चैव मातुल।
विहीनां पृथिवीं द्रष्टुं शक्ष्यामीह कथञ्चन ॥२॥

"मामाजी ! वृष्णिवंश के शिरोमणि वीर

श्रीकृष्ण और अपने भाइयों से रहित हुई यह पृथिवी अब मुझसे किसी भी प्रकार देखी नहीं जा सकेगी।

**राजा च भीमसेनश्च सहदेवश्च पाण्डवः।
नकुलो याज्ञसेनी च षडेकमनसो वयम् ॥३॥**

"महाराज युधिष्ठिर, भीमसेन, पाण्डव सहदेव, नकुल, द्रौपदी और मैं—ये छह व्यक्ति एक ही हृदय रखते हैं [उनमें से कोई भी अब यहाँ जीवित रहना नहीं चाहेगा]।

**राज्ञः संक्रमणे चापि कालोऽयं वर्तते ध्रुवम्।
तमिमं विद्धि सम्प्राप्तं कालं कालविदां वर ॥४॥**

"महाराज युधिष्ठिर के परलोक-गमन का समय भी निश्चय ही आ पहुँचा है। कालज्ञों में श्रेष्ठ मामाजी! यह वही काल आ गया है—आप ऐसा ही समझें।

**सर्वथा वृष्णिदारास्तु बालं वृद्धं तथैव च।
नयिष्ये परिगृह्याहमिन्द्रप्रस्थमरिन्दम ॥५॥**

"शत्रुदमन! अब मैं वृष्णिवंश की स्त्रियों, बालकों और वृद्धों को अपने साथ ले-जाकर इन्द्रप्रस्थ पहुँचा दूंगा।"

**इत्युक्त्वा दारुकमिदं वाक्यमाह धनञ्जयः।
अमात्यान्वृष्णिवीराणां द्रष्टुमिच्छामि मा चिरम् ॥६**

मामा से ऐसा कहकर अर्जुन ने दारुक से कहा—"अब मैं वृष्णिवंशी वीरों के मन्त्रियों से शीघ्र मिलना चाहता हूँ।"

**इत्येवमुक्त्वा वचनं सुधर्मां यादवीं सभाम्।
प्रविवेशार्जुनः शूरः शोचमानो महारथान् ॥७॥**

दारुक से ऐसा कहकर शूरवीर अर्जुन यादव-महारथियों के लिए शोक करते हुए यादवों की सुधर्मा नामक सभा में प्रविष्ट हुए।

**तमासनगतं तत्र सर्वाः प्रकृतयस्तथा।
ब्राह्मणा नैगमास्तत्र परिवार्योपतस्थिरे ॥८॥**

सभा में पहुँचकर अर्जुन एक सिंहासन पर बैठ गये। उस समय मन्त्री आदि समस्त प्रकृतिवर्ग के पुरुष तथा वेदवेत्ता ब्राह्मण उनके पास आये और उन्हें चारों ओर से घेरकर उनके समीप ही बैठ गये।

**तान् दीनमनसः सर्वान् विमूढान् गतचेतसः।
उवाचेदं वचः काले पार्थो दीनतरस्तथा ॥९॥**

उन सबके मन में दीनता छाई हुई थी। वे सभी किंकर्तव्यविमूढ़ और अचेत-से हो रहे थे। उनसे भी अधिक दीनभाव से युक्त अर्जुन उन सभासदों से उस समय यह समयोचित वचन बोले—

**शक्रप्रस्थमहं नेष्ये वृष्ण्यन्धकजनं स्वयम्।
सज्जीकुरुत यानानि रत्नानि विविधानि च ॥१०॥**

"मन्त्रियो! मैं वृष्णि और अन्धकवंश के लोगों को अपने साथ इन्द्रप्रस्थ ले जाऊँगा, अतः तुम लोग नाना प्रकार के वाहन और रत्न लेकर तैयार हो जाओ।

**सप्तमे दिवसे चैव रवौ विमल उद्गते।
बहिर्वत्स्यामहे सर्वे सज्जीभवत मा चिरम् ॥११॥**

"आज से सातवें दिन निर्मल सूर्योदय होते ही हम सब लोग नगर से बाहर हो जाएँगे, अतः सब लोग शीघ्र तैयार हो जाओ, विलम्ब मत करो।"

**इत्युक्तास्तेन ते सर्वे पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा।
सज्जमाशु ततश्चक्रुः स्वसिद्धयर्थं समुत्सुकाः ॥१२॥**

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले अर्जुन के इस प्रकार आज्ञा देने पर सभी मन्त्रियों ने अपनी अभीष्ट-सिद्धि और प्राणरक्षा के लिए अत्यन्त उत्सुक होकर शीघ्र ही तैयारी आरम्भ कर दी।

**तां रात्रिमवसत् पार्थः केशवस्य निवेशने।
महता शोकमोहेन सहसाभिपरिप्लुतः ॥१३॥**

अर्जुन ने भी सहसा महान् शोक और मोह से अभिभूत होकर उस रात्रि में श्रीकृष्ण के महल में निवास किया।

**श्वोभूतेऽथ ततः शौरिर्वसुदेवः प्रतापवान्।
युक्त्वाऽऽत्मानं महातेजा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥१४॥**

प्रभात होते ही महातेजस्वी शूरनन्दन प्रतापी वसुदेवजी ने अपने चित्त को परमात्मा में लगाकर योगसमाधि द्वारा उत्तम गति को प्राप्त किया।

**ततः शब्दो महानासीद् वसुदेवनिवेशने।
दारुणः क्रोशतीनां च रुदतीनां च योषिताम् ॥१५॥**

फिर तो वसुदेवजी के प्रासाद में बड़ा भारी कुहराम मच गया। वहाँ रोती-चिल्लाती हुई स्त्रियों का आर्तनाद बड़ा हृदय-द्रावक था।

प्रकीर्णमूर्धजाः सर्वा विमुक्ताभरणस्रजः।
उरांसि पाणिभिर्घ्नन्त्यो व्यलपन्करुणं स्त्रियः ॥१६॥

उन सबके बाल खुले हुए थे। उन्होंने आभूषण और मालाएँ तोड़कर फेंक दी थीं और वे सभी स्त्रियाँ अपने हाथों से छाती पीटती हुई करुणाजनक विलाप कर रही थीं।

ततः शौरिं नृयुक्तेन बहुमूल्येन भारत।
यानेन महता पार्थो बहिर्निष्क्रामयत्तदा ॥१७॥

भरतभूषण! वसुदेवजी के कालधर्म को प्राप्त होने पर अर्जुन मनुष्यों द्वारा उठाये जानेवाले एक बहुमूल्य और बहुत बड़े विमान पर उनके शव को रखवाकर उसे नगर से बाहर ले गये।

तमन्वयुस्तत्र तत्र दुःखशोकसमन्विताः।
द्वारकावासिनः सर्वे पौरजानपदा हिताः ॥१८॥

उस समय समस्त द्वारकावासी और आनर्त जनपद के लोग जो यादवों के हितैषी थे, वहाँ दुःख-शोक में मग्न होकर वसुदेवजी के शव के पीछे-पीछे गये।

यस्तु देशः प्रियस्तस्य जीवतोऽभून्महात्मनः।
तत्रैनमुपसंकल्प्य पितृमेधं प्रचक्रिरे ॥१९॥

महात्मा वसुदेवजी को अपने जीवनकाल में जो स्थानविशेष प्रिय था, उसी स्थान पर ले-जाकर अर्जुन आदि ने उनका पितृमेधकर्म [अन्त्येष्टि-संस्कार] किया।

ततः प्रादुरभूच्छब्दः समिद्धस्य विभावसोः।
सामगानां च निर्घोषो नराणां रुदतामपि ॥२०॥

उस समय प्रज्वलित चिता-अग्नि का चट-चट शब्द, सामगान करनेवाले ब्राह्मणों के वेदोच्चारण का गम्भीर घोष तथा रोते-बिलखते हुए मनुष्यों का आर्तनाद एकसाथ ही प्रकट हुआ।

अलुप्तधर्मस्तं धर्मं कारयित्वा स फाल्गुनः।
जगाम वृष्णयो यत्र विनष्टा भरतर्षभ ॥२१॥

भरतभूषण! अर्जुन ने कभी धर्म का लोप नहीं किया था। वह धर्मकृत्य [अन्त्येष्टि-संस्कार] करा-कर अर्जुन उस स्थान पर गये जहाँ वृष्णियों का महान् संहार हुआ था।

स तान्निपतितान् दृष्ट्वा कदने भृशदुःखितः।
बभूवातीव कौरव्यः प्राप्तकालं चकार ह।
यथा प्रधानतश्चैव चक्रे सर्वास्तथा क्रियाः ॥२२॥

उस भीषण मार-काट में मरकर धराशायी हुए यादवों को देखकर कुरुकुलनन्दन अर्जुन को बड़ा भारी दुःख हुआ। फिर उन्होंने युद्ध में मारे गये यदुवंशी वीरों के बड़े-छोटे के क्रम से सारे समयोचित कार्य [अन्त्येष्टि-संस्कार] सम्पन्न किये।

ततः शरीरे रामस्य वासुदेवस्य चोभयोः।
अन्विष्य दाहयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ॥२३॥

उन सबके अन्त्येष्टि-संस्कार करके अर्जुन ने विश्वस्त पुरुषों द्वारा बलराम और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण—इन दोनों के शरीरों की खोज कराके उनका भी दाह-संस्कार किया।

स तेषां विधिवत्कृत्वा प्रेतकार्याणि पाण्डवः।
सप्तमे दिवसे प्रायाद् रथमारुह्य सत्वरः ॥२४॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन उन सबके दाहकर्म विधिपूर्वक सम्पन्न करके सातवें दिन रथ पर आरूढ़ हो शीघ्रता-पूर्वक द्वारका से चल दिये।

अश्वयुक्तै रथैश्चापि गोखरोष्ट्रयुतैरपि।
स्त्रियस्ता वृष्णिवीराणां रुदत्यः शोककर्शिताः।
अनुजग्मुर्महात्मानं पाण्डुपुत्रं धनञ्जयम् ॥२५॥

उनके साथ घोड़े, बैल, गधे और ऊँटों से जुते हुए रथों पर बैठकर शोक से दुर्बल हुई वृष्णिवंशी वीरों की पत्नियाँ रोती हुई चलीं। उन सबने पाण्डु-पुत्र महात्मा अर्जुन का अनुगमन किया।

भृत्यास्त्वन्धकवृष्णीनां सादिनो रथिनश्च ये।
वीरहीनं वृद्धबालं पौरजानपदास्तथा।
ययुस्ते परिवार्याथ कलत्रं पार्थशासनात् ॥२६॥

अर्जुन की आज्ञा पाकर अन्धकों और वृष्णियों के सेवक [नौकर], घुड़सवार, रथी और नगर तथा प्रान्त के लोग वृद्ध और बालकों से युक्त विधवा स्त्रियों को चारों ओर से घेरकर चलने लगे।

काननेषु च रम्येषु पर्वतेषु नदीषु च।
निवसन्नानयामास वृष्णिदारान् धनञ्जयः ॥२७॥

अर्जुन रमणीय काननों, पर्वतों और नदियों के तट पर निवास करते हुए वृष्णिवंश की स्त्रियों को ले-जा रहे थे।

स पञ्चनदमासाद्य धीमानतिसमृद्धिमत् ।
देशे गोपशुधान्याढ्ये निवासमकरोत्प्रभुः ।।२८।।

चलते-चलते बुद्धिमान् तथा सामर्थ्यशाली अर्जुन ने अत्यन्त समृद्धिशाली पञ्चनद देश में पहुँचकर, जो गौ, पशु तथा धन-धान्य से सम्पन्न था, पड़ाव डाला।

ततो लोभः समभवद् दस्यूनां निहतेश्वराः ।
दृष्ट्वा स्त्रियो नीयमानाः पार्थेनैकेन भारत ।।२९।।

भरतकुलभूषण ! धनञ्जय को अकेले इतनी हतनाथा [जिनके पति मारे गये थे] स्त्रियों को ले-जाते हुए देखकर वहाँ रहनेवाले लुटेरों के मन में लोभ उत्पन्न हो गया।

ततस्ते पापकर्माणो लोभोपहतचेतसः ।
आभीरा मन्त्रयामासुः समेत्याशुभदर्शनाः ।।३०।।

लोभ के कारण उनके चित्त की विवेकशक्ति नष्ट हो गई। उन अशुभदर्शी, पापकर्मकारी आभीरों ने परस्पर मिलकर परामर्श किया [सलाह की]।

अयमेकोऽर्जुनो धन्वी वृद्धबालं हतेश्वरम् ।
नयत्यस्मानतिक्रम्य योधाश्चेमे हतौजसः ।।३१।।

"भाइयो ! देखो, यह अकेला धनुर्धर अर्जुन और ये हतोत्साह सैनिक हम लोगों का अतिक्रमण करके वृद्धों और बालकोंसहित इन हतनाथा स्त्रियों को लिये जा रहे हैं [अतः, इनपर आक्रमण करना चाहिए]।"

ततो यष्टिप्रहरणा दस्यवस्ते सहस्रशः ।
अभ्यधावन्त वृष्णीनां तं जनं लोप्त्रहारिणः ।।३२।।

ऐसा निश्चय करके लूट का माल हड़प करनेवाले वे लट्ठधारी लुटेरे वृष्णिवंशियों के उस समुदाय पर सहस्रों की संख्या में टूट पड़े।

ततो निवृत्तः कौन्तेयः सहसा सपदानुगः ।
उवाच तान् महाबाहुरर्जुनः प्रहसन्निव ।।३३।।

आक्रमणकारियों को पीछे की ओर से धावा करते देख कुन्तीकुमार महाबाहु अर्जुन सेवकोंसहित सहसा लौट पड़े और उन लुटेरों से हँसते हुए-से बोले—

निवर्तध्वमधर्मज्ञा यदि जीवितुमिच्छथ ।
इदानीं शरनिर्भिन्नाः शोचध्वं निहता मया ।।३४।।

"अरे अधर्मी जनो ! यदि जीवित रहना चाहते हो तो लौट जाओ, अन्यथा मेरे द्वारा मारे जाकर या मेरे बाणों से विदीर्ण होकर इस समय तुम अत्यन्त शोक में डूब जाओगे।"

तथोक्तास्तेन वीरेण कदर्थीकृत्य तद्वचः ।
अभिपेतुर्जनं मूढा वार्यमाणाः पुनः पुनः ।।३५।।

वीरवर अर्जुन के ऐसा कहने पर भी उनके वचनों की अवहेलना और उपहास करते हुए वे मूढ़ भील उनके बारम्बार मना करने पर भी उस जनसमुदाय पर टूट पड़े।

ततोऽर्जुनो धनुर्दिव्यं गाण्डीवमजरं महत् ।
आरोपयितुमारेभे यत्नादिव कथञ्चन ।।३६।।

तब अर्जुन ने अपने दिव्य और कभी जीर्ण न होनेवाले विशाल गाण्डीव धनुष को चढ़ाना आरम्भ किया और अत्यन्त प्रयत्न तथा कष्ट से किसी प्रकार उसे चढ़ा दिया।

चकार सज्जं कृच्छ्रेण सम्भ्रमे तुमुले सति ।
चिन्तयामास शस्त्राणि न च सस्मार तान्यपि ।।३७।।

भयंकर मारकाट छिड़ने पर बड़ी कठिनाई से उन्होंने धनुष पर प्रत्यञ्चा तो चढ़ा दी, परन्तु जब वे अपने अस्त्र-शस्त्रों का चिन्तन करने लगे, तब उन्हें उनका स्मरण ही नहीं हुआ।

वैकृतं तन्महद् दृष्ट्वा भुजवीर्ये तथा युधि ।
दिव्यानां च महास्त्राणां विनाशाद्व्रीडितोऽभवत् ।।३८

युद्ध के अवसर पर अपने बाहुबल में यह महान् विकार आया देख तथा महान् दिव्यास्त्रों का विस्मरण हुआ जान वे लज्जित हो गये।

वृष्णियोधाश्च ते सर्वे गजाश्वरथयोधिनः ।
न शेकुरावर्तयितुं ह्रियमाणं च तं जनम् ।।३९।।

हाथी, घोड़े और रथ पर बैठकर युद्ध करनेवाले समस्त वृष्णिसैनिक भी उन डाकुओं द्वारा खदेड़कर ले-जाते हुए अपने मनुष्यों को लौटा न सके।

कलत्रस्य बहुत्वाद्धि सम्पतत्सु ततस्ततः ।
प्रयत्नमकरोत् पार्थो जनस्य परिरक्षणे ।।४०।।

उस समुदाय में स्त्रियों की संख्या बहुत थी, अतः डाकू चारों ओर से उनपर आक्रमण करने लगे। धनञ्जय ने भी उनकी रक्षा के लिए बहुत प्रयत्न किया [परन्तु सब निष्फल ही रहा]।

मिषतां सर्वयोधानां ततस्ताः प्रमदोत्तमाः ।
समन्ततोऽवकृष्यन्त कामाच्चान्याः प्रवव्रजुः ।।४१।।

समस्त योद्धाओं के देखते-देखते वे डाकू उन सुन्दरी स्त्रियों को चारों ओर से खींच-खींचकर ले-जाने लगे। अन्य बहुत-सी स्त्रियाँ स्वेच्छा से उनकी अनुगामिनी बन गईं [चुपचाप उनके साथ चली गईं]।

ततो गाण्डीवनिर्मुक्तैः शरैः पार्थो धनञ्जयः ।
जघान् दस्यून् सोद्वेगो वृष्णिभृत्यैः सहस्रशः ।।४२।।

उन स्त्रियों का हरण होते देख कुन्तीकुमार अर्जुन उद्विग्न होकर सहस्रों वृष्णि सैनिकों को साथ ले गाण्डीव धनुष से छूटे हुए बाणों द्वारा उन लुटेरों को मारने लगे।

क्षणेन तस्य ते राजन् क्षयं जग्मुरजिह्मगाः ।
अक्षया हि पुरा भूत्वा क्षीणाः क्षतजभोजनाः ।।४३।।

हे राजेन्द्र ! अर्जुन के सीधे जानेवाले बाण क्षणभर में ही समाप्त हो गये। जो रक्त पीनेवाले बाण पहले अक्षय थे, वे ही उस समय सर्वथा क्षय को प्राप्त हो गये।

स शरक्षयमासाद्य दुःखशोकसमाहितः ।
धनुष्कोट्या तदा दस्यूनवधीत्पाकशासनिः ।।४४।।

बाणों के समाप्त हो जाने पर दुःख और शोक से अभिभूत हुए इन्द्रकुमार अर्जुन ने धनुष की नोक से ही उन डाकुओं को मारना आरम्भ किया।

प्रेक्षतस्त्वेव पार्थस्य वृष्ण्यन्धकवरस्त्रियः ।
जग्मुरादाय ते म्लेच्छाः समन्ताज्जनमेजय ।।४५।।

परन्तु जनमेजय ! अर्जुन देखते ही रह गये और वे म्लेच्छ लुटेरे सब ओर से वृष्णि तथा अन्धकवंश की रूपवती नारियों को लूट ले गये।[1]

धनञ्जयस्तु दैवं तन्मनसाऽचिन्तयत्प्रभुः ।
दुःखशोकसमाविष्टो निःश्वासपरमोऽभवत् ।।४६।।

प्रभावशाली अर्जुन ने मन-ही-मन इसे दैव [भाग्य] का विधान समझा और दुःख तथा शोक-सागर में निमग्न हो वे लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ने लगे।

अस्त्राणां च प्रणाशेन बाहुवीर्यस्य संक्षयात् ।
धनुषश्चाविधेयत्वाच्छराणां संक्षयेण च ।।४७।।
बभूव विमनाः पार्थो दैवमित्यनुचिन्तयन् ।
न्यवर्तत ततो राजन् नेदमस्तीति चाब्रवीत् ।।४८।।

अस्त्रशस्त्रों का ज्ञान लुप्त हो गया, बाहुबल मन्द पड़ गया, धनुष काबू से बाहर हो गया और अक्षय बाणों का भी क्षय हो गया—इन सब बातों से अर्जुन का मन खिन्न हो गया। वे इन सब घटनाओं को दैव का विधान मानने लगे। राजन् ! तब अर्जुन युद्ध से निवृत्त हो गये और बोले—"यह अस्त्रज्ञान आदि कुछ भी नित्य नहीं है।"

ततः शेषं समादाय कलत्रस्य महामतिः ।
हृतभूयिष्ठरत्नस्य कुरुक्षेत्रमवातरत् ।।४९।।

तदनन्तर अपहरण से बची हुई स्त्रियों और जिनका अधिक भाग लूट लिया था, ऐसे बचे-खुचे रत्नों को साथ लेकर परम बुद्धिमान् अर्जुन कुरुक्षेत्र में उतरे।

एवं कलत्रमानीय वृष्णीनां हृतशेषितम् ।
न्यवेशयत कौरव्यस्तत्र तत्र धनञ्जयः ।।५०।।

इस प्रकार अपहरण से बची हुई वृष्णिवंश की स्त्रियों को लाकर कुरुनन्दन अर्जुन ने उन्हें जहाँ-तहाँ बसा दिया।

हार्दिक्यतनयं पार्थो नगरे मार्तिकावते ।
भोजराजकलत्रं च हृतशेषं नरोत्तमः ।।५१।।

कृतवर्मा के पुत्र और भोजराज के परिवार की अपहरण से बची हुई स्त्रियों को नरश्रेष्ठ अर्जुन ने मार्तिकावत नगर में बसा दिया।

ततो वृद्धांश्च बालांश्च स्त्रियश्चादाय पाण्डवः ।
वीरैर्विहीनान् सर्वांस्ताञ्शक्रप्रस्थे न्यवेशयत् ।।५२।।

तत्पश्चात् वीरों से रहित समस्त बालकों, वृद्धों और अन्य स्त्रियों को साथ लेकर ये पाण्डुकुमार

---

१. आभीरों द्वारा अर्जुन की यह पराजय महाभारत को इतिहास सिद्ध कर रही है। महाभारत-युद्ध का महान् विजेता, बड़े-बड़े शूरवीरों का संहारक साधारण लट्ठ-धारी अहीरों से परास्त हो गया। यदि महाभारत काल्पनिक ग्रन्थ होता तो उसका लेखक अपने नायक को ऐसा अपमानित कभी न कराता।

अर्जुन इन्द्रप्रस्थ में आये और उन सबको वहाँ का वासी बना दिया।

यौयुधानिं सरस्वत्यां पुत्रं सात्यकिनः प्रियम्।
न्यवेशयत धर्मात्मा वृद्धबालपुरस्कृतम् ।।५३।।

धर्मात्मा अर्जुन ने सात्यकि के प्रिय पुत्र यौयुधानि को वृद्धों तथा बालकों के साथ सरस्वती के तटवर्ती देश का अधिकारी तथा निवासी बना दिया।

इन्द्रप्रस्थे ददौ राज्यं वज्राय परवीरहा।
वज्रेणाक्रूरदारास्तु वार्यमाणाः प्रवव्रजुः ।।५४।।

शत्रुवीरों का संहार करनेवाले अर्जुन ने वज्र को इन्द्रप्रस्थ का राज्य सौंप दिया। अक्रूरजी की स्त्रियाँ वज्र के बारम्बार मना करने पर भी वन में तपस्या करने के लिए चली गईं।

स तत्कृत्वा प्राप्तकालं बाष्पेणापिहितोऽर्जुनः।
कृष्णद्वैपायनं व्यासं ददर्शासीनमाश्रमे ।।५५।।

इस प्रकार समयोचित व्यवस्था करके अर्जुन नेत्रों से आँसू बहाते हुए महर्षि व्यास के आश्रम पर गये और वहाँ विराजमान महर्षि का उन्होंने दर्शन किया।

इति महाभारते मौसलपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

पञ्चमोऽध्याय।

अर्जुन और व्यासजी का वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

स तमासाद्य धर्मज्ञमुपतस्थे महाव्रतम्।
अर्जुनोऽस्मीति नामास्मै निवेद्याभ्यवदत् ततः ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महान् व्रतधारी और धर्मों के ज्ञाता व्यासजी के पास पहुँचकर 'मैं अर्जुन हूँ'—ऐसा कहते हुए धनञ्जय ने उनके चरणों में प्रणाम किया। तत्पश्चात् वे उनके समीप ही खड़े हो गये।

स्वागतं तेऽस्त्विति प्राह मुनिः सत्यवतीसुतः।
आस्यतामिति होवाच प्रसन्नात्मा महामुनिः ।।२।।

उस समय प्रसन्नचित्त महामुनि सत्यवतीनन्दन व्यासजी ने अर्जुन से कहा—"पुत्र! तुम्हारा स्वागत है, आओ, इधर बैठो।"

तमप्रतीतमनसं निःश्वसन्तं पुनः पुनः।
निर्विण्णमनसं दृष्ट्वा पार्थं व्यासोऽब्रवीदिदम् ।।३।।

अर्जुन को अशान्तमन, खिन्न और उदासचित्त तथा बारम्बार लम्बी साँस छोड़ते हुए देखकर महामुनि व्यासजी ने पूछा—

नखकेशदशाकुम्भवारिणा किं समुक्षितः।
अवीरजानुगमनं ब्राह्मणो वा हतस्त्वया।
युद्धे पराजितो वासि गतश्रीरिव लक्ष्यसे ।।४।।

पार्थ! क्या तुमने नख, बाल अथवा अधोवस्त्र [धोती] की कोर पड़ जाने से अशुद्ध हुए घड़े के जल से स्नान कर लिया है? क्या तुमने रजस्वला स्त्री से समागम किया है? अथवा तुमने किसी ब्राह्मण का वध तो नहीं किया है? कहीं तुम युद्ध में परास्त तो नहीं हुए हो, क्योंकि तुम श्रीहीन से दिखाई देते हो?

न त्वां प्रभिन्नं जानामि किमिदं भरतर्षभ।
श्रोतव्यं चेन्मया पार्थ क्षिप्रमाख्यातुमर्हसि ।।५।।

भरतश्रेष्ठ! तुम कभी पराजित हुए हो—यह मैं नहीं जानता; फिर तुम्हारी ऐसी शोचनीय अवस्था क्यों है? पार्थ! यदि मेरे सुनने योग्य हो तो मुझे अपनी इस मलिनता [श्रीहीनता] का कारण शीघ्र बताओ।

अर्जुन उवाच

यः स मेघवपुः श्रीमान् बृहत्पङ्कजलोचनः।
स कृष्णः सह रामेण त्यक्त्वा देहं दिवं गतः ।।६।।

अर्जुन ने कहा—भगवन्! जिनकी देहश्री [देह का सौन्दर्य] मेघ के समान श्याम था और जिनके नेत्र विशाल कमलदल के समान थे, वे श्रीकृष्ण बलरामजी के साथ शरीर त्यागकर दिवंगत हो गये।

मौसले वृष्णिवीराणां विनाशो कालधर्मणा।
बभूव वीरान्तकरः प्रभासे लोमहर्षणः ।।७।।

कालधर्मा मृत्यु की प्रेरणा से मौसल युद्ध में वृष्णि-वंशी वीरों का विनाश हो गया। बड़े-बड़े वीरों का अन्तकर देनेवाला वह रोमाञ्चकारी संग्राम प्रभास-क्षेत्र में घटित हुआ था।

ये ते शूरा महात्मानः सिंहदर्पा महाबलाः।
भोजवृष्ण्यन्धका ब्रह्मन्नन्योऽन्यं तैर्हतं युधि ॥८॥

ब्रह्मन्! भोज, वृष्णि और अन्धकवंश के जो महामनस्वी, शूरवीर, सिंह के समान दर्पशाली और महान् बलवान् थे, वे सभी गृहयुद्ध में एक-दूसरे के द्वारा मार डाले गये।

पुनः पुनर्न मृष्यामि विनाशममितौजसाम्।
चिन्तयानो यदूनां च कृष्णस्य च यशस्विनः ॥९॥
शोषणं सागरस्येव पर्वतस्येव चालनम्।
नभसः पतनं चैव शैत्यमग्नेस्तथैव च ॥१०॥
अश्रद्धेयमहं मन्ये विनाशं शार्ङ्गधन्वनः।
न चेह स्थातुमिच्छामि लोके कृष्णविनाकृतः ॥११॥

उन अमित तेजस्वी वीरों के विनाश का दुःख मुझसे किसी भी प्रकार सहन नहीं होता है। मैं बारम्बार उस दुःख से व्यथित हो जाता हूँ। यशस्वी श्रीकृष्ण और यदुवंशियों के परलोकगमन की बात सोचकर तो मुझे ऐसा जान पड़ता है, मानो समुद्र सूख गया, पर्वत हिलने लगे, आकाश फट पड़ा और अग्नि के स्वभाव में शीतलता आ गई। शार्ङ्ग धनुष-धारी श्रीकृष्ण भी मृत्यु के अधीन हो गये हैं, यह बात विश्वास के योग्य नहीं है। मैं इसे विश्वास योग्य नहीं मानता। फिर भी श्रीकृष्ण मुझे छोड़कर चले गये। मैं इस संसार में उनके बिना रहना नहीं चाहता।

इतः कष्टतरं चान्यच्छृणु तद् वै तपोधनः।
मनो मे दीर्यते येन चिन्तयानस्य वै मुहुः ॥१२॥
पश्यतो वृष्णिदाराश्च मम ब्रह्मन् सहस्रशः।
आभीरैरनुसृत्याजौ हृताः पञ्चनदालयैः ॥१३॥

तपोधन! इसके सिवा जो दूसरी घटना घटित हुई है, वह इससे भी अधिक कष्टदायक है। आप उसे भी सुनिए! जब मैं उस घटना का विचार करता हूँ, तब बारम्बार मेरा हृदय फटने लगता है। ब्रह्मन्! पञ्जाब के अहीरों ने मुझसे युद्ध करके मेरे देखते-देखते वृष्णिवंश की सहस्रों स्त्रियों का अपहरण कर लिया।

धनुरादाय तत्राहं नाशकं तस्य पूरणे।
यथा पुरा च मे वीर्यं भुजयोर्न तथाभवत् ॥१४॥

मैंने धनुष लेकर उनका सामना करना चाहा, परन्तु मैं उसपर प्रत्यञ्चा न चढ़ा सका, मेरी भुजाओं में जैसा बल पहले था, वैसा अब नहीं रहा।

अस्त्राणि मे प्रणष्टानि विविधानि महामुने।
शराश्च क्षयमापन्नाः क्षणेनैव समन्ततः ॥१५॥

महामुने! मेरा नाना प्रकार के अस्त्रों का ज्ञान लुप्त हो गया। मेरे सभी बाण चहुँ ओर जाकर क्षण-भर में नष्ट हो गये।

यश्च याति पुरस्तान्मे रथस्य सुमहाद्युतिः।
प्रदहन् रिपुसैन्यानि न पश्याम्यहमच्युतम् ॥१६॥

जो महातेजस्वी श्रीकृष्ण शत्रुओं की सेनाओं को भस्म करते हुए मेरे रथ के आगे-आगे चलते थे, वे ही अच्युत [अपनी मर्यादा से न हटनेवाले] श्रीकृष्ण अब मुझे दिखाई नहीं देते।

परिनिर्विण्णचेताश्च शान्तिं नोपलभेऽपि च।
विना जनार्दनं वीरं नाहं जीवितुमुत्सहे ॥१७॥

मेरे चित्त में निर्वेद [वैराग्य] छा गया है और मुझे कहीं भी शान्ति नहीं मिल रही है। वीर जनार्दन के बिना अब मैं जीवित नहीं रहना चाहता।

प्रणष्टज्ञातिवीर्यस्य शून्यस्य परिधावतः।
उपदेष्टुं मम श्रेयो भगवानर्हति सत्तम ॥१८॥

मेरे सगोत्र भाइयों का विनाश तो पहले ही हो गया था, अब मेरा पराक्रम भी नष्ट हो गया, अतः मैं शून्यहृदय होकर इधर-उधर भटक रहा हूँ। सन्तों में श्रेष्ठ महर्षे! आप कृपा करके मुझे यह उपदेश दें कि मेरा कल्याण कैसे होगा?

व्यास उवाच

विनष्टाः कुरुशार्दूल वृष्ण्यन्धकमहारथाः।
भवितव्यं तथा तच्च न ताञ्शोचितुमर्हसि ॥१९॥

व्यासजी बोले—कुरुश्रेष्ठ! वृष्णि और अन्धक-वंश के महारथी महावीर [परस्पर लड़कर] नष्ट हो गये। उन वीरों की भवितव्यता ही ऐसी थी, अतः तुम उनके लिए शोक मत करो।

कृतकृत्यांश्च वो मन्ये संसिद्धान् कुरुपुङ्गव ।
गमनं प्राप्तकालं व इदं श्रेयस्करं विभो ॥२०॥

कुरुश्रेष्ठ ! मैं समझता हूँ कि तुम लोग पृथिवी पर जिस कार्य के लिए आये थे, तुम लोगों ने उसे पूर्ण कर लिया है। तुम्हें सब प्रकार से सफलता प्राप्त हो चुकी है। प्रभो ! अब तुम्हारे परलोकगमन का समय आ पहुँचा है और तुम्हारे लिए यहाँ से प्रस्थान करना ही कल्याणकारी है।

बलं बुद्धिश्च तेजश्च प्रतिपत्तिश्च भारत ।□
भवन्ति भवकालेषु विपद्यन्ते विपर्यये ॥२१॥

भरतभूषण ! जब मनुष्य के उत्थान का समय आता है तब मनुष्य के बल, बुद्धि और ज्ञान का विकास होता है और जब विपरीत समय आता है, तब इन सबका विनाश हो जाता है।

कालमूलमिदं सर्वं जगद्बीजं धनञ्जय ।□
काल एव समादत्ते पुनरेव यदृच्छया ॥२२॥

धनञ्जय ! काल ही इन सबकी जड़ है। संसार की उत्पत्ति का बीज भी काल ही है और काल ही अकस्मात् सबका संहार कर देता है।

स एव बलवान् भूत्वा पुनर्भवति दुर्बलः ।
स एवेशश्च भूत्वेह परैराज्ञाप्यते पुनः ॥२३॥

काल के कारण मनुष्य बलवान् होकर फिर दुर्बल हो जाता है और काल के ही कारण वह एक समय दूसरों का शासक होकर कालान्तर में स्वयं दूसरों का आज्ञापालक बन जाता है।

वैशम्पायन उवाच

एतद् वचनमाज्ञाय व्यासस्यामिततेजसः ।
अनुज्ञातो ययौ पार्थो नगरं नागसाह्वयम् ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अमित-तेजस्वी व्यासजी के इस वचन का तत्त्व समझकर अर्जुन उनकी आज्ञा ले हस्तिनापुर को चले गये।

प्रविश्य च पुरीं वीरः समासाद्य युधिष्ठिरम् ।
आचष्ट तद् यथावृत्तं वृष्ण्यन्धककुलं प्रति ॥२५॥

नगर में प्रविष्ट होकर अर्जुन युधिष्ठिरजी से मिले और वृष्णि तथा अन्धकवंशियों के महाविनाश का याथातथ्य समाचार उन्हें कह सुनाया।

इति महाभारते मौसलपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

॥ इति मौसलपर्व सम्पूर्णम् ॥

महाप्रस्थानिकपर्व

प्रथमोऽध्याय:

द्रौपदीसहित पाण्डवों का महाप्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैवं कौरवो राजा वृष्णीनां कदनं महत् ।
प्रस्थाने मतिमाधाय वाक्यमर्जुनमब्रवीत् ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! कुरुराज युधिष्ठिर ने जब इस प्रकार वृष्णिवंशियों के महान् संहार का वृत्तान्त सुना, तब उन्होंने महाप्रस्थान का निश्चय कर अर्जुन से कहा—

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महामते ।
कालपाशमहं मन्ये त्वमपि द्रष्टुमर्हसि ।।२।।

"महामते ! काल ही समस्त भूतों को पचा रहा है—विनाश की ओर ले-जा रहा है। अब मैं भी काल के बन्धन को स्वीकार करता हूँ। तुम भी इसपर दृष्टिपात करो।"

इत्युक्तः स तु कौन्तेयः कालः काल इति ब्रुवन् ।
अन्वपद्यत तद् वाक्यं भ्रातुर्ज्येष्ठस्य धीमतः ।।३।।

भाई के ऐसा कहने पर कुन्तीकुमार अर्जुन ने 'काल तो काल ही है, इसे टाला नहीं जा सकता'—ऐसा कहकर अपने बड़े भाई बुद्धिमान् युधिष्ठिर का अनुमोदन किया।

अर्जुनस्य मतं ज्ञात्वा भीमसेनो यमौ तथा ।
अन्वपद्यन्त तद् वाक्यं यदुक्तं सव्यसाचिना ।।४।।

अर्जुन के कालविषयक विचार को जानकर भीमसेन तथा नकुल और सहदेव ने भी उनकी कही हुई बात का अनुमोदन किया।

ततो युयुत्सुमानाय्य प्रव्रजन् धर्मकाम्यया ।
राज्यं परिददौ सर्वं वैश्यापुत्रे युधिष्ठिरः ।।५।।

तदनन्तर धर्म की इच्छा से राज्य को छोड़कर जानेवाले युधिष्ठिर ने वैश्यापुत्र युयुत्सु को बुलाकर उन्हीं को सम्पूर्ण राज्य की देख-भाल का भार सौंप दिया।

अभिषिच्य स्वराज्ये च राजानं च परिक्षितम् ।
दुःखार्तश्चाब्रवीद् राजा सुभद्रां पाण्डवाग्रजः ।।६।।

राज्य के निरीक्षण का कार्य युयुत्सु पर सौंपकर तथा अपने राज्य पर राजा परिक्षित् का अभिषेक करके पाण्डवों के बड़े भाई महाराज युधिष्ठिर ने दुःख से आर्त होकर सुभद्रा से कहा—

एष पुत्रस्य ते पुत्रः कुरुराजो भविष्यति ।
यदूनां परिशेषश्च वज्रो राजा कृतश्च ह ।।७।।

'पुत्री ! तुम्हारे पुत्र का पुत्र यह परिक्षित् कुरुदेश तथा कौरववंश का राजा होगा और यादवों में जो लोग बच गये हैं, उनका राजा श्रीकृष्ण-पौत्र वज्र को बनाया गया है।

परिक्षिद्धास्तिनपुरे शक्रप्रस्थे च यादवः ।
वज्रो राजा त्वया रक्ष्यो मा चाधर्मे मनः कृथाः ।।८।।

"परिक्षित् हस्तिनापुर में राज्य करेंगे तथा यदुवंशी वज्र इन्द्रप्रस्थ में। तुम्हें राजा वज्र की भी रक्षा करनी चाहिए और अपने मन को कभी अधर्म की ओर नहीं जाने देना चाहिए।"

कृपमभ्यर्च्य च गुरुमथ पौरपुरस्कृतम् ।
शिष्यं परिक्षितं तस्मै ददौ भरतसत्तमः ।।९।।

तदनन्तर गुरुवर कृपाचार्य का सम्मान करके उन्होंने पुरवासियोंसहित परिक्षित् को शिष्यभाव से उनकी सेवा में सौंप दिया।

ततस्तु प्रकृतीः सर्वाः समानाय्य युधिष्ठिरः ।
सर्वमाचष्ट राजर्षिश्चिकीर्षितमथात्मनः ॥१०॥

तत्पश्चात् समस्त प्रकृतियों [प्रजा—मन्त्री आदि] को बुलाकर राजर्षि युधिष्ठिर ने, वे जो कुछ करना चाहते थे अपना वह सारा विचार [महाप्रथान का निश्चय] उनसे कह सुनाया ।

ते श्रुत्वैव वचस्तस्य पौरजानपदा जनाः ।
भृशमुद्विग्नमनसो नाभ्यनन्दन्त तद्वचः ॥११॥
नैवं कर्तव्यमिति ते तदोचुस्तं जनाधिपम् ।
न च राजा तथाकार्षीत् कालपर्यायधर्मवित् ॥१२॥

उनका वह प्रस्ताव सुनते ही नगर तथा जनपद के निवासी मन-ही-मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठे । उन्होंने उनके वचनों का स्वागत नहीं किया । वे सब राजा से एक-साथ बोले—'आपको ऐसा नहीं करना चाहिए अर्थात् आप हमें छोड़कर कहीं न जाएँ ।' परन्तु धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर काल के उलट-फेर के अनुसार जो कर्तव्य प्राप्त था, उसे जानते थे, अतः उन्होंने प्रजा के कथन को स्वीकार नहीं किया ।

ततोऽनुमान्य धर्मात्मा पौरजानपदं जनम् ।
गमनाय मतिं चक्रे भ्रातरश्चास्य ते तदा ॥१३॥

उन धर्मात्मा नरेश ने नगर तथा जनपद-निवासियों को समझा-बुझाकर उनकी अनुमति प्राप्त कर ली । तत्पश्चात् उन्होंने और उनके भाइयों ने सब-कुछ त्यागकर महाप्रस्थान करने का ही निश्चय किया ।

ततः स राजा कौरव्यो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उत्सृज्याभरणान्यङ्गाज्जगृहे वल्कलान्युत ॥१४॥
भीमार्जुनौ यमौ चैव द्रौपदी च यशस्विनी ।
तथैव जगृहुः सर्वे वल्कलानि नराधिप ॥१५॥

तत्पश्चात् कुरुकुलभूषण धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अपने अङ्गों से आभूषण उतारकर वल्कल वस्त्र धारण कर लिये । नरेश्वर ! फिर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और यशस्विनी द्रौपदी—इन सबने भी उसी प्रकार वल्कल धारण कर लिये ।

विधिवत् कारयित्वेष्टिं नैष्ठिकीं भरतर्षभ ।
समुत्सृज्याप्सु सर्वेऽग्नीन् प्रतस्थुर्नरपुङ्गवाः ॥१६॥

भरतभूषण ! तदनन्तर ब्राह्मणों से विधिपूर्वक उत्सर्गकालिक इष्टि करवाकर उन सभी नरश्रेष्ठ पाण्डवों ने अग्नियों का जल में विसर्जन कर दिया तथा वे सभी महायात्रा के लिए चल पड़े ।

ततः प्ररुरुदुः सर्वाः स्त्रियो दृष्ट्वा नरोत्तमान् ।
प्रस्थितान् द्रौपदीषष्ठान् पुरा द्यूतजितान् यथा ।
हर्षोऽभवच्च सर्वेषां भ्रातॄणां गमनं प्रति ॥१७॥

पहले जुए में पराजित होकर पाण्डव लोग जिस प्रकार वन में गये थे, उसी प्रकार उस दिन उन नरश्रेष्ठ पाँचों पाण्डवों तथा छठी द्रौपदी को इस प्रकार जाते देख नगर की सभी स्त्रियाँ रोने लगीं, परन्तु उन भाइयों को इस यात्रा से अपार हर्ष हुआ ।

युधिष्ठिरमतं ज्ञात्वा वृष्णिक्षयमवेक्ष्य च ।
भ्रातरः पञ्च कृष्णा च षष्ठी श्वा चैव सप्तमः ॥१८॥
आत्मनः सप्तमो राजा निर्ययौ गजसाह्वयात् ।
पौरैरनुगतो दूरं सर्वैरन्तःपुरैस्तथा ॥१९॥

युधिष्ठिर का अभिप्राय जान तथा वृष्णिवंशियों के महासंहार का वृत्तान्त सुनकर पाँचों भाई पाण्डव, द्रौपदी और एक कुत्ता—ये सब साथ-साथ चले । उन छहों को साथ लेकर सातवें राजा युधिष्ठिर जब हस्तिनापुर से बाहर निकले, तब नगर-निवासी प्रजा और अन्तःपुर की स्त्रियाँ उन्हें बहुत दूर तक पहुँचाने गईं ।

न्यवर्तन्त ततः सर्वे नरा नगरवासिनः ।
कृपप्रभृतयश्चैव युयुत्सुं पर्यवारयन् ॥२०॥

उन्हें पर्याप्त दूर तक पहुँचाकर धीरे-धीरे समस्त पुरवासी तथा कृपाचार्य आदि युयुत्सु को घेरकर उनके साथ ही लौट आये ।

पाण्डवाश्च महात्मानो द्रौपदी च यशस्विनी ।
कृतोपवासाः कौरव्य प्रययुः प्राङ्मुखास्ततः ॥२१॥

कुरुनन्दन ! इधर ये लोग नगर में लौट आये, उधर महात्मा पाण्डव और यशस्विनी द्रौपदी—ये सब-के-सब उपवास का व्रत लेकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके चल दिये ।

युधिष्ठिरो ययावग्रे भीमस्तु तदनन्तरम् ।
अर्जुनस्तस्य चान्वेव यमौ चापि यथाक्रमम् ॥२२॥

आगे-आगे युधिष्ठिर चलते थे । उनके पीछे

भीमसेन थे। भीमसेन के पश्चात् अर्जुन और उनके पीछे-पीछे क्रमशः नकुल तथा सहदेव चल रहे थे।

पृष्ठतस्तु वरारोहा श्यामा पद्मदलेक्षणा।
द्रौपदी योषितां श्रेष्ठा ययौ भरतसत्तम ॥२३॥

भरतभूषण! इन सबके पीछे सुन्दर शरीरवाली, श्यामवर्णा, कमलपत्र के समान विशाल लोचनोंवाली, युवतियों में श्रेष्ठ द्रौपदी चल रही थी।

श्वा चैवानुययावेकः प्रस्थितान्पाण्डवान्वनम्।
क्रमेण ते ययुर्वीरा लौहित्यं सलिलार्णवम् ॥२४॥

जिस समय पाण्डवों ने वन के लिए प्रस्थान किया तभी से एक कुत्ता भी उनके पीछे चला आ रहा था। क्रमशः चलते हुए ये वीर पाण्डव लालसागर के तट पर जा पहुँचे।

ततस्ते तूत्तरेणैव तीरेण लवणाम्भसः।
जग्मुर्भरतशार्दूल दिशं दक्षिणपश्चिमाम् ॥२५॥

भरतकुलभूषण! तत्पश्चात् वे लवण-समुद्र के उत्तर-तट पर होते हुए दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर आगे बढ़ने लगे।

ततः पुनः समावृत्ताः पश्चिमां दिशमेव ते।
ददृशुर्द्वारकां चापि सागरेण परिप्लुताम् ॥२६॥
उदीचीं पुनरावृत्य ययुर्भरतसत्तमाः।
प्रादक्षिण्यं चिकीर्षन्तः पृथिव्या योगधर्मिणः ॥२७॥

तत्पश्चात् वे केवल पश्चिम दिशा की ओर मुड़ गये। आगे जाकर उन्होंने समुद्र में डूबी हुई द्वारकापुरी को देखा। तदनन्तर योगमार्ग में स्थित हुए भरतश्रेष्ठ पाण्डवों ने वहाँ से लौटकर पृथिवी की परिक्रमा करने की इच्छा से उत्तर दिशा की ओर यात्रा आरम्भ की।

इति महाभारते महाप्रस्थानिकपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

मार्ग में द्रौपदी और चारों पाण्डवों का गिरना तथा युधिष्ठिर का प्रत्येक के गिरने का कारण बताना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते नियतात्मान उदीचीं दिशमास्थिताः।
ददृशुर्योगयुक्ताश्च हिमवन्तं महागिरिम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मन को वश में रखकर उत्तर दिशा का आश्रय लेनेवाले योगयुक्त पाण्डवों ने मार्ग में महापर्वत हिमालय का दर्शन किया।

तं चाप्यतिक्रमन्तस्ते ददृशुर्वालुकार्णवम्।
अवैक्षन्त महाशैलं मेरुं शिखरिणां वरम् ॥२॥

उसे भी लाँघकर जब वे आगे बढ़े, तब उन्हें बालू का समुद्र दिखाई दिया। साथ ही उन्होंने पर्वतश्रेष्ठ महागिरि मेरु का भी दर्शन किया।

तेषां तु गच्छतां शीघ्रं सर्वेषां योगधर्मिणाम्।
याज्ञसेनी भ्रष्टयोगा निपपात महीतले ॥३॥

सब पाण्डव योगधर्म में स्थित हो अत्यन्त शीघ्रता से चल रहे थे। चलते-चलते उनमें से द्रुपदकुमारी कृष्णा का मन योगमार्ग से विचलित हो गया, अतः वह लड़खड़ाकर पृथिवी पर गिर पड़ी।

तां तु पतितां दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः।
उवाच धर्मराजं तं याज्ञसेनीमवेक्ष्य ह ॥४॥

द्रुपदकुमारी द्रौपदी को नीचे गिरते देखकर महाबली भीमसेन ने धर्मराज युधिष्ठिर से पूछा—

नाधर्मश्चरितः कश्चिद् राजपुत्र्या परन्तप।
कारणं किं नु तद् ब्रूहि यत्कृष्णा पतिता भुवि ॥५॥

"परन्तप! राजकुमारी द्रौपदी ने कभी कोई पाप नहीं किया था, फिर बताइए, कौनसा ऐसा कारण है, जिससे वह नीचे गिर गई?"

युधिष्ठिर उवाच

पक्षपातो महानस्या विशेषेण धनञ्जये।
तस्यैतत् फलमद्यैषा भुंक्ते पुरुषसत्तम ॥६॥

युधिष्ठिर ने कहा—पुरुषप्रवर भीम! उसके

मन में अर्जुन के प्रति विशेष पक्षपात था, आज यह उसी का फल भोग रही है।[1]

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वानवेक्ष्यैनां ययौ भरतसत्तमः।
समाधाय मनो धीमान् धर्मात्मा पुरुषर्षभः ॥७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर उसकी ओर देखे बिना ही भरतश्रेष्ठ नरोत्तम महामति धर्मात्मा युधिष्ठिर मन को एकाग्र करके आगे बढ़ गये।

सहदेवस्ततो विद्वान् निपपात महीतले।
तं चापि पतितं दृष्ट्वा भीमो राजानमब्रवीत् ॥८॥

थोड़ी देर के पश्चात् धीमान् सहदेव भी धरती पर गिर पड़े। उन्हें भी गिरते देखकर भीमसेन ने राजा युधिष्ठिर से पूछा—

योऽयमस्मासु सर्वेषु शुश्रूषुरनहंकृतः।
सोऽयं माद्रवतीपुत्रः कस्मान्निपतितो भुवि ॥९॥

"भैया! जो सदा हम लोगों की सेवा किया करता था तथा जिसमें अहंकार का नाम भी नहीं था, यह माद्रीकुमार सहदेव किस दोष के कारण धराशायी हुआ है?"

युधिष्ठिर उवाच

आत्मनः सदृशं प्राज्ञं नैषोऽमन्यत कञ्चन।
तेन दोषेण पतितस्तस्मादेष नृपात्मजः ॥१०॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—यह राजकुमार सहदेव किसी को भी अपने जैसा विद्वान् अथवा बुद्धिमान् नहीं समझता था, उसी दोष के कारण इसका पतन हुआ है।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं समुत्सृज्य सहदेवं ययौ तदा।
भ्रातृभिः सह कौन्तेयः शुना चैव युधिष्ठिरः ॥११॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर और सहदेव को भी छोड़कर शेष भाइयों और एक कुत्ते के साथ कुन्तीकुमार युधिष्ठिर आगे बढ़ गये।

कृष्णां निपतितां दृष्ट्वा सहदेवं च पाण्डवम्।
आर्तो बन्धुप्रियः शूरो नकुलो निपपात ह ॥१२॥

द्रौपदी और पाण्डव सहदेव को गिरे देख शोक से पीड़ित हो बन्धुप्रेमी शूरवीर नकुल भी धराशायी हो गये।

तस्मिन्निपतिते वीरे नकुले चारुदर्शने।
पुनरेव तदा भीमो राजानमिदमब्रवीत् ॥१३॥

उस वीरश्रेष्ठ, सुन्दर नकुल के पृथिवी पर गिर पड़ने पर भीमसेन ने पुनः राजा युधिष्ठिर से प्रश्न किया—

योऽयमक्षतधर्मात्मा भ्राता वचनकारकः।
रूपेणाप्रतिमो लोके नकुलः पतितो भुवि ॥१४॥

"भैया! संसार में जिसके रूप की तुलना करनेवाला कोई नहीं था, तो भी जिसने अपने धर्म में कभी त्रुटि नहीं आने दी तथा जो सदा हम लोगों की आज्ञा का पालन करता था, वह हमारा प्रिय बन्धु नकुल पृथिवी पर कैसे गिर पड़ा?"

इत्युक्तो भीमसेनेन प्रत्युवाच युधिष्ठिरः।
नकुलं प्रति धर्मात्मा सर्वबुद्धिमतां वरः ॥१५॥

भीमसेन के इस प्रकार पूछने पर समस्त बुद्धिमानों में श्रेष्ठ धर्मात्मा युधिष्ठिर ने नकुल के सम्बन्ध में इस प्रकार उत्तर दिया—

रूपेण मत्समो नास्ति कश्चिदित्यस्य दर्शनम्।
अधिकश्चाहमेवैक इत्यस्य मनसि स्थितम् ॥१६॥
नकुलः पतितस्तस्मादागच्छ त्वं वृकोदर।
यस्य यद्विहितं वीर सोऽवश्यं तदुपाश्नुते ॥१७॥

"भीमसेन! नकुल की दृष्टि सदा ऐसी रही है कि रूप में मेरे तुल्य दूसरा कोई नहीं है। इसके मन में यह धारणा बैठी रहती थी कि 'तीनों लोकों में एकमात्र मैं ही सबसे अधिक रूपवान् हूँ'—इसी मिथ्या अभिमान के कारण इसका पतन हुआ है। वीर! तुम इसके पतन का शोक न करके बढ़े चलो,

१. आदिपर्व में हमने यह सिद्ध किया था कि द्रौपदी पांचों पाण्डवों की पत्नी नहीं थी, साथ ही यह भी उल्लेख किया था कि वह केवल धर्मराज युधिष्ठिर की पत्नी थी। इस प्रकरण से भी यह बात सिद्ध है कि द्रौपदी अर्जुन की पत्नी नहीं थी। यदि वह अर्जुन की पत्नी होती तो उसपर पक्षपात करने का दोष कैसे आता? स्वयंवर की शर्त अर्जुन ने पूर्ण की थी, अतः वह अर्जुन के साथ कुछ पक्षपात करती थी।

क्योंकि जिसकी जैसी करनी होती है, वह उसका फल अवश्य भोगता है।"

तांस्तु प्रपतितान् दृष्ट्वा पाण्डवः श्वेतवाहनः।
पपात शोकसन्तप्तस्ततोऽनु परवीरहा ॥१८॥

द्रौपदी, नकुल तथा सहदेव—तीनों गिर गये, यह देखकर शत्रुवीरों का संहार करनेवाले श्वेतवाहन पाण्डुपुत्र अर्जुन भी शोक से सन्तप्त होकर भूमि पर गिर पड़े।

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे पतिते शक्रतेजसि।
म्रियमाणे दुराधर्षे भीमो राजानमब्रवीत् ॥१९॥

इन्द्र के समान तेजस्वी, दुर्धर्षवीर, पुरुषसिंह अर्जुन जब पृथिवी पर गिरकर प्राणत्याग करने लगे, तब भीमसेन ने राजा युधिष्ठिर से पूछा—

अनृतं न स्मराम्यस्य स्वैरेष्वपि महात्मनः।
अथ कस्य विकारोऽयं येनायं पतितो भुवि ॥२०॥

"भैया ! महात्मा अर्जुन ने कभी परिहास में भी असत्य भाषण किया हो—ऐसा मुझे स्मरण नहीं आता ! फिर यह किस कर्म का फल है कि यह पृथिवी पर गिर पड़े ?

युधिष्ठिर उवाच

एकाह्ना निर्दहेयं वै शत्रूनित्यर्जुनोऽब्रवीत्।
न च तत्कृतवानेष शूरमानी ततोऽपतत् ॥२१॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—अर्जुन को अपनी शूरवीरता का अत्यधिक अभिमान था। इन्होंने कहा था कि 'मैं एक ही दिन में शत्रुओं को भस्म कर डालूँगा', किन्तु ऐसा किया नहीं; इस प्रतिज्ञा-भङ्ग के कारण ही इनका पतन हुआ है।

अवमेने धनुर्ग्राहानेष सर्वांश्च फाल्गुनः।
यथा चोक्तं तथा चैव कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥२२॥

अर्जुन धनुर्धारियों में श्रेष्ठ थे, अतः इन्होंने सम्पूर्ण धनुर्धरों का अपमान भी किया था, यह उनके पतन का दूसरा कारण है। अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को जैसा वह कहे वैसा ही करना भी चाहिए।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्रस्थितो राजा भीमोऽथ निपपात ह।
पतितश्चाब्रवीद् भीमो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर आगे चल पड़े। इतने में ही भीमसेन भी गिरे और गिरते-गिरते ही भीमसेन ने धर्मराज युधिष्ठिर को पुकारकर पूछा—

भो भो राजन्नवेक्षस्व पतितोऽहं प्रियस्तव।
किं निमित्तं च पतनं ब्रूहि मे यदि वेत्थ ह ॥२४॥

"राजन् ! टुक मेरी ओर निहारिए, मैं आपका प्रिय भीमसेन यहाँ गिरा पड़ा हूँ। यदि आप जानते हों तो कृपया बताइए, मेरे इस पतन का क्या कारण है ?"

युधिष्ठिर उवाच

अतिभुक्तं च भवता प्राणेन च विकत्थसे।
अनवेक्ष्य परं पार्थ तेनासि पतितः क्षितौ ॥२५॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन ! तुम बहुत खाते थे और दूसरों को कुछ भी न समझकर अपने बल की डींग हाँका करते थे, इसलिए तुम्हें धराशायी होना पड़ा है।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्जगामानवलोकयन्।
श्वाप्येकोऽनुययौ यस्ते बहुशः कीर्तितो मया ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—यह कहकर महाबाहु युधिष्ठिर उनकी ओर देखे बिना ही आगे बढ़ गये। एक कुत्ता भी, जिसकी चर्चा मैंने अनेक बार तुमसे की है, निरन्तर उनका अनुसरण कर रहा था।

इति महाभारते महाप्रस्थानिकपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

इन्द्र का युधिष्ठिर को स्वर्ग में आने के लिए आमन्त्रित करना परन्तु कुत्ते को त्यागकर उनका स्वर्ग में जाने से इनकार

वैशम्पायन उवाच

ततः सन्नादयञ्शक्रो दिवं भूमिं च सर्वशः ।
रथेनोपययौ पार्थमारोहेत्यब्रवीच्च तम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिर के चलते-चलते आकाश और पृथिवी को सब ओर से गुंजाते हुए देवराज इन्द्र रथ के साथ युधिष्ठिर के पास आ पहुँचे तथा उनसे बोले—"कुन्तीनन्दन ! तुम इस रथ पर आरूढ़ हो जाओ ।"

स्वभ्रातॄन् पतितान्दृष्ट्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीच्छोकसंतप्तः सहस्राक्षमिदं वचः ॥२॥

परन्तु धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयों को धराशायी हुआ देख, शोक से सन्तप्त हो इन्द्र से इस प्रकार बोले—

भ्रातरः पतिता मेऽत्र गच्छेयुस्ते मया सह ।
न विना भ्रातृभिः स्वर्गमीहे गन्तुं सुरेश्वर ॥३॥

"देवेश्वर ! मेरे भाई मार्ग में गिर पड़े हैं, वे भी मेरे साथ चलें, इसकी व्यवस्था होनी चाहिए, क्योंकि मैं अपने भाइयों के बिना स्वर्ग में भी नहीं जाना चाहता ।

सुकुमारी सुखार्हा च राजपुत्री पुरन्दर ।
सास्माभिः सह गच्छेत तद् भवाननुमन्यताम् ॥४॥

"सुरेश्वर ! राजकुमारी द्रौपदी सुकुमारी है । वह सुख पाने के योग्य है । वह भी हम लोगों के साथ चले, इसकी अनुमति प्रदान कीजिए ।"

शक्र उवाच

भ्रातॄन् द्रक्ष्यसि स्वर्गे त्वमग्रतस्त्रिदिवं गतान् ।
कृष्णया सहितान् सर्वान् मा शुचो भरतर्षभ ॥५॥

इन्द्र बोले—भरतभूषण ! तुम्हारे सभी भाई तुमसे पूर्व ही स्वर्ग में पहुँच गये हैं। तुम स्वर्ग में चलकर ही द्रौपदीसहित सब भाइयों को देखोगे । तुम उनके लिए शोक मत करो ।

निक्षिप्य मानुषं देहं गतास्ते भरतर्षभ ।
अनेन त्वं शरीरेण स्वर्गं गन्ता न संशयः ॥६॥

भरतश्रेष्ठ ! वे सब मनुष्य-शरीर को त्यागकर स्वर्ग में गये हैं [सुखविशेष, उत्तम योनि को प्राप्त हुए हैं] किन्तु तुम इसी शरीर से वहाँ [त्रिविष्टप, स्वर्ग] चलोगे, इसमें संशय नहीं है ।

युधिष्ठिर उवाच

अयं श्वा भूतभव्येश भक्तो मां नित्यमेव ह ।
स गच्छेत मया सार्धमानृशंस्या हि मे मतिः ॥७॥

युधिष्ठिर बोले—भूत तथा वर्तमान के स्वामी देवराज ! इस कुत्ते की मेरे प्रति अत्यन्त भक्ति है । इसने सदा ही मेरा साथ दिया है, अतः यह भी मेरे साथ चले ऐसी आज्ञा दीजिए, क्योंकि मेरी बुद्धि में निर्दयता नहीं है ।

शक्र उवाच

अमर्त्यत्वं मत्समत्वं च राजन्
श्रियं कृत्स्नां महतीं चैव सिद्धिम् ।
संप्राप्तोऽद्य स्वर्गसुखानि च त्वं
त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति ॥८॥

इन्द्र ने कहा—राजन् ! तुम्हें अमरता, मेरी समानता, समग्र लक्ष्मी तथा बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हुई है, साथ ही तुम्हें स्वर्गिक सुख भी प्राप्त हुआ है, अतः इस कुत्ते को छोड़ो और मेरे साथ चलो । इस व्यवहार में कोई निर्दयता नहीं होगी ।

युधिष्ठिर उवाच

अनार्यमार्गेण सहस्रनेत्र
शक्यं कर्तुं दुष्करमेतदार्य ।
मा मे श्रिया सङ्गमनं तयास्तु
यस्याः कृते भक्तजनं त्यजेयम् ॥९॥

युधिष्ठिर बोले—सहस्रनेत्रधारी[1] इन्द्र ! अनार्य-

---

१. इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषदृषीणां सहस्रम् ॥६०॥
स तच्चक्षुः ॥६१॥
तस्मादियं द्वयक्षं सहस्राक्षमाहुः ॥६२॥
—कौटि० अ० १।१५।६०-६२

इन्द्र की मन्त्रिपरिषद् में सहस्र सभासद् बताये जाते हैं । ये ही इन्द्र की आँखें मानी गई हैं । यही कारण है कि वे दो आँखें होने पर भी सहस्रचक्षु कहलाता है ।

जनों के मार्ग पर चलकर ही किसी आर्यजन से ऐसा दुष्कृत्य [सेवक-परित्याग] हो सकता है, जो मुझे अभीष्ट नहीं। जहाँ तक लक्ष्मी-प्राप्ति की बात है, मुझे ऐसी लक्ष्मी प्राप्त न हो, जिसके लिए भक्त-जन का परित्याग करना पड़े।

इन्द्र उवाच

स्वर्गे लोके श्ववतां नास्ति धिष्ण्य-
मिष्टापूर्तं क्रोधवशा हरन्ति।
ततो विचार्य क्रियतां धर्मराज
त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति ॥१०॥

इन्द्र ने कहा—कुत्ता रखनेवाले अपवित्र लोगों के लिए स्वर्गलोक में स्थान नहीं है। उनके यज्ञ करने और कुँआ, बावड़ी आदि बनवाने का जो पुण्य होता है, उसे 'क्रोधवश' नामक राक्षस हर लेते हैं, अत: तुम सोच-विचारकर कार्य करो। इस कुत्ते को यहीं त्याग दो, ऐसा करने में कोई निष्ठुरता नहीं है।

युधिष्ठिर उवाच

भक्तत्यागं प्राहुरत्यन्तपापं
तुल्यं लोके ब्रह्मवध्याकृतेन।
तस्मान्नाहं जातु कथञ्चनाद्य
त्यक्ष्याम्येनं स्वसुखार्थी महेन्द्र ॥११॥

युधिष्ठिर बोले—महेन्द्र! भक्त का त्याग करने से जो पाप होता है, उसका अन्त कभी नहीं होता—ऐसा मुनिजन कहते हैं। संसार में भक्त का त्याग ब्रह्महत्या के समान माना गया है, अत: मैं अपने सुख के लिए किसी प्रकार भी आज इस कुत्ते का परित्याग नहीं करूँगा।

भीतं भक्तं नान्यदस्तीति चार्तं
प्राप्तं क्षीणं रक्षणे प्राणलिप्सुम्।
प्राणत्यागादप्यहं नैव मोक्तुं
यतेयं वै नित्यमेतद् व्रतं मे ॥१२॥

जो भयभीत हो, भक्त हो, 'मेरा अन्य कोई सहारा नहीं है'—ऐसा कहते हुए आर्तभाव से शरण में आया हो, अपनी रक्षा करने में असमर्थ—दुर्बल हो तथा अपने प्राण बचाना चाहता हो, ऐसे पुरुष को मैं प्राण जाने पर भी नहीं छोड़ सकता, यह मेरा सदा का व्रत है।

इन्द्र उवाच

शुना दृष्टं क्रोधवशा हरन्ति
यद्दत्तमिष्टं विवृत्तं हुतं च।
तस्माच्छुनस्त्यागमिमं कुरुष्व
शुनस्त्यागाद् प्राप्स्यसे देवलोकम् ॥१३॥

इन्द्र ने कहा—धर्मराज! मनुष्य जो कुछ दान, परोपकार, स्वाध्याय और हवन-यज्ञ आदि पुण्यकर्म करता है, उसपर यदि कुत्ते की दृष्टि पड़ जाए तो उसके फल को 'क्रोधवश' नामक राक्षस हर लेते हैं, अत: इस कुत्ते का परित्याग कर दो। कुत्ते को त्याग देने से ही तुम देवलोक में जा सकोगे।

त्यक्त्वा भ्रातॄन् दयितां चापि कृष्णां
प्राप्तो लोक: कर्मणा स्वेन वीर।
श्वानं चैनं न त्यजसे कथं नु
त्यागं कृत्स्नं चास्थितो मुह्यसेऽद्य ॥१४॥

वीरवर! तुमने अपने भाइयों और प्राणप्यारी पत्नी द्रौपदी का परित्याग करके अपने किये हुए पुण्यकर्मों के फलस्वरूप देवलोक प्राप्त किया है, फिर तुम इस कुत्ते को क्यों नहीं छोड़ देते? सब-कुछ त्यागकर अब कुत्ते के मोह में कैसे फँस गये?

युधिष्ठिर उवाच

न विद्यते सन्धिरथापि विग्रहो
मृतैर्मर्त्यैरिति लोकेषु निष्ठा।
न ते मया जीवयितुं हि शक्या-
स्ततस्त्यागस्तेषु कृतो न जीवताम् ॥१५॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे सुरेश्वर! यह निश्चित बात है कि संसार में मरे हुए मनुष्य के साथ न तो किसी का मेल होता है और न विरोध ही। द्रौपदी तथा अपने भाइयों को जीवित करना मेरे वश की बात नहीं थी, अत: मर जाने पर ही मैंने उनका त्याग किया है, जीवित अवस्था में नहीं।

प्रतिप्रदानं शरणागतस्य
स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहार:।
मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र
भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे ॥१६॥

शरण में आये हुए को वापस दे देना, स्त्री का वध करना, ब्राह्मण का धन लूटना तथा मित्रों के

साथ द्रोह करना—ये चार अधर्म एक ओर तथा भक्त का त्याग दूसरी ओर हो तो मेरे विचार में यह अकेला पातक उन चारों के बराबर है।

वैशम्पायन उवाच

तद् धर्मराजस्य वचो निशम्य
धर्मस्वरूपी भगवानुवाच।
युधिष्ठिरं प्रीतियुक्तो नरेन्द्रं
श्लक्ष्णैर्वाक्यैः संस्तवसम्प्रयुक्तैः ॥१७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! धर्मराज युधिष्ठिर का यह कथन सुनकर कुत्ते का रूप धारण करके साथ आये हुए धर्मरूपी भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए और राजा युधिष्ठिर की प्रशंसा करते हुए मधुर वचनों द्वारा उनसे इस प्रकार बोले—

धर्म उवाच

अभिजातोऽसि राजेन्द्र पितुर्वृत्तेन मेधया।
अनुक्रोशेन चानेन सर्वभूतेषु भारत ॥१८॥

धर्मराज ने कहा—हे राजेन्द्र! भरतनन्दन! तुम अपने सदाचार, बुद्धि तथा सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति ऐसी दया का भाव प्रकट करके यह सिद्ध कर रहे हो कि तुम वास्तव में सुयोग्य पिता के उत्तम कुल में उत्पन्न हुए हो।

पुरा द्वैतवने चासि मया पुत्र परीक्षितः।
पानीयार्थे पराक्रान्ता यत्र ते भ्रातरो हताः ॥१९॥

वत्स! पूर्वकाल में द्वैतवन में रहते समय भी एक बार मैंने तुम्हारी परीक्षा ली थी, जबकि तुम्हारे सभी भाई पानी लाने के लिए उद्योग करते हुए मारे गये थे।

भीमार्जुनौ परित्यज्य यत्र त्वं भ्रातरावुभौ।
मात्रोः साम्यमभीप्सन् वै नकुलं जीवमिच्छसि ॥२०॥

उस समय तुमने कुन्ती और माद्री दोनों माताओं में समानता की इच्छा रखकर अपने सहोदर [सगे] भाई भीम और अर्जुन को छोड़ केवल नकुल को जीवित करना चाहा था।

अयं श्वा भक्त इत्येवं त्यक्तो देवरथस्त्वया।
तस्मात्स्वर्गे न ते तुल्यः कश्चिदस्ति नराधिपः ॥२१॥

इस समय भी 'यह कुत्ता मेरा भक्त है'—ऐसा सोचकर तुमने देवराज इन्द्र के रथ का भी परित्याग कर दिया है, अतः स्वर्गलोक में तुम्हारे समान दूसरा कोई राजा नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मश्च शक्रश्च मरुतश्चाश्विनावपि।
प्रययुः स्वैर्विमानैस्ते रथमारोप्य पाण्डवम् ॥२२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर धर्म, इन्द्र, मरुद्गण और अश्विनीकुमारों ने युधिष्ठिर को रथ में बैठाकर अपने-अपने विमानों द्वारा स्वर्गलोक को प्रस्थान किया।

ततो देवनिकायस्थो नारदः सर्वलोकवित्।
उवाचोच्चैस्तदा वाक्यं बृहद्वादी बृहत्तपाः ॥२३॥

स्वर्ग [त्रिविष्टप] में पहुँचने पर सुरलोक में विद्यमान सम्पूर्ण लोकों का वृत्तान्त जाननेवाले, बोलने में कुशल और महान् तपस्वी देवर्षि नारद ने उच्चस्वर से कहा—

येऽपि राजर्षयः सर्वे ते चापि समुपस्थिताः।
कीर्तिं प्रच्छाद्य तेषां वै कुरुराजोऽधितिष्ठति ॥२४॥

"जितने राजर्षि स्वर्ग में आये हैं, वे सभी यहाँ उपस्थित हैं, परन्तु कुरुराज युधिष्ठिर अपने सुयश से उन सबकी कीर्ति को आच्छादित करके [ढककर] विराजमान हो रहे हैं।

तेजांसि यानि दृष्टानि भूमिष्ठेन त्वया विभो।
वेश्मानि भुवि देवानां पश्यामूनि सहस्रशः ॥२५॥

"प्रभो! युधिष्ठिर! पृथिवी पर रहते हुए तुमने आकाश में नक्षत्र और ताराओं के रूप में जितने तेज [तेजोबिम्ब] देखे हैं, वे सब इन देवताओं के लोक हैं,—तुम इन्हें देखो।"

युधिष्ठिर उवाच

शुभं वा यदि वा पापं भ्रातॄणां स्थानमद्य मे।
तदेव प्राप्तुमिच्छामि लोकानन्यान्न कामये ॥२६॥

युधिष्ठिर बोले—देवर्षे! मेरे भाइयों को शुभ या अशुभ जो भी स्थान प्राप्त हुआ हो, मैं भी वहीं जाना चाहता हूँ। उसके सिवा दूसरे लोकों में जाने की मेरी इच्छा नहीं है।

देवराज उवाच

स्थानेऽस्मिन् वस राजेन्द्र कर्मभिर्निर्जिते शुभैः।
किं त्वं मानुष्यकं स्नेहमद्यापि परिकर्षसि ॥२७॥

देवराज इन्द्र ने कहा—महाराज ! तुम अपने शुभ कर्मों द्वारा प्राप्त हुए इस स्वर्गलोक में निवास करो। मनुष्यलोक के स्नेहपाश में अभी तक क्यों बँधे हो ?

सिद्धि प्राप्तोऽसि परमां यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ।
नैव ते भ्रातरः स्थानं सम्प्राप्ताः कुरुनन्दन ।।२८।।

कुरुनन्दन ! तुम्हें वह उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई है जिसे दूसरा कोई मनुष्य कभी और कहीं न पा सका। तुम्हारे भाई भी ऐसा स्थान नहीं पा सके हैं।

अद्यापि मानुषो भावः स्पृशते त्वां नराधिप ।
स्वर्गोऽयं पश्य देवर्षीन् सिद्धांश्च त्रिदिवालयान् ।।२९।।

नरेश्वर ! क्या अब भी मानवभाव तुम्हारा स्पर्श कर रहा है ? यह स्वर्गलोक है। यहाँ इन स्वर्ग-स्थित देवर्षियों तथा सिद्धों का दर्शन करो।

युधिष्ठिर उवाच

तैर्विना नोत्सहे वस्तुमिह दैत्यनिबर्हण ।
गन्तुमिच्छामि तत्राहं यत्र मे भ्रातरो गताः ।।३०।।
यत्र सा बृहती श्यामा बुद्धिसत्त्वगुणान्विता ।
द्रौपदी योषितां श्रेष्ठा यत्र चैव प्रिया मम ।।३१।।

युधिष्ठिर बोले—दैत्यसूदन ! अपने भाइयों के बिना मुझे यहाँ रहने की इच्छा नहीं होती, अतः मैं वहीं जाना चाहता हूँ जहाँ मेरे भाई गये हैं और जहाँ ऊँचे कदवाली, श्यामवर्णवाली, बुद्धिमती, सत्त्वगुण-सम्पन्न और वरवर्णिनी स्त्रियों में श्रेष्ठ मेरी प्राण-प्रिया द्रौपदी गई है।

इति महाभारते महाप्रस्थानिकपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ।।

।। इति महाप्रस्थानिकपर्वं सम्पूर्णम् ।।

स्वर्गारोहणपर्व

प्रथमोऽध्यायः

स्वर्ग में नारद और युधिष्ठिर का वार्तालाप

जनमेजय उवाच

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य मम पूर्वपितामहाः।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च कानि स्थानानि भेजिरे ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—मुने! मेरे पूर्वपितामह पाण्डव तथा धृतराष्ट्र के पुत्र स्वर्गलोक में पहुँचकर किन-किन स्थानों को प्राप्त हुए?

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वविच्चासि मे मतः।
महर्षिणाभ्यनुज्ञातो व्यासेनाद्भुतकर्मणा ॥२॥

मैं यह सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। आप अद्भुतकर्मा महर्षि व्यास की आज्ञा पाकर सर्वज्ञ [धर्म, अर्थ और काम के ज्ञाता] हो गये हैं, ऐसा मेरा विश्वास है।

वैशम्पायन उवाच

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य तव पूर्वपितामहाः।
युधिष्ठिरप्रभृतयो यदकुर्वत तच्छृणु ॥३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तुम्हारे पूर्वपितामह युधिष्ठिर आदि ने त्रिविष्टप [स्वर्ग] में पहुँचकर जो कुछ किया, वह बताता हूँ, आप उसे ध्यानपूर्वक सुनें।

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः।
दुर्योधनं श्रिया जुष्टं ददर्शासीनमासने ॥४॥

धर्मराज युधिष्ठिर ने त्रिविष्टप [स्वर्गलोक] में पहुँचकर देखा कि दुर्योधन स्वर्गिक शोभा से सम्पन्न दिव्यासन पर बैठा हुआ है।

ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा दुर्योधनममर्षितः।
सहसा संनिवृत्तोऽभूच्छ्रियं दृष्ट्वा सुयोधने ॥५॥

दुर्योधन को ऐसी उत्तम अवस्था में देख तथा उसे मिली हुई शोभा एवं सम्पत्ति का अवलोकन कर राजा युधिष्ठिर अमर्ष [क्रोध] से भर गये और सहसा दूसरी ओर लौट पड़े।

ब्रुवन्नुच्चैर्वचस्तांश्च नाहं दुर्योधनेन वै।
सहितः कामये लोकाँल्लुब्धेनादीर्घदर्शिना ॥६॥

तत्पश्चात् वे उच्चस्वर से उन सब लोगों से [जो वहाँ उपस्थित थे] बोले—"देवताओ! मैं लोभी और अदूरदर्शी दुर्योधन के साथ रहकर इन पुण्यलोकों को पाने की इच्छा नहीं करता।

अस्ति देवा न मे कामः सुयोधनमुदीक्षितुम्।
तत्राहं गन्तुमिच्छामि यत्र ते भ्रातरो मम ॥७॥

"देवगण! दुर्योधन को तो मैं देखना भी नहीं चाहता। मैं तो वहीं जाना चाहता हूँ, जहाँ मेरे भाई हैं।"

मैवमित्यब्रवीत्तं तु नारदः प्रहसन्निव।
स्वर्गे निवासे राजेन्द्र विरुद्धं चापि नश्यति ॥८॥

यह सुनकर नारदजी उनसे हँसते हुए-से बोले—"राजेन्द्र! ऐसा मत कहो। स्वर्ग में निवास करने पर पहले का वैर-विरोध शान्त हो जाता है।

वीरलोकगतिं प्राप्तो युद्धे हुत्वाऽऽत्मनस्तनुम्।
यूयं सर्वे सुरसमा येन युद्धे समासिताः ॥९॥
स एष क्षत्रधर्मेण स्थानमेतदवाप्तवान्।
भये महति योऽभीतो बभूव पृथिवीपतिः ॥१०॥

"इन्होंने युद्ध में अपने शरीर की आहुति देकर वीरों की गति पाई है। जिन्होंने युद्ध में देवों के समान तेजस्वी तुम सभी भाइयों का डटकर सामना किया है, जो भूपाल दुर्योधन महान् भय उपस्थित होने पर

भी निर्भय बने रहे, उन्होंने क्षत्रियधर्म के अनुसार यह स्थान प्राप्त किया है।

समागच्छ यथान्यायं राज्ञा दुर्योधनेन वै।
स्वर्गोऽयं नेह वैराणि भवन्ति मनुजाधिप ॥११॥

"अब तुम राजा दुर्योधन के साथ न्यायपूर्वक मिलो। प्रजेश्वर! यह स्वर्गलोक है, यहाँ पहले के वैरभाव नहीं रहते हैं।"

नारदेनैवमुक्तस्तु कुरुराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातॄन् पप्रच्छ मेधावी वाक्यमेतदुवाच ह ॥१२॥

नारदजी के ऐसा कहने पर बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिर ने पुनः अपने भाइयों के विषय में पूछा कि वे कहाँ हैं और यह बात कही—

यदि दुर्योधनस्यैते वीरलोकाः सनातनाः।
अधर्मज्ञस्य पापस्य पृथिवीसुहृदां द्रुहः ॥१३॥
यत्कृते पृथिवी नष्टा सहया सनरद्विपा।
ये ते वीरा महात्मानो भ्रातरो मे महाव्रताः ॥१४॥
सत्यप्रतिज्ञा लोकस्य शूरा वै सत्यवादिनः।
तेषामिदानीं के लोका द्रष्टुमिच्छामि तानहम् ॥१५॥

"देवर्षे! जिसके कारण हाथी, घोड़े तथा मनुष्यों-सहित सारी पृथिवी नष्ट हो गई, जो धर्मशून्य था, जिसने जीवनभर भूमण्डल के समस्त सुहृदों [मित्रों] के साथ द्रोह किया, उस पापी दुर्योधन को यदि ये सनातन वीरलोक प्राप्त हुए हैं तो जो वे वीर, महात्मा, महान् व्रतधारी, सत्यप्रतिज्ञ, विश्वविख्यात शूरवीर और सत्यवादी मेरे भाई हैं, उन्हें इस समय कौन-से लोक प्राप्त हुए हैं?

धृष्टद्युम्नं सात्यकिं च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजान्।
ये च शस्त्रैर्वधं प्राप्ताः क्षत्रधर्मेण पार्थिवाः ॥१६॥
क्व नु ते पार्थिवा ब्रह्मन्नैतान्पश्यामि नारद।
विराटद्रुपदौ चैव धृष्टकेतुमुखांश्च तान् ॥१७॥
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं द्रौपदेयांश्च सर्वशः।
अभिमन्युं च दुर्धर्षं द्रष्टुमिच्छामि साम्प्रतम् ॥१८॥

"मैं धृष्टद्युम्न, सात्यकि और धृष्टद्युम्न के पुत्रों को भी देखना चाहता हूँ। ब्रह्मन्! नारदजी! जो भूपाल क्षत्रियधर्म के अनुसार शस्त्रों द्वारा वीरगति को प्राप्त हुए हैं, वे सब कहाँ हैं? मैं उन राजाओं को यहाँ नहीं देख रहा हूँ। मैं उन समस्त भूपालों से मिलना चाहता हूँ। विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु आदि पाञ्चालराजकुमार शिखण्डी, द्रौपदी के सभी पुत्रों और दुर्धर्षवीर अभिमन्यु को भी मैं इस समय देखना चाहता हूँ।"

इति महाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

देवदूत का युधिष्ठिर को नरक का दर्शन कराना तथा भाइयों का करुणक्रन्दन सुनकर उनका वहीं रहने का दृढ़ निश्चय

युधिष्ठिर उवाच

राजानो राजपुत्राश्च ये मदर्थे हता रणे।
क्व ते महारथाः सर्वे शार्दूलसमविक्रमाः ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे देवताओ! जो राजा और राजकुमार युद्धभूमि में मेरे लिए मारे गये, वे सिंह के समान पराक्रमी समस्त महारथी वीर कहाँ हैं?

यदि लोकानिमान् प्राप्तास्ते च सर्वे महारथाः।
स्थितं वित्त हि मां देवाः सहितं तैर्महात्मभिः ॥२॥

देवगण! यदि वे सभी महारथी इन लोकों में आये हैं, तो आप समझ लें कि मैं भी उन महात्माओं के साथ इसी स्थान पर रहूँगा।

कच्चिन्न तैरवाप्तोऽयं नृपैर्लोकोऽक्षयः शुभः।
न तैरहं विना रंस्ये भ्रातृभिर्ज्ञातिभिस्तथा ॥३॥

यदि उन राजाओं को इस शुभ और अक्षयलोक में स्थान नहीं मिला है तो मैं उन बन्धु-बान्धवों के बिना यहाँ नहीं रह सकूँगा।

भीमं च भीमविक्रान्तं प्राणेभ्योऽपि प्रियं मम।
अर्जुनं चेन्द्रसंकाशं यमौ चैव यमोपमौ ॥४॥
द्रष्टुमिच्छामि तां चाहं पाञ्चालीं धर्मचारिणीम्।
न चेह स्थातुमिच्छामि सत्यमेवं ब्रवीमि वः ॥५॥

मैं अपने प्राणों से भी प्रियतम भयंकर पराक्रमी भाई भीमसेन को, इन्द्र के समान तेजस्वी अर्जुन को, यमराज के समान अजेय नकुल और सहदेव को तथा धर्मपरायणा देवी द्रौपदी को भी देखना चाहता हूँ। यहाँ रहने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है। हे देवो ! आप लोगों से मैं यह सच्ची बात कहता हूँ।

किं मे भ्रातृविहीनस्य स्वर्गेण सुरसत्तमाः।
यत्र ते मम स स्वर्गो नायं स्वर्गो मतो मम ॥६॥

हे सुरश्रेष्ठगण ! अपने भाइयों से अलग रहकर मुझे इस स्वर्ग से भी क्या प्रयोजन है ? जहाँ मेरे भाई हैं, वहीं मेरा स्वर्ग है, उनके बिना मैं इस लोक को स्वर्ग नहीं मानता।

देवा ऊचुः

यदि वै तत्र ते श्रद्धा गम्यतां पुत्र मा चिरम्।
प्रिये हि तव वर्तामो देवराजस्य शासनात् ॥७॥

देवता बोले—वत्स ! यदि उन लोगों में तुम्हारी श्रद्धा है, तो तुम वहीं चले जाओ, विलम्ब मत करो। देवराज की आज्ञा से हम लोग हर प्रकार से तुम्हारा प्रिय करना चाहते हैं।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं ततो देवा देवदूतमुपाविशन्।
युधिष्ठिरस्य सुहृदो दर्शयेति परन्तप ॥८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुसन्तापक जनमेजय! युधिष्ठिर से ऐसा कहकर देवताओं ने देवदूत को आज्ञा दी—"तुम युधिष्ठिर को इनके सुहृदों के दर्शन कराओ।"

ततः कुन्तीसुतो राजा देवदूतश्च जग्मतुः।
सहितौ राजशार्दूल यत्र ते पुरुषर्षभाः ॥९॥

नृपश्रेष्ठ ! देवों द्वारा वैसी व्यवस्था कर देने पर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर और देवदूत दोनों साथ-साथ उस स्थान की ओर चले, जहाँ वे पुरुष-प्रवर भीमसेन आदि थे।

अग्रतो देवदूतश्च ययौ राजा च पृष्ठतः।
पन्थानमशुभं दुर्गं सेवितं पापकर्मभिः ॥१०॥

आगे-आगे देवदूत जा रहा था और उसके पीछे-पीछे युधिष्ठिर चल रहे थे। चलते-चलते वे दोनों ऐसे दुर्गम मार्ग पर जा पहुँचे, जो अत्यन्त अशुभ था। पापाचारी मनुष्य ही दुःख भोगने के लिए उसपर आते-जाते थे।

स तत्कुणपदुर्गन्धमशिवं लोमहर्षणम्।
जगाम राजा धर्मात्मा मध्ये बहु विचिन्तयन् ॥११॥

धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर मन-ही-मन बहुत चिन्ता करते हुए उसी मार्ग के मध्य से निकले, जहाँ सड़े मुर्दों की बदबू फैल रही थी तथा अमङ्गलकारी बीभत्स दृश्य दिखाई देता था। वह भयंकर मार्ग रोंगटे खड़े कर देनेवाला था।

स तं दुर्गन्धमालक्ष्य देवदूतमुवाच ह।
कियदध्वानमस्माभिर्गन्तव्यमिममीदृशम् ॥१२॥
क्व च ते भ्रातरो मह्यं तन्ममाख्यातुमर्हसि।
देशोऽयं कश्च देवानामेतदिच्छामि वेदितुम् ॥१३॥

वहाँ की दुर्गन्धि का अनुभव करके उन्होंने देवदूत से पूछा—"भैया ! ऐसे मार्ग पर अभी हम लोगों को कितनी दूर और चलना है ? तथा मेरे वे भाई कहाँ हैं ? यह सब तुम मुझे बताओ। देवों का यह कौन-सा देश है, यह भी मैं जानना चाहता हूँ।"

स सन्निववृते श्रुत्वा धर्मराजस्य भाषितम्।
देवदूतोऽब्रवीच्चैनमेतावद् गमनं तव ॥१४॥

धर्मराज का यह कथन सुनकर देवदूत लौट पड़ा और बोला—"बस, यहीं तक आपको आना था।

निवर्तितव्यो हि मया तथास्म्युक्तो दिवौकसैः।
यदि श्रान्तोऽसि राजेन्द्र त्वमथागन्तुमर्हसि ॥१५॥

"हे राजेन्द्र ! देवताओं ने मुझे कहा था कि जब युधिष्ठिर थक जाएँ, तब इन्हें वापस लौटा लाना, अतः अब मुझे आपको वापस ले चलना है। यदि आप थक गये हों तो मेरे साथ लौट चलिए।"

युधिष्ठिरस्तु निर्विण्णस्तेन गन्धेन मूर्च्छितः।
निवर्तने धृतमनाः पर्यावर्तत भारत ॥१६॥

भरतभूषण ! युधिष्ठिर वहाँ की दुर्गन्ध से घबरा गये थे। उन्हें मूर्च्छा-सी आने लगी थी, अतः उन्होंने मन-ही-मन लौट चलने का निश्चय किया और उस निश्चय के अनुसार वे वापस चल पड़े।

स संनिवृत्तो धर्मात्मा दुःखशोकसमाहतः।
शुश्राव तत्र वदतां दीना वाचः समन्ततः ॥१७॥

दुःख तथा शोक से पीड़ित हुए धर्मात्मा

युधिष्ठिर ज्यों ही वहाँ से लौटने लगे, त्यों ही उन्हें चारों ओर से पुकारनेवाले दीन-दुःखी मनुष्यों की दीन वाणी सुनाई पड़ी—

भो भो धर्मज राजर्षे पुण्याभिजन पाण्डव ।
अनुग्रहार्थमस्माकं तिष्ठ तावन्मुहूर्तकम् ॥१८॥

"हे धर्मनन्दन ! हे राजर्षे ! हे पवित्रकुल में उत्पन्न पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! आप हम लोगों पर कृपा करने के लिए दो घड़ी तक यहीं ठहरिए ।

सन्तिष्ठस्व महाबाहो मुहूर्तमपि भारत ।
त्वयि तिष्ठति कौरव्य यातनास्मान् न बाधते ॥१९॥

"महाबाहु भरतनन्दन ! हो सके तो दो घड़ीभर यहीं ठहर जाइए। कुरुनन्दन ! आपके यहाँ ठहरने से यहाँ की यातना हमें कष्ट नहीं दे रही है।"

एवं बहुविधा वाचः कृपणा वेदनावताम् ।
तस्मिन् देशे स शुश्राव समन्ताद् वदतां नृप ॥२०॥

नरेश्वर ! इस प्रकार उस प्रदेश में कष्ट पानेवाले दुःखी प्राणियों के अनेक प्रकार के दीन वचन उन्हें चारों ओर से सुनाई देने लगे ।

तेषां तु वचनं श्रुत्वा दयावान् दीनभाषिणाम् ।
अहो कृच्छ्रमिति प्राह तस्थौ स च युधिष्ठिरः ॥२१॥

दीन वचन बोलनेवाले उन प्राणियों की बातें सुनकर दयालु राजा युधिष्ठिर वहीं खड़े हो गये । उनके मुख से सहसा निकल पड़ा, "अहो ! इन बेचारों को बड़ा कष्ट है।"

स ता गिरः पुरस्ताद् वै श्रुतपूर्वाः पुनः पुनः ।
ग्लानानां दुःखितानां च नाभ्यजानत पाण्डवः ॥२२॥

अत्यन्त कष्ट और दुःख में पड़े हुए उन प्राणियों की वे ही पूर्व-सुनी हुई करुणाजनक बातें सामने की ओर से बारम्बार उनके कानों में पड़ने लगीं, तो भी वे पाण्डुकुमार उन्हें पहचान न सके ।

अबुध्यमानस्ता वाचो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उवाच के भवन्तो वै किमर्थमिह तिष्ठथ ॥२३॥

उनकी उन बातों को पूर्णरूप से न समझकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने पूछा—"आप लोग कौन हैं और यहाँ किसलिए रहते हैं ?"

इत्युक्तास्ते ततः सर्वे समन्तादवभाषिरे ।
कर्णोऽहं भीमसेनोऽहमर्जुनोऽहमिति प्रभो ॥२४॥

नकुलः सहदेवोऽहं धृष्टद्युम्नोऽहमित्युत ।
द्रौपदी द्रौपदेयाश्च इत्येवं ते विचुक्रुशुः ॥२५॥

युधिष्ठिर के इस प्रकार पूछने पर वे सब चारों ओर से कहने लगे—प्रभो ! मैं कर्ण हूँ । मैं भीमसेन हूँ । मैं अर्जुन हूँ । मैं नकुल हूँ । मैं सहदेव हूँ । मैं धृष्टद्युम्न हूँ । मैं द्रौपदी हूँ और हम लोग द्रौपदी के पुत्र हैं ।" इस प्रकार वे सब लोग चिल्ला-चिल्लाकर अपना नाम बताने लगे ।

ता वाचः स तदा श्रुत्वा तद्देशसदृशीर्नृप ।
ततो विममृशे राजा किं त्विदं दैवकारितम् ॥२६॥

नरेश्वर ! उस समय उस देश के अनुरूप उन लोगों के उन वचनों को सुनकर राजा युधिष्ठिर मन-ही-मन विचार करने लगे—'दैव का यह कैसा विधान है ?'

किन्नु तत्कलुषं कर्म कृतमेभिर्महात्मभिः ।
कर्णेन द्रौपदेयैर्वा पाञ्चाल्या वा सुमध्यया ॥२७॥
य इमे पापगन्धेऽस्मिन् देशे सन्ति सुदारुणे ।
नाहं जानामि सर्वेषां दुष्कृतं पुण्यकर्मणाम् ॥२८॥

'मेरे इन महामना भाइयों ने, कर्ण ने, द्रौपदी के पाँचों पुत्रों ने अथवा स्वयं सुमध्यमा [सुन्दरी] द्रौपदी ने कौन-सा ऐसा पाप किया था, जिससे ये सब लोग इस दुर्गन्धपूर्ण भयंकर स्थान में निवास करते हैं ? इन सभी पुण्यकर्माओं ने कभी कोई पाप किया था, इसे मैं नहीं जानता ।

किं कृत्वा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो राजा सुयोधनः ।
तथा श्रिया युतः पापैः सह सर्वैः पदानुगैः ॥२९॥

'धृतराष्ट्र का पुत्र राजा सुयोधन कौन-सा पुण्यकर्म करके अपने सभी पापी सेवकोंसहित वैसी अद्भुत शोभा तथा ऐश्वर्य से संयुक्त हुआ है ?

महेन्द्र इव लक्ष्मीवानास्ते परमपूजितः ।
कस्येदानीं विकारोऽयं य इमे नरकं गताः ॥३०॥

'वह तो यहाँ अत्यन्त सम्मानित होकर महेन्द्र के समान राजैश्वर्य से सम्पन्न हुआ है। इधर यह किस कर्म का फल है कि ये मेरे सहोदर भाई नरक =दुःख में पड़े हुए हैं ?

सर्वधर्मविदः शूराः सत्यागमपरायणाः ।
क्षात्रधर्मरताः सन्तो यज्वानो भूरिदक्षिणाः ॥३१॥

'मेरे भाई सम्पूर्ण धर्म के जाननेवाले, शूरवीर, सत्यवादी और शास्त्र के अनुकूल चलनेवाले थे। इन्होंने क्षत्रिय धर्म में स्थिर रहकर बड़े-बड़े यज्ञ किये और प्रचुर दक्षिणाएँ दी हैं [फिर इनकी ऐसी दुर्गति क्यों हुई ?]

किन्नु सुप्तोऽस्मि जागर्मि चेतयामि न चेतये।
अहो चित्तविकारोऽयं स्याद्वा मे चित्तविभ्रमः ॥३२॥

'क्या मैं सो रहा हूँ या जाग रहा हूँ ? मुझे चेत है अथवा नहीं ? अहो ! यह मेरे चित्त का विकार तो नहीं है ? अथवा हो सकता है यह मेरे मन का ही भ्रम हो !'

एवं बहुविधं राजा विममर्श युधिष्ठिरः।
दुःखशोकसमाविष्टश्चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियः ॥३३॥

दुःख तथा शोक के आवेश से युक्त हो राजा युधिष्ठिर इस प्रकार अनेकविध विचार करने लगे। उस समय उनकी सारी इन्द्रियाँ चिन्ता से व्याकुल हो गई थीं।

क्रोधमाहारयच्चैव तीव्रं धर्मसुतो नृपः।
देवांश्च गर्हयामास धर्मं चैव युधिष्ठिरः ॥३४॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर के मन में तीव्र रोष जाग उठा। वे देवताओं और धर्म को कोसने लगे।

स तीव्रगन्धसन्तप्तो देवदूतमुवाच ह।
गम्यतां तत्र येषां त्वं दूतस्तेषामुपान्तिकम् ॥३५॥
न ह्यहं तत्र यास्यामि स्थितोऽस्मीति निवेद्यताम्।
मत्संश्रयादिमे दूत सुखिनो भ्रातरो हि मे ॥३६॥

फिर उन्होंने वहाँ की दुःसह दुर्गन्ध से सन्तप्त होकर देवदूत से कहा—"दूत ! तुम जिनके दूत हो उनके पास लौट जाओ। मैं वहाँ नहीं चलूंगा। मैं यहीं ठहर गया हूँ, अपने स्वामियों को इसकी सूचना दे दो। मेरे यहाँ ठहरने का कारण यह है कि मेरे यहाँ रहने से मेरे इन दुःखी भाई-बन्धुओं को सुख मिलता है।"

इत्युक्तः स तदा दूतः पाण्डुपुत्रेण धीमता।
जगाम तत्र यत्रास्ते देवराजः शतक्रतुः ॥३७॥

बुद्धिमान् पाण्डुपुत्र के ऐसा कहने पर देवदूत उस समय उस स्थान को चला गया, जहाँ सौ यज्ञों का अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्र विराजमान थे।

तच्च निवेदयामास धर्मराजचिकीर्षितम्।
यथोक्तं धर्मपुत्रेण सर्वमेव जनाधिप ॥३८॥

प्रजेश्वर ! दूत ने वहाँ पहुँचकर युधिष्ठिर की कही हुई सारी बातें कह सुनाईं और यह भी निवेदन कर दिया कि वे क्या करना चाहते हैं।

इति महाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

इन्द्र तथा धर्म का युधिष्ठिर को सान्त्वना प्रदान करना

वैशम्पायन उवाच

स्थिते मुहूर्तं पार्थे तु धर्मराजे युधिष्ठिरे।
आजग्मुस्तत्र कौरव्य देवाः शक्रपुरोगमाः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्ती-कुमार धर्मराज युधिष्ठिर को उस स्थान पर ठहरे हुए अभी दो ही घड़ी व्यतीत हुई थी कि इन्द्र आदि समस्त देवता वहाँ आ गये।

ततः सुरपतिः शक्रः श्रिया परमया युतः।
युधिष्ठिरमुवाचेदं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥२॥

वहाँ आकर उत्तम शोभा से सम्पन्न देवराज इन्द्र ने युधिष्ठिर को सान्त्वना प्रदान करते हुए इस प्रकार कहा—

एह्येहि पुरुषव्याघ्र कृतमेतावता विभो।
सिद्धिः प्राप्ता महाबाहो लोकाश्चाप्यक्षयास्तव ॥३॥

"पुरुषसिंह ! प्रभो ! अबतक जो हुआ सो हुआ। अब अधिक कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं है। आओ, हमारे साथ चलो। तुम्हें बहुत बड़ी सिद्धि और अक्षयलोकों की प्राप्ति हुई है।

न च मन्युस्त्वया कार्यः शृणु चेदं वचो मम।
अवश्यं नरकस्तात द्रष्टव्यः सर्वराजभिः ॥४॥

"तात ! मेरी बात सुनो ! तुम्हें जो नरक देखना

पड़ा है, उसके लिए क्रोध मत करो। सभी राजाओं को निश्चय ही नरक देखना पड़ता है।

शुभानामशुभानां च द्वौ राशी पुरुषर्षभ।□
यः पूर्वं सुकृतं भुंक्ते पश्चान्निरयमेव सः॥५॥

"पुरुषश्रेष्ठ! मनुष्य के जीवन में शुभ और अशुभ [पुण्य और पाप] कर्मों की दो राशियाँ सञ्चित होती हैं। जो पहले शुभकर्मों का फल भोग लेता है, उसे पीछे नरक में ही जाना पड़ता है।

पूर्वं नरकभाग्यस्तु पश्चात्स्वर्गमुपैति सः।
भूयिष्ठं पापकर्मा यः स पूर्वं स्वर्गमश्नुते॥६॥□

"परन्तु जो पहले नरक भोग लेता है, वह पीछे स्वर्ग में जाता है। जिसका पापकर्मों का संग्रह अधिक होता है, वह पहले स्वर्ग भोगता है।

तेन त्वमेवं गमितो मया श्रेयोऽर्थिना नृप।
व्याजेन हि त्वया द्रोण उपचीर्णः सुतं प्रति।
व्याजेनैव ततो राजन् दर्शितो नरकस्तव॥७॥

"राजन्! मैंने तुम्हारे कल्याण की इच्छा से तुम्हें नरक का दर्शन कराने के लिए यहाँ भेज दिया था। नरेश्वर! तुमने गुरुपुत्र अश्वत्थामा के विषय में छल का आश्रय लेकर द्रोणाचार्य को उनके पुत्र की मृत्यु का विश्वास दिलाया था, अतः तुम्हें भी छल से ही नरक दिखाया गया है।

यथैव त्वं तथा भीमस्तथा पार्थो यमौ तथा।
द्रौपदी च तथा कृष्णा व्याजेन नरकं गताः॥८॥

"जिस प्रकार तुम यहाँ लाये गये थे, उसी प्रकार भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा द्रुपदकुमारी कृष्णा—ये सभी छल से नरक के निकट लाये गये थे।

आगच्छ नरशार्दूल मुक्तास्ते चैव कल्मषात्।
स्वपक्ष्याश्चैव ये तुभ्यं पार्थिवा निहता रणे।
सर्वे स्वर्गमनुप्राप्तास्तान् पश्य भरतर्षभ॥९॥

"पुरुषसिंह! आओ, [दण्ड भोग लेने के कारण] ये सभी पाप से मुक्त हो गये हैं। भरतभूषण! तुम्हारे पक्ष के जो-जो राजा युद्ध में मारे गये थे, वे सभी स्वर्गलोक में आ पहुँचे हैं। चलो, उनका दर्शन करो।

कृच्छ्रं चानुभूय पूर्वमितः प्रभृति कौरव।
विहरस्व मया सार्धं गतशोको निरामयः॥१०॥

"कुरुनन्दन! पहले कष्ट का अनुभव करके अब से तुम मेरे साथ रहकर रोग और शोक से रहित हो स्वच्छन्द विहार करो।"

एवं ब्रुवति देवेन्द्रे कौरवेन्द्रं युधिष्ठिरम्।
धर्मो विग्रहवान् साक्षादुवाच सुतमात्मनः॥११॥

देवराज इन्द्र जब इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय शरीर धारण करके[1] आये हुए साक्षात् धर्म ने अपने पुत्र कौरवराज युधिष्ठिर से कहा—

धर्म उवाच

भो भो राजन् महाप्राज्ञ प्रीतोऽस्मि तव पुत्रक।
मद्भक्त्या सत्यवाक्यैश्च क्षमया च दमेन च॥१२॥

धर्म ने कहा—महाप्राज्ञ नरेश! मेरे पुत्र! तुम्हारे धर्मविषयक अनुराग, सत्यभाषण, क्षमा और इन्द्रिय-संयम आदि गुणों से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ।

एषा तृतीया जिज्ञासा तव राजन् कृता मया।
न शक्यसे चालयितुं स्वभावात् पार्थ हेतुतः॥१३॥

राजन्! यह मैंने तीसरी बार तुम्हारी परीक्षा ली थी। पार्थ! किसी भी युक्ति से कोई भी तुम्हें अपने स्वभाव से विचलित नहीं कर सकता।

पूर्वं परीक्षितो हि त्वं प्रश्नाद् द्वैतवने मया।
अरणीसहितस्यार्थे तच्च निस्तीर्णवानसि॥१४॥

द्वैतवन में अरणिकाष्ठ का हरण करने के पश्चात् जब यक्ष के रूप में मैंने तुमसे अनेक प्रश्न किये थे, वह मेरे द्वारा तुम्हारी पहली परीक्षा थी। उसमें तुम भली-भाँति उत्तीर्ण हो गये।

सोदर्येषु विनष्टेषु द्रौपद्या तत्र भारत।
श्वरूपधारिणा तत्र पुनस्त्वं मे परीक्षितः॥१५॥

भरतभूषण! फिर द्रौपदीसहित तुम्हारे सभी भाइयों की मृत्यु हो जाने पर कुत्ते का रूप धारण करके मैंने दूसरी बार तुम्हारी परीक्षा ली थी। उसमें भी तुम सफल हुए।

---

१. धर्म कोई मनुष्य नहीं है जो कभी कुत्ते का रूप धारण कर लेता है, कभी यक्ष का और कभी मनुष्य का। यह तो बात को समझाने के लिए काव्यमयी शैली है।

इदं तृतीयं भ्रातृणामर्थे यत्स्थातुमिच्छसि ।
विशुद्धोऽसि महाभाग सुखी विगतकल्मषः ॥१६॥

अब यह तुम्हारी परीक्षा का तीसरा अवसर था, परन्तु इस बार भी तुम अपने सुख की परवाह न करके अपने भाइयों के कल्याण के लिए नरक में रहना चाहते थे, अतः महाभाग ! तुम इस परीक्षा में भी विशुद्ध प्रमाणित हुए। तुममें पाप का लेश भी नहीं है। तुम सदा सुखी होओ।

न च ते भ्रातरः पार्थ नरकार्हा विशाम्पते ।
मायैषा देवराजेन महेन्द्रेण प्रयोजिता ॥१७॥[1]

प्रजेश्वर ! पार्थ ! तुम्हारे भाई नरक में रहने के योग्य नहीं हैं। तुमने जो इन्हें नरक भोगते देखा है, वह तो देवराज इन्द्र द्वारा प्रकट की हुई माया थी।

एह्येहि भरतश्रेष्ठ धर्मराजयुधिष्ठिर ।
यत्र ते पुरुषव्याघ्राः शूरा विगतकल्मषः ।
तिष्ठन्ति भ्रातरः सर्वे पुण्यात्मानः परन्तपाः ॥१८॥

भरतभूषण ! धर्मराज युधिष्ठिर ! आओ, अब हम वहाँ चलें जहाँ पापरहित, तपस्वी पुरुषसिंह, शूरवीर तुम्हारे सभी भाई निवास कर रहे हैं।

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा देवैः सर्षिमरुद्गणैः ।
स्तूयमानो ययौ तत्र यत्र ते कुरुपुङ्गवाः ॥१९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् देवों, ऋषियों और मरुद्गणों से प्रशंसित होते हुए राजा युधिष्ठिर उस स्थान पर जा पहुँचे जहाँ कुरुश्रेष्ठ भीम और अर्जुन आदि विराजमान थे।

एतत्ते सर्वमाख्यातं विस्तरेण महाद्युते ।
कुरूणां चरितं कृत्स्नं पाण्डवानां च भारत ॥२०॥

महातेजस्वी भरतनन्दन ! यह सारा प्रसङ्ग—कौरवों और पाण्डवों का सम्पूर्ण चरित्र—सारा इतिहास तुम्हें विस्तारपूर्वक सुनाया गया है।

इति महाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

महाभारत का महत्त्व और उपसंहार

सौतिरुवाच

पुण्योऽयमितिहासाख्यः पवित्रं चेदमुत्तमम् ।
कृष्णेन मुनिना विप्र निर्मितं सत्यवादिना ॥१॥

सौति कहते हैं—ब्रह्मन् ! सत्यवादी मुनिवर व्यासजी द्वारा लिखित यह पुण्यमय इतिहास परम पवित्र और अत्युत्तम है।

भरतानां महज्जन्म तस्माद् भारतमुच्यते ।
महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ॥२॥

इस ग्रन्थ में भरतवंशियों के महान् जन्म-कर्म का वर्णन है, अतः इसे महाभारत कहते हैं। महान् एवं भारी होने के कारण भी इसे महाभारत कहा है।

त्रिभिर्वर्षैरिदं पूर्णं कृष्णद्वैपायनः प्रभुः ।
अखिलं भारतं चेदं चकार भगवान् मुनिः ॥३॥

मुनिवर भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजी ने तीन वर्षों में इस सम्पूर्ण महाभारत का लेखन-कार्य पूर्ण किया था।

आकर्ण्य भक्त्या सततं जयाख्यं भारतं महत् ।
श्रीश्च कीर्तिस्तथा विद्या भवन्ति सहिताः सदा ॥४॥

जो मनुष्य जय नामक इस महाभारत इतिहास को सदा भक्तिपूर्वक सुनता है, उसके यहाँ श्री, कीर्ति तथा विद्या—ये तीनों साथ-साथ रहती हैं।

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित् ॥५॥

भरतभूषण ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो कुछ महाभारत में कहा गया है, वही अन्यत्र है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है।

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता ।
ब्राह्मणेन च राज्ञा च गर्भिण्या चैव योषिता ॥६॥

मोक्ष की इच्छा रखनेवाले ब्राह्मण को, राज्य चाहनेवाले क्षत्रिय को और वीर तथा श्रेष्ठ पुत्र की इच्छा रखनेवाली गर्भिणी स्त्री को इस 'जय' नामक इतिहास का श्रवण करना चाहिए।

स्वर्गकामो लभेत्स्वर्गं जयकामो लभेज्जयम् ।
गर्भिणी लभते पुत्रं कन्यां वा बहुभागिनीम् ॥७॥

---

१. इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि लोक में स्वर्ग और नरक की जो कल्पना है वह सब सर्वथा मिथ्या है।

महाभारत का श्रवण अथवा पाठ करनेवाला मनुष्य यदि स्वर्ग—सुखविशेष की इच्छा करे तो उसे स्वर्ग मिलता है और युद्ध में विजय पाना चाहे तो विजयश्री उसके चरण चूमती हैं। इसी प्रकार गर्भिणी स्त्री को महाभारत के श्रवण से सुयोग्य पुत्र अथवा सौभाग्यशालिनी कन्या की प्राप्ति होती है।

महर्षिर्भगवान् व्यासः कृत्वेमां संहितां पुरा।
श्लोकैश्चतुर्भिर्द्वैपायन् पुत्रमध्यापयच्छुकम् ॥८॥

महर्षि भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजी ने पहले इस संहिता [महाभारत] की रचना करके इसे अपने पुत्र शुकदेव को चार श्लोकों में पढ़ाया था। [वे चार श्लोक हैं—]

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च। □
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे ॥९॥

"मनुष्य इस संसार में सहस्रों माता-पिताओं और सैकड़ों स्त्री-पुत्रों के संयोग-वियोग का अनुभव कर चुके हैं, करते हैं और करते रहेंगे।

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च। □
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥१०॥

"मूर्ख मनुष्य को प्रतिदिन हर्ष के सहस्रों और भय के सैकड़ों अवसर प्राप्त होते रहते हैं, परन्तु विद्वान् पुरुष के मन पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे। □
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥११॥

"मैं दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर पुकार-पुकारकर कह रहा हूँ परन्तु मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्म से मोक्ष तो सिद्ध होता ही है, अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं, फिर भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते?

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः। □
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥१२॥

"कामना से, भय से, लोभ से अथवा प्राणों की रक्षा के लिए भी धर्म का त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य। इसी प्रकार जीव नित्य है और उसके बन्धन-हेतु शरीर आदि अनित्य हैं।"

इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति ॥१३॥

यह [उपर्युक्त चार श्लोक] महाभारत का सारभूत उपदेश 'भारत-सावित्री' के नाम से प्रसिद्ध है। जो प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर इसका पाठ करता है, वह सम्पूर्ण महाभारत के अध्ययन का फल पाकर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

यथा समुद्रो भगवान् यथा हि हिमवान् गिरिः।
उभौ रत्ननिधीख्यातौ तथा भारतमुच्यते ॥१४॥

जैसे ऐश्वर्यशाली समुद्र और हिमालय पर्वत, दोनों ही रत्नों की निधि कहे गये हैं, वैसे ही महाभारत भी नाना प्रकार के उपदेशमय रत्नों का अपार भण्डार कहलाता है।

इदं भारतमाख्यानं यः पठेत् सुसमाहितः।
स गच्छेत्परमां सिद्धिमिति मे नास्ति संशयः ॥१५॥

जो भली-भाँति एकाग्रचित्त होकर इस भारत-आख्यान का पाठ करता है, वह मोक्षरूप परमसिद्धि को प्राप्त कर लेता है, इस विषय में मुझे कोई संशय नहीं है।

द्वैपायनोष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं
पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं
किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥१६॥

जो मनुष्य वेदव्यासजी के मुख से निकले हुए इस अप्रमेय [अतुलनीय], पुण्यकारक, पवित्र, पापों का हरण करनेवाले [इसकी दिव्य शिक्षाओं से भविष्य में पाप करने से मनुष्य बच जाएगा] और कल्याणमय महाभारत को दूसरों के मुख से सुनता है, उसे पुष्करतीर्थ के जल में गोता लगाने की क्या आवश्यकता है?

इति महाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

॥ इति स्वर्गारोहणपर्व सम्पूर्णम् ॥

॥ इति महाभारतं समाप्तम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां परमविदुषां श्रीवेदानन्द-[दयानन्द]-तीर्थस्वामिनां शिष्येण परमहंस-जगदीश्वरानन्दसरस्वतीस्वामिनानूदितो भगवतीभाष्येण समलंकृतः समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

महाभारत अध्याय : श्लोकसंख्या सूची

क्रमसंख्या	पर्वनाम	अध्याय	श्लोक संख्या
१.	आदिपर्व	३६	१६६२
२.	सभापर्व	१९	९४३
३.	वनपर्व	२५	१०२८
४.	विराटपर्व	१९	७९०
५.	उद्योगपर्व	३७	१४५९
६.	भीष्मपर्व	३०	१३३०
७.	द्रोणपर्व	४४	१५५४
८.	कर्णपर्व	२७	८८९
९.	शल्यपर्व	२४	८४१
१०.	सौप्तिकपर्व	८	३१६
११.	स्त्रीपर्व	६	२७२
१२.	शान्तिपर्व	६३	२०९०
१३.	अनुशासनपर्व	३३	८२०
१४.	आश्वमेधिकपर्व	११	५०३
१५.	आश्रमवासिकपर्व	८	३६८
१६.	मौसलपर्व	५	१६७
१७.	महाप्रस्थानिकपर्व	३	८४
१८.	स्वर्गारोहणपर्व	४	९२
		३९९	१५,२०८

कुल अध्याय संख्या = ३९९

कुल श्लोक संख्या = १५,२०८

महाभारतश्लोकानुक्रमणिका

श्लोकानुक्रमणिका में पहला अंक पर्व का है, दूसरा अध्याय का और तीसरा श्लोक का। उदाहरणार्थ १३-१-२५ से तात्पर्य है अनुशासनपर्व, पहला अध्याय और पच्चीसवाँ श्लोक। पर्वों की संख्या बाएँ पृष्ठ पर अंकित है।

आ

ख

ग

घ

ध

न

न चैतद् विद्मः कतरन्नोगरीयः ६-३-३४
न चैते तव पर्याप्ताः ५-२४-५०
न चैनमशक्तस्थानात् १०-६-२२
न चैव मामकं कञ्चित् ६-१८-२
न चैवं नैष्ठिकं कर्म ५-१७-३७
न चैवं वर्तितव्यं स्म १२-३३-३
न चैवात्मावमन्तव्यः ३-४-६३
न चैवात्र दया कार्या ९-३-४०
न चैवाविहितं शक्यं १२-४५-९
न चैष पतितः कृष्ण ९-२०-६
न चोक्ता नैव चानुक्ता २-१६-२७
न चोत्सहे तपोविघ्नं १५-७-४९
न चोपविष्टस्तस्यासीत् ७-८-१६
न चोष्ठौ न भुजौ जानू न ४-२-१४
न छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति ५-१०-७
न जातु कामान्न भयान्न लोभात् ५-१२-६१, १८-४-१२
न जातु गमनं पार्थ ५-१७-३१
न जातु त्वामिति ब्रूयात् १३-२८-२८
न जात्वदक्षो नृपतिः १२-२८-२८
न जात्वस्य च वंशस्य १५-४-३२
न जानपदिकं दुःखं ११-१-३८
न जानीते हि यः श्रेयः ९-२-२६
न जायते म्रियते वा कदाचित् ६-३-४६
न जीवनाशोऽस्ति दहभेदे १२-६३-७५
न ज्येष्ठो वावमन्येत १३-१८-६
नटांश्च नर्तकांश्चैव १२-१९-५०
न तत्तरेद् यस्य न १२-३७-४६
न तत् परस्य संदध्यात् ५-१२-४६, १३-२१-४८
न तत्र कृपणः कश्चित् १४-१०-५१
न तत्र वर्णेषु कृता विवक्षा १-३२-२१
न तत्राविदितं ब्रह्मंल्लोके ५-५-२१
न तत्रासीत्पुमान् कश्चित् ६-१९-१४
न तथा बलवीर्याभ्यां ६-२-४६
न तथा बाध्यते कृष्ण ५-१७-१२
न तथा राज्यसम्प्राप्तिः १-३४-२३
न तथा ह्याप्नुयां प्रीतिं ३-१६-२६
न तद्धनुर्मन्दबलेन शक्यं १-३२-२३
न तद् भूतं प्रपश्यामि ८-८-२०
न तयोर्विवरं कश्चित् ६-८-३१
न तस्य दासा न रथः ३-९-२९
न तस्यैष वधस्तात ११-४-२८
न तं देशं प्रपश्यामि ९-८-१६
न तं देवा न गन्धर्वाः ७-३६-१२
न तं पश्यामि लोकेऽस्मिन् ८-१९-१०
न तात चपलैर्भाव्यं ३-१४-२४
न तादृशा विनश्यन्ति ४-६-१८
न तां स्वर्गगतिं प्राप्य १-२-१८
न तु कश्चिन्नयेत् प्राज्ञः १३-३०-९
न तु केनचिदत्यन्तं ४-८-३९
न तु तावदहं मन्ये ७-३०-१५
न तु ते युधि संत्रासः ७-९-१२
न तु त्वं धर्ममुद्दिश्य ५-२१-६
न तु त्वामनृतं कर्तुं ६-२६-१४
न तु द्विजोऽयं भविता ४-३-१५
न तु पापकृतां राज्ञां १३-१४-३४
न तु बालानिमान् दीनान् १४-१-२७
न तु युक्तं रणे हन्तुं ५-३७-३१
न तु वाच्यो मृदुवचः ५-१-४५
न तु शक्यं जरासन्धे २-३-१८
न तु हन्यान्नृपो जातु १२-२५-९
न तृप्तिः प्रियलाभेऽस्ति १२-४७-२१
न ते चालयितुं शक्याः १२-४२-१७
न ते जातु नशिष्यन्ति ५-३०-३६
न ते नियुद्धे न जवे १-१३-९
न ते प्रकृतिमान् वर्णः ४-७-८
न ते राज्यं प्रयच्छन्ति ५-३१-८
न तेऽर्जुनस्तथा ज्ञेयः ७-१८-१६
न ते श्रुतमिदं भीष्म २-८-४४
न तेषां भिद्यते वृत्तं १३-२८-७
न तेषां विद्यते दुःखं १३-२७-१२
न तेषां स्खलितं किञ्चित् १४-१०-४८
न ते सौम्य भयं कार्यं १२-३५-६२
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चित् ९-२२-२४
न त्यागो न पुनर्याच्ञा १२-९-६
न त्वन्यमिह मार्जारात् १२-३५-५५
न त्वमर्हसि पार्थेन १-१७-४१
न त्वयं पार्थिवेन्द्राणां २-७-४१
न त्वया सदृशः कश्चित् ६-२३-१४
न त्वयेदं श्रुतं राजन् २-१७-७
न त्वहं तव धर्मज्ञ २-८-५०
न त्वहं युद्धमिच्छामि ५-१५-१६
न त्वं करोषि कामेन ५-१५-१७
न त्वं कापुरुषाचीर्णं ८-२५-३२
न त्वं धर्मं विचरं सञ्जयेह ५-६-३६
न त्वं भीमो न नकुलः ९-१६-११
न त्वात्मनो गुणान् वक्तुं ५-३५-१२
न त्वां प्रभिन्नं जानामि १६-५-५
न त्वां ब्रवीमि कार्पण्यात् ९-२-३१
न त्वां सन्देष्टुमर्हामि २-१८-२२
न त्विदं केषुचिद् ब्रह्मन् १-२७-७६
न त्विदानीमहं मन्ये ९-१४-३२
न त्वेतत्ते क्षमं राजन् ११-३-३३
न त्वेतत् सहसा पार्थ ३-६-४७
न त्वेतदद्भुतं वीराः ९-१३-१३
न त्वेवास्मद्विधः प्राज्ञः १२-३५-५३
न त्वेवाहं जातु नासं ६-३-३९
न त्वेवोत्सादनीया मे ५-३२-२५
न दद्याद् यशसे दानं १२-९-४७
नदन्ति नाद्य तूर्याणि ७-८-९
न दरिद्रो वसुमतः १-१४-२३
न दारा न च पुत्रः स्यात् १२-१८-२५
न दिवा मैथुनं गच्छेत् १३-१७-५९
न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं ५-१२-७१
नदीतीरेषु रम्येषु १५-६-१७
नदीमार्गेषु च तथा १२-१९-३९
नदीं प्रवर्तयित्वा च ८-१९-२
न दुष्करतरं दानात् १२-३९-३७
न दुष्करमिदं पुत्र १२-६३-२४
न दुःखं राज्यहरणं ५-२२-१७
न दूरं नगरं मन्ये १-२५-७२
न दूषयामि ते राजन् ४-१५-५१
न दृष्टं न श्रुतं वापि ६-१२-९
न देवा दण्डमादाय ५-१०-५
न देवितव्यं हृष्टेन ४-१५-१९
न दैवस्यातिभारोऽस्ति १०-४-४

प

भ

य

र

श

ष

स

ह

□□□

प्राचीन गौरवमय इतिहास और संस्कृति का प्रतीक !
सरल हिन्दी अनुवाद सहित !!

महाभारतम्

(मूल संस्कृत तथा हिन्दी अनुवाद सहित, लगभग 1500 पृष्ठ, 16000 श्लोकों में पूर्ण)

लेखक-सम्पादक-टिप्पणीकर्ता - **स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती**

महाभारत धर्म का विश्वकोष है। व्यासजी महाराज की घोषणा है कि 'जो कुछ यहाँ है, वही अन्यत्र है, जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं है।' इसकी महत्ता और गुरुता के कारण इसे पञ्चम वेद भी कहा जाता है।

इस संस्करण में असम्भव, अश्लील और अप्रासांगिक कथाओं को निकाल दिया गया है। लगभग **16000** श्लोकों में सम्पूर्ण महाभारत पूर्ण हुआ है। श्लोकों का तारतम्य इस प्रकार मिलाया गया है कि कथा का सम्बन्ध निरन्तर बना रहता है।

- यदि आप अपने प्राचीन गौरवमय इतिहास की, संस्कृति और सभ्यता की, ज्ञान-विज्ञान की, आचार-व्यवहार की झांकी देखना चाहते हैं,
- यदि योगिराज कृष्ण की नीतिमत्ता देखना चाहते हैं,
- यदि प्राचीन समय की राज्य-व्यवस्था की झलक देखना चाहते हैं,
- यदि आप जानना चाहते हैं कि द्रौपदी का चीर खींचा गया था, क्या एकलव्य का अंगूठा काटा गया था, क्या युद्ध के समय अभिमन्यु की अवस्था सोलह वर्ष की थी, क्या कर्ण सूत-पुत्र था, क्या जयद्रथ को धोखे से मारा गया, क्या कौरवों की उत्पत्ति घड़ों से हुई थी? आदि
- यदि आप भ्रातृप्रेम, नारी का आदर्श, सदाचार, धर्म का स्वरूप, गृहस्थ का आदर्श, मोक्ष का स्वरूप, वर्ण और आश्रमों के धर्म, प्राचीन राज्य का स्वरूप आदि के सम्बन्ध में जानना चाहते हैं, तो एक बार इस ग्रन्थ को पढ़ जाइए। विस्तृत भूमिका, विषय-सूची, श्लोक-सूची आदि से युक्त।